विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ



संवत २००१ विक्रमी

आलीजाह दरबार प्रेस, ग्वालियर, में मुद्रित
तथा
सिन्धिया ओरिएण्टल इन्स्टीट्यूट के तत्वावधान में प्रकाशित

श्रीमन्त महाराज मेजर-जनरल सर जीवाजीराव शिन्दे
जी. सी. एस. आई., जी. सी. आई. ई.,
ग्वालियर नरेश
का
शुभ सन्देश

विक्रम संवत् आज सम्पूर्ण भारत में व्यवहार किया जाता है। विक्रमादित्य का नाम सदैव भारतीय हृदयों में गौरव एवं स्वाभिमान की भावना भरता रहा है। भले ही इतिहास के विद्वानों का इस विषय में कुछ भी मत हो, प्राचीन साहित्य, अनुश्रुति एवं लोककथाओं में प्रचलित श्री विक्रमादित्य का नाम हमारे लिए पराक्रम, वैभव, न्याय-प्रियता, दान-वीरता एवं धर्म-परायणता का जीवित आदर्श रहा है।

विक्रमीय संवत्सर की दो सहस्र वर्षों की इस यात्रा द्वारा हमारी उस वर्तमान सभ्यता का निर्माण हुआ है जिसके हिन्दू, मुसलमान, सिख, जैन, पारसी, ईसाई आदि अंग हैं। अतएव भारतीय होने के नाते प्रत्येक भारतवासी का यह कर्तव्य है कि इस सर्वधर्ममयी संस्कृति के प्रतीक विक्रम संवत् की द्विसहस्राब्दी की समाप्ति और तीसरी सहस्राब्दी के प्रारम्भ पर जात, धर्म एवं सम्प्रदाय की संकुचित सीमाओं से ऊपर उठकर भारतवर्ष के उस अतीत गौरव का स्मरण करे जो विक्रम शब्द में निहित है।

यह एक गौरवमय संयोग है कि कला, साहित्य एवं दर्शनों की धात्री, प्राचीन सप्तपुरियों में परिगणित, विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी इस राज्य की सीमा के अन्तर्गत है और इस कारण से विक्रमादित्य की स्मृति हमारे लिए विशेष रूप से स्फूर्तिप्रद है।

हमारे प्राचीन इतिहास की विभूतियों के प्रति उपर्युक्त अवसर पर अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य के अनुसार श्रद्धा प्रकट करते रहना तथा इस प्रकार से उनके आदर्शों से प्राप्त प्रोत्साहन का उपकार चुकाने का प्रयत्न करते रहना हमारा पावन कर्तव्य है। भारतवर्ष के विश्रुत विद्वानों द्वारा श्री विक्रमादित्य एवं विक्रम संवत् की स्मृति में अर्पित किए गए विद्वत्ता के प्रसूनों का संग्रह, यह 'विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ' उस कर्तव्य-पालन की दिशा में एक स्तुत्य एवं सुन्दर प्रयास है, और निःसन्देह अभिनन्दनीय है।



(वर्तमान उज्जयिनीपुरावराधीश)

मेजर-जनरल श्रीमंत सर जीवाजीराव महाराज शिन्दे

ग्वालियर-नरेश

सभी प्रान्तों के विश्रुत कलाकारों ने अपनी तूलिका एवं कल्पना द्वारा इसे सुसज्जित किया है। मैं उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस ग्रंथ के सम्पादक केन्द्रीय समिति के धन्यवाद के साथ साथ बधाई के अधिकारी हैं। काशी विश्वविद्यालय के प्रसिद्ध विद्वान डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी एम० ए०, पी-एच० डी०, का मैं आभारी हूँ, जिन्होंने समिति के आग्रह को स्वीकार कर प्रधान सम्पादक के पद को स्वीकार कर लिया है। इस ग्रंथ के कार्यवाहक-सम्पादक श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने प्रारंभ से लेकर मुद्रण तक जो परिश्रम किया है वह प्रशंसनीय है। इसके मुद्रण के कार्य में जो देर हुई है वह इसका बृहत् आकार तथा युद्धजन्य परिस्थितियों को देखते हुए किसी सीमा तक क्षम्य ही है। ऐसी दशा में इस ग्रंथ को इस रूप में मुद्रित कर देने का श्रेय आलीजाह दरबार प्रेस को है।

इस कार्य के संचालन में मुझे जितनी भी सफलता प्राप्त हो सकी है वह सब हमारे प्रजावत्सल श्रीमन्त ग्वालियर नरेश के पुण्य-प्रताप का फल है। विक्रमादित्य की राजधानी के वर्तमान अधिपति, ग्वालियर की प्रजा के प्राण, हमारे श्रीमन्त सरकार यशस्वी एवं चिरायु हों, इसी हार्दिक प्रार्थना के साथ मैं इस निवेदन को समाप्त करता हूँ।

कृष्णराव दौलतराव महाडिक,
अध्यक्ष,
विक्रम-द्विसहस्राब्दी-समारोह समिति,
ग्वालियर।

सम्पादकीय निवेदन

विक्रम संवत् की द्वि-सहस्राब्दी का समाप्त होना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। धूमिल अतीत में विक्रम के स्मारकस्वरूप जिस विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ था उसके पथ की वर्तमान रेखा यद्यपि तमसाच्छन्न है, परन्तु इस डोर के सहारे हम अपने आपको उस शृंखला के क्रम में पाते हैं जिसके अनेक अंश अत्यन्त उज्वल एवं गौरवमय रहे हैं। ये दो सहस्र वर्ष तो भारतीय इतिहास के उत्तरकाल के ही अंश हैं। विक्रम संवत् के उद्भव तक विशुद्ध वैदिक संस्कृति का काल, रामायण और महाभारत का युग, महावीर और गौतम बुद्ध का समय, पराक्रमसूर्य चन्द्रगुप्त मौर्य एवं प्रियदर्शी अशोक का काल अन्ततः पुष्यमित्र शुंग की साहसगाथा सुदूर भूत की बातें बन चुकी थीं; वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, सूत्रग्रंथ एवं मुख्य स्मृतियों की रचना हो चुकी थी; वैयाकरण पाणिनि और पतञ्जलि अपनी कृतियों से पण्डितों को चकित कर चुके थे; और कौटिल्य की ख्याति सफल राजनीतिज्ञता के कारण फैल चुकी थी। इन पिछले दो सहस्र वर्षों की लम्बी यात्रा में भी भारत के शौर्य ने, उसकी प्रतिभा एवं विद्वत्ता ने जो मान स्थिर कर दिए हैं वे विगत शताब्दियों के बहुत-कुछ अनुरूप हैं। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी में हमने भारशिवनागों, समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, स्कन्दगुप्त, यशोधर्मन्-विष्णुवर्धन आदि के बल और प्रताप के सम्मुख विदेशी शक्तियों को थरथर काँपते देखा; भारत के उपनिवेश बसते देखे; भारत की संस्कृति व उसके धर्म का प्रसार बाहर के देशों में देखा; कालिदास, भवभूति, भारवि, माघ आदि की काव्यप्रतिभा तथा दण्डी और बाणभट्ट की विलक्षण लेखनशक्ति देखी; कुमारिलभट्ट और शंकराचार्य के बुद्धि-वैभव को देखा; और स्वतंत्रता की बह्नि को सतत प्रज्वलित रखनेवाली राजपूत जाति के उत्थान व संगठन को देखा। दूसरी सहस्राब्दी में भाग्यचक्र की गति विपरीत हो गई। उसने उपनिवेशों का उजड़ना दिखाया और भारतीयों की हार और बहुमुखी पतन। परन्तु उनकी आन्तरिक जीवन-शक्ति का ह्रास नहीं हुआ, और यह दिखा दिया कि गिरकर भी कैसे उठा जा सकता है।

भारतीय संस्कृति के अभिमानियों को यह कम गौरव की बात नहीं है कि आज भारतवर्ष में प्रवर्तित विक्रम संवत्सर बुद्धनिर्वाणकालगणना को छोड़कर संसार के प्रायः सभी प्रचलित ऐतिहासिक संवतों में अधिक प्राचीन है। ऐसी महत्संधि पर यह सद्-संकल्प का उदय होना प्राकृतिक ही है कि विक्रमादित्य को, जो अनुश्रुति के अनुसार संवत् प्रवर्तक माने जाते हैं, ऐतिहासिक गवेषणापूर्ण एवं भारतीय सांस्कृतिकदाय का सिंहावलोकन करनेवाले विक्रम-स्मृति-ग्रंथ का प्रकाशन लोक-वाणी हिन्दी में किया जाय।

विक्रमादित्य की राजधानी अवन्तिका के वर्तमान उज्जयिनीपुरवराधीश श्रीमन्त ग्वालियर नरेश के तत्त्वावधान में संयोजित विक्रम-समारोह-समिति ने इसी शुभ विचार से प्रेरित होकर विक्रम-स्मृति-ग्रंथ के सम्पादन एवं प्रकाशन का भार इस ग्रंथ के सम्पादक-मण्डल को सौंपा था। ऐसे महिमामय कार्यभार को प्राप्त करना जितने बड़े गौरव का विषय था उतना ही वह उत्तरदायित्व एवं कठिनाइयों से पूर्ण था। ऐसे महान् व कठिन कार्य को पूर्ण कर जो सन्तोष तथा प्रसन्नता सम्पादक-मण्डल को हुई है उसे छिपाना न तो शक्य ही है और न आवश्यक ही। परन्तु यहाँ यह धन्यवादपूर्वक लिख देना अत्यन्त आवश्यक है कि इस सब का श्रेय हमारे समर्थ सहायकगणों को है।

इस ग्रंथ की सामग्री को तीन खण्डों में बांट दिया गया है। पहले खण्ड में विक्रमादित्य तथा उनके नवरत्नों से सम्बन्धित विवेचनयुक्त रचनाएँ हैं। इनमें सबसे पूर्व ई० पू० ५७ के विक्रमादित्य सम्बन्धी निबन्ध हैं। तत्पश्चात् विक्रमकालीन संस्कृति तथा विक्रमादित्य विरुदधारी नरेशों पर लेख हैं। नवरत्नों में सर्वप्रथम कालिदास विषयक निबन्ध दिए गए हैं, फिर अन्य 'रत्नों' पर हैं।

दूसरे खण्ड में विक्रमराजधानी उज्जयिनी, मालव तथा ग्वालियर राज्य सम्बन्धी रचनाएँ हैं। विक्रमादित्य एवं विक्रमादित्यों की इस भूमि को हमने 'विक्रम प्रदेश' कहा है। विक्रमादित्य तथा उज्जैन का घनिष्ट सम्बन्ध है; अतएव

सम्पादकीय निवेदन

पहले उज्जैन पर लेख हैं, फिर मालवगण एवं मालवप्रदेशसम्बन्धी और अन्त में ग्वालियर से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। भारतीय सांस्कृतिक विकास में इस प्रदेश द्वारा दिए गए योग का पूर्ण विवेचन इस खण्ड में हो सके ऐसा प्रयास किया गया है। अठारहवीं शताब्दी के पश्चात् की घटनाओं एवं व्यक्तियों का उल्लेख यथासम्भव नहीं किया गया है।

तीसरे खण्ड में वे सब लेख हैं जो भारतीय सांस्कृतिक विकास से सम्बन्धित हैं, और उक्त दोनों खण्डों में से किसी में न आते थे। देश-विदेश के मान्य विद्वानों द्वारा इस महान् अवसर पर भारत के सांस्कृतिक विक्रम की अर्चना में प्रस्तुत की गई रचनाओं से युक्त इस खण्ड का नाम 'विक्रमार्चन' रखा है। लेखों को क्रम देने का अन्य कोई आधार न पाकर उन्हें लेखकों के नामों के अकारादि क्रम से रखा दिया गया है। इस खण्ड की कविताओं एवं उद्धरणों के सम्बन्ध में अकारादि क्रम को नहीं माना जा सका है।

इस ग्रंथ की कृतियों के सम्बन्ध में कोई बात लिखना धृष्टता होगी, यह अवश्य है कि इन लेखों में व्यक्त किए गए मत उनके लेखकों के ही हैं। वे अपने विषय में मान्य विद्वानों की रचनाएँ हैं। ये विद्वान विदेशों के भी हैं, और भारतवर्ष के तो प्रत्येक प्रान्त एवं विश्वविद्यालय के हैं। हम उन विद्वान लेखकों के अत्यन्त कृतज्ञ हैं जिन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर अपनी बहुमूल्य रचनाएँ भेजकर इस प्रयास को सफल बनाया। गत दो वर्षों तक उन्होंने धैर्य से इस ग्रंथ के मुद्रण की बाट देखी। हमें पूर्ण आशा है कि युद्धकाल की मुद्रण की कठिनाइयों को देखते हुए वे इस देर के लिए हमें क्षमा कर देंगे।

भारतवर्ष के प्रत्येक प्रान्त के प्रसिद्ध चित्रकारों ने हमें अपनी बहुमूल्य कृतियाँ देकर इस ग्रंथ को सुशोभित किया है। अनेक स्थानीय कलाकारों ने इसके लिए रेखा-चित्र बनाकर इसकी शोभा बढ़ाई है। हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं। भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा समस्त भारत के पुरातत्त्व संग्रहालयों के हम अत्यन्त आभारी एवं कृतज्ञ हैं; उनकी कृपा से हम अपने लेखों को सचित्र कर सके। फाइन आर्टस् म्यूजियम, बोस्टन, अमरीका, ने हमें बेसनगर की गंगा की मूर्ति का चित्र एवं उसके प्रकाशन की अनुमति भेजकर आभारी किया है। ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग की मुक्तहस्त सहायता के बिना तो यह ग्रंथ अधूरा ही रह जाता। अपने विभाग के ब्लाक्स, फोटोग्राफ्स, पुस्तकें आदि देकर उन्होंने इस ग्रंथ के महत्त्व को बढ़ाया है।

केन्द्रीय समिति के सभापति श्रीमान् सरदार मेजर कृ० दौ० महाडिक महोदय एवं मंत्री श्री बृजकिशोरजी चतुर्वेदी बार-एट-लॉ के सक्रिय सहयोग एवं प्रेमपूर्ण प्रोत्साहन के बिना यह कार्य पूरा करना हमारे लिए दुःसाध्य था।

अन्त में हम मेजर जनरल श्रीमन्त सर जीवाजीराव महाराज शिन्दे ग्वालियर नरेश के सम्मुख अत्यन्त विनम्रमना-पूर्वक आभार प्रदर्शित करते हैं। उनके पुण्यप्रताप से यह प्रयास सफल हो सका है एवं उनके स्फूर्तिप्रद सन्देश द्वारा हमारा जो उत्साहवर्धन हुआ है उससे हम अपने कार्य को समुचित रूप से कर सके हैं।

इस ग्रंथ के सम्पादन में हुई त्रुटियों के लिए क्षमा मांगते हुए हमको यह कहावत ध्यान में आती है :—'सूर्पवद्दोषमुत्सृज्य गुणम् गृह्णन्ति साधवः'। आशा है उदारहृदय पाठक पढ़ते समय इसको न भूलेंगे। हम यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि यदि इस ग्रंथ द्वारा विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता पर प्रकाश पड़ सका, भारतीय संस्कृति की महानता का किंचित् भी आभास मिल सका, और हमारी जन्मभूमि, विक्रमादित्य एवं विक्रमादित्यों की यह रंगस्थली, ग्वालियर प्रदेश द्वारा उस सांस्कृतिक महानता में दिए गए अंश-दान पर प्रकाश पड़ सका तो हम समझेंगे कि जिस आशा से हमें यह कार्य सौंपा गया था वह हम किसी अंश में पूर्ण कर सके, और यह ढ़ाई वर्ष का कठिन श्रम व्यर्थ नहीं गया।

सूर्यनारायण व्यास — **रमाशंकर त्रिपाठी**
रामचन्द्र श्रीवास्तव — **युधिष्ठिर भार्गव**
हरिहरनिवास द्विवेदी

विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ

विषय-सूची

विक्रम-चक्र

(प्रथम खण्ड)

विक्रम-प्रदेश

(द्वितीय खण्ड)

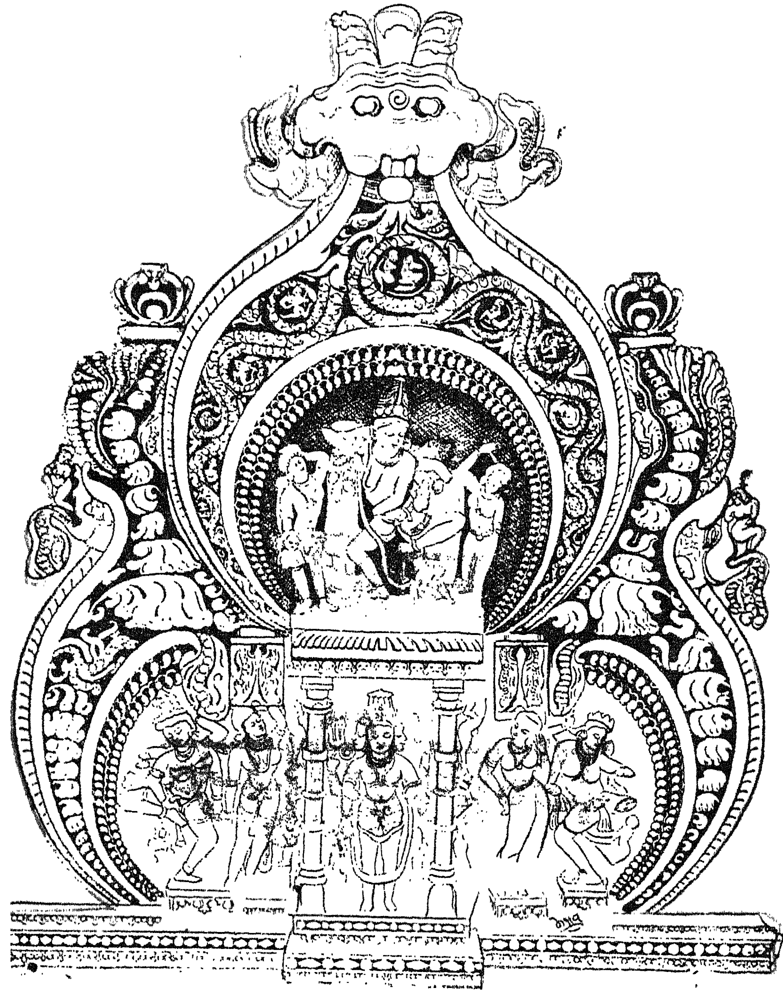
विक्रमार्चन

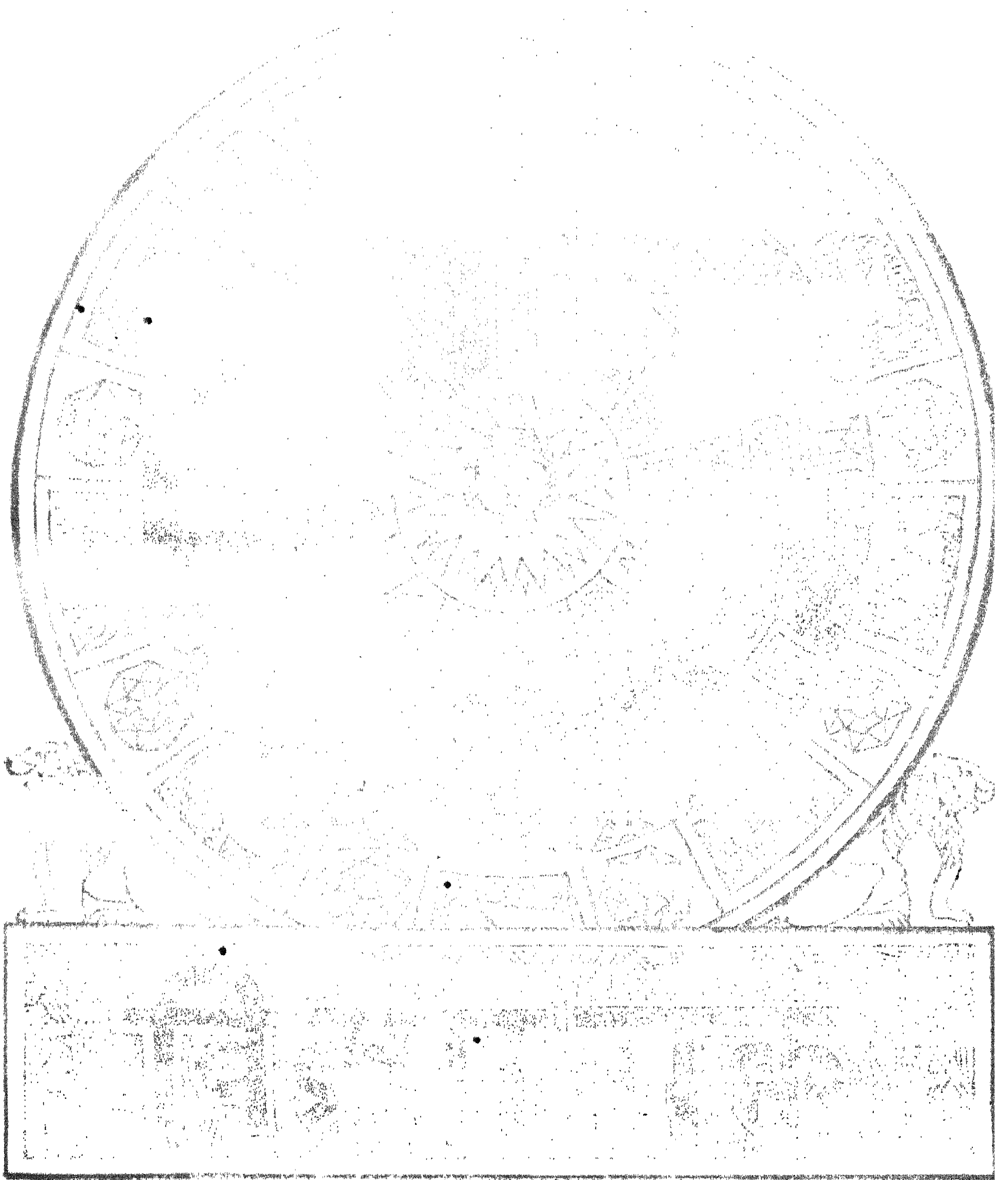
(तृतीय खण्ड)

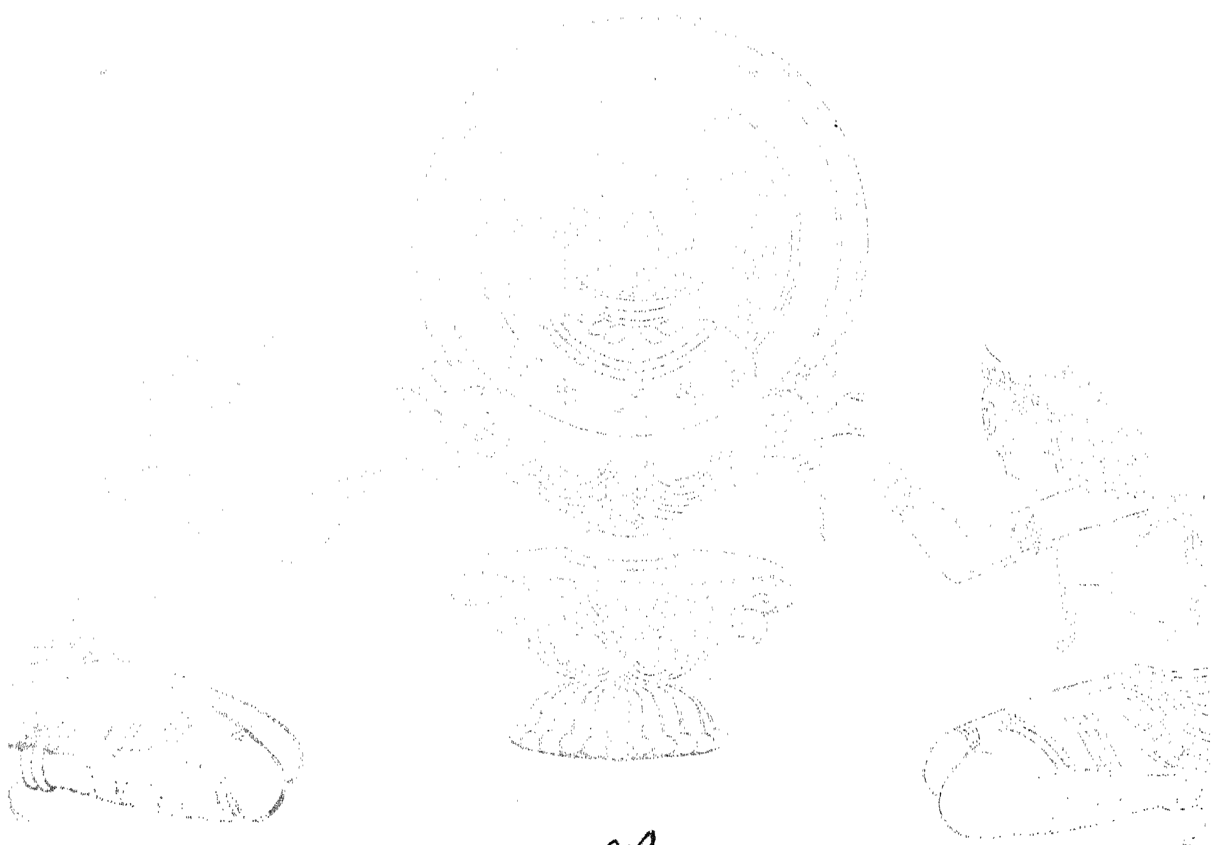
चित्र-सूची

(रंगीन)

(सादा)







श्री:

संवत्सर

दो सहस्र संवत् बीते हैं
हम निज विक्रम बिना आज फिर मरे मरे जीते हैं।
नित्य नये शक-हूण हमारा जीवन-रस पीते हैं
होकर भी क्या हुए आज भी उनके मनचीते हैं
आपस के सम्बन्ध हमारे कडुवे हैं तीते हैं
भरे भरे हैं हाय हृदय ये किन्तु हाथ रीते हैं।

मैथिलीशरण

* कीर्ति-कलाप *

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय

'हरिऔध'

(चौपदे)

जिस नृमणि की मनोज्ञ मुकुटाभा ।
है अनय तम निधन निरत होती ॥
कीर्ति सर्वस्व दिव्यता जिसकी ।
है सकल कालिमा कलुष खोती ॥

है डुबाती अनीतियाँ सारी ।
नीति जिसकी पुनीत धारा बन ॥
जो नृपति मंजु राज्य नभ-तल में ।
है जगत हित वितान देता तन ॥

जो प्रजा मंडली मयूरों का ।
है सरसता निकेत श्यामल घन ॥
पाठ पढ़ लोक-रंजिनी रुचि का ।
कर सका जो सदैव जन-रंजन ॥

है जिसे मर्म ज्ञात शासन का ।
है तुली न्याय की तुला जिसकी ॥
कान जिसकी प्रबन्ध-पटुता के ।
सुन किसी की नहीं सके सिसकी ॥

कर सदा भूरि कान्त करतूतें ।
पा सका जो विभूतियाँ न्यारीं ॥
है सुजनता भरी हुई जिसमें ।
है मनुजता जिसे बहुत प्यारी ॥

जो स्वयं वन्दनीय है बनता ।
कर सभी वन्दनीय का वन्दन ॥
जो धरा का सुधार करता है ।
सर्वदा धर्म का धुरंधर बन ॥

हैं हुए भाग्यमान भारत में ।
भूरिशः इस प्रकार के भूपति ॥
वे रहे देश-काल दिव के रवि ।
भव अगति भूति दिव्यतम अवगति ॥

हाथ हित रत उठा हुआ उनका ।
दान नभ को सदा रहा छूता ॥
प्रति दिवस राज में बरसता हुन ।
लाभ करता कनक सदन चूता ॥

थे खिले पूत भाव के पंकज ।
देख मुख लोक हित ललक रवि का ॥
देश में शान्ति-मूर्ति थी पुजती ।
क्रान्ति पर था हुआ पतन पवि का ॥

थी विजय की ध्वजा उमा कर में ।
जो बताती विभूति को विमला ॥
व्यक्ति को गौरवित गिरा करती ।
थी घरों में बिराजती कमला ॥

हैं उन्हीं में नितान्त कान्तचरित्र ।
विक्रमादित्य मान्य नृपसत्तम ॥
आज भी कीर्ति-कौमुदी जिनकी ।
कर सकी दूर दीर्घकालिक तम ॥

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास
एवं
विक्रम-संवत् का प्रादुर्भाव

श्री भगवतशरण उपाध्याय

प्रस्तुत इतिहास एक बहुत उलझे हुए समय का होने के साथ-साथ संक्षिप्त है। प्रथम शती ई० पू० अथवा प्रथम विक्रमीय शती का प्रायः डेढ़सौ वर्षों का भारतीय इतिहास प्रचुर प्रश्नात्मक है।* इसमें अनेक समस्याएँ हैं, अनेक पहेलियाँ, काफी जटिल। उन पर विस्तारपूर्वक केवल बड़ी पुस्तक में ही विचार किया जा सकता है। इस कारण इस लेख में उस विषय का उद्घाटन परिमित रूप से ही संभव है। इसका अपूर्ण होना अनिवार्य और निश्चित है। फिर भी यह लेख इस विषय के एक विस्तृत विवेचन का मार्ग खोल सकता है। यह स्वयं इस प्रकार के अध्ययन की अनुक्रमणिका मात्र है। अस्तु।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय इतिहास अत्यन्त उलझा हुआ है। अनेक जातियाँ, देशी और विदेशी, तत्कालीन भारतीय मंच पर अपना अभिनय करती रहीं। इस शताब्दी से शीघ्र पूर्व भारतवर्ष लगभग तीनसौ वर्षों तक साम्राज्य की छाया में रह चुका था। चन्द्रगुप्त मौर्य के नीतिकुशल अमात्य चाणक्य ने अपनी सूझ और अपने अध्यवसाय से प्रायः सारे देश को एक शासन में खींच लिया था और तब से--लगभग ३२५ ई० पू० से अथवा उससे भी पूर्व नन्द-काल से--प्रथम शती ई० पू० तक मगध साम्राज्य की तूती बोलती रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि साम्राज्य सर्वथा एक तो नहीं रह सका और अशोक के देहावसान के बाद ही दक्षिण के आंध्र-सातवाहन मौर्य साम्राज्य से दक्षिणापथ के प्रदेश खींच ले गए। शुंगों के समय, उनके शासन के पहिले ही, पूर्व में कलिंग का एक छोटा-मोटा साम्राज्य खड़ा हो गया था। और

---

* प्रस्तुत लेख प्रथम शती ई० पू० के कुछ पहले से आरंभ होकर प्रथम शताब्दी ईसा के बाद तक के प्रायः तीनसौ वर्षों के भारतीय इतिहास से सम्बन्ध रखता है।

यहाँ के राजा महामेघवाहन खारवेल ने मगध सम्राट् को अपने गजों से डरा दिया था। फिर चाहे हाथीगुम्फा शिलालेख की उसकी प्रशस्ति खोखली क्यों न हो और ग्रीकराज दिमित (Demetrios) ने चाहे युक्रेतिद के गृह-विद्रोह के कारण ही अपनी सेना को पाटलिपुत्र और मगध के पश्चिमी इलाकों से खींच लिया हो, खारवेल कम से कम अपनी प्रशस्ति में 'योनराज' को भारत से बाहर भगाने का गर्व तो कर ही सका था। फिर भी मगध किसी न किसी रूप में भारत का साम्राज्य-प्रतिनिधि बना रहा। मौर्यों, शुंगों और कण्वों के साम्राज्यकाल में ग्रीकों और शकों की मगध पर ही चोटें पड़ती रहीं और मगध निरन्तर छोटा होता हुआ भी अपने वैध प्रतिनिधित्व की रक्षा में पिसता रहा।

प्रथम शताब्दी ई० पू० का भारतीय रंगमंच प्रायः पाँच स्थलों में विभक्त है। (१) पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब; (२) मथुरा; (३) मगध का मध्यदेश; (४) सौराष्ट्र, गुजरात, और अवन्ती (उज्जयिनी); और (५) आंध्र-सातवाहनों का दक्षिणापथ। इन सब केन्द्रों से कई प्रकार के जातीय-विजातीय कुलों ने देश पर शासन किया और यद्यपि भौगोलिक विस्तार के अनुसार इस इतिहास का वर्णन पश्चिमोत्तर के सीमाप्रान्त अथवा दक्षिणापथ के आंध्रसात-वाहनों से आरंभ होना चाहिए था, राजनीतिक केन्द्र के कारण हम उसका आरंभ इस लेख में मध्यदेश अर्थात् मगध से करते हैं।

मगध—पुष्यमित्र शुंग ने ३६ वर्षों तक राज्य किया। ई० पू० १४८ के लगभग उसके देहावसान के बाद उसका पुत्र अग्निमित्र, जो कभी विदिशा में अपने पिता के साम्राज्य का शासक रह चुका था, सम्राट् बना। अग्निमित्र विलासी था। उसके विलास की कथा गुप्तकालीन कवि कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में लिखी है। इस समय उसकी आयु चालीस के ऊपर थी। उसका शासनकाल केवल आठ वर्षों तक रहा। फिर उसका भाई सुज्येष्ठ अथवा मुद्राओं का 'जेठमित्र' (ज्येष्ठमित्र) मगध की गद्दी पर बैठा और उसने सात वर्ष शासन किया। संभवतः इस समय पुष्यमित्र के कई बेटों ने मिलकर राज किया था। वायु-पुराण के अनुसार पुष्यमित्र के आठ बेटे थे, जिन्होंने सम्मिलित रूप से राज किया *। अग्निमित्र ने अपनी विलासिता में भी तलवार काफी मजबूती से पकड़ रखी थी, जैसा उसके विदर्भ-विजय से जान पड़ता है। कालिदास ने उसके रस-प्रिय जीवन का वर्णन और विदर्भ-विजय का उल्लेख साथ ही किया है †। सुज्येष्ठ अथवा जेठमित्र के पश्चात् अग्निमित्र का वीरपुत्र वसुमित्र राजा बना। वसुमित्र ने अपनी युवावस्था में ही अपनी वीरता का प्रमाण दिया था, क्योंकि पितामह पुष्यमित्र के दूसरे अश्वमेध में घोड़े का संरक्षक वही था। सिन्धुनद के तट पर यवनों (ग्रीकों) की एक सेना ने उस घोड़े को बाँध लिया। इसपर दोनों दलों में बड़ा युद्ध हुआ और अन्त में वसुमित्र ने ग्रीकों को हराकर पितामह के अश्वमेध की रक्षा की ‡। उसका राज-काल दस वर्ष रहा। पुराणों के अनुसार शुंगवंश में दस राजा हुए, परन्तु वसुमित्र के बाद के राजाओं के सम्बन्ध में इतिहास प्रायः कुछ नहीं जानता। शुंगों के पाँचवें राजा आद्रक (ओद्रक) ने दो वर्ष राज किया। छटवें और सातवें राजा क्रमशः पुलिन्दक और घोष हुए जिनमें से प्रत्येक ने तीन वर्ष राज किया और आठवें वज्रमित्र ने नौ वर्ष। भागवत शुंगों में नवाँ शासक था। संभवतः उसीका दूसरा नाम काशीपुत्र-भागभद्र था। काशीपुत्र-भागभद्र का नाम बेसनगर के वैष्णव स्तंभ-लेख में खुदा मिलता है। उसी राजा के दरबार में तक्षशिला के ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) ने अपना दूत भेजा था। इस दूत का नाम था 'दिय (Dion) का पुत्र हेलियोदोर (Heliodores)'। हेलियोदोर वैष्णव था और अपने को 'भागवत' कहता था। बेसनगर में उसने विष्णु का स्तंभ खड़ा किया। भागवत अथवा भागभद्र का शासनकाल पुराणों में बत्तीस वर्ष लिखा मिलता है। शुंगों का अन्तिम राजा देवभूति या देवभूमि था जिसने दस वर्ष राज किया। पुराणों के अनुसार वह व्यसनी था और उसे उसके मंत्री

---

* पुष्यमित्रसुताश्चाष्टौ भविष्यन्ति समा नृपाः—वायुपुराण।

† मालविकाग्निमित्र, अंक १, पृ. १०-११; निर्णयसागर संस्करण।

‡ .....सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः। तत उभयोः सेनयोर्महानासीत्संमर्दः।

ततः परान्पराजित्य वसुमित्रेण धन्विना।

प्रसह्य ह्रियमाणो मे वाजिराजो निवर्तितः॥१५॥ वही, पृ. १०२.

वसुदेव ने मार डाला *। यह वसुदेव कण्ववंश का ब्राह्मण था। देवभूति की इस दुःखद मृत्यु की चर्चा बाण ने भी अपने हर्षचरित में की है। उसमें लिखा है कि "वसुदेव ने अपनी दासी से जनी दुहिता द्वारा अतिस्त्रीगामी अनंगपरवश उस शुंग का उसकी रानी के वेश में वध करा दिया" †।

इस प्रकार काण्वायन नृपों का आरंभ शुंगों के अवसान पर लगभग ७२ ई० पू० में हुआ। काण्वायनों का कुल अल्प-कालिक हुआ। इसमें केवल चार राजा हुए, जिन्होंने कुल ४५ वर्ष राज्य किया ‡। इनमें से वसुदेव का शासनकाल नौ वर्ष, भूमिमित्र का चौदह वर्ष, नारायण का बारह वर्ष, और सुशर्मन् का दस वर्ष रहा।

शुंग और कण्व राजाओं के समय में ग्रीक और शक-आक्रमण हुए थे। अन्त में कण्वों के अन्तिम राजा के हाथ से कमजोर तलवार सातवाहन नृपति संभवतः सिमुक ने छीन ली। इन ग्रीक, शक, और सात आक्रमणों का उल्लेख विधिवत् गार्गी-संहिता के युग-पुराण में मिलता है। गार्गी-संहिता ज्योतिष का ग्रन्थ है। युग-पुराण उसीका प्रायः प्राचीनतम भाग है, जो उपलब्ध पुराणों में सबसे प्राचीन है। यह श्लोकबद्ध है, परन्तु संभवतः इसका प्राकृत-गद्यात्मक रूप ई० पू० प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में ही प्रस्तुत हो चुका था क्योंकि उस काल के पश्चात् के इतिहास का इसमें हवाला नहीं मिलता। इसका सम्पूर्ण मूल परिशिष्ट '**ख**' में दिया गया है। यहाँ उस मूल के प्रासंगिक भाग का अनुवाद मात्र दिया जाता है। युग-पुराणके पाठ जटिल हैं और उसके अनेक स्थल दुरूह हैं, पर उसके वर्णन से शुंग, शक और कण्व कुलों पर समुचित प्रकाश पड़ता है। युग-पुराण का वह अवतरण हम नीचे देते हैं:—

"तब शकों का दुष्टस्वभाववाला, अर्थलुब्ध, महाबली और पापी राजा विनाशकाल के उपस्थित होने पर कलिंगराज शत (शात–) की भूमि की तृष्णा करने के कारण मृत्यु को प्राप्त होगा। वह सबल द्वारा निधन को प्राप्त होगा (?)। उसके निम्न सरदार तो निश्चय मारे जाएँगे।

"शकराज के विनष्ट होने पर पृथ्वी सूनी हो जाएगी। पुष्प नाम की नगरी सूनी हो जाएगी, अत्यन्त वीभत्स। वहाँ कभी कोई राजा होगा, कभी न होगा।

"तब लोहिताक्ष अम्लाट (अम्नाट) नाम का महाबली धनुमूल (धनु के बल) से अत्यन्त शक्तिमान् हो उठेगा और पुष्य नाम धारण करेगा। रिक्त नगर को वे सर्वथा आक्रान्त कर लेंगे। वे सभी अर्थलोलुप और बलवान होंगे। तब वह विदेशी (म्लेच्छ) लोहिताक्ष अम्लाट रक्तवर्ण के वस्त्र धारण कर निरीह प्रजा को क्लेश देगा। पूर्वस्थिति को अधोगामी कर वह चतुर्वर्णों को नष्ट कर देगा।

"रक्ताक्ष अम्लाट भी अपने बान्धवों के साथ नाश को प्राप्त होगा। तब गोपालोभाम नामक एक नृपति होगा। वह गोपाल नृपति भी पुष्यक के साथ राज्य का साल भर भोग कर निधन को प्राप्त होगा। तब पुष्यक नाम का धर्मपर राजा होगा। वह भी वर्ष भर राज करके अन्त लाभ करेगा। उसके बाद सविल नामक महाबली और अजित राजा होगा जो तीन वर्ष के शासन के बाद नष्ट होगा।

"फिर विकुयशस् नामक अब्राह्मण लोक में प्रसिद्ध होगा। उसका शासन भी अनुचित और दुष्ट होगा, जो तीन वर्षों तक चलेगा।

---

* देवभूतिं तु शुंगराजानं व्यसनिनं तस्यैवामात्यः कण्वो वसुदेवनामा तं निहत्य स्वयमवनीं भोक्ष्यति।—विष्णु-पुराण, ४, २४, ३९ पृ. ३५२ गीताप्रेस संस्करण।

† अति स्त्रीसंगरतमनंगपरवशं शुंगममात्यो वसुदेवो देवभूतिदासीदुहित्रा देवीव्यञ्जनया वीतजीवितमकारयत्। हर्षचरित, ६, पृ. १९९, बम्बई, १९२५। और देखिए पार्जिटर की पुस्तक *Dynasties of the Kali Age*, पृ. ७१।

‡ चत्वारः शुंगभृत्यास्ते नृपाः काण्वायना द्विजाः—वायुपुराण।

विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

"तब पुष्पपुर उसी प्रकार (पूर्ववत्) जनसंकुल (बहुसंख्यक) हो जाएगा। सिद्धार्थ-जन्मोत्सव वहां अत्यन्त उत्साह से मनाया जाएगा। नगर के दक्षिण भाग में उस (सिद्धार्थ वीर) का वाहन दिखाई देता है, जहां उसके दो सहस्र अश्व और गजशकट खड़े हैं। उस समय उस स्तंभयुक्त भद्रपाक देश में अग्निमित्र होगा। उस देश में महाभाग्यशालिनी एक कन्या जन्म लेगी। उसके लिए उस राजा का ब्राह्मणों के साथ दारुण युद्ध होगा। वहाँ विष्णु की इच्छा से निश्चय वह अपना शरीर छोड़ देगा। उस घोर युद्ध के बाद अग्निमित्र (अग्निवैश्य) का पुत्र राजा होगा। उसका शासन सफल होगा जो बीस वर्षों तक कायम रहेगा। तब महेन्द्र की भाँति वह अग्नि (मैत्र्य अथवा वंश्य) राज्य को प्राप्त कर शकों (जायसवाल--शबरों?) की एक संघवाहिनी से युद्ध करेगा। उस युद्ध में प्रवृत्त उस राजा की वृषकोट (?) (नामक अस्त्र) से मृत्यु हो जाएगी।

"उस सुदारुण युद्धकाल के अन्त में वसुधा शून्य हो जाएगी और उसमें नारियों की संख्या अत्यन्त बढ़ जाएगी। करों में हल धारण कर स्त्रियाँ कृषिकार्य करेंगी और पुरुषों के अभाव में नारियाँ ही रणक्षेत्रों में धनुर्धारण करेंगी। उस समय दस-दस बीस-बीस नारियाँ एक-एक नर को वरेंगी। सभी पर्वों और उत्सवों में चारों ओर पुरुषों की संख्या अत्यन्त क्षीण होगी, सर्वत्र स्त्रियों के ही झुंड के झुंड दीखेंगे, यह निश्चित है। पुरुष को जहाँ-तहाँ देखकर 'आश्चर्य'! 'आश्चर्य'! कहेंगी। ग्रामों और नगरों में सारे व्यवहार नारियाँ ही करेंगी। पुरुष (जो बचे खुचे होंगे लाचारी से) सन्तोष धारण करेंगे और गृहस्थ प्रव्रजित होंगे।

"तब सातुश्रेष्ठ (शात) अपनी सेनाओं से पृथ्वी जीत लेगा और दस वर्ष पर्यन्त राज करके निधन को प्राप्त होगा।

"फिर असंख्य विक्रान्त शक-प्रजा को आचारभ्रष्ट होकर अकर्म करने पर बाध्य करेंगे। ऐसा सुना जाता है। जन-संख्या का चतुर्थ भाग शक तलवार के घाट उतार देंगे और उनका चतुर्थ (शि धन) संख्या अपनी राजधानी को ले जाएँगे।

"उस राज्य के नष्ट होने पर (शक अथवा शात?) शिप्रा की प्रजा में देव (इन्द्र) बारह वर्षों तक अनावृष्टि करेगा। दुर्भिक्ष और भयपीड़ित प्रजा नष्ट हो जाएगी। तब उस रोमहर्षण दुर्भिक्ष और पापपीड़ित लोक में युगान्त होगा और साथ ही प्राणियों का विनाश। इसमें सन्देह नहीं कि तब जनमार का नृत्य होगा।"

ऊपर के स्थलों में कुछ महत्वपूर्ण और ऐतिहासिक हैं। जान पड़ता है, अग्निमित्र के उत्तराधिकारियों में एक बार अन्तर्द्वन्द्व चला। तब किसी शक राजा ने साम्राज्य स्थापित करना चाहा। यह संभवत: १०० ई० पू० का प्रथम शक आक्रमण था, जो शायद मथुरा के क्षत्रपों का था। ये अन्त्य शुंगों के समसामयिक थे। कालिंग शात संभवत: कोई सातवाहन राजा है, जिसने शकों को उनके सरदारों के साथ मार भगाया।

इन्हीं दिनों भारत के किसी भाग पर (जिसका उल्लेख युगपुराण में नहीं है) म्लेच्छ राजाओं का एक परिवार राज कर रहा था। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने उनको हिन्दू-ग्रीक माना है * और प्रत्येक का एक संभावित ग्रीक नाम दिया है, परन्तु यह युक्तपूर्ण नहीं जँचता।

अग्निमित्रों के उत्तराधिकारियों के बाद सातु राजा का उत्थान होता है। यह कोई सातवाहन राजा था है।

इस काल में शकों के अत्याचार से पाटलिपुत्र की पुरुष संख्या अत्यन्त न्यून हो जाती है और स्त्रियाँ ही सर्वत्र कार्यों में नियुक्त हैं। बचे-खुचे पुरुष भी अधिकतर सन्यस्त हो गए हैं।

सातु राजा के बाद दूसरा शक-काल प्रारंभ होता है। क्षिप्रा के तट के निवासियों में शकों ने अनाचार फैला दिया है। शक मालवा की प्रजा का चतुर्थांश नष्ट कर चुके हैं और दूसरा चतुर्थांश या तो दास बनाकर अपनी राजधानी को ले गए हैं या उनके धन का चतुर्थांश उन्होंने अपहरण कर लिया है। इसके बाद ही दुर्भिक्ष और जनमार (प्लेग) संसार को आक्रान्त कर लेता है।

---

* *J. B. O. R. S.*, खण्ड १४, भाग ३, पृ. ४१२.

श्री भगवतशरण उपाध्याय

पश्चिमोत्तर का सीमाप्रान्त और पंजाब––सिल्यूकिद-साम्राज्य से करीब एक ही समय (तीसरी शती ई० पू० के मध्य) उसके दो विशाल सूबे पार्थव (खुरासान और कास्पियन सागर की दक्षिण-पूर्वी तटवर्ती भूमि) और बाख्त्री (वल्हीक) विद्रोही होकर निकल गए। इनमें हिन्दू-पार्थव राजाओं का भी कुछ काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त से जब-तब सम्बन्ध बनता-बिगड़ता रहा, परन्तु हिन्दू-बाख्त्री राजा तो एक लम्बे काल तक भारत के पश्चिमी सीमाप्रान्त और पंजाब के स्वामी बने रहे। इनमें से दिमित (दिमित्रिय, युगपुराण का धर्ममीत Demetrios) और उसके जामाता मिनान्दर (मिलिन्दपञ्हों के मिलिन्द, Menander) ने पाटलिपुत्र पर भी एक बार कब्जा कर लिया था। युक्रेतिद के राज्य में एक अर्से तक बाख्त्री, काबुल, गन्धार और पश्चिमी पंजाब रहे। पूर्वी पंजाब, शाकल, सिन्ध और समीपवर्ती प्रान्त युथिदेमो के शासन में रहे जो मिनान्दर के अधिकार में आए। मिनान्दर पुष्यमित्र से हारने के पहले दिमित के सारे पूर्वी प्रान्तों का राजा था, काबुल से मथुरा तक। पुष्यमित्र के साथ युद्ध में वह मारा गया और तब वसुमित्र ने उसके राज्य को अपने पितामह पुष्यमित्र के राजसूय-अश्व द्वारा रौंद डाला। सीमाप्रान्त के बाख्त्री राजा हेलिआकल के अनेक उत्तराधिकारियों में से कुछ ही ऐसे हैं जिनके नाम के सिवा हम और कुछ भी उनके विषय में जानते हैं। इनमें से एक 'अन्तलिखित' तक्षशिला का राजा कहा गया है। बेसनगर के विष्णुस्तंभ के लेख से विदित होता है कि उसने अपने दूत दिय के पुत्र हेलियोदोर को उस शुंगराज काशीपुत्र भागभद्र के पास भेजा था, जो संभवत: पाँचवाँ शुंग ओद्रक या नवाँ भागवत है। वह ग्रीक दूत अपने को भागवत कहता है। अन्तलिखित के अधिकतर सिक्के अन्य ग्रीक राजाओं की भाँति ही 'दुभाषिया' हैं। भारतीय सीमाप्रान्त और काबुल का अन्तिम ग्रीक शासक हरमियस् था, जो प्रथम शती ई० पूर्वार्ध में था। कुषाणों की चोट से वह धीरे-धीरे टूट गया।

शक और पह्लव––तक्षशिला, मथुरा, सौराष्ट्र, गुजरात, महाराष्ट्र और अवन्ती––मध्य एशिया सदा से दुर्द्धर्ष जातियों की क्रीड़ाभूमि रही है। लगभग १६५-१६० ई० पू० में उस भूमि पर घुमक्कड़ जातियों का निष्क्रमण जोर पकड़ने लगा। चीन के पश्चिमोत्तर भाग में युह्ची जाति का निवास था। जातियों की उथलपुथल के कारण मजबूर होकर उन्हें पश्चिम की ओर हटना पड़ा। पश्चिम की ओर बढ़ते हुए वे सीर दरिया के उत्तर में बसनेवाले शकों से जा टकराए। इसका फल यह हुआ कि शक अपना देश छोड़ दक्षिण की ओर बढ़े और १४० और १२० ई० पू० के बीच वे वंक्षुसिंचित बाख्त्री और पार्थव राज्यों पर टूट पड़े। बाख्त्री में दिमित और युक्रेतिद के गृह-युद्ध के बाद हेलियाकल का नृशंस शासन शुरू हुआ था। हेलियाकल वह सुयशी था जिसने अपने पिता को मारकर उसके शरीर और खून पर अपना रथ दौड़ाया था! पश्चात् उसमें और उसके भाई में भी गृह-युद्ध होने लगा था। इसी समय शक-शक्ति की जो बाढ़ आई, उसमें बाख्त्री का राजपरिवार डूब गया। तब शक लोग दक्षिण-पश्चिम पार्थव की ओर मुड़े, और पार्थवों के राजा फ्रात द्वितीय को १२८ ई० पू० में उन्होंने मार डाला। इस समय पार्थवराज आर्तबान (Artabanus, ऋतुपर्ण) तुखारियों से लड़ रहा था। अब उसे उनके साथ शकों से भी लड़ना पड़ा। १२३ ई० पू० में वह लड़ाई में मारा गया। उसके उत्तराधिकारी मज्ददात द्वितीय (Mithridates II) (ई० पू० १२३–ई० पू० ८८) ने अपनी विचलित कुललक्ष्मी फिर से स्तंभित करली और उसने शकों को पूर्णतया परास्त कर पूर्व की ओर खदेड़ा। उनके सामने काबुल की घाटी में हिन्दू-ग्रीकों का राज्य था, इसलिये वे सीस्तान या शकस्थान में फैल गए। फिर कन्दहार और बलूचिस्तान होते हुए वे सिन्धुदेश में उतरे, जिसे हिन्दू शकद्वीप और ग्रीक भौगोलिक इन्डो-सीथिया (Indo-Scythia) कहते हैं। भारत में शकों का आगमन लगभग ई० पू० १०० के हुआ।

शकों के भारत में आने का वर्णन जैन-ग्रन्थ 'कालकाचार्य-कथानक' में बड़े मनोरंजक रूप से मिलता है। उसके अनुसार आचार्य कालक 'सगकुल' जाकर उन्हें 'हिन्दुगदेश' (उज्जैन) लाए। शक उनके पीछे चलते हुए सिन्धु के तट पर पहुँचे। फिर सिन्धुनद को पारकर बढ़ते हुए सुरट्ठ (सौराष्ट्र) देश में प्रविष्ट हुए। 'सगकुल' का एक समान अधिपति था, 'साहानुसाहि'। स्वयं 'सगकुल' अनेक साहियों में विभक्त था। जब मज्ददात शक्तिमान् हो गया तब उसने अपने पूर्वज आर्तबान की मृत्यु का शकों से बदला लेना चाहा। उसने साहियों या 'सगकुल' के पास अपने दूत द्वारा आज्ञा भेजी कि शकों के सारे सरदार यदि अपने कुल और बन्धु-बान्धवों का विनाश न चाहते हों तो आत्महत्या करलें वरन् मज्ददात

से उन्हें युद्ध करना पड़ेगा और हारने पर उनका वह सर्वनाश कर देगा। 'सगकुल' इसपर बहुत व्याकुल हुआ। इसी समय आचार्य कालक उनमें ठहरे हुए थे। उन्होंने उनको सीस्तान् छोड़ 'हिन्दुगदेश' चलने की सलाह दी। इस पर ९६ साहियों ने अपनी सेनाओं के साथ भारत में प्रवेश किया। उनमें से एक 'साहि' उनका अधिपति बना और उज्जयिनी को राजधानी बना शासन करने लगा। इस प्राकृत अनुश्रुति के संस्कृत पाठ में कहा गया है कि आचार्य कालक सिन्धुनद के तीर के पर्श्वकुलों में गए। वहाँ के सभी राजा या शासक 'साखि' या 'साहि' कहलाते थे। पर्श्वकुल पर्शवों की याद दिलाते हैं। इस स्थल का तात्पर्य उससे था जो पूर्वी फारस से लगा हुआ है या जिसे शक ईरानी समझते थे। संस्कृत अनुश्रुति के अनुसार ९५ साही मालवा की भूमि में आ बसे और इनमें से एक शेष साहियों का अधिपति अथवा प्रमुख शासक बना (या चुन लिया गया)। उसकी राजधानी, शक-नवोपनिवेश का केन्द्र, उज्जयिनी हुई।

'कालकाचार्य-कथानक' के अनुसार शक लोग सिन्धुनद पार करते ही सुराष्ट्र के स्वामी बन गए। इससे तात्पर्य यह है कि गुजरात की ओर से चलकर सिन्धु पार जाते ही 'सगकुल' मिलता था। अर्थात्, उनके काठियावाड़ में सीधा पहुँचने से सिद्ध होता है कि जिस स्थान से वे यहाँ आए वह सीस्तान के अतिरिक्त अन्य देश न था।

इस कथानक के अनुसार शकों का भारत-प्रवेश और सुराष्ट्र-मालवा का समय विक्रम-संवत् के आरंभ के पूर्व था। पर उसमें इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि उज्जयिनी और मालवा के शक-विजय के कितने समय बाद प्रथम शक-कुल (शासक-कुल) का अन्त हुआ। वास्तव में कथानक जानबूझकर इस घटना की तिथि को अस्पष्ट अथवा अकथित रखता है। उसमें 'कालन्तरेन केणाई'* का पाठ है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल के अनुसार जिनसेन के आँकडे बनिस्बत 'पट्टावलि' के अधिक सही हैं और वे भी अवन्ती के शक-शासन का यह प्रथम युग लगभग १०० ई० पू० और ५८ ई० पू० के मध्य मानते हैं†।

प्राय: सभी प्रमाणों से उज्जयिनी की शकों द्वारा विजय लगभग १०० ई० पू० के हुई। और ये प्रथमयुगीय शक ही प्रमाणतः मालवा‡ से मथुरा की ओर बढ़ गए। इस प्रकार शक संभवतः मालवा से बढ़कर मथुरा के शुंगों के उत्तराधिकारी हुए। गार्गी संहिता का 'युग-पुराण' शकों की उज्जयिनी-विजय से कुछ ही बाद प्राय: प्रथम शती ई० पू० के उत्तरार्ध में लिखा गया था और इस रूप में वह शकों की इस विजय-घटना का एक समसामयिक प्रमाण सा है। युगपुराण में यह शक-आक्रमण १०० ई० पू० के लगभग शुंग-शासन में ही हुआ। श्री० रैप्सन का कहना है कि शक-रज्जुकुल के माथुरी सिक्के अपनी शक्ल और धातु दोनों में पञ्चाल (शुंग) और मथुरा के हिन्दू राजाओं के सिक्कों से मिलते हैं⁑। उज्जयिनी और मथुरा विजय के कुछ ही वर्षों बाद पाटलिपुत्र का शुंग-कुल राज-च्युत कर दिया गया। काण्वायन मंत्री वसुदेव ने अन्तिम शुंगराज विषयी देवभूति को दासी से उत्पन्न अपनी दुहिता द्वारा मरवा डाला। इधर शक अपने उज्जयिनी-केन्द्र से भारत के अनेक प्रान्तों में फैल गए, जहाँ उनकी शक्ति का साका कुछ काल तक चलता रहा।

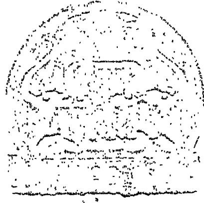
तक्षशिला और पश्चिमोत्तर के शक—शकों के प्रारंभिक भारतीय शासन के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान सहज ही अपूर्ण और सन्देहात्मक है। भारत का प्राचीनतम शासक कौन था यह निश्चित रूप से कहना कठिन है, परन्तु अधिकतर प्रमाण उसके मय (Maues) होने के पक्ष में हैं। मय शायद पञ्जाब की नमक की पहाड़ियोंवाले मेरा-कूप-लेख का मोअ और क्षत्रप पतिक के तक्षशिला-पत्र-लेख का मोग (मग) ही है। परन्तु इस सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का दूसरा विचार है।

* *ZDMG.*, १८८०, पृ. २६७; कोनो, पृ. XXVII.

† जायसवाल, Problems of Saka-Satavahana History, *JBORS* खण्ड १६ भाग ३ और ४, पृ. २२८ से आगे।

‡ **मालवा को यह नाम मालवों ने शकों को हराकर और स्वयं उस प्रान्त में बसकर दिया, जो इस काल से कुछ बाद हुआ। अतः वास्तव में उसे इस काल में अवन्ति कहना चाहिए। सुविधावश ही अवन्ति को मालव कहा गया है।—लेखक।**

⁑ *Indian Coins* पृ. ९, १३.



महाराष्ट्र का क्षहरात-कुल—क्षहरात शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कुछ कहना कठिन है। संभव है उसका सम्बन्ध तक्षशिला के पास के तत्कालीन 'छहर' नामक इलाके से हो। यह कुल महाराष्ट्र में शासन करता था। इसका पहला क्षत्रप भूमक था, जिसने सुराष्ट्र में राज किया। भूमक नहपान का पूर्ववर्ती शासक था जैसा उसके सिक्कों की बनावट, धातु, तथा उन पर खुदी लिखावट से जान पड़ता है। उसके सिक्के फिर स्पलिरिस और अयस् दोनों के संयुक्त सिक्कों के अंकनादि से मिलते हैं। इस कुल का सबसे प्रसिद्ध क्षत्रप नहपान हुआ। वह भूमक के बाद ही गद्दी पर बैठा, पर हमें पता नहीं कि भूमक और नहपान का पारिवारिक सम्बन्ध क्या था। परन्तु नहपान के शक होने में कोई सन्देह नहीं। उसका जामाता उषवदात (ऋषभदत्त) था जो एक लेख में अपने को स्वयं शक कहता है। उससे नहपान की जो कन्या व्याही थी, उसका हिन्दू नाम था दक्षमित्रा। पाण्डुलेण (नासिक के समीप), जुन्नार और कार्ले (जिला पूना) के लेखों सें स्पष्ट है कि नहपान महाराष्ट्र के एक बहुत बड़े भूभाग का स्वामी था। उसने यह सारी भूमि सातवाहनों से जीती थी। उसने अपने जामाता को मालवों के विरुद्ध उत्तमभद्रों की सहायता के अर्थ भेजा था। अपनी विजय के बाद उषवदात ने पुष्करतीर्थ पर कुछ दान किया। नहपान का राजनीतिक प्रभाव इस प्रमाण से अजमेर के प्रान्त तक पहुँचा जान पड़ता है। उसके लेख किसी अनिश्चित संवत् के ४१-४६ वें वर्ष के हैं। संभवतः ये तिथियाँ शक संवत् की हैं। यदि ये तिथियाँ विक्रम संवत्* की नहीं हैं तो निश्चय नहपान ११९-२४ ई. में शासन करता था। कुछ विद्वानों ने उसे 'पेरिप्लस ऑव दि इरिथ्रियन सी' नामक ग्रीक पुस्तक में आए मम्बरुस या मम्बैनस नाम से समान माना है†। यदि यह तिथि सही हुई तो उसे ईसा की पहली शती के तीसरे चतुर्थांश में होना चाहिए जैसा गलथम्बी के सिक्कों और नासिक-लेख से विदित होता है, क्योंकि नहपान अथवा उसके किसी उत्तराधिकारी की शक्ति सातवाहन नरेश गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि ने नष्ट करदी। परन्तु वास्तव में जितना नहपान की तिथि में सन्देह है उतना ही गौतमीपुत्र की में। दोनों का स्थिर करना कठिन है।

उज्जैन के क्षत्रप—उज्जैन के क्षत्रपों का प्रभुत्व पश्चिमी भारत में कई शताब्दियों तक कायम रहा। यसामोतिक का पुत्र चष्टन उज्जैन-कुल के क्षत्रपों का प्रारंभक था। चष्टन और तालेमी का ओजेनवाला तियस्तेनि (Tiastenes of Ozene) संभवतः एक ही थे। उसके सिक्के नहपान के सिक्कों से मिलते हैं और शायद उन्हीं की नकल हैं। चष्टन ने पहले क्षत्रप फिर महाक्षत्रप के पद से शासन किया। जूवो दुब्रोआ उसे गौतमीपुत्र या कुषाणों का सामन्त-राजा मानते हैं।‡ चष्टन का पुत्र और उत्तराधिकारी जयदामा केवल क्षत्रप था। उसके शासनकाल में कोई महत्वपूर्ण घटना नहीं हुई और न उसने किसी प्रकार का सुयश ही कमाया। परन्तु उसका पुत्र और चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महान् शासक हुआ। उसके प्रशस्तिलेख से उसकी समृद्धि और शक्ति का पता चलता है। १५० ई० का उसका जूनागढ़वाला शिलालेख उसके महान् कार्यों की प्रशंसा करता है।⁑ इससे पता चलता है कि उसने उचित शासन और विजय दोनों किए। उसने गर्वीले यौधेयों को जीता और दक्षिणापथ के स्वामी शातकर्णि को दो बार परास्त किया। वह महाक्षत्रप पद को प्राप्त हुआ था§। दूर दूर के देश उसका शासन मानते थे। उत्तरी गुजरात, सुराष्ट्र, कच्छ, सिन्धु की निचली तटवर्ती भूमि, उत्तरी कोंकण, मान्धाता का प्रान्त, पूर्वी और पश्चिमी मालवा और राजपूताना के कुकुर, मरु ‡ आदि प्रदेश सब उसके शासन की सीमाओं के अन्तर्गत थे। इनमें से कुछ प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अधिकार में कभी रह चुके थे, जिससे जान पड़ता है कि रुद्रदामा ने अपना राज्यविस्तार सातवाहनों को ही पंगु करके किया। उसके शासनकाल में सुदर्शन ह्रद के बाँध टूट गए थे जिन्हें उसके आनर्त्त और सुराष्ट्र के पह्लव प्रान्तीय शासक ने तीनगुना मजबूती से फिर से बँधवाया। उसका यह प्रान्तीय शासक कुलैप का पुत्र सुविशाख नाम का था। रुद्रदामा ने इस कार्य का सम्पूर्ण व्यय बिना प्रजा पर कर लगाए

* Dubreuil, *Ancient History of Deccan*, पृ. २२.

† उसकी राजधानी जायसवाल के अनुसार भरुकच्छ थी।

‡ *Ancient History of Deccan*, पृ. ३७.

⁑ *Epigraphia Indica*, VIII, पृ. ३६–४९.

§ स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना।

‡ पूर्वापराकरावन्त्यनूपनीवृदानर्तसुराष्ट्रश्वभ्र (म) रुकच्छसिन्धुसौवीरकुकुरापरान्तनिषदादीनां समग्राणां तत्प्रभावात्................।



हुए अपने कोष से दिया था। पश्चिमी व्यापारपरक प्रदेशों के स्वामी होने के कारण और उसकी राजधानी उज्जयिनी के सार्थवाह-राजमार्ग पर स्थित होने के कारण उसके कोष में अतुल सम्पत्ति धारावाहिक रूप से गिरती होगी।

रुद्रदामा के उत्तराधिकारी हुए तो अनेक पर वे अधिकतर नगण्य ही थे। तृतीय शती ईसवी में ईश्वरदत्त के नायकत्व में आभीरों ने क्षत्रपों के राज्य पर आक्रमण करके उसे क्षत-विक्षत कर दिया। फिर भी क्षत्रपों का यह कुल जीवित रहा। उनके अन्तिम राजा का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नाश किया, जो संभवतः रुद्रसिंह तृतीय था।

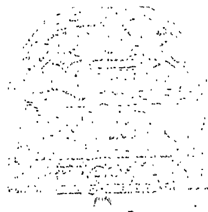
उज्जयिनी के शकों का ही ५८ ई० पू० में नाश कर मालवों का गण वहाँ स्थापित हुआ, जिसने अपने नाम से उस अवन्ति-देश का नया संस्कार किया और अपनी इस राष्ट्रीय विजय के उपलक्ष में नए सिक्के (मालवानांजयः) चलाए और देश को विक्रम नामक एक राष्ट्रीय संवत् प्रदान किया जो उसी विजय की तिथि से चला। उसका विषय मालवों के अपने इतिहास से अधिक सम्बन्ध रखता है, अतः उस मालव-विक्रम-संवत् पर परिशिष्ट 'क' में स्वतंत्र और सविस्तर विचार करेंगे।

पह्लव---भारतीय इतिहास में हिन्दू-पार्थव अथवा पह्लवों का इतिहास भी जटिल है। परन्तु इनके सम्बन्ध के कुछ सिक्के और लेख हैं जिनसे इस राजकुल पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है। वोनोनी (Vonones) इस कुल का आदि पुरुष था जो अराकोसिया और सेइस्तान में प्रचुर शक्ति लाभ कर राजाधिराज बन गया। उसके सिक्के युक्रेतिद के कुल के सिक्कों के समान हैं। उनपर वह अपने भाइयों स्पलिरिस् और स्पलहोरिस् तथा भतीजा स्पलगदमिस् से संयुक्त है। संभवतः उसके भाई-भतीजे उसके 'विजित' के गवर्नर (प्रान्तीय शासक) थे। वोनोनी के बाद स्पलिरिस् राजा हुआ। यही शायद अयस् द्वितीय का अधिपति था। उसके कुछ सिक्कों पर ग्रीक भाषा में सामने उसका नाम खुदा मिलता है और पीछे खरोष्टी में अयस् का।

गुदुफर (Gondophernes), गुदुह्वर, गुडन और विन्दफर्ण आदि कई नामों से जाना जाता है। स्पलिरिस् के बाद वही गद्दी पर बैठा। हिन्दू-पार्थव राजाओं में सबसे महान् वही था। तख्त-ए-बाही लेख ने उसका काल निश्चित कर दिया है। वह लेख १०३वें वर्ष का है*। यह उस राजा का २६वाँ शासनवर्ष है। उसने संभवतः १९ ई० से ४५ ई० तक राज किया। वह पूर्वी ईरान और पश्चिमी भारत के सारे शक-पह्लवों का राजा हो गया। कुछ ईसाई अनुश्रुतियों में उसे 'भारत का राजा' कहकर उसका सन्त टामस से संपर्क बताया गया है। संभवतः वह ईसाई सन्त गुदुफर से मिला था। गुदुफर के मरने पर उसका राज्य टूकटूक हो गया। अन्त में कुषाणों ने उन टुकड़ों को भी आत्मसात् कर लिया।

सातवाहन---उपनिषत्काल में और कदाचित् उससे पहले ही जो ब्राह्मण-राजन्य संघर्ष आरंभ हो गया था वह प्रचुर काल तक चलता रहा। उसकी वास्तविक समाप्ति गौतम बुद्ध के समय हुई, जब उनके उपदेशों के फलस्वरूप ब्राह्मण धर्म प्रायः शिथिल पड़ गया, परन्तु उसका एक बड़ा बुरा प्रभाव देश पर यह पड़ा कि गृहस्थ अधिकतर गृह छोड़ विहारवासी हो चले। ब्राह्मणों के साथ श्रमणवर्ग की भी गणना होने लगी और शीघ्र क्षात्रवृत्ति करनेवाले राजन्यों की संख्या विशेष रूप से घट चली। तभी ईरानी सम्राट् दारा (दारयबहु) ने बढ़कर पंजाब (सिन्धु) अपने साम्राज्य में मिला लिया। भारतीय क्षत्रियों ने वास्तव में काषाय त्रिचीवर धारण कर अपनी तलवार घर के कोनों में टिका दी। इस समय ब्राह्मण, जिनके गृहस्थ अधिकतर श्रमण अथवा गृहवासी बौद्ध उपासक हो गए थे, अपनी वृत्ति के छूटने के कारण संभवतः कुछ चैतन्य हो गए। वर्णाश्रम-धर्म की चूलें ढीली पड़ चुकी थीं। इसी समय उनके नेताओं ने देखा कि भारत का पश्चिमोत्तर प्रान्त विदेशी आक्रमणों द्वारा आक्रान्त रहने लगा। ईरानियों के बाद ग्रीक आए---अलिकसुन्दर, सेलिउक और दिमित। फिर उनके नेताओं ने अपनी शक्तियों को एकत्र किया। राजन्यों की घर के कोनों में टिकाई तलवार ब्राह्मणों ने उठालीं और फलस्वरूप द्वितीय शती ई० पू० में हमारे इतिहास में एक नए भारत का नक्शा खड़ा हो गया, जो ब्राह्मण-साम्राज्यों का था। एक ही समय में भारतवर्ष में तीन ब्राह्मण-साम्राज्य स्रुवा फेंक अस्त्रहस्त हुए। वे थे मगध के शुंग, कलिंग के चेदि (चैत्र) और दक्षिण में सातवाहन। इनमें अन्तिम सातवाहनों का इतिहास नीचे दिया जाता है।

* स्तेन कोनो, *CII* खण्ड २, नं. २०, पृ. ५७-६२.



विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

सातवाहनों के आरंभ के सम्बन्ध में कुछ लिखना कठिन है। अशोक के 'सतियपुत' और इतिहासकार प्लिनी के 'सेतई' (Setai) से उनका सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है परन्तु ऐसा प्रयत्न वैसेही असफल हुआ है जैसे जिन प्रभासूरि के 'तीर्थकल्प' अथवा 'कथासरित्सागर' (६, ८७) का। शिलालेखों में उनके राजाओं को अधिकतर 'शातकर्णि' और 'सातवाहन' कहा गया है। परन्तु इन दोनों शब्दों का अर्थ करना कठिन है। विद्वानों में इस विषय में सहज ही मतैक्य भी नहीं है। नासिक-लेख में निस्सन्देह गौतमीपुत्र को 'एकबम्हन' और शक्ति में राम (परशुराम) सरीखा कहा गया है*। उसे क्षत्रियों के दर्प और मान का दमन करनेवाला (खतियदपमानमदनस्य)† कहा गया है। इस प्रकार सातवाहनों का ब्राह्मण होना प्रायः सिद्ध ही है। पुराण सातवाहनों को 'अन्ध्र' कहते हैं। अन्ध्र लोग गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच के भूभाग तेलुगू के रहनेवाले थे। उनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं। उनका उल्लेख ऐतरेय ब्राह्मण, मेगैस्थेनीज की 'इण्डिका' और अशोक के शिलालेखों में हुआ है। अन्ध्र मौर्य-साम्राज्य के अन्त में स्वतंत्र हो गए। परन्तु यह ठीक समझ में नहीं आता कि उनका सातवाहनों से क्या सम्बन्ध था? इसमें कोई सन्देह नहीं कि सातवाहन लेखों में 'अन्ध्र' शब्द नहीं मिलता। सातवाहनों के प्राचीनतम लेख नानाघाट (पूना जिला) और साँची (मध्य भारत) में मिले हैं, जहाँ से उठ कर उन्होंने अन्ध्र देश जीत लिया था। उन दक्खिन-निवासी सातवाहनों का सचमुच ही प्राचीन आन्ध्रों से कहाँ तक रक्त-सम्बन्ध था यह कहना कठिन है। साधारणतया उन्हें आन्ध्र भी कहते होंगे जो संभवतः उनके अन्ध्र देश जीत लेने के कारण और उसके बाद हुआ होगा।

सातवाहनों का समय—जितना कठिन सातवाहनों का मूल निश्चित करना है, उससे कहीं अधिक कठिनाई उनके काल-निर्णय के सम्बन्ध में हमें पड़ती है। पुराणों के आन्ध्रों और सातवाहनों को एक मानते हुए कुछ विद्वान् उनका प्रारंभ ईसा पूर्व तृतीय शती में रखते हैं। अन्य सिमुक को पुराणानुसार आन्ध्र सातवाहनों का आदिपुरुष और कण्वों का विध्वंसक मानकर उस कुल के शासन का आरंभ २९ ई० पू० में मानते हैं। मौर्यों के अन्तिम नृपति बृहद्रथ को मारकर पुष्यमित्र शुंग राजा हुआ और शुंगों के अन्तिम राजा देवभूति को मारकर काण्वायन वसुदेव मगध के बचे-खुचे साम्राज्य का सम्राट् बना‡। इस प्रकार सातवाहनों के शासनकाल और उसकी तिथियों के सम्बन्ध में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर कोई मत निश्चित नहीं किया जा सकता। फलस्वरूप उनके शासन का आरंभिक समय दूसरी-तीसरी शताब्दी ईसा पूर्व से २९ ई० पू० तक हो सकता है। यहाँ जो तिथियाँ अनुमित की गई हैं, उनकी प्रामाणिकता उतनी ही संदिग्ध है, जितनी अन्यों की। इन्हें केवल शृंखला-क्रम कायम रखने के लिए दिया जाता है।

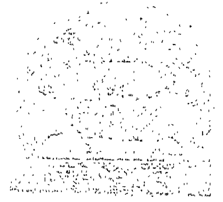
सातवाहनों के राजा—ऊपर कहा जा चुका है कि सिमुक सातवाहन कुल का प्रतिष्ठापक और मूल राजा था। उसने ई० पू० प्रथम शती के मध्य में शासनरज्जु धारण की। उसके बाद उसका भाई कृष्ण (कन्ह) नासिक के आसपास का भी राजा बना, क्योंकि वहाँ के एक शिलालेख में उसका संकेत है। सिमुक का पुत्र शातकर्णि इस वंश का तीसरा नरेश था। वह प्रतापी राजा था। उसने दो अश्वमेध किए। नानाघाट के लेख में उसकी विस्तृत विजयों का उल्लेख है⁑। साँची स्तूप के द्वार पर खुदे एक लेख में किसी शातकर्णि का उल्लेख है, जिससे जान पड़ता है कि मध्य भारत सातवाहनों के शासन में काफी पहले ही आ गया था। एक शातकर्णि खारवेल का भी समकालीन था। शातकर्णि ने अंगीय महारठी त्रणकयिरो की पुत्री नायनिका (नागनिका) को ब्याहा था। वह शात कुमारों, शक्तिश्री और वेदश्री की अभिभाविका थी। इसके बाद का उनका इतिहास अन्धकार में है। गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि इस कुल का संभवतः सबसे महान् शासक हुआ। इस अन्धकार युग के बाद उसी का प्रकाश इतिहास को मिलता है। पुराणों ने अनेक राजाओं के नाम गिनाए हैं पर अधिकतर वे नाममात्र हैं। उनमें से हाल, वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

* *Epigraphia Indica*, ८, पृ. ६०, ६१, पंक्ति ७. † वही, पंक्ति ५.

‡ काण्वायनस्ततो भृत्यः सुशर्माणं प्रसह्यतम्। शुंगानांच यच्छेषं क्षपयित्वा बलं तदा। सिन्धुको अन्ध्रजातीयः प्राप्स्यतीमां वसुन्धराम्।—वायुपुराण।

⁑ *Rep. Arch. Sur. West. India* ५, पृ. ६०.



हाल ने प्राकृत भाषा में प्रसिद्ध 'गाथासप्तशती' (सप्तशतक, सत्तसई) लिखी। प्रथम शती ईसवी के अन्त में शक-क्षत्रपों ने सातवाहनों के हाथ से महाराष्ट्र छीन लिया।

परन्तु सम्राज्ञी गौतमी बालश्री के नासिकवाले लेख से जान पड़ता है कि उसके पुत्र शातकर्णि ने दक्खिन शकों से छीन लिया *। उसने क्षत्रियों के मान और दर्प का नाश कर वर्णाश्रम धर्म की रक्षा की। शक, यवनों और पह्लवों का उसने पराभव किया और क्षहरातों को नष्ट कर सातवाहन कुल की राज्यलक्ष्मी पुनर्स्थापित की †। जिन देशों को उसने जीता था उनके नाम थे—असिक, असक, मुलक, सुरठ, कुकुर, अपरान्त, अनूप, विदर्भ और आकरावन्ति ‡। नासिक (जोगलथम्बी) के चाँदी के सिक्कों से जान पड़ता है कि उसने शकराज नहपान का विध्वंस कर उसके सिक्के फिर से अपने नाम में चलाए। अपने शासन के अठारहवें साल में उसने नासिक के पास का पाण्डु-लेण (गुफा) दान किया और २४वें वर्ष में उसने कुछ साधुओं को भूमि दान कर एक लेख में उसका उल्लेख किया ⁑। इस प्रकार उसने कम से कम २४ वर्षों तक राज किया।

जिसने गौतमीपुत्र शातकर्णि के राज्य को कुछ काल तक और विस्तृत किया और आन्ध्रदेश को जीता वह उसका पुत्र वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि था जो संभवतः १३० ईसवी में सिंहासन पर बैठा। तालेमी का सिरोपोलेमाऊ (Siropolemaiou) संभवतः वही था। उसे तालेमी बैथन या पैठान (प्रतिष्ठान) का राजा कहता है। पैठान उत्तरकालीय सातवाहनों की राजधानी हो गई थी। रुद्रदामा ने अपने जूनागढ़वाले शिलालेख में लिखवाया है, कि उसने दक्षिणापथ नरेश के शातकर्णि को दो बार हराया था §। संभवतः वह शातकर्णि पुलमावि ही था। श्री रैप्सन ने थाना जिले के कन्हेरीवाले लेख में उल्लिखित वासिष्ठिपुत्र श्री शातकर्णि को यही पुलमावि माना है। उस लेख के अनुसार वह महाक्षत्रप रुद्र (रुद्रदामा) का जामाता था। इसी कारण जूनागढ़वाले लेख में भी वह उसका 'अविदूर सम्बन्धी' कहा गया है। जूनागढ़वाले रुद्रदामा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस शक-नृपति ने सातवाहनों के अनेक देश जीते और उसका राज्य दूर तक फैला हुआ था। लगभग १५५ ईसवी में वासिष्ठिपुत्र श्रीपुलमावि का देहान्त हुआ।

यज्ञश्री शातकर्णि ने लगभग १६५ ई० से १९५ ई० तक शासन किया और उसने अपने कुल को फिर एक बार उन्नत किया। उसके कन्हेरी, पाण्डुलेण, चिन्न (कृष्णा जिला) आदि के लेखों और सिक्कों के प्राप्ति-स्थान से विदित होता है कि उसका शासन बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के मध्य के विस्तृत भू-प्रदेश पर था। वह भूमि के अतिरिक्त समुद्र का स्वामी भी जान पड़ता है। उसके एक प्रकार के सिक्कों पर दो मस्तूलवाले एक समुद्रगामी पोत और एक मछली और शंख के चित्र अंकित हैं। उन पर सामने खुदे लेख का पाठ है—(र) ण समस स (f) र यञ्ञ सतकणस। उनके पीछे की ओर उज्जैनी चिन्ह बने हैं। चिन्नवाले उसके लेख में उसके शासन के २७वें वर्ष का उल्लेख है। यह शातकर्णि अपने कुल के पिछले काल में एक महान् शासक हुआ। उसके उत्तराधिकारी नाममात्र के राजा थे। उनके समय में आभीरों ने महाराष्ट्र और ईक्ष्वाकु और पल्लवों ने उसके पूर्ववर्ती प्रदेश सातवाहनों से छीन लिए।

इन शताब्दियों की सभ्यता —उत्तरी भारत—मौर्यों के बाद शुंगों ने ब्राह्मण धर्म का पुनरुद्धार किया। यज्ञ-क्रियाएँ लौटीं। पुष्यमित्र और गौतमीपुत्र ने दो-दो बार अश्वमेध किए जो चिरोत्सन्न हो गया था। 'गार्गी-संहिता' के युग-पुराण से ज्ञात होता है कि ग्रीक और भारतीय नगरों में साथ-साथ रहते थे। अनेक ग्रीक भागवत धर्म के उपासक हो गए थे। बेसनगर का वैष्णव-स्तंभ शुंग-राज भागभद्र के दरबार में तक्षशिला के ग्रीकराज अन्तलिखित द्वारा भेजे दिय के पुत्र 'भागवत' हेलियोदोर ने खड़ा किया था।

---

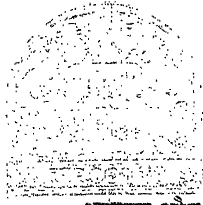
* *Ep. Ind.*, ८, पृ. ५९–६२.

† खतियदपमानमदस सकयवनपहलवनिसूदनस..................खखरातवसनिरवसेसकरस सातवाहनकुलयसपतिथापनकरस......................।

‡ वर्तमान गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण, और पूना-नासिक के समीपवर्ती प्रदेश।

⁑ *Ep. Ind.*, ८, नं. ५, पृ. ७३–७४.

§ वही, पृ. ३६–४९—दक्षिणापथपतेः सातकर्णेर्द्विरपि निर्व्याजमवजित्यावजित्य सम्बन्धाविदूरतयानुत्सादनात्प्राप्तयशसा—।



विक्रमीय प्रथम शती का संक्षिप्त भारतीय इतिहास

भारहुत और साँची की वेदिकाएँ (रेलिंग) और स्तूप इसी शुंग कला के स्मारक हैं। साँची के द्वार की कारीगरी विदिशा के गजदन्त-कलाकारों का यश-विस्तार करती है। अमरावती की कला भी तब का ही एक नमूना है।

तत्कालीन साहित्य भी शुंगों के शासन में खूब पनपा। वाल्मीकीय रामायण के अधिकतर भाग प्रायः इसी काल में रचे गए। महाभारत के भी अनेक स्थल तभी के हैं। मनुस्मृति की रचना भी संभवतः तभी की है। गोनर्द (गोंडा) के पतञ्जलि ने पाणिनि की अष्ठाध्यायी पर अपना प्रसिद्ध महाभाष्य लिखा। वे पुष्यमित्र के समकालीन थे।

शुंगों के बाद जो अनेक शक और हिन्दू-ग्रीक शासक हुए वे भी अधिकतर भारतीय देवताओं के उपासक बन गए, जैसा उनके सिक्कों के अध्ययन से जान पड़ता है। उन्होंने हिन्दू स्त्रियों से विवाह किया और अनेक ब्राह्मणों को अपना जामाता बनाया। अपने नाम भी उन्होंने भारतीय रखे। तब का हिन्दू समाज उदार था। निश्चय तभी ग्रीक और शक जनता हिन्दू जनता में खो गई।

सातवाहनों के समय का दक्षिण भारत—सातवाहनों का दक्षिण भारत उतना ही सजीव था जितना शुंगों और शक-पार्थवों का उत्तरी भारत। सातवाहन स्वयं तो ब्राह्मणधर्मी थे, परन्तु उनके शासन में बौद्ध और ब्राह्मण-धर्म समानरूप से समृद्ध थे। बौद्ध उपासक श्रमण-भिक्षुओं के निवास के लिए दरीगृह खुदवाते और उन्हें दान करते थे। उनके भोजनार्थ सदाजीवी सत्रों का प्रबन्ध करते थे। धन-द्रव्य को श्रेणियों में रखकर उसके ब्याज से ये सत्र अथवा इस प्रकार के अन्य देवकार्य चलाए जाते थे। चैत्यगृहों के भी अनेक निर्माण और दान सातवाहनों के उदार शासन में हुए। ब्राह्मण-धर्म तो सहज ही उदीयमान था, सातवाहन राजाओं के अश्वमेध, राजसूय और आप्तोर्यामादि के अनुष्ठान से ब्राह्मणों की वृत्ति भी चमक उठी। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय विशेष उन्नत थे। परन्तु धर्म, इन्द्र और अन्य वरुण, कुबेर आदि लोक-पालों की भी पूजा होती थी, जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में पधराई जाती थीं। सम्प्रदायों की परस्पर सहधर्मिता थी। आपस में जब-तब वे दान भी करते थे। विदेशी भी बौद्ध और ब्राह्मण धर्म स्वीकार करते थे। कार्ले के एक लेख में दो यवन 'सिहध्वज' और 'धर्म' नाम के उल्लिखित हैं। शक-शासक उषवदात (ऋषभदत्त) ब्राह्मण धर्म का प्रबल अनुयायी था। शक रुद्रदामा का जामाता ब्राह्मण-सातवाहन वासिष्ठिपुत्र श्रीशातकर्णि था। इस प्रकार के अन्य अनेक सम्बन्ध ब्राह्मण धर्मियों और विदेशियों में स्थापित हो गए थे और होते जा रहे थे।

सामाजिक जीवन—सामाजिक स्तरों में सबसे ऊँचा स्तर उन राजनैतिक उच्चपदस्थ व्यक्तियों का था जो 'महाभोज', 'महारठी' और 'महासेनापति' थे। वे शासन के विविध राष्ट्रों (प्रान्तों) के कर्णधार थे। अमात्य, महामात्र और भाण्डागारिक उसी वर्ग के निचले छोर पर थे। नैगम (सौदागर), सार्थवाह और श्रेणिमुख्य श्रेष्ठिन् ऋद्ध नागरिक थे। इनके अतिरिक्त समाज में वैद्य, लेखक, सुवर्णकार, गान्धिक और हालकीय (कृषक) आदि थे। मालाकार (माली), वर्धकी (बढ़ई), दासक (मछलीमार) और लोहवंजित (लुहार) आदि भी अपने-अपने व्यवसाय में दत्तचित्त थे। कुल का स्वामी कुटुम्बी और गृहपति कहलाता था।

आर्थिक जीवन—तब का आर्थिक जीवन श्रेणियों का था। एक व्यवसाय में काम करनेवाले अपना जो दल बना लेते थे उसे श्रेणी कहते थे। धंञिक (अन्न-व्यवसायी), कुम्हार, कोलिकनिकाय (जुलाहे), तिलपिषक, काषाकार, वंसकर आदिकों की अनेक श्रेणियाँ देश में थीं। इन श्रेणियों का अपना बैंक होता था जिसमें 'अक्षय-नीवी' (fixed deposit) डालकर लोग उसके ब्याज का उपयोग करते थे। सिक्के सोने, चाँदी और ताँबे के थे। चाँदी और ताँबे के सिक्के कार्षापण (कहापन) कहलाते थे। सुवर्ण ३५ चाँदी कार्षापणों के बराबर होता था।

दूर-दूर के देशों से व्यापार स्थल और जल के वणिक्पथों से होता था। भरुकच्छ, सोपारा और कल्याण सामुद्रिक बन्दर, और तगर, पैठन और उज्जयिनी व्यापारकेन्द्र थे। ई० स० प्रथम शती की ग्रीक व्यवसायिक पुस्तक *Periplus of the Erythrean Sea* (पेरिप्लस ऑव दि इरिथ्रियन सी) में उन सारी वस्तुओं की तालिका दी हुई मिलती है जो भारत से बाहर जातीं और भारत में अन्य देशों से आती थीं।

साहित्य—सातवाहनों के शासन में प्राकृत बहुत फूली-फली। हाल ने स्वयं 'गाथासप्तशती' लिखी और उसके समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची में 'बृहत्कथा' लिखी। सर्ववर्मन् का 'कातन्त्र' कदाचित् इसी समय लिखा गया। यह विशेष बात है कि ब्राह्मण सातवाहनों ने संस्कृत छोड़कर प्रान्तीय प्राकृतों को बढ़ाया।



भगवतशरण उपाध्याय

परिशिष्ट 'क'

विक्रम-संवत्

भारतवर्ष की काल-गणना में बीसों संवत् चले परन्तु उनमें से जीवित थोड़े ही रहे। सबसे लम्बा जीवन-विस्तार विक्रम-संवत् का ही रहा। वैसे भारत में कम से कम छह संवत् ऐसे थे जो विक्रम-संवत् से पहले चलाए गए। ये हैं सप्तर्षि-संवत्, कलियुग-संवत् (युधिष्ठिर संवत्), वीर-निर्वाण-संवत्, बुद्ध-निर्वाण-संवत्, मुरिय-काल (मौर्य-संवत्) और सिल्यूकिद-संवत्। इनमें से सप्तर्षि-संवत् कश्मीर और उसके आसपास के पर्वतीय प्रदेशों में विशेषकर ज्योतिर्विदों द्वारा प्रयुक्त होता रहा है। कलियुग-संवत् भी पंचाँगादि में ज्योतिषियों द्वारा ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार वीर-निर्वाण-संवत् का प्रयोग अधिकतर जैन आचार्यों द्वारा जैन-ग्रन्थों में और बुद्ध-निर्वाण-संवत् बौद्ध ग्रन्थों में पाया जाता है। चीन और तिब्बत आदि बौद्ध देशों में भी इस बुद्ध-निर्वाण-संवत् का प्रचुर प्रचलन रहा है। मौर्य-संवत् (मुरिय काल) का उपयोग अत्यन्त अल्प हुआ है और जहाँ तक इतिहासविदों को ज्ञात है यह गणना-क्रम केवल एक बार उड़ीसा के पुरी जिले के हाथीगुम्फावाले खारवेल के शिलालेख में प्रयुक्त हुआ है। सिल्यूकिद-संवत् तो भारत में शायद किसी काल में प्रयुक्त नहीं हुआ। इसे ग्रीकराज सिल्यूकस ने चलाया था परन्तु इसका प्रसार संभवतः हिन्दूकुश के इस पार न हो सका।

सिल्यूकिद-संवत् के बाद काल-क्रम से विक्रम-संवत् ही आता है क्योंकि इसका आरंभ ई० पू० ५७–५६ में हुआ था। उत्तरी भारत में विक्रम-संवत् का आरंभ चैत्र शुक्लपक्ष १ से और दक्षिण भारत में कार्तिक शुक्लपक्ष १ से माना जाता है। इसीसे उत्तरी को 'चैत्रादि' और दक्षिणी को 'कार्तिकादि' संवत् कहते हैं। उत्तर में महीने कृष्ण १ से आरंभ होकर शुक्ल १५ को समाप्त होते हैं और दक्षिण में शुक्ल १ से प्रारंभ होकर कृष्ण अमावस्या को समाप्त होते हैं। इसी कारण उत्तरी भारत में महीने 'पूर्णिमान्त' और दक्षिणी भारत में 'अमान्त' कहलाते हैं। भारतवर्ष के संवतों में जिस संवत् का उपयोग सबसे प्राचीन काल (उन्हें छोड़कर जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है) से लेकर आज तक प्रचलित रहा है वह है विक्रम-संवत्। इसके निचले छोर के सम्बन्ध में तो किसी प्रकार का सन्देह हो ही नहीं सकता क्योंकि हम आज इसका सर्वथा सर्वत्र प्रयोग कर ही रहे हैं परन्तु यह आश्चर्य की बात है कि इस संवत् का प्राचीनतम प्रयोग इस नाम से नवीं शती ईसवी से पूर्व में नहीं मिलता। संभव है जिन लेखों में इसका विक्रम-संवत् नाम से उल्लेख हुआ हो वे अब तक नहीं मिल सके और आगे मिलें, परन्तु यह कम कुतूहल का विषय नहीं कि जहाँ हमारे नाना राजकुलों के खुदाए मिले हुए तिथिविधायक शिला, स्तंभ और अन्य लेखों की संख्या सहस्रों में है वहाँ नवीं शती ईसवी से पूर्व का एक भी लेख विक्रम-संवत् के स्पष्ट उल्लेख के साथ न मिला। जिस पहले लेख में विक्रम-संवत् का सर्व प्रथम उल्लेख मिलता है वह चाहमान (चौहान) राजा चण्डमहासेन का है जो धौलपुर से मिला है और विक्रम-संवत् ८९८ अर्थात् सन् ८४१ ई० का हवाला देता है। उस लेख का एकांश इस प्रकार है:—वसु नव (अ) ष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य (।) वैशाखस्य सिताया (यां) रविवार युतद्वितीयायां............।*

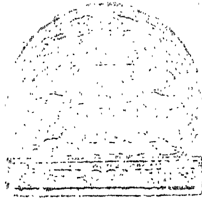
कृत और मालव संवत् जान पड़ता है, विक्रम-संवत् ही है। संभवतः विक्रम-संवत् का प्रयोग कृत और मालव नामों से हुआ है। कृत और मालव संवतों के एक होने में तो कोई सन्देह है नहीं, क्योंकि एक ही लेख में दोनों का पर्यायवाची अर्थ में प्रयोग हुआ है†। पर साधारणतया मालव और विक्रम संवतों के एक होने में भी कोई सन्देह इसलिए

---

* *Indian Antiquary*, खण्ड १९, पृ. ३५.

† श्रीर्म्मालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (।)—*Epigraphia Indica*, खण्ड १२, पृ. ३२०.

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां...........—राजपूताना संग्रहालय, अजमेर में सुरक्षित उदयपुर राज के नगरी का लेख।



नहीं होना चाहिए कि दोनों का आरंभ एक ही तिथि से है। अनेक बार इस प्रकार विक्रम-संवत् का प्रयोग मालव-संवत् के नाम से हुआ है।*

साधारणतया मालव-संवत् को ही विक्रम-संवत् कहते हैं। पश्चात् काल में तो यह संज्ञा लुप्त होकर केवल विक्रम-संवत्वाली ही रह गई और इस लोप की एक मंजिल हमें तब उपलब्ध होती है जब हम कणस्वा के शिवमन्दिरवाले लेख में 'संवत्सर............मालवेशानां' और मैनालगढ़वाले में 'मालवेशगतवत्सर (रैः)' पढ़ते हैं। जान पड़ता है कि बाद में लोग विक्रमादित्य और उनका मालवगण के साथवाला सम्बन्ध स्पष्ट न रख सके।

मालव-संवत् को विक्रम-संवत् क्यों कहने लगे इस पर विद्वानों के मतभेद हैं। कुछ का तो कहना है कि विक्रमादित्य नाम के राजा ने ही इस संवत् को चलाया जिससे इसकी संज्ञा विक्रम-संवत् पड़ी। कुछ यह मानते हैं कि वास्तव में यशोधर्मदेव ने हूणों को हराकर यह संवत् चलाया और इसे प्राचीन करने के लिए इसका आरंभ ५०० वर्ष पूर्व फेंक दिया। स्पष्ट है कि इस सिद्धान्त में अटकल ही आधार और अट्ट दोनों हैं और इस पर विचार करने की आवश्यकता नहीं, यद्यपि यशोधर्मा स्वयं एक विक्रमादित्य था। इसको न मानने का सबसे बड़ा कारण यह है कि मालव-संवत् एक विस्तृत काल से तब चला

---

* मालकाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु—*Archaeological Survey Report*, खण्ड १०, प्लेट ११, ग्यारसपुरवाले लेख से।

श्रीम्र्मालिवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (।) एकषष्टचधिके प्राप्ते समाशय चतुष्टये (॥) प्रावृक्का (ट् का) ले शुभे प्राप्ते—*Ep. Ind.*, खण्ड १२, पृ. ३२०.—नरवर्मा का मन्दसौर (दशपुर) वाला शिलालेख।

कृतेषु चतुषु वर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्व्वस्यां (४००) ८०१ कार्त्तिकशुक्लपञ्चम्याम्।—मध्यमिका का लेख, अजमेर के पुरातत्व संग्रहालय में संग्रहीत।

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये। त्रिनवत्यधिकेब्दानम्रि (मृ) तौ सेव्यघनस्तने। सहस्यमासशुक्लस्य प्रशस्तेह्नि त्रयोदशे—कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौर (दशपुर) का शिलालेख, फ्लीट, *Gupta Inscriptions*, पृ. ८३.

पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्नवतिसहितेषु। मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय लिखितेषु—वही, पृ. १५४. यशोधर्मा (विष्णुवर्धन) के मन्दसौरवाले लेख से।

संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्ग्गलैः (।) सप्तभिर्मालवेशानां—कणस्वा (कोटा के पास) के शिव मन्दिर के लेख से, *Ind.. Ant.*, खण्ड १९, पृ. ५९.

मालवेशगतवत्सर (रैः) शतैः द्वादशैश्च (षट्ड्विंशपूर्वकैः)—*Journal of the Asiatic Society of Bengal*, खण्ड ५५, भाग १, पृ. ४६.—अजमेर के चाहमान राजा पृथ्वीराज (पृथ्वीभट) के समय के मैनालगढ़वाले (उदयपुर राज्यान्तर्गत) लेख से (सं० १२२६)। इस लेख से अनुमान होता है कि लेखक के समय अर्थात् संवत् १२२६ तक संभवतः मालवों के गण होने की बात लोगों को भूल गई थी और 'मालवगणस्थिति' को 'मालवेश' का संवत्सर कहा जाने लगा था। इस लेख में आए मालवेश से तात्पर्य विक्रमादित्य से है, परन्तु सौभाग्यवश उस संज्ञा का सम्बन्ध अभी मालवा अथवा मालव (गण) से जुड़ा हुआ है। लेखक मालवगणवाली अनुश्रुति की परम्परा को भूलकर इस संवत्सर को 'मालवेश' का संवत् कहता हुआ भी उसका सम्बन्ध मालवा से न भूल सका।

आ रहा था। फ्लीट साहब के इस अनुमान को सहज ही विद्वानों ने त्याग दिया है। कुछ विद्वानों ने सन्देह किया है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नामक राजा हुआ भी या नहीं। संभवतः नहीं हुआ। उनका यह सन्देह कुछ मात्रा में ग्राह्य भी है। साधारणतया यह प्रश्न हो सकता है कि यदि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक इतना प्रतापी राजा हो सकता तो कम से कम उसके कुछ शिलालेख, स्तंभलेख अथवा अन्य लेख तो हमें प्राप्त होते। परन्तु जिन विद्वानों ने इस प्रश्न को उठाया है उन्होंने इस बात पर शायद ध्यान नहीं दिया है कि प्रथम शती ई० पू० का समय अत्यन्त डावाँडोल और उथल-पुथल का था। संभव है ऐतिहासिक सामग्री बिखर गई हो जिसपर हम उसके अस्तित्व का आधार रख सकते। परन्तु साथ ही हमें यह बात न भूलनी चाहिए कि जनश्रुति के साथ-साथ ही ऐतिहासिक अनुश्रुति भी प्रथम शती ई० पू० में किसी विक्रमादित्य के होने के पक्ष में है। डाक्टर स्तेन कोनो को उद्धृत करते हुए डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने भी इस काल में होनेवाले एक विक्रमादित्य के ऐतिह्य को स्वीकार किया है ("Problems of Saka and Satavahana History"--*Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, 1930 में प्रकाशित)। इसके अतिरिक्त एक विशेष बात यह है कि हमारी साहित्यिक अनुश्रुति तो स्पष्टतया इस विक्रमादित्य-विषयक तथ्य के अनुकूल है। जैन-साहित्य, पट्टावलि, जिनसेन-गाथा आदि के अतिरिक्त विक्रमादित्य के प्रथम शती ई० पू० में होने का प्रमाण संस्कृत और प्राकृत साहित्य से भी उपलब्ध होता है। सातवाहन (शालिवाहन) राजा हाल के प्राकृत सतसई ग्रन्थ 'गाथा-सप्तशती' में राजा विक्रमादित्य का उल्लेख किया गया है *। इस हाल का समय लगभग प्रथम शती ईसवी है। कम से कम वह दूसरी शताब्दी ईसवी के बाद किसी प्रकार नहीं रखा जा सकता अर्थात् वह आन्ध्र सातवाहन विक्रमादित्य (प्रथम शती ई० पू०) से लगभग दो या तीन शताब्दियों के बाद जीवित था। राजा विक्रमादित्य का उल्लेख इस हाल ने तो किया ही है। उसके अतिरिक्त उस राजा का उल्लेख कश्मीरी कवि गुणाढ्य ने अपने पैशाची-प्राकृत के ग्रन्थ 'बृहत्कथा' में किया है। यह गुणाढ्य हाल का समकालीन था। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' तो अब उपलब्ध नहीं है, परन्तु उसका संस्कृत रूपान्तर 'कथासरित्सागर' नाम से सोमदेवभट्ट द्वारा प्रस्तुत अब भी उपलब्ध है। इसमें राजा विक्रमसिंह की कथा लंबक ६, तरंग १ में वर्णित है। अतः चूंकि प्रथम शती ई० पू० वाले विक्रमादित्य के जीवन काल से दो सदियों के भीतर होनेवाले दो महापुरुषों (हाल और गुणाढ्य) के ग्रन्थों में उस राजा का उल्लेख मिलता है, उसके ऐतिहासिक अस्तित्व में किसी प्रकार का सन्देह करना अवैज्ञानिक होगा, विशेषकर जब हमारी जैनादि अन्य अनुश्रुतियों का इस सम्बन्ध में सर्वथा ऐक्य है। फिर बाद में आनेवाले विक्रमादित्यों के सम्बन्ध की अनुश्रुतियों से इस विक्रमादित्य की अनुश्रुतियों के मिल जाने का भी कोई कारण नहीं जब हमने केवल उन ग्रन्थकारों के प्रमाण दिए हैं जो उसके बाद के प्रथम विक्रमादित्य (गुप्तराज चन्द्रगुप्त द्वितीय) से पूर्व के थे।

इस प्रकार यह विचार तो प्रायः प्रमाणित हो जाता है कि ई० पू० प्रथम शती में कोई विक्रमादित्य नाम का प्रतापी व्यक्ति था। वह कौन था यह कहना कठिन है, और यह भी कि 'विक्रमादित्य' उस व्यक्ति की संज्ञा थी या विरुद था। लगता है यह विरुद सा ही, और बाद के जिन-जिन नरेशों ने यह संज्ञा धारण की है वह है भी विरुदरूप में ही †। डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने जिस राजा को विक्रमादित्य माना है वह है सातवाहन कुल का गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि।

* संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं। चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खिअं तिस्सा।—गाथा ४६४, वेबर का संस्करण।

† (१) चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (लगभग ३७५ ई.—४१४ ई.).
(२) स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ल. ४५५–४६७ ई.)
(३) यशोधर्मन् विक्रमादित्य (५३३ ई.).
(४) हेमू (१५५६ ई.)



अपने Problems of Saka and Satavahana History* में उन्होंने विक्रम-संवत् पर जो विचार प्रकट किए हैं उनसे स्पष्ट है कि वे गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही विक्रमादित्य मानते हैं। उन्होंने अपने उक्त लेख में शकों के विरुद्ध दो विजयों का उल्लेख किया है—(१) गौतमीपुत्र द्वारा नहपाण की, और (२) मालवों द्वारा शकों की। इसमें नं० (२) मान लेने में तो शायद किसी को आपत्ति न होगी परन्तु नं० (१) को स्वीकार करना कठिन है। पहले तो यही संदिग्ध है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि और क्षहरात क्षत्रप नहपाण समकालीन थे। यदि यह हम मान भी लें, जो कई अन्योन्याश्रय न्यासों से संभव भी है, तब भी यह स्वीकार करना अभी अत्यन्त कठिन है कि वे प्रथम शती ई० पू० में थे। बहुत संभव है कि यदि सिमुक सातवाहनों का आदि पुरुष था और उसने काण्वायनों का २९ ई० पू० में नाश किया, तब उसके वंशज गौतमीपुत्र का निश्चय ईसा की शताब्दियों में ही राज कर सकना संभव हो सकेगा। उस दशा में गौतमीपुत्र को विक्रमादित्य और नहपाण को शक मानकर प्रथम शती ई० पू० में रखना कठिन हो जायगा। फिर यह भी संदिग्ध है (कुछ अंशों में) कि नहपाण शक था! एक बात यह भी है कि यदि वह विक्रम सातवाहन होता तो हाल उसका हवाला देते समय उसे अपना पूर्वज अवश्य कहता। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि का विरुद 'विक्रमादित्य' नहीं था। और इससे भी विशिष्ट ध्यान योग्य बात यह है कि विक्रम-संवत् का प्रयोग स्वयं गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि अथवा उसके वंशज नहीं करते। वे केवल अपने राज्यकाल का करते हैं। यह कैसे संभव था कि जिसने इतनी बड़ी विजय के स्मारक में 'विक्रम-संवत्' चलाया उसका स्वयं वह या उसके वंशज अपने शिलालेखों में प्रयोग न करें? फिर उस संवत् का उपयोग क्या था? उसका प्रयोग किसके लिए उपयुक्त था, खासकर तब-जब हमें इसके विरोध में प्रमाण उपलब्ध हैं? कुषाणराज कनिष्क द्वारा चलाए शक-संवत् का प्रयोग स्वयं वह और उसके वंशधर करते हैं। इसी प्रकार गुप्तसम्राट् भी मालव-संवत् के साथ ही साथ अपने राज्यकाल और अपने पूर्वज चन्द्रगुप्त द्वारा चलाए गुप्त-संवत् (३१९-२० ई०) का प्रयोग (गुप्तप्रकाले गणनां विधाय) बराबर अपने लेखों में करते हैं। इस कारण गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि को आदि विक्रमादित्य मानना युक्तिसंज्ञक नहीं जँचता। फिर यह विक्रमादित्य कौन था?

विक्रमादित्य का प्रथम-द्वितीय शती ईसवी के ग्रन्थों से होना प्रमाणित है इसका विवेचन ऊपर कर आए हैं। यहां पर एक अन्य अस्पष्ट और उलटी युक्ति का प्रमाण भी विचार्य हो सकता है जो संभवतः श्रेयस्कर सिद्ध होगा। जिस विजय के उपलक्ष और स्मरण में यह विक्रम-संवत् घोषित और प्रचलित किया गया वह विजय कौनसी थी? गौतमीपुत्र श्रीशातकर्णि द्वारा नहपाणवाली विजय अनेक अन्य प्रमाणों से यहाँ अयुक्तियुक्त और अप्रासंगिक होने के कारण इस विषय पर प्रकाश नहीं डाल सकती। फिर एक ही और ई० पू० प्रथम शती की विजय है जो शकों के विरुद्ध हुई है और जिसके स्मारक-स्वरूप यह संवत् प्रचलित किया जा सका होगा। वह है मालवों की विजय शकों के विरुद्ध। मालवों ने शकों को अवन्ति से निकालकर वहाँ अपने गण (मालव-गण) की स्थापना की और अपने गण के नाम से ही अवन्ति प्रदेश का 'मालवा' नामकरण किया। यह घटना प्रथम शती ई० पू० में घटी और इसी के स्मारक में उन्होंने विक्रम-संवत् चलाया जिसकी प्रारंभिक तिथि मालव-गण की अवन्ति में स्थापना की तिथि होने के कारण (मालवगणस्थित्या) वह मालव-संवत् भी कहलाया। विक्रम-संवत् उसका नाम दो कारणों से हो सकता है। (१) या तो 'विक्रम' का सम्बन्ध व्यक्ति-विशेष से न होकर 'शक्ति', 'विक्रम', 'पराक्रम' से हो जिसकी प्रतिष्ठा शकों के अवन्ति से निष्कासन और वहाँ मालवों की प्रतिस्थिति से हुई (जैसा श्री जायसवाल ने माना है) या (२) उसका यह नाम मालवजाति के किसी प्रमुख नेता के नाम से सम्बन्ध रखता होगा। इनमें प्रथम को स्वीकार करना असंभव इस कारण हो जाता है कि उस दशा में प्रथम शती ईसवी के हाल और गुणाढ्य के विक्रमादित्य सम्बन्धी निर्देश निरर्थक हो जाते हैं। इससे संख्या (२) वाला कारण ही यथार्थ जान पड़ता है। अस्तु,

* *Journal of the Bihar and Orissa Research Society*, **खण्ड १६, भाग ३ और ४, पृ. २२६—३१६.**

इस पर नीचे फिर एक बार विचार करेंगे। यहाँ इस पर प्रकाश डालना अधिक युक्तिसंज्ञक जँचता है कि मालव-गण कब और किस प्रकार अवन्ति में पहुँचे ? इस सम्बन्ध में उनके ऐतिहासिक प्रसार पर विचार करना नितान्त आवश्यक है। अतः नीचे पंजाब से उनकी दक्षिण-पश्चिमी प्रगति पर विचार किया जाएगा।

किसी समय में पंजाब में अनेक गणतन्त्र (अराजक प्रजातन्त्र) फैले हुए थे। उन्हींमें मालवों और क्षुद्रकों के गण भी थे। अलिकसुन्दर ने जब ३२६ ई० पू० में भारत पर आक्रमण किया तब मालवों ने उससे सबल मोर्चा लिया था। संभवतः उन्हींके एक नगर का घेरा डालने पर उनके ही किसी वीर के बाण से अलिकसुन्दर आहत हुआ था। और यद्यपि अलिकसुन्दर की छाती से भयंकर शल्यक्रिया करके वह बाण निकाल लिया गया तथापि शायद वही घाव अन्ततः उसकी मृत्यु का कारण हुआ। मालव सरदारों ने अलिकसुन्दर से कहा था कि वे बहुत काल पूर्व से स्वतंत्र थे, और राजपूताने में वे बहुत काल पीछे करीब ३०० ई० तक स्वतंत्र रहे जब उन्हें समुद्रगुप्त ने पराजित किया। इस प्रकार मालवों का स्वतंत्र जीवन लगभग एक हजार वर्षों तक कायम रहा। अलिकसुन्दर के इतिहासकारों ने उन्हें 'मल्लोई' कहा है। मालव लोग उस ग्रीक आक्रमण के समय झेलम के तट पर थे। चिनाब जहाँ झेलम से मिलती है उस संगम से ऊपर क्षुद्रक और नीचे झेलम के बहाव के किनारे मालव लोग रहते थे। एरियन लिखता है (६,४) कि मालव लोग संख्या और युद्धप्रियता में भारतीयों में बहुत बढ़े-चढ़े थे। एरियन उन्हें स्वतंत्र राष्ट्र कहता है (६, ६)। उनके नगर चिनाब और झेलम के तटों पर फैले हुए थे और उनकी राजधानी रावी के तट पर थी। मालव और क्षुद्रकों का प्रताप इतना जाना हुआ था कि उनसे युद्ध की संभावना देखकर ग्रीक सैनिकों के हृदयों में आतंक छा गया। कर्टियस* का कहना है कि जब ग्रीक सैनिकों ने जाना कि उन्हे भारतीयों में सबसे युद्धप्रिय गणतंत्र मालवों से अभी लड़ना है तो वे सहसा त्रास से भर गए और अपने राजा को विद्रोह-भरे शब्दों से संबोधित करने लगे।

अलिकसुन्दर स मुठभेड़ होने के बाद उन्होंने अपना निवासस्थान सर्वथा भयास्पद जाना और वे पंजाब छोड़ दक्षिण-पश्चिम की ओर बढ़ चले। कुछ काल तक साहित्य में उनका पता नहीं चलता, परन्तु शुंगकाल में सहसा वे फिर भारतीय रंगमंच पर चढ़ आते हैं। पतञ्जलि को उनका ज्ञान है और भाष्यकार ने अपने महाभाष्य में मालव-क्षुद्रकों की किसी संयुक्त विजय का उल्लेख किया है, पर शीघ्र ही बाद में क्षुद्रक खो जाते हैं। लेखों अथवा साहित्य में हमें क्षुद्रकों का पता नहीं चलता और पूर्वी राजपूताने की ओर पहुँचते-पहुँचते वे मालवों में सर्वथा खो जाते हैं। प्रायः १५०-१०० ई० पू० में हम मालवों को उनके नए आवास पूर्वी राजपूताना में प्रतिष्ठित पाते हैं जैसा करकोट नागर (जयपुर राज्य) में पाए गए उनके सिक्कों से जान पड़ता है।† इसी समय पार्थव शकों का भारतवर्ष पर आक्रमण हुआ जिनके ९५-९६ परिवार सिन्धुनद पार करके 'हिन्दुगदेश' चले आए थे और उन्होंने सौराष्ट्र, गुजरात और अवन्ति देश पर अधिकार कर लिया था। धीरे-धीरे उनमें से सर्वशक्तिमान् एक कुल उन्हें आक्रान्त कर उन पर शासन करने लगा था। कालकाचार्य कथानकवाली कथा इसी समय परिघटित हुई। यही भारत का सर्वपूर्व प्राथमिक शक-परिवार था जिसका मालवों से संघर्ष हुआ था।

अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करते हुए मालव दक्षिण की ओर बढ़ते गए। संभवतः वे पटियाला राज के भटिण्डा की ओर से होकर बढ़े। वहाँ वे अपना नाम 'मालवाई' बोली में छोड़ते गए हैं। इस बोली का विस्तार फिरोजपुर से भटिण्डा तक है ‡। ५८ ई० पू० के आसपास वे अजमेर के पीछे से निकलकर अवन्ति की ओर बढ़ चले थे, जहाँ उन्हें एक विदेशी अभारतीय शक्ति से लोहा लेना पड़ा। लड़ाई जरा जमकर हुई क्योंकि एक ओर तो स्वतंत्रताप्रिय मालव थे और दूसरी ओर अवन्ति के वे शक जो पार्थवराज मज्ददात द्वितीय के क्रोध से भागे हुए थे। उन्हें भारत से बाहर मृत्यु का सामना करना

---

* Book ९, परिच्छेद ४; McCrindle, *Indian Invasion by Alexander*, पृ. २३४.

† Cunningham, *ASR.*, खण्ड १४, पृ. १५०.

‡ *Linguistic Survey of India* खण्ड ९, पृ. ७०९.

था इसलिए जान पर खेलकर शक मालवों से लड़े परन्तु हार उन्हीं की हुई। मालव विजयी हुए और उन्होंने शकों को अवन्ति से निकालकर उस प्रदेश का नाम अपने नाम के अनुरूप मालवा रखा। अवन्ति इसी तिथि से मालवा कहलाई और इसी विजय-तिथि के स्मारक स्वरूप विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ। इस नए देश में अपनी स्थिति के उपलक्ष में और अपनी भारी विजय के स्मारक में नया संवत् प्रचलित करने के साथ ही साथ उन्होंने नए सिक्के भी चलाए और उनके ऊपर उन्होंने अंकित कराया—'मालवान (नां) जय (यः)' *। इसी विजय और अपने गण के अवन्ति में प्रतिष्ठित होने के समय से (मालवगणस्थित्या) † आगे काल की गणना करने के लिए (काल-ज्ञानाय) ‡ उन्होंने अपने मालव-संवत् या विक्रम-संवत् का आरंभ किया। उनके प्रयोग से मालव-अथवा विक्रम-संवत् प्रशस्त हुआ ¶। आज तक हम सदा दो सहस्र वर्षों तक उसका उपयोग करते आए हैं। गुप्तों ने उनकी स्वतंत्रता नष्ट करदी और उनका नाम समुद्रगुप्त द्वारा विजित गणों में यौधेय, मद्र, आर्जुनायनों आदि के साथ प्रयागवाले स्तंभ पर मिलता है। परन्तु उन्हें नष्ट करके भी वे उनके विजय-स्मारक संवत् को नष्ट न कर सके। स्वयं गुप्त-सम्राट् मालव-संवत् का उपयोग करते रहे। मालवा के नरेशों ने चौथी शती ईसवी से छठी शती ईसवी तक निरन्तर इस संवत् का प्रयोग किया। बाद में जब उनके गण की स्वतंत्र सत्ता मिट गई, उसका नाम भी लोगों को विस्मरण हो गया, तब उनके क्षुद्र मुखिया की याद भर उन्हें रह गई और संभवतः उसी के विक्रम नाम से बाद के भारतीय मालवों का स्मरण करते रहे और अनजाने उनके कीर्तिस्मारक संवत् का प्रयोग सहस्रों वर्ष तक होता रहा।

इसमें तो अब सन्देह रहा नहीं कि मालव-संवत् ही विक्रम-संवत् है, जो उनके शकों के हराने के स्मारक में चलाया गया। अब इस पर विचार करना है कि वह मालव-संवत् विक्रम-संवत् क्योंकर कहलाने लगा ? निश्चयपूर्वक तो यह कहना कठिन है कि मालव-संवत् विक्रम-संवत् क्यों और कब कहलाने लगा, परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऊपर निर्दिष्ट 'मालवेश' § आदि इस संवत् की प्रगति के मंजिल हैं। मालव-गण का जिस तेजी से लोप हो गया है उसी तेजी के साथ लोगों ने उनके प्रदेश की राजकता की भी कल्पना करली। जान पड़ता है कि मालवों की सेना के संचालकों में प्रमुख विक्रम नाम का कोई व्यक्ति था जिसकी शक्ति और युक्ति ने शक-पराभव कराने में विशेष भाग लिया और इसीसे कालान्तर में उसका सम्बन्ध मालव-संवत् से कर दिया गया। इस प्रकार के अन्य भी आचरण संसार के इतिहास में हुए हैं। रोमन स्वतंत्रता का अन्त कर जूलियस सीजर और ऑक्टेवियस सीजर इसी प्रकार सम्राट् बन गए थे और फ्रेन्च राज्यक्रान्ति के बाद नेपोलियन ने भी उसी लिप्सा का परिचय दिया था। प्लूटार्च लिखता है कि जब विश्व जीतने के लिए अलिकसुन्दर ने ग्रीक नगर-राज्यों से मदद माँगी थी तब उन्होंने उससे प्रतिज्ञा करा ली कि वे उसकी सहायता इसी शर्त पर करेंगे कि वह उनके सामने अपने को 'खुदा का बेटा' न कहे। यही रूप मालव-गण में भी प्रमुख व्यक्तियों का रहा होगा। धीरे-धीरे उनके व्यक्तित्व की प्रबलता गणतंत्र की शक्ति को कुचलकर उठ गई होगी। बाद की अनाराजक प्रजा ने गणतंत्र के महत्व को न समझ कर उस संवत् को मालवगण से हटाकर उसके मुखिया विक्रम से जोड़ दिया। यही दशा लिच्छवि राजाओं की हुई। इसी जन-दुर्बलता के कारण शाक्यों के मुखिया शुद्धोदन देश विशेष के राजा मान लिए गए।

---

* और 'मालव जय', 'मालवहृण जय', 'मालवगणस्य' आदि।

† कुमारगुप्त प्रथम का मन्दसौरवाला लेख, Fleet, *Gupta Inscription* पृ. ८३.

‡ Fleet, वही, पृ. १५४.

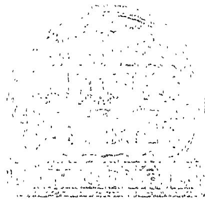
¶ श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञके—*Ep. Ind.*, खण्ड १९, पृ. ३२०.

§ मालवेशगतवत्सरैः—*JASB* खण्ड ५५, भाग १, पृ. ४६; और मालवेशानां—*Ep. Ind.* खण्ड १९, पृ. ५९.

परिशिष्ट 'ख'

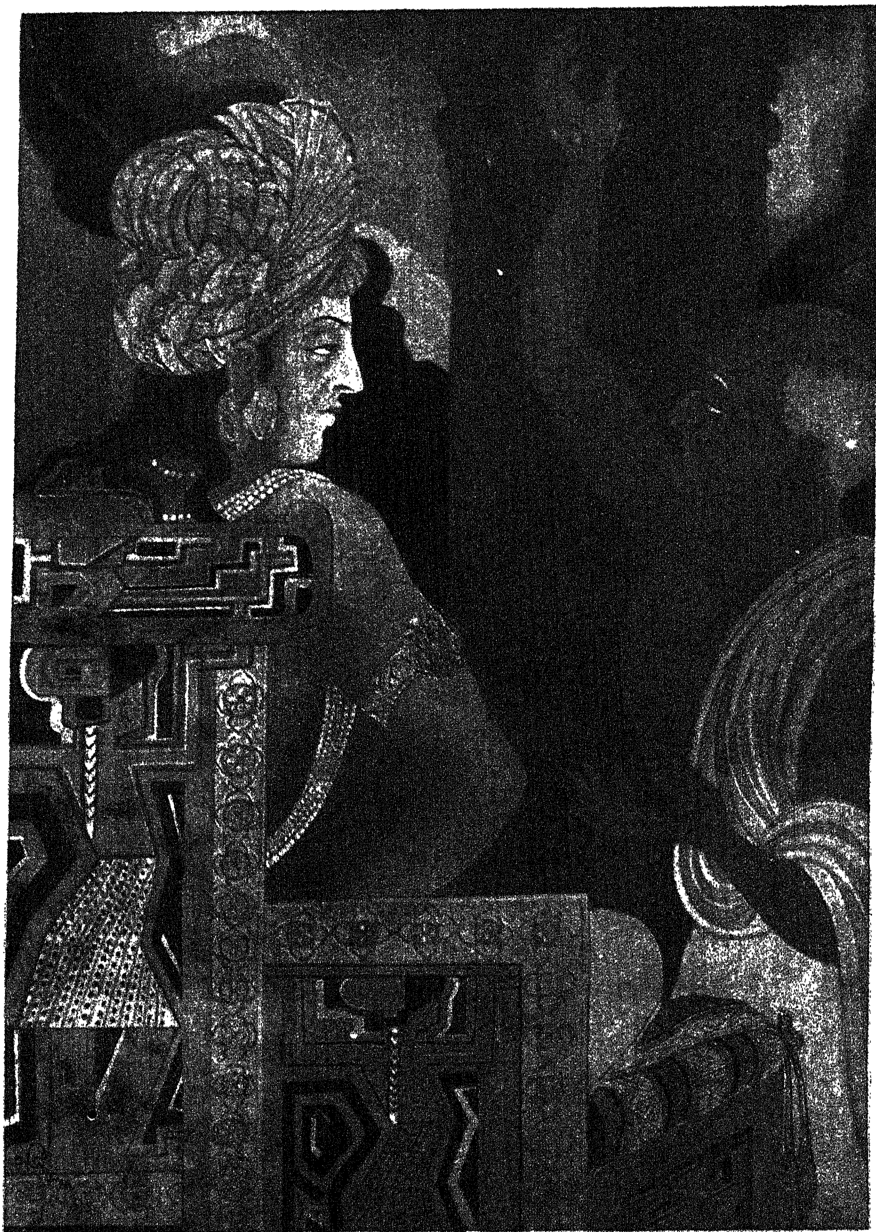
युग-पुराण का मूल

१. द्रुपदस्य सुता कृष्णा देहान्तरगता मही॥
२. ततो न रक्षये वृत्त श्व (:?) शाते नृपमण्डले।
३. भविष्यति कलिर्नाम चतुर्थं पश्चिमं युगं॥
४. ततः कलियुगस्यातो (०दौ) परीक्षिज्ज (न) मेजयः।
५. प्रथिव्यां पृथितः श्रीमानुत्पत्स्यति न संशयः॥
६. सोपि राजा द्विजै (:) सार्द्धं विरोधमुपधास्यति।
७. दारविप्रकृतामर्षः कालस्य वशमागतः॥
८. ततः कलियुगे राजा शिशुनागात्प्र (म?) जो बली।
९. उदधी (ˈयो) नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणैः॥
१०. गंगातीरे स राजर्षिर्दक्षिणे स महावरे।
११. स्थापयेन्नगरं रम्यं पुष्पारामजनाकुलं॥
१२. तेथ (प्राकृत, तत्र) पुष्पपुरं रम्यं नगरं पाटली सुतम्।
१३. पञ्चवर्षसहस्त्राणि स्थास्यते नात्र संशयः॥
१४. वर्षाणां च शताः पञ्च पञ्चसंवत्सरास्तथा।
१५. मासपञ्चमहोरात्रं मूहूर्त्ताः पञ्च एव च॥
१६. तस्मिन् पुष्पपुरे रम्ये जनराजा शताकुले।
१७. ऋतुक्षा कर्मसुतः शालिशूको भविष्यति॥
१८. स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रहः।
१९. स्वराष्ट्रमर्दते घोरं धर्मवादी अधार्मिकः॥
२०. स ज्येष्ठभ्रातरं साधुं केतिति (केतति ?) प्रथितं गुणैः।
२१. स्थापयिष्यति मोहात्मा विजयं नाम धार्मिकम्॥
२२. ततः साकेतमाक्रम्य पञ्चालान्मथुरां तथा।
२३. यवना दुष्टविक्रान्ता (:) प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजं॥
२४. ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
२५. आकुला विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः॥
२६. श (स्त्र) दु (द्रु) म-महायुद्धं तद् (तदा) भविष्यति पश्चिमम्।
२७. अनार्याश्चार्यधर्माश्च भविष्यन्ति नराधमाः।
२८. ब्राम्हणा (:) क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्चैवं युगक्षये
२९. समवेषा (:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः।
३०. पाषंडैश्च समायुक्ता नरास्तस्मिन् युगक्षये।
३१. स्त्रीनिमित्तं च मित्राणि करिष्यन्ति न संशयः।
३२. चीरवल्कलसंवीता जटावल्कल धारिणः।
३३. भिक्षुका वृषला लोके भविष्यन्ति न संशयः।
३४. त्रेताग्निवृषला लोके होष्यन्ति लघुविक्रियाः।
३५. ऊकारप्रथितैर्मन्त्रै (:) युगान्ते समुपस्थिते।
३६. आग्निकार्ये च जप्ये च अग्निके च दृढव्रताः।
३७. शूद्राः कलियुगस्यान्ते भविष्यन्ति न संशयः।
३८. भोवादिनस्तथा शूद्रा (:) ब्राह्मणाश्च (ा) र्यवादिनः।
३९. स (म) वेशा (:) समाचारा भविष्यन्ति न संशयः।
४०. धर्म्ममीत-तमा वृद्धा जनं भोक्ष (क्ष्य) न्ति निर्भयाः।
४१. यवना ज्ञापयिष्य (ˈ) ति (नश्येरन्) च पार्थिवाः।
४२. मध्यदेशे न स्थास्यन्ति यवना युद्धदुर्मदा।
४३. तेषामन्योन्य-संभाव (ˈ) भविष्यति न संशयः।
४४. आत्मचक्रोत्थितं घोरं युद्धं परमदारुणं।
४५. ततो युगवशात्तेषां यवनानां परिक्षये।
४६. स (ा) केते सप्तराजानो भविष्यन्ति महाबलाः।
४७. लोहिता (प्ते) स्तथा योधैर्योधा युद्धपरिक्षताः।
४८. करिष्यन्ति पृथिवीं शून्यां रक्तघोरां सुदारुणां।
४९. ततस्ते मगधाः कृत्स्ना गंगासीना (:) सुदारुणाः।
५०. रक्तपातं तथा युद्धं भविष्यति तु पश्चिमं।
५१. अ (ा) ग्निवैश्यास्तु ते सर्वे राजानो (०नः)कृतविग्रहाः।
५२. क्षयं यास्यन्ति युद्धेन यथैषामाश्रिता जनाः।
५३. शकानां च ततो राजा ह्यर्थलुब्धो महाबलाः।
५४. दुष्टभावश्च पापश्च विनाशे समुपस्थिते।
५५. कलिंग-शत-राजार्थे विनाशं वै गमिष्यति।
५६. केचद्रकण्डैः (?) शबलैर्विलुपन्तो गमिष्यति।
५७. कनिष्टास्तु हता (:) सर्वे भविष्यन्ति न संशयः।
५८. विनष्टे शकराजे च शून्या पृथिवी भविष्यति।
५९. पुष्पनाम तदा शून्य (ˈ) (वी) भत्स (ˈ)भवति(वत)।
६०. भविष्यति नृपाः कश्चिन्न वा कश्चिद्भविष्यति।
६१. ततो (ऽ) रणो धनुमूलो भविष्यति महाबलाः।
६२. अम्लाटो लोहिताक्षेति पुष्यनामं (ग) मिष्यति।
६३. सर्वे ते नगरं गत्वा शून्यमासाद्य (स) र्वतः।
६४. अर्थलुब्धाश्च ते सर्वे भविष्यन्ति महाबलाः।
६५. ततः स म्लेच्छ आम्लाटो रक्ताक्षो रक्तवस्त्रभृत।
६६. जनमादाय विवशं परमुत्सादयिष्यति।
६७. ततोवर्णास्तु चतुरः स नृपो नाशयिष्यति।
६८. वर्णाधःवस्थितान् सर्वान् कृत्वा पूर्वाव्यवस्थि (तान्)।
६९. आम्लाटो लोहिताक्षश्च विपत्स्यति सबान्धवः।



७०. ततो भविष्यते राजा गोपालोभाम-नामतः।
७१. गोपा (लः) तु ततो राज्यं भुक्त्वा संवत्सरं नृपः।
७२. पुष्पके चाभिसंयुक्तं ततो निधनमेष्यति।
७३. ततो धर्मपरो राजा पुष्पको नाम नामतः।
७४. सोपि संवत्सरं राज्यं भु (क्त्वा) निधनमे (ष्य)ति।
७५. ततः सविलो राजा अनरणो महाबलः।
७६. सोपि वर्षत्रयं भुक्त्वा पश्चान्निधनमेष्यति।
७७. ततो विकुयशाः कश्चिदब्राह्मणो लोकविश्रुतः।
७८. तस्यापि त्रीणि वर्षाणि राज्यं दुष्टं भविष्यति।
७९. ततः पुष्पपुर (०) स्या (त्) तथैव जनसंकुलं।
८०. भविष्यति वीरं (र-) सिद्धार्थं (र्थं-) प्रसवोत्सवसंकुलं।
८१. पुरस्य दक्षिणे पार्श्वे वाहनं तस्य दृश्यते।
८२. हयानां द्वे सहस्रे तु गजवाहस्तु (क) ल्पतः।
८३. तदा भद्रपाके देशे अग्निमित्रस्तत्र कीलके।।
८४. तस्मिन्नुत्पत्स्यते कन्या तु महारूपशालिनी।
८५. तस्या (अ) र्थे स नृपो घोरं विग्रहं ब्राह्मणैः सह।
८६. तत्र विष्णुवशाद्देहं विमो (क्ष्य) ति न संशयः।
८७. तस्मिन्युद्धे महाघोरे व्यतिक्रान्ते सुदारुणे।
८८. अ (र) ग्नि वैश्यस्तदा राजा भविष्यति महाप्रभुः।
८९. तस्यापि विंशद्वर्षाणि राज्यं स्फीतं भविष्यति।
९०. (आ) ग्निवैश्यस्तदा राजा प्राप्य राज्यं महेन्द्रवत्।
९१. भीमैः शरर (शकैः?) संघातैर्विग्रहं समुपेष्यति।
९२. ततः शरर (शक?) संघोरे प्रवृत्ते स महाबले।
९३. वृषकोटे (टि) ना स नृपो मृत्युः समुपयास्यति।
९४. ततस्तस्मिन् गते काले महायुद्ध (सु) दारुणे।
९५. शून्या वसुमती घोरा स्त्री प्रधाना भविष्यति।
९६. कृषिं नार्यः करिष्यन्ति लांग (लक) र्णपाणयः।
९७. दुर्लभत्वान्मनुष्याणां क्षेत्रेषु धनुर्योधनाः।
९८. (विंश) द्भार्या दशो या (वा) भविष्यन्ति नरास्तदा।
९९. प्रक्षीणाः पुरु (षा) लोके दिक्षु सर्वासु पर्वसु।
१००. ततः संघातशो नार्यो भविष्यन्ति न संशयः।
१०१. आश्चर्यमिति पश्यन्तो (दृष्ट्वा) धो ('धः) पुरुषाः स्त्रियः।
१०२. स्त्रियो व्यवहरिष्यन्ति ग्रामेषु नगरेषु च।
१०३. नराः स्वस्था भविष्यन्ति गृहस्था रक्तवाससः।
१०४. ततः सातुवरो राजा ह (हृ) त्वा दण्डेन मेदिनी (म्)।
१०५. व्यतीते दशमे वर्षे मृत्युं समुपयास्यति।
१०६. ततः प्रनष्टचारित्राः स्वकर्मोपहताः प्रजाः।
१०७. करिष्यन्ति चका (-शका) घो (रा) बहुलाश्च इति श्रुतिः।
१०८. चतुर्भाग तुं (श) स्त्रेण नाशयिष्यन्ति प्राणिनां।
१०९. हरिष्यन्ति शकाः षोशं (कोशं? तेषां?) चतुर्भागं स्वके पुरं।
११०. ततः प्रजायां शेप्रायां तस्य राज्यस्य परिक्षयात्।
१११. देवो द्वादशवर्षाणि अनावृष्टिं करिष्यति।
११२. प्रजानाशं गमिष्यन्ते दुर्भिक्षभयपीड़िताः।
११३. ततः पापक्षते लोके दुर्भिक्षे लोमहर्षणे।
११४. भविष्यति युगस्यान्तं सर्वप्राणिविनाशनं।
११५. जनमारस्ततो घोरो भविष्यति न संशयः।*

*** युग-पुराण का यह मूल पहले-पहल श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने *JBORS* में सितम्बर १९२८ वाले अंक में पृ. ३९७-४२१ में प्रकाशित किया। उससे सन्तुष्ट न होकर राव बहादुर के. एच. ध्रुव ने उसका एक दूसरा पाठ उसी पत्रिका के खण्ड १६, भाग १, पृ. १८-६६ में छापा। परन्तु वास्तव में अभी तक इस पुराण का कोई पाठ शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस पर और विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा जान पड़ता है कि इसके अनेक भाग इधर से उधर हो गए हैं जिससे प्रसंग को ठीक-ठीक समझने में कठिनाई पड़ती है और ऐतिहासिक सामंजस्य बिगड़ जाता है। —लेखक।**



विक्रम और कालिदास

(चित्रकार—श्री असितकुमार हालदार लखनऊ)

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

डॉ० लक्ष्मणस्वरूप एम. ए., डी. फिल.

रामायण, महाभारत और पुराणों में वर्णित सूर्यवंशी तथा चन्द्रवंशी राजाओं के अतिरिक्त भारत में बिम्बसार, अजातशत्रु, प्रद्योत, उदयन, नन्द, चन्द्रगुप्त, अशोक, पुष्यमित्र, अग्निमित्र, समुद्रगुप्त, यशोधर्म, हर्षवर्धन जैसे अनेक राजा और महाराजा प्रसिद्ध हो चुके हैं, परन्तु जो दिगन्तव्यापिनी कीर्ति और गगनचुम्बी यश विक्रमादित्य को प्राप्त हुए हैं वे किसी दूसरे शासक को नहीं मिले। भारतीय विद्वज्जनों की परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य एक महारथी, महा-पराक्रमी और महातेजस्वी चक्रवर्ती सम्राट् थे। वे साहस की साक्षात् मूर्ति थे। उनका चरित्र अति उदार था, वे दानियों में भी दानवीर थे। यदि उनके कमलनयनों की मधुर सुषमा तथा उनके स्मितकान्त ओष्ठ कुबेर के भण्डार थे, तो उनके क्रोध से रक्त नेत्र तथा वक्र भृकुटि करालकाल के द्वार थे। उनके अद्भुत अलौकिक विस्मयोत्पादक कार्यों का विस्तृत वर्णन (१). संस्कृत-साहित्य (२) जैन-साहित्य (३) महाराष्ट्री प्राकृत की गाथा सप्तशती (४) गुणाढ्य रचित पैशाची बृहत्कथा आदि ग्रन्थों में पाया जाता है। पर योरुप और भारत के कुछ विद्वान् भारतीय परम्परा को विश्वास के योग्य न समझकर विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके कथन के अनुसार विक्रमादित्य किसी व्यक्ति-विशेष का निजी (स्व) नाम न था, बल्कि एक विरुद-मात्र था। इस विरुद या उपाधि को गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त द्वितीय, हर्षवर्धन, शीलादित्य आदि-आदि अनेक सम्राटों ने धारण किया। 'विक्रमादित्य' शब्द को अपने नाम के साथ जोड़ना वे अपने लिए गौरव की बात समझते थे। इसलिए कुछ विद्वानों की सम्मति में विक्रमादित्य एक विरुद-मात्र था, केवल एक उपाधि थी, इस नाम का कोई व्यक्ति विशेष न था। ये विद्वान् बहुश्रुत, तीव्र-समालोचक, अनुसन्धान-प्रेमी तथा सत्यप्रिय हैं। हम उनको आदर की दृष्टि से देखते हैं। हमारे हृदय में उनके प्रति श्रद्धा तथा बहु-सम्मान है, इसलिए उनके विचार को उपलब्ध सामग्री की कसौटी पर परखना आवश्यक है।

इस समय विक्रम संवत् का द्विसहस्राब्द समाप्त हुआ है। जैसे एक रचना उसके रचयिता की सूचक होती है, वैसे ही विक्रम संवत् की स्थापना उसके स्थापक के अस्तित्व की सूचक होनी चाहिये। पर ऐसा माना नहीं जाता, क्योंकि विक्रम संवत् की स्थापना के विषय में ही मतभेद है। योरुप के एक विद्वान् जेम्स फर्गुसन का मत* है कि विक्रम संवत् सन् ५४४ ईसवी

* *Journal of the Royal Asiatic Society*, 1870, pp. 81 H.

में स्थापित किया गया और प्राचीनता प्रदान करने के लिए, संवत् का आरम्भ ६०० वर्ष पहले से कर दिया गया। यह एक सार-रहित कल्पना थी, तो भी मैक्समुलर जैसे जगद्-विख्यात विद्वान् ने इसे स्वीकार कर लिया *। फर्गुसन के मत के अनुसार विक्रम संवत् छठी शताब्दी में स्थापित किया गया। छठी शताब्दी से पहले यह संवत् विद्यमान नहीं था, इसलिये छठी शताब्दी से पहले इस संवत् का कहीं प्रयोग नहीं मिलना चाहिए। परन्तु फर्गुसन के दुर्भाग्यवश छठी शताब्दी से पहले विक्रम संवत् का प्रयोग मिलता ह। एक लेख पर ४८१ संवत् का उल्लेख है—"कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषुएकाशीत्युत्तरेषु............ मालवपूर्वायां..............."†। विजयगढ़ स्तम्भ पर ४२८ वर्ष का लेख है। मौखरियों के एक लेख पर २९५ वर्ष का अंक है। उदयपुर रियासत में उपलब्ध नन्दी स्तम्भ पर २८२ वर्ष का उल्लेख है। तक्षशिला के ताम्रपत्र पर १२६ वर्ष का लेख है। युसुफजाई प्रदेश के पंजतर स्थान के समीप एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। उस पर १२२ अंक है और श्रावण की प्रथमा का उल्लेख है। यह वर्ष और मास भी विक्रम संवत् के ही हैं, इसलिए यह लेख तक्षशिला के ताम्रपत्र-लेख से भी अधिक प्राचीन है। पेशावर जिले में तख्तेबाही स्थान पर एक लेख मिला है। यह लेख गोण्डाफरनेस के राज्यकाल के २६ वें वर्ष में लिखा गया था। इस पर वैशाख की पञ्चमी और १०३ का अंक है। निस्सन्देह यह तिथि और वर्ष भी विक्रम संवत् के ही हैं। इस कथन की पुष्टि रॅप्सन (Rapson) की निम्न लिखित पँक्तियों द्वारा होती है—"There can be little doubt that the era is the Vikrama Samvat which began in 58 B. C." (*Cambridge History of India*, Vol. I. p. 576). इस प्रकार छठी शताब्दी—फर्गुसन द्वारा कल्पित स्थापना-काल—से पूर्व के लेखों में विक्रम संवत् का प्रयोग हुआ है। इन प्रबल प्रमाणों से फर्गुसन की कल्पना निराधार सिद्ध हो जाती है।

अब एक दूसरी आपत्ति खड़ी की जाती है। कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी तक के लेखों पर ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाले संवत् का प्रयोग अवश्य हुआ है, पर संवत् का नाम विक्रम संवत् नहीं बल्कि मालवगणस्थिति और कृत-संवत् है। छठी शताब्दी के पश्चात् आठवीं शताब्दी के लेखों में इस संवत् का नाम मालवेश-संवत् है। आठवीं शताब्दी के अनन्तर ही उत्कीर्ण लेखों पर विक्रम का नाम पाया जाता है, जैसे ७९४ संवत् के लेख पर विक्रम का नाम स्पष्ट है—"विक्रमसंवत्सरशतेषु सप्तसु चतुर्नवत्यधिकेषु" इसी प्रकार चण्डमहासेन के धौलपुर-पत्र पर यह लेख मिलता है—"वसु-नव-अष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य" अर्थात् ८९८ वर्ष। इसी प्रकार "रामगिरिनन्दकलिते विक्रमार्के गते तु"—इस लेख पर ९७३ वर्ष का उल्लेख मिलता है। एकलिंगजी के १०२८ वर्ष के लेख पर भी विक्रमादित्य का नाम पाया जाता है—"विक्रमादित्य भूभृतः। अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति"। इससे सिद्ध है कि सबसे पहले ७९४ वर्ष के लेख पर ही विक्रमादित्य का नाम है। इस साक्ष्य से परिणाम निकाला जाता है कि संवत् की स्थापना तो ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व हुई, पर स्थापक विक्रमादित्य न था बल्कि मालवगण था। इस पूर्वपक्ष के विरोध में इतना कहना पर्याप्त होगा कि संसार में जितने भी संवत् या सन् प्रचलित हैं, वे सबके सब किसी न किसी व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखते हैं जैसे युधिष्ठिर संवत्‡, बौद्ध संवत्, महावीर संवत्, ईसवी-सन्, शक संवत् इत्यादि। एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलता जिसका सम्बन्ध किसी न किसी व्यक्ति-विशेष से न हो या जिसकी स्थापना किसी गण, प्रजातन्त्रराज्य, अथवा अभिजातकुलों द्वारा की गई हो।

---

* *India what can it teach us ? p.* 286.

† *Nagri Inscription A. S. H. C.* 1915-16 p. 56.

‡ **युधिष्ठिर-संवत् महाभारत के घोर संग्राम के पश्चात् महाराज युधिष्ठिर के सिंहासन पर आरूढ़ होने के समय से आरम्भ होता है। बौद्ध और महावीर संवत् महात्मा बुद्ध तथा तीर्थंकर महावीर के निर्वाण-काल से, ईसवी सन् ईसामसीह के मृत्यु-समय से आरम्भ होते हैं। ईसवी सन् पहले चैत्र मास में आरम्भ होता था पर पीछे से पोप ग्रेगरी के संशोधन करने के कारण अब पौष मास में आरम्भ होता है। शक संवत् ७८ ईसवी में शालिवाहन द्वारा अथवा रॅप्सन के मतानुसार कनिष्क द्वारा स्थापित किया गया।** (*Cambridge History of India*—Vol. I. Preface VIII—IX, pp. 583, 585).

दूसरी बात यह है कि विक्रम संवत् का प्रयोग पेशावर, काबुल और कंधार के लेखों में पाया जाता है। जहाँ तक इतिहास से पता चलता है मालवगण ने पेशावर, काबुल, कंधार पर कभी शासन नहीं किया। महात्मा बुद्ध या महावीर के समान मालवगण किसी धर्म का प्रवर्तक भी नहीं बना। किसी संवत् के प्रचार में दो ही शक्तियों का प्रभाव होता है (१) राजनीतिक (२) धार्मिक। इन दोनों शक्तियों के अभाव में मालवगण द्वारा स्थापित संवत् का काबुल और कंधार में कैसे प्रयोग हुआ? संवत् की स्थापना किसी व्यक्ति-विशेष से ही सम्बन्ध रख सकती है। गण द्वारा संवत् की स्थापना स्वीकार नहीं की जा सकती। कहने का तात्पर्य यह है कि विक्रम संवत् का सम्बन्ध भी एक व्यक्ति से है।

एक धारणा यह है कि यदि विक्रम संवत् का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष से है और यह एक व्यक्ति द्वारा स्थापित किया गया है तो स्थापक का नाम विक्रमादित्य नहीं बल्कि अयस (Azes 1) है। यह मत* सर जॉन मारशल का है। रॅप्सन इस मत का समर्थक है†। तक्षशिला ताम्रपत्र के लेख में १३६ अंक के पीछे 'अयस' शब्द लिखा है। सर जॉन मारशल 'अयस' शब्द का अर्थ करते हैं—'अजेस का'। उनका कहना है कि ताम्रपत्र लेख में जिस संवत् का निर्देश है यह वही संवत् है जो ईसा से ५७-५८ पूर्व आरम्भ होता है, पर इस संवत् का स्थापक विक्रमादित्य नहीं, अजेस प्रथम है। अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थापना की थी इस बात की पुष्टि में सर जॉन मारशल ने कोई भी प्रमाण नहीं दिया। अजेस प्रथम के साहस तथा पराक्रम के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। अजेस प्रथम के कुछ सिक्के मिलते हैं। इन सिक्कों से अनुमान किया जाता है कि उसका राज्य पंजाब के कुछ भाग तथा कंधार पर था। इन सिक्कों पर "महाराजस राजराजस् महन्तस् अयस" लिखा मिलता है। यदि सिक्कों पर स्थान के सीमित होते हुए भी महाराज राजराज इत्यादि लिखा जा सकता था तो क्या यह सम्भव हो सकता है कि ताम्रपत्र पर अजेस प्रथम के नाम के साथ "महाराजस्य राजराजस्य" इत्यादि शब्द न लिखे जाते? इन शब्दों के अभाव से स्पष्ट है कि ताम्रपत्र के लेख में उपलब्ध 'अयस' शब्द का अर्थ 'अजेस का' नहीं हो सकता और न होना चाहिए। ताम्रपत्र लेख के 'अयस' शब्द के बहुत से अर्थ किये गये हैं। इसका सर्वश्रेष्ठ अर्थ भाण्डारकर महोदय ने किया है। उनके मतानुसार 'अयस' शब्द संस्कृत शब्द 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप है। प्राकृत व्याकरण के अनुसार संस्कृत 'आद्यस्य' का प्राकृत रूप 'अयस' ही होगा। उस वर्ष में दो आषाढ़ थे। 'आद्यस्य' अथवा 'अयस' से प्रथम आषाढ़ का निर्देश है। मुझे इस अर्थ को स्वीकार करने में कुछ भी आपत्ति नहीं दिखाई देती। यही अर्थ यथार्थ प्रतीत होता है।

यदि अजेस प्रथम ने किसी संवत् की स्थापना की तो अजेस का नाम शिलालेखों में उत्कीर्ण संवत् के साथ उल्लिखित होना चाहिये था। पर अब तक एक भी शिलालेख में अजेस का नाम नहीं पाया जाता। यदि अजेस ने संवत् चलाया था तो कम से कम उसका पुत्र अजीलिसेस तो उस संवत् का प्रयोग करता। अजीलिसेस के कुछ सिक्के मिलते हैं। उन पर अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। स्वयं अजेस के सिक्कों पर किसी संवत् का प्रयोग नहीं हुआ। यदि अजेस ने संवत् चलाया तो उसने अपने सिक्कों पर उसका प्रयोग क्यों न किया? अजेस के सिक्कों पर तथा उसके पुत्र अजीलिसेस के सिक्कों पर किसी भी संवत् के प्रयोग के अभाव से स्पष्ट है कि अजेस ने किसी संवत् की स्थापना नहीं की। अजेस का राज्य थोड़े वर्ष ही रहा‡। उसका राज्य तथा वंश शीघ्र ही नष्ट हो गये। इसलिए अजेस द्वारा किसी संवत् की स्थापना सम्भव ही नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त अजेस के उत्तराधिकारी भी अजेस द्वारा स्थापित संवत् का प्रयोग नहीं करते। पकोरेस, विमकडफाईसेस, कनिष्क आदि ने अजेस के संवत् का प्रयोग नहीं किया। अजेस का कहीं नाम नहीं लिया। अजेस के उत्तराधिकारी गोण्डोफरनेस का तख्तेबाही लेख उपलब्ध है। इस लेख में 'अयस' का कहीं नाम नहीं पाया जाता। यदि

* *Journal of the Royal Asiatic Society* 1914 pp. 973 ff; 1915, pp. 191 ff.

† *Cambridge History of India,* Vol. I. Preface VIII, pp. 571, 581, 584.

‡ His family had been deposed and deprived of all royal attributes. (*Cambridge History of India,* Vol. I. p. 582).

अजेस ने संवत् की स्थापना की होती तो तख्तेबाही लेख में उसका नाम अवश्य मिलता। इसी प्रकार युसुफजाई के पंजतर स्थान में उपलब्ध लेख में १२२ वर्ष का अंक है। इस लेख में भी अजेस का नाम नहीं पाया जाता, यद्यपि यह वही संवत् है जिसका आरम्भ ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व होता है।

जैसे ऊपर लिखा जा चुका है भारत में उपलब्ध शिलालेखों पर इस संवत् को 'मालवगणस्थिति' 'मालवेश' तथा 'विक्रम' के नामों से निर्दिष्ट किया गया है। शिलालेखों के इस साक्ष्य की उपस्थिति में इस संवत् की स्थापना अजेस द्वारा नहीं मानी जा सकती। यहाँ पर हम फ्रेंकलिन एजर्टन का मत उद्धृत करते हैं। वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। वे लिखते हैं:—

"That Azes I ruled about 58 B. C. seems, indeed, quite well established. But the theory, that he founded an era seems to hang on a slender thread, namely on a disputed (and as it seems to me improbable) interpretation of the word *Ayasa* in the Taksasila inscription published by Marshall L. C. If this word should turn out not to refer to an era 'of Azes', there would be no evidence left for the founding of an era by King Azes. . .But the earliest certain inscriptions dated in this era agree with the unanimous Hindu tradition in localising the era in Malava. This alone might make us hesitate........And we should feel more comfortable about accepting the Azes theory, if other dates in this era were found in the interval between 136 (the Taksasila inscription) and 428 (the earliest date known in the 'Malava era'). The lack of any dates in this interval makes it appear that, on the hypothesis assumed by Marshall and Rapson, this era of Azes, used by Kanishka's immediate predecessors, in Gandhara, was straightway thereafter replaced by the era of Kanishka, and apparently became extinct in the Kushan empire, only to reappear, several centuries later, in Eastern Rajputana as the 'Malava era'. This does not sound very plausible." (*Vikrama's Adventures*) H. O. S. Vol. 26. Introduction (LXIII—IV).

अजेस विदेशी था। यदि उसने किसी संवत् की स्थापना की तो उस संवत् के महीनों तथा तिथियों के नाम भी विदेशी होने चाहिये। आजकल प्रचलित विदेशी ईसवी सन् के महीनों तथा तिथियों के नाम भी विदेशी हैं जैसे जनवरी, फरवरी..........मण्डे, टचूसडे इत्यादि। इसी प्रकार विदेशी अजेस द्वारा स्थापित संवत् के महीनों तथा तिथियों के नाम भारतीय नहीं होने चाहिए। परन्तु तक्षशिला-ताम्रपत्र-लेख में आषाढ मास और पञ्चमी तिथि का उल्लेख है। युसुफजाई के पंजतर लेख में श्रावण मास तथा प्रथमा तिथि का उल्लेख है, गोण्डोफरनेस के तख्तेबाही लेख में वैशाख मास और पञ्चमी तिथि का उल्लेख है। इन महीनों तथा तिथियों के नाम से स्पष्ट है कि ईसा से पूर्व ५७-५८ में आरम्भ होनेवाले संवत् की स्थापना किसी विदेशी अजेस द्वारा नहीं बल्कि किसी भारतीय महापुरुष द्वारा की गई। सार यह निकला कि ईसा से पूर्व ५७-५८ में आरम्भ होने वाला संवत् किसी गण अथवा विदेशी नरेश अजेस द्वारा नहीं स्थापित किया गया। वह एक व्यक्ति-विशेष से सम्बन्ध रखता है। वह व्यक्ति-विशेष एक भारतीय ही था।

अब प्रश्न यह है कि वह भारतीय व्यक्ति-विशेष कौन था? जैनियों की परम्परा है कि महावीर के निर्वाण-काल से ४७० वर्ष पीछे विक्रमादित्य ने सकल प्रजा को ऋण से मुक्त कर संवत् चलाया। इस परम्परा का साक्ष्य ईसा से पूर्व प्रथम शताब्दी में एक विक्रमादित्य का होना और उसके द्वारा संवत् की स्थापना को सिद्ध करता है।

जैनियों की पट्टावलियों में सुरक्षित परम्परा एक दूसरी परम्परा है। उनमें निर्दिष्ट समय-गणना भी इस बात की पुष्टि करती है। दो भिन्न-भिन्न परम्पराओं से एक ही परिणाम निकलता है। कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि इन परम्पराओं पर विश्वास न किया जाय।

अब हम इस प्रश्न पर एक दूसरे प्रकार से विचार करते हैं। ईसवी सन् से पूर्व के भारतीय महाराज और सम्राट् विक्रमादित्य विरुद को धारण नहीं करते थे, जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ नहीं जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट् जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वही गौरव उपलब्ध होने लगा था। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध-यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। इसी प्रकार स्कन्दगुप्त, हर्षवर्धन में से किसी ने भी अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उनमें से प्रत्येक ने अपना आधिपत्य प्रकट करने के लिए विक्रमादित्य की उपाधि को धारण किया। प्रश्न उठता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे भारत-विजेता, चक्रवर्ती सम्राट् के लिए विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना किस प्रकार से गौरव या महत्व की बात हो सकती थी? अथवा संसार के सम्राटों की उपाधियों का उद्गम-स्थान अथवा स्रोत क्या है, इस पर कुछ विचार करना अनुचित न होगा। पहले हम योरुप को लेते हैं।

योरुप के इतिहास में चार विशाल साम्राज्यों का वर्णन पाया जाता है—(१) रोमन साम्राज्य, (२) आस्ट्रो-हंगेरियन साम्राज्य, (३) रूसी साम्राज्य, (४) जर्मन साम्राज्य। इनमें से हम पहले रूसी सम्राट् की उपाधि का उद्गम-स्थान या स्रोत मालूम करने का प्रयत्न करेंगे। रूसी सम्राट् की उपाधि है 'जार' (Czar)। अब जरा 'जार' (Czar) शब्द की उत्पत्ति पर ध्यान देना चाहिए। इसमें पहली बात तो यह है कि रूसी भाषाओं में C का Z वर्ण के साथ संयोग कभी नहीं होता। ये दोनों वर्ण कभी भी संयुक्त नहीं होते। "The spelling 'Cz' is against the usage of all Slavonic languages. Its retention shows its foreign origin." इन दोनों वर्णों के संयोग से स्पष्ट है कि रूसी भाषा में यह एक विदेशी शब्द है। यह शब्द वास्तव में लेटिन शब्द 'सीजर' Caesar से निकलता है। इसको 'सीजर' का प्रतिनिधि कहा जा सकता है। यह वास्तव में 'सीजर' Caesar शब्द का एक प्रकार का समानध्वन्यात्मक रूपान्तर है। 'Czar' शब्द का C वर्ण Caesar के Cae वर्ण के स्थानापन्न है। Czar का 'Zar', 'Caesar' के Sar के स्थानापन्न है। इस प्रकार Czar, Caesar के समान है। इससे स्पष्ट हो गया कि रूसी सम्राट् की उपाधि Czar का उद्गम-स्थान Caesar है।

आस्ट्रो-हंगेरियन और जर्मन साम्राज्यों के सम्राटों की उपाधि है कैसर 'Kaisar'। यह शब्द योरुप की विविध भाषाओं में पाया जाता है :—गौथिक (Gothic) में यह Kaisar है। प्राचीन जर्मन भाषा में इसका रूप है Keisar। मध्यकालीन डच (Dutch) में Keiser, Keyser तथा आधुनिक डच में Keizer के रूप में हैं। प्राचीन नार्वीजियन भाषाओं में Keisari, Keisar तथा Keiser के रूप में पाया जाता है। मध्यम अंग्रेजी में Kaiser, Keiser तथा प्राचीन अंग्रेजी में Casere तथा Caser रूप मिलते हैं। इसी शब्द Kaisar के अन्य १२ रूपान्तर हैं Caisere, Caysere, Caiser, Cayser, Caisar, Kayssar, Keyzar, Kaeisere, Koesar। इस शब्द का उच्चारण है कैजर Kaizer। लैटिन भाषा में C वर्ण का उच्चारण दो प्रकार से होता है—(१) एक प्रकार तो वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'सी' उच्चारण होता है। (२) दूसरा प्रकार वह है जिसके अनुसार C वर्ण का 'क' उच्चारण होता है। उदाहरण के तौर पर हम प्राचीन



रोम के वाग्मी तथा संसार प्रसिद्ध नेता Cicero का नाम लेते हैं। इस नाम का उच्चारण 'सिसरो' तथा 'किकरो' दोनों प्रकार से होता था जैसे संस्कृत 'ष्' का उच्चारण मूर्धन्य 'ष्' तथा कण्ठ्य 'ख्' दो प्रकार से होता है, षष्ठि को खष्ठि, अथवा षष्ठि उच्चरित किया जाता है। इन रूपों को देखने से स्पष्ट है कि यह शब्द भी Caesar का रूपान्तर है। आस्ट्रो-हंगेरियन तथा जर्मन सम्राटों की उपाधि का उद्‌गम-स्थान सीजर (Caesar) है।

रोमन साम्राज्य के निम्न लिखित सम्राट् हो गये हैं:—

Augustus	..	27 B. C.	14 A. D.	Maximinus	..	235 ,,	238 ,,
Tiberius	..	14 A. D.	37 ,,	Gordian III	..	238 ,,	244 ,,
Gaius	..	37 ,,	41 ,,	Philip	..	244 ,,	249 ,,
Clandius	..	41 ,,	54 ,,	Derius	..	249 ,,	251 ,,
Nero	..	54 ,,	68 ,,	Gallus	..	251 ,,	253 ,,
Vespasian	..	69 ,,	79 ,,	Aemilianus	..	253 ,,	260 ,,
Titus	..	79 ,,	81 ,,	Gallienus	..	260 ,,	268 ,,
Domitian	..	81 ,,	96 ,,	Clandius	..	268 ,,	270 ,,
Nerva	..	96 ,,	98 ,,	Aurelian	..	270 ,,	275 ,,
Trajan	..	98 ,,	117 ,,	Tacitus	..	275 ,,	276 ,,
Hadrian	..	117 ,,	138 ,,	Probus	..	276 ,,	282 ,,
Antoninus Pius		138 ,,	161 ,,	Carus	..	282 ,,	283 ,,
Marcus Aurelius		161 ,,	180 ,,	Constantine I		311 ,,	337 ,,
Comodus	..	180 ,,	193 ,,	Constantine II.		337 ,,	361 ,,
Septimius Severus.		193 ,,	211 ,,	Julian	..	361 ,,	363 ,,
				Jovian	..	363 ,,	364 ,,
Caracalla	..	211 ,,	217 ,,	Valentinian I		364 ,,	375 ,,
Macrinus	..	217 ,,	218 ,,	Gratian	..	375 ,,	
Elagabalus	..	218 ,,	222 ,,	Valentirian II		375 ,,	395 ,,
Alexandar Severus.		222 ,,	235 ,,	Honorius	..	395 ,,	423 ,,
				Valentinian III.		423 ,,	455 ,,

Maximus Avitus Majorian Severus Anthenius Olybrius Romulus Augustuslus } (455-475).

इनमें से प्रत्येक की उपाधि सीजर (Caesar) थी। योरुप के चार विशाल साम्राज्यों के सम्राटों के उपाधि का उद्‌गम-स्थान है Caesar। यह Caesar एक व्यक्ति था। इसका पूरा नाम था जूलियस सीजर (Julius Caesar)। इस व्यक्ति ने उस समय के संसार को जीता, ऐसे अद्‌भुत और अलौकिक कार्य किये कि सीजर (Caesar) नाम में एक विशेष महत्त्व तथा आकर्षण हो गया। सीजर (Caesar) नाम सुनते ही श्रोता के हृदय पर एक अनिर्वचनीय प्रभाव पड़ता था। इस नाम के साथ अलौकिक प्रभुत्व तथा अद्‌भुत प्रताप सम्बद्ध हो गया था इसलिए रोमन साम्राज्य के प्रत्येक सम्राट् ने इस नाम के महत्त्व, आकर्षण, तथा तेज से लाभ उठाने के लिए इस नाम को उपाधि के तौर पर अपने नाम के साथ जोड़ लिया और स्वयं 'सीजर' बन बैठा। इससे सिद्ध हुआ कि योरुप के बड़े-बड़े सम्राटों की सबसे बड़ी उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम है।

उन्नीसवीं शताब्दी के योरुप के इतिहास में इसी मनोवृत्ति का एक दूसरा जीता-जागता उदाहरण मिलता है। नेपोलियन (Napoleon) के अमानुषिक साहस और पराक्रम तथा महासंग्रामों में अपूर्व विजयों के कारण 'नेपोलियन' शब्दमात्र में एक चमत्कार, एक मन को मोहनेवाला आकर्षण पैदा हो गया था। जनता के लिए यह शब्द एक वशीकरण मंत्र से कम न था। जब १८४८ में फिलिप ने फ्रान्स देश में क्रान्ति द्वारा शक्ति प्राप्त की तो अपनी शक्ति को दृढ़ करने के लिए उसने अपना नाम नेपोलियन रख लिया और वह नेपोलियन तृतीय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फ्रान्स देश के तृतीय साम्राज्य को सुसंगठित तथा सुदृढ़ करने में नेपोलियन के नाम ने आशातीत सहायता दी।

धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्र में भी इसी मनोवृत्ति का प्रदर्शन मिलता है। आदि शंकराचार्य के अलौकिक बुद्धि-चमत्कार के पश्चात्, उनके द्वारा स्थापित मठों के अध्यक्ष अपने आपको अभी तक शंकराचार्य कहते हैं। सिक्ख धर्म के स्थापक गुरू नानक थे। उनके पीछे आनेवाले सारे गुरू अपने आपको नानक कहते थे। दूसरे गुरू से लेकर दसवें गुरू ने जो कविताएँ रची हैं और अब ग्रन्थ साहिब में सुरक्षित हैं वे सब नानक के नाम से रची गई हैं।

ऊपर लिखा गया है कि योरुप के चार विशाल साम्राज्यों के सम्राटों की उपाधि एक व्यक्ति-विशेष का नाम-मात्र है। इसी प्रकार ईसवी सन् के पश्चात् भारत के सम्राटों का अपने नाम के साथ विक्रमादित्य की उपाधि को जोड़ना इस बात का सूचक है कि कोई व्यक्ति विक्रमादित्य हुआ था। उसने अद्भुत अलौकिक कार्यों द्वारा सीजर तथा नेपोलियन के समान विक्रमादित्य शब्द में एक प्रकार का आकर्षण और तेज उत्पन्न कर दिया और वह नाम जनता को मुग्ध करने का एक प्रकार का अमोघ वशीकरण मंत्र बन गया। इसलिए चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे शक्तिशाली सम्राट् ने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की। अन्यथा समरांगणों में विहार करनेवाले विदेशियों के विजेता विशाल साम्राज्य के प्रभु चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे महाबली परम भट्टारक परमेश्वर के लिए विक्रमादित्य या पराक्रम-मूर्ति या पराक्रम-सूर्य आदि शब्दों को अपने नाम के साथ जोड़ने से कोई विशेष लाभ या गौरव प्राप्त न हो सकता था। मेरी राय में चन्द्रगुप्त द्वितीय का विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना इस बात की सूचना देता है कि उससे पूर्व कोई महातेजस्वी विक्रमादित्य नाम का सम्राट् भारत में हो चुका था जिसके विदेशियों को परास्त करनेवाले दुर्निवार पराक्रम, अद्भुत तथा अलौकिक आचरणों के कारण 'विक्रमादित्य' शब्द एक अत्यन्त कमनीय उपाधि बन गया, यहाँ तक कि चन्द्रगुप्त द्वितीय जैसे सम्राट् इस नाम को उपाधि बनाकर अपने नाम के साथ जोड़ने और अपने आपको विक्रमादित्य कहलाने में गौरव अनुभव करते थे।

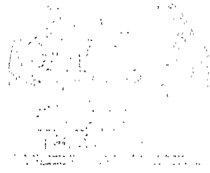
एक ऐसे ही महातेजस्वी विक्रमादित्य का वर्णन ईसा की पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व मिलता है। महाराज हाल ने महाराष्ट्री प्राकृत पद्यों के एक संग्रह का संकलन किया। महाराज हाल का समय पहली या दूसरी शताब्दी है। इस संग्रह में कुछ पद्य तो उनके स्वरचित हैं और कुछ अन्य कवियों के पद्य संगृहीत हैं। इस सुभाषितावलि का नाम है "गाथासप्तशती"। इसके एक पद्य में विक्रमादित्य का उल्लेख है। वह पद्य यहाँ उद्धृत किया जाता है :—

"संवाहणसुहरसतोसिएण दंतेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्चचरिअं अनुसिक्खिअं तिस्सा।"

इसकी संस्कृत छाया इस प्रकार है :—

"संवाहन सुखरसतोषितेन दत्तेन तव करे लाक्षां।
चरणेन विक्रमादित्यचरित्रं अनुशिक्षितं तस्याः॥"

इस पद्य का भावार्थ है—पति अपनी प्रिया के चरणों का संवाहन कर रहा था। प्रिया के चरण लाख रस से पुते हुए होने के कारण लाल थे। ऐसे चरणों के स्पर्श से पति के हाथों में भी लाख लग गई अर्थात् वे लाल हो गये। इस कौतुक को देखकर कवि अथवा अभिन्न-हृदय मित्र पति को सम्बोधन करके कहता है कि प्रिया के चरणों ने संवाहनसुख से सन्तुष्ट होकर तुम्हारे हाथ में लाख दे दिया। लाख देने से चरणों ने मानों विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है।



विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

(मूल शब्द लक्खं–लाख श्लिष्ट पद है। इसके दो अर्थ हैं–(१) लाख नाम की एक धातु जिसका रस मेंहदी के समान पाँवों पर लगाया जाता है (२) लाख रुपये।)

इस पद्य के साक्ष्य से सिद्ध है कि हाल के समय से पूर्व, विक्रमादित्य नाम का एक महाप्रतापी और उदार सम्राट् हो चुका था जो चरण-संवाहन जैसी साधारण सेवा से सन्तुष्ट होकर अपने नौकरों को लाख-लाख रुपये इनाम में दे डालता था। इस कथन में यदि कुछ अतिशयोक्ति भी हो तो भी इस पद्य से विक्रमादित्य की उदारता, ऐश्वर्य और दानशीलता अवश्य प्रकट होते हैं। इस प्रकार पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक वीर प्रतापी दानवीर विक्रमादित्य का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है।

कुछ विद्वान् इस पद्य को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। पर सन्देह का कारण नहीं बतलाते। मालूम होता है कि अस्पष्ट रूप से उनके मन में एक धारणा बैठ गई है कि यह पद्य प्रक्षिप्त है अर्थात् जिस समय हाल ने गाथा सप्तशती का संकलन किया था उस समय यह पद्य विद्यमान न था बल्कि पीछे से मिला दिया गया है। यदि यह पद्य प्रक्षिप्त है तो इसके लिए कोई प्रमाण दिया जाना चाहिए। यदि प्रमाण नहीं है तो प्रमाण के अभाव में सन्देह करना न्याय्य नहीं है। कहावत है कि जब तक पाप सिद्ध न कर दिया जाय तब तक मनुष्य पापी नहीं माना जा सकता। "A man is innocent until and unless he is proved guilty". इसी प्रकार जब तक इस पद्य को प्रक्षिप्त न सिद्ध कर दिया जाय इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि यह पद्य प्रमाण-कोटि पर आरूढ़ हो सकता है तो दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य का अस्तित्व स्वीकार करना पड़ेगा।

दूसरी या पहली शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने में गुणाढ्य द्वारा पैशाची भाषा में लिखी हुई बृहत्कथा से भी साक्ष्य मिलता है। मूल बृहत्कथा अब उपलब्ध नहीं होती। वह नष्ट हो चुकी है। पर पैशाची भाषा से मूल बृहत्कथा का संस्कृत भाषा में रूपान्तर किया गया। इस रूपान्तर के समय का निर्णय नहीं हो सकता पर संस्कृत रूपान्तर आठवीं शताब्दी से पूर्व अवश्य हो चुका था। इस संस्कृत रूपान्तर की इस समय दो शाखायें विद्यमान हैं—(१) काश्मीरी, (२) नैपाली। काश्मीरी शाखा के दो ग्रन्थ प्रतिनिधि हैं—(क) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी और (ख) सोमदेवरचित कथासरित्सागर। नैपाली शाखा का एक ही ग्रन्थ मिलता है। वह है बुद्धस्वामी रचित श्लोकसंग्रह। श्लोकसंग्रह का सम्पादन फ्रान्स देश के प्रसिद्ध विद्वान् लाकोत (Lacote) ने किया है। इन दोनों शाखाओं के तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन द्वारा मूल बृहत्कथा के कलेवर का निर्माण किया जा सकता है। शाखाओं की विवेचना द्वारा हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि मूल पैशाची बृहत्कथा में अमुक-अमुक विषयों का वर्णन था। गुणाढ्य कृत बृहत्कथा की असंदिग्ध विषय-सूची बनाई जा सकती है। यह निस्सन्देह कहा जा सकता है कि गुणाढ्य ने अपनी मूल पैशाची बृहत्कथा में विक्रमादित्य के चरित्र का विस्तार सहित वर्णन किया था। गुणाढ्य के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद हैं पर गुणाढ्य को पहली या दूसरी शताब्दी से पीछे नहीं घसीटा जा सकता। गुणाढ्य की मूल बृहत्कथा का साक्ष्य पहली या दूसरी शताब्दी से पूर्व एक तेजस्वी महापराक्रमी विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

महाराष्ट्री प्राकृत तथा पैशाची बृहत्कथा के अतिरिक्त विक्रमादित्य के चरित्र का वर्णन निम्न लिखित संस्कृत पुस्तकों में पाया जाता है—(१) शुकसप्तति, (२) सिंहासनद्वात्रिंशिका, (३) वेतालपञ्चविंशति। ये तीनों ग्रन्थ तोते-मैना की कहानी, सिंहासनबत्तीसी, और बैताल पच्चीसी के नाम से हिन्दी में प्रचलित हैं। इनके अनेक अनुवाद और रूपान्तर तथा शाखाएँ भारत की भिन्न-भिन्न भाषाओं में उपलब्ध हैं। कथासरित्सागर का भी हिन्दी में अनुवाद हो चुका है। पर क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी का कोई अनुवाद अभी तक दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इन ग्रन्थों की कितनी ही कथाएँ भारत तथा योरुप की भिन्न-भिन्न भाषाओं के साहित्य में स्वतन्त्र रूप से पाई जाती हैं।

जैनियों के साहित्य में विक्रमादित्य का वर्णन (१) मेरुतुंगसूरि रचित प्रबन्धचिन्तामणि, (२) देवमूर्तिप्रणीत विक्रमचरित, (३) रामचन्द्रसूरिकृत विक्रमचरित्र तथा (४) जर्मनी देशोद्भव याकोबी द्वारा सम्पादित कालकाचार्य-कथानक में पाया जाता है।

संस्कृत-साहित्य में वर्णित विक्रमादित्य के चरित्र का अध्ययन करने से ये बातें स्पष्ट हो जाती हैं और जहाँ तक इनका सम्बन्ध है उनमें कोई भी परस्पर विरोध नहीं है :—

(क) भर्तृहरि को एक अमृत फल मिलता है। वह उस फल को अपनी प्रियतमा रानी को देता है। रानी उसी फल को अपने एक प्राणप्रिय मित्र को दे देती है। वह मित्र उसी फल को किसी दूसरी स्त्री को दे देता है। वह स्त्री फिर उस फल को भर्तृहरि को दे देती है। इस घटना से भर्तृहरि के हृदय पर चोट लगती है। वह राजपाट छोड़कर बन को चला जाता है।

(ख) भर्तृहरि के जाने के पश्चात् राज्य का कोई रक्षक नहीं रहता।

(ग) राज्य में अराजकता छा जाती है।

(घ) एक राक्षस राज्य का रक्षक बन जाता है।

(ङ) विक्रमादित्य आता है।

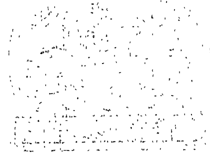
(च) विक्रमादित्य का राक्षस से युद्ध होता है।

(छ) विक्रमादित्य राक्षस पर विजय पाता है और राज्य का स्वामी बन जाता है।

(च) और (छ) से सिद्ध है कि राज्य-प्राप्ति से पूर्व विक्रमादित्य को युद्ध करना पड़ा। युद्ध एक राक्षस से हुआ। मेरी राय में 'राक्षस' से क्रूर, कुटिल, अनार्य विदेशियों की ओर संकेत है। सीधे-सादे शब्दों में हम कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य की विक्रम सम्बन्धी कथाओं के अध्ययन से यह परिणाम निकलता है कि अनार्य विदेशियों पर विजय पाकर ही विक्रमादित्य ने राज्य किया।

जो बात संस्कृत-साहित्य में परोक्ष रूप से कही गई है वही बात जैन-साहित्य में विशेषकर कालकाचार्य कथानक में प्रत्यक्ष रूप से बतलाई गई है। जैन-साहित्य की परम्परा के अनुसार उज्जयिनी का एक राजा गर्दभिल्ल था। वह बड़ा दुष्ट था। कालकाचार्य जैन-मत के अनुयायी एक अच्छे विद्वान् साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती बड़ी रूपवती थी। वह भी परिव्राजका बन गई। उसके रूप-लावण्य की छटा को देखकर गर्दभिल्ल उसपर आसक्त हो गया। मंत्रियों के समझाने पर ध्यान न देकर उसने साध्वी सरस्वती को बलात् अपने अन्तःपुर में डाल लिया। कालकाचार्य इस अन्याय को न सह सका। उसने शकद्वीप के शकों की सहायता से उज्जयिनी पर आक्रमण कर दिया। गर्दभिल्ल मारा गया। उज्जयिनी पर शकों का राज्य हो गया। शकों ने प्रजा पर अनेक अत्याचार किये। धन-सम्पत्ति लुट गये। स्त्रियों का सतीत्व भंग किया गया। धर्म और न्याय का लोप हो गया। प्रजा की ऐसी दुर्दशा को देखकर और आर्तनाद को सुनकर गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शक्ति संग्रह की। उसने शकों पर विजय पाई। प्रजा को ऋण से मुक्त कर दिया। शकों पर विजय पाने और सारी प्रजा को ऋण से मुक्त करने के उपलक्ष में संवत् की स्थापना की। यह संवत् ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ। मेरी सम्मति में संस्कृत-साहित्य में वर्णित राक्षस जैन-साहित्य के शक ही हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि जैन-साहित्य में एक वास्तविक ऐतिहासिक घटना का वर्णन है। इस घटना के ऐतिहासिक स्वरूप को योरुप के कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं। हम यहाँ शारपान्तियर (Charpentier) के मत को उद्धृत करते हैं। वह लिखते हैं :—

"Only one legend, the *Kalkacharya-Kathanaka,* 'the story of the teacher Kalaka' tells us about some events which are supposed to have taken place in Ujjain and other parts of Western India during the first part of the first century B. C. or immediately before the foundation of the Vikrama era in 58 B. C. This legend is perhaps not totally devoid of all historical interest." (*Cambridge History of India,* Vol. I. P. 167).



रॅप्सन का मत भी यहाँ उद्धृत किया जाता है:—

"The memory of an episode in the history of Ujjayini......may possibly be preserved in the Jain story of Kalaka......The story can neither be proved nor disproved; but it may be said in its favour that its historical setting is not inconsistent with what we know of the political circumstances of Ujjayini at this period. A persecuted party in the state may well have invoked the aid of the warlike Sakas of Sakadvipa in order to crush a cruel despot; and as history has so often shown, such allies are not unlikely to have seized the kingdom for themselves. Both the tyrant Gardabhilla whose misdeeds were responsible for the introduction of these avengers, and his son Vikramaditya, who afterwards drove the Sakas out of the realm, according to the story, may perhaps be historical characters." (*Cambridge History of India.* Vol. I pp. 532-533).

जैन-साहित्य के इस इतिहास के विरुद्ध कुछ भी प्रमाण नहीं है। विरोधी प्रमाण के अभाव में यह अविश्वास के योग्य नहीं है। जहाँ तक विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व का प्रश्न है वह गाथासप्तशती और बृहत्कथा से सिद्ध होता है। जैन, महाराष्ट्री तथा पैशाची परम्परा ईसा से पूर्व विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। हमें ईसा से ५७-५८ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करने में कुछ भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए। यहाँ पर हम फ्रेंकलिन एजर्टन का मत भी उद्धृत कर देना उचित समझते हैं। वे लिखते हैं:—

"I am not aware that there is any definite and positive reason for rejecting the Jainistic chronicles completely, and for saying categorically that there was no such king as Vikrama living in 57 B. C. Do we know enough about the history of that century to be able to deny that a local king of Malava, bearing one of the names by which Vikrama goes may have won for himself a somewhat extensive dominion in Central India..........? It does not seem to me........that Kielhorn has disproved such an assumption. And I know of no other real attempt to do so." (*Vikrama's Adventures*-H. O. S. Vol. 26. Introduction p. LXIV).

"It seems on the whole at least possible, and perhaps probable, that there really was a King named Vikramaditya who reigned in Malava and founded the era of 58-57 B. C." (Op. W. LXVI).





* शकारि विक्रमादित्य *

(समवेत गान)

श्री सोहनलाल द्विवेदी

वह था जीवन का स्वर्ण-काल, जब प्रात पुलक ले मुसकाया ।
क्षिप्रा की लहरों में केसर कुंकुम का जल था लहराया ॥
आलोक अलौकिक छाया था,
वरदान धरा ने पाया था,
विक्रमादित्य के व्याज स्वयं आदित्य तिमिर में था आया ॥
वैभव विभूति के पद्म खिले,
सुख के सौरभ से सद्म हिले,
बहता मलयज उत्साह लिये, आनन्द चतुर्दिक् था छाया ॥
नवरत्नों की वह देव-सभा,
वितरित करती थी दिव्यप्रभा,
वह दिन कितना सुन्दर होगा ? जब था इतना प्रकाश छाया ॥
कवि कालिदास की वरवाणी,
गाती थी गौरव कल्याणी,
नव मेघदूत के छन्दों ने मकरन्द मेघ था बरसाया ॥
उज्जैन अवन्ती का वैभव,
दिशि-दिशि करता फिरता कलरव,
उस दिन, दरिद्रता धनी बनी, सबने ही था सब कुछ पाया ॥

शकारि विक्रमादित्य

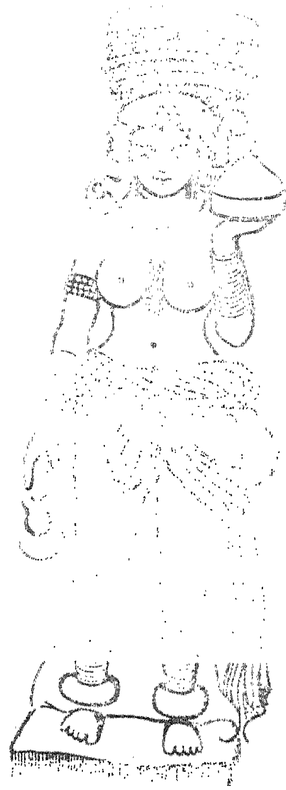
कितनी शताब्दियाँ गईं बीत,
झंकृत फिरभी अब भी अतीत,
सुनता रहता नीरव दिगंत, नभ प्रतिध्वनि करता दुहराया ॥

इतिहास न वह भूला मेरा,
डाला विदेशियों ने घेरा,
यह विक्रम का ही था विक्रम, पल में, पदतल, शक-दल आया ॥

उस विजय दिवस की स्मृति स्वरूप,
प्रचलित विक्रम-संवत् अनूप,
ये दिवस मास, वे पुन्य पृष्ठ, जब जयध्वज हमने फहराया ॥

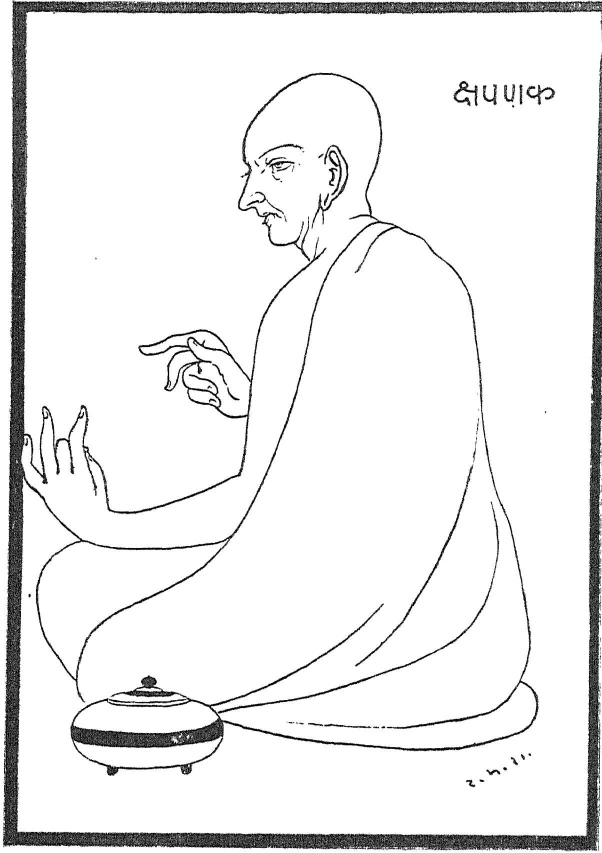
उस दिन की सुधि से है निहाल,
हिमगिरि का उन्नत उच्च भाल,
गंगा-यमुना की लहरों में, अमृतोदक करता लहराया ॥

जागो फिर एक बार विक्रम !
नवजीवन का हो नव उपक्रम,
फिर, कोटि-कोटि कंठों ने मिल, जननी का विजय गान गाया ॥



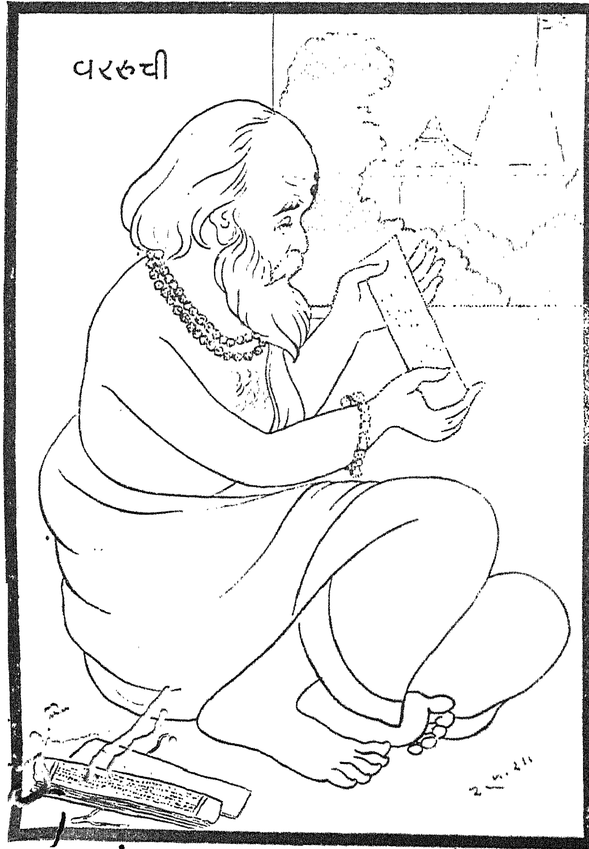


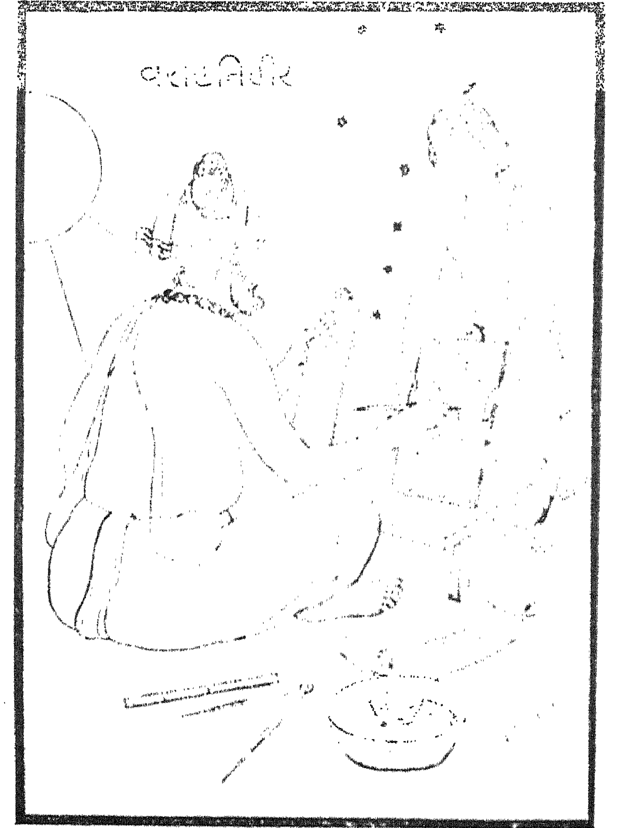
(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)

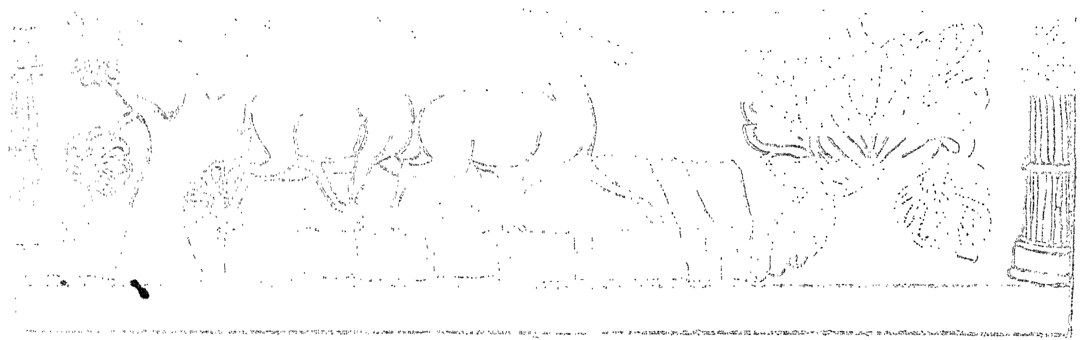




(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)







भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास:—यह बात तो मानना ही पड़ेगी कि भारतीय ऐतिहासिक अन्वेषण में योरप के विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। वर्तमान वैज्ञानिक शैली में इतिहास लेखन की नींव उनके द्वारा डाली गई है। परन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि उनमें से अधिकांश का दृष्टिकोण धार्मिक एवं राजनीतिक कारणों से प्रभावित रहा है। जो इतिहास लेखक धार्मिक क्षेत्र के (पादरी) थे उनके हृदय में यह भावना प्रबल रहती थी कि पूर्व के एक अनुन्नत देश की सभ्यता ईसा के बहुत पहले की, एवं ईसामसीह के पवित्र अनुयायियों से अधिक समुन्नत नहीं हो सकती। राजनीतिक कारणों ने भी अच्छा प्रभाव नहीं डाला। जातिगत श्रेष्ठता की भावना के कारण कभी-कभी बहुत बुरा प्रभाव पड़ा है। इसके लिए एक उदाहरण ही पर्याप्त होगा। विंसेण्ट स्मिथ का भारत का प्राचीन इतिहास (*The Early History of India*) प्रारम्भ के स्तुत्य प्रयासों में से है। प्रारम्भिक प्रयास होने के कारण उसमें भ्रान्तियाँ होना क्षम्य है, परन्तु उसमें लेखक का जो एक विशिष्ट दृष्टिकोण रहा है वह अवाञ्छनीय है। अलक्षेन्द्र के भारत-आक्रमण का हाल देने में उसने उक्त पुस्तक का सप्तांश व्यय किया है, जबकि वह स्वयं स्वीकार करता है कि उस आक्रमण का भारत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा था*। जब वह योरोपीय अलक्षेन्द्र की विजयवाहिनी के आगे भारतीय राजाओं एवं गणतन्त्रों को हारते

* "The campaign, although carefully designed to secure a permanent conquest, was in actual effect no more than a brilliantly successful raid on gigantic scale, which left upon India no mark save the horrid scars of bloody war."

"India remained unchanged. The wounds of battle were quickly healed; the ravaged fields smiled again as the patient oxen and no less patient husbandmen resumed their interrupted labours; and the places of the slain myriads were filled by the teeming sworms of a population, which knows no



देखता है तो अनुभव करता है कि उसका मस्तक गौरव से ऊँचा हो रहा है*, परन्तु जब चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रचण्ड प्रताप के सम्मुख सेल्यूकस को भागना पड़ता है तब वही चन्द्रगुप्त के शौर्य के वर्णन में बड़ी कंजूसी दिखाता है†।

सौभाग्य की बात है कि ऐसा दूषित दृष्टिकोण बहुत थोड़े योरोपीय इतिहास लेखकों का रहा है, परन्तु एक बात जो बहुसंख्यक योरोपीय इतिहास लेखकों में पाई जाती है, वह है भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा। जिन पुराण और स्मृतियों के अध्ययन से भारतीय इतिहासज्ञों ने प्राचीन भारतीय ऐतिहासिक वाङ्मय का पुनर्निर्माण किया है उन्हीं को प्रारम्भ में इन योरोपीय इतिहासवेत्ताओं द्वारा अतिरंजित वर्णनों से पूर्ण कपोल-कल्पना माना गया था।

अनुश्रुति पर अविश्वास होने के कारण योरोपीय विद्वानों ने भारतीय इतिहास को उलटी दिशा से देखा है। वे अनुश्रुति के केवल उस भाग को ही प्रमाणित मानते रहे हैं जिसे उन्हें विवश होकर अभिलेख, मुद्रा आदि के कारण मानना पड़ा; अन्यथा उन्होंने प्रारम्भ ही इस अनुमान से किया है कि भारतीय अनुश्रुति गलत है।

इस अनुश्रुति के अविश्वास ने प्राचीन भारतीय इतिहास की उज्ज्वलतम घटना के नायक, भारतीय स्वातन्त्र्य-भावना के उज्वलतम प्रतीक, अत्याचारी शकों के उन्मूलनकर्त्ता विक्रमादित्य की भव्य मूर्ति पर ही पर्दा डालने का प्रयास

---

limit save these imposed by the cruelty of man, or the still more pitiless operations of nature. India was not hellenized. She continued to live her life of splendid isolation; and soon forgot the passing of the Macedonian storm. No Indian author, Hindu, Buddhist or Jain makes even the faintest allusion to Alexander or his deeds."

V. Smith—Early History of India, Page 117-118.

* यह भावना नीचे लिखे अवतरण से स्पष्ट होगी:—

"Such was India when first disclosed to European observation in the fourth century B.C. and such it always has been, except during the comparatively brief periods in which a vigorous central government has compelled the mutually repellent molecules of the body politic to check their gyrations and submit to the grasp of a superior controlling force."

Ibid—Page 370.

स्मिथ इस बात को भूल गया है कि तस्वीर का दूसरा रुख भी है। ई० पू० चौथी शताब्दी में योरोपीय दर्शकों के सामने जो भारत आया उसके विषय में (सम्भवतः?) डॉ० अग्रवाल ने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, संवत् २०००' में पृष्ठ १०० पर ठीक ही लिखा है, "हर्ष की बात है कि राजा पौरव ने जिस जुझाऊ यज्ञ का प्रारम्भ किया था, क्षुद्रक-मालव जैसे लड़ाकू गण-राज्यों ने उसे आगे जारी रखा और अन्ततोगत्वा यवन-सेना भारत-विजय की आशा छोड़कर हृदय और शरीर दोनों से थकी-माँदी अपनी जन्मभूमि के लिए वापिस फिरी।"

† नीचे लिखे उद्गार प्रकट करते समय तो उसका उद्देश्य एवं भावना पूर्णतः अनावृत हो जाते हैं:—

"The three following chapters which attempt to give an outline of the salient features in the bewildering annals of Indian petty states when left to their own devices for several centuries, may perhaps serve to give the reader a notion of what India always has been when released from the control of a supreme authority, and what she would be again, if the hand of the benevolent power which now safeguards her boundaries should be withdrawn."

V. Smith—Early History of India, Page 372.

किया है। अनुश्रुति में पूर्णरूप से प्रतिष्ठित विक्रमादित्य के अस्तित्व से ही इनकार किया गया। आज राम और कृष्ण के समान ही जिस वीर की कहानियाँ भारत के कोने-कोने में प्रचलित हैं, भारतीय अनुश्रुति पर अविश्वास करनेवाले विद्वानों ने उसको समाप्त कर देने का प्रयत्न किया। इस सब का प्रधान कारण यह माना गया कि यद्यपि भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हैं और यद्यपि उनका प्रचलित संवत्सर आज संसार की बहुत बड़ी जनसंख्या द्वारा प्रयुक्त है, तथापि चूंकि ५७-५६ ई० पू० किसी विक्रमादित्य नामक राजा अथवा गणतन्त्र के नायक के सिक्के या अभिलेख नहीं मिलते, इसलिए यह अनुमान करके चलना होगा कि विक्रमादित्य नामक कोई व्यक्ति नहीं था। सिक्के और अभिलेख किसी शासक के अस्तित्व के अकाट्य प्रमाण हो सकते हैं, उसके अनस्तित्व एवं अभाव के नहीं। और अभी भारतीय पुरातत्त्व के महासमुद्र का देखाही कितना अंश गया है, विशेषत: विक्रम के कार्यस्थल मध्यदेश, मालवा एवं उज्जयिनी में तो अभी बहुत कार्य होना शेष है। बहुत संभव है कि आगे इस दिशा में अनेक वस्तुएँ प्राप्त हों। अत: केवल सिक्के और अभिलेखों के न मिलने के कारण भारतीय अनुश्रुति पर अश्रद्धा नहीं की जा सकती।

विक्रम-संवत् सम्बन्धी अद्भुत अनुमान:—प्रारम्भ में यह देखना उपयोगी एवं मनोरंजक होगा कि विक्रम-संवत् एवं उसके प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के विषय में योरोपीय विद्वानों ने क्या क्या कल्पनाएँ की हैं।

संवत्-प्रवर्त्तन एक ऐसी घटना है, जिससे कोई भी इतिहासज्ञ, भले ही उसे भारत के गौरवपूर्ण अतीत पर कितनी ही अश्रद्धा रही हो, इनकार नहीं कर सका। जिस संवत् का अजस्त्ररूपेण व्यवहार होता चला आ रहा है, उसका प्रवर्त्तन हुआ था इसे अस्वीकृत कौन कर सकता है? आज एक व्यक्ति जीवित है, इससे अधिक और इस बात का क्या प्रमाण हो सकता है कि उसका कभी जन्म भी हुआ होगा? संवत्सर की वयस् का प्रमाण भी अन्य कहीं ढूंढने नहीं जाना पड़ेगा।

परन्तु, विक्रम-संवत् को कुछ विचित्र कल्पनाओं का सामना करना पड़ा। सर्वप्रथम फरगुसन* ने यह स्थापना की कि विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन ईसा से ५७-५६ वर्ष पूर्व नहीं वरन् ईसवी सन् ५४४ में हुआ। उसका मत था कि ईसवी सन् ५४४ में विक्रमादित्य नामक या उपाधिधारी व्यक्ति ने हूणों को पराजित कर एक संवत्सर की स्थापना की और उसे प्राचीनता की झलक देने के लिए उसका प्रारम्भ ६०० वर्ष पूर्व से माना। इससे अधिक विचित्र कल्पना और क्या हो सकती थी? प्रारम्भ में इस पर अधिक ध्यान न दिया गया, परन्तु कुछ समय पश्चात् फरगुसन की प्रतिभा की प्रशंसा करते हुए मैक्समूलर ने इस अभिनव आविष्कार का समर्थन किया† और इस प्रकार इस विचित्र स्थापना का अधिक प्रचार हुआ कि यह संवत् दो सहस्त्रवर्ष पुराना नहीं है। परन्तु सौभाग्य से यह मत अधिक पुष्टि न पा सका। फरगुसन का यह काल्पनिक महल धराशायी हो गया, जब वे अभिलेख ‡ प्राप्त हो गए, जिनमें सन् ५४४ ई० के पूर्व के भी विक्रम-संवत् के उल्लेख थे।

सर भाण्डारकर§ और विन्सेण्ट स्मिथ¶ का मत भी कम कौतूहलपूर्ण नहीं था, यद्यपि वह फरगुसन के आविष्कार से कम विचित्र है। उनका कथन है कि प्रारम्भ में यह संवत् मालव-संवत् के नाम से प्रसिद्ध था। गुप्तवंशीय विक्रमादित्य उपाधिधारी प्रसिद्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इस मालव-संवत् का नाम परिवर्तित करके विक्रम-संवत्‖ कर दिया। इस स्थापना

* जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १८७०, पृ० ८१।

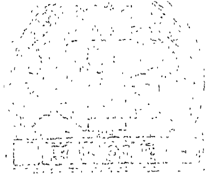
† *India: What it can teach us* ? पृष्ठ २८६।

‡ देखिए परिशिष्ट 'क' पृष्ठ ५०।

§ जर्नल ऑफ दि बॉम्बे ब्रान्च ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, पृष्ठ ३९८।

¶ *Early History of India*, page 290 (Third Edition)

‖ चन्द्रगुप्त के 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण करनेवाले सर्व प्रथम सम्राट् होने के कारण भी ये विद्वान् इन्हें संवत्-प्रवर्त्तक विक्रम मानते हैं। परन्तु अभी हाल ही में बमनाला ग्राम में समुद्रगुप्त की जो सात स्वर्ण-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, उनमें कुछ मुद्राओं पर 'पराक्रमः' लिखा है और एक पर 'श्रीविक्रमः' उपाधि लिखी है। अतः यह उपाधि मूलतः चन्द्रगुप्त द्वितीय से प्रारम्भ नहीं हुई, यह प्रमाणित होता है। विशेष विवेचन के लिए आगे देखिए पृष्ठ ४७।



के अनुयायी आज भी हैं। परन्तु यह विचारणीय बात है कि गुप्त-वंश का गुप्त-संवत् अलग प्रचलित था और स्वयं चन्द्रगुप्त द्वितीय ने कभी तथाकथित निज-प्रवर्त्तित अथवा नाम-परिवर्त्तित विक्रमीय संवत्सर का प्रयोग नहीं किया*।

इस प्रकार जहाँ विक्रमीय संवत्सर की वयस् घटाने के प्रयास हुए, वहाँ ऐसे भी अनेक प्रयास हुए जिन्होंने विक्रमादित्य के उसके जनक होने में शंका की।

कीलहौर्न† इस सम्बन्ध में पूर्ण नास्तिक है। उसका मत है कि विक्रमादित्य नामक कोई राजा ई० पू० ५७ में नहीं था और न किसी व्यक्ति ने इसका प्रवर्त्तन किया। 'विक्रम-काल' का अर्थ उन्होंने माना है युद्धकाल, और चूंकि मालव-संवत् का प्रारम्भ शरद्-ऋतु में होता है, जब राजा लोग युद्ध के लिए निकलते थे, इसलिए इसका नाम विक्रम-संवत् रखा गया। इस मत को मानने में भी अनेक बाधाएँ हैं। एक तो 'विक्रम' और 'युद्ध' शब्दों में अर्थ-साम्य नहीं है, दूसरे विक्रम-संवत् शरद्-ऋतु में ही सर्वत्र प्रारम्भ नहीं होता।

कनिंघम‡ और मार्शल+ नामक विद्वानों ने भी अपनी-अपनी स्थापनाएँ कीं। उनके मत से विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तन किसी विक्रमादित्य राजा ने नहीं किया था। कनिंघम के मत में उसका प्रवर्त्तक कुषाणवंशीय राजा कनिष्क था। इस स्थापना के विषय में बहुत ऊहापोह की गई। अनेक विद्वानों ने इसके पक्ष और विपक्ष में लिखा ×। परन्तु सर जॉन मार्शल ने यह पूर्णरूपेण सिद्ध कर दिया कि कनिष्क का समय ५७ ई० पू० नहीं वरन् ७८ ई० है। इस प्रकार कनिंघम की स्थापना समाप्त हुई, परन्तु मार्शल की स्थापना ने जोर पकड़ा। उसने कहा कि विक्रम-संवत् का प्रचलन गांधार के शक राजा एजेस ने किया था। यह मत भी निराधार है। एजेस का संवत् उसीके नाम से चला था ऐसा सिद्ध हो चुका है। ✱ विक्रम-संवत् का प्रचलन पहले 'कृत' एवं मालव-संवत् के नाम से था, 'अयस' नाम से नहीं। साथ ही भारत वर्ष के एक कोने में एक विदेशी राजा द्वारा चलाए गए संवत् के पीछे विक्रम-संवत् के साथ आज भी अभिन्नरूपेण सम्बद्ध शक-विरोधी एवं राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नहीं हो सकती।

इसके अतिरिक्त कुछ मत और भी हैं। एक के अनुसार मालव-वीर यशोवर्मन् § ने इस संवत् को चलाया तथा एक अन्य मत के अनुसार पुष्यमित्रशुंग ‡ ने। डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ¶ ने इस संवत् का प्रवर्त्तन किया है। डॉ० जायसवाल ने जैन अनुश्रुति के विक्रमादित्य और इतिहास के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक ही मानकर अनुश्रुति और इतिहास का समन्वय किया है। डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल की स्थापना के दो आधार

---

* इसके साथ ही श्री भगवद्दत्तजी का मत भी विचारणीय है। इनका मत है कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही वह विक्रमादित्य है, जिसने संवत् का प्रवर्त्तन किया और उसका समय ईसा की चौथी, पांचवीं शताब्दी न होकर ई० पू० प्रथम शताब्दी है। इस मत के समर्थक भी हैं, परन्तु इस पर इतना कम विवेचन हुआ है कि इसे सिद्ध या असिद्ध नहीं कह सकते।

† इण्डियन एण्टीक्वेरी १९ तथा २०।

‡ जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३, पृ० ६२७।

+ जर्नल ऑफ दि रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी १९१४, पृष्ठ ९७३ और १९१५ पृष्ठ १९१। साथ ही देखिए केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १, पृष्ठ ५७१।

× इस विषय में जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९१३ दृष्टव्य है, जिसमें कनिष्क के विक्रम-संवत् प्रवर्त्तक होने या न होने के विषय में योरोपीय विद्वानों ने मत प्रकट किए हैं।

✱ इसके लिए इसी ग्रन्थ में डॉ० लक्ष्मणस्वरूप का निबन्ध विशेष रूप से दृष्टव्य है।

§ जर्नल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी १९०३, पृष्ठ ५४५, १९०९ पृष्ठ ८९।

‡ नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका संवत् १९९०।

¶ जर्नल ऑफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, खण्ड १६ भाग ३ और ४ पृष्ठ २२६-३१६।

हैं। एक तो यह कि जिन गुणों का आरोप विक्रमादित्य में किया जाता है वे सब गौतमीपुत्र शातकर्णि में थे। नाशिक-अभिलेख से माता गौतमी ने अपने पुत्र में उन सब गुणों का होना लिखा है। दूसरा कारण यह है कि ई० पू० प्रथम शताब्दी में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने किसी शक राजा को हराया था। परन्तु, गौतमीपुत्र के समय के विषय में विद्वानों में मतभेद है और यह प्रायः निश्चित ही है कि वह ई० पू० प्रथम शताब्दी में नहीं था। इस अभिनव कल्पना ने अनेक अनुयायी बनाए हैं। परन्तु एक तो यह बात अभी सिद्ध नहीं है कि यह शक वही थे, जिन्होंने उज्जैन पर अधिकार कर लिया था और गौतमीपुत्र की विजय पहली शताब्दी ई० पू० में हुई थी। दूसरे, जिस प्रशस्ति में गौतमीपुत्र के इतने गुणगान हैं, उसमें विक्रमादित्य-विरुद का उल्लेख तक नहीं है।

विक्रमीय संवत्सर को विक्रमादित्य नामक व्यक्ति द्वारा प्रवर्तित न माननेवालों में डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर भी हैं। उनका कहना है कि विक्रम-संवत् का मूल नाम 'कृत-संवत्' है और उसे मालवगण के 'कृत' नामक सेनाध्यक्ष की शक-विजय के उपलक्ष में 'कृत-संवत्' की संज्ञा दी गई। यद्यपि, उन्होंने कालकाचार्य-कथानक के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है और जैन-परम्परा को अविश्वसनीय, फिर भी वे लिखते हैं, "अब यह भी माना जा सकता है कि जिस कृत नामक प्रजाध्यक्ष ने इस संवत् की स्थापना की उसका उपनाम विक्रमादित्य था।"* जब यहाँ तक अनुमान किया जा सकता है, तो ऐसे आधार भी हैं, जिनके कारण यह विश्वास किया जा सके कि ई० पू० ५७ में विक्रमादित्य नाम का ही मालवगण का सेनाध्यक्ष अथवा राजा था।

अभिलेख एवं मुद्राओं से प्राप्त निष्कर्ष :—इन सब अद्भुत कल्पनाओं पर विचार कर लेने के पश्चात् अब आगे हम उपलब्ध आधारों पर विक्रम-संवत् और उसके प्रवर्त्तक के विषय में विचार करेंगे। विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रधान आधार विक्रम-संवत् है। विक्रम-संवत् का प्रयोग उसके अस्तित्व की प्रबल दलील है। विक्रम-संवत् का प्राचीन अभिलेखों में जिस प्रकार प्रयोग किया गया है उसे देखने पर अनेक बातों पर प्रकाश पड़ता है। संवत् १२०० विक्रमीय तक के प्रायः २६१ अभिलेख प्राप्त हुए हैं। इनमें से भी संवत् ९०० के पूर्व के तो ३३ ही हैं†।

परिशिष्ट 'क' में दी गई सूची में हमने प्रत्येक अभिलेख का संवत्, उसका प्राप्ति-स्थान, तथा संवत्-सूचक वह पाठ लिख दिया है जिसमें विक्रम-संवत् का उसके नाम के साथ उल्लेख है।

इस परिशिष्ट के अध्ययन से हम नीचे लिखे निष्कर्ष निकाल सकते हैं:—

१. संवत् २८२ से ४८१ तक इसे कृत-संवत् कहा गया है।

२. संवत् ४६१ से ९३६ तक इसे मालव-संवत् कहा गया है। संवत् ४६१ के मन्दसौर के अभिलेख में इसे 'कृत' तथा 'मालव' दोनों संज्ञाएँ दी गई हैं।

३. संवत् ७९४ के ढिमकी के अभिलेख में इस संवत् को सबसे पहले विक्रम-संवत् कहा गया है, परन्तु डॉ० अल्तेकर ने इस अभिलेखयुक्त ताम्रपत्र को जाली सिद्ध कर दिया है‡। अतः विक्रम-संवत् के नाम से यह सर्वप्रथम धौलपुर के चण्डमहासेन के ८९८ के अभिलेख में व्यक्त किया गया है।

४. मालव तथा कृत नामों के प्रयोग की भौगोलिक सीमा उदयपुर, जयपुर, कोटा, भरतपुर, मन्दसौर तथा झालावाड़ है। विक्रम नाम सम्पूर्ण भारत में प्रयुक्त हुआ है।

यह बात पूर्णरूपेण सिद्ध है कि कृत, मालव एवं विक्रम एक ही संवत् के नाम हैं। मन्दसौर के ४६१ संवत् के प्राप्त लेख में एक ही संवत् को 'मालव' तथा 'कृत' कहा गया है। इतिहास में कुमारगुप्त का समय निश्चित है। कुमारगुप्त के

* नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका वर्ष ४८, अंक १-४ संवत् २०००, पृष्ठ ७७।

† देखिए परिशिष्ट 'क'।

‡ एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृष्ठ १८९।



समय में बन्धुवर्मन् के मन्दसौर के ४९३ संवत् के लेख की गणना करने पर ज्ञात होता है कि वह विक्रम-संवत् ही है और उसका नाम उक्त लेख में लिखा है 'मालवगणों की स्थिति से चारसौ तेरानवे वर्ष बाद का' अर्थात् मालव-संवत्। अतः मालव और विक्रम नाम एक ही संवत् के हैं।

इसके आगे विचार करने के पूर्व हम 'कृत' शब्द के अर्थ पर विचार करेंगे। 'कृत' शब्द का ठीक अर्थ ज्ञात हो सके इसके लिए यह आवश्यक है कि 'मालवगण' सम्बन्धी जो पाठ हैं* उन्हें एकत्रित करके उनपर विचार किया जाय :—

१. श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते (४६१ मन्दसौर)।
२. मालवानां गणस्थित्या (४९३ मन्दसौर)।
३. विख्यापके मालववंशकीर्तेः (५२४ मन्दसौर)।
४. मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय (५८९ मन्दसौर)।
५. संवत्सर.......................मालवेशानाम् (७९५ कोटा-राज्य)।
६. मालवकालाच्छरदां (९३६ ग्यारसपुर)।

इन पाठों को एक साथ देखने से यह ज्ञात होता है कि यह संवत् (अ) मालवेश (या मालवगणाध्यक्ष)⁑ का चलाया हुआ है, (इ) इसके कारण या इसके प्रारम्भ का कारण मालवगण की स्थिति† (उनके अस्तित्व की प्रतिष्ठा या पुनर्स्थापना) हुई, (उ) यह संवत् मालववंश की कीर्ति का कारण है, (ए) इस मालव-संवत् को 'कृत' भी कहते हैं। यदि इन सबको समन्वित रूप दें तो वह इस प्रकार होगा :—"मालवेश ने ऐसा कार्य किया, जिससे मालववंश की कीर्ति बढ़ी, मालवगण का अस्तित्व प्रतिष्ठित रह सका या उसकी पुनर्स्थापना की गई और उक्त महत्कार्य के उपलक्ष में इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।"

इस विचार के प्रकाश में 'कृत' शब्द का अर्थ खोजना उपयोगी होगा। डॉ० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने कृत का अर्थ माना है 'सतयुग या स्वर्णयुग'‡। अग्रवालजी का अनुमान सत्य के आसपास है। 'कृत' का सीधा-सादा शाब्दिक अर्थ है 'किया हुआ' अर्थात् कर्म। यहाँ 'कृत' का अर्थ है मालवेश या मालवगणनायक का ऐसा कर्म जो मालववंश की कीर्ति बढ़ानेवाला था, जिससे मालवगण की स्थिति हुई, विदेशियों का विनाश हुआ और (डॉ० अग्रवाल के शब्दों में) सतयुग या स्वर्णयुग का प्रारम्भ हुआ।

अब अगला प्रश्न है मालवेश के 'कृत' का 'विक्रम' में बदल जाना। इसके लिए विक्रम-संवत् के उल्लेख के प्रकार पर भी ध्यान देना होगा। इसका उल्लेख⁂ निम्न प्रकारों से हुआ है :—

१. कालस्य विक्रमाख्यस्य (८९८ धौलपुर)
२. विक्रमादित्यभूभृतः (१०२८ उदयपुर)

---

* देखिए परिशिष्ट 'क'।

⁑ मालवगणाध्यक्ष क्रमशः मालवेश कैसे हो गया इसके लिए देखिए डॉ० राजबली पाण्डेय का लेख 'विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता'।

† 'स्थिति' के अर्थ के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है। डॉ. अल्तेकर इसका अर्थ 'परम्परा', 'सम्प्रदाय', 'रीति' आदि लेते हैं। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल लिखते हैं "मालव-गण की स्थिति शब्द का अर्थ क्या है? हमारी सम्मति में स्थिति का सीधा अर्थ स्थापना है। मालव-गण की स्थापना का यह अर्थ नहीं है कि उस गण की सत्ता पहले अविदित थी।"......."शकों की पराजय के बाद मालवगण ने स्वतंत्रता का अनुभव किया। हमारी सम्मति में स्वतंत्रता की यह स्थापना ही मालव-गण की स्थिति थी, जिसका मालव-कृत संवत् के लेखों में कई बार उल्लेख है।" डॉ० अग्रवाल का मत ही उचित है और हमारी समझ में तो इसका अर्थ है 'प्रतिष्ठित होना'।

‡ नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका संवत् २०००, पृष्ठ १३१।

⁂ देखिए परिशिष्ट 'क'।

३. विक्रमादित्यकाले (१०९९ वसंतगढ़-सिरोही)
४. वत्सरैर्विक्रमादित्यैः (११०३ तिलकावाड़ा-बड़ौदा राज्य)
५. श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सर (११३१ नवसारी बड़ौदा)
६. श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सराणां (११६१ ग्वालियर)
७. श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर (११७६ सेवाड़ी जोधपुर)

इससे यह ज्ञात होता है कि विक्रमीय नौवीं शताब्दी से ही ऊपर लिखे मालवेश का नाम विक्रमादित्य माना गया था।

ऊपर लिखे दोनों विवेचनों को एक में मिला देने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य नामक मालवगण के अधिपति ने वह 'कृत'––कर्म किया था जिसका उल्लेख ऊपर है, जिसके कारण मालववंश की कीर्ति बढ़ी (परिशिष्ट 'क' के अभिलेख क्रमांक ७), जिसके कारण मालवगण की स्थिति रह सकी (अभिलेख क्रमांक ६ तथा ९) और इस संवत् का प्रवर्त्तन हुआ।

यहाँ यह बात भी विचारणीय है कि मालव एवं कृत नाम का प्रयोग जिस क्षेत्र में हुआ है वह मालवा या उसके निकट का ही क्षेत्र है। यह भी हो सकता है कि गणतन्त्र की भावनायुक्त मालवजाति ने अपने गणनायक के व्यक्तिगत नाम को अपने संवत्सर में प्रधानता न दी हो या स्वयं गणनायक विक्रमादित्य ने इसे पसन्द न किया हो और मालवे के बाहर राजतन्त्र प्रधान देशों ने गण की अपेक्षा गणेश मालवेश को ही महत्त्व देना उचित समझा हो।

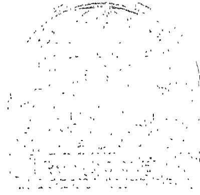
अभिलेखों में प्राप्त संवत्-सम्बन्धी पाठों के साथ मालव-मुद्राओं पर अंकित लेखों पर भी विचार कर लेना आवश्यक है। मालव-प्रान्त में मालवगण की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें कुछ मुद्राएँ ऐसी हैं जिन पर एक ओर सूर्य या सूर्य का चिह्न है तथा दूसरी ओर 'मालवानांजयः' अथवा 'मालवगणस्यजयः' अथवा 'जय मालवानांजयः' लिखा हुआ है। इन मुद्राओं के विषय में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार अपने 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा' में लिखते हैं––"पहली शताब्दी ई० पू० के मालवगण के सिक्कों पर मालवानांजयः और मालवगणस्यजयः की छाप रहती है। वे सिक्के स्पष्टतः किसी बड़ी विजय के उपलक्ष में चलाए गए थे और वह विजय ५७ ई० पू० की विजय के सिवाय और कौनसी हो सकती थी ?" (पृष्ठ ८७१) परन्तु इतना ही नहीं, सूर्य एवं सूर्य का चिह्न दो बातों की ओर संकेत कर सकता है। या तो यह कि उक्त विजय को प्राप्त करनेवाला 'आदित्य' का उपासक था या उसका नाम स्वयं 'आदित्यमय' था और यह नाम विक्रमादित्य होने के कारण वह अपना राजचिह्न सूर्य रखता था।

भारतीय अनुश्रुति में विक्रमादित्य––अभिलेखों और विक्रम-संवत् पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम भारतीय अनुश्रुति एवं लोककथाओं पर विचार करेंगे। आज महाराष्ट्र, गुजरात एवं सम्पूर्ण उत्तर-भारत विक्रमादित्य की लोककथाओं से पूरित है। उसका परदुखभंजन रूप, उसकी न्यायपरायणता, उसकी उदारता एवं उसका शौर्य प्रत्येक भारतीय का हृदय-हार बना हुआ है। परन्तु लोककथाओं द्वारा परम्परा की निरन्तरता का आभास भले ही मिल सके, उसके द्वारा इतिहास के शास्त्रीय वाङ्मय का निर्माण नहीं हो सकता। लोककथा का आधार केवल व्यक्तिगत स्मृति होने के कारण वह अधिक प्रामाणिक नहीं कही जा सकती। परन्तु अनुश्रुति का महत्त्व अधिक है। वह लिखित रूप में होती है, अतः अधिक विश्वसनीय होती है।

मालवगणपति विक्रमादित्य की जो मूर्ति ऊपर अभिलेखों के विवेचन से बनी है, उसकी पूर्ति अनुश्रुति कहाँ तक करती है यह देखना भी उपयोगी होगा।

विक्रमादित्य सम्बन्धी भारतीय अनुश्रुतियों में सबसे प्राचीन पैठण के राजा हाल के लिए रचित गाथासप्तशती है। हाल का समय ईसवी प्रथम शताब्दी है। गाथासप्तशती का विक्रम विषयक श्लोक इस प्रकार है:––

"संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअं तिस्सा ।।५।५६।।



इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि ईसा की पहली शताब्दी में यह बात पूर्णरूप से प्रचलित थी कि विक्रमादित्य नामक उदार एवं प्रतापी शासक ने भृत्यों को लाखों का उपहार दिया। गाथासप्तशती के काल के विषय में भी विवाद चल चुका है। डॉ० भाण्डारकर ने अनेक तर्क इस बात के पक्ष में प्रस्तुत किए कि गाथासप्तशती का रचनाकाल ईसा की छठी शताब्दी है,* परन्तु महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने डॉ० भाण्डारकर के तर्कों का खण्डन कर दिया है †।

दूसरी उल्लेखनीय अनुश्रुति सोमदेवभट्ट रचित कथासरित्सागर है। कथासरित्सागर गुणाढ्य रचित बृहत्कथा पर आधारित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन है, अतः कथासरित्सागर एक ऐसे ग्रन्थ का आधार लिए हुए है, जो विक्रमीय पहली शताब्दी का लिखा हुआ है। ऐसी दशा में कथासरित्सागर ‡ कम विश्वसनीय नहीं है। उसके अनुसार विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, उनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य और माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य के जब बहुत समय तक पुत्र न हुआ, तो उन्होंने शिव की आराधना की। इसी समय पृथ्वी पर धर्म का लोप और म्लेच्छों का प्राबल्य देखकर देवताओं ने महादेवजी से पृथ्वी का भार उतार लेने के लिए प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान् (अथवा इतिहास प्रसिद्ध मालवगण) से कहा कि तुम पृथ्वी पर मेरे भक्त महेन्द्रादित्य के यहाँ मानव रूप धारण करो और पृथ्वी का भार उतारो। उधर महेन्द्रादित्य को शिवजी ने यह वरदान दिया कि तुम्हारे पुत्र होगा और उसका नाम तुम विक्रमादित्य रखना। उसका वर्णन करते हुए सोमदेव ने लिखा है कि वह पितृहीनों का पिता, बन्धुहीनों का बन्धु, अनाथों का नाथ और प्रजाजन का सर्वस्व था §।

तीसरी अनुश्रुति जैन ग्रन्थों की है। मेरुतुंगाचार्य-रचित पट्टावली में यह लिखा है कि महावीर-निर्वाण-संवत् के ४७० वें वर्ष में विक्रमादित्य ने शकों का उन्मूलन कर संवत् की स्थापना की। इसका समर्थन प्रबन्ध-कोश एवं धनेश्वर-सूरि-रचित शत्रुंजय-माहात्म्य से भी होता है। किस प्रकार शकों ने उज्जयिनी के गर्दभिल्ल को जीता और किस प्रकार फिर विक्रमादित्य ने शकों को भगाया, इसका वर्णन जैन ग्रन्थों में मिलता है।

कालकाचार्य-कथानक में शकों के आने का वर्णन है। उसके अनुसार जैन साधु कालकाचार्य एवं उनकी बहिन साध्वी सरस्वती जब उज्जैन में रहते थे उस समय वहाँ गर्दभिल्ल राजा राज्य करता था। एक दिन जब साध्वी सरस्वती पर गर्दभिल्ल की दृष्टि पड़ी तो वह उस पर अत्यधिक आसक्त हो गया और उसने उसे अपने अन्तःपुर में बन्द कर अपनी वासना का शिकार बनाया। कालकाचार्य सूरि ने सरस्वती को छुड़ाने के लिए अनेक प्रयास किए, गर्दभिल्ल को भी समझाया एवं अनुनय विनय की, परन्तु कोई फल न हुआ। दुखी होकर कालकाचार्य ने राजा के नाश की प्रतिज्ञा की और वे सिन्ध की ओर चले गए। वहाँ अनेक शक राजा थे जो 'शाह' कहलाते थे और उन सब के ऊपर एक सम्राट् था जो 'शाहीशाहानुशाही' कहलाता था। इन्हींमें से एक शाह के पास कालकाचार्य पहुँचे और उस पर उन्होंने बहुत प्रभाव स्थापित कर लिया। एक बार 'शाहीशाहानुशाही' उस शाह से तथा कुछ अन्य शाहों से क्रुद्ध हो गया। कालकाचार्य ने उसे अन्य शाहों के साथ मालव की ओर आक्रमण करने की सलाह दी। शकशाह अन्य साथियों के साथ मार्ग में विजय करता हुआ उज्जयिनी आगया और उसने गर्दभिल्ल को हराकर भगा दिया।

साध्वी सरस्वती छुड़ा ली गई। कालकाचार्य आनन्द से रहने लगे और मालव पर शकों का आधिपत्य हो गया।

कुछ समय पश्चात् सार्वभौमोपम राजा श्रीविक्रमादित्य हुए, जिन्होंने शकों का वंशोच्छेद कर दिया। उन्होंने अनेक दान देकर मेदिनी को ऋणरहित करके अपने संवत्सर का प्रचलन किया।

---

* भाण्डारकर कमोमेरेशन वॉल्यूम, पृष्ठ १८७।

† प्राचीन-लिपि-माला, पृष्ठ १६८।

‡ कथासरित्सागर, लम्बक ६, तरंग १, विक्रमसिंह की कथा तथा लम्बक १८ विषमशील की कथा।

§ ठीक इसी से मिलता हुआ वर्णन स्कन्दपुराण में है। इसमें विक्रमादित्य के पिता का नाम गन्धर्वसेन और माता का नाम वीरमती है। शिवजी और उनके गण आदि ऊपर के अनुसार हैं और गन्धर्वसेन को प्रमरवंशी लिखा है

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

पट्टावली के अनुसार विक्रमादित्य गर्दभिल्ल के पुत्र थे। इनके अतिरिक्त सिंहासनबत्तीसी, वैतालपच्चीसी, राजावली आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें विक्रमादित्य सम्बन्धी किंवदन्तियाँ संग्रहीत हैं।

विक्रमादित्य का जो रूप अनुश्रुति में मिलता है वह अत्यन्त पूर्ण एवं भव्य है। वह रूप ऐसा है जो ज्ञात ऐतिहासिक आधार, मुद्रा, अभिलेख आदि के विरुद्ध भी नहीं है। अतः योरोपीय विद्वानों के स्वर में स्वर मिलाकर विक्रमादित्य के अस्तित्व को अस्वीकार करना मानसिक दासता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

नवरत्न समीक्षा :—विक्रम और कालिदास की जोड़ी भारतीय अनुश्रुति एवं लोककथा में प्रसिद्ध है; परन्तु इतिहासज्ञों का बहुमत आज कालिदास को गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानता है। ऐसी दशा में क्या ठीक माना जाय? पहला विचार तो यह हो सकता है कि कालिदास चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन थे। दूसरी बात यह हो सकती है कि कालिदास एक न होकर अनेक हों और उनमें से एक ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ हो, और यह भी हो सकता है कि मालवगणनायक विक्रमादित्य के समय में ही कालिदास हुए हों।

कालिदास को पूर्णतया चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के समकालीन माननेवालों में महामहोपाध्याय वासुदेव विष्णु मिराशी* प्रधान हैं। उन्होंने अन्य सब मतों का खण्डन करते हुए यह स्थापना की है कि कालिदास द्वितीय चन्द्रगुप्त के आश्रय में थे। चन्द्रगुप्त ने ई० सन् ३८० से लेकर ४१३ पर्यन्त राज्य किया; अर्थात् कालिदास चौथी शताब्दी के अन्त में या पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होंगे, यह उनका मत है। इसके विपरीत श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय दृढ़ रूप से कालिदास को ईसा की प्रथम शताब्दी में रखते हैं। डॉ० राजबली पाण्डेय भी कालिदास को ५७ ई० पू० विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।

श्री जयशंकर प्रसाद का मत है कि कालिदास नामक कम से कम तीन साहित्यकार हुए हैं। इनमें से नाटककार कालिदास मालवगणनायक विक्रमादित्य के काल में थे। इसके पक्ष में जो उन्होंने तर्क दिए हैं उन्हें हम नीचे ज्यों का त्यों देते हैं † :—

"१. नाटककार कालिदास ने गुप्तवंशीय किसी राजा का संकेत से भी उल्लेख अपने नाटकों में नहीं किया।

२. 'रघुवंश' आदि में असुरों के उत्पात और उनसे देवताओं की रक्षा के वर्णन से साहित्य भरा है। नाटकों में उस तरह का विश्लेषण नहीं है। काव्यकार कालिदास का समय हूणों के उत्पात और आतंक से पूर्ण था। नाटकों में इस भाव का विकास इसलिए नहीं है कि वह शकों के निकल जाने पर सुख-शान्ति का काल है। 'मालविकाग्निमित्र' में सिन्धुतट पर विदेशी यवनों का हराया जाना मिलता है। यवनों का राज्य उस समय उत्तरीय भारत से उखड़ चुका था। 'शाकुन्तल' में हस्तिनापुर के सम्राट् 'वनपुष्प-मालाधारिणी यवनियों' से सुरक्षित दिखाई देते हैं। यह सम्भवत: उस प्रथा का वर्णन है जो यवन-सिल्यूकस-कन्या से चन्द्रगुप्त का परिणय होने पर मौर्य्य और उसके बाद शुंगवंश में प्रचलित रही हो। यवनियों का व्यवहार क्रीतदासी और परिचारिकाओं के रूप में राजकुल में था। यह काल ई० पू० प्रथम शताब्दी तक रहा होगा। नाटककार कालिदास 'मालविकाग्निमित्र' में राजसूय का स्मरण करने पर भी बौद्ध प्रभाव से मुक्त नहीं थे; क्योंकि 'शाकुन्तल' में धीवर के मुख से कहलवाया है—"पशुमारणकर्म्म—दारुणोप्यनुकम्पा—मृदुरेव श्रोत्रियः"— और भी —"सरस्वती श्रुतिमहती न हीयताम्" —इन शब्दों पर बौद्ध धर्म की छाप है। नाटककार ने अपने पूर्ववर्ती नाटककारों के जो नाम लिए हैं, उनमें सौमिल्ल और कवियुग के नाटचरत्नों का पता नहीं। भास के नाटकों को चौथी शताब्दी ई० पू० माना गया है।

* कालिदास, पृष्ठ ४३।

† 'स्कन्दगुप्त-विक्रमादित्य' नाटक की भूमिका, पृष्ठ २८।

३. नाटककार ने 'मालविकाग्निमित्र' की कथा का जिस रूप में वर्णन किया है वह उसके समय से बहुत पुरानी नहीं जान पड़ती। शुंगवंशियों के पतन-काल में विक्रमादित्य का मालवगण राष्ट्रपति के रूप में अभ्युदय हुआ। उसी काल में कालिदास के होने से शुंगों की चर्चा बहुत ताजीसी मालूम होती है।

४. 'जामित्र' और 'होरा' इत्यादि शब्द जिनका प्रचार भारत में ईसा की पाँचवीं शताब्दी के समीप हुआ है, नाटक में नहीं पाए जाते।

५. गुप्तकालीन नाटकों की प्राकृत में मागधीप्रचुर प्राकृत का प्रयोग है। उस प्राकृत का प्रचार भारत में सैकड़ों वर्ष पीछे हुआ था। पाँचवीं, छटवीं शताब्दी में महाराष्ट्रीय प्राकृत प्रारम्भ हो गई थी और उस काल के ग्रन्थों में उसी का व्यवहार मिलता है। 'शाकुन्तल' आदि की प्राकृत में बहुतसे प्राचीन प्रयोग मिलते है, जिनका व्यवहार छटी शताब्दी में नहीं था।"

इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्यत्र* लिखा है :—

"संवत् १६९९ अगहन सुदी पञ्चमी की लिखी हुई 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की एक प्राचीन प्रति से, जो पं० केदारप्रसादजी मिश्र (भदैनी, काशी) के पास है, दो स्थलों के नवीन पाठों का अवतरण यहाँ दिया जाता है :—

(१) "आर्ये रसभावशेष–दीक्षागुरोः **श्रीविक्रमादित्य–साहसांकस्याभिरूप**–भूयिष्ठेयं परिषत् अस्यां च कालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्थातव्यमस्माभिः।"

(२) **"भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु**
त्वमपि विततयज्ञोवज्रिणं भावयेथाः
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यै–
नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः।"

इसमें मोटे टाइप में छपे हुए शब्दों पर ध्यान देने से दो बातें निकली हैं। पहली, यह कि जिस विक्रमादित्य का उल्लेख शाकुन्तल में है उसका नाम विक्रमादित्य है और 'साहसांक' उसकी उपाधि है। दूसरे, भरतवाक्य में 'गण' शब्द के द्वारा इन्द्र और विक्रमादित्य के लिए यज्ञ और गणराष्ट्र दोनों की ओर कवि का संकेत है। इसमें राजा या सम्राट् जैसा कोई सम्बोधन विक्रमादित्य के लिए नहीं है। तब यह विचार पुष्ट होता है कि विक्रमादित्य मालव गण-राष्ट्र का प्रमुख नायक था, न कि कोई सम्राट् या राजा। कुछ लोग जैत्रपाल को विक्रमादित्य का पुत्र बताते हैं। हो सकता है कि इसी के एकाधिपत्य से मालवगण में फूट पड़ी हो और शालिवाहन के द्वितीय शक-आक्रमण में वे पराजित किए गए हों।"

यदि शाकुन्तल का उपर्युक्त पाठ सही है, तब तो यह कहना होगा कि यह बात पूर्णरूप से सिद्ध है कि यह नाटक मालवगणाधीश के सामने अभिनीत हुआ था। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को तो महापण्डित राहुल सांकृत्यायन † 'गणारि' (!) कहते हैं, गणाध्यक्ष नहीं। उनके अनुमान से मालवगण के उन्मूलन का पाप इन्हीं चन्द्रगुप्त द्वितीय के मत्थे है। फिर यह नाटक गणाध्यक्ष विक्रमादित्य साहसांक के सामने ही अभिनीत हुआ होगा। इस पाठ की प्रामाणिकता के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता। यदि इस पाठ का समर्थन किसी और प्रति से भी हो सके तब तो यह स्थापना निर्विवाद रूप से ही सिद्ध हो जाय।

अतः लोककथा एवं अनुश्रुति में प्रसिद्ध विक्रम-कालिदास की यह अमर जोड़ी इतिहास सिद्ध है, यह माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के साथ कालिदास के अतिरिक्त अन्य आठ रत्नों का सम्बन्ध और जोड़ा जाता है। उसकी सभा में नवरत्न थे ऐसी अनुश्रुति है। ज्योतिर्विदाभरण का निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है :—

धन्वन्तरिक्षपणकोऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥

* वही, पृष्ठ १४।

† देखिए इसी ग्रन्थ में राहुलजी का लेख।

इसमें विक्रम की सभा के नवरत्न गिनाए गए हैं जो इस प्रकार हैं :—

(१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहिर (९) वररुचि।

यहाँ पर नवरत्नों का विस्तृत विवेचन करना अभीष्ट नहीं है। हम तो यहाँ यही देखना चाहते हैं कि उनमें से कौन से रत्न विक्रमकालीन होकर उसकी सभा को सुशोभित कर सके होंगे। इनमें से कालिदास का विवेचन ऊपर हो चुका है। अब प्रधान रत्नों में धन्वन्तरि पर यदि विचार किया जाय तो प्रकट होगा कि वैदिक काल में भी एक धन्वन्तरि हो गए हैं, जो काशी के वेदकालीन राजा दिवोदास के तीन या चार पीढ़ी पूर्व हुए थे।*

उसके बाद धन्वन्तरि नाम के वैद्यों की परम्परा चली और धन्वन्तरि-कृत कहे जानेवाले 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'धन्वन्तरि-निघण्टु' आदि के विवेचन से यह ज्ञात होता है कि विक्रमकाल (५७ ई० पू०) में भी कोई धन्वन्तरि हुए हैं। 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' में सूर्य की वन्दना† दी हुई है। उसे देखते हुए यह अनुमान होता है कि वैद्यराज धन्वन्तरि विक्रमादित्य के आश्रित थे। प्राचीन राजसभाओं से वैद्य सम्बन्धित होते ही थे अतः मालवगणाध्यक्ष की सभा में भी वैद्य हों यह भी सम्भव है।

क्षपणक कौन थे तथा इनका समय क्या था, यह ज्ञात नहीं है। जैन साधु को क्षपणक कहते हैं‡। तो क्या जैन अनुश्रुति के सिद्धसेन दिवाकर भी विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में थे? परन्तु यह सब कल्पना-मात्र हैं। अभी तक इतिहास सिद्ध केवल इतना ही है कि 'अनेकार्थमंजरीकोष' नामक ग्रन्थ के रचयिता एक महाक्षपणक ईसा की ८वीं शती के पूर्व हुए थे⁑। इन महाक्षपणक का क्षपणक के साथ नामसाम्य होने के कारण श्री गोडे महाशय इस निष्कर्ष पर पहुँचना चाहते हैं कि अनेकार्थमंजरीकार चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की सभा में समादृत विद्वान् हो सकता है। हमें इस निष्कर्ष से आपत्ति नहीं है और यह हमारे अनुमान के विपरीत भी नहीं है। हम समझते हैं कि महाकाल की नगरी में विक्रमादित्य के सामने ही महाकाल को नमस्कार न करनेवाले सिद्धसेन दिवाकर§ नामक जैन साधु को ही पीछे के लेखकों ने क्षपणक नाम से सम्बोधित किया। क्षपणक नाम विशेष न होकर जैन साधु का ही पर्याय है।

प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह का समय भी ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। इसके विषय में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार❦ ने लिखा है :—

> "सुप्रसिद्ध अमरकोष के देव-प्रकरण में सबसे पहले बुद्ध के नाम हैं, फिर ब्रह्मा और विष्णु के। विष्णु के जो ३९ नाम हैं, उनमें राम का नाम नहीं है, कृष्ण के बहुत से हैं। इसलिए उसके समय तक रामावतार की कल्पना न हुई थी। इसीलिए अमरकोष के कर्त्ता अमरसिंह का समय सम्भवतः पहली शताब्दी ई० पू० है। प्रायः उसी समय बौद्धों ने संस्कृत में लिखना शुरू किया था, और अमरसिंह भी बौद्ध था।"

शंकु के विषय में ज्योतिर्विदाभरण के अतिरिक्त और कहीं उल्लेख नहीं मिलता। ज्योतिष का शंकु-यन्त्र इन्हीं के नाम पर है अथवा उसकी आकृति के कारण उसका उक्त नाम पड़ा है, कहा नहीं जा सकता। ऐसी दशा में उनका काल निर्णय करना कठिन है। इन्हें विक्रमादित्य का समकालीन मान लेने के मार्ग में कोई कठिनाई नहीं आती।+

---

* जी० एन० मुखोपाध्याय-कृत हिस्ट्री ऑफ इण्डियन मेडीसिन, दूसरा खण्ड, पृष्ठ ३१०-३११।

† यस्योदयास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि । कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः जयतु स धाम्नान्निधिः सूर्यः ।।

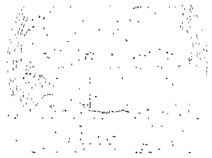
‡ आगे चलकर 'क्षपणक' को देखना अपशकुन माना जाने लगा था। देखिए 'मुद्राराक्षस' अंक ४।

⁑ देखिए इसी ग्रंथ में आगे श्री प्र० कृ० गोडे का लेख 'क्षपणक एवं महाक्षपणक'।

§ देखिए इसी ग्रंथ में आगे डॉ० मिस क्राउजे का निबन्ध "जैन-साहित्य और महाकाल-मन्दिर"।

❦ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ १००९।

\+ कुछ विद्वान् शंकु को स्त्री मानते हैं। गुजरात के प्रख्यात चित्रकार श्री रविशंकर रावल ने नवरत्नों के चित्र में इन्हें स्त्री चित्रित किया है।



भारतीय इतिहास में विक्रम-समस्या

वेतालभट्ट का नाम लोककथा के विक्रमादित्य के साथ बहुत लिया जाता है। अनुश्रुति में अग्निवेताल और विक्रम का साथ बहुत प्रसिद्ध है। उज्जैन में आज भी 'अगिया वेताल' का स्थान इस 'अग्निवेताल' का साक्षी रूप है। परन्तु 'भट्ट' उपाधि यह सूचित करती है कि यह कोई विद्वान् थे। इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता कि यह विद्वान् तान्त्रिक थे या अमानवी योनि के यक्ष-राक्षस। अतः शंकु की तरह इन्हें भी विक्रमकालीन मान सकते हैं।

घटखर्पर के समय के विषय में भी कुछ ज्ञात नहीं है। इनके विषय में अनेक अनुमान किये गए हैं। एक विद्वान् के अनुसार 'खर्पर' का अर्थ है 'जस्ता' और 'घटखर्पर' विक्रम के वे वैज्ञानिक थे जो इस धातु के प्रयोग में दक्ष थे।* कुछ विद्वानों के मत से 'घटखर्पर' एक जाति थी जो सम्भवतः कुम्हार थी। आज की 'खापर्डे' जाति को भी इन 'घटखर्पर' की स्मृति माना गया है। जो हो, हरिषेण की प्रशस्ति में हमें एक 'खरपरिक'† जाति अवश्य दिखाई दी है। 'घटखर्पर' नामक एक काव्य भी है जो कालिदास विरचित कहा जाता है। पर यह कालिदास विक्रमकालीन कालिदास हैं अथवा कोई और, यह निश्चित नहीं है। अतः इस व्यक्ति का काल भी निश्चित नहीं। अनिश्चय की दशा में इनको विक्रम-कालीन मान लेने में कोई आपत्ति नहीं दीखती।

वराहमिहिर के विषय में इतिहास के विद्वान् निश्चित तिथियाँ बतलाते हैं। इनका समय ५५० ई० निर्धारित किया गया है, परन्तु यह काल भी निर्विवाद रूप से मान लिया गया हो ऐसा नहीं है। यह उज्जैन निवासी थे इसमें सन्देह नहीं है। जब तक कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिले जिसके द्वारा इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी में जा सके तब तक वराह-मिहिर इस नवरत्न-समस्या को जटिल ही बनाए रहेंगे।

वररुचि का समय भी भारतीय इतिहास की एक समस्या बना हुआ है। कोई इन्हें कात्यायन मानकर इनका समय ईसा से प्रायः ४०० वर्ष पूर्व निर्धारित करते हैं। इनके ग्रन्थ 'प्राकृत-प्रकाश' की भूमिका में कावेल महोदय इनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी मानते हैं और इस प्रकार यह विक्रमकालीन प्रतीत होते हैं।

ज्योतिर्विदाभरण का उपरोक्त श्लोक ही क्या, यह पूरा ग्रन्थ ही विद्वानों द्वारा प्रक्षिप्त माना गया है। परन्तु इस विषय में अन्तिम शब्द कह सकने के पूर्व अभी बहुत अधिक छानबीन की आवश्यकता है।

ये नवरत्न वास्तव में विक्रमादित्य की सभा में रहे हों या न रहे हों, या विक्रम के एक सहस्र वर्ष उपरान्त उस सहस्राब्दी के श्रेष्ठतम विद्वानों को विक्रम से सम्बद्ध करने का किसी का सुन्दर अनुमान हो, अथवा नवग्रहों के समान विक्रमार्क के चारों ओर यह रत्नमण्डली किसी कुशल कल्पना-शिल्पी ने जड़ दी हो, परन्तु इसके कारण ५६-५७ ई० पू० होनेवाले विक्रमादित्य के अस्तित्व पर अविश्वास नहीं किया जा सकता।

विक्रमादित्य-विरुद और विरुदधारी:—विक्रमादित्य-विरुद भारतीय इतिहास में उसी प्रकार प्रचलित हुआ, जिस प्रकार कि योरोपीय इतिहास में 'सीजर' या 'कैसर' की उपाधि सर्वप्रिय हुई है। 'सीजर' शब्द से जिस प्रकार साम्राज्य एवं विजेता की भावना सम्बद्ध है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि में विदेशी शक्ति को पराजित करने की भावना निहित है। परन्तु साथ ही यह भी भूल जाने की बात नहीं है कि जिस प्रकार 'सीजर' नाम के प्रतापी सम्राट् के अस्तित्व के पश्चात् ही सीजर उपाधि का प्रादुर्भाव हुआ था, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपाधि चल निकलने के लिए किसी 'विक्रमादित्य' नामक विदेशियों के विनाशक के अस्तित्व का होना भी आवश्यक है‡।

---

* देखिए आगे श्री ब्रजकिशोर चतुर्वेदी का लेख 'विक्रम के नवरत्न'।

† श्री गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृ० १६९।

‡ इस विरुद के विषय में पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् श्री डॉ. लक्ष्मणस्वरूप का मत भी तथ्यपूर्ण है—"ईसवी सन् से पूर्व भारतीय महाराज और सम्राट् विक्रमादित्य विरुद को धारण नहीं करते थे जैसे अजातशत्रु, प्रद्योत, चन्द्रगुप्त मौर्य, अशोक, पुष्यमित्र आदि ने विक्रमादित्य की उपाधि को अपने नाम के साथ

अब हम आगे विक्रमादित्य विरुदधारी भारतीय नरेशों का विवेचन इस दृष्टि से करेंगे, जिससे यह ज्ञात हो सके कि यह सम्बोधन व्यक्तिवाचक नाम से उपाधि में कब परिवर्तित हुआ और जिन नरेशों ने इसे धारण किया वे कितने प्रतापी थे तथा इसका प्रभाव लोककथा और अनुश्रुति पर क्या पड़ा।

अभी तक सबसे प्रथम विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य समझे जाते थे, परन्तु अब यह सिद्ध हो गया है कि समुद्रगुप्त ने भी यह उपाधि धारण की थी*। यह उपाधि इस महान् विजेता सम्राट्

नहीं जोड़ा। ईसवी सन् के पश्चात् भारत के महाराज और सम्राट् जैसे चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, शीलादित्य, यशोधर्म, हर्षवर्धन इत्यादि शक्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य की उपाधि को धारण करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिक काल में जो गौरव और प्रताप अश्वमेध यज्ञ करने से प्राप्त होते थे, ईसवी सन् के पश्चात् विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने से वे ही गौरव उपलब्ध होने लगे थे। जिस प्रकार वैदिक काल में अश्वमेध यज्ञ का करना संसार-विजेता होने की घोषणा करना होता था उसी प्रकार विक्रमादित्य की उपाधि धारण करना साम्राज्य तथा प्रभुत्व का सूचक बन गया था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण नहीं की। गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अश्वमेध यज्ञ नहीं किया पर उसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की।"

* जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया खण्ड ५, भाग २, दिसम्बर १९४३ के अंक में पृष्ठ १३६-३७, पर इन्हीं मुद्राओं का विवेचन करते हुए श्री डिस्कलकर लिखते हैं :—

"On the seventh coin the dress of the king and other items are similar to those in coins No 1 to 5, and in all respects this coin closely resembles the coins of Samudragupta of the standard type. But it is of an extraordinary importance, in that it bears on the reverse the legend "Shree Vikramah" instead of the usual legend "Parakramah". No other coin of Samudragupta has hitherto been found bearing this legend, which is found used only on the coins of Chandragupta II. This novelty may be explained in two ways.

"It may be supposed, therefore, that the coin of Samudragupta in the Bamnala hoard bearing on the reverse the Biruda Sri Vikramah was struck in the early period of Chandragupta's reign, the old die for the obverse of the coin of Samudragupta being used instead of the die of Chandragupta's early coins of the archer type. After only a few coins were struck in this way the mistake was detected and the further minting of the coin was discontinued. It is for this reason that our coin in the Bamnala find is the only specimen of the variety so far found. If this supposition is accepted, it would be better to call this as Chandragupta's coin wrongly bearing on the obverse the die of Samudragupta's coin.

"An alternative suggestion can also be made. It may be supposed that in the later period of his reign Samudragupta introduced the epithet Vikram in place of the usual synonymous epithet Parakrama used on coins of the standard type, and that Chandragupta continued to adopt on his coins the

के लिए पूर्णरूपेण उपयुक्त है इसमें शंका नहीं। शकक्षत्रप रुद्रसेन समुद्रगुप्त के पराक्रम से शंकित हुआ था और उसने उसके दरबार में अपना राजदूत भेजा था। इसके गुणों का वर्णन इसके राजकवि हरिषेण की प्रशस्ति की अपेक्षा अधिक सुन्दर रूप में नहीं किया जा सकता, इसलिए हम उसके आवश्यक अंश के अनुवाद को उद्धृत करते हैं:—

"जिसका मन विद्वानों के सत्संग-सुख का व्यसनी था, जो शास्त्र के तत्त्वार्थ का समर्थन करनेवाला था........... जो सत्कविता और लक्ष्मी के विरोधों को विद्वानों के गुणित गुणों की आज्ञा से दबाकर (अब भी) बहुतेरी स्फुट कविता से (मिले हुए) कीर्ति-राज्य को भोग रहा है............जिसका पृथ्वी पर कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं था, जिसने सैकड़ों सच्चरितों से अलंकृत अपने अनेक गुणगणों के उद्रेक से अन्य राजाओं की कीर्तियों को अपने चरणतल से मिटा दिया था, जो अचिन्त्य पुरुष की भाँति साधु के उदय और असाधु के प्रलय का कारण था, जिसका कोमल हृदय भक्ति और प्रणतिमात्र से वश हो जाता था, जिसने लाखों गौएँ दान की थीं, जिसका मन कृपण, दीन, अनाथ, आतुरजनों के उद्धार और दीक्षा आदि में लगा रहता था, जो लोक के अनुग्रह का साक्षात् जाज्वल्यमान स्वरूप था, जिसके सेवक अपने भुजबल से जीते हुए राजाओं के विभव को वापिस देने में लगे हुए थे.................जो लोकनियमों के अनुष्ठान और पालन करने भर के लिए ही मनुष्य रूप था, किन्तु लोक में रहनेवाला देवता ही था।"*

समुद्रगुप्त का विक्रम उपाधि धारण करना कुछ स्थिति-पालक विद्वान् शंकास्पद भले ही मानें, † परन्तु ईसवी सन् ३८० के आसपास राज्यारोहण करनेवाले यशस्वी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'विक्रमादित्य' उपाधि ग्रहण की, यह उसकी मुद्राएँ पूर्ण रूप से सिद्ध करती हैं। इसने शक क्षत्रपों का उन्मूलन कर शकारित्व स्थापित किया। परन्तु उसकी

epithet Vikrama which he liked better than the epithet Parakrama. It may be said against this view that the coins of the standard type of Samudragupta, which is a close copy of the later coins of the Kushan type, are the earliest of all his coins and that if he had introduced the new epithet on some coins of his standard type, it could have been used also on other coins struck by him."

श्री डिस्कलकर के ये दोनों अनुमान स्थिति-पालन की दृष्टि से किए गए हैं। अभी तक की मान्य ऐतिहासिक धारणाओं पर आघात न हो यही बात उक्त विद्वान् के मस्तिष्क में प्रधान रही है। पहला अनुमान तो वे यह करते हैं कि यह चन्द्रगुप्त की ही मुद्रा है और गलती से दूसरी ओर समुद्रगुप्त के साँचे का प्रयोग हो गया है। यह अनुमान अत्यन्त हास्यास्पद है। प्राचीन काल में ऐसी भूलें कम होती थीं, और इसे सिद्ध करने के लिए श्री डिस्कलकर को गुप्त-साम्राज्य के प्रबन्ध में कुछ भूलें भी ढूंढनी होंगी, वह भी विशेषतः एक ऐसे मामले में, जो सम्राट् के सम्मुख अवश्यम्भावी रूप से जाना हो। दूसरा अनुमान तो स्वयं उन्होंने ही लँगड़ा कर दिया है।

हमारे विचार से तो सम्भावना यह है कि समुद्रगुप्त ने जब हरिषेण के शब्दों में "दैवपुत्र शाहिशाहानुशाही शक. . आत्मनिवेदन कन्योपायनदान गरुत्मदंकस्वविषय भुक्तिशासनयाचनाद्युपाय" अर्थात् जब दैवपुत्र शाही-शाहानुशाही शक. . . . . .आत्मनिवेदन करने लगे थे तथा अपनी कन्याएँ भेंट में देने लगे थे, अपने विषय-भुक्ति के शासन के लिए गरुड़ की राजमुद्रा में अंकित फरमान मांगने लगे थे, तब सम्राट् स्कन्दगुप्त ने प्रथम शक-मानमर्दक मूल विक्रमादित्य के नाम को विरुद रूप में धारण किया। और पीछे से जब उसने समस्त भरतखण्ड को अपने प्रबल पराक्रम से आक्रान्त कर दिया तब 'पराक्रम' विरुद धारण किया।

* प्रयाग के स्तम्भ पर समुद्रगुप्त की विजय प्रशस्ति के अनुवाद से उद्धृत (देखिए श्री गंगाप्रसाद मेहता-कृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य', पृष्ठ १६६-६८)।

† देखिए, जर्नल ऑफ दि न्यूमेस्मेटिक सोसायटी ऑफ इण्डिया दिसम्बर १९४३ में श्री डिस्कलकर का मत।

प्रशस्ति लिखने के लिए इसे अपने पिता के समान हरिषेण जैसा राजकवि नहीं मिला था। यह सम्राट् महान् विजयी, अपार दानी, विद्या एवं कला का आश्रयदाता तथा धर्म-रक्षक था*।

गुप्त सम्राटों में अन्तिम सम्राट्, जिसने अपने पौरुष से विदेशी शकों का मान मर्दन किया 'स्कन्दगुप्त' था। इसने भी विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की थी। इसके सिक्कों पर 'परम-भागवत-श्रीविक्रमादित्य-स्कन्दगुप्तः' अंकित है। इसके अभिलेख † से प्रकट है कि कुललक्ष्मी विचलित थी; म्लेच्छों और हूणों से आर्य्यावर्त आक्रान्त था। अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए जिन्होंने पृथ्वी पर सोकर रातें बिताईं, हूणों के युद्ध में जिसके विकट पराक्रम से धरा विकम्पित हुई, जिन्होंने सौराष्ट्र के शकों का मूलोच्छेद करके परादित्त को वहाँ का शासक नियत किया, वह स्कन्दगुप्त ही थे।

गुप्तों के पश्चात् यशोधर्म्मनदेव ने विक्रमादित्य उपाधि धारण की थी ऐसा कुछ लोगों का मत है। उसने ईसवी सन् ५४४ (या ५२८) में करूर के रणक्षेत्र में शकों को परास्त करके दो विजय-स्तम्भों का निर्माण कराया। इन पर से फरगुसन ने विक्रम-संवत्-प्रवर्तक-सम्बन्धी अपना विचित्र मत स्थापित किया था। परन्तु यह विदित है कि यशोधर्म्मन ने अपनी किसी प्रशस्ति में विक्रमादित्य उपाधि धारण नहीं की।

इसके पश्चात् फिर छोटे-मोटे अनेक विक्रमादित्य हुए। दक्षिण में भी अनेक राजाओं ने यह उपाधि धारण की। यहाँ तक कि हेमू ने भी, जब उसे यह भ्रम हुआ कि उसे मुगल-राज्य उखाड़ फेंकने में सफलता मिल जायगी, अपने आपको विक्रमादित्य लिखा।

विदेशियों पर विजय की भावना तो विक्रमादित्य उपाधि के साथ है ही, साथ ही पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारियों ने साहित्य-कला को आश्रय दिया, अपार दान दिए और राजसभा के वैभव को अत्यधिक बढ़ाया। यही कारण है कि आज से प्रायः एक सहस्र वर्ष पूर्व विक्रमादित्य का जो रूप प्रचलित हुआ, उसमें मालवगण-प्रधान विक्रमादित्य तो छिप गया और उसके स्थान पर विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की समन्वित मूर्ति बन गई। भारतीय संस्कृति एवं एकतंत्रीय शासन-प्रणाली में जो कुछ भी सर्वश्रेष्ठ था वह विक्रमादित्य से सम्बन्धित हो गया। महान् विजयी, परदुःखभंजन, न्याय-परायण, त्यागी, दानी, एवं उदारचरित के रूप में उसकी कल्पना हुई। मालवगणमुख्य में यह सब गुण होंगे, इससे इनकार नहीं, परन्तु उसका यह चित्र अतिरंजित अवश्य हो गया।

उपसंहार :—ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों और अनुश्रुति के विवेचन से यह सिद्ध होता है कि उज्जैन-स्थित मालवगणों पर ई० पू० ५७ में शकों का अधिकार हो गया था। इस समय के धार्मिक विद्वेष ने शकों के अधिकार होने में सहायता की थी। विक्रमादित्य नामक 'व्यक्ति' ने मालवगणतन्त्र का संगठन कर उसे अत्यधिक बलशाली बनाया, शकों का मूलोच्छेद किया और संवत्सर की स्थापना की। उसी समय 'मालवानांजयः' लेखसहित मुद्राएँ भी प्रचलित की गईं। यह विक्रमादित्य अत्यन्त प्रतापशाली और उदात्त गुण सम्पन्न था।

यह प्रयास केवल इस हेतु किया गया है कि भारतीय अनुश्रुति के नायक, हमारी प्राचीन संस्कृति एवं गौरव के प्रधान अवशेष विक्रम-संवत् के प्रवर्तक, विजयी विक्रमादित्य के अस्तित्व को असिद्ध करने के जो प्रयास किए गए हैं उनका निराकरण हो सके। विक्रमीय प्रथम सहस्राब्दी में महान् विजेताओं द्वारा उसके नाम की उपाधि ग्रहण करने में अपने आपको गौरवान्वित अनुभव करना इस बात का सूचक है कि भारतीय सदा से ही विक्रमादित्य के नाम को अत्यन्त मान एवं आदर की दृष्टि से देखते थे। आज राजमहल से दरिद्र की कुटी तक फैली हुई विक्रम की गौरवगाथाएँ उसी भावना की प्रतीक हैं। विक्रमादित्य का चलाया हुआ यह विक्रम-संवत् हमारी अमूल्यतम एवं महान्तम थाती है। यह हमारे विक्रम की स्मृति है, इसीसे हम भावी विक्रम की शक्ति संचित करेंगे।

* गंगाप्रसाद मेहता-कृत "चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य" पृष्ठ ५९-६६

† विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन,
क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा,
क्षितिपचरणपीठे स्थापितोवामपादः॥



परिशिष्ट 'क' * ‡

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
१	२८२	नान्दसा (उदयपुर-राज्य) ..	शक्तिगुण गुरु ..	कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्व्यशीतयोः २००-८०-२ चैत्र पूर्णमासी(स्या) म्।
	२८४	बर्णाला† (जयपुर-राज्य) ..	(...) वर्धन ..	कृतेहि (कृतैः) २००-८०-४ चैत्र शुक्ल-पक्षस्य पंचदशी !
	२९५	बड़्वा (जयपुर-राज्य) ..	..	कृतेहि (कृतैः) २००-८०-४ फाल्गुन शु० ५
	२९५	,,	..	,,
	२९५	,,	..	,,
	३३५	बर्णाला (जयपुर-राज्य) ..	भट्ट	कृतेहि ३००-३०-५ जरा (जेष्ठ) शुद्धस्य पंचदशी।
२	४२८	विजयगढ़ (भरतपुर-राज्य) ..	विष्णुवर्धन ..	कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु ४००-२०-८ फाल्गुण-बहुलस्य पंचदश्या-मेतस्यां पूर्वायाम्।
३	४६१	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ..	नरवर्मन्	श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते-कषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये। दिने आश्वोजशुक्लस्य पंचम्यामथ सत्कृते।
४	४८०	गंगधार (झालावाड़-राज्य) ..	विश्ववर्मन् ..	यातेषु चतुर्षु क्रतेषु शतेषु सौम्येष्वाशीत सोत्तरपदेष्विह वत्सरेषु। शुक्ले त्रयोदशदिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य।
५	४८१	नगरी (उदयपुर-राज्य) ..	दो वणिक् बन्धु ..	कृतेषु चतुर्षुवर्षशतेष्वेकाशीत्युत्तरेष्वस्यां मालवपूर्वायां ४००-८०-१ कार्तिक-शुक्लपंचम्याम्।
६	४९३	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ..	कुमारगुप्त (बन्धुवर्मन)	मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघन-स्तने, सहस्य मासशुक्लस्य प्रशस्तेऽ-ह्नि त्रयोदशे।
७	५२४	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य) ..	प्रभाकर	[illegible] विख्यापकै मालववंशकीर्तेः। शरद्गणे पंचशते व्यतीते, त्रिधाभिनाष्टाभ्यधिके क्रमेण।
‡ ९	५८९	मन्दसौर (ग्वालियर-राज्य)	राज्याधिराज परमेश्वर यशोधर्मन्-विष्णुवर्धन	पंचसु शतेषु शरदां यातेष्वेकान्ननवति-सहितेषु, मालवगणस्थितिवशात्काल-ज्ञानाय लिखितेषु।

* यह परिशिष्ट डॉ० देवदत्त भाण्डारकर द्वारा तैयार की गई विक्रम-संवत् के उल्लेखवाले अभिलेखों की सूची पर से तैयार किया गया है। भाण्डारकर की यह सूची एपीग्रेफिया इण्डिका के भाग १९-२३ के परिशिष्ट 'क' के रूप में निकली है। जो अभिलेख उक्त सूची के बनने के पश्चात् प्राप्त हुए हैं उन्हें भी इसमें सम्मिलित कर दिया गया है।

‡ इस सम्बन्ध में १०३ अंक पड़ा हुआ तख्तेबाही का गोण्डोफारनिस का अभिलेख भी विचारणीय है। अनेक विद्वान् इसे विक्रम-संवत् मानते हैं, परन्तु यह मत विवादास्पद है।

† आगे के पाँच अभिलेख डॉ० भाण्डारकर की उक्त सूची में नहीं हैं। इनका उल्लेख डॉ० अल्तेकर के एपीग्रेफिया इण्डिका, भाग २६, पृष्ठ ११८-१२५ पर किया है।

‡ यह क्रमांक डॉ० भाण्डारकर की सूची के अनुसार है। उक्त सूची के उन अभिलेखों के उल्लेख छोड़ दिए गए हैं, जिनमें संवत् का नामोल्लेख नहीं है।

क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
१६	७७०	चित्तौड़गढ़	मान	मालवेश-संवत्सर †।
१७	७९४	धीनीकि * (काठियावाड़) ..	जैकदेव	विक्रमसंवत्सरशतेसु सप्तषु चतुर्नवत्य-धिकेष्वंकतः। कार्तिकमासापरपक्षे अमावस्यायां आदित्यवारे ज्येष्ठानक्षत्रे रविग्रहणपर्वणि।
१८	७९५	कणस्व (कोटा-राज्य) ..	शिवगण	संवत्सरशतैर्यातैः सपंचनवत्यर्गलैः सप्तभि-र्मालवेशानाम्।
२७	८९८	धौलपुर	चण्डमहासेन ..	वसुनवाष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमा-ख्यस्य वैशाखस्य सितायां रविवार-युतद्वितीयायां चन्द्रे रोहिणिसंयुक्ते लग्ने सिंहस्य शोभने योगे।
३७	९३६	ग्यारसपुर (ग्वालियर-राज्य) ..	..	मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशत्संयुते-ष्वतीतेषु नवसु शतेषु मधाविह।
४८	९७३	बिजापुर	राष्ट्रकूट विदग्धराज	रामगिरिनन्दकलिते विक्रमकाले गते तु शुचिमासे। ‡
६३	१००५	बोधगया	..	विक्रम-संवत्सर १००५ के मधुमास के शुक्लपक्ष की चतुर्थी शुक्रवार का उल्लेख है।
६७	१००८	आहार (उदयपुर-राज्य) ..	अल्लट	कार्तिक सितपंचम्यां अग्रटनाम्नासु-सूत्रधारेण। प्रारब्धं देवगृहं कालेवसु-शून्यदिकसंख्ये॥ दशदिग्विक्रमकाले वैशाखे शुद्धसप्तमी दिवसे। हरिरिह निवेशितोऽयं घटितप्रतिमो. वराहेण॥
७२	१०१३	ओसिआ (जोधपुर-राज्य) ..	..	विक्रम-संवत्सर ११०३ फाल्गुण शुक्लपक्ष तृतीया। ‡
८०	१०२८	एकलिंगजी (उदयपुर-राज्य) ..	नरवाहन.. ..	विक्रमादित्यभूभृतः। अष्टाविंशतिसंयुक्ते शते दशगुणे सति।
११७	१०८६	राधनपुर (बम्बई-प्रान्त) ..	भीमदेव	विक्रम-संवत् १०८६ कार्तिक शुदि १५।
१२३	१०९९	वसन्तगढ़ (सिरोही-राज्य) ..	पूर्णपाल	नवनवतिरिहासीद् विक्रमादित्यकाले। जगति दशशतानामग्रतो यत्र पूर्णा प्रभवति नभमासे स्थानके चित्रभानोः॥ मृगशिरसिशशांके कृष्णपक्षे नवम्याम्।
१२८	११०३	तिलकवाड़ा (बड़ौदा-राज्य) ..	जसोराज-भोजदेव ..	वत्सरैर्विक्रमादित्यैः शतैरेकादशैस्तथा। त्र्युत्तरैर्मार्गिमासेऽस्मिन् सोमे सोमस्य पर्वणि।

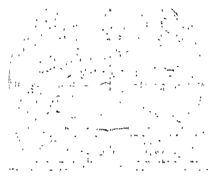
† डॉ० भाण्डारकर ने इसका मूल पाठ नहीं दिया। कर्नल टॉड के 'एनाल्स ऑफ राजस्थान' से उक्त पाठ का अनुवाद उद्धृत किया है जो इस प्रकार है:—

"Seventy had elapsed beyond seven hundred years (Semvatisir) when the lord of the men, the king of Malwa, formed this saka.

इस पर डॉ० भाण्डारकर ने यह सम्भावना की है कि इसके मूल पाठ में 'मालवेश' के संवत् का उल्लेख होगा।

*** इस ताम्रपत्र को डॉ० अल्तेकर ने जाली सिद्ध कर दिया है। एपीग्राफिया इण्डिका, भाग २६, पृ० १८९।**

‡ इसका मूल पाठ डा० भाण्डारकर ने नहीं दिया है।



क्रमांक	संवत्	प्राप्ति-स्थान	शासक या दाता	संवत्-सम्बन्धी पाठ
१३४	१११६	उदयपुर (ग्वालियर-राज्य) ..	उदयादित्य ..	एकादशशतवर्षाङ्कितनवधिके [illegible] विक्रमेंद्रेमाम्। संवत् १११६ [illegible] तैकसीति शक गत शालिवाहन न नृपाधीश शाके ९८१।
१३६	१११८	देवगढ़ (झांसी)	सती-प्रस्तर ..	विक्रम-संवत् १११८ ज्येष्ठ सु० मंगलवार।
१४१	११३१	नवसारी (बड़ौदा-राज्य) ..	कर्णराज एवं दुर्लभराज	श्रीविक्रमादित्योत्पादित संवत्सर [illegible]-कादशसु एकत्रिंशदधिकेषु [illegible]-पि सं० ११३१ कार्तिक सुदि एकादशी पर्वणि।
१५५	११४८	सूनक (बड़ौदा-राज्य) ..	कर्णदेव त्रैलोक्यमल्ल	विक्रम-संवत् ११४८ वैशाख [illegible] १५ सोमे। अद्य [illegible]।
१५६	११५०	ग्वालियर	महिपालदेव ..	एकादशस्वतीतेषु संवत्सरशतेषु [illegible] पंचाशति च [illegible] विक्रमात्॥ [illegible] चाश्विने मासि कृष्णपक्षे अंकतोऽपि। ११५० [illegible]।
१६५	११५७	अर्थूणा (बाँसवाड़ा-राज्य) ..	चामुण्डराज ..	सप्तपंचाशदधिके सहस्रे [illegible]। चैत्रकृष्णद्वितीयायाम्।
१६९	११६१	ग्वालियर	महीपालदेव का उत्तराधिकारी	श्रीविक्रमार्कनृपकालातीतसंवत्सर[illegible]-मेकषष्ट्यधिका[illegible] [illegible]-[illegible]।
१७६	११६४	कद्माल (उदयपुर-राज्य) ..	विजयसिंह ..	श्रीविक्रमकाल[illegible]-शसु चतुःषष्ट्यधिकेषु आषाढ मास अमावस्यां [illegible] अंकतोऽपि संवत् ११६४ वर्षे [illegible]।
१७९	११६६	अर्थूणा (बाँसवाड़ा-राज्य) ..	विजयराज ..	[illegible] विक्रमा[illegible] विक्रम-संवत् ११६६ वैशाख सुदि ३ सोमे।
२००	११७६	सेवाड़ी (जोधपुर-राज्य) ..	रत्नपाल	श्रीविक्रमादित्योत्पादितसंवत्सरशते-ष्वेकादशसु षट्सप्तत्यधिकेषु [illegible]-बहुल-पक्षाष्टम्यां [illegible]। अंकतोऽपि संवत् ११७६ ज्येष्ठ वदि ८, गुरौ।
२३२	११९१	..	यशोवर्मदेव ..	श्रीविक्रम-कालातीत-संवत्सर[illegible]-शतैकादशेषु कार्तिक [illegible]।
२४०	११९५	उज्जैन (ग्वालियर-राज्य) ..	जयसिंह	विक्रमनृप-कालातीत-संवत्सर[illegible]कादशसु पंचनवत्यधिकेषु। अंकतः संवत् ११९५ ज्येष्ठ-वदि १४ गुरौ।
२४१	११९५	भद्रेश्वर (कच्छ-राज्य) ..	जयसिंहदेव ..	विक्रम-संवत् ११९५ वर्षे आषाढ सुदि १० रवौ अस्यां संवत्सर-मास-पक्ष-दिवस-पूर्वायां तिथौ।
२४५	११९६	दोहद (जिला पंचमहाल बम्बई)	जयसिंहदेव ..	श्रीनृप-विक्रम-संवत् ११९६।
२५०	११९८	किराड़ू (जोधपुर-राज्य) ..	जयसिंह-सिद्धराज तथा सोमेश्वर	अष्टनवतौ वर्षे विक्रम-भूपतेः।
२५२	११९९	झालरापाटन (झालावाड़-राज्य)	नरवर्मदेव तथा यशोवर्मदेव	विक्रमांक-संवत् ११९९ फाल्गुण सुदि...।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

श्री डॉ० राजबली पाण्डेय, एम. ए., डी-लिट्

जनश्रुति—

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम और कृष्ण के पश्चात् भारतीय जनता ने जिस शासक को अपने हृदय-सिंहासन पर आरूढ़ किया है वह विक्रमादित्य हैं। उनके आदर्श, न्याय और लोकाराधन की कहानियाँ भारतवर्ष में सर्वत्र प्रचलित हैं, और आबाल-वृद्ध सभी उनके नाम और यश से परिचित हैं। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध जनश्रुति है कि वे उज्जयिनीनाथ गन्धर्वसेन के पुत्र थे। उन्होंने शकों को परास्त करके अपनी विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया था। वे स्वयं काव्य-मर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों के आश्रयदाता थे। भारतीय ज्योतिष-गणना से भी इस बात की पुष्टि होती है कि ईसा से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य ने विक्रम-संवत् का प्रचार किया था।

अनुश्रुति—

भारतीय-साहित्य में अंकित अनुश्रुति ने भी उपर्युक्त जनश्रुति को किसी न किसी रूप में स्वीकार किया है। इनमें से कुछ का उल्लेख नीचे किया जाता है:—

१. अनुश्रुति के अनुसार विक्रमादित्य का प्रथम उल्लेख 'गाथासप्तशती' में इस प्रकार मिलता है:—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअँ अणुसिक्खिअँ तिस्सा ॥ ५-६४ ॥

इसकी टीका करते हुए गदाधर लिखते हैं—"पक्षे संवाहणं संबधनम्। लक्खं लक्षम्। विक्रमादित्योऽपि भृत्य-कर्तृकेन शत्रुसंबाधनेन तुष्टः सन् भृत्यस्य करे लक्षं ददातीत्यर्थः।" इससे यह प्रकट होता है कि गाथा के रचना-काल में यह बात प्रसिद्ध थी कि विक्रमादित्य नामक एक प्रतापी तथा उदार शासक थे, जिन्होंने शत्रुओं के ऊपर विजय के उपलक्ष में भृत्यों को लाखों का उपहार दिया था। 'गाथासप्तशती' का रचयिता सातवाहन राजा हाल प्रथम शताब्दी ई० पश्चात् में हुआ था। अतः इसके पूर्व विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य का प्रतिपादन महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अच्छी तरह से किया है (एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द १२, पृ. ३२०)। इसके विरुद्ध डॉ०-देवदत्त

रामकृष्ण भाण्डारकर ने 'गाथासप्तशती' में आए हुए ज्योतिष के संकेतों के आधार पर कुछ आपत्तियाँ उठाई थीं (भाण्डारकर-स्मारक-ग्रन्थ, पृ० १८७-१८९), किन्तु इसका निराकरण म० म० पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने भली भाँति कर दिया है (प्राचीन लिपिमाला, पृ० १६८)।

२. जैन पंडित मेरुतुंगाचार्य-रचित पट्टावली में लिखा है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जयिनी में तेरह वर्ष तक राज्य किया। इसके अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों को बुलाकर उसका उन्मूलन किया। शकों ने उज्जयिनी में चौदह वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापिस कर लिया। यह घटना महावीर-निर्वाण के ४७० वें वर्ष (५२७-४७०=५७ ई० पू०) में हुई। विक्रमादित्य ने साठ वर्ष तक राज्य किया। उनके पुत्र विक्रमचरित उपनाम धर्मादित्य ने ४० वर्ष तक राज्य किया। तत्पश्चात् भैल्ल, नैल तथा नाहद ने क्रमशः ११, १४ और १० वर्ष तक शासन किया। इस समय वीर-निर्वाण के ६०५ वर्ष पश्चात् (६०५-५२७=७८ ई० प०) शक-संवत् का प्रवर्तन हुआ।

३. प्रबन्धकोष के अनुसार महावीरनिर्वाण के ४७० वर्ष बाद (५२७-४७०=५७ ई० पू०) विक्रमादित्य ने संवत् का प्रवर्तन किया।

४. धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुञ्जयमाहात्म्य में इस बात का उल्लेख है कि वीर-संवत् के ४६६ वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य का प्रादुर्भाव होगा। उनके ४७७ वर्ष पश्चात् शिलादित्य अथवा भोज शासन करेगा। इस ग्रन्थ की रचना ४७७ विक्रम-संवत् में हुई, जबकि वलभी के राजा शिलादित्य ने सुराष्ट्र से बौद्धों को खदेड़कर कई तीर्थों को उनसे वापस किया था। (देखिये डॉ० भाउदाजी, जरनल ऑफ बॉम्बे एशियाटिक सोसायटी, जिल्द ६, पृ० २९-३०)।

५. सोमदेव भट्ट विरचित कथासरित्सागर (लम्बक १८, तरंग १) में भी विक्रमादित्य की कथा आती है। इसके अनुसार ये उज्जयिनी के राजा थे। इनके पिता का नाम महेन्द्रादित्य तथा माता का नाम सौम्यदर्शना था। महेन्द्रादित्य ने पुत्र की कामना से शिव की आराधना की। इस समय पृथ्वी म्लेच्छाक्रान्त थी। अतः इसके त्राण के लिये देवताओं ने भी शिव से प्रार्थना की। शिवजी ने अपने गण माल्यवान्* को बुलाकर कहा कि पृथ्वी का उद्धार करने के लिये तुम मनुष्य का अवतार लेकर उज्जयिनीनाथ महेन्द्रादित्य के यहाँ पुत्र-रूप से उत्पन्न हो। पुत्र उत्पन्न होने पर शिवजी के आदेशानुसार महेन्द्रादित्य ने उसका नाम विक्रमादित्य तथा उपनाम (शत्रु-संहारक होने के कारण) विषमशील रखा। बालक विक्रमादित्य पढ़-लिखकर सब शास्त्रों में पारंगत हुआ, और प्राज्य-विक्रम होने पर उसका अभिषेक किया गया। वह बड़ा ही प्रजावत्सल राजा हुआ। इसके बारे में लिखा है:—

स पिता पितृहीनानामबंधूनां स बान्धवः।
अनाथानां च नाथः सः प्रजानां कः स नाभवत्॥ १८-१-६६॥

(वह पितृहीनों का पिता, बन्धु-रहितों का बन्धु और अनाथों का नाथ था। प्रजा का तो वह सर्वस्व ही था।) इसके अनन्तर विक्रमादित्य की विस्तृत विजयों और अद्भुत कृत्यों का अतिरंजित वर्णन है।

कथासरित्सागर अपेक्षाकृत अर्वाचीन ग्रन्थ होते हुए भी क्षेमेन्द्रलिखित बृहत्कथामञ्जरी और अन्ततोगत्वा बृहत्कथा (गुणाढ्यरचित) पर अवलंबित है। गुणाढ्य सातवाहन हाल का समकालीन था, जो विक्रमादित्य से लगभग १०० वर्ष पीछे हुआ था। अतः सोमदेव द्वारा कथित अनुश्रुति विक्रमादित्य के इतिहास से सर्वथा अनभिज्ञ नहीं हो सकती। सोमदेव के सम्बन्ध में एक और बात ध्यान देने की है। वे उज्जयिनी के विक्रमादित्य के अतिरिक्त एक दूसरे विक्रमादित्य को भी जानते थे, जोकि पाटलिपुत्र का राजा था— "विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके (लम्बक ७, तरंग ४)"। इसलिये जो आधुनिक ऐतिहासिक मगधाधिप पाटलिपुत्रनाथ गुप्त सम्राटों को उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य से अभिन्न समझते हैं, वे अपनी परम्परा और अनुश्रुति के साथ बलात्कार करते हैं।

*** कथा की पौराणिक शैली में 'गण' से गणतंत्र और 'माल्यवान' से मालव जाति का आभास मिलता है।**

६. द्वात्रिंशत्पुत्तलिका, राजावली आदि ग्रन्थों तथा राजपूताने में प्रचलित (टॉड्स राजस्थान में संकलित) अनुश्रुतियों में उज्जयिनीनाथ शकारि विक्रमादित्य की अनेक कथाएँ मिलती हैं।

साधारण जनता की जिज्ञासा इन्हीं अनुश्रुतियों से तृप्त हो जाती है और वह परम्परा से परिचित लोक-प्रसिद्ध विक्रमादित्य के सम्बन्ध में अधिक गवेषणा करने की चेष्टा नहीं करती। किन्तु आधुनिक ऐतिहासकों के लिए केवल अनुश्रुति का प्रमाण पर्याप्त नहीं है। वे देखना चाहते हैं कि अन्य साधनों द्वारा ज्ञात इतिहास से परम्परा और अनुश्रुति की पुष्टि होती है या नहीं। विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता के सम्बन्ध में वे निम्नलिखित प्रश्नों का समाधान करना चाहते हैं :–

(१) विक्रमादित्य ने जिस संवत् का प्रवर्तन किया था उसका प्रारम्भ कब से होता है?

(२) क्या प्रथम शताब्दी ई० पू० में कोई प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष मालव प्रान्त में हुआ था या नहीं?

(३) क्या उस समय कोई ऐसी महत्वपूर्ण घटना हुई थी जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था?

इन प्रश्नों को लेकर अब तक प्रायः जो ऐतिहासिक अनुसन्धान होते रहे हैं उनका सारांश संक्षेप में इस प्रकार दिया जाता है :–

(१) यद्यपि ज्योतिषगणना के अनुसार विक्रम-संवत् का प्रारम्भ ५७ ई० पू० में होता है किन्तु ईसा की प्रथम कई शताब्दियों तक साहित्य तथा उत्कीर्ण लेखों में इस संवत् का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता। मालव प्रान्त में प्रथम स्थानीय संवत् मालवगण-स्थिति-काल था, जिसका पता मन्दसौर प्रस्तर-लेख से लगा है––मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये (फ्लीटः गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८)। यह लेख पाँचवीं शताब्दी ई० प० का है।

(२) प्रथम शताब्दी ई० पू० में किसी प्रसिद्ध राजवंश अथवा महापुरुष का मालव प्रान्त में पता नहीं।

(३) इस काल में कोई ऐसी क्रान्तिकारी घटना मालव प्रान्त में नहीं हुई जिसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हो सकता था।

उपर्युक्त खोजों से यह परिणाम निकाला गया है कि प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य नामक कोई शासक नहीं हुआ। तत्कालीन विक्रमादित्य कल्पना-प्रसूत है। संभवतः मालव-संवत् का प्रारम्भ ई० पू० प्रथम शताब्दी में हुआ था। पीछे से 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी किसी राजा ने अपना विरुद इसके साथ जोड़ दिया। इस प्रकार संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता बहुत से विद्वानों के मत में असिद्ध हो जाती है। इस प्रक्रिया का फल यह हुआ कि कतिपय प्राच्यविद्याविशारदों ने प्रथम शताब्दी ई० पू० के लगभग इतिहास में प्रसिद्ध राजाओं को विक्रम-संवत् का प्रवर्तक सिद्ध करने की चेष्टा प्रारम्भ की।

आनुमानिक मत—

(१) फर्गुसन ने एक विचित्र मत का प्रतिपादन किया। उनका कथन है कि जिसको ५७ ई० पू० में प्रारम्भ होनेवाला विक्रम-संवत् कहते हैं वह वास्तव में ५४४ ई० प० में प्रचलित किया गया था। उज्जयिनी के राजा विक्रम हर्ष ने ५४४ ई० में म्लेच्छों (शकों) को कोरूर के युद्ध में हराकर विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रचार किया। इस संवत् को प्राचीन और आदरणीय बनाने के लिये इसका प्रारम्भ काल ६ × १०० (अथवा १० × ६०) = ६०० वर्ष पीछे फेंक दिया गया। इस तरह ५६ ई० पू० में प्रचलित विक्रम-संवत् से इसको अभिन्न मान लिया गया। किन्तु क्यों ६०० वर्ष पहले इसका प्रारम्भ ढकेल दिया गया, इसका समाधान फर्गुसन के पास नहीं है। इसके अतिरिक्त ५४४ ई० प० के पूर्व के मालव-संवत् ५२९ (मन्दसौर प्रस्तर अभिलेख, फ्लीटः गुप्त उत्कीर्ण लेख सं० १८) तथा विक्रम-संवत् ४३० (कावी अभिलेख, इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष १८७६, पृ० १५२) के प्रयोग मिल जाने से फर्गुसन के मत का भवन ही धराशायी हो जाता है (फर्गुसन के मत के लिये देखिये इण्डियन ऐण्टिक्वेरी वर्ष १८७६, पृ० १८२)।

(२) डॉ० फ्लीट का मत था कि ५७ ई० पूं० में प्रारम्भ होनेवाले विक्रम-संवत् का प्रवर्तन कनिष्क के राज्यारोहण-काल से शुरू होता है (जरनल ऑफ दि रॉयल ऐशियाटिक सोसायटी, वर्ष १९०७, पृ० १६९)। अपने मत के समर्थन में उनकी दलील यह है कि कनिष्क भारतीय इतिहास का एक प्रसिद्ध विजयी राजा था। उसने अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्य –

की स्थापना की। बौद्ध धर्म के इतिहास में भी अशोक के बाद उसका स्थान था। ऐसे प्रतापी राजा का संवत् चलाना बिलकुल स्वाभाविक था। किन्तु यह मत डॉ० फ्लीट के अतिरिक्त और किसी विद्वान् को मान्य नहीं है। प्रथम तो कनिष्क का समय ही अभी अनिश्चित है। दूसरे, एक विदेशी राजा के द्वारा देश के एक कोने से प्रवर्तित संवत् देश-व्यापी नहीं हो सकता था। तीसरे, यह बात प्रायः सिद्ध है कि कुषणों ने काश्मीर तथा पंजाब में जिस संवत् का व्यवहार किया था वह पूर्व प्रचलित सप्तर्षि-संवत् था, जिसमें सहस्र तथा शत के अंक लुप्त थे। यदि यह बात असान्य भी समझी जाय तो भी कुषण-संवत् वंशगत था और कुषणों के बाद पश्चिमोत्तर भारत में इसका प्रचार नहीं मिलता।

(३) श्री वेंलडे गोपाल अय्यर ने अपनी पुस्तक 'प्राचीन भारत का तिथिक्रम' (क्रोनोलॉजी ऑफ ऐन्शण्ट इण्डिया, पृष्ठ १७५) में इस मत का प्रतिपादन किया है कि विक्रम-संवत् का प्रवर्तक सुराष्ट्र का महाक्षत्रप चष्टन था। विक्रम-संवत् वास्तव में मालव-संवत् है। मन्दसौर प्रस्तर-लेख में स्पष्ट बतलाया गया है कि मालव जाति के संगठन-काल में इसका प्रचलन हुआ (मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये––फ्लीट: गुप्त उत्कीर्ण लेख, सं० १८)। कुषणों द्वारा इस संवत् का प्रवर्तन नहीं हो सकता था। एक तो कनिष्क का समय विक्रमकालीन नहीं, दूसरे यह बात सिद्ध नहीं कि उसका राज्य कभी मथुरा और बनारस के आगे भी फैला था। क्षत्रपों के अतिरिक्त अन्य किसी दीर्घजीवी राजवंश का पता नहीं, जिसका मालव-प्रान्त पर आधिपत्य रहा हो और जिसको संवत् का प्रवर्तक माना जा सके। जब हम इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए रुद्रदामन् के गिरनार के लेख में पढ़ते हैं कि "सब वर्णों ने अपनी रक्षा के लिये उसको अपना अधिपति चुना था" (सर्व वर्णैरभिगम्य पतित्वे वृतेन––एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८०, पृ० ४७) तब हम यह बात स्वीकार करते हैं कि मालवा और गुजरात की सब जातियों ने उसको अपना राजा निर्वाचित किया था, जिस तरह कि इसके पूर्व उन्होंने रुद्रदामन् के पिता जयदामन् और उसके पितामह चष्टन को चुना था। प्राचीन ग्रन्थ ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि "पश्चिम के सभी राजाओं का अभिषेक स्वराज्य के लिये होता था और उनकी उपाधि स्वराट् होती थी।" इन स्वतंत्र जातियों ने एकता में शक्ति का अनुभव करते हुए और आवश्यकता के सामने सिर झुकाते हुए अपने ऊपर विजयी चष्टन के आधिपत्य में अपने को एकत्र करके संगठित किया। यही महान् घटना, एक बड़े शासक के आधिपत्य में मालव जातियों का संगठन ५७ ई० पू० में संवत् के प्रवर्तन से उपलक्षित हुई। तब से यह संवत् मालवा में प्रचलित है। चष्टन और रुद्रदामन् ने मालवा के पड़ोसी प्रान्तों में भी शासन किया, इसलिये संवत् का प्रचार विंध्यपर्वत के उत्तर के प्रदेशों में भी हो गया।

अय्यर महोदय का यह कथन कि विक्रम-संवत् वास्तव में मालव-संवत् है, स्वतः सिद्ध है। कनिष्क के विक्रम-संवत् के प्रवर्तक होने के विरोध में उनका तर्क भी युक्तिसंगत है। किन्तु कनिष्क से कहीं स्वल्प शक्तिशाली प्रान्तीय विदेशी क्षत्रप, जिसके साथ राष्ट्रीय जीवन का कोई अंग संलग्न नहीं था, संवत् के प्रवर्तन में कैसे कारण हो सकता था, यह बात समझ में नहीं आती। रुद्रदामन् के अभिलेख में सब वर्णों द्वारा राजा के चुनाव का उल्लेख केवल प्रशस्तिमात्र है। प्रत्येक शासक अपने अधिकार को प्रजासम्मत कहने की नीति का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त रुद्रदामन् लोकप्रिय हो भी गया हो तो भी उसका यह गुण दो पीढ़ी पहले चष्टन में, संघर्ष की नवीनता तथा तीव्रता के कारण, नहीं आ सकता था। श्री अय्यर की यह युक्ति अत्यन्त उपहासनीय मालूम होती है कि मालवादि जातियों ने चष्टन के आधिपत्य में अपना संगठन किया और इसके उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन किया। राजनीति का यह साधारण नियम है कि कोई भी विदेशी शासक विजित जातियों को तुरन्त संगठित होने का अवसर नहीं देता। फिर अपने पराजय-काल से मालवों ने संवत् का प्रारम्भ किया हो, यह बात भी असाधारण मालूम पड़ती है।

(४) स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने जैन अनुश्रुतियों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि "जैन-गाथाओं और लोकप्रिय कथाओं का विक्रमादित्य गौतमीपुत्र शातकर्णि था। प्रथम शताब्दी ई० पू० में मालवा में मालवगण वर्तमान था, जैसाकि उसके प्राप्त सिक्कों से ज्ञात होता है। शातकर्णि और मालवगण की संयुक्त शक्ति ने शकों को पराजित किया। इसलिये शकों की पराजय में मुख्य भाग लेनेवाले शातकर्णि 'विक्रमादित्य' के विरुद से विक्रम-संवत् का प्रवर्तन हुआ। मालवगण ने भी उसके साथ संधि के विशेष ठहराव (स्थिति, आम्नाय) के अनुसार अपना इस समय संगठन किया

और इसी समय से मालवगण-स्थितिकाल भी प्रारम्भ हुआ (जर्नल ऑफ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १६ वर्ष १९३०)।

उपर्युक्त कथन में मालव-सातवाहन-संघ का बनना तो स्वाभाविक जान पड़ता है (यदि इस समय साम्राज्यवादी सातवाहनों का अस्तित्व होता), किन्तु शातकर्णि विक्रमादित्य (?) के विजय से मालवगण गौरवान्वित हुआ और उसके साथ संधि करके मालव-संवत् का प्रवर्तन किया, यह बात बिलकुल काल्पनिक और असंगत है। इसके साथ ही यह ध्यान देने की बात है कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने न केवल शकों को हराया, किन्तु शक, छहरात, अवन्ति, आकरादि अनेक प्रान्तों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया (नासिक उत्कीर्ण लेख, एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ६०)। अतः उसके दिग्विजय की घटना मालवगण-स्थिति के काफी बाद की जान पड़ती है। साहित्य और उत्कीर्ण लेख, किसी से भी इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि कभी किसी सातवाहन राजा ने 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण की थी। सातवाहन राजाओं का तिथिक्रम अभी तक अनिश्चित है। अपने मतों को सिद्ध करने के लिए विद्वानों ने उसे घपले में डाल रखा है। किन्तु बहुसम्मत सिद्धान्त यह है कि काण्वों के पश्चात् साम्राज्यवादी सातवाहनों का प्रादुर्भाव प्रथम-शताब्दी ई० पू० के अपरार्द्ध में हुआ। इसलिये आन्ध्रवंश का तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि प्रथम शताब्दी ई० पू० में नहीं रखा जा सकता। सातवाहन राजाओं के लेखों में जो तिथियाँ दी हुई हैं वे उनके राज्यवर्षों की हैं। उनमें विक्रम-संवत् या किसी अन्य क्रमबद्ध संवत् का उल्लेख नहीं है। जायसवाल के इस मत के सम्बन्ध में सबसे अधिक निर्णायक गाथासप्तशती का प्रमाण मिलता है। आन्ध्रवंश के सत्रहवें राजा हाल के समय में लिखित गाथासप्तशती विक्रमादित्य के अस्तित्व और यश से परिचित है, अतः इस वंश का तेईसवाँ राजा गौतमीपुत्र शातकर्णि तो किसी भी अवस्था में विक्रमादित्य नहीं हो सकता।

सीधा ऐतिहासिक प्रयत्न—

इस तरह विक्रमादित्य के अनुसन्धान में प्राच्यविद्याविशारदों ने अपनी उर्वर कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। किन्तु इस प्रकार के प्रयत्न से विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता की समस्या हल नहीं होती। यदि परम्परा के समुचित आदर के साथ सीधी ऐतिहासिक खोज की जाय तो संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य का पता सरलता से लग जाता है। वास्तविक विक्रमादित्य के लिए निम्न-लिखित शर्तों का पूरा करना आवश्यक है:—

(१) मालव प्रदेश और उज्जयिनी राजधानी;
(२) शकारि होना;
(३) ५७ ई० पू० में संवत् का प्रवर्तक होना; और
(४) कालिदास का आश्रयदाता।

अनुशीलन—

(१) यह बात अब ऐतिहासिक खोजों से सिद्ध हो गई है कि प्रारम्भ में मालव-प्रदेश में प्रचलित होनेवाला संवत् मालवगण का संवत् था। सिकन्दर के भारतीय आक्रमण के समय मालव जाति पंजाब में रहती थी। मालव-क्षुद्रक-गण-संघ-ने सिकन्दर का विरोध किया था, किन्तु पारस्परिक फूट के कारण मालवगण अकेला लड़कर यूनानियों से हार गया था। इसके पश्चात् मौर्यों के कठोर नियंत्रण से मालव जाति निष्प्रभसी हो गई थी। मौर्य-साम्राज्य के अन्तिम काल में जब पश्चिमोत्तर भारत पर बाख्त्रियों के आक्रमण प्रारम्भ हुए तब उत्तरापथ की मालवादि कई गण जातियाँ वहाँ से पूर्वी राजपूताने होते हुए मध्य-भारत पहुँचीं और वहाँ पर उन्होंने अपने नये उपनिवेश स्थापित किये। समुद्रगुप्त के प्रयाग-प्रशस्ति-लेख से सिद्ध होता है कि चौथी शताब्दी ई० प० के पूर्वार्द्ध में उसके साम्राज्य की दक्षिण-पश्चिम सीमा पर कई गण-राष्ट्र वर्तमान थे, किन्तु इससे भी पहले प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई० पू० में मालव जाति अवन्ति-आकर (मालव-प्रान्त) में पहुँच गई थी, यह बात मुद्राशास्त्र से प्रमाणित है। यहाँ पर एक प्रकार के सिक्के मिले हैं जिन पर ब्राह्मी अक्षरों में 'मालवानां जयः' लिखा है (इण्डियन म्यूजियम कॉइन्स, जिल्द १, पृ० १६२; कनिंगहैम ऑर्केआलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द ६०, पृ० १६५-७४)।

विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता

(२) ई० पू० प्रथम शताब्दी के मध्य में मगध-साम्राज्य का भग्नावशेष काण्वों की क्षीण शक्ति के रूप में पूर्वी भारत में बचा हुआ था। बाख्त्रियों के पश्चात् पश्चिमोत्तर भारत शकों द्वारा आक्रान्त होने लगा। शक जाति ने सिन्ध प्रान्त के रास्ते भारतवर्ष में प्रवेश किया। यहाँ से उसकी एक शाखा सुराष्ट्र होते हुए अवन्ति-आकर की ओर बढ़ने लगी। इस बढ़ाव में शकों का मध्य-भारत के गणराष्ट्रों से संघर्ष होना बिलकुल स्वाभाविक था। बाहरी आक्रमण के समय गण जातियाँ संघ बनाकर लड़ती थीं। इस संघ का नेतृत्व मालवगण ने लिया और शकों को पीछे ढकेलकर सिन्ध-प्रान्त के छोर पर कर दिया। कालकाचार्य की कथा में शकों को निमंत्रण देना, अवन्ति के ऊपर उनका अस्थायी आधिपत्य तथा अन्त में विक्रमादित्य द्वारा उनका निर्वासन आदि सभी घटनाओं का मेल इतिहास की उपर्युक्त धारा से बैठ जाता है।

(३) शकों को पराजित करने के कारण मालवगणमुख्य का शकारि एक विरुद हो गया। यद्यपि इस घटना से शकों का आतंक सदा के लिए दूर नहीं हुआ, तथापि यह एक क्रान्तिकारी घटना थी, और इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़सौ वर्ष तक भारतवर्ष शकों के आधिपत्य से सुरक्षित रहा। इसलिये इस विजय के उपलक्ष में संवत् का प्रवर्तन हुआ और मालवगण के दृढ़ होने से इसका गण-नाम मालवगण-स्थिति या मालवगण-काल पड़ा।

(४) अब यह विचार करना है कि क्या मालवगण-मुख्य कालिदास के आश्रयदाता हो सकते हैं या नहीं? अभिज्ञान शाकुन्तल की कतिपय प्राचीन प्रतियों में नान्दी के अन्त में लिखा मिलता है कि इस नाटक का अभिनय विक्रमादित्य की परिषद् में हुआ था। (**सूत्रधार। आर्ये** इयं हि रसभावविशेषदीक्षागुरोः विक्रमादित्यस्य अभिरूपभूयिष्ठा परिषत्, अस्याञ्च कालिदासग्रथितवस्तुना नवेन अभिज्ञानशाकुन्तलनामधेयेन नाटकेन उपस्थातव्यम् अस्माभिः. तत् प्रतिपात्रम् आधीयतां यत्नः। नान्द्यन्ते। (जीवानन्द विद्यासागर संस्करण, कलकत्ता, १९१४ ई०)। प्रायः अभी तक विक्रमादित्य एक-तांत्रिक राजा ही समझे जाते रहे हैं, किन्तु काशी विश्व-विद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष पं० [illegible] मिश्र के पास सुरक्षित अभिज्ञानशाकुन्तल की एक हस्तलिखित प्रति (प्रतिलेखन काल--अगहन सुदी ५ संवत् १६९९ वि०) ने विक्रमादित्य का गण से सम्बन्ध व्यक्त कर दिया है। इसके निम्नांकित अवतरण ध्यान देने योग्य हैं:--

(अ) आर्ये, रसभावशेषदीक्षागुरोः श्रीविक्रमादित्यस्य साहसांकस्याभिरूपभूयिष्ठेयं परिषत्। अस्याञ्चकालिदासप्रयुक्तेनाभिज्ञानशाकुन्तलनवेन नाटकेनोपस्यातव्यमस्माभिः। (नान्द्यन्ते)

(आ) भवतु तव विडौजाः प्राज्यवृष्टिः प्रजासु, त्वमपि विततयज्ञो वज्रिणं भावयेथाः।
गणशतपरिवर्तैरेवमन्योन्यकृत्यैर्नियतमुभयलोकानुग्रहश्लाघनीयैः॥ (भरतवाक्य)।

उपर्युक्त अवतरणों में मोटे टाइप में छपे पदों से यह स्पष्ट जान पड़ता है कि जिस विक्रमादित्य का यहां निर्देश है उनका व्यक्तिवाचक नाम विक्रमादित्य और उपाधि साहसांक है। भरतवाक्य का 'गण' शब्द राजनैतिक अर्थ में 'गण-राष्ट्र' का द्योतक है। 'शत' संख्या गोल और अतिरंजित है और 'गणशत' का अर्थ कई गणों का गण-संघ है। 'गण' शब्द के अर्थ की संगति अवतरण (अ) के रेखांकित पद से बैठती है। विक्रमादित्य के साथ कोई राजतांत्रिक उपाधि नहीं लगी है। यदि यह अवतरण छन्दोबद्ध होता तो कहा जा सकता था कि छन्द की आवश्यकतावश उपाधियों का प्रयोग नहीं किया गया है, किन्तु गद्य में इसका अभाव कुछ विशेष अर्थ रखता है। निश्चय ही विक्रमादित्य सम्राट् या राजा नहीं थे, अपितु गणमुख्य थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार गणराष्ट्र कई प्रकार के थे -- कुछ वार्ताशस्त्रोपजीवी, कुछ आयुधजीवी और कुछ राजशब्दोपजीवी। ऐसा जान पड़ता है कि मालवगण वार्ताशस्त्रोपजीवी था, इसलिये विक्रमादित्य के साथ राजा या अन्य किसी राजनैतिक उपाधि का व्यवहार नहीं हुआ है।

इन अवतरणों के सहारे यही निष्कर्ष निकलता है कि विक्रमादित्य मालवगण मुख्य थे। उन्होंने शकों को उनके प्रथम बढ़ाव में पराजित करके इस क्रान्तिकारी घटना के उपलक्ष में मालवगणस्थिति नामक संवत् का प्रवर्तन किया, जो आगे चलकर विक्रम-संवत् के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विक्रमादित्य स्वयं काव्यमर्मज्ञ तथा कालिदासादि कवियों और कलाकारों के आश्रयदाता थे।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि मालवगणस्थिति अथवा मालव-संवत् का विक्रम-संवत् नाम किस प्रकार से पड़ा? इसका समाधान यह है कि संवत् का नाम प्रारम्भ में गणपरक होना स्वाभाविक था, क्योंकि लोकतांत्रिक राष्ट्र में गण की प्रधानता होती है, व्यक्ति की नहीं। पाँचवीं शताब्दी ई० पू० के पूर्वार्द्ध में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भारत में अन्तिम बार गणराष्ट्रों का संहार किया था। तब से गण-राष्ट्र भारतीय प्रजा के मानसिक क्षितिज से ओझल होने लगे थे और आठवीं-नवीं शताब्दी ई० पू० तक, जबकि सारे देश में निरंकुश एकतंत्र की स्थापना हो गई थी, गणराष्ट्र की कल्पना भी विलीन हो गई। अतः मालवगण का स्थान उसके प्रमुख व्यक्ति विशेष विक्रमादित्य ने ले लिया और संवत् के साथ उनका नाम जुट गया। साथ ही साथ मालवगण मुख्य विक्रमादित्य राजा विक्रमादित्य हो गये। राजनैतिक कल्पना की दुर्बलता का यह एकाकी उदाहरण नहीं है। आधुनिक ऐतिहासिक खोजों से अनभिज्ञ भारतीय प्रजा में कौन जानता है कि भगवान् श्रीकृष्ण और महात्मा बुद्ध के पिता गण-मुख्य थे। अर्वाचीन साहित्य तक में वे राजा करके ही माने जाते हैं। यह भी हो सकता है कि राजशब्दोपयोगी गणमुख्यों की 'राजा' उपाधि, राजनैतिक भ्रम के युग में विक्रमादित्य को राजा बनाने में सहायक हुई हो।

प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करने के साथ यह भी आवश्यक जान पड़ता है कि उन स्थापनाओं का संक्षेप में विवेचन किया जाय, जिनके आधार पर कालिदास के साथ विक्रमादित्य को भी गुप्तकाल में घसीटा जाता है और 'विक्रमादित्य' उपाधिधारी गुप्त सम्राटों में से किसी एक से अभिन्न सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। वे स्थापनाएँ निम्नलिखित विवेचनों पर अवलम्बित हैं:—

(१) कुछ ऐतिहासिकों की धारणा है कि तथाकथित बौद्धकाल में वैदिक (हिन्दू) धर्म, संस्कृत और साहित्य-संकटापन्न हो गये थे। अतः ईसा के एक-दो शताब्दी आगे पीछे संस्कृत-काव्य का विकास नहीं हो सकता था। गुप्तों के आगमन के बाद हिन्दू-धर्म के पुनरुत्थान के साथ संस्कृत-साहित्य का भी पुनरुत्थान हुआ। तभी संस्कृत-साहित्य में कालिदास जैसे कुशल तथा परिष्कृत काव्यकार का होना संभव था। 'पुनरुत्थान' मत के मुख्य प्रवर्तक मैक्समूलर थे। पीछे की ऐतिहासिक खोजों से यह मत असिद्ध हो गया है (विस्तृत विवेचन के लिए देखिए डॉ० जी० ब्यूलर, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, वर्ष १९१३)। 'बौद्ध-काल' में न तो वैदिक धर्म लुप्त हुआ था और न संस्कृत-साहित्य ही। गुप्तकाल के पहले ईसा की दूसरी शताब्दी में सुराष्ट्र के महाक्षत्रप रुद्रदामन् के गिरनार अभिलेख में गद्यकाव्य का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण मिलता है (..... पर्जन्येनैकार्णवभूतायामिव पृथिव्यां कृतायां.........युगनिधनसदृशपरमघोरवेगेन वायुना प्रमथितसलिलविक्षिप्तजर्जरीकृताव......) एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृ० ४७)। राजकीय व्यवहार का यह गद्यकाव्य अवश्य ही उस युग में वर्तमान पद्यकाव्य के अनुकरण पर लिखा गया होगा। ई० पू० शुंगकाल में रचित पातञ्जल महाभाष्य में उद्धृत उदाहरणों में काव्यों की शैली और छन्द पाये जाते हैं (कीलहार्न: महाभाष्य का संस्करण)। इसके अतिरिक्त रामायण तथा महाभारत जैसे महाकाव्यों के अधिकांश भाग ई० पू० के लिखे गये हैं। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियाँ ईसा की पार्श्ववर्ती शताब्दियों में लिखी गई हैं। काव्य की उपर्युक्त धारा के प्रकाश में प्रथम शताब्दी ई० पू० में कालिदास के नाटकों और काव्यों की रचना बिलकुल असंभव नहीं जान पड़ती।

(२) कालिदास के काव्यों और बौद्ध पण्डित अश्वघोष के बुद्धचरित नामक काव्य में अत्यधिक साम्य है। कथानक की सृष्टि और विकास, वर्णन-शैली, अलंकारों का प्रयोग, छन्दों का चुनाव, शब्दविन्यासादि में दोनों कलाकारों में से एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित है। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है:—

रघुवंश	बुद्धचरित
ततस्तदालोकन तत्पराणां	**ततः कुमारः खलु गच्छतीति**
सौधेषु चार्माकरजालवत्सु।	**श्रुत्वा स्त्रियः प्रेष्यजनात्प्रवृत्तिम् ॥**
वभूवुरित्थं पुर सुन्दरीणां	**दिदृक्षया हर्म्यतलानि जग्मुः**
त्यक्तान्यकार्याणि विचेष्टितानि ॥ ७-५ ॥	**जनेन मान्येन कृताभ्यनुज्ञाः ॥ ३-१३ ॥**

यह तो प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं कि कालिदास की रचना दोनों में से श्रेष्ठ है, किन्तु उनमें से कतिपय यह भी मान लेते हैं कि संस्कृत काव्य के विकास में अश्वघोष पहले हुए। कालिदास ने उनका अनुकरण कर अपनी शैली का विकास और परिमार्जन किया। अश्वघोष कुषण सम्राट् कनिष्क के समकालीन थे, जिनका समय प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी ई० प० है। इसलिये कालिदास का काल तीसरी शताब्दी के पश्चात् संभवतः गुप्तकाल में होना चाहिए (इ० बी० कावेल: अश्वघोष का बुद्धिचरित, भूमिका)। विचार करने पर यह युक्ति-परम्परा बिलकुल असंगत मालूम पड़ती है। यह बात विदित है कि प्रारम्भिक बौद्ध-साहित्य पालि प्राकृत में लिखा गया था। पीछे संस्कृत-साहित्य के प्रभाव और उपयोगिता को स्वीकार कर बौद्ध लेखकों ने संस्कृत को अपने साहित्य और दर्शन का माध्यम बनाया। इसलिए संस्कृत की काव्यशैली के प्रचलित और परिष्कृत हो जाने पर उन्होंने उसका अनुकरण किया। अतः स्पष्ट है कि अश्वघोष ने कालिदास की शैली का अनुकरण किया। यदि उनकी कला अपेक्षाकृत हीन है, तो यह अनुकरण का दोष है। प्रायः अनुकरण करनेवाले अपने आदर्श की समता नहीं कर पाते।

(३) कालिदास को पाँचवीं या छठवीं शताब्दी ई० पू० में खींच लाने में एक प्रमाण यह भी दिया जाता है कि उनके ग्रन्थों में यवन, शक, पह्लव, हूणादि जातियों के नाम आते हैं। हूणों ने ५०० ई० प० में भारतवर्ष पर आक्रमण शुरू किए। अतः इनका उल्लेख करनेवाले कालिदास का समय इनके पश्चात् होना चाहिए (लिटरेरी रिमेन्स ऑफ डॉ० भाउदाजी, पृ० ४९), परन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि रघुवंश में हूणों अथवा अन्य जातियों का वर्णन विदेशी विजेता के रूप में नहीं आता। रघु ने अपने दिग्विजय में उनको भारत की सीमा के बाहर पराजित किया था। अतः कालिदास के समय में हूणों को भारत की पश्चिमोत्तर सीमा के पास कहीं होना चाहिए। चीन तथा मध्य एशिया के इतिहास से प्रमाणित हो गया है कि ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में हूण पामीर के पूर्वोत्तर में आ चुके थे (गुल्ट्ज लॉक: चीन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २२०)।

(४) ज्योतिष के बहुत से संकेत कालिदास के ग्रन्थों में आये हैं। कई एक विद्वानों का यह मत है कि कुषण काल के बाद भारतीयों ने ज्योतिष के बहुत से सिद्धान्त यूनान और रोम से सीखे थे। इसलिए कालिदास का समय उनके काफी पीछे होना चाहिए। किन्तु इस बात के माननेवाले इस सत्य को भूल जाते हैं कि स्वयं यूनानियों ने कई शताब्दी ई० पू० में बैबिलोनिया के लोगों से ज्योतिष-शास्त्र सीखा था (मैक्समूलरः इण्डिया, व्हाट कैन इट टीच अस ? पृ० ३६१)। भारतवर्ष चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में पारसीक सम्पर्क में अच्छी तरह आ गया था। अतः वह बैबिलोनिया और काल्डिया का ज्योतिष सीधे आसानी से सीख सकता था (प्रो० एस० बी० दीक्षितः भारतीय ज्योतिष का प्राचीन इतिहास, पृ० १५७)। ई० पू० में रचित रामायण में ज्योतिष के सिद्धान्तों का काफी प्रयोग किया गया है (१-१८-९-१५; २-१५-३ आदि)।

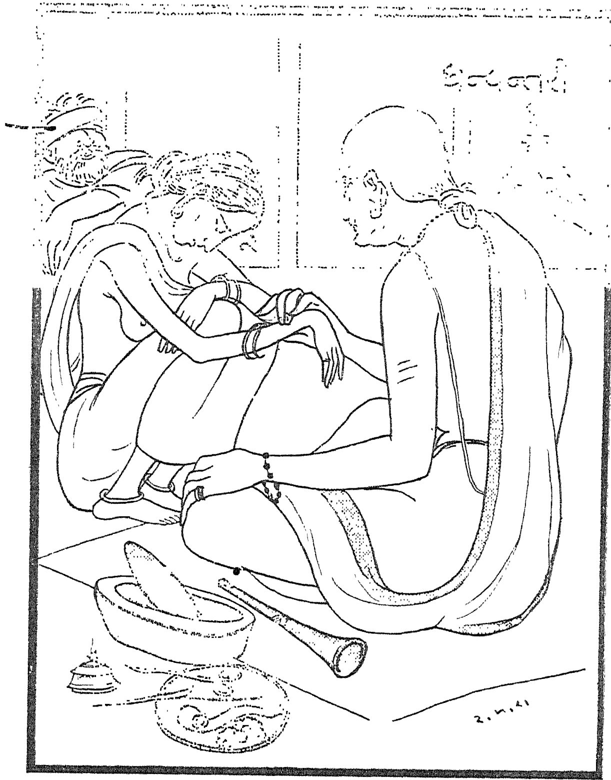
(५) वराहमिहिर की तथाकथित समकालीनता से भी कालिदास का समय पाँचवीं शताब्दी ई० पू० में निश्चित किया जाता है। ज्योतिर्विदाभरण में निम्नलिखित उल्लेख है:—

धन्वंतरिःक्षपणकोमरसिहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः ।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानिवै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥

इस अवतरण के सम्बन्ध में प्रथमतः यह कहना है कि इस अनुश्रुति का जिस ग्रन्थ में उल्लेख है वह कालिदास की रचना नहीं है। दूसरे, एक दो को छोड़कर यहाँ जितने रत्न एकत्रित किये गये हैं वे समकालीन नहीं। तीसरे, यह अनुश्रुति पीछे की और बिलकुल अकेली है, अन्यत्र कहीं भी इसकी चर्चा नहीं। अतः वराहमिहिर की कालिदास से समकालीनता कल्पनाजन्य मालूम होती है, जिस प्रकार से कि कालिदास और भवभूति के एक सभा में एकत्र होने की किम्वदन्ती।

इस प्रकार कालिदास को गुप्तकालीन और इस कारण से विक्रमादित्य को गुप्त-सम्राट् सिद्ध करने की उक्तियां तर्कसिद्ध नहीं मालूम पड़ती हैं। विक्रमादित्य के गुप्त-सम्राट् होने के विरुद्ध निम्नलिखित कठोर आपत्तियाँ हैं:—

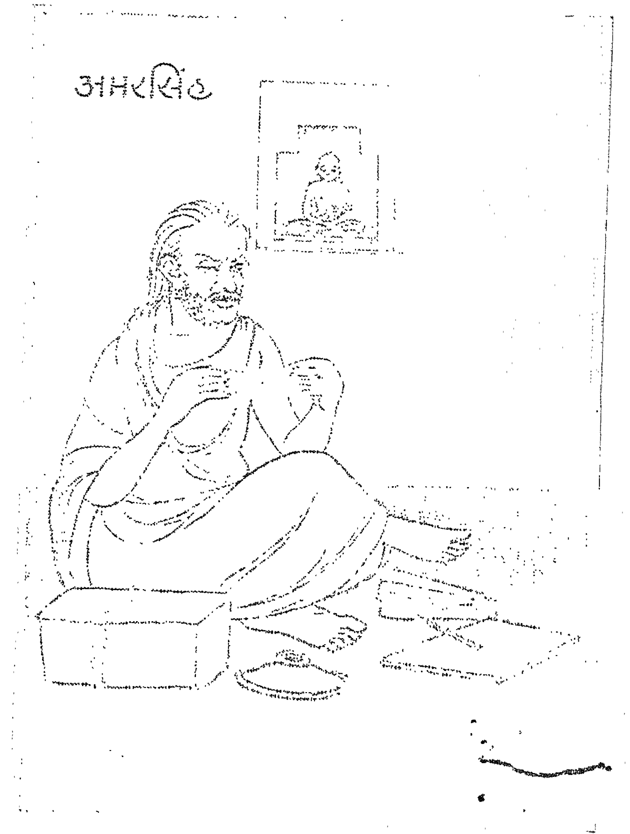
(१) गुप्त-सम्राटों का अपना वंशगत संवत् है। उनके किसी भी उत्कीर्ण लेख में मालव अथवा विक्रम-संवत् का उल्लेख नहीं है। जब उन्होंने ही विक्रम-संवत् का प्रयोग नहीं किया तो पीछे से उनके गौरवास्त के बाद, जनता ने उनका सम्बन्ध विक्रम-संवत् से जोड़ दिया, यह बात समझ में नहीं आती।

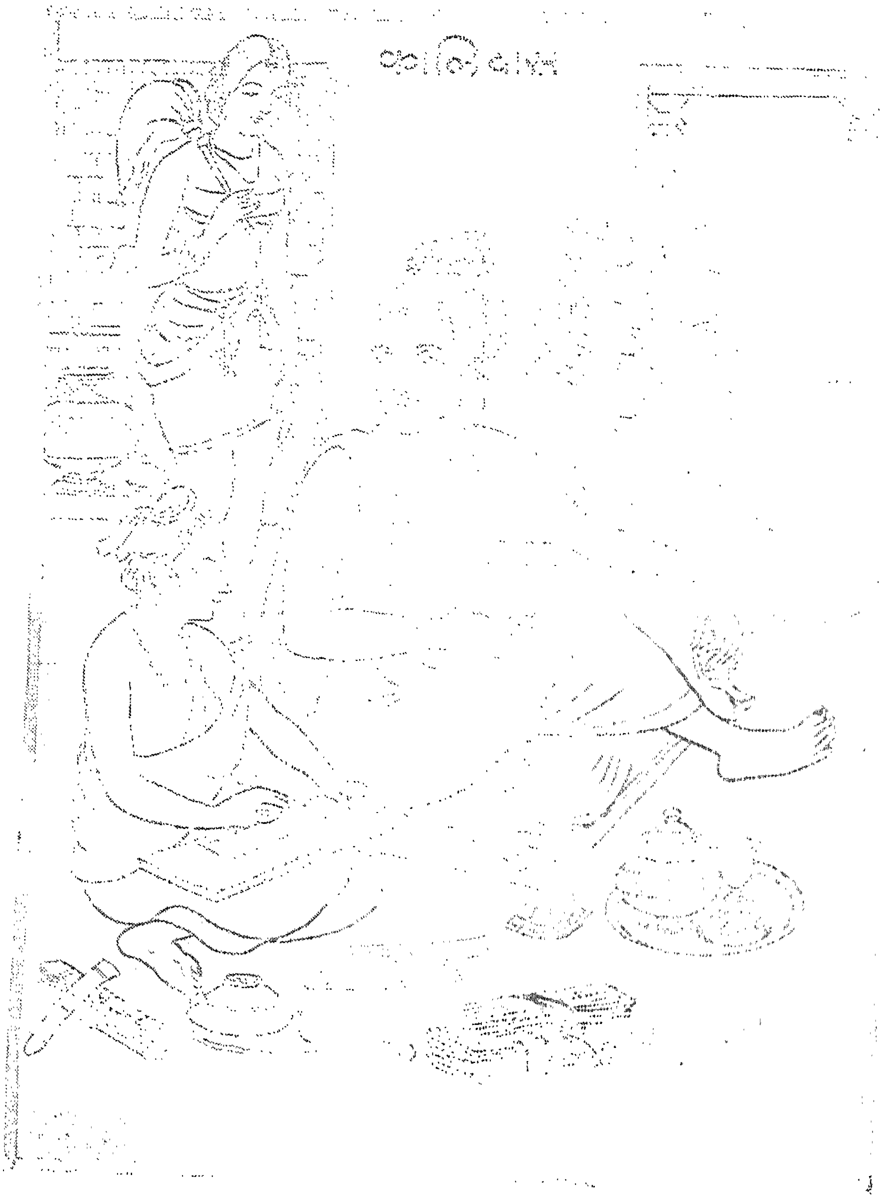




(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)







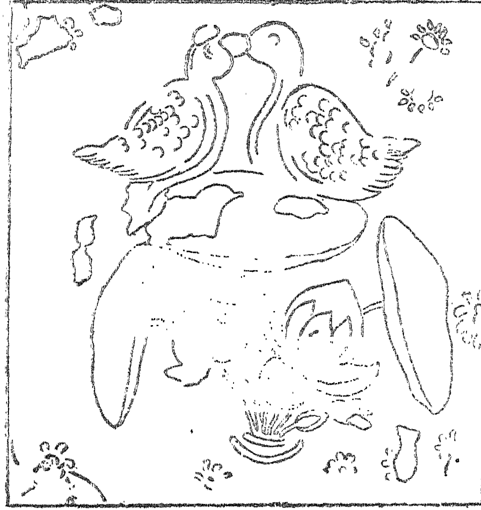
(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल)

(२) गुप्त-सम्राट् पाटलिपुत्रनाथ थे, किन्तु अनुश्रुतियों के विक्रमादित्य उज्जयिनीनाथ थे। यद्यपि उज्जयिनी गुप्तों की प्रान्तीय राजधानी थी, किन्तु वे प्रधानत: पाटलिपुत्राधीश्वर और मगधाधिप थे। मुगल-सम्राट् दिल्ली के अतिरिक्त आगरा, लाहौर और श्रीनगर में भी रहा करते थे। फिर भी वे दिल्लीश्वर ही कहलाते थे। इसके अतिरिक्त सोमदेवभट्ट ने अपने कथासरित्सागर में स्पष्टत: दो विक्रमादित्यों का उल्लेख किया है—एक उज्जयिनी के विक्रम तथा दूसरे पाटिलपुत्र के। उनके मन में इस सम्बन्ध में कोई भी भ्रम नहीं था।

(३) उज्जयिनी के विक्रम का नाम विक्रमादित्य था, उपनाम नहीं। कथासरित्सागर में लिखा है कि उसके पिता ने जन्मदिन को ही उनका नाम शिवजी के आदेशानुसार विक्रमादित्य रखा; अभिषेक के समय यह नाम अथवा विरुद के रूप में पीछे नहीं रक्खा गया। इसके विरुद्ध किसी गुप्त-सम्राट् का नाम विक्रमादित्य नहीं था। द्वितीय चन्द्रगुप्त तथा स्कन्दगुप्त के विरुद क्रमश: विक्रमादित्य और क्रमादित्य (कहीं-कहीं विक्रमादित्य) थे। समुद्रगुप्त ने तो कभी यह उपाधि धारण ही नहीं की *। कुमारगुप्त की उपाधि महेन्द्रादित्य थी, नाम नहीं। उपाधि प्रचलित होने के लिए यह आवश्यक है कि उस नाम का कोई लोकप्रिय तथा लोकप्रसिद्ध व्यक्ति हुआ हो, जिसके अनुकरण पर पीछे के महत्वाकांक्षी लोग उस नाम की उपाधि धारण करें। रोम में 'सीजर' उपाधिधारी राजाओं के पहले सीजर नामक सम्राट् हुआ था। इसी प्रकार विक्रम-उपाधिधारी गुप्त नरेशों से पूर्व विक्रमादित्य नामधारी शासक अवश्य ही हुआ होगा, और यह महापराक्रमी मालवगण-मुख्य विक्रमादित्य साहसांक ही था।

---

* इन्दौर राज्यान्तर्गत बमनाला ग्राम में प्राप्त 'पराक्रमः' एवं 'श्री विक्रमः' उपाधि अंकित समुद्रगुप्त की मुद्राओं का अभी समुचित प्रचार न होने के कारण विद्वान् लेखक ने यह मत प्रकट किया है।—सं०



* विक्रमादित्य *

श्री उदयशंकर भट्ट

कुंकुम भाल तिलक रवि देकर जो आया वरदान विश्व का,
चल नक्षत्रों की जग-मग में जग-मग करता ज्ञान विश्व का,
जिसने नव-जीवन के द्वारा किया दीर्घ कल्याण विश्व का,
उसको सतत प्रणाम हमारा, ज्योतिष्मान विधान विश्व का !

जिसने काल-भाल पर अपनी स्मृति का अंकित विन्दु किया,
जिसने यशोधार से लघुतर निर्झरिणी को सिन्धु किया,
जिसने उठते हुए हिमालय से अपने यश को देखा,
है अक्षुण्ण आज जिस विक्रम की यह संवत्सर-रेखा।

जो विक्रम सूर्योदय के सँग शक-याना का कोप पिए,
गूँज उठा सब भूत, भविष्यत्, वर्तमान जय-घोष लिए,
जो भारत के प्राण-प्राण में, रोम-रोम बन विजय बहा,
अतल, वितल, पाताल, धरा ने जिसका जय-सन्देश कहा।

एक लहर से अपर लहर ने जिसके विजय-गीत गाए,
सात समुद्रों पर जिसके स्वर गूँज उठे छाए-छाए,
एक वृक्ष से अपर वृक्ष पर जिसका यश झुक झूम उठा,
अंतरीप से काश्मीर तक मलय-पवन भी चूम उठा।

वह भारत का एकछत्र विक्रमादित्य सम्राट् अमर,
वह भारत का एकछत्र साहित्य-हिमालय-तुंग-शिखर,
वह भारत का एकछत्र मन्दार-सरस अभिमत-दाता,
वह भारत का एकछत्र शृंगार-भारती-निर्माता !

महामहिम विक्रमादित्य को कवि का शत-शत बार प्रणाम।
शक-विजयी युग-निर्माता को इस युग का शत बार प्रणाम।



विक्रमादित्य और विक्रम-संवत्

महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

भारतवर्ष में विक्रमादित्य एक बड़ा प्रतापी राजा माना जाता है। इसके विषय में कहा जाता है कि यह मालवे का प्रतापी राजा था और शक (सीदियन) लोगों को हराने के कारण 'शकारि' के नाम से प्रसिद्ध हो गया था।

अपनी इसी विजय की यादगार में इसने 'विक्रम-संवत्' के नाम से अपना संवत् प्रचलित किया था, जो आज तक बराबर चला आता है। यह राजा स्वयं विद्वान् और कवि था तथा इसकी सभा में अनेक प्रसिद्ध विद्वान् और कवि रहा करते थे। इसकी राजधानी उज्जैन नगरी थी। परन्तु डाक्टर कीलहार्न की कल्पना के अनुयायी पाश्चात्य विद्वान् इस बात को स्वीकार करने में संकोच करते हैं। उनका कहना है कि विक्रमादित्य नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ है और न उसका चलाया कोई संवत् ही है। आजकल जो संवत् विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है वह पहले 'मालव-संवत्' के नाम से प्रचलित था और पहले-पहल विक्रम का नाम इस संवत् के साथ धौलपुर से मिले चौहान चण्डमहासेन के वि० सं० ८९८ (ई० स० ८४१) के लेख में जुड़ा* मिला है। उसमें लिखा है:—

'वसुनवअष्टौ वर्षागतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य'।

इससे पूर्व के जितने लेख और ताम्रपत्र इस संवत् के मिले हैं उनमें इसका नाम 'विक्रम-संवत्' के बजाय 'मालव-संवत्' लिखा मिलता है। जैसे:—

'श्रीर्मालवगणाम्नाते प्रशस्तेकृतसंज्ञिते
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये †।'

---

* इण्डियन ऐण्टिक्वेरी, भाग १९, पृ० ३५।

† एपिग्राफिया इण्डिका, भाग १२, पृ० ३२०।

२—वही लेखक अपने भावसंग्रह (माणिकचन्द्र ग्रंथमाला, नं. २० बम्बई संवत् १९७८) में श्वेतपट संघ के जन्म का उल्लेख इस प्रकार करता है :—

(१) छत्तीसे वरिस-सए विक्कम-रायस्स मरण-पत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवड़-संघो हुवलहीए ॥१३७॥

इसी छन्द का वामदेव (जो विक्रम-संवत् की १५वीं अथवा १६वीं शताब्दी के लगभग थे) ने अपने संस्कृत भावसंग्रह में आधार लेकर निम्नलिखित श्लोक लिखा है :—

सषट्त्रिंशे शतेऽब्दानां मृते विक्रमराजनि । सौराष्ट्रे वलभीपुर्यामभूत्तत्कथ्यते मया ॥१८८॥

३—अमितगति अपने सुभाषितरत्न सन्दोह (निर्णय-सागर-संस्करण) की निर्माणि-तिथि इस प्रकार देता है :—

समारूढे पूतत्रिदिशवसतिं ('वसतिविक्रम') विक्रम नृपे।
सहस्रे वर्षाणां प्रभवति हि पञ्चाशदधिके ।
समाप्तं (समाप्ते) पञ्चम्यामवति धरणीं मुञ्जनृपतौ ।
सिते पक्षे पौषे बुधहितमिदं शास्त्रमनघम् ॥९२२॥

अपनी धर्मपरीक्षा में वह केवल इस प्रकार उल्लेख करता है :—

संवत्सराणां विगले सहस्रे ससप्ततौ विक्रमपार्थिवस्य ।

४—रत्ननन्दी अपने भद्रबाहु-चरित में इस प्रकार लिखता है :—

मृते विक्रमभूपाले सप्तविंशतिसंयुते ।
दशपञ्चशतेऽब्दानामतीते श्रृणुतापरम् ॥१५७॥

देवसेन धारा में रहता था और अमितगति मुंज का समकालीन था। उपर्युक्त कथनों से निःसन्देह रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये ग्रंथकार किसी गणना-विशेष का सहारा नहीं ले रहे थे, वरन् वास्तविक रूप से उनका विश्वास था कि विक्रम-संवत् उसी तिथि से प्रारम्भ हुआ जिस दिन अमितगति के शब्दों में विक्रम 'देवों के पूत निवास' को प्रस्थान कर गये।



विक्रम-संवत् और उसके संस्थापक

श्री जगनलाल गुप्त

आज संसार का पंचमांश विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक जिस महापुरुष की द्विसहस्राब्दी का उत्सव मना रहा है, उसी के अस्तित्व को योरोप के विद्वानों ने (और स्कूल-कालेजों में पठन-पाठन के लिए इतिहास-पुस्तक लिखनेवाले भारतीयों ने भी) शंकास्पद बना दिया है, यह केवल काल की विडम्बना है। विक्रम-संवत् का प्रचार भारतवर्ष के वणिक् समाज के द्वारा संसार के कोने-कोने में पाया जाता है, इसके लिए भारत का राष्ट्र सदैव उसका ऋणी रहेगा, क्योंकि विक्रम-संवत् की रक्षा करके उस अंग्रेजी से अनभिज्ञ, अर्द्ध-शिक्षित और गँवार समझे जानेवाले इस भारतीय वणिक् ने उन ग्रेज्युएटों से बढ़कर देश और राष्ट्र की सेवा की है जो सम्राट् विक्रमादित्य के अस्तित्व को शंकास्पद ही नहीं बना रहे, प्रत्युत उसके अस्तित्व को मिटा रहे हैं। चीन, अरब, अफ्रीका, योरोप, जापान या अमेरिका, सब जगह भारतवर्ष के व्यापारी और ज्योतिषी सदैव विक्रम-संवत् का उपयोग करके अपना काम चलाते हैं, और भारतवर्ष भर में तो प्रत्येक हिन्दू ही इसका उपयोग करता है। अतः हमें कहना पड़ता है कि यदि इस संवत् का इतना अधिक प्रचार न होता तो कदाचित् इस संवत् के अस्तित्व को भी विवाद का विषय इन महानुभावों की कृपा से बनना पड़ता। तो भी यह प्रश्न तो उठाया ही जा रहा है कि इस संवत् का प्रचार अधिक पुराने समय से नहीं रहा है, एवं इसका सम्बन्ध विक्रमादित्य से नहीं है क्योंकि प्राचीन उल्लेखों में इसके साथ विक्रम का नाम उल्लिखित नहीं पाया जाता। दूसरी शंका यह है कि विक्रमादित्य नामक कोई सम्राट् उज्जयिनी में आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व ऐसा नहीं हुआ जिसके द्वारा इस प्रचलित विक्रम-संवत् की स्थापना की गई हो।

प्रथम हम विक्रम-संवत् के प्राचीनत्व पर विचार करेंगे। आईने-अकबरी के लेखक ने तो इस संवत् का उल्लेख किया ही है, किन्तु उससे भी पहिले अबूरेहाँ ने इसका उल्लेख अपने यात्रा-विवरण में स्पष्टरूप से किया है और इन दोनों विद्वानों ने विक्रमादित्य तथा उसकी विजय के साथ इसका सम्बन्ध बताया है। किन्तु इससे भी पूर्व अनेक शिलालेखों में इस संवत् का प्रयोग किया गया है। विक्रमादित्य के नाम से इस संवत् का पुराना उल्लेख श्रीएकलिंगजी के शिलालेख में संवत् १०२८ (सन् ईसवी ९७१) का प्राप्त होता है (जर्नल ऑफ बॉम्बे रॉयल एशियाटिक सोसायटी ब्रांच, भाग २२,

पृष्ठ १६६), किन्तु इससे भी पूर्व धौलपुर के शिलालेख में विक्रम-काल के नाम से संवत् ८९८ (सन् ८४१) में इसका उल्लेख किया गया है—

वसुनवाष्टौ वर्षा गतस्य कालस्य विक्रमाख्यस्य।
वैशाखस्य सितायां रविवारयुतद्वितीयायां॥

(*Indian Antiquary*, Vol 20, p. 406).

इससे पहले इस संवत् को 'मालवकाल' ग्यारसपुर के एक शिलालेख में कहा गया है—

मालवकालाच्छरदां षट्त्रिंशतसंयुतेष्वतीतेषु नवसु शतेषु।

यह संवत् ९३६ (सन् ८७९ ई०) का उल्लेख है। 'मालवेश' के नाम से भी कहीं-कहीं इसे लिखा गया है, और इस मालवेश पद का अर्थ केवल विक्रमादित्य ही हो सकता है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यह उल्लेख मैनालगढ़ के शिलालेख में संवत् १२२६ (सन् ११७० ई०) का है—

मालवेश गतवत्सरैः शतैः द्वादशैश्च षड्विंशपूर्वकैः॥

किन्तु इससे भी पूर्व इस संवत् का व्यवहार शिलालेखों में किया गया है और वहाँ इसका नाम 'मालवगण-संवत्' है। इस प्रकार के एक उल्लेख में मालवगणों को मालवेश भी (बहुवचन) कहा है—

पञ्चसु शतेषु शरदां यातेष्वेकानवतिसहितेषु
मालवगणस्थितिवशात् कालज्ञानाय लिखितेषु।
संवत्सरशतैर्यातैः सपञ्चनवत्यर्गलैःसप्तभिर्मालवानाम्॥

यह संवत् ७९५ (सन् ७३९ ई०) का उल्लेख है। इससे भी पहले के उल्लेख ये हैं—

मालवानांगणस्थित्या यातेशतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानमृतौ सेव्यघनस्तने॥

संवत् ४९३ (सन् ४३६ ई०)।

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये॥

यह संवत् ४६१=सन् ४०४ ई० का उल्लेख है। इसमें मालवगणों के साथ इसे कृत-संवत् भी कहा है। इससे अपेक्षाकृत पुराने लेखों में इसका नाम केवल 'कृत' ही मिलता है—

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेष्वष्टाविंशेषु फाल्गुणबहुलस्य पंचदश्यामेतस्यां पूर्वायां।

यह संवत् ४२८=३७२ ईसवी का उल्लेख है;

यातेषु चतुर्ष कृतेषु सौम्येष्वसित चोत्तर पदेषु ३३ वत्सरेषु।
शुक्ले त्रयोदश दिने भुवि कार्तिकस्य मासस्य सर्वजनचित्तसुखावहस्य॥

इसमें संवत् ४००=सन् ई० ३४३ का उल्लेख भी 'कृत' नाम से ही किया गया है। इससे भी पूर्व—

कृतयोर्द्वयोर्वर्षशतयोर्द्वंचशीतयोः।

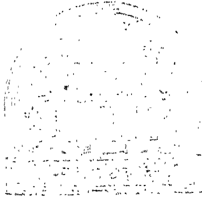
संवत् २८२=सन् २२५ के नान्दसा-स्तंभ-लेख में शक्तिगुणगुरु के षष्ठिरात्रि यज्ञ का उल्लेख प्राप्त होता है और यहाँ भी इस संवत् का नाम 'कृत' ही दिया है।

ये सभी उद्धरण फ्लीट के 'गुप्त-इन्सक्रिपशन्स' नाम ग्रंथ से भिन्न-भिन्न विद्वान् लेखकों ने उद्धृत किये हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि विक्रमादित्य का नाम इस संवत् के साथ नवीं शती में लग चुका था, इससे पूर्व मालवेश कहे

जानवाले मालवगण इस संवत् के प्रवर्तक माने जाते थे। कालान्तर में गण-राज्य पद्धति सम्बन्धी बातें सर्व साधारण की दृष्टि से लोप हो जाने पर "मालवेशानां गणानां" के स्थान में केवल मालवेश या विक्रम ही लिखा जाने लगा। किन्तु 'मालवगण' का जब उल्लेख किया जाता था तो साथ ही यह भी कहा जाता था कि मालव-गणों की स्थिति (कायमी, Establishment of the malava-ganas) से प्रारम्भ होने वाला संवत्। इसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर इसे मालव-काल (मालव-युग, Malava Period) भी कहा गया था। किन्तु इन नामों से भी पुराना नाम कृत-संवत् है। हमारा विचार है कि इसे कृत न पढ़कर 'कृत्त' या 'कृत्य' पढ़ना अधिक उचित है। इस पर आगे लिखा जायगा।

यहाँ यह महत्त्वपूर्ण घटना भी स्मरण रखने योग्य है कि संवत् ३८६ और उसके पश्चात् इस संवत् का व्यवहार नैपाल जैसे एकान्त प्रान्त में भी यथेष्ट होने लगा था जैसा कि डॉ. भगवानलालजी इन्द्र ने नैपाल के शिलालेखों के सम्बन्ध में लिखते समय सिद्ध किया है। (*Indian Antiquary*, Vol XIII, pp. 424-26)

तो भी पाठकों को आश्चर्य होना संभव है कि इन प्राचीन उद्धरणों में जहाँ विक्रम के नाम का उल्लेख नहीं पाया जाता वहाँ विक्रम के शकारि होने एवं शकों की पराजय के सम्बन्ध में इस संवत् के प्रारम्भ होने का संकेत भी कहीं नहीं है। किन्तु चाहे यहाँ शकों का स्पष्ट उल्लेख न भी किया गया हो तो भी मालव-गण-स्थिति शब्दों का ठीक अर्थ यही है कि मालवगणों की सत्ता आरम्भ होने का संवत्। मालवों ने अपनी सत्ता किस प्रकार स्थापित की यह इतिहास से स्पष्ट होने की बात है। इस नाम से पुराना नाम 'कृत' है जिसे हम 'कृत्त' या 'कृत्य' पढ़ना उचित समझते हैं। 'कृत्त' शब्द का अर्थ 'कत्ल', 'बध', या 'शत्रु का नाश' है। राजनीति में शत्रु-बध के लिए कृत्या (स्त्रीलिंग) शब्द प्राचीन ग्रंथों में सर्वत्र व्यवहृत किया गया है, उसी का रूप 'कृत्य' और 'कृत्त' हो सकता है। जो विद्वान् इस पद को कृत्युग या सत्युग के अर्थ में पढ़ते हैं, वे कदाचित् यह भूल जाते हैं कि युगवाचक शब्द 'कृत्' है 'कृत' नहीं, फिर इस भ्रम का एक परिणाम या कुपरिणाम यह होता है कि इस शब्द के आधार पर इसके संस्थापक को, अश्वमेध आदि वैदिक कृत्यों का प्रवर्तक मानकर जैनों और बौद्धों का द्रोही सिद्ध करने के लिए पुष्यमित्र को विक्रमादित्य सिद्ध करना पड़ता है। सत्य बात तो यह है कि भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में साम्प्रदायिक उत्पीड़न अथवा धार्मिक मतभेद या दार्शनिक सिद्धान्तों की विभिन्नता के आधार पर रक्तपात की बात नितान्त अश्रुत थी। भारतवर्ष की संस्कृति इस सम्बन्ध में अत्यन्त उच्च एवं सहिष्णु रही है। यदि यहाँ विचारों की स्वतंत्रता की रक्षा विद्वानों ने न की होती, जो एक प्रकार से उनके लिए वैयक्तिक प्रश्न भी था, तो यहाँ अनेक प्रकार के दर्शनों का प्रादुर्भाव कैसे सम्भव होता? ज्योतिषशास्त्र सम्बन्धी अनेक सिद्धान्त-ग्रंथ कैसे निर्माण हो सकते थे? तंत्रवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद, कर्मवाद, ज्ञानवाद, निराकार-वाद, साकारवाद आदि अगणित वादों की सृष्टि कैसे होती? संक्षेप में भारतवर्ष के विषय में "नैको मुनिर्यस्य मतिर्न भिन्नः" जैसी लोकोक्ति का जन्म कदापि नहीं हो सकता था। साम्प्रदायिक उत्पीड़न की उपस्थिति में बौद्ध और जैन धर्म के आचार्यों और संस्थापकों को पुराणों में अवतार और महापुरुष के रूप में उल्लिखित क्यों किया जाता? महात्मा बुद्ध को पुराणों में विष्णु का अवतार कहा है और भागवत में ऋषभदेव का सविस्तर इतिहास लिखा गया है। फलतः विक्रम-संवत् की स्थापना भी धर्म के नाम पर किये गये रक्तपात पर करने का विचार नितान्त अ-भारतीय, भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विरुद्ध है। पुष्यमित्र की ही बात लीजिए। कुछ बौद्ध लेखों के आधार पर, जो विदेशी बौद्धों ने राजनीतिक हेतुओं से उसी प्रकार प्रेरित होकर लिखे हैं, जैसे आजकल के विदेशी विद्वान् लिखते रहते हैं, पुष्यमित्र के विषय में कहा जाता है कि इसने जैन और बौद्धों का दमन बड़ी निर्दयता से किया था एवं इनके मठों को सम्पूर्ण भारतवर्ष में जलाकर नष्ट कर डाला था। इसने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करके फिर से वैदिक युग ला दिया था, इसीलिये इस कृतयुग या कृत-संवत् की सृष्टि की गई थी। किन्तु तनिक विचारने से ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि पुष्यमित्र के सम्बन्ध में पुराणकारों तथा अन्य भारतीय प्राचीन विद्वानों ने कभी ऐसी धारणा नहीं बनाई। कम से कम उसे धर्म के रक्षक एवं विधर्मियों के नष्ट करनेवाले के रूप में भारत के विद्वत्समाज ने कभी भी उल्लिखित नहीं किया। वह उसे ऐसा जानते, मानते और समझते ही नहीं थे। इसके लिए यहाँ एक प्रमाण देना ही बस होगा। हर्षचरित के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक गद्य के आचार्य बाण से हमारे विज्ञ पाठक परिचित हैं। जिस कट्टर शैव कुल में



विक्रम-संवत् और उसके संस्थापक

इस सारस्वत का जन्म हुआ था वहाँ पुत्रों के नाम तक 'अच्युत' 'ईशान' 'हर' और 'पाशुपत' जैसे सम्प्रदाय-भावपूर्ण रखे जाते थे। 'कृतोपनयनादि-क्रिया-कलाप' बाण के पिता चित्रभानु के एक भाई का नाम त्र्यक्ष था। महाराज हर्ष का निमंत्रण-पत्र पाकर 'कृतसंध्योपासनः' बाण ने उसपर विचार किया था और "भगवान् पुरारराति" में दृढ़ भक्तिपूर्वक विश्वास करके उसने हर्ष के दरबार में जाना निश्चय किया था। 'गृहीताक्षमाल' बाण 'देवदेवस्य विरूपाक्षस्य क्षीरस्नपनपुरःसरां" पूजा करके राजद्वार पर पहुँचा। कहने का अभिप्राय यह है कि बाण साम्प्रदायिक दृष्टि से कट्टरशैव था और उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि वह किसी जैन या बौद्ध धर्म के उत्पीड़क वैदिक सम्राट् के लिए कोई निन्दापूर्ण वाक्य लिखेगा। प्रत्युत् उससे तो यही आशा है कि वह पुष्यमित्र जैसे वैदिकयज्ञ-यागों के पुनः प्रचलित करनेवाले सम्राटों का प्रशंसापूर्वक अभिनन्दन ही करेगा। वही क्या, जैन और बौद्ध विद्वानों को छोड़कर ऐसे सम्राटों की प्रशंसा तो प्रत्येक विद्वान् के द्वारा साधारणतः होनी चाहिए। किन्तु हम देखते हैं कि बाण ने ही पुष्यमित्र को अनार्य तक लिखा है और वह उसी कार्य के लिए जो उसने वैदिक धर्म के उद्धार के लिए किया था—उसने जैन या बौद्ध मौर्य महाराज बृहद्रथ को मारकर मगध का सिंहासन स्वयं हस्तगत करके ही तो, योरोपियन विद्वानों के कथनानुसार, बौद्ध-धर्म का नाश एवं वैदिक धर्म का पुनरुत्थान किया था, इसी पर बाण ने लिखा है—

प्रतिज्ञादुर्बलञ्च बलदर्शनव्यपदेशदर्शिताशेषसैन्यः सेनानीरनार्यो मौर्यंबृहद्रथं पिपेश पुष्यमित्रः स्वामिनम।

अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष के ऐतिहासिक विद्वानों की दृष्टि में साम्प्रदायिक उत्पीड़क नरेशों का न कभी सम्मान था और न यह कार्य प्रतिष्ठाजनक समझा जाता था। फलतः सेनापति पुष्यमित्र (जो अग्निमित्र का पिता एवं मौर्यवंश का अन्तक था) भी न तो साम्प्रदायिक अत्याचार करनेवाला सम्राट् था और न उसको इस कार्य के लिए भारतवर्ष में कोई सार्वजनिक सम्मान प्राप्त हो सकता था, फिर नये संवत् की स्थापना का स्वागत तो इस प्रकार के रक्तपात के उपलक्ष में भारतवासी कब स्वीकार कर सकते थे।

'मालवगणस्थित्यब्द' के साथ आरम्भ से ही मालवेश विक्रमादित्य के नाम का सम्बन्ध न होने का एक कारण कदाचित् यह भी है कि मालवा की राज्य-शासन-प्रणाली गण-शासन पद्धति थी जो एक प्रकार की प्रजातंत्र या [illegible] की प्रणाली थी। ऐसी सामूहिक राज्य-प्रणाली में किसी विशेष सार्वजनिक राज-कार्य जैसे जय-पराजय, संधिविग्रह का यश किसी एक व्यक्ति को देने में संघ में फूट पड़ने का भय बना रहता है। महाभारत, शान्तिपर्व के ८१वें अध्याय में इस फूट पड़ने के भय को लेकर, तथा संघ-शासन की कठिनताओं पर बहुत स्पष्ट रूप से भगवान् कृष्ण के द्वारा ही कहलाया गया है। उन्हीं कठिनताओं को विचार कर मालवगण की विजय के उपलक्ष में स्थापित संवत् के यश को संघ ही मूलतः प्राप्त कर सकता था केवल संघपति, फिर चाहे वह विक्रम हो अथवा कोई और हो, नहीं अपना सकता था। यह भी हो सकता है कि संघपति ने स्वयं फूट पड़ने की आशंका से उस यश को संघ के ही अर्पण कर दिया हो और इस प्रकार संघपति विक्रम की उदारता से वह संवत् मालव-गण-संघ के नाम से ही प्रसिद्ध किया गया हो। किन्तु शकों का पराभव एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना थी, इस महान् कृत्य या कृत्या के वीर सेनापति का नाम किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता था, अतः इतिहास ने शकों के इस कृत्य के करनेवाले (जिसे अलंकार की भाषा में युद्ध-यज्ञ का होता कहना उचित होगा) सेनापति विक्रम का नाम विशेष रूप से याद रखा, वह श्रुति और उपश्रुति तथा व्याख्यानादि के द्वारा सर्वसाधारण में क्रमानुगत प्रसिद्ध होता चला गया, और जब गण-शासन सम्बन्धी बातें भूल गईं तो संवत् के इतिहास को स्पष्ट रखने के लिए उसके साथ सेनापति या संघपति का नाम मिला दिया गया।

किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वस्तुतः प्राचीनकाल में कोई विक्रम नामक व्यक्ति संवत् का संस्थापक हुआ भी था? और यदि ऐसा व्यक्ति कोई हुआ था तो कब? इसपर हमारा नम्र निवेदन है कि यदि कोई व्यक्ति हुआ ही नहीं था तो फिर यह नाम आ कहाँ से गया? विक्रम को स्पष्टरूप से 'शकारि' कहा जाता है, जिसका अर्थ यही है कि संवत्कार विक्रम ने शकों का घोर पराभव किया था। मालवगण ने किस व्यक्ति की अधिनायकता में शकों का यह सर्वनाश किया था; अन्ततः कोई व्यक्ति तो उनका मुख्य नायक या सेनापति रहा होगा। बिना सेनापति के युद्ध चलही किस प्रकार सकता था। बस जो भी व्यक्ति शकों के विरुद्ध अभियान करने में मालवगण-राष्ट्र का अधिनायक था, वही विक्रम था।

किन्तु प्राचीन लेखों में भी विक्रम-संवत्कार के नाम का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। बृहत्कथामञ्जरी में इस विक्रम की दिग्विजय का विवरण इस प्रकार दिया गया है—

ततो विजित्य समरे कलिंगनृपतिं विभुः।
राजा श्रीविक्रमादित्यः स्त्रींप्रायः विजयश्रियम्।
अथ श्री विक्रमादित्यो हेलया निर्जिताखिलः।
म्लेच्छान् काम्बोजयवनान् नीचान् हूणान् सबर्बरान्।
तुषारान् पारसीकांश्च त्यक्ताचारान् विश्रृंखलान्।
हत्वाभ्रूभंगमात्रेण भुवो भारमवारयत्।
तं प्राह भगवान् विष्णुस्त्वं ममांशो महीपते।
जातोसि विक्रमादित्य पुरा म्लेच्छशशांकितः।

यहाँ विक्रमादित्य को इसकी शूरवीरता के कारण विष्णु का अंशावतार तक कहा गया है।

बृहत्कथामञ्जरी का मूल आधार गुणाढय का पैशाची भाषा का ग्रंथ बृहत्कथा रहा था। गुणाढय प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन के आश्रित और समकालीन थे—

ततः स मर्त्यवपुषा माल्यवान् विचरन् वने।
नाम्ना गुणाढचः सेवित्वा सातवाहनभूपतिम्॥ कथासरित्सागर।

इसका अर्थ यह है कि गुणाढच विक्रम-संवत् के थोड़े समय पश्चात् ही हुए थे, इसीलिए कथासरित्सागर के सम्पादक विद्वद्वर श्री दुर्गाप्रसाद शास्त्री ने इस विद्वान् का समय ७८ ई० के आसपास स्वीकार किया है। इसी गुणाढच के पैशाची भाषा के मूलग्रंथ बृहत्कथा को लेकर संस्कृत में दो ग्रंथ लिखे गये थे—(१) बृहत्कथामञ्जरी, और (२) कथासरित्सागर। कथासरित्सागर से ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य के अनुकरण पर आंध्र सम्राट् कुन्तल सातकर्णि ने भी दिग्विजय की एवं उसी के अनुकरण पर अपना विरुद विक्रम रखकर शालिवाहन का प्रसिद्ध शक-संवत् चलाया था। अपने नाम की पृथक्ता प्रकट करने के लिए उसने अपने विरुद के साथ विषमशील (क्रोधी या असहिष्णु) और जोड़ा था। यह शालिवाहन १६वें आंध्र नरेश महेन्द्र-मृगेन्द्र सातकर्णि का पुत्र था जिसे भागवत में शिवस्वस्ति एवं ब्रह्माण्ड पुराण में मृगेन्द्र स्वातिकर्ण लिखा है। पार्जीटर की सूची में इसे १२वीं संख्या पर उल्लिखित किया है और यूनानियों द्वारा इसका नाम माम्बरस सरगनस (Mambaras Saraganas Senior) लिखा गया है। कुन्तल सातकर्णि भागवत का गौतमीपुत्र पार्जीटर की सूची में १३वाँ आंध्र नरेश है, किन्तु पुराणों की सूची में इसका क्रम १७वाँ है और यूनानियों नें इसे युवक सरगनस (Junior Saraganas) लिखा है। शालिवाहन शकाब्द का संस्थापक यही कुन्तल सातकर्णि है जिसके विषय में कथासरित्सागर में लिखा है:—

नाम्ना तं विक्रमादित्यं हरोक्तेनाकरोत्पिता।
तथा विषमशीलं च महेन्द्रादित्यभूपतिः॥

इसके पिता ने शिव के कहने से इस पुत्र का नाम विक्रम भी रखा था। इसने—

सापरान्तच्छदेवेन निर्जितो दक्षिणापथः।
मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सबंगांगा च पूर्वदिक्।
सकश्मीरा च कौवेरी काष्ठा च करदीकृता।
तानि तान्यपि च दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च।
म्लेच्छसंघाश्च निहिताः शेषाश्च स्थापितावशे।
ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः।



विक्रम-संवत् और उसके संस्थापक

दिग्विजय के पश्चात् राजधानी को लौटने पर सम्राट् कुन्तल सातकर्णि विषमशील विक्रमादित्य का जिस प्रकार स्वागत किया गया था, उसका भी कुछ वर्णन देखिए—

जय विजितसकलपार्थिव विनत शिरोधारि तात गुर्वाज्ञ।
जय विषमशील विक्रमवारिनिधे विक्रमादित्य।
जय जय तेजःसाधितभूतगणम्लेच्छविपिनदावाग्ने।
जय देव सप्तसागरसीव्यमहीमानिनीनाथ।

इस शालिवाहन शकाब्द के संस्थापक के विषय में यह ऐतिहासिक तत्त्व सदैव स्मरण रखने योग्य है कि इस महान् विजेता ने भी विक्रम-संवत् के संस्थापक की नाईं शकों का पराभव किया था और उसी की स्मृति में यह शकाब्द भी विक्रमाब्द से १३५ वर्ष पश्चात् चलाया गया था। इसके शकों से युद्ध करने का वृत्तान्त जैन ग्रंथों से जिस प्रकार ज्ञात होता है उसे यहां विस्तार में न देकर उस सम्बन्ध के मूलवाक्यों को ही उद्धृत किया जाता है—

भरुकच्छपुरेऽत्रासीद् भूपतिर्नरवाहनः।
ससमृद्धात्मकोषस्य श्रीमदप्यवमन्यते ॥१॥
इतः प्रतिष्ठानपुरे पार्थिवः शालिवाहनः।
बलेनापि समृद्धः स रुरोध नरवाहनम् ॥२॥
आनयत्परिशीर्षाणि यस्तस्याऽऽदान्महर्धिकः।
लक्षं विलक्षं तत्तस्य नित्यं घ्नन्ति तद्भटाः ॥३॥
हा तस्यापि भटाः केप्यानिन्युः सोदान्नकिञ्चन।
सोऽथ क्षीणजनो नष्ट्वा पुनरेति समान्तरे ॥४॥
पुनर्नष्ट्वा तथैवेति नाभूद् तद्ग्रहणक्षमः।
अथैके मायया हालं सचिवो निरवास्यत ॥५॥
स परम्परयाज्ञासीद् भरुकच्छनराधिपः।
अपास्तोऽल्पापराधोऽपि निजामात्यस्ततः कृतः ॥६॥
ज्ञात्वा विश्वस्तं सोऽवक्तं राज्यं प्रायेण लभ्यते।
तदन्यस्य भवस्यार्थे पाथेयं कुरु पार्थिव ॥७॥
धर्मस्थानविधानाद्यैर्द्रव्यप्रायाय तत्ततः।
आगान्मन्त्रिगिरा हालः पार्थिवोऽथाह मन्त्रिणं ॥८॥
मिलितोऽसि किमस्य त्वं सोऽवदन्नमिलाम्यहम्।
अथान्तःपुरभूषादि द्रविणैस्तं तदाक्षिपत् ॥९॥
हालेऽथ पुनरायाते निर्द्रव्यत्वान्ननाश सः।
नगरं जगृहे हालो द्रव्यप्रणधिरेषिका ॥१०॥

ये श्लोक जिनमें शक नरेश नरवाहन या नहपान की पराजय का वृत्तान्त दिया है श्वेताम्बर जैन सम्प्रदाय के आवश्यक सूत्र के उत्तरार्द्ध की १३०४वीं गाथा के भाष्य में भद्रबाहु ने निर्युक्ति भाष्य में लिखे हैं जिस पर हरिभद्रसूरि की वृत्ति भी है।

शकों को हराकर विक्रम या विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने की प्रथा ही, जान पड़ता है, भारतवर्ष में पड़ गई थी, इसीसे विक्रमादित्य के शकारि नाम होने का भी विशेष महत्त्व प्रतीत होता है। ऊपर किस प्रकार शालिवाहन ने शकों को परास्त करके विक्रमादित्य की उपाधि ग्रहण की यह प्रमाणित किया गया है। इसके पश्चात् इतिहास में गुप्तवंश के संस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम ने इस उपाधि को ग्रहण किया था ऐसी सम्भावना अनेक ऐतिहासिक विद्वान् करते हैं, किन्तु स्मिथ

इसे विश्वसनीय स्वीकार नहीं करते (*The Early History of India*, p. 347)। चन्द्रगुप्त प्रथम के उपलब्ध सिक्कों से भी उसके विक्रम-पद ग्रहण करने की घटना सिद्ध नहीं होती। उसने शकों पर कोई विजय भी प्राप्त नहीं की थी। उसके पश्चात् समुद्रगुप्त महान् के पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय ने विक्रमादित्य का पद ग्रहण किया था। एक प्रकार के उसके सिक्कों पर लिखा मिलता है "श्रीविक्रमः" और इस लेख के बाईं ओर लक्ष्मी की बैठी मूर्ति है; दूसरी ओर इस सोने के सिक्के के "देवश्री-महाराजाधिराज-श्रीचन्द्रगुप्तः" अंकित है। एक और प्रकार के सिक्कों पर एक ओर "देवश्री-श्रीचन्द्रगुप्तस्य विक्रमादित्यस्य" भी लिखा पाया जाता है। चन्द्रगुप्त के एक प्रकार के सिक्के अग्निकुण्ड के सामने खड़े हुए राजा की मूर्तिवाले हैं, जिनके दूसरी ओर पद्म पर खड़ी लक्ष्मी की मूर्ति है। इस मूर्ति के दाहिनी ओर "विक्रमादित्यः" लिखा है। ऐसे प्रकार के सिक्कों में से कुछ पर तो--

"क्षितिमवजित्यसुचरितैर्दिवं जयति विक्रमादित्यः।"

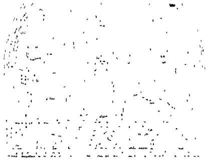
उपगीति छन्द भी लिखा पाया जाता है। इससे भी अधिक सिंह को मारते हुए राजा के भी चन्द्रगुप्त के कुछ सिक्के हैं जिन पर एक ओर सिंह पर बैठी अम्बिका देवी की मूर्ति है, और दूसरी ओर तीरकमान से सिंह को मारते हुए राजा की मूर्ति। राजमूर्ति की ओर वंशस्थ छन्द में राजा को 'भुविसिंह-विक्रम' लिखा है--

"नरेन्द्रचन्द्रप्रथित (गुण) दिवं जयत्यजेयो भुविसिंहविक्रमः।"

और दूसरी ओर "सिंहविक्रमः" ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर राजा की उपाधि "श्रीसिंह-विक्रमः" है, और एक और प्रकार के सिक्कों पर "अजित-विक्रमः"। इस प्रकार की कोई साक्षी चन्द्रगुप्त प्रथम के सम्बन्ध में प्राप्त नहीं होती। इसलिए यही कहना पड़ता है कि प्रथम चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में विक्रमादित्य-पदवी ग्रहण करने की कल्पना ऐतिहासिक आधार से रहित है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में निस्सन्देह कहा जा सकता है कि उसने यह पद धारण किया था। किन्तु उसने शकों को भी पराजित किया था तबही उसने यह पद ग्रहण किया था। स्मिथ ने अपने इतिहास के पृष्ठ ३०७ पर लिखा है--

"The greatest military achievement of Chandrgupta Vikramaditya was his advance to the Arabian Sea through Malwa and Gujrat and his subjugation of the peninsula of Surashtra or Kathiawar, which had been ruled for centuries by the Saka dynasty, of foreign origin, known to European scholars as the Western Sataraps."

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम था और इसके शासनकाल में हूण लोगों के आक्रमण फिर भारत पर होने लगे थे। भारतवर्ष के इतिहास में इनको भी शकों के साथ गिना गया है और कुमारगुप्त ने अवश्य इन्हें मारकर भगाया था, तब ही उसने भी "विक्रम" पद ग्रहण किया था, क्योंकि उसके कुछ सिक्कों पर वंशस्थ छन्द में "कुमार-गुप्तो युधि सिंहविक्रमः" लिखा पाया जाता है। कुछ सिक्कों पर तो "कुमारगुप्तो युधिसिंह विक्रमः" ही लिखा है। एक प्रकार के सिक्कों पर "श्रीमान् व्याघ्रबलपराक्रमः" भी लिखा है। किन्तु इसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने तो इन हूणों को बड़ी करारी पराजय दी थी जिसके कारण बहुत समय तक इन्होंने भारत की ओर मुंह नहीं किया था और इसीलिए स्कन्दगुप्त ने भी विक्रमादित्य की पदवी स्वीकार की थी (स्मिथ का इतिहास पृष्ठ ३२६)। "महाराजाधिराज प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के उपरान्त उनका बड़ा बेटा स्कन्दगुप्त सिंहासन पर बैठा। स्कन्दगुप्त ने युवराज रहने की अवस्था में पुष्यमित्र और हूण लोगों को परास्त करके, अपने पिता के राज्य की रक्षा की थी। कहा जाता है कि युवराज भट्टारक स्कन्दगुप्त ने अपने पितृकुल की विचलित राजलक्ष्मी को स्थिर रखने के लिए तीन रातें भूमि पर सोकर बिताई थीं" (बाँगलार इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ ६२-३)। इस महान् वीर सम्राट् के एक प्रकार के सिक्कों पर एक ओर "जयति दिवं श्रीक्रमादित्य" और दूसरी ओर "क्रमादित्य" लिखा है। स्कन्दगुप्त के मालवावाले सिक्कों में उसे स्पष्ट ही "परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीस्कन्दगुप्त-विक्रमादित्यः" पढ़ा जाता है। उसके ऐसे ही एक प्रकार के चाँदी के सिक्कों पर भी "परमभागवतश्रीविक्रमादित्यस्कन्द-



गुप्त:" तथा अन्य प्रकार के सिक्कों पर भी यही लेख उपलब्ध होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शक, हूण आदि म्लेच्छ जातियों को परास्त करने के उपलक्ष में विक्रमादित्य का पद भारतवर्ष के राजा स्वीकार करते थे और विक्रमादित्य का शकारि नाम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। राजनीतिक भाषा में यों कहना उचित होगा कि विदेशी विजेताओं से स्वदेश की दासता का जुआ हटानेवाले महापुरुष ही विक्रम नाम से प्रसिद्ध होते थे एवं वे अपने नाम से संवत् भी चला देते थे, और विक्रमाब्द भी, शकाब्द के समान भारतवर्ष में से एक विदेशी सत्ता को नष्ट करके उसे स्वतंत्र बनाने की स्मृति का संवत् है। यह एक राष्ट्रीय संवत् है, साम्प्रदायिक नहीं, तभी इसकी रक्षा वैदिक और अवैदिक सब प्रकार के साहित्य में की गई है।

किन्तु हमको यहाँ वह तर्क भी देखना उचित है जिसके आधार पर योरोपियन विद्वान् विक्रम नाम के किसी व्यक्ति के अस्तित्व को भी नहीं मानते तथा यह भी कहते हैं कि जिस समय से आजकल इसकी गणना की जाती है उससे कई सौ वर्ष पश्चात् गणना करने के ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए इस संवत् की स्थापना की गई थी।

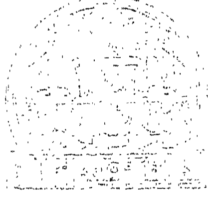
आरम्भ में ही हम यह स्मरण करा देना उचित समझते हैं कि ज्योतिष सम्बन्धी कार्यों के लिए करण ग्रंथों में सामान्यतः और प्रायः सर्वत्र शकाब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि वह वर्ष चैत्र से सर्वत्र आरम्भ होता है, विक्रम-वर्ष का उपयोग ज्योतिष के करण ग्रंथों में नहीं के बराबर है, अतः यह युक्ति नितान्त निर्बल है। तो भी डॉ० फर्गुसन ने सर्व प्रथम कहा था कि इस संवत् की स्थापना सन् ५४४ ई० में हुई थी और तब ही गणना करके इसका आरम्भ ५७ ई० पू० से माना गया था। स्मिथ का मत ऊपर दिया है। डॉ० वीबर और होल्ट्जमैन का मत भी फर्गुसन से मिलता है। किन्तु डॉक्टर पिटर्सन और डॉक्टर व्युहलट संवत्कार विक्रम-पदधारी व्यक्ति का अस्तित्व ईसा के ५७ ई० पू० में ही स्वीकार करते थे फिर चाहे उस व्यक्ति का नाम कुछ भी रहा हो।

ऐसा जान पड़ता है कि ग्रेगरी के संशोधित पञ्चांग (Calendar) का इतिहास योरोप के फर्ग्युसन और उनका अनुकरण करनेवाले विद्वानों की दृष्टि में था। वर्तमान ईसवी संवत् का मूल जूलियस सीजर का स्थापित और संशोधित पञ्चांग था, और जूलियस सीजर ने स्वयं रोमन संवत् में संशोधन करके अपना संवत् चलाया था। रोमन संवत का आरम्भ रोमन अनुश्रुतियों के अनुसार रोम के प्रथम शासक नूमा के समय से माना जाता था और वह ३५५ दिन का गिना जाता था जो एक प्रकार से चान्द्रवर्ष की मोटी गणनामात्र थी, क्योंकि चान्द्रवर्ष का मान ३५४ दिन ८ घण्टे ४८ मिनट ३६ सेकिण्ड होता है। इस हिसाब से रोमन संवत् में प्रति वर्ष सौरवर्ष से १० और ११ दिन के मध्यवर्ती अन्तर पड़ता था। उधर रोम के पुरोहित और ऋत्विजों को अपने धार्मिक और राष्ट्रीय कृत्य ऋतुओं की समानता का ध्यान रखकर भी कराने पड़ते थे, और वे इसी हेतु से कभी कभी फरवरी मास की २३ तारीख के पश्चात् २७ दिन का एक अधिक मास गिनकर वर्ष में १३ मास गिन लेते थे, और अपने चान्द्र वर्ष को स्थूल रूप से सौर वर्ष के निकट ले आते थे। किन्तु इस विधि से चान्द्र और सौर वर्षों का पारस्परिक अन्तर कभी भी पूर्णतया दूर नहीं होता था तथा जूलियस सीजर के समय में यह अन्तर ९० दिन का हो गया था, अर्थात् जो घटना २५ जुलाई को घटी गिनी जाती थी, वस्तुतः वह २५ अप्रैल की घटना होती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त अन्तर के कारण २५ अप्रैल को २५ जुलाई गिना और समझा जाता था। यह अन्तर बहुत अधिक था, और ऋतुओं के आधार पर मनाये जानेवाले रोमन लोगों के उत्सवों में बड़ी विच्छृंखला उत्पन्न हो गई थी—वसन्त के पर्व और उत्सव शीतऋतु में पड़ने लगे थे। सीजर ने अपने समय के सर्वोत्तम गणितज्ञ ज्योतिषियों से सम्मति ली और २३ फरवरी के पश्चात् २३ दिन का एक मास तथा ६७ दिन का एक और महीना इस प्रकार ९० दिन के दो अधिक मास गिनकर सीजर ने जुलाई ईसवी सन् से पूर्व ४६ वर्ष में रोमन संवत् का संशोधन किया। ६७ दिन का महीना नवम्बर के अन्त में और दिसम्बर आरम्भ होने से पूर्व बढ़ाया गया था, और इस प्रकार उस वर्ष में दिसम्बर जो दसवाँ मास गिना जाता था १२वाँ मास गिना गया और आगे से वर्ष का आरम्भ भी प्रथम जनवरी से गिना जाने लगा, किन्तु इससे पूर्व वर्ष का आरम्भ १ मार्च से होता था। इस प्रकार ४६ ई० पू० का वर्ष ४४५ दिन का एवं 'अन्धाधुन्धी' का वर्ष समाप्त हो जाने पर ४५ ई० पू० की प्रथम जनवरी से रोमन संवत् की गणना सौर मान से होने लगी। किन्तु केवल इस संशोधन से ही रोमन संवत् की गणना ज्योतिष या ऋतुचक्र की दृष्टि से बिलकुल ठीक नहीं हो गई थी। सीजर ने अपने प्रचलित वर्ष को ३६५$\frac{१}{४}$ दिन

का नियत किया था; और इस प्रकार प्रति चतुर्थ वर्ष में फरवरी में २९ दिन गिनकर इस ¼ की गणना को पूर्ण किये जाने का नियम उसने बनाया था। किन्तु वास्तविक गणना से इस मान में कुछ मिनट अधिक गिने जाते थे, लगभग ११ मिनट १० सेकिण्ड। सन् १५८२ ईसवी (संवत् १६३९ विक्रम) में पोप ग्रेगरी ने इस भूल का संशोधन भी किया और वर्ष का मान ३६५ दिन ५ घण्टा ४९ मिनट १२ सेकिण्ड निश्चय करके उस वर्ष की गणना में ११ दिन कम कर दिये, १२ सितम्बर के स्थान में ११ सितम्बर के पश्चात् एकदम २३ सितम्बर गिना गया। इस सुधरे हुए मान के संवत् को ईसवी सन् माना गया और इसी के आधार पर गणना करके ईसाई धर्म की पिछली घटनाओं का क्रम स्थापित किया गया एवं ईसाई संवत् का आरम्भकाल निश्चय किया गया। इस प्रकार जो ईसाई संवत् का आरम्भकाल निश्चित किया गया था वह एक प्रकार से महात्मा ईसा का जन्मकाल भी था, किन्तु यह निश्चय किया हुआ जन्मकाल वास्तविक जन्मकाल से ४ वर्ष पीछे है। अस्तु। इस ईसाई संवत् को पोप ग्रेगरी ने संवत् १६३९ में गणना करके पीछे की डेढ़ सहस्र वर्ष की घटनाओं का निर्धारण भी इसीके आधार पर किया था और इस तरह पाठकों की दृष्टि में यह बात बैठती है कि ग्रेगरी के संवत् का आरम्भ ईसवी सन् के आरम्भ से होता है, अतः ग्रेगरी का समय या जन्मकाल भी ईसा की प्रथम शती में ही होना चाहिए। किन्तु यह बात वास्तविकता से दूर है, तोभी यह ऐतिहासिक सत्य है कि उसने लगभग डेढ़ सहस्र से भी अधिक वर्ष पीछे अपने संवत् की स्थापना करके (जिसे संवत् की स्थापना न कहकर पञ्चांग का संशोधन कहना ही अधिक उचित है) पिछली घटनावली को भी उसी के आधार पर गिना और उसका समय निर्धारण किया। फर्ग्युसन और फ्लीट आदि योरोपियन विद्वान् ग्रेगरी के पञ्चांगसंशोधन की समानता को ध्यान में रखकर उसी मानदण्ड से विक्रम-संवत् के विषय में भी यह तर्क लगाते हैं कि ५०० या ७०० वर्ष पीछे इस संवत् की स्थापना करके इसीके आधार पर पिछली घटनावली को अंकित किया गया होगा एवं इस संवत् को भी, इसी कारण से कि ५७ ई० पू० तक की घटनाएँ इसके आधार पर गणित की गई थीं, तभी से आरम्भ हुआ स्वीकार कर लिया गया होगा।

किन्तु वस्तुतः यह तर्क नितान्त निराधार और हेत्वाभास मात्र है। प्रथम तो ग्रेगरी और जूलियस सीजर के सम्मुख एक संवत् पहले से वर्तमान था जिसका उक्त दोनों सुधारकों ने संशोधन मात्र किया था; फिर उनका संशोधन भी केवल पञ्चांग का संशोधन था, संवत् के वास्तव आरम्भकाल के विषय में उन्होंने कुछ भी निर्णय नहीं किया था। यहाँ विक्रम-संवत् के सम्बन्ध में यह कहना नितान्त असत्य है कि इस के पञ्चांग का संशोधन किसी चन्द्रगुप्त आदि गुप्त नरेश या हर्ष यशोधर्मन् आदि सम्राट् ने किया था। पञ्चांगसंशोधन को बतलानेवाली कोई भी अनुश्रुति इस संवत् के साथ उक्त सम्राटों के सम्बन्ध में भारतीय इतिहास को ज्ञात नहीं है, वह बिलकुल अश्रुतपूर्व है। यदि पञ्चांगसंशोधन किया गया हो तो उसके विषय में दो कल्पनाओं में से कोई एक स्वीकार करनी होगी, अर्थात् (१) विक्रम-संवत् किसी अशुद्ध पञ्चांग के साथ पहले से प्रचलित था जिसमें अशुद्धि इतनी अधिक बढ़ गई थी कि रोमन पञ्चांग की भाँति पर्वों और उत्सवों का ऋतु-विपर्यय भी होने लगा था, उसीको दूर करने के लिए यह प्रयास किया गया था। इस तर्क में हम विक्रम-संवत् और उसके अशुद्ध पञ्चांग की सत्ता पहले से ही स्वीकार कर लेते हैं, किन्तु इस संवत् के अशुद्ध पञ्चांग का तो कोई भी इतिहास उपलब्ध नहीं होता, अतः यह कल्पना विद्वत्समाज में स्वीकार कदापि नहीं की जा सकती (२) दूसरी कल्पना यह हो सकती है कि संवत् की स्थापना-मात्र उनका कार्य था, और उसी समय जब (चन्द्रगुप्त आदि जिस किसी के द्वारा भी यह स्थापित किया गया था) इसके संस्थापक ने इसे आरम्भ किया था वर्तमान प्रचलित पञ्चांग के साथ इसे प्रारम्भ किया था। किन्तु इसमें प्रश्न यह उठता है कि प्रारम्भ करनेवाले इन सम्राटों को इसकी क्या आवश्यकता पड़ी थी कि वे इस संवत् को चलाकर भी इसका श्रेय किसी कल्पित व्यक्ति को देने के लिए व्यग्र थे? उन्होंने किस आधार पर, किसके अनुकरण पर शकारि विक्रमादित्य का नाम इसके साथ जोड़ा? मालवा, मालव-गण आदि से इसका सम्बन्ध क्यों मिलाया? इसी प्रकार के और भी अनेक तर्क इस विषय में उपस्थित होंगे। वस्तुतः जब डॉक्टर ब्यूहलर और डॉक्टर कीलहार्न ने यह सिद्ध कर दिया है, एवं ऐसे शिलालेख आदि प्राचीन लिखित प्रमाण भी उपलब्ध हो चुके हैं, जिनका उल्लेख इस निबन्ध के आरम्भ में ही किया गया है, कि यह संवत् ५४४ ईसवी से बहुत पहिले से व्यवहार में आ रहा था, तो इस तर्क का मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता।

: स संवत् का उल्लेख भारतवर्ष के राष्ट्रीय साहित्य में, चाहे वह जैन हो या अजैन, बौद्ध हो या अबौद्ध, वैदिक हो या अवैदिक, सर्वरूपेण राष्ट्रीय ढंग से किया गया है। इसे राष्ट्र को अत्याचारपूर्ण विदेशी शासन से स्वतंत्रता प्राप्त होने की



तिथि माना जाता रहा है। यह किसी भारतीय नरेश के साम्प्रदायिक उत्पीड़न का इतिहास नहीं है, किन्तु उस स्वतंत्रता के युद्ध का इतिहास इसमें अनुप्राणित है जिसके लिए संसारभर के सभ्य राष्ट्र सदैव व्याकुल रहते हैं, जिसका समादर हमारी संस्कृति में सर्वोपरि है, एवं जिसे स्मरण करके हम आज भी स्वतंत्रता प्राप्त करने की आशा करते हुए जीवित हैं। भारतवासी इस स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्राचीन तिथि को किसी प्रकार भी भुला नहीं सकते। उस तिथि को, जिसके संस्थापक ने अपना सर्वस्व, अपना अस्तित्व, अपना व्यक्तित्व, अपना निजी नाम और गोत्र उसके ऊपर निछावर कर दिया, किसी प्रकार भी नहीं भुलाया जा सकता, भले ही ये पाश्चात्य विद्वान् कितने ही तर्काभास इसके विरुद्ध उपस्थित करें।

एक बात और; कुछ विद्वान् नहपान (नरवाहन) को इस संवत् का प्रवर्तक मानते हैं। ऐसे विद्वानों में श्री राखालदास बनर्जी मुख्य हैं। डॉक्टर फ्लीट महोदय की सम्मति में कनिष्क ने इसका आरम्भ किया था और सर जान मार्शल तथा रैप्सन के मत में अजेस या अय नामक सम्राट् ने इसे चलाया था। इन सबके उत्तर में हमें एक ही बात कहनी है और वह यह कि ये सब सम्राट् शक अर्थात् विदेशी थे। यदि इन्होंने कोई संवत् भारतवर्ष में चलाया होगा (या चलाया होता) तो वह भारतवर्ष की गुलामी के आरम्भ का संवत् हो सकता था। कौन बुद्धिमान् ऐसा है जो यह स्वीकार करेगा कि बौद्धिक और आत्मिक ज्ञान में भारतवर्ष जैसा समृद्ध देश अपनी गुलामी की तिथि को, सार्वजनिक रूप से, सदा के लिए, स्वीकार कर सका होगा। फिर इन सभी विद्वानों के मत सर्वसम्मत या निभ्रान्त भी नहीं हैं और गणना से वे शकाब्द के अधिक निकट आते हैं, किन्तु शकाब्द के निर्णय का प्रश्न यहाँ नहीं उठाया जा सकता। यह स्वीकार किया जा सकता है, (और ऐसा उचित भी है) कि इन सम्राटों ने अपने स्वतंत्र संवत् लगभग उसी समय में चलाये हों जब उन्होंने उनकी गणना आरम्भ की थी, किन्तु उपरोक्त हेतु के कारण उनके संवत् का अस्तित्व तो उन्हीं के वंश की सत्ता के साथ-साथ समाप्त हो जाना स्वाभाविक और अनिवार्य था। राष्ट्र उनके संवतों को अपनी संस्कृति में किसी प्रकार भी स्थान नहीं दे सकता था। प्राच्यविद्यामहार्णव स्वर्गीय श्री काशीप्रसादजी जायसवाल ने विक्रमादित्य का व्यक्तित्व गौतमी-पुत्र शातकर्णि में स्वीकार किया है और उनका मत श्री हरितकृष्णदेव को भी मान्य है। किन्तु इस आंध्र-सम्राट् की शक-विजय का तो दूसरा शकाब्द भारत में प्रचलित है। उनका ऐसा परिणाम किसी ऐतिहासिक गणना की भूल के आधार पर भी हो सकता है। कुछ भी हो, इस प्रश्न का निर्णय विक्रमादित्य के व्यक्ति के साथ ही किया जा सकता है।

योरोपियन विद्वानों में डॉक्टर स्टेन कोनो के विचार सबसे अधिक स्पष्ट और पुष्ट हैं जिन्होंने इस संवत् का प्रवर्तक उज्जयिनी के महाराज सम्राट् विक्रमादित्य को स्वीकार और सिद्ध किया है। यही बात निम्नलिखित प्राचीन जैन गाथा में भी कही गई है—

कालान्तरेण केणाइ उप्पादिट्ठा सगाण तंबंसम्।
जावो मालवराया नामेण विक्कमाइच्चो ॥६५॥
तथा
नियवो संवच्छरो जेण ॥६८॥ (कालकाचार्यकथानक)

गुर्जर-देश-भूपावली में भी इस सम्राट् के सम्बन्ध में कुछ श्लोक दिये हैं जिन्हें यहाँ उद्धृत करना आवश्यक है:—

वीरमोक्षाच्च सत्पृन्यायुते वर्षचतुःशते।
व्यतीते विक्रमादित्यः उज्जयिन्यामभूदितः ॥१२॥
सत्वसिद्धाग्निवेताल-प्रमुखानेकदैवतः।
विद्यासिद्धो मंत्रसिद्धः सिद्धसौवर्णपूरुषः ॥१३॥
धैर्यादिगुणविख्यातः स्थाने स्थाने नरापरैः।
परीक्षाकषपाषाण-निघृष्टः सत्वकञ्चनः ॥१४॥
स सम्मानैः श्रियां दानैः नराणामखिलामिलाम्।
कृत्वासंवत्सराणां स आसीत् कर्ता महीतले ॥१५॥
षडशीतिमितं राज्यं वर्षाणांतस्य भूपतेः।
विक्रमादित्यपुत्रस्य ततो राज्यं प्रवर्तितम् ॥१६॥
पञ्चत्रिंशद्युते भूपवत्सराणां शते गते।
शालिवाहन भूपोऽभद्वत्सरे शककारकः ॥१७॥



विक्रमकालीन कला

श्री डॉ० मोतीचन्द्र एम्. ए., पी-एच. डी.

भारतीय इतिहास के दो चार अत्यन्त विवादग्रस्त प्रश्नों में एक प्रश्न विक्रम-संवत् की ई० पू० पहली शताब्दी में स्थापना भी है। एक पक्ष प्रथम शताब्दी ई० पू० में विक्रम के ऐतिहासिक अस्तित्व को स्वीकार करता है तो दूसरा पक्ष चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही भारतीय इतिहास तथा अनुश्रुति का विक्रम मानता है। विक्रम-संवत् पहले मालवा तथा उसके आसपास के देशों में मालव तथा कृत-संवत् के नाम से ख्यात था, इस प्रश्न को लेकर भी ऐतिहासिकों में काफी चर्चा रही है। विक्रम-संवत् का जटिल प्रश्न तब तक उनकी चर्चा की एक विशेष सामग्री रहेगा जब तक कोई ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे निःसन्दिग्ध भाव से एक शकोच्छेदक विक्रम की ऐतिहासिक स्थापना प्रथम शताब्दी ई० पू० में हो सके। विक्रम-संवत् का प्रश्न कितना भी जटिल क्यों न हो, एक बात तो जैन अनुश्रुतियों के आधार पर कही ही जा सकती है कि विक्रम की प्रथम शताब्दी ई० पू० में ऐतिहासिक स्थिति वास्तविक है। ये विक्रम कौन थे इस विवादग्रस्त प्रश्न पर इस छोटेसे लेख में विचार करना सम्भव नहीं। हमें तो इस लेख में केवल यही दिखलाना है कि विक्रमकाल में भारतीय कला की कितनी उन्नति हुई।

विक्रम के ऐतिहासिक रूप को अगर हम थोड़ी देर के लिए अलग रखकर केवल विक्रम के शाब्दिक अर्थ पर विचार करें तो पता चलता है कि वैदिककाल में विक्रम शब्द का प्रयोग आगे बढ़ने के अर्थ में हुआ है तथा बाद में यही शौर्य तथा बल का द्योतक हो जाता है। विक्रम के इन शाब्दिक अर्थों से यही बोध होता है कि विक्रम-युग भारतीय इतिहास में उस युग को कहते थे जिसमें सभ्यता के धीमे पड़ते हुए स्रोत में एक ऐसी बाढ़ आवे जिससे युग-युगान्तर से जमी हुई कीच-काई बहकर आप्लावित भूमि पर नई मिट्टी की एक ऐसी तह जम जावे जिसमें पैदा हुई अपार आत्मिक अन्नराशि मानव वर्ग का मानसिक पोषण कर सके तथा जिसमें उत्पन्न हुए रंग-बिरंगे सुगन्धित सांस्कृतिक पुष्प अपनी सुरभि से दिशाओं को भर दें। विक्रम-युग में एक ऐसे पुरुषश्रेष्ठ राजा का जन्म होता है जो अपनी भुजाओं के बल से विदेशी सत्ता को उखाड़ फेंकता है तथा उस सार्वभौम राज्य की स्थापना करता है, जिसका उद्देश्य प्रजापालन, व्यापारवृद्धि, कला की उन्नति इत्यादि होता है। वैदिक तथा पौराणिक युग में जिन उद्देश्यों को लेकर चक्रवर्ती सम्राटों की कल्पना की गई है विक्रम-युग भी करीब-करीब



उन्हीं भावनाओं का प्रतीक है। जिस प्रकार चक्रवर्तियों के रथों के अप्रतिहत पहिये देश के एक कोने से दूसरे कोने तक घूम सकते थे उसी प्रकार विक्रम-युग के राजाओं के रथोंके पहिये भी। पर विक्रम-युग की एक और विशेषता थी। सांस्कृतिक उत्तेजना से लोकाराधन तथा लोककल्याण की भावनाओं को इस युग में इतना अधिक प्रोत्साहन मिलता है जिससे मनुष्य की अन्तर्-चेतनाओं के तार समस्वर होकर बजने लगते हैं, जिससे भावनाओं के सागर में प्रबल तरंगें उठने लगती हैं जिनमें डूबकर कला और साहित्य एक नए रंग में रँगकर एक नई अनुभूति से आलोड़ित होकर हमारे सामने आते हैं। इस दृष्टिकोण से विक्रम-युग केवल राजनीतिक उथल-पुथल से स्वराज्य की पुण्यमयी भावना को ही हमारे सामने नहीं रखता, उसका उद्देश्य तो हम सबमें उस मानसिक स्फूर्ति का प्रजनन है जो सब साहित्य और कलाओं की जननी है। प्रथम शताब्दी ई० पू० में साहित्य-क्षेत्र की विशेष उथल-पुथल का तो हमें ज्ञान नहीं है पर कला के क्षेत्र में तो एक नवीन धारा बही जिसके प्रतीक-स्वरूप आज भी साँची के तोरण तथा नासिक और कारले की बौद्ध लेणें खड़ी हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के युग ने कवि सम्राट् कालिदास को हमारे सामने रक्खा तथा कला में उस रस की धारा बहाई जिससे गुप्त कला अमर हो गई। यह इसी युग की प्रेरणात्मक शक्ति का फल है जिससे अनुप्राणित होकर भारतीय कला तथा साहित्य के अमर सिद्धान्त देश की चहारदिवारी लाँघते हुए अफगानिस्तान, मध्य-एशिया, चीन, जापान, कोरिया, बरमा, लंका, मलाया इत्यादि में जा पहुँचे।

विक्रम-युग में एक ओर तो राजनीतिक प्रगति हो रही थी। शकों को हराकर विक्रमादित्य देश को एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न कर रहे थे दूसरी ओर कला के क्षेत्र में भी एक क्रान्तिकारी परिवर्तन हो रहा था। पिछले मौर्यकाल तथा शुंगकाल की कला सादृश्यवाद के सिद्धान्त से अनुप्राणित थी। इस कला का सम्बन्ध न तो रसशास्त्र से था न आध्यात्मिकता इसे छू गई थी। इस कला का उद्देश्य जीवन की वास्तविकताओं का, आमोद-प्रमोद का सीधा-सादा अलंकरण था। जिस तरह जातक की प्राचीन कथाएँ जीवन के साधारण से साधारण पहलू को हमारे सामने बिना किसी बनावट के या शृंगार के रख देती हैं, उसी प्रकार भरहुत के अर्धचित्र (relief) हमें भारत के तात्कालिक जीवन के अनेक पहलुओं को किसी आदर्श से रँगे बिना हमारे सामने रख देते हैं। नाच-रंग, खेल-कूद, आपानक, वस्त्र, आभूषण तथा भारतीय जीवन के और बहुत से पहलुओं का चित्रण इस कला का विशेष उद्देश्य है। शुंगकालीन कला जीवन के कितने निकट थी इसका पता हमें शुंगकाल की मूर्तियों से मिलता है। बसाढ़, भीटा, कौशाम्बी इत्यादि जगहों से मिली हुई मट्टी के अर्धचित्रों की यह एक खास विशेषता है कि उनमें देवी-देवताओं को छोड़कर शुंगकालीन स्त्री-पुरुषों के चित्र अंकित हैं, जिनसे हम तत्कालीन जीवन की बहुतसी बातें जान सकते हैं। भरहुत की कला में अलंकारिक उपकरणों का प्रयोग भी केवल चित्रों की शोभा बढ़ाने के लिए ही किया गया है। फरगुसन ने इन अर्धचित्रों के अलंकारों के बारे में जो लिखा है वह आज भी सत्य है:—

"Some animals such as elephants, deer and monkeys are better represented than any sculpture known in any part of the world; so too are some trees and the architectural details are cut with an elegance and precision that are very admirable. The human figures too, though very different from our standard of beauty and grace, are truthful to nature, and where grouped together combine to express the action intended with singular felicity."

(फरगुसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर, पृ० ३६)

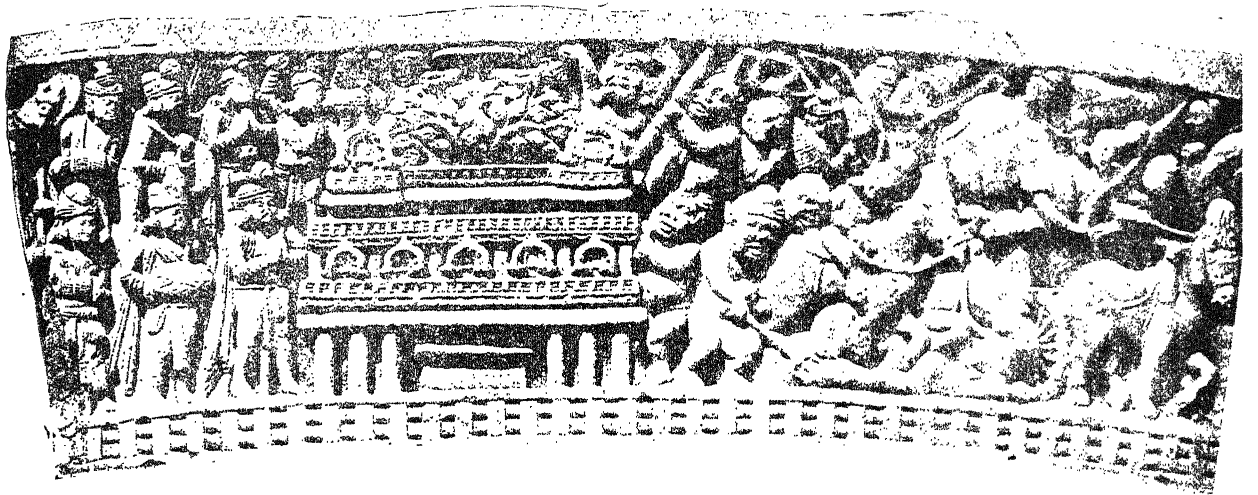
"कुछ पशु जैसे हाथी, हिरन तथा बन्दरों का चित्रण ऐसा हुआ है जैसा संसार की और किसी मूर्तिकला में नहीं हो पाया है। कुछ पेड़ों तथा वस्तु की सूक्ष्मताओं का चित्रण ऐसी सुन्दरता तथा खूबी के साथ हुआ है जिससे हमारा चित्त उनकी ओर खिंचता है। मनुष्य-मूर्ति की बनावट भी, गोकि उनकी बनावट हमारी सुन्दरता के मापदण्ड से भिन्न है, सादृश्यता लिए हुए है। तथा जहाँ उनकी कल्पना समूह में होती है वहाँ वह बड़ी खूबसूरती तथा सरलता से अपनी योजना के उद्देश्यों को भली भाँति प्रकट कर देती है।"



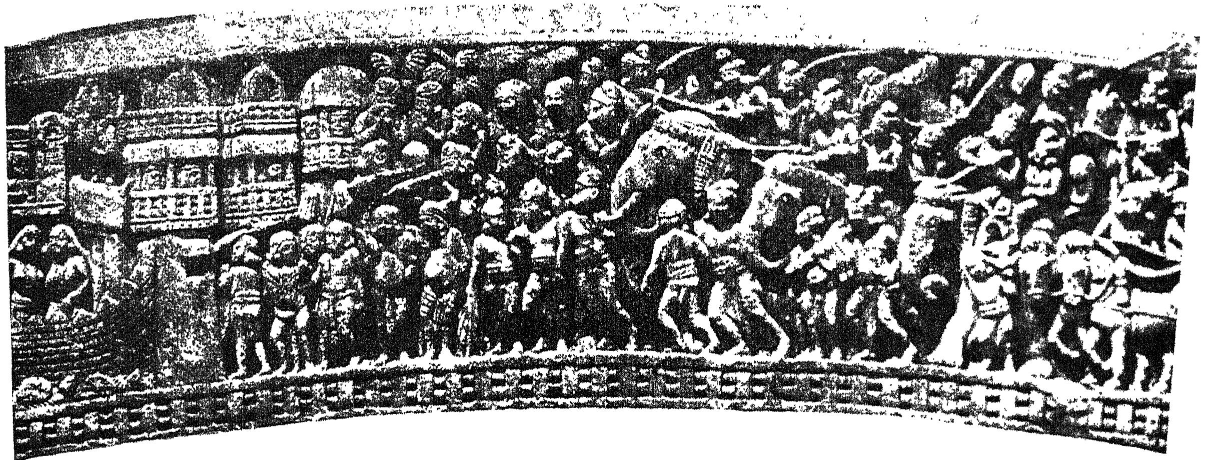
साँची--दूर से दृश्य।



बमनाला में प्राप्त समुद्रगुप्त की मुद्रा, पृष्ठ ४७।



'मार-विजय', पृष्ठ ८४।



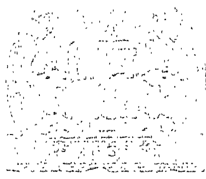
'बुद्धचिह्न के लिए लड़ाई', पृष्ठ ८४।

श्री डॉ० मोतीचन्द्र

भरहुत की इस कला का प्रसार एक स्थानिक न होकर भारतवर्ष में बहुत दूर तक फैला हुआ था। पूना के पास भाजालेण के अर्धचित्र इसी युग के कुछ विकसित अवस्था के चित्र हैं। बेदसा, कोन्दाने, पीतलखोरा तथा अजण्टा की दस नम्बर की गुफाएँ भी इसी समय बनीं। साँची के १ तथा २ नम्बर के स्तूप भी इसी युग में बने। उड़ीसा में उदयगिरि तथा खंडगिरि की गुफाएँ भी इसी युग की देन हैं।

लगभग ७० ई० पू० में शुंग-राज्य का अन्त हुआ तथा काण्व या सातवाहनों ने विजित राज्य पर अपना अधिकार जमाया। सातवाहन इसके बहुत पहले से ही पश्चिम तथा दक्खिन में अपना राज्य जमाए हुए थे। ईसवी सदी के लगभग पचास वर्ष पहले उन्होंने पूर्वी मालवा (आकर) पर अपना अधिकार जमाया। शातकर्णि राजाओं की छत्रछाया में भरहुत की अर्ध-विकसित कला उस पूर्णता को प्राप्त हुई जिसको लेकर हम आज दिन भी साँची की कला पर गौरव करते हैं। साँची के बड़े स्तूप के चारों तोरण तथा स्तूप नम्बर ३ का तोरण करीब ५० वर्षों के अन्तर में बने। इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि ये तोरण किस सातवाहन राजा के समय में बने। साँची के बड़े स्तूप के दक्खिनी तोरण पर एक लेख है जिसमें श्री शातकर्णि का उल्लेख है, पर शातकर्णि नाम के आन्ध्रवंश में बहुतसे राजे हो गए हैं इसलिए साँची-स्तूपवाले शातकर्णि की पहचान ठीक-ठीक नहीं हो सकती। बूलर इत्यादि विद्वानों का मत था कि वे ई० पू० दूसरी शताब्दी के श्री शातकर्णि ही हैं जिनका उल्लेख नानाघाट तथा हाथीगुंफा के अभिलेखों में आया है (मार्शल, दी मॉनुमेण्टस् ऑफ साँची, जिल्द १, पृष्ठ ५)। पर मार्शल का मत है कि साँची की उन्नत कला को देखते हुए यह बात अमान्य है। साँची के श्री शातकर्णि पौराणिक अनुश्रुति के अनुसार या तो श्री शातकर्णि द्वितीय थे जिन्होंने ५६ साल राज्य किया और जिनका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी में था अथवा महेन्द्र शातकर्णि तृतीय अथवा कुन्तल शातकर्णि थे। अभाग्यवश मालवा के सातवाहन-युग का आरम्भिक इतिहास अभी अन्धकारमय है। दूसरी शताब्दी ई० में जब इस अन्धकार में कुछ प्रकाश की आभा मिलती है तब हम गौतमीपुत्र शातकर्णि को आकर-अवन्ति का राजा पाते हैं। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार, जिनमें कालकाचार्य की कथा प्रसिद्ध है, ६१-५७ ई० पू० में उज्जयिनी पर शकों का अधिकार था। यह भी पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ई० के अन्त में आकर-अवन्ति पर क्षहरातों का कुछ दशकों तक अधिकार था। इस अधिकार का अन्त १२५ ई० में श्रीगौतमीपुत्र शातकर्णि ने आकर-अवन्ति को जीतकर किया। लेकिन मालवा बहुत दिनों तक आन्ध्रों के हाथ में न टिक सका, लगभग १५० ई० के महाक्षत्रप रुद्रदामा ने विजित देशों को पुनः अपने अधिकार में कर लिया।

उपरोक्त विवरण से साँची के बड़े स्तूप के तोरणों के समय के बारे में दो बातें प्रकट होती हैं। एक तो यह कि ये तोरण ई० पू० प्रथम शताब्दी में बने, और दूसरे यह कि आकर उस समय आंध्रवंश के शातकर्णि नाम के किसी राजा के अधिकार में था। जैन तथा ब्राह्मण अनुश्रुतियों के अनुसार इसी काल में उज्जयिनी के विक्रमादित्य की स्थापना होती है। अब प्रश्न यह उठता है कि ये विक्रमादित्य कौन थे और उनका प्रतिष्ठान के शातकर्णि राजाओं से क्या सम्बन्ध था? इस लेख का विषय विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता प्रमाणित करना नहीं है। पर जहाँ तक कला का सम्बन्ध है यह निर्विवाद है कि इसी युग में भारतीय कला में एक ऐसी नूतनता और ओज का समावेश हुआ जैसा पहले कभी नहीं हुआ था। यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि किन-किन कारणों से प्रेरित होकर कला अपने पुराने तथा जीर्ण आवरण को छोड़कर नवीनता की ओर झुकने लगती है, पर इतिहास इस बात का साक्षी है कि किसी महान् राजनीतिक उथल-पुथल के साथ ही साथ कलाकारों के दृष्टिकोण में भी अन्तर आने लगता है। उनके हृदय के कोनों में छिपे हुए जीर्णशीर्ण कला के सिद्धान्त नई स्फूर्ति से उत्प्रेरित होकर युग की कला को एक नए साँचे में ढालते हैं। राजा तथा प्रजा की रक्त-प्रणालियों में बहते हुए सांस्कृतिक ओज को ये कलाकार मूर्त रूप देते हैं। उदाहरणार्थ गुप्त-युग को लीजिए। कुषाण-साम्राज्य के अन्तिम दिनों की ओजहीन कला उस टिमटिमाते हुए दीपक के समान है जिसका तेल जल चुका है फिर भी उसकी बत्ती उकसाई जाती है जिससे उस दीप का प्रकाश चाहे वह कितना ही धीमा क्यों न हो थोड़ी देर तक ढहते हुए महल में उजाला रख सके। लेकिन गुप्तयुग की कला को लीजिए तो मालूम पड़ता है कि दीपक तो वही पुराना है लेकिन नवीन तेल बत्ती से सुशोभित होकर अपने जाज्वल्यमान स्निग्ध प्रकाश से वह दिशाओं को आपूरित करने लगता है। गुप्तों की साम्राज्य स्थापना भारतीय इतिहास की एक महान् घटना है। उस साम्राज्य का उद्देश्य भारतीय संस्कृति तथा ब्राह्मण-धर्म को पुनरुज्जीवन



देना था। विदेशियों के संसर्ग से दूषित कला, धर्म तथा संस्कृति को पुनः उसके प्राचीन पथ पर आसीन करना ही गुप्त-युग की विशेषता है। अब हम देख सकते हैं कि एक महान् राजनीतिक घटना का कला की उन्नति से क्या सम्बन्ध है। आगे चलकर हम देखेंगे कि विक्रम-काल की कला भी गुप्तकालीन कला के समान पथकृत् थी और अगर हम विक्रम की ऐतिहासिक सत्ता स्वीकार करते हैं तो साँची इस बात की साक्षी है कि विक्रम-युग जिसकी कथा हम आज दिन भी शहरों में, देहातों में अपने बड़े बूढ़ों से सुनते हैं केवल राजा की न्याय-परायणता तथा कवियों के समादर के लिए ही विख्यात नहीं था, उस काल में कलाकारों को भी वही आदर मिला जिसके फलस्वरूप उन्होंने भारतीय कला को एक नए रास्ते पर चलाया।

साँची की पहाड़ी, जिस पर स्तूप बने हुए हैं, भोपाल रियासत में जी० आई० पी० रेलवे के साँची स्टेशन के बहुत पास स्थित है। पहाड़ी ३०० फुट से भी कम ऊँची है तथा उसके ढालों पर झाड़-झंखाड़ों से काफी हरियाली रहती है। खिरनी के हजारों पेड़ अपनी सघन छाया से पथिकों और चरवाहों को आराम पहुँचाते रहते हैं। वसन्त में ढाक के फूल पहाड़ी पर आगसी लगा देते हैं। प्रकृति देवी के इस सुन्दर उद्यान में आत्मचिन्तनरत बौद्धों ने साँची के स्तूपों की कल्पना की। प्राचीन लेखों में साँची का नाम काकणाव या काकणाय आता है लेकिन चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में इसका नाम काकनाद बोट पड़ा। सातवीं शताब्दी में इसका नाम बदलकर बोटश्री पर्वत हो गया (मॉनुमेण्टस् ऑफ साँची, जि० १, पृ० १२)।

इस बात का ठीक-ठीक पता नहीं चलता कि बौद्ध साँची में अशोक के समय में आए या उसके पहले। महावंश में लिखा है कि अशोक की रानी देवी अपने पुत्र महेन्द्र को विदिशा के पास चेतियगिरि के विहार में महेन्द्र की लंका यात्रा के पहले ले गई। कुछ विद्वान् चेतियगिरि को ही साँची का पुराना नाम मानते हैं, पर इस बात की सत्यता की परख अभी तक नहीं हो पाई है।

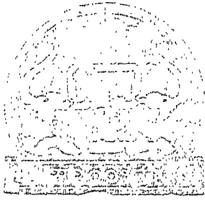
साँची का बड़ा स्तूप अण्डाकार है जिसका सिरा कटा हुआ है। यह अण्ड चारों ओर एक मेधि से घिरा हुआ है जिसका मुतक्का प्राचीनकाल में प्रदक्षिणा पथ का काम देता था। इसपर चढ़ने के लिए दक्षिण की तरफ दोहरी सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। जमीन की सतह पर इस स्तूप को घेरे हुए एक दूसरा प्रदक्षिणा पथ है जो वेदिका से घिरा हुआ है। वेदिका की बनावट बिलकुल सादी है लेकिन उसके चारों ओर चारों दिशाओं को लक्ष्य करते हुए चार तोरण हैं। पहले विद्वानों की धारणा थी कि इस स्तूप का आकार अशोक के समय से ज्यों का त्यों बना हुआ है तथा तोरण द्वितीय शताब्दी ई० पू० में बनाए गए। बाद की खोज से ये धारणाएँ भ्रमात्मक साबित हुई हैं। असल में बात यह है कि अशोक के समय में स्तूप सादे ईंटों का था, बाद में उसमें भव्यता लाने के लिए भक्तों ने इसे आवरणों से ढँक दिया। सर जॉन मार्शल के कथनानुसार स्तूप पर आवरण चढ़ने के पहले किसीने उसे तोड़-फोड़ दिया था और शायद यह काम पुष्यमित्र शुंग की आज्ञा से किया गया। स्तूप इस बुरी तरह से तोड़ा गया है कि यह कहना मुश्किल है कि अशोक के समय में इसका क्या रूप था। लेकिन जाँच करने से यह पता चलता है कि आरम्भ में इसका अण्ड नीचे से ६० फुट चौड़ा था। इसके चारों ओर एक चबूतरा था और सिरे पर छत्रावलियों से युक्त वेदिका से घिरी हुई एक हर्मिका थी। इसके दोनों प्रदक्षिणा पथों की वेदिकाएँ शायद लकड़ी की बनी हुई होंगी और स्तूपों की तरह बुद्ध का कोई अस्थिचिह्न इस स्तूप में भी गाड़ा गया होगा जो स्तूप के तोड़े जाने पर गायब हो गया (वही, पृ० २४-२५)।

अशोक के बाद जब हम इस स्तूप के इतिहास पर ध्यान देते हैं तो पता चलता है कि दूसरी शताब्दी ई० पू० में किसी शुंग राजा के राज्यकाल में ही इसकी इतनी अच्छी तरह से मरम्मत हुई जिससे वह बिलकुल नयासा हो गया। पत्थर के आवरण से पूरा स्तूप, प्रदक्षिणा-पथ, वेदिका इत्यादि ढक दिए गए और उनपर बढ़िया चूने का पलस्तर कर दिया गया। स्तूप तैयार हो जाने पर उसके सिरे पर वेदिका सहित छत्र चढ़ाया गया। बाद में स्तूप को घेरे हुए पत्थर की वृहदाकार वेदिका बनीं जिनपर दाताओं के नाम खुदे हुए हैं। संक्षेप में शुंगकाल में साँची के बड़े स्तूप की यही अवस्था रही होगी।

सातवाहन-युग में स्तूप के चारों ओर चार तोरण बनाए गए जो अपनी विशालता तथा सुन्दर गढ़न के लिए भारतीय कला में अद्वितीय हैं। सबसे पहले दक्षिण का तोरण बना और इसके बाद क्रमशः उत्तरी, पूर्वी और पश्चिमी तोरण बने। इन तोरणों की कला की क्रमिक उन्नति से ऐसा पता लगता है कि ये सब तोरण २० या ३० वर्षों के अन्तर में बने

होंगे। इन चारों तोरणों की बनावट एकसी है। हर एक तोरण में दो स्तम्भ हैं जिनकी खुंभिओं (Capital) पर तीन-तीन सूचियाँ अवलम्बित हैं। खुंभिओं पर सटे पेट वाली सिंह मूर्तियाँ या बौनों की मूर्तियाँ, और उन्हीं खुंभियों से निकलती हुई यक्षिणियों, वृक्षिकाओं और शाल-मंत्रिकायों की मूर्तियाँ सबसे निचली सूची के बाहर निकले हुए कोनों को सँभाले हुए थीं। सूचियों के अन्तरालों में भी यक्षिणियों इत्यादि की मूर्तियाँ थीं और सूचियों के घुमटेदार अंशों पर हाथी या सिंह की मूर्तियाँ थीं। बाकी बचे हुए अन्तर स्थान में हाथीसवार और घुड़सवारोंकी मूर्तियाँ थीं। इन सवारों की बनावट में एक विशेषता यह थी कि ये दो मुंहवाले थे। दक्षिणी तोरण की सूचियों के अन्त से निकलती हुई गंधर्व मूर्तियाँ हैं। उत्तरी तोरण में ऐसी ही गंधर्व मूर्तियाँ सबसे निचले सूची के छोरों से निकलती दिखलाई गई हैं। शेष दोनों तोरणों में ये मूर्तियाँ नहीं पाई जातीं। तोरणों के सिरे पर हाथी या सिंह पर चढ़े हुए धर्मचक्र की आकृति तथा उसके बगल में त्रिरत्न अंकित थे। स्तम्भ इत्यादि जातक कथाओं तथा नाच-रंग, आपानक इत्यादि के दृश्यों से भरे हैं। इनमें चैत्र-वृक्षों तथा स्तूपों के, जो गौतम बुद्ध तथा और मानुषी बुद्धों के चिह्नस्वरूप थे, काल्पनिक पशु-पक्षियों और गंधर्वों के तथा और भी बहुतैसे चित्र-विचित्र अलंकरणों से अंकित हैं।

साँची के स्तूप नम्बर दो पर बने हुए अर्धचित्रों की जाँच-पड़ताल से हमें इस बात का पता चलता है कि अधिकतर चित्र भरहुत की पुरानी परिपाटी के अनुसार बने थे, लेकिन उनमें कुछ ऐसे भी चित्र हैं जिनसे कला के विकसित सिद्धान्तों का आभास मिलता है। कारीगरी की यह असमानता भरहुत की कला में भी पाई जाती है। इस अनैक्यता का कारण भरहुत की कला का प्राचीन दासकला के बन्धनों से निकलकर प्रस्तर को अपना आलम्बन बनाना भी हो सकता है। नवीन आलम्बन के लिए शिल्पियों का धीरे-धीरे तैयार होना स्वाभाविक था। इस तैयारी के युग में कुछ शिल्पी अधिक ग्रहण-शील रहे होंगे और कुछ कम। इसीलिए कुछ चित्र अच्छे बन पड़े हैं और कुछ बुरे। भरहुत के करीब १०० वर्ष बाद जब साँची के तोरण बने तब कला कहीं अधिक उन्नतशील हो चुकी थी लेकिन फिर भी इसमें पुरानी कला के रूढ़िगत सिद्धान्त अपना सिर बीच-बीच में ऊपर उठाते देख पड़ते हैं। प्राचीनता की इस झलक को कलाकारों की धार्मिक कट्टरता नहीं कहा जा सकता। असल में बात यह है कि भारतीय कला सदा से प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित रूढ़िगत सिद्धान्तों के पक्ष में रही है। लेकिन प्रगतिशीलता की भी उसमें कमी नहीं थी। जब-जब ऐसे अवसर आए जिनमें कला को एक नया रास्ता ग्रहण करना पड़ा तब-तब भारतीय कलाकारों ने सहर्ष नई कला का स्वागत किया। लेकिन बापदादों के समय से चली आई हुई कला को एकदम से भूल जाना असम्भव था और इसीलिए हम सातवाहन-युग की विकसित कला में भी कभी-कभी पुरानेपन की झलक पा जाते हैं। कारीगरी की असमानता का एक दूसरा कारण हो सकता है कि सब कारीगर विशेषकर मूर्तिकार अथवा चित्रकार एक ही साँचे में ढले हुए नहीं होते। इनमें कुछ अच्छे होते हैं, कुछ मध्यम और कुछ कामचलाऊ। एक ऐसे बड़े काम में जहाँ ऐसे सैकड़ों कारीगर लगे हों यह अवश्यम्भावी है कि थोड़ेसे मामूली कारीगर भी काम में लग गए हों जिनके घटिया काम से पूरे अलंकार में कहीं-कहीं विषमता आ गई हो। उदाहरणार्थ, भरहुत के अजात-शत्रुवाले स्तंभ (कनिंघम, स्तूप ऑफ भरहुत, प्ले० १७) की तुलना साँची के उसी प्रकार के दृश्य से कीजिए (मार्शल, वही जि० ३, प्ले० ३४ सी० और ३५ ए) तो पता चलता है कि इस फलक में भरहुत-युग से गढ़न अच्छी है, रेखाएँ भी सुस्पष्ट हैं फिर भी कलाकार कुछ प्राचीन रूढ़ियों के छोड़ने में असमर्थसा देख पड़ता है। मनुष्य एक दूसरे से सटे हुए एक के ऊपर दूसरी कतार में प्राचीन परिपाटी के अनुसार खड़े किए गए हैं। लेकिन साथ ही साथ प्राचीन मुद्राओं के प्रदर्शन का यत्न यहाँ नहीं देख पड़ता। शुंग-काल में सम्मुख चेहरा, उलटा चेहरा, तथा एक-चश्मी शबीह का अधिक प्रयोग होता था, तीन-चौथाई चेहरा तो कभी-कभी ही दिखलाया जाता था। पर साँची के प्राचीन रूढ़िगत अर्धचित्रों में चेहरे अधिकतर तीन चौथाई अंग में दिखलाए गए हैं। भरहुत के चित्रों में दूरी दिखलाने के लिए मूर्तियाँ एक दूसरे के ऊपर कतारों में सजा दी गई हैं लेकिन उनकी नाप ज्यों की त्यों रक्खी गई है, दूर होने से उनमें छुटाई-बड़ाई नहीं आने पाई है। साँची के पुराने अर्धचित्रों में मूर्तियाँ एक ही सतह पर रक्खी गई हैं, लेकिन दूरी दिखलाने के लिए पिछली कतारों में मूर्तियाँ कद में कुछ छोटी दिखला दी गई हैं। साँची के अर्धचित्रों में एक बात मान ली गईसी देख पड़ती है कि सबसे निचली पंक्ति दर्शक से सबसे पासवाली है और सिरे की पंक्ति सबसे दूर।

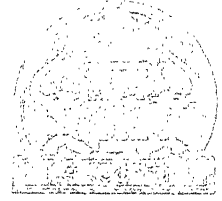


साँची के रूढ़िगत चित्रों का विवरण समाप्त करने के पहले हम उनकी बारीकियों का संक्षेप नीचे दे देते हैं। सबसे पहले इन अर्धचित्रों में हम प्राचीन प्रथा के अनुसार मूर्तियों की समानान्तर पंक्ति-बद्धता देखते हैं। इनमें दूरी दिखाने की प्रथा नहींसी है। भरहुत की तरह चित्र कठपुतलियों की तरह न होकर उनमें भाव की योजना है, जिससे उनमें एक स्फूर्ति तथा जीवन का उद्भास होता है। लेकिन एक बात मार्के की है कि इन चित्रों में व्यक्तिगत सादृश्यता की कमी है।

साँची के बाकी अर्धचित्र जिनकी संख्या ९० प्रति शत से कम नहीं है रूढ़िवाद से प्राय: परे हैं। कहीं-कहीं प्राचीन रूढ़ियाँ कलाकार के मार्ग में रोड़े अटकाने का प्रयत्न करती हैं पर उनसे इन चित्रों का कुछ बनना-बिगड़ना नहीं। जैसा पहले कहा जा चुका है इन तोरणों के बनाने में बहुत से कारीगर लगे होंगे, इनमें कुछ अच्छे होंगे और कुछ बुरे। इस बात का पता साँची के अच्छे-बुरे चित्रों से मिलता है। 'बुद्ध चिह्न के लिए लड़ाई' (मार्शल, वही, जि० १, पृ० ११२) वाले अर्ध-चित्र में साँची की कला उच्चतम शिखर पर पहुँच गई है। इसमें बाएँ तरफ एक नगर है जिसके फाटक की ओर नागरिक सिपाही, राजे-महाराजे, कुछ हाथी तथा घुड़सवार, कुछ रथी, घंटा, शंख तथा बंशी के तुमुल निनाद से आपूरित भीड़भाड़ के साथ आगे बढ़ रहे हैं। संसार में शायद कोई भी ऐसा अर्धचित्र नहीं जहाँ भीड़भाड़ का जिसमें राजे-महाराजे गरीबों से कन्धा सटाकर चल रहे हों, जिसमें प्राचीन सभ्यता के बाह्य आवरणरूप, शान-शौकत तथा आगे बढ़ते हुए जनसमूह की गति का इतना सुन्दर चित्रण हो। 'मार-विजय' (वही० पृ० ११४) भी साँची की कला के उत्कृष्ट उदाहरणों में है। मध्य में बुद्ध का सिंहासन पीपल के नीचे लगा हुआ है। दाहिनी ओर मार की पराजित सेना अस्तव्यस्त होकर भाग रही है तथा बाईं ओर देवगण बाजे बजाते हुए तथा झंडे हिलाते हुए सिंहासन की वन्दना करते हुए आगे बढ़ रहे हैं। प्राचीन अनुश्रुतियों के आधार पर देव-मूर्तियों का अंकन एकसा हुआ है, लेकिन मार-सेना का अंकन बहुत ही ओजपूर्ण है। भागती हुई सेना में जिसमें पशु, दानव इत्यादि हैं एक गति लक्षित होती है। इसमें शान्त तथा रौद्र का अपूर्व सामञ्जस्य होते हुए भी थोड़ासा हास्य का पुट है। भागता हुआ एक दानव अपने गिरे हुए साथी को त्रिशूल से गोदकर उठा रहा है। मालूम पड़ता है हड़बड़ाहट में वह अपना-पराया भूल गया है, अथवा इस गड़बड़ी में अलक्षित भाव से शायद वह अपनी पुरानी शत्रुता का बदला निकाल रहा है। जो कुछ भी हो, इस अंकन में दानवता के प्रति एक व्यंग है।

साँची के अर्धचित्रों में कला की दृष्टि से सुन्दर चित्र इतने अधिक हैं कि उनका वर्णन इस छोटेसे लेख में नहीं हो सकता। केवल इन चित्रों के विषयमात्र का उल्लेख हो सकता है। (१) इन चित्रों में बुद्ध-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले यथा जन्म, महाभिनिष्क्रमण, सम्बोधि, धर्मचक्र-प्रवर्तन तथा महापरिनिर्वाण के बहुत से चित्र हैं, जो दुहराए भी गए हैं। जातकों से सम्बन्धित भी बहुतसे चित्र हैं। (२) दूसरी श्रेणी में यक्ष और यक्षिणियों की मूर्तियाँ आती हैं। साँची के चारों तोरणों के निचले भाग में उभारदार यक्ष मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। शायद ये लोकपाल हों। (३) तीसरी श्रेणी में पशु-पक्षियों की मूर्तियाँ आती हैं। चित्रों में इनका अंकन प्राय: जोड़ों में है। पशुओं की योजना अधिकतर "नकली खुभियों" पर की गई हैं। पशुओं में कुछ तो वास्तविक हैं और कुछ काल्पनिक। कभी-कभी पशु सजे हुए और वाहकयुक्त हैं, और कभी सादे। पशुओं में बकरे, घोड़े, बैल, भैंसें, हिरन, ऊँट, हाथी, सिंह तथा सिंह-शार्दूलों की अधिकता है। सिंह-शार्दूल तथा पक्ष-युक्त सिंह भारतीय कला में पश्चिम एशिया की कला से आए। मयूर का उपयोग कभी-कभी सूचियों के आगे बढ़े हुए अंश को सजाने के लिए हुआ है।

साँची के तोरण अपने भिन्न-भिन्न प्रकार के पुष्प-अलंकरणों के लिए प्रसिद्ध हैं। साँची में अंकित अलंकारिक पुष्प और पौधे सादृश्यता लिए हुए तो हैं ही पर साथ ही साथ भारतीय कलाकारों ने अपनी अलंकारिक प्रवृत्ति से उनके अंकन में एक नया चमत्कार पैदा कर दिया है। अधिकतर पुष्प-अलंकरण भारतीय हैं तथा उनके नक्शे भारतीय कलाकारों के सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण के द्योतक हैं। पुष्पों में सबसे अधिक उपयोग कमल का हुआ है। कमल भारतीय सभ्यता में अष्टनिधियों में एक माना गया है तथा सब वरों के दायक तथा कल्पद्रुम और कल्पलता से इसका सम्बन्ध है। निधि का द्योतक और वरदायक होने से ही सम्भवत: यह बौद्धधर्म और संघ में बुद्ध का प्रतीक स्वरूप हो गया। साँची में कहीं-कहीं इसका अंकन सीधा और ज्यामितिक है, और कहीं-कहीं इसकी योजना गोमूत्रिकाओं में हुई है। कमल के लचीले बल खाते हुए डंठल अलंकार में एक अपूर्व माधुरी का समावेश करते हैं। साँची में ऐसी गोमूत्रिकाएँ सीधेसादे गढ़े हुए पत्थर के रूखेपन को



बहुत अंश तक हटाने में समर्थ होती हैं। साँची में एक जगह अंगूर की लता का भी अलंकारिक प्रयोग है। यह अलंकार बाहर से लिया गया मालूम पड़ता है। लेकिन इस अलंकरण के अन्तरालों में अंकित खिले हुए कमल तथा पशुद्वयों की मूर्तियाँ इस अलंकार को शुद्ध भारतीय रूप देने में समर्थ होती हैं।

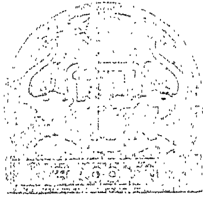
साँची में जिस कला का परिवर्द्धन और संस्कार हुआ उस कला का प्रसार सारनाथ तक हुआ। सारनाथ में साँची काल के बारह उत्कीर्ण स्तंभ पाए जाते हैं। भीटा से एक मिट्टी की बनी हुई एक गोल तख्ती मिली है जिस पर की कारीगरी साँची के अर्धचित्रों से बहुत मिलती है। ऐसा लगता है, मानो किसी हाथी-दाँत के बने छापे से यह नक्शा छाप दिया गया हो।

दक्षिण में इस काल की कला का सबसे उत्कृष्ट उदाहरण गुडिमल्लं का शिवलिंग है। परशुरामेश्वर नाम से उत्तरी आरकट जिले में रेणुगुंट के पास गुडिमल्लं में आज दिन भी शिव की इस भव्य मूर्ति की पूजा होती है। लिंग पाँच फुट ऊँचा है और उसके निचले भाग में दो भुजाओंवाले शिव की मूर्ति अंकित है। मूर्ति के हाथों में अंकस्वरूप मेढ़ा, परशु तथा पूर्ण घट हैं। मूर्ति एक जमीन पर पड़े हुए यक्ष पर स्थित है। पत्थर पर बड़ी अच्छी पालिश है तथा मूर्ति भरहुत और साँची की यक्ष-मूर्तियों से बहुत कुछ मिलती है, लेकिन कारीगरी और सच्ची अभिव्यक्ति की दृष्टि से साँची और भरहुत के अर्धचित्रों से कहीं बढ़कर है।

महाराष्ट्र में विक्रम-युग में या इससे थोड़ा हटबढ़कर लेणों की बनावट में तथा सजावट में उन्नति हुई। नासिक के पाण्डुलेण में चैत्य-गृह तथा नहपान-विहार इसी युग की देन है। चैत्य-गृह का बाहरी रुख दो खण्डों में विभाजित है। निचले हिस्से में एक महराबदार दरवाजा है तथा दूसरे खण्ड में एक बड़ा 'गवाक्ष' (चन्द्रशाला वातायन) है। द्वार पर यक्ष-मूर्ति की योजना है। नहपान-विहार में खम्भों के पाए घटाकार हैं तथा खुम्भिएँ घंटाकार। यह अलंकार कार्ले के चैत्य-गृह में अधिक विकसित अवस्था में पाया जाता है। कार्ले की लेण भारतीय वस्तुकला के उत्कृष्टतम उदाहरणों में एक है और शायद इसका समय विक्रम के समय में हो या कुछ हटकर। इस लेण की नाप १२४×४५ फुट है। स्तूप दो वेदिकाओं से परिवेष्टित है तथा ऊपर का लकड़ी का पुराना छत्र अब भी सुरक्षित है। नासिक की तरह चैत्य-गृह का मुखड़ा दो खण्डों में विभाजित है। निचले खण्ड में तीन द्वार हैं तथा ऊपरी सहन में एक बड़ा चन्द्रशाला वातायन है। चैत्य-गृह के दोनों ओर गलियारे छोड़ते हुए स्तम्भों की पंक्तियाँ हैं। इनके सिरे से उठती हुई काठ की तिल्लियाँ अण्डाकार छत को छाती थीं। नीचे के खण्ड में द्वारों के अन्तरालों में मूर्तियाँ अंकित हैं। दाताओं की अपनी धर्मपत्नियों के साथ वृहदाकार मूर्तियाँ तो प्रथम शताब्दी ई० पू० की हैं, लेकिन बुद्ध की उत्कीर्ण मूर्तियाँ गुप्तकाल की बनी मालूम पड़ती हैं। निचले दरवाजों के आगे निकलता हुआ एक दूसरा द्वार है जिसके बगल में कई खण्ड तक वास्तु-अलंकरण (इमारती लिखावट) अंकित हैं। इनमें सबसे निचली इमारती लिखावट को हाथियों की मूर्तियाँ अपनी पीठों पर सँभाले हुए हैं। पत्थर में बहुत से गड्ढे इस बात के साक्षी हैं कि सिंहद्वार के पहले कोई लकड़ी का दरवाजा या पोल रही होगी। चैत्य के बाहर एक धर्मचक्र से मंडित ध्वज-स्तम्भ है। इस काल की और भी बहुतसी छोटी-मोटी गुफाएँ हैं जिनका विस्तार-भय से यहाँ वर्णन नहीं किया जा सकता। उनकी कला के क्षेत्र में विशेष महत्ता भी नहीं है।

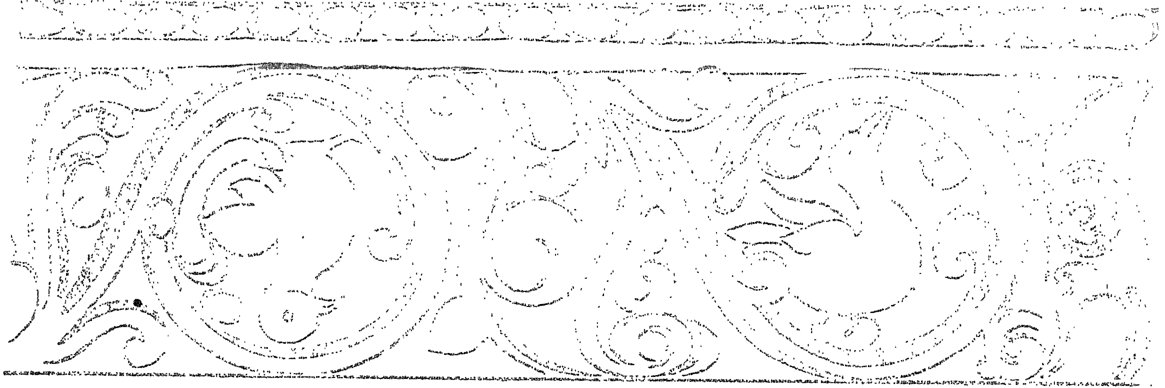
अजण्टा की नौवीं और दसवीं गुफाओं से इस बात का पता चलता है कि विक्रम-युग में चित्रकला कितनी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी। इन गुफाओं के चित्रों में साँची की तरह साफे बाँधे हुए आदमी तथा लम्बे तथा बहँगीवाले चोगे पहने हुए शिकारी तथा सिपाही दिखलाए गए हैं। इस काल की चित्रकला में वह तरलता तथा भावयोजना जिनसे गुप्तकाल में अजण्टा के चित्रों को अमरत्व मिला, नहीं है, फिर भी उनमें एक ओज और गुरुता है। रंगों के सवाल-जवाब से इस काल के चित्रकार अवगत थे, तथा रंगों के भारी और हलकेपन से पोल (modelling) दिखलाने में भी वे समर्थ थे। साँची में, जैसा कहा जा चुका है, मानव-आकृति के अंकन में सादृश्यता की कमी है लेकिन अजण्टा के चित्रों की आकृतियों में अपनापन है।

विक्रम-काल की कला के उपरोक्त विवरण से यह पता चल गया होगा कि देश की राजनीतिक प्रगति से हाथ से हाथ मिलाकर कला किस तरह आगे बढ़ रही थी। भारतीय दृष्टिकोण से तो कला की यह उन्नति विक्रम-युग के सर्वांगीण सांस्कृतिक अभ्युत्थान की एक अंग-मात्र थी। लेकिन कुछ विदेशी विद्वानों के मतानुसार इस उन्नति का कारण भारतीय



कला पर पंजाब तथा बाह्लीक की ग्रीक कला का प्रभाव है। यह एक अजीबसी बात है। अनेक युगों में जब-जब भारतीय संस्कृति अथवा कला ने आगे कदम उठाया है तब-तब यूरोपीय विद्वानों ने यह दिखलाने की भरपूर चेष्टा की है कि यह उन्नति विदेशी छाप को लेकर हुई, मानों भारतीयों में स्वतः उन्नत होने की शक्ति का विकास ही नहीं हुआ था। इस सम्बन्ध में एक ध्यान देने योग्य बात है। संसार में कला की उन्नति तथा अवनति का इतिहास देखने से हमें उस नैसर्गिक नियम का पता चलता है जिसके अप्रतिहत चक्र की अनुगामिनी होकर कला एक समय आगे बढ़ती हुई उच्चतम आदर्शों तक पहुँच जाती है और फिर उसी कला के रूढ़िगत सिद्धान्त धीरे-धीरे स्वतंत्र अभिव्यक्ति का गला घोंटकर उसे गहरे खड्ड में गिरा देते हैं। यह नियम संसार की सब कलाओं के लिए लागू रहा है और भारतीय कला भी इस नियम का अपवाद नहीं है। इसलिए यह कहना कि समय-समय से विदेशी सिद्धान्त ही गिरती हुई भारतीय कला को स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं गलत होगा। इस बात को मानने में किसी को कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि भारतीय कला ने समय-समय पर बहुत से अलंकार विदेशी कलाओं से लिए हैं तथा उनको ठेठ भारतीय साँचे में ढालकर इतना अपना लिया है कि उनकी जड़ का पता लगना तक मुश्किल हो जाता है। लेकिन इससे यह तो नहीं कहा जा सकता कि भारतीय कला की सर्वांगीण उन्नति उन थोड़ेसे विदेशी अलंकारों पर ही अवलंबित है। उस उन्नति की जड़ की खोज में हमें उस काल विशेष की राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल करनी होगी जिनका अवलम्बन लेकर कला आगे बढ़ती है। साँची की कला के बारे में सर जॉन मार्शल का यह कहना कि साँची के अर्धचित्रों में सादृश्ययुक्त अंकन है, केवल दिमागी उपज ही नहीं, कुछ ठीक नहीं मालूम पड़ता। नमूने को सामने बिठलाकर या प्रकृति की शोभा निरीक्षण करते हुए चित्र बनाने की प्रथा भारतीय पद्धति के विपरीत है। चिन्तन से ही आकृति को मूर्त रूप देना भारतीय कला की एक विशेषता रही है। इसका प्रमाण भरहुत में तथा साँची में अर्धचित्रों से मिलता है तथा गुप्तकाल की चिन्तनशील कला से। मार्शल जब सादृश्यता की ओर इशारा करते हैं तो उनका सम्भवतः तात्पर्य यह है कि इस युग में भारतीय कला में सादृश्यता विदेशी कला की देन है। लेकिन जब हम साँची की कला में सादृश्यता की ओर झुकाव देखते हैं तो हमें यह न समझ लेना चाहिए कि मानसिक चिन्तन से रूप-भेद की कल्पना जो प्राचीन भारतीय कला का आदर्श था इस युग में कोरे सादृश्यवाद में परिणत हो गया। इसका तो केवल यही उत्तर है कि इस काल में मानसिक शक्तियों में दृढ़ीकरण से रूपभेद की कल्पना को एक सहारा मिला और यही कारण है कि तत्कालीन मूर्तियों में बाह्यांकों का भरहुत की मूर्तियों के बनिस्वत अधिक सुस्पष्टभाव से अंकन हुआ है।

साँची के अर्धचित्रों का विधान ऐसे सुचारु रूप से हुआ है कि प्रस्तर में अंकित कथाएँ अपने आप बोलती सी देख पड़ती हैं। उस समय की संस्कृति में इतिहास के लिए ये चित्र रत्नभाण्डागार की तरह हैं। साँची की कला का विषय बौद्ध धर्म है। अर्धचित्रों में अंकित जातक-कथाएँ दर्शक के हृदय को बौद्धधर्म की ओर आकर्षित करती हैं। लेकिन विचार करके देखा जाय तो पता लगता है कि जिस जीवन का चित्रण साँची के अर्धचित्रों में दिया गया है उनका धर्म के गूढ़ तत्त्वों से बहुत कम सम्बन्ध है। गुप्तकाल की बौद्ध या शैव या वैष्णव मूर्तियों में आत्मचिन्तन के गूढ़ तत्त्वों का सन्निवेश है। भरहुत तथा साँची की कला में यह बात नहीं पाई जाती, इसका उद्देश्य आत्मचिन्तन तथा साधना को असाधारण जनता के सामने रखना नहीं है, इसका उद्देश्य तो जनसमूह के उस जीवन को रखना है जो बिना किसी बनाव-चुनाव के उनका अपना है। स्खलितवस्त्रा-यौवनोन्मत्ता यक्षिणियों की मूर्तियों की कल्पना के उद्गम स्थान को ढूंढ़ने के लिए हमें बौद्ध या ब्राह्मण धर्म की खोज नहीं करनी चाहिए। इस कला का उद्गम तो उस हँसते-खेलते समाज से हुआ जिसके जीवन में काम और अर्थ की वही महिमा थी जो धर्म और मोक्ष की। अगर हम थोड़ी देर के लिए यह भी मानलें कि जिस लोक-धर्म की व्याख्या साँची के अर्धचित्रों द्वारा की गई है उसका उद्देश्य कामोत्तेजकता की आड़ में धर्मवृद्धि था तो यह कहना पड़ेगा कि वह लोक-धर्म बौद्धों या उपनिषदों की शिक्षा के सर्वदा विपरीत था। इस लोक-धर्म की जड़ तो मातृपूजा की उस प्राचीन परिपाटी में मिलेगी जो संसार के कोने-कोने में फैली हुई थी। यही कारण है कि बौद्ध और ब्राह्मण दार्शनिकों ने अपनी नित्य-साधना में कला को विशेष महत्त्व नहीं दिया। क्योंकि ई० पू० प्रथम शताब्दी तक कला रसास्वादन या ब्रह्मास्वादन का सोपान नहीं हो गई थी। बौद्ध धर्म ने तो कला का माध्यम केवल इसलिए स्वीकार किया कि उसके द्वारा साधारण वर्ग का मन धर्म की ओर आकृष्ट हो सके। यह तभी सम्भव था जब साधारण जनता को मनचीती वस्तु मिले, जो उसकी बुद्धि को कसरत न कराकर ठीक ऐसे अलंकार, आकृतियाँ तथा दृश्य उनके सामने रक्खे जिनमें वह अपना प्रतिबिम्ब देख सकें।



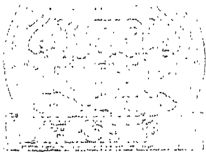
विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

हमारे परम सौभाग्य से वीर विक्रमादित्य का लीलाक्षेत्र अवन्ति-मालवा-प्रदेश और उनकी राजधानी उज्जैन, राष्ट्र-संस्कृति के महान् रक्षक एवम् प्रचारक पुनीत शिन्दे राजवंश के अधीन होने के कारण हमको भारतीय सभ्यता के उस सर्वोत्कृष्ट पुरुष श्रीविक्रमादित्य के अवतारकृत्य की द्वितीय सहस्राब्दी समाप्त होने के उपलक्ष में, उत्सव सम्पन्न करने का जो विशिष्ट अवसर प्राप्त हुआ है, उसके विषय में केवल इतना ही कथन अलम् होगा कि इस सुयोग के कारण उन के विषय में हमारे देश के कोने-कोने में जो विविध उत्सव, सहस्रों सभाएँ, विभिन्न चर्चा और तत्कालीन भारतीय संस्कृति के विवेचन सम्बन्धी विद्वानों में विचार विनिमय हुआ, यदि वह ग्रन्थ-रूप में प्रकाशित किया जाय तो उसके अनेक सहस्र पृष्ठ सहज ही में हो सकेंगे। भारतीय संस्कृति सम्बन्धी ऐसी विवेचनात्मक और परम रमणीय तथ्यबोधोत्पादक चर्चा, कम से कम विगत वर्षों में नहीं हुई।

वास्तव में श्री सावरकरजी के शब्दों में 'विक्रम' अब कोई व्यक्ति विशेष नहीं, वरन् वह भारतीय संस्कृति का प्रतीक बन गया है। खाल्डियन, सुमेरियन, ईजिप्शियन आदि सभ्यताएँ नष्ट-भ्रष्ट हो गईं। आज उनका नामलेवा तक नहीं रहा; किन्तु हम उसी पूज्य पुरुष के वंशज और उत्तराधिकारी दो हजार वर्षों के असंख्य दिवस गिनगिन कर उनके द्वारा प्रवर्त्तित संवत्सर की द्वि-सहस्राब्दी-समाप्ति-उत्सव सम्पन्न करने को जीवित हैं; क्या यह हमारे लिए कम अभिमान और स्फूर्ति का विषय है? विक्रम नामक एक ही व्यक्ति हुआ या अनेक, यह विवाद भी इस बात का परिचायक है कि भारतीय संस्कृति ही एक से अधिक पराक्रमी पुरुषों की परम्परा निर्माण कर सकती है। आज इस देश में शकारि विक्रम का नाम अमर है; क्योंकि उन्हींके प्रबल प्रताप और पुरुषार्थ के कारण शकों का नामोनिशान तक यहाँ नहीं रहा। ऐसी दशा में क्या विक्रम का नाम कभी 'यावत् चन्द्र दिवाकरौ' इस धरातल से विस्मृत हो सकता है?

विक्रम नामधारी सम्राट् ईसा से पूर्व हुए या अनन्तर? उस नाम का कोई पुरुष हुआ भी या यह केवल उपाधि है, आदि प्रश्नों के विषय में कई मत हैं। एक पक्ष प्रबल युक्तियों द्वारा वर्तमान विक्रम-संवत्-प्रवर्तक उस महान् व्यक्ति



विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

विक्रमादित्य का ईसा पूर्व ५७ वर्ष में होना घोषित करता है तो दूसरा पक्ष गुप्तवंशीय सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त को ही वास्तविक विक्रमादित्य उपाधिधारी बताता है। कुछ विद्वान् आंध्रभृत्य शातकर्णि, पुष्यमित्र, एजेस, कनिष्क, दशपुर के राजा यशोधर्मदेव आदि विभिन्न शासकों को ही विक्रमादित्य घोषित करते हैं। विक्रम शब्द के साथ ही शकारि, कालिदास, नवरत्न, विक्रम-संवत्-गणना की प्रथा आदि विषयों के संयुक्त कर देने से विक्रमादित्य का यथार्थ इतिहास अत्यन्त क्लिष्ट एवम् दुरूह बन गया है। ऐतिहासिक दन्तकथाओं में कुछ विकृति या तोड़मरोड़ भले ही हो जाए, किन्तु उनका आधार कुछ ऐतिहासिक तथ्य अवश्य ही होता है; अतएव दो हजार वर्षों जैसे लम्बे समय तक जो बात इस देश में प्रचलित रही हो, वह सहसा निर्मूल होगी, यह बात मानने को कोई भी तैयार नहीं होगा। अहमदाबाद के प्रसिद्ध इतिहासकार श्री शाह अपने "प्राचीन भारतवर्ष" में विक्रम की उपाधि धारण करनेवाले १५ व्यक्ति बताते हैं; अतएव जिस व्यक्ति का अनुकरण इतने अधिक रूप में पाया जावे, क्या उसके अस्तित्व के विषय में ही शंका प्रदर्शित करना योग्य कहा जा सकता है? शकारि विक्रमादित्य ईसा पूर्व ५७ वें वर्ष में अवश्य हुए; इसमें कोई सन्देह नहीं। भारतीय परम्परा के अनुसार जहाँ एक ही वंश में पूर्वजों के नाम दुहराने की प्रथा अस्तित्व में है, वहाँ एक से अधिक विक्रम नामधारी व्यक्तियों का प्रमाण मिल जाय तो तत्सम्बन्धी शंका होना भी स्वाभाविक ही है। २५ वर्ष पूर्व किसको ज्ञात था कि हमारे देश में पाँच हजार वर्ष पूर्व के 'मोहन जो दड़ो' और 'हड़प्पा' जैसे लुप्त नगर प्रकट होंगे। इसी प्रकार कौन कह सकता है कि यदि सौभाग्य से उज्जैन या मालवा के प्राचीन स्थानों के अवशेषों का उत्खनन किया जावे तो विक्रम सम्बन्धी और भी प्रामाणिक और महत्वपूर्ण साधन उपलब्ध नहीं होंगे; अतएव हमें इस लेख के द्वारा यही देखना है कि विक्रम सम्बन्धी वास्तविक तथ्य क्या है?

विक्रम सम्बन्धी ख्यातों का सारांश तो यही है कि विक्रम उज्जयिनी (अवन्तिका) के राजा गन्धर्वसेन के पुत्र थे। अपने बड़े भाई शंख को मारकर वे गद्दी पर बैठे। अनन्तर अपना राज्य छोटे भाई भर्तृहरि को देकर वे तप करने वन को चले गये; किन्तु भर्तृहरि के राज्य से उदासीन हो जाने के कारण फिर से उन्होंने राजपाट सँभाला। उनकी भगिनी का नाम मैनावति था तथा गौड़ देशाधिपति गोपीचन्द उनके भागिनेय थे। विक्रम ने बड़ा यश कमाया और विदेशी आक्रामक शकों का पराभव करके अपने नाम का विक्रम-संवत् प्रचलित किया। वे विद्या और कलाओं के उपासक तथा कालिदासादि नवरत्न पंडितों के आश्रयदाता थे; आदि।

विक्रम सम्बन्धी पैशाची, प्राकृत, अर्धमागधी, संस्कृत तथा हिन्दी, मराठी, बंगाली, गुजराती आदि भाषाओं में विपुल साहित्य है, और उनके सम्बन्धी असंख्य कहानियाँ यत्रतत्र बिखरी पड़ी हैं। उनका तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन सहजसाध्य बात नहीं है। उनके आधार पर ऐसे विलक्षण प्रश्न उद्भूत होते हैं कि उनके उत्तर भी सन्तोषजनक रूप से नहीं दिये जा सकते।

विक्रम के कुटुम्बी—पिता, माता, भाई, बहिन, भानजा, संवत्-प्रचलन का यथार्थ समय, कालिदासादि नवरत्न, उनकी सभा के पंडित, नाथपंथ आदि प्रश्न भी उनके चरित्र के साथ जोड़ दिये जावें तो वह 'भानुमती के पिटारे' से कम मनोरंजक और दुर्गम्य नहीं होगा। तत्सम्बन्धी काफी चर्चा हो चुकी है और वर्तमान परिस्थिति में उसके विवेचन का अन्त होना भी असम्भव है, जब तक कि एकाएक पृथ्वी के गर्भ से अन्य दबी-छिपी सामग्री प्रकाश में न आ जाय। अतएव यहाँ पर इस लेख के द्वारा हम उस महापुरुष सम्बन्धी अब तक के उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखों का ही विवेचन करेंगे।

ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह तो सभी कोई स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व चतुर्थ शताब्दी में पंजाब में मालव नामक एक वीर जाति बसती थी और उनका एक स्वतंत्र गण-राज्य था। लखनऊ पुरातत्त्व म्यूज़ियम के अध्यक्ष श्री वासुदेवशरणजी ने खोज की है कि पाणिनि के खंडकादिभ्यश्य सूत्र के गणपाठ में "क्षुद्रकमालवत्सेना संज्ञायाम्" जैसा उल्लेख पाया जाता है, जिससे क्षुद्रक-मालव इन उभय जाति की सेना होना सिद्ध है। सिकन्दरकालीन सभी यूनानी इतिहास-कारों ने मालवों के युद्ध का वर्णन किया है। मालवों ने ग्रीकों के साथ बड़ी वीरता से घोर युद्ध किया था। जयपुर-राज्य के करकोट नगर में दूसरी शताब्दी ईसा के पूर्व के मालव जाति के अनेक सिक्के प्राप्त हुए हैं, जिन पर "मालवानांजय:"



ऐसा उल्लेख पाया जाता है। इससे ज्ञात होता है कि मालव जाति ने कारणवश या अपने कार्यक्षेत्र को विस्तृत करने के उद्देश्य से पंजाब का परित्याग कर राजपूताने की ओर प्रस्थान किया था।

उस समय राजपूताने में भी मालवों के अतिरिक्त उत्तम भद्रों का गणराज्य था; अतएव उन दोनों जातियों में संघर्ष हुआ। शकस्थान के शकों की क्षहरात नामक शाखा ने सौराष्ट्र पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था तथा क्षहरातों का तक्षशिला और मथुरा पर भी अधिकार था। सौराष्ट्र के द्वितीय शक राजा नहपान के जामातृ उषवदात ने मालवों के विरुद्ध उत्तम भद्रों को सहायता दी थी, जिसका उल्लेख नाशिक गुफा के शिलालेख में पाया जाता है (इं० एं० ८।७८)। अनन्तर मालव राजपूताने से प्रस्थान कर वर्तमान मालवा में आ बसे, जिससे यह प्रान्त उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ज्ञात होता है कि मालवों का सौराष्ट्र के क्षहरातों से पुनश्च संघर्ष हुआ; अतएव मालवगणों के नेता ने सैनिक संगठन करके तत्कालीन हिन्दू सम्राट् दक्षिणापथेश्वर सातवाहन राजराज गौतमीपुत्र श्री शातकर्णि की सहायता से शकों का विनाश करके उन्हें मालवा से खदेड़ दिया; जिसका उल्लेख नाशिक प्रशस्ति में पाया जाता है, यथा **"आकरावति राजस, सक यवन-पह्लव निसूदनस वरवारण विक्रम चारु विक्कमस्य"** तथा **"खखरात वंस निरवसेस करस"** इन लेखों में क्षहरात वंश का निःपात करने का स्पष्ट उल्लेख है। अनन्तर मालवों ने दक्षिणापथेश्वर से सन्धि की एवम् विदेशियों के पराजय तथा स्वराज्य की स्थापना के फल-स्वरूप मालवों का संगठन तथा उनके गण की प्रतिष्ठा हुई। वही घटना "मालवगण स्थिति" को बतलाती है और वही नूतन संवत्-स्थापना का कारण हुई। मालवगणों का अधिपति विक्रमादित्य ही था। हमारे पुराणों में कई राजवंशों का उल्लेख पाया जाता है और सौभाग्य से उनमें भी यह घटना अंकित है। भविष्य पुराण में लिखा है कि:—

"शकानां च विनाशार्थमार्यधर्म विवृद्धये।
जातः शिवाज्ञया सोऽपि कैलासात् गुह्य कालयात्"
विक्रमादित्यनामानं पिता कृत्वामुमोहह ॥

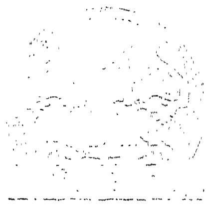
× × × × × ×

गंधर्वसेनश्च नृपो देवदूतात्मजो बलिः
शिवाज्ञया च नृपतिविक्रमस्तनय स्ततः ।
शतवर्षं कृतं राज्यं देवभक्तस्ततोऽभवत् ।"

यदि भविष्य पुराण की रचना आधुनिक भी मान ली जाय तो भी, वायु, मत्स्य, विष्णु आदि पुराणों में गर्दभिल्ल राजा के साथ विक्रमादित्य का वर्णन भी पाया जाता है। उक्त पुराण चतुर्थ शताब्दी से प्राचीन होना सभी को स्वीकार है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में सातवाहन राजा हाल ने गाथासप्तशती नामक प्राकृत ग्रंथ की रचना की, जिसमें विक्रमादित्य नरेश का स्पष्ट उल्लेख है। यथा **"संवाहण सुहरस तोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेन विक्कमाइत्त चरिअं अणु सिक्खिअं तिस्सा"** इसका अर्थ है "संवाहण (पगचम्पी) से प्रसन्न होकर नायिका के चरण ने तुम्हारे हाथ में लाक्षा (महावर) का रंग संक्रांत करते हुवे विक्रम नरेन्द्र के चरित्र को सीखा है (खंडिता नायिका); क्योंकि विक्रम ने भी सम्बाधन (शत्रु की सेना को बन्धन करने) से सन्तुष्ट होकर अपने भृत्य के हाथ में लक्ष (लाख रुपये) दिये थे" अब तक कोई विद्वान् उक्त प्रमाण का खण्डन नहीं कर सका है और उससे निर्विवाद सिद्ध है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रम-संवत् स्थापक विक्रम नरेन्द्र अवश्य हुए हैं।

महाकवि गुणाढ्य ने पैशाची भाषा में बृहत्कथा नामक ग्रंथ की रचना की, जिसका समय ईसा की द्वितीय शताब्दी निश्चित है। अनन्तर उसी के आधार पर कवि क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी नामक ग्रंथ की रचना की। इन दोनों ग्रंथों के आधार पर ही कवि सोमदेव ने कथासरित्सागर लिखा। उसमें महेन्द्रादित्य तथा सौम्यदर्शना के तप से प्रसन्न होकर शिवगण



माल्यवान् के विक्रम का अवतार लेकर पृथ्वी को म्लेच्छों से छुड़ाने की कथा अंकित की है। इसमें उल्लिखित संकेत 'गण', 'माल्यवान्', 'म्लेच्छ (शक)' आदि विचारणीय हैं जो स्पष्टतया विक्रमादित्य को ही इंगित करते हैं। सोमदेव ने पाटलिपुत्र के एक और विक्रम का उल्लेख किया है; अतएव उक्त उल्लिखित विक्रम मालवाधिप शकारि ही थे।

जैन ग्रंथों में भी विक्रमादित्य सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं और यद्यपि उनका रचनाकाल अनन्तर का है, फिर भी हमें सहसा उनमें वर्णित जनश्रुतियों पर विश्वास करना ही पड़ता है। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य (रचना काल विक्रम-संवत् ४७७), मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि, प्रबन्धकोष तथा तेरहवीं शताब्दी में लिखित प्रभावक चरित्र के कालकाचार्य-कथानक से शकारि विक्रम सम्बन्धी बहुत कुछ बातें ज्ञात होती हैं। जैन साधु कालकाचार्य की भगिनी सरस्वती ने भी उस धर्म की दीक्षा ली थी। वह परम सुन्दरी थी। अवन्ति के गर्दभिल्ल राजा ने बलात् उसका अपहरण किया, जिससे कालकाचार्य कुपित होकर शकों को मालवे पर चढ़ाई करने के लिये लिवा लाया और यहाँ पर उन का राज्य स्थापित हुआ। अनन्तर विक्रमादित्य (गर्दभिल्ल-सुत) ने शकों को पराजित करके पुनश्च अपना राज्य स्थापित किया और नया संवत् चलाया। उक्त घटना कालकाचार्य-कथानक में निम्न रूप में अंकित की है:—

> "शकानां देशमुच्छेद्य कालेन कियतापि हि ।
> राजा श्रीविक्रमादित्यः सार्वभौमोऽपमोभवत् ।।
> सच्चोन्नत महासिद्धिः सौवर्णपुरुषोदयात् ।
> मेदनीमनृणां कृत्वा व्यरचद्वत्सरं निजम् ।।"

अर्थात् विक्रमादित्य ने शकों को नष्ट करके अपना राज्य फिर से सम्पादन किया और उस विजय के उपलक्ष में नया संवत् चलाया। प्रभावक चरित्र के मूल प्राकृत चरित्र में भी उक्त श्लोक विद्यमान हैं और प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित डॉ० स्तीन कोनो तथा केसरी के सम्पादक श्री करन्दीकरजी उसको प्रामाणिक मानते हैं।

काशी विश्व विद्यालय के डॉ० अलतेकर उसे प्रक्षिप्त बताते हैं; किन्तु प्रमाणों से सिद्ध है कि शुंग वंश के अनन्तर मालवा पर परमार राजा का आधिपत्य हुआ। राजा देवदूत परमार का पुत्र गर्दभिल्ल उर्फ गन्धर्वसेन था। उसीका पुत्र विक्रमादित्य था, जो सम्भवतः परधर्मीय जैन सरस्वती की कोख से उत्पन्न होने के कारण विषमशील भी कहलाता था। गन्धर्वसेन के पहले के चार और उक्त तीन कुल सात राजाओं ने ७२ वर्ष तक मालवे में राज्य किया। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावलि में उल्लेख है कि नभोवाहन के पश्चात् गर्दभिल्ल ने उज्जैन में १३ वर्ष तक राज्य किया; किन्तु उसके उक्त कथित अत्याचार के कारण कालकाचार्य ने शकों से उसका पराभव कराया। शकों का यहाँ पर १४ वर्ष तक आधिपत्य रहा; किन्तु गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने शकों से अपना राज्य छुड़ा लिया। विक्रम ने साठ वर्ष तक राज्य किया, उसके पुत्र विक्रमचरित्र उर्फ धर्मादित्य ने ४० वर्ष तक राज्य किया, आदि। धनेश्वर सूरि विरचित शत्रुंजयमाहात्म्य में भी विक्रम का उल्लेख है। उसका रचनाकाल विक्रम-संवत् ४७७ बताया जाता है; किन्तु डॉक्टर अल्तेकरजी ने यह सिद्ध किया है कि उसमें उल्लिखित शिलादित्य नामक राजा का अस्तित्व ही नहीं था। इस प्रकार अनेक ग्रंथों में उल्लिखित जनश्रुतियों को अविश्वसनीय क्योंकर माना जाय, जबकि अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों से ईसा पूर्व संवत् ६० में शकों का राज्य उज्जैन तक फैला हुआ था और अनन्तर वह नष्ट भी हुआ, तो क्या वह घटना अपने आप घटित हो गई? अस्तु।

यद्यपि ईसा पूर्व मालवा प्रान्त पर मौर्य सम्राट् अशोक तथा अनन्तर कण्ववंशीय पुष्यमित्र के अधिकार होने के स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध हैं, किन्तु ऐतिहासिक आधार पर यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि अवन्ति देश में स्थान-स्थान पर गणराज्यों का आधिपत्य था, जिनके पचासों प्रकार के कार्षापण अर्थात् पंचमार्क सिक्के हमको उपलब्ध हुए हैं; अतएव सम्भव है कि चक्रवर्तित्व या सम्राट् के नाते वे गण-राज्य भी देशकाल की परिस्थिति के अनुसार उनके करद राज्य हो गये हों। विक्रमादित्य का वंश उन्हीं गण-राज्यों में से एक था। मालवा के घोषमति (मौजा घसोई परगना सुवासरा), उज्जैन, महेश्वर आदि प्राचीन स्थानों पर गन्धर्वसेन सम्बन्धी कई प्रकार की कहानियाँ प्रचलित हैं।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

पौराणिक आख्यानों तथा नाथपंथ सम्बन्धी ग्रंथों में भी इस सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। सुलोचन गन्धर्व के शापित होकर एक कुम्हार (कमठ-कुल्लाल) के यहाँ खर होने तथा राजकन्या सत्यवती से उनका परिणय आदि बातें नवनाथ भक्तिसार जैसे मध्यकालीन मराठी ग्रंथों में पाई जाती हैं।

विक्रमादित्य ने ही महाराजा शातकर्णि की सहायता से शकों का पराभव किया; अतएव उनका शकारि कहलाना सर्वथा स्वाभाविक है। वही विचारणीय घटना नूतन विक्रम-संवत् स्थापित करने का कारण हुई। उक्त घटना की ऐतिहासिकता के विषय में मतभेद नहीं है, किन्तु मालवा में उपलब्ध प्राचीन शिलालेखों के आधार पर डॉक्टर अल्तेकरजी का कहना है कि उनमें केवल "कृत" नामक संवत् का उल्लेख है; मालव तथा विक्रम शब्द उसके साथ बाद को जोड़े गये हैं; अतएव कृत नामक किसी वीर ने ही उसको प्रचलित किया है।

ईसा पूर्व ५७ वें वर्ष नूतन संवत् प्रचलित होने, शकों का मालवा में पराजय आदि ऐतिहासिक घटनाओं के विषय में तो उक्त डॉक्टर-महोदय को कोई आक्षेप नहीं है। केवल संवत्-प्रतिष्ठाता के नाम का ही प्रश्न सुलझाने को रह जाता है। हाल के विवाद में ही अल्तेकरजी ने उक्त प्रश्न उपस्थित किया है। उसके उत्तर में कोई कहता है कि कृत्तिका-नक्षत्र और कार्तिक से विक्रम-संवत् आरम्भ होने के कारण ही वह आरम्भ में 'कृत' कहलाया तो कोई साठ संवत्सरों की कल्पना के साथ ही आविर्भूत नूतन संवत्-प्रचलन के कारण नूतन-कृत ज्योतिष सिद्धान्त ही उक्त नामकरण का कारणीभूत होना बताते हैं। म्लेच्छों के पराभव के कारण कृत अर्थात् सतयुग प्रचलित होने की बात भी कही जाती है। किन्तु पौर्वात्य और पाश्चात्य पंडित यह तो एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि ईसा पूर्व ५७ वें वर्ष नूतन संवत् अवश्य ही प्रचलित हुआ, अलबत्ता उसके प्रतिष्ठापक के विषय में मतभेद है।

सबसे पहले प्रसिद्ध पश्चिमीय पंडित फर्ग्युसन ने यह प्रतिपादित किया कि संवत् ५४४ में कोरूर स्थान पर शकों का पराभव हुआ था। अतएव उसके उपलक्ष में उक्त संवत् उज्जैन के राजा हर्ष (मन्दसौर के राजा यशोधर्मदेव) ने प्रचलित किया; किन्तु इसके पूर्व के संवत् ४९३ तथा ५२९ के शिलालेख मन्दसौर में प्राप्त हो चुके हैं; अतएव फर्ग्युसन की बात अपने आप ही खण्डित हो जाती है। डॉ० फ्लीट ने कनिष्क के राज्यारोहण से उसका सम्बन्ध स्थापित किया; किन्तु उसका समय अनन्तर का है और नूतन खोज से वही शक-संवत् का प्रचलित करनेवाला सिद्ध हो चुका है।

डॉक्टर विंसेण्ट स्मिथ ने गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वितीय को उसका प्रतिष्ठापक माना है; किन्तु गुप्तों का अपना निजी स्वतंत्र संवत् था। साथ ही उसका समकालीन आज तक कोई ऐसा शिलालेख नहीं मिला, जिसमें किसी संवत् के साथ विक्रम का नाम जुड़ा हुआ हो।

डॉक्टर कीलहार्न ने कार्तिक मास में युद्ध के लिये प्रस्थान करने की ऋतु होने से विक्रम-संवत् की उत्पत्ति बताई है, तो डॉक्टर मार्शल ने पार्थियन राजा 'एजेस' द्वारा उसका प्रचलित करना बताया है; किन्तु उसका समय तथा मालवा से सम्बन्ध होने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। भारतीय पंडितों में से डॉक्टर भाण्डारकर ने पुष्यमित्र के शकों के पराजित करके ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा करने के उपलक्ष में 'कृत' संवत् की प्रतिष्ठा होना बताया है; किन्तु शुंग नरेश का शासनकाल १८० ईसा पूर्व था। श्री गोपाल अय्यर ने *Chronology of Ancient India* में गिरनार लेख के आधार पर रुद्रदामन् को विक्रम-संवत् का प्रतिष्ठापक बतलाया है। किन्तु वह भी ठीक नहीं जँचता। स्वर्गीय डॉक्टर काशीप्रसादजी जायसवालजी ने गौतमीपुत्र शातकर्णि को ही नासिक गुफा-लेख के विक्रम शब्द के आधार पर तथा मालवगणों की सहायता से शकों का संहार करने के उपलक्ष में उक्त बिरुद धारण करने तथा नूतन संवत् प्रचलित करने की बात कही है; किन्तु दक्षिणापथ के राजा का मालवा में संवत् प्रचलित करना असम्भव मालूम पड़ता है। साथ ही शिलालेखों में विक्रम शब्द केवल पराक्रम के लिए उपयुक्त हुआ है, क्योंकि शातकर्णि के अन्य लेखों या सिक्कों पर उक्त बिरुद पाया नहीं जाता।



विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक उल्लेख

समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् था। उसकी हाल ही में कुछ स्वर्ण-मुद्राएँ होलकर-राज्य के भीकन गाँव के निकट उपलब्ध हुई हैं। उनमें से एक मुद्रा पर 'श्री विक्रमः' जैसा स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है। उससे कम से कम स्मिथ का यह कथन तो असत्य साबित हो चुका है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही सबसे पहले विक्रमादित्य विरुद धारण किया था। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी सम्राट् थे; इसीसे कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि वेही विक्रमादित्य हों; किन्तु वह बात भी जँचती नहीं; क्योंकि समुद्रगुप्त रचित श्रीकृष्ण-चरित्र-ग्रंथ उपलब्ध हो चुका है, जिसमें राजा शूद्रक के विक्रमादित्य होने की बात लिखी है; किन्तु शूद्रक सम्बन्धी अभी तक कोई प्रामाणिक ऐतिहासिक साधन उपलब्ध नहीं हुए; इसीसे कुछ विद्वान् पुष्यमित्र को ही शूद्रक होने की कल्पना करते हैं। पुष्यमित्र कदापि संवत् प्रवर्तक नहीं हो सकता, इसका विवेचन हम ऊपर कर आये हैं।

उक्त विभिन्न विचार-प्रणाली के आधार पर यह तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि अभी तक बहुमत विक्रमादित्य सम्बन्धी मत स्थिर नहीं कर सका है।

अब हम विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न मतों का अवलोकन करेंगे। अब तक मालवा या अन्यत्र जितने भी शिला-लेख उपलब्ध हो चुके हैं, उनमें सबसे प्राचीन लेख जयपुर राज्यान्तर्गत बरनाला ग्राम में प्राप्त संवत् २८४ के यूप लेख पर 'कृतेहि' (=कृत) नामक एक संवत् का उल्लेख पाया जाता है। कोटा-राज्य के बड़वा के संवत् २९५ तथा उदयपुर राज्य के नानका ग्राम के संवत् २८२ में भी उसी कृत संवत् का उल्लेख है। इसी कृत संज्ञा का यथार्थ अर्थ मालवा प्रान्त के मन्दसौर में प्राप्त संवत् ४६१ **"श्रीमालव गणाम्नाते प्रशस्ते कृत संज्ञिते। एकषष्ठ्यधिके प्राप्ते, समाशत चतुष्टये।"** के लेख में पाया जाता है।

अर्थात् मालवगण द्वारा स्थापित कृत-संवत् का उसमें स्पष्ट उल्लेख है। संवत् ४९३ तथा ५८९ के मन्दसौर के लेखों तथा नगरी के संवत् ४८१ के लेख में "मालवगणस्थितिवशात्कालज्ञानाय विहितेषु", "मालव पूर्वयाम्" जैसे उल्लेखों से उसका परिमाण ठीक विक्रम-संवत् से मिलता-जुलता है। ग्यारसपुर (भेलसा) के संवत् ९३६ वाले लेख में उसे मालव देश का संवत् बताया है। इससे यह सिद्ध है कि विक्रम-संवत् मालवा के मालवगण द्वारा ही प्रचलित हुआ था। जब बहुत काल बीत जाने पर सर्व साधारण जनता को मालव-गणाधिपति विक्रमादित्य की विस्मृति होने लगी, तब मालव-संवत् बाद में विक्रम-संवत् में परिणत किया गया, जो उस महापुरुष की स्मृति अमर रखने के सर्वथा योग्य था। विक्रम-संवत् का सबसे पहला उल्लेख धौलपुर में प्राप्त चण्डमहासेन के संवत् ८९८ के शिलालेख में पाया जाता है। अनन्तर विजापुर के राष्ट्रकूट विदग्धराज के संवत् ९७३ वाले लेख में 'विक्रमगतकाल' तथा नवसारी में प्राप्त चालुक्य कर्कराज के संवत् ११३१ के ताम्रपट में भी 'विक्रमादित्योत्पादित संवत्सर' जैसा उल्लेख पाया जाता है। इससे यह सिद्ध है कि जिस प्रकार गुप्त-संवत् अनन्तर वल्लभी में परिवर्तित हो गया, उसी प्रकार मालव-संवत् का भी विक्रम-संवत् में रूपान्तर हो गया। गुजरात के चालुक्यों ने उसका खूब प्रचार किया।

इस प्रकार हम महान् सम्राट् विक्रमादित्य, तथा विक्रम-संवत् सम्बन्धी विभिन्न इतिहासज्ञों के दृष्टिकोणों का विहंगावलोकन कर चुके। अभी स्पष्ट प्रमाणाभाव के कारण तत्सम्बन्धी एक मत नहीं हो सका है। अतएव हमें भावी अन्वेषण की बाट देखना ही उचित मालूम देता है। जनश्रुतियाँ तथा प्राप्त साधनों के आधार पर तो यही कहना अलम् होगा कि :—

यत्कृतम् यन्न केनापि, यद्दत्तं यन्न केनचित्।
यत्साधितमसाध्यं च विक्रमार्केण भूभुजा॥

अर्थात् विक्रमादित्य ने वह किया जो आज तक किसी ने नहीं किया, वह दान दिया जो आज तक किसी ने नहीं दिया तथा वह असाध्य साधना की जो आज तक किसी ने नहीं की; अतएव उनका नाम अमर रहेगा।

विक्रम का न्याय

मेजर सरदार श्री कृ० दौ० महाडिक

जिस प्रकार आज कोई भारतवासी यह जानने का प्रयत्न नहीं करता कि राम और कृष्ण भारतीय इतिहास के किस काल में हुए थे और वे ऐतिहासिक व्यक्ति हैं भी या नहीं, परन्तु उनको अपने जीवन का आदर्श तथा उद्धारक मानता है; ठीक उसी प्रकार भारतवर्ष की जनता में विक्रमादित्य भी ऐतिहासिक राजा न होकर भारतवर्ष के आदर्श नरेश की भावना-मात्र रह गया है। विक्रमादित्य का नाम लेते ही हमारे हृदय-पटल पर एक आदर्श नृपति की तसवीर खिंच जाती है। विक्रमादित्य के विषय में प्रचलित दन्तकथाओं में ऐतिहासिक सत्य कितना है यह विवाद की बात है, परन्तु उनमें भारतीय जनता की विक्रम-भावना का पूर्ण समावेश है, इसमें सन्देह नहीं।

भारतीय न्याय का सच्चा आदर्श क्या है इसे पूरी तरह जानने के लिए हमें प्राचीन स्मृतियों के साथ इन विक्रम-विषयक दन्तकथाओं से भी सहायता मिल सकती है। विक्रमादित्य के न्याय के विषय में एक कथा नीचे लिखे प्रकार से जनता में प्रचलित है। महाराज विक्रमादित्य रात्रि में अपनी राजधानी में गश्त लगाया करते थे। एक दिन जब वे वेश बदले हुए घूम रहे थे तो उन्होंने देखा कि कुछ चोर चोरी की तैयारी में हैं। राजा ने सोचा कि इन्हें दण्ड देने की अपेक्षा इनका सदा के लिए सुधार कर देना अधिक उचित होगा। इस विचार से राजा उनसे मिले और अपने आपको उनका सहधर्मी बतलाकर उनके साथ हो लिए। वे लोग एक धनवान व्यक्ति के यहाँ चोरी करने गए और बहुतसी सम्पत्ति ले आए। जब उस सम्पत्ति का बटवारा हो रहा था उस समय महाराज वहाँ से चल दिए और नगर-रक्षकों द्वारा उन चोरों को पकड़वाकर सबेरे दरबार में उपस्थित करने को कहा। दूसरे दिन दरबार में चोरों ने देखा कि रात का उनका साथी स्वयं सिंहासन पर बैठा है। उन्होंने कहा "राजा! जिस कार्य में आप स्वयं हमारे साथ थे, उसमें हमें दण्ड कैसा"? राजा ने उनसे कहा कि तुम्हारे बचने का एक ही मार्ग है। यदि तुम कभी चोरी न करने का प्रण करो और आगे परिश्रम करके अपनी जीविका उत्पन्न करने का वचन दो तो तुम्हें मुक्ति मिल सकती है। उनके वचन देने पर राजा ने उन्हें मुक्त कर दिया, उनके रोजगार का उचित प्रबन्ध कर दिया और धनवान व्यक्ति का सब धन उसे वापस लौटा दिया।

विक्रम का न्याय

यह केवल किंवदन्ती है। इसे इतिहास-सिद्ध बात माना जाय यह मेरा आग्रह नहीं है। मैं तो केवल इतना कहना चाहता हूँ कि इस छोटीसी कहानी में न्याय के सम्बन्ध में वह भावना छिपी हुई है जिसे भारतवर्ष ने सदा से आदर्श मान रखा है। यही कारण है कि यह लोककथा भारतीय नरेश के आदर्श--विक्रम--के साथ जोड़ दी गई है। इसलिए विक्रम की न्याय-भावना, अर्थात् भारतीय न्याय-भावना का आदर्श जानने के लिए इस कथा में छिपे तत्त्वों का विश्लेषण करना उचित होगा। यह तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(१) अपराधी की ओर से तटस्थ रहने से समाज का कल्याण नहीं होता। हमारा प्रधान उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए। इस प्रकार एक अपराधी सुधरकर अच्छा नागरिक तो बन ही जायगा, साथ ही अपराध बन्द होकर प्रजा को सुख-शान्ति मिलेगी।

(२) अपराधी को दण्ड देने का विचार प्रधान न होना चाहिए। प्रधान बात तो यह हो कि ऐसे साधन काम में लाए जायँ—कानून ऐसे बनाए जाँय, जिससे अपराधों की रोक हो।

(३) प्रजा में सुख-शान्ति रहे, उसके धन-जन की हानि न हो यह देखने का कर्त्तव्य शासन (गवर्नमेण्ट) का है। यदि किसी की चोरी हो जाय तो या तो चोरों का पता लगाकर उनसे वह धन असल धनी को दिलाया जाय या उनसे दिलाया जाय जिनके जिम्मे सुरक्षा का काम हो।

अब आगे हम यह देखने का प्रयास करेंगे कि ये भावनाएँ जो विक्रम सम्बन्धी एक लोककथा में गुथी हुई हैं, वास्तव में भारतीय न्याय की मूल भावनाएँ हैं।

अपराधों की रोक की ओर हमारे शास्त्रकार विशेष ध्यान देते रहे हैं। वे दण्ड का उद्देश्य यही मानते थे। मनुस्मृति में लिखा है कि दण्ड समस्त प्रजा का शासन करता है, दण्ड ही सब लोगों की रक्षा करता है (दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति। मनुस्मृति, अध्याय ७, श्लोक १८)। इस प्रकार प्राचीन काल में दण्डों के प्रकार ऐसे रखे गए थे जिनसे अपराध करने की प्रवृत्ति रुके। प्रारम्भ में अपराधी को केवल 'धिग्दण्ड' देना ही काफी समझा जाता था। उससे यह आशा की जाती थी कि केवल डाट-फटकार करने एवं समझा देने से ही वह अपराध करने से रुक जायगा, और भला नागरिक बनेगा। इतने पर भी यदि वह न सुधरे और घोरतर अपराध करे तब समाज को उससे सजग रखने के लिए उसके शरीर पर कोई इस प्रकार का चिह्न बना देते थे जिससे स्पष्ट प्रकट हो कि उसे अपराध करने की आदत है। साथ ही उसका अंगभंग करके उसे अपराध करने से असमर्थ कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए जब कोई व्यक्ति बार-बार जेब काटने का अपराध करता पाया जाता था तो उसका हाथ काट डालते थे। इस प्रकार वह उस दुष्ट कर्म के करने से असमर्थ हो जाता था। यह स्मरण रहे कि ऐसे भयंकर दण्ड असाध्य अपराधियों को ही दिए जाते थे।

इसके अतिरिक्त नागरिकों का यह कर्त्तव्य रखा गया था कि वे अपराध होने की रोक करें। यदि किसी के सामने कोई अपराध हो रहा हो और वह उसे रोके नहीं तो उसे भी दण्ड दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति किसी को चोट पहुँचा रहा हो और कोई अन्य व्यक्ति वहाँ खड़ा हो तो उसका कर्त्तव्य है कि वह निर्बल की रक्षा करे। ऐसा न करने पर उसे दण्ड मिलता था।

चोरी आदि से जिसकी हानि होती थी उसकी पूर्ति भी कराई जाती थी। यदि चोर अथवा डाकू पकड़ा न जा सके तब हानि को पूरा कराने के विषय में शास्त्रकारों ने जो नियम बनाए हैं वे जानने योग्य हैं। नारद-स्मृति में लिखा है कि यदि गोचर भूमि के भीतर डकैती हुई हो तो उस भूमि के स्वामी का कर्त्तव्य है कि वह अपनी पूर्ण शक्ति लगाकर डाकू को पकड़े, और यदि डाकुओं के खोज उस भूमि के बाहर जाते न मिलें तो उससे, डाके में गया धन दिलाया जायगा। यदि डाकुओं के खोज उस भूमि के बाहर चले गए हों तो वह धन पड़ोसी मार्गपाल (Watchman) तथा दिक्पाल (Governor) को देना होगा।

मेजर सरदार श्री कृ० दौ० महाडिक

याज्ञवल्क्य ने इस विषय पर लिखा है कि जिस ग्राम की सीमा में डकैती हो उसको या जिस ग्राम तक डाकुओं के खोज मिलें उस ग्राम को डाके का धन देना चाहिए, और जब डकैती एक कोस से दूर हुई हो तो आसपास के पाँच ग्रामों से धन दिलाया जाय (याज्ञवल्क्यस्मृति, अध्याय २, श्लोक २७२)।

मनुस्मृति में लिखा है कि जब किसी अपराधी को राजा द्वारा दण्ड प्राप्त हो जाता है तब वह अपने पाप से पूर्णतः मुक्त हो जाता है (मनुस्मृति, अध्याय ८, श्लोक ३१८)। इससे स्पष्ट है कि दण्ड प्राप्त कर लेने के पश्चात् अपराधी पूर्ण नागरिक अधिकार प्राप्त कर लेता था। वह फिर इस बात के लिए स्वतन्त्र था कि समाज में भला जीवन व्यतीत करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम के न्याय से सम्बन्धित ऊपर लिखी हुई लोककथा में भारतवर्ष के न्याय-सम्बन्धी आदर्श की भावना पूर्णतः निहित है। इसके विपरीत यदि हम आज के कानूनों को इन सिद्धान्तों की कसौटी पर कसें तो यह उतने खरे नहीं उतरते। आज का कानून अन्धे के हाथ की लकड़ी अधिक है। वह अपराधी को ताड़ना करना ही जानता है। योरुप में न्याय की मूर्ति अन्धी बनाई जाती है। उसे केवल दण्ड देने से मतलब है। उसका प्रभाव क्या होगा, अपराधी सुधरेगा या नहीं, यह उसे दिख ही नहीं सकता। परन्तु हमारे शास्त्रों में न्याय की कल्पना अन्धे के रूप में नहीं की गई है। वह अपराध रोकना और अपराधी का सुधार करना अपना प्रधान कर्त्तव्य मानता है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि आगे हमारे कानून विक्रम के न्याय की भावना से युक्त बनाए जाँय और उनके निर्माण के समय भारतीय सिद्धान्तों पर भी पूर्ण विचार कर लिया जाय।





* विक्रमोद्बोधन *

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

वत्स,
मेरी जीवन-वल्लरि के फूल,
मेरी चरम साधनाओं के फल,
मेरी कठिन तपस्याओं के वरदान मधुर,
तुम पर केन्द्रित
भारत की आशाएँ, अभिलाषाएँ ।
मैंने तुमको दूध पिलाया,
गोद खिलाया,
आँखों की पुतली सा तुमको
उर की ममता की पलकों के
भीतर रक्खा सदा सुरक्षित,
पुष्ट किया तन को—
सह्याद्रि पर्वतों की चट्टानों सा ।
और हृदय को जोश दिया है
नर्मदा, ताप्ती, गोदावरी नदी की
प्रबल धार सा,
चली जा रही चीर
कठिन अन्तर जो गिरिमालाओं का ।
तुम इस महाराष्ट्र के वासी
जिसके पर्वत नहीं पिघलते ।
जो रण में जाकर
रिपु के शस्त्रों से भीत न होते ।
मैंने तुम्हें सिखाया—
मस्तक को पर्वत सा
सदा उठाए रहना,
मैंने तुम्हें सिखाया—
सरिता की धारा सा
जीवन सदा बहाते रहना ।
तुमको मैंने दिया जगत् को,
जैसे दिया अमर कंटक ने
दान नर्मदा के यौवन का ।
तुम मेरी आँखों के प्रकाश हो ।
आज तुम्हें मैं भेज रही हूँ
भारत की आशा को ज्योतित करने ।

जाओ,
जाओ वत्स, सातकर्णि,
गौतमीपुत्र, द्रुत
महामृत्यु से खेल खेलने,
रिपु के प्रबल सैन्य से लोहा लेने,
और देश का मान बढ़ाने,
भारत को स्वाधीन बनाने,
जाओ।
जाओ क्षिप्रा के तट पर,
जहाँ विदेशी शक शूरों से
लड़ते हुए,
हुए स्वर्ग के अतिथि
तुम्हारे पिता,
गर्व जिन पर
करते थे सभी सातवाहन,
जो भारत को
पदमर्दित होते नहीं देख सकते थे,
इसीलिये जो
स्वतंत्रता के महायज्ञ की
आहुति बनकर
अमर हो गए।
मैं जीवित रह गई,
सती न हुई,
नारि-धर्म की मर्यादा को भूली,
क्योंकि धर्म से देश बड़ा है।
स्वर्ग-सिद्धि से,
जग के हित में
सहते रहना क्लेश, बड़ा है।
दुखी देश के दुख में
लेने भाग, मुक्ति को भी ठुकराया।
यह वैधव्य शीश पर लादा
केवल इस आशा से—
यह मेरा नन्हा सा बालक
होगा बड़ा,
और हाथों में
लेगा यह तलवार तीक्ष्णतम,
स्नान कराएगा यह उसको
तप्त-रक्त से उनके,
जिनने भारत की
इस स्वर्ण-भूमि को
है किया पददलित,
रखा निरापद नहीं किसी का जीवन,
जो भारत के वैभव से
हो आकर्षित
आ गए लूटने-खाने।

× × ×

यह भारत
जिसके बल-विक्रम का
जयनाद हुआ
भूमंडल के प्रत्येक देश में,
जिसका ज्ञान और विज्ञान
मार्ग दिखाता मानवता को;
जिसकी संस्कृति के चरणों पर
फूल चढ़ाते
रोम और यूनान देश थे,
जिसके पोत अखिल विश्व के
महासिंधुओं की
छाती को चीरा करते;
जिसके व्यवसायों पर
वसुधा का जीवन है निर्भर,
कला और साहित्य जहाँ के
हैं आदित्य समान प्रकाशित,
जिसने दुनियाँ को
दिया दान समता का, मानवता का,
जिसने निर्माण किए
साम्राज्य नहीं,
प्रभुता के बन्धन से
बाँधा संसार नहीं;
जिसने पाकर शक्ति और वैभव
किया न पीड़ित जग का जीवन;
जिसने अखिल विश्व की
मानवता को एक कुटुंब समान बनाया,
आज वही भारत,
हो रहा त्रस्त।

× × ×

श्री हरिकृष्ण प्रेमी

ये बर्बर शक
लूट रहे भारत का वैभव,
जो धन-द्रव्य, परिश्रम कर,
करते हैं अर्जित भारतवासी,
उसे लूट कर ले जाते हैं,
शकस्तान के
प्रासादों का श्रृंगार सजाने,
भारत के लोगों को जो
ले जाते बरबस दास बनाकर;
रखते हैं जिनको
पशुओं से भी बुरी तरह,
जो भारत के नर-नारी के
स्वाभिमान का
मूल्य समझते नहीं जरा भी।
बौद्ध और जैनों को फुसला
खड़ा किया है
वैष्णव और शैव लोगों के सम्मुख।
वत्स, स्वार्थ से अन्धे होकर
काट रहे ये
अपनी ही माता के अवयव।

× × ×

वत्स,
समय आया है
जब तुम शौर्य दिखाओ,
भारत के कोने-कोने में
शब्द गौतमी के पहुँचाओ,
बौद्ध-जैन-वैष्णव—
शैव-द्रविड़-आर्य—
सब पुत्र एक जननी के,
एकत्रित हो
दूर करो अपने कन्धों से
जुआ दासता का दुखदाई।
बढ़ते चले आ रहे हैं
दलते हुए देश का जीवन,
बादल-दल से,
ये बर्बर शक।
वत्स, इन्हें दिखलाओ
भारत की तलवार वही
जो चन्द्रगुप्त ने
दिखलाई थी सेल्यूकस को।
याद रखो तुम राजनीति वह
बता गया कौटिल्य हमें जो।
दया, अहिंसा, प्रेम
कर न सकेंगे काम
बर्बर शक लोगों के आगे।
गीता का सन्देश
कर्म करने का मत भूलो।
पौरुष दिखलाओ,
आत्मा अमर,
न उसको कोई मार सकेगा।
सातकर्णि, तुम जाओ
और नया युग लाओ।
भारत के विक्रम का, जय का
नव संवत्सर तुम करो प्रवर्तित।
मुझको है विश्वास शत्रु के रक्त से
अभिषेक करूँगी शीघ्र तुम्हारा।
उज्जयिनी के
महाकाल के मन्दिर में
फिर से हो घंटे की ध्वनि
बन्द पड़ी है जो वर्षों से।
महाकाल बनकर तुम जाओ,
जाओ।*

*कविवर 'प्रेमी' ने श्री जायसवाल के आधार पर गौतमीपुत्र सातकर्णि को मूल विक्रमादित्य मानकर यह सुन्दर कविता लिखी है। सं०।

विक्रमकालीन न्यायालय

श्री गोविन्दराव कृष्णराव शिन्दे, बार-एट-लॉ

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय संस्कृति का विकास—प्राचीन भारतीय संस्कृति की यह एक विशेषता रही है कि देश में अनेक राजनीतिक हलचलों के होते हुए भी उसके विकास में कोई बाधा नहीं आई है। जो नवीन परिस्थिति उत्पन्न होती थी उसका समन्वय करके और उसे अपने आपमें घुला-मिलाकर वह आगे बढ़ने लगती थी। इसका प्रधान कारण तो यह था कि जब नगरों और राज्यों में राजवंश बदलते थे उस समय भारत की ग्राम-संस्था तथा यहाँ के ऋषि मुनियों के आश्रम सुरक्षित ही रहते थे। समाज का नियंत्रण करनेवाले शास्त्रों की रचना होती थी इन आश्रमों में, और उनका पालन होता था ग्रामों में। भारतीय संस्कृति के ये दो मूलाधार जब तक अविचल रहे तब तक भारतीय संस्कृति नियमित तथा दृढ़ रूप से प्रगति करती रही। प्राचीन भारत के न्यायालयों तथा उनके द्वारा प्रयुक्त नियमों आदि पर विचार करते समय भी इस तथ्य पर ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत समय तक अविच्छिन्न रहनेवाले प्रवाह द्वारा निर्मित होने के कारण न्यायालय एवं न्याय की भावना प्राचीन भारत में प्रायः एकसी रही। बाह्य परिस्थितियों के कारण कुछ विस्तार की बातों में भले ही अन्तर आ जाय, परन्तु मूल सिद्धान्त वेही रहे हैं।

विक्रमकालीन न्यायालय से तात्पर्य—इस बात का निर्णय तो इतिहास के विद्वान् करेंगे कि विक्रमादित्य कौन थे, वह केवल एक विरुद है अथवा नाम, वे चक्रवर्ती चन्द्रगुप्त थे अथवा मालवगण के नेता? हमारे निबन्ध के आशय के लिए तो यह मानना ही बहुत है कि विक्रमीय संवत्सर दो सहस्र वर्ष पुराना है, भले ही उसके नाम बदलते रहे हों। और हम जब विक्रमकालीन न्यायालयों पर विचार करना चाहते हैं तो हमारा काम केवल इतने से चल जाता है कि हम ईसवी पूर्व प्रथम शती के आसपास के भारतीय न्यायालयों की खोजबीन करें।

उस समय के न्यायालयों से सम्बन्धित शास्त्रों की जब हम खोज करने निकलते हैं तो हमारी दृष्टि मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति पर पड़ती है। भारतीय इतिहास के पंडित मनुस्मृति का रचनाकाल ईसा से १७० वर्ष पूर्व के लगभग

मानते हैं और याज्ञवल्क्य का समय ईसा की दूसरी शताब्दी बतलाया जाता है। इस बीच में इन्हीं दोनों स्मृतियों के सिद्धान्त माने जाते थे। अतएव यदि अपने विषय का प्रतिपादन हम इन दोनों स्मृतियों को प्रधान आधार बनाकर करें तो हम लगभग यह कह सकते हैं कि हमने विक्रमकालीन न्यायालय का विवेचन किया है। इन दोनों स्मृतियों के अतिरिक्त यदि अन्य ग्रन्थों का सहारा लिया जाय तब इन न्यायालयों का चित्र और भी स्पष्ट हो जाता है। अतः इन दोनों स्मृतियों को मूलाधार बनाकर साथ-साथ तद्विषयक अन्य ग्रन्थों का उपयोग भी इस लेख में किया गया है।

मामलों के पद—आज जिस प्रकार न्यायालय अपराध अथवा सम्पत्ति सम्बन्धी दो विभागों में बटे हुए हैं उस प्रकार प्राचीनकाल में नहीं थे। एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के मामलों में निर्णय दे देता था। मनु ने सम्पूर्ण मामलों को अठारह भागों में बाँट दिया है:—(१) ऋण (२) धरोहर (३) बिना स्वामित्व के कोई माल बेच देना (४) साझेदारी (५) दी हुई वस्तु वापिस ले लेना (६) वेतन न देना (७) ठहरावों का पालन न करना (८) क्रय-विक्रय में बदल जाना (९) पशुओं के स्वामी तथा पालकों के बीच विवाद (१०) सीमा-विवाद (११) मारपीट (१२) गाली (१३) चोरी (१४) साहस (१५) व्यभिचार (१६) पति-पत्नी के कर्त्तव्य (१७) बटवारा और (१८) जुआ।*

नारद ने इनको एकसौ तीस प्रकारों में विभाजित कर दिया है। इस प्रकार प्रायः सभी साम्पत्तिक एवं अपराध सम्बन्धी झगड़े इन 'पदों' पर चल सकते थे।

राजा का कर्त्तव्य—न्यायदान करना राजा का प्रधान कर्त्तव्य था। राज्य में जो पाप अथवा अनाचार किये जाते थे उनका उत्तरदायित्व राजा पर होता था। यदि राजा द्वारा किसी निरपराध को दण्ड मिल जाय अथवा अपराधी को दण्ड न मिले तो उसे अपयश के अतिरिक्त नरकवास का भय था।† राजा से तात्पर्य उस व्यक्ति से है जिसको प्रजा के शासन का अधिकार हो, यह आवश्यक नहीं कि वह क्षत्रिय ही हो। इसके अतिरिक्त इससे यह ज्ञात होता है कि स्मृतिकार की दृष्टि में केवल राजतंत्र ही नहीं थे, गणतंत्र भी थे। न्याय करते समय नृप को क्रोध और लोभ से रहित होना चाहिए। न्यायदान में व्यक्तिगत द्वेष अथवा अन्य कारणों से उत्पन्न हुए क्रोध को भी स्थान नहीं था और न आर्थिक लाभ को स्थान था।‡

---

* तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
सम्भूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादः स्वामिपालयोः॥
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च॥
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतामाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह॥ मनु० अ० ८ श्लो० ४-७॥

† अदण्ड्यान्दण्डयन्राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति॥ मनु० अ० ८ श्लो० १२९॥

‡ यह व्यवस्था भारत के न्याय की ईसवी सन् के बहुत पूर्व की है। इसके विपरीत इसकी उस समय के बहुत बाद की योरोप में प्रचलित न्याय-प्रणाली से तुलना करना उपयोगी होगा। नॉरमन काल की न्याय पद्धति पर लिखते हुए कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय के राजनियम के अध्यापक श्री जैक्सन लिखते हैं:—

"The holding of Courts was not thought of as being a public service. The right to hold a Court and take the profit to

न्यायालय के सदस्य—इतने प्रतिबन्धों के साथ भी राजा अकेला न्यायदान करने के लिए नहीं बैठता था। याज्ञवल्क्य ने लिखा है कि न्याय करते समय राजा के पास सम्मति देनेवाले ब्राह्मण भी होने चाहिए और उसे ऐसे सभासद भी (जिनकी संख्या सात, पाँच या तीन होना चाहिए) अपने साथ के लिए चुन लेने चाहिए जिनमें नीचे लिखे गुण हों *:—

(१) जो मीमांसा, व्याकरण आदि जानते हों,

(२) जिन्होंने वेदादि का अध्ययन किया हो,

(३) जो धर्मशास्त्र जानते हों,

(४) जो सत्यवक्ता हों और

(५) जो शत्रु तथा मित्र को समान समझते हों।

इनके अतिरिक्त कात्यायन ने यह भी लिखा है कि सभा में ऐसे वैश्यों को भी बैठाया जाय जो धर्मशास्त्र के नियम समझते हों।

अन्य अधिकारी—राजा को चाहिए कि ऐसे दो व्यक्तियों को क्रमशः गणक † (Accountant) तथा लेखक (Scribe) नियुक्त करे ‡ जिनमें नीचे लिखे गुण हों:—

(१) जो व्याकरण जानते हों,

(२) जो अभिधान (कोष) के जानकार हों,

(३) जो पवित्र हों, और

(४) जो विभिन्न लिपियों के ज्ञाता हों।

इनके अतिरिक्त एक सत्यनिष्ठ, विश्वसनीय एवं बलिष्ठ शूद्र साध्यपाल के रूप में नियुक्त किया जाता था, जो साक्षियों और वादी-प्रतिवादियों को लाता था तथा उनकी रक्षा करता था एवं मामलों के अन्य साधन उपलब्ध करता था।

प्राड्विवाक—इस अधिकारी की स्थिति राजा की उपस्थिति में कुछ स्मृतियों में अनिश्चितसी है। याज्ञवल्क्य स्मृति में ऊपर उल्लिखित अधिकारियों के अतिरिक्त, राजा के उपस्थित रहते और किसी अधिकारी की आवश्यकता नहीं बतलाई है। परन्तु नारद ⁑ और व्यास की यह सम्मति ज्ञात होती है कि राजा की मौजूदगी में भी प्राड्विवाक (मुख्य न्यायाधीश) होना चाहिए। इनके मतानुसार इसका कार्य राजा की उपस्थिति में अर्थी और प्रत्यर्थी से प्रश्न करना और उसके कथनों की जाँच करना है।

---

be made, was more in the nature of private property. It was on the same footing as the right to run a ferry and exclude anyone else from running a ferry in competition."

"The Machinery of Justice in England" p. **2.**

* श्रुताध्ययनसम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः॥ याज्ञवल्क्य॥

† शब्दाभिधानतत्वज्ञो गणना कुशलौ शुची।
नानालिपिज्ञौ कर्तव्यौ राजा गणकलेखकौ॥

‡ इन गणक और लेखक को मृच्छकटिक में क्रमशः 'श्रेष्ठि' और 'कायस्थ' कहा है।

⁑ धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहारानन्नुक्रमादिति॥

विक्रमकालीन न्यायालय

सभा-मण्डप—राजा, ब्राह्मण और सभासद आदि की यह सभा न्यायदान करती थी। जिस भवन में यह सभा बैठती थी वह "व्यवहार-मण्डप" या "अधिकरण-मण्डप" कहलाता था।* कात्यायन उसे 'धर्माधिकरण' नाम देते हैं और लिखते हैं कि 'धर्माधिकरण' वह स्थान है जहाँ धर्मशास्त्र के अनुसार सत्य और असत्य में भेद किया जाता है और जो वास्तव में न्याय का स्थान है।† इसके निर्माण के विषय में बृहस्पति लिखते हैं कि राजा को गढ़ के भीतर एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जिसके चारों ओर जल एवं वृक्ष हों और उसमें पूर्व की ओर उचित रूप से निर्मित पूर्वाभिमुख 'धर्माधिकरण' होना चाहिए।‡

समय और छुट्टियाँ—कात्यायन और बृहस्पति यह निश्चय करते हैं कि मामलों को दोपहर के पूर्व सुनना चाहिए। सूर्योदय के पश्चात् डेढ़ घण्टे से लेकर दोपहर तक न्यायसभा का कार्य चलता था।

संवर्त के अनुसार प्रत्येक पक्ष की अष्टमी, त्रयोदशी, चतुर्दशी और अमावस्या तथा पूर्णिमा को न्यायालय का कार्य नहीं करना चाहिए।‡

निर्णय—ऊपर लिखे विवेचन से यह तो स्पष्ट ही है कि राजा का न्यायदान म सबसे प्रधान स्थान था। परन्तु वह निरंकुश नहीं था। राजा का कर्त्तव्य था कि धर्मशास्त्र के नियमों का पालन करते हुए और प्राड्विवाक की सम्मति पर स्थिर रहते हुए एकचित्त होकर क्रमानुसार मामलों का निपटारा करे।§ राजा को स्वर्ग तभी प्राप्त हो सकेगा जब वह प्राड्विवाक, अमात्य, ब्राह्मण, पुरोहित और सभ्यों की सहायता से धर्मशास्त्र के अनुसार मामलों पर विचार करे।

राजा अपने अधिकार का दुरुपयोग नहीं करे इसके लिए ऊपर लिखे स्वर्ग और नरक के प्रलोभन तथा भय तो थे ही साथ ही राजा को अभिषेक के समय प्रतिज्ञा भी लेनी होती थी। मनु ने राजा के लिए दण्ड की भी व्यवस्था की है।* और कौटिल्य ने राजा को यह चेतावनी दी है कि स्वेच्छाचारी राजा का नाश हो जाता है।§ इस प्रकार प्राचीन भारत में इस बात के पर्याप्त बन्धन थे जिनके कारण राजा अन्याय नहीं कर सकते थे।

राजा के पश्चात् न्याय में प्रधान हाथ प्राड्विवाक का था। राजा की उपस्थिति में वह राजा को न्याय करने में सम्मति देता था और राजा की अनुपस्थिति में वह प्रधान न्यायाधीश होता था। परन्तु उस दशा में भी संभवतः प्राड्विवाक

---

* अरेशोधनक! व्यवहारमंडपं गत्वासनानि सज्जी कुर्विति..........:
विविक्तः कारितो मयाधिकरण मंडपः॥ मृच्छकटिकम नवम् अंक।

† धर्मशास्त्रविचारेण सारासार विवेचनम्।
यत्राधिक्रियते स्थाने धर्माधिकरणं हि तत्॥

‡ दुर्गमध्ये गृहं कुर्याज्जलवृक्षाश्रितं पृथक।
प्राग्दिशि प्राङमुखीं तस्य लक्षण्यां कल्पयेत्सभाम्॥

‡ चतुर्दशी ह्यमावास्या पौर्णमासी तथाऽष्टमी।
तिथिष्वासु न पश्येत व्यवहारान्विचक्षणः॥

§ धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाक मते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद्व्यवहारानानुक्रमादिति॥ नारद १, ३५।

* कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा॥ अ० ८, श्लो० ३३६॥

§ इसके विपरीत केम्बिसेस के समय में फारस के न्यायाधीशों द्वारा बनाया गया वह विधान देखना उपयोगी होगा जिसके अनुसार "राजा या बादशाह जो कुछ चाहता था कर सकता था"—जायसवाल द्वारा उल्लिखित रालिसन कृत हिरोडोटस।

का निर्णय राजा के पास अन्तिम स्वीकृति को जाता था और उस निर्णय पर दण्ड की व्यवस्था स्वयं राजा करता था।* यह उसी प्रकार की व्यवस्था थी जैसे कि आज प्रिवी कौन्सिल अपने निर्णय सम्राट् की ओर से लिखती है।

ऊपर लिखा जा चुका है कि राजा के साथ कुछ ब्राह्मण भी आवश्यक रूप से बैठते थे। उनका कर्त्तव्य था कि यदि धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों के विरुद्ध कोई बात हो रही हो अथवा अन्याय हो रहा हो तो वे चुप न रहें। इसके लिए मनु ने कहा है कि या तो न्यायसभा में जाए ही नहीं, यदि जाए तो सत्य अवश्य कहदे। ऐसा व्यक्ति यदि चुप रहता है या असत्य बोलता है तो पाप का भागी होता है।† परन्तु इन ब्राह्मणों का कर्त्तव्य यहीं समाप्त हो जाता है। यदि राजा फिर भी दुराग्रह करे तो उसके निवारण करने का कर्त्तव्य इनका नहीं है।‡

परन्तु, इसके विपरीत नियुक्त किये हुए सभ्यों का यह भी कर्त्तव्य है कि वे मामले पर अपनी सम्मति देने के अतिरिक्त, यदि राजा अन्यायपूर्ण आचरण करे तो उसका निवारण करें।¶ राजा के अन्याय करने पर जो उसका समर्थन करते हैं वे राजा के साथ ही उस पाप के भागी होते हैं, अतः उन्हें राजा को समझाना चाहिए।§

इतना ही नहीं, यदि ये सभ्य राग लोभ अथवा भय के कारण धर्मशास्त्र के प्रतिकूल कार्य करें तो उन्हें विवाद के धन से दूना अर्थ-दण्ड दिया जाना चाहिए।‖ यह दण्ड प्रत्येक सभ्य से अलग-अलग इसी परिमाण से वसूल किया जाता था।

अन्य वैश्य शूद्र आदि जो सभ्य उपस्थित होते थे उनका कार्य विशेष मामलों में रूढ़ियों और श्रेणीगत रीति-नीति का परिचय देना था।**

अन्य न्यायालय और अपील—ऊपर वर्णन किया हुआ न्यायालय राज्य का सर्वोच्च न्यायालय होता था। यद्यपि इस न्यायालय में भी मौलिक मामले (Original Cases) प्रस्तुत हो सकते थे, परन्तु वह वास्तव में अपील का न्यायालय था। इसके अतिरिक्त कुल, श्रेणी, पूग या गण और व्यक्तियों को भी राजा द्वारा न्याय करने के अधिकार

---

* अधिकराणिक-आर्य चारुदत्त! निर्णय वयं प्रमाणम, शेष तु राजा। मृच्छकटिकम्, व्यवहार नामक नवम् अंक।

† सभा वा न प्रवेष्टव्या वक्तव्यं वा समञ्जसम्।
अब्रुवन्विब्रुवन्वाऽपि नरो भवति किल्बिषीति ॥ मनु अ० ७, श्लो० १३ ॥

‡ अनियुक्तानां पुनरन्यथाभिधानेऽ नभिधाने वा दोषो, न तु राज्ञो ऽनिवारणे ॥ मिताक्षरा।

¶ नियुक्तानां यथावस्थितार्थकथनेऽपि यदि राजाऽन्यथा करोति।
तदाऽसौ निवारणीयोऽन्यथाऽदोषः ॥

§ अन्यायेनापि तं यान्तं येऽनुयान्ति सभासदः।
तेऽपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैर्नृप ॥ कात्यायन।

‖ रागाल्लोभाद्भयाद्वापि स्मृत्यपेतादिकारिणः।
सभ्याः पृथक पृथग्दण्ड्या विवादाद्विगुणं दमम् ॥ याज्ञवल्क्य ४॥

** इस प्रसंग में न्याय-सभा में बैठनेवाले धर्मशास्त्रज्ञ ब्राह्मणों तथा सभ्यों के साथ वर्तमान जूरियों तथा असेसरों की तुलना करना उपयोगी होगा। असेसर केवल सम्मति दे सकते हैं, उसे मानना या न मानना न्यायाधीश के मन की बात है। यही दशा सम्मति देनेवाले ब्राह्मणों की थी। भेद यह है कि आज असेसर कोई बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति भी हो सकता है, पहले केवल धर्मशास्त्र-ज्ञाता ही हो सकते थे। आज जूरी का प्रायः वही कर्त्तव्य है जो पहिले 'सभ्यों' का था। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि आजकल तो असेसर और जूरी केवल कुछ मामलों में ही नियुक्त होते हैं परन्तु प्राचीन काल में प्रत्येक मामले में उनका रहना निश्चित था।

दिये जाते थे।* इन न्यायालयों को विशेष प्रकार के मामले सुनने का अधिकार था, क्योंकि प्राचीन न्याय-पद्धति का यह मान्य सिद्धान्त था कि जिस प्रकार का मामला हो उसे सुनने के लिए उसी प्रकार की न्याय-सभा होना चाहिए।

कुल द्वारा किये हुए निर्णय पर श्रेणी, और श्रेणी के निर्णय पर पूग, एवं पूग पर राजा द्वारा अधिकृत पदाधिकारी विचार कर सकते थे। इस नृप द्वारा अधिकृत व्यक्ति के निर्णय के विरुद्ध राजा स्वयं अपील सुनता था।

वास्तव में प्राचीन भारत की यह विशेषता थी कि राजा तक बहुत कम मामले जाते थे। कुल, श्रेणी एवं गणों की न्याय सभाएँ ही उन्हें निपटा देती थीं। कुछ प्रकरण ऐसे अवश्य थे जिन्हें केवल उच्च न्यायालय ही सुन सकते थे। उदाहरणार्थ 'साहस' (गम्भीर अपराध) पूग या गण के न्यायालय नहीं सुन सकते थे।

कार्यवाही लिखी जाती थी—ऊपर लिखा जा चुका है कि न्याय-सभा में एक लेखक अथवा कायस्थ भी होता था। उसका कार्य कार्यवाही के आवश्यक विवरण लिखना था। न्याय के लिए प्रार्थना-पत्र लिखित प्रस्तुत नहीं होते थे। प्रत्यर्थी (मुद्दाअलेह अथवा मुलजिम) के उपस्थित हो जाने पर अर्थी (मुद्दई अथवा फरियादी) का कथन लिख लिया जाता था और उसके नीचे उसका नाम जाति आदि लिखी जाती थी तथा साल मास और दिन भी लिखा जाता था।† कात्यायन ने इसके लिखने की विधि विस्तारपूर्वक बताई है। वे कहते हैं कि अर्थी का यह कथन पहले खड़िया से काष्ठ-फलक पर लिखा जाय और फिर शोधन करके पत्र (कागज या अन्य भोज-पत्र आदि) पर लिखा जाय। इसी प्रकार अर्थी की उपस्थिति में प्रत्यर्थी का उत्तर लिखा जाता था। ऐसा प्रत्युत्तर लिखा जाने के पश्चात् ही अर्थी को वे साधन (साक्ष्य) लिखा देने पड़ते थे जिनसे वह अपने कथन की पुष्टि करता था। साक्षियों के कथन भी लिखे जाते थे।‡ और अन्त में जय-पत्र (डिक्री) लिखा जाता था। इस जय-पत्र में अर्थी-प्रत्यर्थी के कथन, दोनों पक्षों का साक्ष्य और सभा का निर्णय तथा उससे लागू होनेवाला न्याय का सिद्धान्त लिखा जाता था। उस पर अध्यक्ष के हस्ताक्षर तथा राजकीय मुद्रा लगाई जाती थी।

वकील—यहाँ इस बात पर भी विचार प्रकट कर देना समीचीन होगा कि प्राचीन राज-सभाओं में वकीलों द्वारा पैरवी होती थी अथवा नहीं। यह तो निश्चित है कि जिस रूप में आज वकील कार्य करते हैं उस रूप में न तो प्राचीन भारत में कोई वर्ग था और न योरुप में ही। आज वकीलों के प्रधानतः दो कार्य हैं। एक तो वे मामले को राजनियम के अनुसार अग्रसर करने में न्यायालय के सहायक होते हैं और दूसरे वे अर्थी अथवा प्रत्यर्थी के स्थान पर उपस्थित होते हैं। प्राचीन भारत में न्यायसभा की जो बनावट थी उसके कारण पहले कार्य के लिए किसी माध्यम की आवश्यकता न हो सकती थी। न्यायसभा में उपस्थित ब्राह्मणों एवं नियुक्त सभ्यों का यही कार्य था। वे धर्मशास्त्र के नियमों में पारंगत होते थे। उनकी उपस्थिति में प्राड्विवाक या राजा राजनियम सम्बन्धी भूल न कर सकता था।

दूसरे कार्य के लिए, अर्थात् स्वयं उपस्थित न होकर दूसरे को नियुक्त करने का आदेश स्मृतियों में है। अप्रगल्भ, जड़, वृद्ध, स्त्री, बालक और रोगियों को यह अधिकार था कि वे अपनी ओर से कथन करने के लिए या उत्तर देने के लिए उचित रूप से नियुक्त व्यक्ति भेजें।§ इनके कथनों पर जय या पराजय अवलम्बित होती थी।¶ ऐसे व्यक्तियों को,

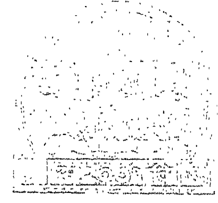
* नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ याज्ञवल्क्य।

† प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समामासतदर्धाहर्नामजात्यादिचिह्नितम्॥ याज्ञवल्क्य।

‡ मृच्छकटिक, नवम् अंक।

§ अप्रगल्भजड़ोन्मत्तवृद्धस्त्रीबालरोगिणाम्॥
पूर्वोत्तरं वदेद्बंधुर्नियोक्तोऽन्योऽथवा नरः॥ बृहस्पति।

¶ अर्थिना संनियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रेरितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ॥ नारद।



जो पक्षकारों के न तो निकट सम्बन्धी होते थे और न विधिवत् नियुक्त होते थे, यदि वे किसी पक्षकार की ओर से बोलते थे, दण्ड मिलता था।‡

जिस प्रकार आज कुछ गम्भीर अपराधों की दशा में न्यायालय में व्यक्तिगत उपस्थिति अनिवार्य होती है या अनिवार्य की जा सकती है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में भी नियम था। कुछ अपराध ऐसे थे जिनके विचार में स्वयं उपस्थित होना पड़ता था।‡

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यद्यपि वकीलों का वर्ग वर्तमान रूप में प्राचीन भारत में नहीं था, फिर भी उनके कारण जो भी सुविधा आजकल मिलती है, वह प्राचीनकाल में भी प्राप्त थी।

मृच्छकटिक—शूद्रक का मृच्छकटिक नाटक कुछ विद्वानों के मत से ई० पू० प्रथम शताब्दी अर्थात् हमारे विक्रम-काल में लिखा गया है। अपने निर्माणकाल के सामाजिक जीवन का इसमें बहुत सुन्दर चित्रण है। सौभाग्य से उसमें एक मुकद्दमे का भी वर्णन आगया है। स्मृतियों में दिए हुए सिद्धान्तों का कार्यान्वित रूप क्या था यह इससे प्रकट होता है। इसमें न्यायालय और उससे सम्बन्धित कर्मचारियों के नाम आए हैं। मृच्छकटिक के व्यवहार नामक नवम् अंक में सबसे आरम्भ में 'शोधनक' आता है। इस कर्मचारी का कार्य आसनों को सजाना, कार्यार्थियों को बुलाना आदि था। यही सम्भवतः स्मृतियों का 'साध्यपाल' है। आजकल के चपरासी और खल्लासी दोनों का कार्य इसने किया है। न्याय-सभा को 'व्यवहार-मण्डप' कहा गया है और न्यायाधीश को 'अधिकरणिक'। यही स्मृतियों का प्राड्विवाक् है। इसके साथ ही श्रेष्ठि तथा कायस्थ आते हैं। अधिकरणिक, श्रेष्ठि एवं कायस्थ आदि के यथा स्थान बैठ जाने पर शोधनक 'व्यवहार-मण्डप' के बाहर जाकर आवाज लगाता है कि जो कार्यार्थी हों वे अपने मामले प्रस्तुत करें। आगे प्रकट होता है कि अभियोग मौखिक ही निवेदन किया जाता था और 'कायस्थ' उसे लिखता था। यह लिखना प्रारम्भ में खरिया द्वारा ही होते है। आगे मामले के पक्षकार एवं न्यायाधीश का कर्त्तव्य भी बतलाया गया है। अर्थी और प्रत्यार्थी के ऊपर घटनाओं को सिद्ध करने का भार था तथा न्यायाधीश का कर्त्तव्य उनका अर्थ निर्धारित करना था। न्याय का कार्यक्रम प्रारम्भ होते ही सब सम्बन्धित व्यक्ति बुलाए जाते हैं।

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। मृच्छकटिक में अभियुक्त को उस समय तक निर्दोष समझकर उसका पूर्ण सम्मान किया गया है जब तक कि उसपर अभियोग सिद्ध नहीं हो गया। कथन लेने की प्रणाली भी आजकल के न्यायालयों के समान ही बतलाई गई है। न्यायाधीश, श्रेष्ठि एवं कायस्थ अभियुक्त से प्रश्न करते हैं। अभियोग के प्रमाणित होते ही अभियुक्त को आसन पर से उठाकर भूमि पर बैठा दिया जाता है। न्यायाधीश (अधिकरणिक) केवल निर्णय देता है, दण्ड का विधान राजा के हाथ में ही है। राजा के पास निर्णय तुरन्त ही भेज दिया जाता है और वह दण्ड की व्यवस्था भी उसी समय कर देता है। बध-दण्ड की व्यवस्था होने के कारण अपराधी 'चाण्डाल' को सौंप दिया जाता है।

इस दृश्य में दो तीन बातें बहुत मार्के की हैं। अभियोगी राजा का साला है, परन्तु फिर भी अभियुक्त को प्रारम्भ में निरपराध समझकर ही आदर मिलता है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि न्यायाधीश चारुदत्त को निरपराध समझता है, परन्तु फिर भी प्रत्यक्ष प्रमाण के सामने उसे झुकना पड़ता है; भले ही उसकी सहानुभूति अन्त तक चारुदत्त के साथ रहती है। तीसरी बात न्याय की शीघ्रता है।

---

‡ **यो न भ्राता न च पिता न पुत्रो न नियोगकृत्।**
परार्थवादी दंड्य, स्याद्यवहारेषु विब्रुवन ॥ कात्यायन।

‡ **ब्रह्महत्यासुरापाने स्तेयेषु गुर्वंगनागमे।**
मनुष्यमारणे स्तेये परदाराभिमर्शने॥
अभक्ष्यभक्षणे चैव कन्याहरणदूषणे।
पारुष्ये कूटकरणे नृपद्रोहे तथैव च॥ कात्यायन।



विक्रमकालीन न्यायालय

यद्यपि नाटकीय वातावरण लाने के लिए नाटककार को थोड़ीसी स्वतन्त्रता ग्रहण करनी पड़ी होगी, फिर भी यह दृश्य तत्कालीन न्याय का वास्तविक उदाहरण माना जा सकता है।

इस अंक में प्राचीन काल की न्यायालय सम्बन्धी शब्दावली भी निहित है।

न्याय के अन्य उदाहरण—भारतवर्ष के प्राचीन साहित्य में न्याय के उदाहरणों की कमी नहीं है। उनसे हमारी प्राचीन न्याय-प्रणाली पर बहुत प्रकाश पड़ता है। विक्रमीय प्रथम शताब्दी के बहुत पूर्व लिखे गए जातकों में जेतवन सम्बन्धी विवाद बहुत प्रसिद्ध है। इसमें एक पक्षकार राजकुमार था दूसरा साधारण श्रेष्ठि। परन्तु विजय श्रेष्ठि की हुई और इससे न्यायाधीश की निष्पक्षता स्पष्टतः प्रमाणित होती है। विक्रमीय संवत् के पश्चात् भी संस्कृत ग्रन्थों में अनेक न्यायों के उदाहरण प्राप्त होते हैं। राजतरंगिणी में तो एक स्थल पर एक गरीब के स्वत्व के सामने स्वयं राजा को झुकते बताया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व न्यायालय एवं न्यायदान की जो परम्परा चल रही थी वह बहुत व्यवस्थित तो थी ही, साथ ही अनेक अंशों में वह आज की व्यवस्था से श्रेष्ठतर भी थी। अन्त में हम अपना यह लेख शूद्रक द्वारा बतलाए हुए न्यायाधीश के लक्षण को दुहराते हुए समाप्त करते हैं:—

शास्त्रज्ञः कपटानुसारकुशलो वक्ता न च क्रोधन-
स्तुल्यो मित्रपरस्वकेषु चरितं दृष्ट्वैव दत्तोत्तरः॥
क्लीबान् पालयिता शठान् व्यथयिता धर्म्यो न लोभान्वितो
द्वार्भावे परतत्त्वबद्धहृदयो राज्ञश्च कोपापहः॥





विक्रम का सिंहासन

कर्नल राजराजेन्द्र श्री मालोजीराव नृसिंहराव शितोले

विक्रमादित्य के नाम के साथ जनश्रुति ने दो वस्तुओं को अमिट रूप से सम्बद्ध कर दिया है, एक तो बत्तीस वाचाल पुतलियों से युक्त उनका सिंहासन और दूसरा उनका सतत साथ देनेवाला वेताल।

इस लेख में हम विक्रमादित्य के सिंहासन का वर्णन जनश्रुति एवं अनुश्रुति के अनुसार करेंगे। सिंहासन बत्तीसी की कथा है कि एक बार इन्द्रलोक में इस बात की होड़ लगी कि रम्भा और उर्वशी में अधिक कलापूर्ण नृत्य किसका है। इसका निर्णय करने के लिए प्रसिद्ध कला पारखी वीर विक्रमादित्य स्वर्ग में बुलाए गए और उन्होंने अपनी कला-मर्मज्ञता से इन्द्र-सभा को प्रसन्न कर दिया। इन्द्र ने उन्हें एक अत्यन्त दिव्य सिंहासन उपहार में दिया। यह सिंहासन बहुत ही अप्राप्य एवं बहुमूल्य रत्नों से खचित था।

उस सिंहासन में बत्तीस पुतलियाँ बनी हुई थीं और उनके सिर पर चरण रखकर इस सिंहासन पर आसीन होते थे, ऐसा सिंहासन बत्तीसी के एक पाठ में लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि सिंहासन के ऊपर चढ़ने की जो सीढ़ियाँ थीं उनपर बत्तीस पुतलियाँ बनी हुई थीं। परन्तु इसीका दूसरा पाठ मिलता है जिससे यह ज्ञात होता है कि उस सिंहासन में बत्तीस उपसिंहासन थे और उनमें यह बत्तीस पुतलियाँ लगी हुई थीं। उपसिंहासन का अर्थ पाये हो सकता है अथवा सिंहासन की सीढ़ियाँ। एक तीसरे पाठ में केवल यह लिखा है कि उस सिंहासन में दैदीप्यमान तेज:पुंज बत्तीस पुतलियाँ थीं। इसीसे



मिलता-जुलता जैनों में प्रचलित पाठ है, जिसमें लिखा है कि वह सिंहासन बत्तीस पुतलियों से सुशोभित था। इस प्रकार हम देखते हैं कि सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न पाठकारों ने इन पुतलियों का स्थान अलग-अलग कल्पित किया है।*

इन पुतलियों के विषय में भी एक कथा प्रचलित है। यह बत्तीस पुतलियाँ पूर्व में पार्वती की सखियाँ बत्तीस सुरांगनाएँ थीं। एक बार वे एक सुन्दर आसन पर बैठी हुई थीं कि उन्हें भगवान् शंकर ने विलासपूर्ण दृष्टि से देखा। भगवती गौरी ने इसे देख लिया और क्रुद्ध हो शाप दिया "निर्जीव पुत्तलिकाएँ होकर इन्द्र के सिंहासन से लग जाओ"। इस कथा से इस सिंहासन की कल्पना और भी स्पष्ट हो जाती है। यह सिंहासन इन पुतलियों के उससे लगने के पूर्व ही पूर्ण था। यह तो पीछे से आकर लग गई थीं।

इन्द्र प्रदत्त विक्रम के इस सिंहासन का मूलरूप कल्पित करने के लिए भारत के प्राचीन शिल्पशास्त्र में वर्णित सिंहासन के आकार-प्रकार पर दृष्टि डालना उचित होगा।

सिंहासन से तात्पर्य है सिंह-मुद्रित मनोहर आसन (**मानसार, अध्याय ४५ श्लोक २०४**)। यह सिंहासन राजाओं के लिए होता था। राजाओं के राज्याभिषेक के लिए सिंहासन का होना आवश्यक समझा गया है। प्राचीन भारत में ही क्या, संसार के समस्त प्राचीन तथा अर्वाचीन देशों में राज्याभिषेक के समय विशिष्ट एवं बहुमूल्य आसनों का उपयोग होता रहा है। प्राचीन भारत में अभिषेक की चार स्थितियाँ मानी गई हैं और उनके अनुसार चार प्रकार के सिंहासनों का वर्णन है (१) प्रथमासन (२) मंगलासन (३) वीरासन और (४) विजयासन।

इन आसनों के भी दस प्रकार बतलाए गए हैं (१) पद्मासन (२) पद्मकेसर (३) पद्मभद्र (४) श्रीभद्र (५) श्रीविशाल (६) श्रीबन्ध (७) श्रीमुख (८) भद्रासन (९) पद्मबन्ध और (१०) पादबन्ध। बैठनेवाले नरेन्द्र की स्थिति के अनुसार ये आसन बनवाये जाते थे। पद्मासन नामक सिंहासन शिव अथवा विष्णु के लिए होता था। पद्मभद्र चक्रवर्ती नरेश प्रयोग करते थे, श्रीमुख मंडलेशों के काम में आता था, और पादबन्ध 'अष्टगृह' राजाओं के उपयोग की वस्तु थी।

सिंहासन के पाए सिंह की आकृति के होते थे, परन्तु पादबन्ध आसनों में तथा वैश्य तथा शूद्र जाति के छोटे राजाओं के आसनों में सिंह की आकृति नहीं बनाई जाती थी और उनके केवल चार पाए होते थे। अन्य सिंहासनों के छह पाए हुआ करते थे।

---

* सिंहासन बत्तीसी के चार पाठ मिले हैं। इनमें सिंहासन के विषय में नीचे लिखे पाठ मिलते हैं :—

(१) महार्घवररत्नखचितम् सिंहासनम्....................तत्सिंहासने खचिता द्वात्रिंशत् पुत्तलिकाः सन्ति। तासाम् शिरसि पदम् निधाय तत्सिंहासनं अध्यासितभ्याम्। (दक्षिण पाठ)

(२) ....रत्नसिंहासनम् महत्।
उपसिंहासनानि अत्र द्वात्रिंशत् तेषु पुत्रिकाः।
तन्मूर्धनि चरणं न्यस्य समारोहेन् महासनम्।
अस्मिन् सिंहासनेस्थित्वा सहस्त्रम् शरदम् सुखम्।
भुवं पालय भूपालः..............."॥ (श्लोकबद्ध पाठ)

(३) दिव्यरत्नखचितम् चन्द्रकान्तमणिमयं सिंहासनम् च दत्तम्।
तस्मिन् सिंहासने दैदीप्यमानास् तेजः पुञ्ज इव द्वात्रिंशत् पुत्तलिकाः सन्ति। (संक्षिप्त पाठ)

(४) द्वात्रिंशत्पाञ्चालिभंजिका चालितम् कान्तचन्द्रकान्तमणिमयम्..........। (जैन पाठ)

श्री मालोजीराव नृ० शितोले

हिन्दू धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा की अथवा राजसंस्था की उत्पत्ति दैवी बतलाई गई है। इस संसार में अराजकता के कारण जो कष्ट फैले हुए थे उन्हें मिटाने के लिए तथा जगत् के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के अंश से उसका निर्माण किया *।

यदि राजा से तात्पर्य केवल एकतंत्री राजा से न मानकर शासन करनेवाली संस्था के प्रतिनिधि से लिया जाय तो ये लक्षण किसी भी शासन-प्रणाली से लागू हो सकते हैं।

इस राजा के अधिकार का मूल धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याभिषेक संस्कार है। प्राचीन ग्रन्थों में अभिषेक की जो रीति वर्णित है उसमें सिंहासन का प्रधान स्थान है। राज्याभिषेक का सिंहासन † प्रारम्भ में खदिर की लकड़ी का बना होता था और उस पर सिंह की चर्म बिछी रहती थी। वह अत्यन्त विशाल होता था। अभिषेक के अतिरिक्त राज-सभा, न्यायसभा, एवं यज्ञों में भी राजा सुन्दर सिंहासनों पर आरूढ़ होता था।

राजा अथवा राज-संस्था की उत्पत्ति जब दैवी है, तो यह आवश्यक है कि सिंहासन की कल्पना के साथ-साथ दैवी भावना सम्बद्ध कर दी जाय। विक्रम के सिंहासन को भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त कल्पित किया गया है। उसमें जो सौन्दर्य वर्धन के लिए बत्तीस पुत्तलिकाएँ लगी हैं, वे देवांगनाएँ हैं, और वे इतनी सुन्दर हैं कि जिन्हें देखकर कामारि शंकर के मन में भी क्षोभ हुआ। अतः हम यह देखते हैं कि इस सिंहासन में जिन-जिन बातों की कल्पना की गई है वे सार्थक तथा सहेतुक हैं।

इस सिंहासन की एक अन्य विशेषता है, उस पर बैठने का प्रभाव। इस सिंहासन को देते समय इन्द्र ने विक्रमादित्य से कहा था "इस सिंहासन पर बैठना और संसार की रक्षा करना"। इस पर बैठने का प्रभाव भी अद्भुत था। महादरिद्रमन ब्राह्मण भी जब उस टीले पर चढ़ता था, जिसके नीचे यह सिंहासन दबा हुआ था, तो उसका हृदय अत्यन्त उदात्त एवं उदार विचारों से भर जाता था। राजा भोज ने भी इसकी परीक्षा की थी। वह स्वयं उस टीले पर चढ़ा और उसके हृदय में राजोचित पूत विचारों का उदय इस प्रकार हुआ "मैं संसार की रक्षा करूँगा, सब के दुःखों और क्लेशों का हरण करूँगा, समस्त संसार के कल्याण का प्रयत्न करूँगा, दैन्य का नाश करूँगा, पाप का उन्मूलन कर दूंगा, साधुओं का परित्राण और दुष्टों का विनाश करूँगा"। सिंहासन पर बैठने का प्रभाव ही इस प्रकार का हो कि राजा में उपयुक्त गुणों का अपनेआप स्फुरण हो और जिस राजा में ये गुण न हों और प्रयत्न करने पर उत्पन्न भी न हो सकते हों उसे राजसिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही मानों सिंहासनबत्तीसी लिखी गई है। विक्रमादित्य के परलोक गमन के पश्चात् जब मंत्रियों ने देखा कि ऐसा गुणवान राजकुमार उसके वंश में नहीं है तो उसे अपवित्र और लाञ्छित कराने के बजाय भूमि में गाड़ देना उचित समझा और जब एक सहस्र वर्ष उपरान्त राजा भोज ने उसपर आरोहण का प्रयत्न किया तो एक-एक पुतली ने विक्रम के एक-एक गुण का वर्णन किया और बहुत चुभता हुआ एवं सीधा प्रश्न किया "राजा भोज ! यदि तुझमें ये गुण हों तभी तू इस सिंहासन पर चढ़"।

---

* अराजकेहि लोकेऽस्मिन्सर्वतोविद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥
इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रानिर्हृत्य शाश्वतीः॥ मनुस्मृतिः अ० ७, श्लो० ३ तथा ४॥

† इस विषय में स्वर्गीय विद्वान् डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल ने लिखा है—आविद् या घोषणा के उपरान्त राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणतः शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिए चार मंत्र हैं। आगे चलकर जब हाथीदाँत और सोने के सिंहासन बनने लगे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था।..........यज्ञों में भरतों के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है। (देखिए हिन्दू राज्य-तंत्र, दूसरा खण्ड, पृष्ठ ४८)।

विक्रम का सिंहासन

राजा के लिए बहुमूल्य सिंहासन का निर्माण संसार के प्राय: सभी देशों में होता था। राज्याभिषेक के उपरान्त भी उनका उपयोग होता था। योरुप में पहले यह मंच के ऊपर होता था जिसमें सीढ़ियाँ लगी होती थीं। इस पर आसीन होना वहाँ के राज्यारोहण-समारोह का एक विशेष अंग था। सुलेमान के तख्त के विषय में कल्पना है कि वह हाथी दाँत का बना हुआ था और उस पर स्वर्णस्तर चढ़े हुए थे, उसके बाजुओं में दो सिंहों की मूर्तियाँ थीं और उसकी छै सीढ़ियों पर भी सिंह के जोड़े बने हुए थे। फारस के अब्बास नामक सम्राट् का सिंहासन सफेद स्फटिक का बना हुआ था। रूस के पीटर महान् के प्रपिता जार माइकेल फियोडोरोविच के स्वर्ण सिंहासन में आठ सहस्र नीलमणि, पन्द्रह सौ माणिक्य और दो विशाल पुखराज जड़े हुए थे। भारत के मुगल सम्राट् शाहजहाँ का मयूर-सिंहासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसमें चाँदी की सीढ़ियाँ थीं। उसके पाए सोने के थे, उसमें रत्न जड़े हुए थे और उसमें मयूर के पंखों की रत्नजटित आकृति बनी हुई थी। उसकी लागत बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रा बतलाई जाती है।

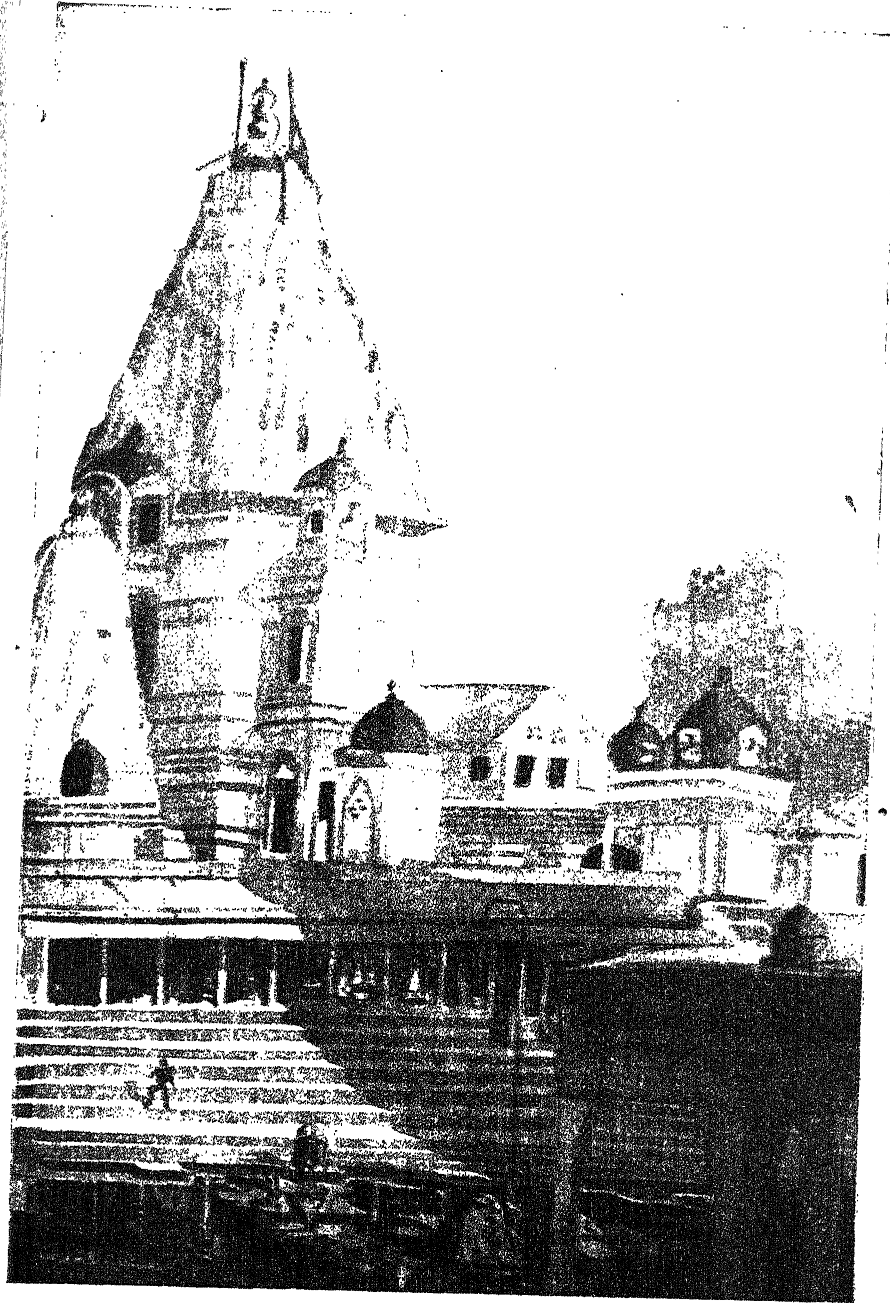
सम्राट् और राजा ही नहीं, साधु-सन्त भी अपने विशिष्ट सिंहासनों पर बैठते हैं। योरुप के पोप का अत्यन्त सुन्दर एवं बहुमूल्य आसन है। भारत के आचार्यों के गद्दीधारी भी विशिष्ट आसनों का प्रयोग करते हैं। भारत में बुद्ध भगवान् की कुछ मूर्तियाँ एवं चित्रों में उन्हें सिंहों से अंकित आसनों पर आसीन चित्रित किया है।

यह सब वर्णन प्रसंगवश किया गया है। इस लेख का उद्देश्य अनुश्रुति और जनश्रुति में कल्पित विक्रम के सिंहासन का रूप निरूपण करना ही है। यह रूप हमें सिंहासन बत्तीसी के विविध पाठों के अध्ययन से तथा उसके साथ सिंहासन की शास्त्रीय कल्पना से स्पष्ट हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी के रचयिता (तथा प्रतिलिपिकारों) का अन्य उद्देश्य * चाहे जो रहा हो परन्तु उसमें राज्य-सिंहासन का अत्यन्त मनोहर वर्णन और राज-धर्म की विस्तृत, हृदयग्राही एवं स्पष्ट व्याख्या मिलती है और उनका सम्बन्ध भारत के शौर्य, औदार्य एवं विक्रम के प्रतीक विक्रमादित्य से कर दिया गया है।

---

* निश्चय ही यह उद्देश्य धीमंतों के अनुरूप कालयापन एवं सकल-लोक-चित्त-चमत्कृत करना ही है।





महाकाल-मन्दिर

(चित्रकार—श्री पी० भार्गव, मथुरा)



लोककथा में विक्रमादित्य

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

मनुष्य-जगत् के सवाक् होने के कुछ ही काल बाद से लोककथा का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। उसके बीज और विकास के साधन तो मनुष्य परिवार के साथ के ही मानना पड़ेंगे। साधारण भाषा में उसे हम आदिकाल से चली आती मानेंगे। इस मान्यता से मनुष्य के मानसिक विकासकालीन बारीक इतिहास को छोड़कर अन्य शास्त्रीय व्यतिरेक भी नहीं होगा और हमको कहानी के प्रचलन के प्रारम्भ के समय की कुछ कल्पना भी हो सकेगी।

पूर्व की अनुश्रुति अनादि है। प्रत्यक्ष घटनाएँ भी मनुष्य आदिकाल से अनवरत देख रहा है। मानस जगत् के उसके भाव अनन्त हैं और उसकी कल्पनाओं का विशाल आकाश भी अपरिमेय है। इन सबमें उसकी दिलचस्पी भी घनी है। यही सब लोककथा के मूलतत्त्व हैं। कथाकार अपनी इच्छानुसार इनसे कहानी का शरीर गढ़कर अपनी वाणी से उसे अनुप्राणित कर देता है। कथा-प्रवक्ता की इच्छा ही उसके रूप की सर्वोपरि सृष्टा है।

आदिकाल से लोककथाएँ कही और सुनी जाती रही हैं। इस अखण्ड परम्परा के कारण उनमें अनुपम सौन्दर्य आ गया है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि जो लोककथाएँ आदिकाल में प्रचलित थीं, वही आज भी हैं। लोककथाओं की रचना और विकास तथा उनके संस्करण का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमें थोड़े निकट से उनका अध्ययन करना होगा।

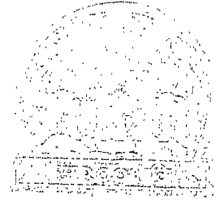
प्रत्येक कथा की रचना छोटे-छोटे कथानकों से होती है। उदाहरणतः विक्रमादित्य और राजा कर्ण की कथा का पूर्वार्ध (१) अकाल पड़ना (२) राजहंस के एक जोड़े का भोजन की टोह में निकलना (३) विक्रम द्वारा उनका सत्कार (४) खजाने के मोती समाप्त होना (५) विक्रम का दूसरे के दुःख के लिए व्यथित होना (६) राजपाट छोड़कर पत्नी सहित मुफलिसी के जीवन के लिए निकलना (७) राजा का लुहार के यहाँ नौकरी करना (८) भगवान् के दर्शन (९) राजा द्वारा केवल उन दो पक्षियों के भोजन के लिए याचना (१०) राजा के बगीचे में मोतियों के झाड़ इत्यादि इन छोटे-छोटे कथानकों से बना है। इन छोटे कथानकों के और भी छोटे हिस्से होना सम्भव हैं। कथा के इन

छोटे-छोटे पुर्जों को हम मूल कथानक अथवा मूल कल्पना कहेंगे। इन मूल कथानकों अथवा मूल कल्पनाओं के मिश्रण तथा परिवर्त्तित और व्यामिश्र रूपों से सारा लोक-साहित्य निर्मित हुआ है। निर्मित कथानक असंख्य हैं और फिर कल्पना भी अनन्त हैं। अतः इन मूल कथानकों अथवा कल्पनाओं की संख्या भी सीमाहीन है। किन्तु कथाओं में इनका मिश्रित और परिवर्त्तित रूप खूब ही पाया जाता है। वह सर्वथा स्वाभाविक भी है। एक ही कथानक अथवा कल्पना बिलकुल उसी रूप में अथवा थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ अनेक कथाओं में पायी जाती है। केवल विक्रमादित्य की कहानियों में ही विक्रम स्वयं भी पद्मिनी से विवाह करते हैं, तोते के शरीर में उनके आश्रयदाता राजा को भी वे पद्मिनी प्राप्त कराते हैं और उनका पुत्र भी पद्मिनी से विवाह करता है। इन घटनाओं को सम्बद्ध बनाने के लिए यह कल्पना की जा सकती है कि सिंहलद्वीप में अनेक पद्मिनी पैदा होती हैं। किन्तु यह कल्पना कथाकार की भावना के विरुद्ध है। वह तो संसार में पद्मिनी केवल एक मानता है और उसको उसका नायक प्राप्त करता है। इस प्रकार नायक पद्मिनी से विवाह करना है—यह लोककथाओं में एक व्यापक कल्पना हुई। इसी प्रकार की व्यापक कल्पनाओं को हम व्यापक मूल कथानक अथवा व्यापक मूल कल्पना कहेंगे।

आदिकाल से ये मूल कथानक प्रचलित हैं; ये अखण्ड परम्परा से कहे सुने गये हैं; अतः इनमें नर्मदा के कंकड़ों सरीखा शिवत्व आया है। प्रश्न उठता है कि क्या सारे मूल कथानक आदिकाल में ही कथाओं में जोड़ दिये गये और वेही आज़तक चले आ रहे हैं? तर्क और वास्तविकता—ये दोनों ही इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं। ऊपर ही देख चुके हैं कि मूल कथानकों की संख्या का अन्त नहीं है। मनुष्य की परम्परा आगे बढ़ रही है—उसकी कल्पनाओं का मार्ग प्रशस्त है और पार्थिव घटनाएँ भी वह नित्य नवीन देख रहा है। अतः अनगिनती संख्या में नई मूल कल्पनाओं का निर्माण अवश्यम्भावी है। और वैसा होता भी है। बीर बिकरमाजीत और राजा भोज इत्यादि विशिष्ट नामों की कहानियाँ उनके प्रादुर्भाव के पहले कैसे बन सकती थीं। इसके साथ ही पुरानी बात भूलने की आदत भी मनुष्य में है। अतः पुरानी मूल कल्पनाओं का लोककथाओं में से लोप होना और नवीन मूल कल्पनाओं का उनमें स्थान पाना, यह स्वाभाविक क्रम है—यद्यपि इस नियम का आभास वास्तविकता को बहुत ही अधिक शक्तिशाली अण्वीक्षण यंत्र द्वारा देखने पर ही हो सकता है।

वास्तविक तथ्यों का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि लोककथाओं में परिवर्त्तन अत्यन्त धीमी गति से होते हैं। अतः अमित काल पूर्व की कल्पनाएँ हम उनमें सुरक्षित पा सकते हैं। "दस चार चौदह विद्या के निधान" इस प्रयोग में हम विक्रमकालीन परिगणन की परिपाटी आज भी लोककथा-प्रवक्ता के मुंह से सुन सकते हैं। लोककथा साहित्य में क्रान्ति के अवसर व्यवहारतः न के बराबर आते हैं। अच्छे से अच्छे और बुरे से बुरे युग के संस्मरण भी इस महासागर में इस पार से उस पार तक एक पूरी हिलोर नहीं उठा पाते हैं—तरंग का अनुभव भले ही किया जा सके। लोककथाओं में विस्मरण और संवर्धन की प्रक्रियाओं के संस्करण भी बड़े धीमे होते हैं। बिना आधार के नवीन रचना तो अपवाद ही हो सकती है। और इस कारण इन कथाओं का सौन्दर्य सदा सतेज रहता है। लोककथा का संस्कारकर्त्ता एक चिर सुन्दर वस्तु में अपना सुन्दर दान जोड़ देता है और उसपर भी उसका प्रकाशन का अधिकार सुरक्षित नहीं होता। उससे आगे की परम्परा उसको पूरी तरह परखकर उस का पूरा उपयोग करती है। लोककथा कोरे कागद पर काली स्याही बनकर नहीं रहती। उसका अधिष्ठान तो लोकमानस है। परीक्षण स्थल में ही सतत निवास के कारण लोककथाओं का ऐसा मर्मस्पर्शी रूप है।

बुन्देलखण्ड में दिनभर के कामों से निपटकर रात्रि को भोजन आदि से निवृत्त होकर निश्चिन्तता से बैठने के लिए लोग जुड़ते हैं। यहीं लोककथा का अनुष्ठान होता है। कथा प्रवक्ता अपनी कहानी कहता है, एक व्यक्ति उस समाज में से 'हूँका' देता है और बाकी सब व्यक्ति मौन रहकर सुनते हैं। इस अनुष्ठान में हूँका एक अपरिहार्य साधन है। 'हूँका' देने का ढँग बड़ा आकर्षक होता है। प्रवक्ता के विराम स्थलों पर (जो वाक्य पूरा होने तक अनेक बार आते हैं) "हूँ!" "हाँ साब!" "और का!" "ऐसेंई है!" इत्यादि उत्तर देना तो साधारण है। किन्तु प्रवक्ता का "सहो भरने" के लिए "चल दए हैं!" "पोहोंच गए हैं!" "धन्न है!" "पटक दए हैं!" सदृश उत्तर घटना-वर्णन के अनुसार चतुर "हूँका" देनेवाला देता है।



श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

लोककथा के इस ठाठ के लिए स्थान अथवा ऋतु का बन्धन नहीं है। खेत, खलिहान, अथाई अथवा कोंड़े (अग्निकुण्ड) पर जहाँ कहीं भी समय काटने की अथवा मनोरंजन की आवश्यकता होती है—यह कहानियाँ कही सुनी जाती देखी जा सकती हैं। घर में बच्चों को सोने के लिए छोटी छोटी कहानियाँ कहकर बहलाया जाता है।

श्रव्य साहित्य होना लोककथा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है। पुस्तकों के पत्रों में बन्द न होकर उन्मुक्त भागीरथी की भाँति उसकी युग युग की यात्रा ने कहानी कहने की एक स्वतंत्र कला को विकसित किया है। कुशल प्रवक्ता अपने श्रोताओं को कहानी के प्रत्यक्ष दर्शन करा देने में समर्थ होता है। प्रवक्ता के हावभाव और वाक्य-विन्यास श्रोता को दर्शक बना देते हैं। बीच बीच में दोहा चौबोला अथवा गीत भी आते जाते हैं। लिपिबद्ध की जाने पर भी इन कथाओं का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है, किन्तु कहने की कला तो इनमें चमत्कार ला देती है। जिस प्रकार कहानी कही जाती है उस प्रकार लिखी जाना सम्भव नहीं है।

इन कथाओं का संस्कारकर्त्ता जान अथवा अनजान में प्रवक्ता ही होता है। प्रवक्ता होना किसी का विशेष अधिकार नहीं। कोई भी व्यक्ति जो कहानी जानता है और उसे सुनाता है—प्रवक्ता है। निश्चित रूप से पहले वह इन कहानियों का श्रोता रहा होता है। एक बात महत्त्वपूर्ण है कि किसी कथा में श्रोताओं को यदि यह ज्ञात होता है कि कुछ अंश बदला है तो उसकी चर्चा छिड़ जाती है। और जिस प्रकार लिखे साहित्य में 'पाठभेद' का प्रकरण चलता है उसी प्रकार इन लोककथाओं में "हमने तो ऐसी ही सुनी है" "हमने इससे इस प्रकार भिन्न सुनी है" इस प्रकार का 'प्रवचन-भेद' का प्रकरण चलता है। लोककथाओं में परिवर्त्तन उचित नहीं है—इस भावना का ऊपर के व्यवहार से आभास मिलता है। किन्तु इनमें परिवर्त्तन होते तो हैं ही। प्रयास से भी और अनायास भी वे प्रवक्ताओं द्वारा ही होते हैं। प्रवक्ता के मस्तिष्क में कथा की केवल मूल कल्पनाएँ रहती हैं। भाषा और कथा के शरीर की बाहरी सजावट—यह सब प्रवक्ता का अपना निजी होता है। इस कारण कथानक के बारीक परिवर्त्तन के अतिरिक्त कथा के कलेवर में प्रवक्ता के व्यक्तित्व की छाप निश्चित है। प्रवक्ता की सामाजिक एवं आर्थिक अवस्थाओं और रुचिओं का भी लोककथाओं पर पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। एक ही कहानी में विक्रम को एक प्रवक्ता सिपाही बनाता है और दूसरा जोगी। यह प्रवक्ता क्रमशः सिपाही और जोगी हैं। पहला प्रवक्ता कंचन देनेवाला दैत्य बताता है और दूसरा ऋषि-समूह। कथाओं में जादू का जोर भी एक विशिष्ट कल्पना वाले समाज में ही पाया जाता है। लोकमानस का अध्ययन करने के लिए लोककथा एक महत्त्वपूर्ण साधन है।

"बातसी न झूठी, बतासा सी न मीठी, घड़ी घड़ी का बिसराम—जानै सीताराम। सक्कर को घोड़ा सकलपारे की लगाम, छोड़ दो दरियाव में चला जाय छमाछम छमाछम। हाथभर के मियाँसाब, सवा हाथ की डाढ़ी, हलुवा के दरिया में बहे चले जाते हैं—चार कौर इधर मारते हैं, चार कौर उधर मारते हैं। इस पार घोड़ा, उस पार घास—न घास घोड़े को खाय न घोड़ा घास को खाय। इतने के बीच में दो लगाईं घींच में, तऊ न आये रीत में, तब धर कढ़ोरे कीच में, झट आगए बस रीत में। हँसिया सी सूधी, तकुआ सी टेढ़ी, पहला सौ कर्रौ*, पथरा सौ कौंरौ†, हातभर ककरी नौ हात बीजा—होय होय, खेरे गुन होय‡। बतासा कौ नगाड़ौ, पोनी कौ डंका—किड़ीधूम किड़ीधूम। जरिया✠ कौ काँटौ अठारा हाथ लाँबौ—भीत फोर भैंस कै लागौ। कहानियाँ की बहन महानियाँ। तानै बसाए तीन गाँव—एक अंजर, एक बंजर, एक में माँसई नइयाँ। जामैं नइयाँ माँस♀, बामैं बसैं तीन कुम्हार—एक लंगड़ा, एक लूला, एक के हातई नइयाँ। जाकैं नइयाँ हात, तानै बनाईं तीन हँडियाँ—एक ओंगू, एक बोंगू, एक कै औंठई नइयाँ। जाकै नइयाँ ओंठ, ताय बिसाएँ✳ तीन जनी◆—एक औरू, एक बौरू ✝ एक कै मौंहई ◐ नइयाँ। जाकै नइयाँ मोंह, बानैं चुरए⚱ तीन चाँउर—एक अच्चौ, एक कच्चौ, एक के चोटई नइयाँ। बानें नेउते तीन बाम्हन—एक अफरौ ⚘, एक डफरौ, एक कै पेटई नइयाँ............। जो इन बातन कौं झूठी समझै तौ राज कों डण्ड और जात कों रोटी। कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए। न कहनवारे कों दोस,

---

* रुई से भी कठोर; † पत्थर से भी कोमल; ‡ खेरे (गाँव—चैतन्यारोपित) के गुण से होता है; ✠ झरबेरी; ♀ आदमी। ✳ मोल लेती हैं; ◆ स्त्रियाँ; ✝ मूक; ◐ मुंह ही; ⚱ पकाये; ⚘ पेट भरा हुआ, तृप्त।

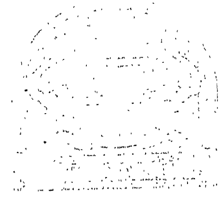
न सुननवारे कों दोस, दोस बाकों जाने बात बनाकें ठाड़ी करी। और दोस बउकों नइयाँ, काएके बानें तो रैन काटवे कों बात बनाई—दोस बाकों जो दोस लगावे। और बात सच्चियइ हुईए काएके तबई तौ कही गई।"—इस प्रकार की भूमिका के साथ बुन्देलखण्डी कथा-प्रवक्ता अपनी कहानी का प्रारम्भ करता है।

ऊपर की भूमिका से उसकी कथा का पूरा परिचय मिल जाता है। इसी प्रकार की अलंकारिक भाषा में उसकी कहानी होती है। वह चेतावनी दे देता है कि कल्पना की उड़ानें असम्भव की सीमा तक ली जावेंगी। और यह सभी बुन्देलखण्डी लोककथाओं में है। किसी भी प्रकार की कल्पना करने में कथाकार को थोड़ी भी हिचक नहीं है। पशु, पक्षी, पर्वत, वृक्ष—सबको वह अपनी कथा में मनुष्य की वाणी प्रदान कर सकता है। जड़ प्रकृति भी आपस में वार्त्तालाप कर सकती है। अलौकिक और असम्भव चमत्कारों का वर्णन उसके लिए सहज है—जैसा भूमिका की घटनाओं में किया गया है। मरे आदमी जिन्दा हो जाते हैं, इच्छा करते ही सोने के सतखण्डे महल खड़े हो जाते हैं और चुटकी बजाते ही काठ का घोड़ा हवा में उड़ने लगता है। किन्तु "जो इन बातन कौं झूठी समझै तौ राजकों डण्ड और जात कों रोटी.......सच्चियइ हुइए काएके तबई तो कही गई" भूमिका का यह अंश भी ध्यान देने योग्य है। घटनाएँ अत्यन्त कल्पित और असम्भव होते हुए भी उनमें एक केन्द्रीय सत्य होता है, जिसके लिए वह सारी कथा कही गई होती है। लोककथा "घड़ी घड़ी का बिसराम" और "रैन काटने के लिए" होते हुए भी उसका उपयोग धर्म और नीति का व्यापक, सीधा और प्रभावशाली प्रचार करने के लिए किया गया है। तत्त्व में प्रवेश लोककथाकार सरल कर देता है। मनुष्य जगत् के युगयुग के अनुभव भी इन लोककथाओं में संकलित हैं। इन कथाओं की वय बहुत अधिक होने से उसी अनुपात से इनमें ग्रथित ये अनुभव भी परिपक्व होते हैं। प्राचीन लिपिबद्ध धार्मिक और नैतिक कथासाहित्य को लोककथा का गौरवयुक्त पद प्राप्त हुआ है। और हमारे मतानुसार तो ये कथाएँ मूलतः लोककथाएँ ही हैं—बाद में उनका संकलन, सम्पादन और उपयोग तथा प्रक्षेप किया गया है। धर्मप्राण भारत में धर्म और नीति का लोककथा साहित्य पर बहुत अधिक प्रभाव होते हुए भी मानस जगत् के अन्य भावों की भी अभिव्यक्ति इनमें थोड़ी भी नहीं पिछड़ी है। सभी भावों का इस महोदधि में पूरा उत्कर्ष देखा जा सकता है। इसी कारण प्रवक्ता अपनी भूमिका में कहता है कि "कहता तो कहता पर सुनता सावधान चइए।"

इतिहास का प्रभाव लोककथाओं पर बहुत थोड़ा दिखता है। यदि ऐतिहासिक वृत्त इनमें मिलें तो कथाकार को कोई उजर नहीं है। किन्तु यदि वह भ्रष्ट रूप में हों तो कोई आश्चर्य नहीं है। क्योंकि प्रवक्ता को तो अपने केन्द्रीय सत्य के प्रतिपादन और मनोरंजन से अधिक वास्ता है—इतिहास के प्रति शायद वह बिलकुल उदासीन है।

"राजा-रानी और राजकुमार-राजकुमारी"—इनके चित्रणों की ही भरमार लोककथाओं में होती है, यह भ्रामक कल्पना एकदम निर्मूल है। चिमऊं चोर, कलिया भंगिन, गड़रिया, धोबी, पूतबिलासी नाई, संतला जोगी, सिपाही, गधा, घोड़ा, कुत्ता, बैल, ऊँट, हाथी, बन्दर, स्यार, लड़ैया, लुखैया, शेर, चीता, सेठ-साहूकार, महते, कोतवाल, सरदार, राजा-रानी, राजकुमार-राजकुमारी—सबका महत्त्व लोककथाओं में एकसा है। इन कथाओं में गड़रिया भी सेठ की लड़की पर अनुरक्त हो सकता है और वह भी उसके पास जा सकती है। 'बादसाह अखब्बर' गड़रिया को अपना मित्र बनाता है और विक्रम अपनी प्राणरक्षा के लिए कलिया भंगिन के पास जाते हैं। अतीत में सामाजिक और आर्थिक वैषम्य का अस्तित्व होते हुए भी लोकमानस उसके कारण कभी व्यथित नहीं हुआ और न उसे ईर्ष्या ही हुई, क्योंकि साधनों की सुलभता और जीवन की सरलता उसे यथेष्ट मस्त बनाए थी। इसी कारण यह साम्ययोग इन कथाओं में है।

इन बुन्देलखण्डी लोककथाओं में राजा बीर बिकरमाजीत की कहानियों को सम्मानपूर्ण पद प्राप्त है। ये गम्भीर और शुभ समझी जाती हैं। पूछे जाने पर प्रवक्ता कहते हैं कि "राजा बीर बिकरमाजीत, पर दुख के काटनहार हते, चौदा विद्या के निधान हते। उन सरीखौ राजा तौ पृथवी पै होबौ मुसकिल है। सेर और बकरियां उनके राज में एक घाट पै पानी पियत हते।" विक्रम की कथाएँ प्रवक्ता बड़े आदर से सुनाते हैं। यह पवित्र और शुभकर मानी जाती हैं। राजाओं के व्यक्तिगत नामों से जितनी कथाएँ प्रचलित हैं उन सबमें इन कहानियों की संख्या अब तक हमें सबसे अधिक मिली है। राम और कन्हैया की तरह बिकरमा नाम भी बुन्देलखण्ड में खूब मिलेगा।



श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

व्यक्तित्व—यह पहले ही देखा जा चुका है कि लोककथाओं में ऐतिहासिक वृत्तों की विशेष चिन्ता नहीं की जाती है। अतः इनमें वर्णित राजा बीर बिकरमाजीत कौनसा है इसका निर्णय शास्त्रीय नहीं हो सकता। किन्तु जितना भी कुछ मसाला अटकल के लिए उपलब्ध है, उसके अनुसार यह राजा बीर बिकरमाजीत उज्जैन नगरी का स्वामी और विक्रम-संवत् का प्रवर्त्तक ही सिद्ध होता है।

"चौदा बिद्या के निधान, परदुख के काटनहार राजा बीर बिकरमाजीत" यह प्रशस्ति बुन्देलखण्डी लोककथाओं में विक्रम का नाम आने पर सदा उपयोग में लाई जाती है। हमारा यह आग्रह नहीं (न हमारा यह क्षेत्र ही है) कि गौतमी-पुत्र शातकर्णि को शकारि विक्रम माना जाय, परन्तु उसकी नासिक-प्रशस्ति लोककथा के हमारे विक्रमादित्य के वर्णन से बहुत मिलती जुलती है। माता गौतमी बालश्री उस लेख में अपने पुत्र सातकर्णि के लिए लिखती हैं—"राजाओं के राजा, गौतमी के पुत्र, हिमालय-मेरु-मन्दार पर्वतों के समान सारवाले, असिक असक मुळक सुरठ कुकुर अपरान्त अनूप विदर्भ आकर (और) अवन्ति के राजा, विक्र छवन पारिजात सह्य कण्हगिरि मच सिरिटन मलय महिद सेटगिरि चकोर पर्वतों के पति, सब राजा लोगों का मण्डल जिसके शासन को मानता था ऐसे, दिनकर की किरणों से विबोधित विमल कमल के सदृश मुखवाले, तीन समुद्रों का पानी जिसके वाहनों ने पिया था ऐसे, प्रतिपूर्ण चन्द्रमण्डल की श्री से युक्त प्रियदर्शन, अभिजात हाथी के विक्रम के समान, नागराज के फण ऐसी मोटी मजबूत विपुल दीर्घ शुद्ध भुजाओंवाले, अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले, अविपन्न माता की सुश्रूषा करनेवाले, त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाँटनेवाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दुःखवाले, क्षत्रियों के दर्प और मान का मर्दन करनेवाले, शक यवन पह्लवों के निषूदक, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा-रुचिवाले, द्विजों और अवरों के कुटुम्बों को बढ़ानेवाले, खखरातवंश को निरवशेष करनेवाले, सातवाहन कुल के यश के प्रतिष्ठापक, सब मण्डलों से अभिवादित चरण, चातुर्वर्ण्य का संकर रोक देनेवाले, अनेक समरों में शत्रु-संघों को जीतनेवाले, अपराजित विजयपताका युक्त और शत्रु जनों के लिए दुर्धर्ष सुन्दर पुर के स्वामी, कुलपुरुष परम्परा से आये विपुल राजशब्द वाले, आगमों के निलय, सत्पुरुषों के आश्रय, श्री के अधिष्ठान, सद्गुणों के स्रोत, एक-धनुर्धर, एक-शूर, एक-ब्राह्मण, राम केशव अर्जुन भीमसेन के तुल्य पराक्रमवाले, नाभाग नहुष जनमेजय...............ययाति राम अम्बरीष के समान तेजवाले................श्रीसातकर्णि ...." बुन्देलखण्डी लोककथाओं में राजा बीर बिकरमाजीत के चरित्र को अध्ययन करने पर सहसा यह कल्पना होती है कि माता गौतमी बालश्री ने अपने लेख में उसीका संक्षेप लिखा है जो जन-जन के हृदय पर अंकित था और जिसकी स्मृति आज भी जनता के हृदय में सुरक्षित है। 'गौतमीपुत्र' 'विक्रमादित्य' भले ही न हो पर विक्रम विषयक लोककथाकार और नासिक-अभिलेख के लेखक की शैली में कोई अन्तर नहीं है।

प्रजापालक और परदुख के काटनहार—बुन्देलखण्डी लोककथाओं में विक्रमादित्य का सबसे बड़ा गुण उनकी प्रजापालकता और परदुःख निवारण बताया है। उसका चित्रण भी सबसे अधिक किया गया है। "अभयोदक देते देते (सदा) गीले रहनेवाले निर्भय हाथोंवाले...........त्रिवर्ग और देशकाल को भली प्रकार बाँटनेवाले, पौरजनों के साथ निर्विशेष सम सुख-दुःखवाले, धर्म से उपार्जित करों का विनियोग करनेवाले, कृतापराध शत्रुओं की भी अप्राणहिंसा रुचि-वाले, द्विजों और अवरों के कुटुम्बों को बढ़ानेवाले" माता गौतमी बालश्री द्वारा वर्णित श्री शातकर्णि के इन गुणों का आरोप लोककथाओं के विक्रमादित्य में भी बड़ी सुन्दरता से किया गया है।

राजा बीर बिकरमाजीत अपनी प्रजा का सुख-दुःख जानने के लिए रात को बहुधा उज्जैन नगरी में वेश बदलकर घूमते दिखाई देंगे। किसी का दुःख मालूम हुआ कि उसको मिटाने के लिए उनकी आत्मा अत्यन्त विकल हो जाती है। उसका दुःख मिटाने के लिए बड़ा से बड़ा खतरा भी वे मोल ले लेते हैं। वन में आग लगती है। एक साँप विह्वल होकर शीतल होने के लिए राजा से अपने को मुख में रख लेने की प्रार्थना करता है। विक्रम रख लेते हैं—यद्यपि पीछे से साँप उनके पेट में घुसकर उनको जलंधर रोग से पीड़ित कर देता है। चोर उनके महल में चोरी करते हैं तो वे स्वयं उसकी शोध करते हैं और चोरों को दण्ड आजीविका के रूप में मिलता है। कोई दो औरतों की कथा सुनकर विक्रम वहीं दौड़े जाते हैं

और अपनी संगीत निपुणता के कारण उनके राजा को इन्द्रसभा से ले आते हैं। कोई नवयुवक परदेस गया। बहुत दिनों से उसके न लौटने के कारण उसके कुटुम्बी व्याकुल हैं तो राजा बीर बिकरमाजीत उसे ढूंढ़ने जाते हैं। और क्योंकि उसे राजा की नौकरी से छुट्टी नहीं मिलती है अतः वे स्वयं उसकी जगह नौकरी करते हैं और उसे घर भेजते हैं।

दुष्काल से पीड़ित राजहंसों का एक जोड़ा विक्रम के पास आता है। खजाने के मोती उनके सत्कार में समाप्त होने को आते हैं। राजा को शंका होती है कि वे राजहंस के जोड़े को मोती न चुगा सकेंगे और इस प्रकार उनको कष्ट होगा। "जब मैं नकुछ पक्षियों के एक जोड़े का भी पोषण नहीं कर सकता तब ऐसे राजपाट का क्या अर्थ?" ऐसा चिन्तन करते हुए विक्रम रानी सहित आत्मग्लानि से राजपाट छोड़कर मुफलिसी के जीवन के लिए निकल जाते हैं और एक लुहार के यहाँ मजदूरी पर रहते हैं। भयंकर आत्मग्लानि और पक्षियों के उस जोड़े की चिन्ता तीव्रता की इस मात्रा तक पहुँचते हैं कि भगवान् उनको दर्शन देते हैं और वरदान माँगने को कहते हैं। राजा बीर बिकरमाजीत को न तो इस समय वैभव की लालसा ही जाग्रत होती है और न मुक्ति की भावना ही। वे तो उन पक्षियों के लिए भोजन ही माँगते हैं—जो उनको उनके बगीचे में सदा-बहार सदा फलेफूले मोतियों के वृक्षों के रूप में मिलता है।

उज्जैन नगरी में दो दिन पहले ही विवाह होकर आई एक स्त्री का पति मर जाता है। विक्रम वहाँ पहुँचते हैं। वह कहती है "राजा बीर बिकरमाजीत, तेरे राज में मैं विधवा भई। तैं तौ पराए दुख कौ काटनहार है, मेरौ दुख न हर सकहै?" विक्रम लाश को न जलाने की हिदायत देकर रवाना होते हैं। अपनी जान पर खेलकर अमृतपैंती (वह अँगूठी जिससे अमृत टपकता है) देवी से वरदान में लाते हैं। उससे उस नवयुवक को जिन्दा करते हैं। सन्तला जोगी एक सेठ की बहू को ले भागता है। वह बड़ा भारी जादूगर है। अतः उस सेठ के सातों पुत्रों को घोड़ों सहित उसने पत्थर के बना दिये, जो उस बहू को लेने गये थे। सेठ-सेठानी और उनकी छहों पुत्रवधुओं का परिवार इधर अत्यन्त विकल हो गया था। विक्रम को रात्रि के गश्त में इसका समाचार मिला। उस बहू और सेठ के उन पुत्रों की मुक्ति के लिए राजा चल पड़े। मार्ग में शिवजी भी उनको सन्तला जोगी के जादू का भय बताते हैं। किन्तु विक्रम को अपने प्राणों का मोह नहीं है। वह दुनियाँभर के खतरे उठाकर उनका उद्धार करते हैं।

देशाटन के सिलसिले में एक नगर में विक्रम पहुँचते हैं जहाँ एक बुढ़िया रो रही है। आज रात को राजकुमारी के पहरे पर उसके एकलौते पुत्र की बारी है, जहाँ का पहरेदार प्रति दिन सबेरे मरा हुआ मिलता है। विक्रम द्रवित होकर बुढ़िया को सान्त्वना देते हैं और स्वयं उस लड़के की जगह पहरे पर जाते हैं; जहाँ रात्रि में पहरेदारों की मृत्यु का कारण—राजकुमारी के मुख में से निकली हुई नागिन को मारते हैं और इस प्रकार उस कुमारी और आधे राज्य के अधिकारी होते हैं।

आपत्ति के मारे विक्रम एक बार राजा भोज की नौकरी में जाते हैं। वहाँ उन्हें स्यारनी की बोली द्वारा ज्ञात होता है कि आज राजा भोज की मृत्यु है। विक्रम स्यारनी के पीछे दौड़ते हैं। स्यारनी देवी के मन्दिर में घुसती है और वहाँ विक्रम को स्यारनी के बजाय प्रत्यक्ष देवी के दर्शन होते हैं। राजा भोज की मृत्यु टलने का उपाय विक्रम द्वारा पूछे जाने पर देवी बतलाती है कि किसी अन्य व्यक्ति द्वारा शीशदान दिये जाने पर भोज की मृत्यु टल सकती है। विक्रम उसी क्षण अपना सिर काटकर देवी के चरणों पर चढ़ा देते हैं। पीछे भोज के आग्रह के कारण देवी उनको जीवित करती हैं।

जादू के चक्कर में पड़कर राजा विक्रम तोते के शरीर में रहकर जीवनयापन कर रहे थे। उनका प्रतिद्वन्द्वी उनके शरीर में रहकर सारे तोते मरवा रहा था। विक्रम एक पेड़ के पास से निकले जिसपर निन्यानवे तोते बहेलिया के जाल में फँसे हुए थे। उनके दुःख को देखकर विक्रम कातर हो गये और स्वयं भी उन तोतों के साथ उस जाल में जा फँसे। यद्यपि वे युक्ति से सबको छुटाने के लिए फँसे थे किन्तु दैवयोग से उनकी युक्ति से और सब तोते तो उड़ गये—वे स्वयं बहेलिया के हाथ पकड़े गये और मौत के खतरे का सामना करना पड़ा।

विक्रम की परदुःख कातरता का चरम उत्कर्ष तो राजा करन और विक्रम की कथा के उस प्रवचन में हुआ है जिसमें राजा करन ने राजहंस के जोड़े को बन्दी बनाकर केवल इसलिए दुःख दिया कि दुष्काल में विक्रम के यहाँ उनको पूरा आराम

मिला था अतः वे "चौदा विद्या के निधान, परदुःख के काटनहार राजा बीर बिकरमाजीत की जय" का घोष करते हुए उसके महल के ऊपर से निकले थे। राजा करन जो रोज सबेरे सवा मन कंचन का दान करता था, यह सहन न कर सका कि उसका यशोगान तो कहीं न सुना गया और विक्रम कोई ऐसा राजा है, जिसकी जय पक्षी भी बोलते हैं। एक रमते जोगी द्वारा विक्रम को राजहंसों की जोड़ी के कष्ट का समाचार मिला। उन राजहंसों का कष्ट मिटाने के लिए वह राजा करन के पास दौड़े आये। यहाँ उनको एक दूसरे दृश्य ने और भी व्यथित कर दिया। अपना शरीर कढ़ाव में पकाकर ऋषियों को खिलाने के बदले में राजा करन को सवा मन कंचन प्राप्त होता था। राजहंस की जोड़ी को कष्ट देकर राजा करन ने विक्रम को क्रुद्ध करने के लिए काफी मसाला इकट्ठा कर दिया था। किन्तु विक्रम करन के इस दिन-प्रति-दिन के कष्ट को देखकर व्यथित हो जाते हैं। वे अपने शरीर को चीर चीरकर उसमें तीव्र मसाले भरते हैं और उस कढ़ाव में मेवा के साथ पकते हैं। "धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत, परदुख के काटनहार!"—कहानी के प्रवाह के इस स्थल पर प्रवक्ता और श्रोता सभी के मुंह से सहसा ये उद्‌गार निकल पड़ते हैं! वह ऋषि-मण्डल इस माँस को खाकर बहुत प्रसन्न होता है क्योंकि आखिर वह माँस राजा बीर बिकरमाजीत का था, और मन में संकल्प करता है कि आज राजा करन जो माँगेगा सो पावेगा। जीवित होने पर विक्रम माँगते हैं "आजतें राजा करन कढ़ाओ उटन न आवैं और सवा मन कंचन रोज पलका तरैं पावैं।" राजा करन को ऐसे कष्ट से मुक्ति दिलाकर और राजहंस मुक्त करवाकर विक्रम वापस उज्जैन लौटते हैं।

वैभव, विक्रम और यश—"धन्न रे राजा बीर बिकरमाजीत, जाके बगीचा में मुतियन के झाड़ फरे!" जहाँ ऐसा वर्णन हो और अमृतपैंती, भगवान् के दर्शन, चाहे जो सुलभ हो, उस वैभव के लिए अधिक क्या कहा जाय। प्रवचन-भेदानुसार दो अथवा चार 'वीर' विक्रम की व्यक्तिगत शक्तियाँ थीं। इन वीरों में सब कुछ कर सकने की शक्ति थी। विक्रमादित्य के विक्रम का वर्णन उनके साहसी कार्यों द्वारा किया गया है। वे कभी भी अपने प्राणों के लिए हिचकते नहीं हैं। जो कार्य उनको उचित दिखता है, उसमें वे अपने प्राणों की बाजी लगा देते हैं। सफलता उनकी चेरी दिखती है। अनेक राजाओं की विक्रम के पुत्र के साथ अपनी कन्या के विवाह की लालसा, सुदूर सिंहल में दानव का यह कथन कि विक्रम के पुत्र के देखते ही उस गुफा की अभेद्य वज्रशिला अपने आप तड़क जायगी, जिसमें उसके प्राणों की बगुली रहती थी, और वैसा ही होना—ये सब विक्रम के यश और पराक्रम के ही परिचायक हैं।

चीन देश की राजकुमारी जिस व्यक्ति से विवाह करने को लालायित थी उसका यश विशाल ही होगा। ऐरावत हाथी और श्यामकर्ण घोड़े के पास जब विक्रम अनायास पहुँचते हैं तो वे "धन्न भाग, जो आज चौदा बिद्या के निधान, परदुःख के काटनहार, राजा बीर बिकरमाजीत के दरसन पाये!" कहकर कृतार्थ होते हैं। सन्तला जोगी से सेठ के पुत्रों और बहू का उद्धार करने जब विक्रमादित्य जाते हैं तो उन्हें सन्तला जोगी की जान लेने जाना पड़ता है। यह जान 'सात समुन्दर आड़े और सात समुन्दर ठाड़े' पार एक टापू पर एक बड़ के पेड़ पर पिंजड़े में टँगी हुई बगुली में थी। उस बड़ के वृक्ष के पत्ते पत्ते पर साँप और बिच्छू थे। विक्रम समुद्र किनारे पहुँचते हैं। समुद्र के सारे जीवजन्तु विक्रम के दर्शन पाकर धन्य धन्य ध्वनि करते हैं और विक्रम के दर्शन पाकर अपना जन्म सफल मानते हैं। अपनी पीठों का पुल बनाकर विक्रम को उसके ऊपर से निकालकर वे उनको इच्छित टापू पर पहुँचाते हैं। बड़ के ऊपर के साँप बिच्छू भी समुद्री जीवों की तरह विक्रम के दर्शनों से अपने को धन्य मानते हैं और विक्रम पिंजड़ा लेकर वापस लौटते हैं। इस्माल जोगी के जादू से अपनी रक्षा करने के लिए पद्मिनी से विवाह करने को विक्रम की सिंहलद्वीप की यात्रा में राघव मच्छ का बेटा भी विक्रम के दर्शन से उसी प्रकार अपने को कृतार्थ मानता है और इस ओर से विक्रम को स्वयं अपनी पीठ पर तथा वापस लौटते समय जबकि उनके साथ सात रानियाँ और अगणित फौज थी, 'झाझर-पातर' पर रखकर उन सबको समुद्र पार कराता है।

अत्यन्त चमत्कारपूर्ण घटना तो वह है कि जब चिमऊं, राजाज्ञा से, ऐसी चीज जो न देखी गई हो और न सुनी गई हो, ढूंढ़ता ढूंढ़ता चीन देश की राजकुमारी के उस बगीचे में पहुँचता है जहाँ अपने आप बिना मनुष्य के रहँट चल रहा था, बिना मनुष्य के ही क्यारियों में पानी लग रहा था और फूल चुनने और मालाएँ बनने का काम भी अपने आप बिना आदमी के हो रहा था। चिमऊँ ने सोचा कि सचमुच ऐसा काम विक्रम ने न देखा और न सुना होगा। फिर भी परीक्षण के लिए उसने

विक्रमादित्य की आन दी कि "चौदा बिद्या कौ निधान, परदुःख कौ काटनहार, राजा बीर बिकरमाजीत जो सत्तकौ साँचौ होय तौ जे सब काम बन्द हो जाँय"। वे सब काम उसी क्षण बन्द हो गये। सुदूर चीन में लोककथा के विक्रमादित्य की आन ने काम किया।

चौदा विद्या के निधान और जादू—विक्रम पशु-पक्षियों की बोली पहचानते थे यह तो इन लोककथाओं में एक व्यापक मूल कल्पना है। तोते के वेश में विक्रम अपने आश्रयदाता राजा को एक गर्भवती घोड़ी की खरीद करवाते हैं जिसका पेट चीरने पर उसमें से श्यामकर्ण अथवा उड़ना घोड़ा निकलता है। अश्व-विद्या की आत्यन्तिक निपुणता का यह परिचायक है। वेश बदले जब विक्रम पद्मिनी लेकर लौटते हैं, तब मार्ग में सिंहलद्वीप के किसी अन्य राज्य के नगर में वे खर्च चलाने के लिए एक लाल बेचने को जाते हैं। राजा का जौहरी उनके लाल में कुछ खोट बताता है। विक्रम जौहरी से अपना अच्छा से अच्छा लाल बताने को कहते हैं। जौहरी के उस सर्वोत्तम लाल को विक्रम अत्यन्त निकृष्ट श्रेणी का बताते हैं। राजा के आगे शर्त लगाकर दोनों लालों की परीक्षा होती है। चोट पड़ने पर जौहरी का लाल चार टुकड़े हो जाता है और विक्रम का लाल घन तथा निहाई में गड्ढे कर देता है। जौहरी अपना सर्वस्व विक्रम को देकर हाथ पाँवों से निकल जाता है और राजा वेश बदले हुए विक्रम को अपना सवाई जौहरी नियुक्त करता है। यह कथा विक्रम के पुत्र के सम्बन्ध में भी प्रचलित है। जिन कथाओं पर जादू का असर नहीं पड़ा है उनमें विक्रम का यह गुण बताया गया है कि अपना शरीर छोड़कर दूसरे मृत शरीर में प्रवेश कर सकते थे। विक्रम की संगीतकला में आत्यन्तिक निपुणता के वर्णन भी अनेक जगह आते हैं। एक बार विक्रम छत्तीसों वाद्यों का स्वर मिलाकर कोई राग रागिनी बजाते हैं तो इन्द्रलोक में उसकी मधुर झनकार पहुँचती है और इन्द्र के दरबार में इनको ले जाने के लिए अप्सराएँ आती हैं।

किन्तु जहाँ कथाओं पर जादू का असर पड़ा है वहाँ तो ये चौदह विद्याएँ जादू की हो गयी हैं। विक्रमादित्य केवल चौदह विद्याएँ जानते हैं जबकि इन कथाओं में विद्याओं की संख्या इक्कीस तक गिनाई गई हैं। जादू की कथाओं में अधिकांश क्रम ऐसा है कि चौदह विद्याएँ विक्रम जानते हैं, पन्द्रह उनका प्रतिद्वन्द्वी जानता है और इक्कीस तक की संख्या में विद्याएँ वे कन्याएँ जानती हैं जिनके साथ विक्रम को प्रतिद्वन्द्वी से बचने के लिए विवाह करना पड़ता है। पन्द्रहवीं विद्या अनेक जगह इन जादू की कथाओं में वह बताई गई है जिससे अपना जीव दूसरे मृत शरीर में इच्छानुसार पहुँचाया जा सकता है। विक्रम इस विद्या को सीखने गये—ऐसी अनेक कथाएँ हैं। प्रवचन भेदानुसार देवी अथवा कलिया भंगिन के पास विक्रम यह विद्या सीखने जाते हैं और किसी कथा में नाई और किसी में धोबी उनके साथ लगकर छुपकर यह विद्या सीखता है। कथानक एक ही है कि लौटने में विक्रम से उक्त विद्या का प्रदर्शन करने को वह कहता है और विक्रम के अन्य शरीर में घुसते ही वह स्वयं विक्रम के शरीर में घुसकर अपने शरीर की दाहक्रिया कर देता है। विक्रम के शरीर में आकर वह विक्रम के जीव को नष्ट करने का उपाय करता है—यद्यपि पीछे प्रयत्न करने पर विक्रम अपने शरीर में आ जाते हैं और उस प्रतिद्वन्द्वी को दण्ड देते हैं। इन जादू की कथाओं में सदा लड़ाइयाँ आती हैं। लड़ाइयों के लिए ही जादू है—ऐसा मालूम होता है। जादू की लड़ाई में चमत्कार भी खूब होता है। कभी चील बनकर लड़ाई होती है, कभी चिड़िया पर बाज झपटता है। सन्तला जोगी मुर्गा बनकर उस मोती को चुगने के लिए झपटता है जिसमें विक्रम की नवविवाहिता पत्नी ने उनके प्राण छुपा दिये थे, तो वह राजकुमारी बिल्ली बनकर उस मुर्गे पर टूटती है और उसे मार डालती है। इस्माल जोगी पन्द्रह विद्याएँ जानता था, उससे विजय पाने के लिए विक्रम ने सिंहलद्वीप की सात कन्याओं से विवाह किया। उनमें पद्मिनी इक्कीस विद्याएँ जानती थी। वापस आकर विक्रम ने जब इस्माल जोगी से युद्ध किया तो विक्रम की हार हुई। पद्मिनी ने इस्माल से कल आने को कहा। दूसरे दिन एक गधे को आदमियों से मरवा कर रख लिया। इस्माल जोगी के आने पर उससे अपनी विद्या बताकर गधे को जीवित करने को कहा। इस्माल ने जैसे ही अपने प्राणों का प्रवेश गधे में किया—पद्मिनी ने उसका शरीर जलवा दिया। इस्माल गधा ही बना रह गया। सब आगे को चल दिये और गधा साथ ले लिया गया। ऐसी चमत्कारपूर्ण घटनाएँ इस जादू में सहज हैं। चौदह विद्याओं को जादू का रूप दे देने से निश्चित रूप से उनका असली प्रतिभावान् रूप नष्ट हो जाता है और इसीलिए जादू की कथाओं में ८-९ से २१ तक की गिनती विद्याओं के लिए गिनाई गई है।

श्री शान्तिचन्द्र द्विवेदी

विक्रमादित्य का ज्योतिषी—अमरसिंह पण्डित का नाम विक्रमादित्य के ज्योतिषी की तरह आता है। किन्तु इस नाम को अधिक महत्त्व देना उचित नहीं दिखता है। प्रवचनभेद की बाट देखना उचित है। अमरसिंह रात्रि को पत्नी का कुतूहल पूरा करने के लिए घड़े की ज्वार को मोतियों के रूप में परिणत करनेवाली घड़ी का शोध कर रहे थे। जब उनने 'हूँ' कहा तब पण्डितानी तो चूक गईं—घड़े में डण्डा न दे सकीं—मकान के पीछे खड़े विक्रम ने उसी समय एक कद्दू पर तलवार मारी। कद्दू के दोनों पलवे सोने के हो गये। इसी प्रकार दूसरी रात को स्यार की बोली का अर्थ अमरसिंह से सुनकर विक्रम ने दो लाल प्राप्त किये। राजसभा में विक्रम ने अमरसिंह का मान किया और कहा कि "शोधबेवारो तेरे सरीको और बेधवेवारो मेरे सरीको" होना चाहिए।

विक्रम-संवत्—विक्रम-संवत् के प्रचलन के सम्बन्ध में बड़ी अद्भुत कल्पना एक कथा में है। अमावस्या के दिन राजसभा में विक्रम द्वारा तिथि पूछी जाने पर अमरसिंह ने पूर्णमासी बतलायी। सभा में सन्नाटा छा गया। सबने पूछा, "तो आज पूर्णचन्द्र उगेगा?" अमरसिंह के मुख से निकल तो चुका ही था। बोले, "हाँ, उगेगा।" पिता की चिन्ता दूर करने के लिए उनकी पुत्री चन्द्रमा के आराधन के लिए गयी और उस रात्रि को पूर्णचन्द्र उगा। तभी से विक्रम-संवत् का प्रचलन हुआ और मासारंभ पूर्णिमा के बजाय अमावस्या के बाद से होने लगा। "सन्न राजा बीर बिकरमाजीत कौ और सक राजा सारवाहन कौ।"—प्रसिद्ध कथाप्रवक्ता सूरी महते ने इस कथा के अन्त में एक 'जनवा' की मुस्कराहट के साथ यह कहा था। इस कथा का अधिक स्पष्ट प्रवचन कदाचित् मिले।

सारवाहन—सारवाहन शालिवाहन का ही रूपान्तर समझना चाहिए। हमारी कथाओं में सारवाहन को विक्रम का औरस पुत्र बताया गया है। विक्रम की कथाओं में एक व्यापक मूल कल्पना है कि राजा किसी कुमारी से विवाह करता है अथवा उसे अधब्याही करके छोड़ आता है। यह विवाहिता छल से राजा से पुत्र उत्पन्न करती है। यह पुत्र जाकर राजा को छल-बल से नीचा दिखाता है। बाद को परिचय होता है और राजा अपनी पत्नी को बुला लेता है और यह लड़का राजकुमार होता है। किन्तु सारवाहन की कथा में रानी के नवविवाहित होने का कोई उल्लेख नहीं है। रानी गर्भवती महल में ही होती है। रानी के गर्भ के सम्बन्ध में ज्योतिषी विक्रम को बताते हैं कि इस रानी के गर्भ से ऐसा पुत्र होगा जो बल, बुद्धि, विक्रम और यश में उनको परास्त करेगा। विक्रम उस रानी को मरवाने की आज्ञा देते हैं। रानी किसी प्रकार अपनी प्राणरक्षा करती है। एक कुम्हार उसे अपनी धर्म की पुत्री बनाकर रखता है। रानी के गर्भ से सारवाहन पैदा होता है। वह बड़ा होता है। कुम्हार उसे खेलने के लिए मिट्टी के घोड़े और सिपाही बना बनाकर देता है जिन्हें वह घर की छत्त पर रखता जाता है। छत्त इस फौज से भर जाती है। एक दिन चार भाइयों का एक ऐसा प्रकरण, जिसका न्याय स्वयं विक्रम नहीं कर सके थे, सारवाहन निपटाता है। विक्रम को इसका समाचार मिलता है। वह सारवाहन को बुलाना भेजते हैं जिसकी वह अवज्ञा करता है। विक्रम एक बड़ी फौज लेकर उस पर चढ़ाई करते हैं। उसकी माता अपनी छिंगुरी का रक्त छिड़ककर अथवा प्रवचन भेदानुसार देवी अमृत से उसकी मिट्टी की फौज में जीवन डाल देती है। युद्ध में सारवाहन विजयी होता है। बादको विक्रम को यह ज्ञात होने पर कि सारवाहन उनका ही पुत्र है, वे प्रसन्न होकर उसे साथ लिवा ले जाते हैं। इस कथा में राजा के अन्य पुत्रों की तरह सारवाहन ने छल-बल नहीं किया है—प्रत्यक्ष युद्ध ही किया है। लेकिन सिंहासन बत्तीसी अथवा विक्रम-चरित्र में वर्णित शालिवाहन की तरह इनमें सारवाहन को विक्रम का संहारक नहीं बताया गया है।

सारवाहन का चित्रण बड़ा जगमगाता हुआ किया गया है। विपत्ति के कारण सारवाहन के साथ की बरात और धनधान्य सब विवाह को जाते हुए मार्ग में नदी में डूब जाते हैं। उस नगर में पहुँचने पर उसके भी हाथ पाँव कट जाते हैं। किन्तु स्वयंवर में राजकुमारी सारवाहन के गले में ही माला डालने की प्रार्थना हाथी से करती है। हाथी उस ठूंठ के गले में माला डालता है। इसके बाद देवताओं द्वारा सारवाहन का मान होता है। उनकी कंचन की काया होती है और "करम, धरम, लच्छमी और सत्त" के जिस प्रकरण को त्रैलोक्य में कोई भी नहीं निपटा सका था, उसको निपटाकर सारवाहन वापस लौटते हैं।

लोककथा में विक्रमादित्य

विक्रमादित्य और स्त्री समाज––लोककथाओं में त्रिया-चरित्र राजा वीर बिकरमाजीत के चरित्र से बड़ा बताया गया है। परीक्षण के बाद स्वयं विक्रम इस बात को स्वीकार करते हुए बताये गए हैं। अनेक स्थलों पर विक्रम स्त्रियों से लज्जित होते बताये गये हैं। स्त्रियों के आगे राजा की प्रतिभा कम होना––यह एक व्यापक मूल कल्पना दिखायी देती है। जादूगर प्रतिद्वन्द्वी से बचने के लिए तो उनको हमेशा अधिक विद्या जाननेवाली कुमारी ढूंढ़ना पड़ती है जिससे विवाह करके ही वे अपनी रक्षा कर पाते हैं। यह नवविवाहिता ही जादूगर शत्रु को हराकर उनकी रक्षा करने में समर्थ होती है। जादू की कथाओं पर यदि ध्यान न भी दिया जाय, तब भी उपरोक्त मूल कल्पना बहुत अधिक व्यापक है। जलन्धर के रोगी विक्रम भी अपनी नवविवाहिता पत्नी के प्रयास से ही अच्छे होते हैं।

दुर्बल विक्रम––ग्वालिन अथवा वेश्या को महल में बुलाया जाना––यह एक मूल कल्पना है जिससे लोककथाओं के विक्रम की चारित्रिक दुर्बलता का भ्रम हो सकता है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि लोक-मानस में यह कल्पना एक राजा को दूषित नहीं करती है।

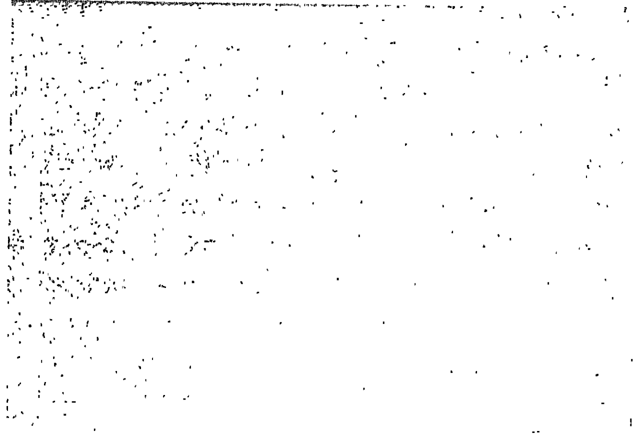
लोककथाओं में विक्रम दयनीय होते हुए भी यत्र तत्र खूब देखे जा सकते हैं। यह व्यापक मूल कल्पना लोकमानस के सांसारिक अनुभवों के परिपाक की परिचायक है। जलन्धर के रोगी विक्रम कुए पर अथवा भड़भूंजे के यहाँ नौकरी करते देखे जा सकते हैं। जादू की कथाओं में तो उनका हाल बहुत ही बुरा हो जाता है। क्योंकि वे केवल चौदह विद्याएँ जानते हैं जबकि अन्य व्यक्ति पन्द्रह से इक्कीस विद्याएँ तक जानते हैं। इन कथाओं में विक्रम को कभी अन्य योनियों में भटकना पड़ता है, कभी अधिक विद्या जाननेवाली कुमारियों से विवाह करने के लिए अथक प्रयास करना पड़ते हैं। और विवाह के बाद भी यदि किसी से युद्ध होता है तो विक्रम तो हतप्रभ ही रहते हैं––उनकी नवविवाहिता पत्नियाँ ही उनके प्रतिद्वन्द्वी को हराती हैं।

वह दृश्य भी बड़ा दयनीय है जब विक्रम उज्जैन नगरी के बाहर जिस गधे पर बैठकर एड़ लगाते हैं, वही उनको लेकर गिर पड़ता है। और वहीं कुए पर पानी भरती हुई ब्राह्मण की बेटी कहती है, "राजा काए कौं जे गधा मारें डारत हौ; बौ बौई हतौ, जे जेई है।" अपने पुत्र के छल के कारण गश्त के सिलसिले में रात्रि में औरत का वेश किये अथवा कोदे पीसते हुए विक्रम दिखना–यह एक व्यापक मूल कल्पना है। किन्तु यह ""पुत्रादिच्छेत्पराजयम्" के अनुसार ही है। क्योंकि अनेक जगह विक्रम स्वयं "जब तेरो जाऔ छल है मोय, तबई लुआउन आहौं तोय"––यह अपनी नवविवाहिता के अंचल पर लिखकर आते हैं।

उपसंहार––इन लोककथाओं में विक्रम के चित्रण को देखकर उनके सम्बन्ध में लोककल्पना का आभास होता है। विक्रम की परदुःखकातरता, प्रजापालकता, उदारता, वैभव, यश, पराक्रम और प्रभाव का चित्रण करते हुए लोककथाकार अघाता नहीं है। कथाओं में विक्रम अनन्य लोकप्रिय दिखते हैं। नये श्रोता को जादू सम्बन्धी कहानियाँ सुनकर यह शंका हो सकती है कि विक्रम पराजित अथवा कम प्रभावशाली क्यों? किन्तु थोड़े बारीक अध्ययन के बाद मालूम ही जाता है कि लोककथा में जहाँ जादू शुरू हुआ कि फिर तो स्वयं कथा-प्रवक्ता पर जादू का भूत सवार हो जाता है। इस प्रकार जादू की तो लोककथा में एक स्वतंत्र शाखा है जिसमें बुद्धि का बन्धन प्रवक्ता और श्रोता दोनों छोड़ देते हैं। पुत्र से पराजित होने और स्त्रियों के आगे विक्रम को दीन बताने की मूल कल्पनाओं का आधार तो लोक जीवन का कल्पना-माधुर्य और अनुभव-परिपाक ही है।

लोकजीवन के इस अन्धकारमय युग में भी विक्रमादित्य का यशःशरीर "होरी कैसी झाँक, दिवारी कैसौ दिया" जैसा बुन्देलखण्डी लोककथाओं में प्रदीप्तिमान है। *

*** हमने लेखक से 'विक्रम-स्मृति-ग्रंथ' के लिए बुन्देलखण्ड में प्रचलित विक्रम-सम्बन्धी लोककथाओं का अध्ययन करने का अनुरोध किया था, उसके परिणाम-स्वरूप लेखक ने यह विद्वत्तापूर्ण लेख लिखा है। सं०।**



आयुर्वेद का विक्रम-काल

आयुर्वेदाचार्य श्री डॉ० भास्कर गोविन्द घाणेकर बी. एससी; एम. बी; बी. एस.

पिछली कुछ शताब्दियों से आयुर्वेद की ऐसी निकृष्ट दशा हो गई है कि आयुर्वेद प्रेमी भी स्वयं उसकी बहुत तरफदारी नहीं कर सकते। पाश्चात्य लोग जो अपनीं चिकित्सा-प्रणाली का उत्कर्ष चाहते हैं, आयुर्वेद को बदनाम करने के लिए उसको अवैज्ञानिक कहकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं; और हमारे भारतीय भी उनकी देखादेखी बिना सोचे-समझे और पढ़े-गुने एक पग आगे बढ़कर आयुर्वेद का उपहास किया करते हैं। परन्तु एक काल ऐसा था जब ज्ञात जगत् आयुर्वेद की ओर श्रद्धा और आदर की दृष्टि से देखा करता था। उसका कारण यह था कि उस कालखण्ड में भारतवर्ष में आयुर्वेद के एक से एक बढ़कर, धुरंधर विद्वान् उपस्थित थे जिनके अथक परिश्रम और तत्वान्वेषण से आयुर्वेद अन्य देशों की चिकित्सा प्रणाली की तुलना में परम उन्नत और गुरुस्थान पर हो गया था, जिनके चिकित्सा चमत्कारों को देखकर और सुनकर अन्य देशों के लोग दाँतोंतले अँगुली दबाते थे और जिनके पास आयुर्वेद का अध्ययन करने के लिए भारतवर्ष की यात्रा करके वैद्यक ज्ञान प्राप्त कर उसका उपयोग अपने वैद्यक में किया करते थे।

कालक्रमणिका की दृष्टि से भारतीय अन्य शास्त्रों के समान आयुर्वेद का इतिहास बहुत ही अपूर्ण और अनिश्चित स्वरूप का है। एक भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जिसका निर्माणकाल ठीक मालूम हुआ है, न एक भी ऐसा प्राचीन ग्रन्थकार है जिसकी जीवनी से हम भली भाँति परिचित हो गये हैं। ऐसी अवस्था में आयुर्वेद के उज्ज्वल काल की ठीक मर्यादा बताना बहुत कठिन है। इस कठिनाई को दूर करके उस काल की स्थूल कल्पना वाचकों के सामने रखने के लिए मैंने चार काल-खण्ड बनाये हैं जिनमें आयुर्वेद का इतिहास संक्षेप में देने की कोशिश की गई है।

(१) **वेदपूर्वकाल**---आयुर्वेद संसार का एक अत्यन्त प्राचीन वैद्यक शास्त्र है इस विषय में सब सहमत हैं, परन्तु उसकी प्राचीनता कहाँ तक पहुँचती है इस विषय में मतभिन्नता है। सुश्रुत और काश्यप संहिताकारों के अनुसार पृथ्वीतल

पर मनुष्यों की उत्पत्ति होने के पहले आयुर्वेद का अवतार* हुआ है। बहुत लोग इस उक्ति को एक पौराणिक कल्पना समझेंगे। परन्तु यह कोरी कल्पना नहीं है, इसके पीछे बड़ा भारी तत्त्व छिपा हुआ है जो संहिताकारों की विशाल बुद्धि और सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति का साक्ष्य देता है। यदि पशु-पक्षियों की ओर देखा जाय तो उनमें भी अपनी प्रजा की रक्षा का प्रबन्ध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति दिखाई देती है। मनुष्यों का तो कहना ही क्या है? उनको न केवल वर्तमान प्रजा की किन्तु भावी प्रजा की तथा न केवल स्वास्थ्यरक्षा की किन्तु आर्थिक और सांस्कृतिक रक्षा की अत्यधिक चिन्ता लगी रहती है जिसके परिणामस्वरूप हमेशा लड़ाई झगड़े हुआ करते हैं। यहाँ पर केवल स्वास्थ्यरक्षा का ही विचार अभिप्रेत है। इसलिए उस दृष्टि से यदि मनुष्यों की ओर देखा जाय तोभी सब लोग इस विषय में प्रयत्नशील दिखाई देते हैं कि अपनी भावी प्रजा सुदृढ़ और स्वस्थ उत्पन्न हो जाय। आजकल इस प्रयत्न में सहायता करने के लिए प्रत्येक उन्नतिशील देश में स्वास्थ्य विभाग की ओर से या शासकों की ओर से 'एण्टीनेटल क्लीनिक' नाम की सार्वजनिक संस्थाएँ खोली गई हैं। प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व उसके परिपालन का कितना महत्त्व होता है इसका परिचय इन आधुनिक पाश्चात्य 'प्रिनेटेल क्लीनिक' (Prenatal clinic) संस्थाओं के द्वारा स्पष्ट जाहिर होता है। इस महत्त्व को सामने रखकर काश्यप-संहिताकार कौमारभृत्य को † आयुर्वेद के अष्टांगों में अधिक महत्व का बताते हैं। जब साधारण मनुष्य अपनी भावी प्रजा के परिपालन में इतने प्रयत्नशील रहते हैं तब यदि सृष्टि का उत्पादक प्रजापति अपनी लाड़ली और सर्वश्रेष्ठ प्रजा मनुष्यजाति‡ के परिपालन का प्रबन्ध करे या उस पर इस प्रकार का प्रबन्ध करने का आरोप किया जाय तो उसमें आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

अब प्रजा उत्पन्न होने से पूर्व प्रजापति ने जो आयुर्वेद उत्पन्न किया उसका स्वरूप किस प्रकार का हो सकता है इस विषय का विचार किया जायगा। सभी लोग जानते हैं कि गुणविकासवाद के अनुसार मानवजाति उत्पन्न होने से पहले चन्द्र, सूर्य तथा तज्जनित दिनरात्र षट्ऋतु इत्यादि कालविभाग, जल, वायु, खनिज द्रव्य, विविध वनस्पति और प्राणी उत्पन्न हो§ जाते हैं। इन सब वस्तुओं का मनुष्यों का स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए तथा गिरे हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिये उपयोग करने का शास्त्र ही आयुर्वेद है। आयुर्वेद के अनुसार कोई द्रव्य अनौषधि¶ नहीं है, केवल युक्ति की आवश्यकता है। सुश्रुत संहिता के प्रथम अध्याय में इस प्रकार ‖ आयुर्वेद की संक्षिप्त व्याख्या दी गई है और यह भी स्पष्ट किया है कि आगे की सम्पूर्ण संहिता में केवल इसी का ही विस्तार होगा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होगा कि वेद पूर्वकाल में मनुष्य प्रजापति-निर्मित उपर्युक्त द्रव्यों का उपयोग अपने स्वास्थ्य को बनाये रखने के लिए तथा बिगड़े हुए स्वास्थ्य को पुनर्स्थापित करने के लिए करते रहे और इस प्रकार से स्वास्थ्यरक्षा और व्याधिपरिमोक्ष के सम्बन्ध में अनुभव प्राप्त करते गये। परन्तु ये सब अनुभव लोगों के मन में रहे और

---

*इह खल्वायुर्वेदं नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानु त्पाद्यैव प्रजाः कृतवान् स्वयम्भूः॥ सुश्रुत॥
अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः स्वयम्भूर्ब्रम्हा प्रजाः सिसृक्षुः प्रजानां परिपालनार्थमायुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत् सर्ववित्॥ काश्यपसंहिता॥

† कौमार भृत्यमष्टानां तन्त्राणामाद्य मुच्यते। आयुर्वेदस्यमहतो देवानामिव हव्यपः॥ काश्यपसंहिता॥

‡ भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः। बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठाः॥ मनुस्मृति॥

§ आत्मनः आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भयः पृथिवी। पृथिव्या औषधयः। औषधिभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। अन्नात् प्रजाः प्रजायन्ते। तैत्तिरीयोपनिषत्॥

¶ अनेन निदर्शनेन नानौषधिभूतं जगति किंचिद्द्रव्यमस्ति॥ सुश्रुत॥

‖ शारीराणां विकाराणामेषवर्गश्चतुर्विधः। प्रकोपे प्रशमेचैव हेतुरुक्तश्चिकित्सकैः।
बीजं चिकित्सितस्यैतत्समासेन प्रकीर्तितम्। सविंशमध्यायशतमस्य व्याख्या भविष्यति॥ सुश्रुत॥

अक्षर-सम्बद्ध नहीं हुए। संक्षेप में वेद पूर्वकाल का आयुर्वेद अलिखित और प्रयोगात्मक था। इसको आयुर्वेद की शैशवावस्था कह सकते हैं।

(२) **वेदकाल**––इस कालखण्ड में मनुष्यों में अपने विचार अक्षरसम्बद्ध करने की बुद्धि और शक्ति आ गई जिससे अन्य विचारों और आचारों के साथ साथ प्रसंगानुरूप वैद्यकीय विचार भी अक्षरसम्बद्ध हो गये। सम्पूर्ण वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का वैद्यकीय दृष्ट्या आलोडन करने पर उनमें आयुर्वेद सम्बन्धी असंख्य उल्लेख दिखाई देते हैं। ये उल्लेख अन्य वेदों की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक पाये जाते हैं। इसलिए आयुर्वेद संहिताकारों ने अथर्ववेद को अपना गुरू मान लिया है और आयुर्वेद का मूल अथर्ववेद में ही* बताया है। यदि वेदों में मिलनेवाले सब वैद्यकीय उल्लेख शारीर, निघंटु, कायचिकित्सा, शल्य चिकित्सा, विष चिकित्सा, जल चिकित्सा, सूर्य चिकित्सा, प्रसूति और कौमार इत्यादि आयुर्वेद के विविध अंगों के अनुसार संग्रहीत किये जाँय तो एक सुन्दर 'वेदांग आयुर्वेद' का ग्रन्थ बन सकता है। इन उल्लेखों में जराजीर्ण च्यवन को नवयौवन प्राप्ति†, युद्ध में पैर कट जाने पर लोहे के पैर का उपयोग करना‡, छिन्न भिन्न शरीर को इकट्ठा करके उसमें प्राणप्रतिष्ठापना करना‡‡, कटे हुए सिर को जोड़ना‡‡, अन्धे को नेत्रदान ** इत्यादि अनेक चमत्कृतिपूर्ण और कुतूहलजनक कर्मों का भी उल्लेख मिलता है। परन्तु इन साधारण तथा विशेष कर्मों को करने की पद्धति, उनकी प्रक्रिया या उपपत्ति का विवरण कहीं भी नहीं दिखाई देता; सम्पूर्ण वेदांग आयुर्वेद बिखरा हुआ, असंगतिक और मंत्रतंत्र-घटित (Mystical) स्वरूप में § मिलता है। इसका तात्पर्य यह है कि यद्यपि वेदकाल में वैद्यक ज्ञान बहुत कुछ बढ़ गया था, फिर भी एक स्वतंत्र शास्त्र बनने के लिए जिस प्रकार की सुसंगतिक और सोपपत्तिक उन्नति किसी शास्त्र की होनी चाहिए उतनी उसकी उन्नति उस समय में नहीं हुई थी। इसको आयुर्वेद की विवर्धमानावस्था कह सकते हैं।

(३) **विक्रम काल**––इस कालखण्ड में भारतवर्ष में आयुर्वेद के एक से एक बढ़कर धुरंधर विद्वान् उत्पन्न हुए, जिन्होंने अविश्रान्त परिश्रम और तत्त्वान्वेषण से वेदांग आयुर्वेद में उसे स्वतंत्र शास्त्र बनाने के लिए अत्यन्त आवश्यक और महत्त्व के अनेक परिवर्तन किए। इनके कुछ उदाहरण दिग्दर्शन के लिए यहाँ पर दिये जाते हैं।

---

* तत्रभिषजा चतुर्णामृक्सामयजुर्वेदाथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदे भक्तिरादेश्या॥ चरक॥
आयुर्वेदः कथंचोत्पन्न इति। आह, अथर्ववेदोपनिषत्सु प्रागुत्पन्नः॥ काश्यपसंहिता॥

† युवंच्यवानमश्विना जरन्तं पुनर्युवानं चक्रतुः शचीभिः॥ ऋग्वेद॥

‡ सद्योजङ्घामायसीं विश्पलायै धनेहिते सर्तवे प्रायधत्तम्॥ ऋग्वेद॥

‡‡ हिरण्यहस्तमश्विना रराणा पुत्रं नरावध्रिमत्या अदत्तं। त्रिधाहश्यावमश्विना विकस्तमुज्जीवस ऐरयतं सुदानू॥ ऋग्वेद॥

‡‡ आथर्वणायाश्विना दधीचेऽश्व्यं शिरः प्रत्यैरयतं॥ ऋग्वेद॥

** आक्षी ऋजाश्वे अश्विनावधत्तं ज्योतिरंधाय चक्रथुर्विचक्षे।
शतं मेषान्वृक्ये चक्षदानमृजाश्वं ते पिताधं चकार।
तस्मादक्षिनासत्या विचक्ष आदत्तं दस्राभिषजावनर्वन्॥ ऋग्वेद॥

§ वेदो ह्याथर्वणो दानस्वस्त्ययन बलिमंगल होमनियम प्रायश्चित्योपवास मन्त्रादि परिग्रहाच्चिकित्सां प्राह॥ चरक॥
तत्र (अथर्ववेदे) हि रक्षाबलि होम शान्ति............प्रतिकर्म विधानमुद्दिष्टं विशेषण॥ (काश्यपसंहिता)
आयुर्वेद ने मंत्रतंत्रादि का पूर्णतया त्याग नहीं किया, कहीं कहीं उसका प्रयोग किया है। परन्तु चिकित्सा की दृष्टि से इसका स्थान अत्यन्त गौण है। आयुर्वेद ने चिकित्सा का मुख्य आधार आहार विहारादि पथ्य और उसके पश्चात् औषधि को माना है। सदा पथ्यं प्रयोक्तव्यं नापथ्येन स सिद्धति। औषधेन बिना पथ्यैः सिद्धयते भिषगुत्तमैः। विना पथ्यं न साध्यं स्यादौषधानां शतैरपि॥ हारीतसंहिता॥

वेदों में शरीर का कुछ ज्ञान मिल जाता है, परन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण और पशुओं के शरीर का है। आयुर्वेद मनुष्यों का वैद्यक* होने के कारण मनुष्य शरीर का ज्ञान वैद्यों के लिए आवश्यक होता है। महर्षियों ने इसलिए मृत मनुष्य-शरीर का परीक्षण करने का † उपक्रम किया; तथा शरीर के विविध अंगों पर चोट लगने के परिणामों को देखकर उन अंगों के कार्यों को ‡ मालूम करने का प्रयत्न किया। वेदों में सहस्रावधि वनस्पतियों के उल्लेख § मिलते हैं, परन्तु स्वरूप, गुण धर्म इत्यादि का विवरण नहीं मिलता। इन्होंने उनकी पहचान वनचारियों से ‡ प्राप्त की, गुण धर्मों के अनुसार उनके गुण बनाये ॥; और गुण धर्मों की उपपत्ति रस वीर्य विपाक के अनुसार निश्चित की। वेदों में अनेक शस्त्र-कर्म मिलते हैं, परन्तु उनकी पद्धति का वर्णन नहीं दिखाई देता। इन्होंने सादे से सादे शस्त्रकर्म से लेकर नासासंधान (Rhinoplasty) जैसे अनोखे शस्त्रकर्म तक ¶ सब शस्त्रकर्मों की पद्धति वर्णन की, शस्त्र कर्मों के लिए आवश्यक अनेक उपयोगी यंत्रशस्त्र निर्माण किए; शस्त्र कर्म के समय संज्ञाहरण के लिए क्लोरोफार्म के समान मद्य का उपयोग* शुरू किया; शस्त्र कर्म के पश्चात् उत्पन्न होनेवाले दोष (Sepsis) का निराकरण करने के लिए व्रणबन्धन की वस्तुओं को सूर्य की किरणों से, निंब बचादि जीवाणुनाशक वनस्पतियों के धूपन से, अग्नि से या उबलते पानी से विशोधित करके§ काम में लाने की प्रथा शुरू की, जिसे आधुनिक जीवाणुनाशक व्रण-चिकित्सा-पद्धति की जननी समझ सकते हैं। वेदों में त्रिदोषों का केवल उल्लेख † मिलता है, परन्तु उनके स्वरूपादि का विवरण नहीं दिखाई देता। इन्होंने उनके ऊपर गम्भीर विचार करके उनके प्राकृत तथा विकृत कार्य निश्चित किये, उनके आधार पर सम्पूर्ण औषधि द्रव्यों के गुण धर्म निश्चित किये, विविध रोगों की सम्प्राप्ति ठीक की, उनका वर्गीकरण किया और उनके लिए बहुत सुन्दर और सरल चिकित्सा प्रणाली स्थापित की। वेदों में ज्वर, यक्ष्मा, कुष्ठ इत्यादि संक्रामक रोगों के उल्लेख बहुत मिलते हैं। इन्होंने इन रोगों के प्रसार के साधन मालूम करके ‡ स्थान परित्याग, सम्बन्धविच्छेद, रसायन प्रयोग इत्यादि मार्गों द्वारा इनकी रोक थाम

---

* तस्यायुषः पुण्यतमो वेदो वेदविदां मतः। वक्ष्यते यन्मनुष्याणां लोकयोरुभयोर्हितः ॥ चरक ॥

† तस्मान्निः संशयं ज्ञानं हर्त्राशल्यस्य वाञ्छता। शोधयित्वा मृतं सम्यग्द्रष्टव्योऽगं विनिश्चयः ॥ सुश्रुत ॥

‡ क्लैब्यं। वदन्ति शौफसश्छेदाद् वृषणोत्पाटनेनच ॥ चरक ॥

§ शतं ते राजन् भिषजः सहस्रमुर्वीगभीरा सुमतिष्टे अस्तु ॥ ऋग्वेद ॥

‡ गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः। मूलाहाराश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते ॥ सुश्रुत ॥

॥ चरक, सूत्र स्थान, अध्याय ४ और सुश्रुत, सूत्र स्थान, अध्याय ३८ और ४०।

¶ They have already borrowed from them (Hindus) the operation of Rhino-plasty—Weber's History of Medicine—इस पद्धति को आज भी पाश्चात्य शस्त्र विज्ञान में भारतीय पद्धति कहते हैं।

* मद्यपं पाययेन्मद्यं तीक्ष्णं यो वेदनासहः ॥ सुश्रुत ॥

§ न केवलं व्रणं धूपयेत्, शयनाद्यपिव्रणदौर्गंध्यापगमार्थं नीलमक्षिकादि परिहारार्थंच ॥ डल्हण ॥
धूमो ग्रहशयनासनवस्त्रादिषुशस्यते विषनुत् ॥ चरक ॥
उदरान्मेदस्ते वर्तिर्निगता यस्य देहिनः। अग्नितप्तेन शस्त्रेण छिन्द्यात् ॥ सुश्रुत ॥
अन्यथा अतप्तशस्त्रच्छेदेन पाकभयंस्यात् ॥ डल्हण ॥

† त्रिर्नो अश्विना दिव्यानि भेषजा त्रिः पार्थिवानि त्रिरुदत्त मद्भयः। ओमानं शं यो ममकायसूनवे त्रिधातु शर्म वहतं शुभस्पति। ऋग्वेद ॥ त्रिधातु वात पित्त श्लेष्म धातुत्रय शमन विषयं सुखं वहतम् ॥ सायनभाष्य ॥

‡ प्रसंगाद्गात्रसंस्पर्शान्निश्वासात् सहभोजनात्। सहशय्यासना चापिवस्त्रमाल्यानुलेपनात्।
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एवच। औपसर्गिक रोगांश्च संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ सुश्रुत ॥

करने में काफी सफलता प्राप्त की। वेदों में प्रसवकाल की अवधि दस महीने की* बताई गई है। इस अवधि में कई बार फर्क दिखाई देता है। इन्होंने इस विषय की जाँच करके इस अवधि की अवैकारिक अधिक से अधिक और कम से कम मर्यादा† बताई जो आधुनिक जाँच के साथ ठीक ठीक मिलती है। इनके अतिरिक्त और भी अनेक पहलुओं से वेदांग वैद्यक में इस काल में परिवर्तन और सुधार होने के कारण आयुर्वेद एक सुसंघटित, सर्वांगसुन्दर और स्वतंत्र शास्त्र बन गया तथा उसकी योग्यता वेदों के बराबर और उपयोगिता‡ वेदों से भी अधिक हो गई।

इस काल में आयुर्वेद इतना बढ़ गया था कि एक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण आयुर्वेद का आकलन करके उसके सब अंगों का व्यवसाय करना असम्भवसा हो गया था। इसलिए आयुर्वेद शल्यशालाक्यादि आठ अंगों में विभक्त किया गया था, इन अंगों के ग्रन्थ भी स्वतंत्र बनाए गए थे और आधुनिक काल के समान उन अंगों के विशेषज्ञ (Specialists) अपना अपना व्यवसाय§ राज दरबार तथा अन्य स्थानों में कार्यक्षमता के साथ तथा लोगों के विश्वास के साथ किया करते थे। इस काल में आयुर्वेद की कीर्ति इतनी बढ़ गई थी कि भारत के बाहरी देशों में भी वह पहुँच गई थी जिसके परिणामस्वरूप बाहर के लोग वैद्यकीय ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारतवर्ष में आया करते थे और यहाँ से वापिस जाने पर भारतीय ज्ञान का उपयोग अपने शास्त्र को समृद्ध करने में किया करते थे। इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि आज भी कई भारतीय प्राचीन वैद्यकीय शब्द विलायती वैद्यक में¶ दिखाई देते हैं। सिकन्दर जब भारत में आया तब वह अपने सैनिकों के साथ सैनिक वैद्यों को भी ले आया था। परन्तु भारत के सर्पदंश की चिकित्सा में उनको सफलता न मिल सकी। इसलिए उसने यहाँ के कुछ विषवैद्य अपनी छावनी में रक्खे और वापिस जाते समय वह कुछ वैद्यों को साथ लेकर चला गया।

यह काल आयुर्वेद की दृष्टि से उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति देनेवाला रहा। इस काल की प्राचीन मर्यादा ठीक ठीक बताना बहुत कठिन है। परन्तु यह निश्चिति से कहा जा सकता है कि संवत्कार विक्रमादित्य के पहले कुछ शताब्दियों से उसके पश्चात् कुछ शताब्दियों तक आयुर्वेद की यह उज्ज्वल दशा रही। चूंकि यह काल विक्रमादित्य के काल के समान आयुर्वेद के लिए उज्ज्वल, दिग्विजयी और शाश्वत कीर्ति प्रदान करनेवाला रहा तथा चूंकि इसका मध्य बिन्दु स्वयं विक्रम रहा इसलिए मैंने आयुर्वेद के इस काल को विक्रम का नाम दिया है। इस काल को आयुर्वेद की यौवनावस्था कह सकते हैं।

---

* धाता श्रेष्ठेन रूपेणास्यानार्या गविन्योः। पुमांसं पुत्रमाधे हि दशममासि सूतवे॥
यथावातो यथा मनोयथा पतन्ति पक्षिणः। रावा त्वं दशमास्यसाकं जरायुणापताव जरायु पद्यताम्॥ अथर्ववेद॥

† नवमदशमैकादशद्वादशानामन्यतमस्मिन् जायते। अतोऽन्यथा विकारी भवति॥ सुश्रुत॥

‡ आयुर्वेद मेवाश्रयन्ते वेदाः। एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः।
काश्यपसंहिता॥ टिप्पणी नं. १४ भी देखियेगा॥

§ कुमारभृत्याकुशलैरनुष्ठिते भिषग्भिराप्तैरथ गर्भमर्मणि॥ रघुवंश॥
उपातिष्ठन्नयो वैद्याः शल्योद्धरणकोविदाः। सर्वोपकरणैर्युक्ता कुशलैः साधुशिक्षिताः॥
कोशं यन्त्रायुधंचैव येच वैद्याश्चिकित्सकाः। तत्संगृह्चययौराज्ञां ये चापि परिचारकाः।
शिबिराणिमहार्हाणि राज्ञां तत्र पृथक् पृथक्। तत्रासन् शिल्पिनः प्राज्ञाः शतशो दत्तवेतनाः।
सर्वोपस्करणैर्युक्ता वैद्याः शास्त्रविशारदाः॥ महाभारत॥
चिकित्सकाः शस्त्रयन्त्रागदस्नेहवस्त्र हस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः उद्धर्षणीयाः पृष्ठतोऽनुगच्छेयुः॥
आपन्न सत्वायां कौमारभृत्यो गर्भमर्मणि प्रजने च वियतेत।
तस्मादस्य जांगलीविदो (विषवैद्य) भिषजश्चासन्नाः स्युः॥ कौटिलीय अर्थशास्त्र॥

¶ शृंगवेर--Zingiber, कोष्ठ--Costus, पिप्पली Piper, शर्करा Sakkaron हृद--Heart,
विष--Virus, अस्थि-- os, osteoro, पित्त--Pituata, शिरोब्रम्ह--Cerebrum

(४) **वाग्भट काल**—भारतवर्ष अत्यन्त प्राचीन काल से सुवर्णभूमि के रूप में संसार में प्रसिद्ध रहा। इसलिए उसको लूटने की इच्छा भी अत्यन्त प्राचीन काल से भारतेतर देशों के लोगों में रही। इसका परिणाम यह होता रहा कि भारत पर प्राचीन काल से विदेशियों के आक्रमण होते रहे। जब तक भारतीयों में क्षात्रतेज चमकता रहा तथा भारत में विक्रमादित्य के समान पराक्रमी और विद्वानों का आदर करनेवाले शासक रहे तब तक इन आक्रमणकारियों की एक भी न चली। परन्तु इनका अभाव होने पर इन्होंने भारत में उत्पात मचाया। इसका परिणाम यह होने लगा कि देश में अशान्ति फैलने लगी, दारिद्रच बढ़ने लगा और विद्या-कला का लोप होने लगा। अर्थात् इस काल में आयुर्वेद की भी बहुत हानि हुई। इससे बचने के लिए वाग्भट ने अपने समय में जो आयुर्वेद का अंश बचा हुआ था उसका संग्रह उसके विविध अंगों के अनुसार जरा विस्तार से अष्टांग संग्रह में और संक्षप से अष्टांग हृदय में किया। इस कालखण्ड में माधव निदान, सिद्ध-योग तथा अन्य ग्रंथों का जो निर्माण हुआ वह सब संग्रहस्वरूप का था। इसलिए इस काल को संग्रह काल भी कह सकते हैं। इस काल में आयुर्वेद की उन्नति नहीं हुई, अवनति ही होती रही। इसको आयुर्वेद की वृद्धावस्था कह सकते हैं।

(५) **भविष्यकाल**—वृद्धावस्था के पश्चात् सृष्टि नियम के अनुसार मृत्यु ही एकमात्र घटना बाकी रहती है। यह नियम सृष्ट पदार्थों के लिए भले ही लागू हो, वेदों और शास्त्रों के लिए नहीं लागू होता। आयुर्वेद वेद भी है और शास्त्र भी*। इसलिए उसके लिए यह नियम कदापि भी लागू नहीं हो सकता। अब सवाल यह उठता है कि 'क्या आयुर्वेद इस जराजीर्ण दशा में भविष्य में रहेगा ?'। इसका उत्तर है 'कदापि नहीं'। इसका कारण यह है कि आयुर्वेद के पास जराजीर्ण शरीर को नवयौवन† प्रदान करने की शक्ति है। अतः मुझे विश्वास है कि भविष्य में आयुर्वेद फिर से नवयौवन प्राप्त करके चिकित्सा जगत् में सम्मान का स्थान प्राप्त करेगा।

---

* अस्मिन्शास्त्रे पंचमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुष इत्युच्यते ।। सुश्रुत ।।
रोगान् शास्ति इति शास्त्रम् ।। आयुरारोग्य दानेन धर्मार्थ कामादीनां शासनाद्वा शास्त्रम्। मरणा त्रायते इति वा शास्त्रम् ।।

† रसायनस्यास्य नरः प्रयोगाल्लभेत जीर्णोऽपि कुटिप्रवेशात्।
जराकृतं रूपमपास्य सर्वं बिभर्ति रूपं नवयौवनस्य ।। चरक ।।





विक्रमकालीन उन्नति

श्री रामनिवास शर्मा

भारतवर्ष में एक समय था जब उज्जयिनी में आजसे दो सहस्र वर्ष पहले परम भट्टारक महाराज विक्रमादित्य शासन कर रहे थे। भारतवर्ष के सांस्कृतिक विकास, शौर्य और वैभव के वे प्रतीक थे। वे अपने औदार्य, विद्वत्ता, साहित्य-सेवा, अलौकिक प्रतिभा एवं दिग्विजय के कारण सर्वश्रुत थे। वे प्रत्येक बात में इतने अद्वितीय थे कि उनकी उपमा संभवतः किसी से भी नहीं दी जा सकती। उनकी शालीनता, मनुष्यता, वाग्मिता, बुद्धिमत्ता विविध और विभिन्न अनन्त विचित्रताओं के गीत आज भी घर-घर सुनने को मिलते हैं। सारांश यह है कि वे माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों ही प्रकार की गुण-राशि के अप्रतिम उदाहरण थे।

उनके यहाँ लोक-विश्रुत बृहस्पति के समान सहस्रों विद्वान् थे। पचासों एकाधिक विषयों के आचार्य थे। अनेक आचार्य-प्रवर थे। ऐसे भी महामहिम उद्भट विद्वान् थे जोकि सरस्वती के वरदपुत्र और कण्ठाभरण कहे जाते थे। इनमें भी उनके अन्यतम विशेषज्ञ पण्डित, कलाकार और राज्य-व्यवस्थापक तो उस समय के सूर्य-चन्द्र ही थे। साथ ही व्यष्टि और समष्टि-वादी शास्त्रियों की संख्या भी कम नहीं थी। किन्तु इन सबमें उनके नवरत्न तो भूतल के अजर-अमर रत्न थे। उनमें भी महाकवि कालिदास तो सर्वोत्कृष्ट महापुरुष थे। संसार के विद्वानों का कथन है कि कालिदास सरस्वती के हृदय की वस्तु थे, साहित्यश्री के शृंगार थे, कला-नैपुण्य के आचार्य थे, मानवीयता के प्राण थे, सार्वजनीन और सार्व-भौम आदर्श तत्त्वों के पुजारी और चित्रकार थे। सर्वाधिक वे सौन्दर्य के कवि थे। उनका व्यक्तित्व भौतिक, दैविक और आत्मिक विकासोन्मुख तत्त्व-वस्तु का समन्वय-सामंजस्य-पूर्ण विकास था। ऐसी दशा में वे एक आदर्श थे। प्रत्येक देश और मानव-समाज की वस्तु थे।

उनका अभिज्ञान शाकुन्तल संसार की सर्वोत्तम पुस्तक है। उसमें विश्व-प्रकृति, मानव-प्रकृति और भारत की आत्मा पूर्णतः व्यक्त हुई है। उसकी प्रशंसा करना वस्तुतः भगवती वीणा-पाणि का ही कार्य है।

उस समय की सम्पूर्ण आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक समृद्धि उन्हींके चरणों के प्रश्रय से अनुप्राणित और समुन्नत थीं। रमा, उमा, और गिरा उनकी वशवर्त्तिनी-सी बनी हुई थीं। इन्हीं विक्रमादित्य के विषय में एक

विक्रमकालीन उन्नति

इतिहासकार इस प्रकार लिखते हैं कि उज्जयिनी-पति विक्रमादित्य गन्धर्वसेन के पुत्र थे। इनका पहला नाम विक्रमसेन था। इन्हींके समय में अवन्तिका को उज्जयिनी नाम मिला। ये चालीस वर्ष की अवस्था में सिंहासन पर बैठे थे। ये बड़े गुणी, न्यायी और वीर थे। इनकी न्याय-प्रियता तथा दानशीलता की आज तक ऐसी प्रशंसा है कि इनकी गणना बलि और हरिश्चन्द्र जैसे दानियों के साथ की जाती है। अन्य राजाओं की प्रशंसा करने में भी लोग बलि, विक्रम, राम, युधिष्ठिर आदि से वर्ण्य नरेश की उपमा देते हैं। भारतीय विचारानुसार इनमें राजोचित सभी गुणों का संग्रह था।

इन्हींके लोकोत्तर व्यक्तित्व के विषय में कालिदास अपने ज्योतिर्विदाभरण में लिखते हैं कि वे इन्द्र तुल्य अखण्ड प्रतापी थे, समुद्र की तरह गम्भीर थे, कल्प-तरु के समान दाता थे, रूप में कामदेव-से थे, शिष्ट और शान्त थे, दुष्ट-दमन में अद्भुत थे, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने में अद्वितीय थे।

कविकुल-चूड़ामणि कालिदास के ग्रन्थों से यह भी व्यंजित होता है कि उनके समय का समाज पूर्ण सम्पन्न था, गुरुकुल-प्रणाली का प्रचार था, ललित कलाओं का समधिक समादर था, शिक्षित स्त्री-पुरुष संस्कृत बोलते थे और शिष्टाचार का मूल्य था, देश धन-धान्य-सम्पन्न था, व्यापार उन्नति पर था, यन्त्र-विद्या की अच्छी दशा थी, खनिज पदार्थों की अभिवृद्धि का ख्याल था और गृहोपयोगी शिल्प का मान था, गण-तन्त्रों का अस्तित्व था, साम्राज्य-भावना बलवती थी, शासन-सत्ता नियन्त्रित थी, राजा का योग्य होना अनिवार्य था और शासन में ब्राह्मणों का पर्याप्त हाथ था।

इतिहास-मर्मज्ञ स्वर्गीय श्री० रमेशचन्द्रदत्त इन्हीं विक्रमादित्य के विषय में अपने 'सभ्यता का इतिहास' में इस तरह लिखते हैं कि वह अमर यशस्वी था, हिन्दू-हृदय और हिन्दू-धी-शक्ति का विकासक था और हिन्दुत्व और हिन्दू-धर्म को पुनरुज्जीवित करने वाला था, उसका व्यक्तित्व जाति का पथ-प्रदर्शक था, वह हिन्दू-हित और हिन्दू-साहित्य का उद्धारक था और भारतीय आवश्यकताओं का महान् पूरक था।

यह भी कहा जाता है कि उस समय का भारत प्रत्येक दृष्टि से समुन्नत था। देवता भी इसके गुण-गान करते थे। अन्यान्य देशों और द्वीप-द्वीपान्तरों में इसके नाम की धूम थी। संसार के लोग विक्रम के व्यक्तित्व, नवरत्न और भारतीय समुत्कर्ष के प्रभावों से प्रभावित प्रायः भारत-दर्शनार्थ आया करते थे। ऐतिह्य से तो यह भी प्रमाणित होता है कि ऐसे यात्रियों का ताँता-सा बँधा रहता था।

किन्तु कुछ विद्वानों की सम्मति में विक्रम-काल और विशेषतः विक्रमादित्य की एक सर्वोत्तम, सर्व-प्रमुख और अन्यतम विशेषता यह भी थी कि वह अपने उत्तरकाल, उत्तरकालीन व्यक्तियों और भारतीय समाज पर अपना प्रभाव पर्याप्त मात्रा में छोड़ गए।

किसी ने सत्य ही कहा है कि विभूतियाँ अपने जीवनकाल में जो कुछ मानव-समाज को देती हैं, उससे अधिक वे देश और काल को दे जाती हैं। उनकी यही देन समय पाकर पूर्णतः देश-काल की वस्तु बनकर अनन्त समय तक मानव-समाज को लाभ पहुँचाती रहती है। इसी दृष्टिकोण से विचार करने पर मालूम होता है कि विक्रम-काल और विक्रम-व्यक्तित्व की छाप आज भी भारतीय हृदयों पर स्पष्ट दिखाई देती है। आज भी उससे भारतीय हृदयों को प्रेरणा मिलती है, उत्साह मिलता है। साथ ही एक ऐसी परमोपयोगी और उत्पादक बात भी मिलती है जो इतनी मात्रा में किसी दूसरे व्यक्तित्व और काल से नहीं मिल रही है।

तत्कालीन भारतीय राज-समाज विक्रम-प्रभाव से प्रभावित था। वह प्रभाव इतना हुआ कि अनेक नृपति-पुंगवों ने विक्रम के अनुकरणीय गुण, कर्म, स्वभाव और क्रियाकलापों को शोभा, आवश्यकता, अनुकरण-प्रियता अथवा महत्त्वाकांक्षावश अपनाना शुरू किया। यही नहीं, अपितु अनेकों ने अपने नाम के साथ पदवी की भाँति विक्रम शब्द को भी लगाना प्रारम्भ किया। इसी का यह सुफल या कुफल है कि आज भारतीय इतिहास और जनश्रुतियों में हमें विक्रम-पदवी-धारी राजा और सम्राट् पर्याप्त संख्या में मिलते हैं। परन्तु उनमें मुख्य श्रावस्ती का विक्रमादित्य, काश्मीर का विक्रमादित्य, मेवाड़ का विक्रमादित्य और बंगाल का विक्रमादित्य हैं।

[शेष पृष्ठ १३० पर देखिए]



हमारा विक्रमादित्य

श्री गोपीकृष्ण विजयवर्गीय

विक्रमादित्य इतना महान् था कि उसका यह नाम बाद के राजाओं और सम्राटों के लिए एक पदवी ही बन गया। बहुत से लेखक विक्रमादित्य के नाम के पहले सम्राट् शब्द लगा कर उसके समय की राज्य-व्यवस्था का अपमान करते हैं। मुझे तो सम्राट् की अपेक्षा गणाध्यक्ष विक्रमादित्य अधिक प्रिय लगता है; क्योंकि वह व्यवस्था हमारी आकांक्षित लोकतंत्री व्यवस्था के अधिक निकट जँचती हैं। इतने प्रसिद्ध गणाध्यक्ष की ऐतिहासिकता के विषय में ही अभी वादविवाद चल रहा है, यह हम भारतीयों के लिए बड़े खेद की बात है। किन्तु अब तो प्रायः अधिकांश विद्वानों ने विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता को स्वीकार कर लिया है। सन् ५८-५७ ईसवी पूर्व में विक्रमादित्य ने विदेशी शकों को हराकर स्वतंत्रता का झण्डा ऊँचा किया था, तथा अपना संवत् प्रारम्भ किया था। भारतवर्ष के लिए यह अत्यन्त गौरव की बात है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्राचीनता, उच्च संस्कृति और महान् कार्यों का अभिमान होना चाहिए और इस दृष्टि से विक्रमादित्य हमारे लिए अत्यन्त गौरव और अभिमान की विभूति है।

गणाध्यक्ष विक्रमादित्य सम्बन्धी ऐतिहासिक खोजों के निरूपण में मैं पड़ना नहीं चाहता, मैं तो केवल यह बताना चाहता हूँ कि विक्रमादित्य के प्रति हमारा दृष्टिकोण क्या होना चाहिए।

हमें विक्रमादित्य के महत्त्व को संकुचित नहीं बना डालना चाहिए। विक्रमादित्य किसी सम्प्रदाय का विरोधी नहीं था। राष्ट्रीय एकता का प्रतीक विक्रमादित्य मालवगण का महान् योद्धा नायक था। उसी रूप में हमें उसका आदर करना चाहिए। आज के संकुचित साम्प्रदायिक विद्वेष के लिए हमें विक्रमादित्य का उपयोग नहीं करना चाहिए, किन्तु गणतंत्रवादी और जनतंत्रवादी योद्धा नेता के रूप में हमें उसका स्मरण करना चाहिए। वह साम्राज्यवादी सम्राट् भी नहीं था। वह तो गणतंत्रवादी समाज का अगुआ था। अब तो जमाना बहुत बदल गया है। आज तो हमें हिन्दू-समाज की जाति-प्रथा तथा छूतछात आदि कुरीतियों से घोर संघर्ष करना है। आज हम उस पुरानी हिन्दू-समाज-व्यवस्था को पुनः स्थापित नहीं कर सकते जो दो हजार वर्ष पूर्व प्रचलित थी। हर समाज और देश विकासोन्मुख है। हमें पुराने

इतिहास और पुरानी संस्कृति का आदर करना चाहिए, तत्कालीन परिस्थिति में सब से आगे बढ़े हुए होने का अभिमान करना चाहिए, किन्तु अब हिन्दू-संगठन के बजाय सच्चे हिन्दुस्तानी-संगठन का आदर्श रखना चाहिए। विक्रमादित्य का सम्मान हमें प्रत्येक हिन्दू के हृदय में ही नहीं, प्रत्येक मुसलमान, ईसाई, आदि के हृदय में भी, उत्पन्न करना चाहिए। इतनी शताब्दियों तक भारत में रह लेने के बाद हम एक दूसरे को अपरिचित या विदेशी नहीं कह सकते। एक ही आर्य खून के हिन्दू और मुसलमान केवल धर्मभेद के कारण भिन्न भिन्न या परदेशी नहीं माने जा सकते। जातीय श्रेष्ठता के सिद्धान्त ने संसार में कितनी खूनखराबी मचाई है यह हम आज प्रत्यक्ष देख सकते हैं। गणाध्यक्ष विक्रमादित्य का सम्मान और गौरव हमें आधुनिक युग के आदर्शों से मेल खानेवाले रूप में मनाना चाहिए।

विक्रमादित्य न केवल योद्धा था, प्रत्युत अच्छा और न्यायपूर्ण शासन-व्यवस्थापक भी था। आज हमें जन-दुःख-भंजक, लोकहितैषी, न्याय-प्रेमी विक्रमादित्य से बहुत कुछ सीखना होगा। जनता की कष्ट-कथाओं की जाँच करने के लिए वह छद्मवेष में जनता में फिरता था, यह भी एक जनश्रुति है। विक्रमादित्य विद्या और संस्कृति का उन्नायक भी था। विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा प्रसिद्ध ही है। नवोंरत्न उसके साथ थे या नहीं इसमें ऐतिहासिक दृष्टि से भले ही सन्देह हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं रहा है कि उसने विद्या और संस्कृति को अवश्य प्रोत्साहन दिया था। अनेक विद्वान् उसके काल में थे, और नाटककार कालिदास भी उसके समय में विद्यमान था।

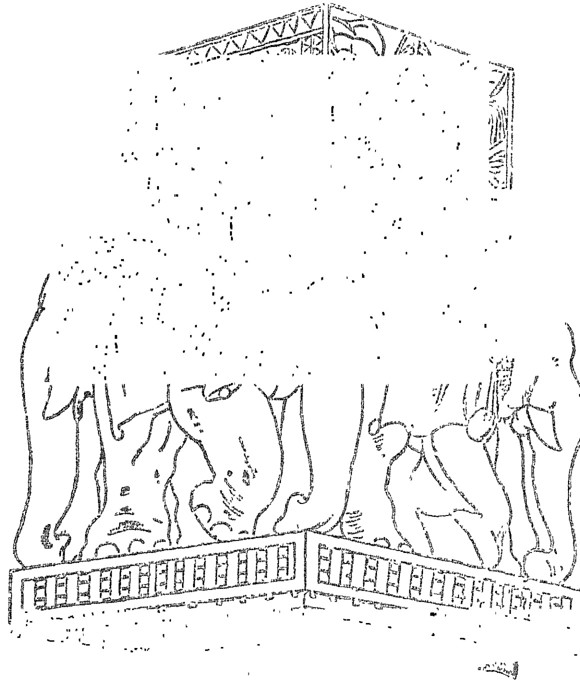
भारतवर्ष का अतीत काल जैसा महान् और उज्ज्वल था, वैसाही भविष्य भी महान् और उज्ज्वल होनेवाला है। भिन्न भिन्न सांस्कृतिक प्रदेशों के अखिल भारतीय संघ के रूप में, भिन्न भिन्न सुन्दर क्यारियों के उद्यान की भाँति, हमारा यह देश—यही विक्रमादित्य और विक्रमादित्यों का देश—फिर उच्च और गौरवशाली होनेवाला है। हमारे पूर्वजों की कीर्ति जो आज हमारे अज्ञान के कूड़े-करकट में दबी पड़ी है, सच्चे तेज और चमक के साथ चमकेगी, और भारतीय सभ्यता का सच्चा उत्थान होगा।

[पृष्ठ १२८ का शेष अंश]

इनके सिवा प्रतीच्य और प्राच्य चालुक्य-वंशों में भी पाँच विक्रम उपाधिधारी राजा हुए हैं। साथ ही दक्षिणापथ के गुत्तल-नामी सामन्त-राज्य में भी विक्रम पदवीधारी तीन राजा हुए हैं। दाक्षिणात्य बाण-राजवंश में भी प्रभुमेरुदेव-पुत्र विजयबाहु एक विक्रम पदवीधारी राजा हुआ है। इसी तरह कहा जाता है उज्जयिनी के भी असली विक्रमादित्य के सिवा, विक्रम पदवीधारी दो एक राजा हुए हैं। इनमें एक हर्ष विक्रमादित्य नामक राजा भी है।

किन्तु विक्रमादित्य-पदवी धारण करनेवाले और तदनुकूल थोड़ा-बहुत आचरण करनेवालों में श्रेष्ठतम वास्तविक नराधिप तो प्रथम चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त-विक्रमादित्य और द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही हैं।

यदि हमारी शास्त्रीय जनश्रुतियाँ सत्य हैं तो अनेक विद्वानों के शब्दों में यह मानना पड़ेगा कि उक्त तीनों सम्राटों के समय उज्जयिनी सम्राट् परम भट्टारक महाराज के विक्रम-काल का भव्य प्रभाव गुप्तकाल में भी नामशेष नहीं हुआ था, अपितु दिनानुदिन बढ़ ही रहा था। विशेषतः द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय तो इतना बढ़ा कि ज्ञात इतिहास में भारत पहली बार पूर्णोन्नत कहलाने योग्य समझा जाने लगा। तिथि-क्रम की दृष्टि से चीनी, ईरानी और रोमन साम्राज्यों में भारत ही अपेक्षाकृत विस्तृत और उन्नत माना जाने लगा। और शासन-सौन्दर्य, ज्ञान-विज्ञान, सुखशान्ति और ऋद्धि-सिद्धि आदि सभी बातों में अद्वितीय भी प्रमाणित हुआ। ऐतिहासिक लोगों की दृष्टि में यह वह समय था जब संसार का दिग्दिगन्त इसी के ज्ञानालोक से आलोकित था। इसी से चीन, जापान और योरुप ने भी प्रत्यक्ष-परोक्ष रूप में जागृति और सभ्यता का पाठ पढ़ा था।



जनता का विक्रमादित्य

भारत के अतीत गौरव का प्रतीक

श्री सम्पूर्णानन्द एम० एल० ए०

विक्रमादित्य कौन थे, उनके राज्य का विस्तार कितना था, उनके जीवन में कौनसी मुख्य मुख्य घटनाएँ हुईं, उन्होंने कभी अश्वमेध किया या नहीं, उनका शासनकाल किस वर्ष से किस वर्ष तक था, उनकी परिषद् कौन कौनसे विद्वान् सुशोभित करते थे---ये सब प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं; परन्तु इनका महत्त्व विद्वानों के लिए है। साधारण भारतीय, वह भारतीय जिसका सामूहिक नाम 'जनता' है, इन बातों को नहीं जानता। उसने इन प्रश्नों को अब तक नहीं सुना है, सुनकर उसे इनमें कुछ विशेष रस भी नहीं आ सकता। वह जिस विक्रमादित्य, जिस राजा 'विकरमाजीत' से परिचित है उनका व्यक्तित्व ऐतिहासिक विक्रमादित्य से बहुत बड़ा है। जनश्रुति और सिंहासन-बत्तीसी के विक्रमादित्य ऐतिहासिक खोज की अपेक्षा नहीं करते। यदि देश विदेश के विद्वान् मिलकर यह व्यवस्था दें कि इस नाम या उपाधि का कोई भी नरेश नहीं हुआ तब भी लोकसूत्रात्मा जिस विक्रमादित्य को जानती-मानती है उनकी स्मृति सुरक्षित रहेगी। इसका कारण स्पष्ट है। जनता के विक्रमादित्य व्यक्ति नहीं हैं, वे कई विचारों, कई आदर्शों के प्रतीक हैं।

जनता के विक्रमादित्य आदर्श भारतीय नरेश थे। आदर्श नरेश में प्राय: वे सब गुण होते हैं जो हीगेल के मत के अनुसार राजसत्ता में पाये जाते हैं, या यों कहिए कि आदर्श राजसत्ता में पाये जाने चाहिए। वह जनता के उत्तम 'स्व' का प्रतीक होता है। मनुष्य से भूल होती ही है, उसका राग द्वेष, उसका अधम 'स्व' उसको नीचे खींचता है, इसलिए उसे दण्डित होना पड़ता है, परन्तु यदि राज की ओर से समुचित, निष्पक्ष, व्यक्तिगत प्रतिहिंसा आदि भावों से अरञ्जित न्याय होता है तो अपराधी का उत्तम 'स्व' दण्ड की न्याय्यता को स्वीकार करता है। दण्ड पाना, कष्ट भोगना, किसी को अच्छा नहीं लगता, परन्तु वास्तविक न्याय करनेवाले के प्रति द्वेष नहीं होता। एक अव्यक्त भावना रहती है कि यह दण्ड भी मेरे भले के लिए दिया जा रहा है। न्यायमूर्ति राजा भी माँ बाप की भाँति गुरुजनों में गिना जाता है। हीगेल के सिद्धान्त के अनुसार राज-सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित होने से व्यक्ति के 'स्व' की पूर्णता और पूर्णाभिव्यक्ति होती है। मैं इस राज का अवयव हूँ,



इसका हूँ, यह मेरा है, ऐसी अनुभूति से अपने में एक विशेष प्रकार की वृद्धिसी प्रतीत होती है। राज के सुख-दुःख वैभव में अपना सब कुछ खोकर मानव परिवर्द्धित हो जाता है, राज की महत्ता अपने में आरोपित हो जाती है। राज की आज्ञा भार की जगह कर्त्तव्य हो जाती है और उसके लिए जो कुछ त्याग करना पड़ता है वह सुखद बन जाता है। भारतीय जनता राम, कृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, भोज और विक्रम के प्रति ऐसा ही भाव आज भी रखती है। उसके लिए विक्रमादित्य एक राजा मात्र न थे। वे उसके अपने राजा थे; वह आज भी उनके सुख की कथा सुनकर सुखी, उनके दुःख से दुःखी होती है; उनके बल, विक्रम, वैभव, बुद्धि पर गर्व करती है। तोप, वायुयान, टैंक और महापोत के स्वामी किसी सम्राट् या अधिनायक को उनके बराबर मानने को तैयार नहीं है। और लोग बलवान् होंगे, शासन करते होंगे, अपनी आज्ञाओं को मनवा लेने की सामर्थ्य रखते होंगे, परन्तु विक्रमादित्य में जो अपनापन जान पड़ता है वह अन्यत्र नहीं मिलता।

आदर्श भारतीय राजा आदर्श हीगेलीय राज से कुछ बातों में अधिक ऊँचे स्तर पर होता है। एक तो राजा चेतन होता है, राज जड़ होता है। जड़ सत्ता के प्रति वैसा आदर, वैसा स्नेह नहीं हो सकता जैसा व्यक्ति के प्रति होता है। व्यक्ति के साथ जैसा आदान प्रदान, जैसा विचार विनिमय हो सकता है वैसा जड़ संस्था के साथ नहीं हो सकता। लोकतंत्रात्मक शासन और समाचारपत्रों के अभाव में इस प्रकार के सम्बन्ध की आवश्यकता बहुत बढ़ जाती है। यदि प्रजाजन की पहुँच राजा तक न हो, यदि वह उससे खुलकर बात न कर सके, यदि वह स्वयं उनके सुख-दुःख की सक्रिय खोज न करता रहे और उनके विचारों को जानने के लिये समुचित प्रबन्ध न करता रहे तो शासन शिथिल पड़ जायगा। विक्रम उन नरेशों में थे जिनके शरीर में भारतीय जनता अपने इस आदर्श को मूर्त मानती है। ऐसा विश्वास है कि विक्रम और उनकी प्रजा में पूरा स्नेह था, प्रजा को उनसे अपने मन की बात कहने का पूरा अधिकार था, वे जन-मत जानने के लिए इच्छुक रहते थे और उसके अनुसार ही आचरण करते थे। भारतीय नरेश में दूसरी बात यह होती थी कि वह धर्म का रक्षक होता था। ऐसा माना जाता है कि आदर्श नरेशों के मस्तक पर देवगण का वरद हाथ रहता था और सिद्ध, योगी, विद्याधर, वेताल, भैरव, तथा विनायक हर काम में उनकी सहायता किया करते थे। ऐसे नरेशों के साथ सहयोग करने से ऐहिक के साथ साथ आत्मिक लाभ भी था, विक्रम सम्बन्धी कहानियों से इस विश्वास की पर्याप्त पुष्टि होती है।

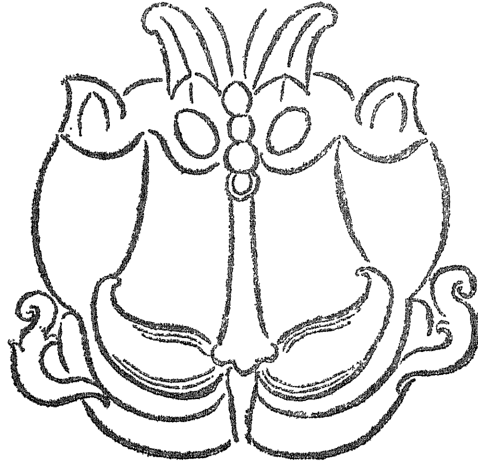
विक्रम की गाथा की रचना का श्रेय कवियों को कम, जनता को अधिक है। विक्रमादित्य उपाधिधारी कोई ऐतिहासिक राजा रहा होगा, परन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति न होता तो जनता किसी कल्पित राजा की सृष्टि करके उसको अपने आदर और स्नेह की माला पहिना देती। उसकी आत्मा तृषित थी और है; किसी ऐसे व्यक्ति को पाये या बनाये बिना उसको चैन नहीं मिल सकता था।

भारतीय, मुख्यतः हिन्दू-आत्मा की अतृप्ति का कारण सांस्कृतिक और राजनीतिक है। भारत आज सैकड़ों वर्षों से परतंत्र है। पठान और मुगलकाल समस्त देश की दृष्टि से पराधीनता का युग भले ही न रहा हो परन्तु यह मानना ही होगा कि हिन्दू दबा हुआ था। राजा मुसलमान था, शासन का सूत्र जिन लोगों के हाथ में था वे केवल इस्लाम धर्म के अनुयायी ही न थे वरन् या तो विदेशी थे या उनके कुछ ही पीढ़ियों पहले के पूर्वज विदेश से आये थे। हिन्दू मन्दिर ध्वस्त किये जाते थे, जो बच रहे थे वे शासकों की घृणा-मिश्रित दया या उपेक्षा-दृष्टि के सहारे खड़े थे। राजभाषा विदेशी थी; पण्डितों की जगह उलमा का समादर था; बातचीत, वेषभूषा, शील, आचार, सब पर विदेशी छाप पड़ती जाती थी। हिन्दू की आत्मा त्रस्त, दलित, संकुचित हो रही थी। आज भी वही दशा है, अन्तर केवल इतना है कि जो अवस्था पहले केवल हिन्दुओं की थी, वह आज सारे समाज की है। इस मानस अवस्था को यदि कोई एक शब्द व्यक्त कर सकता है तो वह इच्छाभिघात है। भारतीय फैल नहीं सकता, जिधर बढ़ना चाहता है उधर ही उसकी इच्छा अभेद्य दीवार से टकराकर चूर्ण हो जाती है।

ऐसी दशा में आपन्न जाति या तो मर जाती है या फिर अपने अतीत के सहारे जीती है। भारत के भाग्य अच्छे हैं, उसे जीना है, इसलिए उसके अतीत ने उसे सँभाल लिया। राष्ट्रीय आत्मा की परख अचूक होती है; वह अतीत में से उन्हीं तत्त्वों को पकड़ती है जो बल देनेवाले, उभारनेवाले होते हैं। महाभारत के नायक चिरस्मरणीय व्यक्ति थे, महाभारत

निकटतर भी है, परन्तु महाभारत गृहकलह और अपने हाथों अपना सर्वनाश ही तो सिखलाता है। वह लोकप्रिय न हुआ। जनता ने रामायण को अपनाया। उसमें अपने विजय, साम्राज्य-स्थापन, उत्कर्ष की कथा है। हम आज पतित हैं, परन्तु सदा ऐसे न थे; कभी हम भी बड़े थे, पृथ्वी पर सम्मान के पात्र थे; रामायण के द्वारा यह भावना हृदयों में अवतरित होती है और उनको शान्ति देती है।

यही चीज विक्रम की गाथा में है। राम मनुष्य थे परन्तु विष्णु के अवतार भी थे। उनका देवत्व भुलाया नहीं जा सकता। विक्रम सर्वतः मनुष्य थे। उनका जीवन मनुष्य का जीवन था, उनका चरित्र मनुष्य का चरित्र था, उनका सुख-दुःख मनुष्य का सुख-दुःख था। उनके शरीर में भारत का साधारण मनुष्य अपने को देखता है, परन्तु अपने को आज के रूप में नहीं, प्रत्युत उस रूप में जिसमें वह होना चाहता है। विक्रम भारत के गौरव, उत्कर्ष, धर्म, त्याग, वैभव, और ज्ञान के प्रतीक हैं। उनकी चर्चा करते समय जनता को अपने अतीत की एक झलक देख पड़ जाती है और अनागत की आशाएँ फिर हरी हो उठती हैं। न यह झलक व्यक्त होती है, न यह आशाएँ। यदि ये व्यक्त होतीं, यदि इनको स्पष्ट शब्दों में बताया जा सकता तो फिर यह राजनीति के थोड़ेसे विद्वानों की विचार-सामग्री होकर रह जातीं। अव्यक्त होने के कारण ही इनका स्थान जनता के दिलों में है। जब तक भारतीय संस्कृति फिर अपना सिर नहीं उठा लेती तब तक जनता के विक्रम का स्थान कोटि कोटि भारतीयों के हृदयों में सुरक्षित है। इसके बाद इतिहास-वेत्ताओं को अधिकार है, विक्रम की सत्ता को रक्खें या मिटाएँ।

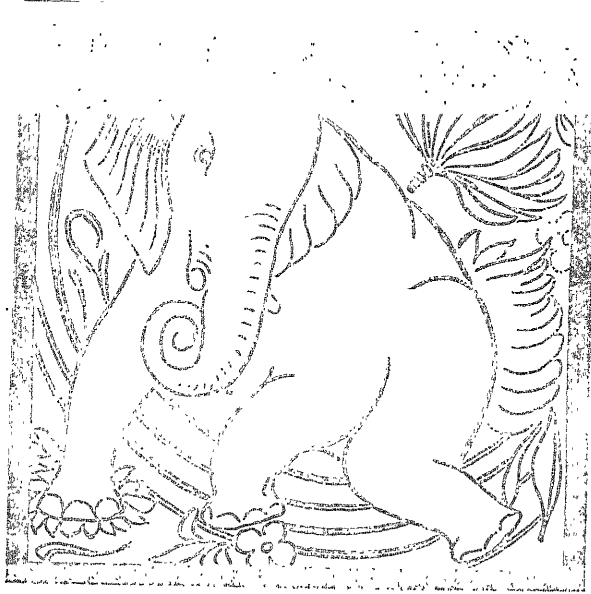




❁ मालवाना जयः ❁

श्री महेन्द्र

वर्ष बीते दो हजार !
बढ़ रहे थे देश में
क्रूर अत्याचार जब हूणों-शकों के,
और जनता खो रही थी
आत्म-गौरव, शक्ति अपनी,
सभ्यता, सम्मान अपना।
धर्म, संस्कृति का पतन
था हो रहा जब तीव्रगति से;
छा रहे थे जब निराशा-मेघ आ-आ।
संगठित भी थी नहीं जब
वीर मालव-जाति सारी;
राष्ट्र को जब छोड़कर, संकीर्ण बनते जा रहे थे,
मालवों के हृदय दुर्बल।
नष्ट होता जा रहा था
वह पुरातन, पूर्ण वैभव,
छा रहा था विश्व में
भीषण निविड़-तम भी भयंकर,
रात दुख की बढ़ रही थी
नाश के साधन अमित एकत्र कर !
ठीक ऐसे ही समय
ज्योति देखी विश्व ने, नव-जागरण के स्वर सुने।
एक युग के विशृंखल, बिगड़े हुए,
उजड़े हुए,
मिटते हुए,
सोते हुए, इस देश के जन-प्राण को
वीर विक्रम ने जगाया !
संगठन कर पूर्ण बिखरी शक्ति का,
विश्व को अनुभव कराया;—
मिट नहीं सकते कभी हम,
त्याग हम में है अपरिमित,
हैं भुजाओं में पराक्रम,
हम विजय के योग्य हैं,
कह सकेंगे, कह चुके हैं,—
मालवानां जयः !!



गुजराती साहित्य में विक्रमादित्य

दीवान बहादुर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी, एम० ए०, एलएल० बी०, जे० पी०

विक्रम-संवत् की द्वि-सहस्राब्दी पर उत्सव के आयोजन के विचार की उत्पत्ति के साथ ही यह प्रश्न सम्पूर्ण देश के विवेचन का विषय बन गया है कि क्या इस संवत् के प्रवर्तक का अस्तित्व वास्तव में कभी रहा है, और यदि रहा है तो इस नाम का कोई एक सम्राट् हुआ है अथवा एक से अधिक, और वह कोई काल्पनिक व्यक्ति था अथवा वास्तविक, और यह प्राकृतिक है कि गुजराती लेखक भी इस पर विचार करने में संलग्न हों। शास्त्री रेवाशंकर मेघजी पुरोहित नामक संस्कृत के विद्वान् पण्डित उनमें से एक हैं और उन्होंने ऐतिहासिक तथा पौराणिक उदाहरण उद्धृत करते हुए यह तथ्य स्थापित किए हैं---(१) विक्रमादित्य का अस्तित्व सम्राट् के रूप में रहा है, (२) उसकी राजधानी मालवान्तर्गत उज्जयिनी थी, (३) उसने ईसवी पूर्व ५७ से पहले विक्रम संवत् का प्रवर्तन किया, तथा (४) यह संवत् युधिष्ठिर द्वारा प्रवर्तित संवत् के समाप्त होने पर प्रचलित किया गया। इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी सिद्ध किया है कि यह संवत् मालव* संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध था।

प्राचीन गुजराती साहित्य में शासक के रूप में विक्रम की अनेक विशेषताओं में हारून-उल-रशीद की भाँति उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन भी मौलिक रूप में नहीं वरन् संस्कृत से अनूदित रूप में किया गया है। जहाँ तक मराठी साहित्य का सम्बन्ध है वैताल पच्चीसी के पाठ का आधार मूल संस्कृत का हिन्दी अनुवाद था; † तथापि कवि सामल (विक्रम संवत् १७७४-१८२१) द्वारा गुजराती में लिखित वैताल पच्चीसी अधिक प्राचीन थी। इसके छन्दों की रचना सन् १७१९ तथा

---

* 'शक-प्रवर्तक पर-दुख-भंजन महाराज विक्रमादित्य' पृष्ठ ६ से ९ तक 'गुजराती' का दिवाली-अंक (२४ अक्टूबर १९४३ आषाढ़ वदी राम-एकादशी, संवत् १९९९)।

† किंकणी टेल्स ऑफ विक्रम (१९२७), भूमिका।

१७२९ के बीच में हुई। इस ग्रन्थ की रचना करने में कवि को दस वर्ष लगे। इसका मराठी रूपान्तर सन् १८३० में किया गया। इस प्रकार गुजराती रूपान्तर लगभग एक शताब्दी अधिक प्राचीन था।

इसका रचयिता और इसका नाम 'सिंहासन बत्तीसी' अथवा सिंहासन की बत्तीस कहानियाँ रखनेवाला कवि सामल अठारहवीं शताब्दी में प्राचीन गुजराती साहित्य के तीन ज्योतिर्मय स्तम्भों में से एक था और आख्यानकारों का शिरोमणि माना जाता था। वह संस्कृत से पौराणिक उपाख्यानों का अनुवाद करके उनको गाकर सुनाता था। उस काल में असंस्कृतज्ञ श्रोताओं के बीच संस्कृत श्लोकों के स्थान पर देशभाषा में आख्यान गाकर सुनाने की यह प्रणाली गुजरात में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई थी।

सामल ब्रजभाषा जानते थे, फिर भी उन्होंने संस्कृत पाठ* को ही अपना आधार बनाया और उन्होंने जहाँ चाहा परिवर्तन भी कर दिए।

सामल के रचनाकाल में कविताओं के कथानकों का आधार शास्त्रों से ग्रहण करने की कवियों में प्रथा थी। कल्पना-प्रसूत रचनाएँ निषिद्ध मानी जाती थीं। इस कारण सामल को अपनी रचना में धार्मिकता का पुट देना पड़ा।

सामल की कहानियों ने देश के भीतरी भाग में भी प्रवेश प्राप्त किया था। उसकी कहानियों ने केरा जिले में राखीदास नामक एक धनी जमींदार का ध्यान आकर्षित किया। वह विद्या का संरक्षक था। उसने सामल को बुलवाया, अपने साथ रहने को उसे आमंत्रित किया तथा उसके भरण-पोषण के निमित्त कुछ भूमि भी प्रदान की। इस उपहार के बदले सामल ने राखीदास का नाम अमर कर दिया और उसे भोज के समकक्ष बना दिया। सामल की प्रत्येक रचना में उसकी अत्यधिक प्रशंसा है।

सामल के जीवन का उद्देश्य उपदेशात्मक था। लोकप्रिय भाषा में लिखित तथा पठित कहानियों तथा उपाख्यानों द्वारा वह जनसाधारण को अनियमित, अनैतिक तथा निरानन्द जीवन से दूर ले जाकर सदाचार के मार्ग पर ले जाना चाहता था, इसके लिए उसने प्रत्येक सहायक साधन को ग्रहण किया। सम्राट् विक्रमादित्य को वह सदैव 'पर-दुख-भंजन' के नाम से पुकारता है और उसके साहसपूर्ण कार्यों का वर्णन करनेवाली आख्यायिकाएँ उसके उपर्युक्त उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयुक्त ज्ञात हुईं, अतः उसने दस वर्ष पर्यन्त उन्हें उचित तथा लोकप्रिय रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया।

वह विक्रम का जन्म तथा उसके साहसपूर्ण कार्यों का उल्लेख संक्षेप अथवा विस्तार रूपसे विभिन्न स्थानों पर करता है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं:—

वह विक्रम का वंश-क्रम गन्धर्वसेन से बतलाता है जिसने त्र्यम्बकसेन की लड़की से विवाह किया। गन्धर्वसेन रात्रि को देवता का रूप तथा दिन में गधे का रूप धारण कर लेता था। एक दिन गधे का चर्म उसकी सास द्वारा जला दिया गया, और परिणामस्वरूप नगर के विनाश के रूप में आपत्ति आई। रानी, जो उस समय गर्भवती थी, भागी और उसने एक ऋषि के आश्रम में आश्रय लिया जहाँ उसने एक पुत्र को जन्म दिया। उसका नाम विको रखा गया। उसने उज्जैन में वैताल पर विजय प्राप्त की और उस स्थान का राजा हो गया तथा अन्ततः उसने भरतखण्ड पर एक-छत्र सम्राट् के रूप में

* 'सिंहासन बत्रीसी'—ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए०, प्रथम भाग १९२६, पृष्ठ ३ जहाँ कवि कहता है कि उसने अपने प्राकृत में रचे ग्रन्थ के लिए संस्कृत को आधार बनाया है।

† *Mile-stones in Gujrati Literature*—ले० कृ० मो० झवेरी, पृष्ठ ९७ प्रथम संस्करण १९१४।

शासन किया।‡ आगे नन्दा नाम की पुतली के मुख से कहलवाया गया है—"सुनो, राजा भोज ! यह उस राजा विक्रमादित्य का सिंहासन है जिसका नाम 'पर-दुख-भंजन' है। वह इन्द्र के पास से आया है, वह शूरवीर है तथा धैर्यवान् भी है। उसने चक्रवर्ती के रूप में शासन किया तथा एक संवत् प्रचलित किया, वह सभी स्त्रियों के लिए (अपनी स्त्री के अतिरिक्त) भाई के समान था और वह नारायण का भक्त था। उसने संसारभर को मुक्त कर दिया और उसके राज्य में अहर्निश आनन्द ही आनन्द छाया रहता था।"†

उसकी उदारता का वर्णन करने के लिए 'अहरनी अवनीकारी' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। 'अहरनी' शब्द वास्तव में अऋणी है। यह आख्यायिका प्रचलित है कि आश्विन मास के अन्तिम दिन वह अपनी समस्त प्रजा को एक साथ बुलाता था और अनुसन्धान के पश्चात् ऋणी होनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को ऋणमुक्त कर देता था जिससे प्रत्येक मनुष्य नव वर्ष के दिन कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से अपनी अपनी आय-व्यय पुस्तक को, जहाँ तक आरम्भ का सम्बन्ध है बिना लिखे पृष्ठ से प्रारम्भ कर सके। यही कारण है कि विक्रम-संवत् का नया वर्ष कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ होता है।

पीछे भी एक आख्यायिका§ में उसने विक्रम की उत्पत्ति तथा उसके राज्य के वर्णन के विकास एवं विस्तार के लिए तीन पृष्ठ लिखे हैं। यहाँ उसने विक्रम के भाई भर्तृहरि का उल्लेख भी किया है, जो अन्ततः सन्यासी हो गया था।

विमला नाम की पुतली द्वारा कही गई दशम आख्यायिका, जो गन्धर्वसेन की आख्यायिका कही जाती है¶ इस कहानी से भिन्न है। उसमें विक्रम के जन्म तथा राज्य का सविस्तर वर्णन है। इसमें प्रभव को, जो पीछे से विक्रम का सचिव हुआ, उसका भाई बना दिया है। उनकी माता त्रम्बक घाड्या त्रम्बकवती में रहती थी जो भूकम्प द्वारा विनष्ट हो जाने के पश्चात् पुनर्निर्मित होने पर केम्बे (खम्भायत) के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्रत्येक संवत् का वर्ष-चक्र प्रभव‖ के नाम से प्रारम्भ होता है। अपने वशीकृत वैताल से उसने यह जान लिया था कि वह १३५ वर्ष ७ मास १० दिवस तथा १५ घड़ी तक जीवित रहेगा। सम्भवतः यह समय पैठण के शालिवाहन (विक्रम संवत् के १३५ वर्ष पश्चात्) के संवत् के प्रारम्भ के समकालीन होने से विक्रम का जीवन इतना रखा गया है।

विक्रम के जीवन तथा राज्य का और भी भिन्न रूप सामल की वैताल पच्चीसी नामक रचना में प्राप्त होता है, जो बत्तीस कहानियों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रचना में सम्मिलित है। कहानी के भूमिका भाग में वह राजा भोज के शासन का यशोगान करता है और कुछ आगे चलकर पञ्चदण्ड के छत्र का वर्णन करता है तथा यह बतलाता है कि विक्रम ने कैसे और किन परिस्थितियों में जन्म लेकर राज्य किया।‡‡

राजा विक्रम के शौर्य, औदार्य तथा अन्य सद्गुणों के साथ उसकी राजधानी का वर्णन एक अन्य स्थान पर भी प्राप्त होता है।§§

---

‡ सिंहासन बत्रीसी, भाग १, ले० अम्बालाल बी० जैन, बी० ए० (१९२६) पृष्ठ ५, प्रथम आख्यायिका।

† वही, पृष्ठ २५-२६।

§ वही, पृष्ठ १६०-१६३, चतुर्थ कथा।

¶ वही, भाग २, पृष्ठ ५०१-५४०।

‖ (१) कालिदास का ज्योतिर्विदाभरण (२) 'गुजराती' प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित पंचांग।

‡‡ बृहत् काव्यदोहन, भाग ६, पृष्ठ ४९१-४९२, गुजराती प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित।

§§ कवि दलपतराय कृत काव्यदोहन द्वितीय माला (१८०५)।

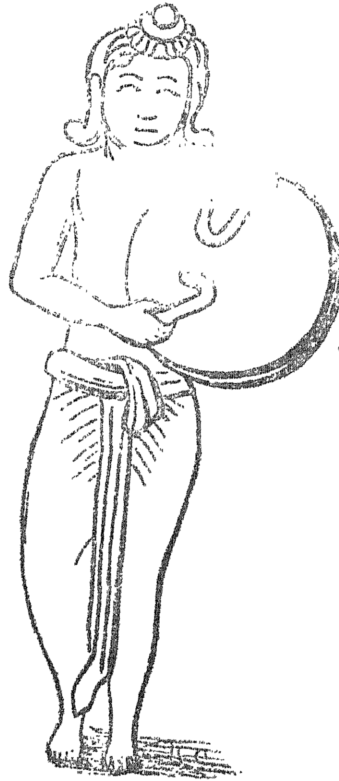
गुजराती साहित्य में विक्रमादित्य

जहाँ तक धार्मिक गुणों का सम्बन्ध है, सामल श्रीमद्भागवत, रामायण तथा विक्रम-चरित्र को समान मानता है। वह विक्रम-चरित को भी परमार्थ और पुण्य से ओतप्रोत पाता है।†

इस प्रकार विक्रम ने प्राचीन गुजरात के अत्यन्त विश्रुत कवियों में से एक की लेखनी द्वारा प्रत्येक गुजरात निवासी के हृदय में अमिट स्थान प्राप्त कर लिया है और उसके हृदय में विक्रम-प्रवर्तित संवत् की पुण्यस्मृति उस समय सजीव हो जाती है जब वह अपने दैनिक जीवन एवं कार्यों को सब कालों के सर्वश्रेष्ठ-गुण-सम्पन्न एवं एक-शूर सम्राट् द्वारा प्रवर्तित संवत् के वर्षों द्वारा नियंत्रित करता है।

---

† भगवानलाल बी० जैनी कृत सिंहासन बत्तीसी का भाग २, पृष्ठ ५७०।





चीनी-साहित्य में विक्रमादित्य

श्री विश्व-पा (फा चॅउ)

प्राचीन भारत के सर्वश्रेष्ठ शक्तिशाली और महान् शासकों में, जिन्होंने अपने आदर्श एवं शौर्यपूर्ण कार्यों से आर्य संस्कृति और सभ्यता को गौरव प्रदान किया तथा देशवासियों का ध्वंस करनेवाले विदेशी आक्रमणकारियों को खदेड़ दिया, हमारे मत से विक्रमादित्य सबसे अधिक स्तुति एवं प्रशंसा के पात्र हैं। ये महान् शासक राष्ट्र-प्रेम तथा देश-प्रेम से ओतप्रोत थे। उन्होंने अपने अद्वितीय सैन्य-सामर्थ्य से केवल सीथियनों को ही बाहर नहीं निकाल दिया था और न केवल सम्पूर्ण भारतवर्ष को ही एक सूत्र में बाँध दिया था, वरन् अपने तीव्र उत्साह और गुण-ग्राहकता द्वारा वे धर्म, कला तथा साहित्य के संरक्षक एवं आश्रयदाता भी बने थे। इन महान् सम्राट् के सुशासन एवं सर्वोच्च नेतृत्व में देशवासियों ने धर्म-राज्य के शान्तिदायक वैभव तथा सौख्य का पूर्ण उपभोग किया था। यही कारण है कि जब चीनी यात्री शुआन्-चुआँङ् ६३० ईसवी में बुद्ध-धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत में आया, तब उसने इनकी उदार कृतियों के सम्बन्ध में बहुत कुछ सुना और उसे अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'सी-यू-की' अथवा 'पश्चिमी साम्राज्यों के बुद्ध-धर्म सम्बन्धी संस्मरण' में लिखा। उस ग्रंथ से हमें ज्ञात होता है कि विक्रमादित्य कितने उदार थे। वे अपनी धन-राशि निर्धनों एवं भिक्षुकों को अत्यन्त मुक्त-हस्त होकर वितरित किया करते थे। अपने सुख अथवा भोग-विलास के लिए एक पैसा भी बचा रखने की चिन्ता वे नहीं करते थे। निम्न-लिखित अवतरण से हमें उनके सम्बन्ध में स्पष्ट विवरण प्राप्त होता है :—

> "उस समय श्रावस्ती के महाराज विक्रमादित्य का यश दूर-दूर तक फैला हुआ था। उन्होंने अपने अमात्यों को सम्पूर्ण भारतवर्ष में पाँच लक्ष स्वर्ण-मुद्राएँ प्रतिदिन वितरित करने की आज्ञा दी थी और वे प्रचुर रूप से (सर्वत्र) निर्धन, अनाथ तथा पीड़ितों की आवश्यकताएँ पूरी करते थे। साम्राज्य के साधन क्षीण होने के भय से महाराज के कोषाध्यक्ष ने स्थिति उनके समक्ष उपस्थित की और कहा, "महाराज! आपका यश आपकी निम्नतम प्रजा तक पहुँच गया है और उसका विस्तार पशु-सृष्टि तक हुआ है। आप निखिल-संसार के निर्धनों की सहायता के अर्थ (अपने व्यय में) पाँच लक्ष स्वर्ण मुद्राओं की वृद्धि करने की आज्ञा

देते हैं। इस प्रकार आपका कोष रिक्त हो जायगा, तब कृषकों पर नवीन कर लगाने पड़ेंगे, अन्ततः जिनका परिणाम भूमि का चरम शोषण होगा और फिर असन्तोष का घोष सुनाई देगा तथा शत्रुओं को उत्तेजना मिलेगी। यह सत्य है कि सम्राट् दानशीलता का यश अर्जित करेंगे; परन्तु आपके अमात्य सबकी दृष्टि में सम्मान खो देंगे।" महाराज ने उत्तर दिया "किन्तु मैं अपनी निज की बचत में से निर्धनों की सहायता की इच्छा करता हूँ। मैं किसी कारण से भी अपने निजी लाभ के लिए बिना विचारे देश पर भार नहीं डालूंगा"। तदनुसार उन्होंने निर्धनों के लाभ के लिए पाँच लक्ष की वृद्धि की*।"

किन्तु उनके शासनकाल में एक दुःखद घटना घट गई। प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु के आचार्य महातपस्वी मानोर्हित का देहावसान उस समय हो गया, और यह समझा जाता है कि इस तपस्वी की मृत्यु में विक्रमादित्य कारणभूत थे। विक्रमादित्य के प्रशंसकों और जीवनी लेखकों के लिए निम्न घटनाएँ कुछ आकर्षक होंगी :—

इसके † कुछ समय पश्चात् ये महाराज वाराह की मृगया में व्यस्त हुए। मार्ग भटक जाने पर उन्होंने एक व्यक्ति को मार्ग-निर्देश करने पर एक लक्ष मुद्राएँ प्रदान कीं। इधर शास्त्रों के आचार्य मानोर्हित ने एक व्यक्ति से क्षौर कराया और उसे इस कार्य के लिए तत्काल एक लक्ष स्वर्ण मुद्राएँ दे दीं। इस उदार कार्य का उल्लेख प्रधान इतिहासकार द्वारा इतिवृत्त में किया गया। महाराज इसे पढ़कर लज्जित हुए, उनका अभिमानी हृदय इससे निरन्तर व्यथित होने लगा और इसीलिए उन्होंने मानोर्हित पर दोषारोपण कर दण्डित करने की इच्छा की। इस उद्देश्य से उन्होंने विद्वत्ता की श्रेष्ठ कीर्तिवाले सौ विभिन्न धार्मिक व्यक्तियों की एक परिषद् की घोषणा की और यह आदेश दिया कि "मैं विभिन्न (भ्रान्त) मतों को नियंत्रित और (शास्त्रार्थ की) वास्तविक सीमाओं का निर्धारण करना चाहता हूँ। विविध धार्मिक सम्प्रदायों के मत इतने विभिन्न हैं कि किस पर विश्वास किया जाय—मस्तिष्क यह नहीं जान पाता। अतः आज अपनी अधिकतम योग्यता मेरे आदेशों के पालन में लगा दीजिए।" शास्त्रार्थ के लिए मिलने पर उन्होंने दूसरा आदेश दिया कि "नास्तिक मत के आचार्य अपनी योग्यता के लिए विश्रुत हैं। श्रमण तथा बौद्ध मतावलम्बियों को उचित है कि वे अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को भले प्रकार से देख लें। वे विजयी होकर बौद्धमत को समादर प्राप्त कराएँगे, किन्तु पराजित होने की दशा में उनका उन्मूलन कर दिया जायगा।" इस पर मानोर्हित ने नास्तिकों से शास्त्रार्थ किया और उनमें से ९९ को निरुत्तर कर दिया। अब एक नितान्त अयोग्य व्यक्ति उनके लिए शास्त्रार्थ को बिठाया गया तथा महत्त्वहीन वादविवाद के लिए (मानोर्हित ने) अग्नि तथा धूम का विषय प्रस्तुत किया। इस पर महाराज तथा नास्तिकों ने यह कहकर कोलाहल किया कि "शास्त्रों का आचार्य मानोर्हित वाग्व्यवहार में भ्रान्त हो गया है। उसे पहले धूम तथा पीछे अग्नि कहना चाहिए था। वस्तुओं का यह स्थिर क्रम है।" कठिनाई का स्पष्टीकरण करने के इच्छुक मानोर्हित को एक शब्द भी सुनाने का अवसर नहीं दिया गया। इस पर लोगों के अपने साथ किए गए ऐसे व्यवहार से लज्जित होकर उन्होंने अपनी जिह्वा दाँतों से काट डाली और अपने शिष्य वसुबन्धु को इस प्रकार उपदेश लिखा, "दुराग्रही व्यक्तियों के समूह में न्याय नहीं होता; मूढ़ व्यक्तियों में विवेक नहीं होता।" इस प्रकार लिखने के पश्चात् उनकी मृत्यु हो गई†। यह घटना वास्तव में शोचनीय है, परन्तु हम यह समझ सकते हैं कि संभवतः महाराज विक्रमादित्य का यह अभिप्राय नहीं था‡।

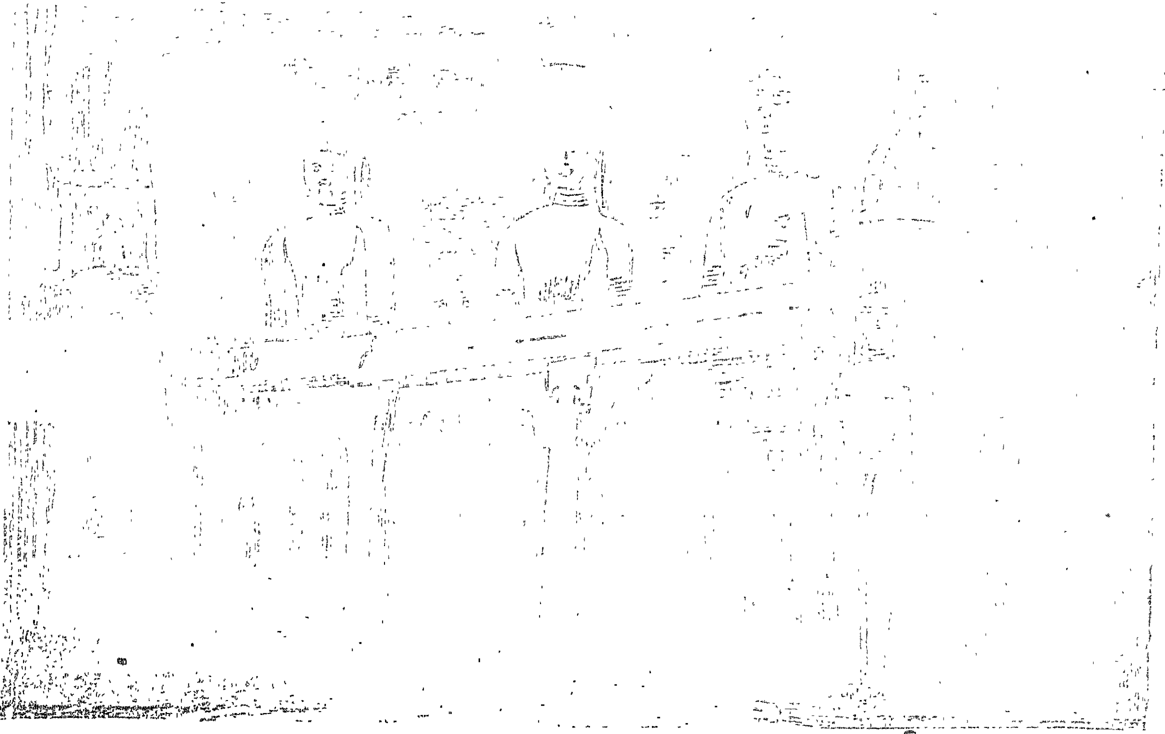
यहाँ यह कहना असम्बद्ध न होगा कि चीनी भाषा में विक्रमादित्य का नाम 'छॉव् जिर्' है, जिसका अर्थ है विक्रम (विक्रमण करना, ऊपर निकालना) + आदित्य।

---

* 'बुद्धिस्ट रिकॉर्ड्स ऑव् दी वेस्टर्न वर्ल्ड' भाग १, पृष्ठ १०७, १०८, एस० बीलकृत अंग्रेजी अनुवाद।

† ऊपर अवतरित घटनाओं के पश्चात्।

‡ यह अधिक संभव है कि यह दन्तकथा शुआन्-चुऑङ के समय में साम्प्रदायिक कारणों से प्रचलित की गई हो और यह निश्चय ही संवत्-प्रवर्तक उज्जयिनी-नाथ विक्रमादित्य से सम्बन्धित नहीं है, यह तो श्रावस्ती के महाराज की कथा है। सं०।



विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

श्री अगरचन्द नाहटा

भारतवर्ष के इतिहास में महान् प्रतापी अक्षुण्ण कीर्तिशाली सम्राट् विक्रमादित्य का स्थान बेजोड़ है। उनके द्वारा प्रवर्तित विक्रम नामक संवत्सर शताब्दियों से सर्वाधिक प्रसिद्धि प्राप्त है। विक्रमादित्य की कथाएँ भारत के कोने कोने में प्रसिद्ध हैं, पर खेद है कि विक्रमादित्य की कथाओं और संवत्सर की जितनी अधिक प्रसिद्धि है, उनके विशुद्ध इतिहास की जानकारी उतनी ही अंधकारमय है। कुछ समय पूर्व तो ऐतिहासिक विद्वानों को यहाँ तक सन्देह हो गया था और कई अंशों में अब तक भी है, कि विक्रम-संवत्सर का प्रवर्त्तक शकारि विक्रमादित्य नाम का राजा सन् ५७ ई० पूर्व हुआ भी था या नहीं *। पर हर्ष की बात है कि अब यह मत अनेक नवीन अनुसन्धानों द्वारा शिथिल हो गया है। इतने पर भी समस्या भलीभाँति सुलझ नहीं पाई है, और अब भी यह प्रश्न विवादास्पद रूप में उपस्थित है।

स्वर्गीय पुरातत्त्वविद् श्री काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार ई० पू० ५७ में शकारि गौतमीपुत्र सातकर्णि ने नहपाण आदि शक राजाओं का उन्मूलन कर विक्रमादित्य के पद से प्रसिद्धि प्राप्त की †। और इसका समर्थन श्रीयुत जयचन्द्र विद्यालंकार आदि विद्वानों ने भी किया है ‡। जैन परम्परा के अनुसार इस समय बलमित्र नामक राजा ने शकों को हटाकर उज्जयिनी पर अधिकार किया था। इसके पूर्व इतिहास—शकों के आगमन, गर्द्दभिल्ल के उच्छेदन का विशद वर्णन कालकाचार्य सम्बन्धी उल्लेखों एवं कथाओं में पाया जाता है। जैन पुरातत्त्वविद् मुनि कल्याणविजयजी ने अपने

* भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ७८५ और "चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य", पृष्ठ ३९।

† सन् १९१४ में पटना के अंग्रेजी दैनिक एक्सप्रेस में प्रकाशित "ब्राह्मिन एम्पायर" शीर्षक लेख और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की प्रस्तावना।

‡ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ७३३ से ७८८।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

"वीर-निर्वाण-संवत् और जैन-कालगणना" * नामक निबन्ध में इस घटना का संक्षिप्त विवरण † इस प्रकार दिया है :—

"बलमित्र भानुमित्र के अमल के ४७वें वर्ष के आसपास उज्जयिनी में एक अनिष्ट घटना हो गई। वहाँ के गर्दभिल्ल वंशीय राजा दर्पण ने कालकसूरि नाम के जैन आचार्य की बहिन सरस्वती साध्वी को जबरन पर्दे में डाल दिया। आर्य कालक ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया, उज्जयिनी के जैन-संघ ने भी साध्वी को छोड़ देने के लिए विविध प्रार्थनाएँ कीं, पर राजा ने एक भी न सुनी।

"कालकसूरि ने निरुपाय हो राजसत्ता की मदद लेना चाही, पर उज्जयिनी के गर्दभिल्ल दर्पण से लोहा लेनेवाला कोई भी राज्य उस समय नहीं था। भरौंच के बलमित्र भानुमित्र कालक और सरस्वती के भानजे थे, पर वे भी दर्पण के सामने अँगुली ऊँची करने का साहस नहीं कर सके। अन्त में कालक ने परदेश जाकर किसी राजसत्ता की सहायता लेने की ठानी और वे पारिसकुल जा पहुँचे।

"पारिसकुल में जाकर कालक ने एक शकवंशी शाह (मांडलिक राजा) के दरबार में जाना शुरू किया। निमित्त-ज्ञान के बल से थोड़े ही दिनों में कालक ने शाह के मन को अपने वश में किया और मौका पाकर वह उसे और दूसरे अनेकों शाहों को समुद्रमार्ग से हिन्दुस्तान में ले आया। रास्ते में लाटदेश के राजा बलमित्र भानुमित्र आदि भी शाहों के साथ हो गए।

"कोई ९६ शक मांडलिक और लाट के राजा बलमित्र की संयुक्त सेना ने उज्जयिनी को जा घेरा। घमासान लड़ाई के बाद शक शाहों ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और गर्दभिल्ल को कैद करके सरस्वती साध्वी को छुड़ाया। कालकसूरि की सलाह के अनुसार गर्दभिल्ल को पदच्युत करके जीवित छोड़ दिया गया और उज्जयिनी के राज्यासन पर उस शाह को बिठलाया जिसके यहाँ कालक ठहरे थे।

"उक्त घटना बलमित्र के ४८वें वर्ष के अन्त में घटी। यह समय वीर-निर्वाण का ४५३वाँ वर्ष था।

"४ वर्ष तक शकों का अधिकार रहने के बाद बलमित्र भानुमित्र ने उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और ८ वर्ष तक वहाँ राज्य किया; भरौंच में ५२ वर्ष और उज्जैन में ८ वर्ष, सब मिलकर ६० वर्ष तक बलमित्र भानुमित्र ने राज्य किया। यही जैनों का बलमित्र पिछले समय में 'विक्रमादित्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी सत्ता के ६० वर्षों से ५ वाँ आँकड़ा पूरा हुआ।

"बलमित्र भानुमित्र के बाद उज्जयिनी के राजसिंहासन पर नभःसेन बैठा।

"नभःसेन के पाँचवें वर्ष में शक लोगों ने फिर मालवा पर हमला किया, जिसका मालव प्रजा ने बहादुरी के साथ सामना किया और विजय पाई। इस शानदार जीत की यादगार में मालव प्रजा ने "मालव-संवत्" नामक एक संवत्सर भी चलाया, जो पीछे से "विक्रम-संवत्" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ‡"

---

* प्र० नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १०, अंक ४। † इस घटना का कुछ विस्तार से वर्णन कल्याणविजयजी ने अपने "आर्य कालक" लेख में किया है, जो द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ के पृष्ठ ९४-११९ में छपा है।

‡ जैन परम्परा की कालकाचार्य-कथा की ऐतिहासिकता को सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है।

(१) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ग्रन्थ के पृष्ठ ३९ में श्रीयुत् गंगाप्रसाद मेहता, एम० ए०, लिखते हैं—"कालकाचार्य-कथा नामक-जैन ग्रन्थ से पता चलता है कि मध्य-भारत में शकों ने विक्रमाब्द के पहले अपना राज्य स्थापित किया था, जिन्हें विक्रमादित्य उपाधिवाले एक हिन्दू राजा ने परास्त किया। जिन शकों का विक्रमादित्य से मालवा में युद्ध हुआ था, उनके राजाओं ने शाही और शाहानुशाही अर्थात् राजाधिराज का विरुद धारण कर रखा था, इस बात का भी उस कथा में उल्लेख है, जिसका समर्थन शक राजाओं के सिक्कों पर उत्कीर्ण उपाधियों से पूरी तरह होता है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि उक्त कथानक का आधार ऐतिहासिक है।"

(२) पुरातत्ववेत्ता स्टेन कोनो का कथन है कि इस जैन-कथा पर अविश्वास करने का लेशभर भी कारण मुझे प्रतीत नहीं होता (खरोष्ठी शिलालेख कॉर्पस ई. इंडिकेरम् जिल्द, २, भा० १, पृ० २५-२७)।

श्री अगरचन्द नाहटा

विक्रमादित्य की कथाओं का विशाल साहित्य

विक्रम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण उनके सम्बन्धी कथाओं का विशाल साहित्य है। यह साहित्य इतना विशाल है कि किसी के राज्य की कथाएँ इतने विपुल परिमाण में नहीं पाई जातीं। वेताल-पच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी आदि कथाओं के ग्रन्थ प्रायः प्रमुख सभी भारतीय भाषाओं में पाये जाते हैं। इन कथानकों में से कई कथाओं का आधार बहुत प्राचीन साहित्य है; उदाहरणार्थ वेताल-पच्चीसी की कथाएँ ११वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कथा-संग्रह (१) बुध-स्वामी-विरचित बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह, (२) क्षेमेन्द्र-रचित वृहत्कथामंजरी (ई. १०५०), (३) सोमदेव-रचित कथासरित्सागर (ई० स० १०७०) में पाई जाती हैं। इन तीनों का आधार गुणाढ्य-रचित बृहत्कथा ग्रन्थ है, जो पैशाची भाषा में था, पर अभी लुप्त है। इसका समय ई० ५वीं शताब्दी के पूर्व का ही अनुमान किया जाता है। इसी प्रकार पंचदण्ड की कथाओं का जैन-पंचदण्ड-चरित्र सं० १२९० का रचित है। क्षेमंकर ने सिंहासनबत्तीसी को महाराष्ट्री भाषा में रचित उक्त कथा को देखकर अपना ग्रन्थ बनाने का उल्लेख किया है। खेद है कि वह महाराष्ट्री कथा भी अब उपलब्ध नहीं है एवं उसका समय अज्ञात है। जैनकवि राजवल्लभ ने सिद्धसेन-रचित सिंहासनद्वात्रिंशिका का उल्लेख किया है, पर वह भी अब प्राप्त नहीं है। विक्रम सम्बन्धी कथाओं एवं साहित्य की प्रचुरता होने पर भी खेद है कि भारतीय विद्वानों ने उनकी खोज, तुलनात्मक अध्ययन, आलोचना एवं प्रकाशन की ओर उदासीनता दिखाई है। परन्तु पाश्चात्य विद्वानों ने इसकी अच्छी कदर की है। उन्होंने कई कथाओं को बड़े सुन्दर ढंग से सम्पादित करके प्रकाशित किया है। * उनके अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच, जर्मन, स्वीडिश आदि भाषाओं में आलोचना के साथ प्रकाशित किये हैं।

विक्रम सम्बन्धी समग्र साहित्य और उसमें जैन साहित्य का स्थान

जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, विक्रम सम्बन्धी साहित्य बहुत ही विशाल है। संस्कृत में उपर्युक्त तीन कथा ग्रन्थों के अतिरिक्त शिवदासकृत वेतालपंचविंशति (प्रतिः—स्टेट लाइब्रेरी बीकानेर) एवं यही कथा जंभलदत्त-रचित (बंगीय विद्वान् जीवानंद द्वारा) कलकत्ते से प्रकाशित है। केटलोगस् केटलोग्राम में वल्लभ-रचित उक्त नाम के ग्रन्थ का एवं सिंहासनद्वात्रिंशिका का वररुचि, कालिदास, रामचन्द्र (संभवतः रामचन्द्र सूरि ही हैं) और शिव के रचित होने का उल्लेख है। जैन ग्रन्थावली में विद्यापतिभट्ट-रचित विक्रम-चरित्र का उल्लेख पाया जाता है। बीकानेर स्टेट की अनूप संस्कृत लाइब्रेरी में मलेखेडर भट्ट रचित विक्रमार्क-चरित्र की प्रति है जिसमें सिंहासन-बत्तीसी की कथाएँ हैं। संस्कृत-साहित्य के इतिहास के पृष्ठ ३१७ में मद्रास से प्रकाशित "विक्रमार्क-चरित्र" का उल्लेख किया है, संभवतः वह यही होगा। पेंजर के संपादित कथासरित्सागर के अंग्रेजी अनुवाद के परिशिष्ट में एतद्विषयक प्रकाशित साहित्य की सूची दी है, उसके अनुसार तामिल एवं महाराष्ट्री भाषाओं में भी विक्रम-साहित्य है, जिसका अनुवाद केनकेड और वेलिंग्टन ने किया है। गुजराती भाषा में नरपति-रचित पंचदण्डवार्ता (सं० १५६०) एवं मधुसूदन व्यास कृत हंसावती-चरित्र (सं० १६५४) फार्बस् सभा से प्रकाशित है। गुर्जर के प्रसिद्ध कवि सामलभट्ट (सं० १७७९-८०) ने विक्रम की पंचदण्ड एवं सिंहासनबत्तीसी की कथाओं को लेकर बहुत सरस साहित्य का निर्माण किया। पर इस भाषा में अधिकतर साहित्य जैनों का ही है, जिसका परिचय इस लेख में कराया गया है। हिन्दी भाषा में वेतालपच्चीसी एवं सिंहासनबत्तीसी की कथाओं पर कई कवियों के ग्रन्थों का पता चला है, यथा:—

१—वेताल-पच्चीसी:—१. गंगाधर-रचित विक्रमविलास (सं० १७३९) २. भवानीशंकर (सं० १८७१)। ३. देवीदत्त (सं० १८१२) ४. शंभुनाथ त्रिपाठी (सं० १८०९) ५. भवानीसहाय. ६. सूरति मिश्र (हिं. खोज रिपोर्ट) ७. लल्लूलाल (गद्य) ८. भोलानाथ चौबे (विक्रमविलास पद्य) (पेंजर-संपादित कथा-सरित्सागर का परिशिष्ट) ९. प्रल्हाद-रचित सं० १६६१ भा. व. ८ (श्रीपूज्यजी भंडार)। (पंजाब खोज रिपोर्ट—सन् १९२२।२४—के पृ० ४७ में प्रल्हाद का समय १७६१ लिखा है, पर वह गलत है)।

२—इनके अतिरिक्त मुझे दो ग्रन्थ नये मिले हैं:—

१. भगतदास (अनूप संस्कृत लायब्रेरी), अपूर्ण:—हमारे संग्रह में।

* हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज से "सिंहासनद्वात्रिंशिका" के ४ रूपान्तर बड़े उत्तम ढंग से (सानुवाद) प्रकाशित हुए हैं, एवं "पंचदण्ड-छत्र-प्रबन्ध" भी जर्मनी से प्रकाशित हो चुका है।

३—सिंहासन-बत्तीसी:—१. गंगाराम, २. परमसुख, ३. कृष्णदास, ४. मेघराज प्रधान, ५. काजिमअली (सं० १८०१), ६. लल्लूलाल, ७. सेनापति चतुर्वेदी (सं० १९२८ पू.), ८. सोमनाथ (सं० १८०७)। इनके अतिरिक्त मुझे देवीदास-कृत सिंहासनबत्तीसी नामक ग्रन्थ का और पता चला है जो सं. १६३३ फा. सु. ८ को देवास में रचा गया है।

४—शनिकथा:—१. गणपति (सं. १८२६ बागौर) २. जोरावरमल (१८२५ नागपुर) ३. रामानन्द ४. कृपाराम (सं. १८८०). ५ अज्ञात कर्तृक।

राजस्थानी भाषा में पद्यमय कविहालू-रचित वेतालपच्चीसी (पद्य ७७३, पत्र १४ से १६, वर्द्धमान भंडार), विक्रम-परकायाप्रवेश-कथा विप्र वस्ता रचित (पद्य ३२१, पत्र ७, गोविन्द पुस्तकालय) एवं गद्य राजस्थानी में बीकानेर नरेश अनूपसिंहजी के लिए रचित वेतालपच्चीसी, सिंहासनबत्तीसी के अतिरिक्त उक्त नामवाले अन्य गद्य अनुवाद एवं पंचदण्ड, चौबोली (प्र. स. सा. मंडल, दिल्ली) और शनिकथा आदि साहित्य उपलब्ध है।

यद्यपि विक्रम सम्बन्धी जैनेतर-साहित्य की कमी नहीं है, फिर भी प्राचीनता एवं विपुलता में विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य भारतीय समग्र साहित्य से बाजी मार लेता है। जबकि भारतीय विविध भाषाओं के एतद् सम्बन्धी प्राचीन ग्रन्थ सब मिलाकर ५० से कम होंगे, अकेले जैन विद्वानों ने ५५ ग्रन्थ रचकर जो गौरव प्राप्त किया है, वह अत्यन्त श्लाघनीय एवं उल्लेखनीय महान् प्रयत्न है।

तेरहवीं शताब्दी के पश्चात् विक्रम सम्बन्धी जैन-साहित्य का निर्माण प्रारंभ होता है। उन सब में विक्रमादित्य के साथ 'सिद्धसेन दिवाकर' नामक जैन विद्वान् के सम्बन्ध का उल्लेख पाया जाता है। सिद्धसेन दिवाकर का समय ५वीं शताब्दी है†; अत: वे उल्लेख द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सम्बन्धी प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार अन्य कई उल्लेखों में भी विक्रमादिय नामसाम्यवाले २-३ विक्रमादित्यों के सम्मिश्रण हो गये मालूम होते हैं। खेद है, हमारे विद्वानों ने विक्रमादित्य की कथा रूप विशाल कथा-साहित्य पर अभी तक गंभीर आलोचनात्मक दृष्टि नहीं डाली, अन्यथा कई नवीन तथ्य प्रकाश में आने की संभावना थी। मेरे नम्र मतानुसार पिछली अनेक कथाओं में भी थोड़ा बहुत ऐतिहासिक तथ्य अवश्य है।

विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य की सूची

१. संस्कृत (मौलिक ग्रन्थ)

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(१) सं. १२९०-९४	पंचदण्डात्मक विक्रमचरित्र	अज्ञात	प्र. हीरालाल हंसराज जामनगर। उ. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास।
(२) १३वीं या १५वीं शती	सिंहासन द्वात्रिंशिका ‡..	क्षेमंकर	प्र.उ. लाहौर के सूचीपत्र में।

† देखें—सन्मति प्रकरण प्रस्तावना एवं प्रभावक चरित्र में मुनि कल्याणविजयजी का पर्यालोचन।

‡ कई विद्वान् इसे १३वीं शती की बतलाते हैं, पर षट्पुरुषचरित्र के कर्त्ता क्षेमंकर १५वीं शती में हुए हैं। इस सिंहासन-द्वात्रिंशिका में इसका आधार महाराष्ट्रीय भाषा का उक्त कथानक बतलाया है, पर वह अभी अज्ञात है।

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निबद्धैः।
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तिकृतसंस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीर्त्तनाय चक्रे चिरामर पण्डितहर्षहेतुः ॥१॥

इसकी बीकानेर स्टेट लायब्रेरी में २, बृहद् ज्ञान भंडार में २, एवं हमारे संग्रह में भी अपूर्ण प्रति उपलब्ध है।

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(३) सं. १४७१ लगभग	विक्रमचरित्र*	उ. देवमूर्त्ति (कासहृद्गच्छीय)	सं० १४९६ लि. प्रति लींबडी भंडार।
(४) सं. १४९० मा. सु. १४ रवि	विक्रम (पंचदण्ड) चरित्र खंभात	साधुपूर्णिमा गच्छीय रामचंद्रसूरि	दानसागर† भंडार, बीकानेर।
(५) सं. १४९०, दर्भिका ग्राम	विक्रमचरित्र ३ (सिंहासन द्वात्रिंशिका).	साधुपूर्णिमा रामचन्द्रसूरि	उ. जै. सा. सं. इतिहास।
(६) सं. १४९९ ..	विक्रमचरित्र ४ ग्रं. ६७१२	तपागच्छीय शुभशील ..	प्र. हेमचन्द्रसूरि ग्रंथमाला अहमदाबाद।
(७) सं. १५२४ लगभग	सिंहासनद्वात्रिंशिका ५ ..	धर्मघोष गच्छीय राजवल्लभ	सं. १६१२ लि. प्रति गोविन्द-पुस्तकालय, बीकानेर।
(८) अज्ञात ..	विक्रमचरित्र पत्र ३६ ..	राजमेरु	जीरा (पंजाब) भंडार।
(९) अज्ञात ..	विक्रमचरित्र	इन्द्रसूरि	उ. जैन ग्रंथावली पृ. २५९।
(१०) अज्ञात ..	विक्रमपंचदण्डप्रबन्ध‡ ..	पूर्णचन्द्रसूरि ‡ ..	उ. जैन ग्रंथावली पृ. २६०।

(३) इसका गुजराती अनुवाद (स्व. मणिलाल नभुभाई कृत) बड़ौदा के केलवणी खाता से सं० १९५१ में प्रकाशित है।.

(४) इसकी प्रति यहाँ के उपाध्याय जयचन्द्रजी यति के ज्ञानभंडार में भी है। इसके १२ सर्ग ये हैं—राज्य-प्राप्ति, अग्नि-वैतालोत्पत्ति, सुकोमलापाणिग्रहण, खर्पर-चौरोत्पत्ति-निग्रह, विक्रमचरित्र-जन्म, अवदातकरण, पितृमिलन, शुभमति-रूपमती-पाणिग्रहण, विक्रमचरित्रकनकश्रीनाम, सिद्धसेन-प्रबोध, वसुधाअनृणीकरण, कीर्तिस्तंभविरचन, शत्रुञ्जयोद्धार, पंचदण्डवर्णन, कालिदासोत्पत्ति, सौभाग्यसुंदरी-परिणयन, तत्परीक्षाकरणाद्यघटकुमारमिलन, विक्रमादित्य-स्वर्ग-गमन, चतुःचामरहारिणीवर्णन, विक्रमचरित्र-राज्योपवेशनयात्राकरण, स्वर्ग-गमन।

(५) इसकी यह एक ही प्रति, पत्र ४८ की यहाँ के श्रीगोविन्द-पुस्तकालय में मिली है, इसमें इससे पूर्व रचित सिद्धसेनकृत उक्त कथा का उल्लेख है:—

पूर्वंश्रीसिद्धसेनेन विक्रमादित्यकीर्तनम्। कृतं सिंहासनाख्यानं जगज्जनमनोहरम्॥२॥

अन्त में ग्रंथकार ने अपना परिचय एवं गद्य बंध से उक्त पद्य बंध कथा रचने का निर्देश इस प्रकार किया है:—

गच्छश्रीधर्मघोषस्तदनु सुविहितश्चक्रचूडामणित्वं, वादीन्द्रो धर्मसूरिः नृपवरतिलको बोधको वीसलस्य।
जित्वा वादान्यनेकविविधगुणगुणा शासनेष्वोन्नतिं यः यस्यश्रीमूलपट्टे त्रिजगजयकरो श्रीयशोभद्रसूरिः॥७२॥
श्रीविक्रमार्कगुणवर्णनगद्यबंधात् पद्ये कृता सुगमता जनकौतुकाय।
सूरेन्द्रशिष्यमहिचन्द्रगुणाधिकेन श्रीराजवल्लभकृता वरपाठकेन॥७३॥

* इसके १४ सर्गों के नाम इस प्रकार हैं—विक्रमोत्पत्ति, राज्यप्राप्ति, स्वर्ण-पुरुष-लाभ, पंचदण्डछत्र-प्राप्ति, द्वादशावर्त्त-वन्दनक-फल-सूचक-कौतुक-नयवीक्षि, देवपूजाफलसूची, राज्यागमन, विक्रम-प्रतिबोध, जिनधर्मप्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्त्वाधिककथाकोष, दानधर्मप्रभाव, स्वर्गारोहण, सिंहासन-द्वात्रिंशिका। (जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ ४६८)।

इस ग्रंथ की एक और प्रति संवत् १४८२ लिखित बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के नं. १७७३ में विद्यमान है।

† इस लेख में उल्लिखित दानसागर भंडार, अभयसिंह भंडार, महिमा-भक्तिभंडार, वर्द्धमान भंडार, श्रीपूज्यजीभंडार, जयचन्द्रजी का भंडार, कृपाचन्द्रसूरि-ज्ञानभंडार, सेठिया-लायब्रेरी, गोविन्द पुस्तकालय, बीकानेर स्टेट-लायब्रेरी और हमारा संग्रह ये सभी बीकानेर में ही अवस्थित हैं। बीकानेर के जैन ज्ञान-भंडारों में लगभग ५०००० हस्त-लिखित प्रतियाँ हैं। इन ज्ञानभंडारों का परिचय मैंने अपने स्वतन्त्र लेख में दिया है, जो शीघ्रही प्रकाशित होगा।

‡ इस ग्रन्थ का अन्तिम पत्र यहाँ के कोचरों के उपाश्रय के त्रुटित ग्रन्थों में है जो १५वीं शताब्दी लिखित हैं, अतः पूर्णचन्द्रसूरि का समय इससे पूर्व का ही निश्चित है।

२. प्रबन्ध-संग्रहों के अन्तर्गत विक्रमादित्य सम्बन्धी सामग्री ⁂

रचना काल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(११) सं. १३३४चै.शु.७शु.	प्रभावक-चरित्र ..	प्रभाचन्द्र सूरि.. ..	वृद्धवादि-प्रबन्ध में।
(१२) सं. १३६१वै.सु.१५ वर्द्धमानपुर	प्रबन्ध-चिन्तामणि ..	मेरुतुंगसूरि	विक्रमार्क प्रबन्ध में।
(१३) सं. १४०५, दिल्ली	प्रबन्ध-कोष (चतुर्विंशति प्रबन्ध).	राजशेखर सूरि ..	विक्रमादित्य-प्रबन्ध, सिद्धसेन-प्रबन्ध.
(१४) १३वीं से १५वीं शती	पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह ..	अज्ञात	विविध विक्रमाऽर्क प्रबन्धों में।

(१५) अज्ञात कर्तृक कई प्रबन्ध एवं चरित्र जैन भंडारों में प्राप्त हैं।
(नं. ११ से १४ के ग्रंथ सिंघी-जैन-ग्रंथमाला से प्रकाशित हैं।)

३. लोकभाषा* में विक्रम सम्बन्धी जैन साहित्य

(१) सं. १४९९ ..	विक्रमचरित्रकुमाररास	वडतपा गच्छीय साधुकीर्ति	उ. जै. गु. क. भा. १, पृ. ३५॥
(२) सं. १५६५ ज्ये. सु.	विक्रमसेन चौपई ..	पूर्णिमा गच्छीय उदयभानु	उ. जै. गु. क. भा. १ पृ. ११३।
(३) सं. १५९६ के लगभग	विक्रमरास	तपा गच्छीय धर्मसिंह ..	उ. जै. गु. क. भा. १ पृ. १६५।
(४) सं. १६३८ मा. सु. ७ ‡ रवि. उज्जयिनी	विक्रमरास †	आगम विडालंब गच्छीय मंगल-माणिक्य.	उ.जै.गु.क.भा. १ पृ. २४७
(५) सं. १७२२ पौ. सु. ८ बु. खेमतानगर	विक्रमादित्यचरित्र ..	तपा गच्छीय मानविजय ..	अभयसिंह भंडार।
(६) सं. १७२४ काती कूड नगर	विक्रमसेन § चौपई ..	तपा गच्छीय मानसागर ..	वर्द्धमान भंडार।
(७) सं. १७२४ पो. ब. १० गढवाड़ा	विक्रमादित्यरास ..	तपा गच्छीय परमसागर ..	उ. जै. गु. क. भा. ३ पृ. १२२८ ‡।
(८) सं. १७३७ लगभग	विक्रमादित्यरास ..	खरतर दयातिलक ..	अपूर्ण बीकानेर।

४. विभिन्न कथाओं को लेकर रचित स्वतन्त्र लोकभाषा-कृतियाँ

(क) वैताल पच्चीसी चौपई.

(९) सं. १५९३ श्रा. व. ९ गु. रत्नाकरपुरे	..	सोरठ गच्छीय ज्ञानचंद्र ..	उ. जैन गु. क. भा. ३, पृ. ५४५।
(१०) सं. १६१९ द्वि. श्रा. व. ९, वडवाग्रामे	..	तपा गच्छीय देवशील ..	प्रति—वर्द्धमान भंडार, गोविन्द पुस्तकालय, स्टेट लायब्रेरी।

⁂ विशेष जानने के लिए जैन सत्यप्रकाश के विक्रम-विशेषांक में प्रकाशित प्रो० हीरालाल कापड़िया व मुनि न्यायविजयजी आदि के लेख।

* जैन मुनियों का चातुर्मास के अतिरिक्त एक स्थान पर १ मास से अधिक नहीं रहने का विधान होने से वे हरदम भ्रमणशील रहते हैं, इससे उनकी भाषा में कई अन्य भाषाओं का सम्मिश्रण रहता है, ताकि हरेक प्रान्तवाले सुगमता से उपयोग कर सकें। हमने उक्त तालिका के ग्रंथों को गुजराती, हिन्दी, राजस्थानी भाषा के भागों में विभक्त न कर केवल लोकभाषा के शीर्षक में लिख दिये हैं। फिर भी इनमें सबसे अधिक गुजराती, फिर राजस्थानी और कुछ ग्रंथों में हिन्दी का सम्मिश्रण है।

† इसमें सिंहासनबत्तीसी, वैतालपच्चीसी, पंचदण्डछत्र, लीलावती, परकायाप्रवेश, शीलमती, खापराचोर आदि विक्रम सम्बन्धी कथाओं का उल्लेख है।

§ इस नाम की इनसे भिन्न अन्य एक जैन चौपई ग्रन्थ का आदि पत्र हमारे संग्रह में है।

‡ जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई से इसके २ भाग प्रकाशित हुए हैं। तीसरा भाग छप रहा है। ये तीनों भाग जैन भाषा-साहित्य की जानकारी के लिए, एवं संस्कृत, प्राकृत श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों की जानकारी के लिए यहीं से प्रकाशित "जैन साहित्यनो इतिहास" ग्रंथ अपूर्व है। इन चारों के सम्पादक, संग्राहक श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई बी. ए., एल.एल. बी., एडवोकेट महोदय हैं।

रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(११) सं. १६४६ इन्द्रोत्सव-दिने	..	खरतर हेमाणंद ..	प्रति—बीकानेर स्टेट लायब्रेरी।
(१२) सं. १६५० लगभग	..	बड गच्छीय मुनिमाल ..	प्रति—गोविंद पुस्तकालय।
(१३) सं. १६७२ पौ० सु. २	..	तपा गच्छीय सिंहप्रमोद ..	प्रति—भाण्डारकर इन्स्टीटयूट पूना।
(१४) ..	..	अज्ञात	उ. पंचदंडवार्त्ता पृ. १२६।
(ख) पंचदण्ड चौपई			
(१५) सं. १५५६ वै. सु. २	..	अज्ञात *	उ. जैन गु. क. भा. १। पृ. ९९ प्र. बुद्धिप्रकाश वर्ष ७९ अं. २—३।
(१६) सं. १५६० ..	..	सिंहकुशल	उ. फार्बस सभा से प्रकाशित पंचदण्डवार्त्ता में।
(१७) सं. १५८३ ..	..	विनय समुद्र	प्रति—पनाचंदजी सिंघी सुजानगढ़ पत्र २१।
(१८) सं. १६५० के लगभग	..	बड गच्छीय मुनि मालदेव	प्रति—जयचन्दजी का भंडार।
(१९) सं. १७२८ फा.सु. ५ गारबदेसर	..	खरतर ग. लक्ष्मीवल्लभ ..	प्रति—हमारे संग्रह में।
(२०) सं. १७३३ फाल्गुन	..	खरतर ग. लाभवर्द्धन ..	प्रति—सेठिया लायब्रेरी।
(२१) सं. १८३० ज्ये. सु. १० र. औरंगाबाद	..	तपा-भाणविजय ..	प्रति—अभयसिंह भंडार।
(ग) सिंहासनबत्तीसी चौपई			
(२२) सं. १५१९ ..	..	पूर्णिमा गच्छीय मलयचन्द्र	प्रति—सेन्ट्रल लायब्रेरी, बड़ौदा लींबडी भंडार।
(२३) सं. १५९८ मि.सु. १० गुरुवार	..	ज्ञानचन्द्र	प्रति—अभयसिंह भंडार।
(२४) सं. १६११ ..	..	उपकेश ग. विनयसमुद्र ..	प्रति—बीकानेर स्टेट लायब्रेरी।
(२५) सं. १६१६ वै. ब. ३ र. बारेज	..	बिवंदणीक ग. सिद्धसूरि ..	उ.जैन गु. क. भा.१, पृ.२०५।
(२६) सं. १६३६ आसोज बदी २ मेडता	..	खरतर हीरकलश ..	प्रति—हमारे संग्रह में, वर्द्धमान भंडार, गोविन्द पुस्तकालय।
(२७) सं. १६७८ ..	..	तपा संघविजय ..	प्र० "—साहित्य" सं. १९३३ अप्रैल से दिसम्बर के अंकों में।
(२८) सं. १७४८ श्रा. ब. ७, फलौधी	..	खरतर विनयलाभ ..	प्रति—हमारे संग्रह एवं श्रीपूज्यजी भं० में।
(२९) सं. १६७१ (ग्रं. २८०० गा. २४७८)	..	अज्ञात	प्रति—महिमाभक्ति बं. नं. ३६।
(घ) विक्रम-खापरा-चोर चौपई			
(३०) सं. १५६३ ज्ये.सु. ७ चित्तौड़	..	खरतर ग. राजशील ..	प्रति—जयचन्द्रजी भंडार।
(३१) सं. १७२३ ज्येष्ठ सीरोही	..	खरतर ग. अभयसोम ..	प्रति—हमारे संग्रह में।

* हिन्दी-विद्यापीठ, उदयपुर से प्रकाशित रा. हिं. हस्त. ग्रंथों की खोज भाग १ में कर्त्ता का नाम सिद्धसेन लिखा है; पर उसका आधार अज्ञात है।



विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

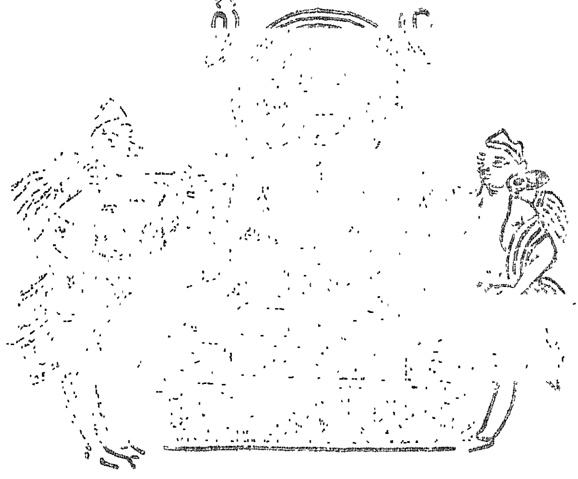
रचनाकाल	ग्रन्थ का नाम	रचयिता	प्राप्ति एवं प्रकाशन-स्थान
(३२) सं. १७२७ नभ. सु. १३ जयतारण	..	खरतर ग. लाभवर्द्धन ..	प्रति—हमारे संग्रह में।
	(ङ) विक्रम-चौबोली चौपई		
(३३) सं. १७२४ आषाढ़ बदी १०	..	खरतर ग. अभयसोम ..	प्रति—श्रीपूज्यजी भंडार।
(३४) सं. १७६२ ..	..	खरतर ग. कीर्तिसुंदर ..	प्रति—श्रीपूज्यजी भंडार।
(३५) सं. १७७० से पूर्व	..	पल्लीवाल ग. हीराणंद ..	प्रति—कृपाचन्द्रसूरि ज्ञान-भंडार।
	(च) विक्रम-लीलावती चौपई		
(३६) सं. १५९६ वै.सु. १४ बुधवार	..	कक्कसूरि शिष्य ..	उ. जैन. गु. क. भा. ३, पृ. ६२३।
(३७) सं. १७२८ सोजत	..	खरतर कुशलधीर ..	जै. गु. क. भा. २, पृ. २६०।
	(छ) विक्रम-कनकावती चौपई.		
(३८) सं. १७६७ मि. सु. १०, राधनपुर	..	तपा कान्तिविमल ..	उ. जै. गु. क. भा. २, पृ. ४६९।
	(ज) विक्रम-शनीश्चर रास		
(३९) सं. १६८८ (?) का. ब. ७, गुरुवार	..	तपा-संघविजय ..	उ. जैन गु. क. भा. ३, पृ. ९५३।
(४०) सं. १७३६ लगभग राधनपुर	..	खरतर-धर्मसिंह ..	उ. जैन. गु. क. भा. २, पृ. ३४१।
(४१) १९ वीं		ललितसागर	भीमसी माणक के प्रकाशन।

उपर्युक्त सभी रचनाएँ पद्य में हैं। गद्य में भी एतद्‌विषयक कई ग्रंथ जैन ज्ञानभण्डारों में पाये जाते हैं, पर उनके रचयिताओं के जैन होने के सम्बन्ध में निश्चित नहीं कहा जा सकता*।

इस प्रकार यथाज्ञात विक्रमादित्य सम्बन्धी श्वेताम्बर जैन साहित्य के ५५ ग्रंथों की सूची यहाँ प्रकाशित की जा रही है। विशेष खोज करने पर और भी अनेक ग्रंथों के मिलने की संभावना है। इनमें से कई ग्रंथों की अनेक प्रतियाँ बीकानेर के अनेक संग्रहालयों में हैं, यहाँ स्थानाभाव से केवल एक दो स्थानों का ही निर्देश किया गया है।

आश्चर्य की बात है कि श्वेताम्बर जैनों ने जब विक्रमादित्य के सम्बन्ध में ५५ ग्रंथ बनाये हैं, दिगम्बर समाज के केवल एक ही विक्रम-चरित्र (श्रुतसागर रचित, १६वीं शती) का उल्लेख आरा के जैन सिद्धान्त भवन से प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह में पाया जाता है। श्वेताम्बर जैनों के इतने विशाल साहित्य निर्माण के दो प्रधान कारण हैं—१. उन्होंने लोक-साहित्य के सर्जन एवं संरक्षण में सदा से बड़ी दिलचस्पी रखी है, इसके प्रमाणस्वरूप विक्रम-कथाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक लोककथाओं पर रचित अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं (देखें—जैन साहित्यनो इतिहास पृ. ६०८, ६६६, ६७९)। २. आचार्य सिद्धसेन दिवाकर नामक श्वेताम्बर जैन विद्वान् का विक्रमादित्य से घनिष्ट सम्बन्ध—यहाँ तक कि उनके उपदेश से विक्रमादित्य के जैनी होने तक का कहा गया है और उसने शत्रुंजय तीर्थ की यात्रा भी की थी।

*** इनके अतिरिक्त जैन कवि कुशललाभ विरचित माधवानल-कामकंदला चौपई (सं. १६१६ फा. सु. १३, जैसलमेर) में भी विक्रमादित्य के परदुखभंजन की कथा आती है। राजस्थानी में कवि गणपति (सं. १५८४ श्रा. सु. ७, आमुदरि) एवं गुजराती में दामोदर रचित (सं. १७३७ पूर्व) यही ग्रन्थ इसी नामवाली उपर्युक्त रचना के साथ बड़ौदा ओरियण्टल सीरीज से प्रकाशित है। इसी प्रकार रूपमुनि रचित अंबड चौपई (सं. १८८० ज्ये. सु. १०, बुधवार अजीमगंज में रचित) आदि में भी विक्रम के पञ्चदण्ड आदि के कथानक पाये जाते हैं।**



जैन साहित्य में विक्रमादित्य

श्री डॉ० बनारसीदास जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०

महाराज विक्रमादित्य का नाम भारतवर्ष में जितना ही अधिक प्रसिद्ध है, पाश्चात्य विद्वानों ने उतना ही अधिक उनके अस्तित्व में सन्देह प्रकट किया है। इसका कारण यह है कि न तो विक्रमादित्य के समय का बना हुआ कोई ऐसा ग्रन्थ विद्यमान है जिसमें उनका स्पष्ट उल्लेख हो, और न कोई ऐसे प्राचीन शिलालेख या मुद्रा प्राप्त हुए हैं जिनमें उनका नाम या वृत्तान्त अंकित हो। ऐसी दशा में पाश्चात्य विद्वानों के लिए विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता में सन्देह करना स्वाभाविक बात थी। यद्यपि कथासरित्सागर (लम्बक १८) तथा उसके पश्चात्कालीन ग्रन्थों में विक्रमादित्य सम्बन्धी बहुत से उल्लेख और कथाएँ पाई जाती हैं, परन्तु वे अर्वाचीन तथा परस्पर विरोधी होने से विश्वसनीय नहीं समझी जातीं। इस प्रकार की अधिकतर सामग्री जैन साहित्य में मिलती है। लेकिन जैन साहित्य अति विशाल है। इसका बहुत बड़ा भाग अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ, और जो प्रकाशित हो चुका है वह भी सारे का सारा किसी एक पुस्तकालय में प्राप्य नहीं है। अतः विक्रम सम्बन्धी जो वृत्तान्त यहाँ लिखा जाता है वह सम्पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

पहले उन ग्रन्थों की सूची दी जाती है जिनमें विक्रमादित्य का चरित्र अथवा उल्लेख मिलते हैं। ये ग्रन्थ प्रायः सबके सब श्वेताम्बर सम्प्रदाय के हैं। दिगम्बर ग्रन्थों का इस लेख में समावेश नहीं किया जा सका। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से उल्लेख होंगे। इन उल्लेखों में जो परस्पर भेद दिखाई देता है, उसका कारण यह है कि विक्रमादित्य किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं था। यह तो एक विरुद है, जिसे कई राजाओं ने धारण किया। पीछे होनेवाले लेखकों ने एक विक्रमादित्य का वृत्तान्त दूसरे के साथ मिला दिया। चूंकि उज्जयिनीपति महाराज विक्रमादित्य अधिक प्रसिद्ध थे, इसलिए सब घटनाएँ उन्हीं के जीवन से सम्बद्ध हो गईं।

साहित्य-सूची—

१. वीरनिर्वाण और विक्रम-संवत् का अन्तर बतानेवाली प्राचीन गाथाएँ जो बहुत से ग्रन्थों में उद्धृत मिलती हैं।

२. सं० १२९० अथवा १२९४ में एक जैनाचार्य द्वारा रचित पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र (प्रकाशक— हीरालाल हंसराज, जामनगर; ओरियण्टल इन्स्टीटचूट, बड़ौदा)।

३. सं० १३३४ में प्रभाचन्द्र द्वारा रचित प्रभावक-चरित (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर कालकाचार्य, जीवसूरि और वृद्धवादिसूरि-चरित।

४. सं० १३६१ में मेरुतुंग द्वारा रचित प्रबन्धचिन्तामणि (सिंघी जैन ग्रंथमाला)। विशेषकर विक्रमार्क-प्रबन्ध और सातवाहन-प्रबन्ध।

५. सं० १३६४ से १३८९ में जिनप्रभसूरि द्वारा रचित विविधतीर्थकल्प (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर अपापा-बृहत्कल्प, प्रतिष्ठानपुरकल्प, कुडुंगेश्वरकल्प।

६. सं० १४०५ में राजशेखर द्वारा रचित प्रबन्धकोश (सिंघी जैन ग्रन्थमाला)। विशेषकर जीवदेवसूरि-प्रबन्ध, वृद्धवादि-सिद्धसेन-प्रबन्ध, सातवाहन-प्रबन्ध, विक्रमादित्य प्रबन्ध।

७. सं० १४५० से पूर्व किसी आचार्य ने महाराष्ट्री प्राकृत में सिंहासनद्वात्रिंशिका * रची।

८. सं० १४५० के आसपास तपागच्छीय देवसुन्दरसूरि के शिष्य क्षेमंकरसूरि ने नं० ७ के आधार पर संस्कृत गद्यपद्यमयी सिंहासनद्वात्रिंशिका रची।

९. सं० १४७१ के लगभग कासद्रहगच्छ के देवचन्द्र सूरि के शिष्य उपाध्याय देवमूर्ति ने विक्रमचरित नाम का ग्रन्थ रचा। इसमें १४ सर्ग हैं। उनके नाम—विक्रमादित्य की उत्पत्ति, राज्यप्राप्ति, स्वर्णपुरुष-लाभ, पञ्चदण्ड-छत्र-प्राप्ति, द्वादशावर्तवन्दनक-फलसूचक-कौतुक-नयवीक्षि, देवपूजाफलसूचकस्त्रीराज्यगमन, विक्रमप्रतिबोध, जिन-धर्म-प्रभावसूचक-हंसावली-विवाह, विनयप्रभाव, नमस्कारप्रभाव, सत्वाधिक-कथा-कोश, दानधर्मप्रभाव, स्वर्गारोहण, और अन्तिम सर्ग सिंहासन-द्वात्रिंशत्कथा। †

१०. सं० १४९० में पूर्णिमागच्छीय अभयचन्द्रसूरि के शिष्य रामचन्द्रसूरि ने दर्भिका ग्राम (डभोई) में उपर्युक्त ग्रन्थ नं० ९ के आधार पर संस्कृत पद्यबन्ध ३२ कथा रूप विक्रमचरित्र रचा। इसकी श्लोक-संख्या ६०२० है।

११. सं० १४९० में उक्त रामचन्द्रसूरि ने संस्कृत गद्य-पद्य में २२५० श्लोक प्रमाण खम्भात में पञ्चदण्डातपत्र-छत्र-प्रबन्ध की रचना की। प्रकाशक—हीरालाल हंसराज, जामनगर, सन् १९१२; प्रोफेसर वेबर, सन् १८७७।

१२. सं० १४९४ में तपागच्छीय मुनि सुन्दरसूरि शिष्य शुभशीलगणि ने भी एक विक्रमचरित्र बनाया (हेमचन्द्र ग्रन्थमाला, अहमदाबाद)।

१३. सं० १६१६ में सिद्धिसूरि ने संस्कृत पर से सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।

१४. सं० १६३६ में हीरकलश ने विस्तार करके सिंहासनबत्रीशी (गुजराती में) बनाई।

१५. सं० १६३८ में मंगलमाणिक्य ने विक्रम राजा और खापरा चोर का रास (गुजराती में) बनाया।

१६. सं० १६३८ में मल्लदेव ने विक्रम-चरित्र पञ्चदण्ड कथा की रचना की।

*** महाराष्ट्री की सिंहासन-द्वात्रिंशिका के होने में इजर्टन महोदय ने शंका प्रकट की है। देखिये विक्रमचरित, हार्वर्ड ओरियण्टल सीरीज, पुस्तक २६, प्रस्तावना पृ० ५५।**

† मोहनलाल दलीचन्द देसाई कृत "जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास", § ६८२।

इस ग्रन्थ की दो प्रतियाँ ऐसी मिलती हैं जो कर्त्ता के समय के आसपास लिखी गई। एक तो सं० १४८२ में मेदपाट (मेवाड़) में राजा कुम्भकर्ण के राज्य में वेसग्राम में कासद्रहगच्छ के देवचन्द्रसूरि (कर्ता के गुरु) के शिष्य उद्योतन सूरि के पट्टधर शिष्य सिंहसूरि ने अपने लिए वाचनार्थ शीलसुन्दर से लिखवाई (वेबर नं. १७७३)। दूसरी उसी सिंहसूरि ने सं० १४९५ में महीतिलक से लिखवाई (लींबड़ी भंडार)। इसकी श्लोक संख्या ५३०० है।

१७. सं० १६७८ में संघ (सिंह) विजय ने भी विस्तृत सिंहासनबत्रीशी की रचना की।

१८. विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी में समयसुन्दर ने संस्कृत गद्य में सिंहासनद्वात्रिंशिका रची। (पंजाब जैन भंडार सूची; नं० २९३७)।

१९. सं० १७७७ से १७८५ में सामलभट्ट ने अपनी सिंहासनबत्रीशी की रचना की। इसमें पञ्चदण्ड की कथा उपर्युक्त ग्रन्थ नं० २ से ली गई है।

२०. राजमेर कृत विक्रमचरित्र। लगभग २००० श्लोक प्रमाण। संस्कृत पद्य। (पंजाब जैन भंडार सूची; नं० २३२७)।

२१. लाभवर्द्धन कृत विक्रमादित्य चौपई। लगभग १००० श्लोक प्रमाण। गुजराती (पंजाब जैन भंडार सूची नं० २३३०)।

२२. पूर्णचन्द्र कृत विक्रमपञ्चदण्ड-प्रबन्ध। श्लोक प्रमाण ४०० (जैन ग्रन्थावली पृ. २६०)।

२३-२४. जैन ग्रन्थावली पृ. २६० पर दो विक्रमनृप-कथाओं का उल्लेख है। एक का श्लोक प्रमाण २३४, दूसरी पद्यबद्ध का २२५ है।

२५-२६. जैन ग्रन्थावली पृ. २१८ पर एक विक्रम-प्रबन्ध तथा दूसरे विद्यापति भट्ट कृत विक्रमादित्य-प्रबन्ध का उल्लेख है।

२७. जैन ग्रन्थावली पृ. २५९ पर इन्द्रसूरि कृत विक्रमचरित्र का उल्लेख है (पीटर्सन, रिपोर्ट ५)।

२८. कालकाचार्य-कथानक जिसमें बतलाया है, कि किस प्रकार कालकाचार्य ने अपनी भगिनी सरस्वती के अपहारक गर्दभिल्ल को शकों द्वारा राज्य-च्युत किया और फिर कुछ काल पीछे विक्रमादित्य ने शकों को परास्त करके उज्जयिनी का राज्य पुनः प्राप्त किया। इस कथानक की अनेक रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें से कुछ को प्रो० नार्मन ब्राउन ने "स्टोरी ऑफ़ कालक" नामक अपने ग्रन्थ में संपादित किया है।

२९. स्थविरावली, पट्टावली, गुर्वावली संज्ञक कृतियों में थोड़ा बहुत विक्रमादित्य सम्बन्धी विषय मिलता है। इनमें से हिमवत् स्थविरावली अति महत्त्वशाली है। इसका गुजराती अनुवाद हीरालाल हंसराज ने प्रकाशित किया है।

जैन साहित्य में विक्रम सम्बन्धी सामग्री की सूची देने के बाद इस सामग्री का जो अंश मुझे प्राप्त हो सका और उसमें से जो वृत्तान्त मैं संकलित कर सका हूँ उसका सार नीचे दिया जाता है‡ :—

विक्रमादित्य का मौर्यवंशी होना—अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को युवराज पदवी देकर उसे उज्जयिनी का शासक बना दिया। वहाँ रहते हुए कुणाल अन्धा हो गया। उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम था संप्रति। अशोक की मृत्यु के पश्चात् पाटलिपुत्र के सिंहासन पर संप्रति बैठा, लेकिन अशोक के दूसरे पुत्रों ने संप्रति का विरोध किया। इसलिए दो बरस पीछे संप्रति पाटलिपुत्र को छोड़कर अपने पिता की जागीर उज्जयिनी में आ गया। यहाँ उसने शेष आयु शान्ति-पूर्वक व्यतीत की। अब पाटलिपुत्र का राज्य पुण्यरथ (या दशरथ) ने सँभाल लिया। इस प्रकार मौर्य राज्य के दो हिस्से हो गये। संप्रति के कोई पुत्र नहीं था। उसके मरने पर उज्जयिनी का राज्य अशोक के पौत्रों, तिष्यगुप्त के पुत्रों बलमित्र और भानुमित्र नामक राजकुमारों ने हस्तगत कर लिया। ये दोनों भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये वीर-निर्वाण से २९४ वर्ष बाद उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठे और ६० वर्ष तक राज्य करते रहे।

---

‡ अहमदाबाद से "जैन-सत्य-प्रकाश" का विक्रम-विशेषांक निकला है। उसके विविध लेखों में विक्रम सम्बन्धी जैन-साहित्य और परम्परा का विस्तृत विवेचन किया गया है।



इनके पश्चात् बलमित्र का पुत्र नभोवाहन उज्जयिनी का राजा बना। यह भी जैनधर्मी था। इसकी मृत्यु वीर-निर्वाण से ३९४ बरस बाद हुई।

नभोवाहन के पश्चात् उसका पुत्र गर्दभिल्ल उज्जयिनी के राज्य सिंहासन पर बैठा। विक्रमादित्य इसी गर्दभिल्ल का पुत्र था।

मौर्य-राज्य का दो शाखाओं में विभक्त हो जाना तो कई विद्वानों ने माना है, परन्तु गर्दभिल्ल का मौर्यान्वयी होना केवल हिमवत् स्थविरावली में मिलता है, जिसका उल्लेख मुनि कल्याण विजय ने "वीर-निर्वाण-संवत् और जैन काल-गणना" नामक अपने निबन्ध में किया है।

विक्रमादित्य की राज्य-प्राप्ति—विक्रमादित्य को उज्जयिनी का राज्य बपौती रूप से घर बैठे बिठाये नहीं मिला। उसने यह राज्य प्रबल शत्रुओं को जीतकर प्राप्त किया; क्योंकि गर्दभिल्ल ने एक ऐसी दुष्ट चेष्टा की थी जिसके कारण उज्जयिनी का राज्य उसके हाथों से निकल कर शकों के हाथ में चला गया था। यह घटना इस प्रकार हुई:—

"कालकाचार्य नामी एक बड़े प्रभावशाली जैन साधु थे। उनकी बहिन सरस्वती भी साध्वी बन गई थी। वह बहुत रूपवती थी। एक बार गर्दभिल्ल ने उसे देखा और वह उस पर आसक्त हो गया। उसे उठाकर उसने बलात्कार अपने अन्तःपुर में डाल लिया। इस पर कालकाचार्य ने गर्दभिल्ल को बहुत समझाया कि आप इसे छोड़ देवें, इसका सतीत्व नष्ट न करें, आप सरीखे न्यायी राजा को ऐसा करना उचित नहीं, राजा तो प्रजा का रक्षक होता है, न कि भक्षक। गर्दभिल्ल ने कालकाचार्य की बात नहीं मानी। फिर उसके मंत्रियों ने प्रार्थना की कि आप साधु साध्वी का शाप न लेवें, लेकिन राजा ने उनकी प्रार्थना भी नहीं सुनी।

तब कालकाचार्य उज्जयिनी में उन्मत्त पुरुष की भाँति फिरने लगे। अन्त में वे सुराष्ट्र (सोरठ) देश को चले गये और वहाँ के शासक शक सामन्तों को, जो "शाहि" कहलाते थे, अपने बुद्धिबल से प्रसन्न किया। एक बार अवसर पाकर उन सबको इकट्ठा होकर उज्जयिनी पर धावा करने की सलाह दी। उन्होंने मिलकर गर्दभिल्ल से उज्जयिनी का राज्य छीन लिया। स्वाभाविक बात है कि विदेशी शासकों के हाथ से उज्जयिनी की प्रजा तंग आगई होगी। उसकी दीन दशा देखकर विक्रमादित्य से न रहा गया। उसने अपने बुद्धिबल और पराक्रम से शकों को परास्त किया और वह स्वयं उज्जयिनी के राजसिंहासन पर बैठ गया।"*

---

*विक्रमादित्य की राज्यप्राप्ति के सम्बन्ध में कई और कथायें भी हैं। जैसे—

(१) विक्रमादित्य भर्तृहरि का भाई था और उसके पश्चात् उज्जयिनी के सिंहासन पर बैठा। (इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ. २४७)।

(२) विक्रम नामक एक राजपूत था जो जन्म से दरिद्र, पर बुद्धिमान् था। एक बार घूमता-फिरता वह अवन्ती नगरी के पास आया। वहाँ का राजा मर चुका था। जो नया राजा बनता, उसे पहली ही रात अग्नि-वेताल राक्षस मार डालता। अब मंत्री लोग विवश थे। ज्योंही विक्रम ने नगर में प्रवेश किया, लोगों ने उसे राजा बना लिया। जब विक्रम को राक्षस का हाल मालूम हुआ तो उसने पलंग के समीप मिठाई का ढेर लगवा दिया। अब यथापूर्व राक्षस आया और विक्रम को खाने लगा। विक्रम ने कहा—"पहले आप मिठाई खा लीजिए"। मिठाई खाकर राक्षस प्रसन्न हो गया, और विक्रम को जीवित छोड़ दिया। विक्रम प्रतिदिन मिठाई का ढेर लगवा रखता। एक रात विक्रम ने राक्षस से पूछा कि मेरी कुल आयु कितनी होगी। उसने उत्तर दिया, "पूरे एकसौ बरस, न एक दिन कम और न एक दिन अधिक।" अब अगले दिन विक्रम ने मिठाई का ढेर नहीं लगवाया। यह देख राक्षस बहुत क्रुद्ध हुआ, और विक्रम के साथ युद्ध करने लगा। विक्रम ऐसी शूरता से लड़ा कि राक्षस प्रसन्न हो गया। अब उसने उज्जयिनी में आना छोड़ दिया और वहाँ विक्रम आनन्दपूर्वक राज करने लगा। (देखिए प्रबन्ध-चिन्तामणि, विक्रमार्क-प्रबन्ध § १, २; इजर्टन, उक्त पुस्तक, पृ. २५०-२५१)।

श्री डॉ० बनारसीदास जैन

विक्रमादित्य का जैन धर्म को अंगीकार करना--जैन न्याय को क्रमबद्ध करके इसे शास्त्र का रूप देनेवाले, संस्कृत के अद्वितीय पण्डित, श्री सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य के समकालीन माने जाते हैं। इन्हीं सिद्धसेन के उपदेश से प्रभावित होकर विक्रमादित्य ने जैनधर्म को अंगीकार किया*। यह प्रसंग ऐसे बना।

जैनों के आगम ग्रन्थ अर्धमागधी प्राकृत में रचे हुए हैं। पण्डित मण्डली में इस भाषा का संस्कृत जैसा आदर नहीं था। सिद्धसेन ने सोचा कि यदि जैन आगमों का संस्कृत में अनुवाद हो जाय, तो जिनवाणी की बड़ी प्रभावना होगी। यह सोचकर सिद्धसेन ने आगमों का संस्कृत में अनुवाद करने की अपने गुरु से आज्ञा माँगी। गुरु ने कहा कि तेरे इस संकल्पमात्र से जिनवाणी की आशातना (निरादर) हुई है। अनुवाद कर लेने पर तो महापाप लगेगा। इस खोटे संकल्प के लिए तुझे पाराञ्चित प्रायश्चित्त करना चाहिए, जिसके अनुसार बारह बरस तक अवधूत वेष में रहकर तुझे जैन धर्म का पालन करना होगा। इस अवस्था में सिद्धसेन एक बार उज्जयिनी में आये। वहाँ महाकाल के मन्दिर में जाकर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। लोगों ने इस बात की सूचना राजा विक्रमादित्य को दी। राजा ने सिद्धसेन को बुलाकर पूछा कि आपने शिवलिंग को प्रणाम क्यों नहीं किया? सिद्धसेन ने उत्तर दिया कि यदि मैं शिवलिंग को प्रणाम करूँगा तो वह फट जावेगा और आप अप्रसन्न हो जायँगे। यह सुनकर राजा को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सिद्धसेन के वचन की परीक्षा करने के उद्देश्य से उनसे कहा कि मेरे सामने शिवलिंग को प्रणाम कीजिए। इस पर सिद्धसेन ने पार्श्वनाथ भगवान् की स्तुति प्रारम्भ कर दी। पहला ही श्लोक पढ़ा था कि शिवलिंग से धूम की रेखा निकलने लगी। लोग समझे कि अब शंकर महादेव के नेत्र से आग निकलेगी और इस भिक्षु को भस्म कर देगी। लेकिन थोड़ी ही देर में शिवलिंग फट गया और उसमें से पार्श्वनाथ की दिव्य मूर्ति निकल पड़ी। इस कौतुक को देखकर विक्रमादित्य को जैन धर्म में दृढ़ श्रद्धा हो गई और उसने श्रावक के बारह व्रत धारण किये।†

विक्रमादित्य और कालिदास—विक्रमादित्य विद्या का प्रेमी था और विद्वानों का बड़ा आदर सम्मान करता था। ज्योतिर्विदाभरण में लिखा है कि उसकी सभा में नौ पण्डितरत्न थे जिनके नाम ये हैं—१. धन्वन्तरि, २. क्षपणक, ३. अमरसिंह, ४. शंकु, ५. वेतालभट्ट, ६. घटखर्पर, ७. कालिदास, ८. वराहमिहिर और ९. वररुचि। इनमें से क्षपणक से तात्पर्य सिद्धसेन दिवाकर का है। कालिदास विक्रमादित्य का जामाता था, क्योंकि उसका विवाह विक्रमादित्य की पुत्री प्रियंगुमञ्जरी से हुआ था। कालिदास एक पशुपालक का पुत्र था और कुछ पढ़ा लिखा न था। प्रियंगुमञ्जरी की अवज्ञा से उसने काली की उपासना की और उससे आशुकवित्व का वर प्राप्त किया। तब उसने कुमारसंभव आदि तीन महाकाव्य और छै प्रबन्ध बनाये।‡

विक्रम का बल पराक्रम—जैसाकि विक्रमादित्य के नाम से प्रकट है, वह विक्रम और साहस का पुतला था। निर्बलों की रक्षा और दीन-अनाथों के दुख दूर करना उसके जीवन का मुख्य ध्येय था। कैसा ही साहस का काम क्यों न हो, वह उसे करने से नहीं घबराता था। उसकी शूरवीरता की अनेक कथाएँ, विशेषकर सिंहासनद्वात्रिंशिका में मिलती हैं। इनका निर्देश यहाँ नहीं किया जा सकता। ऐसा करने से लेख का कलेवर बहुत बढ़ जायगा।

विक्रम की दानशीलता—विक्रमादित्य इतना दानशील था कि उसने समस्त पृथ्वी को ऋणमुक्त कर दिया था। यह बात आजतक प्रसिद्ध है।

---

* प्रभावकचरित (विजयसिंहसूरिचरित) श्लोक ७७, (वृद्धवादिचरित) श्लोक ६१-६५। प्रबन्ध-चिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रबन्ध) §§७-८।

† प्रभावकचरित (वृद्धवादिसूरिचरित) श्लोक १२१-५०। इजर्टन, हार्वर्ड ओरियन्टल सीरीज, पुस्तक २६, पृष्ठ २५१।

‡ प्रबन्धचिन्तामणि (विक्रमार्क-प्रबन्ध) §२।

जैन साहित्य में विक्रमादित्य

विक्रम का नया संवत् चलाना—विक्रमादित्य के नया संवत् चलाने के कई उल्लेख मिलते हैं। प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रमार्क-प्रबन्ध के अन्त में लिखा है, "अन्त समय में नवनिधियों ने विक्रमादित्य को दर्शन देकर कहा कि कलियुग में तो आपही एकमात्र उदार हैं। और वह परलोक को प्राप्त हुआ। उसी दिन से विक्रमादित्य का संवत्सर प्रवृत्त हुआ, जो आज भी जगत् में वर्तमान है।"

विक्रम और सातवाहन—एक बार विक्रम की सभा में किसी नैमित्तिक ने कहा कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा बनेगा।

सातवाहन की उत्पत्ति—महाराष्ट्र देश में प्रतिष्ठानपत्तन बड़ा प्रसिद्ध नगर था। एकदा उसमें अपनी विधवा भगिनी समेत दो पथिक आकर एक कुम्हार के घर ठहरे। दैवयोग से उनकी बहिन को गर्भ हो गया। इसपर वे उसे अकेला छोड़कर वहाँ से चल दिये। दिन पूरे हो जाने पर उसके बालक उत्पन्न हुआ, जो बड़ा होकर कुम्हार के लड़कों से खेला करता था। उनसे उसने मिट्टी के हाथी, घोड़े, रथ आदि वाहन बनाना सीख लिये। इसीसे उसका नाम सातवाहन पड़ गया।

उधर उज्जयिनी में एक बूढ़ा आदमी मरा। मरते समय उसने अपने चारों पुत्रों से कहा कि मेरी चारपाई के पायों के नीचे चार घड़े दबे हैं। तुम उनको निकालकर एक-एक बाँट लेना। जब धरती खोदी गई तो एक घड़े में सोना, दूसरे में काली मिट्टी, तीसरे में भूसा और चौथे में हड्डियाँ मिलीं। इस पर चारों में झगड़ा हुआ कि कौन किस घड़े को लेवे। वे झगड़ते हुए न्याय कराने के लिए विक्रमादित्य के पास आये। वह इनका न्याय न कर सका। फिर वे प्रतिष्ठान-पुर पहुँचे। वहाँ इनको उदास देखकर सातवाहन ने पूछा कि क्या बात है? उदासी का क्या कारण है? झगड़ा बतलाये जाने पर उसने कहा कि जो सोनेवाला घड़ा लेवे उसको और कुछ न मिले। जो मिट्टीवाला घड़ा लेवे, वह सब भूमि, खेत-क्यारियाँ आदि का स्वामी समझा जावे। भूसेवाले को खत्ते कोठों में भरा अनाज मिल जावे। हड्डियोंवाला गौ, भैंस आदि पशुओं को ले लेवे। ऐसा करके हिसाब लगाने पर सबके हिस्से में बराबर-बराबर सम्पत्ति आई और वे सब प्रसन्न हो गये।

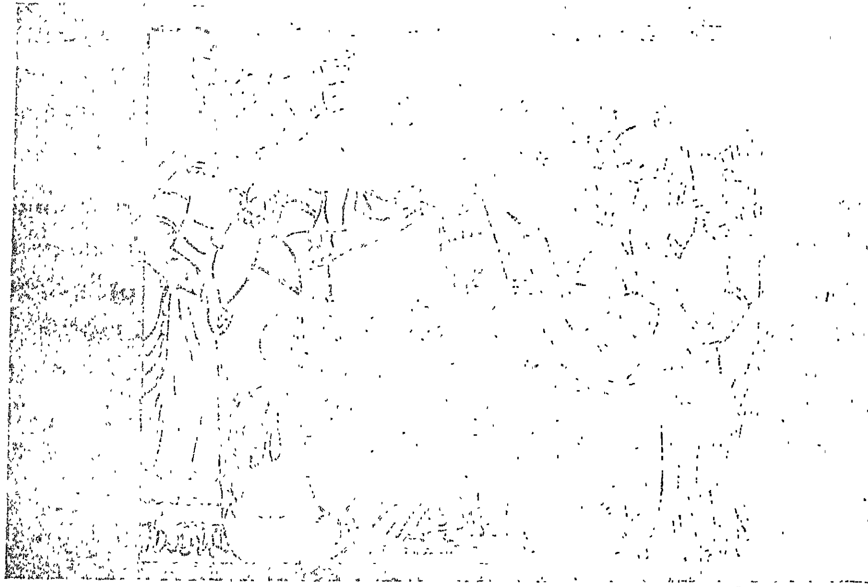
जब वे उज्जयिनी में आये और विक्रम को सूचना मिली कि उनका न्याय हो गया, तो उसने उन्हें बुलाकर पूछा "तुम्हारा न्याय किसने किया?" उन्होंने उत्तर दिया कि सातवाहन ने। अब विक्रमादित्य को नैमित्तिक के वचन याद आये कि प्रतिष्ठानपुर में सातवाहन राजा होगा। यह सोचकर कि राजा बनकर सातवाहन मेरा विरोध करेगा, विक्रम ने प्रतिष्ठानपुर को घेरा डालकर दूत द्वारा उसे कहला भेजा कि मैं कल तुम्हें मार डालूंगा। यह सुन सातवाहन लड़ाई के लिये तैयार हो गया। उसने रातोंरात मिट्टी की बहुतसी सेना बना डाली। फिर एक देवता की उपासना करके उसमें प्राणों का संचार करा दिया। इस सेना द्वारा सातवाहन ने विक्रम को भगा दिया।†

विक्रम के पुत्र—विक्रमादित्य के पुत्र विक्रमसेन को पुरोहित ने आशीर्वाद दिया कि आप अपने पिता विक्रमादित्य से भी अधिक प्रतापी होवें। इसपर सिंहासन की पुतलियों ने हँसकर कहा कि विक्रमसेन की विक्रमादित्य से समता भी नहीं हो सकती, अधिकता तो दूर रही। कारण पूछने पर पुतलियों ने विक्रमादित्य के पराक्रम आदि लोकोत्तर गुणों का बखान किया और पूछा कि क्या विक्रमसेन ऐसा कर सकता है? इस प्रकार पुतलियों ने विक्रमसेन के गर्व का निराकरण किया। ‡

उपर्युक्त वृत्तान्त जैन साहित्य में पाये जाने वाले विक्रम सम्बन्धी उल्लेखों का एक नमूना है। खोज करने से यह काफी विस्तृत हो सकता है। इसका ऐतिहासिक महत्त्व कुछ हो या न हो पर यह कथा-साहित्य की दृष्टि से बड़ा सरस और उपयोगी है।

---

† विविध-तीर्थकल्प (प्रतिष्ठानपुरकल्प) पृ० ५९-६०। प्रबन्धकोष (सातवाहन-प्रबन्ध) §§८२-८६।
‡ प्रबन्धकोष (विक्रम-प्रबन्ध) §९८।



अरबी-फारसी में विक्रमादित्य

श्री महेश प्रसाद, मौलवी आलिम फाजिल

भारतीय इतिहास में अपने गुणों तथा कार्यों के कारण महाराज विक्रमादित्य ने जो अक्षय कीर्ति प्राप्त की है उससे अनेक भाषाओं में उनका नाम किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता है। अरबी में 'किताबुलहिन्द' नाम का एक महान् ग्रन्थ है। उसकी रचना सन् १०३० ई० अथवा इस सन् के कुछ ही काल बाद हुई है। लेखक एक मुसलमान है जो प्रायः अलबेरूनी के नाम से विख्यात है। इस जगत्-विख्यात लेखक के उक्त ग्रन्थ में सब से पहले महाराज विक्रमादित्यजी का नाम उनके काल के एक रसायनिक (वैज्ञानिक) के सम्बन्ध में इस प्रकार पाया जाता है :—

"राजा विक्रमादित्य, जिसके संवत् के विषय में हम आगे उल्लेख करेंगे, के समय में उज्जैन नगर में व्याडि नामक एक व्यक्ति था जिसने अपना सम्पूर्ण ध्यान इस (रसायन) विज्ञान की ओर दिया था और अपना जीवन व धन दोनों को इसके निमित्त नष्ट कर दिया, किन्तु उसके उत्साह के कारण उसको इतना भी लाभ न हुआ था कि साधारण स्थितियों में भी उसे सुगमता के साथ सहायता होती। वह बहुत दुखी हो गया था इस कारण उसे अपने उस उद्यम से बहुत घृणा हो गई जिसके निमित्त उसने कठिन परिश्रम किया था। निदान शोकातुर व निराश होकर वह एक नदी के तट पर बैठ गया। अपने हाथ में अपने उस रसायन-ग्रन्थ को लिया जिसमें से वह औषधियों के लिये योग तैयार किया करता था और उस ग्रन्थ में से एक-एक पन्ने को निकाल जल में प्रवाह करना आरम्भ किया। दैवयोग से उसी नदी के तट पर बहाव की ओर कुछ दूरी पर एक वेश्या बैठी थी। उसने बहते हुये पन्नों को एकत्र किया और रसायन-विषयक कुछ पन्नों को एक साथ कर दिया।

व्याडि जब समस्त पुस्तक को फेंक चुका, उसके पश्चात् व्याडि की दृष्टि उस वेश्या पर पड़ी। इसके पश्चात् वह वेश्या व्याडि के समीप आई और पूछा कि आपने अपनी पुस्तक के साथ क्यों ऐसा व्यवहार किया? व्याडि ने उत्तर दिया कि पुस्तक से कुछ लाभ नहीं हुआ, इस कारण मैंने ऐसा किया। मुझे जो कुछ लाभ इससे होना चाहिए वह नहीं हुआ और इसी के निमित्त मैं धनहीन हो गया। मेरे पास बहुत सम्पत्ति थी किन्तु अब मैं बहुत दुखी अवस्था में हूँ और मैं बहुत काल तक आशा लगाये हुए था कि इसके कारण मैं सुखी हूँगा। वेश्या बोली—"जिस कार्य के निमित्त आपने अपना जीवन

लगाया है, जिस बात को ऋषियों ने सच्चा करके दिखलाया है उसके होने की सम्भावना से निराश न बनें। आपकी इष्टसिद्धि में जो रुकावट है वह सम्भवतः केवल किसी प्राकृतिक घटना के कारण है, वह सम्भवतः किसी घटना से दूर हो जायगी। मेरे पास बहुतसा ठोस धन है। वह सब धन आपका है। सम्भवतः उस धन से आप अपने मनोरथ की सिद्धि में सफलीभूत होंगे।" ऐसा होने पर व्याडि ने अपना कार्य फिर आरम्भ किया।

रसायन-विषयक ग्रन्थ पहेलियों के ढंग पर रचे गये हैं। इस कारण व्याडि को एक शब्द के समझने में धोखा हुआ था। औषधि के योग में जो शब्द था उसका अर्थ है 'तेल' और 'मनुष्य का रक्त' और दोनों की आवश्यकता औषधि में थी। वास्तव में 'रक्तामल' लिखा हुआ था और उसका अर्थ लाल आमलक लिया गया था। जब वह औषधि को प्रयोग में लाता था तो किसी दशा में भी उससे लाभ न होता था। एक बार उसने विविध औषधियों को आग पर ठीक करना आरम्भ किया और आग की लपट उसके सिर को छू गई। उसका भेजा सूख गया। उसने सर पर बहुतसा तेल लगाया व डाला। वह भट्टी पर से कहीं जाने के लिए उठा। जहाँ भट्टी थी उसकी छत में लोहे का एक कीला निकला हुआ था। वह उसके सिर में लगा और रक्त बहने लगा। उसको दर्द हुआ तो वह नीचे की ओर देखने लगा। ऐसी दशा में उसकी खोपड़ी के ऊपर से तेल मिले हुए रक्त की कुछ बूंदें औषधि में पड़ गईं और उसको कुछ पता न लगा। तत्पश्चात् जब औषधि की तैयारी का कार्य समाप्त हो गया, तो उसने और उसकी स्त्री ने औषधि को परखने के लिए अपने शरीर पर मला तो दोनों हवा में उड़े।

इस बात को जानकर विक्रमादित्य अपने राज-भवन से निकले और उनको अपनी आँखों से देखने के निमित्त बाहर आये। इसपर उस पुरुष ने चिल्लाकर कहा—'अपना मुंह मेरे थूक के लिये खोलिए'। किन्तु एक घृणित बात होने के कारण राजा ने ऐसा नहीं किया और थूक कपाट के पास गिरा, डेवढ़ी तुरन्त सोने की हो गई।

व्याडि और उसकी स्त्री जहाँ चाहते थे उड़कर चले जाते थे। उसने इस विज्ञान के विषय में सुप्रसिद्ध पुस्तकें लिखी हैं। जनता का ख्याल है कि स्त्री-पुरुष दोनों जीवित हैं।"

महाराज विक्रमादित्य से सम्बन्ध रखनेवाली यह बात कहीं और अंकित है या नहीं—मैं इस विषय में कुछ नहीं कह सकता। हाँ, अब यह अवश्य कह देना चाहता हूँ कि उक्त बात के सिवा अलबेरूनी ने अपने अमूल्य ग्रन्थ में विक्रमीय संवत् पर भी आगे चलकर प्रकाश डाला है जैसाकि पिछली पंक्तियों में उल्लेख हो चुका है।

फारसी के तो अनेक ग्रन्थों में महाराज विक्रमादित्य की चर्चा है। अकबरी हाल विषयक ग्रन्थों— 'आईन अकबरी' व 'मुन्तखबुत्तवारीख' में विशेषकर विक्रमीय संवत् सम्बन्धी बातें हैं, किन्तु अकबरी-काल के थोड़े ही काल बाद सन् १६०६ या १६०७ ई० की रचना 'तारीख फरिश्तः' नामी ग्रन्थ है उसमें जो कुछ मिलता है उसका सार आगे दिया जा रहा है।

"विक्रमाजीत जाति का पवार था, उसका स्वभाव बहुत अच्छा था। इसके विषय में जो कहानियाँ हिन्दुओं में प्रचलित हैं उनसे स्पष्ट होता है कि उसका वास्तविक स्वरूप क्या था। युवा अवस्था में यह राजा बहुत समय तक साधुओं के भेष में घूमता रहा और उसने बड़ा तपस्वी जीवन व्यतीत किया। पचास वर्षों की वय हुई तो ईश्वरीय महिमा से उसने सैनिक-जीवन की ओर ध्यान दिया। ईश्वर की ओर से यह बात निश्चित थी कि यह साधु एक महा प्रतापी राजा हो और मनुष्यों को अत्याचारियों के पंजे से छुड़ाये, इस कारण दिन प्रति दिन उसके कार्य में उन्नति ही होती गई। थोड़े ही काल में नहरवाला और मालवा दोनों देश उसके अधिकार में आगये। राज-कार्य को हाथ में लेते ही उसने न्याय को संसार में ऐसा फैलाया कि अन्याय का चिह्न बाकी न रहा और साथ ही साथ उदारता भी अनेक कार्यों में दिखलाई।"

हिन्दुओं का विश्वास है कि उस राजा का पद साधारण सांसारिक मनुष्यों से कहीं उच्च था। जो बात उसके हृदय में उत्पन्न होती थी वह साफ साफ प्रगट हो जाती थी। रात्रि में जो घटनाएँ उसके राज्य में होती थीं वह प्रातःकाल उसको स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती थीं।

यद्यपि वह राजा था तथापि समस्त मनुष्यों के साथ बहुत प्रेम का व्यवहार करता था। उसके निवास-स्थान में मिट्टी के एक प्याले और बोरिये (चटाई) के सिवा और कुछ न था। उसने अपने काल में उज्जैन बसाया और धार में दुर्ग बनाकर उसको अपना निवास-स्थान बनाया। उज्जैन में महाकाल नामक देवालय उसी ने बनवाया और ब्राह्मणों व साधुओं के निमित्त वृत्तियाँ नियुक्त कीं ताकि वह लोग वहाँ पूजा-पाठ करते रहें।

वह अपने समय का अधिक भाग लोगों का हाल जानने और ईश्वर की उपासना में व्यतीत करता था। इसके निमित्त भारतवासियों के हृदयों में बड़ा स्थान है और इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कथाएँ बतलाते हैं। वर्ष और महीनों की तारीख का श्रीगणेश इसी राजा के मृत्यु-दिन और महीने से होता है और इस पुस्तक के रचनाकाल तक हिजरी सन् का एक हजार पन्द्रहवाँ वर्ष है, विक्रमीय संवत् के आरम्भ को एक हजार छःसौ त्रेसठ वर्ष बीत चुके हैं।

ईरान का राजा उर्दशीर इसका समकालीन था। कुछ लोगों का मत है कि इसका और ईरान के राजा शापूर का काल एक ही था। इस राजा के अन्तिम दिनों में शालिवाहन नाम के एक जमींदार ने इस पर आक्रमण किया। नर्मदा के तट पर दोनों ओर की सेनाओं का घोर युद्ध हुआ। अन्त में शालिवाहन विजयी हुआ और विक्रमादित्य मारा गया। इस राजा (विक्रमादित्य) के समय से सम्बन्ध रखनेवाली बहुतसी दन्त-कथाएँ ऐसी हैं जो मानने योग्य नहीं। इस कारण उनको नहीं लिखा जा रहा है।

विक्रमादित्य के पश्चात् बहुत समय तक मालवा की दशा अति शोचनीय रही। कोई उदार और न्यायी राजा न हुआ। किन्तु जब राजा भोज के हाथ में यहाँ का राज्य आया तो यहाँ की दशा सुधरी।"

अन्त में मैं यह लिख देना चाहता हूँ कि मैंने जो कुछ लिखा है केवल विषय की सूचनामात्र है। मेरा विश्वास है कि यदि विशेष उद्योग किया जाय तो इस प्रतापी राजा के विषय में कुछ अन्य ग्रन्थों में भी कुछ और बातें अवश्य मिलेंगी।

सन् १७४२ ई० का काव्य-संग्रह *

इस्तम्बोल के प्रसिद्ध राजकीय-पुस्तकालय 'मकतब-ए-सुलतानिया' जिसे वर्तमान में 'मकतब-ए-जमहूरिया' कहते हैं, वह तुर्की ही नहीं, पूर्वीय-समस्त देशों में सबसे बड़ा और विशाल है। पुस्तकालय के अरबी विभाग में १७४२ ई० का लिखा हुआ काव्यसंग्रह देखने को मिला, जो तुर्की के प्रसिद्ध राजा सुलतान सलीम ने अत्यन्त यत्नपूर्वक किसी प्राचीन प्रति के आधार पर लिखवाया था। यह हरीर (एक प्रकार का रेशमी कपड़ा जो ऐसे कामों के लिये ही बनाया जाता था) पर लिखा है, और अत्यन्त सुन्दर सुनहरे बेल-बूटेदार काम से सजा हुआ है। यह संग्रह तीन भागों में है। प्रथम भाग में अरब के आदि कवियों का—अर्थात् इस्लाम से पहिले के कवियों का जीवन, और उनके काव्यों का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। दूसरे भाग में मुहम्मद साहब के प्रारम्भिक-काल से लेकर बनी-उम्मय्या-कुल के अन्त तक के कवियों का वर्णन है। और तीसरे भाग में बनी अब्बास कुल के आरम्भ से प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूँ-रशीद के दरबारी कवियों अर्थात् लेखक ने अपने समय तक के कवियों का वर्णन कर दिया है। पुस्तक का नाम 'सेअरुल ओकूल' है। इसका संग्रहकर्ता अरबी-काव्य का कालिदास अबू-आमिर अब्दुल-असमई है, जो इस्लाम के प्रसिद्ध राजा खलीफा हारूँरशीद का दरबारी कवि था। इस संग्रह-पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १८६४ ई० में बर्लिन से प्रकाशित हुआ था, और दूसरा सन् १९३२ ई० में बेरुत (फिलिस्तीन) से प्रकाशित हुआ है। इसे अरबी काव्य का बहुत प्रामाणिक और पुरातन संग्रह माना जाता है।

इस पुस्तक की भूमिका में प्राचीन-अरब की सामाजिक अवस्था, मेल-जोल, खेल-तमाशों के सम्बन्ध में भी काफी प्रकाश डाला गया है। इसके अतिरिक्त मुख्य रूप से प्राचीन-कालीन अरबों के प्रधान तीर्थ मक्का का भी बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। यहाँ लगनेवाले वार्षिक मेले-जिसको 'ओकाज' कहा जाता था, जिसमें कि अरबों के धार्मिक, राजनीतिक,

* देखिए 'विक्रम' के 'दीपोत्सवी अंक' संवत् २००१ में श्री ईशदत्त शास्त्री का लेख। सं०।

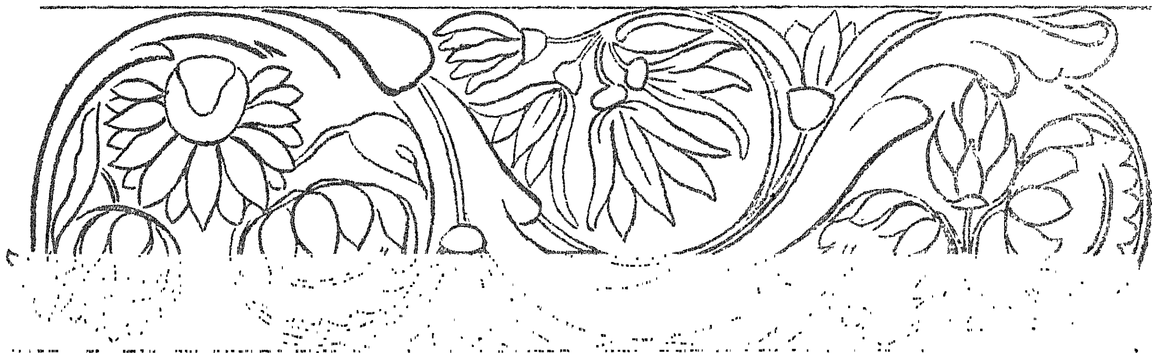
साहित्यिक, सामाजिक आदि हर विषयों पर विवाद किया जाता था और उसके प्रदत्त निर्णय को समस्त अरब शिरसा-वन्द्य मानते थे, उसका वर्णन भी विस्तृतरूपेण किया गया है। इस मेले में विशाल कवि-सम्मेलन हुआ करता था, जिसमें अरब के प्रमुख सभी कवि भाग लेते थे। ये कविताएँ पुरस्कृत होती थीं। सर्व-प्रथम कवि की कविता को सोने के पतरे पर अंकित कर मक्का के प्रसिद्ध मंदिर के अन्दर लटकवा दिया जाता था। और अन्य श्रेणी की कविताएँ ऊँट की झिल्ली, या भेड़-बकरी के चमड़े पर लिखकर मंदिर के बाह्य-भाग में टँगवा दी जाती थीं। इस प्रकार अरबी-साहित्य का अमूल्य साहित्य-धन हजारों वर्षों से मंदिर में एकत्रित होता चला आता था। पता नहीं यह प्रथा कब से प्रारम्भ हुई थी, परन्तु हजरत मुहम्मद साहब के जन्म से २३-२४ सौ वर्ष पुरानी कविताएँ उक्त मंदिर में प्रस्तुत थीं। किन्तु मक्का पर इस्लामी सेना के अधिकारावसर पर ये सब नष्ट-भ्रष्ट कर दी गई थीं। परन्तु जिस समय यह सैन्य मक्का पर आक्रमण कर रही थी- उसके साथ हजरत मुहम्मद के दरबार का कवि—हस्सान बिनसाबिक भी था। जिसने कुछ रचनाएँ अपने पास उस समय सुरक्षित करली थीं। इसकी तीसरी पीढ़ी के समय हारूँरशीद जैसे साहित्यिक खलीफा का काल था। लाभ की आशा से यह पतरे लेकर वह कवि-वंशज मदीने से बगदाद जाकर लेखक—अबू-आमिर अब्दुल्ल असमई से मिला। उसे प्रयत्न स्वरूप हजारों पाउण्ड इसका पारितोषिक दिया गया। इनमें पाँच सोने के पत्र थे, और १६ चमड़े के। इन पाँच पत्रों पर दो अरब के आदि कवि लबी बेने, और अखतब-बिनतुर्फा के काव्य अंकित थे।

इन पत्रों से प्रेरित होकर खलीफा ने लेखक अबू-आमिर को एक ऐसा ग्रंथ लिखने की आज्ञा दी जिसमें अरब के तमाम कवियों के जीवन, और काव्य-कला का वर्णन हो। इस प्रकार जो संग्रह प्रस्तुत किया गया था, उससे एक कविता पाठकों की जानकारी के लिये यहाँ हम उद्धृत करते हैं।

हजरत मुहम्मद से एक सौ पैंसठ वर्ष पूर्व जर्हम बिनतोई नामक एक कवि हो गया है। जो निरन्तर 'ओकाज' के कवि सम्मेलन में तीन वर्ष तक सर्व प्रथम आता रहा है। इसकी तीनों उक्त कविताएँ सोने के पत्रों पर अंकित होकर मंदिर में लटकाई गई थीं। इससे यह स्पष्ट है कि वह बहुत प्रतिभा-सम्पन्न था। उसकी कविता का उदाहरण यह है :—

इत्रश्शफाई सनतुल बिकरमतुन, फ़हलमिन करीमुन यर्तफीहा वयोवस्सरू।
बिहिल्लाहायसमीमिन एला मोतकब्बेनरन, बिहिल्लाहा यूही कैद मिन होवा यफ़ख़रू।
फ़ज्जल-आसारि नहनो ओसारिम बेजेहलीन, युरीदुन बिआबिन कज़नबिनयख़तरु।
यह सबदुन्या कनातेफ़ नातेफी बिजेहलीन, अतदरी बिलला मसीरतुन फ़केफ़ तसबहू।
कऊन्नी एज़ा माज़करलहदा वलहदा, अशमीमान, बुरुकन कद् तोलुहो वतस्तरू।
बिहिल्लाहा यक़ज़ी बैनना वले कुल्ले अमरेना, फ़हेया जाऊना बिल अमरे बिकरमतुन।। (सेअरुल—ओकूल पृष्ठ ३१५)

अर्थात्—वे लोग धन्य हैं जो राजा विक्रम के राज्य काल में उत्पन्न हुए, जो बड़ा दानी, धर्मात्मा, और प्रजा पालक था। परन्तु ऐसे समय हमारा अरब ईश्वर को भूल कर भोग-विलास में लिप्त था। छल-कपट को ही लोगों ने सब से बड़ा गुण मान रखा था। हमारे तमाम देश (अरब) में अविद्या ने अन्धकार फैला रखा था। जैसे बकरी का बच्चा भेड़िये के पंजे में फँसकर छट-पटाता है, छूट नहीं सकता, ऐसे ही हमारी जाति मूर्खता के पंजे में फँसी हुई थी। संसार के व्यवहार को अविद्या के कारण हम भूल चुके थे, सारे देश में अमावस्या की रात्रि की तरह अन्धकार फैला हुआ था, परन्तु अब जो विद्या का प्रातःकालीन सुखदाई प्रकाश दिखाई देता है, वह कैसे हुआ यह उसी धर्मात्मा-राजा विक्रम की कृपा है। जिसने हम विदेशियों को भी अपनी दयादृष्टि से वंचित नहीं किया, और पवित्र धर्म का सन्देश देकर अपनी जाति के विद्वानों को यहाँ भेजा, जो हमारे देश में सूर्य की तरह चमकते थे। जिन महापुरुषों की कृपा से हमने भुलाए हुए ईश्वर और उसके पवित्र ज्ञान को जाना, और सत्पथ-गामी हुए, वे लोग राजा-विक्रम की आज्ञा से हमारे देश में विद्या और धर्म के प्रचार के लिए आए थे।



इतिहास एवं अनुश्रुति में विक्रमादित्य

श्री डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार एम्० ए०, पी-एच० डी०

शिलालेख एवं मुद्रा सम्बन्धी साक्ष्य से ईसा की चतुर्थ शताब्दी से पूर्व विक्रमादित्य नाम के किसी भारतीय सम्राट् का अस्तित्व प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में उस शताब्दी से पूर्व 'आदित्य' शब्दान्त उपाधियों के प्रचलित होने का कोई प्रमाण प्राप्त नहीं है। पुराणों के भविष्यानुकीर्तन खण्ड ऐतिहासिक वर्णन को चतुर्थ शताब्दी के प्रारम्भ तक ले आते हैं; उनमें विक्रमादित्य का उल्लेख प्राप्त न होना इस सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यदि वह महान् सम्राट् वास्तव में उनके समय से पूर्व हुआ होता तो अपेक्षाकृत अपरकालीन पुराणकर्ता विक्रमादित्य जैसे दैदीप्यमान व्यक्तित्व की अवगणना सरलता से न कर सकते। जो हो, ५८ ई० पू० से प्रारम्भ होने वाला एक संवत् अवश्य है, जो विक्रम-संवत् कहलाता है और पीछे की अनुश्रुति उसे उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य द्वारा प्रवर्तित मानती है। परन्तु ईसवी संवत् की प्रारंभिक शताब्दियों में विक्रम-संवत् के वर्ष 'कृत' कहलाते थे और कुछ काल पश्चात् मालवगणतन्त्र से उनका निकट सम्बन्ध होने का उल्लेख है। आठवीं तथा नवीं शताब्दियों में ही इस संवत् का सम्बन्ध विक्रमादित्य के नाम के साथ स्थापित किया गया। एक सम्भावना यह भी है कि यह संवत् प्राचीन सिथोपार्थियन काल-गणना हो, जिसे राजपूताना और मालवा में मालव जाति अपने जन्म-स्थान पंजाब के झंग जिले के आसपास से ले गई हो। विक्रम-संवत् के प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नामक सम्राट् तथा सातवाहन वंश के गौतमीपुत्र शातकर्णि को एक मानने का सिद्धान्त हास्यास्पद है; क्योंकि यह गौतमीपुत्र ईसवी दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में राज्य करता था और किसी भी साधन से उसे ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में नहीं रखा जा सकता। अनुश्रुति से यह संकेत मिलता है कि गोदावरी-तट पर स्थित प्रतिष्ठान इस राजा की राजधानी थी, जिसके सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस के राजा विक्रमादित्य की स्वीकृत राजधानी उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र से सम्बद्ध होने की सूचना कहीं प्राप्त नहीं होती। गौतमीपुत्र ने कभी किसी संवत् का प्रवर्त्तन नहीं किया; अर्थात् उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसके राज्य-वर्षों की परम्परा का विस्तार नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त कहीं भी उसे विक्रमादित्य अभिहित नहीं किया गया और उसका विशेषण 'वरवारण-विक्रम-चारु-विक्रम' उपर्युक्त उपाधि से नितान्त असम्बद्ध है। 'हाल'

की सत्तसई में हुए विक्रमादित्य के उल्लेख से कुछ भी सिद्ध नहीं होता, कारण कि इसकी सम्पूर्ण गाथाओं का रचनाकाल ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी से पूर्व स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्राचीनतम ऐतिहासिक विक्रमादित्य, मगध का चक्रवर्ती, गुप्त राजवंश में उत्पन्न, चन्द्रगुप्त द्वितीय (३७६-४१४ ई०) था। उनके पिता दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त भी पराक्रमांक और 'श्री विक्रम' विरुद से विश्रुत थे। पूर्व में बंगाल से पश्चिम में काठियावाड़ तक विस्तृत उत्तरी भारत की समस्त भूमि पर चन्द्रगुप्त द्वितीय शासन करता था। इसी ने पश्चिमी भारत के शक राजाओं का उन्मूलन किया और इसी सम्राट् का उल्लेख उज्जयिनी पुरवराधीश्वर तथा पाटलिपुरवराधीश्वर इन दोनों रूपों में धारवाड़ जिले में गुत्तल के गुत्तओं (गुप्तों) के शिलालेखों पर अंकित अनुश्रुतियों में है। मालवा, काठियावाड़ तथा राजपूताना से शकों का उच्छेदन हो चुकने पर उज्जयिनी प्रत्यक्षत: गुप्तवंश के सम्राटों की अप्रधान राजधानी सी हो गई। चन्द्रगुप्त द्वितीय विदेशियों का मूलोच्छेदक एवं आर्यावर्त के विस्तीर्ण साम्राज्य का शासक ही नहीं था, वरन् उसके सम्बन्ध में यह भी विश्रुत है कि उसने नागों के शक्तिशाली राजवंश के साथ तथा बरार के वाकाटकों के साथ और संभवत: कन्नड़ के कदम्बों के साथ विवाह-सम्बन्ध स्थापित करके दक्षिण के पर्याप्त भाग पर अपने राजनैतिक प्रभाव का विस्तार किया था। वैष्णव धर्म के भागवतस्वरूप की एवं परमभागवत उपाधि की, जिसका प्रयुक्त होना ईसवी पाँचवीं शताब्दी से प्रारम्भ हुआ, लोकप्रियता का मूल निस्सन्देह वही था। वह विद्या का महान् संरक्षक भी था। यह प्रसिद्ध है कि पाटलिपुत्र के शाबवीरसेन जैसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि पश्चिम भारत की विजय-यात्राओं में उसके साथ गये थे।

भारतवर्ष के अत्यन्त विस्तीर्ण भूभाग पर आधिपत्य, विदेशियों का उन्मूलन, साहित्य का संरक्षण तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय के अन्य अनेक सम्भाव्य उत्कृष्ट गुणों ने लोक की कल्पना पर अधिकार किया और उसके नाम को इस छोर से उस छोर तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में लोकप्रिय बना दिया। उसके नाम तथा कार्यों को केन्द्र बनाकर प्रत्यक्षत: उसके जीवनकाल में ही आख्यायिकाओं का प्रादुर्भाव होने लगा एवं उसकी मृत्यु के पश्चात् भी अधिक काल तक उनमें असंदिग्ध रूप से वृद्धि ही होती रही। इस प्रकार सम्भव तथा असम्भव कथाएँ प्रचुर संख्या में उसके जीवन से सम्बद्ध करदी गईं। संसार के सभी भागों में बहुधा ऐतिहासिक व्यक्तियों के प्रिय नामों से सम्बद्ध आख्यायिकाओं का प्रादुर्भाव हुआ है और भारतवर्ष का सम्राट् विक्रमादित्य भी भारतवासियों द्वारा प्रधानत: उसकी प्रिय स्मृति के प्रति सदैव अनुभव किए गए हार्दिक सम्मान से उत्पन्न विस्तृत आख्यायिकाओं के प्रभा-मंडल से आलोकित है। साधारण लोकमत प्राचीन काल के सम्राट् विक्रमादित्य को सभी शासकोचित गुणों से युक्त मानता है और उसके चरित्र में वह किसी भी सुन्दर, महान् एवं उदार तत्त्व की स्थिति को स्वीकृत करता है। एक लोकप्रिय कपोलकल्पना द्वारा उसका नाम कृत अथवा मालवगण-संवत् नाम से विश्रुत प्राचीन सिथोपार्थियन गणना के साथ सम्बद्ध कर दिया जाने के परिणामस्वरूप उसकी स्थिति ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में कही जाती है। वह समस्त भारतवर्ष पर शासन करनेवाले सम्राट् के रूप में माना गया है। कहा जाता है कि नवरत्न अथवा तत्कालीन भारतीय कला, साहित्य एवं विज्ञान के प्रतिनिधि नौ महान् साहित्यिक व्यक्तियों को सम्राट् विक्रमादित्य का संरक्षण प्राप्त था। यह भी विश्वास किया जाता है कि महाराज विक्रमादित्य दुष्टों को दण्ड देने तथा गुणीजनों को पुरस्कृत करने में कभी न चूकते थे। असंदिग्ध रूप से कुछ आख्यायिकाओं का आधार, भले ही वह आंशिक हो, ऐतिहासिक तथ्यों पर है, किन्तु यह भी निश्चित है कि उनमें से अनेक काल्पनिक तथा अनैतिहासिक हैं। अशोकावदान में लिपिबद्ध प्रचलित अनुश्रुतियाँ मौर्यवंशी अशोक के जीवन के सम्बन्ध में सदा प्रामाणिक नहीं मानी जातीं। गाहड़वाल जयचन्द्र तथा चन्देल परमार्दिदेव के साथ देहली, अजमेर तथा साँभर के राजा पृथ्वीराज तृतीय के सम्बन्धों के विषय में पृथ्वीराज राइसा तथा आल्हखण्ड में उपन्यस्त प्रचलित अनुश्रुतियों में अधिकांश चौहान, गाहड़वाल तथा चन्देल राजवंशों के समकालीन अधिक विश्वस्त लेखों के प्रमाणों से असमर्थित होने के साथ-साथ निश्चित रूप से उनके प्रतिकूल भी हैं। अत: भारतीय आख्यायिकाओं के विक्रमादित्य से सम्बद्ध सभी अनुश्रुतियों पर, विशेषत: यह देखते हुए कि उनमें से कुछ की पुष्टि विश्वसनीय प्रमाणों से नहीं होती तथा शेष सर्वविदित ऐतिहासिक सत्यों के स्पष्टत: विरुद्ध हैं, असंदिग्ध रूप से विश्वास करना अनुचित है। उदाहरणार्थ, वराहमिहिर विक्रमादित्य की राजसभा के नवरत्नों में से एक उज्ज्वल रत्न था; ज्योतिर्विदाभरण की यह

अनुश्रुति निस्सन्देह अवास्तविक है, क्योंकि इसी सुविश्रुत ज्योतिर्विद् के स्वयं के लेखों और उसकी टीका से इसकी मृत्यु ५८७ ई० में होना, ४७६ ई० में जन्म और आर्यभट्ट का इसका पूर्ववर्ती होना असंदिग्ध रूप से प्रमाणित है। अतः न तो वह विक्रमादित्य के अनुश्रुति-सिद्ध काल ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी में हुआ और न प्रथम ऐतिहासिक विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल ईसवी चतुर्थ-पंचम शताब्दी में हुआ।

इतिहास का निर्णय कुछ भी क्यों न हो, अनुश्रुति के विक्रमादित्य—जिसकी स्मृति में हम आज उत्सव मना रहे हैं—किसी प्रकार भी अस्तित्वहीन व्यक्ति-विषयक निरर्थक कल्पना नहीं हो सकती। वह भारतीय राजत्व का आदर्श है तथा हिन्दू-इतिहास के स्वर्ण-युग का महान् प्रतिनिधि है। वह भारतीय देशभक्तों के कल्पना-जगत् में आज भी यशःशरीर से सर्वोपरि वर्तमान है। उसकी उपाधि अथवा भूमिका ग्रहण करनेवाले उसके पश्चात्वर्ती राजाओं तथा साम्राज्य-संस्थापकों द्वारा एवं विभिन्न युगों में उसका उल्लेख करनेवाले अनेक लेखकों द्वारा भी उसकी स्मृति को अमरत्व प्रदान कर दिया गया है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उत्तराधिकारी गुप्त विक्रमादित्यों, बादामी और कल्याणी के चालुक्यवंशी विक्रमादित्यों, वाण राज-परिवार के विक्रमादित्यों, कलचुरि-वंश का गांगेयदेव विक्रमादित्य तथा गुहिलोत विक्रमाजीत (विक्रमादित्य) इस यशःशालिनी उपाधि को धारण करनेवाले भारतीय राजाओं में से कुछ हैं। राष्ट्रकूट गोविन्द चतुर्थ आदि कुछ मध्यकालीन राजा शौर्य अथवा अन्य राजोचित गुणों में विक्रम से उच्चतर होने की घोषणा करते थे, तथा परमार सिन्धुराज प्रभृति अन्य राजा स्वयं को नवसाहसांक (नवीन-विक्रमादित्य) कहते थे। सिन्धुराज के पुत्र, सरस्वती के आलम्ब भोज और विक्रमादित्य को एक माननेवाली अनुश्रुति भी निरर्थक नहीं है। मध्यकाल के पिछले भाग में दिल्ली के राजसिंहासन पर आधिपत्य जमाने वाले हेमू जैसे व्यक्ति द्वारा एवं बंगाल के अन्तर्गत जैसोर के प्रतापादित्य के पिता द्वारा विक्रमादित्य उपाधि धारण किया जाना सुविश्रुत है। मुगल सम्राट् अकबर का नौरतनों (नवरत्नों) को संरक्षण देकर प्राचीन भारत के सम्राट् विक्रमादित्य से प्रतिस्पर्धा करना भी प्रसिद्ध है। विक्रमादित्य का उल्लेख करनेवाले बहुसंख्यक लेखकों में से परमार्थ, सुबन्धु, ह्वेनत्संग, कथासरित्सागर तथा द्वात्रिंशत् पुत्तलिका के रचयिता, अलबिरूनी, वामन एवं राजशेखर आदि अलंकार-शास्त्र के आचार्य तथा काव्यशास्त्रकार, मेरुतुंग आदि अनेक जैन ग्रंथकार, अमोघवर्ष के संजनदान पत्र तथा गोविन्द चतुर्थ के कैम्बे एवं साँगलीदान पत्र सदृश लेखों के लेखकों आदि के नामों का हम उल्लेख कर सकते हैं। इस प्रकार इस महान् सम्राट् की स्मृति क्रमानुगत उत्तरकालों में भारत के समस्त सत्पुत्रों के कृतज्ञतापूर्ण अनुस्मरण से संवर्धित होती रही।

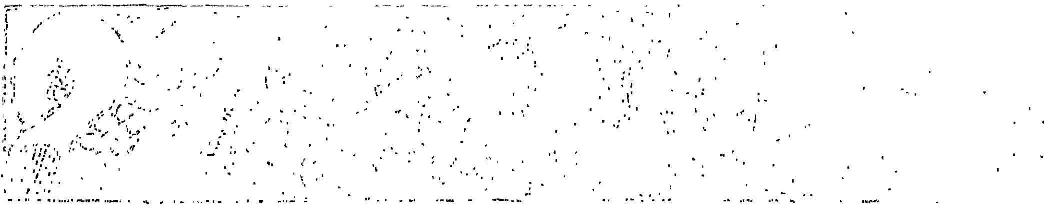
विक्रमादित्य के प्रति प्रेम और आदर उन संयोजक तत्त्वों में से हैं जो सामाजिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण दुर्भाग्यवश विभाजित हुए भारतवर्ष के विभिन्न भाषाभाषी दलों को एक सूत्र में आबद्ध करेंगे। अब विशेषतः वर्तमान लौह-युग के असंख्य उत्पीड़नों से उत्पन्न हमारी वेदना में अपने पुण्य नाम द्वारा शान्ति प्रदान करनेवाले महान् विक्रम की स्वर्ण-पताका के नीचे पारस्परिक सहयोग की भावना के साथ हमें आ जाना चाहिये।

अन्त में हम हृदय से वासवदत्ता के रचयिता सुबन्धु की शोकवाणी को अनुनादित करते हैं:—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसंति चरति नो कंकः।
सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

दीन दुखियों के सुहृद्, भारतीय संस्कृति एवं धर्म के संरक्षक, विद्या के अवलम्ब, विदेशियों के उन्मूलक, महान् विक्रमादित्य के लिए आज पुनः हमारा सामूहिक क्रन्दन स्फुटित होता है:—

"विक्रम! भारत तेरे बिना दैन्य का अनुभव करता है, कहीं तू आज हमारे बीच होता!"



* गीत *

श्री गोपालशरणसिंह

दो सहस्र वर्षों का जीवन !

विक्रम के विक्रम की स्मृतियाँ।
कालिदास की अनुपम कृतियाँ।
भारत की अगणित संस्कृतियाँ।
इन सबका निज हृदय-पटल पर
है कर चुका यथाविधि अंकन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

कितने ही सुख-दुख की बातें।
मधु के दिवस शिशिर की रातें।
प्रमुदित शरद व्यथित बरसातें।
निज स्मृतियों के मञ्जु-हार में
गूँथ चुका है प्रेम-निकेतन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

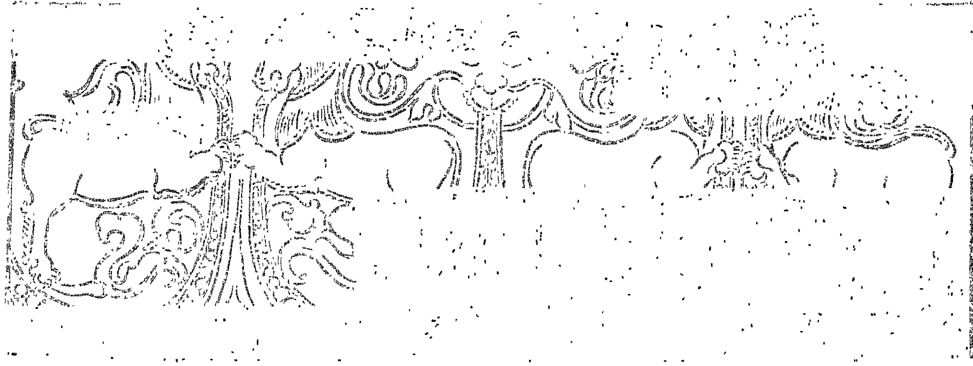
अद्भुत नियति-नटी का नर्तन।
अविरत ज्ञान-जलधि का मन्थन।
जग के कितने ही आन्दोलन।
देख चुका है निज नयनों से
अगणित उथल-पुथल परिवर्तन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

देख चुका अतुलित समृद्धियाँ।
स्वर्ण-रजत से ज्योतित निधियाँ।
बिछी भूमि में रत्नावलियाँ।
अपने सबल बाहुदण्डों से
तोड़ चुका कितने ही बन्धन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

कितने ही संकट भी आये।
रहे घोर घन नभ में छाये।
किन्तु काल-गति रोक न पाये।
है कर चुका न जाने कितनी
विपदाओं का मान-विमर्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

आर्य-सभ्यता का हेमाचल।
बहु आदर्शों का क्रीडास्थल।
विविध मतों का सदन समुज्ज्वल।
अगणित नर-नारी का सम्बल
है असंख्य हृदयों का स्पन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !

ढूँढ रही हैं तरुण पीढ़ियाँ।
आत्मोन्नति की नई सीढ़ियाँ।
टूट रही हैं शिथिल रूढ़ियाँ।
करता है स्वागत नवयुग का
नई भावना का अभिनन्दन
दो सहस्र वर्षों का जीवन !



वैक्रम-अनुश्रुति

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

भारतीय कल्पना को अत्यधिक स्पर्श करने का सौभाग्य जितना विक्रमादित्य को प्राप्त है उतना केवल कतिपय महापुरुषों को ही प्राप्त हो सका है। सुभाषितों में, धार्मिक ग्रन्थों में, कथा-साहित्य में एवं लोक-कथाओं में विक्रम-चरित्र ओतप्रोत है। भावुक एवं वीरपूजक भारतीय हृदयों में शकों के अत्याचार एवं अनाचार से त्राण दिलानेवाले इस महान् वीर की मूर्ति सदा के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से स्थापित हो गई। यही कारण है कि विक्रमीय प्रथम शती से लेकर आज तक विक्रमादित्य विषयक साहित्य की वृद्धि ही होती गई है। संस्कृत से लेकर प्राकृत, अपभ्रंश और वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में विक्रम चरित्र सम्बन्धी सैकड़ों ही ग्रन्थ भरे पड़े हैं।

इस लेख में हम अत्यन्त संक्षेप में विक्रमीय साहित्य की विशाल राशि में से केवल कुछ को ही प्रस्तुत करना चाहते हैं। इनके देखने से यह तो ज्ञात होगा ही कि बहुत प्राचीन समय से ही लोक-मस्तिष्क में विक्रमादित्य की क्या भावना रही है, ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस साहित्य का मूल्य बहुत अधिक है। इनका प्रत्येक विवरण भले ही इतिहास की कसौटी पर खरा न उतरे परन्तु इनका समन्वित रूप, साहित्य की विशिष्ट वर्णन-शैली को हटाकर ऐतिहासिक अन्वेषक के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। उसके द्वारा ज्ञात ऐतिहासिक सामग्री के ढाँचे में रूप-रंग भरा जा सकता है। अत: आगे क्रमश: एक एक विक्रम विषयक ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्यांकन कर उसमें निहित विक्रम विषयक उल्लेख देने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार तुलना एवं परख से विक्रमादित्य की अनुश्रुति-सम्मत मूर्ति की धुंधली रूप-रेखा प्रस्तुत हो सकेगी। इस आशय के लिए यहाँ केवल गाथासप्तशती, कालकाचार्य-कथा, कथासरित्सागर, वेतालपच्चीसी, सिंहासन-बत्तीसी, राजतरंगिणी, प्रबन्ध चिन्तामणि ज्योतिर्विदाभरण तथा भविष्य-पुराण को ही लिया गया है; क्योंकि विक्रम-विषयक सम्पूर्ण साहित्य का इस प्रकार विवेचन करना तो एक महान् ग्रन्थ का विषय है तथा बहुत ही कष्ट-साध्य कार्य है—यद्यपि वह किए जाने योग्य अवश्य है। वैसे तो इन ग्रन्थों के विषय में कालक्रम के अनुसार लिखना उचित होगा परन्तु उससे हमारे कथा-प्रवाह में भंग होगा। अत: आगे हम उनको उसी क्रम से लेंगे जिससे कथा-प्रवाह बना रहे।

कालकाचार्य-कथा—कालकाचार्य नामक चार जैनाचार्य हो गए हैं। पहले श्यामार्य नाम कालकाचार्य, जिनका समय वीर-निर्वाण-संवत् ३३५ के लगभग है, दूसरे गर्दभिल्ल राजा से साध्वी सरस्वती को छुड़ानेवाले, जिनका अस्तित्व-

काल वीर-निर्वाण-संवत् ४५३ के आसपास है तथा चौथे कालक का समय वीर-संवत् ९९३ है।* इनमें से दूसरे आचार्य कालक का सम्बन्ध विक्रमी-घटना से है।

कालकाचार्य-कथा जो आज प्राप्त होती है उसमें इन चारों की कथाएँ सम्मिलित कर दी गई हैं, इनमें से हमारे लिए तो गर्दभिल्ल के राज्य का उन्मूलन करनेवाले कालकाचार्य की कथा ही उपयोगी है। इस कथा में गर्दभिल्ल की शकों द्वारा पराजय एवं गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा शकों की पराजय का उल्लेख है। मेरुतुंगाचार्य रचित पट्टावली में पिछली घटना का समय वीर-निर्वाण-संवत् ४७० (अर्थात् ५० ई० पू० अर्थात् विक्रम-संवत् की प्रारम्भ तिथि के ७ वर्ष पूर्व) बतलाया है। प्रबन्ध-कोष में भी संवत् प्रवर्त्तन की यही तिथि बतलाई है। धनेश्वर सूरि रचित शत्रुंजय महात्म्य में विक्रमादित्य के प्रादुर्भाव का समय वीर-संवत् ४६६ बतलाया है। इस प्रकार सम्पूर्ण जैन अनुश्रुति इस तिथि तथा घटना का समर्थन करती है। इधर पुराणों में भी गर्दभिन् वंश का राज्य-काल यही ईसवी पूर्व-प्रथम शताब्दी बतलाया गया है।

सप्तगर्दभिला भूयो भोक्ष्यन्तीमां वसुन्धराम्।†
शतानि त्रीण अशीतिञ्च शका ह्यष्टा दशैव तु॥—मत्स्यपुराण

इस कथा में प्रधान घटना शकों के मालव आक्रमण की है। प्रश्न यह है कि क्या कोई शक-आक्रमण प्रथम शती ईसवी में मालव पर हुआ था? इसका उत्तर 'खरोष्ट्री इन्सक्रिपशन्स' की भूमिका में स्तीन कोनो ने दिया है। इसमें इस विद्वान् ने भारतवर्ष के बाहर तथा भारत में प्राप्त सामग्री के आधार पर शकों का इतिहास प्रस्तुत किया है। वह लिखता है, 'भारतवर्ष के प्रथम शक-साम्राज्य के इतिहास का पुनर्निर्माण इस प्रकार किया जा सकता है: ई० पू० ८८ में मिथ्राडेटस द्वितीय की मृत्यु के थोड़े समय पश्चात् ही शीस्तान के शकों ने अपने आपको पर्थिया से स्वतन्त्र कर लिया और उस विजय-यात्रा का प्रारम्भ कर दिया जिसने उन्हें सिन्धु-नद के देश तक पहुँचा दिया। ....बाद को ई० पू० ६० के लगभग शकों ने अपना साम्राज्य उस प्रदेश तक बढ़ा लिया था जिसे कालकाचार्य-कथानक में हिन्दुक देश कहा गया है (सिन्धु-नद का निचला प्रदेश) और उसके पश्चात् वे काठियावाड़ और मालवे की ओर बढ़े, जहाँ उन्होंने सम्भवतः अपना राष्ट्रीय संवत्सर चलाया। यहाँ सन् ५७-५६ ई० पू० में विक्रमादित्य ने उनका उन्मूलन किया और अपनी इस विजय के उपलक्ष में अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया, जो हमें उसके प्रायः ७० वर्ष पश्चात् मथुरा में प्रयुक्त मिलता है।‡

कालकाचार्य-कथा की ऐतिहासिकता का यह विद्वान् बड़े उत्साह एवं दृढ़ता के साथ समर्थन करता है। वह लिखता है—"मुझे तो इसका थोड़ासा भी कारण नहीं दिखता कि अन्य लोगों के समान मैं इस कथा को असत्य मान लूं।§" स्तीन कोनो ही नहीं रॅप्सन ने कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया भाग १ पृष्ठ ५३२ पर इस कथा की घटनाओं के विश्वसनीय होने के विषय में लिखा है। श्री नारमन ब्राउन भी अपने कालकाचार्य-कथानक की भूमिका में इसकी घटनाओं की ऐतिहासिकता को स्वीकार करते हैं।

कालकाचार्य-कथा के वर्तमान पाठों के विषय में श्री नारमन ब्राउन ने लिखा है कि सभी ज्ञात पाठों को एक ही मूल स्रोत से प्रवाहित मान लेना असम्भव है। यह स्रोत न तो इन पाठों में से कोई एक है और न कोई अप्राप्त पाठ। सम्भव है कि कालक नाम के साथ बहुत समय तक बहुतसी जनश्रुतियाँ सम्बद्ध रही हों जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रचलित थीं। यह जब मौखिक रूप में थीं तब जैन साधु इसे विस्तृत अथवा संक्षिप्त रूप में अपने शब्दों में सुनाते रहे। और जब यह कथा लिपिबद्ध की गई तो वह इसी मौखिक स्रोत से लिखी गई।¶ आगे इस कालक-कथा के केवल सम्बद्ध भाग का संक्षिप्त रूप दिया जाता है।

---

* द्विवेदी अभिनन्दन-ग्रंथ, पृष्ठ ९५-९६।

† Pagiter, *The Purana Text of the Dynasties of the Kali Age*, pp. 45, 46, 72,

‡ पृष्ठ ३६।

§ पृष्ठ २७।

¶ *The Story of Kalaka;* Norman Brown; page 3.

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

इस संसार के जम्बू द्वीप के भारत देश में धारावास नामक एक नगर था। उसमें वज्रसिंह नामक प्रतापी राजा रहता था। सुरसुन्दरी नामक उसकी रानी थी। इस रानी से कालक नामक उसके एक पुत्र हुआ। इस कालक की एक बार गुणाकर नामक (जैन) आचार्य से भेंट हुई। उनके उपदेश से यह बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उनका शिष्य हो गया। कालक को विद्वान् एवं साधना में सम्पन्न देख गुणाकर ने उसे सूरि पद दिया।

कालकाचार्य अपने शिष्यों सहित उज्जयिनी नगरी में आए और वहाँ रहने लगे। उज्जयिनी नगरी में गर्दभिल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसने एक दिन अत्यन्त रूपवती कालक की छोटी बहिन साध्वी सरस्वती को देखा और उसके रूप पर मुग्ध होकर उसे अवरुद्ध करके अपने अन्तःपुर में डाल दिया। कालक सूरि ने राजा को बहुत समझाया परन्तु कामान्ध राजा ने एक न मानी। सूरि ने जैन-संघ द्वारा भी राजा को समझवाया परन्तु राजा ने जैन संघ की बात भी न मानी। क्रुद्ध होकर कालक ने प्रतिज्ञा की कि यदि गर्दभिल्ल का उन्मूलन न करूँ तो प्रवंचक, संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ।

सूरि ने विचार किया कि गर्दभिल्ल का बल उसकी 'गर्दभी' विद्या है। अतः उसका उन्मूलन युक्ति से ही करना होगा। उन्होंने उन्मत्त का वेष बना लिया। वे प्रलाप करने लगे "यदि गर्दभिल्ल राजा है तो क्या? यह अन्तःपुर रम्य है तो क्या? यदि देश मनोहर है तो क्या? यदि लोग अच्छे वस्त्र पहिने हैं तो क्या? यदि मैं भिक्षा माँगता हूँ तो क्या? यदि मैं शून्य देवल में सोता हूँ तो क्या?" इस प्रकार इनका हाल देखकर पुर के लोग कहने लगे 'हाय, राजा ने अच्छा नहीं किया।' राजा की यह निन्दा सुनकर मंत्रियों ने भी उसे साध्वी को छोड़ देने की सलाह दी, परन्तु राजा ने एक न मानी।

सूरि ने वह नगर छोड़ दिया और वह चलते-चलते शककुल नामक (सिन्धुनद के) कूल पर पहुँचे। वहाँ के सामन्त साहि कहलाते थे और उनका नरेन्द्र 'साहानुसाहि' कहलाता था। वहाँ एक 'साहि' के समीप सूरि रहने लगे, जिसे उन्होंने अपने मंत्र-तंत्र से प्रसन्न कर लिया था।

जब सूरि साहि के साथ आनन्द से रह रहे थे उसी समय एक दूत आया जिसने साहि को साहानुसाहि की भेजी हुई एक कटारी दी और उसको यह सन्देश दिया कि उससे साहि अपना गला काटले। साहि को भयभीत देखकर कालक ने पूछा कि साहानुसाहि केवल उसी से अप्रसन्न हैं अथवा और किसी से भी। ज्ञात यह हुआ कि इसी प्रकार ९५ अन्य साहियों को आदेश दिया गया है। कालक की सलाह से यह ९६ साहि इकट्ठे हुए और उन्होंने 'हिन्दुक देश' को प्रयाण किया।

वे समुद्र मार्ग से सुराष्ट्र (सूरत या सौराष्ट्र) आए। उस देश को ९६ भागों में बाँटकर वे सब वहाँ राज्य करने लगे।

वर्षाऋतु बीतने पर कालकसूरि ने गर्दभिल्ल से बदला लेने के विचार से साहियों को उत्तेजित किया और कहा कि इस प्रकार निरुद्यम क्यों बैठे हो, उज्जयिनी नगरी को हस्तगत करो क्योंकि वह 'वैभवशालिनी मालव भूमि की कुञ्जी है।"

उन्होंने कहा कि हम ऐसा करने को तैयार हैं परन्तु हमारे पास धन नहीं है। कालक सूरि ने ईंटों के एक भट्टे को सोने का बना दिया। उसे लेकर साहियों ने उज्जयिनी पर आक्रमण किया। लाट देश के राजा ने भी उनका साथ दिया। दोनों ओर की सेनाओं में भयंकर युद्ध हुआ। गर्दभिल्ल की सेना के पैर उखड़ गए। गर्दभिल्ल ने नगर के भीतर शरण ली। नगर घेर लिया गया।।

गर्दभिल्ल ने गर्दभी विद्या सिद्ध की। गर्दभिल्ल उसे प्रत्यक्ष करने लगा। प्रत्यक्ष होने पर वह बड़ा भयंकर शब्द करती जिसे सुनकर शत्रु-सेना का कोई भी मनुष्य अथवा पशु भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करता हुआ अचेत पृथ्वी पर गिर पड़ता। कालक सूरि यह रहस्य जानते थे। उन्होंने सब सेना को पीछे हटा दिया और अपने साथ केवल १०८ तीरन्दाज रख लिए। उन्हें सूरि ने समझा दिया कि जैसे ही गर्दभी शब्द करने को मुहँ खोले वे तीर चलाकर उसका मुहँ भरदें। इस प्रकार गर्दभी विद्या निष्फल हुई, गर्दभिल्ल* हारकर पकड़ा गया और सूरि के सामने लाया गया। अपमानित गर्दभिल्ल निर्वासित कर दिया गया।

---

* अभी अनेक विद्वानों ने एक नवीन चर्चा प्रारम्भ की है। मालवे में सोनकछ के पास गन्धावल नामक स्थान है। वहाँ एक गन्धर्वसेन का मन्दिर खोज निकाला गया है। गन्धावल के विषय में यह भी लिखा है कि

जिस साहि के साथ कालक सूरि रहे थे वह सब साहियों का मुखिया बना और वे उज्जयिनी में रहने लगे। वे शक-कुल से आए थे, अतः शक कहलाते थे और इस प्रकार 'शक-वंश' चला।

कुछ समय बाद विक्रमादित्य हुआ जिसने शक-वंश का नाश किया और मालवे का राजा बना। वह पृथ्वी पर एक ही वीर था, जिसने अपने विक्रम से अनेक नरेन्द्रों को दबाया और अपने कार्यों से सुन्दर कीर्ति का संचय किया, जिसने अपने साहस से कुबेर की आराधना की और उनसे वरदान प्राप्त कर शत्रु तथा मित्र सभी को अगणित दान दिए, जिसने अपार धनराशि देकर सबको ऋण-मुक्त करके अपने संवत्सर का प्रवर्त्तन किया।*

कुछ समय पश्चात् एक शक राजा हुआ, जिसने विक्रमादित्य के वंशजों का भी उन्मूलन किया और विक्रम-संवत् के १३५ वर्ष पश्चात् उसने अपना शक-संवत् चलाया।

इस कथा के पढ़ने पर तथा ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों से इसे मिलाने पर यह स्पष्ट होता है कि इसमें बहुत कुछ उस समय का इतिहास सच्चे रूप में ही सन्निहित है। यह जैन सम्प्रदाय की धार्मिक कथा है, अतः कालकाचार्य के व्यक्तित्व में अलौकिकता का जुड़ जाना तो सम्भव है परन्तु उसमें इतिहास की घटनाओं को बिगाड़कर लिखने की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। दूसरे, जैन सम्प्रदाय में धार्मिक साहित्य को अपरिवर्तित रूप में सुरक्षित रखने की प्रवृत्ति बहुत अधिक है। अतः भले ही यह कथा प्रारम्भ में मौखिक रूप में प्रचलित थी, फिर भी उसमें अधिक परिवर्तन की प्रवृत्ति न रही होगी। यद्यपि स्मृति-दोष तथा संक्षेप एवं विस्तार की इच्छा ने अच्छा प्रभाव नहीं डाला होगा।

कथासरित्सागर—सोमदेवभट्ट-कृत कथासरित्सागर यद्यपि विक्रमी बारहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में लिखी गई है, परन्तु अनेक कारणों से उसका ऐतिहासिक महत्व बहुत अधिक है। यह कथा गुणाढच-रचित पैशाची प्राकृत में लिखी गई बृहत्कथा को आधार मानकर रची गई है। स्वयं सोमदेव ने लिखा है 'बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम्।'

बृहत्कथा का लेखक गुणाढच सातवाहन हाल का समकालीन था। अतः कथासरित्सागर विक्रमादित्य के प्रायः एक शताब्दी पश्चात् ही लिखे गए ग्रन्थ के आधार पर होने के कारण उसका विक्रमादित्य का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

कथासरित्सागर में विक्रमादित्य का नाम चार स्थान पर आया है।

पहले तो छठे लम्बक की प्रथम तरंग में उज्जैन के राजा विक्रमसिंह का उल्लेख है। इसमें केवल विक्रमसिंह की बुद्धि एवं उदारता सम्बन्धी कथा है। राजा शिकार खेलने निकलता है उसने मार्ग के एक मन्दिर में दो आदमियों को बात करते पाया। लौटने पर फिर वे वहीं मिले। उसे सन्देह हुआ। बुलाकर उसने उनका हाल पूछा। उनके सत्य कहने पर उसने उन्हें आश्रय दिया।

वहाँ जैनमतावलम्बियों का प्रभुत्व है। ऐसे स्थान पर जैन-धर्म विरोधी गर्दभिल्ल का मन्दिर क्योंकर हो सकता है, यह सोचने की बात है। इसके विषय में एक विद्वान् ने यह अनुमान किया है कि गर्दभिल्ल का अपमान करने के लिए ही उसकी यह गर्दभमुखी प्रतिमा बनाई गई है। परन्तु अपमान करने के लिए मन्दिर बनाने की अभिनव कल्पना से हम सहमत नहीं हो सकते। फिर यह प्रतिमा अत्यन्त अर्वाचीन भी है। इसके लिए उक्त विद्वान् (श्री० कवचाले) ने यह लिखा है कि यह किसी प्राचीन प्रतिमा की प्रतिकृति है। बात यह ज्ञात होती है कि यह वराह-प्रतिमा है। मध्यकाल की वराहावतार की मूर्तियाँ अनेक ग्रामों में पाई जाती हैं। वराह-पूजन की प्रथा कम होने पर वराह मूर्तियों के नाम भी विभिन्न हो गए। एक ग्राम में हमने लोगों को उसे दाने की मूर्ति भी कहते सुना। ज्ञात यह होता है कि गन्धावल के जैनी उस वैष्णव सम्प्रदाय के मन्दिर को गन्धर्वसेन का मन्दिर कह उठे और वराह के मुख को गर्दभ के मुख की कल्पना कर उठे। यह भी कोई आश्चर्य नहीं कि यह फूहड़ रीति से गढ़ी हुई मूर्ति वराह की शास्त्रोक्त मूर्तियों से भिन्न हो।

अभी डॉ० अनन्त सदाशिव अल्तेकर ने कालक-कथा के विक्रमादित्य सम्बन्धी श्लोकों को प्रक्षिप्त अनुमानित किया है। परन्तु इस अनुश्रुति का प्रतिपादन अन्य सभी जैन ग्रन्थों द्वारा होता है अतः उसे अकारण ही प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है।

उसके पश्चात् लम्बक ७ की तरंग ४ में पाटलिपुत्र के विक्रमादित्य का उल्लेख है। "विक्रमादित्य इत्यासीद्राजा पाटलिपुत्रके।" यह कथा भी उज्जयिनीपति विक्रमादित्य से सम्बन्धित न होकर पाटलिपुत्र-पुरवराधीश से सम्बन्धित है। यह विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि इससे ज्ञात होता है कि सोमदेव के सामने उज्जयिनीनाथ विक्रमादित्य के अतिरिक्त भी एक विक्रमादित्य थे। यह पाटलिपुत्र के राजा विक्रमादित्य निश्चय ही ५७ ई० पू० के संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य से भिन्न थे।

आगे बारहवें लम्बक में उज्जैन के विक्रम केशरी का उल्लेख है। उसमें प्रतिष्ठान देश के राजा विक्रमसेन के पुत्र त्रिविक्रम के साथ विक्रम कथा में प्रसिद्ध वाचाल वेताल तथा उनके 'अपराजिता' नामक खड्ग को सम्बद्ध कर दिया है। इस बारहवें लम्बक में प्रख्यात 'वेताल पंचविंशतिका' सम्मिलित है। यह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में एवं विभिन्न पाठों में मिली है। उसका वर्णन आगे किया गया है।

वास्तव में जिसे विक्रमादित्य का विस्तृत उल्लेख कहा जा सकता है वह तो अठारहवें लम्बक में है। (यही कथा क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथा-मंजरी के दसवें लम्बक में है) इस लम्बक में पाँच तरंग हैं। इनमें प्रधान पहली तरंग है, जिसमें विक्रमादित्य का जन्म, गुण शील आदि का वर्णन किया गया है। उसका संक्षिप्त रूप नीचे दिया जाता है :—

अवन्ति देश में विश्वकर्मा द्वारा बनाई हुई अत्यन्त प्राचीन नगरी उज्जयिनी है जो पुरारि शंकर का निवास-स्थान है।

वहाँ पर महेन्द्रादित्य* नामक राजा राज्य करता था जो अत्यन्त बली, शूर तथा सुन्दर था। उसकी सौम्यदर्शना नामक अत्यन्त रूपवती रानी थी और सुमति नामक मंत्री था। उसके प्रतीहार का नाम वज्रायुध था। परन्तु उसके कोई सन्तान नहीं थी। पुत्र-प्राप्ति के लिए राजा अनेक व्रत, तप आदि कर रहा था।

उसी समय एक दिन जब शिवजी कैलाशपर्वत पर पार्वती सहित विश्राम कर रहे थे, उनके पास इन्द्र पहुँचे और निवेदन किया कि महीतल पर असुर म्लेच्छों के रूप में अवतरित हो गए हैं। वे यज्ञादि क्रियाओं में विघ्न डाल रहे हैं, मुनि कन्याओं का अपहरण कर लेते हैं और अन्य अनेक पापाचार करते हैं। षट्वकार आदि क्रिया न होने से देवों को हवि प्राप्त नहीं होता। इनके नाश का कोई उपाय बतलाइए।† भगवान् शंकर ने कहा कि आप अपने स्थान को जायँ, मैं इसका उपाय कर दूंगा। उनके चले जाने पर भगवान् शंकर ने माल्यवान् गण को बुलाकर कहा कि उज्जयिनी महानगरी के राजा महेन्द्रादित्य के घर में तुम जन्म लो और देवताओं का कार्य करो। वहाँ यक्ष-राक्षस वेताल को अपने वश में करके म्लेच्छों का उन्मूलन करो और मानवों के भोग भोगकर पुनः लौट आओ। माल्यवान् ‡ ने उज्जयिनी में महेन्द्रादित्य की रानी के गर्भ में प्रवेश किया।

भगवान् शंकर ने महेन्द्रादित्य को स्वप्न में दर्शन देकर कहा कि 'मैं तुम पर प्रसन्न हूँ, तुम्हारे ऐसा पुत्र होगा जो द्वीपों सहित इस पृथ्वी पर विक्रमण करेगा, यक्ष-राक्षस-पिशाचादि को वश में करेगा और म्लेच्छ संघ को विनष्ट करेगा। इस कारण उसका नाम 'विक्रमादित्य' होगा और रिपुओं से वैर रखने के कारण वह 'विषमशील' भी कहलायगा। प्रातःकाल जब राजा मंत्रियों को यह स्वप्न सुना रहे थे उसी समय अन्तःपुर की एक चेटी ने एक फल लाकर दिया और कहा कि रानी को स्वप्न में यह फल मिला है। राजा को विश्वास हुआ कि उसे पुत्र प्राप्त होगा।

---

* यदि यह 'महेन्द्रादित्य' गुप्तवंशीय कुमारगुप्त को मानें तो यह कथा 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' से सम्बन्धित मानी जायगी। कुमारगुप्त के सिक्कों पर "परम भागवत महाराजाधिराज श्री कुमारगुप्त महेन्द्रादित्यः" लिखा मिलता है। अतः स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के पिता का विरुद "महेन्द्रादित्य" था यह माना जा सकता है। परन्तु इस कथा का विक्रमादित्य पाटलिपुरवराधीश से भिन्न है, अतः यह नाम-साम्य केवल आकस्मिक ज्ञात होता है।

† म्लेच्छों के इस अत्याचार के वर्णन की तुलना शकों के उस अत्याचार के वर्णन से की जा सकती है जो गर्ग-संहिता के एक अध्याय 'युग-पुराण' में दिया गया है।

‡ यहाँ व्यञ्जना से मालवजाति और गणतन्त्र का अर्थ लिया जा सकता है।

रानी का गर्भ अत्यन्त तेजस्वी था और समय पाकर महेन्द्रादित्य के बालार्क के समान पुत्र उत्पन्न हुआ और उसका नाम विक्रमादित्य तथा विषमशील रखा गया। इसके साथ ही मंत्री सुमति और वज्रायुध के घर पुत्र उत्पन्न हुए और उनके नाम क्रमशः महामति तथा भद्रायुध रखे गए। बाल विक्रमादित्य इनके साथ क्रीड़ा करने लगे और उनका तेज, बल और वीर्य दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। समय पर उनका यज्ञोपवीत एवं विवाह हुआ। अपने पुत्र को युवा एवं प्राज्य-विक्रम जानकर राजा ने उसका विधिवत् अभिषेक किया और स्वयं काशी में रहकर शिव की आराधना करने चला गया।

फिर अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में सोमदेव ने विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम एवं प्रजापरायणता का वर्णन किया है :–

सोऽपि तद्विक्रमादित्यो राज्यमासाद्य पैतृकम्। नभो भास्वानिवारेभे राजा प्रतपितुं क्रमात्॥६१॥
दृष्ट्वैव तेन कोदण्डे नमत्यारोपितं गुणम्। तच्छिक्षयेवोच्छिरसोऽप्यानमत् सर्वतो नृपाः॥६२॥
दिव्यानुभावो वेतालराक्षसप्रभृतीनपि। साधयित्वानुशास्ति स्म सम्यगुन्मार्गवर्तिनः॥६३॥
प्रसाधयन्त्यः ककुभः सेनास्तस्य महीतले। निश्वेसर्विक्रमादित्यस्यादित्यस्येव रश्मयः॥६४॥
महावीरोप्यऽभूद्राजा स भीरुः परलोकतः। शूरोऽपि चाचण्डकरः कुभर्ताप्यंगनाप्रियः॥६५॥
स पिता पितृहीनानामबन्धूनां स बान्धवः। अनाथानां च नाथः सःप्रजानां कःस नाभवत्॥६६॥

(वह विक्रमादित्य भी पैतृक राज्य को पाकर पृथ्वी पर अपने प्रताप को इस प्रकार फैलाने लगा जैसे आकाश में सूर्य अपने प्रताप को फैलाता है। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ाते हुए उस राजा को देखकर बड़े बड़े अभिमानी राजा नतमस्तक हो जाते थे। दिव्यानुभाववाला वह राजा उन्मार्गवर्ती वेताल राक्षस आदि की साधना करके उन पर शासन करता था। पृथ्वी पर विक्रमादित्य की सेना सम्पूर्ण दिशाओं में इस प्रकार व्याप्त हो गई थी जैसे सूर्य की किरणें। अत्यन्त वीर्यवान् होते हुए भी वह राजा परलोक से डरनेवाला था–शूरवीर होते हुए भी वह अचण्डकर था और कुभर्ता (पृथ्वीपति) होते हुए भी स्त्री-प्रिय था। वह पितृहीनों का पिता था, बन्धुहीनों का बन्धु था, अनाथों का नाथ था एवं प्रजाजनों का सर्वस्व था।)

एक बार जब विक्रमादित्य अपनी सभा में बैठे थे तो दिग्विजय को निकले हुए उनके सेनापति 'विक्रमशक्ति' का दूत उन्हें मिला। उसने कहा :—

"सापरान्तश्च देवेन निर्जितो दक्षिणापथः। मध्यदेशः ससौराष्ट्रः सवंगांगा च पूर्वदिक्॥७६॥
सकश्मीरा च कौबेरी काष्ठा च करदीकृता। तानि तान्यपि दुर्गाणि द्वीपानि विजितानि च॥७७॥
म्लेच्छसंघाश्च निहताः शेषाश्च स्थापिता वशे। ते ते विक्रमशक्तेश्च प्रविष्टाः कटके नृपाः॥७८॥
सच विक्रमशक्तिस्तै राजभिः सममागतः। इतः प्रयाणकेष्वास्ते द्वित्रेष्वेव खलु प्रभो॥७९॥

(आपके द्वारा अन्य देशों सहित दक्षिणापथ, सौराष्ट्र सहित मध्यदेश और बंग एवं अंग सहित पूर्व दिशा जीत ली गई है। कश्मीर सहित कौबेरी काष्ठा को करद बना लिया गया है, अन्य दुर्ग और द्वीप भी जीत लिए गए हैं। म्लेच्छ संघों को नष्ट कर दिया गया है, और शेष को वशवर्ती कर लिया है और वे सब राजा विक्रमशक्ति की सेना में भरती हो गए हैं। वह विक्रम शक्ति उन राजाओं के साथ आ रहे हैं।)

इस प्रकार सोमदेव ने विक्रमादित्य के राज्य विस्तार का भी वर्णन कर दिया है। इस समाचार को सुन विक्रमादित्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कहा कि यात्रा में जो जो घटनाएँ हुई हों वह सुनाओ।

इस प्रकार विक्रमादित्य सम्बन्धी अनेक कथाएँ दी गई हैं। उनका ऐतिहासिक महत्त्व अधिक नहीं है। जनश्रुति में प्रसिद्ध अग्निवेताल इनमें भी आया है। समुद्रपार मलयद्वीप की राजकुमारी से विवाह का उल्लेख बृहत्तर भारत का चिह्न है। लोक-कथाओं के राजा सिंहल की पद्मिनियों से सदा विवाह करते रहे हैं। अन्य स्त्रियों के अतिरिक्त सिंहल की राजकुमारी मदनलेखा से भी विक्रम का विवाह होना लिखा है। परन्तु क्या वर्तमान सीलोन यह सिंहल हो सकता है? वहाँ की वर्त्तमान "पद्मिनियों"(!) को देखते हुए तो इसमें सन्देह है।

अन्त में सोमदेव ने लिखा है कि इस प्रकार आश्चर्यों को सुनता हुआ, देखता हुआ और करता हुआ वह भूपति विक्रमादित्य द्वीपों सहित पृथ्वी को जीतकर राज्य करने लगा।

इत्याश्चार्याणि श्रृण्वन्सः पश्यन्कुर्वंश्च भूपतिः।
विजित्य विक्रमादित्यः सद्वीपां बुभुजे महीम्॥

जैन अनुश्रुति का गर्दभिल्ल इस कथा में नहीं है। उसके स्थान पर विक्रम के माता पिता भाई बन्धु आदि के नाम भी विभिन्न हैं। परन्तु भविष्यपुराण, वेतालपंचविंशतिका एवं कथासरित्सागर के नाम प्रायः मिलते हैं। इसमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों की ओर भी संकेत है। मालवगण, शकों का अत्याचार आदि के संकेत बिखरे हुए मिलते हैं, भले ही शिवजी के गण माल्यवान को मालवगण मानने में एवं म्लेच्छों को 'शक' मानने में अनुमान एवं कल्पना का सहारा अधिक लेना पड़े।

वेतालपंचविंशतिका—पीछे कथासरित्सागर के प्रसंग में लिखा है कि 'वेतालपंचविंशतिका' मूल में क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' तथा सोमदेव के 'कथासरित्सागर' का अंश है। यह अपनी मूल पुस्तक से पृथक् होकर कब, कैसे और किसके द्वारा स्वतंत्र कथा के रूप में जनमनरंजन करने लगी है, यह ज्ञात नहीं है। परन्तु इस मनोरंजक ग्रन्थ के विविध पाठों की तुलना करने से एक बात अवश्य ज्ञात होती है कि क्रमशः लोककल्पना ने इसके त्रिविक्रम राजा को विक्रमादित्य में परिवर्त्तित कर दिया और विक्रम-परिवार का विवरण भी कथा में जोड़ दिया। इस ग्रन्थ के अनेक पाठों में कथासरित्सागर और सिंहासनद्वित्रिंशिका की कथाएँ मिश्रित पाई जाती हैं।

जम्भलदत्त विरचित वेतालपंचविंशतिका का प्रारम्भ 'विक्रम केशरी' नाम से किया गया है:—

"इह हि महिमण्डले नरपतितिलको नाम विविधमणिकुण्डलमण्डितगण्डस्थलो नानालंकारविभूषितसर्व शरीरो...... ......पुरन्दर इव सर्वांगसुन्दरो राजचक्रवर्त्ती श्रीमान् विक्रमकेशरी बभूव॥"*

परन्तु आगे जम्भलदत्त ने 'विक्रमादित्य' संज्ञा का उल्लेख किया है:—

"विक्रमादित्योऽपि भ्रमति एक शाखायाम् धृतवान्।"
"त्वम् इतो महासत्त्वमहाराजश्रीविक्रमादित्यस्य राजधानीम् गत्वा॥"†

परन्तु सूरतकवि ने जयपुराधीश सवाई महाराज जयसिंह के आदेश पर जिस संस्कृत पाठ का हिन्दी भाषान्तर किया है उसमें तो पुराण, सिंहासनद्वित्रिंशिका तथा अन्य प्रचलित कथाओं का सम्मिश्रण है। उसके प्रारम्भिक भाग में विक्रमादित्य के माता, पिता, परिवार आदि का विस्तृत उल्लेख है।

उसके अनुसार गन्धर्वसेन धारा* नगर का राजा था। उसके चार रानियाँ थीं। उनसे छह बेटे थे। गन्धर्वसेन की मृत्यु के पश्चात् बड़ा राजकुमार 'शंख' गद्दी पर बैठा। शंख को मार कर उसका छोटा भाई विक्रम गद्दी पर बैठा। विक्रम बहुत प्रतापी था। वह धीरे धीरे सम्पूर्ण जम्बू द्वीप का राजा बन गया और उसने अपना संवत् चलाया। देशाटन के लिए उत्सुक होने के कारण उसने अपना राजपाट अपने छोटे भाई भर्तृहरि को सौंप दिया और स्वयं यात्रा को चला गया।

इसके पश्चात् भर्तृहरि और उसकी रानी की प्रसिद्ध अमृत-फल की कथा दी हुई है। (यह कथा सिंहासन द्वात्रिंशिका में भी है और आगे उक्त प्रकरण में दी गई है।) भर्तृहरि के वैराग्य के कारण सिंहासन रिक्त हो गया। यह सुन विक्रम अपने देश को लौटा और यहाँ उसकी उस योगी से भेंट हुई जिसने उसे वेताल के पास भेजा। इस प्रारम्भिक कथा के पश्चात् वेताल की कहानियाँ प्रारम्भ होती हैं।

जम्भलदत्त की वेतालपंचविंशतिका की मूलकथा यह है कि विक्रमादित्य के पास एक योगी आया और उसने राजा को प्रसन्न कर उससे यह याचना की कि वह उसे एक अनुष्ठान में सहायता करे। वास्तव में यह योगी राजा विक्रम से द्वेष

---

* वेताल पंचविंशति— M. B. Cineneau द्वारा सम्पादित पृष्ठ, १२।

† वही—पृष्ठ १५०।

रखता था तथा उसकी बलि देना चाहता था। उदारता एवं सरलतावश राजा ने यह स्वीकार कर लिया। योगी ने रात को राजा को श्मशान में बुलाया और दूर वृक्ष के नीचे लटकते हुए एक शव को लाने को कहा। अत्यन्त भयंकर वातावरण में लटकते हुए शव को राजा उठाने लगा तो वह शव उचककर उस वृक्ष की ऊपर की डाल से लटक गया। राजा ने बड़ी कठिनाई से उसे पकड़ लिया और उसे लाद ले चला। उस शव में एक वेताल घुस गया था। वह राजा के साहस से प्रसन्न था। उसने एक एक कर राजा को पच्चीस कथाएँ सुनाईं। अन्त में इस वेताल की सहायता से राजा ने उस योगी को ही मार डाला।

यह कथा सिंहासनद्वात्रिंशिका में भी है। इस प्रकार हम देखते हैं कि कथासरित्सागर के विक्रम केशरी और वेताल की कथा क्रमशः विक्रमोन्मुखी होती गई। और इससे यह भी ज्ञात होता है कि विक्रम-कथा ने लोक-मस्तिष्क पर तथा कथा-साहित्य पर अपना प्रभाव पूर्णतः स्थापित कर लिया था।

विक्रम और वेताल की जोड़ी लोक कथा एवं अनुश्रुति में दृढ़ करने में वेतालपंचविंशतिका ने अधिक सहायता की है। विक्रम के नवरत्नों के वेतालभट्ट और अनेक कथाओं के अग्निवेताल तथा इस वाचाल वेताल में क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न का समाधान कर सकना हमारे लिए सम्भव नहीं है।

सिंहासन-द्वात्रिंशिका—विक्रम-साहित्य में विक्रम-चरित् या सिंहासन-द्वात्रिंशिका का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह सम्पूर्ण भारतवर्ष में प्रचलित रही है। इसकी कथाएँ भारत के सभी प्रान्तों में एवं सभी भाषाओं में प्रचलित हैं। यह ग्रन्थ वास्तव में विक्रमादित्य के प्रायः एक सहस्र वर्ष पश्चात् राजा भोज के विक्रमत्व का प्रतिपादन करने के लिए लिखा गया है और उससे यह प्रकट होता है कि विक्रमादित्य के आविर्भाव के लगभग एक सहस्र वर्ष बाद जनता के विक्रमादित्य का क्या रूप था।

कथा-साहित्य जहाँ जनमत का अत्यन्त सुन्दर दर्पण है वहाँ इतिहास के लिए उसका उपयोग अत्यन्त सावधानी से करने की आवश्यकता है। जो बात अनेक मुखों से कही जाय अथवा अनेक लेखनियों से लिखी जाय और सिंहासन-द्वात्रिंशिका के ही एक पाठ के अनुसार जिसका उद्देश्य 'सकललोकचित्तचमत्कारिणीकथा' कहना मात्र हो तब उसमें कल्पना-प्रसूत तथ्यों के सम्मिश्रण की बहुत संभावना है। इस ग्रन्थ के संस्कृत भाषा में ही (इजर्टनः विक्रमचरित की भूमिका पृष्ठ २९) पाँच विभिन्न पाठ मिले हैं। इन पाँचों में पर्याप्त अन्तर है। इनके अतिरिक्त फिर मराठी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में अनेक लेखकों ने इसे अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। इस कथा के साथ एक बात और विशेष हुई। इसे जैन साधुओं ने पूर्ण रूप से अपना लिया और विक्रमादित्य की मूर्ति जैन सम्प्रदाय के साँचे में ढालने का प्रयत्न किया। सिंहासन-द्वात्रिंशिका के जैन पाठ में बहुतसी ऐसी कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं जो जैन सम्प्रदाय की अन्य पुस्तकों में पाई जाती हैं। चौदहवीं शताब्दी में विरचित मेरुतुंगाचार्य के प्रबन्धचिन्तामणि की अनेक कथाएँ इस ग्रन्थ से मिलती जुलती हैं। मेरुतुंगाचार्य ने इस चिन्तामणि में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित निबन्धों का संग्रह मात्र किया है। अतः प्रबन्ध चिन्तामणि एवं सिंहासन-द्वात्रिंशिका की कथाओं में समानता एक ही मूल स्रोत—जैन अनुश्रुति को आधार बनाने के कारण ज्ञात होता है।

यह ग्रन्थ अनेक नामों से प्रचलित है। विभिन्न पाठों में इसके यह नाम प्राप्त हुए हैं—विक्रम-चरित्र, विक्रमार्क-चरित्र, विक्रमादित्यचरित्र, सिंहासनद्वात्रिंशिका, सिंहासनद्वात्रिंशत्कथा तथा सिंहासनकथा। यह छह नाम तो ऊपर उल्लेख किए गए संस्कृत के पाँच पाठों की विभिन्न प्रतियों में ही मिलते हैं। वर्तमान प्रान्तीय भाषाओं में प्रयोग किए गए नाम इनसे पृथक् हैं।

सबसे कठिन बात इस पुस्तक के लेखक के नाम का पता लगाना तथा इसके रचनाकाल का निर्णय करना है।

कुछ विद्वान् यह मानते हैं कि यह कथा धारा नरेश परमार भोजदेव के समय में लिखी गई, और इसका कारण यह बतलाते हैं कि इसमें भोज के महत्त्व स्थापन को लक्ष्य बनाया गया है। परन्तु इसके अतिरिक्त अन्य अटकल भी लगाए गए हैं। इस पुस्तक के कुछ पाठों में हेमाद्रि विरचित चतुर्वर्गचिन्तामणि के दानखण्ड का उल्लेख है जिससे यह अनुमान किया गया कि यह हेमेन्द्र के समय (१३वीं शताब्दी ई०) के पश्चात् लिखी गई। एक पाठ में तो हेमाद्रि को उसका रचयिता भी



बतलाया है। ऐसी दशा में यह काल उक्त पाठों का ही माना जा सकता है, न कि मूल पुस्तक का। इसके रचना-काल के विषय में किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकना यद्यपि सम्भव नहीं परन्तु इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तेरहवीं शताब्दी (ईसवी) के पूर्व की रचना है और भोज देव के समय में या उनके पश्चात् लिखी गई है।

इस कथा के रचयिता की खोज भी हमें किसी निश्चित परिणाम पर नहीं पहुँचाती। विभिन्न पाठों में रचयिताओं के नाम नन्दीश्वर, कालिदास, वररुचि, सिद्धसेन दिवाकर एवं रामचन्द्र लिखे हैं।

इनमें से कालिदास, वररुचि एवं सिद्धसेन दिवाकर इनके रचयिता नहीं हो सकते। किसी ने स्वयं लिखकर यह बड़े बड़े नाम जोड़ दिये हैं। इन पाठों में जैन-पाठ के रचयिता का नाम कुछ निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है। जैनपाठों की अनेक प्रतियों में यह ज्ञात होता है कि मूल महाराष्ट्र से इसे क्षेमंकर मुनि ने संस्कृत में लिखा है :—

श्रीविक्रमादित्यनरेश्वरस्य चरित्रमेतत् कविभिर्निबद्धम्।
पुरामहाराष्ट्रवरिष्टभाषामय महाश्चर्यकरं नराणाम्॥
क्षेमंकरेण मुनिना वरगद्यपद्यबन्धेन युक्तिकृतसंस्कृतबन्धुरेण।
विश्वोपकारविलसद्गुणकीतनाय चक्रेऽचिरादमरपण्डितहर्षहेतुः॥

परन्तु मूल विक्रमार्क चरित का रचयिता कौन था यह ज्ञात नहीं है। संस्कृत-साहित्य के निर्माता व्यक्तिगत यश तथा कीर्ति से अपने आपको दूर ही रखते रहे। ग्रन्थ की रचना कर वे उसमें अपने अस्तित्व को निमज्जित कर देते थे।

अब आगे यह देखना है कि इस विक्रम-चरित्र में विक्रमादित्य के चरित्र को कैसे और किस रूप में चित्रित किया है।

उज्जैन नगर के राजा भर्तृहरि थे। अनंगसेना नाम की उनकी अत्यन्त सुन्दरी पत्नी थी तथा उनके भाई का नाम था विक्रमादित्य। एक निर्धन ब्राह्मण ने तपस्या करके पार्वतीजी को प्रसन्न कर लिया और उनसे अमरता का वरदान माँगा। पार्वतीजी ने उसे एक फल दिया, जिसके खाने से वह अजर-अमर हो सके। उसे खाने के पूर्व उसने विचार किया कि यदि वह उस फल को खा लेगा तो निर्धनता के कारण दुखी ही रहेगा। अतः उसने वह फल राजा भर्तृहरि को दिया। राजा अनंगसेना को अत्यधिक प्रेम करता था। उसने उसके सौन्दर्य को स्थिर एवं अमर करने के विचार से वह फल अनंगसेना को दे दिया। अनंगसेना ने वह फल अपने प्रेमी सारथी को दिया। सारथी ने उसे अपनी प्रेमिका एक दासी को दिया, दासी ने एक ग्वाले को और ग्वाले ने अपनी प्रेमिका एक गोबर उठानेवाली लड़की को दे दिया। वह लड़की उस फल को अपनी गोबर की डलिया के ऊपर रखकर लेजा रही थी कि राजा की दृष्टि उस पर पड़ी। राजा उस फल को पहचान गया। निश्चय करने के लिए उसने उस निर्धन ब्राह्मण को बुलाया। ब्राह्मण ने वह फल पहचान लिया। राजा ने जब रानी से पूछताछ की तो उसे सारा रहस्य ज्ञात हुआ। उसे अत्यधिक ग्लानि हुई। उसने वह फल स्वयं खा लिया और राजपाट अपने भाई विक्रमादित्य को देकर वैरागी हो गया।

विक्रमादित्य ने प्रजा का रंजन करते हुए नीतिपूर्वक राज्य करना प्रारम्भ किया। एक बार एक कपटी साधु राजा के पास आया और एक अनुष्ठान में सहायता देने की याचना की। राजा ने उसे स्वीकार किया। अनुष्ठान में उस साधु ने राजा की बलि देना चाही, परन्तु राजा ने उसकी ही बलि देदी। इसी प्रसंग में एक वेताल राजा पर प्रसन्न हो गया। उसने वचन दिया कि जब जब राजा उसे बुलाएगा वह उपस्थित होगा। उसने राजा को अष्टसिद्धि प्रदान कीं। (यह कथा वेताल-पच्चीसी के प्रसंग में विस्तार से दी गई है।)

इसी समय विश्वामित्र की तपस्या से इन्द्र को बहुत भय हुआ। उसने निश्चय किया कि रंभा या उर्वशी में से एक अप्सरा को विश्वामित्र की तपस्या भंग करने के लिए भेजा जाय। उसने देव सभा में उनके नृत्यकौशल का प्रदर्शन कराया और दोनों में जिसका प्रदर्शन अधिक उत्तम हो उसको ही विश्वामित्र के पास भेजने का विचार किया। परन्तु देवसभा यह निर्णय ही न कर सकी कि किसका नृत्य अधिक श्रेष्ठ है। नारदजी की सलाह से इन्द्र ने अपने सारथि मातलि को भेजकर विक्रमादित्य को बुलाया। विक्रमादित्य ने नृत्य को देखकर उर्वशी को दोनों में श्रेष्ठ ठहराया। कारण पूछने पर उसने नृत्य

की अत्यन्त सुन्दर शास्त्रीय व्याख्या की और अपने निर्णय के औचित्य को सिद्ध कर दिया। प्रसन्न होकर देवराज ने उसे अपना सिंहासन भेंट में दिया। इस सिंहासन को राजा अपनी राजधानी में ले आए और उपयुक्त समय में उसपर आरूढ़ हुए।

कुछ समय पश्चात् प्रतिष्ठान नगर में एक छोटी सी लड़की के शेष नाग द्वारा शालिवाहन नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उस समय उज्जैन में अशुभ चिन्ह दिखाई देने लगे। ज्योतिषियों ने राजा के विनाश की भविष्यवाणी की। राजा को शंकर द्वारा यह वरदान प्राप्त हो चुका था कि उसे केवल वही व्यक्ति मार सकेगा जो ढाई वर्ष की लड़की से उत्पन्न हुआ हो। राजा ने अपने मित्र वेताल को बाहर भेजा कि वह इस बात की खोज करे कि कहीं ऐसा बालक उत्पन्न तो नहीं हो गया है। प्रतिष्ठान में वेताल ने शालिवाहन को देखा और उसके जन्म का हाल जाना। उसने राजा को वह हाल सुना दिया। राजा ने प्रतिष्ठान पर आक्रमण कर दिया, परन्तु शालिवाहन ने उसे आहत कर दिया। उस घाव से राजा उज्जैन आकर मर गया।

राजा के मरने पर उसकी रानी ने अपने सात मास के गर्भ से राजकुमार को निकाला। मंत्रियों की देखरेख में राज्य चलने लगा। परन्तु इन्द्र के सिंहासन पर बैठने योग्य कोई व्यक्ति शेष नहीं था, अतः उसको एक पवित्र खेत में गाड़ दिया गया।

बहुत समय पश्चात् यह सिंहासन धार के राजा भोज को प्राप्त हुआ। जब वह इस पर बैठने की तैयारी करने लगा तो इसमें लगी हुई बत्तीस पुतलियों में से एक मानवी भाषा में बोल उठी 'हे राजन्! यदि तुझ में विक्रमादित्य जैसा शौर्य, औदार्य, साहस तथा सत्यवादिता हो तभी तू इस सिंहासन पर बैठने का प्रयत्न करना!' राजा भोज ने उस पुत्तलिका से विक्रमादित्य की उदारतादि का वर्णन करने को कहा।

इस प्रकार उस सिंहासन की बत्तीसों पुतलियों द्वारा एक एक करके विक्रम के गुणों का अतिरंजित वर्णन कराया गया है।

पहली पुतली ने विक्रम के दान का वर्णन इस प्रकार किया है—

"निरीक्षिते सहस्त्रंतु नियुतं तु प्रजल्पिते। हसने लक्षमाप्नोति संतुष्टः कारिदो नृपः॥"

दूसरी पुतली ने विक्रमादित्य की परोपकारिता की कहानी कही है। राजा एक ब्राह्मण के ऊपर देवी को प्रसन्न करने के लिए अपने सिर को बलि देने को तैयार हो गया। राजा की उदारता की नीचे लिखे शब्दों में प्रशंसा करते हुए देवी ने ब्राह्मण का अभीष्ट सिद्ध किया:—

"छायांम् मन्यस्य कुर्वन्ति स्वयं तिष्ठंति चाऽतपे। फलन्ति परार्थेषु नाऽत्महेतुर्महाद्रुमाः॥
परोपकाराय वहन्ति निम्नगाः। परोपकाराय दुहन्ति धेनवः॥
परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः। परोपकाराय सतां विभूतयः॥

तीसरी पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है। किस प्रकार विक्रम ने समुद्र द्वारा प्रदत्त चारों रत्न ब्राह्मण को उदारतापूर्वक दे दिये थे इसका वर्णन इसमें है। अन्त में इस पुत्तलिका ने कहा है—"ओ राजन्! औदार्य तो सहज उत्पन्न गुण होता है वह औपाधिक नहीं है; क्योंकि—

चम्पकेषु यथा गन्धः कान्तिर्मुक्ताफलषु च। यथेऽक्षुदण्डे माधुर्यंम् औदार्यं सहजं तथा॥

यदि तुममें ऐसा औदार्य हो, तो इस सिंहासन पर आरूढ़ हो।"

चतुर्थ पुत्तलिका द्वारा राजा के उपकार मानने के स्वभाव का वर्णन कराया गया है। देवदत्त नामक ब्राह्मण ने राजा का उपकार किया। उसके बदले में राजा ने उसे अपने पुत्र का हत्यारा समझकर भी उस एक उपकार के बदले में क्षमा कर दिया, क्योंकि वह समझता था 'यः कृतमुउपकारं विस्मरति स पुरषाधम इव।'

पाँचवीं पुत्तलिका ने विक्रमादित्य की उदारता की कहानी कही है, जिसमें राजा द्वारा अमूल्य रत्नों को दान में देना बतलाया है।

छठी पुतली ने भी विक्रम के औदार्य का ही वर्णन किया है, जिसमें विक्रम ने असत्यवादी किन्तु आर्त ब्राह्मण की मनोवाञ्छा पूरी की है क्योंकि--

"दत्त्वाऽर्तस्य नृपो दानं शून्यलिंगं प्रपूज्य च।
परिपाल्याऽश्रितान्नित्यम् अश्वमेधफलं लभेत् ॥"

सातवीं पुत्तलिका राजा के पराक्रम की गाथा कहती है। इस कथा में विक्रमादित्य के उस पराक्रम का वर्णन है जिसके कारण वह छिन्न मस्तक स्त्री-पुरुषों के युग्म को जीवित करने के लिए स्वयं अपने मस्तक की बलि देने को तत्पर हो गया था। जब भुवनेश्वरी उसपर प्रसन्न हुई तब राजा ने उस युग्म के लिए ही राज्य की याचना की, अपने लिए कुछ न माँगा। इस कथा में प्रसंगवश राजा विक्रमादित्य के राज्य की दशा का भी वर्णन आ गया है। "विक्रमादित्य के राज्य में सर्व जन सुखी थे, लोक में दुर्जनरूपी कण्टक नहीं थे। सर्व जन सदाचारी थे। ब्राह्मण वेद शास्त्र के अभ्यास में लग्न तथा स्वधर्मचर्या-पर एवं षट्कर्म में निरत थे। सब वर्ण के लोगों में पाप का भय था, यश की इच्छा थी, परोपकार की वासना थी, सत्य से प्रेम था, लोभ से द्वेष था, परोपकार का आदर था, जीवदया का आग्रह था, परमेश्वर में भक्ति थी, शरीर की स्वच्छता थी, नित्यानित्य वस्तु का विचार था, वाणी में सत्य था, बात के पालन में दृढ़ता थी और हृदय में औदार्य गुण था। इस प्रकार सब लोग सद्वासनायुक्त पवित्र अन्तःकरण होकर राजा के प्रसाद से सुखी रहते थे।"

आठवीं पुत्तलिका की कथा के अनुसार राजा विक्रमादित्य ने प्राणों की बाजी लगाकर एक जलहीन तालाब को पानी से भर दिया। उस तालाब में पानी नहीं ठहरता था। आकाशवाणी द्वारा यह ज्ञात हुआ कि जब तक बत्तीस लक्षणों से युक्त पुरुष अपने रक्त को अर्पित नहीं करेगा, उस तालाब में पानी नहीं ठहरेगा। राजा इसके लिए तैयार हो गया।

नवमी पुत्तलिका की कथा इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें विक्रमादित्य से सम्बन्धित अन्य नाम आए हैं। यह भी राजा के औदार्य और धैर्य की कहानी है। विक्रमादित्य का महि नाम का मंत्री था, गोविन्द नामक उपमंत्री था, चन्द्र नामक सेनापति था तथा त्रिविक्रम नामक पुरोहित था। इस त्रिविक्रम के कमलाकर नामक पुत्र था। इसी कमलाकर के लिए राजा ने कांची नगर की एक वेश्या नरमोहिनी को राक्षस के पाश से मुक्त किया था।

दसवीं पुतली ने राजा विक्रम की उस उदारता का वर्णन किया जिसके द्वारा उसने कठोर तपस्या द्वारा प्राप्त किया हुआ अजर अमरता प्रदान करनेवाला फल भी एक रुग्ण ब्राह्मण को दान कर दिया था।

ग्यारहवीं पुत्तलिका द्वारा वर्णित कहानी में एक विशेषता है। वह महाभारत की एक कथा से बिलकुल मिलती-जुलती है। महाभारत में एक कथा है कि वनवास के समय कुन्ती सहित पाण्डव एक ऐसे नगर में पहुँचे जहाँ प्रत्येक परिवार में से क्रमशः एक व्यक्ति एक राक्षस को खाने के लिए भेंट किया जाता था। पाण्डवों को आश्रय देनेवाले ब्राह्मण के घर यह क्रम आने पर उसके बदले भीम गए और उन्होंने उस राक्षस को ही मार डाला। सिंहासनबत्तीसी की कथा में राजा विक्रम इस प्रकार के नगर का हाल पक्षियों से सुनते हैं और उनके द्वारा अपने आपको राक्षस को अर्पित करने पर वह उनकी उदारता पर मुग्ध होकर उन्हें नहीं खाता है।

बारहवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य द्वारा एक राक्षस को मार कर एक शापग्रस्त ब्राह्मण-पत्नी का उद्धार करना तथा एक ब्राह्मण-पुत्र को धन दान देने की कथा है।

तेरहवीं पुतली विक्रमादित्य द्वारा डूबते हुए ब्राह्मण युग्म को बचाकर वरदान पाने की कथा कहती है। इस वरदान के फल को भी राजा ने एक ब्रह्म-राक्षस को दान कर उसे स्वर्ग दिलाया।

चौदहवीं कथा में राजधर्म की व्याख्या है और विक्रम द्वारा प्राप्त चिन्तामणि के समान मनवांछित फल देनेवाले 'काश्मीरलिंग' के दान का उल्लेख है।

पन्द्रहवीं कथा में राजा विक्रमादित्य के पुरोहित का नाम वसुमित्र बतलाया गया है। यह भी राजा के परोपकार की कथा है।

सोलहवीं पुतली द्वारा कही गई कथा में विक्रमादित्य के दिग्विजय का उल्लेख है। उसने उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम में परिभ्रमण करके वहाँ के नृपतियों को अपने वश में किया और उनके द्वारा अर्पित किये हुए हाथी, घोड़े तथा धन

आदि लेकर उन्हें उनके राज्यों में पुनः प्रतिष्ठित कर वापस लौटा। यहाँ आकर उसने एक ब्राह्मण को कन्यादान के लिए बहुतसा स्वर्ण दिया।

सत्रहवीं पुत्तलिका ने राजा के त्याग और उदारता की कथा कही है। राजा ने अपने प्रतियोगी को कष्ट से बचाने के लिए अपने शरीर का ही दान देना स्वीकार किया।

अठारहवीं कथा राजा के अपूर्व दान की कहानी है। राजा ने सूर्य द्वारा प्राप्त प्रति दिन स्वर्णभार देनेवाली अँगूठियों को एक निर्धन ब्राह्मण को दान में दे डाला।

उन्नीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई कथा में पुनः विक्रम के राज्य का वर्णन है। जब विक्रम पृथ्वी पर शासन कर रहा था सर्व लोक आनन्द-परिपूर्ण-हृदय थे, ब्राह्मण श्रोतकर्म में निरत थे, स्त्रियाँ पतिव्रता थीं, पुरुष शतायु थे, वृक्ष फल-युक्त थे, इच्छानुसार जल की वर्षा होती थी, मही सदा सम्पूर्ण शस्यमती थी, लोक में पाप का भय था, अतिथि की पूजा होती थी, जीवों पर कृपा होती थी, गुरुजनों की सेवा होती थी और सत्पात्र को दान मिलता था, ऐसी प्रजा की प्रवृत्ति थी। आगे इस कथा में विक्रम द्वारा उस रस और रसायन के दान का वर्णन है जो उसे बलि से प्राप्त हुए थे। इसी प्रकार के दान का वर्णन बीसवीं कहानी में है।

इक्कीसवीं पुत्तलिका की कथा में विक्रमादित्य के एक और मंत्री का नाम आया है। उसका नाम बुद्धिसिन्धु था। इसके पुत्र अनर्गल के बतलाने पर राजा को अष्टसिद्धियों से जो वरदान प्राप्त हुए उनके दान का वर्णन है। बाईसवीं कथा भी विक्रम द्वारा एक ब्राह्मण के हेतु जीवन-दान देने के लिए तत्पर होने की है। तेईसवीं कथा में दुःस्वप्न के फल निवारणार्थ विक्रम द्वारा किये गए दान की कथा है।

चौबीसवीं पुतली द्वारा बतलाई गई कहानी महत्त्वपूर्ण है। इसमें विक्रम को मारनेवाले शालिवाहन एवं उसके नगर प्रतिष्ठान का उल्लेख है। एक सेठ ने मरते समय अपने धन का बटवारा अपने चारों बेटों के बीच करने के लिए चार घड़े रख दिए। उसके मरने पर उनमें क्रमशः मिट्टी, घास, कोयला तथा हड्डियाँ भरी हुई थीं। इसका अर्थ न समझ कर वे विक्रम के पास गए। परन्तु वहाँ भी कोई इस बात का अर्थ न बतला सका। जब वे प्रतिष्ठानपुर निवासी शालिवाहन के पास गए तो उसने बतलाया कि मिट्टी, घास, कोयला एवं हड्डियों का अर्थ क्रमशः भूमि, अन्न, स्वर्ण तथा पशुधन है। यह समाचार सुन विक्रम ने शालिवाहन को बुलाया। परन्तु शालिवाहन ने आने से मना कर दिया और बड़ा अपमानजनक उत्तर दिया। राजा विक्रम ने प्रतिष्ठान पर चढ़ाई कर दी। शालिवाहन कुम्हार के यहाँ रहता था। उसने मिट्टी की सेना बनाई। उसके पिता शेष ने उस सेना को जीवित कर दिया। परन्तु विक्रम की फौज को यह सेना हरा न सकी। तब शेष ने सर्पों को भेजा। विक्रम ने वासुकी को प्रसन्न कर अमृत-घट प्राप्त कर लिया। शालिवाहन द्वारा भेजे गए ब्राह्मणों ने जब राजा को वचनबद्ध करके वह अमृत-घट माँगा तो केवल अपने वचन-पालन के लिए विक्रमादित्य ने वह अमृत-घट जान बूझकर शालिवाहन के आदमियों को दान दे दिया।

पच्चीसवीं कहानी में देश का अन्नदुर्भिक्ष मिटाने के लिए विक्रम द्वारा आत्मबलि देने का निश्चय करने की कथा है। छब्बीसवीं कथा रघुवंश में वर्णित नन्दिनी और दिलीप की कथा का स्मरण दिलाती है। गाय की रक्षा के लिए राजा सारी रात वृष्टि में सिंहों के मुकाबिले में खड़ा रहा। सत्ताईसवीं कथा में वर्णन है कि राजा विक्रम ने अष्टभैरवों को अपने रक्त की बलि देकर सिद्धि प्राप्त कर उसे एक जुआरी को इसलिए दे दी कि वह उससे धन प्राप्त करे और जुआ खेलना छोड़ दे। अट्ठाईसवीं कहानी में राजा एक देवी से इस बात का वरदान माँगता है कि वह मानव-बलि लेना बन्द करदे। उन्तीसवीं कथा में विक्रम द्वारा ५० करोड़ दान देने का उल्लेख है। तीसवीं कहानी विशेष रूप से इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि इसमें राजा विक्रम द्वारा पांड्य देश के राजा द्वारा भेजे हुए कर के धन को एक इन्द्रजालिक को देदिया। अतः पांड्य देश के राजा का विक्रम का करद होना प्रकट होता है।

इकतीसवीं पुत्तलिका द्वारा वेतालपंचविंशतिका की कथा कहलाई गई है। राजा से एक योगी अनुष्ठान में सहायता करने का वचन लेता है। उसे श्मशान से शव लाने को कहता है। वहाँ उसे शव पर वाचाल वेताल मिलता है। परन्तु इस ग्रन्थ में पच्चीस कथाएँ नहीं दी गई हैं, केवल एक दी गई है।

बत्तीसवीं अन्तिम पुतली राजा विक्रम का यशोगान करती है। वह कहती है कि विक्रम जैसा राजा भूमण्डल पर नहीं है। उसने काष्ठमय खड्ग से सारे संसार को जीत लिया था और पृथ्वी पर एकछत्र राज्य स्थापित किया था। उसने शकों को पराभूत कर अपना संवत् चलाया। उसने दुष्टों का नाश किया, निर्धनों की निर्धनता मिटा दी। दुर्भिक्ष मिटा दिए।

बत्तीसों पुत्तलिकाएँ इस प्रकार कथा सुन कर फिर यह कहती हैं कि वे शापग्रस्त देवांगनाएँ थीं जो पार्वती के शाप से पुत्तलिकाएँ बनकर इस सिंहासन से लग गई थीं। भोजराज को यह विक्रम की कथा सुनाने से वह शाप मुक्त हुई हैं।

विक्रम-चरित्र की इस कथा के जैन पाठ में अन्य पाठों से बहुत भेद है। इसमें प्रायः छह कथाएँ नई जोड़ी गई हैं। पहली कथा अग्निवेताल और विक्रम की है। अग्निवेताल का स्थान अभी भी उज्जैन में है। इससे यह कथा विशेष महत्त्वपूर्ण है। एक कथा में सिद्धसेन दिवाकर का विक्रम का गुरू होना बतलाया है। यह कथाएँ प्रबन्ध-चिन्तामणि में भी हैं। अतः उसी प्रसंग में इन पर प्रकाश डालेंगे।

जैन पाठकारों ने विक्रमादित्य के जन्म की एक कहानी भी जोड़ दी है। इसके अनुसार विक्रम की उत्पत्ति दैवी एवं अलौकिक बतलाई है। प्रेमसेन राजा के मदनरेखा नामक अत्यन्त रूपवती कन्या थी। इस राजा के नगर में गन्धर्वसेन नामक एक शापग्रस्त यक्ष गर्दभ के रूप में रहता था। उसने राजा से कहा कि यदि वह कन्या मदनरेखा का विवाह उसके साथ न करेगा तो उसके नगर का क्षेम नहीं है। यक्ष की अलौकिक शक्ति का परिचय पाकर राजा ने अपनी कन्या का विवाह उसके साथ कर दिया। नगर की रक्षा का विचार कर तथा विधि के विधान को समझकर कन्या ने उस गर्दभ से विवाह कर लिया। यक्ष सुन्दर रूप धारण कर रात्रि के समय राजकन्या के साथ विहार करता था। एक दिन मदनरेखा की माता उससे मिलने आई। उसने देखा कि गन्धर्वसेन ने गर्दभ की खाल एक ओर फेंक दी है और अत्यन्त सुन्दर रूप धारण किए बैठा है। माता ने गर्दभ की खाल को जला दिया। गन्धर्वसेन ने कहा कि अब वह शाप मुक्त हो गया है और स्वर्ग जायगा। उसने कहा कि जो बालक तुम्हारे हो उसका नाम विक्रमादित्य रखना। तुम्हारी दासी के जो गर्भ है उसका नाम भर्तृहरि रखना। समय पाकर दोनों पुत्र उत्पन्न हुए।

यह गन्धर्वसेन गर्दभिल्ल से प्रायः मिलता जुलता है।

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्य-कृत प्रबन्ध-चिन्तामणि जैन ऐतिहासिक ग्रन्थों में प्रधान है। इसकी रचना संवत् १३६१ वि० में की गई थी। इस ग्रन्थ को लिखने में मेरुतुंग का उद्देश्य विशुद्ध ऐतिहासिक था। उन्होंने स्वयं इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है—"यद्यपि विद्वानों द्वारा बुद्धि (संकलन) से कहे गए प्रबन्ध (कुछ-कुछ) भिन्न भिन्न भावोंवाले अवश्य होते हैं; तथापि इस ग्रन्थ की रचना सुसम्प्रदाय (योग्य परम्परा) के आधार पर की गई है इसलिए (इसके विषय में) चतुरजनों को वैसी चर्चा न करनी चाहिए।" इसपर टिप्पणी करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् श्री जिनविजयजी लिखते हैं—"मेरुतुंगसूरि ने इस ग्रन्थ को संकलन करने में कुछ तो पुराने प्रबन्ध ग्रन्थों की सहायता ली और कुछ परम्परा से चली आती हुई मौखिक बातों का आधार लिया।.....................प्रबन्ध-चिन्तामणि की कुछ बातें ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वथा भ्रान्त भी मालूम होती हैं लेकिन मेरुतुंगाचार्य उनके लिए निष्पक्ष और निराग्रह हैं—यह बात इस श्लोक के गत कथन से सूचित होती है।" तात्पर्य यह कि प्रबन्ध-चिन्तामणि में उस समय प्रचलित अनुश्रुतियों को बिना किसी फेरबदल के लिपिबद्ध किया गया है।

इस ग्रन्थ का प्रथम प्रबन्ध ही विक्रमार्क (विक्रमादित्य) के विषय में है। मेरुतुंग की ऐतिहासिक प्रणाली से इतना तो निश्चित है कि उन्होंने अपनी ओर से कुछ मिलाया न होगा, अतः प्रबन्ध-चिन्तामणि का विक्रमार्क-चरित्र विक्रमीय चौदहवीं शताब्दी में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित रूप माना जा सकता है।

विक्रमादित्य के राजा होने के पूर्व के जीवन के विषय में इस ग्रन्थ के दो स्थलों पर उल्लेख है। प्रकीर्णक प्रबन्ध में भर्तृहरि की उत्पत्ति की कथा में लिखा है कि अवन्तिपुरी में एक व्याकरण का विद्वान् पण्डित रहता था। उसके चार वर्णों की चार स्त्रियाँ थीं। क्षत्री स्त्री से विक्रमादित्य उत्पन्न हुए और शूद्रा से भर्तृहरि का जन्म हुआ। यह भर्तृहरि वैराग्य-शतक आदि के कर्त्ता थे।

वैक्रम-अनुश्रुति

विक्रमार्क राजा के प्रबन्ध में लिखा है—"अवन्ति देश के सुप्रतिष्ठान* नामक नगर में असम साहस का एकमात्र निधि, दिव्य लक्षणों से लक्षित, सत्कर्म, पराक्रम इत्यादि गुणों से भरपूर राजपुत्र था।" यह राजपुत्र बहुत निर्धन था। धन पाने के हेतु वह अपने मित्र भट्टमात्र के साथ रोहण पर्वत को गया। रोहण पर्वत की यह विशेषता थी कि ललाट को हथेली से 'हा दैव!' कहकर चोट मारने से, अभाग्यवान् मनुष्य को भी रत्न मिलते थे। परन्तु विक्रम यह करने को तैयार न था। भट्टमात्र विक्रम को लेकर उस पहाड़ के पास पहुँचा और जब विक्रम कुदाल से उस पर्वत में प्रहार कर रहा था, तो उसे अपनी माता की मृत्यु का दुखद समाचार मिला। विक्रम ने कुदाल फेंक दिया और 'हा दैव' कहकर माँथा ठोका। तुरन्त ही एक सवा लाख का हीरा निकल आया। जब विक्रम को यह ज्ञात हुआ तो उसने वह रत्न उस पर्वत पर यह कहकर फेंक दिया कि इस रोहणगिरि को धिक्कार है जो 'हा दैव' ही कहलाकर दरिद्रों का निर्धनतारूपी घाव भरता है।

इसके पश्चात् विक्रमादित्य के राज्य-प्राप्ति की कथा है। इसी प्रकार की कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ में भी मिलती है। उसने अवन्ति देश में एक राक्षस को सन्तुष्ट किया। वह उसी प्रकार प्रतिदिन भक्ष्य-भोज्य पाकर सन्तुष्ट रहने लगा। एक दिन विक्रम राजा ने उससे अपनी आयु पूछी। अग्निवेताल ने कहा कि विक्रम की आयु १०० वर्ष है और किसी भी प्रकार कम या अधिक नहीं हो सकती। अगले दिन राजा ने उसे कुछ खाने को न दिया और लड़ने को तैयार हो गया। युद्ध में जब राक्षस हार गया तो वह बोला "मैं तुम्हारे अद्भुत साहस से प्रसन्न हूँ। तुम जो कहो उस आदेश का पालन करनेवाला मैं अग्निवेताल तुम्हें सिद्ध हुआ।"

इसके पश्चात् मेरुतुंग ने लिखा है "इस प्रकार अपने पराक्रम से दिग्मण्डल को आक्रान्त करनेवाले उस राजा ने छियानवे प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के राज्य को अपने अधिकार में किया" और "कालिदासादि महाकवियों द्वारा की हुई स्तुति से अलंकृत होकर उसने चिरकाल तक विशाल साम्राज्य का उपभोग किया।"

इसके पश्चात् विक्रमादित्य विषयक ११ कथाएँ और दी गई हैं। एक कथा में विक्रमादित्य की लड़की का नाम प्रियंगुमञ्जरी बतलाया है। वररुचि उसका उपाध्याय है। प्रियंगुमञ्जरी की अशिष्टता से अप्रसन्न होकर वररुचि ने उसे शाप दिया कि उसका पति 'पशुपाल' होगा। कन्या ने प्रण किया कि वह ऐसे व्यक्ति से विवाह करेगी जो वररुचि का गुरू हो। जब वररुचि इस कन्या के लिए वर खोज रहे थे तो जंगल में भैंसे चराते हुए कालिदास मिले। उन्होंने उन्हें 'करचण्डी' शब्द का अर्थ बतलाया अतः गुरू बने। कालिदास का विवाह प्रियंगुमञ्जरी के साथ हुआ। जब इनकी मूर्खता प्रकट हुई तो प्रियंगुमञ्जरी ने उनका अपमान किया। दुखी होकर विद्वत्ता प्राप्त करने के लिए कालिदास ने काली की आराधना की। देवी प्रसन्न हुई और कालिदास ने कुमारसम्भव प्रभृति तीन काव्य तथा छह प्रबन्ध बनाए।

अगली कथा 'सुवर्ण पुरुष की सिद्धि' के प्रबन्ध में विक्रम की उदारता और धैर्य का वर्णन है। यह कथा सिंहासन-बत्तीसी के जैनपाठ में इकत्तीसवीं पुत्तलिका द्वारा कहलाई गई है। इसमें दाँता नामक सेठ के धवलग्रह (महल) की कथा है। सेठ ने जो नवीन धवलग्रह बनवाया था उसमें उसे 'गिरता हूँ' शब्द सुनाई दिया और 'मत गिरो' यह कहकर वह भागकर राजा के पास आया। राजा ने वह धवलग्रह (महल) स्वयं खरीद लिया। रात को जब वही 'गिरता हूँ' शब्द हुआ तो राजा ने कहा 'शीघ्र गिरो'। उसके ऐसा कहते ही सुवर्ण-पुरुष वहाँ गिरा और राजा को उसकी प्राप्ति हुई।

अगला विक्रमादित्य के सत्य का प्रबन्ध है। यह कथा भी सिंहासन बत्तीसी के जैनपाठ में सम्मिलित है और बत्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गई है। इसमें राजा के सत्त्व (साहस) के प्रेम का संकेत है। अवन्तिकापुरी में बिकने आई हुई कोई वस्तु बिना बिके नहीं लौटती थी। एक व्यक्ति 'दारिद्रय' की मूर्ति बनाकर लाया। किसी के न खरीदने पर स्वयं राजा ने उसे क्रय कर लिया। दारिद्रय के आने पर लक्ष्मी आदि राजा को छोड़ गई। परन्तु जब सत्त्व (साहस) छोड़कर जाने लगा तो राजा आत्महत्या को तैयार हो गया। सत्त्व प्रसन्न हुआ और रह गया। परिणाम यह हुआ कि लक्ष्मी आदि फिर लौट आए।

*** अवन्ति देश में सुप्रतिष्ठान नामक नगर का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः यह उज्जयिनी के लिए ही लिखा गया है।**



विक्रमादित्य की विजययात्रा

(चित्रकार—श्री उपेन्द्र महारथी, पटना)

अगला 'सत्त्व परीक्षा' नामक निबन्ध भी इसी प्रकार राजा के साहस का वर्णन करता है। इसमें विक्रम के साहस को देखकर उसके पास आए हुए ज्योतिषी ने कहा है "तुम्हारा यह सत्व (साहस) रूपी लक्षण बत्तीस लक्षणों से भी बढ़कर है।" यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में उन्तीसवीं पुतली द्वारा कहलाई गई है।

विद्यासिद्धि के प्रबन्ध में विक्रमादित्य की उदारता का वर्णन है। जब वह 'परकाया प्रवेश' की विद्या सीखने श्रीपर्वत पर भैरवानन्द योगी के पास जाने लगा तो एक ब्राह्मण उसके साथ हो लिया और उसने विक्रम से यह वचन ले लिया कि पहले यह विद्या मुझे सिखाना फिर तुम सीखना। राजा ने दुख उठाकर भी यह वचन पाला।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य के जैन साधु सिद्धसेन दिवाकर से प्रभावित होने की कथा है। यह कथा सिंहासन बत्तीसी के जैनपाठ में विस्तार से मिलती है।

विक्रमादित्य सिद्धसेन दिवाकर के 'सर्वज्ञ पुत्र' विरुद को सुनकर उनकी परीक्षा लेते हैं। वे मन ही मन उन्हें प्रणाम करते हैं। अपने श्रुतज्ञान से राजा का मनोगत भाव जान सिद्धसेन ने उन्हें दाहिना हाथ उठाकर धर्म लाभ का आशीर्वाद दिया। यह देखकर राजा बहुत चमत्कृत हुआ। इस प्रबन्ध में राजा द्वारा पृथ्वी को अनृण करने का भी उल्लेख है।

अगले प्रबन्ध में विक्रमादित्य की मृत्यु से विक्रम संवत् प्रवर्त्तन होना कहा गया है। आगे प्रकीर्णक प्रबन्ध में 'विक्रमादित्य की पात्र परीक्षा' नामक कथा और है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रबन्ध चिन्तामणि तथा सिंहासन बत्तीसी के जैन पाठ में जैन सम्प्रदाय में प्रचलित विक्रमादित्य की कथाओं का संग्रह किया गया है। हम इस प्रकरण का अन्त मेरुतुंग द्वारा की गई विक्रमादित्य की प्रशंसा से करेंगे।

अन्त्योऽप्याद्यः समजनि गुणैरेक एवावनीशः। शौर्योदार्यप्रभृतिभिरभारंतोर्वीतले विक्रमार्कः॥
श्रोतुः श्रोतामृतसमनवत्तस्य राज्ञः प्रबन्धं। संक्षिप्योच्चैर्विपुलमपितं वच्मि किञ्चित्तदादौ॥

पुराण—अर्थशास्त्रकार ने इतिहास की परिभाषा में छह बातें सम्मिलित बतलाई हैं। १. पुराण, २. इतिवृत्त, ३. आख्यायिका, ४. उदाहरण, ५. धर्मशास्त्र और ६. अर्थशास्त्र। अतएव पुराण भी इतिहास के एक अंग माने गए हैं। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने पुराणों के प्रति बहुत अश्रद्धा प्रकट की है, यहाँ तक कि किसी समय विल्सन आदि योरोपियन विद्वान् इनका रचनाकाल ईसवी ग्यारहवीं शताब्दी के पश्चात् तक बतलाते थे। परन्तु अब पुराणों का ऐतिहासिक मूल्य विद्वानों द्वारा माना जा चुका है। उनके आधार पर प्राचीन भारतीय इतिहास का पुनर्निर्माण किया गया है। अतः यह देखना उचित होगा कि विक्रमादित्य का वर्णन पुराणों में क्या दिया हुआ है।

कालकाचार्य कथानक में गर्दभिल्ल से मिलते हुए एक गर्दभिन् वंश का उल्लेख है जिसने ७२ वर्ष राज्य किया (पार्जीटर, पुराण-पाठ, पृष्ठ ४५-४६)। इसके अतिरिक्त पुराणों में विक्रमादित्य का उल्लेख कम ही मिलता है। केवल भविष्य पुराण के प्रतिसर्ग पर्व में विक्रमादित्य का विशद वर्णन दिया है। भविष्य पुराण को पार्जीटर आंध्र राजा यज्ञश्री के समय में ईसवी दूसरी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ बतलाते हैं। अतः वह बहुत बहुमूल्य उल्लेख है। परन्तु स्मिथ का मत है कि भविष्य पुराण का वर्त्तमान रूप बहुत कुछ प्रक्षिप्त एवं घटा-बढ़ा है, अतः इतिहास की दृष्टि से बेकार है। जो हो, विक्रमादित्य का पुराण-वर्णित रूप यहाँ दिया जाता है।

भविष्य पुराण में विक्रमादित्य का उल्लेख दो स्थल पर आया है। द्वितीय खण्ड के अध्याय २३ में लिखा है :—

तस्मिन्काले द्विजः कश्चिज्जयंतो नाम विश्रुतः॥
तत्फलं तपसा प्राप्तः शक्रतः स्वगृहं ययौ।
जयतो भर्तृहरये लक्षस्वर्णेन वर्णयन्॥
भुक्त्वा भर्तृहरिस्तत्र योगारूढो वनं गतः।
विक्रमादित्य एवास्य भुक्त्वा राज्यमकंटकम्॥

इसमें जयन्त नामक ब्राह्मण के तपोबल से इन्द्र से अमृत फल लाने का उल्लेख है। इस ब्राह्मण ने इसे भर्तृहरि को बेच दिया। भर्तृहरि योगारूढ़ होकर वन को चले गए तब विक्रमादित्य उनके स्थान पर राजा हुआ। यही कहानी सिंहासन बत्तीसी आदि अन्य पुस्तकों में जिस रूप में प्राप्त है अन्यत्र दिया गया है।

भविष्य पुराण के अनुसार कलियुग के ३७१० वर्ष पश्चात् (सप्तत्रिंशशते वर्षे दशाब्दे चाधिके कलौ) अवन्ति में प्रमर नामक राजा हुआ। उसके पश्चात् उसके वंश में पश्चात् क्रमश: महामद, देवापि, देवदूत और गन्धर्वसेन हुए। गन्धर्वसेन अपना राज्य अपने पुत्र शंख को देकर वन को चले गए। वहाँ वन में इन्द्र द्वारा भेजी हुई वीरमती नामक देवांगना से गन्धर्वसेन के विक्रमादित्य उत्पन्न हुए। विक्रमादित्य का जन्म शकों का विनाश करने के लिए, आर्यधर्म की स्थापना करने के लिए हुआ था। स्वयं शंकर का गण 'शिव दृष्टि' विक्रम रूप में अवतरित हुआ था। इस विक्रमादित्य को शिवजी ने बत्तीस पुतलियों युक्त सिंहासन भी दिया। माता पार्वती ने सिंहासन के साथ वैताल नामक गण भी विक्रमादित्य की रक्षा के लिए भेजा। विक्रमादित्य ने बहुत समय तक राज्य किया। उसने दिग्विजय तथा अश्वमेध यज्ञ किए।

इस पर भविष्य पुराण का यह अंश विक्रम सम्बन्धी सभी कथाओं को एक नवीन रूप में प्रस्तुत करता है। यह कथा मूल भविष्य पुराण में होगी यह शंकास्पद है; क्योंकि यह तो प्रमर, चाहमान आदि राजपुत्रों की दैवी उत्पत्ति बतलाने के लिए गढ़ी गई ज्ञात होती है।

स्कन्द पुराण में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। कुमारिका खण्ड में लिखा है कि कलियुग के ३००० वर्ष बीत जाने पर अर्थात् लगभग १०० ई० पू० विक्रमादित्य का जन्म हुआ था।

अन्य स्फुट ग्रन्थ—इस प्रसंग में हम गाथासप्तशती, ज्योतिर्विदाभरण तथा राजतरंगिणी का उल्लेख करेंगे। इन पुस्तकों में विक्रमादित्य का उल्लेख आया है।

इन तीनों में गाथासप्तशती बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह कुन्तल देश के राजा, प्रतिष्ठान (पैठण) नगर के अधीश, शतकर्ण (शातकर्णि) उपनामवाले द्वीपिकर्ण के पुत्र, मलयवती के पति और हालादि उपनामवाले आंध्रभृत्य सातवाहन के लिए अथवा उसके द्वारा लिखी गई है। इस सातवाहन वंश का ईसवी सन् २२५ के आसपास अन्त हो गया था।* ऐसी दशा में यह ग्रन्थ उक्त समय के पूर्व ही लिखा माना जायगा। इसके रचनाकाल के विषय में बहुत विवाद चलाया गया है। डॉ० देवदत्त भाण्डारकर इसका रचनाकाल ईसा की छठवीं शताब्दी बतलाते हैं।† यह सब खींचतान इस कारण से की गई थी कि डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर का यह मत पुष्टि पा सके कि गुप्तवंशीय चन्द्रगुप्त द्वितीय ही प्रथम एवं शकारि संवत प्रवर्तक विक्रमादित्य था। यदि गाथासप्तशती का रचनाकाल दूसरी शताब्दी विक्रमी मान लिया जाय तो सर भाण्डारकर की यह कल्पना असत्य सिद्ध होती है। परन्तु अब तो इस कल्पना को असत्य सिद्ध करने के एकाधिक आधार ज्ञात हो गए हैं।

डॉ० देवदत्त भाण्डारकर के मत के खण्डन में महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझाजी द्वारा दिए गए तर्क हम यहाँ उद्धृत करते हैं:—

"देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर ने विक्रम-संवत् सम्बन्धी अपने लेख में 'गाथासप्तशती' के राजा विक्रम के विषय में लिखते हुए उक्त पुस्तक के रचनाकाल के सम्बन्ध में लिखा है कि "क्या गाथासप्तशती वास्तव में उतना पुराना ग्रंथ है जितना कि माना जाता है? बाण के हर्षचरित के प्रारम्भ के १३वें श्लोक में सातवाहन के द्वारा गीतों के 'कोश' के बनाए जाने का उल्लेख अवश्य है परन्तु इस 'कोश' को हाल की सप्तशती मानने के लिए कोई कारण नहीं है जैसाकि प्रॉ. बेबर ने अच्छी तरह बतलाया है। उसी पुस्तक में मिलनेवाले प्रमाण उसकी रचना का समय बहुत पीछे का होना बतलाते हैं। यहाँ पर केवल दो बातों का विचार किया जाता है। एक तो उस (पुस्तक) में कृष्ण और राधिका का (१।८९) और दूसरा मंगलवार (३।६१) का उल्लेख है। राधिका का सबसे पुराना उल्लेख जो मुझे मिल सका वह पंचतंत्र में है जो ई० स० की पाँचवी शताब्दी का बना हुआ है। ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति ९वीं शताब्दी

* स्मिथ—अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ २३२।

† भाण्डारकर स्मृति-ग्रन्थ, पृष्ठ १८८–१८९।

से प्रचलित हुई, यद्यपि उसका सबसे पुराना उदाहरण बुधगुप्त के ई० स० ४८४ के एरण के लेख में मिलता है। यदि हम गाथा सप्तशती के हाल का समय छटी शताब्दी का प्रारम्भ मानें तो अधिक अनुचित न होगा" (आर० जी० भंडारकर कोम्मेमॉरेशन वॉल्यूम पृ० १८८-८९)। हम उक्त विद्वान् के इस कथन से सर्वथा सहमत नहीं हो सकते क्योंकि बाणभट्ट सातवाहन के जिस सुभाषित रूपी उज्ज्वल रत्नों के कोश (संग्रह, खजाने) की प्रशंसा करता है (अविनाशिनमग्राम्यमकरोत्सातवाहनः। विशुद्धजातिभिः कोशं रत्नैरिव सुभाषितैः ॥१३) वह 'गाथासप्तशती' ही है, जिसमें सुभाषित रूपी रत्नों का ही संग्रह है। यह कोई प्रमाण नहीं कि प्रॉ० बेबर ने उसे गाथासप्तशती नहीं माना इसलिए वह उससे भिन्न पुस्तक होना चाहिए। बेबर ने ऐसी ऐसी कई प्रमाणशून्य कल्पनाएँ की हैं जो अब मानीं नहीं जातीं। प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने भी बेबर के उक्त कथन के विरुद्ध बाणभट्ट के उपर्युक्त श्लोक का सम्बन्ध हाल की सप्तशती से होना माना है (बम्बई, ग्रं; जि० १, भा० २, पृ० १७१तै, ऐसा ही डाक्टर फ्लीट ने (ज० रॉ० ए० सो०; ई० स० १९१६, पृ० ८२०) और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' के कर्त्ता मेरुतुंग ने माना है (प्रबन्ध-चिन्तामणि, पृ. २६)। पाँचवीं शताब्दी के बने हुए पंचतंत्र में कृष्ण और राधिका का उल्लेख होना तो उलटा यह सिद्ध करता है कि उस समय कृष्ण और राधिका की कथा लोगों में भलीभाँति प्रसिद्ध थी, अर्थात् उक्त समय के पहले से चली आती थी। यदि ऐसा न होता तो 'पंचतंत्र' का कर्ता उसका उल्लेख ही कैसे करता? ऐसे ही तिथियों के साथ या सामान्य व्यवहार में वार लिखने की रीति का ९वीं शताब्दी में प्रचलित होना बतलाना भी ठीक नहीं हो सकता, क्योंकि कच्छ राज्य के अंधे गाँव से मिले हुए क्षत्रप रुद्रदामन् के समय के (शक) संवत् ५२ (ई० स० १३०) के ४ लेखों में से एक लेख में 'गुरुवार' लिखा है। (वर्षे द्विपंचाशे ५२-२ फाल्गुण बहुलस द्वितीया वी २ गुरुवास (रे) सिंहलपुत्रस ओपशतस गोत्रस० स्वर्गीय आचार्य वल्लभजी हरिदत्त की तय्यार की हुई उक्त लेख की छाप से) जिससे सिद्ध है कि ई० स० की दूसरी शताब्दी में वार लिखने की रीति परम्परागत प्रचलित थी। राधिका और बुधवार के उल्लेख से ही 'गाथासप्तशती' का छटी शताब्दी में बनना किसी प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता है। डॉ० रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने भी गाथासप्तशती के कर्ता हाल को आंध्रभृत्य वंश के राजाओं में से एक माना है (बम्बई ग्रॅं; जिल्द १, भाग २, पृ. १७१) जिससे भी उसका आंध्रभृत्य (सातवाहन) वंशियों के राजत्वकाल में अर्थात् ई० स० की पहिली या दूसरी शताब्दी में बनना मानना पड़ता है।*"

'गाथासप्तशती' में विक्रमादित्य के उल्लेख से जहाँ उसकी ऐतिहासिकता पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ उसके गुणों पर भी प्रकाश पड़ता है। विक्रमादित्य अपार दानी था, यह लोक कल्पना पिछले विक्रमादित्य विरुदधारियों के कारण ही अस्तित्व में नहीं आई है, वह मूल विक्रमादित्य के विषय में भी थी, यह बात सप्तशती की विक्रम विषयक गाथा से स्पष्टतया प्रकट होती है। वह गाथा इस प्रकार है :—

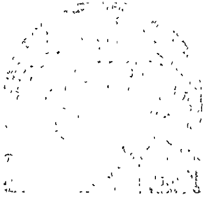
"संवाहण सुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं।
चलणेण विक्कमाइच्च चरिअमणुसिक्खअं तिस्सा ॥४६४॥

इस गाथा में चरणों के संवाहन के सुखरस से तुष्ट हुई नायिका द्वारा विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण करके "लक्खं" (लाल रंग की लाख या लक्ष मुद्रा) नायक के कर में दिए जाने का भाव प्रकट किया गया है। इसके शृंगार पर के भाव के अनूठेपन से हमें कोई सम्बन्ध नहीं है, न हमें कवि के उपमेय से सम्बन्ध है, हम तो इस गाथा के उपमान 'विक्रमादित्य' पर ही विचार करेंगे। वह विक्रमादित्य ऐसा था जो केवल चरण-स्पर्श से प्रसन्न होकर लाखों मुद्राएँ दान दे देता था।

इस गाथा से विक्रमादित्य के दान का पता तो चलता ही है, परन्तु आज के वातावरण में-जबकि विक्रमादित्य के अस्तित्व पर ही शंका की जा रही है अधिक महत्त्व की सूचना तो यह है कि विक्रमीय द्वितीय शताब्दी के पूर्व एक विक्रमादित्य था। इस प्रकार विक्रमीय संवत्सर के प्रवर्त्तन का सेहरा चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा अन्य तथाकथित संवत् प्रवर्त्तकों के सिर नहीं बाँधा जा सकता।

विक्रमीय संवत् की तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में (संवत् १२०५ वि० के लगभग) लिखी गई कल्हण की प्रख्यात राजतरंगिणी में भी शकारि विक्रमादित्य का उल्लेख मिलता है। परन्तु इसके द्वारा विक्रम-समस्या में गड़बड़ी ही फैली है।

*** प्राचीन लिपिमाला, पृष्ठ १६८-१६९।**



वैक्रम अनुश्रुति

सबसे पहले विक्रमादित्य का उल्लेख कल्हण ने राजतरंगिणी की दूसरी तरंग के पाँचवें तथा छठवें श्लोक में किया है—

"अथ प्रतापादित्याख्यास्तैरानीय दिगन्तरात्।
विक्रमादित्य भूभर्तुर्ज्ञातिस्त्राभिषिच्यत ॥५॥
शकारि विक्रमादित्य इति संभ्रममाश्रितैः।
अन्यैरत्रान्यथालेखि विसंवादिकदर्थितम् ॥६॥

प्रतापादित्य विक्रमादित्य का रिश्तेदार था, यह लिखकर कल्हण ने यह टिप्पणी की है कि यह वह विक्रमादित्य नहीं जो शकारि था, जैसाकि कुछ लोग भ्रमवश मानते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राजतरंगिणीकार के समय में यह विवाद था कि प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि था या नहीं। कल्हण ने अपना यह मत स्थिर किया है कि इस प्रतापादित्य का बान्धव विक्रमादित्य शकारि नहीं था। कल्हण के मस्तिष्क में केवल एक ही 'शकारि' की भावना थी।

इस प्रतापादित्य का समय राजतरंगिणी की गणना से लगभग १६९ ई० पू० होता है। अतः यह उल्लेख मूल विक्रमादित्य का ही हो सकता है और एक सौ बारह वर्ष का अन्तर कालगणना की भूल के कारण हो सकता है। इस काल की कल्हण की गणना ठीक मानी भी नहीं जा सकती।

कल्हण ने जिस विक्रमादित्य को शकारि माना है वह मातृगुप्त का आश्रयदाता विक्रमादित्य है। वह लिखता है—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः।
एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत ॥१२५॥

काश्मीर में मातृगुप्त के राज्य के समय में उज्जयिनी में किसी हर्ष विक्रमादित्य का राज्य नहीं था। दसवीं शताब्दी में मालवे में एक हर्षदेव परमार अवश्य हुए हैं। फिर यह कल्हण के 'शकारि' हर्ष विक्रमादित्य कौन हो सकते हैं। मातृगुप्त के समय में मालवे पर स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का शासन था। अतः अनुमान यह किया जाता है कि उक्त श्लोक का मूल पाठ 'श्रीमान् हर्ष पराभिधः' के स्थान पर 'श्री स्कन्द पराभिधः' होगा। और स्कन्दगुप्त के लिए ही कल्हण ने आगे लिखा है—

म्लेच्छोच्छेदाय वसुधां हरेरवतरिष्यतः।
शकान्विनाश्य येनादौ कार्यभारो लघूकृतः॥

परन्तु चूंकि कल्हण इस एक विक्रम विरुदधारी को शकारि समझता था इसलिए उसने प्रतापादित्य के समकालीन विक्रमादित्य के शकारित्व पर अविश्वास किया। काश्मीर के इतिहास को केन्द्रविन्दु बनानेवाले इतिहासकार कल्हण ने ५७ ई० पू० के मालव विक्रमादित्य के अस्तित्व पर यदि नहीं, तो कम से कम उनके शकारित्व पर शंका का सूत्रपात किया था। परन्तु हमें तो उनसे केवल एक बात लेनी है; वह यह कि ई० पू० में एक विक्रमादित्य था। उस समय उज्जैन से उसने शकों को खदेड़ भगाया था यह बात हम दूसरी अनुश्रुतियों से पूर्णतः पुष्ट कर सके हैं।

ज्योतिर्विदाभरण कालिदास नामक ज्योतिषी ने लिखा है। यह कालिदास अपने आपको विक्रमकालीन महाकवि कालिदास मनवाने पर तुला हुआ है। वह अपने आपको उज्जयिनी पति विक्रम का मित्र बतलाता है, रघुवंश आदि तीनों काव्यों का कर्त्ता कहता है। वह पुस्तक का रचनाकाल भी संवत् २४ वि० लिखता है। परन्तु इस पुस्तक की घटिया रचनाशैली कहती है कि यह ग्रन्थ रघुवंश के रचयिता का नहीं हो सकता। दूसरे संवत् २४ विक्रमीय में की गई इस रचना में वि० सं० १३५ में प्रारम्भ होनेवाले शक-संवत् का भी उल्लेख है, जिससे उक्त ग्रन्थ की भ्रामक तिथि भी प्रकट होती है। परन्तु इस ग्रन्थ को अप्रामाणिक मानने में हमारे अनेक मित्रों का जी दुखता है। इस विवाद में पड़ना यहाँ अभीष्ट भी नहीं है, अतः हम यहाँ तो केवल इतना ही कह देना चाहते हैं कि "भारतीय ज्योतिः शास्त्र" में श्री० शंकर बालकृष्ण दीक्षित इस ग्रन्थ का रचनाकाल विक्रमीय तेरहवीं शताब्दी के अन्त में मानते हैं।

इस ग्रन्थ में विक्रम की सभा के जो नवरत्न गिनाए गए हैं उनका उल्लेख हो चुका है। उनके अतिरिक्त मणि, अंशु, गिष्णु, त्रिलोचन, हरि कवि तथा सत्य, श्रुतसेन, बादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह ज्योतिषी और गिनाए हैं। उसकी

सेना भी बहुत विशाल बताई है। तीन करोड़ पैदल सिपाही, दस करोड़ अश्वारोही, चौबीस हजार हाथी के अतिरिक्त उसके पास चार लाख नावें भी बतलाई हैं। उसने ९५ शक राजाओं को हराकर अपना संवत् चलाया। (कालकाचार्य कथानक के ९६ 'साहियों' से यह संख्या मिलती है) इस ग्रन्थ में यह भी लिखा है कि विक्रमादित्य रूम देश के 'शक' राजा को जीतकर उज्जैन लाया, परन्तु फिर उसे छोड़ दिया। (रोम सम्राट् को विक्रमादित्य हराकर उज्जैन लाए या नहीं, इस विषय में तो हम मौन रहना ही श्रेयस्कर समझते हैं, यहाँ हम केवल इतना लिखना उचित समझते हैं कि उस समय, अर्थात् ५७ ई० पू० के आसपास, रोम में परम प्रतापी जूलियस सीजर प्रभावशील था और ४५ ई० पूर्व में रोम की सीनेट ने उसे आजीवन डिक्टेटर बना दिया था।)

समन्वय—विक्रमादित्य सम्बन्धी अनुश्रुतियों का दिग्दर्शन हम कर चुके हैं। अब इन सब विभिन्न कथाओं का समन्वय कर हम विक्रमादित्य का अनुश्रुति-सम्मत रूप प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे।

सबसे प्रथम तो विक्रमादित्य के माता-पिता, भाई, बान्धव मंत्री आदि के नामों को ही लेते हैं। यह सब एक स्थल पर नीचे की सरिणी से एक दृष्टि में ज्ञात होंगे :—

	कालक-कथा	कथासरित्सागर	बेतालपच्चीसी	भविष्य पुराण	सिंहासनबत्तीसी	प्रबन्ध चिन्तामणि
	१	२	३	४	५	६
पिता ..	गर्दभिल्ल..	महेन्द्रादित्य ..	गन्धर्वसेन	गन्धर्वसेन	गर्दभ वेशधारी गंधर्व, (केवल जैन पाठ में)	..
माता ..	..	सौम्यदर्शना ..	..	वीरमती ..	मदनरेखा (केवल जैन पाठ में)	..
भाई ..	..	..	१. शंख... २. भर्तृहरि	१. शंख .. २. भर्तृहरि	भर्तृहरि (जैन पाठ)	भर्तृहरि
पुत्री ..	..	..	..	..	..	प्रियंगुमंजरी
विवाह ..	..	सात पत्नियाँ .. मलयावती, मदन-लेखा, आदि	..	..	..	..
पुरोहित ..	..	..	..	..	१. त्रिविक्रम	..
मंत्री ..	..	..	..	..	२. वसुमित्र	..
सेनापति ..	..	विक्रमशक्ति ..	..	..	भट्टि, बहिसिन्धु चन्द्र ..	..

साथ ही इन सब कथाओं को एक में मिलाकर जो विक्रम चरित्र बनता है उसे अत्यन्त संक्षेप में नीचे दिया जाता है :—

१. जन्म, माता-पिता और भाई—विक्रमादित्य के जन्म के सम्बन्ध में अनेक असाधारण एवं अलौकिक बातें सम्मिलित हो गई हैं। विक्रमादित्य भारतीय अनुश्रुति में अत्यन्त महान् व्यक्ति माने गए हैं। ऐसे व्यक्ति का जन्म किसी विशेष उद्देश्य से होता है। राम और कृष्ण के जन्म का हेतु धर्म की स्थापना, दुष्टों का दलन एवं सन्तों की रक्षा था। उसी प्रकार विक्रम का जन्म भी भविष्य पुराण के अनुसार 'शकानांश्च विनाशार्थं' एवं 'आर्यधर्म विवृद्धये' हुआ था। कथा-सरित्सागर के अनुसार भी उसका अवतरण म्लेच्छों से आक्रान्त पृथ्वी के उद्धार के लिए हुआ था। इन दोनों कथाओं में शिवजी के गण 'माल्यवान्' ने विक्रमादित्य के रूप में अवतार लिया था।

प्रबन्ध चिन्तामणि में विक्रम के पिता का नाम नहीं दिया और न उनके जन्म में कोई अलौकिकता बतलाई गई है। सिंहासनबत्तीसी के जैन पाठ में गर्दभरूपधारी गन्धर्व है, कालकाचार्य कथा में गर्दभिल्ल तथा वेतालपच्चीसी और भविष्यपुराण में गन्धर्वसेन है। इन सब नामों में बहुत अधिक ध्वनिसाम्य है। कथासरित्सागर का 'महेन्द्रादित्य' नाम अवश्य भिन्न है। माता के नाम में तो साम्य बिलकुल नहीं है।

२. **राज्यप्राप्ति**—प्रबन्ध चिन्तामणि ने विक्रम को गरीब तथापि स्वाभिमानी राजपुत्र बतलाया है। उसने अग्निवेताल से लड़कर अवन्ति का राज्य प्राप्त किया। कथासरित्सागर, भविष्यपुराण, कालककथा, सिंहासनबत्तीसी एवं वेतालपच्चीसी सभी उसे राजा का बेटा बतलाते हैं, इनमें से कुछ में वह भाई शंख से राज्य लेता है, कुछ में भर्तृहरि से तथा कुछ में सीधा अपने पिता से।

३. **राज्य-विस्तार**—विक्रमादित्य का राज्य विस्तार भी अत्यधिक बतलाया गया है। कथासरित्सागर में उन देशों की गणना कराई गई हैं (पीछे देखिए)। कथासरित्सागर का विक्रमादित्य सिंहल, मलयदीप आदि के राजाओं का मित्र था। सिंहासन बत्तीसी के अनुसार पाण्ड्यदेश से इसे कर मिलता था। वास्तव में अनुश्रुति का विक्रम समस्त संसार का एकछत्र सार्वभौम सम्राट् था, रूम और चीन तक तो वह विजय करने जाया करता था और फारस के राजा को उसका सेनापति ही बाँध लाता था।

४. **शौर्य, दान एवं परोपकार**—राजा विक्रमादित्य की युद्ध-वीरता की कथा वर्णन करने में अनुश्रुति ने अधिक समय नहीं लगाया। परन्तु दूसरे की थोड़ीसी भलाई के लिए वह अपने प्राण देने को भी नहीं चूकता था। करोड़ों की संख्या में वह दान देता था। संसार को ऋण-ग्रस्त देख वह सबको ऋणहीन करने पर कटिबद्ध हो जाता था। अपने प्राणों की बाजी लगाकर प्राप्त हुई सिद्धियों को वह बिना सोचे समझे दे डालता था। यहाँ तक कि अपने विरुद्ध युद्ध करते हुए शालिवाहन के आदमी को वह अमृत दे देता है।

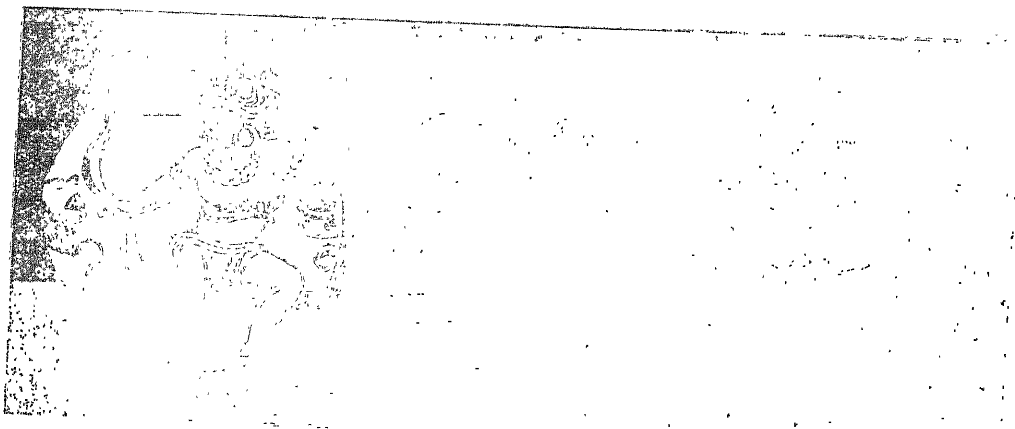
५. **विक्रम-राज**—तुलसीदास ने रामराज्य में सभी सुखों की कल्पना की है। हमें भी सिंहासनबत्तीसी में विक्रम-राज की बड़ी विशद एवं सुन्दर कल्पना मिली है। उन उद्धरणों को पूरा पूरा हम पीछे दे चुके हैं। दिन रात प्रजा पालन में तत्पर, परदुखपरायण विक्रम की प्रजा सुखी हो यह स्वाभाविक ही है।

६. **संवत-प्रवर्त्तन**—विक्रमादित्य ने संवत्-प्रवर्त्तन कब और कैसे किया इसके विषय में अनुश्रुति में बहुत स्पष्ट उल्लेख नहीं है। प्रबन्ध-चिन्तामणि में विक्रम की मृत्यु से संवत् का प्रारम्भ माना है। सिंहासन बत्तीसी में पृथ्वी को ऋण-हीन करके संवत् प्रवर्त्तन किया है। कालक-कथा के अनुसार शकों को हराकर विक्रम ने संवत् प्रवर्त्तन किया।

७. **शालिवाहन और विक्रम की मृत्यु**—जन्म के समान ही विक्रमार्क का अवसान भी लोककथा अत्यन्त रहस्य-पूर्ण बतलाती है। विक्रम का प्रतिष्ठान के शालिवाहन से वैर भी लोक-प्रसिद्ध हो गया है। कुछ ग्रन्थों में शालिवाहन प्रतिष्ठान का राजा है, कुछ में ढाई वर्ष की बालिका से उत्पन्न शेषनाग का पुत्र। परम पराक्रमी विक्रम को मारनेवाला शालिवाहन भी अलौकिक बन गया।

८. **सिंहासन आदि**—विक्रम का सिंहासन और उनके मित्र वैताल के साथ साथ वररुचि, कालिदास आदि भी इन कथाओं में कहीं कहीं दिखाई देते हैं। विक्रम का सिंहासन तो भारतीय कथा साहित्य की अत्यन्त आकर्षक वस्तु बन गई है। विक्रम के अतिरिक्त उसपर कोई दूसरा बैठ ही नहीं सकता। उसपर बैठ कर न्याय बुद्धि एवं शासन-क्षमता, उदारता आदि का अपने आप उदय होता है।

उपसंहार—वैक्रम-अनुश्रुति के महासागर में से यह कुछ रत्न परखकर उनकी लोकरंजनकारी द्युति का विवेचन यहाँ किया है। विशुद्ध ऐतिहासिक सामग्री यदि अस्थियों का पंजर है तो लोककथा उसके ऊपर चढ़ा हुआ माँस एवं चर्म है। यह एक दूसरे के पूरक हैं। इससे यह स्पष्ट है कि लोक मस्तिष्क में इतना गहरा प्रविष्ट होनेवाला परदुखभंजन, जन-मन-रंजन, दानी, संवत्-प्रवर्त्तक वीर विक्रमादित्य केवल कल्पना मात्र नहीं हो सकता। इतना अवश्य है कि पिछले विक्रमादित्य उपाधिधारी सम्राटों की छाया ने मालवगण-नायक मूल विक्रम की तसवीर को लोक-मस्तिष्क रूपी पट पर अत्यन्त गहरे रंगों से रँग दिया है। गुप्तवंशीय सम्राटों के विक्रमादित्य विरुद के कारण यह गण-नायक सम्राट् बना, उनकी दिग्विजयों को देखकर उस स्वातन्त्र्य प्रेमी जाति के नेता को रोम, फारस, मलय, लंका आदि का विजेता बनना पड़ा। यह सब कुछ होते हुए भी लोक कल्पना का विक्रमादित्य अपने आप में पूर्ण है, इसे इतिहासज्ञों के निर्णय की चिन्ता नहीं, उसकी मूर्ति भारतीय संस्कृति की प्रतीक बन गई है, उसका संवत् भारत का राष्ट्रीय एवं धार्मिक संवत्सर हो गया है। भारतीय संस्कृति की अजस्र धारा के साथ एवं विक्रम-संवत् की अनन्त यात्रा के साथ वीर विक्रमादित्य का नाम भी अमर रहेगा।



सम्राट् समुद्रगुप्त

श्री डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी, एम० ए०, पी-एच० डी० (लण्डन),

प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास में समुद्रगुप्त एक शक्तिशाली सम्राट् एवं विजेता हुआ है। वह अपनी तीव्र रणप्रवृत्ति के कारण अशोक के ठीक प्रतिकूल कहा जा सकता है। अशोक के हृदय पर तो एक ही युद्ध की भयंकरता ने भारी आघात पहुँचाया था। कलिंग के सहस्त्रों वीरों को हताहत देखकर और उनके बन्धुजनों के रोमांचकारी रुदन को सुनकर उसे घोर आत्मग्लानि हुई, और तदुपरान्त वह दयाप्रधान बौद्धधर्म की शरण में गया। तबसे उसने "धर्म्मविजय" की पताका फहराई, और शान्ति तथा अहिंसा का प्रसार किया। किन्तु इसके विपरीत समुद्रगुप्त ने अपने सामने शस्त्र द्वारा दिग्विजय का लक्ष्य रक्खा। वैष्णव होते हुए भी वह क्षात्र-धर्म का पूर्ण परिपालन करनेवाला था। उसने भरसक यह प्रयत्न किया कि खड्ग के बल से अन्य राज्यों का उन्मूलन कर भारत में अपनी सत्ता स्थापित करे और वह उसका एकछत्र सम्राट् माना जाय।

समुद्रगुप्त के गुणों तथा सफल उद्योगों का वृत्तान्त विशेषकर इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख से उपलब्ध हुआ है।* इस पाषाण-स्तम्भ पर, जो अब गंगा और यमुना के संगमवाले किले के भीतर है † एक ओर सन्धिविग्रहिक कुमारामात्य

* खेद है इस लेख में कोई तिथि नहीं दी हुई है। डा० फ्लीट (Dr. Fleet) के मत से यह समुद्रगुप्त के मरने के पश्चात् उत्कीर्ण किया गया था, किन्तु यह उनका भ्रम था। जिस वाक्य के आधार पर उन्होंने यह निश्चय किया था कि समुद्रगुप्त की मृत्यु की ओर संकेत है, उसका ठीक अर्थ यह है कि सम्राट् के विजयवर्धित-यश के फैलाव के लिए भूमण्डल पर्याप्त न था, अतएव वह स्वर्ग में भी जाकर व्याप्त हुआ। दूसरे, इस स्तम्भ पर समुद्रगुप्त के अश्वमेध यज्ञ का कोई उल्लेख न होना भी यही सिद्ध करता है कि यह लेख उसके जीवन में ही उत्कीर्ण हुआ था।

† ऐसा अनुमान किया जाता है कि शायद अशोक ने पहले इस स्तम्भ को कौशाम्बी में, जहाँ के महामात्रों को वह अपने लेख में सम्बोधित करता है, खड़ा करवाया था, और बाद को अकबर ने वहाँ से उखड़वाकर प्रयाग भेज दिया था। ह्वानच्वांग (Yuan Chwang) जब अपनी भारत यात्रा के समय (६२९-४५ ई०) घूमता हुआ प्रयाग पहुँचा, तब उसने इस स्तम्भ को वहाँ नहीं देखा था।

महादण्डनायक हरिषेणविरचित समुद्रगुप्त की अनेक समर सम्बन्धी भीषणकथा उत्कीर्ण है और दूसरी ओर अशोक के दया एवं अहिंसा से भरे अमृतरूपी सदुपदेश। इसके अतिरिक्त समुद्रगुप्त का एक लेख मध्यप्रान्त के सागर जिला में एरन (प्राचीन ऐरिकिन) नामक ग्राम में मिला है, और दो ताम्रपत्र भी–पहला नालन्दा (बिहार प्रान्त) में और दूसरा अयोध्या में। ये दोनों ताम्रपत्र उसके क्रमशः पाँचवें तथा नवें वर्ष में उत्कीर्ण किये गये थे, किन्तु उनके मिश्रित अक्षरों तथा अशुद्ध भाषा को देखकर विद्वान् लोग यह समझते हैं कि शायद ये दोनों लेख पीछे के एवं जाली हैं।

समुद्रगुप्त ने अपने शौर्य एवं प्रताप की सूचक कई उपाधियाँ धारण कीं, जैसे सर्वराजोच्छेत्ता*, पराक्रमांक, व्याघ्र-पराक्रम, अश्वमेधपराक्रम, महाराजाधिराजश्री इत्यादि। उसके हाथ में गरुड़ध्वज लिए राजमूर्तिवाले (Standard type) सोने के सिक्कों पर एक ओर "समरशतवितविजयो जितारिपुरजितो दिवं जयति" खुदा है, और बहुधा दूसरी ओर "पराक्रमः"। किन्तु १९४० ई० में इन्दौर राज्य के निमार (Nimar) जिला के भीखनगाँव (Bhikangaon) परगना के अन्तर्गत बमनाला (Bamnala) ग्राम में समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के काल के इक्कीस सोने के सिक्के प्राप्त हुए थे †। इनमें से समुद्रगुप्त के समय के आठ सिक्के थे–सातध्वजवाले सिक्के और एक हाथ में वीणा लिए राजमूर्तिवाला सिक्का (Lyrist type)। प्रथम प्रकार के सिक्कों में से एक ऐसा है जिसके एक ओर "पराक्रमः" जो उन पर अक्सर लिखा मिलता है उसके स्थान पर "श्रीविक्रमः" अंकित है। इसलिए इस सिक्के की प्राप्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। अब स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि क्या चन्द्रगुप्त द्वितीय की भाँति समुद्रगुप्त भी "श्रीविक्रम" विरुदधारी था? इस नये सिक्के की दूसरी तरफ (reverse) को यदि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के धनुषवाले (Archer type) सिक्कों की दूसरी तरफ से मिलावें तो उनमें विचित्र समता दीख पड़ती है। इस प्रकार के सिक्कों को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शायद अपने राजत्वकाल के प्रारम्भ में चालू किया था। इसलिए यह सम्भव है कि बमनालावाला समुद्रगुप्त का वह सिक्का जिस पर दूसरी ओर (reverse) "श्रीविक्रमः" लिखा है चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय में ही जारी किया गया हो, और भूल से उसके पहली तरफ (obverse) चन्द्रगुप्त के धनुषवाले (Archer type) सिक्कों के ठप्पा को न लगाकर उसी साँचे का इस्तेमाल किया हो जो समुद्रगुप्त के राज्यकाल में प्रचलित था। कुछ सिक्कों पर लगने के बाद जब यह गलती मालूम की गई तो वह ठप्पा लगाना एकदम बन्द कर दिया गया। यदि इस तर्क में कुछ तत्त्व है तो इस सिक्के का ऐतिहासिक खोज की दृष्टि से कुछ भी महत्त्व न होगा। तब यही मानना पड़ेगा कि वह वस्तुतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का सिक्का है, केवल उसपर लापरवाही से समुद्रगुप्त का ठप्पा लगा दिया गया है। परन्तु बिना किसी अन्य प्रमाण के ऐसा मत निर्धारित करना बिलकुल उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है। क्या यह नहीं हो सकता है कि अपनी शक्ति तथा यश को चतुर्दिक् फैलाकर समुद्रगुप्त ने स्वयं "पराक्रम" उपाधि से "श्रीविक्रम" को अधिक पसन्द किया हो? इसके विरुद्ध यह बात अवश्य कही जा सकती है कि ध्वजवाले सिक्के (Standard type) समुद्रगुप्त के राजत्वकाल के प्रारम्भ में चलाये गये थे, और यदि उसने तब यह नया विरुद धारण किया था तो क्या कारण है कि वह केवल एक सिक्के को छोड़कर किसी दूसरे प्रकार के सिक्के पर नहीं मिलता है। परन्तु यह दलील निर्णयात्मक नहीं हो सकती है, क्योंकि, जैसा श्रीदिस्कलकरजी लिखते हैं, क्या यह मुमकिन नहीं है कि समुद्रगुप्त के शासन के अन्त में भी ध्वजवाले सिक्के (Standard type) जारी किये गये हों। सम्भवतः बमनालावाला वह सिक्का जिस पर "श्रीविक्रम" उत्कीर्ण है उन्हीं में से एक है। अतएव यह मानने में विशेष आपत्ति नहीं दीखती कि गुप्तवंश में समुद्रगुप्त ही पहला सम्राट् था जिसने "श्रीविक्रम" की प्रसिद्ध उपाधि धारण की थी।

---

* **प्रवरसेन द्वितीय के समय के प्रभावती गुप्ता के रिथपुर** (Rithpur) **ताम्रपत्र लेख (देखिये** D. C. Sircar, *Select Inscriptions*, Vol. I, p. 416) **से स्पष्ट है कि यह उपाधि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने भी धारण की थी।**

† **देखिए** D. B. Diskalkar, *Journal of the Numismatic Society of India*, Vol. V, pt. II, pp 1, f.

श्री डॉ० रमाशंकर त्रिपाठी

सोने के कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनपर "कच" अथवा "काच" नाम अंकित है। वह कौन था, इस पर विद्वानों में बड़ा मतभेद है। डॉ० विंसेण्ट स्मिथ के मतानुसार वह समुद्रगुप्त का कोई विरोधी भाई था*। यह ठीक है कि भविष्योत्तर पुराण के कलियुग राजवृत्तान्त† में समुद्रगुप्त के "कच" नाम के एक सौतेले भाई का उल्लेख है ‡। किन्तु उक्त पुस्तक प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती। उसमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन थोड़ा है, और अधिकतर किंवदन्तियों का संग्रह है। फिर उसमें बाद को काफी अंश मिला भी दिये गये हैं। डॉ० डी० आर० भाण्डारकर❙ के विचार में "काच" वाले सिक्के रामगुप्त नामक राजा के हैं। इसकी ऐतिहासिकता 'देवीचन्द्रगुप्तं' नाम के नाटक पर निर्भर है। यह नाटक तो अब उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसके कुछ उद्धरण रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र रचित 'नाट्यदर्पण' ग्रन्थ में मिलते हैं। डॉ० भाण्डारकर का विश्वास है कि "काच" तो गलती से इन सिक्कों पर खुद गया है; वास्तव में होना चाहिए "राम", क्योंकि गुप्तकाल के अक्षरों में थोड़ेही फेरफार से 'र' का 'क' और 'च' का 'म' पढ़ा जा सकता है। इन सिक्कों के दूसरी ओर (reverse) राजमूर्ति के बाएँ हाथ के नीचे 'काच' और चारों तरफ उपगीति छन्द में "काचोगामवजित्य दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति", और फल लिए खड़ी हुई लक्ष्मीदेवी की दाहिनी तरफ "सर्वराजोच्छेत्ता" लिखा है। इन सिक्कों के "दिवं कर्मभिरुत्तमैर्जयति" की समुद्रगुप्त के धनुषवाले (Archer type) सिक्कों के "सुचरितैर्दिवं जयति" लेख से बिलकुल समानता है। इसलिए इन "काच" वाले सिक्कों को शायद समुद्रगुप्त ने चलाया हो। पर ऐसा मान लेने के पहले यह जान लेना चाहिए कि इन सिक्कों का लेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के 'छत्र' वाले सिक्कों के लेख से भी बहुत मिलता है, जैसा "क्षितिमवजित्य सुचरितैर्दिवम् जयति विक्रमादित्यः" से स्पष्ट है। फिर प्रवरसेन द्वितीय के काल के प्रभावती गुप्ता के रिथपुर (Rithpur) ताम्रपत्र लेख से यह ज्ञात है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की भी एक उपाधि "सर्वराजोच्छेत्ता" थी। तब क्या "काच" वाले सिक्के चन्द्रगुप्त द्वितीय के नहीं हो सकते हैं? परन्तु इसको मानने में अड़चन यह है कि ये सिक्के शैली (style), बनावट (execution) तथा तोल (weight) में समुद्रगुप्त के अन्य सिक्कों के ही समान हैं। दूसरे "सर्वराजोच्छेत्ता" समुद्रगुप्त के लिए अधिक उचित उपाधि प्रतीत होती है, क्योंकि उसने अनेक समकालीन राजाओं को युद्ध में हराया था। तीसरे "कर्मभिरुत्तमैः" से उसके अश्वमेधयज्ञादि का, जिसमें उसने ब्राह्मणों को प्रचुर दान दिया था, संकेत मालूम पड़ता है। अतएव "काच" शायद समुद्रगुप्त का नाम था, और वह सिक्के उसी के चलाये हुए थे। किसी नरेश का यह नाम होना असम्भव नहीं। गुप्तकाल के कुछ बाद की अजन्ता की एक गुफा के लेख में दो नृपों का नाम 'काच' लिखा हुआ है ♁। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय के मन्त्री वीरसेन का नाम 'साब' था ⁂। ऐसा मालूम पड़ता है कि समुद्रगुप्त का पहले का नाम "काच" था, और अपनी विजयों के पश्चात् जब वह आसमुद्रक्षितीश हो गया और उसका यश चारों समुद्र पर्यन्त फैल गया (चतुरुदधिसलिलास्वादितयशः), तब उसने अपना नाम समुद्रगुप्त रख लिया। प्राचीनकाल में राजाओं के अक्सर एक से अधिक नाम होते थे। यथा, चन्द्रगुप्त द्वितीय को देवगुप्त अथवा देवराज भी कहते थे। ऐसे ही शायद समुद्रगुप्त का नाम "काच" था।

समुद्रगुप्त अपने पिता चन्द्रगुप्त प्रथम के पश्चात् सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी माता का नाम कुमारदेवी था। वह लिच्छवि वंश की थी, यह सिक्कों और उत्कीर्ण लेखों से स्पष्ट है। जॉन ऐलन (John Allan) महोदय ⁑ के मतानुसार समुद्रगुप्त ने अपने माता पिता की स्मृति में कुछ सिक्के चलाये थे, जिन्हें विद्वान् लोग चन्द्रगुप्त प्रथम प्रकार

---

* *Early History of India*, 4th ed., p. 297, N. 1.

† M. Krishnamachariar, *History of Classical Sanskrit Literature*, Introduction, pp. CII-III.

‡ *Journal of the Numismatic Society of India*, Vol. V, pt. II.

❙ *Malaviyaji Commemoration Volume*, 1932, pp. 204-06.

♁ *Arch. Surv. West Ind.*, Vol. IV, p. 129, ll. 4, 6.

⁂ *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, No. 6 p. 34.

⁑ *Catalogue of Coins of the Gupta Dynasties*, Introd., p. XVIII.

(Chandragupta I type) के सिक्के कहते हैं। इनके पहली ओर (obverse) बाईं तरफ खड़ा हुआ चन्द्रगुप्त प्रथम कुछ वस्तु (अँगूठी या कड़ा ?) कुमारदेवी को दे रहा है, जो उसके दाहिनी तरफ बाएँ मुंह किये खड़ी है। चन्द्रगुप्त प्रथम अपने बाएँ हाथ में अर्धचन्द्राकार ध्वजा लिए हुए है। उसके दोनों तरफ "चन्द्रगुप्त" लिखा हुआ है, और बाएँ तरफ "कुमारदेवी"। इन सिक्कों के दूसरी ओर (reverse) दाहिनी तरफ मुंह किये हुए सिंह पर लक्ष्मी-देवी बैठी हैं। उसके बाँईं तरफ एक चिन्ह (symbol) बना है, और दाहिनी तरफ "लिच्छवयः" लिखा है। परन्तु कुछ विद्वान् इन सिक्कों को स्मृति तमगे नहीं मानते। वे इनको चन्द्रगुप्त प्रथम के ही सिक्के कहते हैं*। यह हो सकता है कि उसने लिच्छविकुमारी "श्रीकुमारदेवी" के साथ अपना विवाह होने के उपलक्ष में इन सिक्कों को चलाया हो। यह सम्बन्ध चन्द्रगुप्त प्रथम के उत्थान का कारण हुआ, और शायद इसीलिए लेखों में समुद्रगुप्त गर्वपूर्वक "लिच्छविदौहित्रः" कहा गया है।

इसका ठीक पता नहीं है कि समुद्रगुप्त अपने पिता का ज्येष्ठ पुत्र था अथवा नहीं। किन्तु इलाहाबाद के स्तम्भ पर यह अवश्य लिखा है कि उसको चन्द्रगुप्त प्रथम ने स्वयं अपना उत्तराधिकारी चुना था। इससे अन्य कुमार बहुत उदासीन हुए (तुल्यकुलजम्लाननानोद्वीक्षितः), और सभासद लोग प्रफुल्लित (सभ्येषूच्छ्वसितेषु) भावों के उद्वेग से चन्द्रगुप्त प्रथम का शरीर रोमाञ्चित हुआ, और अपने पुत्र को सर्वथा योग्य बताते हुए उसने उसका आलिंगन किया (आर्योहीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितैः रोमभिः)। फिर उसको स्नेहाश्रुभरे नेत्रों से देखकर कहा कि इस पृथ्वी की रक्षा करो—

स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा।
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमूर्वीमिति॥

चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को अपना उत्तराधिकारी उसकी शूरता व बुद्धिमत्ता के कारण तो चुना ही था, परन्तु उसमें श्रीकुमारदेवी का भी हाथ कुछ अवश्य रहा होगा।

डॉ॰ जायसवालजी के मतानुसार† जब चन्द्रगुप्त प्रथम ने समुद्रगुप्त को पृथ्वी के पालन करने का निर्देश दिया था, उस समय वह मगध की गद्दी से च्युत था। उस प्रसिद्ध विद्वान् के मत में गुप्त लोग कारस्कर जाट थे, और कौमुदीमहोत्सव नामक पुस्तक का चण्डसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम एक ही व्यक्ति थे‡। चण्डसेन को मगध के राजा, सुन्दरवर्मन् ने, जिसकी राजधानी पाटलिपुत्र थी, गोद लिया था। किन्तु इसके पश्चात् उसके एक पुत्र हुआ, जिसका नाम कल्याणवर्मन् रखा गया। चण्डसेन बड़ा होने के कारण अपने को उत्तराधिकारी समझता था। कौमुदीमहोत्सव में लिखा है कि उसने मगध-राज के शत्रु लिच्छवियों से विवाह सम्बन्ध स्थापित किया। उन लोगों ने मगध पर चढ़ाई कर दी। बूढ़ा सुन्दरवर्मन् लड़ाई में मारा गया। भयग्रस्त मन्त्री कुमार कल्याणवर्मन् के प्राण बचाने के लिए उसको लेकर किष्किन्धापर्वत की ओर चले गए§। अब चण्डसेन अथवा चन्द्रगुप्त ने लिच्छवियों की सहायता से मगध में निरंकुश शासन किया। लोग उसके अत्याचार से त्रसित हुए। उन्होंने इस आततायी पिताद्रोही कारस्कर दत्तक के प्रति विद्रोह का झण्डा उठाया। पम्पासर से जनता ने कल्याणवर्मन् को फिर बुलाया, और सुगांग नामक राजमहल में समारोह के साथ उसका अभिषेक किया। चण्डसेन को हार माननी पड़ी, और मगध छोड़कर भागना पड़ा। डॉ॰ जायसवाल के मत में यह घटना लगभग ३४० ई॰ के हुई थी, जब चन्द्रगुप्त रोहतास और अमरकण्टक के बीच शबरों से युद्ध कर रहा था॥। इस विप्लव के बाद अथवा बीच में चन्द्रगुप्त की मृत्यु हो गई, और उसके पुत्र समुद्रगुप्त को मगध की राजलक्ष्मी छीनने के लिए फिर उद्योग करना पड़ा।

---

* *J. A. S. B.*, Numismatic Supplement, No. XLVII, Vol. III (1937), p. 105-11.

† *J. B. O. R. S.*, Vol. XIX, pts. I, II, pp. 117-19.

‡ *Ibid.*, p. 113

§ *Ibid.*, p. 114

॥ *Ibid.*, p. 118

तीन चार वर्ष अनन्तर वह सफलीभूत हुआ*। डॉ० जायसवाल के मत में कौमुदीमहोत्सव का 'मगधवंश' और इलाहाबाद के स्तम्भलेखवाला 'कोटकुल' एक हैं, और इसी 'कोटकुलज' से† जिसकी पराजय का उल्लेख उसमें है, समुद्रगुप्त ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र फिर से छीनी था।

यद्यपि डॉ० जायसवाल का उपरोक्त मत बहुत से विद्वानों को मान्य नहीं है, और यह ठीक है कि वह चण्डसेन और चन्द्रगुप्त प्रथम की अभिन्नता की कमजोर भित्ति पर निर्भर है, तथापि इसमें सन्देह नहीं कि जब समुद्रगुप्त गद्दी पर बैठा उस समय गुप्तराज न तो सुविस्तृत हुआ था, न अधिक शक्तिशाली। ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त प्रथम मगध, प्रयाग, साकेत तथा अन्य समीपवर्ती प्रदेशों का ही राजा था। पुराणों में निम्न लिखित श्लोक मिलता है :—

अनुगंगं प्रयागं च साकेतं मगधांस्तथा।
एतान् जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥

और इससे शायद हमको चन्द्रगुप्त प्रथम के काल की गुप्त राज्य की सीमा मालूम होती है।

जब समुद्रगुप्त राजा हुआ तो उसने अपने वंश का प्रताप चतुर्दिक् फैलाने का निश्चय किया। उसने इस साम्राज्य-लिप्सा को कृपाण के बल से पूर्ण किया। उसका संघर्ष किन किन राजाओं से हुआ इसका ब्यौरा इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख से जाना जाता है। यद्यपि उसमें दक्षिणापथ के राजाओं का उल्लेख पहले है, परन्तु यह युद्धकला के कुछ विपरीत मालूम पड़ता है कि वह अपने निकटवर्ती आर्यावर्त के राजाओं से लोहा न लेकर पहले दक्षिण की ओर जाय‡। इसलिए यही मानना उचित है कि समुद्रगुप्त ने पहले आर्यावर्त के राजाओं को पराजित किया। उनके नाम ये हैं :—

(क) रुद्रदेव। श्रीयुत दीक्षित तथा डॉ० जायसवाल के मत में रुद्रदेव और रुद्रसेन प्रथम वाकाटक एक ही हैं। किन्तु यह ठीक नहीं मालूम होता, क्योंकि वाकाटक लोग आर्यावर्त में नहीं राज्य करते थे, और समुद्रगुप्त के समय में उनका ह्रास भी नहीं हुआ।

(ख) मतिल—यह शायद वही राजा है जिसकी एक मुहर (seal) बुलन्दशहर जिला में मिली है। ऐलन (Allan) के मतानुसार ये दोनों भिन्न थे, क्योंकि बुलन्दशहरवाली मुहर के मतिल के नाम के पहले कोई सम्मानसूचक 'श्री' इत्यादि नहीं लिखा है। परन्तु राजाओं के नाम के पहले ऐसा न होने के बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसलिए ऐलन महोदय की विरुद्ध युक्ति में कुछ तत्त्व नहीं है।

(ग) नागदत्त—सम्भवतः यह नागवंश का एक राजा था। उस समय नागों का बड़ा बोलबाला था, और उनकी शक्ति के चार बड़े केन्द्र थे, मथुरा, विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी।

(घ) चन्द्रवर्मन्—यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता है कि वह कहाँ का राजा था। कुछ विद्वानों के मत में वह और मेहरौली-लोहस्तम्भलेख का चन्द्र⁂ तथा सुसूनिया-शिलालेख का पुष्करणाधिपति चन्द्रवर्मन्❦ अभिन्न थे। पर इन सबका एक होना बहुत सन्देहात्मक है। मेहरौली लोहस्तम्भ लेख का चन्द्र तो कोई बड़ा रणदक्ष एवं प्रतिभा-सम्पन्न "एकाधिराज" था, और सुसूनिया-शिलालेखवाला चन्द्रवर्मन् बंगदेश का कोई स्थानीय शासक था।

---

* *Ibid.*, p. 113.

† इस सम्बन्ध में रैप्सन महोदय ने उन सिक्कों की ओर ध्यान दिलाया है जिनपर "कोट" लिखा है (*JRAS*, 1889, p. 449 f.)

‡ श्रीयुत Jouveau Dubreuil के मतानुसार समुद्रगुप्त पहिले दक्षिण की ओर ही गया था (*History of the Dekkan*, p. 9)

⁂ Fleet, *Corpus Inscriptionum Indicarum*, Vol. III, No. 32, pp. 140f.

❦ *Ep. Ind.*, XII, p. 318; *Boc, A. S. B.*, 1895, pp. 177 f.

(ङ) गणपतिनाग—इसके नाम से स्पष्ट है कि वह नाग कुल का था। इसके सिक्के आधुनिक नरवर तथा भेलसा (प्राचीन विदिशा), जो दोनों स्थान ग्वालियर राज्य में हैं, पाये गये हैं। सम्भवतः वह विदिशा का राजा था*।

(च) नागसेन—यह भी नागवंशीय था। रैप्सन† ने इसको और हर्षचरित के नागसेन को अभिन्न बतलाया है। बाण ने लिखा है कि पद्मावती का राजा नागसेन इसलिए नष्ट हुआ था कि उसकी गुप्तमन्त्रणा एक सारिका पक्षी ने व्यक्त कर दी (नागकुलजन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य आसीद् नाशो नागसेनस्य पद्मावत्याम्)‡। पद्मावती का आधुनिक रूप पदमपवाया है जो ग्वालियर राज्य में नरवर से प्रायः २५ मील दूर है।

(छ) नन्दिन्—यह भी शायद नागवंश का ही था। पुराणों में नागकुलोत्पन्न शिशुनन्दि तथा नन्दियशस् का वर्णन है। शिवनन्दि नाम का भी एक नाग राजा हुआ है§। नन्दिन् की अभिन्नता क्या इन्हीं में से किसी से थी?

(ज) अच्युत—यह वही राजा है जिसके ताँबे के सिक्के बरेली जिला के रामनगर (प्राचीन अहिच्छत्र) नामक स्थान में मिले हैं। इन सिक्कों पर "अच्यु" लिखा है। बनावट, शैली इत्यादि में ये पद्मावती के नाग राजाओं के सिक्कों के सदृश हैं, इसलिए यह सम्भव हो सकता है कि अच्युत भी नागवंश का हो। क्या उसका सम्बन्ध मथुरा के नागवंश से था?

(झ) बलवर्मन्—यह नहीं मालूम कि वह कौन था। डॉ० जायसवाल के मतानुसार कौमुदी-महोत्सववाले कल्याणवर्मन् का अभिषेक जब पाटलिपुत्र में हुआ तब उसने बलवर्मन् नाम धारण किया‖। किन्तु श्री० के० एन० दीक्षित बलवर्मन् को आसाम के राजा भास्करवर्मन् का पूर्वज मानते हैं, जिसका उल्लेख निधनपुर-ताम्रपत्र में है¶। इन मतों की पुष्टि किसी अन्य प्रमाण द्वारा नहीं हुई है।

आर्यावर्त के उपरोक्त राजाओं को पराजित कर समुद्रगुप्त ने उनके राज्यों को अपने राज्य में मिला लिया**। इस प्रकार राजाओं के अस्तित्व मिटाने को कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में "असुरविजय" कहा है।

फिर समुद्रगुप्त ने "अटवी" देश के राजाओं को नष्ट कर उनको जबरदस्ती अपना सेवक बना लिया (परिचारकीकृतसर्वाटविकराजस्य)। कहा जाता है कि अटवी देश में लगभग १८ राज्य थे, और वह बघेलखण्ड से लेकर उड़ीसा के सागरतट तक फैला हुआ था††।

---

* *Indian Historical Quarterly*, Vol. I., p. 255.

† *J. R. A. S.*, 1898, p. 449. डॉ० जायसवाल ने नागसेन और कल्याणवर्मन् के श्वसुर मथुराधीश कीर्तिसेन को एक ही बताया है। (*J. B. O. R. S.*, Vol. XIX, pts., I, II, p. 133.

‡ See also *Harshacharitra*, Translation by Cowell and Thomas p. 192.

§ Dubreuil, *Ancient H story of the Dekkan*, p. 31.

‖ *J. B. O. R. S.*, Vol. XIX (1933), p. 142.

¶ *Ep. Ind.*, XII, pp. 73, 76.

** "रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवर्माद्यनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः............"।

†† *Indian Historical Quarterly*, Vol. I, p. 256.

तत्पश्चात् समुद्रगुप्त दक्षिणापथ की ओर गया, और वहाँ के राजाओं को हराकर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। इलाहाबाद के स्तम्भ पर उनका इस प्रकार उल्लेख है* :—

(क) कोसलदेश का महेन्द्र—यह कोसल महाकोसल अथवा दक्षिणकोसल था। इसके अन्तर्गत आधुनिक मध्यप्रान्त के विलासपुर, रायपुर तथा सम्भलपुर जिले हैं। इसकी एक राजधानी श्रीपुर (आधुनिक सीरपुर) थी।

(ख) महाकान्तार का व्याघ्रराज—सम्भवतः यह वही है जिसका नाम उच्छकल्प महाराज के लेखों में केवल व्याघ्र है। वह जयनाथ का पिता था, और उसके राज्य में बुन्देलखण्ड की आधुनिक जसो (Jaso) तथा अजयगढ़ रियासतों के कुछ भाग शामिल थे†। किन्तु श्री जी० रामदास के मतानुसार महाकान्तार और गंजाम तथा विजगापट्टम जिला का "झाड़खण्ड" प्रदेश एक ही है ‡।

(ग) कुराल अथवा केरल का मण्टराज—कीलहार्न (Kielhorn) महोदय ¶ के विचार से यह वही है जिसका नाम ऐहोल (Aihole) लेख में कुनाल है, और जिसको पुलकेशि द्वितीय ने जीता था। यह वही कोलेरू झीलवाला प्रदेश है जो गोदावरी एवं कृष्णा नदी के बीच में है। यह झील तो इलाहाबाद लेखवाले वेंगीराज्य में ही शामिल थी। इसलिए कुराल शायद वह था जिसको आजकल कुराड अथवा सोनपुर प्रदेश कहते हैं। इसकी प्राचीन राजधानी गोदावरी पर ययातिनगरी थी §। परन्तु फ्लीट (Fleet) ने कुराल या केरल को मलाबार प्रदेश से अभिन्न बताया है ||।

(घ) पिष्टपुर का महेन्द्र—यह स्थान गोदावरी जिले में है, और आजकल पिठापुरं कहलाता है। फ्लीट (Fleet) के मतानुसार कलिंग की यह प्राचीन राजधानी थी **।

(ङ) पहाड़ी कोट्टूर का स्वामिदत्त—फ्लीट ने इस स्थान को कोयम्बटूर के कोट्टूर अथवा पोलाची (Pollaci) से अभिन्न माना है ††। किन्तु डिबरुई (Dubreuil) महोदय इसको और आधुनिक गंजाम जिले के कोठूर (Kothoor) को एक ही मानते हैं। डॉ० भाण्डारकर पूर्ण पद "पैष्टपुरक-महेन्द्रगिरि-कौट्टूरक-स्वामिदत्त" को इस प्रकार अलग करते हैं कि उसका मतलब निकले "पिष्टपुर का महेन्द्रगिरि और कौट्टूर का स्वामिदत्त"। किन्तु महेन्द्रगिरि ऐसा नाम साधुओं का तो अवश्य होता है, राजाओं का नहीं। कुछ विद्वानों के मतानुसार उपरोक्त पद के दूसरे ही अर्थ हैं, अर्थात् "पिष्टपुर तथा महेन्द्रगिरि के समीप का स्वामिदत्त"। किन्तु यह ठीक नहीं प्रतीत होता है। क्योंकि प्रत्येक राजा का एक ही गढ़ उल्लिखित है, और यह समझ में नहीं आता कि स्वामिदत्त के सम्बन्ध में दो स्थानों का नाम देने की क्या आवश्यकता थी।

---

* "कौसलकमहेन्द्रमहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्टराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्ड-पल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैंगेयकहस्तिवर्मपालक्कोग्रसेनदैवराष्ट्रकुबेरकौस्थल-पुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य.............."।

† *J. H. Q.*, Vol. I (1925), p. 251.

‡ *Ibid*, p. 684.

¶ *Ep. Ind.*, VI. p. 3 Note.

§ *Bulletin of the School of Oriental Studies*, II, III, p. 569.

|| *C. II. III*, p. 13. किन्तु देखिये G. Ram Das *I. H. Q.*, I, p. 685; Dubreuil, *A H. D.*, p. 59.

** *Ind. Ant. XXX* (1901), p. 26.

†† *J. R. A. S.*, 1897, p. 29.

(च) एरण्डपल्ल का दमन—इस स्थान की समता फ्लीट (Fleet) ने खानदेश के एरण्डोल (Erandol) से की है। किन्तु जी० रामदास ने इसकी अभिन्नता विजगापट्टम जिला के गोलकुण्डा तालुका के एण्डिपल्लि (Yendipalli) अथवा कृष्णा जिला के इलौर तालुका के एण्डपिल्लि (Endapilli) से मानी है*। डिबरुई (Dubreuil) के मतानुसार यह गंजाम जिला के चिकाकोल समीपस्थ एरण्डपल्लि (Erandapalli) से अभिन्न है, जिसका उल्लेख देवेन्द्रवर्मन् के सिद्धान्तम् ताम्रपत्र में है†।

(छ) काञ्ची का विष्णुगोप—काञ्ची वही है जो आजकल मदरास के चिंगलीपुत (Chingleput) जिला में काञ्जीवरम् नाम से प्रसिद्ध है। यह प्राचीन समय में विद्या का केन्द्र तथा पल्लवों की राजधानी थी।

(ज) अवमुक्त का नीलराज—यह स्थान कहाँ है, इसका ठीक पता नहीं। हाथीगुम्फा लेख के अनुसार "आव" देश अथवा "आव" लोगों की राजधानी गोदावरी के निकट पिथूंड (Pithunda) थी।

(झ) वेंगी का हस्तिवर्मन्—यह स्थान गोदावरी जिला के इलौर तालुका के पेड्ड-वेगि (Pedda-Vegi) से अभिन्न है। हुल्स (Hultzsch) के मतानुसार हस्तिवर्मन् और अत्तिवर्मन् पल्लव एक ही व्यक्ति थे ‡।

(ञ) पालक्क का उग्रसेन—फ्लीट (Fleet) तथा स्मिथ (Smith) के मतानुसार यह स्थान वही है जो मलाबार जिले में पालघाट अथवा पालक्काड् प्रदेश कहलाता है। डॉ० रायचौधरी इसको और पलक्कद (Palakkada) को, जो पल्लवों के एक प्रान्त की राजधानी थी, एक ही मानते हैं §। श्री जी० रामदास इसकी अभिन्नता निलौर जिला के पक्कई (Pakkai) नामक स्थान से स्वीकार करते हैं ¶। किन्तु डिबरुई (Dubreuil) पालक्क को उसी नाम की राजधानी से एक बताते हैं, जो कृष्णा जिले में है और जिसका उल्लेख पल्लवों के बहुत से ताम्रपत्रों में है ‖।

(ट) देवराष्ट्र का कुबेर—फ्लीट तथा स्मिथ देवराष्ट्र को महाराष्ट्र से अभिन्न मानते हैं। श्री का० ना० दीक्षित कहते हैं कि यह स्थान शायद वही हो जो आजकल सतारा जिला में देवराष्ट्र नाम से प्रसिद्ध है, और जहाँ एक मन्दिर है जिसको समुद्रेश्वर कहते हैं। श्री जी० रामदास देवराष्ट्र और धारवाड़ जिले के देवगिरि को एक ही समझते हैं **। किन्तु श्री डिबरुई (Dubreuil) के मतानुसार वह विजगापटम् जिला के एल्लमञ्चिली (Yellamanchili) प्रदेश से अभिन्न है ††। इसका उल्लेख विजगापटम् जिला में पाये गये बहुत से ताम्रपत्रों में है।

---

* *I. H. Q.*, Vol. I, pt. IV. p. 683.
† *Ep. Ind.* XII p. 212.
‡ *J. H. Q.*, I, pt. II, p. 253.
§ *Political History of India*, 3rd ed. pp. 368.
¶ *I. H. Q.*, I, pt., IV, p. 686; *Ep. Ind. VIII*, p. 161.
‖ *Aff. D.* p. 58; *Z. R. A. S.*, 1905, p. 29; Venkayya's *Annual Report*, 1904-05, p. 47.
** *I. H. Q.*, I pt. IV., p. 587.
†† *A. H. D.*, p. 60; *A. S. R.*, 1908-09, p. 123.

(ठ) कुस्थलपुर का धनञ्जय—स्मिथ (Smith) के मतानुसार कुशस्थलपुर भूल से कुस्थलपुर लिखा गया है, और यह आनर्त की राजधानी द्वारकापुरी का नाम था। श्री जी० रामदास भी स्मिथ से सहमत हैं। किन्तु डा० बार्नेट कुस्थलपुर को उत्तरी आर्कट (North Arcot) जिला के पोलूर (Polur) समीपस्थ कुट्टलूर (Kuttalur) नाम के स्थान से अभिन्न बताते हैं*।

यदि हम उपरोक्त फ्लीट (Fleet) तथा स्मिथ (Smith) की बताई हुई अभिन्नताओं को स्वीकार करें तो स्पष्ट है कि समुद्रगुप्त विजय करता हुआ सुदूर पालघाट अथवा मलाबारतट तक पहुँचा, और फिर महाराष्ट्र, गुजरात, खानदेश होता हुआ मगध लौटा। किन्तु यदि हम श्री डिबरुई (Dubreuil) तथा अन्य विद्वानों के मत को मानें तो समुद्रगुप्त की विजयवैजयन्ती दक्षिण के पूर्वीतट उड़ीसा में ही उड़ी थी। श्री० डिबरुई (Dubreuil) तो यहाँ तक कहते हैं कि दक्षिण के उपरोक्त राजाओं ने समुद्रगुप्त के विरोध में काञ्ची के विष्णुगोप की अधिनायकता में एक गुट बनाया, और इस घोर संघर्ष में गुप्त सम्राट् को हार मानकर शीघ्रातिशीघ्र मगध की ओर लौटना पड़ा†। किन्तु इस मत में कुछ भी सार नहीं है। इस गुट (Confederacy) का कहीं लेशमात्र भी प्रमाण नहीं है। यह उक्त विद्वान् के ही मस्तिष्क की उपज है। समुद्रगुप्त ने अपने प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित कर कैद किया, और फिर उनको दया दिखाकर राज्य लौटा दिया। वह केवल उनकी अधीनता स्वीकार करने से सन्तुष्ट हो गया। और ऐसा करने से वह उन नरेशों की भक्ति मोल ले रहा था। कौटिल्य और मनु ने भी यही बताया है कि विजेता को बहुधा राज्य न छीनना चाहिए, किन्तु पराजित राजा को अथवा उसके किसी वंशज को गद्दी दे देना चाहिए। यथा—

सर्वेषां तु विजित्वैषां समासेनचिकीर्षितम्।
स्थापयेत्तत्र तद्वश्यं कुर्याच्च समयक्रियाम्॥ (VII २०२).

इस प्रकार समुद्रगुप्त ने दक्षिण में धर्मविजय की, और इस सम्बन्ध में कालिदासकृत रघुवंश से एक श्लोक उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा:—

गृहीतप्रतिमुक्तस्य स धर्मविजयीनृपः।
श्रियम् महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदनीम्॥

समुद्रगुप्त के सैन्यबल तथा सफल उद्योगों ने उसके समकालीन राजाओं को बहुत प्रभावान्वित किया। इसलिए इलाहाबाद के स्तम्भ लेखानुसार प्रत्यन्त-नृपतियों और गणराज्यों ने उसकी प्रचण्ड आज्ञा को शिरोधार्य करके 'कर' दिया और आकर प्रणाम किया (**"सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्य"**)। प्रत्यन्त-नृपति निम्न लिखित देशों के थे:—

(क) समतट—वराहमिहिर के अनुसार समतट भारत के पूर्वीयभाग में था। ह्वान च्वांग् (Yuan Chwang) लिखता है कि यह देश ताम्रलिप्ति के पूर्व और समुद्र के समीप था। यह शायद गंगा और ब्रह्मपुत्र नदी के मुहाने का प्रदेश था, जिसका मध्यभाग आजकल का जसोर (Jessore) जिला है। उसकी राजधानी कर्मान्त थी, जो कोमिल्ला (Comilla) जिला के काम्ता अथवा बड़काम्ता नगर से अभिन्न है‡।

(ख) दवाक—फ्लीट (Fleet) के मतानुसार दवाक आधुनिक ढाका है। स्मिथ (Smith) इसके अन्तर्गत आजकल के बोगरा (Bogra), दिनाजपुर (Dinajpur) तथा राजशाही (Rajshahi)

* *Calcutta Review*, 1924, p. 253 note.

† *A. H. D.* p. 61.

‡ *J. A. S. B.*, 1914, p. 85, *J. H. Q.*, I, p. 256.

जिले को समझते हैं। किन्तु डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार टिपरा (Tippera) तथा चटगाँव (Chittagong) के पर्वतीय प्रदेशों का प्राचीन नाम दवाक था*।

(ग) कामरूप—आसाम। इसका मध्यभाग अब भी कामरूप कहलाता है।

(घ) नेपाल—आधुनिक नेपाल, जिसकी राजधानी काठमाँडू है।

(ङ) कर्तृपुर—ओल्डम (Oldham) महोदय के मतानुसार इसको आजकल का कमाऊँ, गढ़वाल, तथा रुहेलखण्ड कह सकते हैं†। वहाँ अब भी कतुरियाराज नाम मिलता है। किन्तु फ्लीट तथा ऐलन (Allan) कर्तृपुर को जालन्धर जिला के करतारपुर से अभिन्न मानते हैं।

गणराज्यों में मुख्य नाम ये थे:—

(क) मालव—मालव लोग वही हैं जिनको ग्रीक लेखकों ने "मल्लोई" (Malloi) नाम दिया है। वे अलिक्जेंडर (Alexander) के आक्रमण के समय पञ्जाब में बसते थे। ईसा की पहिली शताब्दी तक वे राजपूताना भी पहुँच गये थे। जयपुर राज्य के नागरछाल प्रदेश में उनके बहुत से सिक्के मिले हैं, जो ईसा के पूर्व १५० से सन् २५० ईसवी तक के हैं। गुप्तों के समय तक मालव लोग और भी दक्षिण की ओर गये, और लेखों से मालूम होता है कि तब वे मेवाड़ व कोटा आदि स्थानों में थे। अन्त में वे लोग मध्यभारत में जाकर बसे, और उनसे उस देश का नाम मालव पड़ा।

(ख) आर्जुनायन—ये लोग मालवों और यौधेय लोगों के बीच अलवर तथा जयपुर राज्य के पूर्वीभाग में बसे थे। क्या इनके नाम से यह कहा जा सकता है कि पाण्डव योद्धा अर्जुन से इनका कुछ सम्बन्ध था?

(ग) यौधेय—बृहत्संहिता में आर्जुनायन और यौधेय भारत के उत्तरी भाग के वासी माने गये हैं। जिन स्थानों से उनके सिक्के तथा लेख मिले हैं उनसे मालूम होता है कि यौधेय लोग सतलज तथा यमुना के बीचवाले प्रदेश में रहते थे। विजयगढ़-लेख‡ से स्पष्ट है कि उनका फैलाव भरतपुर राज्य तक था। अब भी उनके नाम की निशानी 'जोहियावार' (Johiyawar) प्रदेश में, जो बहावलपुर राज्य के निकट है, मिलता है।

(घ) मद्रक—ये लोग यौधेयों के उत्तर रावी और चिनाब के बीच में रहते थे। ये पहिले भद्र कहे जाते थे। इनकी राजधानी साकल (सियालकोट) थी§।

(ङ) आभीर—स्मिथ (Smith) के मतानुसार ये लोग अहिरवाड के रहनेवाले थे, जो पार्वती और वेत्रवती (बेतवा) नदियों के बीच मध्य भारत (Central India) में था। किन्तु शायद वे विनशन के समीप पश्चिमी राजपूताना के वासी थे। इसी प्रदेश को "पेरीप्लस" (Periplus) में 'अभीरिया' (Abiria) कहा है। क्षत्रप लेखों के अनुसार आभीर लोग सौराष्ट्र और गुजरात में भी थे।

(च) प्रार्जुन—स्मिथ (Smith) के विचार में वे मध्य प्रान्त (C. P.) के नरसिंहपुर जिले में थे। किन्तु डा० भाण्डारकर उनका सम्बन्ध नरसिंहगढ़ से जोड़ते हैं।

---

* *I. H. Q.*, I, p. 257; किन्तु देखिए R.D. Banerji, *Age of the Imperial Guptas*, p. 20.

† *J. R. A. S.* 1898, pp. 198-99.

‡ CII., III, No. 58, pp. 251-52.

§ *J. A. S. B.*, 1922, p. 257f.

(छ) सनकानीक—ये लोग शायद भेलसा (Bhilsa, Gwalior State) प्रदेश में शासन करते थे। उदयगिरि के एक लेख में सनकानीक महाराज छगलग के पौत्र तथा महाराज विष्णुदास के पुत्र का नाम मिलता है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त था*।

(ज) काक—ये सनकानिकों के पड़ौसी थे। डॉ० जायसवाल के मत में इनकी राजधानी काकपुर थी, जो भेलसा (Bhilsa) से लगभग २० मील दूर है†। क्या इनका सम्बन्ध काकनाद नाम से भी है? यह साञ्ची (Sanchi) का दूसरा नाम था।

(झ) खरपारिक—ये लोग मध्यप्रान्त (C. P.) के दमोह (Damoh) जिला के रहनेवाले थे। शायद ये और बतिहागढ़ (Batihagarh) लेख‡ के खर्पर लोग एक ही थे§।

अतः ऊपर लिखे विवरण से मालूम होगा कि समुद्रगुप्त ने अपने समकालीन राजाओं से भिन्न भिन्न प्रकार से व्यवहार किया था। कुछ नरेशों को उसने समूल नष्ट किया और बलपूर्वक उनके राज्यों को छीन लिया। दूसरों को उसने पराजित करके पकड़ लिया, और फिर उनको छोड़कर उनकी गद्दी दे दी। तीसरे वे थे जिन्होंने स्वयं समुद्रगुप्त की बढ़ती हुई शक्ति से भयभीत होकर उसका आधिपत्य स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार अपनी विजयों से समुद्रगुप्त ने अपने को एक विस्तृत साम्राज्य का स्वामी बना लिया। किन्तु साम्राज्य के बाहर भी ऐसे परराष्ट्र थे जो उससे मैत्रीभाव रखने के लिए लालायित थे। चीनी ग्रन्थों॥ से पता चलता है कि उसके सिंहलद्वीपी समकालीन राजा मेघवन्न अथवा मेघवर्ण (३५२-७९ ई०) ने बोधगया में कुछ धार्मिक कृत्यों के लिए दो भिक्षु भेजे थे। किन्तु उनका वहाँ कुछ भी आदर सत्कार न हुआ। यहाँ तक कि उनको ठीक ठहरने का भी स्थान न मिला। स्वदेश लौटने पर उन्होंने अपने राजा से सब दुखड़ा कहा। तब मेघवर्ण ने अच्छी भेंटों के साथ समुद्रगुप्त के पास अपने दूत भेजे, और यह प्रार्थना की कि सिंहाली बौद्धों के ठहरने के लिए उसको बोधगया में एक बिहार बनाने की आज्ञा मिले। समुद्रगुप्त ने उसकी प्रार्थना को स्वीकार किया, और शीघ्र ही वहाँ पर एक बहुत सुन्दर बिहार बनकर खड़ा हो गया जो व्हानच्वाँग (Yuan Chwang) के यात्रा समय 'महाबोधि संघाराम' के नाम से प्रसिद्ध था। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख से भी हमको यह विदित होता है कि सिंहल द्वीप तथा अन्य द्वीपों के वासी¶ और दैवपुत्रशाहि शाहानुशाहि शक तथा मुरुण्डों ने भी समुद्रगुप्त से "आत्मनिवेदन करके, कन्याओं को उपहार स्वरूप देकर, और अपने अपने प्रदेशों में राज्य करने के लिए गरुड़ मुहर से लगी हुई आज्ञा पा करके" मित्रता मोल ली। यथा,

"दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्डैःसैंहलकादिभिश्च सर्वद्वीपवासिभिरात्मनिवेदनकन्योपायनदानगरुत्मदंकस्वविषय-भुक्तिशासनयाचनाद्युपायसेवाकृतबाहुवीर्यप्रसरधरणिबन्धस्य..................."।

यद्यपि इसमें कुछ अतिशयोक्ति सम्भव है, तथापि इस बात में कोई सन्देह नहीं मालूम होता कि समुद्रगुप्त के प्रखर प्रतापरूपी सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों से आतप्त होकर इन परराष्ट्रों ने उसकी कृपा व मित्रता की छाया की शरण ली। ये दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहिशकमुरुण्ड कौन थे, यह ठीक कहा नहीं जा सकता। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम तीन उपाधियाँ

---

* *C. I. I.*, III, No. 3, p 25.

† *J. B. O. R. S.*, XIX (1933), p. 148.

‡ *Ep. Ind.*, XII pp. 46, 47, V. 5.

§ *J. H. Q.*, I (1925), pp. 258.

॥ Sylvain Levi, *Journal Asiatique*, 1900 pp. 406, 411;. V. A. Smith, *Ind. Ant.*, 1902, pp. 192–97.

¶ **क्या इनसे मतलब मलयद्वीपवासियों से तो न था?**

थीं, और अन्त के दो शब्द जातिसूचक हैं। दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि पहले महान् कुशान सम्राट्, कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि, की उपाधि थी। किन्तु जब कुशान साम्राज्य का विनाश हुआ तो छोटे छोटे कई राज्य स्थापित हो गए और उनके शासकों ने इन उपाधियों को अलग अलग धारण किया। इनका प्रयोग उसी प्रकार होता था जैसे आजकल शाह और सुलतान का *। शाहि उपाधि "किदार कुशान" जाति के राजा ने धारण की थी। इसका राज्य गन्धार में था। किन्तु जैनग्रन्थ कालकाचार्य कथानक के अनुसार शक राजा अपने को शाहि कहते थे †। एक लेख में यह उपाधि कनिष्क के लिए दी गई है ‡। शाहानुशाहि एक ईरानी उपाधि थी, जिसको कुशान सम्राटों ने बैक्ट्रिया (Bactria) तथा भारत के शक नृपों से लिया था§। यह भारतीय महाराजाधिराज अथवा राजाधिराज के समान थी। वासुदेव कुशान के सिक्कों पर अक्सर (Shao nano Shao Bazodeo Koshano) लिखा मिलता है॥। स्मिथ के मतानुसार शाहानुशाहि भारत से बाहर किसी राजा की उपाधि थी। उसको वह ससानियन (Sassanian) सम्राट् सपोर द्वितीय (Sapor II) से अभिन्न मानते हैं, क्योंकि इसने उस उपाधि को धारण किया था। इसके विपरीत ऐलन (Allan) का मत है कि यह उपाधिधारी वह कुशान राजा था जिसका राज्य भारत की सीमा से वक्षुनदी (Oxus) तक फैला था। क्योंकि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि इस समय गुप्त और ससानियन साम्राज्यों में किसी प्रकार का सम्बन्ध था, और यह भी निश्चित है कि उनके बीच में एक शक्तिशाली कुशान राज्य था¶। दैवपुत्र चीनी उपाधि 'शीन-ज्सु' (Tien-tzu) के तुल्य है, और इसको कुशानों ने शायद चीनियों से लिया था। चीनी लेखक अक्सर भारत के देवपुत्र (Ti-pouo-fo-tan-lo) का उल्लेख करते हैं, और सम्भवतः उनका मतलब उस राजा से है जो पञ्जाब के किसी भाग में शासन करता था **।

यहाँ यह भी लिखना उचित होगा कि डॉ० भाण्डारकर के मतानुसार "दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि" एक ही पद है और इसको तीन उपाधियों में तोड़ना ठीक नहीं। इससे बाद के किसी महान् कुशान सम्राट् से बोध होना चाहिए। इसकी समता "देवपुत्र महाराज राजातिराज" उपाधि से की जा सकती है, जिसको महान् कुशान सम्राटों ने अथवा बाद के "कुशान पुत्रों" ने धारण किया था ††।

अब रही शक और मुरुण्डों की बात। यह दोनों शब्द निस्सन्देह जातिसूचक हैं। यह हो सकता है कि ये 'शब्द' वही थे जो "पश्चिमीक्षत्रप" कहलाते हैं और जिनका राज्य सौराष्ट्र (काठियावाड़) तथा मालवा में था। समुद्रगुप्त के समय में इन्होंने नम्रता धारण की, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने इनकी शक्ति को बिलकुल छिन्न-भिन्न कर दिया। किन्तु ऐलन (Allan) के मतानुसार ये उत्तर-पश्चिम के शक थे जिन्होंने एक ओर Ardoxpo वाले कुशानसिक्कों की तरह अपने सिक्के चलाये थे। आरम्भ में समुद्रगुप्त ने शायद इन्हीं सिक्कों के आधार पर अपने सिक्के जारी किये थे। मुरुण्डलोग सम्भवतः शक अथवा कुशान जाति के थे। पुराणों में उनका उल्लेख शक, यवन, तुखार आदि विदेशी जातियों के साथ है। लासेन (Lassen) के मतानुसार वे लम्पाक (Lampaka) देश के थे, जो अलियल (Aliyal)

* Allan, *C. C. G. D.*, Introd., pp. XXVII.
† *Z. D. M. G.*, 1880, p. 254.
‡ *Ep. Ind.*, I, No. 19, p. 3191.
§ Allan, *C. C. G. D.*, Introd., p. XXVI.
॥ Smith, *Catalogue of Coins*, p. 91.
¶ Allan, *C. C. G. D.*, Introd., p. XXVIII.
** *Ibid.*, p. XXVII.
†† *I. H. Q.*, I, p. 259.

तथा कुनार (Kunora) नदियों के बीच में है। किन्तु सिलवाँलेवि (Sylvain Levi) महोदय के विचार में वे टालेमी (Ptolemy) के मुरुण्डेइ (Murundae) से अभिन्न हैं। ये गंगा के बाएँ तट पर बसे थे। चीनी वृत्तान्तों में लिखा है कि 'वु' (Wu) वंश के समय (२२२-८० ई०), फानचन (Fan-chan) ने, जो फुनान (Fu-nan) का राजा था, मियान-लून (Meon-Loun) नामक भारत के एक नरेश के पास दूत भेजा। इस Meon-Loun नाम में विद्वान् लोग मुरुण्डों का संकेत पाते हैं। उपरोक्त ग्रीक तथा चीनी प्रमाणों की पुष्टि कुछ जैन ग्रन्थों से भी होती है, क्योंकि सिंहासनद्वात्रिंशिका में मुरुण्डराज कान्यकुब्जाधिपति कहा गया है, और प्रबन्ध चिन्तामणि में उसका निवासस्थान पाटलिपुत्र लिखा है। इसलिए सम्भव है कि मुरुण्ड लोग पहिले गंगा की घाटी में अर्थात् मध्यप्रदेश में रहते थे, और गुप्तों का उत्कर्ष उनके ह्रास के बाद हुआ हो। किन्तु इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख में मुरुण्ड लोगों का वर्णन उत्तर-पश्चिमी राज्यों के साथ किया गया है, इसलिए समुद्रगुप्त के समय में उनकी शक्ति का केन्द्र इसी दिशा में रहा होगा।

अपनी विजयपताका दूर देशों में फैलाकर समुद्रगुप्त ने अश्वमेध यज्ञ किया, जो बहुत काल से उत्सन्न हो रहा था ('चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्तुः........')। पता नहीं कि यह यज्ञ "चिरोत्सन्न" क्यों कहा गया है, क्योंकि समुद्रगुप्त के थोड़े ही पहिले प्रवरसेन प्रथम वाकाटक तथा भारशिव राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ किया था। भारशिवों के बारे में तो यहाँ तक कहा गया है कि उन नरेशों ने दश अश्वमेध यज्ञ किये थे (भगीरथ्यमलजलमूर्द्धाभिषिक्तानाँ दशाश्वमेधावभृथस्नानानाँ भारशिवानाम्)। सम्भव है लेख रचयिताओं ने इन सब यज्ञों के सम्बन्ध में कुछ भी न सुना हो, इसलिए समुद्रगुप्त को "चिरोत्सन्नाश्वमेधाहर्ता" कहा है, अथवा उसने पूर्ववत् सब प्रकार के कृत्यों के साथ वह यज्ञ किया हो। इसको उसने अपनी दिग्विजय के बाद परन्तु इलाहाबाद स्तम्भ पर लेख उत्कीर्ण होने के पहिले किया होगा, क्योंकि उसमें अश्वमेध की ओर तनिक भी संकेत नहीं है। इस यज्ञ में समुद्रगुप्त ने ब्राह्मणों को बहुतसा सुवर्ण गौओं के साथ दान में दिया। इसके करने के समय उसने कुछ सोने के सिक्के भी प्रचलित किये। इन सिक्कों पर एक ओर (obverse) पताकायुक्त यज्ञस्तूप में बँधे हुए यज्ञीय घोड़े की मूर्ति और दूसरी ओर (reverse) हाथ में चँवर लिए प्रधान महिषी की मूर्ति और "अश्वमेधपराक्रमः" लेख है। इन सिक्कों पर घोड़े की मूर्ति के चारों तरफ उपगीति छन्द में—

"राजाधिराज पृथिवीमवित्वा,
दिवं जयत्यप्रतिवार्यवीर्यः"

अथवा किसी किसी में—

"राजाधिराज पृथिवीं विजित्य,
दिवं जयत्याहृतवाजिमेधः"*।

लिखा मिलता है।

लखनऊ अजायबघर में एक पत्थर की घोड़े की मूर्ति है जिसपर बहुत धुंधले अक्षरों में "द्गुत्तस्स देयधम्म" खुदा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मूर्ति उसी यज्ञ के समय बनाई गई थी। किन्तु लेख संस्कृत में न होने से कुछ सन्देह अवश्य उत्पन्न होता है कि सम्भवतः वह गुप्तों के समय का नहीं है।

समुद्रगुप्त केवल अनुपम योद्धा ही न था, किन्तु वह शास्त्रों में भी बड़ा प्रवीण था†। स्वयं तो प्रकाण्ड पण्डित था ही, और वह विद्वानों का संसर्ग भी बहुत पसन्द करता था‡। उसमें कवित्व शक्ति भी अच्छी थी। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख

* *J. Boc. A. S. B.*, New Series, Vol. X, p. 256.

† **"शास्त्रतत्वार्थभर्तुः"**

‡ **"प्रज्ञानुषंगोचितसुखमनसः"**



में उसको "कविराज" की पदवी दी गई है, और यह भी लिखा है कि उसकी कृतियाँ दूसरे विद्वानों की जीविका का सहारा हो सकती थीं। ("विद्वज्जनोपजीव्यानेककाव्यक्रियाभिः प्रतिष्ठितकविराजशब्दस्य........")। खेद है उसकी कोई रचना अभी तक उपलब्ध नहीं हुई, अन्यथा उसकी कवित्व शक्ति का कुछ परिचय हमको मिलता। कुछ दिन हुए मेरे शिष्य श्री एन० पी० जोशी ने मुझे स्थानीय सरस्वतीभवन से "कृष्णचरितम्" नाम की एक पुस्तक दिखाई थी। उसके रचयिता "विक्रमांक महाराजाधिराज परम भागवत श्री समुद्रगुप्त" कहे गये हैं। किन्तु मुझे तो यह पुस्तक बहुत बाद की और प्रमाणरहित मालूम पड़ती है।

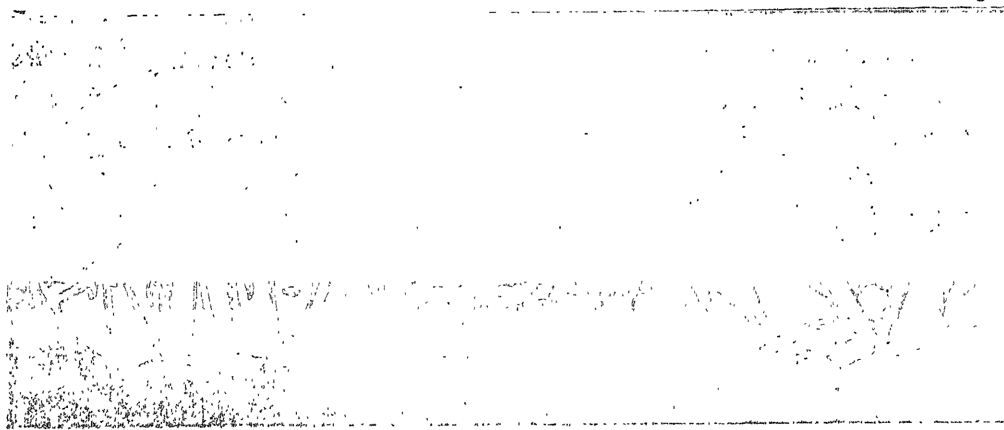
कवि होने के अतिरिक्त समुद्रगुप्त संगीत प्रेमी भी था। उसके कुछ ऐसे सिक्के मिले हैं जिनके एक ओर खाट पर बैठे हुए और हाथ में वीणा लिए हुए राजा की मूर्ति है और दूसरी ओर बेंत के बने हुए आसन पर बैठी हुई लक्ष्मीदेवी की मूर्ति है। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख में भी लिखा है कि समुद्रगुप्त ने अपनी प्रखर बुद्धि से देवताओं के गुरु बृहस्पति को शर्मिन्दा किया, और तुम्बुरु और नारद को अपने संगीत कौशल से ("निशितविदग्धमतिगान्धर्वललितैर्व्रीडितत्रिदशपतिगुरुतुम्बरु-नारदादेः")। समुद्रगुप्त स्वयं कितना पुरुषार्थी व पराक्रमी था, यह उसके उन सिक्कों से पता चलता है जिनपर एक ओर दाहिने हाथ में बाण और बाएँ हाथ में धनुष लेकर खड़े हुए राजा की मूर्ति है। कुछ ऐसे भी सिक्के मिले हैं जिनपर "व्याघ्रपराक्रम" लिखा है। इनमें समुद्रगुप्त व्याघ्र का शिकार करते हुए दिखाया गया है। उसकी मूर्ति क्या ही बल और तेजयुक्त मालूम पड़ती है।

इलाहाबाद के स्तम्भ-लेख में "गरुत्मदंक" का उल्लेख है। इसलिए उसके मुहर के गरुढ़ अंक से स्पष्ट है कि वह विष्णु का उपासक था। नालन्दा में मिले हुए ताम्रपत्र लेख में तो वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की तरह "परम भागवत" भी कहा गया है।

समुद्रगुप्त ने बहुत वर्षों तक राज्य किया, और फिर उसकी मृत्यु ३८० ई० के पूर्व हो गई, क्योंकि मथुरा के एक लेख के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय उस वर्ष राज्य कर रहा था।

समुद्रगुप्त भारत के इनेगिने महान् सम्राटों में था। इलाहाबाद स्तम्भ-लेख में वह धनद, वरुण, इन्द्र तथा अन्तक आदि के समान बताया गया है, और वह शूरवीर होते हुए दया की सजीव मूर्ति था। वह सचमुच दीनों का रक्षक था, और दरिद्र और दुखियों की सेवा में ही सतत् उद्यत रहता था ("कृपणदीनानाथातुरजनोद्धरणमन्त्रदीक्षाद्युपगतमनसः")।





चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

श्री डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी एम्० ए०, पी-एच्०, डी०

राजत्व के इतिहास में चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य अद्वितीय व्यक्तित्व हैं। विक्रम-शब्द-समन्वित विरुद धारण करने की उनकी अभिरुचि परम्परागत महाराज विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता स्थापित करने के लिए दृढ़ आधार प्रस्तुत करती है। जैसा आगे ज्ञात होगा, उनकी छत्राकृति मुद्राओं पर अंकित लेख में यह कहा गया है कि "महाराजाधिराज श्री चन्द्रगुप्त पृथ्वी को जीतने के पश्चात् अपने सत्कृत्यों द्वारा स्वर्ग को जीतते हैं और विक्रमादित्य विरुद धारण करते हैं।" उनकी सिंहमारक आकृति की मुद्राओं पर वे 'सिंहविक्रम' विरुद धारण करते हैं और अश्वारोही आकृति की मुद्राओं के दूसरे पार्श्व पर 'अजित-विक्रमः' लेख अंकित है। पश्चिम भारत के क्षत्रप शासकों की नवविजित भूमि में प्रचलित रौप्य मुद्राओं पर विजेता के रूप में अपने विक्रम की ओर संकेत करने के लिए वे अभिप्रायपूर्ण 'विक्रमादित्य' विरुद धारण करते हैं और इन मुद्राओं के एक दूसरे प्रकार पर भी 'विक्रमादित्य' विरुद प्राप्त होता है।

परम्परा के महाराज विक्रमादित्य को नवरत्नों अथवा नौ प्रख्यात साहित्यिकों से, जो उनकी राजसभा को आलोकित करते हैं, सम्बद्ध किया गया है। ये नवरत्न ज्योतिर्विदाभरण नामक ग्रन्थ में इस प्रकार गिनाए गये हैं:—

धन्वंतरिक्षपणकोऽमरसिंहशंकुबेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वैवररुचिर्नवविक्रमस्य ॥

इन रत्नों में से केवल कवि कालिदास का कुछ पिछले साहित्यिक मूल ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त द्वितीय से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। किन्तु यह बात निर्णीत नहीं है कि यह कालिदास वही प्रसिद्ध कवि थे। इस निबन्ध द्वारा गुप्त इतिहास के महाराज चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की परम्परा के महाराज विक्रमादित्य से अभिन्नता का विवेचन करना अभीष्ट नहीं है, इसके द्वारा उनके शासन सम्बन्धी अभिलेख एवं मुद्राओं के दृढ़, निश्चित एवं तिथियुक्त स्रोतों से ज्ञेय सभी तथ्यों का वास्तविक विवेचन उपस्थित करना मात्र इष्ट है। उनके इतिहास का लेखन उनके शासन सम्बन्धी विभिन्न स्रोतों से

प्राप्य प्रमाणों तक सीमित एवं उनपर आधारित है। विक्रम-माला का अत्यन्त प्रभापूर्ण मणि होने के कारण यह उचित ही है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के शासन का वर्णन भी विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ में सम्मिलित किया जाय।

काल—उनके शासन के समय के प्राप्त हुए बहु-संख्यक तिथियुक्त अभिलेखों से इनके काल का अनुमान किया जा सकता है। इनमें से प्रथम गुप्त-संवत् ६१ = ३८० ईसवी का मथुरा-स्तम्भ का अभिलेख है। (इपिग्राफिया इण्डिका XXI I)। इस अभिलेख में डॉ० डी० सी० सरकार द्वारा पढ़े गए (Select Inscriptions I. 270) कुछ महत्त्वपूर्ण शब्द (जिनसे यह प्रकट होता है कि गुप्त-संवत् ६१ [संवत्सरे एकषष्ठे] का यह अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन के पाँचवें वर्ष में अंकित किया गया था) इस प्रकार हैं—'महाराज-राजाधिराज श्री-चन्द्रगुप्तस्य-विजय-राज्य-संवत्सरे-पंचमे, अतः उनका राज्यकाल गुप्त-संवत् ६१-५ = गुप्त-संवत् ५६ = ईसवी ३७६ में प्रारम्भ हुआ था। यह कहा जा सकता है कि इसकी परिभाषा अलबेरूनी ने अपने इस कथन में की है—'गुप्तों का संवत् शक काल से २४१ वर्ष पश्चात् पड़ता है, अर्थात् ईसवी ७८ + २४१ = ३१९ में (Sachau, *Alberuni's India*, II. 7), उस गुप्त-संवत् की इस अभिलेख में प्राचीनतम तिथि का उल्लेख होने के कारण यह महत्त्वपूर्ण है।

उनके राज्यकाल का दूसरा तिथियुक्त अभिलेख गुप्त-संवत् ८२ = ४०१ ईसवी का उदयगिरि गुफा का अभिलेख है जो उसके सनकानिक वंशीय मांडलिक ने अंकित कराया था।

तीसरा गुप्त-संवत् ८२ = ४०१ ईसवी का साँची का प्रस्तर अभिलेख है जिसे आम्रकार्दव ने अंकित कराया था जो चन्द्रगुप्त द्वितीय का मंत्री था "जिनके प्रसाद का वह अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति के हेतु ऋणी था (आप्यायित-जीवित-साधनः) और जो अनेक रणक्षेत्रों में विजयी हुआ था (फ्लीट, संख्या ६)।

चौथा अभिलेख गुप्त-संवत् ८८ = ४०७ ई० का गढ़वा शिलालेख है। इस अभिलेख का चन्द्रगुप्त के नाम वाला भाग नष्ट हो गया है किन्तु अब भी सुरक्षित इसकी तिथि और उनके परम भागवत एवं महाराजाधिराज विरुद इन दोनों से यह बात निश्चित् रूप में मानी जा सकती है कि यह उनके ही राज्यकाल का है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की तिथि का अनुमान उनके द्वारा सुराष्ट्र-विजय के पश्चात् अपने पूर्ववर्ती क्षत्रप शासकों की मुद्राओं के आदर्श पर प्रचलित की गयी रौप्य मुद्राओं पर से भी किया जा सकता है। यह विदित होगा कि पश्चिमी क्षत्रपों की सबसे पीछे की मुद्राएँ ३१० अथवा ३१ X संवत् = ३८८ अथवा ३८८—७७ ईसवी की है। चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा पुनर्मुद्रित मुद्राओं की सबसे पूर्व की तिथि ९० अथवा ९० X संवत् = ४०९ अथवा ४०९-१३ ई० है।

नाम—ऐसा प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के अनेक नाम थे। साँची अभिलेख में (फ्लीट, संख्या ५) उसे देवराज नाम दिया गया है। वाकाटकों के एक अभिलेख में प्रभावतीगुप्ता का देवगुप्त एवं कुबेरनागा की पुत्री के रूप में उल्लेख है। उसमें देवगुप्त का महाराजाधिराज के रूप में वर्णन है जबकि रानी प्रभावतीगुप्ता के रिद्धपुर के दानलेख में उसके पिता का नाम चन्द्रद्रगुप्त द्वितीय उल्लिखित है। इससे देवगुप्त चन्द्रगुप्त का दूसरा नाम प्रतीत होता है। यह भी ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त का तीसरा नाम देवश्री था, जैसा उनकी धनुर्धर एवं मञ्च की आकृतिवाली मुद्राओं पर अंकित है।

नियोजन—समुद्रगुप्त के एरण के प्रस्तर-अभिलेख में (फ्लीट, संख्या ४) यह कहा गया है कि समुद्रगुप्त ने अपने सब पुत्रों में से उन्हें परिगृहीत किया था (तत्परिगृहीतेन)। इसी सत्य की पुनरुक्ति स्कन्दगुप्त के बिहार एवं भितरी के प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेखों में (फ्लीट संख्या १२-१३) की गयी है जिनमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए 'तत्परिगृहीत' पद प्रयुक्त किया गया है। समुद्रगुप्त द्वारा अपने सब पुत्रों में से चन्द्रगुप्त द्वितीय का अभिप्रायपूर्वक परिगृहीत करने के सत्य की पुनरुक्ति यह प्रदर्शित करती है कि गुप्तवंश के इतिहास में यह एक प्रमाणित घटना है और इसलिए कुछ पीछे के लेखों एवं परम्परा के आधारवाली यह स्थापना त्यागने योग्य है कि समुद्रगुप्त का आसन्न उत्तराधिकारी उसका रामगुप्त नाम से ज्ञात एक अन्य पुत्र था। समुद्रगुप्त एवं चन्द्रगुप्त द्वितीय के बीच में कोई अन्य गुप्त शासक हुआ, इस कल्पना का

द्वार अभिलेख बन्द कर देते हैं। वास्तव में समुद्रगुप्त अपने पुत्र के प्रति वे ही स्तुति-वचन कहता है जो उसके प्रति उसके उस पिता ने कहे थे जिसने उसे अपने राजसिंहासन का उत्तराधिकारी होने के लिए उसके बान्धववर्ग (तुल्यकुलज) में उसे योग्यतम उद्घोषित किया था। इन उल्लेखों से अपने पूर्ववर्ती द्वारा अनियोजित किसी शासक को स्थान शेष नहीं रहता।

कुल——समुद्रगुप्त की राजमहिषी, चन्द्रगुप्त की माता एरण के अभिलेख में दत्ता तथा मथुरा के प्रस्तर-अभिलेख में दत्तादेवी और स्कन्दगुप्त के बिहार एवं भितरी के प्रस्तर-स्तम्भ-अभिलेखों में महादेवी विरुद के साथ कही गयी है।

चन्द्रगुप्त के कम से कम ध्रुवदेवी एवं कुबेरनागा नाम की दो रानियाँ थीं। ध्रुवदेवी का उल्लेख तीन गुप्त-अभिलेखों में (फ्लीट, संख्या १०, १२ और १३) है जिनमें उसका महादेवी और राजकुमार कुमारगुप्त प्रथम की माता के रूप में वर्णन है। वैशाली में प्राप्त हुई मुद्रा पर उसके महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय की महिषी एवं महाराज गोविन्दगुप्त की माता महादेवी ध्रुवस्वामिनी की होने का वर्णन अंकित है। इस मुद्रा की ध्रुवस्वामिनी अन्य अभिलेखों की ध्रुवदेवी से भिन्न नहीं है। महारानी कुबेरनागा चन्द्रगुप्त की पुत्री प्रभावतीगुप्ता की माता के रूप में तथा नागवंश में उत्पन्न हुई (नागकुलोत्पन्नाः देखिए *J. R. A. S. B.* १९२४, पृष्ठ ५८) विश्रुत है।

वाकाटकों से इस वैवाहिक संधि के फलस्वरूप गुप्तवंश को अनेक सन्तानें प्राप्त हुईं और राजनीतिक प्रभाव में विस्तार प्राप्त हुआ।

जैसा कहा जा चुका है समुद्रगुप्त ने वाकाटक महाराज रुद्रदेव अर्थात् रुद्रसेन प्रथम को (३४४-४८ ई०) पराजित किया था जिसे अपने प्रदेश का, उसके विस्तार के लिए पश्चिम की ओर स्थान छोड़ते हुए, पूर्वीभाग (बुन्देलखण्ड) उसे सौंप देना पड़ा था। उसके पश्चात् के महाराज पृथिवीषेण प्रथम ने मध्यभारत तथा कुन्तल सहित दक्षिण की अपनी विजयों द्वारा वाकाटक शक्ति का अत्यधिक विस्तार किया। वाकाटक शक्ति के इस अभ्युदय के फलस्वरूप चन्द्रगुप्त को अपनी पुत्री का पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन द्वितीय के साथ विवाह करके संधि का प्रयत्न करना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ कि वाकाटकों की राजनीति गुप्त-साम्राज्य से प्रभावित हो गई। इस परिवर्तन का संकेत कतिपय साहित्यिक लेखों एवं अभिलेखों से प्राप्त होता है। पृथिवीशेण प्रथम ने दीर्घकाल तक (३७५ ई० तक) शासन किया, किन्तु उसके पुत्र एवं चन्द्रगुप्त के जामाता रुद्रसेन द्वितीय का राज्यकाल थोड़ा रहा जिसके पश्चात् उसकी पुत्री का राज-प्रतिनिधि के रूप में शासन तथा पिता (चन्द्रगुप्त) का नियंत्रण रहा। प्राकृत काव्य सेतुबन्ध के टीकाकार के कथनानुसार चन्द्रगुप्त का दौहित्र प्रवरसेन द्वितीय उसकी राज-सभा में था और उसने इस काव्य की रचना की थी, जिसका संशोधन कालिदास ने विक्रमादित्य के आदेशानुसार किया था। यह परम्परा चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, कालिदास तथा प्रवरसेन द्वितीय वाकाटक को समकालीन कहती है। पुनः भोज ने अपने शृंगार-प्रकाश में एक श्लोक दिया है जिसे कालिदास का कहा है और जिसने, कहा गया है कि, गुप्त सम्राट् को कुन्तल के स्वामी की राजसभा के विलासपूर्ण जीवन की सूचना दी थी। यह कुन्तल का स्वामी उसका दौहित्र प्रवरसेन द्वितीय ही होगा। क्षेमेन्द्र के औचित्यविहार में भी कुन्तल की राजसभा में कालिदास के दौत्य का उल्लेख कुन्तलेश्वर दौत्य के रूप में है। प्रवरसेन द्वितीय के पत्तन के ताम्रपत्रों में भी उनके लेख के कर्त्ता के रूप में कालिदास का उल्लेख है। इन उल्लेखों से यह निर्णय नहीं होता कि उनमें उल्लिखित कालिदास सुविश्रुत महान् कवि कालिदास ही हैं, किन्तु वे अपने पिता के हस्तक्षेप को, जो उसके विलासी एवं काव्य-मग्न पुत्र के कुशासन में और भी बढ़ गया था, निमंत्रण देनेवाली महारानी प्रभाकरगुप्ता के राज-प्रतिनिधि-शासन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए गुप्त सम्राटों के कुन्तल के साथ सम्पर्क की स्थापना करते हैं।

कुन्तल के साथ गुप्त सम्राटों के सम्पर्क का साक्ष्य तालगुन्द के स्तम्भ-अभिलेख से भी प्राप्त होता है जिसमें कहा गया है कि कुन्तल (कनारी प्रदेश) में वैजयन्ती के एक कादम्ब राजा ने अपनी पुत्रियाँ गुप्त एवं अन्य राजाओं को विवाह में दीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कादम्ब महाराज काकुस्थवर्मन् ने अपनी पुत्री का विवाह कुमारगुप्त (अथवा उसके पुत्र) के साथ किया। कुन्तल के कुछ मध्यकालीन शासक अपनी परम्परा चन्द्रगुप्त से जोड़ते हैं। पश्चिमी गंगा के अनेक दान-

लेख यह सूचना करते हैं कि काकुस्थवर्मन् का काल ४३५-४७५ ईसवी है (दाँडेकर, *History of the Guptas*, पृष्ठ ८७-९१; रायचौधुरी, *Political History*, पृष्ठ ३४२ नोट्स्)।

घटनाएँ—चन्द्रगुप्त के शासन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना उनकी पश्चिमी मालवा और सुराष्ट्र (काठियावाड़) की विजय है जो शकक्षत्रपों के शासनान्तर्गत थे। समुद्रगुप्त के एरण के प्रस्तर-अभिलेख से यह प्रकट है कि पूर्वी मालवा गुप्तों के अधिकार में पहले ही आचुका था। ऐरिकिण (एरण) नगर वर्तमान मध्य-प्रदेश के सागर जिले के एक उपविभाग में स्थित था और अभिलेख में उसका समुद्रगुप्त के स्वकीय उपभोग के नगर (स्वभोग नगर) के रूप में वर्णन है। पश्चिमभारत में शक प्रदेश पर चन्द्रगुप्त के अभियानों की आधारभूमि पूर्वी मालवा रहा होगा। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि की गुफा के अभिलेख में जो उसी गुफा के उसके दूसरे अभिलेख के समान तिथियुक्त नहीं है, बताया गया है कि अपनी सम्पूर्ण-पृथिवी-विजय की योजना को सफल बनाने के प्रयत्न में (कृत्सनपृथ्वीजयार्थेन) पूर्वी मालवा के उस स्थान पर महाराज स्वयं और उनके साथ पाटलिपुत्र नगर से अभिवन्दना करता हुआ वीरसेन शाब नामका उनका सचिव, किस प्रकार आये। यह भी कहा गया है कि 'राजर्षि' के रूप में वर्णित चन्द्रगुप्त द्वितीय ने वीरसेना की नियुक्ति अपने सन्धि-विग्रहिक-सचिव के रूप में की। उदयगिरि के गुप्त-संवत् ८२ = ४०१ ईसवी के गुफा-अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि सनकानिक जाति का (भेलसा के पास का) शासक चन्द्रगुप्त द्वितीय को अपना महाराजाधिराज स्वीकार करता था। साँची का गुप्त-संवत् ९३ = ४१२ ईसवी का अभिलेख भी बतलाता है कि उनके आम्रकार्दव नामक अनेक संग्रामों के विख्यात विजयी अधिकारी द्वारा शासित उस प्रदेश में चन्द्रगुप्त का प्रभुत्व कितना दृढ़ स्थापित था। ये अभिलेख पश्चिम की ओर गुप्तों की शक्ति के विस्तारक्रम को प्रदर्शित करते हैं। इस उन्नति को वास्तविक सहायता चन्द्रगुप्त की वाकाटक राजा के साथ हुई संधि से प्राप्त हुई थी जिसकी भौगोलिक स्थिति इस राज्य के उत्तर की ओर गुजरात एवं सुराष्ट्र के शक क्षत्रपों के विरुद्ध किए जानेवाले अभियानों पर प्रभाव डाल सकती थी।

इन शक प्रदेशों की वास्तविक विजय केवल मुद्राओं से प्रमाणित होती है। जैसा पहले कहा जा चुका है पश्चिमी क्षत्रपों की सबसे पीछे की मुद्राएँ ३८८ ईसवी के पश्चात् की प्राप्त नहीं होतीं तथा इस क्षेत्र में मिलनेवाली चन्द्रगुप्त द्वितीय की सबसे पूर्व की मुद्राएँ ४०९ ईसवी से पहले की प्राप्त नहीं होतीं। इस प्रकार लगभग बीस वर्ष लम्बे युद्ध के पश्चात् गुप्त शक्ति का विस्तार पश्चिमी समुद्र तक हो सका था। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अपनी रजत-मुद्राएँ यद्यपि क्षत्रपों के आदर्श पर प्रचलित की थीं, तथापि अपने विजय-चिह्नों को उनपर वे सतर्कता से अंकित कराते थे। मुद्राओं के पृष्ठ-भाग पर कोई परिवर्तन सूचित नहीं होता। पूर्व की भाँति आज भी दिखनेवाला ग्रीक अभिलेख के चिह्नों के साथ राजा का सिर और उसमें पीछे तिथि अब भी विद्यमान हैं। किन्तु दूसरे पार्श्व पर चैत्य के स्थान पर गुप्तों का राजचिह्न गरुड़ और उनका मुद्रालेख 'परमभागवत' मुद्रित हो गए हैं।

बाण के हर्षचरित्र में शक शासक पर चन्द्रगुप्त की विजय का संकेत करते हुए साहित्यिक साक्ष्य भी वहाँ प्राप्त होता है जहाँ यह कहा गया है कि कामी शक शासक की अभिलषित स्त्री के छद्मवेश में चन्द्रगुप्त ने उसे उसी की राजधानी में ही मार डाला।

सचिव—चन्द्रगुप्त के अनेक योग्य सचिव थे जिनका अभिलेखों में इस प्रकार उल्लेख है :—

१. उदयगिरि की वैष्णव गुफा के गुप्त-संवत् ८२ के अभिलेख के अनुसार सनकानिक कुल का एक शासक (महाराज) चन्द्रगुप्त को अपना महाराजाधिराज मानकर उनकी सेवा में (पादानुध्यात) था। वह समुद्रगुप्त द्वारा जीते हुए एवं चन्द्रगुप्त द्वारा अपने पश्चिम के अभियान की तैयारियों के स्थान के रूप में निरीक्षित पूर्वी मालवा के प्रदेशों के भोगपति अधिकारियों में से रहा होगा।

२. साँची के गुप्त-संवत् ९३ के प्रस्तर-अभिलेख के अनुसार सुकुलिदेश से अभिवन्दना करता हुआ एवं उस सम्राट् के संरक्षण (प्रसाद) के फलस्वरूप जिसकी उसने अनेक संग्रामों में युद्ध करके एवं विजय प्राप्त करके राजभक्तिपूर्वक

सेवा की थी, प्राप्त हुई अपनी प्रचुरता में से जिसे वृत्तिदान किया था काकनादबोट (साँची का प्राचीन नाम) के उस महाविहार से सम्बद्ध 'आम्रकार्दव'।

३. उदयगिर की शैव गुफा के अभिलेख के अनुसार पाटलिपुत्र से अभिवन्दना करता हुआ 'शाबवीरसेन' जो वंशपरम्परागत अधिकार से (अन्वयप्राप्तसाचिव्यो) चन्द्रगुप्त का 'सांधिविग्रह' सचिव था तथा इस प्रकार दूर-दूर तक के अभियानों में महाराजाधिराज के साथ रहा था।

४. 'शिखरस्वामी' जिनका फैजाबाद जिले में प्राप्त हुए एक प्रस्तरलिंग पर लिखित गुप्त-संवत् ११७=४३६ ईसवी के कुमारगुप्त प्रथम के शासनकाल के अभिलेख में 'कुमारामात्य' पद के साथ महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के मंत्री के रूप में वर्णन है (एपिग्राफिया इण्डिका, X ७१-७२)।

५. महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र महाराज श्री गोविन्दगुप्त जो उनके द्वारा प्रचलित की गयी एवं बसाढ में श्री ब्लॉच को प्राप्त हुई मुद्रा से (*A S R*, १९०३-४, पृ० १०१-२०) ऐसा ज्ञात होता है कि तीरभुक्ति नाम के प्रान्त के, जिसका प्रधान कार्यालय वैशाली में था, भोजपति थे। यह प्रतीत होता है कि हाल ही में प्राप्त हुए मालव-विक्रम-संवत् ५२४ के मन्दसौर के अभिलेख में भी गोविन्दगुप्त का उल्लेख है (*A S I*, Annual Report, 1922–23, p. 187; एपिग्राफिया इण्डिका, App No. 7)।

शासन-व्यवस्था सम्बन्धी अधिकारी—बसाढ (प्राचीन वैशाली) में श्री ब्लॉच द्वारा किए गये उत्खनन के फलस्वरूप राजकुमार गोविन्दगुप्त, उनकी शासन व्यवस्था के अनेक अधिकारियों तथा उनके प्रान्त के प्रमुख नागरिकों एवं समाजों द्वारा प्रचलित की गयीं मिट्टी की बहुसंख्यक मुद्राएँ प्रकाश में आयी हैं। उनमें इन अधिकारियों का उल्लेख है:—

१. 'कुमारामात्याधिकरण' राजकुमार के अमात्यों में मुख्य। उसे 'युवराज' की विचित्र उपाधि दी गयी है जिसे एक अन्य मुद्रा में एक और महत्त्वपूर्ण उपाधि 'भट्टारक' के साथ राजकुमार के मुख्य अमात्य के रूप में दुहराया गया है। २. सेना का अधिनायक 'बलाधिकरण' जिसे 'युवराज' एवं 'भट्टारक' उपाधि भी प्राप्त है। ३. सेना के कोष का अध्यक्ष 'रणभाण्डाधिकरण'। ४. नगर-रक्षक-दल का अध्यक्ष 'दण्डपाशाधिकरण'। ५. प्रधान दोष-प्रकाशक 'विनयशूर'। ६. प्रधान कंचुकी 'महाप्रतिहार'। ७. तलवर (अनिश्चित)। ८. प्रधान न्यायाधीश 'महादण्डनायक'। ९. राजनियम एवं व्यवस्था का सचिव 'विनय-स्थिति-स्थापक'। १०. पदाति एवं अश्वारोही सेना का अध्यक्ष 'भटाश्वपति'। ११. प्रान्त का शासक 'उपरिक' जैसे 'तीरभुक्ति-उपरिक-अधिकरण' में। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन मुद्राओं में 'कुमारामात्याधिकरण' नामक अधिकारी के लिए प्रयुक्त हुए 'श्रीपरम-भट्टारक-पादीय' एवं 'युवराज-पादीय' पद क्रमशः सम्राट् एवं युवराज के साथ रहनेवाले महामात्र के लिये प्रयुक्त हुए हैं।

वैशाली की नगर-सभा के कार्यालय का प्रधान विधायक अधिकारी 'वैशाली-अधिष्ठान-अधिकरण' कहलाता था। उदानकूप नगर का शासन 'परिषद्' नामक नगर-सभा द्वारा होता था। काकनादबोट के बिहार का प्रबन्ध 'आर्य-संघ' एवं पाँच व्यक्तियों की 'पंचमंडली' नाम की समिति द्वारा होता था' (फ्लीट, संख्या ५)।

निगम अथवा आर्थिक संघ—विभिन्न आर्थिक हितोंवाली श्रेणियों के 'निगमों' द्वारा इनमें से बहुसंख्यक मुद्राएँ प्रचलित की गयी हैं। ये निगम साहूकारों (श्रेष्ठी, वर्तमान सेठ), यातायात के व्यवसायियों (सार्थवाह) एवं व्यापारियों (कुलिक) के थे। ये निगम आज के व्यापारी-संघों (चेम्बर ऑफ कॉमर्स) के समान काम करते थे। अनेक मुद्राएँ इन तीनों निगमों द्वारा सम्मिलित रूप से प्रचलित की गयी थीं जैसा इस मुद्रालेख से प्रकट है 'श्रेष्ठी-कुलिक-निगम'। 'कुलिकनिगम का चिह्न उचित रूप से मुद्रा-मंजूषा था। (देखिए मेरी *Local Government In Ancient India* [Oxford] पृष्ठ, १११-११३)।

इनमें से कुछ निगम उस काल के बैंक का कार्य करते थे। काकनादबोट के 'श्री महाविहार' के प्रबन्ध के अधिकारी आर्य संघ' को २५ दीनारों का दान मुद्रा रूप में इस ठहराव के साथ कि धन संघ द्वारा न्यासनिधि के रूप में रखा जायगा और उसके ब्याज में से पाँच भिक्षुओं को प्रति दिन भोजन कराने का तथा महाविहार के रत्नग्रह (संभवतः बुद्ध, धर्म एवं संघ इन तीन रत्नों के निवास-गृह के रूप में स्तूप) में 'यावत्-चन्द्र-दिवाकरौ' दीपक जलाने का प्रबन्ध किया जायगा संघ के पास स्थायी निक्षेप रखे जाने के लिए प्राप्त हुआ (फ्लीट, संख्या ५)। इस प्रकार संघ यहाँ निक्षेप रखनेवाले बैंक का तथा दान की निधि को अक्षुण्ण रखते हुए दाता द्वारा नियत उसके लाभ के अधिकारियों की सहायता के अर्थ एक निधि को सतत सुरक्षा में रखनेवाले न्यास-धारक का भी कार्य करता है। गढवा के गुप्त-संवत् ८८ के प्रस्तर अभिलेख में भी इसी प्रकार के एक व्यवहार का संकेत है। (फ्लीट, संख्या ७)।

प्रान्त-विभाग—साम्राज्य सुविधाजनक शासनव्यवस्था सम्बन्धी प्रान्तों में विभाजित था। सबसे बड़ा विभाग देश कहलाता था, उदाहरणार्थ 'शुकुलिदेश' (फ्लीट, संख्या ५)। प्रान्त भुक्ति भी कहलाता था, उदाहरणार्थ बासढ के मुद्रा-अभिलेख में 'तीर-भुक्ति'। प्रान्त के 'प्रदेश' अथवा 'विषय' नाम के उप-विभाग थे, यथा 'ऐरिकिण-प्रदेश' (फ्लीट, संख्या २)।

धर्म—गुप्त साम्राज्य में सब धर्मों के साथ समान व्यवहार होता था। उस काल के प्रधान धर्म वैष्णव, शैव एवं बौद्ध धर्म थे। इनमें से प्रत्येक धर्म की सहायता के लिए किये गये धर्म-दायों को साम्राज्य से प्रोत्साहन प्राप्त होता था। गुप्त सम्राट् स्वयं कट्टर हिन्दू थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने 'परमभागवत' उपाधि धारण की थी जो वैष्णव उपाधि है (फ्लीट, संख्या ४)। फ्लीट का संख्या ४ का अभिलेख चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक प्रमुख सचिव द्वारा ईश्वरवासक नामक एक गाँव अथवा भूभाग दान दिये जाने का तथा काकनादबोट (साँची) के महाविहार के 'आर्यसंघ' कहे जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं के समुदाय को द्रव्य दिये जाने का उल्लेख करता है। दानकर्ता बौद्ध होने के कारण वह चन्द्रगुप्त के नाम के साथ उनका साधारण विशेषण 'परमभागवत' अर्थात् 'विष्णु का परम भक्त' नहीं लगाता। उदयगिरि की एक गुफा में चन्द्रगुप्त द्वितीय के एक शैव सचिव का अभिलेख है। वह गुफा शम्भु अथवा शिव के मन्दिर के रूप में खोदी गयी थी, उसमें (फ्लीट, संख्या ६) भी स्वभावतः असम्बद्ध मानकर सम्राट् की 'परमभागवत' उपाधि को छोड़ दिया गया है। उदयगिरि की दूसरी गुफा, जिसमें गुप्त-संवत् ८२ का तिथियुक्त अभिलेख है उसके (१) दो पत्नियों के साथ चतुर्भुज विष्णु की तथा (२) बारह भुजाओंवाली देवी की (जो सम्भवतः लक्ष्मी हो सकती है) आकृतियोंवाले मूर्ति-निर्माण के कारण वैष्णव-गुफा प्रतीत होती है (फ्लीट, पृष्ठ २३)। गुप्त-संवत् ८८ का गढ़वा का प्रस्तर-अभिलेख वैष्णव अभिलेख होने के कारण उसमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए 'परमभागवत' उपाधि का उल्लेख है। यह अभिलेख बहुत कुछ नष्ट हो गया है किन्तु अवशिष्ट खण्डों में एक वैष्णव संस्था को उसके अधिवासी ब्राह्मणों के लिए 'सदा-सत्र' की सहायतार्थं दस-दस 'दीनार' के दान का लेख है। इस दान से यह ज्ञात होता है कि जनता की धार्मिक वृत्ति मानव की सेवा द्वारा परमात्मा की उपासना के रूप में समाज सेवा के दानों को प्रोत्साहन देती थी।

मथुरा का ३८० ई० का स्तम्भ-अभिलेख शैव धर्म से उत्पन्न उदिताचार्य के अधीन मथुरा में स्थापित माहेश्वर सम्प्रदाय का साक्ष्य देता है। अभिलेख में वह अपने उपमित, कपिल तथा पाराशर नाम के 'भागवत' पूर्वाचार्यों का उल्लेख करता है जिनकी परम्परा में वह स्वयं चौथा है (भगवत्पाराशराच्चतुर्थेन)। वह परम्परा में स्वयं के भागवतकुशिक से दशम होने का भी वर्णन करता है जो इस प्रकार शैवमत के इस विशिष्ट माहेश्वर सम्प्रदाय का प्रवर्त्तक था। इन कुशिक का वायु एवं लिंग पुराण में शिवमहेश्वर के अन्तिम अवतार के रूप में कहे गये महान् लकुली के प्रथम शिष्य कुशिक के रूप में उल्लेख है। लकुली के चार शिष्य थे, जिनमें से प्रत्येक एक-एक पाशुपत मत का प्रवर्त्तक था।

इससे आगे इस अभिलेख में कहा गया है कि अपने पुण्य में अभिवृद्धि करने के निमित्त से (स्व-पुण्य-आप्यायननिमित्तम्) तथा अपने 'गुरुओं' की 'कीर्ति' के हेतु से भी आचार्य उदित ने गुरुओं के पुण्यस्थल में (गुरु-आयतने) 'उपमितेश्वर' एवं 'कपिलेश्वर' की प्रतिष्ठा की। जिस प्रकार से 'ईश्वर' शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है, यह माना गया है कि उससे सूचित होता

है कि गुरुओं की आकृतियों अथवा मूर्तियों के साथ 'शिव-लिंग' 'प्रतिष्ठापित' किये गये थे। प्रत्येक आचार्य के नाम पर एक लिंग प्रतिष्ठित किया गया था तथा यह तथ्य कि वह 'गुरु-आयतने' स्थापित किया गया था यह प्रदर्शित करता है कि शिव-लिंगों के साथ मूर्तियाँ भी थीं। भास के 'प्रतिमा-नाटक' में 'देव-कुल' कहे गये प्रतिमूर्तियों के राजकीय अलिंद का उल्लेख है और इस 'गुरु-आयतने' की भी सम्भवतः आचार्यों के 'प्रतिमा-गृह' के रूप में योजना की गयी थी। अभिलेख का पाठ इस प्रकार है—'उपमितेश्वर—कपिलेश्वरौ—गुर्व्वायतने—गुरु...............'। डॉ० डी० आर० भाण्डारकर की सूचना के अनुसार (एपिग्राफिया इण्डिका, XXI, पृ० ५) गुरु के पश्चात् खण्डित शब्द, जिनके लिए कम से कम पाँच अक्षरों का स्थान दिखता है, 'गुरु-प्रतिमा-युतौ' थे, यह माना जा सकता है। आचार्य उदित कहते हैं कि यह स्मारक उनकी स्वयं की ख्याति के अर्थ नहीं है (नैतत्ख्यात्यर्थम) किन्तु माहेश्वरों के मनोयोग के लिए (विज्ञप्तिः) एवं 'आचार्यों' के उद्बोधन के लिए कि वे इसे अपनी निज की सम्पत्ति (आचार्यानां परिग्रहम्) मानें और शंकाहीन होकर (विशंकम्) उपायनों से इसे पूजित करें (पूजा-पुरस्कारम्) तथा दान लेकर इसे परिपालित करें (परिग्रह-पारिपाल्यम्)। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कुमारगुप्त एवं बंधुवर्मन् के मन्दसौर के प्रस्तर-अभिलेख में 'देवकुल-सभा-विहार' शब्द आये हैं (फ्लीट, संख्या १८)।

अभिलेखों के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राएँ उनके वैष्णव होने की सूचना देती हैं। उनकी अश्वारोही आकृति की स्वर्ण मुद्राओं के 'परमभागवत' मुद्रा-लेख से यह ज्ञात होता है। अपने उस नव विजित प्रदेश में जो पहले पश्चिमी क्षत्रपों के अधीन था प्रचलित करने के उद्देश्य से क्षत्रप मुद्राओं के आधार पर मुद्रित की गयी उनकी मुद्राओं पर भी यह मुद्रालेख दृष्टिगत होता है। विजेता के रूप में उन्हें विजित प्रदेश की परिपाटी एवं व्यवहारों का और विशेषतः उनकी अभ्यस्त मुद्राके स्वरूप का यथासम्भव अधिक से अधिक पालन करना पड़ा था। इस प्रकार अपनी नवमुद्रित मुद्राओं के मुख भाग पर उस काल के क्षत्रप शासकों की प्रतिआकृति के रूप में शताब्दियों से व्यवहृत होते चले आ रहे परम्परागत राजा के सिर को उन्होंने बनाए रखा, किन्तु उनके पृष्ठ भाग का उपयोग अपनी विजय एवं शासकपरिवर्तन को सूचित करने के लिए किया। मुख भाग पर भी क्षत्रप-संवत् के स्थान पर गुप्त-संवत् के मुद्रण द्वारा गुप्त-विजय सूचित की गयी है, तथापि पृष्ठ भाग में गुप्त-मुद्राओं की विशेषता समाविष्ट हुई है। उसमें क्षत्रपों के चैत्य का स्थान चन्द्रगुप्त द्वितीय का देवता विष्णु का वाहन गरुड़ ले लेता है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय की ताम्र-मुद्राएँ, उनके पृष्ठ भाग पर गरुड़ होने के कारण उनका धर्म वैष्णव घोषित करती हैं।

केन्द्र—साम्राज्य की राजधानी प्रयाग के स्तम्भ-अभिलेख में पुष्प कहा गया पाटलिपुत्र नगर था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के अभियानों एवं विजयों से यह प्रकट होता है कि पूर्वी मालवा के विदिशा नगर से भी उनका सम्बन्ध था जबकि, जैसा हम पहले देख चुके हैं, उनके साथ अपना सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाले कनारी प्रदेशों के कुछ शासकों ने उनका वर्णन पाटलिपुत्र के अधीश्वर के साथ साथ 'उज्जयिनीपुरवराधीश्वर' के रूप में किया है। उनका उज्जयिनी के साथ सम्बन्ध परम्परागत शकारि विक्रमादित्य से उनकी अभिन्नता का भी अनुमोदन करता है। वसुबन्धु के चरित्र-लेखक परमार्थ ने एक विक्रमादित्य की राजधानी अयोध्या होने का वर्णन किया है, यह बात भी ध्यान देने योग्य है। वसुबन्धु (५००-५६९ ई०) उज्जयिनी निवासी ब्राह्मण था जो कुछ काल तक मगध में रहा तथा ५४६-६९ ई० के मध्य चीन में रहा। वह लिखता है कि विक्रमादित्य के पुत्र बालादित्य के निमंत्रण पर पुरुषपुर (पेशावर) का अधिवासी वसुबन्धु अयोध्या आया; जिन्होंने बौद्ध धर्म के संरक्षक के रूप में पहले उसे बालादित्य का अध्यापक बनाया। यदि इन विक्रमादित्य को चन्द्रगुप्त द्वितीय माना जाय तो अयोध्या को उनके साम्राज्य के प्रधान नगरों में से माना जायगा। यह अभिन्नता वसुबन्धु की तिथि पर निर्भर है। यह हम देख ही चुके हैं कि वैशाली किस प्रकार साम्राज्य का एक महत्त्वपूर्ण नगर था।

मुद्राएँ—अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओं के अनुकूल अपने पिता की भाँति चन्द्रगुप्त द्वितीय ने अनेक प्रकार की मुद्राएँ प्रचलित की थीं। वे (१) धनुर्धर, (२) मंच, (३) छत्र, (४) सिंहमारक, तथा (५) अश्वारोही की आकृतियों से युक्त थीं। इन प्रकारों के भी अपनी विशेषताओं से युक्त अनेक उप-प्रकार हैं।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

धनुर्धर-आकृति-युक्त—उनकी इस आकृति की मुद्राएँ सबसे अधिक प्राप्त हैं और ये अनेक प्रकार की हैं। पहली प्रकार वह है जिसके पृष्ठ-भाग पर देवी के आसन के रूप में सिंहासन अथवा कमल है और इनमें से प्रत्येक प्रकार में मुख-भाग पर धनुष की तथा चन्द्र नाम की स्थिति के अनुसार अप्रधान श्रेणियाँ हैं।

पृष्ठ-भाग पर सिंहासनयुक्त—इस प्रकार की मुद्रा के मुख भाग पर समुद्रगुप्त की धनुर्धर आकृति युक्त मुद्राओं के समान वाम कर में धनुष तथा दक्षिण कर में बाण लिए हुए वाम पार्श्व में खड़ा हुआ प्रभा-वाम पर पट्ट से आवेष्टित गरुड़ध्वज, वाम-बाहु के नीचे चन्द्र, चारों ओर 'देवश्रीमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' मुद्रालेख दृष्टिगत होता है। इस मुद्रा के पृष्ठ भाग पर सामने को मुख किए हुए समुद्रगुप्त की इसी प्रकार की अन्य मुद्राओं के सदृश प्रभामण्डल युक्त, उच्च-पृष्ठाधार-युक्त सिंहासन पर आसीन वाम हस्त में समृद्धिशृंग लिए हुए तथा दक्षिण में पट्ट युक्त, चरणों को कमल पर रखे हुए लक्ष्मी, बिन्दुओं की सीमारेखा, दाईं ओर 'श्रीविक्रमः" परिलक्षित होते हैं। इसका पृष्ठाधार रहित सिंहासन पर आसीन वामहस्त में समृद्धिश्रृंग के स्थान पर कमल धारण किए हुए देवीयुक्त और इस प्रकार अधिक भारतीय शैली का एक अन्य प्रकार है।

पृष्ठ-भाग पर कमलयुक्त—इस प्रकार की मुद्रा के मुख भाग के वाम पार्श्व पर पैरों के पास खड़े तूणीर में से बाण खींचता हुआ राजा तथा पृष्ठ भाग पर प्रभामंडलयुक्त सामने को मुख किये कमल पर आसीन दक्षिण एवं वाम करों में क्रमशः पट्ट तथा कमल धारण किये देवी प्रदर्शित हैं।

इस श्रेणी के अन्य प्रकारों में (१) दक्षिण कर में बाण लिए हुए वाम पार्श्व पर राजा पृष्ठ भाग पर सिंहासनयुक्त मुद्राओं के समान, (२) मुख भाग पर ध्वज से ऊपर अर्धचन्द्र, (३) मुख-भाग पर ध्वज से ऊपर (विष्णु का) चक्र, (४) दक्षिण पार्श्व में केवल कटिवस्त्र एवं आभूषण धारण किये हुए, वाम कर में धनुष तथा दक्षिण में बाण लिए खड़ा हुआ राजा, (५) एक अत्यन्त दुष्प्राप्य प्रकार में बाईं हाथ को दक्षिण कर में धनुष लिए हुए किन्तु बाणरहित वाम कर को कटि प्रदेश पर आश्रय दिये हुए खड़ा राजा, दृष्टिगत होते हैं।

यह ध्यान देने योग्य है कि उपर्युक्त (२) तथा (३) प्रकार की मुद्राओं की विशेषता उनका अधिक भार तथा अशुद्ध धातु है और (४) प्रकार में भारतीय कटिवस्त्र एवं कटिसूत्र को कुषाण वेशविन्यास का त्याग करके स्थान दिया गया है।

अधिक सम्भव यह है कि अपनी आकृतियों के कारण मुद्राओं की सिंहासन-युक्त श्रेणी उत्तर के प्रान्तों में और कमलयुक्त श्रेणी पूर्व तथा मध्य के प्रान्तों में, जहाँ विदेशी आकृतियाँ उपयुक्त नहीं थीं, प्रचलित थीं।

मंच-आकृति-युक्त—मुखभाग पर कटिवस्त्र एवं रत्न धारण किये बाईं ओर को सिर किये, ऊँचे पृष्ठाधार-युक्त मंच पर उसके किनारे पर वाम कर को आश्रय दिये, ऊपर उठे हुए दक्षिण कर में पुष्प लिये बैठा हुआ राजा; मुद्रालेख 'देवश्रीमहाराजाधिराजस्यश्रीचन्द्रगुप्तस्य' दृष्टिगत है। पृष्ठभाग पर धनुर्धर की आकृतियुक्त मुद्राओं के कुछ नमूनों के समान पृष्ठाधारहीन सिंहासन पर आसीन सामने को मुख किये ऊपर उठे वाम कर में कमल लिए, चरणों को कमल पर आश्रय दिये देवी (लक्ष्मी), दाईं ओर 'श्रीविक्रमः' मुद्रालेख प्रदर्शित है। इण्डियन म्यूजियम के नमूने में मुखभाग पर 'विक्रमादित्यस्य' शब्द और है तथा मंच के नीचे 'रुपाकृती' लेख है। यह शब्द स्पष्ट रूप से अनेक शारीरिक तथा सांस्कृतिक गुणों का निर्देश करता है। मुद्रा का यह प्रकार बहुत कम मिला है और जैसा उसके पृष्ठभाग पर सिंहासन की आकृति होने से संकेत मिलता है, वह सम्राट् के शासनकाल के प्रारम्भ में प्रचलित किया गया था।

छत्र-आकृति-युक्त—मुखभाग पर अंकित मुद्रालेख में विभिन्नता होने के कारण इस आकृति की मुद्राओं के दो मुख्य प्रकार हैं। प्रथम प्रकार के मुखभाग पर बाईं ओर दक्षिण कर से बाईं ओर बनी वेदिका पर आहुति अर्पित करता हुआ तथा वाम कर को तलवार की मूठ पर रखे हुए प्रभामण्डलयुक्त राजा खड़ा है; उसके पीछे बौना अनुचर

उसके ऊपर छत्र की छाया किये है तथा अन्य प्रकारों के मुद्रालेख 'क्षितिप्रवजित्यसुचरितैर्दिवंजयतिविक्रमादित्यः' से भिन्न 'महाराजाधिराजःश्रीचन्द्रगुप्तः' मुद्रालेख प्रदर्शित है। पृष्ठभाग पर बाईं ओर को कमल पर खड़ी हुई दक्षिण कर में पट्ट तथा वाम कर में कमल धारण किये हुए प्रभामण्डलयुक्त देवी (लक्ष्मी) तथा मुद्रालेख 'विक्रमादित्यः' है। दूसरे प्रकार में (पद्मसम्भवा के अनुसार) देवी कमल में से उदित होती हुई दिखती है। इस आकृति में देवी की विभिन्न स्थिति तथा अंगविन्यासोंवाले नमूने भी प्राप्त होते हैं।

मुख भाग के मुद्रालेख का अर्थ है। "विक्रमादित्य पृथ्वी विजय करके अपने सत्कृत्यों द्वारा स्वर्ग विजय करते हैं"

सिंह-मारक-आकृति-युक्त—इस आकृति की मुद्राओं का प्रदर्शन मुख-भाग पर विभिन्न स्थितियों में सिंह की मृगया करते हुए राजा को दिग्दर्शित करनेवाले तथा पृष्ठभाग पर विभिन्न स्थितियों में उपयुक्त देवी दुर्गासिंहवाहिनी युक्त बहुसंख्यक विभेदोंवाले नमूनों में हुआ है।

प्रथम श्रेणी के मुख-भाग पर बाईं अथवा दाईं ओर पीछे उड़ते हुए कटिसूत्र सहित अधोवस्त्र, उष्णीष अथवा सुसज्जित शिरोवस्त्र तथा रत्न धारण किये धनुष से सिंह पर, जो पीछे गिर पड़ता है, प्रहार करते हुए तथा पैर से उसे कुचलते हुए खड़ा राजा प्रदर्शित है।

पृष्ठभाग पर प्रभामण्डलपूर्ण दाएँ अथवा बाएँ को मुख किए हुए सिंह पर आसीन फैले हुए दक्षिण कर में पट्ट एवं कुछ प्रकारों में वामकर में समृद्धि-श्रृंग तथा अन्य में कमल धारण किए हुए देवी (लक्ष्मी-अम्बिका), बिन्दुओं की सीमा-रेखा, बाईं ओर को चिह्न अंकित हैं।

मृगया का दृश्य मुद्राओं पर निम्नांकित विभिन्न रूपों से अंकित हुआ है :—

१. ऊपर वर्णन किए गए प्रकार से सिंह पर बाण प्रहार करते हुए किन्तु उसे पैर से न कुचलते हुए बाईं ओर को राजा।

२. राजा सिंह पर बाण-प्रहार करते हुए, जो अपनी उछाल से पीछे गिर पड़ता है।

३. राजा अपना वाम चरण सिंह की पीठ पर रखते हुए तथा बाएँ हाथ में धारण किए धनुष से उसपर प्रहार करते हुए जो अपना सिर पीछे को मोड़ता हुआ पीछे को हटता है।

४. पीछे को हटता हुआ सिंह बाईं ओर।

५. दाईं ओर खड़ा राजा सिंह पर वाम चरण स्थापित किए हुए तथा राजा के ऊपर उठे हुए दक्षिण कर में गृहीत खड्ग के उसपर होनेवाले आघात के साथ ही पीछे को सिर मोड़े हुए राजा पर झपटता हुआ सिंह। विंसेण्ट स्मिथ ने इन प्रकारों का वर्णन सिंहपादपीड़क, योद्धासिंह तथा प्रतिनिवृत्तसिंह की आकृतियों के रूप में किया है।

पृष्ठ-भाग की देवी भी आकृति की मुद्राओं में ये थोड़े से भेद प्रदर्शित करती है। (१) सामने को मुख किये दाईं ओर को जानेवाले सिंह पर आसीन देवी (२) अपना वाम कर सिंह के कटि प्रदेश पर रखे सिंह की विपरीत दिशा को बैठी हुई देवी (३) पीछे को सिर मोड़े बाईं ओर पड़े हुए सिंह पर सामने को मुख किए आसीन देवी।

अब जहाँ तक मुद्रा लेख का सम्बन्ध है प्रथम श्रेणी के मुखभाग पर पूरा पाठ इस प्रकार है :—

नरेन्द्रचन्द्रः प्रथितश्रिया दिवम्। जयत्यजेयो भुवि सिंहविक्रमः॥

"नरेन्द्रों में चन्द्रमा, दूर-दूर तक फैली कीर्ति से, पृथ्वी पर अजेय सिंह के पराक्रम से स्वर्ग को जीतता है।"

द्वितीय श्रेणी पर अन्य मुद्रा लेख है जिसे इस प्रकार व्यवस्थित किया जा सकता है :—"नरेन्द्रसिंहचन्द्रगुप्तः पृथिवीं जित्वा दिवं जयति"—"नरेन्द्रों में सिंह चन्द्रगुप्त पृथ्वी विजय करके स्वर्ग को जीतता है।"

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य

पृष्ठभाग पर बहुधा 'श्रीसिंहविक्रमः' मुद्रालेख है। एक प्रकार पर यह 'सिंहचन्द्रः' है।

हम इस प्रकार यह देखते हैं कि सिंह की मृगया ने सम्राट् की कल्पना पर अधिकार कर लिया था जिसके द्वारा मृगया के विभिन्न अवसरों पर राज-आखेटक तथा उनके विशाल मृगया-जन्तु ने अपनेआप को जिन स्थितियों में देखा था उन सब सम्भव स्थितियों को पुनः अंकित करने में नियुक्त शिल्पियों द्वारा प्रस्तुत की गयी अनेक रचनाओं का संकेत प्राप्त हुआ। यह बात ध्यान देने योग्य है कि समुद्रगुप्त व्याघ्र की मृगया करने का इच्छुक था, किन्तु उसका पुत्र सिंह से अधिक प्रभावित हुआ था। पिता और पुत्र दोनों में महान् मृगया-जन्तु की कल्पमा के सम्बन्ध में अन्तर होने का कारण महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि समुद्रगुप्त की व्याघ्र की आकृतिवाली मुद्राएँ गंगा की तराई की विजय के उपलक्ष में चलाई गई थीं जिसके जंगलों में आज भी बंगाली व्याघ्रों की प्रचुरता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय की सिंह की आकृति युक्त मुद्राओं का भी ऐसा ही प्रादेशिक महत्त्व है और वे उनकी सिंहों के अधिवास युक्त प्रदेश की विजय के उपलक्ष में प्रचलित की गयी थीं। वे उनकी पश्चिमी मालवा तथा सुराष्ट्र अथवा वर्तमान काठियावाड़ की, जो भारतवर्ष में आज भी सिंहों के निवास स्थल हैं, विजय की स्मृति में चलायी गयी थीं। आगे एक दूसरे से सम्बद्ध किये गये व्याघ्र और देवी गंगा के समान, मुख भाग के सिंह से पृष्ठ भाग पर की देवी दुर्गा की प्रकृत कल्पना प्राप्त हुई है, जिसका उनके साथ उनके पवित्र आसन एवं वाहन के रूप में सम्बन्ध है। सुराष्ट्र के क्षत्रप शासकों को विजय करने के पराक्रमपूर्ण दुष्कर कार्य में चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा आह्वान की गयी अजेय 'शक्ति' के प्रतीक के रूप में वे सिंह पर आरूढ़ हैं। इस प्रकार गुप्त सम्राटों की मुद्रा-पद्धति मेंउसे आकृति प्रदान करनेवाला तथा अधिक ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त करानेवाला अभिप्राय एवं उद्देश्य कल्पित है।

अश्वारोही-आकृति-युक्त—इस आकृतिवाली मुद्राएँ चन्द्रगुप्त द्वितीय की महत्त्वपूर्ण नवीन योजना का स्वरूप हैं और उनके उत्तराधिकारी कुमारगुप्त प्रथम ने उन्हें विस्तृत रूप में प्रवर्तित रखा।

इनके मुख-भाग पर दाईं अथवा बाईं ओर को पूर्ण रूप से सज्जित अश्व पर आरूढ़ राजा है, जिसके वेशविन्यास में कटिसूत्र सहित पीछे को उड़ता हुआ कटिवस्त्र तथा (कुण्डल, केयूर, हार आदि) रत्नाभरण हैं। कुछ नमनों पर उसके वाम कर में धनुष है तथा अन्य पर उसके वाम पार्श्व में खड्ग है।

इनके पृष्ठभाग पर दाईं ओर को वेत्रपीठ पर आसीन, फैले हुए दक्षिण कर में पट्ट तथा वाम कर में उनके पीछे पत्र एवं मूलवाले कमल को धारण किये देवी, और बिन्दुओं की सीमा रेखा चित्रित है। यह आकृति इन मुद्राओं की 'आडोक्सो' मुद्राप्रणाली से स्पष्ट भिन्नता को तथा पूर्ण भारतीय स्वरूप को लक्षित करती है।

मुखभाग का मुद्रालेख 'परमभागवतमहाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तः' अथवा 'भागवतो' और पृष्ठभाग का 'अजित-विक्रमः' है।

'भागवत' की नयी उपाधि का प्रयोग यह सूचित करता है कि अपना विजय का कार्यक्रम पूर्ण कर चुकने के कारण सम्राट् अब 'शक्ति' के उपासक नहीं रहे। वे अब शान्ति की चर्चा में संलग्न हो सकते हैं और अपने आपको भागवत के रूप में अहिंसा धर्म को अर्पित करते हुए विष्णु तथा शान्ति एवं समृद्धि की देवी उनकी सहचारिणी लक्ष्मी के उपासक के अनुरूप वेणु ग्रहण करने के लिए खड्ग का परित्याग कर सकते हैं।

रजत-मुद्रा—ऊपर निर्दिष्ट मुद्राएँ यद्यपि स्वर्ण की थी, पश्चिम के क्षत्रपों के राज्य को हस्तगत करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त द्वितीय को, उस प्रदेश की रजतमुद्राप्रणाली को उसपर कुछ गुप्त साम्राज्य की विशेषताएँ मुद्रित कराके बनाए रखना पड़ा था। इन पुनः मुद्रित रजत-मुद्राओं के मुखभाग पर दाईं ओर को क्षत्रप-मुद्राओं के समान ग्रीक अक्षरों के चिह्नों सहित राजा का ऊर्ध्व शरीर तथा बाईं ओर को 'व (र्षे)' शब्द तथा शक-संवत् के स्थान पर गुप्त-संवत् की ब्राम्ही अंकों में तिथि प्रदर्शित है। पृष्ठभाग की बनावट पूर्णरूप से गुप्त-सम्राटों की निज की है। उसमें सामने को मुख किए पंख फैलाए खड़े हुए विष्णु के वाहन गरुड़ की आकृति एवं सम्राट् को वैष्णव बतानेवाला तदनुरूप 'परम-भागवत-महाराजाधिराज-श्री-चन्द्रगुप्त-विक्रमांकस्य' मुद्रालेख अंकित है।

ताम्रमुद्रा—चन्द्रगुप्त द्वितीय ताम्रमुद्रा प्रचलित करानेवालों में भी सर्वप्रथम थे। इन मुद्राओं की, साधारण आकृति है, मुखभाग पर राजा एवं पृष्ठभाग पर गरुड़ और इन दोनों की बनावट में विभिन्नता। उनमें दक्षिण कर में पुष्प ग्रहण किए हुए राजा का ऊर्ध्व शरीर, शरीर का तीन चौथाई भाग अथवा आधा भाग मुद्रित है और प्रभामण्डलयुक्त गरुड़ पंख फैलाए हुए सामने को मुख किए खड़ा हुआ, अथवा यज्ञ-वेदिका पर खड़ा हुआ, अथवा मुख में सर्प पकड़े हुए, अथवा उसे केवल पंजों से पकड़े हुए अंकित हैं। इन ताम्र मुद्राओं में छत्र की आकृतिवाली भी एक प्रकार है जिसमें बौने अनुचर सहित जो उस पर छत्र की छाया किए है, वेदिका पर राजा प्रदर्शित है। ऐसी आकृति की मुद्राएँ भी हैं जिनपर राजा की आकृति नहीं है किन्तु मुखभाग के मुद्रालेख 'श्रीचन्द्र' के साथ, जो पृष्ठभाग के मुद्रालेख 'गुप्तः' से पूर्ण होता है अथवा कुछ उदाहरणों पर बिना 'गुप्त' प्रत्यय के केवल 'चन्द्र' नाम के साथ गरुड़ अंकित है। कुछ नमूनों में एक और प्रकार प्राप्त होता है जिसमें गरुड़ के स्थान पर नीचे तक लटकते पुष्पों सहित पुष्पाधार अंकित हैं।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त की मुद्रा सम्बन्धी नवीनताएँ मंच, छत्र, सिंह, अश्व, गरुड़ तथा सिंहासनासीन देवी, आर्डोक्सो के स्थान पर कमलासनस्थ लक्ष्मी की आकृतियाँ और रजत एवं ताम्र मुद्राएँ हैं।

उपाधियाँ—चन्द्रगुप्त द्वितीय की मुद्राओं से उनकी ये उपाधियाँ प्राप्त होती हैं:—

रूपाकृति, विक्रमादित्य, विक्रमांक, सिंहविक्रम, नरेन्द्रचन्द्र तथा परमभागवत (जिसका उल्लेख उनके अभिलेखों में भी है)।

फा-हिएन् की देखी हुई उस काल में देश की अवस्था—चन्द्रगुप्त उस विस्तृत साम्राज्य का शासन करते थे जिसका आयतन पश्चिम के काठियावाड़ प्रायद्वीप से पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय से नर्मदा तक था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासनकाल के अन्तर्गत ईसवी सन् ३९९-४१४ के बीच भारतवर्ष की यात्रा करनेवाले चीनी यात्री फा-हिएन् के यात्रा-वर्णन से प्राप्त साम्राज्यवासी जनता के भौतिक एवं नैतिक उत्कर्ष की छाया से गुप्त-शासन की उत्तम व्यवस्था प्रतिबिम्बित होती है, यद्यपि उसने अपने वर्णन में चन्द्रगुप्त का नामोल्लेख नहीं किया है।

भारतवर्ष एवं चीन के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का फा-हिएन् ही एकमात्र प्रधान उदाहरण नहीं था। चीन दीर्घ काल से भारतवर्ष को उस ज्ञान एवं उच्चतम प्रज्ञा की रक्षा के स्थान के रूप में मानता रहा है जिसकी उसके सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्कों को उत्कंठा एवं भक्तिपूर्ण जिज्ञासा रही है। इनकी प्राप्ति उन्हें बुद्धधर्म में हुई और उसके उद्भव एवं विकास का स्थल था भारतवर्ष। चीन को बुद्धधर्म का ज्ञान तीसरी शताब्दी ईसवी पूर्व के सुप्राचीन काल में हो गया था। तब से इसने चीन के धार्मिक क्षेत्रों की प्रगनि तथा ज्ञान को उसके मूल स्रोत से ही पान करने की इच्छामूलक भारतवर्ष की यात्रा करने की प्रवृत्ति उत्पन्न करदी।

चीन में बौद्ध धर्म के शास्त्रों का ज्ञान अत्यन्त अपूर्ण था, यह फा-हिएन् ने अत्यन्त दुःख के साथ अनुभव किया। उस काल में भारतवर्ष को की जानेवाली इस प्रकार की स्थल-यात्राओं में आनेवाली विपत्तियों की उपस्थिति में इन 'शास्त्रों' की प्राप्ति के हेतु से हुइ-चिंग्, ताओ-चेंग्, हुइ-यिंग्, हुई-वे तथा अन्य अनेक चीनी विद्वानों के साथ भारत की यात्रा करने के लिए संयुक्त मण्डली का उसने संगठन किया। यात्रा में इस धर्म-मण्डली को इसी उद्देश्य से इनसे पूर्व प्रस्थान करनेवाले अन्य लोग मिले। वे चिह-येन्, हुइचिएन्, सेंग्-शाओ, पाओ-सुन्, सेंग-चिंग् आदि थे।

बुद्धधर्म का अनुयायी जो पहला देश उन्होंने देखा वह 'शान्-शान्' था। यहाँ "लगभग ४००० से अधिक सभी हीनयान मतावलम्बी भिक्षु थे।" फा-हिएन् कहता है कि "शमनों के साथ-साथ इन देशों की साधारण जनता भी भारतवर्ष के धर्म का आचरण करती है।"

इसके पश्चात् वह मण्डल अनेक 'तारतार' देशों में होकर गया और वहाँ भी उन्होंने देखा कि "वे सब जिन्होंने गृह का त्याग कर दिया है (आचार्य तथा नवच्छात्र), भारतवर्ष के ग्रन्थों का और भारतवर्ष में बोली जानेवाली भाषा का अध्ययन करते हैं।"

'कर-शहर' देश में हीनयान बौद्ध भिक्षुओं की संख्या "४००० से अधिक" थी।

निर्जन प्रदेशों में होकर दुस्तर नदियों के पार अपनी यात्रा में "अनुपम कष्टों को सहन करता हुआ वह मण्डल अतिथियों को सुखप्रद 'खोतन्' देश में आया जहाँ भिक्षुओं की संख्या "अनेक दशसहस्र थी और जो बहुधा महायान थे। वे भारतीय नाम से विश्रुत 'गोमती' विहार में निवास करते थे जहाँ "घण्टानाद के साथ ही भोजनार्थ ३००० भिक्षु एकत्र हो जाते थे।" 'खोतन्' में ऐसे १४ विशाल विहार थे।

पास ही एक और २५० फीट ऊँचा "स्वर्ण एवं रजत से आच्छादित" विहार था, जिसके निर्माण में ८० वर्ष और तीन राजाओं का शासन-काल लगा था।

इससे आगे बौद्धधर्म का स्थान काशगर था। वहाँ इन यात्रियों ने "शमनों की आवश्यकताओं के अनुसार सब प्रकार के रत्नों से युक्त" दान करने के लिए राजा को 'पंच परिषद्' करते देखा। वहाँ १००० हीनयान भिक्षु तथा बुद्धके ष्ठीवन पात्र एवं दाँत के रूप में कुछ पवित्र अवशेष थे।

काशगर से हिमाच्छादित प्रदेशों को पार करके ये यात्री उत्तरी भारत तथा दारेल नाम के स्थान पर आये जहाँ अनेक हीनयान भिक्षु थे।

इसके पश्चात् उन्हें गम्भीरतम कठिन मार्ग से बहते हुए सिन्धु नद सहित एक "दुर्गम, अत्यन्त ढालू एवं संकटपूर्ण पथ का" सामना करना पड़ा। जिनमें पैर नहीं जमते थे ऐसे ७०० डग नीचे उतरकर वे "रस्सियों के लटकते हुए पुल" द्वारा सिन्धु नद के पार हुए और भिक्षुओं से मिले, जिन्होंने उत्सुकतापूर्वक फा-हिएन् से पूछा "क्या आप जानते हैं कि बुद्धधर्म पूर्व की ओर प्रथम कब गया?" इसके उत्तर में फा-हिएन् ने कहा "निर्वाण के २०० वर्ष पश्चात् मैत्रेय बोधिसत्त्व की मूर्ति स्थापित करने की तिथि से भारतवर्ष के शमन सूत्रों और शास्त्रों को नदी से पार लाने लगे थे।"

सिन्धु को पार करके ये यात्री 'उद्यान' नाम के प्रदेश में आये जहाँ बुद्ध धर्म 'अत्यन्त उन्नत दशा में' था तथा 'मध्य भारत अथवा मध्यराज्य' की भाषा व्यवहृत होती थी।

इस के पश्चात् वे 'गांधार' और फिर 'तक्षशिला' तथा पेशावर आये जहाँ महाराज कनिष्क ने "४०० फीट से अधिक ऊँचा पगोडा बनवाया था जो गौरव और शोभा में अद्वितीय था।"

भगवान् बुद्ध के अवशेषों की अथवा उनके पदचिह्न, जिसपर उन्होंने अपने वस्त्र सुखाए थे वह शिला, उनका भिक्षा-पात्र तथा जहाँ एक कपोत को मुक्त कराने के लिए उन्होंने अपना माँस काटकर दिया था, अथवा समवेदना के कारण किसी जीव के लिए अपनी आँखें अथवा अपना सिर काट दिया था, अथवा क्षुधित व्याघ्र की तृप्ति के लिए अपना शरीर दे दिया था वे स्थल आदि उनके जीवन की घटनाओं की स्मृति-रक्षा तथा पूजा करने के लिए इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में स्थान-स्थान पर स्तूप बने हुए थे।

यहाँ से फा-हिएन् एकाकी रह गया। उसके साथी हुइ-चिंग्, हुइ-ता, ताओ-चेंग्, हुइ-यिंग्, पायो-युन्, तथा सेंग्-चिंग् सब चीन को लौट गये।

फा-हिएन् इसके पश्चात् बुद्ध की कपाल की अस्थियुक्त एक स्तूपवाले नगरहार प्रदेश में पहुँचा जहाँ आसपास के देशों के शासक "अर्चन करने के लिए अपने राजदूत नियमित रूप से भेजते हैं।" नगरहार की राजधानी में एक स्तूप था जिसमें बुद्ध के दाँत स्थापित थे। ऐसा ही एक स्तूप और भी था जिसमें बुद्ध का काँसे की मूठ का दण्ड स्थापित था, एक और स्तूप में उनके वस्त्र स्थापित थे, बुद्ध की छाया की गुफा थी तथा एक अन्य ८० फीट ऊँचा स्तूप उस स्थान पर बना हुआ था जहाँ बुद्ध ने क्षौर कराया था तथा नख कटवाए थे।

फा-हिएन् तथा उसके अन्य दो साथियों ने अब छोटे हिमाच्छादित पर्वत (सफेद कोह) पार किये जहाँ फाहिएन् से यह कहते हुए "मैं बच नहीं सकता; शुभ इसी में है कि जब तक तुम चल सको चलते जाओ; ऐसा न करो कि हम सब

यहीं समाप्त हो जाँय" उसका साथी चलबसा। शव को मृदुता से थपथपाता हुआ फाहिएन शोक में चिल्ला उठा "यह नियति है; इसमें क्या किया जा सकता है।"

इस प्रदेश को पार करके ये यात्री अफगानिस्तान देश में आये और वहाँ उन्होंने हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदायों के लगभग ३००० भिक्षु देखे।

फलन अथवा बन्नू में भी उन्होंने उतने ही भिक्षु देखे जहाँ से पूर्व को यात्रा करते हुए वे पुनः सिन्धु नद पार हुए और पंजाब के भिद नामक प्रदेश में आये जहाँ बुद्धधर्म बहुत उन्नत अवस्था में था।

"जिन सबमें लगभग १०००० भिक्षु निवास करते थे ऐसे बहु-संख्यक विहारों" वाले पंजाब को पार करते हुए ये यात्री मन्दोर अथवा मथुरा में आये और वहाँ लगभग ३००० भिक्षुओं से युक्त २० विहार यमुना के तट पर देखे।

मथुरा के दक्षिण में "(ब्राह्मणों का) मध्यप्रदेश कहलानेवाला देश है जहाँ लोग समृद्ध एवं सुखी हैं और उनपर गणनापत्र में लिखित होने का अथवा अन्य राज्याधिकारिक बन्धन नहीं है। जो राजा की भूमि जोतते हैं केवल उन्हें अपने लाभ में से कुछ देना पड़ता है। जो जाना चाहें वे जा सकते हैं तथा जो रुकना चाहें वे रुक सकते हैं। राजा अपने शासन प्रबन्ध में शारीरिक दण्डों का उपयोग नहीं करता, अपराधियों को उनके अपराध की गुरुता के अनुसार केवल अर्थ-दण्ड दिया जाता है। राजद्रोह के दुबारा प्रयत्न का दण्ड भी केवल दायाँ हाथ काट देना है। राजा के सभी अंग-रक्षकों को निश्चित वेतन मिलता है। सारे देश में कोई भी जीवित प्राणी का हनन नहीं करता, न मद्य पीता है, न प्याज या लहसन खाता है; किन्तु चण्डाल इनसे पृथक् हैं। वे घृणित मानव (कुष्ठी) को चण्डाल कहते हैं।"

"इस देश में लोग सुअर अथवा बाज नहीं पालते, पशुओं का व्यापार नहीं करते और क्रय-विक्रय के स्थानों पर माँस बेचनेवालों की दूकानें अथवा कलारियाँ नहीं हैं। विनिमय के माध्यम के रूप में वे कौड़ियों का उपयोग करते हैं। केवल चण्डाल ही मृगया एवं मछलियों का व्यापार करते हैं।"

"राजा, नगर-पिता तथा कुलीन लोग विहार एवं स्तूप निर्मित कराते थे तथा भूमि, गृह एवं उद्यान खेती के लिए मनुष्य और बैलों सहित देते थे। नियामक अधिकारपत्र लिख दिये जाते थे जिनकी अवमानता करने का साहस पश्चाद्वर्ती राजा नहीं करते थे।"

"शय्या, तूलिका, भोजन तथा वस्त्रों सहित गृह अत्रुट रूप से निवास एवं यात्रा करनेवाले भिक्षुओं को दिये जाते हैं; और यह सभी स्थानों पर इसी रूप में होता है।"

"सारिपुत्र, मुगलन तथा आनन्द की आराधना में और अभिधर्म, विनय एवं सूत्रों के लिए भी स्तूप बनाए जाते हैं।"

"धार्मिक कुटुम्ब वार्षिक निवृत्ति के पश्चात् भिक्षुओं को वस्त्र तथा उनकी अन्य आवश्यक अनेक वस्तुएँ अर्पित करने के लिए दान करते हैं।"

यह बात ध्यान देने योग्य है कि मध्य देश वैदिक धर्म का दुर्ग एवं गुप्त साम्राज्य का हृदय था जहाँ भारत की संस्कृति सर्वोत्कृष्ट रूप में विद्यमान थी। फा-हिएन् के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि जनता को राज्य की ओर से पर्याप्त व्यक्तिगत स्वतंत्रता थी जिसमें राज्य के अधिकारियों द्वारा गणनासूची में नाम लिखाना अथवा अन्य प्रतिबन्धों के रूप में कोई कष्ट-प्रद हस्तक्षेप नहीं किया जाता था। आर्थिक स्वतंत्रता थी जिसमें श्रमिकों के आवागमन पर नियंत्रण नहीं था जिसके फल-स्वरूप कृषक अपने खेतों से दासों की भाँति बँधे नहीं थे; तथा दयापूर्ण अपराध सम्बन्धी विधान था। लोगों की नैतिक उन्नति तथा सामाजिक भावना उनके धर्म एवं शिक्षण संस्थाओं के लिए अर्पित किये जानेवाले उदार दानों से प्रदर्शित हैं। इन दानों ने कृषि के लिए आवश्यक साधन मनुष्य तथा पशुओं सहित भूमि के स्थायी समर्पण का रूप ले लिया था। इससे

यह ज्ञात होता है कि इन सांस्कृतिक संस्थाओं को खेती की भूमि तथा फल एवं फूलों के उद्यान आदि अपनी भूसम्पत्ति से अपना व्यय चलाने के अर्थ पर्याप्त आय प्राप्त करने के लिए कृषि-विभाग व्यवस्थित करने पड़ते थे। उन दिनों विद्यालयों एवं महाविद्यालयों की सहायता के लिए मुद्रा के रूप में दान करना प्रचलित नहीं था। जीवनयापन की पद्धति का आधार अहिंसा थी जिसके अन्तर्गत प्याज तथा लहसुन प्रभृति उत्तेजक मसाले रहित निरामिष शाकाहार का विधान था और कलारी, सुअरपालना एवं माँस बेचना भी वर्जित थे।

अब फा-हिएन् ने बुद्ध धर्म के तीर्थ-स्थल 'संकिस' (कपिथ) की यात्रा की जहाँ अशोक ने एक स्तूप तथा सिंह की मूर्ति के शिखरवाला ६० फीट ऊँचा स्तम्भ निर्मित करवाया था और जहाँ १००० भिक्षु रहते थे और पास के ही एक और विहार में छह-सात सौ भिक्षु रहते थे तथा वह बौद्ध-धर्म के अनेक स्मारकोंवाली 'श्रावस्ती' नामक तीर्थस्थली को गया।

यहाँ फा-हिएन् अपने एकमात्र साथी ताओ-चेंग् के साथ आया। भिक्षुओं ने फा-हिएन् से पूछा "आप किस देश से आये हैं।" और जब उसने उत्तर दिया "चीन से" तो भिक्षुओं ने दीर्घ निःश्वास छोड़ा और कहा "बहुत अच्छा, क्या यह भी सम्भव है कि धर्म की खोज में विदेशी इतनी दूर यहाँ तक आ सकते हैं? जब से हम भिक्षुओं द्वारा धर्म एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दिया जाना प्रारम्भ हुआ है, हमारे धर्म का कोई चीनी अनुयायी यहाँ आया, यह ज्ञात नहीं है।"

श्रावस्ती में फा-हिएन् ने प्रसिद्ध जेतवन विहार देखा जिसे वह "जिसने भूमि को ले लेने के लिए स्वर्ण मुद्राएँ बिखेर दी थीं उस सुदत्त" द्वारा निर्मित स्वर्ण उपवनवाला विहार कहता है।

उसने "वे सब स्थल जहाँ प्राचीन काल के मानवों ने स्मृति के चिह्न स्थापित किये थे," देखे।

"इस देश में विधर्मियों (अबौद्धों) के ९६ सम्प्रदाय हैं, जिनमें प्रत्येक के अपने शिष्य हैं जो अपना भोजन भी भिक्षा से प्राप्त करते हैं परन्तु भिक्षापात्र नहीं रखते।"

"इसके अतिरिक्त विजन प्रदेश की सड़कों के किनारे धर्मशालाएँ बनवाकर जिनमें इधर उधर से आते-जाते हुए परिव्राजक भिक्षुओं तथा यात्रियों को बिस्तर, भोजन एवं जल सहित आश्रय प्राप्त होता है वे मुक्ति प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु ठहरने देने की अवधि प्रत्येक (धर्मशाला) की अलग-अलग है।"

मानव में अभिव्यक्त परमात्मा के नरनारायण रूप की उपासना जिस धर्म का अंग है, तथा जनता की अधिकांश संख्या वैदिक धर्मों का पालन करनेवाली होते हुए भी ऐसी धर्मशालाओं की, जिनमें बिना जाति अथवा धर्म के भेदभाव के हिन्दू-धर्म के सभी सम्प्रदायों तथा बौद्धों को भी प्रवेश प्राप्त था, स्थापना द्वारा जो उपासना प्रकट हुई थी वह समाज-संग्रह की भावना से प्रेरित सार्वजनिक औदार्य का महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। यह जानकारी भी आकर्षक है कि इन प्राचीन काल की धर्मशालाओं में उनकी स्थानापन्न वर्तमानकालीन धर्मशालाओं के अल्पकाल तक ठहरने देने के नियम की पूर्व-कल्पना विद्यमान थी।

फा-हिएन् ने देवदत्त से तथा कश्यप, क्रकुच्छद अथवा कनकमुनि सदृश पूर्व बुद्धों से सम्बद्ध स्थान उस काल में भी देखे।

उसने कपिलवस्तु को ऊजड़ पाया और उसमें अनेक बौद्ध स्मारक "अब तक विद्यमान" देखे। "राजपथों पर वन्य हाथियों एवं सिंहों का भय रहता है।" वह लुम्बिनी, रामग्राम तथा वैशाली को भी गया और गंगापार करके मगध में पाटलिपुत्र में आया।

"पूर्व काल में सम्राट् अशोक द्वारा शासित" पाटलिपुत्र में "सम्राट् का प्रासाद अपने विविध कक्षों सहित, जिन सभी का निर्माण दिव्य आत्माओं ने किया था, जिन्होंने शिलाओं को चिना, भीतें और द्वार बनाए, आकृतियाँ खोदीं तथा मानवेतर अलौकिक खुदाई तथा पच्चीकारी का कार्य किया, आज भी विद्यमान है।"

इस वर्णन से यह सूचना प्राप्त होती है कि पाटलिपुत्र की गुप्त-साम्राज्य में वह महत्त्वपूर्ण स्थिति नहीं रही थी जो मौर्यसाम्राज्य के अन्तर्गत थी।

पाटलिपुत्र तक फा-हिएन् के साथ उसका साथी ताओ-चेंग् गया, किन्तु यहाँ से वह भी छूटना था। मध्य भारत के श्रमणों की आध्यात्मिकता से वह इतना प्रभावित हुआ कि उसने यह प्रार्थना की "अब से जब तक बुद्ध न हो जाऊँ, मैं किसी बाह्य भूमि में न रहूँ।" "अतः वह रह गया और लौटकर न गया, किन्तु फा-हिएन् का उद्देश्य सम्पूर्ण चीन की भूमि में शास्त्रों के ज्ञान का प्रसार करना होने के कारण वह अन्त में अकेला ही लौट गया।"

पाटलिपुत्र में फा-हिएन ने एक हीनयान का तथा दूसरा महायान का विहार देखा। पहले विहार में था रैवत नाम का एक ब्राह्मण बौद्ध आचार्य "विशाल-बुद्धि-वैभवयुक्त, असाधारण विद्वत्ता से पूर्ण, निःशेष ज्ञान का आकर मानव।" सम्पूर्ण देश बौद्ध धर्म के विस्तृत प्रसार के अर्थ इस एक पुरुष का आदर करता था, उसे प्रमाण मानता था। इसी विहार में एक और प्रसिद्ध ब्राह्मण आचार्य मंजुश्री था जो 'सम्पूर्ण देश में अग्रणी धार्मिक भिक्षुओं द्वारा समादृत था।'

मगध-देश एवं उसकी संस्कृति पर फा-हिएन् की आलोचना मनोरंजक है। "मध्य-भारत के सब प्रदेशों की अपेक्षा इसमें सबसे वड़े नगर हैं। इसके अधिवासी धनिक एवं उन्नतशील हैं तथा अपने पड़ौसी के प्रति हार्दिक तथा क्रियात्मक दानशीलता के आचरण में एक दूसरे से स्पर्धा करते हैं।"

"चार चक्रोंवाले पाँच खण्ड के रथों में" मूर्तियों की यात्रा सदृश अपने उत्सवों में "ब्राह्मण बुद्धों को निमंत्रित करने आते हैं" और इस प्रकार उनका धार्मिक दृष्टिकोण पूर्ण उदार था।

जहाँ तक समाज-सेवा-युक्त लोकसंग्रह का प्रश्न है, फा-हिएन् कहता है कि "इस देश के प्रतिष्ठित निवासियों ने अपने प्रधान नगरों में दातव्य औषधालय स्थापित किये हैं और इनमें सब निर्धन अथवा निःसहाय रोगी, अनाथ, विधवाएँ तथा विकलांग आते हैं। उनकी उत्तम परिचर्या होती है, एक चिकित्सक उनका उपचार करता है और उनको आवश्यकतानुसार भोजन एवं औषधियाँ दी जाती हैं। उनको पूर्ण सुखसाधन दिये जाते हैं और जब वे स्वस्थ हो जाते हैं, चले जाते हैं।"

फा-हिएन् ने पाटलिपुत्र में अशोक का अभिलेखयुक्त एक स्तम्भ उसके स्तूप के पास और इसी के समीप सिंह की प्रतिमा के शिखरवाला अभिलेखयुक्त एक दूसरा स्तम्भ देखा।

इसके पश्चात् वह नालन्दा में होकर "जहाँ सारिपुत्र ने जन्म लिया था" तथा जहाँ प्राचीन काल का एक स्तूप उस समय भी विद्यमान था तथा राजगृह में होकर गया जहाँ उसने बुद्ध धर्म के अनेक पुण्य-स्थल एवं गृध्रशैल की यात्रा की जहाँ "वह अपनी भावनाओं से गद्गद् हो गया।" किन्तु उसने अपने आँसू रोके और कहा "पूर्वकाल में बुद्ध ने यहाँ निवास किया और सुरांगम सूत्र, १, का प्रवचन किया, बुद्ध का साक्षात्कार कराने के लिए आवश्यक समय से अत्यन्त पीछे उत्पन्न हुआ फा-हिएन् उनके चिह्नों और निवास-स्थलों को केवल निश्चल नेत्रों से देख ही सकता है।"

इसके पश्चात् बौद्ध पुण्य-स्थलों और स्मारकों को देखते हुए उसने गया एवं बोधगया की यात्रा की और फिर पाटलिपुत्र को पीछे लौटकर बनारस तथा उसके मृग-वन में पहुँचा जहाँ उसने अधिवासी भिक्षुओं सहित दो विहार देखे।

यहाँ से उसने अपने घर लौटने की यात्रा आरम्भ की। पाटलिपुत्र को लौटकर और "गंगा के प्रवाह का नीचे को अनुसरण करता हुआ" वह चम्पा में आया, जहाँ से आगे बढ़ते हुए तामलुक प्रदेश में, "जहाँ समुद्र का एक बन्दर है" पहुँचा। यहाँ उसने २४ विहार देखे "सूत्रों की प्रतिलिपि एवं मूर्तियों का प्रतिचित्रण करता हुआ वह यहाँ दो वर्ष रहा और फिर "एक विशाल वाणिज्य-पोत पर समुद्रयात्रा पर चलकर" १४ दिन में लंका में पहुँचा। लंका में वह दो वर्ष तक रहा और उसने

संस्कृत के कुछ पवित्र ग्रन्थों की, विनय की, आगमों की तथा शास्त्रों के उद्धरणों की प्रतिलिपि प्राप्त की। फिर वह एक "विशाल वाणिज्य-पोत पर यात्रा में प्रवृत्त हुआ जिस पर २०० से अधिक प्राणी थे, और जिसके पृष्ठ भाग से उससे छोटा एक पोत समुद्र में दुर्घटना होने तथा बड़े पोत के नष्ट हो जाने के समय के लिए बँधा था।" ऐसी दुर्घटना हो ही गयी। दो दिन बाद उन्हें एक भारी झंझावात का सामना करना पड़ा जो १३ दिन और रात चलता रहा और पोत में एक छेद से जल प्रविष्ट होने लगा जो उनके एक द्वीप के किनारे पहुँचने पर बन्द कर दिया गया था। यात्रियों को अपना भारी सामान समुद्र में फेंक देना पड़ा था और फा-हिएन् ने डरकर प्रार्थना की थी कि उसकी पुस्तकें और मूर्तियाँ जिन्हें वह चीन ले जा रहा था बचाली जाँय तथा उसके जीवन का परिश्रम नष्ट न किया जाय।

वे "९० दिन से अधिक जव नाम के एक देश में पहुँचने तक यात्रा करते गये जहाँ नास्तिकता तथा वैदिक धर्म उन्नत थे, किन्तु बुद्ध का धर्म अत्यन्त असन्तोषप्रद अवस्था में था।"

जावा में फा-हिएन् "लगभग ५ मास तक रहा और पुनः एक बड़े वाणिज्य पोत पर सवार हुआ जिसके ऊपर भी २०० से अधिक व्यक्ति थे। उन्होंने अपने साथ ५० दिन का भोजन का सामान लिया।"

उन्हें फिर एक भारी झंझावात का सामना करना पड़ा। ब्राह्मण यात्रियों ने असन्तोष प्रकट किया कि "हमारी आपत्ति का कारण एक श्रमण को पोत पर चढ़ाना हुआ है। हमें उचित है कि उसे किसी द्वीप पर छोड़ दें। एक मनुष्य के लिए अपना सबका जीवन संकट में डालना उचित नहीं है।" फा-हिएन् के पक्ष का एक दूसरे यात्री ने साहसपूर्ण समर्थन किया तथा उन्हें मौन कर दिया। उसी समय पोत के प्रधान अधिकारी की यात्रा योजना में अव्यवस्था हो गयी। "इस प्रकार वे ७० दिन तक, जब तक उनका भोजन का सामान तथा जल लगभग समाप्त हो गया चलते गये और उन्हें पेय जल आपस में बाँटकर जो प्रत्येक व्यक्ति को लगभग दो पिण्ट मिला समुद्र के जल से भोजन बनाना पड़ा। फिर दिशा बदलकर १२ दिन समुद्र में चलने के पश्चात् भूमि पर पहुँचे। उस स्थान का प्रधान अधिकारी बौद्ध था। उसने यह सुनकर कि एक श्रमण आया है जो अपने साथ जहाज में धर्म पुस्तकें तथा मूर्तियाँ लाया है अपने अनुचरों के साथ उसका स्वागत करने के लिए समुद्र तट को तत्काल प्रस्थान कर दिया।"

इस प्रकार फा-हिएन् की वह यात्रा समाप्त हुई जिस पर उसने यह टीका लिखी है "जिन परिस्थितियों को मुझे भुगतना पड़ा था उनका सिंहावलोकन करते हुए मेरा हृदय अपनेआप धड़कने लगता है और पसीना बहने लगता है। जिन संकटों का मुझे सामना करना पड़ा, उनसे मैंने तन नहीं चुराया। इसका कारण यही था कि मैंने अपने ध्येय को दृढ़तापूर्वक दृष्टि में रखा।"

यह स्मरण रखना चाहिए कि फा-हिएन् ने मध्य-चीन से गोबी के मध्य-प्रदेश में होकर, हिन्दूकुश के पार और सम्पूर्ण भारतवर्ष को पार करते हुए ठेठ हुगली के समुद्र-सम्मेलन तक सारे मार्ग पर पैदल ही यात्रा की थी जहाँ से वह दुर्घटनाओं से बाल-बाल बचने के पश्चात् ३० विभिन्न देशों में यात्रा करके ६ वर्ष अथवा इससे अधिक केवल यात्रा ही यात्रा करके तथा दूसरे ६ वर्ष भारतवर्ष में ठहरने में तथा अध्ययन में व्यतीत करने के पश्चात् जहाज पर चढ़कर समुद्र मार्ग से चीन लौटा था।

धर्म-पुस्तकों की तथा मूर्तियों की प्रतिलिपि एवं प्रतिचित्रण उसकी यात्रा का मुख्य उद्देश्य था और भारतवर्ष की शिक्षण-पद्धति की उपस्थिति में जहाँ अध्ययन एवं अध्यापन लिखित साहित्य के आधार पर न होकर, जिसकी प्रतिलिपि की जा सकती और पाण्डुलिपियों के रूप में जिसे ले जाना सम्भव होता, मौखिक पद्धति से होता था, उस उद्देश्य का पूर्ण होना कठिन था। अध्ययन के विषय लिखित रूप में नहीं थे और शिक्षा सीधे आचार्य के मुख से विनिःसृत शब्दों द्वारा ग्रहण करनी पड़ती थी जिनका श्रुति के रूप में "श्रवण, ध्यान एवं चिन्तन" करना पड़ता था। इस प्रकार फा-हिएन् लिखता है कि "उत्तर-भारत के विभिन्न प्रदेशों में धर्म-ग्रन्थ एक कुलपति के पश्चात् भावी कुलपति को मौखिक रूप में दिये जाते थे

और उसे प्रतिलिपि करने के लिए कोई लिखित ग्रन्थ प्राप्त नहीं थे। पाटलिपुत्र का केवल एक महायान विहार ऐसा स्थान था जिसे उसने इसका अपवाद पाया और जहाँ उसे शास्त्रों की एक प्रति "सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुसार ७००० श्लोकों की, उसी की विस्तृत अपर पाण्डुलिपि जिसकी परम्परा भी एक कुलपति से दूसरे कुलपति को मौखिक अध्यापन द्वारा ही बिना लिपिबद्ध किये चली आती थी, लगभग ६००० श्लोकों में अभिधर्म से लिए गये उद्धरण, एक सूत्र की २५०० श्लोकों की सम्पूर्ण प्रति तथा २००० श्लोकों में वैपुल्यपरिनिर्वाण सूत्र की परिवेष्टित पाण्डुलिपि भी प्राप्त हुई। अतः फा-हिएन् संस्कृत (एवं पालि?) का लेखन एवं भाषण सीखते हुए तथा शास्त्रों की प्रतिलिपि करते हुए तीन वर्ष तक यहाँ रुका।"

उत्तर-भारत की चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के काल की जो उस समय वहाँ का सर्वोच्च सम्राट् था, संस्कृति के फा-हिएन् द्वारा लिखे गये वर्णन से यह स्पष्ट है कि उस काल में देश द्वारा अर्जित नैतिक उच्चता एवं भौतिक समृद्धि का सम्पूर्ण श्रेय-गुप्त शासन की कुशल व्यवस्था को प्राप्त है। विंसेण्ट ए० स्मिथ की इस सम्मति का कि "चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन की अपेक्षा भारतवर्ष किसी समय भी प्राच्य पद्धति के अनुसार सुचारुतर शासन व्यवस्था के अन्तर्गत नहीं रहा" तथ्य इससे प्रकट होता है। जैसा हम देख ही चुके हैं फा-हिएन् का सम्बन्ध बौद्धमतावलम्बी भारत और उसके ज्ञान एवं धर्म के केन्द्रों से था जो उस काल में भी भारतवर्ष की सीमा को पार कर गये थे और भारतीय दर्शन की सर्वोच्चता की वन्दना करते हुए एवं उसकी संस्कृति का क्रियात्मक रूप से अनुसरण करते हुए बृहत्तर भारत के निर्माण में सहायक हो रहे थे। उद्यान (वर्तमान स्वात) के सीमान्त प्रदेश में ही बुद्ध-भिक्षुओं से युक्त विहारों की संख्या ५०० थी। पंजाब भी बौद्ध विहारों से परिपूर्ण था जिनमें निवास करनेवाले बौद्ध विद्यार्थियों की संख्या १०००० थी। अकेली मथुरा नगरी में ही जो वैदिक धर्म का केन्द्र थी २० विहार थे और उनमें ३००० भिक्षु निवास करते थे। जिस प्रदेश में वर्तमान संयुक्त-प्रान्त स्थित है उस काल में वहाँ की वैदिक धर्म की शक्तिमत्ता का परिचय वहाँ इस धर्म के विभिन्न ९६ सम्प्रदाय तथा मत होने से प्राप्त हो सकता है।

इस सम्पूर्ण विद्वत्ता का प्रतिनिधित्व एवं संरक्षण इसके कुछ महान्तम आचार्यों द्वारा होता था। इनमें कुछ का जैसा हम देख चुके हैं फा-हिएन् ने नाम से उल्लेख किया है। इस प्रकार पाटलिपुत्र अपने "सम्पूर्ण देश द्वारा समादृत एवं सम्राट् द्वारा भी सेवित" महायान के धुरन्धर ब्राह्मण आचार्य राधासामी के लिए विश्रुत था। दूसरा महान् आचार्य मुंजश्री नाम का ब्राह्मण बौद्ध आचार्य था जिसका देश के परम धार्मिक श्रमण तथा महायान भिक्षु आदर एवं प्रतिष्ठा करते थे।

यह भी हम देख चुके हैं कि उस काल में शिक्षण-संस्थाओं का व्यय व्यक्तिगत दानशीलता एवं शासन की उदारता से चलता था। ये दान मुद्रा के रूप में न होकर इन विहारों को कृषिक्षेत्र, फलफूलों के उद्यान या गृहदान करने के रूप में होते थे। भूमि के दान के साथ आवश्यक श्रमिक एवं बैल आदि भी दिये जाते थे। नागरिकों के व्यक्तिगत दान का जहाँ तक सम्बन्ध है यह लिखा गया है कि समीप निवास करनेवाले कुटुम्ब "इन भिक्षुओं के संघों के आवश्यक पदार्थों की पूर्ति प्राचुर्य के साथ करते हैं जिससे वहाँ इनकी कमी नहीं रहती।" यह भी वर्णन किया गया है कि उचित ऋतु पर ये कुटुम्ब "तरल भोजन जो साधारण समय के अतिरिक्त ग्रहण किया जासके भिक्षुओं में वितरित कराने" में एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा करते थे। फा-हिएन् "भिक्षुओं को दिये जानेवाले (शाखा में से) वार्षिक उपहार, वस्त्रों के तथा ऐसे अन्य पदार्थों के जिनकी भिक्षुओं को आवश्यकता होती, दान" का उल्लेख करता है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है यह भी विशेष ध्यान देने योग्य तथ्य है कि उच्च शिक्षा का माध्यम संस्कृत भाषा थी अतः उसे तीन वर्ष तक पाटलिपुत्र में रहकर फा-हिएन् को सीखना पड़ी थी। यह भी मनोरंजक ज्ञातव्य है कि उस काल में आचार्यों के साथ-साथ धर्म-ग्रन्थों के सम्मान में भी स्तूप निर्मित होते थे। इस प्रकार सारिपुत्र, महामौद्गल्यायन तथा आनन्द की स्मृति में स्तूपों का निर्माण हुआ था, जब कि इसी प्रकार के स्मारक अभि-धर्म, विनय तथा सूत्र प्रभृति उत्कृष्ट धर्म-ग्रन्थों को स्थापित करने के लिए भी निर्मित हुए थे। प्रत्येक हीनयान अथवा महायान विहार में गर्भ-गृह नामक एक स्थान होता था जहाँ उसके निवासी पूजन करते थे।

अन्त में, हम यह भी देख चुके हैं कि गुप्तकालीन भारत में सार्वजनिक दानशीलता के फलस्वरूप जनता के श्रेय की उन्नति के अर्थ विपुल प्रकार की बहुसंख्यक संस्थाएँ वर्तमान थीं। इनमें से दातव्य औषधालय तथा यात्रियों को निवास, शयनीय, भोजन एवं जल प्रदान करनेवाली धर्म शालाओं का जिनमें जाति अथवा धर्म के भेदभाव के बिना सब को प्रवेश प्राप्त था प्रत्यक्ष दर्शी की भाँति फा-हिएन् ने उल्लेख किया है। इसके साथ-साथ सुअर पालना, मुर्गी आदि पालना, मांस के विक्रय-स्थल तथा मद्यशाला आदि आचार एवं नीति की विरोधी संस्थाओं को शासन की ओर से प्रोत्साहन प्राप्त नहीं होता था। प्याज एवं लहसुन सदृश उत्तेजक मसालों को भी राष्ट्र के भोज्य पदार्थों में से बहिष्कृत कर दिया गया था। अन्ततः हम कह सकते हैं कि गुप्त-साम्राज्य पश्चिम तथा पूर्व दोनों के साथ पोत-विद्या द्वारा संसर्ग स्थापित होने के मार्ग खोज रहा था। फा-हिएन् के वर्णन से प्रकट होता है कि ताम्रलिप्ति के समुद्री बन्दरगाह से लंका, जावा, सिआम तथा चीन सदृश देशों के साथ व्यापार में कितनी प्रगति थी तथा पश्चिम में भारत के समुद्र मार्ग द्वारा चलनेवाले व्यापार के फलस्वरूप रोम की मुद्राएँ प्रचुर परिमाण में इस देश में और विशेषतः दक्षिण में आती थीं जिससे मुद्रा के लिए रोमन भाषा का शब्द दिनॅरिअस (denarius) गुप्त-साम्राज्य की मुद्राप्रणाली का शब्द बन गया।



त्रिविक्रम

श्री कृष्णाचार्य एम्० ए०

विक्रमादित्य उपाधि या नाम से अनेक सम्राट् भारत में हो गए हैं। जनसाधारण की धारणा है कि इस नाम का परम पराक्रमी सम्राट् उज्जैन में हो गया है। प्राचीन इतिहास से अभी तक यह निश्चय नहीं हो पाया है कि उज्जयिनी में कोई विक्रमादित्य हुआ। एक इतिहासकार किसी को संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य बतलाता है तो दूसरा उसके विरुद्ध प्रमाण देता है। जनश्रुति यह है कि विक्रम इसी नगरी का राजा था; उसी ने नवीन संवत् चलाया (ठीक दो हजार वर्ष पहले), शकों को हराया, प्रजा में शान्ति स्थापित की। उसकी बुद्धि, न्याय और दान की अनेक कहानियाँ प्रचलित हैं।

आज हम पाटलिपुत्र, कल्याण और तंजौर (तंजुवुर) के विक्रमादित्यों की चर्चा करेंगे। प्राचीन भारत के साहित्य के गम्भीर अनुशीलन से पचीसों विक्रमादित्यों को प्रकाश में लाया जा सकता है। विक्रमदेव*, विक्रमसेन†, विक्रमराज‡ और विक्रमार्क§ जैसे कुछ अल्प नामान्तरों पर ध्यान न दिया जाय तो ज्ञात होगा कि भारत-भूमि ने अनेक यशस्वी राजाओं को जन्म दिया। दक्षिणापथ के दो शासकों ने भी अपने नाम को विक्रम चोल और विक्रम पांड्य जैसे विरुदों से धन्य किया।

चालुक्य वंश के छह सम्राटों ने इस उपाधि को धारण किया। किन्तु सर्वप्रथम गुप्त सम्राटों ने ही विक्रम शब्द का मान किया, भारत के अन्य सम्राट् इसको गुप्तों जैसी प्रतिष्ठा न दे सके। राजपूत काल में गांगेयदेव भी कलचुरिवंश का ख्यातिलब्ध शासक हो गया है, इसके दानपत्रों में भी 'विक्रमादित्य' उपाधि का उल्लेख पाया जाता है।‖ अपने स्वामी को लगभग बीस युद्धों में शत्रु को हराने का यश दिलानेवाले हेमू¶ ने भी 'विक्रम' विरुद को अपनाया।

स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य

स्कन्दगुप्त द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पौत्र थे। अपने राज्यकाल के प्रारम्भ में स्कन्द ने प्रजा को आन्तरिक षड्यंत्रों तथा बाह्य आक्रमणों से त्रस्त पाया। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि स्कन्दगुप्त अपने सौतेले भाई पुरगुप्त से सिंहासन के लिए लड़े, किन्तु इस घटना का कोई प्रमाण नहीं।

---

* डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० १०४१। † नेपाल वंशावली। ‡ वही § चापवंशीय राजा।

‖ खैरह और जबलपुर के दानपत्र।

¶ मुसलमान इतिहासकारों ने इसे विक्रमादित्य लिखा है। उनके मत से वह हिन्दू राज्य स्थापित करना चाहता था।

त्रिविक्रम

जिस समय स्कन्दगुप्त के पिता महाराजाधिराज कुमारगुप्त राज्य करते थे उसी समय विदेशी बर्बर हूणों ने सीमा-प्रान्त पीड़ित कर रखा था। अपनी विलासी प्रवृत्ति के कारण कुमारगुप्त ने इन हलचलों की ओर उचित ध्यान न दिया। वह चाहते तो हूणों पर विजय प्राप्त कर प्रजा को अभय दान देते। हूणों ने गांधार, उद्यान और उरश में अपना आतंक फैला रखा था। भारत के उत्तरी द्वार की अवहेलना का परिणाम यह हुआ कि "पाँचवीं शताब्दी के अन्त में कपिशा, गांधार और नगरहार के समृद्ध नगर (गुप्त साम्राज्य के प्रान्त) भारत के मानचित्र से सदैव के लिए मिट गए। इस आक्रमण ने उत्तरी भारत में अन्तिम यूनानियों के बचे-खुचे संस्मरण खो दिए। हूणों के आने के बाद भारत से उस सभ्यता का लोप हो गया जिसने शक, कुषाण तथा अन्य जातियों को पचा लिया था। उनके पादाक्रान्त ने महान् कुषाण सम्राटों द्वारा निर्मित मन्दिर, विहार तथा अन्य वैभव-प्रतीक धूलधूसरित कर दिए। उसी समय तक्षशिला का विश्व-विद्यालय भूगर्भ में विलीन कर दिया गया।"* इन हूणों से स्कन्दगुप्त अपने पिता के राज्यकाल में ही लड़ने चला। भीतरी के स्तम्भ-लेख से प्रमाणित है कि उसने हूणों की बढ़ती बाढ़ को एक बार फिर रोका :—'**हूणैर्यस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यांधरा कंपिता।**'

किन्तु अपने वीर पुत्र की इस महान् विजय का जयनाद महाराजाधिराज कुमारगुप्त न सुन सके। 'पिता की मृत्यु के उपरान्त विप्लुत होती हुई वंशलक्ष्मी को (स्कन्दगुप्त ने) अपने भुजबल से अरि को जीतकर भूमि पर पुनः स्थापित किया; और जलभरे नेत्रोंवाली अपनी माँ से मिलकर उसे परितोष दिया—ठीक उसी प्रकार जिस तरह कृष्ण ने अपने रिपु (कंस) को मारकर देवकी को छुड़ाकर दिया था।"† इन काव्यात्मक ऐतिहासिक उद्गारों ने स्कन्द के शौर्य को अमर कर दिया है। माँ के नेत्रों में वैधव्य और विजयोल्लास एक साथ व्यक्त हो रहे हैं। देवकी और कृष्ण की उपमा से उस संकटावस्था का स्पष्ट आभास मिलता है, 'विचलित कुल-लक्ष्मी को फिर से अचल करने के लिए त्रियाम क्षितितल पर ही (स्कन्दगुप्त ने) शयन किया।'‡ समरभूमि में कहाँ थे पर्यंक तथा अन्य विलास-वैभव! शत्रु से घोर संग्राम करने के बाद प्रजावत्सल सम्राट् को अवश्य ही उस माता की गोद में मीठी निद्रा आई होगी जिसने उस सम्राट् को जन्म दिया और जो मृत्यु के उपरान्त भी अपने अंक में 'लक्ष्मी द्वारा वरण किए हुए'§ सम्राट् को समेट लेगी।

सुदर्शन झील—स्कन्दगुप्त पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए प्रदेशों की स्वयं कैसे देखभाल कर सकता था। अतः दूरस्थ प्रान्तों में योग्य प्रतिनिधि नियुक्त किए। गिरनार स्थान से प्राप्त शिलालेख में एक ऐसे ही योग्य, पर्णदत्त नाम के प्रान्तपाल का उल्लेख हुआ है। यह लेख अत्यन्त पुराना है। सैकड़ों वर्ष के अन्तर से उत्पन्न होनेवाले कई सम्राटों के शिल्पियों की लेखनी का सौभाग्य प्राप्त करने के कारण महत्त्वपूर्ण माना जाता है। महाराज अशोक के पिता चन्द्रगुप्त मौर्य के मंत्री पुष्यगुप्त ने सौराष्ट्र में प्रजा के हित के लिए एक झील का निर्माण कराया था। अशोक के समय सौराष्ट्र मंडलाधीश यवन तुषास्फ था। तुषास्फ ने भी जनता-जनार्दन की सेवा के लिए उस जलाशय में से नहरें निकलवाईं थीं। विक्रम-संवत् २०७ में सुराष्ट्र और मालवा का राजा रुद्रदामन् था। इस शक सम्राट् ने भी उसी शिला पर अपनी यशोगाथा खुदवाई। रुद्रदामन् की इस प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उसने अपनी निजी सम्पत्ति द्वारा इस कासार का जीर्णोद्धार कराया। उसने इस झील का विस्तार तिगुना कराकर 'सर्व तटों' पर सेतु (बाँध) निर्मित कराए।¶

स्कन्दगुप्त के समय यह प्रसिद्ध ऐतिहासिक झील फिर जीर्ण हो गई थी; जल सूख गया। वास्तव में सुदर्शन के स्थान पर वह अब दुर्दर्शन नाम सार्थक कर रही थी।‖ प्रजा को विशेषकर गर्मी के दिनों में कष्ट होने लगा, अतः प्रभूत धन-

---

* पितरिदिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मीं भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः।
जितमिव परितोषान् मातरं सास्रुनेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।।

† इम्पीरियल गुप्ताज, आर० डी० बनर्जी।

‡ विचलितकुललक्ष्मीस्तम्भनायोद्यतेन क्षितितलशयनीये येन नीता त्रियामा।
समुदितबलकोशान् पुष्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः।। (भीतरी से)

§ स्वमात् कोशात् महता धनौघेनातिमहता च कालेन त्रिगुणदृढ़तरविस्तारायामं सेतुं विधाय सर्वतटे।
महाक्षत्रप रुद्रदामन् की गिरनार प्रशस्ति।

¶ जयीहलोके सकलं सुदर्शनं पुत्रान् हि दुर्दर्शनतां गतं क्षणात्। स्कन्दगुप्त का लेख।

‖ व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान् लक्ष्मीः स्वयं यं वरयाञ्चकार।।



राशि लगाकर उसके उद्धार में फिर हाथ लगाया गया। सुदर्शन-उद्धार के साथ साथ वहाँ के स्थानीय शासक चक्रपालित ने विष्णु मन्दिर की स्थापना भी कराई।

इसी प्रकार न जाने कितने लोक-संग्रहात्मक कार्यों में परमभागवत स्कन्दगुप्त ने हाथ लगाया होगा! कहा जाता है कि हूणों से तृतीय बार युद्ध करते-करते इस विक्रमादित्य ने प्राणों की आहुति दी। गुप्तवंश में स्कन्द अन्तिम प्रतिभासंपन्न और प्रभावशाली नृप हुआ। इस सम्राट् के उपरान्त गुप्तों का सूर्य सदैव के लिए गुप्त हो गया।

विक्रमादित्य षष्ट: कल्याण चालुक्य

चालुक्य वंश में छह विक्रमादित्य हो गए हैं, किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ सम्राट् षष्ट विक्रमादित्य हुए। इनके पिता सोमेश्वर के तीन पुत्र थे—सोमेश्वर द्वितीय, विक्रमादित्य और जयसिंह।

मझले भाई विक्रमादित्य ने युवराजकाल में ही आसपास के शक्तिशाली शासकों से लोहा लिया। सर्व प्रथम केरल के सम्राट् को नतमस्तक किया। विक्रमादित्य को अपनी ओर प्रयाण करते सुनकर सिंहल के राजा ने पराजय स्वीकार करली। अब पल्लवों को परास्त करने का संकल्प किया। पल्लव-वंश के राजाओं से विक्रमादित्य के पूर्वज लड़ चुके थे और पल्लवों का दमन भी किया जा चुका था। पल्लवों की शक्ति क्षीण नहीं हो पाती थी, कुछ ही समय में युद्ध के लिए फिर प्रस्तुत हो जाते थे। विक्रमादित्य* के राजकवि विल्हण ने अपनी प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक 'विक्रमांकदेवचरित' में लिखा है कि चोलपति 'भागकर कन्दराओं में छिप गए।' विक्रम ने कांची में प्रवेश कर अपार धन प्राप्त किया। इसी प्रकार वेंगी और चक्रकोट में अपनी साख स्थापित की।

विक्रमादित्य षष्ट अनेक देशों को जीतने में लगे ही हुए थे कि अचानक ही पिता के तुंगभद्रा में प्रवेश कर शरीर छोड़ने का समाचार मिला। विक्रम कल्याण में लौट आए और नवीन सम्राट् (अपने ज्येष्ठ भाई सोमेश्वर द्वितीय) को युद्ध से प्राप्त समस्त धन भेंट किया। 'विक्रमांकदेवचरित' पढ़ने से विदित होता है कि सोमेश्वर का व्यवहार विक्रमादित्य के प्रति प्रशंसनीय रहा, किन्तु वह प्रेम स्थाई न रह सका। कल्हण के शब्दों में वह 'प्रजाउत्पीड़क' शासक था। दिन पर दिन स्थिति बदलती गई। अन्त में विक्रमादित्य ने अपने छोटे भाई जयसिंह को साथ लेकर राजनगरी त्याग दी। सम्राट् सोमेश्वर ने (सम्भवत:) विक्रमादित्य के पराक्रम से भयभीत होकर पीछे से सेना भेजी, किन्तु उस सेना को अनुभवी विक्रमादित्य से परास्त होकर दुर्दशाग्रस्त अवस्था में लौटना पड़ा।

विक्रमादित्य ने युवराजकाल में जीते हुए प्रदेशों में सेना लेकर आपत्तिकाल में काम आनेवाले मित्रों की परीक्षा करने की इच्छा की। तुंगभद्रा नदी के तट पर सेना का संगठन किया गया। बनवासी के राजा ने विक्रमादित्य के साथ सहानुभूति का व्यवहार किया और यहाँ कुछ दिन तक उसे ठहरना पड़ा। आगे बढ़ने पर विक्रम का सत्कार मलय, कोंकण और अलूप के शासकों ने भी किया। केरल सम्राट् (मलाबार) ने युद्ध करना ही निश्चित किया; किन्तु विक्रमादित्य को कुछ भी कठिनाई न हुई, उसके विक्रम ने शीघ्र ही उसे झुका दिया। अब कांची में द्रविड़ों से मुठभेड़ होने की प्रारम्भिक अवस्था में ही कांचिराज झुक गए, यहाँ तक कि अपनी कन्या देकर विक्रम को अपना जामात्र बनाया। विक्रमादित्य तुंगभद्रा लौट आए। किन्तु उसी समय वेंगी के राजा ने कांची को हस्तगत कर लिया। चालुक्यों के आक्रमणों से कांची के पल्लव शासक निर्बल हो गए थे, जो चाहता वही घुस पड़ता। दूसरे कांची के सम्राट् वृद्ध थे। इस सफलता से उत्साहित हो वेंगीपति ने विक्रमादित्य के भाई सम्राट् सोमेश्वर को भी भड़काया। वेंगी और चालुक्य सम्राटों ने एक साथ तुंगभद्रा पर आक्रमण करके विक्रम की शक्ति को नष्ट करना चाहा। विक्रमादित्य विचलित नहीं हुए। अपने शौर्य और बुद्धि-वैभव से आगे और पीछे दोनों

*** विक्रमादित्य के पिता सोमेश्वर प्रथम भी ख्यातिलब्ध शासक थे; इन्होंने भी चोल 'राजाधिराज' को हराया। वे कृष्णा नदी के किनारे युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। इसी प्रकार मालवा और कांची तक अपना प्रभुत्व फैलाया। उत्तर में (बुन्देलखण्ड) कर्ण को हराया। सोमेश्वर शैव थे; भयानक ज्वर और शरीर से छुटकारा पाने के लिए उन्होंने तुंगभद्रा नदी में प्रवेश कर प्राण विसर्जित किए।**

सेनाओं को एक साथ हराया। सर्व प्रथम श्वसुर का उद्धार किया, उसके उपरान्त कल्याण में प्रवेश किया। कुछ 'संकोच के साथ' भाई को सिंहासनच्युत कर बन्दी बनाया।

विक्रम-संवत् १०७५ में विक्रमादित्य का अभिषेक हुआ। विक्रमादित्य ने पचास वर्ष तक राज्य कर प्रजा में शान्ति स्थापित की। सम्राट् होने के उपरान्त भी यत्रतत्र युद्ध चलते रहे, किन्तु कुलपरम्परा के अनुसार अब युद्धों का भार उसके ज्येष्ठ पुत्र 'राजाधिराज' पर आ गया।

विक्रमादित्य ने अभिषेक के दिन से नवीन संवत् भी प्रचलित किया, किन्तु वह शीघ्र लुप्त हो गया। विक्रमादित्य के जीवन का अधिकांश भाग युद्ध में व्यतीत हुआ। अपने भाई को सिंहासन-च्युत करनेवाली घटना सिद्ध करती है कि राजदण्ड शक्तिशाली हाथों में ही रह सकता है।

अन्य विक्रमादित्यों की भाँति चालुक्य-वंश का यह सम्राट् भी विद्याप्रेमी था। याज्ञवल्क्यस्मृति पर टीका करनेवाले दो प्रसिद्ध विद्वान् हुए। प्रथम बंगाल के जीमूतवाहन और द्वितीय विज्ञानेश्वर। विज्ञानेश्वर की टीका मिताक्षरा जीमूतवाहन से भी अधिक प्रामाणिक समझी जाती है क्योंकि सारे भारत में, वंगदेश को छोड़कर, विज्ञानेश्वर का मत प्रचलित है। यह विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा के लेखक, विक्रमादित्य की सभा के ही रत्न थे। दूसरे प्रसिद्ध विद्वान् काश्मीरी पंडित विल्हण थे। ऊपर बतलाया जा चुका है कि आपने 'विक्रमांकदेवचरित' नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक पुस्तक की रचना की है। संस्कृत-साहित्य में बाण के 'हर्षचरित' के अतिरिक्त दूसरा ऐतिहासिक ग्रन्थ यही है।

विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल, कलिविक्रम और परमाडिराय नामों से भी प्रसिद्ध थे। वास्तविक नाम इन्हीं में से कोई रहा होगा; किन्तु रणक्षेत्रों में अनेक विजयों को अर्जित करने के कारण विक्रमादित्य नाम से प्रसिद्ध हो गए। विल्हण लिखता है कि विक्रमादित्य की रानी (महिषी महादेवी) चन्द्रलेखा अनुपम सुन्दरी थी। विक्रम को उसने एक स्वयंवर में वरण किया। महाशय भांडारकर स्वयंवरवाली घटना पर सन्देह करते हैं, किन्तु जब तक इसके विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता तब तक इस घटना को सत्य ही मानना उचित है। विक्रमादित्य ने विष्णु के एक मन्दिर की स्थापना कराई और उस मन्दिर के सम्मुख सुन्दर तड़ाग निर्मित हुआ। उसने विक्रमपुर नगर भी बसाया। विल्हण लिखता है कि पुरवासी उसके शासनकाल में "रात में भी ताले नहीं लगाते थे; चोरों के स्थान पर सूर्य रश्मियाँ ही दूसरों के घरों में चुपके से प्रवेश करती थीं।"

विक्रम चोल

नवीं शताब्दी में तंजौर को केन्द्र मानकर चोल राज्य साम्राज्य के रूप में विकसित हुआ। इस राजवंश में प्रथम प्रतापी राजा राजराज चोल हुए। अपने २८ वर्ष के शासनकाल में, (विक्रम-संवत् १०४२ से १०६९ तक) आसपास के सम्राटों, जैसे चेर, वेंगी के चालुक्य, मलाबार तट पर कोल्लम, कलिंग के उत्तरी खण्ड, कुर्ग और पांड्यों को हराया और इनमें से अधिकांश को अपनी छत्रछाया में कर लिया। किन्तु राजराजदेव के अद्भुत पराक्रम का आभास तब हुआ जबकि उसने भारत के बाहर भी अपना समुद्री बेड़ा दृढ़ करके लंका पर आक्रमण किया। अपने राज्यकाल के बीसवें वर्ष में लंका को भी साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया; समुद्री सेना के बल पर अन्य कई द्वीपों से भी धन एकत्रित किया [लकदीव (?) और मालदीव (?)]। उस समय ब्रह्मा तक चोल राज्य के नाविक आया जाया करते थे।

राजराज से भी अधिक ऐश्वर्यवान् सम्राट् राजेन्द्र चोल, जिसको विक्रम चोल भी कहा गया है, हुआ। लंका-विजय के उपरान्त राजराज ने स्वयं युद्धों में भाग लेना कम कर दिया और विक्रम चोल को अपने वंश-परम्परा के अनुसार युद्ध कार्यक्रम का भार विक्रम-संवत् १०६८ में दे दिया।

राजेन्द्र या विक्रम चोल आज इस संसार में नहीं है किन्तु वह अपने पीछे सैकड़ों लेख साक्षी स्वरूप छोड़ गया है। इन लेखों में उसकी वीरता के मनोरंजक वर्णन आज भी एक हजार वर्ष पहले के इतिहास की कहानी कहने को प्रस्तुत हैं।

तिरु मन्नि वळर लेख से ज्ञात हुआ है कि अपने राज्यकाल के तीसरे वर्ष (राज्यकाल विक्रम-संवत् १०६९) में वीर राजेन्द्र ने इडुतुरईनाडू, बनवासी, कोल्लीप्पाक्कई और मण्डैक कडम्कम् को जीत लिया।

दूसरा पग चालुक्यों के विरुद्ध उठाया गया।* सत्याश्रय उस समय चालुक्यों के सम्राट् थे। विक्रम ने श्रुतिमान नक्कन चन्द्रन को शत्रु के हाथी पर आक्रमण करने की आज्ञा दी। चन्द्रन युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए। यह युद्ध अन्त में स्वयं विक्रम को लड़ना पड़ा। तुंगभद्रा पार जा शत्रु के हृदयदेश में युद्ध करके राजधानी तक अपने रथों के चक्रों को प्रवर्तित किया। इस प्रकार पल्लवों के स्थान पर चोलों से चालुक्यों का शत्रुभाव का विनिमय हुआ। सारे दक्षिण में पल्लवों के उपरान्त अब चोल सर्वोपरि शासक हो गए। युद्ध का अन्त चार वर्षों में हुआ।

लंका-विजय—सिंहासनस्थ होने के पाँचवें वर्ष धुर दक्षिण की ओर विजयवाहिनी चली। लंका में उस समय महिन्द पंचम राज्य करते थे।† राजेन्द्र के पास समुद्री युद्ध में कुशल योद्धाओं और पोतों का अभाव न था। पिता द्वारा आयोजित की हुई सेना को और अच्छी तरह से दृढ़ करके विक्रम चोल ने भी लंका पर द्वितीय चोल-आक्रमण किया। राजधानी में प्रवेश करके बहुमूल्य राजमुकुट हरण किया। इन्द्र के मुकुट और हार भी, जो पूर्व समय में पांड्यों के पास थे, हस्तगत किए। लंका चोल साम्राज्य के अन्तर्गत मिला लिया गया।

केरलों से युद्ध—केरल विजय का ठीक-ठीक स्वरूप बतलाना कठिन है। इतना निश्चित है कि केरल और पांड्य को जीतकर राजेन्द्र ने अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। इन भागों पर अपने पुत्र 'जयवर्मन् सुन्दर चोलपांड्य' को शासक नियुक्त कर दिया। तुंगभद्रा से लेकर लंका तक के प्रदेशों पर चोल राज्य की ध्वजा फहराने लगी।

विक्रम-संवत् १०७८ में पश्चिमी चालुक्यों से फिर युद्ध हुआ। 'तामिल-प्रशस्ति' के अनुसार "साढ़े सात लाख दृढ़ स्वभाववाले रट्टपाड़ि (निवासी), विपुल धनराशि तथा जयसिंह की ख्याति को हर लिया। मुशंगी के रणक्षेत्र से पलायन कर चालुक्यों का राजा कहीं जा छिपा।" श्री नीलकण्ठ शास्त्री के मत से विक्रम को धन तो मिला किन्तु जनपद सम्बन्धी लाभ नहीं हुआ; उनकी धारणा है कि तामिल प्रशस्ति की साढ़े सात लाख रट्टपाड़ियों के आत्मसमर्पण की बात अत्युक्तिपूर्ण है।

दिग्विजय यात्रा—साम्राज्यवादी नीति को छोड़ धर्मशास्त्रों में वर्णित दिग्विजय की भावना से प्रेरित हो विक्रम चोल ने गंगा के मैदानों की ओर अपने कुशल सेनापति दण्डनाथ को भेजा। इस यात्रा का मूल अभिप्राय गंगा का पवित्र जल लाकर चोल राज्य को पवित्र करना था। तिरुवालंगाडु‡ के अभिलेख में इस यात्रा का विस्तृत वर्णन दिया है—"स्वर्ग से गंगा लानेवाले सूर्यवंश-अवतंस राजा भगीरथ की तपस्या का उपहास करता सा" वह गंगाजल के लिए उत्सुक हुआ। चोल सेना ने हाथियों के सेतु के सहारे कई नदियाँ पार कीं। सर्व प्रथम चन्द्रवंशतिलक इन्द्ररथ पर चढ़ाई की गई, फिर रणसूर का राजकोष हस्तगत किया। वंगदेश के राजा महीपाल को भी झुक जाना पड़ा। लेखों में जल लाने के भाव को निश्चित रूप से अत्युक्तिपूर्ण ढंग से लिखा है; (दण्डनाथ ने) "राजाओं को अपने हाथों में गंगाजल विक्रम चोल के सम्मुख ले जाने के लिए विवश किया।" वास्तविकता इतनी ही है कि जिन राजाओं ने रास्ते में कुछ भी कठिनाई उपस्थित की उन्हें दण्डनाथ ने हराया। संवत् १०८० में पवित्र जल लाने के लिए प्रारम्भ की हुई यात्रा सफलतापूर्वक समाप्त हुई। इस घटना से प्रसन्न हो सम्राट् ने 'गंगैकोंड' उपाधि धारण की; एक नगर 'गंगैकोंडचोलपुरम्' नाम से स्थापित किया, उसी नगरी के पास एक वृहत्काय कृत्रिम जलाशय बनवाया; इसमें १६ मील लम्बे सेतु (बाँध) लगवाए, स्थान-स्थान से सिंचाई के लिए छोटी-छोटी नहरें भी निकलवाईं। जलमय जय-स्तंभ बनवाया। नगर को एक विशाल राजभवन और गगनचुम्बी मन्दिर से सुशोभित कराया। मन्दिर शिल्पकला के अद्वितीय उदाहरण हैं।§ इस उत्साहपूर्ण योजना से अनुमान किया जा सकता है कि उत्तरापथ की इस यात्रा को उस समय कितना महत्त्वपूर्ण समझा गया! हजारों मील की दूरी; सैकड़ों छोटे-बड़े सामन्त और राजों से युद्ध, तब कहीं जल प्राप्त हो सका।

समुद्र-पार—विक्रम चोल की विजय-चमू को इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। सम्राट् राजराज की जलसेना का भी पूरा-पूरा उपयोग करने की योजना बनी। अपने राज्यकाल के चौदहवें वर्ष में बंगाल सागर को पार कर राजेन्द्र की सेना 'कडारम्' पहुँची! अभी तक कडारम् शब्द से बड़ी उलझन पड़ी हुई थी, किन्तु विक्रम-संवत् १९७५ में महाशय कोएड्स

---

* होहूर लेख। † महावंश। ‡ इसी लेख में 'विक्रम चोल' उपाधि का प्रयोग हुआ है।

§ हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट्स् इन इण्डिया एण्ड सीलोन।

(Coedes) को बर्मा में (पेगू) सिकता-प्रस्तर के बने हुए दो अष्टकोणीय विजयस्तम्भ मिले। उस ऐतिहासिक खोज ने सिद्ध कर दिया है कि विक्रम चोल यहाँ तक आया। तामिल प्रशस्ति इस युद्ध का वर्णन इन शब्दों में करती है :—

(उसने) "उत्ताल तरंगायमान समुद्र में कई जलयानों को भेजकर कडारम् के राजा संग्राम विजयोतुंग वर्मन् को बन्दी बना लिया, उसके महान् हाथियों को घेरा, राजा के धर्मपूर्वक एकत्रित राजकोष को हस्तगत किया। देश का युद्धद्वार 'विद्याधर तोरण' चोल सेना ने ग्रस लिया।" विक्रम-संवत् १०८२ से १०८४ में पेगू को जीतने के उपरान्त नीकोबार (नक्कवारम्) और अण्डमन द्वीपों पर भी विजयपताका फहराई गई।

चीन से लेकर पूर्वीय द्वीपों में व्यापारिक सुविधा प्राप्त करने के लिए ही इन युद्धों की आवश्यकता हुई। विक्रम-संवत् ११४५ के सुमात्रा में प्राप्त तामिल लेखों से तामिल सौदागरों का होना उक्त उद्देश्य की पुष्टि के लिए यथेष्ट है।

चोलवंश में विक्रम चोल (वीर राजेन्द्र) से महान् दूसरा सम्राट् न हुआ। उसकी इन विजयों के अतिरिक्त विभिन्न लेखों में प्रयुक्त उपाधियों से भी उसकी महानता का अनुमान किया जा सकता है :—१. मुडिगोण्ड चोल; २. पण्डित चोल; ३. वीर राजेन्द्र; ४. गंगैकोण्डचोल, ५. राजकेशरीवर्मन् वीर राजेन्द्र देव; ६. विक्रम चोल।

उपसंहार—इन उपाधियों से स्पष्ट है कि विक्रम चोल वीर, पण्डित तथा धार्मिक सम्राट् था। इन तीनों गुणों के अभाव में 'विक्रमत्व' की स्थापना नहीं हो सकती। चोलवंशीय इतिहास के पृष्ठों को उलटकर देखने से ज्ञात हो जाता है कि प्रशस्तिकारों ने साम्राज्यवादी नीति के फलस्वरूप नए राज्यों को चोल साम्राज्य में मिलाए जाने पर उत्साह प्रदर्शित न कर गंगा के जल को प्राप्त करने में ही उत्साह दिखलाया है। गंगा का जल धार्मिक भावना को तो जाग्रत करता ही है साथ में दिग्विजय का उच्च आदर्श भी उपस्थित हो जाता है। अपने विक्रम से अन्यान्य देशों में युद्ध-रथ के चक्र का सफलतापूर्वक प्रवर्तन करना तथा उन सम्राटों को अभय का वचन देना ही वास्तविक दिग्विजय है। मनु (भारत का प्रथम समाज तथा राजनीतिशास्त्री) और कौटल्य ने भी राजा के कर्त्तव्यों में यह बतलाया है कि अन्य राज्यों को जीतकर वहीं के राजा को पुनः उस क्षेत्र का अधिकारी बना देना चाहिए। कारण यह है कि स्थानीय शासक ही अपनी प्रजा के धर्म तथा परम्परागत कार्य पद्धति से परिचित रहता है अतः वही अपनी प्रजा की समुचित सेवा कर सकता है। पौरुष-प्रदर्शन का नाम ही दिग्विजय है; संकुचित भावनावश साम्राज्यवृद्धि की उसमें गन्ध भी नहीं।

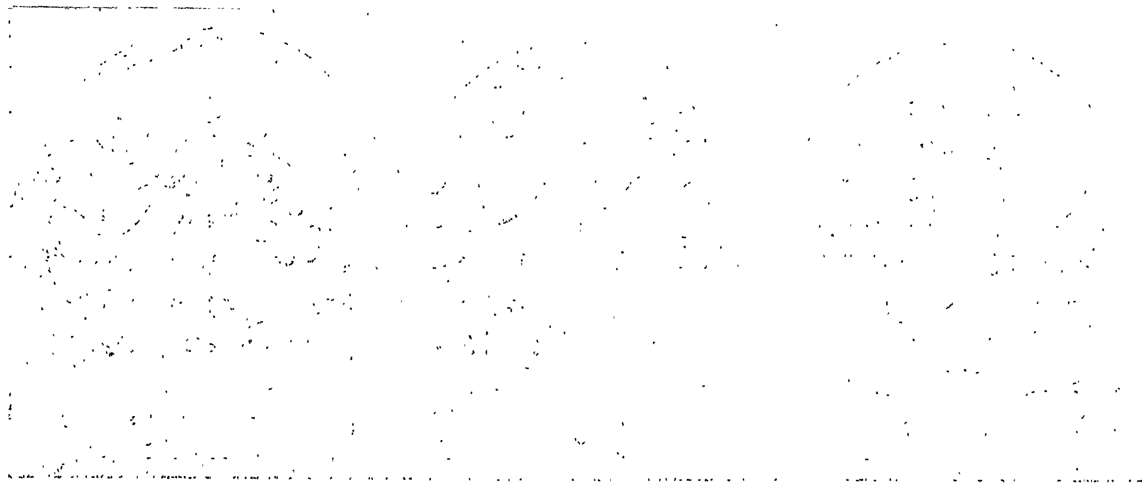
संक्षेप में 'विक्रम' शब्द की महिमा पर वाक्य लिख लेखनी को विराम दिया जायगा।

विक्रम शब्द का इतिहास भी कम मनोरंजक नहीं है। आर्यों के प्राचीन एवं प्रियतम धर्म और गाथा ग्रन्थ ऋग्वेद में इस शब्द को सर्वप्रथम प्रतिष्ठा मिली। उस समय विष्णु सूर्य का पर्य्याय था। विष्णु की प्रशंसा में ऋषियों ने अनेक मंत्रों की सृष्टि की है। अधिक प्रसिद्ध मंत्र यह है :—'**इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा विदने पदम्।**'

विष्णु का ऐश्वर्य समस्त विश्व में रम गया क्योंकि उसका विक्रम (बल) इतना पुष्ट था कि तीन पगों में ही सब कुछ नाप डाला। भारत में युगयुगान्तरों के राजा दिग्विजयों द्वारा उसी विक्रम की स्थापना करते आए हैं। युद्धरथ के चक्र-प्रवर्तन द्वारा वह मानों अपना विक्रम नापना चाहते हैं। सूर्य-रश्मियाँ कहाँ नहीं जातीं? इसी प्रकार वह सोचते हैं कि उनका रथचक्र (पहिया) कहाँ नहीं जा सकता?

विक्रम शब्द में सभी प्रकार की शक्तियों का समावेश हो गया है, उसकी आत्मा में भारतीय आर्यों ने युग-युग की साधना के फलस्वरूप लोक-संग्रहात्मक समस्त उपकरणों की भावना उँड़ेल दी है! पालवंशीय सम्राट् धर्मपाल ने विहार प्रान्त में एक विश्व-विद्यालय की स्थापना कराई, उसका नाम था 'विक्रम-शिला'। चालुक्यवंशीय षष्टम् विक्रमादित्य ने जिस नई नगरी का निर्माण कराया उसका नाम भी 'विक्रमपुर' हुआ। राजाओं के अतिरिक्त मंत्रियों के नाम भी 'विक्रम' हुआ करते थे।* न जाने कितने रूपों में विद्या-प्रकाशन, बुद्धि-प्रदर्शन, धन-प्रभुत्व तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति आदि अनेक सांस्कृतिक चेतनाओं को व्यक्त करने के लिए इस शब्द की उपासना की गई है।

* डाइनेस्टिक हिस्ट्री ऑफ नॉर्दर्न इण्डिया, पृ० १०४१।



यौधेयगण और विक्रम

श्री राहुल सांकृत्यायन त्रिपटकाचार्य

श्रीगुप्त मगध के कोई साधारण से सामन्त थे जो ३२० ई० से पहले मौजूद थे। यह एक साधारणसा सामन्तवंश गुप्तों जैसे एक असाधारण राजवंश को जन्म देगा उस समय इसकी कौन कल्पना कर सकता था? लेकिन उनके पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम को लिच्छिवि कन्या कुमारदेवी से ब्याह करने का मौका मिला और इस वंश का भाग्य पलट गया। लिच्छिवि बुद्धकाल में एक प्रबल प्रजातंत्री (गणतंत्री) जाति थी। उसके सामने मगध और कोशल के प्रतापी राजा भी नहीं ठहर सकते थे, उनकी स्वतंत्रप्रियता इतिहास-प्रसिद्ध है। कौन जानता था कि ऐसे स्वतंत्रताप्रिय श्रेष्ठ कुल में गणतंत्र व्यवस्था का विनाशक जन्म लेगा। कुमारदेवी ने दिग्विजयी सम्राट् समुद्रगुप्त (३३५-३८०) को पैदा किया। उस समय पूर्वी भारत में गण समाप्त हो चुके थे, लेकिन पश्चिमी भारत—विशेषत: सतलज और यमुना तथा हिमालय और आधुनिक ग्वालियर के बीच में बड़े शक्तिशाली गणों का शासन था। ऐतिहासिकों में किसी ने पद्मावती (पवायाँ, ग्वालियर-राज्य) के भारशिवों को पाँच शताब्दियों से चले आते यवन और शक राजाओं का उच्छेत्ता कहा, किसी ने गुप्तवंश को इसका सारा श्रेय दिया, लेकिन डॉ० अल्तेकर का नया अनुसन्धान इस विषय में सबसे अधिक प्रामाणिक है। और दरअसल विदेशी शासन का उच्छेद उत्तरी भारत के किसी प्रतापी राजा ने नहीं किया, उच्छेद किया भरतपुर से उत्तर यमुना सतलज और हिमालय के बीच के प्रतापी यौधेयगण ने। यौधेयगण ने यह सिद्ध करके दिखला दिया कि गणशक्ति—जनशक्ति राजशक्ति से कहीं अधिक प्रभुताशाली होती है। उस समय कम से कम आसपास के प्रदेशों में इस प्रतापीगण की कीर्ति खूब फैली होगी। लेकिन समय आया कि उस विजयिनी जाति का नाम भी शेष नहीं रह गया और उनके अस्तित्व के बारे में? यदि उनके सिक्के जहाँ-तहाँ बिखरे न मिले होते तो शायद इलाहाबादवाले अशोकस्तम्भ पर उत्कीर्ण समुद्रगुप्त के शिलालेख से भी उनका ज्यादा पता न लगता। यौधेयों के वीर सेनापति भी रहे होंगे, उनकी गणसंस्था के सभापति भी रहे होंगे, मगर उन्होंने अपने सिक्कों पर लिखा—"यौधेयगणस्य जयः" (यौधेयगण की जय)। पीछे का इतिहास भी बतलाता है कि विदेशियों को भारत पर प्रभुता प्राप्त करने के लिए यमुना और सतलज के बीच ही के किसी स्थान पर अपनी अन्तिम निर्णायक लड़ाई लड़नी पड़ी होगी। और यह प्रदेश था यौधेयों के हाथ में। यहीं अपनी भूमि पर किसी जगह यौधेयवीरों ने ईसा की तीसरी सदी में शक-शासन का सर्वनाश किया और फिर डॉ० अल्तेकर के अनुसार "यौधेयानां

जयमंत्रधारिणाम्" जयमंत्र जाननेवाले यौधेयों पर गुजरात के प्रतापी शक-शासक रुद्रदामा ने १४५ ई० में प्रहार किया था। सम्भव है उस समय उनकी कुछ क्षति हुई हो, रुद्रदामा के लेख से ऐसा ही पता लगता है—लेकिन वे नष्ट नहीं हो पाए। चौथी शताब्दी के मध्य में विजयी समुद्रगुप्त भी यौधेयों का उच्छेद नहीं कर पाया। हाँ, उसने यौधेयों और उनके दक्षिणी पड़ौसी आर्जुनायनों को करदान के लिए विवश अवश्य किया। अभी भी गुप्तवंश के सर्वश्रेष्ठ वीर में यह सामर्थ्य नहीं थी कि वह यौधेयों को नामशेष करता।

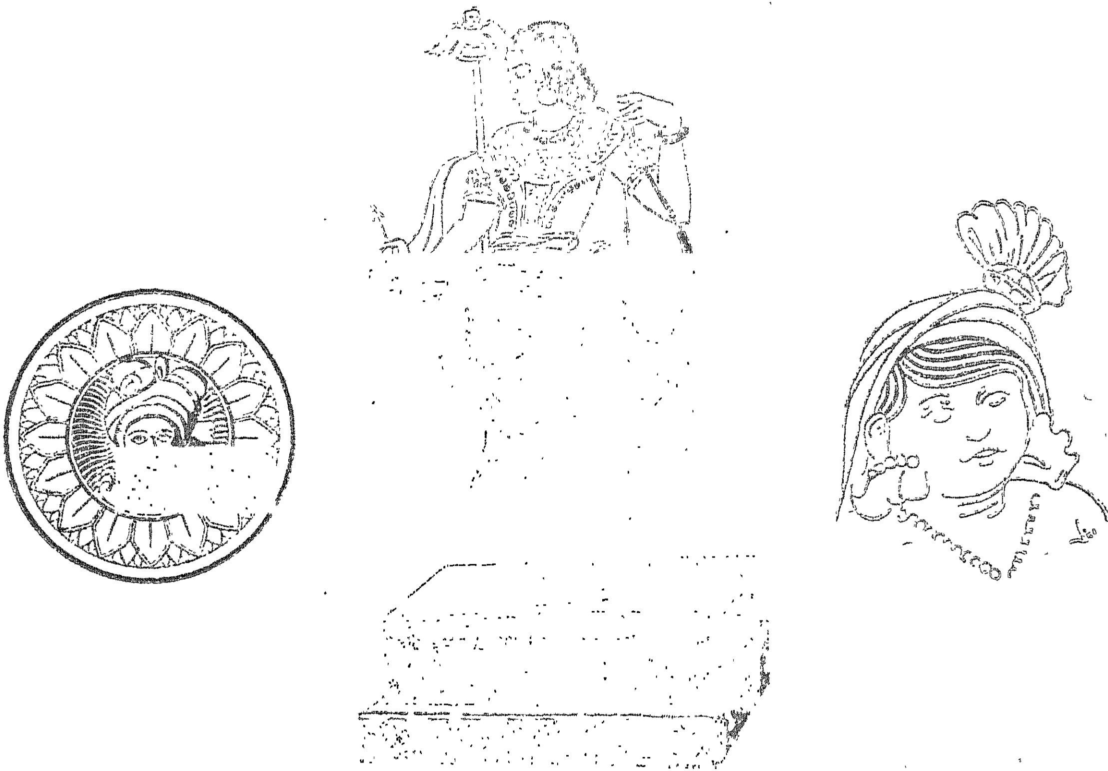
समुद्रगुप्त को चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य ३८०-४१३) जैसा यशस्वी पुत्र प्राप्त हुआ। इसमें शक नहीं उसके शासनकाल में भारतीय काव्य-सरस्वती ने कालिदास जैसा अमर कलाकार प्राप्त किया। मूर्तिकला एवं चित्रकला भी उन्नति के उच्च शिखर तक पहुँची, लेकिन जब हम स्वतंत्रता प्रेमी यौधेयों के अस्तित्व के बारे में अधिक पूछताछ करते हैं तो वहाँ हमें चन्द्रगुप्त का ही रक्तरंजित हाथ दिखलाई पड़ता है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य की कृतियों को यौधेयों की तरह भुलाया नहीं जा सका, इससे यही पता लगता है कि शायद उसका प्रयत्न अधिक सामयिक था। मगर यौधेयों के साथ भारतीय जनता के मस्तिष्क से इस विक्रमादित्य ने यह ख्याल भी हटा दिया कि राजा या सामन्त के बिना ही जनता स्वयं अपना शासन शान्ति और युद्ध हर समय में अच्छी तरह कर सकती है।

यौधेयों का इतिहास भारतीय इतिहास का कम गौरवपूर्ण अध्याय नहीं है, बल्कि आज की जन-जागृति के समय के लिए तो वह और भी अभिमान और पथ-प्रदर्शन की वस्तु है। लेकिन यौधेयों के गौरव गणतन्त्र के नाम तक को मिटा डालने की, जान पड़ता है हर पीढ़ी के सामन्तों और उनके पुरोहितों ने शपथ ले ली थी। कातिल ने बहुत सावधानी से अपने काम को किया था, लेकिन खून सर पर चढ़कर बोलने के लिए तय्यार हो रहा है। तभी तो यह विस्मृत वीर जाति अपने बिखरे हुए सिक्कों और अपने विरोधियों के शब्द-संकेतों से पुनः सजीव हो हमारे सामने आ उपस्थित हो रही है।

उसके इतिहास को पुराणों में स्थान नहीं मिला, उसकी कीर्तिगाथा को बन्दीजनों ने नहीं गाया, मगर उसके सिक्के एवं "यौधेयानां जयमंत्रधारिणाम्" जैसे छोटे छोटे वाक्यों से उसकी विशाल वीरता की यशोदुन्दुभी फिर एक बार भारत में बज कर ही रही। जिस तरह हमारे पुराने कथाकारों ने यौधेयों, उनके अन्तर्वर्ती आग्नेयों के साथ उपेक्षा का वर्त्ताव किया, आजकल राष्ट्रीयता के नाम पर लिखे जानेवाले इतिहासों में भी उनके साथ बेहतर बर्त्ताव की उम्मेद नहीं की जा सकती। मगर समय पलट चुका है। बुद्ध के समकालीन लिच्छिवियों, सिकन्दर के समकालीन क्षुद्रक, मालव आदि गणतंत्रों और सदा के लिए बुझने से पहले यौधेयों ने पराक्रम दिखलाकर जिस तरह जनशक्ति को जयमाला पहनाई उसे अब भुलाया नहीं जा सकता।

यौधेयों के बारे में प्राप्त सिक्के, अभिलेख तथा उनकी बिखरी हुई सन्तानों की दन्तकथाओं और वंशपरम्पराओं के ढाँचे पर ऐतिहासिक कल्पना के सहारे एक साकार समाज, साकार मूर्ति का चित्रण किया जा सकता है, मगर वह तो किसी आगे के लेखक का काम है। हाँ यह सवाल हो सकता है कि यौधेयों के खून का अपराध चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के सिर क्यों मढ़ा जाय? इसीलिए कि विक्रमादित्य के पिता ने यौधेयों के उच्छेद की नहीं, केवल कर लेने भर की बात कही और चन्द्रगुप्त के बाद यौधेयगण का कहीं नामोनिशान नहीं मिलता। आखिर उस उच्छेद को आत्महत्या के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता, जो एक सामन्तशाही शासक राजा के लिए सम्भव होते हुए भी सारे गण (जन) के लिए सम्भव नहीं। यौधेयों का उच्छेत्ता इतिहास में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से अलग कोई नहीं प्राप्त होता। इस विक्रमादित्य को शकारि की उपाधि से बढ़कर गणारि की उपाधि दी जा सकती है। आज विक्रम * का जयस्तम्भ स्थापित करते समय सिक्के के इस दूसरे पहलू को भी ध्यान में रखना होगा। आखिर आजके प्रभुताशाली वर्ग भविष्य के स्वामी नहीं हैं। जो भविष्य के कर्णधार होंगे उनकी श्रद्धा और सम्मान का भाजन विक्रम से अधिक यौधेयगण होगा। एवमस्तु, हम भी पुराने सिक्कों के अक्षरों को सजीव करते हुए बोलें, "यौधेयगणस्य जयः"।

*** स्पष्टतः यह विक्रमादित्य ई० पू० ५७ सन् के संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य नहीं हैं, वे तो 'गणारि' न होकर "गणाध्यक्ष" ही हो सकते हैं। विद्वान लेखक ने सिक्के के इस पहलू पर विचार नहीं किया। सं०।**



चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल
का सामाजिक जीवन

श्री डॉ० राजाराम नारायण सालेतूर, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डो० लिट्०

यशस्वी गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल में व्याप्त सामाजिक जीवन की कतिपय बातों की कुछ विशद रीति से खोज करना ही प्रस्तुत लेख का उद्देश्य है। अब तक प्राप्त उसका पूर्वतम अभिलेख मथुरा का शिलालेख है जिसपर गुप्त-संवत् ६१ *, पड़ा हुआ है। यह कल्पना करना भी युक्तिसंगत माना जा सकता है कि सम्भवतः उसने ३८० ई० से राज्य-करना प्रारम्भ किया, और उसका राज्यकाल अधिक से अधिक सन् ४१२-४१३ ई०† तक चला। ऐसा उसके साँची के शिलालेख से भी ज्ञात होता है जिसपर उक्त तिथि पड़ी हुई है। उक्त बातों से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि सम्भवतः उसने सन् ३८० ई० से ४१२-१३ ई० तक राज्य किया। जब हम यह मानकर चलते हैं तो इस बात की कल्पना पूर्व में ही कर लेनी पड़ती है कि उसके बड़े भाई रामगुप्त ने उसके पूर्व कम से कम कुछ वर्षों तक राज्य किया, यद्यपि उसके राज्य के अस्तित्व‡ को कुछ लोग अब तक स्वीकार नहीं करते। इस लेख में

---

* ई० आई० २१, संख्या १, पृष्ठ ८।

† फ्लीट, सी० आई० आई०, III, (५), पृष्ठ ३३।

‡ इस विषय पर मेरी पुस्तक, 'लाइफ इन गुप्त एज', पृष्ठ १४-२३ देखिए। महामहोपाध्याय वी० वी० मीराशी रामगुप्त के राज्य काल को स्वीकार करते हैं (देखिये आई० एच० क्वा० १०, १९३४, का पृष्ठ ५१।) जबकि डॉ० बी० सी० सेन उसके अस्तित्व को नहीं मानते (सम हिस्टॉरिकल प्रास्पेक्ट्स ऑफ दी इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, देखिए पृष्ठ २२४–२२५ (१९४२)।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल का सामाजिक जीवन

हम चन्द्रगुप्त के राज्य-काल के सामाजिक जीवन की तीन बातों का ही विवेचन करेंगे, अर्थात् शासन-प्रबन्ध, गार्हस्थ्य-जीवन और धार्मिक स्थिति।

शासन-प्रबन्ध

राज्य के सम्पूर्ण मामलों में राजा का प्रमुख स्थान था और मंत्रीगण उसके कार्य में सहायता करते थे। यह बात बहुत ही मनोरंजक है कि चीनी यात्री फाह्यान जिसने चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल में भारतवर्ष की यात्रा की थी और जिसने कभी भी उसके नाम का उल्लेख नहीं किया उसके शासन-प्रबन्ध का किस प्रकार वर्णन करता है। वह लिखता है,"राजा के मंत्री और वे व्यक्ति, जो उसकी अन्य सब कार्यों में सहायता करते थे, वेतन और पेंशन प्राप्त करते थे।"* इस उल्लेख से इस बात का पता चल सकता है कि प्रथमतः—राज्य का सर्वोच्च अधिकारी राजा था; द्वितीयतः, जो व्यक्ति शासन-प्रबन्ध में उसकी प्रत्यक्षरूपेण सहायता करते थे उसके मंत्री थे, तृतीयतः ऐसे अन्य पदाधिकारी भी होते थे जो इन मंत्रियों के अधीनस्थ रहते थे एवं शासन के इन सम्पूर्ण सेवकों को वेतन और पेंशनें मिलती थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि स्मृतियों के आदेशों के अनुसार राजा का स्थान इतना ऊँच होता गया कि शनैः शनैः वह देवता-स्वरूप माना जाने लगा। यह बात स्मरण रखने योग्य है कि नारद ने यह नियम बना दिया कि "जो कुछ राजा करता है न्याय-संगत है। यह नियम पूर्व निर्धारित है; क्योंकि संसार की रक्षा का भार राजा को सौंपा गया है। अतः कोई भी शासक, भले ही वह अयोग्य हो, प्रजा द्वारा सदैव पूजनीय है।"† ऐसी दशा में यह समझना आश्चर्यजनक न होगा कि इस काल के अभिलेखों में हम राजा को अचिन्त्य पुरुष, लोक-धाम-देव, परमदैवत आदि नामकरणों से विभूषित पाते हैं और उसको कुबेर, वरुण, इन्द्र और यम आदि देवताओं की उपमा दी गई है।‡

राजा को अनेक भव्य उपाधियों से सम्मानित किया जाता था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख किया गया है कि "चौथी शताब्दी के पूर्व में राजा की उपाधि केवल महाराज थी।§ यह व्यापक नियम के रूप में निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि चन्द्रगुप्त प्रथम, जिसका होना इसी काल में कहा जा सकता है, जैसाकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के शिलालेख से सूचित होता है, महाराजाधिराज की उपाधि से विभूषित था।|| इसके अतिरिक्त जैसाकि उदयगिरि गुफा के शिलालेख से प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय सदृश राजा की परम भट्टारक जैसी अन्य उपाधियाँ भी होती थीं।¶

राजा न केवल ऐसी ही दिव्य उपाधियों से विभूषित होता था परन्तु उस समय के शासक राज्य-सत्ता के कुछ विशेष आदर्श भी रखते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के मथुरा के शिलालेख से हमें यह ज्ञात होता है कि वह "सर्वराजोच्छेत्ता, (सम्पूर्ण राजाओं का उच्छेदक), पृथिव्यां अप्रतिरथ (पृथ्वी पर जिसका (समान शक्ति का) कोई विरोधी न था) और चतुरुदधिसलिलास्वादित यशसो (जिसके यश का आस्वादन चारों समुद्रों के सलिल ने किया था) था"** इन बातों से यह लक्षित होता है कि शासक से यह आशा की जाती थी कि वह विजेता एवं अप्रतिरथ हो और उसकी यशःख्याति सम्पूर्ण पृथ्वी पर व्याप्त हो। सर्वथा ही ये राजा के विशेष गुण समझे जाते थे। समुद्रगुप्त के एरण शिलालेख में वर्णित राजा के विशेष गुणों से इनकी तुलना अत्यन्त मनोरंजक है जिसमें उसको "भक्ति, नीति, शौर्य, पुरुषार्थ, पराक्रम आदि गुणों से

---

* दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९ (जे० डब्ल्यू० लैडले, कलकत्ता १८४८)।
† नारद, १८, २०२३ पृष्ठ २१७।
‡ देखिए फ्लीट, सी० आई० आई० पृष्ठ १४, १६, २९०।
§ सेन, वही पृष्ठ ४८९।
|| फ्लीट, वही (४) पृष्ठ २८।
¶ वही (३) पृष्ठ २५।
** वही (४) पृष्ठ २६-२७।

युक्त एवं असंख्य हाथी, घोड़ों और अतुल अन्नराशि का अधिपति बतलाया गया है।* जब वयस्क होकर सिंहासनारूढ़ होता था तो यथार्थ में राज्य-भार सँभालने के पूर्व उसको अभिषिक्त किया जाना आवश्यक था। एरण शिला लेख में राज्याभिषेक समारोह का उल्लेख किया गया है जिसमें यह वर्णन किया गया है कि समुद्रगुप्त अनेक वैभव सम्पन्न था जिनमें से एक राज्याभिषेक संस्कार किया जाना भी था। ये बातें राजा की उपाधि से सम्बद्ध थीं (राजशब्द-विभवैरभिषेचनाद्यैः)।† इस प्रसंग से यह प्रकट है कि समुद्रगुप्त का राज्याभिषेक अवश्य ही उस रीति से हुआ होगा जिसका उल्लेख एरण शिलालेख में प्राप्त है। इस विषय में भी संदेह नहीं किया जा सकता कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य का राज्याभिषेक भी इसी भाँति हुआ होगा। इस स्थान पर 'मुजमलुत्तवारीख' के अनुसार यह स्मरण रखना भी उचित होगा कि चन्द्रगुप्त द्वितीय अपने भाई रामगुप्त को मारकर, उसके उत्तराधिकारी के रूप में किस प्रकार सिंहासनारूढ़ हुआ। "तदनन्तर उसने, प्रजा के जयघोष के मध्य वजीर और प्रजा को सिंहासन के निकट बुलाया।"‡ यह प्रसंग स्पष्टतया उसके राज्याभिषेक से सम्बन्ध रखता है जिसका पूर्ण विवरण बृहत्संहिता में दिया गया है।§ यदि वराह-मिहिर को चन्द्रगुप्त द्वितीय का समकालीन मान लिया जाय,|| तो यह बहुत सम्भव है कि राज्याभिषेक समारोह का जैसा विशद चित्रण वराहमिहिर द्वारा किया गया है, वह उसका एक विशिष्ट चित्रण समझा जा सकता है जो सम्भवतः उसकी कल्पना से अथवा ऐसी अन्य बातों से अलंकृत हो जिन तक अभी हमारी पहुँच नहीं हो सकी है। यह बात उस समय स्पष्ट हो जाती है जब हम अभिषेक समारोह के इस चित्रण की तुलना उसी समारोह के उस के चित्रण से करते हैं कादम्बरी में बाणभट्ट ने किया है।¶

गुप्त-काल में राजसिंहासन के उत्तराधिकार की समस्या भी एक अत्यन्त जटिल विषय बनी हुई थी। निस्सन्देह राज्य का उत्तराधिकारी प्रायः ज्येष्ठ पुत्र ही हुआ करता था, परन्तु कभी-कभी यह आवश्यक नहीं होता था कि सिंहासनारूढ़ होने के लिए ज्येष्ठ पुत्र को ही चुना जाय जैसाकि हम चन्द्रगुप्त द्वितीय के सम्बन्ध में पाते हैं। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्रों के विषय में तो यह घटना सर्वथा ही प्रकट है कि उनमें आपस में संघर्ष हुआ और अन्त में सबसे शक्तिशाली ही सफल हुआ। स्कन्दगुप्त के भीतरी शिलालेख से हमें यह ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय को किस प्रकार उसके पिता समुद्रगुप्त ने अपने दोनों पुत्र राम और चन्द्र में से सिंहासनारूढ़ होने के लिए, 'पुत्रस्तत्परिग्रहीतो'** वाक्य का अनुगमन करते हुए स्वीकार किया, जिसका आशय उसके चुने जाने से है। किन्तु जैसाकि बाद के अन्य प्रमाणों से प्रकट होता है कि रामगुप्त सिंहासनारूढ़ हुआ, क्योंकि प्रत्यक्षतः वह अपने भाई चन्द्रगुप्त से बड़ा था यद्यपि रामगुप्त की अपेक्षा चन्द्रगुप्त "सत्पुत्र"†† समझा जाता था और निश्चय ही उसके अल्पकालीन शासन के पश्चात् उसका योग्य भाई चन्द्रगुप्त ही उसका उत्तराधिकारी हुआ। निश्चय ही चन्द्रगुप्त ने अपने भाई राम की हत्या की होगी और इस प्रकार राज्यारोहण के अपने मार्ग को प्रशस्त किया होगा, यह बात केवल बाण द्वारा हर्षचरित में किये गए वर्णन से ही प्रकट नहीं होती परन्तु अन्य साधनों से भी ज्ञात होती है जिनका प्रति पूर्व में संकेत किया गया है और इसका वर्णन बाद की जनश्रुतियों में भी प्राप्त होता है। वैतालपच्चीसी के हिन्दी संस्करण में हमें यह कथा इस प्रकार मिलती है:—"धारा नामक एक नगर था, वहाँ गन्धर्वसेन राजा राज्य

* वही (२) पृ० २०।

† वही, (२) पृष्ठ २०।

‡ इलियट एण्ड डाउसन, हिस्ट्री ऑफ इण्डिया एज टोल्ड बाइ इट्स ओन हिस्टोरियंस, I, पृ० ११२।

§ वराहमिहिर, बृहत्संहिता, अध्याय ४८, पृष्ठ ७१-८० (कर्न)।

|| देखिए पंचसिद्धान्तिक, अध्याय I, पृष्ठ ३०।

¶ बाण, कादम्बरी, पृष्ठ ८४-८६।

** फ्लीट वही (१७) पृष्ठ ५१।

†† ई. आइ. २१, संख्या I, पृष्ठ ८।



करता था। उसके चार रानियाँ और उनसे छह पुत्र थे। इन पुत्रों में प्रत्येक एक दूसरे से अधिक विद्वान् और शक्तिशाली था। कुछ समय पश्चात् इस राजा की मृत्यु हो गई और उसका ज्येष्ठ पुत्र शंख राजा बना। तदनन्तर कुछ समय के बाद उसका छोटा भाई विक्रम अपने बड़े भाई (शंख) को मारकर राजा हुआ और शासन करने लगा। दिन प्रतिदिन उसका साम्राज्य यहाँ तक बढ़ता गया कि वह समस्त भारतवर्ष का सम्राट् हो गया; तथा अपने शासन को सुदृढ़ रूप से स्थापित करने के पश्चात् उसने नवीन संवत्सर का प्रवर्त्तन किया।* इस कथा से यह प्रकट है कि विक्रम (विक्रमादित्य अर्थात् चन्द्रगुप्त द्वितीय) ने अपने बड़े भाई की हत्या की थी जिसका नाम शंख के रूप में गढ़ लिया गया है। इस स्थान पर † अन्य बातों का विवेचन नहीं करना है परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि चन्द्रगुप्त द्वारा राम की हत्या की कथा ने शनैः शनैः कथासरित्सागर की अनुश्रुतियों में अपना स्थान प्राप्त कर लिया।

यह प्रतीत होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् इतिहास ने दुर्भाग्यवश फिर अपने आपको दुहराया। मैं यह संकेत कर चुका हूँ कि सम्भवतः चन्द्रगुप्त द्वितीय का उत्तराधिकारी थोड़े समय के लिए उसका पुत्र गोविन्द गुप्त बालादित्य प्रथम‡ हुआ। यह जानना भी मनोरंजक है कि डॉ० विनयचन्द्रसेन भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं जबकि वह लिखते हैं कि "यह असम्भव नहीं है कि सम्राट् कुमारगुप्त का राज्यारोहण अपने भाई गोविन्दगुप्त के विरुद्ध षड्यंत्र का ही परिणाम हो, जिसका उल्लेख बसाढ मुद्रा§ में किया गया है परन्तु किसी भी अन्य साधन से उसके विषय में पता नहीं चलता।"|| इस वर्णन का उत्तरांश, मेरे मत में स्वीकार-योग्य नहीं है, क्योंकि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के पुत्रों के बीच गृह-युद्ध के प्रसंग का उल्लेख परमार्थ कृत वसुबन्धु के जीवन-चरित्र¶ और वामनकृत काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में पाया जाता है। काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में एक श्लोक निम्न प्रकार है:—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युव जातो भूतिप्रतिराश्रयः कृतधियां दिष्टचा कृतार्थश्रमः।
आश्रयःकृतधियामित्यस्य वसुबन्धुसाचिव्योपक्षेपपरत्वात्साभिप्रायत्वम्॥"

इस पद का अर्थ यह है कि चन्द्रगुप्त का यह युवा पुत्र, जिसका प्रकाश चन्द्रमा के तुल्य है और जो धीमन्तों का आश्रय-स्थान है अब राजा हुआ है और अपने प्रयत्नों के सफल होने पर साधुवादों का पात्र है।"**

इस प्रसंग से यह प्रकट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त का चन्द्रप्रकाश नामक पुत्र, अपने "प्रयत्नों" के कारण सिंहासनारूढ़ होने पर साधुवादों का पात्र है। इस पद की टीका करते हुए हरप्रसाद शास्त्री ने लिखा है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के दो पुत्र थे—चन्द्रप्रकाश और बालादित्य; इनमें से बालादित्य बौद्धों का पक्षपाती था और वही सिंहासनारूढ़ हुआ और चन्द्रप्रकाश गृह-युद्ध में पराजित हुआ। उसके मंत्री सुबन्धु ने यह आक्षेप किया है कि नये-नये व्यक्ति अधिकार में आ गये, कविता के प्रति पूर्व प्रेम न रहा और प्रत्येक व्यक्ति अपने प्रतिवासी के घात को उद्यत हो गया।†† ह्योर्नले ने यह सुझाव प्रस्तुत किया है कि कुमारगुप्त का सम्भवतः पूर्व नाम चन्द्रप्रकाश था।‡‡

---

* सोमदेव, कथासरित्सागर, अध्याय ६, पृष्ठ २३२ (सी. एच. टाउनीकृत अनुवाद, सं. १९३६) वैतालपच्चीसी, हर्टफोर्ड कृत, सं० १८५५ भी देखिये।

† मैं इस विषय पर पृथक् विवेचन करना चाहता हूँ।

‡ देखिए सालेतोर, लाइफ इन दी गुप्त एज, पृष्ठ २७-३०।

§ सेन, सम हिस्टोरिकल आस्पेक्ट्स ऑफ दी इंसक्रिप्शंस ऑफ बंगाल, पृष्ठ २२५ (१९४२)।

|| ब्लोच, ए० एस० आई० आर० १९०३-४, पृष्ठ १०२-१०७।

¶ देखिए जे० आर० ए० एस० १९०५, पृष्ठ ४४; आइ० ए० ४१ का पृष्ठ २ भी देखिए।

** देखिए अध्याय ३, सैक्ट २, पृष्ठ ८६ (वाणिविलास प्रेस संस्करण); के० बी० पाठक, आइ० ए० ४० पृष्ठ १७०।

†† सुबन्धु, वासवदत्ता, पृष्ठ ७।

‡‡ ह्योर्नले, आई० ए० ४०, पृष्ठ २६४।

श्री डॉ० रा० ना० सालेतूर

यह तो हमें ज्ञात नहीं है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के कितने पुत्र थे परन्तु यह हम जानते हैं कि उसके ध्रुवस्वामिनी और कुबेरनाग नाम की दो पत्नी थीं।* हमको यह भी ज्ञात नहीं है कि कुमारगुप्त का पूर्व नाम चन्द्रप्रकाश था जिसको उसने आगे चलकर महेन्द्रादित्य नामक गौरवयुक्त उपाधि में परिवर्तित कर लिया। और हम यह भी नहीं कह सकते कि सिंहासन के लिए प्रतिस्पर्धी तीन व्यक्ति थे—गोविन्द गुप्त, बालादित्य प्रथम और कुमारगुप्त प्रथम; परन्तु जिस बात का इस स्थल पर हमसे सम्बन्ध है वह यह है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्रों में से सर्व प्रथम बालादित्य (गोविन्दगुप्त प्रथम) सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने थोड़े समय तक शासन किया और इसी काल के मध्य में उसके और उसके भाइयों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया जिसमें चन्द्रप्रकाश विजयी हुआ। किन्तु, यह बात हमें वास्तव में ज्ञात है कि कुमारगुप्त प्रथम निश्चय ही एक समृद्धशाली साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ होगा क्योंकि उसके सन् ४१५-१५ ई० के बिलसद के शिलास्तम्भ-लेख में उसके विजयपूर्ण शासन का उल्लेख है।†

अब हमें चन्द्रगुप्त द्वितीय के इस राज्य-काल में सम्राट् के कुछ मंत्रियों की ओर अपना ध्यान आकृष्ट करना चाहिए। समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति से हमें यह विदित होता है कि राजा के यहाँ हरिषेण और ध्रुवभूति जैसे अधिकारी थे। हरिषेण महादण्डनायक ध्रुवभूति का पुत्र लिखा गया है और उसके विषय में यह वर्णन किया गया है कि वह सान्धिविग्रहिक, कुमारामात्य, और महादण्डनायक के तीन संयुक्त पदों पर आरूढ़ था।‡ चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल में इन अधिकारियों के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं किया जा सकता। उसके उदयगिरि गुफा के अभिलेखों से यह प्रकट होता है कि उसका निपुण मंत्री साबवीर सान्धिविग्रहिक के पद पर आरूढ़ था जोकि "वंशानुगतक्रम में प्राप्त हुआ था" और उसी पद पर उसे नियुक्त किया गया था।⁑ इस वर्णन से इस बात का अनुमान भलीभाँति किया जा सकता है कि साधिविग्रहिक आदि जैसे उच्च पदों पर भी नियुक्तियाँ साधारणतः वंशानुगतक्रम में हुआ करती थीं परन्तु इन पदों पर स्वयं राजा द्वारा ही नियुक्तियाँ की जाती थीं। कम से कम जहाँ तक स्वयं साब के व्यक्तित्व से सम्बन्ध है ऐसा पदाधिकारी कार्य-सम्पन्न व्यक्ति प्रतीत होता है। उसके सम्बन्ध में यह लिखा है कि वह "भाषा, न्याय एवं मनुष्य जाति के गूढ़ तत्त्वों" को भलीभाँति जानता था और इसके अतिरिक्त कवि भी था।§ अतएव यह समझना आश्चर्यजनक न होगा कि ऐसा निपुण मंत्री अपने स्वामी के साथ उस समय रहता था जब वह "सम्पूर्ण पृथ्वी की विजय की जिज्ञासा में" भ्रमण किया करता था।¶ यहाँ पर यह कहना भी उचित होगा कि सान्धिविग्रहिक के इस पद से केवल यह ध्वनित होता है कि वह महासान्धिविग्रहिक के पद से निम्न-स्थिति का था जिसका उल्लेख सन् ४८२-८३ ई० के महाराज हस्तिन् के ताम्रदान-पत्र में पाया जाता है।‖ युवराज और बड़े-बड़े अधीनस्थ राजाओं को महाराज की उपाधि दी जाती होगी। चन्द्रगुप्त द्वितीय का पुत्र गोविन्द गुप्त बसाढ मुद्राओं में से एक में श्रीमहाराज‡‡ की उपाधि से विभूषित पाया जाता है जबकि चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुफा के शिलालेखों में महाराज विष्णुदास और छगलग का उल्लेख है जो परमभट्टारक महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त द्वितीय के चरणों की वन्दना किया करते थे††।

---

* ई० आइ० १५, संख्या ४ पृष्ठ ४२-४४।

† फ्लीट वही (१०) पृष्ठ ४४।

‡ फ्लीट वही (१) पृष्ठ १६।

⁑ फ्लीट वही (६) पृष्ठ ३५।

§ फ्लीट वही पृष्ठ ३६।

¶ फ्लीट वही पृष्ठ ३६।

‖ फ्लीट वही (२२) पृष्ठ १०५।

‡‡ ए० एस० आई० आर, १९०३-४, पृष्ठ १०७।

†† फ्लीट वही, (३) पृष्ठ २५।

ऐसे उच्च पदाधिकारियों का ज्ञान वराहमिहिर को भी रहा होगा, यह उस समय स्पष्ट हो जाता है जब हमको बृहत्संहिता से यह पता चलता है कि राजा के अतिरिक्त उसके मंत्री, प्रधान सेनापति, युवराज, निरीक्षक और अन्य कर्मचारी गण, राजज्योतिषी, राजपुरोहित, प्रादेशिक शासक, अन्तःपुर के संरक्षक, अपादक केन्द्रों के पर्यवेक्षक और राजदूत भी होते थे।* प्रादेशिक शासक अपने प्रदेश का शासन प्रबन्ध करते थे और स्थानीय पदाधिकारी ग्राम्य परिषदों में अपने काम का प्रबन्ध करते थे, बसाढ की मुद्राओं में से एक में उदनकूपे परिषद् का उल्लेख है, † जिससे यह प्रकट होता है कि ऐसी संस्था ग्राम्य मामलों के संचालन के लिए केवल एक स्थानीय सभा थी।

इस स्थल पर यह कहना असंगत न होगा कि बसाढ मुद्राओं से, जो प्रकटतः चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र गोविन्दगुप्त के उस काल की हैं जब वह उत्तर बिहार में स्थित तीरभुक्ति (तिरहुत) का प्रादेशिक शासक (महाराज) था। कई पदाधिकारियों के ऐसे नामप्रकट होते हैं जो उसके समय व्यवहार में आते होंगे।‡ हमें ऐसे पदाधिकारियों की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं जिनका श्रेणीकरण सुविधा की दृष्टि से केन्द्रीय और प्रान्तीय पदाधिकारियों के रूप में किया जा सकता है। केन्द्रीय पदाधिकारियों से अभिप्राय उन बड़े अधिकारियों से है जो राजा के सम्पर्क में रहते थे। ऐसे अधिकारी महाप्रतिहार (प्रधान द्वारपाल) और महादण्डनायक (प्रधान सेनापति, जो नागरिक एवं सैनिक दोनों प्रकार के कार्यों का सम्पादन करता था) होंगे। प्रादेशिक शासक के सन्निकट के अन्य पदाधिकारी भी होते थे। ये, उपरिक (वह उच्च पदाधिकारी जिसे उपरि कर वसूली का कार्य सौंपा जाता था), कुमारामात्य (युवराज का परामर्शदाता), तलवर (पुलिस पदाधिकारी) और विनयस्थितिस्थापक (प्रजा की नैतिक स्थिति की देखभाल करनेवाला पदाधिकारी) और भटाश्वपति (पदाति एवं अश्वारोही सेना के सेनापति) थे।

जैसाकि उपरोक्त कथन से ज्ञात होता है इन विभिन्न विभागों के पदाधिकारियों के अधीन अपने-अपने पृथक् कार्यालय होते थे जिन्हें अधिकरण कहा जाता था। युवराज के अधिकार में दो अधिकरण थे: (१) युवराज पादीय-कुमारामात्याधिकरण (युवराज के मंत्री अथवा परामर्शदाता का कार्यालय) एवं (२) श्रीपरम भट्टारकपादीय-कुमारामात्याधिकरण (युवराज के उस परामर्शदाता का कार्यालय जो सम्राट् के प्रति उत्तरदायी होता था)। इन दोनों पदाधिकारियों का अन्तर ध्यान देने योग्य है, विशेषतया युवराज का कार्य स्पष्टतः केवल मात्र अपना शासन-प्रबन्ध चलाना ही नहीं था परन्तु वह सम्राट् के प्रति उत्तरदायी भी था। अन्य पदाधिकारियों के भी अपने-अपने अधिकरण होते थे। दण्डपाशिक, जो अन्ततोगत्वा अवश्य ही महादण्डनायक के प्रति उत्तरदायी होता था, दण्डपाशाधिकरण नामक अपने कार्यालय का अधिकारी होगा। उपरिक का कार्यालय उपरिकाधिकरण कहा जाता था और विनयस्थितिस्थापक का कार्यालय तिरभुक्त-विनय-स्थिति-स्थापक अधिकरण कहलाता था। सैनिक विभाग के दो कार्यालय होते थे, रणभाण्डागार-अधिकरण (युद्धकोष का कार्यभार रखनेवाले पदाधिकारी का कार्यालय) और बलाधिकरण (बलाधिकृत⁂ का कार्यालय)। तीरभुक्ति के प्रादेशिक शासक गोविन्दगुप्त की राजधानी का कार्यालय वैशाली नामक स्थान पर था जो वैशाल्याधिष्ठान-अधिकरण कहलाता था।

स्थानीय परिषदों का निर्माण अवश्य ही इस प्रकार का होगा जिनमें श्रेष्ठी, सार्थवाह और कुलिक-निगम उनके अंग होते होंगे। इस काल के पश्चात् के शिलालेखों से स्थानीय शासन-प्रणाली के संचालन पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है।

ये पदाधिकारी शासन-प्रबन्ध की अपनी-अपनी इकाइयों का प्रबन्ध करते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरि गुफा के शिला-लेखों से हमें यह ज्ञात होता है कि आम्रकार्दव सुकुलिदेश में नास्ति (पुर ?) नगर का निवासी था और उसने ईश्वर-

---

* वराहमिहिर बृहत्-संहिता, अध्याय ५३।

† ए० एस० आई० आर० १९०३-४ पृष्ठ १०९।

‡ ए० एस० आई० आर० १९०३-४ पृष्ठ १०९।

⁂ देखिये वही (२३) पृष्ठ १०९।

वासक ग्राम किसी‡‡ को दान कर दिया था। जैसाकि इस दान-पत्र के विवरणों से यह भलीभाँति प्रकट होता है कि इस काल में ग्राम शासन-प्रबन्ध की सबसे छोटी इकाई थी। इसके ऊपर पुर और पुर के ऊपर देश होता था। परन्तु समुद्रगुप्त के एरण के अभिलेखों से हमें यह पता चलता है कि देश और पुर के मध्य में प्रदेश (जिला)* होता था जिसको विषय भी कहते थे।

जिस कुशलता के साथ चन्द्रगुप्त द्वितीय के शासन-प्रबन्ध का संचालन होता था उसका वर्णन समकालीन यात्री फाह्यान ने नीचे लिखे शब्दों में किया है :—"प्रजा सुख एवं समृद्धि से परिपूर्ण थी। न तो उन्हें जनगणना की पुस्तकें ही ज्ञात थीं और न न्यायाधिकारी एवं राजनियम। जो राजा की भूमि जोतते थे वही उपज प्राप्त करते थे। जब कोई जाना चाहता तो चला जाता था और जब रहना चाहता था रह जाता था। उन पर शासन करने के लिए राजा को (पीड़ा देनेवाले) दण्डों के साधनों की आवश्यकता नहीं होती थी। यदि कोई अपराध का दोषी होता था तो केवल उसे अर्थ-दण्ड दिया जाता था और ऐसा करते समय वे उसके अपराध की लघुता एवं गुरुता पर ध्यान रखते थे। जब कोई दुराचारी दुबारा अपराध करता था तो उसका सीधा हाथ काट लिया जाता था।"† इस उल्लेख से यह अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल में प्रजा सुखी और सन्तुष्ट थी और बाधक प्रतिबन्धों से अत्यल्प कष्ट पाती थी। परन्तु फाह्यान का यह कहना कि उस राज्य-काल में न्यायाधिकारी और राज-नियमों का अनस्तित्व था, केवल इस बात का द्योतक है कि या तो फाह्यान को भ्रान्त सूचना मिली या उसने यथार्थ बातों के जानने का स्वयं प्रयास नहीं किया; क्योंकि वह बौद्ध-साहित्य के अध्ययन में संलग्न रहता था। उसके ही विरोधी वर्णनों से यह प्रकट होता है कि वह कितना असावधान निरीक्षक हो सकता है; क्योंकि एक स्थान पर वह लिखता है कि राजाओं को अपनी प्रजा पर शासन करने के लिए पीड़ाजनक दण्डों की आवश्यकता नहीं होती थी और उसी स्थान पर वह आगे चलकर यह लिखता है कि दुबारा अपराध करने पर सीधा हाथ काट लिया जाता था मानों इससे अधिक पीड़ाजनक दण्ड कोई और भी हो सकता है।

गार्हस्थ्य जीवन

अब हम इस राज्य-काल में व्याप्त गार्हस्थ्य जीवन की कुछ बातों पर विचार करेंगे। चीनी यात्री फाह्यान ने लिखा है कि "उस देश के निवासी किसी जीवित प्राणी को नहीं मारते, न वे मदिरा-पान करते हैं और न लहसुन और प्याज खाते हैं। हमें चेन छ लों (चाण्डालों) को इसका प्रतिवाद समझना चाहिये। चेन छ लो शब्द में घृणा का भाव है। इन लोगों के गृह अन्य लोगों से पृथक् होते थे। जब वे किसी नगर या बाजार में प्रवेश करते थे तो वे अपनी उपस्थिति प्रकट करने के लिए एक लकड़ी का टुकड़ा पीटते थे। इस इंगित से अन्य लोग उनसे बच जाते थे और उनके संसर्ग से अपने को सुरक्षित कर लेते थे। केवल चेन छ लो ही आखेट की खोज में जाते थे और माँस बेचते थे।‡ कालिदास से जो साक्ष्य प्राप्त होता है उसके अनुसार फाह्यान का यह कहना ठीक नहीं है कि उस समय माँस नहीं बेचा जाता था एवं मदिरा पान नहीं किया जाता था। अस्पृश्यों की यह दुरावस्था सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ह्यूनसाँग के समय तक प्रचलित रही।‡‡ आगे चलकर फाह्यान ने फिर यह लिखा है कि "वे जीवित पशु नहीं बेचते थे, बाजार में न तो पशु-बध-गृह थे और न मदिरालय थे। मुद्रा के रूप में वे कौड़ियों का प्रयोग करते थे"।‡ ये वर्णन कालिदास के वर्णनों‖ और इस काल की प्रसिद्ध मुद्राओं के

---

‡‡ देखिये फ्लीट, वही (८) पृष्ठ ३५।

* देखिये फ्लीट वही (२) पृष्ठ २०।

† दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९-१००।

‡‡ ह्यूनसांग, रेकर्डस्, I, पृष्ठ ७४।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

‖ देखिये शाकुन्तल, अंक २, पृष्ठ १९।



विपरीत हैं। हम यह भलीभाँति जानते हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्य-काल में केवल सोने के सिक्कों का ही प्रचलन न था परन्तु जनता चाँदी और ताँबे के सिक्कों* से भी अच्छी प्रकार परिचित थी। यह बात अवश्य सम्भव है कि कौड़ियाँ अत्यन्त छोटे आदान-प्रदान† में काम में आती हों। इस राज्यकाल की अन्य महत्त्वपूर्ण बात विवाह-संस्कार था। इस विषय में राजा ने स्वयं अपने बड़े भाई की पत्नी से विवाह करके, एक ऐसी सामाजिक उत्तेजना का प्रसार किया था कि यह कहानी भावी सन्ततियों तक अयश गाथा के रूप में चलती रही। राष्ट्रकूट राजा गोविन्द चतुर्थ के साँगली और खम्बात के ताम्रपत्रों से हमें नीचे लिखा वर्णन मिलता है :—"अपने बड़े भाई के प्रति उसके द्वारा निर्दयतापूर्ण व्यवहार नहीं किया गया था यद्यपि उसमें शक्ति थी; उसने अपनी बन्धु-स्त्री‡ के साथ संभोग जैसे कुकृत्य को करके अयश लाभ नहीं किया; उसने भय के कारण पवित्र और अपवित्र के विचार से शून्य अशोभन आचरण का सहारा नहीं लिया; और वह अपने औदार्य्य और असामान्य पराक्रम द्वारा इस संसार में साहसांक बना।" ⁂ इस प्रसंग का संकेत स्पष्ट रूप से चन्द्रगुप्त द्वितीय के चरित्र के प्रति है। प्रथम पंक्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा अपने भाई रामगुप्त के वध की ओर, दूसरी पंक्ति रामगुप्त की स्त्री ध्रुवस्वामिनी के साथ उसके विवाह की ओर, एवं तीसरी पंक्ति चन्द्रगुप्त द्वितीय के उस अभिप्राय की ओर संकेत करती है जब वह अपने अन्य प्रयत्नों के असफल होने पर बेताल की सहायता का आश्रय लेता था जैसाकि देवीचन्द्र गुप्त के अवशिष्टांशों से प्रकट होता है। उक्त प्रसंगों की ओर महामहोपाध्याय मीराशी द्वारा स्पष्टतया संकेत किया गया है§, और अन्तिम पंक्ति के प्रसंग को भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया जा सकता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के औदार्य की ओर प्रभावती गुप्ता के पूना और रिधपुर के ताम्र-दान-पत्रों‖ के इस वाक्य द्वारा संकेत किया गया है कि "वह असंख्य पशु और सुवर्ण का दान करता था।" ऐसे उदारतापूर्ण दान द्वितीय चन्द्रगुप्त द्वारा किए गए अश्वमेध के समय किये हों अथवा नहीं, ¶ प्रमाणाभाव के कारण यह निश्चित नहीं कहा जा सकता परन्तु यह सत्य कि वह ऐसे दान करता अवश्य था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के "असामान्य पराक्रम" का उल्लेख प्रकटत: उसके द्वारा सौराष्ट्र के शकों के पराभव और मालवों पर प्राप्त विजय से है नकि ध्रुवस्वामिनी से विवाह करने की इच्छा करनेवाले शक का वीरता के साथ विध्वंस करने से।

उस काल के निवासियों की समयगणना की प्रणाली अत्यन्त मनोरंजक थी। दिन और रात्रि आठ प्रहरों में विभाजित किये गये थे। वराहमिहिर ने ** लिखा है कि रात्रि के अन्तिम प्रहर (३ से ६ बजे) में झंझावात का आना न्यायाधीशों राजाओं, धनिकों, सैनिकों, चोरों, पत्नियों, व्यवसाइयों और राजमंत्रियों की हानि को सूचित करता है। सूर्योदय के समय ६ से ९ बजे तक इसका आना बकरों, भेड़ों और नागरिकों के लिए हानिप्रद है और ९ से १२ बजे तक आने से इसका प्रभाव राजकीय परिचारकों और ब्राह्मणों पर पड़ता है। मध्याह्न के १२ बजे से ३ तक आने से यह वैश्यों एवं वर्षा के लिए अनिष्टकर है और चौथे प्रहर में चोरों पर प्रभाव डालता है। रात्रि के प्रथम प्रहर (६ से ९ तक) में इससे अन्न नष्ट होता है; दूसरे प्रहर में भूतों को कष्टकारक होता है; रात्रि के तीसरे प्रहर में (१२ से ३ तक) यह घोड़ों एवं हाथियों के लिए अनिष्टकर होता है और चौथे प्रहर में (तीन से ६ तक) यह युद्धार्थ प्रयाण करनेवाले राजाओं को कष्ट देता है। ** इन प्रहरों की गणना

---

* देखिये स्मिथ, जे० आर० ए० एस० १८९३ पृष्ठ १३३-१३७ वही १८८९ पृष्ठ १०।

† राय चौधरी पो० हिस्ट्री ऑफ एंशेंट इण्डिया पृष्ठ ४७०।

‡ श्री मिराशी ने यह सुझाव किया है कि उक्त परिस्थितियों में इस शब्द का अनुवाद 'भाई की स्त्री' होना चाहिये, पृष्ठ ४८।

⁂ डी० आर० भांडारकर ई० आइ० ७, पृष्ठ ४४।

§ डी० आर० भांडारकर न्यू लाइट ऑन दी अर्ली गुप्त हिस्ट्री, मालवीय कॉमेमोरेशन व्होल्यूम, पृष्ठ २०७।

‖ मिराशी, आइ० एच० क्यू० १०, पृष्ठ ४८-५१।

¶ देखिये आइ० एच० क्यू० ३, पृष्ठ ७२५।

** वराहमिहिर बृहत्संहिता, अध्याय ३९, पृष्ठ ३८।

जल-घड़ियों (नाडिकों) द्वारा किस प्रकार की जाती थी इसका पूर्णरूपेण विवरण अन्यत्र दिया गया है।* यह बात ध्यान देने योग्य है कि रात्रि और दिन के इस विभाजन (अर्थात् प्रातःकाल छै बजे से संध्या के छै बजे तक तीन-तीन घण्टों के चार प्रहरों में और संध्या के छै बजे से प्रातःकाल के छै बजे तक तीन-तीन घण्टों के चार प्रहरों में) की प्रथा गुप्त-काल के अन्त तक चलती रही।

दिन के समय में इस काल के लोग अनेक प्रकार की क्रीड़ाएँ किया करते थे जिनमें से एक मुर्गाओं का लड़ाना भी था। हमने प्रारम्भ में ही इस ओर संकेत किया है कि फाह्यान के कथनानुसार न तो इस काल के मनुष्य सुअर पालते थे और न मुर्गे। इसमें मुर्गों सम्बन्धी कथन सत्य नहीं है, इसकी पुष्टि बृहत्संहिता के उद्धरणों से की जा सकती है। वास्तव में जो विवरण मुर्गों के पालन के सम्बन्ध में वराहमिहिर से प्राप्त होते हैं उनसे यह प्रकट होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के राज्य-काल में मुर्गा-पालन उच्चतम स्थिति पर पहुँच चुका था। उसके वर्णन के अनुसार "यव (जौ) धान्य के समान गर्दनवाला या उन्नाबी रंग का या बड़े सिर का अथवा अनेक रंगों से चमकता हुआ मुर्गा लड़ाई के लिए अत्यधिक मूल्यवान होता है और शहद या शहद की मक्खी के समान रंगवाले मुर्गे से विजय निश्चित होती है। वर्णित प्रकार से भिन्न प्रकार का मुर्गा जिसका शब्द क्षीण या छोटा या रुकता हुआ हो, अच्छा नहीं समझा जाता। सफेद और सीधे पंखों का मुर्गा जिसका मुंह, नख और चोटी लाल हो एवं जो रात्रि के अन्त में मधुर-मधुर शब्द करता हो, राजा, उसकी प्रजा और घोड़ों के लिए दुःखदायक होता है।† इन विवरणों से प्रकट होता है कि वराहमिहिर के समय तक पक्षी-पालन का भी विशेष स्थान हो गया होगा तथा मुर्गों की लड़ाई उन दिनों के खेलों में एक सर्वप्रिय खेल रहा होगा।

धार्मिक स्थिति

इस राज्य-काल में जीवन की एक विशेष बात धार्मिक प्रगति थी। परन्तु हमको यहाँ केवल बौद्धों तक ही सीमित रहना है। वराहमिहिर के अनुसार इस राज्य-काल में बौद्ध, शैव और जैन तीन प्रकार के धर्मावलम्बी थे।‡ इस काल के अभिलेखों से हमें यह ज्ञात होता है कि उस समय वैष्णव तो थे ही परन्तु सूर्योपासक भी रहे होंगे।

बौद्धों के विषय में पूर्ण विवरण हमें फाह्यान के लेखों से प्राप्त होता है। उसने लिखा है कि बौद्ध लोग जनता की उदारता के कारण अपने संघारामों को स्थित रखते थे। "रिपुओं के 'पन निहु वान' (परि निर्वाण) ⁂ पश्चात् राजा, बड़े-बड़े अधिकारी एवं गृहस्वामी धर्म-गुरुओं के लिए मठ निर्माण कराते थे, इसके अतिरिक्त वे उनके लिए अन्य उपयोगी सामग्री की पूर्ति करते थे और उनको भूमि, गृहों, उद्यानों का दान भी देते थे जिनमें खेती करने के लिए मजदूर और पशु भी होते थे। इन दानों के दान-पत्र लौह-पत्रों पर अंकित किये जाते थे और आगामी राजाओं को उनमें हस्तक्षेप करने की अल्पमात्र भी स्वतंत्रता नहीं रहती थी। यह प्रथा निरन्तर आज तक चली आ रही है। ग्रामों में रहने वाले धर्म-गुरूओं के पास रहने के लिए मकान होते थे और शयन करने लिए बिस्तर। इसके साथ-साथ खाने पीने की सामग्री, कपड़ें और संक्षेप में कहा जाय तो प्रत्येक वस्तु उनको प्राप्त थी, अतः उनको किसी वस्तु की कमी नहीं थीं और ऐसी व्यवस्था प्रत्येक स्थान पर थी" ⁑ ताम्र दान-पत्रों और उनमें लिखे शापों के उल्लेख का अभिप्राय स्पष्ट है।

*** सालेटोर, लाइफ इन दी गुप्त एज, पृष्ठ १०६-१०९।**

† वराहमिहिर, वही, अध्याय ६३, पृष्ठ ३३८।

‡ वराहमिहिर, वही, अध्याय ४३, पृष्ठ ८७।

⁂ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ७८ (मि० लैडले के नोट)।

⁑ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

परन्तु ये दान जनता द्वारा वास्तव में किस प्रकार किये जाते थे इसका वर्णन उस समय के शिलालेखों में मिलता है। चन्द्रगुप्त द्वितीय के साँची शिलालेख (सन् ४१२-४१३) में यह वर्णन है कि आम्रकार्दव नामक व्यक्ति ने किस प्रकार और क्यों सदा-सत्र खोलने के लिए दान किया। वह चन्द्रगुप्त द्वितीय का सेवक था। सम्राट् की उसपर असीम कृपा थी; वह ऐसा व्यक्ति था "जिसके जीवन-निर्वाह के साधन उसके पराक्रम के कारण सरल एवं सुखकर हो गए थे।" उसने दान-सम्पत्ति (मूल्य या अक्षयनीवी) को मज और शरभंग नामक दो व्यक्तियों से और राजकुल के आमृरात से खरीदा था। इस सम्पत्ति के अतिरिक्त उसने २५ दीनार भी दिए थे जिनके ब्याज से, जब तक कि सूर्य-चन्द्र का अस्तित्व रहे, पाँच भिक्षुओं को भोजन दिया जाय और रत्नगृह (स्वयं मठ में) में एक दीपक रखा जाय। इस दान का उद्देश्य चन्द्रगुप्त द्वितीय के "सम्पूर्ण गुणों की पूर्णता" का प्रचार करना था। इस उद्देश से उसने काकनादबोट के बिहार के महान् एवं पवित्र मठ के श्रद्धालु व्यक्तियों के समाज में स्थान प्राप्त कर लिया और पंच मण्डली के समक्ष साष्टांग प्रणाम करके, मज और शरभंग से खरीदे हुए ईश्वरवासक ग्राम का दान कर दिया।"*

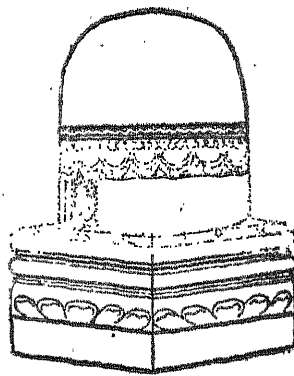
इन मठों में वे क्या करते थे इसका वर्णन भी फाह्यान ने किया है। वह लिखता है कि "धर्मगुरू निरन्तर सत्कार्यों में संलग्न रहते हैं, वे स्वाध्याय और ईश्वर चिन्तन भी करते हैं। जब विदेशी धर्माचार्य आते हैं तो गुरुजन उनका अभिवादन करते हैं और बारीबारी से उनके वस्त्र एवं पात्रों को वहन करते हुए उन्हें भीतर ले जाते हैं। वे उनको पाद-प्राक्षालन के लिए पानी, लगाने के लिए तैल और मधुपर्क लाते हैं। जब वे कुछ समय तक विश्राम कर लेते हैं, उनसे यह प्रश्न किया जाता है कि उन्हें कितने यज्ञ किस क्रम में करने हैं? निवास पर पहुँचकर जब नियमानुसार प्रत्येक आवश्यक वस्तु उनको प्रस्तुत करदी जाती है तब उन्हें विश्राम करने दिया जाता है।" ‡ ये कार्य नियमपूर्वक बड़े-बड़े मठों में ही किये जाते होंगे नकि साधारण सदा-सत्रों में।

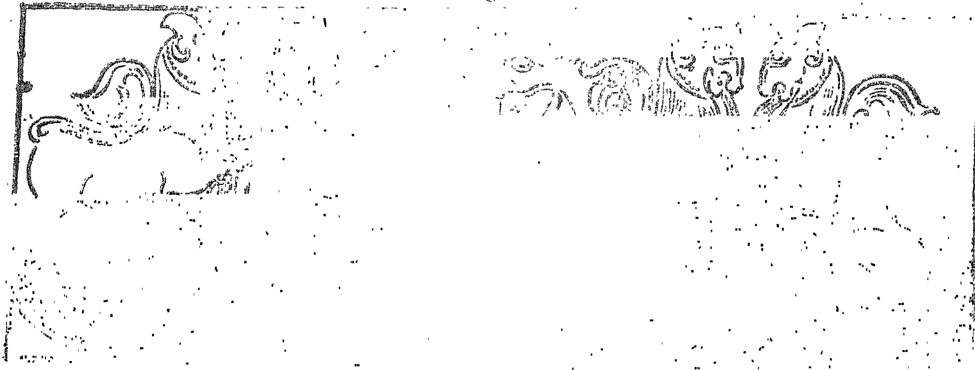
इन मठों के विद्वान् भिक्षुओं का राजाओं द्वारा अत्यधिक सम्मान किया जाता था, जैसाकि कम से कम फाह्यान के लेखों से प्रकट है। जब कभी राजा लोग इन भिक्षुओं के पास जाते थे तो सबसे पहले वे अपने मुकुट उतार लेते थे और तब वे, उनके राजकुमार और अधिकारीगण उनको स्वयं बनाये हुए भोज्य पदार्थों की भेंट करते थे। ऐसा करने के उपरान्त वे भूमि पर एक फर्श बिछा देते थे और उनके सम्मुख तिपाई पर बैठ जाते थे क्योंकि धर्मगुरुओं की उपस्थिति में "वे श्रेष्ठ आसन पर बैठने का साहस नहीं कर सकते थे।"‡ ऐसी प्रथाएँ ह्यानच्वांग और इत्सिग के समय तक प्रचलित रही होंगी।

* दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

† दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ १००।

‡ दी पिल्ग्रिमेज ऑफ फाह्यान, पृष्ठ ९९।





हेमचन्द्र विक्रमादित्य

श्री चन्द्रबली पांडे एम्० ए०

हेमचन्द्र विक्रमादित्य को हम नहीं जानते और नहीं जानते हम हेमू बनिया को। हम जानते हैं बस उसी हेमू बक्काल को जो सन् १५५६ ई० में पानीपत के मैदान में जा जमा था और जीतने ही को था कि कहीं से आँख में ऐसा तीर लगा कि बस वहीं हौदे में ढेर हो रहा। उस समय कोई उसका साथी न हुआ। महावत भी मारा गया। भक्त हाथी उसे लेकर जंगल की ओर भागा तो सही पर बीच ही में वह भी पकड़ा गया। हेमू की आँख खुली तो वह बैरी के हाथ में बन्दी था। उसकी प्रभुता स्वप्न थी। फिर क्या था, बैरी की बन आई और बात की बात में सर कहीं और धड़ कहीं हो गया। सर सरकार की कृपा से काबुल पहुँचा तो धड़ दिल्ली के द्वार पर लटका दिया गया। और इतने से सन्तोष न हुआ तो वृद्ध पिता का भी बध किया गया और देश में मुगली छा गई। चारों ओर अकबर का आतंक दौड़ गया और पलभर में विक्रमादित्य का सूरज डूब गया। किसी ने हेमू का साथ न दिया। जिस देश ने 'कहाँ राजा भोज कहाँ गंगा तेली' के गपोड़े में 'गंगा तेली' को घर-घर फैला दिया उससे इस 'हेम' के लिये इतना भी न बना कि कहीं उसका नाम भी तो चलता। यदि इसके बैरी इतिहासकार इसके विषय में इतना भी न लिखते और इस हेमचन्द्र विक्रमादित्य का हेमू बक्काल के रूप में परिहास भी न करते तो हम आज किस हेमू का नाम लेते और किस हेमचन्द्र विक्रमादित्य की वर्षी मनाते? अरे, जिसे अपनी सुधि नहीं, उसकी सुधि भला कोई पराया क्यों ले और क्यों उसके पुराण को इतिहास का रूप दे? फिर भी हमारे देश के शम्सुल-उल्मा मौलाना मुहम्मदहुसैन 'आजाद' किस आजादी से लिख जाते हैं:—

"चगताई मोवर्रिख बनिये की जात को गरीब समझकर जो चाहें सो कहें मगर इसके कवाअद बन्दोबस्त दुरुस्त और अहकाम ऐसे चुस्त हो गए थे कि पतली दाल ने गोश्त को दबा लिया। अफगानों में जो बाहम कशाकशी और बेइन्तजामी रही उसमें वह एक जंगी और बाइकबाल राजा बन गया। अदली की तरफ से लश्कर जर्रार लिये फिरता था, कहीं धावा मारता था, कहीं मुहासिरा करता था, और किला बन्द करके वहीं डेरे डाल देता था। अलबत्ता यह कबाहत जरूर हुई कि बिगड़े दिल अफगान उसके अहकाम से तंग आकर न फक्त उससे बल्कि अदली से भी बेजार हो गये।" **(दरबार अकबरी, पृष्ठ ८४३।)**

परन्तु अदली (सन् १५५४ से १५५६ ई० तक) भी भलीभाँति जानता था कि हेमू के अतिरिक्त उसका कहीं कोई सहारा नहीं। उसने एक दिन में उसे अपना सब कुछ नहीं बना दिया। उसके हाथ में शासन-सूत्र आने के पहले ही गली-गली में नून की फेरी करनेवाला बनिया सरकार में बहुत कुछ बन चुका था। वह सरकारी मोदी था, बाजार का चौधरी था,

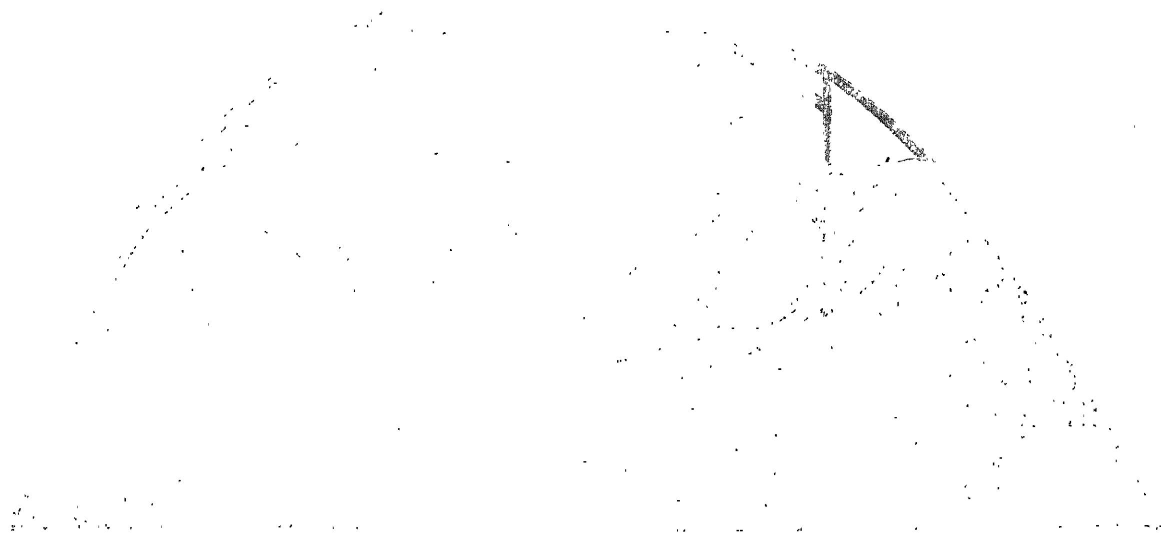
'उर्दू' का कोतवाल था। जहाँ था, सफलता उसके साथ थी। और जब अदली का कोई कर्णधार न रहा तब वही बनिया आगे बढ़ा और उसके अनुमोदन से वह मैदान मारा कि अफगान देखते ही रह गये। एक दो नहीं कुल २२ मैदान मार चुका था और कहीं किसीसे कभी पीछे नहीं हटा था। अफगान पहले तो उसे बक्काल कहकर तुच्छ समझते थे पर रणभूमि में जब सामने आते थे तब आटा-दाल का भाव मालूम होता था और प्रत्यक्ष देख लेते थे कि जीत इस बनिये के साथ चलती है। ताजखां कर्रानी से जब अदली का सामना हुआ और दोनों गंगा के तट पर जाकर एक दूसरे का मुंह देखने लगे तब साहसी हेमू ने ही गंगा पार कर कर्रानी को खदेड़ा और उधर से पलटा तो इब्राहीम सूर के पैर भी कालपी में उखड़ गये और अन्त में बयाना के किले में उसे घिरना ही पड़ा। हेमू उसको निर्मूल कर आगरा-दिल्ली को लेना ही चाहता था कि चुनार से अदली का फरमान पहुँचा। हेमू पूरब की ओर झपटा तो अदली भी भागता हुआ कालपी के पास उससे आ मिला। फिर तो हेमू ने मुहम्मदखां की सेना पर चरकता पर यमुना पार कर अचानक ऐसा धावा बोल दिया कि जो जहाँ था तहाँ ही रह गया और विजयश्री हेमू के हाथ लगी। सब कुछ हुआ पर जब वह आगरा और दिल्ली को अधीन करता हुआ पानीपत के मैदान में पहुँचा तब विक्रमादित्य बन चुका था। यहीं उसके पराक्रम का अन्त हुआ। यहीं उसके विक्रम का आदित्य अस्त हुआ। और ऐसा अस्त हुआ कि फिर कहीं कहने को भी न उगा। निश्चय ही हेमू ही हमारा अन्तिम विक्रमादित्य है और अवश्य ही हिन्दू के हाथ से ही अकबर को मुगल साम्राज्य मिला, कुछ पठानों के हाथ से कदापि नहीं।

हाँ, भारत के इतिहास में हेमू का व्यक्तित्व सबसे निराला है। महाराज पृथ्वीराज के हाथ से दिल्ली जो गई तो फिर कभी किसी हिन्दू की न हुई, किसी हिन्दू के हाथ नहीं आई। चार दिन के लिये हिन्दू से बने मुसलमान मियाँ खुसरो भी नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के सुलतान (सन् १३२० ई०) रहे पर अन्त में तुगलक की तलवार से वह भी दूर हुए और दिल्ली बाहरी मुसलमानों की हो रही। पठान शेरखां सचेत हुआ तो उसने मुगलों से अफगानी राज्य छीन लिया और बहुत कुछ हिन्दी राज्य करने लगा। उसके कुल की डूबती नैया का डाँडा डाँडी छोड़कर संभाला हेमू बक्काल ने और सोचा कि पठान उसके हो रहे। वह इन्हीं अफगानों के सहारे जीतने चला विदेशी मुगलों को। वह जीत भी गया। परन्तु उसने भूल यह की कि इन अफगानों के मजहब को नहीं समझा और इन्हींके बल पर बना चाहा 'शकारि' विक्रमादित्य। जो चाहा सो हो गया पर जो चाहता था सो न हो सका। कारण उसी 'आजाद' के मुंह से सुनिए—

"इसे समझना चाहिये था कि मैं किस लश्कर और किन लश्करियों से काम ले रहा हूँ। यह न मेरे हमकौम हैं, न मेरे हमवतन हैं, न हम मजहब हैं। जो कुछ करते हैं या करेंगे पेट की मजबूरी, या उम्मेद या इनआम या जान के आराम के लिये करते हैं। और मेरी मीठी जबान, खुशखूई, दर्दख्वाही और मोहब्बततनुमाई इसका जुज आजम था—फिर भी यह सारी बातें आरजी हैं। यह कोई नहीं समझता कि इसकी फतह हमारी फतह है। और हम मर भी जायेंगे तो हमारी औलाद इस कामयाबी की कमाई खायेगी।" **(वही पृष्ठ ८४८।)**

परिणाम जो होना था वही हुआ। अफगानी तोपखाना पहले ही मुगलों का हो गया। और जब जीतते-जीतते हेमू घायल हो आँख की पीड़ा से अचेत हो गया तब उस नमकहलाल हाथी के सिवा उसका कोई अपना न रह गया जो उसकी सुधि लेता अथवा उसके काम को पूरा करता। यदि वह राजपूत होता तो कुछ राजपूत तो उसके साथ मर मिटते? पर नहीं, जिसने इतने राजपूतों का मान-मर्दन कर बनिया होते हुए अपने को विक्रमादित्य घोषित कर दिया उसका साथ कौन देता! अस्तु, उसका अन्त हुआ और साथ ही उस विरुद का भी जो 'शकारि' का द्योतक और 'साका' का परिचायक है। हमारे लिये यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि हम आज न तो अपने प्रथम विक्रमादित्य को जानते हैं और न अन्तिम विक्रमादित्य को ही। परन्तु हमारे इस अन्तिम विक्रमादित्य को हमारा अकबर खूब जानता था और इसीसे तो उसकी हत्या पर उसके अंगअंग को चित्र में अलग-अलग बना दिखाकर कहता था कि इस घमंडी का काम तो पहले ही तमाम हो चुका था। मैंने इसे क्या मारा। सच है, अकबर ने हेमू को नहीं मारा; उसे तो देश के दुर्भाग्य अथवा दैव ने मारा। अहमद यादगार का कहना कितना सच है कि अकबर के भाग्य का उदय था कि मृत्यु का तीर हेमू के भाल में जा लगा—
"चूं सिताराय दौलत अकबरशाही रूये दर तरक्की दाश्त नागाह तीर कजा बपेशानीये हेमू खुर्द।" **(तारीख-ए-शाही, बप्टिस्ट मिशन प्रेस, रो० ए० सु० ऑफ बंगाल १९३९ ई०, पृष्ठ ३६२।)**

किन्तु भाग्य का प्रताप अथवा मुसलमानों का न्याय तो देखिए कि उनसे इतना भी न देखा गया और लोक में यह प्रवाद **(तारीख-ए-शाही, पृष्ठ ३५७)** फैला दिया गया कि हेमू ने तो मुगलों को जीतने के लिये हजरत कुतुबल हक के मजार पर जाकर मिन्नत मान किंवा व्रत ठान लिया था कि जीत के बाद मुसलमान हो जाऊँगा और इसलाम का प्रचार करूँगा। पर विजयी होने पर उसने किया एक भी नहीं। फलतः उसे इसका फल भोगना और तलवार के घाट उतरना पड़ा। क्या खूब? देखिए हमारे इस विक्रमादित्य की हमारी आँखों के सामने कैसी गति होती है?



युग सहस्र संवत्सर विक्रम

श्री० डॉ० रामकुमार वर्मा एम्. ए., पी. एच्. डी.

इस अनंत पथ पर—जिस पर
ये धूल कणों से रवि-शशि संभ्रम—
उठते-गिरते हैं जैसे
गति का समीर होगा न कभी कम।

किसी तारिका को कोई भी,
तारा छू न सका इस क्षण तक
कभी न विचलित होगा जैसे,
नभ की गति का अनुशासित क्रम।

ऐसे महा प्रभंजन का है
कौन महा संचालक अनुपम ?
ध्वनित हो उठी जैसे गति ही—
युग सहस्र संवत्सर विक्रम।

युग सहस्र संवत्सर ! तुम में—
क्या युगत्व है ? क्या सुख-दुख मय—
राजनीति के चक्रों के तुम संचालक हो ?
निर्मम निर्भय ?

शक-हूणों के पदाघात से-
क्रुद्ध हुए तक्षक से उन्नत
प्राण-वायु कर पान, उठे हो
हे युग-फण ! हे युग-जिह्वामय ?

युग सहस्र फन फैलाकर तुम,
पान करो अविरल प्रकाशमय।
शेष बनो तुम-बनो शेषशायी से
दीन-हीन के आश्रय।

श्री डॉ० रामकुमार वर्मा

संवत्सर ! यह है प्रशस्ति की रेखा—
मेरी प्रिय ध्वनि नव नव
स्वर्गंगा के ज्योति कणों से
ज्योतित अपने मणि से अवयव—

में लेकर भू-खण्ड उसे तुम
दो चिरजीवन का आश्वासन
मरु में चू जावे शीतल कण
तरु में जाग्रत हों नव पल्लव।

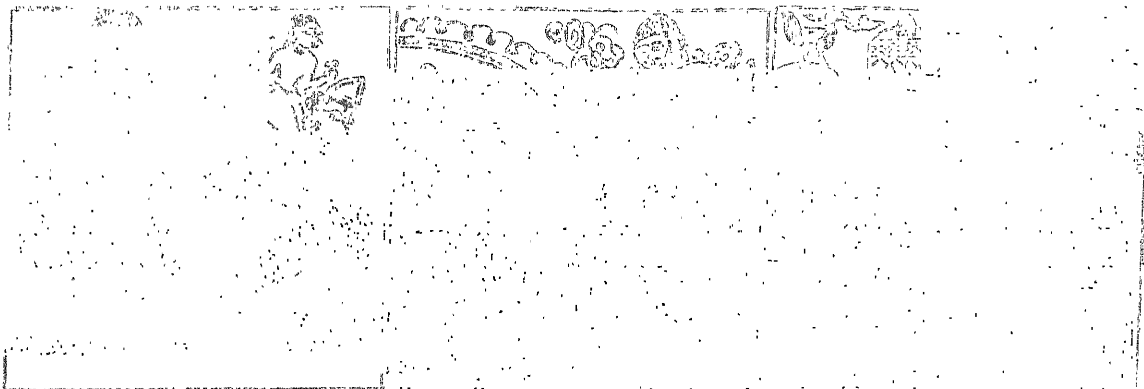
क्रूर घृणा में दया—दया में प्रेम—
प्रेम में जीवन उद्भव।
तेजोमय रवि-सा नर करदो
नारी चन्द्रकला-सी अभिनव।



करालं महाकाल कालं कृपालुं

चित्रकार—श्री निकोलस डी० रोरिक

('कल्याण' सम्पादक श्री महावीरप्रसादजी पोद्दार के सौजन्य से प्राप्त)



आचार्य कालक

–एक कहानी* –

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

आरम्भ

वीर निर्वाण के ४०० वर्ष के बाद भारत अन्धकारयुग की झंझा में विड़ोलित था। सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक संगठन, साम्प्रदायिक प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघात से विशृंखल हो चुका था। पूर्व ऋषियों ने समाज को जिस वर्ण-सूत्र में विभाजन कर सशक्त किया था, वह सूत्र टूट चुका था; देश के प्रांगण में दो विभूतियों ने मानव जाति को धर्म के सत् रूप का जो अमर सन्देश दिया था, वह सन्देश भी काल की गति से विरूप हो चला था। प्रजा अनेक भ्रान्तियों में पड़कर त्रस्त जीवनयापन कर रही थी और प्रजापति अपनी महत्वाकांक्षाओं की नीच वृत्ति में निरंकुश बन गए थे। युग के अन्धकार में पूर्व-गौरव मूक था।

उज्जयिनी ने 'नाम' पा लिया था, पर 'काम' का वह स्वर्णमय स्वप्न भर देख रही थी। उसके पटल पर उस अन्धकाराच्छन्न आकाश में झिलमिलाती तारावली अपनी कोमल रश्मियों से एक स्वप्निल संसार का चित्र अंकित कर रही थी। नगर के तट पर क्षिप्रा अपनी लोल लहरियों में प्रवाहित होकर अमराइयों के पात-पात में, फूल-फूल में जीवन भर जाती थी; पर उसका संगीत अभी स्वर ही भरने लगा था।

कौन नहीं जानता कि रावण 'राम-राज्य' की कल्पना और सृष्टि का आधार नहीं था, कौन नहीं जानता कि दुर्योधन गीता के अमर सन्देश का हेतु नहीं था? प्रकाश और अन्धकार का ऐसा ही अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। उज्जयिनी का शासक, इस समय गर्दभिल्ल दप्पण था, जिसका बल हिंसक-दानव-सा था, जिसका न्याय व्याघ्र-सा था और जिसका शासन

* विद्वान् लेखक ने 'कालकाचार्य कथानक' को आख्यायिका के रूप में प्रस्तुत किया है, यद्यपि कल्पना का मिश्रण कर उसे मूल से भिन्न रूप दे दिया है। सं०।

निरंकुश मत्त-सा था। उसने चिरपरिचित गणतंत्र प्रथा का मूलोच्छेद कर दिया था और शासन का समस्त भार अपने और अपने मनोनुकूल 'तीर्थों' के हाथों में ले लिया था। यह नवीन तंत्र केवल उसकी महत्वाकांक्षा और विलासप्रियता की पूर्ति के लिये रचा गया था। और उसकी सफलता में किसी ओर से भी किसी प्रकार का विरोध होता था, उसका वह सारी शक्ति और सारी धूर्तता से सामना करता और उसके अंकुर को पल्लवित भी नहीं होने देता था। प्रजा अपने पूर्व सुख और ऐश्वर्य के बचे भाग का उपभोग करती हुई उस उत्पीड़न को सह रही थी। उसका शासन इस प्रकार एकतंत्री-एकरंगी हो गया था।

× × × × × ×

चारुचन्द्र की रजत किरणों की कबरी-छाया नगर के बाहर-बाहर वाले पथ पर पड़ रही थी। दोनों ओर विशाल वृक्षों की सघन रेखा दिगन्त में विलीन हो रही थी। उसी घनी चन्द्रिका में एक सुसज्जित महान् रथ रुनझुन करता हुआ तीव्रगति से सुपथ पर अग्रसर था। उसके चार अश्वों के खुरों की टाप सम पड़ रही थी और उनकी बाग जिस सारथी के हाथ में थी उसके मुख पर आत्मगौरव की आभा स्पष्ट लक्षित थी। रथ में कोई विशिष्ट व्यक्ति विराजमान था।

वह किसी मधुर-स्मृति के आकर्षण में इतना आत्मविस्मृत हो जाता था कि कभी कभी वस्तु-ज्ञान से विहीन हो जाने से उसके मुख से अनायास ही निकल पड़ता था—"तुम अनुपम हो, सुन्दरी!" पर ज्योंही वह सजग हो उठता, वह योंही सारथी को सम्बोधित कर कह देता था—"शीघ्रता कर, सूत!" और सूत "जो आज्ञा" कहकर अपनी बाग को पुनः सम्हाल लेता। वह अपने कार्य में दक्ष था और अपने अश्व-गण की शक्ति और ज्ञान पर पूर्ण विश्वास रखता था। रथ पवन-पथगामी हो रहा था।

इसी रथ के पीछे एक दूसरा रथ चला आ रहा था जिसमें दो सभ्य विराजमान थे। संघ और उसके सरस्वती-महोत्सव के सम्बन्ध में कुछ विनोदप्रिय संभाषण कर रहे थे। शायद, उस उत्सव से ही वे सब लौटे जा रहे थे।

एकाएक वह अग्रगामी रथ एक सघन स्थल पर रुक गया। रुकते ही, सारथी नीचे उतर पड़ा और कर-बद्ध हो एक ओर खड़ा हो गया। और शीघ्र ही दूसरा रथ भी वहाँ आ पहुँचा, और वह कुछ दूर पीछे ठहर गया। उसमें से वे दोनों सभ्य उतरकर बड़ी तत्परता से उस विशिष्ट व्यक्ति के सम्मुख आकर सादर मुख-नत किए खड़े हो गये। एक ने कहा—"महाराज!"

"योगीश्वर तक मेरे आने की सूचना दे आओ। जाओ, शीघ्रता करो!"

"जो आज्ञा, स्वामिन्!"

कुछ काल उपरान्त, वही व्यक्ति और आश्रम का एक ब्रह्मचारी हाथ में दण्ड-दीपिका लिए वहाँ आ उपस्थित हुए। ब्रह्मचारी ने महाराज को अभिवादन किया और विनयपूर्वक बोला—"भगवन् आपकी राह देख रहे हैं।"

महाराज, उन सभ्यों की सहायता से, रथ में से उतरे और दण्ड-दीपिका के प्रकाश में वे उस आश्रम की ओर चल पड़े।

योगीश्वर पर्णकुटी के बाहर चत्वाल पर रक्खी एक पीठिका पर विराजमान थे। रात्रि के प्रथम प्रहर के शान्त और निष्क्रिय वातावरण में भी उनकी आकृति गम्भीर और उग्र थी। जटाजूट उनके विभूति-मंडित भाल पर वेष्टित था। विशाल नेत्र जैसे अपने ही अग्निताप से उभरी पलकों में समा नहीं रहे थे। श्मश्रु का वर्ण कृष्ण था और वह हृद्भाग को पूर्ण आच्छादित किये हुए थी। वे कोपीन धारण किए हुए थे। इस गम्भीर रूप में भी उनके मुख पर तपोतेज प्रदीप्त था, जो प्रत्येक आगन्तुक की श्रद्धा को अवश्य जगा जाता था।

उनके सम्मुख आते ही, महाराज ने अभ्यर्थना कर उनके चरणों की रज सिर पर धारण की। योगीश्वर ने कहा—"तेरी मनोकामना पूर्ण हो, भक्त! इस समय कैसे आना हुआ?" और उन्होंने महाराज को बैठने के लिए अपने सम्मुख स्थित अन्य पीठिका की ओर इंगित किया। वे फिर बोले—"तुम इतने आतुर क्यों हो?"

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

महाराज पीठिका पर विराज गये, विनय से उन्होंने जवाब दिया—"आप सर्वज्ञाता हैं, भगवन्! मैं आपके आशीर्वाद के लिए आतुर था, अब निश्चिन्त हूँ।"

मुनीश्वर की गम्भीर मुद्रा पर मुस्कान-रेखा खिंच गई। वे बोले—"भक्त, जानता है तू निमित्त-ज्ञानी कालक का द्वेषी बनने जा रहा है?"

"यह मैं जानता हूँ, भगवन्! पर आपकी शक्ति के प्रति अटल भक्ति और विश्वास में यह ज्ञान मेरी लगन को कैसे विचलित कर सकता है! आपकी शक्ति के आंशिक प्रसाद से मैं गर्दभिल्ल हो गया हूँ, भगवन्, उस कालक के कोप की आप बात कह रहे हैं। उस कोपाग्नि में, मुझे विश्वास है, वह स्वयं ही भस्मीभूत हो जायगा।"

महाराज क्षणिक रुके, अपने उद्वेलित भाव-तरंग का उन्होंने शमन किया और फिर मौन मुनीश्वर की ओर दृष्टिपात कर वे सव्रीड़ा नत-मस्तक होकर बोले:—

"सुना था भगवन्, कि मुनि कालक और उसकी भगिनी नगरी के बाहर क्षिप्रातट वाले उपाश्रय में आये हैं, कोई विशेष बात नहीं थी; पर कल मैंने उषा के शान्त और रम्य वातावरण में क्षिप्रा की लोल-लहरों में एक देवबाला-सी सुन्दरी को जलक्रीड़ा करते देखा; मेरे नेत्र जड़ हो गये। उस क्रीड़ा में सन्यासिनी की निष्कामना नहीं थी, वरन् मोहिनी आकर्षण तथा लगाव का एक अलक्ष्य भाव था जो उसके अंग-अंग में रोमांच का संचार कर जाता था, यह मैंने अनुभव किया था, भगवन्! सरिता के उस तट के एक विशाल वृक्ष से उड़कर एक कलहंसी का पीछा करते हुए कलहंस को देखकर उसके मुख पर स्मित हास्य की रेखा खिंच गई और उसकी कोमल लम्बी कमल-बाहु जल-तरंगों को अपने आवृत में भरने फैल गईं। न मालूम उस तरंगालिंगन में उसका कैसा सुखद स्वप्न था! भगवन्, स्नान के पश्चात् अन्तरीय और स्तनांशुक बदल बिखरी केशराशि का जूड़ा बनाकर वह धीरे-धीरे तट-लता-कुञ्जों में घूमने लगी और एक सुन्दर मंदार पुष्प-गुच्छ को तोड़कर अपने जूड़े में धारण करने लगी—उसके इस अनुपम सौन्दर्य का आकर्षण तीव्र था, भगवन् और उसकी इस आसक्ति प्रवृत्ति ने मुझे विचलित कर दिया। मैं एकाएक हँस पड़ा और उस हास्य-ध्वनि ने उसे सचेत कर दिया। उसने सशंकित मेरी ओर देखा और तुरन्त लज्जा से आरक्त मुख को नीचा कर वह वहाँ से चली गई। भगवन्, क्या यही उसका व्रती जीवन है? कहता हूँ उसके जीवन को कालक यों बाँध देना चाहता है, उसे मुक्त करने की मेरी इच्छा है। सोचता हूँ कि नगर के महाकाल के मन्दिर की 'पण्या' बनकर वह अपने जीवन को अधिक सार्थक बना सकती है...................।"

इस अतिकथन से महाराज की वाणी बाधित हुई और वे रुक गये। मुनीश्वर, उसी गम्भीर मुद्रा में, महाराज से बोले—"भक्त, पानक चाहिये।" और महाराज की स्वीकारोक्ति के पूर्व ही वे ऊँची ध्वनि में एक शिष्य का नाम उल्लेख कर कहने लगे—"भक्त के लिए पानक लाओ तो।"

"जो आज्ञा!"

इस प्रत्युत्तर के कुछ देर बाद ही हिमानन्द शिष्य हाथ में एक काष्ठ-पात्र लेकर उपस्थित हुआ और उसे महाराज को सविनय भेंट कर रिक्त पात्र को लेने वह एक ओर खड़ा रहा। महाराज के पान कर चुकने पर वह उसे लेकर उसी ओर चला गया जिधर से वह आया था।

"कैसा अमृत-सा जीवन प्रदान करनेवाला पानक है!"

योगीश्वर ने तब कहा—"तू कह रहा था कि वह सुन्दरी महाकाल के मन्दिर की पण्या बनकर क्यों न अपने जीवन को सार्थक कर सकती है—पर क्या इतनी ही तेरी कामना है, भक्त?"

"आपके समक्ष गुप्त कुछ नहीं है, भन्ते!"

मुनीश्वर की आकृति अधिक गम्भीर और विचारमय हो गई। उनके नेत्रों की कान्ति अधिक प्रदीप्त हो गई। वे सर्वदृष्टा की भाँति कहने लगे—"अर्द्धरात्रि के समय उज्ज्वल चाँदनी की शीतल छाया में उपाश्रय के बाहर किसी की



प्रतीक्षा में एकाकी मौन खड़ा वह कौन है ? एक कोमल मन्द स्वर-लहरी के सुनते ही एकाएक आकृष्ट होनेवाला वह कौन है ? उपाश्रय के आलिंदवाले उपवन के मध्य चत्वाल पर अपनी ही नग्नरूपराशि की माया में मग्न नारी के चक्षु-संस्पर्श से अभिभूत वह कौन है?"

"भगवन्, मुझे क्षमा करें!"

"और फिर भी उस नारी के प्रति तेरी मुक्त भावना——महाकाल के मन्दिर की पण्या..........''।

मुनीश्वर अट्टहास कर उठे।

महाराज अपने दोनों कर जोड़े अवाक् बैठे थे।

मुनीश्वर अपने अट्टहास की ध्वनि के अवसान में ही बोले——"और अभी-अभी मनाये जानेवाले उत्सव की बात, भक्त!"

"वहीं से आ रहा हूँ। उस सरस्वती-पूजन के महोत्सव में सम्मिलित होने का अभिप्राय आपसे छिपा नहीं है भगवन्! कालक भगिनी सरस्वती का वह निर्मल श्वेत परिधान से वेष्टित वेश अनुपम था। उसके कलकंठ से उठी हुई वह देवि-स्तुति 'ॐ न्हीं नमो भगवति.......' एक गन्धर्व बाला की अश्रुत वाणी-सी सबको अभिभूत कर गई और उस संगीत का अन्त 'केवलि पन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि!' में सबकी संज्ञा-सबकी सत्ता साध्वी सरस्वती के नत मुद्रा की भाँति उस देवी-प्रतिमा के चरणों में विसर्जित हो गई। कैसा उसका विकास है, कैसा उसका स्वर है और कैसा उसका आकर्षण है, भगवन्! सच, वह जनपदकल्याणी है! आपकी स्वीकृति चाहता हूँ।"

"भक्त, मंखलिपुत्र ने कहा है कि जीवों को जो सुख-दुःख होता है, वह स्वयंकृत नहीं और अन्यकृत भी नहीं है। किन्तु यह सब सिद्ध ही है, स्वाभाविक ही है। कालक वचीपरम है, और वह निमित्तज्ञानी कहकर वंचना करता है। आखिर जो जूठन उसे प्राप्त हुई है वह आजीवक-साधु की ही तो देन है। भक्त, मेरे सम्मुख उसकी सिद्धि अकारथ होगी, तू निश्चिन्त होकर कार्य-सिद्धि कर!"

"धन्य भगवन्!"

"रात्रि अधिक बीत चुकी है, भक्त!"

महाराज उठे और नत होकर मुनीश्वर के चरण स्पर्श किये और कहा——"जाता हूँ, भगवन्!"

"जा, पर यह याद रखना कि इस काल के बाद न तू कालक के सम्मुख आना और न सरस्वती को आने देना। मेरे परोक्ष में वह अपने ज्ञान का प्रयोग कर सकता है। समझ गया न, भक्त!"

"हाँ, भगवन्!"

"तेरी मनोकामनापूर्ण होगी!"

× × × × ×

चाँदनी अब भी छिटक रही थी। उपाश्रय की गन्धकुटी के द्वार पर क्षमाश्रमण आचार्य कालक गम्भीर मुद्रा में खड़े थे। वर्द्धमान वृक्ष की सघन कबरी छाया के उसपार दूर उनकी समस्त शक्तियाँ केन्द्रित थीं और जब अविरल उत्पात ध्वनि विशेष उग्रता से सुप्त वातावरण को प्रतिध्वनित कर जाती, तो जिज्ञासा की प्रबल आतुरता उनके मुख की गम्भीरता के स्तर के भीतर स्पष्ट झलक पड़ती थी। आखिर, दूर एक मूर्ति को तीव्रगति से भगते इधर आते हुए उन्होंने देखा, वे पहिचान कर ही पुकार उठे——"सागर!"

"हाँ क्षमण। साध्वी स.........."

"क्या?"

"भयंकर बात है, भन्ते!"



और क्षिप्र श्वास लेता हुआ वह आचार्य के सम्मुख आकर निराश मूर्तिसा खड़ा हो गया। उसके वस्त्र अस्तव्यस्त थे। मालूम होता था कि अवश्य किसी एकागारिकों से भिड़न्त हो गई है। आगन्तुक इतना भयभीत और व्यथित था कि बहुत देर तक वह मूक ही खड़ा रहा। और आचार्य भी दुर्घटना की आशंका से स्तब्ध होकर उसके कथन की प्रतीक्षा में चुप रहे।

वह कोलाहल अब भी चारों दिशाओं में व्याप्त हो रहा था। आखिर उस कटुशान्ति का भार असह्य हो गया और आचार्य दृढ़ता से बोले—"क्या कह रहे थे, सागर!"

"क्षमण, महा अनर्थ हुआ है। जैसा अमंगल का आत्म-निर्देश आपको हुआ था, वैसा ही काण्ड घटा है। साध्वी सरस्वती राज-दस्युओं के द्वारा हर ली गई है। भगवन्, हमने प्रतिरोध किया था, पर......कुछ न बन पड़ा। और मैं यही सूचना देने आपके............."।

आचार्य कालक की गम्भीर मुद्रा में अनेक वक्र रेखाएँ खिच गईं। उनके नेत्र मानसिक द्वन्द्व की अग्नि में प्रज्ज्वलित हो उठे। फिर भी वे मूक रहे।

सागर भिक्षु, उत्तेजित, कभी उस दिशा की ओर जिधर से वह आया था, और कभी आचार्य की मौन मुद्रा की ओर देखता हुआ कह-कह उठता था—

"अनर्थ हुआ है, आचार्य! वे गर्दभिल्ल के अनुचर थे......मैंने परीक्षा की है, प्रभु! सन्देह की बात नहीं है...... रथ राजा के थे.........और देवी का आर्तनाद...........भगवन्, दस्यु तत्पर थे.........जीवन देकर भी बचा सकता तो पर....."।

दूर का वह कोलाहल शान्त हो गया था। केवल मन्द से मन्दतर होते हुए अश्वों की टापें अब भी सुनाई दे जाती थीं।

और अन्य आश्रमवासी भी दीर्घश्वास लेते घबराते हुए वहाँ आकर चुपचाप खड़े हो गये। किसी ने कुछ भी कहने का साहस नहीं किया। वे सब पृथ्वी की ओर देख रहे थे। तब आचार्य कालक का गम्भीर नाद सुनाई दिया—

"तुम सब चिकित्सक विमलसूरि के पास जाओ। किसीके विशेष गम्भीर आघात तो नहीं लगा है, प्रबुद्ध!...... और विमलसूरि हैं कहाँ? अपनी कुटि में.........और सागर, तुम से कुछ मंत्रणा करनी है। आओ।"

कहकर वे अपनी गन्धकुटी के भीतर प्रवेश कर गये। सागर भी उनके पीछे-पीछे चला गया और द्वार पर जाकर खड़ा हो गया। स्वभावानुसार क्षमाश्रमण अपनी पीठिका पर नहीं बैठे थे, वरन् वे गन्धकुटी के आँगन पर इधर से उधर और उधर से इधर घूम रहे थे। सागर इस क्रिया को चुपचाप देख रहा था।

क्षमाश्रमण के सम्मुख जैसे महान्धकार था और उसमें एक प्रचण्ड झंझावात जैसे बह रहा था। अपने जीवन के निश्चित स्वप्न आज प्रभा के समान चमककर विलीन होते हुए उन्हें प्रतीत हो रहे थे। इस निर्ग्रन्थ जीवन की अनासक्त प्रवृत्ति में भी साध्वी सरस्वती ने अपनी सरलता, व्रतपरायणता, और अनुकरणीय त्याग के द्वारा आचार्य के हृदगत भगिनी-प्रेम को एक अपूर्व सात्विक अपनत्व में परिवर्तित कर दिया था। पर आज जब वह एक सुन्दर युवती की भाँति अन्यान्यों के द्वारा हरण करली गई थी, उनकी अन्तःसंज्ञा में दबी भ्रातृ-भावना उद्वेलित हो-होकर उन्हें अपने जीवन की बीती घटनाएँ याद दिला जाने लगी—मगध देशांतर्गत धारावास नगर के राजभवन; माता सुरसुन्दरी और पिता वयरसिंह का प्रेमभाव; बहिन सरस्वती के साथ राजभवन के साथी, प्रांगण, अलिन्द, प्रासाद, उपवन-सब स्थानों में बालक्रीड़ा; अश्वारूढ़ होकर वनविहार; वन की प्रकृति सुषमा में एकाग्र जैनाचार्य 'गुणाकर' से भेंट; उनके धर्मोपदेश से प्रभावित होकर गृहत्याग और फिर बहिन सरस्वती की भी जैन-साध्वियों के पास दीक्षा आदि एक-एक कर कई घटनाएँ स्मृति-पटल पर चित्रवत् उतरने लगीं। गृहत्याग के पश्चात् अपने अविरल अध्ययन, अपने अखण्डित इन्द्रिय-निग्रह, अपने गूढ़ मनन और एकाग्र तप से जो भी दैहिक सम्पत्ति का त्यागन और जोभी आत्मिक तत्व का उपार्जन उन्होंने किया था, उसके अन्तर्गत एक ही महती आकांक्षा थी और वह थी सत् धर्म का प्रचार! इसी हेतु उन्होंने धर्मद्रोही आजीवक आचार्य का शिष्यत्व भी स्वीकार किया था और ज्योतिष-निमित्त-शास्त्र का अध्ययन किया था, इस सिद्धान्त पर कि विद्या-प्राप्ति के निमित्त साधु को पतित साधु अथवा गृहस्थ की भी सेवा करनी चाहिये। पर ये प्रयत्न और प्रयत्न का मूल आग्रह—सब उन्हें साध्वी सरस्वती के साथ ही हरण

होते हुए दिखलाई दिये। साध्वी सरस्वती का हरण न केवल उज्जयिनी के श्रावक-संघ की अक्षमता और अशक्ति की ओर ही संकेत कर जाता था, वरन् साथ ही आचार्य कालक की प्रतिभा पर भी कुठाराघात था। और वे अपने ही सम्मुख ये ही नहीं देख सकते थे। वे गिरने के बजाय उठना चाहते थे।...और आज का काण्ड भविष्य में होनेवाली किसी विशेष क्रान्ति का सूत्रपात है, उनका मनःपर्याय-ज्ञान यही सूचना दे रहा था; क्योंकि इस घटना का सूत्र केवल उज्जयिनी-पति गर्दभिल्ल के हाथ में नहीं है पर उसका मुख्य पर अलक्ष सूत्रधार आजीवकों का प्रधान दहन है, यह वे जान गये थे।

योगी दहन के प्रति प्रतिस्पर्द्धा-भावना आचार्य कालक के हृदय को क्रोधाग्नि से हिला-हिला गई, जला-जला गई। उनकी गौर मुखाकृति रक्त-संचार के आधिक्य से कृष्णवर्ण हो गई, और घूमते-घूमते उनके हाथ की मुट्ठियाँ बँध गईं। वे एकाएक रुके और किंकर्त्तव्यविमूढ़ से खड़े सागर से बोले--

"तूने कहा था कि इस हरण में राज का हाथ है--क्यों न सागर?"

"हाँ श्रमण!"

"तू नहीं जानता कि घटना किसी अन्य ही सूत्रधार से संचालित है। राजा दप्पण 'गर्दभी-प्रदात्ता' के बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता, सागर! हमें अधिक सतर्क होकर काम करना होगा, नहीं तो उज्जयिनी में सत्धर्म के प्रचार और रक्षा से हमें विमुख होना पड़ेगा। उस आजीवक की शक्ति कम नहीं है।

कहकर वे फिर विचारमग्न इधर-उधर तीव्र गति से घूमने लगे। और वे फिर स्वतः भाषण-सा करने लगे--

"ज्ञातृपुत्र का वचन है कि बहुत से पाखण्डी गुरुओं की सेवा किया करते हैं--हे गौतम, क्षणमात्र भी प्रमाद न कर। और दप्पण अपनी महत्वाकांक्षा की, अपनी भोगलिप्सा की पूर्ति के लिये ऐसे ही गुरू का आश्रय ग्रहण कर चुका है। उज्जयिनी का भाग्य आज इन आसुरी प्रवृत्तियों के प्रहार से खण्ड-खण्ड हो रहा है। वह राजा है और इस रूप में उसके विचार का, उसके कार्यों का एक विशेष महत्त्व है; क्योंकि उनका प्रभाव परोक्ष तथा अपरोक्ष ढंग से प्रजा पर पड़ता है। आयुष्मान सागर, न केवल उज्जयिनी-संघ के लिए, सत्धर्म के लिए वरन् मालव के लिए भी हमें सचेत होना होगा। नहीं तो साध्वी सरस्वती की आह सबका सर्वनाश कर देगी।"

आचार्य कालक की विस्फारित स्थिर आँखें मूक खड़े सागर पर पड़ीं, वह उनकी ओर देखकर केवल इतना ही बोला--"हाँ, श्रमण!"

"यह सच है, सागर, कि कर्म अपने कर्त्ता के ही पीछे लगते हैं, अन्य किसी के नहीं। पर राजा के कर्म तो प्रजा को, देश को एक गति देनेवाले होते हैं। वही अपने कर्मों का भोक्ता नहीं होता, वरन् जाति, समाज और देश भी उसके फल के सुख-दुःख को समान अनुभव करते हैं। ज्ञातृपुत्र ने कहा है कि जो मनुष्य काम भोगों में आसक्त होते हैं वे बुरे से बुरे पापकर्म कर डालते हैं, अन्त में महान् क्लेश पाते हैं। इसीलिये सोचता हूँ, सागर, कि उस पाप-कक्ष के विस्तार के पूर्व ही हमें सतर्क हो जाना होगा।"

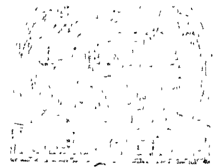
और यह कहकर अब वे अपनी पीठिका पर जा बैठे और सागर को हस्त-इंगित से पास में बैठने का आदेश दिया।

आचार्य कालक इस बीच शान्त हो गये थे और उनकी स्वाभाविक गम्भीरता पुनः लौट आई थी। स्थिरता आ गई थी। वे भविष्य के कार्यक्रम पर विचार कर रहे थे। आखिर वे फिर बोले--

"सागर, मैं प्रातःकाल राजभवन की ओर जाऊँगा और परिस्थिति के अनुसार कार्य करूँगा। इसके पूर्वकथित उत्क्षेपणीय-भिक्षुकों को यह आदेश मिल जाना चाहिये कि वे उस समय वहीं किसी न किसी भाँति उपस्थित रहें और समय देखकर कटु शब्दों से मेरा विरोध करें और राज-कर्मचारियों की दृष्टि में उनके बनने का प्रदर्शन करें। भिक्षुकियों को भी सूचित कर देना चाहिये कि वे साध्वी सरस्वती की गतिविधि का सूक्ष्म निरीक्षण करती रहें। बुद्धिव्रत को जाकर समझा दो, वह सुचारुरूप से सब कुछ कर लेगा। जाओ सागर!"

"जो आज्ञा!"

× × × ×



श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

दिन चढ़ गया था। सागर अपनी आम्रकुटी के भीतर टहलता हुआ आचार्य की प्रतीक्षा में आतुर था और कभी-कभी वह द्वार पर आकर मार्ग की ओर एक दृष्टि डाल भी जाता था। एक बार, इसी प्रकार जब वह द्वार पर आया, तो उसने आचार्य की कुटी के द्वार को खुले देखा। वह तुरन्त उस ओर तीव्रगति से चल पड़ा। उत्तरासंग का एक छोर पृथ्वी पर लटक रहा था, पर उसका ध्यान उधर था ही नहीं। चला-चला गन्धकुटी के द्वार पर आकर वह खड़ा हो गया। आचार्य, कुछ घड़ी पूर्व के समान ही, कुटी के आँगन पर घूम रहे थे। आहट पाकर उन्होंने द्वार की ओर देखा और सागर को अभिवादन करते देखकर आचार्य ने कहा—

"धर्मवृद्धि, सागर!"

"भन्ते!"

"भीतर आओ, सागर! द्वार बन्द कर देना।"

सागर द्वार बन्द करके गुरू की पीठिका के निकट आकर बैठ गया।

"जिज्ञासु हो, सागर! पर परिस्थिति अनुकूल नहीं है, पहिले से अधिक विषम हो गई है। इसपर भी जो कुछ वहाँ घटा है, हमारे ध्येयपूर्ति के लिये साधक हो सकती है। इससे अधिक की आशा भी नहीं की जा सकती थी। उत्क्षेपणों का प्रदर्शन सफल रहा। कठोर आक्षेप करते हुए आक्रोश से उन्होंने मुझे सम्बोधित किया, कहा—'यह मायावी है, पापश्रुत का अनुशीलन कर संघ की मर्यादा और पवित्रता को भंग कर रहा है। वह अपनी व्यक्तिगत स्पर्द्धा के कारण समस्त सत्-धर्म को राजशक्ति के विरुद्ध कर रहा है। वह मोमुह है, वह रभस है, वह उपनाही है।' और जब राजाज्ञा के अनुसार मेरे लिये प्रव्राजन की घोषणा की गई, तो वे सब हर्ष से चिल्ला उठे: 'उचित है, उचित है! वह इसी के योग्य है!!' राजकर्मचारियों पर उनके इस प्रदर्शन का प्रभाव मैं बड़ी सूक्ष्मता से देख रहा था। और केवल यही सफलता भविष्य की चिर सफलता बन जावे, तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी, और सब बातें विचारणीय हैं। मुझे उज्जयिनी की भूमि त्यागने का आदेश मिला है। हमें अपने काँटों को फूल बनाना है, मुझे ऐसा लगता है कि यह भी, बाह्यरूप से अनर्थसूचक होता हुआ भी शुभ है। मुझे अवश्य ऐसा करना पड़ता, पर राजाज्ञा का आधार पाने से अब नगरी की सीमा को त्यागना विपक्षियों के सन्देह का कारण नहीं बन सकता। क्यों न?"

"उचित है, भन्ते!"

"मुझे तुरन्त इस स्थान को त्यागना होगा। इसीलिये सागर, यहाँ का भार तुम्हारे ऊपर है। मेरी अनुपस्थिति में तुम्हारे सम्मुख कुछ कर्त्तव्य है। प्रकटरूप से तुम्हें मेरे कार्यों के विरुद्ध घोषणा करनी होगी; और ऐसे कार्य करते रहना होगा जिससे राज का कृपाभाजन बनने में सहायता मिलती रहे। और साथ ही गुप्त रीति से सरस्वती की रक्षा और सत्-धर्म की अनुयायी प्रजा का संगठन करते रहना होगा। बड़ी गम्भीर बात है, सागर, परन्तु तुम्हारी शक्ति और बुद्धि पर मुझे विश्वास है।"

"आपकी आज्ञा मेरे जीवन का व्रत बने, भन्ते!"

"ज्ञातृपुत्र तेरी रक्षा करेगा।" क्षमाश्रमण आचार्य कालक ने कहा, "एक बात और। वह आजीवक बड़ा चतुर है। आज भी, जैसाकि चाहता था, स्वयं राजा दप्पण मेरे सम्मुख नहीं आया। मैंने कई युक्तियों से उससे साक्षात्कार करना चाहा। मेरा अभिप्राय था कि आवर्तनीमाया से उसको विभ्रम करदूं, पर मैं इस प्रयोजन में सफल न हो सका। ये सूक्ष्म-क्रियायें आजीवक की बुद्धि वैभव के उदाहरण हैं। तुम उसकी गतिविधि से पूर्ण परिचित रहने का प्रयत्न करना। सागर, धर्म की रक्षा के लिये इस प्रकार कटिबद्ध होना हमारा कर्त्तव्य है।"

सागर ने नतमस्तक होकर मौन स्वीकृति प्रदान की। इस विषादमय काल में भी आचार्य के मुख पर एक आनन्द की रेखा खिंच गई। वे भावमग्न बोले—

"मेरा मन हलका हुआ है, सागर! और तुम देखोगे कि तुम्हारे निमित्त-ज्ञानी दिशा-प्रमुख आचार्य का आज से मतिभ्रम, विक्षिप्त, पागल के नाम से उल्लेख किया जायगा और इस बात को तुम्हें अपने मुंह से जनजन के कानों तक

पहुँचाना होगा जिससे सब जान जाँय कि सरस्वती के हरण, निर्वासन की क्षप्ति ने उन्हें वैसा बना दिया है। वे कहीं चले गये हैं-मर गये हैं! चौंक पड़े, अन्तेवासी!"

"यह कैसे होगा, भन्ते!"

"सत्धर्म के लिये सब करना होगा!"

× × × ×

राजनगरी में उस दिन जिह्वा-जिह्वा पर बात रही।

साध्वी सरस्वती की चर्चा चलती, तो कहा जाता—रात्रि को स्वयं सरस्वती ने योगीश्वर के आश्रम में आकर उनके चरण पकड़ लिये, कहा, 'मुझे शरण दो। मेरे बन्धु का शासन असह्य है।' योगीश्वर ने बड़ी उदारता से उसको अभयदान दिया। और वह अब महाकाल के मन्दिर में 'पण्या' बनने को आतुर है।

महाराज गर्दभिल्ल दप्पण की चर्चा चलती, तो बड़े गोपनीय ढंग से कहा जाता—महाराज को जब इस घटना की खबर लगी, तो वे तुरन्त योगीश्वर की सेवा में उपस्थित हुए और उन्होंने साध्वी सरस्वती की रक्षा का सम्पूर्ण भार अपने कन्धों पर ले लिया। इस संकट समय तक साध्वी राजमहलों में ले जाई गई है।

आचार्य कालक की चर्चा चलती तो कटाक्ष से कहा जाता—वड़ा निमित्तवेत्ता बना था, जिसके अहम् में साध्वी सरस्वती पीड़ित और व्यथित होकर मुक्ति की राह देखने लगी थी। उसकी क्रूरता क्या बखानी जा सकती है? राजाज्ञा से वह निर्वासित हुआ है, यह उचित ही है, उचित ही है!

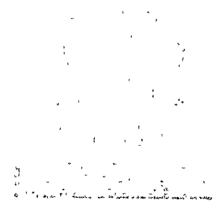
× × × ×

कुल काल उपरान्त, एक दिन उज्जयिनी के उपाश्रय में मुख्य पीठिका पर विराजमान श्रमण सागर ने उपस्थानशाला में उपस्थित चारों परिषद्-(भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक, उपासिका) के सम्मुख यह घोषित किया कि आचार्य कालक त्रिक, चतुष्क, चत्वर, महाजन आदि स्थानों में इस प्रकार उन्मत्त की तरह प्रलाप करते फिरते हुए देखे गये-'यदि गर्दभिल्ल राजा है तो इससे क्या? यदि वह रम्य अन्तःपुर है तो इससे क्या? यदि देश मनोहर है तो इससे क्या? यदि नगरी अच्छी वसी है तो इससे क्या? मैं भिक्षा माँगता फिरता हूँ तो इससे क्या? अगर शून्य देवल में बसता हूँ तो इससे क्या?'—इस प्रकार बकते हुए उन्होंने उज्जयिनी का त्याग किया। संघ इस पलायन से अनभिज्ञ है। और यह भी सुना गया है कि उन्होंने राजद्वार पर एक भीषण प्रतिज्ञा की थी कि यदि गर्दभिल्ल का राज्योन्मूलन न करूँ तो प्रवचन-संयमोपघातक और उनके उपेक्षकों की गति को प्राप्त होऊँ। इन सब सूचनाओं से विदित होता है कि आचार्य कालक पापश्रुत विद्याओं के जटिल चक्र में पड़कर सत्धर्म से च्युत हो गये हैं। उनके कार्य ज्ञातृपुत्र की वाणी के विरुद्ध हैं। इसीलिये, जब तक आचार्य कालक अपने आस्रव निरोध गामिनी प्रतिपद् का त्यागकर पुनः केवली-प्ररूपित धर्म की शरण स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक वे उत्क्षेपण भिक्षु की तरह समझे जावेंगे।

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, आजीवकाश्रम में एक रात्रि स्वयं उज्जयिनी महाराज दप्पण योगीश्वर के साथ मंत्रणा कर रहे थे। कुटी का द्वार बन्द था और एक रजतमंडित दीप-पात्र की वर्त्ति उज्ज्वल ज्योति से जगमगा रही थी। योगीश्वर एक सुसज्जित पर्यंक पर और उनके सम्मुख एक भव्य उच्च पीठिका पर महाराज विराजमान थे। कुटी के समस्त अलंकार चित्ताकर्षक थे और इसी कारण भ्रम होता था कि यह एक योगी का शयनागार है! महाराज के हाथ में एक स्वर्णपात्र था, वे पान कर रहे थे; इसी भाँति योगीश्वर के हाथ में भी वैसा ही स्वर्णपात्र था, वे भी पान कर रहे थे। उनका वदन अपनी विभूति लिए हुए प्रसन्न था।

"दुर्भाषी कालक उज्जयिनी के लिए ही नहीं, मगध के लिए ही नहीं वरन् संघ के लिए भी यों मर जायगा, ऐसी मैंने नहीं सोची थी, भगवन्!"



योगीश्वर, सुनकर, अट्टहास करते हुए ही बोले--

"भक्त, तू वार्त्ता को उड़ाना चाहता है!"

"नहीं, भगवन्!" मानों महाराज के हृदय पर आघात लगा हो, वे चौंक पड़े थे।

"साध्वी सरस्वती की बात कह रहा था न?"

"हाँ, भगवन्!"

"वह जनपदकल्याणी है?"

"हाँ, भगवन्!"

"तो गुरु भेंट कब होगी, भक्त! ऐसी कभी भूल तो नहीं हुई।"

मद में तैरती हुई अपनी बड़ी बड़ी आँखें महाराज के नतवदन पर स्थिर करते हुए योगीश्वर ने कहा।

"पर वह अभी मार्ग पर............।"

"नहीं आई, क्यों न?--उसका उपाय मैं बताऊँगा, भक्त! पर तू क्या कहने आया था?"

"यही कि वह समझाने-बुझाने पर महाकाल के मन्दिर में नृत्याभिनय करने को तत्पर हो गई है। आपको मैं निमंत्रण देने आया था।"

योगीश्वर पुनः अट्टहास कर उठे--"भक्त, नारी की माया में आ रहे हो। वह तुझे भुलावा दे रही है।"

महाराज विचार में पड़ गये। अपने स्वर्णपात्र से बची घूंट पीकर वे बोले--"आप नारी-चरित्र के ज्ञाता हैं, भगवन्! मुझे प्रज्ञा प्रदान कीजिये।'

योगीश्वर ने अरवा की ओर संकेत किया, उसमें एक रजतपात्र रखा हुआ था, उन्होंने कहा--

"यह संधान किया हुआ पानक है। उसे पिलाना और फिर गुरू के समीप.............याद रहेगा न, भक्त! मैं इस प्रदर्शन में उपस्थित नहीं हो सकूंगा।"

"भगवन् की सेवा में शीघ्र ही मैं उपस्थित होऊँगा!" कहकर वे उठ खड़े हुए।

× × × ×

कुछ घड़ी उपरान्त, उसी रात्रि के अन्तिम प्रहर में सौम्याभिक्षुकी--(विश्वस्त होने के कारण महाराज की ओर से जिस पर साध्वी सरस्वती के ऊपर आँख रखने का और समझा बुझाकर सरल मार्ग पर लाने का कार्य सौंपा गया था।)--गुप्त गृह के द्वार पर आकर खड़ी हुई और रक्षणियों से हँसती हुई बोली--"साध्वी की वासना जगी या नहीं।"

आदर से खड़ी होकर वे सब भी हँस पड़ीं। और भीतर जाती सौम्या कहती गई--

"तुम भी क्या साध्वी बनी रहोगी दुष्टाओं--जाओ, मिल आओ अपनों से। तब तक मैं हूँ यहाँ!"

रक्षणियों के मन की भावना को यों केन्द्रित करके वह भवन के भीतर एक श्वेत वस्त्रधारी अचलमूर्ति के सम्मुख आ खड़ी हुई। उसे यों चेतनाहीन देखकर वह बोली--"साध्वी!"

उसका म्लान मुख ऊपर उठा और सौम्या भिक्षुकी को देखकर उसका दबा हुआ श्वास धीरे-धीरे बाहर निकला।

"साध्वी कितनी बार कहूँ कि शीलविपन्न के सम्मुख ऐसा आचरण प्रयोजनीय नहीं है। और सच कहूँ, तुम इस प्रकार तो और अधिक भली लगती हो।" कहकर वह हँस पड़ी, और फिर बोली, "तैयार हो न!"

"किसके लिये, सौम्या!"

"मरने को!" इस खीज में भी आखिर सौम्या की हँसी उमड़ पड़ी।

"हाँ, मैं तैयार हूँ।" उस व्यथिता के मुख पर भी जीवन-रेखा झलक पड़ी।

"तो भूलो मत, मेरी साध्वी कि आज तुम्हें महाकाल के मन्दिर में नृत्य करना है।"

"मुझे याद है।"

"एक बात और याद रखोगी।" कहकर सौम्या ने उसके कन्धे पर हाथ रक्खा, और कहा, "इधर आओ!"

और वह उस भवन के अन्तरकक्ष की ओर बढ़ी, सरस्वती भी उसके पीछे होली। एक सुरक्षित स्थान पर खड़ी होकर सौम्या ने उसे अपने निकट खींच लिया, कहा—"मरना चाहती हो तो एक सुअवसर मिल रहा है।"

"क्या?"

"योगीश्वर न तुम्हारे पान के लिये संधान की हुई सुरा भेजी है—बोलो पिओगी।"

"पी लूंगी, सौम्या!"

सरस्वती की इस सरलता पर भिक्षुकी हँस पड़ी और आँचल से उसकी तीव्रता को रोकने लगी। फिर स्थिर होकर बोली—'उसका भार भी, भाग्यवश, मुझे मिला है; पर महाराज उस समय वहीं वर्तमान रहेंगे क्योंकि उस पान के बाद जिस प्राणी का दर्शन तुम करोगी, उसके प्रति तुम्हारे मन में विकार उत्पन्न होगा। पीओगी न, और वह भाग्यशाली कौन होगा, जरा बतलाओ तो!"

"दुष्टा!"

"कह जो रही थी—पीऊँगी और मैं तो मरूँगी आखिर—पर किस पर यही तो पूछ रही हूँ।"

"चुप न रहोगी?"

सौम्या, आखिर, फिर गम्भीर हुई और बोली—

"यह भी याद रखना। उस समय बाटिका में अन्य कोई भी नहीं होगा। तुम चत्वाल पर बैठी रहोगी। कुछ काल बाद मैं आऊँगी और तुम्हें वह मधु-पात्र देने का प्रयत्न करूँगी। मेरी स्थिति ऐसी होगी कि दूर पर सम्मुख खड़े महाराज कुछ भी न देख सकें। तुम आनाकानी की क्रियायें प्रदर्शित करना, और इसी बीच मैं तुम्हारे अन्तरीय की नीबी से जकड़े एक अन्य पात्र में पानक डाल दूंगी, फिर तुम शीघ्र लंबिदुकूल से अपने अग्र भाग को ढककर उस मधु पात्र को अपने हाथ में ले लेना। मैं उसी समय चली जाऊँगी। तुम पीने का हीला करना और सम्मुख खड़े महाराज की ओर देख चकित हरिणी-सी यह कहते वहाँ से भगना, 'योगीश्वर दहल!' तुम भोली हो न, इस अन्तिम बात को नहीं समझ पाई होगी।"

तब, उसने मूक खड़ी सरस्वती के कान में धीरे से यह कहा—"शिष्य गुरू के बीच ईर्षा का प्रथम अंकुर यों बोया जायगा, साध्वी!"

× × × ×

कुछ काल उपरान्त, एक दिन सायंकाल के समय महाराज गर्दभिल्ल एक पुष्पित लताकुञ्ज से निकलकर मध्य में छोटे-से सरोवर की स्फटिक-शिला से निर्मित सोपान पर आ खड़े हुए। सरोवर की सांध्य शोभा अपूर्व थी। अस्ताचलगामी सूर्य की अनुरंजित रश्मियाँ खिले कमलों का स्पर्श कर रही थीं और जल-पक्षियों की केलि से उत्पन्न लोल लहरें अचिन्त्य आनन्द में मग्न हँस रही थीं। शीतल सुगंधित पवन बह रहा था और विविध पक्षियों का कलरव हरित पात-पात पर ध्वनित हो रहा था।

उसी समय, सौम्या के साथ साध्वी सरस्वती वहाँ आई और सरोवर के दूसरे किनारे पर वे खड़ी हो गईं। महाराज की दृष्टि उधर जाते ही, सौम्या मुस्कराकर चुपचाप वहाँ से अदृश्य हो गई।

महाराज दप्पण का हृदय स्पन्दित हो उठा। प्रकृति की इस सुषमा में खड़ी उस श्वेतावरणवेष्टित नारी का सौन्दर्य कितना अपूर्व था! वे खिंचे हुए उसके पीछे आ खड़े हुए और मृदुता से बोले—"देवी!"

चौंककर, साध्वी सरस्वती सलज्ज घूम दो चरण पीछे खड़ी हो गई। उसके मुख पर अनुरंजित किरणें पड़ रही थीं। वह मन्द-मन्द बोली––"राजन्!"

"देवी, महाकाली के उत्सव पर तुमने जो अनुपम कला का प्रदर्शन किया था, उसके लिये मैं बधाई देता हूँ। सच कहता हूँ देवी, मैं देखकर आत्मविभोर हो गया।"

"आप उदार हैं, राजन्!"

साध्वी का प्रथम वार, ऐसा मुक्त आचरण महाराज गर्दभिल्ल की विलास-भावना को उद्दीप्त कर गया। वे मदमस्त होकर बोले––"तुम्हें पुष्प अधिक प्रिय थे न, देवी!"

"हाँ!"

"उस कुञ्ज की ओर देखो, कितनी लताएँ प्रगाढ़ालिंगन में बद्ध होकर पुष्पों का उपहार दे रही हैं। ये सब हिल-मिलकर अपने मन की प्रतिस्पर्द्धा प्रकट कर रही हैं, देवी!"

"क्यों?"

"क्यों!" महाराज पुलकित हो उठे, उसकी सरलता पर वे हँसते हुए बोले, "इसलिये कि उनमें प्रत्येक की इच्छा तुम्हारे अंग का शृंगार बनने की है।"

साध्वी सरस्वती सिर नीचा किये मौन रही।

"किस पुष्प को वह सौभाग्य प्रदान करोगी, सुन्दरी!"

"नहीं, नहीं। उनकी ऐसी भावना कब हुई है।"

"तुम किसकी भावना जान सकी हो!"

एकाएक उस सरोवर में हलचल हुई, एक पालतू कलहंस का जोड़ा रतिकेलि कर रहा था। महाराज गर्दभिल्ल जानते थे, पर अनजान बनकर उन्होंने उधर देखा और तब सरस्वती ने भी।

महाराज ने उन्मत्त होकर कहा––"देखती हो देवी!"

"हाँ।"

"क्या यह जीवन नहीं है?"

"यह सब मैं नहीं जानती, राजन्!"

"देखकर भी क्या नहीं जान सकोगी? मेरे निकट आओ, देवी!"

एकाएक जैसे बाण खाकर कोई व्यथित हो उठता है, वैसेही साध्वी सरस्वती आर्तनाद कर उठी––'योगीश्वर दहल!'

"क्या हुआ, देवी!"

"वह, वह––उस पान के बाद-आपके और मेरे बीच खड़ा होता हुआ दिखाई दे जाता है और फिर उसके अदृश्य पद-ध्वनि के पीछे-पीछे मेरे हृदय की गति बरबस खिंच जाती है। आपके प्रति एक कटु विरक्ति की भावना भर............ देखो, मैं खिंची जा रही हूँ।"

और अनमनी विवश अबला-सी साध्वी सरस्वती जैसे किसी दुर्दमनीय-शक्ति से आकर्षित हुई दूर-दूर चली जा रही थी। उसकी व्यथा से महाराज गर्दभिल्ल का कठोर मन भी, स्वार्थास्वार्थ के मिश्रण भाव से, द्रवीभूत हो उठा और साथ ही योगीश्वर की छलना मूर्तिमान होकर उसके नेत्रों में व्याप्त हो गई। वे क्रोधान्ध होकर चिल्ला उठे––

"साध्वी, उस योगीश्वर के पाखण्ड का खण्डन करूँगा। उसने मुझे धोका दिया है, वह वंचक है। बदला लेने के बाद, देवि, मैं तुम्हारे सम्मुख आऊँगा। देखता हूँ, वह मेरे मार्ग में कैसे आता है!"

× × × ×



आचार्य कालक

बहुत काल उपरान्त, कृष्णपक्ष की अँधियारी रात्रि की मध्य घड़ी आम्रकुटी के द्वार की कुण्डी के घात से मन्द-मन्द ध्वनित हो उठी। द्वार खुल पड़ा और श्रमण सागर एक अपरिचित आगन्तुक को सामने खड़ा देख विस्मित हुए।

कुटी में जलते हुए दीप की हलकी ज्योति में वह आगन्तुक वेशविन्यास से वैष्णव प्रतीत होता था। इसके पहिले कि श्रमण कुछ कहें, उसने ही हाथ से कुटी में चलने का संकेत किया। और वे दोनों चुपचाप कुटी में प्रविष्ट हुए, आगन्तुक द्वार बन्द करना नहीं भूला।

श्रमण सागर ने, पीठिका पर बैठकर, बड़े विनीत भाव से अतिथि को बैठने की प्रार्थना की और फिर वे प्रबल जिज्ञासा से उसकी ओर देखने लगे।

"नहीं पहिचाना, श्रमण!" यह कहकर वह आगन्तुक हँस पड़ा, "मैं अपनी कला में सफल हुआ तब न?"

"अरे, प्रबुद्ध तीक्ष्ण!"

"हाँ, श्रमण!" और अब प्रबुद्ध तीक्ष्ण ने श्रमण को अभिवादन किया।

"कोई नवीन समाचार!"

"अवश्य, इसीलिये, अर्द्ध रात्रि के समय श्रमण को जगाने का साहस कर सका हूँ।"

"कहो!"

"आचार्य क्षमाश्रमण मातृभूमि का परित्याग कर पारसकूल के लिए रवाना हो गए हैं।"

"पारसकूल के लिए!"

"हाँ, श्रमण! और आदेश दे गये हैं कि उज्जयिनी में यह प्रचार किया जाना चाहिये कि आचार्य का देहावसान हो गया है, केवल साध्वी के सम्मुख इस सूचना की असत्यता प्रकट कर दी जाय, और गुप्त रीति से, संघ का पूर्ण संगठन, राज के प्रति विरोधी भावना का उद्दीपन और धन का संग्रह---इस ओर तन मन से दत्तचित्त हो जाना चाहिये।

"ठीक है। और कुछ, तीक्ष्ण!"

"श्रमण की कृपा, मंगल कामना!"

"ज्ञातृपुत्र सबका सहायक है!"

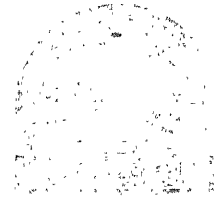
× × × ×

कैसे आश्चर्य की बात है कि पारसकूल के निकटवर्ती अष्ठीला पर निर्मित एक मुनिवास का शिखर पवन के स्पर्श से लहराती सत-धर्म पताका से शोभित था!

वह कौन महा प्रतिभाशाली व्यक्ति है कि जिसके चरणों पर अनार्यों की हिंसकवृत्ति श्रद्धा-भक्ति में परिवर्तित होकर बिखर पड़ी है?

क्या वही तो उस मुनिवास के द्वार पर तेजोमय शान्त मुद्रा में खड़ा हुआ नहीं है? और वे तो मालव-भूमि से निर्वासित उज्जयिनी के क्षमाश्रमण निमित्त वेत्ता आचार्य कालक हैं। वे न विक्षिप्त प्रतीत होते हैं और न मृतक ही---उनकी सत्ता वैसा ही व्यक्तित्व, वैसा ही गांभीर्य, वैसा ही तेज लिये हुए हैं जैसाकि उज्जयिनी के उपाश्रय की गन्धकुटी के द्वार पर खड़े हुए क्षमाश्रमण में देखा जाता था।

आचार्य कालक मौन कुटी-द्वार पर खड़े सम्मुख फैली हरित राशि के परे अनन्तसमुद्र की उत्ताल तरंगों के प्रवाह को देख रहे थे। एक के बाद दूसरा विचार उठ उठ जाता था। उज्जयिनी का उपाश्रय; खारवेलवंशज, शुंग-विजयी, द्रप्पण की क्षुब्ध नगरी, भगिनी साध्वी सरस्वती की सरल पावन मूर्ति और उनसे सम्बन्धित अनेक दुःख-सुख घटनाएँ



एक-एक लहर-सी आ आकर विलीन होती जा रही थी। वे अब उन्हें स्वप्नवत् प्रतीत होती थीं, जैसे जिस लोक की वे बातें थीं वह तो सागर के छोर के समान ही अनन्त और अदृश्य हो ! कभी उनका ध्यान संध्याकाल के अस्त होते हुए सूर्य की ओर आकृष्ट होता, वह कैसा अस्ताचल पर खड़ा अपनी आदि-दिशा की ओर कोमलासक्ति से देख रहा है, और फिर भी धीरे-धीरे किसी अपरिचित देश की ओर विवश डूबा चला जा रहा है ! आचार्य की एकटक पलकों में भी वैसी ही आसक्ति झलक पड़ती थी, सोचकर कि क्या उनका यह चरण भी सूर्य की भाँति परिधि का अतिक्रमण कर गया है ? कभी उनके सम्मुख यह प्रश्न उठता कि उस अपार जलराशि का जो प्रवाह एक समय उन्हें अपनी मातृभूमि की ओर बहा ले जाने के लिए व्यग्र था, वही क्या अब विराटरूप धारण कर अजेय बाधक-सा सम्मुख खड़ा है और विदेशीय भूमि के कूल पर ही बहा देने के लिए व्यग्र है ? कभी उनका ध्यान आकाश-मण्डल में नाना भाँति के पक्षी हठात् हर लेते, वे कलरव करते हुए रत्नाकर की ओर से भी उड़-उड़कर आते दिखाई दे रहे हैं, पर उस समय कोई भी उस ओर जाता हुआ दृष्टिगोचर नहीं हो रहा है। इस विस्तृत प्रकृति-रूप-राशि में और पशुपक्षियों के कलरव में उन्हें अपनी ही स्थिति एकाकी प्रतीत होती। इस भूमि के पेड़-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी—सब चराचर में से कोई एक भी उनका न हो सकता था और न वे—अकेले ही उन सबके हो सके थे। ऐसी भावना उठते ही उनका हृदय व्यथा से कुण्ठित हो जाता था कि फिर जिस दस्यु टिड्डी-दल को वे अपनी मातृभूमि की ओर ले जाने का आयोजन कर रहे हैं, उन सबको वहाँ के पेड़-पौधे, फल-फूल, पशु-पक्षी—सब चराचर अपना भी सकेंगे ! ....

उनकी आत्म-चेतना यही कह जाती कि जो कुछ हो रहा है वह अच्छा नहीं हो रहा है ! अप्रमादसूत्रवाली महावीर की वह वाणी, जो गौतम के प्रति कही गई थी, उन्हें याद आ जाती- "धर्म पर श्रद्धा लाकर भी शरीर से धर्म का आचरण करना बड़ा कठिन है। संसार में बहुत से धर्मश्रद्धालु मनुष्य भी कामभोगों में मूर्छित रहते हैं। हे गौतम ! क्षणमात्र भी प्रमाद न कर !" और जब वे अपनी स्थिति पर विचारते तो गर्दभिल्ल-सरस्वती काण्ड के विरुद्ध जो पग उठाया गया था, उसके अन्तर्गत एक अचिन्त्य प्रमाद-प्रेरणा ही थी, उसकी अवहेलना कर, टालकर वे आज अपने को धोका नहीं दे सकते थे। फिर भी, अब उनके सामने और कोई मार्ग नहीं था। जो घर बनाया जा चुका है, वह मिट्टी का घरौंदा नहीं था कि पैर से रौंद देते.........और जब ऐसा करना असम्भवसा प्रतीत होता था, तो उनका उद्योग दो आधार लेकर सन्तुष्ट हो जाता था। एक था, शक-साहों का सत्धर्म के प्रति प्रवृत्त होना, और दूसरा था, अत्याचारी गर्दभिल्ल का मूलोच्छेदन कर सरस्वती के साथ-साथ मालव को मुक्त करना। एकाकीपन का चिन्तन ही, इस प्रकार आचार्य कालक के सम्मुख 'भाव' और 'कर्म' की इस विरूपता को बिखेर देता था। पर जब वे क्रियाशील होकर अपने ध्येय के लिये कदम उठाते, यह भावुकता युग-विचार-धारा में दब जाती जिसका प्रभाव आचार्य कालक पर भी था ही। उस समय यह कहा जाने लगा था कि सत्-धर्म के प्रचार की सफलता में निंद्य साधन को स्वीकार करना अनुचित नहीं है; क्योंकि आखिर साध्य का मूल्यांकन साधन के भले बुरे पर नहीं लगाया जा सकता। उनका भी विचार ऐसा ही था। और जब यह प्रश्न सामने आता, उनके मस्तिष्क की तर्कबुद्धि प्रदीप्त हो जाती थी। आखिर वे निमित्तज्ञानी थे, जैन संघ के आचार्य थे ! ......

पर इस समय वे अवश्य भावतरंग में ही बह रहे थे कि उस सांध्य कलरव को भंग करती हुई भानु-भिक्षु की ध्वनि सुनाई दी, "आचार्य, स्वयं साहि पधार रहे हैं !"

ध्यान भंग होते ही आचार्य कालक ने स्वस्थता प्राप्त की, वे निश्चिन्त से बोले—"भीतर दीपक जला दो, और तब उन्हें लिवा लाओ, भानु ! मैं भीतर ही मिलूंगा।"

"जो आज्ञा श्रमण !"

उस कुटिया के सम्मुख फैले मैदान में एक दीर्घकाय वीर पुरुष, जो सिर पर रत्नों से जड़ित तिग्रखौदा और शरीर पर बहुमूल्य वस्त्राभूषण धारण किये था, उपस्थित हुआ। उसके मुख पर स्पष्ट चिन्ता की रेखा खिंची हुई थी, और व्यग्र-सा वह चारों ओर देख रहा था। और शायद किसीको वहाँ न देखकर ही पीछे आते हुए भिक्षु की ओर घूमकर वह बोला—

"आचारज !"

वह भिक्षु एकाएक साहि की उपस्थिति और उनकी उग्रता देखकर आश्चर्यान्वित था और इसी कारण इस प्रश्न का उत्तर वह हाथ के संकेत से ही दे सका। संकेतानुसार, साहि कुटि के भीतर प्रविष्ट हो गया।

एक पीठिका पर आचार्य कालक बैठे हुए थे, साहि ने उन्हें देखते ही झुककर अभिवादन किया। आचार्य कालक ने कहा—"धर्मवृद्धि, साहि!"

और कुछ विचार कर फिर बोले—"आपके आगमन की घड़ी के अनुसार मुझे कुछ घोर चिन्ता का आभास मिल रहा है। पर वही मंगल का हेतु होगा..........पहिले वहाँ स्थान ग्रहण कीजिये, साहि!"

बैठने के उपरान्त साहि ने कहा—"बड़ी खराब बात है, आचारज, साहानुसाहि मिश्रदात के दूत द्वारा एक कटारी और कागज मिला है, लिखा है कि यदि अपने कुनबे को बचाना चाहते हो तो अपना सिर इस कटारी से काट लो क्योंकि तुमने अब्बाजान अर्त्तवान को मारने में हिस्सा लिया था और सुना है अब तुमने एक हिन्दुक जादूगर का मजहब मान लिया है। कैसी खोटी बात है! और आपने क्या-क्या कहा था, आचारज?"

इस सूचना ने आचार्य कालक की भावभंगी में विशेष प्रभाव नहीं डाला। हाँ, वे अधिक गम्भीर अवश्य दिखलाई दिये। उनके मस्तिष्क में अनेक विचार आ-आकर स्थिर होने लगे थे। और मुख पर झलकती हुई परिवर्तन की रेखा स्पष्ट प्रकट कर जाती थी कि वे शीघ्र ही किसी निश्चय पर पहुँचते जा रहे हैं। अन्त में, वे दृढ़ता से बोले:—"साहि, हमने क्या कहा था? यही कि आपका भविष्य उज्ज्वल है। अगर सत्धर्म में ऐसी ही प्रवृत्ति रही, तो अवश्य एक न एक दिन आपके यशोगान दिग्दिगन्तर में गूंजेंगे। क्या विश्वास नहीं होता?"

"नहीं आचारज, पर साहानुसाहि की ताकत का मुकाबला...........".

'क्या साहानुसाहि का दूत आपके पास ही आया है?"

"मेरे भेदिये ने खबर दी है कि सीस्तान के सब साहियों के पास ऐसा ही फरमान गया है।"

'सब साहियों के पास!"

"हाँ, आचारज!"

"उन साहियों के पास भी जिन्होंने अब तक सत्धर्म को स्वीकार नहीं किया है?"

"हाँ, उनके पास भी!"

'बहुत ठीक है। मैं साहानुसाहि से संघर्ष की बात नहीं कहता, साहि!"

"तो..............."

आचार्य कालक ने उस विदेशी साहि के जिज्ञासाभरे चहरे पर अपनी दृष्टि जमा दी, वे फिर मुख उन्नत कर बोले—"मैं भारत की ओर से निमंत्रण देता हूँ!"

"क्या हिन्दुकदेस से?"

"हाँ, आज का दिन खुशी का दिन है, साहि!" उनका मुख कहते कहते आरक्त हो गया, "गणना के अनुसार यह दिन आना ही था और इसी दिन की आशा मुझे मातृभूमि को त्यागने पर बाधित बन गई थी। इस अवसर से आपको लाभ उठाना होगा, साहि!"

"लाभ, लाभ कैसा!"

"आपसे स्पष्ट बातें कह दूं साहि! मेरे पारसकूल आने का एक ध्येय था। उज्जयिनी का गर्दभिल्ल नामक एक राजा है, उसने मेरी बहिन साध्वी सरस्वती को हर लिया है। वह अत्याचारी है और विलासप्रिय। साहि, राजा के लिए ये दोनों अवगुण घातक होते हैं, इसलिये उसका पराभव निश्चित है। गर्दभिल्ल सत्धर्म के प्रबल विद्रोही एक आजीवक

के आदेशानुसार जैन संघ का नाश करना चाहता है। और साध्वी का हरण उसके संकल्प का पहिला उद्योग है। साहि, आप वीर हैं। जीवन आपके लिए संग्राम है केवल। अपनी समस्त शक्तियों के उत्सर्ग करने के बाद प्राप्त विजय-पराजय का मूल्य आप जानते हैं। और आपके सब उद्योग विजयश्री से सुशोभित होंगे—ऐसे ही उत्कृष्ट ग्रह आपके नाम पर पड़े हैं, साहि! घर में ही रहने से आपकी शक्ति केवल साधारण कलह में क्षय होती रहेगी और मैं आपको उस प्रशस्त क्षेत्र की ओर आह्वान कर रहा हूँ जहाँ आप अपनी शारीरिक शक्ति का, अपनी रण-कुशलता का, अपनी धर्मपरायणता का मंगलमय परिचय दे सकते हैं। उज्जयिनी की जैन प्रजा, राजगृह में बन्दिनी सरस्वती और आपके अतिथि आचार्य कालक की आशा इस महायान पर आश्रित है। इसका अर्थ है हिन्दुकदेश के महान भाग का महाराजाधिराज होना! साहि, क्या कर सकेंगे? या इसी छोटे देश की सीमा में पड़े रहकर साहानुसाहि की भेजी हुई कटारी से..................साहि, कुछ श्रेष्ठ काम करना होगा। क्या कहते हो?"

"आचारज, आप ज्ञानी हैं। मैं खुश हूँ कि मेरे सामने एक खुला मैदान है, जहाँ बहादुर जी सकता है! पर फिर भी दूसरे साहियों की राय लेनी जरूरी है।"

आचार्य कालक ने दृढ़ता से कहा—"अवश्य, यह आवश्यक है।"

साहि ने उठकर अभिवादन किया—"मेरा दिल हलका है, आचारज!"

आचार्य ने कहा—"आपके शुभ की कामना करता हूँ, साहि! तुम्हारी धर्म में वृद्धि हो!"

× × × ×

उज्जयिनी के उपाश्रय में—

सागर—"सौराष्ट्र गणतंत्र इतने अशक्त थे, भानु!"

भानु—"संगठित होकर वे अगर शकवाहिनी का सामना करते, श्रमण, तो निश्चय था कि विजय इतनी शीघ्र नहीं प्राप्त होती। अधिकांश गणतंत्र सत्-धर्मानुयायी थे। उन्होंने आचार्य कालक के साथ आनेवाले विदेशियों का भी समान स्वागत किया। वहाँ के श्रमण-संघ बहुत काल से इसी हेतु प्रयत्नशील थे। क्षमा करें, श्रमण, उज्जयिनी की स्थिति कैसी है!"

सागर—"मुझे सन्तोष है।"

भानु—"वर्षा ऋतु बाधक अवश्य है, पर आचार्य कालक की नीति अद्भुत है, श्रमण! उनका कथन है कि प्रभु महावीर की ओर से यह मंगल-मूल अवधि मिली है—एक ओर यातायात के बन्द होने से उज्जयिनी के मंत्री-मण्डल को हमारे आगमन का तनिक भी रहस्य प्रकट नहीं होगा और दूसरी ओर इस बीच हम सैन्य तथा धन का संग्रह और भारतीय अन्य राजाओं की सहायता प्राप्त कर सकेंगे। श्रमण, आचार्य कालक का विचार है कि शकराज नरपान के पास धन का अभाव है और वह लोभी भी है, इसीलिये रुष्ट-सा प्रतीत हो रहा है। सैनिक भी हतोत्साह हैं।"

सागर—"धन का प्रबन्ध है, भानु। और मेरा विश्वास है कि जैसी आवश्यकता होगी और अधिक संग्रह किया जा सकता है। उज्जयिनी के उपासक श्रेष्ठी कर्त्तव्यच्युत नहीं होंगे।"

× × × ×

उज्जयिनी के राज-उपवन में—

एक कुञ्ज से निकल भिक्षुणी ने चुपचाप आकर भाव-सिन्धु में डूबी सरस्वती के कन्धे पर अपना हाथ रखा, वह चौंक पड़ी और घूमकर बोली—"कौन?"

"मैं हूँ! महाराज से क्या बातें हुईं, साध्वी? तुम अब प्रणयक्षेत्र में प्रवीण हो चली हो!"

"यह सब तुम्हारी शिक्षा है, दुष्टा!"

भिक्षुणी हँस पड़ी, और बोली—"उसका शुभ फल शीघ्र मिलेगा, साधिका!"

"मैं कुछ नहीं चाहती, दुष्टा! इन सब प्रपंचों से मैं व्यथित हो गई हूँ। मैं इस बन्धन से मुक्ति चाहती हूँ।"

"सुनती हूँ, अब तुम शीघ्र राज...............।"

इस अर्द्ध उच्चरित शब्द के संकेत से स्वच्छ श्वेत वस्त्रों से ढका साध्वी सरस्वती का कृश शरीर कम्पन कर उठा, वह संदिग्ध दृष्टि से भिक्षुणी की ओर देखने लगी।

भिक्षुणी इस भाव से परिचित थी, वह मुस्कराकर बोली.—"फिर वही सन्देह!"

"जीवन ऐसी विवशता भी लिये हुए होता है, इसका अनुभव मेरा नया है, भिक्षुणी! तुम ऐसी ऐसी बातें कहकर ही मेरे हृदय को यों सन्देह से भर देती हो। जब विचार उठता है कि राज की ओर से तो तुम यह सब प्रपंच कर रही हो, तो मेरा अंग-प्रत्यंग सिहर उठता है!"

"और जो महाराज से वार्त्ता हुई थी—उसका स्पन्दन कैसा था, साध्वी!"

"ये भेदभरी बातें! भिक्षुणी, मेरा उपहास कर रही हो।"

और पवन के एक झंझा से बुझे दीपपात्र-सा प्रभाहीन होकर उसका मुख नत हो गया।

भिक्षुणी, देखकर, करुणार्द्ध कह उठी—"साध्वी, जीवन के इस कटु पक्ष में तुम्हारा उपहास करना ही मेरा अभिप्राय होता तो तुम्हारे पवित्र चरणों की रज लेकर मैं संघ को छोड़कर कहीं अन्यत्र चली जाती। जानती हूँ कि तुम्हारी केवली-प्ररूपित धर्म की श्रद्धा कितनी अगाध है, फिर भी मैं यह भी जानती हूँ कि तुम आखिर नारी हो। इसीलिये, इन कटु घड़ियों की व्यथा को दूर करने के प्रयास में मैं तुम्हारे इस पक्ष से खिलवाड़ करती हूँ। तुम अप्रसन्न होती हो, साध्वी!"

सरस्वती की सरल दृष्टि को अपनी ओर पड़ी देखकर भिक्षुणी मुस्कराकर बोली—"महाराज ने क्या...........”।

"उन्हें आज एक सूचना देनी थी जैसे उसको सुनने के लिए ही मैं आतुर होऊँ। कहा, 'आये हुए एक शिष्य के द्वारा मैंने उस असाधु को कहला भेजा है कि उज्जयिनी का अधिपति मैं हूँ! और इसके उपरान्त राजचर के द्वारा मैंने उसके लिये निर्वासन-पत्र भेज दिया है।' भिक्षुणी, इस अज्ञानी महाराज पर मुझे हँसी आ गई और शायद वह समझा होगा कि मैं सुखानुभूति कर रही हूँ। और मेरी समझ में यही नहीं आता कि क्यों मेरे लिये इतना संघर्ष का सूत्रपात हो रहा है?"

"और सुनोगी, साध्वी!"

"क्या?"

"क्षमाश्रमण सौराष्ट्र आ चुके हैं। उनके साथ जैन-धर्मावलम्बी शकराज भी हैं। वे शीघ्र तुम्हारी मुक्ति करेंगे।"

"शकराज—जैन धर्मावलम्बी—कालक—और मेरी मुक्ति! ये सब कैसी बातें हैं, भिक्षुणी!"

"धीरे बोलो, साध्वी! इनका रहस्य स्वयं आचार्य आकर तुम्हें सुनायेंगे—पर मुझे इतनी ही सूचना मिली है।"

वह मूक रही। उसके सामने होनेवाले नरमेधयज्ञ की विभीषिका नृत्य करने लगी। और यह सोच-सोचकर ही वह काँपने लगी कि इस हिंसा का सब पाप-भार उसके अहिंसात्मक व्रत की विडम्बना करेगा! वह व्यथित हो चिल्ला उठी—"ज्ञातपुत्र, मुझे क्षमा करो! मुझे उठा लो!!"

× × × ×

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

सौराष्ट्र के महा-श्रमण-संघ में—केवल शकराज नरपान आचार्य कालक के सम्मुख विराजमान है। दोनों मौन हैं, और विचारमग्न हैं।

कुछ देर बाद ही, शकराज ने अपना सिर ऊपर उठाया और कहा—"आचारज, वरखा के खतम होते ही हमला कैसे हो सकता है ?"

"मैं गणना कर चुका हूँ। इस समय जब सुविधा मिले उज्जयिनी की ओर हमारी सैना प्रस्थान कर दे।"

"यह सब माकूल है, पर........"।

"पर क्या ?"

"आचारज, मुआफ करें, पर...........यही कि दौलत की तंगी..............।"

"उसका प्रबन्ध हो चुका है।"

"क्या हो चुका है ? ठीक हुआ, बहुत ठीक हुआ, आचारज ! ये सब दौलत की तंगी महसूस कर रहे थे और नाराज थे, और लश्कर भी इनाम चाहता था। इन सब की खुशी में हमारी जीत है।"

"मुझे यह सब मालूम है, शकराज !"

"मैं क्या ऐलान कर दूं तब ?"

"यही कि कल मनचाहा इनाम राज की ओर से सबको मिलेगा, क्यों न शकराज !"

शकराज का मुख खिल उठा, उन्होंने सन्तुष्टि-सूचक सिर हिला दिया।

उसी समय बाहर से एक साधू की आवाज आई—"क्षमाश्रमण, एक 'विधर्मी' आपसे मिलना चाहता है !"

क्षमाश्रमण प्रसन्न हुए, वे बोले—"यहीं भेज दो, भिक्षु !"

"जो आज्ञा, भगवन् !"

वह 'विधर्मी' भीतर आया और पहले किसी अन्य व्यक्ति की उपस्थिति का भास पाते ही वह चौंक पड़ा, पर दूसरे ही क्षण शकराज को पहिचान कर उसने पहले आचार्य के मुस्कराते हुए चरण छुए और फिर शकराज को अभिवादन किया। आचार्य कालक बोले—"धर्मवृद्धि, उदार ! स्पष्ट कहो।"

"सूचना मिली है कि योगीश्वर ने राजाज्ञा के अनुसार उज्जयिनी त्याग दी है।"

आचार्य कालक के मुख पर फिर प्रसन्नता की रेखा दौड़ गई, वे शकराज से बोले—"मंगलमय समाचार है, शकराज ! तुम उस महात्मा की शक्ति नहीं जानते। फिर भी उसका वहाँ से जाना, समझो आधा युद्ध हमने जीत लिया है। भ्रमणशील तुम विश्राम करो। तुम्हें यथोचित पुरस्कार मिलेगा।"

उसके जाने पर, आचार्य कालक फिर कहने लगे—"उद्योगी पुरुष को सब कुछ मिल जाता है, शकराज ! मेरी वाणी असत् नहीं है।"

"मैं आपके हुक्म का ताबेदार हूँ।"

"मेरे ध्यान का केन्द्र साध्वी सरस्वती है, शकराज ! उसका उद्धार जब होगा, तब मेरी आत्मा को शान्ति मिलेगी। वह दुष्ट दप्पण पशु है, विलासी है और..............।"

"और सुना है, आचारज, सरस्वती खूबसूरत है, जवान है।"

चकित आचार्य कालक ने सूक्ष्म दृष्टि से शकराज की भावभरी आँखों की ओर देखा। वे मन्द-मन्द बोले—"वह साध्वी है !"

× × × ×

जिस नरमेध-यज्ञ की आशंका-मात्र से ही साध्वी सरस्वती का हृदय काँप उठा था, उसमें प्रथम आहुति पड़ते ही अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठी। प्रान्त प्रान्त के श्रमण संघों ने, सकौशल, यथायोग्य सहायता प्रदान कर आचार्य कालक के समस्त अभिप्रेत उपकरणों की पूर्ति की। लाट और पाञ्चाल के राजाओं ने भी मित्र-नीति अंगीकार करके गुप्तरीति से शकराज का साहचर्य्य स्वीकार किया। आचार्य कालक को सन्तोष हुआ—सन्तोष हुआ कि उनकी कार्य-पद्धति से किसी का विरोध नहीं है। पर फिर भी, मातृभूमि के सुगम्य तथा शान्त प्रकृति-क्षेत्र में अपने एक-एक चरण की प्रतिक्रिया वे देखते, तो उनका हृदय व्यथा से क्षुब्ध हो जाता। जब वे विदेशीय भूमि पर थे, वहाँ की प्रकृति और उसके नाना रूपों की अन्यता और तटस्थता ऐसी ही भावना की ओर निर्देश कर जाती थी। पेड़-पौधे काँपते हुए, पशु-पक्षी त्रस्त होते हुए कहीं दूर भग जाना चाहते, विरव से कहते कि "हमारे घरों को उजाड़नेवाला एक दल बादल चला आ रहा है!"

और जिस दल बादल को उड़ाकर आचार्य इधर लाये थे, उसकी मनोवृत्ति पर भी उन्हें सन्देह हो चला था। धीरे-धीरे, इस अभियान के संसर्ग में उन्हें अपना सद्उपदेश असफल होता जान पड़ा। वे जान गये कि शकराज और अन्य साहि 'धर्म' और 'अर्थ' में से किसको विशेष महत्त्व देते हैं! शकराज जो वर्षा-ऋतु के अन्तिम दिनों में भी युद्ध के लिये उज्जयिनी की ओर अभियान करने में हिचक रहा था, प्रचुर धन पाकर कुल्ल और उलुम्प की सहायता से वर्षा के समाप्त होते न होते अवन्ति की सीमा में पहुँच गया। उस विदेशी बल का आग्रह लक्ष्मी पर ही आश्रित था, आचार्य कालक की आँखें खुल गईं। वे चिन्तित थे। फिर भी, सरस्वती का उद्धार और अपनी प्रतिज्ञा-पूर्ति के लिये जो मार्ग वे अपना चुके थे उससे विमुख होना अब कठिन ही नहीं, असम्भव था।

और उज्जयिनीपति महाराज गर्दभिल्ल! वे स्वप्न में भी ख्याल नहीं कर सकते थे कि 'मृतक' कालक का प्रण ऐसा विराट तथा उग्र रूप धारण कर आ उपस्थित होगा। और जब वह साकार रूप से उज्जयिनी के महान दुर्ग को घेर कर छा गया, तो उज्जयिनी पति अवाक् रह गये।

महाराज दप्पण ने जब विदर्भ राष्ट्र की सीमा के विस्तार हेतु, चौदह वर्ष पूर्व, उज्जयिनी पर आक्रमण किया था, उस समय उनकी शक्ति अपार थी और साथ ही, योगीश्वर की अनुकम्पा उनकी प्रत्येक महत्वाकांक्षा की सफलता रूप थी। महाराज का विश्वास था कि उनका बुद्धि-वैभव, उनकी राजनीति-पटुता, उनकी दूरदर्शिता और उनकी योग-सिद्धियों के उपभोग का अवसर मिला है, वह प्रभुदत्त है। और इसी विश्वास पर वे सत् और असत् सब कुछ करते रहे। पर, माया की आसक्ति, धीरे-धीरे, उनकी एक ओर, शक्ति का ह्रास करती गई और दूसरी ओर, योगीश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा को मन्द करती गई। और अन्त में, एक ही आसक्ति-केन्द्र की स्पर्द्धा में (जोकि गुप्त शत्रु-पक्ष के चरों द्वारा उत्तेजित की गई थी) गर्दभिल्ल दप्पण का राज-सत्ताधिकार अपने महत्वाकांक्षा की सफलता के ईश्वर-प्रदत्त आधार पर ही कठोराघात कर बैठा। इन्द्रिय-लोलुप राजा ने योगीश्वर के उज्जयिनी त्याग की सूचना में अपनी राजाज्ञा-पालन की अखण्डता अनुभव की, तो हर्ष मनाया था। पर उस दिन उज्जयिनी के दुर्ग के बाहर जब उन्होंने असंख्य कण्ठों से निकली हुई गगनवेधी उल्लासमय ध्वनि सुनी थी, उनके मानस-नेत्रों के सम्मुख योगीश्वर की वह गम्भीर मूर्ति क्षणभर के लिए उतर गई थी, और उनके हृदय में एक अभिलाषा उठी थी: 'वे होते तो.........' यही उनके जीवन की पहिली निराशा थी।

और एक विद्रोही-रात्रि की घोर निस्तब्धता में राजा दप्पण ने सुना कि नगर प्राचीर के पश्चिमवर्ती तोरण-द्वार की रक्षणी-सेना ने शत्रु के लिए कपाट खोल दिए हैं, और शत्रु के स्वागतार्थ उपस्थित नागरिकों की वीर-जय-जयकार ने दिग्दिगन्त को प्रतिध्वनित कर दिया है। राजा को याद था कि उनके प्रथम स्वागत के लिए भी तो उन्हीं वीर-योद्धाओं की तलवारें हर्ष और उमंग से चमक उठी थीं, और नगर का राजपथ उन्हीं नागरिकों से और सुशोभित अट्टालिकाएँ नारियों से डटी पड़ीं थीं। और आज............आज वही सौभाग्य किसी और को मिल रहा है! यही उनकी दूसरी निराशा थी।

इस प्रकार निराशा पर निराशा के बादल घिरते गये, तो उज्जयिनीपति गर्दभिल्ल दप्पण क्रोध से अधिक उग्र, अधिक दृढ़ और अधिक हिंसक हो उठे!

श्री डॉ० विष्णु अम्बालाल जोशी

वे परिणाम को जानते थे, इसी कारण वीर की भाँति जीकर मर जाना ही अब उनकी चाहना थी। राजभवन का दुर्गम दुर्ग अभी तक अखण्ड था।

युद्ध की ऐसी ही विकट परिस्थितिवाले एक दिन, उज्जयिनी के उपाश्रय में आचार्य कालक, शकराज, लाटपति, पांचालपति दुर्ग को खण्डित करने के विषय पर मंत्रणा कर रहे थे।

शकराज हतोत्साह कह चुके थे—"वह गजब ढाह रही है, आचारज ! हमारे लड़ाका तिनके की तरह मर रहे हैं।"

और लाट-पांचालपति ने उसका समर्थन किया था।

आचार्य कालक विचारमग्न थे। आखिर, उस स्थान की व्याप्त शान्ति की उत्सुकता को समाधान करते हुए वे बोले—"मैं जानता हूँ कि वह गर्दभी-विद्या का ज्ञाता है और अष्टम् भक्तोपवासी होकर उसको प्रत्यक्ष कर रहा है। उसका परिणाम, अवश्य ही, भयंकर होता है।"

लाट-स्वामी बलमित्र ने कहा—"हाँ, क्षमाश्रमण, उसका प्रभाव सैनिकों पर विनाशक हो रहा है, वे भय-विह्वल होकर रुधिर वमन करते हुए अचेत हो पृथ्वी पर गिर पड़ते हैं।"

"एक कदम बढ़ाना मुश्किल हो रहा है।"

"शकराज, इसका प्रतिकार एक ही युक्ति है। हमें एकसौ आठ शब्दवेधी यौद्धाओं को एक विशेष शिक्षा देनी होगी। वह गर्दभी-रूप-धारिणी कहाँ रक्खी गई है, लाटराजन् !"

"अट्टालक में।"

"वैसेही ऊँचे स्थल पर गर्दभी-सी आकृतिवाली वस्तु को रख कर उसमें दूर से एक साथ बाण चलाने की शिक्षा प्रदान की जाय उन यौद्धाओं को, और.........और यह काम लाटराजन् तुम्हारे ऊपर छोड़ता हूँ। और जब राजा दप्पण योग विद्या से गर्दभी को प्रत्यक्ष करने लगे कि उसी समय वे शिक्षित योद्धा उसका मुख बाणों से भर दें। इसी रीति की सफलता में गर्दभिल्ल का नाश है, शकराज ! कर सकोगे लाटराजन् ?"

"वैसा ही होगा आचार्य !" लाट-राज ने प्रसन्नता और दृढ़ता से कहा।

× × × ×

विजयोत्सव पर उज्जयिनी चंचल हो रही थी। घर-घर पर पुष्प मालाएँ, पताकाएँ फहरा रही थीं; स्थान-स्थान पर मधुर गान हो रहा था। राजसभा में नगर के सब प्रतिष्ठित व्यक्ति उपस्थित थे और यथायोग्य आसनासीन थे। सब साहि भी अपनी वेशभूषा पहिन वहाँ उपस्थित थे। सिन्ध, सौराष्ट्र, लाट आदि प्रदेशों के राजा, मण्डलाधीश, श्रमण आदि शकराज के प्रथम सिंहासनारूढ़ दिवस पर भेंट देने और सम्मान प्रदर्शन करने के लिये आये हुए थे। राजसभा की शोभा अपूर्व थी। उसके मध्य में एक उच्च मंच था जिसमें मणि-मण्डित मयूर-सिंहासन पर साहानुसाहि शकराज नरपान विराजमान थे।

राजतिलक की समस्त विधिविधान के पश्चात् आचार्य कालक अपने आसन से उठे। और शकराज के निकट खड़े होकर उन्होंने उनके मस्तक पर तिलक किया। साहानुसाहि नरपान ने अभिवादन किया, और आचार्य ने कहा—"धर्मवृद्धि, शक सम्राट् !"

उनका आशीर्वाद जन-जन की विजय-ध्वनि में विलीन हो गया। उन्नत मुख आचार्य कालक, फिर धीरे-धीरे अपने आसन के निकट आ खड़े हुए। और जब राजभवन की हर्षध्वनि शान्त हुई, आचार्य कालक शक-सम्राट् को सम्बोधित कर बोले—"विजय हुए इतने दिन बीत चुके, पर साध्वी सरस्वती अभी तक मुक्त नहीं हुई है, शक-सम्राट् ! मैं इसका रहस्य जानना चाहता हूँ।"

आचार्य कालक की गम्भीर वाणी ने सबकी संज्ञा को शक सम्राट् के मुखपर ला केन्द्रित किया। सब आतुर होकर प्रश्नोत्तर की प्रतीक्षा करने लगे।

शक सम्राट् स्तम्भित अवश्य हुए, उनका मुख आरक्त हो गया था, फिर भी स्वस्थता प्राप्त कर वे दृढ़ता से बोले—"आचारज सुना है, वह खूबसूरत है—अगर मलका बने तो क्या हर्ज है?"

उसके कथन में जाति-निर्भयता लक्षित थी, और अब नई विजय ने नई शक्ति ने उसको उभार दिया था जैसे।

आचार्य कालक के मुख की लालिमा गाढ़ हो चली, वे बोले—"शकराज, यही सुनना होगा, इसे मैं जानता था। पर तुम अपनी परीक्षा में असफल रहे हो।"

इसके पश्चात्, ऊँची आवाज में वे किसी को पुकार उठे—"सौम्या भिक्षुणी!"

अन्तरिक्ष के किसी अज्ञात कोने से एक कोमल आवाज आई—"जो आज्ञा, क्षमाश्रमण!"

सभा-मण्डप स्तब्ध था। महाशान्ति छाई हुई थी, क्योंकि ऐसा भी कुछ होगा, इसकी किसीको सम्भावना न थी। सबकी जिज्ञासा जग उठी थी, और उनके नेत्र उस ध्वनि के केन्द्र-बिन्दु की ओर एकाग्र थे। शक सम्राट् के आश्चर्यान्वित नेत्र उसी ओर लगे थे।

और सबने देखा। शक सम्राट् ने भी देखा कि श्वेत वस्त्र से वेष्टित एक मूर्ति धीरे-धीरे गुप्त-मार्ग की ओर से चली आरही है और आकर आचार्य कालक के सम्मुख पुण्डरीक मुख को नत किये खड़ी हो गई है। उसके उत्तरासंग की अत्यन्त क्षीणता में उसका अस्थिपिंजर दृष्टिगोचर हो रहा था। मूर्ति खड़ी थी, मानों अचेतन हो, भावविहीन हो।

आचार्य कालक ने भी उस मूर्ति की ओर एक बार देखा, और फिर शक-सम्राट् को लक्ष्य कर वे बोले—"मेरे प्रति जो तुम्हारी श्रद्धा थी उसे तुमने इस कंकाल पर खो दी है, शकराज! देखो, यह मेरी बहिन सरस्वती है। इसका रूप देखा तुमने? इसकी मुक्ति के लिये जो हिंसा की गई थी, उसके प्रायश्चित्त का यह रूप है। तुम अपनी पाप-वासना की पूर्ति के लिए और अधिक क्या करना चाहते हो?"

शक-सम्राट् के नेत्र नत थे। जिह्वा चुप थी।

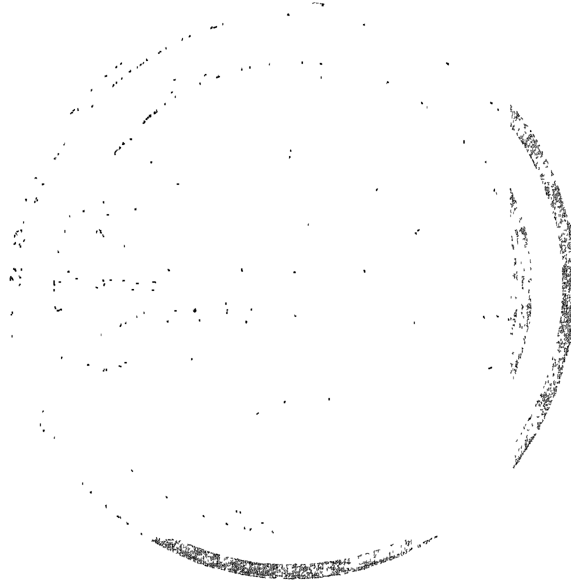
आचार्य फिर बोले—"इस सुखद अवसर पर मैं कुछ नहीं कहना चाहता, पर भविष्य मुझे असंदिग्ध प्रतीत होता है, शकराज! तुम्हारा पराभव निश्चित है।" कहकर आचार्य कालक ने अपनी भगिनी की ओर देखा, और कहा—"साध्वी बोलोगी—

अरिहंते सरणं पवज्जामि। सिद्धे सरणं पवज्जामि।
साहू सरणं पवज्जामि। केवलिपन्नतं धम्मं सरणं पवज्जामि।।"

आचार्य कालक के गम्भीर नाद में एक क्षीण कण्ठ भी ध्वनित हो उठा था और उसके अवसान में वह भी लुप्त हो गया था। इसके पश्चात् आचार्य कालक वहाँ से चल पड़े। उनके पीछे-पीछे वही अस्थिपिंजर मूर्ति चली जा रही थी।

सभा-मण्डप मौनमुग्ध था।





श्री विक्रम के नवरत्न

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी, बार-एट्-लॉ

महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों की कथा बहुत प्राचीन है। परन्तु इसका प्रमाण केवल 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रंथ के निम्नलिखित श्लोक में ही पाया जाता है:—

"धन्वन्तरिक्षपणकाऽमरसिंहशंकु वेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां, रत्नानि वै वररुचिर्नवविक्रमस्य॥"

इस श्लोक के आधार पर ही विक्रम के नवरत्न (१) धन्वन्तरि (२) क्षपणक (३) अमरसिंह (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास (८) वराहमिहिर और (९) वररुचि बताए जाते हैं। प्रोफेसर कर्न के साथ साथ कई प्रसिद्ध इतिहासकार एवं पुरातत्त्व वेत्ताओं ने इस श्लोक के साथ साथ 'ज्योतिर्विदाभरण' ग्रन्थ को भी जाली बतलाने का प्रयत्न किया है। दूसरी ओर महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि "ज्योतिर्विदाभरण" ग्रन्थ प्रसिद्ध कवि कालिदास का बनाया हुआ नहीं है परन्तु किसी अन्य गणक कालिदास ने ११६४ शके में इसकी रचना की थी। इसलिए इसका प्रमाण कहाँ तक मान्य हो सकता है इस विषय में बहुत वादविवाद चल रहा है। विद्वानों का यह भी मत है कि ईसा के ५७ वर्ष पूर्व कोई विक्रम नाम का राजा हुआ ही नहीं और इसलिए विक्रम-संवत् को चलानेवाले नए नए नाम खोजने का प्रयत्न अब जारी हुआ। यशोधर्मन्, हर्षवर्धन, चन्द्रगुप्त द्वितीय, अग्निमित्र, और गौतमीपुत्र शातकर्णि इत्यादि को नाना प्रकार के प्रमाणों के आधार पर विक्रमादित्य बताने का प्रयत्न किया गया है। और पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानों का अधिक मत चन्द्रगुप्त द्वितीय के पक्ष में ही है। परन्तु यह कहना कठिन है कि जो प्रमाण इस मत के पक्ष में बताए जाते हैं वही अकाट्य और अन्तिम हैं।

हमारी राय में भारत के प्राचीन इतिहास की सामग्री अब भी भूमि के नीचे दबी हुई पड़ी है और जब तक सिलसिलेवार प्रान्त-प्रान्त में, उत्खनन नहीं होता तब तक प्राचीन इतिहास के विषय में एक मत निश्चित कर लेना अत्यन्त कठिन है। मोहन-जो-दारो और हड़प्पा के उत्खनन के अनन्तर प्राचीन भारत के इतिहास के सम्बन्ध में जिस शीघ्रता से दृष्टि-

कोण बदला है वह किसी से छिपा नहीं है। संभव है उज्जयिनी में उत्खनन होने के अनन्तर हमें वह सामग्री उपलब्ध हो सके जिससे विक्रमादित्य-काल के विषय में वह सारे मत बदलने पड़ें जो आज प्रचलित किए जा रहे हैं। यह कहना कठिन है कि जितनी मुद्रा, और जितने सिक्के उपलब्ध हो सकते थे वे सब उपलब्ध हो चुके। यह कहना और भी कठिन है कि सारे ऐतिहासिक ताम्रपत्र, शिलालेख और हस्त-लिखित पुस्तकें जो आवश्यक हैं इतिहासकारों के सम्मुख आ चुके हैं।

इन परिस्थितिओं में विक्रमादित्य और विक्रम सम्बन्धी काल के विषय में पुरानी जनश्रुतियों को बिलकुल मिथ्या बतलाना समीचीन प्रतीत नहीं होता। इतिहासकार भले ही कहते रहें कि 'ज्योतिर्विदाभरण' में बतलाए हुए नौ विद्वानों का एक काल में होना इतिहास से सिद्ध नहीं होता; परन्तु जब तक प्राचीन इतिहास की सारी सामग्री को ऊपर लाने का प्रयत्न नहीं होगा तब तक अपर्याप्त सामग्री के आधार पर इतिहासकारों के कथन से लोकमत सन्तुष्ट नहीं हो सकता।

'ज्योतिर्विदाभरण' पर भी कहीं कहीं भ्रान्तिपूर्ण आलोचनाएँ हुई हैं परन्तु उसपर एक स्वतंत्र लेख लिखना ही उपयुक्त होगा। यहाँ इतना लिखना पर्याप्त है कि 'ज्योतिर्विदाभरण' कभी भी लिखा गया हो उसके ग्रन्थकार को मिथ्या लिखने की आवश्यकता नहीं थी। कम से कम, इतना मानना उपयुक्त होगा कि जैसी जनश्रुति ग्रंथकार के काल में थी वैसी ही उसने लिख दी।

वराहमिहिर की बृहत्-संहिता के अंग्रेजी अनुवाद की भूमिका में स्वयं प्रोफेसर कर्न महोदय ने ही संवत् १०१५ (९४८ ई०) के बुद्धगया में प्राप्त उस शिलालेख का उल्लेख किया है जिसमें विक्रमादित्य के "नवरत्नानि" में से प्रसिद्ध पंडित अमरदेव की प्रशंसा की गई है। यह अमरदेव कोषकार अमरसिंह ही हैं ऐसा विद्वानों का मत है। कम से कम इतना सत्य है कि आज से एक हजार वर्ष पूर्व विक्रम के नवरत्नों का अस्तित्व माना जाता था।

(१) **कालिदास**—नवरत्नों में कालिदास की प्रसिद्धि बहुत हो चुकी है। उनके विषय में कई पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इस ग्रंथ में भी विद्वत्तापूर्ण कई स्वतंत्र लेख छप रहे हैं। इसलिए उनके विषय में यहाँ कुछ लिखना अनावश्यक है। अन्य आठ रत्नों के विषय में जो सामग्री मिली है उसके संकलन का प्रयत्न आगे किया गया है। पाश्चात्य और पूर्वीय विद्वानों के विचार भी यथातथा बतलाए गए हैं।

(२) **क्षपणक**—'क्षपणक' प्राचीन काल में जैन साधु को कहते थे। मुद्राराक्षस में 'क्षपणक' के भेष में जासूस का रहना बताया गया है। शंकर दिग्विजय में उज्जयिनी में शंकर का शास्त्रार्थ किसी क्षपणक से होना लिखा है।

विक्रमादित्य के काल में जैन पंडितों में केवल श्रीसिद्धसेन दिवाकर का अस्तित्व माना जाता है। जैन ग्रंथों में विक्रम के ऊपर उनका अत्यधिक प्रभाव भी बताया गया है। जैन आगम ग्रंथों का संस्कृत भाषा में लिखने का प्रयत्न भी सिद्धसेन दिवाकर ने किया था ऐसा भी प्रसिद्ध है। इन कारणों से श्रीसिद्धसेन दिवाकर को ही क्षपणक बताया जाता है।

'ज्योतिर्विदाभरण' के एक दूसरे श्लोक में विक्रमकालीन वैज्ञानिकों के नाम लिखे हैं जिनमें वराहमिहिर, सत्यश्रुतसेन, वादरायण, मणित्थ और कुमारसिंह के नाम आते हैं। टीकाकारों ने सिंद्धसेन दिवाकर का दूसरा नाम श्रुतसेन बतलाया है।

सिद्धसेन ज्योतिष में और तंत्र में भी पारंगत थे और सम्भव है वे विक्रम के नवरत्नों में रहे हों। परन्तु जो प्रमाण लिखे गए हैं वे अकाट्य नहीं हैं। जैन साधु का एक ही स्थान पर रहना अधिक उपयुक्त नहीं जँचता। सम्भव है क्षपणक कोई अन्य नैय्यायिक हो।

(३-४) **शंकु और वेतालभट** वास्तव में क्षपणक, शंकु और वेतालभट्ट के जीवन के सम्बन्ध में अभी तक कोई प्रकाश नहीं पड़ा है। शंकु का नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' के ८ वें श्लोक में भी पाया जाता है यथा:—

"शंकु: सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो, जिष्णु स्त्रिलोचनहरीघटकर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी॥"

(अर्थात् विक्रम की सभा में ९ सभासद थे:—(१) शंकु (२) वररुचि (३) मणि (४) अंगुदत्त (५) जिष्णु (६) त्रिलोचन (७) हरि (८) घटखर्पर और (९) अमरसिंह।)

इससे शंकु का एक प्रसिद्ध विद्वान तो होना सिद्ध होता है।

एक प्राचीन श्लोक ऐसा भी बताया जाता है जिसमें लिखा है कि शबर स्वामी ने ४ वर्णों की स्त्रियों से विवाह किया था। ब्राह्मण स्त्री से वराहमिहिर ने जन्म लिया। क्षत्रिय स्त्री से भर्तृहरि और विक्रमादित्य ने जन्म लिया। वैश्य स्त्री से हरिश्चन्द्र और शंकु ने जन्म लिया और शूद्र स्त्री से अमरसिंह ने जन्म लिया।

इस श्लोक का यह भी तात्पर्य हो सकता है कि 'साबर भाष्य' के कर्ता श्री शबर स्वामी ने चार वर्णों के शिष्यों को विद्या प्रदान की थी। और शंकु एक वैश्य थे और विक्रम के गुरुभाई रहे होंगे। कोई कोई इनको मन्त्रवादिन् और कोई कोई इनको प्रसिद्ध रसाचार्य शंकु बतलाने का प्रयत्न कर रहे हैं। कई किंवदन्तियों में इनको स्त्री भी बतलाया है। कोई इनको ज्योतिषी भी बतलाते हैं।

शंकु से भी कम परिचय वेतालभट्ट का मिलता है। प्राचीनकाल में 'भट्ट' या 'भट्टारक' पंडितों की भी एक बड़ी उपाधि हुआ करती थी। सम्भव है यह भी एक बड़े पंडित हों। और यह भी सम्भव है कि "वेताल पंचविंशतिका" सरीखे कथाओं के यह ही ग्रंथकर्त्ता रहे हों। उज्जयिनी के महाकाल-स्मशान से इनका सम्बन्ध बताया जाता है। कथा यह है कि रोहणगिरि से विक्रम अग्निवेताल को जीतकर लाए थे और अग्निवेताल से उनको अद्भुत एवं अदृश्य सहायता मिलती रही। सम्भव है साहित्यिक होते हुए भी भूत, प्रेत, पिशाच साधना में यह पारंगत रहे हों। यह भी सम्भव है कि आग्नेय अस्त्र एवं विद्युत् शक्ति में यह पारंगत हों और विक्रमादित्य के राज्य में कापालिक या तांत्रिकों के प्रतिनिधि रहे हों और इनकी साधना-शक्ति से राज्य को लाभ होता रहा हो।

(५) **अमरसिंह**—राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार अमर ने उज्जयिनी (विशाला) में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। सबसे पहिला संस्कृत कोष जो प्राप्त है अमरसिंह का "नामलिंगानुशासन" है जो अब अमरकोष के नाम से प्रसिद्ध है। अमरकोष में कालिदास का नाम आता है। मंगलाचरण में बुद्धदेव की प्रार्थना है और कोष में बौद्ध शब्द और विशेषकर महायान सम्प्रदाय के शब्द भी बहुत पाए जाते हैं, जिनसे बौद्धकाल और कालिदास के बाद में अमरकोष का लिखा जाना प्रतीत होता है।

जिनेन्द्र बुद्धि ने सन् ७०० ई० में 'न्यास' लिखा है। अमरकोष उसके बहुत पहिले का होगा। क्योंकि उसमें अमर का नाम श्रद्धा से लिया गया है। अमरकोष पर बहुत से आचार्यों ने टीका लिखी है। ग्यारहवीं सदी में क्षीरस्वामी की टीका बहुत ही प्रसिद्ध है। बंद्यघाटीय सर्वानन्द ने ११५९ में और रायमुकुट ने १४३१ ई० में अमरकोष पर टीका लिखी है जिनसे पता चलता है कि सन्त मेधावी १६ आचार्य इनके पहिले टीका लिख चुके थे। संस्कृत कोष-ग्रंथों में इतनी टीकाएँ किसी पर भी नहीं लिखी गई हैं।

(६) **घटकर्पर**—शंकु और घटकर्पर के नाम 'ज्योतिर्विदाभरण' में दो बार आए हैं और घटकर्पर का भी विद्वान पंडित होना निश्चित ही है। इनके नाम 'घटकर्पर' और 'घटखर्पर' दोनों ही पाए जाते हैं।

सम्भव है इन्होंने बहुत से ग्रंथ लिखे हों परन्तु इस समय इनके नाम का एक ही काव्य बताया जाता है जो २२ श्लोकों में है। कालिदास के मेघदूत की तरह इसमें एक विरहिणी नवयुवती अपने परदेशस्थ पति को मेघों द्वारा सम्वाद भेजती है। इस काव्य में यमकालंकार की भरमार है। कवि ने यहाँ तक कहा है कि अनुप्रास, यमक और शाब्दिक चमत्कार की प्रतियोगिता में दूसरा कवि उसके बराबर नहीं हो सकता। अगर कोई हो तो टूटे घड़े में पानी उसके यहाँ पहुँचाने को तैयार हैं। "तस्मै वहेयमुदकं घट-कर्परेण"। काव्य साधारण श्रेणी का ही है परन्तु प्रतिभा अवश्य है।

बड़े बड़े दिग्गज विद्वानों ने इसपर टीकाएँ लिखी हैं जिनमें अभिनवगुप्त, शान्तिसूरि, भरतमल्लिका, शंकर, रामपति-मिश्र, गोविन्द, कुशलकवि, कमलाकर, ताराचन्द, और वैद्यनाथदेव की टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। कई विद्वानों का मत है कि यह काव्य कालिदास का ही लिखा हुआ है और यह उनके प्रारंभिक काल की रचना है। मेघों द्वारा प्रेमिका ने दूरस्थ पति को सन्देश भेजने का २२ श्लोकों का यह दूत-काव्य उस महाकाव्य का प्रवर्तक है जो परिपक्वावस्था में कालिदास ने

मन्दाक्रान्ता छन्द और अत्यन्त कोमलकान्तपदावलि में 'मेघदूत' के नाम से लिखा था। अभिनवगुप्त ने टीका में लिखा है "अत्र कर्त्ता महाकविः कालिदास इत्यनु श्रुतमस्माभिः"। कमलाकर और ताराचन्द्र और अन्य टीकाकारों ने भी इसी बात को सही माना है। परन्तु गोविन्द एवं वैद्यनाथ देव घटखर्पर कवि को स्वतंत्र मानते हैं।

दूसरा मत यही है कि 'घटखर्पर' काव्य से ही 'कालिदास' के 'मेघदूत' काव्य को प्रोत्साहन मिला है और 'घटखर्पर' स्वतंत्र कवि था। रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत और ऋतुसंहार के श्लोकों में घटखर्पर के विचार साम्य दृष्टिगोचर होते हैं। 'घटखर्पर' का एक दूसरा छोटा काव्य 'नीतिसार' भी बताया जाता है।

'घटकर्पर' या 'घटखर्पर' नाम अवश्य ही विचित्र प्रतीत होता है। घटकर्पर काव्य का अन्तिम श्लोक है :—

"भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयमालभ्य चाम्बु तृषितः करकोशपेयम्।
जीवेय येन कविना यमकैः परेण, तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण॥"

काव्य के अन्तिम शब्द "घटकर्परेण" से ही काव्य का नामकरण 'घटकर्पर' हुआ और फिर कवि का नाम भी 'घटकर्पर' होकर वह विक्रम के नव-रत्नों में बताया गया, ऐसा कई विद्वानों का मत है। यह मत सही मान लेना उचित न होगा। यह सम्भव है कि इसी बहाने कवि ने अपना नाम काव्य के अन्त में रखा हो।

जो कुछ भी हो 'घटखर्पर' नाम अत्यन्त विलक्षण है। सम्भव है कि इनका नाम कुछ और हो, परन्तु इसी नाम से प्रसिद्धि पाई हो। सम्भव है यह नामकरण भी कुछ विशेष कारणवश किया गया हो।

विक्रम के इतने भारी साम्राज्य का शासन यह नौ कोरे पंडित और कवि ही किया करते थे ऐसा सही नहीं हो सकता। वास्तव में नवग्रहों के आधार पर ही नवरत्नों की सृष्टि की गई होगी। विक्रम-आदित्य के साथ (नवग्रह की भाँति) नवरत्न होना समीचीन है। एक एक रत्न के पास एक एक शासन विभाग होने की कल्पना अनुचित न होगी।

धन्वन्तरि के पास स्वास्थ्य विभाग, वररुचि के पास शिक्षा विभाग, कालिदास के पास संगीत, काव्य और कला विभाग, क्षपणक के पास न्याय, अग्निवेताल के पास सेना व तांत्रिक कापालिक और विद्युत् शक्ति विभाग होने की कल्पना की जा सकती है।

हमारा प्राचीन आदर्श महान् था। एक विषय में पारंगत होते हुए भी मन, वाणी और शरीर की शुद्धता के लिए अन्य विषयों पर भी वही विशेषज्ञ ग्रन्थ लिखा करते थे। जो महर्षि पतञ्जलि को महाभाष्यकार ही समझते हैं वह भूल करते हैं। उन्होंने व्याकरण, योग और वैद्यक तीनों पर अलग अलग प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे थे। राजा भोज की 'न्यायवार्तिका' में पतञ्जलि के प्रति श्रद्धाञ्जलि का निम्न लिखित श्लोक हमारे प्राचीन भारत के आदर्शों का सूचक है :—

"योगेन चित्तस्य, पदेन वाचां, मलं शरीरस्य तु वैद्यकेन।
योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलि रानतोऽस्मि॥"

(मुनियों में श्रेष्ठ उन पतञ्जलि को वन्दना करता हूँ जिन्होंने (१) महाभाष्य के द्वारा वाणी की अशुद्धता मिटाई, (२) योगसूत्र लिखकर चित्त की अशुद्धता मिटाई, और (३) वैद्यक ग्रन्थ लिखकर शरीर का मैल हटाया।)

सम्भव है शंकु और घटखर्पर भी विद्वान और कवि होते हुए भी किसी विषय में विशेषज्ञ होंगे और शासन का कोई विभाग इनके पास रहा होगा। विक्रमादित्य का काल महायान तंत्र का काल था जिसने व्याडि और नागार्जुन सरीखे प्रसिद्ध वैज्ञानिकों को जन्म दिया था। मध्यभारत और उज्जयिनी में महायान तंत्र का बहुत प्रचार रहा था ऐसा कुब्जिका तंत्र में पाया जाता है। दरबार पुस्तकालय नेपाल में जो पुस्तक सुरक्षित है वह प्रति छठवीं शताब्दी की है उसमें यह श्लोक मिलता है :—

"दक्षिणे देवयानौ तु पितृयानस्तथोत्तरे। मध्यमे तु महायानं शिवसंज्ञा प्रजीयते॥"

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

इस काल में शैव और बौद्ध तंत्रों का सम्मिलन हो रहा था और देश के लिए नवीन आविष्कार किए जा रहे थे। शिव को "पारद" (पारा-Mercury) का जन्मदाता बताकर "षडगुण बल जारित" पारद से ताम्र का सुवर्ण बनाए' जाने की रीति निकाली गई थी। योगीश्वर शिव के नाम पर देश की आर्थिक अवस्था में सुधार किया जा रहा था। 'पारद के आधार पर वायुयान वायु में उड़ने लगे थे, ताम्र का सोना बनने लगा था और भारत की साम्पत्तिक अवस्था नवीन आविष्कारों के सहारे दिन पर दिन उन्नति करने लगी थी। और पारद एवं जसद (zinc) का उन दिनों बोलबाला था महाकालतंत्र, कुब्जिकातंत्र, रुद्रयामलतंत्र व अन्य तांत्रिक ग्रन्थों में इन्हीं दोनों की महिमा पाई जाती थी।

रुद्रयामल तंत्र में धातुमञ्जरी में जसद के पर्य्यायवाची शब्द निम्न लिखित बताए गए हैं :—

जासत्वं च जरातीतं राजतं यशदायकम्। रुप्यभ्राता, वरीयश्च, त्रोटकं, कोमलं लघुम्॥
चर्मकं, खर्परं, चैव, रसकं, रसवर्द्धकम्। सदापथ्यं, बलोपेतं, पीतरागं सुभस्मकम्॥

(यानी जस्ता के पर्यायवाची शब्द जासत्व, यशद, यरुदायक, रुप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, और रसक थे।)

'जसद' यशदायक का अपभ्रंश है और 'यशदायक' (जसद) शब्द में ही जसद की प्रशंसा निहित है। उन दिनों यह नवीन आविष्कार देश की अमूल्य सम्पत्ति हो रहा था। इसी का पर्यायवाची शब्द 'खरपर' भी था।

उस समय के वैज्ञानिक आविष्कारों को देखकर, स्वतंत्र साम्राज्य स्थापित करनेवाले सम्राट् विक्रमादित्य ने आविष्कारों का विभाग अलग स्थापित करके एक विशेषज्ञ को सौंप दिया हो तो आश्चर्य की बात तो नहीं हो सकती। और किसी कारणवश उस विशेषज्ञ का नाम ही 'घटखर्पर' पड़ गया हो तो भी आश्चर्य नहीं। घड़े में जसद रखनेवाले को 'घटखरपर' कहते होंगे, ऐसा हमारा मत है। इस विषय में प्रमाण का अवश्य अभाव है।

वास्तव में विक्रमकालीन भारतीय अवस्था का अधिक हाल तांत्रिक ग्रन्थों में मिल सकता है। उज्जयिनी और महाकाल का अधिक सम्बन्ध तांत्रिकों और कापालिकों और तंत्र-ग्रन्थों से रहा है और इसीलिए जब तक तंत्र-ग्रन्थों के आधार पर अनुसन्धान न हों तब तक घटखर्पर, शंकु और वेतालभट्ट सम्बन्धी पहेलियाँ आसानी से सुलझ नहीं सकतीं।

(७) वररुचि—राजशेखर ने लिखा है कि वररुचि शास्त्रकार की परीक्षा में पाटलिपुत्र में उत्तीर्ण हुए थे। कथासरित्सागर के अनुसार वररुचि का दूसरा नाम कात्यायन था। वह शिवजी के पुष्पदन्त नामक गण के अवतार थे। शिवजी के शाप से कौशाम्बी में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया और पाँच वर्ष की अवस्था में ही पितृहीन हो गए थे। प्रारंभ से ही श्रुतधर थे। एक बार अकस्मात् व्याडि और इन्द्रदत्त दो विद्वान इनके घर आए और कौतुकवशात् व्याडि ने प्रातिशाखा का पाठ किया जिसको वररुचि ने वैसे-का-वैसा ही दुहरा दिया। इसपर व्याडि और इन्द्रदत्त इनको पाटलिपुत्र ले गए। वहाँ वर्ष और उपवर्ष शिक्षा प्राप्त की। वहीं पाणिनि पढ़ रहे थे जिनको पहिले शास्त्रार्थ में परास्त किया। तदनन्तर स्वयं परास्त हुए। उपकोशा से ब्याह होने पर महाराजा नन्द के मंत्री हुए। महाराज नन्द की मृत्यु के अनन्तर वन में चले गए और काणभूति को कथा सुनाकर शाप से मुक्ति पाई। कुमारलाट के 'सूत्रालंकार' से इनम से कई बातों का समर्थन होता है।

जिनप्रभसूरि-विरचित 'विविधतीर्थकल्प' में लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर की सम्मति से महाराज विक्रमादित्य की शासन-पट्टिका लिखी गई थी जिसको उज्जयिनी नगरी में संवत् १, चैत्र सुदी २, गुरुवार को "भाटदेशीय महाक्षपटलिक परमार्हत-श्वेतांबरोपासक-ब्राह्मण गौतमसुत कात्यायन ने लिखा था।" जिनप्रभसूरि का सुल्तान मुहम्मद तुगलक के राज्य में बड़ा मान था और कहा जाता है यह शासन-पट्टिका उन्होंने स्वयं देखी थी। यदि यही कात्यायन वररुचि भी कहलाते थे तो ज्योतिर्विदाभरण के इस लेख की पुष्टि होती है कि महाराज विक्रम के नवरत्नों में वररुचि भी थे।

कात्यायन के कोषग्रन्थों में 'नाममाला' का नाम लिया जाता है। पाणिनि के व्याकरण पर कात्यायन की वार्त्तिकाएँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। पातञ्जलि के महाभाष्य में कात्यायन की वार्त्तिका के १२४५ सूत्र सुरक्षित हैं और बहुतसी कारिकाएँ भी मिलती हैं। पातञ्जलि ने 'वररुचि काव्य' का भी अस्तित्व बतलाया है। कातंत्र व्याकरण का चतुर्थ भाग, प्राकृत-

प्रकाश, लिंगानुशासन, पुष्पसूत्र और वररुचि संग्रह भी कात्यायन के बताए जाते हैं। धर्मशास्त्र, श्रौतसूत्र, और यजुर्वेद प्रतिशाख्य भी कात्यायन के बताए जाते हैं। वेंबर के अनुसार कात्यायन का समय २५ वर्ष ईसा के पूर्व है। गोल्डस्टकर का द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग में, और मैक्समूलर का चतुर्थ शताब्दी के द्वितीय भाग में अनुमान है।

श्रीमेरुतुंगाचार्य कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में लिखा है कि वररुचि उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की लड़की 'प्रियंगुमञ्जरी' को पढ़ाते थे। एक बार कन्या ने गुरू के साथ हास्य किया। क्रोध में आकर वररुचि ने शाप दिया कि "तू गुरू का उपहास कर रही है तुझे पशुपाल पति मिले"। कन्या ने कहा कि जो आदमी आपका गुरू होगा उसीसे ब्याह करूँगी।

एक दिन वररुचि जंगल में घूमते-घूमते थक गए थे। पानी नहीं मिला। एक पशुपाल से पानी माँगा। पानी नहीं था। उसने कहा भैंस का दूध पीलो और भैंस के नीचे बैठकर "करचण्डी" करने को कहा। वररुचि ने किसी भी कोष में 'करचण्डी' शब्द नहीं पढ़ा था। पूछने पर पशुपाल ने दोनों हथेलियों को जोड़कर 'करचण्डी' नामक मुद्रा बताकर भैंस का दूध पिलाया। एक विशेष शब्द बताने के कारण वररुचि ने इस पशुपाल को अपना गुरू माना। राज-प्रासाद में फिर ले आकर राजकन्या का पाणिग्रहण कराया। वह पशुपाल कालिका जी की आराधना करने लगा और कालिका के प्रत्यक्ष दर्शन होने पर उसे विद्या प्राप्ति हुई और उसका नाम कालिदास हुआ। उसने कुमारसंभव प्रभृति ग्रन्थ लिखे। उक्त जैन ग्रन्थ के अनुसार विक्रम, वररुचि और कालिदास समकालीन थे।

पं० भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारत के इतिहास' में आचार्य वररुचि को विक्रमादित्य का समकालीन होना सिद्ध किया है। उन्होंने प्रमाण भी दिए हैं जिनमें से कुछ यहाँ उद्धृत किए जाते हैं:—

(१) वररुचि ने अपने आर्याछिन्दोबद्ध एक ग्रन्थ के अन्त में लिखा है:—

"इतिश्रीमदखिलवाग्विलासमण्डितसरस्वती-कण्ठाभरण-अनेक विशरण श्रीनरपतिसेवितविक्रमादित्यकिरीटकोटि निघृष-चरणारविन्द आचार्य-वररुचि-विरचितो लिंग विशेष विधिः समाप्तः॥"

अर्थात् आचार्य वररुचि महाप्रतापी विक्रम का पुरोहित था।

(२) आचार्य वररुचि अमरसिंह के पूर्वज अथवा समकालीन थे। अमर लिखता है:—

"समाहृत्यान्य तन्त्राणि, संक्षिप्तैः प्रति संस्कृतैः॥"

इसपर टीकासर्वस्वकार लिखता है:—**व्याडि-वररुचि-प्रभृतीना तन्त्राणि समाहृदय॥**

(३) वररुचि के अनेक ग्रन्थ अब भी मिलते हैं। 'वाररुचनिरुक्त समुच्चय' ग्रन्थ स्कन्दस्वामी (सन् ६३०) से बहुत पहिले का है।

(४) धोयी अपरनाम श्रुतिधर जो राजा लक्ष्मणसेन का सभा पण्डित (वि. सं. ११७३) था लिखता है:—

ख्यातो यश्च श्रुतिधरतया विक्रमादित्य गोष्ठी—

विद्याभर्त्तुः खलु वररुचेराससाद प्रतिष्ठाम्॥ (सदुक्तिकर्णामृत, पृष्ठ २९७)

(श्रुतिधर ने लक्ष्मणसेन की सभा में वही प्रतिष्ठा प्राप्त की, जोकि विक्रमादित्य की सभा में वररुचि ने की थी।)

इन प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि महाप्रतापी विक्रमादित्य का वररुचि से अवश्य सम्बन्ध था।

(८) धन्वन्तरि—धन्वन्तरि काशी के राजा दिवोदास बताए जाते हैं। सम्भव है जब महाराजों पर विजय पाकर विक्रमादित्य सम्राट् हुए हों तब काशीराज उनकी राजधानी उज्जैन में बुलाए जाकर सम्राट् की अन्तरंग सभा के सदस्य हुए हों। यह भी सम्भव है कि आयुर्वेद के प्रचार करने के हेतु, राजपाट अपने पुत्र को देकर काशीराज दिवोदास वृद्धावस्था में केवल वैद्यक शिक्षा प्रसार हेतु उज्जयिनी में बस गए हों।

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

ज्योतिर्विदाभरण में बताए गए नवरत्नों की कथा कपोल-कल्पना मात्र है, यह मान लेना ठीक नहीं है। यदि प्रसिद्ध विद्वानों के नामों को एकत्र करके नौ विद्वानों की सभा की कल्पना ही समीचीन थी तो ज्योतिर्विदाभरण का रचनाकार अन्य विद्वान्---पाणिनि, पतञ्जलि, भास और अश्वघोष का भी नाम ले सकते थे। परन्तु वे नाम न लेकर साधारण व्यक्ति घटखर्पर, शंकु, क्षपणक, वेतालभट्ट के नाम नवरत्नों में गिनाए गए हैं, जो अगर कल्पना ही है, तो अवश्य एक निम्न कल्पना का परिचय दिया है। वास्तव में, प्रतीत यह होता है कि ग्रन्थकार ने कल्पना को काम में न लेकर वस्तुस्थिति का सही वर्णन किया है।

सुश्रुत संहिता में धन्वन्तरि, दिवोदास और काशीराज एक ही व्यक्ति के नाम हैं। परन्तु विष्णुपुराण के अनुसार पुरूरवा के वंश में काशीराज के पोते धन्वन्तरि थे और धन्वन्तरि के पोते दिवोदास हुए थे। हरिवंश पुराण में लिखा है कि 'काश्य' के पड़पोते धन्वन्तरि और धन्वन्तरि के पड़पोते दिवोदास थे। सम्भव है यह तीनों ही बड़े भारी वैद्य हुए हों और एक कोई विक्रमादित्य के समकालीन और नवरत्न रहे हों। स्कन्द, गरुड़ और मार्कण्डेय पुराणों में धन्वन्तरि को त्रेतायुग में होना बताया है। धन्वन्तरि की माता का नाम वीरभद्रा था और वह जाति की वैश्य थी। गालव मुनि के प्रभाव से ऋषियों ने कुशों की एक मूर्ति बनाई और वीरभद्रा की गोदी में फेंकदी और वैदिक मंत्रों के बल से उस मूर्ति में जीवन-सञ्चार किया गया। इसलिए वह वैद्य कहलाए। विष्णुपुराण में समुद्रमन्थन की कथा में समुद्र से निकले रत्नों में धन्वन्तरि का आना बताया गया है। इस तरह एक ही पुराण में धन्वन्तरि के विषय में दो कथाएँ हैं।

धन्वन्तरि ने अश्विनीकुमार की तीन कन्याएँ (१) सिद्ध विद्या (२) साध्य विद्या (३) और कष्टसाध्य विद्या इनको ब्याह लिया। और उनके सेन, दास, गुप्त, दत्त इत्यादि १४ पुत्र हुए। सम्भव है यह कथा केवल विद्या प्राप्ति की कथा ही हो। सुश्रुत के अतिरिक्त उनके १०० शिष्य प्रसिद्ध हैं। 'भारतीय औषधि के इतिहास' में डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी ने धन्वन्तरि प्रणीत दस ग्रन्थ वताए हैं।

ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार धन्वन्तरि ने चिकित्सा-तत्व-विज्ञान, दिवोदास ने चिकित्सादर्शन, और काशीराज ने चिकित्सा कौमुदी निर्मित कीं। इसके अनन्तर धन्वन्तरि ने (१) अजीर्णामृतमञ्जरी (२) रोग निदान (३) वैद्य-चिन्तामणि (४) विद्याप्रकाश चिकित्सा (५) धन्वन्तरि निघंटु (६) वैद्यक भास्करोदय (७) चिकित्सा सारसंग्रह और निर्मित किए। भारतीय आयुर्वेद पद्धति में धन्वन्तरि आदि गुरु हैं।

(९) आचार्य वराहमिहिर---वराहमिहिर का काल ५५० ई० बताया जाता है। उनकी मृत्यु ईसवी सन् ५८७ ई० में बताई जाती है। वास्तव में वराहमिहिर के बृहत् संहिता में दिए गए शकाब्द के हिसाब से विद्वानों ने यह सिद्ध किया है कि कालिदास और वराहमिहिर साथ साथ नहीं हो सकते थे।

वराहमिहिर ने अपना जन्म-संवत् कहीं नहीं लिखा। अपना जन्म-स्थान और वंश-परिचय अवश्य दिया है। बृहज्जातक के उपसंहार में उन्होंने लिखा है कि अवन्ती के पास कपित्थ नामके ग्राम में आदित्यदास के घर में उन्होंने जन्म लिया। कपित्थ (वर्तमान कायथा) उज्जैन से ११-१२ मील पर उज्जैन-मक्सी-रोड-पर है और रियासत इन्दौर के अन्तर्गत है। श्लोक यह है :---

आदित्यदास तनयस्तवाप्त बोधः कापित्थके सवितृलब्धवरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यग् होरां वराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

शंकर बालकृष्ण दीक्षित के "भारतीय ज्योतिष शास्त्राचा इतिहास" के अनुसार वराहमिहिर ने बृहत्-संहिता शक सं० ४२७ में लिखी है। श्री० एस० नारायण एय्यंगर ने स्वर्गीय प्रोफेसर सूर्यनारायण राव के मत का खण्डन करते हुए लिखा था कि ४२७ शालिवाहन शक न होकर विक्रम संवत् है। एक के मत के अनुसार वराहमिहिर विक्रम संवत् ४२७ में व दूसरे के मत के अनुसार विक्रम संवत् ५६२ में हुए थे। हमारी राय में यह भी सम्भव है कि जो वर्ष वराहमिहिर ने

लिखे हैं वह विक्रम या शालिवाहन के न होकर कोई दूसरे ही संवत् के हों। इसलिए जबतक बृहत्-संहिता के रचनाकाल के विषय में दूसरा प्रमाण न मिले, तब तक, कोई निश्चित सम्मति प्रकट करना उचित नहीं होगा। यवनराज स्फुजिध्वज ने एक पुरातन शकाब्द का उल्लेख किया था।

'ज्योतिर्विदाभरण' को श्रीयुत् दीक्षितजी ने इसलिए जाली बताया है कि उसमें अयनांश निकालने की विधि दी गई है और वह भी वराहमिहिर के अनुसार। परन्तु क्या यह सम्भव नहीं है कि ग्रन्थ कालिदास ने ही लिखा हो परन्तु ग्रन्थ के आदि, मध्य, और अन्त में समय समय पर क्षेपक बढ़ते चले गए हों। जब तक 'ज्योतिर्विदाभरण' की मूल प्रति न मिले तब तक ग्रन्थ के विषय में और उसके अनुसार 'विक्रम के नवरत्नों' के विषय में यह कहना कठिन है कि यह कपोल कल्पना है।

वैज्ञानिकों में वराहमिहिर और आर्यभट्ट सरीखे प्रखर विद्वानों ने प्राचीन काल में भारत के नाम को उज्ज्वल किया है। वराहमिहिर के पिता आदित्यदास भी बहुत बड़े गणितज्ञ और ज्योतिषी थे और वराहमिहिर के पुत्र पृथुयशस भी विद्वान हुए हैं। पृथुयशस की 'षट्पञ्चाशिका' की टीका भी वराहमिहिर के टीकाकार महोत्पल ही ने की है। वराहमिहिर की बृहत्-संहिता, समास-संहिता, बृहज्जातक, लघुजातक, पंचसिद्धान्तिका, विवाहपटल, योगयात्रा, बृहत्‌यात्रा और लघुयात्रा प्रसिद्ध हैं।

पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त शेष ग्रन्थों की टीका दिग्गज विद्वान भट्टोत्पल ने की है। पंचसिद्धान्तिका में वराहमिहिर ने लाटाचार्य, सिंहाचार्य, आर्यभट्ट, प्रद्युम्न और विजयनन्दी के मतों को उद्धृत किया है जो उनके पूर्ववर्ती विद्वान थे और जिनके नाम आज वराह के कारण ही सुरक्षित हैं। पैतामह, गार्ग, ब्रह्म, सूर्य, और पौलिश सिद्धान्तों को भी वराहमिहिर ने ही सुरक्षित रखा है। वराहमिहिर की विद्या और उनका अगाध ज्ञान देखकर यह विचार होता है कि अवश्य ही उन्होंने देश-पर्यटन के साथ विदेशगमन भी किया था। यूनानी ज्योतिषियों के प्रति वराहमिहिर के बड़े सम्मान और आदर के भाव हैं ऐसा बृहत् संहिता में इस श्लोक को वराहमिहिर के उद्धृत करने से पता चलता है :—

म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्रमिदं स्थितम्।
ऋषिवत्तेऽपि पूज्यन्ते किं पुनर्दैवविद्‌द्विजः॥

यवन (Ionians or Greeks) वास्तव में म्लेच्छ हैं परन्तु शास्त्र में पारंगत होने से वे ऋषियों के समान पूजित हैं फिर शास्त्र पारंगत द्विज तो देवता सरीखा पूजा का पात्र है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ ने लिखा है कि वराहमिहिर कोरे गणितज्ञ, ज्योतिषी या वैज्ञानिक ही हों यह बात नहीं है; उनकी भाषा इतनी प्राञ्जल और कविता इतनी रसिकता और माधुर्य लिए हुए है कि बड़े बड़े कवियों की उपस्थिति में उनका स्थान बहुत ऊँचा रहेगा। पाठकों के मनोरञ्जनार्थ सप्तर्षियों की स्थिति पर वराहमिहिर की बृहत्-संहिता का निम्नांश हम यहाँ उद्धृत करते हैं जिससे पता चलेगा कि साहित्य और विज्ञान का कितना सुन्दर सम्मिश्रण किया गया है। बृहत-संहिता में लिखा है:—

"जिस प्रकार रूपवती रमणी गूंथे हुए मोतियों की माला और सुन्दर रीति से पिरोए हुए श्वेत कमलों के हार से अलंकृत होती है उसी प्रकार उत्तर प्रदेश इन तारकों से अलंकृत है। इस प्रकार अलंकृत, वे कुमारियों के सदृश हैं जो ध्रुव के पास उसी प्रकार नाचती और घूमती हैं जिस प्रकार ध्रुव उनको आज्ञा देता है। मैं प्राचीन और सनातन गर्ग के प्रमाण से कहता हूँ कि जब पृथ्वी पर युधिष्ठर का राज्य था तो सप्तर्षि दसवें नक्षत्र मघा में थे और शककाल इसके २५२६ वर्ष उपरान्त है। सप्तर्षि प्रत्येक नक्षत्र में ६०० वर्ष रहते हैं और उत्तर पूर्व में उदय होते हैं। सात ऋषियों में से जो उस समय पूर्व का शासन करता है वह मरीचि है। उसके पश्चिम में वशिष्ठ है। फिर अंगिरस, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ट के समीप सती अरुन्धती है।"

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

यह दिखलाने के लिए कि आर्य ज्योतिषी बहुत पहले से पृथ्वी की आकर्षण शक्ति (Law of Gravitation) मानते थे, अलबेरूनी ने 'बृहत्-संहिता' को उद्धृत किया है।

वराहमिहिर का भूगोल, खगोल, इन्द्रायुध, भूकम्प, उल्कापात, वायुधारण, दिग्दाह प्रवर्षण, रोहिणी योग, ऋतु-परिवर्तन, वर्ष में धान्य और धान्य के मूल्य में घटाबढ़ी का ज्ञान अत्यन्त अगाध तो था ही और ज्योतिष गणित और फलित के वे पूर्ण पंडित भी थे। परन्तु अन्य विषयों का ज्ञान भी उनको बहुत था।

हीरा, पद्मराग, मोती और मरकत का बड़ा विशद वर्णन उन्होंने अपने रत्न-परीक्षा नामक अध्याय में दिया है। हीरा के क्रय विक्रय के नियम आजकल (Indian or Tavermies Rule or Rule of Square) के नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र नीति में बहुत पहिले लिखा गया था कि:—"**यथा गुरुतरं वज्रं तन्मूल्यं रत्तिवर्गतः**"। अर्थात् अगर एक वज्र (हीरा) वजन में १ रत्ती है और उसका मूल्य 'क' है तो ४ रत्तीवाले हीरा का मूल्य '२ क' होगा।

गणितज्ञ होने के कारण वराहमिहिर ने इसे बहुत अच्छी तरह समझाया है। उनके समय में ८ सफेद तिल का १ तन्दुल और ४ तन्दुल का १ गुंजा माना जाता था। वे कहते हैं कि "अगर २० तन्दुल भारी हीरा का मूल्य २ लाख रुपया होता है तो ५ तन्दुल वजनी हीरा ५०,००० रुपये का नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ वर्ग-नियम लागू होगा और ५ तन्दुलवाले हीरा का मूल्य २ लाख का (२५×४) या १००वाँ हिस्सा=२००० रुपया ही होगा।"

इसी प्रकार मरकत, मोती और पद्मराग के मूल्य निर्धारित करने के नियम एवं उनके अच्छे चिह्न पहचानने के नियम दिए गए हैं। आजकल पीले हीरे भारत में नहीं होते और दक्षिणी अफ्रीका से ही आते हैं; परन्तु वराहमिहिर के समय में पीत हीरे भी यहीं पाए जाते थे। लाल, पीले, श्वेत और रंगहीन हीरों का वर्णन किया गया है:—"**रक्तं, पीतं, सितं, शैरीषं**"। इसके अनन्तर वृक्षायुर्वेद में वृक्षों के रोगों और औषधियों का वर्णन है। पशुओं में गौ, अश्व, हाथी, कुक्कुट, कूर्म, छाग इत्यादि के लक्षण बताए हैं। कामसूत्र का भी सूक्ष्म विवरण है। वास्तुविद्या, प्रासाद-लक्षण, प्रतिमा-लक्षण और प्रतिमा-प्रतिष्ठापन पर अलग क्रियात्मक परिच्छेद हैं।

कई दवाइयाँ बज्रलेप के लिए बताई हैं जिसके लगाने से एक पत्थर दूसरे पत्थर से सहस्त्रों वर्षों को चिपक सकता है। इन लेपों का बौद्धकालीन मन्दिर और चैत्यों में पर्याप्त उपयोग किया जाता था और इसीलिए वे मन्दिर भलीभाँति सुरक्षित हैं।

एक अध्याय शस्त्रपान पर है जिसमें यह बताया है कि हथियारों की धार पर शान किस तरह रखनी चाहिए जिससे थोड़े प्रयत्न से धार अत्यन्त तेज हो सके। एक अन्य अध्याय 'शिलादारुण' पर है। चट्टानों को तोड़ने के लिए आजकल बारूद की आवश्यकता होती है परन्तु उस काल में कई औषधियों का क्वाथ बनाया जाता था जो कई चूर्णों के साथ चट्टानों पर छिड़का जाता था जिसके कारण चट्टान इतना गलने लगता है कि वह काटे-जाने योग्य हो जाता है। बृहत्-संहिता का ७६वाँ अध्याय गंधी और अत्तारों के कार्य से सम्बन्धित है। बकुल, उत्पल, चम्पक, प्रतिमुक्तक के गन्ध किस प्रकार बनाने चाहिए और किस अनुपात से क्या क्या वस्तु डालनी चाहिए इसका विशद विवेचन है। लोष्ठक प्रस्तार (Mathematical calculus) से सहस्त्रों प्रकार की सुगन्धियाँ बनाने की पूरी विधि लिखी गई है। यही कारण है कि उज्जयिनी की बनी सुगंधित वस्तुएँ, गन्ध, धूप एवं अनुलेपन की सामग्रियाँ बरोच होकर अलैकजैंड्रिया होती हुई उन दिनों ग्रीस और यूरोप पहुँचकर अत्यन्त प्रसिद्धि पा रही थीं। क्रियात्मक रसायन (Applied chemistry) और देश की व्यापारिक अवस्था को सुधारने की इच्छा से लिखे हुए इस अध्याय का प्राचीन भारत के इतिहास में कम महत्व नहीं है।

प्रकाश के मूर्च्छन एवं किरणविघट्टन (Reflection of light) का भी अच्छा विवरण बृहत्-संहिता में मिलता है। आजकल 'एटम' (atom) और एलक्ट्रन (electron) परमाणु देखने में सबसे छोटी वस्तु (the

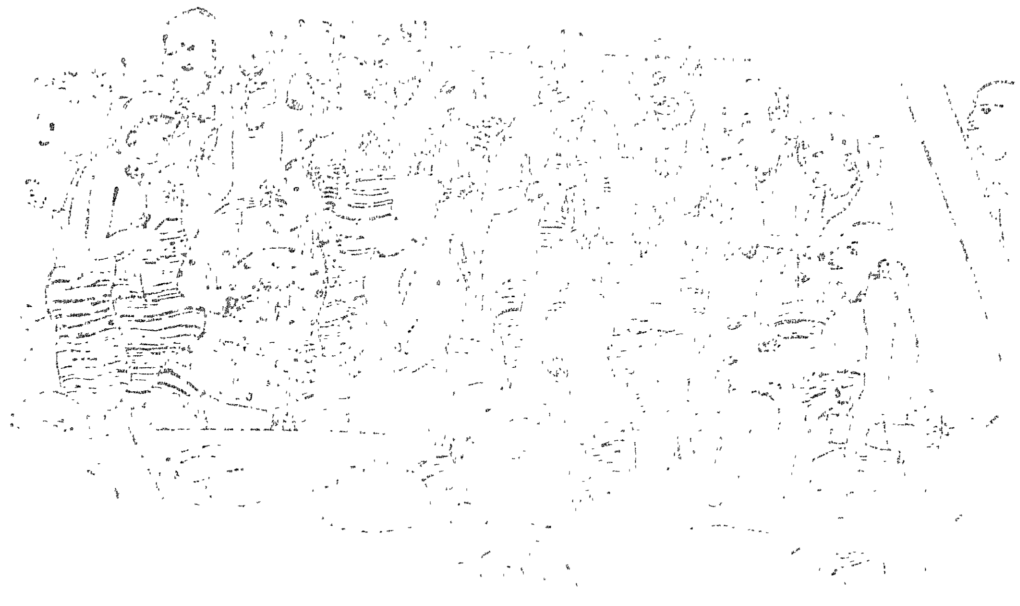
minimum visible) मानी जाती है। वराहमिहिर के शिल्पशास्त्र में परमाणु तिरछी सूर्यकिरण की मोटाई को बताया गया है। परमाणु का हिसाब वराहमिहिर ने इस प्रकार बतलाया है :—

८ परमाणु=१ रजस। ८ रजस=१ बालाग्र (बाल) ८ बालाग्र=१ लिक्ष। ८ लिक्ष=१ यूक।
८ यूक=१ यव। ८ यव=१ अंगुली। २४ अंगुली=१ हस्त।

आचार्य सर ब्रजेन्द्रनाथ सील ने लिखा है कि इस तरह पाँचवीं शताब्दी में ही—जब ग्रीक गणित और विज्ञान अति साधारण था—एक हिन्दू वराहमिहिर ने एक तिरछी पतली सूर्यकिरण की मोटाई की कल्पना कर ली थी। वराहमिहिर का उन दिनों का एक परमाणु वर्तमान इंच का ३॥ लाखवाँ हिस्सा है। पाश्चात्य विज्ञान अभी तक इससे बहुत आगे नहीं जा सका।

वास्तव में आचार्य वराहमिहिर विद्वान, साहित्यिक कवि, वैज्ञानिक, ज्योतिषी एवं व्यापारिक रसायनज्ञ ही नहीं थे, वे उन महापुरुषों में थे जिनका नाम प्राचीन-भारत के निर्माताओं में सदा ही प्रमुख बना रहेगा। कोई भी सम्राट् उनको अपने नवरत्नों में स्थान देकर साम्राज्य को गौरवान्वित करने का प्रयत्न करता।





* कालिदास *

श्री गोपाल शरणसिंह

जहाँ हैं वाल्मीक कविश्रेष्ठ
जहाँ हैं मुनिवर वेदव्यास,
वहीं ऊँचा कर के निज शीश
खड़े हो तुम भी उनके पास;

सदा जो रहता है उत्फुल्ल
काव्य-सर के हो तुम जलजात,
विश्व की प्रतिभा के उत्कर्ष
हुए तुम कालिदास विख्यात!

तुम्हारे ग्रन्थों से सम्पन्न
हुआ है भारत का साहित्य,
दिया तुम ने जग को आलोक,
देश-नभ के बन कर आदित्य;

कहा था तुम ने "है हिमवान
मही का मानदण्ड अवदात",
किन्तु भारत-गौरव के आप
बन गये मानदण्ड तुम ख्यात!

खिली जो कलीं प्रेम-जल-सिक्त
कुसुम-कलिका-सी मृदु कमनीय,
छिन्न कोमल लतिका-सी आज
हुई वह शकुन्तला दयनीय;

खींच कर तुमने उसका चित्र
दिखाया अद्भुत योग-वियोग,
एक क्षण में अपार सुख-भोग
एक क्षण में अपार दुख-भोग!

किया सुरपति से पाकर दण्ड
यक्ष ने राम-शैल में वास,
नियति ने दया-भाव से खींच
तुम्हें पहुँचाया उस के पास;

विरहिणी पत्नी की कर याद
हो गया जब वह विकल विशेष,
बना कर वारिधरों को दूत
तुम्हीं ने भिजवाया सन्देश!

छुड़ाने को शंकर का ध्यान
चलाया स्मर ने उन पर वाण,
हुआ तब हर को रोष महान्
बचा सुर सके न उसके प्राण !

द्रवित होकर तुमने कविवर्य !
कराया रति से करुण विलाप,
मिला फिर उसको यह वरदान
मिटेगा तेरा यह सन्ताप !

किया तुमने रचकर 'रघुवंश'
प्रवर्धित रघु-कुल का सम्मान,
न भूला उसको निज कर्तव्य
आपदा भी जब पड़ी महान्;

प्राण संकट में थे अत्यन्त
हुए पर विचलित नहीं दलीप,
दिखा कर साहस-शौर्य विचित्र
बन गये नरपति-वंश-प्रदीप !

मिला जो जग में तुम को स्थान
देश को है उसका अभिमान,
तुम्हारी रचना का सम्मान
हमारे लिए हुआ वरदान;

हुए कितने ही कवि उत्पन्न
गये हैं बीत हजारों वर्ष,
किन्तु किञ्चित भी हुआ न क्षीण
तुम्हारी कविता का उत्कर्ष !

काव्य का जो प्रासादिक रूप
दिखाया तुम ने मनोभिराम,
कहाँ से लाकर भरी अनूप
छटा उस में स्वर्गीय ललाम ?

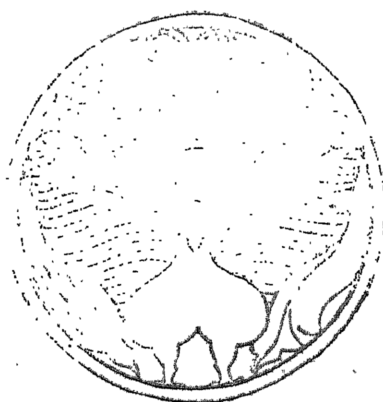
हृदय में करते शीघ्र प्रवेश
तुम्हारे उर के मृदु उद्गार,
बह रही है जग में सर्वत्र
तुम्हारी काव्य-सुधा की धार !

दिया तुमने पवित्र शृंगार
प्रेम से करके ओत-प्रोत,
हो गई आर्द्र भरत की भूमि
बहाया तुमने करुणा-स्रोत;

दिखाया तुम ने हमें विचित्र
प्राकृतिक सुषमा का संसार,
जगा कर मन में भाव नवीन
किया तुम ने रस का सञ्चार !

कहाँ से पाकर अद्भुत शक्ति
काव्य की तुमने की थी सृष्टि ?
विश्व को तुम ने दी थी दिव्य
कहाँ से लाकर अन्तर्दृष्टि ?

छोड़ कर अनुपम कीर्ति-विभूति
किया तुम ने जग से प्रस्थान,
किन्तु निज कृतियों को अमरत्व,
यहाँ भी तुम कर गये प्रदान !



कालिदास

महामहोपाध्याय श्री विश्वेश्वरनाथ रेउ

कविकुल—गुरु कालिदास के बनाये कहे जानेवाले 'ज्योतिर्विदाभरण' में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की सभा में नौ प्रसिद्ध विद्वानों का होना लिखा है, जो उसकी सभा के 'नवरत्न' कहलाते थे :—

धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

अर्थात्, राजा विक्रमादित्य की सभा में (१) धन्वन्तरि * (२) क्षपणक † (३) अमरसिंह ‡ (४) शंकु (५) वेतालभट्ट (६) घटखर्पर (७) कालिदास, (८) वराहमिहिर और (९) वररुचि ये नौ विद्वद्रत्न रहते थे।

परन्तु इतिहास से पता चलता है कि ये सब विद्वान् समकालिक न थे। उदाहरणार्थं वराहमिहिर को ही लीजिए। इसने अपनी 'पञ्चसिद्धान्तिका' नामक पुस्तक में स्पष्ट लिखा है कि "यह पुस्तक मैंने शक संवत् ४२७ में समाप्त की।" इससे इसका विक्रम संवत् ५६२ (ई० स० ५०५) में होना सिद्ध होता है। अस्तु आगे हम कालिदास के विषय में विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत करते हैं।

---

* इस विद्वान् का विशेष हाल नहीं मिलता है।
† इसने अनेकार्थध्वनिमञ्जरी और उणादिसूत्र की क्षपणकवृत्ति लिखी थी।
‡ यह अमरकोष का कर्ता अमरसिंह विक्रम की पाँचवीं शताब्दी में हुआ था।
इस विद्वान् का भी विशेष विवरण नहीं मिलता।
इसने नीतिप्रदीप की रचना की थी।
इसने नीतिसार और रामकृष्ण विलोमकाव्य नामक पुस्तकें लिखी थीं।
इसने शक संवत् ४२७ (ई. स. ५०५ = वि. सं. ५६२) में पञ्चसिद्धान्तिका बनाई थी।
इसका अस्तित्व ईसवी सन् पूर्व की चौथी शताब्दी में अनुमान किया जाता है। इसे कात्यायन भी कहते थे। इसने अष्टाध्यायीवृत्ति, व्याकरण की कारिका, प्राकृत प्रकाश, पुष्पसूत्र, लिंगवृत्ति, आदि अनेक ग्रन्थ लिखे थे।

जैन विद्वान् पण्डिताचार्य योगिराट् ने अपनी बनाई हुई 'पार्श्वाभ्युदय' की टीका के अन्त में लिखा है कि कालिदास नामक एक कवि ने 'मेघदूत' नामक काव्य बनाया और दूसरे कवियों का अपमान करने के लिए उसे दक्षिण के राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष* (प्रथम) की सभा में लाकर सुनाया। यह बात विनयसेन को अच्छी न लगी। अतः उसकी प्रेरणा से जिनसेनाचार्य ने कालिदास का परिहास करते हुए कहा कि "आपके काव्य में प्राचीन काव्य की चोरी करने से सुन्दरता आगई है।" इसपर कालिदास ने उक्त काव्य देखने की इच्छा प्रगट की। परन्तु जिनसेन ने उत्तर दिया कि वह काव्य एक दूसरे नगर में है। अतः उसके आने में ८ दिन लगेंगे। इन्हीं ८ दिनों के अवकाश में जिनसेन ने 'मेघदूत' के श्लोकों के एक एक दो दो पदों को लेकर उक्त 'पार्श्वाभ्युदय‡' नामक काव्य बना डाला और समय पर सभा में ला सुनाया।

इससे सिद्ध होता है कि कालिदास वि० सं० ८७२ से ९३४ (ई० स० ८१५ से ८७७) के मध्य विद्यमान था। परन्तु यह बात ठीक प्रतीत नहीं होती; क्योंकि एक तो 'पार्श्वाभ्युदय' का उक्त टीकाकार‡ योगिराट् विजयनगर-नरेश हरिहर‡ का समकालीन अर्थात् जिनसेन से करीब ५०० वर्ष बाद हुआ था। अतः उसका लेख प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। दूसरा सातवीं शताब्दी के बाणभट्ट रचित हर्षचरित में निम्न लिखित श्लोक मिलता है :—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते? ॥१७॥

इससे सिद्ध होता है कि कालिदास अवश्य ही बाणभट्ट से पहले हो चुका था, ऐसी हालत में उसका अमोघवर्ष (प्रथम) के समय होना असम्भव ही है।

सर विलियम जोंस और डाक्टर पीटरसन इसको ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के विक्रम संवत् के प्रवर्तक और उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य का समकालीन अनुमान करते हैं। तथा पण्डित नन्दर्गीकर ने अश्वघोष‡ रचित 'बुद्ध-चरित' नामक काव्य में कालिदास रचित काव्यों के कितने ही श्लोकपाद ज्यों के त्यों दिखलाकर उक्त पाश्चात्य विद्वानों के मत की पुष्टि की है। आजकल के बहुत से विद्वान् कालिदास का गुप्त नरेशों के समय होना सिद्ध करते हैं। उनके कथनों का सारांश आगे दिया जाता है।

रघुवंश में निम्न लिखित श्लोक-पाद हैं :—

'तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः'। १।५५
'अन्वास्य गोप्ता गृहिणीसहायः'। २।२४
'इक्षुच्छायानिषादिन्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्।
आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः। ४।२०।
'सगुप्तमूलप्रत्यन्तः शुद्धपार्ष्णिरयान्वितः।
षड्विधंबलमादाय प्रतस्थे दिग्जिगीषया।४।२६'।
'ब्राह्मे मुहूर्ते किल तस्य देवी, कुमारकल्पं सुषुवे कुमारम्।५।३६।
'मयूरपृष्ठाश्रयिणा गुहेन।६।४।'

---

* शिलालेखों के आधार पर इस अमोघवर्ष का समय ई. स. ८१५ से ८७७ (वि० सं० ८७२ से ९३४) त माना गया है और 'प्रश्नोत्तर रत्नमाला' इसी की बनाई मानी जाती है।
† विनयसेन और जिनसेन दोनों ही वीरसेन के शिष्य थे। इनमें से जिनसेन अमोघवर्ष (प्रथम) का गुरु था।
‡ श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या, योगैकाग्रचस्तिमिततरचा तस्थिवांसं निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बद्धवैरेण दग्धः, कश्चित् कान्ता विरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः॥
‡ इसमें इरुगदण्डनाथरचित रत्नमाला का उल्लेख भी आया है।
‡ इसका समय ईसवी सन् १३९९ (वि० सं० १४५६) के करीब था।
‡ अश्वघोष ईसवी सन् की पहली शताब्दी में हुआ था।

अतः जिस प्रकार मुद्राराक्षसनामक नाटक के—

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलाद्रक्षत्येनं तु बुधयोगः।'

इस श्लोक में व्यञ्जनावृत्ति से चन्द्रगुप्त का उल्लेख किया गया है, उसी प्रकार रघुवंश के उपर्युक्त श्लोकों में 'गुप्त' और 'कुमार' शब्दों के आने से प्रकट होता है कि कालिदास गुप्तों का समकालीन था, और उसने अपने काव्य में व्यञ्जनावृत्ति से ही उनका उल्लेख किया है।

इसी आधार पर कुछ विद्वान् इसे चन्द्रगुप्त द्वितीय (विक्रमादित्य) का और कुमारगुप्त का तथा कुछ इसे स्कन्दगुप्त का समकालीन मानते हैं। आगे इसी विषय की और भी कुछ उक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं:—

कालिदासरचित 'मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक में शुंगवंशी अग्निमित्र का वर्णन है। यह (अग्निमित्र) इस (शुंग) वंश के संस्थापक पुष्यमित्र का पुत्र था, जिसने कि ईसवी सन् से १७९ (वि० सं० से १२२) वर्ष पूर्व के करीब शुंगवंश की स्थापना की थी। अतः कालिदास अवश्य ही इसके बाद हुआ होगा। चालुक्यवंशी राजा पुलकेशी दूसरे के समय के ई० स० ६३४ (वि० सं० ६९१) के एक शिलालेख में कालिदास का नाम आया है। अतः यह कवि उक्त समय से पहले ही हुआ होगा।

कालिदास ने इन्दुमती के स्वयंवर में सबसे पहले मगध नरेश का वर्णन किया है। उसमें उसे 'भारतचक्रवर्ती'† लिखा है। सातवीं शताब्दी के पहले मगध में दो ही प्रतापी राजा हुए थे। एक पुष्यमित्र और दूसरा चन्द्रगुप्त (द्वितीय)। परन्तु रघुवंश के चौथे सर्ग में दिग्विजय के वर्णन में सिन्धुनदी के तट पर रघु द्वारा हूण लोगों का हराया जाना लिखा है। ये लोग पहले पहल गुप्तों के समय ही आये थे।

कालिदास ने उज्जयिनी का जैसा वर्णन किया है वैसा बिना उक्त स्थान को देखे कोई नहीं कर सकता। उदयगिरि के लेख से चन्द्रगुप्त (द्वितीय) का वहाँ (उज्जैन) जाना सिद्ध होता है। अतः सम्भवतः उसीके साथ कालिदास भी वहाँ पर गया होगा।

मेघदूत में दिङ्नाग‡ नामक बौद्ध नैयायिक का उल्लेख है। हुएन्त्सांग आदि के भ्रमण-वृत्तान्तों से पता चलता है कि मनोरथ का शिष्य वसुबन्धु था और उस (वसुबन्धु) का शिष्य दिङ्नाग था। इसने पुष्पपुर में शिष्यत्व ग्रहण किया था। मनोरथ कुमारगुप्त के समय था, तथा वसुबन्धु और दिङ्नाथ स्कन्दगुप्त के समय विद्यमान थे।

हुएन्त्सांग ने लिखा है कि मगध के राजा कुमारगुप्त की सभा में अन्यायपूर्वक परास्त किये जाने के कारण मनोरथ ने आत्महत्या कर ली थी। इस पराजय में कालिदास भी शरीक था। इसीसे अपने दादागुरू का बदला लेने को दिङ्नाग ने कालिदास के काव्यों की कड़ी समालोचना की थी, और इसीसे क्रुद्ध होकर कालिदास ने भी उस (दिङ्नाग) का मेघदूत में इस प्रकार व्यंग से उल्लेख किया है।

कालिदास ने अपने काव्यों में 'राशिचक्र' का उल्लेख किया है, तथा 'जामित्र' और 'होरा' आदि कुछ ज्योतिष के पारिभाषिक शब्दों का भी प्रयोग किया है। इससे भी कालिदास का गुप्तों के समय होना सिद्ध होता है, क्योंकि ईसवी सन् ३०० के करीब बने हुए 'सूर्यसिद्धान्त' में 'राशिचक्र' का उल्लेख नहीं है, परन्तु आर्यभट्ट के ग्रन्थ में है। यह आर्यभट्ट ई० स० ४७८ (वि० सं० ५३५) में पाटलिपुत्र में हुआ था।

राशिचक्र के विभागों का यथा 'होरा' 'द्रेक्कोण' (द्रेष्काण) आदि का उल्लेख पहले पहल ग्रीक ज्योतिषी 'फर्मीकस मीटरनस' (Fermicus Meternus) के ग्रन्थ में मिलता है। इसका समय ई० स० ३३६ से ३५४ (वि० सं० ३९३ से ४११ तक) था। इन बातों पर विचार करने से कालिदास का ई० स० ३३६ (वि० सं० ३९३) के बाद होना ही सिद्ध होता है।

---

* मनोरंजन घोष के आधार पर। † रघुवंश में ऐसा कोई पद नहीं मिलता है।

‡ दिङ्नागाना पथि, परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्।१४।

कालिदास

अब आगे उन विद्वानों की उक्तियाँ दी जाती हैं, जो कालिदास को विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन मानते हैं।*

श्रीयुत चिं० वि० वैद्य का कथन है कि रघुवंश में इन्दुमती के स्वयंवर† में एकत्रित हुए राजाओं में दक्षिण के शासक पाण्ड्यों का और उनकी राजधानी उरगपुर (उराइयूर-कावेरी के तट‡ पर) का वर्णन है, तथा रघु की दिग्विजय के वर्णन में चोलों और पल्लवों का उल्लेख नहीं है।

परन्तु इतिहास से सिद्ध है कि चोल-नरेश करिकाल ने ईसवी सन् की पहली शताब्दी में पाण्ड्यों को परास्त कर दिया था, और इसके बाद तीसरी शताब्दी में एक बार फिर पाण्ड्यों ने प्रबलता प्राप्त कर अपनी राजधानी मदुरा (मङ्चूरा) में स्थापित की थी। इसके बाद ईसवी सन् की पाँचवीं या छठी शताब्दी में पल्लव-नरेशों द्वारा पाण्ड्यों का फिर पतन हुआ। अतः कालिदास का ईसवी सन् की पहली शताब्दी के पूर्व होना ही सिद्ध होता है; क्योंकि एक तो ई० स० की पहली शताब्दी में पतन होने के बाद दुबारा जिस समय पाण्ड्यों ने अपना प्रभुत्व कायम किया था उस समय उनकी राजधानी उरगपुर न होकर मदुरा थी। परन्तु कालिदास ने अपने रघुवंश में उनकी पहली राजधानी (उरगपुर) का ही उल्लेख किया है। यदि कालिदास गुप्तों के समकालीन होता तो अपने काव्यों में (उनकी राजधानी) मदुरा का उल्लेख करता। दूसरा रघु के दिग्विजय में चोलों और पल्लवों का उल्लेख न करने से भी इसी बात की पुष्टि होती है कि वह ईसा की पहली शताब्दी के पूर्व ही हुआ था; क्योंकि यदि वह गुप्तों का समकालीन होता तो इनका उल्लेख भी अवश्य ही करता। तीसरे कालिदास के काव्यों और नाटकों में 'यवनी' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर आया है। परन्तु इतिहास बतलाता है कि यद्यपि अशोक के समय से ही भारत से यवन लोगों का खासा सम्बन्ध हो गया था, तथापि ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वह टूट गया था।

एक शंका यह भी होती है कि यदि कालिदास अपने समकालीन प्रतापी गुप्त राजाओं का उल्लेख अपने काव्यों में करना ही चाहता था तो उसे रोकनेवाला कौन था? फिर इस प्रकार घुमा फिराकर उनका उल्लेख करने की उसे क्या आवश्यकता आ पड़ी।

इन बातों से सिद्ध होता है कि कालिदास ईसवी सन् से ५७ वर्ष पूर्व के प्रसिद्ध राजा विक्रमादित्य का समकालीन था। परन्तु अभी इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कालिदास के जन्मस्थान के विषय में भी बड़ा मतभेद है। कुछ विद्वान् उसे काश्मीर का, कुछ मालवे का और कुछ नवद्वीप का रहनेवाला सिद्ध करते हैं।

इसके श्रव्यकाव्यों में रघुवंश, कुमारसम्भव, मेघदूत, ऋतुसंहार और दृश्य काव्यों में शकुन्तला, विक्रमोर्वशी तथा मालविकाग्नि मित्र प्रसिद्ध हैं। नलोदय, द्वात्रिंशत्पुत्तलिका पुष्पबाणविलास‡, शृंगारतिलक, ज्योतिर्विदाभरण आदि भी इसके रचे कहे जाते हैं।

सीलोन की कथाओं में प्रसिद्ध है कि वहाँ के प्रसिद्ध राजा कुमारदास (कुमार धातुसेन) ने कालिदास को अपने यहाँ बुलवाया था और वहाँ जाने पर कालिदास और कुमारदास की आपस में घनिष्ट मैत्री हो गई थी। कुछ समय बाद वहीं पर कालिदास की मृत्यु हुई। स्नेह की अधिकता के कारण उक्त राजा (कुमारदास) ने भी अपने आपको इस कवि (कालिदास) की चिता में डाल दिया। 'पराक्रमबाहुचरित'* से इस बात की पुष्टि होती है। 'महावंश' के अनुसार कुमारदास की मृत्यु ई० स० ५२४ (वि० सं० ५८१) में हुई थी। अतः नहीं कह सकते कि वह कौनसा कालिदास था।

---

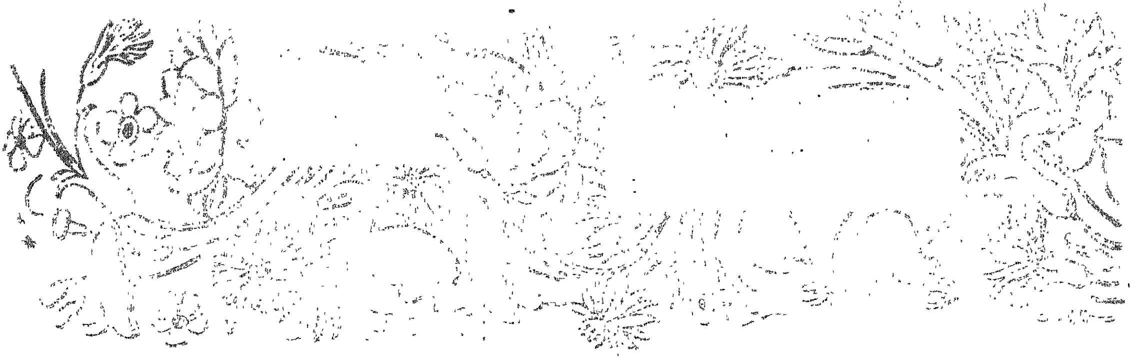
* जर्नल, भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीटयूट, पूना, जिल्द २, भाग १।

† रघुवंश, सर्ग ६, श्लोक ५९-६०।

‡ गदवल में मिले चालुक्य राजा विक्रमादित्य के ताम्रपत्रों से उरगपुर का कावेरी के तट पर होना सिद्ध होता है। मल्लिनाथ ने भ्रम से उरगपुर को नागपुर लिख दिया है। * रघुवंश, सर्ग ४।

‡ ज्योतिर्विदाभरण में शक संवत् का उल्लेख है। अतः यह विक्रमकालीन कालिदास का बनाया नहीं हो सकता। इसी प्रकार द्वात्रिंशत्पुत्तलिका आदि के विषय में भी सन्देह होता है।

* यह ग्रन्थ ५०० वर्ष का पुराना है।



कालिदास की जन्म-भूमि

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

एक जगह उपनिषद् में लिखा है कि 'तत्सृष्ट्वा तदनुप्राविशत्'—अर्थात् वह उसे बनाकर उसी में समा गया। यह उक्ति इस महान् कलाकार के विषय में भी खूब ही सत्य सिद्ध हुई है। किस माता पिता से, कब और कहाँ इस कवि का जन्म हुआ, वह किस राजा के आश्रय में और कहाँ-कहाँ रहा, ये प्रश्न आज भी जिज्ञासुओं के लिए पहेली बने हुए हैं। जिस प्रकार घोर निर्जन में उच्चारण किया हुआ शब्द उच्चारण करनेवाले के कानों में लौट आता है, ठीक यही दशा इस प्रश्न की भी है। जिस प्रकार ब्रह्म ने अपनी आत्मा से इस अव्यक्त प्रकृति में समाकर इसे रूप और नाम दे दिए–इसे व्यक्त कर दिया, और फिर वह स्वयं उससे पृथक् नहीं रहा, इसके कण-कण में व्याप्त हो गया, वैसे ही कवि भी अपनी कृति में कुछ ऐसा समा गया है कि उससे बाहर उसका पता ही नहीं लगता। परीक्षणनलिकाओं, तेजाबों, पुरानी हड्डियों, स्तरों, शिलालेखों तथा सिक्कों द्वारा अन्तिम सत्ता तक—सत्य तक पहुँचने का दम भरनेवाला नया युग अधीर हो उठा है। भय है कि वह मनचाही सामग्री न मिलने पर यही फैसला न दे बैठे कि कालिदास नाम का कोई कवि हुआ ही नहीं। सम्राट् विक्रमादित्य के सम्बन्ध में ऐसे ही निर्णय की स्याही तो अभी सूखी भी नहीं। इसलिए संस्कृत साहित्य के स्वाध्यायशील प्रेमियों का प्रथम कर्तव्य है कि वे शीघ्र ही अपने कवि को इनके हाथों होनेवाली अकाल मृत्यु से बचा लें।

हम प्रारम्भ में ही यह स्वीकार कर लेना चाहते हैं कि कालिदास के जीवन के सम्बन्ध में हमारे पास भी अभी तक कोई बहिरंग साक्ष्य अथवा ऐसा प्रमाण नहीं है, जिसे हम पाठकों के समक्ष बलपूर्वक रख सकें। यद्यपि हमें यह आशा अवश्य है कि हम निकट भविष्य में ही ऐसा कर सकेंगे। जब तक वह नहीं होता तब तक के लिए हम अपने अभी तक के अनुशीलन के कुछ परिणामों को प्रकाशित कर रहे हैं ताकि उन पर अन्य विद्वान् भी अपने विचार प्रकट कर सकें। अनुकूल सम्मतियों से हमें अपने विचार के पक्ष में बल प्राप्त होगा, जब दूसरी ओर प्रतिकूल सम्मतियों से हमें दूसरे पक्षों को और अधिक समझने और उनपर विचार करने का अवसर मिलेगा। जिस पक्ष को हम यहाँ अपना कहकर प्रकट करने लगे हैं, उसके लिए हमें कुछ भी आग्रह नहीं है। विचार विमर्श से जो भी परिणाम निकल आवे हम उसे तुरन्त स्वीकार कर लेने को उद्यत हैं। सत्य तो यह है कि आज से बाईस वर्ष पूर्व हमने स्वर्गीय महावीरप्रसादजी द्वारा लिखित 'कालिदास'

नामक निबन्ध-संग्रह को पढ़ा था और उससे प्रभावित होकर हमारा झुकाव भी इसी ओर हो गया था कि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर ही है, किन्तु इस पक्ष को अधिक पुष्ट करने के विचार से हम ज्यों ज्यों अध्ययन करने लगे, हमारी यह सम्मति शिथिल होती गयी और अन्त में बिलकुल बदल ही गई। ऐसा क्यों हुआ यह हम यथास्थान प्रकट करेंगे।

महाकवि कालिदास के जो ग्रन्थ पठन-पाठन में सर्वत्र प्रचलित हैं, उनमें उन्होंने अपने माता-पिता, कुल, निवास-स्थान व काल आदि के विषय में सर्वथा मौनावलम्बन कर पाठकों के साथ मानों चिर-भविष्य के लिए आँखमिचौनी खेलने की सोची। ऐसे मनोविनोद उन्हें अवश्य ही बहुत प्रिय लगते होंगे। तभी तो अलका के वर्णन में उन्होंने मेघ से कहा था कि 'वहाँ मन्दाकिनी के जलबिन्दुओं से शीतल मन्द पवन का आनन्द लेती हुई देवांगनाएँ तटवर्ती मन्दार द्रुमों की छाया में अपने प्रेमियों के साथ बैठकर स्वर्णचूर्ण की ढेरी में छिपाई मणियों को ढूंढ़ने का खेल खेला करती हैं।' * वे छिप गये हैं, हम ढूंढ़ रहे हैं, देखें परिणाम क्या होता है।

कालिदास कब हुए, किस राजा के आश्रय में रहे—इस समय इस वादविवाद में न पड़ते हुए यहाँ हम केवल इतना ही कहकर आगे चल देना चाहते हैं कि उन्हें तीन स्थानों—मगध, उज्जयिनी, और गंगायुक्त हिमालय से विशेष अनुराग है और इसका कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। यदि हम उस कारण का पता लगा सकें तो हमारा कार्य स्वयं सिद्ध हो जावेगा। अब हम इन तीनों प्रदेशों के विषय में अलग अलग विचार करते हैं।

मगध—रघुवंश के प्रारम्भ में ही हमें कवि के मगधप्रेम का परिचय मिलने लगता है। दिलीप की रानी सुदक्षिणा का परिचय देते हुए कवि ने लिखा है कि वह मगधवंश† की थी। आगे भी जगह जगह उसे "मागधी"‡ अर्थात् मगध के राजवंश की कन्या कहकर स्मरण किया है। पुनः रघुवंश के नवें सर्ग में दशरथ की रानियों की ओर निर्देश करते हुए कवि ने फिर लिखा है कि राजा ने मगध, कौशल और केकय की राजकन्याओं का पाणिग्रहण किया। यहाँ यह बात विचारणीय है कि कौशल्या तथा केकयी के तो नाम ही उनके वंश का परिचय स्वयं दे रहे हैं, परन्तु "सुमित्रा" किस राजवंश की थी, यह उसके नाम से ही नहीं पता चलता। स्वयं वाल्मीकि-रामायण भी इस प्रश्न पर मूक है। बस कवि को अपनी कल्पना से काम लेने का अवसर मिल गया, और उसने सुमित्रा को मगध की राजकुमारी बना दिया।

इसी प्रसंग में अब हम दूसरे दृश्य को लेते हैं। विदर्भ की राज-कन्या अनिन्द्यसुन्दरी इन्दुमती की स्वयम्बर-सभा जमी हुई है। "राजवंश विशारद बन्दीजन सूर्य तथा चन्द्रवंश के प्रसिद्ध नरेशों की प्रशस्तियाँ गा रहे हैं। मण्डप में जलती हुई अगर-बत्तियों की धूम लेखाएँ उठ उठकर ऊपर लगी पताकाएँ चूमती हुई वातावरण को सुरभित कर रही हैं। शंखनाद के साथ मिला हुआ मंगल-वाद्यों का प्रचण्ड घोष दिगन्तों तक व्याप्त हो रहा है, जिसे सुनकर नगरोद्यानों के मयूर मोदमग्न हो नाच रहे हैं। इसी समय वधू-वेष से सुशोभित कुमारी इन्दुमती बड़ी सज-धज के साथ वहाँ प्रकट होती है। कन्या के रूप में, विधाता की रचना के उस अद्भुत चमत्कार को देखकर, राजगण अपने आपको भूल जाते हैं।"¶

---

* मन्दाकिन्याः सलिल शिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भिः। मन्दाराणामनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः॥
अन्वेष्टव्यैः कनक सिकता मुष्टि निक्षेपगूढैः। संक्रीडन्ते मणिभिरमर प्रार्थिता यत्र कन्याः॥

उत्तरमेघ, श्लोक ४॥

† तस्य दाक्षिण्यरूढ़ेन नाम्ना मगध-वंशजा, पत्नी सुदक्षिणेत्यासीत् अध्वरस्येवदक्षिणा॥ रघु० सर्ग १—३१

‡ तयोः जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी॥ रघु० १ सर्ग। श्लोक ५७।

¶ अथ स्तुते वन्दिभिरन्वयज्ञैः सोमार्कवंश्ये नरदेव लोके। संचारिते चागुरुसारयोनौ धूमे समुत्सर्पति वैजयन्तीः॥ रघु० सर्ग ६—८॥

पुरोपकण्ठो पवन श्रयाणां, कलापिनामुद्धतनृत्यहेतौ, प्रध्मात शंखे परितो दिगन्ता स्तूर्यस्वने मूर्च्छति मंगलार्थे॥ ९॥
मनुष्यवाह्यं चतुरस्रयानमध्यास्य कन्या परिवार शोभि, विवेश मंचान्तर राजमार्गं पतिंवरा क्लृप्त विवाहवेशा॥ १०॥
तस्मिन् विधातातिशये विधातुः कन्यामये नेत्र शतैकलक्ष्ये, निपेतुरन्तः करणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिताः केवल मासनेषु॥ ११॥

श्री वागीश्वर विद्यालंकार, साहित्याचार्य

तभी सुनन्दा नामवाली प्रतिहार-पालिका जो सब राजाओं और उनके वंश के इतिहास से सुपरिचित थी और पुरुषों के बीच में घबराती नहीं थी, इन्दुमती को सबसे प्रथम मगधेश्वर के समक्ष ले जाकर इस प्रकार कहने लगी—"ये शरणार्थियों को शरण देनेवाले महाप्रतापी मगधराज हैं, प्रजानुरञ्जन के कारण ये सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, इनका नाम है परंतप और ये वस्तुतः हैं भी शत्रुओं को तपानेवाले। भले ही सहस्त्रों राजाधिराज हों किन्तु पृथ्वी राजन्वती तो इन्हींसे कहलाती है। नक्षत्र तथा तारावली व्याप्त भी रात्रि ज्योतिष्मती तो चन्द्रमा से ही समझी जाती है। यदि तुम्हारा हृदय इनसे पाणिग्रहण का अभिलाषी हुआ हो तो समझो कि अपने महलों के झरोखों में बैठकर तुम्हें देखती हुई पुष्पपुर की नारियों के नेत्र कृतार्थ हो जावेंगे।" सुनन्दा के किये परिचय को सुनकर तथा मगधेश्वर की ओर देख और अपने मस्तक को थोड़ासा झुका प्रणाम करती हुई वह चुपचाप आगे बढ़ गई*।

यहाँ कवि ने मगधेश्वर को सबसे प्रथम स्थान देकर ही सम्मानित नहीं किया किन्तु उसे इन्दुमती से प्रणाम भी करवा दिया है। साथ ही उसे शरणार्थियों को आश्रय देनेवाला बतलाकर सम्भवतः यह भी व्यंजना से कह दिया है कि यह उसका आश्रयदाता भी है।

अब कहा यह जा सकता है कि किसी न किसी राजा को तो प्रथम स्थान मिलता ही है। इतने मात्र से कोई परिणाम नहीं निकाला जा सकता। इसपर हमारा उत्तर यह है कि जिस मगधराज को स्वयंवर-सभा में प्रथम स्थान देकर पूजित किया गया है, उसेही रघुवंश के चतुर्थ सर्ग में दिग्विजय के प्रसंग में कवि ने पराजित होने से बचा लिया है। रघु अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर पहले पहल पूर्व की ओर ही बढ़ा। "बड़ी भारी सेना के अग्रभाग में चलता हुआ वह ऐसा प्रतीत होता था, मानों पूर्वसागर की ओर बढ़ती हुई गंगा के आगे आगे भगीरथ हो"†। "पूर्व के उन उन देशों को पराजित करता हुआ वह विजयी तालवनों की श्रेणी से श्याम पूर्व समुद्र तट तक जा पहुँचा"‡। अयोध्या से पूर्व की ओर बढ़ने पर रघु का संघर्ष सर्वप्रथम मगधेश्वर के साथ ही होना चाहिए था, किन्तु कवि ने इस विषय में कुछ न कहकर ही सब कुछ कह दिया कि उसका क्या अभिप्राय है।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि कवि का मगध के प्रति ऐसा पक्षपात क्यों है? उत्तर स्पष्ट है कि वह शरणार्थियों का आश्रयदाता है। कवि ने जब मगधेश्वर के गुणों का वर्णन करना चाहा तो उसकी दृष्टि सबसे पहिले इसी पर पड़ी। प्रतीत होता है कि कवि ने रघुवंश और मेघदूत अपने मगध निवास के समय में ही लिखे। मगध के प्रति कवि के हृदय में सम्मान है, कृतज्ञता है किन्तु वह औत्सुक्यपूर्ण उष्ण अनुराग नहीं जो उज्जयिनी के प्रति है।

उज्जयिनी—ऊपर कहा जा चुका है कि कवि मगध में रहता अवश्य है किन्तु केवल शरीर से "निपेतुरन्तःकरणैर्नरेन्द्रा देहैः स्थिता केवलमासनेषु" (रघुवंश ६।११)। उसे वहाँ परिस्थितिवश रहना पड़ता है किन्तु उस रहने को वह शाप⁑ समझता है। उसका हृदय कभी तो देवदारुद्रुमों के नवकिसलयों को विदलित करके उनके रस से सुरभित हुए हिमालय से उन समीरों को आलिंगन करने के लिए उत्सुक हो जाता है, जिन्हें वह समझता है कि वे सम्भवतः उसकी गुणवती प्रेयसी के शरीर को छूकर आ रहे हैं⁂। और कभी वह मार्ग की वक्रता⁂ की भी परवाह न करके उज्जयिनी के प्रासादों के वातायनों में बैठी हुई नगर-

---

* रघुवंश सर्ग ६ श्लोक २०-२५.

† स सेनाँ महतीं कर्षन् पूर्वसागर गामिनीम्। बभौ हरजराभ्रष्टां गंगामिव भगीरथः॥ रघु०, सर्ग ४—३२॥

‡ पौरस्त्यानेवमाक्रामं स्तांस्ताञ्जन पदाञ्जयी। श्रय तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः॥ रघु०, सर्ग ४—३४॥

⁑ शापेनास्तंगमित महिमा वर्ष भोग्येण भर्तुः। मेघदूत, पूर्वमेघ, श्लोक १॥

⁂ भित्वा सद्यः किसलयपुटान् देवदारुद्रुमाणाम्, ये तत् क्षीरस्तुति सुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः।
आलिंग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रिवाताः, पूर्वं स्पृष्टं यदि किल भवेदंगमेभिस्तवेति॥ उत्तरमेघ, श्लोक ४४॥

⁂ वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्, सौधोत्संग प्रणयविमुखो मा स्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दामस्फुरित चकितैस्तत्र पौराँगनाम्, लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि॥ पूर्वमेघ, श्लोक २७॥

नारियों के चपला से चञ्चल लोचनों की कटाक्षच्छटा का आनन्द लाभ करने को लालायित हो उठता है। कवि ने अपने दूत मेघ को मगध नहीं भेजा, इससे अनुमान होता है कि वह उन दिनों मगध में ही रहता है, अथवा किसी राजकार्यवश मगध से भी कुछ और नीचे उसे जाना पड़ा है और वहाँ अपनी इच्छा के विरुद्ध भी रुकना पड़ा है। अपनी विवशता को कवि ने मेघदूत के प्रथम पद्य में "भर्त्तुः शापेन" कहकर प्रकट किया है। फिर तीसरे पद्य में अपने स्वामी को उसने "राजराज"* अर्थात् सम्राट् कहा है। सातवें में "धनपति" † कहा है, जिसका आशय शायद यही है कि वह कवि को धन देता है, जिसके कारण कवि अपने आपको आठवें श्लोक में "पराधीनवृत्ति" ‡ कह रहा है। उज्जयिनी के सम्बन्ध में कवि ने जो उद्‌गार प्रकट किये हैं, उनमें उत्कण्ठा है। कवि की आत्मा वहाँ उड़कर पहुँच जाना चाहती है। उसे वहाँ के ग्रामवृद्धों के मुख से सुनी हुई उदयन की प्रेम व वीरतापूर्ण गाथाएँ याद आती हैं और याद आती हैं अपने प्रथम यौवनावतार के दिनों की मधुमय घड़ियाँ। वह प्रणय-याचना में चतुर प्रियतम की तरह, कामिनियों की अंगग्लानि को दूर करनेवाले, क्षिप्रा के विकसित कमलों की गन्ध से मधुर, प्राभातिक समीरणों को नहीं भूल सका है। ललित ललनाओं के चरणरागांकित महलों में धूप-धूम से अपने केशपाश को सुरभित करती हुई मालव-ललनाओं की सुखद-स्मृति उसे सता रही है। रात्रि के घोर अन्धकार में अपने प्यारों से मिलने के लिए राजमार्गों पर जाती हुई योषिताओं से उसे सहानुभूति है। तभी तो वह मेघ से कहता है कि कसौटी पर खिंची सुवर्ण रेखा की तरह सुन्दर, अपनी विद्युल्लेखा की आभा से, उन्हें रास्ता भर दिखा देना, पानी बरसाकर उन्हें व्याकुल न करना §। कवि उज्जयिनी को भूलोक में अवतीर्ण स्वर्ग समझता है ¶ जिससे कि वह स्वयं निर्वासित हो चुका है।

उज्जयिनी के क्रीड़ा काननों, क्षिप्रातटों, गृहमन्दिरों, प्रेमी-प्रेमिकाओं, उत्सव आमोदों के प्रति कवि के हृदय में एक असाधारण आकर्षण है। उनसे वंचित हो जाने की कसक है; उनमें पुनः पहुँचने की लालसा है। इसका कुछ न कुछ विशेष कारण अवश्य होना चाहिए। किसी किसी का मत है कि सम्भवतः उज्जयिनी ही कवि की जन्मभूमि हो, क्योंकि उसी के प्रति इतनी गहरी भावना हो सकती है। जन्मभूमि के प्रति अपने हृदय की कृतज्ञता, भक्ति व भावना को कवि ने चिरप्रवास से लौटे श्रीराम के उद्‌गारों में प्रगट किया है ‖। इस पर हमारा वक्तव्य इतना ही है कि हम इस मत को स्वीकार कर लेते यदि कवि का इससे भी अधिक अनुराग हम एक अन्य प्रदेश के प्रति न देखते। इसमें सन्देह का अवसर ही नहीं कि कवि उज्जयिनी में रहा अवश्य है और वह भी अपने जीवन के स्वर्गीय-प्रभात में। ऋतुसंहार कवि की प्रथम रचना है। उसमें विन्ध्य और उज्जयिनी के ही दृश्यों और ऋतुशोभाओं तथा दैनिकचर्य्याओं का प्रधानतया वर्णन है। उसकी इस कल्पना में विन्ध्य समाया हुआ है। कवि की दूसरी रचना 'मालविकाग्निमित्र' नाटक प्रतीत होती है। इसकी कथा उज्जयिनी के क्षेत्र में ही आबद्ध है। इसमें कालिदास ने अपना परिचय कुछ संकोच और कुछ आत्मविश्वास के साथ 'अभिनवकवि' ** कहकर दिया है।

श्रुति परम्परा भी प्रसिद्ध है कि कालिदास उज्जयिनी सम्राट् विक्रमादित्य की राजसभा के मुख्यतम रत्न थे, किन्तु इन सब बातों से भी यह निर्विवाद सिद्ध नहीं हो जाता कि कवि की जन्मभूमि भी यही थी। हमारी सम्मति में कवि के उज्जयिनी प्रेम का कारण वहाँ उसका चिर-निवास ही है। इससे अधिक कुछ नहीं।

---

* अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३॥

† संदेशं मे हरधनपति क्रोधविश्लेषितस्य। पूर्वमेघ, श्लोक ७॥

‡ न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीन वृत्तिः। पूर्वमेघ, श्लोक ८॥

§ गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं, रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीम्। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्मभूर्विक्लवास्ताः॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३७॥

¶ शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम्॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३०॥

‖ रघुवंश, सर्ग १३, श्लोक ६२॥

** मालविकाग्निमित्र।

इसी स्थान पर प्रसंग से हम एक अन्य विषय पर भी कुछ विचार कर लें तो शायद अनुचित न होगा। कालिदास विक्रमादित्य को जानते हैं, यह तो उनके 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम से ही प्रकट है। इस नाटक की नायिका उर्वशी है, किन्तु नायक पुरुरवा है नकि विक्रम। कोई पण्डित कह सकते हैं कि विक्रम अर्थात् पराक्रम द्वारा उर्वशी के प्राप्त करने की कथा होने के कारण इसका नाम 'विक्रमोर्वशीय' है। किन्तु यह समाधान भी पर्याप्त नहीं है। अवश्य ही कवि ने विक्रमादित्य की किसी विजय के अवसर पर खेलने के लिए इसकी रचना की है। यह विक्रम गुप्तवंश का प्रतापी सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय अथवा स्कन्दगुप्त नहीं हो सकता। यदि इनमें से कोई होता तो कवि मेघदूत में उज्जयिनी के प्रसंग में उदयन* को स्मरण न कराता, अथवा उसके साथ ही विक्रमादित्य की गाथाओं के सुनाने का भी उल्लेख करता। कवि ने ऐसा नहीं किया। इससे प्रतीत होता है कि वह उज्जयिनी के विक्रम का समसामयिक है। और इसीलिए उसने जानबूझकर उसका नाम नहीं लिया। क्योंकि कवि व्यंजना को अभिधा की अपेक्षा अधिक पसन्द करते हैं। 'विक्रमोर्वशीय' में भी 'विक्रम' का वाच्यार्थ पराक्रम सही, किन्तु व्यंग्यार्थ 'विक्रमादित्य' ही है। 'विक्रमोर्वशीय' के देखने से ही ज्ञात होता है कि यह विजय कोई प्रारम्भिक ही है अन्तिम नहीं†। मालूम होता है कि इस समय तक विक्रम वैसा ख्यातिलाभ न कर चुके थे जैसाकि रघुवंश के रघु, जिनकी यशोगाथाओं को गन्ने की छाया में बैठी खेत की रक्षिकाएँ भी गाया करती थीं‡। रघुवंश‡ को पढ़ने से पता चलता है कि उसके रचनाकाल तक कवि का उज्जयिनी स्नेह काफी शिथिल हो चुका था। यदि वह उनकी जन्मभूमि होती तो यह सम्भव न था।

गंगा तथा हिमालय का प्रदेश—महाकवि कालिदास के ग्रन्थों को पढ़ने से यदि किसी स्थान के प्रति उनका सर्वतोऽधिक प्रेम प्रकट होता है तो वह है गंगायुक्त हिमालय का प्रदेश। इस प्रदेश के प्रति कवि के हृदय में आदर है, भक्ति है, प्रेम है, वहाँ निवास के दिनों का उल्लास तथा वहाँ से प्रवास के समय की उत्कण्ठा है। विरहावस्था में, आषाढ़ के प्रथम दिन‡ पूर्व की ओर से उठकर, गिरिशिखरों पर वप्रक्रीड़ा करते गज के समान सुन्दर मेघ को देखकर कण्ठाश्लिष्ठ-प्रणयिजन की स्मृति से कवि व्याकुल हो जाता है। उसके नेत्रों में आँसू छलछला आते हैं‡, हृदय हाथ से निकल जाता है, विवेक जाता रहता है, वह चेतनाचेतन‡ का भी विचार न करता हुआ, उसे ही अपना सन्देशहर बना लेता है। वह उसे मार्ग में आम्रकूट, दशार्ण की राजधानी विदिशा, उज्जयिनी, देवगिरि, दशपुर, ब्रह्मावर्त्त और कुरुक्षेत्र की सैर कराता हुआ कनखल पहुँचा देता है। कनखल वह स्थान है जहाँ पर्वतों से

---

* प्राप्यावन्तीनुदयन कथा कोविद ग्राम वृद्धान्॥ पूर्वमेघ, श्लो० ३०॥

† नारद—राजन् श्रूयताम् महेन्द्रसन्देशः।

राजा—अवहितोऽस्मि।

नारद—प्रभावदर्शी मघवा वनगमनाय कृतबुद्धि भवन्तं अनुशास्ति।

राजा—किमाज्ञापयति।

नारद—त्रिकालदर्शिभिर्मुनिभिरादिष्टः सुरासुरसंगरो भावी। भवाँश्च सांयुगीनः सहायो नः। तेन त्वया न शस्त्रं संन्यस्तव्यम्। इयं चोर्वशी यावदायुस्तव सहधर्मचारिणी भवत्विति। (विक्रमोर्वशीय ५म अंक)।

‡ इक्षुच्छायनिषीदन्त्यस्तस्य गोप्तुर्गुणोदयम्। आकुमारकथोद्घातं शालिगोप्यो जगुर्यशः॥ रघु० ४। २०॥

‡ रघुवंश सर्ग ६ श्लोक ३१-३६॥

‡ आषाढ़स्य प्रथम दिवसे मेघमाश्लिष्ट सानुम्, वप्रक्रीड़ापरिणत गज प्रेक्षणीयं ददर्श॥ पूर्वमेघ, श्लोक २॥

‡ मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथा वृत्ति चेतः कण्ठाश्लेष प्रणयिनि जने किं पुनः दूरसंस्थे॥ पूर्वमेघ, श्लोक ३॥

‡ कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु, पूर्वमेघ। श्लोक ५॥

निकलकर गंगा सर्वप्रथम समभूतल पर प्रवाहित होती है। कनखल* से आगे वह अपने दूत को गंगोत्तरी और हंसद्वार से गुजरकर कैलाश जाने के लिए कहता है, जिसके अंक में प्रणयी के बाहुपाश में आबद्ध कामिनी की तरह अलकापुरी† सुशोभित है। इस अलका का वर्णन करते समय कवि के हृदय की समस्त भावना उसकी लेखनी के अग्रभाग पर केन्द्रित होगई प्रतीत होती है। मेघ को देखकर उसकी सौदामिनीसी कामिनियों, उसके इन्द्रधनुष से चित्रपटों, उसके गम्भीर घोषसी ध्वनिवाले मृदंगों से युक्त अलका के मणिजटित प्रासाद उसकी आँखों के आगे नाचने लगते हैं‡। उपवन कुसुमों के आभूषणों से अलंकृत ललनाओं की नर्म-क्रीड़ाएँ, उसे विह्वल कर डालती हैं। मधुर कण्ठ से कुबेर का गुणगान करते हुए किन्नरों से युक्त वैभ्राजनामक बाह्योद्यान में वार्तालाप करते हुवे युगलप्रेमियों को देख वह मन मारकर रह जाता है§।

वहाँ उसका अपना घर, उसके आगे मन्दारतरु¶, स्वर्ण कमलों से अलंकृत वापिका‖, क्रीड़ाशैल, बकुल तथा अशोक-वृक्ष** और इन सबके बीच में कलामात्र शेष हिमांशु लेखासी उसकी विरहक्षामा†† पत्नी इन सबको स्मरण कर उसके नेत्रों से अश्रुधारा बहने लगती है।

किन्तु यहीं पर हम एक अत्यावश्यक बात कह देना चाहते हैं। वह यह कि पुराणों में वर्णित इस अलका से कवि का कोई सम्बन्ध नहीं है; जिस प्रकार मेघदूत के प्रारम्भ में कवि ने रामगिरि पर्वत पर यक्ष को खड़ा करके अपने प्रवास स्थान की केवल दिशा ही दिखाई है, वास्तविक स्थान नहीं। क्योंकि हम अन्यत्र कह आए हैं कि वास्तविक नाम लेने से काव्य का सौन्दर्य मन्द पड़ जाता है, व्यंजना नहीं रहती। इसी प्रकार यहाँ भी कवि ने अपने अभिजन की दिशा ही बतलाई है, उसका निकटतम निर्देश ही किया है। कवि का यह आशय सर्वथा नहीं कि वह अलका का ही निवासी है। अलका की अपेक्षा भी कुछ अधिक वह उसके पास के किसी अन्य स्थान को मानता है, यह कुमारसम्भव के चतुर्थ सर्ग से स्पष्ट हो जाता है। वहाँ लिखा है कि वे सप्तर्षि-गण कैलाशवासी शिव के स्थान से चलकर, अर्थात् कुछ उधर से कुछ पश्चिम दक्षिण की ओर, हिमालय के नगर "औषधिप्रस्थ" में पहुँचे। यह नगर सब सम्पत्तियों के आगार अलका से भी बढ़कर था। मालूम होता था कि स्वर्ग की उत्कृष्टतम विभूतियों को लाकर उनसे इसकी रचना की गई थी‡‡। पाठक इन शब्दों को ध्यान से पढ़कर इससे कवि के उज्जयिनी वर्णन को मिलावें तो स्पष्ट विदित हो जावेगा कि उसका अनुराग इस स्थान के प्रति कहीं अधिक है। उज्जयिनी स्वर्ग के समान या उससे कुछ कम ही थी जबकि यह नगर उससे कहीं बढ़कर है।

इस नगर के चारों ओर खाई थी, जिसमें गंगा की धारा प्रवाहित हो रही थी। इसके साल अर्थात् चारों ओर की दीवारें मणिमाणिक्यों से अलंकृत तथा इसके वप्र अर्थात् दीवारों के स्थूल आधार नाना प्रकार की औषधियों की आभा से

---

* तस्माद्गच्छेदनु कनखलं शैलराजावतीर्णाम्, जह्नोः कन्यां सगरतनया वर्ग सोपान पंक्तिम्॥ पूर्वमेघ, श्लोक ५०॥

† तस्योत्संगे प्रणयिन इव स्रस्तगंगादुकूलां-न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारिन्॥ पूर्वमेघ, श्लोक ६३॥

‡ विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः, संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगंभीर घोषम्॥
अन्तः स्तोयं मणिमय भुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥ उत्तरमेघ, श्लोक १॥

§ अक्षय्यान्तर्भवन निधयः प्रत्यहं रक्तकण्ठैः। उद्गायद्भिर्धनपति यशः किन्नरैः यत्र सार्धम्॥
वैभ्राजाख्यं विबुधवनिता बारमुख्यासहाया, बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति॥ उत्तरमेघ, श्लोक ८॥

¶ यस्योपान्ते कृतक तनयः कान्तया वर्धितो मे। हस्तप्राप्यस्तवकनमितो बालमन्दार वृक्षः॥ उत्तरमेघ, श्लोक १२॥

‖ वापीचास्मिन् मरकत शिला बद्धसोपान मार्गा। हैमैश्छिन्ना विकच कमलैः स्निग्ध वैदूर्य नालैः॥ उत्तरमेघ, श्लोक १३॥

** रक्ताशोकश्चल किसलयः केसरश्चात्र कान्तः। प्रत्यासन्नौ कुरबकवृत्ते माधवी मण्डपस्य॥ उत्तरमेघ, श्लोक १५॥

†† अधिक्षायां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वाम्। प्राचीमूले तनुमिवकलामात्र शेषां हिमांशोः। उत्तरमेघ, श्लोक २६॥

‡‡ ते चाकाशमसिश्यामामुत्पत्य परमर्षयः। आसेदुरोषधीप्रस्थं मनसा समरंहसः॥ कुमार, सर्ग ६—३७॥
अलकामति बाह्यैव वसति वसु संपदां। स्वर्गाभिष्यन्द वमने कृत्वेवोपनिवेशितम्॥ कुमार०, सर्ग ६—३७॥

जगमगा रहे थे* । इसके आगे कवि ने प्रायः उन्हीं शब्दों तथा उन्हीं भावों में इसका वर्णन किया है जिनमें उसने मेघदूत की अलकापुरी का किया था। दोनों वर्णन तुलना के योग्य हैं। नीचे हम पाठकों के मनोरंजनार्थ दोनों को उद्धृत किए देते हैं† । सबसे अन्त में कवि कहता है कि "हिमालय के उस कमनीय नगर को देखकर वे दिव्य मुनि भी चकित हो गए कि जिन पुण्यों से हम केवल स्वर्ग ही प्राप्त कर सके वे तो केवल वञ्चना मात्र ही रहे‡ ।" यह है कवि के भावावेश की पराकाष्ठा। इसेही किसी ने दूसरे शब्दों में कहा है—"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।" ध्यान रहे कि हिमालय का यह नगर देवलोक में नहीं, इसी भूमि पर है। हिमालय कहता है—"हे मुनिगण! आपने मेरे गृह में पधारकर मेरा गौरव बढ़ाया है, जिसके कारण मैं अपने आपको मूर्ख होते हुए भी बुद्धिमान्सा, लोहमय होता हुवा भी हिरण्यमयसा और भूमिस्थ होता हुवा भी स्वर्गारूढ़सा समझने लगा हूँ।"‡ हे मुनियों! अपने शिर पर धारण किये हुए गंगा के जलप्रपात तथा आपके चरणोदक से मैं पवित्र हुआ। अबसे सब प्राणी आत्मशुद्धि के लिए मेरा आश्रय लिया करेंगे क्योंकि जिस स्थान को आप जैसे सज्जन अपनी पदधूलि से पवित्र कर देते हैं वही तीर्थ हो जाता है। आपके चरणस्पर्श से मेरा यह स्थावररूप तथा आपके आज्ञानुग्रह से मेरा यह चेतनरूप—दोनों ही आज कृतकृत्य हुए ‡ । मुझसे आपकी क्या सेवा बन सकती है? मैं आपके लिए क्या नहीं कर सकता? मालूम होता है कि मुझे केवल कृतार्थ करने के लिए ही आपने यहाँ पधारने का कष्ट किया है ‡। स्वयं मैं, मेरी

---

* गंगा स्त्रोतः परिक्षिप्तं वप्रान्तज्वलितौषधि। बृहन्मणिशिलासालं गुप्ता वपि मनोहरम् ॥ कुमार०, सर्ग ६—३८॥

† (।) (क) यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपाँशुकैः। गृह यंत्रपताकाश्रीरपौरादर निर्मिताः॥ कुमार०, सर्ग ६—४१ ॥

(ख) लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च यस्याम्। एकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥ उत्तरमेघ। श्लोक ११ ॥

(।।) (क) शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम्। अनुगर्जितसंदिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः॥ कुमार०, सर्ग ६—४०।

(ख) विद्युत्वन्तं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः, संगीताय प्रहतमुरजाः स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुंगमभ्रंलिहाग्राः, प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥उत्तर मेघ। श्लोक १॥

(।।।) (क) भ्रूभेदिभिः सकम्पोष्ठैर्ललितांगुलितर्जनैः। यत्र कोपै कृताः स्त्रीणामाप्रसादर्थिनः प्रियाः॥ कुमार, सर्ग ६—४५॥

(ख) सभ्रूभंगप्रहितनयनैः कामिलक्ष्येष्वमोघैः। तस्यारंभश्चतुरवनिताविभ्रमैरेव सिद्धः॥ उत्तरमेघ। श्लोक १०॥

‡ अथ ते मुनयो दिव्याः प्रेक्ष्य हैमवतं पुरम्। स्वर्गाभिसंधि सुकृतं वञ्चनामिव मेनिरे॥ कुमार सर्ग ६—४७॥

‡ मूढं बुद्धमिवात्मानं हैमीभूतमिवायसम्। भूमेर्दिवमारूढं मन्ये भवदनुग्रहात्।]
अद्य प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये। यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धितीर्थं प्रचक्षते॥ कुमार०, सर्ग ६—५५-५६॥

‡ अद्य प्रभृति भूतानामधिगम्योऽस्मि शुद्धये। यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते॥ कुमार०, सर्ग ६—५६॥
अवैमि पूतमात्मानं द्वयेनैव द्विजोत्तमाः। मूर्ध्नि गंगाप्रपातेन धौत पादाम्भसाच वः॥" कुमार०, सर्ग ६—५७॥
जंगमं प्रैष्यभावे वः स्थावरं चरणांकितम्। विभक्तानुग्रहं मन्ये द्विरूपमयि मे वपुः॥ कुमार०, सर्ग ६—५८॥

‡ कर्तव्यं वोन पश्यामि स्याच्चेत् किं नोपपद्यते। मन्ये मत्पावनामैव प्रस्थानं भवतामिह। कुमार०, सर्ग ६—६१॥

धर्मपत्नी, मेरे कुल की सर्वस्व यह मेरी कन्या–सब आपकी सेवा में उपस्थित हैं। बस आज्ञा कीजिए*। इसके उत्तर में ऋषि बोले—तुमने जो कुछ कहा सब ठीक है; तुम्हें यही शोभा देता है। तुम्हारा हृदय भी तुम्हारे शिखरों के समान ही समुन्नत है। स्थावररूप तुम्हें शास्त्रों में साक्षात् विष्णु कहा गया है। यह ठीक ही है, क्योंकि तुमने चराचर को धारण किया हुवा है †। अपने विमल विस्तार से निरन्तर फैलनेवाली, समुद्र तक व्याप्त तुम्हारी कीर्तियाँ तथा नदियाँ लोक को पवित्र कर रही हैं। परमेष्ठी महादेव का तथा तुम्हारा आश्रय प्राप्त कर त्रिलोक पावनी गंगा अपने आपको धन्य मानती है ‡। यज्ञ भाग को प्राप्त करनेवाले देवगणों में तुम्हारी भी गणना होती है, तुम्हारे समक्ष सुवर्णमय शिखरोंवाला सुमेरु मन्दप्रभ है ‡। अस्तु, हम जिस कार्य के लिए आये हैं वह वस्तुतः तुम्हारा ही है किन्तु, उसे तुम्हारे सम्मुख उपस्थित करने का श्रेय हमें अवश्य मिलेगा ⁑। तदनन्तर ऋषियों ने अनेक प्रकार से शिव का परिचय देते हुए कहा कि स्वयं वे शम्भु तुम्हारी कन्या का पाणिग्रहण करना चाहते हैं और इसी प्रार्थना के लिए उन्होंने हमें तुम्हारी सेवा में भेजा है। अतः जिस प्रकार वाणी अर्थ से युक्त है तुम भी पार्वती को शिव से युक्त करदो। अपनी पुत्री योग्य वर को देकर माता पिता निश्चिन्त हो जाते हैं ⁂। तुम्हारी कन्या के बड़े भाग्य हैं कि सभी देवता भी शिव से दूसरे नम्बर पर इसके ही चरणों में प्रणाम किया करेंगे। वधू तुम्हारी कन्या, देनेवाले तुम, माँगनेवाले हम और वर स्वयं शम्भु-तुम्हारे कुल का इससे अधिक गौरव क्या हो सकता है§ ! जो किसी की स्तुति नहीं करता किन्तु जिसकी स्तुति सब करते हैं, जो किसी की वन्दना नहीं करता, किन्तु जिसकी वन्दना सब करते हैं उससे अपनी कन्या का सम्बन्ध कर तुम विश्वगुरु के भी गुरू बन जाओ‡।

---

* एते वयममी दाराः कन्येयं कुलजीवितम्। ब्रूत येनात्र वः कार्यमनास्था बाह्यवस्तुषु॥ कुमार०, सर्ग ६—६३॥

† उपपन्नमिदं सर्वमतः परमपि त्वयि। मनसः शिखराणाञ्च सदृशी ते समुन्नति॥ कुमार, सर्ग ६—६६॥
स्थाने त्वां स्थावरात्मानं विष्णुमाहुस्तथाहिते। चराचराणां भूतानां कुक्षिराधारतां गतः॥ कुमार०, सर्ग ६—६७॥

‡ अच्छिन्नामलसन्तानाः समुद्रोर्म्यनिवारिताः। पुनन्ति लोकान् पुण्यत्वात् कीर्तयः सरितश्चते॥ कुमार०, सर्ग ६—६९।
यथैव श्लाघ्यते गंगा पादेन परमेष्ठिनः। प्रभवेण द्वितीयेन तथैवोच्छिरसा त्वया॥ कुमार०, सर्ग ६—७०॥

‡ यज्ञभागभुजां मध्ये पदमातस्थुषा त्वया। उच्चै हिरण्मयं शृंगं सुमेरोर्वितथी कृतम्॥ कुमार०, सर्ग ६—७२॥

⁑ तदागमनकार्यं नः शृणु कार्यं तवैन तत्। श्रेयसामुपदेशात्तु वयमत्रांशभागिनः॥ कुमार०, सर्ग ६—७४॥

⁂ स ते दुहितरं साक्षात् साक्षी विश्वस्य कर्मणाम्। वृणुते वरदः शम्भुरस्मत् संक्रामितैः पदैः॥ कुमार०, सर्ग ६—७८॥
तदर्थमिव भारत्या सुतया योक्तुमर्हसि। अशोच्या हि पितुः कन्या सद्भर्तृप्रतिपादिता॥ कुमार०, सर्ग ६—७९॥

§ प्रणम्य शितिकण्ठाय विबुधास्तदनन्तरम्। चरणौ रञ्जयन्त्वस्याश्चूडामणि मरीचिभिः॥ कुमार०, सर्ग ६—८१॥
उमावधूर्भवान् दाता याचितार इमे वयम्। वरः शम्भुरलंह्येष त्वत् कुलोद्भूतये विधिः॥ कुमार०, सर्ग ६—८२॥

‡ अस्तोतुः स्तूयमानस्य वन्द्यस्यानन्यवन्दिनः। सुतासम्बन्ध विधिना भव विश्वगुरोर्गुरुः॥ कुमार०, सर्ग ६—८३॥

इस प्रकार हमने देख लिया कि कवि के लिए हिमालय केवल मिट्टी और पत्थरों का ढेर ही नहीं, वह देवतात्मा भी है—देवता रूप है*। वह उसकी आराध्या देवी भगवती पार्वती का ही गुरू अर्थात् पिता नहीं किन्तु विश्वभर के गुरू स्वयं शिव का भी गुरू है। त्रैलोक्य नमस्कृत महादेव उसे सिर झुकाकर प्रणाम करते हैं। वे उसे अपना श्वसुर बनाकर अपने आपको कृतार्थ मानते हैं†।

गंगायुक्त हिमालय के इस थोड़े से प्रदेश के प्रति कवि का पक्षपात रघुवंश में भी प्रकट हुए बिना नहीं रह सका। रघु की विजयवाहिनी सब देशों को पादाक्रान्त करती हुई फारस, हूण देश और कम्बोज होती हुई, पंजाब को पारकर अन्त में कवि के इसी गौरी-गुरु हिमालय के चरणों में आ पहुँची‡। कवि का स्वदेशानुराग इसे मगध की तरह बिना निर्देश किये ही आगे बढ़ने नहीं देता। वह इसकी पराजय भी नहीं दिखलाता। अत: कवि लिखता है :—"रघु की घुड़सवार सेना हिमालय पर चढ़ने लगी। घोड़ों के सुमों के आघात से उठी रेणु से मानों वह उसके शिखरों का अभिवर्धन-अभिनन्दन कर रही थी। वहाँ कन्दराओं में सोये हुए सिंहों ने, सैन्यघोष से निद्रा भंग होने पर एकवार गर्दन फेरकर निर्भयता से उस ओर देखा और फिर लेट गए‡। मानों उन्होंने यह कहा कि हम भी तुम्हारी तरह ही वीर हैं, तुम्हारी कुछ परवाह नहीं करते। तुम हमें न छेड़ो, हम तुम्हें कुछ न कहेंगे। यहाँ कवि ने जिस कौशल से अपने प्रदेश के पुरुष-सिंहों की आनवान का वर्णन कर दिया है वह केवल सहृदय ही समझ सकते हैं। यह हिमालय का कौनसा प्रदेश है—यह सन्देह किसीको न रह जाए इसलिए कवि कहता है कि "भूर्जपत्रों में मर्मरित तथा वेणुओं से वंशी ध्वनि करनेवाले तथा गंगा के जलकणों से सुशीतल मारुत उसकी सेवा कर रहे थे†। यहाँ से कुछ आगे बढ़ते ही रघु का संघर्ष पर्वतीय गण राज्यों से हुआ*।

राजा दिलीप वशिष्ठ ऋषि की धेनु नन्दिनी को चराने के लिए प्रतिदिन वन में जाया करते थे। एक दिन राजा की परीक्षा करने के लिए वह गौरीगुरू हिमालय§ की उस घाटी में जा पहुँची, जहाँ गंगा के प्रपात के निकट हरी हरी घास लहलहा रही थी। कहाँ हिमालय और गंगा, एवं कहाँ अयोध्या तथा उसके निकट ही वशिष्ठ का आश्रम ? कुछ समझ में नहीं आता कि मामला क्या है। गंगा और हिमालय ने कवि की कल्पना पर कुछ ऐसा प्रभाव कर रक्खा है कि उसे सर्वत्र वे ही दीखते हैं। कवि विशाखदत्त ने राजा नन्द की ऐसी ही प्रेमदशा का वर्णन राक्षस के इस उद्‌गार में किया है—

"अज्ञासीः प्रीति योगात् स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम्"

अभिज्ञान शाकुन्तल के छठे अंक में मछुए द्वारा अँगूठी मिल चुकने के पश्चात् राजा को सब पुरानी बातें एक एक कर याद आ रही हैं। "किस प्रकार मैंने शकुन्तला का तिरस्कार किया, किस प्रकार वह बेचारी अपने साथियों की ओर बढ़ी ही थी कि उसी समय कण्व के शिष्य शारंगरव ने उसे निष्ठुरता से डाँट दिया और तब किस प्रकार अश्रुपूर्ण कातर-नेत्रों से वह मेरी ओर ताकती रह गई, इसकी कटुस्मृति मेरे हृदय को विष-दग्ध शर की तरह छेद रही है§।" इसी समय

---

* अस्त्युत्तरस्याँ दिशि देवतात्मा, हिमालयो नाम नगाधिराजः॥ कुमार०, सर्ग १, श्लोक १॥

† हरीर्मानिभूद्‌भूमिधरो हरेण, त्रैलोक्य वन्द्येन कृत प्रणामः॥ कुमार०, सर्ग ७, श्लोक ५४॥

‡ ततो गौरी गुरुं शैलं मारुरोहाश्वसाधनः। वर्धयन्निव तत् कूटानुद्धूतैर्धातु रेणुभिः॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७१॥

‡ शशंस तुल्य सत्त्वानां सैन्यघोषेऽप्यसंभ्रमम्। गुहाशयानां सिंहानां परिवृत्यावलोकितम्॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७२॥

† भूर्जेषु मर्मरीभूताः कीचक ध्वनि हेतवः, गंगाशीकरिणो मार्गे मरुतस्तं सिषेविरे॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७३॥

* तत्र जन्यं रघोर्घोरं पर्वतीयैर्गणैरभूत्॥ रघु०, सर्ग ४, श्लोक ७७॥

§ अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोमधेनुः। गंगाप्रपातान्तविरूढशष्पं गौरीगुरो गह्वरमाविवेश॥ रघु०। सर्ग २-२६॥

§ इतः प्रत्यादेशात्स्वजनमनुगन्तुं व्यवसिता मुहुस्तिष्ठेत्युच्चैर्वदति गुरुशिष्ये गुरुसमे।
पुनरदृष्टि वाष्पप्रसर कलुषामर्पितवती मयिक्रूरे यत्तत्सविषमिव शल्यं वहति माम्॥ शाकु० ६॥ ९॥

उसके बनाये शकुन्तला के चित्र को लेकर परिचारिका चतुरिका वहाँ आ जाती है। राजा देखकर कहता है कि यह तो अभी अधूरा ही है। वह तूलिका मँगवाता है। अपने मित्र माधव्य के यह पूछने पर कि इसमें अब और क्या बनाना शेष है? राजा उत्तर देता है कि सुनो—'पहले तो इसमें मालिनी नदी बनानी है, जिसके पुलिन में हंस-युगल केलि कर रहे हैं। उसके दोनों प्रान्तों में गौरीगुरु हिमालय के पावन टीले अंकित करने हैं। और फिर जिसकी शाखाओं में मुनियों के वल्कल वस्त्र लटक रहे हैं ऐसे तपोवन तरु के नीचे कृष्णमृग के सींग से अपने वामनेत्र को खुजाती हुई एक हरिणी का भी चित्र बनाना चाहता हूँ *। कवि चाहता तो चित्र को पहले ही पूर्ण बनवा सकता था, ऐसा न करके उसने पीछे से गिनाई इन वस्तुओं पर विशेष बल ही दिया है। नहीं तो गौरी-गुरु के प्रति कवि का असाधारण अनुराग पाठकों के ध्यान में कैसे आता?

कुमार-सम्भव, शाकुन्तल और मेघदूत की तरह विक्रमोर्वशीय नाटक की घटना का मुख्य स्थान भी हिमालय ही है। उर्वशी आदि अप्सराएँ कुबेर के यहाँ से लौट रही थीं कि मार्ग में उनपर हिरण्यपुरवासी केशी दानव ने आक्रमण कर दिया। उसने उर्वशी तथा चित्रलेखा को बन्दी बना लिया। शेष अप्सराओं के क्रन्दन कोलाहल को सुनकर सूर्य की पूजा करके लौटता हुआ राजा पुरुरवा अचानक वहाँ आ निकला। उसने युद्ध करके असुर के हाथ से उर्वशी का उद्धार किया। राजा की वीरता पर वह मुग्ध होकर उसके प्रिय पाश में बद्ध हो गई। अनेक विघ्नों के बाद तृतीय अंक में दोनों प्रेमी एक दूसरे को पा सकने में सफल हुए। चतुर्थांक में राजा पुरुरवा उर्वशी को साथ लेकर हिमालय में गन्धमादन पर्वत पर पहुँचता है। वह गंगा के तट पर खेलती हुई किसी विद्याधर कुमारी को देखने लगता है इससे रुष्ट होकर उर्वशी कार्तिकेय के तपोवन में जा निकलती है, वहाँ जाते ही वह लता बन जाती है। राजा उसे सर्वत्र ढूंढ़ता फिरता है, अन्त में संगमनीय मणि के प्रभाव से वह पुनः अपनी प्रियतमा को प्राप्त कर लेता है। इत्यादि।

कुमार-सम्भव के आधार पर पहले भी बहुत कुछ लिखा जा चुका है। अब दो पद्य और देकर इस प्रसंग को समाप्त करते हैं। कुमार सम्भव के प्रथम सर्ग का प्रारम्भ ही हिमालय की महिमा के गान से होता है। कुछ दूर चलकर कवि लिखता है कि "भागीरथी के झरने के जलकणों को वहन करनेवाले, देवदारु के वनों को पुनः पुनः आन्दोलित करते हुए, मयूरों को प्रचकित करनेवाले जिसके पवन को शिकार के पीछे भागते हुए किरातगण सेवन किया करते हैं †। इसी प्रथम सर्ग के अन्त में कवि पुनः लिखता है—"वे गजचर्मधारी, संयतेन्द्रिय, अपने गंगा-प्रवाह से देवदारु वन को आप्लावित करनेवाले महादेवजी कस्तूरीमृग की सुरभि से सुवासित, किन्नरगणों की मन्द संगीत ध्वनि से मुखरित, हिमगिरि के उस प्रदेश में, समाधिस्थ होग ये।" (कुमार १-५३)।

ऋतुदृश्यादि—इस प्रकार हमने देख लिया कि केवल मालविकाग्निमित्र नाटक तथा ऋतुसंहार काव्य को छोड़कर इस कवि की कोई भी रचना ऐसी नहीं जिसमें गंगायुक्त हिमालय के वर्णन को महत्त्व न मिला हो। अब हम कवि के ग्रन्थों पर संक्षेप में इस दृष्टि से विचार करते हैं कि उनमें किस प्रदेश के ऋतु दृश्यादि का वर्णन प्रायः मिलता है।

ऋतुसंहार—पहले भी कहा गया है कि ऋतुसंहार की रचना कवि ने सम्भवतः उज्जयिनी में रहकर की है। वह उसकी प्रारम्भिक कृति है। हमारा अनुमान है कि कवि लगभग १८-२० वर्ष की आयु में स्वदेश छोड़कर मध्य भारत पहुँचा है, और उन्हीं दिनों कविता के मार्ग में अनभ्यस्तपदन्यासा, अव्यक्तवर्ण रमणीयवचः प्रवृत्ति उसकी शिशुप्रतिभा इसमें लड़खड़ाती तथा तुतलाती दृष्टिगोचर होती है। ऋतुसंहार में एक दो स्थान पर विन्ध्य‡ का नाम लेकर वर्णन किया

---

* कार्यासैकत लीन हंसमिथुना स्त्रोतोवहा मालिनी। पादास्तामभितोनिषण्ण हरिणा गौरीगुरोः पावनाः॥
शाखालम्बितवल्कलस्य च तरो निर्मातुमिच्छाम्यधः। शृंगे कृष्णमृगस्य वामनयनं कण्डूयमानां मृगीम्॥ शाकु० ६।१७॥

† भागीरथी निर्झरसीकराणां वोढा मुहुः कम्पित देवदारुः। यद्वायुरन्विष्ट मृगैः किरातैरासेव्यते भिन्न शिखण्डि बर्हः॥
कुमार० सर्ग १ पद्य १५॥

‡ जलभरविनतानामाश्रयोऽस्माक मुच्चै रयमिति जलसेकैस्तोयदास्तोयनम्राः।
अतिशयपरुषाभिर्ग्रीष्मवह्नेः शिखाभिः समुपजनिततापं ह्लादयन्तीव विन्ध्यम्॥ ऋतुसं० २।२७॥

गया है। ऋतुवर्णन भी ऐसा है जो प्रायः उत्तर भारत में नहीं हो सकता। कवि ने लिखा है—"कि शरद् ऋतु में नारियाँ प्रहृष्ट होकर अपने स्तनमण्डलों को चन्दनलेप तथा मुक्ताहारों से एवं श्रेणीतट को रशनाकलापों से अलंकृत कर रही हैं।* यहाँ तक कि क्षेत्रों में सस्य के नवप्रवालोद्गम से रमणीय, पके हुए धान के खेतों से सुशोभित, कमलों को जला देनेवाले और तुषारवर्ती हेमन्त के आ जाने पर भी कुछ मनचली स्तनशालिनी विलासिनियाँ अपने वक्षःस्थल को चन्दनराग और तुषार, कुन्द तथा चन्द्र के समान सुन्दर मुक्ताहारों से सजाती ही चली जाती हैं। यद्यपि बहुतसी दूसरी प्रमदाओं ने बाहुओं में से अनन्त, कमर में से काञ्चीकलाप और पैरों में से नूपुरों को उतार दिया है† । इस हेमन्त में भी प्रफुल्ल नीलोत्पलों से अलंकृत, मदमत्त राजहंसों से सुशोभित, निर्मल एवं शीतल जलवाले सरोवर लोगों के हृदयों को हरते रहते हैं‡। हिमालय तथा गंगा के निकटवर्ती उत्तर भारत में न तो यत्रतत्र बड़े बड़े सरोवर ही देखने में आते हैं और न हेमन्त में लोग उनका आनन्द-लाभ कर सकते हैं। ऋतुसंहार में हेमन्त तथा शिशिर में भी शीतल ओस के ही टपकने तक का वर्णन है। हिमों के जमने तथा घने कुहरों से गगनमण्डल के घटाटोप हो जाने का नहीं। किन्तु प्रकृति का यह रूप हमें कवि के केवल एक ही ग्रन्थ ऋतु-संहार में उपलब्ध होता है अन्यत्र नहीं। और इसका कारण भी हमने स्पष्ट कर ही दिया है कि इसमें कवि ने विशेषतया उसी प्रदेश की ऋतुओं का वर्णन किया है। कुमार-सम्भव, मेघदूत और कहीं कहीं रघुवंश में भी ऋतुओं का जो रूप हमारे सामने आता है और जोकि कवि के नेत्रों में, हृदय में, कल्पना में बसा हुआ है वह दूसरा ही है। वह तो वही है जो गंगायुक्त हिमालय के प्रदेशों में झलकता है। मेघदूत के उत्तरभाग का छठा पद्य देखिये—"जिस नगरी के गगनचुम्बी महलों की ऊपर की बैठक में पवन के साथ चुपचाप प्रवेशकर और वहाँ के सुन्दर पदार्थों—चित्रादिकों को अपने जलकणों से विकृत करके मानों शंकाकुल हुए तुम जैसे मेघ, धूमराशि का वेष धारण कर, जालमार्गों द्वारा सफाई से खिसक जाते हैं⁑। मकानों के अन्दर मेघों के इस प्रकार घुस आने और निकल जाने का वर्णन हिमालयवासी कवि ही कर सकता है, अन्य नहीं।

रघुवंश के चौदहवें सर्ग के ३७वें पद्य में कवि श्रीराम के मुख से पुनः कहलवाता है—"देखो तो! भगवान् सूर्य से उत्पन्न, सदाचार से उज्ज्वल, राजर्षिवंश मेरे व्यवहार के कारण इस प्रकार कलंकित होने को है, जैसे मेघवात के संस्पर्श से दर्पण⁂!" स्वयंवर-सभा में परास्त हुए कुछ जी-जले राजाओं ने राह में असहाय समझकर अज को घेर लिया। घोर युद्ध प्रारम्भ हुआ "शत्रुओं के चलाए हुए अस्त्र-जाल से उसका रथ आच्छन्न हो गया। उसकी केवल ऊँची ध्वजा ही दूर से दीख रही थी, मानों कुहरे से ढके हुए दिन के पूर्वभाग में ऊपर से थोड़ासा सूर्य चमक रहा हो⁂।" शत्रुओं को परास्त करके

---

* हारैः सचन्दनरसैः स्तनमण्डलानि, श्रोणीतटं सुविपुलं रसनाकलापैः। पादाम्बुजानिकलनूपुरशेखरैश्च नार्यः प्रहृष्ट-मनसोऽद्यविभूषयन्ति॥ ऋतुसं० ॥ ३।२०॥

† मनोहरैश्चन्दनरागगौरैस्तुषार कुन्देन्दुनिभैश्च हारैः। विलासिनीनां स्तनशालिनीनामलं क्रियन्ते स्तनमण्डलानि॥ ऋतुसं० ४।२॥
न बाहुयुग्मेषु विलासिनीनां प्रयान्ति संगं वलयांगदानि। नितम्बबिम्बेषु नवं दुकूलं तन्वंशुकं पीनपयोधरेषु॥ ४।३॥
कांचीगुणैः काँचनरत्नचित्रैर्नो भूषयन्ति प्रमदा नितम्बम्। न नपुरैर्हंसरुतं भजद्भिः पादाम्बुजान्यम्बुजकान्तिभांजि।४।४।

‡ प्रफुल्ल नीलोत्पल शोभितानि सोन्मादकादम्ब विभूषितानि, प्रसन्नतोयानि सुशीतलानि सरांसि चेतांसि हरन्ति पुंसाम्॥ ऋतु० सर्ग ४ पद्य ९॥

⁑ नेत्रा नीताः सततगतिना यद्विमानाग्रभूमीरालेख्यानां सलिलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः॥
शंकास्पृष्टाइव जलमुवस्त्वादृशा जालमार्गैं धूमोद्गारानुकृति निपुणा जर्जरा निष्पतन्ति॥ मेघ० उत्तर। पद्य ६॥

⁂ राजर्षिवंशस्य रवि प्रसूते रूपस्थितः पश्यत कीदृशोऽयम्। मत्तः सदाचारशुचेः कलंकः पयोदवातादिव दर्पणस्य॥ रघु० सर्ग १४ पद्य ३७॥

⁂ सोऽस्त्रव्रजैश्छन्नरथः परेषांध्वजाग्रमात्रेणबभूवलक्ष्यः। नीहारमग्नो दिनपूर्वभागः किंचित्प्रकाशेन विवस्वतेव॥ रघु० सर्ग ७ पद्य ६०॥

सकुशल लौटे हुए अज को देखते ही इन्दुमती का विषादविमुक्त-मुखारविन्द ऐसा शोभित हुआ जैसाकि निःश्वास पवन के स्पर्श से मलिन दर्पण पुनः निर्मल हो जाता है*।" लक्ष्मण द्वारा लाए गए निर्वासिता सीता के सन्देश को सुनते ही श्रीराम का साश्रु-मुखमण्डल पौष के तुषारावर्षी चन्द्रमा की तरह मलिन हो गया†। इत्यादि अनेकों ही स्थलों पर कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा हमें ऐसे निर्देश दे दिये हैं जिनसे हमारी यह धारणा दृढ़ होती चली जाती है कि वह अवश्य ही गंगायुक्त हिमालय के प्रदेश का निवासी था, जहाँ के दृश्यों ने उसके हृदय को सर्वाधिक प्रभावित किया था।

'कुमार-सम्भव में तो है ही हिमालय का वर्णन। अतः उसे भी हम ऋतु-संहार की तरह ही किसी स्थापना के पक्ष-विपक्ष में प्रमाण के रूप में उपस्थित नहीं करते तो भी इतना अवश्य कह देना चाहते हैं कि वैसा वर्णन भी कोई ऐसा व्यक्ति नहीं कर सकता जिसके जीवन का बहुत बड़ा भाग हिमालय में न व्यतीत हुआ हो।

यहाँ पर हम अत्यन्त संक्षेप से यह भी कह देना आवश्यक समझते हैं कि यह कवि वंग-वासी नहीं था। नहीं तो वह इतनी तटस्थता अथवा निष्ठुरता से वंग के पराजय की घोषणा न करता। यह भी निर्विवाद है कि कवि का काश्मीर से भी कोई सम्बन्ध नहीं। उसकी अलका में वकुल, रक्ताशोक मयूर आदि जिन पदार्थों का वर्णन किया गया है वे काश्मीर की विशेषता नहीं। कवि ने शरद् की चाँदनी रातों का आनन्द‡ लेने की अभिलाषा प्रगट की है, जो काश्मीर में सुखद नहीं हो सकती।

हमने अपने विचारों को संक्षेप में पाठकों के विचारार्थ उपस्थित कर दिया है। हम अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुए हैं, यह निर्णय करना हमारा कार्य नहीं। हम तो इतना ही जानते हैं कि—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा॥ रघु० ।१। १०॥

---

* **तस्या प्रतिद्वन्द्विभवात् विषादात् सद्योविमुक्तं मुखमाबभासे। निःश्वास वाष्पापगमात् प्रपन्नः प्रसादमात्मीयमिवात्मदर्शः॥ रघु० सर्ग ७ पद्य ६८॥**

† **बभूव रामः सहसा सवाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः। कौलीन भीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेह सुता मनस्तः॥ रघु० सर्ग १४, पद्य ८४॥**

‡ **पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं, निर्वेक्ष्यावः परिणत शरच्चन्द्रिकासु क्षपासु॥ उत्तरमेघ। श्लोक ५३॥**



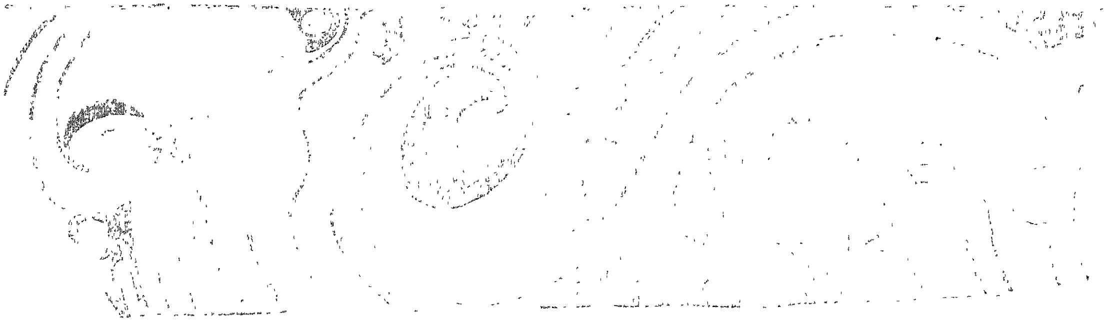


कवि कालिदास

श्री सोहनलाल द्विवेदी

कवि कालिदास !
कैसा था कनक-अतीत ?
मालव की सुंदरियों के मुखरित थे मधुर गीत !
कैसी थी वसुंधरा, पुष्पभरा ?
क्षिप्रा की लहरों में कैसी आनंद-लहर ?
कैसे थे वे पुण्य-प्रहर ?
कल्पना तुम्हारी जगी,
विधुर यक्ष कान्ता के स्नेह-पगी !
'कश्चित कान्ता विरह गुरुणा'—की प्रथम पंक्ति
झंकृत हुई थी जिस दिन तुम्हारे मन में,
प्रथम प्रथम प्रतिभा, उसी दिन,
करके सोलह श्रृँगार,
नवरस नव अलंकार,
उपमा ले निरुपमा,
स्वर्ग से उतर आई करने धरा में विहार !
मेघदूत-कवि ! क्या यह सब तुम्हारी कथा ?
यह सब तुम्हारी ही विरहव्यथा ?
यक्ष का पक्ष केवल कला का है अवगुंठन ?
मानवीय संवेदन, विरह-मिलन !
कहता है शब्द-शब्द छंद-छंद !
रघुवंश का भी महा प्रबंध !
'मेघदूत'
विरह-उछ्वास है,
कहती है अनुभूति—
प्रच्छन्न ही सही,
यह तुम्हारा इतिहास है !
कवि !
कहो कौन मालव सुंदरी
हास-भरी, लास-भरी,
विविध विलास भरी,
जिसके अयोग से हुए तुम मर्माहत !
अर्धमृत !!
भेजा था मेघदूत उसे ही मनाने को
अलका भी तुम्हारी वहीं कहीं होगी निकट ही !
हिमगिरि और रामगिरि का रूपक सजाया क्यों ?
सोचा होगा मर्म हम तुम्हारा जान पायेंगे न यों !!
कहती है विकल व्यथा,
कवि वह तुम्हारी कथा !!
महाकवि !
तुमने लिखे अमर काव्य दृश्य, श्राव्य !

महाकाल कालेश्वर की ऐतिहासिक आरती,
कैसे थी संवारती वीणा पाणि।
भारती !
ग्राम-वृद्ध करते उदयन की चर्चा,
किन्तु, कवि !
तुमने कहीं न की क्यों
उस मानव की अर्चा
जिसका नामधेय पूछोगे हमसे तुम ?
जो था भारत के भाल पर
सौभाग्य कुंकुम !
प्रबल प्रताप,
जिसके हुंकार से अरि उठते थे काँप !
यह भी बताना होगा क्या ?
दुर्मद दुरंत यवनों का आक्रमण
त्रस्त व्यस्त वनगण !!
छाया था तिमिर सघन,
उठी घोर प्रलय घटा,
कंठगत प्राण,
द्वार पर था खड़ा मरण !!!
एक पदाघात से,
वज्र झंझावात से,
किसने विकीर्ण किये यवनों के कालधन ?
जाके टकराये वे हिमगिरि के शृंग से !
चूर्ण-चूर्ण होके बिखरा उनका दृप्त अभिमान !
गाने लगे पुलकित दिगंत—
परम पराक्रम विक्रमादित्य का विजय गान !
यशो-गान !!
विक्रम दिवस स्मारक यह
विक्रम का संवत्सर !
उस दिन से ही पुरःसर !
उज्जयिनी अवन्तिका,
संस्कृति का पलना,
कलना जहाँ होती थी
नक्षत्रों की दिन-रात !
भूल गए सभी बात ?
अमरसिंह, घटखर्पर वररुचि
वराहमिहिर, धन्वन्तरि
क्षपणक आदि
नवरत्नों की नव्यसभा
विगलित करती थी
देवों की दिव्य प्रभा ?
उसकी भी न दे पाये तुम एक विभा ?
होता जहाँ रहता था दिन दिन हर्षोत्सव,
निशि-निशि दीपोत्सव !
वैभव विभूतियाँ करती थीं
रँगरेलियाँ !
अठखेलियाँ !!
इन्द्रधनु बन जातीं दिग्वधुएँ
रत्नों के रंग से
कौतुक प्रसंग से
वैभव तरंग से !
आज हो रहा है उस मानव का कीर्तिगान
जिसने भुज विक्रम से दिया था हमें अभयदान,
प्राण-दान !
महात्राण !
अंबर में गूँथ दिये थे यहीं
सुख-शांति के सुखद वितान !
गरिमाएँ महिमाएँ लेती थीं मदिर तान !
जहाँ आज भासमान
काल फण पर मणि समान
अमर तुम्हारे गान !!
कवि-कुल-गुरु कालिदास !
आज यदि होते यहाँ,
हर्ष-भार ढोते यहाँ,
महाप्राण ! लिखते अवश्य तुम
कोई मधुर महागान,
जिसका होता गीत-भार—
'भारतीय संस्कृति के अभ्युत्थान !
विक्रम महान् !'
आज जहाँ तक भी तुम्हारे,
कवि कालिदास—
काव्य की सुरभि-प्रसार
वहाँ तक—
चक्रवर्त्ति सम्राट् !
अमिट है तुम्हारे विजयकेतु का विस्तार !!!



मेघदूत—कामरूप पुरुष

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल एम० ए०, पी०-एच्० डी०

१

मेघ अनेक कौतुकों के आधान का हेतु* है। उसके आने से प्रकृति में न जाने कितनी नवीन अभिलाषाओं का उदय होता है, कितनी तीव्र विश्वतोमुखी चेतना सब जगह फूट पड़ती है। सबही मेघ के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित करते हैं। किन्तु सामान्यतया मेघ को जड़ समझा जाता है। उसके स्वरूप में ऐसी कौनसी बात है जो चेतन-अचेतन सभी प्राणी मेघ का स्वागत करने पर उतारू हो जाते हैं? वर्षाऋतु के नए खिलते हुए सौन्दर्य को जिसने एकबार भी देखा है और मननपूर्वक देखकर उस आनन्द की बहिया में अपने आपको बह जाने दिया है, वह अनुभव के साथ कह सकता है कि सावन-भादों का उमड़ा हुआ जीवन कवि की कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि जामुनों के रस-निर्भर होने, बलाकाओं के काले-काले बादलों में ऊँची उड़ान भरने और गम्भीरा के इतराने में एक विश्वव्यापी परिवर्तन और सच्चाई है, जो प्रकृति के साथ साथ मनुष्य के मन को भी मस्त कर देती है। इनके स्रोत का खोजी प्रत्येक सहृदय है, वह प्रकृति की पाठ्य पुस्तक में से ही मेघ के नाना-स्वरूपों का अध्ययन कर लेता है। उसके लिए मेघदूत का सारा वर्णन एक खण्ड-काव्य में कैसे समा सकता है? मेघ-काव्य की व्याख्याएँ अनन्तकाल तक होती रहेंगी। प्रकृति स्वयं ही हर वर्ष मेघदूत पर महाभाष्यों की रचना करती है।

मेघ के वर्ण कितने प्रकार के हो सकते हैं, इसे कोई कवि कहाँ तक लिखकर बताएगा। कज्जल के पहाड़ और चिकने घुटे अंजन (१।५९)† की आभारूप जो उपमान हैं, वे मेघ की सार्वभौम वर्षाकालीन श्री‡ के वर्णन के लिए प्रतीक मात्र हैं। पर्वतों में, घाटियों में, वनों में, गाँवों में, आठ पहर के भीतर सदा बदलनेवाली कान्ति का अध्ययन तो प्रकृति का निरीक्षक सहृदय पाठक ही कर सकता है। इसी प्रकार बिजली के चमकने और बादल के गरजने को भी जहाँ तक कहते बना कवि ने कहा है। नदी तीरों के उपान्त भाग में जो सुभग स्तनित होता है⁑, पर्वत-कन्दराओं में आमन्द्र प्रतिध्वनि के कारण

* तस्य स्थित्वा कथमपिपुरा कौतुकाधानहेतोः। मेघ० १।३।

† स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे—मेघदूत।

‡ इष्टान् देशाञ्जलदविचर प्रावृषा सम्भृतश्रीः—मेघ० २।५२।

⁑ तीरोपान्तस्तनित सुभगं—मे० १।२४।

जो मुरज ध्वनि होती है*, तथा जो श्रवण परुष† और स्निग्ध गम्भीर घोष‡ हैं, उनका वर्णन करके भी कालिदास ने मेघ के स्तनयित्नुरूप के सामने विराम-चिह्न नहीं लगा दिया है। जब तक प्रकृति में मेघ गरजेंगे तभी तक कविकृत वर्णनों की नई नई व्याख्याएँ होती रहेंगी। मेघदूत के सम्पूर्ण रहस्य को व्याख्याओं द्वारा प्रकाशित कर देना दक्षिणावर्तनाथ, अरुणगिरिनाथ और मल्लिनाथों के बस की बात नहीं है।

यह तो मेघ के स्थूल रूप की बात हुई; उसका अभिलाषाओं के नये नये बीज बोनेवाला स्वरूप तो और भी गम्भीर और अजेय है। यथार्थ में कवि को मेघ के कौतुकाधान रूप से ही विशेष प्रयोजन है। उसीके सहारे वह चेतनाचेतन के भेद को भुलाकर प्रकृति-व्यापी एकता का दिग्दर्शन कराना चाहता है। हमारे यक्ष ने पहले आँख उठाकर मेघ को वप्रक्रीड़ा में लगे हुए हाथी के समान ही देखा। इस दर्शन में मनोभावों का बिलकुल सहयोग न था, वह केवल इन्द्रिय-जन्य-प्रत्यक्ष ज्ञान था। लेकिन मेघ मनोभावों पर ही प्रभाव डालनेवाला है। उसके कौतुकाधान हेतु रूप के सामने कुछ देर खड़े रहने पर यक्ष की जागरूकता बढ़ी। पहले केवल इन्द्रियाँ काम करती थीं, अब मन में उथल-पुथल हुई। यक्ष की उन्हीं आँखों में आँसू भर आए—**अन्तर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।**

रामगिरि के आश्रम में बैठे बैठे उसके मन ने अलका की दौड़ लगाई। दूरंगम और वेगशाली मन के लिए समय की अपेक्षा नहीं है। शरीर स्थूल है, वही भर्ता के शाप से बँध सकता है, मन तो शाप की दशा में भी स्वतन्त्र है। फिर वह मन आठ महीनों की साधना में तप चुका है, उसकी अनुभव-योग्यता और स्फुरण-प्रतिभा बहुत उत्कृष्ट हो गई हैं। उसने पहले इस शाश्वत नियम का आविष्कार किया—**मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः**

अर्थात्, मेघ के देखने पर संयोगीजनों का चित्त भी दूसरी तरह का हो जाता है, फिर उनका तो कहना ही क्या जो वियोगी हैं—**कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे।**

अर्थात्, जिन्होंने अपने सहचर मीत से दूर बसेरा लिया है उनके लिए तो वर्षाकाल अति दूभर है। यक्ष को जैसे ही कण्ठालिंगन प्रणयवती भार्या का स्मरण हुआ, उसकी विह्वलता बढ़ी और देश का व्यवधान उसके लिए असह्य हो उठा। हा, कौनसा ऐसा अपराध है जिसके कारण उसे निम्न लिखित दण्ड मिले—**सोऽतिक्रान्तः श्रवण विषयं लोचनाभ्यामदृष्टः** देश की बाधा पर विजय पाने का एक मार्ग तो यह था—

"यो वृन्दा नित्वरयति पथि श्राम्यतां प्रोषितानाम्।
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि। मेघ० २।३६।

अर्थात्, मेघ का शब्द सुनकर जैसे विप्रोषित पथिकों के समूह अपनी पतिव्रता भार्याओं की कर्कश-रुक्ष-वेणी-मोक्ष करने की इच्छा से घरों को लौट पड़ते हैं, वैसेही यक्ष भी अलका को वापिस चला जाता। परन्तु यह महीना सावन का था। यक्ष का शापान्त होने में चार मास की देरी थी। यक्ष की मुक्ति तो तब होगी जब शारंगपाणि विष्णु शेष की शय्या से उठेंगे (**शापान्तोमे भुजगशयनादुत्थिते शार्ंगपाणौ**)। इसलिए उसके सामने एक ही उपाय रह गया। उसके द्वारा यद्यपि प्रत्यक्ष सम्मिलन तो नहीं हो सकता था, किन्तु कुछ कुछ वैसे ही आनन्द की अनुभूति सम्भव थी—

कान्तोदन्तः सुहृदुपनतः संगमात्किचिदूनः

---

* **निह्रादस्ते मुरज इव चेत् कंदरेषु ध्वनिः स्यात्। संगीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी समग्रः। मेघ० १।५६। इस श्लोक में तथा कुर्वन्संध्या-बलि-पटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्। माभद्राणां फलमविकलं लप्स्यते गर्जितानाम्। (मे० १।३४) श्लोक में मेघ को उपदेश है कि वह अपने स्वर और शब्द को शिवार्पण करके सफल करे। अद्रिग्रहण गुर्शभिर्गर्जितैः—मे० १।४४।**

† **श्रवणपरुषैः गर्जितैः—मे० १।६१।**

‡ **स्निग्धगम्भीरघोषम्—मे० २।१।**



मेघदूत का यक्ष

(चित्रकार श्री रामगोपाल विजयवर्गीय, जयपुर)

अर्थात्, उसके जी में यह आया कि दयिता के प्राणों की रक्षा के लिए अपने किसी मित्र के द्वारा सन्देश-वार्ता सुदूर अलका में भेजे। इसी प्रवृत्तिहारक की हैसियत से मेघ के जिस स्वरूप का ज्ञान कवि ने हमें कराया है वह बहुत ही उच्च, साभिप्राय और सच्चा है।

हमने वैज्ञानिक की मेघ-विषयक नीरस कल्पना के दर्शन किये। **धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः**—अर्थात्, मेघ में है ही क्या? धुएँ ने सलिल का वस्त्र पहिन लिया* है जिसके साथ ज्योति और वायु भी आन मिली हैं। जिसे हम मेघ-मेघ पुकारते हैं उसमें आत्मा तो है ही नहीं। क्षिति-जल-पावक-गगन-समीरा की भाँति कुछ तत्त्वों के एक जगह मिल जाते से मेघ संज्ञक विलक्षण पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। उसमें कैसे मनोभाव और कहाँ की आत्मा? शरीर को ही आत्मा मानने-वाले जड़वादियों की युक्तियों का उपसंहार ही वैज्ञानिक का मेघ है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु नामक चार तत्वों से ही जिनके यहाँ शरीर और आत्मा सब कुछ बन जाती हैं, उनके लिए अमरपन की कल्पना वज्र उपहास के अतिरिक्त और क्या है? आधुनिक विज्ञानान्वेषी शरीर-शास्त्री भी इस देह में भौतिक और रासायनिक (Physical और Chemical) द्विविध कार्यों के अतिरिक्त किसी चैतन्य कार्य को (vital process) मानते हुए बड़े हिचकिचाते हैं, यद्यपि केवल भौतिकी और रसायन के बल पर शरीर के समस्त चैतन्य कार्यों की व्याख्या उनके निकट भी बिलकुल असम्भव है। इस प्रकार के जड़वादी सदा से रहे हैं, यद्यपि कवि की उस शताब्दी में उनको बहुत बल प्राप्त हो गया था। उनकी बड़ी खरी आलोचना कवि ने की और उनके 'सन्निपात' को बिलकुल ही निकम्मा और बेसूझ कहकर उसे तिरस्कृत कर दिया। कवि को जड़ भूतों की आवश्यकता नहीं, वह तो सन्देश पहुँचाना चाहता है जिसके लिए चतुर प्राणियों की अपेक्षा होती है—

धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः।
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः॥ मेघ १।५।

अर्थात्, कहाँ धुएँ, आग, पानी, और हवा का जमघट और कहाँ विचक्षण इन्द्रियोंवाले प्राणियों से ले जाने योग्य सन्देश-वार्ताएँ! † जड़ देह को ही आत्मा कहनेवाले के प्रत्युत्तर में कवि दो बातें रखता है–एक तो जड़ में प्राण संयुत-प्राणी कैसे हो सकता है और दूसरे ज्ञान-विज्ञान में समर्थ अन्तःकरण की उत्पत्ति जड़-सन्निपात में कहाँ से आई? इस विवाद का अन्तिम निर्णय केवल अनुभव की शरण में जाने से हो सकता है। अनुभव उन लोगों का पक्का है जो सर्वत्र चैतन्य के ही दर्शन करते हैं, जिनको अपने चारों ओर आनन्द का महाम्बुधि भरा हुआ जान पड़ता है। ऐसे लोग प्रत्यक्ष अनुभव से कहते हैं कि जिसे तुम जड़ समझते हो वह वास्तव में प्रकृति का ज्ञान-रूप पुरुष है‡। ऐसे विशुद्ध अनुभव के आगे प्रत्यक्षानुमानादि प्रमाण सब निम्नकोटि के हैं। इस प्रकार देहात्मवाद और चैतन्यात्मवादरूप विवाद का यहाँ अन्त करके प्रकृत प्रसंग से सम्बन्ध रखनेवाले मेघ के कामरूप स्वरूप की चर्चा आगे की जायगी।

योगियों के ज्ञान और कामियों के सन्देश को ग्रहण करनेवालों के गुणों में बड़ी समता पाई जाती है। ज्ञान किसी को घोलकर नहीं पिलाया जा सकता। गुरु शिष्य को चिनगारी मात्र दे देता है, उसे जो सुलगा लेता है वही सच्चा चेला है। शिष्य में जब तक तीव्र वैराग्य न होगा अथवा अपने भीतर की आग न होगी, तब तक उसके हृदय में ज्ञान की अग्नि प्रज्वलित न होगी। इसी प्रकार कामीजन भी सन्देश ले जानेवाले को संकेतमात्र दे देते हैं। उदन्त-वाहक जितना चतुर होगा

* मेघे शकस्तस्य धूमः सलिलं वास एव वा। बृहद्देवता ४।४१।

† धूमज्योतिःसलिलमरुतां सन्निपातः पूर्व पक्ष है। सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः पहली बात का प्रत्युत्तर (antithesis) है। जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः में सिद्धान्तपक्ष मिलता है।

‡ कालिदास के समय में दार्शनिक संसार में उपरोक्त दो दलों का बड़ा संघर्ष था। कवि ने अप्रत्यक्ष रूप में अपनी सम्मति का उपन्यास किया है। 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु' और 'जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः' के कामार्ताः और कामरूपं को ज्ञानार्ताः और ज्ञानरूपं पढ़ने से मानो इस विवाद का निर्णायक उत्तर हमें कालिदास के ही शब्दों में मिल जाता है।'

उसकी सन्देश-व्यञ्जना भी वैसीही उत्कट होगी। सन्देश का सारा पोथा कोई किसी को कण्ठ नहीं करा सकता। यदि कोई कामी इसीपर निर्भर रहे कि जो कुछ उसके मन में है उस सभी की उद्धरणी वह सन्देश ले जानेवाले के सामने कर देगा तो यह उसकी भूल है। कामी का हृदय अनन्त हो जाता है। उसमें सारा विश्व समा सकता है। एक ही वियोगी के आँसू सब संसार को प्रलय-सागर में मग्न कर सकते हैं—कवियों का यह कहना अतिशयोक्ति भले ही मालूम हो पर है यह सत्य। एक ज्ञानी का ज्ञान सारे जगत् का उद्धार कर सकता है। आत्मा को जान लेने के बाद ज्ञानी को ऐसा प्रतीत होता है कि अब विश्वभर के बन्धन इससे छूट जायेंगे। उसका मार्ग इतना सरल होता है कि उसकी समझ में सब ही उसपर चलकर सुख-दुःख से पार हो सकते हैं। एक आत्मानुभवी के आनन्द से यदि समस्त विश्व की तपन बुझ सकती है तो एक कामी या वियोगी के आँसुओं से सब पिघल भी सकते हैं, एक सन्तप्त की आह से सब झुलस भी सकते हैं। कारण यह है कि मनोभावों की कुछ थाह नहीं है।-ज्ञान या प्रेम की अनुभूति में शरीर का भान तो बिलकुल छूट जाता है। क्षुत्पिपासा, शीतोष्ण, आदि द्वन्द्वों की सहन-सामर्थ्य दोनों में एकसी हो जाती है। दोनों रात-रातभर जाग सकते हैं, दोनों के ही आँसुओं का प्रवाह संततवाही हो जाता है। इस प्रकार वियोगी के हृदय की कुछ थाह नहीं है।

इतने चेतन-सम्पन्न मन के सारे सन्देश को न कोई विप्रयुक्त जन कहकर पार पा सकता है और न दूसरा याद ही रख सकता है। यदि सन्देशवाहक ज्यों का त्यों ही सन्देश को पहुँचाने पर कमर कसले तो वह सन्देश जड़ीभूत होगा, सन्देश-वाहक केवल पत्र-वाहक बन जायगा। फिर उस सन्देश को सिवाय प्रेमी के और सब न तो सुन ही सकेंगे और न समझ ही सकेंगे। यक्ष का सन्देश-वाहक तो आकाश-मार्ग से जाता है। वह स्वयं सन्देश रूप हो गया है। सर्वदा और सर्वत्र सभी प्राणी उस सन्देशरूप मेघ की व्याख्या अपने अपने लिए करेंगे। एक अलका की यक्षिणी ही क्या, इसी प्रेम-पंथ में न जाने कितनी और विरहणी खो गई हैं। आकाश-मार्ग से जानेवाला मेघ तो सबके लिए अनन्त सन्देश सुनाता चलता है—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः। प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः॥ मे० १।८।

अर्थात्, हे मेघ जब तुम आकाश में विचरोगे, तब अनेक पथिकों की वनिताएँ विश्वासभरे हृदय से तुम्हें देखेंगी। उसके इस प्रकार सोत्सुक दर्शन का रहस्य उद्गृहीतालकान्ताः पद में है। वे प्रवास में पतिव्रता रही हैं। इसलिए केश संस्कारों को बिलकुल भूल गई होंगी। छूटे हुए केश ही नेत्रों पर गिरकर दृष्टि का मार्ग रोकना चाहते हैं, उन्हें एक हाथ से ऊपर उठाकर वे मलिनवसना प्रियाएँ मेघ को उत्कण्ठापूर्वक देखेंगी। उद्गृहीतालकान्ताः में जो पातिव्रत की ध्वनि है उसी की सविशेष व्याख्या कवि ने उत्तरमेघ में यक्षिणी के वर्णन में की है।

ऐसे सन्देशार्थों पर जब कवि का ध्यान गया तो उसने उनकी अनन्त गम्भीरता दिखाने के लिए उनके आगे क्व पद रख दिया, जिस प्रकार जड़ मेघ का निकम्मापन दिखाने के लिए सन्निपातः क्व कहा था।

जड़-सन्निपात-मेघ और अपने सन्देशार्थों में उसे महदन्तराल या बड़ा असामञ्जस्य देख पड़ा। उन सन्देशार्थों की प्रवृत्ति भेजने के लिए उसे निम्न लिखित सामग्री की आवश्यकता हुई—**पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।**

समर्थ इन्द्रियोंवाला चेतन प्राणी ही प्रेम सन्देश ले जाने के योग्य है। उसकी इन्द्रियों में वह इन्द्र शक्ति होनी चाहिए जिसके कारण इन्द्रियाँ इन्द्रियाँ कहलाती हैं*। इन्द्र शक्ति ही इन्द्रियों को बल देती हैं†—

दधातु इन्द्र इन्द्रियम्—ताँड्यमहा ब्रा० १।३।५।

इन्द्र से शून्य व्यक्ति से कुछ काम सिद्ध नहीं होता। विशेषतः प्रेम-वार्ता के लिए तो वृष-सम्पन्न‡ पुरुष ही होना चाहिए। इस प्रकार कवि को दो गुणों की चाह हुई, एक तो चेतन प्राणी की और दूसरे इन्द्रिय सामर्थ्य से युक्त प्राणी की। ये दोनों गुण जिसमें हों वही अलका तक दूत बनकर जा सकेगा।

---

* मयि इदम् इन्द्र इन्द्रियम् दधातु—श० १।८।१।४२।

† इन्द्रो मे बले श्रितः—तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।८।८। इन्द्रियम् वैवीर्य मिन्द्रः—श० ३।९।१।१५। अर्थात् इन्द्रियों के वीर्य का नाम इन्द्र है।

‡ वृषा वा इन्द्रः—कौषीतकी २०।३।

उपरोक्त दो क्व के द्वन्द्व में यक्ष का अनुभव तीव्र हुआ। उस औत्सुक्य की दशा में उसका जडांश बिलकुल निर्गलित हो गया, आत्मेतर पदार्थों की प्रीति जाती रही, बहिर्मुखी प्रवृत्ति के लिए बाह्य जगत् में कोई स्थान न रहा, और हुआ क्या 'बाढी उत्कण्ठा जक्ष बुद्धि बिसरानी सब..........' यक्ष 'अपरिगणयन्' दशा में जाकर संसारगत परिगणनाओं को भूल गया। उसका दृष्टि-बिन्दु ही और का और हो गया। उसके इस परिवर्तन में किस नियम ने काम किया? अर्थात उसको अन्तिम अनुभव की कोटि तक पहुँचाने के लिए किस प्रकार मन-बुद्धि आदि अन्तःकरणों को नया जन्म लेना पड़ा? इसकी व्याख्या यह है—**कामार्ता हि प्रकृति कृपणाश्चेतनाचेतनेषु**—अर्थात् काम से आर्तजन चेतन और अचेतन के भेद को बिलकुल भूल जाते हैं। यही बात यक्ष के साथ हुई, अर्थात्, वह उन विषयों में बेसुध हो गया जिनमें संसारीजन जागते हैं। मानों नये जगत् के अनुभव लेने के लिए उसने **प्रकृति कृपणाश्चेतना चेतनेषु** के मंत्र द्वारा अपना नया कल्प कर लिया। वह स्थूल अन्नात्मक देह की सत्ता को भूलकर मनोमय साम्राज्य का अधिवासी बन गया। ऐसी दशा में रहनेवाले वियोगी या अन्य अनुभवियों को भी अरति या विषय-द्वेष नामकी अवस्था प्राप्त हो जाती है जिसका वर्णन उत्तरमेघ (२।२७) में है। इसमें इन्द्रियाँ अपने विषयों से विनिवृत्त हो जाती हैं। उनके अनुभवों के बहिः केन्द्र रस-शून्य होते हैं, और मन के चिन्त्य विषय में ही समस्त रस संचित हो जाता है। इस निर्मलस्थिति को प्राप्त हुआ मनुष्य स्थूल-भोगों का भूखा नहीं रहता, वह उनसे निर्लेप हो जाता है और केवल भाव की भूख से मस्त रहता है। इस भोगपराङमुख वृत्ति का वर्णन निम्न श्लोक में है—

स्नेहानाहुः किमपि विरहे ध्वंसिनस्ते त्वभोगा दिष्टे वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशीभवन्ति ॥

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि चेतन और अचेतन के विवेक को भूलने के लिए जिस साधना और चित्त-शुद्धि की आवश्यकता है यक्ष उस सम्पत्ति से युक्त है। कविवर नान्हालाल का वचन है कि 'माँस के भूखे राक्षस होते हैं और भाव के भूखे देव*।' भोग की तृष्णा राक्षसी है और स्त्री के प्रेमभाव की पिपासा दैवी। यक्ष प्रेम की परिभाषा के इस अर्थ में दैवी है, आसुरी नहीं।

एक अर्थ में हम सभी लोग चेतन और अचेतन के भेद को भूले हुए हैं। शंकराचार्य के शब्दों में हम सब लोग पशुओं के समान आत्मानात्म-विवेक से शून्य हैं, और इसी विवेकहीन दशा में आत्मा के दैवी स्वरूप को भुलाकर उससे बद्ध और जड़ देह के समान काम ले रहे हैं; इस कारण हमारे कर्म सुख-दुख में सने हैं, उनमें आनन्द नहीं। हमारी इन्द्रियाँ भोगोन्मुखी हैं, वे अन्तरात्मा को नहीं देखतीं। इस प्रकार का जड़-चेतन का अविवेक सामान्यतः पाया जाता है। वह बन्धन का हेतु है, उससे श्रेय की आशा नहीं। चेतनाचेतन की कृपणता दो तरह की होती है—एक तो अचेतन को चेतन समझना और दूसरे चेतन को भी अचेतन मानने लगना। एक ऊर्ध्वमुखी और सात्विकी है और दूसरी अधोमुखी और तामसी। यदि यक्ष जिसे अब तक चेतन समझ रहा है उसे भी जड़वत् देखने लगे, तो वह स्वयं भी बिलकुल जड़ हो जायगा। उस अन्तःसंज्ञाशून्य मूर्च्छित अवस्था में पड़े हुए यक्ष की करुण कथा और अनुभवों को कौन सहृदय सुनना चाहेगा; वे अनुभव संसार के लिए किसी भी तरह नये न होंगे, उनसे किसी की ज्ञान-वृद्धि और कल्याण की आशा न होगी।

कवि चैतन्य के विस्तार को किसी भी अवस्था में संकुचित करना न चाहेगा। चित्त का सीमाबद्ध होना ही दुःख है, चित्त का असीमित विस्तार ही परम आनन्द है। ज्यों ज्यों शरीरस्थ चित्त का विकास-क्षेत्र बढ़ता है, हमारे आनन्द की मात्रा में वृद्धि होती जाती है। क्या संसार और क्या आत्मानुभव, दोनों दशाओं में यह नियम सत्य है। हाँ, आत्मानुभव की अवस्था में चिति का विकास निःसीम या अनन्त हो जाता है। उस आनन्द की तुलना में संसारगत चितिविस्तार के सब सुख नीचे ठहरते हैं।

यक्ष ने चेतनाचेतन के भेद को भुलाने में इसी उत्तरायण मार्ग का अवलम्बन लिया। वह सब जगत् को परम चैतन्यमय देखने लगा। उसके सामने से मानो पर्दा उठ गया। उस आनन्द-सागर में मग्न हुए बिना कौन उसका रस त्रिकाल में भी जान सकता है? यक्ष ने इस आवरण के दूर करने में दम्भ नहीं किया, उसका चैतन्य-ज्ञान क्षणिक या

* ऊषा—हिन्दी अनुवाद।

बनावटी नहीं था। सचाई इस अनुभव की पहली कसौटी है। इसीलिए कवि ने लिखा है—**प्रकृति-कृपणः**—अर्थात् मन, कर्म, वचन तीनों ही बिलकुल बदल जाते हैं। भीतर बाहर सर्वत्र ही अमृत आनन्द की सम्प्राप्ति होती है। इस अनुभव की प्राप्ति के लिए प्रत्येक नचिकेता को यम के द्वार पर जाकर अपना चोला बदल डालना पड़ता है। इस मार्ग में बुद्धि एक होती है, बहुत शाखाओंवाली और अनन्त नहीं*। फलतः यक्ष की बुद्धि में निश्चय होगया कि अनुभवों की इयत्ता केवल भौतिक जगत तक ही परिमित नहीं है, उनका सच्चा स्वरूप वह है जिसमें सर्वत्र चैतन्य की सम्प्राप्ति होती है। ऐसे यक्ष ने मेघ को एक बार फिर देखा; अब धूम-ज्योति-सलिल-मरुतां के सन्निपात मेघ में उसे जिस विलक्षण पुरुष के दर्शन हुए, वह विश्व के मेघ-विषयक ज्ञान में अभूतपूर्व है। वैज्ञानिक की पर्जन्य-विषयक मति की अवहेलना करते हुए हमारे मन में जो कविकृत मेघ-ज्ञान जानने का औत्सुक्य उत्पन्न हुआ था, उसकी तृप्ति अब आकर होती है। हम मन ही मन कह रहे थे—'हे महापुरुष, तुम भी तो कुछ कहो कि हम मेघ को कैसे जानें।' अब उसी रहस्य को कवि ने हमारे लिए खोल दिया है—

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः। मेघ० १।६।

मैं तुम्हें जानता हूँ कि तुम प्रकृति के कामरूप पुरुष हो। इसी ज्ञान को बताने के लिए मेघदूत काव्य का उपक्रम किया गया है। ऐसे कामरूप पुरुष को कवि अलका के उस लोक में ले जाना चाहता है (गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्), जहाँ काम को भस्मावशेष करनेवाले शिव का साक्षात् निवास जानकर कामदेव अपना चाप चढ़ाने से डरता है—

मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षाद्वसन्तम्। प्रायश्चापं न व हति भयान्मन्मथः षट्पदज्यम्। मे० २।१०।

इसी ज्ञान में मेघदूत के अध्यात्मशास्त्र का सार है। हमें **'जानामि त्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः'** पर विशेष ध्यान देना है।

इस पंक्ति का सामान्य अर्थ टीकाकारों ने स्थूल और भौतिक ही किया है। यथा—कामरूपमिच्छाधीनविग्रहम्। दुर्गादिसंचारक्षममित्यर्थः। **मघोनः इन्द्रस्य प्रकृतिपुरुषं प्रधानपुरुषं जानामि। मल्लिनाथ।**

अर्थात्, अपनी इच्छा के अनुसार रूप बदलनेवाले तुम इन्द्र के प्रधान पुरुष हो। परन्तु इस भौतिक लक्षण से कहीं आगे इस श्लोक के अन्तस्तल में जो गम्भीर अर्थ भरा है उसके आलोक से सारा ग्रन्थ ही एक बार जगमगा उठता है। हम ऊपर कह चुके हैं कि यक्ष को चतुर इन्द्रियों वाले दूत की आवश्यकता थी। यहाँ यक्ष ने स्वयं इन्द्र के ही कामरूप पुरुष को अपने दूतकर्म के लिए चुन लिया है। इन्द्र के पुरुष से बढ़कर इन्द्र शक्ति और कहाँ सम्भव है? हमारी दूसरी आवश्यकता थी चेतना सम्पन्न प्राणी। यहाँ मेघ ही समस्त चर और अचर प्रकृति का पुरुष है। स्वयं विकासोन्मुखी प्रकृति उसे चाहती है, दूर से ही मेघ का शब्द सुनकर उसे रोमांच हो आता है (मे० १।११) वह उसके बंध्यात्व दोष को मिटाकर उसमें प्रजापति के क्रम की वृद्धि करता है। यह क्रम निम्न लिखित है—

पर्जन्य से वृष्टि, वृष्टि से औषधि—अन्न, अन्न से रस, रस से वीर्य, और वीर्य से प्रजोत्पत्ति। कैसा निरापद मार्ग बना हुआ है।

कामरूप मेघ ही ऐसा सामर्थ्यवान् पुरुष है। इस मेघ का सम्बन्ध इन्द्र से है। वह इन्द्र का प्रधान-पुरुष क्या, स्वयं इन्द्र का रूप ही है। इन्द्र और मेघ का सम्बन्ध सनातन है। वेदों में भी इन्द्र के वर्षण-कार्य की विस्तृत मीमांसा है। वृष शब्द और इन्द्र का घनिष्ट सम्बन्ध है। वृष और वृषभ शब्द प्रायः छह सौ बार ऋग्वेद में आये हैं। उसमें से आधी बार वे इन्द्र के विशेषण हैं। सोम के लिए किये गए सौ प्रयोगों में भी इन्द्र का साहचर्य है। जो पुरुषों में वृष है, वही स्त्रियों में सोम है। शेष प्रयोगों का अर्थ प्रायः रेतसिञ्चन और पुरुष के प्रजननात्मक कार्य का निर्देश करता है। शतपथ, तांड्य और कौषीतकी ब्राह्मणों में इन्द्र को साक्षात् वृष कहा है। वृष नाम वर्षण—सामर्थ्य का है। यह शक्ति जिसमें हो वही वृषा है।

---

* **व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्। —गीता।**

खाते पीते सोते सदा यक्ष को यक्षिणी का ही स्मरण रहता था।

अंग्रेजी में वृषण का अर्थ Sprinkling या fertilisation है। पुरुष और योषित् के वर्षण और मेघ और पृथ्वी के वर्षण में कुछ अन्तर नहीं है। विराट् प्रकृति में जैसे मेघ नौ मास तक तपकर ब्रह्मचर्य धारण करता है, और उसके बाद फिर ऋतुकाल में रसनिषिञ्चन, जिस प्रकार गर्जनरूप शब्द के कारण पृथ्वी का शिलीन्ध्ररूप रोमांच, धरित्री के सोम अर्थात् प्रसवार्ह गुण की अभिव्यक्ति, और तब वास्तविक वर्षण है, वैसेही सारा क्रम पुरुष-योषित् में भी है। प्रजा-संवर्धन की दृष्टि से मेघ के वर्षण और पुरुष के वर्षण में न केवल भेद का अभाव है, वल्कि गहरी समानता और व्यापक सम्बन्ध है। गर्भाधान के समय पुरुष कहता है 'वृष ने हमारे अन्दर जिन समर्थ अमोघवीर्यों को उत्पन्न किया है, उनसे तू गर्भ धारण कर';* तथा 'प्रजापति नाम वृषभ की सहायता से मैं स्कन्दित होता हूँ, तू वीरपुत्र को धारण कर।'† वस्तुतः पुरुष को द्यौ और पृथ्वी के विराट् प्राजापत्य कर्म का भी मर्म उस समय स्मरण करना होता है, और वह कहता है—

असौ अहमस्मिसा त्वं; द्यौरहं पृथिवी त्वं; रेतोऽहं रेतोभृत्त्वं; मनोअहमस्मि वाक्त्वं; सामाहमस्मि ऋक्त्वम्
बौ० गृ० सू० १।७।४१।

पुरुष-स्त्री का यह मनोरम सम्बन्ध हमारे साहित्य में नाना उपमानों से कहा गया है। पुरुष उत्तरारणि और स्त्री अधरारणि है, उनके मन्थन से प्रजाग्नि प्रज्वलित होती है। स्त्री शमी और पुरुष अश्वत्थ है; उनका प्राजापत्य कर्म ही शमी गर्भ अश्वत्थ का रूप है। यज्ञ के शब्दों में स्त्री वेदि है जिसमें वृषरूप अग्नि का आधान होता है—

योषा वै वेदिर्वृषाऽग्निः—श० १।२।५।१५।

यह वृषाग्नि वीर्य की ही संज्ञा है—**वीर्यं वा अग्निः—तैत्तिरीय ब्रा० १।७।२।२।**

मेघ की वृषाग्नि के लिए सारी पृथ्वी ही वेदि स्वरूप है‡। पुरुष की इन्द्र-शक्ति के निर्माता वृषण-कोष हैं⁑। आयुर्वेद के वर्णित वाजीकरणतंत्र में रिक्त पुरुष को वृष सम्पन्न करने के लिए प्रयोगों की संज्ञा वृष्य है। इस प्रकार यह निश्चित है कि पुरुष में प्रजोत्पत्तिरूप वर्षण करने की जो सामर्थ्य है वही उसकी इन्द्रियों का ओज है, जिसके स्कन्दित होने से उसके तेज की हानि होती है।

विराट् प्रकृति में जो आप् हैं मनुष्य देह में वेही रेतरूप हैं। मनुष्य शरीर को देवताओं की सभा कहा गया है§। जिसमें सब देवताओं ने प्रवेश किया है। जलों के लिए कहा है—**आपो में रेतसि श्रिताः** तै० बा० ३।१०।८।६। इन्हीं जलों के वर्षणात्मक रूप की संज्ञा इन्द्र है। इन्द्र शब्द के और भी अनेक अर्थ हैं यथा आत्मा, प्राण, मन, सूर्य, अग्नि क्षात्र-तेज आदि, परन्तु हमारा प्रयोजन यहाँ वृषात्मक इन्द्र से ही है। इन्द्र की विद्यमानता से द्युलोक गर्भ धारण करता है (द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी')¶ यह इन्द्र ही द्युलोक को वर्षण शक्ति से युक्त करनेवाला है—

वृषासि दिवो वृषभः पृथिव्या वृषा सिन्धूनां वृषभः स्तियानां।
वृषेण त इन्दुर्वृषभ पीपाय स्वादूरसी मधुपेयो वराय॥ ऋ० ६।४४।२१।

अर्थात्, हे इन्द्र तुम द्युलोक, पृथ्वी, स्पन्दनशील नदियों और वनस्पतियों के वर्षक (Sprinkler) हो। हे वृषभ, श्रेष्ठ वृषशक्ति से सम्पन्न तुम्हारे लिए स्वादिष्ट मधुश्चुत सोम की वृद्धि हो। उस वर्षक की प्रेरणा से यह प्रकृति वृषस्यन्ती होती है।

*** यानि प्रभूणि वीर्याणि ऋषभा जनयन्तु नः। तैस्त्वं गर्भिणी भव स जायताम् वीरतमः स्वानाम्। हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र १।२५।१।**

† भूः प्रजापतिनात्यृषभेण स्कन्दयामि वीरं धत्स्वासौ। –हिरण्यकेशि गृह्यसूत्र।

‡ यावती वै वेदिस्तावतीयं पृथिवी—जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० १।५।५।

⁑ आण्डाभ्यां हि वृषा पिन्वते—श० १४।३।१।२२।

§ एषा वै दैवी परिषद् दैवी सभा, दैवी संसत्—जैमिनीय उ० ब्रा० २।११।१३। इस सभा के देवता और प्रतिनिधियों (represrentatives) का तथा उनके आयतनों (Constituencies) का विस्तृत वर्णन ऐतरेय उपनिषद् (२।४) में है।

¶ यथाग्नि गर्भा पृथिवी द्यौर्यथेन्द्रेण गर्भिणी। वायुर्यथा दिशां गर्भ एवं गर्भं दधातु ते॥

वृष और इन्द्र के तादात्म्य ज्ञान के साथ ही वृष और काम की घनिष्टता भी जाननी आवश्यक है। काम का अधिष्ठान स्वाधिष्ठान चक्र में है, जहाँ जल तत्त्व मुख्य है। जल का ही विपरिणमित रूप रेत है जो काम का रूप है। जल की संज्ञा इरा कही जा चुकी है। इसीके कारण काम को संस्कृत भाषा में इराजः और यूनानी भाषा में इरोस (Eros) कहा गया है। संस्कृत कोषों में वृष का एक अर्थ काम है। शिव ने काम को भस्म कर दिया था, तभी से उनके नाम वृषाञ्चन, वृषभध्वज और वृषकेतु आदि हैं। शिव की सबसे बड़ी विजय वृष को अपने वश में करके उसपर सवारी करना है। प्रायः जगत् के सब पुरुषों पर वृष सवारी करता है अर्थात् सब काम के अधीन हैं, कोई कोई महाभाग पुण्य तपस्वी ही अपने ज्ञान-चक्षु से काम को वश में करके वृष को वाहन बना लेते हैं।

इन्द्र का वृष और काम के साथ जो घनिष्ट सम्बन्ध वैदिक समय में ही निर्णीत हो गया था, उसके कारण एक ओर तो पुराणों में इन्द्र को विलासी, कामी और पराये की साधना-तपस्या से द्वेष करनेवाला वर्णित किया गया है, तथा दूसरी ओर पश्चिमी विद्वानों के हाथ में पड़कर इन्द्र रँभानेवाला बैल बन गया है। पुराणों का इन्द्र-चरित्र तो थोड़ेसे ही विचार से समझ में आ सकता है। भारतीय अध्यात्म का यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि आत्म-दर्शन की सिद्धि तक पहुँचने के लिए पहले काम-वासना-तृष्णा-विषय या भोग-लिप्सा का सर्वांश में दमन करना अनिवार्य है। विना काम को जीते आगे बढ़ने वाले साधक शरभ मृगों के समान कामरूपी इन्द्र के वज्र की मार से खण्ड-खण्ड हो जाते हैं। अध्यात्म-पथ के तपस्वी पथिक को धैर्यपूर्वक इस ज्ञान-विज्ञान का नाश कर देनेवाले दुरासद पाप्मा शत्रु को वश में कर लेना चाहिए। यह कार्य कठिन अथवा असम्भव भले ही प्रतीत हो, परन्तु है नितान्त आवश्यक, और बिना इस मार्ग पर चले दूसरी गति ही नहीं है। अखण्ड समाधि लाभ करने के लिए शिव को इन्द्र के भेजे हुए काम को पहले भस्म करना पड़ा। मदन के निग्रह से ही शिव अरूपहार्य हो सके—**अरूपहार्यं मदनस्य निग्रहात् पिनाकपाणि—कुमारसम्भव ५।५३।**

इसी प्रताप से शिवजी वृषारूढ़ हो गए। वृष पर सवारी करनेवाले शिव के चरणों में वृष शक्ति के प्रमुख इन्द्र ने ऐरावत के साथ मस्तक नवाया। वृष वाहन शिव और वृषा इन्द्र का सम्बन्ध कालिदास ने इस श्लोक में कितनी स्पष्टता से बताया है—

असंपदस्तस्य वृषेण गच्छतः प्रभिन्नदिग्वारणवाहनो वृषा।
करोति पादावुपगम्य मौलिना, विनिद्रमन्दार-रजोरुणांगुली ।। कुमारसम्भव ५।८०।

अर्थात्, मदस्रावी ऐरावत नाम दिग्गज है वाहन जिसका, ऐसा वृषा देवेन्द्र सब सम्पदाओं से विहीन किन्तु वृष को वाहन कर लेनेवाले देवराज शंकर के चरणों में प्रणाम करता है। इसी वृष पर बोधि ज्ञान पाने से पहले भगवान् बुद्ध को भी चढ़ना पड़ा था। शिव की काम-विजय और बुद्ध की मार-विजय* म कोई अन्तर नहीं है। त्र्यम्बक ने अपने तृतीय नेत्र के वीक्षण से वज्रपाणि को जड़ीभूत कर दिया था, वही वज्रपाणि इन्द्र बुद्ध का अनुचर बनकर उनके चरणों की सेवा करता है। बुद्ध-गया के पास की इन्द्रशैल गुहा में जब भगवान् बुद्ध तपस्या कर रहे थे तब पंचशिख गन्धर्व के साथ इन्द्र ने उनके दर्शन किए थे।

जब भी कोई तपस्वी सिद्धि प्राप्त करना चाहता है, काम उसके मार्ग में बाधा डालता है। कितने ही तो उसके प्रलोभनों में फंसकर विश्वामित्र के समान स्खलित हो जाते हैं, और कितने ही शुक के समान उन उपद्रवों की ओर आँख उठाकर भी नहीं देखते। इन्द्र शतक्रतु है। क्रतु का अर्थ शक्ति या वीर्य है†। शत के अर्थ अनगिनत संख्या के हैं। इन्द्र

*** अजन्ता की २६वीं गुफा में बुद्ध की मार-विजय को अद्भुत चित्रों द्वारा दर्शाया गया है। इन्द्र ऐरावतारूढ़ होकर हाथ में वज्र लिये हैं, और बुद्ध के शान्त ज्योतिष्मान् मुख को देखकर अपनी पराजय से खिन्नसा देख पड़ता है।**

† क्रतु=वीर्य (ऐतरेय ब्रा० १।१३)। Kratos=Strength। क्रतु के अर्थ यज्ञ भी हैं।

इन्द्र शतक्रतु है क्योंकि उसने सौ यज्ञों के तेज को आत्मसंयुक्त किया है। वैदिक साहित्य के अनुसार शरीर एक यज्ञ है, जिसमें सिर उखा है जो मनन शक्ति का पचन करती है। सब संकल्पों का उद्गम मस्तिष्क में ही होता है। इन्द्रियों को संयमाग्नि में हुत करने से तत्सम्बन्धी देवता को अमृतभाग प्राप्त होता है। इन्द्रियों का विषयासक्त होना आसुरी कार्य,

या काम की शक्ति शरीर में सबसे प्रबल है। वह इन्द्र सदा यह चाहता है कि और जितने पुण्य या यज्ञीयभाव हैं उनकी सामर्थ्य उसके वीर्य से कम रहे। वह स्वयं शतवीर्य है, और किसी भाव को निन्यानवे से अधिक नहीं होने देता। जिसके शरीर में और कोई पुण्य व्रत शतवीर्य या शतक्रतु हो सकेगा, उससे इन्द्र को अपना आसन छोड़ देना पड़ेगा और वह व्रत ही सर्वाभिभावी राजन्य या इन्द्र हो जायगा। इसीलिए कहा गया है कि इन्द्र किसी का सौवाँ यज्ञ पूरा नहीं होने देता। तपस्वियों के तप को वह सदा खण्डित करने के उद्योग में रहता है। यही इन्द्र का काम-संस्पृष्ट रूप पुराणों में रोचक विस्तार के साथ कहा गया है। तपस्या की एकनिष्ठता और साधनैकाग्रता निबाहने का उपदेश देने के लिए वे सब कथाएँ स्तुतिपरक अर्थवाद हैं*।

पौराणिक इन्द्र की कथाओं में इस प्रकार के विमर्श से संगति और व्युत्पत्ति लग सकती है। इन्द्र और वृष के आधिभौतिक और आध्यात्मिक सम्बन्धों को जिनका कुछ दिग्दर्शन हमने ऊपर किया है न समझने के कारण ही पश्चिमी विद्वान् इन्द्र को रम्भानेवाला बैल मान लेते हैं। वैदिक समय में शब्दों की यौगिकवृत्ति अतिशय तरल दशा में थी। वृषधातु से निष्पन्न सब शब्दों में वर्षणात्मक अर्थ की ओर ही प्रधान संकेत था। वृषभ शब्द मेघ, पुरुष, बैल सब में समान अधिकार से घटित होता था। सब ही में उत्कटवृष शक्ति का गुण मौजूद है। वैदिक आर्य वृषभ शब्द से बैल भी समझते थे†, परन्तु वह ही अकेला उस शब्द का अर्थ न था‡। बैल और मेघ के सादृश्य को उन्होंने बहुत दूर तक प्रतिपादित किया और 'भृशंरोरवीति' की प्रत्यक्ष समानता का उन्होंने मेघ के लिए कई वार वर्णन किया है। घोर गर्जन करनेवाले काले बादलों में और मस्त होकर रँभानेवाले उद्दाम वृषभ में व्यापक दृष्टि रखनेवालों को एक ही तत्त्व दृष्टिगोचर होता है, जिसकी संज्ञा वृष है और जो पृथ्वी और स्त्री संसार में प्रजापति के क्रम का एकमात्र संवर्द्धन करनेवाला है।

शिव के साथ जो वृष का सम्बन्ध था उसमें वृष का अर्थ वही है जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। आध्यात्मिक भावों को कलात्मक रूप देने की प्रवृत्ति इस देश में सदा से प्रबल रही है। प्राय: अचिन्त्य अनिर्वचनीय भावों को भी मूर्त रूप में समझाने की चेष्टा की गई है। सहस्त्रशीर्षा पुरुष और शेषशायी विष्णु की कथा इसका एक उदाहरण है, सूर्य के सात अश्वों की कल्पना दूसरा है। इसी भाव से प्रेरित होकर कलाविद् पुराण निर्माताओं ने, जो प्राय: वैदिक अर्थों का ही लोककल्याण के लिए उपबृंहण करते थे, शिव का वाहन श्वेत रंग का वृषभ रक्खा। कालिदास वृष शब्द का वर्षणात्मक अर्थ जानते थे जिसका उन्होंने कई जगह प्रयोग भी किया है। शिव के स्वरूप में उन्हें 'कैलास गौरं वृषमारुरुक्षु' की पदवी दी गई है। मेघदूत में कहा है कि मेघ मानसरोवर के सलिल का पान करता है, वहीं इन्द्र का वाहन ऐरावत हाथी विचरता है और सन्निकट कैलास पर ही शिव का नन्दी भी विद्यमान है। वस्तुत: मेघ, इन्द्र, ऐरावत, वृषभ सब में

मृत्यु और विषपान है। प्राण ही सप्त समिधाएँ सप्त होता या सप्ताहुति है (मु० उ० २।१।८) जिनके समिद्ध होने से मनुष्य दीर्घायु और आरोग्यरूप अमृतत्व को पाता है। एतद्वै मनुष्यामृतत्वं यत्सर्वमायुरेति—श० ९।५।१।१० अहर्निश प्रवृत्त इस यज्ञ में सैकड़ों ही अवसर पूर्णता या ध्वंस के आते हैं। देवतास्वरूप इन्द्रियों के जिनके कारण यह शरीर दैवी परिषद् कहलाता है, अधिपति मन का शतक्रतु या शत यज्ञ के वीर्य से सम्पन्न होना ही श्रेयस्कर है।

* इन्द्र के स्वरूप का अशेष वर्णन किसी स्वतन्त्र ग्रन्थ में समा सकता है। इन्द्र और अहिल्या की कथा में इन्द्र सूर्य है जैसा कि कुमारिलभट्ट ने समझाया है। एवं समस्त तेजाः परमैश्वर्य निमित्तेन्द्रिय शब्द वाच्यः सवितैव अहनि लीयमानतया रात्रे रहल्या शब्दवाच्यायाः क्षयात्मक जरया हेतुत्वाज्जीर्यति अस्मादनेन एव उदितेन इति आदित्य एव अहल्याजार इत्युच्यते। न तु परस्त्रीव्यभिचारात्।

ऋग्वेद के इन्द्र मरुत्संवाद में इन्द्र आत्मा और सप्त मरुत् सात प्राण हैं (ऋग्वेद १।१६५)

(इन्द्र के विशेष वर्णन के लिये देखिए कुमारी अनन्त- लक्ष्मी का लेख—Indra, the Rigvedic Atman; Journal of Oriental Research, Madras Jan 1927.

† एतद्वा इन्द्रस्य रूपं यदृषभः—श० २।५।३।१८।

‡ वृषा वा इन्द्रः—कौषीतकी ब्रा० २०।३।

ही एक विराट् अन्तः सम्बन्ध है जिसका कुछ ज्ञान उपरिस्थित विवेचन से हो सकता है। यौगिक वृष शब्द कालान्तर में वृषभ के लिए ही रूढ़सा हो गया, यद्यपि आयुर्वेद के 'वृष्य' शब्द तथा 'वृष्टि' आदि में अभी तक उसके पुराने अर्थों का संकेत पाया जाता है।

इस प्रकार यक्ष ने प्रकृति के कामरूप पुरुष का ज्ञान प्राप्त कर लिया। वह स्वयं कामी* था। पुरुष-स्त्रीरूप जो द्वन्द्व प्रकृति में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है उस योजना में वह अपनी कान्ता से वियुक्त भी था। उस स्वात्मांश से सम्पर्क में आने के लिए उसकी जो आकुलता थी, उसके कारण अन्तः-दृष्टि सम्पन्न होकर उसने सब चराचर को ही द्वन्द्वरूप में देखा। विराट् प्रकृति के लिए तो पुरुष रूप में स्वयं मेघ ही उसे दिखाई पड़ा। उस मेघरूपी बृहच्छेप ब्रह्मचारी ने अपने अभिक्रन्दन से समस्त सृष्टि में हलचल मचा दी। सब पर ही उसका प्रभाव पड़ा। इसी विश्वव्यापी चेतना को मेघदूत के कर्त्ता ने अपने कवित्वगुण से हम सब लोगों के लिए अमर बनाकर रख दिया है।

२

कालिदास ने इस विश्व के चेतन और अचेतन दो भाग किए हैं। उन्हींका दूसरा रूप प्रकृति-पुरुष है। वस्तुतः प्रकृति पुरुष की ही शक्ति है और अचेतन चेतन का ही प्रतिबिम्ब या अधिष्ठान है। चेतन और अचेतन के भेद को मिटाकर अन्तर्दृष्टि के द्वारा देखने पर अन्तर्जगत् और बहिर्जगत् के सामञ्जस्य का जैसा अनुपम दृश्य हो जाता है उसीको मेघदूत में हम पग पग पर देखते हैं। अन्तर्जगत् अध्यात्म के अनन्त सौन्दर्य से आलोकित है। हम बहुधा बाहरी प्रकृति के सौन्दर्य को अन्तर के सौन्दर्य से विच्छिन्न हुआ समझते हैं। बिना आन्तरिक अनुभव के बाह्य सौन्दर्य केवल भटकानेवाला है। कभी किसी चिड़िया या कभी किसी पुष्प को देखकर हम उल्लासित हो उठते हैं, कभी नारी के सौन्दर्य से हम मुग्ध हो जाते हैं। हमारा सौन्दर्य केन्द्र बाहर रहता है, और आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध न होने के कारण हमारी अपनी महिमा बहिःसौन्दर्य की उपासना में अस्तंगमित हो जाती है। पहले चेतन का अनुभव करके उसीका प्रतिबिम्ब जो बाह्य जगत् में देखते हैं उन्हें सौन्दर्य का जैसा विलक्षण और अनन्त आनन्द प्राप्त होता है, वही विरही यक्ष को हुआ है। उसकी दृष्टि बड़ी पैनी हो गई है। मेघ का ज्ञान हो जाने से प्राकृत जगत् के सौन्दर्य का अपार सागर उसके हाथ आ गया है। सर्वत्र उसे मेघ की विभूति के दर्शन होते हैं। इसी सागर के सुन्दर सुन्दर रत्नों का व्यतिकर मेघदूत का प्रकृति-वर्णन है।

बाह्य जगत् के पृथ्वी और पर्वत, नदी और स्रोत, वन और उद्यान, नगर और जनपद, पुष्प और फल, वृक्ष और लता, पशु और पक्षी, स्त्री और पुरुष, देवयोनियाँ और देवता इन सब का सौन्दर्य मेघ के साथ मिलकर सहस्त्र रूपों में यक्ष के सामने आता है। मेघ सबको मिलानेवाला सूत्र-तन्तु है, वह अपने वर्ण से सबको रंजित करता है तथा प्रत्येक के सौन्दर्य से स्वयं भी कान्तिमान् होता है। प्रकृति में ऐसा कोई प्रकाश नहीं जिसमें मेघ की सौन्दर्य-ज्योति न मिली हो। कहीं वह दूसरों को छबि का वितरण करती है और कहीं शिव के स्थानादि में वह स्वयं प्रभानुलिप्त होती है।

यही हाल चैतन्य का है। मेघ के सम्पर्क से प्रकृति में चर-अचर सभी प्राण की बहिया में उतराने लगे हैं। सौन्दर्य और चैतन्य को एक साथ ही मिलाकर यथा स्थान कवि ने बड़े कौशल से सन्निविष्ट किया है। इस सम्मिश्रण से विलक्षण आनन्द की उत्पत्ति हुई है। मेघदूत के प्रकृति–वर्णन में बाह्यरूपों की सूचीसी नहीं जान पड़ती। उसमें पद पद पर चैतन्य शिवात्मक ज्योति का दर्शन और स्मरण होता है। नदी बहती है, जामुनें फलती हैं, यह सत्स्वरूप है। इस सत् के कार्यों में चैतन्य अन्तर्निहित है। नदी क्यों अगाध जल से पूर्ण हो गई, आम्र-कानन और यूथिका वन क्यों सौरभ का विस्तार कर रहे हैं—इन प्रश्नों का उत्तर देना ही मेघदूत की मनोहर विशेषता है। कवि कहता है कि चैतन्य मेघ के दर्शन से प्रकृति का चैतन्य भी उमड़ पड़ा है। सबमें प्राण डालनेवाला मेघ ही है। चेतन मेघ ने काम पुरुष बनकर प्रकृति के जिन जिन पदार्थों सत्वों को छू दिया है, वे सब ही सुन्दर और दर्शनीय बन गए हैं। द्युलोक और पृथ्वी के बीच ऐसा कौन है जिसका मेघ से सम्बन्ध न हो; इसलिए सर्वत्र ही सत् पदार्थों में श्री या सौन्दर्य का आभास मिल रहा है। ऐसे ही सत्य और चित् का मेल मेघदूत काव्य में मिलता है, इस कारण उसमें अनन्त सनातन आनन्द प्रदान करने की क्षमता है।

* अबला विप्रयुक्तः स कामी—मे० १।२

अब मेघ के आने से प्रकृति में जो परिवर्तन होते हैं उनका कुछ वर्णन यहाँ किया जाता है। मेघ पृथ्वी को गर्भाधान कराता है। पृथ्वी उसकी दुहिता है। अथर्व वेद के प्राणसूक्त में मेघ को पृथ्वी का ब्रह्मचारी कहा है—

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिंगो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार। ब्रह्मचारी सिंचति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ अथर्व० ११।५।१२।

अर्थात्, घोर गर्जन और अभिक्रन्दन करनेवाला, भूरा और काले रंग से युक्त, बृहत् जननवाला*, ब्रह्मचारी (ब्रह्म या उदक का वहन करनेवाला) मेघ भूमि का भरण करता है। वह पर्वत और पृथ्वी पर रेत का सिंचन करता है जिससे समस्त दिशाएँ जीवन धारण करती हैं। इस मंत्र में केश बढ़ाए हुए इन्द्रियवान् ब्रह्मचारी और मेघ की तुलना की गई है। दोनों पहले स्वयं तपकर आत्मगर्भित होते हैं, उसके पश्चात् ही दूसरों को गर्भित करते हैं।

मेघ आकाश में आकर जब गरजते हैं तब पृथ्वी को रोमांच हो आता है। इस सात्विक भाव के उदय से ही सब लोगों का कल्याण होता है। पृथ्वी में से शिलीध्र निकलकर इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस वर्ष खूब वृष्टि होगी, पृथ्वी गर्भ धारण करेगी और उससे रसवती औषधियों का जन्म होगा। मेघ के गर्जित का वर्णन करनेवाला निम्न श्लोक संस्कृत साहित्य के उन विचेय श्लोकों में है जिनमें सरस्वती अपने अंश-रूप में नहीं बल्कि कृत्स्नशः व्यक्त हो जाती है—

कर्तुं यच्च प्रभवति महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां, तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिसलयच्छेदपाथेयवन्तः, संपत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाः सहायाः॥१।११॥

इसमें पृथ्वी और आकाश दोनों लोकों का सम्मिलन है। मेघ का गर्जन भूमि तक आता है, उससे पृथ्वी में कन्दली फूटती हैं। पृथ्वी अपने यहाँ से हंस भेजती है जो मेघों को आकाश मार्ग से अलका का मार्ग दिखाएँगे। बिस-किसलय का शंबल कल्पित करके आकाश में उड़ते हुए राजहंस कैलाश तक मेघ को पहुँचाने जाते हैं। राजहंस अलका के अमर-लोक की यात्रा प्रति वर्ष करते हैं; उसी अलका के समीपस्थ यद्यपि मानसरोवर है पर अलका की वापी में निवास करने से हंस मानस को भी भूल जाते हैं†। राज-योग साधनेवाले हंस भी हर संवत्सर में अपने चक्रों‡ का वेध करके शिवलोक की यात्रा कर आते हैं। जो स्वयं पंथ को देख आया है वही दूसरों को वहाँ ले जा सकता है। अतएव नभ में राजहंस कैलाश तक मेघ के साथ जाते हैं।

वृष-पुरुष के सम्पर्क से योषित् सुरभित परिमल का उद्गिरण करती हैं। उसी प्रकार पृथ्वी भी मेघ के निष्यन्द से उच्छ्वसित गन्धवाली हो जाती है⁂। पर्वत भूमि के धारण करनेवाले भूधर हैं। वे मेघ के साथ आत्मीय का व्यवहार करते हैं। रामगिरि तो मेघ को सुहृत् के तुल्य प्राणों से भी अधिक प्रिय मानता है। दोनों का सम्मिलन चिर विरह का पर्यवसान सूचित करता है, इसलिए रामगिरि के नयनों से ऊष्णवाष्प धारा निकलने लगती है—

काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य, स्नेहव्यक्तिश्चिर विरहजं मुंचतो बाष्पमुष्णम्॥ मे० १।१२।

रामगिरि जड़ शिलाओं का संघात नहीं है, उसमें सौहार्द भाव से भरा हुआ मित्र का हृदय छिपा हुआ है। एक बार दयिता का प्रेम भले ही शिथिल पड़ जाय, परन्तु मित्र का प्रेम त्रिकाल में भी स्खलित नहीं होता—

दयितास्वनवस्थितं नृणां न खलु प्रेम चलं सुहृज्जने॥

इस रामगिरि की आत्मा की महिमा का रहस्य इस अध्यात्म-स्वरूप में है—

वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरंकितं मेखलासु॥१।१२॥

*** इन्द्र की एक संज्ञा बृहद्रेणु है। 'बृहद्रेणु इन्द्रच्यवन बनकर मानुषी कृष्टियों का सहायक हुआ' ऋ० ६।१८।२।**

† यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं सन्निकृष्टं, नाध्यासन्ति व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य हंसाः॥ मे० २।१६॥

‡ राजहंस या परमहंस योगी बिसकिसलय अर्थात् पद्मों का आधार करते हुए ब्रह्माण्डस्थित शिव के दर्शन प्रति-वर्ष करते हैं। एक संवत्सर साधना का एक कल्प है।

⁂ त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधा गन्ध..................मे० १।४२।

अर्थात् रामगिरि की आत्मा रघुपति के पदों से अंकित होकर महनीय बनी है। इसी कारण वह वस्तुतः तुंग है (तुंगमालिख्य शैल १।१२)

माल क्षेत्र तो मेघ के अभिवर्षण की बाट जोह रहा है। आम्रकूट की शोभा मेघ के सम्पर्क से 'अमर मिथुन प्रेक्षणीय' हो गई है। आम्र काननों के पाण्डु-विस्तार को भूमि की स्तनच्छवि प्राप्त कराने में मेघ ही कारण है। मानों आम्रकूट के जड़ शरीर में मेघ ने चैतन्य का प्रवेश करा दिया जिससे देवताओं की लालसा भी उस ओर प्रवृत्त हुई*। जिस भूमि को तुम्हारे गर्जन ने रोमांचित कर दिया था उसके ही स्तन पर आरूढ़ होकर तुम विश्राम करोगे। अमर-मिथुन तुम्हारे इसी कामरूप को देखकर प्रसन्न होंगे। नीचैः नामक पर्वत मेघ के सम्पर्क से पुलकित हो गया है। उसकी प्रत्येक शिला से उत्कट वृष-शक्ति की सुगन्ध निकल रही है। हे मेघ, तुम्हारे वहाँ विश्राम का हेतु यही है कि तुम पुरुष-स्त्री में व्याप्त उद्दाम यौवन का परिचय पाकर अपना आगमन सफल समझो। इन पर्वतों से आगे बढ़ने पर देवगिरि, हिमालय और कैलास के साथ तुम्हारा आध्यात्मिक सम्बन्ध होगा। देवगिरि स्कन्द की वसति है, वहाँ पुष्पार्पण से उनकी पूजा करना। जिस मघवा के तुम प्रधान पुरुष हो उसी की सेनाओं की रक्षा करनेवाले सेनानी स्कन्द हैं—

तत्र स्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा, धारासारैः स्नपयतु भवान् व्योमगंगाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः॥ मे० १।४३॥

अर्थात्, हे मेघ, देवगिरि में नियति रूप से बसनेवाले सेनानी स्कन्द को तुम पुष्पवर्षक बनकर आकाश गंगा के जल से भीगे हुए फूलों की मूसलाधार वृष्टि से स्नान कराना। देव सेना की रक्षा के लिए शिवजी ने अग्नि के मुख में सूर्य से भी अधिक प्रकाशमान् जिस तेज का संभरण किया है, वही स्कन्द है। उनकी पूजा में आत्म-समर्पण करना तुम्हारे लिए उभय-लोक में परमोच्च सौभाग्य है। आगे चलकर कैलाश के अतिथि होना। यह कैलाश उन्हीं शंकर का राशीभूत अट्टहास है (**राशीभूतः प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्याट्टहासः**—१।५८) जिन्होंने कभी तुम्हारे कामरूप को भस्म कर दिया था और अब फिर दूसरी बार जिनके लोक को जाने का तुमने उपक्रम किया है। पर यह यात्रा अभिमानी जुझाऊ योद्धा की नहीं है, अब की बार तो एक श्रद्धालु भक्त अपने आराध्य देव को भक्ति-नम्र होकर स्थिर पद की प्राप्ति के लिए प्रणाम करने चला है (मे० १।५५) चैतन्य के अन्तर्मुख और बहिर्मुख या अध्यात्म और अधिदैव स्वरूपों का साथ ही साथ कितना सुन्दर मेल कराया गया है। जड़ दृष्टि के लिए सब पर्वत ही हैं, परन्तु चैतन्य के लिए आम्रकूट और देवगिरि-कैलाश में आकाश पाताल का अन्तर है। मेघ का सम्बन्ध दोनों से है, पर एक जगह भोग है, दूसरी जगह संयम; एक मर्त्य है दूसरा स्वर्ग्य, एक उज्जयिनी है दूसरी अलका। दोनों मार्गों का समन्वय ही उत्तम पथ है। यही 'प्रयाणानुरूपं' मार्ग है, क्योंकि यदि मानुष-देह पंच विषयों से एकान्त असंस्पृष्ट रह सकती तो विधाता ही इन्द्रियों को बहिर्मुखी क्यों बनाता। (कठ उ० ४।१) **पराञ्चिखानि व्यतृणत् स्वयम्भूः**। मेघ को वेद में सिन्धुओं का वृषभ कहा गया है। यक्ष ने मार्ग का कथन करते हुए कितने ही स्रोतों का वर्णन किया है जिनका जल पानकर मेघ अपनी क्षीणता को दूर करेगा (**क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्त्रोतसां चोपभुज्य**) प्रबल उद्वेग से बहती हुई नदियाँ सूचित करती हैं कि वे अपने सुभग पुरुष के साथ रसाभ्यन्तर होने जा रही हैं। वर्षा के सलिल को अपने गर्भ में धारण करनेवाली नदियाँ ही हैं। उनके भरकर चलने के दृश्य को और कम्पायमान होकर बरसने-वाले† मेघ को एक साथ देखता हुआ यक्ष सोचता है कि इन नायिकाओं को अवश्य मेघ के दर्शन-स्पर्शन से ही इतने भाग लगे हैं। जो नदियाँ ग्रीष्म के प्रचण्ड ताप से या यों कहें कि मेघ के विरह में वेणी के समान पतली धारवाली हो गई थीं (वेणी भूत प्रतनु सलिला) वे ही अब मेघालोक से अन्यथा वृत्ति हो रही हैं। चंचल उर्मियोंवाली वेत्रवती के इतराने का ठीक ही नहीं है। जब सब के मान घट गए हैं, वह तब भी सभ्रू भंग मुख से अपने कनिक्रदत् पति का आह्वान कर रही है—

तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यति स्वादु यस्मात्सभ्रू भंगं मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥

* **छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैस्, त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।**
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां, मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः॥ मे० १।१८।

† **तद्यत्कम्पय मानो रेतो वर्षति तस्माद्वृषाकपिः, तद्वृषाकपेः वृषाकपित्वम्—गोपथ ब्रा० उत्तर भाग ६।१२।**

वारि धाराएँ अहर्निश जिसके प्रताप से बहती हैं, वह रस का पोषक मेघ ही है। जब तक रस निर्भर पयोद की श्री अक्षुण्ण है, तब तक निर्विंध्या को अपने सौभाग्य पर अभिमान करने से कौन रोक सकता है? वह उन्मादिनी बनकर कहीं आवर्तरूप नाभि को दिखाकर चलती है, कभी विहग-पंक्तिरूप काँचीदाम को झंकारती हुई भागती है। यह सब इतराना उसी कामरूप पुरुष के ऊपर निर्भर है जिसने अचेतन में भी चेतन का मंत्र फूंक दिया है। ये वर्णन केवल प्राकृतिक ही नहीं हैं, इनमें प्रकृति चेतन मनोभावों से संक्रमित होकर चेतन की तरह ही सारे व्यवहार करने लगी है। इन व्यवहारों का साक्षी, भोक्ता और नियन्ता पुरुष मेघ के रूप में सदा सर्वत्र प्रस्तुत होकर साथ साथ चलता है। इसके कारण कालिदास के प्रकृति-चैतन्य में इतनी अधिक सजीवता आ गई है कि उसकी उपमा प्रकृति के ही उपासक विश्व के अन्य कवियों में कहीं नहीं मिलती। कवि का मेघ चैतन्ययुक्त है, अतएव उसमें मन-बुद्धि भी हैं, जिनके द्वारा वह अमर-कण्टक और कैलाश के भेद को जानकर अपने अध्यात्म की सिद्धि भी कर लेता है। वह निर्विध्या के साथ तो विलास करता है, परन्तु सरस्वती के जल का पान करके अन्तःकरण को शुद्ध करता है*। चेतन प्राणी ही इस प्रकार के विवेक को रखते हुए स्वर्ग और संसार दोनों सिद्ध कर सकते हैं। कवि को पाठकों की धार्मिक मनोवृत्ति पर प्रभाव डालने के लिए अन्य प्रकृति-कवियों की भांति कुछ धर्म-नीति नहीं कहनी पड़ती, वह मेघकृत व्यवहारों से ही सब कुछ सिद्ध करा लेता है। मेघ सक्रिय बनकर व्युत्पन्न व्यवहार करता है, वह निष्क्रिय और निरपेक्ष (passive) नहीं है। प्रकृति पग पग पर पुरुष के वश में और उसकी लीला से अवधूत मालूम होती है। इसी बात से मेघदूत का प्राकृतिक जगत् अत्यन्त हृदयहारी हो गया है।

वियोगिनी सिन्धु विरह में पाण्डुवर्ण होकर प्रिय समागम की उत्कण्ठा से किसी प्रकार शरीर धारण कर रही थी। उसमें श्रृंगार के विभ्रम नहीं हैं, तपस्या ही उसका पातिव्रतोचित गुण है। मेघ को चाहिए कि उसकी कृशता को दूर करे। उसकी तनुता में मेघ के सौभाग्य की व्यञ्जना है। यदि मेघ उस अर्थ पर ध्यान नहीं देता, तो सिन्धु नदी तो एक दिन निःशेष हो ही जायगी पर मेघ का सौभाग्य सिन्धु भी सूख जायगा—

सौभाग्यं ते सुभगविरहावस्थया व्यञ्जयन्ती, कार्श्यं येन त्यजति विधिना स त्वयैवोपपाद्यः। मेघ १।२९।

और वह गम्भीरा जिसका नितम्ब इस समय विवस्त्र हो गया है किसी समय इतनी विषयों से पराङ्मुखी थी कि उसे पुरुष दर्शन की चाह न थी। पर सदा एकसी अवस्था नहीं रहती। गम्भीर्यगुण† के ह्रसित होने पर गम्भीरा के सैन

---

* **कृत्वा तासामभिगममपां सौम्यसारस्वतीनामन्तः शुद्धः त्वमपि भविता वर्णमात्रेण कृष्णः॥ मे० १।४९।**

सरस्वती देवनदी है। स्वयं ब्रह्माजी ने उसके किनारे तपस्या करके श्रुतियों का प्रकाश किया। सब ऋषियों के तपोवन सरस्वती के ही किनारे थे। सरस्वती के ही क्षेत्र में देवनिर्मित ब्रह्मावर्त है। सारे राष्ट्र ने जिस सरस्वती की इतनी महिमा मानी हो, मेघ भी उसे पूज्येतर भाव से नहीं देख सकता। कवि ने मेघ के शरीर और आत्मा को यहाँ स्पष्टता से पृथक् पृथक् देखा है। पुरुष का बाह्य वर्ण भले ही काला हो, वह नश्वर शरीर की उपाधि है। चेतन का सर्वस्व तो अन्तःकरण है, वह विशुद्ध चाहिए। अब तक मेघ ने जितने काम-विलास किये हैं, सरस्वती तीर्थ के जलपान से सबकी शुद्धि होती है। अब तपोभूमि देवतात्मा हिमालय का आरम्भ है। पितुः प्रदेशास्तवदेव भूमयः अर्थात् गौरीगुरु अद्रिराज देवभूमि है, वहाँ गंगा, हरद्वार, हरचरण न्यास, मुक्त त्रिवेणी, कैलास और मानसरोवर हैं। कैलास तो खब्रह्म में वितान की तरह तना हुआ है। यहाँ तप के स्थान हैं; भोग तो सरस्वती से पहिले ही निवृत्त हो चुका है। कवि ने सरस्वती से आगे मेघ के विलास का वर्णन नहीं किया।

† **अन्तर्जातस्य क्षोभस्य बहिर्लक्षणा भावो गाम्भीर्यम् अर्थात् अन्तर में उपजे हुए क्षोभ को बाहर प्रकट न होने देना गाम्भीर्य गुण है (रूपगोस्वामी कृतउज्ज्वल नीलमणि टीका जीवगोस्वामी) यह गुण जिसमें हो वही गम्भीरा नायिका है। कुछ दिन तक तो गम्भीरा अपने गुण को रख सकी पर अन्त में उसके भी नेत्र कटाक्षपूर्ण हो गए। अर्थात् उसके इंगिताकार अविदित न रह सके।**

चलने लगें*। वह प्रसन्न चित्त हुई। उसका अगाध जल प्रसन्न अर्थात् प्रतिबिम्ब ग्रहण करने के योग्य हो गया। उसके जल में शफरी फरफराने लगी। उत्कण्ठा से परवश हुई गम्भीरा ने मेघ के प्रकृति सुन्दर बिम्ब को अपने में ग्रहण किया। उत्कण्ठिता के हृदय में जब नायक की छाया प्रवेश पा ले तब नायक को उसके अनुराग का निश्चय हो जाना चाहिए। ऐसे समय मेघ को उपदेश है कि वह अपने धैर्य को पकड़कर न बैठा रहे—अपनी संयमकृत जड़ता से गम्भीरा के कटाक्षों को व्यर्थ न करे—

गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने, छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।

तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्यान्मोघीकर्तुं चटुलशफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि ॥ १।४० ॥

वह धैर्य क्या है इसे कवि ने ही अन्यत्र बताया है—

विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः—कुमार सम्भव १।५९।

अर्थात्, विकार-हेतु उपस्थित होते हुए भी जिनके चित्त विकृत न होवें वे ही धीर हैं। उन्हींका भाव धैर्य गुण है†। हे मेघ, जब गम्भीरा का गाम्भीर्य जाता रहे, तब उसके पुरुष तुमको धैर्य धारण करके संयम का अभ्यास करना उचित नहीं है। पत्नी की काम विह्वलता विकृति है। विकृति से मिलने के लिए मेघ को भी विकृति में जाना पड़ेगा। प्रकृतिस्थ रहने से प्रेम-ग्रन्थि नहीं लग सकती। बिना प्रेम-गाँठ लगे प्रकृति-पुरुष मेघ विकार को प्राप्त गम्भीरा का उद्धार नहीं कर सकता।

वस्तुतः बात इतनी ही है कि जब तुम बरसोगे तो गम्भीरा का उथला नीर गम्भीर हो जायगा। परन्तु विश्व में काम-संकल्प के जगानेवाले चेतन पुरुष के जीवन-चरित्र में इतने से क्या काम चलता? उस विराट् ग्रन्थ में प्रतनु नदी वीचियों को भ्रू विलास और सहरियों के फरफराने को कटाक्ष कहकर पढ़ाया जाता है। और यह भी सत्य है कि कालिदास के समान उसका गम्भीर किन्तु प्रमोदपूर्ण पारायण आज तक कोई नहीं कर सका।

पृथ्वी, नदी, पर्वतों से एक कोटि ऊपर जब हम वनस्पति जगत् की ओर दृष्टिपात करते हैं तो ऐसा ज्ञात होता है कि मेघ के आने से समस्त पुष्प, फल, औषधि, तरुलता आदि स्फूर्ति और चेतना से उच्छ्वसित हो रहे हैं। कारण यह है कि वनस्पतियों का पोषक आहार या पुष्प देवता पय अर्थात् जल हैं (**स वनस्पतिः उ वै पयो भोजनः**) उस पय के वर्षक मेघ हैं। मेघ प्राणरूप से सबको जीवन देते हैं। इसी महान् प्राण-भण्डार को पाकर प्रजाएँ आनन्द रूप होती हैं कि अब अन्न की उत्पत्ति होगी यथा—

यदा त्वमभिवर्षयस्येमाः प्राण ते प्रजाः। आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यतीति॥ प्रश्न उ० २।१०।

* अनुभाव जो नायिकाओं में पाये जाते हैं दो प्रकार के होते हैं—चित्तज अर्थात् अन्तःकरण सम्बन्धी और गात्रज अर्थात् बाह्य या देह सम्बन्धी। गम्भीरा नायिका का गाम्भीर्य गुण उसका चित्तज अनुभाव है। भ्रू भंग-कटाक्ष-आनन विकारादि गात्रज हैं।

† विकार हेतु रहते भी विकार का अभाव धैर्य है। विकार हो जाने पर उसको प्रगट न होने देना गाम्भीर्य है। धैर्य में मनोभावों की समता का नाश नहीं होता; गाम्भीर्य की आवश्यकता क्षुब्ध मनोभावों को छिपाने के लिए होती है। कालिदास के अनुसार यही धैर्य और गाम्भीर्य के लक्षण हैं। रसार्णव सुधाकर के कर्ता श्रीशिंग भूपाल इन लक्षणों से तो सहमत हैं परन्तु नामों में कुछ भेद है—

सर्वावस्थासमत्वाविदितेंगिताकारत्वयोर्लक्षणयोः चित्तधैर्य एवान्तर्भूतत्वाद् भोजराजलक्षितौ स्थैर्यगाम्भीर्यरूपावन्यौ द्वौ चित्तारम्भौ चास्मदुक्ते धैर्य एवान्तर्भावाद् दशैव चित्तारम्भाः (पृ० ५२)—अर्थात् धैर्य के दो भेद हैं—स्थैर्य और गाम्भीर्य। स्थैर्य कहते हैं सर्वावस्था समत्व अर्थात् सब अवस्थाओं में सम रहने को (विकार हेतौ अविकारः); गाम्भीर्य के अर्थ हैं अविदितेंगिताकारत्व अर्थात् विकार हो जाने पर उसे प्रगट न होने देना। इस तरह कालिदास के धैर्य को इन्होंने स्थैर्यनाम दिया है और स्थैर्य गाम्भीर्य दोनों को धैर्य के ही अन्तर्गत मान लिया है। आलंकारिकों ने मनोभावों के यथार्थ वर्गीकरण की ओर कितना सूक्ष्म ध्यान दिया है, यह देखने योग्य है।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

अन्न के अधीन प्राण हैं। दोनों में स्थूल सूक्ष्म का ही भेद है। इसलिए प्राण के सम्मुख ऊर्जवाली औषधियाँ नाना भाँति से अपनी प्रसन्नता प्रकट करती हैं। अथर्ववेद में लिखा है * कि 'जब स्तनयित्नु गर्जनशील प्राण मेघ के रूप में औषधियों के समक्ष शब्दायमान होता है, तब औषधियाँ नवीन वर्चस के साथ गर्भ धारण करके नाना रूपों में उत्पन्न होती हैं। जब ऋतुकाल में औषधियों के आगे प्राण गरजता है, तब जो कुछ भी इस पृथ्वी पर है सब ही विशेष आनन्दित होता है। सींची हुई औषधियाँ प्राण से बोलीं—"हे सोम†, तूने हमारी आयु को बढ़ाया है, तूने हमें गन्धयुक्त किया है।"

सावन आया नहीं कि कुरैया के नए कुसुम निकल आए। उन्हें यक्ष ने प्रसादरूप से मेघ के ही अर्घ्यदान में चढ़ा दिया है। कहीं स्थल कदम्ब के मुकुलों की केसर कुछ कुछ खुलने लगी हैं। उनके हरे-पीले और कुछ श्याम रंग के अध-खिले फूल मानों मेघ का मार्ग सूचित करने के लिए ही जंगलों में झूम रहे हैं। जलाशयों के निकट भूमि कदलियों में भी मुकुल निकल आए हैं। कहीं कदम्ब प्रौढ़-पुष्प हो जाते हैं, कहीं आम पककर पीले और रसीले होकर टपकते हैं। इन आम्र काननों ने आम्र कंटक को शृंगार से सज्जित किया है। काली और फूली जामुनें जम्बू-कुञ्जों से नदियों में टपकती हैं। अन्तरिक्ष में मेघ को तृप्त करनेवाली शीत वायु पृथ्वी पर उदुम्बर काननों को पकाती है। यूथिकाओं के समूह के समूह सौरभ का विस्तार करने लगते हैं। निचुल या वेतस के लिए तो वर्षा अमृतकाल ही है।

वानीर को अभ्र पुष्प अर्थात् बरसात में पुष्प धारण करनेवाला कहते हैं। सूचिभिन्न केतकी के कुसुमों से उपवनों की बाड़ें हरी हरी लगने लगती हैं। विदिशा से अवन्ती तक असंख्य उद्यान और उपवन हैं। उनमें पुष्प चयन करनेवाली किशोरियों के मुख का परिचय मेघ प्राप्त करता है। जलद काल में अरविन्द कहाँ, परन्तु पुष्पलावियों के मुखारविन्द वर्षा के मैले जल में भी खिले रहते हैं। मेघ-काल में न हंस होते हैं, न अरविन्द। कल्मष कलुषित ऋतु में राजहंस और पद्म दोनों ही मान सरोवर को चले जाते हैं। हंसों को कवि ने '**विसकिसलयच्छेद पाथेयवन्तः**' कहकर सूचित किया है कि हंसों का जीवनाधार पद्म है। जिस वृष्टि से हंसों की हानि होती है, उसमें पद्मों को पहले संकुचित होना पड़ता है। पद्मों के विकास के लिए उपयुक्त तो निरभ्र आकाशवाली शरद्-ऋतु ही है।‡ वर्षा में कमल रहें भले ही, पर उन्हें अर्जुन के तीरों के समान कर्कश वृष्टि और बूंदों की मार सहनी पड़ती है—

राजन्यानां सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा, धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि॥ मे० १-४८।

मेघ की प्रेरणा जैसे वायु के अधीन है, वैसेही वायु भी मेघ के अनुशासन में चलती है। कैलाश पर पहुँचकर मेघ को वायु की इच्छानुसार कल्पद्रुम के नए किसलयों को धुनकर उसके आनन्द की वृद्धि करनी होती है। (**धुन्वन्कल्पद्रुम किसलयान्यंशुकानीव वातैः** १।६२)। कैलाश पर मानस, कल्पद्रुम, मन्दार, मन्दाकिनी, एक से एक दिव्य वस्तु है। खंब्रह्माण्ड को तानकर खड़े हुए कैलाश के अतिथि के लिए संसार के किस पदार्थ की अभिलाषा शेष रहेगी जिसकी पूर्ति कल्पद्रुम से हो सकेगी। अष्टसिद्धि और नवनिधियों का मूर्तिमान रूप कल्पद्रुम है। शिवलोक में पहुँचकर वृष को इस देवतरु के साथ आनन्द सम्मिलन के सिवाय और किसी वस्तु की चाह नहीं रहती।

---

* यत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रन्दत्योषधीः। प्रवीयन्ते गर्भान् दधतोऽथो बह्वीर्विजायन्ते॥
यत् प्राण ऋतावागतेऽभि क्रन्दत्योषधीः। सर्वं तदा प्रमोदते यत् किं च भूम्यामधि॥
अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्। आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥ अथर्व ११।४।३, ४, ६।

† सोमेति—प्राण का ही एक नाम सोम भी है जो रसों से औषधियों को पुष्ट करता है। गीता में कहा है—
पुष्णामि चोषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः। गीता १५।१३। प्राणो वै सोमः—शतपथ ७।३।१।४५।

‡ मानुषी देह में जब वर्षा ऋतु आती है तब उसके चक्र (पद्म या कमल) भी श्रीहत हो जाते हैं। शरीरस्थ वृषशक्ति जब उत्तरायण मार्ग की ओर जाती है तभी वे कमल खिलते हैं।

‡ कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः, शृंगोच्छ्रायैः कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं—मेघ १।५८।



मेघदूत—कामरूप पुरुष

वृक्ष और वनस्पतियों से अधिक व्युत्पन्न श्रेणी पशु-पक्षियों की है। मेघ-काल में उनके आनन्दातिरेक की सीमा नहीं रहती। "जब प्राण मेघ के रूप में मही पर बरसता है तब पशु प्रमुदित होते हैं कि अब हमारी बढ़ती होगी*, इसी संवर्द्धन के भाव से प्रेरित होकर दशार्ण देश के कौवे और गृहबलि के खानेवाले अन्य पक्षी गलियों के पेड़ों पर घोंसले रखने लगते हैं—**नीडारम्भैः गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः।**

इतने छोटे से प्राणियों में भी गृह-संवेशन और गृहस्थ बनने के भाव को उपजानेवाला मेघ ही है। इस प्रकार जो सर्वत्र द्वैत के बीज बोता है, उसकी व्यञ्जना को समझकर यक्ष का विह्वल हो जाना कौनसी बात है? सगर्व चातक का मन्द-मन्द नाद वर्षाकालीन मेघों को ही सम्बोधन करके प्रवृत्त होता है (**वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते- सगन्धः १।९**)। चातक, औरों से तो क्या, मेघ भी यदि ऋतु बिताकर आवें तो उनसे जल नहीं माँगता—

स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बु गर्भं शरद्धनं नार्दति चातकोऽपि। रघु० ५।१७।

यही चातक की अहम्मन्यता है। और जिस भावनाप्लावित हृदय से बिसकण्ठवाली बक-बालाएँ मेघ के समीप आती हैं, उसकी चेतना का आभास भी क्या हमें कभी प्राप्त हो सकेगा? पंक्ति बाँध बाँधकर मेघ से ही गर्भाधान का उत्सव मनाने के लिए† बलाकाएँ काले बादलों में उड़कर जाने का प्रयास करती हैं—

गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः, सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः—मे० १।९।

मेघों को देखकर सारस किलकारी मारने और मोर आनन्द से नाचने लगते हैं। जलद के लिए मयूर से अधिक प्रिय सुहृद और नहीं है‡। नीलकंठ शिखी और यक्ष में भी एक समानता है। यक्ष मेघ को देखकर आँखों में आँसू भर लाया (अन्तर्बाष्पः १।३) तो मोर के सिवाय और किसी प्राणी ने भी सजलनयन होकर मेघ की स्वागत क्रिया नहीं की—**शुक्ला पांगैः सजल नयनैः स्वागतीकृत्य केकाः १।२२।**

अध्यात्म पक्ष में जब वृषरूप मेघ शिव के लोक को चला है, तब कुमार के वाहन मयूर का आनन्द नृत्य करना स्वाभाविक ही है। भवानी-पुत्र स्कन्द पावक के भी पुत्र हैं। उनकी एक संज्ञा पावकि है (मे० १।४४) इनका जन्म वासवी सेनाओं की रक्षा के लिए हुतवह के मुख में सम्भृत होते हुए शिव के तेज से आज्ञाचक्र के बाद सहस्रार पद्म या शरों के वन में हुआ है।

रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूनामत्यादित्यं हुतवहमुखे सम्भृतं तद्धि तेजः।

उनके जन्म से पूर्व शिव के परिवार में सर्पों की प्रबलता थी। स्कन्द के जन्म से सर्प और मयूर विगत-बैर होकर बसते हैं। कौन वे कुमार और कौन उनका वाहन है, कौन सर्प हैं और अग्नि कौन है—यह विमर्श इस लेख का विषय नहीं है।

विश्व-सौन्दर्य के अन्तर्जगत् और बाह्य-जगत् नामक दो भेद करके बाह्य-जगत् में जड़ और चेतन नाम के दो उपभेद हमने किये थे। वस्तुतः अन्तर्जगत् से प्राणित होकर देखने से सब में ही चेतना का साम्राज्य दीखता है। परन्तु चेतन जगत् में भी स्त्री-सौन्दर्य चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति-केन्द्र है। वनिताओं के मन में मेघ को देखकर जिस काम-जलौघ का पूर उमड़ता है, उसकी व्याख्या विस्तार से मेघदूत में की गई है। नायिकाएँ क्या हैं—वे काम की अभिव्यक्ति के विशेष रूप हैं। काम या वृष सार्वभौम है, परन्तु उसका प्रकाश भिन्न-भिन्न संस्कृतियों में अपनी अपनी रीति से होता है। काम यदि आत्मा की तरह विश्वव्यापी माना जाय, तो नायिकाएँ शरीर की भाँति पृथक् पृथक् हैं। यह अंश परिवर्तनशील है। उपासना का अमर भाग तो प्रेम है। प्रेम और काम सर्वत्र और सदा एक ही रहते हैं। वस्तुतः मेघ

---

* **यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्। पशवः तत्प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति—अथर्व ११।४।५।**

† **शंकराचार्य ने शारीरक भाष्य में इसकी ओर संकेत किया है—बलाका चान्तरेणैव शुक्रं गर्भंधत्ते.............. बलाका चास्तनयित्नु रवश्रवणाद्गर्भं धत्ते—२।१।२५। बलाकाएँ बिना शुक्र के, केवल मेघ के गर्जन को सुनकर ही गर्भ धारण करती हैं।**

‡ **नीलकंठः सुहृद्वः, मे० २।१७ बन्धुप्रीत्याभवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः। मे० १।३२।**

का कामरूप ही सर्वग्राह्य है। प्रिय गमन के प्रत्यय से जीती हुई पथिक-वनिताएँ, भ्रू विलासानभिज्ञ जनपद वधुएँ, रतिपरिमलोद्गारि पण्यस्त्रियाँ, चंचल कटाक्षवती पौरांगनाएँ, महाकालेश्वर की लीलावधूत नर्तकियाँ तथा खण्डिता और अभिसारिकादि नायिकाएँ–इन सबके मानस में काम-सरोवर लबालब भरा है। ये स्त्री-जगत् की प्रतिनिधि हैं और अपने अधिकृत क्षेत्र के अनुसार मेघ से सम्बन्ध स्थापित करती हैं। हमारे अपने ही शरीर में काम की अनेक वृत्तियाँ इन स्त्रियों के रूप में बसी हुई हैं जिनका नायक मेघ या वृषा काम है। इन सब के काम की पोट को बाँधकर मेघ शिव के लोक में पहुँचा दे यही उस दूत की अलका-यात्रा है। जहाँ जहाँ रस है मेघ उसकी पुष्टि करता है। पृथ्वी, नदी, औषधि, स्त्री–सब मेघ-सम्पर्क से रसाप्लुत हुई हैं। मनुष्य का अर्धभाग योषित् है। इसलिए स्त्री ही उसके लिए विश्व में सबसे अधिक आकर्षण की वस्तु है। काम के सर्वतोमुख अनुभव का साधन पुरुष के लिए स्त्री के सिवाय और प्रकृति ने रचा ही नहीं। हम लोग पुरुष की स्थिति में जगत् को देखते हैं, इसी कारण स्त्री के विप्रयोग का अन्त करने के लिए ही हमारा मेघदूत प्रवृत्त होता है। विज्ञान के अनुसार पुरुष के शरीर में प्राण और रयि (masculine and feminine) दोनों कोष बसते हैं। इसी प्रकार स्त्री के शरीर में भी दोनों कोष पाए जाते हैं। परन्तु पुरुष के अंग में प्राणात्मककोषों या अग्नि (Energetic active life cell) की प्रधानता है और स्त्री में रयित्व या सोम की प्रधानता है। अग्नि प्रजननात्मक रेत का काम करती है और सोम उसका भरण-पोषण करता है*। अग्नीषोम की एकता ही सृष्टि का सबसे रमणीय कार्य है। इसीलिए पुरुष स्त्री की और स्त्री पुरुष की ओर आकृष्ट होती हैं। इनकी पूर्णता में प्रकृति की इष्ट-पूर्ति निहित है। 'प्रजां प्रजनयावहै' के मार्ग से अध्यात्म की ओर बढ़ना ही अलका के इस ओर बसनेवालों की विशेषता है।

काम के लिए शिव-लोक का उत्तरायण मार्ग बतानेवाला महाकवि जानता है कि इस यात्रा की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि मार्ग-स्थित जितने काम-शक्ति के केन्द्र हैं वे सब विलास करके श्रान्त हो जाँय, और मेघ सब पर विजय पाता हुआ **'हरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या'** अलका के प्रासादों में शान्ति से प्रवेश करे। अलका में साक्षात् शिव का निवास है, परन्तु अलका के इस ओर भी अध्यात्म-पथिक को सहायता देनेवाले महाकाल शिव, नियत-वसति स्कन्द और हरचरण न्यास आदि दिव्य साधन हैं।

मेघ को आदेश है कि अलका के इस ओर के काम-हृदों को जितना क्षुब्ध कर सके करे। प्रियतम के मन्दिर को गुप्प अँधेरी में जाती हुई घनघोर रव-त्रस्त अभिसारिकाओं को रमण वसति तक पहुँचानेवाला काम ही है—

रजनीतिमिरावगुंठिते पुरमार्गे घनशब्दविक्लवाः। वसतिं प्रियकामिनां प्रियास्त्वदृते प्रापयितुं क ईश्वरः।।

कुमारसम्भव ४।११।

कुमारसम्भव में घन शब्द विक्लवकारी है, परन्तु मेघदूत में वृष संज्ञक मेघ और वृषपति काम के स्वरूप की एकता की गई है। वह मेघ अपने चेष्टाओं से अभिसारिकाओं को विकल करने के स्थान में उनके प्रापण में सहायक होता है—

गच्छन्तीनाँ रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं, रुद्धा लोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।

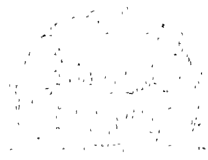
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं, तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः।। १।३७।।

रात के समय जब सूचिभेद्य अंधकार से राजमार्ग पर कुछ सूझ न पड़ता हो, जो अभिसारिकाएँ प्रिय वसति तक जाती हों, उनके मार्ग को कसौटी पर स्वर्ण-खचित रेखा के समान चमकीली बिजली से आलोकित कर देना, गरज-बरस कर उनको डराना मत? इसी प्रकार प्रातःकालीन रागात्मक भानु जब खंडिता-नलिनी के आँसू पोंछने को अपने हाथ बढ़ावे, तब हे मेघ, तुम्हारे बीच में पड़ने से वृथा असूया बढ़ेगी इसलिए मार्ग से हट जाना। (मे० १।३९)

गाढोत्कण्ठावाली विप्रयुक्ताओं के लिए मेघ को जो करना चाहिए उसका वर्णन सारे उत्तर मेघ में है।

देवयोनियों में भी मेघ कौतुकों का अवतार कराता है। मुग्ध सिद्धांगना, अमरों के मिथुन, शिव के गण, सिद्धों के द्वन्द्व, किन्नरी और व्योमगति गंधर्वादि सभी मेघ की स्फूर्ति से उत्तेजित होते हैं। उनको भी इस उत्तरपथ के यात्री की

* **वेद में इसी भाव को यों कहा है—रेतोऽहं, रेतोभृत् त्वम्–अर्थात्, पुरुष** रेत (active regenerative) और स्त्री रेतोभृत् (Building or generative force) है।



यात्रा में विशेष कुतूहल है। अप्सराएँ तो जलात्मक वृष की ही चेष्टाओं के नाना रूप हैं। उनका जन्म जल-तत्व से है—अद्भ्यः सरन्तीति अप्सरसः। वृष और सोम के अनन्त विलास ही अप्सरा रूप हैं। इन्हीं के प्रलोभनों द्वारा इन्द्र तपस्या में विघ्न डालते हैं। इन अप्सराओं के तेज को शुष्क करनेवाले सूर्य हैं जिनके पाद-मूल का उपस्थान बारी-बारी से सब करती हैं।* पिंगला की ही संज्ञा सूर्य है जो अप्सराओं के तेज को अग्निमय करके सुरक्षित करती है।

कवि ने प्रतिज्ञा की थी —जानामित्वां प्रकृति पुरुषं कामरूपं मघोनः। उसी काम रूप के दर्शन हमने प्रकृति में सर्वत्र घूमकर किए। अचेतन-चेतन में कहीं भेद नहीं मिला। जड़ रामगिरि के चिर विरहोत्पन्न उष्ण आँसू और यक्षिणी के वर्षभोग्यविरहोत्पन्न गरम निःश्वास एक ही नियम का संकेत करते हैं। प्रकृति की विराट एकता ने चराचर को एक सूत्र में बाँध रक्खा है। हमारे तमिस्रान्ध चक्षुओं को प्रायः अपनी महिमा के आगे कुछ सूझ नहीं पड़ता। पर कवि की सहस्राक्ष दृष्टि में सब रहस्यों का प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसलिए उसका मेघदूत सार्वभौम है। वह शुद्ध साहस से वेश्याओं के नखपदों को मेघ से मिलनेवाले सुख का भी वर्णन करता है, थोथी विरक्ति से नाक भौं नहीं सिकोड़ता। यदि वार-विलासिनी उसके वर्णन की पात्र न समझी जाँय, तो उसका सार्वभौम चित्र अधूरा रहे। ऐसा तभी होगा, जब कवि प्रकृति की सचाई से अपने अहंकार को बढ़ जाने देगा। यदि मेघ के आने से पतिव्रता यक्षिणी का हृदय उन्मथित हो जाता है, तो वेश्या नर्तकियों का रमणी-हृदय किस संयम में बँधा रहेगा? उस उद्दाम सरोवर में सबसे पहले बाढ़ आवेगी। जब प्रकृति की वास्तविकता ऐसी है, तो कवि को क्या अधिकार है कि वह वेश्या-हृदय को पतित जानकर ठुकरा दे। स्थूल दृष्टि रखकर संसार का वर्णन करनेवालों के लिए वेश्या, पतिव्रता और अभिसारिका में भेद हो सकता है और कदाचित् होना भी चाहिए। परन्तु अन्तःदृष्टि से प्रेरित होकर जो मेघ का कार्य देखता है उसकी दृष्टि में संसार के सभी दृश्य अपना प्रतिबिम्ब डालते हैं, उसका अनुभव अखण्ड या समग्र होता है, एक देशीय या विभक्त नहीं। समग्र का ज्ञान करनेवाला यदि अध्यात्म का उपदेश देता है तो उसके द्वार पतित, वेश्या और पापी सबके लिए खुले रहते हैं। सांसारिक जीव अपने नीतिधर्म के उपदेश में किसी को बहिष्कृत भले ही समझें, पर बुद्ध के लिए अम्बापाली का निमंत्रण भी कम मूल्यवान् नहीं है। लिच्छवि-राजकुमारों के घरों में यदि बुद्ध के चरणों की आवश्यकता है, तो इसी कारण से अम्बापाली का द्वार उनको और भी अधिक चाहता है। यह दृष्टि ज्ञान सम्पन्न बुद्ध की है। उनके हृदय में प्राणिमात्र का मूल्य है और कोई जीव इतना नहीं गिरा है कि वह उठ न सके।

कवि की भी ज्ञान-सम्पन्न अन्तर्दृष्टि यही रहती है। पर उसका मार्ग काव्य के द्वारा चैतन्य के आनन्द की प्राप्ति है। काव्य में कान्ता संमित उपदेश दिया जाता है। इसीलिए मेघदूत के अध्यात्म-ज्ञान का ऊपर से कुछ पता नहीं चलता। पण्यस्त्रियों के विलास के मूल में कवि क्या वर्णन कर रहा है और उसकी निर्मित सृष्टि में उनका क्या स्थान है, इसे हम बहुधा नहीं देख पाते। मेघ के साथ सबका सम्बन्ध जोड़कर सब अच्छे बुरे भावों को उत्तराभिमुख करने में उसका जो चरम लक्ष्य है, उसकी प्रतीति ऊपर से नहीं होती, क्योंकि मेघदूत काव्य है, धर्मशास्त्र नहीं। फिर यह भी बात ध्यान में रखनी चाहिए कि सब प्राणियों को अपने स्थान में रहकर ही आत्मा का उद्धार करना है। हम अपने मनोभावों को उच्च बनाकर सदा आगे बढ़ते रहें, पर एक स्थान से दूसरे स्थान में अपनी लोक-स्थिति बदलते रहने से हमारे हाथ कुछ नहीं लगेगा। मुख्य परिवर्तन मन का है। वह मन विराट पुरुष को समर्पित रहे तो शरीर अपने आप सुधर जाता है। मेघदूत की समस्त प्रकृति अपने स्थान पर स्थित रहती है। केवल उसके भाव मेघ के साथ जाते हैं। स्वयं यक्ष भी अवधि से पहले रामगिरि को नहीं छोड़ सकता। हाँ अपने संकल्पों और विगणनाओं को वह मेघ के द्वारा अलका के लोक में भेज सकता है।†

*** अप्सरो वारपर्यायेणेह भगवतः सूर्यस्य पादमूलोपस्थाने वर्तमाना बलवत्खलु उर्वश्या उत्कण्ठितास्मि—विक्रमोर्वशीये चतुर्थांके।**

† हम सबको देशकाल के पाशों में सीमित करनेवाली माया (finitising principle) है जिसने हमें अनन्त से सान्त बना दिया है प्रत्येक व्यक्ति देश-काल के जिस बिन्दु (intersection point) पर खड़ा है वहाँ से वह भागकर नहीं जा सकता। उसका वह व्यक्तित्व ही उस बिन्दु पर खड़े होकर देखना है।

श्री डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल

पशु पक्षी मनुष्य देवयोनि सब पाश से बँधे हुए अपने स्थान में कर्म कर रहे हैं, समय से पहले भौतिक पाशों का अन्त नहीं हो सकता, अपने मन को हम आज ही प्रकृति-पुरुष के साथ मिला सकते हैं। यही परिवर्तन सब कुछ है। मेघ को काम-रूप पुरुष कहकर उसका काम-सम्बन्ध प्रकृति में जहाँ कहीं है उन सबका ही वर्णन कवि ने एकसी स्पष्टता और निर्भीकता के साथ किया है। इन सबके समवाय को वह पुरुष अलका में ले जा रहा है। वह सर्वव्यापी बनकर सबका उद्धार करने में यत्नशील है। विष्णु-मेघ के लिए सब कुछ अपने तेजांश से सम्भव प्रतीत होता है। उसके निकट त्याज्य और हेय कोई भी पदार्थ नहीं है। इस कारण चेतन और अचेतन, गणिका और पतिव्रता, उज्जयिनी के वासी और अलका के प्राणी, सब एक-साथ उस मेघ सन्देश को सुनते हैं जिसे यक्ष ने सुना है। अपने संस्कारों के अनुरूप ही उस सन्देश से सबको स्फूर्ति प्राप्त होती है। भोगियों में भोग का भाव और प्रबल हो जाता है। इसी के वर्णन के कारण मेघदूत भोग-प्रधान काव्य प्रतीत होता है। परन्तु उसमें संयम और वैराग्य का जो छिपा हुआ तार है उसकी ओर लोगों का ध्यान नहीं जाता। संसार में सबसे महनीय वस्तु 'स्वाधिकार' है। आत्म-नियोग या आत्मानुभूति ही परमश्रेय है। उसमें यक्ष ने जो असावधानता की उसका कारण भी उसका विषय-लिप्त हो जाना है। इस प्रमादजनित दण्ड की निराकृति के लिए शाप के वश होकर वह तपस्या कर रहा है। इस अनुभव की अवस्था में सबसे महत्त्व की बात जो उसने सीखी वह यह है कि काम का सृष्टि में क्या स्थान है। कहाँ तक यह आत्मकल्याण का साधन है, और किस सीमा से आगे बढ़ जाने पर यह मनुष्य को नीचे गिरा देता है। वह नेत्र खोलकर देखता है कि प्रकृति द्वन्द्वमयी है। उन दो भागों में परस्पर आकर्षण सम्बन्ध का हेतु काम है। परन्तु वह काम सदा शिव के सान्निध्य में रहना चाहिए। शिव से भस्म होकर ही उसे नवीन जीवन प्राप्त हुआ था। मेघदूत में सैकड़ों तरह से कवि ने इस तत्त्व की बात का वर्णन किया है। स्कन्द को पुष्पमेघी कृतात्मा होकर स्नान कराना, या भवानी को अपनी भक्ति से प्रसन्न करना, या हरचरण-न्यास की भक्ति-नम्र होकर परिक्रमा करना, या कैलाश के अतिथि होना—इन सब बातों में एक ही अध्यात्म-भाव दृष्टिगोचर होता है, जिसके द्वारा काम अन्ततः अध्यात्म-सम्पत्ति में विपरिणमित (spiritualised) हो जायगा।

क्षुद्र पक्षी से लेकर देवयोनियों तक का मेघ के साथ सम्बन्ध सब अपर या निम्नकोटि का है। इन सब से परे त्रिभुवन-गुरु चण्डीश्वर तथा उनके परिवार के साथ मेघ का सम्बन्ध अक्षर कोटि का है। ऊँचे से ऊँचे देव तक त्रिगुणात्मक या तीन गुणों के अधीन हैं। ये तीन गुणही तीन पुर हैं जो सोने चाँदी और लोहे के बने हुए कहे गए हैं (ऐतरेय ब्राह्मण १।२३) त्रिपुर के विजेता शंकर हैं—

संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः॥ मेघ १।५६।

किन्नरियाँ त्रिपुरासुर के विजेता, तीनों भुवनों के अधीश्वर शंकर की विजय के गीत गाती हैं। **यह त्रिगुणमयी** माया बड़ी दुरत्यय अर्थात् चण्डी है। त्रिपुर या त्रिभुवन के गुरु शिव ही चण्डीश्वर है (मेघ १।३३) उनका **जो पवित्र धाम** है वहाँ मेघ को अवश्य जाना चाहिए—**पुण्यं यास्यस्त्रिभुवनगुरो र्धाम चण्डीश्वरस्य।**

चण्डीमाया जिनके वश में है उनकी शरण में जब संसार का कामरूप पुरुष पहुँचता है तो उसका भोग भी **स्वर्गीय** बन जाता है। ऐसा पुरुष अपनी भक्ति से भवानी को प्रसन्न करता है। उसकी दृष्टि में स्त्री सौन्दर्य परम सुन्दर का अति रमणीय प्रतीक मात्र है। अनुभव के अनन्तर उस रूप के दर्शन से आध्यात्मिक आनन्द और कला का विकास होता है, उसमें लालसा नहीं रहती। प्रकृति के सब पदार्थों का परिचय मनुष्य अपनी इन्द्रियों द्वारा दो ही तरह प्राप्त कर सकता है—ज्ञानी अथवा अज्ञानी बनकर। ज्ञानी की अवस्था में वह पदार्थ के बाह्य नाम रूप से मोहित न होकर उसकी असलियत जानने का प्रयत्न करता है। उसका भोग मुक्ति की भावना से भावित रहता है। मूर्ख या विषय कामी वह है जो पंच विषयों या भूतों की सत्ता को ही सच्ची समझकर उनमें अपनी लालसा तृप्त करने के लिए आत्मा को खो देता है। यक्ष किसी समय इसी मूढ़ दशा में विषयों में आसक्त था। अब वह काम के बाह्य भोग में लिप्त न होकर मानसिक क्षेत्र में उसके वास्तविक स्वरूप का अनुभव कर रहा है। काम पुरुष के साथ उसका अभिनव सम्बन्ध संयम, भक्ति और वैराग्य से नियंत्रित है। इसी कारण वह प्रत्येक क्षण देवाधिदेव शंकर को प्रसन्न करना चाहता है। पार्वती के साथ विवाह करने से पूर्व शंकर को

भी अपना काम विषयक भाव बदलना पड़ा था। इसी आन्तरिक परिवर्तन से प्रेरित होकर यक्ष मेघ को महाकाल के मन्दिर में ठहरने का उपदेश देता है। और सब जगह तो उसने अपने दूत से जल्दी जाने को कहा है (आशु गन्तुंव्यवस्येत)—

मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्याः।

परन्तु महाकाल के मन्दिर में मेघ यदि समय से पहले पहुँच जाय तो उसे वहाँ सूर्यास्त तक ठहर जाना चाहिए। दिन का शेष भाग सिवाय शिव की सांध्य पूजा में कृतार्थ करने के और कहाँ बिताया जाय—

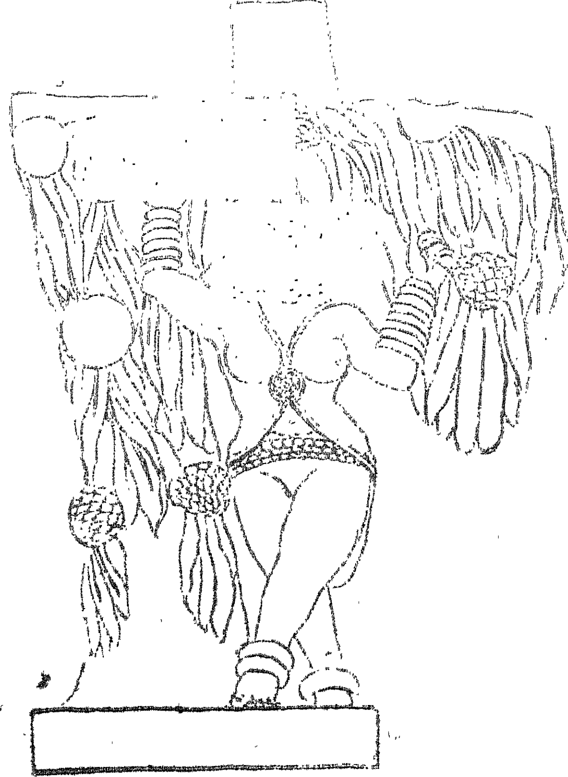
अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले, स्थातव्यं ते नयन विषयं यावदत्येति भानुः।

कुर्वन्संध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ मेघ० १।३४।

इस प्रकार भगवत समर्पित जो काम या वृष शक्ति है उसी के स्वाभाविक अर्थात् सृष्टि के लिए अत्यन्त आवश्यक रूप को हिन्दू शास्त्रों ने भगवान् का ही स्वरूप बताया है—प्रजनश्चापि कंदर्पः—गीता १।२८।

काम की ऐसी आध्यात्मिक कल्पना वस्तुतः बहुत उच्च और कल्याण करने वाली है। उसको पाकर मनुष्य स्त्री को भगवान् की विभूति समझता है, अपनी अभिलाषाओं की दरिद्र भिखारिणी नहीं। वह उसकी आत्मा से मिल जाता है जोकि अनन्त सम्मिलन है। शरीर की एकता तो विच्छिन्न और नश्वर है।

ऊपर हमने यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि मेघदूत में जो काम की प्रबल धारा बही है और जिसके प्रभाव से चेतनाचेतन जगत् में कोई भी अछूता नहीं बचा है, वह स्थूल भोग को पुष्ट करने के लिए नहीं है; प्रत्युत उसके द्वारा कवि ने यह दिखाया है कि काम का आश्रय लेकर भी किस प्रकार विराट् प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करके अन्त में परम शिवात्मक ज्योति के दर्शन सम्भव हैं। जो मेघ निर्विन्ध्यादि नायिकाओं के साथ अनेक विलास करता है वही अन्त में मणि-तट पर शिव और पार्वती के आरोहण में सहायक होता है। योगियों के मणितट, बुद्धों के मणिपद्म और ज्ञान की पुरी काशी की मणिकर्णिका में कोई भेद नहीं है, वहाँ पहुँचकर आनन्द ही आनन्द है।



कालिदास का दूत-कर्म

श्री चन्द्रबली पांडे, एम्० ए०

राजकवि कालिदास के विलास की तो बात ही और है पर उनका 'दौत्य' भी किसी से कम नहीं है। देखिए भोजराज कहते हैं:—

"तत्र पदान्यथाकरणं द्विधा प्रकृतितो विभक्तितश्च। तत्र प्रकृतितो यथा—
असकलहसितत्वात् क्षालितानीव कान्त्या, मुकुलितनयनत्वाद् व्यक्तकर्णोत्पलानि।
पिबतु मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां, त्वयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥
अत्र त्वयीत्यस्य स्थाने यदा मयीति पठ्यते तदैतत्प्रार्थनावाक्यमपि अनुमतिवाक्यं भवति"।

(सरस्वतीकंठाभरण, द्वितीय परिच्छेद)।

राजा भोज के इस प्रस्तुत अवतरण से प्रसंग का कुछ भी पता नहीं चलता पर इतना व्यक्त हो जाता है कि इसकी 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'अनुमति' बन गई है। अच्छा, तो यह प्रार्थना थी किसकी? वही राजा भोज फिर कहते हैं—

"नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान असकलहसितत्वात्........ इदमेवोहयित्वा विक्रमादित्यः प्रत्युवाच—

पिबति मधुसुगन्धीन्याननानि प्रियाणां, मयि विनिहितभारः कुन्तलानामधीशः॥ इति॥"

(शृंगारप्रकाश, अष्टम प्रकाश)

भोजराज के जहाँ इस अवतरण से यह अवगत हुआ कि 'कालिदास' की उक्त 'प्रार्थना' पाठभेद के कारण 'विक्रमादित्य' की 'अनुमति' हो गई वहीं यह अड़चन भी सामने आगई कि वास्तव में मूल पाठ है क्या? एक ओर तो भोज 'पिबतु' को ठीक मानते हैं और दूसरी ओर 'पिबति' को। फिर वस्तुस्थिति का ठीक पता कैसे हो?

भाग्यवश यही पद्य राजशेखर के काव्यमीमांसा एवं मंखुक के साहित्यमीमांसा नामक ग्रंथ में भी आया है। राजशेखर 'हरण' पर विचार करते हुए लिखते हैं :—

"पादैकदेशग्रहणमपि पादैकदेशोपलक्षणपरम् । यथा—

असकलहसितत्वात्..............................

यथा चोत्तरार्द्धे—

पिबतु.................................." (काव्यमीमांसा, एकादशोऽध्यायः)

एवं मंखुक 'नैयायिकी' के सम्बन्ध में कहते हैं :—

"ऊहविपर्ययविपरिणामाध्याहारवाक्यशेषव्यवहितकल्पनादिभिरूपकल्पामाना नैयायिकी यथा—कालिदासः किं कुन्तलेश्वरः करोतीति विक्रमादित्येन पृष्ट उक्तवान्—

असकलहसितत्वात्..................................

इति। विक्रमादित्यः 'पिबतु मयीत्यूहयित्वा इदमेव पद्यमुत्तरं पपाठ। इयमूहतो नैयायिकी।" (साहित्यमीमाँसा, द्वितीय प्रकरण)।

निदान हम देखते हैं कि राजशेखर तथा मंखुक दोनों ही आचार्य इस बात में एक मत हैं कि वास्तव में कालिदास ने 'पिबति' और 'त्वयि' का प्रयोग किया था किन्तु विक्रमादित्य ने उन्हें 'पिबतु' और 'मयि' के रूप में कर लिया। 'त्वयि' और 'मयि' के विषय में तो कोई विवाद है नहीं। सभी यहाँ एकमत हैं। हाँ, 'पिबति और 'पिबतु' में द्वन्द्व अवश्य है। सो बहुमत तो यही है कि कालिदास ने 'पिबति' कहा और विक्रमादित्य ने 'पिबतु' के रूप में ग्रहण किया। होना भी यही था।

'पिबति' और 'पिबतु' पर विचार बाल की खाल निकालने के लिए नहीं प्रत्युत यह दिखाने के हेतु किया जा रहा है कि वस्तुतः कालिदास का दौत्य कैसा था। कालिदास किस काम से भेजे गए थे, इसका पता नहीं, पर इतना तो निर्विवाद है कि उनके वापस लौट आने पर उनसे प्रश्न किया जाता है कि कुन्तलेश्वर क्या करते हैं? अब यदि इसका उत्तर यह दिया जा रहा है कि अधरामृत पान करते हैं तो ठीक। कारण कि इससे उनके 'वर्त्तमान' का बोध होता है। और यदि 'पिबतु' का प्रयोग करते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि कालिदास वस्तु-स्थिति को स्पष्ट न कर विक्रमादित्य से 'प्रार्थना' करते हैं कि उसे वैसा करने की 'अनुमति' मिले। किन्तु बात ऐसी है नहीं। कालिदास तो कुन्तलेश्वर के वर्त्तमान को बताते हैं और विक्रमादित्य चट ताड़ लेते हैं कि अब उससे कोई भय नहीं। वह भले ही अधरामृत का पान करता रहे, हम तो उससे कोई विरोध नहीं रखते। चलो, अब तो उसकी चिन्ता दूर हुई, बस उसका विलास अब उसे और आगे बढ़ने न देगा।

परन्तु यह कुन्तलेश्वर है कौन जो विक्रमादित्य को इतना व्यथित कर देता है कि उसकी गति-विधि का पता लगाने के लिए कवि कालिदास को दूत बनकर जाना पड़ता है? साहित्य अभी इसके सम्बन्ध में मौन है। हाँ, उपलब्ध सामग्री से इतना पता चलता है कि कालिदास ने कुन्तलेश्वर के यहाँ भी कुछ कर दिखाया था। क्षेमेन्द्र कहते हैं—

"अधिकरणौचित्यं यथा कुन्तलेश्वरदौत्ये कालिदासस्य—

इह निवसति मेरुः शेखरः क्ष्माधराणा, इह विनिहितभाराः सागराः सप्तचान्ये।
इदमहिपतिभोगस्तम्भविभ्राजमानं, धरणितलमिहैव स्थानमस्मद्विधानाम् ॥

अत्र महाराजदूतोऽपि सामन्तास्थाने स्वप्रभुसमुचितगौरवपूजार्हमासनमनासाद्य कार्यवशेन भूमावेवोपविष्टः प्रागल्भ्यगाम्भीर्येणैवं ब्रूते, यथास्मद्विधानां वसुधातल एव भुजगपतिभोगस्तम्भः प्राग्भारनिष्कम्प्ये धरासने स्थानं युक्तं, यस्मादिहैव मेरुरचलचक्रवर्ती समुपविष्टः, सप्तमहाब्धयश्च, तत्तुल्यतैवास्माकमौचित्यमधिकरणपदसंबद्धमेव ॥"*

(औचित्यविचारचर्चा)

* ध्यान देने की बात है कि यही प्रसंग श्रीबल्लाल कवि के यहाँ कुछ और ही रूप धारण कर लेता है जिससे किसी को इसकी साधुता में सन्देह हो सकता है। पर वस्तुतः बात ऐसी है नहीं। बल्लाल कवि का ध्यान इतिहास

'पूजार्हमासनमनासाद्य' के साथ ही साथ 'पूजार्हमासनमापाद्य' पाठ भी देखने में आया है जिससे कालिदास के साथ कुन्तलेश्वर के व्यवहार में बड़ा अन्तर आ जाता है किन्तु प्रकरण पर विचार करने से प्रथम पाठ ही अधिक संगत सिद्ध हुआ है और विद्वानों ने प्रायः माना भी उसी को साधु है। फलतः मानना पड़ता है कि कुन्तलेश्वर का व्यवहार कालिदास के प्रति शिष्ट न रहा किन्तु कालिदास ने अपनी प्रतिभा के सहारे उससे वह काम लिया कि कुन्तलेश्वर की आँख खुल गई और उन्होंने प्रत्यक्ष देख लिया कि चक्रवर्ती के लक्षण क्या हैं। सारांश यह कि अपनी निपुणता से कालिदास ने उन्हें परास्त कर ऐसा मोह लिया कि फिर कभी उनको उपद्रव की न सूझी और विक्रमादित्य के प्रतिकूल न हुए।

कालिदास के 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' काव्य का पता नहीं, परन्तु उसके दो उपलब्ध पद्यों के आधार पर पुराविदों ने मनमाना प्रासाद खड़ा कर लिया है और इतिहास की कतिपय गुत्थियों को सुलझाने का पूरा पूरा श्रम भी कर लिया है। प्रायः सभी विद्वानों को इस दौत्य का मधुर फल प्रणय ही दिखाई दिया है और फलतः इसी प्रणय की पूर्ति में मनमाने वर भी ढूंढ़े गए हैं। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तो हैं ही उनके पुत्र* कुमारगुप्त तथा पौत्र स्कन्दगुप्त† भी इसी काम में लाए गए हैं

पर था ही नहीं; उन्हें तो किसी प्रकार कवि, काव्य एवं मर्मज्ञ रसिक का रूप दिखाना था। कहते हैं—

"ततः प्रविशति द्वारपालः—"देव! कोऽपि कौपीनावशेषो विद्वान् द्वारि तिष्ठति" इति। राजा—"प्रवेशय" इत्यवोचत्। ततः प्रवेशितः कविरागत्य "स्वस्ति" इत्युक्त्वानुक्त एवोपविष्टः प्राह—

इह निवसति मेरुः शेखरो भूधराणाम्। इह हि निहितभाराः सागराः सप्तचैव॥
इदम् अतुलं अनन्तं भूतलंभूरिभूतः। अभवद्धरणसमर्थं स्थानम् अस्मद्विधानाम्॥५९॥

राजा प्राह—"महाकवे! किं ते नाम? अभिधत्स्व।" कविः प्राह—"नामग्रहणं नोचितं पण्डितानाम्। तथापि वदामो यदि जानासि।"

कवि संकेत में अपना परिचय देता है "स च क्रीड़ाचन्द्रो दशनकिरणापूरिततनुः" तो कालिदास कहते हैं:—

"सखे क्रीड़ाचन्द्र! चिरात् दृष्टोसि। अथ कथम् ईदृशी ते दशा मण्डले मण्डले विराजत्यपि राजनि बहुधनवति"? (भोजप्रबन्ध, दशम प्रबन्ध)

उत्तर पर विचार करने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत प्रकरण से प्रत्यक्ष है कि यहाँ इस पद्य को और ही रूप मिल गया है और इससे काम भी कुछ और ही लिया गया है। कालिदास के 'सखा' 'क्रीड़ाचन्द्र' का रहस्य क्या है, इसे कौन बताए? पर इतना तो व्यक्त ही है कि बल्लाल की दृष्टि में इस पद्य का सम्बन्ध क्रीड़ाचन्द्र ही से है। तो भी यह कहा नहीं जा सकता कि वास्तव में बल्लाल का पक्ष ही ठीक है, क्षेमेन्द्र का नहीं। वस्तु-स्थिति तो यह प्रतीत होती है कि कालिदास के प्रकृत पद्य में ही हेरफेर कर प्रस्तुत पाठ बना लिया गया है और क्रीड़ाचन्द्र को कालिदास का सखा बना दिया गया है। यदि यह ठीक है तो इतिहास के क्षेत्र में इसका कुछ महत्त्व नहीं; यह तो केवल कवि-सभा के योग्य है। और यदि 'क्रीड़ाचन्द्र' में 'चन्द्र' की 'क्रीड़ा' का संकेत हो तो बात और है।

* कुमारगुप्त के पक्ष में बहुमत दिखाई देता है। श्रीबल्लाल कवि का एक पद्य है—

"अष्टौ हाटककोटयस्त्रिनवतिर्मुक्ताफलानां तुलाः। पञ्चाशन्मधुगन्धमत्तमधुपाः क्रोधोद्धताः सिन्धुराः॥
अश्वानाम् अयुतं प्रपञ्चचतुरं दिव्यांगनानां शतं। दत्तं पाण्ड्यनृपेण यौतकमिदं वैतालिकायार्प्यताम्॥१७०॥"

(भोजप्रबन्ध, अष्टात्रिंशत्तम प्रबन्ध)

बल्लाल कवि का यह कथन बड़े काम का होता यदि उन्हें इतिहास से कुछ रुचि होती। तो भी सहसा यह कहा नहीं जा सकता कि इसमें इतिहास की गन्ध भी नहीं है। सम्भव है गुप्तकुल की कोई वधू 'पाण्ड्य-नृप' की कन्या रही हो। 'पाण्ड्यनृप' और 'कुन्तलेश्वर' का विचार होना चाहिए। हमारी समझ में काकुत्स्थ-कन्या से कुमारगुप्त का विवाह मानना भूल है। कुमारगुप्त की दो देवियों का प्रमाण मिलता है। इनमें से 'अनन्तदेवी' का नाम तो 'भीतरी' की राज-मुद्रा पर अंकित है और 'देवकी' का नाम

और वाकाटक रुद्रसेन भी इससे दूर नहीं रहे हैं। किन्तु सच पूछिये तो इन पद्यों में प्रणय का नाम तक नहीं है, इनमें तो शुद्ध और खरी राजनीति ही बोल रही है। तनिक प्रश्न और उत्तर—करोति और पिबति—पर ध्यान दीजिए तो पता चले कि 'पिबतु' पर ही इसकी समाप्ति हो जाती है; इसके उपरान्त विक्रमादित्य को किसी विवाह की चिन्ता नहीं रह जाती। यदि कोई विवाह हो जाता है तो बात ही और है। उसका इस दौत्य से सम्बन्ध क्यों जोड़ा जाय?

हाँ, तो 'कुन्तलेश' की चिन्ता में संस्कृत-साहित्य को मथा गया तो उसमें से कृष्ण कवि का यह पद्य निकल आया—

"जलाशयस्यान्तरगाढमार्गमलब्धबन्धं गिरि चौर्यवृत्त्या।
लोकेष्वलं कान्तमपूर्वसेतुं, बबन्ध कीर्त्या सह कुन्तलेशः ॥४॥" (भरतचरित, प्रथम सर्ग)

उधर वाण कवि ने पहले से ही कह रखा था—

"कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्ज्वला। सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना ॥१५॥" (हर्षचरित,)

फिर 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन को 'कुन्तलेश' मान लेने में अड़चन क्या थी? सो भी तब जब उसके टीकाकार महाराज भूपति रामदास ने स्पष्ट कर दिया था—

"इह तावन्महाराजप्रवरसेननिमित्तं महाराजाधिराजविक्रमादित्येनाज्ञप्तो निखिलकविचक्रचूडामणिः कालिदास-महाशयः सेतुबन्धप्रबन्धनं चिकीर्षुः ॥" (रामसेतुप्रदीप, आरम्भ)

अथवा—

"धीराणां काव्यचर्चाचतुरिमविधये विक्रमादित्यवाचा, यं चक्रे कालिदासः कविकुमुदविधुः सेतुनामप्रबन्धम्।
तद्व्याख्या सौष्ठवार्थं परिषदि कुरुते रामदासः स एव, ग्रंथं जल्लालदीन्द्रक्षितिपतिवचसा रामसेतुप्रदीपम् ॥" (वही)

रामदास का प्रस्तुत कथन पुराविदों के बड़े काम का सिद्ध हुआ और उनको 'कुन्तलेश' की खोई हुई कड़ी मिल गई। 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश' का पता कृष्णकवि से मिला तो 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन एवं कालिदास तथा विक्रमादित्य का नाता महाराज रामदास भूपति की कृपा से जुट गया, परन्तु रामदास भूपति के] प्रकृत कथन पर विचार करते समय भूलना न होगा कि उनके सामने सम्राट् अकबर विराजमान हैं जिन्हें वे महाराजाधिराज विक्रमादित्य के रूप

स्कन्दगुप्त के उसी भीतरी के 'स्तम्भलेख' से अनुमानतः निकाला गया है। जिसका आधार है—'हत-रिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः' ॥६॥ इनमें से कौन किसे काकुत्स्थ-कन्या मानता है इसके विवेचन की आवश्यकता नहीं। संक्षेप में स्मरण रखने की बात यह है कि कुमारगुप्त ध्रुवस्वामिनी के पुत्र थे जो रामगुप्त के निधन के उपरान्त चन्द्रगुप्त की 'पत्नी' बनी थी। अस्तु, कुमारगुप्त का जन्म सन् ३८० ई० के पूर्व मानना किसी प्रकार भी संगत नहीं दिखाई देता। यदि यह ठीक है तो सन् ३९० या ३९२ के लगभग उनका विवाह मानना कुछ ठीक नहीं जँचता। उनके अनुज गोविन्दगुप्त के विषय में भी यही कहा जा सकता है। (प्रकृत मत के लिए देखिए 'दी मौखरीज, ई० ए० पाइरेस (Pires) मद्रास, १९३४ ई०, बी. जी. पाल को० पृष्ठ ३२-३४)

† समय की गड़बड़ी से ऊबकर 'कदम्बकुल' के यशस्वी लेखक ने 'स्कन्दगुप्त' को ही इस प्रणय के योग्य ठहराया है, किन्तु अनुमान के अतिरिक्त किसी अन्य प्रमाण से काम नहीं लिया है। उन्होंने वाकाटक-वधू अज्झिता भट्टारिका को भी काकुत्स्थ-कन्या मान लिया है जिसके कारण काकुत्स्थ का समय बहुत इधर खींच लिया है। उनके तर्क से कुमारगुप्त का जन्म लगभग ३७० ई० के सिद्ध होता है, जो किसी प्रकार भी साधु नहीं कहा जा सकता। निदान यह मत तो सर्वथा निर्मूल है। प्रसंगवश हम यहाँ इतना और स्पष्ट कह देते हैं कि उनकी कल्पना बहुत कुछ इसी आधार के कारण गिर गई है और फलतः कदम्बकुल का काल बहुत बाद में बैठाया गया है। (देखिए 'दी कदम्बकुल' ज्यार्ज एम० मोरेस (Moraes) बम्बई, पृष्ठ २७)।

में पा रहे हैं और अपने आप को निश्चय ही महाकवि कालिदास के रूप में। अतः उनके इस कथन का सहसा यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि प्रवरसेन का तो 'सेतुबन्धम्' से केवल ऊपरी सम्बन्ध है। कारण कि स्वयं रामदास ही फिर कहते हैं—

"अभिनवेन राज्ञा प्रवरसेनेनारब्धा। कालिदासद्वारा तस्यैव कृतिरियमित्याशयः। प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।"
(प्रथम आश्वास, ८९ की टीका)

किन्तु ध्यान से देखा जाय तो महाराज रामदास की दृष्टि में प्रवरसेन भोजदेव तो माने जा सकते हैं, परन्तु 'कुन्तलेश' कदापि नहीं। और 'कुन्तलेश' का जो नाता 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' में महाकवि कालिदास अथवा महाराजाधिराज विक्रमादित्य से जुटा है वह सर्वथा उससे भिन्न है जो 'सेतुबन्धम्' में उनमें जुट रहा है। 'सेतुबन्धम्' में तो प्रवरसेन 'अभिनवराजा' के रूप में सामने आते हैं और टीकाकार रामदास की दृष्टि में महाकवि कालिदास के प्रसाद से कवि बन जाते हैं। फिर भला यहाँ कुन्तलेश्वरदौत्यम् का विकट रूप कहाँ है? यहाँ तो सभी पात्रों में स्नेह और सद्भाव हैं; शंका और सन्देह नहीं।

'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' के 'कुन्तलेश', 'सेतुबन्धम्' के 'कुन्तलेश' (?) हो नहीं सकते। माना कि कृष्णकवि ने अपने काव्य में 'सेतुबन्धम्' के रचयिता को 'कुन्तलेश' लिख दिया, पर इससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि उनका यह कथन ही यथार्थ है। 'सेतुबन्धम्' के टीकाकार महाराज रामदास ने 'सेतुबन्धम्' के रचयिता 'अभिनव राजा' प्रवरसेन, महाराजाधिराज विक्रमादित्य एवं कालिदास में जो सद्भाव तथा सद्व्यवहार दिखाया है क्या वही सद्भाव और वही सद्व्यवहार किसी को 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' में भी दिखाई देता है? भला 'सेतुबन्धम्' के प्रवरसेन कालिदास की अवहेलना कर सकते हैं और 'सेतुबन्धम्' के 'विक्रमादित्य' अपने दौहित्र प्रवरसेन के लिए यह कामना कर सकते हैं कि वह सदा विलास में मग्न रहे? नहीं, यह तो पुराविदों की उतावली है जो कुन्तलेश की खोज में बेतुकी बातें कर बैठते हैं और शोध की उमंग में ऐसी भोली स्थापना कर जाते हैं जो वस्तु-स्थिति अथवा घटनाचक्र से सदा अनभिज्ञ रहती है। उचित तो यह था कि कृष्ण कवि की भूल का पता लगाया जाता और रामदास के भोजदेव पर भी कुछ विचार कर ही 'कुन्तलेश' की खोज की जाती पर प्रायः हुआ यही है कि कृष्णकवि के सहारे ही प्रवरसेन को कुन्तलेश मान लिया गया है और 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का सम्बन्ध भी उसी प्रवरसेन से जोड़ दिया गया है। परन्तु यह एक अति प्रसिद्ध और इतिहास-सिद्ध बात है कि सेतुबन्धम् का प्रवरसेन विक्रमादित्य का कृपापात्र क्या सचमुच उनका दौहित्र वाकाटक प्रवरसेन ही है। यह तो खुली बात है कि वाकाटक भोजों पर राज्य करते थे और कुछ अजब नहीं कि इसी कारण प्रवरसेन भी भोजदेव बन गए हों और जनश्रुति के कारण रामदास को लिखना पड़ा हो कि 'प्रवरसेनो भोजदेव इति केचित्।'

प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई ठोस आधार नहीं। उपलब्ध सामग्री के आधार पर कौन कह सकता है कि प्रवरसेन का शासन वहाँ था भी? सच है, 'अजन्ता' के लेख से यह सिद्ध होता है कि प्रवरसेन के पितामह पृथिवीषेण ने कुन्तल को जीत लिया था पर उससे यह सिद्ध कैसे हो जाता कि उसके पौत्र प्रवरसेन का शासन भी कुन्तल पर रहा अथवा 'कुन्तलेश' वाकाटकों की उपाधि ही हो गई। सच तो यह है कि कुन्तल की कौन कहे और भी अनेक प्रान्त वाकाटक साम्राज्य से निकल गए थे और प्रवरसेन एक सामान्य महाराज के रूप में ही रह गया था। वाकाटक वंश का उदय फिर कहीं हरिषेण के समय में हुआ जिसने फिर कुन्तल को जीत लिया। वाकाटक इतिहास में दो समय ऐसे आते हैं जब कुन्तल उनके राज्य में दिखाई देता है जिनमें से एक तो महाराज प्रवरसेन के पितामह पृथिवीषेण का समय है और दूसरा उन्हींके प्रपौत्र हरिषेण का समय। हाँ, इसी बीच में एक बात और हो जाती है। वह यह कि प्रवरसेन का पुत्र नरेन्द्रसेन कुन्तल की राजकुमारी अज्झिताभट्टारिका से ब्याहा जाता है। सो भी ध्यान रहे कि वह ८ वर्ष की अवस्था में ही सिंहासन पर जा विराजा था। निदान प्रवरसेन को कुन्तलेश मानने का कोई आधार* नहीं। कुन्तलेश का रहस्य आगे आता है और वह तो आपही खुल जायगा।

---

* डाक्टर दिनेशचन्द्र सरकार ने अपनी पुस्तक 'दी सक्सेसर्स ऑफ सातवाहनाज' में इसे भलीभाँति दिखा दिया है कि किसी वाकाटक शासक को कभी 'कुन्तलेश' नहीं कहा गया है। उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार का

हाँ, तो वाकाटकवंश के साथ ही साथ कुन्तलदेश पर जिस वंश का राज्य चल रहा था वह इतिहास में कदम्बकुल के नाम से ख्यात है। इसी वंश के एक शासक के सम्बन्ध में उसके पुत्र का लेख है––

"कदम्बानां धर्म्ममहाराजस्य अश्वमेधयाजिनः समरार्जितविपुलैश्वर्यस्य सामन्तराजविशेषरत्नस्य नागजानाक्रम्य-दायानुभूतस्य शरदमलनभस्योदितशशिसदृशैकातपत्रस्य धर्ममहाराजस्य श्रीकृष्णवर्म्मणः प्रियतनयो देववर्म्मयुवराजः"।
(इंडियन एंटीक्वेरी, भाग ७, पृ० ३३-४)

लेख में श्रीकृष्णवर्म्मा को जो विशेषण दिये गए हैं उनमें से एक अभी तक अस्पष्ट है। पुराविदों में 'नागजानाक्रम्य-दायानुभूत' की चर्चा प्रायः होती रहती है और इसका अर्थ भी कुछ न कुछ अपने अनुकूल निकाल लिया जाता है। इसके सम्पादक फ्लीट महोदय को भी यह पाठ साधु तो नहीं जँचा है फिर भी उन्होंने किसी प्रकार इसका कुछ अर्थ निकाल ही लिया है। उनकी दृष्टि में इसका अर्थ है कि उसने वह 'दाय' भोगा जो नागवंश में किसी को प्राप्त न हुआ। पर इस नागवंश का संकेत क्या? इसी प्रकार एक दूसरा अर्थ यह निकाला गया है कि उसने नागों को जीतकर* अपना 'दाय' भोगा। पर सच पूछिए तो उक्त किसी भी दशा में इसका अर्थ नहीं खुलता। कारण कि प्रत्यक्ष ही वही लेख उसे कदम्बकुल का बताता है और अन्यत्र भी कहीं वह नागवंश का नहीं माना गया है। नागवंश कहीं सम्राट्-सत्ता का प्रतीक माना गया हो ऐसा भी प्रतीत नहीं होता। हाँ, नागवंश को जीतने का जो अर्थ निकाला जाता है अवश्य ही वह कुछ सीधा है, पर उसमें भी दोष यह आ जाता है कि 'दाय' से उसकी संगति नहीं बैठती। इतिहास में उस समय कोई ऐसा प्रबल नागवंश नहीं दिखाई देता जिसके पराजय का उल्लेख किसी अश्वमेधी की विजय के प्रसंग में किया जाय। निदान मानना पड़ता है कि इस 'नागजाना-क्रम्य' का रहस्य कुछ और ही है।

'नागजानाक्रम्य' के सम्बन्ध में हमारी धारणा तो यह है कि वास्तव में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजामाक्रम्य'। अर्थात् हमारी दृष्टि में मूल शब्द 'नागज' नहीं प्रत्युत नागजा है और 'नागजाम्' रूप है, इसका एक वचन द्वितीया का, जिसका अर्थ होगा 'नागजा' को।

अच्छा, तो यह 'नागजा' है कौन? निवेदन है उसी महाराज पृथिवीषेण की पुत्रवधू जिसके सम्बन्ध में लिखा गया है–

"..................पार्त्थिवेन्द्रस्य प्रश(शा) स धर्म्मेण मेदिनी(म्)।
कुन्तलेन्द्र(म्) वि (जित्य) (पृ) थिवी (षेण)..........॥८॥"
(अजन्ता का लेख; आ० स० वे० इं० भाग ४, पृष्ठ १२५)

शिथिल प्रयोग चालुक्यों के लिए ही पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर कृष्णकवि की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। कृष्णकवि के समय के सम्बन्ध में इतना तो निर्विवाद कहा जा सकता है कि वे सुबन्धु और बाण के उपरान्त ही हुए। कारण कि उनका स्वयं कहना है––

"बृहत्कथाकारसुबन्धुबाणाः केषामिवाश्चर्यपदं न ते स्युः। यतः प्रसिद्धैरपि गद्यबन्धैः श्लोकाननेकान् भुवनेवितेनुः॥६॥"
(भरत चरित, प्रथम सर्ग)।

इसके अतिरिक्त स्वयं 'भरतचरित' में ऐसी सामग्री उपलब्ध है जिसके प्रमाण पर उन्हें पाण्ड्याधिपति राजसिंह (७४०-६५ ई०) का राजकवि बताया जा सकता है। इससे भी यही भान होता है कि उनके भ्रम का कारण चालुक्यों का 'कुन्तलेश' होना ही है। डाक्टर सरकार के मत के लिए देखिए उक्त पुस्तक के पृष्ठ २१५-१६ एवं पृष्ठ २५३-४ की पाद टिप्पणियाँ। पुस्तक कलकत्ता विश्व-विद्यालय से सन् १९३९ ई० में प्रकाशित हुई है।

* देखिए 'इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस इलाहाबाद' सन् १९३८ ई० की 'प्रोसीडिंग्ज', पृष्ठ ४६। डाक्टर हेमचन्द्र राय-चौधरी ने इस विषय पर अच्छा विचार किया है; परन्तु 'नागजान्' को स्पष्ट नहीं किया है। 'उभय-कुलालंकारभूता' से प्रभावती गुप्ता का तात्पर्य 'वाकाटक' और 'गुप्त' कुल से दिखाई देता है, 'नाग' और 'गुप्त' कुल से नहीं। हमारी समझ में इसका शुद्ध पाठ है 'नागजाम्' जिसका अर्थ है 'प्रभावतीगुप्ताम्'। शेष में हम उक्त विद्वान् से सहमत हैं।

वाकाटक पृथिवीषेण के कुन्तलेन्द्र को जीत लेने का प्रमाण आपके सामने है। अब 'नागजा' की साखी लीजिए। पृथिवीषेण की पुत्रवधू श्रीप्रभावती गुप्ता के दानपत्र में जो उसीके शासन में निकला है, स्पष्ट कहा गया है कि वह नागकुल की कन्या महादेवी कुबेरनागा की सन्तान है—

"वाकाटकललामस्य (क्र)मप्राप्तनृपश्रियः जनन्या युवराजस्य शासनं रिपु शास(न)म्॥"

से स्पष्ट है कि उसका युवराज की ओर से 'शासन' भी चलता था। अर्थात् वह स्वयं युवराज के बाल्यकाल में शासन भी करती थी। अब रही उसके 'नागजा' होने की बात। सो उसी 'शासन' से यह भी सिद्ध है कि वह नागजा भी थी। लीजिए उसका कहना है—

"परमभागवतो महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारणसगोत्रा नागकुलसम्भूतायां श्रीमहादेव्यां कुबेरनागायामुत्पन्नोभयकुलालंकारभूतात्यन्तभगवद्भक्ता वाकाटकानाँ महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी युवराज श्रीदिवाकरसेनजननी श्रीप्रभावतीगुप्ता।" (ए०, इं० भाग १५, पृष्ठ ४१)

श्री प्रभावती गुप्ता के 'नागजा' * होने में न तो कोई सन्देह ही रहा और न उसके 'कुन्तलेन्द्र' पर अधिकार की कोई शंका ही। उधर श्रीकृष्णवर्मा भी 'नागजा' को परास्त कर अपना दाय प्राप्त करते हैं। और यदि अब कहना चाहें तो यहाँ तक कह सकते हैं कि वस्तुतः इसी पुत्री-पराभव और श्रीकृष्णवर्मा के पराक्रम से व्यथित होकर महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने अपने राजदूत कवि कालिदास से पूछा था 'किं कुंतलेश्वरः करोति'; और उधर से अनुकूल उत्तर पाकर कहा था—'पिबतु।'

कहने को कह तो दिया पर विश्वास नहीं होता कि प्रचलित इतिहास के आधार पर यह विचार साधु भी समझा जा सकता है। उधर न जाने कितने इतिहास-प्रेमी एक स्वर से बोल रहे हैं कि 'यह तो इतिहास नहीं, कोरी उड़ान है। भला कभी कृष्णवर्मा प्रभावतीगुप्ता वा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन हो सकता है?' निवेदन है, रंचक धीर धरें और देखें कि उभयकुल का इतिहास क्या बोलता है! कदम्बकुल का अभिमान है—

"गुप्तादिपार्थिवकुलाम्बुरुहस्थलानि, स्नेहादरप्रणयसम्भवकेसराणि।
श्रीमन्त्यनेकनृपषट्पदसेवतानि योऽबोध्यद्दुहितृदीधितिभिः नृपार्कः॥"

(तालगुन्द का लेख, ए० कर्नाटिका भाग ७, शिकारपुर १७६)

पुराविदों को 'छोटे मुंह' की 'बड़ी बात' खली तो अवश्य है पर उन्होंने किसी प्रकार इसका समाधान कर ही लिया है और काकुत्स्थवर्मा की पुत्री के गुप्तपति को मनमाना नाम दिया है। परन्तु इसके लिए भी कहीं अधिक भटकने की आवश्यकता नहीं है। 'व्याघ्रपराक्रम' समुद्रगुप्त के विवाह की बात प्रकट नहीं पर इतना तो विदित ही है कि—

"(—) स्य पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का, हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता।

(—) गृहेषु मुदिताबहुपुत्रपौत्र-संक्रामणी कुलवधूः व्रतिनी निविष्टा॥५॥"(का० इ० इ० भाग ३, नं० २)

एरण के शिलालेख में जो 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का' एवं 'हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता' का उल्लेख है उस पर विवेक की आँख डालें तो पता चले कि इसका भी कुछ रहस्य है। यह एरण का शिलालेख आज भी साखी भर रहा है कि

*** इस प्रकार के मातृकुल के व्यवहार के लिए देखिए डाक्टर सरकार की उक्त पुस्तक की पृष्ठ २२७ की पादटिप्पणी। डाक्टर सरकार ने जो प्रमाण जुटाए हैं उनसे यह तो प्रकट हो जाता है कि मातृकुल के नाम से भी सन्तान का उल्लेख हो जाता है, पर उससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि चोलदेश पर कदम्बशासन था ही नहीं। हमारी धारणा तो यह है कि जो शान्तिवर्मा को 'तालगुन्द' के लेख में 'पट्टत्रयार्पण विराजितचारुमूर्त्ति' कहा गया है उसका संकेत है कि पाण्ड्य, चोल और केरल का शासन उसे मिला था। पुराणों में इनका उल्लेख 'त्रैराज्य' के रूप में प्रायः पाया जाता है। देखिए डाक्टर जायसवाल की 'हिस्ट्री ऑफ इंडिया' का पृष्ठ १२९: प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सन् १९३२ ई०।**

तालगुन्द का लेख सच बोल रहा है। समुद्रगुप्त ने प्रणय में सचमुच अपनी धर्मपत्नी को 'पौरुष' और 'पराक्रम' के अतिरिक्त और कुछ नहीं दिया और उधर से जो कुछ मिला वह उसके गौरव और आनन्द का कारण बना। तो क्या यह प्रणय एरण* के संग्राम का परिणाम था।

समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में जो यह कहा जाता है कि उसको उसके पिता ने युवराज बना दिया था, सो वह भी कुछ ठोस नहीं जँचता। हरिषेण ने उसके विषय में जो कुछ लिखा है उससे तो यह सिद्ध नहीं होता। नहीं, हमारा कहना तो यहाँ तक है कि वह इस प्रचलित धारणा के प्रतिकूल भी है। लीजिए वह प्रमाण है—

"आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः, सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्यालुलितेन बाष्पगुरुणा तत्वेक्षिणा चक्षुषा, यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति ॥४॥"

(समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति)

"तुल्यकुलज" का अर्थ 'सहोदर' करना कहाँ तक ठीक है और 'पाह्येवमुर्वीमिति' में 'एवं' का संकेत क्या है आदि बातों पर पूरा विचार होना चाहिए। 'आर्यो हि' भी कुछ कम महत्त्व का पद नहीं है। उधर 'कौमुदीमहोत्सव' † नाटक पुकार कर कह रहा है और कह रहा है सम्भवतः समुद्रगुप्त के पिता चन्द्रगुप्त के विषय में ही—

"प्रकटितवर्णाश्रमपथमुन्मूलितचण्डसेनराजकुलम्" ॥१॥ पंचम अंक ॥

अतएव हमारा कहना है कि समुद्रगुप्त को राज्य भी 'पौरुष' और 'पराक्रम' के बल से मिला था और बाला भी। 'एरण' के शिलालेख में जो 'पौरुषपराक्रमदत्तशुल्का' कहा गया है उसका भेद भी यही है।

अच्छा, तो एक बार फिर प्रयाग-प्रशस्ति को लीजिए और देखिए तो सही कि वहाँ भी इस प्रणय का कोई सूत्र मिलता है वा नहीं। हरिषेण कहते हैं—

"कौसलकमहेन्द्र माहाकान्तारकव्याघ्रराज कौरालकमण्टराज पैष्टपुरकमहेन्द्र गिरि कौट्टूरकस्वामिदत्तैरण्डपल्लकदमन काञ्चेयक विष्णुगोपावमुक्तकनीलराज वैंगेयकहस्तिवर्म्मपालक्ककोग्रसेन दैवराष्ट्रककुबेरकौस्थलपुरकधनञ्जयप्रभृति सर्व-दक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभागस्य।"

हरिषेण के 'सर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रह' का अर्थ चाहे जो लगाया जाय पर इतना तो स्पष्ट ही है कि उन्होंने 'सर्वदक्षिणापथ' का उल्लेख किया है और साथ ही 'ग्रहण', 'मोक्ष' एवं 'अनुग्रह' का नाम भी लिया है। फिर समझ में नहीं आता कि क्यों हमारे इतिहासप्रेमी पंडित इस 'सर्व' की उपेक्षा कर 'दक्षिणापथ' के एक विशिष्ट खण्ड (पश्चिमी घाट) को

* एरण का लेख है तो अधूरा पर जो कुछ बचा है वह समुद्रगुप्त के जीवन का द्वार है। उसे स्वयं समुद्रगुप्त का लेख मानना भूल है। उसमें 'बभूव', 'अभूत्' आदि क्रियाओं का प्रयोग कुछ योंही नहीं कर दिया गया है। उनका निर्देश है कि समुद्रगुप्त दिवंगत हो गए हैं। स्थिति तो यह है परन्तु शत्रु आज भी 'स्वप्नान्तरेष्वपि विचिन्त्य परित्रसन्ति ॥६॥' यही नहीं मन्दिर पर जो 'श्मशान दृश्य' अंकित है वह भी इसी तथ्य का द्योतक है। कहाँ तक कहें, हमें तो इस लेख में समुद्रगुप्त का पूरा जीवन दिखाई देता है और हम इसे उसके जीवन का सूत्रधार समझते हैं। हमारी समझ में यह उसके उपरत हो जाने पर ही लिखा गया, उसके जीवन में कदापि नहीं।

† 'कौमुदीमहोत्सव' नाटक का प्रकाशन 'ज० ऑ० हि० रि० सो०' भाग २ और ३ में हुआ है। 'नाटक' में कुछ ऐसी बातें हैं जिनसे कालिदास का पूरा साम्य दिखाई देता है। उसका रचनाकाल अभी तक सन्दिग्ध ही है पर उसकी 'वस्तु' को प्रमाण माना जाता है। उसके प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि महाराज चन्द्रगुप्त का राज्य नष्ट हो चुका था और उन्हें अपने पराक्रम से ही फिर उसे प्राप्त करना पड़ा था। इसके विषय में देखिए डॉ० जायसवालजी के उक्त इतिहास का पृष्ठ ८० विशेषतः।

छोड़ जाते हैं और 'ग्रहण' एवं 'मोक्ष' की भाँति ही 'अनुग्रह' को भी स्वतंत्र रूप में क्यों नहीं लेते। क्या ऐसा करने से प्रशस्ति की पंक्तियाँ आपही बोल नहीं उठतीं?

पुराविदों ने प्रायः मानसा लिया है कि 'रघुवंश' में रघु का जो दिग्विजय है वह वास्तव में समुद्रगुप्त की दिग्विजय पर ही आश्रित है। अतः कुछ इस पर भी विचार होना चाहिए। कालिदास कहते हैं—

"गृहीतप्रतिमुक्तस्य सधर्मविजयी नृपः। श्रियं महेन्द्रनाथस्य जहार न तु मेदिनीम् ॥४३॥
ततो वेलातटेनैव फलवत्पूगमालिना। अगस्त्याचरितामाशामनाशास्य जयो ययौ ॥४४॥
स सैन्यपरिभोगेण गजदानसुगन्धिना। कावेरीं सरितां पत्युः शंकनीयामिवाकरोत् ॥४५॥
बलैरध्युषितास्तस्य विजिगीषोर्गताध्वनः। मारीचोद्भ्रान्तहारीता मलयाद्रेरुपत्यकाः ॥४६॥
ससञ्जुरश्वक्षुण्णानामेलानामुत्पतिष्णवः। तुल्यगन्धिषु मत्तेभकटेषु फलरेणवः ॥४७॥
भोगिवेष्टनमार्गेषु चन्दनानां समर्पितम्। नास्रसत्करिणां ग्रैवं त्रिपदीछेदिनामपि ॥४८॥
दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि। तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे ॥४९॥
ताम्रपर्णीसमेतस्य मुक्तासारं महोदधेः। ते निपत्य ददुस्तस्मै यशः स्वमिव संचितम् ॥५०॥
स निर्विश्य यथाकामं तटेष्वालीनचन्दनौ। स्तनाविव दिशस्तस्याः शैलौ मलयदर्दुरौ ॥५१॥
असह्यविक्रमः सह्यं दूरान्मुक्तमुदन्वता। नितम्बमिव मेदिन्याः स्रस्तांशुकमलंघयत् ॥५२॥
तस्यानीकैर्विसर्पद्भिरपरान्तजयोद्यतैः। रामास्त्रोत्सारितोऽप्यासीत्सह्यलग्न इवार्णवः ॥५३॥
भयोत्सृष्टविभूषाणां तेन केरलयोषिताम्। अलकेषु चमूरेणुश्चूर्णप्रतिनिधीकृतः ॥५४॥
मुरलामारुतोद्धूतमगमत्कैतकं रजः। तद्योधवारबाणानामयत्नपटवासताम् ॥५५॥
अभ्यभूयत वाहानां चरतां गात्रसिञ्जितैः। वर्मभिः पवनोद्धूतराजतालीवनध्वनिः ॥५६॥
खर्जूरीस्कन्धनद्धानां मदोद्गारसुगन्धिषु। कटेषु करिणां पेतुः पुन्नागेभ्यः शिलीमुखाः ॥५७॥
अवकाशं किलोदन्वरान्रामायाभ्यर्थितोददौ। अपरान्तमहीपालव्याजेनरघवे करम् ॥५८॥
मत्तेभरदनोत्कीर्णव्यक्तविक्रमलक्षणम्। त्रिकूटमेव तत्रोच्चैर्जयस्तम्भं चकार सः ॥५९॥
पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे स्थलवर्त्मना। इन्द्रियाख्यानिव रिपूंस्तत्त्वज्ञानेन संयमी ॥६०॥" (चतुर्थ सर्ग)

कालिदास के 'संयमी' रघु के इस विलास को सामने रखते हुए हरिषेण की रचना (प्रयाग-प्रशस्ति) पर ध्यान दें और कृपया भूल न जाएँ कि कालिदास दक्षिणापथ के उसी खण्ड का वर्णन कर रहे हैं जिसे प्रयाग-प्रशस्ति में छोड़ दिया गया है अथवा जिसका संकेत 'प्रभृति' और 'अनुग्रह' के द्वारा कर दिया गया है। सच है, हमें तो सावन के अन्धे की भाँति कालिदास में इतिहास ही दिखाई दे रहा है; पर आप तो सच कहें कि आपको कालिदास की इस रसिकता में क्या दिखाई दे रहा है? क्या आप इतिहास का सहारा लेकर इससे दूर भाग सकते हैं? हम तो नहीं समझते कि क्यों नहीं इसमें भी समुद्रगुप्त का इतिहास देखा जाय और उनकी धर्मपत्नी दत्तदेवी को काकुत्स्थ-कन्या समझ लिया जाय? कालिदास और हरिषेण की साखी है तो इसी पक्ष में, वैसे पुराविदों की शोध जाने। तनिक 'मलयदर्दुरौ', 'सह्य' आदि से पूछ देखिए तो पता चले कि कालिदास ने उनसे कौनसा काम लिया है और वस्तुतः उन्हें किस भोग्या का अंग बनाया है। कालिदास की उक्त बिहार-भूमि के शासक के बारे में उसी के औरस तनय का लेख है—

"ज्यायोभिस्सह विग्रहोर्थिषु दया सम्यक् प्रजापालनम्। दीनाभ्युद्धरणं प्रधान वसुभिः मुख्यद्विजाभ्यर्हणम्।
यस्यैतत्कुलभूषणस्य नृपतेः प्रज्ञोत्तरं भूषणम्। भूपालः खलु मेनिरे सुरसुखं काकुस्थमत्रागतम् ॥
धर्माक्रान्ता इव मृगगणा वृक्षराजं प्रविश्य, छायासेवामुदितमनसो निवृत्तं प्राप्नुवन्ति।
तद्वज्ज्याये विहतगतयो बान्धवास्सानुबन्धाः, प्रापुश्शर्माव्यथितमनसो यस्यभूमिं प्रविश्य ॥
नानाविधद्रविणसारसमुच्चयेषु, मत्तद्विपेन्द्रमदवासितगोपुरेषु।
संगीतवल्गुनिनदेषु गृहेषु यस्य, लक्ष्म्यंगना धृतमती सुचिरंचरेमे ॥" (तालगुन्द का लेख)



तो क्या यह इसी लक्ष्मी का प्रसाद था कि 'महादेवी दत्तदेवी' 'हस्त्यश्वरत्नधनधान्यसमृद्धियुक्ता' थीं ! अच्छा न सही। पर इस शासक से तो समुद्रगुप्त का घोर संघर्ष हो नहीं सकता। क्योंकि इसका शील है—

"यन्दैवसंपन्नमदीनचेष्टं शक्तित्रयोपेतमथासनस्थं, शेषैर्गुणैः पंचभिरप्यसाध्यास्सामंतचूडामणयः प्रणेमुहुः ।।" (वही)

सारांश यह कि सभी प्रकार से हमें यही साधु दिखाई देता है कि काकुत्स्थवर्मा की दुहिता दत्तदेवी थी जिसका विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और जिसने हरिषेण के शब्दों में कदम्बकुल पर 'अनुग्रह' किया था। यह इसी 'दान' और इसी 'अनुग्रह' का परिणाम था कि 'सर्वदक्षिणापथ' की विजय में उक्त राज्य तथा शासक का उल्लेख नहीं हुआ और कालिदास ने भी उसकी भूमि को रघु की बिहार-भूमि के रूप में देखा।

काकुत्स्थवर्मा का समृद्ध शासन कितनी भूमि पर फैला था इसका यथातथ्य बोध होने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है फिर भी अटकल से इतना तो कहा ही जा सकता है कि वह उतना तो अवश्य ही था जितना कि वंश-परम्परा अथवा उत्तराधिकार में मिला था। इसमें तो सन्देह नहीं कि अग्रज रघुवर्मा के शासन में युवराज काकुत्स्थवर्मा को भी स्वराज्य-रक्षा के हेतु घोर संग्राम करना पड़ा था और यह इसी संग्राम का परिणाम था कि कदम्बकुल का शासन बना रहा। रघु के तुमुल संघर्षों का उल्लेख प्रायः किया गया है और फलतः यहाँ तक कहा गया है कि—

"रघुपार्थिवः पृथुश्री पृथुरिव पृथ्वीं प्रसह्यचयोऽरीनकृत पराक्रमतः स्ववंशभोज्याम् ।" (तालगुन्द का लेख)

कह तो नहीं सकते, पर अनुमान यही कहता है कि यह संघर्ष वाकाटक प्रवीर सम्राट् प्रवरसेन के पराक्रम का प्रतिफल था। मयूरशर्मा के एक लेख के आधार पर कदम्ब-राज्य 'पारियात्रिक' से 'पुणाट' तक माना जा सकता है—

"कदंबाणं मयूरशम्मणा विणिम्मि अं। तटाकं दूभ त्रेकूट आभीर पल्लव पारियात्रिक सकस्थाण सयिन्दक पुणाट मोकरिणा ।" (चन्द्रबल्ली का लेख, मै० आ० रि० १९३०)

इनमें से 'त्रिकूट' का वर्णन तो कालिदास के 'रघुवंश' में है और रघु ने वहाँ 'जयस्तम्भ' भी गाड़ दिया है और यदि पुराणों का 'कनक' कदम्बकुल का कंगवर्मा है तो इस राज्य का विस्तार है—

"स्त्रीराज्यत्रैराज्यमूषिकजनपदान् कनकाह्वयः भोक्ष्यति ।" (विष्णुपुराण)

अब यदि स्व० डॉक्टर जायसवाल का यह मत साधु है कि इसमें स्त्रीराज्य तो कुन्तल का वाचक है और त्रैराज्य—'चोलपांडचकेरलधरणीधरत्रय' का तो कालिदास का उक्त विहार-वर्णन और भी सटीक उतरता है और यह सर्वथा सिद्ध कर देता है कि हो न हो यही समुद्रगुप्त का 'श्वसुरपुरनिवास' है। तो क्या शान्तिवर्मा के "पट्टत्रयार्पणविराजितचारुमूर्त्तेः" के 'पट्टत्रय' का भी यही 'त्रैराज्य' अर्थ है ? यदि यह ठीक हुआ तो कालिदास का उक्त विहार-वर्णन तो और भी खरा उतरा। परन्तु इसकी सम्भावना लोगों को कुछ कम दिखाई देती है। श्रीशान्तिवर्मा 'पल्लवेन्द्र' का कुछ विशेष ध्यान रखते हैं। इसका भी तो कुछ कारण* होना चाहिए।

---

* काकुत्स्थवर्मा के उपरान्त उनके वंश में जो द्वन्द्व चला उसका थोड़ा-बहुत पता इतिहास से चल चुका है। विवाद अब इस बात का है कि वास्तव में यह विच्छेद हुआ कब। अब तक प्रायः यही मान्य रहा है कि शान्तिवर्मा के निधन पर ही यह घटना घटी। यहाँ तक कि 'कदम्बकुल' में भी यही धारणा पुष्ट हुई। परन्तु इधर डॉ० सरकार ने इसे असाधु ठहरा दिया है। उनके मत में काकुत्स्थवर्मा के अनन्तर ही यह द्वन्द्व छिड़ा। इसमें तो सन्देह नहीं कि इस द्वन्द्व में अनुज श्रीकृष्णवर्मा ही विजयी रहे। पर साथ ही यह भी सम्भव क्या, सत्य दिखाई देता है कि शान्तिवर्मा भी पल्लवेन्द्र की कृपा से कुछ भूभाग (त्रैराज्य) के शासक बने रहे। 'तालगुन्द' के लेख में जो शिथिलता दिखाई देती है उसका कारण भी यही है। श्री० हेरस महोदय ने अपने एक लेख में इस त्रुटि पर विचार किया है जो विशेषरूप से विचारणीय है। देखिए 'ऑल इंडिया ओ० कां०, सन् १९३३ पृष्ठ ५३९।

श्री चन्द्रबली पांडे

श्री शान्तिवर्मा श्रीकाकुत्स्थ के ज्येष्ठ पुत्र थे और इसीसे इतिहास में उनके उत्तराधिकारी भी प्रसिद्ध हो गए। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो प्रमाण इसके प्रतिकूल प्राप्त होते हैं, उनके तनय श्रीमृगेशवर्मा का लेख है—

"श्रीशान्तिवरवर्म्मेति राजा राजीवलोचनः। खलेव वनिताकृष्टा येन लक्ष्मीर्द्विषद्गृहात् ॥"

(इंडियन ऐंटी०, भाग ६, पृष्ठ २४)

'द्विषद्गृहात्' का प्रयोग विशेष रूप से विचारणीय है। इसका सीधा संकेत है द्वेषी कृष्णवर्मा के घर से। बात यह है कि काकुत्स्थवर्मा के आँख मूंदते ही उनके शासन पर पराक्रमी कृष्णवर्मा की दृष्टि पड़ी और उसने उनके राज्य को अपने बड़े भाई से छीन लिया। कृष्णवर्मा बड़ा प्रतापी शासक निकला और अश्वमेधयाजी तक हो गया। उसका अन्त किस प्रकार हुआ इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं, हाँ, शिवनंदिवर्मा के एक लेख से इतना अवश्य पाया जाता है कि किसी संग्राम में उसकी हार (मृत्यु?) हुई।

शिवनंदिवर्मा "स्वदेशस्यक्षये नणक्कासपल्लवराजकृष्णवर्मराजयोः समरे तुमुलिने प्रवृत्ते कृषवर्मराजसैन्यभग्ने प्रशमितहृदयः संकलित संकल्पः कृतदर्भ शयनः................इन्द्रलोकसुखमकामयत।" (एपि० कर्नाटिका भाग ११, पृ० १६)

'कृष्णवर्मराजसैन्यभग्ने' की व्याप्ति कहाँ तक जा सकती है इसका निर्णय तो होने से रहा पर पूरे प्रसंग पर ध्यान देने और शिवनंदिवर्मा के प्राणविसर्जन पर विचार करने से व्यक्त तो यही होता है कि वस्तुतः कृष्णवर्मा भी इसी तुमुल-समर में वीरगति को प्राप्त हो गए। तो क्या यह विक्रमादित्य के 'पिवतु' का दुःखद दुष्परिणाम और शान्तिवर्मा के किसी काण्ड का कुफल था? अथवा कुछ और? जो हो, इतना तो प्रत्यक्ष है कि कृष्णवर्मा का ज्येष्ठ तनय श्रीविष्णुवर्मा श्रीशान्तिवर्मा के अधीन है। देखिए—

"विकसितसच्छत्रावतंसदक्षिणापथवसुमतीवसुपत्यश्वमेधयाजी श्रीकृष्णवर्म्मा धर्म्ममहाराज ज्येष्ठतनयेन मानव्य-सगोत्रहारितीपुत्रप्रतिकृतस्वाध्यायचर्च्चकेन कदम्बेन श्रीविष्णुवर्म्माधर्म्म महाराजेन रणरभसप्रवर्त्तदर्थाष्टादशमंडपिकमंडित वैजयन्तीतिलकसमग्रकर्ण्णाटदेशभूवर्ग्गभर्त्तारम् ज्येष्ठपितरं श्रीशान्तिवरवर्म्मा धर्म्ममहाराजमनुज्ञाप्य (म्) वर्त्तमाने संवत्सरे तृतीये फाल्गुनमासशुक्लपंचम्यां ब्राह्मणेभ्यः..........."। (बीरूर का ताम्रपत्र:—एपि० कर्नाटिका, भाग ६, अंक १६२)

अस्तु, उचित तो यही प्रतीत होता है कि शान्तिवर्मा ने कृष्णवर्मा के उपरान्त ही शासन-सूत्र हाथ में लिया और इसी कारण मृगेशवर्मा ने भी 'द्विषद्गृहात्' का प्रयोग किया। 'अनुज्ञाप्य' विशेष विचारणीय है।

अश्वमेधी कृष्णवर्मा का जो वृत्त हाथ लगा है उसके आधार पर किसी को यह मानने में कोई अड़चन नहीं हो सकती कि वास्तव में वही कालिदास का 'कुन्तलेश्वर' है। 'कुन्तलेश्वरदौत्यम्' का जो अंश अभी तक प्रकाश में आया है वह किसी विवाह का द्योतक तो है नहीं, फिर उसका नाता किसी प्रणय से क्यों जोड़ा जाय? उसमें से तो खरी राजनीति झाँक रही है।

समुद्रगुप्त के स्वर्गस्थ होते ही गुप्त-साम्राज्य पर जो विपदा पड़ी उसकी झलक (विशाखदत्त के 'देवीचन्द्रगुप्तम्'* में) आज भी विद्वानों को व्यथित कर देती है। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किस परिस्थिति में किस ढब से उसे सँभाला तथा उसे और भी उजागर कर दिया है, यह तो विषय के बाहर की बात है। परन्तु साहित्य इस बात का साक्षी है कि उसमें कालिदास का योग भी कुछ कम नहीं है। कुन्तलेश्वर में दर्प की कमी न थी। प्रभुता भी पैर तोड़कर वहीं बैठी थी। ऐसी स्थिति में यदि कालिदास अपनी सजग सूझ से काम न लेते और कुन्तलेश्वर की अवहेलना से उबल पड़ते तो चन्द्रगुप्त को रणभूमि में उतरना अनिवार्य हो जाता, किन्तु क्रान्तदर्शी कवि कालिदास ने बातों में कुन्तलेश्वर को वह झाड़ बताई कि उनकी आँख खुल गई और वे चट विक्रमादित्य के मित्र बन गए। विक्रमादित्य ने भी उन्हें छेड़ना ठीक न समझा।

---

* साहित्य-शास्त्र के विवेचन में यत्र-तत्र इसके अवतरण दिखाई देते हैं। पूरा ग्रंथ अभी तक देखने में नहीं आया। इसके विषय में हमने अन्यत्र विचार किया है जो अलग प्रकाशित होगा।

काकुत्स्थवर्मा को समुद्रगुप्त एवं कृष्णवर्मा को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानना मनमाना नहीं प्रत्युत प्रमाण पर अवलम्बित है। काकुत्स्थवर्मा के एक 'संवत्' पर बड़ा विवाद है। कहते हैं—

"कदम्बानाम् युवराजः श्रीकाकुस्थवर्म्मा स्ववैजयिके अशीतितमे संवत्सरे भगवतामर्हताम्.........खेटग्रामे बदोवरक्षेत्र (म्)..................दत्तवा(न्)।" (हल्सी का दानपत्र इं० ऐंटि०, भाग ६, पृष्ठ २३)

'स्ववैजयिके' पद का प्रयोग मृगेशवर्मा* ने भी किया है। किन्तु वहाँ उसका अर्थ निश्चय ही 'स्वराज्ये' है। परन्तु यहाँ 'स्ववैजयिके' का अर्थ 'स्वराज्ये' हो नहीं सकता क्योंकि अभी तो काकुत्स्थवर्मा युवराजमात्र हैं। और सो भी प्रश्न है ८० वर्ष का। निदान मानना पड़ता है कि इसका संकेत कुछ और ही है।

'स्ववैजयिके' का अर्थ लक्षणाव्यापार से लिया जा सकता है कदम्बकुल के वैजयिके। परन्तु यहाँ बाधा यह उपस्थित हो जाती है कि कदम्बकुल का अपना कोई संवत् नहीं दिखाई देता। फलतः कुछ विद्वानों ने अपने विचारों में संगति बैठाने के निमित्त इसका संकेत मान लिया है गुप्त संवत्। जहाँ उन्होंने गुप्त संवत् (३२० ई०) में ८० जोड़ा कि उन्हें ४०० ई० का अभीष्ट गुप्तकाल मिल गया और काकुत्स्थवर्मा चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन हो गया। कहना न होगा कि इस इष्टसिद्धि के लोभ के अतिरिक्त इस स्थापना में और कोई सार नहीं है। काकुत्स्थवर्मा के अतिरिक्त और किसने इस वंश में गुप्त-संवत् का प्रयोग किया है? और युवराज काकुत्स्थ भी उसका प्रयोग क्यों करने लगा? नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। पक्की बात तो यही है कि वस्तुतः यह कदम्बकुल की स्थापना का संवत् है। मयूरशर्म्मा से इसका वही लगाव है जो गुप्त संवत् का चन्द्रगुप्त से है।

अच्छा, तो इस 'स्ववैजयिके अशीतितमे संवत्सरे' का संकेत हुआ कदम्बकुल के ८०वें वर्ष में। पर कदम्बकुल की स्थापना† का समय है क्या? आइए, इसकी भी थोड़ी छानबीन कर ली जाय।

---

* देखिए "श्रीविजयपलाशिकायाम् यापनि (नी) यनिर्ग्रन्थकूर्च्चकानाम् स्ववैजयिके अष्टमे वैशाखे संवत्सरे कार्त्तिकपौर्ण्णमास्याम्" (इं० ऐं० भाग ७ पृष्ठ २४) यहाँ 'स्ववैजयिके' का अर्थ है अपने राज्य में, क्योंकि 'आत्मनः राज्यस्य तृतीयेवर्षे पौषे संवत्सरे कार्त्तिकमासबहुलपक्षे दशम्याम् तिथौ उत्तराभाद्रपदे नक्षत्रे' का प्रयोग उन्होंने अन्यत्र भी किया है।

एक बात और। इसी तिथि के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि या तो मृगेशवर्मा ४३४-५ ई० में राजा हुआ या ४६९-७० में। कहने की बात नहीं कि प्रचलित धारणा के दबाव के कारण उक्त डा० सरकार ने भी दूसरी तिथि को ही ठीक माना है; परन्तु हमारी दृष्टि में इसकी पहली तिथि ही ठीक ठहरती है। हम पहले दिखा चुके हैं कि वास्तव में कृष्णवर्मा चन्द्रगुप्त का साथी था और सम्भवतः मरा भी उसके सामने ही था। उसके उपरान्त एक ओर तो शान्तिवर्मा का सिक्का जमा और दूसरी ओर उन्हींकी अधीनता में उसका आत्मज बैठा। शान्तिवर्मा के निधन पर फिर संग्राम छिड़ा पर मृगेश विजयी रहा। इस प्रकार ४३४-५ का राजगद्दी का समय ठीक बैठा।

† श्रीमयूरशर्मा की तिथि के विषय में बड़ा मतभेद है। 'मलवल्ली' के एक लेख के बारे में विद्वानों में बड़ा विवाद है। लेख की भाषा भी विलक्षण है—

"सिद्धम्! जयति भगवान् मट्टपट्टिदेवो वैजयन्ती धर्म महाराजाधिराजो पतिकत साभजाय चच्चापरो कदंबाणं राजा शिव...............वम्मणा मानवसगोत्तेन हालितीपुत्तेन वैजयन्तीपतिना पुव्वदत्तीति परित्यक्येण (तुट्ठेन) मनसासि स मातुलाय बितीयंदत्तम् कोण्डिन्यसगोत्ताय कोसकी पुत्ताय कोण्डमानाकुलतिलकाय मिरिनागदत्ताय...................४ सव्वच्छरं पडमसरवपक्खं बितीय दिवसं पडमनस्वत्तं रोहिणियं संप्यदंत्त च............."। (ए० क० भाग ७, शिकारपुर, २४४)

इस लेख में दी गई तिथि को एक महानुभाव ने बुधवार, २० सितम्बर सन् २४३ ई० सिद्ध किया है और दाता को शिवस्कन्दवर्मा माना है। पर कुछ लोगों की धारणा है कि यह मयूरशर्मा का ही लेख है। कदंबाणं राजा

कहा गया है कि कदम्बकुल के एक सज्जन मयूरशर्म्मा अपने गुरु वीरशर्म्मा के साथ पल्लवेन्द्रपुरी की घटिका में प्रवचन में पारंगत होने के विचार से गए। दैवयोग से एक 'अश्वसंस्थ' में ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि उनका ब्रह्म बल परास्त हो गया और क्षात्रधर्म की जीत हुई। फिर क्या था, उन्हें भी शास्त्र छोड़कर शस्त्र की सूझी और इसके फलस्वरूप धीरे धीरे एक राज्य की स्थापना भी हो गई। अब अधिकांश विद्वान्* इस पक्ष के हो चले हैं कि 'तत्र पल्लवाश्वसंस्थेन कलहेन' का अर्थ यह है कि यह कलह 'अश्वसंस्थ' अर्थात् 'अश्वमेध' में उत्पन्न हुआ था। जो यह ठीक है, और इसके ठीक होने में तनिक सन्देह भी नहीं है, तो इसका आशय स्पष्ट है कि यह घटना किसी पल्लवाश्वमेध में घटी। सौभाग्य से हमारे हाथ में एक ऐसा लेख है जो सारी स्थिति को स्वतः स्पष्ट कर देता है और किसी विवाद के लिए कोई विशेष स्थान भी नहीं छोड़ता। ध्यान से देखिए तो सही—

"अशोकवर्म्मादिषु देवभूयं गते (षु वंश्ये) ष्वथ पार्त्थिवेषु।
वंशस्य चूडामणिराविरासीद्भर्त्तेन्दिराया इव कालभर्त्ता ॥५॥
तत्सुतादजनि चूतपल्लवाद्वीरकूर्च्च इति विश्रुताह्वयः।
यः फणीन्द्रसुतया सहाग्रहीद्राजचिन्हमखिलं यशोधनः ॥६॥
अन्ववायनभश्चन्द्र [:] स्कन्दशिष्यस्ततोभवत्वि—
(द्वि) जानां घटिकां राज्ञस्सत्यसेनात्जहार यः ॥७॥
गृहीतकाञ्चीनगरस्ततोभूत्कुमारविष्णुस्समरेषु जि [ष्णुः]।
भर्त्ता भुवोभूदथ बुद्धवम्मा [र्म्मा] यश्चोलसैन्यार्णववाडवाग्निः ॥८॥
सविष्णुगोपे च नरेन्द्रवृन्दे गते ततोजायत नन्दिवर्म्मा।
अनुग्रहाद्येन पिनाकपाणेः प्रनर्त्तितो दृष्टिविषः फणीन्द्र ॥८९॥" (सा०इं०, इं. भाग २ खंड ५, पृ. ५०८)

'वेलूसलैयम्' के इस लेख से इतना तो प्रकट ही है कि मयूरशर्मा जिस 'घटिका' में प्रवचन-पटु बनने गए थे वह स्कन्दशिष्य के समय में पल्लवकुल के हाथ लगी और उसकी सारी काञ्चीपुरी तो कुमारविष्णु के शासन में पल्लव-नगरी बनी। 'गृहीतकाञ्चीनगरः' से ध्वनित तो यह होता है कि काञ्ची को ही कुमारविष्णु ने अपनी राजधानी बनाली। जो हो, इस लेख की गवाही पर इतना तो मानना ही होगा कि कुमारविष्णु के पहले काञ्ची में किसी 'पल्लवाश्वसंस्थ' की

और शिव...............स्मण की विभक्तियाँ भिन्न भिन्न हैं। प्रथमा को तृतीया का विशेषण कैसे बनाया जा सकता है। पाठभेद का प्रश्न अलग है। निदान अभी इतना ही कहा जा सकता है कि यदि यह मयूरशर्मा का लेख है तो इससे उनके 'पट्टबन्ध' अथवा महाराज होने का समय निकाला जा सकता है जो २४० के लगभग आता है। और यदि उक्त सज्जन (बी० वी० कृष्णराव) के विचारानुसार इसे धर्ममहाराजाधिराज शिवस्कन्दवर्मा का समय मानें और उसे पल्लव वीरकूर्च्च का प्रतिद्वन्द्वी समझें तो इतना और स्फुट हो गया कि यही कदम्ब-पल्लव-कलह पल्लवेन्द्र के 'अश्वसंस्थ' में भी फूट पड़ा था। यही नहीं इससे इतना और भी प्रकट हो गया कि नागकन्या के साथ वीरकूर्च्च को जो राज्य मिला था वह अधिक दिन तक पल्लव-कुल में नहीं रहा। फिर कदम्बकुल के मयूरशर्मा ने उसे बहुत कुछ वापस ले लिया। वीरकूर्च्च के बाद स्कन्दशिष्य और फिर कुमारविष्णु हुए हैं। तो इस दृष्टि से मयूरशर्मा का समय सन् २६० के आसपास माना जा सकता है जो सभी प्रकार से ठीक बैठता है। परन्तु न जाने किस दृष्टि से श्री कृष्णरावजी ने मयूरशर्मा का समय ३१०-४० ई० तक माना है। प्रतीत होता है प्रचलित मत से प्रभावित हो गए हैं। देखिए—प्रोसीडिंग्ज, इं० हि० कांग्रेस, इलाहाबाद १९३८ ई०, पृष्ठ ८०। स्मरण रहे मयूरशर्मा का यह समय कतिपय अन्य विद्वानों को भी मान्य है। देखिए—मैं० ऑ० स० ऐ० रि० १९२९ पृष्ठ ५६)।

* श्री श्रीकंठशास्त्रीः—'सोर्सेज ऑफ कर्नाटक हिस्ट्री, भाग १, मैसूर यूनीवर्सिटी, सन् १९४० ई० पृष्ठ १८। एवं डाक्टर सरकार—सक्सेसर्स ऑफ सातवाहनाज् (वही) पृष्ठ १८४ तथा २३८ की पादटिप्पणियाँ।

योजना नहीं हो सकती थी। पल्लववंश के शासनों से विदित ही है कि कुमारविष्णु 'अश्वमेधयाजी' था। निदान सिद्ध हुआ कि इसी पल्लवेन्द्र के 'अश्वसंस्थ' में कुछ ऐसा कलह उत्पन्न हो गया कि ब्राह्मण मयूरशर्म्मा 'वर्मा' बनने के लिए लालायित हो उठा।

मयूरशर्मा की भाँति ही कुमारविष्णु का समय भी अभी तक खटाई में पड़ा है। जिसे जो भाता है वही उसका भी समय हो जाता है। उक्त लेख के 'सत्यसेन' से भी कोई सहायता नहीं मिलती। किन्तु इस घोर निराशा में भी आशा की एक किरण फूटती दिखाई देती है जो हमारे बड़े काम की है। सौभाग्य से मयूरशर्मा और कुमारविष्णु दोनों ही महानुभावों की परम्परा प्रस्तुत है। इन परम्पराओं पर दृष्टि पड़ी नहीं कि आपका प्रयोजन सिद्ध हो गया। अच्छा तो मयूरशर्मा की परम्परा है—१. मयूरशर्मा, २. कंगवर्मा, ३. भगीरथ, ४. रघु, और ५. काकुत्स्थवर्मा। उधर कुमारविष्णु की परम्परा है—१. कुमारविष्णु, २. स्कन्दवर्मा, ३. वीरवर्मा, ४. श्रीविजयस्कन्दवर्मा और ५. विष्णुगोपवर्मा। इस दृष्टि से कदम्ब काकुत्स्थवर्मा का वही समय आता है जो पल्लव विष्णुगोपवर्मा का। अर्थात् काकुत्स्थ और विष्णुगोप को समकालीन स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। स्मरण रहे, उक्त दोनों परम्पराएँ उक्त वंशों के निजी* लेखों से ली गई हैं और सर्वथा प्रमाण के योग्य हैं।

अब विष्णुगोपवर्मा के सूत्र को पकड़कर आगे बढ़िए और देखिए कि हरिषेण ने समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में किस सचाई से क्या लिख दिया है। कहते हैं 'काञ्चेयकविष्णुगोप'। पुराविदों में यह भलीभाँति प्रतिष्ठित हो चुका है कि यह काञ्चेयक विष्णुगोप पल्लव ही है। तो भला अब किसी मनीषी को यह मानने में कितनी देर लग सकती है कि वास्तव में काकुत्स्थवर्मा भी समद्रगुप्त के समकालीन हैं?

अभी अभी हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं वह कितना उदार, व्यापक और सारपूर्ण है और किस प्रकार उसके सहारे उस समय का सारा इतिहास सुलझाया जा सकता है इसका विवेचन हम फिर करेंगे। यहाँ तो हमें केवल इतना ही दिखाकर सन्तोष कर लेना है कि वास्तव में काकुत्स्थ-कन्या का विवाह समुद्रगुप्त से हुआ था और कालिदास के दौत्य से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। जो लोग इतने पर भी यह प्रतिज्ञा उपस्थित करना चाहें कि समुद्रगुप्त के समय में ही समुद्र का नहीं; हाँ, विवाह उस कन्या का हुआ था चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य से ही—क्योंकि चन्द्रगुप्त के समय तक भी तो काकुत्स्थ रह सकते हैं? तो निवेदन है, नहीं। इस तर्क का कोई आधार नहीं। चन्द्रगुप्त की प्रथम पत्नी कुबेरनागा तो निश्चय ही नागकुल की है। इसमें तो किसी को सन्देह नहीं। अब रही महादेवी ध्रुवस्वामिनी की बात। सो विशाखदत्त के 'देवी चन्द्रगुप्तम्' एवं अन्य प्रमाणों† से पुष्ट हो चुका है कि वह पहले चन्द्रगुप्त की भ्रातृजाया थी और फिर चन्द्रगुप्त 'साहसांक' की जाया बनी। और तो और, स्वयं चन्द्रगुप्त का 'रूपकृती' सिक्का इसका दृढ़ और स्वच्छ प्रमाण है। एक बात और। ध्रुवस्वामिनी का विवाह रामगुप्त से चाहे जब हुआ हो पर चन्द्रगुप्त से तो वह समुद्रगुप्त के उठ जाने पर ही हुआ। फिर कालिदास का दौत्य इसमें क्या काम दे सकता है? लोगों की धारणा तो यह है कि चन्द्रगुप्त पहले से ही उससे विवाह करना चाहता था पर रामगुप्त ने स्वयं उससे कर लिया अथवा स्वयं समुद्रगुप्त ने कर दिया। हाँ, ध्रुवस्वामिनी को तो कुछ‡ लोग शक-कन्या ही समझते हैं और शकाधिपति की माँग को भी इसी का फल समझते हैं। जब स्वयं ध्रुवदेवी की यह स्थिति है तब उसके पुत्रों—कुमारगुप्त, गोविन्दगुप्त आदि की तो स्थिति ही निराली है। भला उक्त काकुत्स्थ-कन्या से उनका विवाह कब हो सकता था? निदान, यह सम्बन्ध समुद्रगुप्त ही का साधु ठहरता है।

हाँ, तो कालिदास के दौत्य का किसी पाणि-ग्रहण से कोई सम्बन्ध न था। वह तो शुद्ध राजनीति की दृष्टि से भेजे गए थे। प्रभावतीगुप्ता को परास्त कर कुन्तलेश 'दक्षिणापथाधिपति' बन बैठा था और अपने पराक्रम का सूचक अश्वमेध

*** कदम्बकुल की तो सर्वमान्य है ही पल्लवकुल की भी 'ओम्गोड नं० १' (ए० इं० भाग १५, पृष्ठ २४६) तथा 'उरुवुपल्ली (इं० ऐं० भाग ५, पृष्ठ ५०) पर आश्रित है।**

† देखिए 'गुप्तसाम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इंडियन प्रेस, इलाहाबाद, सन् १९३९ ई० रामगुप्त का प्रसंग।

‡ हिन्दी के प्रसिद्ध नाटककार श्री जयशंकरप्रसाद ने इसी भावना से प्रेरित होकर 'ध्रुवस्वामिनी' की रचना की।

तक कर डाला था। उसके और अधिक आगे बढ़ने की जो सम्भावना थी वह और अधिक टाली नहीं जा सकती थी। चन्द्रगुप्त स्वयं संकटों से घिरा था। निदान उसे कालिदास से कुशल व्यक्ति को दूत बनाकर भेजना पड़ा। कालिदास ने भूमि पर आसन जमाते ही वह वाग्विलास दिखाया और ऐसा गहरा बाण मारा कि कुन्तलेश्वर कटकर रह गए और विक्रमादित्य का लोहा मान लिया।

कालिदास के 'दौत्य' की चर्चा समाप्त हुई पर उनके दूतकर्म की अभी इति नहीं हुई। 'कुन्तलेश' के प्रसंग में वाकाटक प्रवरसेन का उल्लेख हुआ था और उनकी एक रचना भी सामने आई थी। अब यहाँ उसको भी समझ लेना चाहिए।

यह तो एक अति प्रसिद्ध बात है कि कालिदास ने 'मेघदूत' में कुछ आपबीती भी सुनाई है। पर उस आपबीती का रहस्य क्या है इसे इतिहास के मुंह से सुनिए। 'रामगिरि' में पड़ी पड़ी प्रभावतीगुप्ता दान किया करती है। उसका एक दान-पत्र है—

"जित (तं) भगवता॥ रामगिरिस्वामिन—पादमूलाद्गुप्तान (ना) मादिराजो महाराज श्रीघटोत्कचस्तस्य...... महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्तस्य दुहिता...........वाकाटकाना (नां) महाराज श्रीरुद्रसेनस्याग्रमहिषी वाकाटकानांम्महाराज श्रीदामोदरसेन प्रवरसेनजननी भगवत्पादानुध्याता साग्रवर्षशतदिवपुत्रपो (पौ) त्रा श्र (श्री) महादेवी प्रभ (भा) वति गुप्ता..........वाकाटकानां (नां) महाराज श्रीप्रवरसेनस्य राज्यप्रशासत (सं) वत्सरे एकोनविंशंतितमे कार्त्तिकमासशुक्ल-पक्ष द्वादश्या (श्यां) (।) दूतक (को) वेवन्दस्वामी (।) लिखितं।" (ज०, ए०, सु०, बंगाल, भाग २०, पृ० ६०)

श्री प्रवरसेन अब 'अभिनवराजा' नहीं रहे। राज्य करते हुए उनके १९ वर्ष बीत गए। प्रभावती गुप्ता भी १०० वर्ष की बुढ़िया हो चली पर रामगिरि वही रहा। कालिदास कहते हैं—

"कश्चित् कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः, शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येन भर्त्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु, स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्य्याश्रमेषु ॥१॥" (मेघदूत)

कहते हैं किसी वैयाकरण ने किसी हृदयालु को टोका था कि 'कश्चित् कान्ता' कहाँ की संस्कृत है। समाधान में उपहास भले ही हो पर हृदय नहीं। कालिदास की आँखों में था तो कान्ता का विरह किन्तु उन्हें लिखना पड़ा 'कान्त' (यक्ष) का विरह। विरहिणी कान्ता को रस भी तो इसी में मिल सकता था? अपना दुःख तो अपने आगे था ही, जब अपने कान्त का दुःख भी सामने आ गया तो वह सुख प्राप्त हुआ जो दुःख को आनन्द बना देता है। जनकतनया की जन्मभूमि पर भी ध्यान दें और कृपया भूल न जायें कि प्रभावती गुप्ता से भी कालिदास का कुछ लगाव है। कालिदास भी रामगिरि में जा विराजे हैं।

प्रभावती गुप्ता ने 'रामगिरि' के पुण्य 'आश्रम' को कब अपना स्थान बनाया इसका यथार्थ उत्तर तो सहसा नहीं दिया जा सकता, पर अनुमान यही कहता है कि विधवा होने तथा पराजय पाने के पश्चात्। 'कुन्तलेश्वर' के प्रसंग में बताया जा चुका है कि प्रभावती गुप्ता के श्वसुर पृथिवीषेण ने 'कुन्तलेन्द्र' को जीत लिया था और फिर किसी 'कुन्तलेश' ने समय पाकर 'नागजा' पर चढ़ाई की और उसे परास्त कर अपना 'दाय' प्राप्त कर लिया। अजन्ता के लेख में पृथिवीषेण की बड़ी प्रशंसा की गई है। उन्हें 'धर्मविजयी' कहा गया है। जिसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने 'कुन्तलेन्द्र' की 'श्री' को हर लिया 'मेदिनी' को नहीं। किन्तु 'कुन्तलेश्वर' को जब 'अश्वमेध' की सूझी तब उन्होंने केवल वाकाटक-श्री को ही नहीं हरा अपितु उसकी कुछ 'मेदिनी' भी छीन ली। अब प्रभावती गुप्ता को उनसे कुछ दूर रहने की आवश्यकता पड़ी और कुछ सुख-शान्ति की भी। फलतः वह रामगिरि में जा बसी, और उसकी सान्त्वना तथा देखभाल के लिये कवि कालिदास को भी वहीं भेजा गया। प्रभावती गुप्ता का उपलब्ध सर्वप्रथम शासन इसीके निकट के नान्दिवर्धनग्राम का है जिसका वर्ष १३ दिया गया है। अजन्ता के लेख में यह भी कहा गया है कि पृथिवीषेण 'वर्षशतमभिवर्द्धमानकोशदंडसाधनसन्तानपुत्रपौत्रिन्' थे। इधर प्रभावती गुप्ता रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी' हैं और उसका पुत्र युवराज दिवाकरसेन ही प्रथम पुत्र है।

युवराज दिवाकरसेन का अन्त कब हुआ, इसे कौन कहे? पर इतना तो कोई भी कह सकता है कि वह राज्याभिषेक के पहले ही चल बसा था, और राजमाता प्रभावतीगुप्ता को उसके अनुज प्रवरसेन की ओर से भी कुछ काल तक शासन करना

पड़ा था। यदि इस काल की अवधि का पता निकल आता तो बड़े काम का सिद्ध होता। तो भी उसके अभाव में इतना तो बड़ी सरलता से कहा जा सकता है कि पिता के निधन के समय दिवाकरसेन की अवस्था (२५-१३) १२ वर्ष से अधिक न थी; कारण कि राज्याभिषेक की योग्यता की मर्यादा यही (२५ वर्ष ही) है। उधर पितामह पृथिवीषेण भी पौत्रिन् होकर मरे थे। तात्पर्य यह कि प्रभावतीगुप्ता के पति रुद्रसेन अधिक दिन तक राजा नहीं रहे। उनका शासन कितना क्षणिक था, इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि अजन्ता के एक लेख (आ० स० वे० इं० भाग ४ पृ० १२५) में तो उन्हें 'भगवतश्चक्रपाणेः प्रमादोपार्जित श्रीसमुदायः' कहा गया है पर दूसरे (वही, पृ० १२६) में उनका नाम तक नहीं आया है। कारण यही प्रतीत होता है कि उनका शासन-काल अत्यन्त अल्प था। दिवाकरसेन के विषय में पहले कहा जा चुका है कि पिता के निधन के समय किसी दशा में भी उसकी अवस्था १२ वर्ष से अधिक* नहीं हो सकती। अब इतना और जोड़ लें कि पितामह पृथिवीषेण के सामने ही वह उत्पन्न हो गया था। कारण कि प्रभावतीगुप्ता ही रुद्रसेन की 'अग्रमहिषी' थी और पृथिवीषेण थे 'सन्तानपुत्रपौत्रिन्'। निदान, यही कहना पड़ता है कि कम से कम दिवाकरसेन तो उनके सामने उत्पन्न हो चुका था। सारांश यह कि रुद्रसेन का शासन कुछ ही दिनों का था। उनका अन्त किस प्रकार हुआ, इसका कहीं कोई उल्लेख नहीं। सम्भव है किसी संग्राम में ही वीरगति को प्राप्त हुए हों।

अस्तु, अब बिना किसी संकोच के सरलता से कहा जा सकता है कि प्रभावती गुप्ता पर सहसा जो वज्रपात हुआ था वह बड़ा ही भयावह और दुःखप्रद था। कृष्णवर्मा के आक्रमण ने उसे और भी जर्जर कर दिया। ऐसी विपदा के समय उदार पिता चन्द्रगुप्त के अतिरिक्त उसका सहायक कौन हो सकता था? पर स्वयं चन्द्रगुप्त को भी तो सभी संकटों का सामना करना था? जिस विपदा से मुक्ति पाने के लिए उन्होंने प्रभावती गुप्ता का वाकाटक-कुल में विवाह किया था वह

---

* कालिदास का प्रभावती गुप्ता एवं प्रवरसेन से जो सम्बन्ध रहा है उसको देखते हुए यही मानने को जी चाहता है कि हो न हो रघुवंश में इस वंश की भी कुछ छाप है। कहते हैं—

"मणौ महानील इति प्रभावात्, अल्पप्रमाणोऽपि यथा न मिथ्या।
शब्दो महाराज इति प्रतीतः, तथैव तस्मिन् युयुजेऽर्भकेपि ॥४२॥
पर्य्यन्तसञ्चारितचामरस्य, कपोललोलोभयकाकपक्षात्।
तस्याननादुच्चरितोविवादः, चस्खाल वेलास्वपि नार्णवानाम् ॥४३॥" एवं
"न्यस्ताक्षरायक्षरभूमिकायां, कात्स्न्र्येन गृह्णाति लिपिं न यावत्।
सर्व्वाणि तावत् श्रुतवृद्धयोगात्, फलान्यपायुङ्क्त स दण्डनीतेः ॥४६॥"

तो फिर यह मान लेने में क्या आपत्ति है कि सचमुच दिवाकरसेन भी ६ वर्ष की अवस्था में ही 'महाराज' हुआ। कारण कि इधर भी—

"तं राजवीथ्यामधिहस्तियान्तम्, आधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात्, प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण ॥३९॥" (रघुवंश १८ सर्ग)

आप चाहें तो इसे न भी मानें, पर कृपया भूल न जाए कि इसकी संगति बैठती सटीक है। दिवाकरसेन के १३ वर्ष के युवराजपन का उल्लेख हो चुका है। अब इसमें ६ वर्ष और जोड़ दीजिए। इस प्रकार न्यूनातिन्यून उसके २० वर्ष के जीवन का पता चलता है जो सर्वथा साधु ठहरता है। स्मरण रहे प्रभावती गुप्ता ने 'अनुज' प्रवरसेन की ओर से भी शासन किया है। तो अब इस ६ वर्ष को मान ही लीजिए तो ठीक हो। साथ ही राज्ञी प्रभावती गुप्ता की स्थिति को भी आँक लें—

"तं भावार्थं प्रसवसमयाकांक्षिणीनां प्रजानाम्। अन्तर्गूढं क्षितिरिव नभोबीजमुष्टिं दधाना।
मौलैः सार्द्धं स्थविरसचिवैः हेमसिंहासनस्था, राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद्भर्त्तुरव्याहताज्ञा ॥५७॥" (रघु १९ सर्ग)

तो क्या सचमुच दिवाकरसेन प्रवरसेन से ६ ही वर्ष बड़े थे? इतिहास के अभाव में 'काव्य' से तो यही सुर निकलता है।

तो थी ही, इधर एक दूसरी विपत्ति भी फट पड़ी। विक्रमादित्य का आदित्य कुछ मेघाछन्न हो चला था कि सहसा कालिदास की प्रतिभा सामने आई और उसने अपनी आभा से उसको और भी अनुपम उगा दिया। ऐसे संकट के समय कवि कालिदास ने जो 'दौत्य' किया उसकी चर्चा हो चुकी है। उससे 'विक्रमादित्य' की चिन्ता तो दूर रही, पर अभी उनकी तनया प्रभावती गुप्ता का सन्ताप बना रहा। कहना न होगा कि उसी सन्ताप को दूर करने के निमित्त कालिदास भी उसकी सेवा में जा विराजे। दिवाकरसेन तो शीघ्र ही चल बसा पर दामोदर प्रवरसेन उनका प्रसाद पाने के लिए जीता रहा। 'सेतुबन्धम्' के रचयिता प्रवरसेन को कौन नहीं जानता? उसका राज्य चला गया पर उसकी कृति आज भी उसका नाम उजागर कर रही है। और 'दामोदर?' वह तो और कुछ नहीं, बस इस भागवत जोड़ी का प्रसाद है। 'चक्रपाणि' की भक्ति इसी 'दामोदर' में भरी है, अन्यथा 'वाकाटक' थे तो शैव। दामोदर प्रवरसेन भी तो आगे चलकर शैव हो गया। तो क्या यह भी कालिदास का प्रभाव था?

कालिदास और प्रवरसेन सा सम्बन्ध पिता-पुत्र का नहीं तो परस्पर गुरु-शिष्य का अवश्य था। अतः कालिदास के इस कर्म को दूतकर्म के भीतर कैसे गिना जाय? कोई बात नहीं, परन्तु विषय को समाप्त करते करते एक दूसरा प्रसंग भी सामने आगया। कहते हैं कि कामरूप के कलितों को पंडित बनाने का श्रेय भी कवि कालिदास को ही प्राप्त है। प्रवाद है कि कालिदास पहले महामूर्ख थे। किसी बात पर खीझकर उनकी पत्नी ने उन्हें खूब पीटा। फिर करें क्या, हार मानकर वन में तप करने चले गए और वहाँ जाकर ऐसा घोर तप किया कि उनकी आराधना से सरस्वती खिल उठी। प्रसन्न हो उन्हें ऐसा जल-पात्र दिया कि उसके रंचक जलपान से जपाट की भी बुद्धि खुल जाय और सहज में ही विद्या का प्रकाश हो जाय। फिर क्या था, एक दिन कालिदास को कामाख्या-दर्शन की सूझी। मार्गभर विष का घड़ा कहकर उसकी रक्षा की। दैवयोग से एक बरुआ जीवन से ऊबकर अपना अन्त करना चाहता था। फिर क्या था, विष के घड़े से थोड़ा विष-पान कर लिया। परिणाम प्रत्यक्ष है। तभी से उसके कुल में विद्या चली आती है। कामरूप में बरुआ वा कलित ही प्रधान हैं।*

यह तो हुई कपोल की कथा। अब कालिदास की भी सुनिए। रघु चारों ओर से विजयी होकर कामरूप में पहुँचते हैं तो—

> "तमीशः कामरूपाणामत्याखण्डलविक्रमम्। भेजे भिन्नकटैर्नागैरन्यानुपररोध यैः॥८३॥
> कामरूपेश्वरस्तस्य हेमपीठाधिदैवताम्। रत्नपुष्पोपहारेणच्छायामानर्च पादयोः॥८४॥" (रघुवंश, चतुर्थ सर्ग)

कामरूपेश्वर ने रघु की कुछ ऐसी पूजा की कि फिर उन्हें किसी और को जीतना न पड़ा। संग्राम की तो यह दशा है कि कामरूपेश्वर को यह महत्त्व दिया जा रहा है। उधर पुत्र अज का विवाह हुआ तो वहाँ भी —

> "ततोऽवतीर्याशु करेणुकायाः स कामरूपेश्वरदत्तहस्तः।
> वैदर्भनिर्दिष्टमथो विवेश नारीमनांसीव चतुष्कमन्तः॥१७॥" (वही, सप्तम सर्ग)

अन्त में 'कामरूपेश्वर' का ही समादर हुआ। क्यों?

कामरूप का जो वृत्त प्राप्त है उसमें एक विलक्षण बात यह गोचर होती है कि भगदत्त के ३००० वर्ष के अनन्तर जो शासक उत्पन्न होता है उसका नाम पुष्यवर्मा और उसके उपरान्त जो पुरुष सामने आता है उसका नाम समुद्रवर्मा होता है और उसकी स्त्री भी दत्तदेवी के नाम से ही प्रसिद्ध होती है। दत्तदेवी महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त की माता हैं तो समुद्रगुप्त उनके पिता और पुष्यमित्र नाम है उस ब्राह्मण सेनापति का जिसने मौर्यवंश से राज्य छीनकर किया था अश्वमेधयज्ञ। सारांश यह कि कामरूप के राजवंश में जो यह सम्राट् समता लक्षित हो रही है, इसका कुछ रहस्य है। साथ ही इतना और भी स्मरण रहे कि जिस विदर्भ में अज का विवाह हो रहा है उसी विदर्भ में आगे चलकर 'नरक' का भी हुआ है। यही क्यों,

---

* पूरे प्रसंग के लिए देखिए 'ईस्टर्न इंडिया' भाग ३, मांट्गोमेरी मार्टीन रचित और लीडनहाल स्ट्रीट लंडन से प्रकाशित, सन् १८३८ ई०, पृष्ठ ५४३।



पुराण-मत तो यहाँ तक हमारे पक्ष में है कि 'नरक' को प्राग्ज्योतिष का राज्य भी 'मगध' वा विदेह की सहायता से मिला था। तो क्या कालिदास का रघुवंश पुराण का ही अनुकरण कर रहा है? नहीं, इसका प्रयोजन कुछ और भी है। पहले ही कहा जा चुका है कि प्रवाद है कि कालिदास के प्रसाद से ही बरुआ विद्वान् बने। सो बरुआ है भी ब्रह्मचारी का वाचक। अस्तु इस प्रवाद में यदि कुछ भी सार है तो इसका निष्कर्ष यही निकलता है कि किसी समय कालिदास ने कामरूप के प्रधान पुरुष को सन्मार्ग दिखाकर मृत्यु से बचा लिया था। अच्छा होगा, स्थिति को स्पष्ट करने के हेतु एक दूसरे प्रवाद पर भी विचार करलें। कहा जाता है कि कामरूप का सुबाहु राजा बड़ा प्रतापी था। उसने अभिमान में आकर विक्रमादित्य के 'अश्व' को रोक लिया किन्तु संग्राम में हार कर भाग गया।

'विक्रमादित्य' और कालिदास का जो सम्बन्ध है वह किसी से छिपा नहीं है। पर यह 'सुबाहु' है कौन? भास्कर-वर्मा के ताम्रपत्र से प्रकट है—

"वंशेषु तस्य नृपतिषु वर्षसहस्त्रत्रयं पदमवाप्य। यातेषु देवभूयं क्षितीश्वरः पुष्यवर्माभूत ॥७॥
मात्स्यःन्यायविरहितः प्रकाशरत्नःसुतो द्वरथलघुः पंचम इव हि समुद्रः समुद्रवर्माभवत्तस्य ॥८॥"
(ए० इं० भाग १२, पृष्ठ ७३)

'निधनपुर' के इस ताम्रपत्र से व्यक्त ही है कि समुद्रवर्मा ही सचमुच वह व्यक्ति है जो किसी विक्रमादित्य से लोहा ले सकता है, और सन्देह नहीं कि 'सुबाहु' ने ही दर्प में आकर समुद्रगुप्त का नाम अपना लिया हो और अपने आपको समुद्र-गुप्त का अवतार ही कहने लगा हो। उसकी महिषी का नाम भी तो 'दत्तदेवी' ही है। प्रतीत होता है कि समुद्रगुप्त के समय में जो प्रत्यन्त-सन्धि थी वह चन्द्रगुप्त के शासन में कभी टूट गई थी और फिर 'अप्रतिरथ' पराक्रमी होने पर ही जुटी थी। कालिदास के द्वारा 'कलिंतों' में जिस ज्ञान का प्रसार हुआ उसका सम्बन्ध इसी विग्रह से तो नहीं है? एक बात और। काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के भारत-कला-भवन में एक अश्व खड़ा है जो पास की नगवा भूमि से वहाँ लाया गया है। उसपर 'चित्रगु' लिखा हुआ पढ़ा गया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वास्तव में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने भी अश्वमेध-यज्ञ किया था। अस्तु, अब यह मान लेने में कोई प्रबल बाधा नहीं रह जाती कि इसी विक्रमादित्य से सुबाहु अथवा समुद्रवर्मा का युद्ध हुआ था, कुछ किसी और से नहीं।*

विक्रमादित्य के 'अश्वमेध' की जो इतनी कम चर्चा हुई है उसका मुख्य कारण सम्भवतः उनकी नीति ही है। कालिदास कहते हैं—

"पराभिसन्धानपरं यद्यप्यस्य विचेष्टितम्। जिगीषोरश्वमेधाय धर्म्यमेव बभूव तत् ॥७६॥"
(रघुवंश, सप्तदश सर्ग)

अब चाहे इस 'पराभिसन्धान' का परिणाम हो चाहे कुछ और, पर इतना तो प्रकट ही है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को भी शत्रुओं से लोहा लेना पड़ा था। उसके लौहस्तम्भ से व्यक्त होता है कि उसे भी संग्राम करना पड़ा था। परन्तु पुराविदों में ऐसे पंडित भी हैं जो उक्त लौहस्तम्भ का सम्बन्ध किसी और ही 'चन्द्र' से जोड़ते हैं, । अतः थोड़ा इसपर भी विचार हो जाना चाहिए। अच्छा, तो वह लेख है—

"यस्योद्वर्तयतः प्रतीपमुरसा शत्रून् समेत्यागतान्। वंगेष्वाहववर्त्तिनोभिलिखिता खड्गेन कीर्तिर्भुजे ॥
तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्जिता वाह्लिकाः। यस्याद्याप्यधिवास्य ते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः ॥१॥

* श्री बरुआ महोदय ने प्रकृत प्रवाद का सम्बन्ध अश्वमेधयाजी समुद्रगुप्त से जोड़ा है। पर वह ठीक नहीं बैठता। परम्परा विक्रमादित्य के पक्ष में ही है और वह भी अश्वमेधयाजी सिद्ध हो रहा है। सुबाहु का समुद्रवर्मा नाम भी तभी सार्थक सिद्ध होगा जब उसके पहले समुद्रगुप्त का आतंक फैल चुका हो। इस अनुकरण में स्पर्द्धा की झलक है। निदान, परम्परा को ही प्रमाण ठहराना चाहिए। देखिए, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप, शिल्लांग, १९३३ ई०, पृ० ४३।

खिन्नस्येव विसृज्य गां नरपतेर्गामाश्रितस्येतरां, मूर्त्या कर्म्म जितावनी गतवतः कीर्त्त्या स्थितस्य क्षितौ।
शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्नाद्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेषः क्षितिम् ॥२॥
प्राप्तेन स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं क्षितौ। चन्द्राह्वेन समग्रचन्द्रसदृशीं वक्त्रश्रियं बिभ्रता।
तेनायं प्रणिधाय भूमिपतिना धावेन विष्णो(णौ)मतिम्। प्रांशुर्विष्णुपदे गिरौ भगवतो विष्णोर्ध्वजः स्थापितः ॥३॥"

(मेहरौली का लौहस्तम्भ)

'चन्द्राह्व' से इतना तो स्पष्ट है कि यह किसी 'चन्द्र' की ही गाथा है, पर वह चन्द्र है कौन? इसी पर विचार है। माना कि बंगाल के 'सुसुनिया' पहाड़ पर 'पुष्करणाधिपति' की कोई 'कृति'* निकल आई पर उससे यह कैसे सिद्ध हो गया कि वस्तुतः उक्त 'महाराज' में "एकाधिराज्य" की क्षमता थी। सच तो यह है कि इस 'कृति' का जो उक्त वंग-विजय से कोई सीधा सम्बन्ध होता तो इसका उल्लेख भी यहाँ अवश्य होता। हमारी समझ में तो इस अति संक्षिप्त लेख से यही ध्वनित होता है कि वास्तव में महाराज श्रीचन्द्रवर्मा अपनी पुरानी मर्यादा भी खो बैठे थे और अब 'पुष्करणाधिपति' महाराज न रहकर केवल 'महाराज' ही रह गए थे। देखिए, उक्त लेख है—

"पुष्करणाधिपुरोर्म्महार (ा) जश्रीसिंहवर्म्मणः पुत्रस्य
महाराजश्रीचन्द्रवर्म्मणः कृतिः
चक्रस्वामिनः दास (ा) ग्र (ग्रे) ण (ा) तिसृष्टः" (ए० इं०, भाग १३, पृष्ठ १३३)

और महाराज चन्द्रवर्मा के इस ह्रास का कारण है महाराजाधिराज अश्वमेधयाजी, सर्वराजोच्छेता श्री समुद्रगुप्त का 'अनेक आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्त' जिसमें 'चन्द्रवर्मगणपतिनागनागसेनअच्युतनन्दिबलवर्मा' आदि भी हैं। तो इसका अर्थ यह हुआ कि कभी महाराज श्री चन्द्रवर्मा किसी समय गुप्त-सामन्त के रूप में 'सुसुनिया' पहुँच गए और वहाँ एक अपना वैष्णव स्मारक खड़ा कर दिया। 'चक्रस्वामिनः दासाग्र' भी सारगर्भित पद है। ध्यान रहे इसी वंश का बन्धुवर्मा निश्चय ही कुमारगुप्त का सामन्त था। अस्तु, कोई आश्चर्य नहीं कि किसी वंग-संग्राम में ही महाराज चन्द्रवर्मा वंग आए हों और लगे हाथों यह स्मारक भी छोड़ गए हों। जो हो, प्रस्तुत सामग्री के आधार पर कभी भी यह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में 'सुसुनिया' के उक्त चन्द्रवर्मा में 'मेहरौली' का 'एकाधिराज' होने की क्षमता थी। हाँ, उन विद्वानों के विचारों में कुछ सार अवश्य है जो महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त † को ही उक्त 'चन्द्र' मानते हैं। कारण कि 'स्वभुजार्जित' की संगति जैसी सटीक सहसा उनके साथ बैठती है वैसी किसी अन्य के साथ नहीं। साथ ही 'प्रयाग-प्रशस्ति' में जो 'निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति' कहा गया है वह भी उनके इसी वैभव का द्योतक है। और उसमें चन्द्रगुप्त कहे भी गए हैं निश्चय ही 'महाराजाधिराज'। फिर उन्हीं को उक्त लौहस्तम्भ का अधिनायक वा नेता मान लेने में आपत्ति क्या? निवेदन है, तनिक ध्यान से सुनें।

माना कि 'प्रयाग-प्रशस्ति' में 'महाराजाधिराज' चन्द्रगुप्त ने अपने 'आर्य' पुत्र से 'निखिलां' मही के पालन को कहा, पर इससे यह सिद्ध कहाँ हुआ कि उनका आधिपत्य एक राज्य था। उसी प्रशस्ति में खोलकर कह दिया गया है—

"उद्वेलोदितबाहुवीर्यरभसादेकेन येन क्षणादुन्मूल्याच्युतनागसेन.........................
दण्डग्राहयतैव कोटकुलजं पुष्पाह्वये क्रीडिता।"

* महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री का यह मत अब प्रायः प्राणहीन हो चुका है। कहने की आवश्यकता नहीं कि आपने ही इस लेख का सुचारु रूप से सम्पादन किया और उसके विषय में अपना उक्त मत प्रकट किया। विवाद उठने पर उनके शिष्य श्री राखालदास बनर्जी ने उसका पक्ष लिया पर वह प्रति दिन गिरता ही गया। इस पक्ष के लिए देखिए 'ए० इं० भाग १२, पृष्ठ ३१५; १३, पृ० १३३; १४, पृ० ३६८-७१।'

† इस मत के प्रबल समर्थक आज भी पाए जाते हैं। इसके लिए देखिए दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णास्वामी ऐंगरकृत 'ऐंश्यंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग, ओ० बु० एजेंसी, पूना; सन् १९४१ ई०, पृष्ठ १९२-२१०।

जिससे स्पष्ट है कि उक्त सीमा का संकेत क्या था जिसका उल्लंघन नागसेन आदि ने किया। महाराज श्रीघटोत्कच के पुत्र महाराज श्रीचन्द्रगुप्त ने कुछ ऐसा पराक्रम किया कि उसके फलस्वरूप शीघ्र 'महाराजाधिराज' हो गए पर फिर कभी उससे आगे न बढ़े। और यदि 'कौमुदीमहोत्सव' को प्रमाण माना जाय तो कहना ही पड़ेगा कि अन्त में वह 'राजा' तक नहीं रह गए थे। फिर उनके निधन पर यह बात कैसे कही जा सकती है कि बुझ जाने पर भी आग का तेज बना ही है। अच्छा न सही, इसे न मानिए, पर तोभी इतना तो आपको भी मानना ही पड़ेगा कि प्रयाग-प्रशस्ति अथवा अन्यत्र कहीं भी महाराज चन्द्रगुप्त 'एकाधिराज' नहीं कहे गए हैं। हाँ, अधिक से अधिक 'महाराजाधिराज' तक ही रह गए हैं, सो भी सर्वत्र नहीं।

'एकाधिराज' बिरुद बड़े महत्त्व का है। इसकी समता 'महाराजाधिराज' से हो नहीं सकती। यह तो 'सम्राट्' का समकक्ष है। भला वाकाटक सम्राट् प्रवरसेन के सामने महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त को 'एकाधिराज' की पदवी कौन दे सकता है? नहीं यह सौभाग्य तो उसके 'आर्य' पुत्र समुद्रगुप्त को ही प्राप्त हुआ है। उसके पूर्व गुप्तों में किसी को 'एकाधिराज' का पद नहीं मिला था। निदान मानना पड़ता है कि मेहरौली के लौहस्तम्भ से महाराज श्रीघटोत्कच-सुत महाराजाधिराज श्रीचन्द्रगुप्त का कोई लगाव नहीं।

हाँ, निश्चय ही मेहरौली का लौहस्तम्भ स्मारक है सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का और सुधि दिलाता है निपुण कवि कालिदास की मर्मभरी लेखनी और दूतकर्म का। सो कैसे, तनिक इसे भी शोध लें।

कहने की बात नहीं कि प्रकृत लौहस्तम्भ के लेख में केवल 'वंग', 'वाह्लिक' और 'दक्षिण' का उल्लेख किया गया है, कुछ कहीं 'आर्यावर्त' का नहीं। कारण प्रच्छन्न नहीं कि कल्पना को कष्ट दिया जाय। प्रयाग-प्रशस्ति से अति प्रकट है कि 'आर्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः' किस तथ्य का द्योतक है। जो पूछा जाय कि फिर 'स्वभुजार्जितं च सुचिरं चैकाधिराज्यं' का संकेत क्या है तो तुरन्त कहना पड़ेगा कि बड़े काम का। रामगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी का प्रसंग* अब सामने आ चुका है और 'शकाधिपति' की चर्चा भी खूब हो चुकी है। फलतः संक्षेप में कहना पड़ता है कि दाय-दृष्टि † से

---

* स्वर्गीय राखालदास बनर्जी ने इस तथ्य का भेद बताया और उनके सहाध्यापक डा० आल्टेकर ने उसको अनेक प्रमाणों द्वारा पुष्ट किया। फिर तो अनेक पुराविदों ने उसे साधु माना और उसके सम्बन्ध में अपना अपना अभिमत दिया। सारांश के लिए देखिए श्री वासुदेव उपाध्याय एम० ए० कृत गुप्त साम्राज्य का इतिहास, प्रथम भाग, इंडियन प्रेस, प्रयाग; रामगुप्त का प्रकरण।

† चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को समुद्रगुप्त ने अपना अधिकारी बनाया था किन्तु कुछ कारण ऐसा आ पड़ा कि उसको पहले उससे दूर ही रहना पड़ा। जब राज्य का लोभी रामगुप्त 'क्लीव' बन गया और शत्रु को स्त्री देने पर उद्यत हो गया तब चन्द्रगुप्त को साम्राज्य की चिन्ता हुई। उसने कपट-वेष में शत्रु का वध किया और फिर भाई से ऊबकर किसी प्रकार उसका भी अन्त कर दिया। इसी को लक्ष्य कर उसकी कीर्ति पर पानी फेरते हुए अमोघवर्ष के चारण ने कहा है—

"हत्वा भ्रातरमेव राज्यमहरद् देवीं च दीनस्ततो, लक्षं कोटिमलेखयन् किल कलौ दाता स गुप्तान्वयः ॥"

(ए० इं०, भाग १८, पृष्ठ २४८)

कैसे भी हो, यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'तत्परिगृहीत' होने पर भी साम्राज्य के निमित्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य को घर तथा बाहर, चारों ओर से लोहा लेना पड़ा। फिर वह 'एकाधिराज्य' अर्जित नहीं तो और क्या था? निश्चय ही वह चन्द्रगुप्त के साहस और पुरुषार्थ का प्रसाद था। यदि उसकी 'भुजा' में बल न होता तो उसका राज्य तो और ही के हाथ लग चुका था और जो उसका रक्षक होता वही तो उसका भक्षक बन बैठा था? फिर 'स्वभुजार्जित' में सन्देह क्यों?

भी उक्त साम्राज्य 'स्वभुजार्जित' ही था और साथ ही यह भी ध्यान रहे कि प्रसंग 'एकाधिराज्य' का है कुछ आर्यावर्त* का नहीं। सो वंग के विषय में तो व्यक्त ही है कि शत्रु संघटित रूप में डटे थे। रही 'वाह्लिक' की बात। सो अभी यही नहीं खुला कि वस्तुतः यह वाह्लिक था कहाँ। 'सिन्धोः सप्तमुखानि' भी तो अभी तक झगड़े का घर बना हुआ है? फिर इसके बारे में बताया क्या जाय? जो कुछ हो, पर इतना तो निर्विवाद ही है कि उक्त दोनों देश गुप्त-साम्राज्य के छोर पर ही थे और किसी संकट के समय ही उभर आए थे।

'वाह्लिक' से कालिदास का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं दिखाई देता अतएव विचार के हेतु पहले हम केवल 'वंग' और 'दक्षिण' को उठाते हैं। सुबाहु की विक्रमादित्य से जो मुठभेड़ हुई थी वह बंग से मिली-जुली थी या नहीं, इसका निर्भ्रान्ति उत्तर तो अभी दिया नहीं जा सकता, पर अनुमान से इतना बताया अवश्य जा सकता है कि इस सन्धि में कवि कालिदास का भी हाथ था। पता नहीं समुद्रगुप्त की प्रयाग की प्रशस्ति में 'वंग' का नाम क्यों नहीं आया। 'समतटडवाककामरूपनेपाल-कर्त्तृपुरादिप्रत्यन्तनृपति' में 'समतट' और 'डवाक' की सीमा क्या है यह कैसे स्पष्ट हो। तो भी यह तो निश्चित ही है कि इनका सम्बन्ध 'वंग'† वा बंगाल से ही है। 'समतट' में तो कोई मतभेद नहीं पर 'डवाक'‡ के बारे में कुछ धाँधलीसी है। टाँकने की बात है कि कवि कालिदास रघु-दिग्विजय में 'वंगानुत्खाय' का स्पष्ट उल्लेख करते हैं पर कवि हरिषेण 'प्रशस्ति' में कहीं उसका नाम तक नहीं लेते। तो क्या इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि समुद्रगुप्त के उठते ही 'वंग' एक स्वतन्त्र राष्ट्र बन गया था जिससे सम्राट् चन्द्रगुप्त को स्वयं लोहा लेना पड़ा? सम्भावना तो यह है कि समुद्रवर्मा भी कुछ इसी ताक में लगा था, किन्तु जब उसने देख लिया कि वस्तुतः विक्रमादित्य के सामने उसका पराक्रम ओछा है तब उनका साथी हो रहा और कालिदास का प्रिय पात्र बना। उसकी दुर्बुद्धि दूर हुई।

* 'वंग', 'वाह्लिक' एवं 'दक्षिण' का तो स्पष्ट उल्लेख है किन्तु 'आर्यावर्त' का नहीं है। परन्तु ध्यान से देखिए तो पता चले कि इस लेख में चन्द्रगुप्त का सारा जीवन समेट कर रख दिया गया है। मध्यदेश में किसी में इतनी शक्ति नहीं थी कि उसका विरोध करता। समुद्रगुप्त ने सबको उखाड़ फेंका था। क्लीव रामगुप्त कायर था। उससे लोहा लेने की बात ही नहीं थी। यह तो घर के काँटे को दूर करना था। सो तनिक साहस करने से हो गया। किन्तु चारों ओर की स्थिति एकसी नहीं थी। समुद्रगुप्त ने जिन्हें राज्य करने को छोड़ दिया था उनका मन स्थिति को देखकर बढ़ा। वंग ने संघटित होकर द्वन्द्व मचाया तो महाराज को स्वयं रणक्षेत्र में कूदना पड़ा। कुछ चोट भी खानी पड़ी। दक्षिण बात-चीत से शान्त रहा। उत्तर और पश्चिम का अभी निर्णय नहीं। 'वाह्लिक' का अर्थ भी खुले तो पता चले। पर इतना तो निश्चित ही है कि 'प्रतीची' और 'उदीची' दोनों ही में परदेशी राज्य था। प्रयाग प्रशस्ति में जो 'शकमुरुंड' और 'दैवपुत्रशाहिशाहानुशाहि' आए हैं उनका निर्देश क्या है? क्या हम उन्हें 'वाह्लिकाः' के भीतर ले सकते हैं। क्या वाह्लिकों के चढ़ दौड़ने का अच्छा अवसर यही न था? स्वयं चन्द्रगुप्त को 'सिन्धु के सात मुखों को पार' कर उनपर चढ़ाई करने की क्या पड़ी थी? यदि हार जाता तो? स्मरण रहे, कालिदास कहते हैं—

"कातर्यं केवला नीतिः शौर्यं श्वापदचेष्टितम्। अतः सिद्धिं समेताभ्याम् उभाभ्यामन्वियेष सः ।।४७।।

(रघुवंश, सप्तदश सर्ग)

† देखिए श्री प्रमोदीलाल पाल एम० ए०, कृत 'दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ बंगाल', दी इंडियन रिसर्च इन्स्टीटयूट, कलकत्ता; १९३९ ई०, भूमिका पृष्ठ ४-५।

‡ देखिए श्री बरुआ कृत 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ कामरूप' (वही) पृष्ठ ४२। कालिदास ने दिग्विजय में इसका अथवा 'समतट' का उल्लेख नहीं किया। इधर कुमारगुप्त के शासन में 'पुंड्रवर्द्धन' भुक्ति के रूप में दिखाई देता है। समुद्रगुप्त को भी किसी 'भस्ममाल्य' से युद्ध करना पड़ा था जो उसका अनुज और सम्भवतः गौड का शासक था। तात्पर्य यह कि इधर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

कालिदास का दूत-कर्म

'वंग' से कहीं अधिक बोलता प्रसंग है 'दक्षिण' का। कामरूप से कालिदास का जो सम्पर्क बताया गया है वह अनुमान और प्रवाद पर ही अवलम्बित है; परन्तु दक्षिण का दौत्य तो पुराविदों में घर कर चुका है। निदान उस पर कुछ खुलकर विचार होना चाहिए। मेहरौली के लेख से प्रकट है कि 'चन्द्र' की दक्षिणापथ से कोई लड़ाई नहीं हुई पर उसकी धाक वहाँ बनी रही। सो 'कौन्तलेश्वरदौत्यम्' के प्रकरण में बताया जा चुका है कि यथार्थतः इसका कारण क्या है। अतः यहाँ उसकी चर्चा व्यर्थ होगी। विचारणीय तो यह है कि कालिदास की सहज उपमा कौनसा तथ्य दिखाती है। लीजिए, कालिदास का मत है—

"शक्येष्वेवाभवद् यात्रा तस्य शक्तिमतः सतः। समीरणसहायोऽपि नाम्भःप्रार्थी दवानलः ॥५६॥" (रघुवंश ७ सर्ग)

कहना न होगा कि 'दवानल' विक्रमादित्य ने 'समीरण' कालिदास से जो काम लिया उसी का यह शुभ परिणाम था कि—**"यस्याद्याप्यधिवास्यते जलनिधिः वीर्यानिलैर्दक्षिणः"**

ठीक है, जब 'दवानल' के 'समीरण' ने 'जलनिधि' को भी सुवासित कर दिया तब वह किसी 'अम्भ' की याचना क्या करे? किन्तु काल की कृपा से यह 'दवानल' भी तो बुझ ही गया? तो क्या, तेज तो उसका अब भी अपनी 'मधुर' आँच दिखाता ही रहा। देखिए—

"शान्तस्येव महावने हुतभुजो यस्य प्रतापो महान्ना, द्याप्युत्सृजति प्रणाशितरिपोः यत्नस्य शेष क्षितिम् ॥"
(मेहरौली का लौहस्तम्भ)

महाकवि कालिदास की 'उपमा' के पारखी चट बोल उठेंगे कि यह तो कालिदास की 'उपमा' है। सच है, कालिदास की सटीक उपमा किसे नहीं मोहती? कौन जाने, सचमुच यह रचना कालिदास की ही हो। कारण—

"सच्छिन्नमूलः क्षतजेनरेणुः तस्योपरिष्टात् पवनावधूतः। अंगारशेषस्य हुताशनस्य पूर्वोत्थितोधूमइवाबभासे ॥४३॥
(रघुवंश सप्तम सर्ग)

अथवा

"तेन भूमिनिहितैककोटि तत् कार्म्मुकञ्च बलिनाधिरोपितम्।
निष्प्रभश्च रिपुरास भूभृतां धूमशेष इव धूमकेतनः ॥८१॥" (रघुवंश, एकादश सर्ग)

में तो वही भावना घूमफिर कर नया नया रूप धारण कर रही है और कभी 'हुतभुज' वा 'हुताशन' के प्रिय रूप में प्रकट हो रही है तो कभी 'धूमकेतन' के अप्रिय रूप में; पर है वास्तव में सदा वही। फलतः स्वीकार करना होगा कि वस्तुतः इस लौहस्तम्भ के लेख का कालिदास से घना सम्बन्ध है और कालिदास ने भी तो इसके 'खिन्नस्य' में इसके सारे शील को भर दिया है। विक्रमादित्य की 'खिन्नता' फिर भारत से कब दूर हुई?

'चन्द्र' के इस लौहस्तम्भ के सम्बन्ध में हिन्दी के महाकवि 'चन्द्र' ने जो कुछ लिखा है उसमें से कुछ इतिहास भी झाँक रहा है। वह कहता है—

"तब अनगानी पुत्ति, कहै सुनि पुत्त सुबत्तह। पुव्व कथा ज्यौं भई, सुनौ त्यौं कहूँ अपुब्बह ॥
हम पितु पुरिषा पुब्ब, नृपति कल्हन वन कीलत। सुसा छंडि ता पुट्ठ, स्वान संचरिय सचीलत ॥
सिसु संमुष हुइ बैठी सु तहाँ, भग्गिस्वान भैभीत हुअ। सब सथ्थ तथ्थ आचिज्ज भय, करि पारस ठट्ठे सुभय ॥१५॥
व्यास ज्योति जग जोति तहँ, सिद्ध महूरत ताव। दैव जोग सेसह सिरह, किल किल्लित सु ग्राव ॥१६॥
कल्हनपुर कल्हन नृपति, बासी नृप निज साज। कितक पाट अंतर नृपति, अनंगपाल भय राज ॥१७॥
(पृथ्वीराज रासो, तृतीय समय, ना० प्र० सभा काशी)

इस 'कल्हन नृपति' के विषय में सम्पादकों का निष्कर्ष है—

"दिल्ली में कुतुबमीनार के पास जो एक लोहे की बड़ी कीली अब तक विद्यमान है उसके विषय में पुरातत्त्ववेत्ता विद्वानों में मतभेद है। तबरों की ख्यातिओं में कलहन, कलिहन, कल्हन और किल्हन का चन्द भी नामान्तर मिलता है।

तथा कलहनादि नामान्तरों की चन्द्रवाचक व्युत्पत्ति हो सकती है। अतएव अनुमान होता है कि कीली पर जो नीचे लिखे (उक्त) श्लोक खुदे हुए हैं और उनमें जिस राजा चन्द्र का नाम है वह यही राजा कलहन उपनाम चन्द होगा।"

(उपसंहारणी टिप्पणी, वही पृ० २७३)

'कल्हन' की इस व्याख्या के साथ ही 'व्यास' की इस व्याख्या पर भी ध्यान दें—

"व्यास राजगुरु का वाचक है। तँवर राजपूतों के पांडववंशीय गिने जाने से उनके राजगुरु व्यास कहाते थे। यह वह व्यास था जो कल्हन राजा के समय में राजगुरु था।" (पृथ्वीराजरासो, वही, पृ० २५८, पा. रि.)

इसी प्रकार 'सुसा-स्वान'–संघर्ष के विषय में कहा जा सकता है कि वास्तव में यह वह वीरभूमि है जहाँ 'स्वान' 'सुसा' से भयभीत होकर भाग गया और नृपति कल्हन ने पुरोहित वा राजगुरु व्यास के कहने पर उसे अपना स्थान बनाया। किन्तु वह स्थान था कहाँ? मेहरौली या कहीं अन्यत्र। चन्द कहता है—

"सुनी बात इह तत्त प्रमानं, व्यास करी किल्ली पुर थानं।
साठि सु अंगुल लोहय किल्ली, सुकर सेस नागन सिर मिल्लिय ॥२२॥
मुंध लोइ आचिज्ज सु मान्यौ, भावी गति सो व्यास न जान्यौ।
बरजे सह परिगह परिमानं, उष्षारी किल्ली भू थानं ॥२३॥"

जिस क्रूर जिज्ञासा के कारण 'किल्ली' को उखड़वाया गया उसका परिणाम सुखद कब हो सकता था? अतः 'व्यास' को विवश हो कहना पड़ा—

"अनंगपाल चक्कवै, बुद्धि जो इसी उकिल्लिय। भयौ तुअँर मतिहीन, करी किल्ली तैं ढिल्लिय ॥
कहै व्यास जग जोति, अगम आगम हौं जानौं। तुअँर तैं चहुआन, अंत व्है है तुरकानौं ॥
तूअँर सु अवहि मंडव घरह, इक्क राय बलि विक्कवै। नव सत्त अंत मेवातपति, इक्क छत्त महि चक्कवै ॥२६॥"

एवँ—"हूँ गड्डि गयौ किल्ली सजीव, हल्लाय करी ढिल्ली सईव। तूअँर अवहि मंडव सुथान, भोगवै भूमि सुरतान पान ॥३०॥"

अस्तु, इससे तो यही सिद्ध होता है कि अनंगपाल ने उसे कहीं इधर से उधर नहीं किया; अपितु उसी स्थान पर ठीक पहले की तरह ही उसे गाड़ना चाहा। परन्तु 'पाषाण' के उखाड़ लेने से वह 'ढिल्ली' हो गई और तभी से 'दिल्ली' नाम निकल आया।

किन्तु, उधर 'ओझा' जी का मत है—'यह प्रसिद्धि चली आती है कि तँवर अनंगपाल ने दिल्ली को बसाया। उसीने वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाड़ी पर से प्रसिद्ध लोहे की लाट को, जिसको 'कीली' भी कहते हैं और जो वर्त्तमान दिल्ली से ९ मील दूर मिहरौली गाँव के पास कुतुबमीनार के निकट खड़ी है, उठाकर वहाँ खड़ी करवाई थी। उक्त लाट पर का प्रसिद्ध लेख राजा चन्द्र (चन्द्रगुप्त दूसरे) का है जिसने वह लाट उक्त पहाड़ी पर विष्णु के ध्वजरूप से स्थापित की थी। उसपर छोटे छोटे और भी पिछले लेख खुदे हैं जिनमें से एक 'संवत् दिल्ली ११०९ अनंगपाल बही' है। उससे पाया जाता है कि उक्त लेख के खुदवाए जाने के समय अनंगपाल का उक्त संवत् में दिल्ली का बसाना माना जाता था। कुतुबुद्दीन ऐबक की मसजिद के पास एक तालाब की पाल पर अनंगपाल के बनाए हुए एक मन्दिर के स्तम्भ अब तक खड़े हैं जिनमें से एक पर अनंगपाल का नाम भी खुदा हुआ है। पृथ्वीराज रासो के कर्त्ता ने अनंगपाल की पुत्री कमला का विवाह अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के साथ होना, उसी से पृथ्वीराज का जन्म होना तथा उसका अपने नाना अनंगपाल का राज्य पाना आदि जो लिखा है वह सारी कथा कल्पित है। पृथ्वीराज की माता दिल्ली के अनंगपाल की पुत्री कमला नहीं किन्तु चेदि देश के राजा की पुत्री कर्पूरदेवी थी।"

(राजपूताने का इतिहास, प्रथम भाग, सं० १९८३, पृ० २३४-२३५)

पृथ्वीराज रासो क्षेपकों से इतना भर गया है कि उसके मूल का पता लगाना अत्यन्त कठिन हो गया है। फिर भी इस 'किल्ली-कथा' के सम्बन्ध में इतना तुरन्त कहा जा सकता है कि इसकी पहली कथा दूसरी से सर्वथा भिन्न है। पहली

में इतिहास बोल रहा है तो दूसरी में चमत्कार अपना जौहर दिखा रहा है। किन्तु उसमें भी कुछ सार है। उसमें 'पाषाण का प्रसंग कुछ दिखाने के लिये घुसेड़ दिया गया है। वास्तव में वह उक्त मन्दिर के शिला-न्यास का द्योतक है। दूसरी कथा का संकेत यह है कि 'पाषाण' छोड़ने के उपरान्त किल्ली गाड़ी गई। सब कुछ ठीक हो जाने पर अनंगपाल को व्यास-वचन में सन्देह हुआ और फलतः 'पाषाण' उखाड़ लिया गया। जब बात सच निकली तब किल्ली फिर से गाड़ी गई पर वह दैववश ढीली ही रह गई। इस प्रकार 'किल्ली' के 'ढिल्ली' हो जाने के कारण उस पुर का नाम ही ढिल्ली हो गया। अस्तु, इस कथा का मुख्य लक्ष्य इतिहास नहीं प्रत्युत 'दिल्ली' की व्याख्या और 'तँवर' का पतन दिखाना है।

पहली कथा का 'कल्हनपुर' कहाँ है? 'दिल्ली' को तो मान नहीं सकते। कारण कि उसे तो अनेक पीढ़ी के उपरान्त अनंगपाल ने बसाया था। अच्छा, तो वह विष्णुपद पहाड़ी कहाँ है जहाँ पर उक्त स्तम्भ स्थापित हुआ था! श्री ओझाजी ने 'प्रसिद्धि' का उल्लेख तो कर दिया है पर यह दिखाने की चिन्ता नहीं की है कि वास्तव में वह पहाड़ी है कहाँ? 'वहाँ की विष्णुपद नाम की पहाड़ी' से व्यक्त ही है कि उनकी दृष्टि में वह पहाड़ी वहीं कहीं दिल्ली के पास ही है। कुछ दूसरे लोग भी यही साधु समझते हैं पर उनमें से कुछ कभी कभी यह भी कह जाते हैं कि वस्तुतः वह 'किल्ली' पहले* से ही वहीं गड़ी है। परन्तु अभी तक यह प्रकट नहीं हुआ कि उक्त स्थान के विष्णुपद होने का प्रमाण क्या है और क्यों अनंगपाल के साथ उसका ऐसा सारगर्भित सम्बन्ध जुट गया है।

इतिहास के पन्नों से पता चलता है कि 'तँवर' पालों का मुख्य स्थान लाहौर रहा है। गजनवियों से पराजित होने के कारण ही अनंगपाल को दिल्ली बसानी पड़ी। ऊपर कहा गया है कि अनंगपाल के दिल्ली बसाने का समय संवत् ११०९ अर्थात् ई० सन १०५२ है। अब गजनवियों के इतिहास पर विचार करें तो अवगत हो कि यह अभी उनका संकट-काल † है। महमूद गजनवी ने पाल-वंश को परितः परास्त कर दिया था। जयपाल, अनंगपाल (अनन्दपाल) और जयपाल के अनन्तर द्वितीय अनंगपाल ने भी उसका सामना किया किन्तु अन्त में उसे लाहौर छोड़कर अजमेर भागना पड़ा और लाहौर महमूद के प्रिय 'माशूक' सेनानी 'अयाज' का अड्डा बना। अनंगपाल का दैव फिरा तो 'गजनी' में फूट हुई और सेलजूक वंश का उदय (१०३७ ई०) हुआ। फिर क्या था, राजपूतों का भी सितारा चमका और सन् १०४३ ई० में हाँसी, थानेश्वर आदि तो फिर हाथ लगे ही, नगरकोट में फिर एक मन्दिर भी बन गया। किन्तु सन १०५२ ई० में सुल्तान अब्दुलरशीद ने उसे छीन ‡ लिया। तात्पर्य यह कि इसी १० वर्ष के उदय में अनंगपाल ने दिल्ली में अपना शासन दृढ़ किया और दिल्ली नगर बसाया।

अनंगपाल का मन्दिर बन गया तो उसे उस लाट की सूझी जो 'कल्हनपुर' में न जाने कब से गड़ी पड़ी थी और कालचक्र के प्रभाव से अब तुरुकों के राज्य में आ गई थी। अनंगपाल ने अवसर देखा तो तुरन्त उसे अपना लिया और अपने मन्दिर की शोभा का स्तम्भ बनाया।

---

* श्री दीवान बहादुर डा० एस० कृष्णस्वामी ऐंगर ने इस पर विशेष ध्यान दिया है। इसके लिये देखिए 'ऐंश्यंट इंडिया एण्ड साउथ इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' प्रथम भाग का उक्त प्रकरण।

† देखिए—'हिस्ट्री ऑफ अफगानिस्तान' सर पर्सी साइकेस (Percy Sykes) प्रथम भाग, मै० एण्ड को लण्डन १९४० ई०, पृष्ठ २०७। यहाँ १०४९ से १०५२ तक प्रायः वही स्थिति रही जो बहादुरशाह के बाद मुगलवंश की।

‡ देखिए—'हिस्ट्री ऑफ दी पंजाब' सैयद मुहम्मद लतीफ, कलकत्ता सेन्ट्रल प्रेस कम्पनी, १८९१ ई०, पृष्ठ ८९–९०।

डॉ० धीरेन्द्रचन्द्र गंगोली ने जो यह कह दिया है कि परमार भोज और कलचुरि कर्ण के जीतेजी मुसलमानों ने फिर आक्रमण नहीं किया ठीक नहीं। अनंगपाल को फिर कष्ट भोगना पड़ा और १०५२ में आक्रमण हुआ और सफल रहा। श्री गंगोली के मत के लिए देखिए प्रो० आल इंडिया ओ० कान्फरेन्स, १९३३ ई०, पृष्ठ ५३७।

श्री चन्द्रबली पांडे

विष्णुपद की जो शोध हुई है उसमें सबसे अधिक सफल दिखाई देती है सुदामापर्वत * के विष्णुपद की शोध। महाराज दशरथ के निधन पर जो चर भरत को बुलाने के हेतु केकय भेजे गए हैं मार्ग में देखते हैं कि—

"अवेक्ष्याञ्जलिपानांश्च ब्राह्मणान्वेदपारगान्, ययुर्मध्येन बाह्लीकान्सुदामानं च पर्वतम् ॥१८॥
विष्णोः पदं प्रेक्षमाणा विपाशां चापि शाल्मलीम्, नदीर्वापीस्तटाकानि पल्वलानि सरांसिच ॥१९॥
पश्यन्तो विविधांश्चापि सिंहव्याघ्रमृगद्विपान्, ययुः पथाऽतिमहता शासनं भर्तुरीप्सवः ॥२०॥
(वा० रा०, अ० कांड, अष्टषष्टितमसर्ग)

'बाह्लीक' और 'विष्णुपद' पर दृष्टि पड़ते ही प्रफुल्ल हो जी चाहता है कि बस इसी को 'चन्द्र' का विष्णुपद मान लो। परन्तु उधर से कतिपय† विद्वानों की हुंकार सुनाई पड़ती है, 'नहीं' कदापि नहीं; इस बाह्लीक के कारण तो कभी भी नहीं। कारण, इसका शुद्ध पाठ है 'वाहीक'। बाह्लीक तो कभी पंचनद में था ही नहीं। क्योंकि—

"पुराने ग्रन्थों में बाह्लीक और वाहीक नामों में बहुत गड़बड़ हुई है। वाहीक पंजाब या पंचनद का भाग था और बाह्लीक भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का घेरा था। यह कम्बोज और लम्पाक आदि के पास ही था। बाह्लीक देश के हींग और कुंकुम बहुत प्रसिद्ध हैं। अतएव बाह्लीक पंजाब में हो ही नहीं सकता। पंजाबान्तर्गत तो वाहीक ही है।"
(श्री भगवद्दत्त रचित भारतवर्ष का इतिहास, सन १९४०, लाहौर, पृ० १५७)

वाहीक और बाह्लीक की उलझन कुछ ऐसी नहीं कि बातों में सुलझाई जा सके। अनेक स्थलों पर जो बाह्लीक का प्रयोग 'वाहीक' के लिए पाया जाता है तो इसका भी कुछ हेतु होना चाहिए। डॉक्टर‡ सरकार ने तो डॉक्टर भंडारकर के मत के खंडन में बड़ी तत्परता दिखाई है और 'वाहीक' की निरुक्ति भी ढूंढ निकाली है—

"बहिश्च नाम हीकश्च विपाशायां पिशाचकौ। तयोरपत्यं वाहीका नैषा सृष्टिः प्रजापतेः ॥"
(महाभारत, कर्णपर्व, अ० ४४, प० १०)

किन्तु इस बात की चिन्ता तक नहीं की है कि इस 'पिशाच' का रहस्य क्या है? क्या बाह्लीकों के प्रभुत्व से इसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं है? करें क्या, आज भी तो देशों के कुछ प्रयोग ऐसे प्राप्त हो जाते हैं जो चक्कर में डाल देते हैं। पंजाब का 'गुजरात' क्या इस 'बाह्लीक' से कम विलक्षण है? यही दशा तो 'मालव' की भी रही है। हमें तो संक्षेप में यही भाता है कि इस बाह्लीक (वाहीक) को उस बाह्लीक का उपनिवेश भर समझें जो भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा का देश था।

'बाह्लीक' की व्याख्या के पहले कुछ 'विष्णुपद' की भी टीका हो ले। अब तो यह बताने की बात नहीं रही कि वास्तव में यही वह विष्णुपद है जो पहले अनंगपाल के राज्य में था और फिर गजनवियों के हाथ में चला गया था। अवसर

---

* डॉ० भंडारकर की प्रेरणा से श्री चिन्ताहरण चक्रवर्ती ने इस पर ध्यान दिया पर सफल न रहे। उनके अनन्तर उन्हींके एक दूसरे शिष्य श्री योगेन्द्र घोष ने इस पर विचार किया और 'विष्णुपद गिरि' शीर्षक लेख में (इंडियन कल्चर, प्रथम भाग, पृष्ठ ४१५.......) इसका पूरा पता दिया। इधर श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने उसमें इतना और योग दिया कि इसका सम्बन्ध उक्त 'वाह्लिक विजय' से ही है। उनके मत के लिए देखिए 'ज० बि० ओ० रि० सु०' भाग २०, पृष्ठ ९७।

† डॉ० दिनेशचन्द्र सरकार ने डाक्टर भंडारकर के मत का खंडन किया है और उन्होंने उक्त स्तम्भ में दिग्विजय का दर्शन किया है। उनकी दृष्टि में उसका संकेत है वंग, वाह्लिक, सिन्धोः सप्तमुखानि और दक्षिण। इसमें सन्देह नहीं कि इससे चारों दिशाओं का निर्देश हो जाता है पर इसका प्रमाण क्या है? उनके मत के लिए देखिए 'ए वाल्यूम ऑफ स्टडीज इन इंडोलॉजी, ओरियण्टल बुक एजेन्सी, पूना २, १९४१ ई०, पृष्ठ ४६९।

‡ वही।

पाकर राजपूतों ने फिर इसे कैसे छीन लिया इसका भी संकेत मिल चुका है। अब यहाँ केवल इतना भर कह देना है कि अनंगपाल ने जब यह देखा कि तुरुकों को निकाल बाहर करना कठिन है तब अपने आपही वहाँ से निकलकर दिल्ली में आ बसा अथवा वहाँ फिर से नगर बसाया। इस लौहस्तम्भ से उसे इतना मोह था कि इसे भी समय पाकर उखाड़ लाया और अपने मन्दिर में गड़वा दिया। उसका राज्य तो गया गजनी की शक्ति और सबल नीति से, पर उसका सम्बन्ध जोड़ा गया 'ढिल्ली किल्ली कथा' से। यह सिद्ध ही है कि सं० ११०९ में दिल्ली बसाई गई और यह भी निश्चित है कि उसी सन् १०५२ ई० में अब्दुलरशीद फिर 'नगरकोट' का स्वामी हो गया। निदान जनता को यह कहने का अवसर मिल गया कि इस तुरुष्क जय का कारण है अनंगपाल का यह अपराध। होना था सो हो गया। अब ऊहा के अतिरिक्त और क्या है?

भावुक भक्तों को यह कहने में कितनी देर लग सकती है कि यह तो भक्त * सुदामा का प्रभाव था जो उनके नाम के पर्वत और सो भी विष्णुपद पर यह स्तम्भ खड़ा किया गया। अवश्य ही वैष्णव-दृष्टि से यह एक पक्की बात है। पर भूखे पुराविदों का पेट इतने से ही तो भरने से रहा। भला भ्रष्ट वाहीकों में उसे स्थापित करने की क्या आवश्यकता थी? वहाँ तो दर्शन † भी कठिन था। नहीं, इसका भी कुछ कारण है। क्या आप भूल गए कि चन्द ने 'पहली किल्ली कथा' में क्या कहा था? यही न कि यह भूमि का प्रताप था कि 'सुसा' ने 'स्वान' को भगा दिया और उसे देखकर 'कल्हन' ने उसे अपना स्थान बनाया? तो फिर आप इसे इतिहास में क्यों नहीं ढूंढ़ते? क्या बाण ने स्पष्ट नहीं कहा कि—

"अरिपुरे च परकलत्रकामुकं कामिनीवेषगुप्तश्चन्द्रगुप्तः शकपतिमशातयत्।" (हर्षचरित, षष्ठ उच्छवास)

एवं शंकरार्य ने नहीं लिखा है कि—

"शकानामाचार्यः शकाधिपतिः चन्द्रगुप्तभ्रातृजायां ध्रुवदेवीं प्रार्थयमानः चन्द्रगुप्तेन ध्रुवदेवीवेषधारिणा स्त्रीवेषजनपरिवृत्तेन व्यापादितः।" (उसी की टीका)

तो क्या ध्रुवदेवी वेषधारी चन्द्रगुप्त 'सुसा' एवं 'शकानामाचार्यः शकाधिपतिः' उक्त 'स्वान' नहीं है? नहीं कहने को किसीमें साहस नहीं, पर इतने से ही इतिहास की गुत्थी कहाँ सुलझी? इससे न तो 'अरिपुर' का भेद मिला और न शकाधिपति का ही पता चला। पुराविदों ने खोज भी की तो उलझन बढ़ती ही गई। किसी ने 'शृंगारप्रकाश' के 'अलिपुर ‡ को ठीक माना तो किसी ने ⁑ काठियावाड़ के शकों को 'शकाधिपति' ठहराया परन्तु किसी का अनुमान अभी तक प्रमाण न हुआ। परिस्थिति तो विकट है, पर जिज्ञासा भी पंगु नहीं कि पैर तोड़कर बैठ रहे। निदान हमारा कहना है कि वास्तव में यह 'शकानामाचार्यः शकाधिपतिः' और कोई नहीं, वही लौहस्तम्भ का 'वाह्लीक' है जो समुद्रगुप्त के उपरत हो जाने पर गुप्तों पर चढ़ दौड़ा था और जिसका विनाश चन्द्रगुप्त ने बड़ी चातुरी से कर दिया। प्रतीत होता है कि पारसीक पराक्रमी शापुर द्वितीय के निधन (३७९ ई०) अथवा उसी के प्रोत्साहन से अवसर पाकर उसने ऐसा किया और समुद्रगुप्त के यश को लूटना चाहा।

हाँ, तो उदयगिरि-गुहा के लेख को ध्यान से पढ़ा जाय तो प्रत्यक्ष हो जाय कि इस घटना का काठियावाड़ अथवा शकक्षत्रप-विजय से कोई सम्बन्ध नहीं। कारण कि उसका स्पष्ट कथन है—

"तस्य राजाधिराजर्षेरचिन्त्यो (— —) मंनः। अन्वयप्राप्तसाचिव्यो व्यापृत सन्धि विग्रहः ॥३॥

---

* कल्हण ने 'राजतरंगिणी' (तृतीय तरंग) में विक्रमादित्य और मातृगुप्त के परस्पर व्यवहार विशेषतः मातृगुप्त के कश्मीर-गमन का जो चित्र खींचा है वह किसी सुदामा से कम नहीं है। इस पर्वत का यह नाम भी विचारणीय है।

† महाभारत कर्णपर्व, विशेषतः शल्य की भर्त्सना।

‡ डाक्टर भंडारकर और डाक्टर जायसवाल इसीको साधु समझते हैं। देखिए 'मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम, हिन्दू० यू० बनारस, सन् १९३२ ई०, पृष्ठ १९४.....; एवं ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १८ पृष्ठ २९।

⁑ देखिए ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १४ तथा १५ में डाक्टर अल्टेकर का लेख।

कौत्सश्शाव इति ख्यातो वीरसेनः कुलाख्यया। शब्दार्थन्यायलोकज्ञः कविः पाटलिपुत्रकः ॥४॥
कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन राज्ञैवेह सहागतः। भक्त्या भगवतः शम्भोर्गुहामेतामकारयत् ॥५॥"

'कृत्स्नपृथ्वीजयार्थेन' से आप ही प्रकट हो जाता है कि इस यात्रा का यथार्थ लक्ष्य क्या है। उधर 'राजाधिराजर्षि' पद भी उसकी प्रतिष्ठा को व्यक्त कर रहा है। यही नहीं, यहाँ यह भी स्पष्ट रहे कि उक्त लेख में 'विक्रमावक्रय क्रीतादास्य-न्यग्भूत पार्थिवा' भी कहा गया है जिसका तात्पर्य है कि अन्य सभी शासकों को अधीन कर ही यह 'कृत्स्नपृथ्वीजय' की यात्रा हुई है। कहते हैं * कि सौराष्ट्र-विजय का कार्य युवराज कुमारगुप्त ने किया था, स्वयं महाराज चन्द्रगुप्त ने नहीं। यदि यह ठीक है तो इस शक-विजय का सम्बन्ध उक्त 'शकाधिपति' से किसी प्रकार जुट ही नहीं सकता। निःसन्देह यह महाराज के अश्वमेध की यात्रा है। हाँ, यह 'राजर्षि' चन्द्रगुप्त का प्रस्थान है, स्त्रीवेषधारी कुमार चन्द्रगुप्त का नहीं।

* तो 'शकानामाचार्यः' की लीला समाप्त कहाँ हुई? कोई कवि कहता है—

"दत्त्वा रुद्धगतिः खसाधिपतये देवीं ध्रुवस्वामिनीम्, यस्मात्खण्डितसाहसो निववृते श्रीशर्मगुप्तो नृपः।
तस्मिन्नेव हिमालये गुरुगुहाकोणक्वणत्किन्नरे, गीयन्ते तव कार्त्तिकेयनगरस्त्रीणां गणैः कीर्त्तयः ॥"

(काव्य मीमांसा)

'खसाधिपति' को 'शकाधिपति' एवं 'श्रीशर्मगुप्त' को 'श्रीराम गुप्त' मान लेने में कोई अड़चन नहीं। प्रायः विद्वानों ने किया ऐसा ही है। अस्तु, इस दिशा में इतना और संकेत मिला कि उक्त घटना किसी 'कार्त्तिकेयनगर' में घटी थी जो हिमालय पर था।

डाक्टर भंडारकर ने इस 'कार्तिकेयनगर' का जो पता दिया है वह नाम की दृष्टि से बड़े महत्त्व का है और एक 'विष्णुपद' के पड़ौस में भी है। पर अब † उनके विचार में उक्त विष्णुपद 'सुदामा' पर्वत पर है जो कहीं विपासा के पास कश्मीर ‡ के निकट है। अतः अब यह नहीं कहा जा सकता कि इस 'कार्तिकेयनगर' के सम्बन्ध में वस्तुतः उनकी धारणा क्या है। फलतः इसकी यहाँ कुछ स्वतंत्र चर्चा की जाती है। हमारी समझ में वास्तव में आज का 'नगरकोट' ही कभी 'कार्त्तिकेयनगर' के नाम से प्रसिद्ध था जो मुखसुख अथवा किसी कारणविशेषवश 'नगरकोट' में परिणत हो गया। जब आस-पास के लोग आज भी 'अहमद नगर' वा 'विजया नगर' को सुविधा के लिये 'नगर' ही कहते हैं तब कभी 'कार्त्तिकेय-नगर' के लिये भी केवल 'नगर' का ही प्रयोग होता रहा हो और काल पाकर रूढ़िबद्ध हो गया हो तो इसमें आश्चर्य क्या? बचत की यह प्रवृत्ति तो घर घर गोचर होती है। निदान मानने को मन चाहता है कि वस्तुतः उक्त नगरकोट ही वह पुण्य पराक्रम-स्थान है जहाँ पर रामगुप्त किंवा श्रीशर्मगुप्त घिर गये थे। देखिए श्रीअबुल्हसन अली (१०२६ ई०) की साखी भी कुछ यही है। कहते हैं—

"रासल कफन्द का पौत्र और अयन्द का पुत्र था। रव्वाल के सिंहासन पर बैठने के पहले वह खदेड़ दिया गया था। उसके पुत्र ने रव्वाल पर चढ़ाई की। रव्वाल ने भागकर अपने भाई तथा सामन्तों के साथ एक ऊँची पहाड़ी पर शरण ली जहाँ

* इस प्रवाद के लिए देखिए 'हिस्ट्री ऑफ गुजरात'।

† डाक्टर भंडारकर ने 'विष्णुपद' को पहले (मालवीय कम्मेमोरेशन वाल्यूम सन् १९३२ में) हरिद्वार के पास माना था और वहीं कार्त्तिकेयपुर का भी पता बताया था किन्तु आगे चलकर (सन् १९३७ ई० में) उन्होंने सुदामागिरि के 'विष्णुपद' को साधु ठहराया। देखिए ज० आ० हि० रि० सु० भाग १० पृष्ठ ८६.......।

‡ महाभारत में कहा गया है—
"एतद्विष्णुपदं नाम दृश्यते तीर्थमुत्तमम्। एषा रम्या विपाशा च नदी परमपावनी ॥८॥
अत्र वै पुत्रशोकेन वसिष्ठो भगवान् ऋषिः। बन्धात्मानं निपतितो विपाशः पुनरुत्थितः ॥९॥
कश्मीरमंडलञ्चैतत् सर्वपुण्यमरिन्दम। महर्षिभिश्चाध्युषितं पश्येदं भ्रातृभिः सह ॥१०॥" (वनपर्व अ० १३०)
'कश्मीरमंडल' और 'विष्णुपद' के इस लगाव पर 'मातृगुप्त' के प्रसंग में अधिक विचार होगा।

पहले से ही एक दृढ़ दुर्ग बना था। वहाँ उन लोगों ने अपने आपको सुरक्षित समझ लिया था, पर किसी प्रकार शत्रु वहाँ भी पहुँच गया और अधिकार जमाना ही चाहता था कि रव्वाल की ओर से सन्धि का प्रस्ताव हुआ। उत्तर में कहा गया कि उक्त कन्या के साथ अन्य सामन्त पुत्रियों को भी भेज दें तो मैं उन्हें अपने सामन्तों को दे दूं और यहाँ से टल जाऊँ। रव्वाल ने व्यथित होकर अपने अन्धे मन्त्री 'सफर' से मन्त्रणा की जिसने समझाबुझाकर यह परामर्श दिया कि ऐसा कर लेना ही ठीक है। वे तत्पर हो ही रहे थे कि उनका भाई 'बरकामरिस' आ पहुँचा और प्रणाम कर प्रार्थना की कि एक ही पिता के पुत्र होने के नाते यदि उसकी भी कुछ सुनी जाय तो ठीक है। युवा समझकर उसकी उपेक्षा न की जाय। जब बात सामने आई तब प्रस्ताव किया कि उसे स्त्रीवेष में अन्य सामन्त-कुमारों के साथ शत्रु-स्कन्धावार में जाने दिया जाय। उसने यह भी कहा कि उन स्त्री-वेषधारी कुमारों को एक एक छुरा और उसे एक ढोल दे दी जाय। जब सभी कुमार सामन्तों के पास पहुँच जायँगे और वह उक्त अधिपति का काम तमाम कर लेगा तब दुन्दुभी बजा देगा और फिर क्षणभर में सारा उपद्रव शान्त हो जायगा। इधर से चट आक्रमण होगा और शत्रु मारे जायँगे। रव्वाल प्रसन्नतापूर्वक उसकी सम्मति में आ गया। परिणाम यह हुआ कि शत्रु का एक भी सवार जीता न बचा। वह वहीं मार डाला गया और उस पहाड़ से नीचे फेंक दिया गया। सभी नष्ट हो गए और फलतः रव्वाल की शक्ति बढ़ गई।" (दी हिस्ट्री ऑफ इंडिया, सर एच० एम० एलियट, प्रथम भाग, पृष्ठ ११)।

अबुल्हसन अली ने इस वृत्त को एक अरबी ग्रंथ से लिया है जो स्वयं किसी हिन्दू ग्रंथ पर आश्रित था। अरबी-लिपि-दोष के कारण नामों में परिवर्तन हो गया है तो भी 'रव्वाल' को 'रामपाल' और 'बरकामरिस' को 'विक्रमादित्य' मानने में कोई दोष नहीं। अस्तु, इस घटना से भी यही सिद्ध होता है कि स्त्री-वेषधारी चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किसी 'रासल' की सन्तान का वध किया और गुप्त-साम्राज्य का विस्तार किया।

अच्छा तो इस 'शकाधिपति' की खोज में कहीं दूर भटकने की आवश्यकता नहीं। सौभाग्य से स्व० डाक्टर जायसवाल ने इसे भी ढूंढ़ * निकाला है। उनका कहना है कि 'खुर' (नमक की पहाड़ी, पंजाब) से जो 'राजा (ति) राजमहाराज तोरमाण शाहि जौ..........' का लेख मिला है वह वास्तव में इसी 'शकाधिपति' का लेख है। उनका यह भी कहना है कि अल्बेरूनी का 'लग तोरमान' भी यही है। सचमुच डाक्टर जायसवाल का यह मत सर्वथा असाधु नहीं है। कारण कि उसमें इसके विषय में जो कुछ लिखा है वह उक्त शकाधिपति में पूरा पूरा घट जाता है। और यदि कुछ अन्तर दिखाई देता है तो उसका प्रधान कारण है अल्बेरूनी का लिखित सामग्री के अभाव में प्रवाद पर † विश्वास करना। अल्बेरूनी को इस बात का पता था कि 'नगरकोट' में उक्त सामग्री सुरक्षित है पर दुर्दैववश वह उसे देख न सका। न सही, पर इतना तो निर्विवाद है कि उसके समय में वहाँ 'पालों' का राज्य था। तो क्या यह सम्भव नहीं कि रव्वाल अथवा 'रामपाल' का 'पाल' भी इसी 'पाल' प्रभुता का प्रसाद है ? पाल की इस पकड़ के सहारे मेहरौली के लौहस्तम्भ का कुछ पता लगाया जा सकता है और यह भी बताया जा सकता है कि क्यों अनंगपाल को उससे इतनी ममता थी।

'रासो' की पहली 'किल्ली कथा' में बताया गया है कि पहले वह उसी वीरभूमि में गाड़ी गई थी जहाँ 'सुसा' ने 'स्वान' को खदेड़ दिया था। अब यहाँ यह दिखाया जा रहा है कि वास्तव में वह स्थान है नगरकोट के उत्तर 'जगतसुख' में। 'जगतसुख' के विषय में भूलना न होगा कि उसका प्राचीन नाम है 'नष्ट'‡। प्रतीत होता है कि इसी पुण्य-घटना के उपरान्त उसका नाम 'नष्ट' से 'जगतसुख' हो गया। यहाँ विशेष रूप से विचार करने की बात यह भी है कि यह भी 'नगरकोट' की भाँति ही महत्त्व का स्थान है। अनुमान से सिद्ध यह होता है कि समुद्रगुप्त के निधन पर जो बाह्लीक दौड़ आए थे उनका स्कन्धावार था यही जगतसुख और इसी जगतसुख में वाह्लीक हुए विजित और यहीं बधे गए 'शकाधिपति' और फिर यहीं

* देखिए ज० बि० ओ० रि० सु० भाग १८ पृष्ठ २०१।

† देखिए अल्बेरूनीज इंडिया, द्वितीय भाग, ई० सी सचाऊ (Sachau) सन् १९१० ई०, पृष्ठ १०-११।

‡ देखिए काँगडा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, १९१७ पृष्ठ २१; पंजाब डिस्ट्रिक्ट गजेटियर्स भाग ३० ए।

गाड़ा गया चन्द्रगुप्त का उक्त स्मारक लौहस्तम्भ जो हार जाने के कारण उखाड़कर फिर गाड़ा गया मेहरौली (मिहिर-कुल) के पास; जहाँ राजधानी बनी पालवंश की दिल्ली।

हाँ, तो अल्बेरूनी सुनीसुनाई बात के आधार पर कहता है कि 'लगतोरमान' का 'मंत्री' 'कल्ल' * पहले तो गड़ा द्रव्य पाने के कारण बड़ा प्रभावशाली हो गया, फिर सुधार के विचार से विषयी राजा तोरमान को बन्दी बना लिया किन्तु राज-सुख के प्रलोभन में पड़कर फिर स्वतन्त्र शासक हो गया। अल्बेरूनी उक्त पाल वंश को इसी ब्राह्मण-वंश की परम्परा बताता है। पर इतिहास है कुछ और ही। पाल माने गए हैं क्षत्रिय। तो इसका भी कुछ कारण होना चाहिए। आखिर उसे ऐसा भ्रम क्यों हुआ?

यहाँ, हमारी समझ में कल्हण की साखी बड़े काम की सिद्ध होती है। कहते हैं—

"हिरण्यतोरमाणाख्यौ व्यधत्तामथ तत्सुतौ। साम्राज्ययुवराजत्वभाजने रञ्जनं क्षितेः ॥१०२॥
भ्रात्राहतानां प्राचुर्यं विनिवार्यासमञ्जसम्। तोरमाणेन दीन्नाराः स्वाहताः संप्रवर्तिताः ॥१०३॥
मामवज्ञाय राज्ञेव कस्मादेतेन वल्गितम्। इति तं पूर्वजो राजा क्रोधनो बन्धने व्यधात् ॥१०४॥"
(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

तोरमाण के 'बन्धन' का कारण सामने है, पर अभी ब्राह्मण की स्थिति स्पष्ट नहीं हुई। सो विदित ही है कि—

"पितुर्बन्धेन सक्रोधं तं कालापेक्षयाक्षमम्। शिक्षयित्वा जयेन्द्रोथ कार्यशेषाय निर्ययौ ॥१२१॥
उत्पिज्जोत्पादनात् सज्जे तस्मिन्भ्रात्रा यदृच्छया। बन्धात्त्यक्तो नृतरणिस्तोरमाणोस्तमाययौ ॥१२२॥
निष्वार्य मरणोद्योगं मातुर्निर्वेदखेदितः। ययौ प्रवरसेनोथ तीर्थौत्सुक्याद्दिगन्तरम् ॥१२३॥
रक्षित्वा दशमासीनाः क्ष्मामेकत्रिंशतिं समाः। तस्मिन्क्षणे हिरण्योपि शान्ति निःसंततिर्ययौ ॥१२४॥" (वही)

परिणाम यह हुआ कि—

"अथवास्यैव सूक्तेन स्मारितोस्म्यधुना यथा। वर्तते राजरहितं काम्यं कश्मीरमण्डलम् ॥१८६॥
पात्रायास्मै महीपालान्महतोप्यर्थनापरान्। अवधीर्य मही तस्मात्सा मया प्रतिपाद्यते। ॥१८७॥
इति निश्चित्य चतुरं क्षपायामेव पार्थिवः। गूढं व्यसर्जयद्दूतान्काश्मीरीः प्रकृतीः प्रति ॥१८८॥
आदिदेश च तान्यो वो दर्शयेच्छासनं मम। मातृगुप्ताभिधो राज्ये निःशंकं सोभिषिच्यताम् ॥१८९॥" (वही)

मातृगुप्त के ब्राह्मण होने का प्रमाण है—

"पुण्यां वाराणसीं गत्वा तस्माच्छमसुखोन्मुखः। इच्छामि सर्वसंन्यासं कर्तुं द्विजजनोचितम् ॥२९७॥" (वही)

सारांश यह कि कल्हण के कथनानुसार 'हिरण्य' और 'तोरमाण' में परस्पर ठन गई तो 'पूर्वज' हिरण्य ने अनुज तोरमाण को बन्दी बना लिया। जब वर्षों के बाद उसे छोड़ा भी तब वह उससे पहले ही चल बसा। हिरण्य भी निःसन्तान मरा। इस प्रकार कश्मीर का सिंहासन सूना हो गया तो शकारि विक्रमादित्य ने कवि मातृगुप्त को वहाँ का शासक बनाया जो अन्त में विरक्त हो गया और वाराणसी की ओर चला गया।

मातृगुप्त और विक्रमादित्य के सम्बन्ध पर विचार करने के प्रथम ही 'तोरमाण' का स्पष्टीकरण हो जाय तो ठीक। कल्हण के कथन से व्यक्त होता है कि वस्तुतः कश्मीर विक्रमादित्य के अधीन था और इसीलिये उन्हें उसके प्रबन्ध की चिन्ता करनी पड़ी। यदि यह ठीक है तो इसीके आधार पर इतना और भी कहा जा सकता है कि यह वास्तव में सम्राट् विक्रमादित्य की नीति का प्रसाद था कि एक ही राज्य के दो राजा बना दिए गए थे जो परस्पर भिड़ गए थे। विक्रमादित्य की इस

* इसे 'कल्लर' भी कहा गया है। अरबी-लिपि में नामों का ठीक ठीक लिखा जाना असम्भव है। रासो के 'कल्हन' से तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है?

तोड़-नीति का कारण था उक्त राज्य का शक-संग्राम में योग देना। अल्बेरूनी ने जो 'लग तोरमान' लिखा है वस्तुतः वह है लघु तोरमाण'। इस 'लघु' * का 'लग' रूप आज भी देखने में आता है। 'हिरण्य' के अनुज का यह नाम कैसे पड़ा यह कैसे कहा जा सकता है पर इतना तो भासता ही है कि राजातिराज तोरमाण से इसका कुछ सम्बन्ध अवश्य था। प्रतीत होता है कि उक्त शकाधिपति के वध के उपरान्त ही कुशल चन्द्रगुप्त ने उक्त देश को द्विराज† में विभक्त कर दिया और जब उसका कोई अधिकारी नहीं रह गया तब ब्राह्मण मातृगुप्त को उसका राज्य मिला।

मातृगुप्त के शासन का शीघ्र ही अन्त हो गया। बात यह है कि तोरमाण की पत्नी इक्ष्वाकु ‡ कुल की कन्या थी। संघर्ष के समय एक कुलाल के घर में शरण ली और वहीं प्रवरसेन को जन्म दिया। प्रवरसेन तीर्थयात्रा में था। जब उसे कश्मीर का समाचार मिला तब उसे फिर राज्य की चिन्ता हुई और

"त्रिगर्तानाँ भुवं जित्वा स व्रजन्नथ भूपतिः। विक्रमादित्यमश्रृणोत्कालधर्ममुपागतम् ॥२८४॥
तस्मिन्नहनि भूभर्त्रा शोकान्निःश्वसतानिशम्। नास्नायि नाशि नास्वापि स्थितेनावनताननम् ॥२८६॥
अन्येद्युर्भुवमुत्सृज्य कश्मीरेभ्यो विनिर्गतम्। शुश्राव मातृगुप्तं स नातिदूरे कृतस्थितिम् ॥२८७॥ (वही)

'त्रिगर्त' की राजधानी 'नगरकोट' (?) में प्रवरसेन को समाचार मिला कि मातृगुप्त 'जगतसुख' ‡‡ (?) में पड़ाव डाले हैं। फिर तो दोनों नरपुंगवों में जो बातचीत हुई सो हुई ही। परिणाम उसका यह रहा कि—

"अथ वाराणसीं गत्वा कृतकाषायसंग्रहः। सर्वं संन्यस्य सुकृती मातृगुप्तोभवद्यतिः ॥३२०॥
राजा प्रवरसेनोपि कश्मीरोत्पत्तिमञ्जसा। निखिलां मातृगुप्ताय प्राहिणोद्दृढनिश्चयः ॥३२१॥
स हठापतितां लक्ष्मीं भिक्षाभुक्प्रतिपादयन्। सर्वार्थिभ्यः कृती वर्षान्दश प्राणानधारयत् ॥३२२॥" (वही)

कल्हण इस त्रयी के उपसंहार में किस उल्लास से कहते हैं—

"अन्योन्यं साभिमानानामन्योन्यौचित्यशालिनाम्। त्रयाणामपि वृत्तान्त एष त्रिपथगापयः ॥३२३॥" (वही)

---

* ध्यान देने की बात है कि 'लग' का प्रयोग आज भी उक्त प्रदेश के लिए पाया जाता है। देखिए उक्त काँगड़ा गजेटियर का चित्र नं० १। 'नगर' और 'जगतसुख' इसी प्रदेश में हैं।

† इस नीति के लिए देखिए कालिदासकृत 'मालविकाग्निमित्र' में राजा का कथन—
"मौद्गल्य! तत्रभवतोर्भ्रात्रोर्यज्ञसेनमाधवसेनयोर्द्वैराज्यमवस्थापयितुकामोऽस्मि" (अं० ५, प० २३ के पूर्व)

‡ इसके लिए देखिए वाल्मीकी रामायण का 'पितृपैतामहीं पुण्यां तेरुरिक्षुमतीं नदीम्।" स्मरण रहे, यह सुदामा पर्वत के पहले का प्रदेश है। फलतः यहीं से त्रिगर्त पर प्रवरसेन का आक्रमण हुआ होगा। राजतरंगिणी में उसके मामा का उल्लेख है ही।

‡‡ मातृगुप्त ने विक्रमादित्य के निधन का समाचार सुना तो काशीवास के लिए चल पड़ा। विदित होता है कि इसी यात्रा में वह लौह लेख लिखा गया जो आज मेहरौली में विराजमान हैं। मातृगुप्त की इस समय जो स्थिति थी और जिस परिस्थिति में विक्रमादित्य का अन्त हुआ था उसको सामने रखकर उक्त लेख का अध्ययन करें तो सारा रहस्य आप ही खुल जाय। मातृगुप्त कहते भी हैं—

'यन्ममोपकृतं तेन तद्विना प्रत्युपक्रियाम्। जीर्णमेवाधुनांगेषु प्रभवत्वेष निश्चयः ॥३१६॥
या गतिर्भूभुजोमुष्य मया तामनुगच्छता। पात्रापात्रविवेक्तृत्वख्यातिर्नेया प्रकाशताम् ॥३१७॥
एतावत्येव कर्तव्ये यातेस्मिन्कीर्तिशेषताम्। भोगमात्रपरित्यागाद्विदध्यां सत्यसंधताम् ॥३१८॥"

(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

सब की तो नहीं पर अपनी जानते हैं कि मेहरौली का लौह स्तम्भ इसी मुख से बोल रहा है। तनिक 'ख्याति' और 'कीर्ति' पर ध्यान तो दें फिर कहें कि आपका पक्ष वास्तव में क्या है?

अस्तु, अब इस मातृगुप्त की भी थोड़ी चिन्ता होनी चाहिए क्योंकि यह कहता है—

"मातृगुप्तस्ततोवादीत्कोपस्मितसिताधरः। अस्मानुत्सहते कश्चिन्नापकर्तुं बलाधिकः॥२९३॥
नयता गण्यतामस्मानन्तरज्ञेन तेन हि। न भस्मानि हुतं सर्पिर्नोप्तं वा सस्यमूषरे॥२९४॥" (वही)

इस मधुर फटकार का प्रवरसेन पर प्रभाव यह पड़ा कि वह गुप्त-वंश का आजीवन मित्र बन गया और—

"वैरिनिर्वासितं पित्रे विक्रमादित्यजं न्यधात्। राज्ये प्रतापशीलंस शीलादित्यापराभिधम्॥३३०॥
सिंहासनं स्ववंश्यानां तेनाहितहृतं ततः। विक्रमादित्यवसतेरानीतं स्वपुरं पुनः॥३३१॥ (वही)

मातृगुप्त, प्रवरसेन और विक्रमादित्य के इस इतिहास पर पुराविदों ने विचार तो किया पर वह सर्वथा साधु न ठहरा। डाक्टर भाऊदाजी ने 'मातृगुप्त' को जो कालिदास सिद्ध किया था उसका * खंडन तो हो गया पर उससे यह सिद्ध कैसे हो गया कि वस्तुतः 'मातृगुप्त' 'कालिदास' से सर्वथा भिन्न थे। नहीं, यह हो नहीं सकता। मातृगुप्त निश्चय ही कालिदास हैं। मेहरौली के लौह स्तम्भ पर जो 'खिन्नस्य' का व्यवहार हुआ है यथार्थतः वह इसी खिन्नता का द्योतक है और इसी पड़ाव में लिखा भी गया है।

मेहरौली के लौहस्तम्भ के लेख को विशेष महत्त्व देने का कारण अब प्रकट होता है और अब टूटता है उसका २५ वह पिनाक जो इतने दिनों से विद्वानों को भरमा रहा है। कहते हैं 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिकाः' का अर्थ है—"येन सिन्धोः सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे वाह्लिकाः जिताः"। निवेदन है, नहीं। इसका सीधा अन्वय है—'येन सप्तमुखानि तीर्त्वा समरे सिन्धोः वाह्लिका जिताः।' आप कहेंगे—अर्थ? सो उसे भी देख लीजिए।

कहना न होगा कि आज तक विद्वानों ने जो 'सिन्धोः सप्तमुखानि' को साधु मानकर अर्थ किया है वह 'सिन्धु' के निकलने से 'गिरने' तक दौड़ता रहा है। नदी अपने 'नायक' समुद्र से मिलने जाती है। अतः जहाँ समुद्र से मिलती है वही उसका मुख कहा जाता है। किन्तु यहाँ इस 'मुख' से काम नहीं चलता। सिन्धु के इस 'सप्तमुख' में 'वाह्लीक' कब रहे? 'शक सत्रप' को भी तो लोग ठीक नहीं मानते? नहीं, 'सप्तमुखानि' का अर्थ 'गिराव' नहीं 'निकास' है। यहाँ 'मुख' का वही अर्थ है जो 'पंचमुख' या 'निशामुख' में 'मुख' का। किन्तु नदी के अर्थ में यह प्रचलित तो नहीं है? निष्कर्ष यह कि 'सप्तमुखानि' को पकड़ो तो 'वाह्लिकाः' दूर भाग जाता है और 'वाह्लिकाः' को घेरो तो 'सप्तमुखानि' अलग छूट जाता है। दोनों

* वस्तुतः उक्त डाक्टर महोदय के तर्क का ही खंडन किया गया है उनकी स्थापना का नहीं। हम स्वयं उक्त तर्कों से सहमत नहीं हैं और इस प्रवरसेन को 'सेतुबन्ध' के रचयिता प्रवरसेन से सर्वथा भिन्न मानते हैं। वाकाटक प्रवरसेन और दूत कालिदास का विचार हो चुका है। अब 'गोनन्द' प्रवरसेन एवं 'महाराज' कुमारगुप्त पर विचार करना है। सो इसके सम्बन्ध में सीधीसी बात यह है कि 'मातृगुप्त' ने कभी अपने आपको कश्मीर का शासक नहीं समझा। उन्होंने वहाँ जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य की ओर से ही किया और तभी तक राज्य किया जब तक वे जीवित रहे। तत्पर्य यह कि उन्होंने जो कुछ किया सम्राट् विक्रमादित्य के अनुरूप किया। यही कारण है कि उन्होंने 'मधुसूदन' का मन्दिर बनवाया शिव का नहीं। कहा जा सकता है कि फिर उसका नाम 'मातृगुप्त' क्यों रखा। निवेदन है, यह नाम भी तो उसी वंश का है। इसे भी आप उसी रूप में ग्रहण क्यों नहीं करते? यह भी तो सम्राट् का ही अंश है? एक बात और 'प्रबन्ध चिन्तामणि' से विदित होता है कि कालिदास वस्तुतः 'पशुपाल' थे। 'वररुचि' की धूर्तता से उनका विवाह विक्रमादित्य की 'सुताप्रियंगुमंजरी' से हो गया। फिर किस प्रकार कालिका की उपासना से वे कवि बने, इससे यहाँ प्रयोजन नहीं। यहाँ तो बस इतना भर निवेदन करना है कि उनकी घनिष्टता यहाँ तक फैल चुकी है। निदान यह मानने में कोई भी आपत्ति नहीं कि अवश्य ही मातृगुप्त कालिदास हैं। इस प्रसंग के लिए देखिए 'प्रबन्ध चिन्तामणि' सिंघी जैन ग्रन्थमाला, शान्ति-निकेतन बंगाल, सन् १९३३ ई० पृष्ठ ३-५।

की संगति बैठती नहीं। इसमें तो सन्देह नहीं कि 'येन वाह्लिकाः जिताः' ही इसमें मुख्य वाक्य है और यही मुख्य कर्म भी। सो 'वाह्लिकाः' पर ही विद्वानों को विशेष विचार करना था और यह भी तुरन्त देख लेना था कि उसका सिन्धु से क्या सम्बन्ध है। किन्तु उन्होंने ऐसा कुछ किया नहीं और 'सिन्धोः सप्तमुखानि' के चक्कर में जाने कहाँ भटकते रहे।

वाह्लिका के विषय में यह पहले भी कहा जा चुका है कि 'बलख' तो उसका मूल है किन्तु 'वाहीक' उसका उपनिवेश बन गया है। वाह्लीक, बाल्हीक, वाह्लिक आदि शब्दों के प्रयोग पर कुमारी * पद्मा मिश्रा ने जो छानबीन की है उससे प्रकट है कि आगे चल तीनों पर्याय हो गए हैं और वाह्लीक में ही बाह्लीक भी आ गए हैं। यहाँ दिखाया यह जाता है कि इसी उपनिवेश का संकेत भरतमुनि के नाटचशास्त्र में इस प्रकार आया है—

"हिमवत्सिन्धुसौवीरान्ये जनाः समुपाश्रिताः। उकारबहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥"

(नाटचशास्त्र, १७-३२ गा० ओ० सी०)

अथवा—"वाह्लीकभाषोदीच्यानां खसानां च स्वदेशजा।" (नाटचशास्त्र, १७-५३ गा० ओ० सी०)

कहने का तात्पर्य यह कि उक्त लौह-स्तम्भ का 'वाह्लिकाः' और कुछ नहीं यही वाह्लिका है। अब आपके सामने दो वाह्लीक हैं जिनमें से एक तो 'बलख' और दूसरा पंचनद अथवा 'वाहीक' में है। इन दोनों में भेद उत्पन्न करने का भला इससे सुगम मार्ग और क्या होगा कि इसे 'सिन्धोः' से बाँध दिया जाय जिससे किसीको तनिक भी भ्रम न हो कि कहाँ के 'वाह्लीक'? अवश्य ही कवि को यही 'सिन्धोः वाह्लिकाः' इष्ट है।

'सिन्धोः' का खुला अर्थ है सिन्धु प्रदेश का। उसी सिन्धु प्रदेश का जिससे 'हिन्दु' बना है और बना है जिससे 'सैन्धव' जिसका अर्थ होता है 'लवण' और 'अश्व'। अर्थात् इस 'सिन्धोः' से यह भी प्रकट हो गया कि कहाँ का कौन जीता गया। खुर ('नमक की पहाड़ी') से जो 'राजा (ति) राज महाराज तोरमाण शाहि' का लेख मिला है वस्तुतः वही 'सिन्धोः वाह्लिकाः' का प्रतीक है। इस 'सिन्धु' को 'सिन्ध' समझना भारी भूल है।

अच्छा, तो 'सप्तमुखानि' का गुर भी जान लीजिए। 'समर' के प्रसंग में 'सप्तमुखानि' का अर्थ होगा—

"स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा। सप्तप्रकृतयोह्येताः सप्तांगराज्यमुच्यते ॥" (मनुस्मृति ९-२९४)

और 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' का संकेत होगा बिना 'राजा, मंत्री, पुर, राष्ट्र, कोश, दंड और मित्र' के। यही क्यों? इनको भी तो उसे पार करना पड़ा? कितनी विलक्षण बात है। कोई वीर 'समर' में जाने को उद्यत है। राज्य का 'सप्तमुख' उसके प्रतिकूल है। प्रेम का पारावार सामने उमड़ रहा है। किन्तु वाह रे वीर; तुमने सब की अनसुनी कर 'साहस' और 'सूझ' से ऐसा काम लिया कि 'स्मर' को 'समर' बना दिया और विवेक का ऐसा हाथ मारा कि वैरी का शिर कहीं और धड़ कहीं, और तभी तो तेरा राजकवि भी बोल उठा 'तीर्त्वा सप्तमुखानि'। किन्तु क्या तेरा वैरी कोई एक ही था कि हत कर मैदान मार लेता? नहीं। उसके तो सप्तांग थे। निदान 'समरे जिताः वाह्लिकाः'। सो कहाँ के वाह्लीक? बस, इसी सिन्धु के। अतः 'सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिकाः'। निदान कवि ने उल्लास में आकर 'प्रगटत दुरत' लिख ही तो दिया, 'तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे सिन्धोर्ज्जिता वाह्लिका।'

तो क्या फिर भी जानना चाहते हैं कि वह अनुपम साहसी वीर है कौन? मेहरौली का लौह-स्तम्भ आज भी उसे 'चन्द्र' ही बता रहा है। कारण अब वह 'गुप्त' नहीं, रक्षक नहीं, भस्म होकर नामशेष रह गया है और उसका राजकवि भी विरक्त होकर 'काशीवास' को चल पड़ा है। वह इस वीर के विषय में अधिक नहीं लिख सकता। वह 'विवरण' का भक्त नहीं व्यंजना का विधाता है। उस वीर के विषय में कुछ और जानने के लिए उसके साथी विशाखदत्त से पूछ देखो। वह कभी का 'देवीचन्द्रगुप्तम्' में सारा चिट्ठा खोल चुका है। फिर कालिदास उसी का पचड़ा क्यों गाएँ और क्यों न बूंद में समुद्र को भरदें?

---

* इंडियन कल्चर, भाग ८, अंक १, पृष्ठ ८५-८९। पर्याप्त प्रमाणों से 'वाह्लीक' में 'बाह्लीक' सिद्ध किया गया है और दोनों को महाभारत में पर्यायसा बताया गया है। स्वयं पंजाब में दो बाह्लीक देश दिखाए गए हैं।

अच्छा तो उस वीर की प्रतिज्ञा है—

"सद्वंशान्पृथुवंशविक्रमबलान्दृष्ट्वाद्भुतान्दन्तिनः। हासस्येव गुहामुखादभिमुखं निष्क्रामतः पर्वतात् ॥
एकस्यापि विधूतकेसरजटाभारस्य भीताः मृगाः। गंधादेव हरेर्द्रवन्ति वहवो वीरस्य किं संख्यया ॥"

फलतः 'सप्तमुखानि तीर्त्वा' उसने 'सिन्धु के वाह्लीकों को जीत लिया' और विश्व में 'साहसांक' और 'सिंहचन्द्र' आदि अनेक वीर विरुदों से विख्यात हुआ। मेहरौली का लौहस्तम्भ और कुछ नहीं, उसीकी कर्मलीला को समेटकर आज भी इस दिव्य भूमि में किसी से कुछ कहने को खड़ा है। पर उसकी सुनने के कान कहाँ ?

"तीर्त्वा सप्तमुखानि येन समरे" का अर्थ "येन समरे सप्तमुखानि तीर्त्वा" करके भी लगाया जा सकता है परन्तु 'देवीचन्द्रगुप्तम्' से लेकर आज तक जो सामग्री इस विषय की उपलब्ध हुई है उसके आधार पर उक्त अर्थ ही साधु तथा समीचीन समझा गया है और इससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि क्यों कालिदास को ही शकारि विक्रमादित्य ने कश्मीर का शासक बनाया और क्यों कालिदास ने वहाँ 'मातृगुप्त' के नाम से शासन किया। कल्हण ने राजतरंगिणी में इसके बारे में जो कुछ लिखा है वह इतना स्पष्ट है कि बरबस कालिदास को ही 'मातृगुप्त' मानने को जी चाहता है। मातृगुप्त पर विक्रमादित्य के वियोग का कितना गहरा प्रभाव पड़ा वह इसी से चट जान लिया जाता है कि उनके निधन की सूचना मिली नहीं कि मातृगुप्त ने गुप्तता का बाना उतार दिया और तुरन्त धारण कर लिया संन्यासी का वेश। तपस्वी प्रवरसेन समझाता ही रह गया पर मातृगुप्त के भरे कानों ने उसकी एक न सुनी और वह मार्ग दिखाया जिससे उसकी आँख खुल गई और वह गुप्त-वंश के वैरी से पक्का मित्र बन गया और संकट के समय उसका साथ भी भरपूर दिया। मातृगुप्त का यह उपकार उसीकी समझ में घर कर सकता है जिसने कालिदास को अति निकट से देखा तथा उनके दूतकर्म को दूर से पहचान लिया है। समझ में नहीं आता कि लोग फिर भी कालिदास को मातृगुप्त क्यों नहीं मानते और न जाने किस इतिहास की दुहाई दे उन्हें इधर से उधर फेंक देते हैं। अरे कश्मीर का शासन उसी को तो सौंपा जायगा जो हाथ चलाने की अपेक्षा बुद्धि चलाना अधिक जानता हो और अपनी वाणी में वह विलास भी रखता हो जो आग को पानी बना दे। कहना न होगा कि उस समय यह क्षमता उसी और केवल उसीमें थी जिसने दक्षिणापथ को चन्द्रगुप्त के आतंक से लहरा दिया था और रक्त की बूंद नाम को भी न गिरी थी। हाँ, कश्मीर के शासन में भी उसने यही किया और उसे छोड़ते छोड़ते अपनी बात तथा अपने व्यवहार से उस वीर को गुप्तवंश का परम मित्र बना लिया जो वस्तुतः वा जन्मतः उसका परम शत्रु था और बड़े वेग से उसकी सीमा में आ घुसा था। बस यही कालिदास के दूतकर्म की अन्तिम झलक है। उनके दस वर्ष के शेष जीवन से यहाँ कोई प्रयोजन नहीं और प्रयोजन नहीं उस वेश्या-विलास * से जिसके कारण उनका विनाश बताया जाता है। नहीं वह कोई और ही कालिदास होगा, किसी विक्रमादित्य का दूत कालिदास नहीं। इस कालिदास का रूप तो यह है—

"गुणी च दृष्टकष्टश्च वदान्यश्च स पार्थिवः। विक्रमादित्यतोप्यासीदभिगम्यः शुभार्थिनाम् ॥२५८॥
विवेचकतया तस्य श्लाघ्या सुरभीकृताः। लक्ष्मीविलासाः क्ष्माभर्तुरशोभन्त मनीषिषु ॥२५९॥
(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

* 'भोजप्रबन्ध' की तो बात ही छोड़िए 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह' में भी कहा गया है—

"अथ कुमारसम्भव महाकाव्ये नवभिः सर्गैः शृंगारसुरतवर्णनकुपितयोमया कालिदासकवेः शापो दत्तः। यत्-त्वं स्त्रीव्यसनेन मरिष्यसि। तेन वेश्याव्यसनी बभूव। राज्ञा श्रीविक्रमेण व्यसनिनं मत्वा तिरस्कृतः।"
(सिंघी जैन ग्रन्थमाला, सन् १९३६, ई०, पृष्ठ १००)

कालिदास की मृत्यु का सम्बन्ध जिस 'समस्या' पूर्त्ति से माना जाता है वह भिन्न भिन्न बताई गई है। एक कथा में तो उसका सम्बन्ध सिंहल के कुमारदास से भी जोड़ा गया है। कल्हण के विरक्त 'यती मातृगुप्त' का अन्त कैसे हुआ, इसे हमने नहीं देखा, पर जिस वेश्या-व्यसन के कारण कालिदास की हत्या हुई वह 'शाप' का परिणाम था लिप्सा का प्रतिफल नहीं। कालिदास ने यहाँ भी अपना करतब ही दिखाया था पर कञ्चन ने कञ्चनी को जीत लिया। तो क्या यह सच है ?



कालिदास का दूत-कर्म

विवादी बोल उठेगा 'मातृगुप्त' 'कालिदास' क्यों? उत्तर होगा—कल्हण की परम्परा ही कुछ ऐसी है। देखिए न वहाँ विक्रमादित्य का नाम क्या है। कहते हैं—

"तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान्हर्षापराभिधः। एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥१२५॥

(राजतरंगिणी, तृतीय तरंग)

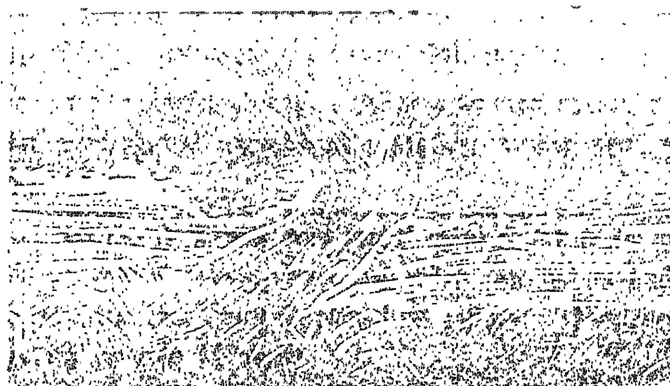
तथा उनके आत्मज हैं—"राज्ये प्रतापशीलं स शीलादित्यापराभिधम्।"।

अस्तु, हमारा कहना है कि यदि 'विक्रमादित्य' का नाम कल्हण के यहाँ 'हर्ष' एवं उनके आत्मज 'कुमार गुप्त' का 'प्रतापशील' वा 'शीलादित्य' है तो उसी न्याय और उसी संग से कालिदास का नाम भी 'मातृगुप्त' है। हमको तो इस मान्यता में कोई छिद्र नहीं दिखाई देता, औरों की राम जाने।

देखिए तो सही विधि की विडंबना अथवा दैव का दुर्विपाक कि जिस कालिदास ने अपनी वचन-चातुरी, वाग्पटुता और दूरदर्शिता से अपनी प्रतिभा के बल पर इतना कुछ किया और जीवनभर विक्रमादित्य के पुरुषार्थ का सारथी रहा वही आज पंडितों की मंडली में विलासी ही नहीं घोर लम्पट बना और जाने क्या क्या भड़ौआ करता रहा। कुशल यही रही कि इतने पर भी उसकी निपुणता मारी नहीं गई और राजा भोज की भरी सभा में भी विवश हो कवि 'बाण' को कहना ही पड़ा—

"समे भवंतः सर्व एव कवयः विषमे स्थाने तु स एक एव कविः।" (भोजप्रबन्ध, द्वादश प्रबन्ध)

क्रान्तदर्शी कवि कालिदास! तू धन्य है कि विरोधी भी तेरा लोहा मान रहे हैं और विपक्षी भी तेरा गुण गा रहे हैं। किन्तु, भारत वसुन्धरे! तुझे अपने इस अनुपम रत्न की भी कुछ सुधि है? यदि होती तो तेरी यह दशा ही क्यों होती!



कालिदास का काव्य-वैभव

श्री सेठ कन्हैयालाल पोद्दार

कालिदास अनुपम प्रतिभाशाली महाकवि थे। काव्य-रचना के लिए कवि में शक्ति (प्रतिभा), निपुणता और अभ्यास का होना परमावश्यक है। कालिदास में ये तीनों ही बातें पूर्ण रूप में विद्यमान थीं। काव्य-शक्ति उनमें यहाँ तक थी कि रचना के समय उनको सुमधुर भाव-व्यञ्जक शब्दों को स्मरण करने की आवश्यकता न रहती थी—तादृश शब्द-समूह प्रयोग के लिए उनके सम्मुख स्वयं उपस्थित रहते थे। निपुणता और अभ्यास का साक्ष्य तो कालिदास के ग्रन्थ ही प्रत्यक्ष दे रहे हैं। उनका सभी शास्त्रीय विषयों में असाधारण अधिकार था। उनके ग्रन्थों में वेदवेदान्त*, न्यायमीमांसा†, सांख्य‡, योग‡, आयुर्वेद†, धर्मशास्त्र*, ज्योतिष॰, कामशास्त्र§, नाटचशास्त्र¶ और राजनीति॰ एवं पदार्थविज्ञान§ आदि सभी विषयों के वर्णन मिलते हैं। ललितकला और लोक-व्यवहार का वर्णन तो प्रायः अनेक स्थलों में कालिदास ने बहुत ही सुन्दर किया है। प्रकृति के सम्पूर्ण चित्ताकर्षक दृश्य उनको अपनी प्रतिभा के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते थे। कालिदास के काव्य के महत्त्व-सूचक आनन्दोद्गार अनेक काव्य-मर्मज्ञ रसानुभवी विद्वानों और महाकवियों ने निकाले हैं। प्रकृति-वैचित्र्य के वर्णन में अग्रगण्य कादम्बरी प्रणेता श्रीबाणभट्ट ने कहा है—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु, प्रीतिर्मधुरद्राक्षासु मञ्जरीष्विव जायते ।†" हर्षचरित

---

* कुमारसंभव २।१२, २।१४, ३।१५, रघुवंश १५।७६। † रघुवंश १३।१। ‡ कुमार संभव २।१३। ‡ रघुवंश १३।५२, कुमार संभव ३।५८। † मेघदूत पूर्वमेघ १३। कुमार संभव २।४८, मालविकाग्निमित्र ४।४। * रघुवंश १।१८, कुमार संभव ७।८४, शाकुन्तल ६।७। ॰ कुमार संभव २।३२, ३।४३, ७।६, ७।१, रघुवंश ३।१३।। § देखो कामसूत्र कन्या संप्रयुक्त २०३।५ और २३६, २३७, शाकुन्तल कण्वाश्रम में दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ व्यवहार तथा ४।१७। ¶ भरत नाटचशास्त्र में नृत्याभिनय और मालविकाग्निमित्र में। ॰ पञ्चागाभिनय ३।६। § कुमार ३।६७, ४।४४।

† इसका भावार्थ यह है—आम्रमञ्जरी के सदृश मधुर एवं सरस कालिदास की सूक्तियों के रसास्वादन से किसके हृदय में आनन्दानुभव नहीं होता है।

कालिदास का काव्य-वैभव

महान् साहित्याचार्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य ने कहा है—

"अस्मिन्नतिविचित्र कविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषावा महाकवलयइति।"—ध्वन्यालोक

अर्थात् काव्य-संसार के गणमान्य दो चार महाकवियों में सर्व प्रथम कालिदास का ही नामोल्लेख किया है। केवल पूर्वकालीन ही नहीं, आधुनिक भी सुप्रसिद्ध साहित्यानुभवी कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, श्री अरविन्द घोष और श्री राजेन्द्र-लाल राय जैसे महान् आलोचक अनेक विद्वानों ने अपने ग्रन्थों और निबन्धों में कालिदास के काव्यों की विस्तृत आलोचनाओं में सर्वोच्च विचार प्रकट किये हैं। कालिदास की पीयूष-प्रवाहिनी सरस्वती ने अपने रसास्वादन से यूरोपीय सुप्रसिद्ध विद्वानों को भी विमुग्ध कर दिया है। जर्मनीय कविशेखर गेटी (Goethe) सुप्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता हंबोल्ड (Alexunder Vor Humboldt) एवं श्लेजल आदि समालोचकों ने कालिदास के काव्य का केवल अनुवाद रूप में आस्वादन करके आनन्दोद्रेक से शिरःकम्पन किया है। इसीसे कालिदास का सार्वभौम कविराज होना सिद्ध है। केवल मेघदूत के विषय में पाश्चात्य विद्वानों ने अपने यूरोपीय साहित्य के किसी काव्य को उसकी तुलना के योग्य नहीं माना है।

और भी अनेक पाश्चात्य उच्च श्रेणी के विद्वानों ने मुक्त कण्ठ से अपने अपने आनन्दोद्गार निकाले हैं, जिनके द्वारा द्वादश शताब्दी के कविवर सोडरल की यह उक्ति कि 'कालिदास की काव्यसुधामयी कीर्ति समुद्र के परले पार तक पहुँच गई है' सत्य चरितार्थ हो रही है।

"ख्यातः कृती सोऽपि च कालिदासः शुद्धा सुधा स्वादुमती च यस्य।
वाणीमिषाच्चण्डमरीचिगोत्रसिन्धोः परं पारमवाप कीर्तिः॥"

कालिदास क्यों आसमुद्रान्त सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं? उनमें ऐसे क्या अलौकिक गुण थे? उनकी उपमादि अलंकारों की कल्पनाओं में क्या अनुपम चमत्कार है? उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दावली कैसी श्रवण-सुखद और प्रसाद-गुणालंकृत है? उक्ति में क्या अर्थ-गौरव और गाम्भीर्य है? सृष्टि-वर्णन में कैसी सूक्ष्मदर्शिता है? उनके काव्य-गह्वर के अन्तर्गत कैसे सदुपदेशात्मक रत्न छिपे हुए हैं? इनपर प्रकाश डालने के लिए कालिदास के ग्रन्थों के अवतरणों के लिए स्थान-संकोच के कारण यहाँ केवल मेघदूत के कुछ अवतरण दिये जायँगे। इसके प्रथम मेघदूत का संक्षिप्त रूप में कुछ परिचय कराया जाना हम उपयुक्त समझते हैं।

कालिदास का मेघदूत—संस्कृत साहित्य में मेघदूत आबाल-वृद्ध प्रसिद्ध है। मेघदूत दो भागों में विभक्त है, पूर्वमेघ और उत्तरमेघ। पूर्वमेघ में अलकाधीश कुबेर ने अपने एक यक्ष द्वारा कुछ अपराध किये जाने पर उसे एक वर्ष तक के लिए अलका से निर्वासित कर दिया, तब वह यक्ष रामगिरि नामक पर्वत पर जाकर रहने लगा। कुछ समय बाद वर्षाकाल के प्रारम्भ में उसने वर्षाकालीन मेघमण्डल का कामोद्दीपक दृश्य देखा तो वह अपनी प्रियतमा के वियोग में और भी अत्यन्त विकल हो गया और उसने अपनी विरहिणी प्रिया के समीप सन्देश भेजना चाहा, किन्तु रामगिरि से हिमालयान्तर्गत अलका तक सन्देश भेजने का और कोई साधन न देखकर विरह-विधुर यक्ष विचार-शून्य होकर आकाशस्थित अचेतनमेघ द्वारा ही सन्देश भेजने को उद्यत हो गया, और उससे इस कार्य के लिए प्रार्थना करने लगा। महाकवि कालिदास ने इस प्रकार मेघदूत का प्रारम्भ करके यक्ष द्वारा पूर्व मेघ की समाप्ति तक रामगिरि से अलका तक के वर्षाकालिक मार्ग का वर्णन कराने के पश्चात् नगाधिराज हिमालय के हिमवेष्टित गगनचुम्बी उत्तुंग शिखरस्थ अलका के मनोहारी दृश्य का वर्णन कराया है। तदनन्तर उत्तर मेघ में कवि ने यक्ष द्वारा अलकापुरी के अलौकिक सौन्दर्य का, यक्ष के रमणीय निवासगृह और उसकी वियोगसन्तापिता पत्नी की विरहावस्था का वर्णन कराने के बाद अन्त में यक्ष द्वारा उसकी प्राणप्रिया को कहने के लिए सन्देश कहलाया है। बस इसी के अन्तर्गत कालिदास ने प्रावट् कालीन मेघमण्डल से प्रभावित होनेवाले प्राकृतिक दृश्यों के नयनाभिराम विचित्र चित्र दृष्टिपथ कराये हैं, और पुराणेतिहासों में पर्वत, नदी और पवित्र स्थान जो भगवान् श्रीरामचन्द्र, सीता देवाधिदेव शंकर और कार्तिकेय आदि के सम्बन्ध से अद्यापि प्रसिद्ध हैं एवं हिमालय प्रान्त के जो विचित्र दृश्य हैं उनका यथावत् शब्द-चित्र अंकित कर दिया है। विशेषतः उज्जयिनी और

अलका के मनोहर वर्णन द्वारा इस छोटे से खण्ड-काव्य की सुषमा में निरुपम अभिवृद्धि हो गई है। यक्ष पत्नी की विरहावस्था तथा यक्ष के सन्देश का विप्रलम्भ शृंगारात्मक कारुणिक वर्णन सहृदयों के चित्त को एक बार ही द्रवित कर देता है। सत्य तो यह है कि इस प्रकार कल्पना की आनन्दमयी सृष्टि में यथेष्ट विहार करने का अधिकार मेघदूत के जैसे कवि का ही हो सकता है।

कवीन्द्र कालिदास ने यौवन के उद्यान में क्रीडासक्त यक्षदम्पती को नायक और नायिका कल्पना करके प्रधानतया उनके विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद हैं—अभिलाषा-हेतुक, ईर्ष्याहेतुक, विरह-हेतुक, प्रवास-हेतुक और शाप-हेतुक। मेघदूत में शाप प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ का वर्णन है। कविकुलगुरु कालिदास की अभिरुचि शाप-प्रवास-हेतुक विप्रलम्भ के वर्णन में अधिक देखी जाती है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय में भी उन्होंने विशेषतया इसी का वर्णन किया है। दाम्पत्य स्नेह के उन्नत भाव-गर्भित विप्रलम्भ शृंगार के वर्णन में संस्कृत साहित्य के सिद्ध-हस्त दो ही कवि सर्वोच्च हैं, एक कालिदास और दूसरे भवभूति। भवभूति ने भी उत्तररामचरित में विप्रलम्भ का चित्ताकर्षक सजीव चित्र उपस्थित कर दिया है।

मेघदूत और वाल्मीकीय रामायण—साहित्यमर्मज्ञ विद्वानों से यह अविदित नहीं है कि महर्षि वाल्मीकि के सूक्ति सुधारस का निरन्तर आस्वादन करनेवाले कालिदास ने प्रायः अपने सभी काव्य और नाटकों में न्यूनाधिक रूप में श्रीरामायण का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया है। विशेषतया मेघदूत का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर तो यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा वर्णित भगवती जनकनन्दिनी की विरहवेदना से आकुलित भगवान् श्रीरामचन्द्र का सन्देश लेकर दक्षिणोदधि को उल्लंघन करने के लिए गगन-मण्डल में सौदामिनी विलसित मेघ के समान गमन करते हुए पवनसुत हनुमानजी के प्रसंग के काव्यामृत से आकृष्ट चित्त होकर ही कालिदास ने रूपान्तर से मेघदूत में वियोगी यक्ष की मानसीवृत्ति का वर्णन किया है। मेघदूत में प्रयुक्त—'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु।' 'रामगिर्याश्रमेषु।' और 'रघुपति-पदैरंकितम्।' इत्यादि वाक्य-खण्डों के द्वारा वाल्मीकीय रामायणोक्त कथा के साथ मेघदूत का सम्बन्ध प्रतीत होता हो, सो नहीं, किन्तु रामायणोक्त इस प्रसंग के अनेक वर्णनों का सादृश्य मेघदूत में प्रत्यक्ष दृष्टिगत हो रहा है। कवि सार्वभौम महर्षि वाल्मीकि ने—

"अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोद्य जलागमः, सं पश्यत्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसंनिभैः।"—४।२८।२।

इत्यादि पद्यों से मेघाच्छन्न गिरिशिखर के वर्षाकालीन दृश्य से परिवर्द्धित श्रीरघुनाथजी की विरहावस्था के वर्णना का आरम्भ किया है। मेघदूत में भी—'आषाढस्य प्रशमदिवसे* मेघ माश्लिष्टसानु।' (पूर्व मेघ २) इत्यादि पद्यों द्वार तादृश वर्षाकालीन दृश्योत्पन्न यक्ष की वियोगावस्था का वर्णन आरम्भ किया गया है। रामायण में वानराधिपति सुग्रीव द्वारा वानरों के प्रति गन्तव्य मार्ग में आनेवाले स्थानों का वर्णन है, तदनुसार मेघदूत में यक्ष द्वारा मेघ के प्रति गन्तव्य मार्ग में आनेवाले स्थानों का वर्णन किया गया है। रामायण में आकाश के वायुमार्ग में समुद्रोल्लंघन करते हुए हनुमानजी को सिद्धों द्वारा सपक्ष पर्वत की उपमा दी गई है—

"शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः, वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः।" ५।१।७६।

मेघदूत में भी सिद्धांगनाओं द्वारा मेघ को पर्वत की उपमा दी गई है—

"अद्रेः शृंगं हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभिः, दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धांगनाभिः।" पूर्वमेघ १४।

रामायण में हनुमानजी की पुच्छ को इन्द्र-धनुष की उपमा दी गई है। 'अम्बरे वायुपुत्रस्य शक्रध्वज इवोच्छितम्।' (५।१।५९) मेघदूत में—'रत्नच्छायाव्यतिकर इव...............।' (पू. मे. १५) इत्यादि पद्य में इन्द्र-धनुष के सम्पर्क से मेघ का सुशोभित होना कहा गया है। रामायण में आतिथ्य के लिए समुद्र द्वारा भेजे हुए मैनाक ने हनुमानजी से कहा है—

---

* मेघदूत के टीकाकार मल्लिनाथ से प्राचीन वल्लभदेव ने 'प्रशमदिवसे' ही पाठ माना है। इसी पाठ से उत्तरमेघ के ४९वें पद्य के–'शेषान्मासान्गमय चतुरो।' इस कथन का चान्द्रमास की गणना से समन्वय हो सकता है।

अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोऽपि विजानता, धर्मं जिज्ञासमानेन किं पुनर्यादृशो भवान्॥ वाल्मी० ५।१।११२।
इसी भाव को कालिदास ने सर्वांश में मेघदूत के निम्न लिखित पद्य में रख दिया है—

'न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय, प्राप्ते मित्रे भवति विमुखो किं पुनर्यस्तथोच्चैः।" पू० मे० १७।

रामायण में जलभार वहन करनेवाले मेघ का पर्वत-शृंगों पर विश्राम ले लेकर जाना कहा है। मेघदूत में यह भाव नीचे के पद्य में इस प्रकार लिया गया है—

"उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः, कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वते पर्वते ते।" पू० मे० २३।

रामायण में लंका को पृथ्वी पर गिरा हुआ स्वर्ग कहा गया है। 'महीतले स्वर्गमिवप्रकीर्णम्।' (५।७।६)। मेघदूत में उज्जयिनी को स्वर्ग का एक खण्ड कहा गया है—'शेषैः पुण्यैर्हृतमिवदिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।' (पू० मे० ३१) इनके अतिरिक्त रामायण में वर्णित श्रीजनकनन्दिनी की विरहावस्था का तो कालिदास ने यक्षपत्नी की वियोगावस्था के वर्णन में अधिकांश अनुकरण किया है। रामायण में जानकीजी को शुक्लपक्ष की प्रतिपदा के चन्द्रमा की एक कला की उपमा दी गई है—"ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम्।" (५।१५।१९) मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—"प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।" (उ० मे० २८)। रामायण में सीताजी को शीतकालीन शोभा-विहीन कमलिनी की उपमा दी गई है, मेघदूत में भी यक्षपत्नी को यही उपमा दी गई है—"जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनी-वान्यरूपाम्।" (उ२ मे० २२)। रामायण में शुभ शकुनसूचक सीताजी के वामनेत्र के स्फुरण को मीन द्वारा सञ्चालित कमलपत्र की उपमा दी गई है—

"प्रास्पन्दतैकं नयनं सुकेश्या मीनाहतं पद्ममिवभिताम्रम्।" (५।२९।२)
मेघदूत में इसके शब्द और अर्थ दोनों का अनुसरण है—

"त्वय्यासन्ने नयनमुपरिस्पन्दि शंके मृगाक्ष्या, मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति।" उ० मे० ३४।

इसी प्रकार ऊरुस्फुरण का भी रामायण के वर्णन का मेघदूत में अनुसरण है। यह तो दिग्दर्शनमात्र है। कालिदास ने मेघदूत के "इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा।" (उ० मे० २९) इस वाक्य में तो श्रीजनकनन्दिनी का स्पष्ट नामोल्लेख करके निर्व्याज रूप में स्पष्ट सूचित कर दिया है कि मेघदूत की रचना का आधार वाल्मीकीय रामायण ही है। किन्तु इसके द्वारा यह समझना कि रामायण के वर्णनों का मेघदूत में अपहरण किया गया है, कविकुलदिवाकर कालिदास के साथ घोर अन्याय है। क्योंकि प्रथम तो मेघदूत की कल्पना ही रामायणान्तर्गत इस प्रसंग के चित्ताकर्षक वर्णनों पर निर्भर है, तो उसका अनुकरण ही क्यों यत्रतत्र शब्द-साम्य भी होना स्वाभाविक ही है। फिर यह भी ध्यान देने योग्य है कि वाल्मीकीय रामायण और महाभारत ऐसे महत्त्वपूर्ण आर्ष महाकाव्य हैं कि इनका अस्तित्व यदि न होता तो किसी भी काव्य या नाटक का भी अस्तित्व दृष्टिगोचर न होता। यही दोनों ग्रंथ निर्विवाद रूप में संस्कृत साहित्य के पथ-प्रदर्शक हैं। साहित्य-पथ-प्रदर्शकों में अग्रगण्य श्रीमदानन्दवर्धनाचार्य के—

"वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित्,
इष्यते प्रतिभानन्त्य तत्तदानन्त्यमक्षतम्।" ध्वन्यालोक ४।७ की वृत्ति।

इस वाक्य से स्पष्ट है कि आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का आदिकाव्य-रामायण ही ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें किसी का अनुसरण नहीं किया गया है। अर्थात् तदितर कवियों के काव्यों में वाल्मीकीय का अनुसरण किये जाने पर भी वह अपहरण-दोष नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत कवि-प्रतिभा-जन्य काव्य-वैचित्र्य का आनन्त्य है। अतएव केवल कालिदास ही क्यों उनके पूर्ववर्ती महामहिम पाणिनि और महाकवि भास आदि एवं परवर्ती भारवि, माघ और भवभूति आदि अनेक महा-कवियों ने इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर अपने काव्य-नाटकों की रचना की है। किन्तु इस कार्य में सफलीभूत कविराट् कालिदास ही हो सके हैं। यहाँ तक कि वाल्मीकीय में वर्णित पदार्थरत्नों को उन्होंने अपने प्रतिभा-कौशल से प्रसंगोचित स्थलों पर सुसज्जित करके और भी अधिक चमत्कृत कर दिया है।

कालिदास और अन्यान्य महाकवि—कालिदास की मनोरम अलंकार-गर्भित सूक्तियों पर मोहित होकर उनके परवर्ती प्रायः बहुत से महाकवियों ने उनके वर्णनों का अनुसरण करने के लोभ को संवरण नहीं करके अपनी रचना का गौरव बढ़ाने की यथेष्ट चेष्टा की है। उदाहरण रूप में यहाँ केवल मेघदूत की सूक्तियों का अन्य कवियों द्वारा किये गये अनुकरण का दिग्दर्शन कराया जाता है। देखिये, मेघदूत के—

"गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्, बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या।" पू० मेघ ७।"
इस पद्यार्द्ध में और—

"यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः पादपा नित्यपुष्पाः, हंसश्रेणीरचितरशना नित्यपद्मा नलिन्यः।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा, नित्यज्योत्स्नाः प्रतिहततमोवृत्तिरम्याः प्रदोषाः।" उ० मे० ३।*

इस पद्य में अलका के बाह्योद्यान में निवास करनेवाले भगवान् चन्द्रशेखर के ललाट पर स्थित चन्द्रमा की कान्ति से अलका के महलों का सर्वदा (कृष्णपक्ष की रात्रियों में भी) श्वेतप्रभायुक्त रहना और वहाँ सर्वदा चाँदनी रात्रि का होना कहा गया है। इसी के अनुकरण पर महाकवि भारवि ने—

"स्नपितनवलतास्तरुप्रवालैरमृतलवस्रुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा।" किरातार्जुनीय ५।४४।

इस पद्य में कहा है—चन्द्रमा की किरणों से—ऐसी किरणों से जिनसे अमृत के बिन्दु झरते रहते हैं, सिंचित रहनेवाले लता और वृक्षों के पल्लवों के कारण हिमालय की वनभूमि सर्वदा (कृष्णपक्ष की अँधेरी रात्रियों में भी) शुभ्रकान्तिमयी रहती है। और इसी के अनुकरण पर दार्शनिक महाकवि श्रीहर्ष ने भी—

"सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदंकरोदसि। निखिलान्निशि पूर्णिमातिथीनुपतस्थेऽतिथिरेकिकाऽतिथिः।"
—नैषधीय चरित २।७६।

इस पद्य में कुण्डिनपुर के श्वेतमणि-निर्मित भवनों के प्रकाश द्वारा वहाँ प्रतिपदा आदि सारी तिथियों की अतिथि रूप होकर सर्वदा एक पूर्णिमा तिथि की स्थिति रहना कहा है। किन्तु कालिदास ने पद्य के चतुर्थ पाद में जो भाव बड़ी खूबी के साथ रख दिया है, तादृश रोचकता भारवि के पूरे पद्य में भी नहीं आ पाई है। श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र है—सहृदयाह्लादक नहीं। मेघदूत के—

"रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्तात्, वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्य।

येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते ते, बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥" पू० मे० १५।
इस वर्णन पर गीतगोविन्द के प्रणेता भक्तवर श्रीजयदेवजी ने—

"चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम्, प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदितसुवेषम्॥" —गीतगोविन्द।

इस प्रकार रचना की है। इसमें और मेघदूत के वर्णन में भेद केवल यही है कि मेघदूत में मयूर पिच्छ का मुकुट धारण किए हुए भगवान् गोपालकृष्ण की उपमा इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ को दी गई है, और गीतगोविन्द में तादृश मेघ की उपमा तादृश भगवान् गोपालकृष्ण को दी गई है। मेघदूत के इस वर्णन का अनुकरण महाकवि माघ ने—

"अनुययौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसंवलितांशुकम्, धृतधनुर्वलयस्य पयोमुचः शवलिमा बलिमानमुषोवपुः
—शिशुपाल वध ६।२७

इस प्रकार किया है। इसमें इन्द्र-धनुष से सुशोभित मेघ को भगवान् विष्णु के श्यामवर्ण की कान्ति की उपमा दी गई है—

*** भृंगाली से मुखरित जहाँ वृक्ष हैं नित्यपुष्पा, हंसश्रेणी-लसित-रसना-पद्मिनी नित्य पद्मा।**
पिच्छाभा से युत गृहशिखी नित्य उत्कण्ठ-घोषा, हैं ज्योत्स्ना से विगत तम की नित्य रम्या प्रदोषा।
—लेखक के हिन्दी मेघदूत-विमर्श का समश्लोकी अनुवाद।

ऐसी कान्ति की जो अनेक रंगों की मणियों के कुण्डल की प्रभाराशि से चमत्कृत हो रही थी। माघ का यह वर्णन भी बड़ा मनोहारी है। मेघदूत में उज्जयिनी के बाजार के—

* हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शंखशुक्तीः, शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्रहोरान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भंगान्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः।" —पूर्व मेघ ३३।

इस वर्णन में कहा गया है—उज्जयिनी के बाजारों में रक्खे हुए असंख्य मुक्ताहार, करोड़ों शंख-सीपियाँ, पन्नों की मणियाँ और प्रवालों के ढेर देखकर अनुमान होता है, कि अब समुद्र में केवल पानी मात्र ही शेष रह गया होगा, जबकि समुद्र में से इतनी रत्न राशि वहाँ आ गई हैं। इस वर्णन का अनुकरण उज्जयिनी के वर्णन में ही महाकवि बाणभट्ट ने इस प्रकार किया है—

"प्रकटशंखशुक्ति मुक्ता प्रवाल मरकत मणिराशिभिश्चामीकरचूर्णसिकता निकररचितैरायामभिरगस्त्यपरिपीत-सलिलैः सागरैरिव महाविपणियथैरुपशोभिता।" —कादम्बरी।

इसका भावार्थ यह है कि शंख, सीपी और मोती आदि के ढेरों से एवं बिखरे हुए सुवर्ण के चूरे से उज्जयिनी के विस्तृत बाजारों की शोभा ऐसी दृष्टिगत होती है, मानों महामुनि अगस्त्यजी द्वारा सारा पानी पिया जानेपर समुद्र में शेष रह गये शंख, शीपी और रत्न ही दिखलाई पड़ते हों। मेघदूत के इसी वर्णन का अनुकरण महाकवि माघ ने इस प्रकार किया है—

"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः, लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप।"
—शिशुपालवध ३।३८।

अर्थात् द्वारिका के बाजारों में रक्खे गये रत्नों के ढेर के ढेर जलमार्ग द्वारा बहकर समुद्र के तट पर आ जाने से द्वारिका के समुद्र का ही रत्नाकर (रत्नों का भण्डार) नाम प्रत्यक्ष चरितार्थ होता है—अन्यत्र तो समुद्र में जल ही जल देखा जाता है, कहने मात्र को ही रत्नाकर है। महाकवि श्रीहर्ष की भी कल्पना देखिये—

"बहु कम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः। हिमवालुकयाच्छवालुकः पटु दध्वान यदापणार्णवः।"
— नैषधीयचरित २।८८।

इसमें कुण्डिनपुर के बाजार को समुद्ररूप वर्णन किया गया है। समुद्र में शंख और मोती आदि रत्न होते हैं। कुण्डिनपुर के बाजार में भी शंख आदि के ढेर लगे हुए हैं। समुद्र में कुलीर नाम के जलजन्तु फिरते रहते हैं, उसमें भी कौडियों को गिनने के लिये चलायमान हाथ ही कुलीर रूप हैं। समुद्र में बालू रेती होती है, उसमें भी अत्याधिक कर्पूर का चूर्ण बिखरा रहता है।

सत्य तो यह है कि सारे रत्नसमूह उज्जयिनी के बाजारों में आ जाने के कारण समुद्र में पानीमात्र शेष रह जाने के वर्णन में जो कालिदास की उपयुक्त कल्पना है वैसी उज्जयिनी के बाजारों में बाणभट्ट द्वारा की गई जल-रहित समुद्र की उत्प्रेक्षा में नहीं। और श्रीहर्ष की कल्पना तो केवल अत्युक्ति मात्र है। माघ की कल्पना अवश्य अधिकांश में कालिदास के वर्णन के समकक्ष प्रतीत होती है। और देखिये—

"तस्यादातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी, त्वं चेदच्छस्फटिक विशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।
सं सर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययाऽसौ, स्यादस्थानोपगतयमुनासंगमे वाभिरामा।" —पूर्वमेघ ५४।

मेघदूत के इस पद्य में श्री गंगा का जल लेने के लिए आकाश पर से नीचे को झुके हुए श्यामवर्ण के मेघ के दृश्य का बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन है—यक्ष कहता है, हे मेघ, श्रीगंगा के स्फटिक के समान शुभ्र और स्वच्छ जल पीने को जब तू

---

* मुक्तामाला अगणित जहाँ हैं पडी शंख शीपी, दूर्वा जैसी विलसितमणी श्याम-वैदुर्य की भी।
मूंगों के हैं कन घन लगे, देख बाजार-शोभा, जी में आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा। हिन्दी मेघदूत-विमर्श।

इन्द्र के ऐरावत हस्ती के सदृश महत्काय श्यामवर्णवाला--आकाश में पिछले आधे भाग को ऊँचा किए और आगे के आधे भाग से तिरछा होकर नीचा झुकेगा, तब प्रवाह में गिरी हुई तेरी छाया से भगवती गंगा ऐसी सुशोभित होंगी मानो प्रयाग से अन्यत्र ही यमुना का नयनाभिराम संगम हो गया हो। कालिदास की श्रीगंगा-यमुना के संगम के दृश्य की इस कल्पना ने महाकवियों के चित्त को बहुत आकर्षित किया है, माघ ने इस सूक्ति पर मुग्ध होकर रैवतक गिरि की तलहटी में बहनेवाली एक नदी का--

"एकत्रस्फटिकतटांशुभिन्नतीरा नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः।"--शिशुपालवध ४।२६।

इस प्रकार वर्णन किया है कि एक ओर स्फटिक मणि के तट की श्वेत कान्ति के प्रतिबिम्ब से शुभ्र और दूसरी ओर नीले पाषाणों के तट की छाया से नील प्रतीत होनेवाले प्रवाहवाली यह नदी, कलिन्दनन्दिनी यमुना की शोभा से मिली हुई भगवती गंगा की छबि धारण कर रही है। इस दृश्य का महाकवि मंखूक ने भी अनुकरण किया है--

"यस्या सकृत्प्रणमतो धृतमन्तुतन्तुर्नम्राननाः गिरिसुताश्रुभिरञ्जनांकः।
मौलौ नवं लिखति शीतरुचेः कलंकम्, पुण्णात्यकाण्डयमुनाप्रणयां च गंगाम्॥--श्रीकण्ठ चरित ५।३९।

अर्थात् मानवती श्रीपार्वतीजी को बारम्बार प्रणाम करते हुए श्रीशंकर के ललाटस्थित चन्द्रमा के ऊपर, नम्रमुखी श्रीगिरिजा के अञ्जनमिश्रित अश्रु गिरते हैं, वे मानो चन्द्रमा के एक नवीन कलंक का उल्लेख कर रहे हैं और प्रयाग से अन्यत्र ही गंगा से यमुना का संगम करा रहे हैं। इस वर्णन में उत्प्रेक्षा की कल्पना विचित्र अवश्य है किन्तु साथ ही उपमेय-उपमान का परिमाण काव्यमर्मज्ञों की दृष्टि में कुछ खटकता भी है।

यह केवल मेघदूत की सूक्तियों के अनुकरण का दिग्दर्शन मात्र है। इनके अतिरिक्त कालिदास के और भी अनेक वर्णनों का अश्वघोष*, दण्डी†, भवभूति‡, शूद्रक‡ और अमरुक‡ आदि अनेक बड़े बड़े महाकवियों ने अनुकरण किया है।

कालिदास के काव्यों की विशेषता--कालिदास के सभी काव्य और नाटक संस्कृत के साहित्य में विश्वतोन्मुखी प्रतिभा और सर्वोत्कृष्ट रचना के उदाहरण हैं। और अलौकिक कल्पनाओं की उद्यान वाटिका के कल्पतरु-प्रसून पुष्प-स्रावक हैं। इनपर प्रकाश डालने के लिए कालिदास के काव्य-नाटकों के पर्याप्त अवतरणों पर अधिकाधिक विवेचन की आवश्यकता है। मेघदूत जैसे छोटेसे खण्डकाव्य के कुछ अवतरण ऊपर दिये गये हैं, इनपर भी तुलनात्मक दृष्टि से ध्यान देने पर स्पष्ट विदित हो सकता है कि कालिदास अपने रचनाकौशल से जो भाव थोड़ेसे सरल और सरस शब्दों में गुम्फित करने एवं उपमा और उत्प्रेक्षादि अलंकारों की कल्पनाओं द्वारा वर्णनीय विषय का हृदयस्पर्शी यथार्थ चित्र पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने में सफलीभूत हुए हैं, तादृश सफलता विस्तृत शब्दावली में भी अन्य सुप्रसिद्ध बड़े बड़े महाकवि भी प्राप्त नहीं कर सके हैं। मेघदूत के दिखाए गए ऊपर के वर्णनों के अतिरिक्त भी विन्ध्याटवी के अन्तर्गत आम्रकूट, नर्मदा, चर्मण्वती एवं हिमालय प्रदेश के विचित्र दृश्यों पर और उज्जयिनी एवं कैलाशस्थित अलका के अप्रतिम दृश्यों के जो शब्दचित्र अंकित किये गये हैं, वे एक से एक बढ़कर आकर्षक हैं। केवल मेघदूत ही नहीं, कालिदास ने अपने सभी काव्य और नाटकों की रचना में पराकाष्ठा करदी है। उनके काव्यों में सृष्टि-सौन्दर्य किसी विशेष विषय-कामिनी के रूप लावण्य या किसी अवस्था विशेष के वर्णन में ही मर्यादित नहीं, किन्तु उनमें देश, काल, पात्र, गुण और कार्य की समष्टि आदि का भी परमोत्कृष्ट वर्णन किया

* उत्तर मेघ ४८ और बुद्धचरित 'अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्ति कश्चिन्नैकान्त दुःखः पुरुषः पृथिव्याम्, रघुवंश २।३० सौंदरानन्द 'ततोविवक्तञ्च...........' कुमारसंभव ५।८५, सौंदरानन्द 'तंगौरवं बुद्धगतं.........'।

† पूर्वमेघ ६१. और दशकुमार चरित--शरदिन्दुकुन्द धनसार........।

‡ उत्तरमेघ १८ और उत्तररामचरित ३।१८ एवं कुमारसंभव ४।२६ उत्तर रामचरित ४।८।

‡ पूर्वमेघ ४१ और मृच्छकटिक ५।२।

‡ उत्तरमेघ ४९ और अमरुशतक २५।



गया है, और वे लोकशिक्षा एवं समाजोपयोगी विषयों से भी परिपूर्ण हैं। उदाहरण रूप में रघुवंश में देव, ब्राह्मणों में भक्ति, गुरुवाक्य में दृढ श्रद्धा, गो-सेवा, अतिथि की अभिलाषा की पूर्ति और लोकरञ्जन के लिए भगवान् रामचन्द्र द्वारा भगवती सीता जैसी प्राणप्रियतमा के त्याग का उच्चादर्श इत्यादि के मर्मस्पर्शी वर्णनों से कान्ता-सम्मित शब्दों द्वारा महत्त्वपूर्ण उपदेश दिये गये हैं। शाकुन्तल में भी यह शिक्षा गर्भित की गई है कि दाम्पत्य प्रेम जब तक स्त्री-पुरुष तक ही परस्पर मर्यादित रहकर उसका प्रभाव समाज, पुत्र और कन्या आदि पर नहीं हो पाता तब तक वह क्षणभंगुर ही है। और तो और मेघदूत जैसे केवल शृंगाररस पूर्णकाव्य में भी शिक्षा गर्भित कर देना यह विचित्रता कालिदास को ही दृष्टिगत होती है श्री गोवर्धनाचार्य ने बहुत ही यथार्थ कहा है--

"साकूतमधुर कोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये, शिक्षासमयेऽपि मुदे रतिलीलाकालिदासोक्ती।"*

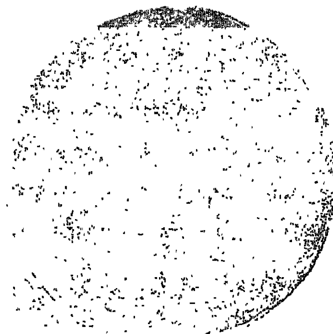
--आर्यासप्तशती ३५।

मेघदूत के अनुकरण पर अन्य दूत काव्य और टीकाएँ--मेघदूत के अनुकरण पर बहुत से दूतकाव्यों की रचना भी संस्कृत साहित्य में अनेक प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा की गई है। उपलब्ध दूतकाव्यों में सबसे प्रथम जिनसेनाचार्य ने (शक ७०४) पार्श्वाभ्युदय लिखा है, तदनन्तर भोजराज ने चकोरदूत, विक्रमकवि ने नेमिदूत, वेदान्तदेशिक वेंकटाचार्य ने हंस-सन्देश, उदण्डशास्त्री ने कोकिल सन्देश, लक्ष्मीदास ने शुक-सन्देश, धोइक ने पवनदूत, वादिचन्द्र ने पवनदूत, विनयविजयगुणी ने इन्दुदूत, तैलंग ब्रजनाथ ने मनोदूत, कृष्णसार्वभौम ने पदांगदूत, माधवकवीन्द्र ने उद्धवदूत, श्री रूपगोस्वामी ने हंसदूत, भगवद्दत्त ने मनोदूत और लक्ष्मीनारायण ने रथांगदूत इत्यादि लिखे हैं ‡। मेघदूत पर अनेक विद्वानों ने असंख्य टीकाएँ भी लिखी हैं। निष्कर्ष यह है कि उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में मद्रास तक और पश्चिम में महाराष्ट्र से बंगाल तक सभी प्रान्तों के सुप्रसिद्ध विद्वानों ने कालिदास और उनके काव्यों पर बहुत कुछ लिखा है। केवल एतद्देशीय ही नहीं, द्वीपान्तरीय विद्वानों द्वारा पाश्चात्य भाषाओं में भी मेघदूत के कई अनुवाद और व्याख्याएँ लिखी गई हैं। विलसन् साहिब ने ई० सन १८१३ में अंग्रेजी में अनुवाद और व्याख्या लिखी है, गिल्डमीस्टर ने सन १८४७ में बोन में लैटिन भाषा के कोश के साथ एक आवृत्ति निकाली थी। प्रोफेसर मोक्षमूलर ने भी ई० स० १८४७ में एक आवृत्ति निकाली थी। अन्य पाश्चात्यों ने भी कई आवृत्तियाँ निकाली हैं। हमारी हिन्दी भाषा में भी मेघदूत के अनेक अनुवाद हो चुके हैं। जिनमें स्वर्गीय राजा लक्ष्मणसिंह का ब्रजभाषानुवाद कालक्रम से ही नहीं, काव्यमाधुरी की सरसता में भी सर्व प्रथम है। इन पंक्तियों के लेखक ने भी मेघदूत का समश्लोकी अनुवाद, हिन्दी मेघदूत विमर्श लिखने का दुःस्साहस किया है। बस उपसंहार म कालिदास के काव्यमर्मज्ञ भाष्यकार श्री मल्लिनाथ का निम्न लिखित पद्य लिखकर यह लेख समाप्त किया जाता है--

"कालिदासगिरां सारः कालिदासःसरस्वती, चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्ये तु मादृशाः॥"

*** मेघदूत के पद्यों में क्या शिक्षा गर्भित है, उसका दिग्दर्शन लेखक ने अपने हिन्दी मेघदूतविमर्श में कराया है।**

‡ इनमें से ३५ टीकाओं के नाम और पतों का विवरण लेखक के हिन्दी मेघदूतविमर्श में दिये गये हैं।



मेघदूत में रामगिरि

महामहोपाध्याय श्री वासुदेव विष्णु मिराशी, एम्० ए०

कवि-कुल-गुरु कालिदास ने अपने मेघदूत नामक सुप्रसिद्ध खण्डकाव्य में यह वर्णन किया है कि शापित यक्ष ने अलका से निर्वासित होने के पश्चात् रामगिरि के आश्रम में आकर वास किया। मेघदूत के कुछ प्रारंभिक श्लोकों में तथा अलका को जाने के मार्ग के वर्णन में जो कुछ थोड़ी बहुत जानकारी मिलती है उसपर से इस रामगिरि का स्थान निश्चित करना सम्भव है। फिर भी इस सम्बन्ध में किसी विद्वान् द्वारा व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किया गया है। विक्रम संवत् के दो सहस्र वर्ष पूर्ण होने से भारतवर्ष में स्थान स्थान पर विक्रम द्विसहस्राब्दी के उत्सव मनाए गए हैं। कालिदास का नाम विक्रमादित्य के साथ जुड़ा होने से इस अवसर पर उस कविश्रेष्ठ के ग्रन्थों का पुनर्मुद्रण तथा उनके सम्बन्ध में चर्चा इत्यादि हो रही है। अतः रामगिरि के स्थल निर्णय की चर्चा करने की प्रस्तुत लेख में योजना की गयी है।

शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, रघुवंश इत्यादि अपने अन्य ग्रन्थों के कथानक कालिदास ने प्राचीन वाङ्मय से लिए हैं। अतः उनमें उल्लिखित स्थलों का निश्चय करने में उन संस्कृत ग्रन्थों से सहायता प्राप्त होती है। परन्तु मेघदूत का कथानक ठहरा केवल काल्पनिक! अतः वहाँ हमें प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से सहायता मिलना सम्भव नहीं है। रामगिरि के स्थान का निर्णय करने में मुख्यतः मेघदूत में आए हुए वर्णन पर ही हमको अवलम्बित रहना पड़ेगा। अतः मेघदूत काव्य से हमको रामगिरि विषयक क्या सूचना प्राप्त होती है यह देखना है।

यह रामगिरि पर्वत अत्यन्त पवित्र माना जाता था। वनवास-काल में वहाँ के जलाशय में सीतादेवी के स्नान करने के कारण उसका जल पावन हुआ था (श्लोक १)। उस पर्वत के मेखला भाग के कुछ स्थानों पर सर्व-जन-वन्दनीय श्रीरामचन्द्रजी के पादचिह्न अंकित हुए थे (श्लोक १२)। ऐसे पुण्यक्षेत्र पर ऋषियों के अनेक आश्रम थे। रामगिरि पर्वत के अति उत्तुंग होने के कारण, वर्षाऋतु में उसपर आनेवाले मेघ वप्रक्रीड़ा करने के अर्थ झुके हुए दिग्गजों के तुल्य प्रतीत होते थे (श्लोक २)। उस पर घनी छायावाले अनेक वृक्ष थे। वहाँ निचुल नाम के सुन्दर स्थलवेतस वृक्ष थे (श्लोक १४)।

मेघदूत में रामगिरि

ऐसे रामगिरि पर अपने शाप के दिन व्यतीत करते हुए यक्ष को आषाढ़ मास के प्रथम दिन एक मेघ दिखाई दिया। उस समय उसे अपनी प्रिया का विरह दुःसह हो गया। उसकी प्रिया की भी वही अवस्था हुई होगी, यह कल्पना करके, उसके मन को धैर्य देने के उद्देश्य से, उसने मेघ को ही अपना दूत बनाकर उसे अलका नगरी में अपनी प्रिया के पास भेजने का निश्चय किया। उसने मेघ को नवीन कुटज पुष्प अर्पित किये (श्लोक ४) तथा उसकी प्रशंसा करते हुए अलका नगरी के मार्ग का वर्णन करना प्रारम्भ किया। यक्ष ने कहा, 'हे मेघ, इस स्थान से उत्तर को जाते हुए पहले तुम्हें, जहाँ की भूमि तत्काल जोती हुई होने के कारण सुगन्धित होगी, वह माल नामक पठार दिखाई देगा। उसको पार करके तुम किञ्चित् पश्चिम की ओर मुड़कर पुनः उत्तर के पथ पर चलना (श्लोक १६)। तदुपरान्त प्रवास से खिन्न हुए तुम्हें आम्रकूट नामक सानुमान पर्वत अपने शिखर पर धारण करेगा (श्लोक १७)। उस पर्वत पर पक्व फलों से सुशोभित वन्य आम्रवृक्ष होने से वहाँ पहुँचने पर कृष्णवर्णयुक्त तुम्हारा रूप भूमि के स्तन जैसा प्रतीत होगा। उस स्थान पर जलवृष्टि करने के पश्चात् तुम अपने मार्ग पर द्रुतगति से चल सकोगे। आगे चलकर विन्ध्य पर्वत के नीचे पथरीले प्रदेश में होकर प्रवाहित होनेवाली नर्मदा, हाथी के शरीर पर चित्रित वल्लरी के समान दृष्टिगोचर होगी (श्लोक १९)। इसके पश्चात् तुम्हें दशार्ण देश पड़ेगा। उस देश की सर्वत्र प्रसिद्ध राजधानी विदिशा है। वहाँ पहुँचने पर तुम्हें उस स्थल की वेत्रवती सरिता का मधुर जल पान करने को मिलेगा (श्लोक २४)। उस स्थान पर स्थित नीचैर्गिरि नामक पहाड़ी पर तुम विश्राम के लिए रुक जाना। वहाँ की कन्दराओं में वेश्याओं के उपयोग में आए हुए सुगन्ध द्रव्यों के सौरभ से वहाँ के नागर लोक-समाज का उद्दाम यौवन उत्कृष्टता के साथ व्यक्त होता है (श्लोक २५)। इसके आगे जिस मार्ग का वर्णन है वह प्रस्तुत विवेचन में उपयोगी नहीं है, अतः उसे देना आवश्यक नहीं है।

रामगिरि से विदिशा नगरी तक के मेघ मार्ग का ऊपर वर्णन किया गया है। उसके उत्तर बिन्दु विदिशा नगरी के स्थान निश्चित हैं। ग्वालियर-राज्य में भेलसा नामक नगर के निकट स्थित बेसनगर नाम का एक छोटा-सा ग्राम ही यह प्राचीन विदिशा नगरी है। उसी के समीप वेत्रवती अथवा बेतवा नदी बहती है। उत्तर की ओर लगभग दो मील पर स्थित उदयगिरि नामक एक छोटी-सी पहाड़ी है। वह प्राचीन नीचैर्गिरि है। इस पहाड़ी पर प्राचीन गुफाएँ हैं जिनमें गुप्तकालीन शिल्प तथा शिलालेख आज भी विद्यमान हैं। अतः विदिशा नगरी के स्थान के सम्बन्ध में सन्देह नहीं है। इसके दक्षिण की ओर ही कहीं रामगिरि की स्थिति होना चाहिए। रामगिरि से विदिशा नगरी के मार्ग में प्रथम माल नामक पठार तथा पीछे आम्रकूट पर्वत एवं नर्मदा नदी स्थित हैं, यह मेघदूत के वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस भौगोलिक उल्लेख से रामगिरि के स्थान का निर्णय किया जाना है। फिर यह भी देखना है कि मेघदूत के वर्णन से इसकी कितनी संगति बैठती है।

पहले यह देखें कि इस सम्बन्ध में हमारे टीकाकारों का क्या कथन है। मेघदूत का सबसे प्राचीन टीकाकार वल्लभदेव दशम शताब्दी के प्रारम्भ में हो गया है। उसने मेघदूत के पहले श्लोक की अपनी टीका में कहा है कि "रामगिरिरत्र चित्रकूटः। न तु ऋष्यमूकः। तत्त सीताया वासाभावात्।" अर्थात् रामगिरि यहाँ चित्रकूट है। उसका ऋष्यमूक होना सम्भव नहीं है, कारण कि उस स्थान पर सीतादेवी का वास नहीं हुआ था। वल्लभदेव के निकट समकालीन स्थिरदेव नाम के टीकाकार ने कहा है—'रामगिरिर्दण्डकान्तः प्रसिद्धः।' (रामगिरि यह दण्डकारण्य में स्थित प्रसिद्ध पर्वत है) इनके पश्चात् के टीकाकार दक्षिणावर्तनाथ ने यद्यपि निचुल तथा दिङ्नाग के सम्बन्ध में दन्तकथाएँ विस्तृत रूप से दी हैं, तथापि रामगिरि के स्थान के सम्बन्ध में उसने मौन धारण किया है। दक्षिणावर्त नाथ के पश्चात्कालीन सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने वल्लभदास के इस मत की ही पुष्टि की है कि रामगिरि और चित्रकूट एक ही हैं। इनके पश्चात् के विद्युल्लतादि टीकाकारों ने प्रायः मल्लिनाथ के निर्णय का ही अनुवाद किया है। अतः बहुधा सभी संस्कृत टीकाकारों को 'रामगिरि और चित्रकूट एक ही हैं,' यह मत मान्य था, ऐसा प्रतीत होता है। इन टीकाकारों में विवेक-बुद्धि के अभाव के कारण अथवा उनको इस विषय का महत्त्व प्रतीत न होने के कारण उन्होंने इस प्रश्न पर गम्भीर विचार नहीं किया होगा। रामगिरि चित्रकूट होगा ऐसा उनका भाव होना भी स्वाभाविक है, कारण कि सम्पूर्ण रामायण में रामगिरि का कहीं भी उल्लेख नहीं आया है। मेघदूत के वर्णन से ऐसा स्पष्ट दिखता है कि इस गिरि पर श्रीरामचन्द्रजी ने सीतादेवी के साथ कुछ काल तक वास किया था, ऐसी कालिदास के काल में परम्परागत मान्यता थी। मुख्यतः दो ही पर्वतों पर श्रीरामचन्द्रजी का

कुछ काल तक वास रहा था, रामायण में ऐसा वर्णन है। भारद्वाज आश्रम से प्रस्थान करने के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी न सीतादेवी तथा लक्ष्मणजी के साथ चित्रकूट पर्वत पर कुछ काल तक वास किया, ऐसा आरण्यकाण्ड सर्ग ५६ में कहा गया है। उसके उपरान्त रावण द्वारा दण्डकारण्य में सीतादेवी के अपहरण किये जाने के पश्चात् उनका अनुसन्धान करते हुए श्रीरामचन्द्रजी ऋष्यमूक पर्वत पर पहुँचे। वहाँ हनुमान एवं सुग्रीव से उनकी मित्रता होने के पश्चात् उस स्थान पर उन्होंने कुछ काल तक वास किया, ऐसा किष्किन्धाकाण्ड में वाल्मीकि ने वर्णन किया है। इस समय सीतादेवी साथ न होने से 'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु' इत्यादि मेघदूत में दिए हुए वर्णन की संगति ऋष्यमूक पर्वत के साथ स्पष्ट रूप से नहीं होती। अत: टीकाकारों का यह भाव होना कि चित्रकूट ही रामगिरि है, आश्चर्यजनक नहीं है। फिर भी थोड़ेसे विचार करने पर ही यह स्पष्ट हो जायगा कि इस मत का सत्य होना सम्भव नहीं है। भारद्वाज-आश्रम प्रयाग में था। वहाँ पहुँचने पर श्रीरामचन्द्रजी ने भारद्वाज ऋषि से प्रार्थना की "भगवन्! हमसे मिलने की इच्छा रखनेवाले लोग यहाँ आने लगेंगे, अत: इस आश्रम में निवास करना मुझे प्रशस्त प्रतीत नहीं होता। अत: कोई एकान्त आश्रम-स्थान हमें बतलाइए।" इसके उत्तर में भारद्वाज मुनि ने कहा, "राम, यहाँ से दस कोस के अन्तर पर ऋषियों से सेवित चित्रकूट नाम का पर्वत है, वह एकान्त स्थान है, अत: वहाँ अपना वनवासकाल व्यतीत करो।" इसके पश्चात् उस संगम से निकलकर यमुना तट के किनारे किनारे श्रीरामचन्द्र, सीतादेवी एवं लक्ष्मण सहित कुछ दूर तक गये और फिर उस नदी को पार करके आगे चित्रकूट पर्वत पर पहुँचे, ऐसा रामायण में वर्णन है। चित्रकूट यमुना नदी से अधिक अन्तर पर न होगा यह इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है। इस चित्रकूट से तात्पर्य कामता के निकट के चित्रकूट से है,* ऐसा अब विद्वानों ने निर्णय किया है। चित्रकूट एवं कालंजर प्राचीन काल में दुर्भेद्य दुर्ग समझे जाते थे और उन्हें अपने अधिकार में रखने के लिए शक्तिशाली राजाओं में स्पर्द्धा लगी रहती थी। शिलालेखों से यह भी ज्ञात होता है कि उत्तर-भारत में अपना वर्चस्व स्थिर करने के लिए दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं ने भी इन दुर्गों को अपने अधिकार में रखा था।† कालंजर बाँदा जिले में स्थित सुप्रसिद्ध दुर्ग है। चित्रकूट उसके उत्तर की ओर कुछ ही दूरी पर है। आज भी यह पवित्र स्थान के रूप में विख्यात है। यहाँ श्रीरामचन्द्र, सीतादेवी तथा लक्ष्मण की पादुकाएँ हैं। यह स्थान प्राचीनकाल से प्रसिद्ध है, इसमें सन्देह नहीं है। फिर भी यही चित्रकूट रामगिरि था यह सम्भव नहीं है, कारण कि रामगिरि से उत्तर की ओर जाते हुए मार्ग में पड़नेवाली नर्मदा, विदिशा, उज्जयिनी इत्यादि नदियाँ तथा नगर चित्रकूट के दक्षिण की ओर स्थित हैं, उत्तर की ओर नहीं। अत: चित्रकूट ही रामगिरि है यह मत ठीक नहीं है।

इसके पश्चात् अब हम आधुनिक विद्वानों के मतों का परिशीलन करें। ठीक १३० वर्ष पूर्व सन १८१३ में होरेस हेमन विल्सन नामक सुप्रसिद्ध आंग्ल विद्वान् ने मेघदूत की अंग्रेजी भाषान्तर सहित प्रथम आवृत्ति प्रकाशित की। उसमें दी हुई टिप्पणी में उन्होंने प्रतिपादित किया है कि "रामगिरि से तात्पर्य नागपुर के उत्तर की ओर कुछ अन्तर पर स्थित रामटेक से ही होगा कारण कि वहाँ रामचन्द्र के अनेक देवालय हैं तथा यात्रा के लिए दूर दूर से लोग आते ही रहते हैं।" यही मत आगे मेघदूत के अनेक टीकाकारों ने स्वीकार किया था, इनमें सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ स्वर्गीय प्रो० काशीनाथ बापूजी पाठक भी थे। उन्होंने मेघदूत की अपनी प्रथमावृत्ति (सन् १८९४) में इसी मत की पुनरावृत्ति की है। परन्तु उसके बाद

---

* यह चित्रकूट पर्वत प्रयाग से लगभग ६५ मील पर है। इससे यह शंका उपस्थित होती है कि रामायण में जिसका वर्णन है, वह क्या यही पर्वत है? इसका निराकरण दो प्रकार से हो सकता है। या तो रामायण में अन्तर अटकल से दिया हो अथवा जैसाकि पार्जीटर महोदय प्रतिपादन करते हैं, यह कोई विशिष्ट पहाड़ी न होकर केन नदी से प्रयाग की पश्चिम सीमा की ओर लगभग २० मील तक फैली हुई पर्वतमाला होगी। इनमें से प्रथम निराकरण अधिक संभवनीय प्रतीत होता है।

† राष्ट्रकूट सम्राट् तृतीय कृष्ण के सम्बन्ध में देवली के ताम्रपत्र का निम्न श्लोक—
"यस्य परुषेक्षिताखिलदक्षिणदिग्दुर्गविजयमाकर्ण्य। गलिता गूर्जरहृदयात्कालंजरचित्रकूटाशा।।" एपिग्राफिया इण्डिका पु० ५, पृष्ठ १९४।

विद्वानों का ध्यान रामगढ़ पहाड़ी पर स्थित सीताबेंग्रा तथा जोगीमारा गुफाओं के प्राचीन लेखों की ओर आकर्षित हुआ। ये लेख ईसा के पूर्व दूसरी अथवा तीसरी शताब्दी के हैं। उनपर से यह असन्दिग्ध रूप से ज्ञात होता है कि सरगुजा जागीर का रामगढ़ स्थान प्राचीन काल में प्रसिद्ध था। यहाँ रामचन्द्र, सीतादेवी एवं लक्ष्मण के नाम की गुफाएँ हैं। उनमें भग्नावस्था में कुछ मूर्तियाँ भी स्थित हैं। परन्तु वे बहुत प्राचीन न होंगी, ऐसा अनुमान है। एक स्थान पर भित्ति पर दो पाद-चिह्नों की आकृतियाँ दिखाई देती हैं। ये रामचन्द्रजी के पादचिह्न हैं, ऐसी वहाँ के लोगों की धारणा है। मॉडर्न रिव्यू (सन् १९१५ पृष्ठ ३७९-३८७) मासिक में प्रकाशित हुआ इस स्थान का वर्णन पढ़कर रामगढ़ ही रामगिरि होगा, यह मत प्रो० पाठक ने स्थिर किया था, जिसको उन्होंने मेघदूत की अपनी द्वितीयावृत्ति (सन् १९१६) में स्थान दिया है। इस मत का उल्लेख उसके पीछे प्रकाशित हुई मेघदूत की कुछ आवृत्तियों में मिलता है। अतः हम उसका परीक्षण करेंगे।

सरगुजा जागीर में स्थित रामगढ़ ही रामगिरि है, इस मत के सम्बन्ध में मुख्य आपत्ति यह है कि यह स्थान, मेघदूत में किये हुवे वर्णन के अनुसार आम्रकूट (अमरकण्टक) एवं नर्मदा नदी की दक्षिण दिशा में न होकर ईशान्य की ओर है। यहाँ से अलका को जाते हुए आम्रकूट, नर्मदा, विदिशा इत्यादि स्थान मार्ग में नहीं आएँगे। उस स्थान पर यदि मेघ को ले जाना हो तो "किंचित्पश्चाद्व्रज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण" (श्लोक १६) ऐसा न कहते हुए "तुम प्रथम उत्तर की ओर न जाते हुए नैऋत्य की ओर जाना" ऐसा यक्ष को मेघ से कहना पड़ता। इसके अतिरिक्त यह स्थल अत्यन्त विकट एवं निर्जन प्रदेश में स्थित है। वहाँ हाथी पर आरूढ़ होकर जाने में कितने श्रम उठाने पड़े, इसका वर्णन प्रसिद्ध बंगाली चित्रकार श्री असित हलदार ने मॉडर्न रिव्यू के उपर्युक्त अंक में किया है। ऐसे स्थान पर यक्ष के निवास की योजना करने में कालिदास का क्या हेतु था, यह भी ध्यान में नहीं आता। अतः रामगढ़ का रामगिरि होना सम्भव नहीं है।

अब रहा तीसरा मत अर्थात् नागपुर के उत्तर की ओर २८ मील पर स्थित प्रसिद्ध क्षेत्र रामटेक रामगिरि है। इस पर विचार किया जाय। यह मत सबसे युक्तियुक्त प्रतीत होता है। रामटेक से अलकानगरी जाने का मार्ग यदि कोई वर्णन करने लगे, तो उसे मेघदूत में किए गए वर्णन के अनुसार ही वर्णन करना पड़ेगा। यहाँ से उत्तर की ओर जाते हुए प्रथम माल नामक पठार पड़ता है, ऐसा मेघदूत में कहा गया है। रामटेक के समीप से ही सतपुड़ा का पठार प्रारम्भ होता है। यही पठार पूर्व काल में मालदेश कहलाता होगा। किंबहुना, इस सम्बन्ध में अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है, कारण कि एक शिलालेख में ऐसा उल्लेख है* कि उत्तर चालुक्यों के द्वितीय आचुगी नाम के मांडलिक ने मालदेश को अधिकृत करके डाहलाधिपति का अर्थात् जबलपुर के समीपवर्ती पुरी के हैहयों का पराभव किया। इस पठार का नाम माल था यह इससे स्पष्ट है। इसके पश्चात् मेघदूत में आम्रकूट का वर्णन आया है। यह आम्रकूट अमरकण्टक है, ऐसा कुछ लोग समझते हैं। यह यथार्थ नहीं प्रतीत होता, कारण कि अमरकण्टक पर्वत ईशान्य की ओर रह जाता है। इसके अतिरिक्त अमरकण्टक का प्राचीन नाम आम्रकूट न होकर 'मेकल' था। नर्मदा नदी का उद्गम अमरकण्टक से होता है, और उसे मेकलसुता कहते हैं, यह प्रसिद्ध ही है। इससे अमरकण्टक प्राचीन आम्रकूट होना सम्भव नहीं है। हमारे एक मित्र डॉ० कठाले यह संकेत करते हैं कि आम्रकूट छिंदवाड़ा जिले में स्थित अमरवाडा नामक ग्राम होगा। यह अमरवाड़ा उसी नाम की तहसील का प्रधान स्थान है और रामटेक से उत्तर की ओर नागपुर एवं नरसिंगपुर को जोड़नेवाले मुख्य मार्ग पर स्थित है। आम्र का अपभ्रंश अमर हो जाना भी सम्भव है। फिर भी अमरवाड़ा एक ग्राम है, पर्वत नहीं। प्राचीन आम्रवाटक का वह भ्रष्ट रूप होगा। इसके उत्तर की ओर सात आठ मील के अन्तर पर सातपुड़ा की पर्वतमाला प्रारम्भ होती है। उसका नाम प्राचीन काल में आम्रकूट रहा होगा, यह अनुमान करने में भूल होने की अधिक सम्भावना नहीं है। स्वर्गीय डॉ० हीरालाल ने अपने एक लेख में यह प्रतिपादित किया है कि प्राचीनकाल में सतपुड़ा के शिखरों के नाम 'कूट' शब्दान्त रहते थे। उदाहरणार्थ सालकूट

* देखिए एपिग्राफिया इण्डिका पु० १९ पृष्ठ २२७-विल्सन महोदय के मतानुसार आम्रकूट अमरकण्टक पर्वत होने से उन्होंने यह लिखा प्रतीत होता है कि माल छत्तीसगढ़ में रतनपुर के उत्तर को स्थित मालडा होगा। परन्तु यह यथार्थ नहीं है।

अर्थात् बालाघाट जिले की साल पहाड़ी एवं मधुकूट अर्थात् छिन्दवाड़ा का मोहतूर। इससे आम्रकूट भी अमरवाड़ा के समीपवर्ती सतपुड़ा का उस समय प्रसिद्ध शिखर होगा, यह अनुमान करने में कोई हानि नहीं है।*

इसके उपरान्त मिलनेवाली नर्मदा नदी का वर्णन ठीक वैसा ही है जैसा जबलपुर से हौशंगाबाद तक के प्रदेश में वर्षाकाल के आरम्भ में उस नदी का दृश्य होता है। ग्रीष्म ऋतु में जल सूखने पर नर्मदा नदी का प्रवाह संकुचित होकर पथरीले प्रदेश में से बहता है। उसे देखकर कालिदास जैसे प्रतिभासम्पन्न कवि को हाथी के शरीर पर चित्रित चित्र-विचित्र बेलों की उपमा का भास हुआ इसमें आश्चर्य नहीं है। नर्मदा नदी का ऐसा दृश्य अमरकण्टक के समीप कहीं नहीं दिखाई देता। इसके अतिरिक्त 'आम्रकूट पर्वत पार करके द्रुततर गति से कुछ दूर चलने पर विन्ध्य पर्वत के नीचे के प्रदेश में मेघ को नर्मदा नदी पड़ेगी' मेघदूत के इस वर्णन का नर्मदा नदी के उद्‌गम स्थान अमरकण्टक से संगति नहीं बैठती, यह स्पष्ट है।

पुण्यक्षेत्र की दृष्टि से रामटेक की प्रसिद्धि आज डेढ़ हजार वर्ष पश्चात् भी अव्याहत है। सुप्रसिद्ध गुप्त सम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रमादित्य) ईसा की चौथी शताब्दी के अन्त में विद्यमान था। उसकी पुत्री प्रभावती गुप्ता विदर्भ के राजा रुद्रसेन द्वितीय को दी गई थी। वऱ्हाड में उमरावती के समीप ऋद्धपुर स्थान पर प्रभावती गुप्ता का एक ताम्रपत्र प्राप्त हुआ है। उसमें यह लिखा है कि वह उसने कार्त्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन रामगिरि स्वामी के पादुकाओं के समीप से (रामगिरिस्वामिनः पादमूलात्)† दिया। वाकाटकों का राज्य विदर्भ में था। प्राचीन विदर्भ में वर्तमान का वऱ्हाड एवं मध्यप्रान्त के मराठी जिलों का समावेश होता था। वाकाटकों के कुछ ताम्रपत्र रामटेक से भी पूर्व को बालाघाट एवं भंडारा जिले की पूर्व सीमा पर्यन्त उपलब्ध हुए हैं। इस प्रान्त में रामगिरि नाम का दूसरा कोई भी स्थान नहीं है। इससे वाकाटकों के काल में यह पहाड़ी रामगिरि नाम से प्रसिद्ध थी, एवं वहाँ श्रीरामचन्द्रजी की पादुका रूप से पूजा होती थी, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। कालान्तर में वहाँ श्रीरामचन्द्र एवं सीतादेवी की मूर्तियाँ स्थापित की गईं एवं लक्ष्मण का भी स्वतंत्र मन्दिर बन गया। फिर भी श्रीरामचन्द्र के मन्दिर में इनकी मूर्ति के सम्मुख आज भी पादुकाएँ रखी हुई हैं और उनकी पूजा होती है।

वाकाटकों के काल के पूर्व से ही रामटेक प्रसिद्ध होगा, कारण कि यहाँ से पास ही मनसर स्थान पर एक विशाल स्तूप का अवशेष आज भी उत्खनन की बाट देखता हुआ विद्यमान है। कभी किसी काल में इसका उत्खनन होने पर इस स्थल का प्रसिद्धिकाल इससे भी पूर्व का प्राप्त होगा, इस सम्बन्ध में संशय नहीं है। इसके पश्चात् यादवों के काल में भी रामटेक की पुण्यक्षेत्र के रूप में प्रसिद्धि थी। रामटेक पर स्थित लक्ष्मणजी के मन्दिर में रामदेवराव यादव के काल का एक भग्न शिलालेख आज भी विद्यमान है। उसे हमने अन्यत्र प्रकाशित किया है।‡ उस पर से तेरहवीं शताब्दी में रामटेक पर एवं उसके चारों ओर वर्तमानकाल के समान ही अनेक तीर्थ स्थित थे, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है।

मेघदूत में उल्लिखित रामगिरि के सम्पूर्ण वर्णन से रामटेक की संगति बैठती है। वहाँ अब भी 'सीताजी का स्नानागार' नाम से एक कुण्ड सम्बोधित किया जाता है। प्राचीन काल में वहाँ श्रीरामचन्द्र के पाद-चिह्न स्थापित किए गए थे यह पहले दिखाया ही गया है। वर्षाऋतु में मेघ उसके शिखर पर आने पर किसी कल्पनापटु कवि को वह वप्रक्रीड़ापरिणत गज के समान प्रतीत हुआ तो आश्चर्य नहीं है। इस पर्वत पर आज भी घनी छायावाले वृक्ष हैं एवं वर्षाऋतु के प्रारम्भ में यहाँ कुटज-कुसुम प्रचुरता से प्राप्त होते हैं। इस पर्वत पर सर्वत्र किंचित् रक्तवर्ण के पत्थर फैले होने से, यक्ष को शिला पर अपनी प्रिया का चित्र अंकित करने के लिए धातुराग प्राप्त करने में कुछ भी श्रम नहीं उठाना पड़ा होगा।

*** रामटेक नागपुर-जबलपुर मार्ग पर स्थित है। अमरवाड़ा रामटेक के ठीक उत्तर को न होकर किंचित् पश्चिम की ओर नागपुर-नरसिंगपुर मार्ग पर स्थित है। इसी कारण मालदेश पार करने के पश्चात् 'किंचित् पश्चाद्‌भज लघुगतिर्भूय एवोत्तरेण' ऐसा यक्ष ने मेघ से कहा होगा।**

† देखिए, भारत इतिहास संशोधन मण्डल का त्रैमासिक पु० ३ पृष्ठ ९३।

‡ सरदेसाई-स्मारक ग्रंथ, पृष्ठ ११५-१३४।

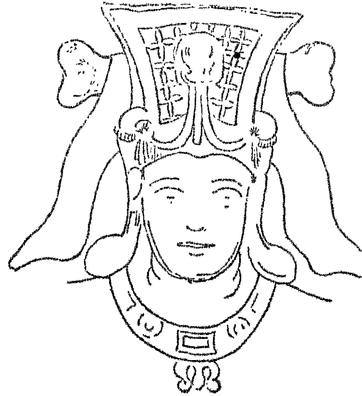
मेघदूत में रामगिरि

रामटेक ही रामगिरि है, यह मान लेने पर यह शंका उत्पन्न होती है कि रामायण में उसका उल्लेख क्यों नहीं आया। परन्तु इसका समाधान करना कठिन नहीं है। रामायण के आरण्यकाण्ड में (सर्ग ११ श्लोक २४-२७) वर्णन है कि दण्डकारण्य में निवास करने के काल में भिन्न भिन्न ऋषियों के आश्रमों में कहीं तीन मास, कहीं चार मास, कहीं दस मास और कहीं एक वर्ष, इस प्रकार वास करके श्रीरामचन्द्र ने दस वर्ष व्यतीत किए। इन आश्रमों का सविस्तर वर्णन रामायण में न होने के कारण इस काल में उन्होंने रामगिरि के आश्रम में आकर वास नहीं ही किया होगा ऐसा प्रतिपादित नहीं किया जा सकता। रामगिरि के नाम का निर्देश रामायण में नहीं है, यह सत्य है। परन्तु वैसा निर्देश होना सम्भव भी नहीं था यह सहज ध्यान में आ जाएगा, कारण कि यह नाम श्रीरामचन्द्र के वास करने से उस स्थान को कुछ कालान्तर में प्राप्त हुआ होगा। इस पहाड़ी का प्राचीन नाम शैवलगिरि था ऐसा रामटेक-माहात्म्य से ज्ञात होता है। यह शैवल गिरि शम्बूक की तपश्चर्या का स्थान था ऐसा रामायण के उत्तरकाण्ड (सर्ग ७५) में उल्लेख है। रामटेक पर शम्बूक ने तपश्चर्या की, ऐसी आख्यायिका है। जिस स्थान पर उसका शिरच्छेद हुआ था वहाँ शिवलिंग स्थापित किया गया और वह आज भी धूम्रेश्वर* नाम से रामटेक पर प्रसिद्ध है। उस प्रसंग पर शम्बूक द्वारा की गयी प्रार्थना के फलस्वरूप श्रीरामचन्द्र ने उस गिरि पर वास किया और उस समय से उस पहाड़ी को रामटेक नाम से कहने लगे, ऐसा कहते हैं। रामायण में उल्लिखित शम्बूक के तपश्चर्या के स्थान के वर्णन की रामटेक से संगति ठीक बैठती है। अतः राम वनवास के वर्णन में 'रामगिरि' का उल्लेख नहीं है, इस आपत्ति में कुछ तथ्य नहीं रह जाता।

उपर्युक्त विवेचन से पाठकों को यह विश्वास हो जायगा कि कालिदास ने अपने मेघदूत काव्य में जिस रामगिरि का वर्णन किया है वह नागपुर के समीप का रामटेक ही है। रामगिरि एवं उसके चारों ओर के प्रदेश के कालिदास द्वारा किए गए सूक्ष्म वर्णन को ध्यान में रखते हुए यह अनुमान करने में भी कोई बाधा नहीं है कि कालिदास ने इस पर्वत पर कुछ काल तक वास किया होगा एवं वहीं उसने 'मेघदूत' काव्य की रचना की होगी। ऐसे स्थान पर कवि-कुल-गुरु कालिदास का चिरकालीन स्मारक स्थापित हो, अतः विक्रम द्विसहस्राब्दी महोत्सव के अवसर पर नागपुर विश्वविद्यालय के उपकुलगुरु डॉ० तु० ज० केदार ने पिछली कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को रामटेक पर कालिदास स्मारक स्तम्भ का शिलान्यास किया। कालिदास अखिल भारतवर्ष का मान्य कवि होने से इस स्मारक को सफल करने में सम्पूर्ण भारतवर्ष को सहायता प्रदान करनी चाहिए। यह सहायता सभी की ओर से प्राप्त हो, इस इच्छा के साथ यह लेख समाप्त करता हूँ।

---

* ऊपर कहे गए रामदेवराय के काल के शिलालेखों में भी इसका उल्लेख धूम्राक्ष नाम से आया है। देखिए सर देसाई स्मारक ग्रन्थ पृष्ठ १२६। शम्बूक की तपश्चर्या का स्थान पंचवटी के समीप था, भवभूति ने अपने उत्तररामचरित में ऐसा प्रकट किया है। उसने जिस प्रकार अन्य स्थलों पर रामायण की मूल कथा में परिवर्तन किए हैं वही यहाँ भी किया होगा।



वराहमिहिर

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

ज्योतिर्विज्ञान के पूर्ववर्ती आचार्यों में वराहमिहिर का स्थान असाधारण-महत्व रखता है। यह महा-पुरुष मालव-महि मण्डल में उत्पन्न होकर केवल ज्योतिर्विदों के समाज में ही नहीं, विश्व के इतिहास, और संस्कृति के समाराधकों में भी अपनी ग्रंथ-सम्पत्ति के द्वारा पंचभौतिक शरीर के शत-सहस्राब्दियों के पूर्व त्याग देने के पश्चात् भी यशःशरीर को चिरजीवी बनाए हुए है, और अनन्तकाल पर्यन्त बनाए रहेगा।

संस्कृत-साहित्य के पश्चिम-देशीय विद्वान्-विवेचक मेकडॉनल्ड ने वराहमिहिर के विषय में यह प्रतिपादन किय है कि वे उज्जैन में उत्पन्न हुए थे, और उन्होंने अपने गणित-शास्त्रीय लेखन का कार्य लगभग ५०५ ई० सन् में आरम्भ किया था, और वराहमिहिर की विशाल एवं अमर कृति–'बृहत्संहिता' ग्रंथ के एक टीकाकार का यह कथन है कि आचार्य का निर्वाण ५८७ ई० सन् में हुआ था। वराहमिहिर ने अपने पूर्ववर्ती जिन आचार्यों का उल्लेख किया है उनमें–"मय-यवन-मणित्थ सत्य पूर्वैदिवस करादिषु वासराः प्रदिष्ठाः" मयाचार्य के नाम और यवनाचार्य के उल्लेख से स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये दोनों ही वैदेशिक थे। स्वभावतः 'यवनाचार्य' के ज्योतिर्विज्ञान का वराहमिहिर पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा है, उन्होंने अपने 'होरा-शास्त्र' को सर्वथा ग्रीक के निकट सम्पर्क से अपना लिया था, और ग्रंथ में उसकी संगति लगाते हुए 'होरेत्यहोरात्र विकल्प मेके' कहकर अपने शब्द-व्युत्पत्ति शास्त्र की विशेषज्ञता का भी प्रमाण उपस्थित कर दिया है। अर्थात्-"कोई होरा इस शब्द को–'अहोरात्र' का वैकल्पिक (अपभ्रंश) रूप भी कहते हैं।" यही क्यों उन्होंने 'बृहज्जातक' और अन्य पुस्तकों में भी यवनों के प्रेरित-शब्दों को उदारतापूर्वक अपनाया है। उन्होंने अनेक राशिनामों को उसी रूप में वर्णित कर ग्रंथ में उन्हें संस्कृत में गूथकर अपना लिया है। ग्रीक ग्रह-नामों में यथा ॲरिस के पर्याय में आर (मंगल का नाम), हिलिऑस के बदले हेलि (सूर्य), 'केन्ट्रोन' के स्थान पर 'केन्द्र', और डायोमेट्रोन के स्थान पर 'जामित्र' आदि। भारतीयों ने सर्वदा अपनी सहानुभूतिक भावना के वशीभूत हो, जाति-देश-धर्म सम्प्रदाय की संकुचित भावना से ऊपर रहकर,—'गुणाः पूजा स्थानं गुणिषु नच लिंगं नच वयः' गुण-ग्राहकता का, सहृदयता का परिचय, सद्भावना पूर्वक

उनके उल्लेख-सहित किया है। इससे ज्यादा और क्या प्रमाण हो सकता है, जब स्वयं वराहमिहिर यह स्वीकार करते हैं कि—

"म्लेच्छाहि यवनास्तेषु सम्यक् शास्त्र मिदं स्थितम्। ऋषिवत्तेऽपि पूयन्ते, किं पुनर्दैव विद्विजः॥"

'सूर्य-सिद्धान्त'-कर्ता-मयाचार्य भी वराहमिहिर के प्रथम हुए और वे भी बाहरी माने जाते हैं। स्वयं उन्हीं के शब्दों में उन्होंने बतलाया है कि—'अल्पावशिष्टेतु कृते मय नामा महासुरः।' इससे ज्ञात होता है कि वे 'असुर'-संज्ञा से ज्ञापित थे*। इसी प्रकार रोमक-सिद्धान्त आदि भी, अ-भारतीय विद्वानों के निर्मित ग्रंथ हैं। † वराहमिहिर ने 'सत्याचार्य' को अपने से विशेष प्रामाणिक बतलाते हुए—'सत्यंतु सत्योदितम्', अथवा 'सत्योक्तेग्रह मित्थं' आदि सम्मानपूर्वक सत्यवादी सत्याचार्य कहा है। सत्याचार्य की कोई रचना वैसे संस्कृत में प्रकट रूप से कहीं उपलब्ध नहीं है। केवल एक मद्रासी श्रीनिवास अय्यर नामक पंडित के पास 'सत्य-संहिता' ग्रंथ की तामिल लिपि की ताड़-पत्र पर लिखी हुई प्रति है, उसमें अध्यायों के अन्त में यही लिखा है कि सत्याचार्य की रचित यह संहिता, विक्रमादित्य के समय उज्जैन में निर्मित हुई है। वराहमिहिर ५०५ ई० सन् के स्वीकार किये जाते हैं तो अवश्य ही ज्ञात होता है कि सत्याचार्य उनसे प्रथम पर्याप्त प्रख्याति रखते थे, और उनकी रचनाओं की सत्यता का वराहमिहिर पर पूरा प्रभाव था। सम्भव है वे प्रथम शताब्दी में होंगे। इतना तो स्पष्ट है कि वे पाँचवीं या छठी शताब्दी से प्रथम थे, और वह प्रथम विक्रम-कालीन थे।

वराहमिहिर के प्रख्यात ग्रंथों में 'पंचसिद्धान्तिका' गणित का संग्रह गौरव-ग्रंथ है। इसकी प्रसिद्धि का श्रेय, डॉ० थीबो और म० म० सुधाकरजी द्विवेदी को है। परन्तु आचार्य के बृहत्संहिता और बृहज्जातक ग्रंथ की लोकप्रियता सर्वाधिक है। बृहत्संहिता ज्योतिष के संहिता विभाग की महत्वपूर्ण कृति है। इसको प्रमाण स्वरूप इतिहासज्ञ भी सादर उल्लेख करते हैं। लगभग सन् १८६४ वर्ष पूर्व 'कॅर्न' ने इसको प्रकाश में रखने का प्रयत्न किया और एशियाटिक-सोसायटी के 'जर्नल' में इसका सम्पूर्ण अनुवाद किया गया। वराहमिहिर के और भी कई ग्रंथ थे, परन्तु वे अप्राप्य हैं। तथापि संहिता ग्रंथ ने उनकी महत्ता को सर्वोपरि स्थान प्रदान कर दिया है। सहस्राधिक आर्यप्रणीत यह संहिता ग्रन्थ वास्तव में अपूर्व एवं नामानुरूप बृहत् ही है। इस ग्रन्थ के एक टीकाकार भट्टोत्पल हो गए हैं, जिन्हें प्रकाश में लाने का श्रेय म० म० स्व० सुधाकरजी द्विवेदी को है। इन 'भट्टोत्पल' ने वराहमिहिर को मगध के शाकद्वीपीय वंशावतंस काम्पिल्य-नगरी वासी होना बतलाया है, परन्तु यह सर्वथा भ्रमपूर्ण है। क्योंकि इनके सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाणित है कि ये 'आदित्यदास के पुत्र थे, और 'कापित्थक' नामक अवन्तीदेशीय एक लघु-ग्राम के अधिवासी थे। आदित्यदास (अपने पिता) से ही इन्होंने पांडित्य प्राप्त किया था, (आदित्यदास तनय स्तदवाप्त बोधःकापित्थकः) इसका प्रमाण 'षट् पंचाशिका' के निर्माता 'पृथुयशस' ने स्वयं दिया है, जो आचार्य वराहमिहिर के पुत्र ही थे। भट्टोत्पल ने जिसे 'काम्पिल्य' समझकर वर्तमान कालपी आदि की क्लिष्ट-कल्पना कर डाली है, वह वास्तव में 'कापित्थक' शब्द है, और यह 'कापित्थक' वर्तमान कायथा के रूप में उज्जैन के निकट ही मालवे का एक ग्राम है, जो आज भी अस्तित्व रखता है। वराहमिहिर के विषय में इन प्रमाणों के अतिरिक्त कुछ

* 'मय' के विषय में अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि वे बाहरी थे, किन्तु उनका शासन उज्जैन पर भी था। मय नाम का एक राजा था जो उज्जैन में राज्य करता था। इसकी संगति इससे यों लग जाती है कि जिस 'मय' नामा 'महासुर' ने 'सूर्यसिद्धान्त' का निर्माण किया था, वह 'विक्रम' कालीन है। उज्जैन की खुदाई में एक मृत्तिका की मुद्रा मिली थी, जिस पर मय-या-मही-राजा-या-रावण ऐसा ही कुछ अंकित है। सम्भव है यह 'मय-राज' ही हो, जो वराहमिहिर के पूर्ववर्ती होने के कारण तथा ज्योतिर्विज्ञान के आचार्य होने के कारण वराहमिहिर द्वारा स्मरण किया गया हो। —लेखक

† रोमक सिद्धान्त के विषय में कई विद्वानों की मान्यता है कि वह 'ग्रीक' है। पोलिश और रोमक ये नाम भी इसी के सूचक हैं। मालूम होता है कि विक्रमकाल में उज्जैन का रोम से व्यापारिक सम्बन्ध था, उसी के फलस्वरूप यह साहित्यिक आदान प्रदान हुआ होगा, और उज्जैन से होने के कारण ही वराहमिहिर द्वारा ये प्रचारित हुए होंगे। —लेखक

किम्वदन्तियाँ भी विचित्र प्रचलित रही हैं। १४वीं शताब्दी में मेरुतुंग सूरि ने, जो प्रबन्ध चिन्तामणि ग्रन्थ जैसे जनश्रुतियों के सफल संग्रह कर्त्ता रहे हैं, वराहमिहिर के विषय में यह कथा संग्रहीत की है—

पाटलीपुत्र नगर में वराह नामक एक ब्राह्मण का लड़का था, जो जन्म से शकुन ज्ञान में स-श्रद्ध था। वह एक रोज किसी वन में चला गया। वहाँ सहज ही एक पत्थर पर बैठे-बैठे उसने एक लग्न कुण्डली बनादी, और उसे मिटाना भूलकर वह वापिस घर चला आया। रात को उसे भोजनावसर पर यह स्मरण हुआ कि उस पत्थर पर लग्न वैसे ही बना हुआ रह गया है, तुरन्त निर्भीकता के साथ उस एकान्त जंगल में वह चला गया, जिस पत्थर पर लग्न बनाया था, क्या देखता है कि उसपर एक सिंह बैठा हुआ है। वह डरा नहीं, पास जाकर सिंह के नीचे से हाथ डालकर पत्थर पर बनाया हुआ वह लग्न मिटा दिया। सहसा सिंह अलोप हो गया, और उस स्थान पर सूर्य उपस्थित हो गए। वराह की निर्भीकता, और ज्योतिष के प्रति दृढ़ आस्था देखकर उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक वर माँगने को कहा। वराह ने प्रार्थना की कि मुझे समस्त ग्रह-नक्षत्र-मण्डल प्रत्यक्ष दिखला दीजिए, सूर्य अपने साथ ही वराह को आकाश-लोक में लिवा गए, समस्त ज्ञान देकर साल भर के बाद, वराह को पुनः स्थान पर लाकर छोड़ दिया। मिहिर (सूर्य) की कृपा से ज्ञान लाभ हो जाने के कारण वराह के नाम के साथ मिहिर भी जुड़ गया, और श्रीनन्द नामक नृपति के आश्रय में वराह मिहिर ने 'वाराही संहिता' का निर्माण किया*।

एक समय की बात है कि वराह मिहिर के घर पुत्रोत्पन्न हुआ था, इसलिए घटिका आदि रखकर उसने पत्रिका द्वारा यह निश्चय किया कि यह बालक पूर्ण शतायु है। उसके आनन्दोत्सव में जनता से लेकर श्रेष्ठ वर्ग-तक के लोग तो सभी आए, परन्तु वराहमिहिर का छोटा भाई जैनाचार्य भद्रबाहु नहीं गया। यह चर्चा जिन-भक्त शकटाल-नामक मंत्री के आगे उलहने के रूप में कही गई। तब भद्रबाहु से इस बात का यह मर्म ज्ञात हुआ कि बालक की आज से २०वें दिन मृत्यु है, यह जानकर भद्रबाहु नहीं गए, यह बात वराहमिहिर को भी ज्ञात हो गई। वह सतर्क रहा। परन्तु २०वें दिन रात में सोते हुए बालक पर दरवाजे की अर्गला (रोकने की 'आगल' लकड़ी) गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गयी। वराहमिहिर दुःखित हो समस्त शास्त्र को अग्निसात् करने को समुद्यत हो रहे थे कि भद्रबाहु सांत्वना के लिए जा पहुँचे। अनेक तर्कों से समझाकर उन्हें समाधान दिया। भावी अपरिवर्तनशीलता का विश्वास कर, उसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप अभिचार क्रियायों का उपासक बन गया। फिर एक स्तोत्र द्वारा विघ्न शमन किया गया।

यह दन्तकथा उन आचार्य वराहमिहिर के विषय में है, जो अपनी विशिष्ट रचनाओं को समक्ष रखकर प्रत्यक्ष ऐतिहासिक अस्तित्व को प्रकाश की तरह प्रकट कर रहे हैं। इस दन्तकथा का महत्व, जैन-जनश्रुति परम्परा तक ही सीमित है। इस प्रकार की कथा वराह-मिहिर के विषय में 'ऋषि-मंडल प्रकरणवृत्ति' में भी दी हुई है। मेरुतुंग सूरि ने तो वराह-मिहिर के भाई को ही जैनाचार्य प्रकट किया है। परन्तु उक्त ग्रन्थ में तो वराह-मिहिर को भी जैन धर्म-दीक्षित बतलाया है, और अपने बन्धु भद्रबाहु से 'सूरि' पद न मिलने के कारण वह ब्राह्मण-धर्मी हो गए, अन्त में वराह-मिहिर को भागवती दीक्षा दिलाई गई है। जब वराह-मिहिर का मरण हो गया, वह जैन-द्वेष्टा बन कर राक्षस रूप में श्रावकों को सताने लगे, इसपर भद्रबाहु ने 'उपसर्ग हर-स्तोत्र' की रचना की। इस कथा में जैन-धर्म की महत्ता की दृष्टि से ब्राह्मणत्व की अवमानना प्रकट हुई है। इस बात की उपेक्षा की जाय, तो भी यह विचारणीय है कि भद्रबाहु और वराह-मिहिर का काल साम्य भी सम्भव है या नहीं? फिर ही वराह-मिहिर के बन्धुत्त्व का प्रश्न उपस्थित हो सकता है। उपर्युक्त कथा संग्रहों में वराह-मिहिर को पाटलि-पुत्र का अधिवासी प्रकट किया है। प्रथमतः यही भ्रामक बात है। आज तो सन्देह के लिए भी अवसर नहीं है कि वराह-मिहिर कापित्थक (कायथा) ग्रामवासी और उज्जैन मण्डलान्तर्गत ही थे। प्रमाण के लिए उनके पुत्र प्रथुयश स्वयं हैं। स्वयं जैन समय गणना के अनुसार आवश्यक-सूत्र, कल्प-सूत्र, दशवैकालिक, एवं उपसर्ग-हरस्तोत्र का प्रणेता, निर्युक्तियों का निर्माता भद्रबाहु, वीर निर्वाण काल के १७० वर्ष पश्चात् लगभग ७६ वर्ष की वय में दिवंगत हुए थे, अर्थात् विक्रम-संवत् ३०० वर्ष पूर्व ही, जब कि वराह-मिहिर ५०५ वि० संवत् के प्रमाणित हैं, फिर मेरुतुंग की कथा में जिस नन्द राजा के आश्रय

* किन्तु कुछ लोगों का मत है कि वराह नामक पंडित का मिहिर पुत्र था, जिसकी विक्रम राजसभा की परम प्रतिभाशालिनी 'खना' नामक विदुषी ज्योतिर्विज्ञान-विदा से मैत्री थी, किन्तु वराह को यह सह्य नहीं था, सो 'खना' ने अपनी जिह्वा काटकर सभा का त्याग कर दिया था। —लेखक

में वराह-मिहिर को प्रस्थापित किया गया है, वह कैसे संगत हो सकता है? जो वराह-मिहिर आदित्यदास तनय होकर उन्हींसे ज्ञान प्राप्त कर सूर्य से वर प्राप्त करता है, और ज्योतिष के ग्रंथों में शिव-विष्णु-सूर्य आदि की स्तुति करता है, उसे जैन धर्म-दीक्षित बतलाया जाना, और असुर भूत-प्रेत योनि तक में प्रकल्पित करना, सत्य पर आवरण डालकर अनर्गल प्रचार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

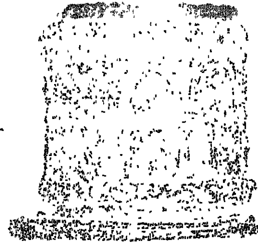
परन्तु कहा जा सकता है कि भद्रबाहु भी एक नहीं दो थे, प्रथम भद्रबाहु यशोभद्र-सूरि के छात्र, एवं चन्द्रगुप्त-मौर्य कालीन थे,* इससे स्पष्ट है कि प्रथम भद्रबाहु का छठी शताब्दी के वराह-मिहिर से कोई सम्बन्ध नहीं। जिन निर्युक्ति आदि के निर्माता भद्रबाहु हैं, वे यदि प्रथम भद्रबाहु होते तो कहीं वराहमिहिरादिक का, या हेमचन्द्र के ग्रंथों में उक्त भद्रबाहु का अवश्य उल्लेख करते। जिन लोगों की दृष्टि में द्वितीय भद्रबाहु का छठी शताब्दी में अस्तित्व है, वे भद्रबाहु को ब्राह्मण कुलोत्पन्न ही स्वीकार करते हैं, सम्भव है, यह वराह-मिहिर के भ्राता हों? बाद की जैन रचनाओं में जो श्वेताम्बरीय हैं, उनमें तथा उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त संघतिलक सूरि कृत—'सम्यकत्व सप्ततिका' आदि में जिन भद्रबाहु का उल्लेख है वह यही द्वितीय हो सकते हैं। संघतिलक सूरि की यह गाथा प्रकट है—

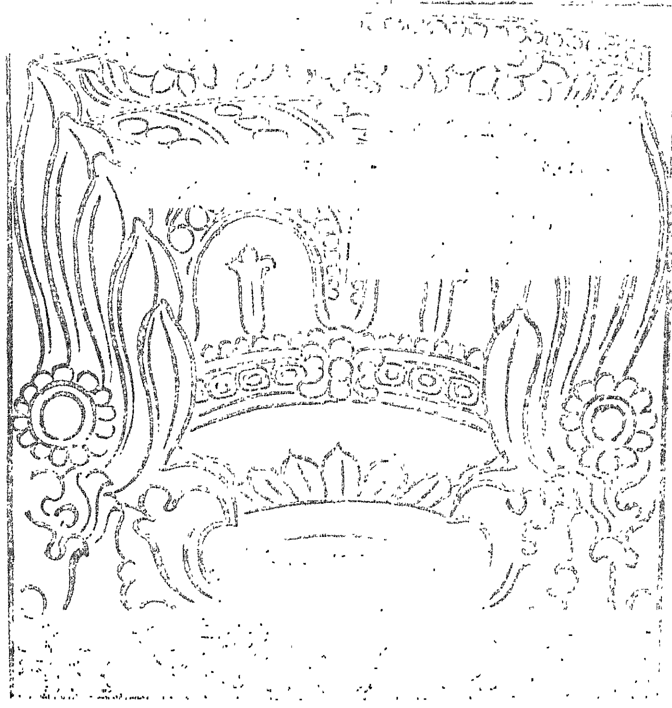
'तत्थय चउदस विज्जाठाण पारगो छक्कम्म मम्मविऊ पयईए भद्दओ भद्दबाहु नाम माहणो हुत्था। तस्सय परम पिम्म सयलीरुह मिहरो वराह मिहरो नाम सहोयरो' परन्तु भद्रबाहु ने स्वयं अपने किसी भी ग्रंथ आदि में अपना समयादि कहीं अंकित नहीं किया है।

इसपर भी यदि कालक-कथा, एवं कल्पसूत्र (१४८ सूत्र) आदि की विक्रम कालारम्भ की कल्पना से गणना करके भद्रबाहु के समय पर विचार किया जाये तो अनेक भ्रामक बातें उपस्थित हो जाती हैं। सूत्र की कल्पना से भद्रबाहु १२५ वर्ष से ऊपर की वय के ठहरते हैं, और वराहमिहिर भी १०० से कम नहीं। यदि भद्रबाहु ३० वर्ष के लगभग वराह-मिहिर से बड़े बना दिए जाएँ तो जैन परम्पराएँ उनके साथ सु-संगत हो जाती हैं। किन्तु मेरुतुंग, या अन्य ग्रंथकर्ता स्वयं वराहमिहिर को लघु-बन्धु कहकर ही स्वीकार करते हैं। इस प्रकार जैन ग्रंथों की विभिन्न चर्चाएँ स्वयं ही अपनी प्रस्थापित कल्पना को प्रमाणित करने में असमर्थ हो जाती हैं। तब वराह मिहिर के जैन होने, या भद्रबाहु के बन्धुत्व की दन्तकथाएँ सर्वथा निरर्थक और तथ्यहीन हो जाती हैं। और यह निर्विवाद है कि वराह मिहिर छठी शती में अपनी असीमित एवं चमत्कृतिकर प्रतिभा के प्रकाश से भू-मण्डल को ज्योतिर्मय बनाए हुए थे। अवश्य ही 'कालिदास-त्रयी' की तरह वराह मिहिर द्वैत हो तो यह बात भिन्न है। प्रथम वराह मिहिर विक्रमकालीन हो सकेंगे। पंचसिद्धान्तिका में वर्णित चर्चा से इस आशंका के लिए अवसर है कि एक वराह मिहिर बृहत्संहिताकार से पूर्ववर्ती भी हो सकते हैं। यद्यपि वे चाहे किसी विक्रम सभा की नवरत्न मालिका में परिगणित किए जाते हों या न हों, परन्तु स्वतः वे एक महान् रत्न थे, जिनमें अलौकिक आलोक पुंजीभूत हो गया था। ज्योतिर्विदाभरण के प्रणेता ने वराह मिहिर को विक्रम की नवरत्न-मालिका में पिरो दिया है। स्वतः वराह मिहिर ने कहीं भी उल्लेख नहीं किया है, और द्वितीय चन्द्रगुप्त की भी कहीं चर्चा नहीं होने देते हैं। पराश्रित-प्रकाश की अपेक्षा वे स्वतंत्र प्रतिभा-वैभव से ही ज्योतिष-जग पर सहस्त्र-रश्मियों की दैदीप्यमान आभा प्रसारित कर रहे हैं।

वराह मिहिर के ज्योतिर्विज्ञान पर, अतएव इस देश पर, अनन्त उपकार हैं। इस उपकार भार से हम समस्त भारतियों का गर्वोन्नत मस्तक भी उनके समक्ष सादर विनयावनत बना हुआ है।

*** वीर मोक्षाद् वर्ष शते, सप्तत्यग्रे गते सति। भद्रबाहु रपि स्वामी ययौ स्वर्गं समाधिना ॥ परि० सं० ९ श्लोक ११२।**





महाक्षपणक और क्षपणक

श्री परशुराम कृष्ण गोडे, एम्० ए०

आख्यायिका के अनुसार विक्रमादित्य की राजसभा को नवरत्नों ने अथवा साहित्यिक उच्चता प्राप्त सुविश्रुत व्यक्तियों ने सुशोभित किया था। उन रत्नों में हमें धन्वन्तरि, क्षपणक तथा अमरसिंह प्रभृति के नाम प्राप्त होते हैं। सम्भवतः विभिन्न कालवर्ती विभिन्न ग्रंथकर्ताओं के सम्मिश्रण से तथा उन सभी को विक्रमादित्य की राजसभा में समकालीन बताने से उत्पन्न होने वाले काल व्यक्तिक्रम के कारण कुछ उच्च विद्वान् इस आख्यायिका को निरर्थक मानते हैं। परन्तु इस आख्यायिका को निरर्थक मानकर त्यागने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम आख्यायिका में कथित विभिन्न रत्नों के चतुर्दिक् शताब्दियों से एकत्र हुए धूमिल मंडल को बेधने का वास्तविक् प्रयत्न करें और इसके लिए यह अपरिहार्य है कि हम अत्यन्त प्राचीन अथवा अपेक्षाकृत कम प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त इन रत्नों अथवा सुविश्रुत व्यक्तियों के समनामकों के उल्लेखों का परीक्षण करें।

आख्यायिका में क्षपणक नवरत्नों में से एक है। इस सुविश्रुत व्यक्ति के समनाम व्यक्तियों की खोज में मुझे एक महाक्षपणक, प्राचीन पाण्डुलिपियों के पुस्तकालयों में अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में उपस्थित 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' नाम के प्राचीन कोष के सुविख्यात रचयिता के रूप में प्राप्त हुआ है।

'गणरत्नमहोदधि' के निम्न अवतरण में वर्धमान ने एक क्षपणक का उल्लेख किया है :—

(श्लोक २६१)—"तालो धनुषि पीयूक्षा"; टीका "पीलुवाची" "पीयूक्षम्रिति क्षपणकः"।

वर्धमान ने अपने ग्रंथ की रचना ११४० ईसवी में कीं, अतः वर्धमान द्वारा उल्लिखित क्षपणक निश्चित रूप से ११४० ईसवी के पूर्व का है।

डॉ० झकेरी के विचार से क्षपणक तथा महाक्षपणक एक ही ग्रंथकर्ता के नाम हो सकते हैं। यद्यपि वे महाक्षपणक के काल का निर्णय नहीं कर सके, उनका कथन है कि 'उणादिसूत्र' के टीकाकार क्षपणक तथा महाक्षपणक के एक ही व्यक्ति होने की सम्भावना है।

महाक्षपणक और क्षपणक

क्षपणक तथा महाक्षपणक की अभिन्नता प्रामाणिक होने की दशा में 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' एवं 'एकाक्षरीकोश' नाम के शब्द कोशों के रचियता महाक्षपणक का समय 'गणरत्नमहोदधि' के काल से—११४० ईसवी से—पूर्व का है।

अब मैं इसके अतिरिक्त अन्य स्वीकृत तत्त्वों का उल्लेख करूँगा जिससे महाक्षपणक तथा क्षपणक का काल और भी २०० वर्ष या इससे अधिक पूर्व पहुँच जाता है।

महाकाव्यों का टीकाकार वल्लभदेव अपनी व्याख्या की पुष्टि के लिए प्रमाणों का बहुत कम आश्रय लेता है। तथापि उसकी रघुवंश पर रचित टीका की पाण्डुलिपि* के ६८वें पृष्ठ पर मुझे महाक्षपणक रचित अनेकार्थध्वनिमंजरी' का निम्न उद्धरण प्राप्त हुआ है—

"नरपतिश्चकमे मृगयारतिं समधुमन्मधुमन्मथसंनिभः"।

यह मूल के ५९वें श्लोक की दूसरी पंक्ति है। इस पंक्ति की टीका वल्लभ ने इस प्रकार की है :—

"मन्मथ कामः तत्समानमधू माद्यं मधूक्षौद्र मधुपुष्परसस्तथा। मधुर्दैत्यो मधुश्चैत्रो मधुकोपि मधुर्मृदुः अनेकार्थ ध्वनिमंजरी"।

अनेकार्थमंजरी कोष, जिसे ऊपर के अवतरण में वल्लभ उद्धृत करता है, काश्मीरनिवासी महाक्षपणक का प्रतीत होता है। यह अत्यन्त स्वाभाविक है कि वल्लभ जो स्वयं काश्मीर निवासी था, एक अन्य काश्मीर निवासी महाक्षपणक द्वारा रचित अपने से प्राचीन कोष से उद्धरण ले।

उपर्युक्त उद्धरण पाठ की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में मेरा कथन यह है कि यह अनेकार्थध्वनिमंजरी की मुझे प्राप्त हुई पाण्डुलिपि† में भी मिला है। इसपर संवत् १५६८ अर्थात् १५१२ ईसवी तिथि का उल्लेख होने से यह पाण्डुलिपि स्वयं ही ४३१ वर्ष प्राचीन है। इस पाण्डुलिपि के पृष्ठ १ पर उपर्युक्त उद्धरण इस प्रकार है :—

"मधुर्दैत्यो मधुश्चैत्रो मधुकोपिमधुर्मतः"।

उद्धृत कोष दो नामों से प्रसिद्ध है। राजेन्द्रलाल मित्र द्वारा वर्णित इस ग्रंथ की दो पाण्डुलिपियों में तथा डॉ० एग्लिग् द्वारा वर्णित एक तीसरी प्रति में इस ग्रंथ का नाम उपर्युक्त वल्लभ के उद्धरण में कहे हुए नाम के समान ही 'अनेकार्थमंजरी' है। इस ग्रंथ का नाम 'अनेकार्थध्वनिमंजरी' भी है। आफ्रेक्ट ने अपने विशाल कॅटेलॉगस कॅटेलोगोरम में अनेक पाण्डुलिपियों का इस नाम के अन्तर्गत उल्लेख किया है। डॉ० एग्लिग् ने भी इस नाम की एक पाण्डुलिपि का उल्लेख इण्डिया ऑफिस के पुस्तकालय के अपने कॅटेलॉग ऑव् संस्कृत मॅनुस्क्रिप्ट्स् में किया है।

रघुवंश पर लिखी अपनी टीका में वल्लभदेव द्वारा उद्धृत अनेकार्थध्वनिमंजरी के प्राप्त हुए श्लोक को दृष्टि में रखते हुए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि अनेकार्थध्वनिमंजरी का रचयिता महाक्षपणक अथवा क्षपणक काश्मीर के वल्लभदेव से पूर्ववर्ती है।

वल्लभदेव के काल के सम्बन्ध में अब मुझे यह कहना है कि उसके पौत्र एवं चन्द्रादित्य के पुत्र (९७७-८२ ईसवी) कय्यट द्वारा काश्मीर के राजा भीमगुप्त (९७७-८२ ई०) के शासनकाल में आनन्दवर्धन के देवीशतक पर ९७७-७८ ईसवी में टीका लिखे जाने के कारण विद्वानों ने उसे दशम शताब्दी के पूर्वार्ध में रखा है। वल्लभदेव की तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों की अधिक स्पष्ट सूचना यह है कि वह ई० ९२५ के लगभग विद्यमान था।

*** भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में स्थित गवर्नमेण्ट मॅनुस्क्रिप्ट लायब्रेरी की १८८७-९१ की पाण्डुलिपि, संख्या ४४९।**

† उक्त इन्स्टीट्यूट तथा लायब्रेरी की १८८०-८१ की पाण्डुलिपि, संख्या २७०।

श्री परशुराम कृष्ण गोडे

इस प्रकार उल्लिखित कोश का लेखक महाक्षपणक अथवा क्षपणक ८०० ईसवी या ऐसी ही किसी तिथि से पूर्वकालीन नहीं तो ९०० ईसवी से पूर्व का अवश्य हो सकता है। महाक्षपणक की तिथि के सम्बन्ध में यह सीमा, अमरकोश के विख्यात् रचियता अमरसिंह से, जो नवरत्नों की आख्यायिका के अनुसार अन्य सुविश्रुत व्यक्तियों के साथ विक्रमादित्य की राजसभा को अलंकृत करता था, उसके समकालीन होने की सम्भावना उत्पन्न करती है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय (अथवा विक्रमादित्य, ४०१ ई०) कवियों को आश्रय देता था। डॉ० ए० बी० कीथ के विचार में नवरत्नों की आख्यायिका विक्रमादित्य के इस यश की साक्षीभूत है। महाक्षपणक अथवा क्षपणक का काल मैंने पहले ही ८०० ईसवी अथवा ऐसी ही किसी तिथि से पूर्व का सिद्ध कर दिया है और यदि यह क्षपणक तथा आख्यायिका के क्षपणक एक ही हैं, तो यह तर्क करना सम्भव है कि वह चन्द्रगुप्त द्वितीय की राजसभा में—जिसने विक्रमादित्य की उपाधि धारण की थी—रहा हो। कुछ विद्वानों ने प्रचलित इस मत से कि कालिदास गुप्तकाल के कवियों में से था, इस दृष्टिकोण का सामंजस्य है।*

सभी आख्यायिकाएँ प्रचलित कल्पनाओं से उत्पन्न होती हैं और फलतः वे सम्पूर्ण विस्तार में ऐतिहासिक सत्य नहीं होतीं। फिर भी इन आख्यायिकाओं की उत्पत्ति एवं शताब्दियों से हुए उनके आनुक्रमिक विकाश के ज्ञान को सम्भव बनाने के लिए हमें उनकी प्राचीनता की परीक्षा करना उपयुक्त है। भविष्य के विद्वानों को वे परीक्षण के लिए तत्काल प्राप्त हो जावें, इस उद्देश्य से भी इन सब आख्यायिकाओं को एकत्र संग्रहीत करना उपादेय है। प्रस्तुत निबन्ध में मैंने केवल आख्यायिका के क्षपणक की उसके समनामक अनेकार्थध्वनिमंजरी के रचयिता से, जिसकी स्थिति (८०० ई०) से पूर्व के काल की सिद्ध की जा चुकी है, अभिन्नता का परीक्षण किया है। इस समस्या में रस लेनेवाले विद्वानों का मैं कृतज्ञ होऊँगा यदि वे क्षपणक के समनामकों के सम्बन्ध में ८०० ईसवी से पूर्व के सूत्रों से उपादेय उल्लेखों का निर्देश करेंगे।

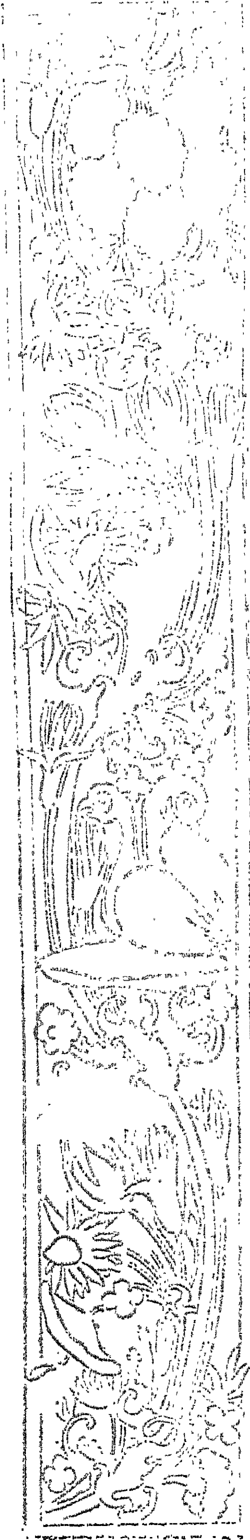
नवरत्नों की आख्यायिका के सभी सुविश्रुत व्यक्तियों के काल का जब हम निश्चित रूप से निर्णय कर लेंगे, तभी हम इस आख्यायिका को मिथ्या कहकर छोड़ सकेंगे।

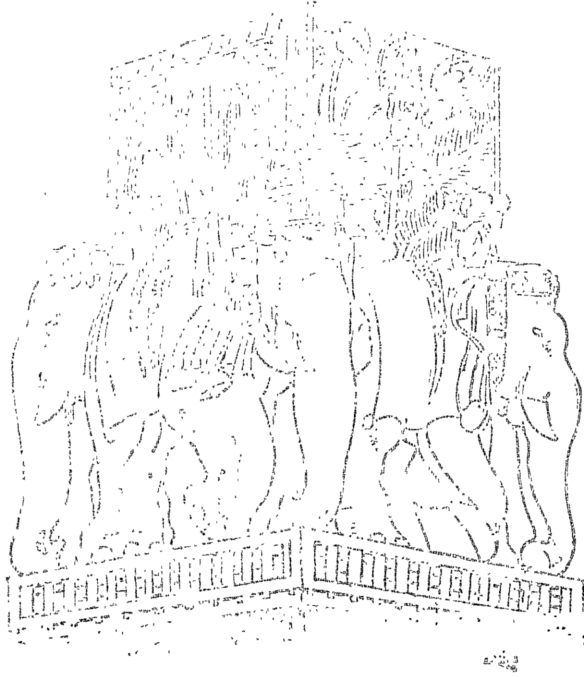
प्रस्तुत निबन्ध के आधारभूत प्रमाण के लिए मैं पाठकों का ध्यान अपने लिखे डॉ० एम्० विण्टरनिट्ज (Dr. M. Winternitz) के फेस्ट्स्क्रिफ्ट (Frestschrift) (लेपजिग १९३३) में प्रकाशित (पृष्ठ ८९-९१) 'अनेकार्थध्वनिमंजरी का काल' नामक निबन्ध की ओर आकर्षित करता हूँ। यह प्रमाण विक्रम-स्मृति-ग्रंथ के पाठकों को रुचिकर होना सम्भव है तथा फेस्टस्क्रिफ्ट (जर्मन भाषा में) इस देश के सभी विद्वानों को सरलता से प्राप्य नहीं है, इस कारण मैंने प्रस्तुत निबन्ध में अनेकार्थध्वनिमंजरी के रचयिता क्षपणक के काल के सम्बन्ध में अपने तर्कों के तथा उसके विक्रमादित्य के नवरत्नों की आख्यायिका के क्षपणक से अभिन्न होने की सम्भावना के सम्बन्ध में संक्षिप्त निर्देश किया है।

---

* **प्रो० भगवत्शरण उपाध्याय का 'कालिदास का काल' (*Date of Kalidas*) नामक निबन्ध (जर्नल ऑव दी यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी, खण्ड १४, भाग २, पृष्ठ ३५)।**







❀ कालिदास ❀

श्री उदयशंकर भट्ट

विश्व-भारती कल्प-लता के अमर सुमन-मकरंद अमंद,
युग-युगान्त का तिमिर चीर कर हुए प्रकाशित जिनके छंद,
नग-अधिराज शिखर गौरव से जिनके गाते गीत ललाम,
कवि-कुल-गुरु उन वश्यवाक् श्रीकालिदास को सतत् प्रणाम।

× × × ×

हिमगिरि-शिखर-समाधि-स्थित स्मर-विजयी शंकर मुग्ध हुए,
जिनके वीणा-पाणि-स्तव से प्रलयंकर उद्‌बुद्ध हुए,
गण-गण गुंजित तांडव-मंडित विश्व-ध्वनि साकार हुई,
क्षण-क्षण अणु परिमाणु हिल उठे गति में अयति पुकार हुई।

× × × ×

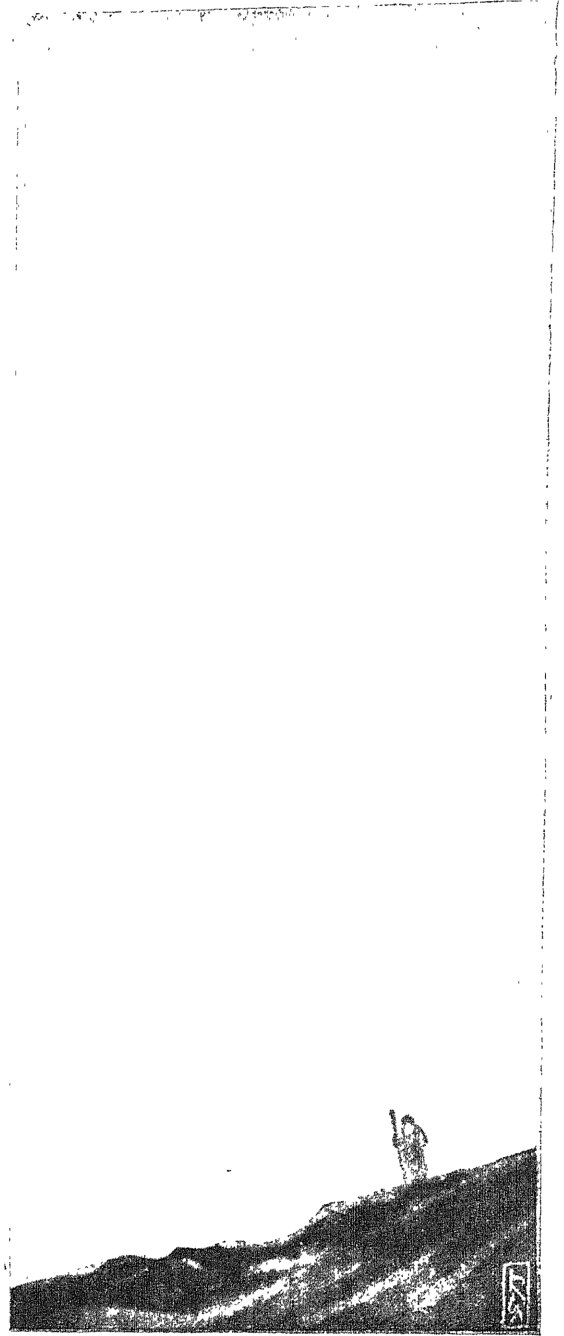
रस-हिलोर से सप्त-सिन्धु भर, नाच उठे भूधर सारे,
नंदित स्तव से, भव-वैभव से आप्लुत हुए स्कंद न्यारे,
तारक-दल खिल झिलमिल-झिलमिल जिनसे निज वैभव पाते,
रवि, शशि, उषा, मेघमालाएँ नितप्रति दूत बने आते।

× × × ×

नव-नव चेतन लिए समीरण पहुँचाता संदेश जहाँ,
यक्ष-प्रिया को घूम-घूम कर ठहर-ठहर निःशेष जहाँ,
अमर भारती वीणा-नादिनि, जिनको पा कृतकृत्य हुई,
कालत्रय की प्रकृति भाव ले शब्द-शब्द की भृत्य हुई।

× × × ×

अति तेजस्वी, अमर यशस्वी, अपर विधाता अति अभिराम,
उस प्रकाश को, उस विकास को, कालिदास को सतत् प्रणाम!



नगाधिराज

(चित्रकार—श्री रुब हंजी, मद्रास)



भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि

श्री विजयगोविन्द द्विवेदी, बी० ए०, आयुर्वेदरत्न

भारतवर्ष की राजनीति, संस्कृति, साहित्य, विज्ञान तथा कला के इतिहास में विक्रमादित्य का नाम अपनी अनपायिनी प्रभा के साथ गौरव एवं प्रशंसा से विभूषित है और इसके साथ ही अमर है इनके यशःशरीर की रचना के अनेक बीजों में से एक इनकी राजसभा के रत्नों की नाममाला। विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित विचारों और जन-श्रुतियों का आधार प्रधानतः गुणाढ्य की पैशाची में रचित बृहत्कथा है। बृहत्कथा अब अप्राप्य है। उसका सोमदेवकृत संस्कृत संस्करण कथासरित्सागर प्राप्त होता है। इसके पश्चात् 'पट्टावली' भी विक्रमादित्य के सम्बन्ध में प्रचलित अनु-श्रुतियों का प्रश्रय है और 'ज्योतिर्विदाभरण' में विक्रम के नवरत्नों के सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख है :—

> धन्वन्तरिः क्षपणकोऽमरसिंहशंकुवेतालभट्टघटकर्परकालिदासाः।
> ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य॥

नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा तथा वी० एस० आपटे के मत—नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा ने काश्यप-संहिता के विस्तृत उपोद्घात में विक्रमादित्य की नवरत्नमाला के धन्वन्तरि के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है :—

'नवरत्नों में गिना गया धन्वन्तरि कवि है, इसका वैद्याचार्य होना कहीं से भी प्राप्त नहीं होता।'*

श्री० वी० एस् आपटे महोदय ने भी नौ महर्घ रत्नों के नाम गिनाने के बाद 'नवरत्न' शब्द का अर्थ उक्त श्लोक उद्धृत करते हुए 'विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्न अथवा कवि'† किया है।

---

* 'नवरत्नेषु गणितो धन्वन्तरिः कविः, नास्य वैद्याचार्यत्वं कुतोप्यायाति"—श्रीयादवजी त्रिविक्रमजी आचार्य द्वारा संपादित 'काश्यपसंहिता वृद्धजीवकीयतंत्रं वा' का उक्त पंडितजीकृत उपोद्घात, पृष्ठ ६२।

† '—the nine gems or poets at the court of King Vikramaditya'—V. S. Apte's *Practical Sanskrit English Dictionary*.

भारतीय इतिहास में धन्वन्तरि

निबन्ध का क्षेत्र—दो दो विद्वानों द्वारा नवरत्नों की आख्यायिका के धन्वन्तरि को 'कवि' कहा जाने के पश्चात् उसे कवि के अतिरिक्त कुछ कहना साधारणतः दुःसाहस हो सकता है। परन्तु उन्हीं के स्वर में अपना स्वरैक्य करने से पूर्व यह आवश्यक है कि भारतीय इतिहास में प्रचलित अनेक धन्वन्तरि नामों की ऐतिहासिकता का यहाँ परीक्षण कर लिया जाय और कम से कम इस सम्भावना पर विचार कर लिया जाय कि विक्रमादित्य से सम्बद्ध धन्वन्तरि दो विद्वानों द्वारा कवि कहा जाने के पश्चात् भी कवि के अतिरिक्त कुछ और हो सकता है अथवा नहीं।

ऋग्वेद में धन्वन्तरि—इस परीक्षण को वेदों से प्रारंभ करके हम देखते हैं कि वहाँ यद्यपि 'धन्वन्तरि' नाम का उल्लेख नहीं है तथापि सुश्रुतसंहिता में* उल्लिखित 'काशिराज दिवोदास धन्वन्तरि', जिनके नाम के 'काशिराज' तथा 'धन्वन्तरि' भाग उपाधिजन्य तथा आनुवंशिक प्रतीत होते हैं, और शेष दिवोदास बचता है, उनका आयुर्वेद के अन्य आचार्य भारद्वाज तथा अश्विनीकुमारों के साथ ऋग्वेद में इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख है :—

'यदयातं दिवोदासाय वर्ति भारद्वाजायाश्विनाहयन्ता'†

हरिवंश तथा विष्णुपुराण के वंशानुक्रम—इस धन्वन्तरि के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देह के निराकरण के लिए अन्य स्थलों पर हुए इनके नामोल्लेखों की गवेषणा में विष्णुपुराण तथा हरिवंश में आये इनके निम्नलिखित वंशानुक्रम उल्लेखनीय हैं :—

विष्णुपुराण (४-८)‡—पुरुरवा—आयु—क्षत्रवृद्ध—काश—काशिराज—दीर्घतपा—धन्वन्तरि—केतुमान्—दिवोदास—प्रतर्दन।

हरिवंश (२९)‡—काश—दीर्घतपा—धन्व—धन्वन्तरि—केतुमान्—भीमरथ—दिवोदास—प्रतर्दन।

उपर्युक्त वंशानुक्रम की पीढ़ियों के क्रम में यद्यपि अन्तर है, तथापि इस बात में दोनों का मतैक्य है कि धन्वन्तरि दिवोदास के पूर्वज थे। इससे यह अनुमान करना अनुचित नहीं है कि दिवोदास ने, जो स्वयं आयुर्वेद का आचार्य था, अपने पूर्वपुरुष धन्वन्तरि के सर्वसम्मानित आचार्य होने से अपने नाम से पूर्व धन्वन्तरि नाम जोड़ा हो। इस तथ्य की पुष्टि चरकसंहिता के इन उद्धरणों से भी होती है जिनसे शल्यचिकित्सकों का भिन्न सम्प्रदाय होना और उसका नाम भी धान्वन्तरि पड़ना प्राप्त होता है :—

'तत्र धान्वंतरीयाणामधिकारः क्रियाविधौ।' 'दाहे धान्वंतरीयाणामपि भिषजां मतम्॥'

धन्वन्तरि के अन्य उल्लेख—ऋग्वेद के पश्चात् कौषीतकिब्राह्मण में हमें आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि के वंशज 'दैवोदासिः प्रतर्दनः' का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है :—

'अथ ह स्माह दैवोदासिः प्रतर्दनो नैमिषीयाणां सत्रमुपगम्योपास्य.............विचिकित्सां पप्रच्छ'।‡

कौषीतक्युपनिषत् में भी दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख 'प्रतर्दनो ह वै दैवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम।'** इस प्रकार मिलता है। काठकसंहिता में हरिवंश के भीमरथ को भीमसेन कहा है और वहाँ भीमसेन के पुत्र दिवोदास का उल्लेख इस प्रकार है :—

'दिवोदासो भैमसेनिरारुणिमुवाच' ***

---

* **"..............आश्रमस्थं काशिराजं दिवोदासं धन्वन्तरिं....................सुश्रुतप्रभृतय ऊचुः" सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान अध्याय १।**

† **ऋग्वेद १-१२-१६।**

‡ G. N Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines,* Vol. II P. 310—11.

‡ **कौषीतकिब्राह्मण २६-५।** ** **कौषीतक्युपनिषत् ३-१।** *** **काठकसंहिता ७-१-८।**

श्री विजयगोविन्द द्विवेदी

धन्वन्तरि तथा दिवोदास नामों का उल्लेख महाभारत के उद्योग* तथा अनुशासन† पर्वों में प्राप्त होता है।

भगवान् बुद्ध के चिकित्सक जीवक द्वारा संग्रहीत काश्यपसंहिता में भी धन्वन्तरि‡ नाम का उल्लेख है, तथा ऋक्सर्वानुक्रमणी में दिवोदास के पुत्र प्रतर्दन का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है :—

प्रसेनानीश्चतुर्विंशतिर्दैवोदासिः प्रतर्दनः॥ (कात्यायनी ऋक्सर्वानुक्रमणी सू० ५२)।

पालि के मिलिन्दपञ्हो नामक ग्रंथ में भी पूर्वाचार्यों में धन्वन्तरि को गिनाते हुए मिलिन्द (मीनाण्डर) ने नागसेन से इस प्रकार कहा है :—

"भन्ते नागसेन! वैद्यक शास्त्र के जो पुराने आचार्य हो गए हैं—नारद, धन्वन्तरि, अंगिरस्......................सभी ने अपने स्वयं अनुभव कर करके अपने शास्त्रों को लिखा था, क्योंकि वे सर्वज्ञ नहीं थे।"‡

जातक ग्रंथों में भी आयुर्वेद के आचार्य धन्वन्तरि का उल्लेख है। अयोघर नाम के जातक* में वैतरणि तथा भोज नाम के आयुर्वेद के आचार्यों के साथ धन्वन्तरि का नाम आया है। आर्यसूरीय जातक* में केवल धन्वन्तरि का नाम ग्रहीत हुआ है।

धन्वन्तरि के नाम का उल्लेख गरुड, स्कन्द, तथा मार्कण्डेय पुराणों में भी प्राप्त होता है।

वाराणसी अथवा काशी के स्वामी धन्वन्तरि दिवोदास—इन धन्वन्तरि के पौत्र दिवोदास ने इन्द्र के आदेशानुसार 'वाराणसी' बसाई ऐसा महाभारत के इस कथन से ज्ञात होता है :—

सौ देवस्त्वथ काशीशो दिवोदासोऽभ्यषिच्यत। दिवोदासस्तु विज्ञाय वीर्यं तेषां यतात्मनाम्। वाराणसीं महातेजा निर्ममे शक्रशासनात्॥

दिवोदास ने ऊजड़ वाराणसी को बसाया, हरिवंश में ऐसा उल्लेख भी मिलता है। महाभारत के उद्योग पर्व में इनके काशीश होने का उल्लेख इस प्रकार प्राप्त होता है :—

महाबलो महावीर्यः काशीनामीश्वरः प्रभुः। दिवोदास इति ख्यातो भैमसेनिर्नराधिपः॥

भावप्रकाश में भी इनके काशी के स्वामी होने का उल्लेख प्राप्त होता है।§ इस काशी तथा वाराणसी का उल्लेख महावग्ग में प्राप्त होता है तथा बुद्ध ने धर्मचक्र का प्रवर्तन वाराणसी नामक प्रदेश के ऋषिपत्तन मृगदाय में किया यह सूचना भी वहीं प्राप्त होती है।¶ जातक ग्रंथों में तो वाराणसी का उल्लेख अनेक स्थानों पर मिला है और मिलिन्द-

* अध्याय ११७।

† अध्याय २९ तथा ९६।

‡ निर्णय सागर प्रेस का संस्करण, पृष्ठ ३९।

‡ भदन्त आनन्द कौसल्यायन कृत हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३३४।

* "धम्मंतरि वेतरणि च भोजो विसानि हत्वा च भुजंगमानम्"॥

* "हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमंत्राः व्याधीन्नृणामुपमशय्य च वैद्यवर्याः।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं धर्माय मे नमति तेन मतिर्वनान्ते॥"

§ नाम्ना तु सोऽभवत् ख्यातो दिवोदास इति क्षितौ...........
यत्नेन महता ब्रह्मा तं काश्यामकरोन्नृपम्
ततो धन्वतरिर्लोकैः काशीराजोऽभिधीयते॥ भा० प्र० १।७३-७४।

¶ महावग्ग १, १।

पण्हो नामक ग्रंथ में भी वाराणसी* का निर्देश प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने अपने सूत्रों में काशी का॥ तथा नद्यादिगण में नगरवाचक वाराणसी† शब्द का उल्लेख किया है।

धन्वन्तरि का प्रादुर्भाव—इन धन्वन्तरि के जन्म के विषय में, अन्य विभूतियों के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में उपस्थित अस्पष्टता के अविपरीत ही पुराणों तथा महाभारत ने विभिन्न मतों का अवलम्बन किया है। इनके सम्बन्ध में अम्बष्ठाचार-चन्द्रिका में उद्धृत पुराण के वचनों के अनुसार‡ एक मनोरंजक कथा इस प्रकार है :—

"एक बार महर्षि गालव कुश आदि की खोज में वन में अत्यन्त परिश्रान्त हो गए। वे अत्यन्त तृषार्त थे, किन्तु जल न मिलने से वन से बाहर निकले। उन्हें कटिप्रदेश पर जलकलस रखे एक युवती कन्या मिली। उसे देखकर प्रसन्न होकर मुनि पुंगव ने कहा 'हे कन्ये त्वं जलं देहि प्राणरक्षां कुरुष्व मे।' उसने वह जल-कलस ऋषि को दे दिया। ऋषि ने उसमें से आधे से स्नान तथा आतृप्ति पान किया तथा कहा, 'हे कन्ये! तू पुत्रवती हो।' कन्या ने कहा, 'मेरा पाणि-ग्रहण नहीं हुआ है।' मुनिवर ने कहा 'तू कौन है और तेरा क्या नाम है?' उसने कहा, 'मैं वैश्य की कन्या हूँ और मुनिपुंगव! मेरा नाम वीरभद्रा है।' तब ऋषि ने विचार किया और उसे साथ लेकर ऋषियों के पास जाकर सारा वृत्तान्त कहा। ऋषियों ने प्रसन्न होकर कहा, 'तथास्तु। इस वैश्य कन्या वीरभद्रा से धन्वन्तरि उत्पन्न होगा।' ऐसा कहकर उन ऋषियों ने कुश की एक पुतली बनाकर कन्या की गोद में रख दी और वेदमंत्रों द्वारा उसमें प्राण-प्रतिष्ठा की। उसी समय उस (कन्या) की गोद में स्वर्ण-राशि के समान गौर सौम्य आकृति का बालक देखकर श्रेष्ठ मुनियों को अत्यन्त हर्ष हुआ वह वेद मंत्रों से उत्पन्न हुआ अतः वैद्य और माता के कुल में स्थित था अतः अंबष्ठ नाम से विख्यात हुआ।"

स्कन्दपुराण में भी ऐसा ही एक उपाख्यान कहा गया है। वहां वीरभद्रा के पिता ने गालव ऋषि को वह कन्या प्रदान की है। परन्तु गालव ऋषि ने पाणिग्रहण स्वीकार न करके उस कन्या से धन्वन्तरि पुत्र होने का वर दिया है।‡‡

अब्जदेव धन्वन्तरि—इससे भिन्न समुद्र-मंथन के फलस्वरूप चतुर्दश रत्नों के साथ जल से धन्वन्तरि के उत्पन्न होने की कथा भी प्राप्त होती है। भगवान् धन्वन्तरि की इस उत्पत्ति का उल्लेख महाभारत**, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्तपुराण***, अग्निपुराण§ तथा हरिवंश आदि में प्राप्त होता है। परन्तु सम्भवतः यह उल्लेख दिवोदास अथवा उनके पितामह या प्रपितामह का न होकर आयुर्वेद के अधिष्ठाता अब्जदेव का है। इनका सम्बन्ध इन्हींके अवतार§§ कहे गए मानव-शरीर-धारी धन्वन्तरि से अथवा उनके पौत्र या प्रपौत्र धन्वन्तरि दिवोदास से स्थापित नहीं किया जा सकता। यह सम्भावना हो सकती है कि लोकोत्तर प्रतिभासम्पन्न आयुर्वेद के उद्धारक आचार्य धन्वन्तरि के सम्बन्ध में ही इस अलौकिक जन्म की तथा देवत्व की कल्पना कर ली गई हो।

गुरुपरम्परा—इन धन्वन्तरि ने दक्ष प्रजापति के शिष्य अश्विनीकुमारों के अन्तेवासी देवराज इन्द्र से—जिनके आदि आचार्य ब्रह्मा थे—परम्परागत आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया। सुश्रुतसंहिता में यह इस प्रकार प्राप्त होता है :—

ब्रह्मा प्रोवाच ततः प्रजापतिरधिजगे, तस्मादश्विनावश्विनाभ्यामिन्द्र इन्द्रादहं मया त्विह प्रदेयमर्थिभ्यः प्रजाहित हेतोः।¶

---

* भदन्त आनंद कौसल्यायन कृत हिन्दी अनुवाद पृष्ठ २, २४, २२६, ४०२, ४०३, ४०७, ४२९।

॥ काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ४।२।११६।

† नद्यादिभ्यो ढक् ४।२।९७ वाराणसेयः।

‡ G. N. Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines* Vol. II P. 313.

‡‡ G. N. Mukhopadhyaya—*History of Indian Medicines* Vol. II P. 314.

** धन्वन्तरिस्ततो देवो वपुष्मानुदतिष्ठत। श्वेतं कमण्डलुं बिभ्रदमृतं यत्र तिष्ठति॥ महाभारत आदिपर्व अ० १६।

*** नारायणांशो भगवान् स्वयं धन्वन्तरिर्महान्। पुरा समुद्रमथने समुत्तस्थौ महोदधेः॥ ब्रह्मवैवर्तपुराण ३-५१।

§ ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेदप्रदर्शकः। बिभ्रत्कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः॥ अग्निपुराण अ० ३।

§§ तस्य गेहे समुत्पन्नो देवो धन्वन्तरिस्तदा। काशिराजो महाराजा सर्वरोगप्रणाशनः॥ हरिवंश अ० २९।

¶ सुश्रुतसंहिता सूत्रस्थान १।१६।

इसके अतिरिक्त इन्द्र के शिष्य भरद्वाज से इनके आयुर्वेद अध्ययन करने का हरिवंश में इस प्रकार वर्णन है :—

काशिराजो महाराजः सर्वरोग प्रणाशनः। आयुर्वेदं भरद्वाजात् प्राप्येदं भिषजांक्रियाम्।
तमष्टद्या पुनर्व्यस्य शिष्येभ्यः प्रत्यपादयत् ॥*

अपने सतीर्थ से ज्ञान प्राप्त करने के उल्लेख का आधार यही हो सकता है कि अंग विशेष में वैशिष्ट्य प्राप्त करने के हेतु से दिवोदास धन्वन्तरि ने भरद्वाज से शिक्षा प्राप्त की हो।

इस विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकलता है कि आयुर्वेद के अधिष्ठाता अब्जदेव धन्वन्तरि से भिन्न काशी के स्वामी एक धन्वन्तरि हुए तथा उनके पौत्र अथवा प्रपौत्र धन्वन्तरि दिवोदास दूसरे धन्वन्तरि हुए। उपर्युक्त उल्लेखों को दृष्टि में रखते हुए श्री जी० एन्० मुखोपाध्याय द्वारा उत्पादित इस शंका को कोई स्थान नहीं रह जाता कि 'काशिराज का अर्थ काशी का राजा है अथवा किसी राजा का नाम है, यह कहना कठिन है।'† यह भी किंचित् दृढ़ता के साथ स्वीकार किया जा सकता है कि महाभारत तथा पुराणों में उन्हीं दिवोदास के उपाख्यान तथा वंशानुक्रम का विस्तार किया गया है जिनका उल्लेख बीजरूप से ऋग्वेद के उद्धृत मंत्र में मिलता है। उक्त मंत्र में दिवोदास का उल्लेख आयुर्वेद के अन्य आचार्य भारद्वाज तथा अश्विनीकुमारों के साथ होने से इस तथ्य की पुष्टि होती है।

वैदिक धन्वन्तरि के कार्य

शिष्य-परम्परा—भगवान् धन्वन्तरि के आज भी प्राप्त होने वाले कार्यों में अपनी शिष्य-परम्परा के विस्तार द्वारा रुजाकुल संसार को रोग-मुक्ति का वरदान मुख्य कहा जा सकता है। सुश्रुत-संहिता में उनके शिष्यों में औपधेनव, औरभ्र, वैतरण, पौष्कलावत, करवीर्य, गोपुररक्षित तथा सुश्रुत प्रभृति के नाम इस प्रकार गिनाए हैं :—

'अथ खलुभगवतं...............धन्वंतरिमौपधेनव वैतरणौरभ्रपौष्कलावतकरवीर्य-गोपुररक्षित-सुश्रुत-प्रभृतय ऊचुः।'‡

इसकी व्याख्या करते हुए डल्लणाचार्य ने प्रभृति शब्द से अभिप्राय निमि, कांकायन, गार्ग्य तथा गालव का बतलाया है। उनका कथन है कि कुछ टीकाकारों के अनुसार गोपुर तथा रक्षित ऐसे दो शिष्य हैं।⁑

बॉवर पाण्डुलिपियों⁂ में काशिराज का शिष्य सुश्रुत बतलाया है और वहीं केशव को इन्हीं काशिराज से शिक्षा प्राप्त होने का उल्लेख है। इनके सौ शिष्य कहे जाते हैं।

शल्यतंत्र का उपदेश—इनके द्वारा 'सबतंत्रों में सामान्य' तथा 'आशुक्रियाकारी' होने से 'अधिक अभिमत' शल्य-तंत्र का उक्त शिष्यों को दिया गया उपदेश आज सुश्रुत संहिता के रूप में प्राप्य है। पृथ्वी पर शल्य-तंत्र का उपदेश करने के लिए इनका अवतार हुआ। इनकी यह घोषणा इस प्रकार है :—

अहं हि धन्वंतरिरादिदेवो जरारुजामृत्युहरोऽमराणम्।
शल्यांगमंगैरपरैरुपेतं प्राप्तोऽस्मि गां भूय इहोपदेष्टुम् ॥ ⁂⁂

---

* हरिवंश अध्याय २९।

† It is difficult to say whether Kashiraja means King of Kashi or is the name of a King—*History of Indian Medicine* Vol. II P. 312.

‡ सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान, अध्याय १।

⁑ औपधेनवादयः सुश्रुतान्ताः सप्त शिष्या ऊचुः। 'प्रभृति' शब्देन भोजादयः। अन्ये तु 'गोपूररक्षितौ' इति नाम-द्वयं मन्यन्ते। इत्यौपधेनवादयोऽष्टौ। प्रभृतिग्रहणात् निमिकांकायनगार्ग्यगालवा इति। एवमेते द्वादश शिष्याः प्राहुः स्म।' सुश्रुतसंहिता पर डल्लणाचार्य की टीका। (सूत्रस्थान अ० १)।

⁂ *Bower Mss.* Ch. XIII P. 169.

⁂⁂ सुश्रुतसंहिता, सूत्रस्थान १-१७।

धन्वन्तरि कृत ग्रंथ—इनके रचे ग्रंथों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान ब्रह्मवैवर्त पुराण तक सीमित है। वहाँ इस कथन के अनुसार—

चिकित्सातत्त्वविज्ञानं नाम तंत्रं मनोहरम्। धन्वंतरिश्च भगवान् चकार प्रथमे सति॥
चिकित्सादर्शनं नाम दिवोदासश्चकार सः। चिकित्साकौमुदीं दिव्यां काशिराजश्चकार च ॥*

काशिराज धन्वन्तरि का अथवा दिवोदास के पितामह द्वारा रचित 'चिकित्सा कौमुदी' नाम का ग्रंथ है; 'चिकित्सा-तत्त्वविज्ञान' भी इन्हीं धन्वन्तरि की रचना है तथा धन्वन्तरि दिवोदास ने 'चिकित्सा दर्शन' की रचना की है। धन्वन्तरि तथा काशिराज के नाम से कुछ अन्य ग्रंथ भी कहे जाते हैं। किन्तु वे इन वेदकालीन धन्वन्तरि के नहीं हो सकते। इस सम्बन्ध में समुचित विवेचन वैक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए अधिक उपयुक्त होगा।

आयुर्वेद का अध्ययन करते हुए यह ज्ञात होता है कि योगों के नाम बहुधा उनके आविष्कारकों के नाम के ऊपर ही रखे गये हैं। धन्वन्तरि के नाम से भी एकाध योग है। कुछ योगों के धन्वन्तरिकृत होने का यत्र-तत्र उल्लेख है। परन्तु उन्हें इन धन्वन्तरि के नाम के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। इन योगों पर यथास्थान विचार किया जा सकेगा।

वैदिक धन्वन्तरि का काल-निर्णय

कालनिर्णय की योजना—इनके काल का निर्णय करने के लिए यह आवश्यक है कि उन ग्रंथों के काल के सम्बन्ध में गवेषणा कर ली जाय जिनमें इनका उल्लेख प्राप्त होता है। हम इस अनुशीलन में अपेक्षाकृत अर्वाचीन सूत्रों से प्रारंभ कर प्राचीनतर सामग्री का उपयोग करेंगे। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं है कि वैक्रम धन्वन्तरि से अब्जदेव धन्वन्तरि, धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरि दिवोदास सर्वथा भिन्न हैं। विक्रम के धन्वन्तरि को विक्रमी संवत् से पूर्व के काल में ले जाना सम्भव तथा समीचीन नहीं है।

३०० से ६०० ईसवी से पूर्व—वैदिक धन्वन्तरि के सबसे पीछे के महत्त्वपूर्ण उल्लेख पुराणों में प्राप्त धन्वन्तरि के उपाख्यान तथा वंशानुक्रम हैं। इन पुराणों के निर्माण का काल श्री पाण्डुरंग वामन काने के अनुसार ३०० से ६०० ईसवी † तक है, जिससे प्रस्तुत धन्वन्तरि का काल इससे पूर्व का होना प्राप्त होता है।

२०० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व का प्राप्त होने वाला उल्लेख 'मिलिन्दपञ्हो' का है। वहाँ धन्वन्तरि को पूर्वाचार्यों में ग्रहण किया है। इस ग्रंथ का सम्बन्ध बॅक्ट्रिया के शासक मीनेन्द्र से होने के कारण वह इनको २०० ईसवी पूर्व से प्राचीनतर समय में ले जाता है।

४०० ई० पू० से पहले—धन्वन्तरि के द्वारा बसायी काशी या वाराणसी में भगवान् बुद्ध द्वारा धर्मचक्रप्रवर्तन के उल्लेख से तथा पालि जातकों में इनका स्वयं का नामोल्लेख होने से इनका काल इससे प्राचीनतर प्राप्त होता है। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में निर्मित भरोंच और साँची के स्तूपों में इन जातकों की कथाओं के प्रस्तर चित्र हैं और भरौंच के स्तूप में तो जातकों के नाम का भी उल्लेख है। जिस समय यह उल्लेख तथा चित्रण हुआ उस समय जातक समुचित ख्याति पा चुके होंगे। अतः इस सूत्र से धन्वन्तरि का काल लगभग ४०० ई० पू० से प्राचीनतर प्राप्त होता है।

पाणिनि के काल ९०० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व का काशी तथा वाराणसी का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में है। पाणिनि का काल श्रीविजयकाली भट्टाचार्य के मतानुसार ५०० से ३०० ई० पू० ‡ तथा श्री काणे के अनुसार ६०० से ३०० ई० पू० का है। ‡ किन्तु पाणिनि के सूत्रों में अन्य अनेक उल्लेख मिलने पर भी महावीर तथा भगवान् बुद्ध सम्बन्धी कोई निर्देश न होने से श्री गोल्डस्टूकर के मतानुसार पाणिनि का काल इन दोनों से पूर्व—८०० से ७०० ई० पू० ‡

* ब्रह्मवैवर्तपुराण—ब्रह्मखंड अ० १६।

† *History of Dharmashastra*, Vol. II Part I.

‡ वनौषधि-विज्ञान की भूमिका, पृष्ठ १२।

‡ *History of Dharmshastra*, Vol. II Part I.

‡ *Panini—His place in Sanskrit Literature*, by Goldstucker.

प्राप्त होता है तथा श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य के अनुसार ९०० ई० पू०* का है। अतः धन्वन्तरि का काल इससे पूर्व होना अयौक्तिक नहीं है।

१५०० से १२०० ई० पू० से पहले—इसी काल के लगभग हुए उल्लेख अग्निवेश (चरक) संहिता तथा सुश्रुत-संहिता के हैं। अग्निवेश संहिता को वर्तमान रूप चरक तथा दृढ़बल इन दो आचार्यों द्वारा प्रतिसंस्कृत होकर प्राप्त हुआ है। इन प्रतिसंस्कारों का काल श्री विजयकाली भट्टाचार्य के अनुसार क्रमशः १२०० ई० पू० तथा २०० से १०० ई० पू०† है। सुश्रुतसंहिता का प्रसिद्ध रासायनिक नागार्जुन द्वारा प्रतिसंस्कार होना सुविश्रुत है। यहां यह कह देना अप्रासंगिक नहीं है कि 'नागार्जुन सदृश रसतंत्राचार्य ने सुश्रुतसंहिता का प्रतिसंस्कार करके उसमें सर्वरोगनाशक पारद के आभ्यंतर प्रयोग का निर्देश कहीं भी नहीं किया, अतः सुश्रुत का प्रतिसंस्कार करनेवाला नागार्जुन कोई दूसरा ही होगा' ‡ विद्वद्वर्य म० म० श्री गणनाथसेन सरस्वती की यह स्थापना अस्थानिक है। प्रतिसंस्कार करनेवाले का यह कर्त्तव्य नहीं है कि वह मूल में अपनी ओर से ग्रन्थवस्तु से अधिक जोड़ दे। इन नागार्जुन का काल श्री भट्टाचार्य के अनुसार लगभग ५०० ई० पू० तथा मूल संहिता का काल १५०० ई० पू० है। ×

२९०० से १८५० ई० पू० से पहले—इससे पूर्व के उल्लेख कौषीतक्युपनिषत् तथा कौषीतकिब्राह्मण के हैं। एतरेयब्राह्मण में कौषीतकिब्राह्मण के वाक्यों ⁑ का तथा निरुक्त ⁂ में कौषीतकिब्राह्मण का अवतरण एवं उल्लेख है। यास्क के निरुक्त का काल श्री काने के मतानुसार ८०० से ५०० ई० पू० का है। ऐतरेय ब्राह्मण से पूर्वकालीन होने के कारण श्री वैद्य के अनुसार कौषीतकिब्राह्मण का काल २५०० ई० पू० है तथा ज्यौतिष गणना के आधार पर श्री दीक्षित महोदय इसके काल का निर्णय २९०० से १८५० ई० पू० निश्चित करते हैं। इस सूत्र से धन्वन्तरि का का काल कम से कम १८५० ई० पू० से पहले का प्राप्त होता है।

५००० ई० पू० तथा १८५० ई० पू० के बीच—इससे पहले का उल्लेख ऋग्वेद का है। ऋग्वेद का काल श्री काने महोदय के अनुसार ४००० से १००० ई० पू० तथा श्री भट्टाचार्य के अनुसार ५००० ई० पू० प्राप्त होता है। अब निर्णय वस्तु ५००० ई० पू० १८५० ई० पू० के काल के अन्तर्गत धन्वन्तरि एवं धन्वन्तरि दिवोदास का समय है।

श्री जयचंद्र विद्यालंकार के अनुसार धन्वंतरि की पीढ़ीगणना एवं उनकी कालसीमा—'भारतीय इतिहास की, रूपरेखा' में पार्जीटर की प्राचीन युगों की वंशतालिका का अनुसरण करते हुए श्री जयचंद्र विद्यालंकार ने क्षत्रवृद्ध को छठी, काश को १२वीं तथा दिवोदास (१) को २५वीं पीढ़ी में निर्दिष्ट किया है। वहीं दिवोदास (२) को ४०वीं, प्रतर्दन को ४१वीं, वत्स को ४२वीं तथा अलर्क को ४३वीं पीढ़ी में गिना है। ⁂⁂ उनका कथन है कि "अनुश्रुति के हिसाब से राजा सगर कृतयुग की समाप्ति और त्रेता के आरम्भ में हुआ, रामचन्द्र त्रेता के अन्त में और भारत युद्ध के बाद कृष्ण का देहान्त द्वापर की समाप्ति का सूचक था। इस प्रकार १ से ४० पीढ़ी तक कृतयुग था, ४१ से ६५ तक त्रेता, ६६ से ९५ तक द्वापर। यदि १६ बरस प्रति पीढ़ी गिनें तो कृतयुग अन्दाजन साढ़े छैः सौ वर्ष का, त्रेता ४०० का तथा द्वापर पौने पाँचसौ बरस का था। मोटे अन्दाज से २९५० से २३०० ई० पू० तक कृतयुग, २३०० से १९०० तक त्रेता और १९०० से १४२५ तक द्वापर रहा। ⁑⁑"

श्री विद्यालंकार के मतानुसार धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरि दिवोदास के काल की अनुमानित गणना—इसके अनुसार अनुमानतः दिवोदास (१) के २५वीं पीढ़ीमें होने से इनका काल २५५० ई० पू० तथा दिवोदास (२) के ४०वीं पीढ़ी

* *History of Sanskrit Literature*, Vedic Period P. 129.

† वही। ‡ म० म० श्री. गणनाथसेन सरस्वतीकृत 'प्रत्यक्ष शारीर' का संस्कृत उपोद्घात पृष्ठ, ११। × वही।

⁑ ऐतरेयब्राह्मण (७–११)। ⁂ यास्कनिरुक्त (१–९)।

⁂⁂ श्री जयचंद्र विद्यालंकार कृत भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वितीय संस्करण जिल्द १, पृष्ठ २६१-६२।

⁑⁑ वही, पृष्ठ १७–१८

में होने से इनका काल २३१० ई० पू० के लगभग प्राप्त होता है। पूर्व निर्दिष्ट विष्णुपुराण तथा हरिवंश के वंशानुक्रम के अनुसार दिवोदास धन्वन्तरि की तीसरी अथवा चौथी पीढ़ी में हुए। अतः विष्णुपुराण के वंशानुक्रम के अनुसार धन्वन्तरि का काल २५८८ अथवा २३५८ ई० पू० के लगभग प्राप्त होता है तथा हरिवंश के अनुसार २६०४ अथवा २३७४ ई० पू० के समीप।

वैक्रम धन्वन्तरि

वैक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए हमें उनका सबसे प्रथम तथा स्पष्ट उल्लेख ज्योतिर्विदाभरण में प्राप्त होता है। कुछ समय पूर्व तक विक्रमादित्य तथा उनके नवरत्नों की आख्यायिका एक कल्पनामात्र थी। विद्वानों ने अब उन कल्पना-शरीरों को विस्मृति के कुहासे में से प्रत्यक्ष करने का स्तुत्य प्रयास प्रारंभ किया है। उनके काल के सम्बन्ध में यद्यपि अभी अन्तिम निर्णायक वाक्य नहीं कहे गए हैं, परन्तु इनमें से बहुतों का अस्तित्व अब सिद्ध हो चुका है।

नवरत्नों का अस्तित्व—'अनेकार्थ-ध्वनि-मंजरी' कोष के रचयिता महाक्षपणक की वैक्रम क्षपणक से सम्भावनीय अभिन्नता के सम्बन्ध में श्री प० कृ० गोडे का प्रयत्न* स्मरणीय है। अमरकोष द्वारा अमरसिंह का व्यक्तित्व भी असंदिग्ध है। इनका काल श्री विद्यालंकार के अनुसार पहली शताब्दी ई० पू० है और इस प्रकार ये विक्रम तथा विक्रमी संवत् के प्रारंभ के समकालीन प्राप्त होते हैं†। वराहमिहिर अपने प्रसिद्ध ज्योतिष ग्रंथ बृहत्संहिता के कारण कल्पित व्यक्ति नहीं कहे जा सकते और वररुचि वैयाकरण के रूप में जाने जाते हैं।

श्री हेमराज शर्मा तथा श्री आपटे के आक्षेपों का निराकरण—यहाँ हमें पहले प्रारंभ में कहे नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज शर्मा के तथा श्री वी० एस० आपटे के वैक्रम धन्वन्तरि के केवल कवि होने के आक्षेप पर विचार करना है। यह ज्ञात नहीं होता कि नेपाल-राजगुरु श्री हेमराज महोदय को 'धन्वन्तरि' के केवल कवि होने की कल्पना का आभास कैसे हुआ और कैसे विद्वद्वर्य श्री आपटे महोदय को विक्रम के सभी रत्नों के कवि होने का ज्ञान हुआ। कोषकार, वैयाकरण तथा ज्योतिर्विद् कवि नहीं होते। अमरकोष, अनेकार्थ-ध्वनि-मंजरी तथा बृहत्संहिता पद्यबद्ध अवश्य हैं, किन्तु उनमें 'वाक्यं रसात्मकं' न होते हुए भी वे 'काव्यं' नहीं हो सकते। प्राप्य प्राचीन वैज्ञानिक साहित्य अधिकांश पद्यबद्ध है। उक्त दोनों विद्वानों के अनुसार उस साहित्य के अधिकांश कर्ता कवि हो जाने चाहिए थे। परन्तु वास्तविकता इससे भिन्न प्रतीत होती है। नवरत्नों में केवल कवियों का समावेश न होना तथा कुछ 'रत्नों' का कवि के अतिरिक्त कुछ और प्राप्त होना इस सम्भावना को जन्म देता है कि धन्वन्तरि आयुर्वेदज्ञ चिकित्सक हो सकते हैं।

धन्वन्तरि उपाधि होने की सम्भावना—वेदकालीन धन्वन्तरि के सम्बन्ध में विचार करते हुए यह ज्ञात हो चुका है कि शल्यतंत्र के प्रवर्तक धन्वन्तरि होने से शल्यचिकित्सकों का सम्प्रदाय 'धान्वन्तरि' कहलाता था। धन्वन्तरि के अत्यन्त मान्य आचार्य होने के कारण उनके पीछे के आचार्य दिवोदास ने 'धन्वन्तरि' नाम धारण किया था। हमें यह भी प्रत्यक्ष है कि आज भी आयुर्वेद के मान्य आचार्यों को धन्वन्तरि तथा धन्वन्तरिकल्प‡ कहा जाता है तथा कुछ विद्वान् धन्वन्तरि उपाधि भी धारण करते हैं।‡‡ वैक्रम धन्वन्तरि के चिकित्सक तथा सम्भवतः शल्यचिकित्सक होने की दशा में वे अवश्य ही विक्रमादित्य के राजवैद्य थे। स्वभावतः विक्रमादित्य ने अपने समय के सर्वश्रेष्ठ आयुर्वेदज्ञ का संग्रह किया होगा। अतः इस राजवैद्य के 'धन्वन्तरि' उपाधि धारण करने का अनुमान किया जा सकता है।

धन्वन्तरि के राजवैद्य होने की सम्भावना—इस सम्बन्ध में सब से महत्त्वपूर्ण तर्क यह है कि विक्रमादित्य का स्मरण आदर्श शासक के रूप में किया जाता है। इतिहास में शासकों की, राज्य के अन्य उपकरणों के साथ साथ चिकित्सक रखने

* *Festschrift* (जर्मन भाषा में) Dr. Winternitz (Leipzig 1933) पृष्ठ, ८९-९१।

† भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ १००२।

‡ आयुर्वेदाचार्य श्री बदरीदत्त झा संग्रहीत 'अनुभूत योगशतक' पृष्ठ ८ के सामने तथा आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, दिसम्बर १९४३ पृष्ठ ४३८ के सामने।

‡‡ आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका, अक्तूबर १९४२ में संलग्न 'मतदाता सदस्यों की सूची' पृष्ठ २०-२१।

की परम्परा अविच्छिन्नसी प्रतीत होती है। हम इन्द्र के साथ अश्विनीकुमार तथा रावण के साथ सुषेण चिकित्सक होने से अनभिज्ञ हैं। 'शतंते राजन् भिषजः सहस्रम् *' ऋग्वेद के इस मंत्र से सुदूरवेदकाल में राजा तथा भिषक् के सम्बन्ध की जानकारी प्राप्त होती है। महाभारतकाल में भी चिकित्सक राजसभा का एक आवश्यक उपकरण था। सभापर्व के पाँचवें अध्याय में राजा को सचिव, सेनाध्यक्ष, पुरोहित, ज्योतिषी तथा चिकित्सक अनिवार्य बतलाए गए हैं। इसी स्थान पर सात प्रकृतियों की व्याख्या करते हुए टीकाकार ने छठी प्रकृति चिकित्सक बतलाया है।† महाकवि विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षसम्' नामक ऐतिहासिक नाटक उस काल की राजनीति का कुशल चित्रण कहा जा सकता है। वहाँ भी हम चन्द्रगुप्त मौर्य से सम्बद्ध अभयदत्त‡ नामक चिकित्सक का उल्लेख पाते हैं। यहाँ आग्रह 'अभयदत्त' नाम का नहीं अपितु राजसभा अथवा प्रासाद से सम्बद्ध चिकित्सक का है। इस प्रकार की परम्परा विक्रम के अत्यन्त पूर्व काल से प्रचलित थी। पीछे भी विशाखदत्त के ईसा की छटी शताब्दी⁑ के काल तक उसका पता लगाया जा चुका है। अतः विक्रमादित्य की राजसभा में भी धन्वन्तरि चिकित्सक का होना सम्भावना से परे नहीं है।

धन्वन्तरिकृत कहे जानेवाले ग्रन्थों से व्यक्तित्व का समर्थन—इस सम्भावना के समर्थन में धन्वन्तरि नाम के व्यक्ति द्वारा लिखित ग्रंथों के प्राप्त नामों तथा पांडुलिपियों का उल्लेख भी महत्त्वपूर्ण है। रोग-निदान, वैद्यचिन्तामणि, विद्या-प्रकाश-चिकित्सा, धन्वन्तरि-निघंटु, वैद्यक-भास्करोदय, तथा चिकित्सा-सार-संग्रह के नाम इस सम्बन्ध में लिए जा सकते हैं। यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ये ग्रन्थ वेदकालीन धन्वन्तरि अथवा दिवोदास के साथ नहीं गूंथे जा सकते। इनमें प्रतिपादित विषय तथा इनकी शैली उस काल से अथवा उसके पीछे के संहिता-काल से सामञ्जस्यपूर्ण नहीं है। इन ग्रंथों का धन्वन्तरि अथवा दिवोदास की अपेक्षाकृत अर्वाचीन चरक, सुश्रुत, काश्यप अथवा वाग्भट्ट संहिताओं में भी कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः ये अवश्य किन्हीं पीछे के धन्वन्तरियों की कृतियाँ हो सकती हैं। इनमें से कुछ के लेखक विक्रमादित्य के धन्वन्तरि भी हो सकते हैं। कृति प्राप्त होने के कारण उसका कर्त्ता होने की सम्भावना व्यर्थ नहीं कही जा सकती और इतने आयुर्वेद ग्रंथों की रचना का श्रेय वैद्येतर व्यक्ति को भी नहीं दिया जा सकता।

धन्वन्तरिकृत योगों से उनके व्यक्तित्व की पुष्टि—अन्य ग्रंथों में प्राप्त होनेवाले धन्वन्तरिकृत योग भी इनकी सत्ता की सूचना देते हैं। रसरत्न समुच्चय में संकलित पाशुपतरस, मृत्युंजयलौह, वारिशोषणरस एवं रसराजेन्द्र, आयुर्वेद-रत्नाकर का रसाभ्रगुग्गुल तथा गदनिग्रह के अश्वगंधाद्यतैल, सप्तविंशति एवं द्वात्रिंशक गुग्गुल के आविष्कारक धन्वन्तरि कहे गए हैं। ये योग किसी रसकालीन धन्वन्तरिकृत हैं यह बात निःसन्देह है। यह काल नागार्जुन से पीछे का है। नवरत्नों की आख्यायिका में हमें वैक्रम धन्वन्तरि प्राप्त होते हैं। अतः यह सम्भव है कि इन योगों के कर्त्ता वैक्रम धन्वन्तरि हों।

वैक्रम धन्वन्तरि के सम्भावनीय कार्य—इनके सम्भावनीय कार्यों के सम्बन्ध में व्यक्तित्व का निर्णय करते हुए दृष्टि डाली जा चुकी है किन्तु वहाँ धन्वन्तरि नाम से प्रचलित तथा श्रुत सभी ग्रंथों एवं योगों का निर्देश हो गया है। हमें यहाँ उनपर पृथक् पृथक् इस दृष्टि से विचार करना है कि उनमें से कौन कौन अधिक दृढ़ता के साथ वैक्रम धन्वन्तरि कृत होना सम्भव बतलाए जा सकते हैं।

रोग-निदान तथा वैद्य-चिन्तामणि—इस तारतम्य के प्रथम दो ग्रंथ रोग-निदान तथा वैद्य-चिन्तामणि की प्रतियाँ अथवा तत्सम्बन्धी सूचना प्राप्त नहीं हो सकी। अतः उनके सम्बन्ध में विशेष अनुमान तथा विवेचन सम्भव नहीं है।

---

* ऋग्वेद' १-२४-९।

† श्री सी० वी० वैद्य कृत *Epic India* पृष्ठ २०२-३।

‡ विशाखदत्तकृत मुद्राराक्षस, प्रोफेसर के० एस० ध्रुव द्वारा सम्पादित, पृष्ठ २८।

⁑ वही, भूमिका, पृष्ठ १०

विद्या-प्रकाश-चिकित्सा—इसके पश्चात् धन्वन्तरिकृत विद्या-प्रकाश-चिकित्सा ग्रंथ आता है। इसकी सूचना डॉ० आर० एल० मित्र कृत *Notices of Sanskrit* Mss *in the Asiatic Society of Bengal* 1880 सं० १४४६ में इस प्रकार प्राप्त हुई है :—

आदि—

यस्योदयास्तसमये पुरमुकुटनिष्ठचरणकमलोऽपि।
कुरुतेऽञ्जलिं त्रिनेत्रः स जयतु धाम्नां निधिः सूर्यः ॥ *

अन्त—

अमृतं त्रिफलाक्वाथः पिप्पलीचूर्णसंयुतः।
सौभ्रशीतलो नित्यं सद्यो नेत्रव्यथां जयेत् ॥ इति नेत्ररोगः ॥

ग्रन्थ-समाप्ति-लेख—

इति श्रीधन्वन्तरिविरचिता विद्याप्रकाशचिकित्सा समाप्ता।

यह ग्रंथ पूर्व श्रुति के अनुसार तथा निर्दिष्ट श्लोकों की शैली के कारण वेदकालीन धन्वन्तरि के साथ जोड़ा नहीं जा सकता और प्रारम्भिक मंगलाचरण से सूर्योपासक धन्वन्तरिकृत प्रतीत होता है। सूर्य की वन्दना यह सम्भावना उत्पन्न करती है कि विक्रम के अथवा विक्रमादित्य के आश्रित वैद्य ने सूर्य के बहाने से अपने संरक्षक विक्रमादित्य का स्मरण किया हो। प्राप्त मालव मुद्राओं के एक पार्श्व पर बोधिसत्त्व का तथा दूसरे पर सूर्य का चिह्न होना भी इस अनुमान की पुष्टि करता है।

धन्वन्तरि-निघण्टु अथवा द्रव्यावलि—इसके पश्चात् आनन्दाश्रम-संस्कृत-सीरीज, पूना से प्रकाशित 'धन्वन्तरि-निघंटु' आता है। इसकी अनेक पाण्डुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं जिनका निर्देश डॉ० आर० एल० मित्रकृत *A catalogue of Sanskrit Mss. in the Library of H. H. the Maharaja of Bikaner* 1880 में संख्या १३९२ पर, इण्डिया ऑफिस की पाण्डुलिपि सूची में सं. २७३६ तथा २७३७ पर, ऑक्सफोर्ड की १८६९ की आफेक्ट(Aufrecht) कृत *Catalogi cidicum maniscriptorium bibliothecoe Bodliance codices Sanscricos* में सं० ४५१ पर तथा *Catalogue of Government Oriental Mss. Library, Madras* XXIII Medicine में सं० १३२८३–१३२९४ पर प्राप्त होता है।

आदि—

अनेकदेशांतरभाषितेषु सर्वेष्वपि प्राकृतसंस्कृतेषु।
गूढेष्वगूढेषु च नास्ति संख्या द्रव्याभिधानेषु तदौषधीनाम् ॥
....
इत्येवामतं क्रमशो नव वर्गाः प्रकीर्तिताः ॥

ग्रन्थ-समाप्ति-लेख—

इति धन्वन्तरि-निघंटु-रसवीर्यसहितः समाप्तः ॥

इस प्रति से सूचनाएँ प्राप्त होती हैं कि यह मूलतः धन्वन्तरि कृत है। उनके शिष्य ने इसे उनसे सुनकर लिखा है।† प्रारम्भ में धन्वन्तरि की वन्दना की गई है। इसके निर्माण के समय में अनेक निघण्टु ग्रंथ वर्तमान थे। इस समय प्राकृत भाषा का प्रचलन था। इस ग्रंथ में औषधियों को नौ वर्गों में विभाजित किया गया है। यह ग्रंथ संहिताओं की परिपाटी से भिन्न तथा पीछे के काल की संग्रहशैली का है। इसकी वर्ग-कल्पना चरक तथा सुश्रुत की वर्ग तथा गण-कल्पना से सर्वथा भिन्न है। इस ग्रंथ की भाषा संहिताओं की भाषा से अधिक प्रांजल है। इसमें लौकिक छंदों का प्रयोग है।

---

* यह श्लोक विद्याप्रकाश चिकित्सा में कैसे अपना लिया गया पता नहीं। यह वराहमिहिर के ग्रंथ बृहज्जातक का आरंभिक श्लोक है।—सम्पादक।

† "द्रव्यावलिः समादिष्टा धन्वन्तरिमुखोद्गता"।

उपर्युक्त सूचनाएँ इस अनुमान को जन्म देती हैं कि यह ग्रंथ किसी धन्वन्तरि नाम के वैद्य की रचना है जिसने अपनी रचना को उसका महत्त्व बढ़ाने के अभिप्राय से धन्वन्तरि से सुनकर सुश्रुत द्वारा सुश्रुतसंहिता की रचना की परम्परा का आश्रय लेकर अपने शिष्य द्वारा संग्रहीत कराया। विक्रमादित्य के काल में प्राकृत भाषा का प्रचलन था तथा उसे राजाश्रय भी प्राप्त था। उदाहरण के लिए गुणाढ्य की 'बढ्ढोकहा' तथा हाल सातवाहन की 'गाथासप्तशती' के नाम ले सकते हैं। अतः वह विक्रमादित्यकालीन हो सकता है। अपने समनाम अब्जदेव धन्वन्तरि का उसने मंगलाचरण में स्मरण किया हो यह सम्भव है। प्रचलित निघण्टुओं का इस ग्रंथ में नामोल्लेख नहीं है अतः यह इन सबसे पूर्व का होगा। यहाँ यह कह देना अप्रासंगिक नहीं है कि इस ग्रंथ के प्रकाशक का यह अनुमान कि यह ग्रंथ सुश्रुतकृत हो सकता है वस्तुस्थिति के विपरीत है। सुश्रुत-संहिता के द्रव्यगुण सम्बन्धी भाग से इसका कोई साम्य नहीं है। अतः यह अनुमान किंचित् दृढ़ता के साथ किया जा सकता है कि यह ग्रंथ नवरत्नों में परिगणित वैक्रम धन्वन्तरि कृत हो सकता है।

वैद्यक-भास्करोदय—इसके पश्चात् श्री भाण्डारकर की राजपूताने की पाण्डुलिपियों की रिपोर्ट में निर्दिष्ट धन्वन्तरिकृत 'वैद्यक-भास्करोदय' ग्रंथ विचारणीय है। निर्देश के अतिरिक्त इस ग्रंथ के सम्बन्ध में अधिक नहीं ज्ञात हो सका है। विक्रमादित्य इस नाम में, मालव मुद्राओं पर अंकित सूर्य में तथा इस ग्रंथ के नाम के 'भास्करोदय' भाग में साम्य होने से यह अनुमान हो सकता है कि यह ग्रंथ कदाचित् वैक्रम धन्वन्तरि कृत हो।

चिकित्सा-सार-संग्रह—अब विचार योग्य ग्रंथों में जिनको धन्वन्तरि कृत कहा गया है 'चिकित्सा-सार-संग्रह' आता है। *Catalogue of Government Oriental Mss. Library, Madras* XXIII—Medicine में सं० १३१३७-१३१४५ पर इसका निर्देश इस प्रकार प्राप्त होता है:—

आदि—

यस्य द्विरदवक्त्राद्याः...विष्वक्सेनं तमाश्रये।

आदौ समस्तरोगेषु अष्टस्थानं परीक्षयेत्। नाडी मूत्रमलं जिह्वा शब्दस्पर्शं (च) रूपदृक्॥

ग्रंथ-समाप्ति-लेख—

इतिश्री चिकित्सासारसंग्रहे धन्वन्तरिकृतौ सर्वरोगनिदानं नाम प्रथम विलासः।

इस ग्रंथ में ऊपर निर्दिष्ट 'विद्याप्रकाशचिकित्सा' तथा 'द्रव्यावलि' के विरुद्ध मंगलाचरण में सूर्य अथवा धन्वन्तरि के स्थान पर विष्वक्सेन का स्मरण किया गया है। इसमें नाड़ी-परीक्षा का समावेश है। पाण्डुलिपि संख्या १३१४५ में रसार्णव, बाहट, पारिजात, कौमुदी, नागार्जुन, कापाल, दामोदर, रसप्रसिद्धसार, पिल्लट, कल्याणभेषज, समग्रह, कापाल-मिन्द्रनाथ, गुणचिन्तामणि, वीरभद्रीय, वेददीपक, सोमनाथ, नन्दनाथ, चिकित्सितम्, वैद्यमुक्तावली, केरुटचक्रवर्ती, सोमराजीय, चंद्रज्ञान, चरक तथा निघण्टु का पूर्वाचार्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत करते हुए उल्लेख हैं।

इस ग्रंथ में उल्लिखित भैरवानन्द योगीकृत 'रसार्णव' ईसा की १२वीं शताब्दी का ग्रंथ है।* कापाल (कपाल पाद) चौरासी सिद्धों में से एक हैं और इनका समय ईसा की ११वीं शताब्दी है।† अतः यह ग्रंथ ईसा की १२वीं शताब्दी से अर्वाचीन होने के कारण वेदकालीन अथवा वैक्रम धन्वन्तरि का नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त 'विश्वकोष' में धन्वन्तरि रचित 'धन्वतरिपंचकम्' का उल्लेख है। परन्तु उक्त ग्रंथ के सम्बन्ध में अन्यत्र कोई ज्ञातव्य प्राप्त नहीं है तथा उसकी कोई प्रति भी प्राप्त नहीं हुई। इसके अतिरिक्त बम्बई से प्रकाशित 'धन्वन्तरि' नामक ग्रंथ भी प्राप्त होता है। परन्तु वह तो लाला शालग्राम कृत आधुनिक संग्रह मात्र है।

धन्वन्तरि के अन्य स्मृतिकोषों में महत्त्वपूर्ण उनके आविष्कृत पूर्वोक्त तैल, रस, लौह तथा गुग्गुल हैं। इन रस आदि का सम्बन्ध वेदकालीन धन्वन्तरि से इनके रसतंत्रांतर्गत होने से तथा रसतंत्र का इतिहास अपेक्षाकृत अर्वाचीन होने से

*** स्वामी हरिशरणानन्द कृत 'कूपीपक्व रस निर्माण विज्ञान' का उपोद्घात् पृष्ठ ४२।**

† श्री राहुल सांकृत्यायन कृत पुरातत्त्वनिबंधावली, पृष्ठ १५०।

नहीं जोड़ा जा सकता। इस प्रकार के योग वैदिक धन्वन्तरि के काल के पश्चात् रचित संहिताओं के भी अननुकूल हैं। उस काल में योग आविष्कर्ता के नाम पर होने की अपेक्षा उससे लाभ उठानेवाले रोगियों के नाम पर—यथा च्यवनप्राश—अथवा उन योगों में व्यवहृत औषधियों के नाम पर—यथा धात्र्यरिष्ट एवं दशमूलादिघृत—बहुधा प्रसिद्ध होते थे। धन्वन्तरि नाम से प्रचलित रसयोग रसतंत्र के अत्यन्त विकसित काल के नहीं हैं। अत: यह सम्भव है कि इन योगों के कर्ता वैक्रम धन्वन्तरि रहे हों।

वैक्रम धन्वन्तरि का काल निर्णय—इनके काल के सम्बन्ध में वेदकालीन धन्वन्तरि से इनके अर्वाचीन होने के कारण अपेक्षित अधिक स्पष्टता के विपरीत अधिक अस्पष्टता है। तथापि प्राप्त उल्लेखों तथा सम्बद्ध निर्देशों के आधार पर मत प्रकट करना अविधेय नहीं है।

ईसवी १७वीं से १३वीं शताब्दी पूर्व—सबसे पीछे का इनका उल्लेख ईसा की १७वीं शताब्दी में* रचित वैद्यवर श्री चूडामणि विरचित रसकामधेनु ग्रंथ में प्राप्त होता है। उसमें इनके 'पाशुपतरस' तथा 'वारिशोषणरस' संग्रहीत हैं। इससे पूर्व ईसवी १४वीं शताब्दी† में रची गई टुंटुनाथ की 'रसेंद्रचिंतामणि' में इनका 'मृत्युंजयलौह' तथा 'वारिशोषणरस' संग्रहीत हैं। इसी काल की रचना‡ अनन्तदेवकृत 'रस-चिन्तामणि' में इनके वारिशोषण रस का समावेश है। इससे पूर्व का इनका उल्लेख वाग्भटकृत 'रसरत्नसमुच्चय' में मिलता है। यह ग्रंथ ईसा की १३वीं शताब्दी ⁂ में लिखा गया था। इसमें उनके पाशुपतरस, मृत्युंजयलौह, वारिशोषण रस तथा रसराजेन्द्र संकलित हैं।

विक्रमादित्य का समकालीन होने की सम्भावना—इसके पश्चात् लगभग एक सहस्राब्दी के निबिड तमसाछन्न काल में वैक्रम धन्वन्तरि के सम्बन्ध में कोई सूचना-किरण प्राप्त नहीं हो सकी अथवा नियोजित प्रयत्न उस शोध में पर्याप्त नहीं हुआ। इस व्यवधान को संश्लिष्ट कर सकने की सम्भावना होने पर हम उस काल के समीप पहुँचते हैं जब विक्रमादित्य ने शकों का भारतवर्ष से उच्छेदन किया, मालवगणों की विजय की स्थापना की तथा मालव अथवा विक्रम संवत् का प्रवर्तन⁑ किया। इसी काल में प्रसिद्ध भारतीय रासायनिक नागार्जुन (सम्भवत: द्वितीय) तथा धातु तत्त्वज्ञ एवं लोहशास्त्रकार पातंजलि का आविर्भाव हुआ॥ और वहीं हमें अमरकोषकार अमरसिंह§ प्राप्त होते हैं।

यहां एक बार यह पुनरुक्ति करना अनुचित न होगा कि मालव मुद्राओं पर सूर्य की छाप है, विक्रमादित्य के नाम में सूर्य का समावेश है, 'विद्याप्रकाश चिकित्सा' नामक ग्रंथ में धन्वन्तरि ने सूर्य की वन्दना की है, 'वैद्य भास्कर' ग्रंथ यदि धन्वन्तरिकृत हो तो उसने—'भास्करोदय' शब्द विक्रमादित्य के लगभग समानार्थी होने से—विक्रमादित्य के नाम पर एक आयुर्वेद-ग्रंथ की रचना की तथा ज्योतिर्विदाभरण के रचयिता ने धन्वन्तरि को विक्रमादित्य के नवरत्नों में सबसे पहले गिना है। अत: हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में परिगणित धन्वन्तरि का विक्रमादित्य की राजसभा में ७५-८३ ईसवी में रहना सम्भव है।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि अधिक स्पष्टता के लिए वैक्रम धन्वन्तरि तथा उनके कदाचित् समसामयिक अन्य आठ रत्न अतीत की विस्मृत शताब्दियों के तमसाच्छन्न प्रदेश में कालातिक्रम से उत्पन्न भू-स्तरों के नीचे समानधर्मा किन्तु अधिक अध्यवसायी एवं विद्वान् व्यक्तियों के अविश्रांत प्रयत्न की प्रतीक्षा आशापूर्ण नेत्रों से कर रहे हैं।

---

* स्वामी हरिशरणानन्दकृत कूपीपक्व रस निर्माण विज्ञान का उपोद्घात् पृष्ठ ४२।

† वही, पृष्ठ ४२।

‡ वही। ⁂ वही।

⁑ भारतीय इतिहास की रूपरेखा, जिल्द २, पृष्ठ ८७०।

॥ वही पृष्ठ १०१२-१३।

§ वही पृष्ठ १००९।

विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

श्री सदाशिव लक्ष्मीधर कात्रे, एम्. ए.

संवत्-प्रवर्तक सम्राट् विक्रमादित्य वस्तुतः कौन व्यक्ति था, तथा किस समय विद्यमान था, इत्यादि समस्याओं पर आधुनिक विद्वान् संशोधक समय समय पर अनेक मत प्रकट कर चुके हैं। ये सब मत अन्ततः परस्पर-भिन्न परिणामों पर पहुँचते हुए भी कुछ स्वल्प बातें मूलतः मान्य कर लेने में एकता रखते हैं, जैसे 'विक्रमादित्य' नाम वा विरुद धारण करने-वाला एक प्राचीन भारतीय सम्राट् अत्यन्त प्रभावशाली था, उसका साम्राज्य अत्यन्त विस्तीर्ण था, उसकी (मुख्य, सामयिक या प्रादेशिक) राजधानी उज्जयिनी थी तथा उसकी ओर से कविओं एवं अन्य विद्वानों को अतिसमृद्ध आश्रय एवं पुरस्कार प्राप्त होता था, इत्यादि। विक्रमादित्य के शौर्य, पराक्रम, औदार्य, रसिकत्व, आदि गुणों की असामान्यता का परिचय करानेवाले अनेक उज्ज्वल सुभाषित प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, उदाहरणार्थ—

बाणपूर्वकालिक हालसंगृहीत गाथासप्तशती, ५-६४—

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खम्। चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥

बाणपूर्वकालिक सुबन्धुविरचित वासवदत्ता, प्रास्ताविक पद्य १०—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये ॥

ई० स० १०५० से पूर्व विरचित सोढलकी उदयसुन्दरीकथा, प्रास्ताविक पद्य १०—

श्रीविक्रमो नृपतिरत्र पतिः सभानामासीत्स कोऽप्यसदृशः कविमित्रनामा।
यो वार्थमात्रमुदितः कृतिनां गृहेषु दत्वा चकार करटीन्दुघटान्धकारम् ॥

ई० स० १३६३ में संगृहीत शार्ङ्गधरपद्धति, पद्य १२४९—

तत्कृतं यन्न केनापि तद्दत्तं यन्न केनचित्। तत्साधितमसाध्यं यद्विक्रमार्केण भूभुजा ॥

विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

स्वाभाविक ही उसके आश्रित विद्वानों का समूह अति विशाल था। भिन्न भिन्न आख्याओं तथा किंवदन्तियों के वर्णनानुसार उस समुदाय में समाविष्ट होनेवाले अनेक व्यक्तियों के नाम, जिनमें कालिदास, धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, वराहमिहिर और वररुचि तथा-कथित नवरत्न तथा सुबन्धु, मातृगुप्त, सिद्धसेन-दिवाकर, इत्यादि सम्मिलित हैं, आज भी सुप्रसिद्ध हैं। आधुनिक इतिहासज्ञों के कथनानुसार इनमें से कुछ ही व्यक्ति संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समकालीन होंगे, कुछ नाम मध्यकालिक लोगों के मनगढ़न्त हैं, तथा कई व्यक्ति स्वयं ऐतिहासिक होते हुए भी विश्वसनीय प्रमाणानुसार विक्रमकालीन नहीं हैं।

इस लेख का उद्देश्य एक ऐसे प्राचीन ग्रन्थकार का परिचय कराना है जो स्वयं सम्राट् विक्रमादित्य से अपना घनिष्ठ सम्बन्ध बताता है किन्तु जिसके विषय में आख्याएँ एवं इतिहास प्रायः मौन हैं।

शुक्लयजुर्वेदान्तर्गत माध्यंदिन शाखा के सुदीर्घ 'शतपथ' ब्राह्मण पर 'श्रुत्यर्थविवृति'* नामक एक विस्तृत भाष्य है। यह भाष्य अत्यन्त गम्भीर, विद्वत्तापूर्ण एवं प्राचीन होते हुए भी केवल स्वल्प अंश में ही, और वह भी अत्यन्त अशुद्ध लिखी पोथियों के द्वारा, अब तक उपलब्ध हो सका है। इसके जो अंश† अब तक प्राप्त हुए हैं वे दो-तीन बार इसी ब्राह्मण के अन्य भाष्यों के साथ ही भारत तथा जर्मनी में मुद्रित हो चुके हैं। कल्याण-बम्बई के लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय ने ई० स० १९४० में प्रकाशित किया हुआ संस्करण सबसे नया तथा चालू है और इसीका उपयोग इस लेख में किया गया है। इस भाष्य का सायणाचार्य (इ० स० १३५३-१३७९) से प्राचीनतर होना प्रायः निश्चित है। किन्तु महान् आश्चर्य इस बात का है कि शतपथब्राह्मण के जिन अंशों पर यह भाष्य प्राप्त हुआ है ठीक उन्ही अंशों का सायणभाष्य आज उपलब्ध नहीं है! सम्भव है कि 'श्रुत्यर्थविवृति' जिन अंशों पर उपलब्ध है उनपर अपना नया भाष्य लिखना सायणाचार्य ने अनावश्यक समझकर छोड दिया हो।

'श्रुत्यर्थविवृति' भाष्य के रचयिता कोई हरिस्वामी नामक आचार्य हैं जैसाकि उपलब्ध अंश के प्रत्येक काण्ड, अध्याय और ब्राह्मण के अन्त में दी हुई निम्नलिखित प्रशस्ति से स्पष्ट है—

"इति श्रीमदाचार्यहरिस्वामिनः कृतौ शतपथभाष्ये..................अध्यायः समाप्तः।"......अथवा "शतपथभाष्ये...... अध्याये..........................ब्राह्मणम् ॥"

ये हरिस्वामी कई अध्यायों तथा कुछ ब्राह्मणों के अन्त में प्रशस्ति के पूर्व कुछ श्लोकों के द्वारा अपना अधिक परिचय देते हैं। इन श्लोकों की संख्या प्रायः तीन है तथा उनका पाठ साधारणतः इस प्रकार है:—

नागस्वामिसुतोऽवन्त्यां पाराशर्यो वसन् हरिः। श्रुत्यर्थं दर्शयामास शक्तितः पौष्करीयकः ॥ १ ॥
श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमार्कस्य भूपतेः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यच्छातपथीं श्रुतिम् ॥ २ ॥
भूभर्त्रा विक्रमार्केण क्लृप्तां कनकवेदिकाम्। दानायाध्यास्य कृतवान् श्रुत्यर्थविवृतिं हरिः ॥ ३ ॥

कुछ स्थानों पर द्वितीय श्लोक के द्वितीय चरण का पाठ ठीक उसी अर्थ का 'विक्रमार्कक्षितीशितुः' 'विक्रमार्कस्य शासितुः' अथवा 'विक्रमादित्यभूपतेः' ऐसा भी पाया जाता है। भाष्य के चतुर्थ काण्ड के अन्तिम छठवें अध्याय के, द्वादश काण्ड के नवों तथा त्रयोदश काण्ड के आठों अध्यायों में से प्रत्येक के अवसान में ये तीनों श्लोक विद्यमान हैं। प्रथम काण्ड के

---

* अन्यत्र उद्धृत किये हुए श्लोक ३ के अन्तिम चरण में भाष्यकार ने इस समस्त पद का प्रयोग किया है जिसका सीधा अर्थ है 'वेद के अर्थ का विवरण'। यह विशेष-नाम होना भाष्यकार ने ध्वनित नहीं किया है किन्तु भाष्य के संस्कर्ताओं ने मान लिया है।

† प्रथम काण्ड के सप्तम अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, चतुर्थ काण्ड के अन्तिम तीन अध्याय (४, ५, ६), अष्टम काण्ड के चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ ब्राह्मण से काण्ड-समाप्ति तक, द्वादश तथा त्रयोदश काण्ड के सब अध्याय।

सातवें, आठवें तथा नवम अध्याय के अवसान में केवल पहिले दो श्लोक ही दिखते हैं। तथा प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय के पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के एवं इसी काण्ड के नवम अध्याय के भी पहिले तथा दूसरे ब्राह्मण के अवसान में केवल द्वितीय श्लोक ही दिखता है। अन्य उपलब्ध अंशों के अवसान में केवल ऊपर उद्धृत की हुई प्रशस्ति ही पाई जाती है।

इन तीन श्लोकों के अर्थ का समन्वित विचार करने पर नीचे लिखे महत्त्वपूर्ण इतिहास की जानकारी हमें प्राप्त होती है। भाष्यकार आचार्य हरिस्वामी, जो पराशरगोत्री एवं नागस्वामी के पुत्र थे, मूलतः पुष्कर के निवासी थे किन्तु भाष्यरचना के समय उज्जयिनी में आ बसे थे। वे उज्जयिनी के भूपति (=सम्राट्?) विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष थे। विक्रमादित्य राजा ने अपने दानव्यवसाय के लिए एक सुवर्णमय वेदिका (=उच्चासन) का निर्माण किया था जिसके अधिष्ठाता भी ये हरिस्वामी ही थे। अर्थात् वे विक्रमादित्य के दानाध्यक्ष भी थे। विक्रमादित्य की राजसभा में इन दो महत्त्वपूर्ण पदों को सुशोभित करने के समय ही हरिस्वामी ने अपनी प्रतिभा से, अथवा अपने सामर्थ्यानुसार, शतपथब्राह्मण-रूपी वेद के अर्थ का विवरण किया अर्थात् प्रस्तुत भाष्य रचा।

इन तीन श्लोकों का वर्णन यदि वास्तविक हो तो हमें इस प्रकार विक्रमादित्य की परमवैभवयुक्त शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष इन गौरवपूर्ण पदों का भार ग्रहण करनेवाले व्यक्ति का अवश्य ही पता लग जाता है। यद्यपि 'विक्रमादित्य' उपपद धारण करनेवाले राजाओं की अनेकता अब सिद्ध हो चुकी है तो भी हरिस्वामी का रुख मुख्य अर्थात् संवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले सम्राट् विक्रमादित्य की ओर होने की सम्भावना श्लोकान्तर्गत अन्य सन्दर्भों से सबसे अधिक है। अत्यन्त खेद का विषय है कि भाष्य के प्रारम्भिक तथा अन्तिम अंश अब तक साधारणता से उपलब्ध नहीं हो सके हैं। जब वे अंश असंदिग्ध पाठों द्वारा प्राप्त हों तब सम्भवतः उनके अन्तर्गत उपोद्घात तथा उपसंहार के द्वारा भाष्यकार तथा उनके आश्रयदाता दोनों के सम्बन्ध में कुछ अधिक बातें भी ज्ञात हो सकें। यदि भारतवर्ष में स्थान स्थान पर खोज की जाय तो हरिस्वामी का शतपथभाष्य सम्पूर्ण हस्तगत होने की सम्भावना आज भी पूर्ण है, क्योंकि अन्वेषकों के प्रयत्नों से प्राचीन साहित्य के अस्तंगत तारकों को पुनः प्रकाश प्राप्त होने के कई उदाहरण नित्य दृग्गोचर हो रहे हैं।

ज्योतिर्विदाभरणकार भी अपना नाम 'कालिदास' देकर एवं रघुवंश इत्यादि काव्यों के रचयिता से अपना एक-व्यक्तित्व बतलाकर ठीक इसी प्रकार विक्रमादित्य की राजसभा में अन्य कई व्यक्तिओं के सहित अपना महत्त्वपूर्ण स्थान होने का विस्तृत निर्देश करता है, तथा अपना समय भी इस प्रकार लिखता है जो संवत्-प्रवर्तक सम्राट् के परम्परागत समय से पूर्णतया मिल जाता है। किन्तु उसके कथन में अज्ञान वा अनवधानता के कारण कई प्रकार की विसंगति, कृत्रिमता तथा अयथार्थता आ गयी है* जिससे प्रायः वर्तमान इतिहासज्ञ उक्त कथन को लोगों की दृष्टि में धूलिप्रक्षेप करने के हेतु से किए

* उदाहरणार्थ वराहमिहिर को जिसका समय स्वयं उसीके ग्रन्थों में मिलनेवाले तथा अन्य प्रमाणों से भी ई० स० ५०५ के आसपास है एवं ई० स० के चतुर्थ शताब्दी से पूर्व ही सुविख्यात दिखनेवाले कविकुलगुरु कालिदास से निश्चित ही अनन्तर का है, अपना समकालिक बताना; एक ज्योतिष घटना का, जो सुकुशल गणितज्ञों की गणनानुसार ई० स० १२४२ के आसपास होनी चाहिए, उल्लेख अपने ग्रन्थ में करना; भोजराजा (इ० स० १०५० के आसपास) की धारानगरी का निर्देश अपनी रचना (अध्याय २२ श्लोक १४) में करना, इत्यादि। देखिये—शंकर बालकृष्ण दीक्षितः-भारतीयज्योतिषशास्त्राचा इतिहास (पूना १९३१), पृष्ठ २१२, ४७६; ए. बी. कीथः *A History of Sanskrit Literature* (आक्सफर्ड, १९२८) पृष्ठ ५३४ (जहाँ इस ग्रन्थ को ई० स० के० षोडश शताब्दी में सप्रमाण रखा गया है), इत्यादि। धार के कै० काशीनाथ कृष्ण लेले और कै० शिवराम काशीनाथ ओक दोनों ने मिलकर बम्बई के भूतपूर्व मराठी मासिक 'विविधज्ञानविस्तार' के इ० स० १९२२ के मार्च, अप्रेल तथा मई के तीन अंकों में "कालिदास व विक्रमादित्य यांच्या कालनिर्णयाची एक दिशा" शीर्षक विस्तृत लेख प्रकाशित कर ज्योतिर्विदाभरण के उक्त स्थलों की सप्रमाणता सिद्ध करने का प्रयत्न किया था, किन्तु उनके विवेचन को प्रायः तज्ज्ञ संशोधकों

हुए असत्य तथा असम्बद्ध प्रलापों से अधिक महत्त्व आज नहीं देते। हरिस्वामी के उपर्युक्त कथन के वास्तविक होने वा न होने का निर्णय करने का कोई स्वतन्त्र अन्य साधन आज हमारे पास नहीं है। ऐसे साधन के अभाव में केवल विवेचक दृष्टि से ही देखा जाय तो हरिस्वामी ने ऐसी कोई बात इन तीन श्लोकों में नहीं कही है जिसके ऐतिहासिक होने में सन्देह किया जाय। अजमेरनिकटवर्ती पुष्करक्षेत्र में मूलतः रहनेवाले तथा शतपथब्राह्मण जैसे गहन श्रुतिभागपर अत्यन्त गम्भीर भाष्य रचने की प्रतिभा रखनेवाले एक परम विद्वान् विप्र के उज्जयिनी में आकर सम्राट् विक्रमादित्य की शासनघटना में धर्माध्यक्ष तथा दानाध्यक्ष पदों पर स्थापित होने में अवास्तविकता कुछ भी प्रतीत नहीं होती। दानाध्यक्ष के बैठने के लिए सुवर्णमय वेदिका का निर्माण किये जाने की बात भी सम्राट् विक्रमादित्य के परम्परागत परमोच्च वैभव के वर्णन से पूर्णतया मिलती जुलती है। इन तीन श्लोकों में हरिस्वामी ने न तो अपना समय निर्दिष्ट करने की ही चेष्टा की है न अपने पिता और आश्रयदाता के अतिरिक्त किसी अन्य समकालिक का उल्लेख ही किया है। भाष्य में उन्होंने यत्र तत्र वैदिक संहिताएँ तथा ब्राह्मण, निरुक्त, अष्टाध्यायी, कात्यायनश्रौतसूत्र, अनेक स्मृतिग्रन्थ, इत्यादि से उद्धरण दिये हैं। किन्तु प्रस्तुत लेखक को उनमें ऐसा एक भी स्थल अब तक नहीं मिला है जिसका मूल किसी अन्य ग्रन्थ में होने के कारण हरिस्वामी के कथन का खण्डन किया जा सके।

कुछ मुद्रित संस्करणों में इस भाष्य के कतिपय अध्यायों के अन्तिम प्रशस्ति का पाठ निम्नलिखित दिया गया है:—

"इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां श्रीहरिस्वामिनां कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये......... काण्डे..................अध्यायः समाप्तः॥"

और इस पाठ पर से नये संस्करण के संशोधकमहोदय की* ऐसी धारणा हुई दिखती है कि 'सर्वविद्यानिधान-कवीन्द्राचार्यसरस्वती' यह हरिस्वामी की ही उपाधि है। जिन प्राचीन हस्तलिखित पोथियों के आधार पर प्रशस्ति का यह पाठ प्रथमतः छपा था वे आज हमारे सामने नहीं हैं। तो भी सम्भवतः इस सम्बन्ध में मूल तथा नये संशोधकों का गहरा भ्रम हो जाने की कल्पना की जा सकती है। वस्तुतः† कवीन्द्राचार्यसरस्वती नामक एक असामान्य प्रभावशाली विद्वान् संन्यासी मुगल सम्राट् शाहजहां (ई० स० १६५० के आसपास) के समकालिक थे। वे मूलतः गोदातीरनिवासी महाराष्ट्रीय ब्राह्मण थे किन्तु अनन्तर स्वयं काशी में आकर वहाँ के पण्डित-समाज के नेता बन गये थे। युवराज दारा शिकोह में संस्कृतविषयक अनुराग इन्हींने उत्पन्न किया था। शहाजहान की राजसभा में इनका असामान्य सम्मान

ने ग्राह्य नहीं माना। इधर ई० स० १९४० में भी श्रीयुत सदानन्द काशीनाथ दीक्षित ने कलकत्ते के *Indian Culture* त्रैमासिक के छठवे वर्ष के दो अंकों में Chandragupta II, Sahasanka alias Vikramaditya शीर्षक विस्तृत निबन्ध लिखकर वराहमिहिर के सम्बन्ध में मिलनेवाले तथा ज्योतिर्विदाभरण में दिये हुए समयनिर्देशों का समन्वय करने की एक नई युक्ति सुझाई थी जिससे दोनों के समय ई० स० ४०५ से ४२९ तक आ जाने की एवं ज्योतिर्विदाभरणकार के कथन की वास्तविकता सिद्ध होने की अपेक्षा वे करते थे। किन्तु उनकी नई युक्ति की और उसपर आधारित विवेचन की निर्मूलता, असफलता तथा अग्राह्यता श्रीयुत के० माधव कृष्ण शर्मा ने पूना के *Poona Orientalist* त्रैमासिक के पाँचवें वर्ष के चौथे अंक में प्रकाशित "The Jyotirvidabharana and Nine Jewels" शीर्षक अपने लेख में अनेक प्रमाणों से सिद्ध की है।

* श्रीयुत श्रीधर अण्णाशास्त्री वारे का लक्ष्मीवेंकटेश्वर मुद्रणालय के संस्करण में जुडा हुआ संस्कृत उपोद्घात, पृष्ठ २७।

† 'कवीन्द्राचार्यसूचीपत्र' के साथ प्रकाशित कै० महामहोपाध्याय डॉ० सर गंगानाथ झा का प्राक्कथन तथा श्री० आर० अनन्त कृष्ण शास्त्री का उपोद्घात, 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' के संस्कर्ता कै० डॉ० हरदत्त शर्मा और श्री एम्० एम्० पाटकर इनका उपोद्घात, तथा अन्य विद्वानों के लेख देखिए।

था तथा उसी सम्राट् ने इनकी अप्रतिम विद्वत्ता से मुग्ध होकर इन्हें 'सर्वविद्यानिधान' उपाधि से गौरवित किया था। इन्हींके प्रभावपूर्ण वक्तव्य के कारण शहाजहान ने काशी तथा अन्य तीर्थों की जनता को करभार से मुक्त कर दिया था। इस संस्मरणीय विक्रम के उपलक्ष्य में काशी के तत्कालिक सब प्रमुख पण्डितों ने मिलकर इनके गौरवपर छोटी-बडी कई प्रशस्तियाँ रचकर इन्हें समर्पण की थीं जिनका संग्रह 'कवीन्द्रचन्द्रोदय' नाम से विख्यात है तथा ई० स० १९३९ में पूना से प्रकाशित भी हो गया है*। इसी अवसर के स्मारकरूप हिन्दी पद्यमय प्रशस्तियों का भी 'कवीन्द्रचन्द्रिका' नामक ग्रन्थ बनकर काशी के तत्कालिक हिन्दी कवियों द्वारा इन्हें समर्पित हुआ था जिसकी एक प्रति बीकानेर की अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी में वर्तमान है†। कवीन्द्राचार्य ने कई संस्कृत तथा हिन्दी ग्रन्थों की रचना भी की थी। किन्तु विचाराधीन प्रश्न की दृष्टि से सबसे अधिक महत्त्व का विषय है उनका प्राचीन ग्रन्थों का विशाल संग्रह। उक्त संग्रह में विविध विषयों के सहस्रों प्राचीन ग्रन्थ विद्यमान थे जिनके मुखपृष्ठ पर एक विशिष्ट हस्ताक्षर से लिखा हुआ—"**श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां......** (=**ग्रन्थ का नाम**)।" यह वाक्य मिलता है। यह वाक्य उन पोथियों पर कवीन्द्राचार्य का मूल स्वामित्व सूचित करता है, नकि उनके अन्तर्गत ग्रन्थों का कर्तृत्व जिसके सम्बन्ध में प्रत्येक पोथी के अन्त में भिन्न प्रशस्ति रहती ही है। कवीन्द्राचार्य के ग्रन्थसंग्रह की एक प्राचीन सूची बडौदा से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित भी हुई है‡। उस संग्रह के उपर्युक्त-वाक्यांकित कई ग्रन्थ अब गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वतीभवन) बनारस, अनूप-संस्कृत-लाइब्रेरी बीकानेर, गायकवाड ओरिएण्टल इन्स्टीटयूट बडौदा, इत्यादि संस्थाओं में प्रविष्ट हो गये हैं तथा कुछ अब भी विभिन्न नगरों के प्राचीन विद्वन्कुलों के संग्रहों में दृग्गोचर होते हैं⁂। हो सकता है कि उसी संग्रह की हरिस्वामी के शतपथभाष्य के किसी अंश की एक पोथी उसके मूल मुद्रण के समय अथवा किसी प्रतिलिपि के बनने के समय काम में लाई गई हो तथा सम्बन्धित संशोधकों ने अथवा प्रतिलिपिकर्ता ने ऊपर दिये हुए कवीन्द्राचार्य के इतिहास से अनभिज्ञ होने के कारण पोथी के मुखपृष्ठ पर दिखनेवाले "**श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनां शतपथभाष्यम् ।।**" इस वाक्य का अन्त में दिखनेवाली "**इति श्रीमदाचार्य-हरिस्वामिनः कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये...........काण्डे............अध्यायः समाप्तः ।।**" इस प्रशस्ति से समन्वय "**इति श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्यसरस्वतीनाँ श्रीहरिस्वामिनाँ कृतौ माध्यंदिनीयशतपथब्राह्मणभाष्ये...................... काण्डे..................अध्यायः समाप्तः।।**" ऐसी नयी मिश्रित प्रशस्ति बनाकर कर डाला हो! '**सर्वविद्यानिधान**' उपाधि से विभूषित किसी अन्य कवीन्द्राचार्य का अस्तित्व इतिहास को अथवा प्राचीन परम्परा को अब तक ज्ञात नहीं है। अतः मुद्रित संस्करणों में स्वल्प स्थानों पर ही दिखनेवाली इस प्रशस्ति की उपपत्ति इस प्रकार लगाना प्रायः अनुचित न होगा।

---

* पूना ओरिएण्टल सीरीज, नं. ६०।

† प्रो० दशरथ शर्मा-शाहजहाँकालीन कुछ काशीस्थ हिंदी कवि (नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४७ अंक ३-४)।

‡ गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज नं. १७। किन्तु इसमें ई० स० १६५० के अनन्तर के कुछ ग्रन्थकारों की रचनाएँ भी प्रविष्ट हुई दिखती हैं। अतः इस सूचीपत्र का कवीन्द्राचार्य के पश्चात् कई वर्ष अनन्तर बना हुआ मानना ही उचित होगा।

⁂ प्रस्तुत लेखक को ई० स० १९४१ में सागर (मध्यप्रान्त के) एक पण्डितकुल के संग्रह से ई० स० १५५७ में हरिदास के बनाए हुए 'प्रस्तावरत्नाकर' ग्रन्थ की मूलतः कवीन्द्राचार्य के स्वामित्व की एक पोथी प्राप्त हुई थी जो अब सिन्धिया ओरिएण्टल इन्स्टीटयूट, उज्जयिनी, के हस्तलिखितसंग्रह में समाविष्ट कर ली गई है। इस पोथी के मुखपृष्ठ पर उसी परिचित हस्ताक्षर से लिखा हुआ "।।श्रीसर्वविद्यानिधानकवीन्द्राचार्य-सरस्वतीनां प्रस्तावरत्नाकरः।।" यह वाक्य है तथा अन्त में ग्रन्थकार की अन्तिम प्रशस्ति "इति श्रीकरण-कुलालंकारपुरुषोत्तमसूनुहरिदासविरचिते प्रस्तावरत्नाकरे ज्योतिःशास्त्रं समाप्तं।।" एवं पोथी के लेखक की प्रशस्ति "।।शुभमस्तु ।। श्रीरस्तु।। संवत् १७१३ (=ई० १६५६) समये श्रावणशुक्लपंचम्यां लि० नन्दनमिश्रेण बल्लभकुलोद्भूतेन ।" है।

विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष

कथासरित्सागर के विषमशीललम्बक नामक अन्तिम भाग के पाँच तरंगों में आई हुई विक्रमादित्यकथा में उस सम्राट् से सम्बन्धित 'चन्द्रस्वामी', 'यज्ञस्वामी', 'देवस्वामी', इत्यादि व्यक्तियों के नाम आये हैं किन्तु 'हरिस्वामी' यह नाम दृग्गोचर नहीं होता। उस ग्रन्थ के अन्य भागों में आई हुई कथाओं में 'हरिस्वामी' नाम का एक व्यक्ति मिलता है किन्तु उसका विक्रमादित्य से कोई सम्बन्ध नहीं है तथा उसका विद्वान् ग्रन्थकार होना भी सूचित नहीं किया गया है। अतः उसका अपने हरिस्वामी से कुछ सम्बन्ध नहीं दिखता।

ज्योतिर्विदाभरण में विक्रमादित्य के तथाकथित समकालिकों के निर्देश अध्याय २२ के निम्नोद्धृत तीन श्लोकों में किए हुए हैं:—

शंकुः सुवाग्वररुचिर्मणिरंगुदत्तो जिष्णुस्त्रिलोचनहरी घटकर्पराख्यः।
अन्येऽपि सन्ति कवयोऽमरसिंहपूर्वा यस्यैव विक्रमनृपस्य सभासदोऽमी ॥ ८ ॥
सत्यो वराहमिहिरः श्रुतसेननामा श्रीबादरायणमणित्थकुमारसिंहाः।
श्रीविक्रमार्कनृपसंसदि सन्ति चैते श्रीकालतन्त्रकवयस्त्वपरे मदाद्याः ॥ ९ ॥
धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंहशंकुवेतालभट्टघटखर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ॥१०॥

श्लोक ८ के द्वितीय चरण में 'त्रिलोचनहरी' यह पद द्विवचनान्त होने से उसमें त्रिलोचन तथा हरि नाम के दो व्यक्तियों का निर्देश दिखता है। यदि ज्योतिर्विदाभरण प्राचीन कालिदास के ही कर्तृत्व का होता अथवा उसके ऐतिहासिक उल्लेख विविध विश्वसनीय प्रमाणों से बाधित न हुए होते, तो इस निर्देश के हरि से अपने हरिस्वामी का एकव्यक्तित्व मान लेने में कोई हानि नहीं थी। किन्तु, जैसा ऊपर संक्षेप में निर्दिष्ट किया गया है, इस ग्रन्थ की अर्वाचीनता तथा उसके ऐतिहासिक अंशों की अविश्वसनीयता अब कई विद्वानों ने सिद्ध कर दी है। अतः उसके उपर्युक्त निर्देश का अपने विवेचन में कोई विशेष उपयोग नहीं है।

अन्य विश्वसनीय साधनों से शतपथभाष्यकार हरिस्वामी के विषय में अधिक जानकारी प्राप्त करना एवं उनके विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होने के कथन की सत्यासत्यता का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। आशा है कि विद्वान् संशोधक इस काम में सश्रम होंगे। यदि उक्त कथन की सत्यता निश्चित हुई तो अवश्य ही हरिस्वामी का विक्रमादित्य के धर्माध्यक्ष होना सिद्ध होगा। किन्तु आधुनिक इतिहासज्ञों की दृष्टि से संवत्संबन्धित विक्रमादित्य का विशिष्टव्यक्तित्व तथा ई० स० पूर्व ५८-५७ के आसपास होना अभी सिद्ध नहीं हुआ है एवं हरिस्वामी ने भी अपना विशिष्ट समय इन तीन श्लोकों में किसी गणना से निर्दिष्ट नहीं किया है। ऐसी अवस्था में, किसी वैभवशाली सम्राट् विक्रमादित्य का अस्तित्व ऐतिहासिक प्रमाणों से ई० स० पूर्व ५८-५७ के आसपास निश्चित होने तक, हरिस्वामी को, यदि उनका कथन सत्य हो तो, द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० स० ४१३ के पूर्व) के अथवा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य (ई० स० ४५५-४८०) के धर्माध्यक्ष मान लेने में भी कोई हानि नहीं होगी। पराशर-गोत्री, मूलतः पुष्कर के रहनेवाले तथा इस समय 'पुष्करना (पोखरना) परासरी' नाम से परिचित ब्राह्मणों के कुछ प्राचीन कुल आज भी उज्जयिनी में विद्यमान हैं। बहुत सम्भव है कि अपने हरिस्वामी इन्हींके पूर्वजों में से हों। अतः इन कुलों के वर्तमान पुरुषों को चाहिए कि अपने घरों के प्राचीन विविध साहित्य को प्रकाश में लाकर उसके द्वारा हरिस्वामी के कथन की सत्यता यथासम्भव सिद्ध करने में तथा उनके आश्रयदाता विक्रमादित्य का विशिष्टव्यक्तित्व, समय, इत्यादि समस्याओं को सुलझाने में पूर्ण सहयोग दें।

अन्त में इस विषय पर अन्य संशोधकों के किए हुए अन्वेषणों तथा उन पर से प्राप्त निष्कर्षों की स्वल्प समीक्षा करना उचित होगा।

औफ्रेश्तने शतपथभाष्यकार हरिस्वामी तथा कात्यायनकृत श्राद्धसूत्र और स्नानविधिसूत्र के भाष्यकार हरिहर इन दोनों का एकव्यक्तित्व मान लिया है।* किन्तु यह उनका भ्रम है। जैसाकि महामहोपाध्याय प्रो० पाँडुरंग वामन

* *Catalogus Catalogorum* भाग १, (लैप्जिग, १८९१), पृष्ठ ७६२, ७६३।

काणे ने सप्रमाण दिखलाया है*, पारस्कर के गृह्यसूत्र पर भाष्य लिखनेवाले हरिहर ने ही कात्यायन के स्नानविधिसूत्र पर भाष्य लिखा है तथा दोनों भाष्यों के अन्तर्गत तथा अन्य प्रमाणों से भी उसका समय ई० स० के ११५० से १२५० तक होना चाहिये। इस हरिहर का अपने हरिस्वामी से एकव्यक्तित्व दिखानेवाला कोई भी प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है।

पंजाब युनिव्हर्सिटी के प्राच्यविभाग के प्राध्यापक डॉ० लक्ष्मणसरूप ने प्रथम १९२९ में निरुक्त के अपने संस्करण के 'सूची और परिशिष्ट†' वाले भाग के उपोद्घात के एक अंश में तथा अन्यत्र १९३७ में 'झा-स्मारक ग्रन्थ' में प्रकाशित 'स्कन्दस्वामी का समय' शीर्षक‡ अपने लेख में इन हरिस्वामी के समय की चर्चा की है। उससे ज्ञात होता है कि बनारस की गवर्नमेण्ट संस्कृत लाइब्रेरी में हरिस्वामी के शतपथभाष्य की संवत् १८४९ में लिखी (अर्थात् १५२ वर्ष पुरानी) एक प्रति विद्यमान है जिसमें भाष्यकार का समय एवं उनके पितामह तथा गुरु के नामों का निर्देश करनेवाले, किन्तु मुद्रित संस्करणों एवं उनके आधारभूत हस्तलिखित पोथियों में दृग्गोचर न होनेवाले, कुछ अतिरिक्त श्लोक मिलते हैं। उक्त प्रति डॉ० लक्ष्मणसरूप ने स्वयं नहीं देखी है किन्तु उन्हें उसके ⁂ निम्नलिखित पाँच महत्त्वपूर्ण श्लोक उक्त पुस्तकालय के अध्यक्ष की ओर से प्राप्त हुए हैं :—

> नागस्वामी तत्र................श्रीगुहस्वामिनन्दनः। तत्र याजी प्रमाणज्ञ आढ्यो लक्ष्म्या समेधितः ॥ ५ ॥
> तन्नन्दनो हरिस्वामी प्रस्फुरद्वेदवेदिमान्। त्रयीव्याख्यानधौरेयोऽधीततन्त्रो गुरोर्मुखात् ॥ ६ ॥
> यः सम्राट् कृतवान्सप्तसोमसंस्थास्तथर्क्श्रुतिम्। व्याख्यां कृत्वाध्यापयन्मां श्रीस्कन्दस्वाम्यस्ति मे गुरुः ॥ ७ ॥
> श्रीमतोऽवन्तिनाथस्य विक्रमस्य क्षितीशितुः। धर्माध्यक्षो हरिस्वामी व्याख्यां कुर्वे यथामति ॥ ९ ॥
> यदादीनां (=यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्तत्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥

इन श्लोकों के अनुसार हरिस्वामी के पितामह का (अर्थात् नागस्वामी के पिता का) नाम गुहस्वामी था तथा गुरु का नाम स्कन्दस्वामी था। स्कन्दस्वामी वेदों के प्रकाण्ड विद्वान् तथा वैदिक यज्ञकाण्ड के सभी विभागों में अनुभव से निष्णात थे तथा उन्होंने ऋक्संहिता की व्याख्या भी रची थी⁑। पूर्वोक्त तीन श्लोकों की तरह ये श्लोक भी हरिस्वामी के इस विशेष को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं कि सर्वत्र दिखनेवाला लक्ष्मी और सरस्वती का सहज वैरभाव उनके उदाहरण में अस्तित्व नहीं रखता था। धुरन्धर विद्वान् होते हुए वे समृद्ध सम्पत्तिशाली भी थे। अन्तिम श्लोक के सरल अर्थ के अनुसार हरिस्वामी ने शतपथभाष्य की रचना कलियुग के ३७४० वर्ष समाप्त होने पर की।

यदि इन पाँच श्लोकों में विश्वसनीयता हो तो अवश्य ही हरिस्वामी के समय का निर्णय हो जाता है तथा अन्तिम श्लोक के सीधे अर्थ के अनुसार इस्वी सन के ६३८वें वर्ष में उनके शतपथभाष्य का रचा जाना मान लेना पड़ता है क्योंकि कलिका प्रारम्भ ख्रिस्तपूर्व ३१०२ के फरवरी के दिनांक १८ से माना जाता है। यह समय विक्रम-संवत् के प्रारम्भ से प्रायः ६९५ वर्ष अनन्तर का है तथा 'विक्रमादित्य' उपपदधारी गुप्तवंशीय विख्यात सम्राटों से भी अनन्तर का है। अत-

---

* *History of Dharmasastra* भाग १, (पूना १९३०), पृष्ठ ३४१-३४३।

† Indices and Appendices to the *Nirukta* (लाहौर, १९२९), पृष्ठ २९-३०।

‡ *Date of Skandasvamin—Jha Commemoration Volume* (पूना, १९३७), पृष्ठ ३९९-४१०।

⁂ उक्त पोथी का विस्तार कितने पत्रों का है, उसमें समग्र शतपथब्राह्मण का अथवा उसके कुछ अंशों का ही भाष्य है, उद्धृत पाँच श्लोक पोथी के किन पत्रों पर हैं, इत्यादि महत्त्व की बातों का स्पष्टीकरण नहीं किया गया है! लेखनकाल संवत् १८४९ देनेवाली पोथीलेखक की प्रशस्ति भी मूल शब्दों में उद्धृत नहीं की गई है!

⁑ ऋक्संहिता के प्रारम्भ के तीन अष्टकों का स्कन्दस्वामीकृत भाष्य त्रिवेन्द्रम् से कुछ वर्ष पूर्व उपलब्ध होकर अब मुद्रित भी हो गया है। सम्भवतः इसी भाष्य के रचयिता स्कन्दस्वामी हरिस्वामी के गुरु थे।

समयनिर्देशक श्लोक के सीधे अर्थ के आधार पर हरिस्वामी का आश्रयदाता किसी और विक्रमादित्य को ही मानना पड़ेगा। किन्तु इस समयनिर्देशक श्लोक के सरलार्थ की विश्वसनीयता तथा उसपर से डॉ० लक्ष्मणसरूप ने निकाले हुए निष्कर्ष सब ऐतिहासिक प्रमाणों के विरुद्ध हैं जैसाकि नीचे दिखाया जायगा।

प्रथम लेख लिखने के समय तो डॉ० लक्ष्मणसरूप इस भ्रम में थे कि कलियुग का प्रारम्भ ई० स० पूर्व ३२०२ से होता है ! इस भ्रान्त कल्पना के आधार से गणित करने पर उक्त श्लोक में दिया हुआ समय ई० स० का ५३८ वां वर्ष निकला और डॉक्टर महोदय ने ई० स० ५२८ के आसपास हूणाधिपति मिहिरकुल को गहरा पराजय देनेवाले मालवे के एक प्रबल राजा यशोधर्मन् से हरिस्वामी के विक्रमादित्य का एकव्यक्तित्व मान लिया ! किन्तु कुछ समय के पश्चात् अन्य संशोधकों के लिखने पर उन्हें सूझ आई कि यथार्थ में कलि का प्रारम्भ ई० स० पूर्व ३२०२ से नहीं किन्तु ३१०२ से होता है तथा इस हिसाब से उक्त श्लोक में निर्दिष्ट समय ई० स० के ६३८वें वर्ष से ऐक्य पाता है। इतिहास के अनुसार इस समय के आसपास उज्जयिनी में किसी विक्रमादित्य का होना पूर्णतया असम्भव है क्योंकि कन्नौज का हर्षवर्धन ई० स० ६०६ से ६४८ तक निर्विवाद रूप से समग्र उत्तरीय भारत का सम्राट् था एवं सब ऐतिहासिक प्रमाण इस पक्ष में हैं कि प्रभाकरवर्धन, राज्यवर्धन तथा हर्षवर्धन इन तीनों की विजयपरम्परा से मालवे का स्वतंत्र अस्तित्व ही इस समय तक पूर्णतया नष्ट हो चुका था और पूर्व तथा पश्चिम मालव दोनों कन्नौज-साम्राज्य के घटक प्रान्त बन गये थे। ऐसी अवस्था में समयनिर्देशक श्लोक उसके सीधे अर्थ के अनुसार एक निरर्गल प्रलाप से अधिक महत्त्व नहीं रखता तथा उसपर आधारित सब निष्कर्ष अन्तरिक्ष में लीन हो जाते हैं। किन्तु जान पड़ता है कि हरिस्वामी को यशोधर्मन् की ही राजसभा में बैठाने का बीड़ा डॉ० लक्ष्मणसरूप उठा चुके थे ! अतः उन्होंने उनके उपरिनिर्दिष्ट दूसरे लेख में इन कठिनाइयों का सामना इस श्लोक के विद्यमान पाठ को अशुद्ध बताकर उसके लिए केवल अपनी कल्पना से निम्नलिखित नवीन पाठ सुझाते हुए किया :—

यदाब्दानां कलेर्जग्मुः षट्त्रिंशच्छतकानि वै। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम्॥

जिससे भाष्यरचना का समय ठीक सौ वर्ष पीछे ई० स० ५३८ में अर्थात् यशोधर्मन् के शासनकाल में आ जाय ! उन्होंने इस सम्बन्ध में यशोधर्मन् का पक्षपात यह कहकर भी किया है कि हरिस्वामी के विक्रमादित्य का 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण केवल मालवे वा मध्यभारत का आधिपत्य करनेवाले यशोधर्मन् को ही लागू पडता है नकि द्वितीय चन्द्रगुप्त को जो समग्र उत्तरीय भारत का सम्राट् था।

वस्तुतः अपने मत की सुलभता के लिए किसी प्राचीन ग्रन्थ में दिखनेवाले पाठ को केवल कल्पना के आधार पर बदलना शास्त्रीय संशोधन से सम्मत नहीं है। अच्छा होता कि डॉक्टर महोदय समयनिर्देशक श्लोक को असमर्थित एवं अविश्वसनीय कहकर छोड़ देते। उनका यह कथन भी कि 'अवन्तिनाथ' यह विशेषण यशोधर्मन् के अतिरिक्त अन्य किसी विक्रमादित्य को लागू नहीं होता कुछ महत्त्व नहीं रखता। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' यह सर्वमान्य सिद्धान्त है। संवत्-प्रवर्तक समझे जानेवाले मूल विक्रमादित्य का वर्णन सब प्राचीन कथाएँ, इस बात को पूर्णतया ध्यान में रखते हुए कि वह समग्र भारत का सम्राट् था, 'अवन्तिनाथ' वा तत्सदृश विशेषणों से ही मुख्यतया करती हैं क्योंकि उनके अनुसार उसकी राजधानी उज्जयिनी थी। भोज को भी सर्वत्र 'धाराधीश' इसी रीति के अनुसार कहा जाता है। वैसेही देखा जाय तो 'अवन्तिनाथ' विशेषण यशोधर्मन् के वर्णन में भी अव्याप्ति-दोष से युक्त है क्योंकि दशपुर (मन्दसौर) इत्यादि अनेक स्थान जोकि उज्जयिनी से सौ मील से भी अधिक दूरी पर हैं उसके आधिपत्य में थे। अथच, हरिस्वामी अपने आश्रयदाता का निर्देश केवल 'विक्रमादित्य' नाम से करते हैं, वे उसका कोई दूसरा नाम होना ध्वनित भी नहीं करते। यशोधर्मन् का इस, अथवा अन्य भी किसी, विक्रमादित्य से एकव्यक्तित्व मान लेने में और भी कई गम्भीर बाधाएँ उपस्थित होती हैं। उसने उसके अब तक उपलब्ध हुए तीन शिलालेखों में, जिनमें मन्दसौर का स्तम्भगत ई० स० ५३२ का लेख अत्यन्त विख्यात है, अपना, अपने पराक्रम का तथा अपने साम्राज्य-विस्तार का वर्णन बड़े बड़े आत्मश्लाघात्मक विशेषणों से किया है, किन्तु उसने अपने को 'विक्रमादित्य' उपपदधारी कहीं ध्वनित भी नहीं किया है। यदि वह वस्तुतः 'विक्रमादित्य' उपपदधारी

होता तो उसने जिस प्रकार अपने नाम के साथ 'राजाधिराज', 'परमेश्वर' इत्यादि विरुदों का उपयोग किया है, उसी प्रकार 'विक्रमादित्य' उपपद का भी स्पष्ट रीति से किया होता। एवं यशोधर्मन् का हरिस्वामी के, अथवा अन्य भी किसी, विक्रमादित्य से विद्यमान अवस्था में ऐक्य सिद्ध नहीं हो सकता। डॉ० लक्ष्मणस्वरूप से पूर्व भी कुछ भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने अनेक प्रचलित आख्यायिकाओं के अनुसार कालिदास, मातृगुप्त, प्रवरसेन, इत्यादि व्यक्तिओं से सम्बन्धित विक्रमादित्य का ऐक्य यशोधर्मन् से संस्थापित करने का प्रयत्न किया था। किन्तु यशोधर्मन् के 'विक्रमादित्य' उपपदधारी होने के प्रमाण के अभाव में उनके यत्न में भी असफलता रही।

डॉ० लक्ष्मणस्वरूप द्वारा प्रस्तुत किये हुए पाँच श्लोकों की, विशेषत: समयनिर्देशक अन्तिम श्लोक की, विश्वसनीयता अथवा अविश्वसनीयता का निर्णय करानेवाला कोई स्वतन्त्र साधन इस लेखक के पास आज नहीं है। किन्तु जो विवरण प्राप्त हुआ है उससे इनकी विश्वसनीयता संदिग्ध अवश्य हो जाती है। श्री० सत्यव्रत सामश्रमी ने कलकत्ते से 'बिब्लिओथिका इण्डिका' ग्रन्थमाला द्वारा तथा अन्य संशोधकों ने अन्य स्थानों से शतपथभाष्य के जो संस्करण निकाले हैं, उनमें केवल पूर्वोक्त तीन श्लोक ही मिलते हैं, इन पाँच श्लोकों का पता नहीं है। उन संस्करणों के आधारभूत हस्तलिखित पोथियों में कवीन्द्राचार्य के संग्रह की भी एक पोथी होना प्रतीत होता है जो कम से कम तीनसौ वर्ष पुरानी होनी चाहिए तथा जिसकी विश्वसनीयता इस एकसौबावन वर्ष पुरानी पोथी से अधिक होनी चाहिए। अर्थात् इन श्लोकों को प्रस्तुत अवस्था में असमर्थित ही मानना पड़ता है।

वस्तुस्थिति जो कुछ भी हो, हरिस्वामी का रुख, जैसाकि ऊपर निर्दिष्ट किया जा चुका है, मुख्य अर्थात् संवत्-प्रवर्तक माने जानेवाले 'विक्रमादित्य' की ओर ही होना प्रतीत होता है। और इस दृष्टि से विचार किया जाय तो उक्त समयनिर्देशक श्लोक का अर्थ, उपस्थित पाठ को लेशमात्र भी परिवर्तित न करते हुए किन्तु केवल पदच्छेद और अन्वय निम्नलिखित रीति से करते हुए, अधिक समीचीन किया जा सकता है:—

यदाब्दीनां (–यदाब्दानां) कलेर्जग्मुः सप्त त्रिंशच्छतानि वै। चत्वारिंशत्समाश्चान्यास्तदा भाष्यमिदं कृतम् ॥
(अन्वय:—यदा कलेः अब्दानां त्रिंशच्छतानि, सप्त, अन्याः चत्वारिंशत् समाः च जग्मुः वै तदा इदं भाष्यं कृतम्॥)

'सप्त' और 'त्रिंशच्छतानि' इन पदों को पृथक् मानने पर समग्र वर्षसंख्या कलि के प्रारम्भ से ३०४७ होती है, ३७४० नहीं। यह लेख लिखने के समय कलिवर्ष ५०४६ तथा विक्रमसंवत् का वर्ष २००१ चालू है। अर्थात् कलिवर्ष ३०४५ में विक्रमसंवत् का प्रादुर्भाव हुआ था। इस अर्थ के अनुसार हरिस्वामी अपने शतपथभाष्य की रचना विक्रमसंवत् के तीसरे वर्ष के आसपास, अर्थात् संवत्-प्रवर्तक मूल विक्रमादित्य के ही शासनकाल में पूर्ण होना सूचित करते हैं।

विचाराधीन श्लोक का भिन्न अर्थ करने की जो नवीन युक्ति ऊपर सुझाई गई है उसमें न तो किसी विद्यमान पाठ का ही गला घोंटा गया है न संस्कृत व्याकरण के किसी नियम का ही भंग किया गया है। श्लोक के रचयिता का भी अभिप्रेत अर्थ यही प्रतीत होता है। तो भी वर्तमान अवस्था में यह कहना असम्भव है कि श्लोक में इस अर्थ के अनुसार किया हुआ विधान वस्तुस्थिति पर आधारित है अथवा ज्योतिर्विदाभरण के समयनिर्देश के सदृश केवल कल्पना से गणित की सहायता से किया गया है। यद्यपि मुझे इस विधान को निरस्त करनेवाला कोई अन्तर्गत प्रमाण हरिस्वामी के भाष्य में अभी तक नहीं मिला है तो भी इस बात का विस्मरण नहीं किया जा सकता कि समयनिर्देशक तथा अन्य चार श्लोक अब तक केवल एक ही पोथी में उपस्थित हैं। यदि कालान्तर से भाष्य की अन्य प्राचीन प्रतियां प्रकाश में आयें तथा यह समयनिर्देशक श्लोक अन्य प्रमाणों से अप्रामाणिक सिद्ध न होकर उनके द्वारा समर्थित हो तो संवत्-प्रवर्तक मुख्य विक्रमादित्य का अस्तित्व आज से दो सहस्र वर्ष पूर्व होना सिद्ध करने में वह सबसे बलवान् समकालिक प्रमाण हो बैठेगा।

इस विषय की विद्वानों द्वारा अधिक गवेषणा की आवश्यकता है, उसके पश्चात् ही किसी निश्चित तथा अंतिम निर्णय पर पहुँचा जा सकता है।



* विक्रम *

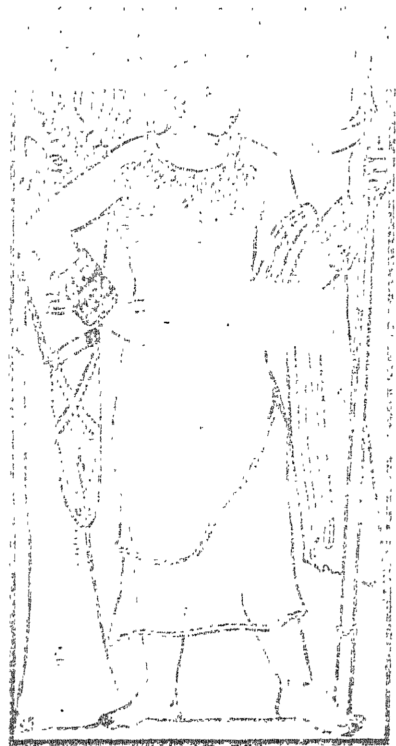
श्री सियारामशरण गुप्त

युग सहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर
विजयी विक्रम की गाथा में
ध्वनित आज कवि का जो स्वर--,

मानस-क्षिप्रा की लहरों में
उमँग उठा वह उल्लासी,
उस सुदूर में महाकाल के
पदस्पर्श का अभिलाषी,
नूतन साके के प्रभात में
फहरा जो जयकेतु वहाँ,
बरसी जिस पर अरुण-कलश की
अभिषेकोदक-धारा-सी,

किस अनन्त में है वह, उसकी
आती यह फहराहट भर,
युग सहस्र वर्षान्त-प्रसारित
काल-स्रोत के इस तट पर!

श्री सियारामशरण गुप्त



जिस विक्रान्त बली विक्रम के
अभय कण्ठ का विजयोच्चार
अब्द अब्द के नित-नव रथ में
कर आया इतना पथ पार,

यहाँ आज के उत्सव में वह
थम न सकेगा एक निमेष,
शतियों के मुख से है उसको
आगे का आह्वान अशेष।
विकट पराभव की तमसा में
जहाँ निराशा की वर्षा
उसे वहाँ देते जाना है
पूर्व पराक्रम का सन्देश।

हुआ हमारा ही अपना यह
निखिल राष्ट्र-मय जयजयकार,
उस विक्रान्त बली विक्रम के
अभय कण्ठ का विजयोच्चार।



हुआ अघोन्मूलन, ध्वनि गूँजी—
'भय क्या है, किसका क्या भय!'
जब वह दुराक्रमक दुःशासक
कठिन दस्युदल था दुर्जय।

देखा जब भी हमने तब से
वह वैताल 'पुनस्तत्रैव',
उद्यत रहा हमारा विक्रम
नव वेशों में सतत तथैव।
वार, मास, वत्सर-वत्सर की
प्रतितिथि के मस्तक पर नित्य
अविच्छिन्न अंकित रक्खा है
उस विक्रम का स्मरण सदैव।

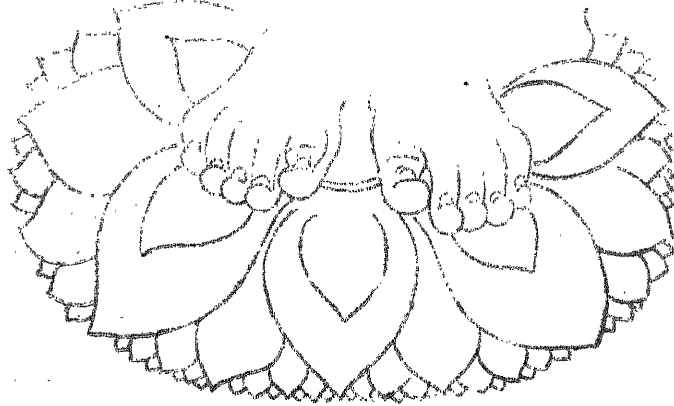
त्रिसहस्राब्द-द्वार पर फिर से
उठें वही स्वर निःसंशय,
अहरह जाग्रत है वर-विक्रम,
भय क्या है, किसका क्या भय!

विक्रम

वह विक्रम, जो उठा गगन में
धारण किये समग्र प्रकाश;
नवादित्य-सा तिमिर-सेज पर
पूरा कर निज निभृत-निवास;

न हो भले, मिट्टी-पत्थर पर
उसके पद-चिह्नों की रेख,
हृदय-हृदय के ऊर्ध्व लोक में
अक्षय है उसका अभिलेख।
प्रति रजनी में राजमुकुट तज,
जन-मन की उज्जयिनी में,
मधुर स्वप्न बन विचर रहा है
वह भय-भंजन-कारी एक !

समाश्वस्त है कुटी-कुटी का,
भवन-भवन का, पवनाकाश,
वह आदित्य उदित फिर होगा
प्रकटित करके पूर्व-प्रकाश।







गालवपुर की राज्य-परिधि !

स्व० श्री रमाशंकर शुक्ल, हृदय

(१)

ओ गोपाद्रि ! सम्हाले तूने कितने चरण-चिह्न कुछ तो कह ?
कितने धन्य हुए हैं आकर तेरे अंचल में कुछ तो कह ?
मूक न बन, तू बोल और इस क्षण अपना आशीष जगादे,
यह प्रभात तेरे मस्तक पर तरुणाई का मुकुट सजादे !
तपःपूत तेरा अणु-कण है—यह भगवे झंडे की साखी,
क्यों न करेगा आज तेजमय तू जीवन-प्रभात की झाँकी ?
उन्नत मस्तक रहा सदा ही उसी निरालेपन से तू रह,
ओ गोपाद्रि ! सम्हाले तूने कितने चरण-चिह्न कुछ तो कह !

(२)

तू विशाल है, तेरी सीमा आर्य-देश का रही पुण्य-पथ,
रेवा चरण चूमती, यमुना सदा हेरती है तेरे दृग !
तू सुवर्ण हो गया छिपाये इस सुवर्ण-रेखा की छाया,
महाकाल ने भी विराम तेरी शिप्रा के तट पर पाया !
पारवती भी आर्द्र हुई तुझ पर वात्सल्य-सनेह ढारती,
विकल तरंगों में चम्बल की तेरी ही करुणा पुकारती !
विविध प्रधावित ये सरिताएँ गाती हैं तेरी गौरव-गथ,
तू विशाल है, तेरी सीमा आर्य-देश का रही पुण्य-पथ !



(३)

गालवपुर की राज्य-परिधि ! तू इतिहासों की लिए धरोहर,
दशपुर, विदिशा और अवन्ती की कहानियाँ क्यों न याद कर !
सूर्यसेन, सारंग, करण-से नृपवर मानसिंह से मानी,
छोड़ गये हैं तेरी गोदी में वैभव की अमिट निशानी !
कुलपति गुरु प्रभु यदुपति के वे सांदीपन विद्याभिमान से,
आर्यभट्ट वाराहमिहिर तुझ से पूजित हो विद्यमान थे !
बौद्ध महाकात्यायन जैसे विश्व-शान्ति-सन्देश वहन कर,
गालवपुर की राज्य-परिधि, तू इतिहासों की लिए धरोहर !

(४)

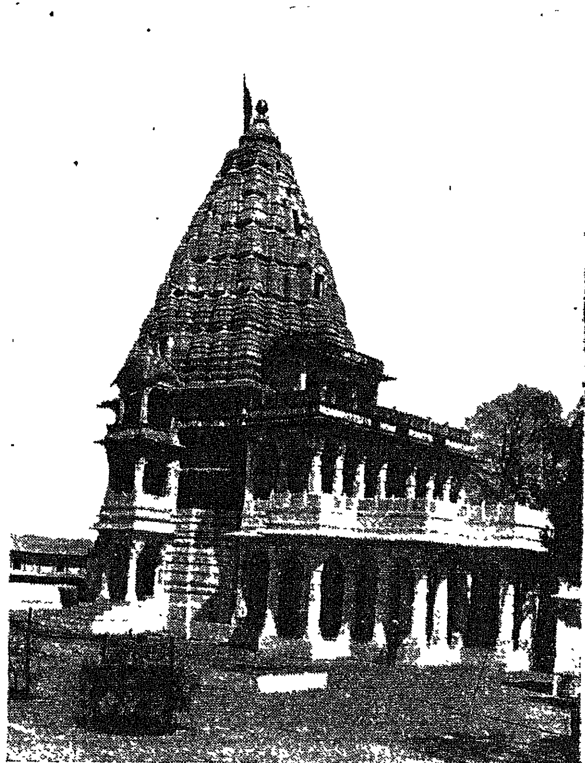
खिंची मध्यरेखा भू-मंडल की मंगल-ग्रह दिखा यहीं पर,
यजुर्वेद का भाष्य प्रथम ज्ञानी उव्वट ने किया यहीं पर !
प्राकृत-आवन्तिकी वाणियों में साहित्य-विधान हुआ था,
यहीं राग मालव में पहले मुग्धाओं का गान हुआ था !
कालिदास से कवि-कुल-गौरव मालव के महमान हुए थे,
यहीं परीक्षा देकर कितने जन विश्रुत विद्वान हुए थे !
संस्कृति का प्रवाह दिशि-विदिशाओं से आकर मिला यहीं पर,
खिंची मध्य-रेखा भू-मंडल की मंगल-ग्रह दिखा यहीं पर !

(५)

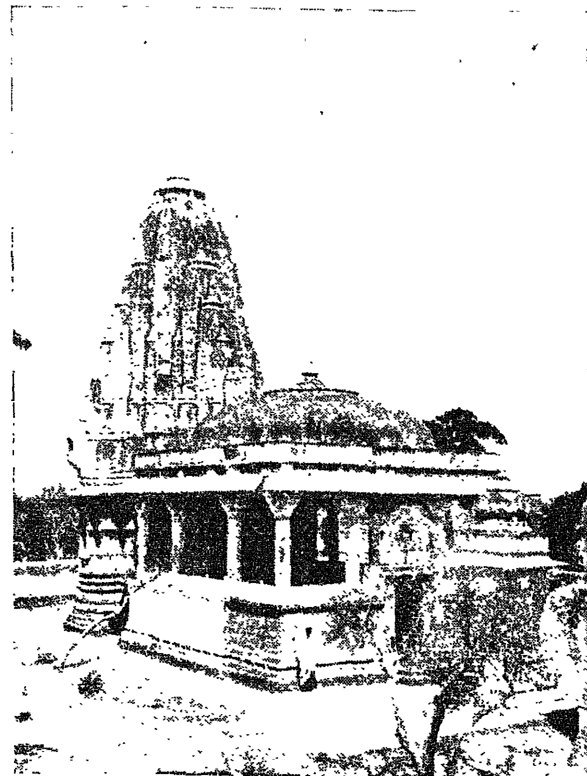
नृपति-मुकुट प्रद्योत बौद्ध सम्राट् अशोक महान् भिक्षु बन,
करते थे तेरे आँगन में—तेरे रंग-स्थल में क्रीड़न !
वे विक्रम, नृप-विक्रम, जिनका है विशाल भारत में साका,
किसी समय फहराते थे तेरी सीमा में कीर्ति-पताका !
भूप यशोधर्मन तेरी इस पुण्य-भूमि में पूत हुए थे,
इसी अवन्ती यशवन्ती में मुंज मान-सम्भूत हुए थे !
कौन समर्थ करेगा इनकी पुण्य कथाओं का अनुकीर्तन ?
नृपति-मुकुट प्रद्योत बौद्ध सम्राट् अशोक महान् भिक्षु बन !

(६)

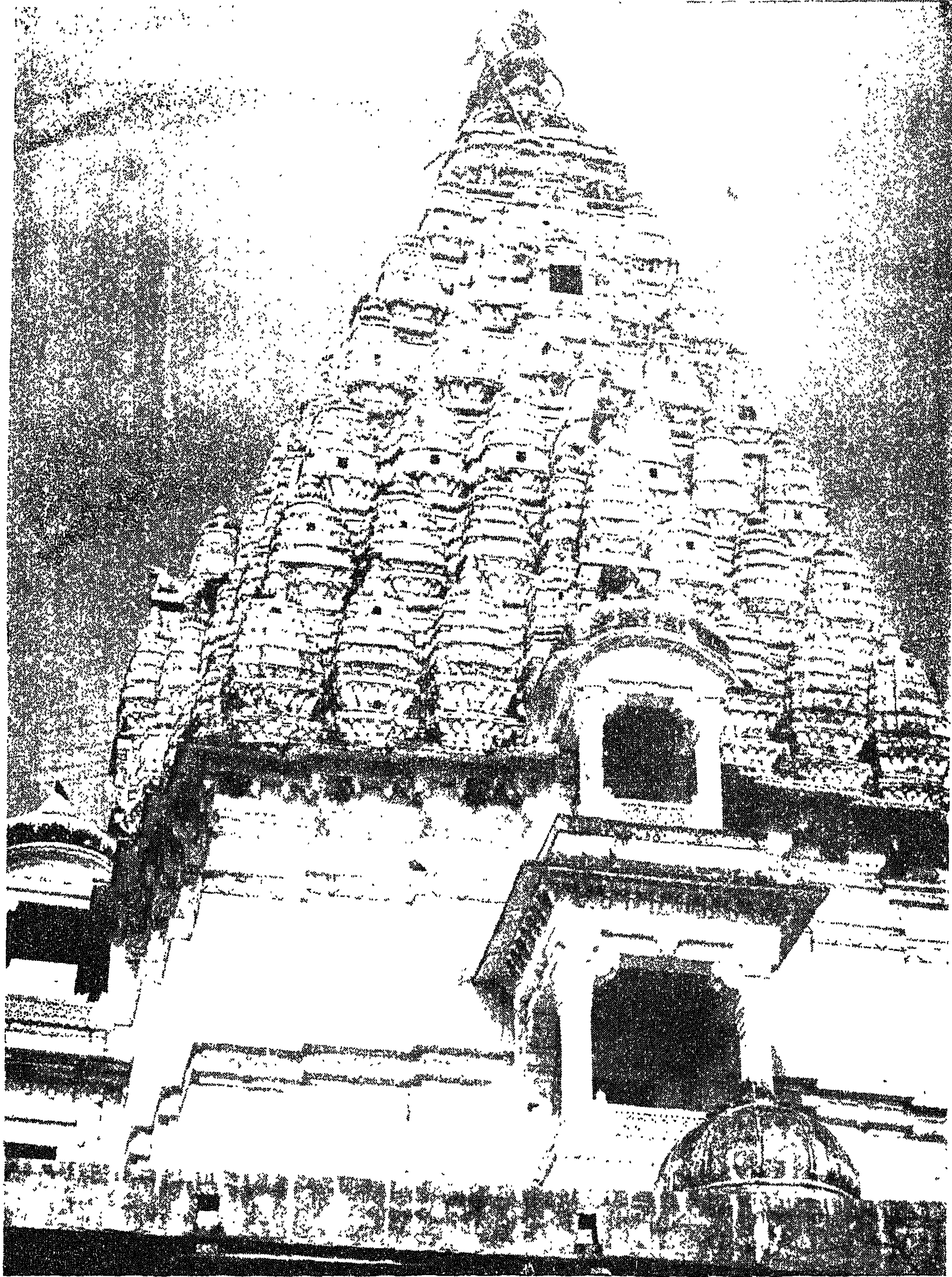
तानसेन सोया है तुझ में प्राणों का मधु-गीत सुना कर,
धन्य हुए कवि वृन्द प्रकृति से यहाँ भाव-संवेदन] पाकर।
गोपाचल, इतने गौरव में भी तूने अभिमान न माना,
रखा अमीरी में भी तूने अपना मस्त फकीरी बाना।
सप्तपुरी की पुण्य-ज्योति तेरे जीवन में ऐसी जागी,
राजमुकुटवाले भी आकर बने भर्तृहरि-से वैरागी।
नश्वरता मिट गई यहाँ पर तुझे अमर-संगीत सुना कर,
तानसेन सोया है तुझ में प्राणों का मधु-गीत सुना कर।



महाकाल मन्दिर, उज्जैन।



प्राचीन महाकाल मन्दिर, उज्जैन।

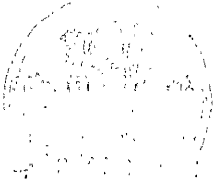


महाकालेश्वर का मन्दिर—'वन्दे महाकाल महं सुरेशम्'।

मानवलोकेश्वर महाकाल

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

'मृत्युलोके महाकालम्' इस पुराणोक्ति की पृष्ठभूमि में अवश्य ही ऐतिहासिक तथ्य-परम्परा विद्यमान है। समस्त मानवलोक की स्वामिता का अधिकार महाकालेश्वर को केवल धार्मिक भावना से ही प्राप्त नहीं है, किन्तु महाकालेश्वर की इस विशिष्टता के लिए हमें मालव-भूमि की प्राग्-ऐतिहासिक युग से भी पूर्व की स्थिति पर दृष्टिपात करना होगा। प्रलयकालीन भारत की हमारे समक्ष एक धुंधलीसी कल्पना-रेषा है। उसके पश्चात् यदि कहीं मानव-सृष्टि के आरम्भिक विस्तार का कारण-स्थल ज्ञात होता है तो वह मालव-प्रदेश ही है और इसी कारण अवन्ती-देश की पौराणिक विभिन्न नामावलियाँ रहस्य से परिपूर्ण हैं। उसमें भी प्रतिकल्पा शब्द ऐसा है जो विभिन्न युगों (कल्पों) में इस प्रदेश के अस्तित्व की सूचना देता है। ये नाम और पौराणिक राजवंशों के वे नाम जो सुमेर, एवं इजिप्शियन संस्कृति से नाम-साम्य ही नहीं, अधिकार-क्षेत्र के व्यापक स्वरूप की भी संगति जुड़ाने में पर्याप्त सहायक होते हैं, मालव की अति पुरातन महत्ता स्थिर करने में सहायक बनते हैं। और यही कारण है कि पुराणों के 'प्रलयो न बाधते तत्र महाकाल पुरी' इस पद्यांश में तत्कालीन ऐतिह्य भावना का ही प्रतिबिम्ब है। नर्मदा उपत्यका की सभ्यता के अनुसन्धान ने भी इन्हीं विचारों को पुष्टि दी है। फलतः महाकालेश्वर की यह पावन पुरी मानव-जननी के रूप में ही प्रकट होती है। तक्षशिला के धर्मराजिका मठ की मही से जिस पुरातनतम मानव के कंकाल ने प्रकट होकर भारत की किसी विशिष्ट सभ्यता का प्रदर्शन किया था, उससे



भी शताब्दियों पूर्व की सभ्यता के समर्थन करने के लिए एक दूसरे महा-मानव के मूल-पुरुष के कंकाल ने प्रत्यक्ष प्रगट होकर उज्जैन में मानव-सृष्टि की प्रथमोत्पन्नता का प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित कर दिया। वाल्मीकि महर्षि प्रणीत रामायण की पुरातनता इतिहास में निःसंदिग्ध है। तत्कालीन विन्ध्याद्रि की परमोन्नतता—'अपश्यद्रावणो विन्ध्यमाविशन्तमिवाम्बरम' इतनी प्रख्यात है कि स्वयं रावण को भी विन्ध्य-सौध-शृंग नील नभोमंडल को छूता हुआ दिखाई पड़ा था। वह इस विन्ध्याटवी की उष्णता से भयभीत हो सीताहरण के समय सीधा रास्ता काटकर ही चला गया था। 'विन्ध्य' की उस गगनोन्नत अवस्था का जिस सहस्राब्दी को भास हो सकता है उसी युग की अवन्ति का मानवावास भी समर्थित है। स्वयं किष्किन्धाकाण्ड इसका प्रमाण है। वैदिक-रामायणयुगीन अवन्ती की आर्य-संस्कृति की रक्षा, विस्तार और व्यापकता एक नहीं अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। प्रलयावृत पृथ्वीतट पर भारत-हृदयासीन मध्य भारत ही मानव सृजन में सन्नद्ध था, यही कारण है कि मानवलोकेश महाकाल इस सृष्टि-समारंभ-साधिका पुरी के पुराण प्रथित प्रभु हैं। उपनिषद् और आरण्यक ग्रंथों ने वाराह पुराण की उस पद्य-संगति को सबल बनाया है जो इस भारत-भूमि के नाभिदेशावस्था में शरीर-क्षेत्र के मानव मानचित्र पर अवन्ती रूप में प्रस्तुत है। [नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः..............इत्येषा तैत्तिरी श्रुतिः] और जिसको उपनिषदों में से अनेकों ने प्रमाणित भी किया है। महाकालेश्वर इसी कारण ज्योतिर्लिंगों की द्वादशसंख्यक सत्ता से उठाकर मृत्युलोकेश की सार्वभौम सत्ता के सर्वाधिकारी रूप में स्वीकृत हो गये हैं।

यह उस आध्यात्मिक युग की स्थिति है जिस युग की महत्ता ने समस्त जग को हमारे महादेश को सर्वतोपरि सुसंस्कृत स्वीकृत करने को विवश कर दिया है।

महाकालेश्वर की मूर्ति और मन्दिर के विषय में पुरातनों और आधुनिकों के संघर्षों में इतिहास को बीच में रखकर हमें उलझने की आवश्यकता नहीं। शिल्पकला प्रवीणों के प्रासाद-निर्माण साहित्य की कुछ निश्चित अवस्थाएँ हैं। उनकी 'युगों' की योजना में वह आयुर्निर्णयाधिकार प्राप्त करे, परन्तु महाकालेश्वर के आवन्तिक अस्तित्व और उनकी प्राचीनता के प्रमाणों की खोज करना सूर्य के महाप्रकाश में दीप का प्रकाश करना है। प्रलयान्तर सृष्टि-समर्पिका नगरी के प्रत्येक युगीन निर्माण 'प्रतिकल्पा' के नाम से न्याय-संगत ही है और अपना औचित्य भी रखते हैं। इस वैदिक प्रदेश की महत्ता और महाकालेश्वर की महिमा सृष्ट्यारंभ की है। यही कारण है कि इस प्रदेश को वेदों से लेकर समस्त पुराणों ने अपनी प्रशंसा पुष्पांजलि ही समर्पित नहीं की है इसको समस्त तीर्थों से 'तिलाधिक्य' प्रतिष्ठा का पद भी सादर समर्पित किया है। यदि इन समस्त महतियों के मूल को देखा जाए तो मानवलोकेश महाकालेश्वर ही इसके प्रमुख कारण हैं।

आज से दो हजार वर्ष पूर्व सम्राट् विक्रमादित्य के अभिन्न सखा विश्वाराध्य कवि कालिदास तभी अपनी प्रतिभा की पद्य पुष्पांजलि महाकालेश्वर के श्रीचरणों में सादर समर्पित कर देते हैं। काव्य-माधुरी की अजस्र मधु-धारा प्रवाहित करते समय वह (रघुवंश के वर्णनावसर में) महाकालेश्वर की अर्चना का पुण्यार्जन किए बिना आगे नहीं बढ़ते। विरह-विधुरावस्थ यक्ष के दौत्य के लिए मेघ को द्रुत गति देते हुए भी वह अपनी परमप्रिय नगरी अवन्ती में प्रेषित कर महाकालेश्वर के पूजन के लिए प्रेरित किए बिना नहीं रहते। सायं सुषमा के समय सौधोत्संग प्रणय-विमुख न बनाते हुए भी वह मेघ को मानवेश्वर महाकाल के सुन्दर मन्दिर के समागम का सन्देशा देते हैं, और सान्ध्य (पूजन) साधना के समय घन-गर्जन द्वारा नक्कारखाने की भावना पोषित कर तथा त्रिशूली शंकर की आर्द्रनागाजिनेच्छा पूर्ण कर (गीले गज-चर्मावृत शिव की ताण्डवनर्तन-कामना की पूर्ति कर*) वह मेघ के द्वारा भी अपने आराध्य के प्रति अर्घ्य अर्पित करवाने का मोह संवरण नहीं कर सकते, इसका कारण महाकालेश्वर की महती महिमा ही है।

अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले, स्थातव्यं ते नयनसुभगं यावदत्येति भानुः।
कुर्वन्सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयां, मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥ (मेघ०)

---

* 'नृत्यारंभे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां'—मेघ० ॥

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

कालिदास की कीर्ति-कौमुदी के अमल-धवल-प्रकाश-विकास के अन्तर में भूतभावन भगवान की यही भावनामयी शुचि भक्ति है। कालिदास, भास, भवभूति और बाण ने महाकालेश्वर को काव्यकुसुमों का कमनीय किंजल्क अर्पित किया है। बाण की शिप्रा-शोभा, और महाकाल महिमा मोहित करनेवाली है। मुंज के मानित कवि पद्मगुप्त ने सिन्धुराज की विवाह यात्रा से (नागलोक से) लौटते समय राजदम्पति के द्वारा इन्हीं महाकालेश्वर की पावन पूजा के प्रसंगवश जैसी पद्य-प्रतिभा प्रकट की है वह काव्य रसिकों के मन-मधुपों को मुग्ध कर छोड़ती है। संस्कृत साहित्य में अभिनव कालिदास (परिमल उर्फ पद्मगुप्त) की यह काव्य-कला-कृति आनन्दविभोर कर देनेवाली है। दसवीं शताब्दी में भी महाकालेश्वर ने इस कवि को आकर्षित किया है।

कथासरित्सागर (ग्यारहवीं शताब्दी) के कवि को भी अनेक पृष्ठों के शतशः श्लोक उज्जैन और महाकालेश्वर की पूजा के लिए प्रस्तुत करने पड़े हैं। फिर अन्य ग्रंथों-पुराणों का तो कहना ही क्या है। महाभारत जैसे पंचम वेद ग्रंथ तथा भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ निदर्शक महाग्रंथ के अनेक पर्वों का, तथा व्यास वाक्यों का विशद विवेचन करना यहाँ तो अप्रस्तुत ही होगा, परन्तु वनपर्व की वह घटना जिसमें महाकालेश्वर के सम्मुखस्थ कोटितीर्थ के स्पर्शमात्र से अश्वमेध के पुण्य प्राप्त करा देने की कथा वर्णित है, तथा सभापर्व की विन्दानुविन्द की सहदेव संघर्ष कथा, उद्योग-द्रोणपर्व द्वारा भी समर्थित हुई है, जिसका सीधा सम्बन्ध इन्हीं महाकालेश्वर से है।

पौराणिक इन्द्रद्युम्न राजा की राजधानी अवन्ती, और उसके परमाराध्य प्रभु महाकाल की गौरवगाथा ब्रह्माण्ड-पुराण (४२वाँ अध्याय) में भी ग्रथित हुई है। प्राचीन अग्निपुराण की अवन्ती महिमा (१०८ अध्याय) गरुड़पुराण के प्रेतकल्पोक्त (२७वाँ अध्याय) वर्णन, शिवपुराण (ज्ञानसंहिता ३८ तथा ४६वाँ अध्याय) लिंगपुराण में तो महाकालेश्वरपुरी को सृष्टि-समारंभ की स्थली ही कहा है। ८३वें अध्याय में वामनपुराण में प्रह्लाद को शिप्रास्नान कर महाकालेश्वर के दर्शनार्थ पहुँचाने की चर्चा, विस्तारपूर्वक उल्लिखित की है। स्कन्दपुराण का एक विभाग ही ऐसा है, जिसमें लगभग २०० पृष्ठ से ऊपर उज्जैन और महाकालेश्वर का वर्णन बहुत विशदरूप से किया गया है। ब्रह्मोत्तरखंड के पंचमाध्याय में यहाँ के राजा चण्डसेन की महत्त्वपूर्ण कथा, और महाकालेश्वर की पूजा का वर्णन है। मत्स्यपुराण (१७८वाँ अध्याय), भविष्यपुराण पूरा प्रतिसर्गपर्व, तथा सौरपुराण (६७ अध्याय) यह पुराण-प्रियों के लिए उज्जैन की महत्ता का मनोहर इतिहास प्रदान करते हैं।

भागवत की इस महती कथा से सम्भवतः समस्त धर्म-भावना प्रधान, एवं शिक्षित समुदाय पूर्ण परिचित है कि गीताधर्म के सृष्टा भगवान् श्रीकृष्ण, अपने अग्रज बलराम, एवं मित्र सुदामा के सहित उज्जैन में पढ़ने को आए थे, और महर्षिप्रवर सान्दीपनी व्यास के चरणों में बैठकर इसी अवन्ती में उन्होंने चौदह विद्या एवं चौंसठ कलाओं में प्रावीण्य प्राप्त किया था और जिस समय ज्ञान-लाभ लेकर वे स्वगृह जाने को उद्यत हुए हैं तब गुरुवर के साथ जाकर भगवान् महाकाल की उन्होंने भक्ति-भावना-समवेत पूजा की है और एक सहस्र कमल शिवजी के सहस्रनाम के साथ समर्पित किए हैं। विष्णु-पुराण के २१वें अध्याय, ब्रह्माण्डपुराण के ८६वें अध्याय तथा ब्रह्मवैवर्त्त के ५४वें अध्याय ने भी भागवत के दशमस्कन्धोक्त इस घटना का एकस्वर से समर्थन किया है*। भवभूति, पेरिप्लस और टॉल्मी ने भी महाकालेश्वर को ही 'कालप्रियनाथ' नाम से सम्बोधित किया है।

***नोट :—इस घटना के ऐतिहासिक प्रत्यक्ष प्रमाण स्वरूप निरन्तर पाँच हजार वर्ष से महर्षि सान्दीपनी व्यास के वंशज इसी महाकालेश्वर मन्दिर के निकट आज भी विद्यमान हैं, और इस मन्दिर से सम्बन्धित बने हुए हैं। यह वास्तव में विस्मय की बात है कि अनेक उत्थान-पतन के पश्चात् भी यह वंश अपना अचल अस्तित्व रख रहा है। लेखक को उसी वंश में उत्पन्न होने का गौरव प्राप्त है। इस वंश का पूरा वंश-वृक्ष महात्मा सान्दीपनी से अब तक विद्यमान है। —लेखक।**

मानवलोकेश्वर महाकाल

परम पुरातन बुद्ध-समसामयिक प्रद्योत के समय महाकालेश्वर का स्थान परमोत्कर्षमय था, उसके सुवर्ण तालद्रुमवन की शोभा का तो उज्जैन के इतिहास में तथा प्रद्योतकाल में एक विशिष्ट स्थान है। आज भी उस वन की रमणीयता का स्मरण कर मन्दमलय मोहमयी वासवदत्ता की वीणा विनंदित स्वर-लहरी को वहन कर विस्तारित करने के लिए आकुल हो इतस्ततः चक्कर लगाता रहता है।

सम्राट् विक्रमादित्य की यह कथा प्रसिद्ध है कि वह महाकाल की आराधना में सदोद्यत रहता था, अवन्तीनाथ का पद किसी व्यक्ति को नहीं महाकालेश्वर के लिए ही स्वतंत्र था। हरसिद्धि देवी के चरणों में तो उसने, कहा जाता है, अपने मस्तक की बलि देकर १३४ बार कमल-पूजा ही की है। १३५वीं बार जब मस्तक चढ़ा देने पर उसका मस्तक कबन्ध पर वापिस नहीं आया, तभी उसके शासन की इति हो गई, और शालिवाहन का शकारंभ हुआ। जो कुछ भी हो, धर्म, अध्यात्म, पुराण, और तांत्रिक ग्रंथों में भी महाकाल की महत्ता का असाधारण वर्णन हुआ है। भारतवर्ष में नाट्यकला के अभ्युदय के साथ सर्व प्रथम जिस अभिनय की कल्पना का उल्लेख विदित होता है वह इन्द्रध्वज महोत्सव के प्रसंग पर महाकालेश्वर के प्रांगण में ही सर्व प्रथम अभिनीत हुआ था। इस प्रकार साहित्य और ललितकला में भी महाकालेश्वर की महत्ता स्वीकृत हुई है। महाकालेश्वर मन्दिर की सुन्दरता और विशालता का वर्णन साहित्य एवं धर्मग्रंथों में है। बाण एवं कालिदास ने इस स्थल की अभिरामता का जैसा मनहर चित्र खींचा है वह तो मनोमुग्धकारी ही है। यह मान्यता महाकालेश्वर के विषय में समस्त मालव में स्वीकृत है कि उज्जयिनी के इस महामन्दिर के प्रांगण के विशालकाय किन्तु कलांकित स्तंभों की संख्या १२१ थी और मन्दिर भी १२१ गज ऊंचा था ऐसी जनश्रुति शताब्दियों से प्रचलित है। परन्तु इस जनश्रुति का आधार सत्य पर समाश्रित ही है, केवल कथानक तक ही सीमित नहीं। आज भी महाकाल मन्दिर के निकटवर्ती भूस्तरों में वैसे ही वास्तुशिल्प से उत्कीर्णित अनेक स्तम्भ सहज ही रजकण सम्पुटों को उठाते ही प्राप्त हो जाते हैं, जैसे वर्तमान मन्दिर में लगे हुए हैं। तब इस कथन में भी सन्देह को स्थान नहीं रहता कि मन्दिर गगनोन्नत था। इसी प्रकार यह भी असम्भव ज्ञात नहीं होता कि महाकालेश्वर का मन्दिर अनेक रत्नालंकरणों से जटित था, उसके स्फटिकप्रभ धवल प्रांगण में मणि-मौक्तिकों के झूमर-तोरण झूला करते थे, जिनकी आभा से वह स्फटिक शिलाएँ विविध वर्णों की द्युति धारण कर अनेक चित्रों की झाँकी बना दिया करती थी, प्रवेशद्वार पर लटकती हुई घंटिकाएँ, सुवर्ण-रजत-राशि से निर्मित रहती थीं, और उनके चारों ओर भी मोतियों की झालरें लटकती रहती थीं, फिर भगवान् शिवजी के पूजार्चन वैभव का तो कहना ही व्यर्थ है। इस काव्य-कथित सौन्दर्य रचना की सचाई में इस कारण भी सन्देह नहीं होता कि महाकवि कालिदास स्वयं स्वीकार करते हैं कि वैभवशालिनी अवन्ती के बाजारों में धान्य राशियों की तरह समस्त रत्नों की ढेरियाँ यत्रतत्र विस्तृत रहती थीं, जिसके कारण कवि को यह कहना पड़ा है कि रत्नाकर सागर शायद इसीलिए केवल जलमात्रावशेष रह गये हैं क्योंकि समस्त रत्नराशि तो इस नगरी के बाजार में चकाचौंध लगाए हुए हैं—

'दृष्ट्वा विप्रान्विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भंगान्।
संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः ॥'—मेघ० ॥

परन्तु इस वैभव का स्मृतिशेषमात्र यह मन्दिर वर्तमान युग के समक्ष अपने भव्य अतीत का प्रतीक बनकर शून्य भावना से उपस्थित है, मानों वह निर्लिप्त है। अतीत के 'सत्य' को वर्त्तमान के 'सन्देह' से चाहे भ्रम का विषय क्यों न बना लिया जा सके, किन्तु उसकी विशालता और साहित्यिक अस्तित्व, चिरकाल पर्यन्त महनीय-भावना को सजग बनाए रखेगा।

वर्तमान मन्दिर न तो १२१ गज की ऊंचाई रखता है, न वह रजतचन्द्रिका-धौत-धवल ही। वैभव तो इस युग का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहा है, तब मन्दिर पर उसकी मुद्रा कैसे मिले? इस पर भी आज के मन्दिर पर अनेक संस्कार क्षत-विक्षत हुए हैं। सम्राट् प्रद्योत के पश्चात् के इतिहास ने मन्दिर की महिमा विक्रम-कालिदास से ही प्राप्त की है। और पुनः कई शताब्दियों के नन्तर सिंधुराज एवं मुंज ने इसे सादर स्मरण किया है। भोज के आत्मज उदयादित्य ने तो मन्दिर का पुनर्वार जीर्णोद्धार करवाया है, जिसके प्रमाणस्वरूप अनेक शिलाखण्ड यथासमय महाकाल के पार्श्ववर्ती भू-भाग से उपलब्ध

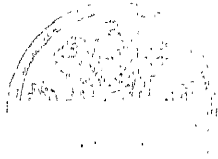
होते ही रहते हैं (एक शिलाखण्ड मन्दिर के ऊपर लगा है। दूसरा मन्दिर के पश्चिमी भाग की एक मन्दिरी में रखा है। तथा ३-४ खण्ड भारती-भवन उज्जैन में सुरक्षित हैं। एक दो खण्ड पुरातत्त्व विभाग को भी दिये गये हैं।) और विशद अन्वेषण-संशोधन के लिए निमंत्रण देते हैं। उदयादित्य के पश्चात् पेशवों के प्रिय, तथा राणोजी सिन्धिया के कार्यकर्त्ता रामचन्द्रराव शेणवाई (ई० स० १७३४) ने मन्दिर-सुधार में सहयोग किया है। कहा जाता है कि गजनी के महमूद की आक्रमणकारी दूषित मनोवृत्ति का प्रभाव, भारतवर्ष पर उसके पश्चात् भी, बहुत काल तक बना रहा है। मनहर मालव-भूमि कैसे अछूती रहती, अनेक आक्रमणों से वह उध्वस्त छिन्न-विछिन्न हुई है। गुलामवंशीय अल्तमश ने जिस समय मालव की सौभाग्यश्री का अंचल उतारा है उस समय जड़ एवं चेतनों के धर्म और धन को भी पनाह पा लेनी पड़ी थी। यद्यपि सिन्ध के अमीर अल्तमश के श्वशुर ने भी अपनी यह साध पूरी की थी, परन्तु अल्तमश की तरह तमसावृत्त नहीं बनाई थी। उसने उज्जैन के सौभाग्य-शृंगार का अपहरण कर उसे भिक्षुणी बना डाला था। परन्तु यह अल्तमश और अन्य सुलतान तथा सम्राटों के द्वारा उज्जैन के वैभवापहरण की कथा बहुत कुछ यूरोपीय इतिहासकारों की सूचित की हुई है। इनमें सत्य का कितना अंश है कहना कठिन है, उनके इन आक्रमणों के प्रमाणों की परम्परा भी संशोधन की कसौटी पर कसकर परखने की वस्तु है। इसके विपरीत आज उज्जैन में अनेक मुस्लिम सम्राटों की सात्विक-भावना प्रदर्शक प्रमाण प्रत्यक्ष उपस्थित हैं। जिन सम्राटों को दुष्ट और आक्रमणकारी समझा गया है स्वयं उन्हीं सम्राटों में से कई 'उग्रों' ने इस मालव-भूमि की मृदु-मन्द-समीरण में अपने मस्तक को विवेकपूर्ण ही नहीं बना रखा है बल्कि अपने धर्म के विरुद्ध उज्जैन के अनेक देवालयों-महामन्दिरों में अपनी पूजा-पुष्पांजलि समर्पित कर श्रद्धा एवं सद्भावना भी व्यक्त की है।

औरंगजेब आदि १०-१२ मुस्लिम सत्ताधारियों ने उज्जैन के कई मन्दिरों को पूजा, नैवेद्य व्यवस्था के लिए अपनी सनदें सादर समर्पित की हैं। (उज्जैन के अंकपात-स्थित जनार्दन-मन्दिर के लिए अनेक बादशाहों की ऐसी ही सनदें आज यहाँ विद्यमान हैं) उदाहरणार्थ यहाँ ऐसी एक-दो महत्वपूर्ण सनदों का विवरण प्रस्तुत करना अप्रासंगिक न होगा।

सम्राट् अकबर और जहाँगीर की उदारता तो उनकी महत्ता की साक्षी बन इतिहास में उन्हें अमर बनाए हुए है। सम्राट् अकबर, और उनके पुत्र सम्राट् जहाँगीर प्रायः मालवदेश को बहुत पसन्द करते रहे हैं, अनेक बार अपने राजत्वकाल में उज्जैन में आकर उन्होंने कई मास तक आवास किया है। मंडप-दुर्ग (मांडव) के सुल्तनों द्वारा सूर्य मन्दिर ध्वस्त कर निर्मित कालियादेह महल प्रासाद में जहाँगीर तो अनेकों बार कई मास पर्यन्त रहे हैं और यहाँ के योगी जदरूप स्वामी की सेवा में निरन्तर भक्ति रखकर पहुँचते भी रहे हैं। जदरूप स्वामी ने जहाँगीर बादशाह पर अपना प्रचुर प्रभाव डाल रखा था (तुजुक जहाँगीरी देखिए) और इस आकर्षण के वशीभूत हो वह बारबार अपनी साम्राज्यधानी छोड़कर उज्जैन आकर रह जाते थे और धार्मिक भावना प्रदर्शित करते रहते थे।

इसी प्रकार शाहजहाँ, आलमगीर औरंगजेब आदि शाहों ने भी उज्जैन में अपने राजत्वकाल में धार्मिक मन्दिरों के विषय में सद्भावना-स्वरूप सनदें तक दी हैं। भारत में कहीं भी प्रमुख शिव-मन्दिर हो वहाँ नन्दादीप (निरन्तर प्रदीप्त रहनेवाला दीपक) लगाने की शास्त्रीय प्रथा है। साहजिक है कि महाकालेश्वर के इस पुरातन मन्दिर में भी यह पद्धति अज्ञातकाल से प्रचलित रहती चली आई है। जो जो शासन इस महा-महिम नगरी पर होते रहे, उन्होंने भी इस नन्दादीप और महाकालेश्वर मन्दिर के पूजार्चन कार्य में अपनी शासकीय सहायता श्रद्धापूर्वक भेंट की, फिर हिन्दू-राजतंत्रों में तो इस पद्धति का निरन्तर पोषित होते रहना साहजिक ही था, प्रायः प्रत्येक शासकों ने पूर्व-प्रथा-पोषक प्रवृत्ति के अनुरूप यह अपना कर्त्तव्य समझा है कि अपने शासनकाल में भी पूर्वाज्ञा का समर्थन करे। परन्तु आश्चर्य और प्रशंसा की बात तो यह है कि हिन्दू शासकों की तरह ही मुस्लिम शासन-काल में भी कई उग्र और उदार शासकों, सम्राटों और उनके स्थानीय प्रतिनिधिस्वरूप अधिकारियों ने उज्जैन के धार्मिक मन्दिर, मठों, पूज्य स्थानों की अधिकार परम्परा को ठीक हिन्दुओं की तरह ही, और कहीं कहीं उससे अधिक भी पोषित करने की विशेषाज्ञाएँ प्रदान की हैं।

हिजरी सन् १०६१ की एक घटना है। महाकालेश्वर के तत्कालीन पुजारी ब्राह्मण ने अनेक शासकों की सनदों-प्रमाण-पत्रों के साथ तत्कालीन सम्राट् आलमगीर के निकट निवेदन किया कि महाकालेश्वर मन्दिर में नन्दादीपक जलाने



के लिए पिछले शासकों की आज्ञानुसार व्यय प्राप्त होता रहा है। इसलिए उन सम्राटों के आज्ञापत्रों के अनुसार ही आपके शासन से भी उस परम्परा का पोषण-समर्थन किया जाना चाहिए। इस निवेदन पर सम्राट् के 'वाक़या नवीस' हकीम मुहम्मद मेंहदी ने ब्राह्मणों के निकट की सनदों की जाँच-पड़ताल की और सही पाकर उस समय की तस्दीक करदी। सम्राट् आलमगीर ने अपने अधिकारी के समर्थन पर ४ सेर घी रोजाना नन्दादीपक (महाकालेश्वर में) जलाने के लिए स्वीकृत किया। यह सनद मुस्लिम सम्राट् की परधर्म-सहिष्णुता का एक आदर्श उदाहरण है। इस सनद का मूल पाठ (और चित्र भी अन्यत्र दिया गया है) इस प्रकार है:—

नकल

सुलतान मुहम्मद मुरादबख्श।

शराबखते सदारत वय अलीपनाह फजीलत व हिकमत दस्तगाह आँके दाखिले वाके आनुमायन्द

चार आसार बजने अकबरी योमिया

तहरीर फी तारीख सदरुजिक्र मुताबिक वाक़या अस्त

बअर्ज मुकर्रर सानद

बतारीख हफतुम शहरे शव्वाल सन २५ जुलूस मुबारक बअर्जे आली रसीद

याददाश्त बमोहरे खुर्द आँके बतारीख योमुल अर्वाबीस्त्री पंजुम, शेहर शव्वाल सन् २५ जलूसे मुबारिक मुआफिक सन् १०६१ हिजरी व मा आली पनाह फजिलत व हिकमत दस्तगाह हकीम मोहम्मद मेंहदी बनोंबतें वाकया नवीसी कमतरीन बन्दाह देवनारायन बा अर्जे आली मुतआली रशीद के दर किले उज्जैन अज़ क़दीमुल अय्याम देवाला महाकाल वाक़े अस्त क़दरे रोग़ने जर्द व बजने अकबरी व जेहत चिराग योमिया मरहमत शवद दरईं, बाब हर्चे हुक्म शवद अमरे बाला क़दर मम्बे उश्शान शरफे निफ़ाज़ व इर्ज ईराद याफ्त के मिक़दार चाहार आसार रोग़ने ज़र्द बजहत चिराग आँजा, अर्जे तहवील तेहबीलदार चबूतरे कोतवाली बुलदे उज्जैन रोज़ बरोज़ मरेहमत फर्मूदेमकि हमेशा दरईंजा रोशनाई मीनमूदा बाशन्द बमूजीबे दीगर याददाश्त कलमे शुद बतरीक इब्तिदाये मरहमत शुद।

मुहर

खादिमे शरा काज़ी मोहम्मदसहुल्ला सन् ११५३

इस सनद का सारांश यह है कि प्रार्थी देवनारायण ने (जिनके वंशज डॉ० लक्ष्मीनारायणजी पुजारी महाकालेश्वर इस समय विद्यमान हैं और जिनके पास ऐसी अनेक सनदें हैं) शहनशाह आलमगीर को प्रार्थना की कि अनादि काल से महाकालेश्वर के मन्दिर पर जो दीपक (नन्दादीप) जला करता है और जिसके व्यय की व्यवस्था पूर्ववर्ती विभिन्न शासकों द्वारा की जाती रही है उसके व्यय के लिए निवेदन किया, तब उनके वाक़यानवीस (रिपोर्टर) हकीम मुहम्मद मेंहदी ने इस बात की तस्दीक की कि वस्तुतः इसके पूर्व के भी अनेक प्रमाण लिखित रूप में प्राप्त हैं जिसके अनुसार इस मन्दिर के लिए दीपक का व्यय दिया जाना उचित है। इसपर से शहनशाह आलमगीर की आज्ञानुसार महाकालेश्वर के मन्दिर के लिए चार सेर घी रोजाना बिना किसी आपत्ति के हमेशा दिये जाने की आज्ञा जारी की गई और तहवीलदार चबूतरे तहवील उज्जैन को ताकीद दी गई।

सुलतान मुरादबख्श ने जो शाहजहाँ बादशाह का लड़का और औरंगजेब का भाई था, यह सनद हिजरी सन् १०६१ तथा ईसवी सन् १६५२ में देवनारायण ब्राह्मण को दी है।

इसी प्रकार मालवे के तत्कालीन सूबे मुजिबुल्लाखां को आज्ञा प्रदान करने के स्वरूप में एक और सनद बादशाह शाहजहाँ की इस आशय की है कि महाकालेश्वर के मन्दिर की पूजा करनेवाले पुजारी के पोषण के लिए जो जमीन जमा से

हरसिद्धि मन्दिर, उज्जैन।

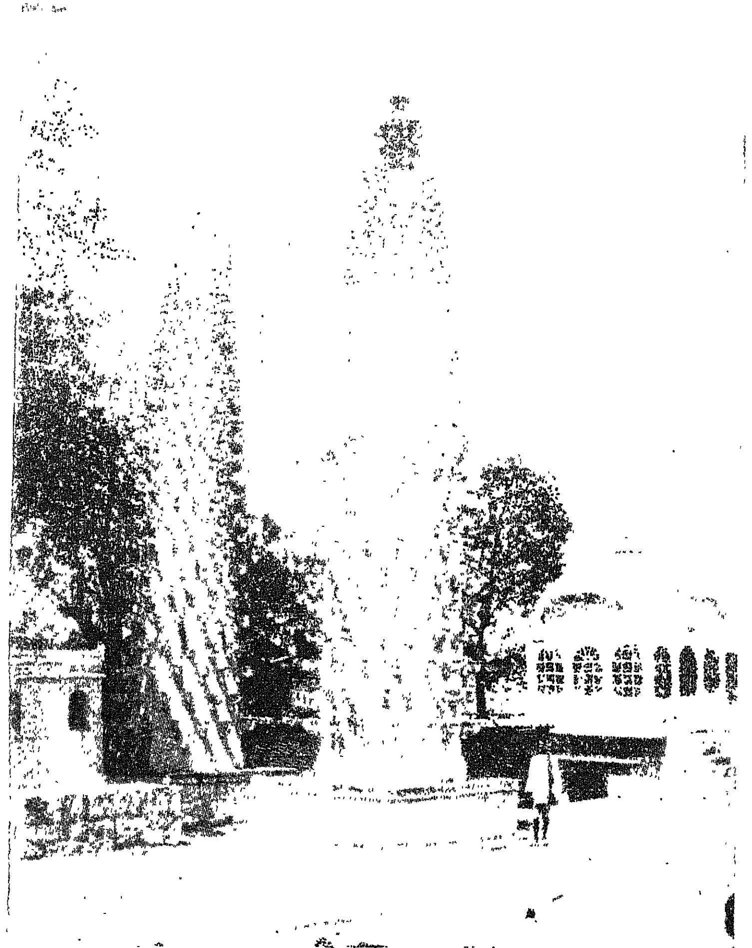
सनद मुजीबुल्ला मुरशिदे शाहजहाँ, (पृष्ठ ३९७)

सनद महाराज महादजी शिन्दे, (पृष्ट ३९६)

सनद सुल्तान मुहम्मद मुरादबख्श,
(पृष्ट ३९६)

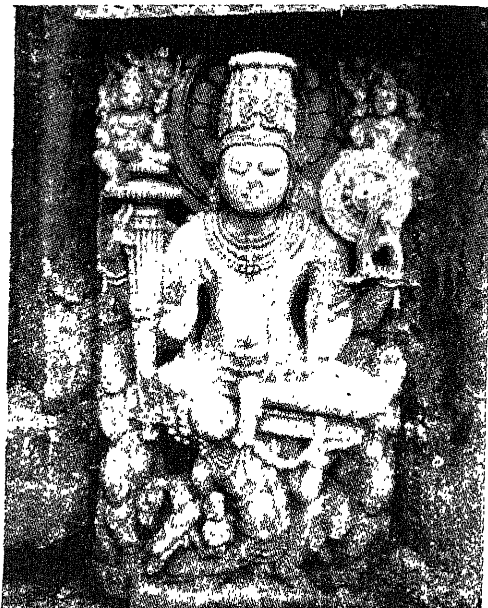


दुर्गादास की छत्री, (पृष्ठ ४८९)



हरसिद्धीदेवी के मन्दिर के दीप-स्तंभ, (पृष्ठ ४८१)

महाकाल मन्दिर में प्राप्त विष्णु-मूर्ति।



मूर्तियां, उज्जैन।



चतुर्भुख विष्णु, उज्जैन।



खारिज हो गई थी और जिसे खालसा सरकार ने पीताम्बर आदि पुजारी को प्रदान किया था उसके पुनः वागुजाश्त कर देने के लिए नवाब मुमालिक मदार गेंदू इख्तिदार ने हुजूर आली बादशाह को गुजारिश भेजी कि "मौजे खजूरिया रेहवारी व मौजे सेमलिया नसर व मौजे टंकारिया काजी व मौजे नाईखेडी व मौजे करछली तकसीम से अलहदा करके अव्वल सन् ६ से इनको दे दी जावे, इसलिए मैं बडे रुतबेवाले बादशाह के हुक्म से मालवे का सूबा होकर आया और ये लोग मेरे रूबरू हाजिर आये। अपने हक हुकूक हयात की तस्दीक की जिसको मैंने सही पाया इसलिए साबिक दस्तूर के मुताबिक उस आराजी के बदले में मौजे नाईखेडी में कुल जमीन देने की आज्ञा दी और ताकीद की। इस लिखे मुताबिक तामील करके तमाम इखराजात व दीगर तमाम बातें जप्ती साल दरसाल वगैरा इन चक की तशखीस के बाद इस मन्दिर के किसी भी मामले में रुकावट न डालें, इस मामले को बहुत सख्त ताकीद जानें। यह तेहरीर तारीख १७ महना फर्वरी इलाही सन् ७ मुताबिक चार शव्वाल १०२३ में लिखी गई है।

नीचे मोहर है जिस पर लिखा है कि 'मूजिबुल्लाखाँ मुरीदे शाहजहाँ'। ऊपर जिस ताकीद का साराँश दिया है उसका मूल (और चित्र अन्यत्र दिया गया है) इस प्रकार है:—

हजरत जन्नत मकानी—

अल्लाहो अकबर

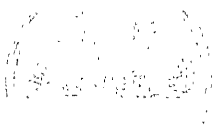
बतारीख १७ माह फरवरीदी इलाही सन् ६ मुवाफिक १२ माह शव्वाल सन् १०२३ हिजरी (दस्तखत)

मुहर | मुजीबुल्ला मुरीदे शाहजहां

हजरत साहिब किरासानी गुमाश्तए जागीरदारान व करोरियान् मुतसद्दियान् मुहिम्मात व मुस्ताफिलान मामलात चौधरियान व कानूनगोयान परगने हवेली उज्जैन सूबा मालवारा एलम् आंकेचुंब तसीह सुद्दर साबिक मवाजियक सद बीघा जमीन उफतादा बंजर खारिज जमा अज मौजे नाईखेडी, हस्ब एमाल परगने हवेली मजकूर दर वजह मददे म आश पीताम्बर वगैरा जुन्नारदारान के खिदमत देवालय महाकाल मिकुनन्द मुकर्रर बुद चूं जमीने मखलूता व खालसा बूदन्द ब बमुमालिक मदार गर्दूं इक्तिदार बअर्जे अफदसे आला रसानीद मौजे खजूरिया व मौजे नाईखेडी व मौजे कर्छली अज तकसीम बर आउर्दाशुद अज इब्तिदाये फसले तखाकू इलाही सन् ६ बाये उजाम तजवीज नमूदन्द दरईं बिला के बन्दरा दरगाह हस्बुल हुक्म जहाँ मुस्तीता साहिबे शुआ गर्दूं इतिका बसदारते सूबेमालवा सरफराज शुदा हाजिर आमदंद इस्तेहकाक बीगाहाफी बवजूहे पेवस्त चूं हुई व कायम अंद बदस्तूरे साबिक हस्बुल जमीन तसदीह याफ्त बशर्ते कब्ज तसर्रुफ मुकर्ररदाश्ता बतरीके तदाखुल एवजे आराजी मजकूर रादर मौजे नाईखेडी पेमुधा व चक बस्ता बीदेहंद मावाजीयकसद बीघा जमीन उफतादा खारिज जमां बइस्मे मशारूनइलेह मुकर्रर दारंद के हांसिलाते आँरा साल बसाल सर्फे मायोह ताजखुद नमूदा दरदुआगोई दवाम दौलत बन्दगान इश्तगाल बाशन्द बहस्बुल मस्तूर अलेहिम-बईलत बिलवजूहात वा अखराज हरसाला बादश तशखीस चीकुल तकालिफे देवाला मजाहमत नरसायंनद दरई बाब ताकीद कदगन लाजिम दारंद।

तेहरीर १७ माह फर्वरी इलाही सन् ७ मुआफिक तारीख ४ शव्वाल।

उक्त सनदों के अनुसार ही एक और सनद बादशाह गौरीशाह की है। यह पुजारी श्रीगौडजूने वसंतलाल ब्रह्मशुक्ल उपाध्या कोटितीर्थ पर रहनेवाले को, महाकालेश्वर के दर्शन कराने (!) पर पुश्त दर पुश्त के अनुसार महाकालेश्वर की भेंट लेने, और हर घर से एक रुपया लेते रहने के लिए दी गई है। यह सनद भी उज्जैन में लिखी गई है, और इसके लेखक वजीर अलीमुहम्मद हैं, और मुंशी अमीरखां फागुन वद्य १४ संवत् १४६५ है, जिसके नीचे हिन्दी में वजीर



रामचरण के भी हस्ताक्षर हैं। (यह सनद वसन्तलाल ब्राह्मण के वंशज श्री लक्ष्मीनारायणजी पुजारी शनीमहाराज मन्दिरवालों के पास मौजूद है)।

इस तरह महाकालेश्वर के मन्दिर के सम्बन्ध में और भी अनेक सम्राटों तथा राजाओं की सनदें विद्यमान हैं जिन्होंने परधर्मी होते हुए भी मन्दिर के पूजन के लिए अथवा पुजारी के पोषण के लिए सनदें दी हैं। शहर में से अनेक प्रकार के टैक्स लगाकर उनको वसूल करने का भी अधिकार दिया है ताकि अपने पूजन कार्य में बाधा न हो। दूसरे इसी नगर के मन्दिरों के अर्चनादि के लिए ४०-५० सनदें खास तौर पर (श्री लक्ष्मीनारायणजी पुजारी जागीरदार राममन्दिर सराफा के निकट) इस प्रकार की हैं कि जिनमें आलमगीर, शाहजहाँ, जहाँगीर, अकबर आदि मोगल बादशाह और मालवे के सुलतानों सूबों आदि ने धार्मिक कार्य में सहयोग देने के लिए सहृदयतापूर्वक सहायता की है। इसलिए उक्त सम्राटों की सद्भावना को स्वीकार करना पड़ेगा। अवश्य ही अल्तमश ने यदि अंग्रेज इतिहासकारों के कथनानुरूप उज्जैन के मन्दिरों के अंगभंग का प्रयत्न किया होता तो उसके पूर्ववर्ती और पश्चात्वर्ती उसी धर्म के सम्राटों ने इन मन्दिरों की इतनी अधिक महत्ता शायद ही स्वीकृत की होती और पश्चात्वर्ती परधर्म सम्राट् ने तभी महाकाल की मान्यता भी स्वीकृत की है जब उनके पूर्वकालीन शासकों ने मन्दिर के प्रति समादर (सनदों में) व्यक्त किया है। यथाक्रम उसी प्रकार उज्जैन पर शासक होकर आनेवालों ने चाहे महाकालेश्वर न सही और मन्दिरों के प्रति लगातार अनुराग व्यक्त किया है। यह लगभग तीस चालीस अन्य धर्मावलम्बियों की सनदों से प्रमाणित होता है। ऐसी अवस्था में उज्जैन को साम्प्रदायिक धर्मांध आक्रमण के शिकार होने में भी सन्देह होने लगता है। जबकि मिस्टर स्मिथ आदि का यह मन्तव्य कि महाकाल मन्दिर का ध्वंस कर वहाँ से सम्राट् विक्रम की सुवर्ण प्रतिमा को उठा लिया जाना प्रकाशित होता है, परन्तु उसके आधार के विषय में अन्धकार ही रहने के कारण विश्वास का विषय नहीं बल्कि संदिग्ध बन जाता है। या तो अल्तमश के आक्रमणकारी रूप में उज्जैन का सर्वस्वापहरण हो या फिर स्मिथ आदि का इतिहास लेखन किसी विशेष हेतु की पूर्ति के लिए भ्रामक हो। मुसलिम सम्राटों के विभिन्नकालीन लेखों से तो स्मिथ के कथन की संगति संदिग्ध होने लगती है।

उज्जैन पर जिस समय से शिन्दे-वंश का अधिकार हुआ है, तब से महाकालेश्वर मन्दिर की प्रतिष्ठा और आदर भावना में वृद्धि ही हुई है। यह तो हम प्रथम ही बतला चुके हैं कि रामचन्द्रराव शेणवी ने कै० राणोजी के काल में महाकालेश्वर मन्दिर का जीर्णोद्धार किया है। वर्तमान राज्य के संस्थापक महाराजा महादजी ने तो उक्त मन्दिर, और अनेक पुजारी वर्ग को परम आस्था से ही पोषित किया है। साथ की प्रकाशित सनद में (फोटो अन्यत्र देखिए) महादजी महाराज की यह भावना बहुत स्पष्ट है। उन्होंने महाकालेश्वर के पुरातनकाल से पूजा करनेवाले ब्राह्मणों को रामपुरेवाले कुछ लोग बाधा देते थे इसलिए महादजी महाराज ने 'राजेश्री ओंकारमल चौधरी को पत्र लिखकर आग्रहपूर्वक सूचना दी है कि इन्हें सताने से रोका जावे, जो परम्परा से इनके व्यवहार चले आये हैं उन्हें अक्षुण्ण रखे जावें। इतना ही नहीं महाराजा ने दयावश पुजारियों के ऊपर जो कर्ज हो गया था, उसका भी वाजबी रूप से निकाल करवा देने के लिए सूचना दी।

ग्वालियर राज्य, होलकर राज्य और भारतीभूषण-भोज के राजवंशियों की ओर से महाकालेश्वर की पूजनादि के लिए सहायता प्राप्त होती रहती है।

इस व्यय की व्यवस्था आज भी ग्वालियर संस्थान के अन्तर्गत होती जा रही है। महाकालेश्वर के इस महान् स्थान की दिन में त्रिकाल पूजा होती है। प्रातःकाल सूर्योदय के प्रथम एक पूजन होता है जिसमें भूतभावन भगवान् शिवजी पर चिताभस्म का लेपन किया जाता है, जिसकी अनादिकाल से किसी विशिष्ट चिताभस्म की निरन्तर प्रज्वलित रहनेवाली वह्नि से योजना की जाती है। इस पूजन का अधिकार स्थानीय महन्त को है, जिनकी परम्परा महिम्न-स्तोत्र के 'चिता भस्मा लेपः' श्लोक की सार्थकता करती आई है। आज भी महन्तों की गुरु-परम्परा की समाधियाँ इसी मन्दिर के निकट महन्तों के पुरातन अस्तित्व और मन्दिर से सम्बन्ध को सूचित करती है। वर्तमान महन्त भैरवपुरीजी इसी परम्परा के प्रतीक होते हुए 'तेहिनो दिवसागताः' के स्मारक हैं।

श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य

महाकालेश्वर की सरकारी प्रथम पूजा प्रातः ८ बजे, द्वितीय मध्याह्न में और तृतीय सायंकाल के समय होती है। इन पूजनों का नैवेद्य स्थानीय महन्त के अधिकार की वस्तु है।

महाकालेश्वर के मन्दिर में श्रावण मास में प्रतिदिन सैकड़ों हजारों यात्रियों का प्रातः से सायं पर्यन्त ताँता लगा रहता है। श्रावण (अमान्त) मास के चारों सोमवारों के रोज नगर में महाकालेश्वरजी की एक रजत भव्य प्रतिमा की बहुत शानदार सवारी निकलती है। इन सवारियों के देखने के लिए नगर के ही नहीं बाहर से भी हजारों यात्री एकत्रित होते हैं और भक्ति-भावनाञ्जलि अर्पित करते हैं। इन सवारियों में नगर के समस्त राज्याधिकारी वर्ग पैदल सम्मान के लिए साथ में चलते हैं। इसके अतिरिक्त हरिहर-मिलाप दशहरे के पूजन का दृश्य भी आकर्षक रहता है। शिवरात्रि के समय नवरात्रि को उत्सव होता है। प्रतिदिन महाकालेश्वरजी के विविध शृंगार किये जाते हैं। हरिकीर्तन भी विशाल प्रांगण में किया जाता है। धार्मिक नर-नारियों की यात्रा लगी रहती है और शिवरात्रि को जो पूजा होती है वह तो बहुत ही भव्य कैलाश का पवित्र वातावरण उपस्थित कर देती है। जन-नियंत्रण कठिन हो जाता है। मन्दिर का पृष्ठ-भाग भी बहुत विशाल है। सहस्रों व्यक्तियों का सहज समावेश हो जाता है। इसी प्रकार मन्दिर के प्रवेश द्वार के प्रांगण में कोटितीर्थ का विशाल भाग चारों दिशाओं से मुक्त और विस्तृत है। शतशः जन इसमें स्नान कर शिवजी को जल अर्पण करते हैं। इसी प्रकार कार्तिक मास और वैशाख में भी हजारों भावुकों की भीड़ दर्शनार्थ आती है। उज्जैन के प्रमुख स्थान होने के कारण धार्मिकों का आवागमन तथा सप्तपुरियों में से श्रेष्ठ नगरी और भारत-यात्रा की आदिम आरंभिक नगरी का सौभाग्य प्राप्त होने के कारण ही प्रतिदिन भारत भर के विभिन्न प्रदेशों से दर्शक-समूह का समारोह यहाँ जुड़ा करता है। धर्म-इतिहास, विक्रम और विश्वकवि कालिदास की आश्रयदात्री नगरी होने के कारण पश्चिम प्रदेश के प्रवासियों का तथा देश के विद्वान विवेचकों का दल भी अपनी श्रद्धांजलि लिए निरन्तर आया करता है।

बारह वर्षों में जिस समय सिंह राशि पर बृहस्पति आते हैं तब उज्जैन में सिंहस्थ (कुंभ की तरह) की महायात्रा होती है। इसमें कई लाख मानवों का समूह उज्जैन का यात्री बन एक मास निवास करता है। हजारों साधु-सन्त-साधकों का समाज भी सम्मिलित होता है। ग्वालियर राज्य की ओर से उनकी व्यवस्था और जैसा आतिथ्य किया जाता है वह महाप्रसंग अपूर्व अप्रतिम ही होता है। इस महासमुद्र समारंभ का वर्णन करना असम्भव है। यह तो प्रत्यक्ष करने का ही विषय है।

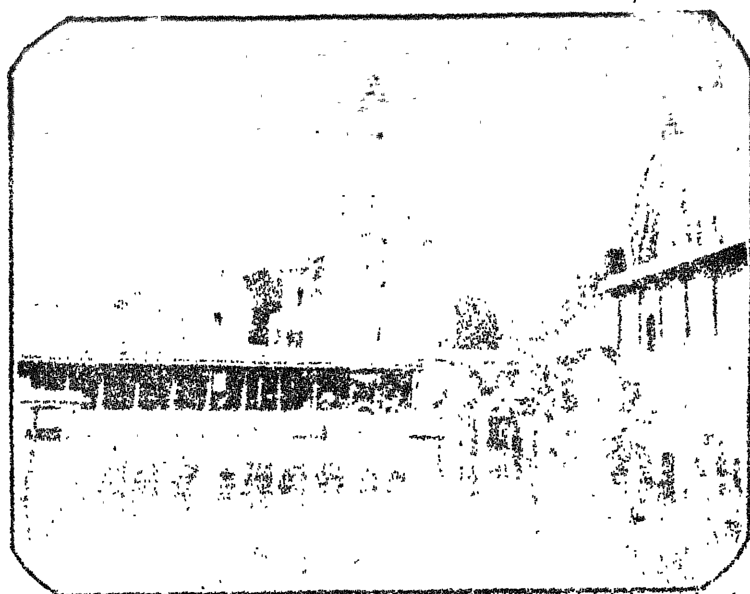
महाकालेश्वरजी की मूर्ति स्वयंभू और विशाल है। गुहा-गृह-द्वार से मन्दिर के अन्दर प्रवेश किया जाता है। मूर्ति की विस्तीर्ण जलाधारी रजत की सुन्दर कलामयनागवेष्टित निर्मित हुई है। मन्दिर में शिवजी के सम्मुख विशाल नन्दिकेश्वर की पाषाण-प्रतिमा धातुपत्र वेष्टित है। भगवान् शिव दक्षिण-मूर्ति हैं। तांत्रिकों ने जिस शिव की दक्षिण-मूर्ति की आराधना का महत्त्व प्रतिपादित किया है, द्वादश ज्योतिर्लिंगों में यह महत्त्व केवल यहीं प्राप्त हो सकता है। पश्चिम की ओर गणेशजी, उत्तर की ओर भगवती पार्वती और पूर्व में कार्तिकेय की प्रतिमा प्रस्थापित है। निरन्तर मन्दिर में दो नन्दादीप (तेल और घृत के) प्रज्वलित रहते हैं। मन्दिर में धवल पाषाण जड़ा हुआ है। आरम्भ में प्रवेश का एक ही द्वार था और अब द्वितीय द्वार भी कुछ समय पूर्व बन गया है। मन्दिर की भव्यता दर्शनीय है। अत्युच्च शिखर पर विद्युद्दीप की योजना की गई है जो प्रकाशित होने पर समस्त मन्दिर को अपनी धवल ज्योत्स्ना के आवरण से ढककर एक सुषमा फैला देता है। मन्दिर के प्रांगण प्रवेश द्वार पर नक्कारखाना है जहाँ दिन रात में चौघड़िये की ध्वनि विस्तीर्ण होती रहती है।

महाकालेश्वरजी के ठीक ऊपरी भाग पर ओंकारेश्वर शिवजी की प्रतिमा स्थापित है जैसाकि ओंकारेश्वर के नर्मदा-स्थित मन्दिर के ऊपर महाकाल मूर्ति स्थापित है। कुण्ड के तटवर्ती गर्भागार में ब्राह्मणों की बैठक है जहाँ निरन्तर कुछ ब्राह्मण पूजार्चन-व्यवस्था के लिए बैठे रहते हैं। महाकालेश्वरजी की पूजन व्यवस्था और दक्षिणा सोलह पुजारियों के अधिकार की वस्तु है। मन्दिर के दक्षिण विभाग में ऊपर वृद्ध-कालेश्वर, अनादिकालेश्वर और शिव-मन्दिर हैं। पूर्व की कक्षाओं में पुरातत्त्व विभाग का छोटासा म्यूज़ियम भी है।

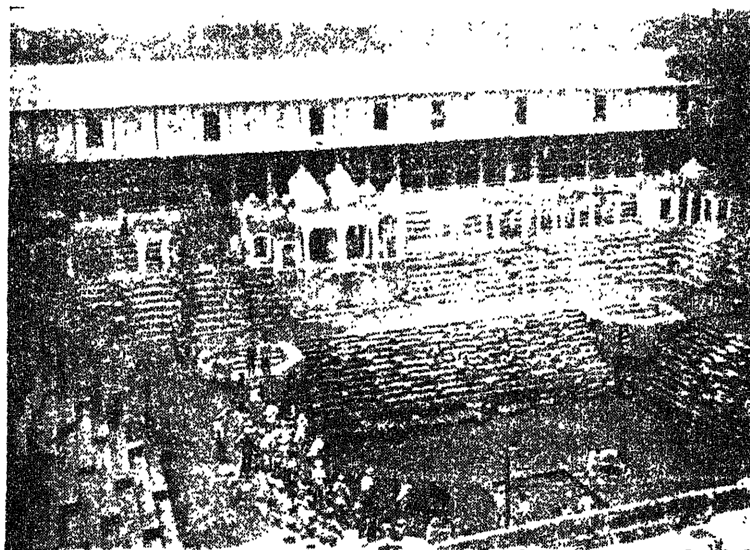
मानवलोकेश्वर महाकाल

महाकालेश्वर के निकटवर्ती भू-भाग को महाकाल-वन कहने की पौराणिक ख्याति है, और चतुर्दिक परकोटा बने रहने के कारण इस विभाग को कोट-मुहल्ला भी कहा जाता है। आज वह परकोटा (सीमा दर्शक कोट) नहीं है पर कोट की ख्याति यथावत है। मध्य युग में इस विभाग में राजप्रासाद भव्यभवन उपवन आदि रहे हैं। भूगर्भ में से अनेक ध्वंसावशेष झाँककर अपनी पूर्वसत्ता का स्मरण करा देते हैं। सिक्के और शिलाखण्डों, मन्दिरावशेषों की झाँकी भी प्रायः इस ओर थोड़े से खुद जाने पर ही हो जाती है। दीर्घकाल से ब्राह्मणों के संकल्पों में "महाकालवने हरसिद्धि पीठे बौद्धावतारे" की उक्ति में अवश्य ही रहस्य निहित है। महाकालेश्वर का महा-मन्दिर, कुण्ड और उसके चारों ओर की शिव-मन्दिरियाँ शुक्ल-पक्ष की रजत रजनी में इतने सुन्दर-आकर्षक बन जाते हैं कि कालिदास के काव्य-वैभव की सहसा स्मृति सजग बन जाती है। महाकालेश्वर के सभा-मंडप ही में एक ओर राम-मन्दिर के पृष्ट भाग में अवन्तिका देवी की मूर्ति है जो इस पुरातन भव्य नगरी की अधिष्ठात्री है। काव्य-पुराण-साहित्य की अवन्तिका नगरी का वैभव चाहे चर्मचक्षुओं की सीमा से परे का विषय हो पर हृदयहारी वर्णनों की परम्परा एक बार अतीत की महत्ता के रम्य चित्र को अन्तर पर अंकित किए बिना नहीं छोड़ती। यशःपुंज महाराज मुंज के मानित कवि परमल (पद्मगुप्त) ने तभी कहा है कि पृथ्वी पर इन्द्र को अमरावती को छोड़कर उज्जैन ही ऐसी नगरी है जहाँ द्वितीय इन्द्रोपम महत्तावाला विक्रमादित्य शासक है :—

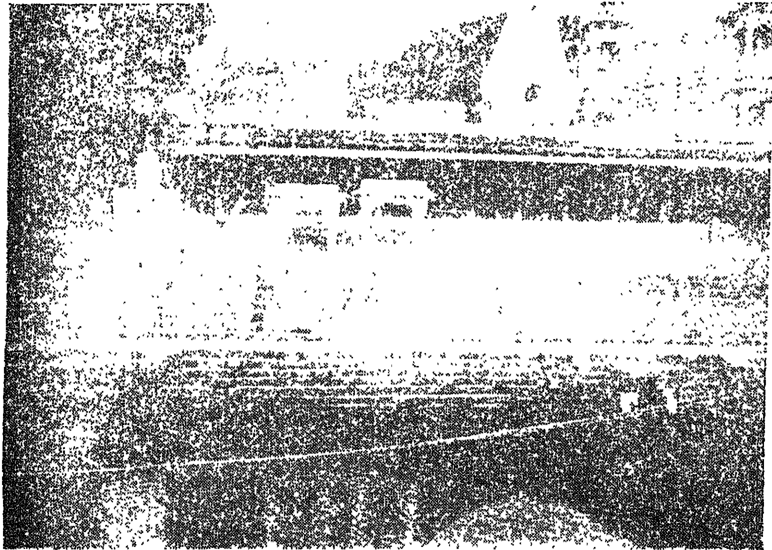
"अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्ना, पुरी विहायस्यमरावती च।
ददर्श मस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः॥"



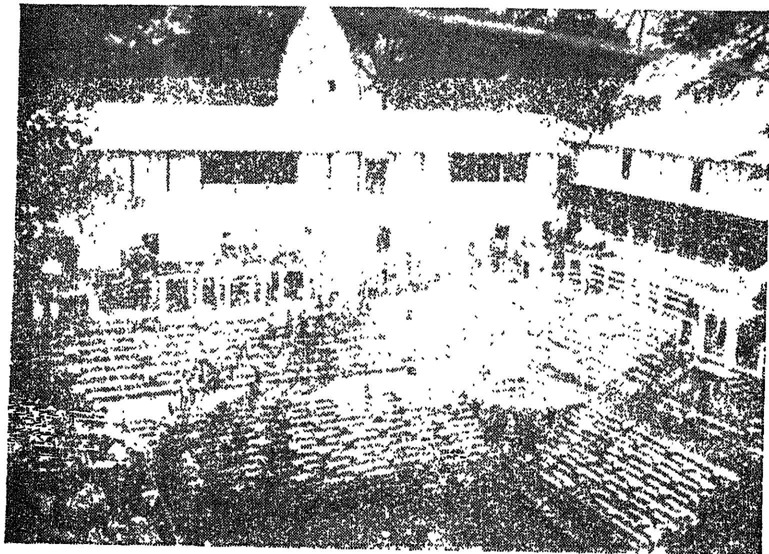
महाकाल मन्दिर का एक दृश्य।



महाकाल का कोटितीर्थ, पीछे हरसिद्धि मन्दिर की धुंधली झाँकी।



महाकाल मन्दिर के सभा-मण्डप से कुण्ड का दृश्य।



कोटितीर्थ का अन्तर्भाग।



जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

डॉ० कुमारी शार्लोटे क्राउझे पी-एच्० डी०

जैन साहित्य के विशाल मन्दिर में जिन विभूतियों की पुनीत स्मृति पर शताब्दियों से भक्ति की पुष्पाञ्जलि चढ़ाई जा रही है उनमें संवत्सर-प्रवर्तक श्रीविक्रमादित्य और उनके माने हुए धर्मगुरु, प्रौढ़ विद्वान्, महाकवि श्रीसिद्धसेन दिवाकर, इन दो अमर व्यक्तियों की बेजोड़ जोड़ी है। दोनों के मिलाप कब-कब एवं कैसे-कैसे हुए, इस विषय की बहुतसी किंवदन्तियां जैन साहित्य में पाई जाती हैं। इनमें उज्जैन के महाकाल-वन के महादेव के दरबार में दोनों के उपस्थित होने का वह महत्त्वयुक्त वृत्तान्त है जिसके साथ श्रीमहाकालेश्वर मन्दिर की एक जैन मन्दिर से मानी हुई उत्पत्ति का अनोखा इतिवृत्त जोड़ा हुआ है।

उक्त इतिवृत्त की ऐतिहासिक प्रामाणिकता का अन्वेषण करने के मूलोद्देश से इस कहानी पर कुछ दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। इसका सारांश (आगे उल्लिखित ग्रन्थों के आधार पर) निम्नलिखित है:—

[१] **महाकालवन में विक्रमादित्य और सिद्धसेन**—सिद्धसेन दिवाकर एक उच्च ब्राह्मणकुल में उत्पन्न और ब्राह्मण-विद्या के पक्के पण्डित होकर जैन मुनि बन गए थे। अपने संस्कृत-ज्ञान के अभिमान में जैन-शास्त्र की प्यारी प्राकृत भाषा को गौरवहीन और अयोग्य बताने का साहस करते हुए उन्होंने जैन आगम को संस्कृत में अनुवादित करने का बीड़ा उठाया था। आगम-प्ररूपक महामुनियों के प्रति ऐसा अपमानसूचक विचार प्रकट करने के दण्ड में सिद्धसेन को जैन मुनिवेश छिपाकर बारह वर्ष पर्यन्त अज्ञात रूप में विचरते रहने का कठोर प्रायश्चित्त लेना पड़ा। विचरते विचरते वे हरसिंगार के फूलों से रंगित भिक्षुक-वेष धारण करके महाकालवन के शिव-मन्दिर में आए थे। श्री राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्धकोश'* (ई० सन् १३५१), श्रीतपाचार्यकृत 'कल्याण-मन्दिर-स्तोत्र टीका'† (रचनाकाल अज्ञात), श्री संघतिलक

* संपादक—जिनविजय, सिंधी जैन ग्रंथमाला नं० ६, शान्तिनिकेतन, १९३५।

† देखिए:—रायबहादुर हीरालाल, कॅटॅलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मेन्युस्क्रिप्ट्स्, नागपुर, १९२६, प्रस्तावना पृ० १२ आदि।

सूरि कृत 'सम्यक्त्वसप्ततिका टीका'* (ई० सन् १३६६), श्री शुभशील गणि कृत 'विक्रमचरित्र'† (ई० सन् १४४३ या १४३४?) और श्री विजयलक्ष्मी सूरि कृत 'उपदेशप्रासाद'‡ (ई० सन् १७८७) के अनुसार वह "महाकाल" या "महंकाल" का मन्दिर था। 'पुरातन प्रबन्ध संग्रह'¶ (रचनाकाल अज्ञात) और श्री मेरुतुंग सूरि कृत 'प्रबन्ध चिन्तामणि' आदर्श "डी"§ (ई० सन् १३०५) के अनुसार वह "गूढमहाकालप्रासाद" और श्री भद्रेश्वर सूरिकृत 'कथावलि' (ई० सन् १२३५ के पूर्व), श्री प्रभाचन्द्र सूरि कृत 'प्रभावकचरित'※, (ई० सन् १२७८) तथा श्री जिनप्रभ सूरि कृत 'विविधतीर्थकल्प' अथवा 'कल्पप्रदीप' ♁ (ई. सन् १३३३) के अनुसार "कुडंगेसर", "कुडंगेश्वर", किंवा कुडुंगेश्वर महादेव का मन्दिर था। इन नामों की चर्चा आगे की जायगी। यहाँ इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि वह मन्दिर महादेव ही का था।

मन्दिर में भिक्षुक ने शिव-विग्रह को नमन नहीं किया। रुष्ट होकर श्रीविक्रमादित्य ने इसका कारण पूछा। उत्तर देते हुए श्रीसिद्धसेन दिवाकर ने 'लिंगभेद' और उसके परिणामस्वरूप अप्रीति होने का भय बताया। ऐसी अनहोनी बात सुनकर साहसांक नरेश ने अधीर होकर आज्ञा दी कि "तुरत ही नमस्कार करो। इसका परिणाम मेरे सिर पर हो।" तब श्री सिद्धसेन दिवाकर ने (जिनका अपरनाम कुमुदचन्द्र भी बताया जाता है) 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र टीका' के अनुसार अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' द्वारा तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ के नाम से सच्चिदानन्दरूप वीतराग जगदीश की स्तुति सुनाते हुए आदरभाव से देवता को नमन किया। उक्त स्तोत्र अभी भी जैनियों में (चाहे वे दिगम्बर हों या श्वेताम्बर) विशेष पवित्र माना जाकर नित्यपाठ के रूप में बोला जाता है। 'विविधतीर्थकल्प', 'कथावली', 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' (आदर्श डी), 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' और 'सम्यक्त्वसप्ततिका टीका' के अनुसार सिद्धसेन ने उस अवसर पर अपनी विख्यात 'द्वात्रिंशिकाओं' का पाठ किया, जिनमें (एक को छोड़कर) तत्त्वज्ञान और न्यायशास्त्र के अनेक प्रश्नों की चर्चा-गर्भित, अन्तिम तीर्थंकर श्रीमहावीर की स्तुति होती है, और जिनके गाम्भीर्य के प्रति बहुत शताब्दियों के पश्चात् महाकवि श्री हेमचन्द्र सूरि ने भी अपनी 'अयोगव्यवच्छेदिका' के निम्न लिखित रमणीय पद्य द्वारा अपनी लघुता प्रदर्शित की है:—

क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा।
तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ।।३।। ('सन्मतितर्क', भूमिका पृ० ९१ से उद्धृत)

अर्थात् "कहाँ तो सिद्धसेन की महान् अर्थयुक्त स्तुतियाँ और कहाँ यह मेरा अशिक्षित आलाप। फिर भी यदि यूथपति (नेता) के मार्ग पर चलनेवाला बच्चा ठोकर खाता हुआ दिखता है तो वह शोचनीय नहीं है ।।३।।"

'प्रभावकचरित,' 'प्रबन्धकोश', 'विक्रमचरित्र' और 'उपदेशप्रासाद' के अनुसार सिद्धसेन ने 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' और 'द्वात्रिंशिकाएँ' दोनों को सुनाया। इस भिन्नता की चर्चा आगे की जायगी।

जगदीश की स्तुति के चमत्कारिक प्रभाव से लिंग में से एक तीर्थंकरमूर्ति निकलती हुई दृश्यमान हुई। उपर्युक्त सभी ग्रन्थों के अनुसार वह पार्श्वनाथ की मूर्ति थी। मात्र 'विविधतीर्थकल्प' में 'नाभिसूनु', 'नाभेय' इत्यादि प्रथम तीर्थंकर श्रीऋषभदेव के नामान्तर पाए जाते हैं। इस भिन्नता का कारण यह हो सकता है कि मूलकहानी में श्रीपार्श्वनाथ ही की

*** श्रीसम्यक्त्वसप्तति, संशोधक मुनि श्रीवल्लभविजय, श्रेष्ठी देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धारे ग्रंथांक ३५, ई० सन् १९१६।**

† संशोधक और प्रकाशक पं० भगवानदास, वि० सं० १९९६।

‡ राजनगर, ई० सन् १९३८।

¶ संपादक जिनविजयमुनि, सिंधी जैन ग्रंथमाला नं० २, शान्तिनिकेतन, ई० सन् १९३६।

§ वही, नं० १, ई० सन् १९३३।

※ संपादक जिनविजयमुनि, सिंधी जैन ग्रंथमाला नं० १३, अहमदाबाद—कलकत्ता, ई० सन् १९४०।

♁ वही, नं० १०, शान्तिनिकेतन, ई० सन् १९३४।

मूर्त्ति का प्रादुर्भाव कथित हुआ होगा जिनके नामान्तर 'वामासूनु', 'वामेय' इत्यादि श्रीजिनप्रभ सूरि के आधारभूत मूल-ग्रन्थ की आदर्शप्रति में लेखक की भूल से 'नाभिसूनु', 'नाभेय' आदि में परिवर्त्तित किए गए, और इस भूल के परिणामस्वरूप शेष परिवर्तन पिछली प्रतियों में क्रमशः आ पड़े होंगे। ऐसा अनुमान करने में कुछ आपत्ति दिखाई नहीं देती।

इसके विपरीत यह अनुमान इस विचार से विशेष न्याययुक्त जान पड़ता है कि 'विविधतीर्थकल्प' की 'अ' संज्ञक आदर्शप्रति में दी हुई तीर्थकल्पों की अनुक्रमणिका में (जिनविजयजी पृ० १११) प्रस्तुत तीर्थकल्प (नं० ४७) का नाम 'कुडुंगेश्वरनाभेयदेवकल्प' के स्थान पर साफ साफ 'श्रीकुडुंगेश्वरपार्श्व०' ही उपलब्ध है।

इसके अतिरिक्त 'विविधतीर्थकल्प' में चौरासी जैन महातीर्थों के नामों की एक सूची चौबीस तीर्थंकरों के कालक्रम से दी गई है (जिनविजयजी पृ० ८५)। इस नामसंग्रह में प्रथम तीर्थंकर के तीर्थस्थानों की नामावली में न तो कुडुंगेश्वर और न उज्जैन ही का उल्लेख है। किन्तु तेईसवें तीर्थंकर श्रीपार्श्वनाथ की तीर्थसूची में 'महाकालान्तरपातालचक्रवर्ती' (जिनविजयजी के मूल का पाठ 'महाकालान्तरा०') ऐसा नाम पाया जाता है। इससे भी उपर्युक्त अनुमान का कुछ समर्थन होता है कि प्रस्तुत बिम्ब, जोकि बाद में एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान का केन्द्र बना, श्री आदिनाथ का नहीं, किन्तु वास्तव में श्रीपार्श्वनाथ का ही था (आगे देखिए)।

प्रस्तुत अनुमान के साथ यह बात भी भली भाँति मेल खाती है कि महादेव का आभूषणरूप माना हुआ सर्प पार्श्वनाथ का भी 'लाञ्छन' अर्थात् चिह्नविशेष है, और पार्श्वनाथ का शासनदेवता-युगल धरणेन्द्र पद्मावती नागदेवताओं का रूप धारण करते हुए कल्पित होते हैं। तदनुकूल प्रस्तुत प्रसंग में भी एक सर्पचिह्न का उल्लेख 'प्रभावकचरित' में (पृ० ६० पद्य १५२) दिया गया है। यथा:—

> **शिवलिंगादुदैच्चात्र कियत्कालं फणावलिः।**
> **लोकोऽघर्षीच्च (मूल—"ऽधर्षच्च") तां पश्चान्मिथ्यात्वदृढरंगमः ॥१५२॥**

अर्थात्—"वहाँ शिवलिंग में से थोड़े समय में सर्पफणों की श्रेणी निकली। पश्चात् लोगों ने मिथ्यात्त्व की दृढ़ भावना से जल-सिंचन कर उसकी पूजा की ॥१५२॥"

आज भी एक रत्नचक्षुमय सर्प महाकाल लिंग के चतुर्दिक् चाँदी के पत्रों से ढँकी हुई जलाधारी में देखा जा सकता है।

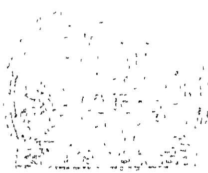
दिगम्बर साहित्य में भी 'श्रीकल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ होने से श्रीपार्श्वनाथ ही के बिम्ब का प्रगट होना कथित है। ऐसा उल्लेख श्रीअचलकीर्त्तिकृत 'विषापहारस्तोत्र भाषा' में (जहाँ श्री विक्रम राजा का भी नाम इस सम्बन्ध में दिया गया है), 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र भाषा' में और वृन्दावन कवि कृत 'मंगलाष्टक' आदि में मिलता है।

यदि उपर्युक्त कुछ ग्रंथों में इस पार्श्वनाथ प्रतिमा के प्रादुर्भूत होने में पार्श्वनाथ-स्तुति-रूप कल्याणमन्दिरस्तोत्र के अतिरिक्त महावीर-स्तुति-रूप 'द्वात्रिंशिकाओं' का पाठ भी निमित्तभूत कथित है, तो वह इस कारण से अबाधित है कि जैन रीति के अनुसार किसी भी एक तीर्थंकर की स्तुति, पूजा आदि में बहुधा शेष तीर्थंकरों की आराधना भी अन्तर्भूत समझी जाती है। उक्त कविताएँ, विशेषतः प्रस्तुत प्रसंग पर उचित ही ज्ञात होती हैं, क्योंकि इनमें कथित तीर्थंकर-स्तुति एक साथ परमात्मा रूपी महादेव के प्रति भी मानी जा सकती है; जैसा कि पहिली द्वात्रिंशिका के पहिले पद्य के निम्नलिखित शब्दों से विदित है :—

> **स्वयंभुवं भूतसहस्रनेत्रमनेकमेकाक्षरभावलिंगम् ।**

आज भी "स्वयंभू" शब्द विशेषतः महाकालेश्वर-लिंग का एक प्रचलित विशेषण है।

इस स्तोत्रपाठ के चमत्कारिक प्रभाव से आश्चर्यान्वित विक्रमादित्य को अब सिद्धसेन प्रतिबोध देने और उस प्रादुर्भूत हुए जिन-बिम्ब का पूर्व-इतिहास सुनाने लगे, जोकि अवन्तिसुकुमाल मुनि के वृत्तान्त के साथ ग्रथित है। वह एक



विस्तृत कथा के रूप में 'प्रबन्धकोश', शुभशीलकृत 'विक्रमचरित्र', और 'उपदेशप्रासाद' में, तथा अति संक्षिप्त रूप में 'पुरातन प्रबन्धसंग्रह' और 'प्रबन्धचिन्तामणि' (आदर्श डी) में दिया हुआ है। शेष ग्रन्थों में वह नहीं पाया जाता है। परन्तु उनसे अधिक प्राचीन ग्रन्थों में इसका इतिवृत्त स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध है। उस इतिवृत्त पर अब दृष्टि डालना आवश्यक है।

[२] **श्वेताम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल-स्मारक**—अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त अति प्राचीन है। वह दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में प्रसिद्ध है। इसका आधार जैन-इतिहास की कोई सत्य घटना होगी, ऐसा मानने में तनिक भी संकोच की आवश्यकता नहीं है। प्राचीन अवन्ति नगरी में एक श्रीमन्त-पुत्र को किसी जैन मुनि का व्याख्यान सुनने से प्रबल वैराग्य का उत्पन्न होना, मुनिवेश ग्रहण करके दीक्षित होना, महाकालवन की श्मशान-भूमि की एकान्तता में आहार-निद्रा आदि का त्याग करके कुछ दिन तक अचल धर्मध्यान में मग्न रहना और इसी अवस्था में एक बुभुक्षित स्यारनी और उसके सन्तान से भक्षित होना, ऐसी घटना-शृंखला को असम्भव कौन कह सकता है? जो दृढ़ श्रद्धा और अचल वैराग्य अवन्तिसुकुमाल को अपने घर की अगणित लक्ष्मी और स्वर्गसदृश सुख छोड़कर अपने जीवन का उत्तमार्थ समाधिमरण ही में पाने को प्रेरित करता है वह अपूर्व नहीं है। राजाओं ने भी अपने सिंहासन छोड़कर सल्लेखना मृत्यु ही में अपना कल्याण माना, ऐसे दृष्टान्त श्री एस्० आर्० शर्मा कृत "जैनिज्म् एण्ड कर्णाटक कल्चर" और श्री बी० ए० सालेतोर कृत "मेडिईवल् जैनिज्म्" नामक सुप्रसिद्ध ग्रंथों में पाए जाते हैं। भूतकाल तो दूर रहा, आज भी ऐसी ही श्रद्धा और ऐसे ही वैराग्य से प्रेरित कई लक्ष्मीपति और उनकी सुकुमार महिलाएँ अपना सुख और वैभव छोड़कर दुष्कर तपस्या करती हुई प्रत्यक्ष देखी जाती हैं।

अवन्तिसुकुमाल के सबसे पुराने उल्लेख श्वेताम्बर आगम के अन्तर्गत 'भत्तपरिण्णा', 'संथारयपइण्ण' और 'मरण-समाहि' नामक तीन 'पइण्णों' (अर्थात् 'प्रकीर्णक' नामक ग्रंथ-विशेष) में, समाधिमरण के एक विशेष भेद के दृष्टान्त-स्वरूप मिलते हैं। श्वेताम्बर आगम की अन्तिम आकृति श्री देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने वलभी नगर में वीरनिर्वाण से ९८० वर्ष के पश्चात् (या एक दूसरे मत के अनुसार ९९३ वर्ष के पश्चात्), अर्थात् ईसवी सन् ४५० के आसपास अत्यन्त प्राचीन मूलग्रन्थों के आधार पर सम्पादित की, ऐसा माना जाता है।

'भत्तपरिण्णा पइण्ण'* का उल्लेख निम्नलिखित है:—

भालुंकीए करुणं खज्जंतो घोरविअणत्तोवि। आराहणं पवन्नो झाणेण अवंतिसुकुमालो ॥१६०॥

अर्थात्—"स्यारनी द्वारा करुणाजनक रीति से भक्षित होते हुए और घोर वेदना से पीड़ित होते हुए भी अवन्ति-सुकुमाल ने ध्यानस्थ अवस्था में आराधना की ॥१६०॥"

यही पद्य तनिक पाठान्तर सहित दिगम्बरीय 'भगवती आराधना' और 'कण्णड वड्डाराधना' में भी उपलब्ध है, जैसाकि श्री ए० एन्० उपाध्ये महाशय ने हरिषेण कृत 'बृहत्कथा-कोश' की प्रस्तावना में (पृ० ७८) बताया है। इससे प्रस्तुत वृत्तान्त की प्राचीनता भली भाँति ज्ञात होती है।

'संथारय पइण्ण' में उज्जैन के श्मशान का उल्लेख इस सम्बन्ध में दिया गया है। महात्मा का नाम "अवन्ति" मात्र है। यथा:—†

उज्जेणी नयरीए अवंतिनामेण विस्सुओ आसी। पाओवगमनिवन्नो सुसाणमज्झम्मि एगंतो ॥६५॥
तिन्नि रयणीइ खइओ भल्लुंकी रुट्ठिया विकड्ढंती। सोवि तह खज्जमाणो पडिवन्नो उत्तमं अट्ठं ॥६६॥

अर्थात्—"उज्जैन नगरी में अवन्ति नाम का विख्यात (पुरुष) था। उन्होंने श्मशान में एकान्त में पाओवगम् (नाम का समाधिमरण) अंगीकार किया ॥६५॥

---

* चतुः शरणादिमरणसमाध्यन्तं प्रकीर्णकदशकं, श्री आगमोदयसमितिग्रन्थोद्धारे नं. ४६, सन् १९२७, पृ० ३०।
† वही, पृ० ५७।

दुष्ट स्यारनी ने उनको तीन रात तक विदीर्ण कर खाया। इस रीति से भक्षित होते हुए भी उन्होंने उत्तमार्थ प्राप्त किया ॥६६॥"

'मरणसमाहि पइण्ण'* का वर्णन कुछ अधिक विस्तृत और ऐतिहासिक दृष्टि से रुचिकर है। वह निम्नलिखित है :—

सोऊण निसासमए नलिणिविमाणस्स वण्णणं धीरो। संभरियदेवलोओ उज्जेणि अवंतिसुकुमालो ॥४३५॥

धित्तूण समणदिक्खं नियमुज्झियसव्वदिव्वआहारो। बाहिं वंसकुडंगे पायवगमणं निवण्णो उ ॥४३६॥

वोसट्ठनिसट्ठंगो तहिं सो भल्लुंकियाइ खइओ उ। मंदरगिरिनिक्कपं तं दुक्करकारयं वंदे ॥४३७॥

मरणंमि जस्स मुक्कं सुकुसुमगंधोदयं च देवेहि। अज्जवि गंधवई सा तंच कुडंगीसरट्ठाणं ॥४३८॥

अर्थात्—"उज्जैन में रात के समय में नलिनी विमान (नामक स्वर्ग) का वर्णन धीरतापूर्वक सुननेवाले अवन्तिसुकुमाल को देवलोक का (जाति) स्मरण हुआ ॥४३५॥

अपने समस्त दिव्य भोगों को छोड़ते हुए उन्होंने जैन-साधु-दीक्षा ग्रहण की और बाहर "वंस कुडंग" में "पायवगमण" (नामक समाधिमरण) को अंगीकार किया ॥४३६॥

अपना निःसह (अर्थात् कोमल) शरीर वहाँ छोड़कर वे शृगाली से भक्षित हुए। मन्दर पर्वत जैसे निष्कंप इस महात्मा को, जिन्होंने (ऐसा) दुष्कर काम किया, मेरी वन्दना हो ॥४३७॥

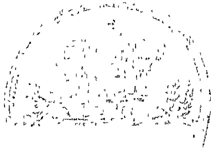
उनके मरण (के समय) पर देवताओं ने उत्तम फूल और सुगन्धित जल बरसाया। आज भी वह गन्धवती (नदी) और वह कुडंगीसर का स्थान (वहाँ विद्यमान) हैं ॥४३८॥"

उपर्युक्त गन्धवती और इस नाम का घाट आज भी क्षिप्रा रपट की पूर्व दिशा में श्री अवन्तिपार्श्वनाथ के जैन मन्दिर के पास उज्जैन में विद्यमान है। वह स्थान प्राचीन काल में जंगल और श्मशान था, यह हर किसी को ज्ञात है। वहाँ क्षिप्रा में मिलनेवाला आधुनिक संकुलित नगर का मैला पानी ले जानेवाला 'गन्धवती नाला' अथवा 'गन्दा नाला' एक समय स्वच्छ जल की एक छोटी नदी था। इस नदी का 'गन्दे' पानी से सम्बन्ध रखने की कल्पना तो दूर रही। उसी को 'स्कन्द-पुराण' के 'अवन्तिखण्ड' में (१६·४) 'पुण्या' और 'त्रैलोक्यविश्रुता' जैसे विशेषण दिए गए हैं, और कालिदास ने उसके कमल-पराग से सुगन्धित पवन और उसमें जलक्रीड़ा करनेवाली युवतियों का रमणीय उल्लेख किया है (मेघदूत पद्य ३५)।

'वंसकुडंग' और 'कुडंगीसर' के सम्बन्ध में आगे विचार किया जावेगा।

मूल आगम के पश्चात् प्रस्तुत वृत्तान्त का सबसे प्राचीन उल्लेख श्री जिनदास गणि महत्तर कृत 'आवश्यक चूर्णि' में प्राकृत गद्य में उपलब्ध है (देखिए 'श्रीमदावश्यकसूत्र', रतलाम ई० सन् १९३९, उत्तरभाग पृ० १५७)। इस ग्रन्थ के रचनाकाल की कल्पना इस बात से की जा सकती है कि इसी जिनदासगणि कृत निशीथ चूर्णि' शक ५९८ अर्थात् ई० सन् ६७६ में रचित है (देखिए श्री० पं० सुखलाल और बेचरदास की भूमिका, सन्मतितर्क पृ० ३)। प्रस्तुत 'आवश्यक चूर्णि' में अवन्ति-सुकुमाल की माता 'भद्दा सेट्ठिभज्जा', अर्थात् 'भद्रा श्रेष्ठिभार्या', उनकी बत्तीस सुयौवना पत्नियाँ, उनके धर्मगुरु "सुहत्थि", अर्थात् आर्य सुहस्ती आचार्य (अशोकपौत्र जैन सम्राट् सम्प्रति के प्रतिबोधक, (देखिए मुनि कल्याणविजय, 'वीरनिर्वाण और जैनकालगणना', नागरी प्रचारिणी पत्रिका १० और ११ से उद्धृत, जालोर, सं० १९८७ पृ० ७७), और पुत्र, इतने पात्र अधिक पाए जाते हैं। अवन्तिसुकुमाल के मृत्यु का स्थान **"मसाणे कंथारकुडंगं"** अर्थात् "श्मशान में कंथारकुडंग' इन शब्दों में वर्णित है, जिनकी चर्चा आगे की जायगी। महात्मा के मरण के पश्चात् गन्धोदक बरसने का प्रसंग भी उल्लिखित है, यद्यपि गन्धवती नाम नहीं दिया गया है। उनकी माता और बत्तीस पत्नियों में इकतीस साध्वी-दीक्षा ग्रहण करती हैं। बत्तीसवीं गर्भवती है।

*** वही, पृ० १२६।**



जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

तीसे पुत्तो तत्थ देवकुलं करोति। तं इयाणिं महाकालं जातं। लोकेणं परिग्गहितं।

अर्थात्—"उनके पुत्र ने वहाँ एक देवमन्दिर बनाया। वह अब महाकाल बन गया। (अन्यधर्मी) लोगों ने उसको ग्रहण कर लिया।"

श्री हरिभद्र सूरि की 'आवश्यकवृत्ति' में भी प्रस्तुत वृत्तान्त प्रायः अक्षरशः पाया जाता है। इस वृत्ति का रचना-काल भी ई० सन् ६५०-७०० के आसपास समझा जा सकता है, अर्थात्, श्री जिनदासगणि और श्री हरिभद्रसूरि दोनों ने एक ही प्राचीन आदर्श ग्रंथ का उपयोग किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। प्रमुख भिन्नता यह है कि यहाँ महात्मा की माता का नाम 'भद्दा' के स्थान पर 'सुभद्दा' (सुभद्रा) दिया गया है (देखिए 'श्रीमदावश्यकसूत्रोत्तरार्धं पूर्वभाग', आगमोदय-समिति ई० सन् १९१७ पृ० ६७०)।

इसके पश्चात् अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त सुप्रसिद्ध 'आवश्यक कथाओं' में उपलब्ध है। वहाँ की कहानी, जोकि मुझे मात्र अभिधानराजेन्द्रकोश में ('अणिस्सिओवहाण' शब्द के नीचे) मिली, संस्कृत पद्य में है, और उसका विवरण पूर्वोक्त कहानी के साथ ठीक ठीक मिलता है। मृत्युस्थान 'कन्थारिकावन' और माता का नाम 'सुभद्रा' है। अन्तिम पद्य नीचे के अनुसार है :—

..................स्थितैका तु गुर्विणी तत्सुतो ततः ॥३२॥

अचीकरद्देवकुलं श्मशानेऽद्‌भुतमुच्छ्रितम्। तदिदानीं महाकालं जातं लोकपरिग्रहात् ॥३३॥

अर्थात्—"परन्तु एक (पत्नी जोकि) गर्भवती थी (गृहस्थावस्था में) रही ॥३२॥

उनके पुत्र ने श्मशान में एक अद्‌भुत उच्च देवमन्दिर बनाया। वह अब (अन्यधर्मी) लोगों से ग्रहण किया जाकर महाकाल (मन्दिर) बन गया है ॥३३॥"

तदनन्तर अवन्तिसुकुमाल का इतिहास 'दर्शनशुद्धि'* नामक ग्रंथ में प्राकृत गद्य में और पूर्वोक्त कथा के अनुरूप श्री चन्द्रप्रभसूरि द्वारा (ई० सन् १०९३ में) वर्णित है। यहाँ मृत्युस्थान को 'कंथारिकुडंगिसमीवे', अर्थात् 'कंथारिकुडंग के पास', और मृत शरीर को 'कुडंगाओ नेरइयदिसाए आसयट्ठियं' अर्थात् 'कुडंग से नैऋत्य दिशा के निकटवर्ती' बताया जाता है, जिन शब्दों का स्पष्टीकरण आगे किया जायगा। माता का नाम 'भद्दा' (भद्रा) है। अपनी पुत्रवधुओं के साथ उनके क्षिप्रा नदी के किनारे पर विलाप करने का वर्णन दिया गया है। अन्त में देवताओं ने गन्धोदक बरसाने के साथ "अहो महाकालो" अथात् "वाह महान् मृत्यु" ऐसी आकाशवाणी सुनाई और बत्तीसवीं वधू के पुत्र ने—

पिउमरणठाणे काराविया पिउपडिमा। समुग्घोसियं महाकालोत्ति नामेण आययणं। तं च

संपयं लोइएहिं परिगाहियं महाकालोत्ति विक्खायं। (अभिधानराजेन्द्रकोश, "अवन्तिसुकुमार" शब्द के नीचे)।

अर्थात्—"पिता के मृत्युस्थान पर पिता की प्रतिमा बनवाई। स्मारक मन्दिर का नाम 'महाकाल' उद्‌घोषित किया। वह लौकिकों (अन्यधर्मिओं) से ग्रहण किया जाकर अभी भी 'महाकाल' नाम से विख्यात है।"

उसके पीछे श्री हेमचन्द्राचार्य कृत 'परिशिष्टपर्वन्'† रचित है (ई० सन् ११६०-७२), जिसके ग्यारहवें सर्ग के अन्त में संस्कृत पद्य में अवन्तिसुकुमाल की मृत्यु का वर्णन आर्य सुहस्ती सूरि के जीवनवृत्तान्त के अन्तर्गत पाया जाता है।

---

* अभिधानराजेन्द्र-कोश की अवतरणिका 'अवन्तिसुकुमाल' शब्द के नीचे।

† परिशिष्टपर्व, श्रीजैनधर्मप्रसारक सभा, भावनगर, वि० सं० १९६८, पृ० ९६-९८।

इसका समस्त विवरण 'दर्शणशुद्धि' से मिलता-जुलता है। केवल देवताओं का "अहो महाकालो" पुकारना नहीं कहा गया है। अन्त में निम्नलिखित श्लोक है :—

गुर्व्या जातेन पुत्रेन चक्रे देवकुलं महत्। अवन्तिसुकुमालस्य मरणस्थानभूतले ॥१७६॥

तद्देवकुलमद्यापि विद्यतेऽवन्तिभूषणम्। महाकालाभिधानेन लोके प्रथितमुच्चकैः ॥१७७॥

अर्थात्—"गर्भवती से उत्पन्न हुए पुत्र ने अवन्तिसुकुमाल के मरणस्थान पर एक बड़ा देवमन्दिर बनाया ॥१७६॥

वह देवमन्दिर आज भी अवन्ति का भूषणरूप विद्यमान है और उसकी प्रशंसा महाकाल के नाम से आज भी जगत् में ऊँचे स्वर से होती रहती है ॥१७७॥"

श्री हेमचन्द्रसूरि के समकालीन श्री सोमप्रभसूरि विरचित 'कुमारपालप्रतिबोध' (ई० सन् ११८५) में भी अवन्तिसुकुमाल की कथा संस्कृत पद्य में और 'परिशिष्टपर्वन्' के अनुरूप पाई जाती है। उसके अनुसार* अवन्ति-सुकुमाल की बत्तीसवीं पत्नी के पुत्र द्वारा बनाए हुए मन्दिर में महात्मा की प्रतिमा स्थापित हुई। उस मन्दिर को 'अवन्ति का अलंकार' कहा जाता है, जोकि "अपने शिखर के अग्रभाग द्वारा सूर्य के रथ के घोड़ों का मार्ग रोकता हुआ आज भी 'महाकाल' नाम से प्रसिद्ध है।"

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि ईसा की बारहवीं शताब्दी के अन्त पर्यन्त 'महाकाल-मन्दिर'-विद्यमान था। इतना ही नहीं, उसकी महिमा कालिदास के समय से इतनी शताब्दियों तक अक्षुण्ण रही थी और कालिदास के समय से तब तक महाकालेश्वर की आरती का गर्जनासदृश दुंदुभिनाद आकाश को प्रतिध्वनित करता रहा था।

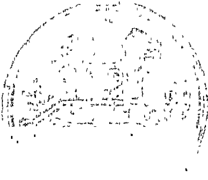
परन्तु यह महिमा आगे नहीं रही, ऐसा श्री हेमचन्द्रसूरि और श्री सोमप्रभसूरि के पश्चात् के साहित्य से ज्ञात होता है। इस साहित्य का सिंहावलोकन करने पर पहिली दृष्टि संस्कृत गद्यबद्ध 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' तथा 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' नाम के ग्रन्थों पर पड़ती है। इनमें श्री अवन्तिसुकुमाल के सम्बन्ध में इतना ही उल्लेख है कि जिस मन्दिर में श्री सिद्धसेन के स्तोत्रपाठ से श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई, वह अवन्तिसुकुमाल का उनकी बत्तीस पत्नियों द्वारा बनवाया हुआ स्मृति-मन्दिर था, और उक्त चमत्कार होने के पश्चात् **"तदा प्रभृति गूढमहाकालोऽजनि।"** अर्थात् "उस समय से गूढमहाकाल हुआ।"

'प्रबन्ध चिन्तामणि' ई० सन् १३०५ में और 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' भी लगभग उसी समय में रचित है। अर्थात् उपर्युक्त वाक्य ऐसे समय में लिखा गया है जबकि श्री हेमचन्द्रसूरि और श्री सोमप्रभसूरि के महत्त्वपूर्ण वर्णन के रचनाकाल से लगभग सवा शताब्दी बीत गई थी। इतने समय में 'अवन्तिभूषणरूप' गगनचुम्बी महाकाल-मन्दिर मिट गया और 'गूढ महाकाल' ने उसका स्थान ले लिया था, जिसकी पूजा-आरती आदि भूमि-गृह ही में होती रही। इसका कारण अति स्पष्ट है। इस सवा शताब्दी ही के अन्दर अल्तमश का कालरात्रि-सदृश समय मालव-भूमि पर छा गया था और इसी कालरात्रि में ही ई० सन् १२३५ में महाकाल का विख्यात मन्दिर भूमिसात् हुआ था। वह इतिहास-प्रसिद्ध है। अतः विस्तार अनावश्यक है।

लगभग उसी समय के महाकालवन में एक जिनालय भी विद्यमान था जोकि—**"महाकालान्तर-पातालचक्रवर्ती"** इस नाम से श्री जिनप्रभ सूरि के ई० सन् १३३३ में रचे हुए 'विविधतीर्थकल्प' में उल्लिखित है, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। कदाचित् वह 'पातालचक्रवर्त्ती' श्री अवन्तिसुकुमाल के मन्दिर की मूलनायक-प्रतिमा ही थी, क्योंकि दोनों प्रतिमाएँ श्री पार्श्वनाथ ही की थीं। जब अवन्तिसुकुमाल का मन्दिर (आगे आनेवाले विवरण के अनुसार) दूसरी बार अन्य धर्मियों से ग्रहण किया गया था, उस समय वहाँ की उस मूलनायक-प्रतिमा को एक भिन्न जिनालय में स्थापित किया गया होगा। वह मन्दिर भी पूर्वोक्त अमांगलिक प्रसंग पर नष्ट हो गया होगा, जिससे कि उसके मूलनायक को भी (महाकाल के सदृश) भूमिगृहरूपी "पाताल" ही में शरण लेनी पड़ी होगी।

---

* गुजराती अनुवाद, श्रीजैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि० सं० १९८३।



जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

इतने विवेचन के अनन्तर अब श्री अवन्तिसुकुमाल के वृत्तान्त के शेष साहित्य का अवलोकन करना रहा है। उसमें पहिले 'प्रबन्ध-कोश' (ई० सन् १३५१) का क्रम आता है। इसमें उक्त वृत्तान्त संस्कृत गद्य में ऐसे रूप में कथित है जोकि श्री हेमचन्द्र सूरि की कहानी से मिलता है। अन्त में अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने :—

प्रासादः कारितः। मम पितुर्महाकालोऽत्राभूदिति महाकालनाम दत्तम्। श्रीपार्श्वनाथबिंबं मध्ये स्थापितम्। कत्यायहानि लोकेन पूजितम्। अवसरे द्विजैस्तदन्तरितं कृत्वा मृडलिंगमिदं स्थापितम्।

अर्थात्—"एक मन्दिर बनवाया। मेरे पिता का 'महान् काल' (अर्थात् महान् मृत्यु) यहाँ हुआ। इस कारण से 'महाकाल' नाम दिया। बीच में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। उसकी पूजा लोगों ने कुछ दिन तक की। अवसर पाकर ब्राह्मणों ने उसे छिपा दिया और यह शिव-लिंग स्थापित किया।"

श्री शुभशीलगणि कृत 'विक्रमचरित्र' (ई० सन् १४४३ या १४३४) में अवन्तिसुकुमाल की अन्तर्कथा संस्कृत पद्य में और उसी कवि-रचित 'श्री भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति' (ई० सन् १४५३) में उसकी स्वतन्त्र कहानी संस्कृत गद्य में दी गई है। यहाँ की और पूर्वोक्त कहानी में इतनी ही भिन्नता है कि अवन्तिसुकुमाल की माता 'भद्रा' के अतिरिक्त उनके पिता 'भद्र श्रेष्ठी' भी उल्लिखित हैं। 'विक्रमचरित्र' के अनुसार :—

तस्मिन् स्थाने महच्चैत्यं पार्श्वनाथजिनेशितुः। मनोज्ञं कारयामास भद्रश्रेष्ठी धनव्ययात् ॥३९॥
तस्याऽजनि महंकालनामेति विश्रुतं भुवि। कालक्रमाद् द्विजलिंगं स्थापितं पार्वतीपतेः ॥४०॥

अर्थात्—"उस स्थान पर भद्र सेठ ने, बहुत धन खर्च करके, श्री पार्श्वनाथ जिनेश्वर का एक विशाल मनोहर मन्दिर बनवाया ॥३०॥

उसका जगद्विख्यात नाम महंकाल हो गया। कालक्रम से वहाँ ब्राह्मणों ने पार्वतीपति का लिंग स्थापित किया ॥४०॥"

श्री विजयलक्ष्मी सूरि कृत 'उपदेशप्रासाद' (ई० सन् १७८७) में आई हुई अवन्तिसुकुमाल कथा संस्कृत पद्य में और 'प्रबन्ध-कोश' के अनुसार है।

इनके अतिरिक्त श्री धर्मसमुद्र वाचक * (ई० सन् १५२० के आसपास) और प्रसिद्ध गुर्जर जैन कवि श्री जिनहर्ष सूरि तथा श्री ज्ञानविमल सूरि† (ई० सन् १७७० के आसपास) कृत गुजराती 'सज्झायो' (अर्थात् धर्मभावना-पोषक, 'स्वाध्याय' के योग्य छोटे गेय काव्य) आदि कृतियों में प्राचीन मूलग्रंथों के आधार पर अवन्तिसुकुमाल और बहुधा उनके समाधि-मन्दिर का भी वृत्तान्त वर्णित है। आधुनिक जैन भक्त-कवि मुनि श्री चौथमलजी महाराज ने भी एक 'अवन्ति-सुकुमाल-सज्झाय' हिन्दी में रची है, जो मुनियों से गाई हुई सुनी जा सकती है।

[३] **दिगम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल**—दिगम्बर साहित्य में अवन्तिसुकुमाल के वृत्तान्त का सबसे प्राचीन उल्लेख श्री शिवार्य कृत 'भगवती आराधना' में उपलब्ध है, जोकि श्री ए० एन्० उपाध्ये महाशय के मतानुसार (हरिषेण, 'बृहत्कथाकोश'‡ भूमिका पृ० ५४) जिनसेन के 'आदिपुराण' से अधिक प्राचीन है, अर्थात् ईसवी की नवमी शताब्दी के पूर्व में रचित है। वहाँ उक्त उल्लेख उस प्राकृत गाथा में विद्यमान है, जो ऊपर श्वेताम्बरीय (भत्तपरिण्णा पइण्ण' में से कुछ पाठान्तर के साथ उद्धृत की जा चुकी है। 'भगवती आराधना' में वह निम्नलिखित रूप में है (गाथा नं० १५३९ पूर्वोक्त भूमिका पृष्ठ ७८ के अनुसार):—

भल्लुंकीए तिरत्तं खज्जंतो घोरवेदणट्टो वि। आराधणं पवण्णो झाणेणावंतिसुकुमालो ॥

अर्थात्—"तीन रात पर्यन्त स्यारनी से भक्षित और घोर वेदना से पीड़ित होते हुए भी अवन्तिसुकुमाल ने ध्यान में मग्न रहकर आराधना की।"

---

* जैन-गुर्जर कविओ, संग्राहक मोहनलाल दलीचंद देशाई, मुम्बई, ई० सन् १९२५ भाग १ पृ० ११८।

† श्री जैन सज्झाय संग्रह, संपादक साराभाई मणिलाल नवाब, श्री जैन प्राचीन साहित्योद्धार ग्रंथावली नं० ९, ई० स० १९४०, पृ० ४०-५५ और ५५-५९।

‡ सिंधी जैनग्रंथमाला, बम्बई १९४३।

वास्तव में ऐसी गाथाएँ श्री उपाध्ये के कथनानुसार (उक्त भूमिका पृ० ५४) उस अति प्राचीन समय के साहित्य के अवशेष हैं जब जैन समुदाय और जैन साहित्य दिगम्बर और श्वेताम्बर शाखाओं में विभक्त नहीं हुआ था, अर्थात् उनको न तो श्वेताम्बरीय और न दिगम्बरीय ही, किन्तु सामान्य आदि-जैन-साहित्य गिनना समीचीन है। पूर्वोक्त भूमिका से विदित है कि यद्यपि इस गाथा के अतिरिक्त न तो श्री शिवार्य के मूलग्रंथ में और न उसकी किसी भी उपलब्ध टीका में अवन्तिसुकुमाल की कहानी का कुछ विवरण दिया गया है, तथापि उसकी एक लुप्त प्राकृत टीका में ऐसी कहानियों का संग्रह अवश्य विद्यमान था जो पश्चात् के दिगम्बरीय कथा-साहित्य का मुख्य आधार बन गया है (पृ० ५८)।

इस कथा साहित्य का एक प्रसिद्ध ग्रंथ श्री हरिषेण कृत 'बृहत्कथा-कोश' * है, जिसका रचनाकाल कवि ने स्वयं ई० सन् ९३२ दिया है। यह ग्रंथ संस्कृत पद्य में रचित है। उसमें एक 'श्री अवन्तिसुकुमाल-मुनि-कथानक' (कथानक नं० १२६, पृ० २९७ आदि) है, जिसमें प्रस्तुत वृत्तान्त अति विस्तारपूर्वक २६० पद्यों में कथित है। इस कथानक के अनुसार महात्मा की माता यशोभद्रा, उनका धर्मगुरु जिनसेन, और उज्जैन के तत्कालीन राजा-रानी प्रद्योत और ज्योतिर्माला हैं। अवन्तिसुकुमाल के घर की लक्ष्मी एवं अपूर्व वैभव का अति विस्तृत वर्णन दिया गया है। इसके अतिरिक्त, सब पात्रों के (स्यारनी और उसके बच्चों तक को न छोड़कर) पूर्व जन्मों की शृंखला भी वर्णित है। अन्त में अवन्तिसुकुमाल के मृत्यु-स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित पद्य हैं:—

श्रीमदुज्जयिनीतोऽयं दक्षिणद्वारगोचरः। स्तोकमार्गमतिक्रम्य स प्रदेशो विराजते॥२५६॥
अवंतीसुकुमालोऽयं यत्र कालगतो मुनिः। कापालिकैः प्रदेशोऽसौ रक्ष्यतेऽद्यापि पुण्यभाक्॥२५७॥
तत्र कापालिकानां च दत्त्वा मूल्यं बहु स्फुटम्। पुण्यबुद्धया दहन्त्येते मृतकानि महाजनाः॥२५८॥
देवैर्गन्धोदके मुक्ते तस्मिन् काले गते मुनौ। सुगन्धीभूतसर्वाशा जाता गन्धवती नदी॥२५९॥
तद्भार्याभिस्तरां तत्र कृते कलकले सति। बभूव लोकविख्यातो देवः कलकलेश्वरः॥२६०॥

अर्थात्—"यह प्रदेश उज्जैन से (आनेवाले) मार्ग का थोड़ासा उल्लंघन करने पर दक्षिण दरवाजे के पास पाया जाता है॥२५६॥

जहाँ मुनि अवन्तिसुकुमाल की मृत्यु हुई थी। इस पुण्यशाली प्रदेश की रक्षा आज तक कापालिकों से की जाती है॥२५७॥

स्फुट रीति से कापालिकों को बहुत द्रव्य देकर महाजन लोग वहाँ पुण्य-बुद्धि से अपने शवों का दाह-संस्कार करते हैं॥२५८॥

जब इस मुनि की मृत्यु हुई तब देवताओं ने सुगंधित जल बरसाया। इससे सब दिशाओं को सुगंधित करती हुई गंधवती नदी उत्पन्न हुई॥२५९॥

उनकी पत्नियों ने वहाँ 'कलकल', अर्थात् कोलाहल किया। इससे लोक-विख्यात कलकलेश्वर की उत्पत्ति हुई॥२६०॥"

प्राचीन उज्जयिनी आधुनिक उज्जैन से कुछ दूर उत्तर की ओर लगभग उस स्थान पर विद्यमान थी जहाँ आजकल भैरवगढ़ और कालभैरव मन्दिर तथा आसपास के प्राचीन प्राकार के भग्नावशेष दिखते हैं। आधुनिक 'चौबीस खंभों' का प्रसिद्ध दरवाजा पुराने नगर का दक्षिण दरवाजा था, और वहाँ से ही वह मार्ग जाता होगा जिसका "थोड़ासा उल्लंघन करने पर" अवन्तिसुकुमाल का मृत्युस्थान पाया जाता था।

उस स्थान पर, 'चौबीस खंभों' के पास के 'कोटमुहल्ले' में ('गन्दे नाले' और महाकाल के बीच में), आज भी कापालिक साधुओं के 'जंगम' एवं 'चाकूकतिया' नाम से प्रसिद्ध गृहस्थ-लिंगी शिष्य-सन्तति की बस्ती है। वहाँ नया नगर बसाया जाने से विख्यात गंगागिर कापालिक ("औघड़") जोकि मृत-कलेवर-भक्षक स्थानीय कापालिक साधु-परम्परा के एक असली प्रतिनिधि थे, क्षिप्रा नदी के सामने के किनारे पर रहने लगे थे, जहाँ कि उनका देहान्त कुछ वर्षों के पहिले हुआ

* **सिंघी जैनग्रंथमाला, बम्बई १९४३।**

है, ऐसा अनेक उज्जैन-निवासियों को स्मरण है। इन बातों पर से श्री हरिषेण के उस कथन की सत्यता का अनुमान किया जा सकता है कि उक्त स्थान पर कापालिकों का विशेष अधिकार था।

श्री हरिषेण द्वारा उल्लिखित कलकलेश्वर का मन्दिर भी उपर्युक्त स्थान के पास श्री के० बी० डोंगरे कृत 'श्री क्षेत्र अवन्तिका, नामक ग्रंथ (ए० डी० प्रेस, ग्वालियर, प्रथम आवृत्ति, पृ० ५५) की सहायता से पटनी बाजार से मुड़नेवाली एक सकरी गली में आए हुए 'मोदीजी के कुए' की उत्तर दिशा में एक झोंपड़ियों से घिरे हुए बाड़े में छिपा हुआ पाया जाता है। वह छोटा ही है, परन्तु उसके दरवाजे के परिकर के शिलापट्टों पर उत्कीर्ण दम्पती-मूर्त्तियाँ दर्शनीय हैं। वे अति प्राचीन कारीगरी के अवशेष और पुरातत्त्ववेत्ताओं के लक्ष्य योग्य ज्ञात होते हैं। इस मन्दिर का विवरण हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण से 'स्कन्दपुराण' के अवन्ति-खण्ड (अध्याय १८) में कथित है।

श्री अवन्तिसुकुमाल के स्मारक मन्दिर का कोई भी उल्लेख श्री हरिषेण के प्रस्तुत ग्रंथ में नहीं पाया जाता है।

इस ग्रंथ के साथ निकट सम्बन्ध रखनेवाले कतिपय अन्य दिगम्बरीय कथासंग्रह-ग्रंथों में भी श्री अवन्तिसुकुमाल का कथानक मिलता है, ऐसा श्री उपाध्ये की उपर्युक्त भूमिका (पृ० ७८ और ६३ आदि) में दिए हुए साधनों से ज्ञात होता है। उनमें निम्नलिखित ग्रंथ हैं:—

(१) श्री श्रीचन्द्र कृत अपभ्रंश पद्य-बद्ध 'कथाकोश' (रचनाकाल लगभग ईसवी की ग्यारहवीं शताब्दी), कथा १४५।

(२) श्री प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत गद्य-बद्ध 'कथाकोश' (वही रचनाकाल), कथानक ६३।

(३) प्राचीन कण्णडा गद्य-बद्ध 'वड्डाराधने' (ई० सन् ८९८ और १४०३ के बीच में रचित), कथानक १, जिसमें 'भत्तपरिण्णा-पइण्ण' और 'भगवती आराधना' की पूर्वोल्लिखित प्राकृत गाथा भी पाई जाती है।

(४) श्री नेमिदत्त-ब्रह्मचारी कृत 'आराधना-कथाकोश' (रचनाकाल ईसा की सोलहवीं शताब्दी का आरंभ)।

श्री नेमिदत्त की कृति को छोड़कर उक्त साहित्य अनुपलब्ध है।

श्री नेमिदत्त के ग्रंथ (जैनमित्र कार्यालय, बम्बई, वीर सं० २४४०।४२, पृ० २५६-२६९) के श्री सुकुमालमुने-राख्यानं' नामक ५७ वे कथानक में प्रस्तुत वृत्तान्त १४२ संस्कृत पद्यों में कथित है। उसके अनुसार मुनि का नाम सुकुमाल उनकी माता का यशोभद्रा और गुरू का गणधराचार्य है। शेष बहुधा श्री हरिषेण के विवेचन के साथ मिलता है। मृत्यु स्थान के सम्बन्ध में निम्नलिखित विवरण है:—

उज्जयिन्यां तदा देवैर्महाकोलाहलः कृतः। महाकालः कुतीर्थोऽभूज्जन्तूनां तत्र नाशकृत् ॥१४०॥
गन्धतोयलसद्वृष्टिः कृता देवैः सुभक्तितः। तत्र गन्धवती नाम्नी नदी जातेति भूतले ॥१४१॥

अर्थात्—"उस समय देवों ने उज्जैन में महा-कोलाहल किया। उस स्थान पर 'महाकाल' (नामक) जीवहिंसा का निमित्तभूत कुतीर्थ उत्पन्न हुआ ॥१४०॥

भक्तिभाव से देवों ने सुगन्धित जल से सुन्दर वृष्टि कराई। वहाँ गन्धवती नामक नदी पृथिवी पर हुई ॥१४१॥"

दुःख की बात है कि प्रस्तुत वृत्तान्त का न तो दिगम्बरीय और न श्वेताम्बरीय साहित्य ही अभी तक सम्पूर्णतया हस्तगत हो पाया है। इसमें कुछ महत्त्व के प्राचीन साधन जान पड़ते हैं, जैसेकि:—

(१) भद्रेश्वर कृत 'कथावली', जो बारहवीं शताब्दी में या उससे पहिले रची हुई है, और जिसका उपयोग मात्र कुछ अवतरणिकाओं पर से किया जा सका (देखिए 'अपभ्रंश काव्यत्रयी', गायकवाड़ ओरियेण्टल सीरीज नं. ५७, श्रीयुत पंडित एल्० बी० गांधी की भूमिका पृ० ७४, नोट १; और 'सन्मतितर्क', पंडित श्री सुखलालजी संघवी और बेचरदासजी की भूमिका पृ० १८-१९)।

(२) 'सुकुमाल-चरित्र' (देखिए श्रीयुत् बनारसीदास जैन, पंजाब जैन-भंडारों के हस्तलिखित ग्रंथों की सूची, लाहौर, १९३९, पृ० १२२, नं० ३००५)।

(३) 'सिद्धसेन-कथा' (देखिए पाटण के जैन-भंडारों के सूचीपत्र, भाग १, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज नं० ७६ पृ० २८)।

(४) प्राकृत-बद्ध 'सिद्धसेन-चरित' (वहाँ ही पृ० १९४)।

उन सब ग्रंथों की पूरी साक्षी नहीं दी जा सकी।

उपलब्ध साधनों के आधार पर कहा जा सकता है कि श्री अवन्तिसुकुमाल के एक स्मारक-मन्दिर के विद्यमान होने और उसमें से महाकाल मन्दिर के उत्पन्न होने के सम्बन्ध में जो कुछ उल्लेख मिलते हैं, वे कतिपय श्वेताम्बर ग्रंथों तक ही परिमित ज्ञात होते हैं। इसका कारण एक तो यह हो सकता है कि जिन ग्रंथों के आधार पर प्रस्तुत दिगम्बर ग्रंथ रचे हुऐ हैं, वे (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) आराधना-साहित्य की कृतियाँ थीं, जिनका उद्देश पूर्वोक्त श्वेताम्बर ग्रंथों की भाँति औपदेशिक या व्याख्याकारक नहीं, किन्तु साधुमरण आदि से सम्बन्ध रखनेवाले क्रियाकाण्ड के विषय में दृष्टान्त-सहित सूचनाएँ ही देने का था। एक समाधिमरण विशेष के ऐसे एक दृष्टान्त ही के रूप में वहाँ (पइण्णों में जैसे) अवन्ति-सुकुमाल की मृत्यु मात्र के संक्षिप्त उल्लेख को स्थान दिया जा सका, नकि उसके पूरे विवरण को। इस कारण से श्री हरिषेण आदि दिगम्बर ग्रंथकारों को प्रस्तुत महात्मा के समाधि-मन्दिर के सम्बन्ध का कोई उल्लेख मूलग्रंथों में नहीं मिला होगा।

इसके अतिरिक्त उपर्युक्त ग्रंथकारों ने कदाचित् इस कारण से भी उसकी उपेक्षा की होगी कि सिद्धसेन दिवाकर (देखिए सन्मति-तर्क भूमिका पृ० १५९) एक श्वेताम्बराचार्य थे, और उक्त स्मारक मन्दिर की जो पार्श्वनाथ-प्रतिमा उनके प्रभाव से प्रादुर्भूत और पुनः प्रतिष्ठित हुई, वह एक महान् श्वेताम्बर तीर्थ का केन्द्र स्थान बन गई थी, जैसाकि आगे बताया जावेगा।

ऐसा भी हो सकता है कि उक्त मन्दिर कविकल्पनाशक्ति या लोकमनोगति की एक कृति थी, जिसको केवल श्वेताम्बर वृद्धपरम्परा में ही स्थान मिल गया। अवन्तिसुकुमाल की कहानी के भिन्न भिन्न रूपों में अनेक भिन्नताएँ इसी मनोगति के परिणामरूप विदित होती हैं। महामुनि की माता का नाम भद्रा, सुभद्रा और यशोभद्रा, उनके गुरू का नाम आर्य सुहस्ती गणधराचार्य और जिनसेन, उनके मन्दिर की बनानेवाली उनकी माता, उनका पिता और उनका पुत्र कथित हैं, इत्यादि उसके उदाहरण प्रत्यक्ष विद्यमान हैं। अतः उपर्युक्त शंका को भी यहाँ स्थान देना उचित है, परन्तु इसका निर्णय अब आगे अवन्तिसुकुमाल का वृत्तान्त सुननेवाले विक्रमादित्य की ओर तथा मूर्त्ति के प्रादुर्भाव के परिणाम की ओर कुछ ध्यान देने के पश्चात् किया जा सकेगा।

[४] **महाकालवन में कुडंगेश्वर जैन-तीर्थ**—जिस मूर्त्ति और उसके मन्दिर के इतिहास में पूर्वोक्त प्रकरणों में उतरना पड़ा, उसके प्रादुर्भाव के सम्बन्ध में पूर्वोल्लिखित दिगम्बरीय स्तोत्रों, श्वेताम्बरीय सज्झायों और 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में संक्षिप्त उल्लेख मात्र हैं।

शेष ग्रंथों में विवरण के साथ उस चमत्कार के दो परिणाम कथित हैं। पहिला परिणाम यह है कि राजा विक्रमादित्य जैनधर्मानुरक्त अथवा जैन ही बन गए।

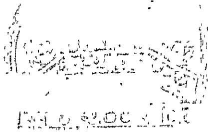
'प्रभावक-चरित' और 'सम्यक्त्व-सप्ततिका टीका' के अनुसार वे जैनधर्म में प्रतिबोध पाकर जैनधर्मानुरक्त हुए।

'प्रबन्ध-चिन्तामणि', 'प्रबन्ध-कोश', शुभशीलकृत 'विक्रम-चरित्र', तपाचार्य-कृत 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र-टीका' और 'विविध-तीर्थ-कल्प' में स्पष्ट कहा गया है कि श्रीविक्रमादित्य उस अवसर पर श्रावकों के बारह व्रत अंगीकार कर जैन बन गए।

संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य के श्रीसिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से जैन बनने के सम्बन्ध में श्वेताम्बरीय 'गुरु-पट्टावलियों' आदि सदृश ग्रंथों में भी स्पष्ट उल्लेख पाए जाते हैं। इतना ही नहीं, सुतराँ श्रीविक्रमादित्य द्वारा श्री सिद्धसेन दिवाकर के उपदेश से कराए गए जैन तीर्थों के जीर्णोद्धार, यात्रा, मन्दिर एवं मूर्त्ति-प्रतिष्ठा आदि धार्मिक कार्यों के विस्तृत वर्णन श्री रत्नशेखर सूरि कृत विधिकौमुदी* (ई० सन् १४५०), और उसके पश्चात् 'अष्टाह्निका-व्याख्यान'†

* श्राद्धविधि (की इस नाम की टीका), श्रीजैन आत्मानंद ग्रंथरत्नमाला नं० ४८, वि० सं० १९७४, पृ० १६५।

† श्रीआत्मानन्द ग्रंथ रत्नमाला, पृ. ७।



(ई० सन् १८१४) आदि ग्रंथों में भी मिलते हैं, जिनमें श्री विक्रमादित्य एक आदर्श जैन राजा के उदाहरण-रूप वर्णित हैं। श्री धर्मघोषसूरिकृत 'शत्रुञ्जय-लघु-कल्प'* (ईसा की तेरहवीं शताब्दी) में विक्रम का नाम शत्रुञ्जय तीर्थ का जीर्णोद्धार करानेवाले महाविभूतियों की नामावली के अन्तर्गत है। यथा :—

संपइ-विक्कम-बाहड-हाल-पलित्त-आम-दत्तरायाइ। जं उद्धरिहिंति तयं सिरि सत्तुंजय-महातित्थं ॥२९॥

अर्थात्—"वह महातीर्थ शत्रुञ्जय (जयवन्त हो) जिसका जीर्णोद्धार करनेवाले सम्प्रति, विक्रम, बाहड़, हाल, पादलिप्त, आम, दत्तराजा (आदि हुए हैं और) होंगे ॥२९॥"

बहुशंकित 'ज्योतिर्विदाभरण' (२२-९) † में भी संवत्सर-प्रवर्तक विक्रमादित्य का सम्बन्ध श्री सिद्धसेन दिवाकर के साथ उल्लिखित है, यदि मूल ग्रंथ का 'श्रुतसेन' (टीकाकार श्री भावरत्न के मतानुसार) सचमुच सिद्धसेन का नामान्तर है।

प्रस्तुत अवसर पर इस जैनहितैषी या तो जैन ही बने हुए विक्रमादित्य ने शिवलिंग से प्रादुर्भूत हुई प्रतिमा की पुनः प्रतिष्ठा कराई और इस मूर्त्ति की सेवा-पूजादि के लिए उदारतापूर्वक प्रबन्ध किया, वह पूर्वोक्त चमत्कार के दूसरे परिणाम-स्वरूप कथित है। यथा :—

(१) श्रीशुभशील-कृत 'विक्रमादित्यचरित्र' (७; ५५-५६) के अनुसार :—

महंकालाभिधे चैत्ये बिंबं पार्श्वजिनेशितुः। भूपतिः स्थापयामास पूजयामास चादरात् ॥
देवपूजाकृते ग्रामसहस्रं नृपतिर्ददौ।

अर्थात्—"महंकाल नाम के मन्दिर में राजा ने पार्श्वनाथ तीर्थंकर का बिम्ब स्थापित किया और आदर से उसकी पूजा की। देवपूजा के लिए नृपति ने हजार ग्राम दिए।"

(२) 'प्रबन्ध-कोश' (पृ० १९) के अनुसार :—

तच्छ्रवणान्नृपः शासने ग्रामशतान्यदत्त देवाय।

अर्थात्—"यह सुनकर राजा ने शासन द्वारा देव को सैकड़ों ग्राम दिए।"

(३) 'उपदेश-प्रासाद' (पृ० ६१) के अनुसार :—

एवं निशम्य तत्पूजार्थं ग्रामशतान्यदत्त विक्रमार्कः।

अर्थात्—"ऐसा सुनकर विक्रमार्क ने उसकी पूजा के लिए सैकड़ों ग्राम दिए।"

(४) विशेष महत्त्वपूर्ण श्री जिनप्रभ सूरि कृत 'विविध-तीर्थ-कल्प' (पृ० ८९) का निम्नलिखित उल्लेख जान पड़ता है :—

ततश्च गोन्हदमण्डले च सांबद्राप्रभृतिग्रामाणामेकनवतिं, चित्रकूटमण्डले वसाडप्रभृतिग्रामाणां चतुरशीतिं, तथा घुंटारसीप्रभृतिग्रामाणां चतुर्विंशतिं, मोहडवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणां षट्पञ्चाशतं श्रीकुडुंगेश्वर-ऋषभदेवाय शासनेन स्वनिःश्रेयसार्थमदात्। ततः शासनपट्टिकां 'श्रीमदुज्जयिन्यां, संवत् १, चैत्र सुदी १, गुरौ, भाटदेशीयमहाक्षपटलिक-परमार्हतश्वेताम्बरोपासकब्राह्मणगौतमसुतकात्यायनेन राजाऽलेखयत्।

अर्थात्—"तत्पश्चात् (राजा ने) अपने आत्म-कल्याण के लिए कुडुंगेश्वर ऋषभदेव को शासन द्वारा गोह्नद-मंडल में सांबद्रा आदि ९१ ग्राम, चित्रकूट-मंडल में वसाड आदि ८४ ग्राम तथा घुंटारसी आदि २४ ग्राम और मोहडवासक मंडल में ईसरोडा आदि ५६ ग्राम प्रदान किए।

पश्चात् राजा ने शासनपट्टिका (ग्राण्ट) उज्जैन में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १ गुरुवार को भाट देश निवासी महाक्षपटलिक (रेकॉर्ड के अध्यक्ष) परम-श्रावक, श्वेताम्बर-मत के अनुयायी ब्राह्मण गौतम-पुत्र कात्यायन द्वारा लिखवाई।"

---

* श्री शत्रुंजयादि महातीर्थादि यात्रा विचार, भावनगर, वि० सं० १९८५, पृ० १९३-२०८।

† महाकवि कालिदास विरचितं ज्योतिर्विदाभरणम् भावरत्नविरचित सुखबोधिकासमेतम्, पं० नारायणशर्मणा प्रकाशितं, मुंबई, ई० सन् १९०८।

उपर्युक्त स्थानों तथा प्रदेशों के नामों में से चित्रकूट, वसाड और घुंटारसी की कुछ चर्चा आगे की जायगी। गोन्हद कदाचित् गोधा और भाट देश जैसलमेर के आसपास का प्रदेश होगा (देखिए 'पृथ्वीचन्द्र चरित्र', गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज १३, पृ० ९४ तथा टॉड, 'राजस्थान' १, पृ० ४२ और ९५), इतना ही अनुमान किया जा सकता है। तथापि इन और शेष नामों के सम्बन्ध में खोज की आवश्यकता है।

शासनपट्टिका लिखानेवाले राजा को "श्री विक्रमादित्यदेवः" कहा जाता है और उनका निम्नलिखित विशेषण दिया जाता है :—

सर्वत्रानृणीकृतविश्वंविश्वम्भरांकितनिजैकवत्सरः।

अर्थात्—"जिसका एक ही निजी संवत्सर (चालू है जो) समस्त पृथ्वी को सर्वत्र ऋणरहित करने के कार्य से अंकित है।"

इसका तात्पर्य यही हो सकता है कि श्री जिनप्रभ सूरि के मतानुसार 'संवत्सर प्रवर्तक' विक्रमादित्य ने, श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रतिबोधित होकर अपने निजी संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैनधर्म अंगीकार किया और 'कुडुंगेश्वर ऋषभदेव' को उक्त ग्राम अर्पित किए।

यह उल्लेख स्पष्ट और विस्तृत है। इसलिए पूर्वोक्त तीन उल्लेखों को और उनकी विशेषताओं को कुछ देर के लिए छोड़कर सर्व प्रथम इसी चौथे उल्लेख पर ध्यान देना उचित है।

पहिले उसमें दिए हुए समयनिर्देश का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि विक्रम संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा का दिन गुरुवार कथित है। मेरी प्रेरणा से श्री आर० वी० वैद्य० एम्० ए०, बी० टी०, ज्योतिर्विद्यारत्न, सुपरिण्टेण्डेण्ट, श्री जीवाजी ऑब्जर्वेटरी, उज्जैन ने ज्योतिषशास्त्रानुसार गणित करने का कष्ट उठाकर इस बात का पता लगाया है कि विक्रम संवत् १ (अर्थात् ई० सन् ५६ बी० सी०) की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा गुरुवार (अथवा शुक्रवार) हो सकती है, यदि संवत् का आरंभ कार्तिक से माना जाय। इस रीति से विक्रम संवत् का प्रारंभ कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से गिनना प्राचीन जैनप्रणाली के अनुकूल है। इसका प्रमाण 'तित्थोगालीय-पइण्णय' में पाया जाता है (देखिए 'पट्टावली-समुच्चय', मुनि दर्शनविजय-संपादित, वीरमगाम, ई० सन् १९३३, १, परिशिष्ट ३, पृ० १९७), जिसके अनुसार वीर-निर्वाण-संवत्, जोकि कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा ही से प्रारम्भ होता है, और विक्रम-संवत् के बीच का अन्तर ठीक ४७० वर्ष है। आगे वीर-निर्वाण-संवत् और शालिवाहन-संवत् के बीच का अन्तर ६०५ वर्ष और ५ महीनों का कथित है। इसका तात्पर्य यह है कि 'तित्थोगालीय-पइण्णय' के संपादनकाल में अर्थात् ई० सन् की पाँचवीं शताब्दी के पहिले, जैनकालगणना के अनुसार विक्रम-संवत् कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा ही से और शालिवाहन-संवत् आज की भाँति चैत्र शुक्ल प्रतिपदा ही से प्रारम्भ हुआ करता था। इस रीति से उपर्युक्त समयनिर्देश अबाधित है।

तथापि कुछ अन्य बातों से प्रस्तुत विवेचन की प्रामाणिकता में शंका उत्पन्न होती है। उनमें 'चित्रकूटमंडल' का उल्लेख है। चित्रकूटमंडल में वसाड और घुंटारसी गाँव कथित हैं। दोनों गाँव आज भी प्रतापगढ़ के पास विद्यमान होने से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत चित्रकूट आज का चित्तौड़ ही हो सकता है। यह चित्तौड़ विक्रम संवत् ६०९ में बसाया गया और बसानेवाले चित्रांगद सोरिया से उसका नाम पड़ा (देखिए उपर्युल्लिखित 'पट्टावली-समुच्चय' १, पृ० २०२)। इससे उक्त चित्रकूटमंडल का विक्रम-संवत् १ में विद्यमान होना अशक्य है।

सन्देह का एक दूसरा कारण 'श्वेताम्बर' शब्द है, जोकि प्रस्तुत तीर्थकल्प में तीन बार, और विशेषतः उपर्युक्त शासनपट्टिका के लिखने को नियोजित अधिकारी के लिए प्रयुक्त है। वास्तव में 'श्वेताम्बर' शब्द का प्रयोग साहित्य में उस समय से हो सकता है जबकि जैन शासन दिगम्बर और श्वेताम्बर इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो चुका था, अर्थात् वीर-निर्वाण-संवत् ६०९ अथवा विक्रम-संवत् १३९ के पश्चात्। उससे विक्रम-संवत् १ में श्वेताम्बरोपासकों की विद्यमानता नहीं मानी जा सकती।

शंका का एक तीसरा स्थान 'श्री कुडुंगेश्वर-ऋषभदेव' शब्द है, जिसका शासनपट्टिका में भी प्रयुक्त होना कथित है। ऊपर इस बात का निर्णय किया जा चुका है कि जो जिनबिम्ब अवन्तिसुकुमाल के स्मारक मन्दिर में स्थापित था वह, 'विविध-तीर्थ-कल्प' को छोड़कर सभी अन्य ग्रंथों के एकमुखी साक्ष्य के अनुसार, श्री पार्श्वनाथ ही का था, और किसी लेखक के भ्रम से 'वामेय' का 'नाभेय' बना, जिस भ्रम के परिणामस्वरूप उक्त ग्रंथ में पार्श्वनाथ-बिम्ब का स्थान ऋषभदेव के बिम्ब ने लिया था। यदि प्रस्तुत वर्णन प्रामाणिक होता तो उसमें 'कुडुंगेश्वर ऋषभदेव' के स्थान पर 'कुडुंगेश्वर पार्श्वनाथ' ही का उल्लेख होना चाहिए था, यह निर्विवाद है।

शासनपट्टिका को छोड़कर भी प्रस्तुत तीर्थकल्प के अन्य स्थानों पर शंका के कारणों का अभाव नहीं है।

उनमें से एक यह है कि उसके एक पद्य में प्रस्तुत प्रतिमा को चारणमुनि श्री वज्रसेन के हाथ से प्रतिष्ठित बताया जाता है। यथा:—

श्वेताम्बरेण चारणमुनिनाचार्येण वज्रसेनेन। शक्रावतारतीर्थे श्रीनाभेयः प्रतिष्ठितो जीयात् ॥१॥

अर्थात्—"शक्रावतार तीर्थ पर श्वेताम्बर चारणमुनि आचार्य वज्रसेन द्वारा प्रतिष्ठित श्री ऋषभदेव जयवन्त हों।"

श्री वज्रसेन सूरि एक प्रसिद्ध श्वेताम्बर आचार्य थे जिनका देहान्त वीर-निर्वाण-संवत् ६२०, अथवा विक्रम-संवत् १५० में माना जाता है।* अर्थात् यदि प्रस्तुत पद्य यहाँ अपने मूलस्थान पर समझा जाय तो वह उपर्युक्त शासनपट्टिका के समयनिर्देश से बाधित है।

परन्तु इसी वृत्तान्त के सम्बन्ध के एक अन्य पद्य में मूर्त्ति की प्रतिष्ठा श्री सिद्धसेन दिवाकर ही का कार्य बताया जाता है। यथा:—

उद्व्यूढपाराञ्चितसिद्धसेन दिवाकराचार्यकृतप्रतिष्ठः। श्रीमान् कुडुंगेश्वरनाभिसूनुर्देवः शिवायास्तु जिनेश्वरो वः ॥१॥

अर्थात्—"श्रीमान् कुडुंगेश्वर ऋषभदेव जिनेश्वर जिनकी प्रतिष्ठा पाराञ्चित (नामक प्रायश्चित्त विशेष) उद्वाहन करनेवाले आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने की, तुम्हारा कल्याण करें ॥१॥"

इन दो उल्लेखों में यह अन्तर भी है कि दूसरे पद्य में दिया हुआ 'कुडुंगेश्वर' नाम दूसरे में नहीं पाया जाता है। इसलिए ऐसा माना जा सकता है कि पहिला पद्य अन्य सम्बन्ध का होकर किसी लिखनेवाले की भूल से किसी अन्य ग्रंथ में से उद्धृत किया गया होगा। कदाचित् उस पद्य में उल्लिखित 'शक्रावतारतीर्थ' और उज्जैन से विशेष सम्बन्ध रखनेवाला 'चक्रतीर्थ' इन नामों के सादृश्य के आभास से ऐसा हो पाया होगा। ऐसी दशा में सिद्धसेन दिवाकर को ही उक्त मूर्ति के प्रतिष्ठाता मानने में कुछ आपत्ति नहीं है। इससे उपर्युक्त संशय का भी निराकरण होता है।

अधिक चिन्तनीय है आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर और 'संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य' का समकालीन होना, जोकि पं० सुखलालजी और बेचरदासजी ने 'सन्मतितर्क' की भूमिका में संदिग्ध ही नहीं, असंभव बताया है (देखिए उसका अंग्रेजी अनुवाद, श्री जैन श्वेताम्बर एज्युकेशन बोर्ड, ई० सन् १९३३)। उक्त विद्वानों ने सिद्धसेन आचार्य का गुप्त-काल में होना अनुमान किया है। यद्यपि दोनों की समकालीनता का समर्थन उपर्युल्लिखित और अन्य प्राचीन जैन ग्रंथों द्वारा निश्चित रीति से किया जाता है, जिनमें विशेषतः गुरुपट्टावलियाँ भी हैं,—तथापि उक्त पण्डितों के प्रमाण महत्त्वपूर्ण और उनका कथन यथार्थ ज्ञात होता है। अर्थात् यदि श्री सिद्धसेन दिवाकर ने वास्तव में किसी एक विक्रमादित्य राजा को धर्मोपदेश दिया है तो वह केवल विक्रमादित्य पदवी से विभूषित कोई गुप्तवंशीय राजा या सम्राट् ही हो सकता है।

ऐसी वस्तुस्थिति में यह प्रश्न उठता है कि यदि इस रीति से श्री सिद्धसेन दिवाकर और संवत्सरप्रवर्तक विक्रमादित्य समकालीन ही नहीं थे, तो प्रस्तुत तीर्थकल्प के इतनी शंकाओं से बाधित विवरणों में कितना ऐतिहासिक तत्त्व माना जा सकता है?

---

* देखिए खरतर-गच्छ-पट्टावली-संग्रह, संग्राहक श्रीजिनविजयजी, कलकत्ता, सं० १९८८, पृ० १८; तथा धर्म-सागर-गणि-विरचित श्री तपागच्छपट्टावली, पट्टावलीसमुच्चय, संपादक मुनि श्रीदर्शनविजय, वीरंगाम, वि० सं० १९८९, पृ० ४८।

फिर भी उक्त कल्प के कर्त्ता निम्नलिखित शब्दों में पाठकों से विश्वास की माँग करते हैं कि :—

कुडुंगेश्वरनाभेयदेवस्यानल्पतेजसः। कल्पं जल्पामि लेशेन दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम् ॥२॥

अर्थात्—"शासनपट्टिका को देखकर मैं महान् तेजस्वी कुडुंगेश्वर नाभेयदेव के कल्प को संक्षेप में कहूंगा।"

प्रस्तुत शब्द उस महान् जैनाचार्य श्री जिनप्रभ सूरि के हैं जिन्होंने दिल्लीश्वर सुलतान मुहम्मद तुगलक को प्रतिबोध देकर जैनधर्म-हितैषी बनाया और उस बादशाह के हाथ से अहिंसाधर्म के अनेक कार्य कराए (देखिए पं० श्री लालचन्द्र गांधी, 'श्री जिनप्रभ सूरि अने सुलतान महम्मद', श्री सुखसागर–ज्ञानबिन्दु नं० ३५, लोहावट, ई० सन् १९३९)। ऐसे महापुरुष के वचन की प्रामाणिकता में सन्देह करना उचित कैसे समझा जा सकता है ? अतः यह बात अवश्य सत्य माननी पड़ेगी कि श्री जिनप्रभ सूरिजी ने उपर्युल्लिखित आशय की एक शासनपट्टिका (चाहे वह शिलालेख हो या ताम्रपत्र) देखी थी। परन्तु उन्होंने उसके सम्बन्ध के शब्दों को स्मृति से लिखा और वृद्ध-परम्परा के मौखिक संस्मरणों के आधार पर बढ़ाया भी होगा। ऐसा मानने में इस कारण से कुछ आपत्ति नहीं है कि प्रस्तुत कल्प के अन्तिम पद्य में स्पष्टता से कहा गया है कि :—

कुडुंगेश्वरदेवस्य कल्पमेतं यथाश्रुतम्। रुचिरं रचयां चक्रुः श्रीजिनप्रभसूरयः ॥१॥

अर्थात्—"कुडुंगेश्वर देव का यह सुन्दर कल्प श्री जिनप्रभ सूरि ने जैसा सुना वैसा रचा ॥१॥"

इससे विदित है कि श्री जिनप्रभ सूरि ने प्रस्तुत तीर्थ को अति प्राचीन इतिहास की एक आदरणीय वस्तु समझकर और उसकी तत्कालीन विद्यमानता का प्रश्न छोड़कर उसके सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों के संग्रह-रूप में अपना कल्प रचा है। यह इससे भी स्पष्ट है कि उस समय में विद्यमान जैनतीर्थ स्थानों की सूची में (जैसाकि पहिले बताया जा चुका है) कुडुंगेश्वर तीर्थ का नाम नहीं है। ऐसी स्थिति में यह समझा जा सकता है कि उपर्युक्त समयनिर्देश इत्यादि बाधित बातें ऐसी किंवदन्तियों के आधार पर प्रस्तुत 'तीर्थकल्प' में प्रविष्ट हो पाई होंगी।

अथवा यह भी अशक्य नहीं है कि जो शासनपट्टिका श्री जिनप्रभ सूरि ने देखी वह विक्रम संवत् के उल्लेखों से अंकित पीछे के समय में लिखे हुए नकली शिलालेख, ताम्रपत्र आदि में से एक थी जो कभी कभी हस्तगत होते हैं।

फिर भी यह निर्विवाद है कि जिस कुडुंगेश्वर देव का अवलम्बन कर ऐसे आशय की एक जाली शासनपट्टिका बनाई जा सकी और जिसके सम्बन्ध में वृद्ध-परम्परा के ऐसे संस्मरण प्रचलित हो सके उस कुडुंगेश्वर देव का नाम किसी समय में एक प्रसिद्ध वस्तु और उसका मन्दिर एक महिमा-संयुक्त जैन तीर्थस्थान अवश्य था।

इस बात का समर्थन 'प्रबन्धचिन्तामणि' के अन्तर्गत 'कुमारपाल-प्रबन्ध' (पृ० ७८) के एक वृत्तान्त से भी होता है। उसके अनुसार गुजरात के भावी राजा कुमारपाल वर्तमान राजा सिद्धराज के भय से भागते फिरते हुए मालव देश में 'कुडंगेश्वर' के मन्दिर में आते हैं। उस कुडंगेश्वर के मन्दिर में वे वहाँ की 'प्रशस्तिपट्टिका' में इस आशय का एक पद्य पढ़ते हैं कि विक्रम से ११९९ वर्ष पश्चात् स्वयं कुमारपाल ही विक्रम के सदृश एक राजा होंगे।

उक्त पद्य अन्य अनेक ग्रंथों से भी ज्ञात है। मूल से उसमें श्री सिद्धसेन दिवाकर श्री विक्रमादित्य का सम्बोधन करते हुए कल्पित हैं।

'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' में (पृ० ३८ तथा १२३) भी कुमारपाल का यह वृत्तान्त कथित है। परन्तु वहाँ कुडंगेश्वर के स्थान पर 'कुण्डिगेश्वर' और 'कुण्डगेश्वर' ये ही विकृत रूप पाए जाते हैं और उपर्युक्त पद्य सिद्धसेन-कथित ही बताया जाता है।

कुडंगेश्वर नाम के ये उल्लेख भी (उनके ऐतिहासिक मूल्य का प्रश्न छोड़कर) कुडंगेश्वर जैन तीर्थ की विद्यमानता की एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि समझे जा सकते हैं।

[५] **कुडंगेश्वर महादेव**—उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार जिस कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर में से यह कुडंगेश्वर जैनतीर्थ उत्पन्न हुआ, और जिस कुडंगेश्वर महादेव के नाम से 'कुडंगेश्वर ऋषभदेव' या हमारी कल्पना के अनुसार 'कुडंगेश्वर पार्श्वनाथ' का नाम पड़ा, वह देव कौन था, यह ज्ञात हो जाने पर प्रस्तुत विषय पर कदाचित् प्रकाश पड़ेगा। ऐसी आशा से अब इस नाम का कुछ निरीक्षण करना उचित होगा।



जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

'कुडंगेश्वर' या 'कुडुंगेश्वर' एक संस्कृत समास है, जिसका पूर्व भाग ('कुडंग' या 'कुडुंग') 'अमरकोश' और अन्य संस्कृत कोशों में 'कुडंग' रूप में पाया जाता है। अर्थात् वही रूप (न कि कुडुंग) समीचीन है। 'कुडंग' वास्तव में एक प्राकृत शब्द है जिसको श्री हेमचन्द्राचार्य ने अपनी 'देशीनाममाला' में (२, ३७: एम्० बेनरजी द्वारा सम्पादित, कलकत्ता ई० सन् १९३१, भाग १, पृ० ७०) देशी शब्दों में गिना और उसका अर्थ 'लतागृह' बताया है। पाइयसद्दमहण्णवो-कोश के अनुसार 'कुडंग' के विविध अर्थान्तरों का समावेश 'लता आदि से ढँका हुआ स्थान', 'जंगल', 'कुञ्ज' आदि में होता है। इसके अतिरिक्त प्राकृत में 'कुडंगा' और 'कुडंगी' भी विद्यमान हैं, जिनमें से 'कुडंगा' का अर्थ 'लताविशेष' और 'कुडंगी' का अर्थ 'बाँस की जाली' उक्त कोश में बताया जाता है। इन तीन शब्दों में से 'कुडंग' शब्द ही का उपयोग उपर्युक्त समास में, और उसके अतिरिक्त, स्वतन्त्र रूप में भी श्री अवन्तिसुकुमाल के मरण-स्थान के वर्णन में किया गया है। यथा :—

(१) 'बाहि वंसकुडंगे', अर्थात् 'बाहर बाँस के जंगल में' ('मरणसमाहि-पइण्ण')।

(२) 'मसाणे कंथारकुडंगं', अर्थात् 'श्मशान में कंथारों (एक थोहर विशेष जिसको गुजराती में अभी भी 'कंथारी' कहा जाता है) का जंगल' ('आवश्यकचूर्णि' और 'वृत्ति')।

(३) 'कंथारिकुडंगसमीवे', अर्थात् 'कंथारों के जंगल के पास' ('दर्शनशुद्धि')।

(४) 'कंथारकुडंगाख्यं श्मशानमेत्य', अर्थात् 'कंथारकुडंग नाम के श्मशान में जाकर' ('प्रबन्ध-कोश')।

इस चौथे उल्लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि 'कंथारकुडंग' उज्जैन के इस श्मशान का एक विशेष नाम था। वह स्थान प्राचीन काल में 'कंथारों' से ढँका हुआ था, जिस पर से यह नाम पड़ने का अवसर प्राप्त हो सका था। ऐसे आशय के अन्य उल्लेख भी उपलब्ध हैं जैसेकि 'आवश्यक-कथाओं' का 'कंथारिवन' और 'कुमारपालप्रतिबोध' का (अनुवादित) 'कंथारीवन की वंसजाली'।

यह बात इससे भी सत्य प्रतीत होती है कि ऐसे 'कंथार' नामक थोहर के गहरे जंगल कुछ वर्ष पहिले भी उज्जैन के आसपास फैले हुए थे, ऐसा उज्जैन निवासियों को स्मरण है। सम्भव है कि उक्त 'कंथारवन' या 'कंथारकुडंग' एक समय श्री अवन्तिसुकुमाल के समाधिस्थान, अर्थात् गंधवती घाट के आसपास के प्रदेश से उत्तर में 'सती दरवाजे' तक या उससे और भी दूर तक एकसा फैला हुआ था, और कदाचित् आधुनिक 'कंठाल मुंहल्ले' का नाम उसकी स्मृति का एक अवशेष हो।

इसी विशाल 'कंथारवन' अथवा 'कंथारकुडंग' में श्री अवन्तिसुकुमाल के समाधिस्थान पर इस महात्मा का स्मारक-मन्दिर बनाया गया था, ऐसा उपर्युल्लिखित साहित्य से विदित है।

उसी साहित्य से यह भी विदित है कि जिस समय श्री विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर महाकालवन में आए, उस समय यह स्मारक-मन्दिर हिन्दुओं के अधिकार में आकर एक हिन्दू मन्दिर बन गया था, जिसमें 'कुडंगेश्वर महादेव' का लिंग स्थापित किया गया था।

इस 'कुडंगेश्वर' का सबसे प्राचीन उल्लेख 'मरणसमाहि-पइण्ण' में उपलब्ध है, जहाँ श्री अवन्तिसुकुमाल का मृत्युस्थान 'कुडंगीसरट्ठाणं' प्राकृत शब्द से वर्णित है (देखिए पूर्वोक्त अवतरणिका)।

इसके पश्चात् उक्त नाम 'कथावली' में पाया जाता है, जहाँकि प्राकृत 'कुडंगेसर' साफ साफ उस हिन्दू मन्दिर के लिए प्रयुक्त है जहाँ श्री विक्रमादित्य और सिद्धसेन का मिलाप हुआ।

उसी मन्दिर के नामस्वरूप संस्कृत 'कुडंगेश्वर' उपर्युक्त 'विविध-तीर्थ-कल्प' की कुछ प्रतियों में, 'प्रभावक-चरित्' में, और 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' में, तथा 'कुडुंगेश्वर' 'विविध-तीर्थ-कल्प' की अन्य प्रतियों में उपलब्ध है।

इन ग्रंथों के अनुसार इसी कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर में अवन्तिसुकुमाल के समय की तीर्थंकर-प्रतिमा निकली और 'कुडंगेश्वर नाभेय', या हमारी कल्पना के अनुसार 'वामेय', आदि नामों से फिर जैनियों से पूजित हुई, जैसाकि पहिले ब्यौरेवार बताया जा चुका है। अस्तु।

उपर्युक्त कुल बातें जैनग्रंथों ही के आधार पर कथित हैं। यदि उनके लिए अन्य साहित्य के भी कुछ प्रमाण दिये जा सकेंगे तो उनकी प्रामाणिकता अधिक मान्य समझी जा सकेगी। यह विशेषतः कुडंगेश्वर महादेव के अस्तित्व के विषय में उचित है, जो एक राज-पूजित हिन्दू-देवता बताया जाता है। इसका पता हिन्दू साहित्य से लगाने का प्रयत्न अब किया जायगा।

[६] कुटुम्बेश्वर महादेव—'विविध-तीर्थ-कल्प'-अन्तर्गत और पहिले बारंबार उल्लिखित 'कुडुंगेश्वर-कल्प' में 'कुडुंगेश्वर' शब्द छह बार आया है। मुनि श्री जिनविजयजी ने इस शब्द के केवल 'कुडुंगेश्वर' और 'कुडंगेश्वर' ये ही दो पाठान्तर दिए हैं। परन्तु 'अभिधानराजेन्द्र-कोश' में ('कुडुंबेसर' शब्द के नीचे) उक्त कल्प का जो रूप पाया जाता है उसमें उनके स्थान पर छह ही बार 'कुटुंबेश्वर' यह पाठान्तर है। यद्यपि उक्त कोश के सम्पादक महाशय ने इस बात का स्पष्टीकरण नहीं किया है कि यह तीर्थकल्प कौनसी प्रति से उद्धृत किया गया है, तथापि अनुमान किया जा सकता है कि उनको ऐसी कोई प्रति हस्तगत हुई होगी जिसका उपयोग मुनिश्री अपने सम्पादनकार्य में न कर पाए होंगे।

उक्त तीन रूपों में से 'कुडुंगेश्वर' और 'कुडंगेश्वर' हिन्दू साहित्य में अब तक सर्वथा अप्रसिद्ध हैं, जबकि 'कुटुंबेश्वर' शब्द 'स्कन्दपुराण' के 'अवन्तिखण्ड' में तीन भिन्न भिन्न स्थानों पर नीचे के अनुसार उल्लिखित हैं:—

(१) १.१०, पद्य १-१० (वेंकटेश्वर प्रेस एडिशन पृ० १४ ब) :—वहाँ कुटुम्बेश्वर महादेव के दर्शन का फल बताया जाता है।

(२) १.६७, पद्य १-२५ (पृ० ७२ ब) :—वहाँ भक्तों के 'कुटुंबी', अर्थात् बड़े-परिवार-युक्त हो जाने से 'कुटुंबेश्वर' शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ (यौगिक अर्थ) बताया और कुटुंबेश्वर महादेव के मन्दिर का वर्णन किया जाता है। इसके अनुसार वहाँ एक चतुर्मुख लिंग, 'भद्रपीठधरा देवी भद्रकाली' अर्थात् 'सिंहासन पर बिराजमान भद्रकाली देवी', तथा एक पाँव से लँगड़े भैरव क्षेत्रपाल विद्यमान थे।

(३) २.१५, पद्य १-४१ (पृ० ९१ अ) :—वहाँ समुद्रमन्थन से लेकर उक्त लिंग का कल्पित इतिहास दिया जाकर ऐसी घटना का विस्तृत वर्णन है कि कामेश्वर लिंग से उत्पन्न हुआ कुटुंबेश्वर लिंग, आरंभ से एक विषलिंग और मृत्युदायक होकर महादेव के वरदान से और लकुलीश के उसमें अवतार लेने से वृद्धिकारक बन गया है।

कुटुंबेश्वर महादेव का मन्दिर आज भी गन्धवती घाट के पास उज्जैन के उस भाग में विद्यमान है, जो सिंहपुरी नाम से प्रसिद्ध है। वह शिखर-युक्त, परन्तु छोटा है, और उसका एक कमरा मात्र है। उसमें दरवाजे से लेकर सामने की दीवार तक एक पंक्ति में तीन लिंग स्थापित हैं, जिनमें से बीच का लिंग पुराण के वर्णन के अनुसार सचमुच चतुर्मुख है, अर्थात् उसे ही 'कुटुंबेश्वर' समझना चाहिए। परन्तु पुराणोक्त 'भैरव क्षेत्रपाल' और 'भद्रपीठधरा भद्रकाली देवी' के नाम निशान तक नहीं दिखते हैं। दरवाजे के सामने की दीवार के पास गणपति के एक उभरे हुए चित्र से शोभित एक नीचा खंभा और ऊपर झरोके में चार हाथवाली खड़ी हुई पार्वती का एक उभार-चित्र है, जो केवल थोड़े वर्ष पहिले बनाया हुआ दिखता है। देवी के आगे के दोनों हाथों में लिंग-योनि, पीछे के दाहिने हाथ में एक सुराही और पीछे के बाएँ हाथ में एक बिल्व-पत्र है। बाँई दीवार के ऊपर के कोने में एक साढ़े पाँच फुट ऊँचा और डेढ़ फुट चौड़ा शिलापट्ट जड़ा हुआ है, जिस पर उत्कीर्ण छोटी मूर्त्तियाँ 'चौरासी महादेव' के नाम से पूजी जाती हैं।

पुराण-सम्पादनकाल से कुटुंबेश्वर महादेव के परिवार में इतना परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हुए भी उक्त महादेव का मृत्यु के साथ सम्बन्ध रखना अभी भी यहाँ तक माना जाता है कि किसी हिन्दू कुटुंब में कोई अवसान होने के पश्चात् मृत के कुटुंबजन शुद्धिकरण के लिए उनका दर्शन करने को आते हैं, ऐसा उज्जैन के सुप्रसिद्ध ज्योतिषी और पुरातत्त्ववेत्ता श्री सूर्यनारायणजी व्यास महाशय से ज्ञात हुआ है।

इस 'कुटुंबेश्वर महादेव' और जैनग्रंथों के 'कुडुंगेश्वर महादेव' का सम्बन्ध निकालने का अधिकार केवल स्थान के साम्य और नामों के सादृश्य (विशेषतः प्राकृत में 'कुडुंगेसर'-'कुडुंबेसर'), या उक्त प्रति के अनुसार नामाभेद ही पर निर्भर नहीं है। किन्तु दोनों का कुछ ऐतिहासिक सम्बन्ध होना ही चाहिए, इस अनुमान को उपर्युक्त 'चौरासी महादेव' के शिलापट्ट से भी पुष्टि प्राप्त होती है। उस शिलापट्ट पर उत्कीर्ण मूर्त्तियों का निरीक्षण करने पर ज्ञात होता है कि वे न तो चौरासी हैं और न महादेव ही की मूर्त्तियाँ हैं। ऊपर से नीचे तक गिनकर मूर्त्तियों की २० अथवा २१ पंक्तियाँ हैं। शिलापट्ट का नीचे का किनारा इतना जीर्ण हो गया है कि सब से नीचे की पंक्ति के स्थान पर सचमुच मूर्त्तियों की एक पंक्ति अथवा कोई शिलालेख आदि विद्यमान था, इस बात का निर्णय नहीं किया जा सकता है। ऊपर की ९ तथा नीचे की ९ पंक्तियों में (सबसे नीचे की संदिग्ध पंक्ति को छोड़कर) ९-९ छोटी मूर्त्तियाँ विराजमान हैं। मध्यभाग की दो पंक्तियों में मात्र ३-३ मूर्त्तियाँ

हैं, जिनसे घेरी हुई एक बड़ी मूर्ति शिलापट्ट के केन्द्रस्थान पर विराजमान है। इस मूर्त्ति के सिर पर एक ५ या ७ फणवाले सर्प का आकार अस्पष्ट रीति से दिखता है। इस रीति से मूर्त्तियों की कुल संख्या १७५, अथवा यदि २१ पंक्तियाँ समझी जाँय तो १८४ है। सब पद्मासनासीन और शिल्पशास्त्र के नियमानुसार सिद्ध या तीर्थंकरों की मूर्त्तियाँ हैं। केन्द्रस्थ बड़ी मूर्त्ति सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्व अथवा तेईसवें श्री पार्श्वनाथ की हो सकती है।

इसी आकार के और ऐसी ही उत्कीर्ण मूर्त्तियों से सजाए हुए शिलापट्ट आज भी जैन शिल्पकला की उस निर्मिति में देखे जा सकते हैं, जिसका एक उदाहरण 'सहस्रकूट' नाम से प्रसिद्ध है। वह 'सहस्रकूट' शत्रुंजय जैन तीर्थ में 'पाँच पाँडवों की देरी' के पिछवाड़े के एक छोटे मन्दिर में विद्यमान है (देखिए एस्०एम्० नवाब, 'भारत नां जैन तीर्थो', अमदावाद, ई० सन् १९४२, पृ० ३३, चित्र नं० ७० और नोट)। वह श्वेत संगमरमर की, वैसेही चार शिलापट्टों की एक निर्मिति है, जिसका नोकदार शिखर इसी शैली के छोटे शिलापट्टों से बनाया हुआ है। उक्त सहस्रकूट पर उत्कीर्ण मूर्त्तियों की कुल संख्या (शिखर की मूर्त्तियों सहित) १०२८ है। सम्भव है कि कुटुंबेश्वर महादेव के मन्दिर का शिलापट्ट वैसे ही एक 'सहस्रकूट' के नीचे के भाग की चारों दीवारों में से एक है। उसकी बाह्य आकृति से यही अनुमान ठीक जँचता है।

फिर ऐसी निर्मिति का वहाँ क्या मूल प्रयोजन था और उसका आगमन श्री कुटुंबेश्वर महादेव के मन्दिर में कहाँ से और कैसे हुआ, ये प्रश्न उठते हैं।

मूलतः ऐसी शिल्प-कृतियाँ किस उद्देश्य से बनाई जाती थीं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। इतना ही स्पष्ट है कि उनका आकार अवश्य तक्षशिला आदि के छोटे बौद्ध-स्तूपों का स्मरण कराता है। इसलिए वे भी कदाचित् आरम्भ में मुनि-महात्माओं के स्तूप, अर्थात् स्मारक-विशेष थे, ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

यदि यह कल्पना मान्य हो और कुडंगेश्वर महादेव का सम्बन्ध कुटुंबेश्वर महादेव के साथ जोड़ा जाना उचित समझा जाय तो प्रस्तुत शिलापट्ट को श्री अवन्तिसुकुमाल मुनि के समाधिस्तूप का अवशेष मानने में क्या आपत्ति है, इस अनुमान का कुछ समर्थन शिलापट्ट की केन्द्रस्थ, फणयुक्त मूर्त्ति से होता है, यदि उसे श्री पार्श्वनाथ ही की समझी जाय, जिसका सम्बन्ध उक्त स्मारक के साथ अनेक ग्रंथों में कथित है (देखिए ऊपर की अवतरणिकाएँ)। तथापि उसके अतिरिक्त एक स्वतन्त्र पार्श्वनाथ प्रतिमा भी उक्त स्मारक-स्तूप के पास स्थापित थी और स्तूप तथा प्रतिमा दोनों एक भव्य मन्दिर में स्थित थे, ऐसा भी उक्त साहित्य से समझा जा सकता है।

यह स्मारक मन्दिर श्री अवन्तिसुकुमाल की माता भद्रा या सुभद्रा, अथवा उस भद्रा या सुभद्रा के पौत्र के हाथ का (कहीं मुनि के पिता या पत्नियों के हाथ का भी) बनाया हुआ कथित है जिनकी समृद्धि अपार थी। कदाचित् इन बनानेवालों ने प्राचीन जैन स्थापत्य की प्रणाली और मथुरा के जैन पुरातत्त्व के प्राचीन अवशेषों के उदाहरणों के अनुरूप अपना (या अवन्तिसुकुमाल के पुत्र ने अपनी पितामही का इत्यादि) कोई स्मारक-चिह्न प्रस्तुत मन्दिर में बनवाया हो। फिर ऐसा क्यों नहीं माना जाय कि 'स्कन्दपुराण' के 'अवन्तिखण्ड' में उल्लिखित और एक समय में कुटुंबेश्वर के मन्दिर में विद्यमान 'भद्रपीठधरा भद्रकाली देवी' का चित्र मूलतः उक्त 'भद्रा' ही का स्मारक-चिह्न था? यह कल्पना इस कारण से कुछ सुसंगत है कि हिन्दुओं की 'भद्रकाली देवी' का रूप शिल्पशास्त्र के नियमानुसार विकराल ही है, और उनके लिए 'भद्र-पीठधरा' के विशेषण का प्रयोग देखने से आश्चर्य उत्पन्न होता है (देखिए हिन्दूशिल्पशास्त्र के सम्बन्ध में श्री एस्० श्रीकंठ शास्त्री का निबन्ध क्वार्टर्ली ऑफ दी मिथिक सोसायटी ३४, २-३ में, पृ० १८३ आदि)। इसके अतिरिक्त, जिस स्थान पर १७५ (या १८४) तीर्थंकर प्रतिमाओं के '८४ महादेव' बन सके, उसी स्थान पर यह परिवर्तन भी संभाव्य समझा जा सकता है।

[७] मुनि-स्मारक-मन्दिर के इतिहास का सारांश—

पूर्वोक्त विवेचन से निम्नलिखित घटना-शृंखला का अनुमान किया जा सकता है :—

ईसा के पूर्व किसी समय में गन्धवती के पास वर्तमान सिंहपुरी के अन्दर, श्री अवन्तिसुकुमाल मुनि का स्मारक-मन्दिर विद्यमान था, जिसमें मुनि का स्तूप और श्री पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा स्थापित थी। आसपास श्मशानभूमि और निर्जन जंगल होने के कारण जैनियों ने मूर्त्ति की पूजा-सेवा की उपेक्षा की। स्तूप खंडित और मन्दिर उजाड़ पड़ा रहा।

उसमें (कदाचित् कुछ जीर्णोद्धार या अन्य परिवर्तन करते हुए) हिन्दुओं ने श्मशानों के अधिष्ठाता के उपलक्ष्य में एक लिंग स्थापित किया। तीर्थंकर-प्रतिमा लुप्त हो गई। मन्दिर हिन्दू-मन्दिर बना। स्थान के आधार पर उसको 'कुडंगीसर' या 'कुडंगेश्वर', अर्थात् 'गहरे जंगल का ईश्वर' यह नाम चल पड़ा। इस कुडंगेश्वर महादेव के मन्दिर में किसी एक उदार विचारवाले, 'विक्रमादित्य' की उपाधि धारण करनेवाले गुप्त सम्राट् के समय और उपस्थिति में श्री सिद्धसेन दिवाकर का आगमन और प्राचीन पार्श्वनाथ-प्रतिमा का प्रादुर्भाव—चाहे चमत्कारिक या प्राकृतिक रीति से—हुआ। उक्त प्रतिमा 'कुडंगेश्वर-पार्श्वनाथ' के नाम से पुनः प्रतिष्ठित होकर एक जैनतीर्थ का केन्द्र बनी, जिसकी उपासना के लिए राज्य की ओर से कुछ गाँव प्रदान किए गए।

पश्चात् उक्त मन्दिर फिर हिन्दुओं के हाथ में आया। कुडंगेश्वर नाम उसके साथ जुड़ा हुआ तो था परन्तु उस नाम को व्युत्पत्त्यर्थ की दृष्टि से कल्पनाशक्ति के अधिक अनुकूल बनाने के उद्देश्य से, जिस न्याय से 'करण' का 'कर्ण', 'सिप्रि' की 'शिवपुरी', 'नाचिकेतम्' का 'नासकेत', 'तैलंग' का 'त्यक्तलंक' इत्यादि कृत्रिम रूपान्तर गढ़े गए, उसी न्याय के अनुसार वह रूप मिटाया जाकर 'कुटुम्बेश्वर' शब्द बनाया गया, जो पुराण में (जैसा ऊपर बताया जा चुका है) प्रयुक्त होकर आज तक प्रचलित है।

इस मन्दिर की उत्पत्ति और प्रारम्भिक इतिहास का वृत्तान्त जैन साहित्य में और मध्यकालीन स्थिति का वर्णन पुराण में उपलब्ध रहा। फिर भी इतनी शताब्दियों के क्रम में उसका नाश, जीर्णोद्धार, धर्म-परिवर्तन, और कदाचित् स्थानान्तर भी कितने बार और कब-कब हुए, इन रहस्यों की रक्षिका सिंहपुरी, गन्धवती घाट और महाकालेश्वर मन्दिर की सीमा के अन्तर्गत भूमि ही है, जहाँ कभी खोदने पर कदाचित् किसी दिन उस पर प्रकाश पड़ेगा।

मन्दिर का आधुनिक आकार पेशवा या सिंधिया काल से अधिक प्राचीन नहीं हो सकता। वह उसके छज्जे में जड़े हुए एक शिलालेख से देखा जा सकता है, जो एक टूटी हुई इमारत का एक भग्नावशेष जान पड़ता है। इस शिलालेख के अनुसार वह इमारत संवत् १७८२ में बनाई गई या उसका जीर्णोद्धार कराया गया था। इस इमारत के खंडित होने के पश्चात् कुटुंबेश्वर मन्दिर के अन्तिम जीर्णोद्धार के प्रसंग पर वह शिलालेख '८४ महादेव' के पूर्वोक्त शिलापट्ट के साथ खंडहरों में से निकाला जाकर दोनों वस्तुओं को अपने-अपने आधुनिक स्थान में जड़ाया गया होगा। उसी समय से उक्त शिलापट्ट उसी मन्दिर में आतिथ्य भोगने लगा होगा, जिसके मूल-मन्दिर के केन्द्रस्थान में वह एक बार महात्मा के स्तूप की एक दीवार था। कदाचित् स्तूप के शेष भाग और भद्रकाली या भद्रा श्राविका का चित्र भी किसी दिन इसी भाँति प्रादुर्भूत होकर दर्शन देंगे।

[८] **मुनि-स्मारक और महाकाल**—मुनि-स्मारक-मन्दिर और उसमें से उत्पन्न हुए मन्दिरों के इतिहास की उपर्युक्त रूपरेखा के आधार मुख्य करके 'मरणसमाहि-पइण्ण', भद्रेश्वर-कृत 'कथावली' (परंतु वह केवल कुछ अंश से), प्रभाचन्द्र-कृत 'प्रभावक-चरित', और जिनप्रभ-सूरि-कृत 'विविध-तीर्थ-कल्प', इतने ही ग्रंथ हैं, जिनमें 'कुडंगेश्वर' नाम विविध रूप धारण करता हुआ, प्रस्तुत सम्बन्ध में प्रयुक्त है।

वह नाम श्री हरिषेण-कृत 'बृहत्कथा-कोश' आदि दिगम्बर-ग्रंथों में नहीं पाया जाता है। हरिषेण के एक पद्य (२४२) के अनुसार मुनि का समाधिस्थान 'महाकालवन' में और एक दूसरे पद्य (२६०) के अनुसार उसी महाकालवन में आई हुई 'गन्धवती नदी' और 'कलकलेश्वर मन्दिर' के पास, और श्रीनेमिदत्त के अनुसार 'गन्धवती' नदी और 'महाकाल' के पास था (देखिए ऊपर की अवतरणिकाएँ)। परन्तु वे सब स्थान 'कंथारिकावन' में विद्यमान होने से उपर्युक्त इतिहास इन उल्लेखों से बाधित नहीं होता है।

बाधा तो कुछ श्वेताम्बर ग्रंथकारों के इस आशय के कथन में विदित होती है कि श्री अवन्तिसुकुमाल का स्मारक-मन्दिर हिन्दुओं से ग्रहण किए जाने के पश्चात् महाकाल ही का मन्दिर बना। ऐसे उल्लेख श्री जिनदास गणि महत्तर, श्री हरिभद्र सूरि, 'आवश्यक कथाओं' और 'दर्शन शुद्धि' के कर्ता, श्री हेमचन्द्राचार्य, श्री सोमप्राचार्य, श्री राजशेखर सूरि, श्री मेरुतुंगाचार्य, श्री तपाचार्य, 'पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह' के कर्ता, श्री शुभशील गणि, श्री विजयलक्ष्मी सूरि, और श्री संघतिलक सूरि की कृतियों में से उद्धृत किए जा चुके हैं (ऊपर देखिए)।

इसके अतिरिक्त, 'आवश्यक-कथाओं', 'दर्शन शुद्धि'; श्री हेमचन्द्राचार्यकृत 'परिशिष्टपर्वन्', श्री सोमप्रभसूरि कृत 'कुमारपाल-प्रतिबोध', श्री मेरूतुंगसूरि-कृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि', श्री राजशेखर सूरि कृत 'प्रबन्धकोश', और श्री शुभशील गणि कृत 'विक्रमचरित्र' तथा 'भरतेश्वर-बाहुबलि-वृत्ति' में यह और भी कथित है कि 'महाकाल' शब्द स्वयं ही श्री अवन्तिसुकुमाल के 'महान् काल', अर्थात् 'महान् मृत्यु' पर से बन गया है (देखिए ऊपर दी हुई अवतरणिकाएँ)।

प्रथमत: इन दो बातों में से इस शब्दव्युत्पत्ति का निराकरण करना अधिक सरल है, क्योंकि वह इस कारण से देखते ही असंभाव्य ज्ञात होती है कि एक तो 'महाकाल' शब्द महादेव के एक नामान्तर के रूप में जैनागम में भी प्रयुक्त है। वह महाकाल श्मशान-भूमि का अधिष्ठाता होने से इसी के नाम से महाकालवन का नाम उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

इसके अतिरिक्त 'महाकालवन' शब्द स्वयं भी जैनागम के अन्तर्गत 'अन्तगदसाओ' नामक ग्रंथ में (३.८) विद्यमान है, जहाँ श्रीकृष्ण के समकालीन बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ के समय की द्वारका नगरी का श्मशान इस नाम से वर्णित है। यदि श्रीकृष्ण और श्री नेमिनाथ के अति प्राचीन समय की द्वारका नगरी के पास 'महाकालवन' नामक एक श्मशान का विद्यमान होना कथित है, तो उज्जैन के 'महाकालवन' के नाम की व्युत्पत्ति वीर-निर्वाण के पश्चात् हुए अवन्तिसुकुमाल की मृत्यु के प्रसंग पर से होना असंगत ज्ञात होती है। इससे प्रस्तुत शब्दव्युत्पत्ति को कविकल्पना शक्ति के उसी क्रीड़ा विशेष में गिनना अनुचित नहीं होगा, जिसके अनुसार संस्कृत 'ब्राह्मण' शब्द के प्राकृत रूपान्तर 'माहण' की व्युत्पत्ति 'मा हणसु' (अर्थात् 'मत मारो') इस वाक्य से बताई गई (पउमचरिय ४.८४)* और अन्य अनेक भाषाशास्त्र-विरुद्ध शब्दव्युत्पत्तियाँ भी प्राचीन ग्रंथों में कही गई हैं।

अब रहा महाकालेश्वर मन्दिर ही की जैन-मुनि-स्मारक-मन्दिर से कथित उत्पत्ति का प्रश्न। वह इस कारण से कुछ विकट ज्ञात होता है कि अभी उक्त मुनि-स्मारक-मन्दिर में से कुडुंगेश्वर-कुटुंबेश्वर महादेव ही के मन्दिरों का क्रमशः उत्पन्न होना सिद्ध किया जा चुका है। यदि महाकालेश्वर महादेव का मन्दिर भी उसमें से उत्पन्न हुआ, तो न्याययुक्त यह अनुमान है कि प्रस्तुत समय में कुडुंगेश्वर-कुटुंबेश्वर महादेव और महाकालेश्वर महादेव एक थे। अपनी सन्मति-तर्क-भूमिका में (पृ० ४५) पण्डित श्री सुखलालजी और श्री बेचरदासजी ने भी 'कुडंगेश्वर' और 'महाकाल' के अभेद का अनुमान प्रगट किया, परन्तु उसका समर्थन करने को वे उद्यत नहीं हुए। कहाँ तो कुडंगेश्वर-कुटुंबेश्वर जैसे साधारण श्रेणी के नाम, और कहाँ जगत्प्रसिद्ध महाकालेश्वर, जो भारतवर्ष के बारह ज्योतिर्लिंगों में एक हैं और जिनका नाम तक अत्यन्त आदरणीय माना जाता है!

फिर भी इस ज्योतिर्लिंगरूपी महाकाल के अतिरिक्त, महाकाल नामक एक अज्ञात अरण्य-देव भी विद्यमान है, जैसाकि श्री शरत्चन्द्र मित्र महाशय ने अपने एक निबन्ध में (इण्डियन कल्चर अंक ४, पृ० ४२७ आदि) बताया है। यह महाकाल पूर्व और पश्चिम भारत की कुछ जंगली जातियों से पूजित है। उनके नाम से खाये हुए सौगंद के भंग का परिणाम भयंकर मृत्यु, और उनकी उपासना का फल कुटुंब आदि परिवार की वृद्धि माना जाता है। गहरे जंगलों में उनकी पूजा-सेवा होती है। अरण्य के इस अज्ञात महाकाल और अवन्ति के जगत्प्रसिद्ध महाकाल, दोनों के सामान्य मूलभूत किसी एक आदि-महाकाल की कल्पना अवश्य की जा सकती है, जो द्वारका और उज्जैन के आसपास के जंगलों में पूजित होकर, वहाँ के 'महाकालवन' के नामोत्पादक हुए। इस महाकाल और पुराण में उल्लिखित कुटुंबेश्वर के गुणों में और आराधनाफल में इतना सादृश्य है कि कुडंगेश्वर-कुटुंबेश्वर को महाकालेश्वर के नामान्तर माना जा सकता है, और महाकालवन के जिस मन्दिर में श्री विक्रमादित्य और सिद्धसेन का आगमन हुआ उसको, उपर्युक्त पंडितों के मतानुसार, प्रस्तुत कुडंगेश्वर-कुटुंबेश्वर-महाकाल का मन्दिर समझा जा सकता है।

फिर भी ऐसा समझने पर यह आपत्ति पाई जाती है कि एक तो साहित्य में ऐसा कोई भी उल्लेख नहीं पाया जाता है जिससे दोनों को गुप्त-काल में अभिन्न मानने का अधिकार प्राप्त होता हो। इसके विपरीत, जहाँ देखा जाय वहाँ कुडंगेश्वर-कुटुंबेश्वर एक भिन्न वस्तु, और महाकाल एक भिन्न वस्तु का रूप धारण करते हैं। यदि दुराग्रह से उनका पारस्परिक अभेद मान भी लिया गया तो कुछ समय पश्चात् दो भिन्न स्थानों पर भिन्न नामों से अंकित उनके दो देवालय क्यों और कैसे बनाए गए, इसका कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं किया जा सकता है।

---

* श्रीविमलसूरि-विरचितं पउमचरियम्, श्रीजैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, १९१४, पृ० १८।

यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि सिद्धसेन दिवाकर (उपर्युक्त विवेचन के अनुसार) गुप्तकालीन थे, और यदि उनका अस्तित्व (पूर्वोल्लिखित साहित्य के अनुसार) एक 'विक्रमादित्य' की पदवी धारण करनेवाले नरेश ही के समय में माना जाय, तो महाकवि कालिदास* उनके समकालीन अथवा लगभग समकालीन ठहरेंगे। तब महाकाल-मन्दिर सम्बन्धी दोनों प्रसिद्ध पद्य जो उस कवि के 'मेघदूत' (३५ आदि) और 'रघुवंश' (६.३४) में आए हैं, श्री कुडंगेश्वर जैनतीर्थ के स्थापनाकाल के आसपास में रचित होने चाहिए। अर्थात् वे या तो उस समय से कुछ पहिले रचित हो सकते हैं, जबकि प्रस्तुत मन्दिर हिन्दू मन्दिर मिटकर जैन मन्दिर बन गया था, अथवा उस समय के कुछ पश्चात्, जबकि कुडंगेश्वर जिनालय मिटकर फिर हिन्दू मन्दिर बना। यदि यह कुडंगेश्वर मन्दिर और कालिदास-स्तुत मन्दिर अभिन्न थे, तो दूसरे विकल्प के अनुसार ऐसा मानना पड़ेगा कि वह प्रौढ़ 'त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य' (मेघदूत ३५), अर्थात् 'तीन भुवन के अधिपति चण्डी-पति का निवास-स्थान' उक्त पद्यों की रचना से थोड़े समय पहिले जैनियों से चुराया हुआ एक जिनालय था, जो कि एक अत्यन्त असंभाव्य और अनुचित कल्पना है।

यदि पहिला विकल्प मान्य है कि कुडंगेश्वर जैन तीर्थ कालिदास के उक्त पद्यों के रचनाकाल के पश्चात् प्रतिष्ठित हुआ, तो इसका तात्पर्य यह है कि महान् हिन्दू देवता महाकाल के जिस मन्दिर को राजकवि ने अभी अवन्ति देश के मुख्य कौतुक का स्थान दिया था और अत्यन्त वेगपूर्वक प्रयाण करनेवाले प्रवासी के लिए भी—यदि उसको सीधा मार्ग छोड़ना पड़े फिर भी दर्शन करने के योग्य बताया था, वही जगद्विख्यात्, वैभवशाली और विश्वपूज्य हिन्दू मन्दिर पश्चात् अवन्ति नरेश की आज्ञा से एक जैन मन्दिर में परिवर्तित किया गया। इतना ही नहीं किन्तु वे नरेश गुप्तवंशीय थे, और जिस महा-देवता का उत्थापन उन्होंने कराया, वह बहुत कर गुप्तवंश का कुलदेव था (देखिए श्री एम० के० दीक्षित महाशय के निबन्ध का फुटनोट नं० ७५, इण्डियन कल्चर ग्रंथ ६, ई० सन् १९३९ पृ० ३८५)। इसके अतिरिक्त, उक्त नरेश कोई साधारण गुप्तराजा ही नहीं थे, किन्तु वे 'विक्रमादित्य' का उपनाम धारण करनेवाले, अर्थात् महाप्रतापी 'परमभागवत' गुप्त सम्राटों में से एक थे। ऐसे एक महान् गुप्त सम्राट् के हाथ से इस प्रकार के एक असाधारण कार्य का किया जाना ऐसी अनोखी घटना है कि जिसके साक्षीभूत–(अथवा इसी सम्राट् के हाथ से किए हुए किसी अन्य जैनधर्म-प्रभावना-रूपी कार्य के साक्षीभूत) प्रमाणों का सर्वथा अभाव होते हुए उसको ऐतिहासिक सत्य मानने को कोई इतिहासज्ञ तैयार नहीं हो सकता है।

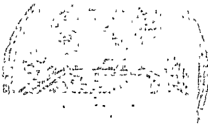
यदि कालिदास का अस्तित्व शुंग-काल में मान लिया जाय और उनके तथा सिद्धसेन के बीच में कुछ शताब्दियाँ बीत भी गई हों तब यह युक्ति ग्राह्य ठहरती है।

उपर्युक्त आपत्ति महाकालेश्वर और कुडंगेश्वर को अभिन्न मानने का फल है। यदि दोनों को भिन्न समझा जाय तो उसका यह अर्थ होता है कि सिद्धसेन दिवाकर और कालिदास के समय में महाकालवन में एक तो कालिदास द्वारा प्रशंसित, वैभवशाली, राज-पूजित महाकालेश्वर महादेव का मन्दिर, और दूसरा, 'पइण्ण' में उल्लिखित, अवन्तिसुकुमाल के स्मारक-मन्दिर में से उत्पन्न हुआ, साधारण श्रेणी का कुडंगेश्वर महादेव का मन्दिर, ऐसे महादेव के दो भिन्न देवालय विद्यमान थे।

यदि श्री सिद्धसेन दिवाकर के प्रभाव से जैन-हितैषी बने हुए गुप्त नरेश ने (कदाचित् द्वितीय चन्द्रगुप्त ही ने), उस कुडंगेश्वर मन्दिर का इतिहास जानकर और उसमें उपर्युक्त प्राचीन तीर्थंकर-प्रतिमा प्रकट हुई देखकर, गुप्तवंशीय सम्राटों की इतिहास-प्रसिद्ध उदारता और न्यायप्रियता के अनुसार, जैनियों को उक्त मन्दिर वापिस दिया हो तो यह कुछ आश्चर्य-कारक घटना नहीं थी। फिर भी जैनियों को अपना यह महा-पवित्र और पूज्य स्थान पुनः प्राप्त होने से अत्यन्त सन्तोष हुआ होगा, और प्रख्यात 'महाकालवन' में आए हुए इस जैन मन्दिर की भलीभाँति प्रसिद्धि हुई होगी।

इस कल्पना के स्वीकृत होने से कुडंगेश्वर और महाकालेश्वर की अभिन्नता का निराकरण हो जाता है। इतना ही नहीं, किन्तु उपर्युक्त महान् ग्रंथकारों का इस आशय का कथन कि महाकाल-मन्दिर अवन्तिसुकुमाल के स्मारक-मन्दिर से उत्पन्न हुआ, वह भी साथ ही साथ अयथार्थ सिद्ध हो जाता है। यद्यपि इतने महापुरुषों का एकमुखी साक्ष्य इस रीति से अयथार्थ ठहर जाना अवश्य चिन्तनीय है, तथापि एक तो दिगम्बर-परम्परा भी उनके उस कथन से विरुद्ध है, क्योंकि (ऊपर दी हुई अवतरणिका के अनुसार) श्री नेमिदत्त साफ साफ महाकाल-तीर्थ का एक 'कुतीर्थ', अर्थात् अन्य-धर्मियों के तीर्थ के रूप में उत्पन्न होना बताते हैं (जीवहिंसा से हिन्दू-मन्दिर ही का अनुमान होता है)।

* 'कालिदास', लेखक वा० वि० मिराशी, लाहौर, सन् १९३८।



जैन साहित्य और महाकाल-मन्दिर

इसके अतिरिक्त, यह भी विदित है कि उक्त ग्रंथकारों को एक ही समान वृद्ध-परम्परा मान्य थी, जिसका प्रारंभ प्रस्तुत विषय की दृष्टि से श्री जिनदास गणि और श्री हरिभद्र सूरि का सामान्य आधार था।

दूसरी ओर, प्रस्तुत विषय उन ग्रंथकारों की दृष्टि से गौण और प्रसंगोपात्त ही था, जिससे उन्होंने श्री जिनप्रभ सूरि की भाँति, विशेष अन्वेषण करना आवश्यक ही नहीं समझा होगा।

यदि अति प्राचीन समय में—अर्थात् श्री जिनदास गणि और श्री हरिभद्र सूरि के पहिले—श्वेताम्बर-परम्परा के किसी लेखक या उपदेशक की भूल से 'महाकालवन का जैन-मन्दिर' 'महाकाल जैन-मन्दिर' में परिवर्तित हुआ, और इस भ्रान्त निर्देश से महाकाल मन्दिर के जैन मन्दिर से उत्पन्न होने की और भी भ्रान्त कल्पना उपस्थित हुई, जो परम्परागत इतने ग्रंथों में क्रमशः प्रविष्ट होती गई, तो यह बात आश्चर्यकारक नहीं है। वह इस कारण से स्वाभाविक ही समझी जा सकती है कि स्वधर्मपरायण प्राचीन श्वेताम्बर-वृद्ध-परम्परा ने, सूक्ष्म ऐतिहासिक खोज को अपना कर्त्तव्य नहीं समझकर, ऐसी भ्रान्तियों को शुद्ध करने की तरफ उदासीनता रखी है। इसके अतिरिक्त, खोज के साधनों के अभाव से भी व्यक्तिगत ग्रंथकारों को अपने अपने मूलग्रंथों पर बहुधा अन्धविश्वास रखना ही पड़ता था। इसके परिणाम-स्वरूप गुप्तकालीन सिद्धसेन दिवाकर द्वारा संवत्सर प्रवर्त्तक विक्रमादित्य का प्रतिबोधित होना आदि विचित्र भ्रान्तियाँ भी अशोधित रहकर शताब्दियों के क्रम से जैन साहित्य के सर्वमान्य सिद्धान्त बन सकीं। ऐसी एक भ्रान्ति-स्वरूप श्री अवन्तिसुकुमाल के स्मारक-मन्दिर में से महाकालेश्वर-मन्दिर का उत्पन्न होना भी समझा जा सकता है।

साथ ही साथ यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि प्रस्तुत घटनाओं की रंगभूमि, प्राचीन उज्जयिनी, जैन धर्म का एक माहेमायुक्त केन्द्रस्थान था। इतिहास-प्रसिद्ध जैन राजा सम्प्रति, जिनकी आज्ञा से कराई हुई जिन-प्रतिमाओं और जैन मन्दिरों की संख्या से आश्चर्य होता है, और कालकाचार्य द्वारा प्रतिबोधित जिनभक्त शक-राजा-मंडल (जो पश्चात् संवत्सर प्रवर्तक विक्रमादित्य से पराजित बताये गये हैं) उज्जैन ही में अपनी राजधानी रखते हुए राज्य करते थे। वहाँ ही 'आवश्यक चूर्णि' के अनुसार, उक्त अशोक-पौत्र सम्प्रति के समय में 'जीवित स्वामी' (अर्थात् किसी एक तीर्थंकर के समय में बनाई हुई उनकी एक प्रतिमा) का एक प्रसिद्ध मन्दिर विद्यमान था, जहाँ दर्शन करने को राजगुरु आर्य सुहस्ती आचार्य 'विहार कर' आए।

इस बात के पुरातत्त्व सम्बन्धी प्रमाण भी विद्यमान हैं। श्री पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की एक बड़ी, अति-प्राचीन कारीगरी की सुन्दर मूर्ति गढ़ की कालिका देवी के मन्दिर में अभी भी विराजमान है। इस मूर्ति के आकार से अनुमान किया जा सकता है कि वह एक समय एक भव्य पार्श्वनाथ-प्रतिमा के पास एक विशाल जिनालय में स्थापित हुई होगी, जिसकी पूजा-सेवा प्रतिदिन सैकड़ों श्रावक-श्राविकाएँ करती होंगी। प्राचीन जैन प्रभाव की एक अन्य निशानी वह भव्य, श्याम पाषाणमय पार्श्व-प्रतिमा है जो कुछ समय के पहिले महाकालवन की भूमि में से निकली हुई, आज गन्धवती घाट के पास आए हुए श्वेताम्बर मन्दिर में 'अवन्ति पार्श्वनाथ' के नाम से पूजित है।

इन उदाहरणों से विदित है कि प्राचीन उज्जयिनी में जैनधर्म का स्थान इतना ऊँचा था कि उससे भी महाकालेश्वर मन्दिर की उत्पत्ति की उपर्युक्त कल्पना को उत्तेजन और इतनी शताब्दियों पर्यन्त प्रचलित रहने की शक्ति प्राप्त हो सकी।

प्रस्तुत निबन्ध पुष्कल अन्वेषण और मनन का फल है। उसमें पाठकों को जो कुछ नई बातें ज्ञात हों, वे आधार-रहित नहीं हैं। तथापि कतिपय बातें अभी तक प्रत्यक्ष प्रमाणों से सिद्ध नहीं हुई हैं। यदि किसी दिन सिंहपुरी की भूमि में से कुडंगेश्वर जैन तीर्थ की श्री सिद्धसेन दिवाकर कृत प्रतिष्ठा का शिलालेख या श्री जिनप्रभ सूरि उल्लिखित शासन-पट्टिका, अथवा श्री आदि महाकालेश्वर के स्थान पर उसके प्रारंभिक इतिहास का कोई शिलालेख आदि निकले, तो उपर्युक्त विवेचन की यथार्थता की कसौटी प्राप्त हो सकेगी। ऐसा अवसर शीघ्र उपलब्ध हो, यह इस रमणीय विषय के अन्वेषण में रस लेनेवाले प्रत्येक इतिहासज्ञ एवं पुरातत्त्ववेत्ता की अन्तःकरण से कामना होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।*

*** भारतीय संस्कृति के गाढ़ प्रेम से प्रेरित होकर मैंने विदेशी होते हुए भी यह निबन्ध हिन्दी ही में लिखा, अतः यदि इसमें कुछ त्रुटियाँ रह गई हों तो पाठक क्षमा करें, ऐसी प्रार्थना है। —लेखिका।**



उज्जयिनी

श्री डॉ० हेमचन्द्र रायचौधुरी, एम्० ए०, पी-एच० डी०

जयनगरी* उज्जयिनी भारतीय इतिहास को गौरवमय बनानेवाले प्रभावशाली राजनीतिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों में से है। बनारस तथा मथुरा के समान शाश्वत नगरी होने का सम्मान इसे प्राप्त है और टाइबर नदी के तट पर स्थित प्रसिद्ध सप्त गिरीन्द्रों के नगर रोम से तथा सारोन की खाड़ी के समीपस्थ नील-लोहित-पुष्प-किरीट-शोभित नगर (City of the violet crown *i. e.*, Athens) से उसकी तुलना की जा सकती है। प्रद्योत एवं वासवदत्ता, अशोक तथा मुंज, नवसाहसांक और भोज, सवाई जयसिंह तथा महादजी शिन्दे की स्मृतियों के प्रभा-मण्डल से उज्जयिनी दीप्तिमती है। सर्वाधिक यह उस विक्रमादित्य की राजधानी थी जिसे परम्परा उस संवत् से सम्बद्ध करती है जिसकी द्विसहस्राब्दी हम आज मना रहे हैं। इसी में उन सभाओं का आयोजन हुआ था जिनमें कालिदास और अमर, भारवि एवं पद्मगुप्त ने कीर्ति प्राप्त की थी। भारतीयज्योतिर्विदों की प्रथम मध्याह्न रेखा (meridian) का यह स्थान थी। उज्जयिनी की अनेक प्रकारोंवाली संभ्रमकारी नामावली इस प्रकार है—अवन्तिका, पद्मावती, भोगवती, हिरण्यवती, कनकशृंग, कुशस्थली, कुमुद्वती, तथा प्रतिकल्पा†। इस सूची में ल्यूअर्ड (Luard) द्वारा उल्लिखित नवतेरीनगर तथा

* उज्जितो दानवो यस्मात् त्रैलोक्ये स्थापितं यशः। तस्मात् सर्वैः सुरश्रेष्ठैर्ऋषिभिस्सनकादिभिः॥
कृतं नाम ह्यवन्त्या वा उज्जयिनी पापनाशिनी। अवन्ती च पुरा प्रोक्ता सर्वकामवरप्रदा॥
स्कन्द, आवन्त्य, ४३।५३-५४ तथा मिलाइए Badauni (Low) Vol. II, P. 43n.

† मेघदूत, १।३१; कथासरित्सागर, २ पृ० २७५ (Tawney का अनुवाद), स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड, प्रथम भाग, अध्याय ४०-४८, *P. H. A. I*, चौथा संस्करण, पृष्ठ ४६८।



शिवपुरी नाम और जुड़ जाते हैं। उज्जयिनी के ९ कोस चौड़ाई तथा १३ कोस लम्बाई के विस्तार से नवतेरीनगर नाम की उत्पत्ति मानी गई है*।

विक्रमादित्य की यह राजधानी सदा से भारत की सात पवित्र नगरियों में गिनी जाती है†—

अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः॥

इसकी पावनता को स्कन्दपुराण के आवन्त्यखण्ड में इस प्रकार स्वीकृत किया गया है‡ :—

तस्माद्धितकरं क्षेत्रं कुरूणां वै सुरोत्तमाः। तस्माद्दशगुणं मन्ये प्रयागंतीर्थमुत्तमम्॥

तस्माद्दशगुणा काशी काश्या दशगुणा गया। ततो दशगुणा प्रोक्ता कुशस्थली च पुण्यदा॥

नगर के बाह्य प्रदेश में यहाँ महाकाल (शिव) और उनकी चिरसंगिनी मंगलचण्डी (दुर्गा का रूपविशेष) का प्रसिद्ध मन्दिर वर्तमान था। ये मंगलचण्डी शाक्तसंगमतंत्र में इस प्रकार उल्लिखित अवन्तिदेश की कालिका ही होंगी:—

उज्जयिन्यां कूर्परञ्च मांगल्यः कपिलांवरः।
भैरवः सिद्धिदः साक्षाद्देवी मंगलचंडिका॥
अवन्तीसंज्ञको देशः कालिका तत्र तिष्ठति॥ शक्तिसंगमतंत्र॥६॥

उज्जयिनी चम्बल की सहायक नदी शिप्रा के पूर्वी तट पर (अक्षांश २३.११ अंश उत्तर, देशांतर ७५.५० अंश पूर्व) समुद्रतल से १६९८ फुट की ऊँचाई पर स्थित है। पुरातन नगरी वर्तमान उज्जैन से दो मील उत्तर की ओर थी। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि इसे "भूकम्प अथवा शिप्रा की असाधारण बाढ़ ने नष्ट कर दिया था। प्राचीन नगरी की भूमि पर प्राचीन नीवें आज भी दिखाई देती हैं और यहाँ "पुरातत्त्व की असंख्य वस्तुएँ, रत्न, अक्ष, मुद्रा, आभूषण तथा सिक्के" प्राप्त हुए हैं। वर्तमान नगर आयताकार है और कभी गोल शिखरोंवाले प्रस्तर प्राकार से परिवेष्टित था; जिसका मालवा के सुल्तानों के द्वारा ईसवी १५वीं शताब्दी में निर्मित होना बताया जाता है। किन्तु मालकम के समय में ही इस प्राचीर के अनेक भाग ध्वस्त हो रहे थे। १८१० ई० में राजधानी का स्थान-परिवर्तन ग्वालियर के समीप लश्कर को हो जाने के साथ ही प्रसिद्ध शिन्दे राजवंश की राजधानी होने का इसका महत्त्व समाप्त हो गया। यह नगर अनेक विभागों में विभक्त है और ऐसे प्रत्येक विभाग का नाम उसके संस्थापक के अथवा उसमें निवास करनेवाले नागरिकों की श्रेणी के नाम पर हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भाग है जयसिंहपुरा—जयपुर के महाराज सवाई जयसिंह द्वारा संस्थापित—जो १७३३-१७४३ तक मालवा सूबा के शासक थे; शिया मुसलमानों के एक विभाग बोहराओं के नाम पर बोहराबाखल तथा कोट या किला जो सम्भवतः संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध महाकालवन के स्थल का संकेत करता है। जयसिंहपुरा में वैज्ञानिक अध्ययन में तीव्र रुचिवाले जयपुर के सवाई महाराज द्वारा निर्मित सुविश्रुत वेधशाला है†।

जैसा पहले लिखा जा चुका है, उज्जयिनी भारतवर्ष के प्राचीनतम नगरों में से है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि मंत्रदृष्टा ऋषियों के काल में इसके प्राकार तथा कंगूरे वर्तमान थे, तथापि यह असंदिग्ध सत्य है कि महाभारतकार महाकाल के प्रांगण से तथा कोटितीर्थ (निश्चित रूप से उज्जयिनी का‡) से, जिसका उल्लेख वे नर्मदा, दक्षिणसिन्धु, चर्मण्वती तथा पश्चिमी भारत के अन्य तीर्थस्थलों के सम्बन्ध में करते हैं, परिचित थे।

महाकालं ततो गच्छेत् नियतो नियताशनः। कोटितीर्थमुपस्पृश्य हयमेधफलं लभेत्॥§

---

* Luard, *Gwalior State Gazetteer*, I., पृष्ठ २९९।

† *C. H. I.*, पृष्ठ ५३१ टिप्पणी; *Memoirs of Jahangir* (Rogers) I., पृष्ठ ३५४।

‡ प्रथम भाग, Chap. XLII, २३-२४।

‡ तुलना कीजिए शब्द-कल्पद्रुम (पीठ के अन्तर्गत), भारतचंद्र, अन्नदामंगल (ग्रंथावली), पृष्ठ ९२; *Ind. Culture* Vol. VIII, p. 39.

† Luard, *Gwalior State Gazetteer.* Vol. I., page 299f.

‡ स्कन्दपुराण, आवंत्य खण्ड, प्रथम भाग, अध्याय ७१, ९।

§ महाभारत ३, ८२, ४९।

इसी तारतम्य में यह भी कहा जा सकता है कि कालिदास, बाण, अलबेरूनी तथा सोमदेव के ग्रंथों में उज्जयिनी के महाकाल के महत्त्वपूर्ण उल्लेख प्राप्त होते हैं†।

रामायण अवन्ति से परिचित है, जो उज्जयिनी के समीप के प्रदेश का नाम ही नहीं है, वरन् स्वयं नगरी के नाम के रूप में उल्लिखित है।‡

उज्जयिनी (प्राकृत--उज्जेनी) नाम के अन्य प्राचीन उल्लेखों के लिए पुरातन पालि सूत्रों की ओर अग्रसर होना होगा, जिनमें उज्जयिनी के महाकच्चान के जन्मस्थान के रूप में तथा बुद्ध एवं महावीर के समकालीन चण्डपज्जोत (चण्डप्रद्योत) की राजधानी के रूप में उल्लेख है। गोदावरी के तट से गंगा की घाटी को जानेवाले मार्ग पर यह प्रधान स्थल था।⁑ प्रद्योत, उसकी सुता वासवदत्ता तथा वासवदत्ता के पति वत्सराज उदयन से सम्बन्धित कथाएँ भास, कालिदास, श्रीहर्ष एवं सोमदेव के पीछे के काल में भी सुविस्तृत प्रदेश में लोकप्रिय थीं। भारतीय कविकुलगुरू ने उज्जयिनी के समीपवर्ती ग्रामों के वृद्ध जनों का 'उदयन कथा में सुप्रवीण' के रूप में विशेष रूप से उल्लेख किया है। प्रद्योत के पुत्र पालक का मृच्छकटिक एवं जैन अनुश्रुति में वर्णन प्राप्त होता है। ईसवी पूर्व चतुर्थ तथा तृतीय शताब्दी में अवन्ति के स्वतंत्र राज्य का अस्तित्व समाप्त हो गया था। अशोक के शासन लेख में मौर्य सम्राट् के प्रतिनिधि-राजकुमार के स्थान के रूप में उज्जयिनी का उल्लेख प्राप्त होता है और इस तथ्य का साक्ष्य बौद्ध साहित्य में भी प्राप्त होता है। जैन ग्रन्थकर्त्ता अशोक पौत्र सम्प्रति की राजधानी के रूप में इस नगर का नाम लेते हैं। यह नाम पीछे से उजेनिहार प्रदेश को प्राप्त हुआ।⁂ ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में उज्जयिनी पश्चिमी भारत के शक शासकों तथा दक्षिण के सातवाहन सम्राटों के बीच युद्ध का कारण प्रतीत होती है। कुछ विद्वान् शकनिषूदन एवं वर वारनविक्रम चारुविक्रम उपाधिधारी एक सातवाहन विजेता को ईसवी पूर्व ५८-५७ में संवत् प्रवर्तन करनेवाले शकारि विक्रमादित्य से अभिन्न मानने की सीमा तक चले जाते हैं। किन्तु अनुश्रुति के अनुसार उज्जैन के महान् विक्रम से सातवाहन अथवा शालिवाहन, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी, स्पष्ट रूप से भिन्न था। पेरिप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी (Periplus of the Erythrean Sea) का अज्ञात-नाम लेखक जो ईसवी प्रथम शताब्दी का एक यूनानी नाविक था, उज्जयिनी का उल्लेख 'ओजेनी' (Ozene) के रूप में करता है और उसे भूतपूर्व राजधानी कहता है। इसी स्थान से देश की समृद्धि के लिए आवश्यक तथा व्यापार की वस्तुएँ जैसे संगेशाह एवं संगसुलेमानी, भारतीय मलमल आदि वस्त्र, प्रचुर मात्रा में साधारण वस्त्र वरिगज (Barygaza भृगुकच्छ, भरोच) को आता है। इसी क्षेत्र तथा उत्तर प्रदेश में होकर पोक्लेस (Poclais, वर्तमान पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त का चरसद्द) में होकर आनेवाली जटामांसी प्राप्त होती है।

टालेमी (Ptolemy) के काल में (ईसवी दूसरी शताब्दी) प्रसिद्ध रुद्रदामन के पितामह चष्टन के अधीन, जिसे उसने टियस्टनीज लिखा है, 'ओजेनी' ने राजधानीत्व का महत्त्व पुनः प्राप्त किया। इन शासकों से अपनी वंशानुक्रम माननेवाले राजाओं की परम्परा को गुप्तवंश के सुविश्रुत चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने (जिसे कृतज्ञ सन्तति ने शक-नृपति-निषूदन एवं उज्जयिनीपुरवराधीश्वर के रूप में उद्घोषित किया) अन्तिम रूप से समाप्त कर दिया था।

वह महान् कवि, जिसे परम्परा विक्रम के सूर्य विक्रमादित्य के चतुर्दिक स्थित दीप्यमान नक्षत्रमाला में सर्वाधिक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में स्मरण करती है, अपने अमर मेघदूत-काव्य में मेघदूत से उसकी प्रिय नगरी (उज्जयिनी) का दर्शन करने के लिए अपने मार्ग से किंचित् मुड़ने की प्रार्थना करता है।

---

† मेघदूत, १।३४-३७; रघुवंश, ६।३४; कादम्बरी (Ridding) पृष्ठ २१०, *Alberuni's India* (Sachau), I, 202. कथासरित्सागर, पेञ्जर का संस्करण, भाग १०, पृष्ठ २१८।

‡ किष्किंधाकाण्ड, ४२, १४; स्कन्दपुराण, आवन्त्यखण्ड ४३।५४।
C. H. I. 1·531 n (अवन्तिका) आवन्तक रूप के लिए बृहत्संहिता १४।१२।

⁑ Malalsekera, *Dictionary of Pali Proper Names*, Vol. I, 344.

⁂ Luder's List, No. 268.

उज्जयिनी

महाराज हर्ष की राजसभा को सुशोभित करनेवाला एक अन्य महान् कवि 'कादम्बरी' में उज्जयिनी के सम्बन्ध में कहता है—"त्रिभुवन का उज्ज्वलतम रत्न, सत्युग की जन्मभूमि, महाकाल द्वारा सृजित, गम्भीर परिखा से आवेष्टित, रक्षा-प्राकार से घिरी हुई दीर्घ पण्यवीथियों से सुशोभित एवं शिप्रा सरिता से परिवेष्टित" चित्रित प्रकोष्ठ, उज्ज्वल मन्दिर, भ्रमरावलि से श्यामवर्ण हुई कुंजें तथा गजदन्त के अट्ट "मालव-ललनाओं के यौवन-माधुर्य-मत्त मुखमण्डलों" के समान ही नगर को सुशोभित करते थे। एक समकालीन चीनी यात्री ने नगर को वु-शे-येन-ना लिखा है और उसकी परिधि ३० ली (५ मील) बतलाई है। "उसके निवासी समृद्ध एवं सम्पन्न थे। उसमें कुछ दशक बौद्धमठ थे और उतनी ही संख्या देव-मन्दिरों की थी।" लगभग चार शताब्दी पश्चात् 'नवसाहसांकचरित' का लेखक इस नगर की तुलना देवताओं की राजधानी अमरावती से करता है और इसका सम्बन्ध श्रीविक्रमादित्य से बतलाता है।

अस्ति क्षितावुज्जयिनीति नाम्ना। पुरी विहायस्यमरावतीव।
बबंध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः। श्रीविक्रमादित्य इति क्षितीशः॥

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के पश्चात् इस नगर को जो राजनीतिक परिवर्त्तन देखना पड़े, उनका वर्णन यहाँ केवल संक्षिप्त रूप में ही हो सकता है। पंचम शताब्दी ने चन्द्रगुप्त के पौत्र एवं महेन्द्रादित्य के पुत्र स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य तथा म्लेच्छों—संभवतः हूणों—में चलनेवाला युद्ध देखा, जिसका उल्लेख जूनागढ़ के अभिलेख तथा कथासरित्सागर में है। इसके पश्चात् हमें मन्दसौर के यशोधर्मन की तथा सम्राट्-प्रतिनिधि नैगम वंश की विजयों की सूचना प्राप्त होती है। ईसवी छठी शताब्दी के अन्तिम भाग में उज्जयिनी, आभोणा एवं सरसवणी के ताम्रपत्र-अभिलेखों के कटच्चुरियों के शासन में चली गई, जिनका उन्मूलन मैत्रक राजा खरग्रह प्रथम ने किया था। * हुएनत्सांग के काल में वु-शे-येन-ना में एक ब्राह्मणवंश राज्य करता था। इसके पश्चात् 'त्वष्ट्रट' वंश के शासक हुए।† उनका अन्त सम्भवतः सिन्ध के शासक जुनैद (Junaid) के नेतृत्व में आक्रमण करनेवाली एक अरब सेना ने किया था, जिसने ईसवी आठवीं शताब्दी के प्रथम तथा द्वितीय दशकों में उजेन (Uzain) तथा पश्चिमी भारत के अन्य नगरों पर आक्रमण किये थे। तदनन्तर विक्रमादित्य की यह राजधानी 'मानकीर' (Mankir) के राष्ट्रकूट 'बल्हराओं' (Balharas) एवं जुर्ज (Zurz, गुजरात तथा कन्नौज) के प्रतिहार राजाओं के महासम्मर्द का विषय बन गई। अनुश्रुति के अनुसार राष्ट्रकूट राजवंश के संस्थापक दन्तिदुर्ग ने उज्जयिनी में हिरण्यगर्भ उत्सव किया, जिसमें गुर्जर आदि नरेशों को द्वारपाल बनाया था। ईसवी सन् ७८३-८४ में अवन्ति के सिंहासन पर प्रतिहार सम्राट् वत्सराज ने अथवा उनके समकालीन किसी अन्य वत्सराज ने, जो दन्तिदुर्ग के चचेरे भाई ध्रुव का प्रतिस्पर्धी था, अधिकार कर लिया। वत्सराज के साम्राज्य-स्वप्न राष्ट्रकूट शासक ने ध्वस्त कर दिए। किन्तु उसका पुत्र नागभट द्वितीय मालव पर, जिसके पश्चिमी भाग में उज्जयिनी सम्मिलित थी, आधिपत्य स्थापित करने में सफल हुआ। दक्षिण से शीघ्र ही उस पर एक नवीन आक्रमण हुआ और उसके नवनिर्मित साम्राज्य पर इससे तीव्र आघात पहुँचा। नागभट के पौत्र भोज आदिवराह पर सौभाग्य-लक्ष्मी अनुरक्त हुई और उसने प्रतिहार साम्राज्य की सीमा गिरनार पर्वतमाला तक पहुँचा दी। ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जयिनी उसके उत्तराधिकारियों के आधिपत्य में ९४६ ईसवी तक रही जब उस प्रसिद्ध नगर में भोज के प्रपौत्र महेन्द्रपाल द्वितीय के 'तंत्रपाल महासामन्त महादण्डनायक' माधव के नियुक्त रहने की सूचना प्राप्त होती है।

प्रतिहारों का स्थान शीघ्र ही परमारों ने ले लिया जो अकालवर्ष को, जिसे कृष्ण तृतीय मानने का लोभ उत्पन्न होता है, अपना पूर्व पुरुष मानते थे। इस सम्बन्ध में हर्ष सीयक के हरसौलवाले ताम्रपत्र का उल्लेख किया जा सकता है, जिसमें एक कृष्णराज को परमारों का पूर्व पुरुष कहा गया है। इस वंश के प्रारंभिक शासक वाक्पति प्रथम का वर्णन "मालव-बालाओं के नयन सरोजों के लिए सूर्य" के रूप में किया गया है। वाक्पति द्वितीय ने, जो मुंज नाम से अधिक विख्यात है और जिसने सरस्वती को संरक्षण देने में विक्रमादित्य के अनुकरण का प्रयत्न किया, ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जयिनी को राजधानीत्व का गौरव प्राप्त कराया। उसके भाई सिन्धुराज का विरुद 'नवसाहसांक', जिसका अर्थ नवीन विक्रमादित्य है,

* *P.H.A.I.*, चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ५३५। † Tod. *Rajasthan*, I, 618-19 (Calcutta Edition), Bhandarkar's *List of Inscriptions* No. 16

यह सूचित करता है कि उसने भी विक्रम की प्रोज्वल परम्परा को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया था। पद्मगुप्त तथा उदयपुर प्रशस्ति, गुप्तवंश के स्कन्द उनको विक्रमादित्य के समान उसे हूणों पर विजय प्राप्त करने का यश प्रदान करते हैं। सोढ्ढल विक्रमादित्य के पश्चात् विद्या के अत्यन्त मुक्तहस्त संरक्षक भोजदेव के साथ विक्रमादित्य, श्री हर्ष (कन्नौज का हर्ष शीलादित्य अथवा परमार सीयक) तथा मुंज के नाम जोड़ता है।*

बारहवीं शताब्दी में परमारों को उत्तर तथा पश्चिम के अपने समीपवर्ती शासकों से कठिन संग्राम लड़ने पड़े थे। अजमेर का चाहमान शासक अजयराज उज्जैन तक देश जीत लेने का दावा करता है। अनहिलवार के प्रसिद्ध राजा जयसिंह सिद्धराज ने नगर पर विजय प्राप्त करके 'अवन्तिनाथ' उपाधि धारण की। इसके पश्चात् बल्लाल नामक राजा हुआ जिसने अवन्ति, मालव एवं धार पर आधिपत्य स्थापित किया। उसका जयसिंह सिद्धराज के उत्तराधिकारी कुमारपाल के एक माण्डलिक ने वध कर दिया। इस पर शिप्रा के तटों पर चालुक्य शासन की पुनः स्थापना हुई। "महाकाल की नगरी" के परमारों के एक दानपत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि भाग्यचक्र में पुनः एक परिवर्तन हुआ और भोज के वंशजों ने एक बार फिर उज्जयिनी को प्राप्त किया। यह घटना ईसवी सन् १२१३ से पूर्व कभी हुई होगी।

उज्जैन में परमारों के शासन पर दिल्ली के सुल्तानों ने अन्तक आघात किया था। कुतबुद्दीन ऐबक, जब वह इतिहास प्रसिद्ध मुहम्मद गौरी का प्रतिनिधि ही था, उज्जैन के सीमान्त प्रदेशों तक विनाश करता चला गया था।† चालीस वर्ष पश्चात् कुतबुद्दीन के जँवाई और इलबरी शासकों में सबसे बड़े सुल्तान इल्तुतमिश (१२११-१२३६ ईसवी) का उज्जैन नगरी पर निर्दय आक्रमण हुआ। नगर नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया और महाकाल का मन्दिर पूर्ण रूप से ध्वस्त किया गया था। सुलतान अपने साथ महाकाल की तथा पीतल की ढली हुई विक्रमादित्य आदि की मूर्त्तियाँ दिल्ली ले गया और उसने उन्हें जामा मसजिद के द्वार पर रखवा दिया। अलाउद्दीन खिलजी (१२९६–१३१६) के अधिकारी मलिक ऐन-उल-मुल्क ने उज्जैन तथा मालवा के अन्य प्रसिद्ध दुर्गों को बरबाद कर दिया।‡ ऐसा प्रतीत होता है कि इसके थोड़े समय पश्चात् ही विक्रमादित्य एवं नवसाहसांक की राजधानी दिल्ली के सुल्तानों के अधिकार में अन्तिम रूप से चली गई।

पन्द्रहवीं शताब्दी में मालवा के मुसलमान प्रान्तपति दिलावरखाँ गौरी ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया। सुलतानों ने महमूद खिलजी प्रथम के अधीन सर्वाधिक शक्ति प्राप्त की और उसने गौरी शासकों का उन्मूलन कर दिया। उज्जयिनी का, जिसकी प्रतिस्पर्धा धारा से थी ही, इस समय तक महत्त्व समाप्त हो चुका था। मालवा में मुसलमान शासक का केन्द्र माण्डू—शादियाबाद में था लेकिन पुरानी राजधानी उज्जैन को, जिले का प्रधान कार्यालय होने से थोड़ी बहुत प्रतिष्ठा रह गई थी। उज्जैन के समीप कालियादेह पर सुल्तान नसीरुद्दीन खिलजी (१५००-१५१० ई०) ने बाग फीरोज में एक प्रासाद निर्मित कराया जिसकी जहाँगीर ने भी प्रशंसा की है। अन्तिम खिलजी सुलतान के शासनकाल में उज्जैन पर राजपूत अधिकारी सिलाहदी पूरबीय ने, जिसने दरबार में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था, अधिकार कर लिया। गुजरात के सुलतान बहादुर ने जिसने १५३१ ई० में मालवा हस्तगत कर लिया था, इस राजपूत अधिकारी का उज्जैन पर स्वत्व स्वीकृत किया। इसने अपने आपको विपरीत सिद्ध किया और उज्जैन का अधिकार दर्याखां मन्दोवाली को प्राप्त हुआ।

मुगल सम्राटों के अभ्युदय की कहानी में उज्जयिनी का प्रमुख स्थान है। सुलतान बहादुर के विरुद्ध हुमायूं ने अभियान किया और ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपना केन्द्रीय कार्यालय इसी प्रसिद्ध नगर में स्थापित किया था। उसने उस गुजरात के शासक को परास्त किया था और उसके पश्चात् उत्पन्न होनेवाली अव्यवस्था में मालवा के खिलजी सुलतान के अधिकारी मल्लूखाँ ने उज्जैन नगर को घेर लिया तथा उसमें आश्रय लेनेवाले मुगलों के अधिकारियों को आत्म-समर्पण के लिए बाध्य किया। वह किसी प्रकार साम्राज्य-समर्थकों द्वारा भगा दिया गया। हुमायूं के आगरा लौट

* प्रियदर्शिका (नरीमॅन आदि द्वारा अनूदित) पृष्ठ XXXVII † तबकात-इ-नासिरी (Raverty) खण्ड १, पृष्ठ ५१७। ‡ Briggs, 1, 361. तबकात-इ-अकबरी (दे) खण्ड ३, पृष्ठ ५६९; *Memoirs of Jahangir* (Rogers), खण्ड १, पृष्ठ ३५४। तबकात-ए-अकबरी (दे), खण्ड ३, पृष्ठ ३५६ तथा ६१५-१६। अकबरनामा (Beveridge), खण्ड १, पृष्ठ ३०१। वही, पृष्ठ ३१८।

जाने पर मल्लूखाँ ने कादिरशाह उपाधि धारण करके अपने आपको सुल्तान घोषित कर दिया। ऐसा प्रतीत होता है कि उज्जैन को उसने अपनी राजधानी बनाया। मालवा-विजय के समय शेरशाह ने अपनी उपस्थिति से इस नगर को सुशोभित किया और इसे शुजाअतखाँ को प्रदान किया किन्तु इस्लामशाह ने उसका स्थान कुछ समय के लिए ईसाखां सूर को दिया। शुजाअतखाँ ने शासनाधिकार पुनः प्राप्त होने पर नगर की शासन व्यवस्था के लिए अपने दत्तक पुत्र दौलतखाँ अजियाला को नियुक्त किया। शुजाअतखाँ के दूसरे पुत्र मियाँ बायाजीद ने, जो बाजबहादुर उपाधि के साथ सिंहासन पर बैठा था और अपने समय के उच्चकोटि के गायक के रूप में तथा सुन्दरी रूपमती का प्रेमी होने के लिए प्रसिद्ध था, दौलतखां का वध करके नगर पर अधिकार किया।* जब अकबर के अधिकारियों ने पुनः मालवा पर विजय प्राप्त की, उज्जैन पीरमुहम्मद को प्रदान की गई।† मालवा के सूबे में इसी नाम की सरकार का यह केन्द्रीय नगर बना दिया गया। हॉकिन्स (Hawkins) (१६०८-१३ ई०) लिखता है—"उजम" (Ugam) मालवा का प्रधान नगर था और सर टॉमस रो (Thomas Roe) इस मत का समर्थन करता है। डीलेट (Delact, १६३१ ई०) तथा मंडेल्स्लो (Mandelslo, १६३८ ईसवी) मालवा की राजधानी का नाम रन्तिपुर लिखते हैं। एक प्राचीन मानचित्र में इसकी स्थिति उज्जैन के उत्तर में दिखाई गई है, किन्तु कुछ विद्वान् इसे जयपुर राज्यान्तर्गत रणथंभोर मानते हैं।‡

सत्रहवीं शताब्दी के योरोपीय यात्रियों के वर्णन सूचित करते हैं कि उस काल में भी दक्षिण से गंगा के दोआब को जाने वाले मार्ग पर एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र के रूप में उज्जैन की स्थिति अक्षुण्ण थी। राल्फ फिट्श (Ralf Fitch) लिखता है कि नगर में कपास, सूती वस्त्र का व्यापार समृद्ध था और वहाँ औषधियों का प्रचुर संग्रह था।⁑ आइन-ए-अकबरी के अनुसार उज्जैन की सरकार की राजस्व की आय ४३,८२७,९६० दाम थी। मनुक्सी, जिसने राजकीय कागद-पत्र देखे थे, लिखता है कि 'उजेन' (Ugen) का प्रदेश केन्द्रीय राजकोष को दो कॅरोल (Carols) देता था।⁂

उज्जैन के समीप ही धरमत है जो उस नाटक के प्रथम दृश्य का प्रेक्षक था जिसका अन्त आलमगीर (१६५८-१७०७ ई०) द्वारा सिंहासन प्राप्त कर लेने पर हुआ था।

मालवा के मुगल प्रान्तपतियों में प्रसिद्ध राजपूत राजा सवाई जयसिंह था, जिसका संस्कृति के केन्द्र के रूप में उज्जैन की कीर्ति के प्रति किया गया सत्प्रयास निरूपण की अपेक्षा नहीं करता।

अठारहवीं शताब्दी के लगभग मध्य में एक नवीन दृश्य का प्रादुर्भाव हुआ। पेशवा बाजीराव प्रथम (१७२०-१७४० ई०) की सेनाएँ मालवा में पहुँची। सन् १७२६ ई० में उन्होंने अपने प्रतिनिधि रानोजी शिन्दे तथा मल्हारराव होल्कर को उस प्रान्त की चौथ तथा सरदेशमुखी ग्रहण करने का अधिकार दिया। आलीजाह शिन्दे राजवंश के संस्थापक रानोजी (१७२६-४५ ई०) ने महाकाल तथा विक्रम की प्राचीन नगरी में अपना केन्द्रीय कार्यालय स्थापित किया। उसके वंश के राजा अहमदशाह अब्दाली से भारतवर्ष की रक्षा करने के लिए वीरता से लड़े। इस राजवंश के महत्तम शासक महादजी शिन्दे (१७६१-९४ ई०) उच्च श्रेणी के राजनीतिक वैचक्षण्य-युक्त एवं श्रेष्ठ सामरिक प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति थे। उनके अधीन अन्तिम बार उज्जैन एक विस्तृत राज्य की राजधानी बनी। महादजी के उत्तराधिकारी दौलतराव द्वारा राजधानी का स्थानान्तर लश्कर को होने के साथ ही "राजाओं की राज्यपीठ" की पदावनति प्रान्तीय नगर के रूप में हो गई। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि हम सुबन्धु के "सा रसवत्ता विहता" क्रन्दन की पुनरावृत्ति करें। उज्जयिनी के गर्भ में आज भी एक महान् भविष्य प्रसवोन्मुख है।

---

* मल्लूखां, शुजाअतखाँ तथा बाजबहादुर के लिए देखिए तबकात-इ-अकबरी (दे) खण्ड ३, पृष्ठ ६१७-६२९।

† अकबरनामा (Beveridge), खण्ड २, पृष्ठ २१४।

‡ *Early Travels in India* (Foster), पृष्ठ १००; De Lact, *Empire of the Great Mogols* (Hoyland and Banerjee) पृष्ठ ९; Luard, *Gwalior Gaz.* पृष्ठ ३०५।

⁑ Foster, *Early Travels*, पृष्ठ १७, Luard, *Gwalior Gaz.* खण्ड १, पृष्ठ ३०४।

⁂ आइन-इ-अकबरी खण्ड २, पृष्ठ १९८, Catrou's edition of *Manucci* (बंगवासी), पृष्ठ ३५८।

प्राचीन भारत में उज्जैन का स्थान

श्री बैजनाथ पुरी, एम० ए०, एल-एल० बी०

सम्राट् विक्रमादित्य की द्विसहस्राब्दिक जयन्ती मनाते समय, उनकी राजधानी उज्जैन पर साहित्यिक तथा ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्रकाश डालना अति उपयुक्त होगा। क्षिप्रा नदी के दाहिने किनारे पर बसा हुआ उज्जैन आज भी अपनी प्राचीन संस्कृति और सभ्यता के लिए प्रसिद्ध है। इस प्राचीन नगर ने भारतीय इतिहास के लगभग २५०० वर्षों का उथल-पुथल अपने नेत्रों से देखा। कौशल-सम्राट् उदयन की सुन्दरी रानी वासवदत्ता ने यहीं अपने बाल्यकाल के स्वर्ण दिवस व्यतीत किये थे, अशोक ने अपने पिता बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् यहीं से अपने को सम्राट् घोषित किया था, सम्राट् चष्टन की राजधानी के नाते व्यापार का यह प्रसिद्ध केन्द्र था और यहीं से होकर सार्थवाह भड़ौंच और सोपारा के बन्दरगाह को जाते थे। यह वही स्थान है जहाँ सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, वेतालभट्ट, घटकर्पर, कालिदास, वराहमिहिर और वररुचि नामक नवरत्नों के साथ अपना दरबार करते थे। इस प्राचीन नगर का इतिहास पूर्ण रूप से सुरक्षित है और यहाँ यह कहना अपयुक्त न होगा कि यद्यपि प्राचीन काल के अन्य स्थान जैसे कौशल, तोशाली, सुवर्णगिरि उत्थान के पश्चात् पतन की ओर अग्रसर हुए, उज्जैन अब भी उसी नाम से भारत में प्रसिद्ध है।

उज्जैन विशाला, पद्मावती, भोगवती तथा हिरण्यवती नामों से प्राचीन भारत में प्रसिद्ध था। हिन्दुओं के सात विशाल तीर्थों में यह एक तीर्थ था। धार्मिक मतानुसार यह नगर प्राचीन काल से विख्यात था। यहीं पर शिवजी की प्रथम पत्नी सती की कुहनी कटकर गिरी थी। इसी से इसका नाम पीकस्थान पड़ा। इस नगर की ऐतिहासिक महत्ता ईसवी पूर्व छठी शताब्दी से आरम्भ होती है। उस समय प्राचीन भारत में सोलह जनपद अथवा राष्ट्र थे। इनमें से एक अवन्ति भी था जिसकी सीमा वर्त्तमान मालवा, निमाड़ तथा मध्य-प्रदेश में स्थित कुछ स्थानों तक सीमित थी। डाक्टर भांडारकर के मतानुसार यह जनपद दो भागों में विभाजित था—उत्तरी भाग की राजधानी उज्जैन थी; और दक्षिण भाग जिसे अवन्ति-दक्षिणापथ कहते थे, उसकी राजधानी माहिस्सती अथवा माहिष्मती थी, जिसकी समानता नर्मदा पर स्थित वर्त्तमान मानधात से की जाती है। उस समय अवन्ति के सिंहासन पर प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था। उसके तीन पुत्र थे, जिनके नाम गोपालक, पालक और कुमारसेन थे। इसके अतिरिक्त उसके वासवदत्ता नामक एक कन्या भी थी जो बाद में कौशल-सम्राट् उदयन की प्रधान रानी हुई। प्रद्योत के चरित्र के विषय में महाभाग* में लिखा है कि वह क्रूर था किन्तु सच यह है कि उसने पास के राजाओं को अपने आधिपत्य में कर लिया था। उसकी बढ़ती हुई शक्ति के डर से मगध सम्राट् बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु ने अपनी राजधानी राजगृह को सुरक्षित कर लिया था। इस बात का पता मज्झिम निकाय से चलता है। धम्मपद की टीका में प्रद्योत की पुत्री वासवदत्ता और उदयन के विवाह का उल्लेख है और इसी आधार पर

* सैकरेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, जिल्द १७, पृष्ठ १८७।



दण्डिन् ने भी अपनी वासवदत्ता लिखी। उज्जैन इसी अवन्ति-सम्राट् प्रद्योत की राजधानी थी। ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व यह मगध साम्राज्य में चली गई और तभी से मौर्य्य सम्राट् की ओर से यहाँ एक राज्य-प्रतिनिधि रहने लगा। उज्जैन में एक प्रसिद्ध विहार था और बौद्धकाल में श्रावस्ती से पैठन जाते समय उज्जैन विश्राम का स्थान था।*

ईसा से चौथी शताब्दी पूर्व उज्जैन मौर्य्य साम्राज्य में चला गया। महाबोधिवंश (पृष्ठ ९८) में लिखा है कि मौर्य्य साम्राज्य में उज्जैन अवन्ति-प्रान्त की राजधानी थी और अशोक को उसके पिता बिन्दुसार ने यहाँ राज्य-प्रतिनिधि बनाकर भेजा था। उज्जैन एक प्रसिद्ध नगर ही नहीं, किन्तु मौर्य्य साम्राज्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था, अशोक के कलिंग के लेख से यह पूर्णतया विदित है। धर्म प्रचार के लिए वहाँ से महामात्र भेजे जाते थे। महाबोधिवंश (पृष्ठ ११६) के अनुसार सम्राट् अशोक अपने पिता के समय में उज्जैन में राज्य-प्रतिनिधि था। यहीं उसने वेदिसा महादेवी से विवाह किया था। बिन्दुसार की मृत्यु के पश्चात् यहीं से अशोक ने अपने सिंहासनारूढ़ होने की घोषणा की थी।

मौर्य्य साम्राज्य के अन्त के साथ ही साथ उज्जैन की प्रभुता भी घट गई, किन्तु क्षत्रप राजाओं के समय में चष्टन की यह राजधानी हो गई। टालेमी† के कथनानुसार ओजीन अथवा उज्जैन चष्टन की राजधानी थी। यह अभी प्राचीन प्रभुता थोड़े ही दिन तक रख सका था कि गौतमीपुत्र शातकर्णि ने चष्टन को हराकर इसपर अधिकार कर लिया। इस बात का पता गौतमी के नासिक के लेख‡ से लगता है। इसमें गौतमीपुत्र की राज्यसीमा में अवन्ति का भी उल्लेख है। सातवाहनों का अधिकार अधिक समय तक उज्जैन पर न रह सका। शीघ्र ही रुद्रदामन ने अवन्ति तथा अन्य प्रदेशों को फिर से अपने अधिकार में कर लिया जैसाकि आन्ध्र§ और गिरनार¶ के लेखों से विदित है। यह लेख क्रमशः शक संवत् ५२ और ७८ के रुद्रदामन के समय के हैं। उज्जैन फिर क्षत्रपों की राजधानी हो गई। इस समय में इसने बड़ी उन्नति की। पेरीप्लस में लिखा है कि यह एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। सोपारा और भड़ौंच नामक बन्दरगाहों को यहीं से माल जाता था। यहाँ से मुख्यतया सुलेमानी पत्थर, मलमल तथा भाँति भाँति की मणि और रेशमी वस्त्र बाहर भेजे जाते थे। क्षत्रप राजाओं का अन्त चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने किया और उस समय से यह गुप्त साम्राज्य में सम्मिलित हो गया।

परम्परागत कथा प्रसिद्ध है कि यहीं विक्रमादित्य अपने नवरत्नों के साथ राज्यसभा करता था। इन नवरत्नों में कालिदास का स्थान संस्कृत साहित्य में सबसे श्रेष्ठ और उच्च है। कालिदास के मेघदूत में जिस नगरी का मार्ग, कवि ने यक्ष द्वारा बतलाया है, उससे यह प्रतीत होता है कि उसका तात्पर्य उज्जयिनी से ही रहा होगा। कालिदास ने श्लोकों में उज्जयिनी का वर्णन किया है। इन श्लोकों में वहाँ की अपार सम्पत्ति, क्षिप्रा नदी सम्बन्धित कथाएँ, प्रसिद्ध महादेव का मन्दिर, सन्ध्याकाल की आरती तथा नृत्य और रात्रि में अभिसारिकाओं का प्रेम-मिलन बड़े सुन्दर रूप से वर्णित है। इससे कालिदास का उज्जैन अथवा उज्जयिनी से सम्बन्ध प्रतीत होता है।

गुप्त सम्राटों के पश्चात् महाराज हर्ष के समय में भी यह एक प्रसिद्ध नगर रहा। उसका उल्लेख हुएनच्वांग** ने किया है। उसका कहना है कि यहाँ के लोगों की चाल-ढाल सुराष्ट्र के लोगों की जैसी थी। यहाँ के लोग धनी थे। यहाँ कोई ३०० बौद्ध पुरोहित थे जो हीनयान तथा महायान मतों के अनुयायी थे। यहाँ पर बहुत से मन्दिर भी थे जो भिन्न भिन्न मतों के थे।

उज्जैन भारत के बाहर भी प्रसिद्ध था, इसका पता एक चीनी पुस्तक से लगता है††। इसमें लिखा है कि ५४८ ई० में परमति नामक एक उज्जैन निवासी को लायनवंश के सम्राट् वू ने बुलाया था और वह चीन के दक्षिणी भाग में उतरा।

सम्राट् हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उत्तरी भारत में राज्य-विप्लव हुआ। उज्जैन इस ठोकर को न सह सका। इसका परिणाम यह हुआ कि यह अपनी उन्नति के शिखर से गिर गया। यहाँ पहिले परमार राजाओं का आधिपत्य रहा किन्तु निकटवर्ती गुजरात के चालुक्य, चेदी के कलचुरी, बुन्देलखंड के चन्देल, और मान्यखेट के राष्ट्रकूट राजाओं की सदैव इस पर नियत रही। परमारों के पश्चात् यहाँ तोमर राजपूतों का राज्य रहा, किन्तु इनके पश्चात् से उज्जैन का अधःपतन आरम्भ हुआ और यह देहली के मुसलमान बादशाहों के हाथ में चला गया।

इस प्रकार प्राचीन भारत में उज्जैन का उच्च स्थान रहा। ईसवी पूर्व छठी शताब्दी में प्रद्योत के समय से तोमर राजपूत राजाओं के समय तक यह उन्नति के शिखर पर रहा। कभी कभी यह विप्लवों की ठोकरों को न सह सका जिससे यह पतन की ओर अग्रसर हुआ; किन्तु समस्त हिन्दू राजाओं ने इसे अपनाया। आज भी शिन्दे राजवंश के छत्र के नीचे यह एक प्रफुल्लित और फलता-फूलता नगर है। सम्राट् विक्रमादित्य की याद के लिए अब भी यही नगर बाकी है।

---

* रायस डेविड्स्—बौद्ध भारत, पृष्ठ १०३। † प्राचीन भारत, पृष्ठ १४६। ‡ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ८, पृष्ठ ६०। § वहीं, जिल्द १६, पृष्ठ १९। ¶ वहीं, जिल्द ८, पृष्ठ ३६। ** बील, जिल्द २, पृष्ठ २१०। †† राधाकुमुदः इण्डियनशिपिंग, पृष्ठ १६७।

संस्कृत साहित्य में उज्जयिनी

श्री गोपीकृष्ण द्विवेदी शास्त्री व्याकरणाचार्य

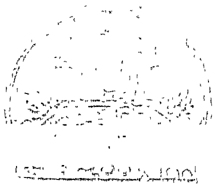
इस विशाल भारतवर्ष के इतिहास में अवन्तीदेश अथवा मालव देश का स्थान भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस देश की प्रधानतम एवं प्राचीनतम नगरी उज्जयिनी को अतीतकाल में कई शताब्दियों तक राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इसका वर्णन ऋग्वेद तथा महाभारत एवं पुराण और कालिदास आदि महाकवियों की रचनाओं में उपलब्ध होता है। इसी पुनीत पुरी में भूतभावन भगवान् भवानीपति महाकालेश्वर विराजमान हैं।

गीता के उपदेश द्वारा संसारसागर में जन्म-मरण के आवर्तों में फँसकर नाना प्रकार के क्लेशों से पीड़ित होनेवाले प्राणियों को चिरशान्ति प्रदान करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण भी अपने ज्येष्ठबन्धु बलराम के साथ विद्योपार्जन के लिए इसी उज्जयिनी में पूज्य गुरुवर सान्दीपनि महर्षि के पास उपस्थित हुए थे। यह वृत्तान्त श्रीमद्भागवत के निम्नलिखित पद्य से सुस्पष्टतया प्रतीत होता है:—

"अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजग्मतुः। काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥"

महाभारत के युद्ध में उज्जैन के राजा विन्द और अनुविन्द दुर्योधन की सहायता करने के लिए सम्पूर्ण सेना समेत उपस्थित हुए थे। इस विषय में महाभारतकार लिखते हैं:—

"आवन्त्यौ च महीपालौ सर्वसैन्यसमन्वितौ। बिन्दानुबिन्दौ" इत्यादि। —महाभारत, उद्योगपर्व।



इसी प्रकार कविकुलगुरु कालिदास की अमृतमयी वाणी ने उज्जयिनी के गुणगान में अपना अपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। देखिये रघुवंश महाकाव्य के छठे सर्ग में स्वयंवर के अवसर पर इन्दुमती के सम्मुख आगन्तुक राजाओं का परिचय देती हुई सुचतुरा सुनन्दा उज्जयिनी-नाथ के साथ विवाह करने के लिये उससे आग्रह करती है—

"अवन्तिनाथोऽयमुदग्रबाहुर्विशालवक्षास्तनुवृत्तमध्यः। आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजास्त्वष्ट्रेव यत्नोल्लिखितो विभाति ॥३२॥
अस्य प्रयाणेषु समग्रशक्तेरग्रेसरैर्वाजिभिरुत्थितानि। कुर्वन्ति सामन्तशिखामणीनां प्रभाप्ररोहास्तमयं रजांसि ॥३३॥
असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः। तमिस्रपक्षेऽपि सह प्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान् ॥३४॥
अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु! कच्चिन्मनसो रुचिस्ते। शिप्रातरंगानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु ॥३५॥"
—(रघुवंश, षष्ठ सर्ग)

कालिदास के सुललित काव्य मेघदूत का नायक विरही यक्ष मेघ को उज्जयिनी मार्ग से जाने के लिये आग्रह करता है—

"वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशां। सौधोत्संगप्रणयविमुखो मास्म भूरुज्जयिन्याः॥
विद्युद्दामस्फुरितचकितैस्तत्र पौरांगनानां। लोलापांगैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२७॥" (पूर्वमेघ)
आकर्षण उत्पन्न करने के लिये उज्जयिनी के वैभव का सुविस्तृत रूप से वर्णन करता है—
"प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्। पूर्वोद्दिष्टामनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्॥
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां। शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत् खण्डमेकम् ॥३०॥
दीर्घीकुर्वन् पटु मदकलं कूजितं सारसानां। प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः॥
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमंगानुकूलः। सिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनाचाटुकारः ॥३१॥
हारांस्तारांस्तरलगुटिकान्कोटिशः शंखशुक्तीः। शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्॥
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रुमाणां च भंगान्। संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥
प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे। हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः॥
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाटच दर्पा। दित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥
पत्रश्यामा दिनकरहयस्पर्धिनो यत्र वाहाः। शैलोदग्रास्त्वमिव करिणो वृष्टिमन्तः प्रभेदात्॥
योधाग्रण्यः प्रतिदशमुखं संयुगे तस्थिवांसः। प्रत्यादिष्टाभरणरुचयश्चन्द्रहासव्रणांकैः॥

नागरिकों की विलासिता एवं ललनाओं की शृंगारप्रियता का सुन्दर चित्र अंकित करते हुए कविकुलगुरु ने कैसा उत्तम वर्णन किया है—

"जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः। बन्धुप्रीत्या भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः॥
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं नयेथाः। लक्ष्मीं पश्यन् ललितवनितापादरागांकितेषु॥ (पूर्वमेघ)

इसी प्रकार उज्जयिनी नगरी के अधिष्ठातृ देवता तथा **"आकाशे तारकं लिंगं पाताले हाटकेश्वरम्। मृत्युलोके महाकालं दृष्ट्वा मोक्षमवाप्नुयात्॥"** इत्यादि धार्मिक वचनानुसार परमदर्शनीय भगवान् महाकालेश्वर के दर्शन के लिए मेघ से अनुरोध करते हुए काव्यनायक यक्ष ने कहा है—

"भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः। पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धाम चण्डीश्वरस्य॥
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्याः। तोयक्रीडानिरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः॥
अप्यन्यस्मिञ्जलधर महाकालमासाद्य काले। स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति भानुः॥
कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाः। मामन्द्राणां फलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥
पादन्यासैः क्वणितरशनास्तत्र लीलावधूतैः। रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः॥
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्य वर्षाग्रबिन्दू। नामोक्ष्यन्ते त्वयि मधुकरश्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥

पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः। सांध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः॥
नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां। शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥ (पूर्वमेघ)

इस प्रकार कवि श्रीमहाकालेश्वर की सेवा का उपदेश देकर अन्धकारमय रात्रि में अपने प्रियतम के निकट जाती हुई अभिसारिकाओं को सहायता करने का परामर्श देता है—

गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र नक्तं। रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः॥
सौदामिन्या कनकनिकषस्निग्धया दर्शयोर्वीं। तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मा स्म भूर्विक्लवास्ताः॥ (पूर्वमेघ)

महाकवि भास–जो कालिदास के पूर्ववर्ती गिने जाते हैं–ने अपने सुप्रसिद्ध एवं लोकप्रिय वासवदत्ता एवं उदयन के अद्भुत चरित्र से भूषित स्वप्नवासवदत्त नामक नाटक में कई स्थानों पर उज्जयिनी का उल्लेख किया है :—

(१) **पद्मावती—अत्थि उज्जइणीओ राआ पज्जोदोणाम। तस्स बलपरिमाणणिव्वुत्तं णामधेअं महासेणोत्ति। (अस्ति उज्जयिनीयो राजा प्रद्योतो नाम। तस्य बलपरिणामनिर्वृत्तं नामधेयं महासेन इति)**

(२) **हलाएवं उज्जइणीओ जणो मन्तेदि (हला एवं उज्जयिनीयो जनो मन्त्रयते।)–स्वप्नवासवदत्त, द्वितीयांक।**

इसी प्रकार राजा उदयन उसी नाटक चतुर्थांक में विदूषक से कहता है :—

कामेनोज्जयिनीं गते मयि तदा कामप्यवस्थां गते। दृष्ट्वा स्वैरमवन्तिराजतनयां पञ्चेषवः पातिताः॥
तैरद्यापि सशल्यमेव हृदयं भूयश्च विद्धा वयं। पञ्चेषुर्मदनो यदा कथमयं षष्ठः शरः पातितः॥

—स्वप्नवासवदत्त, चतुर्थांक।

पञ्चमांक में भी कहानी सुनाते हुए विदूषक ने राजा से कहा है :—

अत्थि णअरी उज्जइणी णाम। तंहि अहिअरमणीआणि उदआण्हाणाणि वत्तन्ति किल (अस्ति नगरी उज्जयिनी नाम। तत्र अधिकरमणीयान्युदकस्नानानि वर्तन्ते किल)

उपर्युक्त स्थानों पर महाकवि भास ने उज्जयिनी का उल्लेख किया है।

इसी प्रकार महाकवि गुणाढ्यरचित बृहत्कथा के अनुवादरूप कथासरित्सागर के कथानकों में भी इस पुण्यपुरी उज्जयिनी का उल्लेख कई जगह उपलब्ध होता है :—

(१) **सोऽपि चण्डमहासेन उज्जयिन्यामचिन्तयत्॥ —कथासरित्सागर-कथामुखलम्बक, द्वितीय तरंग।**

(२) **उज्जयिन्यां स्मशाने यत् शृणु तत्कथयामि ते —कथासरित्सागर कथापीठलम्बक, द्वितीय तरंग।**

(३) **अस्त्यवन्तीषु विख्याता युगादौ विश्वकर्मणा। निर्मितोज्जयिनी नाम पुरारिवसतिः पुरा॥**

—कथासरित्सागर विषमशीललंबक, द्वितीय तरंग।

महाकवि शूद्रक के सुललित मृच्छकटिक नामक प्रकरण का नायक चारुदत्त तथा उसकी प्रियतमा वसन्तसेना इसी उज्जयिनी की शोभा को वृद्धिगत करते थे :—

अवन्तिपुर्यां द्विजसार्थवाहो युवा दरिद्रः किल चारुदत्तः। गुणानुरक्ता गणिका च तस्य वसन्तशोभेव वसन्तसेना॥

—मृच्छकटिक प्रस्तावना।

दशकुमारचरित के नायक राजहंस का प्रतिपक्षी अर्थात् कथा का प्रतिनायक मानसार उज्जयिनी का शासक था :—

(१) **मानी मानसारो मालवाधीश्वरो वार्धकस्य प्रबलतया निजनन्दनं दर्पसारमुज्जयिन्यामभ्यषिञ्चत्॥**

—दशकुमारचरित पूर्वपीठिका, चतुर्थोच्छ्वास।

(२) प्राप्य चोज्जयिनीं तदैव सहायभूतैस्तैः कुमारैः परिवृतेन राजवाहनेनातिबलवानपि मालवेशो मानसारः क्षणेन पराजिग्ये हतश्च।

—दशकुमारचरित उत्तरपीठिका।

काश्मीर-शासकों के परम प्रामाणिक इतिहासग्रन्थ महाकवि कल्हणनिर्मित राजतरंगिणी में भी उज्जयिनी का उल्लेख उपलब्ध होता है :—

तत्रानेहस्युज्जयिन्यां श्रीमान् हर्षापराभिधः। एकच्छत्रश्चक्रवर्ती विक्रमादित्य इत्यभूत् ॥

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग।

महाकवि परिमल ने भी स्वरचित नवसाहसांकचरित नामक काव्य के प्रारम्भ में—

अस्ति क्षितावुज्जयिनीतिनामा पुरी विहायस्यमरावतीव। बबन्ध यस्यां पदमिन्द्रकल्पः श्री विक्रमादित्य इति क्षितीशः॥ इस पद्य से लेकर—

कृतावधानातिशयेन मन्ये या वेधसा मध्यमलोकरत्नम्। स्वशिल्पविज्ञानपरप्रकर्षप्रकाशनायात्र विनिर्मितेन ॥

इस पद्य तक ४० श्लोकों के द्वारा उज्जयिनी का वर्णन किया है। इसी प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने अपने सुप्रसिद्ध महाकाव्य नैषधीयचरित में दमयन्ती के साथ परिणयन की आशा से स्वयंवर मण्डप में अपने अपने मंचों पर विराजमान हुए राजाओं का परिचय कराती हुई सरस्वती के द्वारा उज्जयिनी का वर्णन करवाया है :—

प्रत्यर्थियौवतवतंसतमालमालोन्मीलत्तमःप्रकरतस्करशौर्यसूर्ये। अस्मिन्नवन्तिनृपतौ गुणसन्ततीनां विश्रान्तिधामनि मनो दमयन्ति किं ते ॥८८॥

तत्रानुतीरवनवासितपस्विविप्रा शिप्रा तवोर्मिभुजया जलकेलिकाले। आलिंगनानि ददती भविता वयस्या हास्यानुबन्धिरमणीयसरोरुहास्या ॥८९॥

अस्याधिशय्य पुरमुज्जयिनीं भवानी जागर्ति या सुभगयौवतमौलिमाला। पत्यार्धकायघटनाय मृगाक्षि तस्याः शिष्या भविष्यसि चिरं वरिवस्ययापि ॥९०॥

निश्शंकमंकुरिततां रतिवल्लभस्य देवः स्वचन्द्रकिरणामृतसेचनेन। तत्रावलोक्य सुदृशां हृदयेषु रुद्रस्तद्देहदाहफलमाह स किं न विद्मः ॥९१॥

आगश्शतं विदधतोऽपि समिद्धकामा नाधीयते परुषमक्षरमस्य वामाः। चान्द्री न तत्र हरमौलिशयालुरेकानध्यायहेतुतिथिकेतुरपैति लेखा ॥९२॥

महाकवि कृष्णानन्दकृत सहृदयानन्द महाकाव्य में दमयन्ती को मार्ग प्रदर्शन कराते हुए नल ने उसे उज्जयिनी का परिचय कराया है—

पुरश्चकोराक्षि विलोकय त्वं य एव दीर्घः सरलश्च पन्थाः। शिप्रातरंगैः परिरभ्यमाणां पुण्यामवन्तीमयमभ्युपैति ॥
तस्यां महाकालकृतास्पदस्य देहार्धतां शूलभृतः प्रपन्नाम्। आराध्य गौरीं व्रज दक्षिणाशां दिदृक्षसे चेद् गिरिमृक्षवन्तम् ॥

वाराहपुराण में अवन्तिका (उज्जयिनी) को मणिपूरचक्र (शरीर का नाभिदेश) कहा गया है। और उस प्रदेश के अधिष्ठातृदेवता श्रीमहाकालेश्वर माने गये हैं—

आज्ञाचक्रं स्मृता काशी या बाला श्रुतिमूर्धनि।
स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका ॥
नाभिदेशे महाकालस्तन्नाम्ना तत्र वै हरः।

श्री गोपीकृष्ण शास्त्री व्याकरणाचार्य

माधवकृत शंकरदिग्विजय के पन्द्रहवें सर्ग में श्रीशंकराचार्य के द्वारा शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर आदि सम्प्रदाय-वादियों को अद्वैत-सिद्धान्त के अनुयायी बनाने के पश्चात् आचार्यप्रवर की उज्जयिनी-यात्रा का वर्णन किया गया है :—

इति वैष्णवशैवशाक्तसौरप्रमुखानात्मवशंवदान् विधाय।
अतिवेलवचोझरीनिरुक्तप्रतिवाद्युज्जयिनीं पुरीमयासीत् ॥
मकरध्वजविद्विडाप्तिविद्वान् श्रमहृत्पुष्पसुगन्धवन्मरुद्भिः।
अगरूद्भवधूपधूपिताशं स महाकालनिवेशनं विवेश ॥ —शंकरदिग्विजय, १५ सर्ग।

कादम्बरी एवं हर्षचरित के रचयिता महाकवि बाण ने कादम्बरी के पूर्वार्ध में कथानायक चन्द्रापीड़ की जन्मभूमि उज्जयिनी का अत्यन्त रुचिर एवं विशद वर्णन किया है :—

अस्ति सकलत्रिभुवनललामभूता प्रसवभूमिरिव कृतयुगस्यात्मनिवासोचिता भगवता महाकालाभिधानेन भुवनत्रयसर्गस्थितिसंहारकारिणा प्रमथनाथेन...अवन्तीषूज्जयिनी नाम नगरी। —कादम्बरी पूर्वार्ध

गणितज्योतिष के उद्भट विद्वान् भास्कराचार्य ने भी निम्नलिखित पद्यों द्वारा उज्जयिनी का ज्योतिष सम्बन्धी महत्त्व प्रदर्शित किया है :—

यथोज्जयिन्याः कुचतुर्थभागे, प्राच्यां दिशि स्याद्यमकोटिरेव।
ततश्च पश्चान्न भवेदवन्ती, लंकैव तस्याः ककुभि प्रतीच्याम् ॥
यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशत्। सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः ॥
आदौ प्रागुदयोऽपरत्र विषये पश्चाद्धि रेखोदयात्। स्यात्तस्मात् क्रियते तदन्तरभवं खेटेष्वृणं स्वं फलम् ॥

—सिद्धान्तशिरोमणि, गोलाध्याय।

महाकवि राजशेखर ने स्वरचित काव्यमीमांसा में उज्जयिनी को कवियों की परीक्षाभूमि बतलाया है :—

श्रूयते हि उज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा।

तथाहि :— इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः। हरिचंद्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम् ॥

उन्हीं महाकवि ने उज्जयिनीनायक साहसांक (विक्रमादित्य) नरेश ने अपने अन्तःपुर में जो भाषानियमन किया था, उसके विषय में भी कहा है :—

श्रूयते चोज्जयिन्यां साहसांको नाम राजा, तेन च संस्कृतभाषात्मकमन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण।

—काव्यमीमांसा।

ज्योतिर्विदाभरणकर्ता कालिदास (?) ने भी विक्रमादित्य की राजधानी उज्जयिनी का उल्लेख किया है:—

यद्राजधान्युज्जयिनी महापुरी सदा महाकालमहेशयोगिनी ॥"

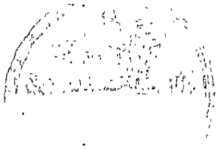
इसी प्रकार शिवमहापुराण में भी उज्जयिनी का कई स्थलों में उल्लेख किया गया है :—

अवन्तीनगरे रम्ये दीक्षितो ऋषिसत्तमाः। सत्कुलीनः सदाचारः शुभकर्मपरायणः ॥ —शिवपुराण, ज्ञान सं० ७५ अ०।

अवन्त्यां तु महाकालं शर्वं मध्यमकेश्वरे। —शिवपुराण, सनत्कुमार सं० ३१ अ०।

अवन्ती नगरी रम्या मुक्तिदा सर्वदेहिनाम्। शिप्रा चैव महापुण्या वर्तते लोकपावनी ॥ शिवपुराण ज्ञान सं० ४६ अ०।

अवन्ती नगरी रम्या तत्रादृश्यत वै पुनः। —शिवपुराण ज्ञान सं० ४६ अ०।



संस्कृत साहित्य में उज्जयिनी

इसी प्रकार कई जगह उज्जयिनी का उल्लेख किया गया है। स्कन्दपुराण में तो इस उज्जयिनी नगरी का अत्यन्त गौरवपूर्ण वर्णन किया है। इसका एक स्वतन्त्र 'अवन्तीखण्ड' ही है, जिसके 'लिंगमहात्म्य' एवं 'क्षेत्रमहात्म्य' नामक दो खण्ड हैं—

अवन्तिकायां विहितावतारं एवं—
अवन्ती पुण्यनगरी प्रतिकल्पोद्भवा शुभा।
अस्ति चोज्जयिनी नाम पुरी पुण्यफलप्रदा, यत्र देवो महाकालः सर्वदेवगणैस्तुतः ।। इत्यादि।

इसी तरह काशीखण्ड के सातवें अध्याय में शिववर्मा के आख्यान में कहा गया है कि उज्जयिनी आज तक भी कलियुग के प्रभाव से रहित है।

'लिंगपुराण' में उज्जयिनी के प्रसिद्ध ज्योतिर्लिंग महाकालेश्वर की महिमा का सुविस्तृत वर्णन किया है। वामन-पुराण के ८३वें अध्याय में परमभक्त प्रह्लाद का उज्जयिनी में आगमन तथा शिप्रा स्नान तथा महाकालेश्वर दर्शन उल्लिखित है।

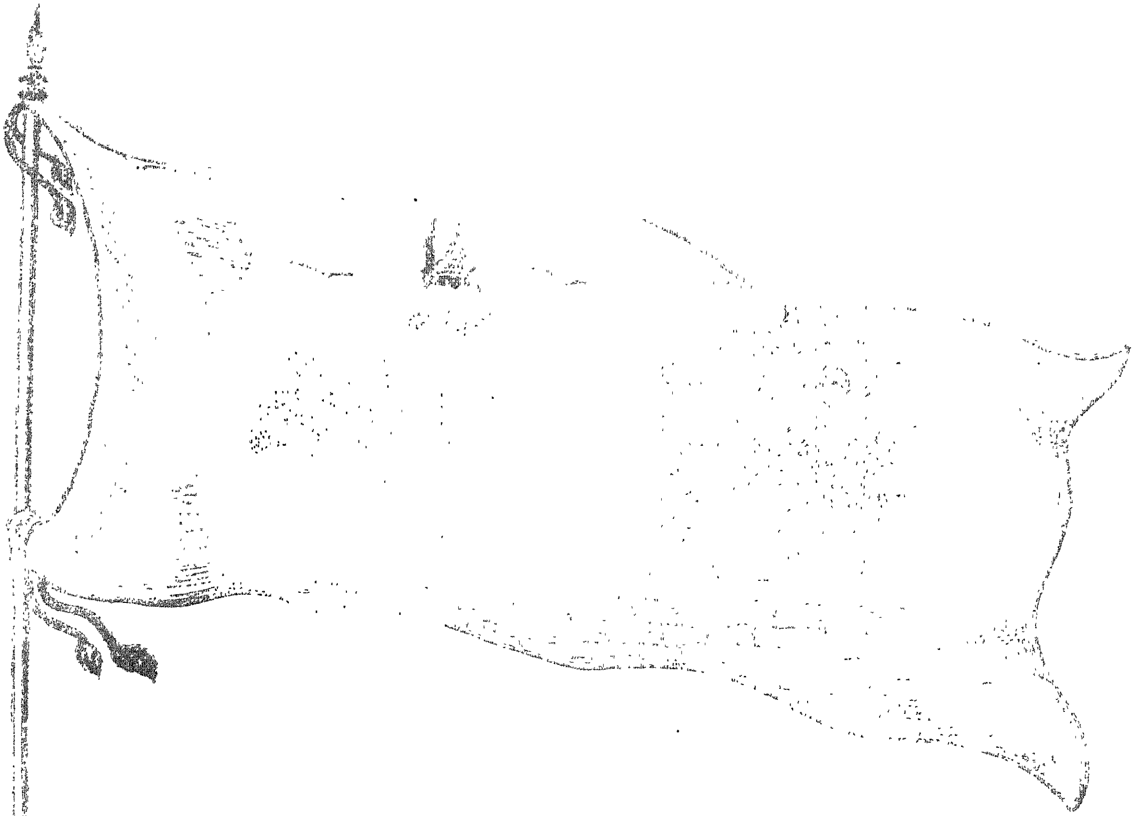
विष्णुपुराण के इक्कीसवें अध्याय में भगवान् श्रीकृष्ण तथा उनके ज्येष्ठ बन्धु बलराम का महर्षि सान्दीपनी के पास विद्याध्ययन के लिए आगमन सुविस्तृत रूप से उल्लिखित है। गरुड़पुराण में भी :—

"अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः ।।"

उक्त कथन के द्वारा उज्जयिनी को मोक्षपुरी माना गया है।

भविष्यपुराण के १४१वें अध्याय में उज्जयिनी का वर्णन है। इस प्रकार प्रायः समस्त संस्कृत वाङमय में इस प्राचीन गौरवमयी मालवललामभूता उज्जयिनी का वर्णन उपलब्ध होता है। प्रायः सभी महाकवियों ने इस पुनीत नगरी का गुणगान कर अपनी लेखनी को कृतार्थ माना है।





उज्जैन की पौराणिकता

श्री नारायणराव केशव सोरटी, एम्० ए०

'अवन्तिका', 'उज्जयिनी' और 'अवन्ती' देश की प्राचीनता के विषय में आज के इतिहासानुशीलन युग में अधिक बतलाने की आवश्यकता नहीं रहती। संस्कृत साहित्य और इतिहासप्रिय व्यक्तियों से यह छिपा नहीं है कि उक्त स्थान की महती प्रतिष्ठा, विद्वानों की, ग्रन्थ-प्रणेताओं की दृष्टि में सर्वदा रही है, काव्य-नाटककारों ने भी किसी न किसी प्रकार इस अवन्ती देश, एवं उज्जयिनी की गौरव-चर्चा करके अपने को सफल माना है। महाकवि कालिदास, भवभूति, दण्डी, शूद्रक, आदि प्रमुख कवि-कोविदों के नाम आज कौन नहीं जानता? इनके ग्रन्थों को जिन्होंने किसी भी भाषा में पढ़ा है, वे उज्जयिनी की चर्चा से विविधरूपेण अवश्य परिचित होंगे।

वैदिक काल की रूपक-चर्चा के अनन्तर, आरण्यक, और उपनिषद्काल में उज्जयिनी की महत्ता से आचार्यगण खूब परिचित थे, अनेक उपनिषदों में उज्जयिनी की महत्ता यथावसर प्रतिपादित की हुई है।

आज बीसवीं सदी में पुराणों को भी जिन लोगों ने इतिहास की कसौटी पर कसा है, वे पौराणिक कथानकों में ऐतिहासिक सत्य के स्पष्ट दर्शन करने लगे हैं। मोहंजोदारो की खुदाई, और इजिप्शियन, एवं सुमेर-संस्कृति के अवशेषों में पुराण-कथित नामावलियों की संगति यथावत् बैठने लगी है। पुराण केवल ठंडे पहर के गपोड़े, अथवा अलिफलैला के किस्से नहीं हैं, उनमें आलंकारिक रूप से जिन कथाओं का वर्णन किया गया है, उनके पात्र अवश्य ही भारत के गौरवास्पद व्यक्ति रहे हैं। नर्मदावेली-रिसर्च-बोर्ड ने तो प्रलय-पूर्व, एवं प्रलयानंतर सृष्टि का विवरण प्रकट करते हुए जिस ऐतिहासिक विवेचन को पौराणिक संशोधन के द्वारा उपस्थित किया



है, उसने बड़े बड़े विचारक विद्वानों, एवं पुरातत्त्वविदों का ध्यान सहसा आकर्षित कर लिया है। इधर अमृतवसन्त जैसे अध्ययनशील व्यक्ति ने, तथा अन्य विद्वानों ने पुराणों, और प्रागैतिहासिक संस्कृति का सुन्दर सामंजस्य स्थापित कर दिया है।

अवन्तिका प्राचीन काल से ही कथा-साहित्य की घटक भूमि रही है। प्रायः सभी पुराणों में, इस पावन भूमि का वर्णन अनेक रूप में पृष्ठों के पृष्ठों में भरा हुआ है। उज्जैन के अनेक स्थलों का जिनके इतिहास के विषय में इतिहास भी मौन है, वर्णन इन पुराणों में प्राप्त होता है, और आज भी सहस्रों वर्षों से इस भूमि पर पौराणिक संगति को सिद्ध करने के लिए वे स्थान यहाँ पर अपना अस्तित्व रखकर गौरव बढ़ा रहे हैं। इतिहास-निर्माण में, प्रायः युद्ध, सत्ता, शासक, आदि विशिष्ट घटना मात्र का वर्णन प्रायः रहता है, पुराणों के निर्माण का हेतु ही इतिहासावशिष्ट धार्मिक अंग की पूर्ति करना है, और इस रूप में, धार्मिक एवं आध्यात्मिक भावनाएँ जाग्रत करते रहने के लिए उन देश, नगर और उनके महत्त्वपूर्ण स्थानों का प्रेरक वर्णन करना है। वे एक प्रकार से 'गाइड्' हैं, और उनका रूपकालंकारपूर्ण वर्णन पूर्व-गौरव का स्मारक है। काशीखंड या अवन्तीखण्ड में काशी अथवा अवन्ती का स्तुतिपरक वर्णन करना तो स्वाभाविक है, परन्तु किसी भी देश-विशेष, या नगर-विशेष का वर्णन अनेक पुराण या ग्रन्थों में आदरपूर्वक ग्रथित प्राप्त हो तो उसकी विशेषता सर्वमान्य होती है। अवन्तिका (उज्जयिनी) के विषय में यही बात है। इस स्थल का वर्णन जैसाकि हम पहले कह चुके हैं सभी पुराणों में बहुत विशेषताओं के साथ किया गया है।

वाल्मीकीय रामायण पुराण ग्रंथों से विशेष प्राचीन ग्रंथ है। उसमें जिस समय सुग्रीव ने सीताजी के अनुसन्धानार्थ अपने दूतों को देश देशान्तरों में भिजवाया था, उसमें अवन्ती का भी नामोल्लेख हुआ है, किष्किंधाकांड में लिखा है— **'आव्रवन्तीमवन्तींश्च सर्वमेवानुपश्यत'** इसी प्रकार **'ब्रह्मनालान् विदेहांश्च मालवान् काशि-कौशलान्'** का उल्लेख भी है।

रामायण की तरह 'महाभारत' को लीजिए। उस समय भी यहाँ प्रसिद्ध राज्य माना जाता था। उस जमाने में एक साथ दो राजाओं के होने का वर्णन है। विन्द और अनुविन्द का प्रभावशाली राज्य यहाँ मौजूद था, इनका भयानक युद्ध सहदेव के साथ हुआ है। इनकी सैनिक शक्ति बड़ी प्रबल थी, महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३१) में इनका वर्णन आया है। "विन्दानविन्दावावन्त्यौ, सैन्येनमहताऽवृतौ। जिगाय समरेवीरावाश्वनेयः प्रतापवान्–ततो रत्नान्युपादाय" इत्यादि। इसी प्रकार एक समय उक्त पर्व के ३२ वें अध्याय में मालव के पश्चिम दिग्भाग में नकुल के साथ भी मालवों ने युद्ध किया था–

तान् दशार्णान् सजित्वाच प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः। ....ग्रष्ठान् मालवान् पंचकर्मणाम्॥"

गर्ग-संहिता भी बहुत प्राचीन ग्रंथ माना जाता है। डॉ० जायसवालजी के मतानुसार इसमें इतिहास का बहुत तथ्य है। उसमें भी विन्दानुविन्द के उज्जैन में शासक होने का वर्णन आया है। और भी कई स्थलों पर उज्जैन की महत्ता बतलाते हुए महाभारत में विभिन्न अवसरों पर चर्चा आई है।

वनपर्व के ८२वें अध्याय में महाकालेश्वर की विशेषता वर्णित की गई है। महाकाल के निकट जिस 'कोटितीर्थ' को हम आज अव्यवस्थित और क्षारोदक के रूप में देखते हैं, इस कोटितीर्थ के बारे में इसी जगह लिखा है कि इस तीर्थ का स्पर्श होते ही 'अश्वमेध' यज्ञ का फल प्राप्त होता है। यह तीर्थ तथा शिप्रा नदी महाभारत, भागवत तथा अन्य पुराणों में, शत प्रकार से वर्णित है, और जिसका वर्णन महाकवि कालिदास ने **"क्षिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः"** कहकर दो हजार वर्ष पूर्व किया है, चाहे वह 'काव्य' के अन्तर्गत ही क्यों न हो, और यजुर्वेद संहिता में **'शिप्रे-अवेः पयः'** आदि मंत्र में ५-६ सहस्र वर्ष पूर्व वर्णन किया है। ये तीर्थ और नदी अवन्ती के मध्य-भाग में अपना गौरव-पूर्ण अस्तित्व बनाये हुए पूर्वस्मृति को सादर जाग्रत कर देते हैं।

उद्योगपर्व के १९ वें अध्याय में लिखा है कि अवन्ती के नरेश विन्द-अनुविन्द दो अक्षौहिणी सेना तथा अनेक दक्षिण दिशा के राजाओं के साथ कुरुक्षेत्र के महासमर में दुर्योधन के पक्ष में लड़ने को आये थे। इसी प्रकार द्रोणपर्व के ९७ वें अध्याय में कहा है कि अर्जुन ने इन राजाओं का बध कर डाला था।

श्री नारायणराव केशव सोरटी

आदि ब्रह्मपुराण के ४२ वें अध्याय में उज्जयिनी की गौरव-गाथा है। कहा है कि पृथ्वी की समस्त नगरियों में श्रेष्ठ अवन्ती नगरी है, महाकालेश्वर का प्रसिद्ध शिवस्थान है, और यहाँ शिप्रा नामक पावन सलिला नदी प्रवाहित होती है। इस नगरी में इन्द्रद्युम्न नामक राजा भी था। अनेक विष्णु, देवी आदि का सविस्तर विवरण दिया हुआ है।

इसी प्रकार अग्निपुराण के १०८ वें अध्याय में अवन्ती को पापनाशिका और महान् पवित्र नगरी बतलाया है।

गरुड़पुराण के पूर्वार्द्ध के ६६वें अध्याय, तथा प्रेतकल्प के २७वें अध्याय में महाकालपुरी को मोक्षप्रदा तथा पावनी नगरी प्रकट किया है, सप्तपुरियों में तिलाविक्रय वर्णन बतलाया है।

शिवपुराण में अनेक स्थलों पर उज्जैन, महाकालेश्वर, तथा अन्य प्रमुख शिव-स्थानों का बहुत बड़ा वर्णन आया है। ज्ञानसंहिता के ३८वें अध्याय में ज्योतिर्लिंगों के प्रसंग में महाकालेश्वर की बहुत स्तुति की गई है। पुनः ४६ वें अध्याय में शिप्रा नदी तट पर एक ब्राह्मण वेदविज्ञ की चर्चा आई है। उस समय रत्नमाल पर्वत पर रहनेवाले एक दुष्ट का आतंक था, उसने अवन्तिका में भी आक्रमण किया और इस तपःशील ब्राह्मण को सताया, तब शिवोत्पत्ति हुई, और उसका वध किया, आगे वे ही महाकालेश्वर हुए हैं, जिनके दर्शन से स्वप्न में भी कष्ट नहीं होने को कहा है।

लिंगपुराण में शिवलिंग की उत्पत्ति के विषय में उज्जैन में महाकाल की महान् स्तुति की है। समस्त मृत्युलोक का स्वामी महाकाल को माना है, और सृष्टि का आरंभस्थल भी उज्जैन को कहा है। अपने ८३ वें अध्याय में वामनपुराण में लिखा है कि प्रह्लाद ने शिप्रा के पवित्र जल में स्नानकर विष्णु तथा महाकाल के दर्शन किए हैं।

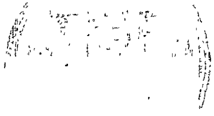
स्कन्दपुराण में तो अनेक अवसरों पर, तथा विभिन्न तीर्थों के वर्णनों पर इस अवन्तिका नगरी का अत्यन्त महत्वपूर्ण वर्णन किया है। इसका एक स्वतंत्र 'अवन्तीखण्ड' ही है, जिसके दो विभाग हैं, तीर्थ और क्षेत्र माहात्म्य वर्णन, इनमें लगभग दो-तीन सौ पृष्ठों में अवन्तिका के सहस्रावधि स्थानों का बहुत रोचक वर्णन दिया हुआ है। इनको ठीक उज्जैन की 'गाइड' ही कहना चाहिए। सैकडों वर्षों के बाद भी सैकड़ों स्थल इस ग्रंथ की वर्णित जगह उसी रूप में यहाँ मौजूद हैं, और अनेकों नष्ट-भ्रष्ट हो गए हैं, और धीरे धीरे होती जा रहे हैं। पुराणों के इन वर्णनों का वस्तुस्थिति से मिलान किया जाय तो कौन कहेगा कि ये निरे गपोड़े हैं! इनमें के अन्य आलंकारिक वर्णनों को छोड़कर वे स्थल स्वयं यहाँ संगति को प्रत्यक्ष प्रमाणित कर देते हैं। जिन सप्त सागरों का महत्त्वपूर्ण वर्णन इन पुराणों ने विशदरूप में किया है, अनेक सदियोंपूर्व के ग्रंथ जिनका अस्तित्व प्रमाणित करते हैं, उनका अब बीसवीं सदी में ही लोप होता जा रहा है। इन संस्कृतियों के नाश के बाद पुराणों को गपोड़े कहने का क्यों न कोई साहस करेगा? और क्या पता है कि इनके संशोधन का कठिन कार्य आगे कभी कोई करेगा भी या नहीं?

स्कन्दपुराण के 'ब्रह्मोत्तरखंड' के ५ वें अध्याय में उज्जैन के परम धार्मिक भक्त चन्द्रसेन राजा का वर्णन आया है, यह महाकालेश्वर का बहुत श्रद्धा से पूजन किया करता था।

काशीखंड के ७ वें अध्याय में शिववर्मा की कथा प्रसिद्ध है; उसमें कहा है कि अभी तक उज्जैन में कलियुग की महिमा नहीं फैल पाई थी।

मत्स्यपुराण के १७८ वें अध्याय में शिव तथा अंधक का विराट् युद्ध महाकाल वन में हुआ था, यह कथा है।

विष्णुपुराण की इस कथा से भारतवर्ष के धार्मिक, या इतिहास-प्रेमी सभी परिचित हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र सुदामा तथा बन्धु बलराम के साथ उज्जैन में मुनिवर सान्दीपनी के चरणों में विद्याध्ययन करने आये थे, (२१वाँ अध्याय)। चौदह विद्याएँ और चौंसठ कलाएँ उन्होंने गुरु-चरणों में बैठकर सीखीं, और अन्त में गुरु-दक्षिणा के लिए सान्दीपनी महर्षि से प्रार्थना की, तब महर्षि ने सब बातें जानने के कारण यही चाह की कि जब मैं इच्छा करूँ तब तब आपके दर्शन कर सकूं, यही माँग लिया। किन्तु गुरुपत्नि को श्रीकृष्ण के ईश्वरत्त्व पर स्त्री-सुलभ स्वभाव से सन्देह था। उनके निकट जब भगवान् गए और प्रार्थना की, तो उन्होंने कहा कि मेरा एक लडका शिप्रा में डूब गया है, वह मुझे वापिस ला दो तो यह वंश चलता रहे। भगवान् तथा अग्रज बलराम शिप्रा पर गये, और पता चला कि वरुण के निकट वह बालक पहुँच चुका है। तब वे वरुण के पास

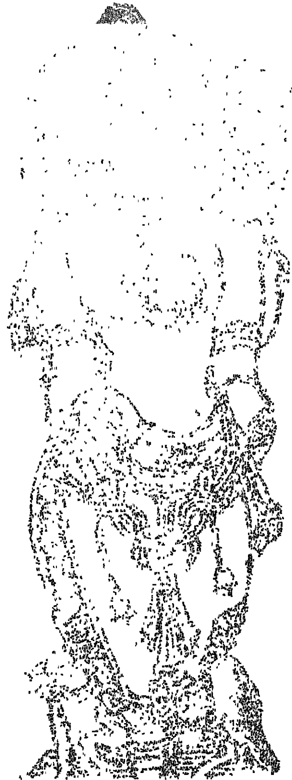


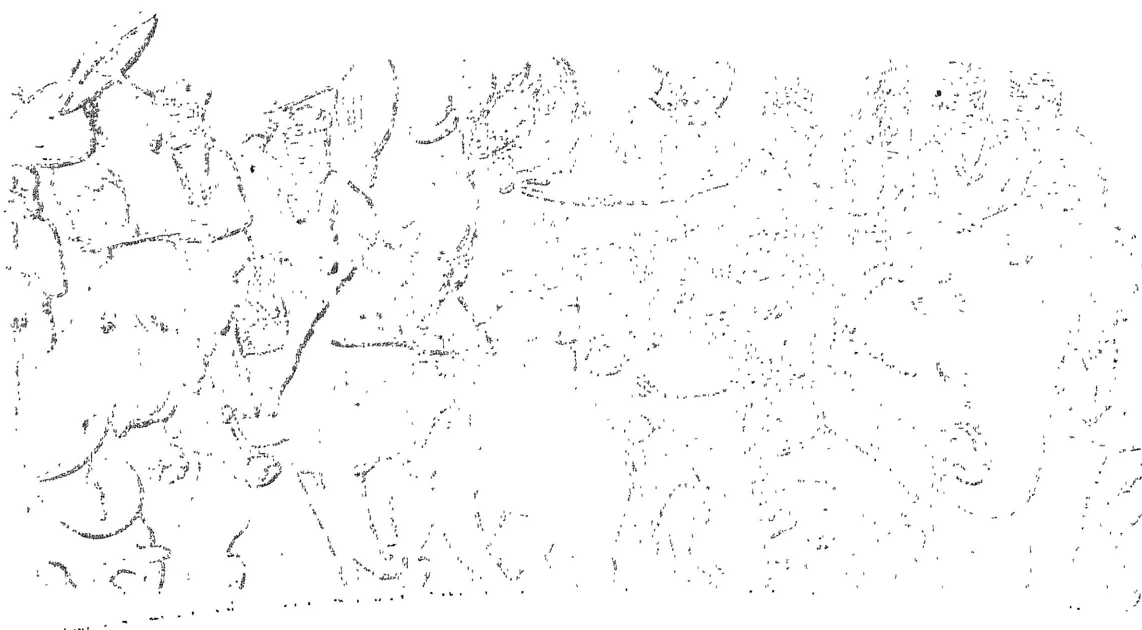
गये, वहाँ से उस बालक को प्राप्त कर लाये और गुरुपत्नि को अर्पित किया, तब से सान्दीपनी आचार्य का वंश आज पाँच हजार वर्ष के नन्तर भी उज्जैन में विद्यमान है। अनेक उत्थान-पतनों के निरन्तर आने पर भी यह वंश अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखता है। यह महदाश्चर्य का विषय ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं गुरुवर्य के साथ जाकर भूतभावन भगवान् महाकाल का पूजन किया है, और सहस्र कमल अर्पित किए हैं। वह गुरु-वर्णित स्तुति-सहस्र-नाम आज भी आचार्य प्रवर सान्दीपनी के वंशज (श्री सूर्यनारायण व्यास, ज्योतिषाचार्य) के पास है, यह पौराणिक संगति का उज्ज्वल प्रत्यक्ष प्रमाण है।

यही कथा भागवत के दशम स्कन्ध (४५ वें अध्याय) में भी है और इसका वहाँ सविस्तर वर्णन है। आदि ब्रह्मपुराण के ८६ वें अध्याय में, ब्रह्मवैवर्त पुराण के कृष्णजन्मखण्ड के ५४ वें अध्याय में भी यह गौरवगाथा है।

भविष्यपुराण के १४१ वें अध्याय में उज्जैन के इतिहास के विषय में बहुतसी चर्चा है। त्रिक्रम के राजा होने का वर्णन करते हुए बतलाया है कि यह करोडों म्लेच्छों का बध कर १३५ वर्ष राज्य कर शक-प्रवर्तक होगा। इस कथा पर भी कुछ आक्षेप किये जाते हैं, परन्तु इतिहास से संगति लगाते हुए अनेक विद्वानों ने इस कथन की तथ्यता सिद्ध की है। सौरपुराण के ६७ वें अध्याय में उज्जैन में महाकालेश्वर के दर्शन, तथा यात्रा से परम मोक्ष की प्राप्ति का होना वर्णित है। शक्ति-भेद-तीर्थ और भद्रवट (सिद्धवट) के दर्शन से पापमुक्ति होने का उल्लेख है।

इस प्रकार प्रायः समस्त पुराणों में अवन्तिका नगरी का गौरव माना है। एकबार पुराण-वर्णित स्थलों की, और उनकी अवस्था-स्थिति आदि की सूची बनाकर उज्जैन के उन उन स्थलों का पता लगाना आवश्यक है। अनेक स्थल जो काल-कवलित हो गए हैं, उनका संशोधन, तथा जो अस्तित्व-मात्र अवशेष के रूप में विद्यमान हैं, उनकी रक्षा की योजना की जाना प्रत्येक इतिहास, एवं धर्माभिमानी व्यक्ति के लिए आवश्यक है। उज्जैन की धार्मिक, ऐतिहासिक, आध्यात्मिक और राजकीय महत्ताएँ अत्यन्त आदरणीय गौरव-स्थान रखती हैं। इस नगरी का अतीत महान् रहा है, और परमात्मा करे भविष्य भी भव्य हो।





पाली वाङ्मय में उज्जैन

श्री भदन्त आनन्द कौसल्यायन

प्राचीन ग्रंथों में स्थान-विशेष के जो उल्लेख मिलते हैं उनके बारे में एक बात सदैव ध्यान में रखने की है और वह यह कि अनेक ग्रंथों का समय अनिश्चित है और जिनका समय कुछ निश्चित है उनमें वर्णित बातों की परम्परा अपेक्षाकृत बहुत प्राचीन है। ग्रन्थ का सम्पादन और उसमें वर्णित घटनाओं का समय सदैव एक ही नहीं है, प्रायः भिन्न ही है।

पाली ग्रंथों में उज्जैन नाम अनेक स्थलों पर आया है। विषयपिटक के महावग्ग में एक कथा है जिससे सिद्ध होता है कि भगवान् बुद्ध के समय उज्जैन अवन्ती की राजधानी थी। उज्जैन में राजा प्रद्योत शासन करते थे और मगध-नरेश बिम्बसार से उनकी मैत्री का सम्बन्ध था। कथा इस प्रकार है :—

"उस समय राजा प्रद्योत को पांडु-रोग की बीमारी थी। बहुत से बड़े बड़े दिगन्त-विख्यात वैद्य आकर निरोग न कर सके; बहुतसा हिरण्य (अशर्फी) लेकर चले गये। तब राजा प्रद्योत ने राजा मगध श्रेणिक बिम्बसार के पास दूत भेजा—

"मुझे देव! ऐसा रोग है, अच्छा हो यदि देव जीवक-वैद्य* को आज्ञा दें कि वह मेरी चिकित्सा करे।"

तब राजा बिम्बिसार ने जीवक को आज्ञा दी—"जाओ भण जीवक! उज्जैन (उज्जेनी) जाकर, राजा प्रद्योत की चिकित्सा करो।"

"अच्छा देव।".....कह.....जीवक.....उज्जैन जाकर, जहाँ राजा प्रद्योत (पज्जोत) था, वहाँ गया। जाकर राजा प्रद्योत के विकार को पहचानकर बोला—"देव! घी पकाता हूँ, उसे देव पिएँ।"

"भणे जीवक! बस, घी के बिना (और) जिससे तुम निरोग कर सको, उसे करो। घी से मुझे घृणा है।"

---

* भगवान् बुद्ध के समय के लब्ध-प्रतिष्ठ वैद्यराज।



तब जीवक को यह हुआ—'इस राजा का रोग ऐसा है, कि घी के बिना आराम नहीं किया जा सकता; क्यों न मैं घी को कषाय-वर्ण, कषाय-गंध, कषाय-रस पकाऊँ।' तब जीवक ने नाना औषधों से कषाय-वर्ण, कषाय-गंध, कषाय-रस घी पकाया। तब जीवक को यह हुआ—'राजा को घी पीकर पचते वक्त उबांत होता जान पड़ेगा। यह राजा क्रोधी है, मुझे मरवा न डाले। क्यों न मैं पहिले ही ठीक कर रक्खूं। तब जीवक जाकर राजा प्रद्योत से बोला—

"देव! हम लोग वैद्य हैं; वैसे वैसे (विशेष) मुहूर्त में मूल उखाड़ते हैं, औषध संग्रह करते हैं। अच्छा हो, यदि देव वाहन-शालाओं और नगर-द्वारों पर आज्ञा देदें कि जीवक जिस वाहन से चाहे उस वाहन से जावे, जिस द्वार से चाहे उस द्वार से जावे, जिस समय चाहे उस समय जावे, जिस समय चाहे उस समय (नगर के) भीतर आवे।"

तब राजा प्रद्योत ने वाहनागारों और द्वारों पर आज्ञा दे दी—"जिस वाहन से०"।

उस समय राजा प्रद्योत की भद्रवति नामक हथिनी (दिन में) पचास योजन (चलनेवाली) थी। तब जीवक कौमारभृत्य राजा के पास घी ले गया और बोला—"देव! कषाय पिएँ।"

तब जीवक राजा को घी पिलाकर हथिसार में जा भद्रवति हथिनी पर (सवार हो) नगर से निकल पड़ा। राजा प्रद्योत को उस पिए घी से उबांत हो गया। तब राजा प्रद्योत ने मनुष्यों से कहा—

"भणे! दुष्ट जीवक ने मुझे घी पिलाया है, जीवक वैद्य को ढूंढो।"

"देव! भद्रवतिका हथिनी पर नगर से बाहर गया है।"

उस समय अमनुष्य से उत्पन्न काक नामक राजा प्रद्योत का दास (दिन में) साठ योजन चलनेवाला था। राजा प्रद्योत ने काक दास को आज्ञा दी—

"भणे काक! जा, जीवक वैद्य को लौटा ला—'आचार्य! राजा तुम्हें लौटाना चाहते हैं।' भणे काक! यह वैद्य लोग बड़े मायावी होते हैं, उस(के हाथ) का कुछ मत लेना।"

तब काक ने जीवक कौमारभृत्य को मार्ग में कौशाम्बी में कलेवा करते देखा। दास काक ने जीवक........से कहा—

"आचार्य! राजा तुम्हें लौटवाते हैं।"

"ठहरो भणे काक! जब तक खा लूं! हन्त! भणे काक! तुम भी खाओ।"

"बस आचार्य! राजा ने आज्ञा दी है—'यह वैद्य लोग मायावी होते हैं, उस (के हाथ) का कुछ मत लेना।"

उस समय जीवक कौमारभृत्य नख से दवा लगा आँवला खाकर, पानी पीता था। तब जीवक ने काक से कहा—

"तो भणे काक! आँवला खाओ और पानी पीओ।"

तब काक दास ने (सोचा) 'यह वैद्य आँवला खा रहा है, पानी पी रहा है, (इसमें) कुछ भी अनिष्ट नहीं हो सकता'—(और) आधा आँवला खाया तथा पानी पिया। उसका खाया वह आधा आँवला वहीं (वमन से) निकल गया। तब काक (दास) जीवक कौमारभृत्य से बोला—

"आचार्य! क्या मुझे जीना है?"

"भणे काक! डर मत, तू भी निरोग होगा, राजा भी। वह राजा चंड है, मुझे मरवा न डाले, इसलिये मैं नहीं लौटूंगा।" (कह) भद्रवति हथिनी काक को दे जहाँ राजगृह था, वहाँ को चला। क्रमशः जहाँ राजगृह था, जहाँ राजा बिम्बसार था वहाँ पहुँचा। पहुँचकर राजा बिम्बसार से सब बात कह डाली।

"भणे जीवक! अच्छा किया, जो नहीं लौटा। वह राजा चंड है, तुझे मरवा भी डालता।"

"तब राजा प्रद्योत ने निरोग हो, जीवक कौमारभृत्य के पास दूत भेजा—'जीवक आवें, वर (=इनाम) दूंगा।"

"बस आर्य ! देव मेरा उपकार याद रखें।"

उस समय राजा प्रद्योत को बहुत सौ हजार दुशाले के जोड़ों में श्रेष्ठ शिवि (देश) के दुशालों का एक जोड़ा प्राप्त हुआ था। राजा प्रद्योत ने उस शिवि के दुशाले को, जीवक के लिए भेजा।

तब जीवक कौमारभृत्य को यह हुआ—"राजा प्रद्योत ने मुझे यह शिवि का दुशाला जोड़ा भेजा है। उन भगवान् अर्हत् सम्यक् संबुद्ध के बिना या राजा मागध श्रेणिक बिम्बसार के बिना, दूसरा कोई इसके योग्य नहीं।"

× × × × ×

बिम्बसार के साथ प्रद्योत की जो मैत्री थी, वह बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के साथ न रह सकी। आगे चलकर राजा प्रद्योत ने राजगृह पर चढ़ाई करना भी उचित समझा था। मज्झिम निकाय के गोपक मोग्गलान सुत्तन्त (३-१-८) में यह पंक्तियाँ हैं:—

"उस समय मगधराज अजातशत्रु वैदेहि पुत्र, राजा प्रद्योत के भय से नगर को सुरक्षित कर रहा था।

"उसी समय मगध महामात्य वस्सकार (=वर्षकार) ब्राह्मण राजगृह में होते (सैनिक तैयारी के) कामों की देख भाल करता····गया।"

× × × × ×

जातक (कथाओं) में तो प्रायः उज्जैन ही अवन्ती (देश) की राजधानी है; किन्तु महागोविन्दसुत्त में (दीर्घनिकाय २।६) माहिष्मती (महिस्सति) को अवन्ती की राजधानी कहा गया है। भारत के प्राचीन सात-खण्डों और उनकी राजधानियों का वर्णन वहाँ इस प्रकार है :—

> कलिंग में दन्तपुर, अश्वक (देश) में पोतन, अवन्ती (देश) में माहिष्मती, सौवीर (देश) में रोरुक, विदेह (देश) में मिथिला, अंग में चम्पा, और काशी (देश) में वाराणसी—इन्हें महागोविन्द ने बनाया।

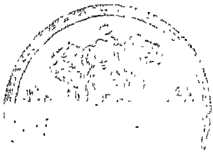
हो सकता है कि प्राचीन काल में माहिष्मती (वर्तमान इन्दौर) ही अवन्ती की राजधानी रही हो। पीछे उज्जैन का महत्व बढ़ गया हो। संयुक्तनिकाय में बावरी के शिष्यों का श्रावस्ती जाने का जो उल्लेख है उसमें माहिष्मती का नाम उज्जैन के ठीक पहले है। (संयुत्तनिकाय)।

× × × ×

प्राचीनकाल में उज्जैन और काशी में व्यापार सम्बन्ध तो खूब था ही, उसके साथ प्रतीत होता है कि अनेक कलाओं में भी दोनों प्रधान नगरी की परस्पर प्रतिस्पर्धा थी। गुत्तिल जातक इस प्रतिस्पर्धा को—प्रमाण ही नहीं स्वयं बड़ी सुन्दर कथा है, वह इस प्रकार है:—

'पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य करने के समय बोधिसत्व गन्धर्व कुल में पैदा हुआ। उसका नाम हुआ गुत्तिल कुमार। वह बड़े होने पर गन्धर्व-विद्या में पारंगत हुआ कि सारे जम्बूद्वीप में गुत्तिल गन्धर्व ही सब गन्धर्वों से बढ़ गया। वह स्त्री का पालन न कर अपने अन्धे माता पिता का पालन करता था। उस समय वाराणसी-निवासी बनियों ने व्यापार के लिए उज्जयिनी जाकर उत्सव घोषित होने पर चन्दा करके बहुतसा माला-गन्ध-विलेपन आदि तथा खाद्य भोज्य ले क्रीड़ा-स्थान पर इकट्ठे हो कहा कि—वेतन देकर एक गन्धर्व को लाओ। उस समय मूसिल नामक ज्येष्ठ गन्धर्व था। उन्होंने उसे बुलवाकर अपना गन्धर्व बनाया।

मूसिल वीणा भी बजाता था, उसने वीणा को स्वर चढ़ाकर बजाया। गुत्तिल गन्धर्व के गन्धर्व से परिचित उन लोगों को मूसिल का बजाना चटाई खुजलाने जैसा प्रतीत हुआ। कोई भी कुछ न बोला। उन्होंने अपनी प्रसन्नता प्रकट न की। मूसिल ने उनकी प्रसन्नता न देखी तो सोचा मालूम होता है मैं बहुत तीखा बजाता हूँ। उसने मध्यम स्वर चढ़ाकर मध्यम स्वर से बजाया। वे तब भी उपेक्षावान ही रहे। उसने सोचा—मालूम होता है ये कुछ नहीं जानते। स्वयं भी कुछ न जाननेवाला बन उसने वीणा के तारों को ढीलाकर बजाया। उन्होंने तब भी कुछ न कहा।



मूसिल बोला--"ओ व्यापारियो ! क्या आप लोग मेरे वीणा-वादन से प्रसन्न नहीं होते ?"

"तू वीणा बजाता था ? हम तो समझते रहे कि तू वीणा को कस रहा है।"

"क्या तुम मुझसे बढ़कर आचार्य को जानते हो ? अथवा अपने अज्ञान के कारण प्रसन्न नहीं होते हो ?"

"वाराणसी में जिन्होंने गुत्तिल गन्धर्व का वीणा-वादन सुना है उन्हें तुम्हारा वीणा-वादन ऐसा ही लगता है जैसा स्त्री बच्चों को सन्तुष्ट कर रही हो।"

"अच्छा तो आपने जो खर्चा दिया है उसे वापिस लेलें। मुझे यह नहीं चाहिए। लेकिन हाँ, वाराणसी जाते समय मुझे साथ लेकर जाएँ।"

उन्हों ने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। जाते समय उसे साथ वाराणसी ले गए। वहाँ "यह गुत्तिल का निवास स्थान है" बताकर अपने-अपने घर चले गए।

मूसिल ने बोधिसत्व के घर में प्रवेश कर वहाँ टँगी हुई बोधिसत्व की बहुत ही अच्छी वीणा देख, उतारकर बजाई। बोधिसत्व के माता पिता अन्धे होने के कारण उसे न देख सके ! वे समझे चूहे वीणा खा रहे हैं। इसलिए उन्होंने कहा—"सू सू चूहे वीणा खा रहे हैं।"

उस समय मूसिल ने वीणा रखकर बोधिसत्व के माता-पिता को प्रणाम किया। उन्होंने पूछा—"कहाँ से आया ?"

"उज्जयिनी से आचार्य के पास विद्या सीखने आया हूँ।"

"अच्छा।" "आचार्य कहाँ हैं ?"

"तात ! बाहर गया है। आज आ जायगा।"

यह सुन मूसिल वहीं बैठ गया। बोधिसत्व के आने पर, उसके द्वारा कुशल समाचार पूछे जा चुकने पर, उसने अपने आने का कारण कहा। बोधिसत्व अंग-विद्या के जानकार थे। वे जान गये कि यह सत्पुरुष नहीं हैं। उन्होंने अस्वीकार किया "तात ! जा तेरे लिए विद्या नहीं है।"

मूसिल ने बोधिसत्व के माता-पिता के चरण पकड़े। उन्हें अपनी सेवा से सन्तुष्ट कर उसने उनसे याचना की कि मुझे विद्या सिखलवा दें। बोधिसत्व ने माता पिता के बारबार कहने पर उनकी आज्ञा का उल्लंघन न कर सकने के कारण उसे विद्या सिखा दी।

वह बोधिसत्व के साथ राज-दरबार जाता। राजा ने उसे देखकर पूछा "आचार्य ! यह कौन है ?" "महाराज ! मेरा शिष्य है।"

वह शनैः शनैः राजा का विश्वासी हो गया। बोधिसत्व ने बिना कुछ छिपाए अपनी सारी जानी विद्या सिखाकर कहा—"तात ! विद्या समाप्त हो गई।"

उसने सोचा मैंने विद्या सीख ली । यह वाराणसी देश सारे जम्बूद्वीप में श्रेष्ठ नगर है। और आचार्य भी बहुत बूढ़े हो गये हैं मुझे यहीं रहना चाहिये।"

उसने आचार्य से कहा—"आचार्य मैं राजा की सेवा करूँगा।"

आचार्य बोला—"अच्छा तात ! मैं राजा से कहूँगा।" उसने राजा से जाकर कहा—"महाराज हमारा शिष्य देव की सेवा में रहना चाहता है। उसको जो आज्ञा देना हो, जानें।"

राजा बोला—"आपको जितना मिलता है, आपके शिष्य को उससे आधा मिलेगा।" उसने मूसिल को यह बात कही। मूसिल बोला—"मुझे आपके बराबर ही मिलेगा तो सेवा करूँगा, नहीं मिलेगा तो सेवा नहीं करूँगा।"

"क्यों !" "क्या आप जितनी विद्या जानते हैं वह सब मैं नहीं जानता ?"

"हाँ जानते हो।"

"यदि ऐसा है तो मुझे आधा क्यों देता है?"

बोधिसत्व ने राजा से कहा। राजा बोला—"यदि आपके समान विद्या दिखा देगा तो बराबर मिलेगा।"

बोधिसत्व ने राजा की बात उसे सुनाई। वह बोला—"अच्छा, दिखाऊँगा।"

राजा को कहा गया। उसने कहा—"दिखाए।" यह पूछने पर कि "किस दिन मुकाबला होगा?" उसने उत्तर दिया—"महाराज! आज से सातवें दिन।"

राजा ने मूसिल को बुलवाकर पूछा—"क्या तू सचमुच आचार्य के साथ मुकाबला करेगा?"

"देव! सचमुच।"

"आचार्य के साथ मुकाबला करना उचित नहीं। मत कर।"

"महाराज! आज से सातवें दिन मेरा और आचार्य का मुकाबला होने ही दें। एक दूसरे के ज्ञान को जानेंगे।"

राजा ने 'अच्छा' कह स्वीकार कर मुनादी करा दी—"आज से सातवें दिन आचार्य गुत्तिल तथा उनका शिष्य मूसिल राज दरबार में एक दूसरे के मुकाबले में अपनी अपनी कला दिखाएँगे, नगर निवासी इकट्ठे होकर देखें।"

बोधिसत्व सोचने लगे—यह मूसिल आयु में कम है, जवान है। मैं बूढ़ा हो गया हूँ, शक्ति घट गई है। बूढ़े आदमी से काम नहीं हो सकता। शिष्य हार गया तो इसमें मेरी कोई विशेषता नहीं, लेकिन शिष्य जीत गया तो उस लज्जा से तो अच्छा है जंगल में जाकर मर जाना। वह जंगल में जाता, लेकिन मृत्यु-भय से लौट आता। फिर लज्जा का मारा (जंगल में) जाता।

इस प्रकार उसे आना-जाना करते ही छह दिन बीत गए। रास्ता चलने का निशान बन गया। उस समय शक्र का आसन गरम हुआ। शक्र ने ध्यान लगाकर देखा तो उसे मालूम हुआ कि गुत्तिल गन्धर्व शिष्य के भय से जंगल में महान् दुःख भोग रहा है "मुझे इसका सहायक होना चाहिए।"

ऐसा सोच शक्र ने जल्दी से आकर बोधिसत्व के सामने खड़े हो पूछा—"आचार्य जंगल में क्यों दाखिल हुए हो?"

"तू कौन है?"

"मैं शक्र हूँ।"

बोधिसत्व ने "देवराज! मैं शिष्य के भय से जंगल में दाखिल हुआ हूँ।" पहली गाथा कही—

सत्त तन्तिं सुमधुरं रामणेय्यं अवाचयिं, सो मं रंगसि अव्हेति सरणम्मे होहि कोसिय॥

अर्थ—हे देवराज मैंने मूसिल नाम के शिष्य को सात तारोंवाली सुमधुर, रमणीक वीणा जितनी मैं जानता था उतनी सिखाई। अब वह मुझे रंगमंच पर ललकारता है। हे कोसिय-गोत्र (इन्द्र)! तू मुझे शरण में ले।

शक्र उसकी बात सुन बोला—"डरे मत। मैं तुम्हारा त्राण करूँगा। मैं तुम्हें शरण दूंगा। यह कह उसने दूसरी गाथा कही—

अहं तं सरणं सम्भ अहमाचरियपूजको, न तं जयिस्सति सिस्सो सिस्समाचरियजेस्सति॥

(सौम्य! मैं तेरा शरणदाता हूँ। मैं आचार्य की पूजा करनेवाला हूँ। शिष्य तुझे नहीं जीतेगा। आचार्य्य ही शिष्य को जीतेगा।)

शक्र ने और भी कहा—"तुम वीणा बजाते हुए एक तार तोड़कर छह बजाना। वीणा से स्वाभाविक शब्द निकलेगा मूसिल भी तार तोड़ देगा उसकी वीणा से स्वर न निकलेगा। उसी क्षण पराजित हो जाएगा। उसका पराजित होना जान दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवी, छटी और सातवीं तार भी तोड़कर केवल वीणा- दण्ड ही बजाना। तार रहित खूंटियों से स्वर निकलकर सारी बारह-योजन की वाराणसी नगरी को ढक लेगा। इतना कहकर शक्र ने बोधिसत्व को तीन गोटियाँ दीं और कहा—"सारे नगर पर वीणा शब्द के छा जाने पर इसमें से एक गोटी आकाश पर फेंकना, तुम्हारे सामने तीनसौ

अप्सराएँ उतरकर नाचने लगेंगी। उनके नाचने के समय दूसरी फेंकना। दूसरी तीनसौ उतरकर वीणा के सिरे पर नाचने लगेंगी, तब तीसरी फेंकना और तीनसौ उतरकर रंग-मंडप में नाचेंगी। मैं भी तुम्हारे पास आऊँगा। जाएँ। डरें मत।"

बोधिसत्व पूर्वाह्न समय पर घर आ गए। राज-दरबार में भी मण्डप बनाकर राजासन तैयार कर दिया। राजा प्रासाद से उतर कर मण्डप में आसन के बीच में बैठा। दस हजार अलंकृत स्त्रियों तथा आमात्य, ब्राह्मण, राष्ट्रीय आदि ने राजा को घेर लिया। सभी नगरवासी इकट्ठे हो गए। राजांगण में चक्कों के साथ चक्के तथा मंचों के साथ मंच बँध गए। बोधिसत्व भी स्नान करके, लेप कर नाना प्रकार के श्रेष्ठ भोजन कर वीणा ले, अपने लिए बिछे आसन पर बैठे। शक्र गुप्तरूप से आकाश में आकर ठहरा। केवल बोधिसत्व ही उसे देख सकते थे। मूसिल आकर अपने आसन पर बैठा, जनता घेर कर खड़ी हुई। आरंभ में दोनों ने बराबर बराबर बजाया। जनता ने दोनों के बजाने से सन्तुष्ट हो हजारों हर्षनाद किए।



अशोक की कन्या संघमित्रा

(सिंहल में बोधि वृक्ष की शाखा ले जा रही हैं)

शिल्पी—नन्दलाल बसु

शक्र ने आकाश में ठहरकर बोधिसत्व को ही सुनाते हुए कहा "एक तार तोड़ दे ?" बोधिसत्व ने भ्रमर तार तोड़ दी। वह टूटने पर भी टूटे हुए सिरे से स्वर देती थी। देव गन्धर्व का स्वर निकलता था। मूसिल ने भी तार तोड़ दी उसमें से स्वर न निकला। आचार्य ने दूसरी तीसरी करके सातों तार तोड़ दीं। केवल दण्डे को बजाने से जो स्वर निकला उसने सारे नगर को छा लिया। हजारों वस्त्र फेंके गए। हर्षनाद हुए। बोधिसत्व ने एक गोटी आकाश में फेंकी। तीनसौ अप्सराएँ उतरकर नाचने लगीं। इस प्रकार दूसरी और तीसरी गोटी के फेंकने पर जैसा कहा गया उसी तरह नौसौ अप्सराएँ उतर कर नाचने लगीं। उस समय राजा ने जनता को इशारा किया। जनता ने उतर कर "तू आचार्य से विरोध कर उनकी बराबरी का प्रयत्न करता है अपनी सामर्थ्य नहीं देखता" कहते हुए मूसिल को डरा, जो जो हाथ में आया पत्थर, डण्डे आदि से चूर चूर कर, जान से मार, पैरों से पकड़ कूड़े के ढेर पर फेंक दिया। राजा ने सन्तुष्ट हो घनी वर्षा बरसाते हुए कई तरह से बोधिसत्व को बहुत धन दिया, नगरवासियों ने भी वैसे ही किया।

भगवान बुद्ध के दो सौ वर्ष बाद अशोक हुए। उनका हाल या तो हमें उनके शिला-लेखों से ज्ञात होता है या फिर महावंश आदि पाली ग्रंथों से। महावंश में भी उज्जयिनी का नाम आता है:—

"पिता के दिये हुए अवन्ती राज्य का शासन करने के लिए उज्जयिनी पहुँचने से पूर्व अशोक कुमार (मार्ग में) विदिशा नगर में ठहरे थे। वहाँ एक सेठ की 'देवी' नाम की पुत्री से उनकी भेंट हुई। कुमार के सहवास से उसे गर्भ हो गया; और उज्जयिनी में उससे शुभ महेन्द्रकुमार का जन्म हुआ। उसके दो वर्ष बाद उस देवी से संघमित्रा पैदा हुई। इस समय वह विदिशा नगरी में रहती थी।"

अशोक पुत्र महेन्द्र और अशोक पुत्री संघमित्रा ने ही सिंहल में बौद्धधर्म का प्रचार किया। संघमित्रा बोधिवृक्ष की जिस शाखा को सिंहल ले गई थी, वह शाखा संसार के प्राचीनतम ऐतिहासिक वृक्ष के रूप में आज भी सिंहल के अनुराधपुर नगर में लहलहा रही है।

जैन साहित्य में उज्जयिनी

श्री कामताप्रसाद जैन

'एत्थथि अवंती णाम देसु, णं तुट्ठिवि पडियउ सग्गलेसु।
तहिं णयणपियारी णयरि अत्थि, उज्जेणि णाउ गयरविगभत्थि ॥' —मुनि कणयामर।

प्राचीन अवन्ती अथवा मालव देश की राजधानी उज्जयिनी थी। वह क्षिप्रा नदी के तट पर अवस्थित थी। एक समय अपने अपूर्व वैभव के कारण वह अमरावती के नाम से प्रसिद्ध रही; किन्तु आज उज्जयिनी का वह पूर्व-वैभव नहीं रहा है। आज भी ग्वालियर राज्य में उज्जैन एक अग्रणी नगर है और उसके पड़ौस में ही प्राचीन उज्जयिनी के ध्वंसावशेष विद्यमान हैं। प्रस्तुत लेख में जैन साहित्य के अन्तर्गत उज्जयिनी के दर्शन करना अभीष्ट है।

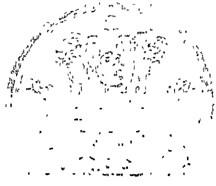
इन्द्र द्वारा स्थापित—जैनियों की मान्यता है कि इस कल्पकाल में सभ्य और कर्मठ जीवन बिताने की शिक्षा अन्तिम मनु नाभिरायजी के पुत्र श्री ऋषभदेवजी ने दी थी।* उन्हीं की व्यवस्था से इस आर्यदेश में देश और नगरादि की स्थापना हुई थी। उनके पुत्र भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष कहलाया था†। जैन महापुराण में लिखा है कि श्री ऋषभदेवजी की आज्ञानुसार इन्द्र ने भारतवर्ष में बावन देशों की रचना की थी और उनमें अवन्ती देश सुकौशल देश के बाद गिनाया है‡। इस देश की राजधानी अवन्तिका थी, जो उपरान्त उज्जयिनी नाम से प्रसिद्ध हुई। अवन्तिका का वैभव इन्द्र की राजधानी अमरावती की तुलना करता था, इसलिए वह अमरावती भी कहलाई थी। उसकी रचना की भी तो इन्द्र ने थी!

---

* संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत), प्रथम भाग।

† 'तन्नाम्ना भारतं वर्ष मिति हासीज्जनास्पदं।
हिमाद्रेरासमुद्राच्च क्षेत्रं चक्रभृतामिदं ॥१५९॥१५॥'—इति महापुराण।

‡ महापुराण, श्री जिनसेनाचार्यकृत (इन्दौर संस्करण) पृष्ठ ५६८।



जैन साहित्य में उज्जयिनी

प्रथम सम्राट् भरत––श्री ऋषभदेवजी ने विभिन्न देशों के शासक अनेक क्षत्रियपुत्र नियुक्त किये थे। उनमें अवन्ती नरेश भी थे; परन्तु उनका नाम अज्ञात है। जब भरत ने अखिल-भारतीय साम्राज्य की स्थापना की और छह खण्ड पृथ्वी को जीता, तब अवन्ती भी उनके शासन के अधीन हुई थी*। इसलिए उज्जयिनी-अवन्ती के प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती भरत ही प्रगट होते हैं।

रक्षाबन्धन-त्यौहार की कारणभूमि––जैन मान्यतानुसार जिन बलि आदि राजमंत्रियों के साम्प्रदायिक विद्वेष के कारण रक्षाबन्धन त्यौहार का जन्म हुआ, वे राजमंत्री उज्जयिनी में रहते थे। उस समय उज्जयिनी में श्रीधर्म नाम का न्यायशील राजा राज्य करता था। एक समय दिगम्बर जैनाचार्य श्री अकम्पनस्वामी संघ सहित उज्जयिनी आये। राजा मंत्रियों सहित वन्दना के लिए गया। बलि आदि मंत्रियों ने श्रुतकीर्ति मुनि से बाद में निग्रह स्थान को पाया। वे खिसियाकर मुनि-हत्या पर उतारू हुए। इस कारण राजा ने उनको देश से निर्वासित कर दिया। उन्हीं के कारण उपरान्त हस्तिनापुर में विष्णुकुमार मुनि द्वारा संघ की रक्षा होने के उपलक्ष में रक्षाबन्धन-पर्व चला था। उज्जयिनी ही उस पर्व की कारण-भूमि है।†

अहिंसा धर्म की प्रचारभूमि––उज्जयिनी के राजा यशोर्ह जब अन्तिम जीवन में मुनि हो गये, तब उनके पुत्र यशोधर राजा हुए। उनके समय में रक्तरंजित पशु-बलिदान का अधिक प्रचार था। पशु ही नहीं, मनुष्य भी यज्ञ में होम दिये जाते थे। किन्तु जैन मुनियों की अहिंसाधर्म युक्त शिक्षा से राजा और प्रजा ने पशु-बलिदान को सर्वथा छोड़ दिया था। जनता जान गई थी कि दया ही धर्म है!‡

वीर अर्जुन की पूर्व-जन्म-भूमि––पूर्व समय में उज्जयिनी की एक राजकुमारी का नाम सुमित्रा था। वह धर्मभीरु युवती थी। उसने एक मुनिदेव से धर्मोपदेश सुना और उनसे एक व्रत ग्रहण किया। उस व्रत को भावसहित उसने एक दिन ही पाल पाया कि उसकी मृत्यु हो गई। वह समभावों से मरी और उज्जयिनी में ही एक ब्राह्मण के घर वह पुत्र हुई। वह ब्राह्मण-पुत्र अपने कौशल से राजमंत्री हो गया। प्रजा उसके शासन में प्रसन्न थी। वृद्धावस्था में उसने तप किया और वह स्वर्ग में देवता हुआ। वहाँ की आयु पूर्ण होने पर वही पांडवों में वीर अर्जुन हुआ। उज्जैन की राजकुमारी को यह गौरव प्राप्त हुआ।⁑

धर्मवीर और रणवीरों की पवित्रभूमि––जैन शास्त्रों के उल्लेखों से स्पष्ट है कि उज्जयिनी धर्मवीर जैन मुनियों का केन्द्र प्राचीन काल से रहा है। अकम्पनाचार्य के समान वहाँ अनेक मुनिराज हमेशा आते रहे और होते आये हैं। अरिष्टनेमि के तीर्थ में हुए मगधराज-पुत्र नागकुमार महाभाग थे। उनके समय में भी उज्जयिनी में धर्मवीर मुनिराजों का बाहुल्य था। वहाँ उस समय पाँचसौ प्रसिद्ध योद्धा थे। जब उन्होंने विशेष ज्ञानी मुनिराज से यह जाना कि नागकुमार महाप्रतापी राजपुत्र हैं, तो वे सुभट उनके साथ हो लिए और उन्होंने अपनी अलौकिक वीरता का परिचय स्थान स्थान पर दिया।⁂ उस समय उज्जयिनी के राजा जयसेन की राजकुमारी मेनकी किसी के साथ विवाह करने के लिए तैयार नहीं होती थी, परन्तु नागकुमार से उसने विवाह किया था।⁕

---

* महापुराण, पृष्ठ १०७९। † हरिवंशपुराण २०।१-६; हरिषेण कथाकोष, कथा नं० ११।

‡ यशोधरचरित्र १।२२।

⁑ करकंडचरिउ (कारंजा) १०।१८-२२, पृष्ट १०१-१०३, ('उप्पण्णउ अज्जुणु होवि सोइ। फलु एहउ वुत्ति विहाणें होइ।')

⁂ णायकुमारचरिउ (कारंजा) ७।३, पृष्ट ७२।७३। ('उज्जेणिहि मुणिणाहें सिट्ठउ।')

⁕ "उज्जेणिहि सिरिजयसेणु राउ, सुहवइआलोयणजणियराउ।
मेनकी सुय जइ वि अणंगसरिसु, ण समिच्छइ इंदसमाणु पुरिसु॥'
'उज्जेणि पत्तु पहु णेह घुलिउ, अद्धवहे गंपि जयसेणु मिलिउ।
पइ सारिउ पुरे जयलच्छिणाहु, लहु दिण्ण काण विरइउ विवाहु॥" ––णायकुमारचरिउ, ८।५-७।

श्री कामताप्रसाद जैन

उज्जयिनी के धर्मात्मा और साहसी नरेश—उज्जयिनी को अपने शासकों पर सदा गर्व रहा है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के तीर्थ में हुए चम्पा नरेश करकंडु के चरित्र में एक प्रकरण आता है, जिससे स्पष्ट है कि उस समय भी उज्जयिनी-नरेश अपनी धर्मनिष्ठा और वीरता के लिए प्रसिद्ध थे। करकंडु के विषय में पूछे जाने पर एक मुनिराज उज्जयिनी के राजा अरिदमन का चरित्र वर्णन करते हैं, जो अनेक कठिनाइयों को सहन करके भी अपनी रानी से सकुशल आ मिले थे। यह उनके पुण्य और साहस का ही फल था।*

तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान की उपसर्ग-जयी तपोभूमि—अन्तिम तीर्थंकर महावीर वर्द्धमान अपने साधनामय जीवन में एकान्त स्थानों में विचरण करते और ध्यान करते थे। उन्होंने बारह वर्ष साधनामय जीवन में व्यतीत किये थे। इस समय में वह उज्जयिनी के निकट अतिमुक्तक नामक स्मशानभूमि में आकर ध्यानमग्न हुए थे। उस समय रुद्र नामक व्यक्ति ने उन पर घोर आक्रमण किया था। परन्तु वह अपने ध्यान में दृढ़ और निश्चल रहे थे। रुद्र की रौद्रता उनको तपस्या से चलित न कर सकी।† पशुबल आत्मबल के समक्ष नतमस्तक हुआ। रुद्र इन्द्रियजयी महावीर के चरणों में गिरा और उनका 'अतिवीर' नाम रक्खा। उज्जयिनी आत्मबल की महत्ता को अपने अञ्चल में छुपाए हुए है। आत्मवीर ही उसे देखते और गौरवान्वित होते हैं। उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत राजा जिनेन्द्र महावीर के अनन्य भक्त थे। उनके पश्चात् महावीर के निर्वाण दिवस को पालक नामक राजा सिंहासनारूढ़ हुए थे।‡

मौर्य प्रान्तीय राजधानी और तत्कालीन जैन संघ का केन्द्र—मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त की मुख्य राजधानी यद्यपि पाटलिपुत्र (पटना) थी, परन्तु उनकी अन्य प्रान्तीय राजधानियों में एक उज्जयिनी भी थी। उनके समय में वहाँ का निर्ग्रन्थजैनसंघ श्रुतकेवली भद्रबाहु की अध्यक्षता में लोक-प्रसिद्ध था। जैन ग्रंथों और शिलालेखों से स्पष्ट है कि सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य श्रुतकेवली भद्रबाहुजी से धर्मोपदेश सुनते थे और उनके मुख से उत्तर भारत में द्वादशवर्षीय अकाल पड़ने की बात जानकर वह उनके निकट दिगम्बर मुनि हो गये थे एवं जब निर्ग्रन्थसंघ दक्षिण भारत की ओर गया तो वह भी उसके साथ चले गये॥। इधर उज्जयिनी में जो निर्ग्रन्थ श्रमण रह गये, वे अकाल की कठिनाइयों में पड़कर चरित्रभ्रष्ट हो गये और अपने दिगम्बर भेष को छिपाने के लिए एक खंडवस्त्र रखने लगे, जिसके कारण वे 'अर्द्धफालक' नाम से प्रसिद्ध हुए॥। इस प्रकार उज्जयिनी ही वह स्थान है, जहाँ निर्ग्रन्थसंघ में भेद उत्पन्न हुआ था। निस्सन्देह उज्जयिनी प्राचीनकाल से निर्ग्रन्थसंघ का केन्द्र रहा है और मौर्यकालीन भेदजनक घटना के उपरान्त भी उसका महत्त्व कम नहीं हुआ। कलिंग-सम्राट् खारवेल ने जब जैन श्रुतोद्धार के लिए निर्ग्रन्थ श्रमणों का सम्मेलन बुलाया, तो उसमें मथुरा, उज्जयिनी और गिरिनगर के भी निर्ग्रन्थ-श्रमण सम्मिलित हुए थे।॥

नृप गर्दभिल्ल और कालकाचार्य—कहते हैं कि सम्राट् खारवेल के वंशज गर्दभिल्ल नामक राजा ने भी उज्जयिनी पर शासन किया था। यह राजा नैतिक चरित्र से स्खलित था। उसके समय में अर्द्धफालक (खंडवस्त्रधारी) सम्प्रदायान्तर्गत कालक नाम के आचार्य प्रसिद्ध थे। उनकी सरस्वती नामक बहन थी, जो साध्वी हो गई थी। गर्दभिल्ल साध्वी सरस्वती के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया और उसने बलात् उसे अपने अन्तःपुर में रख लिया। कालकाचार्य को यह असह्य था। उन्होंने शकवंश के राजाओं को गर्दभिल्ल के विरुद्ध आक्रमण के लिए उत्साहित किया था। शकराज अपने आक्रमण में

---

* करकंडचरिउ, (कारंजा) ८।१-१५, पृष्ठ ७१-७८।

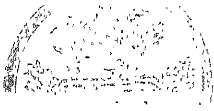
† 'उज्जयिन्यामथान्येद्युस्तच्छ्मशानेऽतिमुक्तके। वर्द्धमानं महासत्त्वं प्रतिमायोगधारिणम्'॥३३१॥७४॥ इत्यादि —उत्तरपुराण।

‡ हरिवंशपुराण पर्व ६०, श्लोक ४८८।

॥ संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भाग २, खंड १, पृष्ठ २१८-२४४ और जैन शिलालेख-संग्रह (मा० ग्रं०) की भूमिका देखो।

॥ काणे कोमेमोरेशन वॉल्युम (पूना) पृष्ठ २२८-२३७।

॥ जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १३, पृष्ठ २३६।



सफल हुए और उनका अधिकार उज्जयिनी पर हो गया था। आर्यिका सरस्वती का भी उद्धार हुआ—वह प्रायश्चित्त लेकर पुनः साध्वी हो गई।*

वीर विक्रमादित्य—उज्जयिनी के गर्दभिल्ल राजाओं के सम्बन्धी पैठन के आन्ध्रवंशी राजा थे। उनको गर्दभिल्ल का पतन असह्य होना स्वाभाविक था। तत्कालीन आन्ध्रभृत्य गौतमीपुत्र शातकर्णी शकों से इसका बदला चुकाने के लिए उनसे जूझ पड़े। उस समय शकों की राजधानी भृगुकच्छ (भड़ौच) थी। नरवाहण या नहवाण (नहपान) वहाँ का राजा था। उसका राज्य उज्जयिनी तक विस्तृत था। उसकी शक्ति को आन्ध्रनृप नष्ट न कर सके। आखिर कूटनीति का उन्होंने सहारा लिया। नहपान का कोष धर्म कार्यों में खर्च कराकर खाली कर दिया और तब उस पर आक्रमण किया। इस बार नहपान गौतमीपुत्र शातकर्णि के समक्ष न टिक सका। शक राजा परास्त हो गया, उज्जयिनी एक बार फिर स्वाधीन हो गई।† स्वर्गीय काशीप्रसाद जायसवाल के मतानुसार यह गौतमीपुत्र शातकर्णी ही उज्जयिनी आकर वहाँ के राजसिंहासन पर बैठे थे और वीर विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध हुए‡। जैनशास्त्रों में विक्रम राजा की बहुतसी कथाएँ मिलती हैं और पट्टावलियों से यह भी प्रगट है कि वह जैनधर्म के प्रति भी सदय हुए थे। जैनियों ने उनकी शकविजय के उपलक्ष में चालू हुए संवत को विशेष रूप से अपनाया है। कथाओं में विक्रम राजा के मुख से जैन धर्म का उपदेश भी दिलाया है। सारांशतः उज्जयिनी के इस जगप्रसिद्ध सम्राट् का सम्बन्ध जैन धर्म से किसी न किसी रूप में होना स्पष्ट है।

चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य और जैनाचार्य—गुप्त राजकुल में चन्द्रगुप्त द्वितीय प्रतापी राजा हुआ था। उसने मालवा को जीतकर उज्जयिनी पर अधिकार पाया था। उसकी राजसभा के नवरत्नों में क्षपणक दिगम्बर जैनाचार्य थे, जिन्होंने उनसे सम्मान पाया था। जैन शास्त्रानुसार वह सिद्धसेन नामक आचार्य थे। उन्होंने महाकाली के मन्दिर में चमत्कार दिखाकर चन्द्रगुप्त को जैन धर्म में दीक्षित किया था। इसी समय के लगभग दिगम्बर जैन मुनि संघ का केन्द्र भद्दलपुर (वीसनगर) से हटकर उज्जैन में हुआ था।

दिगम्बर जैन भट्टारकों का पट्ट-स्थान—गुप्त राज्यकाल से उज्जयिनी दिगम्बर जैन भट्टारकों का केन्द्र नियत हुआ था और वहाँ पर निम्नलिखित दिगम्बराचार्य प्रसिद्ध हुए थे:—

१ महाकीर्ति (सन् ६२९); २ विष्णुनन्दि (६४७); ३ श्रीभूषण (६६९); ४ श्रीचन्द्र (६७८); ५ श्रीनन्दि (६९२); ६ देशभूषण (१०८); ७ अनन्तकीर्ति (७०८); ८ धर्मनन्दि (७२८); विद्यानन्दि (७५१); १० रामचन्द्र (७८३); ११ रामकीर्ति (७९०); १२ अभयचन्द्र (८२१); १३ नरचन्द्र (८४०); १४ नागचन्द्र (८५९); १५ हरिनन्दि (८८२); १६ हरिचन्द्र (८९१); १७ महीचन्द्र (९२७); १८ माघचन्द्र (९३३); १९ लक्ष्मीचन्द्र (९६६); २० गुणकीर्ति (९७०); २१ गुणचन्द्र (९९१); २२ लोकचन्द्र (१००९); २३ श्रुतकीर्ति (१०२२); २४ भावचन्द्र (२०३७); २५ महीचन्द्र (१०५८); उपरान्त दिगम्बर जैन संघ का केन्द्र भेलसा आदि स्थानों में होता रहा था।

---

* कालकाचार्य कथानक–'प्रभावक चरित्र' (बम्बई) पृष्ठ ३६-४६।

† आवश्यकसूत्रभाष्य—जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी–भाग १६, पृष्ठ २५१।

‡ जर्नल ऑव दी बिहार एण्ड ओड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६, पृष्ठ २५२-२७८।

संक्षिप्त जैन इतिहास, (सूरत) भाग २ खंड २, पृष्ठ ६६।

पार्श्वनाथचरित्र (भवदेवसूरि कृत) सर्ग ३—जैन सेवियर पार्श्वनाथ (बाल्टीमोर, यू० एस० ए०) पृष्ठ ७४-८३।

संक्षिप्त जैन इतिहास (सूरत) भाग २, खंड २, पृष्ठ ९२-९३।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार–भूमिका–जीवनचरित्र (मा० ग्रं०)—पृष्ठ १३३-१४१।

जैनहितैषी, भाग ६ अंक ७-८, पृष्ठ २८-३१।

श्री कामताप्रसाद जैन

परमार वंश के राजा और जैनधर्म—वैसे तो परमार वंश के राजाओं की राजधानी धारा नगरी थी, परन्तु राजा भोज ने उज्जयिनी में अपनी राजधानी स्थापित की थी। इन राजाओं में कई एक अपनी विद्या-रसिकता के लिए प्रसिद्ध थे। राजा मुञ्ज के दरबार में धनपाल, पद्मगुप्त, धनञ्जय आदि अनेक विद्वान् थे। जैनाचार्य महासेन ने उनसे विशेष सम्मान पाया था। धनपाल और उनके भाई शोभन भी जैनधर्म में दीक्षित हुए थे। उज्जयिनी में जैनधर्म का अधिक प्राबल्य देख कर धनपाल धारा चले गए थे; पर अपने भाई के सम्पर्क से वह जैनधर्म के महत्त्व से प्रभावित हुए थे। आचार्य अमितगति भी इस समय के जैन यतियों में प्रमुख थे*। मुञ्ज के समान ही राजा भोज के दरबार में भी जैनों को विशेष सम्मान प्राप्त था। श्री प्रभाचन्द्राचार्यजी का उन्हों ने बड़ा आदर किया था। दिगम्बर जैनाचार्य श्री शान्तिसेन ने भोज की सभा में सैकड़ों विद्वानों से वाद-विवाद करके उन्हें परास्त किया था। † "चतुर्विंशति प्रबन्ध" से प्रगट है कि उज्जयिनी में विशालकीर्ति नामक दिगम्बराचार्य के शिष्य मदनकीर्ति ने परवादियों पर विजय पाकर "महाप्रामाणिक" पदवी प्राप्त की थी‡। इस प्रकार मध्यकाल तक दिगम्बरजैनधर्म का प्राबल्य उज्जयिनी में रहा था।

वैभव-वर्णन और विद्या-केन्द्र—महाकवि हरिषेण ने 'कथाकोष' में लिखा है कि 'उज्जयिनी नगरी रम्य, सुन्दर और दीर्घ जिन-मन्दिरों, विशाल राजमार्गों एवं उत्तुंग प्रासादों से पूर्ण थी। वहाँ के बाग-बगीचे मनमोहक थे। व्यापारिक पेठ (बाजार) होने के कारण दूरदूर के व्यापारी वहाँ आते थे। नगरी जहाँ एक ओर धन-वैभव में इठला रही थी, वहीं दूसरी ओर उसके एक भाग में दीन-दरिद्री और अन्धे लोग अपने दिन काटते मिलते थे।⁑ वह उज्जयिनी मानों संसार का ही चित्रण कर रही थी। महाकवि पुष्पदन्त ने 'यशोधर चरित्र' में लिखा है कि 'अवन्ती देश में स्वर्गपुरी के समान उज्जयिनी नगरी है। उस नगर में मरकतमणियों की किरणों से व्याप्त हरित पृथ्वीतल में मूढ़ बुद्धि हाथी घास और मधुरस की आशा-इच्छा को लेकर महावत के हाँकते हुए मन्दगति से गमन करते हैं। अर्थात्, इस नगरी के राजमार्ग में मरकतमणियाँ जड़ी हुई थीं, जिनकी आभा से हाथियों को घास की आशंका होती गई। वहाँ के घरों में चन्द्रकान्त आदि मणियों की प्रभा चमचमाती थी। वहाँ की महिलाएँ सुशील पतिभक्ता थीं। बड़े बड़े घरों में रत्नजड़ित क्यारियों में पके हुए सुगंधित फूल अपना सौरभ फैला रहे थे। वहाँ के नगर-निवासी दूसरों को सुखी करते हुए, स्वयं उन्नत हो रहे थे। वहाँ कोई उपद्रव नहीं था।⁂ मुनि कनकामर ने 'करकंडुचरित्र' में उज्जयिनी के वैभव को दिखाने के लिए लिखा है कि 'वह नयनप्यारी है और सूर्यरश्मियों को भी लज्जित करती है।⁕'

उज्जयिनी प्राचीन काल से विद्या का केन्द्र रहा है। वहाँ के राजा विद्या-रसिक और कला चतुर हुए हैं। उज्जयिनी के राजकुमार चन्द्रप्रभ सत्रह भाषाओं के ज्ञाता थे। उनके गुरु कालसंदीव १८ भाषाएँ जानते थे और धनुर्विद्या में निष्णात थे। महावीर के निकट वह जैनमुनि हो गये थे।§ श्रेष्ठिपुत्र नागदत्त उज्जयिनी में एक अच्छा कवि था।¶ राजपुत्र नागदत्त सर्प-विद्या में निपुण था।‖ मूलदेव नामक राजा अशेष कलाकुशल, अनेक विज्ञाननिपुण, उदारचित्त और प्रतिपन्न शूर था। मूलदेव ने पाटलिपुत्र की गंधर्व-विद्या में निपुण देवदत्ता नामक गणिका को वीणावादन में परास्त किया था।

---

* भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १ पृष्ठ १०३-१०४, मध्य प्रान्तीय जैनस्मारक, भूमिका, पृष्ठ २०; हिन्दी विश्वकोष, भाग २, पृष्ठ ६४ एवं विद्वद्रत्नमाला, पृष्ठ ११५।

† भारत के प्राचीन राजवंश, भाग १ पृष्ठ ११८-१२१। ‡ जैनहितैषी, भाग ११ पृष्ठ ४८५।

⁑ हरिषेण-कथाकोष, कथा नं० ३ (मराठी) पृष्ठ ६।

⁂ 'उज्जेणि णाम तहिं णयरि अत्थि, जहिं पाणि पसारइ मत्त हत्थि।
घत्ता—मरगयकरकलियहिं महियलि घुलियहिं फुरियहिं हरियहिं मूढमइ ॥
विणडिउ वासइं रसविण्णासइं णीणिउ मिंठि मंदगइ ॥२१॥ इत्यादि।'—जसहरचरिउ १।२१-२२।

⁕ करकंडुचरिउ (कारंजा) पृष्ठ ७१। § हरिषेण-कथाकोष, (कथा भद्रबाहु की)।

¶ उत्तरपुराण (इन्दौर) पर्व ७५, श्लोक ९५-१०५।

‖ आराधनाकथाकोष (बम्बई) भाग १, पृष्ठ १४९।



वह बोले कि उज्जयिनी के लोग अति निपुण हैं—वह सुन्दरासुन्दर की विशेषता को जानते हैं। * बनारस के राजा चन्द्रशेखर को जब एक निमित्त ज्ञानी की आवश्यकता हुई, तो उनके मंत्री ने बताया कि उज्जयिनी का एक प्रसिद्ध निमित्त ज्ञानी ज्योतिषी आया हुआ है† ! निस्सन्देह उज्जयिनी अपनी ज्योतिषविद्या के लिए हमेशा प्रसिद्ध रही है।

कनड़ी जैन साहित्य में—दक्षिण भारत के साहित्यिक भी उज्जयिनी की महत्ता से अनभिज्ञ न थे, यह बात वहाँ के कनड़ी और तामिल भाषाओं के ग्रंथों से स्पष्ट है। महाकवि जन्न ने अपने 'यशोधरचरित्र' (सन् १२०९) में उज्जयिनी का उल्लेख किया है। 'बेताल-पंचविंशति-कथे' में उज्जयिनी के राजा विक्रमादित्य की कथाएँ लिखी गई हैं और 'बत्तीस-पुत्तलिकथे' में विक्रमादित्य के अतिरिक्त राजा भोज का भी उल्लेख है।‡

तामिल जैन साहित्य में उज्जयिनी—तामिल भाषा के साहित्य में 'आदि संगमकाल' की रचनाएँ प्राचीन हैं। तामिल साहित्य के दो महाकाव्य 'मणिमेखलै' और 'शीलप्पदिकारम्' इसी काल की रचनाएँ हैं। 'शीलप्पदिकारम्' को एक जैन धर्मानुयायी राजकुमार ने रचा था। इस महाकाव्य के छठे परिच्छेद में उज्जयिनी का उल्लेख है। एक कैलाश-वासी विद्याधर दक्षिणभारत का मार्ग बताते हुए कहता है कि हिमालय के बाद गंगा नदी पार करेंगे, जिसके उपरान्त उज्जयिनी नगर आयेगा।‡ इसका अर्थ यह हुआ कि ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में उज्जयिनी उत्तर भारत का प्रमुख नगर था। इसी प्रकरण में अमरावती के पाँच जगप्रसिद्ध महामण्डपों का भी उल्लेख है जो अद्वितीय शिल्पकला के नमूने थे। अवन्ती नरेश ने चोलराज का स्वागत मणिमुक्ताखचित स्वर्णमय तोरण द्वार बनवाकर किया था, जिसका शिल्प-चातुर्य देखने की चीज थी!‡

जैन शिलालेखों में उल्लेख—मैसूर राज्य में श्रवणबेलगोल एक प्रसिद्ध जैनतीर्थ है। वहाँ चन्द्रगिरि नामक पर्वत पर शक संवत् ५२२ के लगभग का एक शिलालेख है। उसमें आचार्य भद्रबाहु को उज्जयिनी में अवस्थित बताया है। वह अष्टांग महानिमित्त के ज्ञाता त्रिकालदर्शी कहे गये हैं। उन्होंने वहाँ बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने की घोषणा की थी।‡ कल्लुरगुड्ड (शिमोगा होब्ली) नामक स्थान के सिद्धेश्वर मन्दिर में एक शिलालेख सन् ११२२ का है, जिसमें श्री सिंहनन्दि आचार्य का वर्णन है। इसमें लिखा है कि उज्जैन के राजा महीपाल ने इक्ष्वाकु नरेश पद्मनाभ को पराजित किया था, जिसके कारण उनके पुत्र दडिग और माधव दक्षिण भारत को चले गये थे। वहाँ सिंहनन्दि आचार्य की सहायता से वह 'गंगराज्य' स्थापित करने में सफल हुए थे।‡

इस प्रकार जैन साहित्य में उज्जयिनी का महत्त्वपूर्ण वर्णन है। आज भी उज्जैन में जैनों का प्रमुख स्थान है और वहाँ जैनियों के एक से अधिक मन्दिर भी हैं।

---

* 'अत्थि उज्जेणी नयरी। तीए य असेस-कला-कुसलो अणेग-विन्नाण-निउणो, उदारचित्तो कयन्नू पडिवन्न-सूरो गुणाणुराई पियंवओदक्खो रूव-लावण्ण-तारुण्ण-कलिओ मूलदेवो रायउत्तो पडलिपुत्ताओ जूयवसणासत्तो जणगावमाणेण पुहविं परिभमन्तो समागओ। ....'

'मूलदेवेण भणियं 'अहो! अइनिउणो उज्जेणी-जणो, जाणइ सुन्दरासुन्दर-विसेसं।'

—प्राकृतकथासंग्रह (अहमदाबाद) पृष्ठ ५६-५७।

† *The Life and Stories of the Jain Savior Parsvanatha*, (Baltimore), pp. 97-98.

‡ Rice, *Kanarese Literature* (Calcutta), pp. 43 and 97

‡ *The Silappadikaram* (Oxford University Press), pp. 122-123

‡ Ibid, pp. 114 and 320

‡ जैनशिलालेखसंग्रह (मा० ग्रं०) पृष्ठ २।

"भद्रबाहु-स्वामिना उज्जयन्यामष्टाँग-महानिमित्त-तत्त्वज्ञेन त्रैकाल्यदर्शिना निमित्तेन द्वादश-संवत्सर-काल-वैषम्यमुपलभ्य—इत्यादि।"

‡ Saletore, *Mediaeval Jainism* p. 11



भास कृत नाटकों में उज्जयिनी

श्री सरदार माधवराव विनायकराव किबे, एम० ए०

कविकुलगुरु कालिदास ने भास नामक नाटककार की अभिवन्दना की है, उसपर से उनसे वह प्राचीन था यह निश्चित हो जाता है। अन्यत्र प्रस्तुत लेखक ने भास के नाटकों का और उसका समय ४००० वर्षों के पूर्व का सिद्ध किया है। वह उस समय पैदा हुआ जान पड़ता है जब संस्कृत बोलचाल की भाषा होने से उसमें नाटक खेले जाते थे। वह शेक्सपीयर के समान अनेक लोकप्रिय नाटकों का रचयिता ज्ञात होता है। उसके अनेक नाटकों में से अब तक तेरह या चौदह नाटक पूर्ण या खण्डित मिले हैं। उसके और नाटक मिलना भी असम्भव नहीं है। अभी जो नाटक मिले हैं उनमें से (१) अविमारक (बहुधा), (२) प्रतिज्ञायौगंधरायण, (३) स्वप्नवासवदत्ता, और (४) चारुदत्त उज्जयिनी से सम्बन्धित हैं। यह कवि इसी देश या नगरी का ही निवासी प्रतीत होता है, क्योंकि इसके नाटकों में उज्जयिनी का विशद वर्णन मिलता है और वह कालिदासोक्त संक्षिप्त वर्णन से मिलता है।

महाकवि कालिदास ने अपने रघुवंश एवं मेघदूत में उज्जयिनी के सम्बन्ध में जो उल्लेख किये हैं उनमें महाकाल, उद्यान-परम्परा, ऊँचे ऊँचे मकान, वेश्याएँ, नागरिक आदि के वर्णनों का प्रमुख स्थान है। भास के उपरोक्त चारो नाटकों में इनके वर्णन आये हैं। महाभारत काल से, अर्थात् आज से ५००० वर्षों से भी अधिक पूर्व, उज्जयिनी विद्यापीठ था। श्रीकृष्ण ने मथुरा सरीखे दूर के प्रदेश से आकर यहाँ विद्याध्ययन किया था। अतएव उसके करीब १००० वर्षों के बाद यहाँ भास की योग्यता का लोकप्रिय नाटककार उत्पन्न होना आश्चर्य की बात नहीं है। और जब प्रद्योतवंश का उत्कर्ष हुआ तब वह एक प्रमुख भारतीय राजधानी बन गई थी।

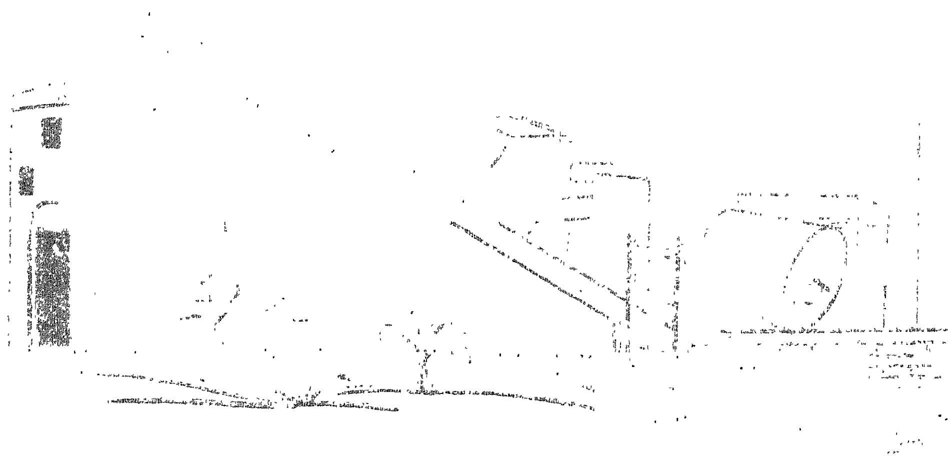
भास के उपरोक्त नाटकों में से अविमारक में दी हुई कथा उसके समय के पूर्व की ज्ञात होती है। उसमें अद्‌भुतता एवं गन्धर्व-मनुष्य सम्बन्ध की प्रमुखता है तथा यह प्रकट होता है कि भारतवर्ष में एकछत्र साम्राज्य की प्रमुखता नहीं थी और छोटे छोटे अनेक राज्यों का, कुंतिभोज, काशी, सौवीर का अस्तित्व था। इन बातों पर से यह अनुमान करना ठीक होगा कि वह काल ब्रहद्रथों का समय होगा अर्थात् महाभारत युद्ध के १००० वर्ष बाद का काल था। इस नाटक में वर्णित कुंतिभोज देश या राज्य चम्बल नदी के यमुना नदी में गिरने के स्थान के दक्षिण की ओर का प्रदेश था। काशीराज्य वाराणसी क्षेत्र माना जा सकता है, परन्तु यह प्रयाग के आगे भी बढकर कुंतिभोज राज्य से मिला हुआ था और भास के नाटकों के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वह तीनों में प्रबल था। अभी तक कौशाम्बी में चन्द्रवंशीय पाण्डवों का राज्य स्थापित नहीं हुआ था।

भास कृत नाटकों में उज्जयिनी

सौवीर राज्य का उल्लेख अन्यत्र "सिन्धु-सौवीर" संयुक्त नाम से आता है। यह भी कुंतिभोज से मिला हुआ था। इसमें निर्दशित "सिन्धु" मालवे की क्षिप्रा के साथ साथ बहनेवाली कालीसिन्ध ही प्रतीत होती है। अतएव वह देश इन दोनों नदियों के बीच का दोआब समझना चाहिए। इसकी राजधानी आगे सुप्रसिद्ध हुई उज्जयिनी ही समझना उपयुक्त होगा। जब इसका नायक अविमारक जो सौवीर का वैरंत्य-युवराज था, कुंतिभोज के राज्य की राजधानी में राजा के प्रासाद में प्रवेश करता है, तब वह महाकाल की वन्दना करता है (तृतीय अंक)। उसमें जो कुंतिभोज की राजधानी का वर्णन किया है वैसा कोई बड़ा नगर इस देश में होना नहीं पाया जाता। इसपर से यह अनुमान होता है कि इसमें जो वैरंत्य नगरी का वर्णन आया है, वह उज्जयिनी का वर्णन हो सकता है क्योंकि यह बात नैसर्गिक है कि जब कवि किसी अप्रत्यक्ष एवं अज्ञात स्थल का वर्णन करता है, तब वह प्रत्यक्ष एवं ज्ञात स्थल का ही वर्णन करता है। जिस समय यह नाटक भास ने लिखा उस समय प्रद्योत चण्डमहासेन के प्रभाव से उज्जयिनी की बहुत कुछ अभिवृद्धि हुई थी, ऐसा शेष तीनों नाटकों पर से स्पष्ट होता है।

अविमारक के प्रथमांक में ही राजप्रासाद के सभागृह का निर्देश आया है। वैसे ही एक उद्यान, जिसमें राजघराने की स्त्रियाँ क्रीड़ार्थ जाती थीं और जो सार्वजनिक स्वरूप का भी था उसके चारों ओर कोई तट न होने से उसमें हाथी धुस आने का वर्णन है। आगे चलकर द्वितीय अंक में राजप्रासाद का ऐसा वर्णन है कि सूर्य अस्त होते समय उसके किरणों का जो वर्ण रक्त होता है वह राजप्रासाद के उच्च शुभ्र शिखरों पर पड़ने से एक विचित्र शोभा दिखने लगी। इसी पर से उज्जयिनी का सार्वजनिक उद्यान, जिसका उल्लेख चारुदत्त में आया है, और राज-प्रासाद, जिसका उल्लेख रघुवंश में अवन्ति राजा के वर्णन में है, उज्जयिनी में उद्यान-परम्परा होने का प्रमाण मिलता है। तृतीय अंक में यहाँ के विशाल मकान, उनके चन्द्र जैसा प्रकाश देनेवाले दीपक, जिनकी ओर संकेत रघुवंश में किया गया है--अवन्तिनाथ, महाकाल के निकट रहने के कारण "असौ महाकाल निकेतनस्य" है, राज में सदैव चन्द्र प्रकाश का आनन्द लेता है। वैसेही यहाँ के लोगों के सरस जीवन का वर्णन तृतीय अंक, श्लोक ५-६ में, और अविमारक के स्वगत भाषण में किया है। राजप्रासाद का भव्यदृष्य, वहाँ की भित्तियों पर चित्रों की रचना, एवं उसके आसपास के उद्यान का वर्णन, जैसे चारुदत्त में उसके घर के सामने के दीवाल से सटे हुए उद्यान का उल्लेख तृतीय अंक में सज्जलक के भाषण में आया है। इसी हालत में राजकन्या का स्वेच्छाचार, नैतिक अध:पतन एवं राज्य का विनाश बतलाता है। परन्तु इसी वर्णन से उज्जयिनी के वैभव का पता लगता है। इसके बाद प्रद्योत राज्य में, वह अधिक बढ़ा, परन्तु चारुदत्त के समय से उसमें कुछ शिथिलता आई थी, ऐसा शकार के अत्याचारों से प्रतीत होता है। चारुदत्त के प्रासाद की भव्यता उस नाम के नाटक के प्रथमांक से ही दीखने लगती है। जैसे आजकल के दिल्ली, कलकत्ता आदि नगरों में मालिश करनेवाले लोग होते हैं वैसाही मृच्छकटिक में संवाहक पात्र है। वह मगध देश की राजधानी से यहाँ आया था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मगध साम्राज्य उस समय प्रमुख नहीं था। चारुदत्त के चतुर्थ अंक का सज्जलक ही मृच्छकटिक में शार्विलक, और फिर सेनाधिपति हुआ।

प्रतिज्ञा यौगंधरायण के द्वितीय अंक पर से यह ज्ञात होता है कि राजप्रासाद में अनेक भवन कैसे थे और उसमें जो मणिभूमि थी वह बहुत रुचि से सजाई थी। चतुर्थ अंक में जलक्रीडा-स्थल का वर्णन है। अविमारक का उसका उल्लेख ध्यान में रखने योग्य है। शायद यह क्षिप्रा पर ही होगा। क्योंकि वहाँ जाने के वास्ते हथिनी बुलाई गई। अविमारक में हाथी के मस्त होने का वर्णन है। यह उद्यान भी क्षिप्रा किनारे होगा। प्रतिज्ञा यौगंधरायण के चतुर्थ अंक पर से कन्याभवन, या प्रासाद अविमारक के समान ही अलग था, ऐसा दीखता है। इन सब वर्णनों से राजप्रासाद की विशालता प्रतीत होती है। स्वप्नवासवदत्ता की नायिका मगध-राजकुमारी थी। चारुदत्त के संवाहक के समान ही ब्रह्मचारी भी मगध देश में के राज-गृह से आया था। वह वत्स देश के लावाणक गाँव में विद्याभ्यासार्थ रहता था। वही वत्स देश आगे उदयन के हाथों से छीन लिया गया था और मगधराजकुमारी से विवाह होने पर वापस मिला था। इस समय चण्डमहासेन की राजधानी का नाम अवन्ति था, और वासवदत्ता ने अपना नाम आवन्तिका रखा था, ऐसा चतुर्थ अंक में है। उसपर से अनुमान किया जा सकता है कि उदयन वत्सराज होने के बाद भी महासेन का श्रेष्ठत्व मानता था (स्वप्नवासवदत्ता, अंक ६)। इसपर से उज्जयिनी की भासकालीन प्रतिष्ठा भी स्पष्ट होती है।



उज्जैन की वेधशाला

श्री रामचन्द्र विनायक वैद्य एम० ए०, बी० टी०

अप्रत्यक्षाणि शास्त्राणि विवादस्तेषु केवलं। प्रत्यक्षं ज्योतिषं शास्त्रं चन्द्रार्का यत्र साक्षिणौ ।।

आकाशस्थ ज्योतियों का निरीक्षण करके उनके गतिस्थिति का प्रत्यक्ष ज्ञान कर लेना और वर्तमान ग्रहगणित के नियमों में इस स्थिति के योग्य परिवर्तन कराने में सहायता पहुँचाना, यही संसार की प्रत्येक वेधशाला स्थापन किये जाने का प्रधान हेतु रहा है।

उज्जैन का ज्योतिष विषयक महत्त्व––उज्जैन नगरी का ज्योतिष विषयक महत्त्व भारतियों को कितने प्राचीन समय से है यह प्रथमतः बतलाना आवश्यक है। अति प्राचीन काल से कालज्ञान करा लेने का एक अद्वितीय स्थान रहने का सौभाग्य हमारी अवन्ती नगरी को प्राप्त हुआ है। इसीलिए श्रीमहाकालेश्वरजी का महत्त्व ज्योतिषियों के लिए बहुत है। इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार वर्तमान समय में ग्रीनिच में से जानेवाली भ्योत्तर रेखा (meridian) संसारभर के लिये शून्यरेखा मानी जाती है, उसी प्रकार कई शताब्दियों से हमारे भारतियों ने उज्जयिनी को "शून्यरेखा स्थित" माना है। सूर्यसिद्धान्त (मध्यमा० ६२) में लिखा है––

राक्षसालयदेवौकः शैलयोर्मध्यसूत्रगाः। रोहीतकमवन्तीं च यथा सन्निहितं सरः ।।

हमारे सिद्धान्त ग्रंथों में उज्जयिनी सापेक्ष ही ज्योतिर्गणित के उदाहरण दिये हुए हैं। सुप्रसिद्ध ज्योतिषी भास्कराचार्यजी पृथ्वी की मध्यरेखा का वर्णन इस प्रकार करते हैं:––

यल्लंकोज्जयिनीपुरोपरि कुरुक्षेत्रादिदेशान् स्पृशन्। सूत्रं मेरुगतं बुधैर्निगदिता सा मध्यरेखा भुवः।।

सुप्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर अवन्ती नगरी में ही रहकर अपना ज्योतिष विषयक प्रचण्ड कार्य कर सके। उन्होंने भी उज्जैन को ही शून्य रेखा पर मानकर अपने गणित किये हैं।

भारतियों की दीर्घकालीन वेध-परम्परा––कुछ लोगों का कहना है कि वर्तमानकालीन धातुयंत्र निर्मित वेधशालाओं में जिस प्रकार नियमितरूप से वेधकार्य चलता है वैसा कार्य भारतवर्ष में ही क्या, संसारभर के किसी भी देश में प्राचीनकाल में नहीं होता था। भारतीय ज्योतिषियों को वेधज्ञान नहीं था और इस देश में वेधपरंपरा नहीं थी ऐसा आक्षेप यदि कोई करे, तो मेरी समझ से ऐसा कहना उनकी धृष्टता होगी।

उज्जैन की वेधशाला

(१) वेदकाल में वेधों के प्रमाण—ऋग्वेदकाल से भारतियों को २७ नक्षत्रों का और उनमें से भ्रमण करनेवाले चन्द्रमा की गति का अच्छे प्रकार से ज्ञान था, यह बात निम्नलिखित वेदग्रंथों के प्रमाणों से स्पष्ट होगी :—

(१) यथाग्निः पृथिव्यां.........यथा सूर्यो दिवा चंद्रमसे समनमन्नक्षत्रेभ्यः समनमद् यथा चंद्रमा नक्षत्रै वरुणाय समनमत् ॥ ....(तैत्तिरीय०· ७-५-२३) ।

(२) संवत्सरस्य यत्फल्गुनी पूर्णमासो मुखत एव संवत्सरमारभ्य दीक्षंते.............चित्रापूर्णमासे दीक्षेरन् ॥ (तै० सं० ७-४-८)

(३) कृत्तिकाः प्रथमं ॥ विशाखे उत्तमं ॥ तानि देवनक्षत्राणि ॥ अनुराधाः प्रथमं ॥ अपभरणीरुत्तमं ॥ तानि यमनक्षत्राणि ॥ (तै० ब्रा० १-५-२)

(४) तस्मात्कृत्तिकास्वादधीत ॥ एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवंते सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवंते............(शतपथ ब्रा० २-१-२)

(५) बृहस्पतिः प्रथमं जायमानः तिष्यं नक्षत्रं अभिसंबभूव.....॥ तै० ब्रा० ३-१-१ ।

(२) महाभारतकालीन वेधों के प्रमाण—"चन्द्रमा की रोहिणी पर प्रीत" इस विषय पर तैत्तिरीय संहिता में बड़ी मनोरंजक कथा है। वेदकाल के बाद व महाभारतकाल के समय तक हमारे ज्योतिषियों ने आकाश निरीक्षण का कार्य सतत चालू रखते हुए ज्योतिष विषयक कई महत्त्व की बातों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। दक्षिणायन, उत्तरायण, विषुवायन, ऋतुपर्याय, ग्रहों की वक्रीमार्गी गति, ग्रहणों का १९ वर्ष का पर्याय, इत्यादि बातें उन्हें अच्छी प्रकार से मालूम हो गई थीं। महाभारत के निम्नलिखित श्लोकों से यह बात स्पष्ट होती है कि रवि-चन्द्र के अतिरिक्त सप्तग्रहों की गतिस्थिति का भी बहुत कुछ ज्ञान हो गया था।

ते पीडयन् भीमसेनं क्रुद्धाः सप्त महारथाः। प्रजासंहरणे राजन् सोमं सप्तग्रहा इव ॥ भीष्म० अ० १३०
यदासूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः। एकराशौ समेष्यंति प्रवर्त्स्यति तदा कृतम् ॥ वन० अ० १८८।
यथा हिमवतः पार्श्वं पृष्ठं चन्द्रमसो यथा। न दृष्टपूर्वं मनुजैर्न च तन्नास्ति तावता ॥ शान्ति० अ० २०३।

"चन्द्रमा की दूसरी बाजू अभी तक किसी भी मानव ने नहीं देखी है", यह वर्तमान समय का विश्वमान्य सिद्धान्त महाभारतकाल में हमारे लोगों को मालूम था। इसी प्रकार कृतयुग का आरम्भ व ग्रहस्थिति इनका सम्बन्ध स्थापन करने योग्य ज्ञान महाभारतकालीन ज्योतिषियों ने प्राप्त कर लिया था, यह बात उपर्युक्त श्लोकों से स्पष्ट होती है। गर्गसंहिता नामक ग्रंथ से मालूम होता है कि जिस प्रकार नित्य व्यवहार में दिन के लिए तारीख का उपयोग करते हैं, उसी प्रकार महाभारतकाल में चन्द्रमा-स्थित नक्षत्र से दिन का निर्देश किया जाता था। उस समय में नक्षत्रों को तीन प्रकार के विषय-विभाग (प्रत्यक्ष नक्षत्र स्थिति देखते हुए) माने जाते थे। ६ नक्षत्र अर्धभोग, ६ नक्षत्र अध्यर्ध-भोग व शेष १५ नक्षत्र समभोग मानते थे। इस प्रकार महाभारतकाल में भारतवर्ष में वेध लिये जाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं।

(३) संहिता ग्रंथों के वेधों के प्रमाण—हमारे संहिताग्रंथों में शनि-मंगल द्वारा रोहिणीशकटभेद के अनिष्ट फल का वर्णन दिया हुआ है—

रोहिणीशकटमर्कनन्दनो यदि भिनत्ति रुधिरोऽथ वा शशी ॥ किं वदामि यदि नष्टसागरे जगदशेषमुपयाति संक्षयं ।
बृहत्संहिता ३४।

भौमार्क्योः शकटभिदा युगांतरे स्यात्—ग्र० ला० ११-१२।

शनी का स्पष्ट परमशर २°-४५' और भौम का २°-५३' होता है। यह स्थिति रोहिणीशकटभेद करने योग्य होती है। गणित से मालूम होता है कि शकपूर्व ५००० वर्ष शनी का स्पष्टशर २°-३४' था। उस समय और उसके पूर्वकाल में शनी भौम द्वारा रोहिणीशकटभेद अवश्य हुए होंगे व देखे गये होंगे। गुरु का स्पष्टपरमशर २°-३५' कभी नहीं हो सकता और इसीलिये संहिता ग्रंथों में गुरुकृत रोहिणीशकटभेद के फलों का कोई वर्णन नहीं है। शकारंभ के पश्चात् अभी तक शनी-भौम द्वारा रोहिणीशकटभेद कभी नहीं हुआ। इन्हीं संहिता ग्रंथों में कौनसा धूमकेतु कितने वर्ष बाद आता है इसका

वर्णन है।* वर्तमान समय में जिस प्रकार एनकी, हॅले इत्यादि यूरोपीय ज्योतिषसंशोधकों के नाम उन्हीं के द्वारा संशोधित किये हुए धूमकेतुओं को दिये गये हैं, उसी प्रकार ११० वर्ष का प्रवास करनेवाले धूमकेतु का नाम उद्दालक, ५०० वर्षवाले का पैतामह, १५०० वर्षवाले का काश्यप इत्यादि नाम रखे गये होंगे, ऐसा विद्वानों का मत है। इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि आकाश का निरीक्षण व स्वस्थ ज्योतियों का चमत्कार दर्शन ७००० वर्ष पूर्व से ही हमारे पूर्वजों ने किया हुआ है।

(४) **सिद्धान्तकाल के वेधों के प्रमाण**—हमारे भारतवर्ष में प्रत्यक्ष आकाश का अवलोकन व तद्वारा ज्ञानप्राप्ति कर लेने का कार्य वर्षानुवर्ष सतत चला करता था इसमें सन्देह नहीं। हमारे सूर्यसिद्धान्त ग्रंथ में ग्रहों के भगण दिये हुए हैं, जिन्हें देखकर अन्तःकरण आश्चर्य व आदर से भर जाता है। इसमें एक महायुग में (४३,२०००० वर्षों में) चन्द्रमा के भगण (फेरे, revolutions) ५७७५३३६ बताये हुए हैं—यह संख्या round figure नहीं है यह ध्यान में रखने योग्य बात है—इससे गणित करने पर ज्ञात होगा कि चन्द्रमा की प्रति दिन की गति १३.१७६ अंश होती है। आज के विश्वमान्य नॉटिकल आल्मॅनॅक में चन्द्रमा की दैनिक गति १३.१७६४ दी हुई रहती है। सिद्धान्तकाल में ही इतना सूक्ष्म ग्रहगतिमान हमारे ज्योतिषियों ने निकाल रखा था, यह हमारे लिये बड़े गौरव की बात है।

(५) **विक्रम द्विसहस्त्राब्दी-काल के वेधों के प्रमाण**—प्राचीनकाल की बात छोड़ दी जाय, तब भी गत २००० वर्षों में वेधकार्यकुशल अनेक धुरंधर विद्वान् ज्योतिषी हमारे भारतवर्ष में हो गये हैं। उनमें से कुछ ज्योतिषियों के निम्नलिखित वचन, वेधपरंपरा दिखाने के लिये पर्याप्त होंगे :—

(१) **आश्लेषार्धादासीत् यदा निवृत्तिः किलोष्णकिरणस्य। युक्तमयनं तदासीत् सांप्रतमयनं पुनर्वसुतः॥**
—वराहमिहिराचार्य।

(२) **स्वयमेव नाम यत्कृतमार्यभटेन स्फुटं स्वगणितस्य। सिद्धं तदस्फुटत्वं ग्रहणादीनां विसंवदति॥—ब्रह्मगुप्त।**

(३) **शृंगोन्नतौ ग्रहयुतौ ग्रहणे तथास्ते। छायानिरीक्षणविधौ उदयेऽस्त्र देयम्॥ —लल्लाचार्य।**

(४) **यस्मिन्दिने सम्यक् प्राच्यां रविरुदितो दृष्टः तद्विषुवद्दिनं। तस्मिन्दिने गणितेन स्फुटो रविःकार्यः...... ॥**
—भास्कराचार्य।

(५) **ब्राह्मार्यभटसौराद्येष्वपि ग्रहकरणेषु बुधशुक्रयोर्महदंतरं दृश्यते। मंदे आकाशे नक्षत्रग्रहयोगे उदयेस्ते च पंचभागादिकाः प्रत्यक्षं अंतरं दृश्यते। एवं..........वर्तमानघटनाम् आलोक्य..............ग्रहगणितानि कार्याणि॥**
—केशवदैवज्ञ।

(६) **पूर्वोक्ता भृगुचन्द्रयोः क्षणलवाः स्पष्टा भृगोश्चोनिता। द्वाभ्यां तैरुदयास्तदृष्टिसमता स्याल्लक्षितैषा मया॥**
—गणेशदैवज्ञ।

इन सब बातों से यह बात बिलकुल स्पष्ट है कि हमारे देश में अति प्राचीनकाल से वेध लेने के कार्य अवश्य होते थे। यदि शोक की बात कोई हो, तो केवल यही हो सकती है कि इस कार्य का परम्परागत लिखा हुआ इतिहास हमें उपलब्ध नहीं हुआ है। व्यक्तिशः वेधनियमक प्रयत्न हमारे देश में अनेक हुए हैं। किन्तु स्थाई वेधशाला बँधवाकर, उसमें वेध लेकर, करणग्रंथ बनाने का सफल उद्योग राजा सवाई जयसिंहजी ने ही किया, यह इतिहास से मालूम होता है।

जयपुर के राजा सवाई जयसिंहजी—राजा जयसिंहजी वि० संवत् १७५० (शके १६१५, ई० स० १६९३) में अम्बर में सिंहासनारूढ़ हुए। वे स्वयं ज्योतिर्गणितज्ञ व वेधकार्यकुशल थे। उन्होंने "सिद्धान्त-सम्राट्" नामक ग्रंथ

* "**.........पैतामहः चलकेतुः पंचवर्षशतं प्रोष्य उदितः। ....अथोद्दालकः श्वेतकेतुः दशोत्तरं वर्षशतं प्रोष्य.... दृश्यः। ....शूलाग्राकारांशिखां दर्शयन् ब्राह्मनक्षत्रं उपसृत्य मनाक् ध्रुवं ब्रह्मराशिं सप्तर्षी संस्पृश्य.............काश्यपः श्वेतकेतुः पंचदशं वर्षशतंप्रोष्य पद्मकेतोश्चारांते..............नभसस्त्रिभागमाक्रम्य अपसव्यं निवृत्य अथप्रदक्षिणजटाकारशिखः स यावंतो मासान्दृश्यते तावद्वर्षाणि सुभिक्षमावहति। ...... अथ रश्मिकेतुः विभावसुजः प्रोष्य शतमावर्तकेतोरुदितः चारांते कृत्तिकासु धूमशिखः.............. ॥**"
—दीक्षितकृत भा. ज्यो. इति. पृ. ३४२।

संस्कृत में व "झिज्महंमद" अरबी भाषा में बनवाया। "झिज्महंमद" ग्रंथ की प्रस्तावना में जयसिंहजी ने लिखा है कि-- "वर्तमान समय का भारतीय ज्योतिर्गणित दृक्तुल्य नहीं होता है। इसलिए बादशाह महंमदशाह की आज्ञा से चूना, पत्थर, ईंटों के स्थायी बड़े-बड़े यंत्र जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, बनारस व मथुरा में बनवाये। ऐसे यंत्र बनवाने का मुख्य कारण यह है कि इनमें जिस प्रकार अंशों के कलात्मक सूक्ष्म विभाग बनाये जा सकते हैं, वैसे छोटे छोटे पीतल के यंत्रों में नहीं बनाये जा सकते। इसके अतिरिक्त उन यंत्रों के अक्ष, वर्तुल-मध्य, धरातल, इत्यादि वक्र व चलित हो सकते हैं और हवा, पानी, धूप व काल इनका अनिष्ट परिणाम अधिक हो सकता है। इसलिए प्रस्तरमय विशाल यंत्र उपर्युक्त पाँच स्थानों पर उन्होंने बनवाये।" राजा जयसिंहजी ने उत्तम वेधकुशल ज्योतिषियों को नियुक्त करके ७ वर्ष पर्यन्त इन वेधशालाओं में वेध लिये। इन वेधों का वर्णन 'सिद्धान्तसम्राट्' ग्रंथ में मिलता है। इन वेधों पर से उन्होंने ग्रहगत्यादिक मान निकाले, और उनके ग्रंथ से किया हुआ गणित दृक्प्रत्ययी है ऐसा अनुभव होने लगा। इनके पूर्वकाल में हमारे ज्योतिषियों ने कई उपयुक्त धातुमय वेध-यंत्र निर्माण किये थे, जिनका वर्णन ज्योतिषशास्त्र के इतिहास में हमें पढ़ने के लिये मिलता है। उदाहरणार्थ भास्कराचार्यजी का चक्रयंत्र, गणेशदैवज्ञजी का प्रतोदयंत्र, दीक्षितजी का गोलानंदयंत्र इत्यादि। किन्तु राजा जयसिंहजी ने भव्य चूने पत्थरों के यंत्रों से युक्त वेधशालाएँ निर्माण कराईं, यह उनके कल्पनाचातुर्य का ही फल है।

श्रीजीवाजी वेधशाला, उज्जैन--यह वेधशाला संवत् १७७६, ई० स० १७१९ के लगभग बँधवाई गई। राजा जयसिंहजी के पश्चात् इसमें वेधकार्य नियमित रूप से किये जाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। दोसौ वर्ष तक इसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। फलस्वरूप हवा, पानी, व धूप इनका अवश्यम्भावी परिणाम होकर इसके यंत्रों की टूटफूट हो गई। अन्त में उज्जैन की पण्डिताश्रमसभा के प्रयत्नों से श्रीमान् स्वर्गीय माधवराव महाराजा शिन्दे ग्वालियर-नरेश का लक्ष्य इसकी तरफ आकर्षित हुआ और ई० स० १९२३ में जयपुर के विद्वान् पण्डित श्री गोकुलचन्द्रजी भावन के निदर्शकत्व में इस वेधशाला का पुनर्जीवन हुआ।

यंत्रों का वर्णन--

(१) **सम्राट्यंत्र**--इस वेधशाला में प्राचीन मुख्य यंत्र चार हैं, जिनमें सबसे बड़ा व अधिक महत्त्व का यंत्रराज "सम्राट्यंत्र" है। इसके मध्य में लगभग ४८ फीट लम्बी व २२ फुट ऊँची त्रिकोणाकार दीवाल है। यह दक्षिण से उत्तर की तरफ तिरछी (धरातल से अक्षांश तुल्य २३°-१०' का कोण बनाती हुई) बाँधी गई है। ऐसी स्थिति में इसके ऊपर की तिरछी बाजू पृथ्वी के अक्ष के समानान्तर होती है, जिसमें ग्रहों की क्रान्ति के वेध लेने के लिये जाने के वास्ते एक जीना बनाया है। इस जीने की दोनों बाजुओं पर ०' से ६०' तक दक्षिण व उत्तर की तरफ क्रांतियों की रेखाएँ खुदी हुई हैं। इस दीवाल के दोनों तरफ--पूर्व की ओर एक व पश्चिम की तरफ दूसरी--दो वृत्तचतुर्थांश (Quadrants) विषुववृत्त के धरातल में बाँधे हुए हैं जिनपर घंटे, १५ मिनिट, ५ मिनिट, व २० सेकन्ड की लकीरें खुदी हुई हैं। इन वृत्तों के जिस रेखा के साथ दीवाल की छाया मिलती हुई दिखती है, उससे घंटा-मिनिटात्मक काल का ज्ञान होता है। यह काल स्थानीय स्पष्टकाल (Local apparent time) होता है। इसमें प्रति दिन कुछ विवक्षित मिनिट संख्या जोड़ने से स्टेन्डर्ड टाइम आता है। किसी भी वर्ष के प्रत्येक तारीख के लिये आवश्यक लगनेवाले मिनिट संख्या निदर्शक कोष्टक, इस यंत्र के दोनों बाजुओं के दीवालों में, पत्थर पर खुदवाकर लगाया गया है। सम्राट्यंत्र से खासकर रवि-चन्द्रादि ग्रहों के नतकाल व क्रांति का ज्ञान, तथा छाया द्वारा समय का ज्ञान होता है।

(२) **नाड़ीवलययंत्र**--सम्राट्यंत्र के पास ही दक्षिण में एक छोटे से ओटले पर तकिये के आकार का एक यंत्र है जिसका नाम "दक्षिणगोल-उत्तरगोल व नाड़ीवलययंत्र" है। किसी भी क्रांति निकालने के पहिले वेधज्ञ यह निश्चित कर लेता है कि वेध्य ग्रह दक्षिणगोलार्ध में है या उत्तर में। जब ग्रह की क्रान्ति १ अंश के पास आती है तब केवल दृष्टि से ग्रह की गोलार्द्ध स्थिति निश्चित रूप से नहीं मालूम होती है। इसका निश्चय नाड़ीवलययंत्र से किया जाता है। इसके दक्षिण व उत्तर भाग (Faces) विषुववृत्त के धरातल में होने से, जिस तरफ देखने से इष्ट ग्रह दृष्टिगोचर होगा, उसी तरफवाले गोलार्ध में वह ग्रह है ऐसा निश्चय होता है। इस दक्षिण व उत्तर के सिरों के मध्य में पृथ्वी के अक्ष के समानान्तर दिशा में एक एक कील लगी है, जिसकी छाया उन सिरों पर पड़ती है। इन सिरों पर एक एक नाड़ीवलय (Ghati

circle) पूर्व काल में खुदा हुआ था। अब बजाय घटिओं के घण्टे मिनिट की रेखाएँ खुदी हुई है, जिनसे छायार्क द्वारा स्थूल स्पष्टकाल मालूम होता है।

(३) **दिगंशयंत्र**––नाड़ीवलय यंत्र के पास पूर्व की तरफ समकेन्द्रचक्राकार (concentric) ८ फुट ऊँचाई की दीवालें हैं जिनके व्यासार्ध १० फुट व १६ फुट हैं। इस यंत्र के मध्य में ४ फुट ऊँचा व ४ फुट व्यास का चबूतरा है व इसके बीच में ४ फुट ऊँचाई का सलिया है। भीतर की दीवाल के कोरपर दिग्बिन्दु योग्य स्थानों पर लिखे हुए हैं और भारतीय ज्योतिष-परम्परा के अनुसार पूर्व से दक्षिण ०' से ९०'; दक्षिण से पश्चिम की तरफ ०' से ९०'; इस प्रकार अंश खुदे हैं। इस यंत्र से केवल दिगंश का ही ज्ञान होता था। परन्तु स्व० रावसाहब गो० स० आपटे साहब ने दिगंशयंत्र के मध्यस्थित सलिया पर एक तुरीय यंत्र लगाया है, जिससे किसी भी ग्रह या तारका के दिगंश तथा उन्नतांश एक समयावच्छेद में ज्ञात होते हैं। इस यंत्र का उपयोग खासकर तिथि के वेध लेने में होता है।

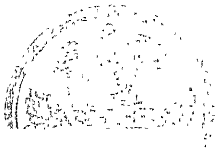
(४) **भित्तियंत्र**––दिगंशयंत्र के नैऋत्य में २२ फीट लम्बी व २२ फीट ऊँची दक्षिणोत्तर दीवाल बँधी हुई है। उसे भित्तियंत्र कहते हैं। इस दीवाल के पूर्व भाग में २० फीट के त्रिज्यावाले दो वर्तुलपाद (Quadrantal arcs) खुदे हुए हैं। इनमें ०' से ९०' तक अंश व कलाओं की रेखाएँ खुदी हुई हैं व इनके केन्द्र में दो खूटियाँ हैं जिनका परस्पर अन्तर २० फीट का है। माध्याह्न के समय इन खूँटियों में बँधी हुई डोर उन खूँटियों की लम्बी छाया के गर्भ में से इस तरह खींची जाती है कि वह डोर वर्तुलपाद को किसी एक रेखा में काटे। इससे माध्याह्नकालीन रवि के नतांश मालूम होते हैं। अन्य ग्रहों के याम्योत्तरकालीन नतांश भी इसी तरह ज्ञात होते हैं। वेधगत नतांशों से (अक्षांश का धनर्ण संस्कार देकर) ग्रहों की क्रान्ति मालूम होती है। जिस दिन व जिस समय रवि की क्रान्ति शून्य होती है वह समय विषुवायन (equinox) का द्योतक होता है। भित्तियंत्र से ग्रहों की वक्रीमार्गी गति का भी ज्ञान प्राप्त होता है।

(५) **शंकुयंत्र**––शके १८५९ में सम्राट्यंत्र के उत्तर के तरफ नये यंत्र की स्थापना की गई है, जिसे शंकुयंत्र कहते हैं। हमारे वेध-प्रक्रिया में शंकु का व तद्वारा प्राप्त छायार्क-वेध का बहुत महत्त्व है। यह यंत्र ११ फुट त्रिज्यामित चक्राकार ओटले के रूप में है। इसके केन्द्र में ४ फुट ऊँचा शंकु लगाया है और ओटले के किनारे पर शुद्ध दिक्साधन करके दिगंश के अंक खुदवाये हैं। रवि-चन्द्र के सूक्ष्म दिगंश व उन्नतांश का ज्ञान इस यंत्र से अच्छी प्रकार से होता है। इस यंत्र के ओटले पर, शंकु छाया का प्रत्यक्ष वेध लेकर, सायनराशिसंक्रमणकालदर्शक रेखाएँ निकली हुई हैं, जिनसे किसी भी दिन छाया की स्थिति देखकर ही, रवि किस राशि में है यह स्पष्टतया मालूम होता है। इसी यंत्र से रवि का सूक्ष्म माध्याह्न काल व तत्कालीन क्रान्ति मालूम होती है।

वेधशाला का कार्य––राजा सवाई जयसिंहजी ने पंचांगों के जाँच करने के हेतु से ही अन्य वेधशालाओं के साथ यह वेधशाला बनवाई। हमारे धर्म के लिए शुद्ध कालज्ञान की आवश्यकता है। कालज्ञान के लिए तिथ्यादि अंगों से युक्त पंचांग होता है, और पंचांगों का गणित प्रत्यक्ष ग्रहस्थिति से मिलता है या नहीं, इसकी जाँच करने के लिए वेधशाला की आवश्यकता होती है। हमारे शिक्षाविभाग ने वेधशाला के लिए जो उद्देश रखे हैं उनमें से, पंचांग की जाँच, जनता में ज्योतिष ज्ञान का प्रचार, व सूक्ष्मगणितयुक्त ग्रंथों का प्रकाशन, ये तीन महत्त्व के उद्देश्य हैं। इन्हींको सामने रखकर इस वेधशाला का कार्य चल रहा है।

इस वेधशाला का अध्यक्षत्व स्वर्गीय रा० सा० गोविंद सदाशिव आपटे साहब, एम० ए०, बी० एस-सी०, गणकचूड़ामणि, की तरफ ई० सन १९३६ के अन्त तक रहा। इस अवसर में आपने अत्यन्त वृद्धावस्था व क्षीणावस्था होते हुए भी, नियत-कालिकों में लेख लिखकर व व्याख्यानादिक देकर जनता में ज्योतिष-ज्ञान का प्रचार किया। इससे भी अत्यन्त महत्त्व का कार्य किया है और वह है ज्योतिष ग्रंथों का प्रकाशन। आपके सर्वानन्दकरण नामक ग्रंथ को काशी विद्यापीठ ने आचार्य परीक्षा के कोर्स में स्थान दिया है। सर्वानन्दलाघव, पंचांगचिन्तामणि, ग्रह-चिन्तामणि (अप्रकाशित), ये ग्रंथ भारतवर्षीय ज्योतिषियों के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। आपने चित्रा, मघा, पुष्य आदि क्रान्तिवृत्तस्थ तारकाओं के याम्योत्तरलंघनकाल के वेध लेकर वर्षमान निकालने का अच्छा प्रयत्न किया है। उज्जैन के लिए रवि की उदयास्तसारिणी आपने बनाई है, जो आज भी हमारे लिए मार्गदर्शक हो रही है।

(१) **प्रत्यक्ष वेधकार्य**––ई० स० १९३९ से यहाँ पर दैनिक वेध लेने का कार्य सुचारुरूप से चल रहा है। प्रतिदिन प्रातः अरुणोदयपूर्व काल से, सायंकाल में ग्रह-नक्षत्रादिकों के दर्शन होने तक सब ग्रहों के व मुख्य मुख्य नक्षत्रों के वेध लिए जाते हैं। इस कार्य के लिए वेधकार्यकुशल तीन सज्जन नियुक्त हैं, जो अपने अपने समय पर सर्व प्रकार का वेधकार्य करते रहते हैं, और लिये हुए वेध––(यानी वेध का समय, यंत्र का नाम, व विद्ध ज्योतिओं के वेध विषयक अंक)––वेधपत्र में



लिखते हैं। इन वेधों में मुख्यतः ग्रहों के विषुवांश व क्रान्ति, उन्नतांश व दिगंश, छाया की लम्बाई, ग्रहादिकों के नित्योदयास्त, ग्रहों के लोपदर्शन, चन्द्रोदयकाल, ग्रहों की युतियाँ, तथा वक्रीमार्गत्व, ग्रहणों में स्पर्शमोक्षादि काल, इत्यादि बातों का समावेश होता है। ये वेधपत्र, वेधशाला के कार्यालय में लाये जाते हैं, जिनपर से वेधों के रजिस्टर में वेध दर्ज किये जाते हैं। इन वेधागत अंकों पर से तिथ्यंत काल, ग्रहों के विषुवांशभोग, युतिकाल, इत्यादि बातों का गणित किया जाता है, व प्रतिवर्ष के प्रचलित पंचांगों के अंक तुलना के लिये इनके साथ लिखे जाते हैं। इस प्रकार प्रति वर्ष औसत ५००० वेध लिये जाते हैं।

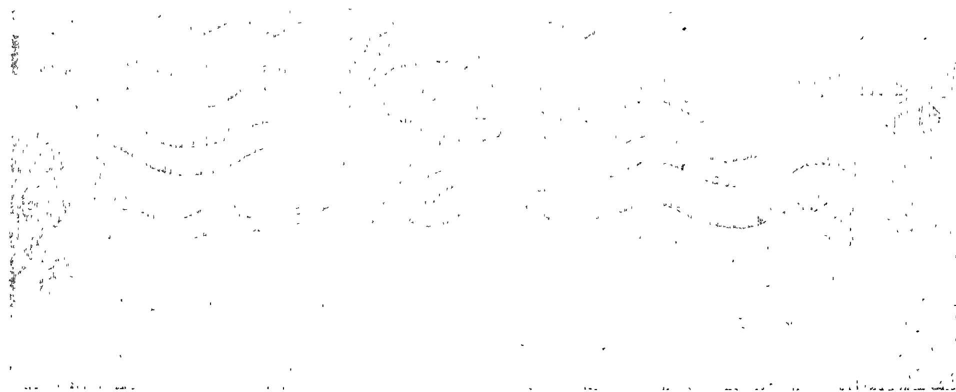
(२) **ज्योतिषसेवा व प्रचार-कार्य**--भारतीय प्राचीन ज्योतिष तथा अर्वाचीन पाश्चिमात्य ज्योतिष का तुलनात्मक ज्ञान विद्यार्थियों को देना व जनता के ज्योतिष विषयक प्रश्नों का व शंकाओं का समाधान करना, यह इस वेधशाला का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है। भारतवर्ष के सुप्रसिद्ध पंचांगकर्ता वेधशाला के साथ पत्रव्यवहार करते हैं, अपने अपने पंचांग दृक्प्रत्यय की जाँच के लिए भेजते हैं। उनके पंचांग का जितना गणित वेधों से मिलता है उतने ही के विषय में सन्तोषप्रद अभिप्राय दिया जाता है व अशुद्धि (जो कुछ हो) उनकी नजर में लाई जाती है।

प्रतिवर्ष हजारों दर्शक वेधशाला देखने आते हैं उनमें भारतीय व यूरोपीय विद्वान्, अत्यन्त हीन अवस्थाओं से लेकर, राजाओं तक के सर्व श्रेणी के स्त्री-पुरुष होते हैं, और दर्शकों की यह संख्या प्रति वर्ष औसत ४००० से कम नहीं होती है। इन दर्शकोत्सुक जनता में ज्योतिष विषयक रुचि उत्पन्न कराने के हेतु गत ४ वर्षों में कुछ चित्र (charts) तैयार करके रखे हैं, जिनमें तिथि-नक्षत्र-दर्शकयंत्र, वक्री-मार्गी ग्रहों का चित्र, ग्रहणों का चित्र ये विशेष मनोरंजक मालूम होते हैं। इनके अतिरिक्त, "नक्षत्र द्वारा समयदर्शक यंत्र" अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो रहा है, जिसकी मदद से किसी भी रात्रि को किसी भी प्रसिद्ध नक्षत्र का वेध लेकर घड़ी का सूक्ष्म टाइम निकाला जाता है।

(३) **प्रकाशन कार्य**--इस वेधशाला का तीसरा व अत्यन्त महत्त्व का व लोकोपयोगी कार्य है दैनिक सायनस्पष्ट-ग्रही का प्रकाशन। गत तीन वर्षों से (*Astronomical Ephemeris of Geo-centric places of Planets*) नामक पुस्तक इस वेधशाला से नियमितरूप से प्रसिद्ध हो रही है। प्रतिवर्ष इसमें सुधार किये जा रहे हैं, और इस वर्ष का एफिमेरिस संसार के सुप्रसिद्ध राफेल के एफिमेरिस से किसी बात में कम नहीं है। इसका गणित अत्यन्त सूक्ष्म होता है, और सर्व भारतवर्ष में--आसेतु हिमाचल--इसकी उपयुक्तता व आवश्यकता के विषय में भारत के सुप्रसिद्ध विद्वान् ज्योतिषियों की तरफ से प्रशंसनीय अभिप्राय पत्र द्वारा आये हुए हैं और भारत के प्रसिद्ध पत्रों में प्रकाशित हो चुके हैं। भारतवर्ष की स्टेन्डर्ड meridian (शून्यरेखा) उज्जैन होने से, इस एफिमेरिस का गणित उज्जैन मध्यरेखा का व भारत के स्टेन्डर्ड टाइम का दिया जाता है, यह इसकी एक विशेषता है। राफेल का पंचांग मुख्यतः यूरोपीय ज्योतिषियों की आवश्यकताओं को पूरी करता है, लेकिन हमारे पंचांगकर्ताओं को आवश्यक ऐसी तिथि नक्षत्रादिकों की बातें उसमें नहीं होती हैं। वेधशाला के एफिमेरिस में तिथि, उज्जैन मध्यकाल के रवि के उदयास्त, व नाक्षत्रकाल, स्पष्टराहु सर्व ग्रहों के लोपदर्शन भारतवर्षीय मुख्य मुख्य नगरों की भावसारिणियाँ, इत्यादि भारतीय ज्योतिर्विदों के लिये उपयुक्त बातें दी जाती हैं, यह इसकी दूसरी विशेषता है। इस एफिमेरिस के गौरवार्थ ई० स० १९४२ में जलगाँव की ज्योतिषपरिषद ने श्रीमन्त ग्वालियर नरेश का अभिनन्दन करनेवाला प्रस्ताव पास किया है, यह हमारे लिये गौरव की बात है। इसकी योग्यता व उपयुक्तता बढ़ाने के हेतु से ज्योतिर्विदों की तरफ से प्रति वर्ष सूचनाएँ आती हैं उनका भी यथायोग्य विचार किया जाता है।

(४) **अन्य आवश्यक कार्य**--ऊपर वर्णन किये हुए कार्यों के अतिरिक्त और भी ऐसे कार्य करने योग्य हैं जिनकी वेधशाला के अधिकारियों को कल्पना है, उदाहरणार्थ, सर्वग्रहों की कलात्मक केन्द्रों की मन्द फल की सारणियाँ, कर्तव्य-ज्योतिष का ग्रंथ (Practical Astronomy); नॉटिकल आल्मॅनॅकतुल्य भारतीय आल्मॅनॅक प्रसिद्ध करना, ज्योतिषपत्र का प्रकाशन, पौर्वात्य तथा पाश्चिमात्य ज्योतिष के तुलनात्मक शिक्षा के लिए ज्योतिषशाला की स्थापना, इत्यादि इत्यादि। आशा है कि निकट भविष्यकाल में इनको मूर्तस्वरूप दिया जा सकेगा।

भविष्य का सुखस्वप्न--संसार की वर्तमान यांत्रिक वेधशालाओं की पंक्ति में इस वेधशाला को स्थान प्राप्त नहीं हुआ है, यह खेद की बात है। भारतवर्ष में हैदराबाद राज्य की एकमेव यांत्रिक वेधशाला है जोकि अन्तर्राष्ट्रीय ज्योतिषसेवा में हाथ बँटा रही है। उसके वेधों को संसार में सत्य समझकर मान्यता दी जाती है। इस कार्य पर राज्य का व्यय प्रतिवर्ष कई हजार रुपयों का होता है। आशा है कि भविष्य में इस वेधशाला को भी अर्वाचीन यंत्रों से अद्यावत सुसज्जित किया जाए, व उज्जैन की यह वेधशाला भारतवर्ष की मुख्य वेधशाला हो, ऐसी श्रीमहाकालेश्वरजी के चरणों में मेरी प्रार्थना है।



पौराणिक अवन्तिका और उसका माहात्म्य

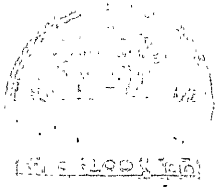
रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

प्रायः सभी पुराणों में तीर्थों की परिगणना तथा तीर्थयात्रा के प्रसंग में महाकालवन, क्षिप्रा तथा अवन्ती का वर्णन आया है तथा उनके भिन्न-भिन्न माहात्म्य बताये गये हैं। पर स्कन्दपुराण में अवन्ती नामक एक खण्ड है, जिसमें कुल मिलाकर तिरासी अध्यायों में उपर्युक्त तीनों विषयों पर विविध माहात्म्यमूलक कथाएँ कहीं गई हैं।

तीर्थों के पौराणिक माहात्म्यों को सुननेवाले श्रद्धालु भक्तजनों की संख्या अब उत्तरोत्तर क्षीण होती जा रही है और उन में वर्णित बातों पर विश्वास करनेवालों की भी कमी हो रही है। आज की बीसवीं शती के व्यस्त मानवकुल की उदासीन या शुष्क भावभूमि में व्यासों तथा सूतों के वे वाक्य श्रद्धा का उद्भव करने में असमर्थ से जान पड़ते हैं। पर इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि तीर्थों के वे माहात्म्य आधारहीन स्थिति में हैं। प्राचीनकाल में जब हमारी धार्मिक भावनाएँ परम कोमल तथा व्यस्तता की आधुनिक सामग्रियों का नितान्त अभावसा था तब इन माहात्म्यों की चर्चाएँ कानों में प्रविष्ट होकर तीर्थयात्रा की प्रवृत्ति उत्पन्न करती थीं। किसी वस्तु या विषय में प्रवृत्ति का कारण उसके गुणों का श्रवण है, उसे बढ़ाचढ़ाकर कहने की कला में आज का युग भी पीछे नहीं है। काश्मीर की सुषमा एवं कैलाश की निराली छटा को सुनकर सुदूर प्रान्तों के लोग दर्शनार्थ आते हैं। प्राचीनकाल में उन तीर्थों में ऋषिगण अहर्निशि तपस्या और साधना में निरत रहते थे, प्रातःसायं अग्निहोत्र से समस्त वातावरण दोष रहित होकर सुगन्धित होता था, कुलपति अपने विद्यापीठ की शिष्य-मण्डली को साथ ले उनको वेद ध्वनि से गुंजरित करता था। सुन्दर शान्त वनप्रान्त रहता था, दो परस्पर विरुद्ध स्वभाव के भी जीवगण एक साथ विचरण करते थे, वृक्षों पर मयूर, चातक पिक आदि पक्षी अपनी सुरीली आवाजों से आगतों का स्वागत करते थे, फूली हुई अनेक प्रकार की लताएँ हरे भरे फूले फले वृक्षों पर तत्तत् ऋतुओं में अपनी सम्पत्तियों का प्रदर्शन करती हुईं इस वनश्री में चार चाँद लगा देती थीं, नदियों तथा सरोवरों में विविध जलजन्तु तथा पक्षी विहार करते थे---ऐसे परम रमणीय शान्त वातावरण में पहुँचकर गृहस्थी के कार्य से उद्विग्नचित्त प्राणी का मन आत्म विस्मृति कर जाता है, छल-छिद्रादि से बहुत दूर हो जाता है। तीर्थों की यात्रा में वस्तुतः यही प्रलोभन थे, आज की तरह वहाँ शहर नहीं बसे थे और न दूकानें ही सजाईं जाती थीं। वहाँ जाने पर धर्मोपदेश मिलता था। शंकाएँ समाहित होती थीं, जीवन की कितनी जटिल समस्याओं का हल सुलझाया जाता था। तीर्थों के इस वैज्ञानिक आकर्षण एवं कारण की चर्चा एक स्थल पर इस प्रकार की गई है---

प्रभावादद्भुदाद् भूमेः सलिलस्य च तेजसः, परिग्रहान्मुनीनाञ्च तीर्थानां पुण्यता स्मृता।

अर्थात् तीर्थ भूमि, वहाँ के सुन्दर स्वास्थ्यवर्द्धक जल तथा वातावरण के आश्चर्यकारी तेज के अद्भुत प्रभाव के कारण तथा वेदशास्त्र के तत्त्वों के जाननेवाले तपोनिष्ठ मुनियों के निवास एवं साहचर्य के कारण ही तीर्थों की पुण्यता कही गई है।



बातें वही हैं। ऐसे परम पावन, मनोमोहक, स्वास्थ्यवर्द्धक तथा पारलौकिक निःश्रेयस में प्रवृत्ति करानेवाले तीर्थों के अद्भुत माहात्म्यों के आकर्षणपूर्ण वर्णनों में मूलतः व्यासों तथा सूतों का यही तात्पर्य निहित था। पीछे चलकर उसीमें पिण्डदानादि विविध कर्मकाण्डीय विधानों का भी संयोग सन्निविष्ट कर दिया गया।

अवन्ती के माहात्म्य का वर्णन करते हुए महाकालवन की प्रशंसा में जहाँ यह कहा गया है कि उस परम पुनीत महाकालवन में ऋषिगण, देवगण, यक्ष, किन्नर गन्धर्वादि देवयोनि विशेष, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्रादि प्रमुख देव महाकाल की आराधना में निरत थे, वहीं यह भी कहा गया है कि वहाँ की पुण्यनगरी अवन्ती अति समृद्ध थी, सुवर्ण के गगनचुम्बी प्रासाद तथा भवन विविध मणि-मण्डित सोपानों तथा भित्तियों से चकाचौंध होते रहते थे। बरामदों तथा अट्टालिकाओं पर स्वर्ग सुन्दरी रमणियाँ विहार करती थीं। वहाँ के देवतुल्य निवासी स्वर्ग के समान सुख का अनुभव करते हुए कालयापन करते थे, उन्हें किसी प्रकार की न तो चिन्ता थी न दुःख था। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम एक उद्धरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

"पुष्पों से लदे हुए शाल और अर्जुन के वृक्ष उस वन प्रान्त में इस प्रकार खड़े थे मानों धोये हुए रेशमी वस्त्रों को ओढ़े हुए पुरुष खड़े हों। फूली हुई लताओं से आच्छादित वृक्षों के समूह, ललनाओं से आलिंगित प्रियजनों की भाँति शोभित हो रहे थे। पवन द्वारा हिलती हुई मंजरियों से सुशोभित आम और तिलक के वृक्ष आपस में हाथ हिलाते हुए सज्जनों की भाँति बातें सी करते थे। तिलक और अशोक के वृक्ष दो अभिन्न सुहृदों के करस्पर्श की भाँति आपस में एक दूसरे के पल्लवों का स्पर्श कर रहे थे। फूलों और फलों की समृद्धि से झुके हुए वृक्षों के समूह सज्जनों की भाँति परस्पर एक दूसरे को आगित से कर रहे थे। वायु के झोकों से लाये गये ठंडे जलकणों से युक्त वृक्षों के वे समूह सर्वदा सत्पुरुषों के स्वागतार्थ खड़े से जान पड़ते थे। प्रचुर परिमाण में पुष्पों की समृद्धि को धारण किये हुए वे मानों समान प्रभाववालों की स्पर्द्धा में खड़े होकर एक दूसरे को प्रदर्शित से कर रहे थे। सुन्दर मस्तक वाले पक्षी उन सुशोभित वृक्षों के पुष्पादि की शोभा से संवलित शिखरों पर उन्मत्त होकर नाच रहे थे। अमृतवल्ली के पुष्पों पर बैठे हुए भ्रमरों के समूह पवन द्वारा प्रेरित होकर लता के साथ ही इस प्रकार नाच रहे थे मानों अपनी प्रियतमा के समेत कोई प्रेमी हो। कहीं पर परिपुष्ट कुन्द की लताओं से आवेष्टित वृक्षों के समूह इस प्रकार शोभा पा रहे थे मानों शरत्कालीन आकाश मण्डल में अविरल तारागण उदित हुए हों। फूली हुई माधवीलता वृक्षों के अग्रभाग पर इस प्रकार शोभा पा रही थी मानों वहाँ पर वह बड़ी निपुणता से बिछाई गई हो। हरेभरे सुवर्ण की भाँति शोभित फलों तथा पुष्पों से सुशोभित वृक्षों के समूह सत्पुरुषों के समागम के अवसर पर सद्-गृहस्थ की भाँति अपनी सारी समृद्धि लिए हुए खड़े थे।" इसी प्रकार अनेक अध्यायों में अति सुन्दर काव्यात्मक ढंग पर महाकाल वन का मनोमोहक रेखाचित्र उपस्थित किया गया है। वन्य पशुओं तथा पक्षियों के विहार तथा सुरम्य कलरव का भी अतीव मनोग्राही वर्णन है। अवन्ती के राजप्रासादों की चर्चा भी तनिक सुनिये :—"वह पवित्र अवन्तिकापुरी अनेक योजनों में विस्तृत थी। उसमें अनेक लम्बे बाजार तथा हाट थे, जिनमें संसार के कोने-कोने की वस्तुएँ क्रय-विक्रय के लिए आती थीं। विशाल चौराहे बने हुए थे। सुन्दर महलों एवं प्रासादों से सड़कों की शोभा अति वृद्धि पर थी। वे प्रासाद स्फटिक की दीवालों से बने हुए थे। उनमें बैदूर्यमणि की फर्श बनी हुई थीं, प्रवाल के विशाल स्तम्भों पर उनका निर्माण हुआ था, यत्रतत्र सुवर्ण के विविध अलंकार जड़े हुए थे। कुछ लाल रंग लिए हुए मणियों की उनकी देहलियाँ बनी थीं, दरवाजों के बाजू मरकत प्रभृति मणियों से जटित थे, किवाड़े सुवर्ण के थे। उनमें वज्र के ब्यौंड़े लगे हुए थे। विविध प्रकार के मणियों से आँगन तथा द्वार की भूमि जड़ी हुई थी, वहाँ पर मोतियों की झालरें टँगी थीं। प्रत्येक भवन में सुवर्ण की ऊँची ध्वजाओं पर पताकाएँ फहरा रही थीं। मणि जटित सुवर्ण के कलश उन भवनों के शिखरों की शोभा वृद्धि के कारण बने हुए थे। प्रत्येक बाजारों में विविध प्रकार की बावलियाँ, कूप, जलाशय तथा मनोहारि निर्मल जल से सुशोभित सरोवर थे, जिनमें विविध जलजन्तु तथा लाल, नीले, श्वेत कमल खिले हुए मन को मोहित करते थे। विविध प्रकार के हंस कलरव करते थे। गृहों की बावलियों से आकर उद्यानों में फव्वारे लगे हुए थे। कहीं मयूर नाच रहे थे तो कहीं अपने सुरीले राग से कोकिला कूहू-कूहू कर रही थी। गृहोद्यानों के पुष्पस्तवकों पर भ्रमरगण मस्त होकर गुंजार कर रहे थे। वर्णाश्रम-धर्म-परायण नर नारीगण ऐसी स्वर्गीय शोभा को कहीं नीचे से, कहीं किनारे बैठकर तथा कहीं सन्निकटवर्ती अपने महलों के छज्जों पर से

बैठे हुए अवलोकन कर सुख का अनुभव करते थे।" इस वर्णन से आप कालिदास की अवन्ती में कोई अन्तर नहीं पा सकते और वह सचमुच उस समय भूखण्ड पर अवस्थित पुण्यशाली जनों के लिए स्वर्ग की एक छोटी टुकड़ी थी।

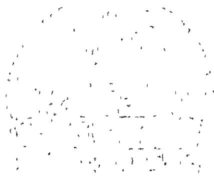
इसी अवन्तीपुरी में शिवजी को ब्रह्मा का शिर काट लेने पर प्रायश्चित्त भोगना पड़ा था। और यहीं कुशस्थली में उनके हाथों से कपाल का मोचन भी हुआ था। समस्त संसार में अति उत्तम पुण्यतम क्षेत्र जानकर शिवजी इसे कभी नहीं छोड़ते, ऐसी कथाएँ भी अवन्ती के विषय में वर्णित हैं। तीर्थों का सन्तुलनात्मक परिचय देते हुए सनत्कुमार कहते हैं--"संसार में गंगा सभी तीर्थों से युक्त है; विष्णु भगवान् सर्वदेवमय हैं, वेद सर्वयज्ञमय है, और दया सभी धर्मों से युक्त है। पृथ्वी में नर्मदा सभी नदियों में सर्वश्रेष्ठ तथा पुण्यमयी है, उससे बढ़कर पुण्यशाली कुरुक्षेत्र है, उससे भी दस गुणा अधिक माहात्म्य प्रयाग का है, उस प्रयाग से दस गुणा अधिक पुण्यदायिनी काशी नगरी है, काशी से भी दस गुणी गया है, उस गया से भी दसगुणित अधिक पुण्यप्रदायिनी यह कुशस्थली है।" जो हो इस संख्यापरक मानदण्ड का मूल्य इतना तो अवश्य है कि अवन्ती का माहात्म्य प्राचीनकाल में कितना था। किन्तु इन सब बातों के होते हुए भी भविष्य पुराण को छोड़कर अन्य पुराणों में अवन्ती के प्रसंग पर विक्रमादित्य की कोई चर्चा नहीं आती। इसका कारण जो भी हो, पर इससे यह निश्चित होता है कि बहुत दिनों तक इस नगरी ने स्वर्णिम दिन देखे हैं।

पुराणों में इसके कनकश्रृंगा, कुशस्थली, उज्जयिनी, अवन्ती, पद्मावती, कुमुद्वती, अमरावती, विशाला तथा प्रतिकल्पा---इन नौ नामों की चर्चा की गई है, और उन सबों के पड़ने का कारण भी बताया गया है; पर वे कारण ऐतिहासिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। पाठकों के मनोरंजनार्थ संक्षेप में हम उसकी चर्चा कर रहे हैं।

महाकाल शिवजी के निवासार्थ विश्वकर्मा ने कनकरचित शिखरोंवाले महलों से युक्त इस पुरी की रचना की थी और उस समय सभी देवतागण, ब्रह्मा आदि को साथ ले इसे देखने आये थे, तभी से इसका नाम कनकशृंगा पड़ा। ब्रह्मा ने सृष्टि रचना के बाद जब देखा कि लोग एक दूसरे से द्रोह करते हैं, युद्ध करते हैं, तथा रातदिन द्वेषाग्नि में जलते हुए कलह पर उतारू रहते हैं, और समस्त जगत् मर्यादाविहीन हो रहा है तो उन्होंने भगवान् विष्णु का ध्यान किया और निवेदन किया---'भगवन्! मेरी सृष्टि में इस समय घोर द्वन्द्व मचा हुआ है, तुम्हारे बिना अब उसका कोई अन्य रक्षक नहीं दिखाई पड़ रहा है।' इस प्रकार ब्रह्मा के अनेक प्रणत वचनों से भगवान् विष्णु प्रसन्न हुए और बोले---'अच्छी बात है मुझे एक ऐसा पवित्र मण्डल दिखलाओ जिसे तुमने कभी नहीं छोड़ा है, उस कल्याणमयी पृथ्वी पर स्थिर होकर मैं सृष्टि का नया विधान करूँगा तब यह कलह दूर होगा।' ब्रह्मा ने कुशों की मुट्ठी ग्रहण की और पवित्र वनाश्रम की ओर प्रस्थान किया और थोड़ी दूर जाने के बाद देवताओं से सम्मति ले अति उन्नत स्थली को देखकर उन्होंने भगवान् विष्णु से निवेदन किया कि 'आपकी सृष्टि रचना के आरम्भ के लिए यह पवित्र मण्डल है। हे देव! आप कुशों समेत यहाँ अवस्थित होइये।' भगवान् ने वैसा ही किया और ब्रह्मा को साथ ले उस पवित्र स्थली का नाम कुशस्थली रखा।

अवन्ती नाम पड़ने का कारण बताते हुए सनत्कुमार लिखते हैं---"प्राचीन ईशान नामक कल्प में जब देवगण दानवों से पराजित एवं भयभीत हो सुमेरु के शिखर पर एकत्र हुए और सम्मति की कि ऐसे संकटमय अवसर पर हमें भगवान् की सहायता की आवश्यकता है, अतः उनकी आराधना करनी चाहिए तो इसी अवसर पर उन्हें आकाशवाणी सुनाई पड़ी कि आप लोग कुशस्थली को जाइए, वहाँ आदिदेव महाकाल का निवास है, निश्चय ही वहाँ जाने से आप लोग पुनः संकटों पर विजय प्राप्त करेंगे। देववाणी सुन देवगण उस कुशस्थली को प्राप्त हुए जहाँ चारों वर्णों के लोग अपने अपने आश्रमों में सुखपूर्वक निवास करते थे, जहाँ ऋषि तथा गन्धर्व आदि तपस्या में लीन रहते थे, सिद्ध तथा चारण बड़ी संख्या में विद्यमान थे, दरिद्र, अन्ध, मूर्ख, जड़, रोगी, अभिमानी, एवं आधिव्याधि युक्त कोई नहीं था, न तो कोई किसी का अपकार करता था न भूलकर भी मिथ्या व्यवहार करता था। सभी लोग शान्त, क्षमाशील, दानी, परोपकारी, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विहीन थे, तथा सदाचार और अतिथि सेवा में सर्वदा लीन थे। ऐसी पवित्र पुरी को देख देवता अति प्रसन्न तथा विस्मित हुए। और वहाँ पहुँचकर अनेक तीर्थों में स्नान कर विगत कल्मष हुए तथा पुनः स्वर्ग को प्राप्त कर सके। चूंकि प्रत्येक कल्पों में यह कुशस्थली देवता, तीर्थ, औषधि, बीज, एवं प्राणियों का अवन (रक्षण) करती है अतः तभी से अवन्ती नाम से इसकी प्रसिद्धि हुई।"

उज्जयिनी नाम का कारण भी इसी प्रकार का है। प्राचीनकाल में त्रिपुर नामक एक दानव ब्रह्मा से वरदान प्राप्त करने के लिए घोर तपस्या में निरत था। उसकी उग्र तपस्या से सन्तुष्ट हो ब्रह्माजी ने उसे अभिमत वरदान दिया जिसके



माहात्म्य से वह प्रचण्ड कर्म करने लगा। यज्ञ दानादि की मर्यादा नष्ट करदी, देवताओं को स्वाधिकार से वंचित कर दिया, जिससे अति दुःखी हो देवगण प्रजापति (ब्रह्मा) की शरण में गये, उनकी आर्ति सुन ब्रह्माजी अति दुःखी हुए और अपने को सहायता करने में असमर्थ जान देवताओं को साथ ले महाकालवन की ओर प्रस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर शिवजी के उपदेश से सभी लोगों ने हवन दानादि किये, स्वयं शिवजी ने रक्तदन्तिका चण्डिकादेवी की आराधना की और देवताओं के इस महत्कार्य में सहायता की प्रार्थना की। देवी ने प्रसन्न होकर शंकर को महापाशुपत नामक अस्त्र दिया, जिसके द्वारा उन्होंने उस मायावी त्रिपुरासुर को तीन खण्डों में कर दिया। चूंकि इसी पुरी के माहात्म्य से देवताओं ने अपने पूर्वपदों की प्राप्ति की और प्रबल शत्रु त्रिपुर को उज्जित (बुरी तरह से पराजित) किया अतः तभी से इसका नाम उज्जयिनी पड़ा।

पद्मावती नामकरण का कारण बताते हुए कहते हैं कि एक बार दुरात्मा दैत्यों के कारण देवताओं को रत्नों की कमी पड़ गई थी तब उन्होंने दानवों तथा दैत्यों से कूटसन्धि कर पुराण-प्रसिद्ध समुद्र-मंथन की योजना बनाई, जिसमें चौदह अमूल्य रत्न निकले जिनमें से अच्छी वस्तुएँ देवताओं के ही हाथों लगी। और उनकी यह मंत्रणा तथा कार्यनिष्पत्ति उज्जयिनी पुरी में ही हुई। इस कारण उन्होंने विचारा कि सचमुच इस पुण्यपुरी में पद्मा (लक्ष्मी) निश्चल रूप से निवास करती है अतः इसका पद्मावती नाम अति समीचीन है।

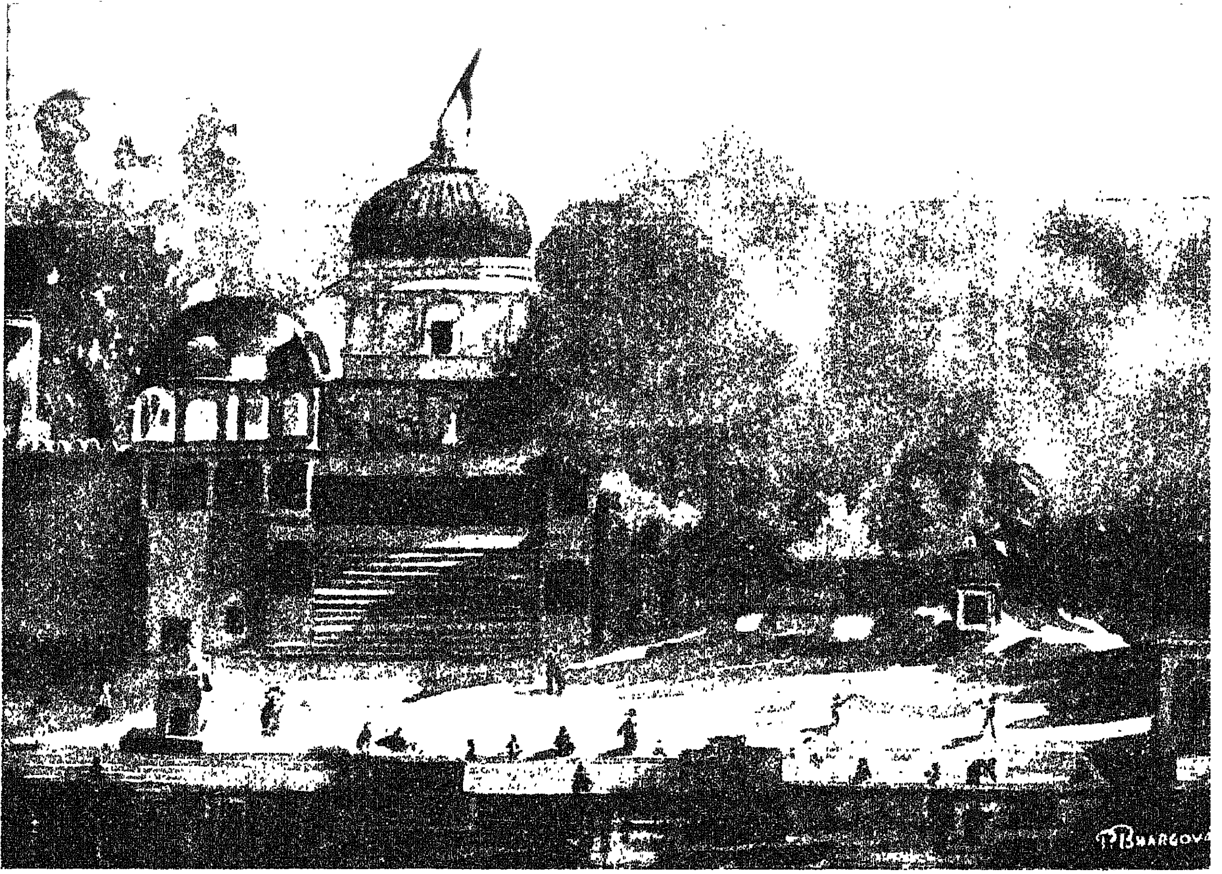
इस अतिमनोहारिणी पद्मावती नगरी के सरोवरों, गृहवापियों तथा अन्य जलाशयों में कुमुदिनी तथा कुमुद अति परिमाण में पुष्पित रहते हैं, तथा यहाँ के सुनिर्मल प्रान्तों, प्रासादों तथा राजपथों पर चाँदनी की चकाचौंध सर्वदा लगी रहती है अतः इसका नाम कुमुद्वती अति उत्तम प्रतीत हो रहा है, ऐसा निश्चय हुआ था।

अमरावती नाम पड़ने का कारण बताते हुए सनत्कुमार कहते हैं कि एक बार प्रजा की कामना से महर्षि कश्यप ने ब्रह्माजी के आदेश से इसी महाकालवन में परम तप किया। इसी अवसर पर आकाशवाणी द्वारा उन्हें यह सूचना मिली कि 'उनकी मनःकामना सिद्ध हो जायगी और उनकी सन्तति कभी इस भूतल से विनष्ट नहीं होगी, अदिति छाया की भाँति उनकी सेवा में तत्पर रहेंगी।' आकाशवाणी सुन महर्षि कश्यप अति प्रसन्न हुए और सृष्टि रचना में दत्तचित्त हुए। परिणामतः उनके द्वारा अमृतपायी देवताओं की वृद्धि हुई। उन्हें नन्दनवन, मनोरथदात्री कामधेनु, पारिजात वृक्ष, अम्लानपंकजा माला, बिन्दु सरोवर आदि स्वर्गीय विभूतियाँ उसी महाकालवन में ही प्राप्त हुईं। और स०म। को देवत्व की भी प्राप्ति हुई। अतः तभी से उन अमरों की निवासस्थली होने के कारण इसे अमरावती कहते हैं।

उस अमरावती नगरी में विशाल राजप्रासाद तथा भवनों के होने के कारण उसका नाम विशाला पड़ा। तथा प्रत्येक कल्पों में जबकि संसार की अन्य वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं और युगादि में पुनः उत्पन्न होती हैं; परन्तु इसका विनाश कभी नहीं होता अतः प्रतिकल्पा भी इसका नाम रखा गया। इस प्रकार दिव्य माहात्म्यों तथा कथाओं की अवन्तीखण्ड में भरमार है।

इस अवन्तीपुरी में प्रमुख अट्टाईस तीर्थ हैं, तीर्थयात्री प्रयतमना हो कार्तिक, माघ, आषाढ़ एवं विशेषतया वैशाख में इनकी यात्रा करे, यों तो जब कभी भी जाकर वह दर्शन कर अक्षय पुण्य प्राप्त कर सकता है। सर्व प्रथम रुद्रसर नामक तीर्थ में नित्य स्नान करे तथा सुवर्ण निर्मित गौ का दान करे, फिर कर्कराज नामक सरोवर को जाए और वहाँ घृतपूर्ण पात्र का दान दे, फिर नृसिंह नामक तीर्थ में स्नान कर काला मृगचर्म दान करे, फिर नीलगंगा और क्षिप्रा के पवित्र संगम स्थल पर स्नान कर संगमेश्वर का दर्शन करे और वाहनादि का दान करे, फिर पैशाच्यमोचन नामक तीर्थ को जाए और वहाँ दैनिक कार्य सम्पन्न कर निर्धन परिवारवाले ब्राह्मण को, जो वेदों का जाननेवाला हो, गौ दान करे। फिर पिशाचेश का दर्शन कर गन्धर्व तीर्थ को जाए और वहाँ षष्ठिजलपेश्वर देव की विधिवत् पूजा करे। फिर केदारतीर्थ में कम्बल दान करे, तदनन्तर क्रमशः चक्रतीर्थ, सोमतीर्थ, देवप्रयाग, वेणीतीर्थ, योगतीर्थ, कपिलाश्रम, घृतकुल्या, ऊषर, आदित्येश्वर, कालभैरव, द्वादशार्क, एकानंशा, अंगारकतीर्थ, गंगेश्वरतीर्थ, शक्तिभेद, प्रेतशिला, पैतामहतीर्थ, मन्दाकिनी तीर्थ, यात्रेश्वर महादेव की यात्रा कर फिर अन्य देवताओं का दर्शन करे। ये उपर्युक्त पौराणिक अवन्ती के तीर्थ स्थान हैं। उन उन तीर्थों में स्नान कर तत्रत्य देवताओं की विधिवत् पूजा करने का विधान है। तथा विद्यार्थी शिव की, धनार्थी कुबेर की, सुतार्थी इन्द्र की, बुद्धि का इच्छुक गणेश की, प्रियार्थी शेष नाग की पूजा कर उज्जयिनी में अपने मनोरथ को प्राप्त करता है, यह यहाँ का विशेष माहात्म्य है।

ब्राह्मपुराण में अवन्ती के जो वर्णन हैं, वे प्रायः इसीसे मिलते जुलते हैं, उनके पृथक् उल्लेख की कोई आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।



क्षिप्राघाट

(चित्रकार—श्री पी० भार्गव, मथुरा)

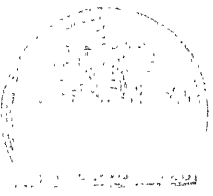


क्षिप्रा की महिमा

श्री पंडित दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल-एल० बी०
और
साहित्यरत्न पंडित रामप्रताप त्रिपाठी, व्याकरणशास्त्री

क्षिप्रा मालव देश की सुप्रसिद्ध और पवित्र नदी है। यह इन्दौर के पास विन्ध्याचल पर्वत से निकलकर चम्बल नदी में मिल जाती है। इसकी लम्बाई करीब १५० मील है और तेज बहनेवाली नदी होने के कारण इसका नाम क्षिप्रा पड़ा है। भारत का प्राचीन उज्जैन नगर इसी नदी के तट पर बसा हुआ है। दो हजार वर्ष पूर्व भारत सम्राट् महाराजा विक्रम की यह राजधानी थी। आजकल भी यह ग्वालियर राज्य का एक सुप्रसिद्ध नगर और तीर्थ स्थान है। हिन्दुओं के सात पवित्र नगरों में इसकी गणना है। इस नगर में क्षिप्रा के अनेक सुन्दर और रमणीक पक्के घाट हैं, जिनमें से रामघाट मुख्य हैं। महाकालेश्वर ज्योतिर्लिंग का मन्दिर क्षिप्रा के तट पर ही है। इसके कारण इस नदी की पवित्रता और भी बढ़ गई है। उज्जैन से करीब तीन मील दूर सिद्धवट इसी नदी के किनारे पर है। प्राचीन कालियादह महल भी क्षिप्रा के तट पर ही है। इस महल में सूर्य भगवान् के प्राचीन मन्दिर होने का प्रमाण मिलता है। इस महल को मांडव के सुलतान नसीरुद्दीन ख़िल्जी ने बनवाया था। सम्राट् अकबर और जहाँगीर इस महल में आकर महीनों रहते थे। महाराजा माधवरावजी शिन्दे ने इस महल की मरम्मत कराके इसे स्वर्गतुल्य बना दिया है। यहाँ का शीतल मन्दसमीर, यहाँ के विचित्रकला सम्पन्न बावन कुण्ड, यहाँ के रंग-बिरंगे सुन्दर वृक्ष, और क्षिप्रा का पवित्र किनारा दर्शकगणों के मन को आकर्षित कर लेता है।

भगवान् कृष्ण ने अपने गुरू महर्षि सान्दीपन से इसी नदी के किनारे शिक्षा प्राप्त की थी। गुरू मत्स्येन्द्रनाथ अपने शिष्य भर्तृहरि के साथ इसी नदी के समीप निवास करते थे। भर्तृहरि के शतकत्रय की रचना भी यहीं पर हुई थी। भारत-सम्राट् विक्रम के समय में महाकवि कालिदास की अपूर्व प्रतिभा का विकास इसी नदी के तट पर हुआ और शकुन्तला, रघुवंश और मेघदूत की सुन्दर रचनाएँ यहीं पर हुईं। बाण की कादम्बरी, चारुदत्त का मृच्छकटिक, कल्हण की राजतरंगिणी इत्यादि ग्रंथरत्नों की सृष्टि इसी नदी के तट पर हुई। क्षिप्रा ने हिन्दुओं के प्राचीन वैभव को देखा है और उसके अध:पतन की



भी वह साक्षी है। मुसलमानों के शासनकाल का समय बिताकर अब वह महाराजा ग्वालियर के सुशासन का आनन्द ले रही है।

पुराणों में इस नदी के चार नाम पाये जाते हैं––क्षिप्रा, ज्वरघ्नी, पापघ्नी और अमृतसंभवा। इन चारों नामों के सम्बन्ध में स्कन्दपुराण के अवन्तीखण्ड के ६९वें अध्याय तथा अन्य तीन अध्यायों में जो कथा दी हुई है उसका वर्णन संक्षेप में नीचे किया जाता है।

व्यासजी सनत्कुमार से अवन्ती माहात्म्य को सुन लेने के बाद पूछते हैं:––"वेदज्ञानियों में श्रेष्ठ! मैं परम पवित्र कल्मषनाशिनी क्षिप्रा का माहात्म्य तुमसे फिर सुनना चाहता हूँ।" सनत्कुमार ने कहा "भाग्यशाली व्यासजी! जिस प्रकार परमपावन महाकालवन में क्षिप्रा की उत्पत्ति हुई उसे मैं तुमसे बतला रहा हूँ। सुनो वत्स! इस समस्त पृथ्वीतल में क्षिप्रा के समान पुण्यदायिनी कोई अन्य नदी नहीं है, जिसके किनारे क्षणभर में मुक्ति प्राप्त होती है, अधिक दिनों तक के सेवन के लिए तो कहने की बात ही क्या है। यह पवित्र नदी वैकुण्ठ में क्षिप्रा, स्वर्ग में ज्वरघ्नी, यमद्वार में पापघ्नी तथा पाताल में अमृतसम्भवा नाम से विख्यात है।"

व्यास ने पूछा––"महाराज! आपने तो बड़ी विचित्र बातें क्षिप्रा के विषय में बतलाईं, कृपया संक्षेप में मुझे उसकी इस पापनाशिनी कथा को सुनाइये।"

सनत्कुमार ने कहा––"व्यासजी! जब शिवजी ब्रह्मा के कपाल* को लेकर भिक्षार्थ सभी लोकों और सारी दिशाओं का भ्रमण कर चुके और उन्हें कहीं भी भिक्षा नहीं मिली, तब अतिक्रुद्ध तथा क्षुधित होकर मन में लोकों की निन्दा करते हुए वे सायंकाल के समय वैकुण्ठ-लोक में पहुँचे और वहाँ जाकर आवाज दी कि "भगवन्! मैं सभी लोकों से चक्कर लगाता हुआ यहाँ आ रहा हूँ और अति क्षुधित हूँ, मुझे भिक्षा दीजिए"। क्रुद्ध होने के कारण हाथ में कपाल को दिखाते हुए शिवजी ने बारम्बार जब यही रट लगानी शुरू की तब भगवान् विष्णु ने अपने हाथ को ऊपर उठाकर तर्जनी अंगुली दिखलाते हुए कहा––'शिव! मैं भिक्षा तो तुम्हारी दे रहा हूँ, ग्रहण करो।' भगवान् की अंगुली दिखलाने को शिवजी सहन नहीं कर सके और तुरंत अपने त्रिशूल से उन्होंने उसमें आघात कर दिया, जिससे रक्त की धारा बह निकली और उनके हाथ में रखा सारा कपाल शीघ्र ही भर गया और उसके चारों ओर रक्त की धारा वह निकली। वही धारा क्षिप्रा नदी के रूप में परिणित हुई। इस प्रकार त्रिलोक को पवित्र करनेवाली नदी शीघ्रता से वैकुण्ठ से प्रादुर्भूत हुई और तीनों लोकों में उसकी प्रसिद्धी हुई।"

सनत्कुमार ने कहा––"अब इसके ज्वरघ्नी नाम पड़ने का कारण मैं बतला रहा हूँ। सुनो यह कथा तब की है जब बाणासुर नामक दैत्य भगवान् कृष्ण के साथ युद्ध कर रहा था। अनिरुद्ध से अपमानित हो सहस्र हाथों में विविध प्रकार के शस्त्रास्त्रों को धारण कर भगवान् कृष्ण पर जब अति क्रुद्ध होकर वह प्रहार करने लगा तब भगवान् ने सुदर्शन चक्र धारण कर अपने अति तीक्ष्ण शस्त्र अस्त्र से उसकी सहस्र बाहुओं को काट डाला। तब अपमानित तथा घायल होकर बाणासुर युद्धभूमि छोड़ अपने इष्टदेव शंकरजी की शरण में गया। अपने भक्त की ऐसी दयनीय दशा देखकर भक्तवत्सल शंकरजी दयावश स्वयं युद्धभूमि में गये, जहाँ भगवान् कृष्ण अति क्रोध में अभी तक खड़े थे। जाते ही शंकरजी ने अपने तीक्ष्ण बाणों को उन पर छोड़ा। उन्होंने भी अपने विकराल बाणों को शिव पर छोड़कर वध की इच्छा से अपने वैष्णव अस्त्र को छोड़ा। तब शंकरजी ने भी उनके संहारार्थ अपने पाशुपतास्त्र का सन्धान किया। परिणामतः सभी लोकों में कोलाहल मच गया। उपरान्त कृष्णजी ने अपने सम्मोहनास्त्र का शिव पर प्रयोग किया, जिससे उन्हें रणभूमि में भी जम्हआई आने लगी, किन्तु थोड़ी ही देर में वे प्रकृतिस्थ हुए और अपने शरीर से माहेश्वर† ज्वर को उत्पन्न किया और देखते ही देखते उनके मस्तक से वीरभद्र

*** यह कथा पुराणों में कई स्थलों पर आ चुकी है कि शिवजी ने ब्रह्मा का शिर आवेश में आकर काट लिया था, जिससे उन्हें कपाल लेकर सारे भूमण्डल पर घूमना पड़ा था, प्रस्तुत कथा वहीं से प्रारम्भ होती है।**

† आयुर्वेद ज्वरोत्पत्ति के प्रकरण में यही कथा आती है।

भी निकल पड़े। तीन नेत्र, तीन मस्तक, अल्पकाय, तीन चरण आदि अति भयानक आकृतिवाले उक्त ज्वर ने भगवान् कृष्ण की सारी सेना को व्याकुल कर विनष्ट कर दिया। बची हुई सेना कृष्ण के सामने ही भागने लगी। तब भगवान् ने वैष्णव ज्वर को उत्पन्न किया और तब उन दोनों ज्वरों में भयानक युद्ध छिड़ गया। थोड़ी देर बाद वैष्णव ज्वर से व्याकुलित माहेश्वर ज्वर ने शरणार्थ तीनों लोकों में भागते हुए चक्कर लगाना शुरू किया, किन्तु कहीं भी उसे शान्ति नहीं मिली, तब महाकालवन में आया और क्षिप्रा की धारा में मग्न हो गया। इस प्रकार उस भीषण माहेश्वर ज्वर को क्षिप्रा में शान्त होते देख वैष्णव ज्वर ने भी उसमें प्रवेश कर अवगाहन किया। थोड़ी ही देर में क्षिप्रा के अद्भुत प्रभाव से वे दोनों ही शान्त होकर विनष्ट हो गये। यही कारण है कि क्षिप्रा को ज्वरघ्नी कहते हैं। जो प्राणी भीषण ज्वर से पीड़ित होकर सावधान चित्त से क्षिप्रा में स्नान करते हैं तथा उसके पवित्र तट पर निवास करते हैं, उन्हें कभी ज्वर की बाधा नहीं होती।"

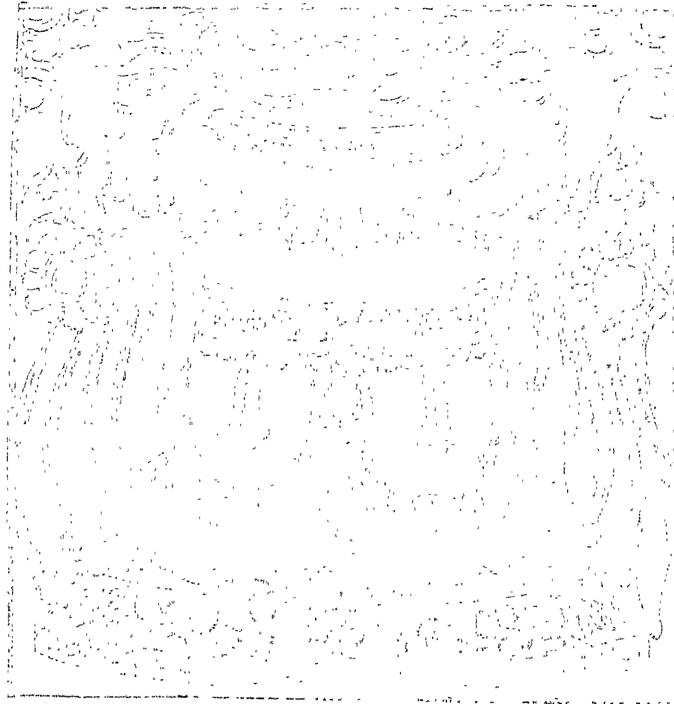
सनत्कुमार ने कहा--"परम तपस्विन्! अब मैं क्षिप्रा के पापघ्नी (पापनाशिनी) नाम पड़ने का कारण संक्षेप में तुम्हें बतला रहा हूँ। प्राचीनकाल में कीहट देश में एक दमनक नामक राजा था, जो घोर धर्मों का विनाशक, गौ तथा ब्राह्मणों की निन्दा एवं अपकार करनेवाला, मद्यप, सुवर्ण की चोरी करने वाला, गुरू की शय्या पर बैठनेवाला, और दूसरे के मांगलिक कार्यों में बाधा उपस्थित करनेवाला था। वह सर्वदा प्रजावर्ग का सर्वस्व अपहरण करने की ताक में लगा रहता था, दूसरे की बहू-बेटी पर उसकी बुरी दृष्टि थी, पक्का धूर्त कपटी, कुसंगी चुगुल व चोरों का समर्थक था। गौशाला और नगरों को तुड़वा देता था, किसी के घर को उजड़वा देना उसके बाएँ हाथ का खेल था। दूसरों की निन्दा करनेवालों का सम्मान करता था, संक्षेप में यह कि उसके समान पापाचारी तथा नीच राजा न तो पृथ्वी पर कभी हुआ और न होगा। एक बार शिकारियों को साथ ले वह महाकालवन के समीप शिकार खेलने गया और संयोग से सभी लोगों का साथ छूट गया, रात में भूख प्यास से व्याकुल होकर उस भयानक वन में एक वृक्ष के नीचे घोड़े को बाँधकर वह बैठ गया, इतने ही में वृक्ष पर से एक सर्प उसके शिर पर गिरा। जब तक उसने हाथ से उठा कर उसे फेंकना चाहा तब तक उस विकराल सर्प ने उसके अंगूठे में काट खाया। परिणामतः उस निर्जन वन में वह थोड़ी ही देर के बाद चल बसा। पश्चात् यमराज के दूतों ने उसे पूर्व जन्म के कुकर्मों के अनुरूप कठोर दण्ड देना शुरू किया। व्यासजी! इतने ही समय में वन के पशुओं ने राजा के शरीर से माँसपिण्डों को नोच-नोचकर समाप्त कर दिया, कुछ अवशेष अंश को एक कौवे ने देखा और उसे उठाकर वह आकाश से उड़ता हुआ क्षिप्रा के ऊपर पहुँचा तब तक अन्य कौवे भी वहाँ पहुँच गये, और आपस में छीना झपटी होने लगी। संयोग से वह माँस पिण्ड धारा में गिर पड़ा। भगवान् के अंगूठे से निकलने के कारण पापनाशिनी क्षिप्रा के अनुपम प्रभाव से राजा तुरंत ही शिवरूप में परिणित हो गया। त्रिलोचन, व्याघ्रचर्मधारी, चन्द्रभाल शिव रूप में राजा को देख और तुरंत ही शिवदूतों से ताड़ित हो यमदूतों ने वहाँ से भगकर यमराज की शरण ली, और निवेदन किया कि महाराज! परम पतित, गौ-ब्राह्मण की हत्या करनेवाला, कपटी, परम नीच, उस राजा दमनक को शिवरूप की प्राप्ति क्योंकर हो गई? बहुत दिनों के बाद हम लोगों को यही एक अपराधी मनमानी दण्ड देने के लिए मिला था, सो उसकी यह गति हो गई अब हम लोग क्या करें? बेकार तो बैठे भी नहीं रहा जाता। धर्मराज ने ध्यान लगाया तो उन्हें सारी बातें स्पष्ट हुईं, धीरज बँधाते हुए उन्होंने कहा--अनुचरगण! साव-धान होकर सुन लो, महाकालवन में पतित पावनी क्षिप्रा नदी बहती है, जो प्राणी उसके जल का स्पर्श करता है उसे पाप का स्पर्श नहीं होता। क्षिप्रा के सेवन से मन, शरीर और वचन से किये गये पापपुञ्ज तत्क्षण नष्ट हो जाते हैं। यही नहीं जो प्राणी केवल 'क्षिप्रा, क्षिप्रा' नामोच्चारण ही करता है, वह भी शिवत्व की प्राप्ति करता है। वैशाख के महीने में जो प्राणी इस क्षिप्रा में स्नान करते हैं वे शिव रूप धारण कर अनन्तकाल तक विहार करते हैं, उन्हें किसी नरक का दर्शन तक नहीं होता। बावली, कूप एवं सरोवर आदि के जल से नदी का जल दस गुणित पुण्यदायी होता है, सभी सामान्य नदियों से दस-गुणित अधिक तापी नदी का माहात्म्य है, उससे दस गुनी अधिक गोदावरी तथा गोदावरी से दस गुनी अधिक पुण्यदायिनी नर्मदा है। उस नर्मदा से भी दस गुनी अधिक पुण्यदायिनी गंगा कही जाती है, किन्तु यह क्षिप्रा तो उससे भी दस गुनी अधिक पुण्यशालिनी है। यह परमपावनी नदी अवन्तिका पुरी में है। अधिक क्या वर्णन करें, देवता तक उस पुण्यसलिला के दर्शन की अभिलाषा में रहते हैं।" धर्मराज की ऐसी बातें सुन उनके अनुचरगण परम विस्मित हुए।



क्षिप्रा की महिमा

सनत्कुमार ने कहा—"व्यासजी ! अब मैं क्षिप्रा के नागलोक में अमृतोद्भवा नाम पड़ने का कारण तथा उसका-माहात्म्य बतला रहा हूँ, सुनिये। उसी प्रसंग में एक बार अति क्षुधित शिवजी भिक्षार्थ नागलोक में घूमते घूमते भोगवती पुरी में पहुँचे और घर घर भिक्षा की रट लगाई; किन्तु किसी ने उन्हें भिक्षा नहीं दी, तब अति क्रुद्ध हो लाल नेत्र त्रिशूलधारी शिवजी भोगवती से बाहर निकले, जहाँ पर नागलोक की रक्षा के लिए अमृत के इक्कीस कुण्ड भरे हुए थे। वहाँ अमृत को रखा देख सर्वव्यापी कल्याणकारक शिवजी ने अपने तीसरे नेत्र से उन अमृत के कुण्डों से अमृतरस का पान कर लिया, परिणामतः सभी कुण्ड रिक्त हो गये, और सारा नागलोक थर्राने लगा। सभी वासुकि आदि नागराज यह कहकर शोर मचाने लगे कि अरे किसने ऐसा दुष्कर कार्य किया, यह सारा का सारा अमृत कहाँ चला गया, किसने उसे पी लिया, अब हम लोग कैसे जीवित रह सकेंगे। थोड़ी देर पश्चात्ताप करने के बाद स्त्री-बालक वृद्ध सभी नागगण शंकित चित्त हो मन में भगवान् विष्णु का ध्यान करने लगे। भगवान के अनुग्रह से आकाशवाणी हुई कि नागो ! तुम लोगों ने देवताओं का अपमान किया था, हाथ में कपाल लिए अति क्षुधित शिवजी भिक्षार्थ अतिथि वेला में तुम लोगों की नगरी में घूमते रहे किन्तु किसीने उन्हें भिक्षा नहीं दी, और वे निराश होकर बाहर चले आये। उसी कारण से तुम लोगों के कुण्डों से सारा अमृत गायब हो गया, अब तुम लोग पाताल से मर्त्यलोक के महाकालवन को जाओ, वहाँ क्षिप्रानामक एक पुण्यप्रदा नदी है, जो तीनों लोकों को पवित्र करनेवाली है, तथा सभी मनोरथों को पूर्ण करनेवाली है, उसके दर्शनमात्र से सभी पापों का विनाश होता है, वहाँ जाकर तुम लोग विधिपूर्वक स्नान करो और देवाधिदेव शिवजी की आराधना करो, तब पवित्र होओगे और तब शिवजी की कृपा से और क्षिप्रा के माहात्म्य से तुम लोगों के लोक में अमृत पुनः प्राप्त होगा।" इस प्रकार की आकाशवाणी सुनकर सब नागों ने वास्तविक स्थिति समझी और बाल-वृद्ध-स्त्री समेत महाकालवन को प्रस्थित हुए। वहाँ पहुँचकर उन्होंने त्रैलोक्यवन्दिता क्षिप्रा का दर्शन किया। उस क्षिप्रा नदी का मनोहर तट कुश और घासों से सब कहीं आकीर्ण था, वृक्षों की शीतल और सुखद छाया परिश्रम को नष्ट करनेवाली थी, कारण्डव पक्षी हिलोरें ले रहे थे, मणिमुक्ता और मूँगों से जटित सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, चारों ओर उसमें पद्मराग की चमक हो रही थी। सायंकाल और प्रातःकाल ब्राह्मणों के झुण्ड के झुण्ड उसमें सन्ध्या वन्दनादि करते रहते थे। परम ऐश्वर्यवान महर्षि भृगु और आंगिरस उसके तट पर समाधि में लीन थे, गन्धर्वों समेत नारदादि देवर्षि आनन्दविभोर हो रहे थे। वसुगण आदित्यगण, अश्विनीकुमार, पवन, रुद्र, देवगण, निर्मल चित्त पितरगण सावधान चित्त हो सन्ध्या समय क्षिप्रा के सेवनार्थ आते थे। ऋषियों की पत्नियाँ, देव कन्याएँ, अप्सराओं के समूह, परम ऐश्वर्यशालिनी पतिव्रता ग्रहस्थों की स्त्रियाँ, अपने पतियों समेत यहाँ उपासना में तल्लीन थीं। बड़े बड़े राजर्षि गण दान कर रहे थे। सिद्ध योगीश्वर गण शान्त चित्त हो ध्यान लगा रहे थे। सभी प्रकार के सौन्दर्य से युक्त क्षिप्रा को देखकर नागगण अति प्रसन्न हुए। और स्नानदानादि से निवृत्त हो महादेव की आराधना की, और वेदोक्तविधि से पूजा कर स्तुति की। नागों की स्तुति से आशुतोष भगवान् अति सन्तुष्ट हुए और बोले कि 'नागगण ! मैं एक बार भिक्षार्थ तुम लोगों के लोक में कपाल धारण किए घर घर घूमता रहा किन्तु किसी ने मुझे भिक्षा नहीं दी। तुम लोगों के इसी पाप से सब अमृत नष्ट हो गया, किन्तु कुछ पुण्य शेष था जिसके प्रभाव से ऐसे परम पुनीत स्थान में तुम लोग आ गये और सभी लोगों ने पतितपावनी क्षिप्रा का अमोघ दर्शन प्राप्त किया। नागगण ! इस पुण्यसलिला के दर्शन करनेवाले मेरे पद को प्राप्त करते हैं।' शिवजी की बातें सुन उन लोगों ने स्त्री बच्चों समेत क्षिप्रा में स्नान किया और उन्हीं के आदेश से उसके जल को ले जाकर अमृत के उन रिक्त कुण्डों में छिड़का जिससे वे पूर्ववत् पूर्ण हो गये। व्यासजी ! तभी से इस क्षिप्रा का नाम अमृतोद्भवा कहा जाता है, और सभी लोकों में इसकी यह प्रसिद्धि है। पृथ्वी तल में जो लोग इसमें स्नान करते हैं, उनके सभी रोग दोषादि नष्ट हो जाते हैं, सारी विपत्तियाँ अपने आप दूर हट जाती हैं। पुत्र, स्त्री, मित्रादि से कभी वियोग अथवा कष्ट नहीं होता। यह क्षिप्रा यों तो सर्वत्र कल्मषनाशिनी है, किन्तु अवन्तिका में इसका विशेष माहात्म्य है।

उपर्युक्त कथाओं में एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। क्षिप्रा के जल में अमृत के गुण बतलाए गए हैं और यह कहा गया है कि जो प्राणी भीषण ज्वर से पीड़ित होकर क्षिप्रा में स्नान करते हैं वे ज्वर से मुक्त हो जाते हैं और जो क्षिप्रा का सेवन करते हैं उनको ज्वर की बाधा नहीं होती। क्षिप्रा के जल की जाँच वैज्ञानिक ढंग से की जानी चाहिये और ज्वर के रोगियों में भी क्षिप्रा के जल के प्रयोग करने की आवश्यकता है।

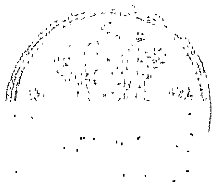


महादजी शिन्दे के शासन में उज्जैन

डॉ० सर यदुनाथ सरकार एम्० ए०, डी० लिट्०, सी० आई० ई०

[महाराज महादजी शिन्दे राजपूताना के झगड़ों से निवृत्त होकर पूना जाने और वहाँ के मन्त्रिमण्डल से स्वयं वाद-विवाद करके कतिपय विवादास्पद बातों को तय करने—विशेष रूप से शिन्दे द्वारा उत्तर-भारत में एकत्रित किये गये कर और चौथ के सम्बन्ध में उनका और पेशवा सरकार का लेना देना था, उसका हिसाब करने, और फिर मालवे तथा उत्तर भारत में आकर अपने राज्य की व्यवस्था करने की इच्छा से वे २१ जनवरी १७९२ को उज्जैन पहुँचे। हमें ज्ञात है कि उनकी इन आशाओं की पूर्ति होने का नियति का विधान नहीं था—कारण कि उक्त सब प्रश्न जैसे के तैसे अनिर्णीत ही छोड़कर वे १२ फरवरी १७९४ को पूना में स्वर्गवासी हुए। महादजी के साथ ब्रिटिश रेजीडेण्ट, मेजर विलियम पामर थे, जो १७९१ के राजपूताना के अभियान में उनके साथ नहीं गए थे, कारण कि महादजी उस देश में प्रयाण करने की कठिनाइयों का सामना उन्हें नहीं कराना चाहते थे। अतः महादजी के कहने पर पामर ने आगरे से उज्जैन को प्रस्थान किया, जहाँ वे १५ अप्रैल १७९२ से १४ मार्च १७९३ तक ग्यारह मास पर्यन्त रहे। रेजीडेन्सी के चिकित्सक-अधिकारी डॉक्टर विलियम हण्टर ने अपनी २३ फरवरी १७९२ से आगरा से प्रस्थान करने और २१ अप्रैल १७९३ को फिर उसी नगर में लौटकर आने की यात्रा-संधियों का तथा अपने देखे हुए प्रदेश का विस्तृत एवं सूक्ष्म वर्णन का लेखा छोड़ा है, उसमें से प्राचीन उज्जैन की एक झलक नीचे उद्धृत की गई है। वर्तमान शासन में उस नगर की सड़कों, भवनों, स्वास्थ्य-संरक्षण तथा कलाकौशलों में जो परिवर्तन किए गए हैं, वे आगे वर्णन की गई नगर की रचना के साथ साथ देखे जाने पर आश्चर्यजनक प्रतीत होंगे।]

आजकल जो नगर उज्जैन अथवा अवन्ती कहलाता है, वह उस प्राचीन नगर से एक मील दक्षिण में बसा हुआ है, जो सुविश्रुत महाराज विक्रमादित्य के काल के लगभग प्रकृति के प्रचण्ड प्रहार से विनष्ट हो गया था।.........यह कहा जाता है कि आकाश से हुई धूलवृष्टि ने नगर एवं नगर-निवासियों को भूगर्भ में सुला दिया था।.........



महादजी शिन्दे के शासन में उज्जैन

जहाँ प्राचीन नगरी खड़ी थी, यह कहा जाता है कि वहाँ अब भी १५ फीट से १८ फीट तक गहरा खोदा जाने पर ईंटों की पूरी पूरी भीतें, पत्थर के स्तम्भ तथा लकड़ी के टुकड़े असाधारण दृढ़ पाए जाते हैं। उन्हीं स्थानों को खोदने से कभी कभी विभिन्न भाँति के बर्तन और प्राचीन सिक्के मिले हैं। हमारे उज्जैन के निवासकाल में एक व्यक्ति को ईंटों के लिए मिट्टी खोदते में बहुतसा गेहूँ प्राप्त हुआ था। यह इस स्थिति में था कि देखने में कोयले से मिलता जुलता था। इस टीले की मिट्टी नरम होने से वर्षा से उसमें अनेक कटाव हो गए हैं और इनमें से एक कटाव में, जिसमें से अनेक पत्थर के स्तम्भ खोदकर निकाल लिए गए थे, मैंने १२ फीट से १५ फीट तक लम्बा और ७ या ८ फीट ऊँचा टूटे और आपस में सटे हुए मिट्टी के वर्तनों से बना एक स्थान देखा। इस स्थल और नवीन नगर के बीच में एक बड़ा भारी विवर स्थित है, जिसमें होकर--ऐसा अनुश्रुति कहती है---प्राचीनकाल में क्षिप्रा नदी वहती थी; यह अब पश्चिम दिशा की ओर बहती है।

शिप्रा के वर्तमान तट पर, इन अन्तर्भौम भग्नावशेषों से मिली राजा भर्तृहरि की गुफा स्थित है। प्रांगण के प्रवेश-द्वार के आगे पत्थर के स्तम्भों की दो श्रेणियाँ हैं, एक पूर्व से पश्चिम की ओर चली गयी है और दूसरी उत्तर से दक्षिण की ओर। प्रांगण में आप दक्षिण से प्रवेश करेंगे, और इसी में दो गुफाओं के अथवा राजप्रासाद के विभागों के प्रवेश-द्वार हैं। सबसे बाहर का द्वार दक्षिण के प्रवेश द्वार से है, और वह पृथ्वी के भीतर तीन फीट गहरा है। यह मार्ग (जो एक पार्श्व से है) इस प्रवेश द्वार से ठीक पूर्व की ओर एक लम्बे अलिन्द के रूप में चला गया है, और विशाल प्रस्तर स्तम्भों पर आश्रित है, जिनपर मानव आकृतियाँ अत्यन्त निपुणता से खोदी गयीं हैं, अब चित्र बहुत कुछ मिट भी गए हैं।

अन्तःपुर का प्रवेश द्वार भी दक्षिण की ओर से है। यह पर्याप्त विस्तृत कक्ष है और प्रायः भूमि के समतल है। इसकी छत प्रस्तर-स्तम्भों पर आश्रित है, जिनपर लम्बे पत्थर आड़े तीर की भाँति पड़े हुए हैं। उत्तर दिशा में, द्वार के सामने एक छोटीसी खिड़की है, जिसमें से उस कक्ष में क्षीण प्रकाश पहुँचता है। बाईं ओर अथवा कक्ष के पश्चिम में पत्थर के फर्श में एक तिकोना छिद्र है, इस छिद्र में से आप मनुष्य की ऊँचाई के बराबर नीचे उतरने पर वास्तव में भूगर्भस्थ एवं पूर्णतः अन्धकारयुक्त कक्ष में पहुँच जाएँगे। यह भी प्रस्तर स्तम्भों पर आश्रित है.........यह पहले पूर्व की ओर चला गया है और फिर दक्षिण को मुड़ जाता है। बाईं ओर दो कक्ष लगभग ७-७ फीट लम्बे और ८-८ फीट चौड़े हैं। दक्षिण छोर पर एक द्वार स्थित है........जो मट्टी और कूड़ा करकट से बन्द है। यहाँ रहनेवाले फकीर हमसे कहते हैं कि इसे गवर्नमेण्ट ने १२ या १४ वर्ष पूर्व बन्द करा दिया था।

जहाँ तक मैंने निरीक्षण किया है, मुझे उन भग्नावशेषों में ज्वालामुखी द्वारा उगले हुए पदार्थों के कोई चिह्न नहीं मिले और न वहाँ आसपास कहीं शंकु के आकार की वे पहाड़ियाँ हैं, जिनसे हम यह मान सकें कि पूर्वकाल में इतनी विशाल अग्नि निकलती हो, जिसका परिणाम उपर्युक्त दुर्घटना सम्भव हुई हो (अर्थात् प्राचीन नगर का भूगर्भ में दब जाना)........ भूकम्प का आना इसका अत्यन्त सम्भव कारण प्रतीत होता है, जिसके विरुद्ध प्राप्त होने वाली भीतों की अभग्न अवस्था ही एकमात्र आपत्ति है। प्रचण्ड आँधी द्वारा उड़ायी गई बिखरी रेत तथा धूल ही एकमात्र ऐसा अवशिष्ट कारण है जिसकी मैं कल्पना कर सकता हूँ।

वर्तमान उज्जैन नगर आयताकार बसा हुआ है। इसकी परिधि छह मील के लगभग है। इसके चारों ओर पत्थर का परकोटा खिंचा हुआ है, जिसमें गोल मीनारें हैं। इसके भीतर की कुछ भूमि ऊजड़ भी है, परन्तु भूमि के अधिक भाग में बस्ती ही है। इसमें अत्यन्त घनी इमारतें हैं और इसकी जनसंख्या बहुत अधिक है। यहाँ घर कुछ ईंटों और कुछ लकड़ी के बने हैं। परन्तु ईंटों के घरों का ढाँचा भी पहले लकड़ी का तैयार किया जाता है और फिर बीच के स्थान में ईंटें चुन दी जाती हैं। वे या तो चूने के छत्तों से या खपरैल से छाये जाते हैं। मुख्य बाजार एक सीधा असंकीर्ण पत्थर के फर्शवाला राज-मार्ग है। दोनों ओर के घर दो खण्ड के हैं। नीचे के खण्ड जिनपर आप सड़क से पाँच-छैः पत्थर की सीढ़ियाँ चढ़कर पहुँचते हैं, अधिकाँश पत्थर के बने हुए हैं और उनमें दूकानें हैं। ऊपर के ईंट या लकड़ी के बने हुए खण्ड गृह-स्वामियों के उपयोग में आते हैं।

यहाँ की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण इमारतों में लोगों की व्यक्तिगत रूप से बनवाई मस्जिदें हैं और बहुसंख्यक हिन्दू मन्दिर हैं। इनमें से सबसे अधिक गौरवशाली मन्दिर नगर से बाहर थोड़ी दूर स्थित है।...यहाँ एक प्रस्तरनिर्मित सरोवर है, जिसमें पत्थर

की सीढ़ियाँ नीचे पानी के किनारे तक चली गयी हैं, और इसे बहुत प्राचीन कहा जाता है। परन्तु इसे पत्थर की एक भीत से घेर दिया गया है और इस घेरे में दो मन्दिर बनाये गए हैं, जिनका पवार वंश के रंग-राव अप्पा ने २५ वर्ष पूर्व निर्माण कराया था..............।

नगर में शिन्दे का राजप्रासाद जो अभी पूर्ण तैयार नहीं हुआ है, विशाल एवं पर्याप्त अवकाशपूर्ण किन्तु सौन्दर्यविहीन भवन है। यह अन्य मकानों से इतना अधिक घिरा हुआ है कि बाहर से वह दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके समीप एक द्वार बना हुआ है जो उस गढ़ का एकमात्र अवशेष है, जिसे कहा जाता है कि विक्रमादित्य के काल के थोड़े पीछे ही बनवाया गया था।

नगर के भीतर तथा पूर्व की दीवार के पास एक बड़ी ऊँची पहाड़िया है, जिसके शिखर पर महादेवजी का एक हिन्दू मन्दिर स्थित है और उसीसे लगी हुई गोगा शहीद नामक एक मुसलमान सन्त की समाधि है। यह पहाड़ियाँ दूर से ही दिखाई देती है और इसके शिखर पर देखनेवाले को प्रत्येक दिशा में विस्तृत दृग्गत होता है।.........

पश्चिम की ओर मुड़ने पर उसकी दृष्टि, परस्पर मिलकर दृश्य में अनेकविधता उत्पन्न करनेवाले शस्य-क्षेत्रों एवं फल वृक्षों के वृन्दों से सुशोभित उर्वरा घाटी में होकर कल्लोल करती क्षिप्रा के कुटिल प्रवाह का अनुसरण दूसरे तट पर स्थित भैरोंगढ़ दुर्ग द्वारा उसका ध्यान आकृष्ट होने तक करती है। प्रवाह से ऊपर और अधिक आगे तथा नगर के मध्य भाग के लगभग सामने आबा चिटनवीस तथा रानाखाँ के सुन्दर उद्यान हैं। रानाखाँ के उद्यान को सौन्दर्य प्रदान करने में कला का कोई अलंकरण अछूता नहीं रखा गया है, और चिटनवीस के उद्यान में प्रकृति की समृद्ध सुषमा उद्दाम लीला करती है। इनसे ठीक ऊपर को नदी से लगभग आधे मील की दूरी पर एक टीले पर वृक्षों का कुञ्ज है। इसमें शाह दवाल नामक एक दूसरे सन्त की समाधि है। परन्तु यह स्थान ३० वर्ष पूर्व सिन्धिया और उसके एक सरदार रघुपागिया के बीच रक्तपातपूर्ण भयंकर युद्ध का स्थल होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह सिन्धिया द्वारा उदयपुर में कर लगाने के लिए भेजा गया था और उसने रुपया वसूल करके उसका हिसाब देने से मना कर दिया। इसपर उसके स्वामी शिन्दे ने उसके परिवार को-जो उज्जैन में रह गया था—कैद कर लिया। जिसके परिणामस्वरूप रघु ने ३०,००० सेना लेकर शिन्दे पर, जो उस समय केवल ५ या ६ हजार सेना के साथ उज्जैन में था, आक्रमण कर दिया। इन असमान साधनों के साथ दोनों में शाह-दवाल की समाधि के पास के मैदान में युद्ध हुआ; किन्तु शिन्दे की सहायता के लिए ६ हजार गोसाईं और आ मिले, और लड़ाई में अकस्मात् एक गोली लग जाने से रघु के मारे जाने पर, उसके साथियों में भगदड़ मच गयी, और वे परास्त हुए।

दक्षिण-पश्चिम में दो मील लम्बा किनारों पर वृक्ष श्रेणियों युक्त चौड़ा मार्ग है, जो चिन्तामणि नाम के गणेश के मन्दिर पर समाप्त होता है। नगर की दक्षिण प्राचीर को छूती हुई क्षिप्रा प्रवाहित होती है, जो इस स्थान पर आकर सहसा घूम जाती है। नगर के एक छोर पर, जो जयसिंहपुरा कहलाता है, अम्बर के राजा जयसिंह की बनवाई एक वेधशाला स्थित है।

पूर्व की ओर मुड़ने पर.....जहाँ तक नेत्र देख सकते हैं एकसा मैदान है, जिसका अपवाद तीन मील की दूरी पर स्थित केवल एक शंक्वाकार पहाड़ी है जिसके पीछे एक विस्तृत झील है, जो भोपाल को जानेवाले मार्ग के किनारे बाईं ओर है। उसी स्थान पर उस मार्ग के दाईं ओर शिन्दे का रमना है जिसमें हिरण प्रचुर संख्या में हैं। उस नगर के आश्रित उस जिले में लगभग १७५ ग्राम और हैं, उसकी वार्षिक आय पाँच लाख रुपया है।

उज्जैन में बोहरा परिवारों की संख्या १५०० है। परन्तु उस जाति का केन्द्र स्थान बुरहानपुर है, जहाँ उनके मुल्ला अथवा सर्वश्रेष्ठ गुरू निवास करते हैं। मुल्ला का लघुभ्राता उज्जैन में निवास करता है और उसी पद से वहाँ के निवासी बोहरों पर उस पद से सम्बद्ध लौकिक एवं पारलौकिक प्रभुत्व का प्रयोग करता है। नगर में बोहरों के पाँच मोहल्ले हैं और वे उसके अधिकार क्षेत्र में हैं।

उज्जैन में जो अंगूर पैदा होते हैं वे बुरहानपुर के अंगूरों से छोटे और स्वाद में कुछ फीके होते हैं। परन्तु यहाँ की जलवायु का यह एक विशेष गुण है कि वर्षाऋतु में यहाँ अंगूरों की दूसरी फसल आ जाती है, परन्तु वे खट्टे होते हैं और

पहिली फसल के अंगूरों से निकृष्ट होते हैं। आम, अमरूद, केले, खरबूज, तरबूज, शरीफे, आटाह और अनेक प्रकार के नीबू, नारंगी तथा फालसे, जिनसे यहाँ के निवासी अत्यन्त आनन्ददायक कुछ खट्टा शर्बत तैयार करते हैं, यहाँ उत्पन्न होनेवाले अन्य फल हैं। किसी किसी उद्यान में कहीं कहीं दुर्लभ फल के रूप में पपीता भी है।

निर्यात व्यापार की मुख्य वस्तुएँ कपास, जो अधिक परिणाम में गुजरात भेजा जाता है; छींट एवं अन्य छपा हुआ मोटा कपड़ा; आल या मोरिण्डा सिट्रीफोलिया की जड़ और अफीम हैं...........अफीम जब सस्ती होती है तब १५ रुपये और जब महँगी होती है तब २५ रुपये से ३० रुपये प्रति धड़ी के भाव से बिकती है। एक धड़ी ५$\frac{३}{४}$ सेर की और एक सेर ८० रुपये की तोल के बराबर होता है।

आयात—बारीक श्वेत वस्त्र चंदेरी और सीहौर से आते हैं, बुरहानपुर से पगड़ी, साफे, साड़ियाँ और अन्य छींट के वस्त्र आते हैं। सूरत से यूरोप और चीन के माल का आयात होता है। मोती भी यहाँ आयात होता है। सिन्ध से हींग आती है और बुन्देलखण्ड से हीरे यहाँ होकर सूरत को जाते हैं।

परन्तु इस देश के पश्चिमी तथा पूर्वी प्रान्तों में परस्पर अधिकतर व्यापार होता है, और उससे इन्दौर राज्य को अधिक लाभ होता है। कारण कि वहाँ आयात तथा निर्यात कर कम लगता है। उस स्थान (अर्थात इन्दौर) में एक बैल की लाद पर, जिसमें तीन अथवा चारसौ रुपये का माल होता है, केवल चार या पाँच आना कर लिया जाता है, जबकि उज्जैन में वह आयात तथा निर्यात हुए माल के मूल्य का दस प्रति शत होता है, और इस प्रकार वहाँ होकर जानेवाले माल पर का बीस प्रति शत लाभ चुंगी आदि करों में ही चला जाता है। अहिल्याबाई के बुद्धिमत्ता एवं शान्तिपूर्ण, शासन-प्रबन्ध के अन्तर्गत होने का सौभाग्य इन्दौर को प्राप्त था।

हमारे आने से पूर्व तीन वर्ष तक (अर्थात् सन १७८९-१७९० और १७९१ में) यहाँ पर सूखा पड़ रहा था, जिसके परिणामस्वरूप गेहूँ का आटा एक रुपये का दस सेर बिकता था। वहाँ के सैकड़ों निर्धन निवासियों को अपने लिए अधपेट भोजन प्राप्त करने के लिए अपने बालबच्चों को बेचने की दैन्यपूर्ण स्थिति पर पहुँचना पड़ा था। काबुलीमल को शिन्दे ने उस जिले का भूमि कर वसूल करने का काम सौंपा था, उसकी अत्यन्त लोभपूर्ण वृत्ति ने इस अन्न के अभाव को कृत्रिम रूप से बढ़ा दिया था। अपनी धनाढ्य और प्रभावशालीनता के कारण वह अन्न के गोदाम के गोदाम रोक रखने में....... और फलतः उसके मूल्य को प्राकृत मान से अत्यन्त ऊँचा रखने में सफल हुआ था। सदाशिव नाइक नाम का एक प्रतिष्ठित साहूकार अपने घर दरिद्रों को भोजन देता था और इस प्रकार सहस्रों व्यक्ति अपनी जीवन-रक्षा के लिए उसकी उदारता के ऋणी थे। नगर निवासियों का रोष अधिक समय तक छिपा न रह सका।.... उन्होंने मृतक संस्कार का प्रदर्शन किया और यह घोषित कर दिया कि हाकिम (अर्थात् नगर का शासक काबुलीमल) मर गया है, और उसके स्थान पर सदाशिव नाइक की नियुक्ति की गई है। इस वर्ष* में प्रचुर जलवृष्टि हुई। हमारे प्रस्थान से पूर्व (अर्थात् मार्च १९७३ में) गेहूँ के आटे का भाव गिरकर एक रुपये का २० सेर हो गया था।

वर्षाऋतु के अन्त में नगर में पारी का ज्वर अधिकता से फैलता था और नवम्बर के मध्य तक यह और भी अधिकता से बढता जाता था। स्थिर जल गड्ढों में एकत्र हो जाता था, जिनमें से कुछ गड्ढे नगर के कोट के पास ही स्थित थे, और सूखते हुए वह दुर्गन्धयुक्त भाप छोड़ जाता था।

शाह दवाल के छोटे से कुञ्ज के पास होकर बहने वाला जीरानाला वर्षाऋतु में बड़ी ऊँचाई तक बढ़ आया था और अब सूख रहा था..........नेहरुआ केवल यहाँ का स्थानीय विकार था। इसके किनारों पर पड़े सड़नेवाले वनस्पति अंशों को रोगों का उद्गम-स्थल समझना स्वाभाविक है........'यहाँ का एक मात्र स्थानीय रोग स्नायुक (नहरुआ) है।

* जुलाई १७९२, १२ इंच, अगस्त २१ इंच, सितम्बर साढ़े पाँच इंच।



उज्जैन में उत्खनन

श्री गंगाधर मंगेश नाडकर्णी, बी० ए०, एल-एल० बी०

ग्वालियर-राज्य की सीमाओं में ऐसे अनेक प्राचीन स्थल हैं, जहाँ पर यदि उत्खनन किया जाय तो प्राचीन भारतीय इतिहास के वर्त्तमान ज्ञान में अत्यधिक अभिवृद्धि हो सकती है। बेसनगर, पवाया, मन्दसौर आदि स्थलों पर प्राप्त की गई सामग्री ने हमारे प्राचीन सांस्कृतिक, राजनीतिक एवं सामाजिक इतिहास पर जो प्रकाश डाला है, वह अभूतपूर्व है। परन्तु इन सब स्थलों में प्राचीन उज्जयिनी का स्थान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, इसमें दो मत नहीं हो सकते। यही कारण है कि ग्वालियर-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग ने यहाँ बड़े परिमाण में उत्खनन कार्य किया।

संवत् १९९५ वि० में यह कार्य प्रारम्भ किया गया था और १९९७ तक चलाया गया। यद्यपि अभी यह नहीं कहा जा सकता कि पर्याप्त कार्य हो सका है, परन्तु वहाँ पर जो कुछ भी सामग्री प्राप्त हो सकी है, वह इतनी बहुमूल्य है कि उसका वर्णन विद्वानों के सामने प्रस्तुत करना उचित होगा। इसका कुछ उल्लेख ग्वालियर-पुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्टों में किया गया है, वही यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

उज्जयिनी अत्यन्त प्राचीनकाल से राजनीतिक, व्यवसायिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक केन्द्र रहा है। प्राचीन नगरों में, पश्चिमी भारत में इसकी महत्ता की समानता कर सकनेवाला कोई दूसरा नगर नहीं था। इसके नाम के साथ उदयन और वासवदत्ता, विक्रमादित्य एवं कालिदास आदि की कथाएँ गुम्फित हैं। यह मौर्य तथा गुप्त सम्राटों की पश्चिमी राजधानी रही है। इसी को पश्चिमी क्षत्रपों ने अपना केन्द्र बनाया। द्वादश ज्योतिर्लिंगों में परिगणित महाकाल की नगरी होने से इसे अपूर्व धार्मिक महत्ता प्राप्त हुई है। काशी के पश्चात् उत्तरी भारत का यही प्रधान शिव-पीठ है। प्राचीन भारतीय ज्योतिष का भी यही प्रधान केन्द्र है और यहीं से भारतीय भूमध्य रेखा का प्रारम्भ माना जाता है। उज्जयिनी का उल्लेख हिन्दू, जैन एवं बौद्ध साहित्य में तथा संस्कृत काव्यों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रूप से किया गया है।

आज का उज्जैन नगर प्राचीन उज्जैनी के स्थल से हटकर बसा है। समय की यह अपार लीला है कि जहाँ प्राचीनकाल में महाकाल-वन स्थित था वहाँ आज जनावासपूरित उज्जैन नगर बसा हुआ है और प्राचीन उज्जयिनी आज ऊजड़ पड़ी है। उसे लोग गढ़ कहते हैं। यह स्थान वर्तमान नगर के उत्तर में शिप्रा नदी के दाहिने किनारे पर स्थित है। यह स्थान आस-पास की भूमि से ३० या ४० फीट ऊँचा है। सम्भवतः इसके चारों ओर प्राकार या परकोटा भी था। देखने से ज्ञात होता



है कि इस नगर का विस्तार उत्तर से दक्षिण की ओर लगभग एक मील था और पूर्व-पश्चिम में पौन मील के आसपास था; परन्तु इसके उपनगर दूर दूर तक फैले हुए थे।

उत्खनन के लिए स्थानों का चुनाव ग्वालियर पुरातत्त्व-विभाग के अवकाश प्राप्त डायरेक्टर, श्री मा० ब० गर्दे ने श्री का० ना० दीक्षित, अवकाश प्राप्त डायरेक्टर जनरल भारतीय-पुरातत्त्व-विभाग के परामर्श से किया था। यह उत्खनन (१) वैश्याटेकरी, (२) कुम्हारटेकरी तथा (३) गढ़ नामक तीन स्थानों पर किया गया था।

१ वैश्याटेकरी—वैश्याटेकरी वर्तमान उज्जैन के उत्तर-पूर्व में प्रायःतीन मील से कुछ अधिक पर स्थित है। लगभग ५०० फीट के व्यास का यह प्रायः १०० फीट ऊँचा वृत्ताकार टीला है। इसके चारों ओर एक चतुर्भुज आकार की खाई सी दिखाई देती है। इस वैश्याटेकरी नामक टीले से लगभग ३०० फीट दूर दो छोटे छोटे टीले और हैं, इनमें से पश्चिम की ओर का टीला तुलावती की टेकरी तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर का टीला कंकर-टेकरी कहलाता है।

जनश्रुति यह है कि वैश्याटेकरी का यह नाम सम्राट् अशोक की वैश्य-पुत्री-महारानी के महल का स्थान होने के कारण पड़ा है। दूसरा प्रवाद यह भी है कि उज्जैन की एक वेश्या ने नगर की क्रय-शक्ति की ख्याति को हानि पहुँचाने से रोकने के लिए एक कुम्हार के बहुत से गधों पर लदी मिट्टी क्रय करके यहाँ टीला लगवा दिया। परन्तु उत्खनन से प्राप्त परिणाम इन जनश्रुतियों की पुष्टि नहीं करते और अशोक की वैश्य-महारानी तथा उज्जयिनी की मानिनी वेश्या दोनों का इससे सम्बन्ध स्थापित न होते हुए इसका सम्बन्ध काषायधारी बौद्ध भिक्षुओं से लगता है। इन तीनों टीलों के खोदने पर ज्ञात हुआ कि ये स्तूपों के भग्नावशेष हैं; परन्तु इस प्रकार की बनावट के स्तूप अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं हुए हैं। वैश्याटेकरी अब तक प्राप्त स्तूपों में सम्भवतः सबसे बड़े स्तूप का भग्नावशेष है, जो ३५० फीट व्यास का १०० फीट ऊँचा है। स्तूप के भीतरी भाग में कूट कूट कर ठोस की हुई मुरम भरी हुई है, और बाहर गारे में ईंटों की जुड़ाई की हुई है। ईंटों का आकार बहुत बड़ा है। इनमें सबसे बड़ी २२½"× १८½"× ३¾" आकार की है। सबसे छोटी एक ईंट का आकार २२½"× १५½" × ३¾" है। इन ईंटों के आकार से यह अनुमान होता है कि यह स्तूप ईसा से ३०० वर्ष पूर्व मौर्यकालीन है। इस अनुमान की पुष्टि उन **चिह्नांकित** तथा अवन्ति के चिह्नयुक्त मुद्राओं से होती है जो वहाँ प्राप्त हुई हैं। ज्ञात यह होता है कि स्तूप के भीतरी भाग में भरी हुई मुरम उसके चारों ओर वृत्ताकार बनी हुई खाई में से ली गई थी। इस खाई की पश्चिमी भुजा में एक मार्ग भी छूटा हुआ था, जिसपर होकर पूजा करनेवाले भक्तगण स्तूप के पास पहुँचते होंगे। ऊपर के अवशेषों से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्ध सम्राट् ने इस स्तूप को बनवाया होगा। सम्भव है अनुश्रुति ने जिस अशोक की वैश्य-रानी का महल स्मरण रखा हो वह उस वैश्य-रानी की बौद्ध धर्म में श्रद्धा एवं भक्ति के प्रतीक का स्वरूप स्तूप ही रहा हो।

प्राचीन मालवा में ईंटें पकाई नहीं जातीं थीं, यही कारण है कि इस स्तूप का अधिक रूप परिवर्त्तन हो गया है और इस कारण उसका मूल रूप क्या होगा, यह पूरी तरह कहा नहीं जा सकता। सम्भवतः इस स्तूप का ऊर्ध्व भाग अर्ध-गोलाकार था जो एक आधार के ऊपर बना हुआ था। यह आधार गोलाकार था। इसके निर्माण में विचित्र निर्माणकला का परिचय दिया गया है, क्योंकि यह कटोरे के समान बनावट का है।

अन्य दो स्तूपों में दक्षिण-पश्चिम के स्तूप के भीतरी भाग में उसके आसपास पाई जानेवाली काली मिट्टी भरी गई है। पश्चिम स्तूप, ज्ञात होता है, पूरा नहीं बनाया गया था।

इन स्तूपों में खाइयाँ खोदकर उत्खनन किया गया था। परन्तु इस स्थल की खुदाई में छोटी-छोटी प्राचीन वस्तुएँ बहुत कम मिलीं और जो मिलीं वे एक रंगीन चीनी-बर्त्तन तथा हरे रँगे हुए शंख के टुकड़े को छोड़कर अधिक महत्त्व की नहीं हैं।

२ कुम्हारटेकरी—उत्खनन के लिए चुना गया दूसरा स्थल कुम्हारटेकरी नामक टीला था। यह टीला वैश्याटेकरी से लगभग एक मील पर है और उण्डासा तालाब के पास ही है। यह तालाब सम्भवतः मालवे के सुलतानों के समय में बनवाया गया था और इससे आज भी सिंचाई होती है। यह टीला प्रायः २२० फीट लम्बा, इससे प्रायः आधा

चौड़ा, और पन्द्रह फीट ऊँचा है। इस पर पाए गए कुम्हारों के बने हुए मिट्टी के बर्तनों के टुकड़ों के कारण ही यह सम्भवतः कुम्हारटीला कहलाता है।

इस टीले के बीच में चौड़ाई में खाई खोदने का काम प्रारम्भ करने के कुछ घंटों के पश्चात् ही मानव-अस्थियों और पिंजरों के दर्शन होना प्रारम्भ हो गए। इस खाई को और चौड़ी की गई तथा एक खाई लम्बाई में भी खोदी गई। ज्ञात यह हुआ कि यह टीला श्मशान-भूमि था और यहाँ शव गाड़े तथा जलाए जाते थे। ऊपर के भूमि-स्तर में, जो प्रायः २ या ३ फीट गहरा है, बियालीस मानव अस्थि-पिंजर प्राप्त हुए, जिसमें से कुछ तो लगभग पूर्ण थे। इनकी स्थिति भी भिन्न-भिन्न थीं। अधिकतर अस्थि-पिंजर उत्तर-दक्षिण की दिशा में थे और उनके पैर दक्षिण की ओर थे, यद्यपि एक के पैर उत्तर की ओर थे और दो के उत्तर-पश्चिम के कोने की ओर थे। टीले के उत्तरी-भाग में पाए गए पिंजर पेट के वल लिटाए हुए थे, तथा दक्षिण की ओर पाए गए सीधे लिटाए हुए थे। अधिकतर पिंजरों के मुख पश्चिम की ओर को थे, कुछ के पूर्व की ओर शेष के ऊपर आकाश की ओर। कुछ तो असाधारण स्थिति में रखे पाए गए। दो की टाँगें मुड़ी हुई थीं और घुटने ऊपर को उठा दिए गए थे। एक बैठा हुआ था और धड़ झुका हुआ तथा सिर आगे की ओर झुका हुआ था। एक का धड़ दाईं ओर को झुका हुआ था, घुटने मुड़े हुए थे और पैर बाईं ओर को मुड़े हुए थे। एक जैन या बौद्ध साधु की तरह ध्यानावस्थित मुद्रा में बैठा हुआ मिला है। कुछ अस्थि-पिंजर उनकी आकृति, विकास तथा आकार से स्त्रियों तथा बच्चों के ज्ञात होते हैं।

कुछ अस्थि-पिंजरों के सिर के पास सीप की बनी हुई बालियाँ भी प्राप्त हुई। एक पिंजर के पास सीप के गुरियें मिले थे और वे संख्या में इतने अधिक थे कि उनसे एक माला सहज ही बनाई जा सकी। एक स्त्री के पिंजर के दाँत लाल रंग से रँगे हुए थे। अस्थि-पिंजरों के बीच में बहुत से मिट्टी के पात्र मिले। एक बड़े पात्र में कुछ हड्डियाँ, राख और छोटे-छोटे मिट्टी के पात्र रखे हुए थे। छोटे पात्रों में भी राख और हड्डियाँ थीं। कुछ अस्थि-पिंजरों के चारों ओर मिट्टी के प्याले और तश्तरियाँ सिलसिले से रखी हुई पाई गई। इस टीले पर असंख्य मिट्टी के बर्त्तनों के टुकड़े पाए जाने का प्रधान कारण यह है कि किसी समय मृतक शरीरों के साथ यहाँ मिट्टी के बर्त्तन और प्याले भी बहुत अधिक संख्या में रखे जाने की प्रथा थी।

टीले के ऊपरी स्तर से चार पाँच फीट नीचे चिताओं के चिह्न भी पाए गए। इससे यह प्रकट होता है कि जब यह भूमि-खण्ड स्मशान के रूप में प्रयोग किया जाता था उस समय शव को गाड़ने की, जलाने की, अथवा जलाकर अवशेषों को गाड़ देने की प्रथाएँ साथ साथ प्रचलित थीं।

ये अस्थि-पिंजर किस युग के हैं, इस प्रश्न का उत्तर देना सरल नहीं है। कुछ लोगों का तो यह मत भी रहा है कि ये प्रायः आधुनिककालीन शव हैं परन्तु यह धारण नितान्त असत्य हैं। इनके तिथि-निर्णय में पहिली सहायता तो वहाँ प्राप्त हुई मुद्राओं से मिलती हैं। टीले के ऊपरी स्तर पर ही जो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, वे ढलवाँ मुद्राएँ हैं और उनके एक ओर हाथी या जंगले से घिरा हुआ पेड़ है और दूसरी ओर चैत्य या पर्वत का चिह्न है। ये मुद्राएँ ई० पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी की मानी गईं हैं। निश्चितरूपेण ये शव इस काल से पुराने हैं। परन्तु कितने प्राचीन हैं इसके विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। अनुमान यह है कि ये अस्थि-पिंजर प्राग्-ऐतिहासिक काल के मानवों के हैं।

शवों के लिटाए जाने के विभिन्न प्रकारों को देखते हुए एक अनुमान यह भी किया गया था कि यहां किसी व्यक्ति-समूह पर अचानक कोई प्राकृतिक विपत्ति आ पड़ी थी और वे सब दबकर मर गए थे, और उनके शव विभिन्न अवस्थाओं में सिकुड़ गए थे। परन्तु यह अनुमान भी सत्य नहीं है। मृत-व्यक्तियों के साथ रखे हुए पात्रों और पात्रों में भरी हुई अस्थियों और भस्म से यह स्पष्ट प्रमाणित है कि यह स्थल स्मशान-भूमि के रूप में ही काम में लाया जाता था। साथ ही ऐसी प्रथाओं का भी पता चला है जिनके अनुसार मृत व्यक्तियों के शव को भाँति-भाँति की अवस्थाओं में लिटाकर गाड़ा जाता था।

जिन व्यक्तियों की यह स्मशान भूमि है वे किस जाति और धर्म के थे, यह भी आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। इसके लिए अन्वेषण जारी है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यह उज्जयिनी नगर की किसी जाति-विशेष का स्मशान था और वह जाति नगर के बाहर एक ही स्थान पर अपने मृतकों की अन्त्येष्ठि क्रिया करती थी।

३ गढ़—ऊपर लिखा जा चुका है कि वर्तमान उज्जैन के उत्तर में प्राचीन उज्जयिनी स्थित थी और वह स्थल आज गढ़ के नाम से प्रसिद्ध है। इस प्राचीन नगर की सीमाएँ आज भी स्पष्ट रूप से दिखाई देती हैं। अन्य प्राचीन नगरियों



के समान यह नगरी भी प्राकार से घिरी हुई थी। इसके पूर्व, उत्तर और दक्षिण में कच्ची ईंटों की बनी हुई दीवार थी। ज्ञात यह होता है कि प्राचीन उज्जयिनी में भवन निर्माण के लिए कच्ची ईंटों का बहुत अधिक प्रयोग किया जाता था। यही कारण है कि यहाँ की खुदाई में पक्की चुनाई प्राप्त नहीं हो सकी और चारों ओर धूल का बाहुल्य है। नगर की पश्चिमी सीमा पर शिप्रा नदी थी और इस ओर लकड़ी के लट्ठों की दीवारसी बना दी गई थी, जिसके अवशेष आज भी खुदाई में प्राप्त हुए हैं। इस प्रकार के लकड़ी के प्राकार मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र में भी गंगा के किनारे स्थित थे, इसका प्रमाण मेगस्थनीज के वर्णनों से भी प्राप्त होता है। इस लकड़ी के प्राकार के पास कुछ पत्थर के गुरिये प्राप्त हुए हैं जिनपर मौर्यों के काल की प्रसिद्ध ओप दिखाई देती है। इससे यह अनुमान होता है कि यह प्राकार कम से कम मौर्यकालीन अवश्य है।

प्राचीन नगर का विस्तार बहुत अधिक है और वहाँ पर आजकल खेती भी होती है इस कारण केवल प्रयोग के रूप में कुछ स्थलों पर खुदाई की गई। इस खुदाई में भी अत्यन्त बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुईं। कालिका-मन्दिर से दक्षिण-पश्चिम की ओर एक फर्लांग की दूरी पर जो खाई खोदी गई थी वहाँ विशेष रूप से उपयोगी वस्तुएँ प्राप्त हुईं। वहाँ प्राप्त हुई **पंच-मार्क्ड तथा कॉस्ट कॉइनस्** से तथा मौर्यकालीन ओपयुक्त पत्थर के टुकड़ों से यह अनुमान किया जाता है कि मौर्यकालीन भूमिस्तर तक पहुँचने के लिए वर्तमान खेतों के नीचे २५-३० फीट गहरा खोदना होगा। इसके ८-१० फीट ऊपर शुंगकालीन स्तर प्राप्त होगा। नदी के द्वारा भूमि को अस्तव्यस्त कर देने के कारण क्षत्रप और गुप्तकालीन स्तरों का अनुमान नहीं किया जा सका। अभी तक घरों, सड़कों तथा गलियों का भी कोई अवशेष नहीं मिला है।

यहाँ पर प्राप्त हुई वस्तुओं में सबसे मनोरंजक गोलाकार कूप हैं। इनकी बनावट भी बहुत विचित्र है। मिट्टी के लगभग दो फीट वृत्त के सात से आठ इँच ऊँचे गोल नल एक दूसरे के ऊपर फँसा दिए गए हैं। इस प्रकार के २० से २५ तक नल एक दूसरे में फँसे पाए गए और वे १२ से १४ फीट ऊँचे तक मिले हैं। इनके भीतर पाई गई वस्तुएँ भी अनेक प्रकार की हैं, जैसे मिट्टी की मुद्राएँ, मिट्टी के बर्त्तन और घोड़े या (जैसा एक स्थल पर पाया गया है) गधे की हड्डियाँ आदि। अनुमान यह किया जाता है कि ये गोल पात्र अनाज या अन्य आवश्यक सामान रखने के काम में लाए जाते थे। बड़े बड़े मिट्टी के वर्त्तन भी यहाँ पर मिले हैं। इनमें से एक में मनुष्य की हड्डियाँ रखी हैं और उसमें एक मिट्टी की मुद्रा भी मिली है, जिसपर सम्भवतः उस व्यक्ति का नाम अंकित है, जिसकी ये अस्थियाँ हैं। इस मुद्रा के दूसरी ओर नन्दी का आकार बना हुआ है। इसी पात्र में एक दूसरी मिट्टी की मुद्रा भी मिली है, जिसके ऊपर एक ओर मनुष्य का सिर है और दूसरी ओर कमल का फूल बना हुआ है।

यहाँ को दो खाइयों में बरसाती पानी ले जानेवाली नालियों के अवशेष भी मिले हैं, जो पकी हुई ईंटों के बने हुए हैं। अन्य छोटी सामग्रियों में निम्नलिखित प्रधान हैं:—

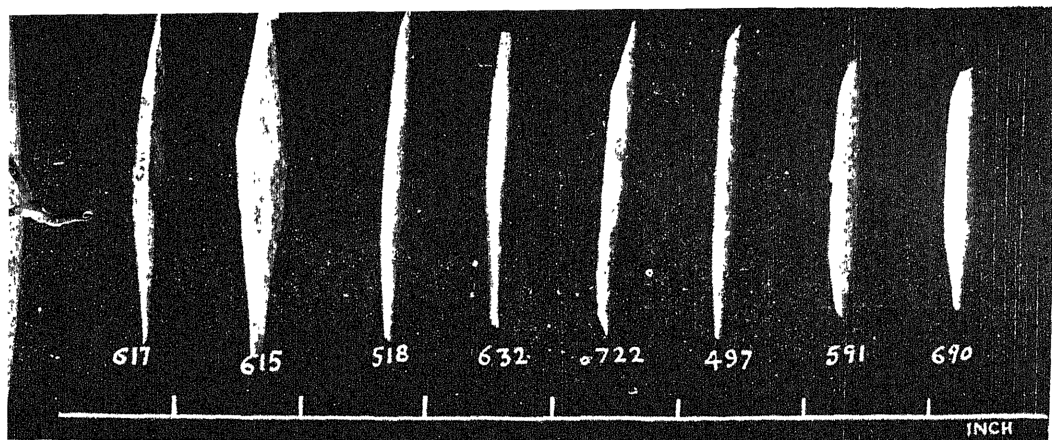
> मिट्टी के बर्त्तन, सुराहियाँ, ढक्कन, प्याले, तश्तरियाँ, दीपक, बाँट, खिलौनों की गाड़ियों के पहिए, ईंटें, मिट्टी के खिलौने, मिट्टी, सीप, काँच आदि के गुरिये, मिट्टी और सीप के सादा और कढ़े हुए कड़े, हाथीदाँत के सामान, मिट्टी की मुद्राएँ आदि।

यहाँ पर चिह्नांकित तथा ताँबे की ढलवाँ मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं। ऊपर के स्तर पर महाराज दौलतराव शिन्दे की भी दो मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।

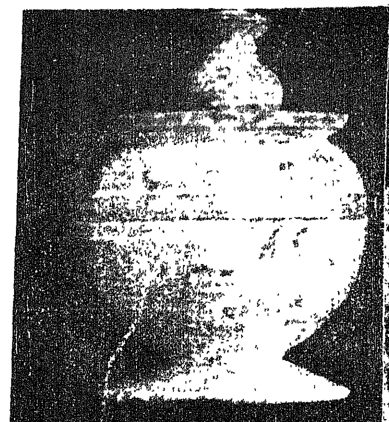
इस स्थल की ऊँची भूमि पर भी खुदाई की गई और कृपानिवास राममन्दिर के सामने तथा एक ओर खेत में खाइयाँ खोदीं गईं। इन खाइयों को कहीं कहीं चालीस फीट गहरा तक ले जाया गया। लगभग २२ फीट नीचे एक ईंटों की दीवार दिखाई दी, जो वहाँ प्राप्त हुए मिट्टी के खिलौनों को देखते हुए गुप्तकाल की कही जा सकती है।

यद्यपि उज्जैन के इस उत्खनन में कुछ अत्यन्त बहुमूल्य जानकारी प्राप्त हुई है; परन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि न तो अभी पर्याप्त परिमाण और मात्रा में भारत के इस प्राचीनतम स्थल की खुदाई हुई है, और न अभी तक प्राचीन उज्जयिनी का पता ही लगाया जा सका है।

अपनी इस प्राचीनतम नगरी में प्राप्त हुए अवशेषों का यह संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करते हुए हम यह आशा करते हैं कि किसी दिन हमारा पुरातत्त्व विभाग, अवन्ति के खण्डहरों में छुपे हुए हमारी प्राचीन संस्कृति के अवशेषों को प्रकाश में लाकर साहित्य और जनश्रुति में प्रसिद्ध उज्जयिनी, तथा उसके साथ ही हमारे राज्य और भारतदेश की महानता, सम्पूर्ण संसार के सम्मुख अकाट्य प्रमाणों के रूप में प्रकट करेगा।



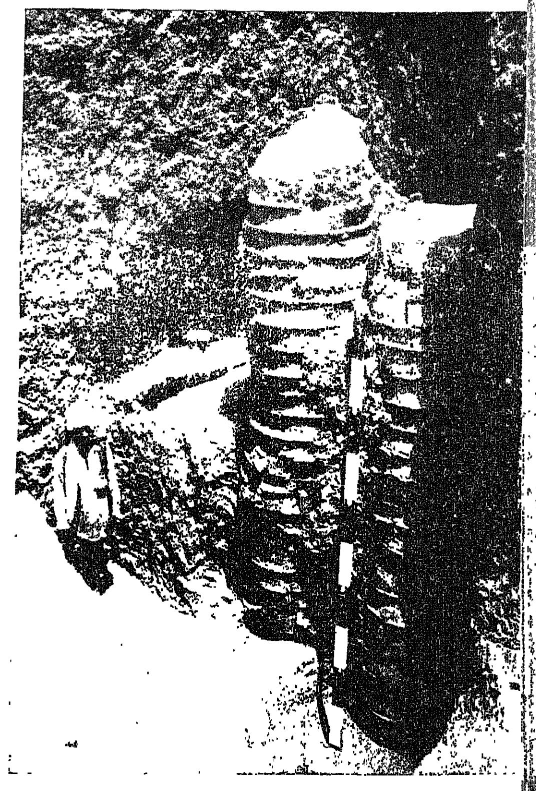
अजन शलाका।



पात्र।



मृद्भांड।



गोलाकार कूप।

वेश्या टेकरी।



उज्जैन में उत्खनन, (पृष्ठ ४७३)

हाल ही में प्राप्त उदयपुर प्रशस्ति के अन्तिम भाग के छापे का चित्र।

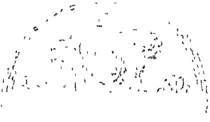


उज्जैन के दर्शनीय स्थान

श्री ठाकुर उत्तमसिंह बी० ए० (ऑनर्स), एल-एल० बी०, बी० कॉम

उज्जैन नगर २३·११' उत्तर-अक्षांश, और ७५·५२' पूर्व-रेखांश पर स्थित हैं। सागर की सतह से इसकी ऊँचाई १६७९ फीट है, तथा यह विन्ध्याचल पर्वत के उत्तरीय ढाल पर बसा हुआ है। स्कन्दपुराण में उज्जैन का विस्तार एक योजन, यानी चार कोस का बतलाया है। यह नगर भारतवर्ष के मध्य में स्थित होने से भारतीय ज्योतिषी उसके रेखांश को शून्य कल्पित करके वहाँ से अन्य रेखांश का गणित किया करते थे, व अब भी यहाँ एक वेधशाला है। इसके आसपास का भाग एक विस्तीर्ण पठारसा है, और यह प्रदेश समशीतोष्ण व बहुत उपजाऊ है। इस नगर को प्राचीनकाल में 'अवन्ती' कहते थे। इसी कारण इस प्रदेश को भी 'अवन्ती-देश' कहा करते हैं। परन्तु पश्चात् उसपर पंजावनिवासी मालवों का अधिकार हो जाने से यह "मालव" देश कहलाने लगा, और उसका अपभ्रंश होकर इस प्रदेश को अब "मालवा" कहते हैं। यहाँ की रात्रि शीतल व आह्लादकारी प्रसिद्ध है। यह नगर पुण्य-सलिला क्षिप्रा नदी के पूर्वीय तट पर बसा हुआ है, और इसको प्रधान तीर्थस्थान का पावित्र्य प्राप्त है।

अवन्तिका नगरी किसने व किस समय बसाई इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता। स्कन्दपुराण में उसको "प्रतिकल्पा" के नाम से भी सम्बोधित किया है, जो सृष्टि के आरम्भ में उसकी उत्पत्ति का सूचक है। वेदों से लेकर ब्राह्मण ग्रंथों, व उपनिषदों में भी उज्जयिनी का महत्त्व प्रतिपादित है। अठारह पुराणों में भी उज्जयिनी का धार्मिक दृष्टि से सब जगह वर्णन किया गया है। महाभारतकाल में भारतवर्ष जब सौख्य व उत्कर्ष के शिखर पर पहुँच चुका था, उस समय भी उज्जैन का महत्त्व बहुत बढ़ा हुआ था, और उज्जैन में एक प्रसिद्ध विद्यापीठ भी विद्यमान था। हिन्दूधर्म में तीर्थयात्रा के लिए चार प्रमुख धाम चार दिशाओं में स्थित होना वर्णित हैं। उत्तर में बद्रीनाथ, पूर्व में जगन्नाथपुरी, दक्षिण में रामेश्वर व पश्चिम में द्वारकापुरी है, किन्तु इन सब तीर्थों में उज्जैन प्रमुख माना गया है, और इसी कारण यह महातीर्थ कहलाता है। कारण यह भारतवर्ष के मध्य में अर्थात् नाभिस्थान पर स्थित है। भारतवर्ष में तीर्थयात्रा का प्रारम्भ तथा समाप्ति उज्जैन के महातीर्थ से ही होती है।



उज्जैन के दर्शनीय स्थान

एक कल्प में ४ अरब ३० करोड़ २० लाख वर्ष होते हैं, और प्रत्येक कल्प के अन्त में प्रलय होता है, ऐसा कहा जाता है। ऐसे प्रत्येक कल्प में उज्जयिनी के नाम बदलकर रखे गये थे जो नीचे लिखे हैं—१ कनकशृंगा, २ कुशस्थली, ३ अवन्तिका, ४ चूड़ामणि, ५ अमरावती, ६ पद्मावती, ७ कुमुद्वती, तथा ८ विशाला और श्री श्वेतवाराह कल्प जो चल रहा है इसमें इसका नाम "उज्जयिनी" है, इससे इसके प्राचीनता का अनुमान लग सकता है। सूत्र ग्रंथों में और पुराणों में उज्जैन के जो वर्णन हैं उससे ज्ञात होता है कि यह नगर पाँच हजार वर्ष से पूर्व से विद्यमान है। भागवत (स्कन्द १० पूर्वार्ध, अध्याय ४५) में श्रीकृष्ण और बलदेव दोनों भ्राताओं का विद्यार्जन के हेतु अवन्तिका में गुरूदेव सांदीपन ऋषि के आश्रम में आने की कथा कही गई है। महाभारत के सभापर्व (अध्याय ३१) में राजसूय यज्ञ के प्रसंग पर करभार प्राप्त करने के लिए सहदेव के अवन्तिका देश में आने का उल्लेख है, तथा उद्योगपर्व अध्याय १८ में अवन्ती देश के राजा विन्द एवं अनुविन्द दोनों भ्राताओं का कौरवों की तरफ से युद्ध में भाग लेने के लिए उपस्थित होने का वृत्तान्त है। अर्थात् यह तीनों वृत्तान्त भारतीय महायुद्ध के पूर्व के हैं। भारतीय युद्ध "कलिकाल" के प्रारम्भ में हुआ है यह कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है। कलिकाल का प्रारम्भ खिस्ताब्द के ३१०१ वर्ष पूर्व होना भी प्रायः समस्त आर्य ज्योतिर्विदों को स्वीकृत है, उसमें खिस्ताब्द पश्चात् के १९४३ वर्ष मिलाने पर संख्या ५०४४ आती है। इसपर से अवन्ति नगर का अस्तित्व ५००० वर्ष पूर्व होना तो सिद्ध होता ही है और उस समय भी यह नगर भारतीय नरेन्द्रों की वैभवशाली राजधानी तथा सुप्रसिद्ध विद्यापीठ था यह भी प्रमाणित होता है। रामचरित्र सर्वत्र श्रीकृष्ण चरित्र से पूर्व का माना जाता है और श्रीरामायण के किष्किन्धाकाण्ड (स० ४१, ४२) में भी श्री सीतादेवी के अन्वेषणार्थ वानर-दल को रवाना करते समय सुग्रीव ने अवन्ति देश का उल्लेख किया है। इसपर से भी यही सिद्धान्त निकलता है कि अवन्ति देश भारत-काल से पूर्व रामायण-काल में भी प्रसिद्ध था। अतः इसका अस्तित्व ५००० वर्ष पूर्व तो अवश्य ही होना स्वीकृत किया जा सकता है। उज्जयिनी का वर्णन प्राचीन वाङ्मय के कवि और लेखकों की रचनाओं में भी पाया जाता है जैसे कालिदास, बाण, व्यास, शूद्रक, भवभूति बिल्हण, कल्हण, अमरसिंह, पद्मगुप्त आदि। इन वर्णनों से पाया जाता है कि प्राचीन उज्जयिनी क्षिप्रा नदी के दोनों तट पर बसी थी। वह भूमि अब वर्तमान उज्जयिनी के उत्तर में 'गढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। इस स्थान पर खोदने से प्राचीन सिक्के, धातुओं के पात्र आदि पुरातन बस्ती के कुछ चिह्न अब भी मिलते हैं। इन चिह्नों से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में किसी समय प्राचीन अवन्तिका या तो क्षिप्रा नदी के बाढ़ में डूब जाने से नष्ट हो गई होगी, अथवा धरणीकम्प से विचलित होकर भूगर्भ में समाई होगी और इसके पश्चात् उसके दक्षिण में वर्तमान अवन्तिका की बस्ती बसी। यदि ऐसा न होता तो कोई कारण नहीं कि इस स्थान को गहरे खोदने पर ही प्रासादों के अवशेष व अन्य संसारोपयोगी वस्तु भूगर्भ में से हस्तगत न होते। ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की ओर से इस दिशा में खोज एवं उत्खनन अब भी चालू है और ऐसी आशा है कि सुव्यवस्थित प्रयत्न करने पर अनेक प्राचीन वस्तुएँ उपलब्ध होंगी और उनके द्वारा इस नगरी के अज्ञात इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ सकेगा।

तत्पश्चात् विदेश से आये हुए यात्री हुएनत्संग, टॉलेमी, पेरिप्लस, बर्नियर आदि ने अपनी आँखों देखा हुआ अवन्तिका के अनुपम वैभव का अत्यन्त सुन्दर वर्णन किया है। बौद्ध ग्रंथों में भी उज्जैन का विस्तार-सहित वर्णन मिलता है। उस समय उज्जैन एक महाराष्ट्र था और पाली भाषा की उत्पत्ति यहीं से हुई है। प्रद्योत और उदयन के पश्चात् ३०० वर्ष का इतिहास कुछ विशृंखलितसा है। इसके बाद उज्जैन जब मौर्य साम्राज्य में आई। बिन्दुसार के पुत्र सम्राट् अशोक के बाद यानी ई० पूर्व २७३ वर्ष से उज्जैन का इतिहास प्रायः उपलब्ध है। तत्पश्चात् इस नगरी पर गन्धर्वसेन, भर्तृहरि, विक्रमादित्य जैसे महान् पराक्रमी विद्वान् व उदार राजाओं ने राज्य किया। विक्रमादित्य का नाम संवत्-प्रवर्तक के नाते, गुणग्राही व कलाप्रेमी महापुरुष के नाते सदा अमर रहेगा। ईसवी सन् के ५७ वर्ष पूर्व प्रथम शताब्दी में विक्रमादित्य का शासन यहाँ प्रारम्भ हुआ। इसके बाद शकवंशीय शासक व तदनन्तर गुप्तवंशीय शासक रहे। तत्पश्चात् परमार-वंशीय प्रसिद्ध राजा भोजदेव यहाँ के शासक रहे। इसके बाद गुलामवंशीय शमसुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर आक्रमण किया। बाद में खिल्जी व तुगलकों ने आक्रमण किया व मुगलों का शासन रहा। जब मराठों के हमले इस मालव देश पर शुरू हुए तब इनके भीषण आक्रमणों से तंग आकर मालवा पेशवों के आधीन कर दिया गया और पेशवों ने

सन् १७३२ में उज्जैन सहित ६४।। लाख का इलाका राणोजी शिन्दे को दे दिया। तब से शिन्दे नरेश का शासन इस प्राचीन नगरी पर अव्याहत वर्तमान काल तक चला आ रहा है। कोई इतिहासकार शिन्देवंश का स्वामित्व उज्जैन पर तारीख ३१-१०-१७३१ ई० से होना मानते हैं।

उज्जैन को धार्मिक पावित्र्य व महत्त्व प्राप्त होने के विशेष कारण निम्नलिखित हैं :—

आकाशे ताडकं लिंगं पाताले हाटकेश्वरम्। मृत्युलोके महाकालं लिंगत्रयं नमाम्यहम्॥

अर्थात् आकाश में ताडकेश्वर, पाताल में हाटकेश्वर और मृत्युलोक के ज्योतिर्लिंग श्रीमहाकालेश्वर हैं, जो उज्जैन में विराजमान हैं। महाकालेश्वर प्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से एक हैं। इसी तरह मोक्ष देनेवाली सप्तपुरियों में से उज्जैन प्रमुख है। इसके बारे में लिखा है :—

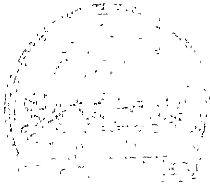
अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवंतिका। पुरीद्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायकाः॥

अन्य तीर्थों की अपेक्षा उज्जैन में विशेषता यह है कि निम्नलिखित श्लोक में वर्णित पाँच बातों का यहाँ योग है :—

स्मशानमूर्वरं क्षेत्रं पीठं तु वनमेव च। पंचैकत्र न लभ्यंते महाकालवनादृते॥

अर्थात् उज्जैन में (१) स्मशानं, यानी भगवान के रमण करने की जगह (२) उरवरं, यानी जहाँ मृत्यु होने पर मोक्ष मिलता है (३) क्षेत्रं, अर्थात् जहाँ सब पापों का विनाश होता है (४) जहाँ 'पीठ' है मतलब हरसिद्धिजी व अन्य मातृकाओं का स्थान है और (५) जहाँ महाकाल का निवास स्थान है; ऐसी पाँच महान् बातों का योग पृथ्वी के पृष्ठ पर सिवाय उज्जैन के और कहीं नहीं है। अतएव पुष्करराज आदि जितने तीर्थ इस पृथ्वी पर हैं वे सब तीर्थ महाकालवन अर्थात् अवन्तिकापुरी में विद्यमान हैं। इसी तरह कई लाख वर्ष काशीवास करने से जो फल मिलता है वह फल वैशाख मास में केवल पाँच दिन अवन्तिका में वास करने से मिलता है। विशेषतः पुण्यतोया क्षिप्रा नदी के तट पर यह नगर बसा होने से विशेष पवित्र माना जाता है। क्षिप्रा का ऐसा महात्म्य है कि इसके समान पावन करनेवाली कोई नदी नहीं और प्रेतों का उद्धार करनेवाला दूसरा स्थान नहीं। सिंह के गुरु और मेष के सूर्य होने पर बड़ा पर्वकाल होता है और उस समय उज्जैन में १२ वर्ष में एक बार सिंहस्थ का बड़ा मेला क्षिप्रा के तट पर लगता है, उस समय क्षिप्रा स्नान का विशेष महात्म्य वर्णित है। इसके बारे में एक ऐसी कथा है कि ब्रह्माजी के पुत्र सनत्कुमार व्यासजी से कहते हैं कि हे परंतप! सत्ययुग में विहार देश में दमन नाम का एक बड़ा पापी राजा था। एक दिन शिकार खेलते में थक गया और रात्रि का समय होने से वह घोड़ा बाँधकर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगा। उस समय सर्पदंश से वह मर गया। तब यमराज के दूत उस पापी को फाँसे से बाँधकर यमराज के पास ले गये और उसके प्रेत को रातभर जंगली जानवरों ने खाया। प्रातःकाल में यह घटना हुई कि एक कौए की चोंच से उसके माँस का टुकड़ा क्षिप्रा नदी में गिर पड़ा। उस पवित्र जल का स्पर्श होने मात्र से इस पापी राजा की मुक्ति हो गई और वह साक्षात् शंकररूप हो गया। किन्तु, यहाँ तक इसका महात्म्य है कि 'क्षिप्रा' यह केवल नाम उच्चारने से मुक्ति प्राप्त होती है, तो न जाने क्षिप्रा में स्नान करने का कैसा भारी फल होगा। इसी पवित्र क्षिप्रा नदी के तट पर उज्जैन बसा होने से उसे विशेष महात्म्य प्राप्त हुआ है। आगे इस नगर में जो अन्य दर्शनीय स्थान हैं उनका वर्णन किया गया है।

महाकालेश्वर—उज्जैनी के दर्शनीय स्थानों में महाकालेश्वर का स्थान सर्व प्रमुख है। भारतवर्ष में शिवजी के बारह लिंग हैं जो ज्योतिर्लिंग के नाम से प्रसिद्ध हैं। उन सबमें प्रधान स्थान महाकालेश्वर का है, क्योंकि ऊपर लिखे अनुसार आकाश पाताल व मृत्युलोक ऐसे तीनों लोकों में जो तीन मुख्य लिंग (अर्थात् तारकम्, हाटकेश्वरम् व महाकाल) हैं उनमें सर्वप्रमुख है। इस मन्दिर का वर्णन महाभारत, स्कन्दपुराण, वराहपुराण, नृसिंहपुराण, शिवपुराण, भागवत, शिवलीलामृत आदि ग्रंथों में तथा कथासरित्सागर, राजतरंगिणी, कादंबरी, मेघदूत, रघुवंश आदि काव्यों में अत्यन्त सुन्दर दिया हुआ है। अलबेरूनी व फरिश्ता नाम के इतिहासकारों ने भी इस देवालय का वर्णन किया है।



उज्जैन के दर्शनीय स्थान

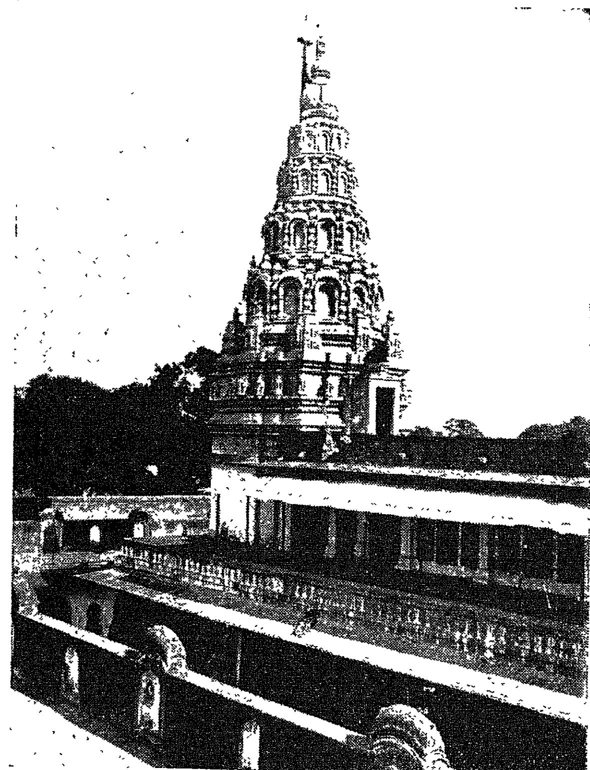
पुराणकारों के कथनानुसार प्राचीनकाल में महाकालवन में जब देव तथा ऋषि मुनियों ने तपस्या के लिए आकर यहाँ वास किया, तब से इस महाकाल वन को विशाल नगरी का रूप प्राप्त हुआ। उसी समय विश्वकर्मा ने श्रीमहाकालेश्वर के निवासार्थ एक भव्य मन्दिर निर्माण किया, चारों ओर एक परकोटा खिचवाया। उस समय मन्दिर के महाद्वार पर एक बड़ा भारी घंटा स्वर्णशृंखला से लटकता था, और मन्दिर में सर्वत्र रत्नखचित दीपस्तंभ थे जिनपर रत्नजड़ित दीप प्रकाशित होते थे। मालववंशीय विक्रमादित्य के विषय में जो आख्यायिका है उससे प्रतीत होता है कि इस राजा ने महाकालेश्वर का स्वर्णशिखर-सुशोभित बड़ा मन्दिर बनवाया और उसके लिए अनेक अलंकार तथा चामर, वितानादि कितने ही राजचिह्न समर्पित किए। इस भक्ति व सेवा के गौरवार्थ विक्रमादित्य की एक स्वर्ण-प्रतिमा इस मन्दिर के सभामण्डप में रखी गई थी। इसके बाद ई० स० की ग्यारहवीं शताब्दी में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार परमारवंश के भोज-राजा ने करवाया था। ई० स० १२६५ में दिल्ली के सुलतान शमसुद्दीन अल्तमश ने इस मन्दिर को तुड़वा डाला। महाकाल का लिंग कोटितीर्थ में फिकवा दिया और इसकी जगह मसजिद बनवा दी, किन्तु वह थोड़े समय बाद ही नष्ट हो गई। अल्तमश विक्रमादित्य की स्वर्णमूर्ति और मन्दिर की सब सम्पत्ति लूटकर ले गया।

इस घटना के पाँचसौ वर्ष जब पश्चात् उज्जैन पर कै० राणोजीराव शिन्दे का अधिकार हुआ उस समय उनके दीवान रामचन्द्रबाबा ने उसी स्थान पर महाकालेश्वर का मन्दिर फिर बनवाया जो आज भी स्थित है। मन्दिर के अन्दर श्री महाकालेश्वर के पश्चिम उत्तर और पूर्व की ओर क्रमशः गणेश, गिरिजा और षडानन की मूर्तियाँ स्थापित हैं। दक्षिण की ओर गर्भगृह के बाहर नन्दिकेश्वर विराजमान है। लिंग विशाल है और सुन्दर नागवेष्टित जलाधारी में विराजमान है। महाकाल के सम्मुख एक घृत का और दूसरा तेल का अखण्ड नन्दादीप जलता रहता है, और दिन में तीन बार पूजन होता है। प्रातःकाल में भस्मपूजा, मध्याह्न में महापूजा और प्रदोषकाल की प्रदोष पूजा कहते हैं। महाकालेश्वर के लिंग के ऊपर के मंजिल पर ओंकारेश्वर विराजमान हैं। उनके प्रवेश द्वार के नीचे एक छोटा झरोका है, जहाँ से ऊपर से ही यात्रियों को श्रीमहाकालेश्वर के दर्शन हो जाते हैं। जो स्त्रियाँ, बालकादि भीड़ के कारण अन्तर भाग में प्रवेश करने से असमर्थ होते हैं वे यहाँ से भी दर्शन कर सकते हैं। ओंकारेश्वर के भी ऊपर की मंजिल पर नागचन्द्रेश्वर का मन्दिर है, और इसके ऊपर शिखर में जाने के लिए जीना है। महाकालेश्वर के मन्दिर के दक्षिण दिशा में वृद्धकालेश्वर और सप्तऋषि के मन्दिर हैं। महाकालेश्वर के ऊपर जो ओंकारेश्वरजी का मन्दिर है उसके पटांगण में स्वप्नेश्वर, बदरीनारायणजी, नृसिंहजी, साक्षी गोपाल तथा अनादिकालेश्वर आदि के भी मन्दिर हैं।

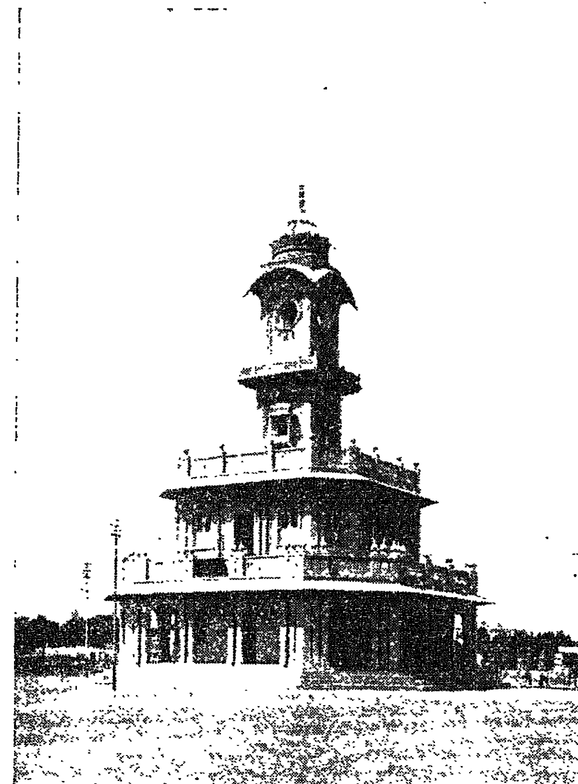
उज्जैन के राजा महाकाल माने जाते हैं इसलिए विजयादशमी के दिन सायंकाल को सीमोल्लंघन व शमीपूजन के प्रसंग पर जो सवारी निकलती है उसके अग्रभाग में श्रीमहाकालेश्वर की पालकी रहती है। वैकुण्ठ चतुर्दशी के दिन भी यहाँ एक मनोरंजक व अपूर्व समारंभ होता है। यह दिन हरि और हर की भेंट का है। श्रीमहाकालेश्वर की सवारी तुलसी-पत्र अर्पण करने श्रीगोपालकृष्ण के मन्दिर में जाती है, तथा श्रीगोपालकृष्ण बिल्व-पत्र अर्पण करने श्रीमहाकाल के मन्दिर में पधारते हैं। महाशिवरात्रि के रोज यहाँ बड़ा मेला भरता है। इस दिन यहाँ रात्रि को एक विशेष महापूजा होती है उसका प्रारंभ रात्रि के पूर्वार्ध से होकर दूसरे दिन के सूर्योदय तक चलती है। इसमें पंचामृत पूजा, धान्यपूजा और पुष्पपूजा बहुत प्रेक्षणीय होती है। शिन्दे, होल्कर व पवार इन तीनों राजाओं की तरफ से मिलाकर करीब ४,०००) रु० की रकम वार्षिक व्यय के लिए मिलती है जिससे पूजन अर्चन तथा अन्य व्यय का प्रबन्ध राज्य के निरीक्षण में होता है। श्रावण मास के चार सोमवारों पर महाकालेश्वर की सवारी बड़े सजधज व धूमधाम से निकलती है।

मन्दिर के नीचे सभामण्डप से लगा हुआ एक कुण्ड है जो "कोटितीर्थ" के नाम से प्रसिद्ध है, और यह पक्का बँधा हुआ है। इससे इस रम्य स्थल की शोभा और बढ़ गई है। महाकालेश्वर के सभा मण्डप में ही एक राम मन्दिर है। इन रामजी के पीछे अवन्तिकादेवी की प्रतिमा है जो इस अवन्तिका की अधिष्ठात्री देवी है।

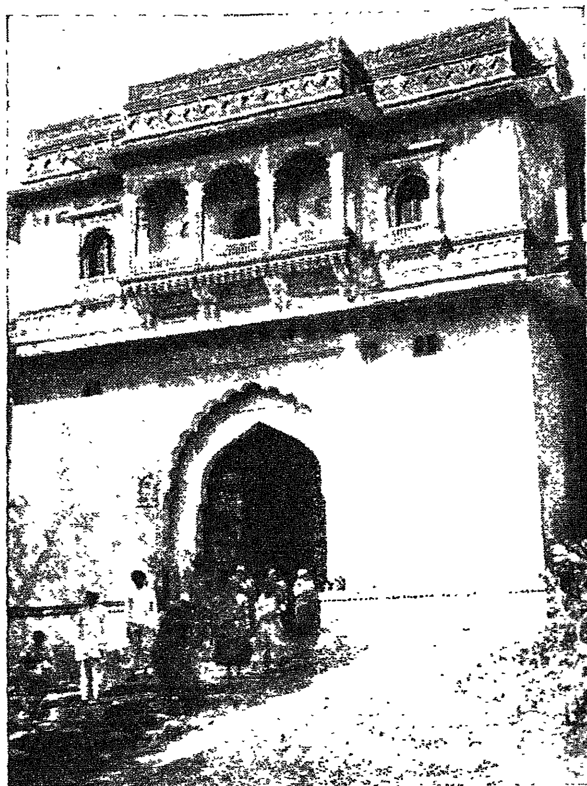
श्री चौबीसखंबी देवी—महाकालेश्वर से उज्जैन की ओर जाने के रास्ते पर एक विशाल द्वार का अवशेष दृष्टि-गोचर होता है इसे चौबीसखंबी दरवाजा कहते हैं। इसे विक्रमादित्य के प्रासाद का द्वार भी कहते हैं, किन्तु ऐसा प्रतीत



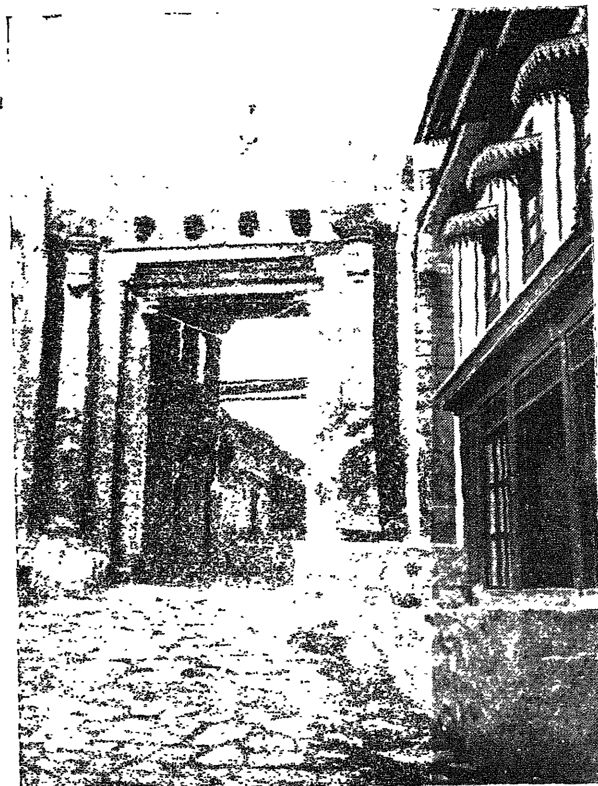
गोपाल-मन्दिर, उज्जैन।



क्लॉक टॉवर, उज्जैन।



भैंरवनाथ मन्दिर का प्रवेश-द्वार, उज्जैन।

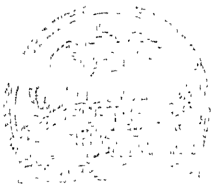


चौबीस-खंभा, उज्जैन।

होता है कि यह महाकालवन में प्रवेश करने का द्वार होगा। इसे भोज के प्रासाद का अवशेष होना भी मानते हैं। प्राचीनकाल में महाकालवन एक बड़े कोट से घिरा हुआ था। इस कोट के भग्नावशेष अभी भी कहीं कहीं कायम हैं। इस द्वार से लगा हुआ कोट का हिस्सा अब गिर चुका है, और अब केवल यह द्वार का अवशेष बाकी रह गया है। ऐसा अनुमान होता है कि इस द्वार के दोनों पार्श्वभागों में चौबीस खंबे लगे हैं और इसीलिए इसे चौबीस खंबी दरवाजा कहते हैं। भावुकजन इस दरवाजे को महामाया देवी मानते हैं, और नवरात्रि के अष्टमी को पूर्व परम्परानुसार प्राचीन जागीरदार, इस्तमुरारदार व उज्जैन के जमींदार होने के नाते, लेखक की ओर से पूजन आदि का प्रबन्ध किया जाता है। ऐसी आख्यायिका भी है कि प्राचीनकाल में प्रतिवर्ष यहाँ कुमारीकन्या का बलिदान हुआ करता था, और यह परम्परा नाथसम्प्रदाय में चली आती है। वर्तमान समय भी अष्टमी के पूजन के अवसर पर नाथसम्प्रदाय की कुमारी कन्या की करांगुली में सुई से किंचित् छिद्र करके, रक्त के बिन्दु का देवी पर सिंचन किया जाता है, जो एक प्राचीनकाल में होनेवाले मनुष्य बलिदान का प्रतीक है। अष्टमी के नगर पूजन का प्रारंभ इसी चौबीसखंबा देवी के स्थान से होकर, क्रमशः कालियादेह दरवाजा, चौंसठयोगिनी, फूलबाई, अंकपात, नगरकोट की रानी, ताजपूर दरवाजा, निजातपुरा, छत्रीपुरा दरवाजा, अहीरपुरा लालबाई दरवाजा, भूखीमाता, गनगौर दरवाजा, अगियावेताल से गढ़ की कालिका पर जाकर समाप्त होता है। इस प्रसंग पर विशेष बात यह होती है कि इस पूरी नगरपूजा के परिक्रमण में चौबीसखंबे से लगाकर, गढ़ की कालिका तक एक घट में छिद्र करके, उस घट में मदिरा भरकर मदिरा की अखण्ड धारा बहाई जाती है।

इस सम्बन्ध में एक ऐसी कथा है कि उज्जैन के राजसिंहासन पर विक्रमादित्य के सिवाय दूसरा राजा नहीं बैठ सकता था। एक समय जब राजा विक्रमादित्य पर्यटन को गये और सिंहासन रिक्त न रहे इस हेतु अन्य राजा को सिंहासन पर बिठाया, तब उसे देवी ने अपना भक्ष्य बना लिया। इसी प्रकार प्रतिदिन नया राजा सिंहासन पर बैठाया जाता था और देवी रोज उसका भक्षण कर लेती थी। जब यह वृत्तान्त राजा विक्रमादित्य को ज्ञात हुआ तब वह रूप परिवर्तन करके वहाँ आये और रोज की भाँति सर्व सम्मति से राजसिंहासन पर विराजमान हुए। उसी दिन राजप्रासाद से लगाकर कालिकादेवी के स्थान तक, हार, फूल, इत्र, गुलाब आदि सुवासिक द्रव्यों से सुसज्जित व सुशोभित करके उज्जयिनी को अमरावती तुल्य सजा दी। हर स्थान पर महिष व मदिरा आदि का प्रबन्ध देवी को प्रसन्न करने के लिए किया, और सन्ध्या समय विक्रमादित्य ने अपनी मोम की प्रतिमा बनाकर उसे वस्त्र आभूषणादि से अलंकृत करके, अपने मंच पर बैठा दी और स्वयं मंच के नीचे छिपे रहे। प्रबन्ध से प्रसन्न होकर जब देवी आई तो सिंहासन पर राजा की मोहक मूर्ति देखकर मोहित होकर वर माँगने के लिए आदेश दिया। राजा विक्रमादित्य तुरन्त ही प्रकट होकर देवी के चरणों में गिर पड़े, और राजाओं का भक्षण बन्द करने का वर माँगा और व देवी को हर अष्टमी को पूजन तथा बलिदान चढ़ाने की प्रतिज्ञा की। देवी ने प्रसन्न होकर यह वरदान दिया। तब से ही प्रतिवर्ष नवरात्रि के अष्टमी के दिन यहाँ पूजन चढ़ता है।

हरसिद्धि देवी—ऐसी आख्यायिका है कि इस उज्जयिनी नगर के संरक्षण के लिए चौंसठ देवियों का अखण्ड पहरा रहता है, जिनको चौंसठ योगिनी कहते हैं। उनमें एक हरसिद्धि देवी है। यहाँ के अति प्राचीन स्थान में श्रीहरसिद्धि देवी का स्थान विशेषतापूर्ण है। अवन्तिका के प्रसिद्ध सप्तसागर रुद्रसागर के पश्चिम तट पर रेलवे स्टेशन से लगभग एक मील के अन्तर पर महाकालवन में स्थित यह मन्दिर है। यह मन्दिर चारों ओर से ऊँची व मजबूत दीवारों से घिरा हुआ है, और चारों दिशाओं में अन्दर आने को चार दरवाजे हैं। शिवपुराण के अनुसार इस मन्दिर में हरसिद्धि देवी की प्रतिमा नहीं है। मन्दिर के गर्भ-गृह में सिंहासन पर एक शिलोत्कीर्ण श्रीयंत्र प्रस्थापित है। वही हरसिद्धि देवी कहलाती है। यहाँ पर जो मुखवटा बना है वह बाद में बनाया गया है, ऐसा कहते हैं। उसके पीछे जो मूर्ति खड़ी है वह अन्नपूर्णा की है। अन्नपूर्णा के आसन के नीचे सात मूर्तियाँ दिखाई देती हैं, इसमें मध्य में स्थित मूर्ति कालिका की, और दोनों ओर की दो मूर्तियाँ महालक्ष्मी और महासरस्वती की व अखीर में दोनों तरफ की एक एक मूर्ति गणपति की होना कहा जाता है। **यस्मात् स्थानम् हि मातृणां पीठं, तेनैव कथ्यते।** अब भी संकल्प मे "महाकाल वने हरसिद्धि पीठे" ऐसा उच्चारण करते हैं।



इसका महात्म्य-वर्णन निम्नलिखित प्रकार से किया जाता है :—

हरसिद्धि महादेवीं नित्यं व्योमस्वरूपिणीम्। हरसिद्धि प्रपश्येद्यः सोऽभीष्टं लभते फलम् ।।

अर्थात् जगन्माता ब्रह्मांडरूपिणी श्रीहरसिद्धिजी के जो दर्शन करता है, उसकी मनोकामना पूरी होती है।

मन्दिर के पूर्व की ओर के दरवाजे पर एक सुन्दर काँच का बंगला है व उसके निकट एक बड़ा वट वृक्ष व एकगुफा है। दक्षिण की तरफ महाकालेश्वर की तरफ जाने का रास्ता है। पश्चिम की तरफ अगस्तेश्वर व क्षिप्रा की ओर जाने का मार्ग है। उत्तर की ओर का द्वार इसका मुख्य द्वार है। मन्दिर के आवार में एक हनुमानजी का और एक तरफ करकटेश्वर का भी मन्दिर है, और एक धर्मशाला भी है। उज्जयिनी के महात्म्य में इस स्थान का परिचय निम्न प्रकार से दिया है।

प्राचीनकाल में चण्ड एवं प्रचण्ड नामक दो राक्षस थे। उन्होंने मदोन्मत्त हो देव-स्त्रियों का हरण किया और समस्त संसार को त्रस्त कर दिया। एक बार जब यह दोनों कैलाश पर गए तब शिव व पार्वती द्यूतक्रीड़ा में निमग्न थे। द्वार पर ही उन्हें नन्दीगणों ने अन्दर जाने से रोका, इस कारण नन्दीगण को उन्होंने शस्त्रास्त्रों से घायल कर दिया। शिवजी ने जब यह घटना देखी तब चण्डी का स्मरण किया और उसे राक्षसों के वध की आज्ञा दी। आज्ञानुसार देवी ने राक्षसों का वध कर दिया तब शंकरजी ने प्रसन्नता से कहा—

हे चण्डी तुमने इन दुष्टों का वध किया अतः तुम अब लोक में हरसिद्धि नाम से प्रसिद्ध रहोगी। तभी से इस महाकालवन में हरसिद्धि विराजमान हैं।

ऐसा भी कहा जाता है कि राक्षस जब कैलाश के अन्दर शिवजी के पास गये तब उन्होंने गणों को यह आज्ञा दी थी कि वे बाहर ही ठहरें, किन्तु उन्होंने नन्दी को भाले से घायल कर उसे रक्ताच्छादित कर दिया। यह वृत्तान्त पार्वती को मालुम होते ही उन्होंने राक्षसों के पारिपत्य की सूचना दी। इससे राक्षस ने क्रोधायमान हो पार्वती को उठा लिया और गणों को संकेत करके अन्दर बुला लिया। इस कारण शंकर को उस समय पार्वती की (यानी सिद्धि की) प्राप्ति न हो सकी। अतएव उस समय शंकर को वैकुण्ठ जाना पड़ा, और वहाँ पहुँचने पर सब वृत्तान्त विष्णु को सुनाने पर, उन्होंने देवी का रूप धारण करके राक्षसों को मारकर, पार्वती को मुक्त करके पुनः शंकर के आधीन की। इस प्रकार से हर को सिद्धि (यानी पार्वती) प्राप्त होने से इस देवी का नाम हरसिद्धि पड़ा। राक्षसों से भयभीत हुई पार्वती अभी भी पीछे छिपी हुई है। यही भाव इस हरसिद्धि देवी मन्दिर से दर्शित होता है, क्योंकि इसमें हरसिद्धि देवी की मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं है। इस मन्दिर के पूर्व दिशा के द्वार पर जो सुन्दर बंगला है उसके निकट दक्षिण पूर्व के कोण में एक बावड़ी बनी हुई है जिसके अन्दर एक स्तंभ है, उसपर संवत १४४७ माघ बदी १ खुदा हुआ है। जैसा ऊपर लिखा है मन्दिर के अन्दर देवीजी की मूर्ति नहीं है केवल श्रीयंत्र बना हुआ स्थान है। और इसी स्थान के पीछे भगवती अन्नपूर्णा की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है।

कहा जाता है कि देवीजी सम्राट् विक्रमादित्य की आराध्य रही हैं। और इसी स्थान पर विक्रमादित्य ने अनेक वर्ष पर्यन्त तप किया है। मन्दिर के पीछे एक कोने में कुछ सिर सिन्दूर चढ़े हुए रखे हैं। ये विक्रमादित्य के सिर हैं, ऐसी दन्तकथा प्रचलित है। कहा जाता है कि देवी को प्रसन्न करने के हेतु विक्रमादित्य ने अनेक वर्षों तक घोर तपश्चर्या की और ग्यारह बार अपने हाथों से काटकर अपने मस्तक को देवी के चरणों में अर्पण करके आत्म बलिदान किया था। किन्तु बार बार फिर देवी नया मस्तक निर्माण कर देती थी। किन्तु बारहवीं बार जब मस्तक अर्पण किया इसके पश्चात् फिर मस्तक निर्माण नहीं हुआ, और यहीं विक्रमादित्य का शासनकाल सम्पूर्ण हुआ। इस विधि से मस्तक अर्पण करके सम्राट् विक्रमादित्य बारह वर्ष में एक बार पूजा करते थे। इस प्रकार हिसाब लगाने से विक्रमादित्य का शासनकाल १४४ वर्ष का होना माना जा सकता है।

किन्तु वैसे भी विक्रमादित्य का शासनकाल १३५ वर्ष का माना जाता है। सम्राट् विक्रमादित्य की यह आत्म-बलिदान की रोमांचकारी कथा सुनकर एक विद्यार्थी के अन्तःकरण पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि उसने भी अपना शीश अपने

हाथों से काटकर देवीजी को चढ़ाया, और इस तरह आत्मबलिदान किया। यह देवी वैष्णवी है, अतएव पूजा में अब बलिदान नहीं किया जाता है। यहाँ का पुजारी गुसाँई है। ओरछा स्टेट के गॅझेटियर (पत्रांक ८२–८३) में लिखा है:––

"यशवन्तराव होलकर ने सत्रहवीं शताब्दी में ओरछा राज्य पर हमला कर उसे जीतना चाहा। वहाँ के लोक देवी (हरसिद्धी) के मन्दिर में अरिष्ट निवारणार्थ प्रार्थना कर रहे थे। औचित वीरसिंह और उसका लड़का हरदौल, सवारों की एक टुकड़ी लेकर वहाँ पहुँचा। मराठों की सेना पर चढ़ाई कर दी। मराठे वहाँ से भागे। उन्होंने यह समझा कि इनके विजय का कारण यह देवी ही है। तो फिर वापिस लौटकर वहाँ से उस मूर्ति को उठा लाये। वही मूर्ति उज्जैन के क्षिप्रा तट पर हरसिद्धीजी हैं।" किन्तु जब पुराणों में भी हरसिद्धी का वर्णन उपलब्ध है तो इस अठाहरवीं शताब्दी की इस घटना से इस मन्दिर का सम्बन्ध होना प्रतीत नहीं होता।

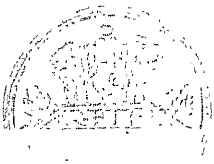
मन्दिर के सामने खड़े हुए दो भव्य दीपस्तम्भ हैं। प्रतिवर्ष नवरात्रि के दिनों में उनपर पाँच दिन तक दीपमालिकाएँ लगाई जाती हैं। इन स्तंभों पर लगभग ७२६ दीप लगते हैं। उस समय यहाँ सरकारी बैण्ड व नक्कारखाने का प्रबन्ध रहता है। सहस्रावधि यात्रियों का समुदाय एकत्रित होता है। जब निकटवर्ती रुद्रसागर के विस्तीर्ण जलपृष्ठ पर कमल-पुष्प खिले होते हैं उस समय का दृष्य बड़ा ही मनोहारी होता है। इसी तरह रात्रि के समय जब दीपस्तम्भ जगमगाने लगते हैं और उनका प्रतिबिम्ब दूर दूर तक प्रशान्त जलपृष्ठ पर अंकित होता है, उस समय की इस पवित्र स्थल की शोभा अवर्णनीय होती है। वर्तमान समय में इस रुद्रसागर का जल निकाल देने के कारण यह नैसर्गिक शोभा नष्ट हो गई है।

रुद्रसागर का मध्यवर्ती टापू––हरसिद्धि देवी के मन्दिर के व महाकालेश्वर के मन्दिर के बीच में, रुद्रसागर के मध्य में एक टापू के स्वरूप में एक छोटा टीला है। इसपर विक्रमादित्य का सिंहासन था, ऐसी दन्तकथा है। कुछ मास पूर्व इसका उत्खनन किया जाने पर, इस टीले के शिखर पर एक मुगल पद्धति का बना हुआ कारंजा (पानी का फव्वारा) निकला है। इसके तले में पानी आने का जो छिद्र है, उसकी ऊँचाई रुद्रसागर के जलपृष्ठ के सतह से ज्यादा होने से यह अनुमान होता है कि इसके फव्वारे के लिए जल रुद्रसागर के बाहर किसी उच्च स्थान से लाने का प्रबन्ध होगा। पानी निकालने के हेतु मृत्तिका के बने हुए नलों के अवशेष कहीं कहीं आज भी दृष्टिगोचर होते हैं। पुरातत्त्व-विभाग के दृष्टिकोण से इस स्थान का विशेष महत्त्व है।

गोपाल-मन्दिर––यह मन्दिर उज्जयिनी नगर के बीच बाजार के बड़े चौक के सामने है और इसको महाराजा दौलतराव शिन्दे की महारानी बायजाबाई शिन्दे ने बनवाकर उसमें श्रीगोपालकृष्ण की मूर्ति स्थापित की थी। मन्दिर का गर्भगृह और उसपर का शिखर संगमरमर का है। उसका द्वार तथा उसके अन्दर के द्वार चाँदी के पत्रों से मढ़े हुए हैं। बाहर के किवाड़ चाँदी के चौखट में जड़े हुए हैं। मन्द्रिर में रत्नजड़ित एक द्वार है। इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि ये किवाड़ गजनी की लूट में शिन्दे सरकार लाए थे।

सिंहासन पर श्रीगोपालकृष्ण की श्यामवर्ण मूर्ति और उनके दाहिनी तथा बाईं ओर क्रमशः शंकर और राधिकाजी की गौरवर्ण मूर्तियाँ हैं। राधिकाजी के पास गरुड़जी की मूर्ति और शिवजी के पास बायजाबाई साहिबा की प्रतिमा स्थित है। यहाँ की व्यवस्था के लिए ग्वालियर राज्य की ओर से ४,०००) रु० की वार्षिक नेमणूक मिलती है। श्रीगोपालकृष्ण की चिबुक में हीरा जमाने की जगह रखी है। यहाँ पर्व उत्सवादि प्रसंग पर एक दैदीप्यमान हीरा जमा दिया जाता है। मूर्ति यहाँ की ऐसी ऊँचाई पर विराजमान है कि चौक से आनेवाले पथिकों को श्रीगोपालकृष्ण के दर्शन सड़क पर से ही हो जाते हैं।

अंकपात––यह वह पुण्य स्थान है जहाँ सांदीपनी ऋषी का आश्रम था, जिसमें श्रीकृष्ण भगवान उनके बन्धु बलराम और सुदामाजी ने विद्योपार्जन कर चौदह विद्याओं, तथा चौंसठ कलाओं का ज्ञान सम्पादन किया था। यहीं भगवान श्रीकृष्ण छात्रावस्था में गुरुगृह की पाकशाला के लिए लकड़ी सिर पर रखकर लाते थे, और इस तरह



गुरुभक्ति व सेवा का अत्यन्त उच्च आदर्श संसार के सन्मुख उपस्थित किया था। भागवत् में इसके सम्बन्ध में लिखा है :—

काश्यं सांदीपनिं नामाध्यवंतीपुरवासिनम्

यहाँ एक पत्थर पर १०० तक अंक खुदे हुए हैं जो साँदीपनी ऋषी ने अपने हाथ से लिखे थे ऐसा कहा जाता है। इसी कारण इस स्थान का नाम अंकपात रखा गया होगा ऐसा प्रतीत होता है। अर्थात् जहाँ अंकपात यानी अंक का प्रारम्भ प्रारम्भ हुआ था। यह भी कहा जाता है कि जहाँ अभ्यास करने के पश्चात् पट्टियाँ धोई जाती थीं उस स्थान को भी अंकपात (यानी अंकों का पतन) नाम से सम्बोधन किया जाने लगा, किन्तु इन कारणों में से विशिष्ट किस कारणवश इस स्थान का नाम अंकपात पड़ा यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

कालियादेह महल—यह महल उज्जैन के रेलवे स्टेशन से लगभग छह मील के अन्तर पर उत्तर दिशा में स्थित है। क्षिप्रा नदी व उसकी एक शाखा (जो आगे थोड़े अन्तर पर फिर क्षिप्रा नदी में मिल गई है) के बीच में एक द्वीप जैसी जगह पर यह महल बना हुआ है। अवन्ती-महात्म्य के अनुसार यहाँ ब्रह्मकुण्ड, सूर्यकुण्ड और सूर्यनारायण का मन्दिर था। पूर्व में यहाँ जो सूर्यनारायण का मन्दिर था उसको तुड़वाकर ई० स० की सोलहवीं शताब्दी में मालवे के सुलतान नासिरुद्दीन खिलजी ने उसके स्थान पर पठानी ढंग का यह विलास-मन्दिर बनवाया था। इसीको आज 'कालियादेह' नाम से सब जानते हैं। इस महल के दक्षिण दिशा में क्षिप्रा नदी की गहराई अथाह होने से इस स्थान को कालियाडोह (जिसका अपभ्रंश कालियादेह) नाम पड़ना जान पड़ता है। 'कालियादेह' नाम का एक ग्राम भी निकटवर्ती क्षिप्रा तट पर बसा हुआ है।

एक ऐसी भी दन्तकथा है कि नासिरुद्दीन ने पारे का भक्षण किया था और अधिक शारीरिक ऊष्णता के कारण वह जलविहार करना पसन्द करता था और इसी उद्देश्य से उसने यहाँ कई कुण्ड और जलक्रीड़ा के स्थान निर्माण किये। नदी का पानी इस महल के सामने से अनेक सुन्दर व चमत्कृतिपूर्ण आकृतियों में कुण्डों में से घुमाकर फिर क्षिप्रा की धार में मिला दिया है, जिससे इस स्थान की शोभा अवर्णनीय हो गई है। कहा जाता है कि नासिरुद्दीन का देहावसान भी इन्हीं कुण्डों में बेहोश पड़े रहने की अवस्था में डूबकर हो गया था। कुण्ड एवं महल के अतिरिक्त नासिरुद्दीन ने यहाँ एक कृत्रिम जलप्रपात निर्माण किया है और इसके उत्तर तथा दक्षिण दिशा में दो पुल भी बँधवा दिये थे। इस प्रवाह के पश्चिम तट पर एक आधा या पौन मील लम्बा चौड़ा विस्तीर्ण घेरा था, जिसमें हिरन खुले रखे जाते थे तथा जो 'आहूखाना' कहलाता था। कुण्डों के पश्चिम दिशा में मुगल शैली का बना हुआ लम्बा दालान है। उसके एक खम्बे पर फारसी भाषा में दो लेख खुदे हुए हैं उससे ज्ञात होता है कि हिजरी सन् १००८ में व १००९ में अकबर बादशाह यहाँ आया था व उसकी आज्ञा से यह दालान बनवाया गया था। इसी तरह के दूसरे फारसी भाषा के लेख में लिखा है कि "ये दो विलास-मन्दिर बादशाह जहाँगीर की आज्ञा से तैयार हुए हैं" जहाँगीर बादशाह के स्वलिखित "तुजुक जहाँगीरी" नामक ग्रंथ में लिखा है कि वह (माघ सुदी १५, १२७३ को) नाव में बैठकर कालियादेह से जदरूप नामक विद्वान तपस्वी सन्यासी से मिलने उज्जैन की ओर गया था। इसके पश्चात् दो-ढाईसौ वर्ष तक यह महल बे संभाल के पड़ा रहने से इसकी अवस्था छिन्न-विछिन्न व जीर्ण हो गई। यहाँ तक कि पिण्डारों के जोरशोर के काल में यहाँ पिण्डारों का अड्डा कायम हो गया था, व मध्यवर्ती सभागृह पाकशाला के उपयोग में लाया जाता था।

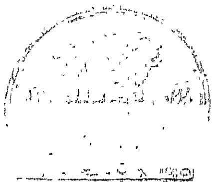
इसके बाद कै० माधवराव महाराज ने राज्यसूत्र हाथ में लेते ही इस महल की ओर ध्यान दिया तब उन्होंने इस महल का पूर्ण रूप से सर्वांगीण जीर्णोद्धार करवाकर इसको आधुनिक सजावट की सामग्री से सुसज्जित किया व विद्युद्दीप, ध्वनिवाहक तार आदि यंत्र लगवाये। महल के चारों तरफ सुन्दर पुष्प-बाटिका लगवाकर इस स्थान को प्रेक्षणीय बनवाया। सुविधा की दृष्टि से कई नए भवन, रनवास, तलघर में अंग्रेजी पद्धति की पाकशाला, जनवास आदि निर्माण कराए। आगर सड़क पर से एक पक्की सड़क भी इस महल तक बनवाकर उस पर पुल बँधवा दिया।

श्री ठाकुर उत्तमसिंह

भर्तृहरि की गुफा—यह गुफा उज्जैन के उत्तर में क्षिप्रा के किनारे पर लगभग एक मील पर है। यह स्थान बड़ा शान्त और रम्य है। भर्तृहरि सम्राट् विक्रम के ज्येष्ठ भ्राता थे। इनके नामाभिधान के सम्बन्ध में कथा है कि एक मुनि गंधर्व कन्या पर आसक्त हुए और एक मटके में (भर्तरा में) रेतस्खलन के कारण इनका जन्म हुआ। राजा को यह बालक मिलने पर उन्होंने इनका लालन-पालन किया। सारांश एक 'भर्तरा' में इनका जन्म होने से इनका नाम भर्तृहरि रखा गया। यह संस्कृत साहित्य के महान् पंडित थे। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ 'शृंगार-शतक', 'नीति-शतक', और 'वैराग्यशतक' सर्वश्रुत व सर्वमान्य हैं। यह व्याकरण शास्त्र जैसे क्लिष्ट विषय में पूर्ण पारंगत थे। लक्ष्मी और सरस्वती का एक स्थान पर निवास होना यद्यपि सम्भव नहीं है, किन्तु भर्तृहरि एक अपवाद थे और इनके जीवन में लक्ष्मी और सरस्वती दोनों का ही सुन्दर समागम हुआ था। गुरू गोरखनाथ के उपदेश से विरक्त होकर भर्तृहरि इसी गुफा के स्थान पर तपश्चर्या करने के लिए बैठ गए और यही उनका समाधि स्थान है। भर्तृहरि के जीवन में वैराग्य उत्पन्न होने के विषय में बड़ी ही रोचक व बोधप्रद कथाएँ प्रचलित हैं। यह कहा जाता है कि उनकी रानियों में पिंगला नामक रानी से उनका विशेष अनुराग था। एक प्रसंग पर पिंगला के अनुराग तथा सतीत्व की परीक्षा करने के हेतु, भर्तृहरि ने मृगया के कारण वन में जाने पर, वहाँ से व्याघ्र के रक्त में कपड़े भिगाकर, परिचारकों द्वारा रानी के पास भिजवाकर कहलवाया कि मृगया में राजा भर्तृहरि का देहावसान हो गया। यह दुःखप्रद समाचार प्राप्त होते ही रानी पिंगला उन रक्तसिंचित वस्त्रों सहित सती हो गई। यह दुर्घटना जब भर्तृहरि को ज्ञात हुई तब पिंगला के वियोग से भर्तृहरि अति दुःख-विह्वल हुए। उस समय उनको उपदेश देने के हेतु मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरक्षनाथ एक मृत्तिका का घट लेकर उपस्थित हुए, और उन्होंने घट भूमि पर गिराकर फोड़ डाला और रोने लगे। भर्तृहरि ने हँसकर उनसे कहा कि "अरे मूर्ख तू मृत्तिका के यःकश्चित् घट के लिए क्यों रो रहा है। इसके सदृश तो सहस्त्रों घट मैं ला दूंगा, किन्तु मेरी पिंगला के समान स्त्री मिलना असम्भव है।" इस पर गोरखनाथजी बोले "तेरी पिंगला के समान सहस्त्रों पिंगला लाकर खड़ी कर देता हूँ। तू मेरा घट ला दे तब जानू!" यह कहकर वास्तव में उन्होंने सहस्रावधी पिंगला की प्रतिमा भर्तृहरि के सम्मुख उपस्थित कर दीं। यह देखकर एक प्रतिमा को अवास्तव महत्त्व देकर उसके लिए शोक करना व्यर्थ है, यह यथार्थ तत्त्वबोध प्राप्तकर भर्तृहरि को उपरति हुई, व वैराग्य उत्पन्न हुआ, और उन्होंने नाथ-सम्प्रदाय स्वीकार कर वैराग्य की दीक्षा ली। वैराग्य के सम्बन्ध में जो एक दूसरी कथा प्रचलित है, वह इससे कुछ विपरीत है। यह कहा जाता है कि एक समय एक तपस्वी ने घोर तपश्चर्या कर के एक अमृतफल प्राप्त किया और वह उसने भक्ति से राजा को अर्पण किया। राजा ने प्रेम के कारण वह अपनी रानी को दिया। रानी ने वह फल मंत्री को दे दिया। मंत्री ने अपनी प्रिय एक अन्य स्त्री को वह फल अर्पण किया, किन्तु इस स्त्री का प्रेम मंत्री पर न होकर राजा भर्तृहरि पर था। उसने फिर वही फल राजा को समर्पण किया। उस फल को वापिस पाकर राजा भर्तृहरि को अत्यन्त विषाद व खेद हुआ, व उनके हृदय में वैराग्य की भावना उत्पन्न हुई। भर्तृहरि ने अपने मन का क्षोभ निम्नलिखित श्लोक में व्यक्त किया है:—

यां चिंतयामि सततं मयि सा विरक्ता। साप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या। धिक्तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥

यह गुफा सं० १९८५ में बनवाई गई होगी ऐसा अनुमान है। यहाँ जो शिल्पकला के नमूने हस्तगत हुए हैं उनके देखने से यह भी अनुमान होता है कि मूल में यह जैनों का विहार अथवा दक्षिण देश के शैव सम्प्रदाईयों का शिवालय होगा। और बाद में उसपर नाथ-सम्प्रदाईयों ने अधिकार जमा लिया और उसे "भर्तृहरि की गुफा" के नाम से प्रसिद्ध कर दिया। इस गुफा में जाने का दरवाजा दक्षिण में है। इस दरवाजे से प्रवेश करने पर पहिले बाएँ हाथ को गोरखनाथजी की समाधि आती है। वहाँ से भी अन्दर जाने पर छोटे छोटे दक्षिणाभिमुख दो दरवाजे हैं उसमें से पहिला पातालेश्वर को जाता है जोकि गुफा के समान एक बड़ी खोह जैसा है। इसके पश्चिम में एक दरवाजा है और यहीं से गुफा का रास्ता है। यहाँ सीढ़ियाँ उतरने पर बड़ा चौक मिलता है जिसके पूर्व में भर्तृहरि की समाधि है। इस जगह एक पत्थर का टूटा हुआ पाट लटका हुआ है, इसके सम्बन्ध में यह आख्यायिका है कि इसको भर्तृहरि ने अपने हाथ से टेका दे रखा है। दक्षिण को गोपीचन्द की मूर्ति



है, पश्चिम की तरफ एक बन्द रास्ता है इसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह काशी जाने का रास्ता है। इसी तरह काशी के निकट चुनारगढ़ नामक पहाड़ी स्थान में टीले पर भी एक गुफा है। यह भी भर्तृहरि का स्थान बतलाया जाता है, और इस गुफा के अन्दर एक मार्ग है जो उज्जैन आने के लिए है ऐसा कहा जाता है।

सिद्धवट—भैरवगढ़ के पूर्व में क्षिप्रा के मनोहर तट पर सिद्धवट का स्थान है। जिस प्रकार प्रयाग में अक्षय वट, नाशिक में पंचवट, वृन्दावन में वंशीवट तथा गया में गयावट है उसी प्रकार उज्जैन में यह पवित्र सिद्धवट है। वर्तमान वट १००, या १२५ वर्ष से अधिक का प्रतीत नहीं होता। यह कर्मकाण्ड के लिए प्रमुख स्थान माना जाता है। कहा जाता है कि इस वट वृक्ष पर भी मुगल बादशाहों ने इसके धार्मिक महत्त्व के कारण कुठार चलाया था, और इस वृक्ष को नष्ट कर उसपर लोहे के बहुत मोटे पत्रे (तवे) जड़वा दिए थे, किन्तु, उसपर भी अंकुर फूट निकले और आज भी यह वृक्ष हराभरा है। इस वट के नीचे महादेव का लिंग व गणपति की मूर्ति हैं और फर्श पर सफेद व काले पत्थर लगे हुए हैं। इसके निकट जो क्षिप्रा की धारा है वह "पापमोचन तीर्थ" कहलाती है। नाग-नारायण-बलि इसी तीर्थ पर हुआ करती हैं। श्रद्धालुओं का यह भी विश्वास है कि इस तीर्थ पर स्नान करने से भूतबाधा नहीं होती। यहाँ वैशाख शुक्ल चतुर्दशी तथा वैकुण्ठ चतुर्दशी को मेला भी लगता है। इस पापमोचन तीर्थ के सम्बन्ध में ऐसी भी कथा कही जाती है कि सिद्धवट के स्थान से कार्तिक स्वामी ने ताड़कासुर पर शक्तिबाण चलाया था, जो क्षिप्राजी के प्रवाह में लय हो गया। इस बाण के आघात से यहाँ के प्रवाह की गहराई अथाह हो गई।

श्री महाकाली—यह श्री महाकाली का मन्दिर उज्जैन शहर के बाहर एक मील की दूरी पर 'गढ़' पर बना हुआ है। इस मन्दिर को किसने व कब बनवाया था इसका निर्णय अब तक ठीक तरह नहीं लग पाया है। तथापि इस मन्दिर के कुछ अंश का जीर्णोद्धार ई० स० ६०६ व ६४८ के बीच में सम्राट् श्री हर्ष ने करवाया था। लिंगपुराण में इसकी उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि रावण के बध के पश्चात् जब श्री रामचन्द्रजी अयोध्या पधार रहे थे, तब किंचित् विश्रांति के लिए श्रीरामचन्द्रजी ने अवन्तिका में निवास किया था तथा हरसिद्धि देवी के पश्चिम में रुद्रसागर के तट पर उन्होंने मुकाम किया। इस रात्रि को भगवती कालिका भक्ष्य के शोध में भ्रमण करती हुई इस स्थान पर आ पहुँची, और उसने हनुमान को पकड़ने की चेष्टा की। परन्तु हनुमानजी के अत्यंत भीषण रूप धारण करने से, देवी भयभीत होकर जब भागी तब उनके काया का एक अंश गलित होकर गिर गया और वह जिस स्थान पर गिरा वही स्थान कालिका के नाम से विख्यात है। शक्ति-संगम-तंत्र में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है :—

अवंती संज्ञके देश कालिका तत्र तिष्ठति॥

कहा जाता है कि महाकवि कालिदास की यह आराध्य देवी थी, और उनके उग्र तप से देवी ने प्रसन्न होकर उन्हें प्रत्यक्ष दर्शन दिया, और देवी के प्रसाद से ही कालिदास को विद्वत्ता एवं कवित्व की प्रतिभा प्राप्त हुई।

इस समय मन्दिर में देवी की उग्र व भव्य मूर्ति विद्यमान है। किन्तु वयोवृद्ध जनों का कहना है कि वास्तव में मूर्ति की स्थापना बाद में हुई है। केवल यह स्थल ही माननीय व पूजनीय है। मन्दिर के अन्दर जाने पर छह हाथ चौड़े व पैंतीस हाथ लम्बे दो दालान दोनों तरफ आते हैं। प्रवेशद्वार के आगे ही पाँच हाथ की दूरी पर एक देवी के वाहन सिंह की प्रतिमा बनी हुई है। मन्दिर के सामने एक विशाल गहरी बावड़ी बनी हुई है, और समीप ही बलिदान का स्थान बना हुआ है। देवी की मूर्ति के समीप ही चामुण्डा देवी की मूर्ति और ग्यारह रुद्र में के नवें गिरीश की मूर्ति विराजमान है। इस मन्दिर के पीछे "स्थिर विनायका" का मन्दिर है जिसे श्रीमान् सरदार किबे (इन्दौर निवासी) ने बनवाया है। यहाँ चौरासी लिंग में के पचपनवे "सिंहेश्वर महादेव" हैं। इस स्थान पर इमली के वृक्षों का एक घना वन होने से यह स्थान बड़ा रमणीय मालूम होता है। शारदीय नवरात्रि में नौ दिनतक यहाँ महोत्सव होता है, और अष्टमी के दिन हवन और बलिदान किया जाता है। ऐसी किंवदन्ती है कि किसी पुरातन काल में यहाँ कुमारियों का बलिदान होता था।

कालभैरव––पुराणों के अष्टभैरवों में यह कालभैरव प्रमुख हैं। यहाँ पूजन की सरकार की तरफ से व्यवस्था है। यह मन्दिर भैरवगढ़ नाम से प्रसिद्ध पुरातन उज्जयिनी में स्थित है। यह भैरवगढ़ नामक उपनगर वर्तमान उज्जयिनी से तीन मील के अन्तर पर क्षिप्रा नदी के तट पर बसा हुआ है। यहाँ अधिकतर छीपे लोग रहते हैं। इस स्थान के प्रमुख देव 'भैरव' हैं। पश्चिमोत्तर दिशा की ओर अधिकांश भाग नगर के कोट से घिरा हुआ है। क्षिप्रा के उत्तर तट पर कालभैरव का विशाल मन्दिर बना हुआ है। भव्य व ऊँचे प्रवेशद्वार पर सरकारी नक्कारखाना बजता है। द्वार से अन्दर प्रवेश करने पर दीपस्तंभ खड़ा हुआ दिखाई देता है। कालभैरव की मूर्ति अत्यंत भव्य तथा प्रभावशाली है। मूर्ति के मुख में कोई छिद्र नहीं है फिर भी मूर्ति को मद्यपान कराते समय जब मद्यपात्र मूर्ति के मुख से लगाया जाता है तब पात्र आपही आप खाली हो जाता है, ऐसा कहा जाता है। यह मन्दिर राजा भद्रसेन का बनाया हुआ है, ऐसा कहते हैं। यहाँ भैरवअष्टमी को यात्रा लगती है और भैरवजी की सवारी निकलती है। मन्दिर की बाईं ओर से बाहर निकलने पर किले की ओर जाने का मार्ग है। यह किला लगभग ३०० हाथ लम्बा और ३० हाथ ऊँचा है। इसी जगह सम्राट् अशोक ने उज्जैन का कारागृह बनवाया था। वर्तमान समय में भी ग्वालियर राज्य के मालवा प्रान्त का कारागृह (जेलखाना) यहीं बना हुआ है, जिसमें कैदियों के हाथ से कती बुनी दरी व अन्य वस्त्रादि बनवाये जाकर उनकी बिक्री की जाती है। इस किले के समीप से दो मार्ग जाते हैं, एक कालियादेह महल को व दूसरा सिद्धवट की ओर।

मंगलनाथ––अंकपात के निकट क्षिप्रा-तट के एक टीले पर मंगलनाथ का मन्दिर है। यह महादेव नवग्रह में के हैं, और चौरासी महादेव में तेतालीसवें महादेव हैं। जो लोग पंचक्रोशी को जाते हैं वे अष्टतीर्थ की यात्रा करके यहीं आते हैं, और फिर उनके कुटुम्ब के लोग यहाँ उनसे मिलकर अपने घर ले जाते हैं। मत्स्यपुराण में लिखा है कि––

अवंत्यां च कुजो जातो मगधे च हि माशुनः

तथा संकल्प में भी––

अवंतीदेशोद्भव भो भौम्

इत्यादि अनेक प्रमाणों से मंगल की जन्मभूमि उज्जैन मानी जाती है। यहाँ मंगल की उत्पत्ति हुई है। अतः सर्वदा मंगल ही होता रहता है। हर मंगलवार को दिनभर पूजन होता रहता है और यात्रा भी होती है। इसके निकट इन्दौर निवासी श्रीमान् सरदार किबे साहब का बनाया हुआ सुन्दर गंगाघाट भी है।

क्षीरसागर––सप्तसागर में क्षीरसागर तीसरा सागर है और गोगेश्वर की टेकरी के निकट है। यहाँ शेषशाई भगवान् की प्रतिमा है। यह स्थान लेखक के वंश परम्परागत "हवेली" नामक भवन के निकट है तथा लेखक के आधीन भूमि पर स्थित है। ऐसी दन्तकथा प्रचलित है कि जब श्रीकृष्ण भगवान् सांदीपन ऋषि के आश्रम में आये थे तब उन्होंने यहाँ दुग्धपान किया था। सप्तसागर की यात्रा करने पर यहाँ खीर-पुरी का दान किया जाता है। यहाँ का जल किसी समय दुग्ध जैसा श्वेत था, इसी कारण इसका नामाभिधान क्षीरसागर किया गया था। आसपास के घाट, मन्दिर, वृक्षों की घनी छाया, छोटीसी पहाड़ी, आदि प्राकृतिक सौन्दर्य से यह स्थान बड़ा ही रमणीक प्रतीत होता है।

वेधशाला––यह वेधशाला उज्जैन के दक्षिण में क्षिप्रा नदी के दक्षिण तट के उन्नत भूभाग पर स्थित है। इसे अधिकांश लोग 'यंत्र महल' के नाम से जानते हैं। पुरातन काल में उज्जैन ज्योतिषविद्या का प्रमुख केन्द्र था और यहीं से विषुववृत्त रेखा का आरम्भ माना गया था। जयपुर के राजा सवाई जयसिंह ने, जब वे उज्जैन के बादशाह शाहजहाँ की ओर से सूबा थे, तब ई० सन् १७३० में यह वेधशाला बनवाई थी। ये राजा स्वयं ज्योतिष विद्या के विद्वान् तथा उसके बड़े प्रेमी थे। उनकी इच्छा थी कि भारतीय ज्योतिष में ग्रहों का गणित यथार्थ हुआ करे, इसी हेतु उन्होंने भिन्न स्थानों से



ग्रहों के वेध लेने के लिए जयपुर, काशी, दिल्ली तथा मथुरा में वेधशालाएँ बनवाईं। उज्जैन भारतीय ज्योतिष का केन्द्र तथा उसका मुख्य विद्यापीठ था जैसा कि वर्तमान समय में 'ग्रीनविच' को मानते हैं, और इसी कारण यहाँ भी जयसिंह ने वेधशाला स्थापित की थी। इस वेधशाला से उन्होंने सात आठ वर्ष तक ग्रहों और ताराओं के वेध लिए और उनके अनुसार एक ग्रंथ भी तैयार करवाया था। इसके पश्चात् लगभग २०० वर्ष तक इस वेधशाला की ओर ध्यान नहीं दिया गया, और परिणामस्वरूप यह वेधशाला जीर्ण हो गई थी। इस परिस्थिति की ओर शास्त्र व कला प्रेमी ग्वालियर नरेश कै० माधव महाराज का चित्त उज्जयिनी की पंडिताश्रम सभा की ओर से आकर्षित कराया जाने पर, उन्होंने जयपुर के वेधशाला के प्रसिद्ध ज्योतिषी गोकुलचन्द भावन को बुलवाकर उनके निरीक्षण में इस वेधशाला का जीर्णोद्धार करवाया, और इस समय यह वेधशाला सुव्यवस्थित अवस्था में है। यहाँ एक सुपरिण्टेण्डेण्ट और निरीक्षक रहते हैं। दर्शकों को यंत्रों का परिचय कराने का यहाँ पूरा प्रबन्ध है। इस वेधशाला में चार यंत्र हैं। (१) सम्राट् यंत्र---इससे सूर्योदय से सूर्यास्त तक घंटे, मिनिट और २० सेकण्ड तक का काल मालूम होता है। (२) दिगंश यंत्र---इससे ग्रह नक्षत्रादिकों के दिगंश मालूम होते हैं। इसके मालूम होने से उनके स्थान का पता चल जाता है। (३) नाड़ीवलय यंत्र---इससे ग्रह नक्षत्रादिकों के दक्षिणोत्तर गमन का ठीक समय जाना जाता है। (४) दक्षिणोत्तर-भित्ती-यंत्र---इस यंत्र द्वारा ग्रह नक्षत्रादिकों के मध्याह्न वृत्त पर आने के समय उनके नतांश व उन्नतांश आदि का बोध होता है। (५) पलभा यंत्र---इस यंत्र द्वारा सूर्य की छाया से दिन में ठीक समय जाना जाता है।

अगस्तेश्वर---अगस्तेश्वर का मन्दिर हरसिद्धि के पीछे ही है। यह मन्दिर इतना प्राचीन है कि इसके निर्माण के सम्बन्ध में कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। अनुमान यह है कि यह मन्दिर जूने महाकाल के मन्दिर इतना प्राचीन तो अवश्य ही होगा।

चिंतामणि गणपति---यह मन्दिर क्षिप्रा नदी के पार करीब तीन मील के अन्तर पर फतेहाबाद जानेवाली रेलवे लाइन पर है। यह मन्दिर गत काल में होलकर शाही के अधीन था, किन्तु अब रियासत ग्वालियर के अन्तर्गत है। इस मन्दिर को पूजनीया रानी अहिल्याबाई होलकर ने बनवाया था। गणपति की प्रतिमा को स्वयम्भू बतलाते हैं। यह मूर्ति बहुत सुन्दर है और इसके पास ही ऋद्धि-सिद्धि हैं परन्तु वह सिन्दूर से ढक जाने से दो खड़े हुए स्तम्भों के समान दिखती है। मन्दिर के सम्मुख एक बावड़ी पक्के पत्थर की बनी हुई है जिसे बाणगंगा कहते हैं। इसके बारे में ऐसी कथा कहते हैं कि रावणवध के बाद श्रीरामचन्द्रजी जब अयोध्या लौट रहे थे, तब उन्होंने यहाँ विश्राम किया था। प्यास लगने पर उन्होंने लक्ष्मणजी को जल लाने को कहा, किन्तु समीप में जल न मिलने के कारण भूमि पर तीर मारा जिसके लगते ही वहाँ जल निकल आया। इसी कारण इसका नाम "बाणगंगा" है। फाल्गुन मास में अन्त के दोनों बुधवार को, और चैत्र शुक्ल के दोनों बुधवार को यहाँ मेला भरता है।

पवित्र क्षिप्रा नदी---यह नदी महू छावनी से ११ मील पर से उद्गम पाकर महतपुर से आगे चलकर चर्मण्वती में मिली है। इसकी लम्बाई लगभग १२० मील बतलाई जाती है। अवन्ती-महात्म्य में पुण्य-सलिला भगवती क्षिप्रा का वर्णन निम्नप्रकार से दिया है :---

> **नास्ति वत्स महीपृष्ठे शिप्रायाः सदृशी नदी। यस्यास्तीरे क्षणान्मुक्तिः किं चिरात्सेवितेन वै॥** तथा---
> **शिप्राशिप्रेति यो ब्रूयाद्योजनानां शतैरपि। मुच्यते सर्व पापेभ्यो....................॥**

कालिकापुराण में इसकी उत्पत्ति की कथा दी है जिससे उसका नाम क्षिप्रा प्रतीत होता है। रघुवंश की प्राचीन हस्तलिखित पोथी में 'शिप्रा' शब्द का प्रयोग किया है। मेघदूत के श्लोक ३१ में भी उसका **'सिप्रा'** नाम से उल्लेख **है** परन्तु उसके टीकाकार ने **"क्षिप्राग्रहणं शैत्यद्योतनार्थं"** इस प्रकार शिप्रा शब्द का प्रयोग किया है अतएव मूल नाम **'सिप्रा'** होकर वह 'शिप्रा' हो गया और उसका अपभ्रंश 'क्षिप्रा' भी किया जाता है। इसके सम्बन्ध में ऐसी कथा है कि महाकालेश्वर एक समय क्षुधातुर होकर विष्णु के पास भिक्षा याचना करने को गये, तो उन्होंने तर्जनी अंगुली दिखला दी। शिव ने क्रुद्ध

हो कर अंगुली को छिन्न कर दिया और जो रक्त प्रवाह शुरू हुआ उसके नीचे शिव ने अपना कपाल कर दिया। जब वह रक्त नीचे प्रवाहित हुआ तब से यह क्षिप्रा कहलाई है। यहाँ सकल्प में भी यही कहा जाता है कि **विष्णु देहातसमुत्पन्ने शिप्रे तथा शिप्राकस्मात—शिवपतित रक्तात्ति ति भवति शप्रा 'शवेन पतितं यत रक्तम तत प्रभवति तस्मात्** ।

दूसरी कथा कालिकापुराण के अनुसार यह है कि मेधातिथि ऋषि ने अपनी कन्या अरुंधती दान में जिस समय दी उस संकल्प का जल हिमालय से शिप्रा (सरका) था, उसके नीचे पड़ जाने से यह नदी उत्पन्न हुई।

क्षिप्रा तट पर सर्वत्र विशाल घाट बँधे हुए हैं। आस पास सर्वत्र मन्दिर, छत्री आदि बनी हुई हैं। नरसिंह घाट, रामघाट, पिशाचमोचन तीर्थ, छत्रीघाट, गन्धर्वती तीर्थ, गंगाघाट आदि विशेष महत्त्व के घाट हैं। गंगा दशहरे का उत्सव नौ दिन तक नदी तट पर ज्येष्ठ शुक्लपक्ष में प्रति वर्ष होता है। सहस्रावधि स्त्री-पुरुष एकत्रित होते हैं और यत्रतत्र कथा पुराण प्रवचनादि होते रहते हैं, जो दृष्य बड़ा ही भक्तिभाव उत्पादक रहता है। कार्तिकी पौर्णिमा व वैशाखी पौर्णिमा को यहाँ घाट पर बड़ा मेला लगता है। सिंहस्थ के पर्व पर घाट पर लाखों यात्री स्नान करते हैं।

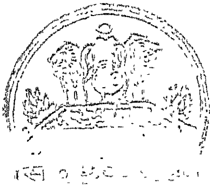
श्री बड़े गणेशजी—महाकालेश्वर के निकट एक अत्यन्त सुन्दर, और भव्य गणेशजी की विशाल मूर्ति है। समस्त भारतवर्ष में इतनी बड़ी व मनोहर मूर्ति अन्यत्र नहीं है, ऐसा कहा जाता है। इस मूर्ति को भारतविख्यात पंडित नारायणजी व्यास ने निर्माण किया है। गणेशजी से लगा हुआ पंचमुखी हनुमानजी का मन्दिर है। यह भी मूर्ति सप्त-धातुमयी है और संगमरमरी कच्छप-शेष और कमलपुष्प के सुन्दर पीठ पर विराजमान है। यहाँ ज्योतिष की पाठशाला भी है। यह मन्दिर भारत के सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ रा० ब० चिन्तामणिराव विनायक वैद्य की सहायता से बना हुआ है। यहाँ आकाश के कक्षाक्रम से नवग्रह स्थापित हैं।

वीर दुर्गादास की छत्री—क्षिप्रा नदी के तीर पर स्मशान के निकट एक टीले पर एक सुन्दर छत्री बनी हुई है जो वर्तमान समय वीरान सी पड़ी हुई है। यह छत्री राठौर वंशीय वीर दुर्गादास की होने बाबत प्रमाण उपलब्ध हो चुके हैं। दुर्गादास का देहान्त यहीं हुआ था। इसी कारण प्रत्येक राजपूत वीर के लिए यह स्थान अत्यन्त पवित्र क्षेत्र के समान दर्शनीय माना जा सकता है।

बायजाबाई साहबा का बनवाया हुवा द्वारकाधीश का मन्दिर—कै० दौलतराव महाराज की महाराणी बायजाबाई साहबा ने कुछ काल उज्जैन में निवास किया था। उन्होंने उज्जैन में एक द्वारकाधीश का मन्दिर बनवाया था जो क्षिप्रा-तट पर है।

श्री जीजा महाराज की धर्मशाला—कै० माधवराव महाराज शिन्दे अपनी मातोश्री को "जीजा महाराज" के नाम से सम्बोधन किया करते थे। उन्होंने यह विशाल व सुन्दर धर्मशाला निज के धन से ई० सन् १९१६ में बनवाई थी। यह स्थान उज्जैन रेलवे स्टेशन के निकट दो मंजिला है। गरीब यात्री तथा साधुसन्तों के लिए यहाँ सदावर्त मिलता है, जिससे १०० व्यक्ति तक को भोजन सामग्री प्रति दिन धर्मार्थ दान की जाती है।

दत्त का अखाड़ा—सिंहस्थ के प्रसंग पर गुसाइयों की व बैरागियों की बड़ी बड़ी जमातें क्षिप्रा स्नान के लिए घाट पर एकत्रित होती हैं। इन पंथों के अनुयायियों के लिए बड़ी बड़ी माफी व वर्षासन का प्रबन्ध होता है, और कुछ जमातों के पास हाथी, घोड़े, डंका, निशानादि राजचिह्न व राजऐश्वर्य की सामग्रियाँ उपस्थित होती हैं। सिंहस्थ के प्रसंग पर, इन सब सम्प्रदायों व पंथों के मिलाकर लगभग चालीस पचास हजार साधुसन्त एकत्रित होते हैं। वैशाखी पौर्णिमा के दिन उनके निशानों के, तथा उनके स्नान के लिए समय व स्थान सरकार द्वारा निश्चित होते हैं। गुसाइयों की जमातें जिनको 'अखाड़े' कहते हैं, क्षिप्रा नदी के पार तीर पर रेती में ठहरते हैं। वहाँ जो इनका स्थान है उसी का नाम "दत्त का अखाड़ा" है। यह चारों ओर ऊँचे कोट से घिरी हुई, क्षिप्रा के पश्चिम तट पर एक छोटी 'गढ़ी' के समान सुन्दर इमारत है। इस अखाड़े की निकटवर्ती भूमि पर कृषि होती है और फल-बाग भी है। यहाँ प्रति दिन ३००-४०० अतिथि व साधु-सन्तों के भोजन का प्रबन्ध होता है। निकट में एक बड़ी गौशाला भी है, जिसमें लगभग ४०० पशु रखे जाते हैं। एक सुन्दर छोटे मन्दिर में



दत्तजी के चरण—चिह्न खुदे हुए हैं। यहाँ के वर्तमान मुख्य मठाधीश सन्ध्यापुरीजी हैं, और इनके निरीक्षण में यहाँ का प्रबन्ध बड़े सुचारु रूप से चल रहा है। यहाँ से क्षिप्रा के अर्ध धनुष्याकार पूर्वीय किनारे के घाट, मन्दिर व मठ तथा उनके जलपृष्ठ पर पड़े हुए प्रतिबिम्ब का बड़ा ही मनोहर दृष्य दिखाई पड़ता है। यह वही ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है जहाँ ई० सन् १७६७ में दत्त के अखाड़े का युद्ध हुआ था, जिसमें लेखक के पूवज ठाकुर पद्मसिंह को रणांगण में अपने पराक्रम का परिचय देने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इनका उल्लेख माल्कम साहब ने "मेमाइर्स ऑफ सेण्ट्रल इण्डिया" नामक अपने ग्रंथ में भी किया है।

बिना नींव की मसजिद—अनन्तपेठ में होकर उसके दरवाजे पर जड़े हुए शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह मसजिद हिजरी सन् ८०६ ई० सन् १३९७ में मालवे के सूबेदार दिलावरखान गोरी ने बनवाई थी। यह एक जैन मन्दिर को तुड़वाकर उसकी सामग्री से बनवाई जाने से, इसके लिए नींव खोदने की आवश्यकता नहीं पड़ी थी, इसी कारण यह बिना नींव की मसजिद के नाम से प्रसिद्ध है।

ख्वाजा शकेब की मसजिद—यह सखीपुरे में रंगबावडी (पुष्कर सागर) के समीप है। कहा जाता है कि मुगल बादशाहों के सूबेदारों में से ख्वाजा शकेब नाम का एक सूबेदार यहाँ था, उसने इसे बनवाया था। यहाँ की मुसलमानी इमारतों में यह एक प्रसिद्ध इमारत है।

बोहरों का मकबरा—उज्जैन में बोहरों की बस्ती बहुत है। इसलिए यहाँ उनके धर्माध्यक्ष के प्रतिनिधि रहते हैं जो प्राय: उनके वंशज होते हैं। यह मकबरा उनके विशेष अधिकारी पुरुषों की कबरों पर बना हुआ है। यह इमारत भी प्रेक्षणीय है।

कोठी व अन्य प्रेक्षणीय इमारतें—उज्जैन के आग्नेय कोने में शहर से लगभग ढाई मील के अन्तर पर ई० सन् १८९५ में कै० माधवराव साहब शिन्दे नरेश ने अपने रहने के लिए यह महल बनवाया था। किन्तु अब यह इमारत सरकारी कार्यालयों को उपयोग के लिए दे दी है। रेलवे स्टेशन के निकट देवास दरवाजे के पास माधव कॉलेज की इमारत भी लगभग इसी समय बनवाई गई थी, और यह दोनों इमारतें देखने योग्य हैं। ग्रँण्ड होटल की व 'रुग्णालय' की इमारतें भी भव्य व प्रेक्षणीय हैं। इसके अतिरिक्त नए बसाए गए 'माधवनगर' नामक उपनगर में,कई सुन्दर इमारतें बन गई हैं, और कई औद्योगिक कारखानों व मिलों की भव्य इमारतें उज्जैन में अब निर्माण हो चुकी हैं, और प्रति दिन इस नगर का विस्तार बढ़ता ही चला जा रहा है।

वेश्या टेकड़ी—मकोड़िया-आम सिन्धिया स्टेट रेलवे का एक छोटा स्टेशन आगर रोड पर उज्जैन से २-३ मील पर है। वहाँ से उण्डासा तालाब पर जाने के लिए पूर्व दिशा में एक रास्ता जाता है। इस रास्ते पर एक टेकड़ी (टीला) है, जिसके ऊपर एक वृक्ष है। इस टेकड़ी की ऊँचाई लगभग ६० फीट है। इसके सम्बन्ध में यह आख्यायिका है कि प्राचीन-काल में जब उज्जैन ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचा हुआ था, उस समय उज्जैन के नागरिक इतने धनिक व रसिक थे कि यहाँ की यह ख्याति हो गई थी कि यहाँ कोई भी वस्तु बिक्री के लिए लाने पर व्यापारी को बिक्री न होने से निराश होकर वापिस लौटने का प्रसंग नहीं आता था, अर्थात् प्रत्येक वस्तु के ग्राहक मिल जाने से व्यापारियों की हर प्रकार की वस्तु बिककर व्यापारी अच्छा मुनाफा कमा कर ले जाते थे। एक समय यह प्रख्याति सुनकर एक बड़ा कुम्हार बाहर देश से सैकड़ों गधों पर मिट्टी लदवाकर बेचने के हेतु, आया और उज्जैन के सब रास्तों पर घूमकर, ग्राहक न मिलने से, निराश होकर नगरवासियों की भर्त्सना करता हुआ गधे लेकर वापिस लौट रहा था। यह एक धनिक वेश्या ने सुना। तब यह उज्जयिनी की अपकीर्ति सुनकर उसे भारी विषाद हुआ और इस प्राचीन नगरी की कीर्ति कायम रखने के हेतु जितनी मिट्टी थी, नगर के बाहर एक स्थान पर डालने का उस वेश्या ने आदेश दिया, तथा हर गधे के पीछे एक एक सुवर्ण मुद्रा का मोल उस कुम्हार को देने की आज्ञा दी। उस प्रसंग पर जो मिट्टी का ढेर लगा था वही आज वेश्या टेकडी के नाम से प्रसिद्ध है। यह भारतवर्ष का उन्नत काल था जब कि एक वैश्या जैसी पतिता स्त्री को भी अपने नगर के कीर्ति का ऐसा अभिमान

था कि उसे कायम रखने के हेतु उसने सुवर्ण मुद्राओं को मिट्टी तुल्य समझकर उसका मुक्त हस्त से व्यय करके अपने नगर की कीर्ति व यश अजरामर रखने की चेष्टा की। धन्य है वह नगर जो ऐसे नागरिकों का निवासस्थान रहा है। और जहाँ ऐसे स्वदेशाभिमानी जन हों, उस नगर की कीर्ति यदि विश्व में अजरामर हो तो उसमें आश्चर्य ही क्या है?

कुछ समय पूर्व पुरातत्त्व-विभाग की ओर से इस टेकड़ी का उत्खनन किया जाने पर जो चिह्न दृष्टिगोचर हुए उनसे यह प्रतीत होता है कि यह किसी समय बौद्ध स्तूप था। इसके ऊपर के मिट्टी का स्तर खोदने पर अन्दर का हिस्सा प्राचीन प्रकार की ईंटों से मढ़ा हुआ पाया गया है। इसके ऊपर जो मिट्टी का स्तर है वह निकटवर्ती भूमि की मिट्टी से भिन्न प्रकार का, कुछ भगवा रंग लिए हुए है।

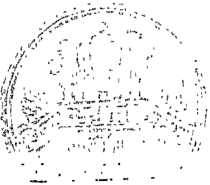
अगिया बेताल का मन्दिर—इस मन्दिर के निकट एक छोटासा तालाब है, जिसको आग्यातलाई के नाम से सम्बोधन करते हैं। इस मन्दिर को 'अगिया वेताल' 'वीर वेताल' या 'पीर वेताल' का मन्दिर भी कहते हैं जो वास्तव में 'अग्निवेताल' नाम का अपभ्रंश होना प्रतीत होता है। नवरात्रि की अष्टमी के दिन, नगर पूजन के अवसर पर लेखक की ओर से जो पूजन का प्रबन्ध होता है, उस प्रसंग पर यहाँ कुक्कुट (मुर्गे) का बलिदान होता है। "वेताल पंचविंशति" ग्रंथ में विक्रमादित्य के राज्यारोहण के सम्बन्ध में एक रोचक कथा वर्णित है, उससे इस मन्दिर का सम्बन्ध होना प्रतीत होता है। उस कथा का संक्षेप में आशय यह है कि एक समय ऐसा था कि जब उज्जैन के सिंहासन पर एक दिन से ज्यादा समय तक कोई राजा बैठ नहीं सकता था। इसका कारण यह था कि प्रति दिन जनता में से एक राजा चुनकर सिंहासन पर बैठाला जाता था और रात्रि में एक वेताल, धूम्रपटल व अग्नि के लपटों सहित विकराल रूप धारण कर राजप्रासाद में प्रवेश करके राजा को प्रति दिन अपना भक्ष बना लेता था। एक दिन 'विक्रम' नामक एक निर्धन राजपूत की बारी राजसिंहासन पर बैठने की आई। तब उसने इस अग्निवेताल को अन्य उपायों से सन्तुष्ट करने के हेतु नाना प्रकार के मिष्टान्न तैयार रखे। अग्निवेताल ने इन पदार्थों से अपनी क्षुधा तृप्त की और सन्तुष्ट हुआ तथा इस चतुर संयोजक को अभय दान देकर सम्मुख प्रकट होने की आज्ञा दी। तब विक्रमादित्य प्रकट हुए, और राजा का भक्षण प्रतिदिन न करने का वर माँग लिया, जिसे अग्निवेताल ने इस शर्त के साथ स्वीकार किया कि उसके भक्षण का प्रबन्ध अन्य प्रकार से किया जाता रहेगा। इस प्रकार अग्निवेताल विक्रमादित्य का सहायक बन गया। इसी अग्निवेताल के नाम से यह मन्दिर बनवाया गया। यह कथा, चौबीसखम्बा देवी की कथा से कुछ मिलती जुलती है, किन्तु, विक्रमादित्य के नाम से सम्बन्धित इतनी कथाएँ प्रचलित हैं कि वास्तव में उनमें की कौनसी यथार्थ हैं, यह निर्णय करना कठिन है।

उज्जैन के अन्य दर्शनीय स्थान

१. नगरकोट की रानी, २. अनन्तनारायण का मन्दिर, ३. महाराजबाड़ा, ४. त्रिवेणी संगम, ५. रणजीत, ६. नागनाथ, ७. सत्यनारायण का मन्दिर, ८. अष्टेवाले का मन्दिर, ९. खातियों का जगदीश मन्दिर, १०. श्रीनाथजी ढाबा, ११. जैन मन्दिर (दिगम्बर ढाबा), १२. अवन्तीपार्श्वनाथ, १३. राममन्दिर-सराफा, १४. रूमी का मकबरा, १५. वीर मछन्दर, १६. सतीघाट, १७. वाटर वर्क्स।

पंचक्रोशी यात्रा में आनेवाले देव—१. पिंगलेश्वर, २. कायावरोहणेश्वर, ३. बिल्वेश्वर, ४. दुर्धरेश्वर, ५ १९. नीलकंठेश्वर।

महाकाल यात्रा—१. कोटेश्वर, २. महाकाल, ३. कपालमोचन तीर्थ, ४. कपिलेश्वर, ५. हनुमतेश्वर, ६. पैपलाद्य, ७. स्वप्नेश्वर, ८. विश्वतोमुख, ९. सोमेश्वर, १०. वैश्वानरेश्वर, ११. लकुलीश, १२. गद्यानेश्वर, १३. विघ्ननायक, १४. वृद्धकालेश्वर, १५. विघ्ननाशक, १६. प्राणीशवल, १७. तनयेश्वर, १८. दण्डपाणि, गृहेश्वर, २०. महाकाल, २१. दुर्वासेश्वर, २२. कालेश्वर, २३. वाघिरेश्वर, २४. यात्रेश्वर।



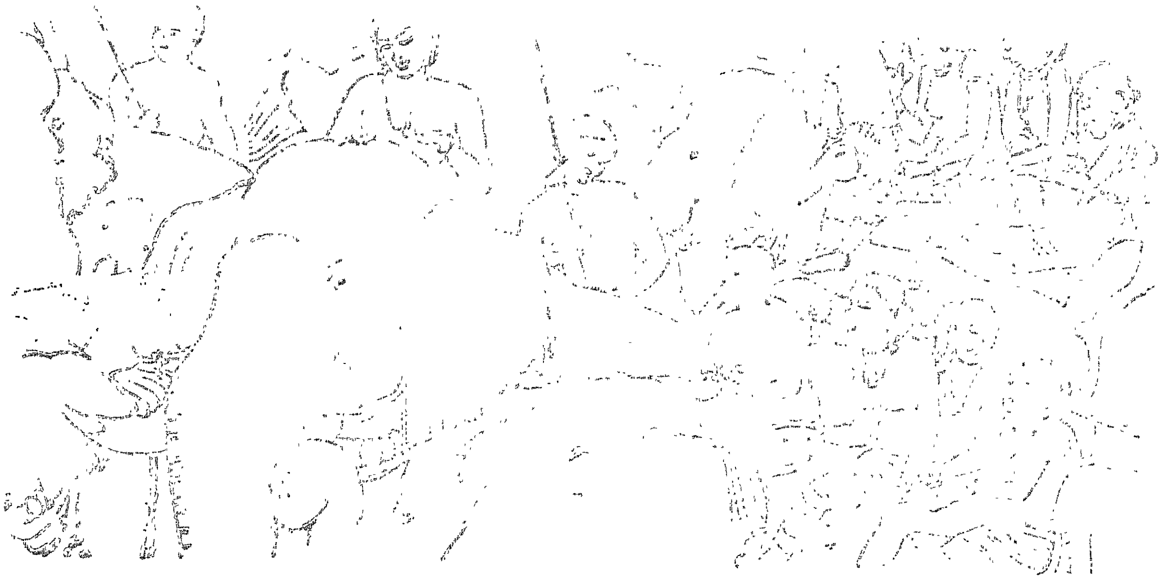
उज्जैन के दर्शनीय स्थान

नगर प्रदक्षिणा के मुख्य देव—१. पद्मावति, २. स्वर्णश्रृंगा, ३. अवन्तिका, ४. अमरावती, ५. उज्जयिनी।

सप्तसागर यात्रा—१ रुद्रसागर, हरसिद्धी के पास, २ पुष्करसागर, नलिया बाखल में, ३ क्षीरसागर, डाबरी में ४ गोवर्धनसागर, बुधवारिये में, ५ रत्नाकरसागर, भोपाल लाइन में उंडासे गांव में, ६ विष्णुसागर, अंकपात में तथा ७ पुरुषोत्तमसागर, अंकपात दरवाजे में।

देवी के स्थान—१ एकानंशा, सिंगपुरी में, २ भद्रकाली, चौबीसखंबे पर तथा ३ अवन्तिका, महाकालेश्वर में। नवदुर्गा अब्दालपुरा में, चतुषष्टीयोगिनी नयापुरा में, विन्ध्यवासिनी गढ पर खेत में अथवा सिंगपुनी में कालिका के नाम से प्रसिद्ध है। वैष्णवी सिंगपुनी में पं० कालूरामजी त्रिवेदी के मकान में, कपाली जोगीपुरा में, छिन्न-मस्तका अब्दालपुरा में, वाराही कार्तिक चौक में, वाराही माता की गली में, महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती कार्तिक चौक में एक ही मन्दिर में।

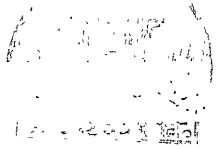




प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी बार-एट-लॉ

[उज्जयिनी विद्या का केन्द्र होने पर भी विशेषकर धर्म का केन्द्र बनी रही है। प्रतिभाशाली कवि और सुलेखकों के साथ ही तांत्रिक, कापालिक, अथवा शान्ति-प्रिय तत्वज्ञानी तथा योगियों की यहाँ कमी नहीं रही। परन्तु इनमें से किसी किसी ने ही लोकसमाज में प्रसिद्धि प्राप्त की। अधिकांश महात्मा तो चुपचाप आध्यात्मिक-जीवन बिताकर चलते बने। ऋषिप्रोक्त धर्म का समस्त अनुष्ठान योग पर प्रतिष्ठित है। योगाभ्यास और लोक-प्रसिद्धि दो विरोधी बातें हैं। इसीलिए जिन महापुरुषों ने उज्जयिनी में रहकर यहाँ आध्यात्मिक जीवन और योगाभ्यास वर्षों किया और जो भारतवर्ष के रत्न रहे होंगे उनके जीवनचरित्र से तो क्या, उनके नाम से भी हम परिचित नहीं हो पाए। इसके अतिरिक्त, बहुत से काव्यकारों और शास्त्रकारों ने अपने जन्मस्थान और अपने समय का संकेत तक नहीं किया। सम्भव है उस समय के भारतवर्ष में ऐसी परिपाटी ही प्रचलित हो। सम्भव है समूचे भारतवर्ष को ही जन्म स्थान मानने का राष्ट्रीय लक्ष्य सम्मुख रहा हो। सम्भव है जन्मस्थान से प्रान्तीयता और स्थानीय भावना बढ़ जाने के कारण उनको त्याज्य समझा गया हो। उत्तर में कैलाश, दक्षिण में सेतुबन्ध और मध्य में उज्जयिनी में महाशिव का स्थान बताने का एकमात्र उद्देश्य सारे भारत को एक ही सूत्र में ग्रथित करने का होगा। आदिगुरु शंकर के स्थान स्थान पर मठ स्थापित करने का हेतु सिवाय इसके और क्या हो सकता था? अगर यह लक्ष्य नहीं था तो दूसरा कोई कारण ज्ञात नहीं होता कि वाल्मीकि, व्यास, भास, कालिदास, गुणाढ्य, वररुचि, पाणिनि, पतञ्जलि इत्यादि विद्वान् अपना जन्मस्थान और समय का संकेत तक क्यों नहीं करते! जो कुछ भी हो, इन कारणों से यह कहना कठिन हो जाता है कि भारतवर्ष के प्रमुख प्राचीन रत्नों में कितने वास्तव में उज्जैन के थे। ऐसी अवस्था में अधिकतर किंवदन्तियों और प्राचीन कथाओं का आधार ही लेना पड़ता है। इस आधार पर विक्रम के नवरत्नों के अतिरिक्त कुछ महापुरुषों के नाम उज्जैन से सम्बन्धित मिल पाए हैं उनका संक्षिप्त जीवन-चरित्र हमने यहाँ संकलित करने का प्रयास किया है। फिर भी बहुत से नाम रह गए हैं, यह भी हमें ज्ञात है। पुस्तकों के अभाव में और अधिक समय न मिलने के कारण अधिक महापुरुषों के जीवन-चरित्र एवं उनके रचनात्मक कार्य की सूची हम



यहाँ संकलित नहीं कर पाए, इसका अवश्य खेद है। जो प्रमाण हमने कहीं कहीं उद्धृत किए हैं उनका ऐतिहासिक मूल्य कितना है, यह पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं।—लेखक।]

(१) श्री सान्दीपन मुनि

सान्दीपन मुनि भगवान् कृष्ण और बलराम के गुरु माने जाते हैं। 'सन्दीपन' के पुत्र सान्दीपन थे। जो उज्वल करता है वह 'सन्दीपन' कहाता है (संदीपयति सः सन्दीपनः)। पुराणों में श्रीकृष्ण भगवान् की शिक्षा अवन्तीपुर (उज्जैन) में सान्दीपन मुनि के द्वारा बताई गई है। परन्तु शिक्षा के विषय और वर्णन में कहीं कहीं भेद है।

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि वसुदेवजी ने अपने पुरोहित गर्गाचार्य तथा अन्य ब्राह्मणों से दोनों पुत्रों का विधिपूर्वक द्विजाति-समुचित यज्ञोपवीत संस्कार करवाया। इसके बाद गुरुकुल में निवास करने की इच्छा से दोनों भाई अवन्ती (उज्जैन) में रहनेवाले कश्यपगोत्री या काशी से आए हुए (काश्यं) सान्दीपन नामक आचार्य के पास गए। वे विधिपूर्वक गुरूजी के पास रहने लगे। उस समय वे बड़े ही सुसंयत और अपनी चेष्टाओं को सर्वथा नियमित रखे हुए थे। गुरु सेवा का उच्च आदर्श लोगों के सामने रखते हुए बड़ी भक्ति से उन्होंने इष्टदेव के समान गुरुजी की सेवा की। गुरुवर सान्दीपनजी उनकी शुद्ध भावयुक्त सेवा से बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने दोनों भाइयों को छहों अंग और उपनिषदों के सहित सम्पूर्ण वेदों की शिक्षा दी। इसके सिवा मंत्र और देवताओं के ज्ञान के साथ धनुर्वेद, धर्मशास्त्र, मीमांसा और न्याय-शास्त्र की भी शिक्षा दी। साथ ही सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छह भेदों से युक्त राजनीति का भी अध्ययन कराया। भगवान् श्रीकृष्ण और बलराम सारी विद्याओं के प्रवर्तक हैं। परन्तु मनुष्य का व्यवहार करते हुए वे अध्ययन कर रहे थे। केवल चौंसठ दिन रात में ही संयमी-शिरोमणि दोनों भाइयों ने चौंसठों कलाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। इस प्रकार अध्ययन समाप्त होने पर उन्होंने सान्दीपन मुनि से प्रार्थना की कि "आपकी जो इच्छा हो, गुरु-दक्षिणा माँग लें।"

सान्दीपन मुनि ने उनकी अद्भुत महिमा और अलौकिक बुद्धि का अनुभव कर लिया था। इसलिए उन्होंने अपनी पत्नी से सलाह करके यह गुरु-दक्षिणा माँगी कि 'प्रभास क्षेत्र में हमारा बालक समुद्र में डूबकर मर गया था, उसे तुम लोग ला दो'। बलरामजी और श्रीकृष्ण का पराक्रम अनन्त था। दोनों ही महारथी थे। उन्होंने "बहुत अच्छा" कहकर गुरुजी की आज्ञा स्वीकार की और रथ पर सवार होकर प्रभासक्षेत्र में गए। समुद्र के अन्दर जाकर शंखासुर (पाञ्चजन्य) नामी असुर को मारा और पाञ्चजन्य शंख को लेकर यमराज के यहाँ जाकर गुरुपुत्र लाकर सान्दीपनजी को गुरु-दक्षिणा में दिया। तदनन्तर गुरुजी से आज्ञा और आशीर्वाद लेकर वायु के समान वेग और मेघ के समान रथ पर सवार होकर दोनों भाई मथुरा लौट आए।

उज्जैन में इस शिक्षा का स्मारक सान्दीपन-आश्रम किसी न किसी रूप में अभी तक मौजूद है; और भगवान् कृष्ण की यह शिक्षास्थली क्षिप्रा नदी के किनारे "अंकपात" के नाम से प्रसिद्ध है।

ब्रह्मपुराण के १९४वें अध्याय में श्रीभागवत का ही अनुकरण करके कथा में लिखा गया है कि :—

विदिताखिलविज्ञानौ सर्वज्ञानमयावपि। शिष्याचार्यक्रमं वीरौ ख्यापयन्तौ यदूत्तमौ ॥१८॥
ततः सान्दीपनिं काश्यमवन्तिपुरवासिनम्। अस्त्रार्थं जग्मतुर्वीरौ बलदेवजनार्दनौ ॥१९॥
तस्य शिष्यत्वमभ्येत्य गुरुवृत्तिपरौ हितौ। दर्शयाञ्चक्रतुर्वीरावाचारमखिले जने ॥२०॥
सरहस्यं धनुर्वेदं ससंग्रहमधीयताम्। अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या तदद्भुतमभूद् द्विजाः ॥२१॥

यहाँ 'काश्यप' न लिखा जाकर 'काश्यं' लिखा गया है। सम्भव है सान्दीपनजी 'काशी' से उठकर अवन्ती में बस गए हों। किसी किसी प्रति में 'शिक्षार्थं', किसी किसी में "शस्त्रार्थं" भी मिलता है परन्तु अधिकतर प्रतियों में "अस्त्रार्थं" बताया जाता है। इसीलिए 'आनन्दाश्रम एडीशन' १८९५ में 'अस्त्रार्थं' ही लिखा है।

अग्निपुराण में एक सूक्ष्म संकेत मिलता है और वहाँ उज्जयिनी में शिक्षा ग्रहण करने का उलेख नहीं है। बस, इतना ही लिखा है कि:—

सान्दीपनेश्च शस्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ ।। (अध्याय १३)

ब्रह्मवैवर्तपुराण में सान्दीपनजी को "ब्रह्मांशो योगिनां ज्ञानिनां गुरुः" लिखा है। यज्ञोपवीत कुलपुरोहित गर्गजी ने कराया था परन्तु इस पुराण में लिखा है कि बहुत से देवता और ब्राह्मण उपस्थित थे और सान्दीपनजी भी वहीं थे। बाद में कृष्ण भगवान् उज्जैन गए और चारों वेदों को एक मास में ही पढ़ लिया। गुरु-दक्षिणा में गुरुपुत्र को देने के अनन्तर भगवान् कृष्ण ने अपने गुरु और गुरुपत्नी को कई लाख रत्न, मणि, हीरा, मुक्ता, माणिक्य दिए और वस्त्र, हार, अँगूठी और सुवर्ण से उनका घर भर दिया। थोड़े काल के अनन्तर, सारी सम्पत्ति अपने पुत्र को देकर सान्दीपनजी और उनकी पत्नी ने गोलोक को प्रयाण किया।

अवन्ती को 'सान्दीपन के आश्रम' ने एक ऐसा ऊँचा स्थान प्रदान किया है कि जो शिक्षा और साहित्य के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा।

(२) गुणाढ्य

किंवदन्ती है कि गुणाढ्य उज्जैन के राजा थे। परन्तु किसी प्रकाशित ग्रंथ में इसके समर्थन में प्रमाण नहीं मिले। 'रामायण' और 'महाभारत' के बाद, भारतीय साहित्यिक कला का अखण्ड भंडार गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' में पाया जाता है।

क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामंजरी' सोमदेव का 'कथासरित्सागर', और जयरथ के 'हरचरितचिन्तामणि' गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' के ही दूसरे रूप हैं। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गई बताई जाती है और आजकल अप्राप्य है।

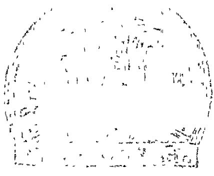
सुबन्धु, बाणभट्ट और दण्डी ने, सातवीं शताब्दी में, 'बृहत्कथा' के महत्त्व को स्वीकृत किया है। धनञ्जय के 'दशरूप', त्रिविक्रम के 'चम्पू', सोमदेव सूरी के 'यशस्तिलक' और गोवर्धन के 'सप्तशती' में भी 'बृहत्कथा' की प्रशंसा की गई है। कम्बोडिया के एक शिलालेख में गुणाढ्य और प्राकृत भाषा के प्रति उनकी घृणा का उल्लेख किया गया है।

'कथासरित्सागर' के अनुसार जब महादेवजी ने अपने गण पुष्पदन्त को शाप दिया तो दूसरा गण माल्यवन्त इस शाप का विरोध करने लगा। महादेवजी ने माल्यवन्त को भी यह शाप दिया कि वह भी मृत्युलोक में जन्म ले और यक्ष काणभूति से कथा सुन लेने पर शाप से मुक्त होने का अधिकारी हो सकेगा। गण पुष्पदन्त ने वररुचि होकर कौशाम्बी में जन्म लिया और बाद में महाराज नन्द का मंत्री होकर वैराग्य लिया और विद्याधरों के सात राजाओं की कथा काणभूति को सुनाकर मोक्ष प्राप्त की।

गण माल्यवन्त ने गोदावरी के किनारे प्रतिष्ठान नगर में 'गुणाढ्य' नाम से जन्म लिया और फिर सातवाहन राजा के यहाँ ऊँचा पद प्राप्त किया। राजा की पटरानी ने एक बार जलक्रीड़ा के समय कहा कि "जल से अब ताड़न मत करो" (मा उदकैः परिताड़य)। राजा संस्कृत कम पढ़े थे समझे कि पटरानी "मोदक" (लड्डू) मँगा रही है। उसी क्षण बहुत से मोदक मँगवा लिए जिसपर रानियाँ हँसने लगीं। राजा अत्यन्त लज्जित हुए और संस्कृत पढ़ने का प्रयत्न करने लगे। गुणाढ्य से पूछने पर गुणाढ्य ने पूरे छह साल में व्याकरण शास्त्र पढ़ाने को कहा। शर्ववर्म्मा ने कहा कि "मैं छह मास में ही पढ़ा दूंगा। गुणाढ्य ने राजा से कहा कि "यह असम्भव बात है। अगर छह मास में व्याकरण शास्त्र सीख गए तो मैं संस्कृत, प्राकृत और देशभाषा तीनों का परित्याग कर दूँगा।"

श्रीकार्तिकेय की तपस्या करके शर्ववर्मा ने पूरा व्याकरण शास्त्र केवल छह महीनों में ही राजा सातवाहन को सिखा दिया। सातवाहन ने प्रसन्न होकर शर्ववर्मा को भृगुकच्छ का स्वामी बना दिया। यह व्याकरण कातंत्र नाम से प्रसिद्ध है।

गुणाढ्य को यह सब बुरा लगा और उसने वहाँ रहकर अपमानित न होना चाहा। वह विंध्यवासिनी देवी के दर्शन को चल पड़ा और वहाँ पैशाची भाषा सीखकर मौनव्रत तोड़ा।



फिर उज्जयिनी से वापिस आने पर यक्ष काणभूति ने गुणाढ्य को सात कथावाली वह दिव्य महाकथा सुनाई। गुणाढ्य ने भी सात वर्ष में उसी पैशाची भाषा में उस कथा को सात लाख श्लोकों में बनाकर प्रस्तुत किया और स्याही न मिलने पर अपने रुधिर से ही लिख डाला। उस कथा के सुनने के लिए सिद्ध और विद्याधर आने लगे और भीड़ इतनी एकत्रित होती थी कि आकाश घिर जाता था। अपने शिष्य गुणदेव और नन्दिदेव के कहने पर यह कथा गुणाढ्य ने सातवाहन राजा को भिजवाई परन्तु उसने नीरस पैशाची भाषा एवं रक्त में होने से वापिस करदी।

तब निराश होकर एक पर्वत की शिखा पर बैठकर एक अग्निकुण्ड बनवाया और वहाँ बैठकर लाखों पशु-पक्षीगण को सुना सुनाकर एक एक पत्र आग में डालने लगे। हजारों लाखों हरिण बराह और महिष एकत्र हो, मण्डल बाँध, उस दिव्य महाकथा को सुना करते थे। राजा सातवाहन को यह सब पता लगने पर वह आए और दिव्य कथा माँगने लगे। परन्तु छह लाख श्लोक जल चुके थे; बाकी एक लाख श्लोक राजा को देकर गुणाढ्य शाप से मुक्त हो दिव्यगति को प्राप्त हुए।

'नैपालमाहात्म्य' में शिव-पार्वती के शाप से 'भृंगिन' का मृत्युलोक में आकर 'गुणाढ्य' के नाम से जन्म लेना और उज्जैन के राजा मदन के यहाँ पंडित बनकर शर्ववर्मन से परास्त होकर, ऋषि पुलस्त्य के आदेशानुसार पैशाची भाषा में कथा लिखना बतलाया गया है।

'बृहत्कथा' और इसके आधार पर बने अन्य कथा-संग्रह में महाराज चण्डप्रद्योत, उनकी कन्या वासवदत्ता और वत्सराज उदयन और उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त की कथाएँ ही हैं और इन कथाओं का सम्बन्ध उज्जैन से ही है। भास की स्वप्नवासवदत्ता, हर्ष की रत्नावली आदि का आधार 'बृहत्कथा' में वर्णित उज्जैन में बीते हुए प्रेम-परिणय की कथाओं से ही है।

इससे सिद्ध है कि गुणाढ्य बहुत वर्षों तक उज्जयिनी नगरी में रहे थे।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में लिखा है कि देश के विभिन्न भागों में विभिन्न भाषाओं का आधिपत्य था, यथा गौड़ देश में संस्कृत बोली जाती थी; लाट देश में प्राकृत का प्रेम था; मारवाड़, टक्क देश और भादानक अपभ्रंश बोलते थे। अवन्ती, परियात्रा और दशपुर में भूतभाषा प्रयुक्त होती थी और मध्यदेश वाले सब भाषाओं को जानते थे। यथा—

आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥

अवन्ती के पंडित होने के कारण गुणाढ्य का भूतभाषा में 'बृहत्कथा' लिखना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

भूतभाषा क्लिष्ट होती हो, यह बात नहीं है। 'बालरामायण' में राजशेखर ने लिखा है कि प्राकृत भाषा प्रकृत्या मधुर है: अपभ्रंश भव्य भाषा है; और भूतभाषा सरस वचनों से भरी है:—

गिरः श्रव्या दिव्याः प्रकृतिमधुराः प्राकृतधुरः सुभव्योऽपभ्रंशः सरसवचनं भूतवचनम्॥

अवन्ती की सरस भूतभाषा में पंडित गुणाढ्य ने बृहत्कथा अवन्ती में ही लिखी थी, ऐसा ही सत्य प्रतीत होता है।

(३) भर्तृहरि

उज्जैन में भर्तृहरि की गुफा एक प्रसिद्ध स्थान है। किंवदन्ती है और 'प्रबन्धचिन्तामणि' में भी लिखा है कि भर्तृहरि विक्रमादित्य के भाई थे। यह भी कहा जाता है कि गन्धर्वसेन ने ईसवी सन् पूर्व ७२ में मालवान का लोकसत्तात्मक राज्य उज्जैन में स्थापित करके भर्तृहरि को गणाधिपति बना दिया था और १२ साल राज्यशासन करके अपने छोटे भाई विक्रमादित्य को राज्य देकर भर्तृहरि ने वैराग्य धारण कर लिया था। गन्धर्वसेन के दो स्त्री बताई जाती हैं। धीमति से भर्तृहरि और श्रीमति से विक्रम उत्पन्न हुए। भर्तृहरि के शृंगारशतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक प्रसिद्ध हैं। संस्कृत छन्दों में ऐसी मधुर रचना अन्यत्र कम पाई जाती है। इन शतकों में कुछ छन्द तंत्राख्यायिका शकुन्तला, और मुद्रा

राक्षस इत्यादि के भी हैं परन्तु इन तीन शतकों का संकलन एक समय में ही हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है। एक एक श्लोक में शृंगार, नीति अथवा वैराग्य की अनमोल बातों का सुन्दर रूप में समावेश है।

भर्तृहरि का शार्दूल विक्रीड़ित छन्द प्रसिद्ध है। बुलहेन (Bohlen) के संग्रह में १०१ पद्य शार्दूल विक्रीड़ित छन्दों में हैं। उसके अनन्तर शिखरिणी की संख्या ४८, श्लोक ३७, वसन्ततिलका ३५, स्रग्धरा और आर्या प्रत्येक १८ और गीति आर्या का २ बार प्रयोग किया गया है। कहीं कहीं इन्द्रवज्रा, मालिनी, हरिणी, मन्दाक्रान्ता, पृथ्वी, द्रुतविलम्बित वंशस्थ, शालिनी, रथोद्धता, वैतालीय, दोधक, पुष्पिताग्रा और मात्रसमक छन्दों का भी प्रयोग है।

इनसे प्रतीत होता है कि भर्तृहरि एक बहुत भारी कवि और अनुभवी विद्वान् थे। विद्वानों का मत है कि इनकी रचना का काल प्रथम शताब्दी या इसके पूर्व होना चाहिए।

चीनी यात्री ईत्सिंग ने अपनी भारत यात्रा में 'भर्तृहरिशास्त्र' का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह शास्त्र महाभाष्य की टीका है। इसमें २५००० श्लोक हैं और मानव जीवन तथा व्याकरण शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम 'त्रिपदी' है। इसमें पतञ्जलि के 'महाभाष्य' के प्रथम तीन पादों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रंथ बर्लिन के पुस्तकालय में सुरक्षित है।

ईत्सिंग ने भर्तृहरि के विषय में लिखा है कि यह विद्वान् भारत के पाँचों खंडों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग आठों दिशाओं में जानते थे। उसका रत्नत्रय में अगाध विश्वास था और वह 'दुहरे शून्य' का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिंगन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया; परन्तु सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार फिर गृहस्थी में लौट गया। वह धर्मपाल का समकालीन था। एक बार जब वह मठ में परिव्राजक था, सांसारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी में लौट जाने की हुई। परन्तु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक रथ लाने को कहा। कारण पूछने पर बताया कि "मनोराग प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म पर चलने में असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को परिव्राजकों की सभा में घुसना नहीं चाहिए।" इसके बाद वह उपासक की अवस्था में वापस चला गया और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहिनकर सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा।

ईत्सिंग ने लिखा है कि उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं। इस हिसाब से भर्तृहरि की मृत्यु सन् ६५१-६५२ ई० में हुई थी।

प्रश्न यह होता है कि कवि भर्तृहरि और वैयाकरण भर्तृहरि एक ही थे या अलग अलग ? बंगाल रॉयल एशियाटिक सोसायटी जरनल की अठारहवीं जिल्द में श्रीयुत पाठक ने और अक्टूबर १९३६ के अन्नमलाई विश्वविद्यालय के जरनल में श्रीयुत रामस्वामी शास्त्री ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'त्रिपदी' का लेखक भर्तृहरि बौद्ध था।

इसके विरुद्ध, शतकों के अध्ययन से भर्तृहरि कवि, वेदान्ती शैव प्रतीत होते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि भर्तृहरि को राजदरबार का अच्छा अनुभव था। या तो वे स्वयं राजा रह चुके थे अथवा वे राजमंत्री थे। 'वैराग्यशतक' के समय वे सन्यास ले चुके थे। 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में डाक्टर कीथ ने यह भी शंका की है कि भर्तृहरि बौद्ध हो गए हों और बाद में फिर शैव धर्म में आगए हों। परन्तु यह समझ में नहीं आता कि भर्तृहरि के शतक इतने प्रसिद्ध होते हुए भी ईत्सिंग ने उनका जिकर क्यों नहीं किया ? डाक्टर कीथ का उत्तर यह है कि या तो ईत्सिंग को शतकों का पता ही नहीं चला या बौद्ध धर्म की वस्तु न होने के कारण उसन इस का जिकर करना ही व्यर्थ समझा।

ईत्सिंग ने भर्तृहरि की दूसरी रचना 'वाक्य-पदीय' का जिकर करते लिखा है कि इसमें ७०० श्लोक हैं और इसका टीकाभाग ७००० श्लोकों का है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण द्वारा समर्थित अनुमान और व्याप्ति निश्चय की युक्तियों पर एक प्रबन्ध है। डाक्टर कीथ ने "वाक्य-पदीय" को भारतीय व्याकरणशास्त्र का अन्तिम स्वतंत्र ग्रंथ बतलाया है।



भर्तृहरि की तीसरी रचना ईत्सिंग ने 'पेइ-न' बतलाई है। इसमें तीन हजार श्लोक हैं और १४,००० श्लोकों में टीकाभाग है। श्लोकभाग भर्तृहरि की रचना है और टीकाभाग धर्मपाल का बताया है। ईत्सिंग ने लिखा है कि यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गंभीर रहस्यों की थाह लेती है और इसमें मानवी नियमों के तात्विक सौन्दर्य का वर्णन है। जो मनुष्य यह पढ़ लेता है उसे व्याकरणशास्त्र का पूर्ण पंडित कहा जाता है।

श्रीयुत पं० भगवद्दत्तजी ने 'पे-इन' को 'बेड़ा-वृत्ति' बतलाया है और सरस्वती सीरीज में छपी "ईत्सिंग की भारत-यात्रा" में लिखा है कि इसपर काश्मीरी पंडित हेलाराज की बृहत् टीका है मगर धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।

ईत्सिंग ने अन्तिम समय के बौद्ध धर्म के पंडितों में धर्मपाल, धर्मकीर्त्ति, शीलभद्र, सिंहचन्द्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त, गुणप्रभ और जिनप्रभ का नाम आदर और श्रद्धा के साथ लिया है।

युइनचांग की भारतयात्रा में नालन्द विश्वविद्यालय के प्रमुख अध्यापकों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र और शीलभद्र के नाम आते हैं। युइनचांग के समय में शीलभद्र जीवित थे। यह धर्मपाल के शिष्य थे। कहा जाता है कि धर्मपाल का ६०० ई० के पूर्व देहान्त हो चुका था। युइन चांग के वर्णन से पता चलता है कि धर्मपाल का परिपक्व वृद्धावस्था में शरीरान्त हुआ था।

ईत्सिंग के अनुसार, भर्तृहरि के 'पे-इन' के श्लोकों की टीका धर्मपाल ने की थी। इससे भर्तृहरि का धर्मपाल के बहुत पूववर्ती होना सिद्ध होता है। यदि धर्मपाल भर्तृहरि के समकालीन होते तो यह सम्भव न था कि युइनचांग जिकर न करता। कुछ जैन ग्रंथों में भर्तृहरि को दिगम्बरों के प्रसिद्ध आचार्य शुभचन्द्र का भ्राता बताया है और शुभचन्द्र को भी विक्रम का सम्बन्धी बताया है।

(४) महारासायनिक व्याडि

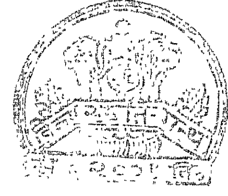
'कथासरित्सागर' के अनुसार महाराज विक्रमादित्य के समय में एक बड़ा रसायनशास्त्रज्ञ व्याडि, उज्जैन नगर में रहता था। अलबेरूनी ने अपनी प्रसिद्ध यात्रा में इस व्याडि रासायनज्ञ की जीवनी की चर्चा की है। व्याडि ने 'भेषज-संस्कार' ग्रंथ लिखा था परन्तु आर्थिक अवस्था के कारण उसे निराशा हुई और नदी में फेंक दिया। वहाँ से एक वेश्या ने उठा लिया और व्याडि की कल्पनासिद्धि के लिए उसे बहुतसा रुपया दिया जिसके द्वारा बहुतसी औषधियाँ तैयार हो पाईं। अलबेरूनी ने लिखा है कि एक क्वाथ ऐसा तैयार किया गया था कि शरीर पर मल लेने पर व्याडि और उसकी स्त्री दोनों वायु में उड़ने लगते थे। यह हाल विक्रमादित्य ने स्वयं अपनी आँखों से देखा था। अलबेरूनी के समय यह विश्वास किया जाता था कि व्याडि और उसकी स्त्री दोनों जीवित हैं।

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि शास्त्रकारों की परीक्षा पाटलिपुत्र में होती थी और पाणिनी, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र में ही परीक्षा दी थी। व्याडि का 'संग्रह' प्रसिद्ध है और महर्षि पतञ्जलि और भर्तृहरि ने इस संग्रह से कई उद्धरण दिए हैं। नागेश ने 'उद्योत' में ('महाभाष्य' पर 'कैयट' की समालोचना पर अपनी आलोचना में) व्याडि के विषय में लिखा है कि व्याडि के 'संग्रह' के एक लाख श्लोक प्रसिद्ध हैं। सम्भव है कि साहित्यिक व्याडि और वैज्ञानिक व्याडि एक ही हों। व्याडि के 'उत्पलिनी' नामक कोषग्रंथ से भी उद्धरण कहीं कहीं मिलते हैं।

'शब्दकल्पद्रुम' में व्याडि को कोषकार बताया गया है। 'रसरत्नसमुच्चय' में व्याडि को रसविद्या का आचार्य बताया गया है। हेमचन्द्र ने व्याडि को विन्ध्यवासी और नन्दिनीतनय बताया है। दक्ष की सबसे बड़ी कन्या दाक्षी के पुत्र पाणिनि बताए जाते हैं और दक्ष के सब से छोटे पुत्र के प्रपौत्र व्याडि बताए जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है—

अपिशल-पाणिनीय-व्याडीय-गोतमीयाः।

डाक्टर गिरीन्द्रनाथ मुकर्जी भिषगाचार्य ने 'भारतीय औषधि के इतिहास' में 'व्याडि' को (chemistry of gems) रत्नों के रसायनशास्त्र पर प्रामाणिक माना है, और लिखा है कि रामराजा के 'रसरत्नप्रदीप' में व्याडि



के कई उद्धरण मिलते हैं। आचार्य सर प्रफुल्लचन्द्र राय ने अपने 'हिन्दू कैमिस्ट्री के इतिहास' में 'रसराजलक्ष्मी' में व्याडि की प्रशंसा बताई है और 'व्याडि' के विषय में गरुड़पुराण का यह श्लोक प्रसिद्ध बतलाया है :—

व्याडिर्जगाद जगतां हि महाप्रभावः सिद्धो विदग्धहिततत्परया दयालुः ।।

(५) भर्तृमेण्ठ

राजशेखर ने 'काव्यमीमांसा' में लिखा है कि मेण्ठ ने काव्यकार की परीक्षा उज्जयिनी में उत्तीर्ण की थी। राजशेखर ने अपने आपको भर्तृमेण्ठ का ही अवतार माना है। अपने 'बालरामायण' में लिखा है :—

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्त्तते सम्प्रति राजशेखरः ।।

'सूक्तिमुक्तावली' में लिखा है :—

वक्रोक्त्या मेण्ठराजस्य वहन्त्या सृणिरूपताम्। आविद्धा इव धुन्वन्ति मूर्धानं कविकुञ्जराः ।।

'उदयसुन्दरीकथा' में बताया है—

स कश्चिदालेख्यकरः कवित्वे प्रसिद्धनामा भुवि भर्तृमेण्ठः।
रसप्लवेऽपि स्फुरति प्रकामं वर्णेषु यस्योज्ज्वलता तथैव ।।

मेण्ठ को हस्तिपक भी कहते हैं। कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में लिखा है कि राजा मातृगुप्त ने मेण्ठ के 'हयग्रीववध' को बहुत ही सुन्दर काव्य बतलाया और जब पुस्तक की जिल्द बँध रही थी तब यह विचार कर कि कहीं इसका "रस" चला न जाय, पुस्तक के नीचे रखने को एक सुवर्ण की थाली दी थी।

राजशेखर के अनुसार वाल्मीकि ही ने मेण्ठ होकर जन्म लिया था। फिर मेण्ठ भवभूति हुए और भवभूति ही राजशेखर हुए।

मंख कवि ने मेण्ठ को सुबन्धु, बाण, और भारवि की श्रेणी में रखा है।

डाक्टर ए० बैरीडेल कीथ की राय में ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरार्ध में मेण्ठ का होना सही प्रतीत होता है।

'शारंगधरपद्धति' में विक्रम और भर्तृमेण्ठ की सम्मिलित सूक्तियाँ उद्धृत की हुई मिलती हैं। 'राजतरंगिणी' में विक्रम, भर्तृमेण्ठ और मातृगुप्त (कालिदास) को मित्र बताया है।

(६) मत्स्येन्द्रनाथ

उज्जैन में क्षिप्रा के किनारे भर्तृहरि गुफा के पास और महाकाली (गढ़ कालिका) के मन्दिर से थोड़ी दूर पीर मछन्दरनाथ का बड़ा रमणीक स्थान है।

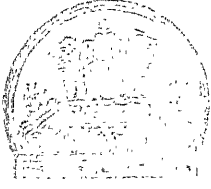
यह 'नाथ' सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं। 'स्कन्दपुराण' नागरखण्ड, 'नारदपुराण' उत्तरभाग, 'शंकरदिग्विजय,' 'ज्ञानेश्वर चरित्र', 'नाथलीलामृत', 'भक्तिविजय' और कल्याण के 'संत-अंक' में मत्स्येन्द्रनाथ की कथाएँ दी गई हैं।

कहा जाता है कि एक मछली के पेट से इनका जन्म हुआ था। पूर्व-पुण्य के कारण इन्हें शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त हो गई थी। इनको मत्स्यनाथ, मीननाथ, सिद्धिनाथ आदि भी कहते हैं। आपकी उत्कृष्ट योग रचना 'मत्स्येन्द्रसंहिता' के नाम से प्रसिद्ध है।

वे आदिनाथ शंकर के शिष्य तथा गोरखनाथ के गुरू थे। प्रसिद्ध है कि—

आदिनाथो गुरुर्यस्य गोरक्षस्य च यो गुरुः। मत्स्येन्द्रं तमहं वन्दे महासिद्धं जगद्गुरुम् ।।

कहा जाता है कि एक बार अपना शरीर छोड़ सिंहल द्वीप के राजा के शरीर में प्रवेश किया। शरीर की रक्षा का भार गोरखनाथ के ऊपर था। खोज करते करते गोरखनाथ सिंहल द्वीप में गए और गुरु के हृदय में स्मृति जगाने के निमित्त



तबला बजाते थे जिसमें से "जाग मछन्दर गोरख आया" की स्पष्ट ध्वनि निकलती थी। होश आने पर वे पूर्व शरीर में लौट आए।

ये 'काव्य-व्यूह' की रचना करते हुए एक काया से लीला दिखाते थे और दूसरे में 'भँवरगुफा' में बैठकर निर्विकल्प समाधि में लीन होते थे। समस्त उत्तर-भारत में और महाराष्ट्र में इनके नाम से सम्बद्ध स्थान पाए जाते हैं।

(७) राजा साहसांक

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में साहसांक नाम के आदर्श साहित्यप्रेमी उज्जन के राजा का उल्लेख किया है। राजा साहसांक ने अपने अन्तःपुर और राज-प्रासाद में संस्कृत भाषा के सिवाय दूसरी भाषा बोलने का निषेध कर दिया था और 'ट, ठ, ड, ढ' और 'ष' का प्रयोग भी रोक दिया था। उनके राज्यकाल में उज्जयिनी में कोमलकान्त पदावली और संस्कृत भाषा कितनी फली-फूली होगी, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती। जहाँ राजा के चोबदार और द्वारपाल भी संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे वहाँ अवश्य ही साहित्य भी बहुत ही ऊँची श्रेणी का रहा होगा।

वासुदेव, शूद्रक, सातवाहन और साहसांक इन चार राजाओं के राज्यकाल में कवियों का बड़ा सम्मान रहा था।

राजशेखर के अनुसार यह राजा लोग ब्रह्मसभा (कवि दरबार) में सभापति रहते थे और कवियों को दान देकर मान बढ़ाते थे। राजशेखर ने लिखा है कि ब्रह्म सभाओं में काव्य परीक्षा होनी चाहिए और परीक्षोत्तीर्ण का रथ में बैठाकर जलूस निकाला जाए और पट्टबन्ध होना चाहिए। साहसांक के काल में, एवं उज्जयिनी में प्राचीन काल में सदा ऐसी ही काव्यकार की परीक्षा होती आई है यह 'काव्य मीमांसा' से विदित होता है।

सूक्तिमुक्तावली में राजा साहसांक के विषय में लिखा है :—

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसांकः स भूपतिः। सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनः॥

'सरस्वतीकंठाभरण' में लिखा है—

केऽभूवन्नाढयराजस्य राज्ये प्राकृतभाषिणः। काले श्रीसाहसांकस्य के न संस्कृतवादिनः॥

'इण्डियन कल्चर' के आक्टोबर १९३९ में श्री० एस० के० दीक्षित महोदय ने साहसांक सम्बन्धी लेख में दो शिलालेखों का पता दिया है :—

(१) महोबादुर्ग का शिलालेख जिसमें लिखा है—

व्योमार्कार्णवसङ्ख्याते साहसांकस्य वत्सरे।

(२) रोहतासगढ़-शैल का लेख जिसमें लिखा है—

नवभिरथ मुनीन्द्रैर्वासराणामधीशैः परिकलयति सङ्ख्यां वत्सरे साहसांके॥

'प्रबन्धचिन्तामणि' के प्रथम प्रबन्ध के प्रारम्भ में "विक्रमार्कः" की प्रशंसा है। अन्त में 'साहसांक' की प्रशंसा इन शब्दों में है :—

वन्यो हस्ती स्फटिकघटिते भित्तिभागे स्वबिम्बं दृष्ट्वा दूरात्प्रतिगज इति त्वद्द्विषां मन्दिरेषु।
हत्वा कोपाद् गलितरदनस्तं पुनर्वीक्ष्यमाणो मन्दं मन्दं स्पृशति करिणीशंकया साहसांकः॥

जैन ग्रंथों में विक्रमार्क और साहसांक इस प्रकार एक ही माने गए हैं।

'अमरकोष' की टीका में क्षीरस्वामी ने साहसांक को विक्रमादित्य चन्द्रगुप्त का पर्यायवाची शब्द बतलाया है यथा—

विक्रमादित्यः साहसांकः शकान्तकः। शूद्रकस्त्वग्निमित्रो वा हालः स्यात्सातवाहनः।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही 'साहसांक' थे, ऐसा मत विद्वानों का है। प्रमाण में वे 'देवीचन्द्रगुप्त नाटक', अबुल हसनअली का 'मजमल-उल-तवारीख' (१०२६ ईसवी); सज्जन ताम्रपत्र; और गोविंद चतुर्थ राष्ट्रकूट की प्रशंसा में सांगली और कैम्बे में निकले कुछ शिलालेख बतलाते हैं।

ये प्रमाण बहुत अंशों में कल्पना को सही बतलाते हैं परन्तु यह नहीं हैं कि ये प्रमाण निर्विवाद ही हों। सम्भव है कि साहसांक कोई दूसरे विक्रमादित्य हो।

(८) मयूरकवि

मयूर का अवन्ती में शंकर से शास्त्रार्थ में परास्त होना 'शंकरदिग्विजय' में लिखा हुआ है। यह बाणभट्ट के श्वशुर व उनके व मातंग दिवाकर के समकालीन बताए जाते हैं। इन्होंने अपनी लड़की या बहिन के ऊपर कुछ कविता बनाई थी जिससे क्रुद्ध होकर उसने इनको शाप दिया कि तुम कोढ़ी हो जाओ। कुष्ठ होने पर इन्होंने सूर्याष्टक बनाकर सूर्य की प्रार्थना करके शाप से मुक्ति पाई। पद्मगुप्त के 'नवसाहसांकचरित' में बाण और मयूर की प्रतिद्वन्द्विता का वर्णन किया है।

'प्रबन्धचिन्तामणि' व अन्य ग्रंथों में लिखा है कि मयूर की बहिन बाणभट्ट को ब्याही थी जिसने मयूर को शाप दिया था। मेरुतुंगाचार्य के कथनानुसार राजा भोज की राजसभा में बाण और मयूर रहे थे। दूसरे ग्रंथ इनको राजा हर्षवर्धन की राजसभा में होना मानते हैं।

इनका 'मयूराष्टक' प्रसिद्ध है। इनके काव्य की भाषा दुरूह व जटिल है, परन्तु इनमें प्रतिभा पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है।

(९) बाणभट्ट

श्री माधवाचार्य के 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि अवन्ति-देश के प्रसिद्ध विद्वान् बाण, मयूर और दण्डी को भी शंकराचार्य ने, भट्ट भास्कर के अनन्तर, शास्त्रार्थ में परास्त किया और अपने भाष्य के सुनने के लिए उत्सुक बना दिया।

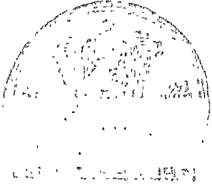
दाक्षिणात्य विद्वानों में शंकराचार्य के अनन्तर तत्सदृश माधवाचार्य ही माने जाते हैं। यह सायण के भाई थे। दोनों भाई विजयनगर के बुक्क और हरिहरराय के सभा पण्डित और मंत्री थे। विजयनगर की पुस्तकालय उन दिनों बहुत प्रसिद्ध था। 'शंकरदिग्विजय' प्राचीन पुस्तकों के आधार पर ही लिखी गई होगी और बिना प्रमाण के बाण, मयूर, दण्डी का अवन्ती में होना नहीं लिखा गया होगा ऐसा हमारा विचार है।

स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान् विबुधान् बाण-मयूर-दण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान्निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार॥

'हर्षचरित' के अनुसार बाणभट्ट वात्सायन वंश में जन्मे थे। उनके पूर्वज सोन नदी के किनारे प्रीतिकूट ग्राम में रहते थे। उनके पिता चित्रभानु थे, माता का नाम राज्यदेवी था। माता का बचपन में ही देहान्त हो गया था। पिता भी १४ वर्ष की अवस्था में चल बसे थे। इसलिए लालन पालन भली प्रकार नहीं हुआ था। बचपन में ही देशाटन को चल पड़े थे और नाना प्रकार के अनुभव प्राप्त किए थे जिससे बुद्धिविकास और सांसारिक अनुभव हुआ। इसके अनन्तर महाराज हर्षवर्धन ने उनको बुलाया। पहले तो उनका विशेष सत्कार नहीं हुआ पर बाद में उनको अपने आश्रय में रख लिया।

'हर्षचरित', 'कादम्बरी', 'चंडिकाशतक', 'पार्वतीपरिणय', 'मुकुटताडित नाटक' ये ग्रंथ बाण के बताए जाते हैं 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दोनों अपूर्ण हैं। 'कादम्बरी' को बाणभट्ट के पुत्र भूषणभट्ट या पुलिनभट्ट ने पूर्ण किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि साहित्य को त्यागकर, वृद्धावस्था में, बाण की रुचि योग या वैराग्य की तरफ हुई होगी और वे अवन्ती में चले आए होंगे।

'कादम्बरी' गद्यकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। लम्बे लम्बे समास, कठिन कठिन वाक्य, विशेषणों और अलंकारों की भरमार से कहीं कहीं जटिलता बढ़ गई है। लालित्य और सरसता होते हुए भी, कथानक बड़ा जटिल है। वैबर ने लिखा है कि पृष्ठ-पर-पृष्ठ पढ़ने पर भी एक ही क्रिया मिलती है परन्तु हर पृष्ठ पर अलंकारिक भाषा, दुरूह समास और विशेषणों की इतनी भरमार है कि यह प्रतीत होता है कि एक ऐसे घने जंगल में चल रहे हैं जहाँ बिना अपने हाथ से



जंगल काटे आगे बढ़ना असंभव है और भिर भी इस बात का भय बना रहता है कि आगे कोई अज्ञात भयानक शब्द सहसा न आ जाय।

डाक्टर कीथ और काले ने इस आलोचना को सही बतलाया है।

बाणभट्ट को उज्जयिनी से बड़ा प्रेम प्रतीत होता है। कादम्बरी में पृष्ठ-के-पृष्ठ उज्जयिनी की प्रशंसा में लिखे गए हैं जिससे ज्ञात होता है कि इस नगरी में उनका निवास बहुत वर्षों तक रहा था।

'कादम्बरी' में आया उज्जयिनी नगरी का वर्णन बाण के उज्जयिनी-प्रेम के अतिरिक्त उस समय में उज्जयिनी नगरी की वास्तविक अवस्था का भी परिचायक है।

(१०) भट्ट भास्कर

आदि गुरू शंकराचार्य के समकालीन उज्जयिनी में भट्ट भास्कर थे जिनके लिए 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि वे ब्राह्मणवंश के अवतंश थे और उन्होंने सब वेद-मंत्रों की व्याख्या लिखी है। माधवाचार्य ने लिखा है कि--

अभिरूपकुलावतंसभूतं बहुधा व्याकृतसर्ववेदराशिम्॥

भट्ट भास्कर को भी अपनी विद्या पर अभिमान था और शास्त्रार्थ के पूर्व, 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि उन्होंने स्वयं अपने लिए यह कहा कि "सूक्तियाँ जब मेरे मुंह से निकलती हैं तब कणाद की कल्पना क्षुद्र मालूम होती है और कपिल का प्रलाप भाग खड़ा होता है। जब प्राचीन आचार्यों की यह दशा है तब आजकल के विद्वानों की गणना ही क्या है?"

इस कथन में सत्य का बहुत अंश था, इसका पता शंकर और भट्ट भास्कर के उज्जयिनी में किए हुए शास्त्रार्थ और युक्तियों का पठन करने से भलीभाँति चलता है।

अन्त में शंकराचार्य की विजय हुई परन्तु इस विजय के समय भी, 'शंकरदिग्विजय' में, भट्ट भास्कर की विद्वत्ता को स्वीकृत किया गया। अन्तिम श्लोक है--

इति युक्तिशतैरमर्त्यकीर्त्तिः सुमतीन्द्रं तमतन्द्रितं स जित्वा।
श्रुतिभावविरोधिभावभाजं विमतग्रंथममन्थरं ममन्थ॥

(इस प्रकार अनेक सूक्तियों से अमरकीर्ति शंकर ने उस उद्योगशील पंडितश्रेष्ठ भट्ट भास्कर को जीतकर श्रुतिभाव के विरुद्ध अभिप्राय को प्रकट करनेवाले उनके ग्रंथ का शीघ्र खण्डन किया।)

यह ग्रंथ भेदाभेद मत का प्रतिपादक था।

(११) हरिचन्द्र भट्टारक

राजशेखर ने लिखा है कि उज्जयिनी में काव्यकार-परीक्षा में हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त भी परीक्षित हुए थे। विद्वानों की कल्पना है कि हरिचन्द्र तो भट्टारक हरिचन्द्र हैं और चन्द्रगुप्त साहसांक विक्रमादित्य हैं। गुप्त शिलालेखों में भट्टारक पद का बहुत प्रयोग हुआ है। और 'विश्वप्रकाशकोश' में लिखा है कि भट्टारक पद राजा के लिए भी प्रयुक्त होता है। इसलिए श्रीयुत भगवद्दत्तजी ने अपने 'भारतवर्ष के इतिहास' में लिखा है कि भट्टारक हरिश्चन्द्र, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का भाई या निकटतम सम्बन्धी रहा होगा।

बाणभट्ट ने इन्हीं हरिचन्द्र भट्टारक के एक गद्य-ग्रंथ का स्मरण करते हुए लिखा है---

भट्टारहरिचन्द्रस्य गद्यबन्धो नृपायते।

भट्टारक हरिचन्द्र की 'चरकटीका' का कुछ भाग अब भी प्राप्त है और आयुर्वेद ग्रंथों में हरिचन्द्र की **'चरकव्याख्या'** के उद्धरण बहुत मिलते हैं। 'अष्टांगसंग्रह' की व्याख्या में इन्दु ने भट्टारक हरिचन्द्र को एक 'खरणाद संहिता' का **कर्त्ता भी बतलाया है।**

महेश्वर ने शक १०३३ में अपने 'विश्वप्रकाशकोश' की भूमिका में कन्नौज के राजा के वैद्य श्रीकृष्ण को हरिचन्द्र के कुल में पैदा हुआ बतलाया है। और इस कुल को अनेक राजाओं से वन्दनीय कुल ("आसीदसीम-वसुधाधिप-वन्दनीये") बतलाया है। यह भी लिखा है कि चरक व्याख्याकार हरिचन्द्र श्रीसाहसांक राजा का ही वैद्य था।

श्रीसाहसांकनृपतेरनवद्यवैद्यविद्यातरंगसुपदद्वयमेव बिभ्रत्।

यश्चन्द्रचारुचरितो हरिचन्द्रनामा स्वव्याख्यया चरकतन्त्रमलञ्चकार॥

इस प्रकार वैद्यवर हरिचन्द्र भट्टारक का परीक्षा स्थान ही नहीं, बहुत काल तक निवास स्थान भी राजा साहसांक की उज्जयिनी रहा है। विल्सन का यह लिखना सही नहीं है कि साहसांक ११११ ई० में गाजीपुर में राजा था जिसके यहाँ महेश्वर वैद्य था। वास्तव में उपर्युक्त श्लोक में हरिचन्द्र भट्टारक की ही प्रशंसा है कि वह सम्राट् साहसांक के यहाँ वैद्य था और श्रीकृष्ण और महेश्वर उसी के बड़े कुल में जन्मे थे।

कहा जाता है कि बिना हरिचन्द्र की व्याख्या के चरकसंहिता का समझना अत्यन्त कठिन है। श्लोक प्रसिद्ध है—

हरिश्चन्द्रकृतां व्याख्यां विना चरकसंमतम्। यस्तृणोत्यकृतप्रज्ञः पातुमीहति सोऽम्बुधिम्॥

(१२) आर्यसूर

राजशेखर ने सूर का नाम उन आठ महाव्यक्तियों में लिखा है कि जिन्होंने उज्जयिनी में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। विद्वानों का मत है कि यह सूर बौद्ध कवि आर्यसूर हैं। आर्यसूर की 'जातकमाला' प्रसिद्ध है और चीनी यात्री ईत्सिंग ने लिखा है कि मठों में और चैत्यों में विद्यार्थीगण और भिक्षु लोग 'जातकमाला' का बड़ी श्रद्धा के साथ अध्ययन करते थे।

ईत्सिंग के अनुसार 'जातक' का अर्थ है 'पूर्व जन्म' और 'माला' हार को कहते हैं। जातकमाला में बोधिसत्वों के पूर्वजन्मों में किए कठिन कार्यों की कथाएँ एक सूत्र में पिरोई गई हैं। 'जातकमाला' बड़े मधुर संस्कृत काव्य में है जिससे पता चलता है कि अश्वघोष की तरह आर्यसूर भी पाली छोड़कर संस्कृत काव्यधारा के प्रेमी थे। इससे यह भी पता चलता है कि प्रसिद्ध विद्वान् लोग उस समय पाली का सहारा छोड़कर राज्यदरबार व साहित्यिकों की रुचि देखकर संस्कृत को ही अपना रहे थे। 'जातकमाला' के कई श्लोकों को लेकर अजन्ता की गुफा में कई चित्र भी बनाए गए हैं जिससे ज्ञात होता है कि 'अजन्ता' गुफा की चित्रकला के पूर्व आर्यसूर की 'जातकमाला' अत्यन्त प्रसिद्धि पा चुकी थी। आर्यसूर का एक अन्य ग्रंथ ईसवी सन् ४३४ में चीनी भाषा में अनुवादित हुआ था। इसलिए इस समय से बहुत पहिले आर्यसूर का प्रादुर्भाव हुआ होगा।

आर्यसूर के गद्य और पद्य दोनों प्राञ्जल और मधुर हैं। उनका काव्य सुन्दर कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। उनका छन्द ज्ञान बहुत ऊँचा और भाषा दूषण रहित है। बड़े बड़े समास, विशेष करके गद्य में, जातकमाला में अवश्य आते हैं परन्तु वे कृत्रिम न होकर स्वतः आते चले जाते हैं और उनसे भाषा की सरसता और सुन्दर प्रवाह में बाधा नहीं पड़ती। संस्कृत साहित्य के इतिहास में 'जातकमाला' का एक अद्वितीय स्थान है।

(१३) महाकवि धनपाल

श्री मेरुतुंगाचार्य के 'प्रबन्धचिन्तामणि' में महाकवि धनपाल का जीवन-चरित दिया हुआ है। लिखा है कि संकाश्य गोत्रीय सर्वदेव नामक ब्राह्मण उज्जयिनी में रहा करता था। उसके दो पुत्र थे, धनपाल और शोभन। सर्वदेव की आस्था जैनधर्म पर थी और श्रीवर्धमान सूरि के कहने के अनुसार शोभन ने जैनधर्म में दीक्षा ले ली। धनपाल जैनियों का विरोधी रहा। उज्जयिनी में समस्त विद्याध्ययन करने के अनन्तर वह भोज की पंडित मंडली में सुप्रतिष्ठित हुआ और उसने बारह वर्ष उस देश में जैन दार्शनिकों के आगमन को निषिद्ध कराया। बाद में शोभन के संसर्ग से धनपाल भी जैनधर्म में सत्य देखने लगा। बुद्धिमान तो था ही, अतएव कर्मप्रकृति प्रभृति जैन विचार-ग्रंथों में भी वह बड़ा प्रवीण हुआ।

धनपाल के कई वाक्य-चातुरी और काव्य-चातुरी के उदाहरण 'प्रबन्धचिन्तामणि' में मिलते हैं। धनपाल की प्रेरणा से राजा ने मृगया (शिकार) और जीवों की हत्या का त्याग किया। एक दिन यज्ञ-मण्डप में यज्ञ-स्तंभ से बँधे हुए बकरे की



आवाज सुनकर उसकी तरफ देखकर राजा भोज ने पूछा कि यह बकरा क्या कह रहा है ? धनपाल ने उत्तर दिया कि यह बकरा कह रहा है—

नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाभ्यर्थितस्त्वं मया सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं साधो न युक्तं तव।
स्वर्गं यान्ति यदि त्वया विनिहिता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनो यज्ञं किं न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बांधवैः॥

(मैं स्वर्गफल भोगने का अभिलाषी नहीं हूँ; मैंने इसके लिए तुमसे याचना भी नहीं की। मैं तो केवल तृण खाकर ही सन्तुष्ट हूँ। तुम्हारा यह कार्य उचित नहीं है। यदि निश्चय ही यज्ञ में मारे जानेवाले प्राणी स्वर्ग में जाते हैं; तो हे साधो, अपने माता पिता, बांधव और पुत्रों का यज्ञ में बलिदान क्यों नहीं करते ?)

इस उत्तर को सुनकर राजा को अहिंसा पर श्रद्धा उत्पन्न हुई।

एक दिन राजा क्रोध में धनपाल के साथ आ रहा था। एक बालिका के साथ एक वृद्धा रास्ते में आती दिखाई दी। वृद्धा का सिर बुढ़ापे के मारे हिल रहा था। राजा ने पूछा इस वृद्धा का सिर क्यों हिल रहा है। धनपाल ने उत्तर में श्लोक पढ़ा—

किं नंदी किं मुरारिः किमु रतिरमणः किं विधुः किं विधाता
किं वा विद्याधरोऽसौ किमुत सुरपतिः किं नलः किं कुबेरः।
नायं, नायं, न चायं, न खलु नहि न वा नापि नासौ न चासौ
क्रीडां कर्तुं प्रवृत्तः स्वयमपि च हले भूपतिर्भोजदेवः॥

(यह वृद्धा सोचती है कि यह जो सामने चला आ रहा है वह नन्दी है या मुरारि ? कामदेव है या चन्द्रमा ? विद्याधर है या विधाता ? इन्द्र है या नल है या कुबेर ? फिर देखकर उत्तर देती है, "ना ना यह वह नहीं है, यह भी नहीं है, बिलकुल यह नहीं है, वह भी नहीं है, और वह भी नहीं है। यह तो क्रीड़ा करने में प्रवृत्त स्वयं राजा भोज है"। इसीलिए वृद्धा का सिर बारबार हिल रहा है।)

यह सुनकर राजा का क्रोध जाता रहा।

धनपाल ने 'तिलकमंजरी' नामक सुन्दर काव्य-ग्रंथ लिखा था। राजा ने पढ़कर यह इच्छा की—"इस ग्रंथ का नायक मुझे बनाओ, विनीता के स्थान में अवन्ती का नाम रखो, शक्रावतार तीर्थ की जगह महाकाल करो, फिर जो माँगोगे मैं तुमको दूंगा।" स्वतंत्र-प्रकृति कवि ने इसको अस्वीकार किया और यह और कह दिया कि "जिस प्रकार खद्योत और सूर्य में, सरसों और सुमेरु में, काँच और काञ्चन में, तथा धतूरे और कल्पवृक्ष में महान् अन्तर है उसी तरह तुममें और उनमें है।" जब इस प्रकार कवि अनर्गल बक रहा था राजा ने क्रोध में आकर मूल प्रति को जलती आग में फेंक दिया।

उदास होकर पंडित अपने घर में आकर मञ्च पर सो गया। उसकी विद्वान् कन्या बालपंडिता ने पंडित को उठाया और 'तिलकमञ्जरी' की प्रथम प्रति के लेखन का स्मरण कर आधा ग्रंथ लिखा दिया। फिर पंडित ने उत्तरार्ध नया लिखकर ग्रंथ सम्पूर्ण किया। ग्रंथ समाप्त होने पर रुष्ट होकर नाणागाँव में चला गया। परन्तु भोज ने फिर बुलवा लिया। और अन्त तक राजा भोज के साथ बना रहा।

रियासत धार के इतिहास में धनपाल और शोभन राजा मुंज के दरबार में बताए गए हैं, राजा भोज के नहीं। धनपाल के लिए कहा गया है कि "धनपाल का सरस वचन और मलयागिरि का सरस चन्दन हृदय में लगाकर कौन शान्त नहीं होता ?"

वचनं धनपालस्य चंदनं मलयस्य च। सरसं हृदि विन्यस्य कोऽभून्नाम न निर्वृतिः॥

(१४) गुणशर्मा

गुणशर्मा एक वेद-विद्या-विशारद, संगीत, नाट्यकला में दक्ष, राजनीति में चतुर ब्राह्मण थे जो राजा महासेन के मंत्री हुए और उसके अनन्तर उज्जयिनी के राजा हुए।



श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी

'कथासरित्सागर' में इनके पिता का नाम आदित्यसेन बतलाया है। पाँचवीं वर्ष में आदित्यसेन के पिता का स्वर्गवास हुआ और उनकी माता सती हुई। आदित्यसेन उज्जैन में अपने मामा के घर पाले गए। विद्याध्ययन के अनन्तर एक परिवार के साथ यक्षिणी सिद्ध की और बाद में वेना नदी के तीर पर दक्षिण में तुम्बवन नामी स्थान पर बौद्ध सन्यासियों में श्रेष्ठ विष्णुगुप्त से दीक्षा लेकर सुलोचना यक्षिणी की सिद्धि की। सुलोचना के गर्भ से, या प्रसाद से, गुणशर्मा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जो आदित्यसेन के मामा के घर उज्जैन में ही पाला गया। विद्याध्ययन के अनन्तर गुणशर्मा राजा महासेन के दरबार में पहुँचे और फिर उनकी अंतरंग सभा के सदस्य बने।

गुणशर्मा नृत्यकला में इतने दक्ष थे कि उनकी कला हावभाव कटाक्ष की उत्तमता देखकर देखनेवाले आनन्द से विभोर हो जाते थे। जब वीणा बजाते तो उनकी संगीत की लहरी ऐसी मनोहर लगती थी मानों तीनों लोकों को पावन करनेवाली गंगा की धारा हो। उनका गाना सुनकर मनुष्य चित्र के समान देखते रह जाते थे। शस्त्र और अस्त्र विद्या में उनके समान गुणी दूसरा न था। बन्धकरण मंत्र में ऐसे दक्ष थे कि अस्त्रशस्त्र से सुसज्जित शत्रु को भी बाँध सकते थे। एक बार सोमक राजा पर जब महासेन ने चढ़ाई की तब महासेन को गौडेश्वर राजा विक्रमशक्ति ने बीच में ही घेर लिया था तब बड़े साहस के साथ, रात्रि के समय, गुणशर्मा ने राजा विक्रमशक्ति के शिविर में पहुँचकर विष्णु भगवान् के दूत बनकर, उनकी सेना को वापिस जाने पर मजबूर किया था। तदनन्तर महासेन ने सोमक राजा पर विजय पाई थी।

एक बार नदी में कूदकर महासेन राजा को घड़ियाल से बचाया और दूसरी बार जब महासेन को सर्प ने डस लिया था तो सर्प-विष से राजा की रक्षा की।

शस्त्र चलाने में ऐसे निपुण थे कि विक्रमशक्ति से जब बाद में युद्ध हुआ तो शनैः शनैः सेना थकने लगी थी। दोनों राजा विरथ होकर पैदल लड़ने लगे थे। महासेन पृथ्वी पर फिसल पड़े उसी समय विक्रमशक्ति ने खड्ग का प्रहार किया। गुणशर्मा ने तुरन्त ही एक चक्र से उसको काट दिया और राजा विक्रमशक्ति को तलवार की धार से स्वर्ग पहुँचाया।

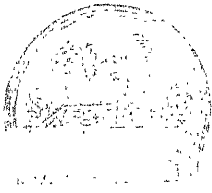
इतने राजभक्त मंत्री को भी राजा महासेन ने रानी अशोकवती के मिथ्या दोषारोपण के कारण अपमानित करके देश से निकलवा दिया। गुणशर्मा ने तदनन्तर निराश होकर अवन्तिका के समीपस्थ एक ग्राम में अग्निदत्त के गृह में अत्यन्त गुप्त पातालवसति नामक भूगृह में रहते हुए तपस्या करके स्वामिकार्तिक को प्रसन्न किया और फिर धीरे धीरे एक बड़ी सेना को एकत्रित करके उज्जयिनी पर धावा बोला और राजा महासेन पर विजय पाकर उज्जयिनी का राज अपने हाथ में लिया। अग्निदत्त की कन्या सुन्दरी से ब्याह करके अभीष्ट भोगों को भोगते हुए बहुत दिन तक सुखपूर्वक उन्होंने उज्जयिनी पर राज्य किया।

(१५) महाकवि भारवि

राजशेखर ने लिखा है कि भारवि उज्जैन में शिक्षा प्राप्त करके काव्यकार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए थे।

एहोललेख में भारवि कालिदास के समकालीन बनाए हैं। दोनों का नाम साथ साथ है। काशिका वृत्ति में भी उनके उदाहरण हैं। कालिदास का प्रभाव उनके काव्य में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और माघ के काव्य में भारवि का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। विद्वानों का मत है कि वे ५०० ई० और ५५० ई० के मध्य में रहे होंगे।

उनका 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य है। यह अधिकतर महाभारत की एक अन्य कथा के रूप में है। पांडवों ने १२ वर्ष के वनवास में किस तरह निर्वाह किया और अर्जुन को वेदव्यास ने किस तरह हिमालय पर्वत पर इन्द्र की आराधना करने को भेजा और अर्जुन ने इन्द्र को प्रसन्न करके शिवजी को युद्धकला दिखाकर किस तरह से अमूल्य शस्त्र लिए, इसकी विस्तृत कथा किरातार्जुनीय में कही गई है। अलंकार और विविध छन्दों से किरातार्जुनीय भरा पड़ा है। भारवि इतने प्रसिद्ध हैं कि इनके काव्य के विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है।



प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

(१६) आचार्य दण्डी

जिस प्रकार कालिदास की 'उपमा' प्रसिद्ध है उसी प्रकार दण्डी का 'पद-लालित्य' भी प्रसिद्ध है। श्री माधवाचार्य के 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि शंकर ने अवन्तिका में दण्डी को भी शास्त्रार्थ में परास्त किया था। दण्डी के समय का पता नहीं चलता परन्तु इनको भामह (७०० ई०) का पूर्ववर्ती सिद्ध किया जाता है। दण्डी ने अपने तीन ग्रंथ बताए हैं जिनमें से दो ही प्रसिद्ध हैं। प्रथम 'दशकुमारचरित' और द्वितीय है 'काव्यादर्श'। तीसरे ग्रंथ का पूर्ण पता नहीं चलता।

'दशकुमारचरित' में दश राजकुमारों के प्रेम-परिणय का वर्णन है। गुणाढ्य की 'बृहत्कथा' की तरह ही एक कथा में दूसरी कथा की गुत्थी उलझी हुई प्रतीत होती है। 'दशकुमारचरित' में वर्णित देशों के नाम व भूगोल से यह पता चलता है कि वे नाम हर्षवर्धन के साम्राज्य के पहिले के हैं। भाषा की सादगी के कारण 'दशकुमारचरित' बाणभट्ट और सुबन्धु के पूर्व लिखित बताया जाता है।

'दशकुमारचरित' में किसी शैली की व्यवस्था नहीं है परन्तु जहाँ कहीं किसी का वर्णन किया गया है वह अद्वितीय है। साहसी कार्य और निम्नकोटि के जीवन का दिग्दर्शन उत्तम रीति से कराया गया है। जादूगर और पाखंडी, चोरशास्त्र के विशेषज्ञ, प्रेमी और प्रेमिकाओं का वर्णन यत्र-तत्र किया गया है। अपहारवर्मन चोरों का राजा है। कर्णीसुत चोरशास्त्र का आचार्य और ग्रंथकार है। कर्णीसुत के शास्त्र के अनुसार एक नगर को लूटने के लिए अपहारवर्मन प्रबन्ध करता है। कारण केवल मात्र यह है कि एक वेश्या से एक अभागा पुरुष लूट लिया गया था और नगर में बहुत से कंजूस बसते थे। धर्म के सिद्धान्त जो कुछ बताए गए हैं वे निम्नप्रकार के हैं। धार्मिक ब्राह्मणों पर व्यंग की बौछारें हैं, एक दिगम्बर जैन साधु का उपहास किया गया है और एक बौद्ध भिक्षुणी कुट्टिनी के कार्य में दक्ष बताई गई है।

ऐसा प्रतीत होता है कि धार्मिक संघों में दण्डी के समय में अधर्म बढ़ चुका था और ग्रंथकार ने जो कुछ देखा उसको किसी न किसी बहाने इस ग्रंथ में वर्णन कर दिया। यह नीतिसार का ग्रंथ बताया जाता है परन्तु कथा ऊँची नहीं है और न उनसे किसी ऊँचे सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है।

'काव्यादर्श' एक बहुत ऊँचा ग्रंथ है और इसीलिए समालोचकों ने यह शंका प्रकट की है कि 'काव्यादर्श' के ऊँचे ग्रंथ का रचयिता 'दशकुमारचरित' सरीखा साधारण ग्रंथ शायद न लिखेगा। शंका का समाधान यह बताया जाता है कि 'दशकुमारचरित' अल्प अवस्था में लिखा गया और काव्यादर्श शायद परिपक्वावस्था में रचा गया था। वास्तव में 'काव्यादर्श' से ही दण्डी को साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान मिला है।

श्री कन्हैयालालजी पोद्दार ने लिखा है कि दण्डी का समय सम्भवतः ईसा की सप्तम शताब्दी का अन्तिमचरण है। 'अवन्तिसुन्दरीकथा' अभी मद्रास से मुद्रित हुई है जिसके आधार पर लिखा है कि आचार्य दण्डी सुप्रसिद्ध 'किराता-र्जुनीय' महाकाव्य के प्रणेता कवि भारवि के प्रपौत्र थे। 'इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली' की तीसरी जिल्द में श्रीयुत् हरिहर शास्त्री ने इस मुद्रित पुस्तिका को अशुद्ध बतलाया है और इसलिए इसके आधार पर कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। एक प्राचीन श्लोक में लिखा है—

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्। कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

जगत में पहिला कवि वाल्मीकि हुआ, दूसरा व्यास, और तीसरा दण्डी।

(१७) सुबन्धु

सुबन्धु महाराज विक्रमादित्य के समकालीन और वररुचि के भानजे (भागिनेय) थे। सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' नाम की कथा गद्यकाव्य में लिखी है। बाणभट्ट ने इस 'वासवदत्ता' की 'हर्षचरित' में प्रशंसा की है। यह 'वासवदत्ता' चण्डप्रद्योत की कन्या नहीं है; परन्तु एक दूसरे राजा शृंगारशेखर की कन्या है। राजा चिन्तामणि के पुत्र कन्दर्पकेतु उसके सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर प्रेम में पड़ जाते हैं और घूमते घूमते वासवदत्ता को खोज लेते हैं और तदनन्तर व्याह हो जाता है। कथा कोई बडी नहीं है; कथानक भी साधारण है। परन्तु काव्य में प्रतिभा अवश्य है। वाक्पति राज के 'गौडावह' में सुबन्धु को भास, कालिदास और हरिचन्द्र की श्रेणी में बताया है। मंख के 'श्रीकण्ठचरित' में सुबन्धु को भर्तृमेण्ठ, भारवि

और बाणभट्ट की श्रेणी में बताया है। 'राघवपांडवीय' में कविराज, बाणभट्ट और सुबन्धु को श्लेष कविता का आचार्य बताया है। बाणभट्ट ने यहाँ तक लिखा है कि 'वासवदत्ता' से कवियों का दर्प जाता रहा—

कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।

'वासवदत्ता' से ज्ञात होता है कि उस समय बौद्ध और ब्राह्मण विद्वानों के परस्पर दार्शनिक वादविवाद होते थे। सुबन्धु ने लिखा है कि—

केचिज्जैमिनिमतानुसारिणि इव तथागत-मत-ध्वंसिनः।

(तथागत वा बुद्ध के सिद्धान्त का विध्वंस जैमिनि के मतानुयायी करते हैं।)

सुबन्धु ने एक स्त्री की प्रशंसा में लिखा है—

न्यायस्थितिम् इव उद्योतकरस्वरूपाम्, बौद्धसंगतिम् इव अलंकारभूषिताम्।।

यहाँ पर न्यायवार्तिक के ग्रंथकार उद्योतकर का नाम स्पष्टतः लिया गया है। इससे पता चलता है कि सुबन्धु उद्योतकर के पश्चात् हुए हैं। श्रीयुत् गंगाप्रसादजी मेहता ने सुबन्धु का काल छठवीं शती माना है। डाक्टर कीथ के अनुसार वह बाणभट्ट के समकालीन थे।

महाराज विक्रमादित्य के अनन्तर साहित्य की अवनति को लक्ष्य करते हुए सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' में लिखा है कि—

सा रसवत्ता विहता नवका विलसन्ति चरति नो कंकः। सरसीव कीर्तिशेषं गतवति भुवि विक्रमादित्ये।

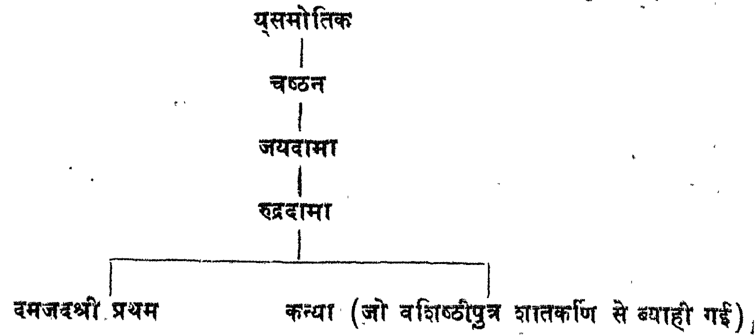
(रसवत्ता नष्ट हो चुकी है। नए लोग विलासी हैं। सरोवर की भाँति पृथ्वी पर विक्रमादित्य की कीर्तिशेष रह गई है।)

(१८) महाक्षत्रप रुद्रदामा

यूनानी भूगोलज्ञ क्लौडियस टालेमी (Klaudius Ptolemy) ने अपने इतिहास में उज्जैन के टियस्टनस (Tiastenes of OZENE) का उल्लेख किया है। वास्तव में यह क्षत्रप चष्टन था। रुद्रदामा इसी चष्टन का पौत्र था।

शक लोगों के कई दल भारतवर्ष में पहली शताब्दी में आ चुके थे। इनके सूबेदार अपने को क्षत्रप कहते थे। पुराने ईरानी "क्षथ्रपावन" का शुद्ध संस्कृत रूप छत्रप (पृथ्वी का रक्षक) है। उत्तरी 'क्षत्रप' पार्थियन राजाओं को अपना बादशाह मानते थे। पश्चिमी क्षत्रप ईसवी प्रथम शताब्दी के उत्तरार्ध में सिन्ध और गुजरात से होते हुए पश्चिमी भारत में आए थे। ये लोग प्रारंभ में उत्तरी-पश्चिमी भारत के कुणाष राजाओं के सूबेदार मालुम होते हैं। परन्तु अन्त में इनका प्रभाव बहुत बढ़ा और मालवा, गुजरात, काठियावाड़, कच्छ, सिन्ध, उत्तरी कोंकण और राजपूताना तक इनका अधिकार हो गया था। ये स्वतंत्र होकर 'महाक्षत्रप' कहलाने लगे। इसके पहले ही ये पौराणिक धर्म मानने लगे थे और ब्राह्मण-धर्म और संस्कृत भाषा के उद्धार में इन लोगों का प्रमुख हाथ रहा है।

मत्स्य, वायु और ब्रह्माण्ड में १८ शक राज लिखे हैं। विष्णु और भागवत में संख्या १६ बताई है। मञ्जुश्री-मूल-कल्प में भी १८ ही बताई है। इस तरह १८ शक भूपति तो अनुमानित किए ही जाते हैं। उज्जयिनी के शकों के अनेक सिक्के व शिलालेख अभी तक मिल चुके हैं। पं० भगवद्दत्तजी ने उनका निम्नलिखित वंश-वृक्ष प्रस्तुत किया है:—





प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

पं० जनार्दनभट्ट ने भूमक और नहपान को भी चष्टन का पूर्वज माना है। परन्तु 'त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति' की गाथा में लिखा है कि नहपान ने उज्जैन में ४० वर्ष राज्य किया। तत्पश्चात् चष्टन हुआ। चष्टनों का राज्य २४२ वर्ष रहा। इनके पश्चात् गुप्त हुए। इसलिए सम्भव है नहपान का चष्टन वंश से कोई सम्बन्ध नहीं रहा हो।

चष्टन का पौत्र रुद्रदामा महाप्रतापी हुआ है। उसने महाक्षत्रप की उपाधि धारण कर आकर (पूर्वी मालवा) अवन्तिदेश, अनूप, आनर्त (उत्तरी काठियावाड़), सुराष्ट्र (दक्षिणी काठियावाड़), श्वभ्र (उत्तरी गुजरात), मरु (मारवाड़), कच्छ, सिन्ध, सौवीर (मुल्तान), कुकुर(पूर्वी राजपूताना), अपरान्त(उत्तरी कोंकण)और निषाद(भीलों के देश) पर अधिकार कर लिया था। इसने एक बार यौधेय लोगों को और दो बार आंन्ध्र राजा पुलमायि द्वितीय को हराया था। फिर अपनी कन्या का ब्याह इसी राजा से कर दिया था। अपने राज्य के भिन्न भिन्न प्रान्तों में इसने अपने सूबेदार नियुक्त कर रखे थे।

एक सुदर्शन झील जूनागढ़ के गिरिनार पर्वत के निकट थी। इसको सर्व प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के सूबेदार वैश्य पुष्य-गुप्त ने बनवाया था। सम्राट् अशोक के ईरानी सूबेदार तुषास्फ ने इसमें नहरें निकलवाई थीं। तूफान और अतिवृष्टि के कारण रुद्रदामा के राज्यकाल में सुदर्शन झील का बाँध टूट गया। तब रुद्रदामा के सूबेदार पह्लववंशी सुविशाख ने इसका जीर्णोद्धार कराया। इसी घटना के स्मारक रूप में गिरिनार पर्वत की चट्टान के पीछे एक प्रशस्ति खुदी हुई है। एक तरफ अशोक का लेख है दूसरी तरफ रुद्रदामा का। इस शिलालेख से ही रुद्रदामन के इतिहास का असली पता चला है। इसके पहले के शिलालेख सब प्राकृत या प्राकृत-मिश्रित संस्कृत में हैं। परन्तु यह प्रशस्ति शुद्ध संस्कृत में है।

शक संवत् ७२ (ई० स० १५०) का गिरनार का यह संस्कृत शिलालेख उत्कृष्ट रचना का उदाहरण है। इसमें लिखा है कि रुद्रदामा व्याकरण, संगीत, तर्क आदि शास्त्रों का प्रसिद्ध ज्ञाता था, धर्म पर उसका बड़ा अनुराग था:—

अर्जितोर्जितधर्मानुरागेण शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुल-कीर्त्तिना स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य (काव्यविधानप्रवीणेन)

उज्जयिनी की प्रसिद्ध विद्यापीठ में रहकर महाक्षत्रप रुद्रदामा ने संस्कृत काव्यकला में कौशल प्राप्त किया था।

आलंकारिक गद्य और पद्य की रचना में वह बड़ा कुशल था। कवि-समयोचित उदारता और अलंकार के साथ साथ स्फुट, लघु, मधुर, विचित्र और सुन्दर शब्दों का वह अच्छा प्रयोग करता था।

भरत के नाट्यशास्त्र में कथित काव्य के गुणों का उल्लेख इस प्रशस्ति में स्पष्ट रूप से किया गया है। प्रकट है कि रुद्रदामा 'वैदर्भी रीति' की काव्यशैली से पूर्ण परिचित था।

डॉक्टर कीथ ने लिखा है कि:—

An inscription at Girnar is written in prose (गद्य काव्यम्) and shows in a most interesting manner the development from the simple epic style to that of the Kavya.

(१९) आचार्य भद्रबाहु

जैन साहित्य में हेमचन्द्र के 'परिशिष्टपर्व' का प्रथम स्थान है। दूसरा महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'भद्रबाहुचरित्र' है। इसमें उज्जैन के महाराज चन्द्रगुप्त के गुरू श्रुतकेवलि आचार्य भद्रबाहु का जीवन-चरित्र लिखा है। आचार्य भद्रबाहु जैनाचार्यों में प्रमुख हैं।

भद्रबाहु चरित्र में लिखा है कि अवन्ती देश में 'चन्द्रगुप्ति' नाम का राजा राज्य करता था। उसकी राजधानी उज्जैन थी। एक बार राजा चन्द्रगुप्ति ने रात को सोते हुए भावी अनिष्ट फल के सूचक सोलह स्वप्न देखे। प्रातःकाल होते

ही उसको भद्रबाहु स्वामी के आगमन का समाचार मिला। यह स्वामी उज्जैन नगरी के बाहर एक सुन्दर बाग में ठहरा हुआ था। वनपाल ने जाकर राजा को सूचना दी कि गण के अग्रणी आचार्य भद्रबाहु अपने 'मुनिसन्दोह' के साथ पधारे हुए हैं। यह सुनकर राजा बहुत प्रसन्न हुआ। उसने उसी समय भद्रबाहु को बुला भेजा और अपने स्वप्नों का फल पूछा। स्वप्नों का फल ज्ञात होने पर राजा ने जैन-धर्म की दीक्षा ली और अपने गुरू की सेवा में दत्तचित्त हो गया। कुछ समय बाद आचार्य भद्रबाहु सेठ जिनदास के घर आये। इस घर में एक अकेला बालक पालने पर झूल रहा था। यद्यपि इसकी वय दो मास ही की थी तथापि भद्रबाहु को देखकर "जाओ जाओ" ऐसा बोलना शुरू किया। भद्रबाहु समझ गए कि घोर दुर्भिक्ष पड़नेवाला है। अतएव उन्होंने ५०० मुनियों को लेकर दक्षिण देश में जाने का निश्चय किया। एकान्त में रहते हुए गिरिगुहा में भद्रबाहु ने अपने प्राण त्याग कर दिए। यद्यपि भद्रबाहु ने चन्द्रगुप्त को अपने पास रहने से बहुत मना किया, परन्तु उसने एक न मानी। इसी गिरिगुहा में वह निवास करने लगे और यहीं प्राण त्याग किया, यह स्थान श्रवण बेलगोला (मैसूर) बतलाया जाता है।

'आराधनाकथाकोष' एवं 'पुण्याश्रवकथाकोष' में भी यही कथा पाई जाती है। श्रवण-बेलगोला की स्थानीय अनुश्रुति भी यही बात बतलाती है।

एक पर्वत पर भद्रबाहु स्वामी की गुफा है और पास ही एक मठ 'चन्द्रगुप्तवस्ति' है। यहाँ पर कई शिलालेख मिले हैं जो राइस के 'मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रोम इन्साक्रिप्शॅन' में छापे गए हैं। श्रीयुत सत्यकेतु विद्यालंकारजी ने अपने 'मौर्य साम्राज्य के इतिहास' में इनको उद्धृत किया है। इन शिलालेखों से भी इस कथा की पुष्टि होती है।

प्रश्न यह है कि यह चन्द्रगुप्त कौन थे? विद्वानों ने (मुख्यकर डॉक्टर राधाकुमुद मुकर्जी और विन्सेण्ट स्मिथ ने) यह सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य माने हैं। श्रीयुत सत्यकेतुजी ने अन्य विद्वानों के साथ यह चन्द्रगुप्त—सम्राट् अशोक के प्रपौत्र और उतराधिकारी सम्राट् सम्प्रति चन्द्रगुप्त द्वितीय माने हैं।

जैनग्रंथ 'राजावलिकथा' में इन चन्द्रगुप्त के पुत्र सिंहसेन बताए हैं जिनको राजगद्दी देकर चन्द्रगुप्त भद्रबाहु के साथ दक्षिण गए। चन्द्रगुप्त मौर्य के पुत्र बिन्दुसार थे, सिंहसेन नहीं। इसलिए श्री सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त को चन्द्रगुप्त मौर्य नहीं मानते।

परन्तु सम्प्रति (जिनको श्री चन्द्रशेखर शास्त्री और सत्यकेतुजी चन्द्रगुप्त द्वितीय मानते हैं) के कोई पुत्र सिंहसेन नाम का नहीं था। सम्प्रति अवश्य जैन था और सम्राट् सम्प्रति की राजधानी भी उज्जैन थी परन्तु उनके बाद साम्राज्य का उतराधिकारी शालिशुक हुआ था। शालिशुक ने अपने बड़े भाई का घात कर स्वयं राज्य पर अधिकार जमा लिया था। शालिशुक के भाई का नाम भी सिंहसेन नहीं था। अतएव भद्रबाहु किस संवत् में कौन से चन्द्रगुप्त के साथ मैसूर गए थे यह निश्चित करना बहुत कठिन हो गया है।

श्री मेरुतुंगाचार्य ने 'प्रबन्धचिन्तामणि' में आचार्य भद्रबाहु को आचार्य वराहमिहिर का सगा भाई बतलाया है। वहाँ वह वराहमिहिर को पाटलिपुत्र का रहनेवाला बतलाते हैं। सम्भव है वराहमिहिर पाटलिपुत्र रहने लग गए हों। वराहमिहिर ज्योतिषाचार्य थे परन्तु भद्रबाहु उनसे भी बड़े ज्योतिषी थे। जब वराहमिहिर के पुत्र उत्पन्न हुआ तो उनके घर भेंट देने राजा से लेकर रंक तक सब कोई गया परन्तु भद्रबाहु नहीं गए। पूंछने पर बतलाया कि थोड़े दिनों बाद बच्चे का देहान्त हो जायगा और ऐसा ही हुआ, तब से वराहमिहिर भी अपने भाई को बहुत बड़ा ज्योतिषी मानने लगे और जैनधर्म पर श्रद्धा करने लगे थे।

आचार्य वराहमिहिर कपित्थ (वर्तमान कायथा) के रहनेवाले थे (जो उज्जैन से १९ मील पर है) ऐसा उन्होंने 'बृहज्जातक' में स्वयं लिखा है। भद्रबाहु भी उज्जैन में बहुत रहे थे। सम्भव है दोनों भाई ही हों और दोनों समकालीन रहे हों। 'बृहत्गार्ग्यसंहिता' में शालिशुक की कई कथाएँ दी गई हैं। भद्रबाहु, वराहमिहिर और चन्द्रगुप्त यदि एक ही काल में थे तो वराहमिहिर का शक ४२७ शालिवाहन शक न होकर अवश्य ही कोई दूसरा शक संवत् है। इसीलिए भारतीय तिथि-



क्रम या कालगणना में श्री० नारायण शास्त्री की कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जिसके अनुसार वराहमिहिर का काल १२३ ई० पू० से ४३ ई० पू० निश्चित किया गया है। और इसी के आसपास भद्रबाहु का समय होना चाहिए।

इस तरह भद्रबाहु के काल के विषय में विद्वानों के कई मत हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय का कथन है कि भद्रबाहु नाम के दो आचार्य थे (१) प्रथम चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन थे जिनका देहान्त महावीर भगवान् के निर्वाण के १६२ साल बाद हुआ (३६५ ईसा के पूर्व) और दूसरे आचार्य का देहान्त उक्त निर्वाण के ५१५ वर्ष बाद (ईसवी सन् के १२ वर्ष पूर्व) हुआ। जैकोबी ने 'भद्रकल्पसूत्र' की भूमिका में और श्री शतीशचन्द्र विद्याभूषण ने 'हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लॉजिक' में इस मत की पुष्टि की है।

परन्तु इन दोनों आचार्यों से वह भद्रबाहु पृथक् थे जिन्होंने उत्तराधिकार के विषय में धर्मशास्त्र (कानून) का ग्रंथ 'भद्रबाहुसंहिता' लिखा है।

आचार्य भद्रबाहु भगवान् महावीर के बाद छठवें थेर माने जाते हैं। 'दसाउ' और 'दसनिज्जुति' के अतिरिक्त उनके 'कल्पसूत्र' का महत्त्व जैन धार्मिक साहित्य में बहुत है।

डाक्टर वितरनीत्ज की राय में 'कल्पसूत्र' के तीनों भाग पृथक् पृथक् लिखे गए हैं। प्रथम भाग 'जिन-चरित्र है' जिसमें बड़े विस्तार के साथ भगवान् महावीर का जीवन-चरित्र वर्णित है। यह 'ललितविस्तर' के ढंग का ही है। 'आचारंग सुत्त' के अनुसार महावीर का ब्राह्मणी के गर्भ में आने के बाद क्षत्राणी के गर्भ में चला जाना बताया गया है। जिसे विद्वान् लोग कृष्ण की परिपाटी बतलाते हैं। इसके बाद महावीर के पूर्व तीर्थंकरों की जीवनलीला भी बतलाई है।

'कल्पसूत्र' के द्वितीय भाग में थेरावली, गण, शाखा और गणधरों का वर्णन है। इस भाग का ऐतिहासिक महत्त्व स्वीकार किया जा चुका है। भद्रबाहु के बहुत समय के अनन्तर जो गणधर हुए हैं उनका भी इसमें वर्णन है इसलिए इस भाग को भद्रबाहु का लिखा जाना नहीं माना जा सकता।

कल्पसूत्र के तृतीय भाग में 'सामाचारी' की रीति बताई है। जैन साधुओं को किस प्रकार रहना चाहिए ऐसे नियम बताए गए हैं। इसमें 'पज्जोसन' के नियम भी हैं। कल्पसूत्र का नाम भी 'पज्जोसवनकथा" (पर्यूषणकल्प) था इसलिए यह भाग बहुत प्राचीन माना जाता है।

भद्रबाहु के चले जाने के अनन्तर ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय अलग अलग हुए हैं। इसलिए जैन इतिहास में भद्रबाहु और उज्जैन का स्थान बहुत ऊँचा है।

(२०) परमार्थ

बौद्धधर्म का चीनदेश में प्रचार करने का श्रेय जिन मध्यभारतीयों को दिया जाता है उनमें परमार्थ का नाम अग्रगण्य है। परमार्थ ने उज्जैन में एक ब्राह्मण कुल में जन्म लिया था। इनका जन्मकाल ४९९ ईसवी में निश्चित किया गया है।

लियांग वंश के सम्राट् वु-टी (Wu-ti) ने परमार्थ की विद्वत्ता और बौद्ध धर्मज्ञान की प्रशंसा सुनकर चीन में उनको निमंत्रित किया था। आज से १४०० वर्ष पूर्व, धार्मिक भावना से प्रेरित होकर सन् ५४६ ईसवी में ४७ वर्ष की अवस्था में परमार्थ सुदूर चीन देश गए और ७१वीं वर्ष में कैण्टन नगर में सन् ५६९ ईसवी में उनका देहान्त हुआ। उनके जीवनकाल के बहुमूल्य २४ वर्ष संस्कृत ग्रंथों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में व्यतीत हुआ। उनके कुल अनूदित ग्रंथों की संख्या ५०५ है।

अनुवाद के अतिरिक्त उन्होंने प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु का जीवनचरित्र भी चीनी भाषा में लिखा था। और यह ग्रंथ वसुबन्धु के सम्बन्ध में सबसे प्रथम ग्रंथ है जिसकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में किसी को सन्देह नहीं है। इस



ग्रंथ से पता चलता है कि वसुबन्धु के गुरु बुद्धमित्र थे। प्रसिद्ध सांख्य दार्शनिक विंध्यवास ने बुद्धमित्र को शास्त्रार्थ में परास्त कर दिया था। वसुबन्धु की प्रसिद्धि के पूर्व ही बुद्धमित्र का देहान्त हो चुका था।

परमार्थ ने एक सांख्य कारिका वृत्ति का भी चीनी भाषा में अनुवाद किया था जिसे विद्वानों ने गौडपाद का भाष्य स्वीकृत किया है। गौडपाद शंकराचार्य के परम गुरु थे।

परमार्थ के चीनी अनुवाद के ही आधार पर श्रीयुत् बेलवलकर महोदय ने माठराचार्य के 'माठरवृत्ति' पर एक विद्वत्ता-पूर्ण लेख श्री भाण्डारकर-अभिनन्दन-ग्रंथ में लिखा था जिसमें ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' का काल निश्चित किया गया है और यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि बौद्ध दार्शनिक भी कपिल के सांख्य को अधिक महत्त्व देते थे।

बहुत से विद्वानों के काल निर्णय करने में परमार्थ के चीनी अनुवाद अत्यधिक सहाय्य प्रदान कर रहे हैं।

(२१) व (२२) कुमार महेन्द्र और कुमारी संघमित्रा

यह सम्राट् अशोक के पुत्र व कन्या थे। सम्राट् अशोक अपने पिता सम्राट् बिन्दुसार के काल में पहले तक्षशिला और फिर उज्जैन के शासक नियुक्त किए गए थे। कुमार महेन्द्र का जन्म उज्जैन में ही हुआ था।

मौर्य साम्राज्य बहुत विस्तृत था। साम्राज्य को अनेक प्रान्तों मे विभक्त किया गया था। प्रान्त दो प्रकार के थे। एक साधारण, दूसरे जिन प्रान्तों का राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्व था। इन दूसरे प्रान्तों पर शासन करने के लिए कुमारों को ही नियुक्त किया जाता था। ऐसे प्रान्त तीन थे--

(१) उत्तर में तक्षशिला।

(२) दक्षिण में सुवर्णगिरि।

(३) पश्चिमी प्रदेशों का मुख्य नगर उज्जयिनी।

इनके अतिरिक्त कलिंग विजय के अनन्तर तुषाली प्रान्त भी इस श्रेणी में कर दिया गया था।

'महावंश' और 'दीपवंश' के अनुसार जब अशोक अवन्ती के 'कुमार' थे तब उनका सम्बन्ध 'वेदिसगिरि' (भिलसा का बेसनगर) की एक सेट्ठी जाति की कन्या से हो गया था। राजकुमार के साथ फिर इस कन्या का विवाह हो गया। बुद्ध की मृत्यु के २४० वर्ष बाद इस कन्या से एक पुत्र हुआ जिसका नाम महेन्द्र रखा गया। महेन्द्र के जन्म के दो वर्ष बाद एक कन्या उत्पन्न हुई जिसका नाम संघमित्रा रखा गया।

सम्राट् बिन्दुसार की अन्तिम अवस्था का समाचार मिलते ही अशोक उज्जयिनी से पाटलिपुत्र चले गए और पुत्र और कन्या को भी लेते गए। उनकी रानी बेसिनगर में ही रह गई थी। बाद में संघमित्रा का ब्याह एक ब्राह्मण 'अग्नि-ब्रह्मा' से किया जिससे सुमन पुत्र हुआ।

अशोक के राज्यारोहण के चार वर्ष बाद अशोक के भाई तिष्य और अग्निब्रह्मा ने बौद्धधर्म में दीक्षा ले ली थी। तब तक तिष्य युवराज कहलाते थे। बौद्ध धर्म में दीक्षित होने के अनन्तर तिष्य का स्थान महेन्द्र को दिया जाने वाला था। परन्तु महेन्द्र के धर्मगुरू "मोद्गलिपुत्त तिष्य" इससे सहमत नहीं हुए। उन्होंने महेन्द्र और संघमित्रा दोनों को भिक्षुव्रत देना निश्चय कर लिया था। सम्राट् इसके लिए सहमत हो गए। दोनों को दीक्षा दे दी गई। सम्राट् के राज्याभिषेक की नौवीं वर्ष में देश देशान्तरों में बौद्ध धर्म प्रचार के लिए सभा हुई, और कई प्रचारक मण्डल नियुक्त किए गए। लंका (ताम्रपर्णी) में जो प्रचारक मंडल भेजा गया था उसके प्रधान कुमार महेन्द्र थे। कुमार महेन्द्र लंका यात्रा के पूर्व अपनी माता से मिलने बेसिनगर गए, वहाँ उनको एक भव्य विहार में ठहराया गया। वहाँ माता के भतीजे के पुत्र भन्दु को बौद्ध धर्म में दीक्षित करके महेन्द्र लंका ले गए।



ताम्रपर्णी के राजा "देवानां प्रिय तिष्य" पहले ही स्वागत के लिए तैयार थे। राजा के साथ ४०,००० मनुष्यों ने बौद्ध धर्म को स्वीकृत किया। राजकुमारी अनुला ने भी ५०० अनुयायी स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। महेन्द्र ने कहा कि स्त्रियाँ ही स्त्रियों को दीक्षा दे सकती हैं, पुरुष नहीं। राजा तिष्य ने तब 'महाअरिट्ठ' के नेतृत्व में एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्राट् अशोक की सेवा में भेजा। सम्राट् ने अपनी पुत्री संघमित्रा को जाने की अनुमति दी। उसके साथ बड़े समारंभ के साथ बोधिवृक्ष की शाखा भेजी गई, और बड़े आदर के साथ शाखा का लंका में आरोपण किया गया। संघमित्रा के पहुँचने पर अनुला ने ५०० स्त्रियों के साथ बौद्ध धर्म में दीक्षा ले ली। राजा तिष्य ने महेन्द्र के लिए 'महाविहार' निर्माण कराया और संघमित्रा के लिए एक स्त्री विहार बनवाया। संघमित्रा की मृत्यु ७९ वर्ष की आयु में वहीं हुई। महेन्द्र की मृत्यु भी ९० वर्ष की आयु में राजा 'उत्तिय' के राज्यकाल में लंका में ही हुई।

महावंश और दीपवंश के अनुसार, उज्जयिनी में जन्मे और पाले गए महेन्द्र और संघमित्रा के प्रचारकार्य से धीरे धीरे सारा ताम्रपर्णी द्वीप बौद्ध धर्म की शरण में पहुँच गया।

(२३) श्री सिद्धसेन दिवाकर

जैन ग्रंथों में सिद्धसेन दिवाकर को साहित्यिक एवं काव्यकार के अतिरिक्त नैयायिक और तर्कशास्त्रज्ञों में प्रमुख माना है। यह सम्राट् विक्रमादित्य के गुरू और समकालीन माने गए हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय नैय्यायिक के अनुसार महावीर भगवान् के निर्वाण के ४७० वर्ष व्यतीत होने पर सम्राट् विक्रमादित्य को जैनधर्म की दीक्षा दी गई थी जिसके अनुसार विक्रम संवत् १ होता है। पं० ईश्वरचन्द्रजी विद्यासागर ने सिद्धसेन दिवाकर को ही विक्रम नवरत्नों में से 'क्षपणक' होना सिद्ध किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का प्रादुर्भाव और उनका काल महावीर भगवान् के निर्वाण के अनन्तर ७१४ से ७९८ वर्ष तक रहा है। इस हिसाब से उनका काल ईसवी सन् १८७ से २७१ तक रहा है। श्री सिद्धसेन के गुरु का नाम वृद्धवादि सूरि बताया जाता है जो सिंहगिरि और पालित्त के समकालीन थे।

वैवेर ने अपने 'इंडिश स्टूडीन' में विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के कई कथाओं और किंवदन्तियों का हाल बतलाया है। कहा जाता है कि जैनधर्म की दीक्षा लेने पर विक्रमादित्य का नाम "कुमुदचन्द्र" हो गया था। जैकोबी का विचार है कि "कल्याणमन्दिरस्तोत्र" के काव्यकार ने "कुमुदचन्द्र" का नाम दिए जाने की कथा बिना प्रमाण के लिख दी है। जैकोबी के अनुसार सिद्धसेन दिवाकर का काल ६७० ईसवी के लगभग है। श्री शतीशचन्द्र विद्याभूषण ने सिद्धसेन दिवाकर का काल सन् ४८० से ५५० ईसवी तक माना है।

'वररुचि' की जीवनी के सम्बन्ध में हमने पहिले लिखा है कि सिद्धसेन दिवाकर के आदेशानुसार सम्राट् विक्रमादित्य ने एक शासनपट्टिका तैयार कराई थी जिसको कात्यायन ने लिखा था। संवत् १ चैत्र सुदी १ गुरुवार को लिखी गई इस पट्टिका को जिनप्रभसूरि ने स्वयं देखा था। इस हिसाब से सिद्धसेन दिवाकर के विषय में श्वेताम्बर कालगणना अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

श्री सिद्धसेन दिवाकर का स्थान जैन इतिहास में बहुत ऊँचा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदाय उनके प्रति एक ही भाव से श्रद्धा रखते हैं। उनके दो स्तोत्र अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' ४४ श्लोकों में है। यह पार्श्वनाथ भगवान् का स्तोत्र है। इसकी कविता में प्रासाद गुण कम है और कृत्रिमता एवं श्लेष की अधिक भरमार है परन्तु प्रतिभा की कमी नहीं है। किंवदन्ती यह है कि 'कल्याणमन्दिरस्तोत्र' का पाठ समाप्त होते ही उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिवलिंग फट गया और उसके मध्य में पार्श्वनाथ की मूर्ति निकल आई।

दूसरा 'वर्धमान-द्वात्रिंशिका' स्तोत्र है। यह ३२ श्लोकों में भगवान् वर्धमान महावीर की स्तुति है। इसमें कृत्रिमता एवं श्लेष नहीं है। प्रासाद गुण अधिक है। भगवान् महावीर को शिव, बुद्ध, हृषीकेश, विष्णु, जगन्नाथ एवं जिष्णु मानकर प्रार्थना की गई है। इन दोनों स्तोत्रों में सिद्धसेन की काव्यकला एक ऊँची श्रेणी की पाई जाती है।

'तत्वार्थाधिगमसूत्र' की टीका बड़े बड़े जैनाचार्यों ने की है। इसके ग्रन्थकार को दिगम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वामिन्' और श्वेताम्बर सम्प्रदाय 'उमास्वाति' बतलाते हैं। उमास्वाती के इस ग्रंथ की टीका श्री सिद्धसेन दिवाकर ने बड़ी विद्वत्ता के साथ लिखी है।

सम्राट् विक्रमादित्य और सिद्धसेन दिवाकर के सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट थे इसमें सन्देह नहीं है। एक का ऐतिहासिक काल दूसरे के ऐतिहासिक काल को अवश्य ही निश्चित कर सकेगा।

(२४) वाक्पतिराज मुञ्ज

नवीं शताब्दी में मालवा पर परमारवंशीय राजाओं का अधिकार हुआ। यह अग्निवंशीय कहलाते हैं। इनकी राजधानी उज्जयिनी ही थी। परन्तु धार को भी उच्च स्थान मिलता रहा और नवें राजा भोजदेव के समय में परमार राजाओं की राजधानी उज्जैन से धार चली गई। परमार राजाओं का वंशवृक्ष इस प्रकार बताया जाता है:—

(१) उपेन्द्रराज अथवा कृष्णराज।
(२) वैरिसिंह प्रथम।
(३) सीयक प्रथम।
(४) वाक्पतिराज प्रथम (८५७-९१४ ईसवी)
(५) वैरिसिंह द्वितीय (९१४-९४१ ई०)
(६) सीयक द्वितीय (९१४-९७३ ई०)
(७) वाक्पतिराज मुञ्ज (९७३-९९७ ई०)
(८) सिन्धुराज (सिंधुल) (९८७-१०१० ई०)
(९) राजा भोजदेव (१०१५-१०५५ ई०)

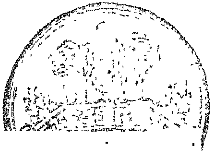
सातवें, आठवें व नवें राजा अत्यन्त प्रसिद्ध साहित्यप्रेमी हुए हैं और उन्होंने नामी विद्वानों, पंडितों एवं कवियों को आश्रय दिया था।

उदैपुर प्रशस्ति में परिमारवंशीय राजाओं का वर्णन मिलता है। सातवें राजा वाक्पतिराज मुञ्ज का वर्णन करते हुए लिखा है कि १६ बार इन्होंने चालुक्यवंशीय राजा तैलपदेव पर आक्रमण किया था। १६वीं बार युद्ध वर्धा नदी पर हुआ। राजा वाक्पतिराज मुञ्ज ने इस युद्ध में तैलपदेव को पकड़ लिया और कैद करके उज्जयिनी ले आए। उदारता में आकर उज्जयिनी में उसको मुक्त कर दिया। तैलवदेव अपमान को नहीं भूला। मुक्त होने के कुछ दिन बाद उसने फिर युद्ध प्रारम्भ किया। राजा वाक्पतिराज ने अपने मंत्री रुद्रादित्य की राय न मानते हुए अपनी सेना को गोदावरी पार उतार दिया। युद्ध में राजा मुञ्ज का पराभव हुआ। तैलपदेव इनको पकड़कर अपनी राजधानी ले आया और वहाँ प्रथम तो अपनी बहिन मृणालवती का शिक्षक बनाया परन्तु बाद में यह पता चलने पर कि मंत्री रुद्रादित्य राजा मुञ्ज को कैद से भगाने के प्रयत्न कर रहा है मुञ्जदेव का सिर कटवा दिया गया।

मुञ्जराज जिस प्रकार के शूर व युद्धकला में निपुण थे उसी प्रकार संस्कृत के पंडित, कवि तथा ग्रंथकार थे। उनके यहाँ बहुत से संस्कृत कवि व पंडित आश्रय पाते थे इस कारण से विद्वज्जन उन्हें कवि-मित्र और कवि-बांधव कहते थे।

धारा नगरी में नैसर्गिक सौन्दर्य होने से वहाँ भी वे महल बनवाकर रहने लगे थे। कई स्थानों में मुञ्जराज ने घाट, ताल, मन्दिर और धर्मशाला बनवाए थे। उज्जयिनी में पिशाचमोचन घाट उन्हीं का बनाया हुआ है। नर्मदा के किनारे ओंकारेश्वर एवं महेश्वर में भी उनके मन्दिर, ताल इत्यादि वर्तमान हैं।

उज्जयिनी के महत्त्व की कमी शनैः शनैः राजा मुञ्ज के काल से ही प्रारंभ होने लग गई थी और राजा मुञ्ज के ही समय से अनादि काल से चला आया उज्जयिनी का साहित्यिक स्थान धारा नगरी को जाने लगा था। राजा मुञ्ज के



कवि पद्मगुप्त ने राजा मुञ्ज के भाई सिंधुराज की प्रशंसा में नवसाहसांक चरित्र लिखा है और उसमें धारानगरी की जो प्रशंसा लिखी है उससे पता चलता है कि धारानगरी उन दिनों कितनी प्रसिद्धि पा चुकी थी। परिमल ने लिखा है—

विजित्य लंकामपि वर्तते या यस्याश्च नायात्यलकाऽपि साम्यम्।
जेतुः पुरी साप्यपरास्ति यस्या धारेति नाम्ना कुलराजधानी॥

इसी ग्रंथ में राजा मुञ्ज की भी प्रशंसा पाई जाती है। विद्वन्प्रिय एवं सरस्वतीभक्त राजा को वास्तव में उस समय सरस्वती कल्पलता का कंठ कहा जाता था और इनकी मृत्यु पर कहा गया था कि:—

गते मुञ्जे यशःपुञ्जे निरालम्बा सरस्वती॥

इनके समय में प्रसिद्ध कवि एवं शास्त्रकार निम्नलिखित थे ऐसा धार रियासत के इतिहास में लिखा है:—

(१) **धनपाल**—इनका जीवन-चरित मेरुतुंगाचार्य ने भी दिया है है। जैन ग्रंथों में इनको राजा भोज के समय में माना है। परन्तु धार के इतिहास में इनको राजा मुञ्ज के समय में बताया गया है और इनको मुञ्जराज का कुल पुरोहित बतलाया है। इनकी कन्या इला और बहिन अवन्तिसुन्दरी दोनों ही विदुषी थीं। अवन्तिसुन्दरी के अलंकारशास्त्र एवं कोष के प्रमाण उद्धृत किए जाते हैं। धनपाल के रचित 'ऋषभपंचाशिका' और 'तिलकमंजरी' के अतिरिक्त पालीभाषा का कोष "पाइयलच्छि" अथवा "देशी-नाममाला" प्रसिद्ध है। इनका छोटा भाई शोभन मुनि भी विद्वान् था और राजदरबार में प्रतिष्ठित हुआ था।

(२) **धनञ्जय**—का 'दशरूप' नाम का नाटयशास्त्र ग्रंथ सर्वमान्य है। इसकी टीका 'दशरूपावलोक' नाम से धनञ्जय के छोटे भाई धनिक ने की है। धनिक ने एक दूसरा ग्रंथ 'काव्यनिर्णय' भी लिखा है। धनिक का पुत्र वसन्ताचार्य भी विद्वान् था। राजा मुञ्ज ने वि० सं० १०३१ में इसको एक ग्राम दिया था ऐसा एक ताम्रपत्र से सिद्ध होता है।

(३) **अमितगति**—का "सुभाषितरत्नसन्दोह" नामक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। यह एक जैनमुनि थे।

(४) **भट्ट हलायुध**—यह राजा मुञ्ज के राज्य के न्यायाधीश के पद पर नियुक्त थे। भट्ट हलायुध की "राजव्यवहारतत्व" नाम की पुस्तक प्रसिद्ध है जिसमें दीवानी, फौजदारी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डाला है। इनकी पिंगल छन्द सूत्रों पर टीका "हलायुध वृत्ति" के नाम से भी प्रसिद्ध है।

न जानें कितने पंडित, विद्वान् और कवि राजा मुञ्ज के आश्रित रहे थे परन्तु बहुतों की कृतियों का तो आज तक पता ही नहीं चला।

(२५) राजा भोजदेव

राजा मुञ्ज के छोटे भाई सिन्धुराज की प्रशंसा में 'नवसाहसांकचरित' परिमल कवि ने लिखा था। 'नवसाहसांक' के पुत्र राजा भोज का संस्कृत साहित्य में बहुत ऊँचा स्थान है। सम्राट् विक्रमादित्य के अनन्तर भरतखण्ड में यदि उतना कोई कीर्तिशाली और सर्वविश्रुत राजा हुआ है तो वह राजा भोज है। इनके समय में संस्कृत साहित्य का गौरव धारा नगरी को प्राप्त हुआ और जहाँ तक उज्जयिनी का सम्बन्ध है प्राचीन साहित्यिक राजाओं में यह अन्तिम राजा हैं। धारा के अनन्तर मालवा की राजधानी मांडू हुई और उज्जयिनी की साहित्यिक कीर्ति राजा भोज अपने साथ उज्जयिनी से सदा को लेते गए। राजा भोज के जीवन-चरित्र से सभी अच्छी तरह परिचित हैं इसलिए उनके जीवन की छोटी छोटी बातें यहाँ लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। चालुक्यवंशी राजाओं से उनके कई युद्ध हुए। गांगेयदेव से भी युद्ध हुआ, इसके विजय के स्मारक में एक लौहस्तम्भ खड़ा किया था। अन्तिम युद्ध में कल्चुर के भीमदेव, चेदिराज कर्णदेव एवं कर्नाटक देश के राजा ने सम्मिलित शक्ति से भोजदेव के राज्य पर हमला किया जिसमें भोजदेव का पराभव हुआ और उनकी मृत्यु भी हुई।

इस पराभव से उनकी राज्य की सीमा की अधिक हानि नहीं हुई थी। धार रियासत के इतिहास में लिखा है कि बुन्देलखंड व बघेलखंड को छोड़कर नर्मदा के उत्तर का सारा भारत और दक्षिण में गोदावरी तक सारा देश भोजदेव के अधीन रहा।

प्राचीन संस्कृत ग्रंथों में भोजदेव को "त्रिविध-वीर-चूड़ामणि" की उपाधि से विभषित किया गया है। वे रणवीर, विद्यावीर और दानवीरों के शिरोमणि थे। उनके आश्रित १४०० पंडित थे। मम्मट ने अपने 'काव्यप्रकाश' में लिखा है—

यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत्यागलीलायितम्।।

भोजदेव के आश्रित विद्वानों का जो ऐश्वर्य दिखाई देता है वह सब भोजराज की दानलीला है।

अलबेरूनी ने भी भोजराज की अत्यधिक प्रशंसा की है। भोजराज के समय में ही महमूद गजनवी के भारतवर्ष पर धावे प्रारंभ हो चुके थे और महमूद के साथ अरबी भाषा का विद्वान् अलबेरूनी भी भारत आया था। एक विदेशी शत्रु के पंडित की प्रशंसा वास्तव में भोजदेव की अतुल कीर्ति की सूचक है।

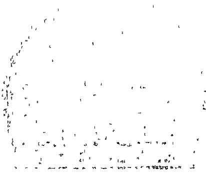
वाङमय का कोई विभाग ऐसा नहीं जिस पर उनकी ग्रंथरचना न हो। काव्य को छोड़कर अनेक शास्त्रों पर राजा भोज के लिखित ग्रंथ आज भी विद्यमान हैं। धार के इतिहास में लिखा है कि जर्मन पंडित आऊफ्रेक्ट अपनी ग्रंथ-सूची में २३ ग्रंथ राजा भोज के मानता है। विषयसूची के अनुसार उनके ग्रंथ 'धार रियासत के इतिहास' में इस प्रकार दिए गए हैं:—

(१) काव्य	चंपूरामायण कांड ५, महाकाली-विजय, विद्याविनोद, शृंगारमञ्जरी, कई प्राकृत के स्तोत्र।
(२) अलंकार, कोष, व्याकरण	सरस्वती-कंठाभरण, नाममाला, शब्दानुशासन, सुभाषितप्रबन्ध, सिद्धान्त-संग्रह।
(३) धर्मशास्त्र	पूर्तमार्तण्ड, दण्डनीति, व्यवहार-समुच्चय एवं चारुचर्या।
(४) योगशास्त्र	राजमार्तण्ड (यह पातञ्जलियोगसूत्र पर टीका है)।
(५) शिल्पशास्त्र	युक्तिकल्पतरु और समरांगण सूत्रधार।
(६) ज्योतिषशास्त्र	१. राजमृगांककरण, २. राजमार्तण्ड, ३. विद्वज्जन-वल्लभ, प्रश्नज्ञान, ५. आदित्यप्रताप सिद्धान्त।
(७) वैद्यशास्त्र	१. विश्रान्त-विद्या-विनोद, २. आयुर्वेद-सर्वस्व।
(८) पशुचिकित्सा	शालिहोत्र।

संस्कृत-साहित्य में भोजदेव का स्थान बहुत ही ऊँचा था। परन्तु शिल्पशास्त्र में भी उनकी विद्या कम नहीं थी। 'युक्ति कल्पतरु' में शिल्प विद्या के अतिरिक्त जहाज बनाने की क्रिया पर भी अच्छा प्रकाश डाला है और डाक्टर राधाकुमुद मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन शिप बिल्डिंग' में 'युक्तकल्पतरु' के श्लोकों को आदर के साथ उद्धृत किया है। श्री राजेन्द्रलाल मित्र ने लिखा है कि यह ग्रंथ भोजदेव का ही विरचित है।

राजा भोज पर कई ग्रंथ लिखे जा चुके हैं। इन ग्रंथों में हिन्दी में श्रीयुत विश्वेश्वरनाथ रेउ का 'राजा भोज' और अंग्रेजी में श्रीयुत अध्यापक श्रीनिवास अभ्यंकर एम. ए., (अन्नमलाई विश्वविद्यालय से प्रकाशित) का 'भोज राजा' प्रमुख है। परन्तु भोज के काव्य की आलोचना का इन दोनों में से किसी में जिकर नहीं है।

राजा भोज के बनाए १०४ मन्दिर बताए जाते हैं जिनमें केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, सुण्डीर, काल, अनल और रुद्र के मन्दिर प्रसिद्ध थे। धार में सरस्वती का मन्दिर जिसमें प्रसिद्ध विश्वविद्यालय वर्षों तक रहा, राजा भोज का ही बनाया हुआ था। कातंत्र व्याकरण के दो अहिफन इस विद्यालय में पत्थरों पर लगे हुए मिले हैं। उज्जयिनी में महाकाल के मन्दिर में भी एक ऐसा अहिफन खुदा हुआ है।



प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

राजा भोज का सबसे प्रसिद्ध कार्य भोजपुर झील का निर्माण करना था। भोज के समय के बड़े दक्ष इन्जीनियरों ने बेतवा नदी की घाटियों में २५० वर्गमील के क्षेत्रफल में यह झील बनाई थी। यह झील वर्तमान भोपाल से २० मील की दूरी पर पहाड़ों के बीच में थी। भोपाल–'भोज-पाल' का अपभ्रंश ही है। भोपाल से कालियाखेड़ी सड़क इसी झील के अवशिष्ट खंडहरों में से जाती है। राजा भोज नाव में बैठकर इस झील में प्रातः हवाखोरी को जाया करते थे। इस झील के कारण बेतवा में कभी बाढ़ नहीं आती थी।

राजा भोज के ४०० वर्ष बाद मांडू के सुलतान हुसेनशाह ने इस झील के बाँधों को तुड़वाया और असंख्य मजदूरों को लगाकर तीन साल में इस झील का पानी निकलवा दिया। वर्षों पानी रहने के कारण यहाँ की आबहवा में गर्मी नहीं रही और जहाँ पहिले झील थी वहाँ गेहूँ की खेती अच्छी होने के कारण कई अच्छे अच्छे ग्राम और नगर बस गए हैं। कर्नल किनकेड को इस झील के वास्तविक स्थिति के पता लगाने में कई वर्ष लगे थे।

राजा भोज के रचित काव्य ग्रंथों और उनके काव्यज्ञान का परिचय कराना व्यर्थ है क्योंकि इस विषय में कई ग्रंथ छप चुके हैं। यहाँ हम केवल उनके शिल्पज्ञान के विषय में ही कुछ उल्लेख करना अधिक समीचीन समझते हैं।

शिल्पज्ञान विषयक राजा भोज का रचा हुआ प्रसिद्ध ग्रंथ 'समरांगण सूत्रधार' गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, बड़ौदा से दो भागों में प्रकाशित किया गया है। इसमें ८३ अध्याय हैं। प्रारंभ में शिवजी की इस प्रकार प्रार्थना है—

देवः स पातु भुवनत्रयसूत्रधारस्त्वां बालचन्द्रकलिकांकितजूटकोटिः।
एतत्समग्रमपि कारणमन्तरेण कात्स्न्यार्दिसूत्रितमसूत्र्यत येन विश्वम्॥

(तीनों लोकों को बनानेवाला वह कारीगर जिसकी जटा चन्द्रमा की कला से शोभित है और जिसने यह सारा जगत बिना कारण और बिना नक्शे के ही पूरी तौर से बना डाला—तुम्हारी रक्षा करे।)

एक अध्याय में भूमि की परीक्षा के तरीके बतलाकर फिर नगर, प्रासाद, आदि के निर्माण की विधियाँ बताई हैं।

इकतीसवाँ अध्याय महत्वपूर्ण है। यह "यंत्रविधानाध्याय" है। अनेक यंत्रबनाने के सिद्धान्त बताए गए हैं। यंत्र की परिभाषा यह है :—

यदृच्छया वृतानि भूतानि स्वेन प्रवर्त्मना। नियम्यास्मिन् नयति यत् तद् यन्त्रमिति कीर्त्तितम्॥

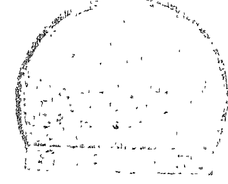
(अपनी इच्छा से अपने रास्ते पर चलते हुए भूतों [पृथ्वी, जल आदि तत्वों] को जिसके द्वारा नियम में बाँधकर अपनी इच्छानुसार चलाया जाय उसे यन्त्र कहते हैं।)

आगे बताया है कि यंत्र में जल, अग्नि, पृथ्वी और वायु इन चारों का ठीक तौर से, यथास्थान रखना ही उसके चार तरीके हैं। इन चारों तत्वों का आश्रय होने से ही आकाश की भी उसमें आवयकता होती है। जिन लोगों ने पारे को इन तत्वों से भिन्न बताया है वे ठीक तौर से नहीं समझे हैं। वास्तव में पारा पृथ्वी का ही भाग है और जल, वायु और तेज के कारण ही उसमें शक्ति उत्पन्न होती है।

यंत्रों के चार प्रकार के भेद बताए हैं। (१) अपने आप चलनेवाला, (२) एक बार चलाने से फिर अपने आप चलनेवाला, (३) दूर से गुप्त शक्ति द्वारा चलाया जानेवाला और (४) पास खड़े होकर चलाया जानेवाला। इनमें अपने आप चलनेवाला यंत्र अन्य तीन यंत्रों से श्रेष्ठ है।

यंत्रों के द्वारा बनी हुई वस्तुओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यंत्र लगा हुआ हाथी चिंघाड़ता हुआ और चलता हुआ प्रतीत होता है। इसी प्रकार तोते आदि पक्षी भी ताल पर नाच और बोलकर देखनेवालों को आश्चर्य में डालते हैं; तथा पुतली, हाथी, घोड़ा, अथवा बन्दर अपने अंगों का संचालन कर लोगों को प्रसन्न कर देते हैं।

इन यंत्रों के द्वारा भूचरों का आकाश में सञ्चार और आकाश संचारियों का भूसंचार, जल में अग्निदर्शन, अग्नि में जलदर्शन, नीचे से पांचवीं मंजिल (तल) तक शय्या का चला जाना (lift), लकड़ी की पुतली का दीपकों के पास



जाकर दीपकों में यथाविधि तेल डालकर लौट आना, यंत्र-निर्मित हाथी के द्वारा विपुल जलपान, यंत्र (pump) द्वारा वावड़ी कुओं में से जल निकालकर खेतों में जल देने की पूरी पूरी विधियों का वर्णन किया है।

आकाशचारी विमानों के निर्मित करने की विधि बतलाई गई है। विमान-निर्माण में रसराज पारद (पारा) का प्रधान उपयोग बताया है। पारद में विलक्षण उड़ने की एक विशिष्ट शक्ति पाई जाती है। पारे को एक हलके काष्ठ-निर्मित पक्षी के ढाँचे में कुंभ में बन्द करके तप्त किया जाय तो उसके शक्ति से विमान आकाश सञ्चारी हुआ करता है ऐसा लिखा हुआ है। दुष्ट गज को भय बतलाने के लिए भी रसयंत्र के द्वारा सिंहनाद कराए जाने की विधि बतलाई है।

पुस्तक के हिन्दी अनुवाद की अत्यन्त आवश्यकता है। पुस्तक पढ़ने से प्रतीत होता है कि यंत्र चलाने में जो स्थान आज स्टीम (Steam) और पैट्रोल का है वही स्थान प्राचीन भारत में पारद (Mercury) का था। जो यंत्र आज उपस्थित हैं उनसे भी अधिक विलक्षण यंत्र प्राचीन भारत की शोभा बढ़ाते थे, ऐसा 'अंशुबोधिनी शास्त्र' और 'अगस्त्यसंहिता' के अनन्तर राजा भोज के 'समरांगण सूत्रधार' पढ़ने से प्रतीत होता है। राजा भोज ने युक्ति कल्पतरु और 'समरांगण सूत्रधार' की रचना से प्राचीन भारत की वास्तु और शिल्प विद्या को अजर और अमर बना दिया है।

(२६) महाकात्यायन

'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् बुद्ध ने कहा था कि "संक्षिप्त प्रदेश का विस्तारपूर्वक अर्थ करनेवाले मेरे जितने भिक्षु श्रावक हैं उनमें महाकात्यायन श्रेष्ठ हैं।"

उज्जयिनी के महाराज चंडप्रद्योत के पुरोहित के लड़के का नाम महाकात्यायन (या महाकाञ्चन) था। श्री धर्मानन्द कोशंबी ने मालवमयूर के चैत्र १९८२ के अंक में महाकात्यायन की जीवनी लिखी है।

कांचन अपने गोत्रनाम 'कात्यायन' से प्रसिद्ध हुए हैं। कहते हैं कि उनके शरीर की कान्ति सोने की होने के कारण उनका नाम 'कांचन' पड़ा था। महाराज चण्डप्रद्योत बुद्ध-दर्शन के लिए अतीव उत्सुक थे क्योंकि उन दिनों सर्वत्र बुद्ध भगवान् की कीर्ति फैल रही थी।

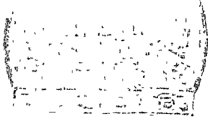
उन्होंने बुद्ध भगवान् को बुलाने के लिए महाकात्यायन को प्रव्रज्या सन्यास लेने के लिए अनुमति दी। चुने हुए सात मनुष्यों को लेकर महाकात्यायन बुद्ध के पास आया और धर्मोपदेश श्रवण करके अपने सात साथियों के साथ अर्हतपद को प्राप्त हुआ।

भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यों में महाकात्यायन की गणना है। परन्तु किसी कारणवश भगवान् बुद्ध उज्जयिनी नहीं आ सके। महाकात्यायन को उज्जयिनी वापिस आने की आज्ञा मिलने पर वह उज्जयिनी चले आए। महाराज चण्ड प्रद्योत ने उनका बड़ा आदर सत्कार किया।

रास्ते में 'तेल एनालि' नामक शहर में इन लोगों को कोई भिक्षा नहीं मिली थी। यह सुनकर एक व्यापारी की दरिद्र कन्या को बड़ा दुःख हुआ। उसके सौन्दर्य की और लम्बे केशों की शहर में बड़ी ख्याति थी। एक धनिक की कन्या अल्पकेशा थी। वह दरिद्र कन्या के केशों को एक सहस्र कार्षापण में लेना चाहती थी। परन्तु स्वाभाविक सौन्दर्य की वस्तु होने के कारण उसने केश नहीं बेचे।

जब महाकात्यायन के सदृश भिक्षु को शहर में भिक्षा न मिलने की बात सुनी तो उस दरिद्र कन्या ने अपने केश काटकर दासी को बेचने को दे दिए। दासी जब धनिक कन्या के पास लाई तो उसने केवल आठ कार्षापण ही दिए। इन आठ कार्षापण को लेकर शहर के नाम बचाने के लिए उस दरिद्र कन्या ने महाकात्यायनादि को भिक्षा का प्रबन्ध किया था।

जब महाराज चण्डप्रद्योत ने यह कथा सुनी तो मंत्री को भेजकर उस दरिद्र कन्या को बुलाया और अपनी पटरानी बनाया। इस रानी से चण्डप्रद्योत को पुत्र हुआ। इस कन्या के पिता का नाम 'गोपालक' था। महाराज चण्ड प्रद्योत ने अपने पुत्र का नाम भी गोपालक रखा। इस तरह महाकात्यायन के प्रभाव से एक दरिद्र कन्या उज्जैन की पटरानी हुई थी।



इस रानी का नाम ही 'गोपाल माता देवी' पड़ गया था। इसने फिर 'कांचन-वनोद्यान' में महाकात्यायन के लिए एक विहार बनवाया। परन्तु बुद्ध-दर्शन सुलभ होने के कारण कात्यायन अधिकतर गंगा-यमुना प्रदेश में चले जाते थे।

'मज्झिमनिकाय' के 'मधुपिंडक', 'महाकज्जान' 'भद्देकरन्त' और 'उद्देस विभंग' इन सुत्तों में महाकात्यायन ने भगवान् बुद्ध के संक्षिप्त उपदेश का अर्थ विस्तारपूर्वक लिखा है। 'मधुरिय सुत्त' में मथुरा के राजा अवन्तिनाथ को कात्यायन बुद्ध भगवान की शरण में किस प्रकार ले आए इसका वर्णन है।

डाक्टर वितरनीतुज के मत से 'नेत्तिपकरण' और 'पेटकोपदेश' भी महाकात्यायन के बनाए हुए बताए जाते हैं। 'पेटकोपदेश' में 'पिटकों' के विद्यार्थियों को आदेश दिए गए हैं।

(२७) इसिदासी

"परमत्थदीपनी" में लिखा है कि उज्जैन के उत्तम कुल के पवित्र विभवसम्पन्न नाम के सेठ के घर में इसिदासी ने जन्म लिया था। उसने इसिदासी का ब्याह एक बड़े अच्छे कुल के सेठ के लड़के से किया। इसिदासी अत्यन्त पतिव्रता रही परन्तु पति ने घृणा करके उसका त्याग किया। सास और श्वसुर के अनुरोध से इसिदासी फिर उज्जैन पिता के पास रहने लगी। पिता ने उसका ब्याह फिर किसी अन्य पुरुष के साथ कर दिया परन्तु दासीभाव से रहते हुए भी इसिदासी वहाँ से भी निकाली गई। तीसरी शादी के अनन्तर भी वही हाल हुआ। उसके अनन्तर संसार त्याग और प्रवाजिका की ओर इसिदासी की प्रवृत्ति हुई। बहुश्रुत शील सम्पन्न थेरी जिनदत्ता के आगमन पर इसिदासी ने बौद्ध धर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा प्रकट की। पिता ने स्नेहवश पहले तो रोकने का प्रयत्न किया परन्तु दृढ़ संकल्प देखकर उसे निर्वाण प्राप्त करनेका आदेश दिया। सन्यासिनी (थेरी) होकर सारी विद्याओं में पारंगत होकर उस काल की प्रमुख बौद्ध थेरियों में इसिदासी की गणना हुई। 'थेरीगाथा' में इसिदासी की सुन्दर पाली कविता (रचना) दी हुई है। उस कविता में इसिदासी ने अपने पूर्वजन्मों का विस्तृत हाल दिया है, जिसके कारण इस जन्म में उसको सच्चरित्र होने पर भी अनेक यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं।

(२८) अभय, (२९) अभयमाता और (३०) अभयत्थेरी

श्री वात्सायन ने अपने कामसूत्र में लिखा है कि उज्जयिनी की वेश्याएँ भी आर्यप्राय और पवित्र थीं।

आर्यप्रायाः शुचयः आवन्तिक्यः।

चारुदत्त नाटक में पवित्र वेश्याओं में अग्रिणी 'वसन्तसेना' का नाम आज सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुका है। बौद्धकाल में ऐसी ही वेश्या पद्मावती के नाम से उज्जैन में रहती थी। धम्मदास ने 'परमत्थदीपनी' में इसको 'नगरशोभनी' लिखा है। राजा बिम्बिसार ने उसके रूप, गुण और सम्पत्ति के विषय में बहुत सुना था। उस पर मोहित होकर राजा ने पुरोहित से उज्जैन यात्रा के प्रबन्ध करने के लिए कहा। पुरोहित ने कुम्भीर नाम के यक्ष को बुलाया और कुम्भीर राजा को उज्जैन ले आया। राजा ने पद्मावती के साथ संभोग किया और उसके कुक्ष में गर्भ देखकर उसको यह कहते हुए अपनी मुद्रिका दी कि अगर तेरे पुत्र उत्पन्न हो तो मेरे पास ले आना। पुत्र होने पर पद्मावती ने उसका नाम अभय रखा। और सात वर्ष की अवस्था होने पर राजा के पास ले गई। राजा अभय को देखकर पुत्र प्रेम से विह्वल हो गया और राजगृह में बड़े मान सत्कार से पालन-पोषण किया। अभय बड़ा होने पर बौद्ध भिक्षु हुआ। उसकी माता ने भी पुत्र के मुख से बौद्धधर्म सुनकर सन्यास ग्रहण किया, और अभयमाता के नाम से प्रसिद्धि पाई। आत्मदृष्टि लाभ करके अरहत का परमपद प्राप्त किया।

अभयमाता के साथ ही उनकी सखी अभयत्थेरि ने भी सन्यास ग्रहण किया। अभयत्थेरि ने उज्जैन के उत्तम कुल में जन्म ग्रहण किया था। और अभयमाता के साथ अन्तिम दिवस राजगृह में बिताए। दोनों की रचनाएँ थेरीगाथा में दी हुई हैं। अभयत्थेरि ने बुद्ध के दर्शन प्राप्त करके अरहत पद प्राप्त किया।

(३१) उबट

उबट ने शौनक के ऋक्प्रतिशाख्य पर भाष्य लिखा था और अवन्तिका (उज्जैनी) में शुक्ल यजुर्वेद पर मंत्रभाष्य लिखा था। यह मंत्रभाष्य राजा भोज के समय में लिखा गया था, और इसमें अपूर्व विद्वत्ता प्रदर्शित की गई है

श्री बृजकिशोर चतुर्वेदी

संवत् १७७९ (सन् १७२३ ई०) में श्री भीमसेन दीक्षित ने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' पर सुधोदधि या सुधासागर नाम की टिप्पणी में यह लिखा था कि मम्मट के ही भाई कैयट और उबट (औवट) थे। मम्मट ने ही अपने भाइयों को शिक्षा दी थी जिनमें से कैयट ने पतञ्जलि के महाभाष्य पर "प्रदीप" नाम की व्याख्या लिखकर प्रसिद्धि पाई और उबट ने वेद पर मंत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी।

श्रीमान् कैयट औवटौ ह्यवरजो यच्छात्रतामागतो भाष्याब्धिं निगमं यथाक्रममनुव्याख्याय सिद्धिं गतः॥

थियोडोर औफ्रेक्ट ने 'कैटेलोगस कैटेलोगोरम्' के प्रथम भाग पृष्ठ ४३२ पर पं० भीमसेन के इस कथन को मिथ्या बतलाया था। औफ्रेक्ट का समर्थन करते हुए श्रीयुत प्रोफेसर काणे और डॉक्टर डे का भी यही मत है। **'साहित्यदर्पण'** की अंग्रेजी भूमिका में प्रोफेसर काणे ने तो यह भी लिखा है कि मम्मट, कैयट, उबट के नामों के नादसाम्य के ही कारण तीनों के भाई होने की कथा चल निकली थी। वास्तव में यह कथा सही नहीं है।

प्रोफेसर गजेन्द्रगड्कर ने 'काव्यप्रकाश' की अंग्रेजी भूमिका में इन मतों का खण्डन करते हुए पं० भीमसेन के मत का समर्थन किया है। उनका तर्क यह है कि तीनों नाम विशेषतः काश्मीरी हैं। अल्लट, अद्भट, उवट, औवट, कैयट, जैयट, भल्लट, रुद्रट, लोल्लट—सभी काश्मीरी नामकरण सूचित करते हैं।

कैयट ने अपने पिता का नाम जैयट लिखा है यथा—

महाभाष्यार्णवावारपारिणि विवृतिप्लवम्। यथागमं विधास्येऽहं कैयटो जैयटात्मजः॥

उबट ने अपने मंत्रभाष्य में लिखा है—

ऋष्यादींश्च पुरस्कृत्य अवन्त्यामुवटो वसन्। मंत्रभाष्यमिदं चक्रे भोजे राज्यं प्रशासति॥
आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। मंत्रभाष्यमिदं क्लृप्तं भोजे पृथ्वीं प्रशासति॥

यहाँ पर स्पष्टतः उबट ने अपने पिता का नाम वजूट लिखा है। प्रश्न यह है कि क्या वजूट और जैयट एक ही थे?

लन्दन में इण्डिया आफिस के पुस्तकालय में संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सूची जूलियस ऐगेलिंग ने तैयार की थी। भाग १ पृष्ठ २९ पर वाजसनेयी-संहिता पर उबट के मंत्रभाष्य की दो प्रतिलिपि बताई गई हैं (नं० १८६ व १८७)। इन पर जो श्लोक लिखे पाए गए हैं उनमें एक पर भाष्यकार के पिता का नाम वजूट और दूसरे पर जैयट लिखा है। श्लोक ये हैं:—

(१) आनन्दपुरवास्तव्यजय्यटाख्यस्य सूनुना। उवटेन कृतं भाष्यं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

(२) आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना। मंत्रभाष्यमिदं क्लृप्तं पदवाक्यैः सुनिश्चितैः॥

सम्भव है जैयट और वजूट एक ही हों। और मम्मट, कैयट, उबट भाई ही हों। मम्मट ने काव्यप्रकाश में उदात्त अलंकार के उदाहरण में राजा भोज के दान की भी अत्यधिक प्रशंसा की है। इससे भी पं० भीमसेन दीक्षित का मत सही प्रतीत होता है। क्योंकि यह प्रशंसा मम्मट ने अपने भाई उबट से सुनी होगी जो राजा भोज के आश्रय में रहते थे।

सारांश यह कि तीनों भाई काश्मीर के आनन्दपुर ग्राम के रहनेवाले थे। काशी में विद्याध्ययन करने के अनन्तर उबट ने उज्जैन में निवास किया और यहीं मंत्रभाष्य लिखकर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। साहित्याचार्य पं० विश्वेश्वरनाथ रेउ का यह मत कि उब्रट गुजरात में आनन्दपुर के रहनेवाले थे और वहाँ से उज्जैन चले आए थे, सही नहीं है। आनन्दपुर काश्मीर के अन्तर्गत था, और उबट काश्मीर से ही आए थे।

(३२) महाराज चण्डप्रद्योत

उज्जयिनी के पूर्व कालीन इतिहास में महाराज चण्डप्रद्योत का काल कई दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपर्ण है। कवि कालिदास ने भी इस काल का स्मरण करके 'मेघदूत' में लिखा था:—

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल नलगिरिः स्तंभमुत्पाटच दर्पादित्यागन्तून् रमयति जनो यत्र बन्धनभिज्ञः॥



प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

(प्रद्योत की कन्या—वासवदत्ता को वत्सराज उदयन ने हरण किया था। उसी प्रद्योत के यहाँ सुनहरी (या सोने के?) तालवृक्षों का वन भी था। यहीं नलगिरि हाथी ने स्तंभ को उखाड़कर भ्रमण किया था। यह कथा सुना-सुनाकर वहाँ के वृद्ध इतिहासज्ञ बन्धुजनों को प्रसन्न किया करते हैं।)

'कथासरित्सागर' में यह हाल बड़े मनोहर रूप से वर्णन किया गया है। राजा महेन्द्रवर्मा उज्जैन के राजा थे। उनके पुत्र जयसेन और इन्हीं जयसेन के पुत्र महासेन बताए गए हैं। महासेन का दूसरा नाम प्रद्योत था। महासेन ने बड़ी भारी तपस्या की और देवी भगवती के ऊपर अपना मांस काट काटकर हवन किया जिससे प्रसन्न होकर देवी ने इन्द्र के वज्र के समान अपना एक खड्ग और ऐरावत के समान एक बड़ा नलगिरि नाम हाथी दिया और कहा कि तूने बड़ा चण्डकर्म किया है, इसलिए तेरा नाम चण्डमहासेन होगा। देवी यह कहकर अन्तर्धान हो गई कि अंगारक-दैत्य की पुत्री अंगारवती अति सुन्दरी कन्या महासेन को मिलेगी।

कालान्तर में चण्डमहासेन ने अंगारक को मारकर अंगारवती से अपना ब्याह किया। जिससे उनके गोपालक और पालक दो पुत्र और एक चन्द्ररेखा के समान अत्यन्त रूपवती कन्या वासवदत्ता उत्पन्न हुई।

महासेन उसका विवाह वत्सराज उदयन से करना चाहते थे क्योंकि वे पांडववंश में जन्मे थे। पुराणों की राज-वंशावलियों के अनुसार उदयन के पिता का नाम शतानीक था। उदयन-पिता शतानीक, महाभारत के पश्चात्, पौरवकुल के शतानीक द्वितीय थे। ऐसे वंश को छोड़कर अपनी प्यारी कन्या चण्डमहासेन और किसीको देने को तैयार न थे। आर्य राजाओं में उस समय पांडव-वंश ही सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था।

राजा उदयन युवक थे। शतानीक की मृत्यु होते ही पाञ्चाल राजा आरुणि ने उदयन पर आक्रमण कर दिया और वत्सदेश का कुछ भाग हस्तगत कर लिया था। गद्दी पर बैठते ही वत्सदेश इस प्रकार छोटा रह जाने से उदयन को निराशा हुई और मंत्रियों पर राज छोड़कर स्वयं हाथी पकड़ने के व्यसन में लिप्त हो गए। उदयन अपनी घोषवती वीणा बजाकर हाथियों की उद्दण्डता दूर कर उन्हें आसानी से पकड़ लेते थे।

राज्याभिषेक के अनन्तर उदयन एक बार विन्ध्याचल के वन में गए। चण्डमहासेन का उस समय महामंत्री भरत-रोहक था। उसने उदयन को पास में आया जानकर, चण्डमहासेन की आज्ञा लेकर, उदयन को कैद करने के लिए बड़ा भारी षडयंत्र रचा। एक यंत्र का हाथी बनवाकर उसके भीतर बड़े बड़े वीरों को भरकर विन्ध्याचल के वन में छोड़ दिया। राजा उदयन के शिकारियों ने उस हाथी की बड़ी प्रशंसा की। दूसरे दिन कुछ गुप्तचरों को लेकर उदयन-सेना को छोड़कर हाथी पकड़ने चल दिए। सन्ध्या हो चुकी थी, उदयन वीणा में तल्लीन हो गए थे। कृत्रिम और वास्तविक गज में उनको भेद नहीं दिखाई दिया। अकेले उदयन को पाकर शस्त्रधारी सैनिक कृत्रिम हाथी से निकल पड़े और उदयन को कैद करके उज्जयिनी ले आए। चण्डमहासेन ने उदयन का बड़ा सम्मान किया। वीणा सिखाने के लिए उदयन को वासवदत्ता का शिक्षक नियुक्त किया। दोनों का प्रेम-परिणय हो गया। तब तक उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण और पुरोहित बसन्तक भेष बदलकर उज्जयिनी आगए और छल से उदयन और वासवदत्ता दोनों को वत्सदेश ले गए। वहाँ गद्दी पर बैठकर, वासवदत्ता को उदयन ने अपनी रानी बनाया और चण्डमहासेन ने भी प्रसन्न होकर अपने लड़के गोपालक को भेजकर दोनों का विधिवत् विवाह करा दिया। इस विवाह के कुछ काल अनन्तर यौगन्धरायण ने वासवदत्ता की सलाह से मगधराज-कुमारी पद्मावती से भी उदयन का ब्याह करा दिया; और चण्डमहासेन और मगध की सेनाओं की सहायता से पाञ्चाल देश जीतकर वत्सराज में मिला लिया।

'कथासरित्सागर' में उदयन और वासवदत्ता के पुत्र नरवाहनदत्त की और भी अधिक कीर्त्ति वर्णित की गई है। बताया यह जाता है कि सोमदेव ने 'कथासरित्सागर' उज्जैन में ही लिखी थी। अन्य ग्रंथकार उदयन के पुत्र का नाम बहीनर बताते हैं। 'मत्स्यपुराण' ने लिखा है कि उदयन और उसके प्रतापी पुत्र भरतवंश के अन्त में होंगे।

जो कुछ भी हो, उदयन वासवदत्ता की प्रणय-कथा ने संस्कृत साहित्य को एक जीवन प्रदान कर उज्जयिनी और उसके नरपति चण्डप्रद्योत की कीर्ति को ही अमर बना दिया है। संस्कृत साहित्य के प्राचीनतम नाटककार कविकुलगुरु

कालिदास के अनुसार भास, सौमिल्ल और कविपुत्र आदि हैं। वास्तव में कालिदास के समय में भास का यश अच्छी तरह फैला हुआ था। राजशेखर ने लिखा है कि भास का नाटक-संग्रह था और स्वप्नवासवदत्ता सबसे श्रेष्ठ नाटक था :—

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्। स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः ॥ (सूक्तिमुक्तावली)

भास के 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' नाटक में उदयन और वासवदत्ता के ऊपर लिखित प्रेम-परिणय कथा का वर्णन है। भास का दूसरा छह अंकों का 'स्वप्नवासवदत्ता' नामका नाटक है जिसमें वत्सराज उदयन की सार्वभौमत्व प्राप्ति के लिए मगधराज कन्या पद्मावती से विवाह की पूरी कथा दी गई है। भास का 'चारुदत्त' नाटक भी चण्डप्रद्योत के पुत्र पालक राजा की उज्जयिनी से सम्बन्धित है और शूद्रक का 'मृच्छकटिक' इसी 'चारुदत्त' का ही दूसरा परिवर्द्धित संस्करण समझा जाता है। बाण के 'हर्षचरित' में भी यह कथा मिलती है। और कई पाली ग्रंथों में भी यह कथा उद्धृत की गई है। 'बृहत्कथाश्लोकसंग्रह' और 'विष्णुगुप्त' में भी यह प्रणयकथा किसी न किसी संक्षिप्त रूप में दिखाई है। ऐसा भी बताया जाता है कि भास ही संस्कृत भाषा में प्रथम नाटककार थे और संस्कृत नाटकों का सूत्रपात चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी से ही हुआ है। बाद के नाटक भी इसीलिए उज्जयिनी से सम्बन्धित हैं। संस्कृत साहित्य और संस्कृत नाटक के इतिहास में महाराज चण्डप्रद्योत का महत्त्व इसीलिए अत्यन्त अधिक माना जाता है। हर्ष की 'रत्नावली' और 'प्रियदर्शिका' और कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' 'मालविकाग्निमित्र' और 'शकुन्तला' में कई स्थल पर 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'चारुदत्त' की छाया प्रत्यक्ष दिखाई पड़ती है।

'मृच्छकटिक' और 'चारुदत्त' नाटकों में महासेन के पुत्र पालक को दुराचार, कुनृप और बलमन्त्रिहीन लिखा है। पालक के पीछे अवन्ति का राज्य विजयाकुल में चला गया, ऐसा 'त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति' में लिखा है।

ऐतिहासिक दृष्टि—गौतम बुद्ध के काल में भारतवर्ष में चार महाराज ही श्रेष्ठ बताए जाते हैं। (१) उज्जयिनी के चण्डप्रद्योत महासेन, (२) मगध के श्रेणिक बिम्बसार, (३) कौशल के प्रसेनजित और (४) वत्स के उदयन।

'वीणावासवदत्ता' में निम्नलिखित राजाओं के नाम और भी बतलाए गए हैं परन्तु यह अधिक बलशाली प्रतीत नहीं होते :—

(१) अश्मकराज संजय, (२) माधुरराज जयवर्मा, (३) काशीपति विष्णुसेन, (४) अंगेश्वर जयरथ, (५) मत्स्यराज शतमन्यु, (६) सिंधुनरेश सुबाहु, (७) पांचालराज आरुणि।

पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत को 'चण्डपज्जोति' लिखा गया है और वे गौतमबुद्ध के समवयस्क ही बताए गए हैं। पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत के पिता का नाम पुलिक या अनन्तनेमि बताया गया है। 'समन्त पासादिका' में बुद्धघोष ने प्रद्योत का जन्म कुछ और भी रहस्यमय बताया है परन्तु वह सही प्रतीत नहीं होता। पुराणों में चण्डप्रद्योत का शासन-काल २३ वर्ष ही बताया है परन्तु पाली ग्रंथों में ५२ वर्ष बताया गया है। श्रीयुत डाक्टर विमलाचरण लॉ एम० ए०, बी० एल०, पी-एच्० डी० ने हाल में ही 'पुरातन भारत में अवन्ती' एक छोटी पुस्तिका अंग्रेजी में लिखी है जो ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व विभाग से प्रकाशित की गई है। पाली ग्रंथों के आधार पर श्रीयुत् लॉ महोदय इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सूरसेन के राजा का नाम 'अवन्तिपुत्त' होने से उज्जयिनी और मथुरा राजकुलों में विवाह सम्बन्ध अवश्य मानना पड़ेगा। उत्तर पूर्व में अवन्ती राज्य वत्सराज की सीमा से भी मिलता हुआ था। उनके अनुसार राजा बिम्बसार अवन्ती नरेश प्रद्योत के मित्र थे। गौतम बुद्ध से उमर में वे ५ वर्ष छोटे थे और ५२ वर्ष राज करके बुद्ध निर्वाण के ८ वर्ष पूर्व उनके पुत्र अजातशत्रु ने बिम्बसार की हत्या करके राज हस्तगत कर लिया। जब इस हत्या का समाचार चण्डप्रद्योत ने सुना तो उन्होंने अजातशत्रु पर धावा करने की तैयारी प्रारंभ कर दी। चण्डप्रद्योत के धावे से भयभीत होकर अजातशत्रु ने राजगृह की रक्षा के लिए सारे प्रबन्ध किए परन्तु फिर चण्डप्रद्योत ने किसी कारण से अपना विचार छोड़ दिया।

पाली ग्रंथों में चण्डप्रद्योत को उग्रकर्मा, नयवर्जित, सिद्धान्त-रहित और नास्तिक बताया गया है।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

चण्डप्रद्योत ने गौतम बुद्ध को उज्जैनी निमंत्रित करने के लिए अपने राजगुरु के पुत्र कात्यायन को भेजा था। परन्तु बोधिसत्व उज्जैन न पधार सके। महाकात्यायन बुद्धदेव के प्रमुख शिष्यों में अत्यन्त प्रसिद्ध हुए हैं। उनके कारण चण्डप्रद्योत का नाम आदर से लिया जाता था। अवन्ती एवं सूरसेन देश में बौद्ध धर्म को फैलाने में उनका ही श्रेय था। गौतम बुद्ध के अनन्तर बोधिसत्त्व की भाँति ही महाकात्यायन का सम्मान होता रहा। मथुरा नरेश को जो कात्यायन ने वर्ण-व्यवस्था के विरोध में उपदेश दिया था वह 'मधुरा-सुत्त' के नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ और आज भी बौद्धधर्म विद्वत्ता के एक उत्कृष्ट उदाहरण की भाँति उद्धृत किया जाता है। महाकात्यायन के उपदेशों के आधार पर अत्यन्तप्रसिद्ध "महानिद्देश" की रचना की गई थी। कात्यायन को 'कांचन' या 'कञ्चन' भी लिखा है। इनके जीवन चरित सम्बन्धी बातें हमने अन्यत्र लिखी हैं।

पाली ग्रंथों में महाप्रसिद्ध वैद्य जीवक के उज्जैन आकर महाराज चण्डप्रद्योत की बीमारी हटाकर उनको स्वस्थ करने का वर्णन बड़ी बड़ी कथाओं के रूप में दिया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित डॉ० गिरीन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अंग्रेजी ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑफ दी इण्डियन मैडीसिन' के तृतीय भाग में इनमें से कुछ वर्णन का अनुवाद पाली ग्रंथों से किया गया है। अन्य ग्रंथों में भी यही वर्णन मिलते हैं।

इन ग्रंथों के आधार पर बताया गया है कि श्रेणीय बिम्बसार के कुमार अभय के एक वेश्या से उत्पन्न पुत्र 'जीवक' को महाराज बिम्बिसार ने पुत्रवत् मानकर पाला था। बड़े होने पर जीवक अपनी इच्छानुसार तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने गए थे और वहाँ भारत के सिरमौर अध्यापक आत्रेय ने उनको सात साल आयुर्वेद पढ़ाकर दक्ष कर दिया था। अत्यन्त प्रतिभावान् होने के कारण उनको शीघ्र ही यशश्री प्राप्त हो गई। भारतवर्ष में जहाँ अन्य वैद्य निराश हो जाते वहीं जीवक बुलाए जाते थे। फैलते फैलते उनकी कीर्ति दिगन्त में व्याप्त हो गई।

एक बार उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत पाण्डुरोग से बीमार पड़े। संसार-प्रसिद्ध वैद्य बुलाए गए परन्तु उनके रोग को दूर नहीं कर सके। तब उन्होंने श्रेणीय बिम्बिसार को जीवक को भेजने की प्रार्थना की। आज्ञा मिलते ही जीवक उज्जैन आए। यहाँ आने पर उनको पता चला कि चण्डप्रद्योत का क्रूर स्वभाव है और वह ऐसे रस से घृणा करते हैं जिसमें घी या तेल की चिकनाहट हो। परन्तु ऐसा रस लिए बिना रोग दूर नहीं हो सकता। ऐसा रस लेते ही इनको वमन होगी। और स्वभाव से ही क्रोधित होने पर वमन होते ही, पता नहीं क्या क्रूर आज्ञा दे डालेंगे। क्रोध इतना है कि मृत्यु-दण्ड की आज्ञा भी असम्भव नहीं है।

ऐसा सोचते सोचते भारतीय वैद्यों के उज्जवल रत्न जीवक, महाराज चण्डप्रद्योत के यहाँ पहुँचकर कहने लगे कि "हे महाराज! हम वैद्य लोगों को जंगल में दूर दूर जाकर नाना प्रकार की जड़ी बूटी एकत्रित करनी पड़ती हैं। कोई जड़ी प्रातःकाल, कोई सायंकाल, कोई किसी समय, कोई किसी समय, लानी पड़ती है। इसलिए प्रथम तो कोई बहुत तेज वाहन का प्रबन्ध होना चाहिए और द्वितीय यह भी आज्ञा होनी चाहिए कि उज्जयिनी के किसी भी द्वार से किसी भी समय अन्दर आते या बाहर जाते हुए हमको कोई द्वारपाल, सैनिक या कर्मचारी रोकने न पाए"।

महाराज ने वैसीही आज्ञा कर्मचारियों को दे दी। और सारे वाहन भी उनको दिखलाने का आदेश दिया। उस समय द्रुतगतिवाले वाहनों में चार या पाँच वाहन उज्जयिनी में अत्यन्त प्रसिद्ध थे—

(१) **उघनिका रथ**—जिसको एक दास उघनिका ले जाता था। यह एक दिन में ६० योजन जाकर लौट आता था।

(२) **नालागिरि**—हाथी जो एक दिन में १०० योजन जाता और उतनी ही दूरी से वापिस भी आ जाता था।

(३) **मूंडकेशी** (मंजुकेशी)—घोड़ी जो १२० योजन जाकर वापिस आ सकती थी; और

(४) **तेलकर्णिका**—घोड़ा जिसकी तेजी भी इतनी ही थी। (कहीं कहीं इसको शेजकंठी घोड़ी लिखा है)

'उदेनवत्तु' में पाँच वाहन लिखे हैं, रथ का नाम 'कक्का' और भद्रावती हथिनी भी लिखी है।

जीवक कभी किसी वाहन पर, कभी किसी वाहन पर, कभी किसी समय, कभी किसी समय, आते जाते बने रहे। कई दिवस व्यतीत होने पर रस तैयार करके राजमहल में ले गए और महाराज को नाक बन्द करने को कहा। नाक बन्द करके रस पी लेने पर, जीवक शीघ्रता से चले गए और भद्रावती हथिनी लेकर कौशांबी भाग आए। महाराज चण्डप्रद्योत का जी मिचलाता रहा और थोड़ी देर के अनन्तर उन्होंने वमन करना प्रारंभ किया। तब उन्हें पता चला कि उनके आदेश के प्रतिकूल उनको किसी प्रकार के तेल में मिलाकर औषधि देदी गई हैं, उसी समय जीवक को बुलाया गया परन्तु जीवक का पता कैसे लग सकता था? वह तो कौशांबी पहुँच चुके थे।

महाराज ने रथ लेकर उघनिका दास को तुरन्त ही रवाना कर दिया। कौशांबी में जीवक को उस दास ने आ घेरा। जीवक उस समय भोजन कर रहे थे। उस दास को भी खाने को कहा परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। परन्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध एक फल का थोड़ासा टुकड़ा उसको खिला ही दिया। फल खाते ही उस दास का सिर चक्कर खाने लगा। जब जीवक भोजन समाप्त करके राजगृह चलने को उद्यत हुए तब उस दास को वही फल और खिला दिया। जिससे वह तुरन्त ही अच्छा हो गया। हथिनी उसको वापिस देते हुए जीवक ने यह कहा कि औषधि जो महाराज चण्डप्रद्योत को दी थी वह अचूक थी। वमन होने के अनन्तर इतना समय हो चुका है कि उसने अपना प्रभाव दिखाया होगा और वह बिलकुल अच्छे हो गए होंगे और उनका क्रोध भी जाता रहा होगा। अब तुम उज्जयिनी लौट जाओ। निदान दास ने उज्जैन लौटकर सारी कथा जब महाराज को सुनाई तो वे बहुत प्रसन्न हुए और बहुमूल्य वस्त्र जीवक को भेंट में भेजे।

इस समय, अकस्मात् गौतम बुद्ध बहुत बीमार पड़ गए और सारे भारतवर्ष में खलबली मच गई। आनन्द ने जीवक से कहा कि संसार के महापुरुष का उपचार असाधारण रीति से होना चाहिए क्योंकि सारे संसार की दृष्टि आज इस ओर है। जीवक ने सोचा कि जुलाब दिए बिना बोधिसत्व अच्छे नहीं हो सकते परन्तु इनका शरीर इतना शक्तिशाली नहीं रहा है कि साधारण जुलाब दिया जा सके, इसलिए तीन कमल के फूल मंगाए गए और उन कमल पुष्पों में सुगंधित औषधियाँ बड़े यत्न से बन्द करके एक एक फूल बुद्ध भगवान् को सूंघने को दिया गया। एक फूल सूंघने पर दस बार उदर स्वच्छ करने को जाना पड़ता था। परन्तु उससे किंचित् भी कष्ट या दुर्बलता प्रतीत नहीं होती थी। तीस बार मलशुद्धि के अनन्तर भगवान् बुद्ध बिलकुल स्वस्थ हो गए और सारे संसार में जीवक की कीर्ति और भी उज्जवल हो गई।

भगवान् ने प्रसन्न होकर जीवक को आशीष दी। तब साहस करके जीवक ने भगवान् से एक वरदान मांगा। भगवान् ने कहा जो तू कहेगा वैसी ही आज्ञा दूंगा। तब जीवक ने कहा कि "भगवान् को एवं भिक्षु भ्राताओं को, रद्दी चिथड़ों के कपड़े जोड़ जाड़कर पहनते देखदेख मेरा चित्त थक गया है। इसलिए उज्जयिनी के महाराज चण्डप्रद्योत के भेजे हुए बहुमूल्य 'शिवेटचक' वस्त्र अब धारण करने की आज्ञा प्रदान की जावे और स्वयं भी भगवान् यह वस्त्र धारण करने की कृपा करें। जीवक की बात मानते हुए उस दिन भगवान् ने यह आज्ञा प्रदान की कि जो भिक्षु चाहे वह प्रसन्नता से अच्छे वस्त्र पहिन सकता है। वस्त्रों के विषय में जो कड़ी आज्ञा प्रारंभ में दी गयी थी, जीवक की प्रार्थना के अनुसार अब वह शिथिल की जाती है।

स्वयं बुद्ध भगवान् ने भी जीवक का आभार मानकर दूसरे वस्त्र धारण किए और इस प्रकार महाराज चण्डप्रद्योत की उज्जयिनी के बने हुए सुन्दर वस्त्रों ने संसार में उज्जयिनी की कीर्त्ति-पताका फहराकर बौद्ध भिक्षुओं के सामाजिक इतिहास में महान् परिवर्तन कराया।

काव्य, साहित्य, नाटक, प्रेम-परिणय, प्रणयकथा, राजनीति, हस्तिशिक्षा, युद्ध-शिक्षा, सोने के ताल-बन, नाना प्रकार के वाहन, यंत्र-शिक्षा, नीलागिरि हाथी, बौद्धधर्म, धर्म-प्रचार, कांचन की भूमि, बहुमूल्य नाना प्रकार के बने वस्त्रों और सुन्दर वस्त्र-कला के लिए महाराज चण्डप्रद्योत और उज्जयिनी की कीर्ति सदा अजर और अमर बनी रहेगी।

(३३) स्वामी जदरूप

मुगल काल में प्राचीन उज्जयिनी के गौरव का स्मरण दिलानेवाले स्वामी जदरूप का नाम मुगल बादशाहों के इतिहास में कई बार आया है।

प्राचीन उज्जयिनी से सम्बन्धित कुछ महान् व्यक्ति

जहाँगीर ने अपने "तुजुक जहाँगीरी" में लिखा है कि उज्जैन के तपस्वी जदरुप का नाम उन्होंने बहुत सुना था। और जदरूप को आगरा बुलाने की इच्छा थी; परन्तु मार्ग-कष्ट देखकर उनको नहीं बुलाया गया। मांडू यात्रा के समय जब वह फरवरी १६१७ में कालियादह महल उज्जैन में ठहरे थे तो जदरूप से मिलना उचित समझा गया। बादशाह जहाँगीर क्षिप्रा नदी में नाव लेकर गए और नाव छोड़कर लगभग ४५० गज (।। कोस) क्षिप्रा के तट से उनको पैदल चलना पड़ा। एक पहाड़ी के एक किनारे पर एक गुफा थी जिसमें जदरूप रहते थे। इस गुफा को बादशाह जहाँगीर ने एक छोटा छिद्र लिखा है। गुफा का दरवाजा एक गज ऊँचा और केवल १० गिरह चौड़ा था। इस दरवाजे से उस स्थान तक जहाँ स्वयं बैठते थे २ गज की लम्बाई थी। १ गज ३ गिरह की ऊँचाई थी। स्वामी जदरूप जिस छिद्र में बैठकर तपस्या किया करते थे वह केवल ५।। गिरह लम्बा और ३।। गिरह चौड़ा था। न वहाँ कोई चटाई थी न कोई आसन। न उनके बदन पर कुछ कपड़ा ही था। एक लंगोटी लगाए बारह मास वह तपस्या में लगे रहते थे। दिन में दो बार स्नान करते थे और उज्जैन नगर में दिन में एक बार भिक्षा लेने जाते थे। वह भी भिक्षा चुने हुए केवल सात ब्राह्मणों के घर में से किन्हीं तीन घरों से नित्यप्रति किया करते थे। इन सात घरों के ब्राह्मण धार्मिक, सन्तोषी गृहस्थ थे। परन्तु जिस घर में अशौच या रजस्वला स्त्री होती उसमें से भिक्षा नहीं लेते थे। तीनों घरों में से कुल भिक्षा मिलाकर इतनी होती थी कि केवल ५ कोर में निगल सकें। इसको वह चबाते इसलिए नहीं थे कि उसमें दाँत लगकर कहीं अन्न का स्वाद न आ जाय।

बादशाह जहाँगीर ने आगे लिखा है कि स्वामी जदरूप मनुष्यों से बहुत कम मिला करते थे और वह स्थान भी ऐसा था कि बहुत दुबले पतले मनुष्य भी बहुत कठिनता से उनके पास पहुँचते होंगे। परन्तु जदरूप वेदान्त में पारंगत थे और उनकी अत्यन्त प्रसिद्धि के कारण बहुत से मनुष्य उनके दर्शन को जाया करते थे।

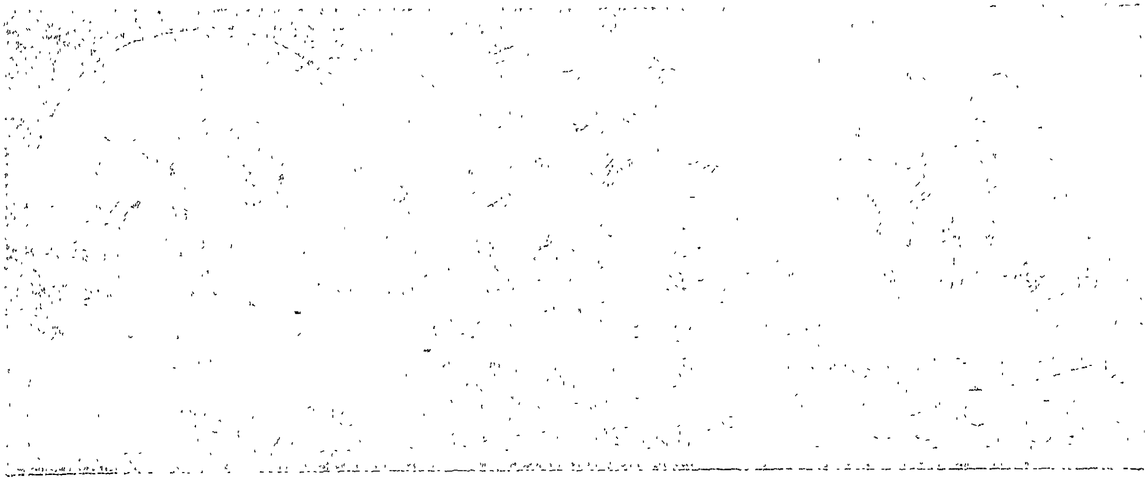
पहले दिन स्वामी जदरूप से जहाँगीर ने लगभग ६ घड़ी (ढाई घण्टे) बात की। उसके बाद बादशाह जहाँगीर हाथी पर सवार होकर उज्जैन शहर में से गुजरे और शहर में से गुजरने पर ३,५००) साढे तीन हजार रुपयों की मूठें लुटाईं और पौने दो कोस चलकर दाऊदखेड़ा पहुँचे जहाँ बादशाही तम्बू वगैरा पड़े हुए थे। जहाँगीर ने लिखा है कि तीसरे दिन फिर स्वामी से मिलने की इच्छा होने पर दोपहर को फिर उनके यहाँ पहुँचे और ६ घड़ी उनके सत्संग में बिताई और सन्ध्या के समय महल में वापिस आए। इस दिन स्वामी जदरूप ने उनको अच्छा उपदेश दिया।

जहाँगीर ने यह भी लिखा है कि असीरगढ़ फतह करने पर शहनशाह-अकबर ने भी (१६०१ ई० में) उज्जैन में आकर जदरूप के दर्शन किए थे।

सर टामस रो के कथनानुसार बादशाह जहाँगीर से मुलाकात के समय जदरूप की अवस्था ३०० (तीनसौ) वर्ष की थी। जर्मनयात्री हैनमरिक बौन पोजर ने लिखा है कि स्वामी जदरूप २४ घण्टे में केवल उतना अन्न खाते थे जितना पाँच उंगलियों में आ सकता था। मआसिरुल उमरा और इकबालनामे में इसका नाम अछदूप लिखा है।

कहा जाता है कि बादशाह के हुक्म से स्वामी जदरूप का अजमेर में चित्र बनाया गया था, जिसमें वह दुबले पतले दिखलाए गए हैं। परन्तु तपस्या और योग के कारण उनके चहरे की कान्ति अत्यन्त दमक रही है। डॉ० कुमार स्वामी (*J. R. A. S.* July, 1919) ने इस चित्र को, मुगलकालीन कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में से बतलाया है।

सर टॉमस रो ने यह भी लिखा है कि बहुत से शासन सम्बन्धी प्रश्नों में भी बादशाह कभी कभी स्वामी जदरूप से सम्मति माँगते थे। प्राचीन उज्जैन का गौरव मुगलकाल में स्वामी जदरूप ने सुरक्षित रक्खा था। परन्तु यह खेद का विषय है कि जिस महात्मा के दर्शन को भारत के मुगल सम्राट् अकबर और जहाँगीर आए हों, जिसका वर्णन जर्मन और अंग्रेज यात्रियों ने किया हो और जिसकी गुफा की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई तक लिखने में, मुगल सम्राट् ने गौरव माना हो उसी महात्मा की गुफा के नामोनिशान का आज कुछ पता नहीं है।

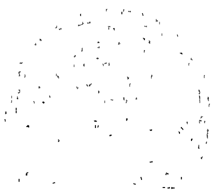


मालवों का संक्षिप्त परिचय

श्री कृष्णदेव एम्० ए०

प्राचीन भारत के इतिहास में मालव जाति का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। वैय्याकरण पाणिनि (लगभग ८०० ई० पू०) के युग से लेकर कम से कम गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त (३५०-३८० ई०) के काल तक अर्थात् एक सहस्राब्दी से भी अधिक इस जाति की महत्ता अक्षुण्ण बनी रही। पंजाब की आदिम निवासी यह जाति, राजपूताना, मध्यभारत, युक्तप्रान्त, लाटदेश तथा मालवा प्रभृति भारत के जिन विभिन्न प्रान्तों में कालान्तर में जा बसी, उन सभी प्रान्तों पर इसकी अमिट छाप पड़ी। मध्यभारत का मालवा प्रान्त इस जाति के चिरस्थायी प्रभाव का एक ज्वलन्त प्रतीक है। यूनानी सिकन्दर की विश्व-विख्यात वाहिनी के सामने जहाँ उत्तर-भारत की कितनी ही जातियों ने सिर झुका दिया, वहाँ कतिपय वीर जातियों के साथ इसने उससे अन्त तक लोहा लिया और उसे घायल कर उसके विशेष कोप का भाजन बनी। इस जाति ने देश-देशान्तर की खाक छानी पर अपनी टेक नहीं छोड़ी। भाग्य-चक्र के फेरे खाकर इसने स्थान परित्याग किया पर अपनी स्वतंत्रता तथा स्वाभिमान का परित्याग नहीं किया। एकता और स्वातन्त्र्य-प्रेम का जो आदर्श इस जाति ने उपस्थित किया वह हमारे इतिहास का अत्यन्त गौरवपूर्ण अध्याय है।

मालवों की प्राचीनता के प्रमाण हमारे साहित्य और इतिहास में प्रचुरता से मिलते हैं। प्राचीनकाल में मालवों की चर्चा अधिकतर क्षुद्रकों के साथ हुई देखी जाती है। इसका कारण यह था कि ये दोनों ही पंजाब की पड़ोसी शक्तियाँ थीं और इनके पारस्परिक सम्बन्ध घनिष्ट थे। पाणिनि ने स्पष्टत: इनका नाम नहीं लिया, किन्तु अपने एक सूत्र (५।३।११४) में इनकी ओर इंगित किया है। इस सूत्र में इन्हें 'आयुधजीविसंघ' कहा है जिसका तात्पर्य है कि इन संघों की विशेषता क्षत्रिय वृत्ति थी। काशिका की व्याख्या ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इन संघों में मालवों और क्षुद्रकों की गणना प्रमुख थी। सिकन्दर के ऐतिहासिकों ने अपने लेखों में इन दोनों का एक साथ विस्तार में वर्णन किया है। इन्होंने मालवों को मल्लोइ, मल्लि अथवा मल्लइ तथा क्षुद्रकों को औक्सिद्रकइ, सुद्रकि, हाइद्रकइ, अथवा साइद्रकइ नामों से निर्देश किया है। इनमें से कर्टियस नामक ऐतिहासिक लिखता है कि क्षुद्रकों और मालवों की सम्मिलित सेना में ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ हैं। पाणिनि के एक सूत्र (४।१।१६८) पर टिप्पणी करते हुए पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में क्षत्रिय जनपदों



के उदाहरण में क्षुद्रकों और मालवों की एक साथ चर्चा की है। इसी प्रकार व्याकरण के एक और प्राचीन आचार्य आपिशलि ने 'क्षौद्रकमालव' समस्त-पद का विधान किया है। महाभारत (६।५९।१३५) में इन दोनों शक्तियों के कौरव-पक्ष की ओर से लड़ने का वर्णन आता है।

ऊपर लिखे प्रमाणों से जहाँ एक ओर मालवों का क्षुद्रकों के साथ घनिष्ट सम्बन्ध ज्ञात होता है वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि वे पञ्जाब के निवासी थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि इनकी सिकन्दर से मुठभेड़ पञ्जाब में ही हुई। इसके बाद भी पतञ्जलि के समय तक ये अपने आदिम स्थान में ही रहे। महाभारत में एक प्रसंग में इनकी चर्चा त्रिगर्तों के साथ (द्रोणपर्व, १०।१७) और दूसरे में शिवि तथा अम्बष्ठों के साथ (सभापर्व, ३२।७) हुई है, जो पञ्जाब की जातियाँ थीं। इनसे यह प्रमाणित होता है कि लगभग १५० ई० पू० तक मालव पञ्जाब में ही जमे रहे। अब प्रश्न यह होता है कि वे पञ्जाब के किस हिस्से के निवासी थे ? इस विषय में विद्वानों में मतभेद है। मैक्क्रिण्डल का मत है कि वे लोग चनाब और रावी के दोआब में थे और उनका राज्य सिन्धु और चनाब के संगम (वर्त्तमान मुल्तान और मौण्टगोमरी जिले) तक फैला था। स्मिथ का ख्याल है कि वे झेलम और चनाब के संगम के नीचे के प्रदेश में अर्थात् आधुनिक झंग और मौण्टगोमरी जिलों में बसे थे। रायचौधरी के मतानुसार वे रावी के निचले काठे में नदी के दोनों तटों के निवासी थे।

यूनानी ऐतिहासिकों के लेखों से ज्ञात होता है कि मालव और क्षुद्रक पंजाब प्रदेश के सर्वाधिक शक्तिशाली तथा युद्धप्रिय जनपद थे। जब विजयी सिकन्दर झेलम के रास्ते पंजाब से कूच कर रहा था तो इन दोनों ने उसका संग्राम में स्वागत करने को कमर कस ली और स्त्रियों और बालकों को रक्षा के लिए दुर्गों में भेज दिया। कर्टियस का कहना है कि इन दोनों जनपदों में पहले वैमनस्य था किन्तु राष्ट्रीय विपत्ति के सम्मुख ये दोनों अपना वैर भूल गए और ९०,००० पैदल, १०,००० घुड़सवार और ९०० रथ की सेना एकत्र कर युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गए। इनके बल और पराक्रम की इतनी ख्याति थी कि यूनानी सेना इन वीर योद्धाओं का सामना करने के नाम से ही काँप उठी और बागियों की भाषा में अपने राजा को बुरा-भला कहने लगी। सिकन्दर ने अपनी भय-त्रस्त सेना को समझाया और प्रोत्साहित किया कि "भारतभूमि से हम वीरोचित सम्मान के साथ कूच करना चाहते हैं, कापुरुषों की भाँति प्राण बचाकर भागना नहीं चाहते।" यूनानी सिपाही प्रभावित हुए और युद्ध के लिए इतने उन्मत्त हो उठे कि कोई सूचना दिए बिना ही सहसा मालवों पर टूट पड़े जब कि वे निःशस्त्र अपने खेतों में काम कर रहे थे। मालव बड़ी संख्या म हताहत हुए पर उन्होंने साहस और धैर्य नहीं छोड़ा। शत्रुओं का मुकाबला बड़ी वीरता से किया। उनके कितने ही नगर वीरान हो गए और हजारों की संख्या में वे काम आए। नगर पर नगर उनके हाथ से निकलते गए, उन्हें जंगल और मरुभूमि की शरण लेनी पड़ी, पर विदेशियों के सामने उन्होंने सिर नहीं झुकाया। जब सिकन्दर ने मालवों की राजधानी पर आक्रमण किया तब संग्राम और भी प्रचण्ड हो उठा जिसमें सिकन्दर बुरी तरह घायल हुआ। यह पहला अवसर था कि भारतभूमि पर सिकन्दर आहत हुआ था। इसकी खबर होते ही सिकन्दर की सेना में तहलका मच गया और प्रतिशोध स्वरूप उसने प्रत्येक मालव का कत्ल करना शुरू किया और बच्चों और स्त्रियों तक को नहीं छोड़ा। जब मालवों ने देखा कि अब युद्ध करने से कोई लाभ नहीं तब उन्होंने और क्षुद्रकों ने सन्धि करने के उद्देश्य से १०० प्रतिनिधि भेजे। यूनानी ऐतिहासिकों ने लिखा है कि ये राजदूत असाधारण कद के तेजस्वी सुपुरुष थे। ये रथों में सवार होकर आए और इनके कपड़े सोने और जवाहरात से जड़े थे। उन्होंने आकर कहा कि "युग युगान्तर से अक्षुण्ण अपनी स्वाधीनता का हमें गर्व है। स्वाभिमान और स्वतंत्रता से जितना हमें अनुराग है उतना और किसी को नहीं। हमारी पराजय का कारण दैवी इच्छा है, भय नहीं।" सिकन्दर ने वीर जनपदों के इन वीर प्रतिनिधियों का राजकीय सम्मान और सत्कार किया। उनका राजसी स्वागत और आवभगत देखकर सिकन्दर के सेनाध्यक्षों को भी ईर्ष्या होने लगी। अस्तु, ऊपर के वृत्तान्त से जिसका आधार यूनानी ऐतिहासिकों के लेख हैं यह स्पष्ट हो जाता है कि सिकन्दर ने मालवों के साथ विजयी और विजित का नहीं, प्रत्युत समानता का व्यवहार किया। उनकी वीरता और बाहुबल का वह आस्वादन कर चुका था और सन्धि के लिए वह स्वतः उत्सुक था। इसलिए सन्धि का प्रस्ताव आते ही उसने स्वीकार किया और निश्चिन्तता का निःश्वास लिया।

यूनानी ऐतिहासिकों के विवरण से यह भी पता चलता है कि मालव बड़े ही समृद्ध थे और उनका देश सुविस्तृत एवं धन-धान्य सम्पन्न था। उनके नगरों तथा उनके प्रतिनिधियों के बहुमूल्य वस्त्रों से मालवों की आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति का थोड़ा दिग्दर्शन हो जाता है। मालवसत्ता प्रजातंत्र थी जिसमें क्षात्रधर्म को सर्वोच्च स्थान दिया गया था। क्षत्रियत्व उनकी राजनीति की आधारशिला था। उनके नागरिक युद्ध-विद्या में अपना अधिकांश समय देने के लिए नियम-बद्ध थे। इसका समर्थन हमारे वैय्याकरणों के प्रासंगिक निर्देशों से होता है जिनमें मालवों को 'आयुधजीविसंघ' तथा 'क्षत्रिय जनपद' कहा है।

इतिहास बताता है कि १५० ई० पू० के लगभग मालवगण पंजाब छोड़कर पूर्वीय राजपूताना में जा बसे। पैत्रिक भूमि के परित्याग का कारण सम्भवतः वाह्लीकदेश के यूनानियों और कुषाणों का आक्रमण था। इन स्वतन्त्रता के पुजारियों ने दासत्व की अपेक्षा चिरन्तन प्रवास को कहीं अधिक श्रेय समझा। उनके जीवट का पता इससे चलता है कि अपने नये निवास-स्थान में भी वे उतने ही सुसंगठित और शक्तिशाली रहे जितने पहले थे। कुछ काल के बाद उनकी बढ़ी हुई शक्ति का पश्चिम भारत की शक-सत्ता से संघर्ष होना अनिवार्य हो गया। क्षत्रप नहपान के जामाता शक उषवदात के नासिक लेण में उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात होता है कि मलय (मालव) राजपूताना की शक्तिशाली जाति थी और उन्होंने शकों और उनके मित्र उत्तमभद्रों के छक्के छुड़ा रक्खे थे किन्तु अन्त में वे उषवदात के हाथ पराजित हुए। अस्तु, इस पराजय के कारण मालवों के आन्तरिक बल और संगठन का ह्रास नहीं हुआ और कुछ काल बाद उन्होंने फिर सिर उठाया।

पूर्वीय राजपूताना में मालवों का सबसे प्रधान केन्द्र 'नगर' था जो जयपुर रियासत के उणियारा ठिकाना में है। इन पंक्तियों के लेखक ने इस स्थान की खुदाई करके इतिहास पर जो प्रकाश डाला है उससे पता चलता है कि प्रथमशती ई० पू० के लगभग मालवों ने इसकी स्थापना की और कम से कम दसवीं शती तक यह स्थान 'मालव-नगर' के नाम से विख्यात था। मालवों के सिक्के यहां हजारों की संख्या में पाए गए हैं। बहुत छोटे आकार और हलके वजन के होने के कारण इन सिक्कों की गणना संसार के विलक्षण सिक्कों में की जाती है। लिपि के आधार पर इनका समय ईसा की पहली तीन शतियाँ निर्धारित होता है। ये सिक्के तीन श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं। पहली और दूसरी श्रेणी के सिक्कों पर 'मालवानां जय' और 'मालवगणस्य जय' अंकित हैं जिनके अर्थ स्पष्ट हैं। तीसरी श्रेणी के सिक्कों पर भपंयन, मजुप, मपोजय, मपय, मगजश, मगोजय, मपक, पच, गजव, मरज, जमक्र आदि लिखे हैं। इन विचित्र लेखों के अभिप्राय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान् इन्हें मालव सरदारों के नाम समझते हैं, और दूसरे इन्हें सांकेतिक लेख समझते हैं। अलन का मत है कि मकार और जकार की प्रधानता के कारण इन्हें 'मालवानां जय' का संक्षिप्त रूप समझना चाहिए। डॉक्टर देवदत्त रामकृष्ण भाण्डारकर 'मगज' को 'मालवगणस्य जय' का सांकेतिक रूप तथा 'मपय' को 'मलय' पढ़कर इसे 'मालव' का रूपान्तर मात्र मानते हैं। इसी प्रकार एक और विद्वान् ने 'मगोजय' को 'मालवगणस्य यशः' का संकेत माना है। इन लेखों की संख्या २० के लगभग है जिनमें १२ मकारादि हैं और चार को छोड़कर शेष में मकार आता है, अतः मकार का मालव नाम से सम्बन्ध होना असम्भव नहीं।

जयपुर रियासत में रेढ़ नामक एक दूसरे स्थान की खुदाई से एक ताम्रमुद्रा मिली है जिसपर पहली शती ईसवी की ब्राह्मी लिपि में 'मालव जनपदस' अंकित है। कम से कम गुप्त-सम्राट् समुद्रगुप्त के काल (३५०-३८० ई०) तक मालव राजपूताना में ही जमे रहे। समुद्रगुप्त की प्रशस्ति में मालवों का नाम राजपूताना के आर्जुनायन, यौधेय, माद्रक, आभीर प्रभृति जनपदों में प्रमुख आया है। और जनपदों के साथ मालवों ने भी समुद्रगुप्त का तथा बाद में उसके उत्तराधिकारियों का आधिपत्य स्वीकार किया।

समुद्रगुप्त के समय के बाद मालव मध्यभारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर दशपुर प्रदेश में जा बसे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जैनभगवती सूत्र के १६ महाजनपदों में मलय-मालव नाम का जनपद यही था और इसे ही अंगुत्तर निकाय



में अवन्ती महाजनपद का नाम दिया गया है। विदिशा (वर्त्तमान भेलसा) समेत इस प्रदेश को अभी भी मालवा कहते हैं। पुराणों में भी मालवों की चर्चा सौराष्ट्र, अवन्ती, आभीर, शूर और अर्बुदों के साथ हुई है और उनका वास-स्थान परियात्रा (पारियात्र) पर्वत के निकट कहा है (भागवत पुराण १२।१।३६; विष्णुपुराण २।३; ब्रह्मपुराण १९।१७)।

दशपुर तथा उसके निकटवर्ती प्रदेश से प्राप्त शिलालेखों से प्रमाणित होता है कि ईसा की ५वीं और ६ठीं शतियों में विक्रम संवत् मालवों के नाम से विख्यात था। 'मालवानां गण-स्थित्या', 'श्रीम्मलिवगणाम्नाते' तथा 'मालवगणस्थिति-वशात्' पद इन शिलालेखों में संवत्सर-गणना के साथ आते हैं। दक्षिण-पूर्वीय राजपूताना में भी उस काल में विक्रम संवत् की ख्याति मालवों के नाम से थी, जैसा कि नगरी, कणस्वा और ग्यारसपुर के शिलालेखों से ज्ञात होता है। अतः दशपुर तथा उसके निकट प्राप्त लेखों से जहाँ एक ओर मालवों की शक्ति और प्रभाव का ज्ञान होता है वहाँ दूसरी ओर यह भी सिद्ध होता है कि मालवसत्ता छठी शताब्दी तक गणतन्त्रात्मक थी।

ईसा की ५वीं और ६ठीं शतियों में गुप्त-साम्राज्य के आधिपत्य में दशपुर में औलिकर नामक एक राजवंश राज्य कर रहा था जिसमें जयवर्मा, सिंहवर्मा, नरवर्मा, विश्ववर्मा और बन्धुवर्मा प्रभृति राजाओं के उल्लेख हैं। इसी वंश में यशोवर्मन-विष्णुवर्धन नाम का महान् पराक्रमी राजा हुआ जिसका ५८९ मालव (विक्रम) संवत् का शिलालेख तथा दो स्तम्भ-लेख दशपुर में प्राप्त हुए हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि इस राजा ने ब्रह्मपुत्रा से लेकर पश्चिम समुद्र तथा हिमालय से लेकर विन्ध्य तक दिग्विजय किया था।

ये भुक्ता गुप्तनाथैर्न सकलवसुधाक्रांतिदृष्टप्रतापैर्नाज्ञा हूणाधिपानां क्षितिपतिमुकुटाध्यासिनी यान्प्रविष्टा।
देशांस्तान्धन्वशैलद्रुमगहनसरिद्वीरबाहूपगूढान्वीर्यावस्कन्नराज्ञः स्वगृहपरिसरावज्ञया यो भुनक्ति॥
आलौहित्योपकण्ठात्तलवनगहनोपत्यकादामहेन्द्रादागंगाश्लिष्टसानोस्तुहिनशिखरिणः पश्चिमादापयोधेः॥
सामन्तैर्यस्य बाहुद्रविणहृतमदैः पादयोरानमद्भिश्चूडारत्नांशुराजिव्यतिकरशबला भूमिभागाः क्रियन्ते॥

इन प्रशस्तियों में अत्युक्ति अवश्य है पर इनसे विष्णुवर्धन का पराक्रमी तथा विजयी होना सिद्ध होता है।

सातवीं शताब्दी से मालव मालवा से पूर्व की ओर फैलते दीखते हैं। वे सम्भवतः भेलसा से प्रयाग के बीच के प्रदेशों में जा बसे थे। बाण के हर्षचरित में राजा महासेनगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त और माधवगुप्त को 'मालवराज पुत्र' की संज्ञा दी है। ऐसा प्रतीत होता है कि हर्षचरित में पूर्वमालव अर्थात् विदिशा को ही मालव कहा गया है। इसी काल में प्रसिद्ध चीनी यात्री युआनच्वांग (६२९-६४० ई०) अपनी यात्रा के सिलसिले में मालव आया था और इस प्रदेश का भी वर्णन कर गया है। उसने मालव देश की राजधानी माही नदी के किनारे बताई है। यह मालव वलभी ताम्रशासनों में उल्लिखित मालवक आहार (वर्त्तमान खेड़ा और अहमदाबाद जिले तथा बड़ौदा का एक हिस्सा) प्रतीत होता है। यह उस काल में वलभी राज्य के अन्तर्गत था। इस देश के विषय में चीनी यात्री लिखता है कि यह अत्यन्त धन-धान्य सम्पन्न है और यहाँ विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा होती है।

मध्ययुग के कितने ही शिलालेखों तथा ताम्रशासनों में मालवों का उल्लेख आया है। यद्यपि चौथी शती के बाद मालव स्वतन्त्र सत्ता नहीं रही पर इसका उत्तर-भारत के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा और अब तक विद्यमान है। मालवा प्रान्त तथा मालवी या मालवीय ब्राह्मण प्राचीन मालवों के अमिट प्रभाव के द्योतक हैं। ये ब्राह्मण मालवा और गुजरात में ही नहीं अपितु वर्त्तमान मध्य प्रान्त तथा युक्तप्रदेश तक फैले हुए हैं। मध्ययुग के एक शिलालेख में सप्तमालव देश का उल्लेख आया है जिससे स्पष्ट है कि भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों में पश्चिम में माहीकण्ठ से लेकर पूर्व में गंगातट तक के प्रदेशों की ख्याति मालवों के नाम पर हुई थी।



संत-नृपति और सत्कवि भर्तृहरि

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

सन्त-कवि और नृपति भर्तृहरि केवल इतिहास के ही नहीं अपितु संस्कृत-साहित्य और भारतीय-संस्कृति के एक विशिष्ट व्यक्ति हैं। उनकी संस्कृत सूक्तियाँ भारतीय-साहित्य में इतनी अधिक लोकप्रिय और हृदयंगम हो चुकी हैं कि वे रामायण, महाभारत, चाणक्य-नीति और पंचतंत्र के कर्त्ताओं की श्रेणी में निर्विवाद खड़े किए जा सकते हैं। जीवन और जगत् के विषय में उनकी अनुभूतियाँ इतनी सूक्ष्म, विशद, विपुल और पैनी हैं कि भारतीय जनता ने उनको ऋषि कोटि का मनीषी और कृतिकार मान लिया है। अवश्य ही वे हमारे साहित्य-भाण्डार और संस्कृति-कोष के एक महामूल्य और प्रोज्ज्वल रत्न हैं।

भारतीय-इतिहास में यह अनुश्रुति सर्वत्र ही प्रचलित है कि भर्तृहरि उज्जयिनी के महाराजा विक्रमादित्य के ज्येष्ठ बन्धु थे। पहले ये राज्य का उपभोग करते रहे और बाद को अपनी पत्नी के चरित्र पर सन्देह हो जाने से इनके मन में वैराग्य का उदय हुआ और ये अपना राजपाट महाराजा विक्रम को सौंपकर वैरागी हो गए। यह भी प्रसिद्ध है कि आगे जाकर ये नाथ-सम्प्रदाय में सम्मिलित हो गए और हठयोग, रसविद्या और मंत्र-विद्या आदि की सिद्धियाँ प्राप्त करने लगे। इनकी कृतियों में हिमालय और गंगा का संकेत पर्याप्त मात्रा में है, अतः बहुत सम्भव है कि ये गंगातीर पर और हिमालय की घाटियों में साधना करते रहे हों।

इनके वैराग्य के विषय में एक गाथा सर्वत्र सुनी जाती है। जब ये राज्य भोग रहे थे तब अपनी रानी पिंगला से अतिशय प्रेम रखते थे। परन्तु रानी का मन राजा पर नहीं था। वह अन्यत्र लोचन लगाए रहती थी। परन्तु उस मनुष्य का मन रानी की ओर नहीं था, अपितु एक दासी की ओर आसक्त था और वह दासी मन से राजा के प्रति आसक्त बनी हुई थी।

ऐसी स्थिति में एक दिन एक साधु ने राजा को एक अमृत-फल भेंट में दिया। राजा ने वह अमरफल स्वयं नहीं खाया और अपनी प्राणप्यारी रानी पिंगला को दे दिया। रानी ने वह अपने प्रेमी को दे दिया। और उसने उसे अपनी प्रेमिका दासी को दे दिया। अन्त में दासी के द्वारा वह अमरफल पुनः राजा के हाथ में आ पहुँचा। यह सब प्रक्रिया निहार कर

संत-नृपति और सत्कवि भर्तृहरि

राजा भर्तृहरि की स्त्री-विषयक आसक्ति नष्ट हो गई और वह सन्यासी होकर साधनामय जीवन व्यतीत करने लगा। इस प्रसंग पर भर्तृहरि ने स्वयं एक श्लोक रचा है*।

चीनी पर्यटक इत्सिंग का कथन है कि उसके भारत में आने से पचास वर्ष पूर्व भर्तृहरि नामक एक विख्यात वैयाकरण मर चुका था। बौद्ध मतानुसार वह सात बार गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम में चक्कर लगाता रहा। इसके इस प्रकार बारम्बार वैरागी और गृहजीवन के गमनागमन को दृष्टि में रखकर बहुत से विद्वान् यह कहते हैं कि वह बौद्धधर्मी था। परन्तु इसमें विशेष सचाई नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भर्तृहरि की कृतियों में सर्वत्र ही वेदान्तवाद और शिव की महिमा आती है। अनेक स्थानों पर वह अन्य देवताओं की अपेक्षा शिव को ही अधिक स्मरण करता है। भर्तृहरि कृत तीनों शतकों की पृष्ठभूमिका में भी ब्राह्मण-धर्म और ब्राह्मण-संस्कृति ही प्रधान है। "पूना ओरियेण्टलिस्ट" त्रैमासिक में भी श्रीयुत माधव कृष्ण शर्मा ने अच्छी युक्तियों द्वारा यह प्रतिपादित किया है कि भर्तृहरि बौद्धमतावलम्बी नहीं था। वह शिव और विष्णु में अभेद माननेवाला शैव था।

कुछ भी हो इसमें कोई सन्देह नहीं कि इत्सिंग वर्णित भर्तृहरि ही "वाक्यपदीय" का रचयिता है। वाक्यपदीय व्याकरण का एक अनुपम ग्रंथ है। उसके अध्ययन से यह भी पता चलता है कि भर्तृहरि एक निपुण वैयाकरण और दार्शनिक भी था। इत्सिंग ने यह भी कहा है कि भर्तृहरि ने महाभाष्य पर भी एक टीका लिखी थी। भर्तृहरि रचित महाभाष्य की टीका के विषय में वर्धमान-कृत (विक्रम संवत् ११९७) "गणरत्नमहोदधि" में भी उल्लेख आता है।† इत्सिंग ने वाक्य-पदीय-कर्त्ता भर्तृहरि का मृत्यु समय ६५१ ईसवी लिखा है। इत्सिंग ने इसके बनाए शतकों के विषय में कोई उल्लेख क्यों नहीं किया यह एक शंका की जाती है। बहुत सम्भव है उसने इन शतकत्रय के विषय में उस समय कुछ न सुना हो या उन शतकों के ब्राह्मण-संस्कृति परक होने के कारण जानबूझकर उनकी उपेक्षा की हो।

भर्तृहरि की कविता को पढ़ते हुए ऐसा विचार नहीं आता कि उसे कोई राजा लिख रहा है। यदि राजा लिखे तो वह राजा की भूमिका पर रहकर लिखे या अन्य किसी भूमिका पर रहकर। तो भी उसमें राजत्व की झलक तो आही जाती है। परन्तु यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि राजा के वैभव की ईर्ष्या करनेवाला और वहाँ से खण्डित होने से राजवैभव का तिरस्कार करनेवाला कोई पंडित बोल रहा है। इसकी उपमाएँ, इसके रूपक, इसकी आशाएँ और अभिकांक्षाएँ–सब कुछ सामान्य जनता की कोटि का है।

कुछ विचारकों का मत है कि शतकत्रय के सब श्लोक भर्तृहरि के अथवा किसी एक व्यक्ति के लिखे हुए नहीं है। वे कहते हैं कि इनमें से बहुत से सुभाषित संस्कृत-साहित्य में से भर्तृहरि द्वारा चुने गए हैं और बाकी का भर्तृहरि ने स्वयं निर्माण किया है। इस कथन में कुछ सत्यांश अवश्य प्रतीत होता है। यह तो सर्वमान्य सी बात है कि नीतिशतक, वैराग्य-शतक और शृंगारशतक की अधिकतम सूक्तियाँ भर्तृहरि निर्मित ही हैं। रचनाशैली, विषय प्रतिपादन और विचारपद्धति का अनुशीलन करने से हमें सहज ही यह प्रतीति हो जाती है कि वे एक ही कृतिकार की कृतियाँ हैं। और साथ ही यह भी पता लग जाता है कि इन शतकों का प्रणेता जगत् और जीवन के तत्त्वों का मर्मज्ञ है, वह एक सुदक्ष और संस्कार समृद्ध सत्कवि है। उसका अनुभव विशाल है और जीवनदृष्टि विमल है। भर्तृहरि के इन शतकों की अनेक सूक्तियाँ परवर्ती ग्रंथों और सूक्ति-सन्दर्भों में छूट से संग्रहीत होकर समादृत हुई हैं।

कविगुरु कालिदास और वैरागी राजा भर्तृहरि में पूर्ववर्ती कौन है यह भी एक विचारणीय विषय है। महाकवि कालिदास की अमरकृति शकुन्तला के दो श्लोक ("भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः"‡ तथा "अनाघ्रातं पुष्पं किसलयमलूनं

* यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता, साप्यन्यमिच्छतिजनं सजनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या, धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥ —नीतिशतक श्लोक २॥

† भर्तृहरिर्वाक्य-पदीय प्रकीर्णकयोः कर्त्ता महाभाष्यत्रिपाद्या व्याख्याता च।

‡ नीतिशतक, श्लोक ७१, निर्णयसागर प्रेस, संवत १९४७ में मुद्रित।

करहहैं:*) हमें क्रमशः नीतिशतक और शृंगारशतक में उपलब्ध होते हैं। और कविकुल-कुमुद-कलानिधि कालिदास जैसा आत्मसम्मानशील सत्कवि अन्य कवि की रचना को अपनी विश्रुत कृति में उतार ले यह सम्भव नहीं। इसी प्रकार की अन्य बातों को देखकर न्यायमूर्ति काशीनाथ त्र्यंबक तैलंग आदि ऐतिहासिक विद्वान् भर्तृहरि को कालिदास के बाद का मानते हैं। अधिक सम्भव तो यह है कि परवर्ती सहृदय रसिक मनीषियों द्वारा इन शतकों में परिवर्धन और प्रक्षेप होता रहा हो। क्योंकि आज हमें तीनों शतक जिस रूप में उपलब्ध होते हैं, उनमें श्लोकों की संख्या सौ से कहीं अधिक है। संवत् १९४७ विक्रमी में, मुम्बई के विख्यात् निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित शतकत्रय में श्लोकों की संख्या इस प्रकार है——

नीतिशतक ११० श्लोक, श्रृंगारशतक १०० श्लोक, वैराग्यशतक ११६ श्लोक।

श्री तैलंग द्वारा सम्पादित वैराग्यशतक में श्लोकों की संख्या ११३ है। अतः यह स्पष्ट है कि इन शतकों में बाद को प्रक्षेप होता रहा है। कविवर विशाखदत्त के मुद्राराक्षस नाटक का "प्रारभ्यते न खलु विघ्न भयेन नीचैः" श्लोक भी नीति-शतक में संगृहीत है।

भर्तृहरि के नाम से सम्बद्ध अनेक ग्रंथ हैं परन्तु भर्तृहरि का नाम लेते ही उसके तीनों शतक ही हमारे ध्यान में खड़े हो जाते हैं। इन कृतियों का परिशीलन करने से यह तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि भर्तृहरि का समय कोई महासाम्राज्य का समय नहीं है। छोटे छोटे राजा अपने अपने राज्यों की गाड़ी हाँकते होंगे। वे परस्पर में ईर्ष्या भी करते होंगे। सम्राट् अशोक के शिलालेखों में जिस प्रकार की राज्य-व्यवस्था विदित होती है या कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राजत्व का जो आदर्श हमें उपलब्ध होता है, उसकी ध्वनि हमें शतकों में नहीं मिलती।

टीकाकार सामान्यतया नीति, शृंगार और वैराग्य-इस क्रम को भारतीय आर्य-जीवन के आदर्श के साथ समन्वित करते हैं। कुमारावस्था में ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करके विद्याभ्यास करना होता है तथा लोक-जीवन के साथ परिचय प्राप्त करना होता है। यही समय ऐसा होता है, जब नीति की नींव सुदृढ़ बनाई जा सकती है। बाद को यौवन की वासन्ती फुलवारी के खिलने का समय आता है। तरुणाई की इस चार दिन की चन्द्रिका में श्रृंगाररस से उपराम प्राप्त करके भोग मय जीवन की व्यर्थता समझने के लिए वैराग्य-साधना की आवश्यकता होती है। जिससे "अतुल परिताप" से बचकर "अनन्त शमसुख" प्राप्त किया जा सके।†

भर्तृहरि भिक्षा की प्रशंसा करते हैं। वन में रहकर कन्द-मूल के द्वारा जीवन बिताने का उपदेश करते हैं। दैव की मीमांसा भी स्थान स्थान पर आपने की है। दात्य जीवन को इन्होंने भावना-प्रधान चित्रित करने के स्थान पर भोग-प्रधान बताया है। पति-पत्नी को मिलकर कुटुम्ब सेवा तथा समाज-सेवा करते हुए जीवनरस का आस्वादन करना चाहिए, इस प्रकार का आदर्श स्मृतिकारों ने सूचित किया है। भर्तृहरि के शृंगार में तो उस आदर्श का उल्लेख भी नहीं है। इ समस्त विषयों पर हमें पुनः मीमांसा करनी चाहिए।

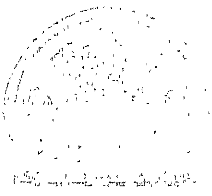
यह तो सत्य है कि शृंगार-शतक की भोगवृत्ति विलासी होते हुए भी अनार्य नहीं है! वह यौवनोचित है पर उच्छृंखल नहीं। नैतिक आदर्श की अवमानना करके सामाजिक जीवन की भित्ति को तोड़नेवाला उत्पथगामी शृंगार यह नहीं है। हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि भर्तृहरि ने जिस तीव्रता से शृंगार का चित्र अंकित किया है, उतनी ही मार्मिक भाषा में भोगमय जीवन की व्यर्थता भी समझाई है।

हिन्दू-धर्म और हिन्दुओं के सामाजिक जीवन के क्रमविकास का इतिहास, जगत् के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण है। जिस समय इस इतिहास का कार्यकारण भाव की दृष्टि से अन्वेषण, संशोधन, संगठन और रहस्योद्घाटन

---

* श्रृंगारशतक श्लोक १६, निर्णयसागर प्रेस, संवत् १९४७ में मुद्रित।

† अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वापि विषयाः। वियोगे को भेदस्त्यजति न जनो यत् स्वयममून्॥
व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः। स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति॥ वैराग्यशतक श्लोक १६॥



होगा, उस दिन भारतीय-इतिहास और आर्य-संस्कृति का हार्द हमारे सामने सूर्यप्रकाश की तरह स्पष्ट हो जायगा। क्रम-विकास के उस इतिहास में भर्तृहरि के शतकों को अवश्य स्थान मिलेगा। क्योंकि इन शतकों का प्रभाव, गीता के प्रभाव जितना ही सार्वभौम है। और यदि चारित्र्य संगठन को हम राष्ट्रीय शिक्षा का एक अंग मान लें तो इन शतकों को राष्ट्रीय-शिक्षा के इतिहास में भी मानपूर्ण स्थान अवश्य मिलेगा।

ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट हो जायगा कि तीनों शतकों को लिखते हुए भर्तृहरि ने एक विशाल, प्रसन्न और स्वस्थ जीवनदृष्टि को अपने सामने रक्खा है। जीवन का आदर्श निश्चित और लोकसुलभ बताना अभीष्ट है। हम जानते हैं कि समाज में नीति के तीन भिन्न भिन्न आदर्श प्रचलित हैं। गृह-जीवन का परित्याग करके विरक्त रहनेवाले सन्त महात्माओं और यतियों का एक पृथक् आदर्श है। उसी प्रकार जगत् में रहकर जगत् की सामान्य सेवा करते हुए दुनियादारी जीवन में सामान्य शील और सदाचार को विकसित करने का एक पृथक् आदर्श है।

इसके अतिरिक्त आदर्श का एक तीसरा प्रकार भी है, जिसे वर्णानुसार बदलनेवाला, स्वमान का या सत्व का आदर्श कहा जा सकता है। उसे हम स्वधर्म का आदर्श भी कह सकते हैं। ब्राह्मण यदि युद्ध में से भाग जाय तो उसका सत्व नष्ट नहीं होता। हां यदि वह तपोभ्रष्ट हो जाय तो उसका सत्व चला जाता है। क्षत्रिय यदि दिवालिया हो जाय तो यह उसके लिए लज्जास्पद नहीं है, परन्तु वह युद्ध से भागकर नहीं आ सकता। जगत् को ठगने और लूटनेवाले चोरों में भी अन्दर अन्दर ईमानदारी निभाने का एक आदर्श होता है, जिसके बिना चोरों का आन्तरिक संगठन सम्भव ही नहीं। विश्व-इतिहास के विश्रुत लेखक हर्बर्ट ज्यॉर्ज वेल्स ने इस प्रकार के व्यक्तिगत, वर्गगत और वर्णगत आदर्श के लिए PERSONA शब्द प्रयुक्त किया है! यह आदर्श सार्वभौम नहीं माना जाता। जाति, स्थान और व्यवसाय की दृष्टि से पृथक् पृथक् होने के कारण यह अमुक अंश में एकांगी होता है। परन्तु इसी कारण से इस आदर्श के माननेवाले लोगों में इसके पालन के लिए असाधारण तत्परता—तन्मयता—होती है। सन्तों और महात्माओं का आदर्श लोकोत्तर होता है। सामान्य लोक उसे लोकबाह्य कहते हैं। समाज ऐसे आदर्श की पूजा तो अवश्य करता है पर उसे अपनाता नहीं। सर्व-सामान्य नीति का आदर्श सर्वत्र एक समान होता है, और यही आदर्श मानवता के विकास का परिचायक होता है। वर्ण का आदर्श उस उस वर्ग के लिए ही होता है।

भारतीय संस्कृति में ये तीनों आदर्श सुन्दर रीति से विकसित हुए हैं। भारतीय-संस्कृति की यही एक विशेषता है। इसी कारण भारतीयनीति परायणता इस देश में सार्वभौम हुई है, और वह इतने युगों तक अखण्ड रूप में चली आई है कि उसे हम सनातन धर्म के नाम से पहचानते हैं।

भर्तृहरि का युग धर्मप्रयोग में नया नया था। अतः भिक्षावृत्तिवाले जीवन के दूषण लोगों के ध्यान में नहीं आए थे। आज हम लोग धर्मपरायण लोगों का घरघर भीख माँगकर जीना सर्वथा पसन्द नहीं करते। क्योंकि इस प्रकार के जीवन का हमारे समाज में भयानक अतिरेक हो गया है। निवृत्त होकर अमुक परिस्थिति में वनवास सेवन की साधना के रूप में हम भले ही पसन्द करलें परन्तु सार्वभौम नीति में अकर्मण्य निवृत्ति को तथा भिक्षाचर्या को हमने बहिष्कृत ही कर दिया है! दैववाद में से त्याग, निश्चिन्तता और क्षात्रतेज उत्पन्न होने के स्थान पर अकर्मण्यता और जड़ता ही पैदा हुई है। अतः इस दैववाद—भाग्यवाद—को भी तिलांजलि देना ही अभीष्ट है।

भर्तृहरि की शैली रामायण-महाभारत की शैली जैसी अथवा पुराणकर्त्ताओं की शैली की तरह सादी और सरल नहीं है, नाहीं वह परवर्त्ती कवियों की शैली की तरह कृत्रिम, जटिल व पर्युषित है। भर्तृहरि की शैली में प्रसाद है, प्रभा है और व्यापक अर्थ में ओजगुण भी है। शैली की सर्वश्रेष्ठ कसौटी तो उसकी ग्राहिका शक्ति है। यह ग्राहकत्व गुण तो भर्तृहरि के श्लोकों में प्रभूत मात्रा में विद्यमान है। जो शब्द या शब्द-समूह एवं वाक्य श्लोक को वाँचते ही मन में बस जाँय अथवा कहावतसे बनकर समाज में सिक्कों की तरह प्रचलित हो जाँय, वे सभी देशों में और प्रत्येक युग में आदर्शशैली के द्योतक होते हैं। भर्तृहरि की मुक्तक-सूक्तियों में यह गुण शत प्रतिशत पाया जाता है। पंजाब से बंगाल तक और काश्मीर से केरल तक तक सर्वत्र भतृहरि के श्लोक घर-घर कण्ठाग्र किए जाते हैं।

श्री शंकरदेव विद्यालंकार

महाराष्ट्र के विख्यात सुकवि मोरोपन्त ने संभाषण के लिए एक सुन्दर आदर्श स्वनिर्मित आर्या में उपनिबद्ध किया है—

बह्वर्थ, जनमनोहर, अल्पाक्षर, मधुर सत्य बोलावें। ज्या सद्वाक्य श्रवणें श्रोत्यांचें चित्त शिरहि डोलावें ।।

श्रोता का सिर और हृदय दोनों ही प्रसन्नता मे आन्दोलित होने लगें, ऐसी अल्पाक्षर, मधुर और अर्थ गंभीर-शैली की आवश्यकता होने पर संस्कृत काव्य का रसिक भर्तृहरि के समीप दौड़ता हुआ आ पहुँचेगा।

भर्तृहरि की रचनाओं में दूसरा एक चातुर्य और भी है। वह अपने एक ही श्लोक में एक समग्र कहानी और उसका बोधवचन भर देता है। उसी प्रकार वह एक आदर्श को पूर्णतया एक ही बड़े श्लोक में सविस्तर प्रस्तुत कर देता है। एक श्लोक में एक समग्र चित्र अंकित हुआ होता है। भर्तृहरि की यह चित्रण शक्ति कालिदास और भवभूति से किसी तरह कम नहीं है। आदर्श की भव्यता को प्रतिष्ठित करने के लिए अच्छे अच्छे कवियों को भर्तृहरि से शिक्षा लेनी चाहिए। समग्र चित्रण के दो एक सुन्दर उदाहरण लीजिए—

भग्नाशस्य करण्डपीडिततनोर्म्लानेन्द्रियस्य क्षुधा। कृत्वाखुर्विवरं स्वयं निपतितो नक्तं मुखे भोगिनः।।
तृप्तस्तत् पिशितेन सत्वरमसौ तेनैव यातः पथा। स्वस्थास्तिष्ठत दैवमेव हि परं वृद्धौ क्षयकारणम् ।।
क्षीरेणात्मगतोदकाय हि गुणा दत्ताः पुरा तेऽखिलाः। क्षीरे तापमवेक्ष्य तेन पयसा स्वात्मा कृशानौ हुतः।।
गन्तुं पावकमुन्मनस्तदवत् दृष्ट्वा तु मित्रापदं। युक्तं तेन जलेन शाम्यति सतां मैत्री पुनस्त्वीदृशी।।

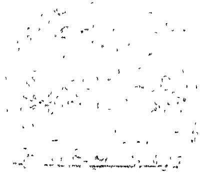
इस प्रकार की कथाएँ कम से कम शब्दों में मनोहर और सरल रूप में व्यक्त करना भर्तृहरि को बहुत पसन्द है। और इस कला में उसने असामान्य चातुर्य और साफल्य अधिगत किया हुआ है।

अंग्रेजी काव्य-साहित्य में सॉनेट (Sonnet) नामक छन्द का एक प्रकार है। स्वाभाविकता, सम्पूर्णता, संक्षिप्तता और हृदय-तृप्ति को अक्षुण्ण रखते हुए केवल चौदह पंक्तियों में एक विचार को उपनिबद्ध करने में ही सॉनेट का वैशिष्ट्य समाया हुआ है। कवि के अन्तर में जागी हुई एकाध प्रतिभापूर्ण कल्पना को चौदह पंक्तियों में ही पूरा करना होता है। इस मर्यादा के कारण कवि को अपनी समस्त शक्ति और चातुरी इसमें प्रयुक्त करनी पड़ती है। यही खूबी हमें भर्तृहरि के शतकों के भारी-भरकम शार्दूल-विक्रीडित, स्रग्धरा, मन्दाक्रान्ता और शिखरिणी छन्दों में प्राप्त होती है। ये गौरवशाली वृत्त भर्तृहरि के हाथ में आकर ऐसा चमत्कार दिखाते हैं कि एक एक श्लोक सॉनेट का आनन्द देता है।

बहुत से कवि छोटे छोटे वृत्तों को लेकर एक यमक, पंचक या कुलक में एक समग्र भाव या प्रसंग को पूर्ण करते हैं। परन्तु भर्तृहरि को ऐसा नहीं करना पड़ता। उसका साहित्ययोग इतना समर्थ है कि ऊपर कथित एक एक वृत्त उसके हाथ में कुशल किंकर की तरह काम आते हैं।

आज भारतवर्ष में मत्स्य, कूर्म और वराह—इन तीनों विष्णु के अवतारों की कहीं पूजा नहीं होती। वामन अवतार केवल नाम से ही विष्णु के अवतारों में समा गया है। परशुराम एक दो जातियों का कुलदेवता बन बैठा है। नृसिंह का भी यही हुआ है। आज तो अवतारों में केवल राम और कृष्ण ये दो ही प्रधानतया सार्वभौम बन पाए हैं। बुद्ध भगवान् इन दशावतारों में कब सम्मिलित हुए और पश्चिमी भारत में पंढरपुर में इनका "विठोबा" के रूप में कब रूपान्तर हो गया इसका अन्वेषण अभी तक किसी ने नहीं किया है। सनातनी हिन्दू मानते है कि अभी "कल्की" अवतार होने वाला है। हिन्दू-धर्म की पौराणिक धारणाएँ कितनी अराजकतापूर्ण हो गई है, इसका हिन्दुओं को ही अब तक पूरा विचार नहीं है। हिन्दू-संस्कृति और हिन्दू-समाज मरते मरते भी हजारों वर्ष तक टिका रहनेवाला महान् वटवृक्ष है। उसकी शाखा प्रशाखाएँ कितनी हैं, और उसकी छाया में अन्य कितने वृक्ष उगे हुए हैं, वे उसे पोषण देते हैं या उसका जीवन-रस चूस लेते हैं—इसका उसे स्वयं पता नहीं है।

शतकत्रयी में अवतारों का उल्लेख कई स्थानों में आता है। परन्तु आश्चर्य की बात यह है कि इन अवतारों में मुख्य माने जानेवाले राम और कृष्ण उसमें नहीं मिलते। भर्तृहरि के धार्मिक तत्वज्ञान पर बौद्धधर्म का प्रभाव ठीक ठीक



दिखाई देता है तो भी शतकों में बुद्ध का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इसका कारण खोज निकालना चाहिए। भर्तृहरि सदृश शिवोपासक ने जो समयानुसार आग्रह बताया होता तो गौतम बुद्ध विष्णु के अवतार माने जाने के स्थान पर शिवजी के ही एक अवतार मान लिए जाते। और यह ठीक भी होता। अवैर के प्रचारक बुद्ध को यदि संहारकारी शिव का अवतार मानने में विसदृशता मानी जाय तो "विनाशाय च दुष्कृताम्" अवतार लेनेवाले विष्णु का भी वह अवतार नहीं हो सकता। जीवन दृष्टि से विचार करने पर बुद्ध शिव के ही अवतार माने जाने चाहिए। विष्णु नाम से ही यत्र तत्र प्रवेश-कामी हैं। शिव कल्याणकारी है, कल्याणमूर्ति हैं। इस प्रकार यद्यपि भर्तृहरि विष्णु के अमुक अवतारों के प्रति आदरबुद्धि रखते हैं तथा शिव के उपासक हैं, तथापि उनके तत्वज्ञान (दार्शनिकता) पर बौद्धधर्म का प्रभाव विशेष रूप से है। हिन्दू लोग अनेक पंथों को प्रारम्भ करते हैं परन्तु देखते देखते ही उन सब पंथों और विचारभेदों को जीवनदृष्टि से एकता के सूत्र में अनुस्यूत भी कर देते हैं। यह हमारी जाति का यह विशेष स्वभाव है। यह स्वभाव जिस प्रकार भगवद्गीता में दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार भर्तृहरि में भी पूर्णतया विकसित हुआ उपलब्ध होता है।

भर्तृहरि का विशेष आग्रह कर्म के प्रति है। देवों की भक्ति करना अच्छा है परन्तु देवता तो कर्म के आधीन हैं। देवों की अपेक्षा दैव की मात्रा (शक्ति) अधिक मानें तो वह भी कर्म के ही आधीन हैं। इस प्रकार भर्तृहरि ने कर्म की ही सर्वोपरिता प्रतिपादित की है।*

यह कर्म क्या है? उपनिषद्कार ऋषियों से पूछना चाहिए। सच पूछा जाय तो यह समस्त विश्व अनादि अनन्त कर्म का ही विस्तार और विलास है। जिनको हम पंचमहाभूत कहते हैं वे जड़ पदार्थ भी कर्म की ही विभूति हैं। और यदि गहराई में जाकर विचार करें तो आत्मा और कर्म के बीच में विशेष भेद नहीं मिलेगा। जो कुछ हलन चलन और स्पन्दन स्वयं हो रहा है या विचारपूर्वक किया जा रहा है, उतना ही कर्म नहीं है। परन्तु इस विश्व में जो प्रेरणा काम कर रही है, ओर जिस प्रेरणा ने ही विश्व का रूप धारण किया हुआ है, उसे आत्मा भी कहा जा सकता है और कर्म भी कहा जा सकता है। आत्मा कोई स्थावर वस्तु नहीं है और कर्म भी कोई क्षणजीवी परिवर्तन नहीं। दोनों एक ही हैं। यदि हम इतना समझ लें तो कर्म ही साध्य बन जाता है और वही साधन भी हो जाता है। भर्तृहरि को इस कर्म की उपासना ही अभिमत है। इसीलिए वह सर्व दृष्टियों का समन्वय समझ सकता है, और इसीलिए ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र और सूर्य आदि सबको कर्म के साम्राज्य में व्यवस्थित कर सकता है।

× × × ×

भर्तृहरि जीवन-प्रेमी और जीवनदर्शी सत्कवि थे। उनकी दृष्टि विमल थी और साथ पारदर्शी भी थी। जीवन की विविध भूमिकाओं में रहकर उन्होंने एक समग्र जीवनदर्शक का अनुशीलन किया था। इसीलिए उनकी अनुभूतियाँ नित्य-नूतन और जीवनानुगामिनी है। उनका रस कभी पुराना-पर्युषित नहीं होता। "देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति"—देवों की कविता कभी मरती नहीं, न वह जीर्ण होती है, भर्तृहरि की कविता भी देवों की कविता की तरह अमर है।

---

* **नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः। विधिर्वन्द्यः सोऽपि प्रतिनियत कर्मैक फलदः।।**
फलं कर्मायत्तं यदि किममरैः किं च विधिना। नमस्तत् कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।।

नीतिशतक, श्लोक ।।९१।।



आचार्य शंकर और मालव-महिमा

श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिषाचार्य

भगवान् आद्य शंकराचार्य का जन्म कब हुआ, यह विचार और विषय विवादास्पद है। दुर्भाग्यवश हमारे देश की अनेक विभूतियों का तथ्यवादी-इतिहासविदों के समक्ष शिलालेख तथा ताम्रशासनों के प्रमाणाभाव में अस्तित्व ही साशंक बना हुआ है। आद्य शंकराचार्य, अध्यात्मप्रधान भारतवर्ष की प्रातःस्मरणीय-धार्मिक विभूति हैं। अनेक विद्वानों का मत है कि वे ईसवी सन् के बहुत प्रथम उत्पन्न हुए हैं, तब कईयों का यह मत भी है कि वे ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी पर्यन्त के किसी काल में हुए हैं। हिन्दू-विश्व-विद्यालय के संस्कृत-पाली-प्राध्यापक पं० बलदेवप्रसादजी उपाध्याय ने हाल ही में शंकरदिग्विजय जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का हिन्दी रूपान्तर किया है। उक्त ग्रंथ की भूमिका में उन्होंने आचार्य प्रवर के जन्म समय के विषय में अनेक मतों का उल्लेख किया है। उन्होंने बतलाया है कि 'कामकोटि पीठ' के अनुसार आचार्य का जन्म २५९३ कलिवर्ष में हुआ था, और तिरोधान २६२५ में हुआ था। 'शारदा पीठ' के वंशानुक्रम के अनुसार २६३१ वैशाख शुक्ला पंचमी को। 'केरलोत्पत्ति' के अनुसार विक्रम की पाँचवी शताब्दी और महाराष्ट्र के महानुभाव पंथी 'दर्शन-प्रकाश' के अनुसार ६१० शक में जन्म होता है। इसी प्रकार एक मत यह भी है कि ८४५ विक्रमी में आचार्य का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार अनेक मतों एवं पक्षों के कारण इस समय पर्यन्त कोई निश्चय नहीं है। स्वयं प्राध्यापक पं० बलदेवप्रसादजी ने भी इस विषय को ऐसे ही छोड़कर अनुवाद-कार्य सम्पन्न कर दिया है। वास्तव में शंकराचार्य का आविर्भाव ऐसे संधिकाल में हुआ है जब भारतवर्ष में बौद्ध-धर्म का पर्याप्त प्रभाव बढ़ा हुआ था और जैन धर्म उसके साथ ही प्रगत्युन्मुख होता जा रहा था।



आचार्य शंकर और मालव-महिमा

अवश्य ही 'मौर्यों' से लेकर 'अशोक' शासनकाल पर्यन्त भारत बुद्ध-धर्माभिभूत हो गया था। यद्यपि अशोक की सर्वधर्म-सहिष्णुता ने उसे लोकप्रियता और ऐतिहासिक अमरता का श्रेयोभागी बना दिया था, तथापि उसके स्वतः बुद्ध धर्मानुराग, और अपने प्रिय पुत्र महेन्द्र एवं संघमित्रा सुता के धर्मदीक्षित बना उज्जैन से लंका तक प्रचारार्थ भेजना बौद्धों के प्रोत्साहन के लिए पर्याप्त था, इसलिए इस काल में तो शंकर का आविर्भाव कहीं इतिहास में वैदिक-धर्म संघर्ष के रूप में प्रकट नहीं होता, परन्तु शुंगों के सत्ताधीश्वर पुष्यमित्र का काल अवश्य ही एक ऐसा है, जहाँ मध्य-भारत से लेकर दक्षिण-भारत तक वैदिक धर्म की प्रतिष्ठा प्रकट प्रतीत होती है। सम्भवतः विक्रम पूर्व शंकराविर्भाव को माननेवालों के लिए यही काल अनुकूल-सा विदित होता है। यद्यपि शंकर के ग्रंथों में कहीं भी किसी के शासनकाल का कोई उल्लेख नहीं मिलता, सिवा इसके कि बौद्ध-जैन धर्म की प्रतिक्रिया-स्वरूप यह वैदिक-धर्म-प्रतिष्ठा आवश्यक हुई। पुष्यमित्र के राजत्वकाल में अशोक की पोषित बुद्ध-निष्ठा विकृत हुई हो, और उसके धर्मान्ध स्वरूप ने ऐसे अवसर उपस्थित किए हों कि उसके विरुद्ध वैदिक धर्म को सबल बन शासन के सहयोग में उत्थान करना पड़ा हो, और सम्भवतः उसी संक्रमणकाल में आचार्य शंकर जैसी विभूति ने जन्म लिया हो। यह स्वाभाविक है कि बुद्ध एवं जैन धर्म-पोषक तत्कालीन शासकों का नाम लेना भी 'हस्तिना ताड्य मानोपि नगच्छेज्जैन मंदिरम्' के नियमानुसार उचित नहीं समझा हो, और विक्रमादित्य का आविर्भाव न होने के कारण उसका भी कहीं उल्लेख नहीं आ सका हो। इस प्रकार का संधिकाल यही पुष्यमित्र का समय हो सकता है, अन्यथा विक्रम के पश्चात् होनेवाले आचार्य द्वारा शकविजय और धर्म प्रतिष्ठा-प्रशस्ति का कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाना यही ज्ञापित करता है कि उनका जन्म विक्रम पूर्व है। यदि मतान्तरानुकूल वे पाँचवीं शताब्दी से लेकर नौवीं शताब्दी के मध्य में उत्पन्न होते हैं, तो यह काल जैन या बुद्ध धर्म की इतनी उग्रता का नहीं है, जिसमें ऐसी कटुता आ गई थी कि पराभव के लिए आचार्य को उग्र शक्ति-साधना करनी पड़े! बल्कि यह पाँचवीं सदी से नववीं सदी तक का काल तो प्रायः 'परम भागवत' महाराजाधिराजों के शासन का ही रहा है। यदि इसमें शंकराचार्य का जन्म स्वीकृत किया जाए तो भी चौथी सदी से पाँचवीं तक के सम्राट् समुद्रगुप्त, और उसके आत्मज 'चन्द्रगुप्त (२)' का शासन भारत का सुवर्णकाल ही था। कहीं न कहीं उस वैभव की देश की समाधान स्थिति का किसी प्रकार उल्लेख होना आवश्यक था। इस समय जिस प्रकार क्रमशः शक-हूणों के प्रभाव विशेष, और आक्रमणों का अवसर उपस्थित था, उतना जैन या बुद्ध का नहीं था, परचक्राक्रमण के कारण धार्मिक आघात होते रहते थे, परन्तु कहीं भी अशोक या कुषाण काल के सिवा बौद्ध-जैन प्रभाव का प्रसंग विशेष उपस्थित नहीं हुआ था, इस कारण भी यही ज्ञात होता है कि जिन विद्वानों के मतों में शंकर का जन्म ईसवी सन् के पूर्व में है वह अशोक के पश्चात् एवं विक्रम से प्रथमकाल में जो एक ऐतिहासिक अंधःकार है उसी में सम्भव हो सकता है। किसी भी शासक का उल्लेख न होना भी इसी अंधःकारावृत भारत-दशा का प्रतीक हो सकता है। यही कारण है कि अशोक काल में बौद्ध धर्म ने जिस प्रकार चीन-जापान-स्याम-तिब्बत आदि में प्रवेश पा लिया था, उनके उत्तरकाल ही में शंकर जैसी शक्ति के प्रकट हो जाने से, वैदिक-धर्म की प्रचण्ड प्रचार-प्रतिष्ठा से पराभूत हो वह बौद्ध-धर्म यथाक्रम भारत से बाहर ही पोषण प्राप्त करता रहा होगा। कुषाणों के क्षणिक-काल में उसके पुनः प्रचार प्राप्त कर लेने पर भी वैदिक धर्म की जागृति के कारण वह विशेष समय टिका नहीं रह सका होगा। जो भी हो, यह विषय अत्यन्त विचार और विवेचन का आकांक्षी है।

हाँ, जिस समय भगवान् शंकराचार्य की विजय-वैजयन्ती इस अध्यात्म-प्राण भारतवर्ष पर चतुर्दिक फहरा रही थी, उस समय हमारी यह अवन्तीजनपदस्थ उज्जैन नगरी भी वैभवपूर्ण बनी हुई थी। मध्यभारत की प्रतिष्ठा उस समय भी अपूर्व रही है, यह स्वयं आचार्य के उल्लेखों से ही ज्ञात हो सकता है। जिस समय दक्षिण भारत के प्रवास से चलकर वे ब्रह्मज्ञान-सम्पादनार्थ सद्गुरू के संनिधान प्राप्त करने के लिए उत्तर दिग्भाग में चले, तब नर्मदा तटवर्ती गोविन्दाचार्य की सेवा में आकर प्रस्तुत हुए। उन्हें शैशव में ही अपने शास्त्र-शिक्षक से यह ज्ञात हो गया था कि महाभाष्य प्रणेता पतञ्जलि का वर्तमान अवतार वर्तमानकाल में गोविन्दाचार्य ही हैं। उनकी सेवा में लगभग तीन वर्ष रहकर इसी मध्यभारत-भूमि में आचार्य शंकर ने, अपनी वय के अल्पकाल ही में अद्वैत-वेदान्त की सफल साधना की है और उसी समय कई चमत्कृतिकर कार्य किए हैं, जिनसे शंकराचार्य की महत्ता सहज ही प्रकाश में आने लग गई थी।

श्री सूर्यनारायण व्यास ज्योतिषाचार्य

आचार्य शंकर के प्रभावकाल ही में मध्यभारत की पश्चिम दिग्भागस्थ हैहयाधिष्ठित राजधानी माहिष्मती अपनी विशिष्टताओं को लेकर स्वतंत्र महत्त्व रखती थी, ज्ञान-विज्ञान और वैभव का तत्कालीन विशिष्ट केन्द्र बनी हुई थी। उस समय 'दिग्विजय' ग्रंथ में उल्लेख है कि आचार्य शंकर के साथ, माहिष्मती के महापण्डित मण्डनमिश्र का, जो ब्रह्मदेव के अवतार-स्वरूप माने जाते थे, जबरदस्त शास्त्रार्थ हुआ था। मण्डनमिश्र की असाधारण विद्वत्ता की यह ख्याति आचार्य के इस दिग्विजय में वर्णित है। जिस समय आचार्य ने माहिष्मती में (आधुनिक होलकर राज्यान्तर्गत महेश्वर नाम से प्रसिद्ध नगर है) प्रवेश किया, वे मण्डनमिश्र के स्थान से अनभिज्ञ थे। उन्होंने पथ पर जानेवाली पनिहारिनों से पूंछा कि मण्डनमिश्र का मकान कहाँ है? इस पर जो उत्तर उन्होंने दिया, वह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है; वह यह है—

स्वतः प्रमाणं परतः प्रमाणं कीरांगना यत्र गिरं गिरन्ति।
द्वारस्थनीडान्तरसंनिरुद्धं जानीहि तन् मण्डन पंडितौकः।। और
जगद् ध्रुवं स्याज्जगदध्रुवं स्यात्कीरांगना यत्र गिरं गिरन्ति। द्वारस्थ......................"

अर्थात् वेद स्वतः प्रमाण है, या परतः प्रमाण है, जगद् ध्रुव है या अध्रुव, इत्यादि बातों पर जहाँ दरवाजे पर पींजरों में टँगी हुई मैना विचार कर रही हो, समझ लीजिए कि वही मण्डनमिश्र का मकान है। आचार्य शंकर को केवल इसी चर्चा ने विस्मित कर डाला था, और जब वे शास्त्रार्थ के लिए वहाँ पहुँचे तो दो विवादशील विद्वानों के वेदान्त-विवाद का मध्यस्थता द्वारा निर्णय करने के लिए स्वयं मण्डनमिश्र की सरस्वती-प्रतिभ विदुषी धर्मपत्नी ने कार्य सम्पादित किया था, यह कथा नहीं, आचार्य शंकर की वास्तविक जीवनी का प्रामाणिक विवरण है और मालव की माहिष्मती नगरी का महत्त्व है। जहाँ मण्डनमिश्र जैसे महाविद्वान् रहते हों, उनकी भार्या जैसी महाविदुषी महिला मण्डलालंकृता देवी रहती हो, वहाँ की सभ्यता कितनी ऊँची होगी जहाँ ये पंजरबद्ध पक्षि भी वेदान्त विज्ञान विवेचन-क्षमता रखते हों।

इसी प्रकार जब आचार्य प्रवर ने दिग्विजय-यात्रा प्रसंग में उज्जयिनी का प्रवास किया, उस समय महाकालेश्वर मन्दिर के दर्शन भी किए हैं, और वहाँ मन्दिर के अगरू-सुरभित वातावरण से परितृप्त हो, दिव्य मणि-मण्डित सभा-मण्डप में विश्रान्ति ग्रहण करने का वर्णन जैसा सुन्दर रसमय किया है, वह उद्धृत करने योग्य है :—

(१) इति वैष्णव-शैव-शाक्त-सौर-प्रमुखानात्मवशं वदान्विधाय,
अतिवेलवचोझरीनिरस्तप्रतिवाद्युज्जयिनीं पुरीमयासीत् ।।७६।।
(२) सरदि प्रतिनादितः पयोदस्वनशंकाकुलगेहकेकिजालैः।
शशभृन्मुकुटार्हणा मृदंगध्वनिरश्रूयत तत्र मूर्च्छिनाशः।।
(३) मरुदध्वजविद्विडाप्तविद्वाश्रमहृत्पुष्पसुगन्धवन्मरुद्भिः।
अगरूद्भवधूपधूपिताशं स महाकालनिवेशनं विवेश।।
(४) भगवानभिवन्द्य चन्द्रमौलिं मुनिवृन्दैरभिवन्द्यपादपद्मः।
श्रमहारिणि मण्डपे मनोज्ञे स विशश्राम विसृत्वर-प्रभावः।।७९।। (सर्ग १५)

महाकालेश्वर-मन्दिर में आचार्य ने विश्रान्ति ग्रहण करके उज्जैन निवासी तत्कालीन महाविद्वान् वेद-व्याख्याता भट्ट भास्कर को शास्त्रार्थ के लिए आमंत्रित किया था। मालव-प्रदेश की ज्ञानोज्वल प्रतिभा का यह प्रमाण है कि उसके विभिन्न भू-भागों में अनेक शास्त्र प्रवीण पुरुषों का प्रसार हो रहा था। शंकराचार्य-प्रवर के उक्त वृत्त से जहाँ उज्जैन का वैभव और पांडित्य प्रदर्शित होता है, वहाँ 'दिग्विजय' के एक दो पद्यांशो से पुनः एक शंका भी सहज उत्पन्न हो जाती है। उक्त दिग्विजयकार ने १५वें सर्ग के १४१ वें श्लोक में यह भी बतलाया है कि अवन्ती में प्रसिद्ध बाण-मयूर-दण्डि प्रमुख पंडितों को भी वाद में पराभूत कर अपने भाष्य के श्रवण करने के लिए उत्सुक बना दिया था।* सम्भवतः यह श्लोक क्षेपक हो। किसी आचार्यानुगामी ने दिग्विजय में पीछे से जुड़ा दिया हो, नहीं तो सातवीं शताब्दी में जन्म लेनेवाले कान्यकुब्जेश्वर श्रीहर्ष की राजसभा के पंडित-बाण और मयूर को आचार्य के समकालीन घोषित कर देने में कैसी संगति जुड़ सकती है†।

* स कथाभिरवन्तिषु प्रसिद्धान्विबुधान् बाणमयूर-दण्डिमुख्यान्।
शिथिलीकृतदुर्मताभिमानान् निजभाष्यश्रवणोत्सुकांश्चकार ।।१४१।।

† 'अहो प्रभावो वाग्देव्याः यन्मातंगदिवाकरः। श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाण-मयूरयोः।।" —राजशेखर।

आचार्य शंकर और मालव-महिमा

यदि 'दिग्विजय' प्रणेता माधवाचार्य एवं नृसिंह सरस्वती को केवल शंकर का दिग्विजय अभीष्ट था, तो यह असंगत-घटन उनकी ही पुरातनता के प्रतिकूल बन जाती है। मालूम होता है कि जिस समय बाण-मयूरादि की प्रतिभा प्रकाशित हो रही थी उस समय उन्हें भी आचार्य का अनुगामी बना देने में किसीने महत्त्व समझा हो। उक्त श्लोक की असंगति का एक और कारण है। बाण-मयूर मुख्य कवि को परास्त करने की कल्पना भी अटपटी-सी लगती है। 'बाण ' की 'कादंबरी' के पाठक जानते हैं कि स्वयं 'बाण' ने भगवान् महाकालेश्वर का कैसा मोहक वर्णन किया है। यदि वह धार्मिक और विशेषत: शैव न होता तो यह अनुरागमयी वाणी कैसे उसके हार्द से प्रस्फुटित होती? उस 'बाण' के लिए जिसकी कादंबरी के अनेक पृष्ठों में महाकाल और महाकालपुरी का मनोहारी वर्णन है, उसे दिग्विजयकार "शिथिलीकृत दुर्मताभिमानान्" कैसे कह सकते हैं? मयूर कवि ने भी 'सूर्य-शतक' का निर्माण किया है। उसकी धार्मिक सद्भावना में भी आशंका नहीं उठाई जा सकती। तब दण्डि जैसे कवि पर भी कैसे यह आरोप किया जा सकता है कि ये कवि-वर्ग अधार्मिक थे, जिनके दुर्मताभिमान को मर्दन करने के लिए आचार्य को कष्ट उठाना पड़ा था! यह सूक्तियाँ किसीने व्यर्थ ही उक्त ग्रंथ में प्रविष्ट करा दी होंगी यही ज्ञात होता है।

दिग्विजयकार ने ऐसी ही एक चर्चा और १५वें सर्ग में की है। शंकराचार्य ने जिन जिन को परास्त किया है उनका उल्लेख करते समय बतलाया है कि शाक्त-पाशुपत, क्षपणक, कापालिक, वैष्णव आदि भी उनमें शामिल थे।*

आचार्य के प्रतिस्पर्धी नाकुलिश-पाशुपताचार्य का उल्लेख तो स्वाभाविक है। वह समसामयिक उज्जैन का महान् दार्शनिक पंडित था जिसने शंकर के विपक्ष में अपना पाशुपत दर्शन निर्माण किया था। परन्तु यह वैष्णव कौनसे थे, जिनको कि आचार्य ने परास्त किया? क्योंकि शैव-स्पर्धी रामानुजों का तो तब तक आविर्भाव ही नहीं हुआ था, यह तो शैव-मत की उग्रता की प्रतिक्रिया स्वरूप ३०० वर्ष पूर्व ही उत्पन्न हुए थे। इसी प्रकार पद्यांश के 'क्षपणक' से क्या अभिप्रेत है? पं० बलदेवजी ने क्षपणक को 'जैन' नाम से ज्ञापित किया है। पता नहीं, यह सम्प्रदाय विशिष्ट अभिधा कैसे ज्ञापित हुआ है। क्षपणक के विषय में यह मान्यता है कि वह बौद्ध भिक्षु था, और यह प्रसिद्ध है कि विक्रमादित्य के नवरत्नों में जिस 'क्षपणक' का नामोल्लेख हुआ है वह बौद्ध धर्मानुयायी था। यदि विक्रम-नवरत्न-सभा का यह भिक्षु क्षपणक माना जाये तो सम्भवत: यह विक्रम पूर्ववर्ती होगा, और आचार्य के (हमारे सूचित) आविर्भाव काल का सदस्य होगा। आगे चलकर यही विक्रम-काल में नवरत्न-सभा में समाविष्ट हुआ हो। परन्तु दिग्विजय-ग्रंथ में क्षपणक का उल्लेख-सातवीं शताब्दी के बाण-मयूर के नामोल्लेख को स्वत: असंगत साबित कर देनेवाला है। और यही कारण है कि 'दिग्विजय' का १५वाँ सर्ग, अनेक असंगतियों के वर्णन से क्षेपक-सा प्रतीत होने लगता है। और इन क्षेपकों से आचार्य की पुरातनता (ईसवी सन् पूर्व की) स्वयं व्यर्थ बन जाती है, और वे आधुनिक ७वीं या ८वीं सदी के प्रतीत होने लगते हैं। परन्तु इससे क्षपणकादि, जैन-बौद्ध प्रभावकाल में उनके आविर्भाव की कोई संगति भी नहीं ठीक लग पाती।

हमारा तो यह अनुमान है कि वे बुद्ध-प्रभावाभिभूत भारत के विक्रम-पूर्व-पुष्यमित्रकालीन वैदिक धर्म जागृति के प्रतिनिधि हैं, जबकि हमारे देश को स्वधर्म प्रतिष्ठापना की परमावश्यकता थी, और इसी काल में पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाले 'मालविकाग्निमित्र' प्रणेता महाकवि कालिदास का भी अस्तित्व बहुत संभव होता है। क्योंकि अश्वघोष जैसे बौद्ध विद्वान् और दिङ्नाग जैसों के तिरस्कर्ता कवि के लिए यही उचित समय था, तभी वह अपनी कृति में एक अप्रसिद्ध अग्निमित्र का तो राजपारिवारिक वर्णन तक मार्मिक रूप में अंकित करता है, और विक्रम का उल्लेख भी नहीं। संभव है वह वार्धक्य में 'नृप सखा किल कालिदास:' बनकर रह गया हो। हमें तो कविवर के उस उल्लेख से भी यही संगति मिलती है, जिसमें उसने महाकवि-भास, सौमिल्ल आदि को अपना पूर्ववर्ती मानकर, अपनी नाट्य-कृति उपस्थित की है। उससे स्पष्ट है कि भास के नाटकों से प्रभावित हो, उसने यह मधुर रचना तदनन्तर सहज ही अग्निमित्र के नाम पर राजसभा में प्रविष्ट होते ही की होगी, और पूर्ववर्तियों की प्रतिष्ठा का पद प्राप्त कर लिया होगा, इसी कारण अग्निमित्र जैसों का वर्णन हो गया, विक्रम का अज्ञात रहना स्वाभाविक है। और उसी समय में नवजागृत भारत के धर्मोपदेष्टा शंकर ने भी प्रभाव प्रस्थापित किया होगा। शंकर की काव्य-प्रतिभा और माधुर्य, कालिदास की रस-निर्झरिणी से सु-स्नात अवश्य विदित होता है।

---

* शाक्तैः पाशुपतैरपि क्षपणकैः कापालिकैर्वैष्णवैः।" ॥१६४ सर्ग १५ ॥

मालव-राग

श्रीमती सौ० विजयालक्ष्मी व्यास

जिस मालव-प्रदेश की साहित्यिक समुन्नति ने उसको विभिन्नकाल में जगत् के समक्ष सांस्कृतिक साम्राज्य के सिंहासन पर आसीन करवाया है उसकी साहित्य-सहयोगिनी संगीत-साधना कितनी समुन्नत और सौधशिखरासीन हुई होगी, कहने की आवश्यकता नहीं। महाश्वेता की वीणा-विनंदित स्वर-लहरी का आकर्षण बाण की कविता-मंजरी को भी सौरभित बनाने में प्रेरक हो गया था, वासवदत्ता की वीणा-पटुता, और नलगिरी जैसे मत्त गजेन्द्र को वशीभूत कर लेने-वाली 'घोषवती' (वीणा) का स्वर-संधान संस्कृत साहित्य रसिकों को सदा विमोहित करता रहेगा। फिर उस वसन्तसेना की संगीत-साधना, एवं मधुर-मदस्यंदिनी स्वर-लहरी को आज चारुदत्त के चरणों में चढ़ाते हुए कौन नहीं जानता? सम्राट् समुद्रगुप्त की तो यह प्रसिद्धि ही है कि वह परम रसिकाचार्य था, और स्वर-शास्त्र एवं वेणु-वादिता में उसकी समता करना साहस के लिए भी साहस की बात थी। उसके अश्वमेध यज्ञों में तथा शुंगवंशीय विदिशाधिराज पुष्य-मित्र के याग प्रसंगों पर वीणा के प्रवीण-वादक चारों द्वार पर अपनी स्वर-लहरी निरन्तर प्रवाहित करते रहते थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय की रसिकता की कथाएँ इतनी अधिक हैं कि इतिहास के पृष्ठों पर नेत्र के व्यायाम की आवश्यकता रहती है। अशोक के रसविलास का वर्णन उसके चण्डाशोक से महनीय कीर्ति अशोक के बीच के रस-रहस्य में सन्निहित है। ध्रुवस्वामिनी की गाथाओं का साक्षी स्वयं इतिहास है। परन्तु विक्रम के दीपक-राग-प्रावीण्य की प्रचुर प्रसिद्धि की गाथा दो हजार साल के बाद भी जन-श्रुतियों में जुड़सी गई है। उसी प्रकार महाकवि कालिदास की रसवन्ती ने जिस रस की सृष्टि की है, उसमें महाकालेश्वर के सान्ध्य-पूजन और ताण्डव-नर्तन से लेकर गंधर्व-यक्ष-किन्नरों की रस-निर्झरिणी तक का समावेश है। उसके नाटकों में गीतवाद्यों की, गायन-कला-कुशलों की महत्ता और समादर उसके वास्तविक साहित्य-रस की साकार-प्रतिभा के प्रतिभ

प्रकाश में ला देते हैं। और भोज-भर्तृहरि के विषय में कहना ही क्या है? जिन्होंने शृंगार और स्वर-साहित्य पर ग्रंथ सृष्टि का अपनी कला-प्रवणता का ही नहीं, मर्मज्ञता का भी परिचय प्रत्यक्ष प्रमाणित कर दिया है। उसी किसी कलोन्नति के पुरातनतम काल में उस 'मालव-राग' को जन्म दिया है जिसे पवित्र-प्रादेशिक नाम से राग-राष्ट्र में प्रवेशाधिकार मिला है। वह मालव राग अपने प्रदेश की राग-साधना-सिद्धि का चिर प्रतीक बनकर अमर बना हुआ है।

परन्तु संगीत स्वर-नाद शास्त्र के पुरातन रूप, रस, और भेदों का मर्म, और तद्रूप अस्तित्व आज के युग में कहाँ रह गया है। राग-राज्य पर विदेशी विभिन्न संस्कारों के प्रभाव पड़ जाने के कारण हमारे अपने रागों से इतना विराग हो गया है कि पुरातनों के अस्तित्व नामशेष रह गए हैं, और कुछ को तो विस्मृति में विलीन ही हो जाना पड़ा है। उनकी रूपरेखा का भी ज्ञान हमारा दयनीय बन गया है।

आवन्ती, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, पाली भाषा में आज कितनों का अस्तित्त्व है? आवन्ती तो आज इतिहास स्मरणीय हो ही रहा है। इसी प्रकार नाटकों की रीतियों में से 'आवन्ती' का प्रयोग प्रच्छन्न ही है। तब राग-मालिकाओं के मध्य से यदि 'मालव राग' को भी भुला दिया जाने लगे तो आश्चर्य का कारण नहीं। आज के रागानुरागी व्यक्तियों के ज्ञान की निधि तो इतनी अल्प है कि वे उसीपर चाहे अपने वैभव का गर्वोन्माद क्यों न सेवित करते हों, परन्तु उनके अन्तर की स्थिति ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत रहनेवाले उन पूंजीपतियों की प्रतिष्ठा के अनुरूप है, जिनका कोष दारिद्रय-राशि पर रजत आवरण डालकर व्यर्थ की प्रदर्शिनी लगाये रहता है।

आज यह बतलाना असम्भव है कि राग-शास्त्र में 'मालव' की महत्ता किस प्रकार है? उसके विश्लेषण, राग के अन्तर्गत विभेदों से हम परिचित नहीं हैं, परन्तु इतना स्पष्ट है कि चाहे संगीत के किसी ग्रंथ में उक्त राग का उल्लेख आया हो या न हो, इस राग का प्रयोग स्वतंत्रतापूर्वक हुआ अवश्य है। कुछ लोग 'मालकंस' को ही 'मालव-कौशिक' का अपभ्रंश या विकृत-रूप बतलाकर शब्दशास्त्र की शस्त्र-क्रिया द्वारा अपना ज्ञान प्रकट करते हैं, और कुछ लोग 'मारवा' को 'रलयो रभेदः' के न्यायानुसार 'मालवा' का रूपान्तर प्रदर्शित करते हैं, परन्तु ये दोनों ही बातें वैयर्थक खींचातानी, और अज्ञान का दयनीय प्रदर्शन ही है। इन निरर्थक कल्पनाओं से किसी राग विशेष की अन्य राग पर प्रतिष्ठापना कर देने से उद्देश्य सिद्धि नहीं होती, न उसकी मौलिक भावना, और महत्त्व की स्वतंत्रता का ही भान होता है। मालव या अन्य अनेक राग, स्वर, आदि न जाने किन किन कारणों और न जाने किन समयों में नामशेष भी नहीं रहे हैं। परन्तु राग शास्त्र के अन्दर उनके समावेश न होने से ही उनके न होने की कल्पना कर लेना सु-संगत एवं तर्कशुद्ध नहीं होगा।

जो वस्तुएँ किसी कारणवश किसी ग्रंथ-विशेष में प्रवेश पाने से रह गई हों तो वे अस्तित्व नहीं रखती थीं, यह तर्क उचित नहीं है। कई बातें अति प्राचीन ग्रंथांतरों में उल्लेख पाकर जीवित रह गई हैं, और उनका उस विषय के शास्त्र ग्रंथ में पता नहीं। संगीत या कोई भी विषय इसके अपवाद नहीं रह सकते। मालव-राग का नाम, अति पुरातन प्रख्याति प्राप्त है। अवश्य ही संस्कृत-साहित्य में उसके उदाहरणों का उल्लेख अधिक तो नहीं, किन्तु है अवश्य। रस-राज, शब्द-सुरसरी का एकमात्र भागीरथ मधुर मद स्पंदिनी सुकुमार सुन्दरी कविता का कान्त जयदेव कवि, संस्कृत साहित्य के विलास वैभव का रसिक-सम्राट् है। उसका काव्य गेय है। और गीतिकाव्य के विभिन्न प्रयोगों को उसने सहज, किन्तु साधिकार प्रयोग किया है। जयदेव की संगीत-प्रवणता पर कोई भी संगीत मर्मज्ञ अंगुलि-निर्देश करने का सामर्थ्य नहीं रख सकता। वह विभिन्न राग रागिनियों का न केवल ज्ञाता ही, अथच उनका सफल प्रयोक्ता भी रहा है। जयदेव की वाणी ने जो अमंद-अविरल रस-धार प्रवाहित की है, वह विभिन्न राग-रागिनियों में ही स्रवित हुई है। जयदेव ने अपने गीत-गोविन्द (जिसका नाम ही गीति-प्रावीण्य का प्रमाण है) नामक गेय-काव्य में प्रथम पद्य ही 'मालव-राग' में ग्रथित कर, काव्य में अग्र-प्रथम-स्थानीय बना दिया है। मालव-राग का यह सम्मान, जयदेव के काल में उस राग की लोकप्रियता और सर्वमान्यता का प्रमाण ही कहा जा सकता है, अन्यथा वंग भूभाग का यह रसिक शिरोमणि जयदेव, किसी अपने अन्य प्रिय-राग, या प्रादेशिक संगीत का सहज ही प्रथम प्रयोग कर सकता था। पर उसने सर्व प्रथम 'मालव राग' से गीति-काव्य का आरम्भ कर, अपनी मालव-

रागानुरागिता और तदीय विशेषता का स्वीकार ही सूचित किया है। गीत-गोविन्द-काव्य का यह प्रथम 'गीत' मालव-राग के उदाहरण स्वरूप यहाँ हम उपस्थित करते हैं, वह इस प्रकार है :—

[मालव-रागे, रूपकताले, अष्टपदी ?]

(गीतं)

प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदम् !
विहितवहित्र चरित्रमखेदम् !
केशव, धृतमीनशरीर,
जय जगदीश हरे ! (ध्रुव)

क्षितिरतिविपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे।
धरणीधरणकिणचक्रगरिष्ठे।
केशव धृतकच्छपरूप
जय जगदीश हरे ।।२।।

वसति दशनशिखरे धरणी तव लग्ना,
शशिनि कलंककलेव निमग्ना,
केशव धृतसूकररूप
जय जगदीश हरे ।।३।।

इस प्रकार दशावतारों का इस पद्य में क्रमशः वर्णन ११ पदों में मालव-राग में रूपक-ताल, और अष्टपदी में किया गया है।

इसके बाद विभिन्न पाँच रागों में अन्य गीतों के देने के बाद पुनः 'मालव-राग' का दूसरा उदाहरण भी गीत-गोविन्द ही में दिया है। परन्तु इस बार उसके ताल-लयादि में भेद कर दिया गया है, अर्थात् मालव राग को अन्य भेद में प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय सर्ग का यह अन्तिम गीत निम्नप्रकार है :—

[मालवरागे, एकताली-ताले अष्टपदी २]

(गीतं)

निभृत-निकुंजगृहं गतया, निशि रहसि निलीय वसन्तम् !
चकितविलोकितसकलदिशारतिरभसभरेण हसन्तम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम !
रमण मया सह मदन मनोरथ भावि तया सविकारम् ! (ध्रुव)
प्रथमसमागमलज्जितया पटुचाटुशतैरनुकूलम्।
मृदु-मधुरस्मित भाषितया शिथिलीकृतजघनदुकूलम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम !
किसलयशयननिवेशितया, चिरमुरसि ममैव शयानम् !
कृतपरिरंभणचुम्बनया परिरभ्य कृताधरपानम्।
सखि हे, केशिमथन मुदारम !

कविवर जयदेव ने मालव-राग के उक्त दो भेदों के अतिरिक्त एक और राग मिश्रित रूप में सप्तम सर्ग के आरंभिक गीत में प्रकट किया है। यह गौड़ मालवराग है। गौड़-मल्हार जिस प्रकार रागों में प्रसिद्ध है, उसी प्रकार यह मालव का 'गौड-मालव' भेद है इसका उदाहरण भी यह है :—

(गीतं)

[गौड़-मालव रागे प्रतिमंठताले, अष्टपदी]

कथितसमयेऽपि हरिरहह नययौवनम्। मम विफलमेतदनुरूपमपि यौवनम्।।
यामि हे, कमि शरणं, सखीजनवचनवंचिता।। (ध्रुव०)
यदनुगमनाय निशि गहनमपि शीलितम्। तेन मम हृदयमिदमसमशरकीलितम्।। (यामहे०)

गीत-गोविन्द का प्रणेता कविवर जयदेव बारहवीं शताब्दी में उत्पन्न हुआ था। आज से अनेक शताब्दियों पर 'मालव राग' के विभिन्न भेदों का ही उसे परिचय नहीं था, किन्तु उस समय के लोकप्रिय राग होने के कारण उसने अपने काव्य में भी ताल-स्वर के भेदान्तरों से स-सम्मान उक्त राग के प्रति प्रयोगात्मक आसक्ति भी प्रकट करदी है, मध्यकालीन शंकुक, जो

मालव नवरत्नों में सम्मान स्थानासीन बने हुए हैं वे भीं संगीत शास्त्र के श्रेष्टतम पंडितों में मानित थे, चाहे उनके ग्रन्थों का कहीं पता न चलता हो, परन्तु मालव-राग पर उनके अनेक आविष्कारों की किम्वदन्ती प्रख्यात है।

स्वयं 'संगीत कलाधर' नामक संगीत-शास्त्र के प्रामाणिक और विशाल ग्रंथ में मालव-राग के विषय में विविध वर्णन प्राप्त होता है। उसके स्वर-भेद वर्णन नामक पंचम-कला विभाग के अन्त में स्पष्ट सूचित किया है कि "भरत मुनि ने नारद मुनि के सम्मुख मालवा, राग, श्रीराग, और मनोहर का मिश्रण करके जिस राग का गायन किया उसका नाम 'राजहंस' प्रसिद्ध हुआ। अर्थात् मालव राग के विभिन्न मिश्रण का यह स्वरूप था। आज राग-संसार में हनुमन्त-मत का विशेष प्रचार है, और उसके नियमानुसार ६ रागों की प्रमुखता है, उनमें पंचम राग जिसे 'श्रीराग' संज्ञा है।, उसकी जो रागिणियाँ हैं, वे पांच हैं, जिन्हें राग की 'स्त्री' माना गया है, और ८ पुत्र हैं। उक्त श्रीराग के आठ पुत्रों में १ सिन्धु, २ मालव ३ गौड, ४ गुणसागर, ५ कुंभ, ६ गंभीर, ७ शंकर, ८ विहागड़ा की गणना है। हनुमंत-मतानुरूप 'मालवा-राग को श्री-राग का द्वितीय पुत्र प्रथित किया है।

मारवा, और मालकंस को जो लोग, 'रलयो रभेदः' समझकर 'मालवा' बतलाना चाहते हैं, वह तो कदापि उचित नहीं है। 'मारवा' सर्वथा भिन्न है। वह मारू से 'मारवा' है। और यह 'मालकंस' का पुत्र राग है, जिसका एक भेद 'मेवाडा' भी है, जो स्पष्ट ही मरुभूमि, मेवाड़ आदि से अपना प्रादेशिक सम्बन्ध सूचित करता है। जिस मालश्री को 'मालव श्री' के 'अपभ्रंश' रूप में कहा जाता है, वह भी 'रागश्री' की 'भार्या-रागिणी' है। उसका स्वतंत्र राग-स्थान नहीं है। ये सभी 'मालकंस' के भेदों में ही मान्य हैं।

जिस 'श्रीराग' के अष्ट पुत्रों में 'मालव राग' की मान्यता है वह 'श्रीराग' भी शुद्ध राग है। उसका निर्माण किसी मिश्रण से नहीं है। महादेव के पश्चिमाभिमुख से उसकी उत्पत्ति मानी गई है। कुछ शेषनागोत्पन्न भी मानते हैं। इसी 'श्रीराग' की पाँच भार्याओं में 'मारवा' का स्थान है, जिसका खरज, शुद्ध, रिखव, कोमल, गंधार, तीव्र, मध्यम तीव्र, धैवत कोमल और निषाद तीव्र इस प्रकार ६ स्वर आते हैं, पंचम इसमें वर्ज्य है। ग्रह-स्वर रिषभ है। मध्यम और धैवत इसमें न्यास है। और वादी-स्वर धैवत है। संवादी मध्यम-तीव्र है, और यह मारवा-रागिणी गौरी-परज एवं सोरठ के सम्मिश्रण से निर्मित है। परन्तु 'श्रीराग' के आठ पुत्रों में जिसे 'मालव' राग माना जाता है वह 'विभास गौरी और परज' से मिश्रित होकर राग-रूप प्राप्त करता है, अतएव जो लोग मारवा को ही मालवा कहते हैं, वे संगीत के भेदों के अज्ञान व गंभीर भूल एवं व्यर्थ दम्भ करते हैं। संगीत के विविध मतान्तरों के अनुसार भी मालव-राग का प्रचार और अस्तित्व सिद्ध है। यथा शिवमत के अनुरूप 'श्रीराग' का ही एक भेद 'मालव' को माना है। और उनकी यह मान्यता है कि यह राग (मालवा) शाम के समय गाया जाता है।

ठीक 'शिवमत' के अनुसार ही कृष्ण-मत भी, (अथवा कालिनाथ मत) मालव-राग को श्रीराग का ही पारिवारिक स्वीकृत करता है। परन्तु भरत की मान्यता के अनुकूल, मालव-राग 'श्रीराग' के उपरागों में परिगणित न होकर 'हिंडोल' राग (के पुत्र रागरूप) में स्वीकृत किया गया है, इतना अन्तर है। इस सम्बन्ध में 'संगीत कलाधर' नामक संगीत शास्त्र के विशद ग्रंथ में विस्तृत विवरण है। महाकवि जयदेव तथा अन्य संगीत प्रवीणों ने प्रादेशिक नामों से सम्बन्धित विभिन्न रागों का नामोल्लेख किया है, जैसे विराडी, वैराड़ी, देश विराड़ी, कर्नाटकी, माली-गौर, देशक राग, गुर्जरी, जौनपुरी सुलतानी, मुलतानी, आशावरी, ईमन, पुरिया, गौड-मल्हार, और मिया मल्हार आदि अनेक नाम ऐसे हैं, जिनका वर्तमान समय में प्रचार नहीं है, तथापि वे अस्तित्व रखते थे। मालव राग के उदाहरणों का अभाव उसके प्रचाराभाव को आभारी है। परन्तु जयदेव के काव्य के संस्कृत उदाहरण से यह प्रतीत होता है कि मालव-देश में जिस काल में संस्कृत का प्रचार बाहुल्य था, उस समय मालव-राग को प्राधान्य रहा होगा। धीरे धीरे प्राकृतादि के प्रवेश से इस राग का प्रचार शिथिल पड़ गया होगा। जिसके फलस्वरूप आजके अनेक संगीत प्रवीणों में मालव-राग विषयक ज्ञान का अन्धःकार ही बना हुआ है। रहासहा प्राचीन राग-शास्त्र अपनी विज्ञान विशेषता एवं संगीत की सीमा को छोड़ सिनेमा में सिमिटता चला जा रहा है।

मालवा के शासक

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

१

प्राचीन काल से मराठों तक

भारतीय इतिहास में मध्यदेशान्तर्गत अवन्ति-मालव प्रान्त तथा उसकी राजधानी उज्जयिनी का सांस्कृतिक एवम् भौतिक कारणों से अपार महत्त्व है। उत्तर-दक्षिण और पूर्व पश्चिम दिशा का ऐसा कोई पराक्रमी सम्राट् या राजा नहीं हुआ, जिसने इस प्रदेश पर अपना आधिपत्य स्थापित करने में गौरव न समझा हो। धार्मिक दृष्टि से मोक्षदायिनी सप्तपुरियों में उज्जैन भी गिनी जाती है, यथा——

अयोध्या मथुरा माया काशी कांची अवन्तिका। पुरी द्वारावतिश्चैव सप्तैता मोक्षदायिका॥

"**मालव धरती गहन गँभीर। मग मग रोटी पग पग नीर।**" इस लोकप्रिय उक्ति के अनुसार इस प्रदेश को सुजला, सुफला कहलाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है; अतएव ऐसे प्रदेश की सहायता से वैभव-सम्पन्न बनना किसे नहीं भावेगा? भूगर्भवेत्ता तथा इतिहासकारों का तो यहाँ तक कथन है कि कल्पान्त जल-प्रलय के समय भी केवल यही विन्ध्य-कटि प्रदेश, विन्ध्य-मेखला-प्रांत उस घटना से अछूता रहा।

पूर्वकालीन ऐतिहासिक पुराणयुग के मालवा-प्रान्त का इतिहास लोकोत्तर है। इस भूमि को महाराजा मान्धाता, कार्तवीर्य-सहस्रार्जुन, राजा रंतिदेव आदि जैसे महान् नरपुरुषों ने भूषित किया है, जिनके नाम भारतीय संस्कृति के विशिष्ट अर्थद्योतक प्रतीक बन गए हैं। ऋषिवर्य सांदीपनि, भगवान् कृष्ण, बलराम, सुदामा आदि पुराण-पुरुष तथा गन्धर्वसेन, विक्रमादित्य, भर्तृहरि, मत्स्येन्द्रनाथ, मैनावती, गोपीचन्द आदि महापुरुषों से इस प्रान्त का सम्बन्ध रहा है; किन्तु इस लेख की सीमा तो केवल इतिहास-युग ही है। हमने इन्दौर, उज्जैन, धार आदि स्थानों के सार्वजनिक और कई व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रहालय छानकर इस लेख के प्रणयन के लिए एक बृहत् सन्दर्भ-सूची संकलित करने का प्रयत्न किया, जिससे कहा जा

सकता है कि वेद, ब्राह्मण, रामायण, महाभारत के विभिन्न पर्व, विविध पुराण, बौद्धग्रंथ, जैनग्रंथ, कौटिल्य, पाणिनि, भास, राजकवि शूद्रक, गुणाढ्य, कालिदास, भवभूति, बाण, वात्स्यायन, भास्कराचार्य, राजशेखर, जयदेव आदि कवियों के ग्रंथान्तर्गत उल्लेख; ग्रीक, चीनी, मुसलमान, अंग्रेज यात्रियों के वृत्तान्त आदि साधनों से तत्कालीन प्राचीन इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। यथा ऋग्वेद में भोज तथा सतवत वंशों का, ऐतरेय ब्राह्मण में भोज तथा सतवत के समकालीन होने (मत्स्य-वायु), शतपथ ब्राह्मण में भरत द्वारा सतवत को हराने, रामायण के अयोध्या तथा किष्किन्धाकाण्ड में यहाँ के साधुओं का सीताशोध और रावण युद्ध में सम्मिलित होना, महाभारत में मालवाधीश विंद और अनुविंद का युद्ध में भाग लेने (नर्मदा संहिता), सभापर्व में सहदेव की दिग्विजय, भीष्मपर्व में अवन्तिका का भूगोल, कर्णपर्व में अवन्ति-वर्णन, मत्स्यपुराण में पालित के पुत्र प्रद्योत का राज होने, अवन्ति में यदुवंश का राज्य, वायुपुराण में हैहयवंश कार्तवीर्यार्जुन, लिंगपुराण में कार्तिवीर्यार्जुन से अवन्ति विक्रय करने, विष्णु, अग्नि और पद्मपुराण में सोलह महाजनपदों में अवन्ति होने, स्कन्दपुराण का अवन्तिखंड, अग्निपुराण में वसुदेव की कन्या का अवन्ति में विवाह, बौधायनसूत्र, श्रीमद्भागवत, हरिवंश आदि के उल्लेख, बौद्धग्रंथान्तर्गत मालवा सम्बन्धी वर्णन (महागोविन्द सुत्त में माहिष्मति के राजा वसुबन्धु, अंगुत्तरनिकाय में अवन्ति-वर्णन, मझ्झिमनिकाय में चण्डप्रद्योत, महावग्ग, महाबोधीवंश, धम्मपद की टीका में वासवदत्ता) पाणिनि की अष्टाध्यायी में अवन्ति, पातञ्जलि के महाभाष्य, कात्यायन के वार्तिक, गर्ग की संहिता उबटाचार्य की टीका, कौटिल्य के अर्थशास्त्र में हैहयवंश द्वारा नागवंश का निपात, बृहत्संहिता में अवन्ति, जैन ग्रंथों में भगवान महावीर का अवन्ति में पर्याय ज्ञान प्राप्त करना, बृहत्कथा, ज्योतिर्विदाभरण, हाल राजा की प्राकृत सप्तशति, वात्स्यायन का मालव स्त्रियों के सौन्दर्य का वर्णन, सुबन्धु की वासवदत्ता, धर्मदास कृत बाण सम्बन्धी विदग्धमुखमण्डन, बाण की कादम्बरी तथा उज्जयिनी के राजपुत्र चन्द्रापीड का वर्णन, बृहत्कथार्णव, पद्मगुप्त, मंडनमिश्र की स्त्री सरस्वती का वाक्पांडित्य, गणितज्ञ भास्कराचार्य की कन्या लीलावती का अवन्ति में श्वसुरालय, आशाधर, भवभूति, सुबन्धु, अभयकुमार, ईशदत्त, धनपाल, कात्यायन आदि महापंडितों का मालवा से सम्बन्ध, जीवक भिषाचार्य के द्वारा प्रद्योत की चिकित्सा, बाल-रामायण, रत्नावलि, कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों में अवन्तिका का वैभव तथा भास-कालिदास से लगाकर भोज प्रबन्धकार बल्लाल तथा सुदूर दक्षिण के बालाजी पर्वतीय कवि वेंकटब्वरि के विश्वगुणादर्श-चम्पू (१७वीं सदी) में; ग्रीक, चीनी, यूरोपीय तथा मुसलमान यात्रियों (यथा एरियन, मैक्रिण्डल, टालमी, व्हेनसांग, अलबरूनी, ट्रेवेनियर, मेलेट आदि प्रवासियों) और ऐतिहासिक मराठी, फारसी आदि पत्र-व्यवहार में इस प्रान्त का जो वर्णन पाया जाता है, उस बृहत् सामग्री का सम्पादन और समीकरण अत्यन्त परिश्रम, समय तथा द्रव्य-साध्य विषय है। इन्दौर के अखिल-भारतीय-साहित्य-सम्मेलन तथा महू के प्रान्तीय-सम्मेलन ने प्रान्तीय इतिहास प्रणयन सम्बन्धी हस्ब दस्तूर प्रस्ताव भी पास किए, किन्तु मालूम नहीं कि वे कार्य रूप में परिणित कैसे और कब होंगे?

अब हम सबसे पहिले वर्तमान मध्यभारत में सम्मिलित मालवा-प्रान्त की सीमा को प्राचीन ऐतिहासिक साधनों के आधार पर निर्धारित करके, फिर उसके वास्तविक अर्थ का विचार करते हुए, प्राचीन इतिहास का विहंगावलोकन करेंगे। हमारी दृष्टि से तो—

इत चम्बल* उत बेतवा† मालव सीम सुजान। दक्षिन दिसि है नर्मदा, यह पूरी पहिचान॥

इस समय जिसको हम हमारी दृष्टि से (आधुनिक अंग्रेजी राजकीय विभाग बुन्देलखण्ड को छोड़कर) मध्य-भारत या मालवा कह सकते हैं, वह प्राचीन पुराण-काल में अवन्ति देश कहलाता था। उस अवन्ति देश के उत्तरीय विभाग की राजधानी उज्जैन थी तो दक्षिणीय विभाग की माहिष्मती। इस समग्र विभाग को मोटे तौर पर विन्ध्य-मेखला या विन्ध्य-कटिदेश कह सकते हैं। इसी का यथार्थ नाम मालवा है। मालवा के पश्चिम भाग को अवन्ति व पूर्व को दशार्ण भी कहते थे। अवन्तिका की राजधानी उज्जैन थी, जिसके विभिन्न नाम विभिन्न स्थानों पर पाए जाते हैं—यथा कनकशृंगा, अवन्ति, अनूप, पद्मावती, अमरावती, उज्जयिनी, कुमुद्वती, विशाला, प्रतिकल्पा, शिवपुरी, पुष्पकरंडिनी आदि। उज्जयिनी

* पश्चिम-उत्तर, † पूर्व।

के दक्षिण नर्मदा नदी का टापू-द्वीप मान्धाता है, जहाँ माहिष्मती नगरी थी। कोई उसे महेश्वर बताते हैं। भगवान बौद्ध के समकालीन प्रद्योत महाचण्डसेन के आधीन माहिष्मती भी थी। इसके पूर्व तीसरी शताब्दी तक यह प्रान्त उक्त नाम से ही प्रसिद्ध था। उसके अनन्तर वह विशिष्ट कारणों से मालवा कहलाया। अस्तु अब हम मालवा शब्द की उत्पत्ति और उसके यथार्थ अर्थ पर विचार करें। कुछ विद्वान् इसे मा+लव=लक्ष्मी का अंश अथवा विभूति बताते हैं, तो कोई माल-सुफला-उपजाऊ भूमि। एक हिन्दी-भाषी विद्वान् ने तो मल्व शब्द से उसकी उत्पत्ति बताकर विस्तृत विवेचन किया है। मालवा प्रान्त में अब भी मैदानी और कृषियोग्य जमीन को माल कहते हैं। मालवा प्लेटो अधिक उपजाऊ, समशीतोष्ण, प्रत्येक प्रकार की वनस्पति फल-फूल तथा धान्य के उपार्जन योग्य होने से वह लक्ष्मी की विभूति भी कही जाए तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह भी कहा जाता है कि पंजाब प्रान्त की मालव नामक जाति स्थानान्तरित होकर वह इस प्रदेश में उपनिवेशित हुई और उसी जाति के कारण यह प्रान्त मालवा कहलाया। आर्य ज्योतिषियों का याम्योत्तरवृत्त (First Meridian) इसी प्रान्त की राजधानी उज्जैन से होकर जाता है; अतएव इसे भारत का ग्रीनविच कह सकते हैं।

अब हम इतिहासकाल से आज तक के उन राजवंशों और तदन्तर्गत शासकों का क्रमानुसार विवेचन करेंगे, जिनका प्रत्यक्ष और आधिपत्य के नाते इस प्रान्त से सम्बन्ध रहा। मालवे के दो विभाग अवन्ति और दशार्ण में आरम्भ में यादवों का राज्य होने का उल्लेख पाया जाता है। माहिष्मती नगरी यादवों के इक्कीस गणराज्यों या जनों में गिनी जाती थी। अनन्तर कई जन-राज्य संयुक्त रूप से जनपदों में तथा वे कई जनपद मिलकर महाजनपद कहलाये। ईसा पूर्व ८०० से लगाकर ५०० तक भारतवर्ष में १६ महाजनपद अग्रगण्य थे, जिनमें अवन्ति, अश्मक (कर्नाटक का भाग) तथा मूलक (प्रतिष्ठान) आदि प्रमुख थे। विदर्भ, मूलक और अश्मक मिलकर ही महाराष्ट्र कहलाता था। भगवान् बुद्ध के समय वत्स देश की राजधानी कौशाम्बी में प्रतापी उदयन राज्य करता था। उसका समकालीन अवन्ति बड़ा राज्य था। राजधानी उज्जैन बड़ी मण्डी और दक्षिण का नाका था। भरुकच्छ आदि पश्चिमीय सागर के बन्दरों और दक्षिण से व्यापार-पथ उज्जैन होकर विदिशा से कौशाम्बी की ओर तथा दूसरा मथुरा से कुरु-गांधार को जाता था। अश्मक की सीमा अवन्ति से मिलती थी और मूलक अश्मक में ही सन्निहित था। अवन्ति के राजा प्रद्योत को चण्ड (डरावना) कहते थे। मथुरा तक उसके राज्य की सीमा थी। वह चक्रवर्ती बनना चाहता था। उसके राज्य और मगध की सीमा के बीच में वत्सदेश था। वहाँ के राजा उदयन-प्रद्योत सम्बन्धी पुराण तथा नाटक-साहित्य में बड़ी मनोरंजक कथाएँ अंकित हैं। उसीका आधार अभूतपर्व भारतीय नाट्य स्त्रीपात्र वासवदत्ता है। कहा जाता है कि उदयन हस्तिस्कंध वीणा वजाकर हाथी पकड़ता था। उसको चकमा देकर उसका गर्व हरण करने के उद्देश्य से मालवाधीश प्रद्योत ने एक काष्ठ का यांत्रिक विशाल हाथी (जिसके पेट के भीतर कुछ सैनिक छिपाए गए थे) उदयन के आखेट मार्ग पर, अपनी सीमा में खड़ा कर दिया। उदयन उस हाथी को पकड़ने गया तो हाथी उलटा दौड़ा और अन्त में उसके शरीर के भीतर के सैनिक प्रगट होकर उदयन को कैद करके उज्जैन लिवा लाए। अनन्तर उदयन की संगीत विद्या पर मुग्ध होकर प्रद्योत ने अपनी कन्या वासवदत्ता को वह कला सिखाने पर उसकी नियुक्ति की। निकट सहवास के कारण उन दोनों में प्रेम उत्पन्न हो गया और उदयन वासवदत्ता को अपने देश ले भागा। उस घटना के कारण मगध के शासक अवन्तिराज से सर्वदा सतर्क रहते थे। यह घटना ईसा पूर्व ५५० की बताई जाती है। भास आदि प्रख्यात संस्कृत कवियों ने इस प्रणय-कथा को अपनी अमर लेखनी से अविस्मरणीय कर दिया है। उक्त घटना के ५ वर्ष के अनन्तर ही प्रद्योत की मृत्यु हुई। महाराजा चण्ड की वीरता, स्वाभिमान और यश अमर है। प्रद्योत के बाद भी अवन्तिका ईसा पूर्व ५५० से ३६६ तक कभी मगध साम्राज्य के काबू में नहीं आई; किन्तु बिम्बसार के पुत्र अजातशत्रु के पोते अजउदयी (४८६-४६७ ई० पू०) ने पाटलीपुत्र राजधानी बसाकर मालवा पर चढ़ाई करके उसे जीत लिया। उसका प्रपौत्र महानन्द (४०९-३७४) शिशुनागवंशीय था। उसके दो बेटों का अभिभावक महापद्मनन्द उन्हें मारकर स्वयं गद्दी पर बैठा। नंदवंश ने केवल दो पीढ़ी तक राज्य किया। उसके विरुद 'सर्वक्षत्रांतक' 'उग्रसेन' (भयंकर सेनावाला) तथा महापद्म (पद्मों धन-वाला) थे। उसके पुत्र धनचन्द के ही समय यवन-सम्राट् सिकन्दर ने भारत पर चढ़ाई करके कैकयदेश के राजा पुरु को हराया था। नन्द सम्राट् को मोरिय जनपद के राजा चन्द्रगुप्त ने मारकर मगध पर अपना अधिकार स्थापित कर दिया (३२२ ई० पू०)। चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने पश्चिमीय समुद्र तक अपना साम्राज्य फैलाया। उसी समय राजपुत्र अशोक

उज्जैन का सूबेदार बनाया गया था। साम्राज्य के शासन प्रबन्ध की दृष्टि से उस समय पाँच 'मंडल चक्र' बनाए गए थे। 'अपरजनपद' या पश्चिमीय देश में मारवाड़, सिंध, गुजरात, मालवा व कोंकण थे। पश्चिमीय चक्र की राजधानी उज्जैन बनाई गई थी। उज्जैन से ही राजपुत्र महेन्द्र तथा राजकुमारी संघमित्रा राजधर्म-बौद्धधर्म का प्रचार करने के लिए लंका भेजे गए थे। उज्जैन की एक श्रेष्ठिकन्या से अशोक के विवाहित होने का भी उल्लेख पाया जाता है। अशोकवंशीय कुनाल-दशरथकालीन उज्जैन सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। सम्प्रति का जैनधर्म स्वीकार करके उज्जैन को राजधानी बनाना कहा जाता है। मौर्यवंश के राज्य को उनके सेनापति शुंगवंशीय पुष्यमित्र ने हस्तगत कर लिया और पूर्वीय मालवा की राजधानी विदिशा बनाई (१८४ ई० पू०)। शुंग राजा ई० पू० ७२ में मार डाला गया और उस राजवंश के सेनापति कण्व उत्तराधिकारी बने। महाकवि कालिदास विदिशा के ही राजकवि थे। उनकी रचना मेघदूत में तो विदिशा राजधानी होने का स्पष्ट उल्लेख है और इसी आधार पर नागपुर-विश्व-विद्यालय के कुलगुरू महाशय केदार ने कालिदास को भागभद्र विदिशा-नरेश का आश्रित होना सिद्ध किया है। बात ठीक भी जँचती है। बिना विशेष कारण या सम्बन्ध के मालविकाग्निमित्र जैसा अमर नाटक रचकर शुंगवंश की अक्षय कीर्ति महाकवि क्योंकर छोड़ते और वह भी प्रत्यक्ष देखी हुई या सम-सामयिक व्यक्तियों द्वारा वर्णित घटनाओं की नाईं? शुंगवंश का पतन होने के कारण महाकवि का समधर्मा आश्रयदाता निकटवर्ती उज्जैन के अधिपति विक्रमादित्य के यहाँ चला जाना भी सम्भव है।

ईसा पूर्व १५० वर्षों का उज्जैन का इतिहास अवश्य ही एक गुत्थी है, और उसपर इतना अधिक वाद-विवाद हो चुका है कि वर्तमान ऐतिहासिक प्रमाणों के देखते उस विवाद का शीघ्र ही अन्त होना भी असम्भवसा ज्ञात होता है, जब तक कि पृथ्वी के गर्भ से ही कोई नूतन प्रामाणिक सामग्री न निकल पड़े। पाठकों को तत्सम्बन्धी विचार-विनिमय के लिए इसी ग्रंथ में प्रकाशित विक्रम सम्बन्धी विवेचनात्मक विभिन्न लेखों में प्रचुर सामग्री मिलेगी। सबसे पहिला प्रश्न है मालवे का नामकरण तथा पंजाब-स्थित मालव-जाति से उसका सम्बन्ध। हमारे ग्रंथ यद्यपि इसी काल के अनन्तर संग्रहित हुए तथापि महाभारत रामायण के विषय में उक्त कथन लागू नहीं—यद्यपि उसके कुछ प्रक्षिप्त भागों की ओर भी अधिकारी विद्वान् स्पष्ट संकेत करते हैं। महाभारत द्रोणपर्व में मालवा का स्पष्ट उल्लेख है, यथा—

परं प्रमथनं घोरं, मालवस्येन्द्र वर्मणः। भीमसेनस्तु सव्रीड, मुपेत्य द्रोणमाहवे।।

(द्रोणपर्व, अध्याय १९० श्लोक, १६)

इससे प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या मालव-जाति मूल ही की मालवा निवासी है या पर प्रान्त से आकर यहाँ आबाद हुई? भारताचार्य विद्वत्कुलशेखर चिन्तामणि वैद्यजी ने अपने ग्रंथ 'महाभारत उपसंहार' में सबसे पहिले प्रतिपादित किया है कि सिकन्दर के आक्रमण के अनन्तर पंजाब प्रान्त-स्थित मालव-जाति स्थानान्तरित होकर मालवे में आकर बसी, और उन्होंने इस प्रान्त को मालवा घोषित किया। तत्सम्बन्धी इतर साधनों के आधार पर उक्त सिद्धान्त को विद्वज्जनों ने स्वीकृत भी कर लिया है। पंजाब में मालव जाति का अस्तित्व, मालवों का यवन-ग्रीकों से संघर्ष, राजपूताना-स्थित कर्कोट नगर (जयपुर) में उनके सिक्के उपलब्ध होना, क्षहरात (नहपान के जामात) उषवदात का उनसे संघर्ष और अनन्तर की घटनाएँ तत्सम्बन्धी सूचक अवश्य हैं, पर वह खोज का स्वतंत्र विषय है।

उक्त विवेचन से यद्यपि वाह्यतः मालव जाति का पंजाब से स्थानान्तरित होकर राजपूताना होते हुए मालवे में बसने का आभास होता है, किन्तु कुछ विद्वान् इस मत से सहमत नहीं। वे तो मालवों को मालवे का ही आदिम निवासी बताते हैं। हाँ, उनके उपनिवेश राजपूताना, पंजाब आदि प्रान्तों में होना प्रमाणों से सिद्ध है। राजपूताने में जो मालव सिक्के मिले हैं, उनपर अंकित नामों से आरम्भ में कुछ विद्वानों ने उन्हें कुशाण, शक आदि की नाईं विदेशीय जाति का ही घोषित किया; किन्तु पुरातत्त्वाचार्य श्री जायसवालजी ने 'मरज', 'जमपय' 'पय' 'मगज' आदि शब्दों के अर्थ निश्चित करने में अपनी विद्वता का भलीभाँति कौशल बताया है (देखो—हिन्दू राज्यतंत्र, प्रथम खंड), जिससे वे विदेशीय सिद्ध नहीं होते। नन्दसा के यूप लेख में तो मालवेन्द्र को "इक्ष्वाकु प्रथित राजर्षिवंशे मालववंशे" कहा गया है। इससे तो मालवों का

भारतीय शुद्ध क्षत्रियवंशीय होना सिद्ध है। अथर्ववेद के कुछ मंत्रों के आधार पर तो मल्व और मालव जाति एक ही होने का विवेचन स्व० श्री० जगनलाल गुप्त ने किया है (विक्रम मासिक, अप्रेल–मई ४३)।

उक्त साधनों के आधार पर अवन्ति देश में अन्य गणराज्यों की नाईं मालवों का भी एक गण राज्य होने का प्रमाण तत्कालीन सिक्कों से पाया जाता है। मौर्य तथा शुंगों का आधिपत्य मालवे पर होना सिद्ध है; किन्तु साम्राज्य के अन्तर्गत छोटे छोटे राज्य, गणराज्य आदि सत्ताएँ अस्तित्व में थीं। कभी कभी उन गण राज्यों के व्यक्तिगत आनुवंशिक राज्यों में भी परिवर्तित होने के उदाहरण उपलब्ध हैं। उसी मालवगणतंत्र के नायक गर्दभिल्ल गन्धर्वसेन नामक एक नायक थे। उनके विषय में असंख्य कथाएँ विविध भाषाओं के लिखित तथा मौखिक साहित्य में वर्तमान हैं। एक तरुण सौन्दर्यशीला जैन तपस्विनी पर वे लुब्ध हो गए, और उससे उनको एक वीर पुत्र हुआ, जो आगे चलकर महान् 'वीर विक्रम' कहलाया। उस सरस्वती का भाई जैन साधु कालकाचार्य, जैनधर्म विरोध का उस शैव राजा को बदला चुकाने, काठियावाड़ के विदेशीय शासक क्षहरात (शक) को मालवे पर चढ़ाई करने लिवा लाया। फलस्वरूप गन्धर्वसेन पराभूत होगया और उसका राज्य नष्ट हो गया। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध है कि मालवा पर ई० पू० १०० तथा ५८ वर्ष के अन्दर विदेशीय शासन स्थापित हो चुका था। शीघ्र ही गर्दभिल्ल-वंशज वीर विक्रमादित्य ने मालवा तथा आसपास के प्रदेश की प्रजा की सहायता से सैनिक संगठन किया और उसने अपनी सहायता के लिए दक्षिण-धराधीश वीरवर यज्ञश्री शातकर्णि को सदलबल मालवे में लाकर विदेशियों को पराजित करके अपना गत वैभव पुनः हस्तगत कर लिया। नासिक बौद्ध गुफा पर अंकित लेख में यह घटना स्पष्ट रूप से अंकित है। विक्रम की वह विजय कृत-युग की परिचायक थी; अतएव आरम्भिक शिलालेखों के आधार पर विक्रम का विजय-स्मारकरूपी साका-जो अनन्तर मालव तथा विक्रम संवत् में परिवर्तित हुआ, नूतन संवत् में प्रचलित हुआ। ई० पू० ५७ में विक्रमादित्य, उनके भ्राता भर्तृहरि, भगिनी मैनावती, भागिनेय गोपीचन्द तथा उनके नाथपंथी गुरु (मच्छेन्द्र ?), महाकवि कालिदास आदि नवरत्नों का विक्रम दरबार को मंडित करना आदि कई ऐसे विलक्षण प्रश्नों की गुत्थमगुत्था हो गई है, जिनका सुलझाना सहजसाध्य नहीं; उसके लिए हमें अभी योग्य समय की राह देखनी होगी। अस्तु।

श्री जायसवाल ने तो विक्रमादित्य का स्थान महाराजा सातकर्णि को ही प्रदान कर दिया; किन्तु अभी वह सिद्धान्त सर्वजन सम्मत नहीं हो सका है। महाराजा सातकर्णि पराक्रमी, हिन्दू संस्कृति के उत्थापक तथा विक्रमशाली अवश्य थे। तत्कालीन भारत में वीरता में उनका सानी कोई नहीं था; किन्तु मालवा प्रान्त से उनका इतना अधिक सम्बन्ध स्थापित नहीं हुआ था, जो उन्हें यहाँ पर अपने प्रान्त दक्षिण से इतनी दूर, अपने नाम का स्वतंत्र संवत् चलाने की आवश्यकता पड़ी या उनके यशगान यहाँ गाए जाते! केवल सामर्थ्य और साधनानुसार मालवाधिप को उनकी सहायता प्राप्त होना या थोड़े समय के लिए मालवराज का उनसे संबन्धित हो जाना बात दूसरी है।

इसी समय एक नई वीर जाति का उदय हुआ, जिसने भारत पर बवण्डरसा आक्रमण करके आरम्भ में तो हमारी संस्कृति को बहुत धक्का पहुँचाया, किन्तु अनन्तर वह जाति स्वयं ही हिन्दू धर्म और समाज के विशाल उदर में समा गई। हूण, शक, पार्थिक आदि विदेशीय जातियाँ भारत जैसी सुजला-सुफला भूमि पर इतनी अधिक लुब्ध हो गईं कि उन्होंने इस देश को पितृभूमि बना लिया, जिससे यहाँ की संस्कृति का उनपर भी स्थायी परिणाम होकर उन्होंने हिन्दू धर्म और नामों को अपनाकर अपनी स्वतंत्र जातियाँ बनालीं। हिन्दू समाज ने भी उदारतावश उनको अंगीकार कर लिया। लड़ाका क्षत्रिय जाति की पंचकुली, अष्टकुली, छत्तीस और छानवे राजवंश का विकास और इतिहास उन्हीं विदेशीय जातियों से समाविष्ट है, इस बात को हमें स्वीकार करना ही होगा। चीन के उत्तर में इतिश और अलमूर के बीच हूण रहते थे, हूणों की ही एक टोली तुर्कों के नाम से प्रसिद्ध हुई। मध्य एशिया में शक जाति रहती थी, अर्थात् करनसू से यूनान की सीमा (मध्य एशिया से कास्पियन और काले सागर के उत्तर होते हुए) तक शक-स्थान था। पार्थवराज मित्रदात द्वितीय ने उन्हें वहाँ से भगा दिया, तब वे सिन्ध पर चढ़ आए (१२०-११५ ई० पू०)। फिर उन्होंने पीछे उल्लेख किए अनुसार उज्जैन पर धावा किया। ईसवी पूर्व १०० से ७८ वर्ष तक उनका आधिपत्य वहाँ रहा। शक राजा नहपान और उनके जामात उषवदात थे, जिनके नाम नासिक गुफालेख में अंकित हैं। उषवदात ने पुष्कर के पास मालवगणों को हराया था। उषवदात ने जैन धर्म

को स्वीकार किया था; किन्तु बौद्धों और ब्राह्मणों को भी सहायता उसके द्वारा मिली थी। गौतमीपुत्र शातकर्णि ने मालवगण की सहायता से शकों को हराया था; किन्तु जान पड़ता है कि शक जल्दी ही सँभल गए और उन्होंने शीघ्र ही मालवे से विक्रमवंश नष्ट कर दिया। ऊपरले हिन्द (सरहिन्द) खोतान में ऋषिक नामक जाति थी, वही कुशाण का वंश था। उसने मथुरा तक अपना राज फैलाकर इस तीर्थ को अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र विमक और उसका पुत्र कनिष्क था। उसका शक शालिवाहन से विक्रम संवत् १३५ (सन् ७८) मुलतान के पास करोड ग्राम में संघर्ष हुआ, उसी विजय के स्मारक में कनिष्क ने शालिवाहन शक संवत् प्रचलित किया, जो कुछ प्रान्तों में आज भी चालू है। सन् ११९ में नहपान ने आंध्रों से मालवा छीन लिया किन्तु अनन्तर सन् १२५ में उज्जैन पर कनिष्क का अधिकार हो गया। सं० ११० में चष्टन महाक्षत्रप उज्जैन में था। उसके पोते रुद्रदामन ने सं० १५० तक सम्पूर्ण मालवा अपने अधिकार में कर लिया। शुंगों के अनन्तर विदिशा में कुछ दिवस नागों का राज्य था, जिसको नहपान ने जीता था। तीसरी सदी के उत्तरार्द्ध में अवन्ति और आकर मालवा बना।

नागों ने कान्तिपुरी (मिर्जापुर के पास) अपनी राजधानी बनाई और भारशिव नाम धारण किया। यद्यपि नाग-वंश की दो शाखाएँ पद्मावति (पवाया) और कुन्तलवती (कोतवाल) में राज्य करती रही। माहिष्मती—मालवा प्रान्त—में पुष्यमित्र नामक गणराज भी शामिल था। विन्ध्यशक्ति भारशिवों का सेनापती था, उसका पुत्र प्रवरसेन वाकाटक हुआ (२४४-३४४)। प्रवरसेन सुत गौतमीपुत्र भारशिव भवनाग का जामात था। वही उसका उत्तराधिकारी होने से भारशिव वाकाटक एक हो गए।

इसी समय भारत में एक प्रतापी वंश का उदय हुआ, जिसने भारतीय संस्कृति और ब्राह्मणधर्म का बड़ा संवर्द्धन किया। साकेत, प्रयाग का राजा गुप्त, उसका पुत्र घटोत्कच और उसका पुत्र चन्द्र था, जिसको लिच्छवी राजकन्या ब्याही गई थी। उसीने पाटलिपुत्र राजधानी बनाई। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने बीना नदी के तटस्थ अरिकिण (ऐरण) स्थान पर प्रवरसेन-सुत रुद्रसेन को मारा और उसके पुत्र पृथ्वीसेन (३४८-३७५) को दक्षिण चेदी और महाराष्ट्र प्रान्त देकर कायम रखा तथा सभी सामंतों एवम् मालवा और वहाँ के छोटे छोटे छह गण राज्यों ने गुप्तों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। समुद्रगुप्त महान् पराक्रमी था, जिसने अश्वमेध यज्ञ भी किया था। समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त का नाम इतिहास में कलंकित रूप से विद्यमान है। कुषाणों ने उसके राज पर चढ़ाई की और रामगुप्त को व्यास नदी के तट पर विष्णुपद पहाड़ी गढ़ में घेरकर हराया। तब गुप्त राजा ने अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी भेंट करके सन्धि करली। यह बात रामगुप्त के भाई चन्द्रगुप्त को अपमानजनक मालूम दी। उसने कुशाणों को दे दबोचा और ध्रुवस्वामिनी को छीन लिया, तथा स्वयं राज्य का स्वामी बना। यही घटना उदयगिरि गुफा के वराह रूपी शिल्प-चित्र में अंकित की गई है। वही चन्द्रगुप्त मूल विक्रमादित्य घोषित किया है; किन्तु वह कथन ठीक नहीं है।

पुष्यमित्र गण को समुद्रगुप्त के द्वारा पराजित करने का हाल पीछे हम कह चुके हैं। चन्द्रगुप्त की कन्या प्रभावती वाकाटक पृथ्वीसेन के पुत्र रुद्रसेन को ब्याही थी। उसीका पुत्र हरिषेण अवन्ति का राजा था। सन् ५००-५१० तक तोरमण-हूण मालवा का शासक हुआ। इसी समय मन्दसौर के राजा यशोधर्मन ने मिहिरकुल हूण को हराकर हूणों का नाम सर्वदा के लिए भारत से मिटा दिया (सन् ५२८)। भानुगुप्त बन्धुवर्मा के पुत्र विश्ववर्मा का यशोधर्म के कुछ वर्ष पूर्व मालवा तथा मन्दसौर पर आधिपत्य था, जिसके समय का एक शिलालेख भी मन्दसौर में उपलब्ध हुआ है। वह राजा कुमारगुप्त द्वितीय का मांडलिक था (मालव सं० ५२९)। बालादित्य के पुत्र प्रकाशादित्य का छठी शताब्दी के आरम्भ में, जो पिछला गुप्तवंश कहलाता है, मगध, बंगाल तथा मालवा पर आधिपत्य था। अनन्तर कुरुक्षेत्र के राजा प्रभाकरवर्धन ने मालवे पर अधिकार कर लिया। "मालव लक्ष्मी लतापरशुः" जैसा उसका वर्णन कविवर बाणभट्ट ने हर्षचरित में किया है मालवा से उसे विपुल सम्पत्ति मिलना सिद्ध है। गुप्त सम्राटों के मालव सूबेदार महासेन गुप्त ने उज्जैन में स्वतंत्र राज्य स्थापित किया था और उसने कुमारगुप्त तथा माधवगुप्त को उसे सौंप दिया। महासेन के बेटे देवगुप्त ने कन्नौज पर चढ़ाई की और मौखरी-वंशीय गृहवर्मा को मारकर उसकी स्त्री राज्यश्री को कैद कर ले आया। बंगाल के राजा शशांक ने भी उसे सहायता की थी।

राज्यश्री थानेश्वर के राजा हर्ष की भगिनी थी; अतएव बदला लेने के उद्देश्य से थानेश्वर-नरेश राज्यवर्धन ने देवगुप्त पर चढ़ाई करके उसे परास्त कर दिया। तब उज्जैन कन्नौज राज्य का सूबा बनाया गया।

राजा हर्ष निपुत्रिक मरा, तब कन्नौज राज्य कमजोर हो गया। माधवगुप्त के पुत्र आदित्यसेन ने मालवा जीत लिया, किन्तु कुछ वर्ष बाद दक्षिण नरेश विक्रम चालुक्य प्रथम के पुत्र विनयादित्य ने आदित्यसेन-पुत्र देवगुप्त से मालवा छीन लिया। सन् ७५३ में अन्तिम चालुक्य राजा के सामन्त दंतिदुर्ग राष्ट्रकूट ने वह राज्य छीन लिया। गुर्जर देश का राजा नागभट्ट प्रतिहार गुर्जर था। उस समय मगध-गौड़ का राजा धर्मपाल (७७०-८०९) था। उसपर नागभट्ट के भाई के पोते वत्सराज प्रतिहार ने चढ़ाई करके उसे हरा दिया; किन्तु उन दोनों पर राष्ट्रकूट कृष्ण के पुत्र ध्रुव धारावर्ष ने चढ़ाई की (७८३-९३)। इस प्रकार मालवा तथा लाट (गुर्जर) देश के लिए राष्ट्रकूट और प्रतिहारवंश में युद्ध होते रहे। राष्ट्रकूटों ने दोनों को पराभूत किया। अनन्तर ध्रुव के बेटे गोविन्द धारावर्ष ने वत्सराज के पुत्र नागभट्ट द्वितीय (कन्हड़देव) से मालवा छीन लिया (७९४)। इस प्रकार गुप्तों के अनन्तर कई शताब्दियों तक मालवे जैसे सुजला, सुफला प्रदेश पर अधिकार स्थापित करने के लिए कई राजवंशों में परस्पर संघर्ष होते रहे। गुप्तों के समय मालवा प्रान्त की बहुत कुछ उन्नति हुई; किन्तु उस वंश के किसी शासक ने इसी प्रान्त में रहकर शासन नहीं किया, क्योंकि उनकी राजधानी पाटलीपुत्र बहुत दूर थी। साम्राज्य के प्रतिनिधि सूबेदार यहाँपर नियंत्रण करते रहते थे, जिससे गुप्त साम्राज्य के अन्य विभागों की नाईं एक प्रान्त मालवा भी एक प्रान्त के रूप में उनके आधीन था। गुप्त सम्राटों ने मालवा प्रान्त की विशेष उन्नति के लिये कोई विशेष प्रयत्न किए हों, ऐसा उल्लेख नहीं पाया जाता। शकारि विक्रमादित्य के अनन्तर मालवे के खास नाम लेवा प्रतापी राजा यशोधर्मनदेव ही हुए, किन्तु उनके पूर्वज या उत्तराधिकारी का कोई पता नहीं चल सका। चष्टनवंशीय जाहिरा विदेशी थे। उनका मालवे पर २००-२५० वर्षों तक आधिपत्य रहा और वे यहाँ की सभ्यता में घुलमिल भी गए; किन्तु फिर भी वे मालवीय नहीं थे। उनके अनन्तर के शासकों का अधिकार भी क्षणिक काल ही रहा।

नवीं शताब्दी के अन्त में फिरसे मालवा का भाग्य जागा और उसको स्वराज्य का लाभ मिला, जो लगभग ३०० वर्षों तक खूब पनपा (८७५-१२१६)। अर्बुद प्रदेश पर परमारों का शासन था। उसी वंश के एक पुरुष सीयक (श्रीहर्ष) ने मालवे से राष्ट्रकूटों को भगाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया। मालवे के उसी परमार वंश में कृष्णराज, वैरिसिंह, सीयकदेव आदि कई विख्यात राजा हुए। विद्वान् नरेन्द्र भोजराज और उनके पितृव्य-पृथ्वीवल्लभ मुंजराज के नाम तो विक्रम की नाईं ही अमर हैं। भोजराज (जो भारतीय आगस्टस कहलाए) ने ही उज्जैन के बदले एकान्त-स्थल धारा नगरी राजधानी बनाई। इन चचा भतीजे उभय राजपुरुषों के शासनकाल में विद्या, कला, व्यौपार आदि में मालवा प्रान्त की जो अद्भुत उन्नति हुई, वह वर्णनातीत है—

गते मुंजे यशः पुंजे, निरालम्बा सरस्वती।

अर्थात् मुंजदेव जैसे विद्वानों के गुणग्राहक राजा के उठ जाने के कारण विद्यादेवी सरस्वती निरावलम्ब हो गई। यह फतवा पंडितों ने निकाला, जो यथार्थ है; क्योंकि मुंज-भोज के अनन्तर किसी ने भी भारतीय विद्या तथा कला के उपासकों को इतना आश्रय-प्रश्रय नहीं दिया।

मुंज और भोज के शासनकाल में भी त्रिपुरी-नरेश गांगेयदेव, कलचुरि तथा तैलप की युग्म सेना ने मालवे पर चढ़ाई की थी; किन्तु उस सेना को गहरी शिकस्त मिली; जिसके स्मारकस्वरूप धारा नगरी में एक विजय-स्तंभ खड़ा किया, जो अब भी तेलन की लाट के नाम से प्रसिद्ध है। "कहाँ राजा भोज कहाँ गांगली तेलिन" यह प्रसिद्ध हिन्दी कहावत उसी घटना का स्मारक है। उस ऐतिहासिक कहावत का केवल गांगेय तैलप के बदले गांगली तेलन जैसा निरर्थक विकृत रूप हो गया है। मुंज और भोज के ही समय महमूद गजनवी ने प्रसिद्ध सोमनाथ पर चढ़ाई की थी और उसका विचार मालवे को भी लूटने का था; किन्तु मुंज और भोज ने सैनिक संगठन करके उसका रास्ता रोक दिया, जिससे वह राजपूताना तथा मालवा का मार्ग छोड़कर कच्छ-सिन्ध होता हुआ वापिस चला गया।



मालवा के शासक

भोजदेव के अनन्तर जयसिंह उदयादित्य (१०५९), लक्ष्मणदेव (१०८६), नरवर्मदेव (११०४), यशोवर्मदेव (११३३), अर्जुनवर्मदेव तथा देवपालदेव (१२१६-१२३५) परमारवंशी राजा हुए।

अजमेर के राजा वीसलदेव चौहान के विन्ध्याचल प्रान्त जीतने की घटना दिल्ली के स्तंभ पर अंकित है; किन्तु वास्तव में उसने मालवे का कौनसा विभाग जीता, इसका स्पष्ट पता नहीं चलता।

परमारों के अनन्तर मालवे पर दुर्भाग्य से विदेशीय यवनों का परचक्र आया और उसने ५०० वर्षों तक ऐसा आतंक जमाया कि हमारी विशिष्ट मालव संस्कृति का विकास और उन्नति तो दूर रही, यहाँ के प्राचीन चिह्न भी नष्टभ्रष्ट और तितर बितर हो गए! यहाँ तक कि हमारे प्रसिद्ध विक्रमादित्य तथा यशोधर्मदेव जैसे प्रतापी अमर शासकों के यथार्थ इतिहास से भी हम वंचित हो गए। दिल्ली के गुलामवंशीय शमशुद्दीन अल्तमश ने मालवे पर चढ़ाई की, और सन् १२३५ में उसने उज्जैन के अनेक मन्दिर और मूर्तियों के साथ ही प्रसिद्ध महाकालेश्वर मन्दिर को भी नष्टभ्रष्ट कर डाला। उसके अनन्तर नसीरुद्दीन ने भी मालवा लूटा। १२९१ में जलालुद्दीन खिलजी ने उज्जैन पर चढ़ाई की, उसके भतीजे और दामाद अलाउद्दीन ने सन् १३१० में भेलसा लूटा, तभी से दिल्ली (यवन-राज्य) का मालवा एक स्वतंत्र सूबा बनाया गया। कुछ वर्षों तक तो मालवा के सूबेदार की नियुक्ति दिल्ली से ही होती रही, किन्तु फीरोज तुगलक की मृत्यु के अनन्तर मध्यवर्ती सत्ता को निर्बल पाकर सन् १४०१ में दिलावरखाँ, जो मुहम्मद गौरी का वंशज था, स्वतंत्र बन बैठा और उसने मांडू को अपनी राजधानी बनाकर मालवा सुलतान की स्वतंत्र शाही निर्माण की। तैमूर के आक्रमण की गड़बड़ी से उसने खूब लाभ उठाया।

दिलावरखाँ का पुत्र अलफखाँ हुशंगशाह गोरी के नाम से उसका उत्तराधिकारी हुआ (१४०५-१४३४)। उसने मांडू में कई सुन्दर भवन निर्माण किए। मालवा जैसी सुफला भूमि से लाभ उठाने दिल्ली, जौनपुर और गुजरात के सुलतान सर्वदा चढ़ाइयाँ करते रहे। गुजरात सुलतान ने एक युद्ध में हुशंगशाह को पराभूत कर कैद कर लिया, किन्तु शीघ्र ही वह मुक्त कर दिया गया। उसका पुत्र गजनीखाँ उर्फ मुहम्मद गौरी बिलकुल निर्बुद्धि था। वह उसके मंत्री महमूदखाँ के द्वारा मार डाला गया। महमूदखाँ की बहिन ही मुहम्मद गौरी को ब्याही गई थी। मुहम्मद गोरी अत्यन्त व्यभिचारी और शराबी था, जिससे महमूद खिलजी ही सर्वाधिकारी होकर अन्त में स्वयं सुलतान बन बैठा।

महमूदखाँ एक खिलजी तुर्क था (१४३६-६९)। उसके राजकाल में मालवा सुलतानों का बड़ा दबदबा बढ़ा। उसने राजपूताना, गुजरात तथा दक्षिण की बहमनी बादशाहत से भी युद्ध किए। उसका जीवन युद्धों में ही बीता। इतिहासकार फरिश्ता ने उसे बड़ा सच्चा, उदार और न्यायी लिखा है। उसके शासन से हिन्दू-मुसलमान दोनों जातियाँ सुखी और परस्पर सौहार्द्र से रहती थीं। सन् १४४० में उसने दिल्ली पर भी चढ़ाई की; किन्तु बहलोल लोदी ने उसे हरा दिया चित्तौड़ के महाराणा कुंभा पर भी उसने चढ़ाई की थी; किन्तु युद्ध का कोई खास निष्कर्ष नहीं निकला। राणाजी ने चित्तौड़ किले पर विजय-स्मारक कीर्ति-स्तंभ निर्माण किया तो खिलजी ने भी सात मंजिला गुम्बज मांडू में बनाया; किन्तु वास्तव में राणाजी ने सुलतान को छह मास तक अपने यहाँ कैद रखकर उसकी क्षमा याचना पर उसे छोड़ दिया था। अबुलफजल ने उसको चरित्रहीन लिखा है। उसके अनन्तर उसका पुत्र गयासुद्दीन तख्त पर बैठा (१४६९); किन्तु उसके पुत्र नसीरुद्दीन ने उसको सन् १५०० में जहर देकर मार डाला। नसीरुद्दीन अत्यन्त क्रूर, विषयी और कामांध था। कहा जाता है कि उसकी हरम में कलाकुशल १५,००० स्त्रियाँ थीं। जहाँ कहीं किसी सौन्दर्यशीला स्त्री का उसे पता लगता, उसे वह पकड़वा मँगाता था। उज्जैन के कालियादेह महल का निर्माण उसी ने किया था। वहीं वह एक समय शराब के नशे में चूर होकर एक हौज में गिरकर मर गया।

उसके अनन्तर महमूद द्वितीय तख्त पर बैठा (१५१०)। उसने मुसलमान सरदारों का महत्त्व घटाने के लिए मेदिनीराय चन्देरीवाले को अपना मंत्री बनाया, जिससे राजपूतों का प्रभाव बढ़ गया। तब सुलतान ने गुजरात के बादशाह मुजफ्फरशाह से सहायता ली (१५४७), और मेदिनीराय गुजरात भाग गया और फिर राणा सांगा को सहायता के लिए

लिवा लाया। राणाजी ने चन्देरी, भेलसा और गागरौन जीत लिए, महमूद का राणा संग्राम से गागरौन के युद्ध में मुकाबला हुआ। वह कैद भी कर लिया गया, किन्तु राणाजी ने उदारता से उसे छोड़ दिया। सुलतान ने राणाजी की उदारता को भूलकर उनके पुत्र पर चढ़ाई करदी; किन्तु राणाजी के मित्र गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने उसको गहरी शिकस्त देकर और चंपानेर किले में कैद रखने के उद्देश्य से भेजकर मार्ग में ही उसे मरवा डाला। उसके सभी कुटुम्बी भी मार डाले गए और सन् १५३१ में मालवा गुजरात की बादशाहत में सम्मिलित कर लिया गया। इसी समय गढ़ा के राणा संग्रामशाह ने मालवे का भोपाल जीत लिया। चार वर्षों के अनन्तर हुमायूं ने १५३५ में मालवे पर चढ़ाई की और मन्दसौर के निकट बहादुरशाह को शिकस्त देकर मांडू पर अधिकार कर लिया। हुमायूं सन् १५३५ की फरवरी में उज्जैन भी आया था। हुमायूं के लौटने पर बहादुरशाह ने फिरसे मालवा ले लिया, किन्तु जोधपुर के मालदेव राठौर ने चढ़ाई करके मालवा जीता। दिल्ली का तख्त शेरशाह के अधिकार में होने पर उसने रायसेन का किला जीता और शुजाअतखाँ को मालवे का सूबेदार बनाया। उसी का पुत्र बाजबहादुर था। उसकी निम्न जाति की कबूतरी बेगम भानुमती थी। उसी रूपमती की संगीत-प्रियता के कारण उन दोनों के नाम प्रसिद्ध हुए। अकबर ने सन् १५६२ में मालवा जीतकर मुगल साम्राज्य का उसे एक सूबा बनाया, जो मराठों का अधिकार स्थापित होने तक दिल्ली के ही आधीन रहा (१७३२)। अकबर और जहाँगीर दोनों समय समय पर मालवा और मांडू आते रहे। अकबर के अन्तिम दिनों में तो जहाँगीर ही मालवा का सूबेदार बनाया गया था। उसने अपने पिता के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतंत्र बन बैठने का उज्जैन में ही षड्यंत्र रचा था, जिसकी जाँच के लिए प्रसिद्ध विद्वान् अबुल-फजल को उज्जैन भेजा गया था। वह वापिस दिल्ली पहुँच भी नहीं पाया था कि जहाँगीर की प्रेरणा से *स्वतंत्र राज्य-प्राप्ति के लोभ से, वीरसिंहदेव बुन्देला (दतिया-राज्य-स्थापक)* ने उसको मार्ग में ही ग्वालियर के निकट आंतरी स्थान पर मार डाला था।

औरंगजेब के राज्यकाल में चम्पतराय बुन्देला ने मालवे पर अधिकार करना चाहा; किन्तु उसको सफलता नहीं मिली (१६६१)। तत्पूर्व औरंगजेब ने अपने पिता शाहजहाँ को कैद करके अपने भाइयों का काँटा अपने मार्ग से हटाकर निष्कंटक राज्य करने के सिलसिले में उसका सबसे पहिले उज्जैन से ही सम्बन्ध आया। फरवरी १६५८ में महाराजा जसवन्तसिंह राठौड़ बादशाह के हुक्म से औरंगजेब के मुकाबले के लिए उज्जैन पहुँचे। मुराद भी गुजरात से ससैन्य औरंगजेब की सहायता के लिए उज्जैन की तरफ आने लगा। तब राठौर सेना ने उसे खाचरोद के निकट जा रोका; किन्तु फिर भी वे दोनों भाई आपस में मिल ही गए। अन्त में उज्जैन के निकट पाँच कोस पर औरंगजेब व शुजा की फौज से राठौड़ का युद्ध हुआ। औरंगजेब के फ्रेंच और अंग्रेज तोपचियों ने गजब ढा दिया, जिससे राठौड़ वीर जसवन्तसिंह को पीछे हटना पड़ा। वह स्थान जहाँ औरंगजेब को सफलता मिली, फतेहाबाद कहलाया। उस युद्ध में मुकुन्दसिंह हाड़ा, सुजानसिंह सिसोदिया, रतनसिंह राठौर, अर्जुनसिंह गौड़, दयालदास झाला, मोहनसिंह आदि राजपूत वीर खेत रहे। रतनसिंह की सुन्दर छत्री उनके वंशज रतलाम के राजा ने उस स्थान पर बनाई जो अभी तक वर्तमान है। राठौर कुलभूषण, सीतामऊ के राजकुमार डॉ० रघुवीरसिंहजी मालवा में मुगल राज्य गनीमत समझते हैं, जो गलत है।

उक्त घटना के अनन्तर औरंगजेब का मालवे से विशेष सम्पर्क होना नहीं पाया जाता। अलबत्ता उसके राजकाल की एक ऐतिहासिक घटना उल्लेखनीय है। औरंगजेब बड़ा कट्टर मुसलमान था और उसने हिन्दू प्रजा पर अपमानजनक 'जजिया' कर कायम किया था। *Anecdotes of Aurangjeb* में इतिहासकार सर सरकार ने एक घटना अंकित की है, जिससे सिद्ध है कि उसने एक अपने प्रीतिपात्र सरदार की माता के समाधि-स्थान पर उसकी यात्रा के लिए आनेवाले हिन्दू ब्यौपारियों को जजिया से माफी देने को साफ इन्कार कर दिया था; किन्तु महान् आश्चर्य की बात है कि उसी आलमगीर ने उज्जैन के ब्राह्मणों-पंडों को उसी जजिया कर से मुक्त कर दिया था, जिसका असली पत्र हमको उज्जैन में ही उपलब्ध हुआ है। बल्कि उस हुक्मनामे में साम्राज्य और सम्राट् के यशोचिन्तन की भगवान् से प्रार्थना करने की भी इच्छा प्रगट की गई है।

औरंगजेब की मृत्यु के अनन्तर तो उसकी कट्टरता के परिणामस्वरूप शीघ्र ही मुगल साम्राज्य का प्रभाव नष्ट हो गया। औरंगजेब के जीतेजी ही विजयेष्णु मराठे नर्मदा लांघकर धार, मांडू और उज्जैन तक चढ़ाइयाँ करने लगे थे। सन् १६९०-१७०७ के अनन्तर तो मराठों का वहाँ प्रभाव बढ़ने लगा, और १० वर्ष के भीतर ही वे मालवे में अपना राज्य स्थापित करने का भी सुखस्वप्न देखने लगे। १७१८ में मराठा सेनापति उदाजीराव पवार की फौज तो दिनदहाड़े मालवे में घूमने लगी और घासदाना वसूली के साथ ही धीरे धीरे अपने पैर भी उस प्रान्त में जमाने लगी। अन्त में मराठा भगवा झण्डा मालवे के विभिन्न स्थानों पर फड़कने लगा। १७२८ में मालवा के सूबेदार से अमझरा (तिरला) के निकट युद्ध हुआ। सूबेदार मारा गया और मराठों का प्रभाव स्थायीरूप से मालवे पर स्थापित हो गया। १७३२ में मालवा के जीते हुए प्रदेश का वीर बाजीराव पेशवा ने बटवारा करके ग्वालियर के शिन्दे, इन्दौर के होलकर, धार तथा देवास छोटी और बड़ी पाँती के पवार सूबेदार (सरंजामी जागीरदार) स्थापित कर दिए। आरम्भ में उन सरदारों को जो प्रान्त दिया गया, वह सरंजाम फौजखर्च के लिए दिया गया, अर्थात् मराठा साम्राज्य की सहायता के लिए नियमित संख्या तक की सेना सर्वदा तैयार रखना तथा उस फौज का खर्चा उसी सरंजामी प्रान्त की आय से चलाना। तदनुसार उन मराठा सरदारों ने अपने साम्राज्य की श्रीवृद्धि के साथ ही उसकी सीमा के बढ़ाने में भी खूब प्रयत्न किया। दिल्ली, पंजाब, राजपूताना, बुन्देलखण्ड, आगरा अवध, बंगाल, कटक-उड़ीसा आदि उत्तर भारतीय प्रान्तों पर मराठों का प्रभुत्व स्थापित होने का स्वतंत्र इतिहास है। सन् १७३२ में मालवा में स्थापित मराठा सरदार ही अब यहाँ के स्वतंत्र राज्यों के शासक हैं, उन्हीं की आदर्श शासन-प्रणाली के फलस्वरूप अवन्ति का मालव प्रान्त सुख शान्ति का अनुभव करके निशि-दिन भारतीय संस्कृति की उन्नति करने में कटिबद्ध है। विक्रम और परमारों के अनन्तर अब ही कहीं मालवे के भाग जागे हैं। भगवान् करे वर्तमान शासकवर्ग की छत्रछाया में मालवा परमोच्च उन्नति प्राप्त करके भारतीय सभ्यता का मुख उज्ज्वल करे!

२

मराठे तथा मालवा

भारत माता के गले का अनमोल मोती "गोपाचल दुर्ग" तथा "सप्तैता मोक्षदायिकः" जैसी पुरी अवन्तिका-उज्जैन का आधिपत्य, पूर्वपुण्य बल से, जिसे बदा था उस शिन्देवंश के सौभाग्य का क्या कहना है? सात्विक-राजस गुणों का पुञ्ज, धार्मिकता और वीरता का आगर जिसे प्राप्त हो जाए, उसका नाम इतिहास में क्यों र अमर नहीं रहेगा? पेशवा ने जीते हुए प्रान्त का वटवारा किया, उस समय होलकर ने तो मालवा और नीमाड़ जैसा उर्वर प्रदेश लिया तो राणोजी शिन्दे ने अवन्तिका-विदिशा-दशपुर जैसा पुण्य-प्रदेश लेना पसन्द किया। हमारा संकेत इसी घटना से है।

महाराष्ट्रीय देवगिरि का यादव-राज्य विदेशीय यवनों द्वारा आक्रान्त होते ही दक्षिण का स्वराज्य नष्ट हो गया। तदुपरान्त विद्यारण्य माधवाचार्य ने विजयनगर-हिन्दू साम्राज्य की पुनः प्रतिष्ठा भी की; किन्तु वह कायम न रह सका। फिर 'परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्' इस ध्येय की पूर्ति के लिए गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक क्षात्रकुलावतंस छत्रपति शिवाजी महाराज ने महाराष्ट्र स्वराज्य की पुनः संस्थापना की। महाराज के गुरू समर्थ रामदासजी ने भी—

मराठा तितुका मेळवावा। अवघा कल्लोळ करावा। ये साठीं न करितां तकवा। पूर्वज हांसती॥
मराठा साम्राज्य करावे। जिकडे तिकडे॥

जैसे उद्बोधन रूप में ध्येय-प्रवणता का उपदेश दिया। वीरवर संभाजी का धार्मिक हौतात्म्य, राजाराम की स्वार्थहीन भरत-सदृश निस्पृहता, शाहू का राजस तेज एवम् उदार आचरण, मंत्री बाजीराव का मुगल "वृक्ष की जड़ पर आघात करके शाखाएँ और टहनियाँ साध्य करने" का ध्येय तथा तलवार बहादुरी एवम् बुद्धि-सामर्थ्य के प्रभाव से दिल्ली-विजय का शिवाजी छत्रपति का उद्देश्य पूर्ण करके आसेतु-हिमालय मराठों का प्रभाव स्थापित करने की पाटिलबाबा महादजी शिन्दे की कर्मण्यता का स्रोत अवन्तिका और गोपाचल ही तो था, यही हमें बताना है।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

भोगावती-पुरवराधीश्वर प्राचीन शेषकुली के सेंद्रक-शिन्देवंशज महाराष्ट्र में यत्रतत्र बिखरे हुए हैं। सितारे के निकटस्थ कन्हेरखेड ग्राम के पटेलों में नेमाजी शिन्दे वड़े वीर हो गए हैं। औरंगजेब मराठों को नष्ट करने सदल-बल दक्षिण में जा अड़ा। तब वीर मराठों ने केवल महाराष्ट्र में ही नहीं वरन् बाहर शत्रु प्रदेश पर भी आक्रमण करने का प्रण किया।

तदनुसार सन् १६९० से महाराष्ट्र सीमा के बाहर विन्ध्य-नर्मदा लाँघकर मराठों ने मध्य-भारत पर आक्रमण करना आरम्भ किया और 'मुल्कगिरी' का प्रत्यक्ष फल सन् १७२० से उनके हाथ लगा। मराठों के वीर सरदार 'अर्जुन-तुल्य' उदाजीराव पवार को मालवे पर अधिकार स्थापित करने का आदेश दिया गया और सन् १७२४ से मल्हारजी होलकर, राणोजी शिन्दे तथा पिलाजी जाधव उस ध्येय प्राप्ति में आ जुटे। उदाजीराव विश्वासराव वीरकुल परमार वंशज थे और पिलाजीराव प्राचीन जाधव वंश के तत्कालीन प्रतिष्ठित सरदार थे—अलबत्ता शेष दो सरदार होलकर और शिन्दे स्वबाहु-बल पर ही वीरों की श्रेणी में समाविष्ट हुए। होलकर जाति के धनगर-गड़रिये थे। उनके मामा कदम बांडे मराठा सेनापति दाभाड़े के यहाँ घुड़सवारों में थे। भानजे मल्हारजी होलकर मामा की बकरियाँ चराते फिरते। अकस्मात् उनका पूर्वपुण्य उदित हुआ और वे भी घुड़सवारों में भर्ती होकर मराठा राज में ६४ लड़ाइयाँ लड़नेवाले दूसरे 'हमीर' कहलाये! स्वराज्य में यही तो विशेषता होती है कि साधारण व्यक्ति को भी भाग्य चमकाने का अवसर प्राप्त हो जाता है।

राणोजी शिन्दे की बात जुदी थी। परिस्थितिवश वे "मेमने के झुण्ड में पालित शेरबच्चे" ही थे। उनके पिता पटेली-खेती करके उदर निर्वाह करते थे। प्राचीन वीर वंशज होने से यद्यपि रस्सी जल चुकी थी, तथापि ऐंठन शेष थी। घुड़सवारी का शौक उन्हें था। किसी अज्ञात युद्ध में स्वामी सेवा प्रीत्यर्थ उन्हें इनाम मोकासा मिलने के असली पत्र पेशवा के दफ्तर से उपलब्ध हो जाने के कारण ग्रेंडफ, मुख्यतः मालकम द्वारा बेपर की उड़ाई हुई राणोजी के उदय सम्बन्धी दन्त-कथा विल्सन, हण्टर आदि इतिहासकारों के दाँत गिराने के लिए पर्याप्त है। एक प्राचीन अप्रकाशित साधन के आधार से राणोजी का करोल होना और उनका बाजीराव पेशवा का साथी होना सिद्ध है। उत्तर-भारतीय चढ़ाइयों में राणोजीराव मल्हारजी के साथ भेजे जाने की दन्तकथा में हमारा विश्वास नहीं है। हाँ पिलाजीराव जाधव के साथ उनका जाना ऐतिहासिक साधनों से सिद्ध है। अनन्तर जब पिलाजी की उद्दण्डवृत्ति के कारण पेशवा की उनपर नाराजगी हुई, तब पिलाजी के सिक्के मोरतब राणोजी को ही दिए गए (सन १७३०)। उधर राणोजी की पायगाह और सेना के सैनिक भी मालवा प्रान्त के सौंधवाड़ा-सतमहाल आदि विभिन्न उप-विभागों पर अपना मराठी भगवा झण्डा फहरा रहे थे (१७२४-३०)। इस प्रकार १७२८ के तिरला के युद्ध में मुगल सूबेदार दयाबहापुर का हनन होने तथा अमझरा, सारंगपुर, उज्जैन आदि की लड़ाइयों में विजय मिलने से पुष्कल प्रदेश मराठों के हाथ लगा। वैसे तो १७१८ से ही मराठे मालवा को मुगल साम्राज्य से छीनना चाहते थे। विचारों के आदान-प्रदान भी १७४१ तक होते रहे। उधर मराठों की जड़ मालवे में पक्की भी हो गई। तब बलात् मुगल बादशाह को मालवे की सनद पेशवा बालाजी बाजीराव को दे देनी पड़ी।

मराठों के मालवा पर आक्रमण, वहाँ पर प्रदेश जीतना, मालवा की प्रजा की तत्सम्बन्धी सहायता आदि आरंभिक इतिहास बड़ाही मनोरंजक और बोधप्रद है। औरंगजेब की कट्टरता तथा हिन्दू-विरोधी नीति ने साम्राज्य की जड़ खोखली कर दी थी। दरबार में विभिन्न सरदारों के पक्ष स्वार्थ-साधना में जुटकर नित नये बादशाह भी बदलते रहे। आसफजहाँ निजाम का प्रभाव दरबार से घटाने के लिए उसे मालवा से मराठों के आक्रमण की रोक के बहाने मालवा का सूबेदार बनाया गया, किन्तु उसके मन में दक्षिण का स्वतंत्र सूबेदार बन बैठने की आकांक्षा प्रबल बन गई और उसने मराठों को मालवे में, अपनी दक्षिण की सूबेदारी और दिल्ली की बादशाहत के बीच में फच्चर ठोंकने के उद्देश्य से प्रबल होने दिया, जिससे साम्राज्य का ध्यान मालवे में ही अटककर दक्षिण में उसके स्वतंत्र बन बैठने में बाधक न हो। अन्ततोगत्वा निजाम मालवे से हटाया गया और मालवे का प्रबन्ध सवाई जयसिंह को सौंपा। सवाईजी जाहिरा तो राज्य और जागीर के लोभवश साम्राज्य का विरोध नहीं कर सकते थे। हाँ; हिन्दू-हितैषी तथा अन्तःकरणपूर्वक मुगल विद्वेषी होने से मराठों से उन्हें सहानुभूति भी थी। साम्राज्य सरकार ने भी उनकी भावनाएँ देखकर उन्हें भी हटा दिया और दयाबहादुर नागर मालवे का सूबेदार नियत किया गया। सन् १७२३-२४ में मालवे में घोर अकाल पड़ा। चील, गीदड़, श्वान की नाईं मुगल सूबेदार प्रजा को

साम्राज्य और स्वहित साधनों के प्रीत्यर्थ चूसना ही पसन्द करते थे। प्रजा ने त्राहि त्राहि मचाई कि अकाल के कारण भूमि कर वसूल न किया जाय, प्रजा ने दरबार तक यह अनुनय विनय भी की, पर उस अन्धेर खाते में कौन किसको पूछे? मालवा प्रान्त की नर्मदा-विन्ध्य की सरहद्द की रक्षा मुगल जागीरदार नन्दलाल मण्डलोई २००० घुड़सवारों द्वारा करता था। वह प्रजारंजक और प्रभावशाली था। उसने सवाईजी से उस आपत्ति से रक्षा-प्रीत्यर्थ परामर्श किया। सवाईजी ने विजयेष्णु मराठा सरदार बाजीराव की ओर संकेत किया। उनकी सिफारिश से मालवीय प्रतिनिधि पेशवा से मिले और सहायता स्वरूप सेना देने का विश्वास दिलाया। मुगल सूबेदार यह सुन तमक उठा। उसने मराठी सेना के मार्ग नालछा-माण्डू घाटपर सुरंग बिछा दिए। तब रहस्योद्घाटन न होने देने के उद्देश्य से मालवे की सहायक सेना तो उसी रास्ते आई और आत्म समर्पण कर गई; किन्तु मराठी सेना स्वरक्षा के हेतु मार्ग बदलकर टाँडा, बलवारी, भैरोंघाट से तिरला आ धमकी और घनघोर युद्ध में सूबेदार को मार डालने में कृतविद्य होकर (२९ नवम्बर १७२८) मालवा में मराठी झण्डा फहराने में समर्थ हुई! उस प्रान्त के राठौड़, सौंधिये, गिरासिए आदि भी दबाए जाकर मुल्क जीता गया। २१ जुलाई सन् १७३२ तक पेशवा मालवा में पर्याप्त विभाग के धनी बन गए थे। पवार, होलकर तथा शिन्दे इन तीन सरदारों ने ही उस प्रान्त को जीतने में पराक्रम बताया; अतएव उनका सम्मान करके प्रान्त की सुव्यवस्था के उद्देश से पेशवा ने जीता हुआ प्रदेश अपने सरदारों में निम्नरूप से विभाजित किया:—

२२॥ प्रतिशित होलकर।

२२॥ प्रतिशित शिन्दे।

२२॥ प्रतिशित पंवार (१७ प्रतिशित धार ३ प्रतिशित देवास बडी पाँती तथा २॥ प्रतिशित देवास छोटी पाती)।

३२॥ प्रतिशित पेशवा।

———

१००

तदनुसार उदाजीराव पंवार ने अपने पूर्वज परमारों की धारा नगरी और मण्डप दुर्ग (माण्डू) के आसपास का प्रदेश, उनके सहायक भैयाबन्द छोटे दो पंवार भाइयों ने देवास बड़ी और छोटी पाती तथा मल्हारजी होलकर ने इन्दौर-महेश्वर तथा नीमाड़ का उर्वरा भाग लेना पसन्द किया। दक्षिण के विजयेष्णु मराठा राजाओं के महलों के मुख्य मुख्य द्वार दिल्ली जीतने के उद्देश्य से उस दिशा में रखने के कारण 'दिल्ली दरवाजे' कहलाए। राणोजी शिन्दे ने दिल्ली विजय की प्रबल भावी घटना को साध्य करने के उद्देश्य से, अन्य सरदारों के मुकाबले में, दिल्ली की ओर का उज्जैन-भेलसा प्रान्त ही लेना स्वीकृत किया। दशपुर (मन्दसौर) भी उन्हें मिला। धार्मिक क्षेत्र एवम् विक्रमादित्य जैसे पराक्रमी अमर हिन्दू सम्राट् की राजधानी तथा शुंग-गुप्तों के वैभवागार विदिशा-दशपुर अपने अधिकार में रखने की लालसा किस ध्येय को दर्शाती है। इन महान् राणोजी के पुत्र महादजी की दिल्ली-विजय की सफलता का आधार वही कर्मण्यता तो थी ही। राणोजी को ६४॥ लाख का प्रान्त बटवारे में मिला था।

महान् विक्रमादित्य के अनन्तर, सच पूछा जाय तो, आर्य-संस्कृति-रक्षक हिन्दू राज्य की राजधानी बनने का सौभाग्य अवन्तिका को महाराज राणोजीराव शिन्दे सूबेदार ने ही प्रदान किया। नदी का उद्गम छोटा होता है। अनन्तर वह बहते बहते प्रचण्ड रूप धारण करती है। पेशवा के सेनापति सूबेदार राणोजी शिन्दे के पुण्य-प्रताप से उनके सत्पुत्र महादजी छत्रपति शिवाजी के उद्देश्य की पूर्ति करनेवाले दिल्ली-विजयी महाराजा और एक विशाल समृद्ध राज्य के संस्थापक कहलाए। अवन्तिका को राजधानी बनने का सौभाग्य सन् १७३१ से १८०९ तक ८० वर्षों तक बना रहा। आज भी तत्कालीन सरदार, जागीरदार और दरखदारों के बाड़े, राजमहल (महाराजबाड़ा) आदि उस मूल राजधानी की शोभा बढ़ाकर प्राचीन स्मृति कायम रखे हुए हैं।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

उज्जैन सूबेदार राणोजी शिन्दे के अधिकार में आने के पूर्व उसपर मल्हारजी होलकर तथा राणोजीराव का संयुक्त अधिकार होने का एक असली पत्र हमारे स्वर्गीय मित्र ठाकुर मोतीसिंह कानूगो उज्जैन (सिंहपुरी पेठ) के संग्रह से उपलब्ध हुआ। तारीख २५ अक्टूबर १७३१ को वह पत्र उभय सरदारों के संयुक्त नाम से लिखा गया था, जिसमें पूर्ववत् मौजेवार दामीभेंट वसूली की स्वीकृति दी गई थी। अनन्तर उज्जैन बटवारे में राणोजी शिन्दे के अधिकार में आ जानेपर, उन्होंने उसे राजधानी बनाकर वहाँपर कुटुम्ब-कबीला, सरकारी कार्य के स्थान आदि प्रस्थापित करके भारतीय नरेश की राजधानी बनने का सौभाग्य प्रदान किया। उसी महान् कार्य के कारण ही उनके दिग्विजयी पुत्रों ने वीरकार्य किये और राणोजी-सुत महादजी शिन्दे ने तो दिल्ली पर भी भगवा झण्डा फहराकर मराठों का नाम तत्कालीन इतिहास में अमर बना दिया। महाराजा राणोजी ने उज्जैन का विगत एवम् नष्ट वैभव पुनः स्थापित करने में कोई कोर-कसर नहीं रखी। अवन्तिका क्षेत्र होने के कारण वहाँपर धर्म स्थापना, मन्दिर मठों का जीर्णोद्धार और पूजा अर्चन तथा घाटों का निर्माण, विद्वान् ब्राह्मण तथा मठों के साधु सन्तों को आश्रय-प्रश्रय, संस्कृत भाषा और ज्योतिष विद्या का पुनरुज्जीवन आदि सत्कार्य किये। "प्रजा से भलाई प्राप्त करके मुगलों के राज्य की अपेक्षा मराठों का शासन अधिक सुखकारक होने की भावना प्रजा में उत्पन्न करने का सहृदयतापूर्वक प्रयत्न किया गया"। मध्यभारत के संस्मरण लेखक सर जॉन मॉलकॅम ने भी लिखा है कि "मुगलों के दुर्बल और अव्यवस्थित शासन की अपेक्षा मराठों का राज्य प्रजा को सुखप्रद मालूम दिया, जिससे थोड़े ही समय में उनका राज्य स्थायी हो गया"। महाराजा राणोजी के राजकाल में सबसे महत्त्व का, चिरस्थाई तथा "यावच्चन्द्रदिवाकरौ" यश स्थापित करनेवाला कार्य हुआ है उज्जैन के श्रीमहाकालेश्वरजी की पुनः स्थापना और मन्दिर-निर्माण, उनके सहायक एवम् दीवान रामचन्द्र मल्हार उर्फ रामचन्द्र बाबा शेणवी के द्वारा कराना, भारत के द्वादश ज्योतिर्लिंगों में से उज्जैन के महाकालेश्वर की मूर्ति को यवनाधीश अल्तमश ने नगर और मन्दिर विध्वंस के ही साथ उखाड़कर कोटितीर्थ ताल में फेंक दिया था, (सन् १२३५) उनकी प्राणप्रतिष्ठा करना आवश्यक था। तत्सम्बन्धी एक बड़ी मनोरंजक और बोधोत्पादक किम्वदन्ती प्रसिद्ध है। रामचन्द्र बाबा बड़े प्रभावशाली और पेशवा के विश्वासपात्र थे। गुजरात, मालवा, राजपूताना आदि के युद्धों में उन्होंने पुष्कल द्रव्य कमाया था; किन्तु उन्हें कोई पुत्र सन्तान नहीं थी। उनकी पत्नी अपने भाई के पुत्र को गोद लेना चाहती थी; किन्तु वे कोंकण-गोवा के किसी भैयावन्द के पुत्र को गोद लेने की चिन्ता में थे। वैसे तो स्वभावतः वे दत्तक प्रथा के विरोधी थे। एक दिन उनकी पत्नी ने "नाम लेवा पानी देवा" को ढूंढ़ने से उदासीन रहने के उपलक्ष में उनका घोर विरोध किया, तब वे नाराज होकर क्षिप्राजी की ओर टहलने चले गए; सहसा उन्हें कल्पना सूझी कि दत्तक पुत्र न मालूम कैसा निकले? उसकी अपेक्षा तो सम्पत्ति का विनियोग श्रीमहाकालेश्वर मन्दिर निर्माण में ही करना ठीक होगा। तदनुसार उनकी पत्नी भी उनकी उदारातिशयता से सहमत हो गई, जिससे रामचन्द्रबाबा के शुभ हाथों मन्दिर और मूर्ति की पुनः प्रतिष्ठा हुई। उनके उस पुण्यकार्य में सूबेदार राणोजी शिन्दे ने भी हाथ बँटाकर अपनी जागीर आय में से पूजन अर्चनादि का समुचित प्रबन्ध कर दिया, जो आज तक कायम है। उनके उक्त सत्कार्य के कारण महाराजा राणोजीराव तथा उनके दीवान रामचन्द्र बाबा सुखटनकर के नाम अमर हो गए हैं। उसी समय उज्जैन तथा पंचक्रोशी के अन्तर्गत उच्छिन्न और उध्वस्त देवस्थानों में से १०० से भी अधिक देवताओं की पुनः स्थापना की, और उनके मन्दिरों का जीर्णोद्धार किया। क्षिप्रा नदी के तीर पर रामघाट तथा नरसिंह तीर्थ के भी घाट बनवाए गए।

दूसरा महत्त्वपूर्ण धार्मिक कार्य महाराज राणोजी शिन्दे के राज्यकाल में हुआ सिंहस्थ मेले की प्रतिष्ठा और राजकीय व्यवस्था। विद्वान् साधु सन्यासियों द्वारा तत्वज्ञान विषय की चर्चा और विचार विनिमय ब्रह्मसत्र, तथा सरस्वतीसत्र की वैदिक परम्परा को सम्राट् अशोक ने बौद्ध धर्मसभा में परिणत किया और कान्यकुब्जाधिपति हर्षदेव ने उसे पुनः परिचालित किया। बौद्ध धर्म की वह प्रथा सनातन धर्मियों ने भी अपनाई। गुरू गृह मेषादि १२ राशियों में से प्रत्येक राशि पर हर बारहवें वर्ष आता है, और बारह माह तक उसी राशि पर रहता है। सिंह राशि पर गुरू होने पर वैशाख शुक्ल १५ को क्षिप्रा नदी में स्नान करना पुण्यमय माना जाता है। तदनुसार प्रति बारहवें वर्ष सिंहस्थ के मेले पर बैरागी, गुंसाई, उदासी, नाथसम्प्रदायी और अघोरीपंथ तथा उन पंथों के अन्तर्गत सभी शाखा उप-शाखाओं के सन्यासियों का समूह उज्जैन में आता है। उनकी जमातें व अखाड़ों का दृश्य देखते ही बनता है। एक प्राचीन प्रमाण से तो वृश्चिक राशि पर गुरु होने पर



उज्जैन में मेला होने का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु अनन्तर सिंहस्थ गुरू में नाशिकतीर्थ में एकत्रित साधु पड़ौस में ही पवित्र पर्वणी वैशाख शुक्ल १५ को उज्जैन ही आने लगे। उज्जैन में शताब्दियों तक मुसलमान शासकों का आधिपत्य रहा, जिससे उस धार्मिक समारोह में राजकीय सहायता का अभाव रहा। प्रचलित दन्तकथा के अनुसार महाराजा राणोजी के समय से ही राजकीय सहायता से सिंहस्थ समारोहपूर्वक होने लगा; अतएव बहुत सम्भव है कि महाराष्ट्रस्थ नाशिक में एकत्रित साधुओं को उज्जैन के महाराष्ट्रीय शासक के द्वारा खास तौर पर आमंत्रित किया जाकर सिंहस्थ गुरु के योग पर होने की प्रथा प्रचलित की गई हो।

उज्जैन में स्वराज्य स्थापित होने के सुसम्वाद ज्ञात होने पर ही वहाँ के सिंहस्थ ने विशाल रूप धारण किया। भूतपूर्व महाराजा जयाजीराव, माधव महाराज एवम् वर्तमान महाराज श्री जीवाजीराव महाराज ने तो ४।५ लाख यात्रियों का सुप्रबन्ध करने और साधु सन्तों का प्रबन्ध और सम्मान करने की प्रथा में चार चाँद लगा दिये।

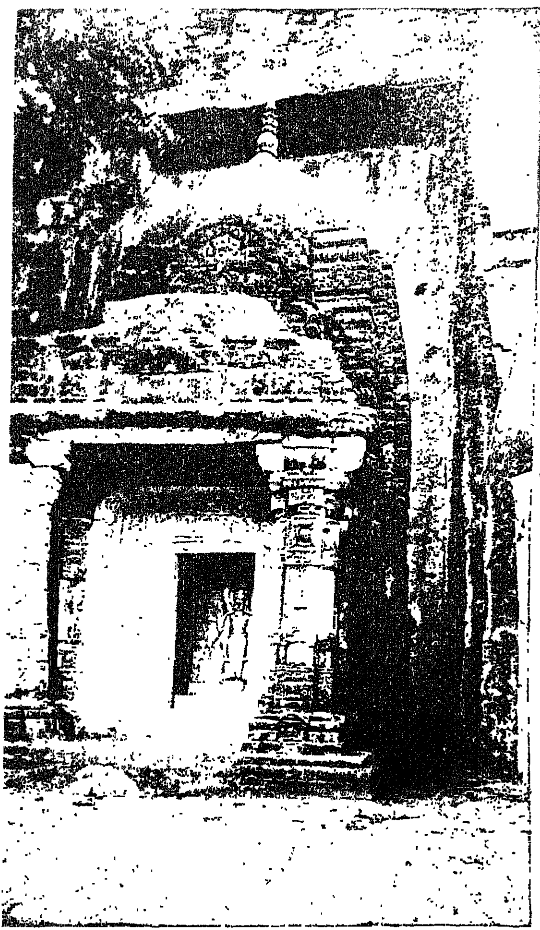
राणोजी महाराज की समग्र आयु युद्धकार्य और राजनीति के दाँवपेंच खेलने में ही बीती; अतएव उन्हें उज्जैन राजधानी में रहने का बहुत कम अवसर मिला, फिर भी उनके चतुर मंत्री रामचन्द्र मल्हार ने उज्जैन तथा आसपास के प्रान्त की ऐसी सुन्दर व्यवस्था की जिससे स्वराज्य एवम् सुराज का उपभोग करनेवाली मालव-प्रजा अहोभाग्य समझने लगी। राणोजी की उज्जैन से की हुई राजनैतिक हलचलों के कई उल्लेख यत्रतत्र तत्कालीन पत्रों में उपलब्ध हैं, किन्तु महाराजा राणोजी के उक्त दो कार्य तो अजर-अमर हैं।

सन् १७४५ में मालवे में ही शुजालपुर के निकट राणोगंज स्थान पर महाराजा राणोजी का देहान्त हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र जयाप्पा उनके उत्तराधिकारी हुए। बड़ौद (आगर) का गोपालजी का देवालय, सुसनेर का श्रीराम-मन्दिर-धर्मशाला के शिलालेखों में तथा उज्जैन में प्राप्त कई सनदों में श्रीमन्त जयाप्पा शिन्दे का नामोल्लेख पाया जाता है, जिससे उज्जैन के धार्मिक महत्त्व की रक्षा और मराठों के आदर्श शासन का पूर्ण परिचय मिलता है। उनकी बनाई हुई राणोजीराव की विशाल छत्री उज्जैन में वर्तमान है। तत्कालीन परिस्थिति के अनुसार जयाप्पा को भी मराठा स्वराज्य को साम्राज्य में परिणत करने को प्रयत्नशील होना पड़ा, जिससे उनका समस्त किन्तु अल्पायु जीवन रणांगण पर ही बीता। यदि मारवाड़ के विश्वासघातक राजा विजयसिंह ने नागौर में उन्हें धोखे से न मरवाया होता (१७५४) तो उनके जैसे यशस्वी और प्रतापी शासक द्वारा उनकी उज्जैन राजधानी की बहुत कुछ उन्नति होती, और तत्कालीन स्मारक भी आज गौरव के साथ बताए जाते। उन अर्जुनवत् जयाप्पा के अभिमन्यु की नाईं सत्पुत्र वीर जनकोजीराव ने भी केवल १७ वर्ष की अवस्था में पानीपत रणक्षेत्र पर सन् १७६१ के मराठा अफगान युद्ध में ऐसी अपूर्व वीरता दिखाकर आत्मत्याग किया कि उसका दूसरा कोई उदाहरण मराठों के ही क्या महाभारत के अतिरिक्त भारतीय इतिहास में भी उपलब्ध नहीं है। पिता की मृत्यु के समय वे अल्पायु थे; अतएव उनकी ओर से काका दत्ताजी राजप्रबन्ध करते थे। वे दत्ताजी भी पानीपत युद्ध के २ वर्ष पूर्व सन् १७५९ के युद्ध में बदायूं के घाट पर "बचेंगे तो और भी लड़ेंगे" कहते हुए खेत रहे। दूसरे काका जोत्याजी उनके पूर्व ही सन् १७४७ में बुन्देलखण्ड में बरुआसागर के युद्ध में मारे गए थे। अकेले जनकोजी भी सन् १७६१ में चल बसे। राणोजी को गांधर्व-प्रथा परिणीता राजपूत रानी के दो पुत्रों में से तुकोजी भी पानीपत में ही खेत रहे। तुकोजी के दो पुत्र केदारजी और आनन्दराव दक्षिण में थे। राणोजी के दूसरे पुत्र तुकोजी के भाई वीरवर महादजी पानीपत के रणांगण से घायल होकर भाग निकले, जिन्होंने अनन्तर दिल्ली-रक्षक और विजेता के नाते प्रसिद्धि प्राप्त की। इस प्रकार राणोजी के चार पुत्र और एक नाती ने रणांगण पर आत्मत्याग करके मराठी साम्राज्य सुदृढ़ किया।

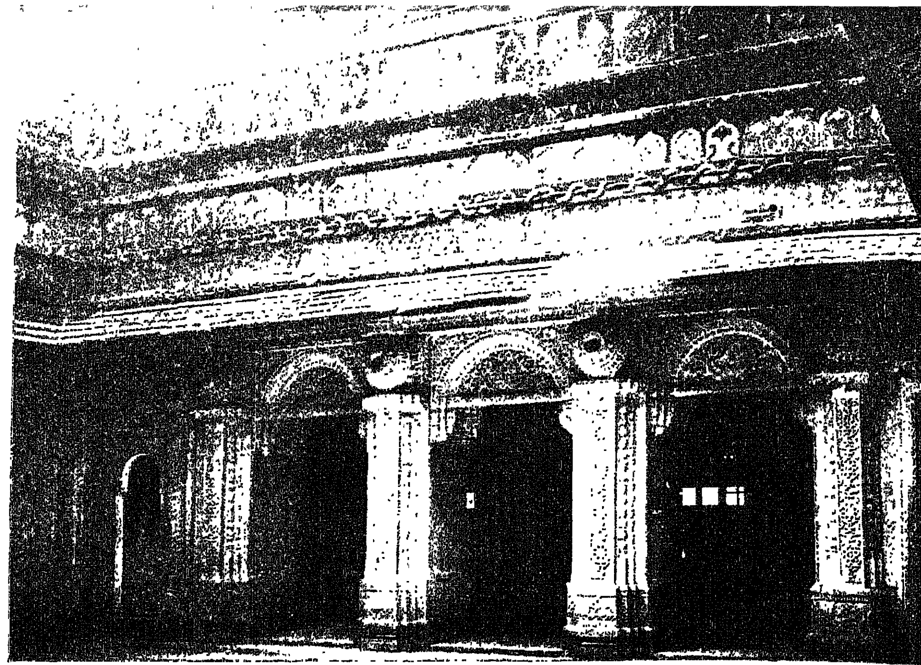
महाराजा राणोजी के एक दूर के भैयाबन्द मानाजीराव फाँकड़े असली शिन्देवंश को नष्ट बताकर राणोजी की जागीर पाने को लालायित हो उठे। आरम्भ में उनको राघोबा पेशवा ने बड़ी रकम नजराना पाने की ओट में सहायता भी की पेशवा सरकार से उस प्रश्न का अन्तिम निर्णय होने तक शिन्दे वंश की जागीर जेर निगरानी भी लाई गई (सन् १७६१-१७६५)। किन्तु वीरवर महादजी का पक्ष सच्चा था; अतएव अन्त में पेशवा ने केदारजी और महादजी के संयुक्त नाम से शिन्देवंश की सरदारी की स्वीकृति दी। तदनुसार महादजी जागीर का चार्ज लेने उज्जैन पहुँचे, तब शिन्दे



शिन्दे-राजवंश-संस्थापक महाराज माधवराव प्रथम (महादजी शिन्दे)
सिंह का आखेट करते हुए एक प्राचीन चित्र (पृष्ठ ५५७)

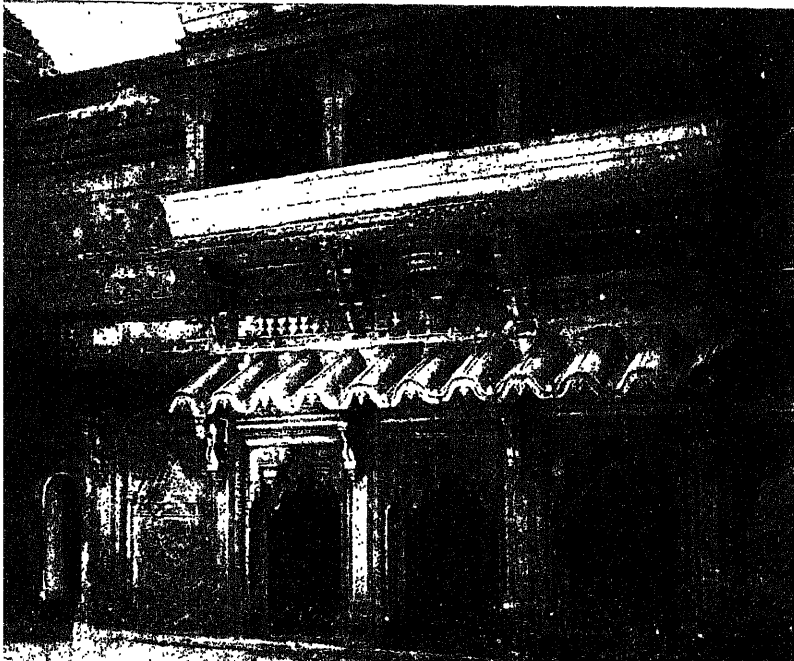


चतुर्भुज मन्दिर (पृष्ठ ६३०)

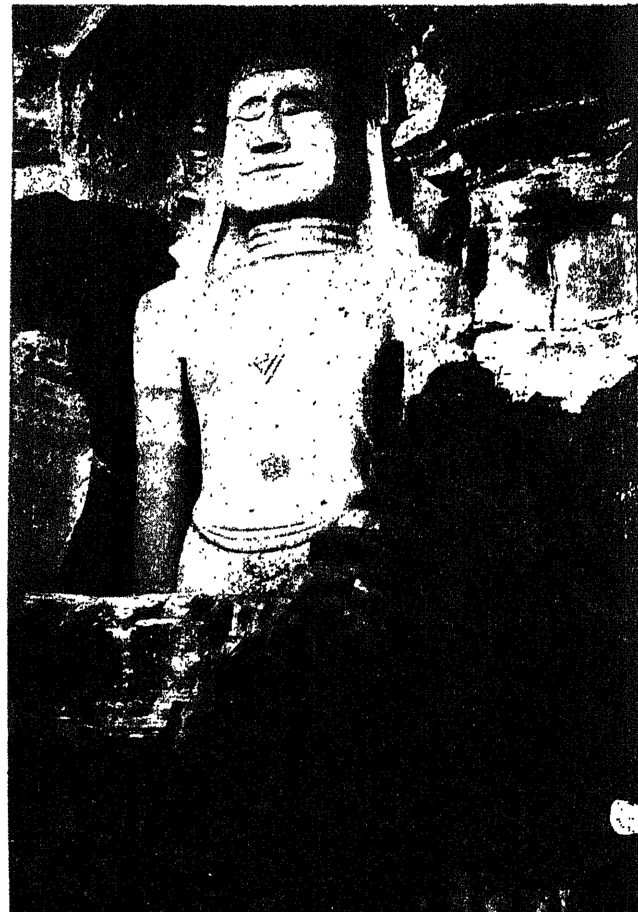


मानमन्दिर का भीतरी भाग (पृष्ठ ६३२)

मानमन्दिर का भीतरी भाग (पृष्ठ ६३२)



दीर्घाकार जैन मूर्ति (पृष्ठ ६३४)





वंश के मृत पुरुषों की स्त्रियों को भैयाबन्दों ने फोड़ा। एक बनावटी जनकोजी शिन्दे खड़ा किया गया और मंत्रियों ने भी महादजी का खुल्लमखुल्ला विरोध करके उन्हें ससैन्य उज्जैन में घुसने से रोक दिया गया। वीरवर महादजी तो अपने प्रबल पुरुषार्थ के भरोसे अपने भाग्य से कुश्तियाँ लड़ना जानते थे। उन्होंने क्षिप्रा के तट पर दत्त के अखाड़े के निकट विरोधी राघो मल्हार मंत्री तथा उनकी सेना से युद्ध किया। राघो मल्हार मारा गया तथा प्रजा की सहानभूति और बलबूते पर महादजी उज्जैन के अधिपति घोषित हुए (सन् १७६५ ई०)।

महाराजा महादजी का राज्यकाल १७६५ से १७९४ तक रहा। वे प्राय: उज्जैन में भी रहते थे और उस तीर्थ-स्थान के सान्निध्य से उनकी भक्ति प्रवणता में बहुत कुछ वृद्धि हुई! उनके समय के महाराष्ट्रीय पद्धति के मन्दिर और बाड़े आज भी उज्जैन में बताए जा सकते हैं। सिंहपुरी के महाराष्ट्रीय साधु दत्तनाथ का मठ, सोहिरोबा नाथ आंबिये का विस्मृत मठ आदि महाराष्ट्रीय साधु-सन्तों के निवास स्थान महाराजा महादजी ने ही बनाये थे। उज्जैन के अंकपात का अन्नक्षेत्र, सदावर्त, काशीजी का महादजी की रानी साहिबा गंगाबाई के नाम पर बनाया हुवा गंगाघाट एवम् बालाजी का मन्दिर और ५०० मनुष्यों को प्रतिदिन भोजन देनेवाले अन्नक्षेत्र उनके नाम को चिरस्थाई बनाए हुए हैं। उज्जैन के तीर्थ स्थानों का महत्त्व और मन्दिरों की यथार्थ रक्षा उन्हीं के समय में हुई। उनकी वीरता के लिए उज्जैन कार्यक्षेत्र संकुचित था। जिस दिल्ली विजय का उनका ध्येय था, वहाँ से राजधानी दूर पड़ती थी। वे भक्त अवश्य थे और इसीसे इच्छा और साधन मथुरा-वृन्दावन जैसे स्थान साध्य करके भी उन्होंने उज्जैन को राजधानी पद से वंचित नहीं किया। उनका बाना वीरता का था; अतएव उन्होंने पेशवा से अनुरोध करके सैनिक सामग्री के योग्य ग्वालियर जैसे प्रचण्ड किले को सरदार विंचूरकर से हस्तगत करने में सफलता प्राप्त की (सन् १७७७)। फिर भी उज्जैन दूर देखकर और धार्मिकता में खण्ड न पड़ने देने के उद्देश्य से उन्होंने १७८४ से मथुरा जैसे तीर्थस्थान को ही अपनी सैनिक छावनी और निवास का केन्द्र बनाया, जिससे उज्जैन जैसे प्राचीन तीर्थस्थान राजधानी के सम्मान से वंचित भी नहीं हुआ और धर्मप्रेम का उद्देश्य भी सफल हो गया।

महाराजा महादजी का जीवन एक सच्चे वीर का जीवन था। राजधानी में बैठकर सुखोपभोग की उन्हें कहाँ फुरसत थी? कभी इलाहाबाद तो कभी दिल्ली, कभी राजपूताना तो कभी रुहेलखण्ड, कभी दक्षिण तो कभी कर्नाटक आदि प्रान्तों में ही सेना के साथ वे घूमते रहे। अन्तिम १० वर्षों तक वे मथुरा-वृन्दावन रहकर दिल्ली निकट होने से स्वार्थ परमार्थ साधने में प्रयत्नशील रहे। फिर भी अंग्रेजों के प्रथम युद्ध १७८०–८१ में वे उज्जैन ही डटे रहे, और वहीं राजनीतिक मंत्रणाएँ भी उन्होंने कीं, जिसके उल्लेख अंग्रेजी-मराठी पत्रों में पाए जाते हैं। १७८५ में अंग्रेज दूत सर चार्ल्स मेलेट ने उज्जैन का आँखों देखा वर्णन लिखा है, जो महादजीकालीन अवन्ति राजधानी का यथार्थ चित्र बताता है। महाराजा महादजी के स्थायी रूप से उज्जैन राजधानी में न रहने पर भी उसके वैभव, व्यौपार आदि में कोई कमी नहीं हुई।

उज्जैन में महादजी ने अपने नाम की टकसाल भी १७८१ में स्थापित की जो हाली सिक्का कहलाता था। महाराजा महादजी के अनन्तर उनके भतीजे केदारजी के भाई आनन्दराव के पुत्र महाराजा दौलतराव के नाम से उनके उत्तराधिकारी हुए। उनके समय में भी आरम्भ में उज्जैन को ही राजधानी बने रहने का सौभाग्य प्राप्त रहा। मराठों की राजधानी पूना के राजनीतिक षड्यंत्रों के कारण १७९४ से १८०३ तक यद्यपि महाराजा दौलतराव का पूना में ही सदलबल निवास रहा, तथापि उनकी प्रचण्ड सेना और सरकारी दरखदारों के दफ्तरों के कार्य उज्जैन में ही होते रहे। महाराजा दौलतराव ने अपनी माता श्रीमन्त मैनाबाई साहिबा के निवास के योग्य एक अपूर्व बाड़ा (महल) उज्जैन के बीच बाजार में निर्माण किया था, जिसकी वास्तुकला मराठों की तत्सम्बन्धी योग्यता की निदर्शक थी। ऐसा सुन्दर भवन इस समय ग्वालियर में भी देखने को नहीं मिलता। इन पंक्तियों के लेखक ने उसे कई बार उसी दृष्टि से देखा था। काश, उसका मानचित्र भी रखा जाता। दुर्भाग्य से वह अपूर्व भवन सन् १९२५ में 'अग्नये स्वाहा' हो गया।

महादजी के अनन्तर शिन्देराज को महाराष्ट्र के नादिरशाह सर्जेराव घाटगे रूपी शनिश्चर की साढ़ेसाती लगी, जिससे हमारे राजवंश के वैभव की जो क्षति हुई, वह अकथनीय है। मराठों के प्रबल पराक्रमी सरदार दो भाई शिन्दे और होलकर के आपसी युद्ध के कारण प्रथमत: शिन्दे की सेना ने होलकर की राजधानी इन्दौर को जलाकर नष्ट किया तो होलकर

ने भी उज्जैन के नागझिरी ग्राम के निकट शिन्दे के सेनापति पागनवीस चिन्तो आत्माराम वाकड़े का वध करके उज्जैन नगरी को भस्मीभूत कर दिया। वह तो मराठों के पतन का समय था। मराठा-पेशवा की केन्द्रीय मुख्य सत्ता अकर्मण्य बन गई थी; अतएव उसीके सहायक शिन्दे-भोंसले आदि सरदार भी उसके अनिष्ट परिणाम से क्योंकर बच सकते थे? शिन्दे-भोंसले की युग्म सेना से भी अंग्रेजों ने युद्ध छेड़ दिया और अन्त में विजय पाई। मराठों के मुख्य फ्रेंच सेनापति पेरन को रिश्वत देकर अलीगढ़-आगरा-दिल्ली हस्तगत किए गए और १८०३ के सुर्जी अंजनगाँव की सन्धि के अनुसार चम्बल नदी का तटवर्ती विभाग ही उनके आधीन रह गया।

महाराजा दौलतराव उज्जैन राजधानी में बहुत कम रहे तो भी उनके समय उस नगर का व्यौपार आदि वैभव खूब उन्नत रहा। महाराजा दौलतराव को १८०३ की सन्धि और अपने राज्य के विस्तार की कमी बड़ी अखरी; अतएव उसके अनन्तर उन्होंने अपने राज्य के अन्तर्गत राजा-जमींदारों के विद्रोह को दबाकर सुव्यवस्था करने में ध्यान दिया। हाँ, योग्य अवसर प्राप्त होने पर वे पुनश्च गत वैभव प्राप्त करने की मंत्रणा में भी लगे रहे। १८०४ से १८१७ तक के उनके यशवन्तराव होलकर, बाजीराव पेशवा, रघूजी भोंसले आदि मराठा प्रमुख सरदारों के पत्र-व्यवहार से महाराज की उस "टीस" का भलीभाँति पता चलता है। सन् १८०७ में उनके सरदार अम्बूजी इंगले ने नरवर गढ़ शिन्देवंश-अंकित कछवाहा राजा से छीन लिया, और उसपर मराठा साम्राज्य वैभव दर्शक मुख्य स्वामी सितारे के छत्रपति, पूना के पेशवा तथा शिन्दे सरकार के नाम शिलालेख में अंकित किए। महाराजा दौलतराव को उज्जैन राजधानी एकान्त स्थल पर मालूम देती थी। गत वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य से विगत प्रदेश के ही निकट सैनिक संचालन के लिए एकाध सुदृढ़ दुर्गस्थान को केन्द्रीय शक्ति बनाना उन्हें आवश्यक प्रतीत होता था, जो सर्वदा स्वाभाविक ही था। आरम्भ में महाराज ने नरवर गढ़ को ही उज्जैन के बदले अपनी राजधानी बनाना योग्य समझा; किन्तु अनन्तर ग्वालियर दुर्ग की तुलनात्मक दृढ़ता, विशालता एवम् ऐतिहासिक महत्त्व के देखते हुए उसी ग्वालियर के गोपाचल दुर्ग को अपनी राजधानी बनाने का निश्चय किया। तदनुसार शिन्दे सरकार की समग्र सेना ग्वालियर दुर्ग की तलहटी में एकत्रित हुई। निकट में विशाल दुर्ग और उसके आसपास विशाल "लश्कर" (सैनिक शिबिर) देखकर सैनिकों और उनके स्वामी का मन आनन्द से पुलकायमान हो उठा। राजधानी का निर्णय करने के हेतु सभी सामन्त सैनिकों का दरबार हुआ और महाराज ने अपने आन्तरिक भाव प्रकट किए, तथा दरबारियों से राय पूछी गई। अन्त में महाराजा दौलतराव ने सन् १८१० में अवन्तिका उज्जैन नगरी को राजधानी के वैभव से वंचित करके उसके बदले ग्वालियर को अपनी राजधानी बनाया। फिर भी महाराज और उनकी महारानी पुण्यशीला श्रीमन्त बायजाबाई साहिबा शिन्दे उज्जैन को नहीं भूलीं, और समय समय पर उज्जैन पधारकर धार्मिक कार्य सम्पन्न करती रहीं। महाराजा दौलतराव के राजकाल में भी उनकी उप-माताएँ शिन्दे बाइयों का द्रोह, सर्जेराव का पतन, भोपाल राज को छीन लेना आदि कई ऐतिहासिक घटनाएँ उज्जैन में ही घटीं। महाराजा दौलतराव ने ही महाकाल मन्दिर का सुप्रबन्ध किया।

महाराजा दौलतराव की मृत्यु के अनन्तर १८२७ से १८४३ तक उनके दत्तक पुत्र महाराजा जनकोजीराव का शासनकाल रहा। "डूबनेवाले का पैर गहरे पानी में" की कहावत के अनुसार आरम्भ में तो ४।५ वर्षों तक श्रीमन्त बायजा-बाई की संरक्षणता में राज-काज ठीक चला, किन्तु फिर स्वार्थी ठलुओं की बन बैठी। माँ बेटे में मुद्दाम बिगाड़ किया गया।

महारानी बायजाबाई के ग्वालियर राजधानी त्यागने के समय उज्जैन क्षेत्र में रहने की इच्छा प्रदर्शित करना उनके खासगी दीवान बालकृष्ण पंत दादा कुण्टे की डायरी और पत्र-व्यवहार से पाया जाता है; किन्तु अपने स्वार्थ पर कुठारा घात करनेवाली बाई को दूरदर्शी लोग राज्य में क्योंकर रहने देने लगे? बलात् उन्होंने फर्रुखाबाद, प्रयाग, नासिक आदि स्थानों पर वे अज्ञातवास के दिन बिताए।

जनकोजीराव महाराज के राजकाल के आरम्भिक दिनों में उज्जैन में राज्य-संरक्षिका श्रीमन्त बायजाबाई का श्रीशाही रुपया ढलने की टकसाल के अतिरिक्त उज्जैन का तत्कालीन कोई महत्त्वपूर्ण उल्लेख नहीं पाया जाता।

श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव

सौभाग्य से महाराजा जयाजीराव के राजत्वकाल में उज्जैन के दिन फिर से पलटे ! महाराजा बायजाबाई साहिबा की छोटी कन्या चिमणाराजा सरदार रामचन्द्रराव अप्पा साहब पाटणकर एवम् बड़ी कन्या तलेगाँव के प्रसिद्ध मराठा सेनापति सरदार यशवन्तराव दाभाडे के पुत्र मन्याबा उर्फ बाबूराव को ब्याही गई थी। जयाराजा दाभाडे की एक कन्या गजराराजा सरदार खानवलकर को परिणीत हुईं। उनकी कन्या श्रीमन्त चिमणाराजे साहिबा (राजराजेन्द्र शीतोले की माता गुणवन्ताराजा की जननी) का विवाह बायजाबाई साहिबा के प्रयत्न से ही जयाजीराव साहब से ही निश्चित हुआ। सरदार सर माइकेल, मल्हारराव वामन सुभेदार भालेराव उर्फ अप्पा साहिब आदि श्रीमन्त बायजाबाई साहिबा को सादर एवम् सम्मानपूर्वक नासिक से ग्वालियर लिवा लाए और उक्त विवाह माघ शुक्ल ७ सं० १९०४ को सम्पन्न होने पर बायजाबाई साहिबा को राजकीय नक्द पेन्शन के बदले उज्जैन परगना खासगी खर्चे में लगा दिया गया, जिससे महारानी बायजाबाई साहिबा ने उज्जैन निवास करके उसके गत वैभव को पुनः चमका दिया। श्रीमन्त मैनाबाई साहिबा के बाड़े में उनका निवासस्थान था। उसके निकट ही श्रीगोपाल मन्दिर (मथुरा के प्रसिद्ध द्वारिकाधीश मन्दिर के ढंग का) राजवैभव से विभूषित निर्माण किया गया। श्री मदनमोहन मन्दिर, रामघाट के निकटस्थ बायजाबाई साहिबा की छत्री आदि स्थानों का निर्माण उन्हींने किया। उज्जैन का धार्मिक जीवन और दान-पुण्य ने श्रीमन्त बायजाबाई साहिबा को देवी अहिल्याबाई की अत्युच्च पंक्ति में आसीन करा दिया ! उनके खासगी महल के कमाविसदार (तहसीलदार) सुब्बाराव लक्ष्मण थे। उनका पत्र-व्यवहार तथा माफी की सनदों से उनका शासन प्रबन्ध भी आदर्श होना सिद्ध है। सन् १९१३ आश्विन तक बाई साहिबा का उज्जैन में ही निवास रहा।

श्रीमन्त जयाजीराव महाराज के राज्यकाल में उज्जैन की कुछ घटनाएँ तो ग्वालियर के इतिहास में अमर हैं। सरसूबा बाबा साहब आपटे के सुशासन से उज्जैन की प्रजा बड़ी पुष्ट और सन्तुष्ट रही। ग्वालियर राज्य के मालवे प्रान्त का वह व्यापारिक केन्द्र तभी से बना और इन्दौर के महाराज तुकोजीराव के लाख प्रयत्न करने पर भी वह इन्दौर के मुकाबले में अपना व्यावसायिक वर्चस्व अक्षुण्ण बनाए रहा।

महाराज जयाजीराव का शिन्देवंश की प्राचीन राजधानी उज्जैन की उन्नति की ओर बराबर ध्याव रहा। पवित्र क्षेत्र के नाते उन्होंने क्षेत्रनाथ श्री महाकालेश्वर मन्दिर की सुव्यवस्था, कार्तिक-माघस्नान, शिवरात्रि एवम् श्रावण सोमवार के उत्सव, चिताभस्म पूजा आदि का सुप्रबन्ध किया। श्रीमन्त बायजाबाई साहिबा के द्वारा प्रतिष्ठित धार्मिक स्थानों के प्रबन्ध के लिए एक स्वतंत्र कार्यालय निर्मित किया, एवम् कुलदेव गोपालजी के उपासक होते हुए भी शैवपंथ की दीक्षा प्रतिदिन शिवलिंगार्चन (पार्थिव पूजा) का व्रत लेकर उसे आजन्म निभाया, जो उनके सुपुत्र आदर्श नररत्न माधोमहाराज ने भी विदेश यात्रा तक में अखण्ड चालू रखा। और उसी परम्परा का हमारे वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज भी पोषण कर रहे हैं।

कैलासवासी जयाजीराव महाराज को पुत्ररत्न प्राप्ति की कामना थी; अतएव श्री महाकालेश्वर दर्शन के अवसर पर ही उन्होंने संकल्प किया था कि उनके मनोरथ पूर्ण होने पर राज्य की तत्कालीन ६९ तहसीलों में नूतन शिव-मन्दिर स्थापित किए जावेंगे। भगवान् आशुतोष श्रीमहाकालेश्वरजी के कृपाकटाक्ष से महाराज को श्री माधव महाराज जैसा अनमोल पुत्ररत्न प्राप्त हुआ, जिसके उपलक्ष में राज्यभर की ६९ तहसीलों में श्रीजयेश्वर महादेवजी के मन्दिरों की प्रतिष्ठा होकर उनकी सेवा अर्चनार्थ प्रति मन्दिर १०० बीघे जमीन एवम् १००) नक्द उपहार स्वरूप दिए गए। पवित्र पुरी अवन्तिका के संस्कारों का उक्त कर्मोदय उज्जैन के इतिहास में अमर है।

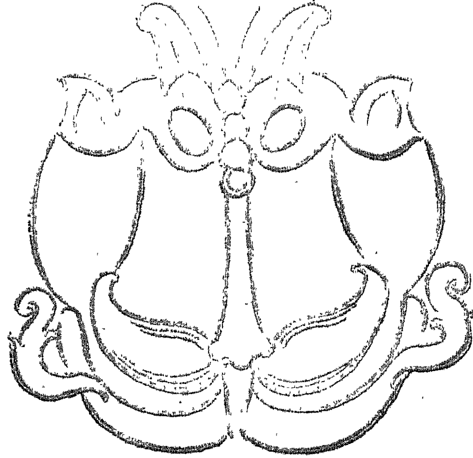
श्रीमन्त कैलासवासी माधव महाराज (१८८६-१९२५) का उज्जैन सम्बन्धी प्रेम का वर्णन हमारी शक्ति से परे है। यदि राजधानी ग्वालियर से भौतिक दृष्टि से उज्जैन अधिक अन्तर पर न होती तो वही हमारे राज्य की उप-राजधानी और विश्रामस्थान बनती। फिर भी उसी ध्येय प्राप्ति के उद्देश्य से कैलासवासी महाराज ने अपनी गत राजधानी उज्जैन का महत्त्व दृष्टिगत रखकर "सिप्री" को शिवपुरी बनाया और श्री माधवेश्वर की स्थापना करके संक्षिप्त उज्जैन

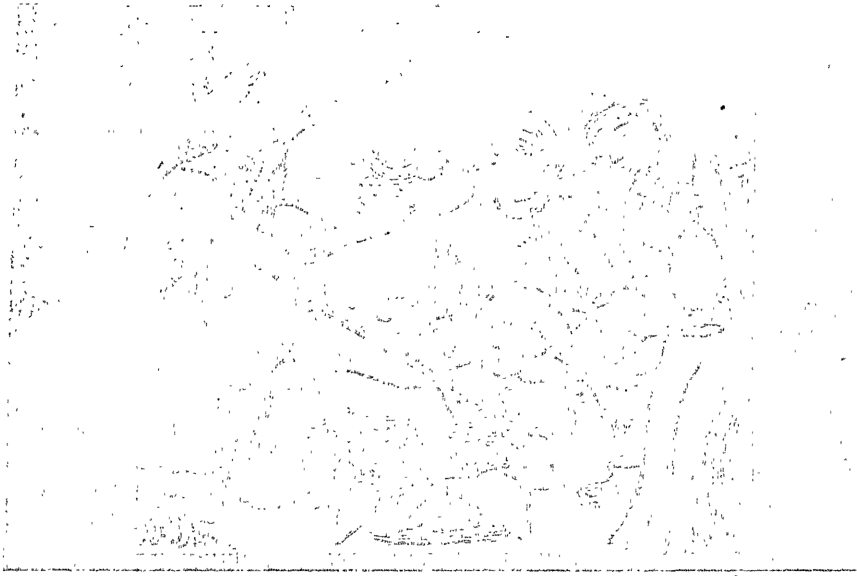
का आभास उत्पन्न कर दिया! उज्जैन में भी सरकारी कोठी (महल) बनाई और अनन्तर प्राचीन अपूर्व स्थान कालियादेह महल को आधुनिक सुख सामग्री से सुसज्जित कर सोने में सुगंध कहावत चरितार्थ की। राज्य भर में सबसे पहले उज्जैन में ही जल-कष्ट निवारणार्थ वाटर-वर्क्स खोला गया, और महाराज के ही नाम पर माधव कॉलेज की भी स्थापना हुई। रेलवे, कल-कारखाने, मिलें, व्यापार-व्यवसाय आदि की वृद्धि के कारण उज्जैन ग्वालियर राज्य का "मैंचेस्टर" कहा जाता है। इस मैंचेस्टर के विधाता हमारे माधव महाराज ही तो हैं। उनके सत्पुत्र हमारे वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज के राजकाल में कै० बड़े महाराज के व्यवहार पटुत्व के स्मरण-स्वरूप "माधवनगर" फ्रीगंज मण्डी बसाकर उज्जैन नगरी से उनका शुभ नाम अमररूप में संलग्न कर दिया है। जन्तर महल ज्योतिष की वेधशाला का जीर्णोद्धार तथा सुव्यवस्था महाराज ने ही की।

कै० महाराज पक्के भौतिकवादी होते हुए भी धर्म-प्रवणता में भी एक ही थे। उनकी प्रेरणा से उज्जैन की धार्मिक परम्परा की रक्षा और वृद्धि में भी उन्नति हुई। यहाँ पर राजकोष से दान-धर्म, ब्राह्मण-भोजन, पुरश्चरण, संकल्प तथा अनुष्ठान सर्वदा चालू ही रहे।

सं० १९६५ और ७६ के सिंहस्थ के मेले का कै० महाराज ने ऐसा सुन्दर प्रबन्ध किया और सहस्रों-लाखों साधु-सन्तों की सेवा सम्मान में इतना अधिक परिश्रम और राजकोष से व्यय किया कि धार्मिक जगत् में माधव महाराज का नाम अमर हो गया। उस पुण्य-बल और साधु-सन्तों के महान् आशीर्वाद ही से तो हम ग्वालियर राज्य-निवासियों के परम सौभाग्य से वर्तमान अधीश्वर श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज जैसा प्रजारंजक भूपाल प्राप्त हुआ है।

सप्तपुरी-अलंकृता अवन्तिका एवम् उसके अधिपति भगवान् महाकालेश्वर के अक्षय कृपा-कटाक्ष से यहाँ की धार्मिक परम्परा तो शिन्दे राजवंश की छत्रछाया में अटूट है ही, किन्तु अब तो श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज के सुकार्य कलापों से उज्जैन रूपी स्वर्ण में सुगन्ध उत्पन्न हो गया है। वर्तमान युग की भौतिक अहमहमिका के कारण कालिदास-कालीन प्राचीन शृंगारादि सुखोपभोग युक्त हर्म्य प्रासादों के स्थान पर अब व्यवसाय-प्रवण मिलों की ऊँची चिमनियाँ, व्यापारिक आयात-निर्यात के साधन, रेलवे तथा मोटरें, नगर की सुन्दर रचना निर्माण के साथ ही प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक उत्थान की भी तो प्राणप्रतिष्ठा श्रीमन्त महाराज जीवाजीराव के ही द्वारा की जा रही है।





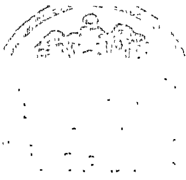
मालवा के सुलतान तथा उनकी मुद्राएँ

श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी, एम० ए०

प्राचीन काल से हमारे देश के इतिहास में मालवे का बहुत ऊँचा स्थान है। हिन्दू-काल में मालवे में कई प्रसिद्ध प्रजा-पालक लोकप्रिय सम्राट् हुए जिन्होंने सारे भारतवर्ष में अपनी शक्ति और प्रभाव का आतंक जमाकर शासन किया तथा सदा के लिए अपनी स्मृति अमर कर गए। प्राचीन तथा मध्यकालीन समय में मालवे की भौगोलिक स्थिति इतनी महत्त्व की थी कि हमारे देश के जितने महत्त्वाकांक्षी सम्राट् तथा सुलतान हुए और जिन्होंने सारे भारतवर्ष पर अपनी विजय-पताका फहराकर शासन-सुख-भोग करने का ध्येय निश्चित किया उन्होंने इस प्रान्त पर अधिकार करना अनिवार्य समझा। गुजरात, दक्षिण आदि भागों पर अधिकार करने के लिए यह एक सहायक सीढ़ी थी। केन्द्रीय शासन के सूत्र जैसे-जैसे ढीले पड़ते गए, मालवा अपनी स्वतंत्रता ग्रहण करता गया और साथ ही साथ उपर्युक्त अन्य प्रान्त भी केन्द्रीय शासन के अधिकार की बेड़ियों को तोड़ने लगे।

मध्य-कालीन समय में मालवे पर पहला आक्रमण गुलाम वंश के तीसरे प्रसिद्ध सुलतान इल्तुतमिश की अध्यक्षता में हुआ, इसके बाद सुलतान बलबन ने हिजरी सन् ७१० में मालवे पर विजय प्राप्त की। सुलतान अलाउद्दीन खिलजी ने भी मालव-नरेश मालवदेव को अपने सेनापति आइन-उल्मुल्क-मुलतानी के द्वारा हराकर अधिकार प्राप्त किया और स्थायी रूप से मुसलमानों का इस प्रान्त पर अधिकार हो गया।

लगभग दोसौ साल के शासन के पश्चात् सुलतानों का दिल्ली राज्य अवनति की ओर अग्रसर हुआ। जो शक्ति तथा स्फूर्ति उसके कर्मचारियों में थी वह फीरोज तुगलक के राज्य के अन्तिम काल तक प्रायः नष्ट सी हो गई थी। वे लोग लालची, विलासी तथा आरामतलब हो चुके थे। तैमूर के आक्रमण के पहले ही दिल्ली राज्य बिलकुल शक्ति-हीन हो गया था और सारे देश में अराजकता फैल गयी थी। मुसलिम सत्ता सैनिक शक्ति पर निर्भर थी, उस शक्ति का लोप होते ही महत्त्वाकांक्षियों की बन पड़ी। चारों ओर से विद्रोह के बादल उमड़ आये। राज्य-वैभव के लोभी प्रान्तीय सूबेदारों ने स्वतंत्रता की पताका फहराने का प्रयत्न किया। फीरोज तुगलक की नीति के कारण केन्द्रीय-शासन के सूत्र ढीले पड़ गये थे, अतः प्रान्तीय सूबेदारों को अपनी स्वतंत्रता घोषित करने में बहुत कम कठिनाई अनुभव करना पड़ी, एक के बाद एक प्रान्त स्वतंत्र



होता गया, तुगलक-साम्राज्य केवल दिल्ली और उसके निकटवर्ती प्रान्त में ही सीमित रहा। हालत यहाँ तक गिरी कि एक समय देहली-शहर में ही शतरंज के बादशाहों की तरह दो सुलतान साम्राज्य-लिप्सा से प्रेरित होकर अपनी कूट-चालों का प्रयोग कर रहे थे।

ऐसी शोचनीय स्थिति में तैमूर ने हिन्दुस्तान पर आक्रमण किया और महमूद तुगलक द्वितीय को देहली छोड़ने के लिए बाध्य किया। फीरोज तुगलक ने दिलावरखाँ गोरी को मालवा का सूबेदार नियुक्त किया था। तैमूर के आक्रमण के समय दिलावरखाँ मालवा में ही था। जब महमूदशाह को गुजरात में शरण नहीं मिली तो दिलावरखाँ ने महमूदशाह का अपनी राजधानी धार में सहर्ष स्वागत किया और तीन साल तक अपने शाही मेहमान की उचित सेवा की। सन १४०१ ई० में महमूदशाह के दिल्ली लौट जाने पर उसने अपनी स्वतंत्रता घोषित की। सर बुल्जे हेग का कथन है कि दिलावरखाँ गोरी ने कभी भी अपने आपको स्वतंत्र सुलतान घोषित नहीं किया, यद्यपि वह देहली सुलतान के अधीन होने का कोई दिखावा नहीं करता था*। लेकिन अन्य इतिहासकारों तथा शिलालेखों से इसकी पुष्टि नहीं होती। वे लिखते हैं कि धार से महमूद के जाते ही दिलावरखाँ मालवा का स्वतंत्र सुलतान बन बैठा। उसने अपने नाम का खुतबा पढ़वाया और सिक्का प्रचलित किया।†

दिलावरखाँ गोरी (१४०१-१४०५ ई०)—दिलावरखां की राजधानी धार थी, परन्तु वह मांडू हमेशा जाया करता था और वहां कई महीनों तक मुकाम करता था। उसने ही मांडव को "शादियाबाद" (आनंद नगर) नाम दिया था।‡ सन् १४०५ ई० में दिलावरखाँ की मृत्यु हो गई। लोगों को विश्वास हो गया कि हुशंगशाह ने राज्यलोभ से अपने पिता को जहर दे दिया लेकिन फरिश्ता आदि इतिहासकार इस कथन की सत्यता पर अविश्वास करते हैं।⁂

हुशंगशाह गोरी (१४०५-१४३५ ई०)—सिंहासनारूढ़ होते ही हुशंगशाह ने माँडू को अपनी राजधानी बनाया। गुजरात के सुलतान मुजफ्फरखाँ ने अपने मित्र दिलावरखाँ की मृत्यु का बदला लेने के लिए मालवा पर आक्रमण किया और धार पहुँचा। हुशंगशाह ने गुजरात के सुलतान का मुकाबला किया लेकिन अपनी कमजोरी देखकर वह मुजफ्फरखाँ की शरण गया। मुजफ्फरखाँ उसे कैद करके अपनी राजधानी में ले गया। उसका छोटा भाई नसीरखाँ मालवे का प्रबन्ध करने के लिए धार में रहा। लेकिन प्रजा ने उसके दुर्व्यवहार से तंग आकर उसे भगा दिया। बाद में हुशंग की प्रार्थना पर गुजरात-सुलतान ने उसे मुक्त कर मालवा की गद्दी पर बैठाया। मांडू को फिर से प्राप्त करने में मलिक मुगीस से सहायता मिलने के कारण हुशंग ने उसको अपना प्रतिनिधि तथा वजीर नियुक्त किया।

सन् १४१० ई० में गुजरात के सुलतान मुजफ्फरशाह का देहान्त हो गया और अहमदशाह सिंहासनारूढ़ हुआ। सन् १४१०, १४१३ और १४१८ में सुलतान हुशंग ने गुजरात पर तीन असफल आक्रमण किये। सन् १४१९ में अहमदशाह ने हुशंग को परास्त किया और उसे माँडू के किले में शरण लेना पड़ी।

इसी बीच में सन् १४१७ ई० में उसने मलिक मुगीस के पुत्र महमूद को 'खाँ' की उपाधि दी और उसे हमेशा अपने साथ रखने लगा।

सन् १४२१ में हुशंग अपने साथ कई रंग के कुछ घोड़े लेकर सौदागर के वेश में जाजनगर (उड़ीसा) पहुँचा। जब वहां का राय नरसिंह चतुर्थ घोड़े देखने आया तो उसने उसे कैद कर लिया। राय ने ७५ हाथी देकर छुटकारा पाया।

---

* केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३४९।

† (अ) डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ४६८। निजामुद्दीन अहमद के शब्द ये हैं:—दावे इस्तकलाल करदा बतरीके सलातीन खुतबा-ए-मालवा बनाम खुद करदा चतर व सरा पर्दा सुर्ख साख्त।

(ब) ब्रिग्ज—फरिश्ता जिल्द ४, पृष्ठ १७०, कलकत्ता संस्करण।

‡ मांडव के तारापुर दरवाजे का शिलालेख।

⁂ ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ १७०।

लौटने वक्त हुशंग ने खेरला पर अधिकार कर लिया। इसपर अहमदशाह बहमनी से युद्ध छिड़ गया। हुशंग की हार हुई और वह माँडू की ओर रवाना हुआ। उसके हरम की स्त्रियाँ अहमदशाह के हाथ लगीं। अहमदशाह ने उन्हें सम्मानपूर्वक माँडू भेज दिया।

गगरोन और कालपी के किले ले लेने के बाद हुशंगशाह ने नर्मदा नदी के तट पर हुशंगाबाद बसाया। इसके बाद हुशंगशाह के ताज से बदखशाही लाल गिरने की अशुभ घटना हुई और वह ता: ६ जुलाई १४३५ ई० को बहुमूत्र रोग से मर गया।* हुशंगशाह साहित्य और कला का बड़ा प्रेमी था। उसने अनेक सुरम्य भवन निर्माण कराये।

मुहम्मदशाह गोरी—(१४३५-३६) यह पक्का शराबी था। अत: इसने सारा राज्य कार्य अपने ससुर मलिक मुगीस और उसके पुत्र महमूदखाँ के हाथ में छोड़ रखा था। महमूद मालवे का सुलतान बनना चाहता था। अतएव एक दिन उसने सुलतान को जहर देकर मरवा डाला।

महमूद खिलजी प्रथम (१४३६-१४६९)—२९ शव्वाल ८३९ हिजरी (२४ अगस्त १४३६) को ३४ वर्ष की अवस्था में महमूद खिलजी मालवा का सुलतान हुआ। मलिक मुगीस को निजामुलमुल्क की उपाधि दी गई और वह वजीर के पद पर नियुक्त किया गया। इसी समय गुजरात के सुलतान अहमदशाह ने मसूद को मालवा के सिंहासन पर बैठाने के लिए आक्रमण किया, लेकिन असफल रहा। चन्देरी का किला विद्रोही महमूद ने जीत लिया और माँडू लौटकर उसने जामे मसजिद को पूरा किया जिसकी नींव हुशंगाशाह ने डाली थी।

इस समय देहली में सैयद मुहम्मद राज्य करता था। उसकी कमजोर नीति से दु:खित होकर कुछ अमीरों ने महमूद खिलजी को दिल्ली के तख्त पर बैठने के लिए आमंत्रित किया। सन् १४४० ई० में महमूद ने दिल्ली की ओर कूचकर तुगलकाबाद में मुकाम किया। दिल्ली और मालवा की सेनाओं में रातभर युद्ध चलता रहा। सुबह मुहम्मदशाह ने सन्धि की प्रार्थना की। महमूद खिलजी को अहमदशाह गुजराती की मालवा पर चढ़ाई करने की खबर मिल चुकी थी। अत:, उसने सन्धि करली। इसी समय उसने नालछा में एक बाग और माँडू में कुछ राज-महल बनवाए और अपने सरदारों को बहुत कुछ इनाम दिया।

कालपी की विजय के बाद महमूद ने चित्तौड़ की ओर प्रस्थान किया। मेवाड़ का राज्य दिल्ली, मालवा और गुजरात में राज्यों से घिरा हुआ था और साम्राज्य बढ़ाने के लिए इन राज्यों में हमेशा झगड़ा हुआ करता था। इस समय यह युद्ध परिणाम-रहित रहा। दोनों दलों ने अपने आपको विजयी समझा।† राना कुम्भ ने इस विजय के स्मारकस्वरूप एक विजय-स्तंभ बनवाया और महमूद खिलजी ने भी अपनी राजधानी माँडू में विजय-स्तम्भ निर्मित किया।

---

* फरिश्ता और तबकाते अकबरी के अनुसार हुशंगशाह की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३८ हिजरी है, लेकिन कर्नल ब्रिग्ज (फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ १८९) हुशंग की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३५ हिजरी अर्थात् ७ सितम्बर १४३२ ई० लिखते हैं। मि० यजदानी अपनी पुस्तक—*Mandu, The City of Joy* में हुशंग की मृत्यु ता: ९ दिहिज्जा ८३५ हिजरी (७ अगस्त १४३२) लिखते हैं। "आहशाह हुशंग नुमान्द" से हिजरी सन् ८३८ ई० निकलता है, केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया जिल्द ३, पृष्ठ ३५२ पर ६ जुलाई १४३५ ई० लिखी है लेकिन सीवेल और दीक्षित के इन्डियन केलेण्डर के अनुसार हुशंग की मृत्यु ता: ७ सितम्बर सन् १४३५ ई० है।

† लेनपुल—मेडिवल इण्डिया पृष्ठ १७४—
(अ) फरगुसन-हिस्ट्री ऑफ इण्डिया आर्किटेक्चर, जिल्द २, पृष्ठ ५९।
(ब) टाड-एनाल्स एण्ड एँटिक्वेटीज ऑफ राजस्थान, जिल्द १, पृष्ठ ३३४-३५।
(स) ओझा-राजपूताने का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ५९९।

इसी समय मन्दसौर के पास महमूद खिलजी के पिता तथा वजीर मलिक मुगीस की मृत्यु हो गई। इससे महमूद के हृदय पर कड़ी चोट पहुँची। वह खूब फूट-फूट कर रोया, यहाँ तक कि उसने अपने चेहरे को जख्मी कर लिया। मलिक मुगीस की लाश माँडु में दफनायी गई।

इसी समय जौनपुर के सुलतान महमूद शर्की ने कालपी के सूबेदार नसीरखाँ के विरुद्ध महमूद खिलजी से शिकायत की कि नसीरखाँ इस्लाम के विरुद्ध आचरण कर रहा है। मालवा सुलतान ने महमूद शर्की को उसे सजा देने के लिए अपनी स्वीकृति दे दी लेकिन बाद में अफसोस प्रकटकर उसे मना किया। जौनपुर-सुलतान ने उत्तर देने में टालमटोल की, अतः वह स्वयं चन्देरी पहुँचा। जौनपुर और मालवे की सेनाओं में मुठभेड़ हुई लेकिन युद्ध परिणाम रहित रहा। सन्धि हो जाने पर महमूद माँडू लौट आया।

इसके बाद महमूद ने मेवाड़ पर पाँच बार असफल आक्रमण किये*। इसी प्रकार सन् १४५० और १४५१ ई० में गुजरात पर भी इसके आक्रमण असफल रहे। एक बार फिर महमूद खिलजी ने गुजरात के सुलतान कुतुबुद्दीन की सहायता से मेवाड़ पर चढ़ाई की, लेकिन फिर भी नाकामयाब रहा।

सन् १४६१ ई० में महमूद खिलजी ने अपने एक सम्बन्धी निजामुलमुल्क के खून का बदला लेने के लिए बहमनी राज्य पर आक्रमण किया और बीदर के किले में प्रवेश किया। बरार जीत लिया गया लेकिन बहमनी राज्य के योग्य मंत्री महमूद गाँवा और गुजरात के सुलतान महमूद बीगड़ के आ जाने से महमूद खिलजी पूर्वीय बरार से होकर मेलघाट के रास्ते माँडू लौटा। सन् १४६२ ई० में हार का बदला लेने के लिए महमूद ने ९०,००० सवारों के साथ फिर बहमनी राज्य पर आक्रमण किया लेकिन गुजरात के सुलतान के नन्दुरबार तक आ जाने के कारण उसे लौटना पड़ा।

रास्ते में खलीफाबाद नामक† गाँव में उसने मिश्र के नाम-मात्र के खलीफा यूसुफ बिन अब्बास के दूत शर्फ-उल-मुल्क का स्वागत किया और उसे कई बहुमूल्य वस्तुएँ भेंट कीं। सन् १४६६ ई० में बहमनी और मालवा राज्य में सन्धि हो गई। खेरला का किला मालवा राज्य में रहा।

सन् १४६७ ई० में महमूद ने सैयद मुहम्मद नूरबख्श के दूत मौलाना इमादुद्दीन का स्वागत किया। मौलाना इमादुद्दीन ने सैयद की कफनी महमूद को दी। सुलतान ने उसे चूमा और विद्वानों तथा शेखों को खूब रुपया बाँटा।

(य) हरविलास शारदा—महाराणा कुम्भ, पृष्ठ ४७।
उपर्युक्त लेखकों का कथन है कि इस युद्ध में महाराणा कुम्भ ने महमूद को हराकर अपने यहाँ छह माह तक कैद रखा था, लेकिन तबकाते अकबरी, फरिश्ता और सर बुल्जेहेग का कथन इन लेखकों के विरुद्ध है। इनके कथनानुसार महमूद ने महाराणा कुम्भ को हराकर चित्तौड़ के किले में शरण लेने के लिए बाध्य किया।
ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २११। डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५१३।
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३५५। मैं इस घटना पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डालना चाहता था लेकिन तारीखें महमूदशाह मंडवी की हस्त लिखित प्रति की मायक्रोफिल्म्स जो महाराजकुमार डॉ० रघुबीरसिंहजी के संग्रहालय में है, प्रतिलिपि तैयार न होने से निश्चयात्मक रूप से विवेचन नहीं किया जा सका।

* पं० गौरीशंकर ओझा ने शिलालेखों तथा प्रशस्तियों के आधार पर सिद्ध किया है कि मुसलमान इतिहासकारों ने महाराणा कुम्भ पर महमूद की विजय का जो वर्णन किया है वह पक्षपात रहित नहीं है—उदयपुर का इतिहास, जिल्द १ पृष्ठ ६०९-२१। श्री हरविलास शारदा ने भी इन आक्रमणों का असफल होना प्रमाणित किया है—महाराणा कुम्भ पृष्ठ, ५७-५८।

† डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३ पृष्ठ ५३६। ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २२९, सर बुल्जे हेग उक्त राजदूत का माँडू में मिलना बतलाते हैं। देखो केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३, पृष्ठ ३६२।

इसके कुछ समय बाद ही सारंगपुर में महमूद ने तैमूर के वंशज मिर्जा अबुसैयद के राजदूत जमालुद्दीन असतराबादी का स्वागत किया और उसे बढ़िया चीजें दीं और अपनी तरफ से शेखजादा अलाउद्दीन को राजदूत बनाकर भेजा।

सन् १४६८ ई० में कचवारा के जमींदारों को दबाने के लिए महमूद चन्देरी गया और वहाँ पर दिल्ली के सुलतान बहलोल लोदी के दूत मुहम्मद फरमली और कपूरचन्द उपस्थित हुए तथा सुलतानहुसैन शर्की के विरुद्ध सहायता के लिए प्रार्थना की और बदले में बयाना देने का वादा किया। सुलतान महमूद ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।

मई २६, १४६९ ई० को ३४ साल के शासन के बाद कचवारा प्रान्त में महमूद का देहान्त हो गया। मालवा सुलतानों में महमूद का सबसे ऊँचा स्थान है। कोई ऐसा वर्ष नहीं गया जिसमें उसने लड़ाई न लड़ी हो। वह बड़ा महत्वाकांक्षी था। उसकी इच्छा दिल्ली, गुजरात, चित्तौड़ और दक्षिण जीतने की थी लेकिन वह असफल रहा। उसकी कीर्ति मिश्र, मध्य एशिया आदि सुदूर देशों में फैल चुकी थी। बहलोल लोदी जैसे सुलतान उसकी सहायता के इच्छुक थे। महमूद धर्मान्ध मुसलमान था। उसने कई मूर्तियाँ और मन्दिर तोड़े तथा इनके मसाले से मसजिदें बनवाईं। माँडू में उसने अनेक भव्य इमारतें बनवाकर उस नगर की शोभा बढ़ाई। अपनी राजधानी में उसने पागलों का एक अस्पताल खोला था और मौलाना फजलुल्ला हकीम को मालिक-उल-हुक्मा की उपाधि देकर उसका संचालक नियुक्त किया था। मध्यकालीन युग में इस प्रकार के अस्पताल का यहीं पहले जिक्र मिलता है।* सारे राज्यभर में उसने कई बाग-बगीचे लगाये थे। उसे हरी शाक-भाजी खाने का बड़ा शौक था। दक्षिण के आक्रमण के समय जब महमूद के पास हरी शाक-भाजी समाप्त हो गई तो उसे बाजार से मँगवाने के लिए हुक्म देना पड़ा था। मालवा सुलतानों की मुद्राओं का चौकोर रूप इसी के समय से प्रारंभ होता है।

गयासुद्दीन खिलजी (१४६९-१५०० ई०)—महमूद के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र गयासुद्दीन के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने अपने भाइयों को जागीरें दीं और उन्हें सन्तुष्ट रखा। सुलतान के बड़े लड़के अब्दुलकादिर को नासिरशाह की उपाधि दी गई और वह उत्तराधिकारी तथा वजीर घोषित किया गया और सुलतान अपना सारा समय ऐश आराम में व्यतीत करने लगा। उसने अपने दरबार में कई गवैये एकत्रित किये और अपना हरम सुन्दर रमणियों तथा कनीजों से भरा एवं प्रत्येक स्त्री की इच्छानुसार उसे नाचना, गाना, बजाना, कविता-पाठ तथा कुश्ती लड़ने की शिक्षा दी गई। उसके महल में अबीसीनिया निवासी ५०० सशस्त्र लड़कियां पुरुषवेश में रहती थीं। यह फौज "हबीबाश दल" कहलाती थी। ५०० तुर्की सशस्त्र गुलाम लड़कियों का दूसरा दल "मुगल दल" कहलाता था। इसी प्रकार ५०० लड़कियों का एक और दल था जो अपने ज्ञान और बुद्धि के लिए प्रसिद्ध था। इनमें से एक लड़की प्रति दिन सुलतान के साथ भोजन करती थी। हरम में स्त्रियों की संख्या १६,००० थी। प्रत्येक की तनख्वाह अनाज आदि के रूप में निश्चित थी। स्त्रियों से उसे प्रेम था। राज्यभर में सुन्दर स्त्रियां उसके लिए ढूंढ ढूंढकर लाई जाती थीं।

सन् १४८२ में जब बहलोल लोदी ने रणथम्भोर के पास पालनपुर पर चढ़ाई की तो सुलतान को इसकी खबर देने की किसी को हिम्मत न पड़ी। अन्त में हसन नामक एक व्यक्ति ने वजीरों की सलाह से यह खबर सुलतान को दी तो चन्देरी के सूबेदार शेरखाँ को आज्ञा दी गई कि वह सारंगपुर और चन्देरी की सेनाओं की सहायता से बहलोल का मुकाबला करे। बहलोल बयाना छोड़कर देहली की तरफ बढ़ा। शेरखाँ ने उसका पीछा किया और अन्त में बहलोल ने बहुतसा नजराना देकर छुटकारा पाया।

गयासुद्दीन में कट्टर धार्मिकता थी। वह समय पर नमाज पढ़ता था और कनीजों को हिदायत थी कि नमाज का समय होने पर अगर वह गहरी नींद में भी सोया हो तो जगा दिया जाय। वह इस्लाम धर्म से वर्जित किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करता था।

*** डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५१९, फुटनोट।**

धर्मान्धता के कारण वह कई बार बुरी तरह ठगा गया। इसके कई किस्से हैं, स्थानाभाव के कारण यहाँ एक दो किस्से ही दिए जा रहे हैं। एक बार का जिक्र है कि एक मनुष्य एक गधे का खुर लेकर सुलतान के सामने उपस्थित हुआ और निवेदन किया कि यह ईसा-मसीह के गधे का खुर है। इसपर उसे ५०,००० टंका इनाम दिए गए। तीन मनुष्य आये और उन्होंने ने भी यही बात दोहराई। उन्हें भी इसी तरह का इनाम दिया गया। कुछ दिन बाद पाँचवाँ आदमी एक और खुर लेकर आया और यही बात कही तो सुलतान ने उसे भी ५०,००० टंका देने के लिए कहा। जब दरबारियों ने अर्ज किया कि जहाँपनाह गधे के चार ही पैर होते हैं तब सुलतान ने उत्तर दिया "कोई मुजायका नहीं, शायद उन चार में से कोई एक झूठा हो और यह सच हो।"*

गयासुद्दीन नशीली वस्तुओं से परहेज करता था। एक समय करीब एक लाख टंका की लागत से करीब ३०० से अधिक वस्तुओं को मिलाकर 'माआजून' तैयार किया गया। सुलतान के पूछा जाने पर सब वस्तुओं की सूची पढ़कर सुनाई गई। परन्तु यह जानकर कि उसमें करीब एक माशा जायफल भी है उसने सारी माआजून नाली में फिकवा देने की आज्ञा देदी। दरबारियों में से किसी एक ने अर्ज करने की हिम्मत की कि जहाँपनाह, हममें से किसी एक को यह माआजून देने की इज्जत बख्शी जावे। तब सुलतान ने फरमाया कि जिस चीज का मैं इस्तैमाल नहीं कर सकता उसे अपनी रिआया को किसी भी हालत में नहीं दे सकता।†

एक समय शेख महमूदनुमान (जोकि गयासुद्दीन की खिदमत में था) का पड़ौसी दिल्ली से अपनी लड़की की शादी के लिए धन प्राप्त करने के लिए माँडू आया। शेख ने उसे काफी रुपया देने का वादा किया लेकिन यात्री ने यह बात स्वीकार नहीं की। उसने शेख से अर्ज की कि अन्य लोगों की तरह मुझे भी सुलतान से कुछ दिलवा दिया जाए ताकि मेरी इज्जत दिल्ली में बढ़ जावे। शेख ने कहा, आपमें किसी तरह की योग्यता नहीं और न आपका नाम ही मशहूर है, मैं किस तरह आपकी इम्दाद कर सकता हूँ। पड़ौसी ने कहा कि मैं तो आपके भरोसे हूँ, जो चाहें करें। वह उसे अपने साथ राजमहलों में ले गया। इस समय भीख बाँटी जा रही थी। शेख ने अपना रूमाल देते हुए कहा कि एक मुट्ठीभर गेहूँ ले लो, वैसाही किया गया। दोनों सुलतान की खिदमत में हाजिर हुए। सुलतान ने पूछा यह कौन है? शेख ने अर्ज की कि यह देहली से आए हैं और इन्हें कुरानशरीफ हिफ्ज है। ये अपने साथ जितने गेहूँ के दाने लाए हैं उतनी बार कुरान शरीफ पढ़ा है। इसपर सुलतान ने जवाब दिया कि इन्हें यहाँ क्यों लाए हो मुझे जाना चाहिए। शेख ने अर्ज की कि हुजूर, यह तो ठीक नहीं। सल्तनत के वजीर तथा उमरा सुलतान का वहाँ जाना पसन्द न करेंगे। सुलतान ने कहा इसकी कोई चिन्ता नहीं। आखिरकार यह तय हुआ कि शुक्रवार के दिन सुलतान जामे मसजिद में उक्त गेहूं के दाने प्राप्त करें। वैसाही किया गया। नमाज खत्म होते ही सुलतान ने वस्त्र फैलाया और शेखजी के पड़ौसी ने गेहूँ के दाने उसमें डाल दिए और बहुतसा रुपया प्राप्त करके दिल्ली लौट गया।‡

रानी खुरशीद और शुजाअतखाँ तथा नासिरुद्दीन के झगड़ों के कारण सुलतान गयासुद्दीन के अन्तिम दिन बहुत कष्ट हो गए थे। नासिरुद्दीन अपने पिता के जीतेजी ही सुलतान बन बैठा। इसके कुछ समय बाद सन् १५०१ ई० में गयासुद्दीन की मृत्यु पेचिश की बीमारी से हो गई। कुछ इतिहासकारों का मत है कि नासिरुद्दीन ने अपने पिता को जहर देकर मरवा डाला।⁑

---

* इलियट और डासन, जिल्द ४, वाकिआते मुश्ताकी, पृष्ठ ५५५।

† वही, पृष्ठ ५५५।

‡ वही, पृष्ठ ५५५-५६।

⁑ डे–तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ५५३। पिता को जहर देने का नासिरुद्दीन दोषी था इसलिए शेरशाह जब नासिरुद्दीन की कब्र पर पहुँचा तो उसपर डंडे मारने का हुक्म दिया। जहाँगीर तथा उसके कतिपय नौकरों ने कब्र को कई ठोकरें मारीं और उसकी लाश के अवशेष को नर्मदा में फिकवा दिया।
रोजर्स और बेवरीज—जहाँगीरनामा, जिल्द २, पृष्ठ ३६७।

श्री गोपालचन्द्र सुगन्धी

नासिरुद्दीन खिलजी (१५००-१५११)—नासिरुद्दीन के सिंहासन पर बैठते ही चन्देरी के सूबेदार शेरखाँ, एरिच के सूबेदार सिकन्दरखाँ और मन्दसौर के सूबेदार महाबतखाँ ने विद्रोह किया। विद्रोही पराजित हुए। सिकन्दर तथा शेरखाँ लड़ाई में काम आए।

सन् १५०२ में सुलतान ने कचवारा के राजपूतों को दबाया और १५०३ ई० में चित्तौड़ पर आक्रमण किया तथा नजराने का रुपया लेकर वापस लौट गया। इसी समय वह राना रायमल के निकट सम्बन्धी भवानीदास की पुत्री को अपने साथ ले गया था और उसका नाम चित्तौड़ी बेगम रखा।* इस घटना का जिक्र मेवाड़ के किसी शिलालेख या ख्यात में नहीं मिलता।†

इसके बाद नासिरुद्दीन ने खानदेश के सुलतान दाऊदखाँ की सहायता के लिए एक बड़ी सेना भेजी लेकिन मालवी सेना के पहुँचने के पहले ही अहमद निजामशाह अहमदनगर लौट गया और असीरगढ़ तथा बुरहानपुर में नासिरुद्दीन के नाम का खुतबा पढ़ा गया।

नासिरुद्दीन बड़े चिड़चिड़े स्वभाव का था। वह खूब शराब पीता था। विजय ने तो उसका दिमाग फेर दिया था उसके अत्याचारों से तंग आकर उसके उत्तराधिकारी शहाबुद्दीन ने विद्रोह किया। सुलतान ने उसे धार में परास्त किया और चन्देरी तक उसका पीछा किया। जब वह माँडू लौट रहा था तब रास्ते में उसकी मृत्यु हो गई।

नासिरुद्दीन को इमारतें विशेषकर हौज आदि बनवाने का बड़ा शौक था। उज्जैन के पास कालियादह महल और मांडव में बाजबहादुर का महल इसी के बनवाये हुए हैं। इमारतों पर इसने पाँच करोड़ रुपया खर्च किया था।

महमूद खिलजी द्वितीय (१५११-१५३१ ई०)—महमूद के सिंहासनारूढ़ होने के समय मालवा की परिस्थिति बहुत खराब थी। शहाबुद्दीन मुहम्मद द्वितीय के नाम से राज्याधिकार के लिए प्रयत्न कर रहा था। मुहाफिजखाँ की सहायता से उसने मांडव पर अधिकार कर लिया था। मुसलमान सरदार उसके पिता के अनुभवी मंत्री बसन्तराय का खून कर चुके थे। ऐसे समय में सुलतान ने मेदिनीराय से सहायता मांगी। राजपूतों की सहायता से महमूद फिर मालवा की गद्दी पर बैठा और मुहम्मद द्वितीय खानदेश की ओर भाग गया।

मेदिनीराय के मंत्री हो जाने से मुसलमान अमीर नाराज हो गए। गुजरात के सुलतान मुजफ्फर द्वितीय ने मालवा पर आक्रमण किया। विद्रोह दबा दिया गया और मुजफ्फर गुजरात लौट गया। सिकन्दर लोदी की ओर से विद्रोहियों की सहायता के लिए भेजी हुई सेना भी सारंगपुर के पास हार गई। विद्रोहियों ने सन्धि कराई और राज्य में शान्ति स्थापित हुई।

मेदिनीराय का प्रभाव दिन प्रति दिन बढ़ने लगा। उसने सारे राज्य का उचित प्रबन्ध किया और कई सुधार किए। फरिश्ता तथा निजामुद्दीन अहमद का कथन है कि मेदिनीराय की सलाह से सुलतान ने कई अमीरों को मरवा डाला। मुसलमान नौकरी से निकाल दिए गए। सुलतान के पास केवल २०० मुसलमान रहे।‡ कुछ ओहदों पर हिन्दू नियुक्त किए गए। एक दिन सुलतान ने पान भेजकर मेदिनीराय को नौकरी से अलग कर दिया। इसपर ४०,००० राजपूत जिन्होंने सुलतान की सेवा अच्छी तरह की थी बिगड़ गए। मेदिनीराय ने उन्हें शान्त किया और सुलतान की सहायता करने का आदेश दिया। सुलतान ने अपने दूसरे मंत्री सालिवाहन को जहर देकर मरवा डाला। मेदिनीराय की जान लेने में महमूद असमर्थ रहा। मेदिनीराय केवल जख्मी हुआ। मेदिनीराय ने स्वस्थ होने पर सुलतान को लिखा कि मैं आपका हमेशा हितैषी रहा हूँ इसपर फिर उसकी नियुक्ति पुराने पद पर हो गई।

---

* फरिश्ता में जीवनदास की, जो रायमल का मातहत था, लड़की लेकर जाने का उल्लेख है और उसका नाम रानी जयपुरी बतलाया गया है।

† ओझा—उदयपुर का इतिहास, जिल्द १, पृष्ठ ६४२-४३।

‡ ब्रिग्ज—फरिश्ता, जिल्द ४, पृष्ठ २५६, डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, ५९७।

मालवा के सुलतान तथा उनकी मुद्राएँ

एक दिन मेदिनीराय के बढ़ते हुए प्रभाव से घबराकर सुलतान गुजरात की सीमा तक भाग गया। वहाँ उसका स्वागत हुआ। 'मिराते सिकन्दरी' से पता चलता है कि महमूद के जाने पर भी मेदिनीराय ने सुलतान के हरम का खर्च किसी प्रकार कम नहीं किया था और आम दरबार में कहा था कि सुलतान आकर अन्य किसी मंत्री को नियुक्त करे।* मुजफ्फर ने माँडू पर आक्रमण किया। २३ फरवरी सन् १५१८ को होली थी। राजपूत त्यौहार मनाने में लगे थे। गुजराती सेना गुप्त रास्ते से माँडू में घुस आई। कत्ले-आम के बाद राजधानी पर मुजफ्फर का अधिकार हो गया। इस समय १९,००० राजपूत मारे गए।†

मेदिनीराय की प्रार्थना पर राणा सांगा सारंगपुर तक आया लेकिन माँडू पर गुजरात सुलतान की सहायता से महमूद का अधिकार हो जाने से वापस लौट गया। राणा सांगा की ओर से गगरौन और चन्देरी मेदिनीराय के अधिकार में रहे। आसफखाँ गुजराती की सहायता से महमूद ने गगरौन पर चढ़ाई की। महाराणा सांगा चित्तौड़ से आगे बढ़े और महमूद को परास्त किया। महमूद जख्मी हालत में पकड़ा गया और चित्तौड़ में तीन मास तक कैद रहा। अन्त में महाराणा ने इसे मालवा का राज्य देकर बिदा किया। सुलतान ने नजराने के रूप में अपना रत्न-जटित-ताज और कमरपट्टा राणा सांगा को समर्पित किया। मुसलमान इतिहासकारों ने महाराणा के इस कार्य की बड़ी प्रशंसा की है। बाबर की आत्मकथा से पता चलता है कि येही ताज और कमरपट्टा राना रतनसिंह के छोटे भाई राना विक्रमाजीत द्वारा बयाना प्राप्त करने के लिए बाबर को भेंटस्वरूप दिए गए। ‡ (अ)

महमूद के अत्याचारों का हाल सुनकर बहादुरशाह गुजराती ने मालवे पर आक्रमण किया और १७ मार्च सन् १५३१ ई० को इसे जीत लिया‡‡ और महमूद तथा उसके सात पुत्रों को कैद करके गुजरात ले गया। रास्ते में दोहद के पास रायसिंह ने दो हजार भील और कोलियों की सहायता से गुजरात की सेना पर आक्रमण किया। पहरेदारों ने महमूद को भागने के डर से मार डाला और दूसरे दिन दोहद में दफनाया गया।

सन् १५३४ ई० में हुमायूं ने बहादुरशाह को मन्दसौर के पास हराकर मालवा जीता। बहादुरशाह राजा भोज के प्रसिद्ध विजय-स्तम्भ को गुजरात ले जाना चाहता था। इसी प्रयत्न में इसके तीन टुकड़े हो गए। बहादुरशाह ने गुजरात में भागकर शरण ली।

सन् १५३६-१५४२ तक मालवा खिलजीवंश के एक सरदार मल्लूखाँ उर्फ कादिरशाह के अधिकार में रहा। इसे शेरशाह ने पराजित कर सन् १५४२ ई० में अपने मित्र तथा रिश्तेदार शुजाअतखाँ को मालवे का सूबेदार नियुक्त किया। सन् १५५४ ई० तक शुजाअतखाँ मालवा का सूबेदार रहा।

बहादुरशाह (१५५५-१५६४)—शुजाअतखां की मृत्यु के बाद उसका लड़का मलिक बायजीद बाजबहादुर के नाम से मालवे का सुलतान हुआ। इसने एक वर्ष बाद ही गोंडवाना पर चढ़ाई की लेकिन रानी दुर्गावती ने इसे बुरी तरह हराया। इस पराजय से वह बहुत शर्मिन्दा हुआ और भोग-विलास में पड़कर दुःख भूलने का प्रयत्न करने लगा।

बाज बहादुर के हरम में कई स्त्रियाँ थीं। इनमें रूपमती अति प्रसिद्ध है। यह सारंगपुर की एक "चतुर, सुघर, सुन्दर, सुजान पातुर" थी इस सम्बन्ध में इतिहासकारों में मतभेद है। फरिश्ता उसे एक दरबारी महिला कहता है। मासिरुल-उमरा और अहमदुल-उमरी के लेखक उसे पातुर कहते हैं। तबकाते अकबरी का लेखक निजामुद्दीन अहमद

---

* बेले—हिस्ट्री ऑफ गुजरात, पृष्ठ २६२-२६३।

† डे—तबकाते अकबरी, जिल्द ३, पृष्ठ ६०४।

‡ (अ) किंग बाबरनामा जिल्द २, पृष्ठ ३४१, आक्सफोर्ड संस्करण।

‡‡ बहादुर की विजय की ताः ९ शाबान ९३७ हिजरी है। कर्नल ब्रिग्ज २० मई १५२६ मानते हैं। ब्लाकमन आइने अकबरी में यही तारीख मानते हैं। केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, जिल्द ३ में १७ मार्च १५३१ दी है जो ठीक प्रतीत होती है।

उसे बाजबहादुर की प्रिय पत्नी लिखता है। इस प्रकार इतिहासकारों में मतभेद है, लेकिन उसके गुणों का गान सब एक स्वर से करते हैं। उसका स्वर मधुर था और वह हिन्दी में कविता करती थी। संगीतशास्त्र में वह इतनी प्रवीण थी कि कई तत्कालीन गवैये उसका लोहा मानते थे। बाजबहादुर के साथ उसका प्रेम अद्वितीय था। वह एक सच्ची वीर विदुषी महिला थी। उसका जन्म भले ही किसी भी जाति में हुआ हो, लेकिन यह मानना पड़ेगा कि पतिव्रत-धर्म के लिए उसका बलिदान आदर्श था। वह शिकार करती थी और निशाना लगाने में बिलकुल अचूक थी। घोड़े की सवारी में भी वह अपना सानी नहीं रखती थी।*

सन् १५६१ ई० में अकबर के सेनापति आदमखाँ ने बाजबहादुर को सारंगपुर के युद्ध में हराया और मालवे पर कब्जा कर लिया। बाजबहादुर खानदेश की ओर चला गया और राज्य पाने का फिर से प्रयत्न करने लगा। आदमखाँ रूपमती को अपनी पत्नी बनाना चाहता था। अतः रूपमती ने जहर खाकर प्राण दे दिए। सन् १५७० में बाजबहादुर अकबर की शरण चला गया।

उपर्युक्त वर्णन से भलीभाँति विदित होता है कि मध्यकालीन युग में मुसलमानी सत्ता सैनिक-शक्ति पर निर्भर थी। सैनिक वर्ग की सहायता पर ही राज्य की उन्नति हो सकती थी। मालवा की भौगोलिक स्थिति के कारण उसे मेवाड़, गुजरात और बहमनी राज्यों से सदैव सचेत रहना पड़ता था। इन बाह्य आक्रमणों के कारण प्रजा भयभीत रहती थी और रक्षा चाहती थी। मालवा के सुलतान वीर तथा कुशल सेनापति थे। महमूद खिलजी प्रथम तो प्रत्येक वर्ष अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए रणक्षेत्र के दर्शन करता था। उसकी वीरता और शक्ति के कारण अनेक राजा उसकी सहायता चाहते थे। गयासुद्दीन जैसे विलासी तथा ऐशो आराम चाहनेवाला बादशाह भी रण-भीरु नहीं था। उसने अपने पिता के राज्यकाल में अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। मालवा सुलतानों के शासन पर अन्य प्रान्तों की तरह मुल्ला-मौलवियों का काफी प्रभाव पाया जाता है। राजा के प्रभावशाली होने के समय इनकी दाल नहीं गलती थी, लेकिन कमजोर राजाओं के समय इनकी बन आती थी।

उत्तराधिकार का कोई नियम नहीं था। प्रायः गद्दी के लिए ज्येष्ठ पुत्र का हक समझा जाता था, लेकिन दिल्ली के खिलजियों के समय से छोटे भाइयों का भी अधिकार माना जाने लगा था। अतः, राज्य के लिए झगड़े होते थे। राज्य-कार्य में रिश्तेदारी-नातेदारी का कोई स्थान नहीं था। Kingship Knows no Kinship सिद्धान्त के मालवा सुलतानों के पुत्र पक्के अनुयायी थे। राज्य के लिए पुत्र पिता को जहर देने के लिए नहीं हिचकता था। भाई-भाई के प्राण लेता था। जागीर की प्रथा होने से अक्सर विद्रोह हुआ करते थे। अमीरों में पारस्परिक द्वेष रहता था। अतः राज्य में दलबन्दियाँ रहती थीं। सारा राज्य कई सूबों में विभाजित था। प्रान्तीय सूबेदार सुलतान के प्रति जवाबदार थे। उन्हें अपने सूबे की रक्षा के लिए सेना रखनी पड़ती थी। मालवा का मध्यकालीन सामाजिक जीवन अन्य प्रान्तों की तरह था।

आमतौर से मुसलमानों को ऊँचे ओहदे दिए जाते थे। लेकिन योग्य हिन्दू ऊँचे पदों से वंचित नहीं रखे जाते थे। महमूद खिलजी प्रथम का अर्थमंत्री मक्सी के प्रसिद्ध पार्श्वनाथ मन्दिर का निर्माता, संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् संग्रामसिंह सोनी था और इसे नकद-उल-मुल्क की उपाधि थी। गयासुद्दीन के समय सारा राज्यकार्य नासिरुद्दीन देखता था। जीवन तथा मेघराज जिसे फख्र-उल-मुल्क की उपाधि थी, पुंजराज, रणमल्ल, गोपाल और सहसा आदि भी ऊँचे ऊँचे पदों पर नियुक्त थे। नासिरुद्दीन और महमूद के दीवान वसन्तराय तथा मेदिनीराय का वर्णन पहले लिखा जा चुका है।

साहित्य तथा कला—मालवा के सुलतान विद्याप्रेमी तथा विद्वानों के आश्रयदाता थे। उनके दरबार में कई देशी विदेशी कवि और कलाकार मौजूद थे। तारीख महमूदशाही मंडवी, तारीखे नासिरशाही और तारीखेमहमूदशाही खुर्द मंडवी की रचना इसी समय हुई।

*** 'बाजबहादुर और रूपमती' के सम्बन्ध में विशेष विवरण के लिए दिसम्बर १९३९ की 'वीणा' में इसी शीर्षक का मेरा लेख देखिए।**

शिक्षा का उचित प्रवन्ध था। हुशंगशाह और महमूद खिलजी प्रथम ने विद्यालय खोले थे। गयासुद्दीन के हरम की व्यवस्था को पढ़कर हम कह सकते हैं कि स्त्री शिक्षा की भी उपेक्षा नहीं की जाती थी।

पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धभाग में महाकवि मंडन ने मंडपदुर्ग में कई सुन्दर ग्रंथों की रचना की। अभी तक उनमें से निम्नलिखित ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं। (१) कादम्बरीदर्पण, (२) चंपूमंडन, (३) चन्द्रविजयप्रबन्ध, (४) अलंकारमंडन, (५) काव्यमंडन, (६) शृंगारमंडन, (७) संगीतमंडन, (८) उपसर्गमंडन, (९) सारस्वतमंडन और (१०) कविकल्पद्रुमस्कन्ध। ये सब ग्रंथ सन् १४४७ तक रचे थे। सन् १४६३ ई० में संग्रामसिंह सोनी ने बुद्धिसागर नामक ग्रंथ की रचना की। इसके बाद पुंजराज ने सारस्वत व्याकरण की पुंजराजी नामक टीका तथा मधुमंजरी नामक ग्रंथों को लिखा। सोमागणी ने महावीरचरित की टीका भी इसी समय की। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान विष्णुदास, प्रभाचन्द्र, हरिनाथ, रामदास और गोविन्ददास इसी समय हुए। महेश कवि भी इसी समय के संस्कृत के अग्रगण्य विद्वानों में थे।

साहित्य की तरह ललितकलाओं का भी पूर्ण विकास हुआ। अपने राजत्वकाल में मालवा के सुलतानों ने अपनी राजधानी माँडू को अनेक भव्य इमारतों से सुशोभित किया।

सुलतानों ने तुगलकों की वास्तु-शैली का अनुकरण किया। स्थानीय कला-मर्मज्ञ काम पर अवश्य लगाए गए जैसाकि इस समय की विशाल इमारतों की सजावट से प्रतीत होता है, लेकिन मोटे रूप में इन इमारतों की शैली उत्तरी भारत की वास्तु शैलीका ही रूप है, जिसमें मध्यएशिया, मिश्र और फारस की कलाओं का सम्मिश्रण है। धार की लाट मसजिद, मांडव की जामे मसजिद, हुशंगाबाद का मकबरा, जहाजमहल, बाजबहादुर का महल (नासिरुद्दीन खिलजी का महल), रूपमती का महल, चिश्तीखां का महल, लाल बंगला, उज्जैन का कालियादह महल आदि में इसी शैली का समावेश है। पन्द्रहवीं शताब्दी में इस कला की बहुत उन्नति हुई और इसका राजपूत वास्तु-कला पर, विशेषकर महराब, गुम्बद, छत्रियाँ और दीवारों की सजावट पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

मूर्तिकला ने जैसी चाहिए वैसी उन्नति नहीं की। तब भी कुछ धनी-मानी व्यक्तियों के प्रयत्न से कई मूर्तियों का निर्माण हुआ और हिन्दू मूर्ति-कला जीवित रही। इस कला के नमूने आज भी मक्सी, बेरछा, उज्जैन, इन्दौर, धार और मांडव के जैन मन्दिरों में मिलते हैं।

चित्रकला और संगीत ने भी अन्य कलाओं का साथ दिया। बाजबहादुर और रूपमती के समय संगीतकला का अच्छा विकास हुआ था। बाजबहादुर और रूपमती दोनों कविता करते थे और गाने में भी प्रवीण थे। आज इन कलाओं के अवशेष ही उपलब्ध हैं।

मुसलमानों की विजय से भारत की मुद्रा प्रणाली में आमूल परिवर्तन हुआ। मुसलमानों ने कुछ समय तक राजपूत राजाओं की मुद्रा पर अपने नाम नागरी लिपि में अंकित कर जारी रखा। लेकिन मुद्रा का प्रश्न उनके जीवन की अन्य समस्याओं से अलग नहीं था। इस्लाम में मूर्ति चित्रण मना है अतः इनके सिक्कों पर चित्रकारी दिखाई नहीं देती। दोनों तरफ राजा का नाम, उपाधियाँ हिजरी सन् और टकसाल का स्थान दिया जाने लगा। अभी तक सिक्कों पर टकसाल के नाम नहीं दिये जाते थे।

मालवा के सुलतानों ने भी अनेक प्रकार के सिक्के चलाए। इनमें से कई गोल और चौकोर थे। मुसलमान बादशाहों में चौकोर सिक्का पहिले पहल अलाउद्दीन खिलजी ने चलाया था।* कुतुबुद्दीन, मुबारिकशाह तथा काश्मीर के सुलतान सिकन्दरशाह ने भी इसी आकार के सिक्के प्रचलित किए थे।†

* न्यूमिसमेटिक क्रॉनिकल १९२१, पृष्ठ ३४५।

† L. W. King, *History and Coinage of Malwa,* पृष्ठ ६२।

हुशंगशाह और मुहम्मदशाह के समय गोल आकार के सिक्के अधिकतर बने। हुशंगशाह का एक तांबे का चौकोर सिक्का हिजरी सन् ८२९ का प्राप्त हुआ है। महमूद खिलजी प्रथम ने सोना, चाँदी तथा ताँबे के गोल तथा चौकोर दोनों तरह के सिक्के काफी तादाद में जारी किए। गयासुद्दीन के समय से चौकोर सिक्कों का प्राधान्य हुआ। हुशंगशाह, मुहम्मदशाह प्रथम और महमूदशाह प्रथम के सोने के सिक्के '९५" से '९०" और नसीरशाह और महमूद द्वितीय के '८०" से '७०" तक के मिले हैं। गयासुद्दीन की सोने की मुद्रा दोनों लम्बाई की पाई जाती है।

सोने के सिक्के अधिक से अधिक १०० रत्ती या १७५ ग्रेन के पाए जाते हैं। लेकिन ब्रिटिश अजायबघर में गयासुद्दीन का २०७ ग्रेन का एक सिक्का संग्रहित है। चांदी के सिक्के चार प्रकार के हैं। वे अधिक से अधिक १०० रत्ती फिर उससे छोटे ५०, २५ और १२॥ रत्ती तक के हैं। लेकिन महमूद द्वितीय के समय का कोई कोई ऊँची कीमत का सिक्का ६४ रत्ती वजन का भी पाया गया है।

महमूद खिलजी ने चाँदी और ताँबे के मिलावट के सिक्के प्रचलित किए थे और यह प्रणाली उसके उत्तराधिकारियों ने पूर्ण रूप से चालू रखी थी। लेकिन इनमें से कुछ में चाँदी की मात्रा अधिक है और कुछ तो बिलकुल ही ताँबे केसे हैं जिससे लेन-देन में अवश्य ही बाधा पहुँची होगी।*

ताँबे के सिक्के अलग अलग तौल के संख्या में पाए जाते हैं। लम्बाई के हिसाब से सिक्के इस प्रकार विभाजित किए जा सकते हैं:—

लम्बाई	सोना	चाँदी	ताँबा	चाँदी और ताँबा
प्रथम	'९५ "से '९०"	'१०५ "से '९५"	'९५ "से '९०"	'८५ "से '८०"
द्वितीय	'८० "से '७०"	'८० "से '७०"	'८० "से '७०"	'७०"
तृतीय	..	'५५"	'६५ "से '६०"	'६५ "से '६०"
चतुर्थ	..	'४५"	'५५ "से '४५"	..

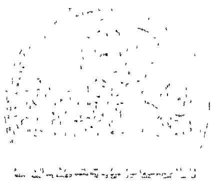
सिक्कों से केवल मांडव में ही टकसाल का होना पाया जाता है। हुशंगशाह से गयासुद्दीन के सिक्कों पर जरब "दारुलमुल्क" शादियाबाद खुदा है। किसी किसी सिक्के पर "हजरत" भी लिखा हुआ पाया जाता है। बाद के सुलतानों के सिक्कों पर "जरब" नहीं है।

इन सुलतानों की मुद्राओं पर ४२ प्रकार के चिह्न पाये जाते हैं। इनपर स्वस्तिक तथा अष्टकोण चिह्न देखने से पता चलता है कि संग्रामसिंह सोनी 'नकदुल-मुल्क' जैसे हिन्दू अर्थ मंत्रियों का काफी प्रभाव था।

तारीखें प्राय: सभी प्रकार के सिक्कों पर अंकों में ही अंकित देखी गई हैं। केवल महमूद खिलजी प्रथम के कतिपय सिक्कों पर अरबी के शब्दों में सन् लिखे गए हैं। अधिकतर सन् सिक्के के पिछले हिस्से पर दिए गए हैं, लेकिन नासिरुद्दीन के ताँबे के छोटे सिक्कों पर आगे की ओर है।

महमूद के लड़के गयासुद्दीन के नाम के सिक्के उसके युवराज (वली-अहद) होने के समय में ही जारी किए गए थे।

* **इस मिलावट में परिवर्तन का कारण यह है कि ताँबा और चाँदी क्रम से २८.११ तथा ७१.८९ के अनुपात ही में मिलने पर अच्छी मिली हुई धातु बनाते हैं और लोग इस समय इस अनुपात को शायद ही जानते हों।** I. A. S., N. XXXV P. 22, *The Currency of the Pathan Sultans*; H. R. Neuill.



उपाधियाँ--प्रभावशाली सुलतानों के सिक्कों पर बड़ी बड़ी उपाधियाँ पाई जाती हैं। ताँबे के सिक्कों पर साधारण पदवियों का जिक्र है। प्रत्येक सुलतान के एकएक उपाधि प्रदर्शित करनेवाले सिक्कों पर अंकित उपाधियों का नमूना नीचे दिया जाता है :--

हुशंगशाह गोरी का चाँदी का गोल सिक्का *:--

सामने--अबु-उल-मुजाहिद हुशंगशाह अल्-सुलतान।

पीछे--अल्-सुलतान-उल आजम हिसाम्-दुनिया बा-उलदीन।

मुहम्मदशाह--आकार--गोल, धातु--सोना †।

सामने--मुहम्मदशाहबिन हुशंगशाह अल्-सुलतान।

पीछे--अल्-सुलतान-उल आजम ताज उल दुनिया बा उलदीन अबु-उल मुजाहिज।

महमूदशाह खिलजी प्रथम--आकार--गोल, सोना :--

(अ) ‡ सामने अल-सुलतान उल आजम अलाउलदुनिया बाउलदीन अबु-उल मुजफ्फर महमूदशाह खिलजीं खलदुल्ला खिलाकता।

पीछे--सिकन्दर-उस-सानी या मीन-उल खिलाकता नासिर अमीरुल मोमनीन।

(ब) सोने का सिक्का §--

सामने--अल-सुलतान-उल-आजम अबुल मुजफ्फर अला-उल-दुनिया।

पीछे--वादीन महमूदशाह उल-खिलजी रप्तल्दुल्ला सुलताना ८४९।

गयासुद्दीन--चाँदी का चौकोर सिक्का ‡--

सामने--अल वासिक वाउल मुल्क मंजा अबु फतह गयासशाह।

पीछे--बिन महमूदशाह अल खिलजी उल सुलतान खलद मलक।

नासिरुद्दीन--चाँदी का चौकोर सिक्का ¶--

अलवालिक बा समदे लमयाजअली अबुल मुजफ्फर नसीरशाह बिन गयासशाह अल खिलजी उल सुलतान खलद मलकहू ९०६।

महमूद द्वितीय--चाँदी का चौकोर सिक्का ⁑--

सामने--अलवासिक बा उल मुल्क अल समद अबुल मुजफ्फर महमूदशाह।

पीछे--बिन नासिरशाह अल खिलजी उल सुलतान खलद मल्कहू ९२३।

बाजबहादुर--चाँदी और ताँबे की मिलावट का चौकोर सिक्का ॥ वजन १०४ ग्रेन--

सामने--बाजबहादुर अल सुलतान।

पीछे--(पढ़ा नहीं जाता)।

---

* टॉमस--क्रॉनिकल ऑफ दी पठान किंग्ज ऑफ देहली, नं. ३०५ पृष्ठ ३४७।

† किंग--हिस्ट्री एण्ड कॉयनेज ऑफ मालवा, पृष्ठ ७१।

‡ वही, पृष्ठ ७२।

§ प्रिन्स ऑफ वेल्स म्युजियम बम्बई का संग्रहालय--इसका वर्णन श्री सिंगल ने न्यूमिसमेटिक सोसायटी जर्नल १९३९ के अंक में पृष्ठ ३८ पर किया है।

‡ लेखक के पास।

¶ लेखक के पास।

⁑ टॉमस--क्रॉनिकल ऑफ दी पठान किंग्ज ऑफ देहली।

॥ किंग--हिस्ट्री एण्ड कॉयनेज ऑफ मालवा, पृष्ठ ९३।

मालव-मणि भोज

श्री अनन्त वामन वाकणकर बी० ए०, बी० टी०

पुराण, आख्यायिका, लोककथा, उत्खनन, आलेख, मूर्ति-मुद्रा, प्राचीन स्थापत्य सम्बन्धी सामग्री एवं इसी प्रकार के अन्य साधनों के आधार पर, अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा राष्ट्रीय भावनाओं के अनुकूल, प्राच्यविद्या-विशारदों द्वारा किए गए अन्वेषण और स्पष्टीकरणों से अनुमोदित ऐसा अत्यन्त पुरातन काल का इतिहास लिखा जा रहा है। उन्होंने जिन युगों का विवेचन किया है वे या तो गौरवपूर्ण हैं अथवा अन्धकारमय; फिर भी उनके ऐतिहासिक अनुक्रम के कारण एक युग दूसरे का दर्शन कराता है। पूर्व काल के इतिहास में आख्यायिकाओं के सुप्राचीन नायक विक्रमादित्य का स्थान गौरवपूर्ण है, यद्यपि प्राचीन काल के ऐतिहासिक साक्ष्यों से उनका व्यक्तित्व विद्वानों द्वारा अभी सिद्ध किया जाने को है। इसी प्रकार मालवा के परमारों का भी अपना पूरा वर्णन योग्य इतिहास है। फिर अब तक अनेक प्रकार से अधलिखा इतिहास भी पूर्ति की ओर अग्रसर है। भारतीय* एवं योरोपीय† सुविश्रुत प्राच्यविद्या विशारदों द्वारा समान रूप से प्रकाश में लाए गए तथ्यों के आधार पर किया गया इस प्रकार का संक्षिप्त पर्यालोचन भावी इतिहास-लेखकों को एवं उनके उन उत्साही पाठकों को, जिन्हें अपने गौरवपूर्ण अतीत के आधार पर नवीन उत्कर्ष सीमा का निर्माण करते हुए अपनी कृतियों द्वारा इतिहास का निर्माण करना है, समान रूप से शिक्षाप्रद तथा उद्बोधक होगा।

मालवा के परमारों का मूल निवास-स्थान निश्चित रूप से सुदूर आरावली पर्वतमाला में अचलगढ़ (वर्तमान सिरोही राज्य के अन्तर्गत) था, जहाँ से वे अग्नि में होकर, जो मानों सुदूर दक्षिण पूर्व को शाद्वल भूमि से आनेवाले कुषाण, शक तथा हूणों के प्रवाह को रोकने के लिए युद्ध में संलग्न मौर्य एवं गुप्त सदृश विभिन्न राजवंशों से युक्त समस्त उत्तर-भारत में प्रचण्ड होमकुण्ड हो रही थी, प्रादुर्भूत हुए थे। परमारों का वंशक्रम विस्तृत एवं कुछ राजाओं के सम्बन्ध में शंकास्पद

*** सर रामकृष्ण भाण्डारकर और डॉ० भाण्डारकर, राजरत्न का० कृ० लेले, म० म० डॉ० गौरीशंकर ओझा, रा० ब० हीरालाल ओझा, म० म० प्रो० मिराशी, डिस्कलकर, गर्दे, चिं० वैद्य, अय्यंगर।**

† बुल्हर, हुल्ट्ज़्, स्मिथ, कीलहॉर्न, ल्युअर्ड।

होते हुए भी अनिश्चित नहीं है, और सीयक* के सबसे प्राचीन से लेकर भोपाल† के अनतिप्राचीन तथा जयसिंह‡ तृतीय के विक्रम संवत् १३३१ के दान-ताम्र-पत्र तक के विविध लेखों से उसे प्रमाणित किया जा सकता है। वे निश्चित रूप से अग्निकुल के हैं, जिसकी सत्यता धार-राज्य के संग्रहालय के एक अभिलेख⁑ से सिद्ध की जा सकती है; फिर भी यह देखना कि वे मान्धाता के ताम्र-पत्र में उल्लिखित धाराधीश से प्रारम्भ करते हैं, मनोरंजक है। अब यह देखना शेष रह जाता है कि यह नायक कल्पनाप्रसूत है अथवा मालवा एवं नर्मदा की घाटी के अधीश्वर मान्धाता के रूप में उसका अस्तित्व है। इस प्रकरण को यहीं छोड़ते हुए अब हम यह देखते हैं कि उदयपुर-प्रशस्ति, नागपुर-प्रशस्ति एवं धर्मपुरी⁂ के अभिलेख के कथन का समर्थन स्वयं भोजकृत कोदण्डकाव्य⁎ में प्राप्त होता है।

अब यह दृष्टव्य शेष रहता है कि दक्षिण के, मध्यभारत के वैनगंगा के, राजपूताना के तथा अन्य वर्तमान पवार क्या मालवा के ऐतिहासिक परमारों के वंशज हैं? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती। स्वर्गीय राजरत्न पंडित के० के० लेले ने उमराओं के वंश से; टेहरी गढ़वाल के राजवंश से; सिन्ध के पवारों से; गुजरात, बिजोलिया, भंडारा गोंदिया, सिवनी एवं वैनगंगा के पवार-वंशों तथा मराठा-पवारों के साथ कुछ पत्र-व्यवहार किया था। परम्परा के संयोजक तत्वों की अत्यधिक अनुपस्थिति में वे किसी प्रमेय को दृढ़ न कर सके। आज हम केवल यही कह सकते हैं कि अचलगढ़ से बागड़ (डोंगरपुर बाँसवाड़ा) होते हुए परमार मालवा, मन्दसौर, उज्जैन तथा धार पहुँचे। पश्चात् राष्ट्रकूटों के अधीन वे दक्षिण की ओर स्थानान्तरित हुए। फिर ऐसा प्रतीत होता है कि मुसलमान सुलतानों के अत्यधिक दबाव के कारण परमार-राजवंश के मालवा से परास्त होने से कुछ कुटुम्ब गुजरात, वैनगंगा⁑⁑, मध्य-भारत तथा दक्षिण की ओर पुनः स्थानान्तरित हुए।

भारत का आकर्षण-केन्द्र—मालवा—भारत का गर्भ केन्द्र मालवा प्रत्येक यात्री को अपने ऐतिहासिक गौरव के साथ साथ अपने नैसर्गिक सौन्दर्य का पान करने का निमंत्रण देते हुए, विजेता एवं चारण दोनों के लिए समान रूप से आकर्षण-केन्द्र रहा है। गत दो सहस्र वर्षों से महान् विक्रमादित्य तथा उसके प्रिय राजकवि कालिदास ने अगणित परम्पराएँ उत्पन्न की हैं जो किसी भी दृष्टि से कल्पित नहीं हैं, किन्तु दृढ़ सत्य हैं, और जो यहाँ की कला एवं स्थापत्य के द्वारा प्रकट हैं। अपनी भौगोलिक स्थिति, आकार, खनिज एवं वन-सम्पत्ति के कारण यह स्वयं एक प्राकृतिक क्षेत्र है। अतएव अवन्ति, आकर (आगर), विदिशा (भेलसा) प्रभृति अनेक गौण इकाइयाँ, जो मिलकर भारत के अध्ययन योग्य तत्वों के संक्षिप्त संग्रह के रूप में उपस्थित होती हैं, उसमें समाविष्ट होने के कारण यह भौगोलिक इकाई है। विक्रम के पूर्वकालीन सामाजिक एवं राजनीतिक गौरव को पुनः प्राप्त करते हुए और साथ ही साथ मुंज एवं भोज के रूप में अपनी प्रति-मूर्तियों को तथा इसी प्रकार विज्ञान एवं कला क्षेत्र में भी पद्मगुप्त तथा अमितगति आदि अपने कवि एवं विद्वानों को प्रस्तुत करते हुए परमारों ने मालव के समान चित्रफलक पर अपने इतिहास को अंकित किया।

---

* डिस्कलकर-पुरातत्व, २, ३, राजपूताने का इतिहास—ओझा; भाग १, पृष्ठ १८३-२१०।

† हिन्दुस्तान टाइम्स ५-३, १९३८, पृष्ठ ७।

‡ वि० सं० १३३१ का दानपत्र—चि० व० लेले, ना० प्र० स०।

⁑ अग्गीहोंतो वंसो निपज्जइ,...... भोजकृत कोदण्डकाव्य, *Parmar Inscriptions* पृष्ठ ७४, (विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।)

⁂ (विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार, १९४३) *Parmar Inscriptions* पृष्ठ ८८।

⁎ भोजकृत कोदण्डकाव्य, पृष्ठ ६९।

⁑⁑ महाराष्ट्रीय ज्ञानकोष—डॉ० केतकर; सी० पी० गजेटियर; इतिहास आणि ऐतिहासिक वर्ष ३, अंक २६-२७; नवजीवन, अक्षयवट मिश्र।

श्री अनन्त वामन वाकणकर

परमारों की वंश-परम्परा—मालवा के परमार विदेशों से भारत में प्रविष्ट होनेवाले किसी वंश* अथवा जाति में से हैं अथवा उन्होंने स्वयं वंश† का निर्माण किया, इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय सम्भव नहीं है। उनका मूल निवास-स्थान निश्चित रूप से अचलगढ़ (सिरोही राज्य) था और अग्नि से उत्पत्ति‡ स्वयं भोज के कोदण्डकाव्य में उसका उल्लेख होने के कारण है ही।

सुदूर पूर्वकाल के वनराज परमार‡ से, जो उज्जैन के सम्राट् विक्रमादित्य की वंश परम्परा में था और जो प्रमार भी कहा जाता है, इनका प्राचीनकालीन सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हुआ है। दूसरी ओर विक्रम संवत् १३३१ का मान्धाता का दान-ताम्र-पत्र उनका प्राचीनतम पूर्वज एक धाराधीश के रूप में बतलाता है। धार का जयसिंह तृतीय तथा माण्डू उसकी वंशावलि का वाक्पति मुंज के एवं किंचित् आधिक्य के साथ उदयपुर-प्रशस्ति के कथन के अनुरूप समर्थन करते हैं।

समाजशास्त्र के विद्यार्थियों की अध्ययन-पद्धति के अनुसार उनके शिवपूजक होने के कारण हम उनका उद्गम शक, कुषाण, अथवा गुर्जरों में भी खोज सकते हैं। किन्तु उनके दान-ताम्र-पत्रों के विष्णु की वन्दना से प्रारम्भ होने का, उनके ध्वज पर गरुड़ होने का, तथा उज्जैन के महाकाल की एवं धार की कालिकादेवी की वन्दना का क्या अर्थ होगा? धार-राज्य के संग्रहालय में अनन्त-नारायण, यक्ष, कुबेर एवं शिव की भी अनेक मूर्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त धर्मपुरी में खुजाबा संगम पर विष्णु, नरसिंह, शिव तथा भीम (?) की विशाल मूर्तियाँ हैं। इनके साथ-साथ उसी स्थल पर माताजी के मन्दिर की भीतों पर डाढ़ीवाले धनुर्धर योद्धाओं की खुदी हुई कुछ आकृतियाँ भी हैं। माण्डू, धार, धर्मपुरी तथा बदनावर में विष्णु, बुद्ध, पार्श्वनाथ तथा गणेश की मूर्तियाँ अत्यधिक हैं। वे परमारों के अधिकृत स्थल के सामाजिक इतिहास का वर्णन करती हैं। धर्मपुरी के प्रस्तरपट्ट‡ पर एक अभिलेख अंकित है, वह अवश्य शिव की वन्दना से प्रारम्भ होता है। इससे हम सरलता से यह समझ सकते हैं कि शक एवं हूणों के समान ही उनके पूर्वजों ने सुप्राचीन काल में शैव सम्प्रदाय स्वीकार किया होगा।

परमार-विजय की पृष्ठ-भूमि—प्रकृति ने मालवा को भारतवर्ष का केन्द्र होने का सौभाग्य प्रदान किया है। धुरपश्चिम में माही, तथा मध्यम में उत्तर-वाहिनी चंबल, क्षिप्रा, कालीसिन्ध, पड़वाँ; पश्चिम में बेतवा नदियों से गहरे कटे हुए इसके निम्नोन्नत विस्तृत मैदान हैं। मही के अतिरिक्त उनमें से सब पठार के मन्द ढाल के सहारे इस प्रदेश को दशपुर, अवन्ति, आकर (आगर), तथा विदिशा के उप-प्रदेशों में विभाजित करती हुई उत्तर की दिशा को बहती है। धार के अतिरिक्त जिसे सामरिक महत्त्व की सुदूर एवं एकाकी स्थिति की विशेष सुविधा प्राप्त है, इन नदियों ने मालवा के प्रत्येक प्रसिद्ध नगर के लिए नगर-निर्माण योग्य स्थल प्रदान किया है। खनिशास्त्र ‡के सुन्दर वर्णन के अनुसार मालवा ने समुन्नत कृषिक्षेत्र उत्पन्न करने के लिए उर्वरा भूमि को एवँ पश्चिम में गुजरात‡ से, दक्षिण में दक्षिण भारत से, पूर्व में चेदि‡ देश से और उत्तर तथा उत्तर-पश्चिम से आनेवाले घाटमार्गों पर आधिपत्य रखने के हेतु दृढ़तायुक्त वनाच्छादित

---

* वॉटसन। *I. A.* Vol IV।

† का० कृ० लेले साहब के नोट्स।

‡ कोदण्डकाव्य—(विक्रम-स्मारक-ग्रंथ) *Parmar Inscriptions*, पृष्ठ ६९।

‡ *History of Parmar Dynasty* —गांगुली पृष्ठ ६, नोट।

‡ सरिदद्रिवनाद्येषु त्रासाद्यस्यां विशेषतज्जनः। जनापश्रययोग्यत्वाद अपाश्रयवती च सा।। खनिशास्त्र—वझे, महाराष्ट्र-साहित्य-पत्रिका, पृष्ठ ८५।

‡ पर्वपर्वतोपत्यकापरिसरेषु—पावागड़ से आनेवाला रास्ता–पारिजातमंजरी; (Parmar Inscriptions, पृ० ४५।)

‡ चेदिदेश (डाहाल) जिसकी त्रिपुरी (जबलपुर के निकटवर्ती तेवूर) राजधानी थी उस देश का नाम है। यहाँ कलचुरि राजवंश का राज्य था।

‡ बाणभट्टकृत कादंबरी में इसका विस्तृत वर्णन है।

गिरिमालाओं को आश्रय दिया है। विन्ध्याटवी* की गोद में दार्शनिक एवं निर्वासित दोनों को आश्रय प्राप्त होना सम्भव है। परमारों के आगमन से पूर्व नर्मदा की घाटी की परम्पराएँ †मान्धाता के पुत्र मुचकुन्द द्वारा निर्मित माहिष्मती नगरी से सम्बद्ध थीं। उज्जैन का गौरव विद्या के केन्द्र के रूप में था। अर्जुन कार्तवीर्य के सहस्रबाहु सम्बन्धी पराक्रमों का स्थल माहिष्मती के निकट ही है। अवन्ति के प्राचीन भोजों ने गौतम के वंश पर्यन्त सुदीर्घकाल तक शासन किया। मगध का शासक राजा प्रद्योत उनके पश्चात् हुआ। सम्राट् विक्रमादित्य ने अपना ऐतिहासिक गौरव प्राप्त किया और मेघदूत‡ के द्वारा उस प्रदेश की वही कथा कहनेवाला कालिदास उसका राजकवि था। महान् अशोक‡ द्वारा लाए गए बौद्धकाल की सत्प्रकृतियों के साक्ष्य उस युग के संघारामों एवं साँची के रूप में सुरक्षित थे।

उनके उत्थान के पश्चात् ही आनेवाले शक¶ और हूणों को पराजित करके अधिक दीप्ति के साथ प्रकाशित होने के लिए गुप्त सम्राटों ने तथा यशोधर्मन ने उज्जैन को भारतवर्ष का शुद्ध आकर्षण केन्द्र बना दिया था।

जब उत्तर में हूण और शक, दक्षिण में राष्ट्रकूट और पूर्व में प्रतिहार एवं सेन उत्कर्ष पर थे तथा इस मालवा के रणक्षेत्र में निर्दयतापूर्वक अग्नि एवं शस्त्रों का प्रयोग कर रहे थे उस समय पूर्व पश्चिम, उत्तर, तथा दक्षिण से उठ रहे युद्ध-घोष में होकर मानों अग्निकुण्ड में से चार योद्धा उठे, जिनके आघात को केवल परमार ही सहन कर सके थे और विजयी होकर इतिहास के महान् विक्रमादित्य के गौरव की पुनरावृत्ति कर सके थे।

कहानी का प्रारम्भ—परमार वास्तव में मालवा के अग्निकुण्ड से उद्भूत हुए थे जिसे ईसा की पाँचवीं शताब्दी से लेकर नवमीं शताब्दी में उनके वीर उपेन्द्रराज परमार के उदय तक अनेक राजवंशों के उत्थान और पतन को देखना पड़ा था। पाँचवीं शताब्दी के उत्तर भाग में गुप्त साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था। लगभग ५३२ ई० में यशोधर्मन का उदय हुआ, जिसकी गणना उज्जयिनी के परम्परागत द्वितीय वीर विक्रमादित्य से की जाती है। ५०० ई० से लगाकर ५९० ई० तक एक अप्रसिद्ध गुप्तवंश ने शासन किया। सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मालवा के पूर्व और उत्तर-पूर्व में प्रभाकरवर्धन, उसके पुत्र हर्ष तथा बंगाल के शशांक के रूप में महान् शासकों का दर्शन किया। छठी शताब्दी के उत्तरभाग में त्रिपुरी के कलचुरियों ने गुप्त राजवंश के अन्तिम शासकों से मालवा छीन ही लिया था। साम्राज्यों की राजधानी कन्नौज को मालवा के प्रतिहारों एवं पालों के हाथों आत्मसमर्पण करना पड़ा था। तब भी नवम् शताब्दी के प्रारंभ तक मालवा राष्ट्रकूटों के आक्रमणों से मुक्त नहीं हुआ था। इस प्रकार अनेक राजवंशों के द्रुत अनुक्रम से होनेवाले उत्थान एवं पतन को देखती हुई शताब्दियों की परम्परा व्यतीत हुई। मालवा लड़खड़ाया और महान् विक्रमादित्य की भूमि का राष्ट्रकूटों द्वारा अपहरण हुआ। इस प्रकार विग्रह-नाटक के अन्तिम दृश्य का सम्पादन हुआ और इस अग्नि से परमार राजवंश के संस्थापक उपेन्द्र परमार का प्रादुर्भाव हुआ। स्वयं भोज द्वारा अपने कोदण्डकाव्य में कथित सुदूर अरावली पर्वतमाला में स्थित अचलगढ़ के अग्निकुण्ड से अपनी वंश परम्परा प्रारम्भ होने के तथ्य का परमारों को अन्त तक अभिमान रहा। इस प्रकार अनेक होनहार राजकुलों को सम्पूर्ण मालवा में स्थापित होने का अवसर देते हुए प्रतिहारों का शुभ निवर्तन हुआ। बुन्देलखण्ड के चन्देल, त्रिपुरी के कलचुरि, अनहिलवाड़ के चौलुक्य, गुजरात में पाटण तथा मारवाड़ के चाहमानों को परमारों ने पहले ही ग्रहण कर लिया था। इस प्रकार भारतवर्ष के और विशेषत: मालवा के इतिहास एक नवीन युग का, और साम्राज्य शक्ति प्राप्त करने के अर्थ दो शताब्दी भर हुए विग्रह का प्रारम्भ हुआ, जिसमें सुदूर मध्य एशिया की आश्रयहीन भूमि के निवासी तुरुष्कों के आघात से वे सब धराशायी हो गए।

*** मान्धाता और सहस्रार्जुन की कथाएँ।**

† मेघदूत २४।

‡ अशोक—आपटे; माळव्याच्या इतिहासाचें सिंहावलोकन—विविधज्ञान विस्तार—का० कृ० लेले।

‡ वही।

¶ *Annals of Rajasthan*—टॉड; जज्ञेवीरोऽग्निकुंडाद्रिपुबलनिधनयश्चकारैक एवं उदयपुरप्रशस्ति।

श्री अनन्त वामन वाकणकर

प्रारम्भिक परमार शासक—'अमोघवर्ष' एवं 'अकालवर्ष' की भाँति उनके द्वारा तत्पश्चात् 'विरुद' उपाधि धारण करने से, अपने राजकीय ध्वज पर गरुड़ का चिह्न ग्रहण करने से तथा महाराष्ट्री प्राकृत को अपनी स्वीकृत भाषा के रूप में ग्रहण करने के अन्तिम किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य से राष्ट्रकूटों के साथ मांडलिक के रूप में अथवा कौटुम्बिक सम्बन्ध के रूप में परमारों के प्रारम्भिक सम्पर्क का आज अनुमान मात्र किया जा सकता है। यहाँ तक तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह वंश अचलगढ़ से बागड़, चित्तौड़, मन्दसौर, उज्जैन, धार, मान्धाता एवं राष्ट्रकूटों के प्रदेश के उत्तरी भाग में कहीं स्थापित होते हुए नर्मदा के दक्षिण को स्थानान्तरित हुआ। नर्मदा की घाटी में मान्धाता, रन्तिदेव तथा सहस्रार्जुन की परम्परा ने उन्हें अधिक आकृष्ट किया। उनके आरम्भिक नाम उनके स्वतंत्र व्यक्तित्व के सूचक हैं। हर्ष एवं भोज प्रभृति उनके अन्य नाम उनके द्वारा जब ग्रहण किए गए प्रतीत होते हैं, जब उनकी विजयों की परम्परा कन्नौज के श्रीहर्ष अथवा प्रतिहार भोज के समान प्रोज्जवल हो गई थी। 'विक्रमादित्य' उपाधि दक्षिण के राष्ट्रकूटों एवं चालुक्यों द्वारा ग्रहण कर ही ली गई थी। किन्तु यह सब विवेचन की समाजशास्त्रीय पद्धति है।

यह वंश आरम्भकाल में अचलगढ़ से विनिर्गत हुआ। पहले बागड़ को फिर उज्जैन, धार तथा उससे भी आगे वैनगंगा* के तीरों को गया, पुनः अवन्ति देश के आकर्षण-केन्द्र उज्जैन को जीतने के लिए वापस उज्जैन तथा धार की ओर गया।

उपेन्द्र, जो कृष्णराज† नाम से भी विश्रुत है और जिसके पश्चात् वैरिसिंह प्रथम हुआ वास्तव में महान् योद्धा एवं विजेता था। यह ठीक वही समय था जब छोटे छोटे सरदारों द्वारा शासित अत्यधिक उपविभागों में मालवा विभाजित हो गया था और जब मालवा के आसपास के क्षेत्र स्पष्ट रूप से स्वतंत्र राज्यों के रूप में बट गए थे जैसाकि चन्दवरदाई ने‡ उचित रूप से ही वर्णन किया है। दशपुर (मन्द+दशपुर, मन्दसौर) में विद्रोहियों को शान्त करने का श्रेय वाक्पति को प्राप्त हुआ। मालवा पर अपने गौरवशाली शासन के अन्त में वे कुरुक्षेत्रवास को चले गए।

धार के विजेता के रूप में, इसी प्रकार अपने शस्त्रबल के सहारे सामने आनेवाले सभी का सफाया करता हुआ वज्रट नाम से विख्यात वैरिसिंह द्वितीय (९१४-९४१ ई०) प्रादुर्भूत हुआ। उसकी गया यात्रा के और गौड़राज को विद्रोही बौद्धों के दमन में दी गई उसकी सहायता के फलस्वरूप राजा की पुत्री ललिता से उसका विवाह हुआ। उसके जीवन की सन्ध्या प्रत्येक दृष्टि से गौरवपूर्ण रही और उज्जैन में ७१ वर्ष की आयु में उसका देहान्त हुआ।

सीयक द्वितीय सिन्धुराज‡ तथा हर्ष भी कहलाता था, जिसने ९७२ ई० के लगभग प्रचुर युद्धजित धन एवं लूट ले जाते हुए और भारी युद्धदण्ड लगाते हुए मान्यखेट¶ के राष्ट्रकूट राजा खोट्टिग को पराजित किया था। रुद्रपति* के नेतृत्व में हूण बुरी तरह पराजित हुए थे। इस घटना से मालवा के परमारों की विजय-परम्परा का प्रारम्भ होता है। बागड़§ (बासवाड़) तथा चन्द्रावती|| (सिरोही राज्य) की इस राजवंश की शाखाएँ अपना प्रभुत्व अपने क्षेत्र में प्रतिपादित करने लगीं। दूसरे शब्दों में, मालवा के पुरावृत्त में तथा कला स्थापत्य एवं विद्या के इतिहास में, जिसके लिए उज्जैन एवं धार को

---

* इतिहास आणि ऐतिहासिक, वर्ष ३, अंक २६-३०, पृष्ठ ४४ चांदोरकर।

† मुञ्ज का दानपत्र *I. A.* Vol. VI, पृष्ठ ४८; Vol. XIV, पृष्ठ १६०।

‡ दियो दिल्ली तुवरा–दई पट्टण चावडा। दिय संभरी चहुआन–दई कन्वज राठौर ॥
परिहारा मुरदेस—सभा पट्टी सिंध तट। दई सोरठ जाधवा–दई दच्छन सुभागभट ॥
चारवा कच्छ दीनी धरा–भट्टारबसावहिं। वनी गयो नृपति वटि–धरा गिरिजापति मालागृही ॥

‡ शत्रोर्वर्गःधारया सन्निहत्य। श्रीमद्धारा सूचितायेन राज्ञा ॥ —उदयपुर प्रशस्ति।

¶ भोजचरितं राजवल्लभकृत और पाइयलच्छि।

* विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार, पृष्ठ ४० पर "रड हूण बाणपटलि" निर्देश है।

§ वाक्पति प्रथम के दो पुत्र थे वैरिसिंह और डाँवरसिंह। डाँवरसिंह की शाखा बागड़ प्रान्त में राज्य करने लगी।
—सरस्वती, अगस्त १९१४, पृष्ठ ४३६–३७।

|| धन्धुराज।

ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त होता है, यह घटना परमारों के विजयकाल के आगमन की सूचना देती है। इसके अतिरिक्त सीयक द्वितीय को एक और विजय का श्रेय प्राप्त है जो उसके कलचुरि के युवराज* प्रथम के उज्जयिनी पर आक्रमण करने पर उसके ऊपर प्राप्त की थी। इस घटना से उज्जैन तथा मालवा पर उनका प्रभुत्व, एवं त्रिपुरी के कलचुरियों के साथ शत्रुतापूर्ण सम्बन्ध† साथ साथ स्थापित हुए।

सीयक द्वितीय के, जो सिंहराज तथा सिंहभट‡ भी कहलाता था, जीवन के प्रारंभिक भाग में पुत्र नहीं था, अतः मुञ्ज घास में एक बालक की प्राप्ति को उसने शुभ शकुन माना और अपनी परम्परा अविच्छिन्न रखने की इच्छा से उसे दत्तक ग्रहण किया। कुछ वर्ष पश्चात् उसके पुत्र उत्पन्न हुआ और अपने नाम से भिन्नता रखने के लिए उसका नाम कुमार सिन्धुल रखा। मुञ्ज तथा सिन्धुल‡ दोनों भाइयों में स्वभावतः सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे और फलतः सिन्धुल को कुछ वर्ष तक निर्वासित रहना पड़ा। मुञ्ज ने अपने स्वीकृत पिता की आशाओं की पूर्ति की।

वीरवर मुञ्ज––ऐसे थोड़े शासक हुए हैं जो रणभेरी के तुमुलनाद के साथ साथ विद्वानों को संरक्षण प्रदान करते हुए राजा की कल्पना से ऊँचे उठे हों। 'वाक्पति', 'उत्पलराज', 'पृथ्वीवल्लभ', 'श्रीवल्लभ, तथा 'नरेन्द्र' उपाधियाँ धारण करना मुञ्ज का बहुमुखी व्यक्तित्व सूचित करता है। 'अमोघवर्ष' विरुद निश्चितरूप से उसकी चालुक्यों पर प्राप्त हुई विजय का सूचक है। अनेक माण्डलिक राजाओं का 'महाराजाधिराज' होने की उसकी यशः-परम्परा को उसकी 'श्रीवल्लभ' 'पृथ्वी-वल्लभ' तथा 'नरेन्द्र' उपाधियाँ अक्षुण्ण रखती हैं। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण उसके राज्य का जिसके अन्तर्गत भारत का मुख्य एवं राजधानी-पद-विभूषित नगर उज्जैन था, अधिराज्य होने का गौरव है। धार इतना महत्त्वपूर्ण नहीं था, यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि टॉलेमी (Ptolemy) इसे झेरोगिरि‡ (Zarogiri) नाम से जानता था। गुजरात, कन्नौज, राजपूताना, तथा दक्षिण से भागते हुए जैन एवं बौद्धों को बहुधा आक्रमणकारी अभियानकारियों के अत्याचार के लक्ष्य उज्जैन से दूर तथा अपेक्षाकृत असामान्य स्थान में ही चैन मिल सकता था। इससे यह प्रकट होता है कि यहाँ विष्णु, नरसिंह, त्रिमूर्ति, अनन्तनारायण तथा देवी के मन्दिरों की अपेक्षा जैन मन्दिर एवं बौद्ध विहारों की संख्या अधिक क्यों है? भोज के अतिरिक्त मुञ्ज की अपेक्षा इस सांस्कृतिक एवं सामाजिक समुन्नति के लिए अन्य कोई अधिक प्रशंसा का अधिकारी नहीं है।

संयोजक-तत्व से विहीन विजय-परम्परा विजेता के अस्तित्व को विफल कर देती है। सम्पूर्ण भारतवर्ष में चलने-वाले युद्धों के बीच मुञ्ज अपने साम्राज्य को संगठित करने में सफल हुआ था। उसके काल में मालवा में विभिन्न जनपद-निवासियों का महान् सम्मिश्रण प्रस्तुत था। घाटों के तथा नदी की घाटियों के सभी पथों पर जैन मन्दिर एवं बौद्ध‡ विहार अत्यधिक संख्या में निर्मित थे। मुसलमानों के शासन के अन्तर्गत हुए प्रतिमा-विध्वंस सम्बन्धी परिवर्तन भी उन्हें पूर्ण रूप से नष्ट न कर सके। वे आज भी उस काल के सामाजिक इतिवृत्त के विद्यार्थी को प्रचुर सामग्री प्रदान करते हैं।

मुञ्ज का युद्ध विक्रम––मुञ्ज के युद्ध-विक्रम एवं सामरिक प्रवृत्तियों की परिगणना उदयपुर-प्रशस्ति‡ में की गई है। कृष्ण तृतीय के पश्चात् राष्ट्रकूटों का पराभव हो गया और तैलप के अधीन वातापी के चौलुक्य उन्हे अभिभूत कर रहे थे। अतः मुञ्ज ने कर्णाटक पर छह बार आक्रमण किया और तैलप को भी बन्दी बना लिया, किन्तु क्षमा प्रदान की।

---

* विद्धशालभंजिका––राजशेखर १-२०।

† परमार्स ऑफ धार एण्ड मालवा––ल्युअर्ड एण्ड लेले, जबलपुर, ज्योति २०––हीरालाल।

‡ प्रबन्धचिन्तामणि––मेरुतुंग।

‡ भोजचरित––राजवल्लभ।

‡ *Dhar State Gazetteer*––Luard and Lele, पृष्ठ १०७।

‡ बाग, पांडवगुफा, अमझेरा जिला, ग्वालियर-राज्य।

‡ कर्णाटलाटकेरलचोल................उदैपुर-प्रशस्ति।

तैलप के सेनापति बारप्पा को पराजित करके गुजरात में अनहिलवाड़ पर मुञ्जराज ने अपना साम्राज्य स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप सोलंकी और परमारों की वंशगत शत्रुता मुञ्ज के उत्तराधिकारियों के लिए विनाशकारी सिद्ध हुई। इसी समय के समीप मुञ्ज तीर्थयात्रा के लिए 'धर्मारण्य' को गया होगा। जहाँ वर्तमान मुञ्जपुर* (अब राधनपुर-राज्य के अन्तर्गत) स्थित है तथा उसका यह नाम भी उसी समय पड़ा होगा।

केरलविजय के लिए वह स्वयं नहीं गया था किन्तु केरलराज के विरुद्ध उसने तैलप की सहायता की होगी।

चोलराज राजराज (९८५-१०१८ ईसवी) ने लंका से उत्तरी सरकार तक अपने साम्राज्य का विस्तार कर लिया था। चोल सेनापति के नेतृत्व में होनेवाले आक्रमणों में से एक में मुञ्ज ने उसे चक्र कोट्य (मध्य-प्रदेश के बस्तर जिले के अन्तर्गत) पर सम्भवतः पराजित किया था।

कलचुरि युवराजदेव प्रथम ने सीयक के जीवनकाल में एक बार उज्जैन पर आक्रमण करने का साहस किया था, परन्तु पराभूत हुआ था। त्रिपुरी पर मुञ्जराज का आक्रमण कलचुरि के इस दुःसाहस के प्रतिशोध के रूप में हुआ था। इस प्रकार युवराज द्वितीय पराजित हुआ था।

हूण, जिन्होंने मालवा के पश्चिमी सीमान्त पर अधिकार कर लिया था, मुञ्ज के पिता सीयक द्वारा पहले ही पराजित किये जा चुके थे। इस पराजय से व्यथित होकर हूणों ने कलचुरियों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। कर्ण (कलचुरि) ने हूण राजकुमारी आवल्लादेवी से विवाह किया। इस मुञ्ज ने उन्हे पुनः दण्डित किया होगा†।

यह लिखा जा चुका है कि मारवाड़-नरेश चाहमान बलिराज ने मुञ्ज को एक बार पराजय दी थी। अतः मुञ्ज ने स्वयं उस पर आक्रमण करके उसे पराजित किया होगा।

चित्रकूट‡ (चित्तौड़) का प्रसिद्ध दुर्ग बाप्पा के वंशज गुहिलों से मुञ्ज ने जीत लिया था और यह १२वीं शताब्दी के मध्य तक चौलुक्य सिद्धराज जयसिंह द्वारा हस्तगत किए जाने तक परमारों के अधीन रहा।

नागपुर के प्रोफेसर मिराशी का विश्वास है कि मुञ्ज ने अन्य विजयें भी प्राप्त की होंगी उदाहरणार्थ कन्नौज के विजयपाल पर (९९०-९९५ ई०)।

अन्त में सचिवों की मंत्रणा के विरुद्ध दक्षिण के तैलप पर दुर्भाग्यपूर्ण⁑ अभियान किया गया। जिसकी समाप्ति मुञ्ज के बन्दीकरण, कारागृहवास, मृणालवति से प्रणय और अन्त में वध के साथ हुई।

विद्वानों एवं ब्राह्मणों का संरक्षक मुञ्ज—मुञ्ज के शासन के समृद्धिपूर्ण काल में भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों से विद्वान् एवं ब्राह्मण समान रूप से आकृष्ट होते थे, जिनका विवरण ताम्र-दान-पत्रों में⁂, 'नवसाहसांक चरित्' में तथा आज भी स्थित अन्य सार्वजनिक स्थापत्यों में अंकित है। मुञ्ज के जीवन चरित्र को लिखने का प्रथम प्रयास पद्मगुप्त रचित 'नव-साहसांकचरित्' प्रतीत होता है। पंडित धनपाल दूसरा ग्रंथकार था, जिसने 'पाइयलच्छि' 'देशीनाममाला', 'तिलकमञ्जरी'

---

* राधनपुर और बडोदा-राज्य के सिद्धपुर शहर के आसपास का प्रदेश 'धर्मारण्य' कहलाता था। उसी प्रकार धार-राज्य में नर्मदा तीर पर स्थित धर्मपुरी के आसपास के प्रदेश को भी 'धर्मारण्य' कहते थे।

† वाक्पति मुञ्जराजा चे दिग्विजय—म० म० प्रो० मिराशी, इन्दौर विशेषांक।

‡ म० म० डॉ० ओझा–राजपूताने का इतिहास–खण्ड १, पृष्ठ ३४९–६४।

⁑ धार स्टेट गजेटियर; वीणा के धारा-अंक में प्रकाशित सूर्यनारायण व्यास का 'मालवपति मुञ्जदेव'।

⁂ पृथ्वीवल्लभ मुञ्ज का प्रथम ताम्रपत्र—रा० ब० का० ना० दीक्षित, धारा अंक, वीणा; धरमपुरी ताम्रपत्र; ताम्रपत्र में उल्लिखित चिखिल्लिका, पिप्परिका, गर्दभपानीय आदि नाम अनुक्रम से चिखली, पिपरी, गधिनदी आदि विद्यमान हैं नकि 'चिखलदा' इत्यादि, इस प्रकार डॉ० गांगुली अपनी पुस्तक में पृष्ठ ४९ पर प्रदर्शित करते हैं।



तथा 'ऋषभ-पंचाशिका' की रचना की। उसके भाई शोभन का भी जैन वाङ्मय में प्रमुख स्थान है। 'धनंजय' ने दशरूप रचा जिसपर उसके भाई धनिक ने 'दशरूपावलोक' नामक टीका की। उसका काव्य-निर्णय भी सुविश्रुत है। धनिक का पुत्र वसन्ताचार्य भी बड़ा विद्वान् था और उसने मुञ्ज से पुरस्कार प्राप्त किया था*। भट्टहलायुध ने 'राजव्यवहारकोष' की रचना की तथा 'पिंगलसूत्र' पर हलायुधवृत्ति लिखी। जैन पंडित अमितगति ने अपने सुप्रसिद्ध 'सुभाषितरत्नसन्दोह' की जिसमें मुञ्ज की तिथि एवं कवित्व की समीक्षा है, रचना की।

मुञ्ज के सजीव स्मारक—बहुसंख्यक देवालय, घाट तथा धर्मशालाओं में से अब महेश्वर-मन्दिर एवं घाट; धार-राज्य धरमपुरी पर 'कुब्जासंगम† घाट' (खुजावा), उज्जैन में क्षिप्रा तट पर घाट तथा 'पिशाचमोचनतीर्थ'; धार राज्यान्तर्गत गंधवानी में 'पिशाचदेव तीर्थ‡'; धार में 'मुञ्ज सागर' तालाब तथा मुञ्ज द्वारा अपनी पुत्री के लिए निर्मित आजकल 'चकाबाऊ' नाम से ज्ञात 'चक्रवापी' नामक क्रीडावापी एवं निर्झर अवशिष्ट हैं।

चौथाई शताब्दी के विजयी जीवन के पश्चात् इस वीरश्रेष्ठ का अपने शत्रु चौलुक्य तैलप एवं उसकी सुन्दर कन्या मृणालवति द्वारा दु:खद अन्त हुआ। उसके जयपूर्ण जीवन एवं साहित्यकारों के संरक्षण की दृष्टि से उसका अन्त अत्यन्त दु:खपूर्ण था, और उसकी कुछ छाया पद्मगुप्त के करुणाक्रंदन 'गते मुञ्जे यश:पुंजे निरालंबा सरस्वती।' से प्राप्त होती है। उसके पुत्र दूर राजपूताने में होने के कारण अथवा कुछ के मतानुसार उसके नि:सन्तान होने से उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिंधुल हुआ, जो समीप ही, सम्भवत: धार के पश्चिम में अमझेरा‡ में था।

आख्यायिका का नायक सिन्धुल⁑ (९९९–१०१०)—किसी परमार नरेश का जीवन सिंधुल के समान सुख-दुख-पूर्ण एवं चित्ताकर्षक नहीं था। उसके अग्रज को उसके पिता सीयक द्वितीय ने दत्तक ग्रहण किया था, वह सिन्धुराज भी कहलाता था। अत: अपने पिता के नाम का छोटा रूप 'सिन्धुल' उसके हिस्से में पड़ा था। उसे अपनी प्राणरक्षा के लिए कारागार में से भाग जाना पड़ा था और वह पुन: नवसाहसांकचरित में अपने जीवनचरित के रचयिता पद्मगुप्त के वर्णन के अनुसार अपने जीवन का कवित्व एवं साहसपूर्ण नूतन अध्याय प्रारम्भ करने के लिए राजधानी को लौटा था। नागपुर के प्रो० मिराशी ⁂ने उसके अद्भुत जीवन की सफल व्याख्या की है।

उसके जीवन सम्बन्धी तथ्यों को प्रकाशित करनेवाला नवसाहसांकचरित सिन्धुल का एकमात्र जीवन-चरित्र है। उसके नागकन्या शशिप्रभा के प्रति प्रणय को केन्द्र बनाकर कवि ने अपने आश्रयदाता की, जिसकी स्वयं की राजधानी उज्जयिनी तथा कुल राजधानी धारा थी, प्रणयप्राय कथा गुम्फित की है। उसने हूण, कोशल (छत्तीसगढ़, मध्य प्रदेश) के शासक चौलुक्य कुन्तलराज, बागड के निवासी, लाट (मध्य एवं दक्षिण गुजरात) तथा मुरल (केरलदेश नाम से भी विख्यात मालाबार) पर भी विजय प्राप्त की। किन्तु इन सफलताओं के पीछे अपनी सत्ता सर्वोच्च स्थापित रखने के लिए वह आजकल 'शक्ति-सन्तुलन' नाम से परिचित राजनीति का अनुसरण करता था। यह वही काल था जब धुरदक्षिण के चोलराज ने अपनी विजय परम्परा का सूत्रपात किया था और सत्याश्रय चौलुक्य की राजधानी के द्वार आ खटखटाए थे। अधिक दबाव पड़ने पर सत्याश्रय ने अपने श्वशुर चक्रकोट्य के नागराज से साहाय्य की याचना की। सिन्धुल ने समयज्ञ के अनुरूप कोकण

---

* गंधवानी ताम्रपत्र वि० सं० १०३१।

† धरमपुरी (धार-राज्य) के पश्चिम में खुजावा नामक ग्राम है। वहाँ खूज नदी का एक घाट प्रपात के समीप विद्यमान है। खूज 'कुब्जा' शब्द का अपभ्रंश है। यहाँ अब तक कई विशाल मूर्तियाँ हैं।

‡ धार-राज्य के गन्धवानी गाँव के उत्तर में इस तीर्थ के मन्दिर के अनेक अवशेष आज भी पड़े हैं। समीप ही ताम्रपत्र में निर्दिष्ट चिखल्या एवं पीपरी गाँव स्थित हैं।

‡ धार से १६ मील पश्चिम में आमझेरा नामक ग्राम है। वहाँ अम्बिकादेवी का प्रसिद्ध मन्दिर है। सम्भवत: मुञ्जराज सिन्धुल से मिलने वहाँ गया होगा। —नवसाहसांकचरित ११।९८।

⁑ राजवल्लभकृत भोजचरित्र।

⁂ सिन्धुराजाच्या चरित्रांतील एक प्रसंग—प्रो० मिराशी भा० इ० सं० मं० भै०, वर्ष १३।

के महाराज से मैत्रीपूर्ण सन्धि करके, जिसके बदले में उसने चौलुक्यों की शक्ति के निग्रह का वचन दिया, अपने अपहृत प्रदेश को पुनः प्राप्त कर लिया। इसी समय चोल आक्रमण के उत्तर शाकों के प्रवाह को स्तंभित करने के लिए उसने नागराज से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। जिनका सफल प्रतिकार नहीं हो सकता था, ऐसे केवल दो ही शत्रु रहे थे--अनहिलवाड़ के चामुण्डराज तथा पाटण के वल्लभराज। अन्ततोगत्वा वल्लभराज ने धारा पर आक्रमण किया किन्तु स्वयं मारा गया। कुछ काल पश्चात्, जैसाकि कहा जाता है, विचारा सिन्धुल[*] १०१८ ई० में अथवा इससे कुछ पूर्व चामुण्डराज के विरुद्ध एक युद्ध में मारा गया।

जहाँ तक मालवा की साधारण स्थिति का सम्बन्ध है, उसका अनुरूप वर्णन करते हुए पद्मगुप्त प्रदर्शित करता है कि किस प्रकार उज्जयिनी के प्रासाद[†] अपने युवतिजनों के सुखप्रद आलोक से दीप्तिमान थे तथा कुल-राजधानी[‡] धारा अपनी तडागमेखला के कारण लंका से प्रतिस्पर्धा करती थी! उसकी महाकाल की भक्ति[§] तथा हाटकेश्वर की यात्रा भी उतनी ही स्तुत्य है।

सिन्धुल ने अपने पीछे दूसरे विवाह से उत्पन्न एक पुत्र छोड़ा जो उसका उत्तराधिकारी हुआ। शुभचन्द्र लिखता है[¶] कि उसकी रानी नागकन्या मृगावती ने युगलों को जन्म दिया जिसके नाम शुभचन्द्र तथा भर्तृहरि रखे गए। ऐसी माता से जन्म लेने के कारण यह स्वाभाविक है, जन्म से ही उनकी योगवृत्ति रही हो। इस परिस्थिति की व्याख्या मानववंश-शुद्धिशास्त्र (Eugenics) एवं आनुवंशिक नियमों के अनुसार की जा सकती है। भोज तो अपने पिता के पश्चात् महान् शासक के रूप में आलोकित हुआ तथा वे युगल योग एवं मंत्रशास्त्र के क्षेत्र में अतिमानव विकसित हुए।

महान् भोज (१०१०-१०५५)--**साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तद्यन्न केनचित्।**
किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥ --**उदयपुर प्रशस्ति।**

उज्जयिनी के महान् विक्रमादित्य के पश्चात् किसी अन्य भारतीय शासक ने विजयश्री के साथ साथ कवि-सम्राट् होने की कीर्ति अर्जित नहीं की। भारतवर्ष के भिन्न भिन्न भागों में[**] उनकी प्रोज्ज्वल सत्कृतियों, अलौकिकताओं तथा वास्तविकताओं से ओतप्रोत अनुश्रुति, कथा, उपाख्यान तथा लोकोक्तियाँ प्रचलित हैं। सौभाग्य से अपने ग्रंथों के तथा सत्कृत्यों के फलस्वरूप भोज पर कालात्यय का दुष्प्रभाव नहीं हुआ। इसके अतिरिक्त दूरदूर तक फैले उनके अभिलेख[††], भव्य सार्वजनिक भवन तथा नगरों[‡‡] के नाम उनकी स्मृति के अमर-चिह्न हैं।

---

[*] म० म० डॉ० ओझाजी का लेख, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, १९२० श्रावण।

[†] उज्जयिनीवर्णनम्, प्रथम सर्ग १७-५७।

[‡] कुलराजधानीवर्णनम्--धारेतिनाम्ना कुलराजधानी॥९०॥ --नवसाहसांकचरित।

[§] *Parmars of Dhar and Malwa*--Luard and Lele.

[¶] ज्ञानार्णव--शुभचन्द्र।

[**] राजा भोज सम कहाँ गांगू तैली कहिए--सुन्दरविलास।
क्या राजा भोज ने क्या गांगली घाचन (तैलिन)--गुजराती।
कहाँ राजा भोज और कहाँ टूटा तैली--बुन्देलखण्ड।
कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तैली--कोकण।
कहाँ राजा भोज कहाँ घांगो तैली--रेवाकाठा, पंचमहल।
कहाँ राजा भोज और कहाँ भोजवा तैली--युक्तप्रान्त।
कत राजा भोज कत गड़िया तैलिनी--बंगाल।

[††] कोदण्ड और खंग काव्य--भोज, *Parmar Inscriptions* (वि० स्मा० ग्रं०), धार।

[‡‡] भोपाल (भोजपाल), भोजकटक (हुशंगाबाद), भोपावर (भोजकच्छपुर), अमझेरा जिला, भोजपुर (जी० आई० पी० रेलवे का दीप स्टेशन)।

उसका नाम भोज अवन्ति के इतिहास-प्रसिद्ध भोज से ग्रहण किया गया प्रतीत होता है। उसके पिता सिन्धुल का जीवन अद्भुत कल्पनापूर्ण था अतः भोज का नामकरण भी कन्नौज के भोज परिहार (८४०-९० ईसवी) के नाम से, जिससे अपने काल में महत्त्वहीन पूर्वकालीन महत्त्वाकांक्षी परमार लोग गौरव का अनुभव करते रहे होंगे, तदनुरूप ही किया गया होगा। स्थिति वैपरीत्य के कारण जब उसका पिता युद्ध में हत हुआ, भोज केवल १४ वर्ष का था। उसे अत्यन्त अल्प आयु में शासनसूत्र का संचालन करना पड़ा, अतः यह स्वाभाविक ही था कि अन्य युवराजों की भाँति भाग्यलक्ष्मी ने उसका आलिंगन न किया होगा।

राज्य-सिंहासन ग्रहण करते ही उसे शासन व्यवस्था में व्यस्त होने के स्थान पर मालवा पर, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण भारत पर अपना सर्वोच्च आधिपत्य स्थापित करने में अपनी विधि से सप्रयत्न राजाओं से गृह-कलह के लिए सन्नद्ध होना पड़ा। उसका पिता अनहिलवाड़ के चौलुक्य के साथ युद्ध करते हुए हत हुआ था तथा दक्षिण के तैलप चौलुक्य ने उसके प्रतापी पितृव्य मुञ्ज का निर्दयतापूर्वक शिरच्छेद किया था। इसके अतिरिक्त समीप ही पूर्व में महत्त्वाकांक्षी कलचुरि उसपर सहसा आक्रमण करने को कटिबद्ध थे। इस प्रकार ग्रसित अवस्था में बालक भोज ने अपने शक्तिशाली शत्रुओं को चकित करते हुए अपने प्रोज्ज्वल चरित्र का निर्माण किया।

भोज की प्रारम्भिक युवावस्था—भोज का पिता निर्वासित होने के कारण स्वभावतः उसका पालन उसके पितृव्य मुञ्ज के राजप्रासाद में हुआ। उसके बाल्यकाल की कथाएँ* तथा संकटपूर्ण घटनाएँ अनेक हैं किन्तु वररुचि ज्योतिषी की भविष्यवाणी को सुनकर मुञ्ज द्वारा दी गई उसके बध की आज्ञा उसके प्रारंभिक जीवन की दुखद घटना थी। किन्तु भोज ने घटना व्यतिक्रम उपस्थित करनेवाला अपना दार्शनिक उत्तर‡ अपने वध्यापुरुष द्वारा भिजवाया। यह दार्शनिक उक्ति हमें स्मरण दिलाती है कि अहंकारी साम्राज्य लोलुपों का भविष्य क्या है। मान्धाता से लेकर युधिष्ठिर तक कोई भी शाश्वत रूप से साम्राज्य शक्ति को धारण करने में सफल नहीं हुआ अतः वर्तमान साम्राज्यिक अधिनायकों को चिन्ता किस अर्थ!

प्रचुर कथा-साहित्य में से शुभचन्द्र की उसके ज्ञानार्णव में देखी गई कथा वास्तव में ऐतिहासिक है और मालवा के प्रसिद्ध पुरुषों की प्रारंभिक जीवनियों पर पर्याप्त प्रकाश डालती है। भोज एवं भर्तृहरि उन नामों में से हैं जिनकी स्मृति उनके सार्वजनिक स्थापत्यों में, स्थानों के नामों में एवं साहित्यिक रचनाओं में अमर है। जहाँ तक भोज का सम्बन्ध है उसके धार में प्राप्त हुए ताम्रपत्रों एवं प्रशस्तियों के द्वारा उसका ऐतिहासिक आधार अधिक दृढ़ है; किन्तु भर्तृहरि के व्यक्तित्व की खोज होना अभी शेष है। शुभचन्द्र कहता है कि भोज के पिता सिंधुल का राजकुमारी मृगावती से विवाह हुआ जिससे शुभचन्द्र एवं भर्तृहरि युगल उत्पन्न हुए। वे दोनों पीछे से महान् योगी हुए। शुभचन्द्र ने जैन दीक्षा ग्रहण की और योगाभ्यास के निमित्त सांसारिक जीवन से निवृत्ति ली तथा भर्तृहरि ने मंत्रशास्त्र एवं धातुवाद में नैपुण्य प्राप्त किया। इस कथा के साथ हमें उज्जैन की वर्तमान भर्तृहरि गुफा का एवं भर्तृहरि की कल्पनात्मक उत्पत्ति का स्मरण होता है। इन यमल सन्तानों के जन्म के बहुत काल पश्चात्, जब सिन्धुल कारागार में था, भोज का जन्म हुआ। अतः नवसाहसांकचरित की प्रसिद्ध नागकन्या इन यमल पुत्रों की माता रही होगी, न कि भोज की।

भोज की विजय-परम्परा—अब तक भोज की विजयों की परिगणना उदयपुर-प्रशस्ति में हुई थी किन्तु अब उसके निश्चित प्रमाण एवं साक्ष्य उनके कोदण्ड तथा खड्गकाव्य में, जो धार स्टेट हिस्टोरिकल रिकॉर्डस् सीरीज के विक्रम-स्मारक-

---

* उसके बाल्यकाल की कथाएँ बहुविध ग्रंथों में से दिग्दर्शित की जा सकती हैं; जैसे (१) भोज प्रबन्ध—मुनि सुन्दरसूरि के शिष्य शुभशीलकृत (ना० प्र० पत्रिका, भाग १, अंक २), (२) भोजप्रबन्ध—सुकृतसागर रचयिता रत्नमंडनगणि (विद्याधिकारी, बडौदा)। (३) भोजचरित—राजवल्लभ। (४) भोजप्रबन्ध—बल्लाल। (५) सत्यराजगणि (जैसलमीर ग्रंथ-भंडार)। (६) प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुंग। (७) गुजराथ चा इतिहास—लोकहितवादी।

‡ मान्धाता स महीपतिः.................मन्ये त्वया यास्यति॥

ग्रंथ (*Parmar Inscriptions*) में प्रथम बार प्रकाशित होकर प्राप्य हैं। किन्तु अभी घटनाओं के ऐतिहासिक अनुक्रम के सम्बन्ध में कोई निश्चित बात नहीं कही जा सकती।

उज्जयिनी के राजसिंहासन पर भोज के आसीन होने का काल भारतवर्ष के इतिहास में घटना-बहुल था। उसे अपने पिता की मृत्यु का, जिसका वध अनहिलवाड़ के भीम चौलुक्य ने किया था तथा अपने पितृव्य मुञ्ज के निधन का भी जिसका शिरच्छेद तैलप चौलुक्य ने किया था, प्रतिशोध लेना था। पूर्व में कलचुरि राजवंश था, जिसका डाहल (चेदि देश नाम से भी ज्ञात यमुना एवं नर्मदा के बीच का प्रदेश) पर आधिपत्य था। राजा युवराज द्वितीय ने अपनी बहिन का विवाह दक्षिण के चौलुक्य राजा के साथ किया था जिससे मुञ्ज का शत्रु तैलप उत्पन्न हुआ था। उत्तर भारत के शासक साम्राज्य शक्ति की प्राप्ति के लिए वेगवान यत्न कर रहे थे। परमारों ने अपना पहले ही स्वर्णप्रसून एवं ऐतिहासिक विख्यात परम्परायुक्त भूमि के रूप में विश्रुत मालव पर दृढ़ आधिपत्य स्थापित कर लिया था। इसकी मध्यस्थ स्थिति के कारण इसे सब दिशाओं से आक्रान्ताओं का सामना करना था—पश्चिम से भीम चौलुक्य का, पूर्व से युवराज कलचुरि का, दक्षिण से विक्रम चौलुक्य पंचम का, और अन्त में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण राजपूतों का पश्चिमोत्तर से एवं मुसलमानों का उत्तर से।

कोंकण का अभियान भोज का प्रथम साहस प्रतीत होता है, जिसमें उसने शिलाहार राजा अरिकेसरी को पराजित किया और उससे जयफल के रूप में गरुडध्वज छीनकर उसे अपना राजध्वज बनाया। यह घटना, जैसा बेटमा* एवं बासवाड़ी† के ताम्रपत्रों से सिद्ध हो चुका है, १०२० ईसवी से कुछ पूर्व हुई। इस प्रकार उसकी विजय-परम्परा का प्रारम्भ हुआ।

कर्नाट एवं लाट (दक्षिण गुजरात) के राजा जयसिंह द्वितीय एवं उसका उत्तराधिकारी सोमेश्वर प्रथम (१०१८-४० ईसवी) थे। किन्तु भोज के युद्धों के प्रारंभिक भाग में तैलप की मृत्यु के पश्चात् विक्रमादित्य चौलुक्य (१००९-१८ ईसवी) के साथ उसका वास्तविक युद्ध हुआ। अतः भोज ने मुञ्ज की पुरातन प्रेयसी कुसुमावति‡ की सहायता से जो इस समय जैन साध्वी हो गई थी, विक्रमादित्य को बन्दी बना लिया और उसका वध करा दिया। पीछे से भाग्यचक्र भोज के विपरीत परिचालित हुआ। एक लम्बे विराम के पश्चात् सोमेश्वर प्रथम के साथ जो आहवमल्ल§ भी कहलाता था, शत्रुता प्रारंभ हुई। एक युद्ध में सोमेश्वर बिल्हण के कथन के अनुसार वास्तव में विजयी हुआ।

गुजरात के भीम ने धार पर दुबारा आक्रमण किया था। भोज व्याकुल हो गया था, किन्तु सौभाग्यवश भीम शीघ्र ही सिन्ध के शासक को दण्ड देने चला गया। उसकी अनुपस्थिति में भोज ने अपने सेनानी कुलचन्द्र को आक्रमण के लिए भेज दिया। वह अनहिलवाड़ को हस्तगत करने में सफल हुआ और विजयी होकर धार लौटा। सिन्ध से लौटने पर भीम अपने शहर पर हुए आक्रमण से तथा भोज के सेनापति से अपमानित होने के कारण अत्यन्त उद्विग्न हुआ। धार को हस्तगत करने के लिए सेनाएँ भेज दी गईं। बिचारा भोज अनवदित अवस्था में था और बन्दी बना लिया गया था, किन्तु पीछे से मुक्त कर दिया गया था। उन्होंने परस्पर सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर किए और भीम के राजदूत डामर¶ (दामोदर) ने भोज को विश्वास-पत्र दिया। उस काल में भोज जैसे शासकों की राजसभा में अनेक विद्वान् पण्डित रहा करते थे जो अपने स्वामी के शत्रुओं पर साहित्यिक अवहास कटु एवं उच्छृंखलतापूर्ण कुटिल उक्तियों से प्रहार किया करते थे। भोज विद्वानों के आश्रयदाता के रूप में प्रसिद्ध था ही। ऐसी जनश्रुति है कि भीम एक बार भोज की वैभवशालिनी राजसभा को

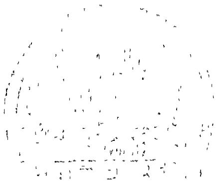
*** इन दोनों दानपत्रों पर श्री डिस्कलकर ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।**

† बासवाड़ी प्लेट माघ शुक्ल ७ वि० सं० १०७६ की है। पश्चात् काल गणनानुसार भाद्र शुक्ल १५ वि० सं० १०७६ में कोकण-ग्रहण विजय-पर्वणी के उपलक्ष्य में बेटमा प्लेट का दानपत्र दिया गया।

‡ धार स्टेट गजेटियर।

§ ....नलस्तस्याप्याहवमल्लदेव नृपतेर्दोर्दण्ड..................डूहरः। धर्मपुरी शिलाखंड, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ धार पृष्ठ, ८८।

¶ "समुद्रा दामरोराव सते..................पमार्क" विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार, पृष्ठ ३५।



देखने के लिए इतना लालायित था कि वह प्रच्छन्न रूप से स्वयं धार पहुँचा और छद्मरूप से उसकी सेवा में रहा। अपने स्वामी की प्रशंसा करते हुए डामर ने अपनी वक्रोक्ति का भोज को लक्ष्य बनाया। उसी समय पहचाने जाने की आशंका से भीम राज-सभा से खिसक गया। इसके पश्चात् अपने स्वामी को बचाने के लिए भोज का ध्यान दक्षिण की ओर आकृष्ट करते हुए, जहाँ मुञ्ज की मृत्यु का प्रतिशोध लिया जाना शेष था, डामर ने दूसरा व्यंग्योक्ति का प्रहार किया। इस प्रकार चौलुक्य के विरुद्ध आक्रमण हुआ, किन्तु लड़ाई समाप्त हो गई और भीम एवं सोमेश्वर दोनों के साथ सन्धि हुई।

अनहिलवाड़ के भीम चौलुक्य को एवं दक्षिण के सोमेश्वर चौलुक्य को सन्धि द्वारा मौन कर देने के पश्चात् युद्ध करने के लिए सबसे बड़ा अवशिष्ट शत्रु कलचुरि गांगेयदेव* था। कन्नौज गुर्जर प्रतिहार का उन्मूलन करके गांगेयदेव ने अपने राज्य का विस्तार उत्तर में नैपाल एवं तिरहुत तथा दक्षिण में कर्णालिक† पर्यन्त कुन्तल तक कर लिया था। अतः स्वभावतः उत्तर भारत पर एकाधिपत्य स्थापित करने की महत्त्वाकांक्षा से उसने भोज के राज्य पर आक्रमण किया। एक निर्णायक युद्ध ऊड़ा गया जिसमें गांगेयदेव‡ पूर्ण रूप से पराजित हुआ। इस प्रकार अपमानित होकर वह प्रयाग-वास करने चला गया और १०४१ ईसवी में मर गया। इस विजय की स्मृति में भोज ने जयस्तंभ निर्मित कराया जिसे आज भी धार में लाट मसजिद पर, जिसका यह नाम ही इस स्तंभ के कारण पड़ा है, देखा जा सकता है। स्थानीय जनता उस स्तंभ की ओर संकेत करते हुए बतलाते हैं कि इस विशाल तोल के स्तंभ को गांगी नाम की एक तेलिन ने स्थापित किया था। वेदिका की जिन दीर्घकाय शिलाओं में वह रोपा गया था, वे उस तेलिन के समान भार के हैं, ऐसी जनश्रुति है। यह मनोरंजक लोककथा सम्पूर्ण भारत में प्रचलित है। सौभाग्यवश इस जनश्रुति ने तैलंगन के साथ भोज एवं गांगेय दोनों का सम्बन्ध सुरक्षित रखा है। मन्डपदुर्ग के राजपथ पर नालछा के समीप एक पहाड़ी है। यह तेलण टेकड़ी के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः उसका यह नाम उस पहाड़ी के समीप युद्ध होने का संकेत करता है। उस काल में नलकच्छपुर (नालछा) की विद्या के केन्द्र के रूप में, जहाँ अमितगति सदृश§ विद्वान् शिष्यों को विद्यादान करते थे, पहले से ही प्रसिद्ध थी। इस स्थान पर विद्वानों द्वारा सुभाषितरत्नसन्दोह, पंचसंग्रह सदृश कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना हुई थी। इस विजय का एक प्रमाण धार की आर्कऑलॉजिकल म्यूजियम में सुरक्षित कोदण्डकाव्य नामक अभिलेख¶ में पढ़ा जा सकता है। 'कहाँ राजा भोज और कहाँ गांगली तेलन' इस पंक्ति में गंगा एवं तैलन क्रमशः कलचुरि गांगेयदेव एवं तेलंगन का संकेत करते हैं। पारिजातमंजरी नामक दो अंक का नाटक भी इस ऐतिहासिक घटना का, जो पीछे जनश्रुति में परिवर्तित हो गई, समर्थन करता है। अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ परिवर्तन के साथ यह लोकोक्ति भारतवर्ष के सभी भागों में प्राप्त होती है।‖

जहाँ तक भोज द्वारा मुसलमानों के प्रतिरोध एवं उन्हें पराजित किए जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में किसी निश्चित तिथि एवं स्थान का निर्देश नहीं किया जा सकता। यह सम्भव है कि भोज की सेनाओं ने महमूद गजनवी से सम्मिलित युद्ध करनेवाले अन्य राजाओं की सेनाओं से सहयोग किया हो। यह घटना १००८ ईसवी अथवा १०१९ ईसवी की हो सकती है। अथवा उस समय की हो सकती है जब १०४३ ईसवी में हिन्दू राजाओं ने महमूद गजनवी के प्रतिनिधि शासक के विरुद्ध सम्मिलित युद्ध किया था। 'तुरुष्कों'** पर भोज की विजय का निर्देश, उसका उल्लेख कोदण्डकाव्य में होने के कारण स्थिर करता है।

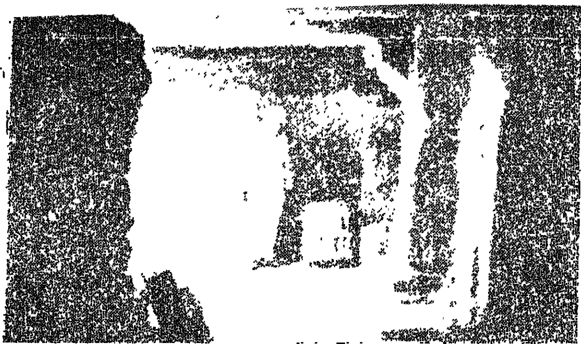
*** जबलपुर ज्योति—रा० ब० हीरालाल, रासमाला।**

† जबलपुर ज्योति। ‡ वही। § प्राचीन ग्रंथकार—गोविन्दराम परवार, धार-अंक, वीणा।

¶ असिकिरणरज्जुबद्धं जेणं जयकुंजरं तुमं धरसि। जयकुंजरस्स थंभोए........कोदण्डकाव्य (विक्रम-स्मारक-ग्रंथ) धार, पृष्ठ ७४।

‖ देखिए टिप्पणी, पृष्ठ ७।

**** तइ रक्खिआ तुरुक्का धरणी अज्जं वणे सुसत्ते। सिरवेढ़ताण इहं..........कोदंडकाव्य, पृष्ठ ७६, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।**



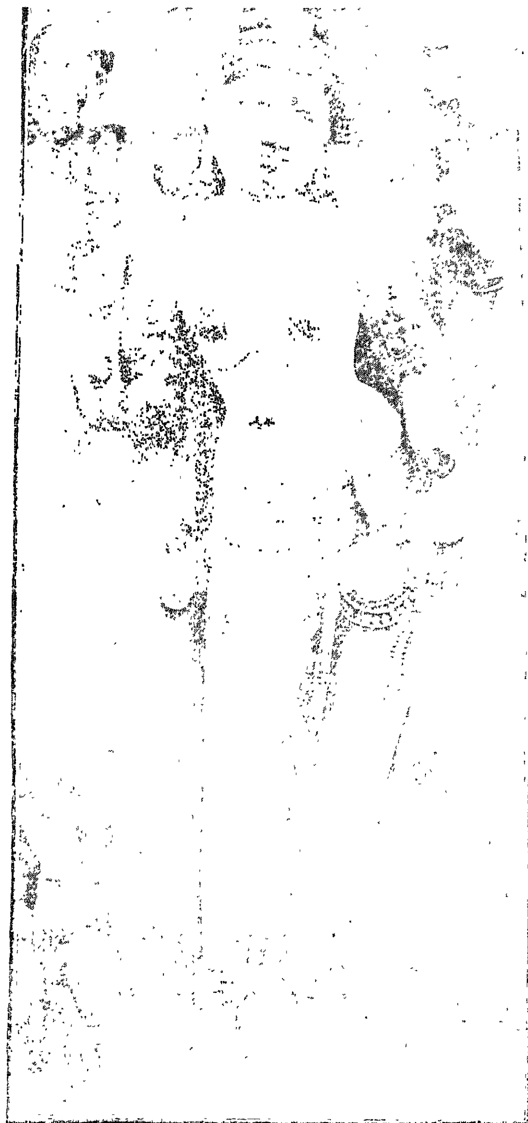
लुहांगी गुहा, मांडव (पृष्ठ ५९९)



लुहाँगी गुहा, माँडव (पृष्ठ ५९९)

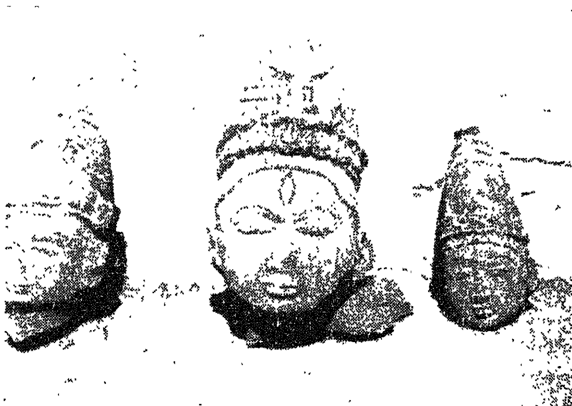


एकपत्थरी-स्तंभ, माँडव (पृष्ठ ६०१)

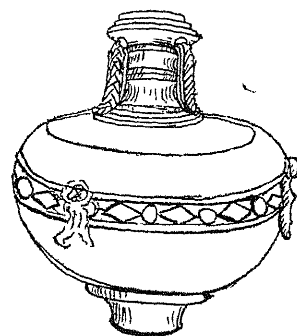


भोज के भारती-भवन की सरस्वती-प्रतिमा (पृष्ठ५८५ तथा ५९०)

धार एवं मांडव चित्रावली

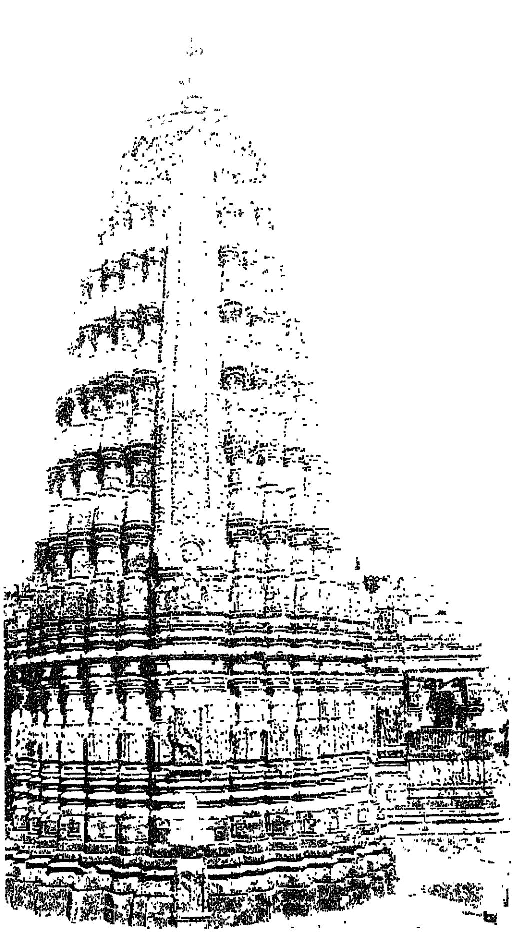


कुछ प्रस्तर-मूर्तियाँ, धार,



माँडव में प्राप्त भाण्ड का रेखाचित्र

उदयेश्वर-मन्दिर, बगल से।



उदयेश्वर-मन्दिर, पीछे से।

उदयेश्वर-मंदिर, भीतरी भाग।

उदयेश्वर-मन्दिर चित्रावली (पृष्ठ ६११)

एक छोटी महामुद्रा।



इन्द्रस्थ पर उसकी विजय का निश्चित रूप से उल्लेख नहीं किया जा सकता यद्यपि विद्वानों की मनोवृत्ति उसे कलिंग के गंग का सामन्त मानने की है। यह वही राजा हो सकता है जो राजेन्द्रदेव चोल का शत्रु था।*

लाट-विजय के सम्बन्ध में भोज द्वारा कीर्तिराज को दी गई पराजय का निर्देश किया जा सकता है।

स्वर्गीय के० के० लेले ने तोर्गल† को दक्षिण में बीजापुर जिले का वर्तमान 'तोगिल' कहा है जो अब शिन्दे नामक मराठा सरदार के अधीन है।

भोज के युद्धों का अनुक्रम बतलाने का डॉ० गांगुली का प्रयत्न वास्तव में मनोरंजक एवं बहुत अंश में प्रत्ययकारक है।

इस प्रकार उदयपुर-प्रशस्ति‡ में भोज की विजयों का उल्लेख एवं स्वयं भोज द्वारा उनका समर्थन भोज के अनुश्रुति-पूर्ण आवेष्टन से उत्पन्न विवाद को समाप्त कर देता है।

भोज के सर्वोच्च व्यक्तित्व की तुलना में उसके अन्य समकालीन राजाओं की प्रभा मन्द पड़ जाती है। इसमें त्रिपुरी के महान् राजा गांगेयदेव तथा उसी के समान निम्न श्रेणी के तैलंगानाधिपति को अपवाद मानने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। वह अद्वितीय विजेता था और साहित्य के विस्तृत क्षेत्र में एवं अनुपम वदान्यता§ में उसकी वरिष्टता नवीन प्रमाण की अपेक्षा नहीं करती।

साहित्यसेवी भोज——मुंज को विद्वानों ने 'कविमित्र' नाम दिया था किन्तु भोज को वे 'कविराज' उपाधि से विभूषित करते हैं। उसकी अगाध सर्वतोमुखी विद्वत्ता उसके निर्मित विविध विषयों के ग्रंथों की परिगणना से ज्ञात होती है और भोज की इतने ग्रंथों के निर्माण की क्षमता के सम्बन्ध में शंका नहीं की जा सकती है। उसके काल की विद्वत्ता के मान से परीक्षण करते हुए यह ज्ञात होता है कि शास्त्रों का साधारण ज्ञान प्राप्त करने के लिए अध्यवसायपूर्वक लगभग १२ वर्ष लगते थे। साधारण अंग्रेजी की पढ़ाई में भी १२ वर्ष के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी बी० ए० हो सकता था। किन्तु विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए केवल व्याकारण के अध्ययन में ही १२ वर्ष और लगते थे——"द्वादशवर्षैः व्याकरणं श्रूयते"——इससे भी संस्कृत साहित्य की विशालता की भी कल्पना होती है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि धार के अपने 'भारती-भवन' अथवा 'शारदासदन'¶ को, जिसके अध्यक्ष पद पर लन्दन म्यूजियम में स्थित विक्रम संवत् १०९१ की सरस्वती‖ (देखिए चित्र) की मूर्ति आसीन थी, अलंकृत करना भोज की कितनी महान् सफलता थी।

पूर्व टिप्पणी के अनुसार भोज का साहित्य के विस्तृत क्षेत्र पर अधिकार था और उसकी सर्वोतमुखी विद्वत्ता के सम्बन्ध में जो उसकी रचनाओं द्वारा ज्ञात होती है, पूर्ण विवेचन उपयोगी है। स्वर्गीय राज्यरत्न का० कृ० लेले ने भोज एवं उसकी रचनाओं पर अपना समालोचनात्मक विवेचन** प्रकट किया है। यहाँ उसकी रचनाओं की सूची देना असम्बद्ध न होगा:——

ज्योतिष——राजमार्तण्ड, राजमृगांककरणं, विद्वज्जनवल्लभप्रश्नज्ञान, आदित्यप्रतापसिद्धान्त।

अलंकारशास्त्र——सरस्वतीकंठाभरण।

---

* *History of Parmar Dynasty*—Ganguli पृष्ठ ९५।

† स्व० का० कृ० लेले महोदय के आँर्केऑलॉजिकल नोट्स।

‡ चेदीश्वरेन्द्ररथतोग्गलभीममुख्यान् कर्णाटलाटपति गुर्जरराट् तुरुष्कान्।

§ गोसहसाणं दाणं केणावि कयावि एत्थ विहिअं................, पृष्ठ ७४।
गोलक्खदाण धूली अत्थक्कंनव............।।३१९।। कोदण्डकाव्य।

¶ स्तूर्णं पूर्णमनोरथश्चिरमभूद्गांगेयभंगोत्सवे ।।३।।—पारिजातमंजरी;
............न्मधि चेदिनाथे ग्लपितगरिमणिक्षा............धरमपुरी शिलालेख-पृष्ठ ८८, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।

‖ इस मूर्ति के अस्तित्व के सम्बन्ध में रा० ब० का० ना० दीक्षित सेवानिवृत्त डायरेक्टर जनरल आँर्केऑलॉजी ने सर्व प्रथम सूचना दी। कलकत्ता के "रूपम्" मासिक में तथा अन्यत्र इस ग्रन्थ में इसका फोटो छपा है।

** भोजदेव यांची साहित्यसेवा——का० कृ० लेले, मालवसाहित्य, इन्दौर।



योगशास्त्र—राजमार्तण्ड नामक पतंजलिप्रणीत योगसूत्र पर टीका।
धर्मशास्त्र—पूर्तमार्तण्ड, दण्डनीति, व्यवहारसमुच्चय, चारुचर्या।
शिल्पशास्त्र—समरांगणसूत्रधार, युक्तिकल्पतरु।
काव्य—चंपू रामायण ५ कांड, महाकाली विजय, विद्याविनोद, शृंगारमंजरी, सरस्वतीकंठाभरण, रसप्रकाश, कूर्मशतक, कोदण्डकाव्य, खड्गकाव्य, (अनामकाव्य-त्रुटित शिलालेख)।
नाटक—हनुमान नाटक।
वैद्यकशास्त्र—विश्रांतविद्याविनोद, आयुर्वेदसर्वस्व, राजमृगांक।
संस्कृतकोश—नाममाला।
व्याकरण—संस्कृत और प्राकृत व्याकरण।
शैवमत—तत्वप्रकाश, शिवहात्वरत्नकलिका।
संगीत—रुद्रयेनान्यभूपालो भोजवल्लभस्तथा। परमर्दीच सोमेशोजगदेक (ब) महीपतिः।। १८।।—संगीत रत्नाकर।
इतर—शालिहोत्र (अश्वशास्त्र पर) इत्यादि।

ऐसा दिग्गज साहित्यकार साथ साथ शासक एवं सम्राट् भी था। विक्रमादित्य महान् के समान ही सुविश्रुत विद्वानों को संरक्षण देने में वह अप्रतिम था। सुभाषितावलि में उनकी गणना इस प्रकार की गई है :—

भोजश्चित्तप बिल्हणप्रभृतिभिः कर्णोऽपि विद्यापतिः। ख्यातिं यान्तिनरेश्वरः कविवरैः स्फारैर्नभेरीरवैः।।

यहाँ उल्लिखित बिल्हण* 'सरस्वतीस्तोत्र' का रचयिता नहीं हो सकता, कारण कि वह स्वयं महाराज विन्ध्यवर्मन की राजसभा में अपना सांधिविग्रहिक होना स्वीकार करता है।

उससे संरक्षण प्राप्त अन्य जैन विद्वान्‡ थे—उबट, शुभचन्द्र, नेमिचन्द्र चक्रवर्ति, प्रभाचन्द्र एवं निचुल। अपनी राजसभा में नवरत्न रखने के लिए भोज द्वारा अपनी तुलना विक्रम⁑ से किए जाने के कारण यह स्वाभाविक है कि उसका अपना कालिदास भी हो। कुछ उपर्युक्त साहित्यकारों में से एक के साथ उसकी अभिन्नता स्थापित करते हैं। प्रोफेसर परांजपे कहते हैं कि कालिदास† तीन होने के प्रमाण हैं। सर रामकृष्ण भंडारकर का मत भी इसी प्रकार का है। भोज का कालिदास उनमें से एक था।

---

* विरचितमिहविष्णोर्दामवाक्यप्रसूनैश्चरणसततपूजा वाक्कृता बिल्हणेन—मांडव शिलालेख, विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, पृष्ठ ४३, धार।

‡ गुणरत्नमहोदधि, विक्रम संवत् ११९७—
शालानुरीय१ शकटांगज२ चन्द्रगोमी, दिग्वस्त्र३ भर्तृहरि४ वामन५ भोज६ मुख्याः।
मेधाविनः प्रवरदीपक७ कर्तृयुक्ताः प्राज्ञैर्निषेवित पदद्वितयाजयन्ति ।।२।।

⁑ पाणिनि, २ शाकटायन, ३ देवनंदी, ४ वाक्यपदीयप्रकीर्णकयोःकर्ता महाभाष्यनिपाद्या व्याख्याताच। ५. अविश्रांत विधाधर व्याकरणकर्ता, ६. सरस्वतिकंठाभरणकर्ता, ७. भद्रेश्वर सूरि। शृंगारप्रकाश—के० पी० जायसवाल, *Modern Review* June, 1928.

† वल्मीकप्रभवेण रामनृपतिर्व्यासेन धर्मात्मजो व्याख्यातः किलकालिदासकविनाश्रीविक्रमांकोनृपः।
भोजश्चित्तप बिल्हणप्रभृतिभिः कर्णोऽपि विद्यापतेः ख्यातिं यांतिनरेश्वराः कविवरैस्फारैर्नभेरीरवैः।।
सुभाषित रत्न भाण्डागार–निर्णयसागर, प्रॉ० शर्मा की सूची।
शृंगारप्रकाश–पाण्डेय रामावतार शर्मा, सुधा, श्रावण संवत् १९८५।

(१) एकोऽपिजीयते हन्त कालिदासो न केनचित्। शृंगारे ललितोद्गारे कालिदासत्रयी किमु।।
(२) गोविंदराय पवार, धारा-अंक, वीणा।
(३) चंदण धवला अज्जं पण्डिअवग्गोभम्बंत ओ................३८१—विक्रम-स्मारक-ग्रंथ, धार।

उसके काल में उज्जैन के अतिरिक्त विद्या के तीन केन्द्र थे उनमें धार का प्रसिद्ध भारतीभवन था। दूसरा मांडू में था और तीसरा नलकच्छपुर (नालछा, धार-राज्य) में था।

उसके औदार्य एवं विद्या के संरक्षण के सम्बन्ध में कोदण्डकाव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ आकर्षक हैं :—

गोग्गहताणं दागं केणावि कयावि एत्थ विहिअं। गोल..................

उसके विस्तृत एवं गम्भीर पांडित्य के कारण और विशेषतः सब धर्मों के प्रति उसके उदार विचारों के कारण विद्वानों की एक परिषत् की अध्यक्षता के लिए भोज को निमंत्रित किया गया था :—

आस्थानाधिपतिः तौ बुधादविगुणो श्रीभोजदेवेनृपे।—प्राचीन लेखमाला, भाग २, पृष्ठ २२३।

भोज के सार्वजनिक निर्माण—भोज के नाम से सीधे सम्बद्ध एवं दैव के घातक प्रहार के पश्चात् भी उसकी पुण्यस्मृति को पुनरुज्जीवित करने के लिए निम्नलिखित स्थानों के नाम एवं देवालय अवशिष्ट हैं :—

भोजपाल (भोपाल) तथा दीप नामक जी० आई० पी० रेलवे स्टेशन के समीप की विस्तृत झील,* जो अब लुप्त हो गई है और उसका केवल द्वीप (दीप जो अब रेलवे स्टेशन है) शेष रह गया है तथा थोड़े से सेतु, बेतवा (वेत्रवति) के समीप भोजपुर देवालय, भोजकटक (होशंगाबाद), अमझेरा जिला भोपावर, भोजशाला‡ एवं उसका सरस्वती कूप, राजमार्तण्ड राजमहल‡ तथा अन्तिम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वि० सं० १०९१ की अब लन्दन म्यूजियम में स्थित सरस्वती की मूर्ति (देखिए चित्र)।

उदयपुर प्रशस्ति में उल्लिखित देवालय इस प्रकार हैं :—

केदार रामेश्वर सोमनाथ सुंडीर कालानलरुद्रसत्कैः। सुराश्रयै र्व्याप्यचयः समंतात् यथार्थसंज्ञांजगतीं चकार।

इन अनेक में से केवल दो को निश्चयपूर्वक बताया जा सकता है। एक तो काश्मीर में कपटेश्वर के समीप 'पापसूदनतीर्थ' है तथा दूसरा अब भी सुन्दरबन (सुण्डीर) बंगाल में वर्तमान है जिसमें दुरूहता एवं जल की गम्भीरता के कारण यात्रियों को वर्ष में केवल दो बार दर्शन प्राप्त होता है।

भोज के अन्तिम दिन—अन्य जन्मजात महान् व्यक्तियों के समान ही भोज के अन्तिम दिवस भी सुखप्रद न हो सके। कारण कि ऐसे व्यक्तित्वों के जन्म से ही महान् होने के कारण दैव उनके प्रति प्रतिरोधात्मक रहता है। गुजरात के भीम एवं चेदि के कर्ण ने उस काल के उच्चतम व्यक्ति पर आक्रमण करने के लिए परस्पर सन्धि की। उसका युद्ध-परिश्रांत-स्नायु-मण्डल क्षीण हो रहा था। भयभीत शत्रुओं के उत्क्रोश बीच नियति की इच्छा को उसने सहर्ष स्वीकार किया और अपनी जाति के भावी गौरव के निमित्त देह त्यागी। उसकी मृत्यु लगभग १०५५ ईसवी † में हुई।

स्वर्गीय पण्डित का० कृ० लेले की टिप्पणी के अनुसार "सम्राट् भोज का अपना विशिष्ट अनुपम महत्त्व है।"

उसका उत्तराधिकारी उदयादित्य हुआ और मालवा के परमारों के गौरव को पुनरुज्जीवित करने के लिए उसने कठिन युद्ध किया। सुविश्रुत उदयपुर-प्रशस्ति द्वारा वह अपनी कीर्ति को अमर करने में सफल हुआ।

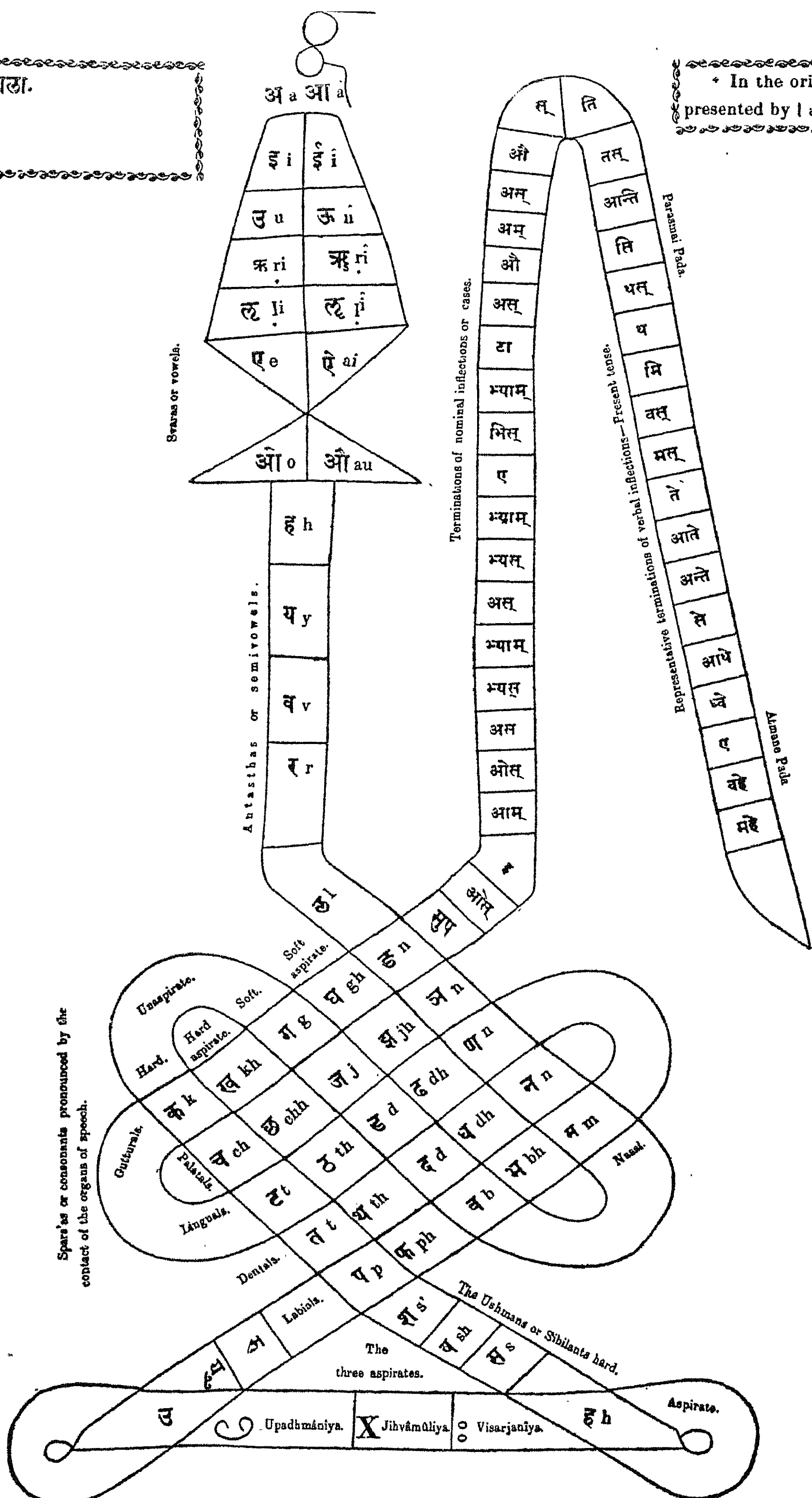
---

* *Ind. Ant.* XVII पृष्ठ ३४८–५२।

‡ वर्तमान कमालमौला मस्जिद जिसमें नागबंध, पारिजातमंजरी, कूर्मशतक एवं भग्नशिलाएँ विद्यमान हैं।

‡ वर्तमान लाट मस्जिद जिसमें साक्षीभूत विजयस्तंभ है।

† *Parmars of Dhar and Malwa*—Luard and Lele.



धार की भोजशाला में उदयादित्य तथा नरवर्मदेव के उल्लेख युक्त स्तंभोत्कीर्ण व्याकरण सम्बन्धी सर्पबन्ध।

(देखिये पृष्ठ ५१५ तथा ५९३)

मालवे के परमार—पवार

श्री चिंतामण बलवंत लेले बी० ए०

"It is a curious coincidence that the success of the Marathas should, by making Dhar the capital of Anandrao and his descendants, restore the sovereignty of a race who had seven centuries before been expelled from the Government of that city and territory."

—Sir John Malcolm.

सर जॉन मालकम मालव-भूमि में अंग्रेजी सत्ता की नींव डालने के लिए प्रमुख सन्धि-विग्रहक के नाते से नियुक्त थे। मराठा-राज्य का नर्मदोत्तर विस्तार होना आक्रमण कहा जाता है, किन्तु हिन्दू-समाज का वह विक्रमण, आक्रमण नहीं कहा जा सकता, यह सिद्ध हो चुका है। पेशवा बाजीराव का ध्येय, छत्रपति शिवाजी महाराज के राष्ट्रीय कार्यक्रम का प्रमुख एवं प्रधान भाग था। पवार वंश का धारा नगरी पर आधिपत्य होना, इतिहास में पुनरावर्त्तन के सिद्धान्त को दोहराना मात्र है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व इसी नगरी पर परमार राज्यवंश के पुरुष राज्य करते थे। उपेन्द्रराज अथवा कृष्णराज, अचलगढ़ तथा चन्द्रावती नगरी से अपने राज्य का विस्तार करते हुए, मालवदेश में आए और उज्जयिनी एवं धारा नगरी को केन्द्र-स्थान बनाकर उन्होंने चतुर्दिक अपना स्वामित्व प्रस्थापित किया। तदनन्तर धारा का महत्व "धारेति नाम्ना कुल राजधानी"* के रूप में हुआ। मालवे में परमार-वंश की स्थापना ई० स० ८०० से हुई और चौदहवीं सदी के प्रथमार्द्ध तक, इसी वंश का मालवे पर आधिपत्य रहा। कृष्णराज से लेकर जयसिंह चतुर्थ तक परमारों के चौबीस राजपुरुष हुए। इस वंश के नेतृत्व में राज्य का विस्तार एवं काव्य, शास्त्र, कला, वैभव आदि अनेक अंगों का उत्कर्ष हुआ। परन्तु जिसके लिए भारतीय इतिहास में इनका स्थान गौरवपूर्ण माना जाता है, अनेक देशीय तथा विदेशी पंडित, संशोधक एवं राजवेत्ता आज भी धारा का आदरभाव से स्मरण करते हैं; लन्दन के ब्रिटिश-म्यूजियम-स्थित राजा भोज की अधिष्ठात्री

* नवसाहसांकचरितम्।

सरस्वतीदेवी* इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इस प्रभावशाली एवं भारत-विख्यात वंश का संक्षिप्त रूप से परिचय देना इस लेख का एकमेव उद्देश्य है। यह केवल संक्षिप्त विहंगमावलोकन ही होगा।

कृष्णराज के पश्चात् वैरसिंह प्रथम और सीयक प्रथम ये दो नरेश अधिष्ठित हुए। इनका वृत्तान्त ताम्रपत्र अथवा शिलालेख द्वारा अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। अनन्तर वाक्पतिराज प्रथम, जिनका दूसरा नाम अजयराज भी था, गद्दी पर बैठे (ई० स० ८७५-९१४)। उत्तर में गंगा† तक इन्होंने विजय प्राप्त की। अन्त में इन्होंने अपनी रानी कमलादेवी के साथ वानप्रस्थ में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इसके बाद वैरसिंह द्वितीय, जिसे वज्रट नाम से भी पुकारा जाता है, स्थानापन्न हुए। गुर्जर, प्रतिहार तथा राष्ट्रकूटों का सामना करके इस परमार-नृप ने धारा नगरी में अपना स्वतंत्र राज्य स्थापित किया। इसके बाद सीयकदेव द्वितीय, जिन्हें हर्षदेव‡ भी कहते हैं, सिंहासनारूढ़ हुए। राजकाल के आरम्भ में ही इन्होंने 'महाराजाधिराजपति' 'महामांडलिक-चूड़ामणि' उपाधियाँ लीं। मेरुतुंग ने इनको 'सिंहदत्तभट्ट§' कहा है। इन्होंने सौराष्ट्र के चालुक्य, हूण, चन्देल आदि से यशस्वी सामना किया, तथा दक्षिण के मालखेट राजा खोट्टिगदेव‖ पर उल्लेखनीय विजय प्राप्त की। अपने जीवनकाल में ही इन्होंने अपने सुपुत्र मुञ्जदेव को राज्य का सम्पूर्ण भार सौंप दिया था। राष्ट्रकूट साम्राज्य का विनाश, जिसका आदिश्रेय हर्षदेव को है, परमारों के इतिहास के विकासकाल की एक प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण घटना मानी जाती है। वाक्पतिराज के शासनकाल में परमार-राज्य का क्षेत्र विस्तृत हुआ था। उत्तर में बाँसवाड़ा, दक्षिण में गोदावरी, पूर्व में भेलसा तथा पश्चिम में माही तक परमार राज्य का विस्तार था। इसकी पत्नी का नाम वडाग था। अन्त में यह राजा योगी बन गया। वाक्पतिराज (ई० स० ९७३-९९७ तक) ने कर्नाटक, गुजरात, केरल आदि के विरुद्ध विजय प्राप्त कीं। उत्पलराज, अमोघवर्ष, मुञ्जदेव इन्हीं नामों से वे शासनपत्रों में सम्बोधित हैं। 'श्रीवल्लभ' 'पृथ्वीवल्लभ' ये उनके विरुद हैं। इन्होंने कल्याणपुर के चालुक्यवंशीय राजा तैलपदेव का अनेक बार पराभव किया। अन्त में ई० स० ९७५ के युद्ध में तैलप पकड़ा गया। तैलप ने बदला लेने का प्रयत्न किया, जिसके परिणामस्वरूप ई० स० ९९५ के लगभग मालवे पर आक्रमण हुआ। मंत्री रुद्रादित्य द्वारा विरोध करने पर भी वाक्पतिराज ने चालुक्य-राज्य में प्रवेश किया। अन्ततोगत्वा इनकी मृत्यु बड़ी निर्दयतापूर्वक हुई।¶ इनकी अनेक विजयों से राज्य की मर्यादा बढ़ गई। कुछ समय तक पूर्व में कलचुरि, पश्चिम में गुजरात और लाट, उत्तर में मेवाड़ तथा दक्षिण में मारवाड़ तक परमार राजाओं का आधिपत्य अबाधित रहा। वाक्पतिराज केवल शूर ही नहीं था, परन्तु विद्यानुरागी एवं पंडित भी था। विद्वद्समाज में इनको 'कविमित्र' अथवा 'कविबांधव' नाम से स्मरण किया जाता था। वाक्पतिराज के समय में (परिमल-कालिदास), धनपाल, शोभन, धनिक, धनंजय, भट्ट हलायुध, अमितगति धनेश्वरादि अनेक पंडितों एवं कवियों को परमार-राज्य द्वारा आश्रय प्राप्त था।** इनके अतिरिक्त मुञ्जदेव के समय में कलावन्तों को भी आश्रय मिला। धार तथा मांडव का मुञ्जसागर, धरमपुरी, ओंकारेश्वर, उज्जयिनी आदि स्थानों पर अनेक देवालयों तथा घाटों के रूप में इनके स्मारक आज

---

* पादपीठ पर निम्नलिखित लेख खुदा हुआ है :— ॐ श्रीमद्भोज नरेन्द्र चन्द्र नगरी विद्याधरी..................
मौनधिनमास.........स्म खलुसुखं (प्राप्यान) याप्सरः वाग्देवीप्रतिमां विधाय जननीम् यस्यार्जितनां त्रयीं
............फलाधिकां धारा..................मूर्ति शुभां निर्ममे ॥ इति शुभम् ॥
सूत्रधार साहिरसुत मनथलेन घटिताम् वीटिका शिवदेवेन लिखिताम् ॥ इति संवत् १०९१ ॥

† उदयपुर प्रशस्ति—"सतमखानु कृतिस्तुरंगा। गंगासमुद्र सलिलानि पिवन्ति यस्य॥ शत्रोर्वसं धारया सेनिहित्य। श्रीमद्धारा सूचिना येन राज्ञा॥

‡ ई० स० ९४१-९७३।

§ प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ३०।

‖ यह युद्ध खलघाट में लगभग ई० स० ९७० में हुआ।

¶ नवसाहसांकचरितकर्ता।

** (अ) पद्मगुप्त—नवसाहसांकचरितम्। (आ) धनपाल—तिलकमंजरी, पयवाक्षीनाममाला, ऋषभपंचाशिका। (इ) धनंजय—दशरूपम्। (ई) धनिक—दशरूपावलोक, काव्यनिर्णय। (उ) हलायुधभट्ट—मृतसंजीवनी—पिंगलछंदसूत्र पर भाष्य, कविरहस्य राजव्यवहारतत्त्व। (अ) अमितगति—सुभाषितरत्नसन्दोह।

भी विद्यमान हैं। राधनपुर रियासत में 'मुंजपुर' नामक एक गाँव है। यह नाम निश्चय ही धार के परमार राजा से सम्बन्धित है। वाक्पतिराज के कुछ दान-पत्र† भी उपलब्ध हुए हैं। ऐसे विद्यानुरागी परमार राजा का अन्त विद्वानों* को बड़ा दुखदायी हुआ। इनके उपरान्त इनके भ्राता सिन्धुराज सिंहासनासीन हुए। इनका राजकाल शान्तिपूर्ण रहा। इनको 'नव-साहसांक' तथा 'कुमार नारायण' उपाधियाँ थीं। इनका चरित्र-लेखक पद्मगुप्त इनका "अवन्तीश्वर, परमार महीभर्त, मालवराज" नामों से उल्लेख करता है। यशोभट्ट (=रामांगद) इनका प्रधान मंत्री था। धरमपुरी के एक खंडित शिला-लेख¶ में नवसाहसांक नाम से इनका उल्लेख आया है। नागराज-कन्या शशिप्रभा से इनका प्रेम-विवाह हुआ था। नव-साहसांकचरित में इसी विवाह सम्बन्ध का एक संक्षिप्त कथानक में वर्णन है। इनका कुञ्ज नाम कुञ्जसागर अभिधान से आज भी अक्षुण्ण है। सिन्धुराज ने हूणों तथा लाट और गुजरात के चालुक्यों से युद्ध किया था।

परमारवंश के मेरुमणि राजा भोजदेव‡ थे (१०१० से १०५५)। इनकी कीर्ति उज्जयिनी के विक्रमादित्य के समकक्ष है। प्रथमतः⁑ मुञ्जराजा के मन में, भोजराजा के प्रति, ईर्ष्यावश द्वेष-बुद्धि का प्रणयन हुआ; परन्तु अन्त में उसकी प्रखर बुद्धि एवं विद्वत्ता✱ आदि से प्रभावित होकर उसका बालशिक्षण, सुचारुरूप से मुञ्जराजा के निरीक्षण में सम्पन्न हुआ। शासनदण्ड अपने हाथ में लेने के पश्चात् इन्होंने धारा नगरी को अपनी राजधानी बनाया और स्वयं 'धारेश्वर' उपाधि से अलंकृत हुए। भोजदेव के काल में मुसलमानों के कई आक्रमण हुए, इस बात का उल्लेख शिलालेखों में मिलता है।♁ कल्याणपुर के चालुक्य आदि अनेक राजाओं को भोजदेव ने युद्ध में परास्त किया। त्रिपुरी का गांगेयदेव विक्रमादित्य और कल्याणपुर के चालुक्य, इन्होंको भोजदेव ने परास्त किया। इस महान् विजय का उत्सव अपनी राजधानी में बड़े समारोह के साथ मनाया गया। अपने 'राजमार्तंड' नामक प्रासाद के सामने एक वृहत् लौहस्तंभ खड़ा किया गया, जिसका साहित्यिक स्मारक स्वरचित 'कोदंडकाव्य'‖ में स्पष्टतया दिखाई देता है। भोजदेव के अन्तिम दिनों में, अनहिलवाड़ के भीमदेव, चेदिराज कर्णदेव और कर्नाटक के राजा ने भोजदेव पर आक्रमण किया (१०५५)। इस प्रबल आक्रमण को निष्फल करने में भोजदेव असमर्थ रहा, नहीं तो उस समय के सभी राजाओं§ पर उसने विजय प्राप्त की थी। भोजदेव का मंत्री जैन कुलचन्द्र था। परमारवंश¤ के अग्निकुलोत्पन्न होने का भोजराज को गर्व था। वह स्वयं विद्वान् था और अनेक विद्वानों का आश्रयदाता था। तत्कालीन पंडितों और कवियों के ग्रंथों में, भोजदेव के "त्रिविध-वीर-चूडामणि, महाराजा-

---

* प्राचीन लेखमाला— *History of the Parmar Dynasty*, Part II, अप्रकाशित।

† लक्ष्मीर्यास्यति गोविंदे वीरश्रीवेश्मनी। गते मुञ्जे यशःपुंजे निरालंबा सरस्वती॥
अतीते विक्रमादित्ये गस्तेसं सातवाहने। कविमित्रे विशश्राय तस्मिन्देवी सरस्वती॥ पारिजातमंजरी, सर्ग ११-३०।

¶ श्री डिस्कलकर द्वारा प्रकाशित।

‡ पंचाशत्पंचवर्षाणि सप्तमासदिनत्र्ययम्। भोजराजेन भोक्तव्यः सगौड़ो दक्षिणापथः॥

⁑ प्रबन्धचिंतामणि तथा आइन-ए-अकबरी, भाग २, पृष्ठ २१६।

✱ मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालंकारभूतोगतः। सेतुर्येन महोदधौ विरचितः ववासौ दशास्यांतकः॥
अन्येचापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवंभूपते। नैकेनाऽपि समंगता वसुमति नूनं त्वयायास्यति॥

♁ रक्खिआ तुरुक्का धरणी अज्ज वणे सुसते॥ ——कोदण्डकाव्यम्।

‖ असिकिरण रज्जुबद्धं जेणं जयकुंजरं तुमं धरसि। जयकुंजरस्सथंभोए.........।
कहाँ राजा भोज और कहाँ गंगा तैलण।

§ चेदीश्वरेन्द्रथतोग्गल भीम मुख्यान्। कर्णाट लाटपति गुर्जराट्तुरुष्कान्॥
यद्भृत्यपात्रविजितान्वलोक्य मौला दोह्णां बलानि..........कवयन्ति न तो..........॥
प्राचीन लेखमणिमाला, भाग १, पृष्ठ १९९।

¤ "अग्गीहोंतो वंसो निपज्जइ"—कोदण्डकाव्यम्; उदयपुर-प्रशस्ति; नागपुर-प्रशस्ति।

धिराज परमेश्वर, पृथ्वीवल्लभ, श्रीवल्लभ, विक्रम" आदि विरुदों से अलंकृत होने का प्रमाण मिलता है। संस्कृत ताम्रपत्र तथा शिलालेख भी इस कथन की साक्षी भरते हैं। सुप्रसिद्ध जर्मन पंडित आउफ्रेक्ट ने भोजदेवकृत, अनेक विषयों पर लिखे हुए, तेईस ग्रंथों की सूची प्रस्तुत की है।‡ परन्तु इस सूची को हम सम्पूर्ण सूची नहीं कह सकते। पाश्चात्य पंडित भोजदेव को "भारतीय आगस्टस" कहकर पुकारते हैं। उदयपुर प्रशस्ति में‡ इस परमार-मुकुट-मणि भोजदेव की बड़ी प्रशंसा की गई है। इनके आश्रय में अनेक पंडितों को पुरस्कार मिलता रहा, जिसमें परिमल, धनंजय, भट्टगोविंद※, विद्यापति भास्कर भट, उवट§ आदि प्रमुख थे। बल्लालकृत भोजप्रबन्ध तथा राजवल्लभकृत भोजचरित्र में भोजदेव विषयक विपुल सामग्री उपलब्ध है। इस राजा के अनेक शिलालेख तथा शासन-पत्र उपलब्ध हुए हैं। इनके अतिरिक्त स्वरचित कूर्मशतक, कोदण्ड-काव्य, खड्गकाव्य आदि काव्य रचनाएँ भी धार की भोजशाला§ में संरक्षित हैं। धार अथवा मालवे के पुरातत्त्व-संशोधन का आदिश्रेय सुविख्यात इतिहासाचार्य स्व० राज्यरत्न काशीनाथ कृष्ण लेले महोदय को प्राप्त है। भोजदेव ने अनेक प्रासाद मन्दिर*, घाट तालाब† तथा गाँव‡ बसाए। मन्दिरों में शिव के मन्दिर बहुत हैं। भोजदेव के समय में धारा नगरी को "अद्यधारा सदाधारा सदालम्बा सरस्वती" के रूप में गौरव प्राप्त था; परन्तु भोजदेव की मृत्यु के उपरान्त इस नगरी का महत्त्व 'निराधारा निरालम्बा सरस्वती' के रूप में रह गया।

इसके पश्चात् जयसिंह सिंहासनारूढ़ हुए। इन्होंने धार में "कैलाशभवन" बनवाकर यात्रियों को आश्रय दिया। इनके समय का मान्धाता शासनपत्र उपलब्ध हुआ है। इनके बाद उदयादित्य ने राजदण्ड सँभाला, (१०५९-१०८६)। ये बहुत शूर एवं विद्यानुरागी थे। इन्होंने उदयपुर (भेलसा जिला) बसाया; नीलकण्ठेश्वर (उदयेश्वर), उदयसमुद्र बँधवाए (१०५९)। भोजशाला में इनके समय के दो व्याकरण विषयक नागबन्ध§ लेख स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं। आज भी इनके

‡ *Catalogus Catalogorum* १. राजमार्त्तंड, २. राजमृगांक, ३. विद्वज्जनवल्लभ (प्रश्नज्ञान), ४. आदित्यप्रतापसिद्धांत, ५. आयुर्वेदसर्वस्वम्, ६. विश्रांतविद्याविनोद, ७. शालीहोत्र, ८. समरांगणसूत्रधार, ९. शब्दानुशासनम्, १०. राजमार्तंड, ११. राजमार्तंड (भाष्य), १२. तत्वप्रकाश, १३. सिद्धांतसंग्रह, १४. शिवतत्त्वरत्नकारिका, १५. युक्तिकल्पतरु, १६. व्यवहारसमुच्चय, १७. चारुकार्य, १८. चाणक्यनीति-पुत्रमार्तंड, १९. सरस्वतीकंठाभरण, २०. शृंगारप्रकाश, २१. रामायण चंपू, २२. विद्याविनोद काव्यम्, २३. कूर्मशतकम्, २४. महाकालिविजयम्, २५. शृंगारमंजरी, २६. सुभाषित प्रबंध, २७. कोदण्डकाव्य-खड्गकाव्य, २८. नाममालिका। संगीत पर इनका ग्रंथ होना संभव है। "रुद्रयेमान्यभूपालो भोजभूवल्लभस्तथा। परमर्दीच सोमेशो जगदेक महीपतीः॥ शारंगदेवकृत—संगीत-रत्नाकर, अध्याय १।

‡ साधितं विहितं दत्तं ज्ञातं तदन्नकेनाचित। किमन्यत्कविराजस्य श्रीभोजस्य प्रशस्यते॥

※ मांडव के विद्यालय का मुख्य अध्यापक।

§ (अ) यजुर्वेद पर भाष्य, (आ) मंत्रभाष्य, (इ) वाजसनेयसंहिता पर भाष्य।
दशपाल—तिथीसारणिक; विनयसुंदर—भोजव्याकरण; प्रभाचंद्र—अभयकुमार (अभयदेव)—सीता कवियित्री (प्रबंधचिंतामणि, पृष्ठ ६३)।

§ इसको 'शारदासदन' व 'भारती-भवन' कहते हैं। इस विश्वविद्यालय की स्थापना ई० स० १०३५ में हुई होगी। इस इमारत के पास ही "ज्ञानवापी" नामक कुआ (अक्कलकुई) विद्यमान है।

* राजमार्तंड (आज की लाटमशीद)।

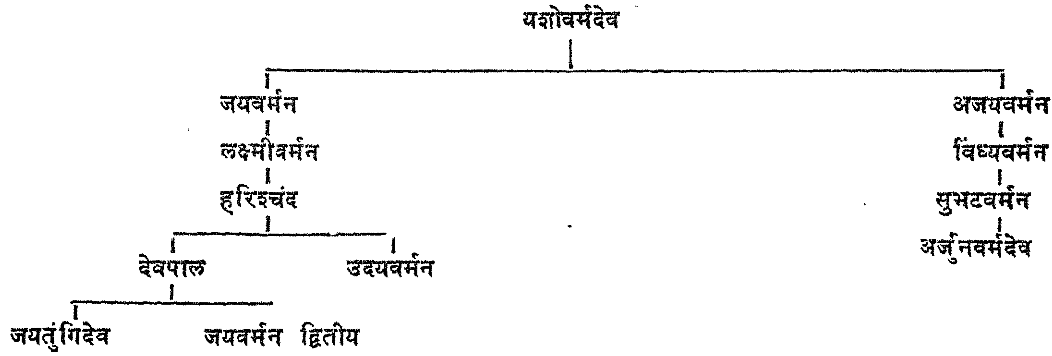
† केदार रामेश्वर सोमनाथ सुंडीर कालानल रुद्रसत्कैः। सुराश्रयै व्यापच यः समन्तात् यथार्थ संज्ञां जगतीं चकार॥

‡ भोपाल रियासत में—भोजपाल। भोजेश्वर भव्य शिवालय। भोजपुर—भोजकट (हुशंगाबाद)। काश्मीर में "पापसूदन तीर्थ"।

§ एकेयमुदयादित्यनरवर्ममहीभुजोः। महेशस्वामिनोर्व्वर्ण्ण स्थित्ये सिद्धासिपुत्रिका॥
उदयादित्यदेवस्य वर्ण्णनागकृपाणिका। कवीनांच नृपाणांच तोषायैकसिरोपितः॥ (वेषो वक्षसि रोपितः—चित्र का पाठ) (देखिए इसी ग्रंथ के पृष्ठ ५८८ और ५९६)

स्मारक में एक पार्वतीदेवी* की मूर्ति उपलब्ध है। इन्हें 'अरिबलमंथन'* भी कहते थे। राजा भोजदेव के अन्तिमकाल में अस्तंगत परमार-वैभव तथा वैक्रम सूर्य उदयादित्य के शासनकाल में पुन: ज्योतिर्मान हो उठा। इनके तीन पुत्रों—लक्ष्मणदेव, नरवर्मदेव, जगदेव में, जगदेव परमार चालुक्यवंशीय सिद्धराज जयसिंह के सेनापति रहे। लक्ष्मणदेव ने अंग, चोल, पांड्य, चेदि और कलिंग राजाओं पर विजय प्राप्त की। मुसलमानों को भी इन्होंने युद्ध-क्षेत्र में पराभूत किया था। इनके उपरान्त इनके कनिष्ठ भ्राता नरवर्मदेव ने गौड़ और गुजरात पर चढ़ाई की। ये बड़े रसिक और विद्याप्रिय थे। स्वरचित नागपुर-प्रशस्ति में परमारवंश का वर्णन उपलब्ध है। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में रत्नसूरिनामक तथा विद्याशिववादी का विद्वत्तापूर्ण विवाद, इनके समय में ही हुआ था। ये अनेक पंडितों के पुरस्कारदाता थे। इनका दूसरा नाम निर्वाणनारायण था। इनकी रानी चेदिराजकन्या श्रीमोमलदेवी थीं। इनके उपरान्त इनका पुत्र यशोवर्मदेव स्थानापन्न हुआ (११३३-४२)। इसने गुजरात पर बड़ा प्रबल आक्रमण किया। अन्त में सिद्धराज जयसिंह ने इनको पराजित करके अनहिलवाड़ के बन्दी-गृह में रखा। इसके परिणामस्वरूप मालवा गुजरात के अधिकार में आ गया। यशोवर्मदेव की कैद से मुक्ति हो गई।§ जयसिंह ने जैन मंत्री जिनचन्द्र को मालवे की सूबेदारी पर नियुक्त किया।

यशोवर्मदेव के पश्चात् परमारकुल में आन्तरिक विरोध उत्पन्न हो गया। इसके परिणामस्वरूप मालवे के परमार कुल की दो शाखाएं हो गईं। धार के परमार सिंहासन पर इनके बाद जयवर्मदेव, विंध्यवर्मदेव, सुभटवर्मन और अर्जुनवर्मदेव (१२१०-१६) सिंहासनासीन हुए। विन्ध्यवर्मन ने गुजरात पर से अपने अधिकार को त्याग दिया। ये बड़े विद्यानुरागी थे। बिल्हण* इनका प्रधान मंत्री था। आशाधर† नामक एक जैन पंडित विंध्यवर्मदेव के आश्रित, नलकच्छपुर (नालछा) में रहता था। इनके अनेक विषयों पर रचे हुए ग्रंथ संस्कृत साहित्य में प्रसिद्ध हैं। सुभटवर्म का राज्यकाल ३० वर्ष तक



* पादपीठ पर—"सं० ११३८ जस हर: अग्नि छि............ता प्रणयति: लाखाग्र्य—
* *History of the Parmar Dynasty*—Dr. Ganguli, p. 133.
‡ ग्यारासो एकावने चैतसुदी रविवार। जगदेव शीस समापियो धारा नगर पँवार॥
‡ खरगोन के पास "उन" गाँव में तथा महाकालेश्वर मन्दिर में इसी तरह नागबंध उत्कीर्ण किए हुए हैं। समुद्रघोष का 'तर्कशास्त्र' पर अभ्यास (२) वल्लभ—जैनयति।
¶ अभयदेवसूरि—जयन्तकाव्य; सोमेश्वर—कीर्तिकौमुदी; मेरुतुंग—सिंधुराजप्रबन्ध; नरवर्मदेव—परमारप्रशस्ति।
‖ बीजामंडल—भेलसा—उत्कीर्ण लेख।
§ प्रबन्धचिन्तामणि—मेरुतुंगाचार्यकृत कीर्तिकौमुदी।
* (अ) विंध्यवर्मनृपतेः प्रसाद भूः। सांधिविग्रहक बिल्हणः कविः॥
(आ) पंडित धारसेन। (इ) महावीर।
† आशाधर—धर्मामृत—कुसुमचंद्रिका—त्रि त्रिष्टी स्मृति—(मदन कवि के गुरु)। नलकच्छपुर (नालछा) से इनका सम्बन्ध निकटवर्ती रहा। उस समय नलकच्छपुर समृद्ध नगर था।

रहा। इसने अनहिलवाड़ के भीमदेव का उच्छेद किया। अर्जुनवर्मदेव का राज्याभिषेक ई० स० के १२१० फरवरी महीने में हुआ। भोजदेव के समान ये गुणियों के आश्रयदाता थे। 'त्रिविधचूड़ामणि' इनकी उपाधि थी। नारायण इनका प्रधान मंत्री था। गुजरात के राजा जयसिंह से इनका विकट संग्राम हुआ; जिसका वर्णन अर्जुनवर्मदेव के कुलगुरू मदन ने अपनी 'पारिजात-मंजरी-विजयश्री' नाटिका में विस्तृत रूप से दिया है। इस नाटिका के दो अंक‡ आज भी धार की भोज-शाला (सरस्वतीसदन) में विद्यमान हैं। अन्त में जयसिंह ने इनसे पुनः मैत्री सम्बन्ध स्थापित किया और अपनी कन्या विजयश्री परमारराज को अर्पण की। यह राजा स्वयं कवि तथा अनेक विद्वानों का आश्रयदाता था। इन्होंने अमरुशतक पर संजीवनीरसिक नामक सुन्दर भाष्य किया है। इनके सन्तान न होने के कारण महाकुमार हरिश्चन्द्र का पुत्र देवपालदेव परमार गद्दी पर बैठा। इसका फल यह हुआ कि परमारवंश की दोनों शाखाएँ पुनः एक सूत्र में आबद्ध हो गईं। इनका दूसरा नाम साहसमल्ल‡ भी था। इसी समय मुसलमानों ने मालव देश पर अनेक आक्रमण किए। इस समय परमार साम्राज्य की चतुःसीमा पूर्व में उदयपुर, दक्षिण में हुशंगाबाद तथा नीमाड़, पश्चिम में भड़ौच परगना तक फैली हुई थी। ई० स० १२३२ में बादशाह शमसुद्दीन अल्तमश ने ग्वालियर पर कब्जा किया और उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर को नष्ट करके वहाँ की मूर्तियाँ तथा विक्रमादित्य की प्रतिमा दिल्ली ले गया। देवपाल द्वारा✻ इन्दौर रियासत का देवपालपुर ग्राम बसाया गया। इनके बाद जयतुंगिदेव (जयसिंह द्वितीय १२४०-५६) जयवर्मदेव द्वितीय (१२५६-६१), जयसिंहदेव तृतीय (१२६१-१२८०), भोजदेव द्वितीय (१२६०-१३१०) और जयसिंहदेव चतुर्थ ऐसे पाँच नरेश हुए। जयतुंगिदेव का दूसरा नाम बालनारायण था। परमार राज्य पर अनेक राजाओं के आक्रमणों का वेग बढ़ चला। मध्यवर्ती सत्ता क्षीण हो गई। यादव, चाहमान, मुसलमान, बघेल आदि राजशक्तियों से परमारों को सामना करना पड़ा। जयसिंह अपनी राजधानी मंडपदुर्ग ले जाने को बाध्य हुआ, और इस प्रकार मंडपदुर्ग को राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। पृथ्वीधर जैन अथवा पेथड़कुमार उसका प्रधान मंत्री था। पेथड़कुमार ने अनेक मन्दिर बनवाए। इन्दौर के मानिकचन्दजी यति ने मालवे के जैन ग्रंथों का विपुल संग्रह किया है। इससे विदित होता है कि इस समय मालवे में जैनों की संख्या बढ़ गई थी। तारापुर के पास जो सूर्यकुण्ड विद्यमान है, यह जैन मंत्री द्वारा निर्मित है। भोज द्वितीय के शासनकाल में रणथंभोर के राजा हमीर* ने मालवे पर आक्रमण किया, और भोजदेव को परास्त किया। इसी भोजदेव के समय दक्षिण से ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि सन्त नर्मदोत्तर यात्रा करते हुए उज्जयिनी, धार एवं मांडव पधारे थे। भोजदेव विद्वानों का आश्रयदाता था। जयसिंहदेव चतुर्थ के समय में अलाउद्दीन खिलजी के अधीन एत-उल-मुल्क ने मालवे पर आक्रमण किया। परिणामस्वरूप मालवा-प्रान्त मुसलमानी सत्ता के अन्तर्गत आ गया। पाँचसौ साल तक जिस परमार-वंश ने भारत के विस्तृत भू-भाग पर अपनी महत्त्व पूर्ण सत्ता का जयघोष किया, उसको मुसलमानों के इस आक्रमण के पश्चात् शस्त्र-सन्यास लेना पड़ा।

लगभग पच्चीस पीढ़ी तक परमार वंश का मालव-भूमि पर आधिपत्य रहा। ई० स० १३०५ में इस महान् नाटक का प्रथमांक समाप्त हुआ। यह अंक हिन्दू-साम्राज्य के उत्थान का अरुणोदय था। इस काल में साहित्य एवं कला का चरम उत्कर्ष हुआ। साहित्य की समानता में शस्त्र-प्रयोग क्षीण होने से साम्राज्य के विनाश का समय निकट आ पहुँचा। इसके साथ ही इस महान् नाटक का 'विष्कंभक' शुरू हुआ, जिसमें मालवदेश दिल्ली की बादशाही के अन्तर्गत आ गया। इसके उपरान्त परमारों के वंशजों ने किस दिशा की ओर प्रस्थान किया, इसका ठीक ठीक पता नहीं चलता। ऐसा अनुमान

---

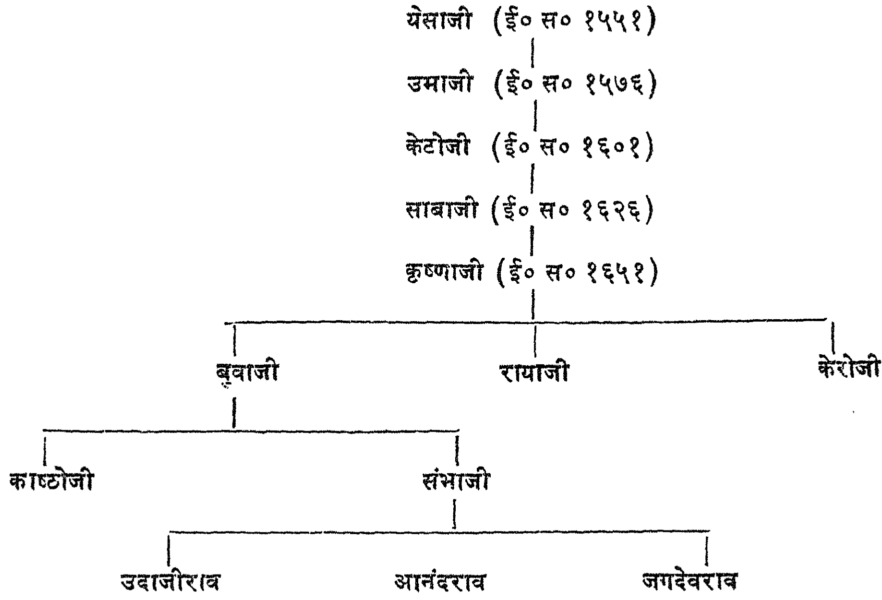
‡ रूपकारप्रकांडस्य सीहाकस्यांगजन्मना। प्रशस्तिरियमुत्कीर्णा रामदेवेनशिल्पिना॥

‡ जिनयज्ञकल्प—आशाधन।

✻ दो मूर्तियाँ—ब्रह्मदेव तथा विष्णु—धार म्यूजियम में संरक्षित हैं। ये मूर्तियाँ सलकनपुर ग्राम में मिली थीं। अर्जुनवर्मदेव के समय सलखन एक प्रतिद्ध संधिविग्रहक के रूप में विद्यमान था। उसी ने यह गाँव स्थापित किया था।

* हमीरमहाकाव्यम्।

किया जाता है कि ये चित्तौड़ जैसे सुदूर प्रान्त में आश्रय एवं आवास के हेतु घूमते रहे। मालवे में सुलतानों का स्वतंत्र राजशकट निर्मित हुआ, जो मांडव (शादियाबाद) के सुलतान के नाम से विख्यात है। ई० स० १४०‡ से प्रायः सवासौ साल तक इन्होंने मालवे पर राज्य किया। अन्त में बादशाह हुमायूं ने मालवे को दिल्ली के अन्तर्गत मिला लिया, इसपर सूबात कायम हुई। लगभग साढ़े तीनसौ वर्ष के इस काल में परमार वंश की २०-२५ पीढ़ियाँ बीत गईं। फिर भी इस वंश का अन्त नहीं हुआ। अपनी सत्ताहीन स्थिति में ये अपने उज्ज्वल भविष्य की आशा में कालयापन करते रहे। निम्न-लिखित वंशावली‡ से परमार-पंवार राजाओं के वर्तमान वंश का पता चलता है :—



इसी कारण सर जॉन मालकम महोदय ने पूर्वकथित विधान प्रस्तुत किया है। इस वाक्य से एक बहुत बड़े अर्थ की पुष्टि होती है।

लगभग ३०० साल का उपरोक्त 'विष्कंभक' छोड़ दिया जाए तो यह 'परमार-पवार-विजय' नामक महान् नाटक, भारतीय इतिहास में निस्सन्देह अपना महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही नहीं, वर्तमान तथा भविष्य भारत के उत्थान में यह वंश अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगा, क्योंकि इस वंश की राज-प्रणाली लगभग ई० स० ८०० से लेकर आज पर्यन्त अखण्ड रूप से गौरवान्वित है। आज भी धारा नगरी का महत्त्व कम नहीं हुआ है, और जब तक धारा नगरी परमारों-पवारों की कुल राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित रहेगी, तब तक इस नगरी का सम्बन्ध इस प्रतापशाली वंश से सम्बन्धित रहेगा। इस वंश का इतिहास-संशोधन कार्य भारत को गौरव का पद देनेवाला है, यह सत्य है। वर्त्तमान काल में इतिहास-कचहरी द्वारा परमार-पंवार द्वारा प्रोत्साहित इतिहास-सशोधन कार्य अखण्ड रूप से चालू है। यह उज्ज्वल भविष्य का प्रतीक है।

---

‡ धार ऐतिहासिक दफ्तर।

१ एकेपमुदयादित्यनरवर्म्ममहीभुजोः ।
महेशस्वामिनोर्व्वर्ण्णस्थित्यैसिद्धासिपुत्रिका ॥

उदयादित्यदेवस्य वर्णनागकृपाणिका ।
कवीनांच नृपाणांच वेषो वक्षसि रोपितः ॥

Some Orthographical peculiarities in the Original which is in old Nāgari characters :—

(a) । = अ, -। = आ.

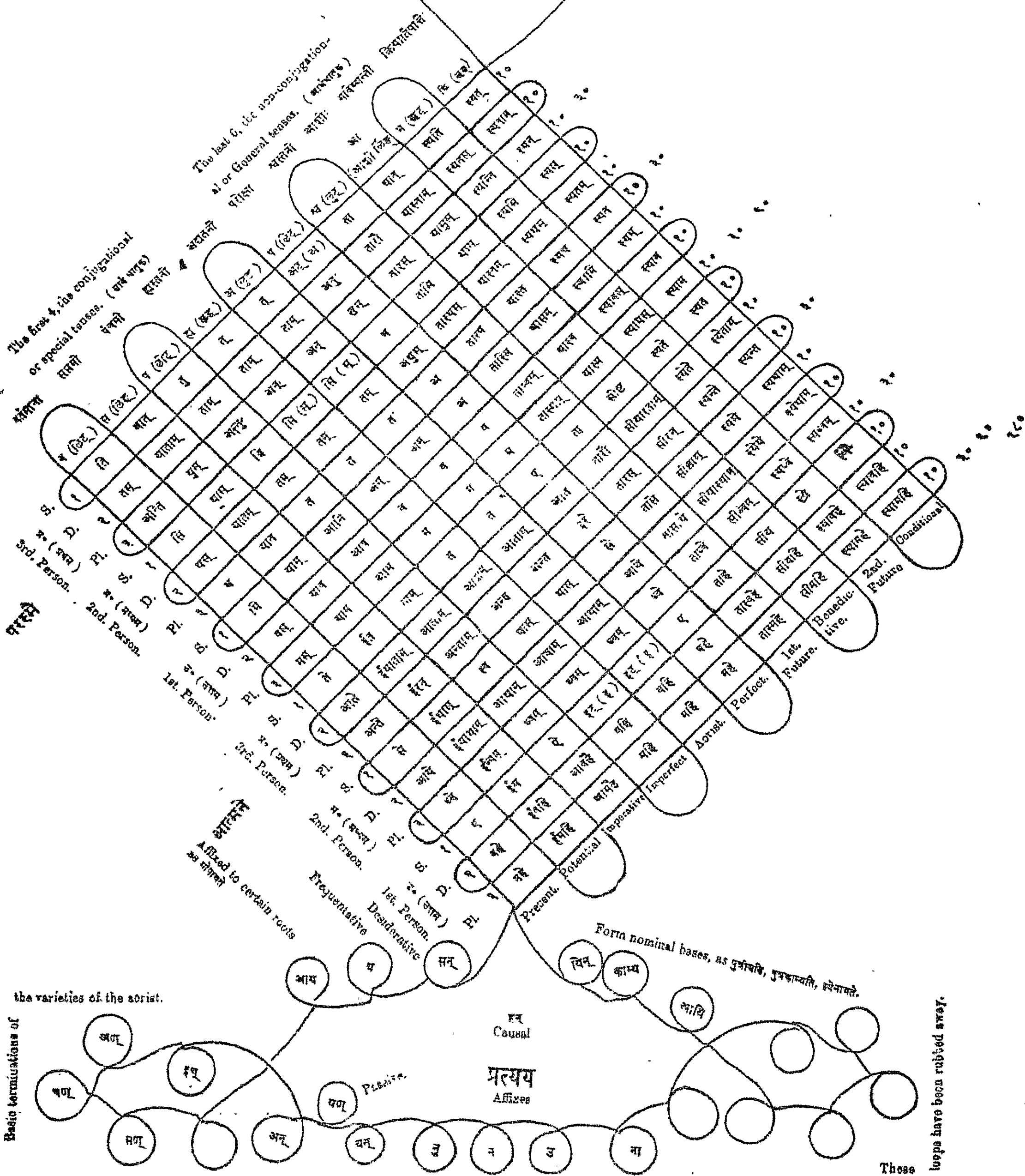
(b) The mātrā strokes instead of being put over letters are marked by vertical strokes prefixed to them; as, ाते = ते, -ाते = आते &. ाग्ने = ग्ने.

(c) ९ = इ, as in इद.

(d) ३ = ई, as in ईडे.

(e) स्थ = स्य as in सीयास्यताम्

संस्कृत धातु प्रत्ययमाला



Conjugational signs of the 1st, 4th, 5th, 7th, 8th, and 9th classes of verbs.

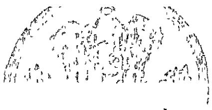
धार की भोजशाला में स्तंभोत्कीर्ण वर्णमाला सम्बन्धी सर्पबन्ध। (देखिए पृष्ठ ५१५ तथा ५१३)



मांडव के प्राचीन अवशेष

श्री विश्वनाथ शर्मा

सम्पूर्ण भारतवर्ष का मध्य-भारत और विशेषतया मालवा हृदयस्थान होने से उसका इतिहास आसपास के प्रदेशों से सम्बन्ध रखता हुआ सारे भारतवर्ष के इतिहास से गुथा हुआ है। उज्जैन के समान धार और मांडव को भी सम्पूर्ण मालवे को सदिओं तक राजधानी रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, अतः इन स्थानों पर धरातल के ऊपर और उसके नीचे अनेक अनमोल सामग्री का होना आश्चर्य की बात नहीं। यही कारण है कि वर्तमान धार राज्य ऐतिहासिक सामग्री के लिए एक समृद्ध राज्य माना जाता है। चौरासी प्राचीन ऐतिहासिक इमारतों के रक्षण और जीर्णोद्धार का काम राज्य की ओर से सतत चलता रहता है। इन ८४ इमारतों में से ७८ इमारतें मांडवगढ़ में हैं जिनके जीर्णोद्धार और रक्षण का काम गत ४० वर्ष से नियमित रूप में किया जा रहा है। यूं तो मध्य-भारत के किसी भी राज्य का पुरातत्व विभाग अधिक पुराना नहीं है, कारण कि बरसों सुषुप्ति अवस्था में पड़े हुए इस कार्य को अभी अभी बीसवीं सदी के आरम्भ में प्रारम्भ करने की प्रेरणा हुई है किन्तु नियमपूर्वक ठोस काम इस सदी के प्रथम दशक के बाद ही से सर्वत्र होने लगा, और स्वाभाविक कार्यक्रमानुसार भूमि के ऊपर जितने अवशेष थे उनके रक्षण तथा आवश्यकीय जीर्णोद्धार की ओर प्रथम लक्ष दिया गया। उदीयमान वर्तमान विद्याप्रेमी धारा नरेश के इतिहास और पुरातत्व सम्बन्धी खोजों के प्रति अनुराग के कारण ऐसे कामों को अधिक प्रोत्साहन हुआ, और भूमि के अन्दर दबे हुए महत्त्वपूर्ण स्थानों की खोज का काम भी मांडव में ई० सन् १९३५-३६ से प्रारम्भ किया गया। गत ७ वर्ष में खोज का जितना काम हुआ वह अवश्य ही मनोरंजक और महत्त्व का है। हिन्दू और मुसलमानी काल में सम्पूर्ण मालवे की राजधानी होने का सौभाग्य जिसको प्राप्त हुआ था उस ४० मील लम्बे परकोटे से घिरे हुए मांडव के एक लाख घरों के विस्तृत खंडहरों में छिपी हुई ऐतिहासिक सामग्री को खोजने का काम असाध्य नहीं तो कष्टसाध्य तो अवश्य ही है। मांडव का और उसकी आलीशान इमारतों का सविस्तर ऐतिहासिक तथा तक्षणकला सम्बन्धी वर्णन देने का यह स्थान नहीं है, अतः केवल पुरातत्व सम्बन्धी खोज जो अभी तक वहाँ हुई हैं उसीका संक्षेप में यहाँ वर्णन किया गया है।



मांडव के प्राचीन अवशेष

मांडव का प्राचीन इतिहास मुसलमानी शासनकाल से ही प्रारम्भ होता है। इस कल्पना को लेकर अनेक विद्वानों ने माँडव का वर्णन चित्रित किया है। पुरातत्व सम्बन्धी खोज के पूर्व जनसाधारण ही नहीं किन्तु कुछ प्राचीन वस्तुज्ञान विशारदों ने भी मांडव की वर्तमान इमारतों में हिन्दू शिल्पकला का जो कहीं कहीं दर्शन होता है उसके लिए लिख दिया है। कि हिन्दू कारीगर इन मुसलमानी इमारतों के निर्माण के काम पर लगाए गए थे, यही कारण है कि हिन्दू शिल्पकला की छाया मसजिद जैसी इमारतों के काम में यत्रतत्र दिखाई देती है। किन्तु वास्तव में यह कथन ठीक नहीं है। मुसलमानों के पूर्व मांडव लगभग सात लाख की जनसंख्या का अनेक सुन्दर और गगनचुम्बी शिखरवाले देवालयों से विभूषित समृद्ध नगर था। आज यद्यपि वहाँ उन अनेकों गगनचुम्बियों में से एक भी देवालय अपना मस्तक भूमि से ऊपर उठाए हुए खड़ा नहीं है, किन्तु उनके वहाँ होने के अनेकों प्रमाण हैं।

मन्दसौर और उज्जैन पर ईसा की छठी शताब्दी में राज्य करनेवाले सम्राट् यशोधर्मन् (विष्णुवर्धन्) के राज्यकाल में मांडव अत्यन्त समृद्ध था। अनेक गगनचुम्बी मन्दिर खड़े थे, और बहुत से धनकुबेर यहाँ रहते थे, यह हमको कुक्षी के पास तालनपुर ग्राम के जैनमन्दिर में श्रीआदिनाथ की मूर्ति के शिलालेख से मालूम होता है। लेख संवत् ६१२ का है, और यह मूर्ति धनकुबेर शा चन्द्रसिंह ने मांडव में स्थापन की थी।*

कन्नौज के प्रतिहारवंशी राजा महेन्द्रपाल द्वितीय (ई० स० ९४६) का मांडव पर अधिकार था और दक्षिण के राष्ट्रकूट राजाओं से उपद्रव न हो इसके लिए कन्नौज की ओर से माधव† नामका प्रान्तिक शासक उज्जैन में रहता था और उसका मुख्य सेनापति श्री शर्मन‡ एक बलवान सेना के साथ मांडव (मंडपिका) में रहता था। अर्थात् दसवीं सदी में दक्षिण के राष्ट्रकूट और कन्नौज के प्रतिहारों की सीमा पर मांडव एक महत्त्वपूर्ण सेना की छावनी थी।

प्रतिहारों के पश्चात् विद्या और कला के परम उपासक परमार राजाओं का मांडव पर जब राज्य हुआ तब मांडव इतना आबाद था कि मालव सम्राट् भोजदेव को वहाँ संस्कृत महाविद्यालय स्थापन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। जामी मसजिद के सामने बने हुए अशरफी महल के नीचे के भाग को आज भी मदरसा कहते हैं। वहाँ से एक संस्कृत शिलालेख का खण्ड मिला, उसपर वाक्देवी की स्तुति का कुछ भाग लिखा हुआ है। जान पड़ता है कि धार के सरस्वती-मन्दिर (भोजशाला) में जिस प्रकार सरस्वती की प्रतिमा स्थापन की गई थी, उसी प्रकार मांडव के विद्यालय में भी की गई थी, और उसकी स्तुति में वह शिलालेख तथा विद्यालय स्थापन की तिथि वगैरा लिखी गई होगी, जिसका विध्वंस मुसलमानी काल में हुआ। सरस्वती की एक नीले पाषाण की भग्न मूर्ति वीणा-वादन करती हुई भी मिली है। उसका जितना भाग अवशेष है उसपर से अनुमान किया जा सकता है कि वह मूर्ति कितनी सुन्दर होगी। परमार राजा मुंज के नाम से जहाज-महल मांडव के पीछे का तालाब प्रसिद्ध है। तथा भोज-कुंड और सोमवती कुंड नाम के दो प्राचीन जलाशय आज मांडव में विद्यमान हैं।‡ सोमवती भोज की पुत्री का नाम बताया जाता है। परमार राजा विंध्यवर्मदेव का भी एक शिलालेख मांडव में मिला है।

रत्नमण्डनगणिकृत झाँझणप्रबन्ध (सुकृत सागर‡) और पृथ्वीधर चरित्र* तथा उपदेश तरंगिणी§ से ज्ञात होता है कि परमार राजा जयसिंहदेव तृतीय (ई० स० १२६१-८०) के मंत्री पेथड़कुमार ने मांडव में ३०० जैन मन्दिरों का

---

* संवत् ६१२ वर्षे शुभचैत्र मासे शुक्लेच पंचम्यां तिथौ भौमवासरे श्रीमंडपदुर्गे मध्यभागे तारापुर स्थित पार्श्वनाथ प्रासादे गगनचुम्बी शिखरे श्रीचंद्रप्रभबिम्बस्य प्रतिष्ठा कर्ताच धनकुबेर शा चन्द्रसिंहस्य भार्या यमुना पुत्रश्रेयोऽर्थं प्र—जगचंद्र सूरिभिः॥ तालनपुर (कुक्षी) के आदिनाथ की मूर्ति का शिलालेख।

† माधव दामोदर का पुत्र था इसको "तंत्रपाल, महासामंत, महादंडनायक लिखा है।" हिस्ट्री ऑफ कन्नौज।

‡ श्री शर्मन को "बलाधिकृत" की सैनिक पदवी लिखी है। हिस्ट्री ऑफ कन्नौज।

‡ दर्याजी की कब्र के पास समोती कुण्ड और उसके उत्तर-पूर्व में कुछ दूरी पर भोजा (भोजकुण्ड) मांडव में बने हुए हैं।

‡-* ये दोनों ग्रंथ पूना डेक्कन कॉलेज में हैं। § रत्नमंडन गणिकृत उपदेशतरंगिणी, पृष्ठ ४९।

जीर्णोद्धार किया और उनपर सोने के कलश चढ़वाए थे। इसी प्रकार अठारह लाख रुपये की लागत का "श्रीशत्रुंजयावतार" नाम का विशाल मन्दिर बनवाया था। पेथड़ के पुत्र झाँझण ने मांडव में बहुतसी धर्मशालाएँ, जैनमन्दिर, पाठशालाएँ स्थान स्थान पर बनवाईं और एक बहुत विशाल ग्रंथालय स्थापन किया था। ७०० मन्दिरों की संख्या केवल जैन श्वेताम्बरियों की थी। चाँदाशा नाम के धनी व्यापारी ने ७२ जिनदेवालय और ३६ दीपस्तंभ मांडव नगर में बनवाए थे। धनकुबेर श्रीमाल भूपाल लघुशान्तिचन्द्र जावड़शा ने ऋषभदेव, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर के सौध शिखरी पाँच जिनदेवालय बँधवाए और उनमें एक ग्यारह सेर सोने की तथा दूसरी बाईस सेर चाँदी की और शेष पाषाण की जिन प्रतिमाएँ साधुरत्न सूरी की आज्ञा से स्थापन कराई थीं। इस उत्सव में ११ लाख रुपए व्यय किए। एक लाख रुपए तो केवल मुनि के मांडव नगर प्रवेश के समय किए थे। इस प्रकार और भी प्रमाण इस बात की पुष्टि करनेवाले मिलते हैं कि ई० स० १३१० यानी मुसलमानों के आने तक परमार राजाओं की राजधानी मांडव एक समृद्ध नगर था, जिसका विध्वंस बाद में मुसलमानी शासनकाल में हुआ और सदियों के बने हुए देवालयों तथा अन्य इमारतों की सामग्री का रूपान्तरित करके यावनी तक्षणकला की तर्ज की मौजूदा आलीशान इमारतें मुसलमानी समय में निर्माण हुईं, जिससे हिन्दू-राजत्वकाल की एक भी इमारत जमीन के ऊपर अभग्न न रही।

निःसन्देह मांडव के सुलतानों को भवन-निर्माण का अत्यधिक शौक था और यद्यपि प्राचीन हिन्दू मन्दिरों और राजप्रासादों की भवन-निर्माण की विपुल सामग्री उनको तैयार मिली तौभी करीब १५० वर्ष के स्वल्प शासनकाल में और सतत युद्धों में उलझे रहने की दशा में उन्होंने पठानी वास्तुकला के उत्तम नमूनों की इमारतों से मांडव को जिस व्यापक परिमाण में सजाया था उसको अभिनन्दनीय ही कहा जायगा। विशाल जामी मसजिद, अशरफी महल, हप्तमंजिल मीनार, होशंगशाह का मकबरा, नीलकंठ, हिण्डोलामहल, बाजबहादुर का महल, रूपमती, जलमहल, तबीलीमहल, हाथीपागा, दर्याखांडी कब्र, जैसी भव्य इमारतें और भूलभुलैया के समान लम्बे चौडे जनानखाने, परकोटे, कारंजे, नहरें, बागीचे, पुल और सुन्दर दरवाजे इत्यादि को जिस अकथ और सतत परिश्रम तथा शौक से बनवाए थे वह देखने योग्य ही है। परन्तु अबाधित गति से चलनेवाला कालचक्र इन आलीशान इमारतों को भी खण्डित और अनेकों को धराशायी कर ही गया।

मांडव के निम्न लिखित प्राचीन हिन्दू राजत्वकाल के स्थानों की पुरातत्व सम्बन्धी खोज की गई :—

लोहानी गुफा—ऊपर वर्णन किया गया है कि भूमि के ऊपर खड़ी हुई महत्त्वपूर्ण शाही इमारतों का रक्षण और आवश्यकीय जीर्णोद्धार का काम ई० स० १९०१ के आसपास से होने लगा और भूमि के भीतर दबी हुई अज्ञात की खोज आज से केवल ७-८ वर्ष पूर्व ही आरम्भ की गई। मांडव किले के पश्चिमी परकोटे में लोहानी दरवाजा मुसलमानी काल का बना हुआ है जो होशंगशाह के मकबरे से पश्चिम में करीब दो फर्लांग की दूरी पर है। दरवाजे से नीचे उतरने पर लोहानी नाम का परगना (अब इन्दौर राज्य का) है इसलिए यह दरवाजा लोहानी दरवाजा कहा जाता है और दरवाजे के समीप ये गुफाएँ होने के कारण इनको लोहानी नाम प्राप्त हुआ। दरवाजे को जो पटा हुआ रास्ता जाता है वह मुसलमानी काल में बनाया गया था और उसका बहुतसा भाग बारामासी की सघन झाडी में ढँका हुआ था। पटे हुए रास्ते के उत्तरी भाग के नीचे का हिस्सा पानी से धुल जाने के कारण उसमें एक दरी दिखाई दी जिसका मलवा साफ किए जाने पर वहाँ चट्टान में खुदी हुई प्राचीन गुफाएँ निकलीं जिनमें कमरे और दालान बने हुए हैं। सामने पानी का एक कुण्ड भी निकला। इस कुण्ड में और गुफा के मलबे में प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के अनेकों भग्न भाग तथा शेषशायी की एक सुन्दर मूर्ति अन्य दूसरी मूर्तियों के भग्न अवशेषों के साथ मिली। यह शेषशायी की मूर्ति जसो की शेषशायी की मूर्ति से बहुत साम्यता रखती है। मालवे में जिस प्रकार खोलवी, रामगाँव, बनीजा, हटेगाँव, धमनार, पोलाडूंगर और बाग में गुफाएँ बनी हैं उसी प्रकार मांडव की ये गुफाएँ हैं। गुफा के एक कमरे के सामने बनी हुई शंखावटी से ये ब्राह्मण काल के आसपास की कही जा सकती है। बौद्ध प्रस्तर कला का कोई चिह्न या शिलालेख अभी तक मिला नहीं। मालूम होता है कि इन गुफाओं का काम पूरा नहीं हुआ था। इसी कारण बाग की गुफाओं के समान दीवालों पर चित्रलेखन का कोई चिन्ह नहीं मिलता। ई० स० १९३९ में पुनः खोज का काम यहाँ शुरू किया गया। मनोहर मुद्रा की गरुड़ पर बैठी हुई लक्ष्मीनारायण की सुन्दर मूर्ति तथा सिंहासन

के छत की एक शिला जिस पर उठावदार बढ़िया खुदाई का काम किया हुआ है मिली। ठीक इसी नमूने की एक शिला शेषशायी की मूर्ति के साथ भी मिली थी। परमार राजाओं के समय की अभी तक जितनी प्रस्तर कला की वस्तुएं मांडव में मिली हैं उनमें अपने तर्ज की यह अनुपम वस्तु है। इसके साथ अनेक देवी-देवताओं की खण्डित किन्तु सुन्दर मूर्तियाँ और उनके अंग प्रतिमाशास्त्र के विधानानुसार निर्माण की हुई मिली। शंकर की मूर्ति का टूटा हुआ मस्तक जिसपर जटा-मुकुट, कपालनेत्र, गंगा, बालचन्द्र और भुजंग सुन्दरतापूर्वक संगमर्मर पाषाण का बना हुआ है। लक्ष्मीनारायण की अनेक भग्न मूर्तियाँ, सरस्वती की वीणावादन करती हुई खण्डित और शेषशायी की टूटी हुई मूर्ति इस प्रकार लगभग ८० भिन्न २ मूर्तियों के भग्नावशेष गुफा में और कुण्ड में पाए गए। लक्ष्मीनारायण और शेषशायी की मूर्तियाँ तेरहवीं सदी की हैं, ऐसा उनके शिलालेखों से ज्ञात होता है। अर्थात् इन मूर्तियों की मन्दिर में स्थापना के कुछ ही वर्ष बाद उनका विध्वंस हुआ था। एक सुन्दर कोरे हुए पत्थर पर "कोकदेव" का नाम खुदा हुआ मिला। जान पड़ता है कि यह पत्थर मन्दिर के सिंहासन की छत में लगा हुआ था। इससे सिद्ध होता है कि कोकदेव ने मांडव में और सम्भवतः लोहानी गुफा के समीप ही एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। तारीख अलाइ, फरिश्ता† तजियतुल आसार‡ और हमीर महाकाव्य¶ से हमको ज्ञात होता है कि परमार राजा भोज द्वितीय (ई० स० १२९०-१३१०) मांडव में राज्य करता था और उसका प्रधान कोकदेव था। परमार राजाओं की शक्ति इस समय क्षीण हो गई थी, राज्य में चौहानों का बल और प्रभाव अधिक बढ़ गया था। ऐन-उल-मुल्क मुलतानी के आक्रमण के पूर्व ही परमार राजा और उसके प्रधान में अनबन हो जाने के कारण राज्य के दो हिस्से हो गए थे। उज्जैन से चन्देरी तक प्रदेश बलवान कोकदेव ने अपने अधिकार में कर लिया था। बाद में यही कोकदेव कोकाराजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कोकाराजा के समय का एक फारसी शिलालेख चन्देरी में मिला है उससे ज्ञात होता है कि हि० स० ७११ (ई० स० १३११) में महंमदशाह (अलाउद्दीन खिलजी) के राज्यकाल में और उसके अमीर-उल-उमरा (ऐन-उल-मुल्क) के शासनकाल में तथा कोकाराजा के राज्य में मसजिद का काम पूरा हुआ*। इन सब बातों से यही सिद्ध होता है कि कोकदेव ने लोहानी गुफाओं के समीप ही जब वह मांडव में प्रधान था एक विशाल देवालय बनवाया था और वह देवालय ई० स० १४०५ के आसपास तक वहाँ विद्यमान था। कारण कि इस काल के पूर्व मांडव में मुसलमानी इमारत तामीर किए जाने का उल्लेख अभी तक नहीं मिला। गुफाओं के आँगन में और पटे हुए रास्ते के नीचे से मन्दिरों के बहुत से अंडक शिखर, प्रभावलि, दौड़ती हुई हंसों की पंक्तियाँ, शंकर के तांडव नृत्य की मूर्ति, काली तथा यक्षों और दैत्यों की खंडित और टूटी हुई मूर्तियाँ भी पाई गईं। मन्दिरों की कुर्सियों के पत्थरों से अनुमान किया जा सकता है कि ये किसी विशाल मन्दिर के होना चाहिए, जो लोहानी गुफा के समीप ही बने हुए होंगे। कारण कि इतने बड़े पत्थरों को दूर से लाने की अपेक्षा किसी नजदीक के स्थान से ही ढुलकाकर रास्ता बनाने के काम में लिए गए होंगे, यह अधिक सम्भवनीय मालूम होता है। एक सुन्दर कोरे हुए शिखर के लाल पत्थर पर कोकदेव के नाम की तरह सलखण का भी नाम खुदा हुआ मिला। अब यह सलखण कौन होना चाहिए? भाग्यवशात् १९३९ में मद्रास के श्री सुब्रह्मण्य शास्त्री ओंकारेश्वर से मांडव आए वे कुछ रोज ओंकारेश्वर ठहरे थे। वहाँ के राजा साहब के पास एक ताम्रपत्र उनको देखने को मिला, उसको साफ किया और उसकी नकल अपने साथ लेते आए थे। जब उनसे मेरी भेंट हुई उन्होंने उस ताम्रपत्र की अनुलिपि मुझे दिखलाने की कृपा की। ताम्रपत्र १'–२॥––१'––६" आकार का है और वह परमार राजा जयवर्मदेव (ई० स० १२५६-१२६१) के राज्यकाल में वि० सं० १३१०=ई० स० १२५३ में मांडव से दिया हुआ था। यह ताम्रपत्र ई० स० १९३९-४० तक अप्रकाशित था। इसमें मांडव और धार पर राज्य करनेवाले परमार राजाओं के इतिहास पर प्रकाश डालनेवाली सामग्री है, परन्तु उसका विस्तारपूर्वक विवेचन इस निबन्ध में नहीं किया जा सकता। इसलिए मांडव की लोहानी गुफाओं

* जसो स्टेट बघेलखण्ड।

† ब्रिग्ज फरिश्ता १ पृष्ठ ३६१।

‡ अब्दुल्ला बस्साई कृत।

¶ हमीर महाकाव्य सर्ग ९ श्लोक १८।

* इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली दिसम्बर १९२५ पृष्ठ ६५३। इससे मालूम होता है कि कोकाराजा अलाउद्दीन का एक करद राजा था।

में जो प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं उनपर इस ताम्रपत्र से क्या प्रकाश पड़ता है यही देखना है। ताम्रपत्र में प्रथम शंकर-स्तवन के बाद परमार राजाओं की नामावली देते हुए धूमराज से जयवर्मदेव तक के राजाओं के नाम और उनके पराक्रम का वर्णन दिया है। बाद में चाहमान (चौहान) कुल के पल्हणदेव, सलषणसिंह और अनयसिंह के नाम और उनके पराक्रम तथा परोपकारादि कामों का वर्णन है और अनयसिंह के चार पुत्रों के नाम तथा जिन १५ ब्राह्मण तथा एक क्षत्रिय अनयसिंह को भूमि दान दिया गया उनके नाम दिए हैं। अनयसिंह के कुछ और पूर्व पुरुषों का वर्णन इस प्रकार दिया है :—

चाहमान कुले राठोराउत्तः क्रमतो भवत् चण्डदोर्दण्डयोर्यस्य जयश्री स्थिरता मगात् ॥५७॥ पल्हणदेव स्तस्माद भवद् भुजदंड मंडली चण्डः यस्मिनिजय श्रीयमात्म नियशएव चाधत्त ॥५८॥ सलषणसिंह्स्तस्मा तनयोनय भूरभूतसुभुजः ॥ अर्जुनदेवस्याजिष्णु यशोर्जन सखलु सहकृत्वा ॥५९॥

जित्वा सिंहण देवदुर्धर महासैन्यं चमूनायकम् मध्यात्सागयराणकम् स्वयमिहाधः पातार्यत्वा हयान् ॥ तस्मात् **पट्टमयाति सप्तसमरे पश्चामराण्यग्रहीत। मूर्धानोपरिधूनयन् रसवसातिसहाजुनक्षा भुजोः ॥६०॥**

तस्माद् नयसिंहो भूत कुलावानिववारिधेः य एकः कल्पवृक्षःदिमध्ये गणनयान्दितः ॥६१॥ **देवपालपुरे येन प्रासादे कारिते शिवः** श्रान्तकुण्डजल व्याजात्सिद्ध सिन्धै वधौपुराः ॥६२॥ **शाक पुरडेभ्रं लिह् शिखरं सुरसदनंम्बिकाधिगतम् यो चीकर दिवदातु विश्रान्तिखे द्विजस्य सम्भ्रमतः ॥६३॥ ओंकार प्रासाद समया निर्माय यत्तरांतुंगम् जम्बूकेश्वर नाम्नः** शंम्भोर्यः सदन मनुपमिति ॥६४॥ यत्कारिते सरसिमंडपदुर्ग मध्ये गुम्भोद्भव प्रतिनिसंप्रति **विद्यमानः जोतिमयोल्वण वारिधिवारिपानः दुस्वादमिवभाष्टि विवक्षपोन्तः ॥६५॥ प्राकारेण प्रतोल्या षडधिगदशभिर्मन्दिर स्वर्ण कुम्भैरुत्तंगैर्भूरि कक्षैर्गुरू सुरसदने नाम्बुकुण्डेन युक्ताम् यो दुर्गे मंडपाख्ये व्यतर दिहपुरीम् ब्राह्मणेभ्यो नृपाज्ञाम् लब्धामान्धातृ दुर्ग्रेप्यनुपम रचना तद्वदेव व्यधत्त ॥६६॥ स एव पूर्वोक्त राजावलि विराजमानेन भक्त्यादिभिः प्रसादितेन श्रीमद्जयवर्मणा धाराधिपेन अनुज्ञातः साधनिको अनयसिंह देवो धर्माध्व सम्बद्ध बुद्धिविजयी वर्धनापुर (बदनावर) प्रतिजागर्णके कुम्भडाउद ग्रामे तथा तत्रैव बालोद (बालोदा) ग्रामे तथा सप्ताशीति प्रतिजागर्णके वघाडी ग्रामे तथा नागदह (नागदा) प्रतिजागर्णके नादिया ग्रामे समस्त राजपुरुषान् ब्राह्मगोत्तरान् प्रति निवासी पट्टकिल जनपदादिश्च बोधयत्यस्तुवः सम्विदितम् यथा मंडपदुर्गावस्थितै रस्माभि एक त्रिंशदधिक त्रयोदशशत संख्यान्विते (ई० स० १२५३) प्रमाथिनाम्नि संवत्सरे भाद्रपद मासि शुक्लपक्षे सप्तभ्याम् तिथौ शुक्रदिने मैत्रेय नक्षत्रे स्नात्वा भगवन्तम् पार्वतीपतीम् समभ्यर्च्चं संसारस्यासारताम् दृष्ट्वा तथा वाताभ्र विभ्रममिदं वसुधाधिपत्यम् (इत्यादि, परमार राजाओं के अन्य दानपत्रों के समान श्लोक देकर बाद में) स्वपुत्रैः कमलसिंह धारासिंह जयसिंह पद्मसिंह इत्यै ते सहितो नाना गोत्रेभ्यो—— (इसके आगे १६ ब्राह्मणों के नाम गोत्र प्रवर शाखा और उनके रहने के मूल स्थानों के नाम दिए हैं। १५ ब्राह्मणों के नाम के पश्चात् सोलहवें नाम का मजमून इस प्रकार है)——वत्सस गोत्राय भार्गव च्यावनाप्नवानोर्वजायदग्न्येति पंचप्रवराय चाहमान कुले वर्द्धमानाय पल्हणदेव वर्मणः पौत्राय सलखणसिंह वर्मणः पुत्राय साधनिक अनयसिंह वर्मणे क्षत्रियाय पदद्वयम्।**

अर्थात् १५ ब्राह्मणों के साथ दो पद्म भूमि सलषण के पुत्र अनयसिंह को भी दी गई थी। ताम्रपत्र के अन्त में——

"इति श्रीकंठेन नियुक्तेन सभायाम् जयवर्मणा। चक्रेकुलक्रमायात्र त्रैविद्यत्वेन शासनम् ॥ उत्कीर्णम् वरूपकार कान्हाकेन।

तात्पर्य लोहानी गुफा में मन्दिरों के सिंहासन और शिखरों के तथा अन्य भागों के जो पाषाण सुन्दर खुदाई किए हुए मिले हैं उनमें एक पर जिस सलषण का नाम खुदा हुआ मिला है वह इस ताम्रपत्र का सलषण होना चाहिए। जाति का वह चौहान था और राजा अर्जुनवर्मदेव (ई० स० १२१०-१६) के दरबार में था। उसके पिता का नाम पल्हणदेव तथा पुत्र का अनयसिंह और पौत्र कमलसिंह, धारासिंह, जयसिंह और पद्मसिंह थे। लोहानी गुफाओं के समीप ही उसने मन्दिर निर्माण कराया था और वह मन्दिर चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक यहाँ विद्यमान था ऐसा ज्ञात होता है।

एकपत्थरी स्तंभ——लोहानी गुफाओं के दक्षिण टीले के ऊपर पत्थर का १६ फुट ६ इंच ऊंचा बगैर जोड़ का एक हिन्दू स्तंभ खड़ा हुआ है। उसका नीचे का भाग दो फुट हम-चौरस तथा ऊपर अष्टपहलू है, उसपर कोई नक्काशी या चित्र वगैरा नहीं है। इस स्तंभ के आसपास करीब एकसौ फीट के घेरे में खोज का काम आरम्भ किया गया। स्तंभ से

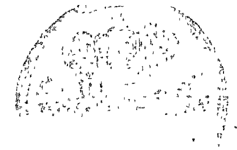
दक्षिण में एक खाई है। यह खाई लोहानी गुफाओं के यहाँ से होशंगशाह का मकबरा, जामी मसजिद, त्रिपोलिया दरवाजा, अशरफी महल, रामपोल दरवाजा के पास तक बने हुए एक परकोटे का खंदक था, (अब इस खंदक का अधिकांश भाग अशरफी महल के मलबे से भर दिया गया है)। स्तंभ से दक्षिण-पूर्व करीब १५०' की दूरी पर इसी खंदक में खोज का काम शुरू किया गया। करीब चार फीट गहरा जाने पर चालुक्य तक्षणकला की तर्ज के बने हुए मन्दिरों के अनेक पाषाण मिले। शिखरों के कुछ पत्थरों पर खुदाई का जो काम किया हुआ है वह मालवे के परमार राजा उदयादित्य (ई० स० १०५९-८६) का उदयपुर (ग्वालियर राज्य) में बनवाए हुए मन्दिर से अत्यधिक मिलता है। अभी तक कोई शिलालेख यहाँ नहीं मिला। स्तंभ उसके मूल स्थान पर है या योंही खड़ा कर दिया गया है इसकी जाँच की गई तो मालूम हुआ कि वह उसकी प्राचीन जगह पर खड़ा है। स्तंभ के समीप दो गोलाकार खुदी हुई पत्थर की कुम्बी मिली। अवश्य ही ये स्तंभ के शिरोभाग में लगी थी जो बाद में गिर गई। कारण कि स्तंभ के शिरोभाग पर और इन दोनों कुम्बियों में पौ जोड़ के सूराख और बूच बने हुए हैं। जान पड़ता है कि यह स्तंभ लोहानी गुफा के ऊपर दक्षिण टीले पर बने हुए लक्ष्मीनारायण या शेषशायी के मन्दिर के सामने खड़ा किया हुआ गरुड़ध्वज स्तंभ या दीपस्तंभ था। मन्दिर के पाए तक का निशान नहीं मिलता किन्तु स्तंभ से पश्चिम में कुछ ही फासले पर परकोटे का एक मीनार मुसलमानी काल का बना हुआ टूटी हालत में अभी खड़ा है। वह प्रायः साराही मन्दिर के दरवाजे, कुर्सी और अन्य भागों में लगे हुए पत्थरों का बना हुआ है। टीले के नीचे नाले की खोह में दूर तक सुन्दर खुदाई का काम किए हुए पत्थर पड़े हैं। स्तंभ के आसपास बौद्धकालीन कोई चिह्न अभी तक नहीं मिला।

भोज द्वितीय ? के समय का खंडित शिलालेख—रूपमति सड़क पर २३वाँ मील जहाँ खड़ा है उसके समीप ही एक टीला था उसकी जाँच की गई तो शिवलिंग, योनि, तथा अन्य खंडित मूर्तियों के साथ भोजराजा का नाम खुदा हुआ शिलालेख का एक टुकड़ा मिला जो १॥"×४॥" नाप का है, उस पर सात अधूरी पंक्तियाँ हैं। यह टुकड़ा भी किसी इमारत में लगा हुआ था ऐसा उसके टूटे हुए भाग से मालूम होता है। शिलालेख के अक्षर तेरहवीं शताब्दी से प्राचीन नहीं हैं। इन सात अधूरी पंक्तियों से यही ज्ञात होता है कि भोज के समय (सम्भवतः भोज दूसरा ई० स० १२८०-१३१०) किसी मूर्ति की स्थापना की गई थी। शिलालेख का शेष भाग अभी तक नहीं मिला।

पंचपावली—मांडव में सागर तालाब के उत्तर किनारे सड़क से लगा हुआ यह स्थान खिरनी के बड़े बड़े सायादार पुराने वृक्षों से घिरा हुआ है। नाम पर से संशय हुआ कि पंचदेवली का कदाचित पंचपावली समय जाते हो गया हो। यहाँ खोज करने पर करीब दो फीट गहराई में एक बड़ी शालुंका (जलाधारी-योनि) दौड़ती हुई हंसपंक्ति, शिवलिंग और मन्दिर के अनेक चिह्न जिनमें छोटे शिखर और स्तंभों के शिखर भी थे, मिले। इस स्थान के अधिकाँश भाग पर अब काश्त होती है अतः अधिक खोज अभी नहीं की जा सकी। पास ही तालाब में एक छोटा द्वीप है उसमें भी काश्त होती है। खेत में से निकली हुई तीन मुख की खड़ी मूर्ति अभी द्वीप पर ही है।

लालकोट—चंपा बावड़ी और शाही महलों के खंडहरों से पश्चिम-उत्तर करीब आध फलाँग की दूरी पर लालकोट नाम की मुसलमानी समय की इमारत के खंडहर हैं। अब सिवाय एक लम्बे अहाते के वहाँ कुछ न रहा। छत अन्दर गिर जाने से मलबे से इमारत भर गई है। मालूम होता है कि सुलतानों के समय हौदे, नालकी, पालकी, अम्बारी, तामझाम इत्यादि वस्तुओं को रखने का यह लम्बा चौड़ा फर्राशखाना था। यहाँ जाँच के लिए तीन जगह खोदा गया, एक स्थान पर देवी की खंडित छह मूर्तियाँ और सिंह का टूटा हुआ एक सिर अभी तक मिला है।

जेठासा के द्वार पर गड़ी हुई १४०० जैन मूर्तियाँ—मांडव पर मुसलमानों के आकस्मिक आक्रमणों के कारण यहाँ के सैकड़ों जिन-देवालयों की मूर्तियाँ माँडव से बाहर अन्य सुरक्षित स्थानों को पहुँचा दी गई थीं। मांडव में स्थापन की हुई अनेक मूर्तियाँ आज भी मालवे के तथा मालवे के आसपास के अनेक स्थानों में हैं, यह उनके शिलालेख से ज्ञात होता है। किन्तु अधिकांश मूर्तियों को आक्रमण के समय खंडित हो जाने के भय से मांडव में जमीन के अन्दर रख दिया गया था और तत्सम्बन्धी विवरण-पत्र आसपास के उपाश्रयों में इस हेतु से रख दिए गए थे कि शान्ति स्थापन होने पर उस आधार के द्वारा पुनः जमीन में रखी हुई मूर्तियों को बाहर निकालने में सुगमता हो। इस प्रकार का एक ताम्रपत्र ईडर से मिला है उससे



ज्ञात होता है कि मणि, धातु और पाषाण की १४०० जैन मूर्तियाँ जेठासा के दरवाजे पर गड़ी हुई हैं।* मांडव के नामशेष विस्तृत खंडहरों में जेठासा श्रावक का मकान कहाँ था इसका पता अभी तक नहीं लगा। बहुत से चिह्नों के द्वारा जैनियों के एक मुहल्ले का पता लगा है।

सोनगढ़ की ऊँची पहाड़ी पर मन्दिर निर्माण—सोनगढ़ मांडव का बाले किला है। इसकी पहाड़ी की ऊँचाई समुद्र सतह से २,२९९ फीट है। इसके शिखर भाग पर मन्दिर निर्माण का काम हिन्दू राजाओं के समय आरम्भ किया गया था। पहाड़ी के ऊपरी भाग का पश्चिम से पूर्व तरफ का बहुतसा भाग काटकर मैदान किया गया और बड़े बड़े पत्थर जिनपर सुन्दर खुदाई का काम किया गया है ऊपर पहुँच चुके थे। अधूरा काम किए हुए पत्थर भी ऊपर जहाँ तहाँ पड़े हुए हैं। कदाचित मुसलमानी आक्रमण आरम्भ हो जाने से काम पूरा नहीं होने पाया। वर्षाॠतु में बादल उतरने का यहाँ जो दृश्य दिखाई देता है वह दर्शनीय है। मन्दिर का काम यदि पूरा हो जाता तो मांडव ही नहीं सम्पूर्ण मालवे में ऐसे मनोहर दृश्य का यह एक ही स्थान होता।

दिलावरखाँ की मसजिद—मांडव की मुसलमानी इमारतों में यह मसजिद सबसे पुरानी है। धार की भोजशाला, लाट मसजिद और मांडव में मलिक मुगीज की मसजिद की तरह प्राचीन हिन्दू मन्दिर में किंचित् कमोबेशी कर यह मसजिद सुलतान होशंगशाह के पिता दिलावरखां गोरी ने ई० स० १४०५ में बनवाई थी, यह इसके पूर्वी दरवाजे के फारसी शिलालेख से मालूम होता है। मसजिद की दक्षिण दीवार गिर जाने के कारण उसको पुन: बनाने के लिए मलबा साफ किया जा रहा था, कि दुर्गा देवियों के चित्र और नाम खुदा हुआ एक काला पाषाण का टुकड़ा मिला। पत्थर की आकृति से मालूम होता है कि वह एक गोलाकार पत्थर का एक भाग है। उसपर अनेक देवियों के नाम, चित्र और वाहन तथा शस्त्र करीब करीब २ इंच लम्बे चौड़ पंक्तिबद्ध खानों में खुदे हुए हैं। चित्रों के भिन्न भिन्न अंगों के हावभाव सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट हैं, जैसे चित्र लेखक ने सफेद रंग की पेन्सिल से पत्थर पर खींच दिए हों। प्रत्येक चित्र के नीचे नाम और उसकी अनुक्रम संख्या भी दी है। चामुण्डादेवी, कुसुमावती देवी, मानसीदेवी इत्यादि नाम पढ़े जाते हैं। कुछ समय पूर्व इसी चित्रित शिलाखण्ड का एक भाग मांडव में हाथीपोल दरवाजे के पास मिला था। हाथीपोल दरवाजा दिलावरखाँ की मसजिद के पास ही है। अक्षरों से ज्ञात होता है कि ईसा की दशमी सदी के आसपास का यह होना चाहिए। सूक्ष्म अवलोकन से मालूम होता है कि ये चित्र पत्थर पर कोई पतला लेप लगाकर, उस लेप के कठिन होने के पूर्व चित्रकार ने चित्रलेखन का काम पूरा कर दिया था। लेप की मुटाई एक मालवी कागज की मुटाई से अधिक नहीं है। यदि यह ठीक है तो दशमी शताब्दी के आसपास मांडव में निरिन्द्रिय रसायन का प्रस्तरा कला में किस सीमा तक उपयोग करना जानते थे यह भलीभाँति विदित होता है। वास्तुप्राकार और मन्दिरप्राकारादि भारतीय प्राचीन वास्तुकला विषयक ग्रंथों में वज्रलेप नाम के एक लेप का वर्णन और वह किन किन पदार्थों से बनता है उसकी सूची हमको मिलती है। उसके साथ यह स्पष्ट विवरण भी मिलता है कि लेप जब गरम हो उस हालत में पाषाण के ऊपर लगा दिया जाय तो सहस्रों वर्ष तक वह कायम रहता है। जान पड़ता है कि इसी वज्रलेप का प्रयोग इन दोनों चित्रित पाषाणों के खण्डों के सहित सम्पूर्ण शिला पर किया गया था। चित्रों के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म भाग में करीब एक हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत होने पर भी किंचित्मात्र विकृति का चिह्न नहीं दिखाई देता। इन चित्रों के चित्रकार को लेप कठिन होने के पूर्व चित्र लेखन के लिए जो थोड़ा समय मिला था उसमें जिस निपुणतापूर्वक उसने इन चित्रों को मुक्त हस्त लेखन कला द्वारा अंकित किया है देखने योग्य है। मुसलमानी शासनकाल के पूर्व की पुरातत्व सम्बन्धी खोज में अभी तक जितनी वस्तुएँ माँडव में मिली हैं उनमें यह एक महत्त्व की वस्तु है। उक्त मसजिद के आसपास खोजने पर शिव की तांडवनृत्य की मूर्ति और शाक्त मन्दिरों के भी कुछ चिह्न तथा खंडित मूर्तियाँ मिली हैं। निरीक्षण से यही जान पड़ता है कि जहाँ अब हिण्डोला महल खड़ा है उसकी चारों दिशा में खाजुराहो के मन्दिर के प्लान मुताबिक पंच देवालय, मुसलमानी शासनकाल के पूर्व यहाँ बने हुए थे। हिण्डोल महल के उत्तर में और नहारझरों के चौक में खोज करने पर हिन्दू मन्दिर के पाए के निशान भी मिले हैं। इसी प्रकार खास हिण्डोला महल में जनानी दालान के नीचे की वर्तुलाकार छत और दीवारों के भराव में चुनी हुई सप्तमातृकादि की मूर्तियाँ इत्यादि चिह्न इसी निर्णय पर पहुँचाते हैं कि बुन्देलखण्ड के चन्देल राजाओं के समान ही मालवे के परमार राजा भी मन्दिर निर्माण के अत्यधिक शौकीन थे। भोज राजा ने तो वास्तुप्राकार पर सुन्दर ग्रंथ लिखा है। बुन्देलखण्ड के चन्देल और मालवे के परमार राजा दोनों वंश समकालीन और पड़ौसी रहे हैं। चन्देलों ने जिस प्रकार खजुराहों में सुन्दर स्थापत्य-

* मणीनी धातुनी अने पाषाणनी १४०० मूर्तिओं जेठासा श्रावक ने बारवे भांडारे की छे। ईडर का ताम्रपत्र।

कलापूर्ण शैव मन्दिरों को निर्माण किया उसी प्रकार परमार राजाओं ने बहुत सम्भव मांडव में सुन्दर मन्दिर निर्माण किए थे और हिण्डोला महल के आसपास खजुराहो जैसे पंच देवालय निर्माण किए हों तो आश्चर्य नहीं।

सप्तकोठड़ी के पीछे एक प्राचीन मन्दिर की खोज—सप्त कोठड़ी की इमारत दर्याखाँ की कब्र से पश्चिम में रूपमती सड़क से लगी हुई बनी है। मुसलमानी काल में यह एक बड़ी सराय थी जिसका उत्तरी आधा भाग और मुख्य दरवाजा गिर गया है। दरवाजे के दक्षिण भाग की ९ कोठड़ियाँ अभी खड़ी हैं, लोग इसको सात कोठड़ी कहते हैं। इनके पीछे के खेत में एक रोज मित्रों के साथ होला खाने का प्रसंग आया, खेत में दौड़ती हुई हंसपंक्ति का एक पत्थर मिला। यह पत्थर यहाँ कैसा? पहले (अब नहीं) इस प्रकार की हंस पंक्ति गुप्त राजाओं के समय की इमारतों की सजावट का एक चिह्न माना जाता था। मांडव का फुलजी भील कोठड़ियों के पीछे बरसों से खेती करता है। चने की फसल कटने बाद जहाँ हंस पंक्तिवाला पत्थर मिला था खोज का काम शुरू किया गया। करीब चार फीट गहरा जाने के बाद मन्दिर के पत्थर दिखाई दिए और सुन्दर खुदाई का काम किया हुआ एक सिंहासन सहित मन्दिर दिखाई दिया। छत गिरी हुई निकली किन्तु दीवालें और ताक वगैरा अच्छी हालत में मिले। महिषासुरमर्दिनी, लक्ष्मीनारायण, शिवलिंग, जलाधार और एक बड़ा नन्दी यथा स्थान टूटा हुआ मिला, छत के गिरे हुए पत्थरों पर बहुत ही सुन्दर कोराई का काम किया हुआ है। पत्थर उड़द्या जाति का होने से और बरसों जमीन के अन्दर रहने के कारण सड़ गया, जिससे बारीक नक्काशी और खुदाई का काम प्रायः नष्ट हो गया है। मन्दिर में दो कमरे हैं, एक में सिंहासन तथा दूसरे में शिवलिंग मिला। सामने का सभामण्डप बिलकुल गिरा हुआ निकला। सिंहासन बहुत अच्छी हालत में मिला उस पर उठावदार हाथी और सिंहों की दौड़ती हुई पंक्ति है। इन प्राणियों के चित्र उतने अच्छे नहीं हैं जितनी सुन्दर सिंहासन के दासे की पट्टी है। मन्दिर के गर्भगृह की वर्तुलाकार छत में गायन, वादन, नृत्यादि कलाओं की मूर्तियाँ लगी थीं। मन्दिर के कमरों का नाप तेरह फुट हमचौरस है। सिंहासन के कमरे के सामने शंखावटी अच्छी हालत में मिली। सभा मण्डप में पत्थर पटे हुए थे। एक दैत्य की विशाल मूर्ति सभा मण्डप के पास निकली। मालूम होता है कि मुसलमानी काल में इस मन्दिर के खंडहर पर एक मामूली मकान बना था उसके ईंटों के टुकड़े और कवेलू मलबे में से निकले। कवेलू का मकान गिर जाने के वर्षों बाद उस भूमि पर भीलों ने काश्त करना शुरू किया होगा। मन्दिर की तक्षण कला ईसा की बारहवीं शताब्दी के आसपास की जान पड़ती है। अभी तक कोई शिलालेख नहीं मिला।

बूढ़ी मांडव—बूढ़ी मांडव का नाम बहुत थोड़े लोग जानते हैं। मांडव किले से पश्चिम-उत्तर करीब तीन मील पर एक प्राचीन किला बना हुआ है। मांडव की वर्तमान शाही इमारतों से प्राचीन हिन्दू मन्दिरों के चिह्न वहाँ होने के कारण लोग उसको बूढ़ी (वृद्ध) मांडव कहते हैं। इसके परकोटे की रचना माँडव जैसी ही है। दरवाजे, तालाव, घाट हिन्दू राजाओं के समय के हैं। मांडव की तरह यह किला भी मालवे की समतल पठार से अलग किन्तु एक सकड़े रास्ते से उत्तर में जुड़ा हुआ है, इस रास्ते को नकटचाबारी कहते हैं। क्षेत्रफल में मांडव किले से बहुत छोटा किन्तु दुर्गम है। किले के अन्दर प्राचीन मन्दिरों के छोटे और बड़े नौ खंडहर जिनको ढेर भी कह सकते हैं पड़े हुए हैं। मुसलमानी शासनकाल के पूर्व परमार राजाओं के समय की वास्तुकला के सुन्दर दर्शन बूढ़ी मांडव में ही होते हैं। भोज के उत्तराधिकारी उदयादित्य के बनवाए हुए उपुदयर (ग्वालियर राज्य) के सुन्दर देवालय की प्रस्तरकला से बूढ़ी मांडव के मन्दिरों की प्रस्तरकला बहुत मिलती है। मूर्तिभंजकों ने इन्हें भी धराशायी कर दिया किन्तु उनका एक भी पाषाण वहाँ से हटाया नहीं गया। मन्दिर गिरते समय जो पत्थर जहाँ और जिस करवट से पड़ा था वैसाही आज पड़ा हुआ है। इन मन्दिरों की शिलाओं के जोड़ बगैर चूने के ऐसी सुन्दरता और सूक्ष्मता से मिलाकर रखे थे कि देखकर आश्चर्य होता है। मन्दिरों के गिरे हुए खंड़हरों में खोज का काम बड़े बड़े पत्थरों के उलटने से ही शुरू होता है। जिस पत्थर को उलटकर देखा उसी पर स्थापत्य कला के मनोहर दर्शन हुए। अनेकों मूर्तियाँ निकलीं। मन्दिर उड़द्या जाति के पत्थर के बने थे अतः उसपर किया हुआ सूक्ष्म काम अब नष्ट होने लगा है। किले के अन्दर लोगों के मकान बने हुए थे ऐसा चिह्नों से ज्ञात होता है किन्तु वे ज्वालाग्राही पदार्थ के थे अतः नष्ट हो गए। जहाँ तहाँ बड़े आकार की ईंटें और उनके खंड मिलते हैं। तालाब में एक भारी दीपस्तंभ था वह गिरा हुआ पड़ा है। मन्दिर बहुत बड़े नहीं हैं किन्तु जिस मार्के की जगह वे बने हैं देखने योग्य हैं। बूढ़ी मांडव में खोज का काम अधिक नहीं किया गया। किन्तु इन मन्दिरों के खंड़हर खोज के लिए सर्वोत्तम कहे जा सकते हैं।

राजा विक्रम जात वार—पंधार के श्रीमंत सेतुरामजी महाराज बाबा साहेब पंवार संस्थान मलठन बड़े इतिहास व्यासंगी रईस थे। अत्यन्त खेद है कि कुछ ही महीनों के पूर्व उनका स्वर्गवास हो गया। आप जब कभी मांडव आते थे कुछ न कुछ ऐतिहासिक चर्चा अवश्य ही करते थे। विक्रम संवत् का आरम्भ कब हुआ, इसपर एक निबन्ध लिखाने के लिए मुझे कहा था और साथ ही कहा था कि "हमारे पास एक प्राचीन खाँड़ा है उस पर इन्सक्रिप्शन है तुम लिखलो, उसका मजमून इस प्रकार का है :—'सिप्रा नदी उज्जैनी धार, राजा विक्रम जात पवाँर।।' विक्रम राजा परमारवंशी थे या नहीं, इसके लिए जो प्रमाण एकत्र किए जा रहे हैं, उनमें यह किस सीमा तक उपयोगी होगा आज नहीं कहा जा सकता।

शिन्दे-राजवंश की हिन्दी-कविता

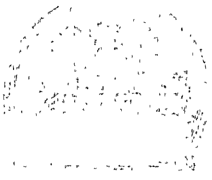
श्री गोपाल व्यास, एम्० ए०, साहित्यरत्न,

यद्यपि शिन्दे-राजवंश की मातृभाषा मराठी है तथापि शिन्दे नरेशों ने ग्वालियर की लोक-भाषा हिन्दी की अभिवृद्धि में सर्वदा योग दिया है। जहाँ अन्यान्य शासक अपनी भाषा को शासितों पर लादने का दुराग्रह करते हैं वहाँ उदारमना शिन्दे-नरेशों ने शासितों की भाषा को अपनाकर लोकमत का समादर किया है। उन्होंने केवल राज्य-कार्यों में ही हिन्दी को स्थान नहीं दिया प्रत्युत उसकी काव्य-मन्दाकिनी में अवगाहन कर शब्द-साधना द्वारा अपनी भाव-कुसुमांजलि भी समर्पित की है। उन्होंने मनोविनोद मात्र के हेतु हिन्दी कवियों को आश्रय देकर ही अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय नहीं दिया स्वयं अपने हृदय का रस उँड़ेलकर वीणा-पाणि की समाराधना भी की है। उन्होंने केवल प्रचुर धन-राशि व्यय कर के ही हिन्दी के प्रचार में योग नहीं दिया अपितु अपने तन-मन द्वारा भी राष्ट्र-वाणी की चतुर्दिक समुन्नति में साहाय्य देकर यशार्जन किया है। प्रस्तुत लेख में शिन्दे-नरेशों की हिन्दी कविता पर ही विचार किया जायगा।

ग्वालियर-राज्य के प्रतिष्ठापक महाराज महादजी शिन्दे लोकोत्तर पुरुष थे। उनके शौर्य, राजनीति-पटुता, दूरदर्शिता आदि गुणों से इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं। परन्तु ऐतिहासिकों ने उनकी भावुकता, सहृदयता, भक्ति-विह्वलता एवं कवित्व जैसे उदात्त गुणों की अवहेलना की है। वास्तव में महादजी शिन्दे के व्यक्तित्व में वज्रादपि कठोरता एवं कुसुमादपि मृदुता थी, हृदय और मस्तिष्क के गुणों का समन्वय था, अवसरानुकूल शासकोचित कठोरता एवं मानवोचित कोमलता का मणि-कांचन संयोग था। यही कारण है कि वे जहाँ एक ओर सुविस्तृत ग्वालियर-राज्य की सुदृढ़ स्थापना करने में समर्थ हुए वहाँ दूसरी ओर वृन्दावन-विहारी के अलौकिक प्रेम में डूबकर भक्ति-भावित कविता के सृजन में भी सफल हुए। इस सम्बन्ध में स्वर्गीय 'हृदय' जी ने ठीक ही कहा है :—

तलवारों की धारों पर भी जिसने किया कृष्ण का गायन।
वह कवि थे कर्मण्य, वीरता उनपर करती थी आत्मार्पण॥ —विजय-वैजयन्ती।

महादजी शिन्दे की कविता पर विचार करने के पूर्व उनके कवित्व को प्रेरित करनेवाली कृष्ण-भक्ति की चर्चा अनुपयुक्त न होगी। नव-प्रतिष्ठित एवं विशाल राज्य के शासन तथा सुप्रबन्ध की दृष्टि से उन्हें मथुरा में प्राय: रहना



पड़ता था। इस स्थान को उन्होंने कई कारणों से चुना था। एक तो मथुरा तीर्थ-स्थान है, दूसरे दिल्ली आगरे के बीच में है। आगरा उस समय उनकी सेना का मुख्य स्थान था और दिल्ली पतनोन्मुख मोगल-साम्राज्य की राजधानी थी। मथुरा से जाटों पर भी नियंत्रण रखा जा सकता था और राजपूतों पर भी दृष्टि रखी जा सकती थी। भगवान् कृष्ण की ललित-लीला-भूमि में दीर्घ काल पर्यन्त निवास करने से उनके हृदय में प्रेम-पारावर हिलोरें लेने लगा। उन्होंने वृन्दावन में अनेक मन्दिर बनवाए तथा उनकी सेवा-पूजा के लिए पुष्कल द्रव्य-राशि दान की। भक्तवर किशोरदासजीकृत 'निजमत-सिद्धान्त' एवं सहचरिशरण-विरचित 'ललितप्रकाश' आदि ग्रंथों में महादजी शिन्दे के कृष्ण-प्रेम का उल्लेख मिलता है। 'ललित-प्रकाश' के एक प्रसंग से टट्टी-सम्प्रदाय के महन्त श्री ललितमोहिनीदेव (सं० १८२३–१८५८) के प्रति महाराज महादजी शिन्दे की उत्कृष्ट श्रद्धा एवं प्रेम की व्यंजना होती है। महादजी महाराज ने एक बार वृन्दावन में रासपंचाध्यायी लीला कराई थी, जैसाकि अधोलिखित दोहे से प्रकट होता है :—

नाम महादजी सिंधिया बृन्दावन बिच आय।
श्रीगुपाल लीला करी परम प्रीति दरसाय।। —ललितप्रकाश।

उक्त रास-लीला में वृन्दावन के प्रायः सभी प्रख्यात भक्त समवेत थे। महादजी महाराज स्वयं श्री ललितमोहिनी देवजी को उस अपूर्व आयोजन में लाने के लिए गए थे। जब श्री ललितमोहिनीजी को पालकी में बैठाकर स्वयं उनके भार-वाही बने तब स्वामीजी ने कहा कि "छोड़िके पालकी, पालकी में चढ़ौ, प्रेम की लीक हो नीक आगे बढ़ौ"। स्वामीजी की आज्ञा शिरोधार्य कर आप उनके साथ बैठ गए। रासोत्सव में उक्त स्वामीजी को ही सर्वोच्च आसन पर समासीन किया गया। फिर, रास-लीला हुई जिसका वर्णन निम्नांकित पद्य में पठनीय है :—

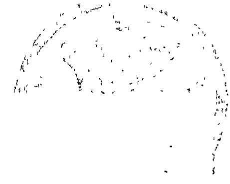
महान प्रेम सो सुजान कृष्णलीला रुचिर राधिका समेत सब गोपिका बनी ठनी।।
मृदंग ताल बीन लै प्रवीन ते बजावहीं रसाल बेनु किन्नरी उपंग तान त्यों तनी।।
सभा प्रभा अनेकधा विनोद भाँति-भाँति की सुसिंधियाहिकी प्रतीति प्रीति रीति हू घनी।
कृपानिधान मोहिनी निहारि के प्रसन्न भा गिरा गंभीर उच्चरी खरी मनो सुधा सनी।। —ललितप्रकाश।

श्री ललितमोहिनीजी के सत्संग एवं आग्रह से, कहते हैं, महादजी महाराज कृष्ण-भक्त वैष्णव हो गए एवं अपने हृदय की भावमालिका नन्द-नन्दन के चरणों में अर्पण करने लगे। कभी उनके हृदय का मधुर आवेग अपने आराध्य के लीलास्थल ब्रज की बोली में व्यक्त हुआ और कभी अपनी मातृभाषा मराठी में। यहाँ पर हमारा उद्देश्य उनकी हिन्दी-कविता का परिचय देना ही है।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में केवल 'मिश्रबन्धु-विनोद' में महादजी शिन्दे के सम्बन्ध में, अति-संक्षिप्त उल्लेख मिलता है (देखिए मिश्रबन्धु विनोद, पृष्ठ ७५२)। कुछ वर्ष पूर्व 'साहित्य-समालोचक' में भी उनकी कविता प्रकाशित हुई थी। सन् १९२१ में श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव ने महादजी शिन्दे की हिन्दी-मराठी कविताओं को 'माधव-विलास' नामक पुस्तक में प्रकाशित किया। कहने की आवश्यकता नहीं कि माधवराव उनका वास्तविक नाम था और माधव' कविता में प्रयुक्त लघुनाम है, उपनाम नहीं, जैसाकि कुछ लोग अनुमान करते हैं।

'माधव-विलास' में मराठी भाषा में लिखित कविताओं की संख्या हिन्दी-कविताओं की अपेक्षा अधिक है। कदाचित् महाराष्ट्र-देश में उत्पन्न एवं शिक्षित होने के कारण उन्हें मराठी में अपने भावों को व्यंजित करने में अधिक सुविधा होती होगी। परन्तु 'माधव-विलास' के अन्त में संगृहीत उनकी हिन्दी-कविता पर दृष्टिपात करने से यह विदित नहीं होता कि ब्रजभाषा में उन्हें विशेष प्रयास करना पड़ता होगा। कविताओं को पढ़ने से ऐसा प्रतीत नहीं होता कि उनमें किसी अहिन्दीभाषी व्यक्ति के उद्गार हैं। कुछ कविताओं में तो उच्चकोटि का कवित्व निहित है।

महादजी शिन्दे की कविता कृष्ण-परक है परन्तु उसमें रीतिकालीन कवियों की भाँति वासना की दुर्गन्ध के स्थान पर अलौकिक प्रेम का सौरभ है। उनके वर्ण्य-विषय वे ही हैं जो अन्यान्य तत्कालीन भक्त-कवियों के हैं; यथा, गुरु-महिमा, कृष्ण-जन्म, रूप-माधुरी, मुरली-माधुरी, होली-क्रीड़ा, रास-विहार, गोपी-विरह और उद्धव-गोपी संवाद।



श्री गोपाल व्यास

कृष्ण-जन्म सम्बन्धी पदों में, जिनकी संख्या लगभग बीस है, वर्णनात्मकता अधिक है। परन्तु अन्य पदों में, जहाँ वर्णनात्मकता के स्थान पर मंजुल भावों का चित्रण किया गया है, सुन्दर गीति-काव्य के दर्शन होते हैं। रूप-माधुरी का एक उदाहरण लीजिए:—

बिन् गथ मोल लईरी इन मोहन मोकों ।।धृ०।। सीस-मुकुट कटि काछै आछै कुण्डल झलक झई।
रूप-ठगोरी डारि साँवरे उलटी प्रीति नई। कुटिल अलक नचाय दृगन कौं, लखि माधौ बस भई ।।

लौकिक बाधा-बंधनों से मुक्त गोपियों के गम्भीर प्रेम की व्यंजना नीचे लिखे हुए सवैये में मिलती है :—

पाँय परौं मनुहारि करौं सखि साँवरे के घर बास बसैं दै। नँनदी ननदा ससुरौ अरु सासु दुरानि जिठानि रिसैं तु रिसैं दै।
ब्रजकी बनिता जु चबाउ करौ मुखमौरि कै खीझि सिखैंतु सिखैं दै। मो मन 'माधव' रंग रच्यौ अब लोग हँसै तौ हँसैं तौ हँसैं दै ।।

उपर्युक्त सवैये में भावोत्कर्ष के साथ ही चलती हुई ब्रजभाषा का सौन्दर्य भी द्रष्टव्य है। संयोग-शृंगार के एकाधिक पदों में गोपियों की भाव-प्रेरित वचन-वक्रता के दर्शन होते हैं। यथा—

लाल मैं गारी देऊँगी।
निगुनी है तू बहुत दिननि कौ, कुल जाति नहीं, यह प्रकट करौंगी।
धर्म रहित तू अग्य सदा को, कुल-भूषन सब कीरति कहौंगी।।

कहने की आवश्यकता नहीं कि केशवदास की रामचन्द्रिका की 'गारियों' की भाँति ही यह 'गारी' श्लेष, व्याज-स्तुति एवं वक्रोक्ति अलंकारों से सुन्दर तथा मधुर-प्रेम-व्यंजक होने के कारण बड़ी मीठी है।

गोपी-विरह-वर्णन में तो भक्ति-विह्वल-हृदय का उन्माद ही फूट पड़ा है। रासक्रीड़ा में प्रियतम कृष्ण के अन्तर्धान हो जाने पर गोपियों का हृदय शतधा होकर प्रकृति के कण-कण से बड़े मर्मस्पर्शी एवं करुण-स्वर में कृष्ण के विषय में पूछता है। समस्त पद इतना सुन्दर है कि हम उसके कतिपय अतिशय सुन्दर चरणों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते :—

माधवि मालति मल्लिका फूली तरुनि समेत। कित 'माधव' ब्रजराज हैं मोहि कहौ करि हेत।।
गुल्मलता तरु मृग-कुल कालिन्दी इत देखि। मो प्यारो माधव कहाँ मोहि बताउ बिसेखि।।
ए हो ताल तमाल तरु बकुल कदम्ब रसाल। मोसौं कहिए कृपा करि कित 'माधव' नँदलाल।।
चकित व्यथित ह्वै देखती हे हरिनी हरिपंथ। मोहि बताओ कृपा करि श्री 'माधव' ब्रजचन्द।।

निर्गुण ब्रह्म की अग्राह्यता, दुष्करता एवं नीरसता तथा सगुण ब्रह्म की सुग्राह्यता, सुकरता एवं सरसता प्रतिपादित करने के लिए महात्मा सूरदास से अनुप्रेरित होकर आधुनिक युग के कवियों तक ने भ्रमर-गीत के प्रसंग पर कविताएँ की हैं। महादजी महाराज की कविता में भी एतद्विषयक कुछ पद हैं जिनमें तर्क-पूर्ण वाद-विवाद के स्थान पर गोपियों के व्यंग्य-विनोद की अच्छी छटा है। यथा—

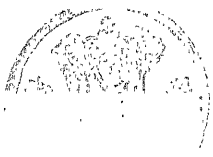
जान्यौ जू जान्यौ भलो उधौ तुम्हरो नाथ। कुबिजा पटरानी करी आपु त्रिभंगी नाथ।।
मन मोहन मोहे सबै गो, गोपी, गोपाल। दासी के रस-बस भए, भले बिकाने लाल।।

हाव-चित्रण सम्बन्धी एक पद में महादजी शिन्दे ने काव्य-कौशल का चरमोत्कर्ष प्रदर्शित किया है। वह यह है—

चरखा कातनवारी री तू। भौंह चढ़ाय नचाय दृगन कौं, चल चुटकी चटकीले चितसौं।
नासा मोरि, नबाय ग्रीव कौं, तोरति, जोरति गुण अति हित सौं।
लाज तजी जन-मन गुरुजन की, मोह बढ़ायौ 'माधव' मित सौं।।

सौभाग्य से महाकवि बिहारी—जो हाव-चित्रण की दृष्टि से हिन्दी साहित्य में अप्रतिम हैं—का भी एक दोहा ठीक इसी विषय पर मिलता है जो नीचे उद्धृत है—

ज्यौं कर त्यौं चुंहुटी चलै ज्यौं चुंहुटी त्यौं नारि।
छबिसौं गतिसी लै चलति चातुर कातनहारि।।



शिन्दे-राजवंश की हिन्दी-कविता

बिहारी के दोहे की भाँति ही पद के दो चरणों की भाषा बड़ी सशक्त है। बिहारी द्वारा वर्णित 'कर' 'चुंहटी' और 'नारि' की गतियों के अतिरिक्त महादजी के पद में 'भौंह' के चढ़ाने का, नासा के मोड़ने का तथा 'गुन' के जोड़ने-तोड़ने का चित्रण अधिक है। जहाँ तक संगीत-माधुर्य एवं सुरों के आरोहावरोह का सम्बन्ध है महादजी का पद निश्चय ही श्रेष्ठ है। शेष बातों के सम्बन्ध में उत्कर्षापकर्ष का निर्णय हम सहृदय पाठकों पर ही छोड़ते हैं। उपर्युक्त विवेचन एवं उदाहरणों के बल पर हम कह सकते हैं कि महादजी शिन्दे हिन्दी के अच्छे कवि थे। उन्होंने चलती हुई, प्रसाद-प्रवाहमयी भाषा में गीति-काव्य की रचना की है। यत्र-तत्र अलंकारों की भी अच्छी आभा दिखाई पड़ती है। हिन्दी के प्रसिद्ध छन्द दोहा और सवैया के अतिरिक्त उन्होंने मराठी भाषा के प्रख्यात छन्द 'ओवी' का प्रयोग भी हिन्दी में किया है।

महादजी महाराज के उत्तराधिकारी दौलतराव शिन्दे भी बड़े काव्य-रसिक व्यक्ति थे। हिन्दी के प्रसिद्ध कवि पद्माकरभट्ट कुछ दिनों आपके दरबार में रहे थे। महाराज दौलतराव के सम्बन्ध में उनका निम्नलिखित छन्द अत्यन्त प्रसिद्ध है—

मीनागढ़ बम्बई सुमन्द मन्दराज बंग, बन्दर को बन्द करि बदर बसावैगो।
कहै पद्माकर कसकि कासमीर हू को, पिंजर सों घेरिकै कलिंजर छुड़ावैगो॥
बांका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौ, साजि दल पकरि फिरंगिन फिरावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि, कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

पद्माकर की कविता से सन्तुष्ट होकर उन्हें दौलतराव शिन्दे द्वारा एक लक्ष रौप्य-मुद्रा एवं हाथी देकर सम्मानित करने की बात परम्परा से चली आ रही है। पद्माकरजी ने 'आलीजाह-प्रकाश' की रचना ग्वालियर दरबार के आश्रित कवि के रूप में ही की थी। खेद है कि उक्त कृति अभी तक अप्रकाशित है। पद्माकर के अतिरिक्त 'दौलत बागविलास' के रचयिता शिव कवि भी उनके दरबार में थे। इस प्रकार एक ओर तो महादजी सिंधिया के कविता-प्रेम एवं दूसरी ओर आश्रित कवियों के सम्पर्क के कारण अवश्य ही उन्होंने पर्याप्त मात्रा में कविता की होगी। परन्तु खेद है कि हमें उनका एक ही पद मिल सका। वह यह है—

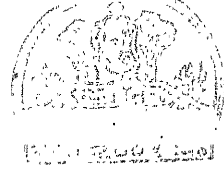
चरण गहे की लाज दुलारो,
तुम तो दीनानाथ कृपा करि भगत काज उद्धारो।
'दौलत' प्रभु के चरण गहे हो दीनबन्धु प्रभुता विस्तारो॥ **(नागरी प्रचारिणी पत्रिका से उद्धृत)**

मिश्रबन्धु-विनोद में महाराजा दौलतराव के निम्नांकित दो ग्रंथों का उल्लेख और मिलता है—(१) प्रार्थना-संग्रह, (२) आध्यात्मिक, स्फुट रचना।

सरदार बलवन्तराव भैया साहब शिन्दे तो उच्चकोटि के हिन्दी-कवि थे। यद्यपि आप राज-परिवार में उत्पन्न हुए थे तथापि आप स्वभाव से ही बड़े त्यागी एवं भावुक भक्त थे। आपने अपने सम्बन्ध में स्वयं कहा है—

यद्यपि राजवंश में जायो। रूप सील बल बिपुल सुहायो।
बहु विद्या वैभव गुन राजैं। विविध कला कौशल्य विराजैं॥
राजकाज कीन्हें बहुतेरे। पद अमात्य लौं काज निबेरे॥
दिन दिन नव वैभव अधिकायो। पै सुख लेश कहूँ नहिं पायो॥
गयो शरण वृषभानु दुलारी। विनय कीन्ह लोचन भरि बारी॥
उपज्यौ जब कछु ज्ञान श्रीस्वामिनी प्रसाद ते।
विद्या-वैभव मान अवगुण इव लागन लगे॥ **—श्रीमद्भाषाभागवत, पृष्ठ २५६-२५७।**

भैया साहब के भक्ति-सौरभ से आज भी ग्वालियर-प्रदेश सुरभित है। ब्रजमण्डल में उनकी यश:पताका आज भी फहरा रही है। आपकी अपार धनराशि से परिचालित 'राधामाधव भंडार (मथुरा)' में आज भी चारों सम्प्रदायों के १३१ वैष्णवों को नित्य भोजन कराया जाता है एवं अनेक विरक्त साधुओं की द्रव्यादि से सेवा की जाती है। आप प्रेमावतार



श्री गोपाल व्यास

गौरांग महाप्रभु-प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में दीक्षित थे। 'पदमाला' के एकाधिक पदों में आपने 'निताई गौर' की स्तुति की है। विलास-वैभव के अशेष उपकरणों के होते हुए भी उन्होंने सरल त्यागमय जीवन द्वारा प्रेममूर्ति कृष्ण की भक्ति में आनन्द प्राप्त किया, जैसाकि श्रीमद्भाषाभागवत के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है। राज्य-कार्यों को कुशलतापूर्वक करते हुए भी आप नित्य भक्ति भावना में मग्न रहते थे। 'वर्षों तक आप प्रति दिन तीन घण्टे हरिकीर्तन करते थे। चातुर्मास व्रत के लिए आपने प्रतिदिन के भजनों के लिए छह पहरे नियत किए और तब दिन रात अखण्ड श्रीहरिनाम का भजन चलाया।' (देखिए, पदमाला के प्रारंभ में दिया हुआ भैया साहब का जीवन चरित)। कहते हैं कि जीवन के अन्तिम दिनों में तो वे एक लक्ष भगवन्नामों का जप किया करते थे। इसके अतिरिक्त आप प्रति वर्ष वृन्दावन में कई मास तक रहते थे। सं० १९७१ में ब्रज-मण्डल के भक्तों ने उन्हें 'भक्तनिधि' एवं १९७६ में दिल्ली की 'नवल-प्रेम-सभा' ने उन्हें 'भक्तराज' की पदवियों से विभूषित किया। निस्सन्देह वे इन उपाधियों के अधिकारी थे। इस प्रकार उनका जीवन ही कृष्ण-मय था। राधा-कृष्ण की मधुर लीलाओं के गान में स्वभावतः उन्हें अपरिमेय आनन्द आता था। यही कारण है कि उनके उद्गारों में अकृत्रिमता, मर्मस्पर्शिता एवं सरसता का अनुभव पाठक को होता है। परमाराध्य कृष्ण तथा ब्रज-भूमि से सम्बद्ध होने के कारण उनका मराठी से अधिक ब्रजभाषा पर अनुराग एवं अधिकार हो गया था। यों तो भैया साहब की कृतियों की संख्या बहुत है पर विशेष प्रसिद्ध एवं महत्त्वपूर्ण ये हैं:—

(१) श्रीकृष्ण लीलामृत (२) श्रीमद्भाषाभागवत और (३) पदमाला।

'श्रीकृष्ण लीलामृत' में, जैसाकि नाम से ही प्रकट है, श्रीकृष्णजी की विविध प्रेम-लीलाओं का वर्णन है; जैसे, बसन्त-लीला, शरद्लीला, उद्धवागमनलीला, मानलीला और श्रीरुक्मिणी-स्वयंवर आदि। इन्हें हम वर्णनात्मक प्रबन्ध कह सकते हैं। भक्तिकाल एवं रीतिकाल में अनेक भक्त-कवियों ने उक्त प्रकार के प्रबन्ध लिखे हैं। इन लीलाओं में षड्ऋतु-सम्बन्धिनी लीलाएँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। प्रायः प्रत्येक लीला की पृष्ठ-भूमि के रूप में उद्दीपन की दृष्टि से 'पद्माकरी शैली' में ऋतु-वर्णन मिलता है। परन्तु इस प्रकार के कवित्तों में भैया साहब की भाषा का अलंकृत, धारावाहिक निखरा हुआ रूप भी पाया जाता है। एक उदाहरण लीजिए:—

बौरन ते झौंरन ते भौंरन की दौरन ते, कोकिल की रौरन ते सुख सरस्यो परै॥
'बलबंत' त्रिविध समीर की झकोरन ते, काम की करोरन ते तन हरस्यो परै॥
माधुरी ते मधु ते मयंक की मयूखन ते, मन की तरंग ते उमंग दरस्यो परै॥
बनते, विहार ते, विनोद ते, विहंगन ते, वसन ते बासर बसंत बरस्यौ परै॥ —(वसन्त-ऋतुलीला, पृष्ठ १)।

श्रीमद्भाषाभागवत (दशम स्कंध) ठीक गोस्वामी तुलसीदास की रामचरित मानस-शैली में लिखित ब्रज-भाषा काव्य है। कवि ने स्वयं गोस्वामीजी की प्रेरणा और प्रभाव को माना है। यथा—

गुरु तुलसी पद नावहुँ माथा, जे षटमास रहे मम साथा॥

या तो निरन्तर षण्मास तक उन्होंने 'मानस' आदि ग्रंथों का पारायण किया होगा अथवा स्वप्न में गोस्वामीजी दर्शन देते रहे होंगे। श्रीमन्त बलवन्तराव की इच्छा तो सम्पूर्ण भागवत को 'भाषा-बद्ध' करने की थी परन्तु समयाभाव के कारण वे ऐसा न कर सके। उन्होंने स्वयं लिखा है:—

ग्रंथ समस्त लिखन मन भाई। समयऽरु शक्ति करी लघुताई।
अमृत उदधि भागवत भारा। तामें कृष्ण चरित इक सारा।
सो समस्त निज मति अनुहारा। ब्रजभाषा किय तजि विस्तारा॥

श्रीमद्भाषाभागवत की रचना-शैली में प्रौढ़ता है, प्रयोगात्मकता नहीं। कुछ प्रसंगों में तो कवित्व की अच्छी छटा पाई जाती है। उदाहरणार्थ—शरदऋतु वर्णन, रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि। यत्र-तत्र नवीन नवीन कल्पनाएँ, अलंकृत सरस वर्णन बड़े चित्ताकर्षक प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए प्रारंभिक मंगलाचरण ही लीजिए—

सुमिरत श्री गननाथ, सीस नमायो लेखनी। करत शब्द, यश गाथ, खींचत रेखा पत्र पर॥
मूक भई वाचाल, पाई दो रसना सरस। होवत कृपादयाल, माधव परमानन्द घन॥
लागी करन बखान, दोउ रसना सों एकरस। सुजस पुनीत महान, राधा-माधव को सरस॥

समस्त रचना इतनी सुन्दर है कि सुन्दर उदाहरण खोजने के लिए पाठक को श्रम न उठाना पड़ेगा। चौपाई छन्द में एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा। गोपियाँ कृष्ण के विरह में कहती हैं:—

हे सरोज, कहुँ स्याम निहारे। तुम सम नयन अमल अनियारे।।
कलिके, मौन कवन हित धारो। कहहुन कवन दिसागत प्यारो।।
हाहा पवन, पतो कछु दीजै। गोपिन प्राण दान जस लीजै।।
हे बरही, घनश्याम हमारे। बोलत सुने कतहुँ कहुँ प्यारे।।
मधुप चतुर कहोरे भाई। गन्ध जलज तन की कहुँ आई।।

भैया साहब की रचनाओं में कदाचित् लोक-प्रियता की दृष्टि से 'पदमाला' सर्वोपरि है। उसके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। उसकी जन-प्रियता का अनुमान इसी से हो सकता है कि ग्वालियर के गाँवों के रसिक भक्तों की जिह्वा पर भी उनके अनेक पद विराजमान हैं।

'पदमाला' में कवि के विभिन्न समयों पर रचित पदों को ग्रथित किया गया है। भक्ति एवं प्रेम के आवेश में जो मधुर भाव उनके कंठ से फूट पड़े वे ही उसमें संगृहीत हैं। इसकी रचना गीति-शैली पर हुई है। छोटे छोटे पदों में मनोरम भाव-मूर्तियाँ अंकित की गई हैं। श्रीमन्त भैया साहब एक अत्यन्त उच्चकोटि के संगीत-मर्मज्ञ ही नहीं, संगीतकार भी थे, और यही कारण है कि 'पदमाला' में विभिन्न राग-रागिनियों में सुन्दर गीत मिलते हैं। भावों की दृष्टि से यद्यपि यत्र-तत्र मौलिकता एवं नवीनता के दर्शन होते हैं तथापि गोस्वामीजी की विनय पत्रिका एवं सूरदास का प्रभाव कई पदों पर स्पष्ट लक्षित होता है। कुछ पदों में तो शब्दावली भी प्रायः वही है। 'पदमाला' से एक उदाहरण लीजिए—

झूलें श्यामा श्याम सरस ऋतु पावस छाई।।धृ०।।
पुष्प-पराग मई भई धूरी, महक विपिन सरसाई।
मधुकर गुंजारव वन मानहुँ नारद बीन बजाई।
गीत मनोहर गोप-बधुन के कोकिल सुनत लजाई।
श्री दंपति झूलन छबि निसिदिन दृग 'बलवन्त' समाई।।

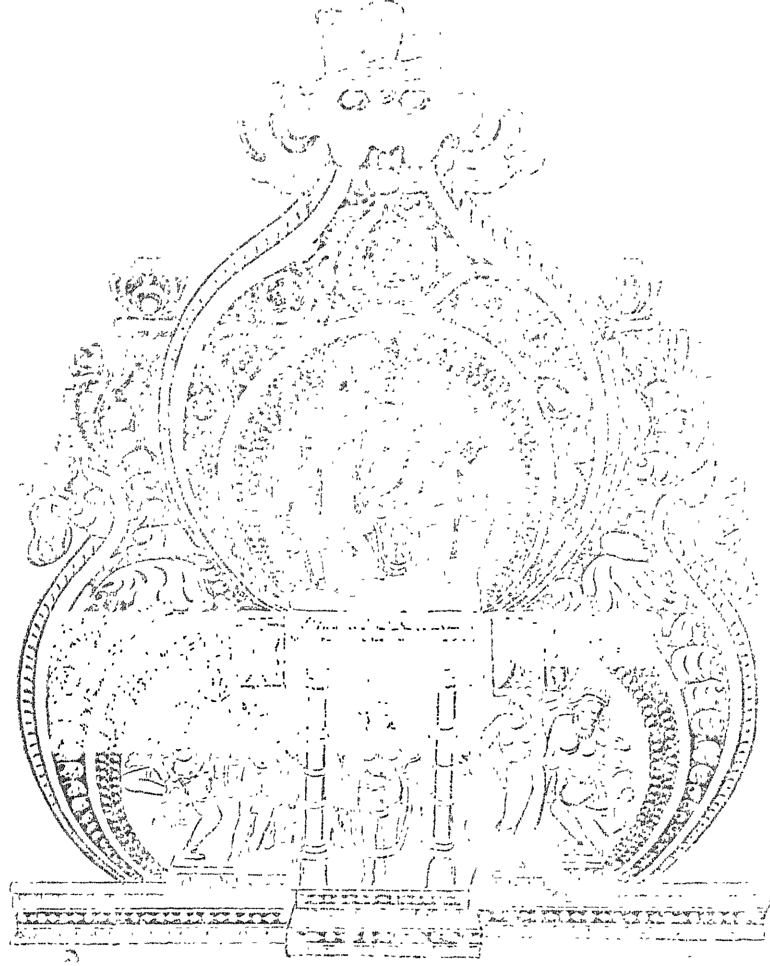
भारतेन्दु-युग के अन्तिम वर्षों में लावनियों और कजलियों का बड़ा प्रचार था। भैया साहब ने भी कदाचित् इसी कारण अनेक सुन्दर लावनियाँ लिखी हैं जिनमें खड़ी बोली का प्रयोग किया गया है। परन्तु भाषाभिव्यक्ति की शैली में बड़ी मर्मस्पर्शिता है। यथा—

यह एक जिया कहिए वारूँ किस किस पै।
भृकुटी पै, भाल पै, कपोल पै कै तिल पै ।। इत्यादि।

'पदमाला' में उत्कृष्ट भाव, अलंकृत सरस पदावली, तन्मयकारी संगीत के अतिरिक्त ऐसी मर्मस्पर्शी प्रासादिकता है कि उसके अनेक पद हृदय में घर कर जाते हैं। 'पदमाला' चिर-नवीन एवं चिर-सौन्दर्य-माधुर्य-समन्वित भाव-कुसुमों के कारण सदा प्रेमोन्मत्त भक्तों के कण्ठ की शोभा बढ़ाती रहेगी।

संक्षेप में, यही शिन्दे-राजवंश की हिन्दी-कविता को देन है। परिमाण एवं गुण दोनों की दृष्टि से उसका अपना महत्त्व है। काव्य-रचना के अतिरिक्त हिन्दी के प्रचार-प्रसार में भी उन्होंने सतत योग दिया है।

अत्यन्त हर्ष की बात है कि ग्वालियर के वर्तमान शासक श्रीमन्त जीवाजीराव महाराज भी हिन्दी की समुन्नति एवं प्रचार में अपने पूर्व-पुरुषों की भाँति ही तन-मन-धन से संलग्न हैं। प्रति वर्ष ग्वालियर के साहित्यिकों की कृतियों को पुरस्कृत कर हमारे प्रजा-वत्सल श्रीमन्त महाराज अपने हिन्दी-प्रेम का परिचय दे रहे हैं। साथ ही, श्रीमन्त ने हिन्दी को राज्य-भाषा उद्घोषित कर वह कार्य किया है जो अन्यान्य देशी नरेशों के लिए भी अनुकरणीय है। अरबी-फारसी के भारी-भरकम शब्दों से लदी हुई देव-नागरी लिपि में लिखित उर्दू के स्थान पर ग्वालियर के लक्ष-लक्ष नर-नारियों की हिन्दी को उसका उचित स्थान देकर हमारे श्रीमन्त महाराज ने जो कार्य किया है उसके लिए हिन्दी जगत् उनका चिर-आभारी रहेगा। हिन्दी में कानून बनवाने के सत्प्रयत्न का उल्लेख हिन्दी साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में किया जाना चाहिए। निश्चय ही श्रीमन्त सरकार के इस अनुपम कार्य का महत्त्व वर्तमान की अपेक्षा भविष्य में अधिक आँका जायगा। हमें विश्वास है कि विक्रम-शिन्दे-विश्व विद्यालय की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना शीघ्र ही कार्य रूप में परिणत होकर वह शिन्दे-वंशावतंस की अक्षय कीर्ति एवं अखण्ड गौरव का कारण बनेगी।



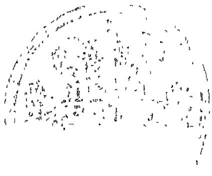
उदयेश्वर

श्री कृष्णराव घनश्यामराव वक्षी, बी० ए०, एल-एल० बी०

ग्वालियर राज्य ने अपनी सीमाओं के भीतर अत्यन्त बहुमूल्य पुरातत्व-सामग्री को एकत्रित कर रखा है, विशेषत: मध्यकालीन स्थापत्यकला के जो बहुमूल्य नमूने यहाँ उपलब्ध होते हैं, उनके द्वारा संसार का कोई भी भूमि-खण्ड गर्व का अनुभव कर सकता है। मध्यकालीन तक्षण-कला के सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि उदयेश्वर महादेव के मन्दिर का यहाँ संक्षिप्त वर्णन दिया जाता है।

असाधारण स्थापत्यकला का दिग्दर्शन करानेवाले प्राचीन भारतीय निर्माणों में जी० आई० पी० रेलवे के बरेठ स्टेशन से लगभग ४ मील पूर्व स्थित उदयपुर ग्राम का यह उदयेश्वर अथवा नीलकंठेश्वर शिवालय अग्रगण्य है। बरेठ से उदयपुर को पक्की सड़क गई है यद्यपि जिले के केन्द्र भेलसा से उदयपुर जाने के लिए मोटर द्वारा यात्रा करने योग्य कोई मार्ग नहीं है।

पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान मध्यकालीन स्थापत्यकला ने पर्याप्त मात्रा में आकृष्ट नहीं किया। उस काल में भारतीय स्थापत्य कला जिस पूर्णता को पहुँची थी, उदयपुर शिवालय उसका एक सुन्दर प्रदर्शन है।



उदयेश्वर

फरगुसन ने अपने महान् ग्रंथ 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन् आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर' में इस मन्दिर के सम्बन्ध में कुछ पंक्तियां लिखी हैं।

इस मन्दिर में शिव-लिंग की स्थापना की गई है। सन् १७७५ ईसवी में खण्डेराव अप्पाजी द्वारा इस लिंग का मानवाकृति का आवरण निर्मित कराया गया था। पुण्यश्लोक स्वर्गीय श्रीमन्त महाराज सर माधवराव सिन्दे ने इस प्राचीन स्मारक की सुरक्षा की दृष्टि से इसका आवश्यक जीर्णोद्धार कराया था।*

जनश्रुति के अनुसार इस शिवालय का निर्माण धारा नगरी के महाराज भोज के पुत्र उदयादित्य ने कराया था। इसी मन्दिर के विविध अभिलेखों से यह जनश्रुति प्रामाणिक सिद्ध होती है। महाराज भोज परमार वंश के थे और उन्होंने १०१५ से १०५५ ईसवी तक मालवा पर शासन किया। उनके पुत्र उदयादित्य ने एक अभिलेख में अपने पिता का यशोगान गौरव के साथ किया है और लिखा है कि उसने (उदयादित्य ने) अपने वंश के गौरव एवं समृद्धि में वृद्धि की है एवं अपने पूज्य पिता की स्मृति में उसके पराक्रम के चिन्ह के रूप में उस मन्दिर का निर्माण कराया है। अभिलेख में आगे लिखा है कि उदयादित्य ने इस मन्दिर के समीप उदयपुर नाम का एक नगर भी बसाया तथा एक जलाशय का निर्माण कराया और उसका नाम उदयसागर रखा। इस अभिलेख में उदमादित्य को उससे महान् निर्माणियों में के कारण 'अपर स्वयंभू' कहा है और लिखा है—

स्वयंभूरपरः श्रीभानुदयादित्यभूपतिः पुरेश्वर समुद्रादीनुदयोपपदान्व्यधात् ॥
किमन्यैबहुभिर्वेदैः किमन्यैर्बहुभिः स्तवै एकच्छत्रादिकंवेदंशंस सर्व्वार्थसिद्धिदः ॥
उत्कीर्णाः श्लोकाः सूत्रधार श्री मधुसूदन भ्रातृधीरदेवेन। मंगलम्महाश्रीः ॥‡

उदयादित्य के निवासस्थान को पीछे से मुसलमान शासकों ने दफ्तर में बदल दिया था। ऐसा कहा जाता है कि उदयादित्य के वंशज आगरा में निवास करते हैं और आज भी नन्दादीप का सम्पूर्ण व्ययभार वे ही वहन करते हैं।

वि० सं० १५६२ की एक प्रशस्ति‡ से ज्ञात होता है कि इस मन्दिर के निर्माण का प्रारम्भ महाराज भोज की मृत्यु के ४ वर्ष पश्चात् संवत् १११६ वि० में हुआ था। एक दूसरे अभिलेख द्वारा ज्ञात होता है कि संवत् ११३७ में निर्माण कार्य पूरा हुआ था और ध्वज-स्तंभ स्थापित किया गया था।†

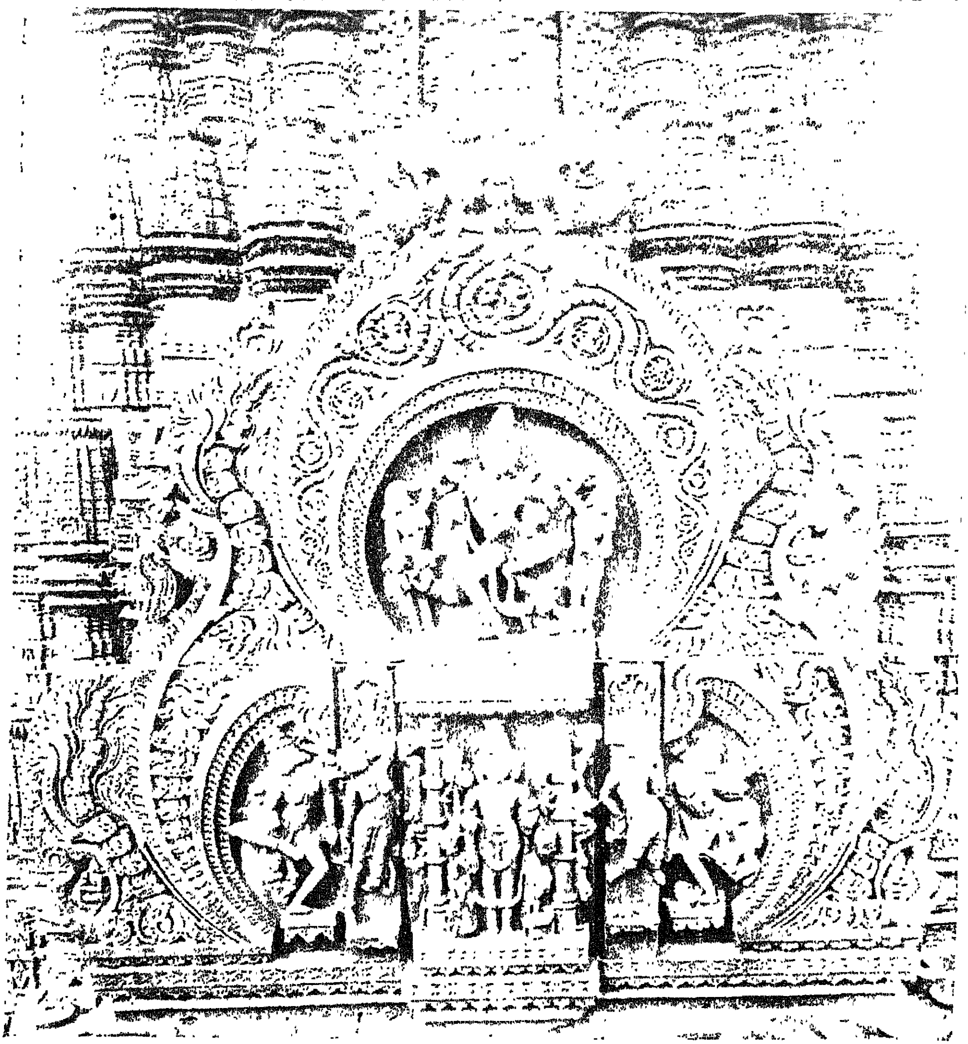
---

* इसके सम्बन्ध में श्री० काशीप्रसादजी जायसवाल का कथन भी दृष्टव्य है—"हमारे मध्यकालीन पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त हुए आर्यावर्त के इस सुन्दरतम धार्मिक स्थापत्य की सुरक्षा के लिए सम्पूर्ण देश उस (ग्वालियर) राज्य का कृतज्ञ है। मानव ने अपने इष्टदेव के लिए इससे अधिक सुन्दर निवास स्थान अन्यत्र कहीं निर्मित नहीं किया है। पेशवाओं के अधीन मराठा शासकों ने शतशः भग्न देवमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया एवं उनमें पुनः देवार्चन का प्रबन्ध किया। उनके एक सेनापति ने उदयपुर मन्दिर के शिवलिंग को स्वर्ण आवरण से अलंकृत किया। इस पुण्य कार्य की तिथि स्वर्ण पत्र पर अभिलिखित है। शेष स्वर्गीय महाराजा सिंधिया के लिए रहा, जिन्होंने सम्पूर्ण मन्दिर को उसकी विस्तृत प्रस्तर-खचित भूमि सहित जीवित हिन्दू मन्दिर के गौरव से युक्त किया।

जिस समय उदयेश्वर के मन्दिर द्वारा प्रदान किए गए कलात्मक एवं आध्यात्मिक आहार से मेरे नेत्र तृप्त हो रहे थ, मेरा हृदय ग्वालियर के स्वर्गीय शासक के प्रति कृतज्ञता से भर गया जिन्हें जानने का गौरव मुझे प्राप्त हुआ था तथा जो अनेक सत्कार्य करने के कारण हमारी पीढ़ी के महानतम भारतीय थे, जिनमें से एक हैं महाराज भोज के कार्यों से स्पर्धा करनवाले शिवपुरी में महान् सजल भारतीय जलाशय का निर्माण। (*Udayapur Temple of Malwa and its Builder*, by K. P. Jayaswal, *The Modern Review, June* 1932)

‡ अभिलेख का चित्र साथ में है।

† एकच्छत्रां करोतुझमामुदायादित्य भूपतिः। इत्याद्यं सिद्धिदं वेदं शंसामः सर्व्वतोनृप॥



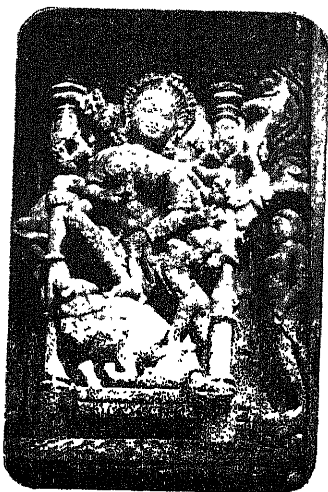


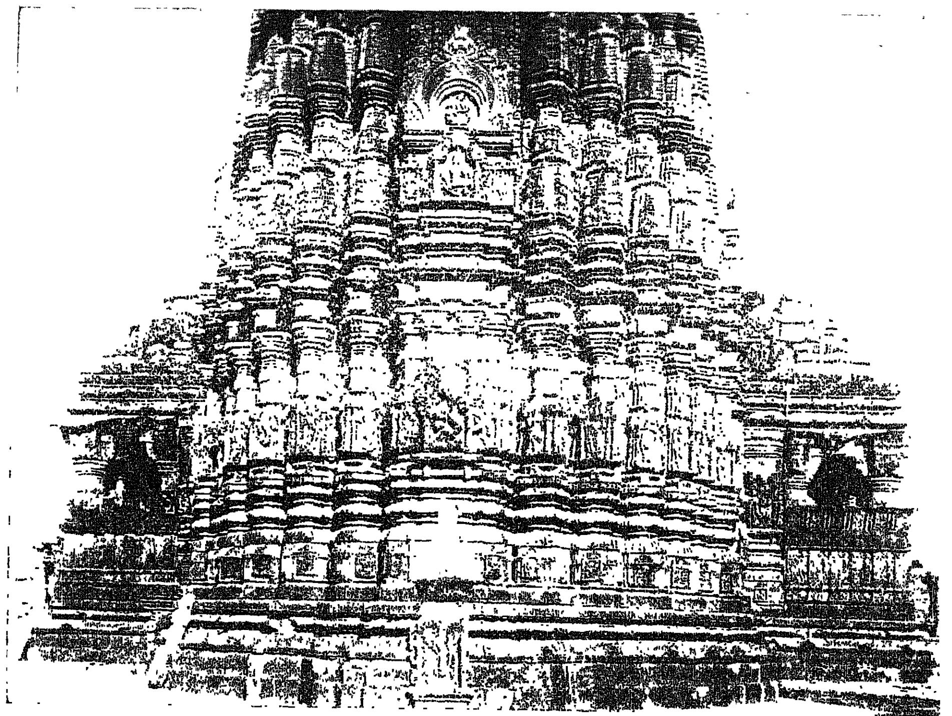
अमवारी में प्राप्त शिवमूर्ति क सिर, (पृष्ठ ६४२)

उदयेश्वर मन्दिर की महामुद्रा, (पृष्ठ ६१३)

उदयेश्वर पर मूर्तियाँ—विस्तार से, (पृष्ठ ६१२)

महिषमर्दिनी (पृष्ठ ६१३)









बागगुहा-चित्रावली (पृष्ठ ६१८)







श्री कृष्णराव घनश्यामराव बक्षी

शिखर के शृंग के समीप एक मानवमूर्ति स्थापित है जिसका निर्माण ध्वजदण्ड ग्रहण करने के लिए हुआ था। यह मूर्ति इस सुन्दर मन्दिर को निर्माण करनेवाले कलाकार की समझी जाती है,। स्वर्गीय श्री जायसवालजी के अनुसार यह आकृति स्त्री की है। नीचे से उसे देखने से यद्यपि यह मत निश्चयपूर्वक नहीं दिया जा सकता, उस मूर्ति की बनावट एवं प्रदर्शित अलंकारों से यह सूचित होता है कि वह मूर्ति स्त्री की हो सकती है। प्राचीन शिल्प में विष्णु एवं इन्द्र के ध्वज-दण्ड वहन करनेवाली के रूप में स्त्रियाँ बहुधा प्रदर्शित की गई हैं।

यह मन्दिर विस्तृत खुले क्षेत्र में ऊँची कुर्सी देकर लाल पत्थर से निर्मित किया गया है। यह प्रांगण-भित्ति से घिरा हुआ है, जिसका विस्तार २१०×२१०' है और उसका बाह्य पार्श्व कलापूर्ण पत्थर की कटाई से अलंकृत है। इस भीत के भीतरी पार्श्व में इसी के तारतम्य में पृष्ठाधार सहित पत्थर की मंचिकाओं की पंक्ति हैं। इस भीत में प्रत्येक दिशा में ऐसे चार द्वार हैं। पूर्व दिशा के द्वार के अतिरिक्त शेष सब द्वार आजकल बन्द कर दिए गए हैं। प्रधान मन्दिर को आठ छोटे देवालय घेरे हुए थे जिनमें से कुछ तो बिलकुल ही मिट गए हैं और शेष ध्वस्त अवस्था में हैं। मन्दिर के सामने एक वर्गाकार बाह्य कोष्ट है जो वेदी कहलाती है। इसका यज्ञशाला के रूप में अथवा नन्दी के, जो अब वहाँ नहीं है, आश्रय के रूप में कदाचित उपयोग में आता रहा हो। मन्दिर के पीछे भी एक ऐसा बाह्य-कोष्ठ था। किन्तु एक मसजिद बनाने के लिए मुसलमानों ने इसे नष्ट कर दिया।

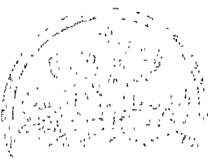
मुख्य मन्दिर के दो भाग हैं, एक गर्भगृह कहलाता है दूसरा मण्डप। सभामण्डप में तीन ओर तीन प्रवेश-अलिंद हैं और प्रधान प्रवेश-अलिंद पूर्व दिशा में हैं। द्वारों के पार्श्व पर खुदाई का काम अत्यन्त सुन्दर किया गया है। पूर्व की दिशा के मुख्य द्वार का निर्माण ऐसा कलापूर्ण हुआ है जिससे उदीयमान सूर्य की किरणें देव-प्रतिमा को आलोकित कर सकती हैं। सभा-मण्डप की छत ह्रस्वकाय शैल जैसी दिखती है। मन्दिर का शिखर अपनी विशालता, अनुरूपता, सौन्दर्य एवं सौष्ठव से नेत्रों को तत्काल प्रफुल्लित करता हुआ गगनचुम्बीसा दृष्टिगत होता है। लम्बरूप पार्श्वों में स्थापित सूक्ष्म अभिप्रायों की पुनरावृत्तियों से इसे अलंकृत किया गया है। देव एवं देवियों की मूर्तियाँ महामुद्रा में जड़ी गईं हैं।

सभा-मण्डप २ फीट ९ इन्च के वर्गाकार तलवाले चार स्तम्भों पर उत्तंभित है। तल से ५॥ फीट की ऊँचाई तक इन स्तंभों की आकृति चतुष्कोण है और उसके पश्चात् ३ फीट ८ इन्च तक वे अष्टकोण हैं। इस अष्टकोण की प्रत्येक भुजा ११ इन्च है। इन स्तंभों का सबसे ऊपर का भाग जो १ फुट ३ इन्च है, गोल है। इस प्रकार स्तम्भों की कुल ऊँचाई १० फीट ५ इन्च है। ये स्तंभ अप्सराओं की मूर्तियों तथा अन्य शिल्पाकृतियों से आवृत्त हैं, जिनकी शैली मध्यकालीन वास्तु-कला की अनौखी विशेषता है।

मन्दिर का शिखर ३७ फीट ९ इन्च व्यास के वृत्ताकार आधार पर १६२ फीट ऊँचा है। शिखर के पूर्व भाग पर महामुद्रा का शिल्प अत्यन्त सुन्दर है। (देखिए पृष्ठ ६११ का रेखाचित्र)।

मन्दिर की लम्बाई ९९ फीट है तथा इसकी चौड़ाई ७२ फीट है। मन्दिर का बाह्य पार्श्व हिन्दूदेवी एवं देवों की शिल्पकृतियों से अलंकृत है। इनमें ब्रह्मा, विष्णु, गणेश एवं कार्तिकेय आदि की मूर्तियाँ हैं। दिशाओं के आठ दिग्पाल अपने उचित स्थान पर स्थापित हैं। शिव एवं उनकी सहचरी दुर्गा की आकृतियाँ अनेक स्थलों पर अभिनिर्मित हैं। (इस मन्दिर की मूर्तिकला के लिए इस ग्रन्थ में मुद्रित चित्र देखिए)।

इस निर्माण में प्रयुक्त लाल पत्थर इतना उत्तम है कि यद्यपि लगभग ९०० वर्ष व्यतीत हो गए हैं, मन्दिर आज भी काल एवं प्रकृति के प्रहारों से अप्रभावित, पर्याप्त रूप से अच्छी स्थिति में विद्यमान है। यहाँ दृष्टिगत होनेवाली वास्तु-निपुणता, अलंकरण एवं सौष्ठव से तुलना में श्रेष्ठ सिद्ध होनेवाला कोई मन्दिर उत्तर भारत में नहीं है।



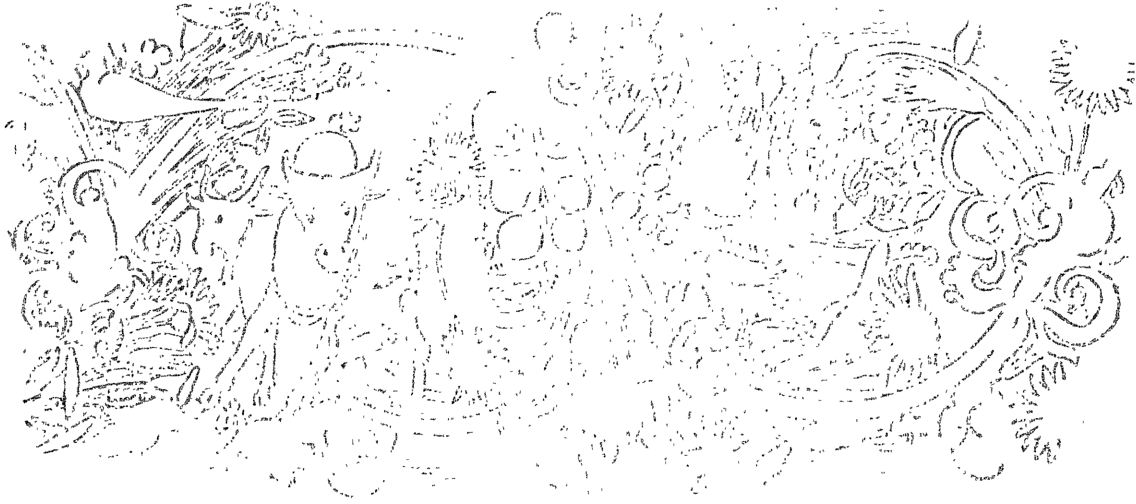
उदयेश्वर

महादेव की परिक्रमा के लिए प्रयुक्त होनेवाले मार्ग के एक छोटे से अलिन्द पर एक अभिलेख में पढ़ा जाता है कि विध्वस्त किए गए देवालयों में से मुहम्मद तुगलक ने मसाला एकत्र किया और एक मसजिद बनवाई (१३३८ से १३३८ ईसवी तक)। उसने मुख्य मन्दिर के आसपास के छोटे देवालय नष्ट किए होंगे।

इस मन्दिर में अब तक लगभग ३८-४० अभिलेख पढ़े गए हैं। इनसे परमारों के वंशवृक्ष का तो प्रामाणिक ज्ञान होता ही है, साथ ही अनेक मनोरंजक प्रथाओं पर भी प्रकाश पड़ता है। दानी लोग देवालय को जब जब दान देते थे, मन्दिर के अभिभावक उनको उस दान धर्म को प्रस्तर-पट पर अंकित करते रहे।

प्राय: एक सहस्राब्दी पूर्व निर्मित यह विशाल मन्दिर हमारे राज्य की अत्यन्त गौरवपूर्ण एवं बहुमूल्य सांस्कृतिक थाती है।





बाग गुहा-मंडप का चित्र-वैभव

श्री श्यामसुन्दर द्विवेदी, एम० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न

आदि-काल से मनुष्य का मन भौतिक विश्व से अतृप्त रहकर अपनी सौन्दर्य-पिपासा को तृप्त करने के लिए कल्पित अमृत पीता रहा है। अपनी सौन्दर्य भावना के अनुकूल वह अपने अस्थिर स्वप्नों की सृष्टि करता रहा है। अपनी इस चिर-प्यास को बुझाने के लिए उसने पृथ्वी की गंगा से लेकर स्वर्ग की मन्दाकिनी के अन्तर तक को नाप डाला। कितने प्राचीन काल से, कितने संकेतों में, कितनी भाषाओं में, कितनी लिपियों में तथा कितनी तूलिकाओं से, कितनी छेनियों से और कितनी लेखनियों से मनुष्य की इस अतृप्ति के चिह्न किन-किन रूपों में अभिव्यक्त हो सके हैं? मनुष्य ने सोचा, वह अपनी इस अतृप्ति को ऐसा रूप दे जो अक्षय हो, नष्ट न हो, मरे नहीं; एक काल से कालान्तर तक चित्रित होता हुआ प्रवाहित होकर चलता रहे। अपनी इस सतत प्रवहमान-धारा को अक्षुण्ण एवं निर्पंक रखने के मोह से उसने अपनी कला-भावना को संस्कृति एवं धर्म की शाश्वत गति में लय करके उसकी अक्षुण्णता को सदैव के लिए सुरक्षित कर लिया। यही कारण है कि भारतीय कला में संस्कृति एवं धर्म का ऐसा दृढ़ ग्रन्थि-बन्धन मिलता है जो जीवन से अधिक मृत्यु में भी दृढ़ हुआ। निर्माण के सभी क्षेत्र काव्य, मूर्ति, चित्र सबमें युगयुगान्तर से यथार्थ-रेखाओं एवं स्थूल रूपों में अध्यात्म एवं सूक्ष्म आदर्श की प्राण-प्रतिष्ठा होती चली आई है। धर्म की इस व्यापक प्रेरणा एवं संस्कृति की दृढ़ पीठिका पर प्रतिष्ठित भारतीय-कला के प्रति मनुष्य ने अपनी विस्मयपूर्ण श्रद्धा एवं भक्ति को ही प्रगट किया है। उसने कला की उपासना की है। मानव द्वारा रचित सौन्दर्य सृष्टि अपने से महान् सौन्दर्य के प्रति चिरकाल से करबद्ध नत है। इसीलिए भारतीय कलाविद् यह नहीं कहता कि मैं जहाँ विहार एवं आमोद-प्रमोद करता था उस स्थान को देखो अथवा निष्प्राण होकर जहाँ मैं मिट्टी में अस्तित्व खो चुका हूँ वहाँ मेरी महिमा को देखो। वह अपनी भोग-लीला की विज्ञप्ति नहीं चाहता। आज अशोक का प्रमोद-उद्यान कहाँ है? उसके राजभवनों के एक भी प्रकोष्ठ का चिह्न आज अवशिष्ट नहीं है। लेकिन जिस पुण्य-भूमि में तथागत बुद्ध ने मानव-कल्याण एवं दुःख-निवृत्ति का आलोक पाया था, राज-चक्रवर्ती सम्राट् अशोक ने उसी निर्जन में, उसी परम मंगल-मय स्मरण-स्थल में कला एवं सौन्दर्य के विस्मय-चिह्न अंकित कर दिए। अपने भोग-विलास को इस प्रकार उपासना का अर्घ्य उसने कभी नहीं दिया। तो क्या उसके राज-मन्दिर इस प्रकार सुरुचि-सज्जित नहीं थे? किन्तु कहाँ हैं वे आज? हिन्दू राजाओं के विलास-गृह और उनके स्मृति-चिह्न कहाँ गए? जिनकी गौरव-गाथा गाने के लिए ये प्रमोद-उद्यान निर्मित हुए उनके साथ ही वे भी मिट्टी में मिल गए। समय ने उन्हें विस्मृति की चादर से ढँक दिया। किन्तु दुर्गम पहाड़ों के गात्र



में, निर्जन समुद्र के किनारों पर अथवा विस्तृत मरुभूमि के रेतीले मैदान में कितने देवालयों एवं कला-कौशल के विस्मय चिह्नों का अंकन हुआ है, इसकी भी कोई सीमा है ? युग के बाद युग खिसकते गए किन्तु आदि काल से चली आई कला की भूख–पुकार–विस्तृत होती चली गई, यह अन्तश्चेतना उसी प्रेरणा से स्पन्दित होती रही। राजधानी के विशाल एवं सुरम्य नगरों को छोड़कर जंगल एवं दुर्गम पहाड़ों की कन्दराओं में कला एवं सौन्दर्य का यह समारोह क्यों रचा गया, इसका भी इतिहास कितना रोचक है ? अशोक जानता था कि उसे यदि 'देवताओं के प्रिय' की बात को युग-युगान्तर की बात बनाना है तो उसे पहाड़ के शरीर में खोद देना चाहिए, इसलिए कि पहाड़ की अनन्त विद्यमानता निश्चित है। वह मरता नहीं, हटता नहीं, अनन्त काल तक, ईमानदारी से, पथ के किनारे अचल रूप से खड़े रहकर नव-नव-युग के पथिकों को वह अपने अंग पर उत्कीर्णित कथन की आवृत्ति करता रहता है। समय-असमय के प्रभाव से मुक्त पहाड़ ने इस उत्तरदायित्व को जिस खूबी से निभाया वह विस्मयजनक नहीं तो क्या होगा। आज भी अपरिचित एवं विस्मृत अक्षरों में किसी अभिलेख का छोटा-सा टुकड़ा शत-शत शिलाखंडों के ढेर में अपना मस्तक उन्नत किए स-गौरव उस महावाणी को दुहरा देता है। कितने युगों के कषाघात सहे इन पत्थरों ने ; किन्तु पथिक आज भी रास्ते के किनारों पर खड़े किसी शिलालेख अथवा स्तम्भ में देवताओं के प्रिय की एकान्त आकांक्षा को देखने के लिए क्षणभर के लिए ठहर जाते हैं। सौन्दर्य-रचना में अपनी भक्ति-शक्ति को भगवान् के मंगलमय रूप में तिरोहित कर भारतीय-कला धन्य हुई। और यही कारण है कि हमने अति दुर्गम स्थानों में भी उन पावन स्थलों की रक्षा करने की चेष्टा की, कलात्मक एक पत्थर को भी नष्ट नहीं होने दिया। इसीलिए अजण्टा, ऐलोरा, हाथीगुंफा और बाग गुफाओं में विस्तीर्ण-प्रस्तर पर अंकित विशाल कला-साधना विश्व के इतिहास में नितान्त अतुलनीय है !

चलिए, इस भूमिका को यहीं पर छोड़कर अब हम बाग-गुहाओं की ओर मुड़ चलें। किसी सबेरे राजपूताना-मालवा रेलवे पर स्थित महू स्टेशन से मोटर पर सवार होइए और पक्की सड़क पर राजा भोज की पुरातन ऐतिहासिक धारा-नगरी के गत-वैभव के बिखरे रजकण एवं अतीत की अस्पष्ट-स्मृतियों के खंडहरों पर एक दृष्टि दौड़ाते, डूंगर के सुहावने निर्जन-निर्वृक्ष-मैदानों को चीरते हुए नब्बे मील का रास्ता तय कीजिए और बाग नाम के उस पथरीले स्थान में पहुँच जाइए जहाँ से दो-तीन मील की दूरी पर ऊसर पहाड़ियों में बाग का कला-वैभव छिपा पड़ा है। एकाएक देखने पर आप यह गुमान भी न कर सकेंगे कि यहाँ, इन्हीं ढेरों के अन्धकार में, संसार की अप्रतिम कला-कृतियाँ छिपी पड़ी हैं। सड़क के किनारे स्थित डाक-बंगले में उतरकर मन को स्वस्थ एवं प्रफुल्लित हो लेने के बाद वहीं के निवासी किसी जंगली भील से तलाश कीजिए कि 'बाग-गुहाएँ' कहाँ हैं, तो एक बारगी वह आश्चर्य में पड़कर आपको बताएगा कि जिन गुहाओं की आकर्षण-डोर से खिंचे-खिंचे आप वहाँ तक पहुँचे हैं वे 'पांडव-गुफा' कहलाती हैं। लेकिन 'पांडव-गुफा' का नाम सुनकर पौराणिक-गाथा की उलझन में पड़ने की आपको किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। प्राचीन कला-सृष्टि के खंडहरों के रहस्यमय अँधेरे में टटोलते-टटोलते मनुष्य जब कहीं आश्रय खोज पाने में समर्थ नहीं हो पाता तब उस ऐतिहासिक गहन-रहस्यात्मकता में पौराणिक गाथाओं का आरोप कर सहज ही में अपनी जिज्ञासा की तृप्ति पा लेता है। इन गुहाओं में अंकित-चित्रित बौद्ध-दृष्यों एवं मूर्तियों को पहिचान लेने में जब मानव-बुद्धि को किसी प्रमाण-युक्त अभिलेख का सहारा उपलब्ध न हुआ, तब पांडवों के अज्ञात-वास के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ देना अत्यन्त स्वाभाविक हो गया। इस प्रकार के उदाहरण अन्यत्र भी सुलभ हैं, जिनका भ्रम-निवारण उपयुक्त ऐतिहासिक अन्वेषण के बाद ही सम्भव हो सका। वस्तुतः इन गुहाओं का महा-भारत के पांडवों से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन गुहाओं में बौद्धों के पवित्र 'विहार' एवं चैत्य हैं जिन्हें धर्म की प्रेरणा एवं कला की दृष्टि से निर्मित कर भारतीय श्रद्धालु कला-विदों ने अपनी अपार श्रद्धा एवं कला-प्रियता का परिचय दिया।

बाग-गुहाओं का कलकिन प्रकृति के अनुकूल वातावरण ही में किया गया है। आसपास का पर्वतीय सौन्दर्य भी अत्यन्त सुषमा युक्त है। बाग गुफाओं तक पहुँचने में आपको बाग नाम की ही नदी मार्ग में दो-तीन बार उतरनी पड़ेगी। गर्मी के मौसम में इसके सूख जाने पर मोटर द्वारा भी ठेठ गुहा के द्वार तक पहुँचा जा सकता है। किन्तु, सर्पाकार घुमावदार रास्ते के सुरम्य दृष्यों का आनन्द लेना हो तो पैदल-यात्रा ही में आनन्द आता है। इन सुहावने दृष्यों को पार कर एक घुमाव के बाद प्रायः डेढ़सौ फीट की ऊँचाई पर वर्तुलाकार दीवार-सा कुछ दरवाजेनुमा चौखटेवाला एक टीला पहाड़

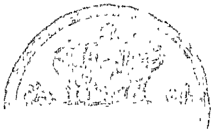
में से आगे की ओर निकला हुआ प्रतीत होगा। नदी के तट पर स्थित व्यक्ति को यह विन्ध्य-श्रेणी किसी गगनचुम्बी विशाल प्रासाद के अवशेष-सी दिखाई देगी। उसकी ऊँचाई को देखकर सम्भव है आप पहिले ही थकान का अनुभव करने लगें, परन्तु सुविधा के लिए वाद में बनी आधुनिक ढंग की सीढ़ियों का सिलसिला एवं अन्त में मिलनेवाली कला-निधि इस चढ़ाई की चिन्ता और श्रम को कम कर देगी।

सीढ़ियों के ठीक सामने एक द्वार है जो बाग की नौ गुहाओं में से एक के प्रांगण में ले जाकर आपको खड़ा कर देगा। यों प्रारम्भ ही में बाहर से इस गुफा की विशालता को देखकर, जो साढ़े सात सौ गज की लम्बाई तक विस्तृत है, आप आश्चर्य में पड़ जाएँगे। और उसमें प्रवेश होने के बाद उसके सुदृढ़ एवं कलापूर्ण भव्य-स्तंभों की बारीकियों एवं कला-मूर्तियों के सौष्ठव युक्त अंकन को देखकर तो आप हैरान हो जाएँगे। न जाने कितने मस्त शिल्पियों की सतत एवं निःश्रेयस साधना के फलस्वरूप यह गुहाएँ अपना कलामय वेष, एवं वैभव पा सकी होंगी? और फिर क्या मजाल कि एक ही टीले के गर्भ में प्रतिमाओं, स्तम्भों या छतों की खुदाई करते समय पत्थर का एक भी टुकड़ा कहीं आवश्यकता से अधिक या कम छिल जाए? सर्वत्र आपको एकसी सुरेखा, निश्चित कौशल एवं सुडौलता मिलेगी जो आपको विस्मय विमुग्ध किये बिना न रहेगी। अवश्य ही समय के विध्वंसकारी प्रभाव के चरणों पर यहाँ का बहुत कुछ कला-वैभव चढ़ गया। किन्तु न खंडहरों के जो ध्वंसावशेष बच सके हैं वे अपने स्वर्णिम अतीत की गौरव-गाथा सुनाने के लिए अब भी पर्याप्त हैं।

कला-निर्माण के अपने स्वप्नों को साकार करने के लिए पूरी सावधानी के बाद भी सम्भवतः इन शिल्पियों को सर्वोत्कृष्ट चट्टान उपलब्ध न हो सकी। लेकिन भारतवर्ष के इस भू-भाग में उनकी कला-साधना का कोई अमिट चिह्न न हो, इसे वे कल्पना में भी नहीं ला सकते थे। परिस्थितियों में जहाँ भी अनुकूलता सुलभ हुई, उन्होंने दृढ़ता से अपनी कला-साधना को साकार किया। गुहाओं के प्रवेश द्वार से घुमावदार चट्टान के किनारे-किनारे जरा पीछे की ओर हटते जाइए और आप पाएँगे एक पूरा खुदा दरवाजा; किन्तु केवल चौखटा, खुदी हुई गुफा नहीं। और पीछे हटिए तो आप दरवाजे की शक्ल का एक प्रयोग और पाएँगे। थोड़ा और पीछे हटकर आप छैनी से दरवाजा खोदने की तैयारी की रेखाएँ देखेंगे। और यदि चट्टान के घुमाव के साथ किंचित् और बढ़ें तो चट्टान पर छैनी से खुदी हुई अस्त-व्यस्त रेखाएँ भी आपको मिलेंगी। रेखाओं से लेकर दरवाजे के चौखटे तक कलाकारों के ये वे परीक्षण-क्रम हैं जिन्हें चट्टान के भुरभुरी होने के कारण उन्हें कड़ी चट्टान की तलाश में एक के बाद एक छोड़ देना पड़ा। जहाँ उन्हें सख्त आधार उपलब्ध हुआ वहीं से गुहा-निर्माण का कार्य प्रारम्भ हो सका।

बाग में कुल नौ गुहाएँ हैं, लेकिन एक का दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन नौ में से छह गुफाओं में अन्दर जाकर देखा जा सकता है, किन्तु शेष तीन में इतनी मिट्टी जमा है कि उसे साफ कराने के बाद भी कोई विशेष वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती, ऐसी मान्य पुरातत्ववेत्ताओं की धारणा है। इन छह गुफाओं में से पहिली 'गृह-गुफा' के नाम से जानीजाती है किन्तु कलात्मक दृष्टि से यह अधिक महत्त्व की नहीं है। शेष पाँच गुहाओं में ही बाग गुहाओं का समूचा कला-वैभव निहित है।

इसके बाद दूसरी गुफा 'पांडव-गुफा' के नाम से परिचित है। निर्माण-कौशल, श्रमशीलता एवं भव्यता की दृष्टि से यही गुफा सर्वाधिक सुन्दर एवं सुरक्षित है। लगभग एकसौ पचास फीट के वर्गाकार प्रांगण में अब केवल छह स्तम्भों के अष्ट-पहलू स्तम्भ-पाद शेष हैं। धुएँ और चमगीदड़ों ने इसके चित्रों को पोंछ दिया है। प्रकाश और हवा के लिए तीन दरवाजे और दो खिडकियाँ हैं। खंभों की महीन कारीगरी इस गुफा की विशेषता है। चौकोर स्तम्भों से लेकर चौबीस बाजू के स्तम्भ भिन्न-भिन्न शैलियों में देखकर आश्चर्य में डूब जाना पड़ता है। सबके स्तम्भ-पाद, स्तम्भ-दंड और स्तम्भ किरीट भिन्न भिन्न शैलियों में अंकित किए गए हैं। कहीं घुमावदार, कहीं पेंचदार, कहीं झुके, कहीं तिरछे और कहीं सुन्दर नक्काशी से कुरेदे विशालकाय स्तम्भों की पंक्तियाँ आश्चर्य की पुस्तक का एक-एक पृष्ठ आपके सामने खोलती चली जाएँगी। स्तम्भ-किरीटों पर जो भव्य खुदाई है वह ऐसी लगती है मानों किसीने अत्यन्त बारीकी से कुरेदी हुई लकड़ियों के बण्डल को नक्काशीदार फीते से बाँधकर वहाँ लगा दिया हो। अन्दर के प्रांगण की छत को बीस स्तम्भ उठाये हुए हैं और प्रत्येक पर बेल-बूटे और सुन्दर खुदाई का काम अत्यन्त मनोहारी है। कहीं-कहीं चैत्य के ध्वंसावशेष से भी मिलते हैं और बुद्ध दो बोधिसत्वों के साथ अंकित किए गए हैं।



बाग गुहा-मंडप का चित्र-वैभव

तीसरी गुहा 'हाथीखाना' कहलाती है, पर वस्तुतः यह हाथीखाना नहीं। कलाकारों की श्रमशीलता आप यहाँ भी पाएँगे। इस गुहा की सजावट एवं अन्तःकक्षों को देखने से प्रतीत होता है कि भिक्खु-गणों में से विशिष्ट व्यक्तियों के रहने के लिए यह बनाई गई थी। यद्यपि अपनी वर्तमान स्थिति में यह गुहा निष्प्रभ-सी लगती है, परन्तु जो कुछ अवशिष्ट है, उससे सहज ही में इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि कला का अत्यन्त सजीव एवं सौष्ठवपूर्ण अंकन इसमें रहा होगा। इसके प्रांगण के गर्भ-मन्दिर में भगवान बुद्ध की एक रंगीन प्रतिकृति है और उनके चरणों में श्रद्धा से नत एक उपासक का भी अत्यन्त लालित्यपूर्ण अंकन उस स्थान के उपासना गृह होने का प्रमाण देता है। ऊपर की ओर शिखर की दो पंक्तियाँ हैं जिनमें से एक में क्रम से हाथी और शेर तथा दूसरी में सिंह एवं चैत्य का अत्यन्त सुगठित अंकन क्रम मिलता है। चैत्य में मनुष्य का आधा-चित्र क्रम से भी चित्रित किया गया है। आर्मीनियम चित्रकार श्री कचडोरीन ने इस गुहा के कुछ चित्रों की प्रतिकृति तयार की है। उनमें दो स्त्रियों का एक अंकन अत्यन्त सुन्दर एवं भावपूर्ण है। चामर ग्राहिणी की भावभंगी एवं उसके शरीर की रूपरेखा अत्यन्त आकर्षक है। (अन्यत्र चित्र देखिए)

बाग-गुहा का वास्तविक वैभव और उसकी अमूल्य कला-निधि चौथी गुहा है जिसे 'रंग-महल' के नाम से पुकारा जाता है। अन्य गुहाओं की तरह यहाँ की दीवालों पर भी पद्म-दल पर खड़े तथागत बुद्ध की वही सौम्य मूर्ति और उनके अनुचर पार्षदों के भक्तिपूर्ण की पंक्तियाँ पाएँगे। किन्तु इस गुहा में भी जो बोधिसत्त्वों के रंगीन चित्र श्री कचडोरीन ने नकल किए हैं वे अजण्टा के विख्यात बोधिसत्त्व के चित्रण से इक्कीस ही हैं। इस ग्रंथ में केवल एक रंगा चित्र दिया जा रहा है, उसके मूल रंगीन चित्र की शोभा अवर्णनीय है।

बाग-गुहाओं की जिस श्रेष्ठतम निधि का संकेत हम ऊपर कर आए हैं वह चार और पाँच नम्बर की गुहाओं में निहित है। दिवालों के जिस अनघड़ चित्र-फलक पर यहाँ रंगीन चित्रों की पंक्तियाँ हैं वे विश्व की अनुपम-कलानिधियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इन चित्रों में कलाकारों ने अनन्त परिश्रम के बाद रेखा-रेखा में अपनी आत्मा को मिलाया है। मानव-हृदय में छिपी हुई मार्मिक भावनाओं की जिस प्रेरणा, एवं संवेदनात्मक अनुभूति के जिस गहरे रंग से इन चित्रों को आकार मिल सका है वे युग-युगान्तर तक विस्मय के चिह्न की तरह ही रहेंगे।

इन गुहाओं के सिलसिले में पहिले लगभग दो सौ बीस फीट लम्बा, बीस कलापूर्ण स्तम्भों पर टिका हुआ एक बरामदा था जो अब पत्थरों के ढेर में शेष है। परिणाम-स्वरूप चित्रों का अधिकांश-भाग नष्ट हो गया और भाग्य से जो बचा वह प्रकृति के 'भोजन' के लिए खुला हो गया। किन्तु बात यहीं तक रहती तब भी ठीक था। यात्रियों की, चित्रों के नीचे अपने नाम कुरेदकर 'अमर' बन जाने की अत्यन्त घृणित मनोवृत्ति के कारण चित्रों का रहा-सहा सौन्दर्य भी नष्ट होता गया। आज तो तेल की चमक दिए बिना इन चित्रों के सौन्दर्य को मन पर उतारा भी नहीं जा सकता। किसी शृंखला के न जुड़ पाने के कारण उनके पीछे छिपी कथा-प्रेरणा का सूत्र भी इसीलिए उपलब्ध नहीं हो सकता।

उपर्युक्त कथित दो-सौ बीस फीट के बरामदे में से अब केवल पैंतालीस फीट का टुकड़ा बचा है। इन चित्रों में प्रायः नारी-मूर्ति का रूप-विन्यास एवं अलंकारिक रूप-सज्जा जाग्रत रूप में देखने में आती है। यों पुरुषों के भी चित्र हैं, अश्व और गज का भी सु-व्यवस्थित चित्रण उपलब्ध है, किन्तु नारी चित्रों की संख्या अधिक है। प्रथम चित्र ही नारी की कोमल अनुभूति से प्रेरित है—'सान्त्वना'। एक उन्मुक्त कक्ष में दो सुन्दरियाँ आसीन हैं। उनमें से एक दुःखातिरेक से अभिभूत हो अपनी सहेली के पास सान्त्वना की भीख माँगने आई है। एक हाथ से मुंह ढाँपकर जिस निस्तब्धता से वह अपनी वेदना को ध्वनित कर रही है वह आपकी भी सम्पूर्ण संवेदनीयता पर अधिकार कर लेगी। दूसरा हाथ उसने इस निपुणता से फैलाया, मानों उसके जीवन की सम्पूर्ण निराशा मूर्तिमन्त हो उठी हो। इन छोटी-छोटी रेखा-मुद्राओं ने जिस मार्मिकता को व्यक्त किया है वह विस्मयजनक नहीं तो क्या है? सान्त्वना प्रदान करती हुई रमणी का मुख भी करुणाभिभूत है। बड़े कोमल दुलार एवं आत्मीय भाव को दरसाते हुए उसने उस विषादभरी देवी का सिर अपने पाणि-पल्लवों पर रख लिया है। नेत्रों से प्रेम एवं सहानुभूति का स्रोत जैसे उमड़ा चला आ रहा हो। चित्र को देखते ही उस अभागी दुःखिनी के विषाद के कारण को जान लेने की सहज जिज्ञासा आपको बेचैन कर देगी।

ऐसे और भी कलापूर्ण रंगीन चित्र बाग-गुहाओं में सुरक्षित हैं। 'शोभा-यात्रा' 'नृत्य-दृष्य' चित्रों में तो अभिनय-सी स-स्वरता परिलक्षित होती है। नृत्य-दृष्यों में जो चित्र अंकित हैं वे माधुर्य मंडित तो हैं ही, किन्तु निर्दोष भी हैं। उनमें

वासनाजनित चेष्टा न होकर उच्च-संस्कार जन्य जीवन की शाश्वत लय भी गतिशील है। नारी-रूप-सौन्दय का प्रतिष्ठान हमें जहाँ मिलता है वहाँ वह सौन्दर्य और शक्ति की सात्विक गरिमा से भूषित होकर ही उपलब्ध होता है। आभूषणों के प्रयोग में भी कलाकार की अभिनव परिकल्पना एवं उन्नत परिमार्जित रुचि ने चित्रों की स्वाभाविकता को सुरक्षित रक्खा। चित्रों में केश-कलाप और मुद्राओं का रेखांकण मुग्ध किए बिना नहीं रहता।

'शोभा-यात्रा' वाले चित्र में आप हाथी-घोड़ों का सुडौल एवं सुगठित अंकन पाएँगे। अश्वारोही एवं महावत का चित्रण मनोविज्ञान की अनौखी सूझ लिए है। कलाकार ने वेष-भूषा में भी अपूर्व सावधानी का प्रयोग किया है। अश्व की चाञ्चल्यपूर्ण मुद्रा चित्रकार के सूक्ष्म अध्ययन की द्योतक है।

हाथी भारतीय-शिल्प-कला का एक प्रिय विषय रहा है। बौद्ध-चित्रों में हाथी के प्रयोग का जो बाहुल्य मिलता है वह 'जातक' की भिन्न-भिन्न कथाओं से उद्‌भूत है। हम यहाँ उन कथाओं के भीतर प्रवेश करना अनावश्यक, समझते हैं। किन्तु हाथी के चित्रण में कलाकार ने इस सम्माननीय पशु के राजसी वैभव की सब जगह रक्षा की है।

इसी प्रकार दरवाजों के पार्श्व में, चौखटों पर, शिखरों पर मुंडेरों पर और छत पर कला के उत्कृष्ट नमूने मिलेंगे। यक्ष-किन्नरों का गाते-बजाते हुए आकाश-मार्ग की यात्रा का भी दृष्य अत्यन्त सुन्दर है। मुंडेरों पर जिस लता-वल्ली का लहराता हुआ बारीक काम आप यहाँ पाएँगे वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। फल-पत्ते, पशु-पक्षी भी सर्वत्र कलाकार की कुशल-तूलिका का मृदु एवं सधा हुआ स्पर्श पाते हैं। बाग गुफाओं में जो डिझाइनें प्राप्त हैं वैसी ही 'साँची' में भी मिलती है।

पाँचवी गुहा का आकर्षण उसके ९४ फीट एक विशाल प्रांगण में है जिसमें स्तम्भों की मुग्धकारी रचना मिलेगी। छठी गुहा पाँच-दालान से युक्त है जो सम्भवतः रहने के लिए बनाई गई थी। इसमें मंगल-घट की पंक्ति विशेष प्रभावोत्पादक है। शेष तीन गुफाओं में रोड़ों का ढेर पड़ा है।

रंगीन चित्रों के निर्माण में तत्कालीन चित्रकारों ने जिस कौशल का परिचय दिया वह आश्चर्यजनक है। चित्र बनाने की अपनी आधार-शिला को चिरस्थायित्व देने के लिए दीवारों को छेनी से खुरदरा बनाया गया। तदनन्तर गारे और चूने का ऐसा महीन पलस्तर चढ़ाया जिसने ऊपर खिंची हुई रेखाओं एवं आकृतियों की झाँकी तद्रूप भीतर भी उतार ली। आज भी जहाँ पलस्तर कुरद गया है, रंगों एवं रेखाओं की ज्यों की त्यों आकृतियाँ उनके अनुपम कला-कौशल के रहस्य को स्पष्ट कर देती हैं।

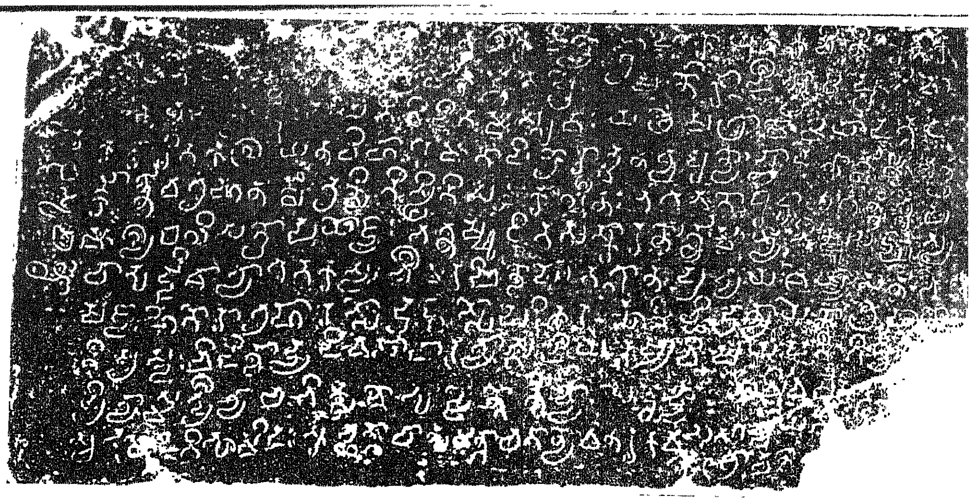
सब गुफाओं का पूर्ण रूप से अवलोकन कर लेने के बाद मानस-पटल पर कला-सम्बन्धी कुछ अमिट स्मृतियाँ अपने आप उतर आती हैं। यहाँ के कलाकारों ने भास्कर और तक्षणकला की जिस अनुपम धरोहर को आनेवाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा, वह निश्चय ही अत्यन्त महिमामयी है। जिस किसी का भी अंकन-चित्रण किया सबमें उपयुक्त सौष्ठव, मार्दव एवं विविध मुद्राओं के आलेखन दर्शनीय ही नहीं स्तुत्य भी हैं। पशु-पक्षियों के उत्कीर्ण करने तक में उन्होंने प्रकृति-अध्ययन से काम लिया है। और इन सबसे अधिक वहाँ के चित्रों की अभिनव-अलौकिकता मुग्ध बनाने के लिए पर्याप्त है। भगवान् बुद्ध की बोधिसत्वों के साथ अंकित मूर्तियाँ भी हस्त-कौशल के सुन्दर उदाहरण हैं। बुद्ध जीवन के ऐसे ही चित्र अजण्टा की प्रसिद्ध गुहाओं में भी प्राप्त हैं किन्तु अजण्टा के कलांकन में बुद्ध-जीवन की धार्मिक कथाओं का ही प्रसंग अधिकतर मिलता है। बाग-गुफा के कलांकन का प्रेरणा स्रोत इससे भिन्न है। मानवीय यथार्थ जीवन का जो स्पर्श यहाँ सुलभ है वह अजण्टा में भी नहीं। कलाकारों ने अपने दैनिक-जीवन से इन उत्कृष्ट-कलांकनों के लिए प्रेरणा पाई। लेकिन चूंकि वे भारतीय कलाकार थे इसलिए कला के मूल-स्रोत को विस्मृत नहीं कर सकते थे। इसीलिए उनकी यथार्थ रेखाओं में धर्म और आध्यात्म का सूक्ष्म आदर्श अनायास उतरता चला आया। यह सच है कि अजण्टा के कतिपय भव्य चित्रों एवं मूर्तियों की तुलना में बाग की कला समृद्ध नहीं है, फिर भी बाग के चित्रों में अपना निजी व्यक्तित्व है। अजण्टा के चित्रों को अवलोकन कर लेने पर लगता है मानों कलाकारों ने दीर्घ अवकाश के साथ टुकड़ों-टुकड़ों में अपना कार्य समाप्त किया। लेकिन, बाग के शिल्प दृढ़ संकल्प, निश्चित प्रेरणा-योजना एक लगन तथा नियत परिश्रम की देन है। वे एक ही समय में प्रेरित और अंकित किए-से प्रतीत होते हैं। सजावट यदि देखें तो अजण्टा बाग से बहुत पीछे रह जाएगी। विशालकाय स्तम्भों की रचना अपने एकाकी गुरुत्व की प्रतीक बनकर विद्यमान है। बेल-बूटों की दर्शनीयता एवं बारीक तक्षण-कला का जो

उत्कृष्टतम रूप बाग-गुहाओं में सुलभ है वह अजण्टा में भी नहीं। यह अवश्य है कि चित्रों के निर्माण करने में यहाँ के कलाकार कुछ असावधानी कर गए। जिन पलस्तरों से प्रस्तर के 'केनवास' को टिकाऊ बनाना था, वे वैसा नहीं कर पाए, इसीलिए वे अजण्टा से पहिले पुंछ गए। लेकिन फिर भी यदि कला-नैपुण्य की तुलना की जाए तो अजण्टा एवं बाग गुफाओं में तूलिका की एकसी साधना, विषयों की व्यापकता, मुद्राओं का वैविध्य, सौष्ठव, माधुर्य, गति, लय एवं संगीत आपको इस विशाल कला-साधना के प्रति श्रद्धा से नत कर देगा। भारतीय शिल्प और स्थापत्य की इन लालित्यपूर्ण कृतियों को देखते-देखते आप आत्म-विभोर हो उठेंगे। बीस फीट लम्बा चलने वाला हाथियों का विराट् जुलूस इतना सजीव, सुन्दर एवं भावपूर्ण है कि चित्रकार के प्रति हमारे मन में असीम श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। हाथी को लेकर इस प्रकार की चित्रकारी भारत के अतिरिक्त और कहीं की गई है अथवा इस समय ऐसे चित्रकार मिल सकते हैं, इसमें सन्देह ही है।

इन बारीकियों की गहराई में अधिक न जाते हुए अब हम इसकी ऐतिहासिकता पर जरा दृष्टि निक्षेप कर लें। भारत का यह दुर्भाग्य रहा है कि अपनी प्राचीन ऐतिहासिक निधियों का पुष्ट प्रमाण उसे कभी सुलभ नहीं हो सका। मन्दिर, मठ, पुस्तकालय आदि या तो लूट लिए गए अथवा जला दिए गए। इसीलिए पग-पग पर खोज के मार्ग में बठी हुई अड़चनों का सामना करना पड़ता है। स्तूपों, शिलालेखों, दानपत्रों एवं सिक्कों से जो कुछ सहायता मिल सकती थी, वह भी नहीं मिल पाई—लोग प्राचीन लिपि को जो विस्मृत कर बैठ। और इस बीच ये प्रमाण के अभिलेख या तो 'देवताओं के अक्षर' या 'गढ़े धन के बीजक' अथवा 'सिद्धि-दायक' यंत्र बन गए। बात यहीं तक रहती तब भी ठीक था। शिलालेखों को खुरदरे समझकर उनपर भंग पीसी गई, ताम्र-पत्र से बर्तन बन गए और सिक्कों ने आभूषण का रूप पाया। फिर भला विदेशी पुरातत्ववेत्ता क्योंकर भारतीय कला-वस्तुओं को ईसा से पूर्व की मानकर सन्तोष करते? किन्तु प्रकृति की लीला भी विचित्र है। ध्वंस के विनाशकारी परिणाम के बावजूद भी अपने आँचल में वह सृजन के महान् तन्तु छिपाए रहती है। यदि हाल ही में प्राप्त एक ताम्रपट्टी बाग गुहा से उपलब्ध न होती तो इन गुफाओं के पाँचवी सदी के पूर्व की होने में अनेक सन्देह करते! इस ताम्र-पत्र की लिपि ने गुफा की प्राचीनता को असंदिग्ध कर दिया। माहिष्मती के राजा सुबन्धु ने इन गुफाओं के बौद्ध निवासियों की जीविका एवं पूजा-उपासना के लिए जब कुछ गाँव प्रदान किए तब उसके प्रमाण में यह प्रशस्ति भी प्रदान की थी। इसके अतिरिक्त इन गुफाओं के सम्बन्ध में और कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। एक चित्र के नीचे अकेला 'क' अक्षर मिलता है जो किसी अभिलेख का अवशिष्ट है।

ये गुहाएँ कई दिनों तक उपेक्षित एवं अंधकार में पड़ी रहीं। बाग गुहाओं को प्रकाश में लाने का श्रेय सबसे प्रथम लेफ्टिनेण्ट डेंगरफील्ड को, दूसरा डाक्टर इम्पी को, तीसरा कर्नल लुआर्ड को है। इनमें भी डाक्टर इम्पी का परिश्रम सर्वाधिक स्तुत्य एवं विशिष्ट है। इसके बाद बाग-गुहाओं की रक्षा और रचना का उत्तरदायित्व ग्वालियर राज्य के 'मोतीवाले महाराज' स्वर्गीय श्रीमन्त माधवराव शिन्दे के कर कमलों में आया। इन गुहाओं के जीर्णोद्धार में जिस अक्षय अनुराग, तथा अटूट लगन का परिचय एवं अपने राज्य की जिन समूची धन-जन सुविधा को सुलभ किया वह भारतीय अन्वेषण के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगा। श्री गर्दे महोदय के तत्वावधान में ग्वालियर के पुरातत्व विभाग ने जिस तत्परता एवं मनोयोग से अनुसन्धान का कार्य किया वह भी स्तुत्य है। बाग गुफाओं के नष्ट होते चित्रों की प्रतिलिपियाँ तय्यार करने में शान्तिनिकेतन के श्री नन्दलाल बोस, लखनऊ कलामन्दिर के श्री असितकुमार हल्दार तथा रियासत ही के प्रतिभावान कलाकार श्री मुकुन्दराव भाँड जैसे कलाविदों का सहयोग आमन्त्रित किया गया, यह पुरातत्व-विभाग की सावधानी का द्योतक है। इन चित्रों के नमूने ब्रिटिश म्यूजियम तक में प्रदर्शित हुए हैं। रंगीन चित्रों की मूल प्रतियाँ ग्वालियर म्यूजियम में हैं। बाग गुफाओं का पर्याप्त परिचय देने के लिए स्वर्गीय श्रीमन्त माधव महाराज की ही प्रेरणा से, सर जान मार्शल, वोगेल, हेवेल तथा डाक्टर कजिन्स जैसे मान्य कला-मर्मज्ञों के सहयोग के साथ एक अत्यन्त सुन्दर एवं मूल्यवान पुस्तक का प्रकाशन भी किया गया जिनमें गुफाओं के भीतर-बाहर के दृष्य और रंगीन चित्रों की प्रतिलिपियाँ भी प्रकाशित की गई हैं। खेद है कि उक्त प्रकाशन के पूर्व ही श्रीमन्त महाराजा माधवराव शिन्दे का स्वर्गवास हो गया। किन्तु कला-मर्मज्ञता एवं ऐतिहासिक अनुसन्धान के प्रति अतुल अनुराग वे अपने पीछे छोड़ गए। ग्वालियर के वर्तमान नरेश और उनका उज्ज्वल शासन भी कलानुराग की उस परम्परा का मनोयोग से निर्वाह कर रहा है।





बागगुहा में प्राप्त सुबन्धु का तम्रशासन-पत्र (पृष्ठ ६४९)



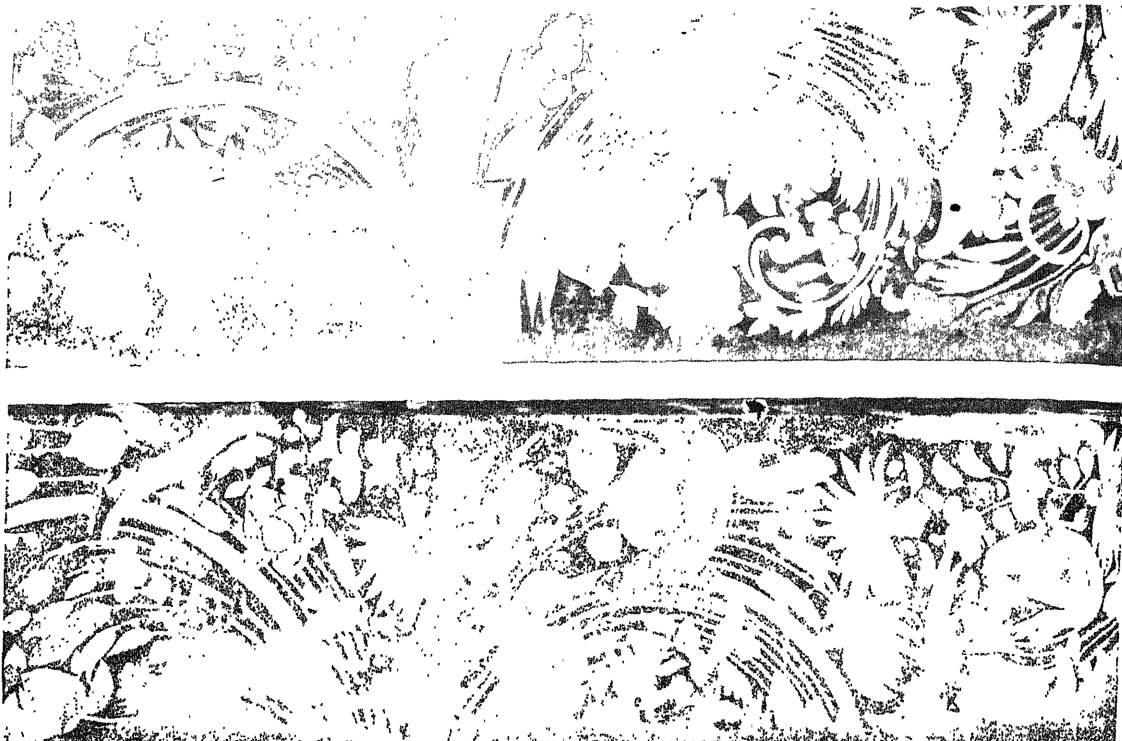
बागगुहा की भित्तियों पर बुद्ध एवं बोधिसत्त्वों के चित्र (पृठ ६१८)







'रंगमहल' में अंकित
बेलबूटे।

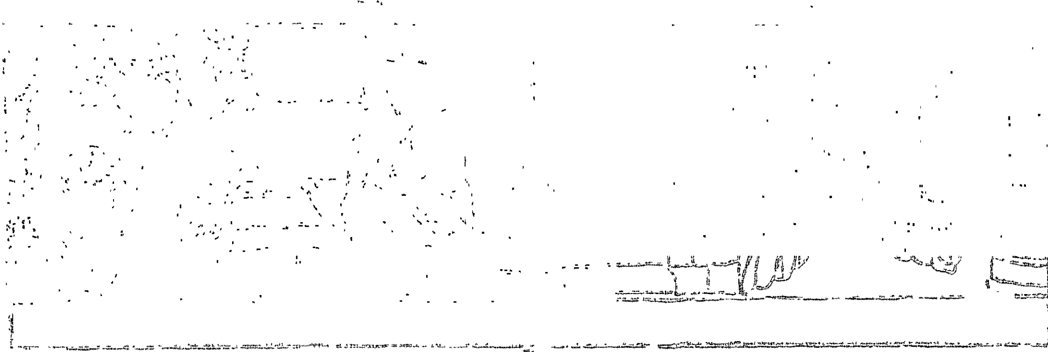




बागगुहा का सुन्दर
भित्तिचित्र।



बागगुहा में अंकित
गीत-नृत्य-दृश्य।



ग्वालियर का संगीत और तानसेन

श्री शम्भुनाथ सक्सेना

विश्व के संगीत-इतिहास में भारतीय संगीत की शास्त्रीय परम्परा अतीव प्राचीन एवं मौलिक रही है। संगीत का यहाँ उद्‌भव वैदिक-युग में माना जाता है। वैदिक-युग में ऋषि-गण सन्ध्या-समय नदी-तीर बैठकर साम-गान किया करते थे, उस गान को ही आगे चलकर सामवेद में लिपिबद्ध किया गया। अतएव भारतीय-संगीत की नींव धार्मिक भाव पर है। अनेक प्रकार का स्वाद होते हुए भी पारलौकिक उन्नति करने की इसमें अद्‌भुत क्षमता है।

संगीत को मूर्तिमान करने का विचार बिलकुल भारतीय है। भारतीय संगीत की यह एक विशेष देन है। इस विषय का सबसे पहला उल्लेख अद्‌भुतरामायण में मिलता है, जिसमें एक कहानी है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के पुत्र नारद, जिन्हें शुद्ध रागों का कुछ भी ज्ञान नहीं था, अपने को अद्वितीय संगीतज्ञ मानते थे। उनके गर्व को चूर करने के हेतु सर्व-ज्ञानी विष्णु उन्हें देवलोक ले गए, जहाँ एक बड़े से कमरे में पहुँचने पर नारद ने बहुत से स्त्री-पुरुषों को अपने कटे-छँटे अंगों पर झींकते-कलपते देखा। यह देखकर नारद ने भगवान् विष्णु से पूछा—'ये दुःखित प्राणी कौन हैं?' जब विष्णु ने उन लोगों से अपने दुःख का कारण बतलाने को कहा, तो वे बोले कि हम महादेव की उत्पन्न की हुई राग-रागनियाँ हैं; किन्तु नारद नामक एक मुनि ने, जिसे संगीत का बिलकुल ज्ञान नहीं है और जो गाने में एकदम अनाड़ी है, हम लोगों को इस लापरवाही से गाया है कि हम लोगों का शरीर छिन्न-भिन्न हो गया है, और जब तक महादेव या कोई दूसरा प्रवीण संगीतज्ञ हम लोगों को उचित प्रणाली से नहीं गायेगा, तब तक हम लोग ठीक नहीं होंगे। यह सुनकर नारद बहुत लज्जित हुए और उनका घमण्ड दूर हो गया।

जन-श्रुति है कि भारत में यह विद्या भरत मुनि से आई। यजुर्वेद काल तक तो कई पेशेवर संगीत पैदा हो गए थे। सिकन्दर जब तक्षशिला में था (३२६ ई० पूर्व), तब पाणिनि वहाँ थे। पालीपिटस (३०० ई० पूर्व) में बुद्ध के दो शिष्य गान समारोह सुनने गए, ऐसा विवरण भी आया है। वैसे भारतवर्ष के प्राचीन संगीत-ग्रंथों में भरत के नाटचशास्त्र का स्थान सबसे प्रमुख है। नाटच-शास्त्र का रचनाकाल तीसरी या चौथी ईसवी शताब्दी समझा जाता है।



ग्वालियर का संगीत और तानसेन

नाट्यशास्त्र के उपरान्त लगभग एक सहस्र वर्षों का एक ऐसा समय है, जिसे कुछ इतिहासकार हिन्दू-संगीत का स्वर्ण-युग कहते हैं। परन्तु संस्कृत-साहित्य के महान् युग में, जिसमें कि कालिदास और भवभूति ने अपनी उत्कृष्ट रचनाएँ की हैं, उस समय संगीत शास्त्र की क्या स्थिति थी, इसका तनिक भी ज्ञान नहीं होता। कारण, इस काल का कोई भी संगीत-ग्रंथ इस समय प्राप्य नहीं है।

लोचन-कवि की 'काव्य-तरंगिणी' पहला ग्रंथ है, जो संगीत के इस अन्धकार युग के बाद हमें प्रकाश-पथ पर लाता है। यह कब लिखी गई, इसका अभी ठीक ठीक निश्चय होना बाकी है। लेखक स्वयं अपना रचनाकाल ११६२ ईसवी सन् देता है। परन्तु १४वीं शताब्दी से विद्यापति के गीत—देशी संगीत के उदाहरण स्वरूप उसकी १०० पृष्ठ की पुस्तक के ६२ पृष्ठ पूरे करते हैं। इसके बाद राजमहेन्द्री के तेलुगु ब्राह्मण सोमनाथ की लिखी हुई 'राग-विबोध' पहली पुस्तक है, जिसमें भिन्न भिन्न रागों का और ध्यान के लिए उनके चित्रित स्वरूपों का संस्कृत में वर्णन है। दूसरी पुस्तक है दामोदर मिश्र की राग-दर्पण जो सन् १६२५ में लिखी गई। इसमें रागों के दृष्य स्वरूपों का पूरा उल्लेख है।

मुसलमानों के आने के साथ एक नई संस्कृति का आगमन हुआ, जिसके प्रभाव से भारतीय-संगीत में, विशेष कर उत्तर में, गहरे परिवर्तन हुए। नए वाद्यों, नई शैलियों और नए रागों की सृष्टि हुई। इस समय तक हिन्दी, संस्कृत-भाषा से आगे अपने साहित्य में बढ़ गई थी। यही समय था जब इस विषय की पुस्तकें हिन्दी में भी लिखी गई, जिनमें गंगाधर की 'राग-माला' और पन्नालाल, चुन्नीलाल की 'नाद-विनोद' और 'नाद चिन्तामणि' उल्लेखनीय हैं। इसी काल में अमीर खुसरों ने कव्वाली और सितार का प्रचार किया। जयदेव के प्रबन्धों के स्थान पर ध्रुपद व्यवहार में आया, जिसे ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर ने प्रौढ़ता प्रदान की।

सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ विश्व के इतिहास में विभिन्न कला, उद्योग, विद्या उन्नति के विषय में क्रांतिकारी युग माना जाता है। संगीत की भी इस शताब्दी में आशातीत उन्नति हुई। केवल भारत में ही नहीं विश्व का संगीत-मंच मधुर लय-तालों से प्रतिध्वनित हो उठा। यदि उस समय भारत में महात्मा हरिदास, तानसेन, बैजूबावरे जीनखाँ आदि का आविर्भाव हुआ, ठीक उसी तरह सोलहवीं शताब्दी का प्रारम्भ और सत्रहवीं शताब्दी का मध्य-काल यूरोप के भिन्न भिन्न देश में भी संगीत-कला में उचित विकास का समय हुआ है। इसी समय गियोवेनी पिरल्युगी डी पलेस्ट्रीन इटली में गोर्ग फ्रेडरीख हेण्डेल जर्मनी में जोसेफ हायडौन आस्ट्रिया में, फ्रेड्रिक फ्रेकोइस कॉपन पोलेण्ड में और फ्रेंच लिजट् हँगेरी में अमर कलाकार हुए। जिन्होंने पुरातन संगीत की नींव पर आधुनिक इमारत का निर्माण किया।

वास्तव में देखा जाए तो वर्तमान भारतीय-संगीत का इतिवृत्तात्मक इतिहास पन्द्रहवीं एवं सोलहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही होता है। और इस सोलहवीं शताब्दी से ही ग्वालियर ने संगीत में प्रमुख-स्थान ग्रहण किया। महाराज मानसिंह तोमर, बाबा हरिदास, मोहम्मद गौस और मियाँ तानसेन ग्वालियर से ही सम्बन्धित थे। ग्वालियर का यह प्राचीन संगीत वैभव समस्त भारत के लिए स्पर्द्धा का आज भी विषय है। यथार्थ में तानसेन के नाम से भारतीय-संगीत अमर है। और जब तक विश्व में भारतीय-संगीत का अस्तित्व रहेगा, ग्वालियर अपने केवल इस अतीत गौरव से अपना मस्तिष्क हिमालय के शृंगों सा उन्नत किए रहेगा। इन तानसेन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, जिनमें से यहाँ हम कुछ प्रमाणिक एवं अत्यधिक प्रचलित जनश्रुतियों का विवरण देंगे, जिनसे इस महान् कलाकार के जीवन पर प्रकाश पड़ेगा, एवं ग्वालियर के संगीत के सम्बन्ध में यथेष्ट जानकारी की सामग्री मिलेगी।

पं० गौरीशंकर द्विवेदी ने बुन्देलखण्ड वैभव के प्रथम भाग में तानसेन के विषय में लिखा है कि 'तानसेनजी ग्वालियर के निवासी और ब्राह्मण थे। आप स्वामी हरिदासजी के शिष्य थे। आपका असली नाम त्रिलोचन मिश्र था। आपके पितामह ग्वालियर नरेश महाराज रास निरंजनसिंह के दरबार में जाया करते थे, और तानसेनजी को भी अपने साथ ले जाते थे। इन्हीं महाराज राम निरंजनसिंहजी ने आपको तानसेन की उपाधि दी थी।

गान-विद्या के गुरू आपके बैजूबावरे और शेख मोहम्मद गौस ग्वालियरवाले माने जाते हैं। शाही घराने की कन्या से विवाह कर लेने के कारण आप मुसलमान हो गए थे। कुछ लोगों का यह कथन है, कि शेख मोहम्मद गौस ने अपनी जिह्वा को तानसेन की जिह्वा से लगा दिया था, तब से अच्छे गायक और मुसलमान हो गए थे, किन्तु इस किंवदन्ती के पीछे सार नहीं जान पड़ता।

आपका जन्म प्राय: सं० १६०० वि० के लगभग हुआ था। आपका कविता-काल सं० १६३० वि० के लगभग माना जाता है। सूरदासजी ने आपके सम्बन्ध में कहा है :—

विधना यह जिय जानके सेसहि दिए न कान। धरा मेरु सब डोलते तानसेन की तान॥

तानसेनजी ने भी सूरदासजी की प्रशंसा में यह दोहा कहा था:—

किधौं सूर कौ सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर। किधौं सूर कौ पद लग्यो, तन मन धुनत शरीर॥

आपन (१) संगीत-सागर, (२) राग-माला और (३) श्री गणेशस्तोत्र नामक ग्रंथ की रचना की है। आपकी रचनाओं में अभी तक अधिक उदाहरण प्राप्त नहीं हो सके हैं।

तानसेन के जीवन, कला-विकास, प्रारम्भिक राजाश्रय और संगीत गुणों के विषय में अनेक जनश्रुतियाँ हैं, जो एक दूसरे से विपरीत हैं। केप्टन औगस्टर ने उस राजा राजा का नाम जिसके आश्रय में तानसेन की कला का प्रारंभिक-विकास हुआ, राजाराम बताया है, जबकि दूसरे रीवाँ नरेश रामचन्द्र बघेल का नाम लेते हैं। इसी प्रकार जहाँ श्री गौरीशंकर द्विवेदी ने तानसेन का बाल्यकाल का नाम त्रिलोचन मिश्र लिखा है, वहाँ अन्य इतिहासकार तन्नू पाँडे बताते हैं। तानसेन की संगीत-कला के सम्बन्ध में सर डब्ल्यूएनसली ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है—

'अकबर के वक्त में तानसेन एक चमत्कारी गवैया हो गया है। एक दिन उन्होंने ठीक दोपहर में रात का राग गाया, तो उनके गाने की अद्भुत शक्ति से उसी समय रात हो गई, और राजमहल के चारों ओर अन्धकार हो गया।'

सन् १७९० ई० में डाक्टर हण्टर और १८१० ई० में मिस्टर लिलियड ने स्वयं मियाँ तानसेन रचित रागमाला नामक पुस्तक, जो कदाचित आजकल अप्राप्य है, १९०७ में प्रकाशित हुई थी, के आधार पर लिखा है—

तानसेन अन्त में ग्वालियर में जाकर समाधिस्थ हुए। ग्वालियर में अब तक उनकी कब्र मौजूद है। कब्र पर एक इमली का पेड़ है। उसके लिए यह प्रसिद्ध है कि जो कोई उसकी पत्ती चबाता है, उसका कण्ठ-स्वर अत्यन्त मनोहर हो जाता है।

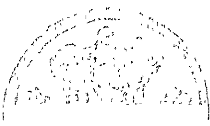
इस कथन की पुष्टि में ग्वालियर राज्य के पुरातत्व विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री० मो० ब० गर्दे ने लिखा है.—

Close by is the Tomb of Tansen, one of the nine gems of Akbar's Court and the greatest musician India has ever produced. He was a native of Gwalior and has found his last resting place near the place of his birth. There is a Tamarind-tree near the tomb, the leaves of which are chewed by the singers in the belief that they impart a sweet voice.

(*A Hand Book of Gwalior,* Page 42)

बम्बई प्रान्त के प्रसिद्ध नाद-विद्या-गुणी पारसी धनजीशाह पटेल राग 'सूह' की उत्पत्ति का विवरण देते समय अपनी 'कलावन्त' पुस्तक में तानसेन के संगीत-चमत्कार के सम्बन्ध में एक अद्भुत बात लिख गए हैं :—

'उस समय तानसेन केवल सम्राट् अकबर की सभा में ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष में प्रसिद्ध गवैया हो रहे थे। ऐसे ही समय में ग्वालियर के प्रवीण संगीत-शास्त्री ब्रजनाथ दिल्ली पहुँचे। ब्रजनाथ ने बादशाह के सामने तानसेन को कई एक



राग अतिरिक्त तानों के साथ गाने के लिए कहा। बादशाह ने आज्ञा दी, कि तुम दोनों में जो भी हारेगा, उसे हाथी के पैर के तले दबा दिया जावेगा और जीतनेवाले को मुंह-माँगा इनाम मिलेगा।

'ब्रजनाथ ने 'लंक-दहन' राग को गाया जिसे सुनकर दरबार स्तब्ध रह गया। तानसेन विस्मय-विमूढ़, हतवाक् हो रहा। 'लंकदहन' राग के अलाप से श्रोताओं के मन में द्वेष की चिनगारियाँ उठने लगीं, और हारे हुए तानसेन को मस्त हाथी के पैरतले दबा देने का हुक्म हुआ। तब एक प्रशस्त प्रांगण में दिल्ली की जनता इकट्ठी हुई। तानसेन को इस जन्म से बिदा देने के लिए स्वयं बादशाह भी उपस्थित हुए थे। जल्लादों ने घेरे के भीतर मस्त हाथी को लाकर खड़ा कर दिया।'

'तानसेन ने गम्भीर मुद्रा से सम्राट् और जनता से अन्तिम बिदा ली। फ़िर हाथी के सामने खड़ा हो गया। तानसेन को ढिठाई के साथ अपने सामने खड़ा होता देखकर हाथी ने उसके चारों ओर घे रा डालना शुरू कर दिया। वह अपनी मरोड़दार सूंड़ को कभी ऊपर, कभी नीचे करता हुआ फुफकारें मारने लगा। और ठीक उसी समय तानसेन ने 'सुहा' राग को छेड़ दिया। उस स्वशास्त्र तथा सुललित संगीत के सामने जनता मूर्ति की भाँति खड़ी रह गई, और मस्त हाथी भी क्रमशः परिवर्तित होने लगा। कभी तो वह आनन्द से हिलता, कभी वह स्थिर हो रहता, कभी वह अपनी सूंड तानसेन के माथे पर प्रेम से फेरता। हठात् उस हाथी ने जोर से चीख मारी और पलभर में तानसेन को सूंड से लपेटकर अन्तरिक्ष में झुलाने लगा। और इसके बाद धीरे से तानसेन को अपनी पीठ पर बिठाकर नाचने लगा। तत्पश्चात् हाथी ने तानसेन को बादशाह के तख्त के पास सूंड द्वारा उतारकर खड़ा कर दिया और शान्त भाव से चला गया। बादशाह ने प्रसन्न होकर तानसेन को पहले से ज्यादा इज्जत दी और पुरस्कार दिया।'

तानसेन के जीवन, उसके कला-विकास तथा संगीत चमत्कार के सम्बन्ध में जितनी किंवदन्तियाँ हैं, उनमें जो सबसे अधिक प्रचलित और प्रमाणिक हैं उनके आधार पर यहाँ हम उनका क्रम-बद्ध संक्षिप्त में जीवन-चरित्र दिया जाता है :—

बात सोलहवीं शताब्दी की है। एक दिन ग्वालियर से लगभग पच्चीस मील दूर बेहट ग्राम के मकरन्द पाण्डे ग्वालियर के पास के खुले मैदान में टिके हुए हजरत मोहम्मद गौस से 'पुत्र-रत्न' का आशीर्वाद ग्रहण करने के लिए गए। फक्कड़ फकीर हजरत मोहम्मद गौस के आशीर्वाद से मकरन्द पाण्डे को पुत्र-रत्न प्राप्त हुआ, जिसका कि नाम तन्नू रखा गया। लेकिन दुर्भाग्यवश फकीर के आशीर्वाद से प्राप्त यह लड़का प्रकृति से ही मूक और गूंगा था। कहते हैं जब तन्नू आठ वर्ष का था उस समय वृन्दावन के साधुओं की एक टोली बेहट ग्राम में आकर ठहरी। मकरन्द पाण्डे अपने भविष्य की आशा, स्वप्निल-कल्पतरु-तन्नू को लेकर उन महात्माओं की टोली में गए और तन्नू के लिए वाणीदान माँगा। एक सन्यासी ने इस निस्वार्थ पितृवात्सल्य से प्रभावित होकर बताया कि पिता-पुत्र शिव-पिण्ड पर नित्य दूध चढ़ाया करें। मकरन्द पाण्डे ने उक्त विधि को अपने दैनिक-क्रम में ग्रहण कर लिया।

एक दिन जबकि वर्षा और अन्धड़ के कारण रात्रि अत्यन्त भयानक और पिशाच-छायासी डरावनी प्रतीत होती थी, पिता-पुत्र अत्यन्त संकट से दूध संकलित कर अपनी दैनिक आराधना पूर्ति के हेतु चल दिए। और उसी दिन भगवान् शंकर की असीम कृपा से तन्नू को वाणी-दान मिला। तन्नू का स्वर अपनी अवस्था और समय के साथ मँजता गया। एक दिन हजरत मोहम्मद गौस ने मकरन्द पाण्डे के पास आकर अपनी धरोहर माँगी। पिता ने निःसंकोच भाव से तन्नू को हजरत गौस के हाथ में सौंपते हुए कर्तव्य की वेदी पर वात्सल्य का बलिदान कर दिया। हजरत गौस ने प्रारंभिक संगीत-शिक्षा तन्नू को स्वयं दी, बाद को बालक की प्रतिभा से प्रभावित होकर संगीत की शास्त्रोचित शिक्षा प्राप्त करने के हेतु अपने मित्र, मथुरा निवासी संगीत के तात्कालीन श्रेष्ठतम विद्वान् बाबा हरिदास के पास भेज दिया। बाबा हरिदास से विधिवत् संगीत शिक्षा प्राप्त कर तन्नू ने ग्वालियर के तोमर राजा मानसिंह द्वारा स्थापित संगीत-शाला में भी विद्याध्ययन किया। मोहम्मद गौस की संगति में रहने के कारण तन्नू पाण्डे मियाँ तानसेन के रूप में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार संगीत की पूर्ण शिक्षा प्राप्त कर तानसेन रीवाँ नरेश रामचन्द्र बघेल के राज्य-दरबार में चले गए। रीवाँ के कलाप्रिय

महाराज रामचन्द्र अपने संगीत-प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे अतएव मियाँ तानसेन का वहाँ पर्य्याप्त आदर हुआ। अपनी कला के चमत्कार और हृदयस्पर्शी मधुर-कण्ठ के कारण वे महाराज रामचन्द्र के अन्तरंग अभिन्न मित्रों में गिने जाने लगे। इब्राहीम सूर ने मियाँ तानसेन की संगीत-कला ख्याति से प्रभावित होकर अपने पास रखने के लिए निमंत्रित किया, लेकिन तानसेन ने सम्मान और प्रतिष्ठा से अधिक मैत्री को ही प्रमुखता दी, वे नहीं गए।

कहा जाता है, जब सम्राट् अकबर ने अपने शत्रुओं का ध्वंस कर साम्राज्य विकासक नवविधान में भारत के श्रेष्ठतम् कलाकारों को दरबार से सम्बद्ध करने का संकल्प किया, उस समय तक सम्राट् के कला-पिपासु कर्ण मियाँ तानसेन की ख्याति और संगीत-पांडित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त सुन चुके थे। दरबार-गायक जीनखाँ का बागेश्वरी-गायन इस सम्बन्ध में उसकी उत्कट इच्छा का विराम चिह्न न बन सका। संगीत के अद्वितीय रत्न की अनवरत खोज ने उसे तानसेन को पाने की अभिलाषा को और अधिक तीव्र कर दिया। तभी रीवाँ नरेश को सम्राट् द्वारा सन्देश भेजा गया कि तानसेन, अपनी अनिंद्य सुन्दरी रानी और अमूल्य हीरा अविलम्ब सम्राट् की सेवा में उपस्थित करदे। तानसेन ने अपने मित्र राजा रामचन्द्र से केवल स्वयं विदा लेकर आश्वासन दिया कि वे सम्राट् द्वारा अन्तिम दो अनुचित माँगों की पुनरावृत्ति नहीं होने देंगे। यथार्थ में हुआ भी ऐसा ही। कलाप्रिय अकबर ने संगीत-सम्राट् को पाकर अपनी दो माँगों के अनौचित्य को स्वीकार कर लिया।

जनश्रुति है कि सम्राट् अकबर ने तानसेन के संगीत से विमुग्ध होकर अपनी प्रिय शाहजादी मेहरुन्निसा का पाणिग्रहण उनसे कर दिया, जिससे चार पुत्र और एक पुत्री प्राप्त हुई। कहते हैं जीवन में आगे चलकर मियाँ तानसेन साम्राज्य से प्राप्त ऐश्वर्य में लिप्त होकर अभिमान और दम्भ के शिकार हो गए। उन्होंने राजाज्ञा निकलवा दी कि आगरा शहर में जो कोई गाता हुआ निकलेगा वह तानसेन का संगीत-कला में प्रतिद्वन्दी समझा जायेगा। उसे या तो तानसेन को संगीत में पराजित करना होगा अथवा वह मृत्यु के घाट उतार दिया जावेगा। इस क्रूर राजाज्ञा के शिकार अनेक निरीह भोले प्राणी हुए। वे पकड़े गए और निरपराध होते हुए भी मियाँ तानसेन के दम्भ के कारण अक्षम्य समझकर भेड़-बकरियों की तरह तलवार के घाट उतार दिये गये। ऐसे ही अपराधियों में साधुओं की एक टोली, जो भजनानन्द में विभोर आगरा-नगर से निकल रही थी, पकड़ ली गई। वे सभी प्रतिद्वन्द्विता के लिए तानसेन के सम्मुख लाए गए। तानसेन ने टोड़ी रागिनी गाकर वन से मृगों की टोली को आकृष्ट किया। उनके मधुर कण्ठ से निकले हृदय-स्पर्शी स्वर ने विमुग्ध मृगों की टोली को सम्मुख ला खड़ा किया। तानसेन ने आगे बढ़कर अपने गले की रुद्राक्ष की माला एक मृग के गले में डाल दी। और मृग-झुण्ड स्वर-लहरी के थमते ही वन्य-प्रदेश में तिरोहित हो गया। मियाँ तानसेन ने गर्व से दीप्त होकर साधुओं की ओर देखा और साधुओं को अपने संगीत द्वारा पुनः उस मृग-झुण्ड को बुलाने के लिए ललकारा। लेकिन साधु-वृन्द संगीतज्ञ तो थे नहीं, वे भरसक प्रयास कर सकने पर भी अपनी जीवन-रक्षा करने में सफलीभूत नहीं हुए—वे अपने संगीत द्वारा मृग-झुण्ड को न बुला सके। और तब वे बिना दया के, बिना किसी न्याय के मियाँ तानसेन की महत्त्वाकाँक्षा पर कुर्बान कर दिये गये। जब समस्त साधु कत्ल कर दिए गए, तो एक निर्बोध अल्प-वयस्क बालक के बलिदान की बारी आई, जोकि उसी समुदाय के साथ था। उस बालक को देखकर पत्थर से कठोर तानसेन के हृदय में भी एक क्षीण ममत्व की भावना जाग्रत हुई। वह बालक अपनी कमसिनी के कारण छोड़ दिया गया।

बालक का हृदय अपने पिता और स्वजनों की हत्या के कारण प्रतिहिंसा से अग्निपुञ्ज बन गया था। लेकिन वह नहीं जानता था, कि किस प्रकार इस जघन्य कार्य का बदला लिया जाये, किस प्रकार इस प्राणी का, जिसकी निरंकुशता और अमानवीय दम्भ ने उसके अपनों के प्राणों का अपहरण कराया है, मान-मर्दन किया जाए। एकाकी बालक आगरा के पार्श्व में स्थित जंगल में निर्वाक्य, बेसुधि-सा बढ चला। यहीं अनायास उसे बाबा हरिदास का स्वर्गसा सुरक्षित प्रश्रय मिला। बालक ने सन्त-संगीतज्ञ को अपनी दारुण पीड़ायुक्त कथा सुनाई, साथ ही तानसेन के दर्प स्खलन करने की प्रतिहिंसा भी छिपा नहीं रखी। बाबा हरिदास ने बालक को संगीत-दान देने का दृढ़ वचन दिया। बाबा हरिदास के सतत परिश्रम और बालक की प्रतिहिंसापूर्ण लगन के मिश्रण ने उसी बालक के रूप में महान् संगीतज्ञ 'बैजू बावरे' को जन्म

दे दिया। बालक अपने जीवन की महत्वाकांक्षा का चरम-बिन्दु परिलक्षित कर आगरा पहुँचा। उसका मानस विजय प्राप्ति की उमंगों से उन्मत्त सागर की उद्वेलित लहरोंसा हिलोरें ले रहा था।

आगरा 'बैजू बावरे' के संगीत में डूब गया। जिधर से वह अपने मस्त विकम्पित-मृदु-स्वर में गाता निकल जाता, मेघाच्छादित-नभ में विद्युत-रेखा-सी कौंद जाती। तानसेन की आज्ञानुसार नियमोल्लंघन करनेवाले को पकड़ लिया गया। 'बैजू बावरे' ने आगरा में अपनी संगीत-लहरी छेड़ी थी और वह तानसेन का प्रतिद्वन्दी था। तानसेन ने प्रतिद्वन्दिता में अपने पूर्व नियमानुसार टोड़ी गाई और मृगों का झुण्ड आ उपस्थित हुआ। उसने अपने गले की रुद्राक्ष की माला एक मृग के गले में पहना दी, और मृग-झुण्ड चौकड़ी भर कर गाना बन्द होते ही वन में विलीन हो गए। 'बैजू' ने अपना सितार सँभाला, रागिनी उठाई और फिर मध्यम-पंचम और सप्तम में आरोह-अवरोह के साथ स्वर भरा। उसकी स्वर-लहरी समुद्र की शान्त लहरों पर पूर्ण चन्द्र की ज्योत्स्नासी थिरक उठी। मृग-झुण्ड संगीत की ध्वनि में विभोर उसके निकट आ गया। अब बैजू बावरे की बारी थी। कहते हैं उसने संगीत के प्रभाव से पत्थर की शिला को पिघला दिया और उसमें अपने मँजीरे रख दिए। शिला संगीत के प्रभाव से पिघली थी, संगीत बन्द होते ही पुनः पत्थर के कठोर रूप में परिवर्तित हो गई। तानसेन से कहा गया कि वह अपने संगीत से मँजीरों को निकाल दे। संगीत-सम्राट् तानसेन ने निष्फल प्रयास किया लेकिन सफलता उनसे दूर खड़ी मुस्कराती रही। वे विजित थे और घोर पराजय उनके सामने मुंह फाड़े खड़ी थी। राजाज्ञा द्वारा वे मृत्यु-दण्ड के भागी थे। लेकिन बैजू को तो केवल उनके गर्व और थोथे दम्भ का अपहरण कर मानवीय-शिक्षा देनी थी, उसने तानसेन को क्षमा कर दिया।

तानसेन के दीपक-राग के सम्बन्ध में किंवदन्ती है कि सम्राट् अकबर दीपक-राग सुनाने के लिए उन्हें एक बार विवश करने लगे। तानसेन ने पहले तो दीपक-राग से उदित होनेवाली भीषण विभीषिका सम्राट् के सामने वर्णन कर, निवृत्ति चाही। लेकिन उन्हें सम्राट् की हठ के आगे नत हो जाना पड़ा। उनके दीपक-राग गाने के प्रभाव से महल के बुझे दीपक, कन्दील, फानूस जल उठे। लेकिन राग के साथ ही मियाँ तानसेन का सारा शरीर भी एक भीषण तपिश से झुलस गया। तानसेन की चिकित्सा के लिए सम्राट् ने कुछ भी उठा न रखा, लेकिन उनकी शारीरिक और मानसिक तपिश कम न हो सकी। अन्त में वे गुजरात चले गए। कहते हैं वहाँ अचानक एक दिन पनघट पर दो स्त्रियों ने मिलकर 'मेघ राग' गाना आरम्भ किया। राग के प्रभाव से आस-पास के आकाश पर सावन की-सी घनी काली बदरी छागई और वर्षा होने लगी। तानसेन ने इस वर्षा में स्नान किया और उन्हें अपनी असह वेदना और तपिश से मुक्ति मिली। जनश्रुति है कि तानसेन ने अपने तरानों में जिन 'तोम-ताना' शब्दों को प्रयोग किया है, वह इन स्त्रियों के नाम के ही पर्यायवाची हैं। तानसेन ने दोनों स्त्रियों को आगरा चलने के लिए आग्रह किया। लेकिन इसके पहले कि वे आगरा आयें, अपने स्वजनों द्वारा मार डाली गईं। उनकी स्मृति में 'तोम-ताना' तानसेन की संगीत-पद्धति के साथ मानव जीवन में सुख-दुख की भाँति एकाकार हो गए।

संगीतज्ञ के अतिरिक्त तानसेन एक कुशल कवि भी थे। और अपने समकालीन अष्टछाप के श्रेष्ठ रत्न सूरदास के जबरदस्त प्रशंसक थे। कहा जाता है चक्षु-विहीन महाकवि सन्त सूरदास और संगीत-सम्राट् मियाँ तानसेन में पारस्परिक भेंट भी हुई थी। तानसेन की मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्रों में कोई भी इस योग्य नहीं था जो उनकी कला का प्रतिनिधित्व करता हुआ उत्तराधिकारी होता। ज्येष्ठ-पुत्र विलासखाँ की मनःप्रवत्ति वैराग्य की ओर थी और इसी कारण वे गृह-परित्याग कर चले भी गए थे। जब तानसेन की मृत्यु हो गई, तो उनके उत्तराधिकार के लिए काफी संघर्ष और विवाद रहा। कहते हैं उन्हीं दिनों अनायास विलासखाँ भ्रमण करते हुए आ पहुँचे, और आपने टोड़ी-रागिनी गाकर अपनी श्रेष्ठता और उत्तराधिकार सिद्ध किया। इसी रागिनी को संगीत-शास्त्र में 'बिलासखानी' टोड़ी नाम से सम्बोधित किया गया है।

इस महान् संगीतज्ञ का मकबरा आज भी ग्वालियर में उसके गुरु हजरत मोहम्मद गौस के पास है। प्रत्येक वर्ष भारत के सुदूर प्रान्तों से अनेक प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन-उर्स में सम्मिलित होकर श्रद्धा से तानसेन और उनकी अमर

कला के प्रति श्रद्धाञ्जलि चढ़ाते हैं। इन तानसेन ने ही भारतीय संगीत में ध्रुपद, जोगिया, दरबारी, कान्हरा तानों को जन्म दिया। तानसेन यद्यपि अपनी गुरु-भक्ति एवं समकालीन यवन-संस्कृति से प्रभावित होकर मुसलमान हो गए थे, लेकिन उनकी जन्मजात मनोवृत्ति वैसीही अक्षुण्ण बनी रही, जिसका उदाहरण उनके रचे पदों से मिलता है—

(१) तेरे नैन लौने री जिन मोहे श्याम सलौने।
अति ही दीर्घ बिसाल विलोकि कारे भारे पियरस रिझए कोने।।
वदन-ज्योति चन्दहुँ ते निर्मल कुच कठोर अति होने-बोने।
तानसेन प्रभु सों रति मानी कँचन कसौटी कसाने।। (शिवसिंह सरोज से)

(२) वृन्दावन छाए भाई सरस वसन्त,
वासन्ती बसन, भूषन तन वसन्ती खेलत हरस वसन्त।
फूल-फूल वसन्ती, पंछी अलि दसंती, रहचोरी रंग-रंग बरस बसन्त,
हरि सहचरि हित कृपा, बृज जीवन पायोरी दरस बसन्त।। वृन्दावन छायो।।२।।

(३) प्यारी फेंकत मूठ गुलाल, पिचकारी लिए रह गए तक मुख लाल।
बाकी छबि कछु कहत न आवे, पिय दृग भये हैं निहाल।।
सनये-सनये सरकन लागे, भिजई प्यारी बाल............................।
जुगल खेल लखि लखि बृज जीवन, अलि बजवत डफ ताल।। (ईश्वरीप्रसादकृत तानसेन से)

तानसेन ने गीतों के अतिरिक्त संगीत के गुणों का भी काव्य में वर्णन अपनी राग-माला में किया है। उदाहरण के लिए नीचे हम कुछ दोहे दे रहे हैं—

(१) षर्ज प्रथम सुर मेघ पर, आनि होत है लीन। तानसेनि संगीत मत, जानि लेहु परवीन।।

(२) मध्यम सुर आसावरी, मिलत आनि बढ़ भाग। तानसेनि संगीत मत, जामे अवरन लाग।।

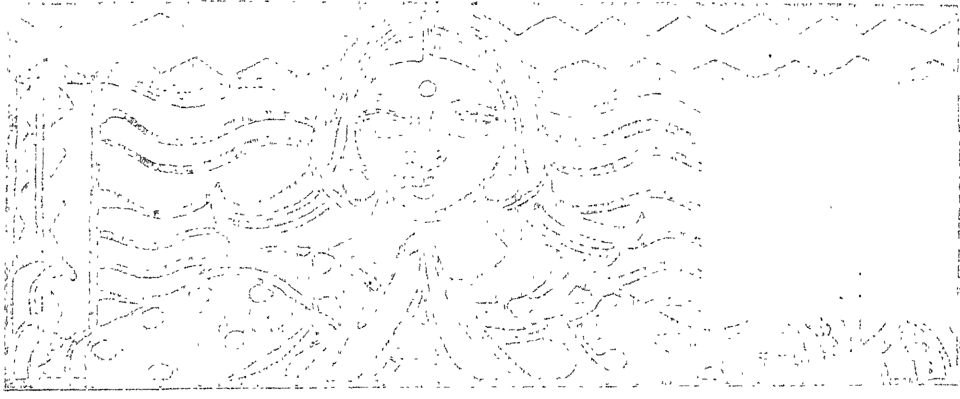
राग अलाप—कढ़िता रूपक छप्पना, अन्तर सुर हैं चारि। आलापन स्थान पै, तानसेनि जिय सारि।।

गमक लक्षण—कहो गमक सुर कम्प को, श्रवन चित्त सुख देत। मत संगीत के होत तब, तानसेनि करि लेत।।

सम्भवतः तानसेन की अद्भुत संगीत-कला एवं ललित मधुर कण्ठ होने के कारण ही ग्वालियर-भूमि को संगीत-कला के सम्बन्ध में ख्याति मिली। यह सत्य है, तानसेन से पूर्व राजा मानसिंह का एक नाम ऐसा आता है, जिन्होंने ग्वालियर में ही संगीत की विधिवत् शास्त्रोचित शिक्षा देने का विद्यालय के रूप में प्रबन्ध किया था। लेकिन तानसेन के नाम ने ही ग्वालियर को ख्याति को चरम-बिन्दु बनाया, यही अधिक प्रामाणिक है। तानसेन के पश्चात् तो ग्वालियर के विषय में सर्व साधारण की एक धारणासी हो गई कि ग्वालियर का बच्चा भी यदि रोता है, तो स्वर में। लोगों की यह भी धारणा है कि ग्वालियर की भूमि में, जहाँ तक संगीत का सम्बन्ध है, अद्भुत आकर्षण एवं लालित्य है।

इसी शास्त्रीय-तत्व प्रधान वैज्ञानिक संगीत के कारण ग्वालियर की पावन वसुधरा आज भी भारतवर्ष में अपना एक विशेष अस्तित्व रखती है। कवि रमाशंकर शुक्ल 'हृदय' ने इसी भावना से प्रेरित होकर ग्वालियर के प्रति अपनी एक कविता में लिखा है:—

नश्वरता मिट गई यहाँ पर, तुझे अमर संगीत सुना कर।
तानसेन सोया है तुझ में प्राणों का मधु गीत सुना कर।।



* मालवाभिनंदनम् *

पं० श्री गिरिधरशर्मा नवरत्न

सान्दीपनिर्यत्र बभूव विद्वा—
नाचार्यधुर्यः श्रुतपारदृश्वा
छात्रत्वमासाद्य यदीयमाप्तः
कृष्णोऽपि कीर्तिं शरदिन्दुरम्याम् ॥ १ ॥

श्रीमन्महाकालसुशोभिताङ्का
क्षिप्राप्रवाहैरभिवन्द्यमाना
पुरातनापीह सदा नवीना
विराजते विक्रमराजधानी ॥ २ ॥

श्रीकालिदासेन प्रगीयमाना
विराजमाना सकलैः समृद्धैः
श्रीविक्रमार्केण च पाल्यमाना
जयत्यवन्ती जगतीमवन्ती ॥ ३ ॥

यः स्वप्रजादुःखदवाग्नितप्तः
सुवर्णकायं कृतवान् स्वकायम्
आदर्शरूपः स धरानृपाणां
श्रीविक्रमार्को नहि कस्य मान्यः ॥ ४ ॥

द्वात्रिंशदाः पुत्तलिकाः कलावत्—
कृता व्यराजन्त यदीय पीठे
श्रीविक्रमादित्यविभुः कलाभृत्
स विस्मयानामपि विस्मयोऽभूत् ॥ ५ ॥

वेतालभट्टः खलु यस्य भट्टो
धन्वन्तरिर्यस्य च वैद्यराजः
श्रीकालिदासादिबुधाः कवीन्द्राः
स विक्रमोऽभून्नवरत्नशोभः ॥ ६ ॥

सम्पूर्णकामा सकलार्थदात्री
यस्मिन् प्रसन्ना हरसिद्धिरासीत्
यस्याः प्रसादात् जनतार्तिहर्ता
कर्ता हितानां च स विक्रमोऽभूत् ॥ ७ ॥

पद्मावती यत्र विभाति देवी
तथैव यत्रास्ति च पार्श्वनाथः
श्वेताम्बराणां च दिगम्बराणां
यस्यामनेके खलु जैनसंघाः ॥ ८ ॥

यत्राभवद् भर्तृहरिर्महात्मा
यत्राभवत्सत्कविकालिदासः
भूपोऽभवद् यत्र च विक्रमार्को
साऽवन्तिका विश्वपुरीषु धन्या ॥ ९ ॥

यस्यां बभूवुर्बहवो नृपाला—
स्तेजोविशाला धृतकीर्तिमालाः
तेषां तु नामान्यपि नामतोऽपि
निर्देष्टुमीशा न हि लेखिनी मे ॥१०॥

राज्यं तनोत्यद्य तु भूमिपालः
श्रीमाधवात्मा स* जयाजिरार्यः
सद्राष्ट्रनिर्माणमना नयाढ्यो
विद्यानुरागी प्रकृतिप्रियो यः ॥११॥

जीयाच्चिरं विक्रमराजधानी
जीयाच्चिरं भूपतिविक्रमार्कः
जीवाजिराजो जयतात् सपुत्रो
देव्याऽन्वितो† भारतभूपरत्नम् ॥१२॥

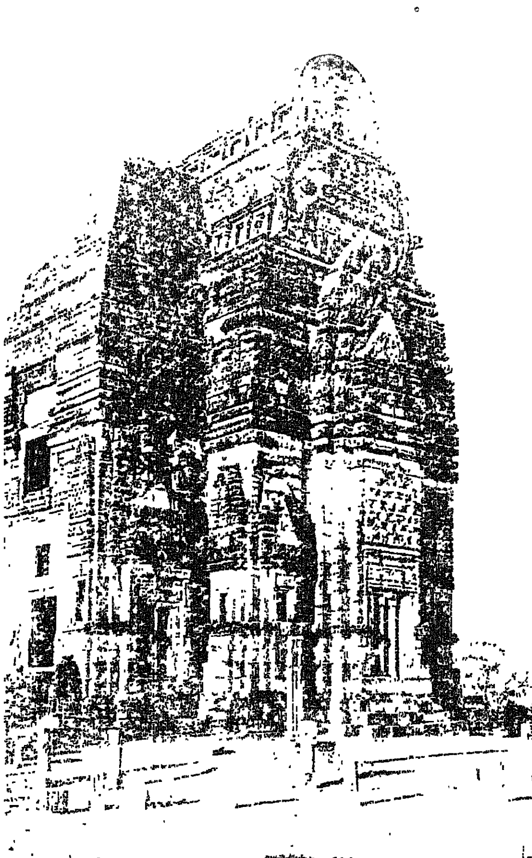
* सः प्रसिद्धः अनेकगुणसम्पन्नः जीवाजीनामा भूपः।

† महाराज्ञा विजयया अन्वितः।



बागगुहा नं. ४ का द्वार
एवं
गुहा नं. २ में बोधिसत्त्व मूर्तियाँ





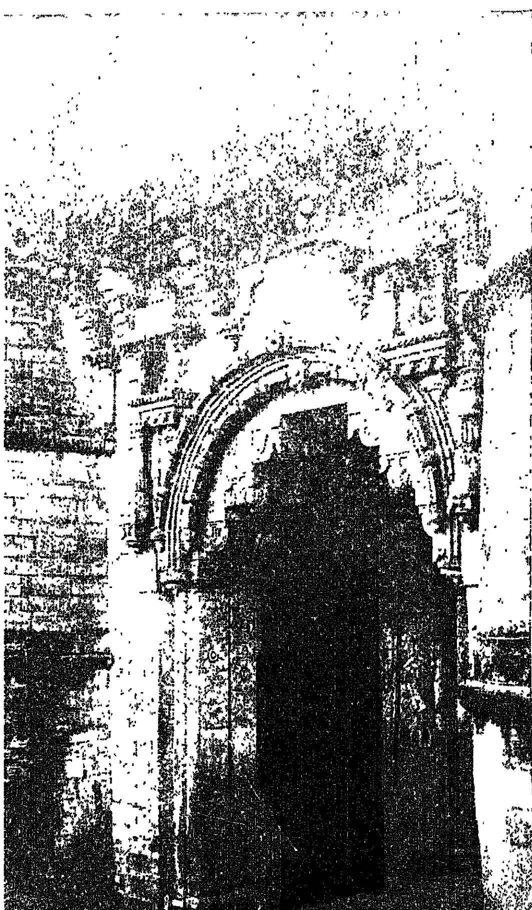


बड़े सासबहू के मन्दिर की छत।

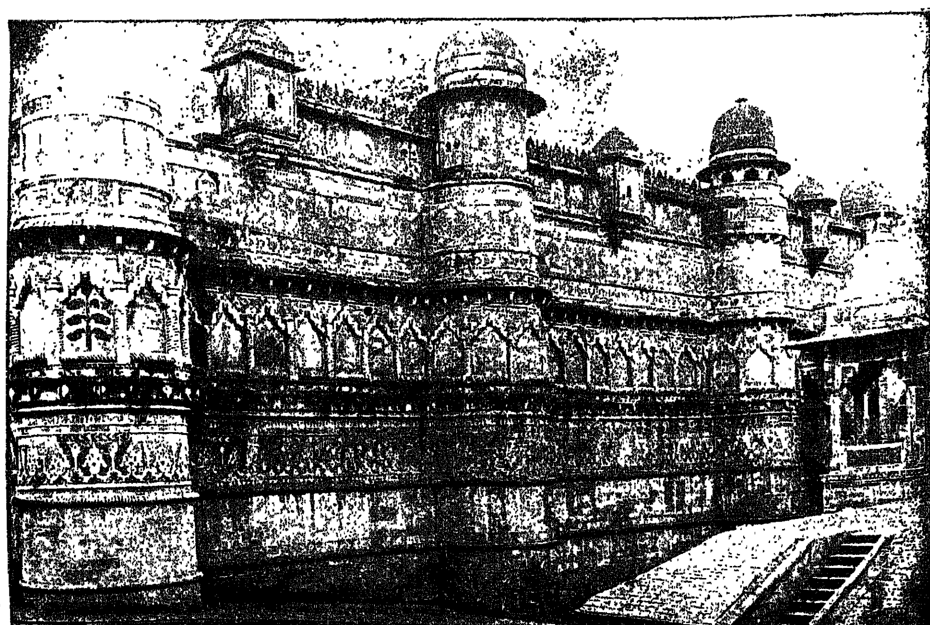
तेली का मन्दिर।

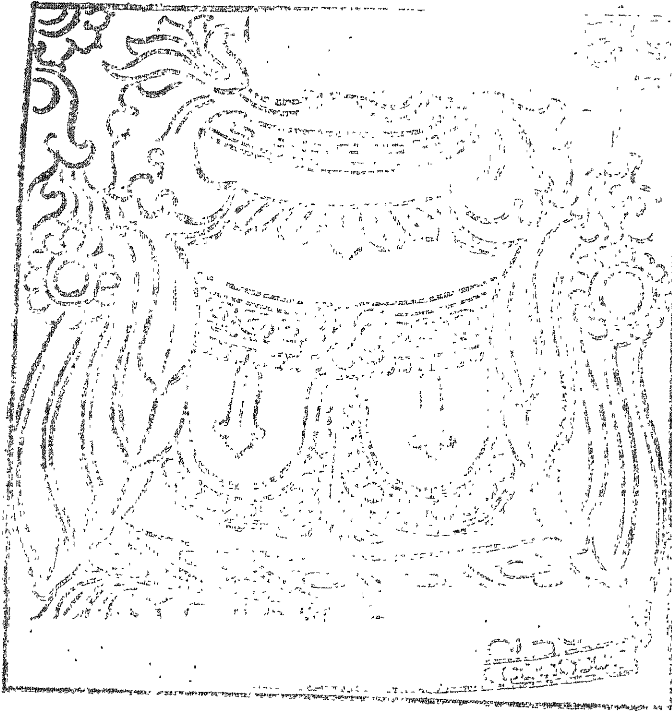
ग्वालियरगढ़-चित्रावली
(पृष्ठ ६२९)

हथिया पौर।



मानमन्दिर।





ग्वालियर दुर्ग

मेजर रईसुद्दौला राजाबहादुर श्री पंचमसिंहजी

भूतत्व के पंडितों के मत में पृथ्वी की प्राचीनतम चट्टान पर स्थित आज का 'ग्वालियर का किला', गोपाद्रि, गोपाचल एवं गालवगिरि नामक सन्तों की साधना और गोपों की क्रीड़ा-भूमि से बदलकर भारत के सुदृढ़तम और अत्यन्त प्रख्यात् गढ़ के रूप में कब और कैसे परिवर्तित हो गया, यह प्रश्न इतिहास एवं पुरातत्त्व के लिए तो महत्वपूर्ण है ही, प्रत्येक ग्वालियर प्रेमी के लिए भी अध्ययन के योग्य है। अपने दृढ़ स्कंधों को गर्व से ऊँचा उठाकर शिन्दे सरकार के भगवाँ झण्डे को उच्चतर स्तर पर फहरानेवाले इस प्राचीन दुर्ग के प्रस्तर खंडों के नीचे गुप्त साम्राज्य की गौरव-गाथाएँ, मिहिरकुल हूण और उसके साथियों की निर्दय स्मृतियाँ, वीर राजपूतों द्वारा सर्वाहुति देकर स्वाभिमान रक्षा की तथा राजपूत रमणियों की जौहरव्रत-उद्यापन की कथाएँ, महाराज मानसिंह और राई की गूजरी—परम सुन्दरी मृगनयना के प्रणय की कहानियाँ तथा अपने सुहृद् सगों द्वारा ही कैद किए गए तुरुक शहजादों के द्वारा काल कोठरियों में किए गए हृदयद्रावक चीत्कार छिपे पड़े हैं। भले ही इस किंवदन्ती को लोग सत्य न मानें कि संजीवनी बूटी लेने के लिए भरत के बाण के वेग के समान चलनेवाले हनुमानजी ने भी इस पर्वत पर विश्राम किया था, अथवा भगवान् राम को भी गालव ऋषि की इस तपस्थली पर अपना पुष्पक विमान रोकना पड़ा था, परन्तु यह तो इतिहास प्रसिद्ध है कि प्राचीनकाल में दक्षिण भारत की विजयेच्छा रखने-वाला कोई वीर इस गढ़ को हस्तगत किए गए बिना आगे नहीं बढ़ सका था। ग्वालियर के गौरव ऐसे महत्वपूर्ण इस गढ़ का संक्षिप्त वर्णन विक्रम-प्रदेश के परिचय के क्रम में दिया जाना उचित ही है।

यह दुर्ग प्रायः उत्तरी और दक्षिणी भारत की सीमा पर स्थित है। अपनी विशेष स्थिति के कारण इस पर सदैव मानव-संघर्ष का ताण्डव-नृत्य होता रहा। ग्वालियर दुर्ग का निर्माणकाल अतीत के अन्धकार में निहित है। इसका प्रारंभिक इतिहास भी अवगत नहीं। जिस पर्वत श्रृंखला पर यह दुर्ग स्थित है वह हिमालय से भी प्राचीन है। इसीसे अनुमान

लगाया जा सकता है कि हिमालय के अस्तित्व से से भी पूर्व इन चट्टानों पर मानव संघर्ष प्रारंभ हुआ होगा। दुर्ग के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ किवदन्तियाँ भी हैं। कोतवाल (प्राचीन कुन्तलपुर) स्थान ग्वालियर से २० मील दूर उत्तर दिशा में है। एक किवदन्ती यह है कि किसी समय कोतवाल का सूरजसिंह सामन्त आखेट करता हुआ दैवयोग से इस पहाड़ी के शिखर पर पहुँच गया। जल की खोज में सामन्त का गवालय नाम के एक सन्त से साक्षात्कार हुआ। जल माँगने पर साधु ने जलाशय से पानी दिया। उसके पीने से सामन्त का कुष्ट अच्छा हो गया। सूरजसेन सामन्त साधु की दैवी शक्ति से बहुत अधिक प्रभावित हुआ और उसकी आज्ञा से गढ़ का निर्माण किया तथा उक्त जलाशय को बड़ा करके सुन्दर रूप में बनवाया। जलाशय का नाम सूरजकुण्ड रखा, और साधु की स्मृति में इस स्थान का नाम गवालियावर रखा। साधु ने सामन्त का नाम सूरजपाल रखा और भविष्यवाणी की कि जब तक उसके वंशधरों के नाम के अन्त में पाल शब्द का प्रयोग होता रहेगा तब तक वे इस प्रान्त के शासक रहेंगे। इस वंश के ८३ राजाओं ने इस प्रान्त पर शासन किया। अन्तिम राजा का नाम तेजकरन था जो दूल्हा भी कहलाता था। इस राजा के नाम के अन्त में पाल शब्द का प्रयोग नहीं हुआ था। इसको प्रतिहारों ने ११८६ वि० में पराजित किया। साधु की भविष्यवाणी सत्य हुई। परन्तु यह सब केवल किंवदन्ती है।

ग्वालियर दुर्ग के अस्तित्व का सर्व प्रथम ऐतिहासिक प्रमाण एक शिलालेख है। ग्वालियर की पहाड़ी पर स्थित मात्रिचेता* द्वारा निर्मित सूर्य-मन्दिर के एक शिलालेख में ग्वालियर दुर्ग का उल्लेख है। यह शिलालेख हूण शासक मिहिर-कुल के राज्यकाल के पन्द्रहवें वर्ष का है। अतएव यह निश्चित है कि विक्रमी छठवीं शताब्दी में ग्वालियर दुर्ग का अस्तित्व था।

दुर्ग पर स्थित चतुर्भुज मन्दिर के दो शिलालेखों में भी ग्वालियर दुर्ग का उल्लेख है। यह शिलालेख क्रमशः ९३२ और ९३३ विक्रमी संवत् के हैं। इन शिलालेखों से यह प्रकट है कि इस किले को उत्तरी भारत के प्रतिहार राजा मिहिरभोज ने जीतकर इसे कन्नौज राज्य में मिला लिया। विक्रमी संवत् की ११वीं शताब्दी के प्रारंभ में कछवाहा (कच्छप-घात) वंश के वज्रदामन नामक एक राजा ने ग्वालियर को कन्नौज के प्रतिहार वंश के राजा से जीत लिया। कछवाहा वंशी राजपूतों का शासन ग्वालियर दुर्ग पर दो शताब्दी तक रहा। कछवाहा राजपूतों के राज्य में कला का विकास हुआ। इस वंश के राजाओं ने कलाकारों को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया। ग्वालियर दुर्ग पर बहुत से मन्दिरों का निर्माण इन्हीं के काल में हुआ।

कछवाहों के पश्चात् ग्वालियर पुनः प्रतिहारों की दूसरी शाखा के अधिकार में चला गया। संवत् १२८९ वि० में एक अत्यन्त करुणाजनक घटना घटित हुई। देहली के राजा अल्तमश के आधीन मुसलमानों ने दुर्ग के चारों ओर घेरा डाल दिया। राजपूतों और मुसलमानों में घोर युद्ध हुआ। मुसलमानों द्वारा दुर्ग का विध्वंस किया गया। राजपूतों की शक्ति क्षीण हो गई। किन्तु राजपूतों के लिए यह स्वतंत्रता, संस्कृति और आत्म-सम्मान की रक्षा का प्रश्न था। राजपूत हथियार डालकर आत्म-समर्पण करने का लज्जाजनक उदाहरण अपनी भावी संतति के सामने नहीं रखना चाहते थे। दासत्व की अपेक्षा मर जाना उन्होंने श्रेष्ठतर समझा। राजप्रासाद की रानियों ने दासियों सहित जौहर व्रत का उद्यापन किया। एक बृहत् चिता बनाई गई, उसमें रानियों सहित सब राजपूत ललनाएँ जलकर भस्म हो गईं। राजा तथा उनके बचे हुए अनुचर योद्धा भी केसरिया बाना पहिनकर बाहर निकल पड़े। उनके शौर्य से शत्रु सैनिक विचलित हो उठे। मुट्ठी भर राजपूतों से लड़ने के लिए विपक्षियों ने अगणित सेना झोंक दी। अन्त में राजपूतों के पराभव के साथ साथ ग्वालियर दुर्ग अल्तमश के अधिकार में चला गया और १४५५ वि० तक दिल्ली के मुसलमान राजाओं के हाथ में रहा।

संवत् १४५५ वि० में तैमूरलंग ने भारत पर आक्रमण किया। दिल्ली के राजा महमूद ने तैमूर का सामना किया किन्तु हार गया। तीन दिन तक दिल्ली लूटी गई। महमूद के शासन प्रबन्ध में शिथिलता आगई। एक तोमर राजपूत वीरसिंहदेव ने अवसर पाकर ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। तोमरों का १६वीं शताब्दी के अन्त तक दुर्ग पर अधिकार रहा। तोमरों के समय में ग्वालियर प्रान्त की उन्नति हुई। प्रजा सुखी और समृद्धिशाली बनी। राजपूतों के शासन में सदैव कला को प्रश्रय मिला है। डोंगरसिंह तोमर ने भी धार्मिक निष्पक्षता के साथ कला को प्रोत्साहन दिया। दुर्ग पर चट्टानों को काटकर विशालकाय जैन मूर्तियों का निर्माण इसी के काल में हुआ। राजा मानसिंह तोमर ने १५४५ वि० से १५९३

वि० तक राज्य किया। मानसिंह के समय में तोमर राजवंश अत्यन्त शक्तिशाली था। राजा मानसिंह स्थापत्य, शिल्पकला तथा संगीत आदि ललित कलाओं के प्रेमी थे। इनके समय में दुर्ग की कला का कोष और भी समृद्धिशाली हो गया।

राजा मानसिंह की मृत्यु के पश्चात् दुर्ग इब्राहीम लोदी के अधिकार में चला गया। इब्राहीम लोदी मुगलों द्वारा पराजित हुआ और दुर्ग पर मुगलों का आधिपत्य हो गया। राजपूत शक्ति के क्षय होने के पश्चात् दुर्ग के कलास्रोत का प्रवाह तो बन्द हो ही गया, युग युग के संचित कलाकोष में से बहुत कुछ लुट भी गया। बाबर वीर होने के साथ साथ प्रतिभा-शाली था। वह अपने स्मृतिलेख लिखने के लिए प्रसिद्ध है। यह लिखते हुए दुःख होता है कि धर्मान्धता के कारण बाबर ने कलाकार होकर भी कला का विध्वंस किया। संवत् १५८४ वि० में जब बाबर दुर्ग देखने आया तो उसने अपनी आज्ञा से बहुतसी जैन मूर्तियों के अंग भंग करा दिए। यह मूर्तियाँ प्लास्टर से अब बहुत कुछ ठीक कर दी गई हैं; परन्तु फिर भी उनमें वह सजीवता नहीं आ सकी जो मौलिक रूप में थी।

हुमायूं अधिक काल तक दुर्ग को अपने अधिकार में न रख सका। हुमायूं के शत्रुओं ने जब उसे भारत से विताड़ित कर दिया तो ग्वालियर दुर्ग शेरशाह सूर के अधिकार में चला गया। १६१६ वि० में अकबर ने पुनः दुर्ग को जीत लिया। इसके पश्चात् ग्वालियर दुर्ग लगभग २०० वर्ष तक मुगलों का रहा। मुगलों के समय में यह दुर्ग प्रायः राजबन्दियों के रखने के काम में लाया गया। औरंगजेब का भाई मुरादबख्श इसमें बन्दी रहा।

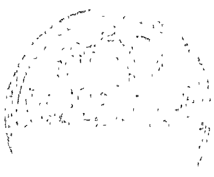
१८११ वि० में मराठों ने दुर्ग को हस्तगत कर लिया। १८३४ वि० में यह दुर्ग महाराजा महादजी शिन्दे के अधिकार में आया और इसी समय से शिन्दे राजवंश का सम्बन्ध इस दुर्ग से हुआ। मेजर पोफम ने १८३७ वि० में अचानक दुर्ग पर अधिकार कर लिया और १८३८ वि० में गोहद के राजा छत्रपतिसिंह को दे दिया, किन्तु दो वर्ष पश्चात् ही महादजी शिन्दे के सेनापति खंडेराव हरिने इसको छीन लिया। मराठों के दूसरे युद्ध में १८६१ वि० में जनरल ह्वाइट ने दुर्ग को जीत लिया, किन्तु एक वर्ष पश्चात् सन्धि हो जाने पर पुनः वापिस कर दिया। महाराजपुर की लड़ाई के पश्चात् दुर्ग पर ब्रिटिश सेना का अधिकार रहा। किन्तु महाराजा जयाजीराव शिन्दे के वयस्क होने पर उन्हें वापिस कर दिया गया।

संवत् १९१४ के वात्याचक्र का झोंका इस गढ़ को भी लगा और कुछ समय के हस्त परिवर्तन के पश्चात् यह किला शिन्दे राजवंश का हो गया।

स्वर्गीय महाराजा माधौराव शिन्दे ने इस किले को विशेष गौरव प्रदान किया। उन्होंने इस युद्ध-मन्दिर को सरस्वती-मन्दिर में परिणत कर दिया। सामन्तों की सन्तति की शिक्षा के लिए दुर्ग पर सरदार स्कूल की स्थापना की जिससे सामन्तगण ज्ञान का पवित्र प्रकाश पा सकें और संसार की गति के साथ चलकर अपना विकास भी कर सकें। हमारे वर्तमान प्रजावत्सल श्रीमन्त महाराजा जीवाजीराव शिन्दे के समय में अब यह विद्या-मन्दिर सर्व-साधारण के निमित्त खोल दिया गया है और श्रीमन्त स्वयं इसमें बहुत दिलचस्पी लेते हैं।

इस संक्षिप्त ऐतिहासिक सिंहावलोकन के पश्चात् अब हम इस किले की रूपरेखा का वर्णन करेंगे।

ग्वालियर दुर्ग प्रायः १०० गज ऊँची पहाड़ी के ऊपर स्थित है। उत्तर-दक्षिण इसकी लम्बाई पौने दो मील है और चौड़ाई पूर्व-पश्चिम ६०० फीट से लेकर २८०० फीट तक है। दुर्ग की प्राचीर १० गज ऊँची है जो पहाड़ी के टेढ़ेमेढ़े किनारों पर स्थित है। दुर्ग की पहाड़ी के पूर्वी भाग से बहुत काल तक पत्थर निकाला गया है। पत्थर की इन खानों के कारण पूर्वी भाग में बड़ी बड़ी कन्दराएँ बन गईं और नीचे से बड़े बड़े शिलाखण्ड लटकते हुए दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि लटकती हुई चट्टानें टूटकर गिरना चाहती हैं। राजा मानसिंह के महल की उत्तुंग मीनारें और गुम्मटें, दुर्ग की महानता की ओर मानव-समाज का ध्यान आकर्षित करती हैं और मध्य में युग-युग की भूरी काई से आच्छादित अनेक बृहत् हिन्दू मन्दिर हिन्दू सभ्यता की श्रेष्ठता की घोषणा-सी करते हैं। ग्वालियर दुर्ग के अंचल में उत्तर की ओर प्राचीन ग्वालियर और दक्षिण की ओर लश्कर नगर स्थित हैं।



ग्वालियर दुर्ग

दुर्ग में जाने के लिए इस समय दो पथ हैं। पूर्व में ग्वालियर द्वार से होकर और पश्चिम में उरवाही द्वार से होकर। दोनों द्वारों के लिए सड़कें गई हैं। पहले तीन और प्रवेश-पथ थे। उनमें से छोटा द्वार और गढ़गज द्वार पश्चिम की ओर थे। तीसरा पथ एक सुरंग में होकर था जो झिलमिल खिड़की में होकर जाता था। अब यह तीनों पथ बन्द कर दिए गए हैं। पूर्व के पथ में ५ द्वार हैं––(१) आलमगीरी फाटक जिसे अब लोग 'ग्वालियर दरवाजा' कहते हैं। (२) बादल महल द्वार अथवा हिण्डोला द्वार, (३) गणेश द्वार (४) लक्ष्मण द्वार (५) हथिया पौर। पहले इस पथ पर दो और द्वार थे, एक भैरों द्वार जो दूसरे और तीसरे द्वार के बीच में था और दूसरा हवा पौर अथवा पवन द्वार, यह पाँचवें द्वार के आगे था। दुर्ग पर जाने के लिए पहले सीढ़ियाँ थीं। अब ढालू पथ बना दिया गया है किन्तु अत्यधिक ढालू होने के कारण इस ओर से गाड़ी आदि जाने की रोक है।

आलमगीरी फाटक मोतमिदखाँ ने १७१७ वि० में औरंगजेब (आलमगीर) के नाम पर बनवाया था। राजा मानसिंह के काका बादल ने एक सुन्दर बादल महल द्वार (हिण्डोला द्वार) बनवाया था। इसका निर्माण हिन्दू शैली के अनुसार हुआ। डोंगरसिंह तोमर ने गणेश द्वार बनवाया। लक्ष्मण द्वार हिन्दू शैली के अनुसार बना है। कदाचित् १५वीं शताब्दी के अन्त में इसका निर्माण हुआ, किन्तु टूट जाने के कारण तोमर वंश के राजा लक्ष्मण ने इसे ठीक कराया और इसका नाम लक्ष्मण द्वार रखा। कहा जाता है कि हथिया द्वार के सामने पत्थर का एक बड़ा हाथी था, इसलिए यह द्वार हथिया द्वार कहलाता है। द्वार बड़ा और प्रभावोत्पादक होने के साथ साथ सुन्दर भी है। दुर्ग के पश्चिमी पथ पर केवल दो द्वार हैं। पश्चिमी पथ से दुर्ग पर गाडियाँ आ सकती हैं।

दुर्ग पर (१) मानमन्दिर (२) गूजरीमहल (३) करनमन्दिर (४) विक्रममन्दिर, (५) जहाँगीरी महल, (६) शाहजहानी महल नामक छह राजप्रासाद हैं। इनमें मानमन्दिर और गूजरीमहल उल्लेखनीय हैं।

छह राजप्रासादों में से मानमन्दिर अत्यन्त सुन्दर और भव्य है। फरग्यूसन ने इसके सम्बन्ध में लिखा है––'मानमन्दिर भारत के पूर्वकालीन हिन्दू राजप्रासाद का उज्ज्वल और आकर्षक उदाहरण है"। ३०० फीट लम्बे और ८० फीट चौड़े इस राजप्रासाद का पूर्वी अग्रभाग छह आकर्षक गोल गुम्बदों से सुसज्जित है और पश्चिमी भाग पर तीन सुन्दर मीनारें हैं। दीवार पर मनुष्यों, बतखों, हाथियों, शेर, केले के पेड़ आदि से चित्रित नीले, हरे, पीले प्रस्तर खंड लगे हैं जिससे दीवाल के सौन्दर्य में अतुलनीय आकर्षण और वैभव का समावेश हो गया है। महल के भीतरी भाग में दो खुले आँगन हैं। मान मन्दिर का मुख्य भाग दुखण्डा है किन्तु पूर्वीय भाग में नीचे दो खण्डा तलघर भी है। यद्यपि दोनों प्रांगण छोटे हैं तथापि बनावट में सुन्दर और कलापूर्ण हैं। रंगीन टाइलों, खुदे हुए जालीदार परदों, सुन्दर टोढ़ियों के प्रयोग तथा हारों पुष्प, पत्तों, पौदों और जानवरों के चित्रों से भीतें और छतें सजी हैं। महल के कमरों की रंगीन चित्रों से युक्त छतें दर्शनीय हैं।

दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रासाद गूजरी महल है, जिसे राजा मानसिंह ने मृगनयना गूजरी के लिए बनवाया था। यह महल दुर्ग के नीचे बना है किन्तु दुर्ग की बाहरी प्राचीर के भीतर है। इसमें जाने के लिए बादल-महल-द्वार से दाहिनी ओर मुड़ना पड़ता है। यह महल दुखण्डा है और पत्थर को काटकर बनाया गया है। प्रांगण बड़ा और खुला हुआ है। इसके चारों ओर भिन्न भिन्न बनावट के खुदे हुए कमरे हैं। मध्य में एक बड़ा तलघर है। आजकल गूजरी महल में पुरातत्व विभाग का संग्रहालय है। इसमें सम्पूर्ण राज्य से एकत्रित किए जाकर प्राचीन चित्र, लेख, मूर्तियाँ, सिक्के तथा अन्य वस्तुएँ सजाई गई हैं।

गूजरी महल से सम्बन्धित एक किंवदन्ती है। राजा मानसिंह आखेट करते हुए राई ग्राम के पास पहुँचे। वहाँ पर उन्होंने गूजर की एक अत्यन्त सुन्दर कन्या को देखा। उसका नाम मृगनयना था। राजा ने उसके सम्बन्ध में पूछताछ की तो उसे पता चला कि मृगनयना केवल सुन्दरी ही नहीं, उसमें असाधारण बल भी है––एक बार इसने अकेले ही जंगली भैंसे को हरा दिया था। राजा ने मृगनयना से पूछा––'तुमने यह असाधारण बल कहाँ से प्राप्त किया।' गूजर की लड़की ने सरल भाव से उत्तर दिया कि 'राई गाँव के जल से।' राजा मानसिंह, मृगनयना के रंग-रूप और स्वभाव पर मोहित होगए और उससे विवाह का प्रस्ताव किया। मृगनयना ने पुनः सरल स्वभाव से उत्तर दिया––'यदि महलों में मुझे राई ग्राम का जल

पीने को मिल सके तो विवाह कर सकती हूँ।' राजा ने वचन दिया और मृगनयना से विवाह कर लिया। उसके रहने को यह गूजरी महल बनवाया। राई ग्राम से गूजरी महल तक पानी का नल बनवाया गया। इस नल द्वारा नित्य मृगनयना के लिए राई से जल आता था। अब भी इसके अवशेष चिह्न पाए जाते हैं।

दुर्ग पर अनेक धार्मिक स्थान भी हैं, जिनमें उच्चकोटि की स्थापत्य और शिल्पकला का प्रस्फुरण हुआ है। इन धार्मिक स्थानों में ७ प्रमुख हैं। (१) ग्वालिया मन्दिर, (२) चतुर्भुज मन्दिर, (३) बड़ा सास बहू का मन्दिर, (४) छोटा सास- बहू का मन्दिर, (५) मातादेवी का मन्दिर, (६) जैन मन्दिर और (७) तेली का मन्दिर।

मोतमिदखाँ १७२१ वि० में दुर्ग का शासक था। उसने ग्वालिपा ऋषि के स्थान को तुड़वाकर उसके स्थान पर छोटीसी मसजिद बनवा दी। यह स्थान गणेश द्वार के पास है। इसी मसजिद के पास, ग्वालिपा ऋषि की स्मृति में, एक छोटासा मन्दिर भी बना दिया गया है। कुछ आगे चलकर चतुर्भुज का मन्दिर है जो चट्टान काटकर बनवाया गया है। इसका निर्माण मध्यकालीन भारतीय आर्यशैली पर हुआ है। कान्यकुब्ज (कन्नौज) के प्रतिहारों के समय में वैल्लभट्ट के पुत्र अल्ल ने ९३२ वि० में इसे बनवाया था।

कलात्मक दृष्टि से सास-बहू के मन्दिरों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। मध्यकालीन भारत में हिन्दुओं की संस्कृति तथा धार्मिक भावना क्या थी? उनके देवी-देवता कौन थे? उनकी अभिरुचि कैसी थी। ये दोनों मन्दिर इन बातों पर पूर्ण प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त इन मन्दिरों की बनावट से यह भी सिद्ध होता है कि उस समय हिन्दुओं की स्थापत्य-कला और शिल्पकला अत्यन्त उन्नति पर थी। हिन्दुओं के अनेक देवी-देवता थे और वे अपने मन्दिरों को अच्छी तरह सजाते थे।

यदि एक ही स्थान, एक ही प्रकार के दो कुआ, बावड़ी या मन्दिर हों तो उन्हें सास-बहू के नाम से सम्बोधित करने की प्रणाली है। ये दोनों मन्दिर एकसे हैं इसलिए सास-बहू के मन्दिर कहलाते हैं। सास बहू के मन्दिर में संस्कृत में एक लेख खुदा है जिससे पता चलता है कि ११५० वि० में कछवाहे राजपूत राजा महीपाल ने इसको बनवाया। द्वार पर ब्रह्मा और शिव के मध्य में विष्णु भगवान् की मूर्ति होने से यह अनुमान किया जाता है कि यह मन्दिर विष्णु का है। मन्दिर १०२ फीट लम्बा और ७४ फीट चौड़ा है। गुम्बद के घेरे से अनुमान किया जाता है कि मन्दिर किसी समय १०० फीट ऊँचा था। मंच के ऊपर की गुम्बद हिन्दू शैली के अनुसार बनी है। मन्दिर के प्रवेश द्वार पर शिल्पकारी की प्रचुरता है। द्वार के निकले हुए ऊपरी पत्थर पर हिन्दुओं के त्रिदेव ब्रह्मा, विष्णु और महेश की मूर्ति बनी है। मध्य में विष्णु की, दाहिनी ओर शिव की तथा बाईं ओर ब्रह्मा की। विष्णु के नीचे गरुड़ है। द्वार की आलीनों पर नीचे की ओर अनेक देवी-देवता बने हैं। एक में गंगादेवी की प्रधानता है, दूसरी में यमुना की। देहली के दाहिनी ओर गणेश की और बाईं और कुबेर की मूर्ति है। लगभग इसी प्रकार दूसरा छोटा सास-बहू का मन्दिर है। मन्दिर की देवी-देवता की मूर्तियों के देखने से पता चलता है कि १२वीं शताब्दी में पूर्णरूप से बौद्ध धर्म भारत से बिदा हो चुका था और पौराणिक ब्राह्मण धर्म की स्थापना हो चुकी थी।

मातादेवी मन्दिर का अवशेष सूर्यकुण्ड के पास है। बनावट से प्रतीत होता है कि इसका निर्माण विक्रम की १२वीं शताब्दी के अन्त में हुआ होगा। जैन मन्दिर भी टूटी फूटी अवस्था में है। इसके ऊपर अब शिखर नहीं है और न इसके अन्दर अब कोई मूर्ति ही है। जैन तीर्थंकरों की कुछ टूटी फूटी मूर्तियाँ मन्दिर के बाहर पड़ी हैं। मन्दिर के प्रत्येक द्वार पर तीर्थंकर की एक प्रतिमा है। कटाई की शैली को देखते हुए प्रतीत होता है कि इसका निर्माण १५वीं शताब्दी के अन्त में हुआ।

तेली का मन्दिर गंगोला ताल के पश्चिम में है। दुर्ग की सब इमारतों से यह ऊँचा है। इसकी ऊँचाई १०० फीट से भी अधिक है। यह ९वीं शताब्दी का विष्णु या शिव मन्दिर है और इसकी बनावट विचित्र है। इसके शिखर की बनावट द्रविड़ शैली के अनुसार हुई है। इस प्रकार के शिखर दक्षिणी भारत में देखने में आते हैं। शिखर के अतिरिक्त मन्दिर की अन्य सजावट की शिल्पकारी भारतीय आर्य शैली के अनुसार है, जैसी उत्तरी भारत में पाई जाती है। इस मन्दिर में सुन्दर रूप में आर्य और द्रविड़ कला का सम्मिश्रण पाया जाता है।



ग्वालियर दुर्ग

सूर्यकुण्ड के पश्चिम में शिव और सूर्य के दो आधुनिक मन्दिर हैं। एक शिलालेख से पता चलता है कि सूर्य मन्दिर के स्थान पर एक पुराना सूर्यमन्दिर था और इसी लिए यह कुण्ड सूर्यकुण्ड कहलाता है।

दुर्ग पर अनेक कुए और तालाब हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पहले इन स्थानों से इमारतों के लिए पत्थर निकाले गए, बाद में इन्हींको तालाब बना दिया गया। दुर्ग के ऊपर इन तालाबों में प्रमुख जौहरताल, मानसरोवर, सूर्यकुण्ड, गंगोला ताल, एक-खम्भा ताल, रानी ताल और चेदी ताल हैं। इनके अतिरिक्त चट्टान में कटे हुए अनार बाउड़ी और शरद् बाउड़ी नाम के दो हौज हैं तथा अस्सी खम्भा नाम की एक वापी है। दोनों हौज ढके हुए चट्टान के भीतर बने हैं। इनमें सालभर पानी रहता है। शरद् बाउड़ी में जाने को एक छोटासा महराबदार प्रवेश द्वार है किन्तु अन्दर बहुत विस्तार है। इस हौज की प्राकृतिक छत चट्टानों से कटे हुए खम्भों पर आधारित है।

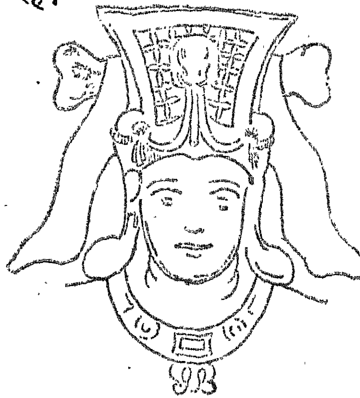
ग्वालियर-दुर्ग पर चट्टानों में कटी हुई अनेक मूर्तियाँ हैं। इनमें कुछ हिन्दू धर्म सम्बन्धी हैं और कुछ जैन धर्म सम्बन्धी।

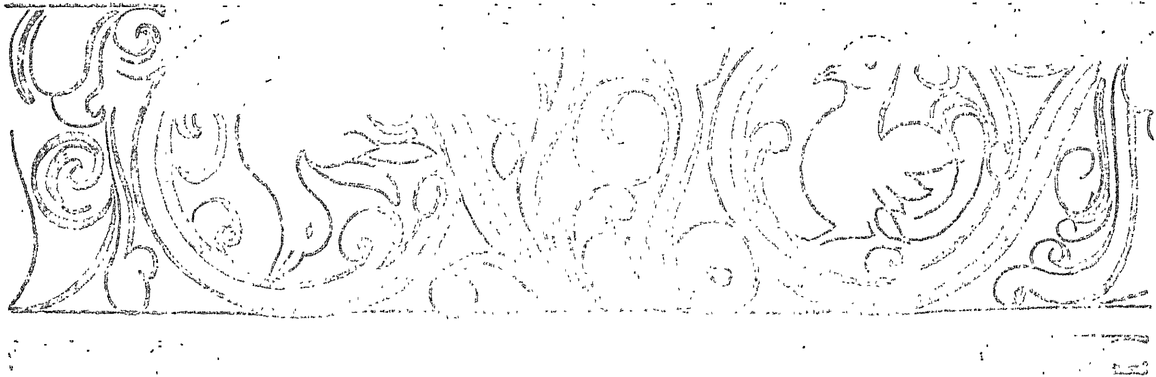
चतुर्भुज मन्दिर और लक्ष्मण द्वार के बीच में चट्टान में कटे हुए एक रिक्त मूर्ति-स्थान के नीचे शिलालेख में गणेश की प्रार्थना लिखी है। ऐसा ज्ञात होता है कि रिक्त स्थान पर चट्टान में कटी हुई गणेश की प्रतिमा थी, किन्तु नष्ट कर दी गई। इसके दोनों ओर, और सड़क के दूसरी ओर शिव, पार्वती और गणेश की मूर्तियाँ हैं। लक्ष्मण द्वार से थोड़ा ऊपर चलकर दाहिनी ओर की चट्टान में अनेक मूर्तियाँ खुदी हैं। इनमें से दो तीन जैन मूर्तियों के अतिरिक्त सभी हिन्दू देवी देवताओं की मूर्तियाँ हैं। लक्ष्मण द्वार के ठीक सामनवाली बड़ी खंडित मूर्ति को कनिंघम तथा अन्य विद्वानों ने भूल से विष्णु भगवान् के शूकर अवतार की मूर्ति समझा था। वास्तव में मूर्ति में शिवजी को रुद्र रूप में हाथी की चर्म, छत्र की भाँति ऊपर फैलाए हुए बतलाया है। इस समूह में विष्णु, सूर्य और महिषमर्दिनी देवी की मूर्तियाँ हैं और बहुत से शिवलिंग हैं। ये मूर्तियाँ नवीं शताब्दी ईसवी की बनी प्रतीत होती हैं जब चतुर्भुज का मन्दिर बना। इन मूर्तियों से इस बात का अनुमान होता है कि नवीं शताब्दी में मध्य-भारत में बौद्ध धर्म के स्थान पर ब्राह्मण धर्म की पुनः स्थापना हो चुकी थी।

जैन मूर्तियाँ दुर्ग के चारों ओर पाई जाती हैं। शिलालेखों में अनेक मूर्तियों के निर्माण-काल का भी उल्लेख है, जिससे पता चलता है कि ग्वालियर के तोमरवंशीय राजा डोंगरसिंह और उसके पुत्र कीर्तिसिंह के राजत्वकाल में १४९७ और १५२९ वि० के बीच में इन मूर्तियों का निर्माण हुआ।

इनमें से उरवाही द्वार की मूर्तियाँ विशाल आकार के लिए और दक्षिण-पूर्व की कलात्मक सजावट के लिए प्रसिद्ध हैं। अधिकतर जैनियों के चौबीस तीर्थंकरों की नग्न मूर्तियाँ हैं। इनमें आदिनाथ की सबसे बड़ी मूर्ति उरवाही घाटी में है जो ५७ फीट ऊँची है। उत्तरी भारत में कहीं भी इतनी अधिक संख्या में ऐसी विशालकाय मूर्तियाँ नहीं पाई जातीं।

प्राचीनकाल में सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह ग्वालियर का किला हमारे प्राचीन गौरव एवं वैभव की सजीव निशानी है। स्थापत्य एवं मूर्तिकला के अत्यन्त सुन्दर उदाहरणों का आगार है तथा अब प्रधान शिक्षा-केन्द्र है। भगवान् से प्रार्थना है कि यह सुदृढ़ गढ़ हमारे शिन्दे सरकार के भगवाँ झण्डे को फहराता हुआ सदा उनके गौरव, विक्रम एवं कला-प्रेम की उद्घोषणा करता रहे।





नरवर और चन्देरी के गढ़

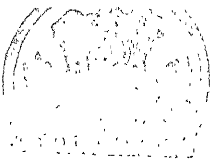
श्री भानुप्रतापसिंह सेंगर, बी० ए०, एल-एल० बी०

दुर्ग-मानव समाज की स्वतंत्रता की भावना का प्रतीक है। जब आततायी मानवता को पद-दलित करने के लिए अग्रसर हुए, मिट्टी-पत्थर दुर्ग का रूप धारण कर स्वतंत्रता की रक्षा करने के लिए खड़े हो गए। दुर्गों का इतिहास केवल इसी बात का द्योतक नहीं कि अमुक दुर्ग की रक्षा अथवा विजय में कितना रक्तपात हुआ, उससे टकराकर कब कब कौन कौन पराजित हुआ और कौन कौन कब कब उसे जीतने में समर्थ हुआ? वास्तव में इन दुर्गों के उत्थान-पतन के साथ साथ भिन्न भिन्न सभ्यताओं का उत्थान-पतन हुआ। इन दुर्गों में मानव-समाज का रोदन-क्रन्दन और उल्लास निहित है। इनमें मानव-समाज की स्थापत्यकला, मूर्ति-निर्माण-कला तथा चित्रकारी आदि ललित कलाओं का भाण्डार केन्द्रीभूत है। किसी दुर्ग का इतिहास उससे सम्बन्धित देशवासियों की संस्कृति का इतिहास है।

जिन पर्वत-शृंखलाओं पर सुदृढ़ दुर्ग स्थित है, उनपर गृह-निर्माण-कला के ज्ञान से पूर्व मानव संघर्ष प्रारंभ हुआ। जब मानव ने झोपड़ी बनाना भी न सीखा था, प्राकृतिक खोहों में और वृक्षों पर रहता था, उस समय से ही मानव-संघर्ष चला आता है। फलों और आखेट के प्रश्न पर जब भिन्न भिन्न चलते-फिरते अनिकेतन मानव-झुण्डों में झगड़ा हुआ तो उन्होंने इन्हीं पर्वत शृंखलाओं और उपत्यकाओं का सहारा लिया; इन्ही में लुक-छिप कर उनके युद्ध होते थे। ये उपत्यकाएँ और शृंखलाएँ प्रायः पथ पर स्थित होती थीं। गृह-निर्माण-कला के ज्ञान के साथ साथ इन स्थानों पर दुर्ग निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ। बनते बिगड़ते इन दुर्गों ने विशालकाय रूप धारण किए।

विक्रमादित्य और विक्रमादित्यों की भूमि ग्वालियर सदा से आर्थिक, राजनीतिक एवं सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण रही है। इस कारण से इसमें भारतवर्ष के कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण दुर्ग विद्यमान हैं। इन दुर्गों के अधिपति जहाँ अप्रतिम समर-शूर रहे हैं, वहाँ उनके कला प्रेम की कहानी भी आज इन दुर्गों के पत्थर कह रहे हैं। ग्वालियर में तीन दुर्ग प्रधान हैं— ग्वालियर, नरवर और चन्देरी। ग्वालियर के विषय में अन्यत्र लिखा जा चुका है। यहाँ हम अत्यन्त संक्षेप में शेष दो दुर्गों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं।

नरवर का दुर्ग—कहा जाता है कि पौराणिक काल के राजा नल इसी दुर्ग में रहते थे। नल-दमयन्ती की कथा प्रायः प्रत्येक शिक्षित हिन्दू जानता है। दूल्हा द्वार के पास दुर्ग के कंगूरों की एक पंक्ति झुकी हुई है। सर्वसाधारण का



यह विश्वास है कि जब राजा नल दुर्ग को सदैव के लिए छोड़ कर जाने लगे तो कंगूरे श्रद्धा के साथ सम्मान प्रदर्शनार्थ झुक गए और तब से उसी दिशा में झुके हुए हैं।

तेजकरन (जिसे दूल्हा भी कहते हैं,) के सम्बन्ध में दो किंवदन्तियाँ हैं प्रथम यह कि प्रेमाहत दूल्हा उत्तर-पश्चिमी दरवाजे से भागा था इसीलिए उस दरवाजे का नाम दूल्हा दरवाजा पड़ा। दूसरी किंवदन्ती यह है कि एक बार राजा दूल्हा और उसकी रानी मारू, मकरध्वज कुण्ड के बीच में चबूतरे पर बैठे थे। आनन्द-विभोर राजा रानी किसी तरह जल में डूब गए। इस घटना के पश्चात् प्रत्येक सावन की पूर्णिमा को चबूतरा पर से] हाथ उठता दिखाई देता था। एक बार एक सैनिक ने हाथ पर बाण चलाया, तब से हाथ दिखाई नहीं देता।

एक और किंवदन्ती है जिसका वर्णन कनिंघम साहब इस प्रकार करते हैं कि कई शताब्दियों पूर्व दुर्ग शत्रुओं द्वारा घेर लिया गया। इस दुर्ग के निकट एक दूसरी पहाड़ी थी। इन दोनों पहाड़ों के बीच में एक रस्सी बँधी थी। राजा दुर्ग के सामनेवाली पहाड़ी पर अपने मित्रों के पास एक पत्र भेजना चाहता था। यद्यपि राजा ने इस रस्सी पर से पत्र ले जाने-वाले को अपना आधा राज्य देने की घोषणा की किन्तु किसी ने साहस न किया। अन्त में एक नटनी पत्र ले जाने को तैयार हुई और सबके समक्ष राजा को आधा राज्य देने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध किया। राजा ने प्रतिज्ञा की और नटनी परिश्रम के साथ रस्सी पर से पत्र ले गई। जब वह पत्र देकर लौट रही थी एक सरदार ने राजा को मंत्रणा दी कि आधा राज्य बचाने का अवसर है। राजा ने रस्सी कटवा दी। नटनी गिरकर मर गई। उस समय से नटों ने नरवर में प्रवेश नहीं किया। वे नरवर का रास्ता छोड़कर दूसरे पथ से निकल जाते हैं।

जहाँ जहाँ पहाड़ियों की दो चोटियाँ इस प्रकार पास पास हैं वहीं इस तरह की किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसी कारण इस दुर्ग के सम्बन्ध में इस कहानी का प्रचार हुआ।

इतिहास—इस दुर्ग पर राजा नल का आधिपत्य था इसका ऐतिहासिक प्रमाण नलपुरा नाम का गाँव ही है। मध्यकालीन कई शिलालेखों में इस ग्राम का नाम आया है। कनिंघम साहब की धारणा थी कि पद्मावती को ही अब नरवर कहते हैं। ईसा की तीसरी चौथी शताब्दी में नागवंशी राजाओं की यहाँ राजधानी थी। किन्तु अन्तिम नागवंशीय राजा गणपति के कतिपय सिक्कों के अतिरिक्त दुर्ग में इतनी पुरानी कोई ऐतिहासिक वस्तु नहीं मिलती। अनुसन्धान से अब सिद्ध हो चुका है कि पद्मावती नगर आधुनिक पवाया ग्राम के स्थान पर था। पवाया सिन्ध पार्वती के संगम पर नरवर से २५ मील पूर्व की ओर है।

नरवर का इतिहास ग्वालियर दुर्ग से सदैव सम्बन्धित रहा। विक्रमी दसवीं शताब्दी के अन्त में ये दोनों दुर्ग कछवाहा राजपूतों के अधिकार में चले गए। ११८६ वि० में प्रतिहारों का अधिकार हो गया। एक शताब्दी शासन करने के पश्चात् जब सुलतान अल्तमश ने ग्वालियर को जीत लिया तो प्रतीहारों ने नरवर के दुर्ग में आकर शरण ली। विक्रम की १३वीं शताब्दी के अन्त में चाहड़देव ने दुर्ग प्रतिहारों से छीन लिया। नरवर और उसके आसपास जो सिक्के और शिलालेख मिले हैं उनसे पता चलता है कि चाहड के वंश में चार राजा हुए। इस वंश का अन्तिम राजा गणपति था जिसे विक्रम की १३वीं शताब्दी के मध्य में अलाउद्दीन खिलजी ने हराकर दुर्ग पर अधिकार कर लिया। तैमूरलंग के हमले के कारण से पठानों के साम्राज्य में शिथिलता आ जाने से नरवर का दुर्ग ग्वालियर के तोमरवंश के अधीन चला गया। जयतखम्भ नाम के एक पत्थर के खम्भ पर तोमरों की वंशावली खुदी है। यह खम्भ नरवर-दुर्ग से एक मील पूर्व की ओर है जो कदाचित् मांडू के सुलतानों पर विजय प्राप्त करने की स्मृति में खड़ा किया था। एक वर्ष के घोर युद्ध के पश्चात् १५६३ वि० संवत् में सिकन्दर लोदी ने दुर्ग पर विजय प्राप्त की। विजयी सिकन्दर लोदी ने दो वर्ष तक दुर्ग में ठहरकर मन्दिरों को तोड़ा और मसजिदें बनवाईं। सिकन्दर लोदी ने दुर्ग राजसिंह कछवाहा को दे दिया जो प्राचीन स्वत्वाधिकारी थे। अकबर के समय में नरवर में मालवा की सूबात थी।

विक्रम की १६वीं शताब्दी के मध्य में दुर्ग पर जयसिंह का शासन था। दुर्ग पर लोहे की शत्रुसंहार और फतेहजंग नाम की दो तोपें पड़ी हैं, उनपर लेख खुदे हैं जिनमें राजा जयसिंह के नाम का उल्लेख है। लेख में १७५३ वि० संवत् पड़ा है।



श्री भानुप्रतापसिंह सेंगर

इस वंश के एक प्रसिद्ध राजा दक्षिणी भारत में युद्ध करते हुए संवत् १७८२ वि० में मारे गए। इससे २५ वर्ष पहले राजा का सुन्दरदास पुरोहित युद्ध में मारा गया था। राजा ने पुरोहित का दुपट्टा नरवर में भेज दिया। इस दुपट्टे के साथ पुरोहित की दो पत्नियाँ लाढमदेवी और स्वरूपदेवी सती हो गईं। पुरोहित के पुत्र ने सती स्तम्भ बनवाया किन्तु टूट जाने के कारण पुरोहित की ५वीं पीढ़ी में यदुनाथ ने १८८० वि० में उस स्थान पर स्मारक बनवा दिया।

कछवाहे वंश के अन्तिम राजा मनोहरसिंह से महाराजा शिन्दे ने विक्रम की १९वीं शताब्दी के मध्य में नरवर को जीत लिया। मनोहरसिंह के पुत्र मधुसिंह ने १९१४ वि० के विद्रोह में विद्रोहियों का साथ दिया और तात्या टोपी को शरण दी, किन्तु फिर तात्या टोपी को अंग्रेजों के सुपुर्द कर दिया। इसके बदले उसे पाड़ौन की जागीर मिली जिसे अब भी उसके वंशज भोग रहे हैं।

महाराजा दौलतराव शिन्दे के समय में अम्बाजी इंगले इस दुर्ग के शासक थे। विक्रमी संवत् १८५७ में उन्होंने इस दुर्ग का पुनरुद्धार किया। एक विशाल भवन अब भी इंगले की हवेली कहलाती है। एक-खम्भा छतरी के स्तम्भ पर खुदे लेख में महाराजा दौलतराव और अम्बाजी इंगले का उल्लेख है।

दुर्ग की स्थिति—आसपास की भूमि से ४०० फीट ऊँची, विन्ध्याचल की एक ढालू पर्वत श्रेणी पर यह दुर्ग सुशोभित है। यह श्रेणी समुद्रतल से १००० फीट की ऊँचाई पर है। सिन्ध सरिता की मोड़ पर स्थित होने के कारण दुर्ग के पश्चिम और उत्तर की ओर नदी है। दुर्ग का घेरा लगभग ५ मील के है। विस्तार की दृष्टि से ग्वालियर-राज्य में यह सबसे बड़ा दुर्ग है।

दुर्ग की पत्थर की प्राचीर और अन्य दीवालों पर अनेक गढ़गजे हैं। विभाजक दीवालें दुर्ग को चार सुदृढ़ घेरों में विभाजित करती हैं। मध्य के घेरे को 'मझ-लोक' कहते हैं। यह भाग खण्डहर हो चुका है। पहाड़ी के पश्चिम भाग का घेर 'दूल्हा अहाता' कहलाता है इसी भाग में दूल्हा दरवाजा स्थित है जिसमें से अन्तिम कछवाहा राजा निकलकर भागा था। दुर्ग का दक्षिणी अहाता 'मदार' अहाता कहलाता है, क्योंकि इस भाग में मदारशाह की मजार है। दुर्ग का धुर-दक्षिणी भाग 'गूजर' अहाता कहलाता है क्योंकि यहाँ पर गूजर रहते थे।

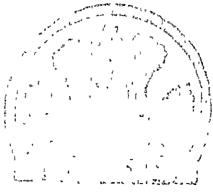
नगर भी पत्थर की प्राचीर से घिरा है। दुर्ग के पश्चिम की ओर उरवाही घाटी का मुख बन्द करने के लिए दुर्ग के अञ्चल में एक पूरक दीवाल है।

दुर्ग में जाने के लिए पहले चार पथ थे। इनमें से डाँक दरवाजा और दूल्हा दरवाजा बन्द कर दिए गए हैं। आजकल केवल दो प्रवेश-पथ हैं।-पहले दुर्ग का मुख्य द्वार शहर दरवाजा था। यह दरवाजा भी बन्द है। पिसनारी दरवाजा, जिसे आलमगीरी दरवाजा भी कहते हैं, सिरे पर बहुत ढालू है इसलिए उसमें सीढ़ियाँ लगा दी गई हैं। एक दरवाजा वीरनपौर अथवा सैयदन का दरवाजा कहलाता है क्योंकि इसके पास सैयद की दरगाह है। तीसरा द्वार गणेशपौर कहलाता है। सबसे ऊपर का द्वार हवापौर कहलाता है।

पश्चिमीय पथ भी ४ दरवाजों में होकर जाता है। पहले दरवाजे का कोई नाम नहीं, दूसरा बंस दरवाजा कहलाता है, तीसरा दरवाजा गौमुख दरवाजा कहलाता है क्योंकि पास ही एक झरने का जल गौमुख में होकर गौमुख कुण्ड में गिरता है। चौथा उरवाई दरवाजा है जो सबसे ऊपर है।

मुख्य-मुख्य भवन—दुर्ग के दो द्वार उल्लेखनीय हैं। एक हवापौर और दूसरा दूल्हा दरवाजा। जैसा पहले लिखा जा चुका है हवापौर का पुनरुद्धार अम्बाजी इंगले ने कराया। दूल्हा दरवाजा केवल बड़े बड़े पत्थर के ढोकों का बना है। इसमें चूना का प्रयोग नहीं किया गया। द्वार के पत्थरों पर सुन्दर शिल्पकारी है।

मुसलमानों के आक्रमण के पूर्व नरवर का दुर्ग भव्य मन्दिरों के लिए प्रसिद्ध था किन्तु सिकन्दर लोदी ने विक्रम की १५वीं शताब्दी के अन्त में सब हिन्दू और जैन मन्दिरों को तुड़वा दिया। आजकल दुर्ग पर प्राचीन मन्दिरों के कोई भी



चिह्न नहीं पाए जाते, यत्रतत्र खंडित मूर्तियों के टुकड़े पाये जाते हैं और हवापौर के निकट एक मन्दिर के कुछ अवशेष पाए जाते हैं। अन्य तीन मन्दिर बहुत पीछे के बने हैं, सम्भवतः कछवाहा राजपूत राजाओं ने बनवाए हैं।

दीर्घ काल तक दुर्ग मुसलमानों के प्रभाव में रहा इसलिए दुर्ग पर अनेक मसजिदें और दरगाहें हैं। सबसे प्राचीन मसजिद सिकन्दर लोदी की बनवाई हुई है जो बड़ी मसजिद कहलाती है। मसजिद का आँगन बड़ा है। पश्चिम की ओर प्रार्थना-भवन है, तीन ओर दालानें हैं। छत पर कोई गुम्बद नहीं और मीनारों की जगह चारों कोनों पर छोटे छोटे खुले बंगले हैं। मसजिद पर दो लेख खुदे हैं, एक अरबी में है और दूसरा फारसी में। फारसी में लिखा है कि मसजिद सिकन्दर लोदी ने हिजरी संवत् ९१२ (ई० १५०६) में बनाई। दूसरी मसजिद हवापौर के पास है इसमें भी तीन लेख खुदे हैं। पहाड़ी के पूर्वी किनारे पर प्रसिद्ध मुसलमान फकीर मदारशाह की दरगाह है।

दुर्ग कछवाहे राजाओं के बनवाए हुए महलों के खण्डहरों से भरा पड़ा है। यह महल मझलोक के पूर्वीय भाग में हैं। यहाँ से सिन्ध नदी की घाटी का दृश्य दिखता है। राजा के महल में अनेक आँगन हैं। प्रत्येक आँगन में एक सभा-भवन सिंहासन-गृह, दालान, स्नानागार, अन्तःपुर, आनन्दबाटिका और झूला है। महल काँच और चूने की सजावट से सजे थे और दीवालों पर सुन्दर चित्रकारी थी। यद्यपि महल टूटी फूटी अवस्था में है तथापि राजप्रासादों के अवशेषों से पता चलता है कि राजपूत राजाओं का जीवन आनन्दमय और वैभवपूर्ण था। इन सब महलों में बड़े महल को महाराजा माधौराव शिन्दे ने ठीक कराया था। यह कचहरी-महल कहलाता है। इसके एक भवन में लकड़ी के मञ्च पर चटाई बिछी रहती थी। लोगों का विश्वास था कि यह राजा नल की गद्दी है। इस भवन के ताकों और द्वारों पर काँच के टुकड़ों के बेलबूटे हैं। शीशमहल में भी इस प्रकार के बेलबूटे हैं।

लदाऊ बंगला के चारों ओर ढलवा छते हैं। इसी के पास एक घर में बैलों से चलनेवाली एक बड़ी चक्की है। लदाऊ बंगला के पास ही द्वीपमहल है, इसमें एक पत्थर के ढोके में कटा हुआ सुन्दर बड़ा नहाने का हौज है। हौज की बनावट अण्डाकार पुष्प की भाँति है जिसमें छह कलियाँ हैं।

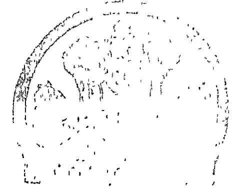
राज-महलों के अहाते के बाहर, बहुत से सुदृढ़ और कई खण्डोंवाले भवन हैं जिनमें राज्य के पदाधिकारी तथा अन्य आश्रित जन रहते थे।

दुर्ग में अनेक छोटे बड़े ताल हैं। उनमें प्रमुख मकरध्वजताल, कटोराताल, छत्रताल, चन्दनताल, सागरताल, गौमुख-कुण्ड और बिशन-तलइयाँ हैं।

मकरध्वज-ताल सबसे बड़ा है। जनश्रुति के अनुसार इसे राजा मकरध्वज ने बनवाया था। यह ३० फीट गहरा है और इसका क्षेत्रफल ३०० वर्गफीट है। यह मध्यकालीन हिन्दू शैली के अनुसार बनाया गया है। इसके पश्चिमीय किनारे पर एक भवन है उसमें एक पत्थर लगा है जिसमें एक बहती हुई नदी दिखाई गई है जिसके दोनों ओर देवी-देवताओं के चित्र हैं। साधारणतः लोग इन्हें पनिहारे कहते हैं। तालाबों के अतिरिक्त दुर्ग पर अनेक कुआ और बावड़ी भी हैं।

दुर्ग के उत्तर में एक रोमन कैथोलिक चर्च और कबरिस्तान है। कब्रों के एक खुदे लेख में सन १७४७ ई० लिखा है। कदाचित् ये ईसाई तोपची थे जो कछवाहा राजाओं के यहाँ नौकर थे।

चन्देरी का दुर्ग — ग्वालियर राज्य में तीन मुख्य दुर्ग हैं। इन तीन दुर्गों में से एक चन्देरी दुर्ग है। ग्वालियर दुर्ग और नरवर दुर्ग का वर्णन दिया जा चुका है। चन्देरी दुर्ग के निर्माणकाल तथा दुर्ग के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसमें सन्देह नहीं कि दुर्ग अति प्राचीन है। किंवदन्ती के अनुसार द्वापर युग में चन्देरी राजा शिशुपाल की राजधानी थी किन्तु पुराणों या महाभारत में कहीं भी यह उल्लेख नहीं कि चन्देरी राजा शिशुपाल की राजधानी थी। महाभारत में शिशुपाल की राजधानी शुक्तिमती बतलाई गई है।



श्री भानुप्रतापसिंह सेंगर

स्थानीय जनश्रुति यह है कि चन्देरी का पुराना नगर ऐतिहासिक काल के पूर्व राजा मोरदन्त ने बसाया था। इसके पश्चात् क्रमशः उप-चारवसु और चन्द्रवसु राजा हुए। चन्द्रवसु प्रतापी राजा था, इन्द्र से उसकी मित्रता थी। चन्द्रवसु के पुत्र चेत ने नगर का नाम चेतपुरी रखा। शिशुपाल इसीके वंशजों में से था। राजा कूर्मदेव, शिशुपाल के वंशजों में से था, उसे कोढ़ हो गया। आखेट करता हुआ राजा एक बार इस पहाड़ी के पास आया। यहाँ पर उसने एक निर्झर का जल पिया तो कोढ़ अच्छा हो गया। राजा ने उस स्थान पर एक कूर्मेश्वर ताल बनवा दिया। कदाचित् आधुनिक परमेश्वर ताल ही कर्मेश्वर ताल है। इसी राजा ने नए नगर की नींव डाली।

इतिहास—इस दुर्ग का उल्लेख सबसे पहले अलबरूनी ने किया है। इब्नबतूता ने भी इस दुर्ग के सम्बन्ध में लिखा है। इन दोनों का काल क्रमशः १०८७ व १०९३ वि० संवत् है। ग्वालियर आर्कऑलॉजीकल म्यूजियम में एक शिलालेख है, जो लगभग १२वीं शताब्दी के अन्त का है। इसमें संस्कृत लिपि में चन्देरी (चन्द्रपुर) के परिहार वंश के १३ राजाओं की वंशावली दी है। इस शिलालेख से पता चलता है कि इस प्रतीहारवंश के सातवें राजा कीर्तिपाल ने अपने नाम पर कीर्ति-दुर्ग, कीर्ति-नारायण और कीर्तिसागर बनवाए। कीर्ति-नारायण मन्दिर अब नहीं है। एक तालाब का नाम इस समय भी कीर्तिसागर है। इसलिए सिद्ध होता है कि कीर्तिपाल का बनवाया हुआ यही दुर्ग है। शहरपनाह के दिल्ली दरवाजे पर फारसी लिपि में लिखा है कि ८१४ हिजरी सन् में चन्देरी दुर्ग को सुदृढ़ किया। इससे पाया जाता है कि कदाचित् पहला दुर्ग सैनिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं रखता था रखता था इसीलिए मुसलमान आक्रमणकारियों ने इसका उल्लेख नहीं किया।

१३०८ वि० संवत् में इस दुर्ग पर प्रथम मुसलिम आक्रमण गयासुद्दीन बलबन ने किया। आक्रमण असफल रहा और दुर्ग १३६१ वि० तक हिन्दुओं के आधिपत्य में रहा। उक्त संवत् में अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति एन-उल-मुल्क ने दुर्ग जीत लिया। तैमूर के आक्रमण के समय दिलावरखाँ ने दिल्ली के शाहंशाहों से स्वतंत्र होकर गौरीवंश की स्थापना की। किन्तु कुछ समय पश्चात् दूसरे खिलजी वंश ने इस पर अधिकार कर लिया। १५७७ वि० में चित्तौड़ के राणा साँगा ने यह दुर्ग मालवा के खिलजी सुलतानों से छीनकर मेदनीराय को दे दिया। आठ वर्ष पीछे घोर युद्ध के पश्चात् बाबर ने यह दुर्ग मेदनीराय से जीत लिया। बाबर के भारत से प्रवास करने के पश्चात् दुर्ग शेरशाह सूरी के अधिकार में चला गया। अकबर ने पुनः इसे जीत लिया और चन्देरी में मालवा की सूबात कायम करदी। आईनेअकबरी में उल्लेख है कि चन्देरी नगर बहुत बड़ा था। जहाँगीर ने चन्देरी को ओरछा के राजाराम साहु बुन्देला को जागीर में दे दिया। औरंगजेब के काल में जब मुगल शक्ति क्षीण हुई तो अठारहवीं शताब्दी के मध्य में दुर्ग का बुन्देला शासक स्वतंत्र हो गया। इस वंश ने ६ पीढ़ियों तक चन्देरी पर शासन किया। १८७२ वि० में महाराजा शिन्दे ने इसे बुन्देलावंश के अन्तिम राजा मोर प्रहलाद से जीत लिया। कुछ समय पश्चात् शिन्दे सरकार ने चन्देरी सैनिक ब्यय के लिए अंग्रेजों को देदी। १९१४ वि० के विद्रोह में अवसर पाकर राजा मोर प्रहलाद के पुत्र मदनसिंह ने अंग्रेजों को पराजित करके दुर्ग पर अधिकार कर लिया। कुछ समय पश्चात् अंग्रेजों ने इसे पुनः जीत लिया और १९१७ वि० में कुछ जिलों के बदले महाराजा शिन्दे को दे दिया।

चन्देरी का दुर्ग बेतवा नदी की घाटी के ऊपरवाली पहाड़ी पर है। दुर्ग में जाने को केवल एक पथ है। यह पथ बहुत सकड़ा है। प्राचीन समय में पथ सकड़ा होने के कारण दुर्ग का सैनिक दृष्टि से बड़ा महत्त्व था। दुर्ग के आसपास की भूमि उर्वर है और आसपास की पहाड़ियों पर सघन बन है। चन्देरी में मांडू के सुलतानों और बुन्देला राजाओं के भवनों के अनेक खंडहर पाए जाते हैं।

स्थिति—चन्देरी का दुर्ग २०० फीट ऊँची पहाड़ी पर स्थित है। इसके अंचल में चन्देरी नगर है जो प्राचीर से सुरक्षित है। दुर्ग की प्राचीर पहाड़ी के ऊपर है जिसमें अनेक बुर्ज हैं। इनमें से तीन बुर्जों के नाम कमाला-बुर्ज, गदा-बुर्ज और भदभदे का बुर्ज है। कमाल बुर्ज उत्तर की ओर, गदा बुर्ज दक्षिण की ओर और भदभदे का बुर्ज पश्चिम की ओर है।

दुर्ग की लम्बाई उत्तर-दक्षिण लगभग ४५०० फीट और चौड़ाई पूर्व पश्चिम लगभग ३२०० फीट है। दुर्ग के लिए केवल एक सड़क गई है। यह सड़क तीन दरवाजों में होकर गुजरती है। नीचे का दरवाजा खूनी-दरवाजा कहलाता है। इसके



सम्बन्ध में दो किंवदन्तियाँ हैं। पहली यह कि प्राचीन समय में अपराधी ऊपरी चट्टान से यहाँ पर पटके जाते थे दूसरी किंवदन्ती यह है कि बाबर के अधीन जब मुसलमानों ने आक्रमण किया तो इस दरवाजे के पास इतने राजपूत कट मरे कि रक्त की सरिता बह निकली। मध्य के दरवाजे का कोई नाम नहीं। ऊपरी दरवाजे को हवापौर कहते हैं। इस पथ के अतिरिक्त दुर्ग पर जाने के लिए दो पगडंडियाँ हैं, एक उत्तर-पूर्व से जगेश्वरी मन्दिर होकर और दूसरा दक्षिण की ओर खण्डर की पहाड़ी पर होकर।

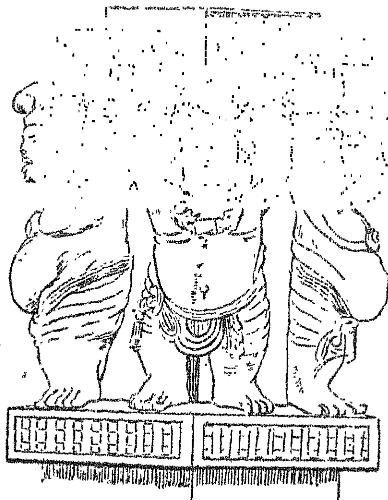
चन्देरी नगर भी १२ से १५ फीट ऊँची पत्थर की प्राचीर से घिरा है। इसमें पाँच द्वार और दो खिड़कियाँ हैं। मुख्य द्वार देहली दरवाजा कहलाता है जो उत्तर की ओर है।

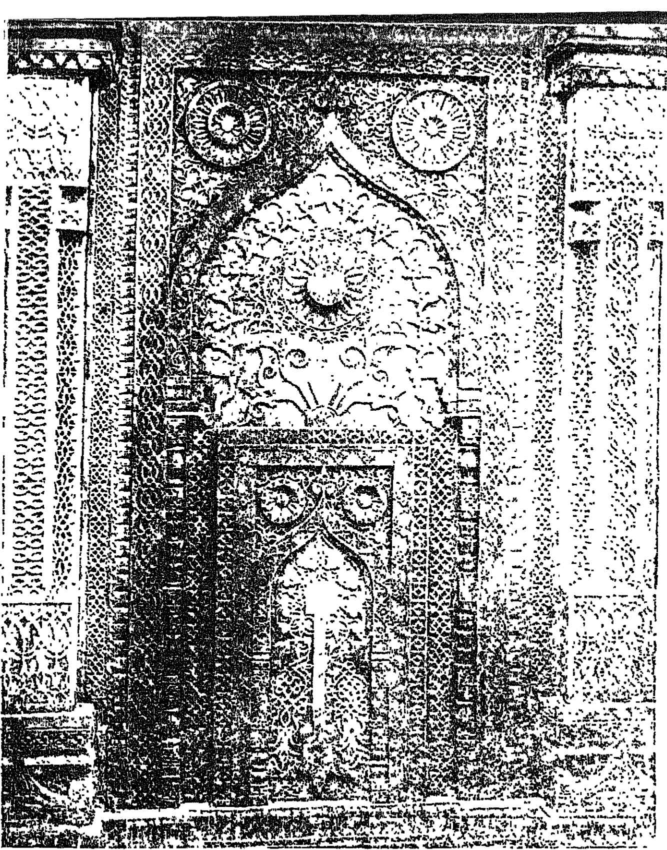
मुख्य-मुख्य भवन—दुर्ग पर नवखण्डा-महल, हवा महल, मसजिद, दरगाह छतरी और ईसाई समाधियाँ प्राचीन इमारतें हैं।

नवखण्डा-महल वास्तव में चार ही खण्ड का है। नवखण्डा-महल और हवामहल से नीचे नगर दिखता है। यह दोनों कछवाहे राजाओं के बनवाए हुए हैं, अब बिलकुल खण्डहर हो चुके हैं। हवापौर दरवाजा के निकटवाली मसजिद की मेहराबों के पत्थरों पर सुन्दर नक्काशी है किन्तु यह मसजिद भी खंडहर हो चुकी है। शेख सैयदुल गाजी की दरगाह गिलउआ ताल के किनारे है। छतरी और ईसाई समाधियाँ किसकी हैं कुछ पता नहीं। छतरी में एक शिवलिंग की स्थापना है।

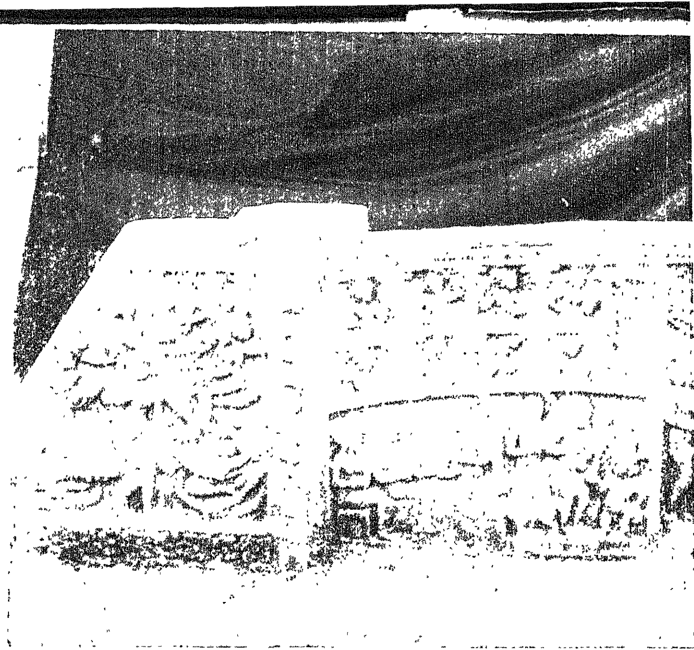
दुर्ग के उत्तरी किनारे पर कुछ समय पहले एक बड़ा डाक बंगला बनवा दिया गया है और पहाड़ी के पश्चिमीय भाग में एक बारादरी। इन दोनों स्थानों से नगर तथा आसपास की भूमि का सुन्दर दृश्य दिखाई देता है।

महल के निकट एक छोटासा ताल है जो जौहर-ताल कहलाता है। इस ताल के निकट एक स्मारक है जिसका निर्माण जौहर की स्मृति में हुआ। जौहर १५८५ वि० में हुआ। जौहर की घटना इस प्रकार है कि बाबर की अपार सेना ने दुर्ग को घेर लिया। राजा मेदनीराय ने दुर्ग को बचाने का बड़ा प्रयत्न किया। राजपूतों और मुसलमानों का घोर युद्ध हुआ थोड़ेसे राजपूत अपार सेना से कहाँ तक लड़ते। अन्त में दुर्ग के बचाने की जब कोई आशा न रही तो राजपूतों ने जौहर करने का निश्चय किया। महल के निकट जौहर-ताल पर एक बृहत् चिता बनाई गई। अपनी मान-मर्यादा की रक्षा के हेतु राजपूत महिलाएँ चिता में जलकर भस्म हो गई और एक-एक राजपूत युद्ध करता हुआ खूनी-दरवाजे के निकट मर गया किन्तु जीतेजी मुसलमानों को दुर्ग में प्रवेश न करने दिया। जौहर के कारण ताल का नाम जौहर-ताल पड़ा और इसी जौहर की स्मृति में यह स्मारक बना। छतरी का निर्माण राजपूत-शैली के अनुसार हुआ है। इसमें चार नक्काशीदार खम्भे हैं और छत्री पर शिखर है।





जाली की खुदाई, चन्देरी (पष्ठ ६३५)।

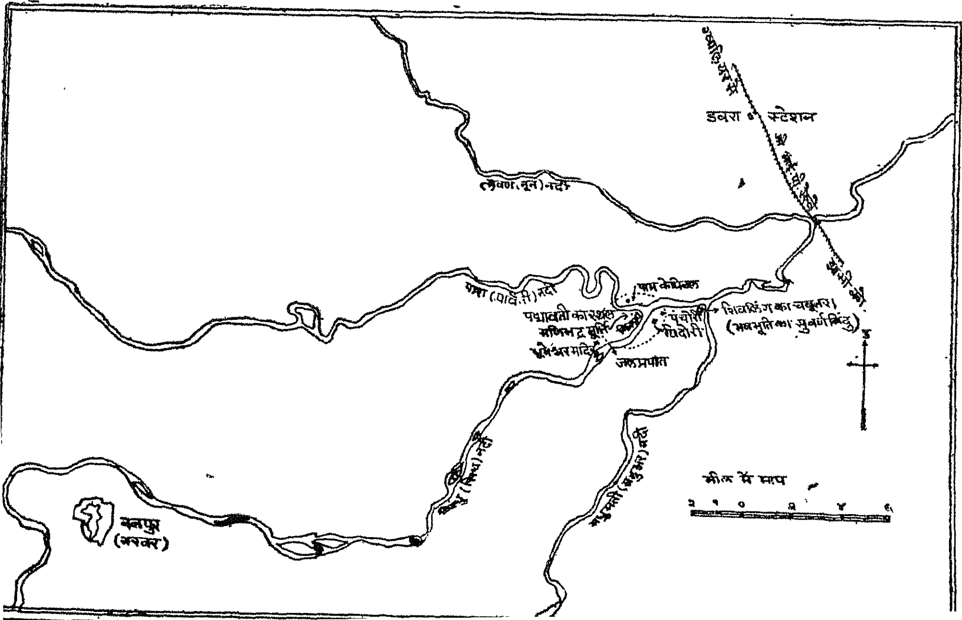


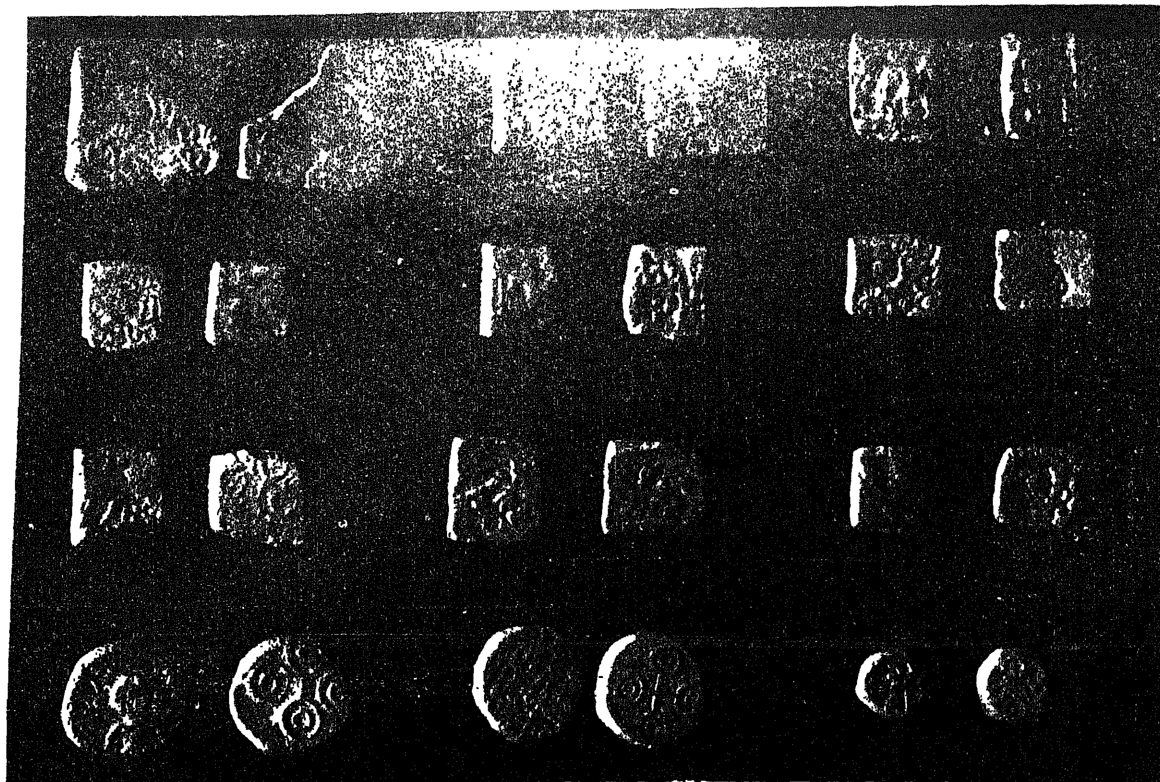
पवाया में प्राप्त तोरण द्वार, (पृष्ठ ६६४)

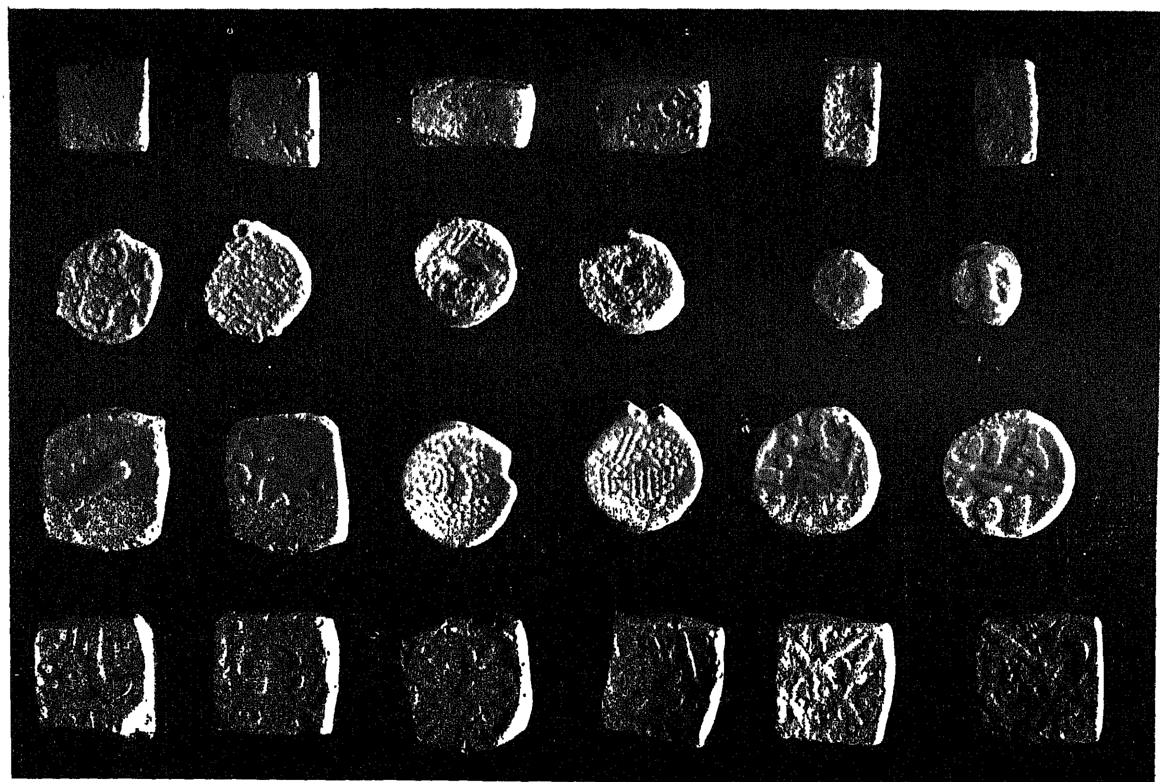
चन्देरी की शिला में उत्कीर्ण जैन-मूर्ति

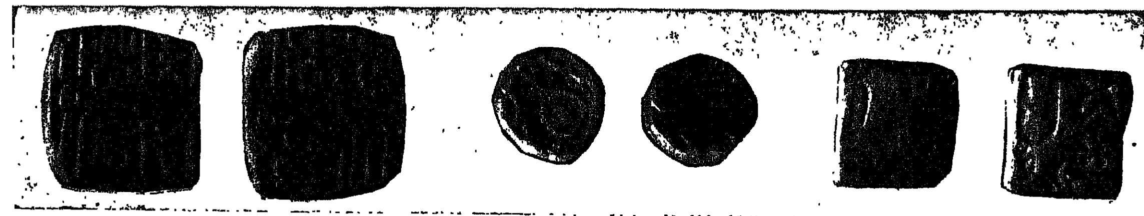


पवाया (पद्मावती) की स्थिति (पृष्ठ ६६४)

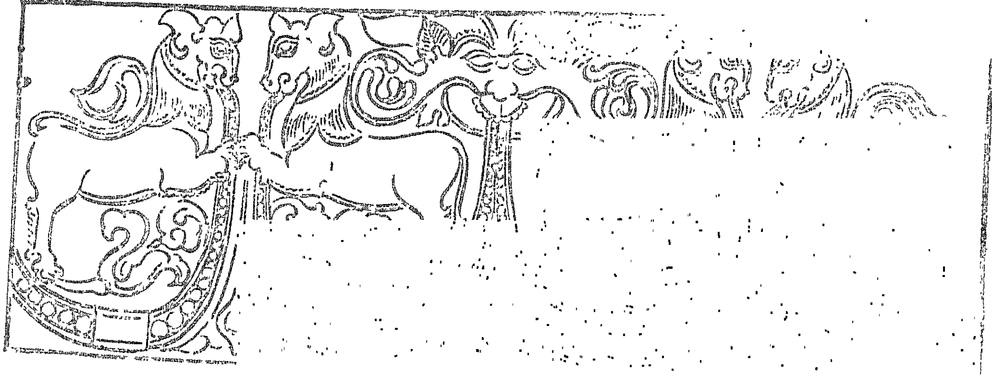








ग्वालियर की मुद्राएँ, (पृष्ठ ६४३)



इब्नबतूता की अमवारी

श्री बनमाली द्विवेदी, साहित्यरत्न

जिस समय मुहम्मद तुगलक भारतवर्ष में राज्य करता था (ई० स० १३२५ से १३५१) उस समय संसार-प्रसिद्ध यात्री अबू-अब्दुल्ला-मुहम्मद (इब्नबतूता) भारतवर्ष में आया था। उसने अपना लिखित यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है। यह यात्रा-विवरण अरबी भाषा में लिखा गया है। इसके अनेक अनुवाद अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी भाषाओं में हुए हैं। इब्नबतूता ने अपनी यात्रा में जिन नगरों के नाम दिए हैं, उनमें से कुछ कम प्रसिद्ध स्थलों के विषय में अनुवादकों ने अनेक अनुमान लगाए हैं।

इब्नबतूता की यात्रा का एक बहुत बड़ा भाग ग्वालियर-राज्य की सीमा में पड़ता है। इस सीमा में जिन नगरों के नाम इब्नबतूता ने बतलाए हैं वे (१) मावरी (२) मरह (३) अलापुर (४) ग्वालियर (५) अमवारी (६) चन्देरी और (७) उज्जैन हैं। इनमें से ग्वालियर, चन्देरी और उज्जैन तो अत्यन्त प्रख्यात हैं, किन्तु शेष चार के विषय में इस यात्रा-विवरण के अनुवादकों ने बड़े विचित्र अनुमान लगाए हैं।

शेष चार में से मावरी के वर्तमान स्थान के विषय में हम भी कुछ ठीक अनुमान नहीं कर सके हैं। मरह हमारे विचार से वर्तमान नोनेरा है, जो गोहद के पास है। इब्नबतूता ने यहाँ के गेहूँ की बहुत प्रशंसा की है। नोनेरा के गेहूँ भी बहुत प्रसिद्ध हैं, परन्तु फिर वह यह भी लिखता है कि इस नगर में मालव जाति निवास करती है। इस उल्लेख की संगति बैठाने का हमारे पास कोई साधन नहीं है।

इसके पश्चात् बतूता अलापुर गया। यह तो निश्चय ही मुरेना जिले का अलापुर है। इसके पश्चात् ग्वालियर होकर बतूता बड़ौन गया। इसे लोगों ने नरवर से अभिन्न बतलाया है। यह धारणा ठीक नहीं है। ग्वालियर-राज्य की सीमा के पास दतिया राज्य का एक स्थान बड़ौन है। यह बुन्देला राजपूतों के प्रमुख केन्द्रों में रहा है। बतूता का तात्पर्य इसी बड़ौन से है।

बतूता ने लिखा है "बरौन नामक नगर से चलकर हम अमवारी होते हुए कचराद पहुँचे।" इस कचराद का जो वर्णन बतूता ने किया है, उससे यह वर्तमान खजराहा सिद्ध होता है। परन्तु यह अमवारी कौनसा स्थान है, इससे हमारा अभिप्राय है। इसे अब तक पहिचाना नहीं जा सका है।

जिला शिवपुरी के परगना करेरा में झाँसी-शिवपुरी सड़क पर दिनारा नामक कस्बा है, जहाँ बुन्देला राजा वीरसिंह-देव ने बहुत बड़ा तालाब बनवाया था। इसी स्थान के उत्तर की ओर प्राय: ४ मील दूर पर एक छोटासा ग्राम है, जिसका नाम आज भी अमवारी ही है। ग्रामवासी उसे 'अमुआरी' कहने लगे हैं। इब्नबतूता ने इस ग्राम का नामोल्लेख किया,



इब्नबतूता की अमवारी

इससे ज्ञात होता है कि इसका ईसवी चौदहवीं शताब्दी में कुछ महत्त्व अवश्य रहा होगा। इस विचार से हमने इस स्थल को ध्यान से देखा। हमें इस बात का विश्वास हो गया कि इस स्थल का मध्य काल में अधिक महत्त्व रहा होगा।

इसके आसपास देखने पर यह विदित होता है कि जिस अवस्था में यह वर्तमानकाल में है, प्राचीनकाल में वह इससे बहुत अधिक समृद्ध तथा महत्त्वपूर्ण रहा होगा। दिनारा से एक मील दूर चन्दावरा नामक ग्राम है। यहाँ से अमवारी तक लगातार पुराने खंडहर तथा ईंटों के टुकड़े पाए जाते हैं। अमवारी में मुस्लिम राज्य कालीन एक सराय के भी अवशेष हैं।

चन्दावरे के पास अब लगभग १ वर्गमील क्षेत्र में विचित्र प्रकार की दीवालों के चिह्न हैं। बीच में ३-४ फीट स्थल छोड़कर, जो दीवाल की चौड़ाई बतलाते हैं, दीवाल के दोनों किनारों पर बिना छँटे अत्यन्त भद्दे पत्थर लगे हैं जो उनके बहुत सुन्दर निर्मित होने के परिचायक नहीं है। यहाँ से अमवारी तक सारे भूभाग में ईंटों के टुकड़े बिछे हुए हैं। बीच में वैष्णव एवं शैव मन्दिरों की मूर्तियों के अवशेष पड़े पाए जाते हैं। ये मूर्तियाँ मध्यकालीन हैं तथा कुछ मूर्तियाँ इनमेंअत्यन्त सुन्दर हैं। कुछ मूर्तियाँ तो खेरट* (अम्बाह) नामक स्थान में प्राप्त मूर्तियों के इतने अनुरूप हैं मानों एक ही शिल्पी द्वारा दोनों निर्मित हुई हों। इनमें से शिव की प्रतिमा के एक सिर का चित्र इस ग्रंथ में है।

इस स्थल की विशालता में यहाँ की कुछ पुरानी परिपाटियाँ और अधिक योग देती हैं। उनमें 'लारमलार' की प्राचीन पद्धति मुख्य है। इसमें विवाहोपरान्त गोदान के लिए पत्थर के दो बड़े खंभे द्वार के रूप में गाड़ दिए जाते थे। उनमें से गायें निकाली जाती थीं तथा ब्राह्मण उनपर हल्दी छिड़कता था। जितनी गायों पर हल्दी के चिह्न होते थे, वे सब दान कर दी जाती थीं। यह प्रथा बुन्देलखण्ड में बिलकुल समीपवर्ती ग्रामों तक में कभी प्रचलित नहीं रही। यह अमवारी तथा चन्दावरा की विशेष प्रथा है। आज भी लार-मलार के चार स्तम्भ, जो दो आयोजनों के सूचक हैं, चन्दावरा में पाए जाते हैं। इस आयोजन में अधिक गायें दान करना पड़ती होंगी, तभी केवल चार स्तम्भ पाए जाते हैं। शिल्पकारी की दृष्टि से ये विशेष सुन्दर नहीं हैं।

पुराने स्थलों में यहाँ अब कोई स्थल अभग्न नहीं है। एक पुरानी बावड़ी उस समय की ज्ञात होती है। उसकी ईंटों का आकार ९×१२×३ इंच है।

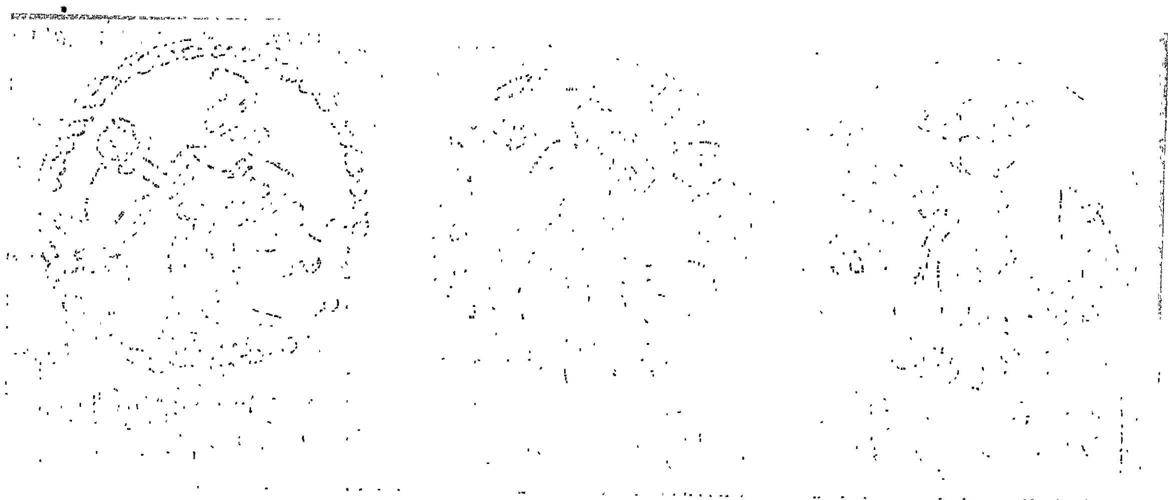
जहाँ मूर्तियाँ पाई जाती हैं वहाँ अनेक टीले हैं। अनुमान यह है कि उनकी खुदाई करने पर पुरातत्व की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अनेक वस्तुएँ निकल सकती हैं।

१४वीं शताब्दी में यह स्थल बहुत महत्त्वपूर्ण रहा होगा। आज के अवशेष देखने पर ज्ञात होता है कि यह ४ मील लम्बा तथा २॥ मील चौड़ा नगर रहा होगा। १५वीं शताब्दी तक यह स्थल नष्ट-भ्रष्ट हो गया था। यह बात सुप्रसिद्ध है कि दिनारा के वीरसरोवर के (सं० १६१५ वि०) सबसे विशाल तथा सुन्दर, बाँध 'सुरइन' का बहुतसा भाग इसी अमवारी के वैष्णव मन्दिर के भग्नावशेष के पत्थरों से बना है। उस बाँध की कुछ वैष्णव मूर्तियाँ भी इसकी परिचायक हैं। ये मूर्तियाँ अमवारी के मन्दिर की ही हैं।

जिस स्थल पर इतने विशाल मन्दिर थे, जिनके अवशेष से इतने विशाल घाट का निर्माण हो सका, जिसकी ईंटें पत्थर इत्यादि आज भी लगभग १०-१२ वर्गमील में फैले हुए हैं तथा जहाँ की टूटी मूर्तियाँ भी उच्च कला की द्योतक हैं, वह अमवारी अवश्य ही वही रही होगी, जिसका इब्नबतूता ने अपनी यात्रा में वर्णन किया है। बड़ौन के आसपास इस नाम का तथा इससे अधिक संस्कृत दूसरा स्थान पाया भी नहीं जाता। यदि पुरातत्व-विभाग द्वारा उत्खनन करके खोज की जाए तो निश्चय ही बहुत अधिक ज्ञानवसंर्धन की संभावना है।

इसके पश्चात् इब्नबतूता चन्देरी गया था। वहाँ से धार होता हुआ उज्जैन पहुँचा। उज्जैन से दौलताबाद जाते समय यह विश्व-विख्यात यात्री ग्वालियर-राज्य की सीमा के बाहर हुआ।

*** ग्वालियर-राज्य पुरातत्व-विभाग की रिपोर्ट, संवत् १९८७ वि०।**



ग्वालियर राज्य की मुद्राएँ

श्री सुखरामजी नागर

भारत का प्राक्कालीन इतिहास अर्थात् वेदोत्तर और पौराणिक काल से मुसलमानों के आने तक प्रामाणिक रूप में उपलब्ध नहीं होता। अब कुछ विद्वानों ने इस ओर दृष्टि डाली है। जो कुछ सामग्री इतस्ततः बिखरी हुई मिली है व मिल रही है उसी को क्रमशः एकत्र कर इस सर्वतोलुप्त इतिहास पर यत्किंचित् प्रकाश डालकर जनता के समक्ष उसे उपस्थित करने की यथासाध्य चेष्टा हो रही है। यह सामग्री अन्यान्य रूप में सर्वत्र ही मिलती है, आवश्यकता है उसे विचारपूर्वक एक सूत्र में आबद्ध करने की।

वेद, पुराण एवं प्राचीन काव्यादि में उस समय की सभ्यता, सामाजिक जीवन, राजाओं के नाम एवं उनके राज्यकाल की मुख्य मुख्य घटनाएँ इत्यादि बातों के विशद वर्णन दिए हुए हैं। किन्तु उस रूप में वह वर्णन इतिहास कहे जाने योग्य नहीं है। उसमें काव्य-लेखन-पद्धति के अनुसार जो अधिकांश अथवा अल्पांश हो उसे और और आधारों के आश्रय से न्यूनाधिक कर परिपूर्ण करना ही एक समर्थ इतिहास लेखक का कर्तव्य है! उपर्युक्त ग्रंथों के व्यतिरिक्त अनेक शिलालेख ऐसे प्राप्त हुए हैं जिनमें भी बहुत ऐतिहासिक मसाला भरा पड़ा है। इसी तरह प्राचीन मुद्राओं का भी साधन इतिहास के लिए कम महत्त्व नहीं रखता। मुद्राओं में अंकित अनेक ऐसे राजाओं के नाम अवगत होते हैं जिनका उल्लेख ग्रंथों में नहीं मिलता। यही नहीं, कहीं कहीं तो कितने लुप्त राजवंशों के अनेक भूपालों के नाम क्रमवार मुद्राओं द्वारा हमें प्राप्त होते हैं।

मुद्राएँ समय समय पर भूगर्भ से निकलती रहती हैं। इनकी परीक्षा कुछ समय पूर्व तो बहुत कठिन थी परन्तु अब आंग्ल भाषा में कितनी ही पुस्तकें इस विषय पर प्रकाशित हो चुकी हैं व उनके अध्ययन से यह मुद्रा परीक्षा का कार्य कुछ सुकर हो गया है। ऐसी नव-प्राप्त मुद्राओं की परीक्षा की जाकर उनका वर्णन पुनः जनता के सामने आना चाहिए। इस कार्य के लिए कुछ व्यक्ति को छोड़कर अभी केवल एक संस्था भारत में है, जिसका नाम न्यूमिस्मेटिक सोसाइटी है, जो अपने परिशोध का फल एक 'त्रैमासिक' द्वारा प्रकाशित करती रहती है। बहुधा सब ही मुद्रा-शास्त्र-प्रेमी इस संस्था के सदस्य हैं। तब भी इस क्षेत्र में कार्य करनेवालों की अभी बड़ी अपेक्षा है। देशी भाषाओं में इस मुद्रा-शास्त्र पर एक दो पुस्तकें ही लिखी गई हैं। ये भी शास्त्र के सुविस्तृत विशाल रूप के अनुरूप नहीं कही जा सकतीं। हिन्दी भाषा में मुद्रा-



शास्त्र पर और भी विशद ग्रंथ लिखे जाना आवश्यक है, जिससे इतिहासकारों को इतिहास-संशोधन तथा उनके पुर्ननिर्माण में विशेष साहाय्य मिले।

यही बात ग्वालियर राज्य सम्बन्धी इतिहास के लिए लागू होती है। इस राज्य का भी प्राचीन इतिहास अन्धकार के गहन गर्त में विलीन है। उसका उद्धार भी प्राचीन लेखों एवं प्राचीन मुद्राओं के सहारे संकलित कर जनता के समक्ष प्रस्तुत करना पुरातत्वविशारदों का प्रमुख कर्तव्य है।

प्रस्तुत लेख पाठकों को इसी दिशा में कुछ स्वल्प माहिती देने के हेतु लिखा गया है अथवा यदि यह लेख पाठकों का ध्यान इस शास्त्र की ओर आकर्षित कर सका तो लेखक अपना श्रम सफल हुआ समझेगा।

ग्वालियर राज्य में कितनी ही प्राचीन नगरियों के अवशेष मिलते हैं जैसे बेसनगर (प्राचीन विदिशा), उज्जैन (अवन्तिका), कोतवाल (कुन्तलपुर), पवाया(पद्मावती), मन्दसौर (दशपुर) इत्यादि। इन स्थानों पर खुदाई की गई है व अनेक तत्कालीन वस्तुएँ व मुद्राएँ वहाँ से प्राप्त हुई हैं। इन्हीं तथा और और स्थानों पर भूगर्भ से निकली हुई मुद्राओं का अब संक्षेप में वर्णन किया जाता है तथा वर्णित कुछ मुद्राओं के चित्र इस ग्रन्थ में प्रकाशित हैं।

कालमानानुक्रम से ये मुद्राएँ प्रधान सात भागों में विभाजित की जाती हैं:—

(१) अंक चिह्नित (Punch marked) ई० स० पूर्व पाँचवीं शताब्दी से ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी।

(२) साँचे में ढली हुई (Cast) ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी से ई० स० प्रथम शताब्दी इन्हें प्रादेशिक वा गणीय (tribal) भी कहते हैं।

(३) कुषाण।

(४) क्षत्रप।

(५) नाग।

(६) गुप्त।

(७) मध्यकालीन हिन्दू राजा।

(८) दिल्ली और मालवा के सुलतान और मुगल बादशाह।

(९) शिन्दे नरेश।

(१) भारतवर्ष के प्राचीनतम सिक्के अंकचिह्नित ही माने जाते हैं। इनसे पूर्व के और कोई सिक्के अब तक नहीं मिले। इनका काल ई० स० पूर्व पाँचवीं शताब्दी से द्वितीय शताब्दी का गृहीत है। ये चाँदी और ताँबे दो धातुओं के होते हैं। आकार में ये चौखूंटे या वर्तुल (गोल) होते हैं। अधिकांश सिक्कों पर एक ओर चिह्न होते हैं व दूसरी ओर कोरे अर्थात् उस तरफ कुछ नहीं होता। कुछ सिक्कों पर दोनों ओर चिह्न कटे होते हैं। ये विशेषतः मनुष्य, पशु, वृक्ष, वृक्ष की शाखा, फल, मूल, स्वस्तिक, शिव, सूर्य, कार्तिकेयादि देवता, नदी, कच्छ, मत्स्य तथा ज्योतिष्क मण्डल के सांकेतिक चिह्न होते हैं। उज्जैन और बेसनगर के सिक्कों पर एक विशेष चिह्न अधिकतया होने से मुद्राशास्त्रवेत्ता द्वारा वह मालव वा अवन्ती चिह्न इस नाम से ही अभिहित किया जाता है। एक ही मुद्रा पर एक ओर चार चार पाँच पाँच चिह्न तक होते हैं। दूसरी ओर उतने नहीं पाए जाते। अनेकों पर तो केवल एक ही होता है जिसे Caduceus कहते हैं। कई चिह्न ऐसे भी हैं जिनका परिचय नाम द्वारा होना असम्भव है। ये केवल आकार से ही परिज्ञात हैं।

ऐसी चिह्नित मुद्राएँ हमें बेसनगर से अधिक मिली हैं। उज्जैन और पवाया में भी ऐसी मुद्राएँ मिलती रहती हैं। इन मुद्राओं पर कोई लेख वा अक्षर नहीं होते।

(२) साँचे में ढली हुई ये मुद्राएँ बहुधा गोल होती हैं। इन्हें साँचों में ढालकर बनाया जाता था। इनमें अंक चिह्नित मुद्राओं के सदृश वृक्ष, फूल, मनुष्य, पशु, जंगल युक्त वृक्ष, चैत्य और अवन्ती चिह्नादि बने होते हैं। इनमें

दोनों तरफ ही चिह्न होते हैं। इन मुद्राओं पर कहीं कहीं कोई नाम या अक्षर लिखे मिलते हैं जो राजाओं के नाम होने चाहिए। इन मुद्राओं को गणीय (tribal) अथवा प्रादेशिक (local) कहते हैं। ऐसे सिक्के सभी प्राचीन स्थानों पर मिले हैं जैसे कौशाम्बी, ईरन, मथुरा, तक्षशिला, अयोध्या इत्यादि।

ये सिक्के भी बेसनगर, उज्जैन और पवाया से प्राप्त हुए हैं। इनका काल अंक चिह्नित के अनन्तर ई० स० पूर्व दूसरी शताब्दी से ई० स० पहली शताब्दी माना गया है।

(३) कुशान––इन्हे (Indo-Parthian) भी कहते हैं। ये राजा मध्यएशिया से आकर भारतीय यूनानी शासकों को परास्त कर भारत-भूमि पर अधिकार कर बैठे। विशेषकर इनका शासन उत्तरीय भागों में सीमित था। इन्होंने भारतीय यूनानी शासकों की मुद्रा-पद्धति का अनुसरण कर वैसी ही मुद्रा चलाई। ये मुद्राएँ भी अपने राज्य में प्राप्त हुई हैं। इनमें एक ओर राजा की खड़ी मूर्ति होती है जिसके एक हाथ में राज-दण्ड और दूसरे में त्रिशूल होता है। दूसरी ओर आसीन वा खड़ी देवी होती है। इन मुद्राओं में परिचायक बात यह है कि इन मुद्राओं में राजा के पैरों में पादत्राण होते हैं। ये सिक्के सोने चाँदी, ताँबे आदि सभी धातुओं के पाए जाते हैं। इनमें नामोल्लेख दो लिपियों ब्राह्मी और खरोष्ठी में रहता है।

(४) आंध्र–उज्जैन की खुदाई में हमें ये सिक्के मिले हैं। हमारे प्राप्त सिक्कों पर एक ओर हाथी व दूसरी ओर चैत्य अथवा सुमेरु हैं। ये परिमाण में छोटे होते हैं व इनपर कोई लेख नहीं मिला। और अन्य स्थान पर आंध्रों के बड़े बड़े सिक्के मिले हैं। ये ताँबे, सीसे आदि मिश्र धातु के होते हैं। इन सिक्कों पर कुछ लिखा मिलता है जैसे रञ्जो वासिठीपुतस विलिवायकुरस, रजो मादरिपुतस सिवलकुरस इत्यादि।

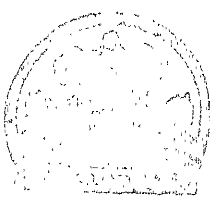
(५) क्षत्रप–इनके सिक्के बेसनगर व उज्जैन में मिले हैं। ये भी छोटे और गोल होते हैं। इनमें पूरे नाम का लेख रहता है व विशेष करके इनमें वर्ष भी अंकों में दिए होते हैं। इनमें अमुक पुत्र अमुक का, ऐसा लेख गोलाई में किनारे पर रहता है व मध्य में मुखाकृति होती है, दूसरी ओर चैत्य रहता है।

गुप्त––बेसनगर की खुदाई में कुछ गुप्त सिक्के मिले हैं। इनमें कुमारगुप्त के मुख्य हैं। इन राजाओं की मुद्रा कुषाण मुद्रा के आधार पर रचित हुई प्रतीत होती है। केवल भेद इतना है कि इन पर लेख गुप्त लिपि व शुद्ध संस्कृत में रहता है। ये कई प्रकार के होते हैं। इनमें राजा की मूर्ति खड़ी धनुष-बाण लिए अथवा सिंह-वध करती हुई रहती है। दूसरी ओर सिंहासनारूढ़ लक्ष्मी रहती है। और भी एक दो प्रकार के साधारण भेद होते हैं। ये गुप्त राजाओं की मुद्राएँ सोने, चाँदी की पर्याप्त संख्या में और विभिन्न प्रकार की मिलती हैं। हमें मिले हुए सिक्के तो अत्यन्त सामान्य हैं। हमारे सिक्के छोटे हैं व उन पर लेख स्पष्ट पढ़ने में नहीं आते। हमारे मुद्रा-संग्रह में उत्तम मुद्राएँ संगृहीत हैं, परन्तु उनका उल्लेख इस लेख के क्षेत्र में न होने से यहाँ करना युक्तिसंगत नहीं है।

नाग––अनेक पुराणों तथा श्रीमद्भागवत में नागवंशीय नौ राजाओं का उल्लेख मिलता है, किन्तु इनके नाम किसी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं हुए। इनकी मुद्राओं पर से जो हमें अत्यधिक संख्या में कोतवाल और पवाया से मिली हैं, इनके नाम प्रमाणभूत ज्ञात होते हैं, जैसाकि आगे मुद्रापरिचय से आपको प्रतीत होगा। इन मुद्राओं पर नाम के साथ साथ नागस्य अथवा नागस दिया रहता है।

कोतवाल, पवाया व आसपास ये नाग सिक्के बहुतायत से मिले हैं व पवाया में प्रति वर्ष वर्षाकाल के अनन्तर वहाँ के प्राचीन अवशेषों पर अनेक बिना प्रयास ही भूमिस्तर पर पड़े दृष्टिगोचर होते हैं। यही इसका प्रमाण है कि नाग राजाओं का राज्य यहीं पर अवस्थित होगा एवं कोतवाल (कुन्तलपुर) व पवाया (पद्मावती) उस समय उनकी राजधानी होगी। यही आधुनिक इतिहास संशोधकों का कथन है।

क्रमशः दस पन्द्रह वर्ष से मिले हुए इन सिक्कों की सम्यक् परीक्षा के फलस्वरूप आज हमें नौ ही नाग राजाओं के नाम अवगत होते हैं जो इस प्रकार हैं:––(१) भव (२) भीम (३) बृहस्पति (४) देव (५) गणपति वा गणेन्द्र (६) स्कन्द,



(७) वसु (८) विभु और (९) वृष। इनमें अब तक पूर्वापर का निर्धारण नहीं हुआ है जो अधिक अभ्यास-सापेक्ष व श्रमसाध्य है। कारण अन्य सामग्री के एकान्त अभाव में लिपि व लेख के आधार पर ही वह निर्भर है। एक शिलालेख से यह अवश्य ज्ञात होता है कि गणपति इस नागवंश का अन्तिम राजा था जो गुप्त नृपति चन्द्रगुप्त द्वितीय द्वारा परास्त किया गया।

नाग राजाओं की मुद्राओं का परिचय संक्षेप में इस प्रकार है :—

	नाम	सीधा		उल्टा
(१)	भव ..	गतिमान वृष	दक्षिण मुख	लेख महाराज भवनाग (गोलाई में) व त्रिशूल।
(२)	,,	,,	,,	लेख अधिराज श्रीभवनाग, त्रिशूल।
(३)	,,	,,	वाम मुख	लेख महाराज भवनाग, त्रिशूल।
(४)	,,	,,	,,	लेख अधिराज श्री भवनाग, त्रिशूल।
(५)	,,	त्रिशूल	,,	लेख महाराज भवनाग।
(६)	,,	,,	,,	लेख अधिराज श्रीभवनाग।
(७)	भीम	मयूर	वाम मुख	लेख महाराज भीमनाग (ऊपर नीचे दो सरल रेखाओं में)।
(८)	बृहस्पति ..	वृष आसीन	दक्षिण मुख	लेख महाराज बृहस्पति नाग।
	,,	,,	वाम मुख	,, ,, ,,
	,,	त्रिशूल परशु (संयुक्त)	,,	,, ,, ,,
(९)	देव ..	चक्र मय आरे	,,	लेख श्रीदेव नागस्य।
(१०)	गणपति ..	गतिमान वृष	वाम मुख	लेख महाराज गणपति।
	गणपति (गणेन्द्र)	,,	,,	लेख ,, श्रीगणपतीन्द्र।
	,,	,,	,,	लेख ,, श्री गणषेन्द्र।
	,,	,,	,,	लेख ,, श्रीगणेन्द्र।
(११)	स्कन्द ..	मयूर	दक्षिण मुख	लेख ,, श्रीस्कन्द नागस्य।
	,,	,,	वाम मुख	,,
	,,	वृष	दक्षिण मुख	,,
	,,	,,	वाम मुख	,,
(१२)	वसु ..	मयूर	दक्षिण मुख	लेख ,, श्री वसु नागस्य।
(१३)	विभु ..	वृष	वाम मुख	लेख ,, श्री विभुनाग व अंकुश।
(१४)	वृष ..	,,	सन्मुख	लेख ,, श्री वृष ना(ग)।

इससे स्पष्ट विदित होगा कि इन राजाओं के नाम के साथ नाग शब्द का योग होने से इन उपर्युक्त नवनृपों के नाग-वंशीय होने में तनिक सन्देह के लिए भी स्थान नहीं है।

इन उक्त नौ नागनृपों के सिक्कों के साथ ही तथा तत्सदृश ही एक दो और राजाओं के सिक्के मिलते हैं, किन्तु उनके आगे नाग शब्द न होने से उन्हें उस वंश में परिगणित करना संशयास्पद अवश्य है पर उसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि प्रधान नागवंश के अतिरिक्त अथवा इनके पश्चात् कुछ और भी इस वंश के राजा हुए होंगे। यह भी सम्भव है कि इन्हींके वंशज अन्य पार्श्ववर्ती प्रदेशों में शासन करते होंगे जिन्होंने भी अपने नाम से मुद्राओं का प्रचलन किया होगा।

ऐसे दो राजाओं के सिक्के हमें मिले हैं जैसे प्रभाकर और वीरसेन।

नाम		सीधा	उल्टा
(१) प्रभाकर	सिंह	दक्षिण	महाराज श्रीप्रभाकर।
,,	,,	वाम	,,
,,	वृष	दक्षिण	,,
,,	,,	वाम	महाराज श्री वीरसेन।
(२) वीरसेन।	,,	,,	महाराज श्री वीरसेन।

यहाँ पर यह कह देना असंगत न होगा कि भारतवर्ष में किसी अन्य स्थान पर नाग राजाओं की मुद्राओं का इतना सम्पूर्ण और सुन्दर संग्रह नहीं है जितना हमारे मुद्राकोष में सुरक्षित है। ये मुद्राएँ हमारी एक विशेष वस्तु हैं जिसके लिए हमारा ग्वालियर गर्व कर सकता है। अन्यत्र सब स्थानों, संस्थाओं तथा प्राचीन वस्तु संग्रहालयों में हमारे ही विभाग से प्रेषित प्रति-मुद्राएँ संरक्षित व सम्प्रदर्शित हैं।

कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार राजा मिहिरभोज का आधिपत्य कुछ समय तक ग्वालियर पर रहा। उसके चलाए हुए सिक्के यहाँ बहुत मिलते हैं। इन सिक्कों पर एक ओर वाराह-मुख नराकृति आदिवराह की मूर्ति होती है और दूसरी ओर श्रीमदादिवराह यह लेख होता है। ये चाँदी, मिश्र (चाँदी और ताँबे) अथवा केवल ताँबे के होते हैं। अपने यहाँ इन्हींके साथ इसी राजा के एक नवीन प्रकार के सिक्के मिले हैं जो अन्यत्र कहीं नहीं मिले। इनपर एक ओर तो वही नृवराह की मूर्ति है परन्तु दूसरी ओर पूर्व लेख के स्थान में 'श्रीवनविकट बलदेव' लिखा है।

उत्तर पश्चिम और मगध प्रान्तों में पारस्य देश के ससनीय मुद्राओं के अनुकरण पर कुछ राजाओं ने मुद्राएँ प्रचलित कीं जिन्हें इण्डोसेसेनिअन वा गधैया कहते हैं। इनमें एक ओर राजा की विकृत मुखाकृति व दूसरी ओर अग्नि-वेदी अंकित है। ये सिक्के चाँदी, मिश्र धातु और ताँबे के पाए जाते हैं व आकार में गोल होते हैं। अधिकांश में इन पर लेख नहीं होता। कुछ सिक्कों पर 'श्री' एवं 'वि' अक्षर लिखे होते हैं।

गुजरात और मालवा के प्रधान प्रधान सभी सुलतानों के सिक्के प्रायः अपने राज्य में प्राप्त हुए हैं। सोने की मुद्राएँ उज्जैन में एक प्राचीन खंडहर की खुदाई में मिलीं जो शमशुद्दीन अल्तमश, मौइजुद्दीन बेहरामशाह, अलाउद्दीन मासूदशाह और नसीरुद्दीन महमूदशाह के हैं। ये चारों १३वीं सदी में दिल्ली के सुल्तान थे। मुगल बादशाह का राज्य विस्तार विशाल होने से ग्वालियर राज्य के अधिकाँश भाग पर उनका शासन लगभग दो शताब्दियों तक अक्षुण्ण रहा। इस कारण जैसा ऊपर कहा जा चुका है, ग्वालियर के सिक्कों पर भी मुगल राजा शाहआलम द्वितीय तथा मोहम्मद अकबर द्वितीय के भ्रष्ट लेख अंकित हैं व इसके अतिरिक्त कुछ विशिष्ट परिचायक चिह्न रहते हैं।

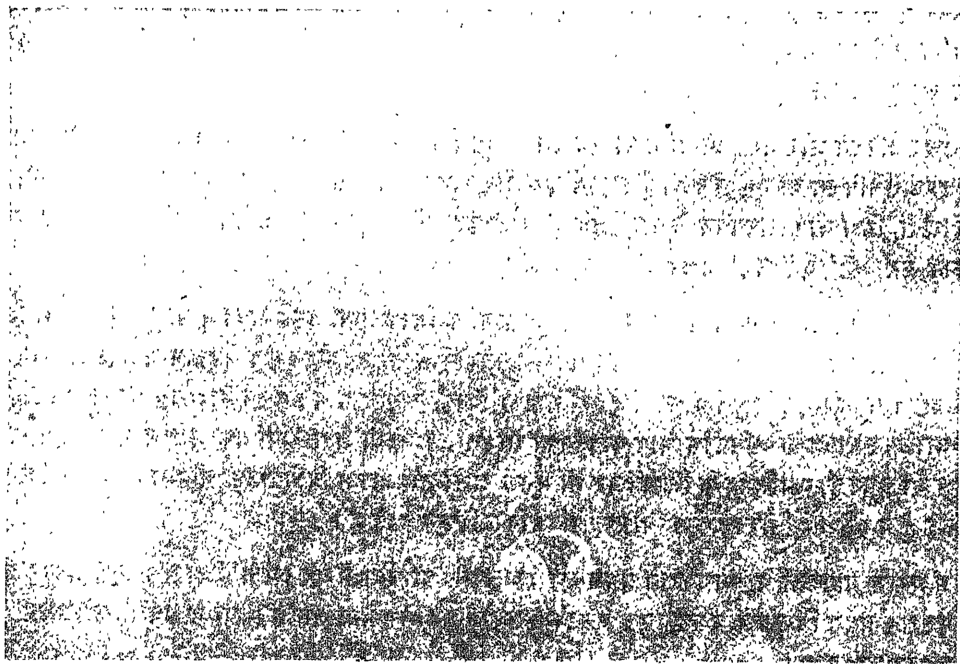
महाराज महादजी वा माधवराव प्रथम एवं दौलतराव की मुद्राओं पर खड्ग होता है। इसी प्रकार बैजाबाई की मुद्राओं पर सर्व प्रथम त्रिशूल के दर्शन हुए। जनकोजीराव ने धनुर्बाण देना आरंभ किया व जयाजीराव प्रथम के पैसों पर सर्प का आगमन हुआ।

मुगल राजाओं के सिक्के ग्वालियर राज्य में बहुधा बहुतायत से मिलते रहते हैं। अतएव प्रायः बाबर को छोड़कर सभी मुगलों की मुद्राएँ हमें प्राप्त हुई हैं। शाहजहाँ, औरंगजेब, मोहम्मदशाह और शाहआलम द्वितीय की मुद्राएँ सहस्रावधि समय समय पर यत्रतत्र भूगर्भ से निकलती रहती हैं। इन मुद्राओं पर राजा का नाम, राज्य-वर्ष, हिजरी सन्, मुद्रणस्थान का नाम एवं बिरुद उत्कीर्ण रहते हैं। ये मुद्राएँ सोने चाँदी और ताँबे की होते हुए भी विशेषकर चाँदी की अधिक मिलती हैं। मुगल राजाओं की सुवर्ण मुद्राएँ भी कम नहीं मिलतीं।

ग्वालियर राज्य की मुद्राएँ

कुछ काल अनन्तर ब्रिटिश सत्ता के प्राबल्य होने से ये ग्वालियरी सिक्के भी ब्रिटिश मुद्राओं के अनुरूप ढाले जाने लगे। तथापि राज्य की अपनी विशेषता की छाप तो बराबर बनी ही रही; जैसे सं० १९४६ के माधवराव के बाल्यकाल के सिक्कों पर एक ओर किनारे की गोलाई में फूल, बीच में एक वृत्त जिसमें सूर्य का चेहरा और दोनों ओर सर्प बना होता है। संवत् १९५४ के मुद्रित सिक्कों पर राजचिह्न (सूर्य और सर्प) दृष्टिगोचर होते हैं। संवत् १९५८ के पैसों पर त्रिशूल, भाला और नाग पाए जाते हैं। संवत् १९७० के पैसों में एक ओर महाराज का चेहरा और दूसरी ओर वही राजचिह्न सूर्य और सर्प रहते हैं। यह पैसा अभी भी प्रचलित है। वर्तमान सिक्के भी इन्हीं के सदृश हैं। चाँदी के सिक्के रुपये से लेकर इकन्नी तक प्रचार में थे जिनके नमूने अपने मुद्राकोष में सुरक्षित हैं। इसी प्रकार ताँबे के पैसे जितने प्रकार के उपलब्ध हुए हैं सब सुरक्षित हैं। इन सब शिन्दे राजाओं की मुद्राओं का सविस्तर वर्णन इस संक्षिप्त लेख में सम्भव नहीं है।

पार्श्ववर्ती छोटे बड़े मध्यभारतीय और राजस्थानीय राजघरानों की मुद्राएँ भी हमारे शिन्दे राजाओं के सिक्कों के साथ साथ प्रायः मिलती रहती हैं। परन्तु इनकी मुद्रण प्रणाली में मुगल राजाओं का अनुकरण होते हुए भी उन्हीं के विकृत रूप को लिए हुए होने से उनका उल्लेख करना निष्प्रयोजनीय ज्ञात होता है।



कुछ नाग सिक्के



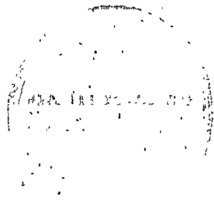


महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र-शासन

श्री मोरेश्वर बलवंत गर्दे, बी० ए०

इस ताम्रपत्र की खोज लेखक ने सन् १९२९ की शिशिर-ऋतु में ग्वालियर राज्यान्तर्गत अमझेरा (सांप्रत सरदारपुर) जिले में स्थित बाघ की प्रसिद्ध बौद्ध गुहाओं के उत्खनन के समय की थी। यह ताम्रपत्र दो नम्बर की गुहा के पास ही एक गुहा के खण्डहर में मिला था। पहले यह ध्वस्त गुहा दूसरे नम्बर की गुहा का ही भाग ज्ञात होती थी, परन्तु थोड़े से कूड़े को साफ करने के पश्चात् ज्ञात हुआ कि वह एक स्वतंत्र गुहा है। यह गुहा दूसरे नम्बर की गुहा की कोठरियों की बाईं ओर की पंक्ति को छूती हुई है और इसमें आने जाने का भीतरी मार्ग है। अभी यह गुहा गिरकर अपने ही कूड़े से भरी हुई है, केवल द्वार की सफाई की गई है। इस गुहा को बाघ में स्थित कुछ अन्य ध्वस्त गुहाओं की भाँति क्रमसंख्या अभी नहीं दी जा सकी है। यह ताम्रपत्र जो कूड़े-करकट में दबा हुआ था आजकल ग्वालियर किले के गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित है। सर्वप्रथम इसका संक्षिप्त उल्लेख लेखक द्वारा राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की संवत् १९८५ (सन् १९२८-२९ ई०) की वार्षिक रिपोर्ट के पृष्ठ १५ पर तथा परिशिष्ट 'डी' के क्रमांक १ पर किया गया है।

ताम्रपत्र के एक ओर ही लेख उत्कीर्ण है। वह सम्पूर्ण प्राप्त है, परन्तु पहिली चार पंक्तियों के प्रारम्भ के कुछ अक्षर बहुत ही अस्पष्ट हो गए हैं तथा ताम्रपत्र का कोना टूट जाने से अन्तिम चार पंक्तियों के अन्त के कुछ अक्षर सर्वथा नष्ट हो गए हैं। ताम्रपत्र ८ ५/१६ इञ्च लम्बा तथा ४ ७/१६ इञ्च चौड़ा है। इसमें १२ पंक्तियाँ पूरी हैं। तेरहवीं पंक्ति की लम्बाई अन्य पंक्तियों से केवल चौथाई है, वह दाहिनी ओर उत्कीर्ण है, और ताम्रपत्र के टूटे हुए भाग में अंशतः नष्ट हो गई है। बाईं ओर के कोरे स्थान (margin) में दाता का नाम खड़ी लकीर में लिखा है। लिपि दक्षिणी गुप्त है और अक्षरों की औसत ऊँचाई चौथाई इञ्च से कुछ अधिक है। भाषा शुद्ध संस्कृत है। परन्तु छठी पंक्ति में केवल एक अशुद्धि है, जिसके लिए रचनाकार ही उत्तरदायी होगा। 'बुद्धाय' के स्थान पर 'बुद्धस्य' होना चाहिए था। अन्यत्र और भी कुछ अशुद्धियाँ हैं जो केवल लिपिकार अथवा उत्कीर्णक की भूलें हो सकती हैं। उदाहरणार्थ सातवीं पंक्ति में 'स्फुटित' के स्थान पर 'ष्फुटित', आठवीं पंक्ति में 'शय्या' के स्थान पर 'शेय्या', दसवीं पंक्ति में 'रन्य' के स्थान पर 'रेष्य', ग्यारहवीं पंक्ति में 'प्रीत्या' के स्थान पर 'प्रित्या', तथा बारहवीं पंक्ति में 'आच्छेत्ता' के स्थान पर 'आच्छत्ता', 'नरके' के स्थान पर 'नरक', 'वसेत्' के स्थान पर 'वसत्' लिखा है। सन्धि का नियम कहीं २ नहीं पाला गया है। उदाहरणार्थ चौथी पंक्ति में 'वः ययैष', सातवीं पंक्ति में "°पयोज्यः भग्न°", नववीं पंक्ति में "°परिकरः भूमि°", दसवीं पंक्ति में "°तिसृष्टः विदित्वां°"।



महाराज सुबन्धु का एक ताम्रपत्र-शासन

वर्ण-विचार (Orthography) की दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि 'सुबन्धुः कुशली' (पं० १) में विसर्ग जिह्वामूलीय चिह्न से लिखा गया है। और 'र्' के अनुगामी व्यंजन, क्, ग्, ण्, थ्, द्, तथा य् सदैव दुहराए गए हैं; जैसे "°प्यायनर्त्थं°" (पं० ५), "°क्कर्ण्णव°" (पं० ६), "°संस्कारणार्त्थमार्य्य भिक्षु°" (पं० ७) 'चातुर्द्दिशा°' (पं० ८) और 'स्वर्ग्गे' (पं० १२)।

यह अभिलेख महाराज सुबन्धु का माहिष्मती नगर से प्रचालित दानपत्र है। इसमें महाराज सुबन्धु ने दत्तटक नामक व्यक्ति के बनवाए हुए कलयन नामक बौद्ध विहार के भगवान् बुद्ध की पूजा-सामग्री के लिए, भग्न स्फुटित के संस्कार के लिए, तथा आगत आर्य भिक्षु संघ के आदर सत्कार के लिए एक ग्राम प्रदान किया है।

अभिलेख में इसकी तिथि उत्कीर्ण थी। परन्तु जहाँ संवत् उत्कीर्ण था, ताम्रपत्र का वह कोना टूट गया है और टूटे हुए खंड के साथ संवत् तथा दिन के अंक लुप्त हो गए हैं। केवल मास का नाम 'श्रावण' शेष रह गया है। सौभाग्य से इन्हीं महाराज सुबन्धु का माहिष्मती नगर से ही प्रचालित दूसरा एक ताम्रपत्रशासन बड़वानी राज्य में मिला है और वह एपिग्राफिया इण्डिका के भाग १९ के पृष्ठ २६२ पर प्रकाशित हुआ है। बड़वानी बाघ-गुहाओं से दक्षिण की ओर १५ मील पर स्थित है। बड़वानी शासन में संवत् १६७ दिया हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि हमारे बाघ के ताम्रपत्र-शासन की तिथि भी उसी के लगभग होगी। यह ताम्रपत्र-शासन गुप्तकालीन लिपि में लिखा गया है; अतः यह मानना वितर्क न होगा कि इसमें उल्लिखित तिथि गुप्त संवत् की थी, जिसका प्रारंभ ईसवी सन् के ३१९ वर्ष में माना जाता है। महामहोपाध्याय मिराशी*, महाराज सुबन्धु के ताम्रपत्र शासनों की तिथियां कलचुरी-चेदि संवत् की होना अधिक संभवनीय समझते हैं। कलचुरी संवत् का प्रथम वर्ष ई० स० का २४९–२५०वा वर्ष था। अतः तिथि का संबंध इन दोनों में से किसी संवत् से भी लगाया जाय तो ये दोनों ताम्रपत्र ईसा की पाँचवीं शताब्दी के सिद्ध होते हैं।

इन दोनों शासनों में सुबन्धु को केवल 'महाराज' की एक उपाधि है। इस कारण यह ज्ञात होता है कि वह स्थानीय शासक थे। दोनों शासन माहिष्मती नगर से ही प्रचालित हैं अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि माहिष्मती ही उनकी राजधानी होगी।

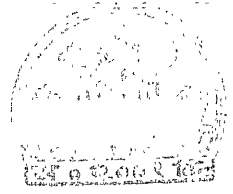
बाघ-गुहाओं में प्राप्त यही एक अभिलेख है। इससे इन गुहाओं के निर्माणकाल तथा नाम पर कुछ प्रकाश पड़ता है। इस ताम्रपत्र के प्राप्त होने के पूर्व बाघ-गुहाओं का निर्माणकाल स्थापत्य की शैली के आधार पर ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के लगभग माना गया था। प्रस्तुत अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ की कुछ गुहाएँ तो ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी के बाद की नहीं हो सकतीं, जैसा कि लेखक पहिले ही अन्यत्र† लिख चुका है।

बाघ गुहाओं का प्राचीन नाम अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है। इस ताम्रपत्रशासन में विहार का नाम 'कलयन' दिया गया है। यह नाम प्रायः उस गुहा (विहार) से ही सम्बन्धित होगा, जिसके खण्डहरों में यह ताम्रपत्र उपलब्ध हुआ है। यह नाम पूरे गुहा-समूह का है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि 'कलयन' विहार का निर्माण दत्तटक के द्वारा हुआ था और पूरा गुहा-समूह एक ही काल में तथा एक ही व्यक्ति विशेष के द्वारा बनवाया गया था, यह कहना दुःसाहस है।

इस अभिलेख में दो स्थानों के नाम आए हैं—माहिष्मती और दासिलकपल्ली। माहिष्मती की भौगोलिक स्थिति के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। माहिष्मती के महाराज सुबन्धु एक स्थानीय शासक थे, यह ऊपर कहा जा चुका है। इससे यह धारणा की जा सकती है कि उनके राज्य का विस्तार बड़ा न होगा। उनके ताम्रपत्रशासन बड़वानी और बाघ में ही मिले हैं अतः माहिष्मती बड़वानी तथा बाघ से बहुत दूर न होना चाहिए। इस भूभिभाग में दो ही स्थान ऐसे हैं जो प्राचीन नगरों की श्रेणी में आते हैं-ओंकारमान्धाता और महेश्वर। कवि चूड़ामणि कालिदास ने रघुवंश के छठे सर्ग के ४३ वे श्लोक में रेवा (नर्मदा) नदी का वर्णन करते हुए उसे माहिष्मती नगरी की काञ्ची (girdle) कहा है अर्थात् माहिष्मती

* इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टर्ली भाग २१, पृष्ठ ८४।

† ग्वालियर राज्य के पुरातत्त्व-विभाग की वार्षिक रिपोर्ट संवत् १९८५ (सन् १९२८-२९ ई०), परिशिष्ट 'डी', क्रमांक १, पृष्ठ २८।



नगरी नर्मदा से परिवेष्टित थी। यह वर्णन ओंकार मान्धाता को ही, जिसका प्राचीन भाग नर्मदा के एक द्वीप पर स्थित है, लागू हो सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि कालिदास का माहिष्मती से तात्पर्य वर्तमान ओंकारमांधाता से है। कालिदास का समय प्रायः ईसवी सन् की पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। हमारे अभिलेख का समय भी यही है। इसलिए उक्त अभिलेख में उल्लिखित माहिष्मती को वर्तमान ओंकार मांधाता मानना ही संगत होगा। माहिष्मती अनूप (देश) की राजधानी थी।

अभिलेख में दूसरा नाम दासिलकपल्ली आया है। लेख की पहिली पंक्ति 'दासिलक पल्ली-प' से पूर्ण है। दूसरी पंक्ति के आरंभ के कुछ अक्षर स्पष्ट नहीं हैं। परन्तु महाराज सुबन्धु के बड़वानी §शासन के सादृश्य पर से यह अनुमान किया जा सकता है कि दासिलकपल्ली उस पथक अर्थात् प्रादेशिक विभाग का नाम होगा जिसके अन्तर्गत शासन से प्रदान किया हुआ ग्राम स्थित था। 'पथक' शब्द का आद्याक्षर पहिली पंक्ति में विद्यमान है। बाद के दो अक्षर 'थके' दूसरी पंक्ति के आरम्भ में लिखे होंगे। और उसके अनन्तर प्रदान किये हुए ग्राम का नाम होगा जो अब अस्पष्ट अतः अपठ्य हो गया है। दासिलकपल्ली अभी विद्यमान है या नहीं और यदि विद्यमान हो तो उसका आधुनिक नाम क्या है यह ज्ञात न हो सका।

इसी प्रकार व्यक्तियों के दो नाम भी इस शासन लेख में आए हैं—सुबन्धु और दत्तटक। महाराज सुबन्धु के दो ताम्रपत्रशासन उपलब्ध हुए हैं, उनसे यह अनुमान होता है कि वह एक स्थानीय शासक थे और उनकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी। सुबन्धु का उल्लेख उक्त दो ताम्रपत्रों के अतिरिक्त अभी तक अन्यत्र कहीं नहीं मिला है। दूसरा व्यक्ति दत्तटक है। जिस स्थान के प्रबन्ध के लिए प्रस्तुत दान-पत्र दिया गया था, वह कलयन विहार दत्तटक का निर्माण किया हुआ ('कारित') था। दत्तटक के नाम के साथ किसी उपाधि का उल्लेख नहीं है जिससे यह अनुमान लगाया जा सके कि वह कोई राज्याधिकारी, धनिक, अथवा प्रभावशाली बौद्ध भिक्षु थे। इस व्यक्ति का भी उल्लेख कहीं अन्यत्र नहीं मिल सका है।

पाठ*

(पंक्ति १) ॐ [स्वस्ति] माहिष्मतीनग[रान्म]हा[रा]जसुबन्धुः† कुशली दासिलकपल्लीप-
(पंक्ति २) .... [न]लकदित्योद्ग्राहकायुक्तकविनियुक्तक-
(पंक्ति ३) चाटभटकाष्ठिकगमागमकदूतप्रेषणिकादीन्ग्रामप्रतिवा-
(पंक्ति ४) सिनश्च समाज्ञापयति विदितमस्तु वः(वो) यथैष ग्रामो मया दत्तट-
(पंक्ति ५) ककारितकलयनविहारे मातापित्रोरात्मनश्च पुण्याप्यायनार्त्थमाचन्द्रा-
(पंक्ति ६) र्क्कार्ण्णवग्रहनक्षत्रक्षितिस्थितिसमकालीनः(नो) भगवतो बुद्धाय (बुद्धस्य) गन्धधूप-
(पंक्ति ७) माल्यबलिसत्रोपयोज्यः (ज्यो) भग्नष्फु (स्फु) टितसंस्कारणार्त्थमार्य्यभिक्षुसङ्घस्य
(पंक्ति ८) चातुर्द्दिशाभ्यागतकस्य चीवरपिण्डपातग्लानप्रत्ययशे (श) य्यासनभै-
(पंक्ति ९) षज्यहेतोराग्रहारस्सोद्रङ्गस्सोपरिकरः(रो) भूमिच्छिद्रन्यायेनाग्रहारो-
(पंक्ति १०) तिसृष्टः(ष्टो) विदित्वाद्यदिवसादारभ्यास्मदीयैरेष्य (रन्य) विषयपतिभिश्च——
(पंक्ति ११) प्रि(प्री)त्यास्मत्प्रीत्या च भिक्षवो भुञ्जन्तो न व्यासेद्धव्याः षष्टिवर्ष[सहस्राणि]‡

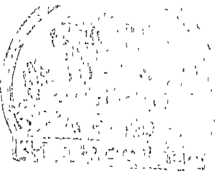
---

§ बड़वानी शासन में पथक और ग्राम का उल्लेख इस प्रकार है:—'उदुम्बरगर्त्तापथकः (के) सोहजना पद्रके' (एपि. इंडिका भाग १९ पृष्ठ २६२).

* मूल ताम्रपत्र से पठित।

† 'जिह्वामूलीय' चिह्न से विसर्ग लिखा गया है।

‡ यह शब्द ताम्रपत्र के टूटे कोने के साथ अंशतः नष्ट हो चुका है, परन्तु यह श्लोक अन्य शासनों में भी आता है। उसमें यह शब्द पाया जाता है।



(पंक्ति १२) स्वर्गे मोदति भूमिदः [*।]आच्छ (च्छे) त्ता चानुमन्ताच तान्येव नरक (के) वस (से)त्।। स्वय[म]....

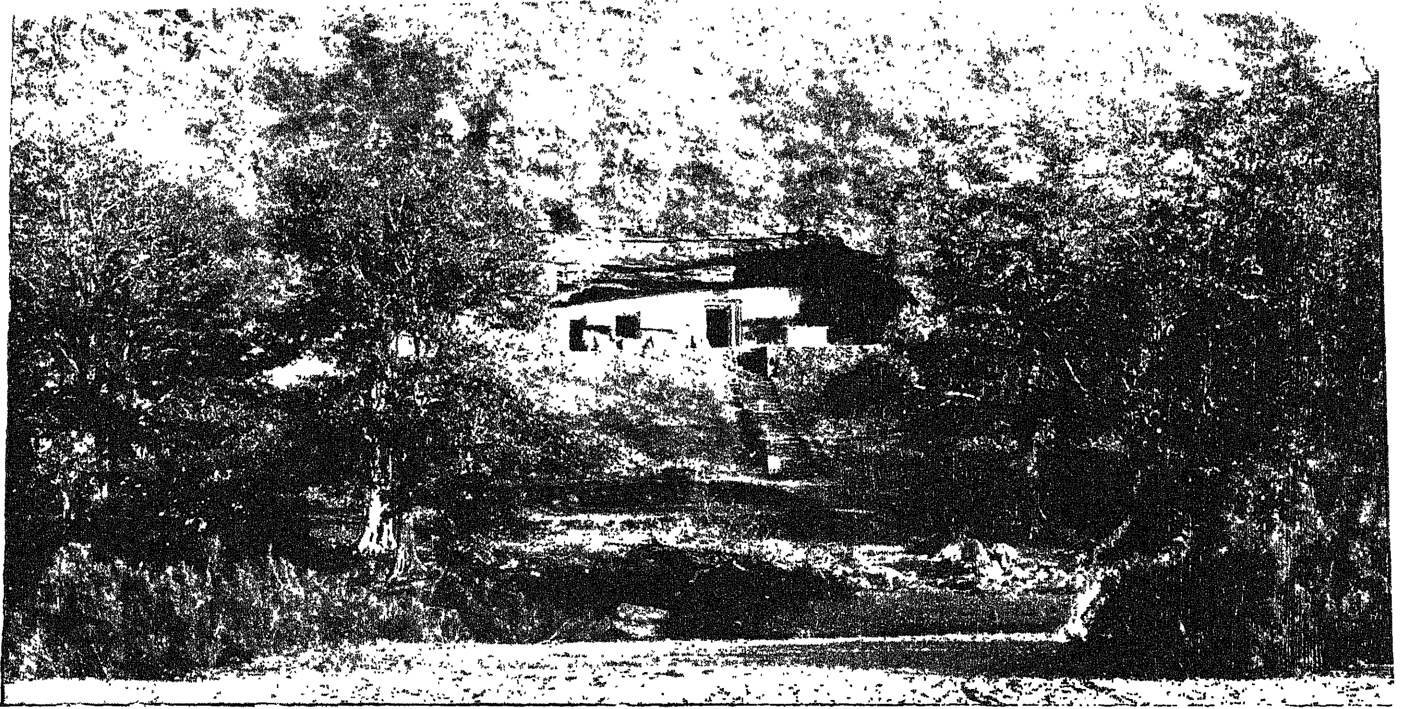
(पंक्ति १३) श्रावण⁑....

(पंक्ति १४) ⁂[म]हाराजसुबन्धोः

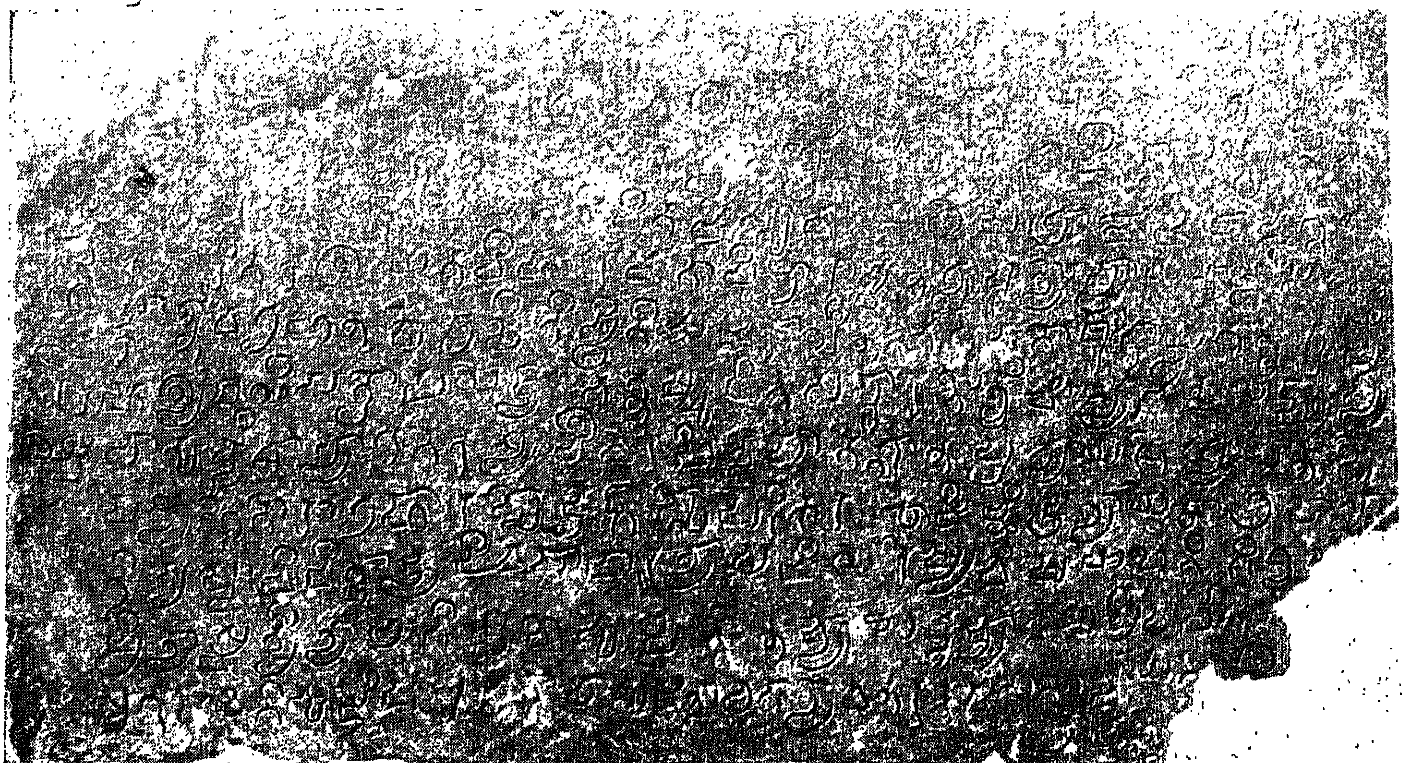
उक्त ताम्रपत्र के छापे का चित्र नीचे दिया जाता है। मूल ताम्रपत्र की लम्बाई ऊपर दी गई है और इस चित्र की लम्बाई ५ इंच है, अतएव मूल से इसका अनुपात ८:५ है। ताम्रपत्र का चित्र अन्यत्र दिया गया है।

⁑ बारवीं पंक्ति के अन्त में संवत् वाचक संज्ञा 'सं' तथा वर्षवाचक संख्यांक लिखा होगा वह पत्र का कोना टूटने से नष्ट हो गया है। पक्षनाम तथा दिनसंख्यांक भी १३वीं पंक्ति के अन्त में होगें वह भी नष्ट हैं। १३वीं पंक्ति के अन्त के समीप लिखा हुआ केवल मास का नाम 'श्रावण' शेष बचा है, अतएव इस ताम्रशासन की तिथि पूर्णतया ज्ञात नहीं हो सकती।

⁂ यह पंक्ति ताम्रपत्र के बाईं ओर खड़ी उत्कीर्ण है।



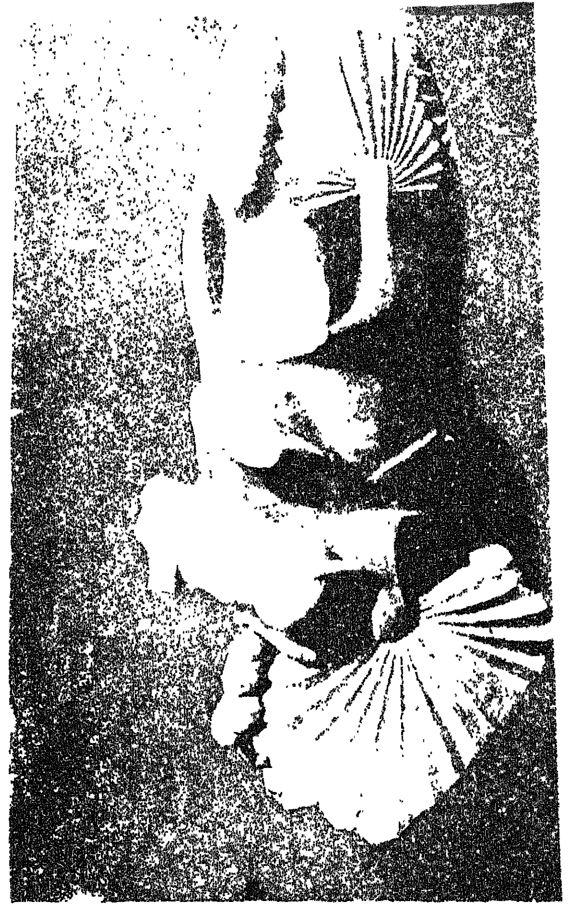
बागगुहा।



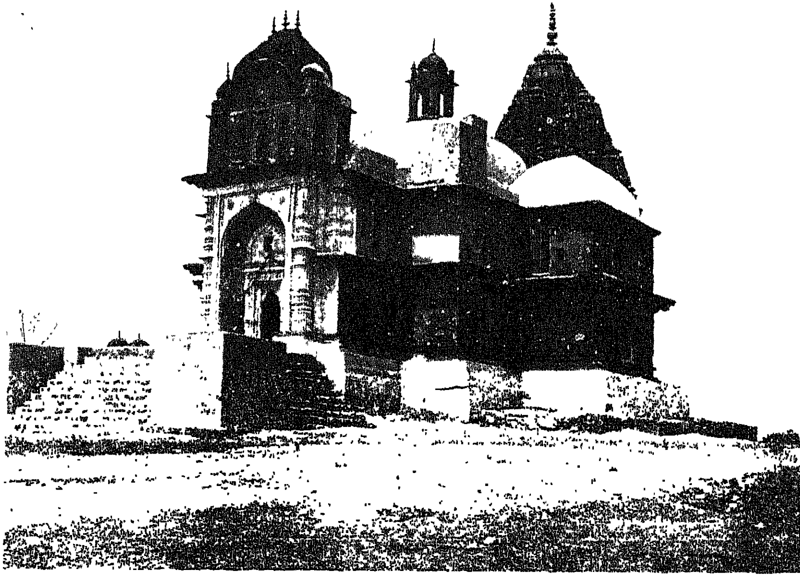
बागगुहा में प्राप्त ताम्रपत्र का फोटो (पृष्ठ ६४९)



गुप्तकालीन मन्दिर के अवशेष, पवाया।



ताड़स्तंभ-शीर्ष पवाया।



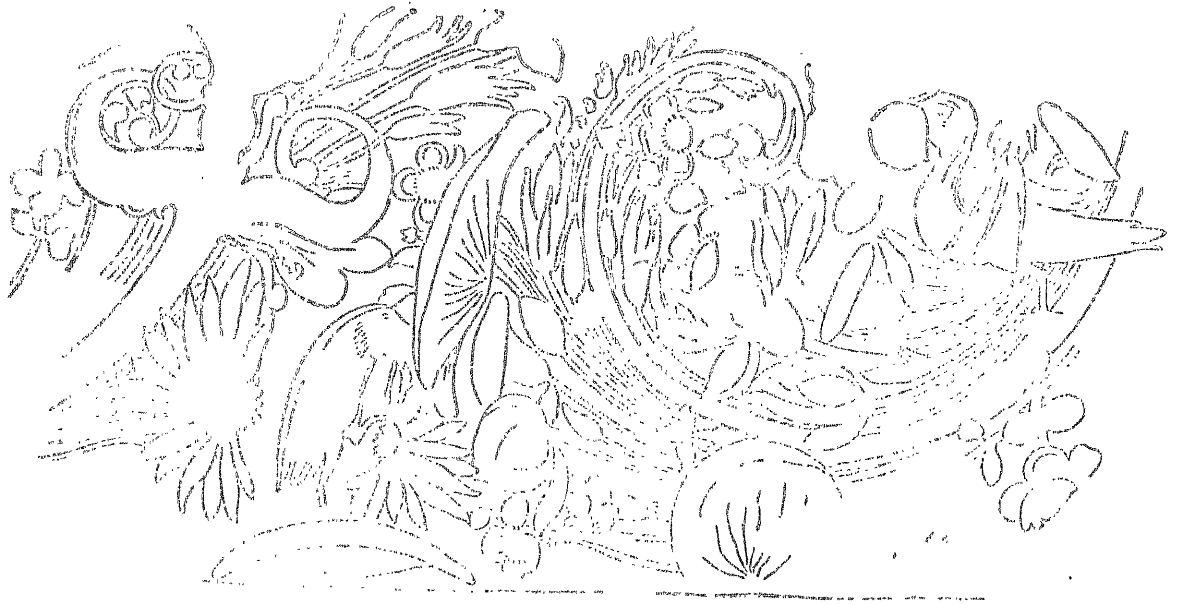
धूमेश्वर मन्दिर, पवाया।

मृण्मूर्तियाँ, पवाया।



जैन मूर्तियाँ, चन्देरी।





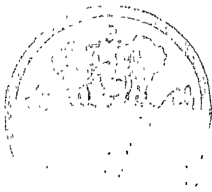
गोपाचल के सन्त कवि—ऐन साहब

स्व० श्री किरणबिहारी दिनेश

मुस्लिम संस्कृति की जो कालिन्दी अरब और फारस से बही वह आकर हिन्दू धर्म की गंगा से टकराई। कुछ समय पृथक् अस्तित्व रखते हुए ये दोनों धाराएँ साथ साथ चलीं। कट्टर पंडितों और मौलवियों के रूप में दो किनारे दूर दूर ही रहे, परन्तु जनता का मन अलग न रह सका। जनता की गंगा-यमुना के हिन्दू-मुस्लिम भेदभाव को मिटाने का काम सन्तों ने किया। यदि राजनीतिक कारणों से (धार्मिक कारणों से कदापि नहीं) इन दो धाराओं के बीच कृत्रिम दीवाल खड़ी न की जाती तो इन सन्तों की कृपा से राम और रहीम के ये बन्दे बिलकुल घुलमिल गए होते और अब तक भेदभावमूलक सब बातें नष्ट होकर पवित्र भारतीय सांस्कृतिक भागीरथी का रूप-निर्माण हो गया होता।

ग्वालियर ने भी ऐसा एक पुण्य-कर्मा सन्त उत्पन्न कर इस सांस्कृतिक एकता के प्रयास में अपना हाथ बटाया है। आज भी गोपाचल की गोदी में उस सन्त की पावन अस्थियाँ दबी हुई हैं। इस सांस्कृतिक पर्व के आयोजन में हाथ बटानेवाले ग्वालियर गढ़ के सन्त कवि 'ऐन' का संक्षिप्त परिचय यहाँ देना उपयुक्त होगा।

जब ऐन साहब और उनकी कविता से मेरा प्रथम परिचय हुआ वह बात ढाई युग (लगभग तीस वर्ष) से अधिक की नहीं है; फिर भी इस समय तक विज्ञान की तीव्र चमक से संसार की आँखें चौंधिया नहीं गई थीं। सात्विक युग में एक भादों सुदी एकादशी को जल-विहार के एक जुलूस में भगवान् कृष्ण की मूर्ति के सामने एक मुस्लिम कलावन्त को गाते सुना, इस भेद को बतलादो श्री चंद्रावल महाराज'। उस समय एक परिपाटी थी कि गानेवाले एक अस्थायी लेकर बीच



बीच में सन्तों के दोहों का भी गानों में प्रयोग किया करते थे। उसी के अनुसार निम्नांकित दो दोहे भी उपरोक्त अस्थायी के साथ मुझे सुनने को मिले :—

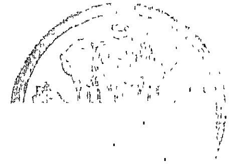
जो गुजरा सो ख्वाब था, जो गुजरे सो ख्याल,
ऐन गनीमत जानिए, जो गुजरा सो हाल॥
नैन नैन कँ जात है नैन नैन के हेत।
नैन नैन के मिलत ही नैन 'ऐन' कह देत॥

एक मित्र से ज्ञात हुआ कि ये दोनों दोहे साँई 'ऐनानन्द' नामक एक मुस्लिम सन्त के कहे हुए हैं, जो यथासम्भव अपने उपनाम 'ऐन' का उपयोग सार्थक रूप में किया करते थे।

उस समय इच्छा हुई कि ऐन साहब के कुछ और दोहे सुनने को मिलते तो अच्छा होता; लेकिन किशोरावस्था की क्रियाओं में यह उत्सुकता अधिक दिन तक न टिक सकी। उसके बाद एक बार विद्यार्थी-जीवन की स्वाभाविक घुमक्कड़ वृत्ति के चक्कर में अपने नगर के पार्श्व में स्थित गोपाचल गढ़ के कटिप्रदेश में परिभ्रमण करते हुए अनायास ही ऐन साहब की समाधि पर पहुँच गया। एक बार दोहेवाली घटना की स्मृति फिर हरी हो गई और उस समय इच्छा हुई कि ऐन साहब के विषय में और बातें भी जानी जाएँ। परन्तु साधनों के तथा अनुकल साहित्यिक वातावरण के अभाव के कारण कुछ कुण्डलियाँ प्राप्त करने से आगे कुछ काम न हो सका। प्रगतिशील-साहित्य-मण्डल की वसन्त-बैठक के उपलक्ष में एक बार फिर ऐन साहब की समाधि पर जाने का अवसर मिला। उस समय ऐन साहब के विषय में खोज करने की जिज्ञासा उत्पन्न हुई और उसके प्रति किए गए प्रयत्नों के फलस्वरूप यह विवरण प्रस्तुत है।

ऐन साहब अपने समय के लोकप्रिय सन्त कवियों में से थे। ग्वालियर के सीमित क्षेत्र में उनके जीवन के बाद भी नवीन सभ्यता के आगमन के पहिले तक ऐन साहब की कुण्डलियाँ और दोहों का वही मान था जो तुलसीदास और कबीर दासजी के वचनों का था। ऐन साहब के विषय में उनके सन्यास ग्रहण करने से पहिले का विवरण मिल सकना आज तक सम्भव न हो सका, केवल यह ज्ञात है कि वे ग्वालियर नगर के मोहल्ला नूरगंज के एक पठान थे; किन्तु इसके विषय में भी कोई लिखित प्रमाण नहीं मिलता। जो भी दन्तकथाएँ प्रचलित हैं अथवा जो अन्य व्यक्तियों द्वारा लिखे गए संस्मरणों अथवा स्वयं ऐन साहब द्वारा अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र वर्णित जो घटनाएँ हैं वे सब सन्यास-ग्रहण के बाद की हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि ऐन साहब का परिवार नगर में एक बहुत साधारण स्थिति का था। उस परिवार में कोई विशेषता न होने के कारण जनता उसके परिचय को स्मरण न रख सकी। किन्तु ऐन साहब अपने नवीन स्वरूप में जनता के हृदय में बस गए, और यही कारण है कि उनके सन्यास ग्रहण के बाद का प्रामाणिक परिचय प्राप्त होता है। ऐन साहब के जीवन की घटनाएँ तीन साधनों से प्राप्त होती हैं :—(१) अपने ग्रंथों में यत्रतत्र स्वयं ऐन साहब द्वारा वर्णित घटनाएँ, (२) अन्य व्यक्तियों द्वारा ऐन साहब के विषय में लिखित संस्मरण, (३) प्रचलित दन्तकथाएँ।

हमारा विवरण अन्तिम साधन से प्रारंभ होता है क्योंकि ऐन साहब के विषय में केवल एक दन्तकथा कुछ हेरफेर के साथ दो स्वरूपों में प्राप्त होती है जिससे ऐन साहब के सन्यास ग्रहण करने के कारण पर प्रकाश पड़ता है। कहा जाता है कि ऐन साहब एक बार ग्वालियर बस्ती के बीच से बहनेवाली स्वर्ण-रेखा नदी के तीर पर स्थित रामसनेही सम्प्रदाय के रामद्वारे के निकट शिकार खेलने गए। रामद्वारे के तत्कालीन महन्त ब्रह्मदास महाराज वहीं पर भगवत्-भजन कर रहे थे। रामद्वारे के वर्तमान अधिपति बाबा कन्हई महाराज से ज्ञात हुआ कि कई बार प्रयत्न करने पर ऐन साहब शिकार में सफल न हुए। इसपर ऐन साहब ने ब्रह्मदास महाराज को एक पहुँचा हुआ योगी समझकर उनके चरण पकड़ लिए। किन्तु ब्रह्मदासजी महाराज मुसलमान को शिष्य बनाने के लिए तैयार नहीं थे और उन्हींके आदेश से ऐन साहब गुरु ढूंढ़ने निकल पड़े। नगर के वयोवृद्धों में प्रचलित किंवदन्ती में इतना भेद है कि ऐन साहब शिकार में असफल होने पर विक्षिप्त से हो गए और वे ब्रह्मदासजी महाराज को मारने दौड़े। इसपर ब्रह्मदासजी ने उन्हें एक धक्का दिया और कहा कि इधर कहाँ



आता है उधर को चला जा। कहा जाता है कि जिस दिशा की ओर ब्रह्मदासजी ने इंगित किया था वह दिल्ली की दिशा थी, जहाँ तीन वर्ष भटकने के बाद ऐन साहब की अपने सद्गुरु से भेंट हुई। यहाँ पर ऐन साहब के विषय में एकमात्र यही दन्तकथा मिलती है। इस घटना का अभी तक कोई निश्चित आधार प्राप्त नहीं हुआ है। इसके बाद उस एकमात्र लिखित संस्मरण से ऐन साहब की जीवनी का कुछ प्रामाणिक आधार मिलता है जो उनके किसी अज्ञात भक्त द्वारा गीता की भूमिका नामक ग्रंथ के प्रारंभ में लिखी गई है। इस संस्मरण में लिखित घटनाएँ स्वयं ऐन साहब के लिखे हुए 'आत्मचरित्र भिक्षुक-सार' नामक ग्रंथ से मेल खाती हैं।

एक विद्वान् ने ऐनानन्दजी की कुछ कुण्डलियों का परिचय देते हुए ऐन साहब का जन्म संवत् १९२० में होना बतलाता है। किन्तु इसका कोई प्रमाण अथवा आधार ढूढ़ने की आवश्यकता नहीं है। मेरे पास ऐन साहब के जो ग्रंथों का संग्रह है उसमें उनका पाँचवाँ ग्रंथ ब्रह्मविलास संवत् १८८७ का लिखा हुआ है जब १९२० में उनके जन्म की कल्पना भी हास्यास्पद होगी। ऐन साहब के जीवन का जो प्रामाणिक भाग मिलता है वह केवल इतना है कि उनका जन्म ग्वालियर में हुआ था। वे अपने भिक्षुक सार नामक आत्मचरित्र में मंगलाचरण के बाद लिखते हैं:—

जनम ग्वालियर में हुआ, जन केते बड़ भाग।
बीस बरस कुल धरम का किया सरव खट राग॥

किया सरव खट राग खुशी माता की कीनी।
ता सेवा परताप प्रीति हरि अपनी दीनी॥

फिर त्यागा सब कुल धरम ऐन लिया बैराग।
जनम ग्वालियर में हुआ जन केते बड़ भाग॥

इसी प्रकार ब्रह्मविलास के अन्त में ऐन साहब कहते हैं:—

पढ़े जो पंडित होय, ग्रंथ जाने ये बनाया। तिन गुरू धाम, ग्वालियर जनम है पाया॥

इससे सिद्ध होता है कि ऐन साहब को बीस वर्ष की आयु में वैराग्य उत्पन्न हुआ। अपने इस वैराग्य की कथा कहते हुए ऐन साहब कहते हैं:—

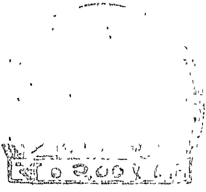
फिर साईं ये बुद्ध दई गुरू का सरना लेउ।
तीन बरस खोजत फिरे तब पाये गुरू देउ॥

तब पाये गुरू देव सहर दिल्ली के माहीं।
दरसन गुरू के करत चाह जो थी सो पाई॥

उपरोक्त उद्धरणों से सिद्ध होता है कि ऐन साहब अपनी माता के बड़े भारी भक्त थे और उन्होंने उनकी बहुत बड़ी सेवा की थी और इसी मातृ-भक्ति के फलस्वरूप उनके हृदय में ईश्वर-भक्ति जाग्रत हुई जिसको उन्होंने परमात्मा का प्रसाद माना। इन उद्धरणों से उस दन्तकथा के सत्य होने की शंका हो जाती है जो उनके सन्यास लेने के लिए शिकार की घटना में वर्णित है। यदि यह दन्तकथा सही होती तो ऐन साहब जैसे निःस्पृह और निर्भीक पुरुष को अपने इस आत्मचरित्र में उसके वर्णन करने में संकोच न होता।

उनके गुरू का नाम फिदाहुसैन था, इसका उल्लेख जो ग्रंथ मुझे प्राप्त हुए हैं उनमें केवल एक स्थान पर है। 'ऐन-स्वयं-प्रकाश' ग्रंथ के आरंभ में ऐन साहब इस प्रकार कहते हैं:—

सतगुरू फिदाहुसैन सो मेरे खावंद करीम।
नव कुल का सुख देन तिनका ऐन फकीर में॥



गोपाचल के सन्त कवि—ऐन साहब

फिदाहुसैन साहब अपने अंग में भस्म लगाया करते थे और उन्हींने इनको ऐन नाम दिया और भस्म धारण करने का आदेश भी दिया था। इसका उल्लेख 'श्रीनरचरित्र-सुन्दर-कथा' में इस प्रकार आया है :—

ऐसे गुरू पाये हम साँईं। भस्म अंग प्रभु दिल्ली माहीं॥
परम हंस बालक सम ताईं। ज्ञान वैराग भक्त सुखदाई॥
देखत मोपर भये कृपाला। ऐन संत गुरू दीन दयाला॥
जिन दीना मोहि दीन विचारा। दृढ़ विश्वास भक्ति दई सारा॥
फिर गुरू ऐन नाम मोहि दीना। मूरख से कीना परवीना॥
भस्म भेख फिर दिया गुसाँईं। परकट ऐन किया जग माहीं॥

इसी ग्रंथ में ऐन साहब ने यह स्वीकार किया है कि गुरू की वाणी अरबी और फारसी में हुई, उसमें से ऐन शिष्य ने कुछ को भाषा में वर्णन किया।

संस्मरण लेखक लिखते हैं कि 'दिल्ली में जब भेष पहरे पीछे गुरू के पास बरस एक रहे फिर गुरू ने आज्ञा दीनी जो तुम अपनी माता को ये भेष का स्वरूप दिखा आवो फिर उनकी आज्ञा लेकर यहाँ आवो जब दिल्ली से ग्वालियर माता के दर्शन करके आज्ञा ले बाग में आय रहे।'

ऐन साहब ने अपने आत्मचरित्र में यह तो स्वीकार किया है कि वे एक वर्ष तक गुरू के सत्संग में रहे और योग के साधनों को उन्होंने सीखा। किन्तु गुरू ने माता को भेष दिखाने की आज्ञा दी इसका कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसा ज्ञात होता है कि इस उल्लेख का जिकर बातों ही बातों में ऐन साहब ने अपनी भक्त मंडली में किया होगा, जिसे संस्मरणकार ने लिखित रूप दे दिया। ऐन साहब के 'बाणी' कहने का कारण बताते हुए संस्मरण में लिखा है 'सो गुरू की आज्ञा बानी कहने की हुई थी सो भेष पहरे पीछे चार महीने बाद बानी कुण्डली कहने लगे थे, किन्तु ऐन साहब स्वयं इस दिशा में मौन हैं। ऐन साहब तो अपना आत्मचरित्र इस प्रकार आगे बढ़ाते हैं—

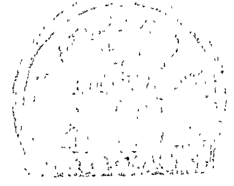
एक बरस भरके किया सतगुरू का सतसंग।
माफिक वित सेवा करी सीखे साधन ढंग॥
सीखे साधन ढंग फेर गुरू आज्ञा दीनी।
गुरू प्रसाद धर सीस वृत्ति अजगर की लीनी॥
ऐन रहे बारह बरस अजगर वृत निसंग।
एक बरस भरके किया सतगुरू का सतसंग॥

यहाँ ऐन साहब के आत्मचरित्र में उनके जीवन की घटनाओं के वर्णन का लगभग अन्त हो जाता है।

आगे आत्मचरित्र में ऐन साहब ने अपनी रहन-सहन तथा सन्तों की वृत्तियों के विषय में अपने विचारों को प्रकट किया है। केवल एक दो कुण्डलियों से ऐन साहब की वेषभूषा के विषय में कुछ प्रकाश पड़ता है :—

ओमकार का तिलक कर लई भीख की वृत्ति।
देखन को नरनार गति घर घर माँगन फित्ति॥

इस आत्मचरित्र से ज्ञात होता है कि ऐन साहब केवल सिर ही नहीं मुड़ाते थे, दाढ़ी और मूंछ भी साफ रखते थे। पीताम्बर के साथ साथ अंग में भस्म भी लगाया करते थे, शरीर की शक्ति और वस्तुओं के अनुसार गरम, तथा ठंडे वस्त्रों का व्यवहार किया करते थे। उनके मस्तक के तिलक पर ओंकार लिखा रहता था। बारह वर्ष की अजगर वृत्ति के समाप्ति



के बाद उन्होंने फिर भ्रमरवृत्ति ग्रहण की थी, जिसके अनुसार वह संग्रह करके कुछ नहीं रखते थे बल्कि जब भूख लगती थी तब भाँति भाँति के फलफूल से पराग एकत्रित करने वाले भ्रमर की तरह घर घर से टुकड़े माँग लाया करते थे। इसके लिए प्रातः-सायं-समय-असमय देर अबेर का वे विचार नहीं करते थे। जिस समय भूख लगती भिक्षा के लिए निकल पड़ते थे। इसके अतिरिक्त 'आठ पहर हर भजन में ऐन रहे सरसार' कहकर वह अपनी दिनचर्या प्रकट करते हैं।

उन्होंने अपने को अकिंचन और अपदार्थ महामूर्ख भ्रमजाल में पड़ा हुआ बतलाया है, और ज्ञान प्राप्त करने का सारा श्रेय गुरु की कृपा-करामात को दिया है। 'तब प्रभू नाम ऐन मोहि दीना, मूरख से कीना परवीना'। गुरु की महत्ता के विषय में उन्होंने अपने प्रत्येक ग्रंथ में अनेकों बार बहुत कुछ लिखा है जो गुरु के प्रति अनन्य भक्ति को प्रकट करता है। इससे अधिक अपने जीवन की घटनाओं के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाला।

संस्मरणकार ने अपने विषय से सम्बन्धित घटनाओं पर कुछ अधिक प्रकाश डाला है। इससे ज्ञात होता है कि ऐन साहब अपनी तेईस चौबीस वर्ष की आयु में बानी-कुण्डली कहने लगे थे, क्योंकि संस्मरणकार के अनुसार गुरु की आज्ञा बानी कहने की हुई। अतः सन्यासी भेष धारण करने के चार महिने बाद ही उन्होंने अपनी रचनाएँ प्रारंभ करदीं। ग्वालियर आने पर जब यहाँ की हिन्दू-मुस्लिम जनता ने उनकी वाणी सुनी तो दोनों ही बहुत प्रभावित हुए। उन दिनों काशी के राजा चेतसिंहजी ग्वालियर में रहने लगे थे। उनके पुत्र राजा बलचन्द्रसिंह एक जिज्ञासु भक्त थे। सम्भवतः इसलिए वे साधुओं के सत्संग में अधिक रहते थे। ऐन साहब से मिलने पर उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ और उनकी शंकाओं का समाधान होने से वे ऐन साहब के शिष्य हो गए। संस्मरणकार ने इन काशीवाले राजा साहब को गौड़ ब्राह्मण लिखा है, किन्तु वस्तुतः वे भूमिहार ब्राह्मण थे और उनके वंशज आज भी ग्वालियर में स्थित हैं। इन्हीं राजा साहब ने ऐन साहब को श्रीमद्भागवत का एकादश स्कंद और गीता संस्कृत और उसके अर्थ सहित सुनाई। इस विषय में संस्मरणकार के शब्द अधिक मनोरंजक होंगे :—

"सो वे राजा काशी के पंडित थे। सो उन्होंने एकादश व गीता ऐन साहब रूबरू संस्कृत में अर्थ टीका सहित सुनाया। सो प्रथम तो इस जनम में ऐन साहब को काशी के राजा ने हिन्दवी चर्चा में वेद शास्तर भागवत गीता सुनाया। ऐन साहब कोई पूरब जोगी भ्रष्ट थे, सो सुनते ही सब अरथ खुल गया।"

इसके कुछ समय उपरान्त ऐन साहब दतिया गए और वहाँ दतिया के राज-पुरोहित खेतसिंहजी के बाग में ठहरे।

दतिया में ऐन साहब एक बरस तक रहे और वहाँ उन्होंने 'सिद्धान्तसार नामक' ग्रंथ लिखा। वहाँ से ग्वालियर लौटकर छह महिने के लिए दिल्ली को चले गए, जहाँ उन्होंने गुरू के साथ सत्संग किया। वहाँ से लौटकर ग्वालियर होते हुए दतिया को गए और उपरोक्त पुरोहितजी के बाग में ही ठहरे। पुरोहितजी बड़े भक्त थे। उन्होंने ऐन साहब से कुछ सेवा करने का आदेश माँगा। ऐन साहब ने गीता व एकादश स्कंध सुनने की इच्छा प्रगट की। पुरोहितजी ने अपने गुरु गुसाईं किशनदासजी को इस कार्य के लिए नियुक्त किया। गुसाईंजी रोजाना एकादश स्कंध और गीता सुनाया करते थे। संस्मरणकार कहते हैं 'सो वे तो सुनाय के अपने डेरे को जाते। सो ऐन साहब दोनों कथा सुनके जो कुछ अनुभव में याद रही, जिनकी भूमिका कुण्डली कही सो किशनदास गुसाईं को सुनाई सो वे सुनके बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने वे कुण्डली लिख लीं। ऐसे ही वे रोजीना दोनों कथाएँ सुनाए जाते थे, सो वे सुनके उसमें जो कुछ याद रहती थी जिसकी भूमिका को कुण्डली कहते थे। सो गुसाईंजी रोजीना लिख लेते थे। सो ऐन साहब दतिया से ग्वालियर को आए सो वे कुंडली किशन-दास गुसाईं ने लिखी थी सो सब लेते आए। पुरजों में सो पुरजे सो यहाँ ग्वालियर के सत्संगियों में मल्हारराव ने 'सिद्धान्त सार' ग्रंथ में उपदेश हुलास में उनकी समझ में आई जिस तरह जहाँ तहाँ लिख दिनी। सो उन्होंने लिखी जहाँ तहाँ से उस तरह ही टीका में लिखी है सो गीता की भूमिका की कुण्डलियाँ आगे पीछे जहाँ तहाँ लिखी गई हैं सो कोई पंडित इसको बाँचि के गीता की भूमिका की आगे पीछे की संख्या (शंका) करे जिस वास्ते यह विस्तार करके टीका का कच्चा अहवाल लिख दिया है।'

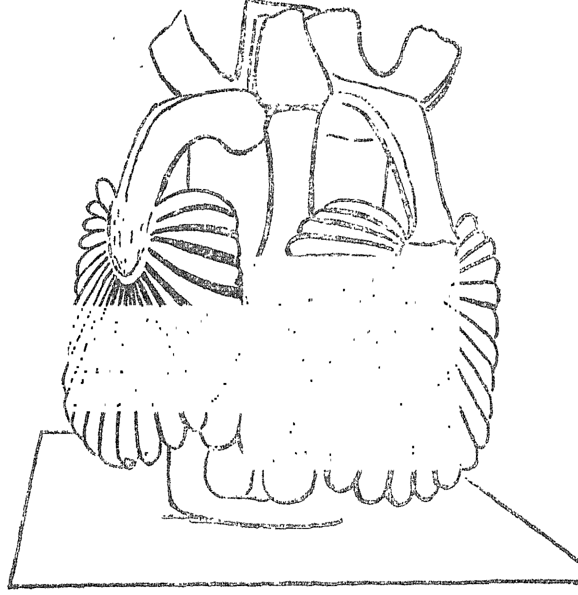
अन्त में इस सन्त के 'श्रीनर-चरित्र' नामक ग्रंथ के उपसंहार का उद्धरण देकर इस लेख को समाप्त करते हैं। इससे स्पष्ट प्रकट होगा कि इस ग्रंथ का नाम किस प्रकार रखा गया था तथा राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन यह सन्त किस प्रकार करते थे :—

"सो यह हमारी षुशी है के इस पोथी का नाम ब्रामन के मुष सै होय। तब उनमैं सै नाना साहब पंडत ब्रामन भक्त ग्यानी विवेकी थे सो उनौने कहा कै इस ग्रिथ का नाम "श्रीनरचरित्र'। तब सबनै पसंद किया सो यौं इस ग्रिथ का नाम जनम सरद की पूनौ के दिन हुआ ब्रामन के मुष करकै। तब इसमें बारै बिसराम किये ग्यारै सै चौपाई दोहा सोरठा करकै। सो जो कोई इस ग्रिथ को पढ़ै विचारै या सुनै समझै। साष्यात ब्रह्म भगवान के दरसन होइ नर नारायन गुरू भगवान के बीच में। हाजर नाजर मौजू षुदा को देषै। मुरसद अलाह की सान मै सच करकै। सो भाई दोस्त सत संगियौ मैनै सब तरह तहकीक तसुही करकै कुरान सै, हदीस सै, कौल सै, मुरसद के फरमान सै, अपनी अकल, अनुभव सै। वेदसै, गीता-भागवत सै, मान-भाव की बानी सै, यह सिद्धान्त सही किया। कै यक तौ ब्रह्म जात षुदा उसकौ कहते बेचून बेचिगून निराकार निरविकार कौ सो वो वी नर नारायन मुरसद अलाह है। दूसरै ब्रह्म जात षुदा औतारों को कहते हैं। सो वे वी मोहमद रसूल पगंमर हजरत आदम रामकृष्ण सोवै वी नर की स्यान हैं। तीसरे ब्रह्म जात खुदा नर के सरूप आदम कौ कहते हैं। सो तीनौं तरै से तहकीक ब्रह्म जात षुदा की नर मैई नारायण सही किया है। सो दौनौ तरह सै हिन्दू मुसलमानों की तहकीकात सही है। ब्रह्मजात षुदा नर आदम कौं कहते हैं। मालक सबौं का। सब तरह सै सब नर आदम कौई डंडोत सिरदा किया है अरू करते हैं। सो भाई दोस्त सतसंगियों यह नर चरित्र ग्रिथ कैसा हुआ है मानिद सूद सच्चे आईने की तरैं सैं। सो जो कोई नर इनसान इसकौ बाचै सुनै समझै तौं उसकौं उसीके बीच में अलाह भगवान की झांकी दीदार होवै सच करकै। पहचान अपनै आपकौ कै हो मैं कैसा ऐसा हूँ। स्यान खुदा की। अल इनसान सुरते रहमान। सो यह नरचरित्र श्रीभगत ईठलराव* सैंदिया बहादर की षातर सबब करकै हुआ। मुरसद अलाह की नैक निगाह महरबानी सै।"

---

*विट्ठलराव शिन्दे संवत् १८७६ में जागीर के अधिकारी हुए और संवत् १९४४ में स्वर्गवासी हुए (तारीख जागीरात, भाग १, पृष्ठ २४४)।





विदिशा

श्री डॉ० देवेन्द्र राजाराम पाटील, एम्० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

चन्द्रवंश में ययाति एक अत्यन्त प्रसिद्ध राजा हो गए हैं। उनके पाँच पुत्र थे। जब वे सन्यास ग्रहण करके वन में तपस्या करने को जाने लगे तो उन्होंने चर्मण्वति (वर्तमान चम्बल) और शुक्तिमती (वर्तमान केन) के जल से सिंचित प्रदेश को अपने एक पुत्र यदु को दे दिया। यदु के सन्तान भी बढ़ी और परिणामतः उसकी दो शाखाएँ हो गईं। प्रधान शाखा यादव कहलाई और दूसरी हैहय। यादवों का राज्य यदु के राज्य के उत्तरी भाग पर हुआ और हैहयों का दक्षिण भाग पर, जिसे आजकल पूर्वी मालवा कह सकते हैं।* ज्ञात यह होता है कि हैहयों का राज्य अखंड रूप से नहीं रहा क्योंकि सूर्यवंशी मान्धाता, विशेषतः मुचकुन्द जिसने माहिष्मती नगरी की स्थापना की तथा पुरुकुत्स का भी इस प्रदेश पर राज्य रहा।† परन्तु शीघ्र ही हैहयों ने अपना राज्य पुनः ले लिया। कार्तवीर्य अर्जुन उनमें अत्यधिक प्रसिद्ध विजेता हुआ, जिसकी विजय-वाहिनी उत्तर में हिमालय तक गई। उसका उत्तराधिकारी उसका दूसरा पुत्र जयध्वज हुआ, जो अवन्ती में भी राज्य करता था।‡ यहाँ तक पुराणों अथवा महाकाव्यों में विदिशा का उल्लेख नहीं मिलता, अतएव यह निश्चित नहीं है कि हैहयों की राजधानी के रूप में विदिशा का अस्तित्व था भी या नहीं। कार्तवीर्य अर्जुन की राजधानी सम्भवतः माहिष्मती‡ ही रही। विदिशा के उदय के बहुत पूर्व और कुछ समय पश्चात् भी माहिष्मती ही राजधानी रही, फिर विदिशा का उल्लेख मिलना प्रारम्भ होता है।

मार्कण्डेय पुराण में उल्लेख है कि विदिशा में एक स्वयंवर हुआ था जिसके कारण विदिशा के राजा और वैशाली के राजा करन्धम के पुत्र अवीक्षित् के बीच युद्ध हो गया था। विदिशा का राजा हैहयवंशी था। उसने अवीक्षित् को हराकर

* पार्जीटरः एन्शिएण्ट इण्डियन हिस्टॉरिकल ट्रैडीशन, पृष्ठ २५९-२६०।

† वही, पृष्ठ २६२-३।

‡ वही।

‡ वही।

बन्दी बना लिया। अवीक्षित् के पिता ने और उसके मित्रों ने हैहय राज्य के विरुद्ध आक्रमण करके उन्हें हरा दिया और अवीक्षित् को छुड़ा लिया।* इस अनुश्रुति से ज्ञात होता है कि इस समय विदिशा राजधानी हो गई थी।

कुछ समय पश्चात् राजा सगर ने हैहयों को हरा दिया और विदिशा सगर के आधीन हुई। सगर के पश्चात् इस प्रदेश में फिर यादव आए और अनेक छोटे छोटे राज्य स्थापित किए; जिनमें से एक विदिशा भी था।†

इसके पश्चात् का विदिशा का इतिहास कुछ उलझा हुआसा है। कहा जाता है कि दाशरथि राम के भाई शत्रुघ्न ने विदिशा के आसपास के प्रदेश के अधिपति सात्वत यादवों पर आक्रमण कर दिया और उन्हें भगाकर अपने एक पुत्र सुबाहु को विदिशा का शासक बना दिया।‡ कार्तवीर्य अर्जुन के पश्चात् माहिष्मती का उल्लेख कम मिलता है और उसी प्रदेश की राजधानी के रूप में विदिशा का उल्लेख अधिक मिलता है अतः, यह अनुमान है कि पूर्वीय मालवा की राजधानी के रूप में माहिष्मती के बजाय विदिशा को स्थान प्राप्त हो गया था।‡ यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि इस समय तक मालवा की राजधानी के रूप में उज्जयिनी का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है और उसका वह रूप नहीं दिखाई देता जो बाद में इसे बौद्ध जातकों के समय में प्राप्त हुआ।

आगे के काल में हम विदिशा के विषय में बहुत कम सुनते हैं। महाभारत के युद्ध और उसके पश्चात् आपसी गृहयुद्ध में यादवों का जो संहार हुआ उसमें इस नगरी का महत्त्व भी नष्ट हो गया होगा। जातकों के समय में विदिशा का राजनीतिक महत्त्व उज्जैन को मिल गया, ज्ञात होता है। इसके पूर्व उज्जयिनी का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। बुद्ध के समय‡ में अवन्ती सोलह महाजनपदों* में से एक थी और उसकी राजधानी उज्जयिनी बहुत समृद्धशाली थी। इस काल में विदिशा का बहुतसा राजनीतिक महत्त्व कम हो गया था, क्योंकि पश्चिमी मालवे में उज्जयिनी महत्त्वशाली हो रही थी और वह प्रदेश जिसमें विदिशा स्थित थी दशार्ण (पाली ग्रंथों का 'दसण्ण')† नाम से प्रख्यात हुआ। राजनैतिक महत्त्व में कमी आने पर भी विदिशा का सामरिक अथवा व्यापारिक महत्त्व कम नहीं हुआ था, क्योंकि वह उस समय के प्रधान सामारिक एवं व्यापारिक पथों पर स्थित थी। वह उज्जयिनी, कौशांबी और काशी से होते हुए पश्चिमी समुद्रतट की ओर जानेवाले और दक्षिण पश्चिम से उत्तर पूर्व को आन्ध्र राजधानी प्रतिष्ठान से श्रावस्ती तथा कौशल और पांचाल के अन्य नगरों को जानेवाले मार्गों पर स्थित थी। उसकी सीमाएँ पश्चिम में उदयगिरि तक, दूसरी ओर पूर्व में दो नदियों के संगम तक और अधिकाधिक भेलसा तक और उत्तर में ठीक उस स्थान तक फैली हुई थी, जहाँ कनिंघम ने कल्पद्रुम और मायादेवी की प्रतिमा प्राप्त की थी।

महाबोधिवंश में यह लिखा है कि विदिशा को उन शाक्यों ने बसाया जो "विडूडभ" के संहार से भागकर बच सके।‡ यह कथन सत्य नहीं है, क्योंकि पुराणों एवं महाकाव्यों में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि यह नगरी बहुत पूर्व मध्यभारत के राज्यों की राजधानी के रूप में विद्यमान थी। बौद्ध ग्रन्थों में दसण्ण को तीव्र धार की तलवारों के लिए प्रसिद्ध लिखा है। बेसनगर की खुदाई में जो लोहे के टुकड़े मिले हैं उन्हें पुरातत्त्ववेत्ता "स्टील" का प्राचीतम टुकड़ा मानते हैं। (आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट १९१३-१४ पृष्ठ, २०४)

---

* वही, पृष्ठ २६८, मार्कण्डेय पुराण १२१, १३१ भी देखिए।

† पार्जीटर, ऊपर का उल्लेख, पृष्ठ २७३।

‡ वही, पृष्ठ २७९; रघुवंश से भी तुलना कीजिए।

‡ यह कहा जाता है कि माहिष्मती के पश्चात् उज्जैन को प्रधानत्व मिला (देखिए मलूलशेखर १, पृष्ठ ३४५) परन्तु उनके ध्यान में विदिशा का उत्थान न रहा।

‡ लॉः ज्योग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृष्ठ २२-२३।

* मिलाइए, मललशेखरः डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, भाग १, पृष्ठ १०६४।

† वही, भाग २, पृष्ठ ९२२।

‡ आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट, १९।

विदिशा मौर्यों के राज्यकाल में पुनः सामने आई। जब अशोक चन्द्रगुप्त की ओर से उज्जैन में शासक थे उन्होंने वेस्सानगर अथवा वैशानगर की एक वैश्य कन्या से विवाह किया था, उनसे उनके संघमित्रा नामक एक कन्या हुई। जब अशोक सम्राट बने तब भी देवी विदिशा में ही रहीं, जिससे ज्ञात होता है कि सम्राट् अशोक का विदिशा आगमन होता रहा होगा। मौर्यकाल में विदिशा संमृद्ध स्थिति में थी यह तो उस समय के अवशेषों से ज्ञात होता है। इस काल में ही विदिशा के दन्तकारों ने दक्षिण-द्वार-तोरण पर अपने दान का उल्लेख कराया (मार्शलः गाइड टु साँची,) और भरहुत स्तूप पर विदिशा के फल्गुदेव ने अपने दान का उल्लेख कराया (बरुआः भरहुत, पृष्ठ ४१)

विदिशा के राजनीतिक महत्त्व का श्रेष्ठतम काल तो ई० पू० दूसरी शताब्दी में प्रारंभ हुआ है, जब प्रबल प्रतापी पुष्यमित्र शुंग ने अत्याचारी एवं दुर्बल अन्तिम मौर्य राजा ब्रहद्रथ को मारकर मगध का राज्य अपने अधिकार में कर लिया। शुंगों का निवास स्थान यही दशार्ण देश की राजधानी विदिशा थी। यद्यपि पुष्यमित्र ने अपने प्रबल प्रताप से भारत के बहुत बड़े भाग को अपने आधीन कर लिया था परन्तु विदिशा से अपने निकट सम्बन्ध के प्रमाणस्वरूप अपने बेटे अग्निमित्र को अपनी ओर से उसका शासक बनाया।

शुंगों के राज्य में वैदिक धर्म का पुनरुत्थान हुआ। पुष्यमित्र ने पुनः प्राचीन यज्ञों का एवं भागवत धर्म का प्रचार किया। विदिशा के पास ही गोनर्द नामक स्थान के निवासी, पाणिनी की अष्टाध्यायी पर महाभाष्य लिखनेवाले पातंजलि भी उसके यज्ञों में पुरोहित बने थे। पुष्यमित्र ने दो बार अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए थे। विदिशा में अनेक विष्णु मन्दिरों का निर्माण हुआ। इन मन्दिरों में शुंगवंशीय राजा भागभद्र ने एक गरुड़ध्वज का निर्माण कराया।

शुंगों का प्रताप उस समय बहुत अधिक था। तक्षशिला के यवन राजा आन्तलिकित (Antialchidas) ने शुंग राजा भागभद्र की राजसभा में हेलियोडोरस नामक अपना राजदूत भेजा था। हेलियोडोरस ने विदिशा के विष्णु मन्दिर में गरुड़ध्वज का निर्माण कराकर अपनी श्रद्धांजली अर्पित की थी। इससे वहाँ शुंगों के राजनीतिक प्रभाव का द्योतन होता है और वहाँ उनके द्वारा पुनःस्थापित भागवत धर्म की सार्वभौमता भी प्रगट होती है। वह ग्रीक राजदूत स्वयं भागवत धर्म में दीक्षित हो गया था। दूसरे एक डिमित्रियस ग्रीक (अन्य देशीय) ने यज्ञ किया था। इतना ही नहीं शुंगों के इस प्रयास का परिणाम यह भी हुआ कि उस काल के परमप्रतापी सम्राट् खारवेल तक ने राजसूययज्ञ किया और इस सब नवजाग्रति का केन्द्र विदिशा थी।* वहाँ के उत्खनन से प्राप्त हुए यज्ञकुण्डों के अवशेष आज भी उस युग की गाथा कह रहे हैं। ज्ञात यह होता है कि पुष्यमित्र एवं उसके वंशजों ने जो अश्वमेधादि बड़े बड़े वैदिक यज्ञ. किए, उनमें से एक दो अवश्य ही विदिशा में भी हुए थे। साधारण यज्ञ तो अवश्य ही अनेक हुए।†

शुंग वंश के पश्चात् विदिशा पर नागों का प्रभुत्व हुआ।‡ शुंग वंश का जैसा प्रताप और ऐश्वर्य था उससे अधिक इन भारशिव नागों का था। कुषाण एवं अन्य विदेशी शक्तियों के अत्याचारपूर्ण शासन से भारतवर्ष की रक्षा कर इन्होंने

---

* भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृष्ठ ८११। † वही।

‡ पार्जीटरः डायनेस्टीज ऑफ दि कलि एजः पृष्ठ ४८-५०।

नृपान्वैदिशकांश्चापि भविष्यांस्तु निबोधत। शेषस्य नागराजस्य पुत्रः परपुरंजयः॥
भोगी भविष्यते राजा नृपो नागकुलोद्भवः। सदाचन्द्रस्तु चन्द्रांशो द्वितीयो नखवांस्तथा॥
धनधर्मा ततश्चापि चतुर्थो वङ्गरः स्मृतः। भूतिनन्दस्ततश्चापि वैदिशे तु भविष्यति॥
शुंगानां तु कुलस्यान्ते शिशुनन्दिर्भविष्यति। तस्य भ्राता यवीयांस्तु नाम्ना नन्दियशाः किल॥
तस्यान्वये भविष्यन्ति राजानस्ते त्रयस्तु वै। दौहित्रः शिशुको नाम पुरिकायां नृपोऽभवत्॥
विन्ध्यशक्ति-सुतश्चापि प्रवीरो नाम वीर्यवान्। भोक्ष्यते समाः षष्टि पुरीं काञ्चनकां च वै॥
यक्ष्यते वाजपेयैश्च समाप्तवरदक्षिणैः। तस्य पुत्रास्तु चत्वारो भविष्यन्ति नराधिपाः॥

(विदिशा के भावी राजाओं के विषय में सुनो। नागराजा शेष के पश्चात् उसका पुत्र भोगी राजा होगा जो शत्रुओं के नगरों को जीतेगा तथा नागवंश के गौरव को बढ़ायेगा। फिर सदाचन्द्र और चन्द्रांश होगा जो दूसरे

हिन्दू धर्म की स्थापना की। यह शिव के परम आराधक थे, इसी कारण इनका नाम भारशिव पड़ा। नागों ने गंगा किनारे काशी में दस बार अश्वमेध यज्ञ किया।* जिस घाट पर यह दस अश्वमेध यज्ञ किए गए वह आज भी दशाश्वमेध कहलाता है। यह भारशिव नाग मूलतः विदिशा के ही थे। भारतीय इतिहास में इन नागों का प्रभुत्व समुद्रगुप्त के समय तक रहा है।

शुंग काल में विदिशा भागवत धर्म की प्रधान नगरी रही और भारशिव नागों के समय में वह शैवमत का केन्द्र बन गई। एक बार पुनः विदिशा को हिन्दू संस्कृति का प्रधान केन्द्र बनने का अवसर प्राप्त हुआ।

वैदिश नागों के पश्चात् भारतीय इतिहास में विदिशा को राजनीतिक महत्त्व फिर कभी नहीं मिला। गुप्तकाल में समुद्रगुप्त ने विदिशा को अपने साम्राज्य में मिला लिया। चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उज्जैन को अपनी राजधानी बनाया, इससे विदिशा का राजनीतिक महत्त्व कम हो गया। परन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक बार शैव धर्म के इस केन्द्र पर आया। उस समय उदयागिर के पहाड़ों में, जो विदिशा के ही एक अंग हैं, बहुतसी गुफाएँ बनाई गईं जिनमें हिन्दुओं की अनेक मूर्तियाँ स्थापित की गईं थी और जिनमें शेषशायी विष्णु की मूर्ति तथा वह वराह-मूर्ति भी है † जिसकी सानी की वराह-मूर्ति भारतवर्ष में और कहीं नहीं है।

इसके पश्चात् इतिहास में विदिशा का नाम कहीं नहीं मिलता। उसका स्पष्ट उल्लेख फिर महाराज हर्ष के राज-कवि बाणभट्ट ने अपनी कादम्बरी में किया है। परन्तु उसने भूतकालीन क्रिया का उपयोग किया है। अतः उसके समय में प्रायः ईसवी सन ६०० के लगभग विदिशा का अस्तित्व था भी या नहीं, और यदि था तो उसका पूर्व गौरव शेष था या नहीं यह सन्देहपूर्ण बात है।

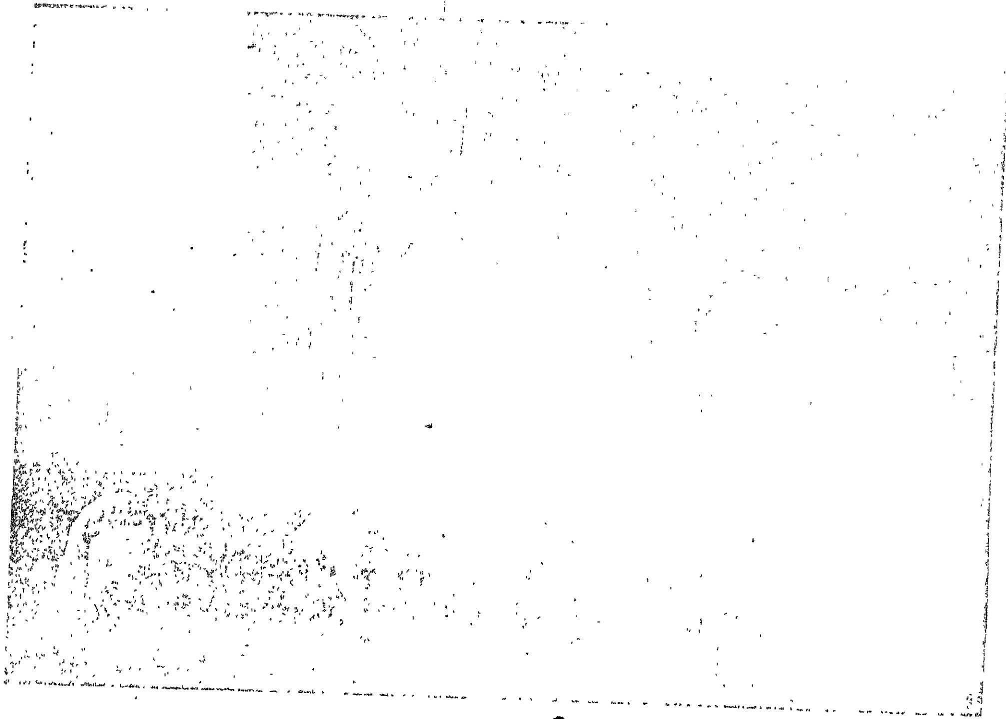
विदिशा नामक यह महत्त्वपूर्ण नगरी छोटे से बेस नामक ग्राम में कब और कैसे परिवर्तित हो गई इसके विषय में हमें कुछ भी ज्ञात नहीं है। ज्ञात यह होता है कि विदेशियों के बर्बरतापूर्ण आक्रमण और प्रकृति के प्रकोप ने इसको ध्वस्त कर दिया।

नखवान् जैसा होगा, फिर धनधर्मन् होगा और फिर चौथा वंगर होगा उसके पश्चात् वैदिश (राजाओं) में भूतिनन्द होगा। जब शुंगों के कुल का अन्त होगा तब शिशुनन्दि होगा, उसके भाई का नाम यशनन्दि होगा। उसके वंश में तीन राजा होंगे। उसकी लड़की का लड़का शिशुक पुरिका में राजा होगा। विन्ध्य-शक्ति का प्रवीर नामक वीर्यवान पुत्र काञ्चनका नामक पुरी पर ६० वर्ष तक राज्य करेगा और वाजपेय यज्ञ करेगा, उसके चार बेटे राजा होंगे)।

* अन्धकार-युगीन-भारत।

† देखिए "विक्रम व्हाल्यूम" में मेरा उदयगिरि पर लेख।





पद्मावती

श्री कुञ्जबिहारी व्यास

पद्मावती नगरी पुराण, साहित्य एवं इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है। नाग राजधानियों की परिगणना करते हुए विष्णुपुराण में लिखा है :—

"नवनागापद्मावत्यां कांतिपुर्यां मथुरायां।

प्रसिद्ध नाग राजाओं की राजधानी यह "पद्मावती" कहाँ पर स्थित थी, यह बहुत समय तक अनिश्चित ही रहा। प्रसिद्ध विद्वान् विल्सन ने इसके विषय में तीन मत व्यक्त किए। अपनी पुस्तक "थियेटर ऑफ दि हिन्दूज" भाग २ के पृष्ठ ९५ पर इस पद्मावती को उज्जैन से अभिन्न माना, फिर उसे बरार के पद्मपुर से अभिन्न माना और अन्त में वर्तमान भागलपुर के निकट बतलाया। कनिंघम साहब ने नरवर को प्राचीन पद्मावती का वर्तमान स्वरूप कहा।

पुराण में पद्मावती के नामोल्लेख के अतिरिक्त अन्य कोई भौगोलिक विवरण नहीं दिया है। इसका विस्तृत वर्णन मिलता है विक्रमीय सातवीं शताब्दी के लगभग लिखे गए महाकवि भवभूति के प्रसिद्ध नाटक "मालतीमाधव" में। "मालती माधव" नाटक के नीचे लिखे उद्धरण इस विषय में उपयोगी हैं।

मकरंदः (माधवं प्रति) :— तदुत्तिष्ठ परासिन्धुसंभेदमवगाह्य नगरीमेव प्रविशावः।

सौदामिनी :—एषास्मि सौदामिनी भगवतः श्रीपर्वतादुत्पत्य पद्मावतीमुपाश्रिता।

............भोस्तथाऽहमुत्पतिता यथा सकल एष गिरिनगरग्रामसरिदरण्यव्यतिकरश्चक्षुषा परिक्षिप्यते। साधु साधु।

पद्मावती विमलवारिविशालसिन्धुपारासरित्परिकरच्छलतो बिभर्ति।
उत्तुंगसौधसुरमन्दिरगोपुराट्टसंघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम् ॥

अपि च—

सैषा विभाति लवणा ललितोर्मिपंक्ति.............

अयमसौ भगवत्याः सिन्धोर्दारितरसातलस्तटप्रपातः।

अयं च मधुमतीसिन्धुसंभेदपावनो भगवान्भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठाः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते॥

इन उद्धरणों से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं:—

१. पद्मावती नगरी "सिन्धु" और "पारा" नामक दो नदियों से घिरी हुई उनके संगम पर स्थित थी।

२. नगर के पास ही सिन्धु का एक जल-प्रपात था।

३. नगर से थोड़ी दूर पर ही "सिन्धु" और "मधुमती" नामक नदियों का भी संगम था, जहाँ "सुवर्ण बिन्दु" नामक शिव-मूर्ति थी।

४. नगर के पास ही "लवण" नामक सरिता भी थी।

"मालतीमाधव" के उक्त वर्णन के अतिरिक्त ईसवी ग्यारहवीं सदी में रचित "सरस्वती कंठाभरण" में भी नागराज (फणपति) के वन युक्त बौद्ध विहारोंवाली, पारा और सिन्धु नदियों से मण्डित "विशाला" पद्मावती का वर्णन है:

परः पाराऽपारा तटभवि विहारः पुरवरं ततः सिन्धुः सिन्धुः फणिपतिवनं पावनमतः।
तदग्रे तुदग्रो गिरिरिति गिरिस्तस्य पुरतो विशाला शालाभिर्ललितर्ललनाभिर्विजयते॥

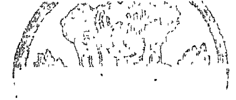
इन उल्लेखों में दिए गए विवरणों के आधार पर प्राचीन पद्मावती के स्थान को ठीक रूप में खोज निकालने में बहुत सरलता हुई है। यद्यपि कनिंघम ने जिस स्थान (नरवर) को पद्मावती माना था वह ठीक नहीं था, फिर भी उसने एक बहुत बड़ी खोज इस दिशा में की थी। उसने भवभूति द्वारा उल्लिखित सिन्धु, पारा, मधुमती एवं लवण नामक सरिताओं को आज की सिन्ध, पार्वती, महुअर और नून से अभिन्न घोषित किया। इस सूत्र को लेकर श्री लेले ने "मालतीमाधव सार आणि विचार" में ग्वालियर राज्य के गिर्द जिले में स्थित पवाया नामक स्थान को पद्मावती का वर्तमान रूप बतलाया। इस कथन की पुष्टि श्री गर्दे ने भी भारतीय पुरातत्त्व-रिपोर्ट, सन् १९१५-१६* में की। यह ग्राम सिन्ध (सिन्धु) और पार्वती (पारा) के संगम पर स्थित है। ग्राम से दो मील दक्षिण पश्चिम एक सुन्दर जल-प्रपात भी है। पवाया से दो मील दूर सिन्ध में महुअर (मधुमती) मिलती है और वहाँ आज भी एक शिवलिंग स्थापित है जो मालती-माधव के सुवर्ण-बिन्दु शिव का वर्त्तमान रूप है। पवाया में चार पाँच मील की दूरी पर ही नून (लवण) नदी है जो आगे सिन्धु में मिली है।

यह पद्मावती प्राचीन नागों की राजधानी रही है, यह "सरस्वती-कंठाभरण" के ऊपर उद्धृत श्लोक से स्पष्ट है। क्योंकि उसमें फणपति वन (नागराज का उपवन) स्थित था। वहाँ पर पुरातत्त्व विभाग की खोज से जो सामग्री उपलब्ध हुई वह भी इस मत का पूर्ण समर्थन करती है।

१. इस स्थान पर बहुतसी ताम्र-मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से अधिकाँश नाग मुद्राएँ हैं। इनपर भव, भीम, बृहस्पति, देव, गणेन्द्र, प्रुम, स्कन्द, वसु और वृष नौ नाग राजों का उल्लेख मिलता है। समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति में जिस गणपति नाग के बलपूर्वक नष्ट करने का उल्लेख है वह यही गणेन्द्र हैं, जिनकी मुद्राएँ अत्यधिक संख्या में प्राप्त होती हैं।

२. मणिभद्र यक्ष की मूर्ति और उसपर अंकित अभिलेख से इस नगरी का प्रसिद्ध नाग राजाओं की वैभव भूमि होना स्पष्टतः सिद्ध है। यद्यपि इस मूर्ति का सिर तथा कुछ अन्य भाग खण्डित हो गए हैं परन्तु सौभाग्य से

*श्री मो० ब० गर्दे के इस लेख से तथा उनके जयाजी प्रताप वर्ष ३७ अंक ३७ के लेख से इस लेख के लिखने में बहुत सहायता ली गई है।



श्री कुञ्जविहारी व्यास

इसका अभिलेख बहुत कुछ सुरक्षित है। इस अभिलेख में निम्नलिखित छह पंक्तियाँ हैं:—

(पंक्ति १) [रा] ज्ञः स्वा [मि] शिव[न]न्दिस्य संव[त्स]रे चतुर्थे ग्रीष्मपक्षे द्वितीये २ दिवसे
(पंक्ति २) द्व[ा]द[शे] १० २ एतस्य पूर्वाये गौष्ठ्या माणीभद्रभक्ता गर्भसुखिताः भगवतो
(पंक्ति ३) माणीभद्रस्य प्रतिमा प्रतिष्ठापयन्ति गौष्ठ्यम् भगवाऽयु बलं वाचं कल्य[ा]णाय्
(पंक्ति ४) दयम् च प्रीतो दिशतु। ब्राह्म[ण]स्य गोतमस्य कु[मा]रस्य ब्राह्मणस्य रुद्रदासस्य शिव[त्र]दाये
(पंक्ति ५) शमभूतिस्य जीवस्य खं [जबल]स्य शिव[ने]मिस्[य] शिवभ[द्र]स्य [कु]मकस्य धनदे
(पंक्ति ६) वस्य दा।

यह अभिलेख शिवनन्दी नाग के राज्यकाल के चौथे वर्ष में लिखा गया है। शिवनन्दी का उल्लेख अन्य किसी स्थल पर नहीं मिलता है। इस अभिलेख की लिपि को देखकर विद्वान् इसे ईसवी प्रथम शताब्दी का मानते हैं। शिवनन्दी के लिए "स्वामी" उपाधि का प्रयोग यह बतलाता है कि वह स्वतंत्र सम्राट् था। शिवनन्दी का नाम पुराणों में न होने के कारण डॉ० जायसवाल ने यह अनुमान लगाया है कि इस मूर्ति के निर्माणकाल के पश्चात् ही शिवनन्दी कनिष्क द्वारा पराजित हुआ। (देखिए—अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ १९)।

३. पारा के वाम तट पर ताड़पत्र से सुशोभित स्तंभ शीर्ष प्राप्त हुआ है। ताड़ नागों का चिह्न है और इससे उनकी कला पर तो प्रकाश पड़ता ही है साथ ही पद्मावती के नाग साम्राज्य के उन भागों में से एक भाग होना भी सिद्ध होता है, जहाँ जहाँ यह ताड़पत्रों के अलंकरण पाए जाते हैं।

४. एक नागराज की मूर्ति भी यहाँ प्राप्त हुई है। यह मूर्ति अत्यन्त भग्न है और अभिलेख रहित है, अन्यथा इससे नाग सम्राटों के इतिहास पर बहुत प्रकाश पड़ सकता था।

यह नगर अत्यन्त वैभवशाली एवं प्रसिद्ध था, इसके भी लिखित प्रमाण विद्यमान हैं। मालतीमाधव में उसके प्राकृतिक सौन्दर्य का वर्णन तो है ही, उसमें यह भी लिखा है कि यह नगरी भारत का प्रसिद्ध शिक्षाकेन्द्र थी। दूर देश विदर्भ (वर्तमान बरार) के कुण्डनपुर का विद्यार्थी भी इस शिक्षा-केन्द्र में अन्वीक्षकी विद्या के अध्ययन के लिए आता था। खजुराहो में प्राप्त १०५८, विक्रमी के अभिलेख में "सरस्वती कंठाभरण" की इस "विशाला" के विषय में लिखा है:—

आसीदप्रतिमा विमानभवनैराभूषिता भूतले लोकानामधिपेन भूमिपतिना पद्मोत्थवंशेन या॥
केनापीह निव(वे)शिता कृतयुगेत्रेतान्तरे श्रूयते सत्छा(च्छा)स्त्रे पठिता पुरा[ण]पटुभिः पद्मावती प्रोच्यते॥
सौधोत्तुंगपतंगलंवनपथप्रोत्तुंगनालाकुला शुभ्राभ्रंकषपाण्डुरोच्चशिखरप्राकारचित्राम्व(म्ब)रा॥ (।)
प्रालेयाम(च)लश्रृंगसंन्नि(नि)भशुभ्रप्रासादसद्मावती भव्यापूर्वमभूदपूर्वरचना या नाम पद्मावती॥
त्वंगत्तुंगतुरंगमोद्गमक्षु(खु)रक्षोदाद्रजः प्रो[द्ध]तं यस्यां जीर्न(र्ण)कठोरवभ्रु(स्त्र ?)मकरोत्कूर्मोदराभं नभः॥
मत्तानेककरालकुंभिकरटप्रोत्कृष्टवृष्ट्या[द्भु] त [यु]क्तं कर्दममुद्रया क्षितितलं तांवू(ब्रू) त किं संस्तुमः॥

(देखिए एपिग्राफिया इंडिका भाग १, पृष्ठ १४९)।

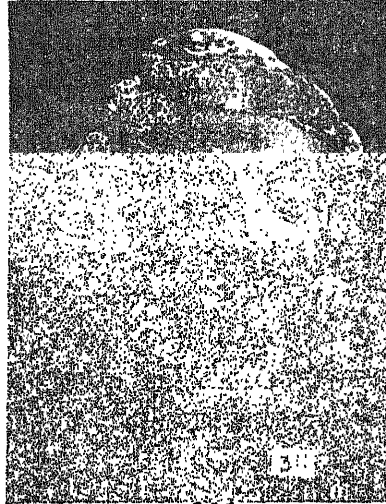
यह पुराण-प्रसिद्ध पद्मावती भारतीय इतिहास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इसने हिन्दू सभ्यता के महान्तम दिन देखे हैं। डॉ० जायसवाल ने अपनी पुस्तक "अन्धकारयुगीन भारत" में लिखा है "आधुनिक हिन्दुत्व की नींव नाग सम्राटों ने रखी थी। वाकाटकों ने उसपर इमारत खड़ी की थी, और गुप्तों ने उसका विस्तार किया था।" इस त्रयी में नागों और गुप्तों का पद्मावती से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। नागों के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है। ज्ञात होता है कि समुद्रगुप्त द्वारा नागवंश से छिन जाने के पूर्व ही पद्मावती पर विदेशी कुषाणों का प्रभुत्व हो गया था। यह ऊपर लिखा जा चुका है कि शिवनन्दी नाग अपने राज्य के पाँचवें वर्ष में कनिष्क से हारा होगा। कुषाणों को पुनः नागों ने पद्मावती से भगा दिया। नागों के समय के प्राप्त अवशेषों का उल्लेख ऊपर हो चुका है "दशाश्वमेधावभृथ स्नानाम्"—दश अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान करनेवाले, हिन्दू संस्कृति के संस्थापक भारशिव नागों के समय में पद्मावती बहुत समृद्ध रही होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

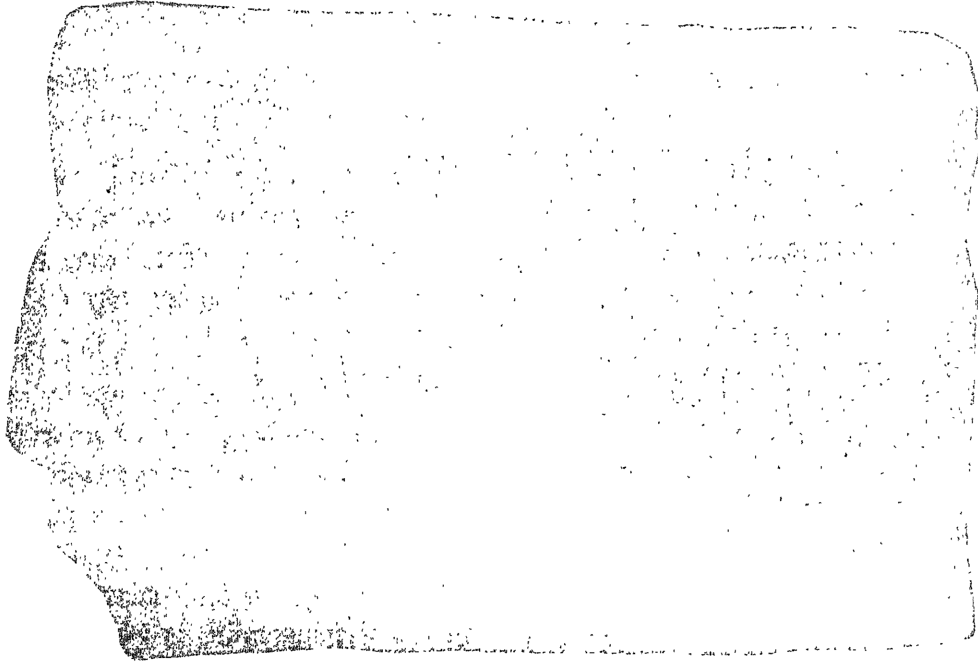
परन्तु कला और साहित्य के महान् उत्तेजक "असम-समर-विजयी" गुप्तों के काल में भी पद्मावती अपनी पद्मप्रभा को पूर्ण गौरवशाली बनाए थी। इसके प्रमाण में एक तोरण द्वार का वह अंश प्रस्तुत करना ही पर्याप्त होगा जो आज गूजरी-महल संग्रहालय में सुरक्षित है और जिसे पवाया के उत्खनन में प्राप्त किया गया था। इस प्रस्तर खण्ड पर परम भागवत गुप्त सम्राटों के राज्यकाल में पनपनेवाला हिन्दू धर्म का प्रफुल्ल रूप अत्यन्त कलापूर्ण एवं सुन्दर रीति से प्रदर्शित किया गया है। यद्यपि इसका एक पार्श्व कुछ अस्पष्ट हो गया है, परन्तु उसपर समुद्र-मंथन का दृश्य तथा षड़ानन को स्पष्ट पहचाना जा सकता है। दूसरी ओर बलि और वामन की कथा का एवं त्रिविक्रम का चित्रण है। इसी पार्श्व के वाम भाग पर जो दृश्य अंकित है उसमें आज भी अलौकिक संगीत एवं नृत्य मानों मुखरित होना चाहते हैं। इस नृत्य-संगीत दृश्य के वाम भाग का ऊपरी कोना टूट गया है, परन्तु उसमें इस समाज का एक ही व्यक्ति नष्ट हुआ है। नर्तकी एवं वादक सभी स्त्रियाँ हैं। टूटी हुई स्त्री सहित इस मण्डली में दस स्त्रियाँ होंगी। यह दृश्य रंगमहल के भीतर रात्रि के समय का दृश्य है जैसाकि इसमें दर्शित दीप स्तम्भ से प्रकट है। इसके अतिरिक्त यहाँ प्राप्त मिट्टी के खिलौने आदि भी अत्यन्त सुन्दर एवं दर्शनीय हैं। इनमें विभिन्न भावों को प्रदर्शित करती हुई स्त्रियों की आकृतियों, पशु पक्षियों के आकार, सजावट के उपकरण आदि इस कला के पूर्ण उत्कर्ष के साक्षी हैं।

गुप्त सम्राटों की धार्मिक नीति सहिष्णुतापूर्ण थी और इस कारण से उनके समय में पद्मावती में बौद्ध धर्म भी विकास पा सका होगा। आठवीं शताब्दी का भवभूति पद्मावती में बौद्धमठों का उल्लेख करता है और उसके पश्चात् लिखा गया "सरस्वती कण्ठाभरण" विहारों का अस्तित्व बतलाता है। कापालिकों का शाक्त और शैव सम्प्रदाय भी यहाँ स्थान पा सका था।

गुप्तों के पश्चात् पद्मावती का ऐतिहासिक गौरव विलुप्त होना प्रारम्भ हुआ। दसवीं व ग्यारहवीं शती में सम्भवतः कोई परमार शाखा वहाँ प्रभावशील रही जैसाकि जनश्रुति में प्रसिद्ध पुण्यपाल एवं धन्यपाल के नामों से ज्ञात होता है। चन्देल वीर मलखान के नाम पर वहाँ एक पहाड़ी का नाम "मलखान पहाड़िया" भी लोगों ने रख दिया है, धूमेश्वर मन्दिर के पास एक पृथ्वीराज चौहान का चबूतरा भी प्रसिद्ध है। परन्तु यह सब इतिहास न होकर बहुत कुछ जनश्रुति ही है। इतिहास तो फिर केवल यही बतलाता है कि सिकन्दर लोदी के सूबेदार सफदरखाँ ने वर्तमान किला बनवाया और इस पद्मावती का नाम भी असकन्दराबाद रखने का प्रयत्न किया। बुन्देलखण्ड के प्रसिद्ध वीरसिंह जू देव द्वारा धूमेश्वर महादेव के मन्दिर के निर्माण के पश्चात् पद्मावती अपने अत्यन्त घटनापूर्ण, गौरवशाली एवं अनेक शताब्दियों तक विस्तृत इतिहास को अपने अंक में समेटकर काल के अंचल में सो गई है, और "माया तेरे तीन नाम, परसू परसा परसराम" के समान लोगों ने इस गरीबनी को अब पद्मावती के स्थान पर पवाया कहना प्रारंभ कर दिया।

पुरातत्ववेत्ताओं ने पद्मावती और उसके प्राचीन गौरव को खोज निकाला है परन्तु अभी यहाँ बहुत अधिक कार्य होना शेष है। इस कार्य से राज्य के एक प्राचीनतम नगर का इतिहास तो ज्ञात होगा ही, भारतीय इतिहास के अनेक गौरव-पूर्ण अंशों के अत्यन्त पुष्ट प्रमाण भी प्रकट हो सकेंगे।





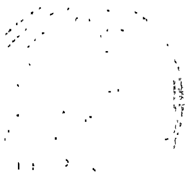
ग्वालियर राज्य में प्राचीन मूर्तिकला

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

प्रारंभिक—कला राजनीतिक सीमाओं को नहीं मानती, अतएव ग्वालियर-राज्य की प्राचीन मूर्तिकला से हमारा तात्पर्य किसी ग्वालियरी शैली विशेष से नहीं है। ग्वालियर की प्राचीन मूर्तिकला से तात्पर्य यही है कि हम उन मूर्तियों का विवेचन करें जो ग्वालियर-राज्य के अन्तर्गत आनेवाले विभिन्न स्थलों पर प्राप्त हुई हैं। यह विवेचन इस कारण से और भी सम्भव है कि इस राज्य की वर्तमान सीमाओं में प्राचीन भारत के कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थल रहे हैं। कुछ विशिष्ट शैलियों को छोड़कर ग्वालियर की मूर्तिकला भारत की मूर्तिकला की प्रतिनिधि है। अतः यह कहा जा सकता है कि इस राज्य की प्राचीन मूर्तियों का विवेचन बहुत अंश तक प्राचीन भारत की मूर्तिकला का विवेचन है।

इस राज्य की प्राचीन मूर्तिकला पर प्रकाश डालने के लिए प्रेरित करनेवाली मूल वृत्ति इस भूमि से लेखक का ममत्व तो है ही, परन्तु केवल यही प्रधान कारण नहीं है। समस्त भारत की मूर्तिकला के विवेचन के समय एक प्रदेश विशेष की कला-सम्पत्ति के साथ पूर्ण न्याय नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रादेशिक अध्ययन द्वारा सार्वदेशिक महत्त्व की बातों के विवेचन के साथ ही प्रादेशिक महत्त्व की वस्तुओं पर भी प्रकाश-पात करने को स्थान मिलता है। ग्वालियर-राज्य की कला-सम्पत्ति पर प्रकाश डालने का एक कारण यह भी है कि बाहर के विद्वानों ने यहाँ की कला-सम्पत्ति को अत्यन्त उपेक्षा की दृष्टि से देखा है और साथ ही उनमें अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। प्राचीन मूर्तिकला के एकाधिक इतिहासों में उदयगिरि गुहा को भूपाल-राज्य में लिखा देखकर आश्चर्य होता है।* उदयगिरि को जितना चाहिए उतना महत्त्व भी नहीं दिया जाता। चित्रकला के इतिहासों में बाग (अमझरा जिला) की सुन्दरतम कृतियों को अनुपस्थित

* स्मिथः हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, चित्र ४६। कुमारस्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ७७ तथा चित्र नं० ७७।



पाया। साथ ही अनेक सुन्दरतम मूर्तियाँ उनकी दृष्टि में नहीं आई हैं। अनेक मूर्तियों के काल एवं विषय के सम्बन्ध में अनेक भ्रान्तियाँ हुई हैं।* अस्तु।

मानव-हृदय में व्याप्त सौन्दर्य-भावना को किसी उचित माध्यम द्वारा साकार रूप प्रदान करने की प्रवृत्ति ही कला को जन्म देती है। यह प्रवृत्ति आदिम मानव में भी पाई जाती थी। उसने अपने आराध्य एवं प्रिय का जहाँ वाणी द्वारा गान किया वहाँ उसको अधिक स्थायी माध्यम प्रस्तर, मृत्तिका अथवा धातु द्वारा रूप देने का भी प्रयास किया। इसी प्रवृत्ति ने मूर्तियों का निर्माण कराया। सिन्ध और पंजाब में मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा में प्राग्-इतिहासकालीन मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं, परन्तु हमारे राज्य का मूर्तिकला का इतिहास मौर्यकाल के कुछ पहले से अथवा पूर्व से पूर्व शैशुनाक काल से प्रारंभ होता है।

इस स्थल पर उन माध्यमों पर भी विचार कर लेना उचित है जिनको आधार बना कर मूर्तिकार अपनी कला को साकार रूप देता है। इनमें प्रधान प्रस्तर-खण्ड हैं। शिलाओं को कुरेद कर अथवा शिलाखंडों को गढ़कर मूर्तियों का निर्माण करते हैं, जिनका आकार ग्वालियर-गढ़ की पर्वताकार मूर्तियों से लेकर अत्यन्त छोटी मूर्तियों तक है। कुछ मूर्तियाँ चारों ओर से बनी हैं, कुछ का केवल सामना बनाया जाता है। कुछ पत्थर पर चित्रों के समान उभरी हुई (अर्धचित्र) कुरेद कर बनाली जाती हैं। दूसरा आधार मिट्टी है। मिट्टी के ठीकरों पर उभरी हुई मूर्तियाँ बनाने की कला भारत में बहुत पुरानी है। प्रागैतिहासिक स्थलों पर भी ये प्राप्त होती हैं। इस राज्य में भी बहुत प्राचीन मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं और पवाया पर जो राशि प्राप्त हुई है वह इस कला के चरम विकास का प्रमाण है। तीसरा साधन धातु है। प्राचीनकाल की धातु-मूर्तियाँ राज्य में अत्यन्त कम प्राप्त हुई हैं, जो मिली हैं वे महत्त्वहीन हैं। परन्तु पुरातत्त्व-विभाग के संग्रहालय में बाहर से कुछ अच्छी धातु मूर्तियाँ संग्रहीत हुई हैं।

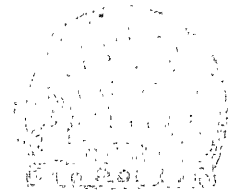
मूर्तियों के विषय और प्रयोजन भी अनेक रहे हैं। मूर्ति-निर्माण की प्रधान प्रेरणा धार्मिक पूजा-स्थलों से मिली है। इस कारण से बहुसंख्यक मूर्तियाँ किसी न किसी सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। विजयगाथाओं अथवा धार्मिक दानों को उत्कीर्ण किए हुए प्रस्तर-स्तंभों पर निर्मित मूर्तियाँ अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं, परन्तु ये स्तम्भ बहुधा मन्दिरों से सम्बन्धित कर दिए जाते थे। मालव-वीर यशोधर्मन्-विष्णुवर्द्धन् के विजय-स्तंभों के पास पाए गए शिव-मन्दिर के अवशेष इसे सिद्ध करते हैं। स्मारक एवं सती स्तम्भों पर धार्मिक दृश्य अंकित रहते ही हैं। वास्तव में भारत जैसे धर्मप्राण देश में प्राचीनकाल में प्रत्येक कला धर्मानुगामिनी होकर ही रही है। ऐसी मूर्तियाँ बहुत कम प्राप्त हुई हैं जो किसी सम्प्रदाय अथवा धर्म से सम्बन्धित न हों; परन्तु इनका अभाव नहीं है। यहाँ तक कि मदिरा-पान एवं आखेट तक के दृश्यों को अंकित करनेवाली मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

हमारी बहुतसी सांस्कृतिक विरासत अनेकों सहस्राब्दियों के चक्र के नीचे विलीन हो गई हैं। काल के क्रूर हाथों से पत्थर भी नहीं बच सका। परन्तु काल के साथ साथ मानव ने भी हमारी मूर्तिकला-भाण्डार के विनाश में पूरा हाथ बटाया है।† मूर्तिकला का सबसे बड़ा दुश्मन धार्मिक असहिष्णु मानव रहा है। मूर्ति-कला को आश्रय देनेवाले भवनों से

---

* बेसनगर की तेलिन (महिषमर्दिनी) की मूर्ति को स्मिथ ने पूर्व मौर्यकालीन लिखा है। देखिए—स्मिथः, वही, पृष्ठ३०)। डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी मणिभद्र यक्ष की मूर्ति को पूर्व-मौर्यकालीन बतलाते हैं। (हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ ३१५)।

† कनिंघम ने आ० स० ई० भाग २०, पृष्ठ १०३ में दुबकुण्ड (श्योपुर) की मूर्तियों के विषय में अत्यन्त आश्चर्यपूर्ण बात लिखी है कि वहाँ की जैन मूर्तियों को मराठों ने तोड़ा है। यदि मराठे मूर्तियाँ तोड़ने की इच्छा रखते तो चन्देरी, ग्वालियर गढ़ आदि बहुत से स्थलों पर जैन धर्म के अवशेष भी न मिलते। दूसरे, हिन्दू धर्म में अन्य धर्मों के देवमन्दिरों को नष्ट करने की भावना का प्रचार कभी नहीं किया गया। यह विचार अत्यन्त भ्रांतिपूर्ण तथा असत्य है।



नवीन भवन-निर्माण के लिए सुलभ सामग्री खोजनेवाले व्यक्तियों ने भी इस कला को ध्वस्त किया है। इन सब विनाशों से बची हुई जो मूर्तिकला-सम्पत्ति राज्य के विभिन्न स्थानों में प्राप्त हुई है उसका संक्षिप्त विवेचन करने का प्रयास आगे किया गया है। हमने अपने इस विवरण को गुप्तकाल तक लाकर समाप्त कर दिया है।

इस विवेचन को हमने कुछ कालों में बाँट लिया है। यह काल कुछ मूर्तियों के तथा शैलियों के आधार पर हैं। राजनीतिक इतिहास भी उससे गुंथा रहता ही है, अतः अत्यन्त संक्षेप में पहले सम्बन्धित प्रदेश का राजनीतिक इतिहास देकर प्रधान मूर्तियों के काल, शैली, कला आदि का विवरण दिया है।

प्राग्-मौर्य कालीन (ई० पू० ६०० [?] से ई० पू० ३०० तक)--ईसा से प्रायः ६०० वर्ष पूर्व उज्जैन पर महाप्रतापी प्रद्योत नामक राजा राज्य करता था, जो अपने प्रताप एवं वीरता के कारण चण्ड-प्रद्योत कहलाता था। वत्सदेश का राजा उदयन इसका दामाद हुआ। यह वही उदयन है जिसकी कथाएँ उज्जैन के ग्रामवृद्ध अनेक शताब्दियों के पश्चात् भी सुनाते रहते थे।* मगध का राजा उस समय शिशुनाक वंशी अजातशत्रु था। उदयन के पश्चात् अवन्ती का राजा पालक हुआ। पालक के प्रजा-पीड़न से दुःखी होकर उज्जयिनी की जनता ने उसे राज्य-च्युत करके विशाखयूप को राजा बनाया। अजातशत्रु के पश्चात् मगध का राजा दर्शक हुआ और उसका उत्तराधिकारी उसका पुत्र अजउदयी हुआ। इस अजउदयी ने अवन्ति के राजा विशाखयूप को जीतकर उसे अपना करद बनाया और विशाखयूप की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती के राज्य की बागडोर सीधे अपने हाथ में ले ली। इसी अजउदयी ने मगध में पाटलिपुत्र नगर की स्थापना की। अजउदयी के पश्चात् नन्दिवर्धन गद्दी पर बैठा।

इस प्रकार भारतवर्ष के इतिहास में मगध-साम्राज्य की स्थापना हुई, जिसकी पूर्वी राजधानी पाटलिपुत्र थी और पश्चिमी उज्जयिनी। उज्जयिनी और पाटलिपुत्र के राज-मार्ग पर प्राचीन विदिशा नगरी स्थित थी। उज्जयिनी ने इतने उथल-पुथल देखे हैं कि वहाँ प्राचीनकाल के अवशेष नहीं मिलते। विदिशा नगरी भी प्राचीन काल में कम महत्त्वपूर्ण नहीं थी। यह अनेक राजमार्गों पर स्थित होने के कारण व्यापारिक, सामरिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र रही है। अतः यह कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारी प्राचीन मूर्तिकला के इतिहास के प्रारंभिक अध्याय विदिशा के खण्डहरों से ही प्रारम्भ हों।

जहाँ पहले प्राचीन विदिशा नगरी बसी हुई थी उस स्थान के एक कोने में आज बेस नामक ग्राम बसा है। इसके अवशेषों में प्राचीनतम काल की कला-कृतियाँ दबी पड़ी हैं।

सन् १८७४ में एलेक्जेण्डर कनिंघम, डायरेक्टर जनरल ऑफ आर्क्यालॉजी ने विदिशा के ध्वंसावशेषों पर पड़ी हुई मूर्तियों का अन्वेषण किया था। उनकी दृष्टि में हमारी प्राचीनतम एक मूर्ति आई थी और उसका वर्णन उन्होंने आर्क्यालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया के भाग १०, पृष्ठ ४४ पर किया है। यह एक विशालकाय स्त्री-मूर्ति है जो ६ फीट ७ इन्च ऊँची है। यह मूर्ति दो भागों में टूट गई है और हाथों का पता नहीं चल सका। सबसे प्रथम इस मूर्ति का केश-विन्यास अपनी विशिष्टता के कारण आकर्षित करता है जो अत्यन्त भारी और प्रभावशाली है। ज्ञात यह होता है कि कनक-खचित कपड़े या डोरों के साथ बालों को सजाया गया है जिससे कि एक मुण्डासा सा बन गया है, जिसने सम्पूर्ण सिर को पीछे गले तक ढक लिया है। पीछे बालों की दो चौड़ी गुंथी हुई चोटियाँ कमर के नीचे तक लटक रही हैं। कानों में भारी बाले लटक रहे हैं। उनका भारीपन केश-विन्यास के भारीपन से मेल खाता हुआ है। गले में अनेक मालाएँ पड़ी हुई हैं, जिनमें एक बहुत मोटी है और स्तनों के बीच में से पेट के ऊपरी भाग तक लटक रही है। अधोवस्त्र और अलंकरण भी कम विचित्र

---

* प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान् ॥पूर्वमेध ३२॥

अथवा

प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे। हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः॥
अत्रोद्भ्रांतः किल नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य दर्पादित्यागन्तून्रमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः॥ पूर्वमेध ३५॥



नहीं हैं। कनिंघम ने शरीर के ऊपरी भाग में 'जाकेट' पहने होना बतलाया है। अधोवस्त्र एक साड़ी है जो घुटनों के नीचे तक आती है। साड़ी के नीचे एक वस्त्र और पहना हुआ है जो पैर के पंजों तक पहुँचता है। गले के समान कटि पर भी अनेक प्रकार के अलंकार तथा झालरें हैं। साड़ी की सामने की चुन्नट भी विशिष्ट प्रकार की है। पैरों की बनावट भद्दी है।

यह मूर्ति कलकत्ता-संग्रहालय में चली गई है। सौभाग्य से भेलसे के प्राचीन किले के पास एक खेत में बिलकुल इसी प्रकार की एक मूर्ति हाल ही और प्राप्त हुई है। जिस स्थान पर यह मूर्ति प्राप्त हुई है वह इसका मूल स्थान नहीं है। ज्ञात होता है कि पास ही बेसनगर से किसी व्यक्ति द्वारा यह खण्ड इस स्थान पर ले आया गया। यद्यपि वह टूटी हुई है और उसका केवल छाती के ऊपर का भाग ही प्राप्त हुआ है, परन्तु फिर भी वह हमारी अत्यन्त बहुमूल्य कला-सम्पत्ति है। बेसनगर की बड़ी स्त्री मूर्ति के राज्य की सीमाओं के बाहर कलकत्ता संग्रहालय में प्रवास करने के पश्चात् हमारे पास इतना प्राचीन कुछ भी नहीं था।

इन मूर्तियों के काल के विषय में बहुत मतभेद है। इनकी शैली को देखते हुए इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ दिखती हैं :—

(१) इनकी विशालता,
(२) चारों ओर से कोर कर बनाने की रीति,
(३) यथातथ्य चित्रण की ओर प्रवृत्ति,
(४) पैरों की बनावट, और
(५) बगलों और पीछे के भाग की उपेक्षा कर सामना अधिक विस्तार से बनाने की प्रवृत्ति।

इसी श्रेणी और शैली की अनेक मूर्तियाँ भारतवर्ष में प्राप्त हुई हैं। (१) परखम (मथुरा) की मूर्ति (२) बरोदा (मथुरा) की मूर्ति (३) मथुरा के पास की मनसादेवी की मूर्ति (४) मथुरा की एक और स्त्री-मूर्ति। (५) पटना के पास पुरुष-मूर्ति (६) पटना के पास प्राप्त दूसरी पुरुष-मूर्ति (७) कोसम में प्राप्त मूर्ति-खण्ड।

इनके निर्माण-काल के विषय में विद्वानों में बहुत वाद-विवाद हुए हैं। विद्वान् इनके विषयों पर भी एकमत नहीं है। अनेक विद्वान् इन्हें यक्ष-यक्षणियों की मूर्तियाँ बतलाकर मौर्यकालीन सिद्ध करते हैं; कुछ विद्वान् इन्हें देवकुलों में रखी हुई राजा-रानियों की प्रतिमाएँ मानते हैं।*

राजवंशों की मूर्तियों के देवकुलों का अस्तित्व भास के 'प्रतिमा' नामक नाटक से ज्ञात होता है। उस समय यह प्रथा थी कि प्रत्येक राजवंश का अपना देवकुल होता था जिसमें मरने के पश्चात् राजा की मूर्ति स्थापित की जाती थी और कालान्तर में उक्त देवकुल में अनेक मूर्तियाँ एकत्रित हो जाती थीं।‡ यह अनुमान किया गया है कि जो मूर्तियाँ पटना के पास मिली हैं वे शैशुनाक राजाओं के देवकुल की थीं। उन पर उत्कीर्ण लेखों के अनुसार उन्हें अजउदयिन, नन्दिवर्धन और वर्तनन्दि की मूर्तियाँ बतलाया गया है तथा परखम की मूर्ति को अजातशत्रु की मूर्ति कहा है। इन शैशुनाक सम्राटों का अवन्ति से राजनीतिक सम्बन्ध बतलाया जा चुका है, अतएव इन विद्वानों ने बेसनगर की ये मूर्तियाँ भी उसी काल की मानी हैं।

यक्षवादी विद्वानों ने इन मूर्तियों के लेखों को यक्षों के नामों के रूप में पढ़ा है। ई० पू० प्रथम शताब्दी की मणिभद्र यक्ष की मूर्ति पवाया में मिली है। उसपर उत्कीर्ण अभिलेख के कारण उसके काल के विषय में कोई शंका नहीं है। उसकी

*** इन मूर्तियों के विषय में जो विवाद हुआ है उसके लिए देखिए—(१) भारतीय इतिहास की रूपरेखा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५५८-५६२; ज० बि० ओ० रि० सो०, भाग ५, पृष्ठ ५१२-५६५; इ० ए० १९१९ पृष्ठ २५-२६; मॉडर्न रिव्यू, अक्टूबर १९१९; ज० रा० ए० सो० १९२०, पृष्ठ १५४-१५६ तथा नागरी प्रचारिणी पत्रिका (नवीन संस्करण) भाग १, पृष्ठ ४०–८२।**

‡ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, पृष्ठ ९५–१०८।

शैली से इन मूर्तियों की तुलना की जाए तो वे एक ही परम्परा की ज्ञात होंगी। अतः अधिक सम्भव यही है कि उक्त मूर्तियाँ यक्षों की ही हों। मथुरा की मूर्ति के सम्बन्ध में 'देवकुलवादी' विद्वान् यह अनुमान लगाते हैं कि वह पटना के पास से यहाँ लाई गई है। परन्तु बेसनगर में ये दो स्त्री मूर्तियाँ ही मिली हैं। इन्हें क्या समझें ? हम मानने को तैयार नहीं कि यह दोनों स्त्री मूर्ति भी पटना के देवकुल की रानियों की मूर्तियाँ हैं जो किसी प्रकार विदिशा में ले आई गईं। ये मूर्तियाँ या तो उस समय के यक्ष-पूजा का प्रमाण हैं* या फिर केवल अलंकरण के रूप में किसी प्रासाद को सुशोभित करने के लिए बनाई गई थीं।

इनके काल के विषय में भी दो मत हैं। यदि इन्हें शैशुनाकवंशीय प्रतिमाएँ मानें तो इनका समय ई० पू० ६०० तक पहुँच जाता है। परन्तु यदि इन्हें यक्षिणियों की मूर्तियाँ माना जाए अथवा स्वतंत्र मूर्तियाँ भी माना जाए तो भी इनको पूर्व मौर्यकालीन तो माना ही जा सकता है।

दीदारगंज में प्राप्त चामर-ग्राहिणी की मूर्ति की चमकदार ओप को देखते हुए उसे निश्चय ही मौर्यकालीन कहा जा सकता है। उसके साथ इन मूर्तियों की तुलना करने पर यह कहा जा सकता है कि इनकी कला कम विकसित है, इसलिए ये उससे पूर्व की हैं।

आनन्द कुमारस्वामी ने इन मूर्तियों को मौर्यकालीन ही बतलाया है। वे दीदारगंज की प्रतिमा को बेसनगर की प्रतिमा से अधिक विकसित † मानते हैं; परन्तु वे इसका कारण यह बतलाते हैं कि मौर्यकाल में राज-दरबारी और लोक की कला पृथक् रही है। ये स्थूल एवं अविकसित मूर्तियाँ लोक-कला की उदाहरण हैं और ओपदार कृतियाँ अशोक की राजदरबार की कृतियाँ हैं।‡ इस कल्पना को अन्य विद्वानों ने भी प्रतिध्वनित किया है।§ परन्तु यह क्लिष्ट कल्पना की आवश्यकता केवल राजकुलवाद के विरोध में उत्पन्न हुई है। सीधी और सच्चीसी बात तो यह है कि ये मूर्तियाँ चामर-ग्राहिणी के पूर्वकाल की हैं, और ऐसे पत्थर पर बनी हैं जिस पर ओप नहीं हो सकता तथा ऐसे काल में बनी हैं जब पत्थर पर ओप करना हमारे मूर्तिकार नहीं जानते थे।

साथ ही रायकृष्णदासजी ने जिस कारण से इसे पूर्व मौर्यकालीन माना है, वह भी ठीक नहीं है। इनकी यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति, विशालता एवं चारों ओर कोर कर बनाने की रीति को उन्होंने प्राचीनता का द्योतक मान लिया है।** इन्हीं कारणों से बेसनगर की विशालकाय महिषमर्दिनी की गुप्तकालीन मूर्ति को भी अन्य विद्वानों ने उक्त मूर्तियों का समकालीन मान लिया। यहाँ तक कि डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी बेसनगर की उक्त महिषमर्दिनी की मूर्ति के साथ साथ पवाया की मणिभद्र यक्ष की मूर्ति को भी ईसवी सन् के ३०० वर्ष पूर्व में गिन जाते हैं। कला काल और समय के खाँचे नहीं मानती। कलाकार किसी भी अन्य देश या काल की शैली से प्रभावित हो सकता है। इस प्रकार के पक्के नियम ढालकर मूर्तियों के काल का विवेचन निर्भ्रान्ति रूप से नहीं किया जा सकता।

मौर्य कालीन (ई० पू० ३०० से ई० पू० १५० तक)—चन्द्रगुप्त ने मगध के सम्राट् महापद्मनन्द को मारकर उत्तर भारत में विशाल साम्राज्य की स्थापना की। उसने ग्रीक विजेता अलिकसुन्दर की विशाल सेना को देखा था और उसके विश्व-विजय के स्वप्नोंसे भी परिचय प्राप्त किया था। उसके प्रबल प्रताप से टकराकर देवपुत्र नामधारी ग्रीक विजेता के सेनापति

* मौर्यों के बहुत पूर्व यक्षपूजा प्रचलित थी, इसके लिए देखिए आनन्द कुमारस्वामी का 'यक्ष' नामक लेख Smithsonian Miscellaneous Collections, Vol. 80, No. 6. में प्रकाशित)।

† हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ १७।

‡ वही, पृष्ठ १८।

§ डॉ० राधाकुमुद मुकर्जीः हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ ३१५।

** भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ १६।

*** मुकर्जीः हिन्दू सिविलिजेशन, पृष्ठ ३८।

सिल्यूकिद की तलवार भी श्रीहीन होकर भारत-वीरों के चरणों में झुक गई थी। हेलेना अथवा कार्नेलिया के विवाह की कथा में कल्पना का मिश्रण भले ही हो परन्तु मेगस्थनीज के राजदूतत्व की घटना तो ऐतिहासिक तथ्य ही है। भारत के सम्राटों के राजदरबारों में अपनी विनम्र मैत्री दिखाने की इस परम्परा का प्रमाण अन्तलिकित (एण्टिअल्कीड्स) के समय तक मिलता है। जो हो, परन्तु ग्रीक और भारतीय संस्कृतियों का मिलन मौर्यकाल से प्रारम्भ हो गया था, यह प्रमाणित है। इन 'यवनों' से भारत ने विजित के रूप में नहीं परन्तु विजेता के रूप में सम्पर्क प्रारम्भ किया था। अतएव भारतीय कलाकारों ने ग्रीक तथा अन्य पश्चिमी देशों की कला की नकल की होगी, यह सोचना समीचीन नहीं है। परन्तु साथ ही यह भी नहीं सोचा जा सकता कि भारतीय कलाकार ने पश्चिमी कला के सम्पर्क में आकर भी उसके सौन्दर्य को ग्रहण करने से एकदम इन्कार कर दिया होगा। वास्तव में इस सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि भारतीय कलाकार ने उन कला-कृतियों को आत्मसात् किया है जो उसे भारतीय रुचि के अनुकूल दिखीं। ऐसी दशा में अनेक विद्वानों ने अशोक के द्वारा बाहर के कलाकार बुलाने की कल्पना की है*, वह अत्यन्त अप्राकृतिक एवं भ्रान्त है।

पाटलिपुत्र-पुरवराधीश्वर सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य तथा बिन्दुसार अमित्रघात के समय में भी उज्जयिनी एवं विदिशा को गौरव प्राप्त था, इसके प्रमाण मौजूद हैं। जब अशोक केवल युवराज थे, तब वे राज-प्रतिनिधि के रूप में उज्जयिनी में रहे थे और विदिशा की श्रेष्ठि-दुहिता 'देवी' से उनके संघमित्रा नामक कन्या एवं महेन्द्र तथा उज्जैनीय नामक दो पुत्र हुए थे।† इन वैश्या महारानी की स्मृति जनश्रुति ने 'वैश्या-टेकरी' के नाम में अब तक जीवित रखी है।

प्रद्योत, उदयन और अजातशत्रु के समय में शाक्य मुनि गौतम बुद्ध ने अहिंसामय धर्म का विस्तार उत्तर भारत में किया था। कलिंग-विजय में जो अगणित नरबलि देनी पड़ी, उसने अशोक का हृदय बौद्ध-धर्म की ओर आकर्षित किया। वह बौद्ध धर्म का प्रबल प्रचारक बन गया। उसने उसे अपने साम्राज्य का राजधर्म बनाया और भारत के बाहर भी प्रचार किया। कहते हैं कि उन्होंने ८४,००० बौद्ध स्तूप बनवाए‡ और अपने आदेशों से युक्त अनेक स्तम्भ खड़े किए। इन स्तूपों के चारों ओर बाड़ (रेलिंग) होती थी। यह बाड़ या तो काठ की होती थी या पत्थर की। उन पर बुद्ध के जीवन-सम्बन्धी अनेक चित्र अंकित किए जाते थे, इन दृश्यों के विषय में एक बात स्मरणीय है; बुद्ध भगवान् ने अपना चित्र अंकन करने का निषेध कर दिया था। अतएव इन बाड़ों पर बुद्ध की मूर्ति नहीं है।

चन्द्रगुप्त मौर्य और अशोक के महलों का वर्णन हमें ग्रीक राजदूत और फायहान द्वारा लिखा हुआ मिला है। उनकी विशालता से वे अत्यधिक प्रभावित हुए थे और तत्कालीन अन्य विदेशी राजधानियों के राजमहलों से भी श्रेष्ठ थे, ऐसा मेगस्थनीज ने लिखा है। फायहान तो उनकी महानता को देखते हुए उन्हें मानवकृत मानने में भी सन्देह करता है और उन्हें देवयोनि द्वारा निर्मित मानता है।‡ इससे यह प्रकट होता है कि उस काल में स्थापत्य कला तथा उसकी संगिनि मूर्तिकला अत्यन्त समुन्नत दशा में थी, और साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि भारत को मौर्यकाल में परदेशी कारीगर बुलाने की आवश्यकता भी न पड़ी होगी जैसाकि मार्शल आदि का मत है।

मौर्यकालीन कारीगर पत्थर पर एक अत्यन्त चमकदार ओप करने की रीति जानते थे जो उस काल की कला की एक अत्यन्त निजी विशेषता थी। मूर्ति या स्तंभ बनाकर वे उसे इतना चिकना कर देते थे कि हाथ फिसलता था। यह ओप उस काल की मूर्तियों की अचूक पहिचान है। यद्यपि पत्थर पर ओप आगे भी हुआ परन्तु इस अशोकीय ओप की बराबरी न की जा सकी। साँची के तोरणों पर इसका आभास मिलता है और मध्यकाल में तो अनेक मूर्तियों पर चिकनाहट की गई है, परन्तु इसकी अपनी निजी विशेषता है। इसमें चुनार का पत्थर अधिक सहायक हुआ है।

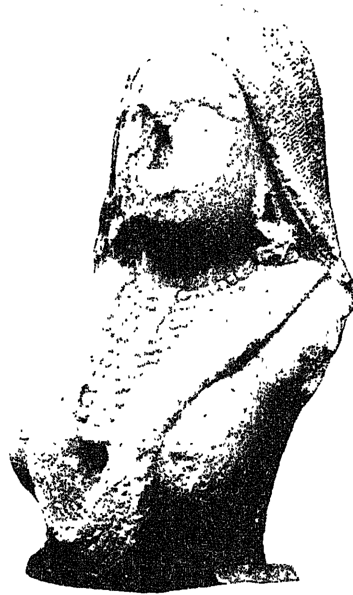
*** मार्शलः ए गाइड टू साँची, पृष्ठ १०।**

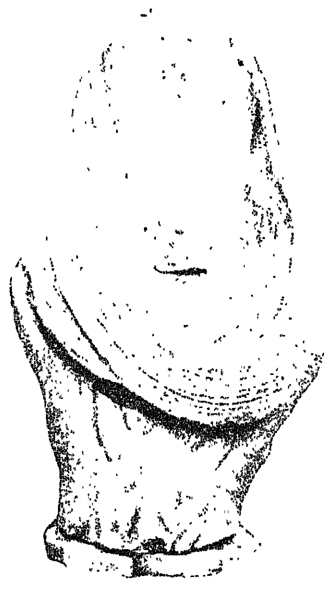
† वही, पृष्ठ ८ तथा महावंश।

‡ फायहान : यात्रा-विवरण, अध्याय ५८।

‡ वही।







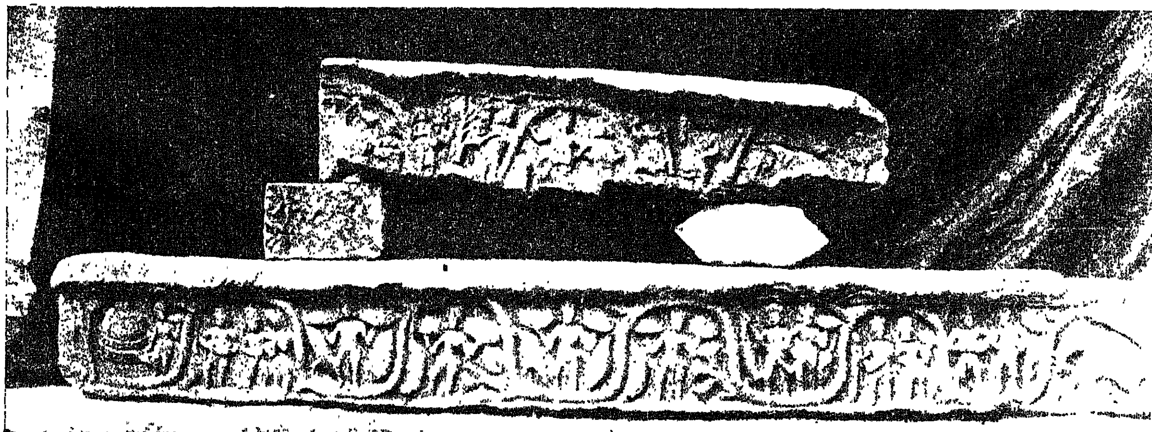
बेसनगर में प्राप्त यक्षी-मूर्ति।

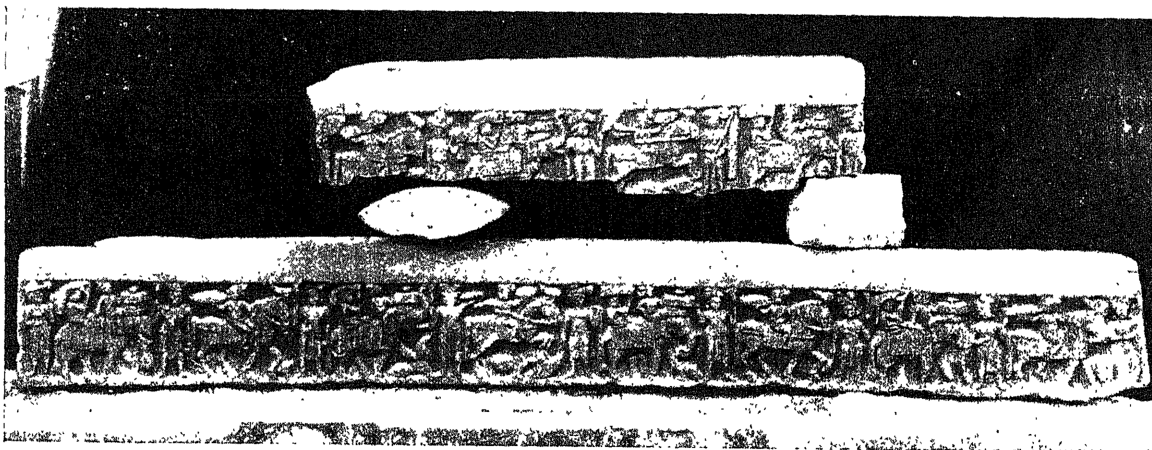


बेसनगर में प्राप्त यक्षी की मूर्ति।

परखम की यक्षमूर्ति।

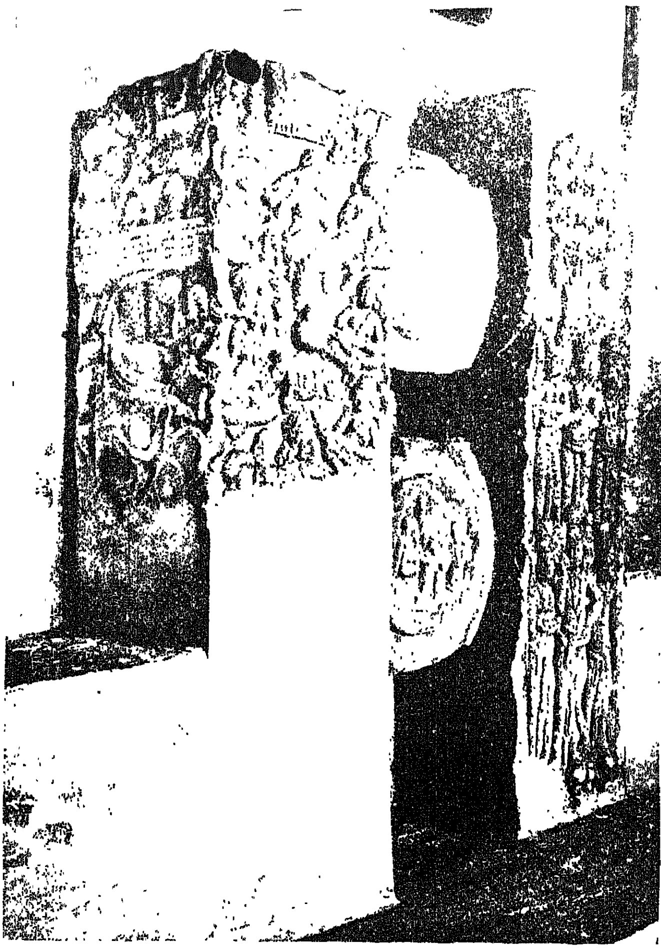
बेसनगर में प्राप्त बौद्ध वेदिका के चित्र (दोनों पार्श्व)।





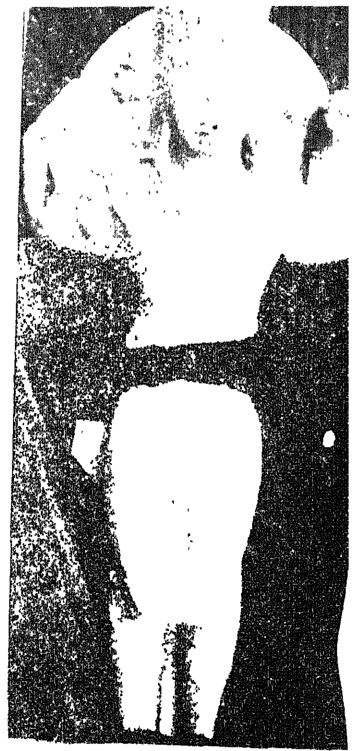
चामर ग्रहिणी, पटना।







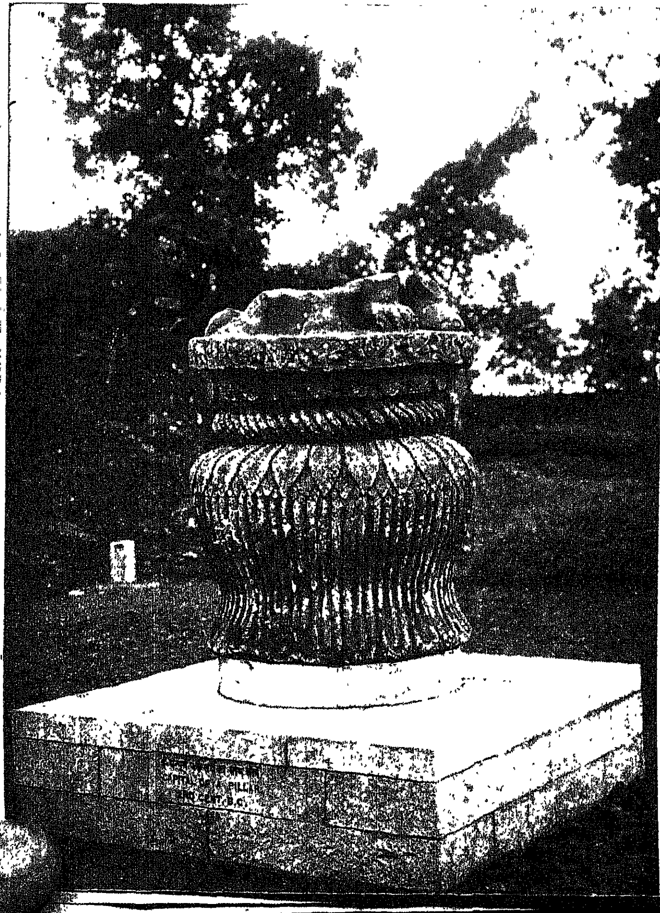
एकसिंह-स्तंभशीर्ष, उदयगिरि।



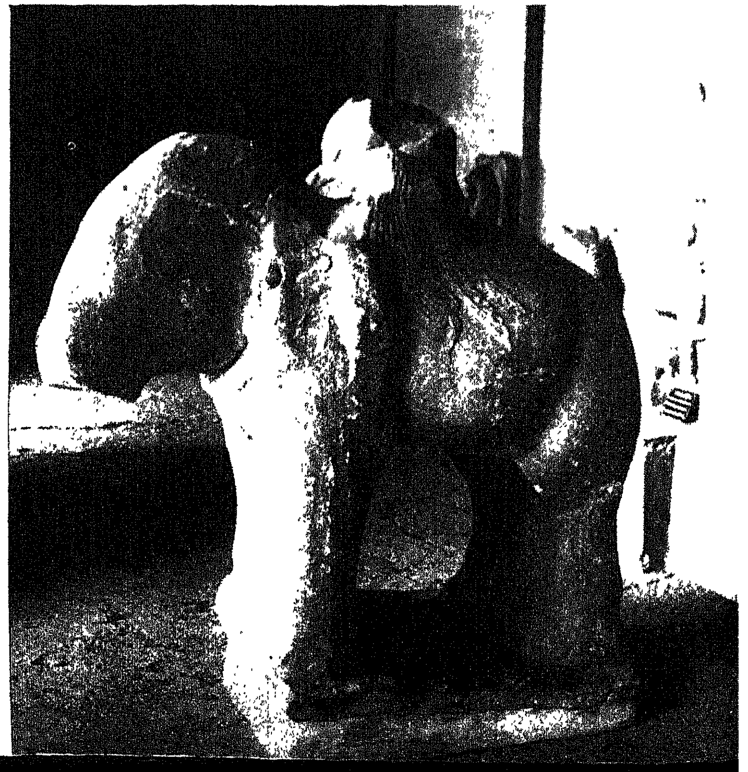
विष्णु-मूर्ति बेसनगर।

बेसनगर की वेदिका के स्तंभ तथा सूची।

स्तंभ-शीर्ष, लुहाँगी।



सवारयुक्त हाथी, बेसनगर।



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

मौर्य सम्राटों का विदिशा और उज्जैन से राजनीतिक सम्बन्ध था, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अतएव यहाँ भी मौर्यकाल की मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण प्राप्त हुए हैं और आगे भी प्राप्त होने की आशा है। विद्वानों ने यह अनुमान किया है कि पत्थरों पर उभरी हुई मूर्तियाँ (अर्ध-चित्र) तथा अलंकरण हाथी दाँत पर बनी हुई कलाकृतियों का अनुकरण करने की चेष्टा से बने हैं। ये हाथीदाँत के कारीगर विदिशा में रहते थे, इसका प्रमाण भी मिलता है। साँची के दक्षिण तोरण के बाएँ खम्बे पर विदिशा के दन्तकारों के दान का उल्लेख है।* भरहुत में विदिशा के किसी फल्गुदेव का दान-सम्बन्धी लेख है।†

ग्वालियर-राज्य की सीमाओं में प्राप्त मौर्यकालीन कला-कृतियों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) विदिशा के स्तूप की बाड़ के अवशेष,

(२) उदयगिरि के बौद्ध अवशेष तथा कुछ अन्य स्तम्भ-शीर्ष, तथा

(३) कुछ मृण्मूर्तियाँ, गुरिए, हाथीदाँत की वस्तुएँ तथा उज्जैन की कुम्हार-टेकरी में प्राप्त मृत्तिका-पात्र आदि।

उज्जैन में वैश्या-टेकरी के उत्खनन के फलस्वरूप जिन स्तूपों का पता लगा है वे अपनी विशालता एवं विशिष्ट स्थापत्य कलाकौशल की दृष्टि से अशोककालीन स्तूपों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं; परन्तु उनके चारों ओर या तो कोई वेदिका (बाड़) थी ही नहीं और यदि थी तो वह लकड़ी की बनी हुई थी। इस प्रकार यहाँ पर मूर्तिकला का कोई उदाहरण प्राप्त न हो सका। यह एक विचित्र संयोग है कि बेसनगर (विदिशा) के पास हमें एक स्तूप की बाड़ के कुछ अंश प्राप्त हुए हैं; परन्तु वहाँ स्तूप का पता नहीं लगा। ज्ञात यह होता है कि स्तूप की ईंटें तथा बाड़ के कुछ अंश कोई मकान बनाने-वाला ले गया और सौभाग्य से बाड़ का कुछ अंश हमें प्राप्त हो सका। सन् १८७४ में सबसे पहले कनिंघम ने इन्हें देखा था। उसने लिखा है, "बेसनगर ग्राम के बाहर पूर्व की ओर मुझे एक बाड़ के कुछ अंश मिले, जो कभी बौद्ध स्तूप को घेरे हुए थी। ....चारों अभिलेखयुक्त हैं जिनमें अशोककालीन लिपि में दाताओं के छोटे छोटे लेख हैं। इस कारण से इस स्तूप की तिथि ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् की नहीं मानी जा सकती।‡"

इन लेखों की लिपि के कारण तो यह वेदिका अशोककालीन ज्ञात होती ही है, साथ ही यदि इनकी तुलना भरहुत एवं साँची की उभरी हुई मूर्तियों से की जाए तो इनका उन दोनों से पूर्वकालीन होना सिद्ध होगा। भरहुत एवं साँची में जो जातकों तथा बुद्ध के जीवन सम्बन्धी दृश्य दिखाए गए हैं वे अधिक विकसित एवं अधिक रूढ़िबद्ध हैं। बेसनगर की बाड़ इस दिशा में पूर्वतम प्रयास ज्ञात होती है। सम्भव यह है कि विदिशा के नागरिकों ने साँची को अपना प्रधान पूजा-स्थल बनाया, उसके पूर्व विदिशा के अत्यन्त निकट का यह छोटासा स्तूप बनाया गया होगा। इसके पश्चात् उदयगिरि पर कुछ निर्माण हुआ और अन्त में साँची पर। बुद्ध द्वारा उनकी मूर्ति-अंकन-निषेध का पालन इस बाड़ की मूर्तियों में किया गया है। प्राचीन बाड़ों पर बुद्ध का स्वयं का चित्रण (१) सिंहासन (२) बोधिवृक्ष (३) त्रिरत्न, तथा (४) स्तूप द्वारा किया गया है। इनमें त्रिरत्न को छोड़कर शेष तीनों प्रतीक बेसनगर की बाड़ में मौजूद हैं। साँची के स्तूप की बाड़ों में भी सारी प्रकृति—जड़ और चेतन—बुद्ध की आराधना में तत्पर दिखलाई है परन्तु उत्कीर्णक की छैनी बुद्ध-विग्रह के अंकन के निषेध की मर्यादा में बँधी ही रही।

कला की दृष्टि से बेसनगर की बाड़ के यह अर्धचित्र साँची और भरहुत के पूर्वगामी हैं, यह ऊपर कहा जा चुका है। दाताओं की असमर्थता के कारण भी उनमें विशालता एवं अनेकरूपता नहीं है। बाड़ का केवल कुछ अंश ही प्राप्त हुआ है और कोई तोरण द्वार भी नहीं मिला है। इस कारण से इसमें साँची या भरहुत की सी न तो प्रचुरता है और न

---

* मार्शल तथा फुशे: मानूमेण्टस ऑफ साँची, तीसरा भाग।

† बरुआ: भरहुत, पृष्ठ ४१।

‡ कनिंघम आ० स० ई०, भाग १०, पृष्ठ ३८।

कला की परिपक्वता अथवा विकास। परन्तु साँची और भरहुत की पूर्वगामिनी होने के कारण इसकी कला का महत्त्व अवश्य बहुत अधिक है।

कनिंघम ने इस बाड़ के वेष्टन (Coping Stone) का एक खण्ड, एक स्तम्भ और दो तकिए (उष्णीश) के पत्थर (rail bars) देखे थे। उसके पश्चात् अब एक वेष्टन का खंड, एक स्तम्भ का खंड तथा तीन तकिए के पत्थर और मिल गए हैं। इस प्रकार अब दो वेष्टन के खंड, दो स्तम्भ-खंड तथा पाँच तकिए के प्रस्तर प्राप्त हैं। यह सब गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

उष्णीष-प्रस्तर के खंड ११ इंच ऊँचे और ११ इंच मोटे हैं। बड़ा टुकड़ा ७ फीट ४ इंच लम्बा है और छोटा टुकड़ा लम्बाई में इससे प्रायः आधा है। इनके भीतरी ओर हाथी और घोडों का समारोह अंकित है। प्रत्येक हाथी के सिर पर बुद्ध-चिह्न की पिटारी रखी हुई है। हाथी के पीछे एक पदाति है जो ध्वजा या चमर लिए हुए है; उसके पीछे एक अश्वारोही है। अश्वारोही के पीछे फिर एक पदाति है। इस प्रकार इन दोनों खण्डों में १३ पदाति, ६ घोड़े और ६ हाथी हैं।

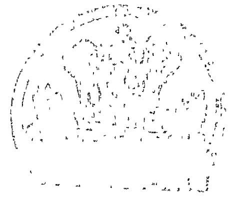
बाहरी भाग में वेष्टन-प्रस्तर-खण्डों का ऊपरी गोल हिस्सा अर्धचित्रों के ऊपर निकला हुआ दो इंच चौड़ी छज्जीसी बना देता है जिससे इनकी रक्षा होती रहे। बड़े तथा छोटे दोनों टुकड़ों में दो स्तूपों की पूजा का अंकन है। गोमूत्रिका* के आकार में फैलाई गई एक पद्म-बेल द्वारा १० खन बना दिए गए हैं। इस बेल में यत्र-तत्र पूर्ण विकसित, अर्धविकसित एवं अविकसित कमल-पुष्प तथा पत्ते बने हुए हैं। दाहिनी ओर के पहले खन में एक हाथी है, दूसरे और नवें खन में दो-दो गायक हैं, जिनमें से एक मृदंग बजा रहा है। तीसरे और चौथे खनों में एक स्त्री और पुरुष हैं। स्त्री भरा हुआ थाल लिए है और पुरुष के हाथ में ध्वजा है। इस प्रकार की ध्वजाएँ बौद्ध स्तूप पर टँगी हुई भरहुत में भी दिखाई गई हैं और इसी बाड़ के दूसरे टुकड़े में भी हैं। पाँचवें, छठवें, सातवें और आठवें खन में प्रत्येक में एक एक स्त्री है जो अपने दोनों हाथों में भरे हुए थाल लिए है। दसवें खन में एक स्तूप है जिसके दाहिनी ओर एक स्त्री है। इस स्तूप में ऊपर का छत्र नहीं है। छोटे वेष्टन-प्रस्तर-खण्ड में बड़े खण्डों के समान पद्म-बेल द्वारा पाँच खन बतलाए गए हैं। पहले खन में बुद्ध-चिह्न की पिटारी सिर पर रखे हाथी है। चौथे खन में बोधिवृक्ष है, जिसके दोनों ओर स्त्री और पुरुष हैं। पाँचवें खन में, जिसमें स्तूप है, दाहिनी ओर उपासिका खड़ी है। दूसरे खन में दो व्यक्ति हैं, जिसमें से एक भरा हुआ थाल लिए है। दूसरा ध्वजा लिए है। तीसरे खन में एक स्त्री और एक पुरुष हैं जो गायन-वादन कर रहे हैं।

बड़े खम्भों में बोधिवृक्ष की पूजा दिखाई गई है। इस दृश्य का अंकन बहुत अकुशल हाथों द्वारा किया गया है और अर्धचित्रों के अत्यन्त अविकसित रूप का परिचायक है। मूर्तिकार बोधिवृक्ष और नौ उपासकों का संश्लिष्ट चित्र बतलाने में असफल रहा है। पहली पंक्ति में बोधिवृक्ष बना है, फिर नीचे तीन पंक्ति में तीन तीन उपासक हैं। अन्तिम पंक्ति के उपासकों का इस समय केवल सिर का कुछ भाग शेष रह गया है। स्तम्भ के छोटे टुकड़े पर अंकन अधिक रुचिर है। इसके एक ओर संगीत का दृश्य दिखाया गया है। ऊपर एक सिंहासन है। आठ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजा रही हैं। बीच में एक दीपक जल रहा है। इसमें वीणा, मुरली, मृदंग आदि वाद्य स्पष्ट दिखाई देते हैं।‡ इसी स्तम्भ-खण्ड के

---

* इस शब्द को हमने उसी अर्थ में प्रयुक्त किया जिसमें राय कृष्णदासजी ने अपनी 'भारतीय मूर्तिकला' में किया है।

‡ इस प्रकार के गीत-नृत्य का दृश्य ग्वालियर की सीमाओं में मेरे देखने में तीन स्थानों पर आया है। पहला मौर्यकालीन बेसनगर में प्राप्त बाड़ पर है; दूसरा उदयगिरि में है और तीसरा पवाया में है। यद्यपि चौथा बाग गुहा की भित्तियों पर चित्रित है परन्तु वह इन सबसे भिन्न है। इन सब दृश्यों में अनेक समानताएँ हैं। एक तो यह सब पूर्णतः स्त्रियों की मंडलियाँ हैं, दूसरे हमारे विषय से वाद्य में समानता है। उदयगिरि की स्त्रियों का गीतनृत्य 'जन्म' से सम्बन्धित है, ऐसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है। उन्होंने लिखा है कि इस उत्सव को 'जातिमह' कहते थे। विशिष्ट जन्म-उत्सव के अंकन में संगीत का प्रदर्शन भारतीय



दूसरी ओर नीचे-ऊपर दो खन हैं। ऊपर के खन में वन का दृश्य है। चार मृग और दो मोरें अत्यन्त सुन्दर रूप में बनी हुई हैं। ऊपर का कुछ भाग टूट गया है। नीचे के खन में दो घोड़ों के रथ में एक राजपुरुष दिखाया गया है। एक पारिषद छत्र लिए हुए है और दूसरा चामर। रथ के नीचे की ओर दो व्यक्तियों के सिर से दिखाई देते हैं।

पाँच सूची प्रस्तरों में से चार में सुन्दर एवं विविधि प्रकार के फुल्ल कमल हैं। एक में बोधिवृक्ष के दोनों ओर दो उपासक दिखाए गए हैं।

इन अर्धचित्रों में उस समय के वेश-भूषा तथा सामाजिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है।

पुरुषों के सिर पर भारी साफासा बँधा रहता था जिसमें सामने और पीछे गुम टीसी उठी रहती थीं। यह भारी-भरकम शिरोभूषा युक्त एक सिर गूजरी-महल संग्रहालय में रखा हुआ है। यदि इस शिरोभूषा को शुंगकालीन यक्ष की शिरोभूषा से तुलना करें तो ज्ञात होगा कि यह भारी साफा उस काल तक अधिक सरल हो गया था। गुमटियाँ गायब हो चली हैं। छोटे खंभे में राज-पुरुष के साथ जो दो पारिषद हैं उनके ऐसे साफे नहीं हैं। अतएव यह ज्ञात होता है कि इस प्रकार का साफा समाज में विशिष्ट स्थिति का प्रमाण है। पुरुष कानों में भी भारी आभरण पहने दिखाए गए हैं। स्त्रियों के केश-विन्यास भी विशेष प्रकार के हैं। सिर के चारों ओर गोल चक्कर के ऊपर गोल टोपसा है। नीचे के बाल कहीं कहीं गर्दन तक भी आए हैं। पुरुषों के शरीर पर कोई वस्त्र नहीं हैं। केवल कमर के नीचे धोती बँधी हुई है। सामने पटली है और धोती प्राय: घुटने के नीचे तक है। गले से पेट के ऊपर तक आनेवाली मालाएँ हैं। हाथों में चूड़े हैं। स्त्रियाँ भी छाती और पेट पर कोई वस्त्र पहने दिखाई नहीं देतीं। कानों में भारी बाले, हाथों में चूड़े और गले में मालाएँ हैं। हाथियों पर झूले हैं; परन्तु घोड़ों का साज अधिक अलंकृत है। दो घोड़ों का रथ भी दर्शनीय है। राज-पुरुष स्वयं घोड़ों की बागडोर लिए है। भरहुत एवं साँची के रथों के समान ही इस रथ का रूप है। स्त्री-पुरुष धार्मिक उत्सवों तथा समारोहों में समान भाग लेते दिखाए गए हैं।

बेसनगर, भरहुत एवं साँची आदि के इन दृश्यों में बुद्ध-जीवनी तथा जातकों की कथाओं के अंकन हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि बेसनगर के ये दृश्य यद्यपि अधिक सार्थक हैं, परन्तु वे न तो पूर्णत: रूढ़िबद्ध हैं और न किसी कथा या घटना का पूर्ण अंकन करने का प्रयास ही हैं। बुद्ध के जीवन की महान् घटनाएँ इस बाड़ पर अंकित हैं।

(१) **बुद्ध-जन्म**—अलौकिक पुरुषों के जन्म के साथ कमल सदा सम्बन्धित रहा है। इस बाढ़ पर भी तकिए के प्रस्तरों में कमलों के अंकन के साथ ही कमल-बेल का सुन्दर अंकन हुआ है। आगे नृत्य का दृश्य भी बुद्ध-जन्म से सम्बद्ध हो सकता है।

(२) **सिद्धार्थ का राजसी जीवन**—छोटे प्रस्तर-खण्ड पर जो संगीत और वाद्य का दृश्य दिखाया गया है वह महाभिनिष्क्रमण के पूर्व राज-प्रासादों में सिद्धार्थ के सुखी एवं मनोरंजनपूर्ण जीवन का चित्रण हो सकता है। सिद्धार्थ का प्रतीक सिंहासन भी मौजूद है।

(३) **सम्बोधि**—सिद्धार्थ को बोधिवृक्ष के नीचे बुद्धत्व प्राप्त हुआ था, अतएव बौद्ध धर्म में बोधिवृक्ष की पूजा को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया है। इस बाड़ में तीन स्थान पर बोधिवृक्ष दिखाया गया है।

कला की प्राचीन परिपाटी थी। (ना० प्र० प०, सं० २०००, पृष्ठ ४६)। डॉ० अग्रवाल का मत उदयगिरि के दृश्य के सम्बन्ध में ठीक नहीं जँचता। बेसनगर का दृश्य बुद्ध-जन्म से सम्बन्धित हो-सकता है, परन्तु उदयगिरि का दृश्य 'गंगा-यमुना' के जन्म से सम्बन्धित न होकर उनके समुद्र के साथ विवाह से सम्बन्धित है। गंगा-यमुना को समुद्र की पत्नी भी कहा है। पवाया का दृश्य किस 'जातिमह' अथवा विवाह से सम्बन्धित है यह हमें ज्ञात नहीं क्योंकि वह किस मन्दिर का तोरण है यह मालूम नहीं हो सका।

(४) **मृगदाव में धर्मचक्र-प्रवर्तन**–छोटे खंभे के ऊपर जो मृगोंयुक्त वन का दृश्य दिखाया गया है वह सम्भवतः काशी के पास के प्रसिद्ध मृगदाव का चित्रण है। यह ऋषि पतन या मृगदाव बौद्ध साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसके सम्बन्ध में 'निग्रोधमृग-जातक' कथा जातकों में है,* जहाँ बुद्ध ने धर्मचक्र-प्रवर्तन किया था।†

(५) **बिम्बसार या अजातशत्रु का बुद्ध से मिलना**—इसी दृश्य के नीचे जो राजपुरुष है वह बिम्बसार अथवा अजातशत्रु है। बुद्ध से यह नरेश मिलने गए थे, इस घटना का अंकन साँची भरहुत आदि स्थलों पर भी है। यहाँ पर भी सम्भवतः यह उसी घटना का अंकन है।

(६) **परिनिर्वाण**.—अस्सी वर्ष की अवस्था में गौतमबुद्ध ने कुशीनगर के पास दो साल वृक्षों के बीच में प्राण त्याग किया। कुशीनगर के मल्लों ने बहुत समारोह से अन्तिम संस्कार किया और चिता के फूलों को अपने अधिकार में ले लिया। समाचार मिलते ही बुद्ध के अनुयायी सात हिस्सेदार और आ उपस्थित हुए (१) मगध के राजा अजातशत्रु (२) वैशाली के लिच्छवि (३) कपिलवस्तु के शाक्य (४) अल्लकप्प के बुलि (५) रामग्राम के कोलिय (६) बेठदीप का एक ब्राह्मण और (७) पावा के मल्ल। कुशीनगर के मल्ल जब फूल देने में आनाकानी करने लगे तो सातों पक्षों ने कुशीनगर को घेर लिया। यह झगड़ा द्रोण नामक एक ब्राह्मण के हस्तक्षेप से टल सका। द्रोण ने सब अवशेषों को आठ भागों में बाँट दिया और प्रत्येक पक्ष को एक एक भाग दे दिया। उसे वह पात्र मिल गया जिनमें अवशेष रखे हुए थे। सातों पक्ष अवशेष के अपने अपने भाग को लेकर चले गए। इन सब दृश्यों का विशद अंकन भरहुत और साँची में मिलता है। इस बाड़ में तो अन्तिम दृश्य ही दिखाया गया है। वेष्टन के दोनों टुकड़ों पर छह हाथी बुद्ध-चिह्नों की पिटारी सहित दिखाए हैं। सातवाँ हाथी अप्राप्य भाग में नष्ट होगया ज्ञात होता है। साथ के अश्वारोही इन दलों के नायक होंगे। बटवारे के पश्चात् यह अपने अपने भाग के बुद्ध-चिह्न लिए जा रहे हैं।

इन अवशेषों पर स्थान स्थान पर स्तूप बनवाए गए और इस प्रकार बुद्ध के समान ही स्तूपों की पूजा की जाने लगी। इस बाड़ में दो स्तूप बतलाए गए हैं। वेष्टन के बड़े टुकड़े के भीतरी भाग में स्तूप-पूजा का ही समारोह है, परन्तु छोटे टुकड़े का भीतरी भाग कुछ विचित्र है। उसमें बुद्ध-चिह्न की पिटारी लिए हाथी, बोधिवृक्ष और स्तूप सभी दिखाए गए हैं। उपासक भी हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य क्या है, समझ में नहीं आया।

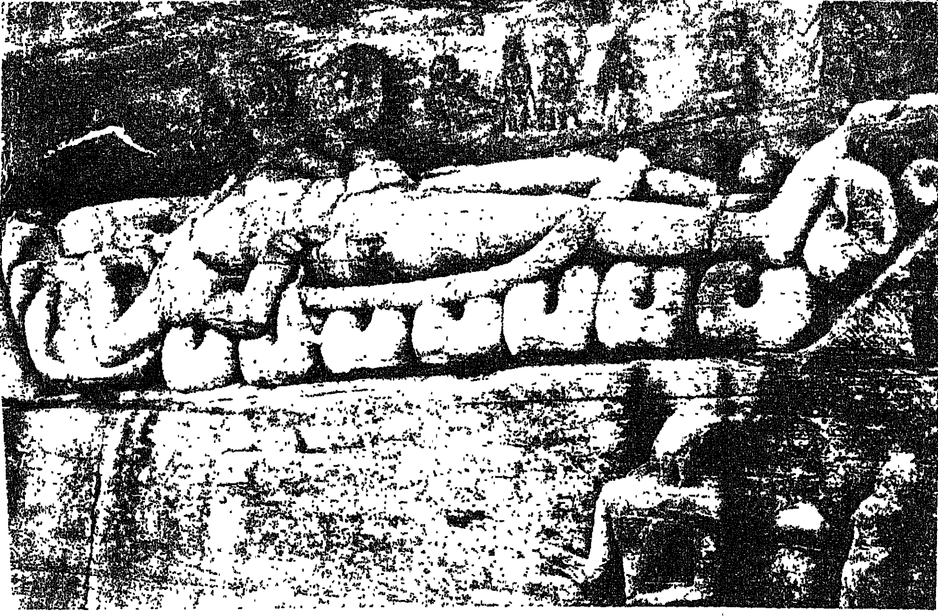
कनिंघम ने बेसनगर की यात्रा सन् १८७४ में की थी, यह ऊपर लिखा जा चुका है। उस समय उसे इस बाड़ के दक्षिण-पश्चिम में साँची की दिशा में प्रायः एक मील दूर पर उदयगिरि पहाड़ी के दक्षिण में बौद्ध बाड़ और स्तम्भ के अवशेष मिले थे। आश्चर्य है कि आज सिंह-शीर्ष युक्त स्तम्भ के अतिरिक्त कुछ भी प्राप्त नहीं है। अतएव आज कनिंघम द्वारा उनके वर्णन के अतिरिक्त हमारे पास कोई दूसरा साधन नहीं है। वह लिखता है‡ "पहाड़ी (उदयगिरि) के दक्षिणी भाग तथा चोटी पर बहुत से बौद्ध अवशेष हैं। पूर्व में सोम (सुन) पुरा ग्राम के पास मुझे एक बौद्ध बाड़ का एक टूटा खम्भा मिला, जिसका सिरा ८×६ इंच था और जिसके सामने सुपरिचित मुद्राएँ बनी हुई थीं और जिसमें तकिए के प्रस्तरों के घुमावदार छेद बने हुए थे। पास ही मुझे एक पूरा वेष्टन-प्रस्तर मिला जो एक बहुत बड़ी बाड़ का खण्ड था और २ फुट १ इंच लम्बा तथा १ फुट १० इंच चौड़ा था, इसकी मोटाई बीच में ७। इंच थी। इनकी नापें भरहुत के वेष्टन प्रस्तरों से लगभग मिलती जुलती हैं, अतः हम यह अनुमान लगाते हैं कि उदयगिरि में भी कभी बड़ा बौद्ध स्तूप रहा होगा।

"पहाड़ी का चक्कर खाकर दक्षिण की ओर जाने पर मुझे एक इमली के पेड़ के नीचे एक बौद्ध स्तम्भ की चौकी मिली, जो २ फुट ६॥ इंच वर्ग की तथा १ फुट ९॥ इंच ऊँची थी जो साँची और बेसनगर के समान बौद्ध बाड़ से अलंकृत थी। अन्य खण्डों में मुझे कुछ घण्टाकृति खंभे मिले, जो बहुत प्राचीन मन्दिर के अवशेष ज्ञात होते हैं।

* भदन्त आनन्द कौसल्यायन कृत 'जातक' अनुवाद, प्रथम खण्ड, पृष्ठ १९६–२००।

† मजूमदार: गाइड टु सारनाथ, पृष्ठ १२।

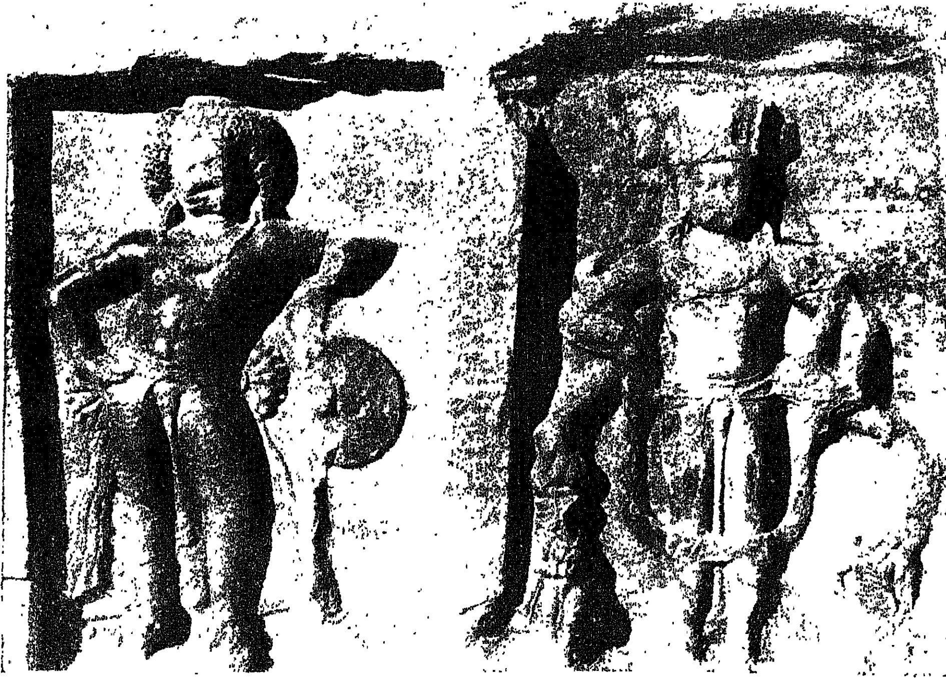
‡ आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ५५-५६



शेषशायी विष्णु, उदयगिरि।



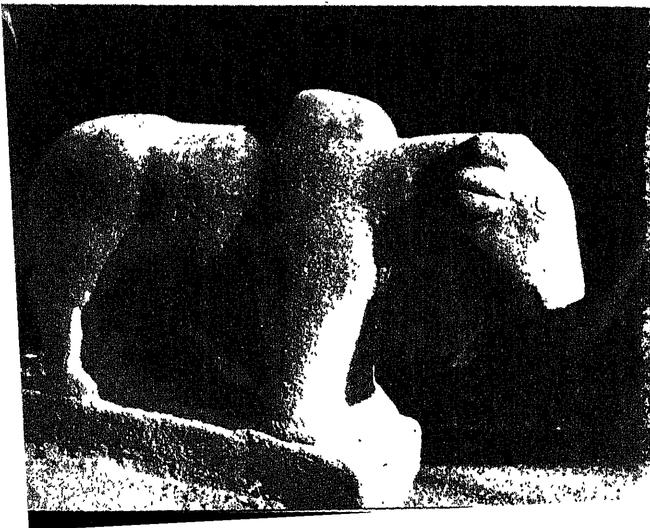
बराह, उदयगिरि।



विष्णु (दाहिनी ओर), उदयगिरि।

विष्णु, पवाया।

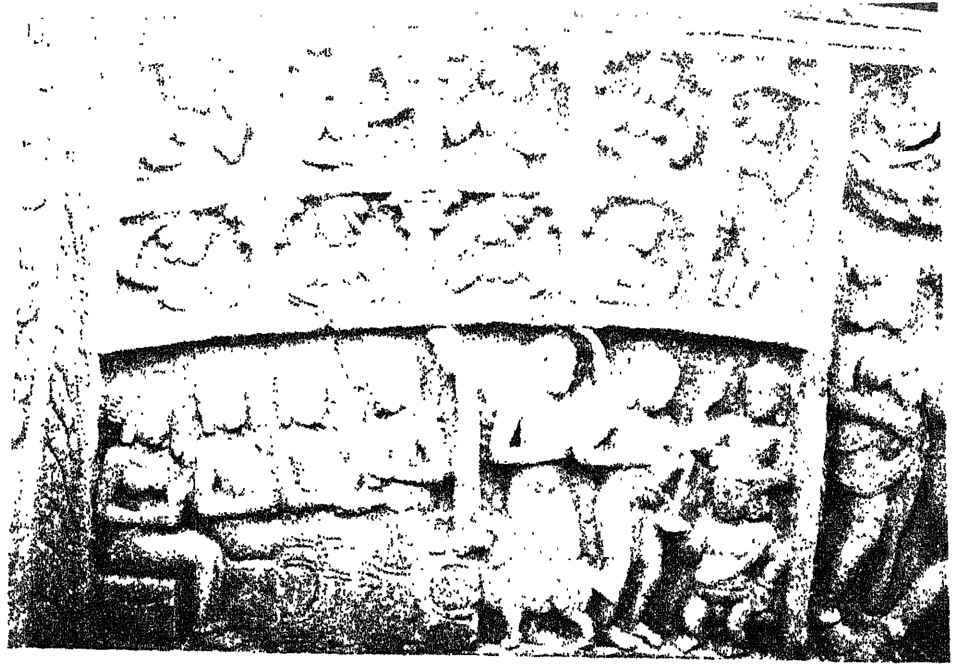




नन्दी, उदयगिरि।

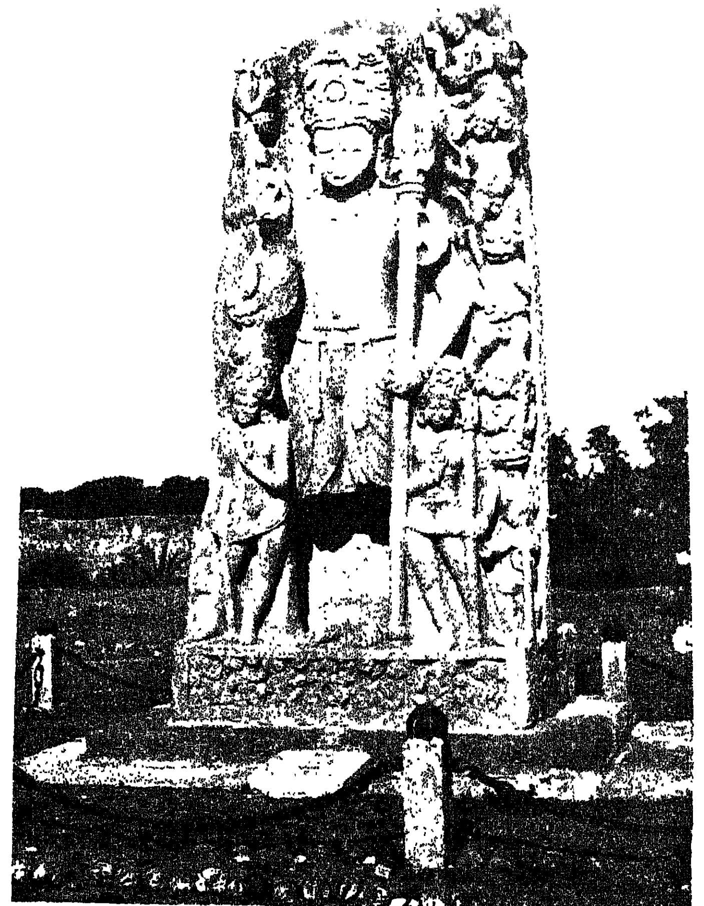


नृसिंह-मूर्ति, बेसनगर।

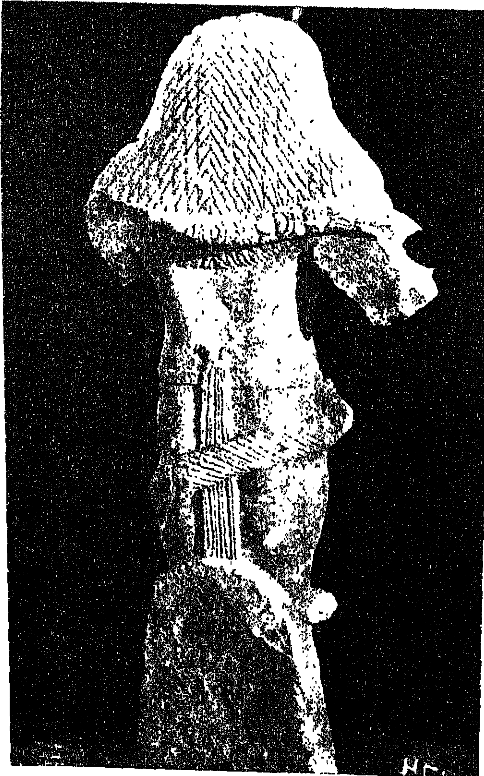


बालि और वामन, पवाया।

शिवमूर्ति, मन्दसौर।



नृसिंह मूर्ति (दूसरी ओर से)।



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

"पहाड़ी के ऊपर अनेक स्थानों पर भवनों के चिह्न हैं। गुहाओं के ठीक ऊपर एक चौकोर चबूतरा है जिसके पास मुझे एक बड़े स्तम्भ का एक-सिंहयुक्त घण्टाकृति स्तम्भशीर्ष मिला। पहाड़ी के उत्तरी भाग की ओर, जो प्रायः ३५० फीट ऊँची है, मुझे एक गोल स्तम्भ-खण्ड मिला जो ९ फुट ९ इंच लम्बा था और जिसका व्यास २ फुट ८॥ इंच था और ढाल की ओर २ फीट ७ इंच था। इस स्थल के कुछ ऊपर इस स्तम्भ का भारी सिरा है जो २ फीट ११ इंच वर्ग का है और ६ फुट ५ इंच लम्बा है। यह अब भी अपने मूल स्थान पर ज्ञात होता है, किन्तु पश्चिम की ओर झुक गया है। स्पष्टतः यह बौद्धों का महान् सिंह-स्तम्भ था, जो शताब्दियों तक पहाड़ी के शीर्ष पर खड़ा रहा और आसपास के मीलों दूर के जन-समुदाय का महान् मार्गदर्शक बना रहा। एक दिन उसका विध्वंसक उसे ले जाने के लिए आया, जिसने उसकी नींव खोद डाली और उसे उखाड़ने का प्रयत्न किया। लेकिन चौकोर सिरे के ऊपर से ही स्तम्भ चटक गया और गड्ढे की चट्टान से टकराया जिससे गोल स्तम्भ तो टुकड़े टुकड़े होकर छितर गया है, स्तम्भ-शीर्ष दूर जाकर गिरा और खंडित हो गया है।"

हमारे अनुमान से यह ध्वंस शुंगकाल में हुआ होगा और इस प्रकार यह स्तम्भ मौर्यकालीन ही है। इतना अवश्य है कि इसमें उस उत्कृष्ट कला के दर्शन नहीं होते जो सारनाथ के अन्य कुछ स्तम्भों पर होते हैं; फिर भी यह अत्यन्त सुन्दर है और अशोककालीन कहे जानेवाले अनेक स्तम्भों की टक्कर का है। विशेषतः इनकी तुलना संकीसा तथा बटवारी ग्राम के स्तम्भों से की जा सकती है। आज इसपर ओप भी दिखाई नहीं देता। घण्टाकृति अथवा कमलाकृति भाग आधा टूट गया है। उसके ऊपर भँजी हुई रस्सी की आकृति का कण्ठा बना हुआ है। इसके ऊपर ही एक गोल सादा पट्टी है, जिसके ऊपर गोल चौकी है। इस चौकी में चारों ओर बैल, हाथी, सपक्ष ऊँट, सपक्ष घोड़ा, विदेशी जिराफ और दाढी युक्त मानवमुख सपक्ष सिंह आदि आठ उभरे हुए पशुओं को देखकर ही अनेक विद्वान् इस स्तम्भ को शुंगकालीन मानते हैं। परन्तु यह स्पष्ट है कि यह सपक्ष पशु शुंगकाल के पूर्व भी बनाए गए हैं। ऐसी दशा में यह मानना पड़ेगा कि इस स्तम्भ-शीर्ष की चौकी पर अंकित ये सपक्ष पशु मौर्यकालीन ही हैं।* ये पशु सारनाथ के स्तम्भ शीर्ष पर भी आसीन हैं। चौकी के ऊपर एक विशाल केशरी बैठा हुआ उसका मुख टूट गया है, परन्तु फिर भी उसकी विशालता एवं दृढ़ता दर्शनीय है।†

---

* फिर सपक्षसिंह उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार के अलंकरणों में तथा पवाया में प्राप्त हुए हैं। इन सपक्ष पशुओं तथा अभिप्रायों के विषय में प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ राय कृष्णदास ने लिखा है–"अशोकीय स्तम्भों पर के परगहों की बैठकों के विषय में, पाटलिपुत्र में निकले हुए अशोक के सभाभवन के छेंकन के विषय में, तथा पिछले मौर्यकाल से लेकर कुषाणकाल तक की वास्तु और मूर्तियों पर आनेवाले कुछ अभिप्रायों के विषय में कतिपय विद्वानों का मत है कि वे ईरान की कला से आए हैं। उक्त परगह और छेंकन के सिवा जिनकी चर्चा आगे की जायगी, ये अभिप्राय संक्षेप में इस प्रकार हैं:—

(१) पंखदार सिंह (२) पंखदार वृषभ (३) नर-मकर, जिनमें से कुछ में घोड़े जैसे पैर भी होते हैं और कुछ की पूंछें दोहरी होती हैं (४) नर-अश्व (५) मेष-मकर (६) गज-मकर (७) वृष-मकर (८) सिंह-नारी (९) गरुड़-सिंह तथा (१०) मनुष्य के धड़वाले पक्षी। किन्तु इस प्रकार के अभिप्राय ईरानी कला में लघु-एशिया के देशों से आए थे और वहाँ से भारतवर्ष का बहुत पुराना सम्बन्ध था।" भारतीय मूर्तिकला, पृष्ठ ३७–३८।

† इस राज्य में अब तक वि० १००० के पूर्व के कुल नीचे लिखे स्तम्भ, स्तम्भशीर्ष अथवा स्तम्भखण्ड प्राप्त हुए हैं—(१) उदयगिरि का एक सिंह का स्तम्भशीर्ष गूजरीमहल संग्रहालय, ग्वालियर में (२) लुहांगी का स्तम्भ-शीर्ष–लुहांगी पहाड़िया पर (३) कल्पवृक्ष स्तम्भशीर्ष–कलकत्ता संग्रहालय में (४)खामबाबा–बेसनगर (५) गौतमीपुत्र के अभिलेख युक्त स्तम्भ का खण्ड—गूजरीमहल संग्रहालय में (६) गरुड़ स्तम्भ-शीर्ष–गू० म० सं०। (७) मकर शीर्ष–गू० म० सं० (८) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष–बेसनगर (९) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष–बेसनगर गू० म० सं० (१०) ताड़ स्तम्भ-शीर्ष–पवाया गू० म० सं० (११) सिंह और

अशोक के अन्य स्तम्भ तथा पटना की चामर-ग्राहिणी आदि चुनार के पत्थर की बनी हुई हैं, परन्तु यह स्तम्भ स्थानीय पत्थर का बना है। इस प्रकार के अविकसित स्तम्भों को अनेक विद्वानों ने अशोक के पूर्वकाल का माना है।* इस स्तम्भ को हम या तो मौर्यकाल कृति मानते हैं या फिर इन विद्वानों की तरह पूर्व अशोककालीन।

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है इस पर ओप के अभाव का कारण उदयगिरि का निकृष्ट कोटि का पत्थर भी हो सकता है। अशोकीय ओप चुनार के पत्थर पर ही अच्छी आई है।

लुहाँगी पहाड़िया पर प्राप्त स्तम्भ-शीर्ष भी मौर्यकाल की कला का उदाहरण है। इस पर भी मौर्य ओप नहीं है और न इसकी चौकी पर श्रेष्ठ अंकन ही हुआ है; परन्तु यह अकुशल कलाकार की कृति होते हुए भी मौर्यों के काल की कृति है। इसमें कमल पंखुड़ियों के भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी के अलंकरण का कंठा है। गोल चौकी पर रमपुरवा के स्तम्भ-शीर्ष जैसे अलंकरणों को उत्कीर्ण किया है। परन्तु वह इतना श्रेष्ठ नहीं है। स्तम्भ-शीर्ष पर दो सिंह और दो हाथी एक के बाद एक बैठे हुए थे, परन्तु अब केवल उनके पैर रह गए हैं।

एक सवारयुक्त हाथी की मूर्ति बेसनगर में प्राप्त हुई है और वह अब गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित है। हाथी की सूंड टूट गई है। सवार का भी ऊपर का भाग टूट गया है। कनिंघम ने इसे भी किसी स्तम्भ का शीर्ष माना है। कनिंघम ने इसके विषय में लिखा है, "इस मूर्ति पर अशोक के स्तम्भों के समान बहुत अधिक ओप है और मुझे कोई शंका नहीं कि यह अशोककालीन है।"† आज इसपर कोई ओप दिखाई नहीं देता।

आनन्द कुमारस्वामी ने अपने 'इण्डियन एण्ड दी इण्डोनेशियन आर्ट' के इतिहास में‡ बेसनगर में प्राप्त (अब कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित) कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष को मौर्यकालीन लिख दिया है, यद्यपि उन्होंने अपनी उक्त धारणा का कोई कारण नहीं दिया है। कल्पवृक्ष का सम्बन्ध बौद्ध मत से नहीं है, यह किसी प्रकार भी अशोककालीन नहीं हो सकता। ज्ञात होता है कि बौद्धों के बोधि-वृक्ष के अनुकरण में शुंगकाल में भागवत धर्मावलम्बी मूर्तिकारों ने इस कल्पवृक्ष की कल्पना करके इसे किसी विष्णु-मन्दिर के सामने स्थापित कर दिया।

वृक्षयुक्त चौकी—गू० म० संग्रहालय (१२) घंटाकृति (कमल) का खंड—गू० म० सं० (१३) चार सिंहों का शीर्ष—गू० म० सं० (१४) सूर्य स्तम्भ शीर्ष—पवाया—गू० म० सं० (१५) चांचौड़ा में प्राप्त स्तम्भ-खण्ड—चांचौड़ा (१६) पठारी स्तम्भ-पठारी और (१७) सौंदनी के दो स्तम्भ—सौंदनी में (केवल शीर्ष का कुछ भाग गू० म० सं०)। यह सूची न सम्पूर्ण है और न हो सकती है। सम्भव है आगे के उत्खनन में इसमें वृद्धि हो।

उदयगिरि के स्तम्भों के सम्बन्ध में डॉ० भाण्डारकर ने बहुत गड़बड़ी उत्पन्न करदी है। जब उन्होंने उदयगिरि का उत्खनन किया तब उसका विवरण वेस्टर्न सरकिल के भारतीय पुरातत्त्व की शोध की सन् १९१५ की रिपोर्ट में पहले पहले प्रकाशित किया। उसके पृष्ठ ६४ पर वे लिखते हैं:—

When I first visited the place in November 1913, a large mound thickly overgrown with jungle attracted my attention chiefly on account of the remains of a pillar close by, also noticed by Cunningham when he visited Besh." कनिंघम का उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। उन्होंने एक-सिंहयुक्त स्तम्भ देखा था। परन्तु आगे भाण्डारकर राशियों और चार सिंहोंयुक्त स्तम्भ का वर्णन करने लगते हैं। उन्होंने वहाँ पर यह भी बतलाने का प्रयत्न नहीं किया है कि कनिंघम का देखा हुआ एक सिंह का स्तम्भ-शीर्ष, चार सिंह का स्तम्भ-शीर्ष कैसे हो गया? वास्तव में ये दोनों स्तम्भ-शीर्ष ही उदयगिरि पर थे।

* राय कृष्णदास: भारतीय मूर्तिकला पृष्ठ ३७।

† आ० स० ई०, भाग १०, पृ० ४१।

‡ पृष्ठ १७।

राज्य की सीमाओं में कोई पूरा अशोक का अभिलेखयुक्त स्तम्भ प्राप्त नहीं हुआ। निकट ही साँची में अभिलेख-युक्त स्तम्भ के होते हुए इसकी आशा भी नहीं थी। परन्तु इस महान् बौद्ध सम्राट् के स्तम्भों से स्फूर्ति पाकर बनाए हुए पिछले अनेक स्तम्भ और स्तम्भ-शीर्ष राज्य की सीमाओं में प्राप्त हुए हैं। प्रचार के अन्य साधनों के अभाव के उस युग में जब यातायात भी सरल न था, ये स्तम्भ प्रचार की दृष्टि से अधिक उपयोगी थे।

उज्जैन में कुछ पतले तथा चिकने मृत्तिका-पात्र मिले हैं, वे मौर्यकालीन माने जाते हैं। उनपर की कारीगरी न तो पर्याप्त मात्रा में मिली है और न पूर्ण ही, परन्तु वे अपना विशेष स्थान रखते हैं। उज्जैन में ही प्राप्त हाथी दाँत के सामान में विदिशा के दन्तकार या उनके पूर्वजों की कारीगरी है, ऐसा माना जा सकता है। उज्जैन के उत्खनन में मिले ओपदार गुरिए मूर्तिकला की सीमा में सम्भवत: नहीं आते। उज्जैन तथा बेसनगर में प्राप्त मृण्मूर्तियों में अनेक मौर्यकालीन हैं।

शुंग कालीन (ई० पू० १५० से ई० प० ७३ तक)—अन्तिम मौर्य सम्राट् ब्रहद्रथ को लगभग १८४ ई० पू० में मारकर विदिशा निवासी पुष्यमित्र शुंग ने साम्राज्य की बागडोर अपने हाथ में सँभाली। ये शुंग लोग मूलत: विदिशा के रहनेवाले थे। पुष्यमित्र के जीवन-काल में ही अग्निमित्र विदिशा में उसकी ओर से शासन कर रहा था। पुष्यमित्र ने अश्वमेध और राजसूय यज्ञ किए। ये यज्ञयागादि बौद्ध धर्म के प्रभाव के पश्चात् से बन्द पड़े थे। हरिवंशपुराण के अनुसार राजा जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ का पुनरुद्धार किया। इस काल में बौद्ध एवं जैन धर्मो के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इसी काल में सुमति भार्गव ने मनुस्मृति का सम्पादन किया। महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण का सम्पादन भी इसी काल में हुआ। भविष्यपुराण में पुष्यमित्र को हिन्दू समाज और धर्म का रक्षक कहा है, और उसे कलि के प्रभाव को मिटाने वाला तथा गीता का अध्ययन करनेवाला लिखा है।* इसी समय दक्षिण में सातवाहनों का राज्य प्रबल हो रहा था। शुंगों की तरह सातवाहन भी ब्राह्मण थे। इसी प्रकार इस काल में हिन्दुओं के भागवत धर्म को अत्यधिक महत्ता मिली।

इस काल में हिन्दू धर्म का प्रभाव इतना बढ़ा हुआ था कि पश्चिम में कलिंग का विजयी सम्राट् खारवेल यद्यपि जैन धर्मावलम्बी था, फिर भी उसने राजसूय यज्ञ किया! हिन्दू धर्म के इस काल के प्राबल्य का प्रमाण इससे भी मिलता है कि उस काल के पश्चिमोत्तर के ग्रीक राजाओं के राजदूतों तक ने भागवत धर्म स्वीकार किया था। शुंगकाल में यवनों (ग्रीकों) से भी संघर्ष होकर अन्त में मैत्री स्थापित हो गई, ऐसा ज्ञात होता है। पुष्यमित्र के समय में ही उसके पौत्र वसुमित्र ने सिन्ध के किनारे यवनों को हराया था। पुराणों के अनुसार शुंगवंश में दस राजा हुए। नवें राजा भाग (भागवत) के राज्यकाल में तक्षशिला के ग्रीक राजा ने विदिशा में अपना राजदूत भेजा था, जो भागवत धर्म को मानता था। उस अपनी श्रद्धा के प्रदर्शन के लिए वह प्रसिद्ध गरुड़ध्वज स्थापित कराया जिसका वर्णन आगे विस्तार से किया जाएगा।† उस पर उसने एक अभिलेख भी खुदवाया है जिसमें ब्राह्मी अक्षरों तथा प्राकृत भाषा में लिखा है—

(पंक्ति १) देवदेवस वासुदेवस गरुड़ध्वजे अयं
(पंक्ति २) कारिते इअ हेलिओदरेण भाग
(पंक्ति ३) वतेन दियस पुत्रेण तखसिलाकेन
(पंक्ति ४) योनदूतेन आगतेन महाराजस
(पंक्ति ५) अंतलिकितस उंपता सकासं रञो
(पंक्ति ६) कासीपु[त्र]स[भा]ग[भ]द्रस त्रातारस
(पंक्ति ७) वसेन [चतु]दसेन राजेन वधमानस।

---

* जायसवाल: मनु और याज्ञवल्क्य, पृष्ठ ५२।

† इस स्तंभ को लोगों ने 'खामबाबा' (खाम=खंभा) कह कर पूजना प्रारम्भ कर दिया।

'देवाधिदेव वासुदेव का यह गरुड़ध्वज (स्तम्भ) तक्षशिला निवासी दिय के पुत्र भागवत हेलियोदोर ने बनवाया; जो (हेलियोदोर) महाराज अंतलिकित के यवन (ग्रीक) राजदूत होकर (विदिशा) के महाराज कासी (माता) पुत्र (प्रजा-) पालक भागभद्र के समीप उनके राज्य के चौदहवें वर्ष में आये थे।'

इस स्तम्भ का मूर्तिकला के उदाहरण के रूप में इसके महत्त्व का विवेचन आगे किया जाएगा परन्तु यहाँ ऐतिहासिक दृष्टि से उस पर विवेचन करना उचित है। ग्रीक राजा अन्तलिकित (Antialkidas) का समय ई० पू० १४० निश्चित है। अतएव यह अभिलेख निश्चित रूप से सिद्ध करता है कि ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में भागवत धर्म को ग्रीकों तक ने अपनाया था। दिय का पुत्र हेलियोदोर अकेला ग्रीक नहीं है जिसका भागवत धर्म में श्रद्धा का प्रमाण हमें प्राप्त है। विदिशा में जो शुंगकालीन यज्ञशाला के अवशेष प्राप्त हुए हैं* उनमें कुछ मिट्टी की मुद्राएँ मिली हैं। उनमें से एक पर लिखा है—

(पंक्ति १) टिमित्र–दात्रिस्य[स]–हो[ता]

(पंक्ति २) प[ो]तामंत्र–सजन [? `ि]

इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है, परन्तु इसमें 'होता' 'पोता' तथा 'मंत्र' के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि इसका सम्बन्ध किसी हिन्दू (ब्राह्मण) यज्ञ से है। इसमें 'टिमित्र' शब्द व्यक्ति का सूचक ज्ञात होता है। यह टिमित्र ग्रीक डेमेट्रियस (Demetrius) है और वह दाता या यजमान है जिसके साथ 'होता' 'पोता' आदि थे।

अतएव इस काल में ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म का पुनरुद्धार हुआ, उसे ग्रीकों (यवनों) तक ने स्वीकार किया तथा उसका प्रभाव जैन खारवेल तक पर पड़ा, यह सिद्ध है। परन्तु एक बात ध्यान रखना आवश्यक है। दिव्यावदान तथा तारानाथ के इतिहास में पुष्यमित्र शुंग के विषय में यह लिखा है कि उसने तलवार के बल से बौद्ध धर्म का दमन किया। यह कथन कुछ बढ़ाकर किया गया ज्ञात होता है। पहले लिखा जा चुका है कि प्राचीनकाल में धार्मिक असहिष्णुता कम होती थी और होती भी थी तो वह सीमित ही होती थी। अन्यथा यह सम्भव नहीं होता कि शुंगकाल में ही साँची के बौद्ध स्तूपों के चारों ओर अत्यन्त सुन्दर तोरण बनाए जाते। यह अवश्य है कि इन राजाओं के द्वारा ब्राह्मण धर्म का प्रचार और प्रसार अधिक अवश्य हुआ।

इन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों का प्रभाव कला पर पड़ना प्राकृतिक था। ब्राह्मण (हिन्दू) धर्म के प्रभाव का जो सूत्रपात इन शुंगों के काल में हुआ उसे नाग और वाकाटकों ने पोषित किया तथा गुप्तों के काल में वह पूर्ण विकसित हुआ। उसी प्रकार मूर्तिकला के क्षेत्र में भी जिस हिन्दू कला का प्रारंभिक रूप इस काल में दिखाई दिया उसी का विकास क्रमश: नाग, वाकाटक तथा गुप्तवंश में हुआ। शुंग-पूर्व की मूर्तिकला तथा शुंगकालीन मूर्तिकला में प्रधान अन्तर यही है कि जहाँ प्रथम बौद्ध धर्म की अनुगामिनी है वहाँ वह ब्राह्मण धर्म की।

दूसरी प्रधान बात है यवनों (ग्रीकों) के सम्पर्क के प्रभाव की। यद्यपि ग्रीक कारीगर भारत में बुलाने अथवा ग्रीक कला की भारतीय कलाकारों द्वारा नकल करने का कथन हास्यास्पद ही है, परन्तु यह तो प्राकृतिक है कि भारतीय कलाकार विदेशी कला से किसी सीमा तक प्रभावित हो सकता है। वह प्रभाव बढ़ने के साधन और अवसर मौर्यकाल की अपेक्षा अधिकतर होते गए। प्राग्-मौर्य और मौर्यकला यथार्थ चित्रण की ओर प्रवृत्त होती थी, अब उस दिशा की ओर प्रयाण प्रारम्भ हुआ जिसमें गुप्तकालीन तथा पूर्व मध्यकालीन आदर्शवादी भाव प्रधान कृतियों को जन्म दिया।

इस काल की मूर्तिकला के उदाहरण में कुछ स्तम्भ-शीर्ष ही प्रस्तुत किए जा सकते हैं और सम्भवत: बेसनगर की विष्णु-मूर्ति को इस काल की माना जा सकता है। साथ ही नागों की कला और शुंगों की कला के बीच कोई विभाजक रेखा

---

* आर्कआलॉजीकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१४-१५, पृष्ठ ७२-८३।

खींचना भी कठिन है;* परन्तु खामबाबा के निर्माण की तिथि निश्चित होने के कारण उसे केन्द्र मानकर इस काल की मूर्तिकला पर प्रकाश डाला जा सकता है।

खामबाबा (हेलियोदोर का गरुड़ स्तम्भ) के पास कोई विष्णु-मन्दिर था यह वहाँ के अवशेषों के उत्खनन से सिद्ध हुआ है।† एक अन्य स्तम्भ के अभिलेख से भी सिद्ध होता है कि यहाँ भागवत (वासुदेव) का कोई 'प्रासादोत्तम' था, जिसमें भागवत गोतमीपुत्र ने गरुड़ध्वज बनवाया।‡

बेसनगर में एक विष्णु-प्रतिमा मिली है। वह अत्यन्त भग्नावस्था में है। उसके चार हाथों में से तीन टूट गए हैं। नाभि के नीचे का भाग नष्ट हो गया है। पैरों का भाग पृथक् प्राप्त हुआ है। इस पर अलंकार अत्यन्त थोड़े हैं। मुकुट के अतिरिक्त गले में कौस्तुभ मणियुक्त कण्ठा है। कानों में भरहुत की मूर्तियों जैसे बड़े बड़े बाले हैं। बचे हुए बाएँ हाथ में सिंहमुखी गदा हैं। सिर के पीछे प्रभामण्डल है। यदि इस मूर्ति की तुलना उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार पर बनी हुई विष्णु-मूर्तियों से अथवा पवाया में प्राप्त विष्णु-मूर्ति से की जाए तो यह उनसे बहुत पूर्व का प्रयास स्पष्ट ज्ञात होती है। यह प्राप्त भी हेलियोदोर के स्तम्भ के पास हुई है, इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रतिमा ई० स० १४० पूर्व में अस्तित्व रखनेवाले प्रासादोत्तम में स्थापित विष्णु-प्रतिमा है।

इस प्रतिमा के विषय में डॉ० देवदत्त भाण्डारकर ने यह अनुमान किया है कि यह गरुड़ की प्रतिमा है और हेलियोदोर के स्तम्भ पर स्थापित थी। उनका प्रधान तर्क यह है कि उन्हें चारों ओर कुरेद कर बनाई हुई इतनी प्राचीन विष्णु-प्रतिमा नहीं मिली है। परन्तु आगे वे इस प्रतिमा को चन्द्रगुप्तकालीन लिखकर यह लिखते हैं कि 'इससे अधिक प्राकृतिक

---

* शुंग और नागकालीन अर्धचित्रों का अन्तर श्री० डॉ० मोतीचन्द्र, क्यूरेटर, आर्ट सेक्शन, प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई ने निम्नलिखित लिखकर भेजने की कृपा की है—"शुंगकाल की मूर्तियाँ या चित्र अपनी कारीगरी से पहचाने जा सकते हैं। इसमें आकृतियाँ चिपटी होती हैं, दूर और निकट दिखलाने की प्रथा नहीं है और एक ही पृष्ठ भूमि पर सब काम दिखलाए जाते हैं जिसका फल यह होता है कि पीछे या आगे की सभी आकृतियाँ प्रायः समान होती हैं। आकृतियों के अंकन में भी कुछ कमजोरी दीख पड़ती है। इसके विपरीत नागयुग की कला भरहुत या साँची से बहुत आगे बढ़ गई है। दूर-निकट दिखलाने की प्रकार इस कला में रूढ़ि बन गई है। इस कला में एक ऐसी गति है जो भरहुत में तो नहीं पाई जाती पर जिसका प्रारंभ सांची में हुआ और जो अपने पूर्ण रूप को अमरावती में प्राप्त हुई।" शुंगकालीन अर्ध-चित्रों के इस राज्य में अभाव के कारण मैं इस जानकारी का लाभ न उठा सका।

† आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१४–१५, पृष्ठ ६६।

‡ आ० स० इ०, वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१३–१४, पृष्ठ १९०।
इस स्तम्भ का लेखयुक्त खण्ड इस समय गूजरीमहल संग्रहालय में रखा है। वह अठपहलू है और हरएक पहलू पर नीचे लिखा लेख ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण है:—

(पंक्ति १) गोतम(ि)पुतेन
(पंक्ति २) भागवतेन
(पंक्ति ३) ....
(पंक्ति ४) [भ]गवतो प्रासादोत-
(पंक्ति ५) मस गरुड़ध्वज [।]कारि [त]
(पंक्ति ६) [द्वा]दस-वस-अभिसिते
(पंक्ति ७) ...भागवते महाराजे

अर्थात्, गौतमी के पुत्र भागवत ने विष्णु के प्रासादोत्तम में गरुड़ध्वज बनवाया जबकि महाराज भागवत के अभिषेक को बारह वर्ष हो गए थे।' सम्भवतः यह 'भागवत' और खामबाबा का 'भागभद्र' एक ही व्यक्ति होंगे।

और क्या होगा कि विष्णु का परम उपासक यह गुप्त सम्राट्, जिसका विदिशा आना अभिलेखों से सिद्ध है, इस स्तम्भ (हेलियोदोर स्तम्भ) पर गरुड़ की यह प्रतिमा स्थापित करे।'* अर्थात् वे इस तर्क को प्रस्तुत करते समय यह भूल गए कि वे 'हेलियोदोरेण भागवतेन' कारित 'गरुड़ध्वज' के विषय में लिख रहे हैं। उस पर गरुड़ चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने नहीं उससे अनेक शताब्दियों पूर्व के हेलियोदोर ने बैठाया था।

इसकी अविकसित मूर्तिकला तथा शास्त्रों में वर्णित विष्णु-मूर्ति की कल्पना का अधूरा चित्रण इसे चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल में बनी विष्णु-प्रतिमाओं से बहुत पूर्व की घोषित करते हैं। जिस गुप्तकालीन कलाकार ने उदयगिरि की वराह मूर्ति एवं बेसनगर की नृसिंह मूर्ति बनाई है, उसीकी बनाई हुई यह प्रतिमा नहीं हो सकती।

कुरेद कर बनाई जाने के कारण मूर्ति का समय निर्धारित करने के तर्क की तथ्यहीनता ऊपर बतलाई ही जा चुकी है।

इस मूर्ति में हमें मौर्य अथवा प्राग्मौर्य कला के यथातथ्य चित्रण की प्रवृत्ति से हटने का प्रयास स्पष्ट दिखाई देता है। मूर्तिकार ने विष्णु भगवान् की कल्पना साधारण मानव जैसी नहीं की। उनका चतुर्भुज अलौकिक रूप उसके नेत्रों में घूमने लगा और वही मूर्त करने का प्रयास उसने किया। धार्मिक मूर्ति केवल मानव अंगों का प्रत्यक्षीकरण न होकर साधक अथवा भक्त के इष्टदेव के अंकन का प्रयास होने लगी। ग्रीकों के देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मानवों की लौकिक सौन्दर्य एवं स्वास्थ्य की प्रतिमाएँ हैं परन्तु भारतियों के आराध्य देवों की मूर्तियाँ अलौकिक चित्रण होती हैं। इस भावना ने पूर्ण विकास आगे पाया; परन्तु यह बेसनगर की विष्णुमूर्ति इस अलौकिक रूप-कल्पना का प्राचीनतम प्रमाण है। इससे यह भी स्पष्ट है कि भारतीय कलाकार की आत्मा को ग्रीक कला प्रभावित न कर सकी, बाह्य उपकरणों में कहीं किया हो तो किया हो।

इस मूर्ति के अतिरिक्त इस काल के केवल कुछ स्तम्भ-शीर्ष ही मूर्तिकला के उदाहरण के रूप में हमें प्राप्त हैं। विदिशा (बेसनगर) में प्राप्त खामबाबा, कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष, मकर तथा गरुड़-शीर्ष इस काल की कृतियाँ हैं।

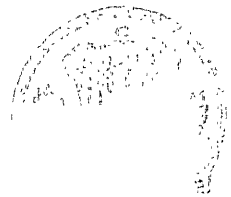
पूरा स्तम्भ मूर्तिकला के अन्तर्गत नहीं आता। वह एक प्रकार का स्थापत्य है। परन्तु उसके ऊपर का अलंकरण मूर्तिकला की सीमा में अवश्य आता है।

खामबाबा (हेलियोदोर स्तम्भ) का गरुड़ अभी मिला नहीं है। इस स्तम्भ पर अशोककालीन ओप नहीं है, उनका धरातल खुरदरा है। स्तम्भ-शीर्ष के नीचे भी इसमें दो अलंकृत पट्टियाँ खुदी हुई हैं। नीचे की पट्टी में आधे आधे विकसित कमलों का अलंकरण है। इनके ही नीचे ऊपर दिया गया प्रसिद्ध अभिलेख है तथा उसके नीचे दो पंक्तियाँ और खुदी हुई हैं। कमल के अलंकरण के ऊपर बटी हुई रस्सी, खूंटी तथा फूलों का अत्यन्त सुन्दर अलंकरण बनाया गया है। शीर्ष में कमलाकृति अथवा घण्टाकृति भाग के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। इनके ऊपर चौकोर चौकी है। इस पर भी सुन्दर अलंकरण बने हुए हैं। ग्रीक हेलियोदोर द्वारा बनवाए इस स्तम्भ में प्रत्यक्ष ग्रीक प्रभाव कुछ भी नहीं है।

बेसनगर में ही किसी अन्य स्तम्भशीर्ष के दो खण्ड मिले थे, जिनमें एक मकर था। यह मकर दूसरे खण्ड के ऊपर रखा हुआ था और इस प्रकार यह मकर-शीर्ष किसी स्तम्भ पर सुशोभित था। वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न की साथ साथ पूजा की जाती है। इनमें प्रद्युम्न कामदेव के अवतार 'मकर-केतन' हैं। 'नगरी' में वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न के मन्दिर साथ साथ मिले हैं। यह 'मकरध्वज' भी विदिशा के किसी ऐसे मन्दिर की स्मृति है। इसका मकर कुछ भद्दा बना है और इसके कान के पास के छेद यह बतलाते हैं कि इसके ऊपर भी कोई मूर्ति रही होगी। दूसरा खण्ड अधिक कलापूर्ण है। घण्टाकृति के ऊपर बटी हुई रस्सी का अलंकरण है। फिर गुरियों और फूलों के अलंकरणों युक्त दो पट्टियों के ऊपर बाड़ जैसी चौकी है। चौकी पर आमलक की आकृति का अनेक पहलू का गोल चपटा शीर्ष है, जिसमें एक मुठियासी निकली है। इसी पर मकर रखा गया होगा।

गरुड़ की मूर्तियुक्त एक स्तम्भ-शीर्ष की चौकी भी प्राप्त हुई। इसका गरुड़ टूट गया है, केवल पैरों के चिह्न शेष हैं जिनसे ज्ञात होता है कि इसका गरुड़ पक्षी के रूप में था। यह भी इसी काल के किसी स्तम्भ का अवशेष है, ऐसा अनुमान है।

* आर्केलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वार्षिक रिपोर्ट, सन् १९१५-१६, पृष्ठ १९५-१९६।



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

परन्तु सबसे अद्‌भुत एवं कुतूहलवर्धक कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष है। यह बेसनगर में ही प्राप्त हुआ था तथा अब कलकत्ता संग्रहालय में है, यह ऊपर लिखा जा चुका है। यह शुंगकालीन है इसका भी ऊपर उल्लेख किया जा चुका है।

बाड़ की सी चौकी के ऊपर एक गमले जैसी आकृति में बड़ जैसे पत्तों एवं जटाओं युक्त पेड़ बना है। पेड़ की गुमटी बन गई है। पत्तों के अतिरिक्त छोटे छोटे फलों के आकार भी बीच बीच में बने हुए हैं। जो जटाएँ नीचे को आई हैं उनसे आठ भाग बन गए हैं। इनमें चार में मुंह बँधे हुए भरे बोरे एक एक भाग छोड़कर रखे हुए हैं। बीच बीच में चार मुद्राओं से लबालब भरे हुए पात्र रखे हैं। चारों पात्र पृथक् पृथक् हैं। एक ओंधा शंख है, दूसरा फुल्ल कमल की आकृति का है, तीसरा पूर्ण घट है, चौथी कोई अज्ञात वस्तु है।

यह एक प्रसिद्ध पौराणिक कथा है कि समुद्र-मंथन के समय अन्य वस्तुओं के साथ साथ यह मनवांछित फल देनेवाला देवतरु अथवा कल्पवृक्ष भी निकला था। उससे जो भी जिस पात्र को लेकर याचना की जायगी वही लबालब भर जाएगा, इस भावना का अंकन इस मूर्ति में है। इस कल्पना का सम्बन्ध पूर्णतः ब्राह्मणधर्म से है, अतः यह शुंगकालीन है।

विदिशा तथा पास में ही प्राप्त अनेक मुद्राओं पर बाड़ और वृक्ष का चिह्न मिलता है। यह बोधिवृक्ष माना गया है। मेरे मत में इन मुद्राओं की इस दृष्टि से परीक्षा होना चाहिए कि यह वृक्ष कल्पवृक्ष है। जिस काल में 'कल्पवृक्ष' स्तम्भ के शीर्ष के रूप में बनाया जा सकता है, उसी काल में मुद्राओं पर भी उसका अंकन हो सकता है।

अभी शुंगकालीन मूर्तियाँ इस राज्य की सीमाओं में अधिक नहीं मिली हैं। यद्यपि उपरोक्त उदाहरणों से उस काल के राजनीतिक, धार्मिक एवं सामाजिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु मानव-मूर्तियाँ न मिलने से रहन-सहन और वेशभूषा के विकास पर दृष्टि नहीं डाली जा सकती। विदिशा की यज्ञशालाओं के तथा गौतमीपुत्र एवं हेलियोदोर-कालीन विष्णु के प्रासादोत्तम के आसपास अभी शुंगकालीन मूर्तिकला के अन्य उदाहरण भी मिल सकेंगे, ऐसी आशा है।

नाग कालीन (ई० पू० ७३ से ई० सन् ३४४ तक)—विदिशा के शुंग धीरे धीरे मगध के हो चुके थे, विदिशा केवल प्रान्तीय राजधानी रह गई थी। शुंगों का मगध का राज्य कण्वों के हाथ आया। परन्तु विदिशा में शुंगों के राज्यकाल में ही एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राजवंश का प्रभाव बढ़ रहा था। विदिशा के नागों द्वारा शासकों की जिस परम्परा का विकास हुआ उसने अपने प्रचण्ड प्रताप, कला-प्रेम और शिव-भक्ति की स्थायी छाप भारतीय इतिहास पर छोड़ी है। इन नागों का प्रभाव-क्षेत्र यद्यपि बहुत विस्तृत था, मध्यभारत के वनाक्रांत भूखण्डों से लेकर गंगा-यमुना का दोआब तक उसमें सम्मिलित था, परन्तु इन नागों का समय हमारे लिए अनेक कारणों से महत्त्व का है। प्रथम तो ग्वालियर-राज्य के उत्तारी प्रान्त के गिर्द शिवपुरी जिलों में इनका राज्य था जहाँ नरवर, पवाया, कुतवाल आदि स्थलों इनका पर प्रभाव था और उधर दक्षिण में मालवे धार तक इनका राज्य था।* उनका प्रधान केन्द्र अधिक समय तक इस राज्य के तीन नगर रहे—विदिशा, पद्मावती और कान्तिपुरी † (वर्तमान कोतवाल)। दूसरे हिन्दू इतिहास के स्वर्णकाल—'प्रसिद्ध गुप्तवंशीय श्रीसंयुत एवं

* **नागों के साम्राज्य की सीमा के विषय में कनिंघम ने लिखा है (आ० स० ई० भाग २, पृष्ठ ३०८-३०९):—**
"The Kingdom of the Nagas would have included the greater part of the present territories of Bharatpur, Dholpur, Gwalior, and Bundelkhand, and perhaps also some portions of Malwa, as Ujjain, Bhilsa and Sagar. It would thus have embraced nearly the whole of the country, lying between the Jamuna and the upper course of Narbada, form the Chambal on the west to the Kayan, or Kane River, on the east,—an extant of about 800 (o) square miles..."

† **कोतवाल को श्री म० ब० गर्दे, भूतपूर्व डायरेक्टर, पुरातत्त्वविभाग, ग्वालियर ने विल्सन तथा कनिंघम (आ० स० रि०, भाग २, पृष्ठ ३०८) से सहमत होते हुए प्राचीन कान्तिपुरी माना है (ग्वा० पु० रिपोर्ट,**

गुण-सम्पन्न राजाओं के समृद्धिमान राज्यकाल' * की महत्ता को नाग लोगों ने ही दृढ़ आधार पर स्थापित किया था। जिस प्रकार छोटी नदी बड़ी नदी में मिलती है तथा वह बड़ी नदी महानद में, उसी प्रकार नागवंश ने अपने साम्राज्य को अपनी सांस्कृतिक सम्पत्ति के साथ वाकाटकों को समर्पित कर दिया। भवनाग ने अपनी कन्या वाकाटक प्रवरसेन के लड़के गौतमीपुत्र को ब्याह कर उनका प्रभुत्व बढ़ाया था। ठीक उसी प्रकार वाकाटक राजकन्या गुप्तों को ब्याही गई और वाकाटक वैभव गुप्त-वैभव के महासमुद्र में समाहित हो गया।

इस काल के भारत के राजनीतिक इतिहास को हम अत्यन्त पेचीदा पाते हैं। शुंगों के समय में ही कलिंग और आंध्र राज्य प्रबल हो गए थे। उत्तर-पश्चिम में गांधार और तक्षशिला पर विदेशी यवन जोर पकड़ रहे थे। शुंगों के पश्चात् उत्तर-पश्चिम के यवन-राज्य अवन्ति-आकर पर घात लगाए रहते थे। धीरे धीरे उनके आक्रमण प्रारम्भ हुए और सातवाहन, नाग, मालव-क्षुद्रक सबको मिलाकर या अकेले अकेले इनका सामना करना पड़ा। इस राजनीति का धार्मिक क्षेत्र में एक विशिष्ट प्रभाव पड़ा। ब्रहद्रथ मौर्य के समय तक बौद्ध धर्म भारत का धर्म था। अब बौद्ध धर्म ने इन विदेशी आक्रान्ताओं का सहारा लिया। अतएव धार्मिक कारणों के अतिरिक्त राजनीतिक कारणों से भी हिन्दू धर्म को बौद्ध धर्म का विरोध करना पड़ा।

नागों के राजवंश को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं, शुंगों के समकालीन, शुंगों से कनिष्क तक और कुषाणों के पश्चात् से वाकाटकों तक। पहली शाखा विदिशा में सीमित थी। उसके विषय में हमें कुछ ज्ञात नहीं है, केवल पुराणों‡ में उनका उल्लेख है। शुंगों के पश्चात् नागों ने अपना राज्य विदिशा से पद्मावती तक फैला लिया था, इसके प्रमाण उपलब्ध हैं।

पुराण और सिक्कों से उनकी वंशावली भी निर्धारित की गई है, जो इस प्रकार है :—

शेष ई० पू० ११०–९०
भोगिन् ई० पू० ९०–८०
रामचन्द्र ई० पू० ८०–५०
धर्मवर्मन ई० पू० ५०–४०
वंगर ई० पू० ४०–३१

संवत् १९९७ पृष्ठ २२)। श्री० जायसवाल ने कन्तित की प्राचीन नागराजधानी से अभिन्नता स्थापित की है (अन्धकारयुगीन भारत, पृष्ठ ५९-६६)। श्री गर्दे ने अपनी स्थापना के पक्ष में कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किए। श्री० जायसवाल ने जो तर्क कंतित के पक्ष में प्रस्तुत किए हैं वे कोतवाल से भी सम्बन्धित किए जा सकते हैं। जनश्रुति है कि किसी समय पढ़ावली, कोतवाल और सुहानियाँ बारह कोस के विस्तार में फैले हुए एक ही नगर के भाग थे (कनिंघम आ० स० इ० भाग २, पृष्ठ ३९९ तथा भाग २० पृष्ठ १०७)। कुतवाल के विषय में कनिंघम ने भी लिखा है यह बहुत प्राचीन स्थल है (वही, भाग २०, पृष्ठ ११२) पास ही पारौली (प्राचीन पाराशर ग्राम) तथा पढ़ावली (प्राचीन धारौन) में गुप्तकालीन मन्दिरों के अवशेष मिले हैं (वही, पृष्ठ १०४ और १०९)। कोतवाल पर नागराजाओं की मुद्राएँ भी प्राप्त होती हैं (पीछे, पृष्ठ६४५)। अतएव कन्तित के बजाय कोतवाल ही प्राचीन पुराण कथित नागराजधानी है, यह मानना उचित होगा। इस कान्तिपुरी का अगला नाम कुन्तलपुरी हुआ (वही, भाग २, पृष्ठ ३९८)। कच्छपघात राजाओं के काल तक यह गत-गौरव 'कोतवाल' बन चुकी थी और सुहानिया प्रधानता पा चुकी थी।

* उदयगिरि गुहा नं० २० का शिलालेख।

‡ देखिए श्री० जायसवाल द्वारा 'अन्धकारयुगीन भारत' में पृष्ठ ८१ पर उद्धृत 'भावशतक' जिसमें गणपति नाग को 'धाराधीशः' लिखा है।

भूतनन्दी ई० पू० २०–१०
शिशुनन्दी ई० पू० १०–२५ ई०
यशनन्दी २५ ई०–३० ई०

३० ई० से ७८ ई० तक के पाँच राजा लेख और सिक्कों के आधार पर।
- पुरुषदात
- उत्तमदात
- कामदात
- भवदात
- शिवनन्दी या शिवदात

पिछले पाँच राजा सम्भवतः केवल पद्मावती (पवाया) से ही सम्बन्धित रह गए थे। यह शिवनन्दी कनिष्क द्वारा पराजित हुआ है, ऐसा अनुमान किया गया है। मणिभद्र यक्ष की प्रतिमा की चरण-चौकी पर खुदे अभिलेख में उसके राज्यारोहण के चौथे वर्ष में उसे 'स्वामी' लिखा है। 'स्वामी' प्राचीन अर्थों में स्वतंत्र नरेश को लिखा जाता था। अतएव अपने राज्य के चौथे वर्ष के पश्चात् उसे कनिष्क ने हराया होगा। सन् ७८ से सन् १७५ ई० के आसपास तक नागों को अज्ञातवास करना पड़ा। वे मध्यप्रदेश के पुरिका और नागपुर आदि स्थानों पर चले गए थे।

कुषाणों का अन्तिम सम्राट् वासुदेव था। सन् १७५ ई० के लगभग वीरसेन नाग ने इस वासुदेव को हराकर मथुरा में हिन्दू राज्य स्थापित किया। इन नव नागों के विषय में वायुपुराण में लिखा है—'नवनागाः पद्मावत्यां कांतिपुर्यां मथुरायां।'

मथुरा में राज्य स्थापित कर वीरसेन नाग ने अपने राज्य को पद्मावती तक फिर फैला दिया*। कान्तिपुरी ग्वालियर-राज्य का कोतवाल है, ऐसा ऊपर सिद्ध किया गया है, और पवाया ही प्राचीन पद्मावती है, इसमें भी शंका नहीं है।† वीरसेन के बाद पद्मावती, कान्तिपुरी और मथुरा में नागवंश की तीन शाखाओं के तीन राज्य स्थापित हुए। सिक्कों पर से निम्नलिखित राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं:—

भीम नाग (सन् २१०–२३० ई०)
स्कन्द नाग (सन् २३०–२५० ई०)
बृहस्पति नाग (सन् २५०–२७० ई०)
व्याघ्र नाग (सन् २७०–२९० ई०)
देवनाग (सन् २९०–३१० ई०)
गणपति नाग (सन् ३१०–३४४ ई०)

गणपति नाग का उल्लेख उन राजाओं में है जिनको समुद्रगुप्त ने हराया।‡ इन पिछले नागों के अधिकार में कुन्तलपुरी के साथ विदिशा भी थी क्योंकि वहाँ पर भी इनके सिक्के मिले हैं।§

इसके पूर्व कि इस काल के राजनीतिक इतिहास को समाप्त कर मूर्तिकला का विवेचन प्रारम्भ किया जाए, यह लिखना उपयुक्त होगा कि इसी काल में विक्रम संवत् के प्रवर्तन की घटना घटित हुई थी। ई० पू० ५७ के पूर्व उज्जैन पर मालवों का अधिकार था। विदिशा में नागवंश जोर पकड़ रहा था। मालवों और नागों की सभ्यता, संस्कृति एवं राज्य

* वीरसेन के सिक्के पवाया और कोतवाल में भी मिले है।
† आ० सर्वे० इण्डिया वार्षिक रिपोठ सन १९४५–१६ पृष्ठ १०१.
‡ फ्लीट: गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६।
§ आ० स० इ० वार्षिक रिपोर्ट सन् १९१३–१४, पृष्ठ १४-१५।

प्रणाली एकसी ही थी। जब विदेशी शकों की सेनाओं ने अवन्ति-आकर को रौंदा होगा तब ब्राह्मण सातवाहनों एवं अन्य गणराज्यों की सहायता से मालव एवं नाग दोनों ने ही उनके उन्मूलन में भाग लिया होगा। *

नागकालीन मूर्तिकला के उदाहरणों का वर्णन करने के पूर्व हम उन विशेष अभिप्रायों † अथवा अलंकरणों का परिगणन करके उनपर विचार करलें जो नागों के कारण भारतीय मूर्तिकला को मिले और आगे की मूर्तिकला के अन्यतम अंग बन गए। इनमें से प्रधान निम्नलिखित हैं:—

(१) गंगा (केवल मकरवाहिनी गंगा, गंगा-यमुना की जोड़ी नहीं, जैसीकि उदयगिरि की वराह-मूर्ति के दोनों ओर गुप्तकाल में बनी)।

(२) ताड़-वृक्ष।

(३) नाग-छत्र।

गंगा—गंगा को नाग राजाओं ने अपना राजचिह्न बनाया था। उसके सिक्कों तक पर कलश लिए हुए गंगा की आकृति होती है। ‡ राजचिह्न के रूप में गंगा केवल सिक्कों तक ही सीमित नहीं रही। इन परम शिवभक्त ¶ नागों ने उसकी मूर्ति का उपयोग अपने शिव-मन्दिरों को सजाने में भी किया। इस रूप में इसका उपयोग गुप्तों ने भी किया है। जानखट में वीरसेन नाग के अभिलेखयुक्त एक मन्दिर के अवशेषों को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें द्वार के ऊपर की ओर लगाने की मकरवाहिनी गंगा की मूर्ति भी है। इस गंगा की मूर्ति का द्वार के अलंकरण के रूप में उपयोग भी तत्कालीन हिन्दू धर्म के पुनर्विकास का प्रमाण है। इसके लिए यह आवश्यक है कि गंगा के इस अलंकरण का मूल रूप खोजा जाए। इस हेतु नागकालीन मन्दिरों से लेकर मध्यकालीन मन्दिरों तक में गंगा-मूर्ति के उपयोग की विशेषताओं को नीचे दिया जाता है:—

(१) आरम्भ में द्वार के दोनों ओर मकरवाहिनी गंगा की ही मूर्ति एक ही रूप की बनाई जाती थी ‡‡ (देखिए उदयगिरि-गुहाद्वार तथा बाग-गुहाद्वार)।

(२) गंगा की यह मकरवाहिनी मूर्ति प्रारम्भ में द्वार की चौखट के दोनों बाजुओं के ऊपर की ओर बनाई जाती थी।

---

* जायसवाल: अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ११५।

† अंग्रेजी शब्द 'मोटिफ' के अर्थ में रायकृष्णदास ने अपनी पुस्तक भारतीय मूर्तिकला इस शब्द का प्रयोग में किया है। उसी अर्थ में हमने इस शब्द का प्रयोग किया है।

‡ जायसवाल: अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।

¶ नागों की शिव और गंगा-भक्ति के प्रमाण में नीचे लिखा अभिलेख उद्धृत करना समीचीन होगा—

"अंशभारसन्निवेशितशिवलिंगोद्वाहनशिवसुपरितुष्टसमुत्पादितराजवंशानाम्पराक्रम अधिगतभागीरथी-अमल-जलः मूर्द्धाभिषिक्तानाम् दशाश्वमेध-अवभृथस्नातानाम् भारशिवानाम्।"

"अर्थात्, उन भारशिवों का, जिनके राजवंश का आरम्भ इस प्रकार हुआ था कि उन्होंने शिवलिंग को अपने कंधे पर रखकर शिव को परितुष्ट किया था; वे भारशिव जिनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था—वे भारशिव जिन्होंने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था।"

‡‡ स्मिथ ने अपने 'हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन' के पृष्ठ ७९ पर लिखा है— 'At Udayagiri, on the doorway of the Chandragupta Cave excavated in A. D. 401—2, the goddesses are represented without their vehicles.' यह कथन सत्य नहीं है। उदयगिरि में जहाँ भी द्वार से दोनों ओर इन देवियों की मूर्ति है, वहाँ उनका वाहन मकर है।

(३) गंगा की मूर्ति की बनावट में यह विशेषता रहती है कि गंगा किसी वृक्ष (सफल आम्र) की डाली पकड़े दिखाई गई है।

(४) आगे चलकर यह दोनों ओर की मूर्तियाँ बाजुओं के नीचे की ओर आगईं और एक ओर मकरवाहिनी गंगा और दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना बन गईं। यह पिछले गुप्तकाल में दिखाई दिया है। (देखिए-मन्दसौर के शिव-मन्दिर के द्वार का प्रस्तर—'श्रवण की कवाड़')।

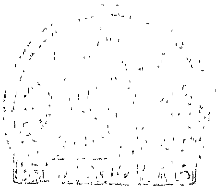
(५) प्रारम्भ में यह केवल शिव-मन्दिरों में ही प्राप्त है।

ऐतिहासिक क्रम में गंगा के समान मूर्तियों की खोज करते समय भरहुत एवं मथुरा की वृक्षकाएँ तथा यक्षिणियों की ओर दृष्टि आकृष्ट होती है। परन्तु मन्दिर के द्वार के बाजुओं के रूप में इसकी स्थिति एवं आकृति की ठीक समानता साँची स्तूप के उत्तरी एवं पूर्वी तोरण द्वारों के दोनों ओर के स्तंभों के और नीचे की बडेरी के मिलने के कोने में बाहरी ओर स्थित स्त्री मूर्तियों से है। ठीक उदयगिरि अथवा बाघ की मकरवाहिनी मूर्तियों के समान इनकी स्थिति है। नागकाल के हिन्दू धर्मावलम्बी कलाकारों ने जब शिव-मन्दिरों के द्वार बनाए होंगे तब साँची का यह बौद्ध अभिप्राय उनकी आँखों में झूल रहा होगा। नागों ने गंगा को विशेष आदर दिया, अतः उन्होंने इन तोरणों की सुन्दर कलाकृतियों के साँचे में गंगा की मूर्ति ढालदी और ठीक उसी स्थान पर जड़दी जहाँ इन तोरणों में ये यक्षणियाँ थीं (अर्थात् द्वारों के ऊपर के भाग में)। प्रारम्भ में दोनों ओर एकसी आकृति की गंगा-मूर्ति होना भी इसी स्थापना की पुष्टि करता है। साँची के तोरण द्वार के दोनों ओर की आकृतियाँ समान हैं। यह इस बौद्ध अभिप्राय का ठीक हिन्दू अनुवाद है। साँची के तोरणों की यक्षणियों में धार्मिक महत्त्व एवं सौन्दर्यवर्धन के उपयोग के साथ साथ बडेरियों कोस हारा देने का स्थापत्य सम्बन्धी 'तोड़ों' के रूप में भी उपयोग है; परन्तु इन गंगा-मूर्तियों का यह उपयोग नहीं है क्योंकि वे तो ठोस द्वारों के अंग हैं।

समय पाकर आगे जब ये देवियाँ द्वार-स्तंभ के ऊपर की ओर से नीचे आईं तो इन्होंने गंगा और यमुना के पौराणिक रूप धारण किए और शिव-मन्दिर के द्वार की पवित्रता की रक्षिकाएँ बनीं। ऊपर के वृक्ष की आकृति भी पौराणिक रूप से मेल न खाने के कारण चली गई। यह स्मरणीय है कि गंगा और यमुना की पृथक् पृथक् वाहनों पर की कल्पना के सर्व प्रथम दर्शन उदयगिरि की वराह मूर्ति के दोनों ओर होते हैं, जहाँ वे अपने अपने वाहन मकर और कूर्म पर दिखलाई गई हैं। यहीं से स्फूर्ति लेकर द्वार की मकरवाहिनी देवियाँ गंगा और यमुना बन गईं और इसका प्राचीन रूप उत्तर-गुप्तकालीन मन्दसौर की यमुना की मूर्ति है।

ताड़—नागों को महाभारत में 'ताड़ध्वज' कहा है। इनका यह राजचिह्न इनकी मुद्राओं पर भी मिलता है।* जानखट में प्राप्त मन्दिरों के अवशेष नागकालीन हैं जैसाकि वहाँ प्राप्त वीरसेन नाग के अभिलेख से सिद्ध है, इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। वहाँ पर ताड़ की आकृति का अलंकरण भी मिला है। नागों की पहली राजधानी विदिशा एवं पश्चात् की राजधानी पद्मावती में ताड़-स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुए हैं। ये स्तम्भ नागों ने या तो शिवमन्दिरों के सामने स्थापित किए होंगे या इन 'ताड़ध्वजों' के आवास के सामने ये बने होंगे। विदिशा और पद्मावती के ताड़-स्तम्भ-शीर्षों की तुलना करने पर ज्ञात होता है कि विदिशा के ताड़शीर्षों की बनावट अधिक सरल है अतएव ये पूर्वकालीन होंगे और पद्मावती का ताड़- स्तम्भ-शीर्ष अधिक संश्लिष्ट है इसलिए यह बाद का है। यह बात इतिहास के भी अनुकूल है क्योंकि विदिशा पहली राजधानी है और पद्मावती बाद की। स्तम्भ के शीर्ष पर वृक्ष बनाने की कल्पना शुंगों के काल में भी 'कल्पवृक्ष-स्तम्भ-शीर्ष' के रूप में देख चुके हैं। ये ताड़-स्तम्भशीर्ष उसी प्रकार की कल्पना के उदाहरण हैं।

*** जायसवालः अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ ४०।**



नाग-छत्र---नागों की मुद्राओं में नाग-छत्र का चिह्न बहुत आया है।* वीरसेन नाग के सिक्कों पर नाग की आकृति मिलती है। नागपूजा भारत में बहुत पुरानी है। नागों ने सर्प को अपने राजकीय चिह्नों में सम्मिलित किया। नाग राजाओं की मूर्तियों में भी इस नाग-छत्र ने स्थान पाया (देखिए---पवाया के नाग राजा की मूर्ति)।

नागों के काल में प्रसिद्धि प्राप्त इस विशेष अलंकरण अथवा अभिप्रायों के वर्णन के पश्चात् अब हम नागों के धर्म को लेते हैं, क्योंकि उसी से प्रेरित होकर नागों ने अपने मन्दिर बनवाए होंगे। नागों के विषय में पहले उद्धृत ताम्रपत्र से निम्नलिखित बातें स्पष्ट हैं:---

(१) भारशिव (नाग) अपने कंधों पर शिवलिंग रखे रहते थे अर्थात् वे परमशैव थे।

(२) उनका राज्याभिषेक उस भागीरथी के पवित्र जल से हुआ था जिसे उन्होंने अपने पराक्रम से प्राप्त किया था। (इसमें उस कारण पर भी प्रकाश पड़ता है जिससे प्रेरित होकर नागों ने गंगा को राजचिह्न बनाया।)

(३) भारशिवों ने दस अश्वमेध यज्ञ करके अवभृथ स्नान किया था, अर्थात् उन्होंने शुंगों की यज्ञों की परम्परा को प्रगति दी।

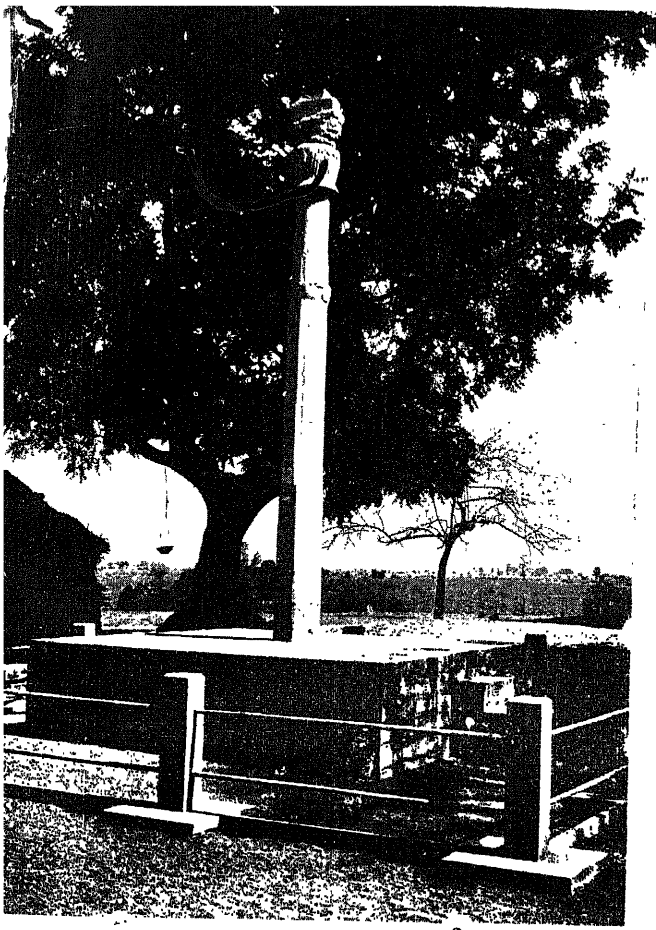
इन नागों ने भी जो मन्दिर बनवाए होंगे वे शिव-मन्दिर ही होंगे यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। अब देखना यह है कि इस राज्य में नागकालीन शिवमन्दिरों के अवशेष कहाँ कहाँ मिलते हैं? इनके लिए भी हमें तत्कालीन नगरों के खण्डहर ढूंढ़ने होंगे। पद्मावती में अभी जितनी चाहिए उतनी खुदाई नहीं हुई है, फिर भी वहाँ नागकालीन शिव-मन्दिर होने के प्रमाण मिलते हैं। मालतीमाधव में वर्णित 'स्वर्ण बिन्दु' महादेव का स्थान भले ही नागकाल का हो परन्तु अब तक उस चबूतरे के इतने संस्करण हो चुके हैं कि उस पर विचार करना व्यर्थ है। वहाँ पर प्राप्त मानवाकार नन्दी की मूर्ति वहाँ के शिव-मन्दिर का स्पष्ट प्रमाण है। इसका सब शरीर मनुष्य का है केवल सिर बैल का सा है तथा यह चारों ओर कोर कर बनी हुई है। यह नन्दी निश्चित ही नागकालीन है। वायुपुराण में नागों को वृष अर्थात् शिव का साँड अथवा नन्दी कहा है।* नागों के सिक्कों पर भी वृष को स्थान मिला है। (देखिए, पृष्ठ ६४६)। अतएव इस मूर्ति को देखकर यही कल्पना होती है कि अपने इष्टदेव शिव के सामने यह नागराज के वृषत्व के प्रतीक रूप से खड़ी की गई थी। इस मध्यम आकार की मूर्ति की गढ़न और अलंकरण अत्यन्त सुन्दर हैं। परन्तु इस नन्दी के अतिरिक्त नागकालीन शिवमन्दिर के अवशेष पद्मावती में अधिक नहीं मिले हैं।

विदिशा में शिव-मन्दिर के अस्तित्व के विषय में यहाँ कुछ विस्तार से लिखना पड़ेगा। बेसनगर में प्राप्त और अब बोस्टन के संग्रहालय में स्थित गंगा की मूर्ति किसी शिव-मन्दिर के द्वार के खंभे के ऊपर सुशोभित होगी। यह शिव-मन्दिर बेसनगर की बस्ती में न होकर उदयगिरि में था, जहाँ उस मन्दिर के द्वार में से यह मूर्ति बेसनगर के एक साधु के कब्जे में आई।‡ परन्तु मेरी स्थापना यह नहीं है कि यह मूर्ति उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव-मन्दिर की है। यह तो प्रारंभिक गुप्तकालीन मूर्ति है। यहाँ यही कहना है कि उदयगिरि पर एक या एकाधिक गुहाएँ नागकालीन हैं।

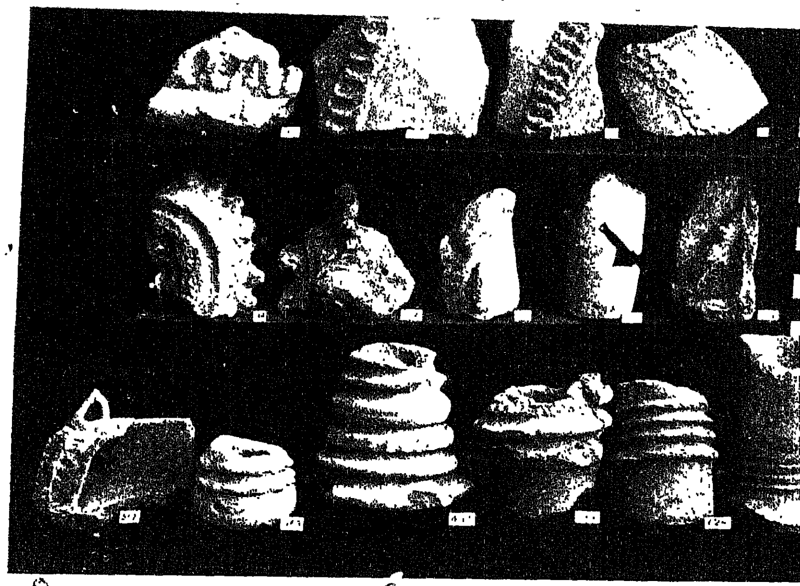
---

* जायसवाल: अंधकारयुगीन भारत, पृष्ठ १८।

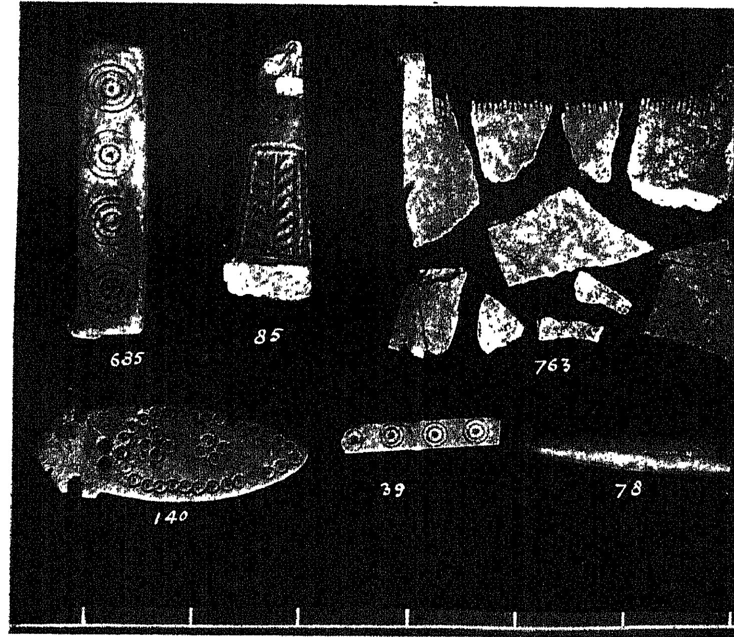
‡ कनिं०, आ० स० रि० भाग १०, पृष्ठ ४१, पर कनिंघम ने लिखा है---"Close by, in the house of a Sadhu, were found a small lion of the Gupta period and a large figure of Ganges standing on her Crocodile, which must certainly have belonged to the Gupta age" ये दोनों मूर्तियाँ श्री भण्डारकर महोदय बेसनगर के उत्खनन के समय अपने साथ लेते गए। गंगा की मूर्ति तो बोस्टन संग्रहालय में पहुँची और सिंह की मूर्ति का पता नहीं उन्होंने क्या किया।



हेलियोदोर स्तंभ खामबाबा , बेसनगर।

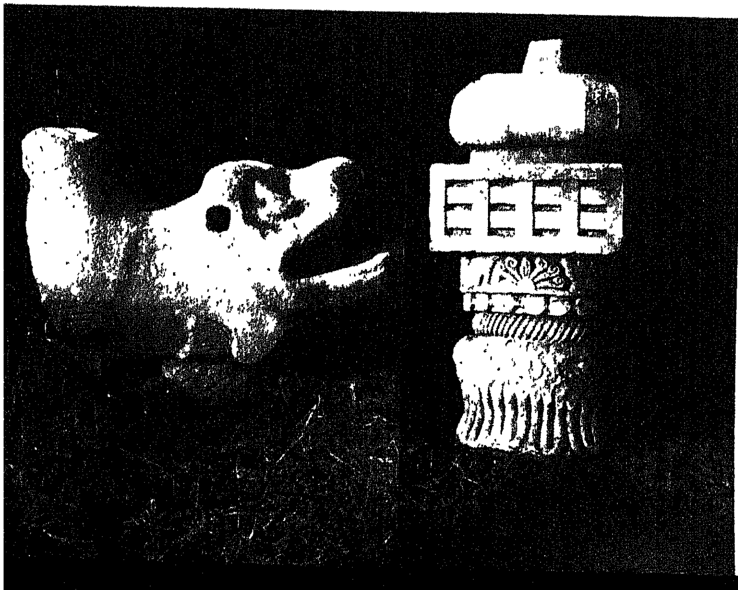


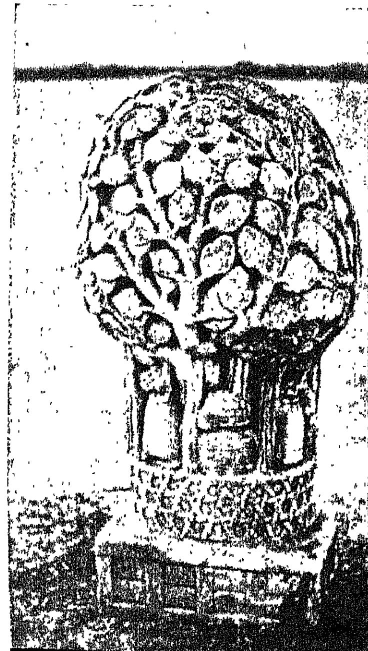
मिट्टी के पात्र उज्जैन।



हाथीदाँत की वस्तुएँ, उज्जैन।

स्तंभ-शीर्ष, बेसनगर ।





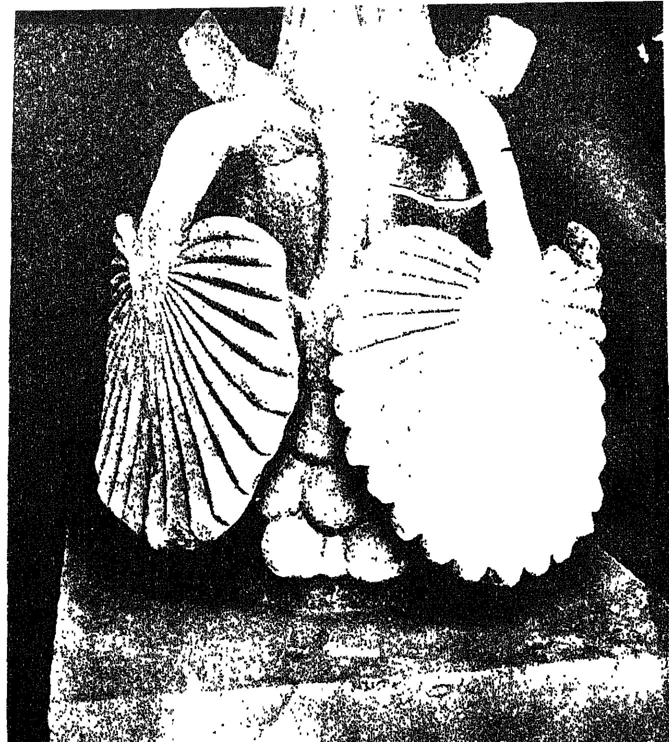
कल्पवृक्ष स्तंभशीर्ष, बेसनगर।



वृक्षका, साँची।



बाग की मकरवाहिनी मूर्ति।



ताड़-स्तंभशीर्ष, बेसनगर।

ताड़-स्तंभशीर्ष, पवाया।



नन्दी, पवाया।



नन्दी, पवाया।



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

उदयगिरि का अध्ययन जैसा चाहिए वैसा नहीं हुआ। वास्तव में इस पहाड़ी पर मौर्य, शुंग, नाग, प्रारंभिक गुप्त तथा पिछले गुप्तकालीन स्थापत्य तथा मूर्तिकला के उदाहरण मौजूद हैं। पहले तो इसकी ओर विद्वानों ने दृष्टि डाली ही नहीं और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा कुछ अन्य गुप्तकालीन अभिलेखों के कारण ध्यान दिया भी तो इसे गुप्तकालीन कहकर छोड़ दिया।

मेरा विचार यह है कि कम से कम वीणागुहा (कनिंघम की गुहा नं० ३) गुप्तों के पहले की है। इसके भीतर एक एक-मुख शिवलिंग स्थापित है। द्रविड़ों की लिंगपूजा ने आर्यों के 'शिष्ण' पूजा के विरोध को कब जीत लिया, यह बतलाना हमारा विषय नहीं है, परन्तु गांधार एवं मथुरा में बुद्ध की जो ध्यान-मूर्तियाँ बनीं उनमें तथा तत्कालीन शिवमूर्तियों में बहुत अधिक समानता है, यह स्पष्ट है। यह प्रभाव भी धीरे धीरे मिटा और शिव का पौराणिक रूप धीरे धीरे बढ़ा है। इस दृष्टि से इस शिवलिंग पर बनी मुखाकृति को देखा जाए तो शिव की पौराणिक कल्पना का इसमें केवल एक लक्षण—माथे पर तीसरे नेत्र का सा चिह्न है। जटाओं में चन्द्रमा का चिह्न तक नहीं है। यदि इसकी नागकालीन तथा गुप्त-कालीन एकमुख लिंगों से तुलना की जाए तो इस मूर्ति की उन सबसे प्राचीनता स्वतः सिद्ध होती है। भूमरा तथा खोह के एकमुख शिवलिंगों से इसकी तुलना करने पर ज्ञात होता है कि बनावट की समानता होते हुए भी वीणा गुहा का शिवलिंग उन सबसे कम रूढ़िगत है। डॉ० जायसवाल ने भूमरा तथा खोह की इन मूर्तियों को भारशिव नागकालीन माना है। उदयगिरि की अन्य गुहाओं में स्थित शिवलिंगों से तुलना करने पर भी यह सबसे प्राचीन ज्ञात होता है। इस एकमुखलिंग के मुखकी सौम्य-शान्त मुद्रा अत्यन्त आकर्षक है। जटा सिर के ऊपर जूड़े के रूप में बँधी है, कुछ बाल गले पर सामने की ओर लटक रहे हैं। गले में एक मणियों का कण्ठा पड़ा है।

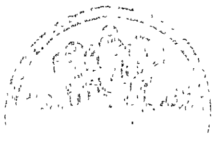
बेसनगर में मिले, और अब गूजरीमहल संग्रहालय में स्थित, दो शिवलिंग भी प्रारंभिक नागकालीन ज्ञात होते हैं। इनके कानों के भारी आभरण तथा जटाओं के बाँधने का प्रकार इन्हें भरहुत आदि की शुंग-कुषाणकालीन मूर्तियों की परम्परा में रखते हैं। इनमें भी शिव के कोई पौराणिक अलंकार अथवा चिह्न नहीं हैं।

इन एकमुखलिंगों के अतिरिक्त मन्दसौर में प्राप्त हुआ अष्टमुख-शिवलिंग भी पूर्व-गुप्तकालीन है। यह अष्ट-मुख शिवलिंग शिव-मूर्तिनिर्माण के इतिहास में अद्वितीय है। प्राचीन अथवा अर्वाचीन शिवलिंगों में एकमुख, त्रिमुख, चतुर्मुख, पंचमुख, शिवलिंग बहुत पाए जाते हैं, परन्तु अष्टमुख शिवलिंग अब तक कहीं नहीं मिला है। ग्वालियर पुरातत्त्व-विभाग के अधिकारियों ने मन्दसौर (प्राचीन दशपुर) के पास एक नदी के किनारे पानी में धोबियों को इस विशाल प्रस्तर-मूर्ति पर कपड़े धोते पाया और इसे अपने अधिकार में लिया। इसका व्यास ४ फीट से अधिक ही है और जब यह पूरी होगी तो प्रायः ७ या ८ फीट ऊँची होगी। इसको मन्दसौर के कुछ शिव-भक्तों(?)ने विभाग से छीन लिया और उसके प्राचीन मुखों को छीलकर नवीन मुख बना डाले। यदि पुरातत्त्व विभाग में इसका चित्र सुरक्षित न होता तो प्राचीन मूर्तिकला के विद्यार्थी के लिए यह एक दुखद कहानी ही रह जाती। इस शिवलिंग पर अत्यन्त भव्य शिव के त्रिनेत्रयुक्त अष्टमुख बने हुए हैं। जो मुख चित्र में दिखाई देते हैं वे अत्यन्त सौम्य एवं सुन्दर हैं। जटाओं की बनावट तथा कानों का आभरण पूर्व-गुप्तकालीन हैं।

यद्यपि अष्टमुख शिव की कोई अन्य मूर्ति नहीं मिली है फिर भी वह है शास्त्र सम्मत ही। शिव के आठ नाम होने का उल्लेख शतपथ एवं कौशीतकी ब्राह्मणों में है। वहाँ शिव को उषा का पुत्र बतलाया गया है और उनको प्रजापति द्वारा आठ नाम देने का उल्लेख है। इनमें आठ नाम रुद्र, शर्व, उग्र, अशनि, भव, पशुपति, महादेव और ईशाण दिए हुए हैं। पहले चार नाम शिव की संहार-शक्ति के प्रतीक हैं और पिछले चार कल्याणकारी वृत्ति के। वायुपुराण में भी शिव के अष्टनामों का उल्लेख है।

दशपुर (मन्दसौर) का उल्लेख उषवदात के नासिक के शिलालेख* में है। वहाँ पर उषवदात ने चतुःशाल वसध (सराय) बनवाई थी। उषवदात उज्जैन पर अधिकार करनेवाले महाक्षत्रप नहपान (ई० पू० ८२–७७) का

* ए० इ० भाग ८, पृष्ठ ७८।



दामाद था। तात्पर्य यह कि उस प्राचीन काल में भी दशपुर (मन्दसौर) प्रख्यात था। नागों के आराध्यदेव शिव की यह अद्वितीय मूर्ति दशपुर में बनी हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं।

यह भी अनुमान किया जा सकता है कि दशपुर का यह अष्टमूर्ति-शिव-मन्दिर उस प्राचीनकाल में अत्यधिक प्रसिद्ध था। कालिदास ने इस अष्टमूर्ति शिव से अत्यधिक परिचय होने का प्रमाण अपने ग्रंथों में दिया है। अपने पूर्वतम नाटक मालविकाग्निमित्र के मंगलाचरण में वे लिखते है :—

'अष्टाभिर्यस्य कृत्स्नं जगदपि तनुभिर्बिभ्रतो नाभिमानः

आगे अभिज्ञान शाकुन्तल के मंगलाचरण में तो महाकवि ने शिव की इस अष्टमूर्ति का अर्थ और भी स्पष्ट कर दिया है :—

या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री।
ये द्वे कालं विधत्तः श्रुतिविषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ॥
यामाहुः सर्वबीजप्रकृतिरिति यया प्राणिनः प्राणवन्तः।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्टाभिरीशः ॥

काव्य में हमें रघुवंश में इन अष्टमूर्ति शिव का उल्लेख मिलता है। रघुवंश के सर्ग २ के ३५वें श्लोक में राजा दिलीप से सिंह कहता है :—

कैलासगौरं वृषमारुरुक्षोः पादार्पणानुग्रहपूतपृष्ठम्।
अवेहि मां किंकरमष्टमूर्तेः कुम्भोदरं नाम निकुम्भमित्रम् ॥

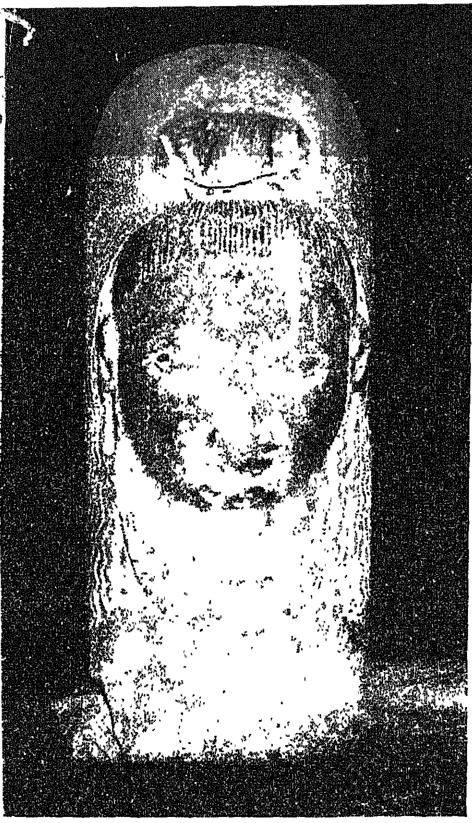
कालिदास को यदि ई० पू० ५७ के मालवगणाधिपति विक्रमादित्य का समकालीन माना जाए तब तो यह स्पष्ट होता है कि *मालवगण* की सभा में अभिनय किए जानेवाले *अभिज्ञान शाकुन्तल* में अष्टमूर्ति के उल्लेख का कारण यह प्रसिद्ध अष्टमूर्ति शिव का मन्दिर होगा। यदि नाटककार और काव्यकार कालिदास दो माने जाएँ तब भी इस स्थापना की पुष्टि ही होती है। ई० पू० का यह शिव-मन्दिर फिर अनेक शताब्दियों तक प्रसिद्ध रहा, यह मानना पड़ेगा। जिन्होंने काव्यकार एवं नाटककार कालिदास को गुप्तकालीन सिद्ध माना है उन विद्वानों के समक्ष भी इस स्थापना पर कोई आघात नहीं पहुँचता कि यह शिवलिंग पूर्व गुप्तकालीन है। वह गुप्तकाल में भी प्रसिद्ध रहा, और अपने मेघ को दशपुर होकर ले जानेवाले कालिदास को इन अष्टमूर्ति के प्रति उतनी ही श्रद्धा थी जितनी महाकाल पर।

उदयगिरि में एक नीम के नीचे एक नन्दी की मूर्ति मिली है, जो अब भेलसा संग्रहालय में रखी हुई है। इसकी बनावट पूर्व गुप्तकालीन है। यह भी उदयगिरि के किसी नागकालीन शिव-मन्दिर का प्रमाण है।

उदयगिरि में नागकालीन अन्य कौन कौनसी मूर्तियाँ हैं, यह अभी पूर्ण रूप से निश्चित होना है।

शिवनन्दी को कनिष्क ने जीत लिया था और बहुत समय तक पद्मावती पर कुषाणों का अधिकार रहा था। कुषाण कला तथा इस स्थान पर प्राप्त कुछ मूर्तियों में समानता हो, यह बहुत सम्भव है। उदाहरण के लिए मथुरा संग्रहालय में स्थित छारगाँव में प्राप्त नाग की मूर्ति की तुलना पवाया में प्राप्त नागराज की मूर्ति से की जा सकती है। दुर्भाग्य से पवाया की नागराज की मूर्ति बहुत अधिक टूटी हुई है, फिर भी खड़े होने की रीति, कमर पर बँधे हुए वस्त्र की गाँठ लगाने की रीति तथा सिर के ऊपर जानेवाले अहिछत्र में बहुत अधिक समानता है। मथुरा की इस मूर्ति पर हुविष्क के राज्यकाल के चालीसवें वर्ष के उल्लेखयुक्त अभिलेख हैं। वह ईसवी सन् ११८ की बनी हुई है।

वर्तमान गिर्द सूबात के कार्यालय के पास सड़क के किनारे एक झोंपड़ी में मथुरा के लाल पत्थर की एक मानवाकार बुद्ध-मूर्ति का धड़ प्राप्त हुआ है। ग्वालियर में ऐसा पत्थर कहीं नहीं मिलता और न यह मूर्ति ही किसी मन्दिर



एकमुख शिवलिंग, उदयगिरि।



शिवलिंग, बेसनगर।



अष्टमुख शिवलिंग, मन्दर



नागराज, पवाया।



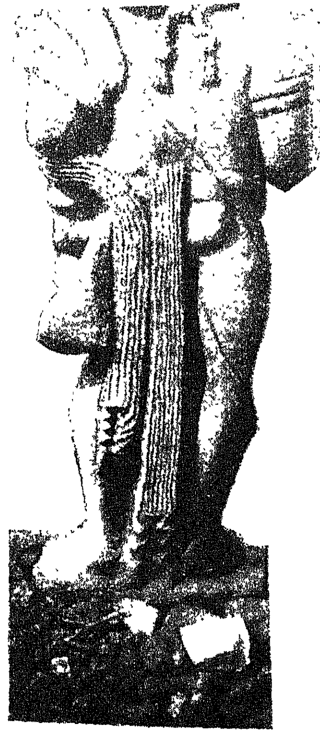
नागराज (पीछे से)।



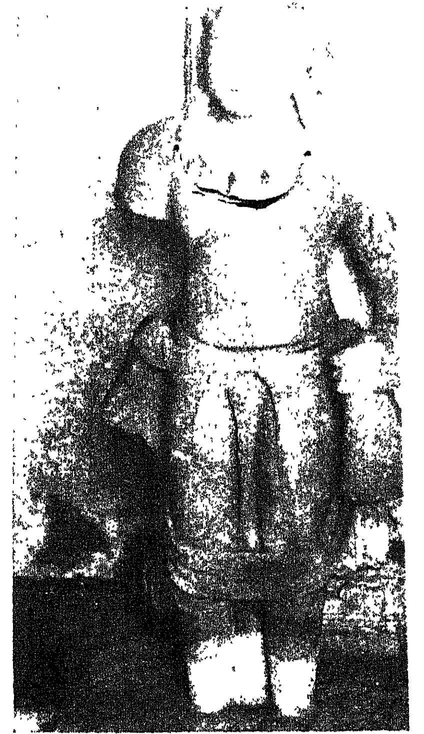
द्र मूर्ति का खंड।



मणिभद्र यक्ष।



मणिभद्र यक्ष (पीछे से)।



कुबेर, बेसनगर।

तेरही का कुबेर।



यक्ष, भेलसा।



यक्षी, भेलसा।



आदि ऐसे स्थल पर थी कि जिसे उसका प्राचीन स्थल माना जा सके। कुषाणकाल की यह मूर्ति अपने लाल पत्थर के अतिरिक्त वस्त्र की धारियों के कारण अपने आपको गांधार और मथुरा पर राज्य करनेवाले कुषाण राजाओं के कारीगरों की कृति घोषित करती हैं। ज्ञात होता है कि ग्वालियर में यह प्रवासी मूर्ति-खण्ड बाहर से आया है।

नागकाल की हमारी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूर्ति पवाया में प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति है। मूर्तिकला की दृष्टि से तो यह प्राग्-मौर्यकालीन, विशालकाय एवं भद्दे पैरों की मूर्तियों की परम्परा के अविश्रृंखल रूप से चलने का प्रमाण प्रस्तुत करती है और ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी चरण-चौकी के लेख द्वारा मूर्तिकला के इतिहास में एक सुदृढ़ आधार प्रस्तुत करती है। इसमें लिखा है कि इस मूर्ति का निर्माण मणिभद्र पूजक गोष्ठी ने स्वामिन् शिवनन्दी के राज्यकाल के चौथे वर्ष में कराया था।

मातृका, नाग, यक्ष आदि की पूजा का मूल श्री आनन्द कुमारस्वामी द्राविड़ सभ्यता में मानते हैं।* परन्तु यह तो निश्चित है कि बौद्धों में यक्षपूजा का बहुत प्रचार था। साँची, भरहुत आदि बौद्ध स्तूप की बाड़ों और तोरणों पर अनेक यक्ष और यक्षणियों की मूर्तियाँ बनी हैं, परन्तु वे पारिषदों के रूप में ही हैं।स्वतंत्र रूप से भी यक्षों की पूजा होती रही है। प्राचीन पद्मावती में परमशैव नागों की प्रजा इन यक्षों की पूजा कर रही थी, यह इस मूर्ति से प्रमाणित है। यह मूर्ति मानवाकार से कुछ बड़ी है। बनावट यद्यपि बेडौल है फिर भी प्रभावशाली है। मूर्ति की बनावट में कोई अलौकिकता नहीं है। दो हाथ हैं जिनमें एक में सम्भवतः थैली है, वह कोहनी से टूट गया है। थैलीवाले बाएँ हाथ के मूल में कंधे पर तीन बार लिपटा हुआ मोटा दुपट्टा है, गले में जनेऊ है। बड़ा मोटा मोतियों का कण्ठा पीछे मोटे मोटे फुन्दने से बँधा हुआ है। ठोड़ी के ऊपर मुंह टूट गया है, फिर भी ठोड़ी के नीचे मुटाई के कारण दुलेट स्पष्ट दिखाई देती है। बड़े पेट के नीचे घुटने तक आनेवाली धोती कुछ बेडौल ढंग से बँधी हुई है। सामने की पट्टी और पीछे की काँछ पंजों तक लटकती है। पैर सूजे से भद्दे हैं। इस मूर्ति में सुकुमार सौन्दर्य चाहे न हो परन्तु विशालता और प्रभावोत्पादन की शक्ति है तथा यह निम्न मध्यमवर्ग की पूजा की मूर्ति ज्ञात होती है।

बेसनगर का कुबेर अधिक सुन्दर एवं सुडौल है। यह नागकाल की अन्तिम सीमा को छूता हुआ ज्ञात होता है। इसके बाएँ हाथ में मुद्राओं की बनी थैली है, दायाँ टूट गया है और नीचे घुटनों से पैर भी टूट गए हैं। सम्भव है यह मूर्ति प्रारंभिक गुप्तकाल की हो। तेरही की तथा कुछ अन्य स्थानों की गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित बड़े पेट की सुरापायी कुबेर की मूर्तियाँ इसी परम्परा की हैं। इनमें कुषाण-प्रभाव स्पष्ट रूप से लक्षित है। मथुरा संग्रहालय में रखी सुरापायी कुबेर की मूर्ति की तुलना करने पर ग्वालियर संग्रहालय की सुरापायी कुबेर की बनावट की समानता स्पष्ट होगी।

भेलसे में एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति-खण्ड प्राप्त हुआ है। आजकल लोग उसे 'सीतला माता' कहकर पूज रहे हैं। परन्तु यह यक्ष और यक्षणियों की मूर्ति ज्ञात होती है। एक ओर यक्ष है और दूसरी ओर उसकी पीठ से पीठ मिलाए यक्षिणी है। यह मूर्ति-खण्ड मूल में किसी बाड़ या और किसी ऐसी ही जगह लगी होगी, जैसा कि उसके नीचे की ठुल्ली से ज्ञात है। यह मूर्ति भरहुत की परम्परा की है और बेसनगर के किसी नागकालीन अथवा कुछ पूर्व के निर्माण का भाग होगी। यक्षिणी हाथों में कोहनी तक तथा पैरों में घुटने तक कड़े पहने है। कमर पर करधनी है। मूर्ति प्रायः नग्न है, माथे पर अवश्य कोई कपड़ासा बँधा हुआ है। बायाँ हाथ कमर पर रखा है, दाएँ में कमल लिए है। गले में स्तनों के बीच में होता हुआ हार पड़ा है। कानों के आभरण अत्यन्त भारी हैं। एक दुपट्टा हाथों में पड़ा है। दूसरी ओर पुरुष की शिरोभूषा और कानों के आभरण स्त्री से प्रायः मिलते जुलते हैं। गले में बहुत चौड़ा कण्ठा है। हाथों में भी बहुत ऊपर तक गहने पहने है। मणिभद्र यक्ष की मूर्ति जैसी धोती बँधी है। यह मूर्ति दाएँ हाथ में कमल का फूल लिए है और बायाँ हाथ कमर पर रखा है।

इस काल की मूर्तियों में हमें साधारण सामाजिक जीवन का अंकन करनेवाली मूर्तियाँ नहीं मिली हैं, अतएव तत्कालीन वेश-भूषा आदि पर हम अधिक प्रकाश नहीं डाल सकते। परन्तु इन मूर्तियों के सहारे हम यह तो कह ही सकते हैं

* हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट, पृष्ठ ५।

कि शैव राजाओं के राज्यकाल में प्रजा अपने मन के इष्टदेव को पूजने को स्वतंत्र थी, हिन्दू धर्म का पुनरुत्थान हो रहा था और मूर्तिकला गुप्त एवं प्रारंभिक मध्यकालीन श्रेष्ठता की ओर बड़े वेग से प्रगति कर रही थी। नागराजाओं ने जहाँ उस कला के लिए भूमि तैयार की वहाँ प्रजा ने प्राग्-मौर्यकालीन लोककला की परम्परा की कृतियाँ भी निर्मित कराईं।

गुप्त कालीन (३२० ई० से ६०० ई०)—ईसा की चौथी शताब्दी के प्रारंभ में साकेत-प्रयाग के आसपास श्रीगुप्त नामक एक छोटासा राजा हुआ। उसके पुत्र का नाम था घटोत्कच। घटोत्कच का पुत्र चन्द्र अपने आपको चन्द्रगुप्त कहता था। उसने प्रसिद्ध लिच्छवि गण-तंत्र की कन्या कुमारदेवी से विवाह करके गुप्तवंश के उस महान् साम्राज्य की नींव डाली जिसके अधीन प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष हो गया और भारतीय संस्कृति तथा कला अपने चरम विकास को पहुँची। चन्द्रगुप्त (प्रथम) ने लिच्छवियों की सहायता से पाटलिपुत्र को जीत लिया, परन्तु उसे पीछे मगध छोड़ देना पड़ा। उसके दिग्विजयी पुत्र समुद्रगुप्त ने पहले हल्ले में ही मगध और नागों के राज्य को अपने अधीन कर लिया और फिर सम्पूर्ण भारत को अपनी विजय-वाहिनी के वशीभूत कर एवं 'शक-मुरंडों' को पराभूत कर अश्वमेध यज्ञ करके 'श्रीविक्रम*' एवं 'पराक्रमांक' विरुद ग्रहण किए। इस महान् विजेता का 'काव्य कविमति के विभव का उत्सरण' करता था और वह संगीत-कला में तुंबुरु, नारद आदि को भी लज्जित करता था।† इस प्रकार उसके समय से ही कला एवं साहित्य को गुप्तों द्वारा प्रश्रय मिलना प्रारंभ हुआ। अपनी कन्या प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक रुद्रसेन से करके इन्होंने गुप्त साम्राज्य का राजनीतिक महत्त्व ही नहीं बढ़ाया, साथ ही वाकाटकों के सांस्कृतिक वैभव से भी नाता जोड़ लिया।

साम्राज्य स्थापन और विदेशी शकों के उन्मूलन का शेष कार्य किया चन्द्रगुप्त (द्वितीय) ने, और साढ़े चारसौ वर्ष पूर्व हुए विक्रमादित्य के पौरुष के प्रतीक 'विक्रमादित्य' नाम को विरुद के रूप में ग्रहण किया। विदिशा के पास डेरा डालकर उसने पश्चिमी क्षत्रपों का भी उन्मूलन किया। उस समय चन्द्रगुप्त वहाँ पृथ्वी को जीतने के उद्देश्य से आया था, ऐसा उदयगिरि के शाब वीरसेन के गुहा-लेख से प्रमाणित है।‡ इस प्रकार हमारे इस प्रदेश के राजा गणपति नाग आदि को जीतकर समुद्रगुप्त ने जो सम्बन्ध स्थापित किया था, वह दृढ़तर हो गया। इस प्रकार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने जो विस्तृत साम्राज्य स्थापित किया उसका वर्णन महरौली लौह-स्तंभ की भाषा में नीचे दिया जाता है:—

"वंगदेश में एकत्रित होकर सामना करनेवाले शत्रुओं को रण में (अपनी) छाती से मारकर हटाते हुए जिसके खड्ग से भुजा पर कीर्ति लिखी गई, युद्ध में सिन्धु के सात मुखों को उल्लंघन कर जिसने बाह्लीकों को जीता, जिसके पराक्रम के पवनों से दक्षिण समुद्र भी अब तक सुवासित हो रहा है।"§

इस महान् साम्राज्य का हृदय था अवन्ति और विदिशा के आसपास का प्रदेश। दशपुर में चन्द्रगुप्त का स्थानीय शासक नरवर्मन् था जो अपने आपको 'सिंहविक्रमगामिन्' लिखता है और इस प्रकार अपने आपको चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का सेवक घोषित करता है। श्योपुर जिले के हासलपुर ग्राम में किसी नागवर्मन के राज्य उल्लेख है जो गुप्तों का ही मांडलिक होगा।¶

इस साम्राज्य का पूर्ण उपभोग और अत्यन्त विकसित प्रणाली से शासन किया सम्राट् कुमारगुप्त महेन्द्रादित्य ने। कुमारगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य डगमगा उठा। उत्तर-पश्चिम से अब हूणों के सैन्य-समुद्र के थपेड़े लगना प्रारंभ हुए और मालव-प्रदेश में 'पुष्यमित्र' नाम गणतंत्र मगध-साम्राज्य का विरोधी हो गया। ई० सन् ४५५ में स्कन्दगुप्त

* विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ४७-४८ पाद टिप्पणी।

† प्रयाग स्तम्भ लेख, फ्लीट, गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ६।

‡ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ३५।

§ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १३९।

¶ देखिए मेरी पुस्तक 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख'।

ने इन दोनों संकटों पर विजय पाई और गुप्तों की 'विचलित कुललक्ष्मी' का 'स्तम्भन'* करके पुनः विक्रमादित्य विरुद धारण किया।

परन्तु यह हूणों का समुद्र फिर उमड़ पड़ा और गुप्त-साम्राज्य उसके प्रवाह में बह गया। स्कन्दगुप्त के पश्चात् ग्वालियर-राज्य की कला के इस इतिहास में गुप्तवंश के 'बुधगुप्त' उल्लेखनीय हैं, सम्भवतः जिनका माण्डलिक नरेश माहिष्मती का सुबन्धु था जिसने दासिलकपल्ली नामक ग्राम 'कलयन विहार' (बाग-गुहा-समूह) को दान दिया था।†

बुधगुप्त के पश्चात् ही तोरमाण हूण ने उत्तर-पश्चिम के गांधार-राज्य से गुप्त-साम्राज्य पर आक्रमण कर दिया और मालवा उसके अधिकार में चला गया। तोरमाण के पुत्र मिहिरकुल का राज्य ग्वालियर-गढ़ तक था, इसका प्रमाण किसी मातृचेट द्वारा बनवाए ग्वालियर-गढ़ के सूर्य-मन्दिर के शिलालेख से मिलता है।‡ मिहिरकुल शैव था। उसने बुद्ध धर्म का अत्यधिक विरोध करके उसका उन्मूलन किया। उस आक्रमणकारी हूण पर यद्यपि भानुगुप्त बालादित्य ने विजय प्राप्त करली, फिर भी उसने उसका बध नहीं किया और उसे काश्मीर, गान्धार आदि पर अत्याचार करने के लिए छोड़ दिया।

गुप्त सम्राटों की इस कमजोरी से त्राण पाने के लिए 'जनता के नेता' मालव-वीर यशोधर्मन्-विष्णुवर्धन ने तलवार उठाई। उसने आततायी हूणों का पूर्णतः विनाश कर दिया और 'लौहित्य (ब्रह्मपुत्र) से महेन्द्रपर्वत (उड़ीसा) तक तथा हिमालय से पश्चिमी समुद्र तक एवं उन प्रदेशों पर, जिन पर गुप्तों और हूणों का भी अधिकार न हुआ था, अपने अधिकार में कर लिए और केवल पशुपति के चरणों में सिर झुकानेवाले मिहिरकुल से अपने पादपद्मों की अर्चा कराई।‡ इन विजय-गाथाओं से युक्त स्तम्भ आज भी सौंदनी में (मन्दसौर के पास) पड़े हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला का विवेचन करते समय यह बात स्पष्ट दिखाई देती है कि यह प्रदेश गुप्त-साम्राज्य में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है, अतएव गुप्तकला के अत्यन्त श्रेष्ठ उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलने के साथ ही वह अत्यधिक विस्तृत सीमा में मिलते हैं। उदयगिरि, बेसनगर (विदिशा), मन्दसौर (दशपुर), बडोह-पठारी (वटोदक), तुमेन (तुम्बवन), बाग (कलयन), पवाया (पद्मावती), नाम प्राचीन अभिलेखों में प्रसिद्ध हैं और साथ ही काकपुर*, महुआ*, चूर्ली*, मकनगंज* पारौली (पाराशरग्राम) पढ़ावली (धारौन) §, आदि अनेक स्थलों पर गुप्तकालीन मूर्तियाँ एवं मन्दिर प्राप्त हुए हैं।

गुप्त-सम्राट् प्रायः सभी 'परम भागवत' थे, परन्तु उनकी धार्मिक नीति इतनी उदार थी कि उनके अधीन बौद्ध, जैन, शैव, शाक्त सभी मत विकास पा सके। यही कारण है कि इस काल में प्रायः सभी सम्प्रदायों की सुन्दरतम मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। ऊपर लिखा जा चुका है कि गुप्त-सम्राट् कलाओं को आश्रय देते थे। इनके काल में काव्य, संगीत, चित्र-कला, मूर्तिकला एवं स्थापत्य सब का ही पूर्ण विकास हुआ। तत्कालीन महाकवियों के काव्यों में भाषा का जो परिमार्जन एवं कल्पना की जो प्रशस्त उड़ान दिखाई देती है उसके दर्शन उत्कीर्णक की छैनी और चित्रकार की तूलिका में भी होते हैं।

* फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ५२।
† विक्रम-स्मृति-ग्रंथ, पृष्ठ ६४९।
‡ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १६२।
‡ फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १४६।
* ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट संवत् १९८८ पृष्ठ ६।
* वही, संवत् १९९१ पृष्ठ ५।
* वही, संवत् १९८६ पृष्ठ १४।
* वही, संवत् १९८६ पृष्ठ १८-१९।
§ कनिंघम आ० स० ई० पृष्ठ १०५, १०७।

इसके प्रत्यक्ष उदाहरण के रूप में उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार के बाईं ओर बने हुए विष्णु की प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है। उसमें विष्णु के आयुध गदा और चक्र को स्त्री और पुरुष के रूप में वतलाया गया है।

गुप्तकालीन कलाकार सौन्दर्य का मूल-तत्त्व पूर्णतः समझ गया था। मानव-शरीर का ऐसा सुगढ़ एवं समानुपात मूर्तिकरण गुप्तों के पूर्व अथवा उनके पश्चात् कम हुआ है। अलंकारों का उपयोग इतने संयत ढंग से किया गया है कि उससे मूर्ति के सौन्दर्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। गुप्तकाल की अत्यधिक उन्नत प्रसाधन कला एवं सुरुचिपूर्ण सामाजिक जीवन का प्रतिबिम्ब मूर्तिकला में दिखाई देता है।

गुप्तकाल के पूर्व प्रचलित मूर्तिकला के अलंकरणों एवं अभिप्रायों का गुप्त-मूर्तिकार ने पूर्ण उपयोग किया और अपने उर्वर एवं सुसंस्कृत मस्तिष्क से उसकी अत्यधिक वृद्धि भी की। अशोक के स्तंभों की कारीगरी, नागों की गंगा (जिसके साथ उसने यमुना को जोड़ दिया), ताड़, नाग, सबको उसने आत्मसात् किया। विविध धर्मों के अनुयायियों के लिए विष्णु और उनके अवतार, अनेक शक्तियाँ, शिव, शिव-परिवार, बुद्ध, बोधिसत्त्व, तीर्थंकर सबका अंकन गुप्तकालीन मूर्तिकार ने अत्यन्त अलौकिक रूप से किया। साथ ही तत्कालीन सामाजिक जीवन के अनूठे अंकन भी किए। कहीं भी कला की श्रेष्ठता में बाधा नहीं आई है।

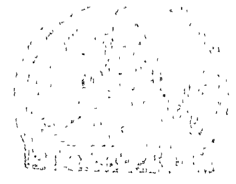
पश्चिमी यथार्थवादी अंकनों से गुप्तकलाकार बहुत दूर रहा है। उसका उसको स्पर्श भी नहीं है। उसकी कृतियाँ पूर्णतः पूर्वीय (भारतीय) आदर्शवाद से ओतप्रोत हैं। वास्तव में कल्पना और आदर्शवाद गुप्त मूर्तिकला के सौन्दर्य-साधन के प्रधान अंग हैं।

गुप्तकालीन मूर्तिकला के उदाहरणों की प्रचुरता एवं उसके विषय की अनेकरूपता को देखते हुए उसका विवेचन केवल विषयों में बाँटकर ही किया जा सकता है। हम आगे निम्नलिखित विभागों में बाँटकर इस राज्य में प्राप्त गुप्तकालीन मूर्तिकलाके उदाहरणों पर प्रकाश डालेंगे:—

(१) विष्णु एवं उनके अवतारों की मूर्तियाँ।
(२) शिव-मूर्तियाँ।
(३) अन्य देवी-देवता, गणेश, स्कन्द, पार्वती, ब्रह्मा, मातृकाएँ, गंगा-यमुना, यक्ष, गंधर्व आदि।
(४) बौद्ध मूर्तियाँ।
(५) जैन मूर्तियाँ।
(६) द्वारपाल, मिथुन, नृत्य-दृश्य, पशु-पक्षी, बेल, बूटे आदि।
(७) मृण्मूर्तियाँ।
(८) स्तम्भशीर्ष

(१) विष्णु मूर्तियाँ—गुप्त सम्राटों का एक अत्यन्त प्रिय विरुद 'परम भागवत' था। विष्णु के वाहन गरुड़ को गुप्त-सम्राटों ने अपने ध्वज के शीर्ष पर स्थान दिया था, जैसा कि उनके अनेक सिक्कों में बनी ध्वजाओं पर अंकित है। उनके काल में विष्णु और उनके अवतारों की अनेक लोकोत्तर प्रतिमाएँ बनें, यह स्वाभाविक ही है। गुप्तकालीन प्रधान आठ विष्णु मूर्तियाँ निम्नलिखित स्थानों में प्राप्त हुई हैं:—

१. शेषशायी विष्णु—उदयगिरि गुहा नं० १३।
२. खड़ी विष्णु प्रतिमाएँ—उदयगिरि गुहा नं० ६ (सनकानिक गुहा)।
४. खड़ी विष्णु प्रतिमाएँ—उदयगिरि गुहा नं० ९-१२ (यहाँ की विष्णु मूर्ति का एक धड़ गूजरी महल संग्रहालय में रखा है।)
१. चारों ओर कुरेदकर बनी विष्णु प्रतिमा—पवाया।



श्री हरिहरनिवास द्विवेदी

जैसा ऊपर लिखा जा चुका है चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य स्वयं उदयगिरि पधारे थे। परिणामतः यहाँ पर उनकी अप्रतिम विष्णु-भक्ति के प्रमाण की प्रतिमाएँ मिलती हैं। इनमें शेषशायी विष्णु की बारह फुट लम्बी विशाल प्रतिमा प्रधान है। चतुर्भुज विष्णु शेषनाग की कुण्डलियों पर लेटे हुए हैं। दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ से सिर को सहारा दिए हुए हैं। अन्य हाथों में क्या था यह ज्ञात नहीं होता। मुख का ऊपरी भाग बिलकुल टूट गया है और प्रायः सभी मूर्ति पर काल का प्रभाव पड़ने से अस्पष्टता आगई है। विष्णु के गले में एक छोटासा हार और घुटनों तक वैजयन्ती माला पड़ी हुई है। यह वैजयन्ती माला गुप्तकालीन सभी मूर्तियों पर प्रभावशाली रूप में दिखाई देती है। आगे वर्णित नृसिंह की मूर्ति में यह वैजयन्ती माला दाहिने हाथ के बाहुमूल पर स्पष्ट है। फिर घुटनों के नीचे तक का भाग टूट गया है, परन्तु घुटनों के नीचे दोनों पैरों पर वह सुन्दर रूप से स्पष्ट दिखाई देती है। मूर्ति के पीछे केशों के ऊपर उसका आकार अब भी पूर्ण रूप से सुरक्षित है। इसी प्रकार वराह मूर्ति में यह वैजयन्तीमाला बहुत ही भव्य रूप में आदिवराह के घुटनों के नीचे तक लटक रही है। पवाया की तथा हेलियोदोर स्तम्भ के पास मिली शुंगकालीन विष्णु-मूर्ति में वह इसी रूप में विद्यमान है। वास्तव में यह वैजयन्ती माला, चार हाथ और कौस्तुभ-मणि युक्त छोटा हार विष्णु-मूर्ति की प्रधान पहिचान हैं।

शेषशायी की इस प्रधान मूर्ति के ऊपर कुछ उभरी हुई अस्पष्ट नौ मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। पहली दो मूर्तियाँ अत्यन्त अस्पष्ट हैं। उनके अवशेषों से वह सम्भवतः ब्रह्मा और लक्ष्मी के आकार ज्ञात होते हैं। तीसरी मूर्ति गरुड़ की है जो सम्पूर्ण रूप से पक्षी की आकृति में अंकित है। गरुड़ के पश्चात् एक राजपुरुष और रानी का अंकन किया गया है, जिनके पीछे चार अन्य व्यक्ति हैं। अनुमान यह है कि यह राजा और रानी स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य एवं ध्रुवदेवी हैं। वास्तव में जैसा आगे वराह-मूर्ति के वर्णन में और भी स्पष्ट होगा, उदयगिरि की इन विष्णु-मूर्ति-युक्त गुहाओं में चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य इतना अधिक व्याप्त है कि वराह-मूर्ति को चन्द्रगुप्त-वराह माना गया है अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि ये राजा-रानी की मूर्तियाँ भी उनकी ही प्रतिकृतियाँ हैं। शेषशायी की मूर्ति के नीचे भी दो व्यक्ति अंकित हैं, परन्तु वे अत्यन्त अस्पष्ट हैं।

उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार के दोनों ओर विष्णु की खड़ी प्रतिमाएँ और उनमें से विशेषतः दाहिनी ओरवाली मूर्ति गुप्तकालीन मूर्तिकला में अपना विशेष स्थान रखती है, इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। यद्यपि ऋतुओं तथा काल के प्रभाव से यह मूर्ति कुछ अस्पष्ट हो गई है परन्तु इसकी विशेषताएँ आज भी प्रत्यक्ष हैं। माथे का सुन्दर मुकुट, गले का कौस्तुभ-मणि का हार तथा घुटनों के नीचे तक की वैजयन्ती माला तत्कालीन विष्णु-मूर्तियों की भाँति सुन्दर हैं ही, शरीर का गठन भी पूर्णतः 'गुप्त' है। ऊपर के दोनों हाथ कमर के पास गए हैं और उनमें क्या है, यह स्पष्ट नहीं दिखता। परन्तु इसकी विशेषता नीचे के दोनों हाथ और उनके आयुध हैं। कनिंघम ने लिखा है* कि इस मूर्ति के दोनों ओर विष्णु की दोनों पत्नियाँ खड़ी हैं। अन्य विद्वान भी ऐसा ही कुछ मानकर चलते हैं, यहाँ तक कि हमारे मित्र ग्वालियर पुरातत्त्व विभाग के उपाध्यक्ष डॉ० देवेन्द्र राजाराम पाटील ने भी बाईं ओर स्त्री-मूर्ति मानकर लिख दिया है कि 'गदा नहीं बनाई गई है'‡। परन्तु बात यह है कि कल्पना के धनी गुप्तकालीन मूर्तिकार ने विष्णु की गदा की स्त्री के रूप में कल्पना की है और चक्र की पुरुष के रूप में। ये दोनों आयुध इस प्रकार विष्णु-प्रतिमा के दाएँ तथा बाएँ हाथ के नीचे खड़े हैं। द्वार की दाहिनी ओर की विष्णु प्रतिमा छोटी है, यद्यपि वह अभी तक अधिक रक्षित है। इसमें नीचे के बाएँ हाथ की गदा प्रकृत अस्त्र के रूप में बतलाई है। नीचे का बाएँ हाथ का चक्र डमरू के आकार के स्टूल पर रखा है।

उदयगिरि की गुहा नं० ९-१२ तक की खड़ी चार विष्णु-प्रतिमाओं में कोई उल्लेखनीय बात नहीं है।

पवाया में जो विष्णु मन्दिर के उल्लेख मिले हैं वे स्थापत्य की दृष्टि से अपना विशेष स्थान रखते हैं। इस प्रकार के अवशेष अहिछत्रा के उत्खनन में भी प्राप्त हुए हैं। वास्तव में ये मन्दिर ऊँचे ऊँचे चबूतरों पर स्थित थे। इन चबूतरों

---

* आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ५०।

‡ देखिए विक्रम-वाल्यूम (अंग्रेजी) में डॉ० पाटील का लेख।

पर लकड़ी के मन्दिर बनाए जाते होंगे जिनमें प्रतिमाएँ स्थापित रहती होंगी। पवाया में प्राप्त विष्णु-प्रतिमा इसी मन्दिर में स्थापित थी, ऐसा मेरा अनुमान है। सम्भव यह भी है कि यह प्रतिमा गुप्तकाल से कुछ पूर्व की हो। उदयगिरि की विष्णु-प्रतिमाओं की अपेक्षा यह अधिक सरल है।

विष्णु के अवतारों में ग्वालियर-राज्य में हमें गुप्तकालीन कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन (त्रिविक्रम सहित) की मूर्तियाँ मिली हैं। मीन, भृगुपति, राम, बलराम, बुद्ध और कल्कि अवतारों की गुप्तकालीन मूर्तियाँ इस राज्य में नहीं मिलीं। इनमें से अनेक की तो विष्णु के अवतार के रूप में उस समय तक कल्पना ही नहीं हुई थी, शेष को मूर्तिकार ने उस समय तक अपनी छैनी का आधार नहीं बनाया था। यद्यपि पूर्व-मध्यकाल में बड़ोह में दशावतार मन्दिर की मूर्तियाँ गुप्त-कला की परम्परा में दशावतार को प्रस्तुत करती हैं।

कूर्मावतार का सम्बन्ध अमृत-मंथन की कथा से है। अमृत-मंथन का यह दृश्य उदयगिरि की गुहा नं० १८ के द्वार के ऊपर है और दूसरा पवाया के द्वार के तोरण-प्रस्तर पर अंकित है। कला की दृष्टि से इनमें दृष्टव्य कुछ भी नहीं है।

वराह अवतार का अंकन उदयगिरि की गुहा नं० ५ में किया गया है। यह लोकोत्तर सौन्दर्ययुक्त प्रतिमा गुप्तकला ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय कला का अप्रतिम उदाहरण है। मूर्तिकला के सुन्दर उदाहरण के वर्णन में गिरा को नयन की और नयन को गिरा की सहायता की आवश्यकता होती है। इस नयन की तत्त्व की पूर्ति हम चित्र द्वारा करते हैं। परन्तु यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित है कि उत्तम से उत्तम चित्र भी इस प्रतिमा के सौन्दर्य को, उसकी भव्यता एवं सजीवता को शतांश भी अंकित नहीं कर सकता। और फिर कलाकार ने जो वातावरण मूर्ति के चारों ओर अंकित किया है, वह एक चित्र में आ भी नहीं सकता। अतः यहाँ 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' की भावना सार्थक होती है।

यह विशाल मूर्ति लगभग बारह फीट ऊँची है। चतुर्भुज न होकर यह मूर्ति दो हाथों की है। सारा शरीर मानवाकार है केवल मुख वराह का है। दन्तकोटि पर पृथ्वी स्थित है। बायाँ हाथ बाएँ पैर के उठे हुए घुटने पर रखा है और दायाँ हाथ कमर पर। बायाँ पैर शेषनाग की कुण्डली पर स्थित है, जिसका सिर और हाथ मानवाकार हैं और जो इस विशाल प्रतिमा को हाथ जोड़े हुए हैं। गले में विशाल वैजयन्ती माला है, हाथों में कड़े हैं और धोती की पटलियाँ लटक रही हैं। सारे शरीर की बनावट इतनी दृढ़ता और ओज से पूर्ण है कि अंग प्रत्यंग से शक्ति और सजीवता फूटी पड़ती है। पृथ्वी स्त्री-आकृति की है। उसका मुख टूट गया है, परन्तु शेष सम्पूर्ण शरीर अखण्ड है जो मूर्तिकार के अनुपम सौन्दर्य-निर्माण का साक्षी है। पृथ्वी की तुलनात्मक लाघवता जहाँ विष्णु के इस अवतार की महानता की द्योतक है वहाँ उसके शरीर की आकृति अपने आपको पूर्णतः वराह के आश्रित कर देने का भाव व्यंजित कर रही है। पृथ्वी के शरीर पर अलंकार और वस्त्र अत्यन्त सूक्ष्म, परन्तु सुन्दर एवं सुरुचिपूर्ण हैं।

पुराणों में वर्णन है कि सृष्टि के प्रारंभ में भगवान् ने वराह का अवतार धारण कर पृथ्वी का सागर के गम्भीर गर्त्त से उद्धार किया था। इसी दृश्य का अंकन यहाँ है। पृष्ठभूमि की लहरें और शेषनाग समुद्र का अस्तित्व प्रगट करते हैं। पृथ्वी के इस उद्धार पर सम्पूर्ण देव-सृष्टि आनन्द मना रही है। ब्रह्मा, शिव, यक्ष, किन्नर, राक्षस सभी इस महान् वराह का स्तवन करते हुए तथा पृथ्वी के उद्धार के कारण आनन्द मनाते हुए दिखाए गए हैं। थोड़ी दूर पर इसी दृश्य से लगे हुए दाएँ और बाएँ दोनों ओर एक और दृश्य अंकित है। यद्यपि दोनों ओर एकसा ही दृश्य है, परन्तु बाईं ओर का कुछ विशेषता लिए है। सबसे ऊपर कोई देवांगना हाथ जोड़े आकाश में उड़ रही है। उसके नीचे छह स्त्रियों का गीत, वाद्य और नृत्य युक्त दृश्य दिखाया गया है। मध्य में एक स्त्री नृत्य कर रही है, शेष सब वीणा, वेणु, मृदंग, कांस्यताल बजा रही हैं। नीचे गंगा और यमुना अपने अपने वाहन मकर और कूर्म पर सवार हाथों में घट लिए अवतरण कर रही हैं। उनकी जल की धारा एक स्थल पर मिली है और फिर नीचे समुद्र (वरुण) हाथ में घट लिए हैं, जिसमें इन दोनों नदियों का जल मिल रहा है। वराह मूर्ति के दाहिनी ओर गंगा, यमुना और समुद्र सब इसी प्रकार के हैं, केवल ऊपर नृत्य-गीत का दृश्य नहीं है।

देखना यह है कि क्या यह सब चित्रण निरर्थक, केवल कुछ पौराणिक घटनाओं का अंकन करने को हुआ है? क्या विष्णु के वराह रूप में पृथ्वी का उद्धार करने की कथा को मूर्त रूप देने भर के लिए कलाकार ने यह लोकोत्तर प्रतिमा समूह का निर्माण किया है। गुप्त सम्राटों का यह सर्वश्रेष्ठ कलाकार इससे कुछ अधिक अंकित करने के लिए नियत किया गया होगा, ऐसा निश्चित है। यदि कोई अन्य उद्देश्य न होता तो गंगा-यमुना और समुद्र के दोनों पार्श्ववर्ती चित्र वराह मूर्ति सम्बद्ध नहीं किए जा सकते। डॉ० अग्रवाल ने इसे मध्यदेश का कलात्मक चित्रण माना है।* हमारे विनम्र मत में सम्राट् समुद्रगुप्त ने सम्पूर्ण भारतवर्ष की विजय यात्रा करके अश्वमेधादि यज्ञ किए और गंगा यमुना की पवित्रता को सार्थक किया, उसीका अंकन उसके दिग्विजयी पुत्र ने इस वराह-मूर्ति के दोनों ओर कराया जो उसके निज के पराक्रम के चित्रण के लिए निर्मित की गयी। गुप्त ने अपनी दिग्विजयों द्वारा भारत-धरा को अराजकता के समुद्र-तल से निकालकर उसका उद्धार किया अथवा यदि सम्राट् के सांधिविग्रहिक शाब वीरसेन के शब्दों में कहें तो 'अन्य राजाओं को दास बनाकर अपने पराक्रम रूप मूल्य से जिसने पृथ्वी को मोल लिया है'† और जिसके धर्माचरण के कारण पृथ्वी जिसपर अनुरक्त है, उस चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने आदिवराह के उस तेजोमय रूप का अंकन कराया जिसने अपने अतुल पराक्रम से पृथ्वी का उद्धार किया था।

स्वर्गीय काशीप्रसादजी जायसवाल ने इस दृश्य में पृथ्वी को ध्रुवस्वामिनी माना है और वराह को चन्द्रगुप्त। वे लिखते हैं, "चन्द्रगुप्त के धर्म का और देश का उद्धार करने के उपलक्ष में उनके समसामयिक हिन्दुओं ने विदिशा के उदयगिरि पहाड़ में एक विष्णु मूर्ति बनाई जो आज तक मौजूद है। विष्णु पृथ्वी की रक्षा वाराही तनु लेकर कर रहे हैं, वीरमुद्रा में खड़े अपने दन्तकोटि से एक सुन्दरी को उठाए हुए हैं और ऋषिगण स्तुति कर रहे हैं; सामने समुद्र है। यह मूर्ति गुहा-मन्दिर के बाहर है। गुहा-मन्दिर खाली है, उसके द्वार पर जय-विजय की प्रतिमाएँ अंकित हैं और आसपास गुप्तवंश के सिक्कोंवाली मूर्तियाँ दुर्गा और लक्ष्मी की हैं। इस वराह-मूर्ति को 'चन्द्रगुप्त-वराह' कहना चाहिए, क्योंकि यह मूर्ति विशाखदत्त के मुद्राराक्षसवाले भरतवाक्य का चित्रण है। चन्द्रगुप्त ने आर्यावर्त की रानी श्री ध्रुवदेवी का उद्धार शक-म्लेच्छों से किया था और भारत-भूमि का उद्धार म्लेच्छों से किया था। विशाखदत्त कई अर्थवाले श्लोक लिखते थे, यह 'देवीचन्द्रगुप्त' नाटक से सिद्ध है। उनका भरतवाक्य यह है—

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमवनविधावस्थितस्यानुरूपाम्।
यस्य प्राग्दंतकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री॥
म्लेच्छरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः।
स श्रीमद्बंधुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चंद्रगुप्तः॥

इसमें कवि ने (अधुना) वर्तमान चन्द्रगुप्त (जिसका अर्थ विष्णु होता है, चन्द्र=स्वर्ण, चंद्रगुप्त=हिरण्यगर्भ) राजा की विष्णु से तुलना की। जैसे विष्णु ने इस पृथ्वी का उद्धार म्लेच्छ (असुर) से किया उसी प्रकार दन्त-कोटि शस्त्र से मारकर म्लेच्छ से चन्द्रगुप्त पार्थिव ने भारत-भूमि और ध्रुव (पृथ्वी) देवी का उद्धार किया। दोनों को रूप बदलना पड़ा था। चन्द्रगुप्त ने शक्ति (ध्रुवदेवी) का रूप पकड़ा और विष्णु ने शूकरी-तनु धारण किया अर्थात् रक्षण कार्य में (अवनविधौ) अयोग्य पर जरूरी रूप धारण किया।"‡

बेसनगर में प्राप्त हुई नृसिंह मूर्ति भी गुप्तकालीन प्रतिमाओं में बहुत श्रेष्ठ है। परन्तु वह अत्यधिक टूटी हुई है, और इस कारण उसका मूल सौन्दर्य पूर्ण प्रकट नहीं है। दोनों हाथ और वैजयन्ती माला टूट गई है। मुखाकृति भी अस्पष्ट होगई है। वह मानवाकार से कुछ बड़ी है और उसके अंग अंग से सिंह-विक्रम प्रकट होता है। गले में कौस्तुभ मणियुक्त

* नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४८, संवत २०००, पृष्ठ ४३।

† फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ३५।
"विक्रमावक्रयक्रीता दास्यन्यग्भूतपार्थि(वा)......................मानसंरक्ता-धर्म्म........................"

‡ गंगाप्रसाद मेहताकृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' की प्रस्तावना, पृष्ठ ३-४।

हार है धोती घुटनों तक की है, परन्तु आगे और पीछे पटली पंजों तक गई है। सम्पूर्ण मानव-शरीर पर केवल सिर ही सिंह का है। वास्तव में उदयगिरि के वराह की विशाल प्रशस्त कल्पनापूर्ण कला इस मूर्ति में भी प्रदर्शित है।

वामन रूप धारण कर भगवान् ने बलि को ठगा था। यह दृश्य पवाया में प्राप्त द्वार के तोरण-प्रस्तर पर अंकित है। बलि की यज्ञशाला बहुत सुन्दर रूप में अंकित है। दस गवाक्षों में दस स्त्रियाँ बैठी दिखाई गई हैं। उनकी वेशभूषा पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। नीचे यज्ञ-यूप है, उसके पास बलि-पशु बँधा है। वेदी के पीछे चार व्यक्ति कुर्सी जैसी ऊँची आसंदियों पर बैठे हैं। राजा बलि कमण्डल में से संकल्प का जल छोड़ रहे हैं। छोटे से वामन सामने खड़े हैं। बलि के पीछे एक और आगे दो व्यक्ति खड़े हैं। इस दृश्य से यज्ञशाला की रचना पर प्रकाश पड़ता है। बीच में हवन-कुण्ड है और उसके ऊपर चारों ओर दर्शकों के लिए गोखों में गवाक्ष बने हैं।

जब प्रह्लाद का पौत्र, विरोचन का पुत्र बलि यज्ञ कर रहा था उस समय अदिति के गर्भ से उत्पन्न भगवान् के अवतार वामन ने उससे तीन पग भूमि का दान माँगा था। गुरु शुक्राचार्य ने बलि को समझाया कि स्वयं भगवान् तुझसे छल करके तेरा राज्य लेकर देवताओं को देना चाहते हैं, परन्तु दानी बलि ने एक न मानी और दान का संकल्प कर दिया। फिर वामन ने अत्यन्त विशाल रूप धारण कर लिया और एक पग में भूलोक नाप लिया, दूसरे पग में अंतरिक्ष नापा और तीसरे पग से नापने को जब कुछ न बचा तब बलि ने अपना मस्तक आगे कर दिया। विष्णु ने प्रसन्न होकर तीसरा पग उसके माथे पर रखकर उसे पाताल का राजा बना दिया। इस तीन पग से सब ब्रह्माण्ड नापनेवाले वामन के रूप को त्रिविक्रम रूप कहा है। उसीका अंकन पवाया के इस तोरण पर वामन के दृश्य के दाईं ओर किया गया है।

इस तोरण के पीछे ऊपर लिखे समुद्र-मंथन के दृश्य के अतिरिक्त नृत्य के दृश्य के ठीक पीछे स्वामि कार्तिकेय की उभरी हुई मूर्ति का अंकन है।

(२) **शिव मूर्तियाँ**—गुप्तकालीन शिव-मूर्तियाँ अनेक प्रकार की हैं। जिनमें प्रथम तो वे शिवलिंग हैं जिनपर एक, चार अथवा आठ मुखाकृतियाँ बनी हुई हैं। एकमुख लिंग तो गुप्तकाल से भी पहले के विदिशा और उदयगिरि में मिले हैं। गुप्तकाल का चारमुख लिंग मकनगंज* में था। प्राचीन अष्टमुख शिवलिंग जो मन्दसौर में प्राप्त था, उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। मन्दसौर की खड़ी हुई शिव-मूर्ति, तुमनें एवं बड़ोह की आधी टूटी शिव-मूर्तियाँ तथा उज्जैन में प्राप्त ताण्डव नृत्यरत शिवमूर्ति अपने अपने प्रकार की पृथक् पृथक् हैं।

गुप्तकाल में शैव मत का बहुत प्रचार था। शिव की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ गुप्तकाल में बनी थीं। इस राज्य की सीमाओं में भी गुप्तकालीन कुछ ऐसी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं जिनके बराबर सौन्दर्य अथवा मूर्तिनिर्माण शास्त्र की विशेषताओं युक्त मूर्तियाँ अन्य कहीं नहीं मिली हैं। ये शिव प्रतिमाएँ मुखलिंग तथा सम्पूर्ण मानवी शरीर-युक्त दोनों प्रकार की मिली हैं। शिव-मन्दिर निर्माण का गुप्तकालीन ऐतिहासिक उल्लेख उदयगिरि की गुहा नं० ७ का चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के मंत्री शाब वीरसेन का अभिलेख है जिसमें उसने शम्भु की गुहा बनवाने का उल्लेख किया है। परन्तु उसका शिवलिंग आज नहीं है।

गुप्तकाल की अत्यन्त भव्य प्रतिमा मन्दसौर में प्राप्त हुई है। यह प्रतिमा मानवाकार से भी ऊँची है। कभी यह मन्दसौर के किले के दक्षिण-पूर्व में भूमि में आधी गड़ी हुई थी। उसके मुख का अगला भाग टूटा पड़ा था। श्री गर्दे ने उसे खोदकर एवं उसके सब अंगों को यथास्थान बैठाकर वर्तमान सूबात के बाड़े में खड़ा कर दिया है। इस समय केवल घुटने के नीचे तक पैर टूटे हुए हैं, परन्तु चरण चौकी बनी हुई है। इसमें सात उपासक हैं। परशुयुक्त विशाल त्रिशूलधारी शिव-विग्रह के दोनों और शिव-गण खड़े हैं। इन गणों की तुलना उन विशाल द्वारपालों से की जा सकती है जो सौंदनी में यशोधर्मन—विष्णुवर्धन के स्तम्भ के पास खड़े हैं। वास्तव में वे किसी समय में किसी शिव-मन्दिर के द्वार पर स्थित होंगे।

---

* ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट, संवत् १९८६, पृष्ठ १९।



(यह शिव-मन्दिर इस प्रतिमा का हो सकता है।) इन शिवगणों की ऊँचाई शिव से आधी से भी कम रखी गई है और इस प्रकार तुलनात्मक रूप में मूर्तिकार ने शिव की महानता प्रदर्शित की है। शिव को घेरे हुए शिव की सेना के विकराल भूत-प्रेत अंकित हैं। शिव के मस्तक पर अत्यन्त भव्य मुकुट है, कानों में कुण्डल एवं गले में बेसनगर की महिषमर्दिनी अथवा अन्य गुप्तकालीन विष्णु-मूर्तियों के समान छोटासा हार है। हाथ केवल दो हैं। धोती के बाँधने का ढंग अत्यन्त सुन्दर है। शिव ध्यान-मुद्रा में आँखें बन्द किए हैं। इस मूर्ति की भव्यता एवं सौन्दर्य की बराबरी करनेवाली शिव-मूर्तियाँ कम हैं। यह एकाएक परेल (बम्बई) में प्राप्त शिवमूर्ति (जो बम्बई संग्रहालय में है) का स्मरण दिला देती है। यद्यपि दोनों मूर्तियों के विषय में भिन्नता है, फिर भी कारीगरी की अत्यधिक समानता है। वास्तव में गुप्तकला भौगोलिक दूरी को नहीं मानती है, उस समय भारत के सम्पूर्ण भाग में एक ही कला-शैली प्रचलित थी।

गुप्तकालीन कला के पिछले भाग को छूती हुई उज्जैन की शिवमूर्ति मूर्तिकला की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह नीले पत्थर की है और आजकल गूजरीमहल संग्रहालय में है। इसमें शिव को ताण्डव-नृत्य-रत दिखलाया गया है। मुकुट, गले का छोटा हार तथा धोती लगभग मन्दसौर के गुप्तकालीन शिव से मिलती जुलती है। यह मूर्ति ताण्डव नृत्य करते हुए शिव की है। इनके दस भुजाएँ हैं। ऊपर के दो हाथों में एक नाग अत्यन्त लीलापूर्वक पकड़े हुए हैं। दाहिनी ओर के दूसरे हाथ में डमरू है, तीसरा हाथ व्याख्यान मुद्रा में उठा है और चौथे में त्रिशूल है। पाँचवाँ हाथ वरदमुद्रा में दायीं ओर गया है, परन्तु खण्डित हो गया है। बाईं ओर केवल दो भुजाएँ ही अखण्ड हैं, जिनमें से नीचे की अभय मुद्रा में उठी हुई है। चरणों में गति का लक्षण है। दोनों पैरों के बीच शिव गण के रूप में मानों विश्व ही शंकर के ताल पर नाच रहा है। यह शिव के ताण्डव नर्तन की अत्यन्त प्राचीन प्रस्तर मूर्ति है। दक्षिण-भारत में ताण्डव शिव की अनेक सुन्दर कांस्य मूर्तियों ने प्रसिद्धि पाई है, परन्तु महाकाल की पुरी उज्जयिनी ने शिव-मूर्ति में अपनी इस प्राचीन कृति द्वारा उपयुक्त अंशदान किया है।

कुमारगुप्त कालीन गुप्त संवत् ११६ के अभिलेख* से सिद्ध है कि वर्तमान तुमेन गुप्तकाल में तुम्बवन के रूप में प्रख्यात था। उसमें 'शशि' कीसी प्रभा वाला 'गिरिश्रृंग' जैसा 'तुंग' 'देव निकेतन' वटोदकवासी श्रीदेव, हरिदेव तथा धन्यदेव तीन भाइयों ने बनवाया था। इसी तुमेन में एक अत्यन्त सुन्दर शिव-मूर्ति प्राप्त हुई है। दुर्भाग्य से यह अत्यन्त भग्न है, परन्तु फिर भी इतनी बची है कि इसके अलौकिक सौन्दर्य के दर्शन हो सकें। इसकी शान्त, गम्भीर मुखमुद्रा, अधखुले ध्यान-मग्न सुन्दर नेत्र, त्रिबलीयुक्त सुन्दर कण्ठ अत्यन्त आकर्षक हैं। दाहिने हाथ का केवल पंजा शेष है जो छाती के पास वरद मुद्रा में उठा है।

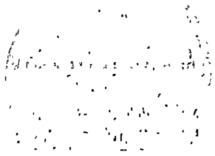
वर्तमान बडोह (प्राचीन वटोदक) में भी एक शिव-मूर्ति का सुन्दर खण्ड मिला है। यह भी अत्यन्त सुन्दर तथा कलापूर्ण है। शिवमूर्ति सम्भवतः चतुर्भुज है। दाहिनी ओर के ऊपर के हाथ में सम्भवतः एक कमल है। शिव की जटाओं के नाग ने सरककर अपना फन इस कमल पर रख दिया है। शिव की मुखमुद्रा अत्यन्त प्रसन्न एवं लीलामय है।

(३) *अन्य देवी-देवता*—गुप्तकाल के समाप्त होते होते हिन्दुओं के अखिल देवतागणों की प्रतिमाओं का निर्माण हो चुका था, विशेषतः सूर्य, गणेश, शक्तियाँ आदि अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियों के निर्माण का उल्लेख मिलता है।

सूर्य-मन्दिर के निर्माण का उल्लेख मन्दसौर के शिलालेख में मिलता है। उससे ज्ञात होता है कि मालव संवत् ४९३ (ई० स० ४३६) के 'शीतकाल में' पूस मास के तेरहवें दिन जब कुमारगुप्त पृथ्वी पर राज्य कर रहा था और पार्थ समान विश्ववर्मा स्थानीय शासक था, एक अद्वितीय सूर्य-मन्दिर को तन्तुवाय श्रेणी ने तैयार करवाया। उस श्रेणी का धन उनकी दस्तकारी के कारण एकत्रित था। उस मन्दिर के चौड़ा और ऊँचा शिखर, जो पर्वत के समान मालूम पड़ता था, चन्द्रमा की राशिधारा के समान सफेद था, जो पश्चिम के इस अद्वितीय नगर में ऊँचा खड़ा और चमक रहा था।'† मन्दसौर का

* ए० ई० भाग २६, पृष्ठ ११५-११८।

† फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ ८१।



ध्वंस कल्पनातीत रूप में हुआ है। यह तो अत्यन्त सौभाग्य की बात है कि कुछ प्रस्तरखण्ड इन लेखों को वहन किये मिल सके और कुछ मूर्तियाँ इधर उधर टूटी-अधटूटी मिल गईं। अतः न तो उस गगनचुम्बी सूर्य-मन्दिर का पता है और न उसकी सूर्य-प्रतिमा का। दुर्भाग्य से शिलालेख में प्रतिमा का वर्णन भी नहीं है। ग्वालियर गढ़ पर भी किसी मात्रिचेट * ने मिहिरकुल हूण के शासन काल के १५वें वर्ष में एक सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया था।

त्रिदेव के तीसरे देवता ब्रह्मा की दो मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं। बेसनगर में चतुर्मुख ब्रह्मा की भग्न मूर्ति तथा पवाया के पद्मासनासीन ब्रह्मा मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण न हो परन्तु मूर्ति-विज्ञान में इसका स्थान अवश्य है।

दुर्गा, शक्ति एवं मातृकाओं की मूर्तियाँ अधिक पूर्ण एवं प्रचुर संख्या में प्राप्त हुई हैं। गुप्तकाल तक शक्ति-पूजन पूर्ण विकास प्राप्त कर चुका था। पार्वती महिषमर्दिनी, सप्तमातृका एवं अष्टशक्ति की अत्यन्त सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं।

इनमें सबमें प्राचीन मूर्ति महिषमर्दिनी की लगभग ग्यारह फीट ऊँची वह मूर्ति है, जिसे कनिंघम ने तेलिन की मूर्ति कहे जाने का उल्लेख किया है।† स्मिथ ने इसे पूर्व मौर्यकालीन मूर्तियों में गिना, इसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। कनिंघम ने इसे ७ फीट ऊँचा लिखा है, परन्तु वास्तव में वह उससे बहुत ऊँची है। इसकी बनावट से यह निश्चित ही गुप्तकालीन है। माथे पर मुकुट बँधा हुआ है और त्रिनेत्र का चिह्न है। कानों में गोल कर्णफूल हैं। गले में दो अलंकार हैं। बाईं ओर के हाथ टूटे हुए हैं। केवल कमर के ऊपर एक हाथ का पंजा शेष है। दायीं ओर तीन हाथ अक्षुण्ण बने हुए हैं, जिनके आयुध टूट गए हैं। कमर पर पेटी बंधी है और उसके ऊपर अलबटदार वस्त्र मथुरा एवं पवाया की नागराज की मूर्ति से मिलता है। पैरों के नीचे महिष का सिर है। महिष के दोनों ओर विपरीत दिशाओं में मुख किए दो सिंह हैं। बाईं ओर के सिर के ऊपर एक पुरुष खड़ा है, जिसका सिर टूट गया है और जो सिर पर प्रहार कर रहा है। शिल्परत्न के अनुसार महिषमर्दिनी के दस भुजाएँ होना चाहिए, तीन नेत्र, जटामुकुट, सिर पर चन्द्रकला होना चाहिए। दाएँ हाथों में त्रिशूल, खंग, शक्त्यायुध, चक्र और धनुष होना चाहिए और बाएँ हाथों में पाश, अंकुश, खेटक, परशु तथा घंटिका होना चाहिए। उसके चरणों के पास महिष होना चाहिए जिसका सिर कटा हुआ हो, और असुर हो जिसे देवीने नाग-पाश में बाँध लिया हो और जिसके हाथ में खड्ग तथा ढ़ाल हों। देवी का दायाँ पैर सिंह की पीठ पर हो और बायाँ महिष को छूता हुआ हो।‡

यह बेसनगर की विशाल प्रतिमा उपर्युक्त वर्णन से पूरा मेल नहीं खाती। परन्तु उदयगिरि की गुहा नं० ६ तथा १७ की महिषमर्दिनी की उभरी हुई मूर्तियाँ इस शास्त्रीय वर्णन से अधिक मेल खाती हैं। इन मूर्तियों के १२ भुजाएँ हैं, और असुर पशु (महिष) के रूप में है।

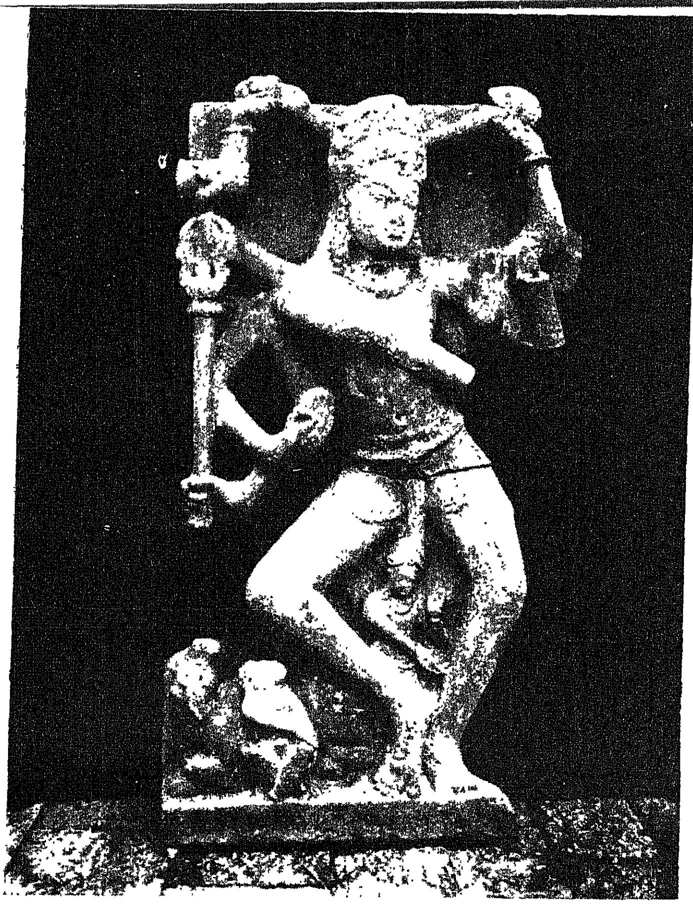
शिव की अन्यतम शक्ति पार्वती की गुप्तकालीन मूर्तियों में तुमेन की सिंहवाहिनी पार्वती तथा पवाया की खंडित मृत्तिका-मूर्ति अधिक उल्लेखनीय हैं।

गुप्तकालीन सप्त-मातृकाओं की मूर्तियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं। बड़ोह और पठारी के बीच एक पहाड़िया में सप्त मातृकाओं की मूर्तियाँ चट्टान में खुदी हुई हैं। उनके नीचे गुप्त लिपि में एक १० पंक्ति का अभिलेख भी है, जो अब तक पूरा नहीं पढ़ा जा सका है। उसमें तिथि थी, जो नष्ट हो गई है, केवल 'शुक्लदिवसे त्रयोदश्यां' और 'भागवतो मातरः'

* फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ १६२।

† आ० स० ई० भाग १०, पृष्ठ ३९-४०।

‡ गोपीनाथ रावः हिन्दू आइकोनोग्राफी, पृष्ठ ३४५-३४६।



ताण्डव शिव, उज्जैन।



शिव, बडोह्।

शिव, तुमेन।



महिषमर्दिनी, बेसनगर।



पार्वती तुमेन।

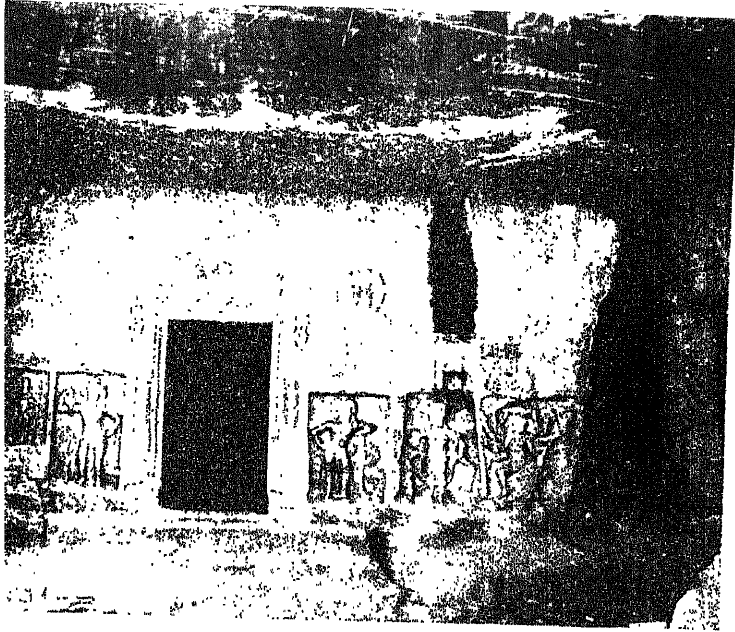




सप्तमातृकाएँ, बेसनगर।



स्कंद, तुमेन।



उदयगिरि, गुहा नं. ६ का द्वार, विस्तार से।

स्कंद, उदयगिरि।



उदयगिरि, गुहा नं. ५ व ६ के द्वार।



तथा 'विषयेश्वर महाराज जयत्सेनस्य' शब्द स्पष्ट रूप से पढ़े गए हैं। श्री गर्दे ने इस लिपि को पाँचवीं शताब्दी का बतलाया है।* इससे हमें यहाँ सम्बन्ध नहीं है कि 'विषयेश्वर महाराज जयत्सेन' किस गुप्त सम्राट् के 'विषयेश्वर' थे, यहाँ हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि प्रारंभिक गुप्तकाल में सप्तमातृकाओं की मूर्तियों का निर्माण होता था। बाग में भी गुप्तकालीन सप्त मातृकाओं की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि पर गुहा नं० ४ तथा ६ में अष्टशक्तियों की विशाल प्रतिमाएँ मिली हैं। गुहा नं० ४ के बगल में एक खुली गुहा में छह मूर्तियाँ सामने बनी हैं और एक दाहिनी ओर और एक बाईं ओर है। इसी प्रकार गुहा नं० ६ में है।

मूर्तिकला की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर सप्तमातृकाओं अथवा अष्टशक्तियों की मूर्तियाँ बेसनगर में प्राप्त हुई हैं। इनके निर्माण में गुप्तकाल का मूर्ति-निर्माण-सौष्ठव पूर्ण प्रकाशित हुआ है। गुप्तकालीन केश-विन्यास इन मातृकाओं में प्रदर्शित हुआ है। यद्यपि यह अत्यन्त भग्न अवस्था में है, फिर भी इनके निर्माण की निकाई स्पष्ट प्रकट है। ग्वालियर के उत्तर में प्रायः ९ मील पर स्थित पारौली एवं वहाँ से ७ मील दूर पढ़ावली में गुप्तकालीन मन्दिर मिले हैं। पढ़ावली में एक छह भुजा देवी की इस प्रकार की एक मूर्ति मिली जो एक बालक को लिए है।†

गुप्तकाल में से शिव-परिवार में स्कन्द का बहुत महत्त्व था, ऐसा ज्ञात होता है। गुप्त सम्राटों द्वारा भी देव सेनापति को विशेष मान मिला है, जैसा कि 'स्कन्द'-गुप्त एवं 'कुमार'-गुप्त नामों से ही प्रकट होता है। इस काल की कुछ अत्यन्त सुन्दर 'स्कन्द' प्रतिमाएँ राज्य में प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि की गुहा नं० ३ में दण्डधारी प्रतिमा सम्भवतः स्कन्द की ही है। गुहा नं० ६ पर बनी प्रतिमा भी स्कन्द की ही है। इस मूर्ति की वेषभूषा अत्यन्त प्रभावशाली है और इसके देवसेना-पतित्व की साक्षी है। बालब्रह्मचारी स्कन्द के काकपक्ष और उनका दण्ड स्कन्द की पहिचान के रूप में दिखाई देते हैं। तुमैन में प्राप्त स्कन्द प्रतिमा यद्यपि छोटी है, किन्तु बहुत सुन्दर है। स्कन्द को गुप्तकालीन वेशभूषा धारण किए हुए दण्ड लिए दिखलाया गया है। पीछे मयूर बना हुआ है। इस मूर्ति के खड़े होने का ढंग देखकर स्कन्दगुप्त की स्वर्ण-मुद्राओं पर अंकित गुप्त सम्राट् की बंकिम मूर्ति का स्मरण हो आता है। कोटा से प्राप्त स्कन्द की मूर्ति, जो अब गूजरीमहल संग्रहालय में है, पिछले गुप्तकाल की अत्यन्त सुन्दर मूर्ति है।

गणेश की गुप्तकालीन अनेक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। उदयगिरि में ही तीन गणेश मूर्तियाँ हैं। गुहा नं० ६ तथा १७ में दो गणेश मूर्तियाँ हैं और गुहा नं० ३ के दक्षिण की ओर एक और गणेश बने हुए हैं। इनमें गुहा नं० ६ के गणेश की आकृति भद्दीसी है। शरीर पर कोई आभरण नहीं है और गणपति के कोई भी शास्त्रीय चिह्न अंकित नहीं हैं। इस कारण से हमारे मित्र डॉ० पाटील इसे गणेश की प्राचीनतम मूर्तियों में एक बतलाते हैं।‡ गुहा नं० १७ की गणेश-मूर्ति के सिर पर मुकुट और बढ़ गया है, अन्य बातों में वह गुहा नं० ६ की गणेश-मूर्ति से मिलती जुलती है। तीसरी गणेश मूर्ति पूर्णतः शास्त्रीय चिह्नोंयुक्त है। बैठे हुए गणेश चतुर्भुज हैं। दाहिने हाथों में से एक में परशु है, दूसरा टूट गया है। बाएँ हाथों में से ऊपर का हाथ अस्पष्ट रह गया है, नीचे के हाथ में मोदक है। दो छोटे छोटे पारिषद बने हैं और मूषक वाहन भी बना हुआ है।

गुप्तकालीन कुछ अन्य गणेश भी प्राप्त हैं, परन्तु उन सबका उल्लेख यहाँ व्यर्थ है।

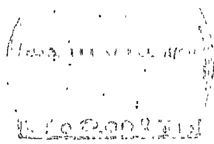
गंगा और यमुना की मूर्ति के विकास के विषय में पहले लिखा जा चुका है। उक्त विवरण से ज्ञात होगा कि इनके स्पष्टतः दो प्रकार हैं। एक तो वे प्राचीनतर गंगा-मूर्तियाँ जो द्वार के ऊपर दोनों ओर एक ही वाहन (मकर) पर आरूढ़ अलंकरण के रूप में दिखाई गई हैं, जिनमें प्रधान बाग गुहा-समूह की गुहा नं० ४ के द्वार पर तथा उदयगिरि की गुहा नं० ६ तथा १८ के द्वार के ऊपर बनी हुई हैं। गुहा नं० १७ पर इनके केवल स्थान खाली पड़े हैं। इस श्रेणी में बेसनगर की बोस्टन

---

* ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट, संवत् १९८२, पृष्ठ १२।

† आ० स० इ० भाग २७ पृष्ठ१०।

‡ देखिए विक्रम वाल्यूम में डॉ० पाटील का लेख।



के संग्रहालय में सुरक्षित गंगा की मूर्ति तथा गूजरीमहल-संग्रहालय में सुरक्षित मूर्ति-खण्ड हैं। यह मूलतः गुहा नं० १७ की हो सकती है। दूसरी श्रेणी में वे देवियाँ आती हैं जो आगे चलकर द्वार के नीचे एक ओर मकरवाहिनी गंगा और दूसरी ओर कूर्मवाहिनी यमुना के रूप में अंकित हुई हैं। इनमें मुख्य मन्दसौर की यमुना-मूर्ति, तुमेन की गंगा-मूर्ति, महुआ के शिव-मन्दिर के नीचे गंगा और यमुना की मूर्तियाँ हैं। आगे पूर्व मध्यकाल की चर्चा यहाँ आवश्यक नहीं है जबकि प्रत्येक मन्दिर के द्वार पर गंगा और यमुना अंकित होती ही थीं। उदाहरण के लिए, ग्वालियर के तेली के मन्दिर पर जहाँ भी द्वार अथवा द्वार का आकार है वहाँ एक ओर गंगा और दूसरी ओर यमुना मौजूद हैं।

मन्दिर-द्वारों से असम्बद्ध गंगा और यमुना का अपने पृथक् पृथक् वाहनों पर अंकन उदयगिरि की गुहा नं० ५ में वराह-मूर्ति के दोनों ओर हुआ है, इसका उल्लेख पहले हो चुका है।

बाग-गुहा-समूह की गुहा नं० ४ के ऊपर दोनों ओर सफल वृक्षों के नीचे मकरवाहिनी देवी हिन्दुओं की गुप्तकालीन गंगा की पूर्व रूप हैं, परन्तु वे बौद्ध अभिप्राय हैं और उनका मूल साँची तोरण की यक्षिणी ही हैं।* यही अभिप्राय उदयगिरि में हिन्दू गंगा के रूप में दिखाई देता है। इनमें बोस्टन-संग्रहालय में सुरक्षित मूर्ति अधिक सुडौल एवं मनोहारी है।† गंगा अत्यन्त लीलापूर्ण ढंग से मकर पर खड़ी हैं, एक शिशु इस मकर से खेल रहा है और एक परिचारक पास खड़ा है। शरीर पर अलंकारं अत्यन्त थोड़े हैं, परन्तु वे बहुत सुरुचिपूर्ण हैं और मूर्ति की शोभा को बढ़ाते हैं। ऊपर सफल आम्र की डाली है, जिसे गंगा पकड़े हुए हैं। इस वृक्ष और स्त्री के सम्मिश्रण से प्राप्त अनुपम सौन्दर्य की तुलना किसी अंश तक गूजरीमहल संग्रहालय में एक कमरे के कोने में रखे मूर्ति खण्ड से की जा सकती है। उसमें भी एक देवी आम्र की डाली को पकड़े हुए है। यह मूर्ति भी पूर्ण होने की दशा में अत्यन्त भव्य होगी।

तुमेन की गंगा मूर्ति पिछले गुप्तकाल की है। मकरवाहिनी गंगा हाथ में पूर्ण घट लिए हुए हैं और उसके पीछे एक परिचारिका छत्र लिए है और दूसरी डिब्बे जैसा कोई पात्र। मकर अत्यन्त रूढ़िबद्ध रूप में बना है। मूर्ति सुन्दर है; परन्तु अत्यन्त क्षत-विक्षत होगई है।

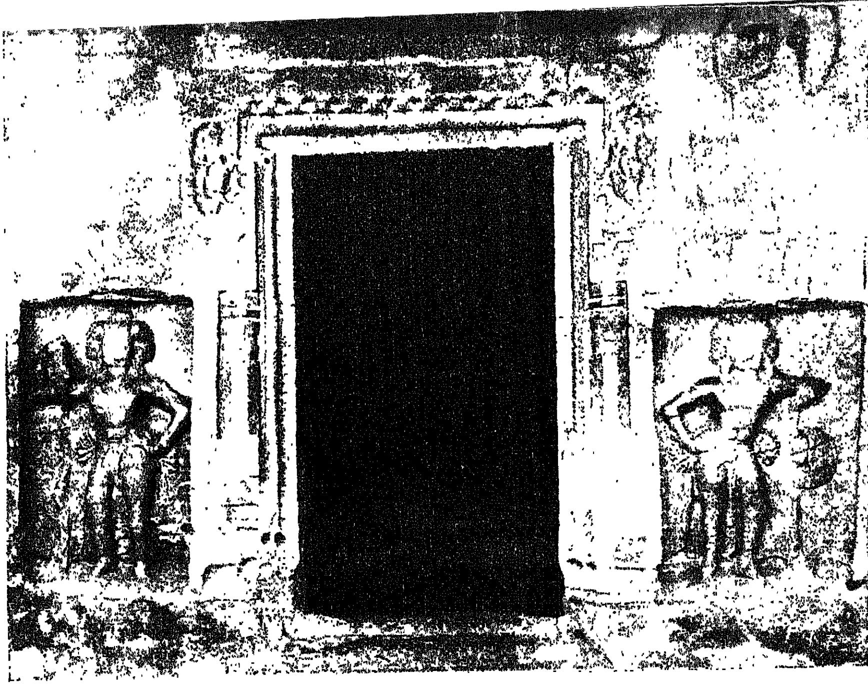
मन्दसौर में मिले द्वार का केवल बाई ओर का तोरण मिला है। इस पर कूर्मवाहिनी यमुना बनी है। इसमें यमुना के सिर के पास कुछ फूल एवं पत्तों की आकृति बनी है, परन्तु वह रूढ़िबद्ध है। शरीर कुछ मांसलसा है। अधोवस्त्र पिछले गुप्तकाल की कुछ मूर्तियों जैसा झीना दिखलाया गया है।

यक्ष-पूजा गुप्तकाल में भी जनता करती रही थी और अनेक यक्ष-मूर्तियाँ अन्य देवों के पारिषदों के रूप में बनती थीं। यह यक्ष-पूजा, ब्राह्मण, बौद्ध एवं जैन सभी धर्मों के अनुयायी करते थे। कुबेर की प्रतिमा के अंश बाग की गुहा नं० ४ में प्राप्त हैं।‡ गुप्तकाल की एक सुन्दर कुबेर-मूर्ति तुमेन में मिली है। उड़ते हुए गन्धर्वों की जोड़ी की जो मूर्ति मन्दसौर में प्राप्त हुई है वह सौन्दर्य के कारण अद्वितीय है। श्री गर्दे का कथन है कि गन्धर्वयुग्म की इस मूर्ति को देखकर सर जॉन मार्शल ने कहा था कि इसके बदले में यदि इसकी तौल का सोना दिया जाए तो भी थोड़ा है। कलाकार ने जहाँ उड़ते हुए सिंह, घोड़े आदि की कल्पना की वहाँ एक ऐसी योनि की भी कल्पना की जो आकाशचारी है और देवताओं तथा महान् कार्य करनेवालों का यशोगान करती है। इस गन्धर्वयुग्म के मुकुट एवं अलंकार उस समय के राजा रानियों के मुकुटों के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अत्यन्त अनुपातपूर्ण एवं सुगढ़ अंगों में उड़ने का भाव भी बड़ी चतुराई से दिखलाया गया है। गन्धर्व के पीछे की ओर को मुड़े हुए पैर और आगे को बढ़ा हुआ सीना और शान्त मुख-मुद्रा उसके सहज भाव से आकाश-चारण को व्यक्त कर रहे हैं। गन्धर्व-रानी गन्धर्व से सटी हुई और सम्भवतः दाएँ हाथ से उसका सहारा लिए

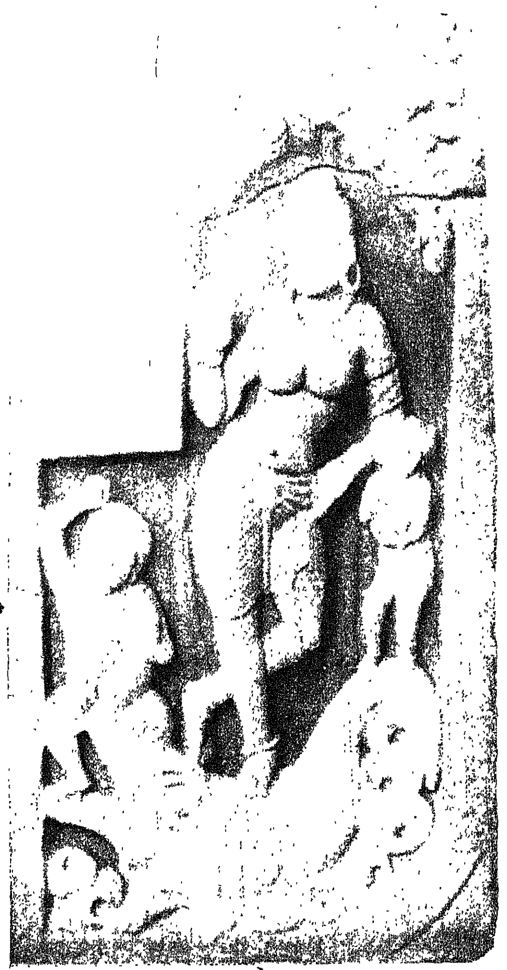
* इस प्रमाण के अनुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि बाग गुहाओं का निर्माण प्रारंभिक गुप्तकाल में हुआ।

† देखिए पृष्ठ ७०८ पर रेखा चित्र।

‡ वर्णन के लिए देखिए बागकेव्स, पृष्ठ ४०।

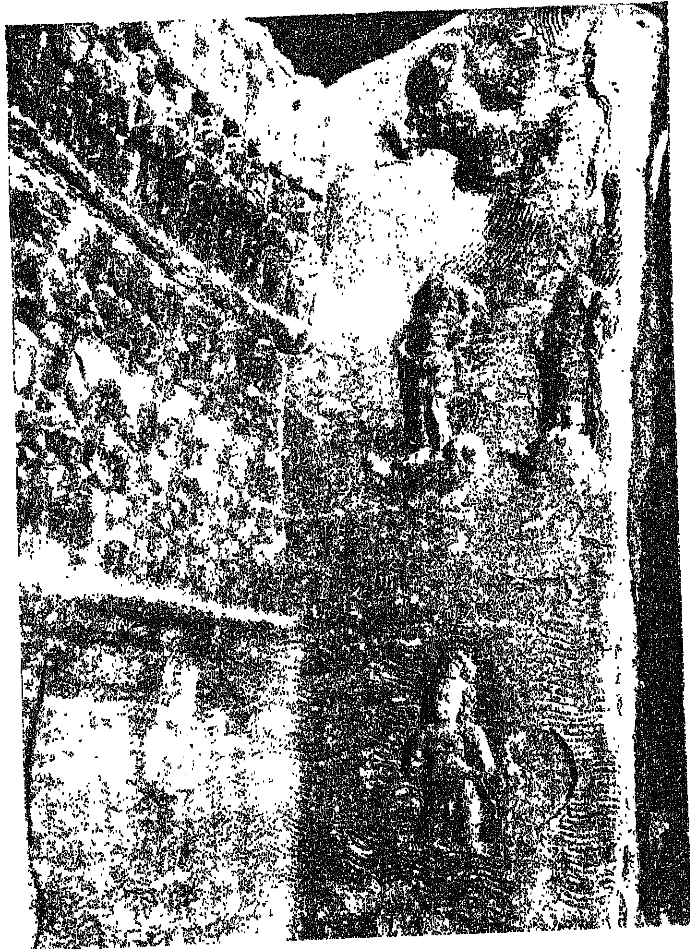


द्वार पर मकरवाहिनी देवी, उदयगिरि।

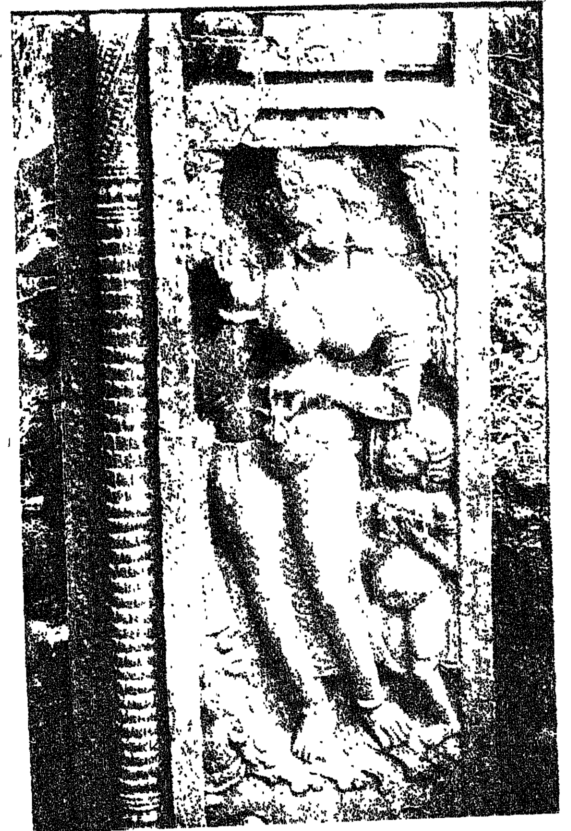


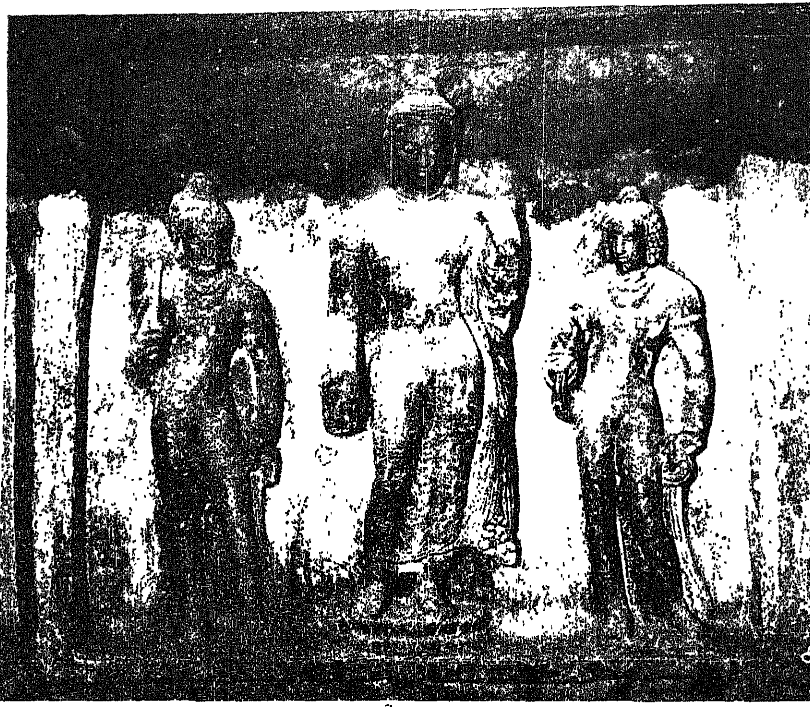
गंगा, बेसनगर।

गंगा-यमुना-संगम उदयगिरि।



यमुना, मन्दसौर।





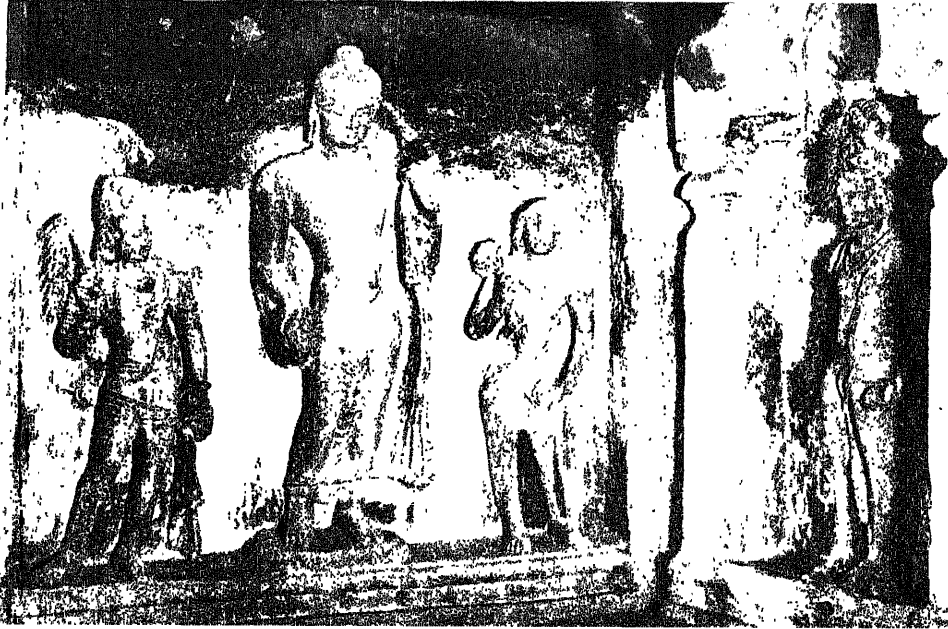
बुद्ध एवं बोधिसत्त्व, बाग।

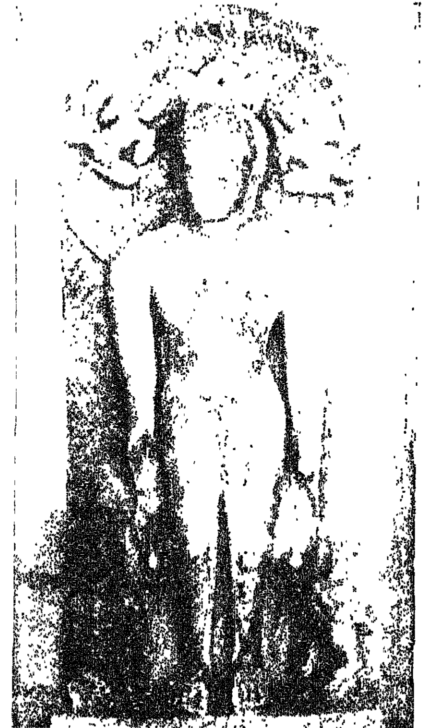


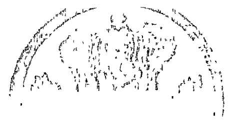
बुद्ध, कोटा।

तीर्थंकर, बेसनगर।

बुद्ध एवं बोधिसत्त्व, बाग।







हुए उसकी अनुगामिनी है। उसका उड़ता हुआ दुकूल जिसे वह बाएँ हाथ से थामे है, उड़ान की गति की व्यंजना कर रहा है।

(४) **बौद्ध मूर्तियाँ**—गुप्तकाल में हिन्दू धर्म के शैव एवं वैष्णव आदि सम्प्रदायों के पश्चात् जिस धर्म की मूर्तियों का अधिक महत्त्व है, वह है बौद्ध धर्म। कुषाणों के राज्य में गांधार और मथुरा में बुद्ध-मूर्तियाँ निर्माण करने की प्रवृत्ति की एक बाढ़सी आई थी। उसका अत्यन्त निखरा रूप दिखाई दिया गुप्तकाल में। सारनाथ की अलौकिक सौन्दर्यमयी बैठी हुई बुद्ध मूर्ति, मथुरा की खड़ी हुई मूर्ति और सुलतानगंज की धातुमूर्ति उनके सुन्दरतम उदाहरण हैं। इनकी समता करनेवाली मूर्तियाँ इस राज्य की सीमा में भले ही न मिलें, परन्तु जिन्हें अत्यन्त भव्य कहा जा सके, ऐसी अवश्य हैं। बाग में प्राप्त अत्यन्त विशाल एवं भव्य बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ बौद्ध प्रतिमाओं में अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं।

बाग-गुहा-समूह में प्राप्त माहिष्मती के महाराज सुबन्धु के ताम्रपत्र के आधार पर यह सिद्ध है कि इस गुहा-समूह में से कुछ गुहा ईसा की चौथी शताब्दी में बनी और उसका नाम कलयन विहार था, तथा 'महाराज' सुबन्धु ने गुप्त संवत् १६७ मे दासिलकपल्ली नामक ग्राम इस विहार को दान दिया। इस विहार का निर्माता कोई 'दत्ताटक' था।

नहपान के राज्यकाल में बनी नाशिक की गुहाओं में बुद्ध का प्रतीक केवल स्तूप ही मिलता है। अजण्टा में उसके स्थान पर व्याख्यानमुद्रा में बैठी हुई बुद्ध-मूर्ति स्थापित हुई। बाग की दो नम्बर की गुहा में इन दोनों के बीच की कड़ी मिलती है।* सामने स्तूप-मन्दिर है और स्तूप मन्दिर के आगे के अलिन्द में दोनों ओर बुद्ध प्रतिमाएँ हैं। इससे भी हमारी इस स्थापना की पुष्टि होती है कि बाग गुहाएँ गुप्तकाल के पश्चात्वर्ती नहीं हैं, जैसाकि अनेक विद्वानों का मत है।† इस गुहा नं० २ में स्तूप-मन्दिर के द्वार के दोनों ओर दो विशाल बोधिसत्त्वों की प्रतिमाएँ मेहराबदार स्थानों में बनी हुई हैं। बाईं ओर की ८ फीट ३ इञ्च ऊँची है और उसके माथे पर ऊँचा जटा-मुकुट है जिसमें अभयमुद्रा में बैठी हुई छोटीसी बुद्ध मूर्ति बनी हुई है। इस छोटी बुद्ध मूर्ति के दोनों ओर माला लिए दो छोटे छोटे सिंह बने हैं। पीछे प्रभा-मण्डल जैसा कोई अलंकार है। गले में तीन हार हैं और जनेऊ भी पड़ा है। हाथों में भुजबन्द हैं और धोती के ऊपर सुन्दर कमरपट्टी है। पैरों के बीच में छोटीसी पटली है। दाहिना हाथ टूट गया है और बायाँ कमर पर रखा है। मूर्ति रूढ़िबद्ध रूप में अंकित कमल पर खड़ी है।

दायीं ओर की मूर्ति ८ फुट ९ इञ्च ऊँची है। इसका निर्माण अधिक सरल हुआ है। जटाओं का जूड़ा सिर के ऊपर बँधा हुआ है। दो फूलों के गुच्छों के बीच में अभयमुद्रा में छोटीसी बुद्ध-प्रतिमा बनी हुई है। शरीर पर कोई अलंकार नहीं है। धोती की बनावट दूसरी प्रतिमा के समान ही है। पादपीठ का कमल पहली मूर्ति से अधिक सुन्दर है। दाएँ हाथ में सम्भवतः अक्षमाला और बाएँ हाथ में कमण्डल था।

आगे अलिन्द के दोनों ओर तीन तीन प्रतिमाओं के समूह बने हैं जिनमें बीच की प्रतिमाएँ बुद्ध की हैं और दोनों पार्श्व की बोधिसत्त्वों की हैं। दोनों समूह लगभग एकसे हैं।

दाहिनी ओर के समूह में मध्य की बुद्ध प्रतिमा १० फीट ४ इञ्च ऊँची है और कमलाकार पादपीठ पर खड़ी है। दाहिना हाथ वरदमुद्रा में फैला हुआ है। बाएँ हाथ में दुकूल का छोर पकड़े हुए है। बुद्ध-प्रतिमा बड़ा वस्त्र इस प्रकार ओढ़े हुए दिखाई गई है कि दायाँ कंधा खुला हुआ है। वस्त्र की सिकुड़न लहरों द्वारा दिखलाई गई हैं। सिर पर घुंघराले बाल और महापुरुष का लक्षण उष्णीष है। बुद्ध के दाईं ओर का पारिषद ९ फीट ऊँचा है। वह दाहिने हाथ में चमर लिए है। बायाँ हाथ कुषाणकालीन प्रतिमाओं में प्राप्त अधोवस्त्र की गाँठ पर सधा हुआ है। माथे पर मुकुट, कानों में कुण्डल, गले में

*** बाग केव्स, पृष्ठ २८-२९।**

† स्मिथः ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्टस इन इण्डिया एण्ड सीलोन, पृष्ठ १०९, राय कृष्णदास भारत की चित्रकला, पृष्ठ ३८।

आभूषण ह और कंधे पर जनेऊ भी पड़ा हुआ है। बुद्ध के बाईं ओर का पारिषद ८ फीट ३ इञ्च ऊँचा है। इसके मुकुट नहीं है केवल जटा की गाँठ ऊपर लगी है। अन्य आभरण प्रायः पहले पारिषद से मिलते जुलते हैं। दाएँ हाथ में कमलपुष्प लिए हैं और बायाँ अधोवस्त्र की गाँठ पर रखा है।

दूसरी ओर का समूह प्रायः ऐसा ही है, परन्तु उनकी ऊँचाई कुछ कम है; बुद्ध ९ फीट ६ इञ्च हैं तथा दोनों पारिषद लगभग ७ फुट ऊँचे हैं।

डॉ० वोगल ने सारनाथ की बौद्ध मूर्तियों से तुलना करके यह स्थापना की है कि स्तूप-मन्दिर के तथा दोनों बौद्ध प्रतिमाओं के दाहिनी ओर की अधिक अलंकृत प्रतिमाएँ अवलोकितेश्वर की हैं, और बाईं ओर की सादा मूर्तियाँ मैत्रेय की हैं। *

बाग की गुहा नं० ४ में बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्तन की प्रतिमा बनी हुई थी। आज वह नष्ट हो चुकी है और केवल घुंघराले बालोंयुक्त बुद्ध के मस्तक का कुछ अंश तथा पारिषदों के हाथों के चमरों के अंश ऊपर की ओर बचे हैं और दो मृगों के बीच में धर्मचक्र नीचे बच रहा है। प्रतिमा के ऊपर के दो आकाशचारी गन्धर्व भी अभी बने हुए हैं।

कोटा में प्राप्त बुद्ध की धर्मचक्र प्रवर्त्तन मुद्रा में बैठी हुई बुद्ध-प्रतिमा गुप्तकाल की ही ज्ञात होती है। इसके हाथ और घुटने टूट गए हैं परन्तु इनके घुंघराले बाल एवं उष्णीष, बड़े बड़े कान एवं शान्त मुखमुद्रा इसकी उच्चकोटि की निर्माण कला प्रदर्शित करते हैं।

ग्यारसपुर का बौद्ध स्तूप और वहाँ की बुद्ध प्रतिमाएँ पिछले गुप्तकाल की कृतियाँ हैं। इसी समय में राजापुर का बौद्ध स्तूप बना होगा। परन्तु इनमें बौद्ध अवशेषों के विस्तार के प्रमाण के अतिरिक्त ऐतिहासिक अथवा कला सम्बन्धी विशेषता कुछ नहीं है।

५. जैन मूर्तियाँ—ग्वालियर राज्य में जैन प्रतिमाएँ कला, संख्या आदि सभी दृष्टि से अद्वितीय हैं, परन्तु इनका अध्ययन एवं वर्गीकरण सबसे कम हुआ है। यहाँ के जैन समाज को इस दिशा में आगे कदम उठाना चाहिए। अस्तु।

जैन प्रतिमा-निर्माण का प्राचीनतम उल्लेख हमें उदयगिरि की गुहा नं० २० में मिलता है, जिसमें "प्रसिद्ध गुप्त-वंशीय श्री संयुक्त एवं गुण-सम्पन्न राजाओं के समृद्धिमान काल के १०६वें वर्ष (ई० स० ५२८) के कार्तिक कृष्णा ५ के शुभ दिन को शमदमयुक्त शंकर नामक व्यक्ति ने विस्तृत सर्प फणों से भयंकर (दिखनेवाली) जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की मूर्ति गुहाद्वार में बनवाई।"† इस गुहा में आज यह पार्श्वनाथ प्रतिमा नष्ट हो गई है, केवल सर्पफणों का छत्र शेष रह गया है।

गुप्तकालीन दूसरी जैन प्रतिमा बेसनगर में प्राप्त हुई थी और आज गूजरीमहल संग्रहालय में सुरक्षित है। इस आजानबाहु तीर्थंकर-प्रतिमा की ऊँचाई लगभग ७ फीट है। चरण-चौकी के दोनों पारिषदों के मुख तथा प्रतिमा की हथेलियाँ टूट गई हैं और मुख भी अस्पष्ट है, फिर भी इसका भव्य सौन्दर्य स्पष्ट है। सिर के पीछे बहुत बड़ा प्रभा-मण्डल है जिसमें कमल तथा अन्य पुष्पों के अलंकरण हैं, दो गन्धर्व माला लिए सिर के दोनों ओर उड़ रहे हैं। गन्धर्वों के वस्त्राभरण केश आदि प्रतिमा के गुप्तकालीन होने के प्रमाण हैं। अत्यन्त सुगढ़ शरीर में हाथों को घुटनों के नीचे तक लम्बा दिखलाया गया है। चरणों के पास दो उपासक बैठे हैं, जिनके मुख टूट गए हैं।

६. द्वारपाल, मिथुन, आदि—ऊपर वर्णित धार्मिक प्रतिमाओं के पश्चात् अब आगे उन मूर्तियों को लेते हैं जिनमें गुप्तकालीन कलाकार ने समाज के साधारण मानव का अंकन किया है। इनमें सैनिकों का अंकन तो उदयगिरि की गुहा नं० ४, ६, ७, १७ तथा १८ के द्वारों के दोनों ओर अंकित द्वारपालों में हुआ है। खिलचीपुर, मन्दसौर में जो कुछ स्त्री

*** बागकेव्स, पृष्ठ ३६।**

† फ्लीटः गुप्त अभिलेख, पृष्ठ २५८।



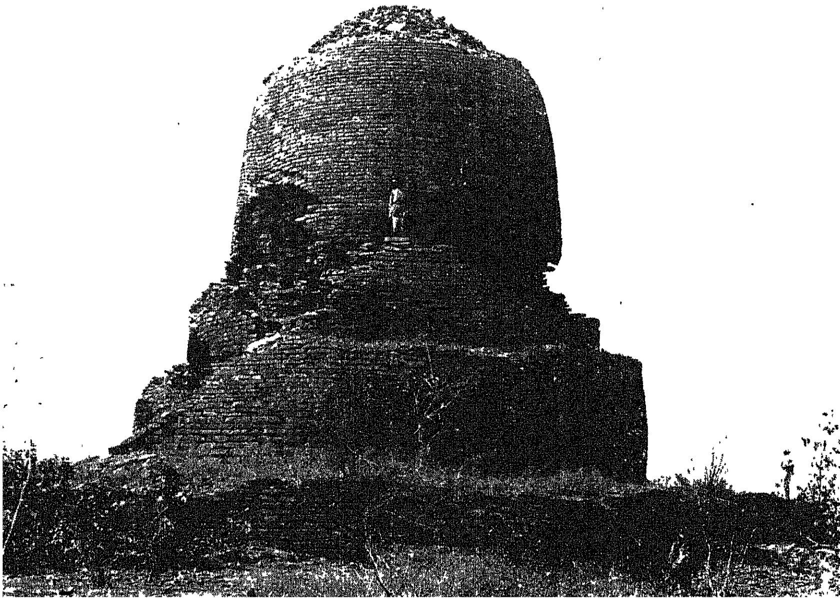
आकाशचारी युग्म, मन्दसौर।



गणेश, उदयगिरि।

दीपलक्ष्मी, मामौन

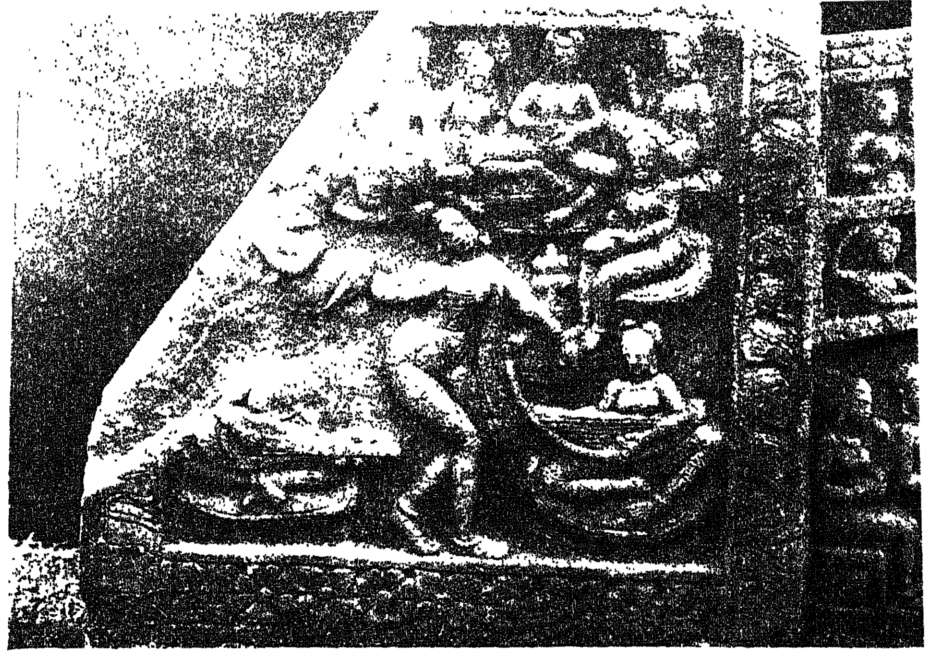
बौद्ध स्तूप, राजापुर।







धूपधारिणी, भेलसा।



नृत्य-गीत, पवाया।

मिथुन, मन्दसौर।



युग्म, खिलचीपुर।



माता और शिशु मन्दसौर।



पुरुष की उभरी हुई मूर्तियाँ (अर्धचित्र) मिली हैं वे उस समय के नागरिकों के सुन्दरतम चित्रण हैं। किसी धार्मिक मन्दिर से सम्बन्धित होते हुए भी पवाया का गीत-नृत्य का दृश्य तत्कालीन उत्फुल्ल एवं प्रसन्न कलामय सामाजिक जीवन की सजीव झाँकी है। उदयगिरि के गुप्तकालीन मन्दिर के उत्खनन के समय प्राप्त स्त्री-पुरुषों के सिर तत्कालीन केशविन्यास एवं वेशभूषा पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं।

उदयगिरि के गुहाद्वारों पर बने हुए द्वारपालों में सबसे अधिक सुरक्षित गुहा नं० ६ के द्वार की मूर्तियाँ हैं। इनके भारी भरकम केशकलाप, सुदृढ़ शरीर तथा विशालकाय फरसे उन्हें अत्यन्त भीषण तथा आतंकित करनेवाला रूप प्रदान करते हैं। उनकी धोती का पहनाव भी बहुत प्रभावशाली है तथा कमर पर ताड़ के पंखे जैसी कलगी एक विशेषता है।

खिलचीपुर के तोरण पर स्तम्भ स्त्री-पुरुष की मूर्ति अथवा मिथुन मूर्तिकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण हैं। मन्दिर द्वार पर इस स्त्री-पुरुष का युग्म में सात्विक श्रृंगार और प्रजनन के जिस स्वस्थ भाव का प्रदर्शन किया गया है, उसका अत्यन्त विकृत रूप हमें मध्यकालीन मन्दिरों में मिलता है। खजुराहो और (इस राज्य में ही) पढावली में इस पारिभाषिक मिथुन को अश्लील 'मैथुन' दृश्यों में परिवर्तित कर दिया है।

खिलचीपुर में प्राप्त द्वार तोरण का स्त्री-पुरुष युग्म मूर्तिकला की दृष्टि से सुन्दर है। स्त्री और पुरुष दोनों का ही केशविन्यास अत्यन्त सुन्दर है। ज्ञात यह होता है कि उनकी रचना में मुक्ता एवं पुष्प दोनों की सहायता ली गई है। स्त्री और पुरुष दोनों गले में हार पहने हैं। भुजाओं पर, कलाई पर स्त्री और पुरुष भिन्न भिन्न प्रकार के अलंकार पहने हुए हैं। स्त्री पैरों में भी कड़े पहने हुए हैं, पुरुष के पैरों में कोई अलंकार नहीं है। स्त्री और पुरुष के बीच में एक बालक भी है, जो घुटने के सहारे आधा खड़ा हुआ है। स्त्री अपने बाएँ हाथ में फल लिए बालक को दिखा रही है।

मन्दसौर में प्राप्त युग्म अधिक कलापूर्ण है। पत्थर की अनगढ़ चौखट के बीच में यह कलाकृति बनी है। ऊपर पत्तों के गुच्छे बनाकर वृक्षिका जैसा सौन्दर्य लाने का प्रयास है। इसमें खड़े होने का वह बंकिम ढंग दिखाई देता है जो आगे मध्यकाल की मूर्तियों में अत्यन्त रूढ़िबद्ध रूप में पाया जाता है। परन्तु इसके शरीर अत्यन्त कमनीय बने हैं। खिलचीपुर के युग्म की अपेक्षा इन पर आभरण कम हैं, गले में मोतियों की माला, बाहुओं पर दो दो कंगन और कलाइयों पर एक कड़ा है। दाहिने हाथ में स्त्री फूल लिए है। स्त्री का अधोवस्त्र खिलचीपुर की यमुना जैसा चुस्त और पारदर्शी है। पुरुष की धोती जाँघों के बीच तक है। एक वस्त्र कमर पर उसी प्रकार बँधा है जिस प्रकार पवाया के नागराज, बाग के बुद्ध अथवा खिलचीपुर के तोरण पर है। दोनों ओर एक एक बालक है।

मन्दसौर में मिली द्वारपालों (?) की मूर्तियों की वेशभूषा ऊपर के मूर्ति समूह के पुरुष जैसी ही है, केवल सिर के बालों का विन्यास उदयगिरि के द्वारपालों से मिलता हुआ है। कुषाण मूर्तियों जैसा कमर का वस्त्र इनके भी बँधा है।

पवाया के मन्दिर तोरण पर अन्य पौराणिक आख्यानों के साथ एक कोने पर प्रायः दो फीट लम्बे तथा दो चौड़े प्रस्तर खण्ड पर एक गीत नृत्य का अनुपम दृश्य अंकित है। दुर्भाग्य से इसका ऊपर का बायाँ कोना टूट गया है। इस दृश्य में एक स्त्री मध्य में खड़ी अत्यन्त सुन्दर भावभंगी में नृत्य कर रही है। स्तनों पर एक लम्बा वस्त्र बँधा हुआ है, जिसका किनारा एक ओर लटक रहा है। बाएँ हाथ में पोंहचे से कुहनी तक चूड़ियाँ भरी हुई हैं। दाहिने हाथ में सम्भवतः एक दो ही चूड़ियाँ हैं। कमर के नीचे अत्यन्त चुस्त धोती (या पजामा) पहनी हुई है, जिस पर दोनों ओर किंकणियों की झालरें लटक रही हैं। पैरों में सादा चूड़े हैं। कानों में झूमरदार कर्णाभरण हैं। यद्यपि इस स्त्री के चारों ओर नौ स्त्रियाँ विविध वाद्य बजाती हुई दिखाई गई हैं, परन्तु उनका प्रसाधन इतनी बारीकी एवं विस्तार से नहीं बतलाया गया है। ये वाद्य बजानेवाली स्त्रियाँ गद्दियों पर बैठी हैं। टूटे हुए कोने में एक स्त्री मूर्ति का केवल एक हाथ बच रहा है, शेष सब शरीर टूट गया है। वाद्यों में दो तो तारों के वाद्य हैं। दाहिनी ओर का वाद्य समुद्रगुप्त की मुद्रा पर अंकित वीणा के समान है। बाँयी ओर का वाद्य आज के वायोलिन की बनावट का है। एक स्त्री ढपली जैसा वाद्य बजा रही है। उसके पश्चात् एक स्त्री सम्भवतः पंखा अथवा चमरी लिए है। फिर एक स्त्री मंजीर बजा रही है। पुनः एक स्त्री बिना वाद्य के है। इसके पश्चात्

मृदंगवादिनी है। कोने की टूटी मूर्ति के बाद की स्त्री वेणु बजा रही है। बीच में दीपक जल रहा है। इन सबके केशविन्यास पृथक् पृथक् प्रकार के हैं, जिनका विवेचन आगे किया जाएगा।

इस प्रकार गीत-नृत्य का दृश्य ग्वालियर की सीमाओं में मेरे देखने में तीन स्थानों पर आया है। पहला मौर्यकालीन बेसनगर में प्राप्त बाड़ पर है, दूसरा यह उदयगिरि में है, और तीसरा पवाया में है। (चौथा बाग गुहा की भित्तियों पर चित्रित है, परन्तु वह इन सबसे माध्यम तथा विषय दोनों में भिन्न है।) इन सब दृश्यों में अनेक समानताएँ हैं। एक तो ये पूर्णतः स्त्रियों की मण्डलियाँ हैं, दूसरे इन सबके वाद्य भी समान हैं। उदयगिरि का स्त्रियों का गीत-नृत्य 'जन्म' से सम्बन्धित है, ऐसा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का मत है। उन्होंने लिखा है कि इस उत्सव को 'जातिमह' कहते थे। 'विशिष्ट जन्म-उत्सव के अंकन में संगीत का प्रदर्शन भारतीयकला की प्राचीन परम्परा थी।'* डॉ० अग्रवाल का मत उदयगिरि के दृश्य के सम्बन्ध में ठीक नहीं जँचता। बेसनगर का दृश्य बुद्ध-जन्म से सम्बन्धित हो सकता है; परन्तु उदयगिरि का दृश्य गंगा-यमुना के जन्म से सम्बन्धित न होकर उनके समुद्र के साथ विवाह से सम्बन्धित है। गंगा-यमुना को समुद्र की पत्नी माना भी है। पवाया का दृश्य किस 'जातिमह' अथवा विवाह से सम्बन्धित है, यह हमें ज्ञात नहीं क्योंकि यह किस मन्दिर का तोरण है, यह मालूम न हो सका।

गुप्तकाल के पूर्व कुषाणकाल में ही मन्दिरों अथवा राजमहलों को अलंकृत करने के लिए स्तम्भों के सहारे सुन्दर स्त्री मूर्तियाँ निर्मित होना प्रारंभ हो गया था। इसका सुन्दर उदाहरण कला-भवन काशी में सुरक्षित प्रसाधिका की मूर्ति है। इस प्रकार की कुछ मूर्तियाँ ग्वालियर-राज्य में भी प्राप्त हुई हैं। इनमें भेलसा संग्रहालय में रखी हुई हाथ जोड़े हुए स्त्री मूर्ति, तथा गूजरीमहल संग्रहालय की (मामौन एवं पढ़ावली में प्राप्त) दीपलक्ष्मी एवं धूपधारिणी प्रधान हैं। इनमें से कुछ पिछले गुप्तकाल की हैं, विशेषतः भेलसे की मूर्ति।

देवसमाज एवं मानवों के अतिरिक्त गुप्त कलाकार ने पशु-पक्षी, बेल-बूटे आदि की भी सुन्दर कृतियाँ बनाईं हैं। कमल भारतीय मूर्तिकला का अत्यन्त प्रिय विषय रहा है। यह देवताओं के प्रभामण्डल में, चरणचौकी में, द्वारों के अलंकरण में सब जगह पाया जाता है। पशुओं में सिंह देवताओं के वाहन, स्तम्भ शीर्ष एवं द्वारों के अलंकरण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पक्षयुक्त सिंह भी गुप्तकाल में प्राप्त हुआ है। कमल और सिंह यथार्थवादी न होकर रूढ़िबद्धसा हो गया है। ऐसे सिंह के लिए पवाया का सपक्ष सिंह एवं उदयगिरि की गुहा नं० ६ के द्वार के अलंकरण में प्रयुक्त सिंह विशेष दर्शनीय हैं।

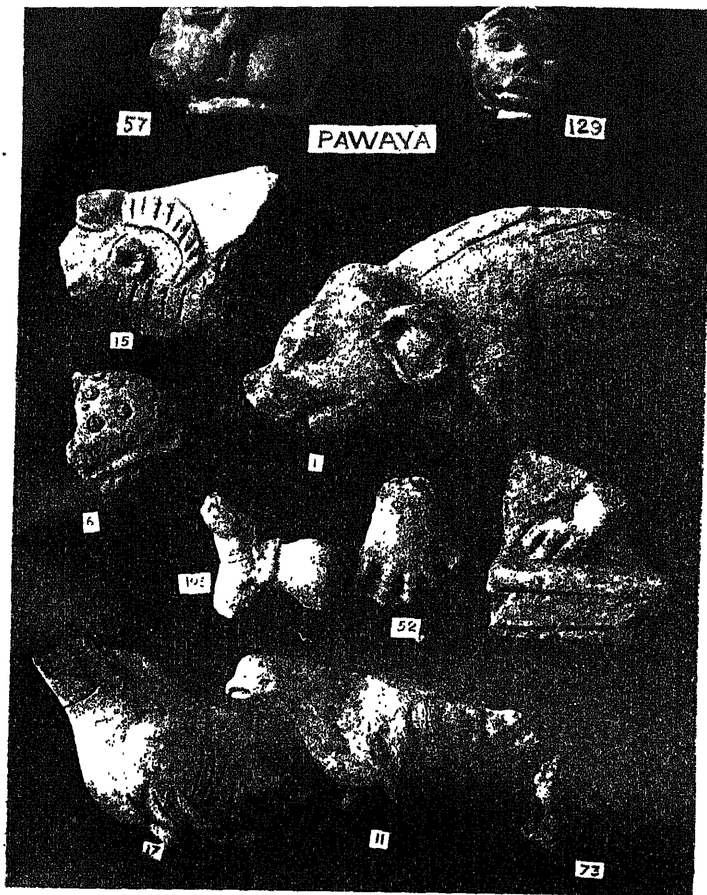
घोड़ा, मछली, बन्दर, मोर आदि पशु-पक्षियों की मृण्मूर्तियों का वर्णन आगे किया जाएगा।

७. **मृण्मूर्तियाँ**—'मानसार' के अनुसार मूर्ति-निर्माण का एक माध्यम मृत्तिका भी है। मृत्तिका द्वारा जीवन के उपयोगी भांड-निर्माण की कला बहुत पुरानी है। इन्हीं उपयोगी वस्तुओं को सौन्दर्य प्रदान करने की मानव प्रवृत्ति सब स्थान में सब कालों में रही है। परन्तु केवल अलंकरण एवं क्रीड़ा के लिए मृण्मूर्तियाँ बनाने की प्रथा भी भारतभूमि में प्राग्-ऐतिहासिक काल से प्रचलित हैं, जैसा कि मोहन-जो-दड़ो तथा हड़प्पा पर प्राप्त मृण्मूर्तियों से सिद्ध है। उज्जैन तथा विदिशा में भी कुछ प्राचीन मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। परन्तु जो गुप्तकालीन मृण्मूर्तियाँ श्री गर्दे ने पवाया के उत्खनन में खोद निकालीं हैं, वे तो सौन्दर्य एवं कला की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इनको देखने से उन कारीगरों के चातुर्य पर आश्चर्य होता है जो मृत्तिका जैसे माध्यम से भी इतनी सुन्दर तथा भावपूर्ण मूर्तियों का निर्माण कर डालते थे।

ये मृण्मूर्तियाँ विभिन्न प्रकार के केशविन्यासवाली स्त्रियों की हैं, पुरुषों की हैं, देवियों की हैं तथा पशु-पक्षियों की हैं। उन सबका अंकन अत्यन्त मनोहर हुआ है।

मानव मूर्तियों में विशेषता यह है कि कुछ मूर्तियाँ हँसती हुई बनाई गई हैं, कुछ रोती हुईं। इस प्रकार मिट्टी के ठीकरों द्वारा भाव-प्रदर्शन का यह प्रयास अत्यन्त सफल तो है ही, आश्चर्यजनक भी है। स्त्रियों की कुछ मूर्तियाँ तो अत्यन्त मनोहारी हैं।

*** नागरी प्रचारिणी पत्रिका, संवत् २००० पृष्ठ ४६।**



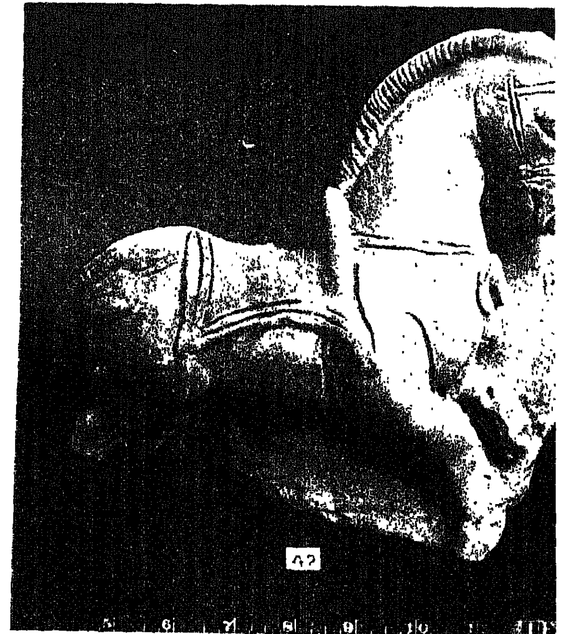
पशु-पक्षी, पवाया।





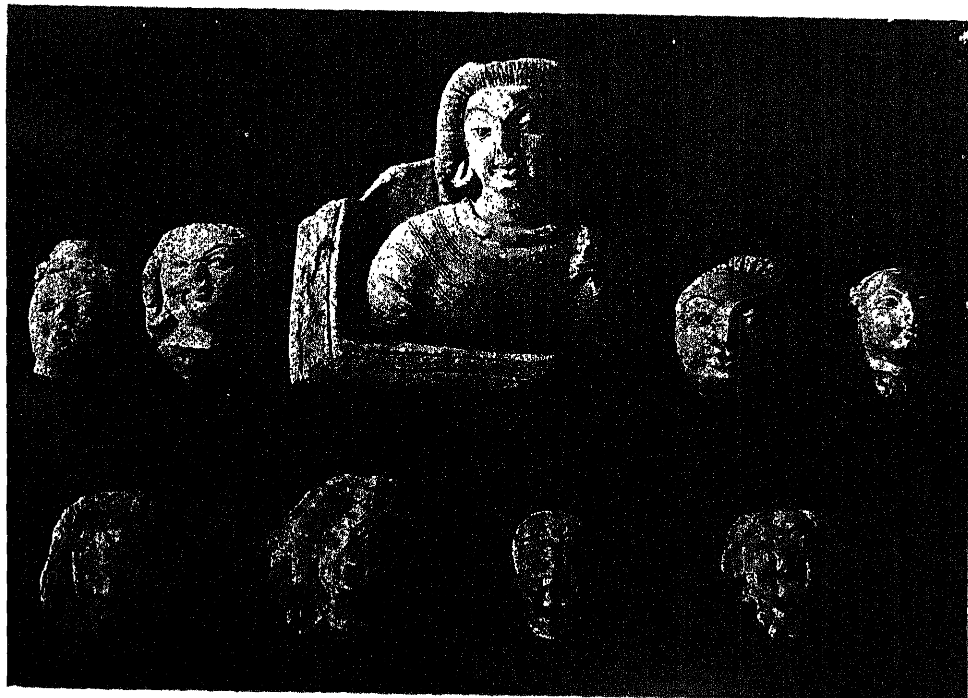
दो सिर, पवाया।

घोड़ा, पवाया।



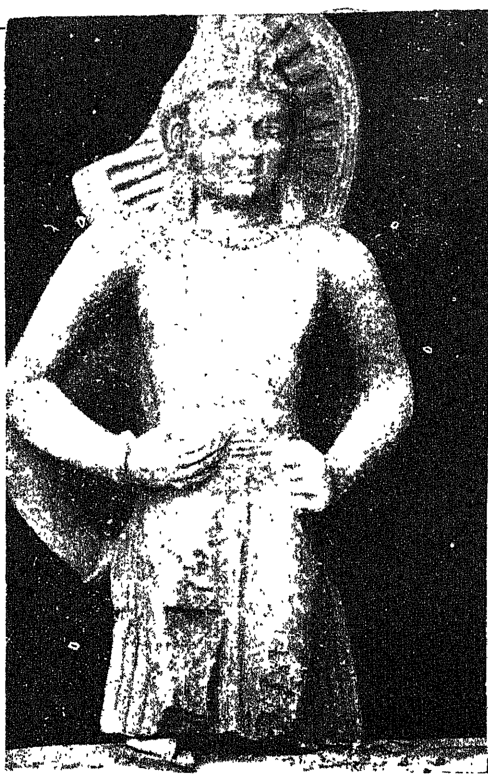
मृण्मूर्तियाँ।

हँसते हुए सिर, पवाया।



पशु-पक्षी,पवाया।

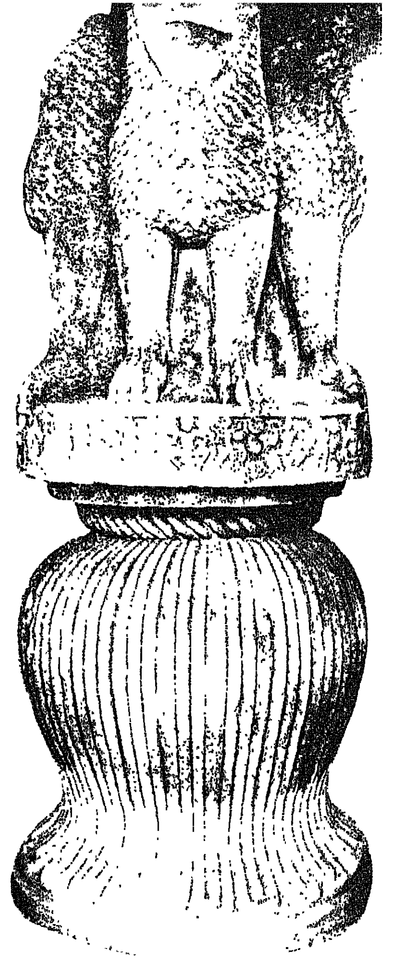




स्तंभशीर्ष, पवाया।



स्तंभशीर्ष, पवाया (दूसरी ओर)।



स्तंभशीर्ष, उदयगिरि।

सपक्ष सिंह पवाया।

स्तंभशीर्ष, बेसनगर।





स्त्रियों के केशविन्यास के विषय में ऊपर लिखा जा चुका है कि वह विविध प्रकार का अत्यन्त सुरुचिपूर्ण होता था। गुप्तकाल में प्रसाधन-कला पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता था, ऐसा ज्ञात होता है। राजघाट (काशी) तथा अफगानिस्तान में प्राचीन 'कपिशा' के स्थान पर इसी प्रकार की विविध केश-कलाप की मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। राजघाट की मृण्मूर्तियों के केश-कलाप का वर्णन डॉ० वासुदेवशरण ने किया है।* और कपिशा की मृण्मूर्तियों के केश-कलाप के विषय में श्री राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—"एक जगह (काबुल के संग्रहालय में) पचासों स्त्री मूर्तियों के सिर रखे थे। उनमें पचासों प्रकार के केशों को सजाया गया था, और कुछ सजाने के ढँग तो इतने आकर्षक और बारीक थे कि मोशिये मोनिए (फ्रेञ्च राजदूत) कह रहे थे कि इनके चरणों में बैठकर पैरिस की सुन्दरियाँ भी बाल का फैशन सीखने के लिए बड़े उल्लास से तैयार होंगी।†" पवाया की ये मृण्मूर्तियाँ इन दोनों स्थानों की मूर्तियों से श्रेष्ठ एवं सुन्दरतर हैं, इसमें सन्देह नहीं। इसका कारण यह है कि प्राचीन पद्मावती उस समय का मुख्य सांस्कृतिक केन्द्र था।

इन मृण्मूर्तियों में देवताओं में एक चतुर्भुज ब्रह्मा की मूर्ति सुन्दर है तथा किसी सिंहवाहिनी देवी (पार्वती ?) का भी नीचे का भाग मिला है, जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है।

सवारयुक्त तथा बिना सवार के घोड़े भी सुन्दर हैं। बहुधा भारतीय कलाकार के प्रति यह आक्षेप रहा है कि वह हाथी का अंकन करने में अत्यन्त पटु है, परन्तु वह घोड़े का अंकन नहीं कर सकता। पवाया के ये मिट्टी के घोड़े इस स्थापना को मिथ्या सिद्ध करते हैं। इनका निर्माण अत्यन्त कुशलतापूर्वक हुआ है।

तोता, कपोत, मोर, मछली, वराह, वानर आदि पशु-पक्षियों की बहुत मृण्मूर्तियाँ मिली हैं। गले में माला डले हुए वानर की मूर्ति अत्यन्त विनोदपूर्ण है।

इन मृण्मूर्तियों का क्या उपयोग होता था, इस प्रश्न का उत्तर तो पवाया की और अधिक खुदाई होने पर ही दिया जा सकता है। सम्भव है उस समय के भवनों के अलंकरण में भी इनका उपयोग होता हो। यह प्रायः एक फुट लम्बी चौड़ी से लेकर एक दो इञ्च तक की प्राप्त हुई हैं।

८. **स्तम्भशीर्ष**—गुप्तकालीन मूर्तिकला पर विचार करते समय उनके समय के प्राप्त स्तम्भशीर्षों की मूर्तिकला पर प्रकाश डालना आवश्यक है। महान् सम्राट् अशोक ने विशाल प्रस्तर-स्तम्भ-निर्माण करने की जो प्रथा डाली वह कभी बन्द न हुई। मन्दिरों के गरुड़ध्वज के रूप में तथा विजय-स्तम्भों के रूप में वह चलती ही रही। हमारे राज्य में गुप्त-कालीन चार स्तम्भशीर्ष प्राप्त हुए हैं, (क) उदयगिरि का चार सिंहोंवाला, (ख) पवाया का दुहरी पुरुष-मूर्तिवाला (ग) सौंदनी पर यशोधर्मन के स्तम्भों पर पवाया के समान ही दुहरे पुरुषों सहित शीर्ष (घ) बेसनगर में प्राप्त स्तम्भ की सिंहो-युक्त चौकी।

(क) उदयगिरि में जो स्तम्भशीर्ष मिला है उसके नीचे उलटे कमल का या घंटा का आकार बना है, उसके ऊपर अलबटदार रस्सी का अलंकरण है तथा उसके ऊपर गोल चौकी है; इस चौकी पर चार केसरी बैठे हुए हैं। इस गोल चौकी पर सूर्य तथा राशियों की उभरी हुई मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। गुप्तों ने मौर्यों के सिंहों को पुनः अपनाया पर साथ ही राशियों के पौराणिक रूपों का चित्रण कर उन्हें अपनी विशेषता से वेष्टित कर दिया। गुप्तकाल में हुए ज्योतिष के विकास की मानों ये राशियाँ साक्षीसी हैं। सिंहों के मुख कुछ टूट गए हैं फिर भी उनका सौन्दर्य दिखाई देता है। इस सिंह-शीर्ष के ऊपर भी कोई मूर्ति रही होगी यह इन सिंहों के बीच में बने हुए गड्ढे से स्पष्ट है।

(ख) तथा (ग)—एरण में प्राप्त बुधगुप्त के स्तम्भ के शीर्ष पर भी पीठ से पीठ लगाए दो पुरुषों की मूर्तियाँ हैं।‡ ठीक इसी प्रकार का एक स्तम्भ शीर्ष पवाया में मिला है तथा ऐसा ही सौन्दनी में भी प्राप्त हुआ है। पवाया के स्तम्भ

---

* नागरी प्रचीणी पत्रिका, वर्ष ४५, पृष्ठ २१५-२२६।

† सोवियत भूमि, पृष्ठ ७४७।

‡ वर्णन तथा चित्र के लिए देखिए आ० स० इ० भाग १०, पृष्ठ ८१।

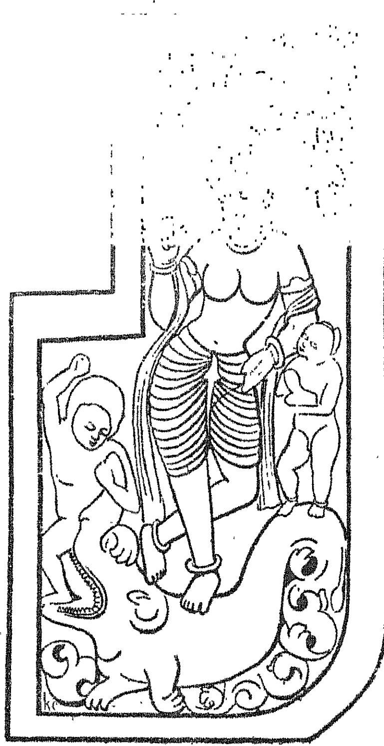
शीर्ष में दोनों ओर सिरों के चारों ओर प्रभा-मण्डल है। एक ओर दोनों हाथ कमल पर रखे हुए हैं तथा दूसरी ओर एक हाथ अभय मुद्रा में उठा हुआ है। सौन्दनी का स्तम्भ शीर्ष भी इसी प्रकार का है। परन्तु सौन्दनी के स्तम्भ शीर्ष के नीचे के भाग में लगाई जानेवाली तीन मुखोंयुक्त सिंहों की चौकी अपनी विशेषता रखती है। ऐसे तीन सिंह साँची में प्राप्त हुए हैं।

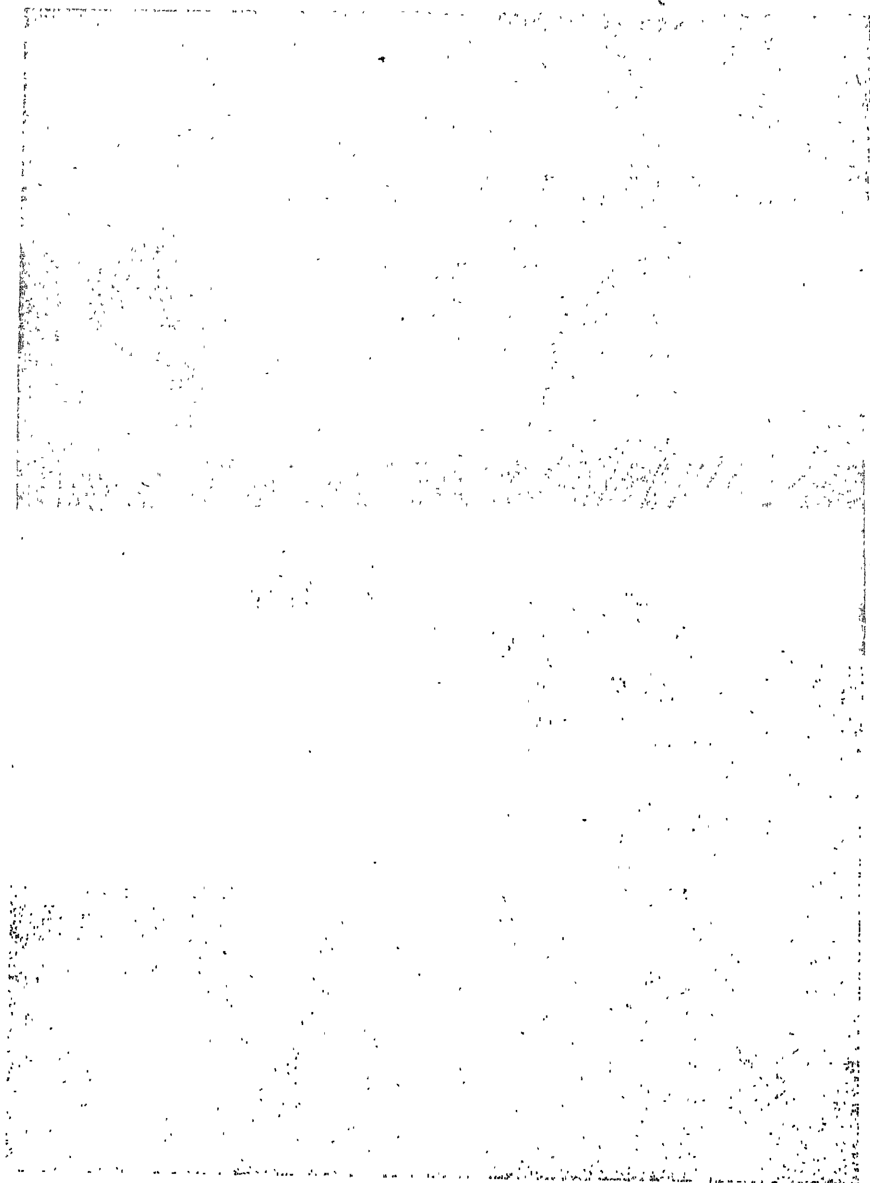
(घ) बेसनगर में प्राप्त स्तम्भशीर्ष गुप्तकाल का विशिष्ट उदाहरण है। उक्त चौकी में चारों ओर के पार्श्वों में दो सिंहों के बीच एक वृक्ष का अलंकरण है।

इस काल के मन्दिरों पर पाए गए कीचकों तथा कार्तिमुखों का भी मूर्तिकला में विशेष स्थान है। यही आगे अत्यधिक विकसित रूप में मध्यकालीन मन्दिर में प्रयुक्त दिखाई देते हैं।

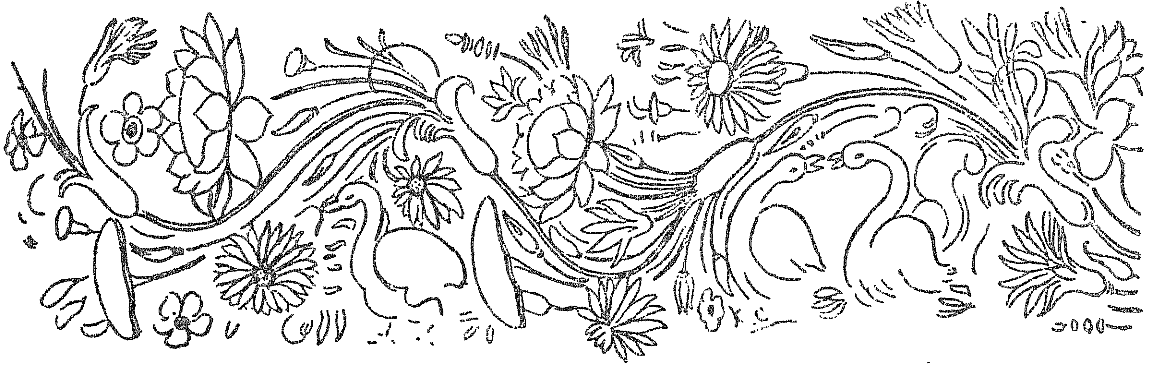
पिछले अन्य प्रकरणों के समान गुप्तकालीन मूर्तियों पर से धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति पर हम न तो विस्तार भय से प्रकाश डाल ही सकते हैं और न इसे आवश्यक ही समझते हैं। यत्र-तत्र हम पीछे उसके विषय में लिख ही चुके हैं। स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने एक स्थल पर बहुत भावपूर्ण शब्दों में लिखा है—'गुप्तों का वर्णन लेखनी को पवित्र करता है।'*मेरा मत है कि गुप्तकाल की मूर्तिकला का वर्णन तो आत्मा और लेखनी दोनों को ही पवित्र करता है। यह सत्य है कि गुप्तों के ठीक बाद ही कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों का निर्माण हुआ है परन्तु जो स्वस्थ, स्वाभिमानी एवं सुसंस्कृत समाज गुप्तकालीन मूर्तियों में झाँकता है वैसा फिर भारतभूमि पर कभी न आया, कब आएगा यह भगवान् जाने !

* मेहताकृत 'चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य' की प्रस्तावना, पृष्ठ ४।





शिल्पार्पण



भारतीय दर्शनों का स्वरूप निरूपण

महामहोपाध्याय डॉक्टर श्री उमेश मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०,

भारतीय दर्शनों के अध्ययन के लिए हमें सबसे पहले 'दर्शन' शब्द का वास्तविक अर्थ समझना आवश्यक है। जिससे देखा जाय उसे 'दर्शन' कहते हैं। अर्थात् जिस विज्ञान या शास्त्र के द्वारा लौकिक या पारलौकिक तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान हो सके वही 'दर्शन' कहलाता है। यद्यपि अपने अपने दृष्टिकोण के अनुकूल शास्त्रकारों ने भिन्न भिन्न तत्त्वों का निरूपण किया है किन्तु प्रधान रूप से 'आत्मतत्व' का ही निरूपण करना सबका ध्येय है। जैसा कि उपनिषद् ने कहा है—'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः'।

यह तो सभी को मालूम है कि घट, पट के समान 'आत्मा' कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जिसे हम अपने चर्मचक्षु से देख सकें। फिर प्रश्न होता है कि इसका दर्शन कैसे हो सकता है? अतएव उपनिषद् ही ने इसके यथार्थज्ञान के लिए कहा है—'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यश्च'। अर्थात् श्रुति के वाक्यों के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध में सुनना चाहिए, सुनकर युक्तियों के द्वारा उन कथनों पर 'मनन' करना चाहिए, तत्पश्चात् 'निदिध्यासन' के द्वारा मनन से प्राप्त ज्ञान को निश्चित अर्थात् दृढ़ करना चाहिए। यदि इन तीनों प्रक्रिया के द्वारा एक ही ज्ञान प्राप्त हो एवं सब में समन्वय हो तभी उस ज्ञान को निश्चयात्मक मानना चाहिए। अतएव हमें आत्मा के यथार्थ ज्ञान के लिए उपर्युक्त उपायों का ही आश्रय लेना चाहिए। इसके पूर्व और भी एक बात का ध्यान रखना आवश्यक है। किसी वस्तु को समझने के लिए उसके प्रति हमें 'श्रद्धा' चाहिए। बिना इस के यथार्थ ज्ञान होना असम्भव है। इसीलिए भगवान् ने गीता में भी कहा है—'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्'।

इन विधियों से सुसज्जित होकर हमें शास्त्र का विचार करना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक और विषय पर ध्यान रखना आवश्यक है। जब कोई किसी वस्तु का प्रतिपादन करता है तो वह अपना दृष्टिकोण नियत करके ही अग्रसर होता है। उस दृष्टिकोण को न समझकर यदि कोई उस प्रतिपादन करनेवाले का अभिप्राय समझने का प्रयत्न भी करे तो वह निष्फल हो जाता है। आत्मतत्त्व सर्वव्यापक है, इसका स्वरूप अनन्त है। अतएव एक साथ सभी स्वरूप का निरुपण कभी नहीं किया जा सकता है। जब कभी कोई इसका निरूपण करता है तो किसी एक ही अंश को लेकर प्रतिपादन करता है। तथा वस्तुतः सभी अंश को एक साथ प्रतिपादन करने से कोई लाभ भी नहीं हो सकता है। हमारे शास्त्रों में 'अधिकारि-भेद' का बहुत विचार है और सबसे प्रथम यही विचार किया जाता है कि अमुक विषय को समझने के लिए कौन यथार्थ में उसका अधिकारी है। बालक से लेकर वृद्ध पर्यन्त सभी सब विषयों को जानने के लिए अधिकारी नहीं होते। इसी प्रकार प्रत्येक शास्त्र को जानने का अधिकार सभी अवस्था में सबको नहीं है।



यही एकमात्र कारण है कि यद्यपि आत्मतत्त्व ही का प्रतिपादन करने में सभी शास्त्र प्रवृत्त हैं फिर भी सर्वतो भावेन एक ही शास्त्र में सर्व अंशों का न तो निरूपण हमें मिलता है और न शास्त्रकारों का ही यह ध्यान कभी रहा है।

इन बातों को मन में रखकर उपनिषदों के आधार पर वर्तमान सभी दर्शन बने हैं। यद्यपि 'षड्दर्शन' द्वारा न्याय, वैशेषिक, सांख्य योग, मीमांसा तथा वेदान्त का तात्पर्य माना जाता है किन्तु 'षड्दर्शन' कोई एक ही अर्थ में रूढ़ पारिभाषिक शब्द नहीं है। दर्शनों की संख्या बहुत ही अधिक है और षड्दर्शनों के परिगणन में भी बहुत से मत हैं। हरिभद्रसूरि (११६८ ई० के लगभग) के अनुसार षड्दर्शनों में बौद्ध, नैयायिक, कपिल, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनीय लिए गए हैं। जिनदत्त सूरि (१२२० ई०) के अनुसार जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव, तथा नास्तिक ये छह दर्शन हैं। राजशेखर सूरि (१३४८) के अनुसार जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक, तथा सौगत षड्दर्शन हैं। मल्लिनाथ के पुत्र (१४वीं शतक) ने पाणिनि, जैमिनि, व्यास, कपिल, अक्षपाद तथा कणाद दर्शन बतलाये हैं। सर्वमतसंग्रहकार ने वैदिक और अवैदिक विभाग कर मीमांसा, सांख्य, तर्क तथा बौद्ध आर्हत एवं लोकायत छह दर्शन बतलाये हैं। सर्वसिद्धान्तसंग्रह में लोकायत, आर्हत, वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, सांख्य, पातञ्जलि, वेदव्यास तथा वेदान्त इतने दर्शनों को गिनाया है। इसी प्रकार माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में चार्वाक, बौद्ध, आर्हत, रामानुज, पूर्णप्रज्ञ, नकलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, औलूक्य, अक्षपाद, जैमिनि, पाणिनि, सांख्य, पातञ्जल तथा शंकर इन सोलहों के नाम गिनाए हैं, इत्यादि। अनेक भेदों को देखते हुए हमें यह मालूम होता है कि दर्शनों की कोई संख्या न निश्चित ही है और न हो सकती है। वस्तुतः आत्मतत्त्व को जानने के लिए जो अनुकूल तर्कानुसार तथा श्रुति-स्मृति से अविरुद्ध मार्ग हो वही दर्शन कहा जा सकता है।

उपनिषद् में दर्शनों के सारभूत तत्त्व सभी वर्त्तमान हैं। बड़े बड़े आचार्यों ने उन्हें ही निकालकर उनके समन्वय को ध्यान में रखते हुए भिन्न भिन्न मार्ग का दर्शनरूप में निरूपण किया। यही हमारे सामने आज दर्शनों के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन दर्शनों के आदि ग्रंथ हमें सूत्र के रूप में मिलते हैं। इन सूत्र ग्रंथों के रचनाकाल के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। फिर भी ईसा के पूर्व ही इन सबों की रचना हुई होगी इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

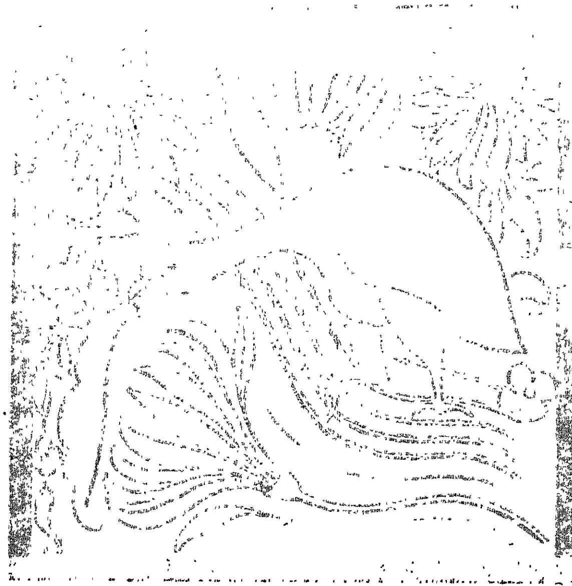
यद्यपि परस्पर सलाह कर किसी आचार्य ने किसी एक दर्शन को स्वरूप नहीं दिया फिर भी जिज्ञासु की दृष्टि से इन सभी दर्शनों में परस्पर समन्वय ही नहीं है किन्तु ये दर्शन क्रमिक सोपान परम्परा की शृंखला से बद्ध भी हैं। ऊपर यह कहा गया है कि आत्मतत्त्वनिरूपण ही एकमात्र सब दर्शनों का ध्येय है और आत्मा के अनन्तरूप होते हुए भी उसमें कुछ ऐसे गुण हैं जिनका क्रमिक निरूपण करना अत्यावश्यक होती है। इसके साथ साथ यह भी स्मरण रखना है कि दर्शनशास्त्र और मनुष्य जीवन ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं। जिस प्रकार मनुष्य के जीवन में क्रमिक विकाश है तथा एक अवस्था दूसरी अवस्था से अन्वित है उसी प्रकार जब हम सभी दर्शनों को एक दृष्टि से देखते हैं तो उनमें वही जीवन का क्रमिक विकाश तथा परस्पर समन्वय स्पष्ट देख पड़ता है। बालक को कुछ समय तक केवल चक्षु इन्द्रिय ही के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है तथा क्रमशः अन्य बाह्येन्द्रियाँ भी उसके ज्ञान में सहायक होती हैं। इस अवस्था में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही पर मनुष्य निर्भर रहता है। अतएव यह चार्वाकदर्शन के अनुकूल है और हम इसे चार्वाकदर्शन का व्यवहारिक बाह्यस्वरूप कह सकते हैं। इस अवस्था में मनुष्य अपनी देह के अतिरिक्त आत्मा नामक किसी अन्य पदार्थ को नहीं जानता है। 'अहं गौरः' 'अहं कृष्णः' इत्यादि अनुभवों में 'अहं' शब्द से शरीर ही का बोध होता है। अर्थात् जिस प्रकार चार्वाक मतावलम्बी देह आदि से अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं मानते उसी प्रकार इस अवस्था में मनुष्य भी आत्मा का कोई अतिरिक्त अस्तित्व नहीं मानता है।

किन्तु वास्तव में संसार में केवल प्रत्यक्ष प्रमाण से कार्य नहीं चल सकता है तथा यह भी इसके अनन्तर अत्यावश्यक हो जाता है कि हम आत्मा को देहादि से पृथक् मानें। यह हमें न्याय-वैशेषिक दर्शन में मिलता है। इस दर्शन में सबसे प्रथम आत्मा का अस्तित्व साधन किया गया है किन्तु यहाँ पर भी यह स्पष्ट ही है कि आत्मा में ज्ञान स्वभावतः वर्त्तमान नहीं है। इसी प्रकार मनुष्य-जीवन में भी एक अवस्था होती है जब वह आत्मा के अस्तित्व को पृथक् तो मानता है किन्तु

उसमें ज्ञान स्वभावतः वर्त्तमान है यह हृदय से मानने को तैयार नहीं है। अतः यह न्याय-वैशेषिक दर्शन की अवस्था कही जा सकती है।

इसके अनन्तर कुछ थोड़ी बुद्धि और जब बढ़ती है तब मनुष्य यह भी समझने लगता है कि ज्ञान आत्मा का स्वरूप ही है। वस्तुतः आत्मा और चैतन्य में कोई भी अन्तर नहीं है। यह अवस्था हमें सांख्य में मिलती है। अतएव यह सांख्य-दर्शनावस्था कही जा सकती है। इसके बाद विशेष खोज करने पर तथा मनुष्यजीवन का चरम विकास होने पर यह भी प्रतीत होता है कि आत्मा न केवल चैतन्यस्वरूप ही है प्रत्युत यह आनन्द भी है। यह अद्वैत वेदान्त में हमें मिलता है। अतएव मनुष्य की इस जीवनदशा को हम अद्वैतवेदान्तावस्था कह सकते हैं।

इस प्रकार न्याय दर्शन से लेकर अद्वैत वेदान्त पर्यन्त में हमें सत्, चित् तथा आनन्द का पूरा पता लग जाता है और 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म' यह वाक्य अक्षरशः अनुभूत हो जाता है। इसी को समझने के लिए जिज्ञासु के सभी प्रयत्न रहते हैं। इस प्रकार यद्यपि हमने केवल तीन प्रधान अवस्था के द्योतक तीन दर्शनों का ही विचार यहाँ किया है किन्तु वस्तुतः अन्य जितने दर्शन हैं सभी क्रमशः अपने अपने स्वरूप के अनुसार भिन्न भिन्न स्थानों में सन्निविष्ट हो सकते हैं। यह समझना बिलकुल भ्रम है कि एक ही तत्त्व के एक ही अंश को एक ही दृष्टिकोण से सभी दर्शनों ने प्रतिपादन किया है। जो ऐसा समझते हैं उन्हें ही प्रतेक बात में विरोध दिखाई पड़ता है। वस्तुतः भारतीय दर्शनों में परस्पर विरोध कहीं नहीं है। जो विरोध स्थूल दृष्टिवालों को मालूम होता है वह केवल अधिकारिभेद तथा दृष्टिकोण भेद को न समझने के कारण ही है। इन बातों को ध्यान में रखते हुए बिना किसी प्रकार की पक्षपात दृष्टि से जो दर्शन शास्त्र का अध्ययन करता है वही उसकें मर्म को समझ सकता है अन्य, नहीं।



भावी भारतराष्ट्र के प्रति

सुधीन्द्र एम. ए., साहित्यरत्न



तुम अपने मन के गूढ़ भेद,
लिखते रहस्यमय भाषा में।
सच्चे पाते अपने सपने,
जन-जन की मन-अभिलाषा में।
तुम नित नव-नव वैभव लाते,
अपनी आत्मा अविनाशा में।
तुम झलकाते हो दिव्य-प्रभा,
नव-नव प्राणों की आशा में।

× × ×

उठते शत-शत खलिहानों से,
उठते लहराते खेतों से।
उठते फैले मैदानों से,
मरु-भू की बिखरी रेतों से।
उठते झीनी झोपड़ियों से,
नभ-चुम्बी भवन-निकेतों से।
उठते तुम चेतन-रूप बने,
अपने अतीत के प्रेतों से।

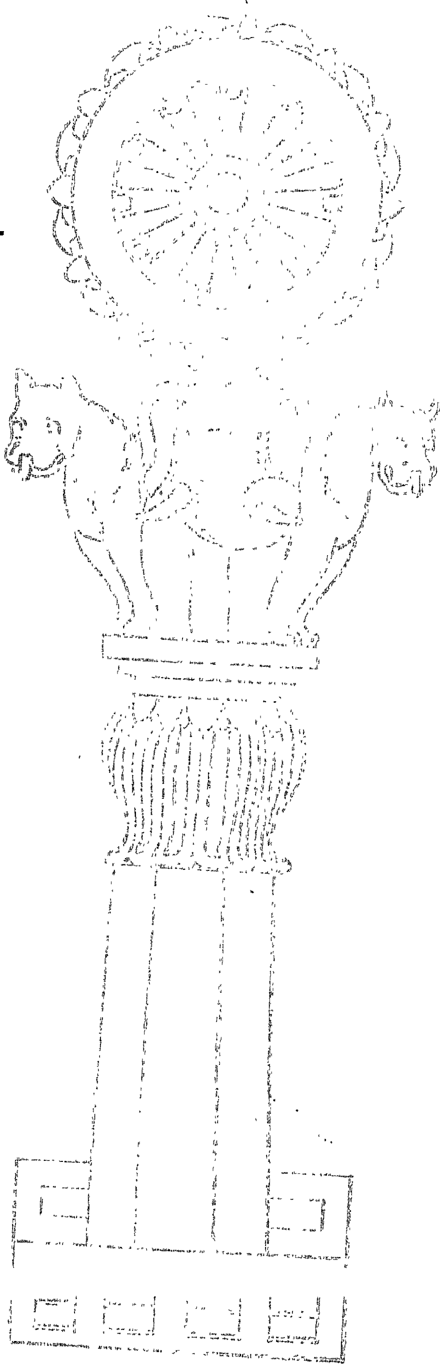
× × ×

तुम चमक रहे नव रंगों में,
तुम दमक रहे सब अंगों में।
तुम हँसते-मुसकाते प्रतिपल,
नदियों की तरल तरंगों में।
तुम विद्रोही बन उठ जागे,
पीड़ित के उन भ्रू-भंगों में।
तुम बने क्रान्ति के अग्रदूत,
अपने नंगों-भिखमंगों में।

× × ×

तुम बोल रहे हो गर्व भरे,
गंगा के गौरव-गर्जन में।
तुम तोल रहे अपनी बाहें,
जमुना-तरंग के तर्जन में।
अंगों का शोणित दे-देकर,
तुम लीन कठिन तप-अर्जन में।
तुम लगे हुए मेरे तापस!
नवनूतन युग के सर्जन में।

श्री सुधीन्द्र



तुम थके और थक सोये थे,
दुर्वह दुःशासन-भारों में।
तुम मौन रहे मेरे योगी!
युग-युग के अत्याचारों में।
हिल उठे किन्तु मेरे ध्यानी,
पीड़ित के हा-हाकारों में।
तुम उठे बाँध परिकर अपना,
जनता की क्रान्ति-पुकारों में!

× × ×

तुम देख रहे अपना वैभव,
दीनों-दुखियों की आँखों से।
तुम छूते जग के ओर-छोर,
अपने भावों की पाँखों से।
तुम कोटि-कोटि को जगा चुके,
लाखों की बिखरी राखों से।
तुमने छाया है जग-आँगन,
अपनी संस्कृति की शाखों से।

× × ×

तुम रचते अपने विजय-गीत,
आक्रामक की हुंकारों से।
गढ़ते हो अपने नव-विधान,
जनता के जय-जयकारों से।
दे रहे नीति को तुम वाणी,
युग-पुरुषों के उद्गारों से।
तुम विद्रोहों को दबा रहे,
ममता से, प्यार-दुलारों से।

× × ×

तुम नहीं कभी विचलित होते,
जग के विराट् परिवर्तन में।
विकराल क्रान्ति के ताण्डव में,
नवसर्जन, प्रलय-प्रकम्पन में।
मरणोन्मुख होता विश्व सकल,
जब जीवन के संघर्षण में,
तब तुम देते हो सञ्जीवन
अपने मंगल पथ-दर्शन में।

× × ×

तुम गीत बने गाये जाते,
माँ-बहनों के मधु गानों में।

घर की, उपवन की तानों में,
गीता-इञ्जील-कुरानों में।
हिन्दू, ईसाई या मुसलिम,
तुम हो सब के ईमानों में।
तुम गूँज रहे बन चेतन का स्वर,
जन-जन के तन-मन-प्राणों में।

× × ×

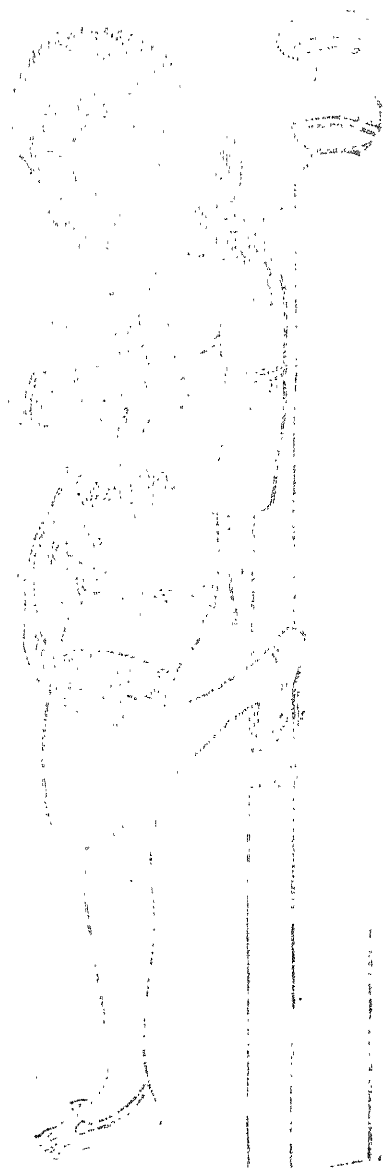
पल-पल पग-पग तुम बढ़ते हो,
है तुमने लक्ष्य अमर देखा।
तुम चित्र बन रहे भावी का,
जब खींच रहे हैं सब रेखा।
तुम करते नित प्रत्यक्ष हमें,
जो रहा अभी तक अनदेखा।
तुम प्रेम-सुधा ले पिला रहे—
लिखता जग लोहू का लेखा!

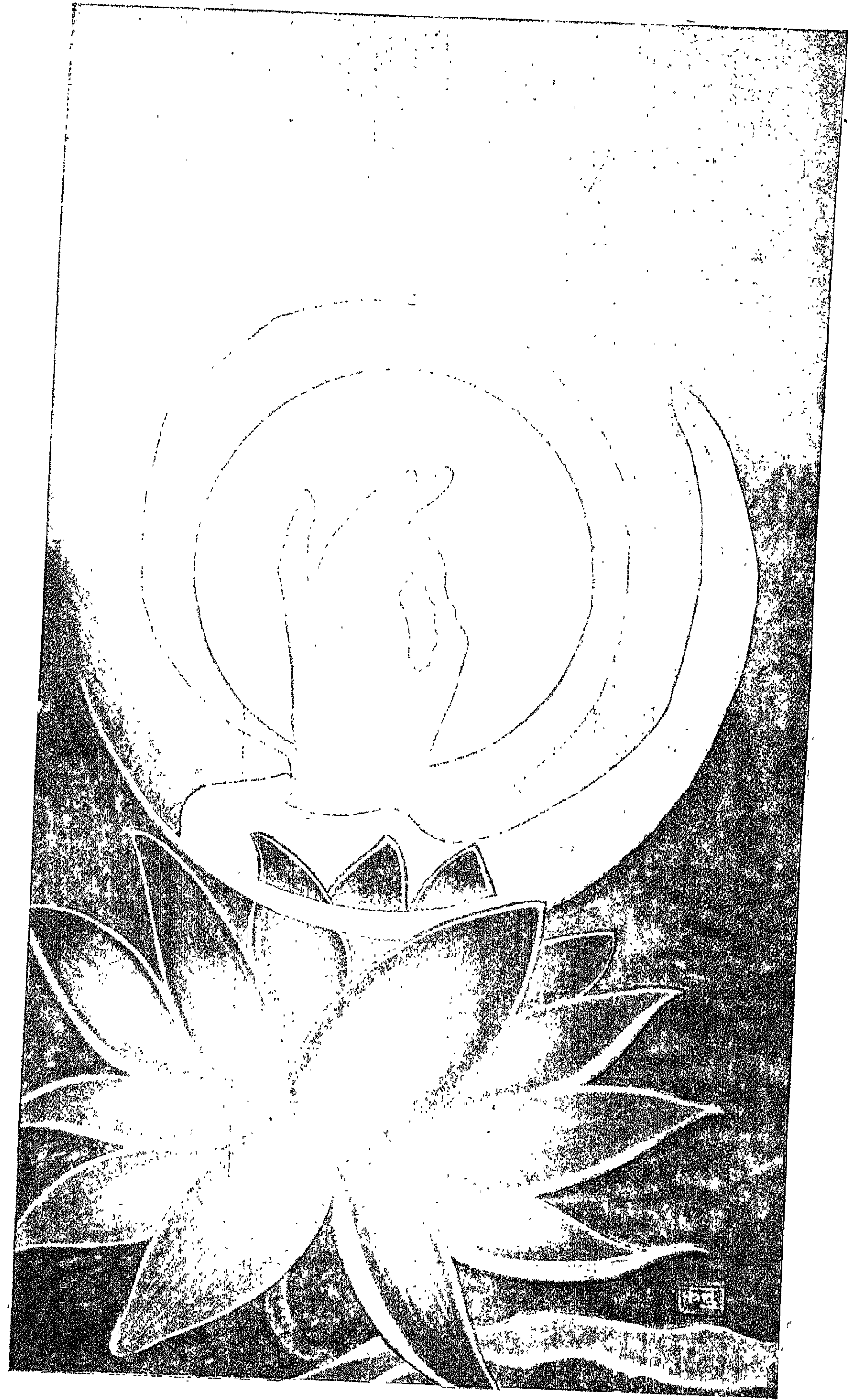
× × ×

पीड़ित मानवता के मन को,
सुख का मंगल सन्देश लिये।
अस्त्रों-शस्त्रों मय राष्ट्रों में,
हथियार रहित निज वेष लिये।
कर में लेकर वह सुधा-कलश,
पी-पी जिसको मृत देश जिये।
तुम आगे ही बढ़ते जाते,
पीछे सब देश-विदेश किये!

× × ×

तुम कोटि-कोटि कण्ठों में मिल,
कहते हो युग-युग की वाणी।
पाते तुमसे सञ्जीवन का,
सञ्चार मिटे मानव प्राणी।
तुम अखिल विश्व-मानवता की,
संस्कृति के हो जीवन-दानी।
तुम बरसाते विश्वम्भर की,
वसुधा पर करुणा-कल्याणी।





सत्यं शिवं सुन्दरम्

(चित्रकार—श्री कनु देसाई, अहमदाबाद)



प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र

श्री कृष्णदत्त वाजपेयी, एम्० ए०,

शिक्षा की महत्ता तथा उसकी उपादेयता का ज्ञान भारत के विचारशील व्यक्तियों को पुरातन काल से रहा है। प्राचीन आर्यों ने जीवन को पूर्ण तथा सफलीभूत बनाने के लिए चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की व्यवस्था की थी। इनमें प्रथम स्थान धर्म को दिया गया था, जिसकी प्राप्ति ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए लगभग २५ वर्ष की आयु पर्यन्त गुरुओं के द्वारा ऐहिक तथा पारलौकिक ज्ञान उपलब्ध करने से होती थी। जीवन के इस प्रथमाश्रम की परीक्षा में सफलता प्राप्त करने पर ही आर्य स्नातक अन्य गुरुतर आश्रमों में प्रविष्ट हो सकने का वास्तविक अधिकारी था। वैदिक साहित्य तथा बाद के संस्कृत, प्राकृत आदि साहित्यों में शिक्षा के गौरव सम्बन्धी जो अनेक कथन मिलते हैं उनसे प्रकट होता है कि भारतीय धर्मशास्त्रकारों ने जीवन में शिक्षा को कितना ऊँचा स्थान दिया था। भारतीय राष्ट्र तथा जनता ने सम्मिलित उद्योग से अनेक विश्वविद्यालय तथा प्रचुर संख्या में विद्यालय और पाठशालाएँ खोलकर देशभर में ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि और उनके संवर्धन के सुगम साधन प्रस्तुत किए। यहाँ पर शिक्षा के इन प्राचीन केन्द्रों का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

विश्वविद्यालय और महाविद्यालय

(१) **तक्षशिला**—यह स्थान आधुनिक पंजाब प्रान्त में रावलपिण्डी से २६ मील उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहाँ के विस्तृत खँडहरों में प्राचीनकाल में गांधार प्रदेश की समृद्ध राजधानी तक्षशिला नगरी स्थित थी। इसके एक ओर ग्रीक तथा ईरानी संस्कृतियों का प्रसार था और दूसरी ओर भारतीय तथा चीनी संस्कृति फैली हुई थी। तक्षशिला इन सबका केन्द्र था। इन संस्कृतियों में पारस्परिक आदान-प्रदान छठी शताब्दी ई० पू० से अधिक बढ़ा। लगभग ५५० ई० पूर्व से लेकर ई० ५५० तक गांधार प्रदेश क्रमशः ईरानी, मौर्य, यवन, पह्लव, शक, कुषाण तथा हूण शासकों के अधिकार में रहा। इनमें मौर्यों को छोड़कर सभी वंश विदेशी थे। ग्यारह शताब्दियों के इस दीर्घ काल में तक्षशिला ही पश्चिमोत्तर प्रदेश (गांधार) की राजधानी बनी रही। उपर्युक्त विदेशियों के आगमन से इस प्रदेश में राजनैतिक उत्थान-पतनों के साथ साथ भारतीय समाज तथा शिक्षा के भी क्षेत्र में अनेक परिवर्तन हुए।

प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र

गांधार प्रदेश वैदिककाल से शिक्षा और संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था। रामायण, महाभारत तथा पुराणों के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि इस प्रदेश की राजधानी तक्षशिला विद्या और कला के लिए प्रख्यात थी। बौद्ध ग्रंथों, विशेषत: जातकों, से विदित होता है कि तक्षशिला नगरी में ई० पू० सातवीं शताब्दी में उत्तर-पश्चिम भारत का सर्वश्रेष्ठ विश्व-विद्यालय स्थापित हो चुका था। इसमें मथुरा, कोशल, मगध, कलिंग और उज्जैन तक के राजकुमार तथा मध्यम वर्ग के विद्यार्थी ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आते थे। कौशल के युवराज प्रसेनजित ने यहीं शिक्षा पाई थी। (जातक सं० २५२, ३७८)। कुमार जीवक मार्ग के अनेक कष्टों की परवाह न करते हुए एक सहस्र मील की यात्रा कर तक्षशिला विश्व-विद्यालय पहुँचे और वहाँ सात वर्षों के कठोर परिश्रम से शल्य-विज्ञान का कुछ ही अंश सीख सकने में सफल हुए (महावग्ग, अ० ८)। पाणिनि, पतंजलि और चाणक्य जैसे धुरंधर वैयाकरण और महान् राजनीतिज्ञ इसी विद्यालय के स्नातक थे।

तक्षशिला विश्व-विद्यालय में 'जगद्विख्यात शिक्षकों' के द्वारा वेद, वेदांग, षड्दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, व्याकरण, साहित्य, आयुर्वेद, अर्थशास्त्र तथा समरशास्त्र की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध था। भूगर्भ-विज्ञान, समरशास्त्र (विशेषकर धनुर्विद्या) तथा शल्य-चिकित्सा के शिक्षण की व्यवस्था प्राचीन भारत में यहीं सर्वोपरि थी। महासुतसोम जातक (सं० ५३७) के अनुसार छठी शताब्दी ई० पू० में धनुर्विद्या की कक्षा में १०३ युवराज थे। बौद्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि तक्षशिला में १८ शिल्पों की शिक्षा दी जाती थी (जातक सं० १८५, २५६, ४१६; मज्झिमनिकाय, भाग १, पृ० ८५)। ये शिल्प कृषि, व्यापार, अश्वायुर्वेद, वास्तुकला, चित्रकला, गरुड़विद्या, सर्पविद्या, भूतविद्या तथा दैवविद्या आदि थे। इनमें से कुछ का उल्लेख छांदोग्य उपनिषद् (७, १२) में भी है। मिलिन्द (मेनेंडर) ने तक्षशिला में ही शिक्षा पाई थी। मिलिन्द-पन्ह (भाग १, पृ० ६) के अनुसार वह उपर्युक्त सभी शिल्पों का ज्ञाता था। सभी भारतीय वर्णों तथा विदेशियों की सह-शिक्षा के कारण तक्षशिला विश्व-विद्यालय शताब्दियों तक चातुर्दिक-शिक्षण का केन्द्र बना रहा। इस विद्यालय को अश्वघोष, नागार्जुन तथा चरक जैसे प्रकाण्ड विद्वानों का सानिध्य प्राप्त था।

विभिन्न विदेशी आक्रांताओं के समय समय पर आगमन से तक्षशिला की शिक्षा-प्रणाली में भी तदनुकूल परिवर्त्तन अवश्यम्भावी थे। ईरानियों का आधिपत्य होने पर राजकीय भाषा ब्राह्मी का स्थान खरोष्ठी ने ले लिया। यह उस काल के उपलब्ध अभिलेखों से प्रकट होता है। विश्वविद्यालय में खरोष्ठी के लेखन और शिक्षण की व्यवस्था इसी काल से प्रारम्भ हुई होगी। ३२७ ई० पू० में पंजाब पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ, जिसके फलस्वरूप तक्षशिला के विश्वविद्यालय में यूनानी ज्योतिष, दर्शन और समरशास्त्र के विशेष अध्ययन की नींव पड़ी। यूनानी मुद्राशास्त्र तथा मूर्तिकला के अध्ययन का भी सुअवसर इसी समय प्राप्त हुआ। ये कलाएँ आगे बराबर बढ़ती रहीं। मौर्यों के एक शताब्दी (३२५-२२५ ई० पू०) के आधिपत्य में मौर्य-सम्राटों का पश्चिमी देशों से मैत्री-सम्बन्ध दृढ़ हुआ और इस काल में पौर्वात्य तथा पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान का विशद तुलनात्मक अध्ययन हुआ। २२५ ई० पू० से लेकर लगभग १०० ई० पूर्व तक पुन: यवनों का आधिपत्य तक्षशिला पर रहा। इस काल में समरशास्त्र, मुद्राशास्त्र और मूर्तिकला का शिक्षण अधिक उन्नत हुआ। गांधार-कला का श्रीगणेश इसी समय हुआ। यह कला पश्चिमोत्तर भारत में शनै: शनै: बढ़ने लगी। भारतीयों तथा यूनानियों ने एक दूसरे के दर्शन शास्त्र का विशद अध्ययन किया, जैसा कि फिलास्ट्रेटस आदि ग्रीक लेखकों के लेखों से ज्ञात होता है। यूनानियों तथा कतिपय भारतीयों के लिए यूनानी भाषा में शिक्षा देने की भी व्यवस्था हुई। शकों और कुषाणों के राज्यकाल में भी तक्षशिला की बड़ी उन्नति हुई। विशेषत: इसी विश्व-विद्यालय में शिक्षित होने तथा उसमें धर्मोपदेश सुनने के कारण यूनानी, शक, पह्लव तथा कुषाण अधिकांश में बौद्ध और हिन्दू हो गए थे। २२५ ई० के बाद से किदार कुषाणों के आधिपत्य में तक्षशिला के शिक्षालय की अवनति होने लगी। अत्याचारी हूणों ने लगभग ५०० ई० में सरस्वती की इस महती शाला को नष्ट कर दिया।

तक्षशिला के स्नातक न केवल भारत के विभिन्न भागों में शिक्षण-कार्य करने आते थे, अपितु विदेशों में भी ज्ञान-विज्ञान की ज्योति प्रदीप्त करते थे। अर्हत वैरोचन ने प्रथम शताब्दी ई० पू० में सबसे पहले खोतन जाकर वहाँ बौद्ध धर्म

का प्रचार किया। काश्यप, मातंग तथा धर्मरक्ष ने प्रथम शताब्दी में चीन सम्राट् मिंग-ती के अनुरोध से चीन में जाकर बौद्ध ज्ञान का प्रसार किया। इसके अनन्तर धर्मरक्ष (२४०-३१८ ई०), धर्मप्रिय (३८२ ई०) तथा गुणवर्मन् (३६७-४३१ ई०) आदि विद्वानों ने विदेशों में भारतीय संस्कृति का आलोक फैलाया था।

(२) **मध्यमिका**—आधुनिक चित्तौड़ से ६ मील उत्तर-पूर्व नगरी नामक स्थान है, जिसे प्राचीन काल में मध्यमिका या ताँबावती कहते थे। शिबि नामक गणतंत्र का प्रधान केन्द्र यहीं था। शिबियों के सिक्के, जिनपर 'मझमिकाय शिबिजानपदस' लेख रहता है, नगरी और उसके आसपास के प्रदेश से प्राप्त हुए हैं। तृतीय शताब्दी ई० पू० में यूनानियों के लगातार आक्रमणों से पंजाब की स्वातंत्र्यप्रिय वीर जातियाँ—शिबि, मालव, कुणिंद, यौधेय आदि—दक्षिण-पूर्व को चलकर राजपूताना में बस गई थीं, तथा अन्य समीपस्थ प्रदेशों में अपना प्रसार धीरे धीरे करने लगीं थीं।

तृतीय शताब्दी ई० पू० से मध्यमिका की समृद्धि बढ़ी। यह नगरी गणराज्यों की शिक्षा का केन्द्र हुई। गणों के संगठन तथा उनकी सामरिक शिक्षा आदि का यहाँ उत्तम प्रबन्ध था। अपने दृढ़ संगठन तथा युद्ध-प्रवीणता के कारण ही ये गणराज्य शताब्दियों तक अपनी स्वतंत्रता बनाये रख सकने में सफल हुए। यूनानियों तथा शकों ने अनेक बार इनको नष्ट करने के प्रबल प्रयत्न किए। परन्तु वीर मालवों, कठों और क्षुद्रकों आदि ने सिकन्दर जैसे प्रतापी शत्रु के भी दाँत खट्टे कर दिए थे। द्वितीय शताब्दी ई० पू० में जब मिलिन्द ने मध्यमिका पर हमला किया तब अग्निमित्र शुंग के वीर पुत्र वसुमित्र ने उसे परास्त कर यवनों को वहाँ से खदेड़ दिया। मध्यमिका विद्यालय की शिक्षा-प्रणाली के विषय में विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता। समरशास्त्र का अध्ययन यहाँ विशेष रूप से होता रहा होगा। यह शिक्षा गणों के सभी युवकों के लिए अनिवार्य थी। इसी कारण कुछ गणों का नाम ही 'आयुधजीवीसंघ' पड़ गया था। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में भी इन संघों का उल्लेख किया है। (अर्थशास्त्र, ९।१; २।१, ३४)।

(३) **मथुरा**—यह नगरी भारत की प्राचीन सप्तमहापुरियों में से एक है। इसका दूसरा नाम मधूपुरी भी मिलता है। भगवान् कृष्ण की लीलाभूमि होने का सौभाग्य इसी नगरी को प्राप्त हुआ। मथुरा शताब्दियों तक भारतीय धर्म और संस्कृति का केन्द्र रही। सातवीं शताब्दी ई० पू० से लेकर ई० बारहवीं शताब्दी तक जैन तथा बौद्ध धर्मों का भी यहाँ प्राधान्य रहा। मथुरा में खुदाई के द्वारा उपलब्ध अनेक अवशेषों से इसकी पुष्टि होती है। जैनों का सबसे प्राचीन ('देवनिर्मित') स्तूप, जिसका उल्लेख एक अभिलेख में प्राप्त होता है, लगभग सातवीं शताब्दी ई० पू० में मथुरा में बना। इस समय से लेकर मथुरा में मूर्ति-निर्माण-कला की बराबर उन्नति होती रही और यहाँ की विशिष्ट कला का नाम ही 'माथुर कला' प्रख्यात हुआ।

मथुरा का विद्यालय दीर्घकाल तक कला का प्रमुख शिक्षाकेन्द्र बना रहा। यहाँ भारत के प्रसिद्ध कलाविद् विभिन्न ललित कलाओं की व्यावहारिक शिक्षा देते थे। कौशांबी, काशी, श्रावस्ती, पाटलीपुत्र तथा सुदूर दक्षिण के अमरावती प्रदेश से विद्यार्थी मथुरा में कला की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए जाते थे। इन स्थानों में प्राप्त कला की कृतियों से ज्ञात होता है कि ये प्रदेश मथुरा-कला के कितने ऋणी हैं। भाँति भाँति के मनोहर तोरण, द्वारस्तंभ, सूची, वेदिका स्तंभ, सिरदल तथा आयागपट्ट आदि यह उद्घोषित करते हैं कि मथुरा के कलाविद् प्रकृति तथा मानव-भावों के अंकन में कितने सिद्धहस्त थे। कुषाणकाल तथा गुप्त-काल में भारतीय कला ने जो सजीवता, विशिष्टता तथा उत्कृष्टता प्राप्त की वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य है। मध्यकाल (६००-१२०० ई०) में भी माथुर कला की विशदता तथा समृद्धि अतीव प्रशंसनीय है।

(४) **अहिच्छत्र**—यह नगर आधुनिक रामनगर है जो बरेली से २० मील पश्चिम में स्थित है। महाभारत काल में अहिच्छत्र उत्तरी पांचाल की राजधानी था। इस राज्य का प्रसार उस काल में उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चम्बल नदी तक था। महाभारत में (आदिपर्व, अ० १६८) अहिच्छत्र का दूसरा नाम छत्रवती भी मिलता है। द्रोणाचार्य ने उत्तर पांचाल को द्रुपद से छीन लिया था। उस समय से अहिच्छत्र धनुर्विद्या का प्रमुख केन्द्र बन गया था। महाभारत के अनुसार कौरव-पांडवों ने द्रोणाचार्य से ही धनुर्विद्या की शिक्षा प्राप्त की थी।

अहिच्छत्र की वर्तमान खुदाई से अनेक महत्त्वपूर्ण अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनसे इस स्थान की प्राचीनता तथा अन्य विशेषताओं पर प्रकाश पड़ता है। शुंगों के उत्तराधिकारी 'मित्र' राजाओं के सिक्के बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र उत्तर भारत में ब्राह्मण धर्म के प्रधान केन्द्रों में से था। गुप्तकाल तथा मध्यकाल की अनेक सुन्दर मिट्टी की देव-मूर्तियाँ, खिलौने तथा मुहरें मिली हैं। इनसे प्रकट होता है कि अहिच्छत्र में ललितकला, विशेषतः मूर्तिकला तथा मुद्रानिर्माण कला के शिक्षण की व्यवस्था रही होगी। जहाँ मथुरा में जैन तथा बौद्ध धर्मों का प्राबल्य था, वहाँ अहिच्छत्र में ब्राह्मण धर्म का। ह्वेन्सांग के समय में बौद्ध धर्म के भी अनेक मठ वहाँ हो गए थे। उसके लेख से ज्ञात होता है कि उस समय (सातवीं शताब्दी में) वहाँ १२ मठ थे, जिनमें एक सहस्र भिक्षु रहते थे और धर्म तथा विद्याभ्यास में लोगों की बहुत प्रवृत्ति थी।

(५) **कान्यकुब्ज (कन्नौज)**—यह स्थान फरुखाबाद जिले में काली नदी के पश्चिमी किनारे पर बसा है। इसके प्राचीन नाम कान्यकुब्ज, कन्याकुब्ज, गाधिपुर, महोदय, कुशस्थलपुर आदि मिलते हैं। रामायण, महाभारत, हरिवंश और पुराणों में इस नगर के वर्णन तथा तत्सम्बन्धी अनेक कथाएँ मिलती हैं। प्राचीन काल में यहाँ राजर्षि गाधि की राजधानी थी। विश्वामित्र भी यहीं रहे थे। कान्यकुब्ज भारतीय संस्कृति का बहुत काल तक प्रमुख स्थान रहा।

बौद्ध धर्म के आविर्भाव से कन्नौज में इस धर्म की भी स्थापना हो गई। भगवान् बुद्ध स्वयं यहाँ पधारे थे। सम्राट् अशोक ने यहाँ कई स्तूप बनवाए थे, जिनका चीनी यात्रियों ने उल्लेख किया है। गुप्तकाल में कन्नौज की उतनी उन्नति नहीं हुई जितनी पाटलिपुत्र, अयोध्या और उज्जैन की। परन्तु मध्यकाल के आरम्भ से लेकर बारहवीं शताब्दी के अन्त तक कान्यकुब्ज उत्तर भारत का मुख्य केन्द्र बना रहा। मौखरी, बैस, गुर्जर-प्रतिहार तथा गहडवाल राजवंशों ने कन्नौज को ही अपनी राजधानी बनाए रक्खा।

राजनीतिक केन्द्र होने के साथ साथ कन्नौज इस दीर्घ काल में विद्या का भी केन्द्र बना रहा। महाकवि और नाटककार भवभूति तथा कविराज वाक्पतिराज यशोवर्मा के समय में कन्नौज में वर्तमान थे। 'मुद्राराक्षस' के कर्त्ता विशाखदत्त मौखरी नरेश अवन्तिवर्मा के समय महोदय की श्री को बढ़ा रहे थे। धावक, चन्द्रादित्य जैसे विद्वानों के अतिरिक्त प्रकाण्ड पंडित बाणभट्ट हर्षवर्धन के समय में कान्यकुब्ज के विद्यावैभव की पताका फहरा रहे थे। नवीं शताब्दी के आचार्य राजशेखर प्रतीहार शासक महीपाल के समय कन्नौज को गौरवप्रदान कर रहे थे तथा बारहवीं शताब्दी में महाकवि श्रीहर्ष जयचन्द्र की सभा के रत्न थे। इन प्रख्यात कवियों तथा विद्वानों के सम्पर्क से कन्नौज के महाविद्यालय को बड़ा प्रोत्साहन तथा गौरव मिला होगा। सातवीं से लेकर बारहवीं शताब्दी तक के दीर्घ काल में कान्यकुब्ज व्याकरण, साहित्य, नाटचकला, छंदशास्त्र तथा अन्य ललितकलाओं का प्रमुख केन्द्र बन गया। इनके शिक्षण की व्यवस्था भी बड़ी सन्तोषजनक रही होगी। यद्यपि इस सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है तो भी ईशानवर्मा, अवन्तिवर्मा, यशोवर्मा, प्रभाकरवर्धन, हर्षवर्धन, मिहिरभोज, महीपाल, गोविन्दचन्द्र और जयचन्द्र जैसे विद्वान् तथा शिक्षा-प्रेमियों के द्वारा अवश्य ही अपने यहाँ के विश्व-विद्यालय को सुव्यवस्थित तथा उन्नत बनाने के लिए सभी प्रयत्न किए गए होंगे। बाणभट्ट के वर्णनों से ज्ञात होता है कि कान्यकुब्ज विद्या का आकर था, श्री और सरस्वती का यहाँ पर समान उत्कर्ष था। ह्वेन्सांग के वर्णन से प्रकट होता है कि इस यात्री के आगमन के समय (७वीं शताब्दी) में कान्यकुब्ज के निवासी विद्याव्यसनी तथा धार्मिक-चर्चा-परायण थे। भाषा की शुद्धता सर्व-प्रसिद्ध थी। कई सौ संघाराम थे जिनमें दस सहस्र साधु निवास करते थे। दो सौ देवमन्दिर भी थे। विभिन्न धर्मवालों में धार्मिक शास्त्रार्थ हुआ करते थे। सम्राट् हर्षवर्धन के द्वारा आयोजित कन्नौज के धर्म-सम्मेलनों से व्याख्यान तथा शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति को बहुत प्रेरणा मिलती थी। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (१, १०) में 'राजसभा' का उल्लेख किया है, जिसमें विद्यालय में शिक्षा समाप्त किए हुए स्नातकों की परीक्षा तथा उनका सम्मान-प्रदर्शन होता था। काव्य-चर्चा, कवि-सम्मेलनों आदि का आयोजन भी इन सभाओं के द्वारा होता था।

(६) **अयोध्या**—यह स्थान फैजाबाद के समीप सरयू नदी पर बसा हुआ अद्यावधि हिंदुओं का प्रसिद्ध तीर्थ स्थान है। प्राचीन महापुरियों में सर्वप्रथम अयोध्या का ही उल्लेख है। बौद्ध ग्रंथों में इसे साकेत कहा गया है, जिसका उल्लेख

टालेमी ने भी 'सगद' नाम से किया है। अयोध्या प्राचीन कोशलदेश की राजधानी थी। वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकुवंशी शासकों के समय में अयोध्या सर्वतोमुखी उन्नत दशा पर थी। कुमारों के लिए यहाँ वेद, वेदांग की शिक्षा के अतिरिक्त राजनीति, वार्ताशास्त्र तथा समरशास्त्र की शिक्षा का प्रबन्ध था। महाराज दशरथ तथा श्रीराम के समय (लगभग २००० ई० पू०) अयोध्या सम्पत्ति से परिपूर्ण होने के साथ विद्या से गौरवमयी थी। उसकी यह उन्नत दशा बहुत काल पीछे तक न्यूनाधिक परिवर्तनों के साथ बनी रही।

लगभग ७०० ई० पू० से लेकर ४०० ई० तक के काल में अयोध्या के शिक्षालय की गति मन्द हो गई। इस काल में तक्षशिला, मथुरा, काशी और पाटलिपुत्र के विद्यालयों की उन्नति हुई। कोशल के राजकुमार प्रसेनजित तथा जीवक आदि ने तक्षशिला के सुदूरवर्ती विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी। गुप्तकाल, में दीर्घावधि के पश्चात्, पुनः अयोध्या को विस्तृत साम्राज्य की राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के आगमन से अयोध्या के विद्यालय को पुनः प्रोत्साहन मिला। काव्यगोष्ठी तथा राजसभा के आयोजनों से साहित्य-सरिता फिर से प्रवाहित हुई। महाकवि कालिदास के काव्यों ने अयोध्या की दार्शनिक शुष्कता को शृंगाररस से आप्लावित कर दिया। अयोध्या के महा-विद्यालय ने इस स्वर्णयुग में महाकवियों, कलाविदों तथा दैवज्ञों के साहाय्य से प्रचुर उन्नति की होगी और प्रदेशान्तरों से आए हुए विद्यार्थियों की ज्ञान-पिपासा को शान्त किया होगा। अयोध्या के शिक्षालय ने मध्यकाल में भी वाग्देवी की आराधना की पूर्व परम्परा को स्थिर रक्खा होगा।

(७) **काशी**—काशी या वाराणसी नगरी, जो सप्तमहापुरियों में से एक है, प्रायः चार सहस्राब्दियों से भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्रों में रही है। वैदिक साहित्य (अथर्व०, पिप्पलाद शाखा, ५-२-२२) में भी इस नगरी का उल्लेख है। परन्तु वैदिक काल में काशी को वह गौरव नहीं प्राप्त था जो उसे कालान्तर में प्राप्त हुआ।

काशी का प्राचीन विश्वविद्यालय तक्षशिला के विश्वविद्यालय से कुछ समय बाद ई० पू० छठी शताब्दी से प्रारंभ हुआ। इस काल के पहले भी काशी में छोटे शिक्षालय रहे होंगे। तक्षशिला विश्वविद्यालय की महत्ता बहुत समय तक अक्षुण्ण बनी रही। बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि काशी, कोशल, पाटलिपुत्र आदि के विद्यार्थी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए एक सहस्र मील दूर स्थित तक्षशिला के लिए प्रस्थान करते थे (जातक, १३०, ४३८, ४४७ आदि)।

भगवान् बुद्ध ने अपनी प्राथमिक शिक्षाएँ सारनाथ में देकर काशी का गौरव बढ़ाया। शैशुनाग नरेश बिम्बसार तथा तथा अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र में बड़ा शिक्षालय न होने से काशी के ही विद्यालय को अपनी संरक्षकता प्रदान की। प्रियदर्शी सम्राट् अशोक के समय काशी में प्रबल धार्मिक लहर उठी और बौद्ध तथा ब्राह्मण दोनों धर्मों में सजगता आई। मौर्य शासनकाल में ब्राह्मी लिपि तथा प्राकृत भाषा की विशेष उन्नति हुई। शुंगों के समय में प्राकृत का स्थान संस्कृत ने लिया और हिन्दू धर्म प्रबल हुआ, परन्तु कुषाणों के राज्यत्वकाल में पुनः बौद्धधर्म का पलड़ा ऊँचा हुआ। इस काल में बौद्धिक ज्ञान के शिक्षण के साथ-साथ मूर्तिकला की भी शिक्षा विद्यालय के पाठयक्रम का अंग बन गई। गुप्तोत्कर्षकाल में काशी में बौद्ध धर्म का ह्रास हुआ और संस्कृत भाषा शिक्षा का प्रधान माध्यम बनी। काशी के महाविद्यालय में पहले वेद, वेदांग, व्याकरण, तर्क और न्याय की ही विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी, परन्तु अब साहित्य के विभिन्न अंगों तथा व्यावहारिक शास्त्रों की भी शिक्षा आधिक्य से दी जाने लगी। तत्त्वज्ञान की उच्च शिक्षा तथा शास्त्रार्थ का केन्द्र भी काशी में हुआ। शंकराचार्य जैसे प्रकाण्ड विद्वान् अपनी विद्वत्ता को प्रमाणित करने के लिए काशी आए थे। ह्वेन्सांग के समय में काशी में विद्या और धर्म का प्रधान केन्द्र था। अलबरूनी की यात्रा के समय (११वीं शताब्दी) में भी यही दशा थी। गहड़वाल शासकों के दानपत्रों से ज्ञात होता है कि उन्होंने अनेक अग्रहार ग्राम काशी के ब्राह्मणों को दान में दिए थे। ये ब्राह्मण इन ग्रामों में अवैतनिक रूप से निःशुल्क प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करते थे।

मुसलमानों के राज्यकाल में भी काशी उत्तर भारत में संस्कृत शिक्षा का प्रधान केन्द्र रही। १७वीं शताब्दी के यात्री बर्नियर ने (ट्रैवेल्स, पृ० ३४१) लिखा है कि काशी के अनेक शिक्षालयों में शिक्षक थोड़े थोड़े विद्यार्थियों को अपनी

संरक्षकता में रखकर शिक्षा देते थे। शिक्षा की यह प्रणाली काशी में १९वीं शताब्दी के अन्त तक चलती रही और उसकी स्मृति कुछ अंशों में यहाँ अब भी अवशिष्ट है।

(८) पाटलिपुत्र—यह नगर आधुनिक बिहार प्रान्त के पटना शहर तथा उसकी समीपस्थ भूमि पर स्थित था। शैशुनाग राजा उदयाश्व ने ५०० ई० पू० के लगभग मगध की राजधानी गिरिव्रज से हटाकर पुष्पपुर या पाटलिपुत्र में स्थापित की थी। इस नगर को क्रमशः शैशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग, काण्व तथा गुप्त शासकों की राजधानी होने का सौभाग्य लगभग ११ शताब्दियों के दीर्घ काल तक प्राप्त हुआ।

पाटलिपुत्र के महाविद्यालय की स्थापना काशीवाले विद्यालय से कुछ समय बाद हुई। यहाँ आयुर्वेद, विशेषकर शल्य-चिकित्सा, के शिक्षण की उत्तम व्यवस्था थी। तक्षशिला के बाद यहीं का नम्बर था। अग्निवेशसंहिता, चरक और सुश्रुत पर योग्य विद्वानों द्वारा व्याख्यान दिए जाते थे। अशोक के समय से पाटलिपुत्र में अनेक बड़े चिकित्सालय खुले जिनमें विद्यार्थियों को शल्य-शास्त्र (सर्जरी) की वैज्ञानिक विधि बताई जाती थी। अश्वायुर्वेद की भी शिक्षा यहां दी जाती थी। चिकित्सालयों में डाक्टरों की ट्रेनिंग की भी व्यवस्था थी। मिलिन्दपन्ह (भाग २, पृ० २५४-५५) में सर्जरी की प्रणाली का विशद रूप से वर्णन है, जिसकी उपर्युक्त व्यवस्था पाटलिपुत्र के शिक्षालय में थी। फाह्यान और ह्वेन्सांग ने भी यहाँ के चिकित्सालयों का उल्लेख किया है।

अरब के खलीफा पाटलिपुत्र के चिकित्सालयों में ट्रेनिंग पाए हुए डाक्टरों को अपने यहाँ बड़े सम्मान से नियुक्त करते थे। वे अपने यहाँ के हकीमों को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए तक्षशिला तथा पाटलिपुत्र जैसे भारत के उन्नत शिक्षालयों में भेजते थे। आठवीं शताब्दी में खलीफा हारूँरशीद ने व्याधि-विज्ञान तथा शल्य-चिकित्सा में दक्षता प्राप्त करने के लिए अपने कई हकीमों को भारत भेजा और बीस भारतीय डाक्टरों को अपने यहाँ बुलाया। वे वहाँ के चिकित्सालयों के अध्यक्ष नियुक्त किए गए। चरक और सुश्रुत के अनुवाद भी इन्हीं विद्वानों के द्वारा अरबी में कराए गए। इन विद्वानों में माणिक्य तथा धन्वन्तरि प्रमुख थे।

राजनीतिक केन्द्र होने के कारण पाटलिपुत्र को अनेक उद्भट विद्वानों के आवास-स्थल होने का सौभाग्य प्राप्त था। कात्यायन (५वीं शताब्दी ई० पू०), चाणक्य तथा मेगस्थनीज (चौथी शताब्दी ई० पू०), उपगुप्त (तृ० श० ई० पू०), आर्यभट्ट (५वीं शताब्दी) आदि प्रकाण्ड पंडितों ने अपने जीवन का दीर्घकाल यहीं व्यतीत किया। पाटलिपुत्र के शिक्षालय में राजनीति-शास्त्र तथा वार्ताशास्त्र की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध मौर्यों के शासनकाल से प्रारंभ हुआ। अर्थशास्त्र तथा मेगस्थनीज के वृत्तान्त से इस विषय पर बहुत प्रकाश पड़ता है। राजकुमारों के लिए विविध प्रकार की शिक्षा का आयोजन पाटलिपुत्र में ही किया गया। इसके लिए उन्हें तक्षशिला भेजने की आवश्यकता अब न थी। बौद्ध तत्त्वज्ञान के उच्च शिक्षण की व्यवस्था भी अशोक के समय से हुई होगी। बौद्ध आचार्य उपगुप्त की सहायता से अशोक ने बौद्ध धर्म के प्रचार के अनेक सुगम उपाय निकाले थे। पाली और ब्राह्मी मौर्यकाल में शिक्षण के माध्यम रहे। शुंग, काण्व तथा गुप्त शासकों के समय संस्कृत अधिक प्रतिष्ठित हुई, तथा ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हुआ। गुप्त साम्राज्य का अन्त होने पर पाटलिपुत्र के शिक्षालय की भी अवनति होने लगी। इस समय से समीपस्थ नालन्दा तथा विक्रमशिला के विश्व-विद्यालय अधिक उन्नत हुए और उनके सामने पाटलिपुत्र के विद्यालय की महिमा घटने लगी।

(९) नालन्दा—इस नगरी के भग्नावशेष बिहार प्रान्त के पटना जिले में राजगृह से ८ मील पश्चिमोत्तर अब भी दृष्टिगोचर हैं। प्राचीनकाल में यह बड़ी समृद्ध नगरी थी।

नालन्दा में ई० पाँचवीं शताब्दी में विश्व-विद्यालय की स्थापना हुई। इस समय तक्षशिला का महान् विश्व-विद्यालय नष्टप्राय हो चुका था, और उत्तर भारत में अन्य कई विद्यालय उन्नति पर थे। तक्षशिला के शिक्षालय का स्थान इस काल में नालन्दा ने ले लिया और पूरी सात शताब्दियों तक वह उत्तर भारत के विद्यालयों में अग्रगण्य रहा। गुप्त शासकों की संरक्षकता में नालन्दा के बौद्ध विद्यालय ने आशातीत उन्नति की। धर्म तथा विद्या के क्षेत्र में गुप्तों की विशाल-हृदयता का

परिचय इससे मिलता है। कुमारगुप्त प्रथम, तथागतगुप्त, नरसिंहगुप्त, बालादित्य, बुधगुप्त तथा बज्र आदि ने शिक्षा के इस महान् केन्द्र की उन्नति के लिए मुक्तहस्त होकर भूमि तथा धन का दान किया। मिहिरकुल के मगध पर आक्रमण से तथा हर्ष-शशांक युद्ध से नालन्दा के विश्व-विद्यालय को अवश्य कुछ क्षति पहुँची होगी परन्तु वह विशेष आपत्तिकारक नहीं थी।

ह्वेन्सांग की नालन्दा-यात्रा के समय वहाँ का विद्यालय पूर्ण उन्नति पर था। उसके विशाल भवनों ने चीनी यात्री का मन मुग्ध कर लिया था (वाटर्स—युवान्च्वांग, २, पृ० १६४-७१)। इस विस्तृत विश्व-विद्यालय का, जिसके चारों ओर चहार दीवारी थी, ह्वेन्सॉंग ने जी खोलकर वर्णन किया है। यशोवर्मन् के शिलालेख से भी नालन्दा के गगनचुम्बी शिखरों का ज्ञान प्राप्त होता है। (एपि० इंडि०, भाग २०, पृ० ४३)।

ह्वेन्सांग के जीवन-चरित्र लेखक ने लिखा है कि चीनी यात्री की नालन्दा-यात्रा के समय में वहाँ दस सहस्र भिक्षु शिक्षा प्राप्त करते थे। (बील, लाइफ, पृ० ११२)। इत्सिंग के समय विद्यार्थियों की संख्या तीन सहस्र थी। इनके शिक्षण के लिए एक सहस्र शिक्षक नियुक्त थे। नालन्दा की खुदाई से मिले हुए इमारतों आदि के अवशेषों से ज्ञात होता है कि भिक्षुओं की संख्या अवश्य बहुत बड़ी रही होगी। उनके निवास तथा पठन-पाठन के लिए सभी प्रकार के प्रबन्ध थे।

ह्वेन्सांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि नालन्दा के शिक्षक और विद्यार्थी नियमपूर्वक विद्याध्ययन में अपना अधिकांश समय व्यतीत करते थे। वे दिन-रात तर्क-सम्मत शास्त्रार्थ के द्वारा अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते थे। विदेशों से अनेक विद्वान् अपनी जटिल समस्याओं को सुलझाने के लिए नालन्दा आते थे। नालन्दा की इतनी ख्याति हो गई थी कि यहाँ के शिक्षालय में अपनी शिक्षा-प्राप्ति का उल्लेख मात्र कर देने से स्नातक सभी जगह बड़ी प्रतिष्ठा से सम्मानित होते थे। प्रसिद्ध विद्वान् धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, जिनचन्द्र तथा शीलचन्द्र आदि नालन्दा विश्व-विद्यालय में शिक्षक थे। ये शिक्षक केवल अध्यापन से संतुष्ट न थे, वे अपना शेष समय ग्रंथों के संशोधन, अनुवाद तथा नवीन ग्रंथों के लेखन में लगाते थे। वेद, वेदांग, हेतुविद्या, सांख्य तथा शब्द-चिकित्सा की उच्च शिक्षा का नालन्दा विश्व-विद्यालय में प्रबन्ध था। आठ बड़े कक्षों तथा तीन सौ छोटे कमरों में व्याख्यानों आदि का प्रबन्ध था। प्रबन्धकों के द्वारा विशेषज्ञों से उच्च विषयों पर सौ व्याख्यान नित्य करवाए जाते थे। ह्वेन्सांग ने मुक्तकण्ठ से नालन्दा की शिक्षा-प्रणाली की प्रशंसा की है (वाटर्स, २,पृ० १६५)। इत्सिंग ने भी यहाँ विद्याभ्यास कर अपने भाग्य की भूरिभूरि प्रशंसा की है (इत्सिंग, पृ० ३०, १८५)।

नालन्दा के विश्व-विद्यालय में प्रवेश पाना वलभी तथा विक्रमशिला के विद्यालयों से भी क्लिष्ट था। प्रविष्ट विद्यार्थियों के लिए बिना मूल्य भोजन तथा वस्त्रादि का प्रबन्ध था। सैकड़ों गाँव इस विद्यालय के निमित्त लगे हुए थे। इस विश्व-विद्यालय की ख्याति इतनी बढ़ी थी कि सुमात्रा-जावा के नवीं शताब्दी के शासक बालपुत्रदेव ने 'चातुर्दिश संघ' के निमित्त नालन्दा में बिहार बनवाया था (एपि० इंडि० १७, पृ० ३१०)। चीन, कोरिया, तिब्बत, जापान आदि विदेशों से बड़ी संख्या में विद्वान् नालन्दा आते थे तथा अनेक दुष्प्राप्य ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तथा अनुवाद करके स्वदेश ले जाते थे। भारतीय विद्वान् भी उक्त देशों से निमंत्रित होकर वहाँ जाते और ज्ञान का विस्तार करते थे। नालन्दा का विशाल पुस्तकालय धर्मगंज स्थान में था और 'रत्नसागर', 'रत्नोदधि' तथा 'रत्नरंजक' नामक तीन विभागों में बँटा हुआ था। १२वीं शताब्दी में बंगाल के शासकों का ध्यान विक्रमशिला विद्यालय की ओर अधिक आकृष्ट हुआ, तब से नालन्दा विश्व-विद्यालय की गति मन्द हुई। शीघ्र ही इसी शताब्दी के अन्त में मुसलमानों द्वारा उसकी इतिश्री हो गई।

(१०) **विक्रमशिला**—यह नगर बिहार प्रान्त के भागलपुर से २० मील पूर्व पथरघाट पहाड़ी पर बसा हुआ था। आठवीं शताब्दी में प्रसिद्ध पाल नरेश धर्मपाल ने इसमें बौद्ध शिक्षालय की स्थापना की थी। इसके लिए उसने १०८ मन्दिर तथा अनेक बड़े व्याख्यानालय बनवाए थे। विभिन्न शास्त्रों के शिक्षण के लिए १०८ शिक्षक नियुक्त थे।

लगातार चार शताब्दियों तक विक्रमशिला और तिब्बत में ज्ञान-सम्पर्क बना रहा। तिब्बती साहित्य से ज्ञात होता है कि विक्रमशिला के विद्वान् ज्ञानपाद, विरोचन, रक्षित, रत्नाकर, रत्नवज्र तथा दीपंकर श्रीज्ञान आदि ने तिब्बत

जाकर वहाँ बौद्ध साहित्य के प्रचार का श्लाघ्य प्रयत्न किया। अन्तिम विद्वान् दीपंकर श्रीज्ञान (९८२–१०५४ ई०) विक्रमशिला महाविद्यालय के 'महापंडित' थे। तिब्बत के राजभिक्षु ज्ञानप्रभ के निमंत्रणों से बाध्य होकर वे तिब्बत गए। उन्होंने जीवन का अन्तिम काल कठोर परिश्रम से धार्मिक सुधार और ग्रंथानुवाद के कार्यों में बिताया। इनके लिखित, अनुवादित और संशोधित ग्रंथों की संख्या सैकड़ों है।

बारहवीं शताब्दी में विक्रमशिला के शिक्षालय में तीन सहस्र विद्यार्थी अध्ययन करते थे। यहाँ अनेक अमूल्य ग्रंथों से सम्पन्न विशाल पुस्तकालय था। इसकी प्रशंसा उसके नष्टकर्ता मुसलमानों ने भी जी खोलकर की थी।

पाल शासकों ने विद्यालय के प्रबन्ध के लिए एक कमेटी बना दी थी, जो शिक्षा की व्यवस्था तथा शिक्षकों और विद्यार्थियों के लिए सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रबन्ध करती थी। विक्रमशिला के विद्यापीठ में प्रवेश पा जाना आसान काम नहीं था। प्रवेशार्थियों को पहले 'द्वार-पंडितों' के प्रश्नों का उचित उत्तर देकर प्रवेश-परीक्षा में सफल होने का प्रमाण-पत्र लेना पड़ता था। तभी वे इस विद्यालय में अध्ययन करने के उपयुक्त समझे जाते थे। कनक राजा के राजत्वकाल में आचार्य रत्नाकर शान्ति, काशी के वागीश्वर कीर्ति, नरोप, प्रज्ञाकरमति, काश्मीर के रत्नव्रज तथा गौड़ के ज्ञानश्री द्वार-पंडित थे।

इस महाविद्यालय में व्याकरण, न्याय और तत्त्वज्ञान का विशेषरूप से अध्ययन-अध्यापन होता था। इस शिक्षालय को उन्नत बनाने में बंगाल के शासकों का बड़ा हाथ था। वे अपने यहाँ के श्रेष्ठ स्नातकों को विशिष्ट उपाधियाँ प्रदान कर सत्कृत करते थे। जेतारि नामक विद्वान् को सम्राट् महीपाल तथा रत्नबाहु को कनक नरेश ने उपाधियों के द्वारा मंडित किया था। दिग्गज विद्वानों की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनके चित्र शिक्षालय में रक्खे जाते थे। नागार्जुन, दीपंकर श्रीज्ञान आदि विद्वानों के तैल-चित्र विद्यालय की भित्तियों को शोभित करते थे।

१२०३ ई० में बख्तियार खिलजी ने इस महान् विद्यालय को, जहाँ से सरस्वती के उपासक शताब्दियों से ज्ञान-ज्योति का प्रसार कर रहे थे, नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। राजनीति-सम्बन्धी प्रपंचों से कोसों दूर भिक्षु और विद्यार्थी तलवार के घाट उतार दिए गए। भारत के इतिहास में यह बहुत बड़ी हृदयविदारक घटना है।

(११) **वलभी**—यह नगरी काठियावाड़ में वल नाम से अब भी प्रसिद्ध है और आजकल उस प्रान्त के व्यापारिक केन्द्रों में से है। यहाँ ४८० ई० से ७८० ई० तक मैत्रकों की राजधानी थी। ये राजा शैव थे, परन्तु बौद्ध धर्म पर भी श्रद्धा रखते थे। धर्म, कला-कौशल और विद्या में इन शासकों की बड़ी आस्था थी और इनकी उन्नति के लिए उन्होंने अपनी धन-धान्य सम्पन्न नगरी वलभी में सभी प्रयत्न किए। भटार्क, ध्रुवसेन प्रथम और द्वितीय तथा धरसेन चतुर्थ के समय बलभी के विद्यापीठ की बड़ी उन्नति हुई।

ह्वेन्सांग के वर्णन से ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में वलभी में कई सौ करोड़पति व्यक्ति थे और यह नगरी विदेशों से बहुमूल्य वस्तुओं के आयात-निर्यात का केन्द्र थी। उस समय वहाँ लगभग सौ संघाराम थे, जिनमें छह सहस्र साधु निवास करते थे। कई सौ देव-मन्दिर भी थे जिनमें विरोधी सम्प्रदायों के लोग रहते थे (वाटर्स-युवानच्वांग, २, पृ० २४६)। बलभी में व्याकरण, तर्क और न्याय की उच्च शिक्षा के साथ सूत कातने-बुनने, व्यापारिक शिक्षा तथा अर्थशास्त्र के अन्य विविध अंगों की उच्च शिक्षा का अच्छा प्रबन्ध था। वणिक लोग दूर दूर से आकर अपने व्यवसाय की शिक्षा यहाँ प्राप्त करते थे। कथासरित्सागर (३२, ४२) से ज्ञात होता है कि अन्तर्वेदी से वसुदत्त का पुत्र विष्णुदत्त उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वलभी आया था।

मध्यकाल के उत्तरार्ध (९००-१२०० ई०) में वलभी और नालन्दा के विद्यालयों की इतनी ख्याति हो गई थी कि यहाँ के स्नातकों को राजदरबारों में विशेष सम्मान मिलता था (इत्सिंग, पृ० १७७)। धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में निपुण होने के कारण इन्हीं स्नातकों को सर्वप्रथम राज्य के शासन-सम्बन्धी उच्च पदों पर नियुक्ति प्रदान की जाती थी।

बौद्ध शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् गुणमति और स्थिरमति वलभी के विश्व-विद्यालय में ही प्रधानाध्यापक थे (इंडि० ऐंटि० भाग ६, पृ० ११)। ह्वेन्सांग ने भी इनका उल्लेख किया है। इत्सिंग के वर्णन से ज्ञात होता है कि भारत के प्रायः सभी भागों से आकर शिक्षार्थी कई वर्ष वलभी के विद्यालय में रहते थे और वहाँ के महामहोपाध्याय से अपनी शंकाओं का समाधान करवाते थे। वलभी के शासक तथा धनाढ्य निवासी अपनी पुरी के महा-विद्यालय की उन्नति के लिए मुक्त-हस्त होकर दान देते थे। शासकवर्ग तथा जनता का यह सम्मिलित उद्योग शताब्दियों तक चलता रहा, जिसके परिणाम-स्वरूप वलभी के विद्यापीठ में ज्ञान की ज्योति मैत्रक राज्य के अन्त होने पर भी बहुत काल तक प्रज्वलित रही।

(१२) **उज्जयिनी**—उज्जयिनी (आधुनिक उज्जैन) प्राचीन अवन्ति प्रदेश की राजधानी थी। इस नगरी की गणना भारत की सप्त-महापुरियों में है। काशी तथा मथुरा की तरह उज्जयिनी भी पुरातन काल से भारतीय संस्कृति का केन्द्र रही है। प्राचीन साहित्य में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। मौर्यकाल में मालव प्रदेश में सुराष्ट्र, लाट, मालवा, कच्छ, सिन्ध और उत्तरी कोंकण सम्मिलित थे। इस प्रदेश की राजधानी उज्जयिनी थी। मौर्यों के बाद गन्धर्वसेन (गर्दभिल्ल) के वंश ने मालव पर राज्य किया। फिर शकों का कुछ काल के लिए शासन हुआ। विक्रमादित्य ने शकों को परास्त कर उज्जयिनी पर पुनः हिन्दू-सत्ता स्थापित की। लगभग ७५ ई० से फिर शकों का प्राबल्य हुआ और उनका अधिकार मालव- प्रदेश में प्रायः तीन शताब्दियों तक रहा। चौथी शताब्दी के अन्त में गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने शकों का मूलोच्छेदन कर मालव प्रान्त को विदेशी शासन से मुक्त कर दिया। इस समय से उज्जयिनी के विद्यालय की आशाजनक उन्नति हुई।

सम्राट् अशोक तथा संवत्-प्रवर्तक विक्रमादित्य के समय में उज्जयिनी के विद्यापीठ ने अधिक ख्याति प्राप्त की होगी। सातवाहन वंश की भी सत्ता कुछ समय के लिए उज्जयिनी और उसके आसपास थी। इन शासकों के समय में प्राकृत की अधिक उन्नति थी। गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्राकृत के स्थान में संस्कृत को प्राधान्य दिया। कई शताब्दियों तक उज्जयिनी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन तीनों धर्मों की शिक्षा का केन्द्र रही। ज्योतिष के विभिन्न अंगों की शिक्षा उज्जयिनी के विश्व-विद्यालय में सर्वोत्कृष्ट थी। गुप्त काल में संस्कृत काव्य तथा नाटयशास्त्र की उच्च शिक्षा का केन्द्र भी यहाँ था। भवभूति के नाटक कालप्रियनाथ या महाकाल के मन्दिर के सामने खेले जाते थे। कालिदास, भवभूति, भारवि तथा भर्तृहरि आदि प्रख्यात कवि और दार्शनिक उज्जयिनी में बहुत काल पर्यन्त रहे।

श्रीकृष्ण के गुरु सांदीपनि मुनि का आश्रम उज्जयिनी में ही था। पुराणों के वर्णनों से ज्ञात होता है कि कृष्ण और सुदामा यहाँ के दामोदरकुण्ड में अपनी पट्टियाँ धोते थे।

उज्जयिनी से कुछ दूर स्थित साँची में ई० पू० तृतीय शताब्दी से कला की शिक्षा का केन्द्र था। सम्राट् अशोक के पहले यहाँ लकड़ी और हाथीदाँत पर कारीगरी का काम विशेष रूप से होता था। परन्तु अशोक ने पत्थर पर शिल्प का काम कराना आरंभ किया। मध्यभारत में भरहुत के कलाकारों ने भी अपने कौशल का परिचय पाषाण पर ही दिया। साँची तथा भरहुत स्तूपों की अवशिष्ट वस्तुएँ भारत की ही नहीं संसार की उत्कृष्ट कारीगरी में अपना स्थान रखती हैं। उज्जयिनी के विद्यालय में इस उन्नत कला के शिक्षण की अवश्य कुछ व्यवस्था रही होगी।

(१३) **धान्यकटक**—यह स्थान मद्रास प्रान्त में गुंतूर से २० मील की दूरी पर स्थित है। अमरावती का प्रसिद्ध स्तूप यहीं पर बना था। धान्यकटक का अन्य नाम धरणीकोट भी मिलता है। इस नगर का इतिहास २५० ई० पू० से मिलता है, जबकि यह आंध्रों की पूर्वी राजधानी था। सम्राट् अशोक का भेजा हुआ महादेव धान्यकटक आया था और उसने वहाँ बौद्ध धर्म का प्रचार किया था। तब से यह स्थान दक्षिणी भारत के प्रमुख बौद्ध केन्द्रों में हो गया। बौद्धों का प्रसिद्ध महासंघिक स्कूल यहीं पर था। आंध्रनरेश हाल के समय में यहाँ प्राकृत का प्राधान्य हुआ और शिक्षालय की विशेष उन्नति हुई, जैसा काव्यमीमांसा (१, १०) आदि से प्रकट होता है। 'लीलावती कथा' से ज्ञात होता है कि प्रसिद्ध विद्वान् नागार्जुन ने समीपस्थ श्रीपर्वत में मठ स्थापित किया था जिसका वह प्रधान शिक्षक था। इसी पुस्तक से विदित होता है

कि नागार्जुन कुछ काल के लिए हाल का मंत्री रहा और उसने शून्यवाद का प्रचार धान्यकटक में किया। नागार्जुन के बाद मैत्रेयनाथ ने यहाँ योगाचार की शिक्षा को बढ़ाया। यहाँ के अन्य विद्वानों में बुधरक्षित तथा आर्यदेव उल्लेखनीय हैं। कालान्तर में धान्यकटक का विद्यापीठ महासंघिक स्कूल की अनेक शाखाओं—गोकुलिक, एकव्यवहारिक, प्रज्ञाप्तिवाद, लोकोत्तरवाद आदि—के शिक्षण का केन्द्र बना। यह बात आंध्रों और उनके सामन्तों के अनेक अभिलेखों से सिद्ध होती है। वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावी के समय में धान्यकटक को सातवाहन साम्राज्य की प्रधान राजधानी होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके समय में शिक्षालय की विशेष उन्नति हुई होगी।

ह्वेन्सांग के समय में धान्यकटक में २० संघाराम थे। जिनमें एक सहस्र भिक्षु निवास करते थे और सभी महासंघिक स्कूल के अनुयायी थे। इस चीनी यात्री ने यहाँ के शिक्षालय में रहकर अभिधम्म सीखा था। 'मंजुश्री-मूलकल्प' (अ० १, पृ० ८८) में धान्यकटक के चैत्य और विद्यालय की प्रशंसा है। बौद्ध धर्म की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए पाटलिपुत्र तक से भिक्षु यहाँ आते थे। तिब्बत के विद्वान् तारानाथ ने भी यहाँ के विद्यालय का महत्त्व स्वीकार किया है। आठवीं शताब्दी से दक्षिण भारत में ब्राह्मण धर्म ने पुनः जोर पकड़ा। अप्पार, शंकर तथा उदयनाचार्य आदि विद्वानों ने बौद्ध धर्म की गति को मन्द कर दिया। इस समय से धान्यकटक के विद्यालय में भी परिवर्तन हुए होंगे।

ई० द्वितीय शताब्दी में धान्यकटक में अमरावती का प्रख्यात बौद्ध स्तूप बना। कुछ समय बाद नागार्जुनीकोंड और जगय्यपेट्ट में भी विशाल स्तूप बने। इन स्तूपों से प्राप्त अनेक कलाकृतियाँ भारतीय मूर्तिकला के उत्कृष्ट उदाहरणों में से हैं। जिस प्रकार उत्तर भारत में मथुरा में कला की शिक्षा का केन्द्र था उसी प्रकार दक्षिण में धान्यकटक में अवश्य रहा होगा। चित्रकला की उच्च शिक्षा का भी प्रबन्ध धान्यकटक के शिक्षालय में रहा होगा। जान पड़ता है कि अजन्ता के अवर्णनीय, भव्य भित्ति-चित्रों की रचना में समीपस्थ धान्यकटक विद्यालय के कलाविद् स्नातकों का ही विशेष हाथ था।

(१४) **कांची**—यह नगरी मद्रास से ४३ मील दक्षिण-पश्चिम स्थित है। इसकी गणना भारत की सप्तमहापुरियों में है। उत्तर-भारत में काशी की तरह दक्षिण में कांची बहुत पवित्र नगरी मानी गई है। इसका उल्लेख पतंजलि ने अपने महाभाष्य (अष्टा० ५।२।२ पर टीका) में भी किया है। महाभारत (भीष्म प० अ० ९) में कांची का नाम कांजीवरं दिया है। इस नगरी का पूर्वी भाग विष्णुकांची तथा पश्चिमी भाग शिवकांची के नाम से विख्यात है। कांचीपुरी दीर्घकाल तक वैदिक तथा स्मार्त धर्मों का केन्द्र रही। भगवान् बुद्ध ने भी यहाँ बहुत समय निवास किया था और अशोक ने अनेक स्मारक बनवाए थे, यह ह्वेन्साग के वर्णन से ज्ञात होता है। इस यात्री ने कांची के निवासियों के विषय में लिखा है कि वे सचाई और ईमानदारी को बहुत पसन्द करते हैं और उनमें विद्या की बड़ी प्रतिष्ठा है। उनकी भाषा और अक्षर मध्य भारतवालों से कुछ भिन्न हैं। ह्वेन्सांग के वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि सातवीं शताब्दी में कांची में कई सौ संघाराम थे, जिनमें दस सहस्र साधु थे जो सभी स्थविर संस्था के महायान सम्प्रदायी थे। वहाँ ८० देवमन्दिर भी थे, तथा असंख्य विरोधी थे, जो निग्रंथी कहलाते थे।

चीनी यात्री के उपर्युक्त वर्णन से प्रकट होता है कि सातवीं शताब्दी तक कांची का विश्वविद्यालय बहुत उन्नत हो गया था और उसमें सभी प्रचलित धर्मों की शिक्षा का प्रबन्ध था। परन्तु मध्यकाल (६००-१२०० ई०) में कांची विद्यापीठ ने इससे भी अधिक उन्नति की। इस काल में वहाँ दर्शनशास्त्र, विशेषतः वेदान्त के अध्ययन, अध्यापन और तत्सम्बन्धी शास्त्रार्थ का केन्द्र स्थापित हो गया। शंकराचार्य, कुमारिल, उदयनाचार्य, रामानुजाचार्य आदि प्रकाण्ड दार्शनिकों के सम्पर्क से कांची के विद्यालय ने बड़ी ख्याति पाई होगी। नवीं शताब्दी तक कांची विद्याप्रेमी पल्लवों की राजधानी रही। सिंहविष्णु, महेन्द्रवर्मन् तथा नरसिंहवर्मन् जैसे उदारचेता विद्वान् शासकों की संरक्षकता में कांची के शिक्षालय की आशाजनक उन्नति हुई। किरातार्जुनीय के लेखक महाकवि भारवि कुछ काल कांची में रहे थे। उनके पौत्र उद्भट विद्वान् दण्डी थे जो नरसिंहवर्मन् (६६०–६८५ ई०) के यहाँ प्रतिष्ठित राजकवि थे। पल्लवों के समय में संस्कृत साहित्य का बड़ा आदर हुआ। उन्होंने कांची विद्यापीठ में काव्य, नाट्यशास्त्र, छन्दशास्त्र आदि की उच्च शिक्षा का प्रबन्ध किया होगा।

पल्लवों के बाद कांची में चोड़ों का प्रभुत्व हुआ। ये शासक भी बड़े विद्या-व्यसनी तथा कलाप्रिय थे। राजराज, राजेन्द्र आदि नरेशों ने अवश्य ही अपने यहाँ के शताब्दियों से प्रसिद्ध विद्यालय की उन्नति में समुचित भाग लिया होगा।

शिक्षा के अन्य केन्द्र

(क) **वनों-उपवनों के आश्रम**—प्राचीन भारत में तत्त्वज्ञान तथा पारलौकिक चिन्तन की ओर ऐहिक चिन्तन की अपेक्षा अधिक प्रवृत्ति थी। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की व्यवस्था कर भारतीय ऋषि-मुनियों ने यह प्रयत्न किया था कि जीवन का अधिकांश भाग उच्च तत्त्वज्ञान के चिन्तन में व्यतीत हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए सांसारिक कोलाहल से दूर प्रकृति के क्रीड़ा-स्थल वन-उपवन चुने गए। इन स्थानों में ऋषि-मुनियों के आश्रमों की स्थापना हुई जो विद्या तथा धर्म के केन्द्र बने। ऋषि-मुनियों के कुमार-कुमारिओं के सहाध्ययन भी इन्हीं आश्रमों में होते थे। शुक्राचार्य के आश्रम में कच और देवयानी साथ साथ शिक्षा पाते थे। अन्त में दोनों प्रेम-पाश में भी बँध गए थे। आत्रेयी पहले वाल्मीकजी के आश्रम में लव-कुश के साथ अध्ययन करती थीं। फिर निगमांत विद्या की प्राप्ति के लिए अगस्त्य के आश्रम में गई थीं (उत्तर रामचरित, अंक २)। घोषा, लोपामुद्रा, गार्गी और काशकृत्स्नी आदि विदुषियाँ भी ऐसे ही आश्रम-शिक्षालयों की स्नातिकाएँ थीं। ऐसे आश्रमों में राजन्यवर्ग के लोग भी वेद-वेदान्त की उच्च शिक्षा प्राप्त करने आते थे। आरण्यकों और उपनिषदों का निर्माण इन्हीं आश्रमों में हुआ था। नैमिषारण्य नामक आश्रम में सौति ने कई सहस्र ऋषियों को पुराण और उपपुराण सुनाए थे। इन आश्रमों में निवास करनेवाले विभिन्न चरणों तथा शाखाओं के कुल अपनी सांगोपांग शिक्षा का व्यवस्थित प्रबन्ध रखते थे। इनमें अधिकांश की अपनी मुद्राएँ भी होती थीं। माध्यंदिनी, छांदोग्य आदि शाखाओं तथा वह्वृच नामक चरण की मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं।

(ख) **बौद्ध मठों के विद्यालय**—नालन्दा और विक्रमशिला आदि बौद्धों के महान् विश्वविद्यालय थे। इनके अतिरिक्त अगणित छोटे बौद्ध मठ भी शिक्षा के केन्द्र थे, जिनमें भिक्षु-भिक्षुणियाँ शिक्षा पाती थीं। बौद्ध धर्म के जटिल सात्त्विक अंगों को समझने के हेतु तथा त्रिपिटक और अन्य गम्भीर सूत्रों को अवगत करने के लिए संस्कृत तथा प्राकृत का यथेष्ट ज्ञान आवश्यक था। अन्य धर्म वालों से शास्त्रार्थ का लोहा लेने के लिए उनके धर्मों के भी तत्त्वज्ञान में प्रचुर गति अपेक्षित थी।

ह्वेन्सांग के भारत-भ्रमण के समय अनेक उन्नत बौद्ध मठ थे जिनमें पुस्तकालयों की तथा उच्च शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी। इस यात्री ने काश्मीर के जयेन्द्र मठ का उल्लेख किया है जहाँ वह पूरे दो वर्ष तक रहकर ज्ञान प्राप्त करता रहा। ह्वेन्सांग ने २० लेखकों को नियुक्त कर दो वर्षों के अनवरत परिश्रम से यहाँ के विशाल पुस्तकालय की अनेक उत्तम पुस्तकों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त कीं (बील—'लाइफ', पृ० ६९-७०)। इस यात्री के कथनानुसार इस मठ के शिक्षक नित्य कोष-शास्त्र, न्यायानुसार शास्त्र और हेतुविद्या पर व्याख्यान देते थे, जिनको सुनने के लिए प्रान्त भर के शिक्षित व्यक्ति एकत्र होते थे। कपिशा, उद्यान (पेशावर के उत्तर), जालंधर, स्रुघ्न (देहरादून के पास) हिरण्य (?), मतिपुर, श्रावस्ती और वैशाली आदि में भी ऐसे मठ थे जो शताब्दियों तक प्रख्यात शिक्षालय रहे। फाह्यान सुंगयुन, ह्वेन्सांग, इत्सिंग और अलबरूनी आदि यात्रियों ने इन मठों में से अनेक का उल्लेख अपने वर्णनों में किया है। बिहार और बंगाल में बौद्ध धर्म बारहवीं शताब्दी के अन्त तक रहा। साथ ही साथ मठों के विद्यालय भी इस समय तक चलते रहे। मुसलमानों के द्वारा उक्त प्रदेशों पर अधिकार कर लेने पर शीघ्र ही इन विद्यालयों की भी इतिश्री हो गई।

(ग) **ब्राह्मणों के शिक्षा-मन्दिर**—बौद्ध मठों के समान ब्राह्मणों के मन्दिर भी शिक्षा के केन्द्र थे। हिन्दू संस्कृति की यह विशेषता है कि इसका प्रत्येक अंग धर्म से अनुप्राणित है। शिक्षा का क्षेत्र भी धर्म से अछूता नहीं बचा। वाग्देवी की आराधना के लिए देवालय का पवित्र प्रांगण बहुत उपयुक्त समझा गया। ई० पाँचवीं शताब्दी के पहले हिन्दू मन्दिरों की शिक्षा-प्रणाली के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं है। परन्तु इसके बाद से चौदहवीं शताब्दी के अन्त तक इन शिक्षा-मन्दिरों के विषय में बहुत कुछ ज्ञात है।



उत्तर भारत में कई विश्व-विद्यालय होने के कारण वहाँ अन्य विद्यालयों की अधिक आवश्यकता न थी। परन्तु दक्षिण भारत में अन्य शिक्षालय अपेक्षित थे। दक्षिण के जिन शिक्षा-मन्दिरों के विशेष वृत्तान्त मिलते हैं उनमें से सालोतगी (जिला बीजापुर), एनायिरं (दक्षिण अर्काट), तिरुवोरिपुर (जिला चिंगलीपट, मद्रास), मलकपुरं (गुंटूर), हिब्बाल (जिला धारवार), दक्षिणेश्वर (बेलगाँव) और रामेश्वर (जिला चित्तलदुर्ग) के शिक्षा-मन्दिर मुख्य हैं।

इन शिक्षालयों का प्रबन्ध अभिलेखों में प्राप्त उल्लेखानुसार बड़ा सुव्यवस्थित था। ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं का शिक्षण अधिकारी शिक्षकों के द्वारा होता था। जनता मुक्तहस्त से इन विद्यालयों के लिए भूमि, धन, वस्त्र और अन्न का दान देती थी। दानदाताओं के नाम दक्षिण के अनेक मन्दिरों में उत्कीर्ण हुए मिलते हैं। इस दान से शिक्षार्थियों तथा शिक्षकों का भरण-पोषण होने के साथ साथ वेद-वेदांग, षड्दर्शन आदि में उच्चकोटि की शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता था। इन मन्दिरों के पुस्तकालय होते थे जो 'सरस्वती-भवन' कहे गए हैं। इन शिक्षालयों को सुव्यवस्थित रखने से उचित सहायता मिलती थी। अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक सम्पूर्ण भारत में ऐसे विद्या-मन्दिर थोड़े बहुत अंशों में के लिए राष्ट्र वर्तमान थे, और काशी जैसे स्थानों में अब भी इस श्रेणी के मन्दिर अवशिष्ट हैं।*

(घ) **जैनों के शिक्षा केन्द्र**—बौद्धों तथा ब्राह्मणों ने जिस प्रकार मठों और मन्दिरों को सरस्वती-सदन बनाने में अथक प्रयत्न किया उसी प्रकार जैनों ने भी अपने मन्दिरों में शिक्षालय स्थापित किए। मध्यकाल में जैनियों के विशाल मन्दिर बने, जैन धर्म को राष्ट्रकूटों तथा चालुक्यों जैसे प्रतापी वंशों की संरक्षकता प्राप्त हुई। हेमचन्द्राचार्य तथा उनके शिष्यों ने गुजरात और दक्षिणापथ में अनेक शिक्षा-केन्द्र स्थापित किए। चालुक्य कुमारपाल ने जैन धर्म और संस्कृति के प्रसार के लिए बड़ा प्रयत्न किया। मध्यकाल में विशाल पुस्तक भंडार जैन मन्दिरों में एकत्र किए गए। ये पुस्तकालय 'भंडार' नाम से ही अभिहित होते थे। ऐसे अनेक अमूल्य भंडार प्राचीन जैन मन्दिरों से उपलब्ध हुए हैं। प्राचीनकाल में इन मन्दिरों का अधिकांश धन निर्धन विद्यार्थियों के शिक्षा-व्यय तथा भंडारों को समृद्ध बनाने में लगाया जाता था।

(ङ) **अग्रहार ग्राम**—राष्ट्र की ओर से विद्वान् सच्चरित्र ब्राह्मणों को दान में गाँव दिए जाते थे। मध्यकाल के ताम्रपत्रों में ऐसे ग्राम की संज्ञा 'अग्रहार' दी है। इस ग्राम को दान में प्राप्त करनेवाले एक या अनेक ब्राह्मणों का कर्त्तव्य था कि उस ग्राम में शिक्षण का कार्य करें। इस प्रकार ये अग्रहार ग्राम शिक्षा के छोटे केन्द्र हो जाते थे, जिनमें विद्वान् शिक्षक प्रारंभिक व्याकरण और साहित्य तथा वेद, पुराण, न्याय, ज्योतिष आदि की शिक्षा देते थे। ये ग्राम-शिक्षालय वर्तमान काल की ग्राम-पाठशालाओं की तरह थोड़ी थोड़ी दूर पर रहते थे, जिनमें विशेषतः छोटे बालक और बालिकाएँ शिक्षा पाती थीं तथा कुछ अंशों में वयस्कों को भी ऊँची शिक्षा प्रदान की जाती थी।

उपसंहार—ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से प्राचीन भारत में शिक्षा की दशा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। भारत के प्राचीन शिक्षालय आजकल के पाश्चात्य ढंग पर चलनेवाले कॉलेजों और स्कूलों से बहुत बातों में भिन्नता रखते थे। पर यह मानना पड़ेगा कि आजकल के आवागमन सम्बन्धी तथा कतिपय अन्य वैज्ञानिक साधनों के अभाव में भी प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था वर्तमानकाल से कहीं अधिक सुगम और सुव्यवस्थित थी। धनहीन माता-पिता को अपनी सन्तान की शिक्षा के लिए चिन्तित होने की आवश्यकता न थी, क्योंकि निर्धन विद्यार्थियों को निःशुल्क तथा अन्न-धनादि से सहायता कर विद्यादान करना जनता तथा राष्ट्र अपना परम धार्मिक कर्तव्य समझते थे। उच्च शिक्षा के लिए अनेक विश्व-विद्यालय खुले थे जिनमें ऐहिक और पारलौकिक ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा की व्यवस्था थी। इन विद्यालयों के द्वारा न केवल

* **भारत में प्राचीन शिक्षा-मन्दिरों के सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए देखिए: एपि० इंडि० भाग ४, पृ० ६०-४, ३५५; इंडि० एंटि० भाग १०, पृ० १२९ तथा डॉ० अल्तेकर कृत 'एज्युकेशन इन एंश्यण्ट इंडिया' (काशी, १९३४), अ० ८।**

प्राचीन ज्ञान की रक्षा और समयानुसार उसका संशोधन, परिवर्धन और प्रकाशन होता था, अपितु उनमें विद्यार्थियों को सुदृढ़ और सच्चरित्र बनाकर उन्हें वास्तविक मनुष्य बनाया जाता था। प्रायः सभी विदेशी यात्रियों ने भारतीयों के विद्या-प्रेम तथा उनकी शिक्षा-प्रणाली की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

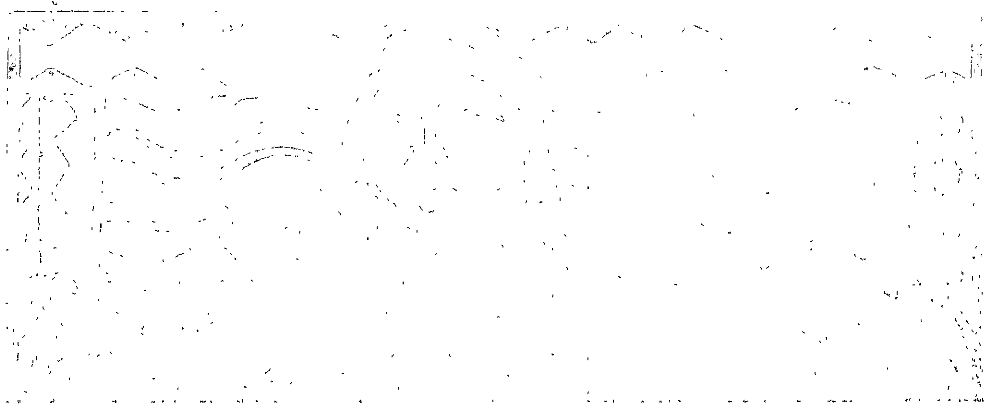
उपनयन संस्कार को आवश्यक बनाकर, ब्रह्मचर्य आश्रम का पालन अनिवार्य कर, शिक्षालयों को सुव्यवस्थित कर तथा स्नातकों के प्रति उचित सम्मान प्रदर्शित कर भारतीय राष्ट्र तथा जनता ने विद्यार्थी-जीवन को बड़ा महत्त्व प्रदान किया। भारत में लगभग आठवीं शताब्दी के अन्त तक जाति-प्रथा कठोर बन्धनों से मुक्त थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों को वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त शस्त्रास्त्रविद्या, व्यापारिक शिक्षा तथा वार्ताशास्त्र के विविध अंगों को सीखने की पूर्ण स्वतंत्रता थी। वैदिक काल से लेकर आठवीं शताब्दी पर्यन्त भारतीय शिक्षा का क्षेत्र बड़ा व्यापक रहा। इस काल में शूद्रों को केवल वेदाध्ययन का अधिकार नहीं था, अन्य सभी शिक्षाएँ वे द्विजों के समान ही प्राप्त कर सकते थे। आठवीं शताब्दी से जाति-प्रथा में जटिलता आने लगी थी। तो भी कम से कम बारहवीं शताब्दी के अन्त तक भारतीय शिक्षा-क्षेत्र में उतनी चिन्ताजनक संकीर्णता नहीं आ पाई जितना कि उस समय के बाद दृष्टिगोचर हुई।

प्राचीन भारत में पुरुषों की शिक्षा के साथ ही स्त्री-शिक्षा पर भी पूरा ध्यान दिया जाता था। वैदिक काल से लेकर लगभग ५०० ई० तक स्त्री-शिक्षा की दशा बड़ी सन्तोषजनक रही। इस दीर्घकाल में बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार आवश्यक माना जाता था, जिसके कारण ब्रह्मचर्य ग्रहण करके उन्हें अध्ययन करना अनिवार्य था। यज्ञों में पत्नी का साथ रहना अत्यन्त आवश्यक समझा जाता था। अपत्नीक पुरुष धार्मिक कृत्यों के अयोग्य था ('अयज्ञियो वा एषयोऽपत्नीकः'—शतपथ ५, १, ६, १०)। शिक्षा-केन्द्रों में विदुषी स्त्रियाँ शिक्षण का कार्य करती थीं। उन्हें 'उपाध्यायिनी' और 'उपाध्याया' कहा गया है। जीवन पर्यन्त अविवाहित रहकर ब्रह्म-विद्या का अभ्यास और अध्यापन करनेवाली विदुषियाँ ब्रह्मवादिनी कही गई हैं।*

वेद, वेदांग तथा षड्दर्शन आदि के साथ साथ स्त्री-शिक्षा में नृत्य, गीत, वाद्यादि ललित कलाएँ भी सम्मिलित थीं। भरत के नाट्यशास्त्र तथा वात्स्यायन-रचित कामसूत्र से विदित होता है कि संभ्रान्त कुलों की कन्याएँ तथा विवाहित स्त्रियाँ विविध प्रकार की चौंसठ कलाओं में दक्ष होती थीं। कुछ महिलाएँ आयुर्वेद में भी पारंगत होती थीं, विशेषतः प्रसूति-विज्ञान में। रसा नामक भारतीय विदुषी के द्वारा लिखे हुए प्रसूतिशास्त्र का अनुवाद आठवीं शताब्दी में अरबी भाषा में हुआ था। शासक वर्ग के कुलों की स्त्रियाँ राजनीति तथा सामरिक शिक्षा का भी अभ्यास करती थीं। इनके लिए शिक्षा का पृथक् प्रबन्ध रहता था। घर में शिक्षकों और शिक्षिकाओं को नियुक्त कर भी इन शास्त्रों का अभ्यास कराया जाता था। कैकेयी, कुन्ती, द्रौपदी आदि के अतिरिक्त नयनिका (प्रथम शताब्दी ई० पू०), प्रभावती गुप्ता (५वीं शताब्दी), विजयभट्टारिका (७वीं शताब्दी), राज्यश्री (७वीं शताब्दी), सुगंधा और दिद्दा (१०वीं शताब्दी) तथा अक्कादेवी (११वीं शताब्दी) के उदाहरण प्रत्यक्ष हैं। इन देवियों ने अपनी राजनीतिक कुशलता, वीरता तथा प्रबन्ध-पटुता के कारण विभिन्न राज्य शासनों का योग्यतापूर्वक परिचालन किया था।

ऊपर दिए हुए शिक्षा सम्बन्धी सिंहावलोकन से विदित होगा कि प्राचीन भारत में शिक्षा की व्यवस्था बड़े ही दृढ़ नियमों पर आधारित थी। शताब्दियों तक राष्ट्र और जनता ने मिलकर सारे देश को शिक्षित बनाकर उसे सुसंस्कृत करने का श्लाघ्य परिश्रम किया। ज्ञान-विज्ञान के सर्वतोमुखी प्रसार में प्राचीन भारतीय शिक्षा-विशारदों ने दीर्घकाल तक जो प्रयत्न किए वे आज भी अनुकरणीय हैं।

*** वैदिक काल में स्त्री-शिक्षा के विशद विवेचन के लिए देखिए मेरा लेख 'भारतीय समाज में नारी' (जनवरी १९४१ की 'माधुरी', पृ० ७७८-८४ में प्रकाशित)।**



विक्रम संवत्सर का अभिनन्दन

श्री वासुदेवशरण अग्रवाल

मैं संवत्सर हूँ, राष्ट्र के विक्रम की साक्षी, अतीत का मेरुदण्ड और भविष्य का कल्पवृक्ष। मुझसे राष्ट्र पोषित हुआ है और मैं राष्ट्र से विक्रमांकित हुआ हूँ। भारतीय महाप्रजाओं के मध्य में मैं महाकाल का वरद प्रतीक हूँ। मेरा और राष्ट्र का गौरव एक है। मेरे विक्रमशील यश की लिपि सब ओर अंकित है। गौरवशील शताब्दियाँ मेरी कीर्ति के जयस्तम्भ हैं। मैं सोते हुओं में जागनेवाला हूँ। मेरे जागरणशील स्पर्श से युग युग की निद्रा और तन्द्रा गत हो जाती है। महाकाल की जो शक्ति सृष्टि को आगे बढ़ाती है, वही मुझमें है। मेरे सशक्त बाहुओं में राष्ट्र प्रतिपालित हुआ है।

मैं चलनेवालों का सखा हूँ। मेरे संचरणशील रथ-चक्रों के साथ जो चल सका है वही जीवित है। मेरे अक्ष की धुरी कभी गरम नहीं होती। धीर अबाधित गति से मैं आगे बढ़ता हूँ। पृथ्वी और द्युलोक के गंभीर प्रदेश में मेरी विद्युत् तरंगे व्याप्त हैं। उनसे जिनके मानस संचालित हैं उनकी निशा बीत जाती है।

मैं प्रजापति हूँ। प्रजाओं के जीवन से मैं जीवित रहता हूँ। प्रजाएँ जब वृद्धिशील होती हैं तब मैं सहस्र नेत्रों से हर्षित होता हूँ। मैं आयुष्मान् हूँ। प्रजाओं का आयुसूत्र मुझसे है। मैं प्रजाओं से आयुष्मान् और प्रजाएँ मुझसे आयुष्मान् होती हैं। उनके जिस कर्म में आयु का भाग है वही अमर है। प्रत्येक पीढ़ी में प्रजाएँ आयु का उपभोग करती चलती हैं, परन्तु वे समष्टि रूप में अमर हैं क्योंकि उनके प्रांगण में सूर्य नित्य अमृत की वर्षा करता है। सूर्य अहोरात्र के द्वारा मेरे ही स्वरूप का उद्घाटन करता है। मैं और सूर्य एक हैं। मेरे एक रस रूप में संवत् और तिथियों के अंक दिव्य अलंकारों के समान हैं। उनकी शोभा को धारण करके मैं गौरवान्वित होता हूँ।

... ...

मेरे विक्रमांकित स्वरूप के स्मरण और अभिनन्दन का यही उपयुक्त अवसर है। मेरे अभिनन्दन से प्रजा स्वस्तिमती हो, यह मेरा आशीर्वाद है। (ना० प्र० प०)



सहज और शून्य

श्री क्षितिमोहन सेन

धर्म की साधना में सहज का महत्त्वपूर्ण स्थान है, क्योंकि साधना के सहज (स्वाभाविक) होने की अपेक्षा और कौनसा बड़ा लक्ष्य हो सकता है ? रामानन्द, कबीर, नानक प्रभृति सभी ने साधना के सहज होने की इच्छा की है। तब दुर्भाग्य क्रम से मनुष्य ने अपने निर्मल पवित्र मानव धर्म को भूलकर, अपने को पशुधर्मी समझकर उस सहजभाव को ही मन में सहज की कल्पना की है। विशेषकर बंगाल में यह दुर्गति घटी है। स्वभावतः ही इस देश में "सहज" और "सहजिया" कहने से सब का मन विमुख हो उठता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि सिर्फ प्रयोग एवं व्यवहार के दोष से इतना बड़ा एक सत्य हमारी धर्म-साधना से निर्वासित हो गया है। साधना के लिए इतनी बड़ी क्षति असहनीय है। जैसे भी हो, यह भ्रान्ति दूर होनी चाहिए अवश्य !

सहज कहने से कोई इन्द्रियोपभोग की धारा में अपने को अबाध गति से छोड़ देना समझते हैं, अथवा निश्चेष्ट भाव से अपने को कोई एक धारा में बहा देना समझते हैं। यह घोर तामसिकता है। सत्वगुण के द्वारा दिव्य होना होगा और उससे सर्वांश जीवन को दिव्य करना होगा। जीवन का अल्प अंश ही हम लोग जानते हैं अधिकांश अजान ही हैं।

किन्तु जब तक हम लोग कामना-वासना के पाशविक जगत में हैं तब तक यह दुहाई देने से नहीं चलेगा। उतना ही दिन भीतर और बाहर से अपने को ले चलना होगा। आत्म-कल्याण एवं सर्व कल्याण के द्वारा अपने को नियमित करना होगा। जब इस कामना का पाश्विक बन्धन मिट जायगा, जब जीव शिवभावापन्न होगा, उसी समय अपने को उस विश्व चराचर व्यापी भागवत सहज धारा में छोड़ देने से काम चल सकता है। काठ को धारा में बहता हुआ देखकर यदि लोहा लघु न होकर भी जल में अपने को बहाए तब उसका नाम आत्मघात नहीं तो और क्या ?

उस सहज अवस्था में पहुँच जाने पर साधना सिर्फ धर्म-कर्म एवं आचार और अनुष्ठान में बद्ध नहीं रह जाती है, उस समय सांसारिक जीवन-यात्रा से होकर ही एकबारगी साधना-क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए। उस समय हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से निरन्तर सहज साधना चलेगी। उस समय उसके लिए कहीं भी खींचातानी नहीं रह जाएगी। साधना के लिए हमें अपनी जीवनयात्रा को ही सहज करनी होगी। जीवनयात्रा के सहज हो जाने पर बनावटी रूप में रोककर, संचित कर धर रखने में कुछ भी नहीं चलेगा, मिथ्या भी नहीं झूठा भी नहीं ? जो कुछ आये उसे सब को वितरण कर एवं स्वयं संभोगकर अग्रसर होना होगा। पूर्ण नदी के प्रवाह की तरह पाई हुई सम्पत्ति को व्यवहार करना होगा। कारण, धारा की तरह जो आती जाती है, वही माया है।

"रोक न राखै झूठ न भाखै, दादू खरचै खाय। नदी पूर परवाह ज्यों माया आवै जाय ॥" (माया अंग, १०५)

माया का धर्म ही निरन्तर आना-जाना हुआ। आने पर माया का कोई दोष नहीं। उसे स्थाई नित्य वस्तु समझकर धरते रखने जाने पर ही वह झूठी हो जाती है। उसे संचित न कर व्यवहार में लाना चाहिए। तभी उसमें कोई दोष नहीं दीख पड़ेगा। दोष उसीका, जो लोभवश उसे संचित करने जाता है।

मनुष्य के संग व्यवहार में भी इस सहज की ही साधना करनी होगी। "किसी के संग वादविवाद करने की आवश्यकता नहीं, संसार में रहकर भी निर्लिप्त होकर रहना चाहिए। अपने आपमें ही आत्म-विचार कर सहज के बीच स्वभाव से समदृष्टि साधना कर रहना चाहिए।"

वाद विवाद काहू सौं नाहीं, माँहि जगत थैं न्यारा। समदृष्टि सुभाइ सहज में आपहि आप बिचारा ।। (राग गौड़ी, शब्द ६६)

इस समदृष्टि के नहीं होने पर व्यर्थ का वादविवाद भी मिटता नहीं, निर्लिप्त होकर चलता नहीं। आत्मा में एक्य-बोध की उपलब्धि होने पर ही संसार में समदृष्टि घटती है। पहले अन्तर में एक की उपलब्धि करनी चाहिए। बाद में विश्वमय एक्य-बोध एवं समदृष्टि। अन्तर में ही सहज स्वरूप है। उस अनुपम तात्विक सौन्दर्य को देखकर मन मुग्ध हो जाता है। तभी दादू कहते हैं, "अन्तर की आँखों से अन्तर में ही हमेशा उस सहज स्वरूप को देख रहा हूँ। देखते जाने पर ही मन मुग्ध हो गया। अनुपम है वह तत्व। उस स्थान में भगवान् वास करते हैं, वहाँ सेवक और स्वामी एक साथ ही विराजिते हैं। अन्तर में ही भयरहित उस सुन्दर धाम को देख चुका, वहाँ सेवक और स्वामी योगयुक्त हैं। अनेक यत्न कर मैंने वहाँ अन्तर्यामी को पाया।"

"सेवक स्वामी संगि रहैं, बैठे भगवाना ।।
मधि नैंन निरखौं सदा सो सहज स्वरूप।
निर्भै स्थान सुहात सो तहँ सेवक स्वामी ।।
देखत ही मन मोहिया, है सो तत्व अनूप ।।
अनेक जतन करि पाइया मैं अन्तर जामी ।। (राग रामकली, शब्द २०५)

इस उपलब्धि को पाने के लिए सिर्फ प्रेम की एकान्त्रिकता चाहिए। यहाँ बाह्य क्रिया-कर्म, साधना-सिद्धि अथवा उपाय की कोई सार्थकता नहीं। दादू कहते हैं—"मेरे लिए तप भी नहीं इन्द्रिय-निग्रह भी नहीं, तीर्थ पर्य्यटन भी नहीं। देवालय पूजा ये सब भी नहीं, ध्यान-धारणा भी कुछ नहीं। योग-युक्ति भी नहीं, और न साधना ही। ये मैं सब कुछ नहीं जानता हूँ। दादू एक भगवान में लीन है। हे प्राण, उन्हीं से ही प्रत्यय करो। क्योंकि केवल एकमात्र हरि ही मेरा अवलम्बन है। वेही मेरे तारण-तरण हैं।"

"ना तप मेरे इन्द्री निग्रह ना कुछ तीरथ फिरनाँ। देवल पूजा मेरे नाहीं ध्यान कछु नहीं धरणाँ ।।
जोग जुगति कछू नहिं मेरे ना मैं साधन जानौं। दादू एक गलित गोविन्द सौं इहि विधि प्राण पतीजै ।।
हरि केवल एक अधारा। सोइ तारण तिरण हमारा।। (राग आसावरी, २१६ शब्द)

बाहरी क्रिया कर्म और अनुष्ठान से तो इसे पाने की बात नहीं कही जा सकती। तभी दादू कहते हैं—"घर में ही आश्रय मिला; सहज तत्त्व उसमें ही तो समाहित है। सद्गुरू ने उसका अनुसन्धान बता दिया।"

उसी अन्तर की साधना की ओर सभी लौटे। उन्होंने स्वयं अपने को दिखा दिया। महल का दरवाजा खोलकर उन्होंने ही स्थिर अचंचल स्थान को दिखा दिया।

इसे देखते ही, भय, भेद और समस्त भ्रम दूर भाग गए, मन उस सत्य में जाकर मिल गया। काया और स्थूल के अतीत धाम में जहाँ जीव जाता है, वहीं वह 'सहज' समाहित है।

यह सहज हमेशा स्थिर और निश्चल रहता है, कभी चंचल नहीं रहता। इस सहज से ही निखिल-विश्व पूर्ण रहता है। इसी में मेरा मन लगा है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी (द्वैत तत्त्व) नहीं है।

उस घर को आदि अनन्त पाया, अब मन अन्यत्र नहीं जाना चाहता। दादू कहते हैं उसी एक रंग में रँग गया। उसी में मन समाहित हो गया।

भाई रे घर ही में घर पाया,
सहज समाइ रह्यो तो माहीं, सतगुरु खोज बताया ।।
ता घर काजि सबै फिरि आया, आपै आप लखाया।

खोलि कपाट महल के दीन्हें, फिर अस्थान दिखाया ॥
भयऊ भेद भर्म सब भागा, साच सोइ मन लागा ।
निहचल सदा चलै नहीं कबहूँ, देख्या सब में सोई ॥
ताही सों मेरा मन लागा, और न दूजा कोई ॥
आदि अनन्त सोई घर पाया, इव मन अनत न जाई ।
दादू एक रंगै रंग लाया, तामें रहा समाई ॥ (राग गौड़ी, ६८ शब्द)

अन्तर में जो ऐक्य है जो योग है, उसमें ही परमानन्द है। इसको प्राप्त करना ही यथार्थ ज्ञान है। तभी दादू कहते हैं—"ज्ञानी मन ऐसे ही ज्ञान की बात कहो। इसी अन्तर में ही तो सहज आनन्द विराजमान है।"

ऐसो ज्ञान कथौ मन ज्ञानी। इहि घरि होइ सहज सुख जानी। (राग गौड़ी शब्द ६०)

यह घट के भीतर काया में योग की भी बात है। जिस तरह बाहर गंगा, यमुना और सरस्वती के योग से त्रिवेणी-संगम बना है, उसी तरह भीतर भी इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के योग से त्रिवेणी-योग होता है। किन्तु वह सब बात साधारण मनुष्य के लिए नहीं है, विशेषज्ञ को ही उससे आनन्द मिलता है। तभी यहाँ उसका उल्लेख करना मैंने अनचित समझा।

सबके ग्रहण करने लायक त्रिवेणी के मर्म को दादू नीचे लिखे शब्दों में अभिव्यक्त करते हैं। "सहज आत्म-समर्पण स्मरण और सेवा इस तीन के योग से ही यह त्रिवेणी है। इसी त्रिवेणी संगम के किनारे स्नान करना चाहिए। यही तो सहज तीर्थ है।"

सहज समर्पण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तह संगम सपरा ॥ (राग गौड़ी, ६२)

इस मिश्रित धारा की सहज-त्रिवेणी में स्नान करने में ही मुक्ति है। किन्तु यह त्रिवेणी अन्तर में है बाहर में नहीं। तभी दादू कहते हैं:—

"त्रिकुटी का किनारा आत्मा में ही प्राप्त हुआ। सहज में ही उन्होंने अपने को प्रकाशित किया; सम्पूर्ण शरीर में वे व्याप्त हो रहे।

उस निरन्तर निराधार की उपलब्धि आत्मा में ही हुई, सहज में ही उन्होंने अपने को प्रकाशित किया; ऐसे ही वे समर्थ सार अर्थात् सामर्थ्यवान हैं।

सभी देवों के देव को आत्मा में ही देखा, सहज में ही उस देवाधिदेव ने अपने को प्रकाशित किया, ऐसे ही वे अलख अनिर्वचनीय हैं।"

काया अन्तरि पाइया त्रिकुटी के रे तीर। सहजैं आप लखाइया व्याप्या सकल शरीर ॥
काया अन्तरि पाइया निरन्तर निरधार। सहजै आप लखाइया ऐसा समृथ सार ॥
काया अन्तरि पाइया अनहद बेंन बजाइ। सहजै आप लखाइया सुन्य मण्डल में जाइ ॥
काया अन्तरि पाइया सब देवन का देव। सहजैं आप लखाइया ऐसा अलख अभेव ॥ (परचा अंग १०-१३)

अन्तस्तल में प्रवेश कर यह लीलारस संभोग करने जाने पर 'अहम्' भाव को क्षय करना होगा। 'अहम्' भाव को अकड़कर पकड़ रखने में उस सहज मूलाधारों को पाना कठिन है। दादू कहते हैं—

"अहम् को समल नष्ट कर देने पर ही प्रियतम को पा सकोगे। जिस विश्वमल विश्वाधार से अहम् की उत्पत्ति होती है वहींसे उस सहज को पहचान लेना चाहिए।

"मैं" "मेरा" इस सबको यदि लुप्त कर सको तभी तुम प्रियतम को पा सकोगे। "मैं" "मेरा" जब सहज में ही मिल जाता है तभी निर्मल दर्शन होता है।"

तौं तू पावै पीव कौं, आपा कछु न जान। आपा जिस थैं उपजै सोइ सहज पिछान ॥
तौ तूं पावै पीव कौं में मेरा सब खोइ। मैं मेरा सहजैं गया तब निर्मल दर्सन होइ ॥ (जीवन मृतक कौ अंग १६, १७)

उस मूलाधार सहज को पाने जाने पर "नेति-अस्ति" (negative-positive) दो प्रकार की साधना प्रयोजनीय है। इस "नेति" में से होकर ही "अस्ति" में पहुँचना पड़ता है। तभी दादू कहते हैं—"पहले शरीर और मन को मारना चाहिए, इनके अभिमान को चूर कर फेंकना चाहिए, तब अपने को बाहर लाना चाहिए; उसके बाद उस सहज में डूबना चाहिए।"

पहली तन मन मारिये इनका मर्दै मान। दादू काढ़ै अंत मैं पीछे सहज समान॥ (जीवन मृतक को अंग, ४३)

जाग्रत मनुष्य जब सोता है उस समय जिस तरह उसका मन शरीर को छोड़ देता है, उसी तरह यदि दष्ट जगत का भी अतिक्रमण किया जाय, तब हमेशा ही सहज के संग ध्यान एवं लय को युक्त कर लाया जा सकता है।"

ज्यौं मन तजै शरीर कौं ज्यौं जागत सो जाइ। दादू बिसरै देखताँ सहजै सदा ल्यौ लाइ॥ (लौ. को अंग, ३६)

"उस हरि-जल-नीर के समीप ज्योंही आया, उसी समय बिन्दु बिन्दु से मिलकर सहज में समाहित हो गया।',

हरि जल नीर निकटि जब आया। तब बून्द बून्द मिलि सहज समाया॥ (राग गौड़ी ६८)

सम्पूर्ण आकाश उस हरि-रस से भर गया। इस प्रेम-रस के सहज-रस का नशा निरन्तर चढ़ा रहता है। इस रस में रसिक मनुष्य सर्वदा ही असीम आकाश में बास करते हैं।

"प्रेम-प्याला का सहज-नशा आकाश के मध्य में नित्य वास करता है। हे दादू, जो इस रस के रसिक हैं वे इस रस में ही मत्त रहते हैं। राम-रसायन पीकर वह निरन्तर तृप्त और भरपूर रहता है।"

रहै निरन्तर गगन मंझारी। प्रेम पियाला सहज खुमारी।
दादू अमली इहि रस माते। राम रसाइन पीवत छाके॥ (राग आसावरी, २३९)

इस नित्य सहज रस के जो रसिक हैं वह सब मलिनता का अतीत है। पाप उसे स्पर्श नहीं कर सकता। दादू कहते हैं—

"बाबा के कौन ऐसे योगी पुरुष हैं, जो अंजन छोड़कर निरंजन होकर रहता है, हमेशा सहज रस का वह भोगी?

पाप-पुण्य कभी भी उसे लिप्त नहीं कर सकता, दोनों पक्ष से ही वह अलग है। धरणी आकाश दोनों से ही वह ऊपर है, वहाँ जाकर वह रसलीला में रत हो जाता है।"

बाबा को ऐसो जन जोगी।
अंजन छाड़ै रहै निरंजन सहज सदा रस भोगी॥
पाप पुंनि लिपै नहिं कबहूँ दोई पथ रहिता सोई॥
धरणि आकास ताहि थैं ऊपरि, तहाँ जाइ रत होइ॥ (राग रामकली, २१०)

जहाँ पाप-पुण्य का द्वैत कुछ ही नहीं रहता, अलख-निरंजन स्वयं वहीं वास करते हैं। वहीं स्वामी सहज में विराजित रहते हैं, घटघट में वह अन्तर्यामी व्याप्त है।"

तहँ पाप पुंनि नहिं कोई। तहँ अलख निरंजन सोई॥
तहँ सहजि रहै सो स्वामी। सब घटि अन्तरजामी॥ (राग रामकली, २०८)

कामना और कल्पना के परे प्रिय और प्रेममय पूर्ण ब्रह्म हैं। दादू कहते हैं—

"कभी भी कल्पना और कामना नहीं करनी चाहिए, उस प्रियतम पूर्ण ब्रह्म की प्रत्यक्ष उपलब्धि करनी चाहिए। हे दादू, इस पथ से ही पहुँचकर किनारा पाकर उस सहज तत्त्व का आश्रय लेना चाहिए।"

काम कल्पना कदै न कीजै पूरण ब्रह्म पियारा।
इहि पंथि पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहजि संभारा॥ (राग गौड़ी, ६६)

कामना और कल्पना के परे, स्वच्छ नेत्र के बिना उस "रूपारूप" "गुणागुण" भगवान की उपलब्धि नहीं की जा सकती। एकमात्र "सहज" ही इस लीला को प्रत्यक्ष कर सकता है। गुरु की तरह यह "सहज"...............नहीं है;—

प्रियतमा सखी की तरह वह अन्तरंग है। तभी दादू कहते हैं, "हे मेरी प्रिय सखी, सहज, तुम स्वच्छ आँखों से देखो, यह जो रूप-अरूप गुण-निगुणमय त्रिभुवन पति भगवान हैं।"

सहज सहेलड़ी हे तूं निर्मल नैन निहार। रूप अरूप गुण निर्गुण में त्रिभुवन देव मुरार ॥ (राग रामकली, २०७)

उन्हें देख लेना ही परमानन्द है, वही परम समाधि है। उन्हें देखने मात्र से ही पूर्ण ब्रह्म में समस्त ही सहज में समाहित हो जाते हैं। पूर्ण ब्रह्म में जो सहज समाधि है उस आनन्द की उपलब्धि होने पर भी वह अवर्णनीय है। दादू कहते हैं–

"स्थगित होकर मन हार गया, फिर भी तो कहा नहीं जा सकता। सहज में, समाधि में अपने को लीन करो। समुद्र के बीच में बिन्दु तोला ही जा सकता कैसे। स्वतः ही अबोल हो, क्या कहकर वर्णन कर सकोगे?"

थकित भयौ मन कह्यौ न जाइ। सहजि समाधि रह्यौ ल्यौ लाई ॥

सादर बूंद कैसें करि तोलै। आप अबोल कहा करि बोलै ॥ (राग आसावरी, २४४)

वर्णन नहीं हो सका तो नहीं, वह सहज ही परम आनन्द है। इस आनन्द में ही रसिक मनुष्य के जीवन का सार सर्वस्व है। दादू कहते हैं––

"अन्तस्तल में जो एक को रखते हैं, जो मन इन्द्रिय को प्रसार करने नहीं देते, सहज विचारों के आनन्द में जो डूबे रहते हैं, हे दादू वही तो महा विवेक है।"

सहज विचार सुख में रहै दादू बड़ा बमैक। मन इन्द्री पसरैं नहीं अन्तरि राखै एक ॥ (विचार को अंग, ३१)

मन और इन्द्रिय का प्रसार वहाँ नहीं हो सकता। मिथ्या वहाँ पहुँच ही नहीं सकती। मिथ्या की समस्या ही वहाँ नहीं है।"

"उस सत्य में मिथ्या पहुँच ही नहीं सकती। उस सत्य में कोई भी कलंक नहीं लग सकता। दादू कहते हैं, सत्य-सहज में (चित्त) यदि समाहित हों तब सभी झूठ विलीन हो जाता है।"

साचै झूठन पूजै कबहूँ सत्तिन लागै काई। दादू साचा सहजि समानां फिरि वै झूठ विलाई ॥ (राग रामकली, १९१)

सत्य और मिथ्या का पाप और पुण्य का नैतिक बन्धन ही साधारणतः सभी को अभ्यस्त हो गया है। किन्तु वह नैतिक बन्धन अत्यन्त संकीर्ण है, अति क्षीण और दुर्बल है। उसके बीच में नित्य धर्म ही कहाँ? जो सहज की मुक्ति है, उसमें एक ऐसा मुक्त सामञ्जस्य है जो नित्य है, जो सब कर्म-बन्धनों के परे है।

"कर्म बन्धन के मिट जाने पर भी सहज का बन्धन कभी छूट नहीं सकता। बल्कि सहज के साथ बद्ध होने पर ही सब कर्म बन्धन कट जाता है। तभी सहज के साथ बद्ध होओ, सहज के बीच में ही भरपूर परिष्कृत होकर रहो।"

सहजैं बाँधी कदे न छूटै कर्म बन्धन छुटि जाइ। काटै करम सहज सौं बाँधै सहजैं रहै समाई ॥ (राग गौड़ी ७३)

निखिल सामंजस्य के मूल में विश्व संगीत अन्तर्हित है। इस संगीत के योग के बीच ऐक्य का सामञ्जस्य है। निद्रा से अचेतना से वह भोग वह ऐक्य का सामञ्जस्य हो जाता है। क्षुद्रता और खण्डता के संकीर्ण मोह में ही सभी निद्रित हैं। उस संगीत को सुनकर ही शून्य सहज में सभी जाग पड़ते हैं। दादू कहते हैं—

"उस एक संगीत से ही मनुष्य का उद्धार हो जाता है, शून्य सहज में जाग उठता है, अन्तस्तल उसी एक के साथ लीन हो जाता है; उस समय उसके मुंह में और कोई सुरस अच्छा नहीं लगता। उस संगीत से भरपूर निमज्जित और समाहित होकर ही मनुष्य उस परमात्मा के सामने अवस्थित रहते हैं।"

एक सबद जन उधरे, सुनि सहजैं जागै। अन्तरि राते एक सूं न मुख लागै ॥

सबदि समाना सनमुख रहै पर आतम आगै ॥ (राग रामकली १६७)

वह सहज शून्य विश्व संगीत से भरपूर है। यह भरपूर शून्य ही ब्रह्मशून्य हुआ। साधक जब उस ब्रह्मशून्य में पहुँचता है, तब और कोई जप-साधना की उसे आवश्यकता ही नहीं रह जाती। उस समय उसका "नख-शिख-जाप" अखिल-छन्द" के साथ साथ निरन्तर ही सहज हो चलने लगता है। उस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं—



सहज और शून्य

"ब्रह्म शून्य अध्यात्म धाम में तुम अवस्थित हो, प्राण कमल में नाम कहो, मन हवा के स्वर में नाम कहो, प्रेम ध्यानावस्था में (सुरति) नाम कहो।"

प्राण कमल मुखि नाम कह मन पवना मुख नाम।

दादू सुरति मुखि नाम कह ब्रह्म सुनि निज ठाम ।। (सुमिरन कौ अंग, ७८)

इस अखिल-छन्द के साथ छन्दमय होना ही सहज हुआ। उस साधना के लिए अपने को शान्त स्थिर और निर्मल करना चाहिए। उस साधना के प्रसंग में दादू कहते हैं—

"मन मानस प्रेमध्यान (सुरति) 'सबद' और पंच इन्द्रिय को स्थिर और शान्त करो। उनके साथ "एक अंग" "सदा संग" होकर सहज में ही सहज रस पान करो।

सर्व-रहित और मूल गृहीत होकर 'अहम्' को अस्वीकार करो। उस एक को ही मन में मानकर अन्तर के भाव और प्रेम को निर्मल करो।

उस परम-पूर्ण प्रकाश के होने पर हृदय शुद्ध होगा, बुद्धि विमल होगी, जिह्वा में (पर) अध्यात्म-रस नाम प्रत्यक्ष होकर अन्तस्तल को नाममय कर देगा।

परमात्मा में मति होगी, गति पूर्ण होगी, प्रेम में रति होगी, और भक्ति से अनुरक्ति होगी। (भक्ति में विश्वास होगा)। उस रस में दादू मग्न हैं, उस रस में ही परस्पर लीन होकर दादू मतवाला बन गया है।"

मनसा मन सबद सुरति पाँचौं थिर कीजै। एक अंग सदा संग सहजैं रस पीजै ।।
सकल रहित मूल सहित आपा नहिं जानै। अन्तर गति निर्म्मल मति येकै मनि मानै ।। (राग धनाश्री, ४३४ सबद—'त्रिपाठी')
हृदय सुधि विमल बुधि पूरन परकासै। रसना निज नाउँ निरखि अन्तर गति बासै ।।
आगम मति पूरण गति प्रेम भगति राता। मगन गलत अरस परस दादू रसि माता ।। (राग भैरों, २० सबद 'द्विवेदी')

उनकी दया के बिना अन्तर की उपलब्धि असम्भव है। जीवन की वही परम सार्थकता है। उस अवस्था की उपलब्धि और प्रेम का वर्णन किया ही नहीं जा सकता। दादू कहते हैं—"अखण्ड अनन्त स्वरूप प्रियतम को किस तरह वर्णित किया जा सकता! शून्य मण्डल के बीच वह सत्य स्वरूप है, आँख भर लो उन्हें देखकर।

नेत्रसार उन्हें देख लो; देखो, वेही लोचन सार हैं। वेही प्रत्यक्ष दीप्यमान हो रहे हैं। ऐसे प्रेममय दयामय हैं कि वे सहज में ही अपने आपको प्रकाश में ला देते हैं।

जिनके समीप प्रत्यक्ष हैं, सहज में ही अपने आपको प्रेममय दयामय करलो। तभी तो प्राणों के प्राण प्रियतम का अखण्ड अनन्त स्वरूप की उपलब्धि हो सकती है।"

अकल स्वरूप पीव का, कैसैं करि आलेखिये। शून्य मण्डल माहि साचा, नयन भरिसो देखिये ।।

देखौ लोचन सखि, देखौ लोचन सार, सोई प्रकट होई ।।

अकल सरूप पीव का, प्राण जीव का सोई जन पावई। दयावन्त दयाल ऐसौ सहजैं आप लखावई ।।

(राग धनाश्री ४३६ सबद 'त्रिपाठी')। राग भैरो २३ सबद—'द्विवेदी')।

उनकी उपलब्धि उस भीतरी संसार में होगी, अतिशय व्यर्थ वस्तु से हमारा वह भीतरी संसार भरा है। तभी तो उन्हें प्रत्यक्ष करने का अवसर नहीं मिलता। उनके आविर्भाव के लिए ही हमें भीतरी संसार को शून्य करना चाहिए। यह शून्यता नेति धर्मात्मिक नहीं है। कारण शून्य होने पर ही उनके सहस रस से भरपूर उनके भीतरी संसार को हम देखते हैं। इस रस सरोवर में ही आत्मकमल ब्रह्मकमल विकसित हो उठता है।

शून्य सरोवर के आत्म कमल में परम पुरुष के प्रेम बिहार की उस अवस्था का वर्णन करते हुए दादू कहते हैं:—

"भगवान उस आत्म कमल में प्रत्यक्ष विराजमान हैं। जिस स्थान में वह परम पुरुष विराजमान हैं उस स्थान में ज्योति झिलमिल झिलमिल करती है।

कोमल कुसुमदल, निराकार ज्योति जल; शून्य सरोवर जहाँ है, वहाँ कूल किनारा नहीं रहता; हंस होकर दादू वहाँ विहार करते हैं और विलस विलसकर अपनी सार्थकता पूर्ण करते हैं।"

राम तहां परगट रहे भरपूर।
आतम कमल जहाँ, परम पुरुष तहाँ झिलमिलि झिलमिलि नूर॥
कोमल कुसुम दल, निराकार जोतिजल, वार नहिं पार।
शून्य सरोवर जहाँ, दादू हँसा रहै तहाँ, विलसि बिलसि निज़सार॥

(राग धनाश्री, ४३८ सबद 'त्रिपाठी') (राग भैरो २४ सबद 'द्विवेदी')

वह लीला हमारे अन्तर में ही है, उसके लिए बाहर कहीं भी जाने की आवश्यकता नहीं। दादू कहते हैं—

"पलभर भी दूर न जाकर निकट में ही निरंजन को देखो। बाहर-भीतर एक रूप, सब कुछ भरपूर और परिपूर्ण है।

सद्गुरू ने जब उस रहस्य को दिखाया, उसी समय उस पूर्णता को पा लिया। सहज ही अन्तर में आया, अब नेम से निरन्तर उस लीला को ही प्रत्यक्ष करूँगा।

उस पूर्ण स्वरूप के साथ परिचय होते ही बुद्धि पूर्ण हो उठी। जीवन में ही जीवन स्वरूप और उनकी प्रतिमा मिल गई, ऐसा ही मेरा सौभाग्य है।"

निकटि निरंजन देखिहौं, छिन दूरि न जाई। बाहरि भीतरि यकसा, सब रह्या समाई॥
सत्गुरू भेद लखाइया, तब पूरा पाया। नैनन ही निरखूं सदा घरि सहजैं आया॥
पूरे सौं परचा भया, पूरी मति जागी। जीव जाँनि जीवनि मिल्या, ऐसें बड़ भागी॥ (राग रामकली २०६)

जो वनमाली हैं वे फिर मनमाली भी हैं। उनके दर्शन से हमेशा हर जगह नवजीवन की सृष्टि होती है। वे अन्तर में सिर्फ विराजते ही हैं, ऐसा नहीं, वे माली की तरह से फूलवारी की रचना करते हैं कि प्रेममय स्वामी होकर स्वयं वेही प्रेम की रास खेलने आते हैं। दादू कहते हैं—

"मोहनमाली अन्तरस्थ सहज लोक में नितान्तपूर्ण हैं। कदाचित् ही कोई रसिक साधक उनके मर्म को जानते हैं। अन्तर की फुलवारी में ही माली हैं, वही वे रास रचना करते हैं। सेवक के साथ खेलने के लिए वहाँ दयाकर वे स्वयं ही उपस्थित हुए। बाहर-भीतर सर्वत्र सब में वे निरन्तर भरपूर हो रहे हैं। प्रकट ही गुप्त हुआ और गुप्त ही प्रकाश हुआ; इन्द्रिय और बुद्धि के परे अवर्णनीय वह लीला है। उस माली की अनिर्वचनीय लीला कहते जाने पर भी कहा नहीं जा सकता वह आनन्द अगम अगोचर है।

मोहन माली सहज समानाँ। कोइ जानै साध सुजानाँ॥
काया बाड़ी माँहैं माली तहाँ रास बनाया। सेवग सौं स्वामी खेलन कौं आप दया करि आया॥
बाहरि भीतरि सर्व निरन्तरि सब मैं रह्या समाई। परगट गुपत गुपत पुनि परगट अविगत लख्या न जाई॥
ता माली की अकथ कहानी कहत कही नहिं आवै। अगम अगोचर करत अनंदा दादू जे जस गावे॥

(राग वसन्त ३६१)

उनकी रचना शक्ति अपूर्व है। उनकी रचना का मूल रहस्य प्रेम और आनन्द है। प्रेम और आनन्द के भागवत रस से जीवन लता में वे अपूर्व प्राण संचार करते हैं। फूल और फल से दिन दिन वह भरपूर हो चलता है। दादू की वाणी में वह साफ दीखती है—

"आनन्द और प्रेम में यह आत्मा-लता पूर्ण हुई। भागवत-रस की धारा उस स्थान में चल रही है, उस सहज रस में मग्न होकर दिन दिन वह लता बढ़ रही है।

सद्गुरू उस लता को सहज रस में ही रोपते और सींचते हैं। सहज में ही मत्त होकर वह लता सम्पूर्ण अन्तस्तल में व्याप्त हो गई। सहज सहज में ही नव पत्रांकुरदल उस स्थान में लहराने लग गया, हे अवधूत राय, इसे ही प्रत्यक्ष अनुभव किया।

सहज में ही वह आत्म-बल्ली कुसुमित होती हैं, हमेशा फल-फूल उपजाती हैं; कायारूपी फुलवारी सहज में ही विकसित होकर नवजीवन में भर उठता है, कदाचित् ही कोई इस रहस्य को जान पाता है।



सहज और शून्य

"हठ" के वश में आकर आत्मा दिन-दिन सूखने लगती है, किन्तु सहज होने से ही युग युग तक वह जीवित रह सकती है। हे दादू सहज होने पर उसमें अमर अमृत फल लगता है, नित्य सहज में रस पान करती है।"

बेली आनन्द प्रेम समाई। सहजैं मगन राम-रस सीचैं दिन दिन वधती जाइ ॥
सत्गुरु सहजैं नाही बेली सहजि मगन धर छाया। सहजैं सहजैं कुंपल मेल्हैं जानौ अवधू राया ॥
आतम बेली सहजैं फूलै सदा फूल फल होई। काया बाड़ी सहजैं निपजैं जानैं बिरला कोई ॥
मन हठ बेली सुरवन लागी सहजैं जुगि जुगि जीबै। दादू बेली अमर फल लागै सहजै सदा रस पीवै ॥
(राग रामकली २०३)

जो अन्तर में विराजित हैं, आत्मा उनके साथ ही सहज रस पान करती चलो। उनका ऐश्वर्य समस्त-कला से भरपूर है। वेही हमारे सर्वस्व हैं, उनके बिना जीवन में हमारा और है ही कौन?

"मेरे मन में कलापूर्ण-स्वरूप उनका अवस्थित है। मैं दिन रात उन्हें ही हृदय में देख रहा हूँ।

हृदय में ही देखा और प्रियतम को समीप ही प्रत्यक्ष पाया। अपने अन्तर में उन्हें छिपा लो। तब सहज में ही उस अमृत का पान कर सकोगे।

जिस समय उस मन के साथ इस मन का योग हुआ, उसी समय ज्योति-स्वरूप वे जीवन में जाग्रत हुए। जब ज्योति-स्वरूप को पाया तब अन्तर में ही मैं अनुप्रविष्ट हुआ।

जब चित्त-चित्त बराबर हो गया, तब हरि के बिना मेरे जानते और कुछ नहीं रहा। समझा मेरे जीवन में वे ही जीवन स्वरूप हैं, अब हरि के बिना और कोई नहीं है।

जब आत्मा परमात्मा के साथ मिल गई, तब उस परमात्मा का प्रकाश अन्तर में ही हुआ। प्रियतम प्रेममय दीख पड़े, दादू कहते हैं वे ही हमारे मित्र हैं।

मेरा मन लगा सकल करा। हम निसदिन हिरदै सो धरा ॥
हम हिरदै माहैं हेरा। पीव परगट पाया नेरा ॥
सो नेरे ही निज लीजै। तब सहजैं अमृत पीजै ॥
जब मन ही सों मन लागा। तब जोति सरूपी जागा ॥
जब जोति सरूपी पाया। तब अन्तरि माँहि समाया ॥
जब चित्तहि चित्त समाँनाँ। हम हरि बिन ऊर न आना ॥
जानाँ जीवनि सोई। इव हरि बिन ऊर न कोई ॥
जब आतम एकै बासा। पर आतम माँहि प्रकासा ॥
परकासा पीव पियारा। सो दादू मींत हमारा ॥ (राग गौड़ी, ७९)

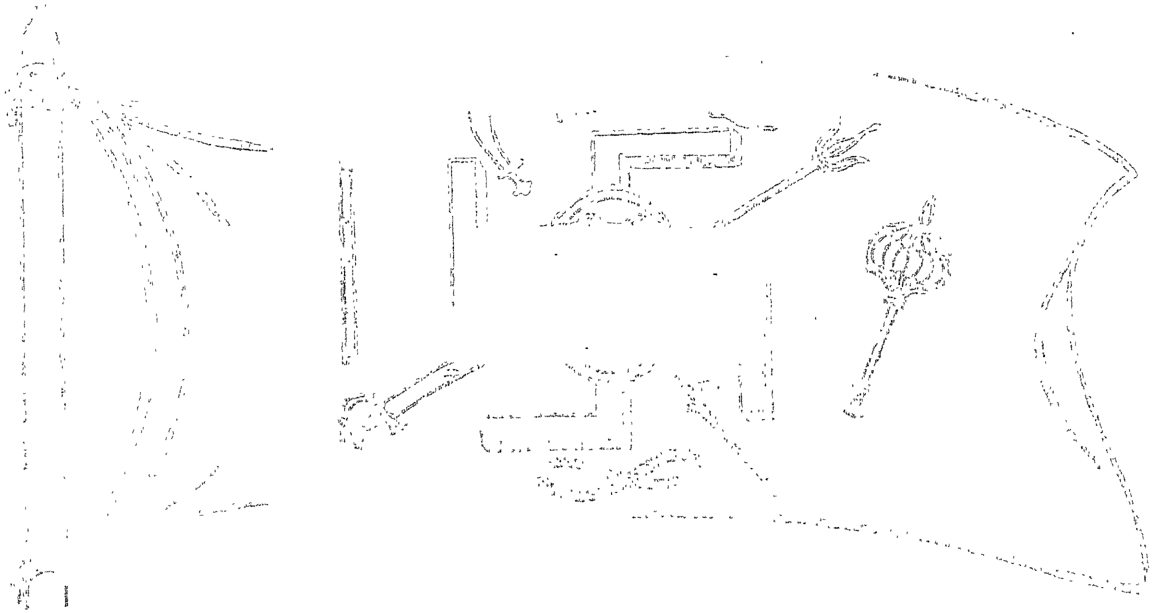
परमात्मा के संग आत्मा का, ब्रह्म के संग जीव का जो निविड़ मिलन है, उसका वर्णन कभी क्या सम्भव हो सकता है? उस आनन्द का अनिर्वचनीय ऐश्वर्य संगीत में ही उच्छ्वसित हो उठता है। भाषा में उस तरह ठीक अनुवाद करना सम्भव नहीं हो सकता। अन्तर के इस प्रेम-मिलन और इस सहज-भाव के आनन्द में दादू गाते हैं—

"प्रकाश हुआ, अतिशय दीप्यमान ज्योति हुई, परमतत्त्व स्वयं प्रत्यक्ष हुए। निर्विकार परमसार प्रकाशमान हुए। कदाचित् ही कोई इस रहस्य को समझ सके।

परमाश्रय, आनन्दनिधान, परम शून्य में लीला कर रहे हैं। सहज-भाव आनन्द में भरपूर निमज्जित है। जीव और ब्रह्म का मिलन हो रहा है।

अगम और निगम भी सुगम हो जाते हैं, दुस्तर भी तर जाता है। आदि पुरुष के साथ निरन्तर दरस, परस चलता है। दादू को वही सौभाग्य मिला है।"

होइ प्रकाश, अति उजास, परस तत्त्व सूझै। परमसार निर्विकार, बिरला कोई बूझै ॥
परम थान सुख निधान, परम सुंनि खेलै। सहज भाइ सुख समाइ, जीव ब्रह्म मेलै ॥
अगम निगम होइ सुगम दुतर तिरि आवै। आदि पुरुष दरस परस दादू ओ पावै ॥ (राग मारू, १६२)



हिन्दू-राष्ट्र-ध्वज

श्री गणेशदत्त "इन्द्र"

जब संसार में मानव-सभ्यता का जन्म हुआ, और व्यवस्था के निमित्त शासन-योजना का निर्माण हुआ, तब साथ ही साथ राष्ट्र, राज्य, अथवा व्यक्ति विशेष के महत्त्व प्रदर्शनार्थ 'ध्वज' सम्बन्धी विचार भी उन लोगों के मस्तिष्क में उत्पन्न हुए। राष्ट्र-ध्वज, राज्य-ध्वज, और व्यक्ति विशेष के ध्वज एक ही आकार प्रकार और वर्ण के नहीं होते थे। सब में भिन्नता रहती थी। पहले-पहल यह भिन्नता केवल वर्ण पर ही अवलम्बित रही। तदुपरान्त उनमें अपने अपने चिह्न अंकित किए जाने लगे। ध्वजाओं का यह एक छोटासा इतिहास है जो पृथ्वी के समस्त देशों की ध्वजाओं का आरंभिक काल का सूचक है।

हमारे वैदिक काल में राष्ट्र-ध्वज का एक ही रंग था। उसपर कोई चिह्न नहीं होता था। तत्कालीन योद्धा एक ही प्रकार के ध्वज का उपयोग करते थे। वेदमंत्रों में उस समय के ध्वज का वर्णन है :—

"ई शां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिःसह।
ये अन्तरिक्ष ये दिवि पृथिव्यां येच मानवाः।
त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥" (अ० ११-१०-२)

और

धूमाक्षी संपततु कृधुकर्णीच क्रोशतु।
त्रिषधेः सेनयाजिते अरुणाः सन्तु केतवः॥७॥

इन दोनों मंत्रों में युद्ध के समय "अरुण" रंग के ध्वज का उल्लेख है। 'अरुण' गहरे लाल रंग को नहीं कहते हैं, बल्कि हलके लाल रंग को, जिसमें हल्का पीतरंग मिश्रित हो वह अरुण कहलाता है। हल्का पीला और हल्का लाल रंग मिलकर हल्का केसरिया रंग बन जाता है। यह रंग शुद्ध केसरिया न बनकर भगवाँ केसरिया-सा रहता है। यह हमारे भारत का प्राचीन राष्ट्र-ध्वज का रंग रहा है। जब से ध्वज निर्माण का विचार हम भारतीयों के मस्तिष्क में आया तबसे आजतक वही रंग हमारी राष्ट्र-पताका में रहा है।

हिन्दू-राष्ट्र-ध्वज

वेदकाल में राष्ट्र-ध्वज का महत्त्व विशेष था। बिना ध्वज के युद्धांगण में कोई नहीं जाता था। जिस प्रकार युद्ध के लिए शिरत्राण, अंगत्राण, कवच, गोधा, अंगुलित्राण शस्त्रास्त्र आदि अनिवार्य वस्तु थीं, उसी प्रकार ध्वज भी एक अत्यन्त आवश्यक था।

"उत्तिष्ठत संनत्यध्वमुदाराः केतुभिःसह।" (अ० ११-१०-१)

यह वेदमंत्र योद्धाओं को सम्बोधित करते हुए बता रहा है कि "वीरो! उठो और अपने झण्डों के साथ कवच पहनो।" हमारे प्राचीन इतिहास में जहाँ तहाँ युद्धों का वर्णन है, वहाँ ध्वज के महत्त्व का भी प्रदर्शन है। कुरुक्षेत्र के मैदान में जब भारत की युद्धोज्झित दो प्रबल शक्तियाँ, कौरव और पाण्डव समरांगण में उतरे, तब प्रत्येक महारथी के रथ पर उनका पृथक् पृथक् वर्ण और चिह्नों से अंकित ध्वजों के फहराने का उल्लेख महाभारत ग्रंथ में है। उस समय हमारा देश राष्ट्रीयता को खो बैठा था, और अपने-अपने राज्य के तथा व्यक्तिगत ध्वज बना लिए थे। जैसे अर्जुन का कपि चिह्नयुत, भीष्मपितामह का व्याघ्रपद चिह्नित, और द्रोणाचार्य का धनुष कमण्डलु चिह्नवाला इत्यादि। इतना होते हुए भी राष्ट्रीयता-सूचक ध्वजवर्ण सभी ने अपना रखा था। कोई पीले रंग को, कोई कपिल रंग को, कोई गुलाबी रंग को, कोई केसरिया रंग को और कोई लाल रंग को अपनाए हुए था। ये सभी रंग हमारे राष्ट्रध्वज के रंग के अन्तर्गत मूल रंग कहे जा सकते हैं।

जबकि अन्य राष्ट्रों के झण्डों का रंग समय की ऐतिहासिक घटनाओं के साथ बदलता रहा है, तब हमें यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता होती है कि भारतीय राष्ट्रध्वज का हमेशा एकसाँ रंग रहता आया है। जब भारत में विदेशी लोगों का पैर जमा तब हमें हमारे रंग के अतिरिक्त दूसरी जातियों के रंग को अपने राष्ट्रध्वज में सम्मिलित करने की उदार नीति का अवलम्बन करना पड़ा। परन्तु जब अन्य देशीय जातियाँ यहाँ नहीं आई थीं तब हमारा राष्ट्रध्वज अरुण-वर्णका ही था।

हमारा राष्ट्रध्वज जिस रूप में था उसी का वर्णन यहाँ किया गया है। उक्त राष्ट्रध्वज के सम्बन्ध में प्राचीन इतिहासकारों ने बताया है कि भगवान विष्णु ने इन्द्र को एक ध्वज दिया था—

"तं विष्णु तेजोभवमष्टचक्रे, रथेस्थिते भास्वति रत्न चित्रे।
देदीप्यमानं शरदीव सूर्यं, ध्वजं समासाद्यमुमोद शक्रः॥

उसी ध्वज के अनुरूप विक्रम-काल में राष्ट्र-ध्वज बनाया जाता था। उक्त ध्वज के सम्बन्ध में विस्तृत विधान है। शुभ मुहूर्त में राजा, वृक्षकाटनेवाले बढ़ई और ब्राह्मण तथा मंत्रियों को साथ लेकर जंगल में जावे—

तस्य विधानं शुभकरण दिवस नक्षत्र मंगल मुहूर्तैः।
प्रस्थानिकैर्वनमिया द्दैवज्ञः सूत्रधारश्च॥" (व० संहिता)

ध्वज के लिए प्रायः अर्जुन (अंजन) वृक्ष की लकड़ी ही पसन्द की जाती थी। इसके अभाव में शाल्मलि, आम्र, कदम्ब आदि दूसरे वृक्षों की लकड़ी ली जाती थी। ध्वज-दण्ड के लिए लकड़ी देखने में बहुत सावधानी की जाती थी। आड़ी टेढ़ी सूखी, गाँठवाली, छेदवाली, काँटोंवाली, और स्त्रीनामवाचक वृक्षों की लकड़ी अशुभ मानी जाती थी।

कुब्जोर्ध्व शुष्क कण्टकि वल्लीवन्दाक युताश्च॥
बहु विहगालय कोटर पवनानल पीडिताश्च ये तरवः॥
ये चस्युः स्त्रीसंज्ञा नते शुभा शक्र केत्वर्थे॥ (व० संहिता)

अच्छा, शुभ, दोष रहित, वृक्ष देखकर फिर रात्रि को उसकी पूजा की जाती थी। और वृक्ष से प्रार्थना की जाती थी कि—

यानीह वृक्षे भूतानितेभ्यः स्वस्ति नमोऽस्तुवः। उपहारं गृहीत्वेम क्रियतां वास पर्ययः॥
पार्थिवस्त्वांवरयते स्वस्तितेऽस्तु नगोत्तम, ध्वजार्थं देवराजस्य पूजेयं प्रतिगृह्यताम्॥ (व० संहिता)

प्रातः शुभ मुहूर्त में बढ़ई उसे काटता था। काटने में बड़ी सावधानी बरती जाती थी। शुभ दिशा में ही, कटा हुआ वृक्ष गिरे इसका बहुत ध्यान रखा जाता। उसे काटकर कई दिनों तक जल में रखा जाता। तदुपरान्त उसकी छाल निकालकर और ठीकठाक बनाकर, बैलगाड़ी से नगर में लाया जाता था।

श्री गणेशदत्त "इन्द्र"

जिस दिन ध्वजदण्ड गाड़ी में लादकर नगर में लाया जाता, उस दिन सारा नगर ध्वजा-पताका और वन्दनवारों से सजाया जाता था। गीत, वाद्य और नृत्य का आयोजन किया जाता था। राजा, मंत्री, ब्राह्मणों और नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियों के समूह सहित ध्वजदण्ड को आरोपण-स्थान पर पहुँचाता था। ढोल, भेरी और तुरही के तुमुल घोष से दिशाएँ निनादित हो उठती थीं। राजा भाद्रपद मास की श्रवण नक्षत्रयुक्त द्वादशी को उस ध्वज दण्ड की विधिवत पूजा करता था। इसके चौथे दिन ध्वजदण्ड स्थापित किया जाता था—

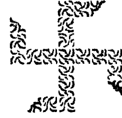
"विधिवद्यष्टि प्ररोपयेद्यन्त्रे।" (व० संहिता)

ध्वजदण्ड अट्ठाईस हाथ लम्बा और अनुपातानुसार मोटा होने के कारण उसके स्थापनकार्य में यंत्रों से सहायता ली जाती थी। उस दण्ड में जो ध्वज-वस्त्र होता था उसकी लम्बाई बारह हाथ और चौड़ाई आठ हाथ होती थी। वस्त्र बीच में से सिला हुआ नहीं होता था। उसे फीके लाल रंग से रंगकर उसके ठीक मध्य में गहरे लाल रंग का 'स्वस्तिक' बनाया जाता था।

'स्वस्तिक' भारतीयों का बहुत प्राचीन मांगलिक शुभ चिह्न है। यह वेदकालीन चिह्न होने के कारण उस समय राष्ट्रध्वज में इसे प्रमुख स्थान दिया गया था। आज स्वस्तिक के सम्बन्ध में अनेक खोज हो रही हैं, परन्तु वेद ने इसे अति प्राचीन काल से हमें सुझा दिया है—

"स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्तिनः पूषाविश्ववेदाः।
स्वस्तिनस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्तिनोबृहस्पतिर्दधातु॥" (यजु० २५-१९)

यह मंत्र "दैवतगोल और ग्रहों के मार्ग" द्वारा स्वस्तिक को प्रदर्शित करता है। इसमें जो खगोलीय नक्षत्र पुंज हैं, वे परस्पर क्रमानुसार इस प्रकार ९०-९० अंश पर आए हैं कि उनसे स्वस्तिक की आकृति बन जाती है। इससे स्वस्तिक की प्राचीनता पर कोई सन्देह नहीं रह जाता। वैसे तो आधुनिक विद्वानों ने भी स्वस्तिक का भारत में, ईसा के पाँचसौ वर्ष पूर्व प्रचलन स्वीकार कर लिया है। अंग्रेज इतिहासकार मि० एच० जी० वेल्स ने अपनी 'इतिहास की रूपरेखा' नामक पुस्तक में स्वीकार किया है कि 'स्वस्तिक' का प्रचार पाषाण-युग से ही आरम्भ होने का पता चलता है। विदेशों के भूगर्भ में मिलनेवाली वस्तुओं पर स्वस्तिक चिह्न पाए जाते हैं। एक समय जब भारत की संस्कृति से सारा संसार प्रभावित था, उस युग में स्वस्तिक का प्रचार दूसरे देशों में हुआ मालूम होता है। एक समय चीन, जापान, फ़ान्स, जर्मनी, इंग्लैण्ड, इटली, तिब्बत, रूस और अमेरिका तक में स्वस्तिक का प्रचार रहा है। सबों ने इसकी महत्ता को स्वीकार किया है। केवल इंग्लैण्ड ने इसे अशुभ बताया है (सम्भव है शत्रुपक्षीय चिह्न होने के कारण)। भारतीय इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का सूचक मानते हैं। यह चारों युगों में अक्षुण्ण रहनेवाला चिह्न माना जाता है। इसे सर्व साधारण 'सातिया' कहते हैं जो चार, सात मिलकर बना है—सात के अंकों द्वारा इस प्रकार सातिया बन जाता है।



कुछ भी हो स्वस्तिक हमारा प्राचीन शुभ चिह्न होने के कारण राष्ट्रध्वज के मध्य में अंकित किया जाता था। स्वस्तिक के ऊपर ढाल, अंगत्राण, मुकुट आदि राजकीय चिह्न अंकित होते थे।

स्वस्तिक की प्रत्येक दिशा में आठों दिक्पाल देवों के शस्त्रास्त्रों के चिह्न बनाए जाते थे। जिस दिन ध्वजा-रोपण-उत्सव होता था उस दिन राजा और प्रजा दोनों मिलकर इस महोत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाते थे। नृत्य, गीत, आदि मंगल-कार्य किए जाते थे। खेल, तमाश, नाटक, आदि कार्यों का आयोजन होता था। घर घर स्वस्तिवाचन और शान्ति-पाठ होता था। राज-कोष से ब्राह्मणों को दान-दक्षिणा और भोजनादि से सम्मानित किया जाता था। रात्रि को नगर दीपावलि से जगमगा उठता था।

ध्वजारोपण के दिन ध्वज पर असंख्य पुष्प मालाएँ डाली जाती थीं। एक बाँस की बनी पिटारी भी ध्वज के समीप बाँधी जाती थी जिसमें विविध मंगल-द्रव्य रखे जाते थे।



* शांति-दूत *

श्री महादेवी वर्मा

चित्त जिसका हो चुका हो,
द्वेषमुक्त महान,
सब कहीं सब के लिए
हो सौमनस्य समान

एक सोमा में उसी से
आचरित सविशेष
आचारण त्यों हो न जाता--,
है वहीं निःशेष

ज्यों न रुकता शंखवादक--
का तनिक आयास,
दूर तक प्रतिध्वनि जगा
भरता विपुल आकाश ॥ *

(दीघनिकाय)

* सामने के चित्र पर लिखी हुई कविता। 'दीघनिकाय' के इस अंश का पद्यानुवाद स्वयं चित्रकार सुश्री महादेवी वर्मा ने किया है।

शान्तिदूत

(चित्रकार—श्रीमती महादेवी वर्मा एम० ए०, प्रयाग)



भारतीय दर्शनों की रूपरेखा

श्री गुलाबराय एम० ए०,

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

यद्यपि भगवान् महाकाल का चक्र शाश्वत गति से चलता ही रहता है और प्रत्येक क्षण अपनी नवीन आभा लेकर उपस्थित होता है तथापि भारत के परम गौरवास्पद महामहिम विक्रमादित्य के संवत्सर की द्विसहस्राब्दी का अन्त और एक नवीन सहस्राब्दी का प्रवेश देश और जाति के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखता है। जिस प्रकार वर्षारम्भ में हम अपनी आर्थिक स्थिति का लेखा-जोखा ठीक कर लेते हैं उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर अपनी मूल्यतम आध्यात्मिक सम्पत्ति का सरेखा कर लेना समय और परिस्थिति के अनुकूल ही होगा। यद्यपि हमारी सम्पत्ति अनन्त रत्न-राशि-रंजित है और प्रत्येक रत्न का मूल्यांकन करना लेखक के लिए एक छोटी लकड़ी से सागर की थाह लेने से भी अधिक हास्यास्पद होगा तथापि लेखक उन रत्नों का तो नहीं किन्तु कुछ बड़ी बड़ी मञ्जूषिकाओं की ओर, जिनमें ये रत्न निहित हैं, अंगुलि निर्देश कर अपने को धन्य समझेगा।

नाम की सार्थकता—दर्शन कहते हैं देखने को। यह शब्द देवादि महान सत्ताओं के देखने में विशिष्ट हो गया है; जैसे चन्द्र-दर्शन देव-दर्शन आदि। किन्तु दर्शन सदा मूर्त पदार्थों का ही नहीं होता है वरन् अमूर्त पदार्थों का भी। उपनिषदों में आत्मा को भी दर्शन का विषय माना है–**आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यः मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः**'। दर्शन द्वारा परम दैवत ब्रह्मस्वरूप सत्य के दर्शन किए जाते हैं। हमारे वाताम्बुपरणहारी ऋषियों ने भारत के विस्तृत तपोवनों में, जिनकी महिमा रवि बाबू ने 'प्रथम सामरव तव तपोवने' लिखकर गाई है, **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** के दर्शन कर अमरत्व प्राप्त किया था। यह दर्शन भिन्न भिन्न झरोकों में से प्राप्त करने के कारण पूर्ण नहीं हो सकता किन्तु देवताओं की झाँकी का सा महत्त्व रखता है। यही दर्शन शब्द की सार्थकता है और यही भारतीय दृष्टिकोण को अन्य देशों के दृष्टिकोण से पृथक् कर देता है। अंग्रेजी में दर्शन का पर्यायवाची शब्द है Philosophy। उसका शाब्दिक अर्थ होता है ज्ञान का प्रेम। इसलिए उनका दृष्टिकोण केवल बौद्धिक जिज्ञासा का है। भारतीय मनीषी दर्शन को केवल चिन्तन की वस्तु नहीं समझता वरन् साक्षात्कार का विषय बनाता है। इसीलिए उपनिषदों में आत्मज्ञान के लिए तप और ब्रह्मचर्यादि साधन बतलाए हैं—

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः।।

दर्शन शब्द के अनुकूल ही भारतवर्ष में ज्ञान प्राप्ति का साधन केवल बौद्धिक मनन ही नहीं माना है। उस दर्शन के लिए उन्होंने तीन साधन बतलाए हैं—श्रोतव्यः मन्तव्यः निदिध्यासितव्यः। इन तीनों को दर्शनों का हेतु कहा गया है :—

श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः। मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः।।

अर्थात् श्रुतियों द्वारा सुनना चाहिए, युक्तियों द्वारा मनन करना चाहिए और मनन कर उसका सदा ध्यान करना चाहिए। (इसी ध्यान में आत्मा का साक्षात्कार होता है) ये तीन दर्शन के हेतु हैं।

पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी प्रातिभज्ञान (Intuition) को माना है। वह बौद्धिक ज्ञान से ऊँचा है किन्तु उसमें योग का सा साक्षात्कार नहीं है। भारतवर्ष में दर्शन का एक व्यावहारिक उद्देश्य है, वह घृताधारं पात्रंवा पात्राधारं घृतं कीसी कोरी कौतूहलमयी जिज्ञासा नहीं है। उन्होंने उसको अमरत्व प्राप्ति का साधन माना है। भारतीय मनोवृत्ति आध्यात्मिक है। वह अपने पुरुषार्थ की इतिकर्तव्यता इस दृश्य जगत् के क्षणभंगुर वैभव की उपलब्धि में नहीं समझता है। याज्ञवल्क्य की स्त्री मैत्रेयी अपनी पति की भौतिक सम्पत्ति नहीं चाहती है, क्योंकि उससे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती। वह अमरत्व देनेवाली विद्या को चाहती है। मैत्रेयी ने जब यह कहा था कि 'येनाहं नामृतास्यां किमहम् तेन कुर्यां, मदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि'। जिससे मैं अमरत्व को नहीं प्राप्त हूँगी उसको लेकर क्या करूँगी। जिस आत्मज्ञान को आप जानते हैं उसे मुझे बतलाइये। तब उसके द्वारा भारत की अन्तरात्मा मुखरित हो उठी थी। इसी प्रकार वाजश्रवा के पुत्र कुमार नचिकेता ने जब यम के दिए हुए प्रलोभनों का यह कहकर तिरस्कार कर दिया कि इनका 'श्वोभाव' है अर्थात् ये कल रहेंगे या नहीं तब उसने भारत की सच्ची ब्राह्मण मनोवृत्ति का परिचय दिया था। वह भी संसार के दुख से निवृत्त होना चाहता था।

भारतीय दार्शनिक दुख की समस्या से अधिक प्रभावित था। हेय (दुख का स्वरूप) हेयहेतु (दुख के हेतु) हान (दुख के अभाव का स्वरूप अर्थात् मोक्ष या निर्वाण) और हानोपाय (दुख निवृत्ति के साधन) का विवेचन हमारे यहाँ के दार्शनिक विवेचन का मूल ध्येय रहा है। हानोपायों में आत्मा और अनात्मा का विवेक मुख्य माना गया है और इसी सम्बन्ध में प्रायः सारी दार्शनिक समस्याओं का विवेचन हो गया है। बौद्ध दर्शन में भी इन ही चार बातों का विवेचन है और दुख की निवृत्ति के ही सम्बन्ध में संसार और आवागमन की कार्यकारण श्रृंखला पर विचार किया गया है। यूरोप की दार्शनिक जिज्ञासा कौतूहल रूप से ही आरम्भ होती है। प्लेटो ने कहा है कि "Philosophy begins in wonder". इस कौतूहल बुद्धि का हमारे यहाँ अभाव तो न था, 'कोऽहं कस्त्वंम्' के प्रश्न चलते ही रहते थे। गोस्वामी तुलसीदासजी के 'केसब कहि न जाय का कहिये' में भी आद्भुत्य की भावना परिलक्षित होती है; किन्तु आत्यन्तिक दुख-निवृत्ति के उपाय सोचने की प्रवृत्ति का प्राबल्य रहा है। दुख-निवृत्ति की चिन्ता दर्शनों में अधिक रही है। वेदों और उपनिषदों में 'अमृतत्त्व' को अधिक महत्त्व दिया गया है। अमृतत्त्व में भी संसार के दुख से बचने की व्यञ्जना है किन्तु आनन्द का भावात्मक पक्ष अधिक प्रबल है। पश्चिमी दार्शनिक दृष्टा और दृश्य प्रमाता और प्रमेय के चक्कर में अधिक रहे। रुचि वैचित्र्य के कारण दोनों धाराओं का मार्ग अलग रहा किन्तु समस्याएँ अन्त में जाकर एक ही हो गई। हमारे यहाँ यद्यपि विचार की पूर्ण स्वतंत्रत रही है तथापि धर्म और दर्शन का विच्छेद कम हुआ है।

हमारे यहाँ धर्म और दर्शन का उद्देश्य एक ही रहा है। वह है सांसारिक आभ्युदय और निश्रेयस की प्राप्ति। किन्तु धर्म का अर्थ साम्प्रदायिकता नहीं रहा है। 'अथातो धर्म व्याख्यास्यामः' यह वैशेषिक जैसे भौतिक दृष्टिकोण प्रधान दर्शन की ही भूमिका है। हमारे सांसारिक अभ्युदय की नितान्त उपेक्षा नहीं की गई है किन्तु वह जीवन का अन्तिम लक्ष्य नहीं रहा है।

संख्या और क्रम—भारतीय दर्शनों की संख्या निर्धारित करना कठिन है क्योंकि दर्शनशास्त्र का विषय व्यापक है। यह सभी विद्याओं का प्रदीप है। सबका इससे सम्बन्ध है और सभी अन्तिम तत्त्व इसके प्रकाश के मुखापेक्षी रहते हैं। इसीलिए तो हमारे यहाँ पाणिनि और रसेश्वर दर्शनों के नाम से व्याकरण और आयुर्वेद के दर्शनों को भी स्थान मिला है। सर्वदर्शनकार ने सोलह दर्शन माने ह।

साधारणतथा हम दर्शनों के दो विभाग कर सकते हैं—वैदिक और अवैदिक। इन्हींको हमारे यहाँ आस्तिक और नास्तिक दर्शन कहा गया है। हमारे यहाँ वेदों की प्रतिष्ठा ईश्वर से भी अधिक है। वेद की प्रतिष्ठा ज्ञान का सम्मान है। 'नास्तिको वेद निन्दकः' सांख्य दर्शन ईश्वर की उपेक्षा करके भी आस्तिक है क्योंकि वह वेदों को आप्त प्रमाण मानता है।

आस्तिक दर्शनों के नाम इस प्रकार हैं–वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन नास्तिक दर्शनों में प्रमुख हैं। हमारे यहाँ के दार्शनिक सदा देश और काल के परे जाने की कोशिश करते रहे हैं। इसलिए उन्होंने काल की परवाह भी नहीं की। भारत के अन्य वाङ्मय की भाँति दार्शनिक साहित्य का काल-क्रम निर्धारित करना कठिन है। हम केवल यही कह सकते हैं कि पहले वेद, फिर उपनिषद, उनके अनन्तर सूत्र और उसके पश्चात् उनके वार्तिक भाष्य, टीका, कारिका आदि ग्रंथ। वाल्मीकीय रामायण, महाभारत (विशेषकर श्रीमद्भगवद्-गीता में) और श्रीमद्भगवत आदि पुराणों में जो दार्शनिक चिन्तन हुआ है वह उपेक्षणीय नहीं है। सम्प्रदायों के तंत्र ग्रंथों में भी उच्च कोटि का दार्शनिक विवेचन है।

सूत्रों में किसका आगे निर्माण हुआ और किसका पीछे, यह कहना इसलिए कठिन है कि सूत्रों से पहले दार्शनिक सम्प्रदाय वर्तमान थे। इसीलिए सूत्र ग्रंथों में एक दूसरे के सिद्धान्तों का उल्लेख आता है और उनका समर्थन या खण्डन भी। उपनिषदों में हमें प्रायः सभी दर्शनों के बीज मिलते हैं। हमारे ऋषियों ने उपवनों में रहकर प्रायः समस्त दृष्टिकोणों से सत्य के दर्शन किए थे। (दार्शनिक चिन्तन केवल ब्राह्मणों का ही एकाधिकार नहीं रहा है महाराज जनक, प्रवाहण और अजातशत्रु आदि क्षत्रियों ने ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है) ये विचारधारा बहुत दिनों तक गुरु-शिष्य परम्परा में चलकर सूत्रबद्ध हुई। ऐसी अवस्था में कालक्रम का निश्चय करना बहुत कठिन हो जाता है।

यदि हम यह मानलें कि विकास का क्रम स्थूल से सूक्ष्म की ओर है तो इस दृष्टिकोण से हम दर्शनों के तार्किक क्रम (Logical order) का अनुमान लगा सकते हैं। वैशेषिक, न्याय, सांख्य, योग पूर्व मीमांसा और उत्तरमीमांसा (वेदान्त) एक दूसरे के पश्चात् तार्किक क्रम से आते हैं और सम्भव है कि यह कालक्रम भी हो। भाष्य ग्रंथों का कालक्रम अधिक निश्चित है। सूत्र ग्रंथ तो संकेतमात्र हैं। पूरा दार्शनिक उत्साह तो भाष्य ग्रंथों में है और कहीं कहीं इसी कारण उनमें साम्प्रदायिकता भी आ गई है। नीचे लिखे दर्शनों के विवेचन से इस क्रम की सार्थकता स्पष्ट हो जायगी।

वैशेषिक—इसके प्रवर्त्तक महर्षि कणाद हैं। कणाद शब्द का अर्थ है कणों (खेत में पड़े हुए अन्न के कणों) को खानेवाले। यह था ऋषियों का सांसारिक वैभवविहीन सात्विक जीव। सम्भव है कि कण या परमाणुओं के मानने के कारण यह नाम पड़ा हो। वैशेषिक नाम 'विशेष' नाम के एक पदार्थ मानने के कारण पड़ा। वैशेषिक का दृष्टिकोण यद्यपि भौतिक है तथापि उसका भी उदय धर्म की व्याख्या के लिए ही हुआ है, 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' धर्म से सांसारिक अभ्युदय और निश्रेयस (Summum Bonum) की प्राप्ति होती है। निश्रेयस की प्राप्ति पदार्थों के ज्ञान द्वारा होती है। इस सम्बन्ध में पदार्थों की व्याख्या हो जाती है। पदार्थ ६ माने गए हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। इसमें सब वस्तुओं को विषय रूप से ही देखा गया है। आत्मा को अन्य और द्रव्यों (पंच तत्त्व, काल, दिशा, आत्मा और मन) के साथ एक द्रव्य माना है। पंचभूतों का प्रकृति में एकीकरण नहीं हुआ है। पञ्चभूत भी विशेष विशेष परमाणुओं से बने हैं। इसमें अनेकत्व की भावना का प्राधान्य है। वैशेषिक के तत्त्वों में द्रव्य का ही प्राधान्य है और पदार्थ द्रव्य से ही सम्बन्ध रखते हैं। गुण और कर्म द्रव्य के ही आश्रित रहते हैं। सामान्य विशेष द्रव्यों में ही पाए जाते हैं। समवाय गुणों को द्रव्यों में बाँधे रखनेवाला सम्बन्ध है। वैशेषिक ने इन सब पदार्थों की यद्यपि स्वतंत्र सत्ता मानी है तथापि हैं ये द्रव्य से ही सम्बन्धित। अदृष्ट की शक्ति द्वारा परमाणुओं में गति आती है। सांख्य की अपेक्षा वैशेषिक में ईश्वर के लिए अधिक गुंजाइश है। सांख्य भी निरीश्वर नहीं है। जिसको वैशेषिक ने आत्मा कहा है उसको वेदान्ती जीव कहेंगे। जीवात्मा नित्य विभु और संख्या में अनेक है।

न्याय—इसके प्रवर्तक हैं महर्षि गौतम, जिनको अक्षपाद भी कहते हैं। न्याय शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है—'नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेन इति न्यायः' अर्थात् जिसके द्वारा अभीष्ट अर्थ की सिद्धि तक पहुँचाया जाय वह न्याय है। न्याय में विवेच्य विषयों की अपेक्षा विवेचन और सत्योपलब्धि के साधनों पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसीलिए उनके सोलह पदार्थों में पन्द्रह तर्कशास्त्र से सम्बन्ध रखते हैं और प्रमेय में दुनियाँ के और सब विषय आ जाते हैं। न्याय के पदार्थ इस प्रकार हैं—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा,

हेत्वाभास (Fallacy), छल, जाति, निग्रहस्थान। न्याय ने प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान और शब्द नाम के चार प्रमाण माने हैं। प्रमाण यथार्थ ज्ञान के साधन हैं। वैशेषिक में उपमान और शब्द को स्वतंत्र स्थान नहीं दिया गया है।

न्याय में बारह प्रमेय माने गये हैं। वे हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव (मरणोत्तर जीवन) फल (कर्मफल), दुख, अपवर्ग (मोक्ष)। इनमें आत्मा मुख्य है। बाह्य भौतिक पदार्थों का विवेचन अर्थ के अन्तर्गत हुआ है। वैशषिक के परमाणुवाद को न्याय ने भी माना है। आत्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाए गए हैं:—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि आत्मनो लिंगम्

वैशेषिक ने पलक मारना आदि भौतिक क्रियाओं को भी आत्मा के चिह्नों में माना है—**प्राणापान निमेषोन्मेष जीवन**..................। इस प्रकार वैशेषिक का ध्यान स्थूलत्व की ओर अधिक गया है। न्याय इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख दुख ज्ञान आत्मा के चिह्न माने हैं। न्याय प्रतिपादित आत्मा भी सक्रिय और कर्ता भोक्ता है। न्याय के पिछले विकास में ईश्वर सिद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। शंकराचार्य से पूर्व न्याय ने ही बौद्धों से लोहा लिया था तभी तो नैयायिक गर्व से भगवान को भी फटकार देते थे। द्वार बन्द होने के कारण जगन्नाथजी के मन्दिर में प्रवेश न पाने पर उदयनाचार्य की गर्वोक्ति देखिए:—

ऐश्वर्यमदमत्तोऽसि मामवज्ञाय वर्तसे। उपस्थितेषु बौद्धेषु मदधीना तव स्थितिः॥

अर्थात् तुम अपने बड़प्पन के घमण्ड में भूले हुए मेरी अवज्ञा करते हो किन्तु बौद्धों के उपस्थित होने पर तुम्हारे अस्तित्व की रक्षा करना मेरा ही काम है। और दर्शनों की अपेक्षा न्याय का विकासक्रम बहुत काल तक चलता रहा। नव्यन्याय ने तर्कशास्त्र को तत्वज्ञान से पृथक् कर शुद्ध तर्कशास्त्र की स्थापना की और व्याप्ति ग्रहण (Induction) के उपायों की विशद विवेचना की। यह क्रम उन्नीसवीं शताब्दी तक चलता रहा।

न्याय वैशेषिक दर्शनों की मान्यताएँ प्रायः एकसी हैं और उनको एक वर्ग में रक्खा जाता है। तर्क संग्रह, तर्कभाषा आदि जो प्रकरण ग्रंथ बने उनमें न्याय वैशेषिक के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। आर्य समाज में इन दर्शनों की विशेष प्रतिष्ठा है।

सांख्य—इसके प्रवर्तक महर्षि कपिल हैं। सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख श्रीमद्भागवत में भी है। उसमें कपिल को तत्वों का गिनानेवाला (तत्त्व संख्याता) कहा है। सांख्य के २५ तत्त्व इस प्रकार हैं:—

पुरुष*।× मूल प्रकृति (सत, रज तम की साम्यावस्था) यह किसी का विकार नहीं है और सब इसके विकार हैं। २
↓
महत्तत्त्व (बुद्धि) १
↓
अहंकार १
↓
गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द की पंचतन्मात्राएँ + दश इन्द्रियाँ और मन १६
↓ **(तन्मात्राएँ पंच भूतों की सूक्ष्म कारण हैं)**
पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश पंचतत्त्व। ५
——
२५

इनमें से मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्राएँ अष्ट प्रकृतियाँ कहलाती हैं। मूल प्रकृति केवल प्रकृति है, अर्थात् वह किसीका विकार नहीं है शेष सात प्रकृति-विकृति हैं। १६ विकार या विकृतियाँ मानी गई हैं क्योंकि इनसे और कोई विकार आगे उत्पन्न नहीं होते। पुरुष न प्रकृति है न विकृति। पुरुष की सत्ता से ही प्रकृति काम करती है। जिस प्रकार राजा के आ जाने से नटी नाचने लगती है उसी प्रकार पुरुष की प्रसन्नता के लिए प्रकृति क्रियाशील हो उठती है।

*पुरुष न किसी का विकार है, और न उससे कोई विकार उत्पन्न होता है।

इस संयोग में अन्य पंगु न्याय से प्रकृति पुरुष दोनों का ही लाभ है। प्रकृति ज्ञान के प्रभाव वश अन्धी है पुरुष क्रिया के प्रभाव के कारण पंगु है। अंधा लंगड़े को यदि अपने ऊपर बैठा ले तो दोनों रास्ता चल सकते हैं। अंधा चलेगा लंगड़ा रास्ता बतलायगा। इसी प्रकार प्रकृति और पुरुष के संयोग से सृष्टी चलती ह। प्रकृति पुरुष के बन्धन का भी कारण है और मोक्षका भी। इसी को हम सांख्य का प्रयोजनवाद कह सकते हैं। इस सम्बन्ध में निम्नोल्लिखित कारिका पठनीय है :—

पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। पंग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥

इस सृष्टि में निष्क्रिय, आत्मा प्रकृति के संयोग के कारण सक्रिय दिखाई देने लगता है और अपने को कर्ता और भोक्ता मानता है। ज्ञान होने पर पुरुष अपने मुक्त स्वरूप को पहचान लेता है और दुख का नाश हो जाता है। सांख्य में पुरुष का अनेकत्त्व माना है किन्तु यह अनेकत्व भी वास्तव में प्रकृति के संयोग का ही फल है।

न्याय और वैशेषिक में आत्मा को एक प्रकार से सगुण माना है। सांख्य में आत्मा निर्गुण है। सुख-दुख से परे है। न्याय में आत्मा को सुख दुख का अनुभव होता है। सांख्य में मन, बुद्धि के संयोग होने पर आत्मा को सुख दुख का ज्ञान होता है। जो बातें न्याय और वैशेषिक में आत्मा को सहज प्राप्त हैं वे सांख्य में प्रकृति से प्राप्त लिंग शरीर और अन्तःकरण द्वारा आती हैं। सांख्य को अधिकांश लोगों ने निरेश्वर माना है और योग को सेश्वर सांख्य कहा है। प्रकृति पुरुष के अस्तित्व मात्र से स्वयं ही कार्य कर लेती है। उसमें ईश्वर की जरूरत नहीं पड़ती। सांख्य सूत्रों में एक प्रसंग विशेष में 'ईश्वरा सिद्धेः' प्रारम्भ भावत्' कहा है। इसी के आधार पर विद्वानों ने सांख्य के निरीश्वर होने की कल्पना की है। ईश्वर की सिद्धि साधारण प्रमाणों से नहीं होती है। किन्तु **'सहि सर्ववित सर्वकर्ता, ईदृशेश्वर सिद्धिः सिद्धा'** आदि सूत्रों में उसकी सिद्धि भी मानी गई है। फिर भी ईश्वर के सम्बन्ध में न्याय वैशेषिक और सांख्य के दृष्टिकोण में अन्तर रहेगा। सांख्य के अनुसार ईश्वर कर्ता नहीं होता; दृष्टा साक्षी मात्र रहता है।

योग—इसके प्रवर्त्तक हैं महर्षि पतञ्जलि। चित्त वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः'। जिस प्रकार वैशेषिक के सिद्धान्तों की पुष्टि न्याय प्रतिपादित प्रमाणों से होती है उसी प्रकार सांख्य की पुष्टि और पूर्ति योग द्वारा होती है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग के आठ अंग हैं। वे इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। योग दर्शन में कर्म की विशद व्याख्या है। योगदर्शन में सांख्य की सृष्टियोजना में ईश्वर का स्थान स्पष्ट कर दिया जाता है। वह उस माली का सा है जो बरहे को साफ कर पानी की गति को अबाधित कर देता है। मेरी समझ में सांख्य की सृष्टि योजना में इतनी गुंजायश अवश्य है कि प्रकृति की साम्यावस्था को विषम बनाकर सृष्टिक्रम जारी करने के लिए एक निमित्त कारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

पूर्व मीमांसा—इसके आचार्य हैं महर्षि जैमिनि। यद्यपि इसका मूल विषय धर्म की जिज्ञासा है तथापि इसमें वेदों के पौरुषेय या अपौरुषेय होने तथा उनके अर्थ लगाने की विधि और यज्ञों का विवेचन है।

मीमांसा में कर्म की प्रधानता है—**'कर्मेति मीमांसकाः'**। इस प्रधानता के कारण कुछ लोगों ने मीमांसा शास्त्र को निरेश्वर माना है। इसका कारण यह है कि कर्म फल देने में ईश्वर की आवश्यकता नहीं रक्खी गई है। कर्म स्वयं ही फलवान हो जाते हैं। किन्तु जो शास्त्र वेदों को पूर्णतया प्रामाणिक मानता है वह ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार नहीं कर सकता है।

उत्तर मीमांसा वा वेदान्त—वेदान्त शब्द के कई प्रकार से अर्थ किये गए हैं—वेदों का अन्त अर्थात् वेदों के कर्म और उपासना के पश्चात् ज्ञानकाण्ड जो उपनिषदों में प्रतिपादित है। वेदान्त का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि जो विद्या वेदों के अध्ययन के पश्चात् आती हो। वेद और उसके अंगों को अपरा विद्या कहा है और वेदान्त या ब्रह्म-विद्या को पराविद्या कहा है :—

तत्रापरा, ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः, शिक्षाकल्पोव्याकरणम्। निरुक्तंछन्दो ज्योतिषमिति, अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ मुण्डकोपनिषद्।

वेदों के अन्त, सार वा निचोड़ को भी वेदान्त कह सकते हैं। उत्तर-मीमांसा शब्द में भी यही भाव है। वेदों के ज्ञानकाण्ड का विकास हमको उत्तरकालीन उपनिषदों में मिलता है। इस लिए ज्ञानप्रधान वेदान्त उत्तरकालीन मीमांसा नाम से प्रख्यात हुआ। कर्मकाण्ड प्रधान मीमांसा पूर्व मीमांसा कहलाई। वेदान्त में तीन ग्रंथ प्रमाणिक माने जाते हैं—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता, इनको प्रस्थानत्रयी भी कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के कर्ता वादरायण या वेदव्यासजी हैं। ब्रह्मसूत्र में चार पाद हैं जिनमें चार चार अध्याय के हिसाब से सोलह अध्याय हैं। ये चार पाद स्वयं ब्रह्म के ही द्योतक हैं। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है—**'पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** अर्थात् सारा विश्व ब्रह्म का एक चौथाई भाग है और तीन पाद में वह अमृत रूप से स्थित है। ब्रह्म का व्यापक अंश थोड़ा है, संसार से परे जो अतीत अंश (Transendental) है वह बहुत है। ब्रह्मसूत्रों पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने अपने अपने मत के अनुसार टीकाएँ की हैं। यद्यपि वे एक ही ग्रंथ की टीकाएँ हैं और उनमें सिद्धान्त का काफी भेद है तथापि वे सब श्रुति वाक्यों से बँधे हुए हैं और सब ही किसी न किसी प्रकार से जीव और ब्रह्म की एकता मानते हैं। सिर्फ मध्वाचार्य पूर्ण द्वैतता मानते हैं।

शांकर वेदान्त—यह मायावाद के नाम से प्रख्यात है। इसको अद्वैत वेदान्त भी कहते हैं। श्री शंकराचार्य का जन्म ईसा की सातवीं शताब्दी के अन्त वा आठवीं में हुआ माना जाता है। बहुमत से उनका जन्म काल सन् ७८८ ई० माना जाता है। शांकर वेदान्त का मूल सिद्धान्त तो यही है कि **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः'**। यह वाद शंकराचार्य कृत शारीरिक भाष्य पर अवलम्बित है। शारीरिक का अर्थ है शरीर में रहनेवाला आत्मा। श्रुतियों में तो आत्मा की एकता के अनेकों प्रमाण मिलते हैं—**'सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं'** (छान्दोग्य ६-२-१) **'मनसैवानुद्रष्टव्यं नेहनानास्ति किञ्चन', 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि'** आदि महावाक्य भी इस बात को प्रमाणित करते हैं। भेद पर बुद्धि भी नहीं ठहरती। बुद्धि एकता ही चाहती है किन्तु प्रश्न यह होता है कि यह दृश्यमान भेद है क्या? शांकर मत से यह भेद अध्यास मात्र है और उसी प्रकार है जिस प्रकार रस्सी में साँप दिखाई देता है। ज्ञान का प्रकाश हो जाने पर सर्प नहीं दिखाई देता है। सर्प की स्थिति तभी तक है जब तक कि अज्ञान है। यह अविद्या के कारण हैं। भ्रम के सिवाय भेद का अस्तित्व ही नहीं है। ज्ञान हो जाने पर विश्व का पता भी नहीं चलता, अधिष्ठान मात्र ब्रह्म रह जाता है। रस्सी रस्सी ही रहती है, साँप रहता ही नहीं, वास्तव में था भी नहीं। शंकराचार्य कहते हैं—

नह्यस्ति विश्वं परतत्वबोधात्सदात्मनि ब्रह्मणि निर्विकल्पे।
कालत्रये नाप्यहिरीक्षितो गुणे, नह्यम्बुबिन्दुर्मृगतृष्णिकायाम्॥

यह भ्रम व्यवहार में तो सत्य है किन्तु परमार्थ में असत्य है। इसलिए इसको न यह कह सकते हैं कि है और न यह कह सकते हैं कि नहीं है। वेदान्त के हिसाब से सत् वही है जो तीनों काल में सत् हो, जो आदि में न हो अन्त में न रहे और मध्य में ही रहे वह परमार्थ में सत् नहीं कहा जा सकता है। जब तक है तब तक के लिए तो नितान्त असत् भी असत नहीं कहा जा सकता। इसलिए इसको सत् और असत् के बीच की चीज कहा है। इस कारण माया को शांकर मत अनिर्वचनीय कहता है।

शांकर मायावाद परमार्थ में जीवों की एकता बतलाकर परोपकार के लिए एक भित्ति तैयार कर देता है। सब भूतों में एक ही आत्मा का देखना परम कर्तव्य हो जाता है। ब्रह्म संसार में व्याप्त भी है और उसको अतीत करता है। व्याप्तरूप को उसका शवल स्वरूप कहा है और अतीत स्वरूप को शुद्ध स्वरूप कहा है। उपनिषदों में भी कहा है कि वह विश्व में व्याप्त भी है और उससे बाहर भी है। यह जो बाहर है वही उसका अतीत स्वरूप है—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च॥

प्रचार और व्यापकता की दृष्टि से शांकर मत का प्रभाव बहुत व्यापक है। हिन्दी साहित्य पर उसकी अमिट छाप है। कबीर (और अधिकांश में जायसी भी) तो स्पष्ट रूप से प्रभावित हैं ही। तुलसीदास में 'रजौयथाहेर्भ्रमः',—'रजत सीप महं भास जिमि, यथा भानुकर वारि, जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ, भ्रम न सकै कोउ टारि' आदि वचनों में मायावाद

की स्पष्ट छाप है। यद्यपि यह कहना कठिन है कि गोस्वामीजी जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में भी शांकरवादी थे तथापि उनपर उस वाद का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में था।

राधानागरी के अनन्य उपासक कवि बिहारीलाल पर भी मायावाद की छाप थी—

मैं देखो निरधार यह जग काँचो काँच सो। एकहि रूप अपार प्रतिबिम्बित जहँ देखिए ॥

विशिष्टाद्वैत—इसके प्रवर्तक हैं श्री यामुनाचार्य किन्तु यह उनके प्रख्यात शिष्य रामानुजाचार्य (संवत १०७४–११९४) के नाम से अधिक सम्बद्ध है। इनका ब्रह्म सूत्रों का भाष्य श्रीभाष्य कहलाता है।

रामानुजाचार्य ने ब्रह्म या ईश्वर को अद्वैत तो माना है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है किन्तु उसे चिद् चिद्‌विशिष्ट माना है। (चित जीव और अचित जड़) दो विशेषणों से युक्त होने के कारण वह विशिष्ट है। विशिष्ट होकर भी वह अद्वैत है। श्री रामानुजाचार्य के सिद्धान्त नीचे के श्लोक में संक्षिप्त रूप से बतलाये जा सकते हैं—

ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितयो हरिः। ईश्वरश्चित् इत्युक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः ॥

अर्थात् हरि का त्रिपदार्थात्मक रूप है। ईश्वर चित् और अचित् (चित् जीव है और दृश्य जगत अचित् है) विशिष्ट है।

विशिष्टाद्वैत ब्रह्म में स्वगत भेद मानता है। शांकर वेदान्त किसी तरह के भेद नहीं मानता। ब्रह्म में सजातीय भेद (जैसा मनुष्य मनुष्य का) और विजातीय भेद—(जैसा मनुष्य और घोड़े का) तो रामानुजाचार्य भी नहीं मानते। वे स्वगत भेद (जैसा हाथ पैर और अंगुली अंगुली का) मानने में कोई आपत्ति नहीं देखते। जीव और जगत परमात्मा के शरीर-रूप हैं।

विशिष्टाद्वैत जीव और ब्रह्म में अंशांशीभाव मानता है। जीव पृथक्-पृथक् हैं। विशिष्टाद्वैत मत नारायण की उपासना मानता है। स्वामी रामानन्द ने नारायण को राम-रूप से माना। विशिष्टाद्वैत मत का आधार उपनिषदों में इस प्रकार मिलता है।

द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चैवामूर्तं च, मर्त्यं चामृतं, च स्थितं च यच्च, सच्च त्यच्च।
'अथनामधेयं सत्यस्य सत्यमिति। प्राणाःवै सत्यं, तेषा मेव सत्यम्' ॥ —वृहदारण्यक

श्री रामानन्दजी इसी सम्प्रदाय में हुए। इनके द्वारा हिन्दी साहित्य में दो शाखाएँ चलीं—एक तो कबीर द्वारा ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी इनकी शिष्य-परम्परा में आये हुए तुलसीदासजी द्वारा रामाश्रयी भक्ति शाखा।

शुद्धाद्वैत—इसके मूल प्रवर्तक हैं विष्णु स्वामी किन्तु यह महाप्रभु बल्लभाचार्य (संवत् १५३५–१५८७) के नाम से अधिक सम्बद्ध है। महाप्रभु बल्लभाचार्य ने वेदान्त सूत्रों पर अणुभाष्य लिखा था और श्रीमद्‌भागवत पर सुबोधिनी नाम की टीका लिखी है। बल्लभ सम्प्रदाय में श्रीमद्‌भागवत का सम्मान वेदों के ही बराबर है।

शुद्धाद्वैत मत में माया को स्थान नहीं है इसीसे उसका नाम शुद्धाद्वैत पड़ा है—**'माया सम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः'**। जीव और ब्रह्म तत्त्व से एक ही हैं। ब्रह्म में सत् चित् और आनन्द तीनों गुण हैं। जीव में आनन्द का तिरोभाव हो जाता है, उसमें सत् और चित् गुणों का आविर्भाव रहता है। जड़ में सत् और चित् दोनों गुणों का तिरोभाव हो जाता है। इस प्रकार ब्रह्म जीव और जड़ जगत् में गुणों की कमी-बेशी का प्रश्न रह जाता है।

इस सम्प्रदाय में श्रीकृष्ण को ही परब्रह्म माना है। उनकी शरणागति को परम कर्तव्य माना है—**'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'**। भगवत् अनुग्रह पर ही पूरा भरोसा करने के कारण यह मत पुष्टिमार्ग कहलाता है। इसका अर्थ अच्छे भोजनों से शरीर पुष्ट करना नहीं है—**'पोषणं तदनुग्रहः'**। भगवान का अनुग्रह ही पोषण है। जिस पर भगवान की कृपा होती ह उसी को ज्ञान की प्राप्ति होती है। उपनिषदों में भी कहा है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी भी ऐसा ही कहते हैं—

'सो जाने जिहि देहु जनाई'



हिन्दी कवियों में अष्टछाप के कवि इसी सम्प्रदाय के हुए हैं। सूरदासजी इनमें प्रमुख थे। रसखान भी इसी सम्प्रदाय के कवि हुए हैं। इस सम्प्रदाय में बालकृष्ण की उपासना मानी गई है।

द्वैताद्वैत––इसके प्रवर्तक श्री निम्बार्काचार्य (मृत्यु संवत् ११६२) थे। ये सूर्य के अवतार माने जाते हैं। कहा जाता है कि इन्होंने एक जैन साधु की खातिर जिनका वे दिन छिपने से पहले ही आतिथ्य सत्कार करना चाहते थे, सूर्य की गति को रोक एक नीम के पेड़ पर स्थित कर दिया था। आपके भाष्य का नाम है––वेदान्त सौरभ।

श्रुतियाँ द्वैत और अद्वैत दोनों का प्रतिपादन करती हैं। द्वैताद्वैत में ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध अंशांशी भाव से द्वैत और अद्वैत माना है। ये भी संसार को सत्य मानते हैं **'सर्वं हि विज्ञानमतो यथार्थकम्'**। ब्रह्म जगत में परिणत होने पर भी निर्विकार रहता है। वह अतीत रूप में निर्गुण है। इस मत में भी भक्ति ही परम साधन है। ब्रह्म सार्वभौम होने के कारण सुखी है, जीव सीमित होने के कारण दुखी है। निम्बार्काचार्य ने तीन तत्त्वों को इस प्रकार माना है जीव (भोक्ता) प्रकृति (भोग्य) ईश्वर (नियन्ता)।

द्वैतवाद––इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक हैं श्री मध्वाचार्य (संवत् १२५४–१३३३) इनके सिद्धान्त इस प्रकार हैं:––

श्रीमन्मध्वते हरिः परतरः सत्यं जगत्तत्त्वतो, भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः।
मुक्तिर्नैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं ह्यक्षादित्रितयप्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः॥

अर्थात् श्रीमध्वाचार्य के मत से हरिः से बढ़कर कोई नहीं है, जगत् तत्त्व से सत्य है (व्यवहार से सत्य तो शंकराचार्य जी ने भी माना है)। जीवों में भेद है अर्थात् उनमें परस्पर भेद है, जीव ईश्वर का भेद है, जीव जड़ का भेद है और जड़ों में भी परस्पर भेद है। वे सब हरि के अनुचर हैं। भक्ति का अर्थ भगवान् से हमारा निजी सम्बन्ध है इस सुख की अनुभूति है। उसका साधन अमला भक्ति है। प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द ये प्रमाण हैं। सब शास्त्रों में जानने योग्य पदार्थ हरि ही हैं। इस मत की विशेषता है कि इसने भेदों को उड़ाया नहीं है उनको सत्य माना है 'सत्यता च भेदस्य' भगवान् पूर्णरूप से स्वतंत्र हैं और जीव परतंत्र है।

समन्वय––यद्यपि भारतीय दर्शनों की संख्या ६ है और उनमें परस्पर भेद भी है तथापि वह भेद दृष्टिकोण का है। वे एक दूसरे के विरोधी नहीं कहे जा सकते, वे एक दूसरे के पूरक हैं। इनका दृष्टिकोण भेद समझ लेना चाहिए। ६ दर्शनों में वास्तव में तीन प्रकार की विचार धाराएँ हैं। ये छओं दर्शन तीन वर्गों में बाँटे जा सकते हैं। न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और पूर्व और उत्तर मीमांसा। इन युग्मों में एक अनुष्ठापक और दूसरा ज्ञापक कहा जा सकता है अर्थात् एक का सम्बन्ध साधनों और क्रियाओं से है दूसरे का सम्बन्ध ज्ञान से। न्याय-वैशेषिक में न्याय ज्ञापक है और वैशेषिक अनुष्ठापक। वैशेषिक-धर्म की व्याख्या के लिए आया, **'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः'** सांख्य-योग में सांख्य ज्ञापक है और योग अनुष्ठापक है। योग में चित्त-वृत्ति के निरोध का साधन बतलाया है। उत्तर मीमांसा ज्ञापक है और पूर्व मीमांसा अनुष्ठापक है। उसका भी उदय धर्म की जिज्ञासा और व्याख्या के लिए हुआ।

ऊपर एक श्रुति का उल्लेख आया है उसमें **'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'** आत्म-दर्शन के तीन साधन बतलाये गये हैं।

श्रवण का सम्बन्ध पूर्व और उत्तर मीमांसाओं से है क्योंकि वे श्रुति को ही प्रमाण मानकर आगे बढ़ी हैं। न्याय वैशेषिक और सांख्य में मनन की प्रधानता है योग में निदिध्यासन की।

संसार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तीन दृष्टिकोण माने गये हैं। **आरम्भवाद, परिणामवाद** और **विवर्तवाद**। आरम्भवाद कार्य को उत्पत्ति से पूर्व असत् मानता है इसीलिए वह इस नाम से पुकारा जाता है। इसको असत्कार्यवाद भी कहते हैं। न्याय और वैशेषिक इस दृष्टिकोण को ही लेकर चले हैं। परिणामवाद कार्य को उत्पत्ति के पूर्व भी सत् मानता है। उत्पत्ति के पूर्व जो अव्यक्त रूप से सत था उत्पत्ति के पश्चात् व्यक्त-रूप से सत होता है। दूध दही से भिन्न अवश्य है किन्तु दूध में ही था और सत् था और सत् है। इस मत को सांख्य-योग ने माना है। विवर्तवाद में कार्य को असत् माना गया है। कारण के परिणाम बिना ही कार्य दिखाई देने लगता है। इसको शांकर वेदान्त ने माना है। विवर्त और परिणाम में यही भेद है कि परिणाम में कार्य सत् होकर कारण से भिन्न होता है और विवर्त में असत् होकर कारण से भिन्न होता है–

सतत्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीर्यते। अतत्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीर्यते। ये तीनों दृष्टिकोण भी एक दूसरे के पूरक हैं। आरम्भ और परिणामवाद कार्य पर विशेष ध्यान रखते हैं और विवर्तवाद कारण पर। आरम्भवाद कार्य की नवीनता पर जोर देता है और परिणामवाद कार्य और कारण की एकता पर, क्योंकि वह मानता है कि असत् से सत की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किन्तु कार्य और कारण में कुछ भेद मानना ही पड़ेगा। अव्यक्त से व्यक्त होना ही नवीनता है। यहाँ पर सांख्य को न्याय की बात माननी होगी। न्याय भी कार्य कारण में किसी न किसी प्रकार का तादात्म्य मानता है क्योंकि घट मिट्टी से ही होता है और पट तन्तुओं से। विवर्तवाद कारण को प्रधानता देता है और कार्य को उसकी अपेक्षा गौण मानता है।

इन दर्शनों का भेद अधिकारी भेद से भी माना गया है। अधिकारी मानसिक उन्नति के क्रम से स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाता है। पहली श्रेणी न्याय-वैशेषिक की है, दूसरी श्रेणी सांख्य-योग की तीसरी श्रेणी पूर्व और उत्तर मीमांसा की।

वेदान्त के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का भी झगड़ा ऐसा नहीं है जिसका निपटारा न हो सके। वेदान्त के पाँच प्रमुख भाष्यकारों में तीन ने तो ईश्वर और जीव का सम्बन्ध भिन्न-भिन्न रूप से अंशांशी भाव में माना है। दोनों ने अर्थात् शंकराचार्य ने और मध्वाचार्य ने अंशांशी भाव नहीं माना है। शंकराचार्य ने बिलकुल तादात्म्य माना है। माध्वाचार्य ने बिलकुल भेद। अंशांशी भाव बीच की चीज है। शंकराचार्य ने परमार्थिक और व्यावहारिक का भेद करके सबके लिए गुञ्जाइश कर दी है। व्यावहारिक दृष्टि से अंशांशी भाव और द्वैत भक्ति-भाव मान्य होता है। जगत की सत्यता भी व्यवहारिक दृष्टि से प्रमाणित हो जाती है। हाथी के पैर की भाँति ब्रह्म में सब वादों को आश्रय मिल जाता है। वही एक सब का ध्येय है--**एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।**

चार्वाक--इस शब्द की व्युत्पत्ति चारु अर्थात् सुन्दर वाक्य से की जाती है क्योंकि इसके सिद्धान्त साधारण मनुष्य को अच्छे लगते हैं, वे चारुवाक के रूप में उसे दिखाई पड़ते हैं। इसके आचार्य हैं देवताओं के गुरु बृहस्पति। ऐसा माना जाता है कि इन्होंने दानवों को धोका देने के लिए गलत मत का प्रचार किया था। यह बात ठीक नहीं मालूम होती। देवता या ऋषि लोग किसीको धोका नहीं देते। ये लोग देहात्मवादी हैं। आत्मा को शरीर का ही विकार मानते हैं कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार महुवा से शराब उत्पन्न होती है--**'यावज्जीवेद् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'** यह इनका मूल मंत्र है।

बौद्ध दर्शन--इसका भी उदय सांख्य की भाँति दुख की निवृत्ति के लिए हुआ। जिस प्रकार सांख्य का मूल उद्देश्य दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति है (**दुखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ**) उसी प्रकार बुद्ध महाराज के आने का उद्देश्य बतलाया गया है कि उन्होंने दुख और उसके कारणों और उसके शमन का उपाय बतलाया--

ये धम्मा हेतुप्पभवा तेसं हेतुं तथागतो आह। तेसं च यो विरोधो एवं वादी महासमणो॥

दुख के कार्य-कारणों की श्रृंखला को खोजते हुए उसका मूल वासना में मिलता है। उसके ही नाश करने से दुख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। बुद्ध महाराज ने चार आर्य सत्य बतलाये हैं। वे इस प्रकार हैं (१) दुख (२) दुख समुदय अर्थात् दुख के कारणों की तृष्णा मूलक परम्परा (३) दुख विरोध अर्थात् तृष्णा पर विजय प्राप्त कर दुख का रोकना (४) मार्ग वा मध्यम प्रतिपदा अर्थात् बीच का मार्ग। इसका ब्योरा अष्टांगिक मार्ग में बतलाया है।

संसार और जीव के सम्बन्ध में बौद्ध लोग किसी शाश्वत आत्मा को नहीं मानते और न वे चारवाकों की भाँति आत्मा के अस्तित्व को बिलकुल मिटाते ही हैं। जब तक वासना का क्षय नहीं होता तब तक आवागमन का चक्र चलता रहता है लेकिन जो आत्मा जन्म लेती है वह कोई स्थायी वस्तु नहीं है वरन् वह आगे बढ़ती हुई संस्कारों की परम्परा है। जिस प्रकार दीपक की ज्योति में प्रतिक्षण नये कण आते रहते हैं उसी प्रकार नये संस्कारों का प्रवाह चलता रहता है। बाह्य सत्ता भी इन क्षणिक विज्ञानों के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

इस संसार के सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इन क्षणिक विज्ञानों के आधार के सम्बन्ध में बौद्धों के चार सम्प्रदाय हैं--वैभाषिक और सौत्रान्तिक तो बाह्याधार मानते हैं और माध्यमिक और योगाचार नहीं मानते। योगाचार वाले शून्य-वादी हैं। श्रुति में शून्यवाद का भी आधार मिलता है। सिद्धान्त रूप से नहीं वरन् एक पक्षरूप से--

'तद्ध एक आहुरसदेवेदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत'।

जैन--जैन मत के प्रवर्तक हैं भगवान् ऋषभदेव। ये पहले तीर्थंकर हैं। जैन दर्शन में न्याय, वैशेषिक और सांख्य का सा बहुपुरुषवाद है। संसार को सत्य माना गया है। वेदान्त की भाँति जीव मुक्त होकर व्यक्तित्व को नहीं खो देता है। जैन दर्शनों मे आत्मा मुक्त होकर अपना पार्थक्य रखता है। इस प्रकार जैन सिद्धान्त अनेकत्ववादी वेदान्त है और पुद्गल को अलग मानने से सांख्य के बहुत निकट आ जाता है, फिर भी उसकी विशेषता है। सबसे बड़ी विशेषता अनकान्तिक दृष्टिकोण की है अर्थात् यह कि एक ही चीज को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न रूप में देख सकते हैं। स्थायित्व की दृष्टि से हम वस्तु को अस्ति कह सकते हैं किन्तु उसके परिवर्तनों की दृष्टि से उसे नास्ति कह सकते हैं। दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर अस्ति नास्ति भी कह सकते हैं। ऐसे सात भंग माने गए हैं। इसीको सप्तभंगी न्याय कहते हैं। लेकिन दृष्टिकोण या नय अनेक हो सकते हैं। अनेकान्तवाद को भी मानते हुए जैन सिद्धान्त अनेकत्व में भी एकत्व देख सकता है। इस दृष्टि से जैन सिद्धान्त भेदाभेद के बहुत निकट आ जाता है। उपासना में भेद अवश्य रहेगा। जैन सिद्धान्त ने सारे संसार को दो पदार्थों में बाँट दिया है जीव और अजीव। अजीव में धर्म अधर्म पुद्गल और देश और काल हैं।

जैन धर्म जीव को मिट्टी में मिला हुआ खान के सोने की भाँति मानता है। उसमें वासनाओं के कारण पुद्गल का आस्रव होता रहता है और अधिकाधिक धूल मिलती जाती है। इस आस्रव को संवर और निर्जर द्वारा रोक देना और जीव को शुद्ध कर लेना ही परम पुरुषार्थ है। इसके लिए शम दमादि की आवश्यकता होती है। जैन सिद्धान्त आवागमन को मानता है और कारण और तैजस् शरीर में भी विश्वास रखता है।

हमारा भविष्य--भारतीय विचारधारा शुद्ध रूप में अठारहवीं शताब्दी तक चलती रही। नवद्वीप में नव्य न्याय का उत्तरकालीन विकास इसका प्रमाण है। सुन्दरदास आदि के विचार सागर आदि ग्रंथों में वेदान्तिक विचारधारा प्रवाहित हुई है। आर्य समाज, ब्रह्म समाज ने भी भारतीय विचार धाराओं को अग्रसर करने में योग दिया है। स्वामी विवेकानन्द, रामतीर्थ तथा अरविन्द घोष आदि ने भी अपने भाषणों में भारतीय की विचारधारा को बढ़ाया ही है। उनकी मौलिक दैन चाहे अधिक न हो किन्तु ज्ञान की ज्योति को बुझने से बचाये रक्खा है। स्वामी रामतीर्थ ने वेदान्त के व्यावहारिक पक्ष पर अधिक बल दिया है। आजकल के युग में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और महात्मा गांधी ने भारत की विचारधारा को विशेष रूप से प्रभावित किया। रविबाबू के Personality और साधना नाम के ग्रंथों में संग्रहीत विचार उनको दार्शनिकों में स्थान देते हैं। पुरुषता Personality के आध्यात्मिक पक्ष पर उन्होंने अधिक बल दिया है और उनकी रहस्यवाद सम्बन्धी कविताओं में वैष्णव प्रेम पद्धति का एक नये रूप से पुनर्जीवन हुआ है।

महात्मा गांधी ने नीति और आचार सम्बन्धी विचारधारा पर अधिक प्रभाव डाला है। उनकी विचारधारा भारतीय अहिंसा और टालस्टाय के विचारों का अपूर्व सम्मिश्रण मिलता है। भविष्य में चलकर इन विचारों का यथार्थ मूल्यांकन हो सकेगा। सर सर्वपल्ली राधाकृष्ण, डाक्टर एस० एन० दासगुप्त आदि विद्वानों ने भारतीय विचारधारा का अंग्रेजी भाषा जाननेवालों को उनकी ही भाषा में (खग जाने खग ही की भाषा) परिचय कराया है। इसके साथ उन्होंने अपने विचारों द्वारा भारतीय विचारधारा को कुछ अग्रसर किया है। पाश्चात्त्य देशों में सर राधाकृष्ण के विचार निरपेक्ष प्रत्ययवाद (Asolute Idealism) के नाम से प्रख्यात है।

अब भारतीय विचारधारा शुद्ध गंगधारा तो नहीं रही है उसमें पश्चिमी विचारधारा का यमुना जल भी मिल गया है। यह तो इतना दुख का विषय नहीं है, यह सम्मिश्रण हमारी विचारधारा को अधिक गति प्रदान करेगा किन्तु हमारा चिन्तन का माध्यम अंग्रेजी होता जाता है। यह अवश्य खेद की बात है। हमारा सम्पर्क संस्कृत भाषा से कुछ बढ़ तो चला है किन्तु पर्याप्त मात्रा में नहीं। चिन्तन का माध्यम तो अब हिन्दी ही रहना चाहिए। हमको प्राचीन ग्रंथों का अधिक से अधिक परिचय प्राप्त करना चाहिए। हमारे सामने प्राचीन समस्याएँ ही नहीं हैं, अब कुछ नई समस्याएँ भी उपस्थित हो गई हैं। प्राचीनों के प्रति श्रद्धा और आदर का भाव रखते हुए हमको यह धारणा छोड़ देना चाहिए कि अब नवीनता के लिए कोई गुन्जाइश नहीं। प्राचीनों की ऐसी धारणा न थी। सूत्रों पर भाष्य करते हुए भी उन्होंने नई शाखाओं को जन्म दिया। हम में उनके बराबर साधना नहीं है। विद्या का भी अनुराग जीवन की भागदौड़ में कम हो गया है किन्तु फिर भी हमारी प्राचीन गौरवमयी परम्परा हमको नए चिन्तन में अधिक बल प्रदान कर सकेगी। उपस्थित सामग्री को आत्मसात् कर अग्रसर होना जीवन का लक्षण है। उत्पादन और सृष्टि की सम्पत्ति स्वयं संसार के आदिकारण परमात्मा से हमको दायत्व में मिला है। पूर्वी और पश्चिमी ऋषियों का ऋण हमारे सिर पर बढ़ता जाता है। संसार को कुछ देकर ही हम उस ऋण को चुका सकते हैं। नई सहस्राब्दी में भारत और विश्व का प्रवेश हमारे लिए शुभ हो।



भारतीय ज्योतिष का विकास

श्री डाक्टर गोरखप्रसाद, डी० एस-सी०

ज्योतिष की महत्ता--भारतीय ज्योतिष का प्राचीनतम इतिहास सुदूर भूतकाल के गर्भ में छिपा हुआ है। केवल ऋग्वेद आदि अति प्राचीन ग्रंथों के स्फुट वाक्यांशों से आभास मिलता है कि उस समय ज्योतिष का ज्ञान कितना रहा होगा।

ज्योतिष का अध्ययन अनिवार्य था। जंगली जातियों में ज्योतिष का थोड़ा बहुत ज्ञान रहता ही है क्योंकि इसकी आवश्यकता प्रति दिन पड़ा करती है; इसलिए आर्यों का ज्योतिष-ज्ञान समुन्नत दिशा में पहुँचना आश्चर्य की बात नहीं है। ज्योतिष का विशेष रूप से अध्ययन उस समय भी होता था इसका प्रमाण यह है कि यजुर्वेद में 'नक्षत्रदर्श' (=ज्योतिष) की चर्चा है*। छांदयोग उपनिषद् में नक्षत्रविद्या का उल्लेख है†। ज्योतिष अति प्राचीनकाल से वेद के छह अंगों में गिना जाता रहा है‡।

ज्योतिष के ज्ञान की आवश्यकता कृषकों को भी पड़ती है और पुजारियों को भी। यों तो सभी को समय समय पर ऐसी बातों के जानने की आवश्यकता पड़ जाती है जिसे ज्योतिषी ही बतला सकता है, परन्तु कृषक विशेष रूप से जानना चाहता है कि पानी कब बरसेगा, और खेतों के बोने का समय आ गया या नहीं। पुजारी तो बहुतसी बातें जानना चाहता है। प्राचीन समय में साल साल भर तक चलनेवाले यज्ञ हुआ करते थे और अवश्य ही वर्ष में कितने दिन होते हैं, वर्ष कब आरम्भ हुआ, कब समाप्त होगा, यह सब जानना बहुत आवश्यक था।

आजकल पंचांग इतना सुलभ हो गया है और उसके नियम इतने सुगम हो गए हैं कि इसकी कल्पना ही प्रायः असम्भव है कि अत्यन्त प्राचीन समय में क्या क्या कठिनाइयाँ पड़ती रही होंगी। इसलिए इस प्रश्न पर विचार करना कि प्राचीनतम ज्योतिषी का वातावरण कैसा रहा होगा लाभदायक होगा।

---

* ३०।१०।

† ७।१।२; ७।१।४; ७।२।१; ७।७।१।

‡ **आपस्तंब धर्मसूत्र** ४।२।८।१०।

भारतीय ज्योतिष का विकास

समय की तीन इकाइयाँ—प्राचीनतम मनुष्य ने भी देखा होगा कि दिन के पश्चात् रात्रि, रात्रि के पश्चात् दिन होता है। एक रातदिन—ज्योतिष की भाषा में एक अहोरात्र और साधारण भाषा में केवल दिन—समय नापने की ऐसी इकाई थी जो मनुष्य के ध्यान के सम्मुख बरबस उपस्थित हुई होगी। परन्तु कई कामों के लिए यह एकाई बहुत छोटी पड़ी होगी। उदाहरणतः, बच्चे की आयु कौन जोड़ता चलेगा कि कितने दिन की हुई। सौ दिन के ऊपर असुविधा होने लगी होगी।

सौभाग्यवश एक दूसरी इकाई थी जो प्रायः इतनी ही महत्वपूर्ण थी। लोगों ने देखा होगा कि चन्द्रमा घटता-बढ़ता है। कभी वह पूरा गोल दिखलाई पड़ता है, कभी वह अदृश्य भी रहता है। एक पूर्णिमा से दूसरी तक, या एक अमावस्या से दूसरी तक के समय को इकाई मानने में सुविधा हुई होगी। यह इकाई—एक मास या एक चान्द्रमास—कई कालों के नापने में सुविधाजनक रही होगी, परन्तु सबके नहीं। कुछ दीर्घ काल, जैसे बालक-बालिकाओं की आयु बताने में मासों का उपयोग भी असुविधाजनक प्रतीत हुआ होगा; इससे भी बड़ी इकाई की आवश्यकता पड़ी होगी।

परन्तु लोगों ने देखा होगा कि ऋतुएँ बार बार एक विशेष क्रम में आती रहती हैं—जाड़ा, गरमी, बरसात, फिर जाड़ा, गरमी, बरसात, और सदा यही क्रम लगा रहता है, इसलिए लोगों ने बरसातों की संख्या बताकर काल-मापन आरम्भ किया होगा। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि वर्ष शब्द की उत्पत्ति वर्षा से हुई है, और वर्ष के पर्यायवाची शब्द प्रायः सभी ऋतुओं से सम्बन्ध रखते हैं जैसे शरद, हेमन्त, वत्सर, संवत्सर, अब्द, इत्यादि। शरद और हेमन्त दोनों का सम्बन्ध जाड़े की ऋतु से है; वत्सर और संवत्सर से अभिप्राय है वह काल है जिसमें सब ऋतुएँ एक बार आ जाय, अब्द का अर्थ जल देनेवाला या बरसात है।

समय की इकाइयों में सम्बन्ध—सैकड़ों वर्षों तक अहोरात्र, मास और वर्ष के सम्बन्ध को सूक्ष्म रूप से जाने बिना ही काम चल गया होगा, परन्तु जैसे जैसे गणित का ज्ञान बढ़ा होगा, जैसे जैसे राजकाज में क्रमबद्ध आय-व्यय लेखा वर्षों तक रखने की आवश्यकता पड़ी होगी, या लम्बे लम्बे एक या अधिक वर्षों के यज्ञ होने लगे होंगे, तैसे तैसे इन तीन इकाइयों के सम्बन्ध को ठीक ठीक जानने की आवश्यकता तीव्र होती गई होगी।

मनुष्य के दोनों हाथों में कुल मिलाकर दस अँगुलियाँ होती हैं और इसी कारण गणित में दस की विशेष महत्ता है। सारा गणित दस अंकों से लिख लिया जाता है—१ से ९ तक वाले अंक और शून्य ०; इन्हींसे बड़ी से बड़ी संख्याएँ लिख ली जाती हैं। प्राचीनतम मनुष्य ने जब देखा होगा कि एक मास में लगभग तीस दिन होते हैं तो मास में ठीक ठीक तीस दिन मानने में उसे कुछ भी संकोच न हुआ होगा। उसे मास में तीस दिन का होना उतना ही स्वाभाविक जान पड़ा होगा कि जितना दिन के बाद रात का आना।

परन्तु सच्ची बात तो यह है कि एक मास में ठीक ठीक तीस दिन नहीं होते। सब मास ठीक ठीक बराबर भी नहीं होते। इतना ही नहीं, सब अहोरात्र भी बराबर नहीं होते। इन सब इकाइयों का सूक्ष्म ज्ञान मनुष्य को बहुत पीछे हुआ। आज भी जब सेकण्ड के हजारवें भाग तक वैज्ञानिक लोग समय नाप सकते हैं और डिगरी के दो हजारवें भाग तक कोण नाप सकते हैं इन इकाइयों का इतना सच्चा ज्ञान नहीं है कि कोई ठीक ठीक बतला दें कि आज से एक करोड़ दिन पहले कौनसी तिथि थी—उस दिन चन्द्रमा पूर्ण गोल था, या चतुर्दशी के चन्द्रमा की तरह कुछ कटा हुआ।

ऋग्वेद में वर्षमान—निस्सन्देह इन तीन इकाइयो के सम्बन्ध की खोज ही से ज्योतिष की उत्पत्ति हुई और यदि किसी काल की पुस्तक में हमें यह लिखा मिल जाता है कि उस समय मास में और वर्ष में कितने दिन माने जाते थे तो हमको उस समय के ज्योतिष के ज्ञान का सच्चा अनुमान लग जाता है।

ऋग्वेद हमारा प्राचीनतम ग्रंथ है। परन्तु वह कोई ज्योतिष की पुस्तक नहीं है। इसलिए उसमें आनेवाले ज्योतिष-सम्बन्धी संकेत बहुधा अनिश्चित से हैं। परन्तु इस में सन्देह नहीं कि उस समय वर्ष में बारह मास और एक मास में तीस

दिन माने जाते थे। एक स्थान पर लिखा है—

'सत्यात्मक आदित्य का, बारह अरों (खूंटों या डंडों) से युक्त चक्र स्वर्ग के चारों ओर बारबार भ्रमण करता है और कभी भी पुराना नहीं होता। अग्नि, इस चक्र में पुत्रस्वरूप, सातसौ बीस (३६० दिन और ३६० रात्रियाँ) निवास करते हैं*।'

परन्तु यह मानने में कि मास में बराबर ठीक तीस दिन होते हैं एक विशेष कठिनाई पड़ती रही होगी। वस्तुतः एक महीने में लगभग २९॥ दिन होते हैं। इसलिए यदि कोई बराबर तीस-तीस दिन का महीना गिनता चला जाय तो ३६० दिन में लगभग ६ दिन का अन्तर पड़ जायगा। यदि पूर्णिमा से मास आरम्भ किया जाय तो जब बारहवें महीने का अन्त तीस-तीस दिन बारह बार लेने से आवेगा तब आकाश में पूर्णिमा के बदले अधकटा चन्द्रमा रहेगा। इसलिए यह कभी भी माना नहीं जा सकता कि लगातार बारह महीने तक तीस-तीस दिन का महीना माना जाता था।

मास में दिनों की संख्या—पूर्णिमा ऐसी घटना नहीं है जिसके घटित होने का समय केवल चन्द्रमा की आकृति को देखकर कोई पल-विपल तक बतला सके। यदि इस समय चन्द्रमा गोल जान पड़ता है तो कुछ मिनट पहले भी वह गोल जान पड़ता रहा होगा और कुछ मिनट बाद भी वह गोल ही जान पड़ेगा। मिनटों की क्या बात; कई घण्टों में भी अधिक अन्तर नहीं दिखलाई पड़ता। इसलिए एक मास में २९॥ दिन के बदले ३० दिन मानने पर महीने, दो महीने तक तो कुछ कठिनाई नहीं पड़ी होगी, परन्तु ज्योंही लोगों ने लगातार गिनाई आरम्भ की होगी उनको पता चला होगा कि प्रत्येक मास में तीस दिन मानते रहने से साल भर में गणना और बेध में एकता नहीं रहती। जब गणना कहती है कि मास का अन्त हुआ तब आकाश में चन्द्रमा पूर्ण गोल नहीं रहता; जब बेध बतलाता है कि आज पूर्णिमा है तब गणना बतलाती है कि अभी महीना पूरा नहीं हुआ।

लकीर के फकीर—अवश्य ही कोई उपाय रहा होगा जिससे लोग किसी किसी महीने में केवल २९ दिन मानते रहे होंगे। इन २९ दिन वाले महीनों के लिए ऋग्वेद के समय में क्या नियम थे यह अब जाना नहीं जा सकता, परन्तु कुछ नियम रहे अवश्य होंगे। पीछे तो हिन्दू ज्योतिष में ऐसे पक्के नियम बन गए कि लोग उन नियमों के दास बन गए; ऐसे दास कि आज भी हिन्दू ज्योतिषी तभी ही पूर्णिमा मानते हैं जब उनकी गणना कहती है कि पूर्णिमा हुई, चाहे वेध आँख से देखी बात कुछ बतलावे। मुसलमान बेध के भक्त हैं, हिन्दू गणित के। चाहे गणना कुछ भी कहे, जब तक मुसलमान ईद के चाँद को आँखों से देख न लेगा—चाहे निजी आँखों से, चाहे विश्वस्त पुजारियों की आँखों द्वारा—वह ईद मनायेगा ही नहीं। परन्तु आजका हिन्दू डेढ़ हजार वर्ष पहले के बने नियमों का इतना भक्त है कि वह बेध को भाड़ में झोंकने के लिये उद्यत है। हक्तुल्यता—गणना में ऐसा सुधार करना कि उससे वही परिणाम निकले जो बेध से प्राप्त होता है—आज के प्रायः सभी पंडितों को पाप-सा प्रतीत होता है। बेध की अवहेलना अभी इसलिए निबाही जा रही है कि सूर्य-सिद्धान्त के गणित से निकले परिणाम और बेध में अभी घण्टे, दो घण्टे, से अधिक का अन्तर नहीं पड़ता और घण्टे, दो घण्टे, आगे या पीछे पूर्णिमा बतलाने से साधारण मनुष्य साधारण अवसरों पर गलती पकड़ नहीं पाता। इसी से काम चला जा रहा है। ग्रहण के अवसरों पर अवश्य घण्टे भर की गलती सुगमता से पकड़ी जा सकती है,† परन्तु पंडितों ने चाहे वे कितने भी कट्टर प्राचीन मतावलम्बी हों, ग्रहणों की गणना आधुनिक पाश्चात्य रीतियों से करना स्वीकार कर लिया है। अस्तु। चाहे आज का पंडित कुछ भी करे ऋग्वेद के समय के लोग साल भर तक किसी भी प्रकार तीस दिन ही प्रति मास न मान सके होंगे। सम्भवतः कोई नियम रहा होगा; ऐसे नियम ज्योतिषवेदांग में दिये हैं और उसकी चर्चा नीचे की जायगी। परन्तु यदि कोई नियम न रहे होंगे तो कम से कम अपनी आँखों देखी पूर्णिमा के आधार पर उस काल के ज्योतिषी समय समय पर एक दो दिन छोड़ दिया करते रहे होंगे।

* १।१६४।४८; रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा की टीका से।

† क्योंकि चन्द्रग्रहण का मध्य पूर्णिमा पर और सूर्यग्रहण का मध्य अमावस्या पर ही हो सकता है।

वर्ष में कितने मास—यह तो हुआ मास में दिनों की संख्या का हिसाब। यह भी प्रश्न अवश्य उठा होगा कि वर्ष में कितने मास होते हैं। यहाँ पर कठिनाई और अधिक पड़ी होगी। पूर्णिमा की तिथि बेध से निश्चित करने में एक दिन या अधिक से अधिक दो दिन की अशुद्धि हो सकती है। इसलिए बारह या अधिक मासों में दिनों की संख्या गिनकर पड़ता बैठाने पर कि एक मास में कितने दिन होते हैं अधिक त्रुटि नहीं रह जाती है।

परन्तु यह पता लगाना कि वर्षाऋतु कब आरम्भ हुई, या शरदऋतु कब आई, सरल नहीं है। पहला पानी किसी साल बहुत पहले, किसी साल बहुत पीछे, गिरता है। इसलिए वर्षाऋतु के आरम्भ को बेध से ऋतु को देखकर निश्चित करने में पन्द्रह दिन की त्रुटि हो जाना साधारणसी बात है। बहुत काल तक पता ही न चला होगा कि एक वर्ष में ठीक ठीक कितने दिन होते हैं। आरम्भ में लोगों की यही धारणा रही होगी कि वर्ष में मासों की संख्या कोई पूर्ण संख्या होगी। बारह ही निकटतम पूर्ण संख्या है। इसलिए वर्ष में बारह महीनों का मानना स्वाभाविक था। दीर्घकाल तक होता यही रहा होगा कि बरसात से लोग मोटे हिसाब से महीनों को गिनते रहे होंगे और समय बतलाने के लिए कहते रहे होंगे कि इतने मास बीते।

तो भी, जैसे जैसे ज्योतिष के ज्ञान में तथा राज-काज, सभ्यता आदि में वृद्धि हुई होगी, तैसे तैसे अधिकाधिक दीर्घ काल तक लगातार गिनती रक्खी होगी और तब पता चला होगा कि वर्ष में कभी बारह, कभी तेरह मास रखना चाहिए, अन्यथा बरसात उसी महीने में प्रतिवर्ष नहीं पड़ेगी। उदाहरणतः यदि इस वर्ष बरसात सावन-भादों में थी और हम आज से बराबर बारह-बारह मासों का वर्ष मानते जाँय तो कुछ वर्षों के बाद बरसात कुआर-कातिक में पड़ेगी; कुछ अधिक वर्षों के बीतने पर बरसात अगहन-पूस में पड़ेगी। मुसलमानों की गणना-पद्धति आज भी यही है कि एक वर्ष में कुल १२ मास (चान्द्रमास) रक्खे जाँय। इसका परिणाम यही होता है कि बरसात उनके हिसाब से प्रति वर्ष एक ही महीने में नहीं पड़ती। उदाहरणतः उनके एक महीने का नाम मुहर्रम है। उसी महीने में मुसलमानों का मुहर्रम नामक त्यौहार पड़ता है। परन्तु यह त्यौहार जैसा सभी ने देखा होगा बराबर एक ही ऋतु में नहीं पड़ता।

ऋग्वेद के समय में अधिमास—हिन्दुओं ने तेरहवाँ मास लगाकर मासों और ऋतुओं में अटूट सम्बन्ध जोड़ने की रीति ऋग्वेद के समय में ही निकाल ली थी। ऋग्वेद में एक स्थान पर आया है—

"जो व्रतावलम्बन करके अपने अपने फलोत्पादक बारह महीनों को जानते हैं और उत्पन्न होनेवाले तेरहवें मास को भी जानते हैं;.................."।*

इससे प्रत्यक्ष है कि वे तेरहवाँ महीना बढ़ाकर वर्ष के भीतर ऋतुओं का हिसाब ठीक रखते थे।

नक्षत्र—लोगों ने धीरे धीरे यह देखा होगा कि पूर्णिमा का चन्द्रमा जब कभी किसी विशेष तारे के निकट रहता है तो एक विशेष ऋतु रहती है। इस प्रकार तारों के बीच चन्द्रमा की गति पर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ होगा। तारों के हिसाब से चन्द्रमा एक चक्कर २७⅓ दिन में लगाता है। मोटे हिसाब से प्राचीन लोगों ने इसे २७ ही दिन माना होगा। इसलिए चन्द्रमा के एक चक्कर को २७ भागों में बाँटना और उसके मार्ग में २७ चमकीले या सुगमता से पहचान में आने-वाले तारों या तारिकापुंजों को चुन लेना उनके लिए स्वाभाविक था। ठीक ठीक बराबर दूरियों पर तारों का मिलना असम्भव था क्योंकि चन्द्रमा के मार्ग में तारों का जड़ना मनुष्य का काम तो था नहीं। इसलिए आरम्भ में मोटे हिसाब से ही बेध द्वारा चन्द्रमा की गति का पता चल पाता रहा होगा, परन्तु गणित के विकास के साथ इसमें सुधार हुआ होगा और तब चन्द्र-मार्ग को ठीक ठीक बराबर २७ भागों में बाँटा गया होगा। चन्द्रमा २७ के बदले लगभग २७⅓ दिन में एक चक्कर लगाता है, इसका भी परिणाम जोड़ लिया गया होगा।

चन्द्रमा के मार्ग के इन २७ बराबर भागों को ज्योतिष में नक्षत्र कहते हैं। साधारण भाषा में नक्षत्र का अर्थ केवल तारा है। इस शब्द से किसी भी तारे का बोध हो सकता है। आरम्भ में नक्षत्र तारे के लिए ही प्रयुक्त होता रहा होगा।

* १।२५।८ रामगोविन्द त्रिवेदी और गौरीनाथ झा का अनुवाद।

परन्तु चन्द्रमा अमुक नक्षत्र के समीप है कहने की आवश्यकता बार बार पड़ती रही होगी। समय पाकर चन्द्रमा और नक्षत्रों का सम्बन्ध ऐसा घनिष्ट हो गया होगा कि नक्षत्र कहने से ही चन्द्र-मार्ग के समीपवर्ती किसी तारे का ध्यान आता रहा होगा। पीछे जब चन्द्रमार्ग को २७ बराबर भागों में बाँटा गया तो स्वभावतः इन भागों के नाम भी समीपवर्ती तारों के अनुसार अश्विनी, भरणी, कृत्तिका, रोहिणी आदि पड़ गए होंगे।

ऋग्वेद में कुछ नक्षत्रों के नाम आते हैं जिससे पता चलता है कि उस समय भी चन्द्रमा की गति पर ध्यान दिया जाता था*।

कौषीतकी ब्राह्मण—ऋग्वेद के अतिरिक्त अन्य ग्रंथों में भी ज्योतिष-सम्बन्धी कुछ बातें आई हैं। उनसे पता चलता है कि तब तक ज्योतिष का ज्ञान और बढ़ गया था। तैत्तिरीय संहिता में सत्ताइसों नक्षत्रों की सूची है† और यह सूची आज की तरह अश्विनी से न आरम्भ होकर कृत्तिका से आरम्भ होती है (इसका कारण हम पीछे बतायेंगे)। यह भी निश्चयात्मक रूप से लिखा है कि वर्ष का आरम्भ फल्गुनी नक्षत्र में पड़नेवाली पूर्णिमा से होता था। ‡अथर्ववेद में ग्रहणों की चर्चा कई स्थानों में है⁑ और राहु का नाम भी आया है⁂।

कौषीतकी ब्राह्मण में इसका सूक्ष्म वर्णन है कि उदयकाल के समय सूर्य किस दिशा में रहता है। क्षितिज पर सूर्योदय-बिन्दु स्थिर नहीं रहता क्योंकि सूर्य का वार्षिक मार्ग तिरछा है और इसका आधा भाग आकाश के उत्तर भाग में पड़ता है, आधा दक्षिण में। कौषीतकी ब्राह्मण ने सूर्योदय-बिन्दु की गति का सच्चा वर्णन दिया है कि किस प्रकार यह बिन्दु दक्षिण की ओर जाता है, कुछ दिनों तक वहाँ स्थिरसा जान पड़ता है और फिर उत्तर की ओर बढ़ता है⁎। यदि यज्ञ करनेवाला प्रति दिन एक ही स्थान पर बैठकर यज्ञ करता था—और वह ऐसा करता भी रहा होगा—तो क्षितिज के किसी विशेष बिन्दु पर सूर्य को उदय होते हुए देखने के पश्चात् फिर एक वर्ष बीतने पर ही वह सूर्य को ठीक उसी स्थान पर (उसी ऋतु में) उदय होता हुआ देखता रहा होगा। वस्तुतः, क्षितिज के किसी एक बिन्दु पर उदय होने से लेकर सूर्य के फिर उसी बिन्दु पर वैसेही ऋतु में उदय होने तक के काल में दिनों की संख्या गिनने से वर्ष का मान पर्याप्त अच्छी तरह ज्ञात हो सकता है और सम्भव है कि इस रीति से भी उस समय वर्षमान निकाला गया हो। कम से कम इतना तो निश्चय है कि कौषीतकी ब्राह्मण के कर्त्ता ने सूर्योदय-बिन्दु की गति को कई वर्षों तक अच्छी तरह देखा था।

तारों का उदय और अस्त होना—वर्षमान जानने की एक अन्य रीति भी थी। लोग सूर्य की उपासना करते थे। प्रातःकाल, सूर्योदय के पहले से ही, पूर्व दिशा की ओर ध्यान दिया करते थे। इस क्रिया में उन्होंने देखा होगा कि सूर्योदय के पहले जो तारे पूर्वीय क्षितिज के ऊपर दिखलाई पड़ते हैं वे सदा एक ही नहीं रहते। उदाहरणतः, यदि मान लिया जाय कि आज प्रातःकाल मघा नामक तारा लगभग सूर्योदय के समय पूर्वीय क्षितिज से थोड़ीसी ही ऊँचाई पर दिखाई पड़ रहा था तो यह निश्चित है कि आज से बीस-पच्चीस दिन पीछे यह तारा सूर्योदय के समय क्षितिज से बहुत अधिक ऊँचाई पर रहेगा, और बीस-पच्चीस दिन पहले सूर्योदय के समय यह क्षितिज से नीचे और इसलिए अदृश्य था। अवश्य कोई दिन ऐसा रहा होगा जिस दिन यह तारा पहले पहल लगभग सूर्योदय के समय, या तनिकसा पहिले, दिखलाई पड़ा होगा। वह तारा उस दिन 'उदय' हुआ, ऐसा माना जाता था। लोगों ने देखा होगा कि विशेष तारों का उदय विशेष ऋतुओं में होता है। तुलसीदास ने जो लिखा है "उदेउ अगस्त्य पंथ जल सोखा" उसमें उदय होने का अर्थ

* १०।८५।१३।

† ४।४।१०।

‡ ७।४।८।

⁑ ३।२।२; २।१०।८।

⁂ ९।९।१०।

⁎ १९।२।३।

यही है कि अगस्त्य पहले प्रातःकाल नहीं दिखलाई पड़ रहा था; जब वह सूर्योदय के पहले दिखलाई पड़ने लगा तो बरसात बीत गई थी।

विशेष तारों के उदय होने के समयों को बार बार देखकर और इस पर ध्यान रखकर कि कितने कितने दिनों पर एक ही तारा उदय होता है लोगों ने वर्ष का स्थूल मान अवश्य जान लिया होगा। एक बरसात से दूसरी बरसात तक के दिनों की गिनने की अपेक्षा तारों के एक उदय से दूसरे उदय तक या सूर्योदय-बिन्दु के क्षितिज के किसी विशेष चिह्न पर फिर आ जाने तक के काल में दिनों के गिनने से वर्ष का अधिक सच्चा ज्ञान हुआ होगा, परन्तु इसमें भी स्थूलता तब तक न मिटी होगी जब तक कई वर्षों तक दिनों की गिनती लगातार न की गई होगी।

तारों का उदय प्राचीन काल में भी देखा जाता है यह तैत्तिरीय ब्राह्मण के एक स्थान से स्पष्ट है।*

पूर्वोक्त प्रमाणों से प्रत्यक्ष है कि ऋग्वैदिक काल में ज्योतिष की सच्ची नींव पड़ गई थी।

ज्योतिष-वेदांग—ज्योतिष-वेदांग या वेदांग-ज्योतिष वेद के छह अंगों में से एक है। इसका उद्देश्य था कि यज्ञ आदि के लिए उचित समय बताये। ज्योतिषवेदांग एक छोटीसी पुस्तक है जिसके दो पाठ मिलते हैं। एक ऋग्वेद-ज्योतिष, दूसरा यजुर्वेद-ज्योतिष। दोनों में विषय और अधिकांश श्लोक एक ही हैं। परन्तु ऋग्वेद में कुल ३६ श्लोक हैं और दूसरे में ४४। पता नहीं कि आरम्भ में भी इन पुस्तकों में कुल इतने ही श्लोक थे या पहले कुछ और भी थे जो अब अप्राप्य हो गए हैं।

इन श्लोकों का अर्थ लगाना अत्यन्त कठिन था। लोग अर्थ भूल ही गए थे और पुस्तक का मिलना दुर्लभ था। वेबर ने पहले पहल इसको प्रकाशित किया और अधिकाँश श्लोक का अर्थ भी छापा। फिर थीबो और सुधाकर द्विवेदी ने शेष में से कुछ श्लोकों का अर्थ लगाया, जिनमें से कुछ पीछे अशुद्ध सिद्ध हुए। लाला छोटेलाल ने कई क्लिष्ट श्लोकों का अर्थ लगाया। इस पुस्तक की नूतनतम टीका डाक्टर शामशास्त्री की है (१९३६, सरकारी प्रेस, मैसूर)।

श्लोकों के अर्थ लगाने में कठिनाई इसलिए पड़ती है कि कई स्थानों पर केवल संकेत के शब्द या अक्षर दिए हुए हैं। वस्तुतः श्लोक गुर हैं और उन लोगों की स्मरणशक्ति के सहायतार्थ बनाए गए हैं जो नियम को पहले से अच्छी तरह जानते हैं, केवल उपयोग के समय ऐसा सूत्र चाहते हैं जिससे उनको गणना करने में सहायता मिले। एक श्लोक में २७ नक्षत्रों के नाम एक विशेष क्रम से गिनाए गए हैं। क्रम-संख्या से तुरन्त पता चलता है कि उस नक्षत्र में पर्व (अमावस्या या पूर्णिमा) के पड़ने से चन्द्रमा नक्षत्र के आदि बिन्दु से कितना अंश आगे बढ़ा रहेगा। २७ मात्राओं को ऐसा चुनना कि प्रत्येक नक्षत्र का बोध असंदिग्ध रूप से हो, उन्हे एसे क्रम से रखना कि गणना ठीक बैठे, और फिर छन्द के पढ़न में कहीं टूट (भंग) न रहे, सराहनीय है।

इस पुस्तक के आरम्भ के एक श्लोक से प्राचीन समय म ज्योतिष की महत्ता स्पष्ट प्रकट होती है :—

यथा शिखा मयूराणां नागानां मणयो यथा।
तद्वद्वेदांगशास्त्राणां ज्योतिषं मूर्धनि स्थितम् ॥

अर्थात् जैसे मोरों के मस्तक पर शिखा और नागों के मस्तक पर मणि, उसी प्रकार वेदांगशास्त्रों के मस्तक पर ज्योतिष स्थित है।

फिर एक श्लोक में ज्योतिषशास्त्र का उद्देश्य यज्ञ आदि के लिए उपयुक्त काल का ज्ञान बताया गया है। एक अन्य श्लोक में ग्रंथ के सिद्धान्तों के शिक्षक का नाम लगध महात्मा बताया गया है। लगध संस्कृत शब्द नहीं जान पड़ता; इसलिए कुछ लोगों की धारणा है कि ज्योतिष विद्या सम्भवतः विदेश से भारत में आई। परन्तु केवल लगध के संस्कृत न होने से

* १।५।२।१, लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक ओरायन में पृष्ठ १८ पर इसकी व्याख्या की है।

ऐसा अनुमान करना अनुचित जान पड़ता है। क्या लगध के पहले यज्ञ आदि के लिए समय जानने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी ?

ग्रंथ के अन्तिम दो श्लोकों में क्रमानुसार लगध का नाम और ज्योतिष की महिमा है--

सोमसूर्यस्तृचरितं विद्वान् वेदविदश्नुते ।
सोमसूर्यस्तृचरितं लोकं लोके च संततिम् ।।

अर्थात् वह विद्वान् जो चन्द्रमा, सूर्य, नक्षत्रों की गतियों को जानता है वह इस संसार में सन्तति लाभ करता है और (मृत्यु के पश्चात्) चन्द्र, सूर्य और नक्षत्रों के लोक में जाता है।

इस प्रकार के सात श्लोकों को निकाल देने पर कुल ३७ श्लोक बच जाते हैं जिनमें ज्योतिष सम्बन्धी बातों की चर्चा है।

पंचवर्षीय युग--ज्योतिष-वेदांग से पता चलता है कि पाँच वर्षों का एक युग माना जाता था। कल्पना यह थी कि पाँच वर्षों के बाद सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र सभी अपने पुराने स्थान में आ जाते हैं। युग का आरम्भ तब होता था जब मध्य जाड़े में (दिन के सबसे छोटे होने की ऋतु में) अमावस्या होती थी; और चन्द्रमा श्रविष्ठा नक्षत्र में रहता था। एक वर्ष में ३६६ दिन माने जाते थे और पाँच वर्षों में दो अधिकमास लगते थे।

पुस्तक के अधिकांश श्लोकों में बतलाया गया है कि विविध समयों पर नक्षत्रों के हिसाब से चन्द्रमा और सूर्य की क्या स्थिति रहती है। तिथियों की गणना करने की रीति भी दी गई है, परन्तु यह मानकर कि चन्द्रमा और सूर्य समान वेग से चलते हैं। सबसे लम्बा दिन १८ मुहूर्त (=१४ घण्टा २४ मिनिट) का बतलाया गया है जिससे पता चलता है कि इस ग्रंथ को किसी काश्मीर निवासी ने लिखा होगा क्योंकि भारतवर्ष में केवल वहीं इतने लम्बे दिन होते हैं।

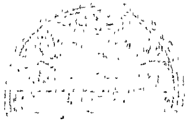
इस पुस्तक में दी गई स्थितियों से पता चलता है कि वे बेध जिनके आधार पर पुस्तक की रचना की गई है बारहवीं शताब्दी ई० पू० में लिए गए होंगे।

इसमें सन्देह नहीं कि ज्योतिष-वेदांग के नियम बहुत स्थूल हैं। उनसे सूक्ष्म गणना नहीं की जा सकती। पाँच वर्ष का युग यदि लगातार बीस-पच्चीस वर्षों तक प्रयुक्त किया जाय तो बहुत अधिक गड़बड़ी पड़ जायगी। उदाहरणतः ५ वर्षों में से प्रत्येक में ३६६ दिन मानने से और इतने काल में २ अधिमास मानने से यह परिणाम निकलता है कि ६२ मास में ३६६×५ दिन होते हैं; परन्तु वस्तुतः ६२ मास में दिनों की संख्या ३६६×५ से कुछ कम होती है। इसका परिणाम यह होता रहा होगा कि उन्नीस-बीस वर्ष तक लगातार गणनानुसार तिथियों को मानने पर गणना द्वारा प्राप्त अमावस्या तब पड़ती रही होगी जब आकाश में तृतीया या चतुर्थी का चन्द्रमा दिखलाई पड़ता रहा होगा !

स्वामी कन्नू पिल्लाई की सम्मति है कि जब कभी बेध और ज्योतिष वेदांगानुसार गणना में स्पष्ट अन्तर पड़ जाता रहा होगा तो एक तिथि को लोग छोड़ देते रहे होंगे। लाला छोटेलाल की सम्मति है कि ज्योतिष-वेदांग हमको अधूरा ही मिला है। अवश्य ही और भी नियम रहे होंगे जिनमें बतलाया गया होगा कि दीर्घकाल के लिए गणना करना हो तो क्या करना चाहिए। यह असम्भव नहीं है, परन्तु अधिक सम्भावना इसी बात की है कि गणना ज्योतिष-वेदांग के उन्हीं नियमों से की जाती थी जो आज हमें प्राप्य हैं, और समय समय पर बेध द्वारा गणना की शुद्धि कर ली जाती थी।

महाभारत--महाभारत के समय में भी पाँच वर्ष वाला युग चलता था।* ज्योतिष-वेदांग में मंगल, बुध आदि ग्रहों की चर्चा नहीं है। परन्तु महाभारत में उनका स्पष्ट उल्लेख है।† उनके नामों का क्रम एक स्थान पर इस

* ६।५२।३।
† ३।१९०।९०।



प्रकार है—शुक्र, बृहस्पति, बुध, मंगल, शनि, राहु और अन्य ग्रह।* यह भी लिखा है कि तारे यद्यपि दूरी के कारण छोटे दिखलाई पड़ते हैं तो भी वे वस्तुतः बहुत बड़े हैं।† यह आश्चर्यजनक है कि ऐसी गूढ़ बात का सच्चा अनुमान उस प्राचीन युग के लोगों को भी लग गया। वाल्मीकि की रामायण में भी ग्रहों का उल्लेख है।‡

आर्यभट, वराहमिहिर आदि—ज्योतिष-वेदांग के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक का हमें कोई भारतीय ज्योतिष-ग्रंथ नहीं मिलता; तब कौटिल्य के अर्थशास्त्र से (जो लगभग ३०० ई० पूर्व का है) पता चलता है कि उस समय भी ज्योतिष में विशेष उन्नति नहीं हो पाई थी। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के लगभग १०० वर्ष बाद की एक पुस्तक सूर्य-प्रज्ञाप्ति है जिसमें जैनियों के मतानुसार विश्व की रचना दी गई है। इसके ज्योतिष सम्बन्धी नियम वेदांग-ज्योतिष से मिलते-जुलते हैं। इसके बाद लगभग ७०० वर्ष के भीतर का लिखा हमें कोई ग्रंथ नहीं मिलता। तब हमें सन् ४९९ ईसवी का आर्यभट लिखित आर्यभटीय मिलता है। तंत्र नामक ग्रंथ भी आर्यभट का लिखा है। ये दोनों ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। आर्यभट का जन्म सन् ४७६ ई० में हुआ था। उनके बाद वराहमिहिर हुए जिनकी एक रचना पंचसिद्धान्तिका है। पंचसिद्धान्तिका में विशेषता यह है कि उसमें लेखक ने अपना सिद्धान्त न देकर उस समय के पाँचों प्रचलित सिद्धान्तों का वर्णन दिया है। ये हैं पौलिश, रोमक, वाशिष्ठ, सौर और पैतामह। वराहमिहिर ने लिखा है कि "इन पाँच में से पौलिश और रोमक के व्याख्याकार लाटदेव हैं। पौलिश सिद्धान्त स्पष्ट है, रोमक सिद्धान्त उसी के निकट है, सूर्यसिद्धान्त सब से अधिक स्पष्ट है, शेष दोनों बहुत भ्रष्ट हैं"। वराहमिहिर की मृत्यु सन ५८७ ई० में हुई। पंचसिद्धान्तिका में दिए हुए पैतामह सिद्धान्त में गणना करने के लिए सन् ८० ई० को आदिकाल माना है जिससे अनुमान किया जाता है कि असली पैतामह सिद्धान्त लगभग उसी समय रचा गया होगा। पैतामह सिद्धान्त भी ज्योतिष-वेदांग से बहुत आगे नहीं बढ़ पाया है। इसीलिए वराहमिहिर ने इसे भ्रष्ट बतलाया है।

वराहमिहिर के बाद सन् ५९८ ई० में ब्रह्मगुप्त उत्पन्न हुए जिनकी लिखी पुस्तकें ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और खंड खाद्यक आज भी प्राप्य हैं। भास्कराचार्य ने अपनी रचना सिद्धान्तशिरोमणि को ११५० ई० में तैयार किया। उनके बाद फिर किसी भारतीय ज्योतिषी ने विशेष ख्याति नहीं प्राप्त की।

आर्यभट के पहिले के ज्योतिषी—जैसा ऊपर बताया गया है आर्यभट की पुस्तक आर्यभटीय आज भी प्राप्य है। परन्तु आर्यभट के पहले भी कुछ प्रसिद्ध ज्योतिषी हो गए हैं जिनकी पुस्तकें अब लुप्त हो गई हैं। इन ज्योतिषियों में से गर्ग की चर्चा कई स्थानों पर आती है। महाभारत में लिखा है कि गर्ग महर्षि राजा पृथु के ज्योतिषी थे। उनको काल का ज्ञान विशेष रूप से अच्छा था। उनका गार्गी-संहिता अब लुप्त हो गया है परन्तु सम्भव है गणित-ज्योतिष के बदले इसमें फलित ज्योतिष की बातें ही अधिक रही हों। वराहमिहिर ने पंचसिद्धान्तिका के अतिरिक्त बृहत्संहिता नामक ग्रंथ भी लिखा है जो फलित ज्योतिष पर है। उसमें उन्होंने गर्ग से कई अवतरण दिए हैं जिनमें से दो तीन यहाँ दिए जाते हैं¶ :—

"वृद्ध गर्ग के प्रमाण पर मैं कहता हूँ कि सप्तऋषि मघा में थे।—"§

"देवताओं के निवास स्थान मेरु पर्वत के इस वाटिका में नारद ने रोहिणी योग के नियमों की शिक्षा बृहस्पति को दी। उन्हीं नियमों की शिक्षा गर्ग, पराशर, कश्यप और मय अपने अनेक शिष्यों को देते रहे हैं। उनके तथ्यों का निरीक्षण कर मैं संक्षिप्त पुस्तक लिखता हूँ"।‖

---

* २।११।३७।

† ३।४२।२४।

‡ २।४१।१७०, तथा कुछ अन्य स्थान भी।

¶ के महाशय की पुस्तक 'हिन्दू ऐस्ट्रॉनोमी' में दिए गए अवतरणों से संकलित।

§ बृहत् संहिता २।३।

‖ बृहत् संहिता २४।२। पराशर तथा कश्यप के बारे में हमें अन्य कोई ज्ञान नहीं है। मय ने सूर्य-सिद्धान्त की घोषणा की थी।

"मैंने केतुओं की चर्चा की है, परन्तु पहले मने गर्ग, पराशर और असित देवल की पुस्तकों का, तथा अन्य सब पुस्तकों का, चाहे वे गिनती में कितनी भी अधिक हों, अध्ययन कर लिया है"*।

पौलिश, जिसके पौलिश-सिद्धान्त को संक्षेप में वराहमिहिर ने अपनी पंचसिद्धान्तिका में दी है अवश्य ही कोई यवन था, क्योंकि अलबीरूनी ने (सन् १०३१ ई० में) अपने 'भारतवर्ष' में लिखा है कि पौलिश-सिद्धान्त को पौलिश ने बनाया है, जो सेंत्र (सम्भवतः अलेकजड्रिया) का निवासी था।

आर्यभट—आर्यभट ने लिखा है कि कलियुग .रम्भ से ३६००वें वर्ष में उसकी आयु २३ वर्ष की हो चुकी थी, जिससे उसका जन्म सन् ४७६ ई० में होना सिद्ध होता है। पीछे एक दूसरा आर्यभट भी हुआ था। दोनों आर्यभटों की चर्चा अलबीरूनी ने की है, परन्तु दूसरे आर्यभट को अलबीरूनी बराबर कुसुमपुर का आर्यभट कहा करता था। अलबीरूनी ने यह भी लिखा है कि "कुसुमपुर का आर्यभट वृद्ध आर्यभट से भिन्न था। वह उसके शिष्यों में से था और उसने अपनी पुस्तक में प्रथम आर्यभट की पुस्तकों से अवतरण दिया है।" परन्तु प्रथम आर्यभट भी कुसुमपुर का ही था क्योंकि ऐसा उसकी 'गणित' नामक पुस्तक में लिखा है।

आर्यभट ने ज्योतिष सम्बन्धी अवैज्ञानिक शास्त्रीय बातों का बेधड़क खंडन किया था। इसलिए पीछे ब्रह्मगुप्त ने आर्यभट की बड़ी निन्दा की। परन्तु ब्रह्मगुप्त के बाद लोग आर्यभट का बड़ा आदर करते थे।

आर्यभट का मत था कि पृथ्वी गोल है और अपनी धुरी पर घूमती है। आर्यभट ने यह भी बताया कि ग्रहण राहु के ग्रसने से नहीं, पृथ्वी की छाया और चन्द्रमा के कारण लगते हैं।

वराहमिहिर—वराहमिहिर को गणित-ज्योतिष की अपेक्षा फलित ज्योतिष में अधिक रुचि थी। उसकी बृहत्-संहिता नामक पुस्तक वस्तुतः एक बड़ीसी पोथी है जो फलित ज्योतिष पर है। उसके बृहत्जातक और योगयात्रा नामक ग्रंथ भी फलित ज्योतिष पर हैं। परन्तु उसकी पंचसिद्धान्तिका गणित-ज्योतिष पर है और वह तत्कालीन ज्योतिष के ज्ञान के लिए अपूर्व सिद्ध हुई है। पंचसिद्धान्तिका न होती तो ज्योतिष-इतिहास का हमारा ज्ञान बहुत अधूरा ही रह जाता। अलबीरूनी ने अपने 'भारतवर्ष' में वराहमिहिर को बहुत आदर प्रदान किया है। लिखा है कि "वराह के कथन सत्य पर आश्रित हैं; परमेश्वर करे कि सभी बड़े लोग उसके आदर्श का पालन करें।"

हिन्दी-शब्दसागर में वराहमिहिर के सम्बन्ध में निम्न सूचना दी गई है—

"वराहमिहिर के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के प्रवाद कुछ वचनों के आधार पर प्रचलित हैं। जैसे, ज्योतिर्विदाभरण के एक श्लोक में कालिदास, धन्वन्तरि आदि के साथ वराहमिहिर भी विक्रम की सभा के नौ रत्नों में गिनाए गए हैं। पर इन नौ नामों में से कई-एक भिन्न भिन्न काल के सिद्ध हो चुके हैं। अतः यह श्लोक प्रमाण के योग्य नहीं। अपने बृहज्जातक के उपसंहाराध्याय में वराहमिहिर ने अपना कुछ परिचय दिया है। उसके अनुसार ये अवन्ती (उज्जयिनी) के रहनेवाले थे। 'कायित्थ' स्थान में सूर्यदेव को प्रसन्न करके इन्होंने वर प्राप्त किया था। इनके पिता का नाम आदित्यदास था।"†

ब्रह्मगुप्त—ब्रह्मगुप्त का जन्म सन् ५९८ ई० में हुआ था। तीस वर्ष की आयु में इन्हों ने अपना प्रसिद्ध ग्रंथ ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त लिखा। इनके पिता का नाम जिष्णु था और निवासस्थान भिल्लमल था जो मुल्तान (पंजाब) के पास है। अलबीरूनी ने इनके ग्रंथों का नाम इस प्रकार बताया है—ब्राह्मसिद्धान्त, करण-खंड-खाद्यक (जिसमें आर्यभट के सिद्धान्त के नियम हैं) और उत्तर-खंड-खाद्यक। ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और खंडखाद्यक दोनों अब अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो गए हैं।

---

* बृहत् संहिता ११।१। असित देवल का भी पता अब नहीं चलता।

† कपित्थ-ग्राम का नाम है जो उज्जैन के निकट 'कायथा' (वर्तमान रूप में) के नाम से विद्यमान है। इनके पुत्र का नाम पृथुयशस् था, और षट्पंचाशिका उनकी रचना भी प्रसिद्ध है। (सं.)

अलबीरूनी ने ब्रह्मगुप्त को सबसे बड़ा ज्योतिषी माना है। परन्तु उसने यह भी लिखा है कि वह सत्य से भागता है और असत्य को आश्रय देता है।*

यवन ज्योतिष का प्रभाव—आर्यभट, वराहमिहिर, आदि ज्योतिषियों के ग्रंथों पर यवन (ग्रीस के) ज्योतिष का प्रभाव कुछ न कुछ अवश्य पड़ा है। इसके थोड़ेसे प्रमाण–के महोदय की पुस्तक 'हिन्दू ऐस्ट्रॉनोमी' से नीचे दिये जाते हैं।

वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त आदि ने यवनों की चर्चा की है। वराहमिहिर ने लिखा है—म्लेच्छ और यवन ज्योतिष जाननेवालों का भी आदर ऋषियों के समान होता है, तो फिर यदि कोई ज्योतिषी ब्राह्मण हो तो उसका सम्मान कौन नहीं करेगा।† अलबीरूनी ने इस वाक्य का उल्लेख किया है और भारतवर्ष में यवनों की विद्या के आने की चर्चा की है‡। ब्रह्मगुप्त ने भी यवनों की ओर संकेत किया है क्योंकि उन्होंने रोमक सिद्धान्त को 'स्मृतिबाह्य' माना है। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है कि पुस्तक के विषय को स्वयं सूर्य भगवान ने मय नामक असुर को दिया‡। असुर से पता चलता है कि सम्भवतः यह कोई अभारतीय था। यद्यपि महावीरप्रसाद श्रीवास्तव ने मय को एक व्यक्ति न मानकर जाति विशेष माना है जो शिल्प और यंत्र-विद्या में बहुत कुशल थी, क्योंकि मय की चर्चा महाभारत में सभा-भवन के बनाने के प्रसंग में आई है§। रोमक सिद्धान्त अवश्य पश्चिम से भारतवर्ष में आया क्योंकि वराहमिहिर ने रोमक नामक देश के देशान्तर (लांजीट्यूड) को लंका से ९०० पश्चिम माना है‖।

इस काल में ज्योतिष-विशेषकर फलित ज्योतिष में–कई नवीन शब्द आये जो स्पष्ट रूप से यवन मूल के हैं। बारह राशियों में से प्रत्येक के दो दो नाम हैं जिनमें से एक यवन शब्दों से मिलता जुलता है, दूसरा शुद्ध संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ वही है जो यवन शब्द का है। यवन शब्दों से मिलते-जुलते शब्दों का प्रयोग अब मिट गया है¶। परन्तु उस समय वे संस्कृत पुस्तकों में प्रयुक्त होते थे। मेष, वृष, आदि के लिए ये शब्द थे:—क्रियः, ताबुरि, जितुम, कुलीर, लेय, पाथोन, जूकः, कौर्प्यः, तौक्षिक, आलोकेर, हृदरोग और इथुसी, जो ग्रीक के क्रियॉस, टॉरस आदि से लिये गए जान पड़ते हैं**।

आर्यभट आदि की पुस्तक में ग्रहों की स्थिति की गणना की जो रीति दी गई है वह यवनों (ग्रीसवालों) की रीतियों से बहुत मिलती जुलती है।

इस समय की ज्योतिष ज्योतिष-वेदांग की ज्योतिष से बहुत विकसित अवस्था में और उससे कहीं अधिक सूक्ष्म और सच्ची है।

बहुत ऋणी नहीं है—परन्तु यह भी स्मरण रखना चाहिए कि ऐसा नहीं हुआ कि ज्योतिष-वेदांग के समय से भारतीयों ने ज्योतिष में स्वयं कोई उन्नति न की हो और आर्यभट के समय में उन्होंने अपने प्राचीन ज्योतिष का

---

* 'भारतवर्ष' २।११०-१२।

† बृहत्संहिता २।७।

‡ अलबीरूनी का 'भारतवर्ष' १।२३।

‡ १।२-९।

§ महावीरप्रसाद श्रीवास्तव, सूर्य-सिद्धान्त का विज्ञानभाष्य, भूमिका, पृष्ठ ७।

‖ १।३

¶ उन लोगों को इससे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो वैज्ञानिक शब्दों को ज्यों-का-त्यों अंग्रेजी से ले लेना चाहते हैं। अधिकांश विदेशी शब्द भाषा के शब्दों से अधिक कठिन, अधिक कर्णकटु और उच्चारण की दृष्टि से अधिक क्लिष्ट होते हैं। इसलिए वे ज्यों-के-त्यों चल नहीं पाते। या तो वे मर जाते हैं, या धीरे धीरे बदल जाते हैं, जैसे लैण्टर्न अब लालटेन हो गया है।

** या दोनों किसी अन्य मूल से लिए गए हों।

तिरस्कार कर एकाएक यवन ज्योतिष को अपना लिया हो। आर्यभट आदि के ज्योतिष में और तत्कालीन यवन ज्योतिष में बहुत अन्तर है। प्रश्न पर प्रत्येक कोण से विचार करने पर यही परिणाम निकलता है कि उस समय के भारतीय ज्योतिषियों को यवनों से अधूरा ज्ञान या संकेतमात्र मिला। नए मसालों का उपयोग भारतीय ज्योतिषियों ने अपने ढंग से किया। उसका उन्होंने अपनी प्राचीन प्रणाली में समावेश कर लिया। कुछ ब्यौरों में भारतीय ग्रंथों के नियम यवनों की रीतियों से उत्तम हैं। कुछ भारतीय भगणकाल (ग्रहों के चक्कर लगाने का काल) यवनों के मानों से अधिक सच्चे हैं। सूर्यसिद्धान्त को अंग्रेजी में अनुवाद करनेवाले बरजेस ने लिखा है "अब तक मुझे जो कुछ मालूम हो सका है उससे मैं यह नहीं मान सकता कि ज्योतिर्विज्ञान के लिए हिन्दू यवनों के बहुत ऋणी हैं।" और सच्ची बात यही जान पड़ती है।

मुसलमानों ने ज्योतिष का ज्ञान पहले-पहल हिन्दुओं से प्राप्त किया। इसका ब्यौरेवार विवरण इब्नअल आदमी नामक ज्योतिषी छोड़ गया है। सन् ७७१ ई० में बगदाद में खलीफा अल मन्सूर के पास दूत गए थे जिनमें से एक को ज्योतिष का अच्छा ज्ञान था। उससे अरबवालों को ब्राह्मस्फुटसिद्धान्त से परिचय प्राप्त हुआ। इस पुस्तक का नाम अरबवालों में सिंद-हिंद पड़ गया*। यह शब्द 'सिद्धान्त' का अपभ्रंश है। इस पुस्तक के आधार पर इब्राहीम इब्न हबीब अल-फजारी ने अपना सिंदहिंद बनाया। इस सिंदहिंद के आधार पर अबू जाफर मुहम्मद बिन मूसा अल ख्वारिज्मी ने सारिणियाँ बनाईं जिससे मुसलमानों का पंचांग बनने लगा। पीछे खंडखाद्यक का भी अरबी में अनुवाद हुआ और उस अनुवाद का नाम अल-अरकन्द रक्खा गया। अबुलहसन अलअहवाजी ने 'अल-अरजमद' के अनुसार ग्रहों की गणना प्रकाशित की। अवश्य ही यह आर्यभट का अपभ्रंश है। ग्यारहवीं शताब्दी तक भारतीय सिद्धान्त ग्रंथों के नमूने पर युग और महायुग लेकर ग्रह आदिकों का भगण काल बतलाया जाता था। परन्तु सन् ८०० में ही प्रसिद्ध यवन ज्योतिषी टॉलमी की पुस्तक अलमजिस्ती का भी अनुवाद अरबी में हो चुका था। धीरे धीरे अरबवालों पर यवन ज्योतिष का रोब छा गया और भारतीय ज्योतिष का आदर कम हो गया।

यूरोपीय ज्योतिष का इतिहास—यह समझने के लिए कि भारतवर्ष में यवन (ग्रीस) से ज्योतिष-ज्ञान के आने की सम्भावना सन् ४०० ई० के आसपास कितनी थी, यूरोपीय ज्योतिष के इतिहास का कुछ परिचय प्राप्त कर लेना उचित होगा। यह इतिहास नीचे इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के एक लेख के आधार पर दिया जाता है। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि सिकन्दर (अलेकजैण्डर) ने भारतवर्ष पर सन् ३२६ ई० पू० में आक्रमण किया था और उसके बाद से कई सौ वर्षों तक ग्रीस और भारतवर्ष का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध बना रहा। मेनेंडर ने भारत पर ११० ई० पू० में चढ़ाई की थी। यूनानियों का भारतीय संस्कृति पर भी प्रभाव पड़ा। उत्तर-पश्चिम में पाई जानेवाली बुद्ध की मूर्तियों की बनावट और पोशाक में यूनानी शैली के चिह्न दिखलाई पड़ते हैं। अनेक यूनानी हिन्दू हो गए और ब्राह्मण अथवा बौद्ध धर्म को मानने लगे।†

यवनों ने ज्योतिष का प्रथम ज्ञान बाबुलवालों से (बैबिलोनियनों से) प्राप्त किया। उन्होंने बाबुलवालों से राशियों तथा अन्य तारा-मण्डलों के नाम ले लिए, ग्रहों की गति का ज्ञान भी उन्हींसे प्राप्त किया और सैरोस नामक युग के प्रयोग से ग्रहणों की भविष्यद्वाणी करना भी जान लिया। सैरोस १८ वर्ष ११ दिन का युग है। एक युग में जिस क्रम से और जितने जितने दिनों पर सूर्य और चन्द्र-ग्रहण लगते हैं आगामी युग में भी उसी क्रम से और उन्हीं समयों पर प्रायः वैसे ही ग्रहण लगते हैं। इस युग में २२३ मास होते हैं। इस युग का आविष्कार कब हुआ था यह पता नहीं, परन्तु काल्दी में इसका आविष्कार हुआ है इतना ज्ञात है।

अक्काद के सारगन नामक राजा के समय (३८०० ई० पू०) के कुछ लेख मिले हैं जिनसे पता चलता है कि उस सुदूर भूतकाल के बहुत पहले से ही आकाश का निरीक्षण विशेषज्ञों द्वारा हो रहा था। सारगन के समय में भी राशियों तथा

* इनसाइक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन एण्ड एथिक्स १२।९५।

† ईश्वरीप्रसाद, ए न्यू हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, हिन्दी संस्करण, पृष्ठ ९६।

अन्य तारा-मण्डलों की सीमाएँ और नाम उस समय भी प्रायः वैसे ही थे जैसे पीछे यवन-ज्योतिष में वे थे। यवन तारा-मण्डलों के प्राचीनकाल से आने का एक प्रत्यक्ष प्रमाण भी है। आकाश का कुल भाग किसी एक देश से नहीं दिखलाई पड़ता है। बाबुलवालों को जितना आकाश दिखलाई पड़ता रहा होगा उसी का वर्णन उन्होंने किया होगा। परन्तु अयन* के कारण एक स्थान से सदा आकाश का एक ही भाग नहीं दिखलाई पड़ता। हजारों वर्षों में उसमें अन्तर पड़ जाता है और उस अन्तर को समझकर आधुनिक ज्योतिषी बतला सकते हैं कि किस समय में आकाश का अमुक अमुक भाग दिखलाई पड़ता था। इस तर्क को यवन राशियों और तारा-मण्डलों पर लगाने से पता चलता है कि यवन नाम यवनकाल में नहीं रक्खे गए थे; वे लगभग २८०० ई० पू० में रक्खे गए होंगे, अर्थात् यवनों को ये नाम किसी अन्य प्राचीन जाति से मिले होंगे। ये नाम यवनवालों को बाबुलवालों से ही मिल सकते थे। इसलिए अवश्य ही ये नाम बाबुलवालों के रक्खे हुए हैं।

दूसरी शताब्दी ई० पू० के कुछ खर्पर (मिट्टी के खपड़े) मिले हैं जिनके लेख पढ़े जा सके हैं। उनसे ठीक पता चलता है कि मेसोपोटैमिया में उस समय ज्योतिष की क्या अवस्था थी। उस समय ग्रहों के भगणकाल का जैसा सच्चा ज्ञान था उससे स्पष्ट है कि वहाँ ज्योतिष सम्बन्धी बेध सैकड़ों वर्षों से होते आए रहे होंगे। उस समय जो पंचांग बनते थे उनमें ग्रहों का स्थान, अमावस्या का समय, चन्द्र-दर्शन (अर्थात् चन्द्रमा किस दिन पहले पहले आँखों को दिखलाई पड़ेगा); चन्द्र और सूर्य ग्रहण, तारों के उदय और अस्त होने का समय, ग्रहों का युति-समय सब दिया रहता था। बाबुलवाले यह भी जानते थे कि सूर्य प्रतिदिन समान वेग से आकाश में नहीं चलता। उन्होंने महत्तम वेग की स्थिति भी निर्णय करली थी और इसमें कुल १० अंश की अशुद्धि थी। वर्षमान में केवल ४॥ मिनट की अशुद्धि थी। परन्तु उनको अयनचलन का ज्ञान नहीं था।

यूरोप में ज्योतिष का प्रथम ज्ञान—सातवीं शताब्दी ई० पू० में बाबुल का ज्ञान पश्चिम पहुँचने लगा। बाबुल के एक ऋषि ने, जिनका नाम बरोसस था, लगभग ६४० ई० पू० में अपनी पाठशाला कोस टापू में स्थापित की। पाइथागोरस ने (समृद्धिकाल ५४०-५१० ई० पू०) मिश्र, भारतवर्ष आदि में भ्रमण किया था। उसने सीखा कि एक ही ग्रह शुक्र कभी सबेरे कभी संध्या के समय दिखलाई पड़ता है और ये दो विभिन्न ग्रह नहीं हैं जैसा यवन कवियों का विश्वास था। पाइथागोरस यह भी मानता था कि पृथ्वी अन्तरिक्ष में निराधार है। उसके चारों ओर आकाश है। हेराक्लाइडिस (जो ३६० ई० पू० में प्लेटो का शिष्य हुआ) यह सिखाता था कि सूर्य पृथ्वी के चारों ओर घूमता है परन्तु बुध और शुक्र सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। सैमोस के अरिस्टार्कस ने (समृद्धिकाल २८०-२६४ ई० पू०) यह सिद्धान्त स्थापित किया कि सूर्य स्थिर है और पृथ्वी तथा अन्य ग्रह उसकी प्रदक्षिणा करते हैं; परन्तु दूसरों ने इसे मजाक में उड़ा दिया और उसके सिद्धान्त को लोग प्रायः भूल गए।

सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों की स्थितियों को गणना से निकालने की रीति पहले पहल आयोडोक्सस ने निकाली (४०८-३५२ ई० पू०)। दर्शनशास्त्र से प्रभावित होकर वह यह मानता है कि ग्रह नाचते (घूमते) हुए गोले में थे। इसलिए उसके सम्मुख यह प्रश्न था कि वह किस प्रकार नाचते हुए गोलों की आयोजना करे कि ग्रहों की गतियाँ वही हो जाँय जो बेध से मिलती हैं। अन्त में सूर्य, चन्द्रमा और पाँचों ग्रहों में से प्रत्येक के लिए कई नाचते हुए गोले स्थिर किए गए। कुल मिलाकर २७ गोलों की आवश्यकता हुई। कैलिपस और अरिस्टॉटल (अरस्तू) और अन्त में पर्गा के अपोलिनियस (समृद्धि-काल २५०-२२० ई० पू०) के संशोधनों के बाद वृत्त और उपवृत्त वाला सिद्धान्त उत्पन्न हुआ जो टॉलमी द्वारा परिमार्जित होकर १८०० वर्षों तक अचल बना रहा।

यवन ज्योतिष की उन्नति होती गई, विशेषकर अलेकजैंड्रिया में। अरिस्टिलस और टिमोकरिस ने (लगभग ३२०-२६० ई० पू०) नक्षत्रों की प्रथम सूची बनाई जिसमें तारों के लिए बेधद्वारा प्राप्त स्थितियाँ दी हुई थीं।

एराटास्थिनीज (२७६-१९६ ई० पू०) ने कई एक बहुत सच्चे यंत्र बनाये, जिनसे उसने सूर्य की परम क्रांति नापी ध्रुवों को मिलानेवाली रेखा से समकोण बनाती हुई तल जहाँ आकाश को काटती हुई दिखाई पड़ती है उसे विषुवत रेखा

* यह शब्द आगे समझाया गया है।

कहते हैं और इस रेखा से सूर्य की महत्तम कोणिक दूरी को परम क्रांति कहते हैं। परम क्रांति के लिए ऐराटॉस्थिनीज का मान २३° ५१′ निकला, जो सच्चे मान से केवल ५′ अधिक है। हिन्दू ज्योतिषियों ने परम क्रांति को २४° माना है जो बहुत स्थूल मान है। उसने दो स्थानों की दूरी नापकर और उनके अक्षांशों का अन्तर बेध द्वारा जानकर गणना की कि पृथ्वी कितनी बड़ी है और इस प्रकार पृथ्वी की नाप का बहुत अच्छा मान निकाला।

हिपार्कस और टॉलमी––परन्तु यवनों में सबसे प्रसिद्ध ज्योतिषी हिपार्कस और टॉलमी हुए। हिपार्कस (समृद्धिकाल १४६-१२६ ई० पू०) ने ज्योतिष के प्रधान स्थिरांकों का मान नापा––सायन, वर्ष, नाक्षत्र वर्ष, मास, पाँचों ग्रहों के भगणकाल, सूर्य की परम क्रान्ति, चन्द्रमा की परम क्रान्ति, सूर्य-शीघ्रोच्च की स्थिति, सूर्य-कक्षा की उत्केन्द्रता और चन्द्रमा का लम्बन। सभी मान प्रायः शुद्ध थे। उसने ज्योतिष की वैज्ञानिक नींव डाली। त्रिकोणमिति के ज्ञान से वह कई सरल ज्योतिष के प्रश्नों को हल कर सकता था। संपातविन्दु का पीछे हटना––अयन का भी उसे पता चला, परन्तु इसका वह सच्चा मान न निकाल सका क्योंकि प्रथम तारासूची (टिमोकैरिस वाली) कुल लगभग डेढ़सौ वर्ष पहले की थी। अयन के ठीक मान को जानने के लिए पर्याप्त समय बीतने पर ही तारों की स्थितियों को दुबारा नापना चाहिए, क्योंकि संपात विन्दु बहुत धीरे धीरे चलता है और उसके एक चक्कर लगाने में लगभग २५ हजार वर्ष लगते हैं। उसकी नक्षत्र-सूची में १०८० तारे थे और यह सूची प्राचीन ज्योतिष का एक सर्वोत्तम स्मारकस्तम्भ मानी जाती है। उसने ग्रहों की स्थितियों की अधिक सूक्ष्म गणना करने में भी सफलता प्राप्त की।

हिपार्कस के लगभग २५० वर्ष बाद टालमी हुआ (समृद्धिकाल १२७-१५१ ई०)। उसने हिपार्कस की लिखी पुस्तकों और उनके बेधों को, तथा उसके सिद्धान्तों को लेकर, उसमें अपनी ओर से अनेक छोटे-मोटे सुधार कर, ज्योतिष को इस प्रकार परिमार्जित रूप में अपनी पुस्तक अलमजिस्ती* में उपस्थित किया कि सैकड़ों वर्षों तक उसके आगे कोई बढ़ न सका, यहाँ तक कि उसके बाद उसके भाष्यकार तो कई एक हुए, परन्तु स्वतंत्र सिद्धान्तकार कोई न हुआ। सन् ६४१ ई० में अलेकजेंड्रिया मुसलमानों के हाथ में चला गया और तबसे यवन ज्योतिष का पतन होने लगा।

अरब में ज्योतिष––सन ७७१ ई० में अरबवालों को भारतीय ज्योतिष का परिचय मिलने की बात ऊपर लिखी जा चुकी है। हारून अल-रशीद की आज्ञा से अलमजिस्ती का अनुवाद संन् ८०० ई० में हुआ। खलीफा अल-मामून ने ८२९ में एक बड़ीसी बेधशाला बगदाद में बनवाई। यहीं पर अबूमाशर (८०५-८८५) साबिट बेन कुररा (८३६-९०१), अबदुर्रहमान अलसूफी (९०३-९८६), जिसने टॉलमी की सूचीवाले तारों की स्थितियाँ फिर से नापीं, अबुल बफा (९३९-९९८) आदि प्रसिद्ध अरब ज्योतिषी बेध किया करते थे। इब्नयूनुस (लगभग ९५७-१००८) मिश्र में बेध करता था। उसने ग्रहों की सारिणियाँ बनाईं। नासिरुद्दीन ने (१२०१-१२७४) वार्षिक अयन का मान बेध द्वारा ५१″ निकाला जो बहुत सच्चा है। उलूघबेग ने (१३९४-१४४९), जो तैमूरलंग का पोता था, १४२० में एक बहुत सुन्दर बेधशाला समरकन्द में बनवाई, जिससे उसने टॉलमी की सूची के तारों की स्थितियों को फिर से बेध द्वारा नापा।

आधुनिक यूरोपीय ज्योतिष––अरबों का ज्योतिष मूरों द्वारा स्पेन पहुँचा। वहाँ उसकी कुछ उन्नति अवश्य हुई, परन्तु केवल जब कोपरनिकस ने १५४३ में अपनी पुस्तक छापी, जिसमें केन्द्र में पृथ्वी को न रखकर वह स्थान सूर्य को दिया गया था, तब टॉलमी के सिद्धान्त डगमगाने लगे। जैसे जैसे समय बीता, कोपरनिकस की बात अधिक सच्ची जँचने लगी। अन्त में टाइकोब्राही (१५४६-१६०१) के बेध और इन्हीं बेधों पर आश्रित केपलर (१५७१-१६३०) के नियमों ने टॉलमी के सिद्धान्तों को समूल नष्ट कर दिया। गैलीलियो (१५६४-१६४२) ने दूरदर्शक का आविष्कार किया जिससे पता चला चला कि बृहस्पति के उपग्रह बृहस्पति का चक्कर लगाते हैं; उसने गतिविज्ञान की भी नींव डाली। फिर न्यूटन (१६४२-१७२७) ने प्रसिद्ध आकर्षण सिद्धान्त की घोषणा की जिससे आधुनिक गतिविज्ञान के आधार

*** टॉलमी ने स्वयं अपनी पुस्तक का नाम मजिस्टी सिनटैक्सिस रक्खा था। अरबवालों ने इसका नाम रक्खा अलमजिस्ती, जिससे अंग्रेजी में इसका नाम ऐलमैजेस्ट पड़ा है।**



पर सूर्य, चन्द्रमा, और ग्रहों की स्थितियों की गणना सम्भव हो गई। आजकल गतिविज्ञान के नियमों से प्राप्त सूत्र और बेधों द्वारा प्राप्त ध्रुवांकों पर ही सूर्य आदि आकाशीय पिंडों की स्थितियाँ पंचांगों में छापने के लिए निकाली जाती हैं।

सूर्य-सिद्धान्त—आर्यभट, वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, भास्कर आदि के ग्रंथों में से सबसे प्रसिद्ध सूर्य-सिद्धान्त ही है। इस ग्रंथ का सारांश वराहमिहिर ने भी अपनी पंचसिद्धान्तिका में दिया था। परन्तु वर्तमान सूर्य-सिद्धान्त और वराहमिहिर की पंचसिद्धान्तिका में दिये गये सूर्य-सिद्धान्त में पर्याप्त अन्तर है। सूर्य-सिद्धान्त से कुछ अवतरण अन्य ज्योतिष ग्रंथों में भी आए हैं। इन सबके अध्ययन से, तथा स्वयं सूर्य-सिद्धान्त में दी गई बातों से यह निष्कर्ष निकलता है कि सूर्य सिद्धान्त का प्रथम निर्माण लगभग सन ४०० ई० में हुआ। वराहमिहिर ने इसमें कुछ संशोधन अपने मन से कर दिया, पीछे के ज्योतिषी समय समय पर इसमें आवश्यकतानुसार संशोधन करते रहे और अन्तिम संशोधन लगभग सन् ११०० ई० में हुआ*।

सूर्य-सिद्धान्त में किन किन विषयों की चर्चा है यह जान लेने से इस काल के समस्त ग्रंथों की शैली का पता चल जायगा। इसलिए नीचे सूर्य-सिद्धान्त का वर्णन कुछ अधिक ब्यौरे से दिया जाता है।

सूर्य-सिद्धान्त में क्या है—वर्तमान सूर्य-सिद्धान्त में ५०० श्लोक हैं। ग्रंथ १४ अध्यायों में बँटा है। प्रथम अध्याय में यह बतलाया गया है कि सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, आदि के एक चक्कर लगाने में कितना समय लगता है। इस समय के बतलाने में ऐसी युक्ति लगाई गई है कि भिन्नों की आवश्यकता न पड़े। जैसे दूकानदार यह नहीं कहता कि आम का भाव है पैसे में ढाई आम—वह यही कहेगा कि दो पैसे में पाँच आम मिलते हैं—उसी तरह सूर्य-सिद्धान्त में यह नहीं बतलाया गया है कि एक पूर्णिमा से दूसरी पूर्णिमा तक २९ दिन १२ घण्टा ४४ मिनट २.८ सेकण्ड समय लगता है। इसके बदले बतलाया गया है कि ४३२ ०००० वर्षों में ५३४३३३३६ चांद्रमास होते हैं।

यह युक्ति अति उत्तम है। ४३२०००० वर्ष के काल को एक महायुग (कहीं कहीं युग) कहा गया है। इतने लम्बे युग के लेने का कारण समझने के लिए देखना चाहिए कि ज्योतिष-वेदांग में माना गया था कि ५ वर्ष के एक युग में ६२ चांद्रमास होते हैं। यदि केवल पूर्ण संख्याओं का ही प्रयोग करना है तो स्पष्ट है कि युग जितना ही लम्बा होगा ग्रहादि का भगणकाल उतनी ही अधिक सचाई से बताया जा सकेगा। ५ वर्ष के युग में चांद्र-मासों की संख्या ६२ मानने के बदले ६३ या ६१ मानने में मास की लम्बाई में बहुत अन्तर पड़ जायगा, परन्तु ४३२०००० वर्षों के चांद्र मासों की संख्या में एक घटाने या बढ़ाने से प्रत्येक मास की लम्बाई में कुल १/२० सेकण्ड का अन्तर पड़ता है। इसलिए ४३२०००० वर्षों का युग (या महायुग) मानने से चांद्रमास तथा ग्रहों के भगणकाल बहुत सूक्ष्मता से बतलाए जा सकते हैं†।

ग्रहों की स्थिति बताने के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है कि जाना जाय कि वे किस वेग से चक्कर लगाते हैं। यह भी जाना आवश्यक है कि वे आरम्भ में कहाँ पर थे। उनकी प्रारंभिक स्थिति और वेग दोनों जानने से भविष्य के किसी भी समय पर उनकी स्थिति की गणना की जा सकती है।

सूर्य-सिद्धान्त ने यह माना है कि एक विशेष क्षण पर, जो आधुनिक पद्धति के हिसाब से १८ फरवरी सन् ३१०२ ई० पू० का आरम्भ (१७ फरवरी का अन्त) ठहरता है, सूर्य, चन्द्रमा, बुध, मंगल, आदि सभी ग्रह एक स्थान पर थे।

सूर्य-सिद्धान्त की प्राचीनता—जब पहले-पहल भारतीय ज्योतिष का पता यूरोपीय विद्वानों को लगा तो वहाँ-वालों ने यह सोचा कि भारतीय ज्योतिषियों ने सन् ३१०२ ई० पू० में बेध किया था और बेध द्वारा देखा था कि उस समय सब ग्रह एक स्थान पर थे। इसलिए वे सूर्य सिद्धान्त की प्राचीनता पर आश्चर्यान्वित हो गए। परन्तु अब प्रायः सभी यही मानते हैं कि बेध द्वारा नहीं, गणना द्वारा लगभग पाँचवीं शताब्दी में ग्रंथकारों ने पता चलाया कि सन् ३१०२ की

*** प्रबोधचन्द्र सेनगुप्त, कलकत्ता विश्वविद्यालय की ओर से छपे बरजेस के सूर्य-सिद्धान्त-अनुवाद के प्राक्कथन में।**

† ज्योतिष वेदांग में ५ वर्ष का युग था, रोमक सिद्धान्त में २८५० वर्ष का, पंचसिद्धान्तिका के सूर्य-सिद्धान्त में १,८०,००० वर्ष का; आधुनिक सूर्य-सिद्धान्त में ४३,२०,००० वर्ष का।

१८ फरवरी को सब ग्रह लगभग एक साथ थे। * इसलिए, गणना की सुविधा के लिए उन्होंने मान लिया कि सब ग्रह उस समय ठीक एक ही स्थिति में थे; और फिर लम्बा-सा महायुग लेकर उसमें भगणकालों की संख्या को इस प्रकार चुना कि आकाशीय पिण्डों की तत्कालीन स्थितियाँ ठीक निकलें। उस क्षण को जिस समय सब ग्रह आदि एक ही स्थान में एकत्रित हुए माने गए थे ज्योतिषियों ने कलियुग का आरम्भ मान लिया।

सूर्य-सिद्धान्त के अन्य अध्याय—सूर्य-सिद्धान्त के दूसरे अध्याय में बतलाया गया है कि सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहों के वास्तविक स्थान की गणना कैसे की जाय। यह मानकर कि ये पिंड सदा समान वेग से चलते हैं जो स्थिति निकलती है (और जिसे मध्यम स्थिति कहते हैं) वास्तविक या 'स्पष्ट' स्थिति से भिन्न होती है, क्योंकि ग्रह आदि बराबर समान वेग से नहीं चलते। इन स्पष्ट स्थितियों को निकालने की रीतियों को ही देखकर लोग कहते हैं कि भारतीय ज्योतिष पर यवन ज्योतिष की छाप पड़ी है, क्योंकि ये रीतियाँ यवन रीतियों से बहुत मिलती हैं। ज्योतिष-वेदांग में मध्यम स्थितियों से ही सब गणना की गई है।

तीसरे अध्याय में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि दिशा, स्थान और समय का ज्ञान कैसे किया जाय। इन्हीं तीन प्रश्नों पर विचार करने के कारण इस अध्याय का नाम त्रिप्रश्नाधिकार पड़ गया है।

आगामी तीन अध्यायों में सूर्य और चन्द्र ग्रहणों की गणना के लिए नियम दिए गए हैं।

अध्याय ७ से ९ तक में ग्रहों, चन्द्रमा और नक्षत्रों की युतियों की गणना बताई गई है, अर्थात् इसकी कि कब कोई ग्रह किसी अन्य ग्रह या चन्द्रमा या नक्षत्र के निकटतम दिखलाई पड़ता है। यह भी बतलाया गया है कि ग्रह कब 'उदय' या 'अस्त' होता है, अर्थात् कब सूर्योदय के जरासा ही पहले पूरब में या सूर्यास्त के जरासा ही बाद पश्चिम में वह दिखलाई पड़ता है।

इसके बाद वाले अध्याय में चन्द्रोदय के समय की गणना और चन्द्रमा के श्रृंगों की दिशा की गणना है। फिर एक अध्याय में फलित ज्योतिष सम्बन्धी कुछ बातें बताई गई हैं।

ग्यारहवाँ अध्याय सबसे लम्बा है। इसमें भूगोल सम्बन्धी बाते हैं। पृथ्वी कैसे उत्पन्न हुई; सूर्य, चन्द्रमा, मंगल आदि ग्रह कहाँ से आए; पृथ्वी कितनी बड़ी है, कैसे आश्रित है। ग्रह आदि कितनी दूरी पर हैं; जाड़ा-गरमी आदि ऋतुओं का कारण क्या है, इत्यादि।

आगामी अध्याय में ज्योतिष-सम्बन्धी यंत्रों की चर्चा है जिसमें से 'भूभगोल' नामक यंत्र प्रधान है। यह काठ का का बना एक गोला है जिसमें धुरी के लिए एक डंडा जड़ा जाता है। आकाश के अन्य वृत्त, जिसमें सूर्य चलता है या जिसकी अपेक्षा ग्रह आदि की स्थितियाँ बताई जाती हैं, काठ के गोले के चारों ओर बाँस की तीलियों से बनाए जाते हैं।

भूभगोल को पृथ्वी की दैनिक गति के समान गति से चलाने के लिए पारा, जल, सूत, तेल आदि के उपयोग की ओर संकेत किया गया है, परन्तु इतना ब्यौरा नहीं दिया गया है कि कोई इनका उपयोग कर सके। जान पड़ता है कि लेखक ने अनुमान किया था कि इन सबके उपयोग से भूभगोल संचालित किया जा सकता है, परन्तु वह स्वयं इसे बना नहीं सकता था, क्योंकि यह भी लिखा है कि "यह रचना प्रत्येक युग में नष्ट हो जाती है और सूर्य भगवान् की इच्छानुसार उनके प्रसाद से फिर किसी को प्राप्त होती है†।'

---

* **आधुनिक ज्योतिष के आधार पर गणना करने से पता चलता है कि उक्त समय पर सब ग्रह और सूर्य तथा चन्द्रमा एक साथ नहीं थे।**

† **महावीरप्रसाद श्रीवास्तव का अनुवाद 'विज्ञान-भाष्य', पृष्ठ ११२६।**

समय के नापने के लिए लिखा है "ताँबे का कटोरा जिसके पेंदे में छेद हो निर्मल जल के कुण्ड में रखने से दिन रात में ६० बार डूबे तो वह शुद्ध कपाल-यंत्र होता है।"

अन्तिम अध्याय में समय की विभिन्न इकाइयों तथा उनके परस्पर सम्बन्ध का वर्णन है।

अयन---आकाश की उस कल्पित रेखा को जो आकाश को दो बराबर भागों में बाँटती है और जिसकी धरातल आकाश के घूमने की धुरी से समकोण बनाती है विषुवत रेखा कहते हैं (विषु---बराबर)। एक वर्ष में सूर्य इस रेखा पर दो बार आता है और उन्हीं दोनों अवसरों पर दिन और रात के मान बराबर होते हैं। विषुवत रेखा के उन दो बिन्दुओं को जहाँ पर सूर्य का केन्द्र आता है संपात बिन्दु (या केवल संपात) कहते हैं। दो संपातों में से एक को वसन्त-संपात कहते हैं; सूर्य के इस बिन्दु पर आने के समय वसन्त-ऋतु रहती है। दूसरे संपात-बिन्दु को शरद संपात कहते हैं।

प्राचीन और नूतन वेधों से पता चलता है कि संपात तारों के हिसाब से स्थिर नहीं रहते, वे चला करते हैं; इसी को संपात-अयन, या केवल अयन कहते हैं। परन्तु संपात इतने मन्द वेग से चलते हैं कि उनकी गति का नापना सरल नहीं है। ज्योतिष-वेदांग में ऐसी बातें लिखी हुई हैं जिससे उस समय के संपात-बिन्दुओं की स्थिति हम जानते हैं। वराहमिहिर ने अपने समय में संपात-बिन्दुओं को भिन्न स्थिति में पाया और अपनी पुस्तक में उसने इसका उल्लेख भी किया, परन्तु वह इससे यह परिणाम न निकाल सका कि संपात बिन्दु चलते हैं। आधुनिक सूर्य सिद्धान्त में, जिसमें लगभग सन् ११०० तक संशोधन होते रहे, अयनों की गति का स्पष्ट उल्लेख है, परन्तु उसके मत के अनुसार संपातबिन्दु सदा एक ओर नहीं चलते। वे पहले एक ओर चलते हैं और २८ अंश (डिगरी) चल लेने पर उनकी गति फिर उल्टी हो जाती है।

आधुनिक गति-विज्ञान से हम जानते हैं कि संपात-बिन्दु क्यों चलते हैं। हम इसी विद्या के आधार पर यह भी जानते हैं कि संपात-बिन्दु बराबर एक ओर चलते ही जायँगे और एक चक्कर लगभग २५००० वर्ष में लगावेंगे।

संपात बिन्दुओं के चलायमान होने से हमको प्राचीन समयों के निर्धारण में बड़ी सहायता मिलती है। यदि किसी ग्रंथ में ऐसी बातें दी हों जिनसे संपात-बिन्दुओं की तत्कालीन स्थिति का पता चल जाय तो हम तुरन्त बतला सकते हैं कि वह बात किस समय की है।

वेद और ब्राह्मणों का समय---वैदिक साहित्य में कई ज्योतिष-सम्बन्धी बातों की चर्चा है जिससे कालनिर्णय में सहायता मिलती है।

इनमें से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उल्लेख शतपथ ब्राह्मण में है* जहाँ लिखा है कि कृत्तिकाएँ पूर्व दिशा से नहीं हटतीं यद्यपि अन्य तारिका-पुञ्ज हटते हैं। इसका अर्थ सब लोगों ने यही लगाया है कि कृत्तिकाएँ क्षितिज से ऊपर उदय होते समय क्षितिज के पूर्व बिन्दु पर रहती हैं, क्योंकि कृत्तिकाओं की (और सभी नक्षत्रों की) दिशा क्षण-क्षण पर बदलती रहती है, और इसलिए यदि उनके लिए कोई निश्चित दिशा बतलाई गई है तो वह उदय-काल की दिशा होगी।

परन्तु अयन के कारण कृत्तिकाएँ ठीक पूर्व में केवल कुछ ही वर्षों तक उदय होंगी। पीछे उनकी उदयकालिक दिशा में परिवर्त्तन हो जायगा; उस समय के पहले भी वे पूर्व दिशा में न उगती रही होंगी। इसलिए हम ठीक बतला सकते हैं कि कृत्तिकाओं का पूर्व में उदय होना कब की बात है। गणना से पता चलता है कि २५०० ई० पू० में कृत्तिकाएँ ठीक पूर्व में उदय होती रही होंगी।

यूरोपीय विद्वानों की शंका---कुछ लोगों ने शंका की है कि सम्भवत: यहाँ पूर्व दिशा से ठीक पूर्व का अभिप्राय नहीं है। मोटे हिसाब से पूर्व दिशा का संकेत रहा होगा। परन्तु यह बात युक्तिसंगत नहीं जान पड़ती क्योंकि कृत्तिकाओं

---

* २।१।२।३

के उदय होने की दिशा देखकर यज्ञ-वेदियाँ बनाई जाती थीं, और यदि मोटे हिसाब से ही पूर्व का ज्ञान करना होता तो फिर कृत्तिकाओं को ही चुनने की क्या आवश्यकता रहती। तब तो सूर्य, चन्द्रमा और पचासों तारामण्डलों या तारिका पुञ्जों (नक्षत्रों) से काम चल जाता, और फिर यह लिखने की क्या आवश्यकता थी कि अन्य नक्षत्र पूर्व में नहीं उदय होते।

अब इस प्रश्न का उत्तर देना कि शतपथ ब्राह्मण अपने समय की बात बतला रहा है या किसी पूर्व समय के नियम को उद्धृत कर रहा है इतना सरल नहीं है। दीक्षित* की सम्मति है कि शतपथ का यह वाक्य शेष पुस्तक का समकालीन ही है। फिर, इस वाक्य में वर्तमानकाल का प्रयोग हुआ है जिससे प्राय: निश्चय है कि कृत्तिकाएँ शतपथ ब्राह्मण के निर्माण-काल में पूर्व में उदय होती थीं। सम्भवत: केवल इस एक युक्ति से प्रमाण बहुत पक्का न जान पड़े, परन्तु अन्य युक्तियों से भी लगभग यही समय निकलता है और इसलिए शतपथ के निर्माण-काल को २५०० ई० पू० मानने में कोई आपत्ति नहीं दिखलाई पड़ती।

कई अंग्रेज विद्वानों को शतपथ को इतना प्राचीन मानने में आपत्ति होती है। मैकडोनल्ड और कीथ† ने जिन आपत्तियों को गिनाया है उसमें प्रधान यह बात है कि बौधायन श्रौतसूत्र में भी शतपथ की ही बात लिखी है‡, परन्तु उसके साथ ही एक और बात है जो लगभग छठवीं शताब्दी ई० में ही सत्य हो सकती है।

बौधायन श्रौत सूत्र के उस श्लोक का अर्थ जिसकी चर्चा ऊपर की गई है यह है—

"यहाँ पर यज्ञशाला, जिसके धरन पूर्व दिशा में रहते हैं, बनानी चाहिए। कृत्तिकाएँ पूर्व दिशा से नहीं हटतीं। उनकी सीध में शाला को नापना चाहिए। यह एक विकल्प है। श्रोण की सीध में बनावे, यह दूसरा विकल्प है; चित्रा और स्वाती के मध्य में यह तीसरा।"

जैसा मैंने जरनल ऑफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी में छपे एक लेख में दिखलाया है‡ इस शंका का समाधान यह है कि बौधायन श्रौत सूत्र के समय में श्रोण और कृत्तिकाओं का उदयबिन्दु क्षितिज पर एक था और गणना से पता चलता है कि यह लगभग १३३० ई० पू० में घटित होता था। उस समय अवश्य न तो कृत्तिकाओं का और न श्रोण का उदय-बिन्दु ठीक पूर्व में था, परन्तु बौधायन श्रौत सूत्र के समय में यह तो ज्ञात न था कि अयन-चलन के कारण कृत्तिकाओं के उदय-बिन्दु में अन्तर पड़ जाता है। इसलिए अपने काल में भी शतपथ के नियम को सत्य मानकर उसने कृत्तिकाओं के उदय होने की बात लिखी और साथ ही उस समय के उपयोग के लिए जब कृत्तिकाओं का उदय दिन में होता है और इसलिए दिखलाई नहीं पड़ता श्रोण की और चित्रा और स्वाती के मध्य बिन्दु की बात लिखी होगी। बेध द्वारा लोगों ने बौधायन श्रौत सूत्र के काल में देखा होगा कि उस समय कृत्तिकाएँ और श्रोण क्षितिज के एक ही स्थान पर उगते हैं। चित्रा और स्वाती के मध्य बिन्दु के उदय की बात भी इस युक्ति के अनुकूल ही है।

नक्षत्र-सूचियों से काल-निर्णय—यजुर्वेद संहिता* तथा ब्राह्मणों* में दी हुई नक्षत्र-सूचियाँ सब कृत्तिकाओं से आरम्भ होती हैं। इसका कोई कारण रहा होगा। भारतवर्ष में प्राय: वह सब कार्य वैज्ञानिक सिद्धान्तों से नियंत्रित होता

---

* इण्डियन ऐंटिक्वेरी २४।२४५-४६। दीक्षित ने गणना से ३००० ई० पू० समय निकाला है, परन्तु अधिक सूक्ष्म गणना से २५०० ई० पू० निकलता है।

† वैदिक इण्डेक्स, १।४२७।

‡ १८।५।

‡ जुलाई, १९३६।

* तैत्तिरीय ४।४।१०।१-३; मैत्रायणी २।१३।२०; काठक ३९।१३।

* तैत्तिरीय १।५।१; ३।१।४।१; अथर्ववेद १९।७।१।

था जिसके लिए अन्य देशों में कोई विशेष सावधानी नहीं रहती थी। उदाहरणतः, देवनागरी वर्णमाला, स्वर और व्यंजन के भेद तथा उच्चारण के अनुसार क्रम से बनाया गया है, जहाँ अन्य देशों के वर्णमाला में इस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। फिर, वेद की ऋचाएँ क्रम से रक्खी गई हैं। पंचांग भी वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आश्रित था; आजकल के पाश्चात्य पंचांग की तरह नहीं जहाँ जूलियस सीजर ने अपने नाम पर एक महीने का नाम जुलाई रख दिया और उसमें ३१ दिन रख दिये। उसके बाद ऑगस्टस सीजर ने सोचा कि हमीं क्यों घाटे में रहें। उसने भी एक महीने का नाम ऑगस्ट रखकर, उसमें ३१ दिन रख दिये और फरवरी बेचारी से एक दिन काट लिया। नक्षत्रों की आधुनिक सूची अश्विनी से आरम्भ होती है और वह इसलिए कि जब नवीन सूची बनी तो वसन्त-संपात-बिन्दु अश्विनी के आरम्भ में था। इसलिए सम्भावना यही है कि जब प्रथम सूची बनी थी तो कृत्तिकाएँ वसन्त-संपात-बिन्दु पर थीं। वेबर* की यही सम्मति थी।

यदि कृत्तिकाएँ वसन्त-संपात-बिन्दु पर थीं तो वे ठीक पूर्व में उदित होती रही होंगी। इस प्रकार यह बात शतपथ की बात का समर्थन करती है और इससे सूची के बनने की तिथि २५०० ई० पू० निकलती है। तिलक और याकोबी ने तो यह माना है कि कृत्तिका से आरम्भ होनेवाली सूची के पहले एक दूसरी सूची थी और जब वसन्त-संपात-बिन्दु खिसक कर कृत्तिकाओं के पास आ गया तब कृत्तिकाओं से आरम्भ होनेवाली सूची बनी। यदि यह सिद्धान्त ठीक है तब तो निश्चय है कि उस समय जान-बूझकर सूची को कृत्तिकाओं से आरम्भ किया गया और ऊपर की तिथि निश्चयात्मक है।

गृह्य-सूत्र का प्रमाण—आज भी प्रथा है कि विवाह समय में वर वधू को ध्रुवतारा दिखलाता है और कहता है कि तुम ध्रुव के समान मेरी भक्ति में अचल रहना। यह प्रथा गृह्य सूत्रों से चली आ रही है†। सभी गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख रहने से प्रत्यक्ष है कि यह प्रथा सर्वत्र फैली थी और यह प्राचीन प्रथा है‡। परन्तु अयन-चलन के कारण प्रत्येक काल में ध्रुव तारा नहीं रहता है। इन दिनों है। सन् २७८० ई० पू० के कुछ शताब्दी आगे-पीछे तक था। परन्तु बीच में कोई ध्रुवतारा था ही नहीं, कम से कम कोई ऐसा चमकीला तारा नहीं था जो कोरी आँख से (अर्थात् बिना दूरदर्शक के) सुगमता से दिखलाई पड़ सकता। इससे सिद्ध होता है कि यह प्रथा सन् २७८० ई०पू० के दो ढाईसौ वर्ष इधर और उधर के बीच में कभी चली होगी। होगी। याकोबी की भी यही सम्मति है।§

ज्योतिष-वेदांग की तिथि उसमें दी गई बातों से बारहवीं शताब्दी ई० पू० निकलती है।¶

निष्कर्ष—इस प्रकार हमें निम्न तिथियाँ प्राप्त होती हैं:—

शतपथ ब्राह्मण—२५०० ई० पू०
बौधायन श्रौत सूत्र—१३०० ई० पू०
ज्योतिष-वेदांग—१२०० ई० पू०
आर्यभटीय—५०० ई० (लगभग)।

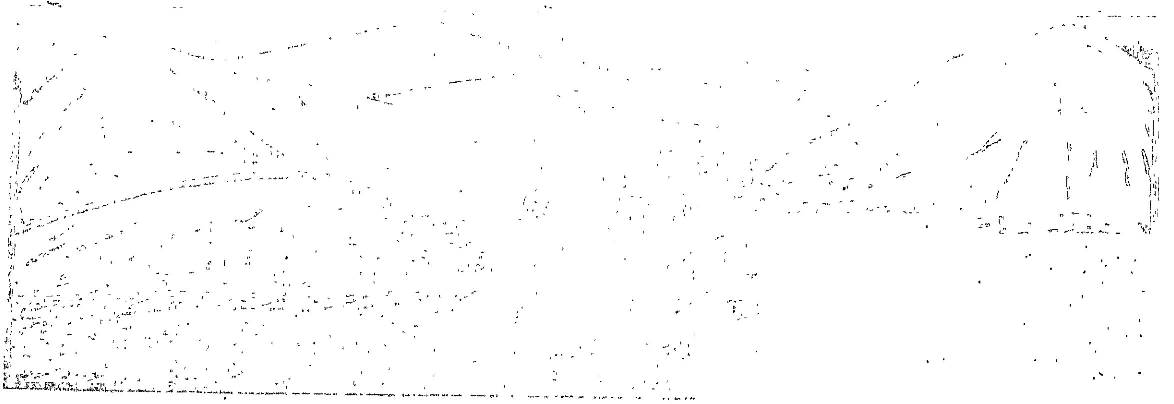
*** नक्षत्र २।२६२-३६४; इण्डिशेस्टुडीन १०।२३५; इत्यादि।**

† पारस्कर गृह्य सूत्र १।८।१९; आपस्तंब गृह्यसूत्र २।६।१२; हरण्यकेशी गृह्यसूत्र १।२२।१४; मानव गृह्य-सूत्र १।१४।९; बौधायन गृह्य सूत्र १।५।१३; गोभिल गृह्य सूत्र २।३।८।

‡ याकोबी, जनरल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९१०।४६१।

§ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी २३।१५७।

¶ वेद-काल-निर्णय के सम्बन्ध में अधिक जानकारी के लिए बिहार और उड़ीसा रिसर्च सोसायटी की पत्रिका में मेरा लेख देखें, जिल्द २१, भाग ३ (१९३५)।



चीन और भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क

श्री युआँग चुंग-यिन, एम० ए०,
श्रीराम एम० ए०

चीन और भारत बहुत प्राचीनकाल से एक दूसरे से सम्बन्धित रहे हैं। उस समय जब यातायात के साधन इतने सुलभ और शीघ्रगामी न थे और मार्गों का अनेक प्रकार से संकटपूर्ण होना एक साधारणसी बात थी, तब भी चीन और भारत में सांस्कृतिक एवं सामाजिक घनिष्टता थी। एक दूसरे की संस्कृति से लाभ उठाने की इच्छा उस समय की प्राकृतिक कठिनाइयों के भय से अधिक बलवती होती थी। भारतवर्ष ने बौद्ध धर्म को जन्म देकर चीन और भारत के बीच एक अमर और अटूट सम्बन्ध स्थापित कर दिया। भारत बौद्ध धर्म का जन्मस्थान होने के कारण चीन से बौद्ध भिक्षुओं का ताँता लगा रहता था। उस समय तो भारत चीनी बौद्ध भिक्षुओं एवं अनुयायियों के लिए एक तीर्थ स्थान बन गया था। केवल इसी नाते नहीं वरन् नालन्दा विश्व विद्यालय में अध्ययन के हेतु विदेशों से आनेवाले विद्यार्थियों में चीन के विद्यार्थियों की संख्या एवं ख्याति विशेष होती थी। उस विश्व विद्यालय का उसी काल के चीनी विद्यार्थी इत्सिंग द्वारा किया गया नालन्दा का विवरण आज अधिक विश्वसनीय समझा जाता है।

इसके अतिरिक्त ६५ ई० में चीन के राजा मिंगती ने बौद्ध धर्म का सन्देश लाने के लिए भारतवर्ष को राजदूत भेजे। यह राजदूत अपने साथ कश्यप मातंग और छबरकेह नाम के दो भारतीय विद्वानों और कई ग्रंथों को ले आए। कश्यप मातंग ने ४२ खंडों के एक छोटे से सूत्रग्रंथ का चीनी भाषा में अनुवाद किया, इससे चीन देश में बौद्ध धर्म के प्रति अधिक जिज्ञासा बढ़ी एवं भारतवर्ष के प्रति सांस्कृतिक एवं धार्मिक सम्बन्ध स्थापित करने के क्षेत्र में प्रयत्न किए गए। जिस सफेद घोड़े पर लदकर भारतवर्ष से धर्म ग्रंथ लाए गए थे उसी के नाम पर पहला मन्दिर बना। दोनों भारतीय विद्वान इस मन्दिर में रहकर मृत्यु पर्यन्त ग्रंथों का अनुवाद एवं धर्म-प्रचार का कार्य करते रहे। ४०५ ई० में भारतवर्ष के प्रसिद्ध भिक्षु कुमारजीव चीन में पहुँचे। ये नानलू के कौतुजी राज्य में ठहरे हुए थे। इनको लाने के लिए चीन के शासक ने नानलू पर आक्रमण किया। कुमारजीव ने कई बौद्ध ग्रंथों का अनुवाद और सम्पादन करने के अतिरिक्त एक शास्त्र भी चीनी भाषा में लिखा।

प्राचीन चीन और भारत में पारस्परिक संस्कृति एवं राष्ट्रीयता को समझने की अनेक चेष्टाओं के तारतम्य में से ये कुछ घटना मात्र हैं। सांस्कृतिक समानता के अतिरिक्त चीन और भारत की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि में भी अनेक दृष्टि से समानता है। मध्य एशिया की मंगोल जाति के अनेक आक्रमण भारत पर हुए और अपनी स्थिति एवं शक्ति के अनुसार उन आक्रमणों का सामना किया गया। चीन को तो इस दिशा में मंगोलिया के बिलकुल ही समीप होने के कारण अधिक

कष्ट उठाने पड़े। पश्चिम में चीन की बड़ी दीवाल जो आज भी संसार के लिए एक आश्चर्य की वस्तु है, उस समय के उस दिशा से किए गए आक्रमणों से बचने का एवं देश की सुरक्षा का साधन मात्र थी। निस्सन्देह चीन पर भारत की अपेक्षा मंगोल जाति का अत्यन्त अधिक प्रभाव पड़ा।

चीन को अपनी सभ्यता तथा संस्कृति की प्राचीनता और उत्कृष्टता पर वैसाही गर्व है जैसा भारत को अपनी प्राचीन आर्य संस्कृति पर। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व फूइसी नामक व्यक्ति के समय से उनके देश का इतिहास यथेष्ट रूप से प्राप्य है। तदनन्तर 'शेननुंग' 'व्हाँगटी' नामक शासकों के अन्तर्गत चीन राज्य की सीमा की वृद्धि हुई और वहाँ की संस्कृति का विकास हुआ। इसके बाद अनेक ऐतिहासिक क्रान्ति एवं परिवर्तनों का क्रम चालू रहा। यहाँ तक कि १३वीं शताब्दी में चीन के अधिक भाग पर तिमूजिन या चंगेजखां का राजनीतिक प्रभुत्व हो गया।

इस मंगोल शासनकाल में भी चीन वैभवशाली एवं सम्पन्न था। अतः इसके वैभव और सम्पन्नशीलता को देखकर पश्चिम से ईसाई और मुसलमान जातियाँ आकृष्ट हुईं और यहाँ आकर बस गईं। चीन ने सभी शान्तिप्रिय जातियों को आश्रय दे मनुष्यत्व का सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन किया। ये घटना उस समय की है जब युरोप में 'क्रूसेड्स' का समय था और धार्मिक कट्टरता एवं असहिष्णुता अपनी पराकाष्टा पर पहुँच चुकी थी।

चीन ने शान्तिप्रिय जातियों को आश्रय दिया परन्तु आक्रमक जातियों से आत्मसम्मान की रक्षा के लिए युद्ध भी किया। सन् १३६८ ई० में चीनियों ने मंगोलों के एक भीषण आक्रमण को असफल बनाया परन्तु विदेशियों का बुरी नियत से चीन में आने का मार्ग, विज्ञान की उन्नति एवं भाप के जलयानों के आविष्कार से पश्चिम के बल के स्थान पर पूर्व का समुद्र प्रधान हो गया, और चीन के प्राकृतिक धन को इस ओर से प्राप्त करने के प्रयत्न होने लगे।

चीन की इस संक्षिप्त ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर भारतवर्ष के दृष्टिकोण से यदि हम देखें तो हमें "अपनी ही कहानी" का दिग्दर्शन होगा।

व्हाँगच्याँग और फाह्यान जैसे यात्रियों का भारत में आना राजनीतिक महत्त्व रखता है। उस समय की राजनीतिक परिस्थिति एवं शासन-व्यवस्था विशेषकर न्यायविधान आदि में परस्पर विचार विनिमय से दोनों राष्ट्रों को जो परस्पर लाभ हुए होंगे उन्हें कोई भी इतिहास का विद्यार्थी अस्वीकार नहीं कर सकता। तत्कालीन चीनी और भारतीय राज्य-व्यवस्था में इन यात्रियों के आगमन, उनके भ्रमण एवं उनके निरीक्षण और विवरण राजनीतिक दृष्टि से अवश्य ही उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अनिश्चित काल से चीनी और भारतीय राजनीति का आधार धर्म रहा है। उनके राजनीतिक कार्यों का औचित्य सदा ही धार्मिक मापदंड से निश्चित किया गया है जिसके फलस्वरूप इन देशों के लिए दुर्बल एवं पिछड़ी हुई जातियों का शोषण करना एक अपरिचित बात रही है।

भौगोलिक दृष्टि से चीन और भारत में अनेक भिन्नताएँ होने पर भी कुछ मौलिक समानताएँ हैं। भारत के समान चीन भी एक विशाल प्रदेश है, और अनेक उपजातियों द्वारा बसा हुआ है, फिर भी इन राष्ट्रों की आधारभूत एकता इनका ही एक मौलिक गुण है जिससे यूरोप, अमेरिका आदि महाद्वीपों को अभी पाठ पढ़ना है। चीन की तीन बड़ी नदियों (ह्वांगों, यांग्टीसी क्यांग और सिक्यांग) के उर्वरे मैदान उतने ही उपजाऊ और उपयोगी हैं जितने भारतवर्ष में गंगा और सिन्ध के मैदान। एक ही मानसून की हवाएँ दोनों देशों को वर्षा का दान देती हैं, दोनों देशों के कई प्रान्तों की जलवायु में पारस्परिक समानता है। उपज की दृष्टि दोनों देश कृषि प्रधान हैं। खनिज पदार्थों की दृष्टि से दोनों ही देश स्वावलम्बी एवं धनी हैं। संसार के पूर्वीय देशों में यही दो देश ऐसे हैं जिनका अनेक समानताओं के कारण एक ही साथ नाम लिया जाता है। पाश्चात्य देशों की दृष्टि से ये दोनों देश एक ही रक्त के दो भाइयों के समान रहे हैं। संसार की दृष्टि में दोनों राष्ट्र एक ही संस्कृति एवं सभ्यता के प्रतीक हैं। दोनों की संस्कृति अत्यन्त प्राचीन, दोनों का अतीत अत्यन्त उज्ज्वल, दोनों के ही सभ्यता के अग्रदूत होने के कारण दुनिया की दृष्टि में एक ही रहे हैं, एक ही समझे गये हैं। इतना ही नहीं, अपितु दोनों ही अपनी राष्ट्रीय आर्थिक जीवन व्यवस्था के एक विशिष्ट प्रकार के होने के कारण एवं आधुनिक विज्ञान, एवं उद्योगीकरण में (जिनका प्रादुर्भाव यूरोप में हुआ) पिछड़े रहने के कारण, पाश्चात्य शक्तियों की लिप्सा एवं शोषण के शिकार बने।

श्री युआँग चुंग-यिन

पूर्व के इन दो राष्ट्रों की संस्कृति में पारस्परिक समानताओं के अतिरिक्त कुछ ऐसी असमान परिस्थितियाँ उपस्थित हुईं जिनके कारण राष्ट्रीय धाराओं में अन्तर पड़ गया। चीन विदेशी जातियों के आर्थिक आक्रमण को सहन कर सका, वह अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता को अभी तक स्थायी रख सका। परन्तु ऐसा करने के लिए उसे अनेक राष्ट्रीय आघात सहने पड़े हैं। चीन के वर्तमान अधिनायक मार्शल च्याँगकाईशेक ने स्वयं कुछ समय पूर्व कहा था "चीन यूरोपीय विज्ञान और कला-कौशल की ओर झुका और धीरे धीरे विदेशी संस्कृति और विदेशी वस्तुओं का भी भक्त बन गया। वह अपनी परम्परागत जातीय भावनाओं और अपने राष्ट्रीय चरित्र की अच्छाइयों और गुणों को भूल गया"। संक्षेप में उसने चीनी महात्मा 'मेन्शियस' के अमर वाक्य 'मनुष्य के ऊपर प्रेम दिखाओ और भौतिक चीजों की कद्र करो' को विस्मृत कर दिया था। आज ये ही शब्द भारतवर्ष के लिए कितने अधिक अंश में सत्य सिद्ध होते हैं, यह अपने अतीत पर गौरव करनेवाला प्रत्येक भारतीय अनुभव कर सकता है।

चीन और भारत के राष्ट्रीय जीवन के अनेक पहलुओं पर विचार करने से यह स्पष्ट है कि जिन देशों की संस्कृति, सभ्यता एवं इतिहास में इतनी स्पष्ट समानता रही हो, उन देशों की जनता का दृष्टिकोण एवं विचारधारा भी समान हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यह तो नित्य प्रति के अनुभव की बात है कि भारतीय नगरों में बसे हुए चीनी व्यापारी अथवा अन्य व्यवसायी व्यक्ति, घूमते हुए यात्री या अन्य प्रकार के चीनी लोग भारतीय जनता के प्रेम, आदर एवं आतिथ्य के सहज ही पात्र बन जाते हैं।

चीन और भारत के अतीत पर इस विहंगम दृष्टिपात के पश्चात् एवं उनकी मौलिक समानताओं पर विचार कर, हम उस काल से दोनों देशों के राष्ट्रीय जीवन पर दृष्टिपात करना चाहते हैं जबसे ये पूर्व के दो महाराष्ट्र विदेशी सत्ता के सम्पर्क में आये।

१८वीं शताब्दी यूरोप के लिए 'राष्ट्रीयता का युग' माना जाता है और १९वीं शताब्दी में उद्योगीकरण के साथ साथ साम्राज्यवाद की जन्म-शताब्दी समझी जाती है। अतः पूर्व के देशों के साथ पश्चिम की इस राष्ट्रीय विचारधारा का संघर्ष १८वीं शताब्दी से ही होने लगा। इस प्रकार की संकुचित एवं प्रतिक्रियावादी राष्ट्रीयता से पूर्व अपरिचित था। शनैः शनैः इस संक्रामक रोग का प्रभाव पूर्व के देशों पर भी होने लगा। इसके प्रतिकूल उन शोषित और दलित देशों में एक प्रकार की नई भावना का उद्रेक होने लगा जिसके फलस्वरूप गत सौ वर्षों में चीन, जापान भारतवर्ष आदि पौर्वात्य देशों में प्रबल राष्ट्रीय आन्दोलन प्रादुर्भूत हुए। यूरोप में हमने कई राष्ट्रों की स्थापना एवं उत्थान देखा है जिसमें गत महायुद्ध के बाद दो राष्ट्र-जर्मनी और इटली का प्रभुत्व विशेष महत्वपूर्ण रहा है। पूर्व में केवल जापान ही अपने राष्ट्रीय आन्दोलन से सन्तुष्ट रहा है। जापान के इस राष्ट्रीय उत्थान को पूर्व के जन-समुदाय ने एक वरदान स्वरूप समझा था, यह विचार १९०४ के रूस-जापान युद्ध में जापान की विजय से और भी दृढ़ हो गया। परन्तु जापानी राष्ट्रीयता एक गहरी बीमारी का बाह्य लक्षण था। वह तो साम्राज्यवाद की ओर बढ़नेवाला पहला प्रयास था। इसी आशय की चेतावनी आजसे ३० वर्ष पूर्व जापान देश में जापानियों के ही सम्मुख स्वर्गीय रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने भी दी थी। उनकी भविष्यवाणी के अनुसार जापान का यह राष्ट्रवाद आज साम्राज्यवाद के कलुषित रूप में परिणत हो संसार के लिए शाप सिद्ध हुआ। जापानी साम्राज्यवाद की लिप्सा का सर्व प्रथम शिकार उसके निर्दोष एवं शान्तिप्रिय पड़ौसी चीन को होना पड़ा। जापान के इस अत्याचार से चीन अत्यधिक सुदृढ़ और संगठित हो गया और चीन के वज्र राष्ट्रीय संकल्प का प्रत्यक्ष उदाहरण उस आत्मरक्षा के हेतु युद्ध से हो रहा है जो उसने ७ जौलाई सन् १९३७ ई० के दिन से प्रारम्भ कर दिया था। चीन की राष्ट्रीय संगठित शक्ति इस अत्याचार विरोधी युद्ध के रूप में प्रकट हो चुकी है, जिसमें वह पूर्णतः विजयी हुआ।

चीन और भारत को अनेकबार अनेक विदेशी जातियों से युद्ध करने पड़े परन्तु वे भी केवल आत्मरक्षा के हेतु, संसार में सम्मानित राष्ट्र के समान जीवित रहने के लिए, 'जीवित रहो और जीवित रहने दो' के सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिये।

चीन और भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क

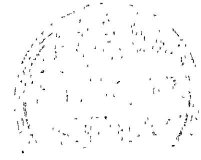
वसे तो महाराजा हर्षवर्द्धन अन्तिम हिन्दू सम्राट् माने जाते हैं जिन्होंने अपनी साधना से एक छत्र अधीश्वर की भाँति भारतवर्ष के एक विशाल खण्ड को राजनीतिक एकता के सूत्र में बाँधा। उसके बाद अनेक छोटे छोटे राजपूत राज्यों की स्थापना हो गई और राजनीतिक एकता छिन्न भिन्न हो गई। जिस देश से सिकन्दर जैसे दिग्विजयी को निराश हो लौटना पड़ा था, उसपर विदेशी आक्रमणों का श्रीगणेश ७१२ ई० में मु० बिन कासिम के आक्रमण से हुआ। जैसे जैसे राष्ट्रीय जीवन में एकता का अभाव 'संघ शक्ति' की कमी के कारण होता गया उसी प्रकार देश का राष्ट्रीय जीवन क्षत-विक्षत होने लगा। इस समय के आक्रमण धन प्राप्ति के लालच एवं लूटमार कर चले जाने के हेतु ही हुआ करते थे, राष्ट्रीय जीवन में अभी इतनी शिथिलता न आ पाई थी कि विदेशी आक्रमणकारी देश में स्थायी होकर आधिपत्य रख सकते। पश्चिमी सीमान्त के मध्य प्रदेश पर्वतीय एवं शुष्क होने के कारण वहाँ के निवासियों को सुख एवं जीवन की सुविधाएँ देने में असमर्थ थे, अतः वहाँ के निवासियों का जीवन कष्टमय था जिससे मुक्ति पाने के लिए वे आसपास के देशों में पहुँचना चाहते थे। इसलिए वे भी भारत में आकर सुखपूर्वक रहने का लोभ संवरण न कर सके। अतएव जितने आक्रमण हुए उन सभी के पश्चात् आक्रमण-कारी परिस्थिति के अनुसार बसते गए और इसी देश को अपना देश स्वीकार करते गए। लगभग ७०० वर्ष बाद भी मुगल शासन काल में भारत में फिर एक बार राजनीतिक ऐक्यता स्थापित करने के लिए सफल प्रयत्न किए गए। परन्तु मुगल राज्य के पतन के पश्चात् भारत के राष्ट्रीय जीवन को फिर एक धक्का लगा।

भारत के इतिहास का सबसे दुर्भाग्यशाली अध्याय आरम्भ होता है यूरोप की जातियों का भारतवर्ष में व्यापार की सुविधाएँ प्राप्त करने के हेतु आगमन से। विदेशी व्यापारियों के रूप में आकर उन्होंने देश की आन्तरिक राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। अपना स्वार्थ सिद्ध करने तथा अपने मन्तव्यों की पूर्ति के लिए अनेक षड्यंत्र रचे गए, हर प्रकार के साधनों का आश्रय लिया गया, एवं देश पर राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने के ध्येय की पूर्ति के लिए सभी कुछ किया गया।

चीन को भी इसी प्रकार की अनेक भयंकर राष्ट्रीय परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा है। उसे भी पश्चिम से अनेकों आघात सहने पड़े हैं, पूर्व में जापान और उत्तर में रूस की ओर से भी उसे अनेक यातनाएँ मिली हैं, उसे भी आत्म रक्षा के लिए अनेक युद्ध करने पड़े हैं। उसे भी आन्तरिक विद्रोह और गार्हस्थिक वैमनस्य की ज्वालाओं में से निकलना पड़ा है। इतना ही नहीं वरन् उसके समुद्र तट पर सदा से ही विदेशी शक्तियों के दाँत रहे हैं। १८वीं शताब्दी के तो आरम्भ से ही चीन की पुष्कल खनिज सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए अमेरिका और जापान सदा से ही प्रतिद्वन्दी रहे हैं। चीन और भारत दोनों के ही दुर्भाग्य से इन देशों को आन्तरिक स्थितिअसंगठित, वैमनस्यपूर्ण, स्वेच्छाचारिता एवं व्यक्तिगत महत्वाकांक्षाओं से परिपूर्ण रही है, इसी कारण विदेशी शक्तियाँ अपने अनुचित ध्येय में सफल रहीं।

चीनी और भारतीय दोनों ही शान्तिप्रिय और सद्गुणी जातियाँ हैं। दोनों ही सत्य और न्याय में विश्वास करती हैं, दोनों ही अत्याचार और बुराई से घृणा करती हैं। दोनों ही मनुष्यों के पारस्परिक मतभेद एवं तज्जन्य समस्याओं को क्रूर एवं अन्यायपूर्ण साधनों की अपेक्षा सत्य, न्याय और औचित्य द्वारा हल करना चाहती हैं। चीनी 'बाँग ताओ' एवं 'पायो ताओ' साधनों में स्पष्ट भेद समझते हैं। 'बाँग ताओ' का शाब्दिक अर्थ 'राजमार्ग' है जिसका भारतीय पर्यायवाची 'धर्म' और 'अहिंसा' है। 'पायो ताओ' का अभिप्राय 'पाशविक शक्ति' से है। जापान 'पाओ ताओ' का अनुयायी था और इसके विपरीत चीन 'बाँग ताओ' का कट्टर समर्थक है। चीन में राष्ट्रीय जागृति का शंखनाद विदेशी आक्रमणों एवं तज्जन्य अत्याचारों के फलस्वरूप बजा, परन्तु चीन की राष्ट्रीय विचारधारा का केन्द्र बिन्दु तो 'बाँग ताओ' अर्थात् 'धर्म, सत्य और अहिंसा' का मार्ग ही रहा।

१५०० मील लम्बी दीवाल के परे के प्रदेशों के अतिरिक्त मुख्य चीन का विस्तार रूस के अतिरिक्त शेष समस्त यूरोप के बराबर है। चीन केवल विस्तार की दृष्टि से ही नहीं, भौगोलिक विभिन्नताओं की दृष्टि से भी यह एक बड़ा महा-द्वीप है। चीन पाश्चात्य प्रणाली की उन्नतिशीलता की दृष्टि से प्राचीनतम संस्कृति के आधारभूत सब से अर्वाचीन राष्ट्र है। चीन की जनसंख्या ४० करोड़ से भी अधिक है, जिनमें अनेक जातियों एवं उपजातियों के लोग सम्मिलित हैं। इस



महान देश में कई लाख मंगोल हैं, लगभग दस लाख मंचू हैं, कई लाख तिब्बती हैं, लगभग दस लाख तुर्क मुसलमान हैं और बहुत अल्प संख्या में मूल निवासी हैं। इन सब जातियों की सम्मिलित संख्या एक करोड़ से अधिक नहीं है। अत्यधिक बहुमत चीनियों का है जो हान (मध्य) अथवा मूल चीनी जाति के वंशज हैं जिनमें एक ही रक्त, जिनकी एक ही भाषा, जिनका एक ही धर्म, और जिनके समान रीति रिवाज हैं। संक्षेप में चीनी जनसंख्या का बहुमत चीन के आदि पूर्वजों के ही शुद्ध वंशज हैं। राष्ट्रीय संगठन एवं ऐक्यता स्थापित करने की दृष्टि से चीन को भारतवर्ष की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ हैं।

शान्तिप्रिय होते हुए भी चीनी लोग क्रान्तिकारी व्यक्ति हैं। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है, वर्त्तमान वैज्ञानिक उन्नति की दृष्टि से चीन सबसे अधिक अर्वाचीन राष्ट्र है। पर दुर्भाग्य से नैनकिंग सरकार के केवल ९ साल (१९२८-३७) के पवित्र प्रयत्नों एवं तद फलस्वरूप आशातीत सफलता को विदेशी शक्तियाँ सहन न कर सकीं। इसके पूर्व कि चीन एक सुदृढ़ और समृद्धशाली राष्ट्र बन जाय, जापान ने स्वार्थ साधन के हेतु उसके भविष्य को अन्धकार बनाने की दृष्टि से आक्रमक युद्ध छेड़ दिया। ७ साल तक चीन ने जो युद्ध आत्मरक्षा एवं प्राचीन संस्कृति के लिए किया उसका संदेश समस्त संसार को है, समस्त मनुष्य जाति के लिए है।

चीनियों का क्रान्तिकारी होने का प्रत्यक्ष प्रमाण जापानी आक्रमण को रोकने, उनके जघन्य उपायों को विफल बनाने में जो आश्चर्यजनक शक्ति, एवं क्षमता दिखाई है, उससे स्पष्ट है। चीन पर दो बार विदेशी आधिपत्य रहा है, प्रथम बार मंगोल लोगों का और दूसरी बार मंचू लोगों का। लेकिन वे अपना स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित नहीं रख सके, चीनी जाति ने उनको अपने में सम्मिलित कर लिया और वे चीनी जाति का एक अंग बन गई।

चीनियों के संयुक्त राष्ट्र निर्माण होने एवं विकास प्राप्त करने में ऐतिहासिक एवं भौगोलिक कारणों का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। चीन राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दृष्टिकोण से एक राष्ट्र है। तीन हजार वर्ष पूर्व की सभ्यता का प्राचीनतम परिपोषक उत्तरी चीन का समतल प्रदेश था। इस प्रदेश की भूमि उपजाऊ, जलवायु समशीतोष्ण और मनुष्य परिश्रमी होने के कारण उनके श्रम एवं प्रयत्नों का उचित फल मिलता था। प्राचीन काल में भारतवर्ष में प्रकृति के वरदान स्वरूप कम श्रम करने मात्र से ही भोजन वस्त्र आदि की चिन्ता से मनुष्य मुक्त हो जाया करते थे अतः आत्मा, परमात्मा तथा लौकिक पारलौकिक ज्ञान चर्चा व चिन्तन के लिए उनके पास पर्याप्त समय व सुविधाएँ रहती थीं। इसलिए उस काल में भारतवर्ष ने विश्वविश्रुत दार्शनिक व विचारक उत्पन्न किये।

इसके विपरीत चीनियों का दृष्टिकोण अधिक क्रियात्मक रहा जिसके फलस्वरूप चीन में उच्च श्रेणी के व्यापारी सैनिक एवं राजनीतिज्ञ उत्पन्न हुए। उन्होंने पारलौकिक ज्ञान की अपेक्षा मनुष्यों के ऐहिक सम्बन्ध को नियंत्रित करने, मनुष्य का मनुष्य के प्रति सामाजिक सम्बन्ध निर्धारित करने एवं उनको सुचारु रूप से चलाने की व्यवस्था पर अधिक विचार किया। चीनियों में धार्मिक सहिष्णुता अत्यधिक है, वे जाति में ऊंच-नीच का भेद नहीं रखते, इसीलिए चीनी सभ्यता में अन्य वर्गों को आत्मसात् करने की अद्भुत क्षमता रही है जो देश के कोने कोने में व्याप्त है।

चीनी जाति एक महान समुद्र के समान है जो प्रत्येक वस्तु को जो इसमें सम्मिलित हो जाता है, लवणमय कर देता है। चीनी इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि चीनी राष्ट्र सदा से एक पूर्ण इकाई के रूप में रहा है जिसका विभाजन किसी भी दृष्टि से कभी नहीं हो सका। पूर्वोत्तर के चार प्रान्त जो जापान के आधीन कभी रहे हैं और जिन पर कुछ समय जापान की कठपुतली 'मंचूको सरकार' का शासन रहा है, सदा से चीन के अंग रहे हैं इसी प्रकार तिब्बत और मंगोलिया भी निस्सन्देह चीनी प्रान्त हैं।

चीन में कुल मिलाकर २८ प्रान्त और दो उप-प्रान्त (तिब्बत और मंगोलिया) हैं। चीन की उस समय की सीमा जब वह अपने वैभव के शिखर पर था आज की सीमा से कहीं अधिक विस्तृत थी। चीन के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेखों में जो ईसा से १२०५-६७ वर्ष पूर्व लिखे गए थे, यह वर्णित है कि चीन की सीमा पूर्व में समद्र तक, और उत्तर एवं दक्षिण में अन्तिम सीमा तक विस्तृत थी।

चीन और भारत में सांस्कृतिक सम्पर्क

चीन में राष्ट्रीय जागृति की कसौटी एवं मार्गदर्शिका कन्फूशियसवाद है। महात्मा कन्फूशियस बुद्ध का समकालीन था और वह मध्य मार्ग का समर्थक था, वह प्रेम और बन्धुत्व का हिमायती थी। वास्तव में कन्फूशियसवाद धर्म की अपेक्षा एक नैतिक विचारधारा एवं दर्शन का अंग था। प्राचीन चीनी ग्रंथ 'महाविद्या' में आदेश है "वस्तुओं की वास्तविकता की खोज करो, ज्ञान का विस्तार बढ़ाओ, ध्येय को शुद्ध करो, मन पर नियंत्रण रखो, व्यक्तिगत सद्गुणों का विकास करो, कुटुम्ब का संचालन करो, राज्य पर शासन करो और संसार में शान्ति स्थापन करो।"

वर्तमान चीनी जनतंत्र के पिता व परिपोषक डॉ० सनयातसेन के मतानुसार चीन के प्राचीन राष्ट्रीय गुण देशनिष्ठा, बन्धुत्व, दयालुता, प्रेम, सत्य, न्याय, सामाजिक सामञ्जस्य एवं शान्ति थे। कन्फूशियस तथा अन्य चीनी राष्ट्रीय महात्माओं के प्राचीन आदर्शवाद से उत्पन्न नैतिक शक्ति के फलस्वरूप आज का चीन केवल जीवित रहने में ही समर्थ नहीं हुआ है वरन् उसने अपने आसपास की जातियों का भी अपने अन्दर समावेश कर लिया है। अतः यह स्पष्ट है कि चीनी संस्कृति चीनी जाति पर अन्तर्मुखी प्रतिभा है, जो चीनी जाति एवं राष्ट्र के जीवन का एक विशेष दिशा में निर्माण करेगी।

चीन के सर्व प्रथम क्रान्तिकारी नेता, डॉ० सनयात्सेन ने चीनी राष्ट्रीय विचारधारा को आधुनिक रूप दिया, जिसको समस्त चीनी जाति ने स्वीकार कर उसका समर्थन किया। उसने राष्ट्रीय मार्ग दर्शन के लिए तीन क्रान्तिकारी सिद्धान्त उपस्थित किए—१. राष्ट्रीयता, २. जनतंत्रवाद, ३. समाजवाद। उन्हींके द्वारा सन् १८९३ में क्यूमिनटाँग (जनता की पार्टी) की स्थापना हुई। तब से यह क्यूमिनटाँग देश की स्वाधीनता एवं राष्ट्रीय स्वावलम्बन के लिए संघर्ष करती रही है और राष्ट्र को सम्मानित और स्वावलम्बी बनाने में सतत् प्रयत्न कर रही है।

लक्ष्य के समान होने की दृष्टि से आज हम चीन के हुइ-शी और भारत के महात्मा गांधी के नाम साथ साथ ले सकते हैं। इन दोनों के जीवन में भी अनेक समानताएँ हैं। दोनों ही को पाश्चात्य देशों में शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला था, एक अमेरिका गए तो दूसरे का इंग्लैण्ड में अध्ययन हुआ। हुईशी चीन में नई विचारधारा के प्रवर्तक बने, उन्होंने चीन को कर्मशील बनाया, और आशा और नवजीवन का सन्देश दिया, उन्होंने चीन के आर्थिक जीवन में क्रान्ति की, उन्होंने प्राचीन क्लिष्ट और दुरूह भाषा को सरल एवं सुगम्य बना जनता के योग्य बनाया। चीन जाति को रूढ़ियों से युक्त कराने का उन्हें बहुत कुछ श्रेय है। हुइशी यथार्थवादी हैं, वे चीनी कला और संस्कृति को उन्नत होना तो देखना चाहते हैं परन्तु वे चीन को आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और उन्नत पहले देखना चाहते हैं। चीन के महात्मा हुईशी की इस कार्य प्रणाली और विचारधारा की पृष्टभूमि से यदि हम भारत के महात्मा गांधीजी के क्रियात्मक कार्यक्रम के चौदह अंगों पर विचार करें, तो निस्सन्देह हमें इन दो नेताओं के कार्यक्रम में कोई अन्तर ही दृष्टिगोचर न होगा।

इन दो राष्ट्रों के स्वाधीन होने के प्रयत्नों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमें यह अनायास ज्ञात हो जायगा कि दोनों ही का मार्ग कण्टकाकीर्ण रहा है। चीन को तो गृहकलह, वर्ग-विरोध और आन्तरिक वैमनस्य के दुखद प्रसंग देखने पड़े हैं पर उनका प्रभाव अस्थायी होना स्वाभाविक ही था। विदेशी आक्रमण एवं अत्याचार का सामना करने की सामूहिक भावना ने अब तो चीन को एक सुदृढ़ राष्ट्र बना दिया है जिसकी शक्ति में किसी को सन्देह नहीं होना चाहिए।

भारतवर्ष की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति में तनिक भिन्नता है। आज जिस प्रकार चीन में भी कन्फूशियस, मेन्शियस, बुद्ध, ईसाई और इस्लाम धर्म के अनुयायी हैं उसी प्रकार भारत में हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, ईसाई भिन्न भिन्न धर्मावलम्बी निवास करते हैं। परन्तु यहाँ इन धार्मिक विभिन्नताओं को महत्त्व देकर अनुचित लाभ उठाने का प्रयत्न किया जा रहा है। आज भारत की उन्नति में यह सबसे बड़ी भारी रुकावट है जिसको दूर करने के लिए प्रत्येक भारतवासी विकल है।

दोनों ही राष्ट्र आज नवयुग के उस स्वर्ण प्रभात की आशा में दृढ़ संकल्प हैं, जब कि वे सम्मान से मस्तक ऊँचा कर कह सकेंगे कि हमने जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' के लिए सर्वस्व न्यौछावर कर अपरिमित बलिदान कर सभ्य और सम्मानित राष्ट्र की तरह जीवित रहने के लिए संसार के सम्मुख एक जीवित उदाहरण रखा है।



भारतीय संगीत का विकास

श्री जयदेवसिंह

अज्ञातविषयास्वादो बालः पर्यंकिकागतः।
रुदन्गीतामृतं पीत्वा हर्षोत्कर्षं प्रपद्यते॥—संगीतरत्नाकर।

"पालने पर पड़ा हुआ रोता हुआ बच्चा भी जोकि अभी किसी विषय के स्वाद को नहीं जानता गीत के अमृत को पीकर अत्यन्त हर्ष को प्राप्त होता है।"

इन थोड़े से शब्दों में संगीतरत्नाकर के रचयिता शार्ंगदेव ने संगीत के प्रभाव का बहुत ही सुन्दर रीति से वर्णन किया है। शास्त्रकारों ने नाद को ब्रह्म कहा है।

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृतं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमद्वितीयमुपास्महे॥—संगीतरत्नाकर।

ब्रह्म का संकल्प सबसे पहिले नाद के ही रूप में अभिव्यक्त हुआ। वाक्यपदीय के प्रणेता भर्तृहरि ने सृष्टि को नाद का विवर्त माना है। ब्रह्मा से लेकर मनुष्य तक कोई भी ऐसा नहीं है जो संगीत से मुग्ध न होता हो।

सामगीतिरतो ब्रह्मा वीणाऽऽसक्ता सरस्वती।
किमन्ये यक्षगन्धर्वदेवदानवमानवाः॥ —संगीतरत्नाकर।

जब मनुष्य को कोई प्रयोजन सिद्ध करना होता है तब वह बोलता है। जब उसका प्रयोजन नहीं होता, जब वह अन्तस्तम हृदय में अनुभूत आनन्द से अभिभूत हो जाता है तब उसके कण्ठ से स्वर फूट निकलते हैं। संगीत हृदय की भाषा है। वह मानवमात्र की सार्वभौमिक, सहज, स्वभावसिद्ध मातृभाषा है। भाषा का एक लोकसम्मत, रूढ़ अर्थ होता है।

जो उस भाषा को जानता है वही उसके अर्थ को समझ सकता है। पर स्वर का अर्थ हृदयस्पन्दन द्वारा समझ लिया जाता है। इसीलिए पशु तक भी संगीत के वशीभूत हो जाते हैं।

वनेचर स्तृणाहारश्चित्रं मृगशिशुः पशुः।
लुब्धो लुब्धकसंगीते गीते यच्छति जीवितम्।
तस्य गीतस्य माहात्म्यं के प्रशंसितुमीशते।
धर्मार्थकाम मोक्षाणामिदमेवैकसाधनम्।।—संगीतरत्नाकर।

हमारे जीवन में आदिकाल से संगीत का एक बहुत ही उच्च स्थान रहा है। गीत, वाद्य और नृत्य तीनों को हमारे शास्त्रकारों ने संगीत कहा है। "गीतम् वाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते।" (संगीतरत्नाकर) इनमें से गीत प्रधान है। मनुष्य पहले कण्ठ से गाता है। इसके अनन्तर वाद्य इत्यादि में वह उन्हीं स्वरों को व्यक्त करता है। स्वर और लय गीत के मुख्य अंग हैं। लय और ताल के ही आधार पर नृत्य होता है।

गीतं नादात्मकं वाद्यं नाद-व्यक्त्या प्रशस्यते।
तद्द्वयानुगतं नृत्तं नादाधीनमतस्त्रयम्।।—संगीतरत्नाकर।

वैदिककाल में भारतीय संगीत का पर्याप्त विकास हो चुका था। वेदों में दुन्दुभि, आडम्बर, भूमि दुन्दुभि, वनस्पति, आघाति, काण्डवीणा, वीणा, तूणव इत्यादि वाद्यों का उल्लेख मिलता है। सामवेद की ऋचाएँ एक व्यवस्थित नियम से गाई जाती थीं। यहाँ पर हम स्वर, गीत और ताल तीन मुख्य शीर्षकों में भारतीय संगीत के विकास का कुछ विवरण देंगे।

स्वर—वैदिककाल में भारतीय संगीत के सातों स्वर आविष्कृत हो चुके थे। ऋक् प्रातिशाख्य में प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ स्वरों का और तैत्तिरीय प्रातिशाख्य में क्रुष्ट और अतिस्वार्य स्वरों का उल्लेख मिलता है। सात स्वरों के समूह को सप्तक कहते हैं। वैदिककाल में 'सप्तक' के स्वरों के नाम थे 'क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अतिस्वार्य'। कालान्तर में इन स्वरों के नाम बदल गए। अब सारे भारत में सातों स्वरों के प्रचलित नाम ये हैं—षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पञ्चम, धैवत, निषाद। इन स्वरों के नामों की व्युत्पत्ति 'संगीत समयसार' में यों दी है :—

नासाकण्ठ उरुस्तालुजिह्वादन्तास्तथैव च।
षड्भिः संजायते यस्मात् तस्मात् षड्ज इति स्मृतः।।
नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
ऋषभवन्नदेद् यस्मात् तस्मात् ऋषभ ईरितः।।
नाभेः समुदितो वायुः कण्ठशीर्षसमाहतः।
गन्धर्वसुखहेतुः स्यात् गांधारस्तेन कथ्यते।।
वायुः समुत्थितो नाभेर्हृदयेषु समाहतः।
मध्यस्थानोद्भवत्वाच्च मध्यमस्तेन कीर्तितः।।
वायुः समुत्थितो नाभेरोष्ठकण्ठ शिरोहृदः।
पञ्चस्थान-समुद्भूतः पञ्चमस्तेन सम्मतः।।
नाभेः समुत्थितो वायुः कण्ठतालुशिरोहतः।
निषीदन्ति स्वराः सर्वे निषादस्तेन कथ्यते।।

स्वरों के तीन स्थान हैं:—मंद्र, मध्य और तार।

व्यवहारे त्वसौ त्रेधा हृदि मन्द्रोऽभिधीयते।
कण्ठे मध्यो मूर्ध्नि तारो द्विगुणश्चोत्तरोत्तरः।।

जो स्वर सबसे नीचा सुनाई पड़ता है और अधिककर नाभिदेश से व्यक्त होता है वह मंद्र-स्थान का स्वर है। जो स्वर उससे

अधिक ऊँचा सुनाई पड़ता है और अधिककर कंठ से व्यक्त होता है वह मध्य स्थान का स्वर है। जो उससे भी अधिक ऊँचा सुनाई देता है और अधिककर मूर्धा द्वारा व्यक्त होता है वह तार स्थान का स्वर है।

श्रुति और स्वरस्थान—संगीतोपयोगी ध्वनि को नाद कहते हैं। श्रवणगोचर नाद को श्रुति कहते हैं। शास्त्रकारों ने श्रुति की बहुत सरल व्याख्या की है—"श्रूयते इति श्रुतिः।" जो नाद कानों से स्पष्ट सुना जा सकता है अर्थात् पहचाना जा सकता है उसे 'श्रुति' कहते हैं।

इन श्रुतियों के कितने भेद माने गए हैं? इस विषय पर निम्नलिखित विद्वानों का मत संगीतज्ञों के लिए सर्वदा मान्य रहा है:—भरत, शार्ङ्गदेव, लोचन, अहोबल, हृदयनारायणदेव और श्रीनिवास। इनके ग्रंथों के नाम ये हैं:—नाटचशास्त्र; संगीतरत्नाकर; रागतरंगिणी; संगीत पारिजात; हृदयप्रकाश; रागतत्वबोध। मैकडानल ने (*India's Past* p. 97) भरत का काल ईसा पूर्व २०० वर्ष माना है। शार्ङ्गदेव तेरहवीं शताब्दी में हुए; लोचन पन्द्रहवीं, अहोबल १६वीं, हृदय १७वीं और श्रीनिवास १८वीं शताब्दी में हुए। अतएव कम से कम १३वीं शताब्दी से १८वीं शताब्दी तक के ग्रंथों में 'श्रुति' की संख्या के विषय में प्रायः ऐकमत्य रहा है। एक सप्तक में वे २२ 'श्रुतियाँ' मानते थे और उनके आधार पर फिर शुद्ध और विकृत स्वरों की स्थापना करते थे। इन श्रुतियों को सात स्वरों में बाँटते समय वे एक परम्परागत नियम को स्वीकार करते थे। कहा है:—

चतुश्चतुश्चतुश्चैव षड्जमध्यमपंचमाः।
द्वे द्वे निषादगान्धारौ त्रिस्त्री ऋषभधैवतौ॥

अर्थात् षड्ज, मध्यम और पंचम स्वरों के हिस्से में चार-चार श्रुतियाँ पड़ती हैं, गांधार और निषाद में दो दो श्रुतियाँ और ऋषभ और धैवत के हिस्से में तीन तीन श्रुतियाँ हैं।

यह नियम आज तक चला आ रहा है। परन्तु आजकल के शुद्ध और विकृत स्वर प्राचीन ग्रंथकारों के स्वरों से कुछ भिन्न हैं। इसका कारण यह है कि प्राचीन ग्रंथकार अपना प्रत्येक शुद्ध स्वर उस स्वर के शास्त्रोक्त अन्तिम श्रुति पर रखते थे। उनके स, रे, ग, म, प, ध, नि—ये शुद्ध स्वर ४, ७, ९, १३, १७, २०, २२ इन श्रुतियों पर रक्खे जाते थे। रागमञ्जरी में इसका स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

वेदाचलांकश्रुतिषु त्रयोदश्यां श्रुतौ तथा।
सप्तदश्यां च विंश्यां च द्वाविंश्यांच्च श्रुतौ क्रमात्॥

आजकल के संगीतज्ञ शुद्ध स्वर एक भिन्न नियम से स्थापित करते हैं। उनका क्रम प्राचीन विद्वानों के क्रम से उलटा है। प्राचीन विद्वान् प्रत्येक शुद्ध स्वर को उस स्वर की शास्त्रोक्त अन्तिम श्रुति पर रखते थे। आधुनिक विद्वान् प्रत्येक शुद्ध स्वर को उसकी शास्त्रोक्त पहिली श्रुति पर रखते हैं। निम्नलिखित तुलनात्मक विवरण से श्रुति स्वर-व्यवस्था बिलकुल स्पष्ट हो जायगी:—

प्राचीन विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था	आधुनिक विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था
१. तीव्रा	१. तीव्रा—षड्ज (शुद्ध)
२. कुमुद्वती	२. कुमुद्वती
३. मन्दा	३. मन्दा
४. छन्दोवती—षड्ज (शुद्ध)	४. छन्दोवती
५. दयावती	५. दयावती—ऋषभ (शुद्ध)
६. रंजनी	६. रंजनी
७. रक्तिका—ऋषभ (शुद्ध)	७. रक्तिका



प्राचीन विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था	आधुनिक विद्वानों की श्रुति स्वर व्यवस्था
८. रौद्री	८. रौद्री––गांधार (शुद्ध)
९. क्रोधी––गांधार (शुद्ध)	९. क्रोधी
१०. वज्रिका	१०. वज्रिका––मध्यम (शुद्ध)
११. प्रसारिणी	११. प्रसारिणी
१२. प्रीति	१२. प्रीति
१३. मार्जनी––मध्यम (शुद्ध)	१३. मार्जनी
१४. क्षिति	१४. क्षिति––पञ्चम (शुद्ध)
१५. रक्ता	१५. रक्ता
१६. संदीपनी	१६. संदीपनी
१७. आलापिनी––पञ्चम (शुद्ध)	१७. आलापिनी
१८. मदन्ती	१८. मदन्ती––धैवत (शुद्ध)
१९. रोहिणी	१९. रोहिणी
२०. रम्या––धैवत (शुद्ध)	२०. रम्या
२१. उग्रा	२१. उग्रा––निषाद (शुद्ध)
२२. क्षोभिणी––निषाद (शुद्ध)	२२. क्षोभिणी
१. तीव्रा	१. तीव्रा––षड्ज (शुद्ध)
२. कुमुद्वती	२. कुमद्वती
३. मन्दा	३. मन्दा
४. छन्दोवती––षड्ज (शुद्ध)	४. छन्दोवती

इससे स्पष्ट है कि प्राचीन विद्वान् अपने शुद्ध स्वरों को ४, ७, ९, १३, १७, २० और २२ श्रुति संख्या पर रखते थे, और आधुनिक विद्वान् अपने शुद्ध स्वरों को १, ५, ८, १०, १४, १८ और २१ श्रुति संख्या पर रखते हैं।

यह तो श्रुतियों का साधारण वर्णन हुआ, परन्तु श्रुति स्वरों का ध्वनि-दृष्टि से ही ठीक स्पष्टीकरण हो सकेगा। ध्वनि-दृष्टि से विचार करने में मध्यकालीन विद्वान् लोचन, अहोबल, हृदय, श्रीनिवास इत्यादि के ही ग्रंथ सहायक हो सकते हैं। ध्वनिदृष्टि से श्रुति स्वर-स्थानों को निर्दिष्ट करने के लिए दो साधन हैं। पहिला वीणा के तार की भिन्न भिन्न लम्बाई से ध्वनि बतलाना। दूसरा प्रत्येक ध्वनि के एक सेकन्ड में होनेवाले तुलनात्मक आन्दोलन द्वारा। मध्यकालीन पण्डितों ने पहिले साधन का अवलम्बन किया है। इनके वर्णन के अनुसार शुद्ध स्वर स्थान इस प्रकार होगा :––

	तार की लम्बाई इंचों में
षड्ज	३६ (मानी हुई)
तार षड्ज	१८
अति तार षड्ज	९
मध्यम	२७
पंचम	२४
गांधार	३०
ऋषभ	३२
धैवत	२१ १/३
निषाद	२०

ये शुद्ध स्वर आधुनिक आन्दोलन (Vibration) पद्धति से इस प्रकार रक्खे जायँगे :—

	आन्दोलन
षड्ज	२४० (माने हुए)
तार षड्ज	४८०
अतितार षड्ज	९६०
मध्यम	३२०
पंचम	३६०
गांधार	२८८
ऋषभ	२७०
धैवत	४०५
निषाद	४३२

विकृत स्वर—ऊपर हमने यह देखा है कि भरत के समय से लेकर १८वीं शताब्दी तक किस प्रकार शुद्ध स्वर निर्धारित हुए। श्रीनिवास पण्डित के मत के अनुसार जो ऊपर शुद्ध स्वर स्थान बतलाया गया है वही आजकल के संगीतज्ञों को मान्य है।

अब प्रश्न यह होता है कि मध्यकालीन विद्वानों के अनुसार विकृत स्वरों के क्या स्थान थे। इस सम्बन्ध में श्रीनिवास पण्डित का मत निम्नलिखित है :—

भागत्रयोदिते मध्ये मेरोर्ऋषभसंज्ञितात्।
भागद्वयोत्तरं मेरोः कुर्यात् कोमल रिस्वरम्॥
मेरुधैवतयोर्मध्ये तीव्रगांधारमाचरेत्।
भागत्रय विशिष्टे ऽस्मिन् तीव्रगांधार षड्जयोः॥
पूर्वभागोत्तरं मध्ये मं तीव्रतरमाचरेत्।
भागत्रयान्विते मध्ये पंचमोत्तर षड्जयोः॥
कोमलो धैवतः स्थाप्यः पूर्वभागे विवेकिभिः।
तथैव धसयोर्मध्ये भागत्रय समन्विते॥
पूर्वभागद्वयादूर्ध्वं निषादं तीव्रमाचरेत्॥

इसके अनुसार तार की लम्बाई और आन्दोलन की दृष्टि से श्रीनिवास पण्डित के पाँचों विकृत स्वरों के स्थान इस प्रकार होंगे :—

विकृत स्वर	तार की लम्बाई	आन्दोलन संख्या
कोमल ऋषभ	३३$\frac{१}{३}$ इंच.	२५९$\frac{४}{५}$
तीव्र गांधार	२८$\frac{२}{३}$,,	३०१$\frac{१७}{४३}$
तीव्रतर मध्यम	२५$\frac{१}{९}$,,	३४४$\frac{८}{११३}$
कोमल धैवत	२२$\frac{२}{९}$,,	३८८$\frac{४}{५}$
तीव्र निषाद	१९$\frac{१}{९}$,,	४५२$\frac{४}{४३}$

इन पाँच स्थानों को आधुनिक संगीतज्ञ नहीं मानते। आधुनिक संगीतज्ञों के स्थान पाश्चात्य पण्डितों के निश्चय किए हुए आन्दोलन पर स्थित हैं :—

श्रीनिवास के स्वर	आधुनिक हिन्दुस्तानी स्वर	पाश्चात्य पण्डितों द्वारा निश्चित किए हुए आन्दोलन
१ कोमल ऋषभ	कोमल ऋषभ	२५६
२ तीव्र गांधार	शुद्ध गांधार	३००

श्रीनिवास के स्वर			आधुनिक हिन्दुस्तानी स्वर			पाश्चात्य पण्डितों द्वारा निश्चित किए हुए आन्दोलन
३ तीव्रतर मध्यम	..	..	तीव्रतर मध्यम	..	..	३३७$\frac{१}{२}$
४ कोमल धैवत	..	..	कोमल धैवत ..	..	..	३८४
५ तीव्र निषाद	..	..	शुद्ध निषाद ..	..	..	४५०

श्रीनिवास के शुद्ध स्वरस्थान आधुनिक विद्वानों को भी मान्य हैं। केवल शुद्ध धैवत में थोड़ासा अन्तर है। पाश्चात्य विद्वान् शुद्ध धैवत का आन्दोलन ४०० मानते हैं, हिन्दुस्थानी विद्वान् ४०५।

प्रचलित हिन्दुस्थानी संगीत के जो विकृत स्वरों के स्थान हैं वे पहिले के पण्डितों के विकृत स्वरों के स्थानों से नहीं मिलते। प्रचलित संगीत के विकृत स्वरों के स्थानों का निर्देश 'अभिनव रागमंजरी' कार ने किया है। 'अभिनव राग मंजरी' के कोमल ग और कोमल नि श्रीनिवास के शुद्ध ग और शुद्ध नि हैं। इस ग्रंथ के अनुसार बारहों स्वर स्थान आन्दोलन की दृष्टि से यों रक्खे जायँगे :—

अभिनव राग मंजरी के स्वर.				आन्दोलन				पाश्चात्य विद्वानों के आंदोलन
स	..	..	..	२४० (माने हुए)		..	..	२४० (माने हुए)
कोमल रे	..	..	..	२५४$\frac{२}{१७}$	..	..	..	२५६
तीव्र रे	..	..	..	२७०	..	..	..	२७०
कोमल ग	..	..	..	२८८	..	..	..	२८८
तीव्र ग	..	..	..	३०१$\frac{१७}{४३}$	..	..	..	३००
शुद्ध म	..	..	..	३२०	..	..	..	३२०
तीव्र म	..	..	..	३३८$\frac{१४}{१७}$	..	..	..	३३७$\frac{१}{२}$
प	..	..	..	३६०	..	..	..	३६०
कोमल ध	..	..	..	३८१$\frac{३}{१७}$	..	..	..	३८४
तीव्र ध	..	..	..	४०५	..	..	..	४००
कोमल नि	..	..	..	४३२	..	..	..	४३२
तीव्र नि	..	..	..	४५२$\frac{४}{४३}$	..	..	..	४५०
तार स	..	..	..	४८०	..	..	..	४८०

अभिनव रागमंजरी के कोमल रे, कोमल ध और तीव्र म—ये स्वर प्राचीन ग्रंथों के आधार पर नहीं हैं। पाश्चात्य विद्वानों के कोमल रे, तीव्र ग, कोमल ध और तीव्र नि—इन स्वरों का भारतीय शास्त्र ग्रंथों में कोई आधार नहीं मिलता।

हिन्दुस्थानी संगीत के प्रचलित रागों के आधार उपर्युक्त १२ स्वर ही हैं। २२ श्रुतियों में से १० श्रुतियों का अधिक विवेचन मध्यकालीन ग्रंथों में भी नहीं मिलता। चिरकाल से बारह स्वर ही अधिककर प्रयोग में रहे ह।

गीत—अभी तक हम लोगों ने यह देखा है कि वैदिककाल से लेकर अभी तक स्वर स्थान किस प्रकार निश्चित किए गए हैं और प्रचलित स्वरों के क्या आन्दोलन हैं।

अब हमें संक्षेप में यह देखना है कि प्राचीनकाल से आज तक गीत का किस प्रकार विकास हुआ है। गीत की शैली में क्या परिवर्तन हुआ है और कौनसी नवीनताएँ समाविष्ट हुई हैं।

संगीतरत्नाकर ने गीत की परिभाषा यों दी है :—

रंजकः स्वरसंदर्भो गीतमित्यभिधीयते।
गांधर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम्॥

कुछ ऐसे स्वर-समूह जो रंजक हों 'गीत' कहलाते हैं। इसके दो भेद हैं—(१) गान और (२) गांधर्व। गांधर्व और गान का वर्णन संगीतरत्नाकर ने इस प्रकार दिया है :—

गांधर्व—अनादि-सम्प्रदायं यद् गंधर्वैः संप्रयुज्यते।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद् गांधर्वं जगुर्बुधाः॥
गान—यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम्।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरंजनम्॥

अर्थात्—जिसका सम्प्रदाय अनादि है, जिसका गंधर्व प्रयोग करते हैं और जिसका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है वह गांधर्व है। जिस गीत की रचना वाग्गेयकारों ने की है, जो लक्षणबद्ध हो और देशी रागों में उपयुक्त हो और जिसका मुख्य उद्देश्य लोक-रंजन हो वह गान है।

प्राचीन ग्रंथकार गीत के ये दो भाग करते थे :—(१) मार्ग और (२) देशी। संगीतरत्नाकर के टीकाकार कल्लिनाथ का कहना है कि गांधर्व और मार्ग तथा गान और देशी एक ही हैं। मार्ग-संगीत प्रचार में नहीं है। शार्ङ्गदेव के समय में भी मार्ग संगीत प्रचार में नहीं था। केवल देशी संगीत प्रचलित था। किन्तु उस समय का देशी संगीत आधुनिक हिन्दुस्थानी संगीत से भिन्न था। संगीतरत्नाकर में देशी संगीत का निम्नलिखित वर्णन मिलता है :—

देशे देशे जनानां यद्रुच्या हृदयरंजकम्।
गानं च वादनं नृत्यं तद्देशीत्यभिधीयते॥

देशी संगीत लोक-रुचि पर अवलम्बित है। इसलिए रुचि के अनुसार उसका परिवर्तन होता रहता है।

गान दो प्रकार का होता था—(१) निबद्ध और (२) अनिबद्ध।

निबद्धमनिबद्धं तद्द्वेधा निगदितं बुधैः।
बद्धं धातुभिरंगैश्च निबद्धमभिधीयते॥
आलप्तिर्बंधहीनत्वादनिबद्धमितीरितम्॥
संज्ञात्रयं निबद्धस्य प्रबंधोवस्तुरूपकम्॥—संगीतरत्नाकर।

इसका अर्थ यह है कि विद्वानों ने गान दो प्रकार के कहे हैं—निबद्ध और अनिबद्ध। जो गान धातु अवयवों से बँधे हुए हैं वे निबद्ध गान कहलाते हैं। जो धातु अवयवों से बँधे हुए नहीं हैं; जिनमें आलप्तिमात्र है वे अनिबद्ध गान कहलाते हैं। निबद्ध-गान के तीन प्रकार हैं—प्रबंध; वस्तु; रूपक।

आजकल के ध्रुवपद आदि गान उस समय नहीं थे। उस समय प्रबन्ध, वस्तु, रूपक आदि गान प्रचलित थे। प्रबन्ध के भिन्न भिन्न भागों को 'धातु' कहते थे। संगीतरत्नाकर में इन धातुओं के नाम इस प्रकार मिलते हैं—उद्ग्राह; मेलापक; ध्रुव; अन्तरा; आभोग। जिस प्रकार आधुनिक ध्रुवपद के स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग—ये अवयव होते हैं उसी प्रकार प्रबन्धों के उद्ग्राह इत्यादि 'धातु' होते थे। अनिबद्ध गान या आलप्ति आजकल के आलाप से मिलता जुलता है।

संगीतरत्नाकर में रागालाप का निम्नलिखित लक्षण दिया हुआ है :—

ग्रहांशमन्द्रताराणां न्यासापन्यासयोस्तथा।
अल्पत्वस्य बहुत्वस्य षाडवौडुवयोरपि॥
अभिव्यक्ति र्यत्र दृष्टा स रागालाप उच्यते।

अर्थात् जिस गान में राग के ग्रह, अंश, मन्द्र, तार, न्यास, अपन्यास, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व और औडुवत्व की अभिव्यक्ति होती है उसे 'रागालाप' कहते हैं।

विस्तार भय के कारण इन पारिभाषिक शब्दों की यहाँ व्याख्या नहीं दी जा रही है। व्यंकटमरवी के 'चतुर्दण्ड-प्रकाशिका' नामक ग्रंथ में इनकी विशद व्याख्या दी हुई है।

प्रचलित आलाप गायन––आजकल के गायक त, ना, तोम्, त, न, न, री, रेन, तोम्, नोम् इत्यादि शब्दों के आधार पर आलाप करते हैं। जिस प्रकार प्राचीन आलाप गायन में रूपक, आलाप्ति, आक्षिप्तिका इत्यादि का भेद करते थे उस प्रकार आजकल के गायक नहीं करते। रागों में आविर्भाव और तिरोभाव भी सुव्यवस्थित रूप से नहीं दिखलाए जाते। आजकल के अच्छे आलाप गायक आलाप के स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग-ऐसे चार विभाग करते हैं। स्थायी में वह सुन्दर सुन्दर स्वर-समुदायों को जोड़ते हुए मध्यस्थान के धैवत और निषाद तक गाते हैं। फिर तार षड्ज को थोड़ा स्पर्श करके स्थायी समाप्त करते हैं।

अन्तरा का आलाप वह मध्यस्थान के गांधार अथवा पंचम से प्रारम्भ करते हैं। इसमें तार सप्तक के षड्ज, ऋषभ अथवा गांधार तक कई प्रकार से आलाप करते हैं और धीरे धीरे उतरते हुए मध्यसप्तक के षड्ज पर अन्तरा के आलाप को समाप्त करते हैं। संचारी का आलाप म, प इनमें से किसी स्वर से आरम्भ करते हैं। इसमें गमक, मींड, कम्पन इत्यादि का अधिक प्रयोग करते हैं। संचारी को प्रायः तार स्थानों तक नहीं लेजाते। उसे मध्य सप्तक के पंचम अथवा षड्ज पर समाप्त करते हैं। संचारी के अनन्तर स्थायी को नहीं दुहराते; आभोग प्रारम्भ कर देते हैं। इसमें तार स्थानों में अधिक काम होता है; प्रायः तार स्थान में पंचम तक गायक आलाप करता है। इसका विस्तार अधिकतर अन्तरा के सदृश होता है। राग की सबसे अधिक सजावट मंद्र और मध्य स्थानों में की जाती है। अन्तरा में ऊँचे स्वर लगते हैं। इसलिए उसमें उतना अच्छा काम दिखलाया नहीं जा सकता। आलाप पहले छोटे छोटे स्वरसमुदायों से प्रारम्भ होता है और बार बार षड्ज पर समाप्त होता है। षड्ज पर गायक प्रायः 'तन तोम्' इस आलाप से समाप्त करते हैं। आलाप-गायन के लिए राग का बहुत ही उत्तम ज्ञान होना चाहिए। आलाप गायन किसी ताल में नहीं होता। गायक केवल पहिले विम्बित लय में आलाप करता है, फिर क्रमशः मध्य और द्रुत लय में।

तान––तान शब्द तन् (तानना या फैलाना) धातु से निकला है। तान से राग का विस्तार होता है। पहिले छोटे छोटे स्वर समुदायों की तान लेते हैं, धीरे धीरे तानें लम्बी करने लगते हैं। तानों में किसी शब्द का अवलम्बन नहीं रहता भिन्न भिन्न स्वर-समुदायों में आ, आ, आ, आ––द्वारा तानें लेते हैं। उदाहरणार्थ 'यमन' राग की कुछ तानें दी जाती हैं :––

रेरे सस, गगरेस, सरेगमं, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गमं, पमं गरे, गमं पमं, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गमं, धधपमं, गमंपमं, गरेसस
आ ऽ ऽ ऽ

निरे गमं, पधनिनि, धपमंग, रेसनिस
आ ऽ ऽ ऽ

निरेगमं, पमंगरे, गमंपमं, गरेगमं, पधपमं, गमंपध, निनिधप मंगरेस
आ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

निरेगमं, पधनिनि, धपमंग, मंपधनि, संरेंसंनि, धनिसंरें, संनिधप, मंगरेस,
आ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ

निरेगम, पधनिसं, गंरें गंरें, संनिधप, मगमप,
आ ऽ ऽ ऽ ऽ

धनिसंरें, सं नि धप, मगरेस——इत्यादि, इत्यादि।
ऽ ऽ ऽ

इसी प्रकार स्वर-समुदायों का क्रम बढ़ता जाता है, और तानें लम्बी होती जाती हैं। गायक भिन्न भिन्न स्वर समुदायों से तरह तरह की तान लेते हैं। सुन्दर तानों की रचना के लिए रागज्ञान और कल्पना की आवश्यकता है। तान ऐसी होनी चाहिए जो राग के मुख्य भावों की परिपोषक हों। तानों का प्रयोग ख्याल नामक गीतों में होता है। ध्रुवपद में तान नहीं लेते।

हिन्दुस्थानी संगीत के गीत——आजकल उत्तरी हिन्दुस्थान में निम्नलिखित प्रकार के गीत गाए जाते हैं——ध्रुवपद, होरी, ख्याल, टप्पा, ठुमरी, तर्राना, चतुरंग, सरगम। मध्यभारत और महाराष्ट्र में भी ये ही गीत गाए जाते हैं। इनका थोड़ासा वर्णन नीचे दिया जाता है।

ध्रुवपद——यह हम पहिले बतला चुके हैं कि संगीत रत्नाकर के समय में प्रबन्ध, वस्तु रूपक इत्यादि गान गाए जाते थे। प्रबन्ध के निम्नलिखित अवयव होते थे——उद्ग्राह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा और आभोग। जयदेव के 'गीत गोविन्द' के गान प्रबन्ध में ही हैं। परन्तु जयदेव के प्रबन्ध में दो ही अवयव मिलते हैं——ध्रुव और आभोग। कालान्तर में प्रबन्ध की गायकी बिलकुल उठ गई। आजकल उसका कोई उदाहरण नहीं मिलता। उसके स्थान में १५वीं शताब्दी से ध्रुवपद की गायकी प्रचलित हुई। ध्रुवपद का अर्थ है——ध्रुव अर्थात् निश्चितपद। इसके निश्चित, बँधे हुए पद होते हैं। इसके चार अवयव होते हैं——स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग। कुछ ध्रुवपद ऐसे भी मिलते हैं——जिनमें स्थायी और अन्तरा केवल दो ही अवयव होते हैं। ध्रुवपद प्रबन्ध का रूपान्तर मालूम पड़ता है। आजकल के गवैये इसको 'धुरपद' कहते हैं। यह अधिकतर चौताल, सूलफाकताल, झंपा, गजताल, तीव्रा, ब्रह्म, रुद्र इत्यादि तालों में गाया जाता है। ध्रुवपद गायक पहिले तोम् नोम् के आधार पर आलाप करता है। इस प्रकार के आलाप का विस्तृत वर्णन हम 'प्रचलित आलाप गायन' शीर्षक में कर चुके हैं। आलाप समाप्त होने पर गायक गीत प्रारम्भ करता है। पहिले वह स्थायी, अन्तरा, संचारी और आभोग क्रमशः विलम्बित लय में गाता है। इन अवयवों की स्वर रचना में क्या अन्तर है यह हम 'प्रचलित आलाप गायन' में दिखला चुके हैं। चारों अवयवों को गाकर गायक उन्हें पुनः द्विगुन, तिगुन, चौगुन लयों में गाता है। लय और ताल में ध्रुवपद-गायक भिन्न रीति से-कभी वक्र लय द्वारा, कभी बाँट करके-अपनी कुशलता दिखलाता है। ध्रुवपद गाने के लिए अच्छा दम चाहिए और आवाज में बड़ी कस चाहिए। ध्रुवपद में तानें, मुर्की इत्यादि नहीं प्रयोग करते। इसमें राग की शुद्धता बहुत ही सुरक्षित रहती है। कोई कोई गायक आलाप के अनन्तर गीत को गाकर समाप्त कर देते हैं। वे द्विगुन, तिगुन इत्यादि करने के पक्ष में नहीं हैं। इसमें वीर, श्रृंगार और शान्त रस की प्रधानता रहती है। ध्रुवपद के वाणी के अनुसार चार भेद किए जाते थे-खंडहार, नोहार, डागुर और गोबरहार। इन वाणियों को स्पष्टरूप से अलग अलग कर दिखलानेवाले गायक आजकल नहीं मिलते। मध्यकाल में ध्रुवपद के गानेवाले 'कलावन्त' कहलाते थे।

होरी——होरी को धमार ताल में गाते हैं। इसको ध्रुवपद के कलावन्त ही गाते हैं। इसकी कविता में अधिकतर कृष्ण और गोपियों की लीला का वर्णन रहता है। धमार ताल में होने के कारण कभी कभी लोग इसे केवल धमार ही कहते हैं। गायक इसे पहिले विलम्बित लय में गाते हैं, फिर द्विगुन, तिगुन, चौगुन लय में गाते हैं। इसमें भी तानें नहीं लेते।

परम्परा से होरी को धमार ताल में ही गाते चले आए हैं। और गायकों की परिभाषा में होरी से यही समझा भी जाता है। परन्तु आजकल जिस किसी कविता में होली का वर्णन होता है चाहे वह किसी भी ताल में हो उसे 'होरी' कह बैठते हैं। इस प्रकार की होरियाँ अधिकतर दीपचन्दी ताल में और कभी कभी त्रिताल में सुनने को मिलती हैं।

ख्याल—ख्याल का अर्थ है कल्पना। जिस प्रकार ध्रुवपद में गायक नियमों से जकड़ा हुआ रहता है और उसे कोई स्वतंत्रता नहीं होती उस प्रकार इसमें वह जकड़ा हुआ नहीं रहता है। इसमें वह भिन्न भिन्न प्रकार से स्वर रचना की कल्पना कर सकता है। सम्भव है इसी कारण इसका ख्याल नाम पड़ा हो। इसको सबसे पहले जौनपुर के नवाब सुलतानहुसेन शर्की ने प्रोत्साहन दिया। बादशाह मुहम्मदशाह (सन् १७१९) के दरबार के प्रसिद्ध गायक सदारंग और अदारंग ने हजारों ख्यालों को रचकर अपने शिष्यों को सिखाए। आजकल इन्हींके बनाए हुए ख्याल भारतभर में अधिककर गाये जाते हैं। इनके समय से ख्याल की गायकी बहुत ही लोकप्रिय हो गई है।

ख्याल अधिकतर एकताल, तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ाचौताला, झपताल में बँधा हुआ होता है। ख्याल दो प्रकार के होते हैं—बड़ा ख्याल और छोटा ख्याल। दोनों के केवल स्थायी और अन्तरा दो ही भाग होते हैं।

बड़े ख्याल की रचना ध्रुवपद की शैली पर हुई है। यह विलम्बित लय में गाया जाता है। गायक पहले स्थायी और अन्तरा को एक बार गाकर सुना देता है। फिर वह स्थायी के सम के अनन्तर आलाप प्रारम्भ करता है। पहिले छोटे छोटे आलाप गाता है। धीरे धीरे, लम्बे लम्बे आलाप लेने लग जाता है। इसी प्रकार गायक अन्तरा में भी आलाप करता है। इसके अनन्तर वह गान के शब्दों के साथ आलाप करता है। इसे 'बोल-आलाप' कहते हैं। फिर वह तान आरम्भ करता है। इसमें भी पहिले वह छोटी छोटी तानें लेता है, फिर लम्बी लम्बी तानें। कभी कभी वह तान बन्द कर मध्य पंचम या तारषड्ज पर देर तक रुकता है। इसके अनन्तर वह गान के बोलों के साथ तानें लेता है। इसे 'बोल-तान' कहते हैं।

छोटे ख्याल तीन ताल में पहिले मध्य लय में गाए जाते हैं। फिर लय धीरे धीरे द्रुत कर दी जाती है। ख्याल गायक किसी राग में पहिले बड़ा ख्याल गाते हैं फिर छोटा ख्याल। विद्वानों का मत है कि छोटे ख्याल को अधिकतर कव्वालोंने लोक-प्रिय बनाया है। ख्याल की कविता में प्रायः शृंगाररस होता है।

टप्पा—टप्पा में शब्द बहुत थोड़े होते हैं। इसमें तानें अधिक होती हैं। इसमें भी स्थायी और अन्तरा दो ही भाग होते हैं। इसमें चपलता होती है। इसके गान अधिकतर पंजाबी भाषा में ही मिलते हैं। इसलिए यह अनुमान होता है कि इसका उद्भव पंजाब में ही हुआ होगा। आजकल जो टप्पे सुनने को मिलते हैं वे प्रायः शोरीमियाँ के रचे हुए हैं। टप्पा अधिकतर काफी, झिंझोटी, भैरवी, खमाच, पीलू, इत्यादि रागों में गाया जाता है। इसकी तानें काँपती हुई जाती हैं और उनमें मुरकी, गिटकरी, जमजमा इत्यादि होते हैं। टप्पा के गानों में शृंगाररस की प्रधानता होती है।

ठुमरी—यह भी एक बहुत लोकप्रिय गायन की शैली है। जैसाकि इसके नाम से प्रकट है इसमें एक सुन्दर ठुमक होती है। अन्य गायन-शैलियों में स्वर प्रधान है। इसमें कविता प्रधान है। इसमें गायक कविता के भाव को व्यक्त करने के लिए उसके अनुकूल स्वर रचना करता है। इसकी भी कविता में शृंगाररस प्रधान होता है। इसे अधिकतर पंजाबी ताल में गाते हैं।

ठुमरी की गायकी दो प्रकार की दिखलाई देती है। एक प्रकार की ठुमरी की रचना ऐसी होती है जो नृत्य के साथ गायी जा सकती है। इसके बोल ऐसे होते हैं जिसमें भिन्न भिन्न प्रकार से लयकारी की रंगत दिखलाई जा सकती है। इसे अधिकतर मध्य या द्रुत लय में गाते हैं। गायक बीचबीच में नाचता है और गाता जाता है। साथ ही गायन के भाव को अभिनय (acting) के द्वारा भी व्यक्त करता जाता है। उदाहरणार्थ इस प्रकार का एक गान है—"कोयलिया कूक सुनावे सखी री, मोहे बिरहा सतावे पिया बिन कछू न सुहावे निशि अँधियारी कारी बिजरी चमके जिया मोरा डरपावे—" इसे गाकर गायक अभिनय द्वारा दिखलाता है कि कोयल की कूक कहीं सुनाई देती है, आकाश की ओर वह बिजली की चमक दिखलाता है और उस बिजली से डरने का अभिनय करता है—इत्यादि। कत्थक और संगीत व्यवसायी स्त्रियाँ इस प्रकार अभिनय के साथ ठुमरी गाती हैं। इस प्रकार की ठुमरी के साथ अभिनय करना ही चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं है। अभिनय के बिना भी लोग ऐसी ठुमरियों को गाते हैं। पर वास्तव में प्रारम्भ में ऐसी ठुमरियों की सृष्टि नृत्य और अभिनय के साथ गाने के लिए ही हुई।

दूसरे प्रकार की ठुमरी 'ठाह की ठुमरी' कहलाती है। यह विलम्बित लय में गाई जाती है। इसमें गायक कविता के एक एक टुकड़े को पकड़कर उसके भाव भिन्न भिन्न प्रकार की स्वर-रचना द्वारा व्यक्त करता है। इसे 'बोल बनाना' कहते हैं। एक बोल को पकड़कर वह कभी आलाप द्वारा, कभी मींड से, कभी स्वर को समेटकर, कभी बहलावे से उसके भाव को व्यक्त करता है। आगे चलकर वह लय को थोड़ा बढ़ा देता है। और इस प्रकार भाव की व्यग्रता को प्रकट करता है। इस प्रकार की ठुमरी बहुत मनोरंजक होती है। ठुमरी में तानें या सरगम नहीं होते। इसे केवल छोटी मुरकियों और गिटकिरियों से सजाते हैं। कुछ लोग ख्याल के ढंग की तानें और सरगम लेकर इसे एक छोटा ख्याल बना देते हैं। यह ठुमरी की गायकी के बिलकुल विरुद्ध है।

ठुमरी अधिकतर संयुक्त प्रान्त और बिहार में-विशेषकर लखनऊ, बनारस, पटना और गया में गायी जाती है। लखनऊ और बनारस ठुमरी के मुख्य केन्द्र हैं। इस गायकी को लखनऊ के नवाबों और विशेषकर वाजिदअलीशाह के काल में अधिक प्रोत्साहन मिला।

ठुमरी प्रायः उन रागों में गाई जाती है जोकि लोक-गीत के धुनों से निकले हैं--जैसे खमाज, काफी, माँड, पीलू, झिंझोटी इत्यादि। प्रसिद्ध शास्त्रीय रागों में से केवल भैरवी में ठुमरी सुनने को मिलती है। बिहाग, केदारा, देश, दुर्गा इत्यादि में भी कुछ ठुमरियाँ हैं, पर इनकी संख्या बहुत कम है। जिन रागों की प्रकृति गम्भीर है, जैसे भैरव, तोड़ी, दरबारी, शंकरा, हिंडोल, मारवा, श्री इत्यादि, उनमें ठुमरी नहीं होती। ठुमरी में लोकगीत और शास्त्रीय संगीत दोनों की सुन्दरताओं का मधुर समन्वय है।

ठुमरी में प्रायः राग की शुद्धता आवश्यक नहीं होती। इसमें गायक कविता के भाव के परिपोषक अन्य स्वरों का भी सुन्दर रीति से मिश्रण करता है।

तर्राना--तर्रानों में कविता नहीं होती। इनमें केवल राग और लय का सौन्दर्य रहता है। इनमें दानि, तोम्, नोम, तनोम्, तदरेदानि, ओदानि, यलली, यललोम् इत्यादि शब्द होते हैं। ये शब्द स्वर के आधार के लिए ही प्रयोग किए जाते हैं। इनका कोई अर्थ नहीं होता। कभी कभी तर्रानों में मृदंग या तबले के बोल या फारसी के एक-दो शेर भी मिले हुए होते हैं। तर्राने मध्य या मन्द्र लय में गाए जाते हैं।

चतुरंग--इस प्रकार के गीत में चतुः+अंग--अर्थात् चार भाग होते हैं। इसलिए इसे चतुरंग कहते हैं। पहले भाग में कोई कविता होती है, दूसरे भाग में तर्राना, तीसरे भाग में जिस राग का चतुरंग होता है उसी राग का सरगम और चौथे भाग में मृदंग या तबले के बोल।

सरगम--भिन्न भिन्न रागों में केवल स, रे, ग, म इत्यादि स्वरों की तालबद्ध रचना को सरगम कहते हैं। इसके गाने से राग के स्वरों का अच्छा ज्ञान हो जाता है।

उत्तर और दक्षिण की स्वर-तुलना--भारत में आजकल दो संगीत-पद्धति हैं। उत्तर की संगीत पद्धति को हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति और दक्षिण की पद्धति को कर्णाटकी पद्धति कहते हैं। उत्तर की पद्धति पर मुसलमान संगीतज्ञों का प्रभाव पड़ा है। दक्षिण की पद्धति में प्राचीन संगीत की बहुत कुछ शुद्धता वर्तमान है। आजकल दोनों पद्धतियों के रागों के नामों में भी भिन्नता आगई है। पर और बहुतसी बातों में दोनों में समता है। दोनों में प्रचार में बारह स्वर लगते हैं, पर दोनों के शुद्ध स्वर स्थान कहीं कहीं भिन्न हैं और कहीं कहीं उनके स्वरनामों में भी अन्तर है। नीचे दोनों पद्धतियों के स्वर नाम दिए जा रहे हैं:--

हिन्दुस्थानी स्वरनाम	कर्णाटकी स्वरनाम
स (शुद्ध)	स (शुद्ध)
कोमल रे	शुद्ध रे

हिन्दुस्तानी स्वरनाम	कर्णाटकी स्वरनाम
तीव्र अथवा शुद्ध रे	चतु:श्रुति रे अथवा शुद्ध ग
कोमल ग	षट्श्रुति रे अथवा साधारण ग
तीव्र अथवा शुद्ध ग	अन्तर ग
शुद्ध अथवा कोमल म	शुद्ध म
तीव्र म	प्रति म
प (शुद्ध)	प (शुद्ध)
कोमल ध	शुद्ध ध
शुद्ध अथवा तीव्र ध	चतु:श्रुति ध अथवा शुद्ध नि
कोमल नि	षट्श्रुति ध अथवा कौशिक नि
तीव्र अथवा शुद्ध नि	काकली नि

ताल—ताल का भी कुछ विवरण देदेना आवश्यक प्रतीत होता है। 'ताल: कालक्रियामानम'। कालगति के नामको ताल कहते हैं। संगीत के लिए यह आवश्यक है कि स्वर की कालगति एक नियमित क्रम से चले। इस नियमित कालगति को अपने यहाँ ताली बजाकर प्रदर्शित करते थे। इसीसे इसका नाम ताल पड़ा। ताल गिनने के पैमाने को मात्रा कहते हैं। गाने बजाने के गति-वेग अथवा चाल को लय कहते हैं। लय तीन प्रकार के होते हैं—विलम्बित, मध्य और द्रुत। विलम्बित लय वह है जिसमें स्वर की गति बहुत धीरे धीरे चलती है। मध्य लय वह है जिसमें उसकी गति न बहुत धीमी होती है न बहुत तेज। द्रुत लय वह है जिसमें स्वर की गति तेज होती है।

प्राचीन काल में छन्द के समान ताल में गुरु लघुप्लुतों का ही प्राधान्य था। प्राचीन संगीत ग्रंथों में रागों की तरह तालों के भी मार्ग तथा देशी दो भेद बतलाए हैं। संगीतरत्नाकर ने लगभग १२० देशी ताल कहे हैं। उन तालों का वर्तमान संगीत में प्रयोग नहीं दिखलाई पड़ाता। आजकल उत्तरी भारत में चौताल, आड़ा चौताल, एकताल, झपताल, रूपक, झूमरा, सूलफाक, दीपचन्दी, त्रिताल, दादरा इत्यादि ताल प्रयोग में हैं। दक्षिण की तालपद्धति कुछ भिन्न है। उसमें मुख्य सात ताल हैं—ध्रुव, मठ, रूपक, झंप, त्रिपुट, अठ, एकताल। प्रत्येक ताल की पाँच जातियाँ हैं—चतस्र, तिस्र, मिश्र, खण्ड और संकीर्ण।

ऐतिहासिक दृष्टि से संगीत का विकास—पीछे हमने स्वर, गीत और ताल-तीन शीर्षकों में संक्षेप में यह दिखलाने की चेष्टा की है कि प्राचीनकाल में इनकी क्या रूपरेखा थी और वर्तमान भारतीय संगीत में इनकी क्या रूपरेखा है। इससे प्राचीन संगीत से आधुनिक संगीत का किस प्रकार विकास हुआ है यह साधारणत: समझ में आजायगा। अब हम संक्षेप में ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखेंगे कि भारतीय संगीत में क्रमश: किस प्रकार परिवर्तन या विकास हुआ है।

वैदिककाल में सामगायन होता था और जैसाकि पीछे बतलाया जा चुका है उस काल में कई वाद्य प्रयोग में थे। सबसे प्राचीन ग्रंथ जिसमें संगीत शास्त्र का कुछ स्पष्ट वर्णन मिलता है 'ऋक् प्रातिशाख्य' (ई० पू० ४०० वर्ष) है। इसमें तीन सप्तकों और सात स्वरों का उल्लेख मिलता है। वैदिक काल के सात स्वरों के नाम ये थे—क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मंद्र, अतिस्वार्य। कालान्तर में इनके नाम बदल गए।

वाल्मीकि के रामायण (ई० पू० ४०० से ई० पू० २०० तक) में मृदंग, वीणा, भेरी, दुन्दुभि, पटह, घट, पणव, डिंडिम, आडम्बर, इत्यादि वाद्यों का उल्लेख है। इसमें जातियों का भी उल्लेख आता है जोकि रागों के पर्वरूप के समान थीं।

महाभारत (ई० पू० ५०० से ईसा पू० २०० तक) में सात स्वरों और गांधार ग्राम का उल्लेख मिलता है।

श्री जयदेवसिंह

दक्षिण 'परिपादल' नामक ग्रंथ में स्वरों और सात 'पालइ' (द्राविड़ संगीत की प्राचीन जाति) का उल्लेख है। तामिल प्रदेश में उस समय 'याल' नामक एक वाद्य था। इस वाद्य के कुछ ऐसे प्रकार थे जिसमें १००० तार लगते थे। 'सीलप्पदिगारम्' (ई० पू० ३००) नामक एक बौद्ध नाटक में वीणा और याल का उल्लेख है। इसी काल का लिखा हुआ 'तिवाकरम्' नामक एक जैन कोश है जिसमें सम्पूर्ण, षाडव और ओडव रागों और २२ श्रुतियों का जिक्र है।

संगीत शास्त्र पर जो सबसे प्राचीन, प्रसिद्ध और विस्तृत ग्रंथ मिलता है वह भरत (ई० पू० २०० वर्ष) का 'नाटच-शास्त्र' है। इसमें भरत ने स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्छना और नृत्य पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। नाटचशास्त्र में षड्जग्राम और मध्यमग्राम का वर्णन है। भरत के समय में राग नहीं थे, 'जाति' थी। भरत ने १८ जातियों का वर्णन दिया है। नाटचशास्त्र में नृत्त नृत्य और अभिनय का अधिक विवरण मिलता है, गीत का कम।

'जाति' के स्थान में 'राग' भारतीय संगीत में कब से आया यह कहना कठिन है। अभी तक जो सबसे प्राचीन ग्रंथ प्राप्त हुआ है जिसमें राग का वर्णन सबसे पहिले मिलता है वह मतंग का बृहद्देशी है (ई० पू० ४००)। राग का वर्णन करते हुए मतंग कहते हैं राग पद्धति पर भरत इत्यादि ने कुछ नहीं कहा; इसलिए मैं लक्षणसहित उसका वर्णन करता हूँ।

रागमार्गस्य यद्रूपं यन्नोक्तं भरतादिभिः।
निरूप्यते तदस्माभिर्लक्ष्यलक्षणसंयुतम्॥

इससे सिद्ध होता है कि मतंग के काल तक राग पद्धति का पर्याप्त विकास हो चुका था। उस समय तक तरह तरह के लोक-प्रिय देशी राग प्रचलित हो गए थे। मतंग ने इन्हीं देशी रागों का वर्णन करने के लिए ही बृहद् देशी नामक ग्रंथ लिखा था। अपने अपने देश में राजा, स्त्री, बाल, गोपाल जिसको रुचि के अनुकूल गाते थे और जिससे उसका मनोरंजन होता था उसे मतंग ने देशी राग कहा है।

अबलाबालगोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते॥

गुप्तकाल में संगीत की पर्याप्त उन्नति हुई। प्रयाग की प्रशस्ति में लिखा है कि सम्राट् समुद्रगुप्त संगीत का बहुत बड़ा प्रेमी था और इसमें उसने तुम्बरु और नारद को भी लज्जित कर दिया था—"गान्धर्वललितैः व्रीडितत्रिदशपतिगुरु तुम्बुरुनारदादेः।"

सोये हुए राजा को प्रातःकाल मागधलोग स्तुतिगान करके जगाते थे। रघुवंश में कालिदास ने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। रघुवंश में पुष्कर, वेण, वीणा इत्यादि वाद्यों का उल्लेख है तथा कई ऐसे श्लोक हैं जिनसे प्रकट होता है कि उस समय गीत, वाद्य और नृत्य का प्रचुर प्रचार था। उज्जयिनी में बने हुए महाकाल के मन्दिर में 'पटह' (नगाड़ा) बजाने का भी कालिदास ने उल्लेख किया है—"कुर्वन् सन्ध्याबलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीयाम्"। (मेघदूत) कालिदास के ग्रंथों के देखने से जान पड़ता है कि वह संगीत के भी पण्डित थे। भरत के नाटचशास्त्र के नियमों का उन्होंने पूर्णरूप से परिपालन किया है। उनके कुछ पद्यों से यह भी पता चलता है कि गुप्तकाल में 'जाति' का स्थान 'राग' ने ले लिया था। 'अभिज्ञान-शाकुन्तलम्' नाटक के प्रथम अंक में सूत्रधार नटी से गाने के लिए कहता है। नटी गाती है। फिर सूत्रधार कहता है, "आर्ये, साधु गीतम्। अहो रागबद्धचित्तवृत्तिरालिखित इव सर्वतो रंगः।" इसके अनन्तर फिर सूत्रधार ने कहा है:—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारंगेणातिरंहसा॥

राघवभट्ट ने 'गीतरागेण' पर अपनी टीका में लिखा है, "गीतौ निबद्धेन रागेण।" कुछ संगीत विद्वानों का मत है कि 'सारंगेण' शब्द से केवल मृग का अर्थ नहीं है बल्कि सारंगराग भी प्रतिध्वनित है।

भारतीय संगीत का विकास

'नारदशिक्षा' की रचना, जिसके विषय में कुछ लोगों की भ्रमपूर्ण धारणा है कि नारद की कृति है, १० और ११वीं शताब्दी की बीच में मानी जाती है। इसमें भी 'जाति' के स्थान में रागपद्धति का ही विस्तृत वर्णन है।

१२वीं शताब्दी में जयदेव नामक विख्यात संगीतज्ञ हुए जिनका 'गीतगोविन्द' जगत् प्रसिद्ध है। इसके गीतों की रचना प्रबन्धों में हुई है। प्रत्येक प्रबन्ध के विषय में यह लिखा हुआ है कि यह किस राग और ताल में गाया जायगा। उदाहरणार्थ—"अथ प्रथम प्रबन्धो मालवरागेण रूपकताले गीयते।" अथ द्वितीय प्रबन्धो गुर्जरीरागेण प्रतिमंठताले गीयते"। ये प्रबन्ध स्वरलिपि में नहीं लिखे हुए हैं। इसलिए यह कहना कठिन है कि जयदेव इसको किस प्रकार गाते थे। आजकल लोग इन्हें इन राग और तालों में नहीं गाते। इतना स्पष्ट है कि जयदेव के प्रबन्ध में ध्रुव और आभोग ही प्रधान थे। उनके प्रबन्ध में उद्ग्राह, मेलापक और अन्तरा ये अवयव नहीं थे।

१३वीं शताब्दी का सबसे प्रसिद्ध ग्रंथ शार्गंदेव द्वारा रचित 'संगीतरत्नाकर' है। 'संगीतरत्नाकर' प्राचीन ग्रंथों में संगीत का सबसे विस्तृत ग्रंथ है। शार्गंदेव देवगिरि के यादववंश के दरबार के संगीतज्ञ थे। ग्रंथ के देखने से जान पड़ता है इनको उत्तर और दक्षिण दोनों के संगीत का अच्छा ज्ञान था। इनके ग्रंथ में गीत, वाद्य और नृत्य तीनों का विस्तृत वर्णन है। मतंग के समय तक 'जाति' का लोप हो गया था और उसका स्थान 'राग' ने ले लिया था। शारंगदेव के समय में कुछ नए राग हो गए थे जिनको उन्होंने 'अधुना प्रसिद्ध' राग कहा है। शार्गंदेव ने अपने समय के प्रसिद्ध रागों को प्राचीन रागों से मिलाने का प्रयत्न किया है, पर उन्होंने स्पष्टरूप से यह वर्णन नहीं किया कि उनके समय के राग प्राचीन राग से किस प्रकार निकले अथवा प्राचीन रागों की जाति से किस प्रकार उत्पत्ति हुई। अतएव इतने बड़े ग्रंथ में भी रागों के विकास का कोई श्रृंखलाबद्ध क्रम नहीं मिलता। उनके ग्रंथ में दिए हुए रागों को समझना बहुत कठिन हो गया है और यह पता नहीं लगता कि वर्तमान रागों से इन रागों का क्या सम्बन्ध है।

उत्तरी भारत के रागों को समझने के लिए जो सबसे प्राचीन ग्रंथ अभी तक प्राप्त हुआ है वह है लोचन कवि द्वारा रचित 'राग-तरंगिणी'। लोचन कवि ने इसके रचनाकाल को इन शब्दों में वर्णन किया है।

भुजवसुदशमितशाके श्रीमद्बल्लालसेन राज्यादौ।
वर्षैकषष्टिभोगे मुनयस्त्वासन् विशाखायाम्॥

'भुजवसुदशमितशाके' से पण्डितों ने १०८२ शक संवत् निकाला है जोकि ११६२ ईस्वी सन् के बराबर है। इस ग्रंथ के 'स्वर संज्ञा प्रकरण' देखने से पता चलता है कि लोचन कवि का शुद्ध ठाट वही था जिसे आजकल काफी कहते हैं। आगे चलकर ग्रंथकार ने कहा है कि पहिले १६,००० राग थे, पर अब केवल ३६ राग रह गए हैं। लोचन कवि ने किस आधार पर १६,००० राग माना है इसका कुछ पता नहीं चलता। उन्होंने जिन ३६ रागों का उल्लेख किया है उनमें से ६ राग हैं और प्रत्येक राग की ६ रागिनियाँ। ६ रागों के नाम लोचन कवि ने इस प्रकार दिए हैं:—

भैरवः कौशिकश्चैव हिंदोलो दीपकस्तथा। श्रीरागो मेघरागश्च षडेते हनुमन्मताः॥

इस ग्रंथ में रागों के देवात्मक चित्रों का भी बड़ा सुन्दर वर्णन है। नीचे एक उदाहरण दिया जाता है:—

मेघरागः।

असित कमलकान्तिः पीतवासाः स्मितास्यः,
समदयुवतियूथान्तर्गतश्चन्द्रहृत्कः।
वितरति किल लोके जीवनं यः स्वभावात्,
स जयति समुपास्यश्चातकैर्मेघरागः॥

लोचन कवि ने १२ जनकमेल या ठाट दिए हैं और सब जन्य रागों को इनके अन्तर्गत दिखलाए हैं। इस सम्बन्ध में उनका कथन है:—

भैरवी टोडिका तद्वत् गौरी कर्णाट एव च।
केदार इमनस्तद्वत् सारंगो मेघरागकः॥

श्री जयदेवसिंह

धनाश्रीः पूरवी किंच मुखारी दीपकस्तथा।
एतेषामेव संस्थाने सर्वे रागा व्यवस्थिताः॥
तत्र यद्रागसंस्थाने ये ये रागा व्यवस्थिताः।
यथा यद्रागसंस्थानं तत्तथैव वदाम्यहम्॥

उत्तरी भारत के संगीत के लिए १४वीं और १५वीं शताब्दियाँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इस समय में उत्तरी भारत के संगीत पर मुसलमान संगीतज्ञों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। कई रागों में परिवर्तन हुआ; कई रागों की कायापलट होगई, कई नए राग बने। इसी समय से हिन्दुस्थानी और कर्णाटकी संगीत में अधिक भिन्नता आगई। सुलतान अलाउद्दीन (१२९५-१३१६) के दरबार में अमीर खुसरू नाम के एक प्रसिद्ध संगीतज्ञ थे। उत्तरीय भारत में कव्वाली पद्धति की गायकी इन्होंने चलाई। कहा जाता है कि जीलफ, साजगिरि, सरपर्दा इत्यादि राग इन्हींके बनाए हुए हैं। सितार, जोकि वीणा के आधार पर बना हुआ है, अमीर खुसरू का ही आविष्कार कहा जाता है।

बंगाल में चैतन्य महाप्रभु (१४८५-१५३३) द्वारा लोकप्रिय गान संकीर्तन का बहुत प्रचार हुआ।

ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर (१४८६-१५२६) ने ध्रुवपद की गायकी का उत्थान कर उसे बहुत प्रोत्साहित किया। कुछ विद्वानों का मत है कि ध्रुवपद की गायकी का इन्होंने आविष्कार किया। इनके दरबार में नायक बख्शू नाम के एक प्रसिद्ध गायक थे। राजा मानसिंह की आज्ञा से 'मानकुतूहल' नाम का संगीत का एक बृहद्-ग्रंथ तैयार हुआ जिसका फकउल्ला ने फारसी में अनुवाद किया था। यह मानसिंह तोमर अकबर के सरदार मानसिंह से भिन्न थे।

अकबर (१५४२-१६०५) के समय में हिन्दुस्थानी संगीत को बहुत प्रोत्साहन मिला। इनके दरबार में बहुत से गायक थे जिनमें तानसेन सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। कहा जाता है कि मुसलमान होने के पूर्व इनका नाम तन्न मिश्र था। इनके खानदान के लोग 'सेनिये' कहे जाते हैं। इन्होंने कई रागों में परिवर्तन किए और कुछ राग जिनमें 'मियाँ' लगा हुआ होता है–जैसे मियाँ की टोड़ी, मियाँ की मल्लार–इन्हींके आविष्कार हैं। उत्तरी भारत में आजकल जो रागपद्धति है उसपर तानसेन की अमिट छाप है। तानसेन ने 'रबाब' नाम के एक वाद्य का भी आविष्कार किया था। उनके घराने के लोग कुछ, जो 'रबाब' बजाते थे, पीछे से 'रबाबियार' कहलाए और कुछ जो बीन बजाते थे वे बीनकार कहलाए। पर अकबर के ही समय में तानसेन से बढ़कर एक संगीतकलाविद् थे जिनका नाम था हरिदास स्वामी। तानसेन इनके शिष्य थे। हरिदास स्वामी वृन्दावन में रहते थे और अपने ध्रुवपद रचकर भगवान् कृष्ण को सुनाते थे। इस समय ध्रुवपद की गायकी अपनी पराकाष्ठा पर थी। इसी काल में मीरा, सूर और तुलसी भी हुए जिन्होंने अपने भजनों से मानव हृदय को अपूर्व शान्ति प्रदान की।

पुंडरीक विट्ठल नाम के संगीत के एक बडे भारी पण्डित भी इसी समय में थे। पहले वह खानदेश में बुरहानपुर में फर्कीरवंश के बुरहानखां के दरबार में थे। जान पड़ता है कि इस समय उत्तरी भारत के रागों में बहुत कुछ गड़बड़ी आगई थी। संगीतप्रिय बुरहानखाँ ने पुण्डरीक को उत्तरी भारत के संगीत को सुव्यवस्थित करने की आज्ञा दी थी। सद्रागचन्द्रोदय में पुण्डरीक ने कहा है :—

सन्त्यस्मिन् बहुधा विरोधगतयो लक्ष्ये च लक्ष्मोदिते।
जानन्तीह सुलक्ष्मपक्ष्म विगतिं केचित्परे लौकिकीम्॥
तत्कुर्वन्तु सुलक्ष्मलक्ष्यसहितं रागप्रकाशं बुधा।
इत्युक्ते बुरहानखाननृपतौ विद्वत्सभामण्डले॥

जब अकबर ने खानदेश को १५९९ में जीत लिया तब पुंडरीक दिल्ली चले गए। इन्होंने चार ग्रंथ लिखे थे :—सद्रागचन्द्रोदय, रागमाला, रागमंजरी और नर्तननिर्णय। इनको श्री वि० ना० भातखण्डेजी ने सबसे पहले बीकानेर के राज्य पुस्तकालय

से ढूंढ़ निकाला। पुंडरीक कर्णाट देश के निवासी थे जैसाकि इन शब्दों से प्रकट होता है :—

श्री कर्णाटजातीय पुंडरीकविट्ठल विरचिते सद्रागचन्द्रोदये ॥

पुंडरीक का शुद्ध ठाट 'मुखारी' था जोकि दक्षिण के आजकल के कनकांगी ठाट से मिलता है। उत्तरी भारत के रागों का वर्गीकरण उन्होंने अपने रागमाला ग्रंथ में राग-रागिणी-पुत्र व्यवस्था के अनुकूल कियाै है। उनके राग ये हैं :—

शुद्ध भैरवहिंदोलो देशिकारस्ततः परम् ।
श्रीरागः शुद्धनाटश्च नट्टनारायणश्च षट् ॥

रागों के वर्णन में इन्होंने केवल १४ श्रुतियों से और वीणा में १२ परदों से काम लिया है। वीणा प्रकरण से यह पता चलता है कि यह वीणा के तारों को 'स प स म' इस ढंग से मिलाते थे। यह भी पता चलता है कि उस समय सारा संगीत केवल षड्ज ग्राम के आधार पर गाया बजाया जाता था।

१५५० ई० के लगभग राम अमात्य ने 'स्वरमेल कलानिधि' लिखा। इसमें कर्णाटक संगीत का बहुत ही विशद वर्णन है। १६१० ई० में दक्षिण के प्रसिद्ध पण्डित सोमनाथ ने 'राग विबोध' की रचना की। इन्होंने दक्षिण और उत्तर दोनों संगीत पद्धति के स्वरनामों का प्रयोग किया है। सोमनाथ ने रागों का जनक और जन्य भागों में वर्गीकरण किया है।

इसी काल के लगभग पण्डित व्यंकटमरवी ने 'चतुर्दण्डी प्रकाशिका' की रचना की। यह कर्णाटक संगीत का बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है। उन्होंने १२ स्वरों का प्रयोग किया है और सब रागों का ७२ मेलकर्त्ताओं के अन्तर्गत वर्गीकरण किया है। उन्होंने दिखलाया है कि ७२ 'मेलकर्ता' से कम या अधिक मेलकर्ता हो ही नहीं सकते। उनका कहना है :—

यदि कश्चिन्नदुर्नीत मेलेऽभ्यस्त द्विसप्ततेः ॥
न्यूनं वाप्यधिकं वापि प्रसिद्धै द्वविशस्वरैः ॥
कल्पयेन्मेलनं तर्हि समायासो वृथा भवेत् ॥
नहि तत्कल्पने भाललोचनोऽपि प्रगल्भते ॥
तस्माद्यथैकपंचाशद्वर्णाः स्युर्मातृकाभिधाः ॥
न हीयन्ते न वर्धन्ते तथा मेला द्विसप्ततिः ॥
एवं सामान्यतो मेलाः प्रोक्ता द्वयधिकसप्ततिः ॥

जहाँगीर के समय में लगभग १६२५ में दामोदर मिश्र ने 'संगीत-दर्पण' नामक एक ग्रंथ लिखा था। इसमें उन्होंने शार्गंदेव से बहुतसी बातें ली हैं, पर संगीतरत्नाकर की भाँति यह भी दुर्बोध हो गया है।

शाहजहाँ (१६२८-१६६६) के समय में कई संगीतज्ञ हो गए हैं जिनमें जगन्नाथ और लालखां प्रसिद्ध हो गए हैं। जगन्नाथ को कविराज की उपाधि मिली थी। लालखाँ तानसेन के घराने के थे। कहा जाता है कि एकबार शाहजहाँ ने जगन्नाथ और एक दूसरे संगीतज्ञ दीरंगखां को उनके तौल के बराबर रुपया दिया।

औरंगजेब को तो संगीत से चिढ़ थी। अतएव उसके दरबार में कोई संगीतज्ञ नहीं रहा।

१७वीं शताब्दी में अहोबल पण्डित ने 'संगीत पारिजात' नामक एक प्रसिद्ध ग्रंथ लिखा जोकि उत्तरी भारत के संगीत को समझने के लिए एक बहुमूल्य ग्रंथ है। इसका १७२४ ई० के लगभग फारसी भाषा में अनुवाद हुआ था। 'संगीत पारिजात' का शुद्ध ठाट वही है जो आजकल काफी राग है। यह कर्णाटक के खरहरप्रिया ठाट से मिलता है। संगीत पारिजात में १२२ रागों का वर्णन है।

भावभट्ट नामक संगीतज्ञ भी इसी काल के हैं। उनके पिता का नाम जनार्दनभट्ट था जोकि शाहजहाँ के दरबार में थे और जिनको 'संगीतराज' की उपाधि मिली थी। शाहजहाँ की मृत्यु के पश्चात् भावभट्ट बीकानेर आगए और अनूपसिंह

के दरबार में होगए। भावभट्ट ने 'अनूप संगीतरत्नाकर', 'अनूपविलास' और 'अनूपांकुश' नामक ग्रंथ लिखे हैं। भावभट्ट का शुद्ध ठाट 'मुखारी' है। इन्होंने सब रागों का २० ठाटों में वर्गीकरण किया है।

मुहम्मदशाह बादशाह (१७१९) के काल में अदारंग और सदारंग दो बहुत प्रसिद्ध गायक थे। इन्होंने ख्याल की गायकी को प्रोत्साहित किया। इसी काल में शोरीमियाँ ने टप्पा का आविष्कार किया। ख्याल और टप्पा का पीछे वर्णन किया जा चुका है।

दक्षिण में तंजोर के मराठा राजा तुलजाजी (१७६३-१७८७) अच्छे संगीतज्ञ थे। इन्होंने 'संगीत-सारामृत' की रचना की थी।

उत्तर के रागों में बहुत ही गड़बड़ी देखकर जयपुर के महाराज प्रतापसिंहदेव (१७७९-१८०४) ने प्रसिद्ध संगीतज्ञों का एक सम्मेलन किया और उन लोगों के सहयोग से 'संगीतसार' नामक ग्रंथ तैयार करवाया। इसका शुद्ध ठाट बिलावल है।

पटना के मुहम्मदरजा ने 'नगमाते आसफी' नामक ग्रंथ १८१३ ई० में लिखा। यह हिन्दुस्थानी संगीत का एक बहुत ही विस्तृत और उत्तम ग्रंथ है। उनके समय में राग-रागणी-पुत्र वर्गीकरण के सम्बन्ध में जो प्रचलित चार मत—भरतमत, हनुमत्मत, कल्लिनाथमत, सोमेश्वरमत थे उसका उन्होंने अपन ग्रंथ में युक्तिपूर्वक खण्डन किया है और यह दिखलाया है कि प्रचलित रागों का यह कोई भी वर्गीकरण ठीक नहीं है। उन्होंने यह दिखलाया है कि राग और उसकी रागिणी में कोई साम्य होना चाहिए, जिस किसी रागिणी को हम जिस किसी भी राग में नहीं ठूंस सकते। इस साम्य सिद्धान्त के अनकूल उन्होंन अपना स्वयं एक वर्गीकरण दिया है। उनका शुद्ध ठाट बिलावल है।

१९वीं शताब्दी का कृष्णानन्द व्यास का लिखा हुआ 'संगीतरागकल्पद्रुम' नाम का एक बहुत ही प्रसिद्ध ग्रंथ है। यह कलकत्त में १८४२ में छपा था। हिन्दी भाषा के उस समय जितने प्रसिद्ध गीत प्राप्य थे उनका इस ग्रंथ में एक बहुत ही अच्छा संग्रह है। दुर्भाग्यवश वे स्वरलिपि में नहीं लिखे हुए हैं। अतएव उन गीतों के केवल शब्द मिलते हैं, स्वर रचना का पता नहीं चलता।

१९वीं शताब्दी में ही राजा शौरीन्द्रमोहन टागोर ने अँगरेजी में संगीत का एक उत्तम ग्रंथ लिखा जिसका नाम था '*Universal History of Music*' इनके लिखे हुए ग्रंथ कंठकौमुदी, संगीतसार और यंत्रक्षेत्रदीपिका भी उल्लेखनीय हैं। श्रीकृष्णधन बैनर्जी ने भी 'गीतसूत्रधार' लिखा जिसमें बहुत से ध्रुवपद और ख्याल दिए हुए हैं।

इधर पूना-गायन-समाज ने कुछ अच्छे ग्रंथ प्रकाशित किए। पण्डित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने कई ख्याल, ध्रुवपद, भजन, टप्पे स्वरलिपि में प्रकाशित किए हैं। पण्डितजी के ग्रंथों की एक विशेषता यह है जो अन्य ग्रंथ में नहीं पाई जाती कि उन्होंने कई भजन, ख्याल इत्यादि आलाप, तान, बोलतान, सरगम, लयकारी इत्यादि के साथ प्रकाशित किए हैं। इनसे यह पता चलता है कि २०वीं शताब्दी के गायक की गायनशैली क्या है, एक राग का पूर्ण विस्तार किस प्रकार होता है, उसको किस प्रकार सजाते हैं। आधुनिक गायनशैली का क्रियात्मकरूप से ऐसा पूर्ण चित्र अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।

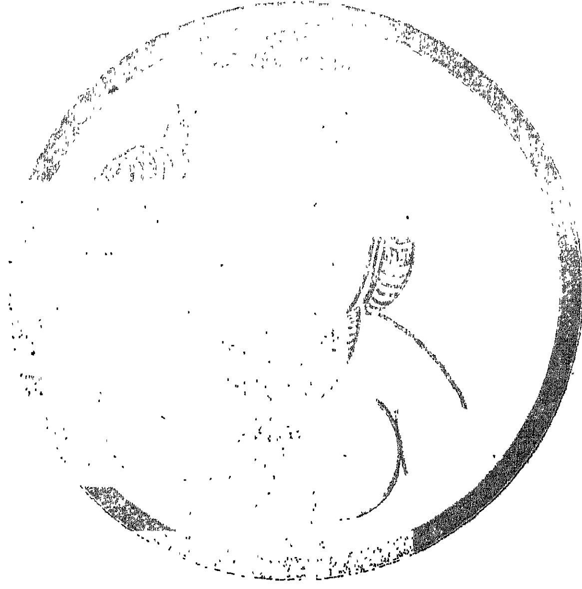
पण्डित वि० ना० भातखण्डे आधुनिक युग के बहुत बड़े संगीत-शास्त्री हुए हैं। इन्होंने इस विद्या के पुनरुद्धार के लिए अथक परिश्रम किया है। इन्होंने पण्डित व्यंकटमरवी के मेलकर्ता के आधार पर हिन्दुस्थानी रागों का ठाठों में वर्गीकरण किया है और उत्तरी भारत के संगीत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया है। चतुर पण्डित के उपनाम से इन्होंने संस्कृत में 'लक्ष्य संगीत' नाम के एक बहुत ही उपयोगी ग्रंथ की रचना की है। इसके अतिरिक्त इन्होंने भिन्न भिन्न स्थानों से संग्रह कर 'हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति' क्रमिक ६ भागों में सहस्रों ख्याल, ध्रुवपद, धमार, तर्राने इत्यादि प्रकाशित किए हैं। हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति नामक ग्रंथ के चार भागों में (जिनमें लगभग २,५०० पृष्ठ हैं) इन्होंने संगीतशास्त्र के मुख्य सिद्धान्तों का बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया है। इन ग्रंथों के आधार पर आगे विचार किया जा सकता है और जो

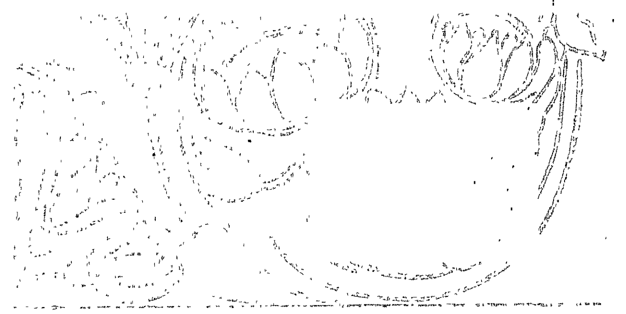
कुछ कमी दिखलाई दे उसकी पूर्ति हो सकती है। कदाचित् किसी भी विद्वान् ने आज तक एक जीवनकाल में संगीतशा की इतनी सेवा न की होगी जितनी पण्डित भातखण्डेजी ने की है।

हैदराबाद निजाम के यहाँ के संगीत विद्वान् पण्डित अप्पा तुलसी ने 'संगीत कल्पद्रुमांकुर' नामक ग्रंथ लिखा है जिसमें उन्होंने श्री भातखण्डे के लक्ष्य संगीत की मुख्य बातों को अपने ढंग से संस्कृत श्लोकों में लिखा है। उन्होंने संस्कृत में 'रागचन्द्रिका' नामक एक और ग्रंथ लिखा है। संस्कृत न जाननेवालों के लिए उन्होंने हिन्दी में 'रागचन्द्रिकासार' लिख दिया है।

श्री भातखण्डेजी के 'लक्ष्य संगीत' और 'हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति' में भारतीय संगीत के विकास का बहुत ही विशद वर्णन मिलता है। भविष्य में रचनात्मक कार्य करने के लिए इन ग्रंथों से बहुत सामग्री मिल सकती है।

नादेन व्यज्यते वर्णः पदं वर्णात्पदाद्वचः।
वचसो व्यवहारोऽयं नादाधीनमतो जगत् ।।——संगीतरत्नाकर।





भारतीय दर्शन : एक दृष्टि

श्री धर्मदेव शास्त्री दर्शन केसरी, पंचतीर्थ

भारतीय दर्शन के सम्बन्ध में विचार करते समय एक बात को ध्यान में रखना चाहिए। भारत की प्राचीन व्यवस्था में विचारों में स्वतंत्रता और आचार में परतंत्रता का सिद्धान्त सर्वमान्य रहा है। "तुम क्या मानते हो ?" इसपर सामाजिक स्थिति निर्भर नहीं, "क्या करते हो ?" इस प्रश्न के उचित समाधान पर ही धर्म, नीति और सामाजिक दर्जा निर्भर है। विचारों में स्वतंत्रता और आचार में परतंत्रता के इस स्वर्ण नियम के कारण ही हमारे देश में उच्चतम दार्शनिक विचारों को स्वतंत्र वायुमण्डल में विकसित होने का अवसर मिला है और साथ ही आचार की सुरक्षा के कारण बुरे से बुरे समय में भी जातीय सदाचार का मानदण्ड सन्तुलित रहा है। आर्यजाति, आर्य संस्कृति और आर्य आचारशास्त्र में उक्त सिद्धान्त का प्रमुख स्थान है इसीलिए कालचक्र में यह अमर रहे हैं।

आर्य-धर्म और सैमेटिक धर्म में भेद करनेवाली यही रेखा है। आर्यधर्म मनुष्य को विचार करने में पूर्ण स्वतंत्रता देता है पर आचरण में पूर्ण अंकुश को समाज के लिए आवश्यक समझता है। जबकि सैमेटिक धर्म इससे सर्वथा उलटा है।

विचार स्वातंत्र्य की मान्यता के बिना दर्शन का जीवन ही नहीं रह सकता। भिन्न भिन्न दर्शनों का समान रूप से हमारे देश में विकास हुआ है, ईश्वर की सत्ता से इन्कार करनेवाले और ईश्वर के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की सत्ता से ही इन्कार करनेवाले दोनों को भारतीय व्यवस्था में समान आदर मिला है। मेरा मत है कि आचार की मान्यता के साथ विचार-स्वातंत्र्य के उक्त सिद्धान्त को धीरे धीरे कम महत्त्व दिया जाने लगा है, वर्ण व्यवस्था की समाज-व्यवस्था जिस दर्जे तक जातिपाँति में परिणत होती गई है उसी दर्जे तक व्यवहार में विचार करने का अधिकार मनुष्यमात्र का न समझा जाकर सीमित होता गया है। इसके साथ ही धीरे धीरे आचार का अर्थ सामाजिक रूढ़ियाँ ही समझा जाने लगा है। परिणाम आज स्पष्ट है—देश और जाति टुकड़े टुकड़े हो गई है, आचार और शुद्धता के नाम पर मनुष्यों को अस्पृश्य समझ लिया गया है। परन्तु एक चीज अब भी ऐसी है जो देश के मानसिक स्तर को ऊँचा करने में समर्थ है वह है हिन्दू धर्म और भारतीय दर्शन का लचकीलापन। हिन्दू धर्म और दर्शन ने यह कभी दावा नहीं किया कि सत्य का अन्तिम रूप उसे ही प्राप्त है।

धार्मिक और दार्शनिक में जो बात कभी नहीं होनी चाहिए वह प्रायः धर्मों में घर कर लेती है। परिणामस्वरूप धम एक मत का रूप धारण कर लेता है, वह बुराई है आग्रह बुद्धि "जो कुछ सत्य है वह अमुक धर्म में ही है" तथा "सत्य का इसके बाद कोई स्वरूप नहीं" यह दो धारणाएँ मनुष्य की जन्मसिद्ध विचार-स्वतंत्रता को न मानने का आधुनिक रूप ह।

हिन्दू दर्शन विकासशील दर्शन है। उसने कभी यह दावा नहीं किया कि अब दार्शनिक विकास समाप्त हो गया है। उपनिषद् का ऋषि (दार्शनिक, ऋषि और दार्शनिक दोनों शब्दों का धात्वर्थ समान है) स्पष्ट कहता है—"जो कहता है कि मैं उसे (पूर्णरूप से) जानता हूँ, वह नहीं जानता।"

भारतीय दर्शन : एक दृष्टि

भेद में अभेद—भारतीय दर्शन की रूपरेखा निश्चित करते समय यह भी देखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के हृदय में कौनसा समान सूत्र काम कर रहा है ? विचार करने पर प्रतीत होगा कि वह समान सूत्र है 'भेद में अभेद दर्शन'। इसी समान सूत्र के कारण ही विभिन्न प्रतीत होनेवाले दर्शन भी एक माला में पिरोये हुएसे प्रतीत होते हैं। दर्शन का अध्ययन किए बिना ठीक ठीक समाज व्यवस्था का ज्ञान नहीं हो सकता। प्रत्येक समाज व्यवस्था एक सुदृढ़ दर्शन पर अवलम्बित रहती है। जिस व्यवस्था के पीछे दर्शन नहीं वह टिक नहीं सकती, मनुष्य सामाजिक प्राणी है समाज का आधार अभेद-समानता ही हो सकता है। इसीलिए हमारा पक्का विश्वास है कि मानव-समाज की सामाजिक व्यवस्था का आधारभूत दर्शन भारतीय दर्शन ही हो सकता है। विचार करने पर प्रतीत होगा कि भारतीय दर्शन मनुष्य को ससीम से असीम की ओर, सान्त से अनन्त की ओर, अनेक से एक की ओर नहीं ले जा रहे अपितु ससीम में ही असीम का, सान्त में अनन्त का और अनेक में एक का दर्शन करने की प्रेरणा कर रहे हैं। उपनिषद् का ऋषि कह गया है :—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति, य इह नानेव पश्यति ॥

अर्थात् वह मृत्यु से मृत्यु की ओर ही जा रहा है जो विश्व में भेद-नाना-अनेकता-विरोध का दर्शन करता है।

गीता का अमर सन्देश सुनानेवाले योगेश्वर कृष्ण ने भी यही कहा है :—

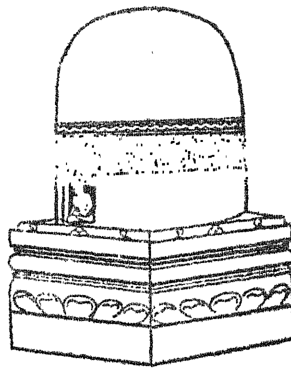
एकं सांख्यं च योगंच यः पश्यति स पश्यति ॥

जो सांख्य और योग को एक (भेद में अभेद) देख रहा है वही चक्षुष्मान् है। जिस राष्ट्र का दर्शनसूत्र 'भेद में अभेद' होगा वह सदा विकासशील ही होगा; परन्तु हमारे देश का दुर्भाग्य यही है कि भारतीय दर्शन का समाज-व्यवस्था के साथ धीरे धीरे सम्बन्ध कम होता गया है। भेद में अभेद दर्शन का ही फल है कि भारतीय आचार्यों ने संकीर्ण राष्ट्रवाद से परे समूची पृथ्वी को ही एक राष्ट्र (**'पृथ्वी राष्ट्रम्' पृथ्वी सूक्त अथर्ववेद**) वसुधा को कुटुम्ब (**"वसुधैव कुटुम्बकम्"**) तथा मनुष्यमात्र को भाई भाई (**संभ्रातरः यूयम्, ऋक्**) समझा है।

उपसंहार—भारतीय दर्शन मनुष्य को व्यापक दृष्टि से देखने का सन्देश देता है। समूचा विश्व एक ही सत्य से ओतप्रोत है। जीवन का कोई पहलू सर्वथा पृथक् नहीं। जीवन का समग्र दर्शन किए बिना मनुष्य को सन्तोष नहीं हो सकता। मनुष्य के पास अपने भावों और विचारों को व्यक्त करने के जो भी साधन (भाषा, कला आदि) हैं वे अपूर्ण हैं, पंगु हैं, इसलिए सत्य के अन्तिम दर्शन का कभी दावा न करो।

भारतीय दर्शन मानवता का दर्शन है क्योंकि इसका विकास उन्मुक्त वातावरण में हुआ है।

आइए विक्रम द्वि-सहस्राब्दी के पुनीत अवसर पर हम सोचें कि भारतीय दर्शन जैसी अमूल्य निधि रहते हुए भी आज हम क्यों अपने ही घर में पराधीन हैं। वर्तमान युग संक्रांति युग है। प्रभु हमें शक्ति दे कि हम मानवमात्र तक भारतीय दर्शन के अमर सन्देश को पहुँचा सकें।



भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला

श्री नगेन्द्रनाथ घोष एम० ए०

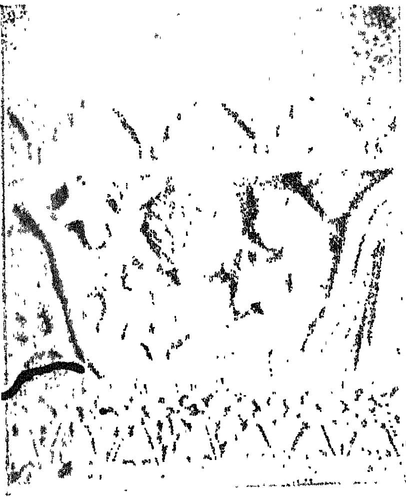
यद्यपि यह कथन कुछ असंगत प्रतीत होता है, परन्तु फिर भी है नितान्त सत्य कि मूक प्रस्तर खण्डों, ईंटों और चूने-मिट्टी की कृतियों में ग्रंथों की अपेक्षा प्राचीन इतिहास और संस्कृति के अधिक विश्वस्त प्रमाण मिलते हैं। इसका कारण यह है कि मुद्रणकला के विकास के पूर्व ग्रंथों के अत्यधिक पाठभेद हुए और उनमें बहुत से क्षेपक जुड़ गए और बहुत से अंश निकल गए। इसके विपरीत कला की वे कृतियाँ जो मानव और प्रकृति के ध्वंस से बच सकीं वे उस काल की संस्कृति का सच्चा प्रतिनिधित्व करती हैं जिसमें उनका निर्माण हुआ। लेकिन प्राचीन भारत की मूर्तियाँ हमें बहुत ही परिमित संख्या में मिली हैं और इसके विपरीत उस समय का साहित्य-भाण्डार बहुत विस्तृत है। साथ ही जहाँ हमारा साहित्य प्राचीन इतिहास की पूर्वतम धुंधली सीमा तक की अनुश्रुति को संचित किए हैं, स्थापत्य एवं तक्षणकला के उदाहरण ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी के पहिले के प्राप्त नहीं हुए हैं। मोहन-जो-दरो एवं हड़प्पा के उत्खनन में प्राप्त प्राग्-आर्यकालीन सामग्री को एक पृथक वर्ग में मानकर यदि विचार किया जाय तो यह कहा जा सकता है कि अशोक के पूर्व के प्रस्तर निर्माण के उदाहरण आज बहुत थोड़ी संख्या में प्राप्त हैं। परखम और पटना की विशाल प्रतिमाएँ, चित्तौर के पास नागरी में प्राप्त वासुदेव-संकर्षण मन्दिर की प्राचीर के अवशेष, राजगिरि में प्राप्त 'जरासंध की बैठक' नामक प्रस्तर-निर्माण, पिपरावा स्तूप में प्राप्त विशाल प्रस्तर-भाण्ड और कोल्हुआ का प्रस्तर-स्तंभ वे कतिपय अवशेष हैं जो अशोक के पूर्व के हैं।

इसके दो कारण हैं। प्रथम तो यह कि अशोक के पूर्व लोग अपनी कला-कृतियों में पत्थर के बजाय लकड़ी का उपयोग करते थे। वे स्थापत्य एवं तक्षणकला जानते थे इसमें कोई सन्देह नहीं है। अशोककालीन भूमिस्तर के नीचे प्राप्त हुए लकड़ी के महल के अवशेष इसके प्रमाण हैं। प्राचीन भारतीय स्थापत्य के मान्य विद्वान् फरगुसन ने लिखा है 'पत्थर के प्राचीनतम निर्माणों में लकड़ी के काम के जोड़ और ढाँचों का अनुकरण मिलता है उससे प्रमाणित है कि उनके पूर्व लकड़ी के भवनों का अस्तित्व था। प्रारंभिक वैदिक साहित्य में इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि उस समय के समाज में बढ़ई, लुहार, कुम्हार, बुनकर आदि उपयोगी वस्तुएँ बनानेवालों के अतिरिक्त कलाकार, चित्रकार, सुनार, लकड़ी और हाथीदाँत पर खुदाई का काम करनेवाले भी थे। मौर्य एवं शुंगकाल के प्रस्तर पर तक्षण का कार्य करनेवाले जिन्होंने सुन्दर

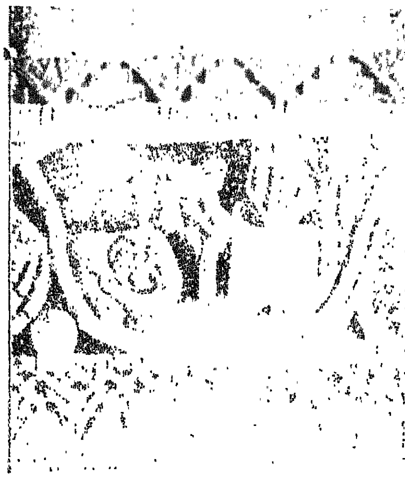
अशोकीय स्तम्भों का निर्माण किया तथा भरहुत एवं साँची के तोरणों पर मनोरम अर्ध-चित्र बनाए इन कलाओं में नौसिखिये नहीं थे। उनकी कृतियों को देखते हुए यह स्पष्ट है कि यह कृति ऐसे कलाकारों की है जो अपने कार्य में दक्ष थे। उन्होंने केवल माध्यम बदल दिया, लकड़ी के स्थान पर पत्थर पर तक्षण का कार्य प्रारम्भ कर दिया। इस न्यूनता का दूसरा कारण यह है कि बौद्ध युग के पूर्व निर्माण कला को धर्म से कोई प्रेरणा नहीं मिली। निर्माणकला धर्म की अनुगामिनी रही है। बुद्ध के पूर्व वैदिक एवं ब्राह्मण धर्म में देव-पूजा मूर्तियों द्वारा न होकर आश्रमों में जलनेवाली यज्ञों की अग्नि से होती थी। यदि उस काल में भी धर्म द्वारा स्फूर्ति मिलती तो देव प्रतिमाएँ अथवा उनके लिए मन्दिरों के निर्माण करने के स्थायी साधन जुटा लिए जाते।

चैत्य—पाली वाँग्मय और प्राचीन बौद्ध अवशेष यह प्रकट करते हैं कि पूर्वीय भारत, विशेषतः विदेह, मगध और अंग में एक प्राचीनतम धर्म का अस्तित्व था जो वैदिक धर्म की अपेक्षा स्थापत्य एवं तक्षण कलाओं को अधिक प्रोत्साहक था। इस धर्म का मुख्य अंग चैत्य की पूजा करना था। अंगुत्तर निकाय में बुद्ध ने लिच्छवियों की उन्नति के लिए सात बातें बतलाई हैं जिनमें एक यह भी है कि जब तक वे उनके नगर के बाहर स्थित वज्जिय चैत्यों का आदर करते रहेंगे और उनकी पूजा अर्चा करते रहेंगे तब तक लिच्छवि-वज्जियों का पतन न होगा। इसी प्रकार दीर्घनिकाय के महापरिनिव्वान सुत्तान्त में भी बुद्ध ने चैत्यों की पूजा लिच्छवियों की उन्नति के लिए एक आवश्यक अंग बतलाई है और वैशाली के छह चैत्यों के नाम गिनाए हैं:—उदेन, गोतमक, सत्तम्बक, बहुपुत्त, सरन्दद तथा चपल। दिव्यावदान में अन्तिम तीन भिन्न प्रकार से दिए हुए हैं—गौतम, न्यग्रोध, शालवन, सत्तंबक (सप्रामक) और इनसे यह प्रगट होता है कि ये चैत्य या तो पूज्य वृक्ष थे या वृक्ष-कुंज। गौतम-न्यग्रोध चैत्य नाम से प्रकट होता है कि यह न्यग्रोध (अर्थात वट) का वृक्ष था। बहुपुत्त अथवा बहुपुत्र शब्द से ज्ञात होता है कि यह सम्भवतः पवित्र पीपल का वृक्ष था। दिव्यावदान (पृष्ठ १६४) में बुद्ध ने 'चैत्य-वृक्ष' का स्पष्ट उल्लेख किया है। भारतवर्ष में वृक्ष-पूजा अत्यन्त प्राचीन है। सिन्धु-सभ्यता (ई० पू० ३०००) के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं पर अश्वत्थ वृक्ष का चित्र है और उस समय वह पूजनीय माना जाता था। यह प्रारम्भिक वृक्ष-पूजा ई० पू० दूसरी शताब्दी तक रही। यह भरहुत एवं साँची के स्तूपों के अर्धचित्रों से प्रमाणित है। भरहुत की वेदिका के वेष्टन के एक अर्धचित्र में एक पूज्य वृक्ष बतलाया गया है जिसके चारों ओर सिंह एवं हरिण मैत्री भाव से बैठे हैं। इस अर्धचित्र के ऊपर ब्राह्मी अक्षरों में खुदा हुआ है 'मग समदक चैत्य' (मृगों को आनन्द देनेवाला चैत्य)। इसके अर्धचित्र में एक अन्य वृक्ष दिखलाया गया है जिसकी तीन हाथी पूजा कर रहे हैं। एक अन्य अर्धचित्र में एक चैत्य-वृक्ष दिखलाया गया है जिसमें से दो मानव हाथ निकल रहे हैं जिसमें से एक में एक पात्र है और दूसरे में जल-पात्र में से डलिया पर बैठे हुए एक मनुष्य के सिर पर जल धारा डाली जा रही है। यह हाथ वृक्ष-देवता के हैं और इस चित्र में धर्मपद की टीका (२, १, ६) की उस कथा का चित्रण है जिसमें हिमालय प्रदेश के कोशाम्बी को आनेवाले दो यात्रियों ने एक पीपल के नीचे बसेरा लिया था और वृक्ष देवता से जलयाचना करने पर उसे वृक्ष देवता द्वारा जल प्राप्ति हुई थी।

कोने के एक स्तम्भ के एक खन में एक अर्धचित्र में एक वृक्ष बना है जिसकी पूजा छह हाथी कर रहे हैं। वेदी पर खुदा है 'बहुहथि को निगोधो नडोदे' (निडोद टीले पर स्थित बहुत से हाथियों द्वारा पूजित पीपल)। यह पीपल वृक्ष स्पष्ट ही चैत्य वृक्ष है और 'बहु हस्तिक' से प्रकट होता है कि उसकी पूजा हाथी विशेष रूप से करते थे। बहु हस्तिक जैसे वृक्ष-देव को वास देनेवाले चैत्य वृक्ष का वंशज बोधि वृक्ष है। चैत्यों से सम्बन्धित देवयोनि 'यक्ष' है। बुद्ध घोष के अनुसार चैत्य 'यक्ष-चैत्य' अथवा यक्ष का वास स्थान होता है। संयुत्त निकाय (१।१०।४१) के अनुसार मगध का मणिमाला चैत्य मणिभद्र यक्ष के वास स्थान हैं। एक प्राचीन जैन ग्रंथ के अनुसार 'प्रजापति' नामक एक 'मणिभद्र' चैत्य मिथिला के उत्तर पूर्व में स्थित था। आगे चैत्य पूजा ने वेदिकाओं और द्वारों को जन्म दिया जिनके द्वारा चैत्य वृक्ष के सुरक्षित रहने की कल्पना की गई। भारत की प्राचीनतम मुद्रा 'कार्षापणों' पर 'वेदिका' में घिरे 'वृक्ष' का अभिप्राय प्रायः मिलता है। चैत्य वृक्ष के चारों ओर की वेदिका के स्तम्भ, उष्णीष तथा वेष्टन उस समय लकड़ी के बने होते थे और उन पर उस नक्काशी का जन्म हुआ जिसका प्रयोग आगे स्तूपों की पत्थर की वेदिकाओं पर दिखाई दिया। शुंगआन्ध्रकाल में जब लकड़ी के स्थान पर पत्थर की वेदिका बनना प्रारम्भ हुई तो लकड़ी पर की गई तक्षण-कला भी पत्थर पर उतारी गई।



मगसमदकचैत्य (पृष्ठ ७९८)



चैत्य और हाथी (पृष्ठ ७९८)



वृक्षदेवता (पृष्ठ ७९८)



बहुहथिको निगोधो नडोदे (पृष्ठ ७९८)

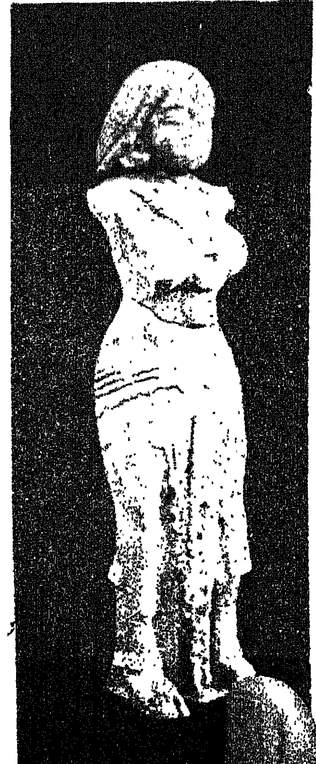
यक्ष, परखम (पृष्ठ ७९९)

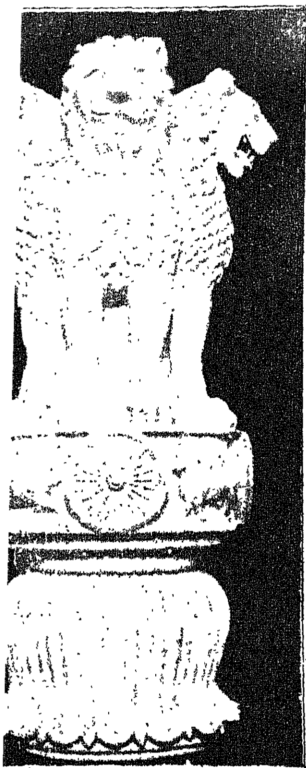


चामर ग्राहिणी, पटना (पृष्ठ ७९९)

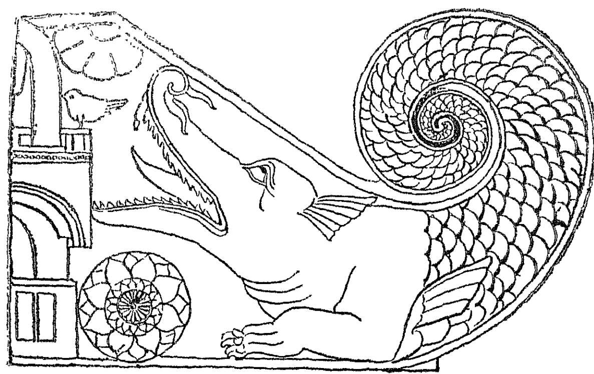


यक्षी, बेसनगर (पृष्ठ ८००)





।-शीर्ष, सारनाथ (पृष्ठ ८०१)



भरहुत के तोरण के एक अंग का रेखा चित्र (पृष्ठ ८०२)



गज लक्ष्मी, भरहुत (पृष्ठ ८०३)

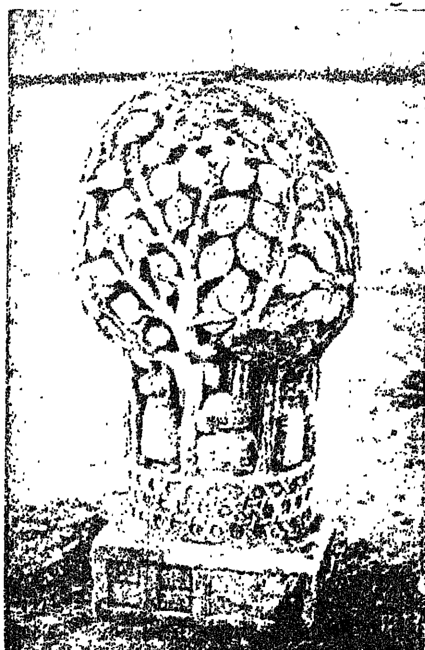


भरहुत के एक अर्धचित्र का रेखा चित्र
(पृष्ठ ८०३)

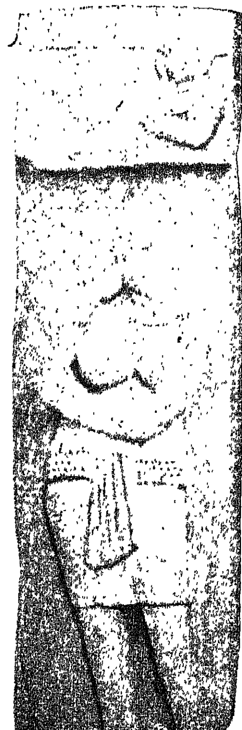
तेमा, कोसम (पृष्ठ ८०५)



कल्पवृक्ष स्तंभशीर्ष (पृष्ठ ८०४)



सद्यः स्नाता, मथुरा
(पृष्ठ ८०५)

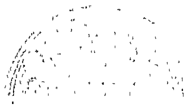


स्तूप—प्रस्तर तक्षण की यह विशिष्ट कला भरहुत एवं साँची के स्तूपों में जातक कथाओं एवं प्रकृति और मानव आकृतियों के अंकन में विकसित हुई। स्तूप पूजा प्राचीनता में कम से कम बुद्धकाल तक तो ले जाई ही जा सकती है। स्तूप का निर्माण मानव अस्थियों के ऊपर एक ठोस अण्डाकार वृहत् टीले के रूप में होता है। पाली ग्रंथों के अनुसार बुद्ध के परि-निर्वाण के पश्चात् उनके फूल आठ भागों में बाँटे गए थे जिन पर प्रत्येक भाग-गृहीता ने एक एक स्तूप बनवाया। इस प्रकार मूल में केवल आठ स्तूप थे। दिव्यावदान के अनुसार यह संख्या अशोक ने ८४००० कर दी। इस प्रकार बौद्धों के लिए स्तूप अत्यन्त आदरणीय वस्तु है और चैत्यों के समान उसके चारों ओर भी वेदिका और द्वार बनाए जाते थे। अशोक के बनवाए हुए बौद्ध-स्तूपों में भरहुत एवं साँची के स्तूप अत्यन्त प्रसिद्ध हैं जिनकी मूल काष्ट-वेदिका के स्थान पर बनी हुई प्रस्तर वेदिका एवं तोरण द्वारों पर शुंग एवं आन्ध्र काल की तक्षण कला के उदाहरण मिलते हैं। क्रमशः यह स्तूप विहारों एवं मठों से सम्बन्धित हो गए और वे चैत्य-मण्डप कहलाने लगे जहाँ भिक्षुगण पूजा करते थे। प्रारम्भ में कारीगर पत्थर के आधार के ऊपर लकड़ी के ढाँचे के रूप में अथवा पूर्णतः लकड़ी के विहार एवं चैत्य-मण्डप बनाते थे। ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी के प्रारम्भ में पश्चिमी भारत के बौद्ध एवं जैनों ने ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में अशोक द्वारा बराबर नामक पहाड़ में बनवाई आजीवकों के गुहा निवासों के समान गुहाओं का निर्माण किया। इस गुहा के पुरोभाग में घोड़े के नाल के आकार के तोरण ही इसके एकमात्र अलंकरण हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ईसवी पूर्व दूसरी एवं पहिली शताब्दी के भाजा, अजण्टा, बेडसा, नाशिक एवं कार्ली के चैत्य-मण्डप बराबर की लोमश ऋषि की गुहा की अनुकृति में बनाये गये हैं और उनके पुरोभाग में भी नाल के आकार के तोरण हैं, परन्तु उन पर मानव आकृतियाँ एवं अन्य दृश्य अंकित करके उन्हें अधिक सुन्दर बना दिया गया है।

चैत्य मण्डपों की रचना ईसाई गिरजों से मिलती जुलती हुई होती है। बीच में सभामण्डप होता है। उसमें पूजा स्थल पर ठोस स्तूप होता है। यह सब या तो चट्टान को काटकर बनाया जाता है या लकड़ी और ईटों का बना होता है। सभा-मण्डप के चारों ओर प्रदिक्षणा पथ होता है। प्राचीन बौद्ध चैत्य मण्डपों में सबसे बड़ा और समस्त भारत के भवनों में भव्यतम कार्ली का चैत्य-मण्डप है, जिसका निर्माण ईसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग हुआ था। यह १२४ फीट लम्बा, ४५ फीट चौड़ा और ४५ फीट ऊँचा है और आकार में इसकी तुलना गोदिक कैथेड्रल से की जा सकती है। स्तूप ऊँचा वर्तुलाकार है, जिसमें दो वेदिकाओं के चिह्न बने हैं और लकड़ी का मूल-छत्र आज भी सुरक्षित है। नाशिक लेण के समान ही उसका पुरोद्वार दुमंजिला है। नीचे की भित्ति में तीन द्वार हैं जिसके ऊपर दूसरी मंजिल में नाल के आकार की विशाल खिड़की है। दूसरी खिड़की में खुदी हुई लकड़ी के अवशेष अभी भी प्राप्त होते हैं। सभा-मण्डप और प्रदक्षिणा-पथ के बीच के स्तम्भों के शीर्ष परसीपोलिटन शैली के औंधे घट के रूप में हैं और भित्ति-तक्षण-चित्र तथा कोर्निस का आभास देते हैं। पुरोभाग की नीचे की मंजिल में द्वारों के बीच बीच में दाताओं की और बुद्ध की मूर्तियाँ बनी हैं।

मौर्यकला (अशोक-पूर्व)—प्रारम्भ में ही परखम तथा पटना की मूर्तियों का उल्लेख किया गया है जिन्हे कुछ विद्वान अशोक पूर्व की मानते हैं और कुछ अशोक के पश्चात् की। यह तो इन मूर्तियों की शैली से ही स्पष्ट है कि यह अशोकीय नहीं हैं। यह विशालकाय प्रतिमाएँ चारों ओर कुरेदकर बनी हुई हैं। उनमें यथार्थ की अनुरूपता नहीं है जो अशोकीय स्तम्भशीर्षों की विशेषता है। प्राचीन आकृति एवं अग्रगत दृष्टिकोण से बनी हुई चिपटे पार्श्वों की ये मूर्तियाँ आद्य स्वदेशीय कला की प्रतिनिधि हैं। सरजॉन मार्शल लिखते हैं कि परखम और पटना की मूर्तियाँ एकसी हैं और उनमें सब देशों की आद्यकला के प्रधान तत्व मौजूद हैं। उदाहरणार्थ पार्श्वों और पीठ का अग्र भाग की तुलना में गौण स्थान प्राप्त करना, कानों का कुडौल अंकन, ग्रीवा की भौंडी बनावट, पेट का बढ़ा हुआ रूप तथा पैरों को गढ़ने के प्रयास का अभाव।

पटना में प्राप्त चामर ग्राहिणी की मूर्ति इन मूर्तियों से बहुत समानता रखती है। डॉ० स्पूनर का मत है कि पटना की यह मूर्ति निश्चित ही स्वदेशीय है और परखम मूर्ति के निर्माणक आद्य कलाकार की कृति है जो मौर्यकालीन कलाकार के शिष्यत्व में कार्य कर रहा था और इस मौर्य कलाकार ने इस मूर्ति को अन्तिम रूप में सँवार दिया। इस अन्तिम-सँवारने में मौर्य स्तम्भ के दर्शन हुए जिससे इस पर ग्रीस-पर्शियन प्रभाव झलकने लगा, परन्तु उस सीमा तक नहीं जिस तक अशोकीय



कला में दिखलाई देता है। प्रो० चन्द जो पटना की मूर्तियों को पिछले मौर्यकाल की बतलाते हैं डॉ० स्पूनर के सिद्धान्त के विरुद्ध लिखते हैं। बिन्दुसार और अशोक ने प्रस्तर निर्माण करने के लिए पड़ौसी सिल्यूकिद राज्य से कलाकार बुलाए। इन कलाकारों के सहयोग से मौर्यकला का सृजन हुआ। इन विदेशीय कलाकारों ने पाटलीपुत्र, सारनाथ, तथा अन्य केन्द्रों के कलाकारोंको भी शिक्षा दी होगी; और जब ये विदेशी कलाकार समाप्त हो गए तो अशोक के उत्तराधिकारियों द्वारा यह विदेशियों द्वारा शिक्षित स्वदेशीय कलाकारों से ही काम लिया होगा। परिणामतः आद्य स्वदेशी कला पर्शियन-ग्रीक ओप से आवृत्त दिखाई दी। परन्तु इस मूर्ति पर जो अशोकीय ओप की अपेक्षा घटिया ओप है और जिसका प्रो० चन्द ने इस मूर्ति को पिछले मौर्यकाल की सिद्ध करने में उपयोग किया है उसका उपयोग यह सिद्ध करने के लिए भी किया जा सकता है कि यह बिन्दुसार के समय की है। बिन्दुसार का ग्रीक वस्तुओं से प्रेम प्रसिद्ध है। सम्भव यह है कि बिन्दुसार के समय में जो ग्रीक कलाकार आए वे उतने दक्ष न थे जितने कि अशोक द्वारा बुलाए गए। प्रो० चन्द स्वयं मानते हैं कि कोल्हुआ का भारी और भद्दा स्तम्भ जिसके घंटाकृति शीर्ष या सादा चौखूटी चौकी बनी है और जिस पर सिंह बना है किसी भी अनभिज्ञ व्यक्ति को अशोकीय जँच सकता है, परन्तु वास्तव में वह बिन्दुसार के राज्यकाल के प्रारंभिक भाग का है। वे यह भी लिखते हैं मौर्यकला का पारसीय-ग्रीक तत्त्व जिसे बिन्दुसार ने प्रचलित किया अशोक के राज्य में चरम विकास को प्राप्त हुआ। यदि यह कथन कोल्हुआ स्तम्भ के लिए सत्य हो सकता है तो पटना की मूर्तियों से भी सम्बन्धित किया जा सकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि इन मूर्तियों का विषय क्या है? स्व० डॉ० जायसवाल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि परखम की मूर्ति तथा पटना की दो पुरुष मूर्तियाँ कुणीक अजातशत्रु (ई० पू० ६००), अज (उदायिन्), नन्द और वर्त्तनन्द अथवा नन्दिवर्धन (ई० पू० ४००) की हैं, परन्तु यह अभिन्नता विद्वानों ने लिपि विज्ञान और कला के प्रमाणों के कारण असिद्ध मानी है। वास्तव में यह यक्षों की मूर्तियाँ हैं और ईसवी पूर्व ३०० की हैं। चैत्य वृक्षों अथवा नगरों से सम्बन्धित यक्षों की पूजा भारतवर्ष का एक आद्य सम्प्रदाय है और पटना तथा परखम की मूर्तियाँ यक्ष पूजा सम्बन्धी प्राचीनतम मूर्तियाँ हैं। इसी प्राचीन शैली की एक बैठी हुई मूर्ति मथुरा के पास मनसादेवी के नाम से पूजी जाती है और उसपर उत्कीर्ण आदि लेख द्वारा वह यक्षी की मूर्ति प्रमाणित है। बेसनगर में प्राप्त विशाल स्त्री की प्रतिमा, जिसे कभी पृथ्वीदेवी की मूर्ति कहा गया था, किन्तु जो सम्भवतः यक्षी है और ई० पू० २०० में बनी है, पटना की चामर-ग्राहिणी से समता रखती है। निर्माणकाल में अन्तर होते हुए भी पवाया में प्राप्त मणिभद्र यक्ष की मूर्ति (जो अब ग्वालियर पुरातत्त्व संग्रहालय में है) परखम और पटना की यक्ष मूर्तियों से बहुत समानता रखती है। यह सब विशाल प्रतिमाएँ जो चारों ओर कुरेदकर बनी हैं उस स्वदेशीय आद्य कला-शैली की परम्परा की हैं जो ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी में या उससे पूर्व अस्तित्व में आईं और अशोकीय कला के प्रभाव को भी पार करके किंचित परिवर्तित एवं परिवर्धित रूप में शुंग एवं कुषाण मूर्तियों में भी दिखाई देती है।

अशोकीय कला—इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस कला शैली का अशोक ने भारत में प्रवर्त्तन किया वह तत्कालीन तथा उससे कुछ पूर्व की पारस तथा असीरिया की शैली से समानता रखती थी। यह ठीक है कि उसका मूल पारसीक-ग्रीक माना गया है। शिलाओं पर उत्कीर्ण अशोक के आदेश प्रशा के सम्राट डारियस एवं जरक्सीज (ई० पू० छठी व पाँचवीं शताब्दी) के आदेशों से बहुत समानता रखते हैं। स्तम्भ के अत्यधिक यथार्थवादी अंकन तथा पशुओं के शरीर का सजीव निर्माण भी ग्रीक प्रभाव प्रदर्शित करते हैं और सिद्ध करते हैं कि उनके निर्माता पारस में ग्रीक कला सीखे हुए थे। मार्शल तो यहाँ तक कल्पना करते हैं कि अशोकीय स्तम्भ बाख्त्री के कलाकारों की कृति है। परन्तु अशोकीय स्तम्भ विदेशीय कलाकारों की कृति हों अथवा पारसीक-ग्रीक कला से प्रभावित भारतीय कलाकारों की कृतियाँ हों, यह अवश्य मानना पड़ेगा कि अशोकीय स्तम्भ एवं उनके शीर्ष अनेक ऐसी विशेषताएँ रखते हैं जिनका मूल निश्चित रूप से स्वदेशी है। इसमें कोई शंका नहीं कि भारतीय प्रस्तर उत्कीर्णक ने जो काष्ट तक्षण में पहिले से ही प्रवीण था, तुरन्त ही ओप करने की विदेशी विधि को आत्मसात् कर लिया परन्तु उसने विदेशी अभिप्रायों को भारतीय रूप दे दिया। उदाहरण के लिए पर्सीयोप्लिस के स्तम्भों के विपरीत अशोकीय स्तम्भ किसी निर्माण अथवा भवन को सहारा देने के लिए नहीं बनाए गए थे और वे उन स्वतंत्र स्तम्भों की श्रेणी में आते हैं जो विष्णु, शिव अथवा कंदर्प के गरुड़ध्वज, विष्णुध्वज, अथवा मकरध्वज के रूप में भवनों से पृथक् बनाए गए हैं। मध्य भारत में बेसनगर (प्राचीन विदिशा) पर ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी के अभिलेखयुक्त गरुणध्वजों के अवशेष

प्राप्त हुए हैं तथा मकरध्वज का एक शीर्ष भी मिला है। हाथी, साँड और हंसों के अभिप्राय भारतवर्ष में अत्यधिक प्रचलित थे। अशोकीय स्तम्भ-शीर्षों की घण्टाकृति अनेक विद्वानों ने भारतीय कला का रूप ही मानी है और उनका यह अनुमान ठीक ज्ञात होता है। मौर्य स्तम्भ एक पत्थर का बना हुआ होता है इसके विपरीत सूसा और पर्सीयोलिस के स्तम्भ अनेक प्रस्तर खंडों के बने होते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय स्तम्भों में घण्टाकृति स्तम्भ के चरणों के बजाय स्तम्भ-शीर्ष पर सुशोभित हुई। मौर्य तथा पारसीक घण्टाकृति में भी बहुत अन्तर है। धर्मचक्र का अभिप्राय तो नितान्त भारतीय ही है। अशोकीय स्तम्भ-शीर्षों के अभिप्रायों में विदेशी प्रभाव फूल पत्तियों की रचना, एकंथस, हनीसकल आदि के रूप में दिखाई देते हैं।

अशोकीय स्तम्भ तथा स्तम्भ-शीर्ष--अशोकीय निर्माण कला के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तर स्तम्भ तथा स्तम्भशीर्ष हैं। स्तम्भ एक प्रस्तरी गोल खंभे हैं जो भूमि के ऊपर ४० से ५० फुट तक उठे रहते हैं। नीचे आधार पर उनका व्यास ३ से ४ फुट और चोटी पर २२ से ३५ इन्च तक होता है। वह चुनार की खदान के भूरे पत्थर का बना होता है तथा उसपर दर्पण के समान चमकनेवाला ओप होता है। बहुत ही सावधानी में बनाई हुई चौकोर चौकी पर यह आधारित होता है जो भूमि से १० फुट नीचे होती है। इसका वजन लगभग ५० टन होता है। इतने भारी स्तम्भों को अशोक द्वारा एक हजार मील की दूरी तक ले जाना वास्तव में बहुत बड़ी बुद्धिमानी एवं चतुराई का कार्य है और आज के उन्नत युग में भी उसकी प्रशंसा की जायगी। इन स्तम्भों के ऊपर जो शीर्ष होता है वह उत्कीर्णक की कला के परम विकास का उदाहरण है। इनसे मौर्य-कला अपने श्रेष्ठतम रूप में दिखाई देती है। यह स्तम्भशीर्ष दो प्रकार के हैं। सारनाथ और साँची के अभिलेखयुक्त स्तम्भ पर चार चार सिंह हैं, अन्य स्तम्भों पर एक एक पशु सिंह, साँड या हाथी बैठाया गया है। दूसरे प्रकार में लौरिया-नन्दनगढ़ का स्तम्भ अब भी अपने मूल स्थान पर है। अंशतः प्राप्त रामपुरवा का सिंह-शीर्ष इण्डियन म्यूजियम में है। दो अभिलेख रहित स्तम्भों के ऊपर की पशु मूर्तियाँ मिली हैं। साँड शीर्ष, चौकी एवं घण्टाकृति युक्त रामपुरवा का स्तम्भ अब इण्डियन म्यूजियम में है। संकीसा का हाथी की मूर्तियुक्त शीर्ष अभी अपने मूल स्थान पर ही है।

अशोकीय स्तम्भों में सारनाथ का स्तम्भ कला एवं निर्माण की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट है। वह अभी सारनाथ के संग्रहालय में रखा हुआ है, और उसकी एक प्रति-आकृति प्रयाग विश्वविद्यालय में है और एक अन्य प्रतिकृति इण्डियन म्यूजियम में है। घण्टाकृति, चौकी तथा शीर्ष के केशरियों सहित यह स्तम्भ ७ फीट ऊँचा है और अपने प्रकार के स्तम्भों में सबसे बड़ा है। इसके ऊपर चार केशरी पीठ से पीठ लगाए एक चौकी पर बैठे हैं। इस चौकी पर भी सिंह, हाथी, साँड और दौड़ते हुए घोड़े के अर्धचित्र खुदे हुए हैं जिनको एक एक चक्र द्वारा पृथक् किया गया है। इसी प्रकार इस पट्टी पर धर्म चक्र प्रवर्तन की सतत प्रगति का दृश्य अंकित है। इसकी कल्पना एवं कौशल आदि भारतीय कला में अद्वितीय है। सर जान मार्शल ने इस स्तम्भ विषय में लिखा है कि यह स्तम्भ शीर्ष ईसवी पूर्व तीसरी शताब्दी की सम्पूर्ण संसार की अत्यन्त विकसित कला का परिणाम है और उन कलाकारों की कृति हैं जिनको अनेक पीढ़ियों की कला-साधना एवं अनुभव पैत्रिक दाय के रूप में प्राप्त हुआ था।

अशोककालीन अन्य निर्माणों के रेतीले पत्थरों के ओपयुक्त अवशेष सारनाथ के अभिलेखयुक्त स्तम्भों को घेरे रहनेवाली वेदिका का खंड, भरहुत के अर्धचित्र में बतलाए गए 'बोधिमन्द' (Alter) के समान बुद्धगया में प्राप्त 'बोधिमन्द', कुछ स्तूपों के प्राचीनतम अवशेष, साँची के चैत्य-मण्डप की नीव तथा बराबर की पहाडियों में खोदे गए चैत्य मण्डप हैं। बराबर की सुदामा लेण अशोक के राज्य के बारहवे वर्ष में बनाई गई है, इसमें एक वृत्ताकार मण्डप पार्श्वद्वारोंयुक्त अलिन्द एक भीत्ति द्वारा पृथक् होते हैं। भित्तियों के ऊपर पर्णशाला का दृश्य प्रस्तुत करनेवाली छत कटी हुई है। इस लेण की विशिष्ट निर्माण-योजना का अनुकरण पश्चिमी भारत की पिछली लेणों में किया गया है, जिनके गर्भगृहों में वृत्ताकार स्तूप को स्थान दिया गया है जिसके चारों ओर सकड़ा प्रदक्षिणा पथ बच रहता है। लोमशऋषि लेण का आकार भी ऐसा ही है, परन्तु गर्भगृह वृत्ताकार के स्थान पर अण्डाकार है और द्वार का पुरोभाग घोड़े की नाल के आकार का है। यह लेणें अत्यन्त कठोर चट्टानों में से काटकर बनाई गई हैं और इनका निर्माण अत्यन्त कुशलता से किया गया है

तथा भीतर दर्पण का सा ओप किया गया है। स्पष्टत: इनका निर्माण उस काल की भारतीय शैली के आधार पर हुआ था।

शुंग आन्ध्रकाल:—साँची और भरहुत—चुनार के रेतीले प्रस्तर के मौर्यकालीन निर्माण से हम मध्य भारत के रेतीले लाल पत्थर के निर्माणों पर आते हैं जिसका उपयोग शुंगों एवं आन्ध्रों ने किया तथा जिसके उदाहरण साँची एवं भरहुत के तोरणों तथा वेदिकाओं में मिलते हैं। विन्ध्याचल से प्राप्त इस प्रस्तर द्वारा भारतीय कला शैली में नवीन युग का सूत्र-पात हुआ। सन् १८७३ में जनरल कनिंघम ने एक बौद्ध स्तूप के अवशेष खोज निकाले थे। इस स्तूप का आकार प्रकार सम्भवत: साँची के बड़े स्तूप के समान ही था और ज्ञात यह होता है कि स्थानीय परिस्थितियों के कारण किए गए परिवर्तनों को छोड़कर दोनों ही भारतीय कला के विकास की एक ही स्थिति के हैं। आज जो प्रस्तर वेदिकाएँ तथा तोरण मिले हैं वह पिछले शुंग काल में बने हैं और उनका निर्माण उनके पूर्व विद्यमान लकड़ी की वेदिकाओं एवं तोरणों के स्थान पर हुआ होगा। आज जो प्रस्तर मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं वे इन्हीं लकड़ी पर खोदी हुई कला के अनुकरण में बनी हैं। आरम्भ में लकड़ी पर कारीगरी दिखाने में सुगमता रही होगी।

बुद्ध युग के पूर्व भी 'स्तूप' अन्त्येष्टि से सम्बन्धित था, ऐसा उल्लेख ऊपर हो चुका है। यही बुद्ध भगवान् के जीवन की अन्तिम घटना 'परिनिर्वाण' से सम्बन्धित हो गया, और उसके नीचे बुद्ध अथवा अन्य बौद्ध भिक्षुओं के अवशेष स्फटिक, स्वर्ण अथवा अन्य किसी वस्तु के पात्र में सुरक्षित दबाए जाते हैं। भगवान् बुद्ध के प्रामाणिक अवशेष तक्षशिला के स्तूप में मिले हैं। प्रारंभिक बौद्ध स्तूप ईंटों के अथवा ईटों और रोड़ों के बनते थे। बाद को वे एक पत्थर को काटकर बनाए जाने लगे जिनके उदाहरण चैत्यों में मिलते हैं, परन्तु यह स्थूल स्तूपों के प्रतीक मात्र हैं। स्तूप बहुधा एक या दो चौकोर चबूतरों के (मेधि) के ऊपर बनाया जाता है, कम से कम उसके चारों ओर पटावदार प्रदक्षिणा-पथ तो होता ही है। 'मेधि' पर चढ़ने के लिए 'सोपान' होती हैं। इसमें एक ठोस अण्डाकार 'गर्भ' होता है जो तिहरे वृत्ताकार आधार पर स्थित होता है। इस 'गर्भ' के ऊपर घनाकार 'हर्मिका' होती है जिसमें धातु की यष्टि गढी रहती है। इस यष्टि पर 'छत्र' होता है। सबसे ऊपर हिन्दू मन्दिरों के कलश के समान 'वर्षस्थाला' होता है।

स्तूप के चारों ओर वेदिका (बाड़) होती है। यह वेदिका चैत्य-वृक्ष की रक्षा के लिए बनाए जानेवाले लकड़ी के घेरे के समान है। भारतीय कला में बहुधा दिखने वाले इस चैत्य वृक्ष का उल्लेख ऊपर हो चुका है। वेदिका वृत्ताकार होती है और स्तूप के चारों ओर प्रदक्षिणा पथ का स्थान छोड़कर बनाई जाती है। वेदिका में सबसे नीचे 'आलंबन' होता है उसके ऊपर स्तम्भ खड़े होते हैं। इन स्तम्भों का सामने का भाग आयताकार होता है और एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ के बीच 'सूची' होती है। यह सूचियाँ आड़ी तीन पंक्तियों में होती हैं और स्तम्भ के बगलों में गोलक में फँसी रहती हैं। स्तम्भों के ऊपर विशाल 'उष्णीष' होता है। वेदिका की सम्पूर्ण ऊँचाई लगभग ९ फुट होती है। इस घेरे के चार प्रवेशद्वार होते हैं जिनपर बहुधा इकहरे, दुहरे अथवा तिहरे तोरण बने होते हैं।

भरहुत तथा साँची दोनों ही स्थानों के स्तूपों के अत्यन्त भव्य तोरण बने थे। भरहुत स्तूप का पूर्वी तोरण २२॥ फुट ऊँचा है। वह आजकल कलकत्ते के इण्डियन म्यूजियम में सुरक्षित है। उस पर एक अभिलेख खुदा है जिससे ज्ञात होता है कि वह शुंगों के काल में बना था। इसमें दो खंभे हैं जिनका तना अठपहलू है और अनेक स्तम्भों के मिलने से बने होने का आभास देता है। तनों के ऊपर कमल या घण्टाकृति के शीर्ष हैं जिनके ऊपर दो सिंह तथा दो बैल पीठ से पीठ लगाए बैठाए गए हैं। इन स्तम्भों के ऊपर तिहरे तोरण बने हैं जिनके सिरे पेचदार संवेष्टित हैं। इनके बीच आधार देने के लिए प्रस्तर लगे हैं। वेदिका तथा तोरणों की सम्पूर्ण कल्पना इस स्थापना की पूर्णत: पुष्टि करती है कि ये लकड़ी के निर्माण की प्रतिकृति हैं। वेदिका और तोरण अर्धचित्रों से अलंकृत किए गए हैं जिससे दो उद्देश्यों की सिद्धि होती है, एक तो सौन्दर्य वर्धन होता है दूसरे बौद्ध यात्रियों के हृदय में वे धार्मिक भावना को जाग्रत करते हैं। किन्तु, साँची के विपरीत, भरहुत के स्तम्भों का निचला भाग अनलंकृत छोड़ दिया गया है, परन्तु शीर्ष के ऊपर का भाग अत्यधिक अलंकृत है। पूर्वीय तोरण के सिरों पर खुले हुए मुंह के और पूंछयुक्त ओपदार मकर बने हुए हैं। तोरण के इन सिरों का तथा मध्यभाग के बीच का

चौकोर स्थल एक ओर स्तूप तथा दूसरी ओर मन्दिर के अर्धचित्र से अलंकृत किया गया है। भरहुत के प्रस्तर शिल्प में सबसे महत्त्वपूर्ण वेदिका पर खदे अर्धचित्र हैं, जिनपर सम्भवतः कोई स्थान खाली नहीं छोड़ा गया है। उष्णीष, स्तम्भ, सूची सब पर उत्कीर्णक की कला के चिह्न मौजूद हैं। उष्णीष के बाहरी भाग में अत्यन्त सुन्दर कमलावली बनी हुई है, जो बहुधा किसी हाथी के मुख से निकलती हुई दिखलाई गई है। भीतरी भाग में एक लम्बी लहरदार बेल सम्पूर्ण स्थान को खनों में बाँट देती है जिनमें सिंह, हाथी अथवा अन्य पशुओं की आकृतियाँ बनी हुई हैं। उष्णीष के ऊपरी भाग में बेलों की पंक्ति है जिसके बीच बीच में नीलकमल हैं। नीचे के किनारे पर लटकती हुई घण्टिकाओं की श्रृंखला है। उष्णीष के नीचे के स्तम्भ नीचे ऊपर की दो अर्धमुद्राओं (half medallions) द्वारा तीन खनों में बाँटे गए हैं, जिनके बीच में पूर्ण मुद्राएँ (full medallions) बनी हैं। इन स्तम्भों के नीचे बहुधा बौनी एवं कुंभोदर आकृतियाँ बनी हुई हैं जो निर्माण का भारी बोझ उठाए हुए दिखाई गई हैं। तीनों सूचियों में भी पूर्ण मुद्राएँ बनी हुई हैं। उष्णीष के खनों में जातक कथाएँ अंकित हैं और स्तम्भों पर अंकित दृश्य जातक कथाओं तथा अन्तिम बोधिसत्व गौतम की जीवन-कथाओं को अंकित करते हैं। कोने के स्तम्भों पर बहुधा मानवाकार आकृति बनी हैं। इन अर्धचित्रों में से अधिकतर केवल अलंकरण के हेतु बनाए गए हैं जिनमें अभिप्रायों की विविधता दर्शनीय है। कमलदलवेष्टित मानव शीर्षयुक्त पूर्ण मुद्राएँ बहुधा पाई जाती हैं, जो सम्भवतः तत्कालीन धनिकवर्ग अथवा सामन्तवर्ग की प्रतिकृति हैं जैसाकि उनके बहुमूल्य आभरणों से प्रकट है। जिन पूर्ण मुद्राओं के बीच में फुल्लकमल हैं उनमें सपक्ष सिंह, सूंड़ में कमल लिए हुए हाथी, एवं नाग-फण आदि अभिप्राय भी हैं। कभी कभी मकर, मधु-चूषक मयूर किसी व्यक्ति के मुख से निकलता हुआ पुष्पयुक्त वृक्ष आदि अभिप्राय भी पूर्ण मुद्राओं में बने होते हैं। इन अर्धचित्रों के कुछ अभिप्राय धार्मिक हैं, उदाहरणार्थ मंगलघट जो प्राचीन मुद्राओं पर भी प्राप्त हैं। एक पूर्ण मुद्रा में एक अत्यन्त सुन्दर आकृति कमलासना देवी की है जिसके दोनों ओर एक एक कमल निकलता हुआ दिखाया गया है जिनपर एक एक हाथी खड़ा है। हाथी सूंड में एक एक पात्र लेकर देवी पर जल डाल रहे हैं। यह देवी या तो कुमारस्वामी के मतानुसार ऋग्वेद के श्रीसूक्त में वर्णित लक्ष्मीदेवी है या फिर मजुमदार के मतानुसार मातृका है। परन्तु फूशे ने इसकी गौतम-जननी माया से अभिन्नता स्थापित की है जो ठीक नहीं है। बुद्ध-मात को देव-श्रेणी में कभी स्थान नहीं दिया गया। भरहुत-वेदिका के कोने के खंभों में यक्ष एवं यक्षणियों एवं नागों के मानवाकार अर्धचित्र हैं। यह अर्धचित्र बहुत गहरे खुदे हुए हैं जो लगभग चारों ओर कुरेदकर बनाई गई मूर्तियों जैसे हैं।

यह स्मरणीय है कि वेदिका के अर्धचित्र जातक कथाओं का चित्रण करते हैं जिनमें बोधिसत्व गौतम तथा बुद्ध की जीवन कथाएँ अंकित की गई हैं। बुद्ध की जीवनी के चित्रण में तथा गत को मानवाकृति में नहीं दिखाया गया, उसको केवल बोधि-वृक्ष धर्म-चक्र, वज्रासन आदि प्रतीकों द्वारा दिखाया गया है। उसके नीचे उत्कीर्ण अभिलेखों से यह स्पष्ट है कि ये प्रतीक स्वयं बुद्ध के लिए हैं। परन्तु यह प्रतिबन्ध केवल बुद्ध तक ही सीमित है, बोधिसत्वों को मानव रूप में दिखाया गय है। उदाहरणार्थ वेस्सन्तर को मानवरूप में दिखाया गया है। माया के स्वप्न का दृश्य तथा जेतवन दृश्य कथा-दृश्यों में अनुपम हैं।

साँची में मौर्य, शुंग एवं पहिले आंध्र-काल की कला के उदाहरण मिलते हैं। अभिलेखयुक्त सुन्दर सिंह शीर्षयुक्त स्तम्भ तथा मूल स्तूप (नं० १) जो ईंटों और लकड़ी की वेदिका का बना था मौर्यकला के उदाहरण हैं। यह वेदिका पीछे पत्थर की बना दी गई थी। स्तूप नं० २ तथा ३ और उनकी वेदिकाएँ, स्तूप नं० १ का बढ़ा हुआ अंश तथा भूमिस्तर पर बनी सादा वेदिका शुंगकाल की कृतियाँ हैं। स्तूप नं० १ तथा ३ के तोरणद्वार पहिले आन्ध्र-काल के हैं। स्तूप नं० २ की वेदिका एवं स्तूप नं० १ तथा ३ के तोरणों पर अर्धचित्र बने हुए हैं। भरहुत के समान यहाँ भी बुद्ध का अंकन प्रतीकों में ही हुआ है। स्तूप नं० २ की वेदिका के अर्धचित्र शैली में भरहुत के समान ही हैं। परन्तु इसी वेदिका में कुछ अर्धचित्र ऐसे हैं जिनमें अधिक विकसित कारीगरी के दर्शन होते हैं। स्तूप नं० १ के तोरण पर और भी अधिक विकसित कला दिखाई देती है। भरहुत के समान यहाँ भी इन अर्धचित्रों के विषय जातक कथाओं तथा बुद्ध-जीवन से लिए गए हैं। स्तम्भों पर यक्षों की आकृतियाँ बनी हैं और तोरणों के अन्त में नग्न वृक्षकाओं की आकृतियाँ हैं। स्तम्भों एवं तोरणों की यहाँ आकृतियाँ अत्यन्त प्राकृतिक, गतिमान एवं सजीव हैं।

भारत की प्राचीन स्थापत्य एवं तक्षण कला

साँची की कला के कुछ उदाहरण ग्वालियर राज्य के भेलसा नगर के पास बेसनगर (प्राचीन विदिशा) में मिले हैं। एक तो प्रसिद्ध कल्पद्रुम है जो किसी स्तम्भ का शीर्ष था। इसे सर ए० अलेक्जेंडर कनिंघम ने खोजा था और सन् १८८५ में महाराजा शिन्दे ने इसे कलकत्ता संग्रहालय को भेंट किया था। लम्बे पत्तों और छोटे छोटे फलोंयुक्त वृक्ष गोल नलिकाकार आधार पर स्थित है जिसके नीचे एक चौकोर चौकी है जिसपर चैत्य वृक्ष की एक बाड की आकृति बनी है। दूसरा उदाहरण प्रसिद्ध गरुडध्वज है, जिसका शीर्ष नहीं मिला है। यह हिलियोदोर ने बनवाया था जो भागभद्र नामक शुंग राज की सभा में अन्तलिकित नामक ग्रीक राजा की ओर से राजदूत था। इसी स्थल पर कल्पद्रुम के पास ही वह विशाल स्त्री मूर्ति मिली थी जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यह मूर्ति ६ फुट ७ इन्च ऊँची है। मुख अस्पष्ट है और हाथ टूट गए हैं। वेदिका की स्त्रियों की तरह इसके सिर पर भी कनक-खचित पट्टियों का अलंकरण है। गले में अनेक हार तथा मालाएँ हैं। नीचे दो साडियाँ पहिने हैं जिनमें से एक नीची टखनों तक गई है और एक घुटनों तक। मौर्य ओप का पता नहीं है। यह आज ग्वालियर महाराजा की भेंट के रूप में कलकत्ता संग्रहालय में है।

अब उडीसा की कुछ प्रस्तर गुहाओं पर भी विचार कर लेना उचित होगा जो सभी जैन विहार हैं। उदयगिरि (उडीसा) एवं खण्डगिरि में इस प्रकार की गुहाएं हैं। खरवेल (लगभग ई० पू० १००) के प्रसिद्ध अभिलेखयुक्त हाथी गुम्फा में एक प्राकृतिक गुहा है। सबसे अधिक अलंकृत गुहाएँ अनन्त, रानी, तथा गणेश गुम्फा हैं जो इसी समय के आसपास बनीं। अनन्त गुहा का प्रधान अर्धचित्र हाथियों युक्त खड़ी स्त्री मूर्ति है। गणेश एवं रानी गुम्फा दो मंजिली हैं। रानी गुम्फा सबसे बड़ी और सबसे अधिक अलंकृत है। इसके अर्धचित्रों में जैन कथाओं का अंकन है परन्तु अब तक सन्तोषजनक रूप में उनका अभिप्राय नहीं जाना जा सका है। उड़ीसा के और दक्षिण में आन्ध्रों के अपने प्रदेश कृष्णा-गोदावरी के मुहा पर अमरावती में ई० पू० दूसरी शताब्दी में एक स्तूप था। इसके अंश बहुतायत से पाए जाते हैं। उनके अर्धचित्र उथले हैं और इस प्रकार पिछले अर्धचित्रों से उनकी पृथकता पहचानी जा सकती है। अमरावती से ३० मील दूर जग्गयपेत पर एक प्राचीन स्तूप था। इस स्थल से अनेक प्राचीन महत्त्वपूर्ण अर्धचित्र मिले हैं जिनमें भरहुत शैली के कुछ घण्टाकृति खम्भे तथा सपक्ष पशु मुख्य हैं।

मथुरा शैली (कुषाणकाल) —जिस प्रकार शुंगकाल में साँची और भरहुत कला के केन्द्र थे उसी प्रकार कुषाण काल में मथुरा भारतीय कला का महान केन्द्र बन गया। मथुरा में कुषाणों के पूर्व शक-क्षत्रप काल का संवत् ७२ (सम्भवतः ई० सन् १५) का सिंह स्तम्भ है और अशोक पूर्व के मौर्यकाल की परखम में प्राप्त प्रतिमा है। कुषाणकालीन मथुरा की मूर्तिकला में एक नवीन दिशा दिखाई देती है जिसमें कि बुद्ध-विग्रह का अंकन अधिक उल्लेखनीय है। प्रारंभिक कुषाणकाल की बुद्ध और बोधिसत्त्व की मूर्तियों की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं: मूर्तियाँ या तो चारों ओर कुरेदकर अथवा बहुत गहरी कुरेदकर बनाई गई हैं, वे रूपवास के लाल रेतीले पत्थर की बनी हैं, सिर घुटा हुआ दिखाया जाता है और उसपर घुंघराले बाल नहीं बनाए जाते। जहाँ भी उष्णीष होता है प्रलम्ब होता है, भौहों के बीच ऊर्णा तथा मूछें नहीं होतीं, दायाँ हाथ अभः मुद्रा में उठा रहता है और बायें हाथ की मुट्ठी बँधी रहती है जो बैठी मूर्तियों में जाँघ पर रखा रहता है। यद्यपि मूर्ति पूर्णत पुरुष होती है फिर भी छाती कुछ असाधारण रूप में उभरी हुई होती है, कन्धे खुले हुए रहते हैं, आसन पर कमल नहीं होता वरन् वह सिंहासन के रूप में छोटे छोटे पारिषदों रहित होती है। खड़ी मूर्ति की दशा में सिंह पैरों के बीच में रहता है, गुप्त-कालीन बुद्ध मूर्तियों के समान मुख पर शान्ति एवं सौम्यता के भाव के स्थान में पौरुष एवं शील का भाव होता है और प्रभामण्डल सादा होता है या किनारों पर हल्की खुदाई का काम होता है। यह विशेषताएँ कुषाणकाल के प्रारम्भ की जिन-मूर्तियों में भी पाई जाती ह। बोगल के मतानुसार मथुरा-कला गंधार के किसी ज्ञात प्रकार से मेल नहीं खाती।] निश्चय ही यह विशुद्ध भारतीय कलाशैली है जिसका पूर्व कुषाणकालीन यक्षों से विकास हुआ है। यह खड़ी मूर्तियों के विषय में तो पूर्णतः सत्य है। बुद्ध और बोधिसत्त्व की खड़ी मूर्तियाँ सारनाथ के संग्रहालय में भी हैं। भारत के अन्य भागों में भी इस काल की मूर्तियाँ प्राप्त होती हैं। उदाहरण के लिए सारनाथ संग्रहालय में कनिष्क के राज्य के तीसरे वर्ष (लगभग ई० सन् ८१) में भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्त्व की विशाल प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है जिसका छत्र अत्यधिक अलंकृत है,

पैरों के बीच में सिंह हैं और मूर्ति अत्यन्त भव्य तथा शक्तिपूर्ण है। ऐसी ही एक प्रतिमा जेतबन में भिक्षु बल द्वारा निर्मित बोधिसत्त्व की प्रतिमा इण्डियन म्यूजियम में है। कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में निर्मित एक सुन्दर बुद्ध-प्रतिमा जिसका सिर एवं एक हाथ टूट गया है, अभी हाल में कोसम में मिली है और अब इलाहाबाद संग्रहालय में है।

भले ही प्रारंभिक कुषाण प्रतिमाएँ गंधार-कला का प्रभाव प्रदर्शित नहीं करती हों परन्तु पिछली कुषाण मूर्तियों पर गंधार प्रभाव स्पष्ट लक्षित है जिनमें नुकीला मुकुट एवं बुद्ध जीवन के अनेक दृश्यों का अंकन मिलता है। मथुरा में कोई पूर्ण वेदिका प्राप्त नहीं हुई है परन्तु अनेक स्थलों पर अनेक बौद्ध एवं जैन वेदिकाओं के अंश प्राप्त हुए हैं। इनमें से प्रधान जमालपुर एवं कचहरी के टीले से निकले हुए अंश हैं, उनको कलकत्ता, लखनऊ और मथुरा के संग्रहालयों में बाँट दिया गया है, जहाँ खुदे हुए इन अर्धचित्रों में बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा अनेक भावभंगियों में स्त्रियों की मूर्तियाँ हैं। स्त्री मूर्तियों की विशेषता उनकी नग्नता एवं वृक्ष का सामीप्य है जो साँची एवं भरहुत की यक्षियाँ एवं वृक्षकाओं की परम्परा में ज्ञात होती हैं। हिन्दू अनुश्रुति में वृक्षकाएँ सन्तति-विस्तार के लिए शुभ लक्षण मानी जाती थीं। मालविकाग्निमित्र नाटक में सन्तति प्राप्ति के लिए विदिशा की महारानी को अशोक वृक्ष का पूजन करते हुए बतलाया गया है। अनेक वृक्ष आज भी सन्ततिदाता माने जाकर पूजे जाते हैं। अतएव यह नग्न मूर्तियाँ नृत्तिकाएँ नहीं मानी जानी चाहिए जैसाकि अनेक विद्वानों ने लिखा है। कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों में दो मधुपान-उत्सवों के अंकन हैं। पालीखेरा नामक ग्राम में मिले मूर्तिखण्ड में बड़े पेट का यक्षों का राजा धनपति कुबेर कैलाश पर बैठा हुआ मधुपात्र से आसव पीता हुआ बनाया गया है। उसकी पत्नी उसके दाहिनी ओर खड़ी है। कुबेर के पीछे एक पारिषद है। इस प्रकार के आसव-पायी कुबेर और उसकी पत्नी कर अंकन मथुरा कला में बहुत मिलता है। सन् १८८८ में माहोली में मिला मधुपान-उत्सव का मूर्तिखण्ड कुछ थोड़े विस्तार के भेदों के अतिरिक्त पालीखेरा–मूर्तिखण्ड के समान ही है। इसमें एक मधु-मत्त स्त्री झुकी हुई दिखाई गई है जिसे एक ओर उसका स्वामी सहारा दिये है दूसरी ओर कोई लड़कीसी है। सेविका अपने बायें हाथ में चषक लिये है। पीछे एक हिजड़ा सेवक खड़ा है। यह सारा दृश्य एक पुष्पयुक्त अशोक वृक्ष के नीचे बना है जिसके शीर्ष पर चषक बना हुआ है, जो आनन्द एवं उल्लास से भरे हुए जीवन-चषक का प्रतीक है। मथुरा के कलाकार ने अनेक एवं विभिन्न विषयों को उत्कीर्ण किया और उसका विस्तार पूर्व-मौर्य-काल से गुप्त काल तक है, यद्यपि उसका पूर्ण विकास काल कुषाणों के समय में था। मथुरा के कर्जन म्यूजियम में हमें प्रत्येक प्रकार की प्राचीन वस्तुएँ मिलती हैं जिनमें खड़े एवं बैठे बोधिसत्त्वों, नागी-नागों, यक्ष-यक्षियों कुबेरों, मधुपायी मूर्तिखण्डों, राजाओं की मूर्तियों, ब्राह्मण-धर्मी देवी-देवताओं की मूर्तियों से लेकर स्तम्भ एवं स्तम्भ-शीर्ष तक हैं।

गांधार कला—वह कला शैली जो ईसा के पूर्व लगभग दूसरी शताब्दी में उत्तर-पश्चिम भारत में प्रकट हुई गंधार शैली कहलाती है। प्राचीनकाल में गंधार पेशावर जिला और उसके आसपास के कुछ प्रदेश को कहते थे। उसके दो प्रधान नगर पुरुषपुर (वर्तमान पेशावर) तथा पुष्कलावती (वर्तमान चारसद्दा) थे और साथ ही वर्तमान हजारा तथा रावलपिण्डी एवं टैक्सिला (प्राचीन तक्षशिला) भी इस प्रान्त में कभी कभी सम्मिलित माने जाते थे और इस कला-शैली के प्रभाव-क्षेत्र में थे। गंधार के उत्कीर्णक एक नीले प्रकार का प्रस्तर जिसे 'चिश्त' कहते हैं उपयोग में लाते थे; साथ ही मट्टी तथा चूना (Stucco) का भी प्रयोग करते थे। पत्थर पेशावर जिले के उत्तर में स्थित स्वात तथा बुनेर की खदानों से लाया जाता था। चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में गांधार उसके राज्य में सम्मिलित था और तक्षशिला उसकी प्रान्तीय राजधानी थी। ईसा के लगभग दो शताब्दी पूर्व बाख्त्री के ग्रीक राजाओं ने उसे जीत लिया। तक्षशिला में प्राप्त ताँबे और चाँदी की मुद्राओं से तीस ग्रीक राजाओं के नाम ज्ञात हुए हैं। यह मुद्राएँ बनावट एवं प्रकार में पूर्णतः ग्रीक हैं। ईसा के पूर्व पहिली शताब्दी से ईसा के पश्चात् पहिली शताब्दी के बीच तक्षशिला ग्रीकों से छीनी जाकर शकों के अधिकार में रही, जो मध्य एशिया की अनिकेत जाति थी। इस वंश के प्रथम राजा मेयुस तथा उसके उत्तराधिकारियों ने ग्रीक शैली के सिक्के तो प्रचलित किए परन्तु उनमें भारतीय सांस्कृतिक प्रभाव भी सम्मिलित कर दिया। भारतीय देवी लक्ष्मी एजिलिस की मुद्राओं पर उसी रूप में मिलती है जिस रूप में वह भरहुत में मिलती है। सिथोपार्थियन राजा गण्डोफेरिस की मुद्राओं पर शिव एवं नन्दी विराजमान हैं। सिथोपार्थियनों के पश्चात् गंधार पर कुषाणों का राज्य हुआ। इन्होंने भारतीय संस्कृति

को और अधिक अपनाया। इस वंश के तीसरे राजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया और वह उसका प्रबल प्रचारक बन गया। शक और कुषाण ईरानियों, ग्रीकों, रोमनों और भारतीयों के सांस्कृतिक ऋणी थे। कनिष्क एवं हुविष्क की मुद्राओं पर केवल बुद्ध की मूर्ति ही नहीं है वरन् जोरोस्ट्रियन, हिन्दू एवं ग्रीक देवताओं की भी मूर्तियाँ हैं। कुषाणों का गांधार पर ईसवी पूर्व प्रथम शताब्दी से ईसवी पाँचवीं शताब्दी तक राज्य रहा जबकि उत्तर भारत पर हूण लोग हल्ले बोल रहे थे।

जैसाकि उसके इतिहास से विदित है, भारत की उत्तर-पश्चिम सीमा पर स्थित गांधार प्रान्त स्वाभाविक रूप में भारतीय, ग्रीक एवं पारसीक सभ्यताओं का मिलन-स्थल बन गया और परिणामतः एक मिश्र संस्कृति का सूत्रपात हुआ जिसने समाहृत कला-शैली को जन्म दिया। इस कला के विषय एवं अभिप्राय भारतीय हैं परन्तु निर्माण-शैली विदेशी है। गांधार की बौद्ध मूर्तियाँ शैली में भारतीय मूर्तिविज्ञान का अनुसरण करती हैं, और गांधार के कलाकारों का मुख्य आधार बुद्ध की जीवन कथा है। जैसाकि ऊपर लिखा जा चुका है भारत में उसके पूर्व बुद्ध भगवान् की मानवाकृति न बनाई जाकर उनका अंकन प्रतीकों द्वारा किया जाता था। गंधार में बुद्ध-विग्रह के अंकन का सर्व प्रथम दर्शन होता है। यहाँ पर बुद्ध मूर्ति का जो विकास हुआ उसका अनुसरण अफगानिस्तान, मध्य एशिया, चीन, जावा तथा एशिया के अन्य द्वीपों में किया गया। गांधार में बुद्ध के साथ साथ कुछ बोधिसत्त्वों की, मूर्तियाँ बनीं। जिनमें अवलोकितेश्वर, मंजुश्री तथा मैत्रेय प्रधान हैं, यह मूर्तियाँ बैठीं तथा खड़ी दोनों प्रकार की मिलती हैं। बैठी हुई मूर्तियाँ भारतीय योगी की ध्यान-मुद्रा युक्त हैं। यह पूर्णतः भारतीय कल्पना है। योगमुद्रा भारत के बाहर अज्ञात है। खड़ी मूर्तियों का समान रूप साँची एवं भरहुत के यक्षों में प्राप्त है। उष्णीष बुद्धगया में उस समय प्रचलित था तथा कमलासन भारत में स्थिर सुख की प्रतीक है और साँची में प्राप्त है। उन पर प्राप्त मुद्राएँ, विशेषतः अभय तथा ध्यान मुद्राएँ भारतीय हैं। उनकी निर्माण-शैली अवश्य ग्रीक है। गंधार में ग्रीक अपोलो को भारतीय बुद्ध का रूप नहीं दिया गया वरन् बुद्ध को अपोलो के साँचे में ढाला गया है। भले ही गंधार के कलाकार ने किसी भारतीय मूर्ति का अनुकरण न किया हो, परन्तु उसकी कृतियाँ भारतीय अनुश्रुति एवं शास्त्र पर आधारित अवश्य हैं।

भरहुत एवं साँची के समान गांधार-मूर्तियों में जातकों की तथा बुद्ध की जीवन-कथाएँ भी अंकित की गई हैं। अब तक श्यामजातक, छान्दजातक, दीपकजातक, वेसन्तरजातक, सिविजातक, ऋष्यश्रृंगजातक की कथाएँ पहचानी जा सकी हैं। दीपंकरजातक संस्कृत के दिव्यावदान की कथा के अनुसार है नकि पाली ग्रंथों के आधार पर। गौतम शाक्य मुनि के जीवन से परिनिर्वाण तक की कथाओं के अर्धचित्र गांधार मूर्तियों की विशेषता हैं। माया देवी का स्वप्न, उनका कपिलवस्तु से प्रस्थान, गौतम शाक्यमुनि का जन्म, सप्तपदी, प्रथम-स्नान कपिलवस्तु को प्रत्यागमन, असित की भविष्यवाणी, पाठशाला में बोधिसूत्र, बुद्ध-विवाह, राजमहल का दृश्य, महाभिनिष्क्रमण तथा बिदा, बिन्दुसार का मिलन, कुटीवासी से वस्त्रग्रहण, तपस्या, कालिक नागद्वारा पूजा, घास का गट्ठा प्राप्त करना, संबोधि-प्राप्ति, मार-विजय, क्षीर-पान, देवताओं का धर्म-प्रचार का आग्रह, प्रधान व्याख्यान, कपिलवस्तु को प्रत्यागमन तथा राहुल की दीक्षा, नन्द तथा सुन्दरी की कथा, देवदत्त के आदमियों द्वारा बुद्ध पर आक्रमण, नीलगिरि हाथी को वश में करना—ज्योतिष्क का अवतरण, आनन्द को सांत्वना, शक्र का आना आदि ऐसे दृश्य हैं, जिनके अध्ययन से पूर्ण बुद्ध-जीवन अवगत हो सकता है। इन दृश्यों में प्रदर्शित कला अनेक श्रेणियों की है। मेरे मत में इनमें सर्वोत्तम बुद्ध-जन्म का दृश्य है। इसकी एक प्रति कृति लुम्बिनी के मन्दिर में भी है, परन्तु वह बहुत घटिया है। गंधार के मूर्तिखण्ड में मायारानी शालवृक्ष के नीचे उसकी एक शाखा को पकडे खड़ी हैं। उसके पास उसकी बहिन महाप्रजापति है, उसके पास एक स्त्री शंख बजा रही है। दैवी बालक माया की कुक्ष से जन्म ले रहा है और शक्र एक वस्त्र फैलाकर उसे अपने हाथों में ले रहा है। नीचे बालक बुद्ध अभय मुद्रा में दायाँ हाथ उठाए खड़े हैं। महाप्रजापति के बाल ग्रीक शैली में बँधे हैं।

गांधार शैली इस देश के कला के इतिहास में एक प्रमुख एवं विशेष प्रकार को अवतीर्ण करती है। इसमें बहुत कुछ विदेशी विशेषतः ग्रीक-रोमन प्रभाव परिभासित है, परन्तु आगे यह कला भारतीय हो गई और गुप्तकाल में भारतीय कलाकारों द्वारा पूर्णतः आत्मसात् कर ली गई।



आसवपायी, कुबेर (पृष्ठ ८०५)

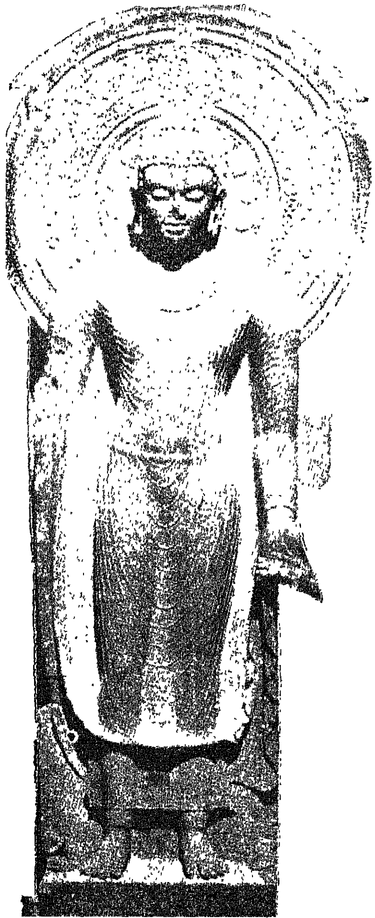


वृक्षका, साँची (पृष्ठ ८०३)

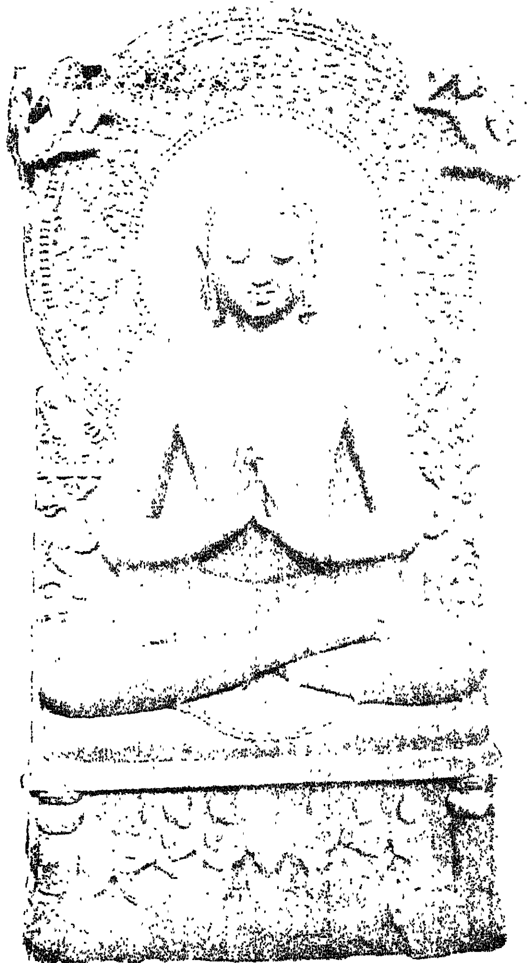


बुद्धजन्म (पृष्ठ ८०६)

बुद्ध, मथुरा (पृष्ठ ८०७)



बुद्ध, सारनाथ (पृष्ठ ८०७)

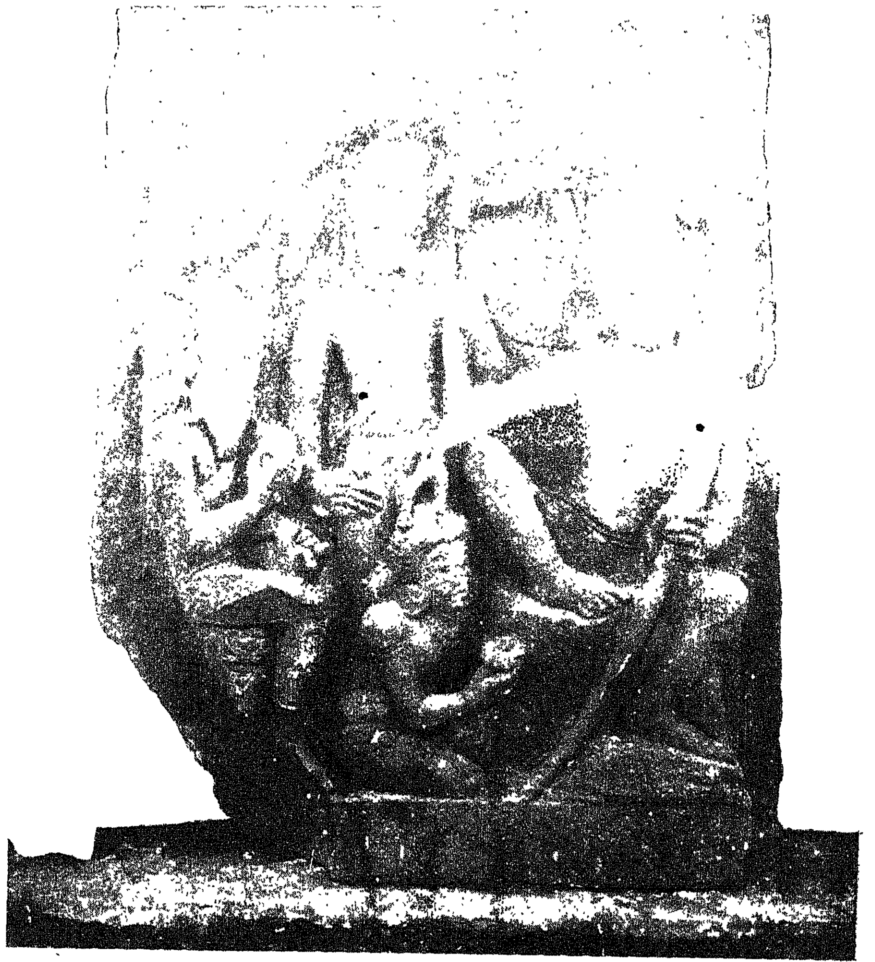


बुद्ध, सुल्तानगंज (पृष्ठ ८०७)



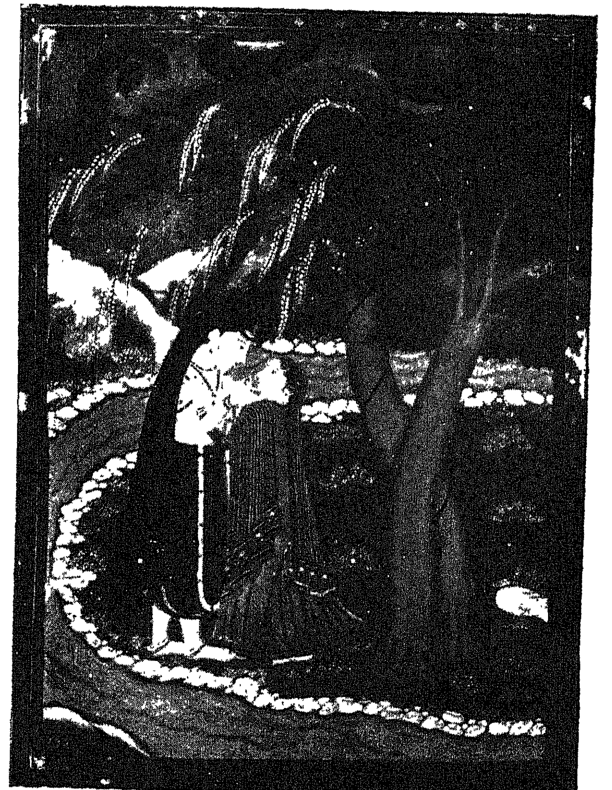


कलाओं (काव्य, संगीत और चित्रकला) का समन्वय (पृष्ठ ८४५)



अहिल्या उद्धार, देवगढ़ (पृष्ठ ८०८)

तमालवृक्ष के नीचे राधाकृष्ण-मिलन (पृष्ठ ८४७)



रागिनी चित्र (पृष्ठ ८४६)



श्री नगेन्द्रनाथ घोष

गुप्तकाल—गुप्तकालीन कला की विशेषता उसकी अभिजात श्रेष्ठता है। कुषाण-काल में मूर्तिकला एक नवीन कल्पना थी अतएव यह प्राकृतिक है कि उस समय की मूर्तियों में भद्दापन तथा अनुपातता की न्यूनता है। गुप्तकाल में मूर्ति को स्थापत्य में स्थान मिला, सौष्ठव तथा सौन्दर्य प्राप्त हुआ, निर्माण-कौशल पूर्णता को पहुँचा और मूर्तिकला भावनाओं की अभिव्यंजना का सुकुमार साधन बनी। परिभाषाओं के नवीन सौन्दर्य के साथ वह भारतीय कला की अभिजात शैली की स्थापना करती है जो दृढ़ तथा शक्तिपूर्ण है और है आध्यात्मिक एवं ऐन्द्रिय। गुप्तकालीन भव्य अलंकारों को समझने के लिए उस दाय पर की दृष्टि डालनी होगी जो उसे देशज, प्राचीन एशियायी, पारसीक एवं ग्रीक कलाओं से प्राप्त हुआ। निर्माण शैली में उसका सीधा सम्बन्ध मथुरा की कुषाण शैली से ही, परन्तु साथ ही उसमें गांधार शैली सहित पिछली सब शैलियों की श्रेष्ठतम विशेषताएँ आत्मसात् हुई हैं। गुप्तकालीन मूर्तियाँ यद्यपि कम आडंबरपूर्ण हैं, फिर भी उनकी विशालता एवं शक्ति विशेष रूप से प्रत्यक्ष है। यह शक्ति एवं पौरुष आन्तरिक है और चलित की अपेक्षा स्थिर है। गुप्तकालीन बुद्ध एवं बोधिसत्व मूर्तियाँ सांसारिक की अपेक्षा आध्यात्मिक हैं, उनके नेत्र शान्त एवं भक्तिभाव पूर्ण हैं, और मुख पर गांधार कला की अपेक्षा बहुत अधिक आध्यात्मिक शान्ति का भाव प्रदर्शित हैं। गुप्तकालीन बुद्ध प्रतिमा का प्राचीनतम उदाहरण मानकुंवर में प्राप्त मूर्ति है। इसका मस्तक कुषाण-शैली के अनुसार घुटा हुआ है, परन्तु गुप्तकालीन विशेषता अर्थात् झिल्लीदार उँगलियाँ स्पष्ट दिखाई देती हैं। इसके अतिरिक्त गुप्तकालीन बुद्ध-प्रतिमाओं की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं:—मुख पर गम्भीर आध्यात्मिक भाव, घुंघराले बाल, ऊर्णा का अभाव, मुद्राओं की अनेकता, अलंकृत प्रभामण्डल, अत्यन्त पारदर्शी एक या दोनों कंधों को ढके हुए वस्त्र, कमल या सिंह युक्त आसन एव बहुधा दाताओं की छोटी |छोटी मूर्तियाँ। यह विशेषताएं मथुरा संग्रहालय की खड़ी हुई बुद्ध-मूर्ति में, सारनाथ की बैठी बुद्ध प्रतिमा में, सुल्तानगंज की ताँबे की बुद्ध-मूर्ति में और अजण्टा की गुहा नं० १९ बुद्ध के अर्धचित्रों में स्पष्ट दिखाई देती हैं। कसिया की परिनिर्वाण की लेटी हुई मूर्ति की गुप्तकाल की विशेष मूर्ति है जिसमें पाँचवीं शताब्दी का अभिलेख है, और भिक्षु हरिबल का दाता के रूप में तथा मथुरा के दिन्न का मूर्ति के उत्कीर्णक के रूप में उल्लेख है। अन्य बौद्ध मूर्तियों में सारनाथ का जातककथा युक्त द्वार-प्रस्तर, कन्हेरी के द्वार-पुरोभाग के अर्धचित्र आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

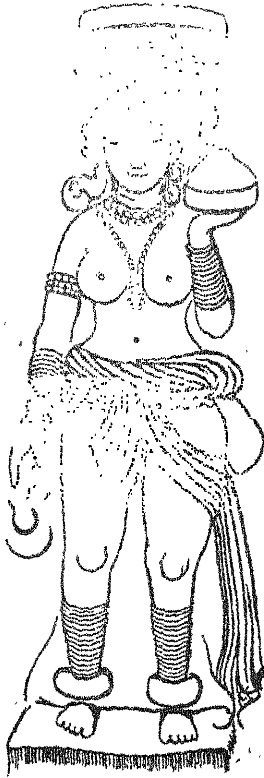
गुप्तकालीन ब्राह्मण धर्मी मूर्तियों में उदयगिरि (ग्वालियर) की वराह मूर्ति, देवगढ़ की पौराणिक गाथाओं युक्त मूर्तियाँ, कोसम की उमामहेश्वरमूर्ति समूह जिस पर ई० सन् ४५८।५९ की तिथि पड़ी है, सौंदनी (ग्वालियर) की आकाशचारी गंधर्वयुग्म की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।

गुप्तकालीन स्थापत्य को इन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) स्तूप (२) शिलाओं में खुदे चैत्यमण्डप और विहार (३) ईंट चूने के बने चैत्य-मण्डप (४) बिना शिखर के मन्दिर (५) शिखरयुक्त मन्दिर तथा (६) राजमहल तथा नागरिकों के निवास गृह।

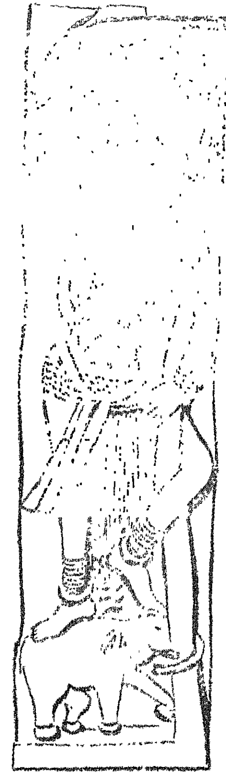
गुप्तकाल के स्तूपों में सारनाथ का धमेक स्तूप बहुत प्रसिद्ध है। यह आज भी सुरक्षित दशा में है। इसमें पत्थर का अण्डाकार गोला है जो भूमि पर ही बना हुआ है और नीचे चौकी नहीं है। इस अण्ड के ऊपर ईटों का गोलनलिकाकार निर्माण है। ऊंचाई १२८ फुट है। चारों ओर चार प्रतिमास्थान बने हुए हैं जिनमें कभी बुद्ध मूर्तियाँ होंगी। इनके बीच अजण्टा की छतों के समान पुष्पों एवं ज्यामितिक आकारों के अलंकार हैं। दूसरा स्तूप राजगिरि में जरासन्ध की बैठक का, दूसरा मीनार की बनावट का है जिसका निर्माण काल ५०० ईसवी सन् के लगभग है। गुप्तकाल की गुहाएँ अनेक हैं। अजण्टा की गुहा नं० १६ तथा १७ लगभग ५०० ईसवी के विहार हैं, गुहा नं० १९ चैत्य मण्डप है और लगभग ५५० ईसवी की है। विहार नं० १६ एवं १७ स्तम्भोंयुक्त सभामण्डप हैं जिनमें कोठरियाँ बनी हैं और पीछे की भीत में प्रलम्बपद आसन में (यूरोपीय ढंग में) बैठे बुद्ध की मूर्ति है। यह आसन सर्व प्रथम यहीं दिखाई देती है। इन विहारों का सौन्दर्य एवं उनके निर्माण की विविधता दर्शनीय है, जहाँ कोई भी दो स्तम्भ एक प्रकार के नहीं हैं। नं० १९ का चैत्यमण्डप प्राचीन रूप का अनुसरण करता है, परन्तु पुरोभाग में बहुत अन्तर है और महायान-सम्प्रदाय की बहुतसी मूर्तियाँ भी बन गई हैं। पुरोभाग नाशिक के उन्नत प्रकार का है। इलेरा के विश्वकर्मा चैत्य-मण्डप का भीतरी भाग अजण्टा की गुहा नं० १९ के सभामण्डप

के समान है। उसका पुरोभाग अद्वितीय है जिसकी नीचे की मंजिल में अलिन्द है जिसमें घट और पुष्पों के अभिप्राय बने हैं और ऊपरी मंजिल में एक वातायन है जिसके दोनों ओर बुद्ध-मूर्ति-युक्त प्रतिमा-स्थान है।

गुप्त सम्राट् ब्राह्मण धर्मावलम्बी थे और उनके राज्यकाल में ब्राह्मण धर्म का पुनरुत्थान हुआ। अनेक ब्राह्मण मन्दिरों का निर्माण हुआ जिनमें से आज भी मानव एवं प्रकृति के संहार से कुछ बच सके हैं। तिथि क्रमानसार यह मन्दिर दो वर्गों में विभाजित किये जा सकते हैं—प्रारंभिक गुप्तशैली के एवं पिछली गुप्त शैली के। छोटे, चौरस छत्त के, एक गर्भगृह के, प्राय: सादा भीतों के सकड़े बहुधा स्तम्भों युक्त सभामण्डप से घिरे हुए और बिना किसी प्रकार के शिखर युक्त मन्दिर प्रारंभिक गुप्तकालीन हैं। साँची का सुन्दर मन्दिर इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। यहाँ अलिन्द के स्तम्भ एक विशिष्ट विकास के द्योतक हैं। उनके शीर्ष भारी और चौकोर हैं और उसकी दीवार गर्भगृह के चारों ओर गई है। उत्तर भारतीय शिखर का विकास पिछले गुप्तकाल में हुआ है। गंगा की घाटी के प्रदेश में गर्भगृह और शिखर एक पृथक् मीनारसी बनाते हैं और वहीं मन्दिर का मुख्य भाग होता है, इसके सामने सभामण्डप हो या न हो। भीतरगाँव का ईंटों का मन्दिर इसका विशेष उदाहरण है। उसका आकार चौकोर है जिसके दुहरे अवकाशयुक्त कोने हैं, दुहरी कोर्निस है और झुकी हुई ईंटों की दुहरी पट्टी है। दोहरी कोर्निस के ऊपर कोणाकार छत है जिसमें चैत्याकार प्रतिमाधार से बने हुए हैं। ब्राह्मण धर्म की मृण्मूर्त्तियों से भित्तियाँ सजीं हुई हैं। इस प्रकार के कुछ अधिक विकसित मन्दिर बंगाल में बाँकुरा के पास चिनपुर, मानभूमि आदि स्थलों पर मिलते हैं। ललितपुर के पास देवगढ़ का दशावतार-मन्दिर जो लगभग सन् ६०० ईसवी का बना हुआ है पत्थर का है। उसकी भीतें सादा हैं, केवल तीन बगलों में मूर्तियों के समूह खुदे हुए हैं जिनमें गजेन्द्रमोक्ष, शेषशायी विष्णु एवं साधुओं के दृश्य अंकित हैं। चौकी और द्वार पर गंगा-यमुना बनी हैं। कुर्सी में रामायण की कथा अंकित करनेवाले अत्यन्त सजीव चित्र बने हुए थे।









आयुर्वेद का इतिहास

श्री प्रतापसिंह कविराज, प्राणाचार्य, रसायनाचार्य, वैद्यरत्न

यज्ञ पुरुष से प्रकट होनेवाले चतुर्वेदों से आयुर्वेद पाँचवाँ उपवेद बना। आयुर्वेद चारों वेदों का उपवेद है ऐसा महर्षि काश्यप का मत है—**एवमेवायमृग्वेद यजुर्वेद सामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेदः॥ (काश्यप संहिता विमानस्थान १)**

महर्षि चरक व सुश्रुत ने अथर्ववेद का उपवेद बताया है यथा—
तत्रभिषजा पृष्टेनैवऋक् सामयजुरथर्ववेदानामात्मनोऽथर्ववेदेभक्तिरादेश्या। (चरक सूत्र स्था० अ० ३०)
इहखल्वायुर्वेदाष्टांगमुपांगमथर्ववेदस्य (सुश्रुत)

वैदिक साहित्य को अनुशीलन करने से भी अथर्ववेद ही अधिकतर आयुर्वैदिक साहित्य का उद्गम प्रतीत होता है। ऋग्वेद में इससे कुछ न्यून विवरण प्राप्त होते हैं—जिससे वेद व आयुर्वेद का घनिष्ट सम्बन्ध (उत्पादक व उत्पाद्य सम्बन्ध प्रतीत होता है। यज्ञ पुरुष ने प्रजा उत्पादन करने से पूर्व ही इसकी उत्पत्ति कर दी थी—

अनुत्पाद्यैवप्रजा आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्॥ सुश्रुत सू० अ० १॥

महर्षि काश्यप ने भी स्पष्ट कहा है यथा:—

आयुर्वेदमेवाग्रेऽसृजत्ततो विश्वानिभूतानि (काश्यप सं० पृ० ४२)

इससे इस विज्ञान की कितनी आवश्यकता थी स्पष्ट पता चलता है। प्राणिसृष्टि से पूर्व आयुर्वेद की उत्पत्ति पर जिन्हें सन्देह हो उन्हें आधुनिक क्रम से सृष्टि उत्पादन के इतिहास को जानने के बाद कोई स्थान सन्देह का नहीं रह सकता। डार्विन का सिद्धान्त इसका पोषक है। विकासवाद का इतिहास प्राणिसृष्टि होने से पूर्व वृक्ष तथा पौधों की उत्पत्ति का ज्ञान कराता है। ऋग्वेद का भी यही मत है—**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे**..........................पुनः **ऋतं च सत्यं चाभिद्धात्तपसो**..........................॥

आयुर्वेद का औषधभण्डार वनस्पतियों के ऊपर निर्भर करता है। ये जड़ी-बूटियाँ पहिले उत्पन्न हुई थीं। जैसे जैसे सृष्टि में प्राणियों की उत्पत्ति के पश्चात् वृद्धि हुई उनकी आवश्यकताओं ने चिकित्सा के इस गुप्त भण्डार को उनके ऊपर न्यौछावर कर दिया। वनस्पति का समय समय पर प्रयोग हुआ। सामूहिक रूप में चिकित्सा तत्व एकत्र होता गया। मन्त्रदृष्टा ऋषियों ने इस विज्ञान की संज्ञा "चिकित्सा विज्ञान" के नाम से की।

यह विज्ञान वेदों में इस प्रकार समृद्ध पाया गया कि यह जीवन मरण के प्रश्न को हल करनेवाला था। आयु के हिताहित सुख दुःख सम्बन्ध इत्यादि के विज्ञान को सबके सामने रखकर प्राणित्राण का हेतु बना अतः इस विज्ञान की समष्टि

की संज्ञा "आयुर्वेद" हुई। महर्षि आत्रेय ने जैसे--

हिताहितं सुखं दुःखमायुस्तस्य हिताहितम्।
मानंच तच्चयत्रोक्तमायुर्वेदः स उच्यते ॥ चरक सू० अ० १ ॥

आयुर्वेद की निरुक्ति में यही सर्वप्रथम कहा है और इसका प्रयोजन भी स्वस्थ की स्वास्थ्यरक्षा करना व आतुर के रोग को प्रशम करना ही सर्वत्र बतलाया गया है। यथा :--

इह खल्वायुर्वेदप्रयोजनम्................आतुरस्यविकारप्रशमनेऽप्रमादः ॥ सुश्रुत ॥

यह आयुर्वेद अष्टांगपूर्ण वेदों से प्राप्त हुआ था और आज भी इनमें जो मौलिक साहित्य प्राप्त है वह वर्तमान लब्ध आयुर्वेद के साहित्यिक विवरण से कहीं उत्तम है।

वेद में आयुर्वेद का साहित्य इतना प्रौढ़ और प्राञ्जल है कि इस विषय में सन्देह करना सूर्य को दीपक दिखाना है। यदि वैदिकायुर्वेद के साहित्य को एकत्र किया जाय तो यह एक ऐसा प्रकाण्ड ग्रंथ ग्रंथन हो जायगा जो वर्तमान चरक सुश्रुत से भी बृहत्तर होगा।

वेदों में भिषक् सम्पत्--आयुर्वेद चिकित्सा क्षेत्र में प्रवेश करके अष्टांग आयुर्वेद का विवेचन करने से पूर्व "चतुष्पाद षोडशकल" सामग्री को देखना आवश्यक है। चतुष्पाद् संयत् की प्राप्ति वेदों में हो तो इससे चिकित्सा का विवरण भी हो सकेगा। यह समझा जा सकता है। यदि नहीं तो फिर थोड़ेसे उद्धरण आयुर्वेद के उद्‌गम के क्षेत्र नहीं माने जा सकते।

भिषग्द्रव्याण्युपस्थातारोगी पादचतुष्टयम् ॥

भिषक्, द्रव्य, परिचारक और रोगी ये चार चिकित्सा के पाद कहे गए हैं। इनमें प्रधान भिषक् होता है, यथा :-- **"प्रधानंभिषगत्रतु"** भिषक् का प्रधान व श्रेष्ठ लक्षण है :--

श्रुतेः पर्यवदातत्वं बहुशो दृष्टकर्मता।
शौचं दाक्ष्यमितिज्ञेयं वैद्येगुणचतुष्टयम् ॥

इस प्रकार उत्कृष्ट भिषक् के जो भी लक्षण हैं वे यदि श्रुतिकाल के वैद्यों में मिलें तो भिषक् उत्कृष्ट श्रेणी के थे, ऐसा मानने में कोई सन्देह न रह जायगा।

अग्निस्तक्मानमप, बाधतामितः, सोमोग्रावावरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना, अयद्वेषास्यमुपाभवन्तु ॥ अथर्व० का० ५ सू० २२।१ ॥

अर्थ--ज्ञानवान् तत्व मंथन करनेवाला सूक्ष्मदर्शी वरणयोग्य, पवित्र मनवाला जलते हुए ईंधन की तरह प्रकाशवान् (वेदिः) विद्वान् वैद्य यहाँ से जीवन को दुःखी बनानेवाले ज्वर को तू निकाल दे जिससे हमारे सब अनिष्ट दूर हो जावें।

ऊपर के मंत्र में रोगी वैद्य से अपने रोग के निवारणार्थ विश्वासपूर्वक प्रार्थना करता है। इससे स्पष्ट है कि आतुर में जो गुण चाहिए जैसे--"आढ्यो रोगी भिषग् वश्यः" वे हैं और योग्य वैद्य में भी जो गुण होने चाहिए सब हैं। वैद्य विद्वान है, तत्त्वज्ञ है, पवित्रतायुक्त है, अपने कार्य में प्रसिद्ध होकर ख्यातिप्राप्त है, इत्यादि।

आगे के मंत्र में विद्वान् वैद्य के अन्य बहुश्रुत विज्ञान का वर्णन है जैसे--

एकं शास्त्रमधीयानो न विद्यात् शास्त्रनिश्चितिम्।
तस्माद्बहुश्रुतं शास्त्रं विजानीयाच्चिकित्सकः ॥ सुश्रुत ॥

यही नहीं वैदिक काल में श्रेष्ठ वैद्य--वैद्यराट् भी मौजूद थे। जिनके आधीन बहुत से भिषक् रहा करते थे जिनके पास बृहत्

वनौषधि भण्डार था, यथा—

अधीतीरध्यगादयमधि, जीवपुरा अगन्। शतंह्यस्य भिषजः सहस्रमुतवीरुधः ॥ अथर्व० २।९ (३)

अर्थ—अयम् इस वैद्य ने (अधीतीः) अध्ययनयोग्य शास्त्रों को (अध्यगात्) अध्ययन किया है और (जीवपुराः) प्राणियों के जीवन सम्बन्धी क्षेत्रों (The Vital Places of the Body) मर्मों का सम्यक् (अध्यगन्) ज्ञान प्राप्त किया है। (अर्थात् यह प्रकाण्ड शारीरिक ज्ञाता (Anatomist) वैद्य है।) (हि) क्योंकि (अस्य) इसके (वैद्यराज के) आधीन (शतम्भिषजः) सैकड़ों वैद्य और (उतसहस्रम्वीरुधः) हजारों औषधियाँ हैं ॥३॥

वैदिककाल के चिकित्सक प्राकृतिक चिकित्सा को विशेष महत्त्व देते थे। सूर्य, वायु, अग्नि, जल, चन्द्र इत्यादि के द्वारा चिकित्सा निपुणतापूर्वक करते थे इसके पर्याप्त उद्धरण प्राप्त हैं। अथर्ववेद व ऋग्वेद में इनके द्वारा चिकित्सा के कई मंत्र मिलते हैं जिनका वर्णन आगे होगा। यहाँ पर केवल प्राकृतिक चिकित्सक के लिए क्या क्या सामग्री वैदिककाल में मंत्रद्रष्टा ऋषियों व दिव्य भिषजों द्वारा मिली थी इसका उल्लेख करते हैं।

प्रकृति चिकित्सा (Naturopathy)—**देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उतवीरुधः। चीतिं ते विश्वेदेवा अविदन्भूम्यामधि ॥४॥**

अर्थ—हे वद्य (ते) तेरे लिए (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्मणः) ब्रह्मज्ञानियों (उतबीरुधः) और वनस्पतियों ने (चीतिमविदन्) ज्ञान को प्राप्त कराया है। अर्थात् तुझको ऋषियों के द्वारा बतलाए हुए औषधियों के गुणों का दिव्य ज्ञान प्राप्त है। (विश्वेदेवाः) सब दिव्य पदार्थों ने (अग्नि, वायु, जल, सूर्य, चन्द्रादि) तेरे ही लिए (चीति) चैतन्य को (गुणरूप ज्ञान को) (भूम्यामधि अबदन्) पृथ्वी के ऊपर प्राप्त कराया है (अर्थात् नैसर्गिक गुण रखनेवाली वस्तुओं का भी जो परमेश्वर की देन हैं सूर्य, अग्नि, चन्द्र, वायु, जलादि को यथास्थान ज्ञानपूर्वक प्रयोग करने के लिए ही तुझे ज्ञान शक्ति दी है।

ऊपर के उद्धरण से वैदिक काल के दिव्य भिषजों की गुणसम्यत् का पूर्ण विवरण प्राप्त होता है।

वेदों के काल के भिषग्गण—वैदिक काल के दिव्य भिषक् कई हैं। उनके नाम ब्रह्मा, प्रजापति, रुद्र, अग्नि, वरुण, भास्कर, अश्विनीकुमार, इन्द्र अथर्वा ऋषि का पुत्र तत्सम्प्रदायवादी भिषगाथर्वण वृहछिवे ऋ० अंगिरा के पुत्र व उनके गोत्रीय कई ऋषि यथा आंगिरस दिव्य ऋषि भिक्षु ऋषि, बिहव्य ऋषि, प्रचेताऋषि, ध्रुव ऋषि आंगिरस सवर्त्तऋषि, अभीवर्तऋषि, वरुऋषि, अयास्यऋषि, सप्तगुऋषि इत्यादि जोकि ऋग्वेद के कई मंत्रों के द्रष्टा ऋषि हैं उल्लेख आता है।

इनके अतिरिक्त सप्तर्षियों का भी वर्णन मिलता है जोकि वेद प्रवर्त्तक ऋषि कहलाते हैं यथा—वसिष्ठ, अगस्त्य भृगु, अंगिरा, अत्रि, कश्यप व भारद्वाज। किन्तु भिषक् के अर्थ में उपर्युक्त ब्रह्मादि ऋषि ही प्रधान रूप से वाच्य हैं इनका संक्षिप्ततर विवरण यों है :—

ब्रह्मा—यह दिव्य भिषजों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद के प्रवर्तकों में इनका नाम आदि आचार्य के रूप में परिगृहीत है। इनके नाम से "ब्रह्मसंहिता" का उल्लेख मिलता है मगर ग्रंथ प्राप्त नहीं। ऋग्वेद व अथर्ववेद में ये मानसिक रोगों के प्रबल चिकित्सक के रूप में प्रसिद्ध होते हैं। शारीरिक रोगों में वंशपरम्परागत रोगों व दोषों को दूर करना राग, द्वेष, पाप आदि से बचाने का स्पष्ट उल्लेख अथर्ववेद के कारसूक्त १० में वर्णित है।

प्रजापति—ये भी दिव्य भिषकों में वेदों में सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। आयुर्वेद में ब्रह्मा से सीखकर आयुर्वेद की शिक्षा देने का उल्लेख आचार्य के रूप में प्राप्त है। इनसे रोगनाश दोष व व्याधिनाश, शत्रुनाश, पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए सर्पविषनाश, गर्भाधान मानसिक चिकित्सक छह रूप में प्रार्थना की गई है। वेदों के कई सूक्तों में इनका वर्णन प्राप्त होता है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट ने इन्हें आचार्य के रूप में स्वीकार किया है। सुश्रुत में "प्रजापति संहिता" के नाम से एक ग्रंथ का वर्णन मिलता है जो इनकी बनाई हुई थी। एक लाख श्लोक व एक हजार अध्याय की यह संहिता थी जो अब अप्राप्य है।

रुद्र—दिव्यभिषजों में सर्वाग्रणी माने जाते हैं। कहा है :—

भिषक्तमं त्वां भिषजांशृणोमि ॥ ऋ० २।३३।४ ॥

तथा "प्रथमो दैव्यो भिषक्" कहकर वर्णन किया गया है। यद्यपि इस रुद्ररचित कोई ग्रंथ प्राप्त नहीं होता किन्तु यह आयुर्वेद के रसग्रंथों में आदि आचार्य रसप्रवर्तक माने गए हैं। इनका विशेष वर्णन ऋग्वेद के दूसरे अष्टक के सूक्त ३३ के अन्दर वर्णित है। अर्वाचीन आयुर्वेद साहित्य में रुद्र नाम से ७५ औषधियों का उल्लेख मिलता है।

अग्नि—दिव्यभिषजों में प्रसिद्ध अन्नप्रदाता, औषधि पुष्टिकर्ता, रोगहर्ता स्वास्थ्यदायक के रूप में वेदों के कई सूक्तों में वर्णित है। अग्नि का विशेष वर्णन चतुर्वेदों में प्राप्त होता है। **त्वं भिषक् भेषजस्यासिकर्त्ता, पिशाचजम्भनी"** इत्यादि के रूप में औषधिकर्त्ता व औषधि का प्रदाता कहा है।

वरुण—वरुण को वेदों में "भिषक्तमत्व" के रूप में प्राप्त करते हैं। यह चिकित्सालयाध्यक्ष, भिषजों के स्वामी व श्रेष्ठ भिषक् के रूप में वर्णित हैं। इनके नाम का कोई ग्रंथ आजकल नहीं मिलता।

भास्कर—दिव्यभिषजों में श्रेष्ठ थे। "आरोग्यंभास्करादिच्छेत्" इस प्रकार का वर्णन भास्कर की वैद्यत्वेन ख्याति के लिए प्रसिद्ध ही है। लन्दन के ब्रिटिश म्यूजियम में भारतीय सम्पत्ति के रूप में "भास्करसंहिता" नाम की पुस्तक भारतीय चिकित्सा विज्ञान के ग्रंथों में अंकित है। ऋग्वेद, अथर्ववेद, प्राणोपनिषद्, प्रश्नोपनिषद् में भास्कर का वर्णन मिलता है। इनके नाम से आज भी कई लवणभास्कर आदि औषधियाँ प्रसिद्ध हैं। वेदों के कई सूक्तों के देवता भी हैं।

इन्द्र—दिव्य भिषकों में उत्तम भिषक् समझे जाते हैं। आयुर्वैदिक साहित्य में इन्द्र आचार्य के रूप में पाए जाते हैं। धन्वन्तरि भारद्वाजादि ने इनसे आयुर्वेद सीखकर प्रचार किया था। ऋग्वेद के कई सूक्तों के देवता हैं। इन्द्र से यक्ष्मामुक्ति के लिए यक्ष्मचिकित्सक के रूप में स्पष्ट वर्णन मिलता है। औषधि, धन, बल, स्वास्थ्य लाभ के लिए प्रार्थना की गई है। इन्द्र के नाम से "बलभित् संहिता" नामक ग्रंथ का उल्लेख आचार्य गणनाथसेन सरस्वती ने किया है किन्तु यह उपलब्ध नहीं है।

अश्विद्वय—इनके विषय में तो कुछ पूछना ही नहीं है। यह स्ववैद्य और शल्य शालाक्य के आचार्य के रूप में वेदों में वर्णित हैं, कई सूक्तों के देवता हैं, आयुर्वेद में आचार्य के रूप में वर्णित हैं। इनके नाम से "अश्वसंहिता" नामक पुस्तक हस्तलिखित मद्रास की लाइब्रेरी में प्राप्त है।

आथर्वण वैद्य—ब्रह्मा ने अपने पुत्र अथर्वा को सर्वप्रथम इस विद्या को पढ़ाया था, इस नाम से ही एक सम्प्रदाय चल पड़ा। इनके सम्प्रदाय में भिषगाथर्वण व बृहद्दिव ऋषि का नाम सुप्रसिद्ध है। भिषगाथर्वण अथर्वा के पुत्र व उत्तम वैद्य थे। ये अथर्ववेद के कई मंत्रों के देवता हैं।

ये मंत्र द्वारा चिकित्सा किया करते थे। आत्मबल-प्रेम, ईश्वरभक्ति, बलिमंत्र, उपहार द्वारा चिकित्सा इनके सम्प्रदाय में प्रचलित थी और आज भी साधुओं में झाड़ने फूंकने की जो पद्धति आ रही है इसी सम्प्रदाय की देन है।

अंगिरा—ने चिकित्सा क्षेत्र में पर्याप्त ख्याति प्राप्त की और वेद प्रवक्ता ऋषियों में प्रधान थे। इन्होंने जो चिकित्सा क्रम चलाया वह उत्तम था अतः यह आथर्वण भिषकों से अधिक ख्याति प्राप्त कर गए। इनके सम्प्रदाय में बहुतसे वैद्य वैदिक काल में हुए जिनका नाम ऊपर लिखा है। ये शरीरांगों के पोषक प्रधान रसों के द्वारा होनेवाली क्रियाओं को अच्छी तरह जानते थे। हाथ को शरीर पर फेरकर विश्वास व आत्मबल से अंगों में पुनः जीवनशक्ति लाते थे।

वेदकाल में चार प्रकार की चिकित्साओं में इन दोनों का नाम आता है। यथा :—

आथर्वणी रांगिरसी दैवीर्मनुष्यजा उत। औषधयः प्रजायन्ते यदात्वं प्राणजिन्वसि ॥ अथर्व० ११।४।१६।

अर्थ स्पष्ट है—हे प्राणवायो! जब तक तू प्रेरणा करता है तब तक ही आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी व मनुष्यजा औषधियाँ फल देती हैं।

वैदिक काल में इन चार प्रकार की औषधि विधानों में आथर्वणी व आंगिरसी इनके प्रचारक आथर्वण व आंगिरस सम्प्रदाय के वेदोक्त ऋषि थे। "दैवी चिकित्सा" का वर्णन भी वेदों में है जिनमें वायु, जल, अग्नि, सूर्य इत्यादि द्वारा चिकित्सा का वर्णन है। मनुष्यजा औषधियों में क्वाथ, चूर्ण अवलेह गुटिका इत्यादि वर्णित हैं जो उस काल में प्रसिद्ध थीं।

इस ऊपर के उद्धरण से जो वैद्य आयुर्वेद के आदि आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे और हैं वे सबके सब वेदकालीन दिव्य- भिषक् सिद्ध होते हैं। ऊपर के वैद्यों के उद्धरण से वैदिककालीन दिव्य भिषजों का पता चलता है और तत्कालीन वैद्य अपने कर्म में इतने लब्धख्याति थे कि रोगी उनके पास जाकर रोगनिवारणार्थ प्रार्थना करते थे।

औषधि––प्रशस्त औषधि के गुणों में महर्षि चरक ने जो उल्लेख किया है वह अधोलिखित रूप में है :––

बहुतातत्रयोग्यत्वमनेक विधकल्पना। सम्पच्चेति चतुष्कोऽयं द्रव्याणांगुणउच्यते ॥

इसके अनुसार औषधि द्रव्य का पर्याप्त मात्रा में होना तथा अनेकों प्रकार के योगों की कल्पना करने योग्य होन आवश्यक है। इसी प्रकार की औषधियों के उल्लेख को हम वेदों में पाते हैं।

ऋग्वेद के ८ अष्टक १० मण्डल ५ अध्याय अनुवाक् ७ तथा सूक्त ९७ में सोमादि औषधियों के ७सौ स्थानों में प्राप्त होने का उल्लेख है जिनके अनुलेप, बाह्याभ्यन्तर मार्जन, अभिषेकादि के विभिन्न रूपों में प्रयुक्त होने का वर्णन है। यथा :––

याओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगंपुरा। मनैनु बभ्रुणामहं शतंधामानिसप्तच ॥

अर्थात्––पूर्व समय में तीन युगों (सत्य, त्रेता, द्वापर या वसन्त, शरद, वर्षाऋतु) में जो औषधियाँ सोमादि पिंगलवर्ण की देवों ने बनाईं वे औषधियाँ ७०० स्थानों में विद्यमान हैं यह मैं जानता हूँ।

बहुत्वभेद के अर्थ में या उस समय के औषधि-विज्ञान के विषय में स्पष्ट है कि एक दो ही औषधियों का ज्ञान न था बल्कि वनौषधियों के विभिन्न उद्गम स्थानों का ज्ञान हो चुका था। औषधियों के सैकड़ों कर्मों का ज्ञान था जो कई प्रकार से प्रयुक्त होकर चिकित्सार्थ काम में आती थीं। यह विचार पूर्व मंत्र **"शतं वो अम्बधामानि, सहस्रमुतवोरुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं अगदंकृत ॥** से आगे के मंत्र में है।

तत्कालीन औषधियों का चमत्कार इसी अष्टक के ९७ सूक्त के ११ मंत्र में आता है। वैद्य औषधियों के गणों से विश्वसित है। कहता है कि––जब मैं **यदिमा वाजयन्नह मोषधीर्हस्त आदधे। आत्मायक्ष्मस्यनश्यति पुरा जीव गृभो यथा ॥** इन सब औषधियों को हाथ में लेता हूँ तभी रोग की आत्मा मरसी जाती है जैसे मृत्यु से जीव मरता है। पुनश्च–– **यस्योषधीः प्रसर्पथांगमंगं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं विवाधध्व, उग्रो मध्यम शीखि ॥** औषधियाँ शरीर में पहुँचकर बलपूर्वक रोग को अपने गुणों से नाश करने के निमित्त अंग प्रत्यंग में प्रविष्ट होकर लाभ पहुँचाती हैं। रोगी के शरीरावयवों से रोग दूर करती हैं।

जो लोग वेदों में औषधि न होने का दम भरते हैं उन्हें यह ध्यानपूर्वक पढ़ना चाहिए, कि न केवल औषधिमात्र ही इनमें लिखा है बल्कि वर्गीकरण भी है जो चरक के वर्गीकरण से मिलता जुलतासा है। चरक ने सूत्रस्थान अध्याय १ में **मूलिन्यः षोडशैकोना फलिन्यः विंशतिः स्मृताः। च० सूत्र अ० १-७३, १६ मूलिनी व १९ फलिनी** औषधियों का वर्णन किया है तथा **वनस्पतिस्तथावीरुद्वानस्पत्यस्तथौषधिः ॥च० सू० अ० १ ॥** वनस्पति वीरुधवानस्पत्य तथा औषधि यह चार भेद भी बतलाए हैं। वह सब वेदों में मिलती हैं। यथा––

या फलिनीर्या अफला अयुष्पा याश्चपुष्पिणीः ॥ ऋ० १०।९।७।१५ ॥
या ओषधीः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ॥ ऋ० १०।९७।१९ ॥
इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ॥ अथर्व० ३।१८।१ ॥
इयं वीरुन्मधु जाता, मधुना त्वा खनामसि ॥ अथर्व० १४।३४।१ ॥

इसी प्रकार कई औषधियों के भेदों का उल्लेख मिलता है। यही नहीं (अथर्ववेद ३० काण्ड २४ सूक्त) धान्य इत्यादि के सहस्रों भेदों का उल्लेख भी मिलता है। उन औषधियों का वर्णन करते हुए पयस्वती (**पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः॥ अथर्व० ३।२४।१।**) क्षीरी वनौषधियों व धान्यों का वर्णन भी किया है उनका यहाँ पर उल्लेख करके स्थान नहीं भरना चाहता। मूलिनी औषधियों के खोदने का विधान भी मिलता है। जैसा प्रार्थनापूर्वक वनौषधियों को खोदना चाहिए, ये सब बातें दृष्टिगोचर होती हैं। खोदनेवाला रोगनाशनार्थ औषधि खोदता है किन्तु डरता हुआ प्रार्थना करता है कि हमारे रोगों को नाश करो। हमारे धनधान्य को समृद्ध रक्खो, मैं तुम्हें खोदने जा रहा हूँ—**मावोरिषत् खनिता, यस्मै चाहं खनामिवः। दिवच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम्॥ ऋ० ८-१०-५-७-९७-२०** इत्यादि।

यही नहीं जिसके पास अच्छी और उत्तम औषधियाँ होती हैं उसीको भिषक् के नाम से संज्ञित किया गया है—जैसे युद्धार्थ जिस राजा के पास सेना होती है वही विजयी होता है वैसेही जिसके पास औषधियाँ होती हैं और जो उनके गुणों को भी जानता है वही बुद्धिमान् चिकित्सक **यत्रोषधीः समग्मतराजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषक्रक्षोहामीवचातनः॥ ऋ० १०-९७-६॥**) भिषक् कहा जाता है और वही रोगों को नाश करता है।

इस एक ही सूक्त के अन्दर कितना औषधि तात्विक विचार भरा है नहीं कहा जा सकता।

औषधियों के पोषणार्थ (—**औषधयः सोवदन्ते सोमेनसहराजा ऋग्वेद १०-९७-२२॥**) सोम का वर्णन आता है। जितनी भी औषधियों हैं वे सोमांश (द्रवांश) के ऊपर अपना जीवन निर्वाह करती हैं यह विचार भी स्पष्ट पोषण विषयक विवरण के ऊपर प्रकाश डालता है।

औषधियों के उत्पन्न होने व ग्रहण करने तथा उनके गुणों का वर्णन करने का पूरा पूरा वर्णन मिलता है। अथर्ववेद में ऐसे उल्लेख प्रथम काण्ड से लेकर २० काण्ड तक प्राप्त हैं। पञ्चम काण्ड में कूठ व लाक्षा का वर्णन बहुत रोचक है। इस प्रकार वेदों में औषधियों की उत्कृष्टता का पूरा वर्णन मिलता है। यदि वैदिकऔषधियों का वर्णन लिखा जाय तो अपर वैदिक-निघण्टु बन सकता है। मैं कुछ नाम देकर इस वर्णन को समाप्त करता हूँ।

अपामार्ग शिलोच्यकूठ जङिंग विषाण रुणक पिप्पली चीपडु गुग्गुलु तितल्ली नीली घृतकुमारी अजशृंगी प्रश्निपर्णी औक्षगन्धी प्रमन्दिनी कृष्णा एकशुंग प्रतन्वती अंशुमती कण्डनी विशाखा विश्वा उग्रा अश्वत्थ प्रसूमती फलिनी दर्भ सोमव्रीहि यवादिधान्य अफला ब्राह्मणी अयस्कन्ध दर्भभंग औदुम्बर मणिबन्धन इत्यादि सैकड़ों औषधियों का विभिन्न रोगों में वर्णन किया हुआ पाया जाता है। यहाँ इनका वर्णन अप्रासंगिक होने से छोड़ा जा रहा है।

इस प्रकार हम पर्याप्त उत्कृष्ट औषधियों को जान सकते हैं। यही नहीं जल, वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्र इत्यादि को भी औषधि रूप से वर्णन किया गया है। इस प्रकार उपयुक्त द्रव्यगुण को हम पाते हैं।

उपचारक—रहा उपचारक जोकि वैद्य की आज्ञानुसार चलता हो वह तो सर्वत्र प्राप्त है। हर एक स्थान पर भिषक् से प्रार्थना की गई है कि वह उचित आज्ञा दे और सेवाविधि का उल्लेख करे यथा—परिचारक वैद्य से कहता है कि हे भिषक् शीघ्र इस बालक के कृमिरोग का नाश करो—

अस्येन्द्रकुमारस्य कृमीन् धनयते जहि॥ अथ० ५।३३।२॥

पुनश्च—कृमिनाश के लिए वैद्य द्वारा बतलाए विधान के अनुसार कार्य परिचारक यह सूचना देता है कि हे भिषक्! देखो यह कृमियों में शीघ्रगामी था मारा गया।

हतो येवापः कृमीणाम्....................अथर्व० ५-२३-८॥

इत्यादि, इसी प्रकार प्रसव में वैद्य उपचारक को क्रम बतलाता है जिसका वर्णन अथर्ववेद के कई स्थानों पर है। इस प्रकार हम चतुष्पाद सम्पत् को बिलकुल अक्षुण्ण पाते हैं। अतः आयुर्वेद का स्थान वेदों में पूर्ण उत्तमता से स्पष्ट हो जाता है।

त्रिदोष—आयुर्वेद का सारा मर्म त्रिदोष पर निर्भर है। यदि हम इसे वेदों में पावें तो स्पष्ट मानना पड़ेगा कि वेदों से ही आयुर्वेद प्राप्त है। प्रथम बात चिकित्सा को लीजिए, बाह्य व आभ्यन्तर वायु का उल्लेख खूब है। वायु चिकित्सा का एक प्रधान अंश हम इसमें पाते हैं। ऋग्वेद के ७–१०१–१०२ में वात पित्त कफ का इस प्रकार उल्लेख है—

यो वर्धन ओषधीनां यो अपां भो विश्वस्यजगतो देवईशे।

स त्रिधातु शरणं शर्म यंसत् त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्टचस्मे।।

अर्थात्—जो औषधियों को तथा जल को बढ़ाते हैं, जो सारे संसार के ईश्वर हैं वे पयदेव तीनों धातुओं वात पित्त, कफ को शरीर में सम परिमाण में रखकर सुख दें और तीनों ऋतुओं वर्षा, शरद, वसन्त में इनकी रक्षा कर (त्रिदोष की क्योंकि यही इनके प्रकोपकाल है) हमें सुन्दर ज्ञान-ज्योति दें।

यहाँ पर त्रिधातु का अर्थ महामान्य सायण महीधर ने वात, पित्त व कफ ही किया है। जिसे सन्देह हो इनके भाष्यों को देखें।

बाह्य वायु के गुणों का वर्णन ऋग्वेद मण्डल १ अष्टक २ अध्याय २० सूक्त १३४-१३५ में तथा अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड २५-२७ सूक्त में सविता व वायु का संयुक्त स्पष्ट वर्णन है जिसमें वायु द्वारा सूर्य रश्मि का प्रसार तेज का प्रसार जीवन का रहना तथा बलदायक, वृष्टिकारक गुणों का स्पष्ट वर्णन है। ये सूक्त यदि सार्थ लिखे जाँय तो बहुत बड़ा स्थान चाहिए। इसमें वात–वायु कई स्थानों पर प्रयुक्त है।

आभ्यन्तर वायु में प्रसिद्ध प्राण व अपान वायु है जिनका वर्णन कई स्थानों पर है। श्वास रोगों में इसका स्पष्ट वर्णन है। प्रसंग व नाम का उल्लेख ही दिखायेंगे।

यथाजीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितं शतं हिमाः।

मेमं प्राणो हृयासीन्मो अपानो मेमं मित्रावधिषुर्मो अमित्राः।। अथर्व० का० २ सूक्त २८।।

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा। अ० २।१६।१ ।। इत्यादि, इसी प्रकार पित्त का भी उल्लेख स्पष्ट शब्दों में देखिए।

सुपर्णोजातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्त मासिथ ।।अथर्व० २ कां० २४ सूक्त ४।।

औषधि का वर्णन करते हुए बतलाया है कि तू परमेश्वर के पित्तस्वरूप हो। पित्त शरीर में तेज वीर्य आभा प्रदाता है। अतः यहाँ पर पित्त के अर्थ में श्रेष्ठ अर्थ किया गया है।

बलास—मास्यैतान सखी कुरूपा बलासकासमुद्युगम् ।। अथर्व० ५-२९-१२ ।।

यों तो ये बहुत स्थानों में स्पष्ट इसी नाम से वर्णित हैं किन्तु व्याधि प्रसंग में इनकी सत्ता सर्वत्र स्वीकृत है। इस प्रकार वात, पित्त, कफ को हम वेदों में इसी नाम से पाते हैं। इन त्रिदोषों को जो आयुर्वेद की भित्ति या स्तम्भ हैं हम वेदों में पाते हैं। आयुर्वेद अष्टांगपूर्ण है। वेदों में यदि अष्टांग सम्बन्धी विवरण मिले तो फिर यह भी एक दोनों के तारतम्य का पूरा सम्बन्ध होगा। अस्तु आठों अंगों सम्बन्धी साहित्य की सूची अधोलिखित क्रम में दी जाती है।

आयुर्वेद के अष्टांग—वेदों में आयुर्वेद के प्रचलित अष्टांग शल्य, शालाक्य, कायचिकित्सा, भूतविद्या, अगदतंत्र, कौमार-भृत्य, वाजीकरण, रसायन का पर्याप्त विवरण है। यह अष्टांग साहित्य सूत्र व विस्तार रूप में प्राप्त होता है। नीचे की सूची से स्पष्ट पता चलेगा:—

शल्यतंत्र	ऋग्वेद
१. विश्पला के कटे पैर को लोहे का बनाना	१-११६-१५.
२. अत्रि आदि के विश्लिष्ट अंग का पुनर्योजन	१-११७-१९.
३. श्यावाश्व के कटे अंगों को जोड़ना	१-११७-२४.
४. दधीचि के शिर को काटकर अश्व का शिर लगाना, मधुविद्या प्राप्त कर पुनः पूर्व शिर का अश्विद्वय द्वारा संयोजन। ..	१-११६-१२.
५. पंगु परावृज का जानुसन्धान, लँगड़े श्रोणिषि को गतिमान बनाना	१-११२-८.

		अथर्व वेद में.
६.	शरशलाका से मूत्रत्याग कराना, मूत्राशय भेदन	१-३-१-९.
७.	सुखप्रसव, प्रसवविकार, योनिभेदन	१-११-१-६.
८.	व्रणप्रक्षालनविधि	५-५७-१-३.
९.	अपचितपिडिका व विद्रधि का शलाका द्वारा भेदन	७-७८-१-२.
१०.	व्रणपाक के लिए लवणोपचार	७-८०-१-२.
११.	पर्णाधि शृंग व कुम्भल का शस्त्रविषनाशन इत्यादि	४-६-१-८.

शालाक्य तंत्र—

		ऋग्वेद
१.	अश्विनीकुमारों द्वारा अन्धे ऋजाश्व को दृष्टिदान	१-११६-१६-१-११७-१७.
२.	अन्धे कण्व को नेत्रदान, नार्षद बधिर को श्रवण शक्ति दान	१-११७-८.
३.	अक्षिदर्शन ज्ञानेन्द्रिय सामर्थ्य प्राप्ति की प्रार्थना	१-११६-२५.
४.	इन्द्र के द्वारा अन्धे परावृज को दृष्टिदान, श्रोण को कर्णदान	२-१५-७.
		अथर्ववेद
५.	चक्षु नासिका दन्तकृमि प्रवेश येवास कस्कष्य एजस्क शितिविलुका इत्यादि कृमियों का नाशनादि.	५-२३-१-१९.
६.	नाना प्रकार के कृमि, सूर्यरश्मि से कृमिनाश	२-३८-१-६.
७.	बृहदारण्यक में नेत्ररचना व रक्षा के उपाय	२-२-३.
८.	ज्ञानेन्द्रियवर्णन, ब्राह्मणग्रंथ, नेत्ररोग का अञ्जन इत्यादि	(५-२२) १-३.

कायचिकित्सा तंत्र—इस तंत्र का बृहत वर्णन प्राप्त है। इस स्थान पर प्रधान व्याधि विवरण को ही लिखा जा रहा है:—

ज्वर—शारद-ग्रैष्म शीत तृतीयक ज्वर	६-२१-१ से ३-१-२५-४-२२-१-१४ तक
ज्वर में मण्डूकोपयोग	७-१२२-१-८.
हृद्रोग की पीड़ा व चिकित्सा	६-१४-१-३.
गण्डमाला—मन्या गण्डमाला के ५५ भेद, ग्रैव गण्डमाला के ७७ भेद, स्कन्ध गण्डमाला के ९९ भेद	६१-२५-१-३.
अपचित गण्डमाला व पचित गण्डमाला भेद एनीश्येनी कृष्णा रोहिणी सूतिका इत्यादि भेद निदर्शन	६-८-३९-३.

शीर्षक्ति शीर्षामयि कर्णशूल विसोहित अंगभेद ज्वर (Deugue fever) विश्वांग विश्वशारद (शीतज्वर) हरिमयक्ष्मौध का हरवाह क्लोम उदरनाभि हृदय का यक्ष्मा पार्श्व पृष्ठ वंक्षण अन्त व मज्जागत पीड़ा विद्रधीप्रतीकार अलजी पाद जानु श्रोणि अंश अनूक उष्णीष शीर्षवेदना प्रतिकार इत्यादि ९।१३ से १-२२ मंत्र तक।

कायचिकित्सा—नाना प्रकार के क्रमियों का शरीर में प्रवेश व उनका प्रतिषेध	..	२-३१-१-५.
		अथर्ववेद
		५-२३-१-११.
		२-३८-१-६.
		४-३६-१-१८.
		१-२२-१-४.
		६-२४-१-३.
हृद्रोग में बर्फ की तरह नदी-जल का प्रयोग जल का सर्व रोगनाशकत्व ..	..	६-९२-३.
		ऋग्वेद.
यक्ष्मा, अज्ञात यक्ष्मा, राजयक्ष्मा, हृद्रोग व पृष्ठ के रोग	..	१-२३-८९, १०-९७-१०५. व १३७-१६१-१६७.
अर्श शोथ गण्ड श्लीपद यक्ष्मा मुखपाक	..	यजुर्वेद १९-८१-९३. २५-१-९.
सतनाशन विशूचिका हृद्रोग चर्मरोग कुष्ठ	..	३१-१०-१३-३०-८-१०.
यक्ष्मा उन्मादशीहारयक्ष्मा राजयक्ष्मा की उत्पत्ति तैत्तिरीयोपनिषद (संहिता) ..	..	२-१-१-१.
कुष्ठरोग से श्यावाश्य को बचाकर युवक बनाना	..	ऋग्वेद १-११७-७.
अपाला का चर्मरोगनाशन	..	,, १-११७-८.
बल्वाट के पिता का व्याधिनाशन	..	,, ८-९१-७.
सूर्यरश्मि से हृद्रोगनाशन..	..	,, १-५०-१०.
यक्ष्मनाशन	..	,, १-२३-८९.
छन्दोग्योपनिषद—आहार पाक प्रक्रिया	..	६-५.
पामारोग	..	४-१-८.
बृहदारण्यक—मृत्युवर्णन..	..	३-८-२१.
शाप से रोगोत्पत्ति	..	३-६-१-३-९-२६.
सामविधान—रोगक्रान्ति..	..	२-२-३.
भूतक्रान्ति	..	८-८-८.
आश्वलायन—सूर्योदय समय सोने से रोगोत्पत्ति	..	३-७-१-१.
शांख्यायनीय—सर्वरोगनाश	..	५-६-११.
गोभिलीय—सर्व रोग निवर्त्तक यंत्रविधान	..	४-६-८.
आपस्तम्भ—क्रिमिजन्य अर्धावभेदक बालापस्मार कुक्कुर भूतादि का वर्णन ..	..	७-१८-१.
क्षेत्रियरोग परिहारादि	..	६-१५-४.
पारस्करीय—शिरः पीड़ा का मर्दन से प्रतिकार	..	३-६-०.

भूतविद्या—भूतविद्या के विषय में तो बलिमंत्र मंगल उपहारादि का वर्णन अथर्ववेद में बहुत आता है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म प्राणी व क्रिमियों का भी पर्याप्त वर्णन प्राप्त है। इनका कुछ उद्धरण देते हैं। यह वह है जिसका वर्णन आयुर्वेदिक साहित्य में अत्यल्प है और जिसके आधार पर क्रमिरोग की नींव आयर्वेद में है।

		अथर्ववेद
क्रमियों की रोगकारिता	..	५-२३-१-१३.

क्रिमि के सूक्ष्मस्थूल भेद	२-३२-१-६.
नाना प्रकार के कृमियों का शरीर में प्रवेश, रोगोत्पत्ति व उनका प्रतिषेध	२-३१-१-५.
	५-२३-१-१.
	२-३८-१-६.
	४-३७-१-१२.
तैत्तिरीय ब्राह्मण—क्रिमियों की रोगकारिता	४-३६-१.
आपस्तम्बीय—कृमिवर्णन	१५-१९-५; ४-१८-१.
खादिर आ०—कृमिवर्णन	४-४-३.
शांख्यायनीय—यज्ञ भोज्य वस्तु से भूतनिषेधविधि इत्यादि अगदतंत्र	३-८.
	ऋग्वेद
नाना प्रकार के विषक्रिमि व उनका प्रतिकार	१-१९१-(१-१६).
विषहारिता	४-७-१-७.
प्राणिविषनाशन (पर्णाधि शृंगकुंमल औषध द्वारा)	४-६-१-८.
सर्पविषनाशन	६-१८-१०३.
नानव विध क्रिमिनाशक मधूक	७-५६-१-८.
विष से विष प्रतिकार	८-५-१-१६.
	८-६-१-४.
सामविधान—सर्वभयरक्षण	२-३-३.
गोभिल—सर्पदंशोवाय	४-९-१६.
खादिर ब्रा०—सर्पदंशोवाय	४-४-१ इत्यादि.
कौमारभृत्यधातृरोग स्त्रीरोग—निवृत्तप्रसवा को प्रसवबाहुल्य व स्तन्यवृद्धि	ऋग्वेद १-११६-८८.
	१-११७-२०.
हिरण्यकेशीय ब्रा०—बालक का क्षेत्रिय रोग व प्रतीकार	२-३-१०.
आपस्तम्बीय ब्रा०—बालक का क्षेत्रिय रोग व प्रतीकार	६-१५-४.
कौमारभृत्यादि—गर्भ की उत्पत्ति, गर्भपुष्टि, प्रसव	अथर्ववेद १-२-११-(१-४).
जरायुपातन, मूढगर्भ में शल्यक्रिया, कुमारनिष्कासन, योनिभेदन, जरायुनिष्कासन	१-२-११ (५).
दशममासानन्तर प्रसव वर्णन	१-२-११-(६).
दशममासानन्तर प्रसव वर्णन	ऋग्वेद ५-७८-८ इत्यादि.
रसायनतंत्र व बाजीकरण—च्यवन का जरामोक्षण पुनरयौवनदान	ऋग्वेद १-११६-१०.
	१-११७-१३, १-११९-७.
जल में डूबे व अग्नि से जले रक्षित के शिर वक्ष नष्ट होने पर भी पुनः जीवनदान व जरानाश	१-१५८-४-६.
ब्रध्निमती के नपुंसक पति को पुरुषत्व पुत्रोत्पादन	१-११६-१३.
शतवर्षायुलाभ विधान (बृ० चा०)	३-१६.
क्लैव्यनाशनोपाय	अथर्ववेद ६-१३८-१-५.

इत्यादि।

इस प्रकार अष्टांग आयुर्वेद के साहित्य को हम वेदों में पाते हैं। यही विषय हमारे आयुर्वेद साहित्य में प्राप्त हैं। इन उद्धरणों को देखने से स्पष्ट पता चलता है कि आयुर्वेद के प्रायः प्रत्येक विषय इसमें ओतप्रोत हैं। यही आयुर्वेद के साथ घनिष्ट सम्बन्ध का द्योतक है।

श्री प्रतापसिंह

आजकल कुछ लोगों में यह प्रकृति एक प्रकार की फैल गई है कि चाहे कुछ हो स्वयं वेदों को व आयुर्वेद के साहित्य को देखने का कष्ट नहीं उठाते, किन्तु इस पर टिप्पणी अवश्य करते हैं और यह कहना प्रारम्भ करते हैं कि वेदों में यह सब था तो पहले क्यों नहीं कहा, अब क्यों "यह वेदों में है" कहकर चिल्लाते हो। उनके लिए केवल इतना उत्तर है कि जब आधुनिक विज्ञान के जन्मदाता जन्म भी नहीं लिए थे वेदों में यह ज्ञान था किन्तु उनके ज्ञाता उसका शोर मचाते नहीं फिरते थे। जब आधुनिक विज्ञानवादी यह कहने लगे कि यह हम ही जानते हैं हमने ही इसे आविष्कार किया है, तब उत्तर यह दिया जाता है कि तुम भूल करते हो यह प्रश्न पहले से हल है। कीटाणुवाद को एक महत्त्व की दृष्टि से देखनेवाले कृमि-विज्ञान के उद्धरणों को देखें कि हर प्रकार के अधिकांश सूक्ष्म व स्थूल कृमि, दृश्य व अदृश्य कृमि सबका कितना सुन्दर वैदिक साहित्य में वर्णन है।

कुछ लोग तार, डाक, विद्युत का वर्णन आने पर झुंझलाकर कहते हैं यह कपोल कल्पना है। उन्हें तो हमें कुछ नहीं कहना है, क्योंकि—**अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसिमालिखमालिख मालिख।।** की तरह अरण्यरोदन सिद्ध होगा, किन्तु जो कुछ विचार करना चाहते हैं उस समुदाय के सामने हमें कुछ विचार जरूर रखना है। वह उपर्युक्त है तथा विद्युत के विभिन्न अंशों का जो नाम आता है वह इस प्रकार है—

विद्युत विज्ञान (Electricity)—आज इसी विज्ञान पर पाश्चात्य देशों में उचित अभिमान हो रहा है, जिस विद्युत शक्ति से आज विविध आविष्कार किए जा रहे हैं, उसका पूरा वर्णन वेद व शास्त्रों में अनादिकाल से निहित है। किन्तु यह सब कार्य "सौरविद्युत" के क्षेत्र में ही सीमित है। कई हजार वर्ष पूर्व तीन प्रकार की विद्युच्छक्तियों का उल्लेख "सौर विद्युत" "सौम्य विद्युत्" "ध्रौवविद्युत्" प्राप्त है।

ध्रुवनक्षत्र से प्रतिष्ठित जिस विद्युत् ने अपने आकर्षण बल से गुरुत्वाकर्षण की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए पांच भौतिक भूपिण्ड को कन्दुक की तरह निरावलम्ब आकाश में नियत क्रान्तिवृत्त पर गतिशील बना रखा है एवं जिसके प्रवेश से लोहा फौलाद बन जाता है उसका नाम "ध्रौवविद्युत्" दिया गया है।

जिसके संचार से चक्षु मुंह नासिका मन प्राण वाक् हस्त पादादि देहेन्द्रियों का संचालन होता है जिसके आघात प्रत्याघात से अंग प्रत्यंग का स्फुरण होता है जिसके निकल जाने से शरीर निष्चेष्ट हो जाता है। वही दूसरी विद्युत् "सौम्य विद्युत्" है।

इसका प्रधान सम्बन्ध सोममय अन्न से बननेवाले सौम्यमन के साथ है। अतः इसे सौम्य विद्युत् की संज्ञा दी गई है। यही सौम्य विद्युत् मन की तीव्रगति की संचालिका है। इसीके सहयोग से मन स्वप्नावस्था में भी अपने अन्तर्जगत् के संस्कारों पर दौड़ लगाता है। मन की इसी विद्युत ज्योति का दिग्दर्शन अधोलिखित मंत्रश्रुति में है :—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु ।। यजुः सं. ३४।१ ।।

स्वयं प्रकाशमान् ज्योतिः पिण्डसूर्य से आपोमय आन्तरिक्ष्य समुद्र के गर्भ से निकलनेवाली सौर विद्युत् है।

अग्ने देवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवां ऊचिषेधिष्ठया ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चवस्तादुप विष्ठन्त आपः।। ऋक् सं. ३-८८-३ ।।

उपर्युक्त मंत्र के वर्णन के अनुसार आपोमय सरस्वान समुद्र के गर्भ में सूर्य बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित है। इस सूक्ष्म अपय समुद्र से ही उक्त विद्युत का विकास हुआ है। सूर्य स्वयं विद्युन्मूर्ति है। यथा—**वि देव सविता (गो. ब्रा. पृ. १।३३)** यह विद्युत् जल से उत्पन्न है। अतः इसे ब्राह्मण ग्रंथ व संहिता "अयांज्योतिः" नाम से वर्णन करते हैं यथा—**"विद्युद्वा अयां ज्योतिः" (शतः ७-५-२-९) व यजुः सं. (१३-५-३)**

इसी अयसमुद्र का सार वीर्य है। अतः "वीर्यवा आपः" (शत ५-३-४-१) के कारण से प्राणधारकता इसमें स्व सिद्ध है। इन तीनों विद्युतों का प्रधान आवास इन्द्रतत्त्व है यथा—**"स्तनयित्नुदेवेन्द्रः" (शत० ११-३-९)**

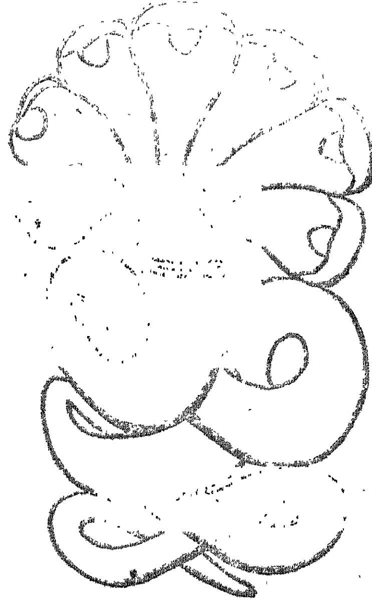
यही विद्युत् सोम सम्बन्ध से सोममय प्रज्ञानात्मा (मन) पर अपना अधिकार जमा लेती है। सोम व इन्द्र का घनिष्ट सम्बन्ध है यह स्वयं सिद्ध विषय है। आकाश में चमकनेवाली विद्युत् भौतिक विद्युत् है। मन में की विद्युत् आध्यात्मिकी है। केनोपनिषद् में इसका स्पष्ट विवरण जो पुरुष इस त्रिधाशक्ति सम्पन्न इन्द्रतत्त्व का पूर्ण ज्ञान रखते हैं उनको ही पूर्ण वैज्ञानिक समझा जाता है, यह वैदिक विवरण है। इसका पूर्ण वर्णन ऋक् संहिता के १-३१-१३; १-६३-९; १-१६४-२९; ६-३-८ ९-९-६-३; १०-९१-१५ सूक्तों में मिलता है।

अत: यदि विद्युत् तत्व का निरूपण कोई आर्ष विद्वान् इस रूप में करता है तो क्या यह अर्थ उचित नहीं है? क्या यह ऐंच खैंचकर अर्थ निकालना है? भौतिक विद्युत् के अतिरिक्त अन्य विद्युत्द्वय का वर्णन क्या आधुनिक विज्ञान तत्व देता है? यदि हाँ तो वह किस रूप में है? इसके ऊपर विवेचक विद्वान् प्रकाश डालें।

इस प्रकार हर एक विज्ञान का पूर्ण उद्गम प्रदेश वेद ही है। आयुर्वेद उसका उपांग होने से यह सब उन विषयों को बतलाता है। अत: उनका नाम आने पर झड़कनेवाले अपने हृदय पर हाथ रखकर विचारें।

जिस किसी भी विषय को हम वर्तमान आयुर्वेद में पाते हैं वही वेदों में वर्णित है। यही इसका पितृ पारम्पर्य प्रधान पोष्य पोषक सम्बन्ध है। इसी आधार पर अनेक आचार्यों ने संहितायें रचकर आधुनिक आयुर्वेद साहित्य की अभिवृद्धि की है। इस समय चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट (अष्टांग हृदय, अष्टांग संग्रह) अदि ग्रंथरत्न प्रसिद्ध हैं। इसके साथ रसग्रन्थों का प्रचार हुआ और इसकी उधर अधिक उन्नति हुई है।

रसार्णव, रसहृदयतंत्र, रसकामधेनु, रसरत्नसमुच्चय, रसेन्द्रचिन्तामणि रसोपनिषद्, आदि अनेक ग्रंथ प्रचलित हैं और नवीन ग्रंथों का प्रकाशन हो रहा है। प्रत्यक्षशारीर, सिद्धान्तनिदान, अष्टांगशारीर, शारीरतत्वविवेक, अभिनवप्रसूति शास्त्र आदि अनेक ग्रंथ लिखे गए हैं और लिखे जा रहे हैं। आयुर्वेद की इधर ३०-३२ वर्षों में क्रमोन्नति हुई है। आशा है यह क्रमविकास बढ़ता ही रहेगा और शीघ्र ही अपना गत गौरव प्राप्त कर भारतवासियों की सेवा पूर्ववत् करने में पूर्ण समर्थ होगा।





चक्रवर्ती राजा के लक्षण

श्री डॉ० बाबूराम सक्सेना, एम्० ए०, डी० लिट्०

आर्य साहित्य में शासक और शासित जन के परस्पर सम्बन्ध की भावना आरम्भ से ही बहुत ऊँची रही है। परमेश्वर इस सारे जगत का अद्वितीय राजा है, ऐसी भावना श्रुति में मिलती है (इन्द्रो विश्वस्य राजति) और उसी के अनुरूप भारतीय राजा में अदभुत तेजस्विता रहती थी और वह शासित जन को प्रजा (सन्तान) समझता था। कविकुल गुरु कालिदास के शब्दों में प्रजा को खुश (रंजित) रखने से ही शासक का नाम राजा पड़ा। रघु का यथार्थ वर्णन इस महाकवि ने दिया है :—

प्रजानां विनयादानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

(रघु ही स्वयं प्रजाओं को शिक्षा देने के कारण और उनकी रक्षा और पालन पोषण करने के कारण, उनके सच्चे पिता थे, प्रजाओं के पिता तो केवल जन्म देनेवाले ही थे।)

इससे राजा के आदर्श का आभास मिलता है। यह समझ लेना कि यह केवल अत्युक्ति है, भूल है। इस आदर्श का पालन होता था। मनुस्मृति आदि नीतिग्रंथों में दिए हुए राजधर्म के विवरण को देखने से पता चलता है कि राजा का काम चौबीसों घंटे प्रजा का हितचिन्तन और हित-सम्पादन था। ईसा पूर्व तीसरी सदी में हुए प्रसिद्ध मौर्य सम्राट प्रियदर्शी राजा अशोक की यह आज्ञा थी कि उनके पास हर समय, उठते बैठते, खाते पीते और आराम करते समय भी, प्रजा के कार्य की बात पहुँचाई जाय। यह विवरण उस राजर्षि के शिलालेखों से मिलता है।

चक्रवर्ती राजा के लक्षण

चक्रवर्ती राजा संसार की विभूति होती थी। राजनीति के ग्रंथों में उसको समकालीन नरेशों में सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। पालि ग्रंथों में उसको वही स्थान दिया गया है जो बुद्ध को। जिस बालक में (दीघनिकाय के महापदानसुत्त में वर्णित) महापुरुष के बत्तीस विशिष्ट लक्षण पाए जाते थे, उसकी दो ही गतियाँ होती थीं। यदि वह घरबार छोड़कर प्रव्रज्या ले लेता था तो संसार के दुःखों को हटाकर सम्यक संबुद्ध बनता था। महाराज शुद्धोदन के सुपुत्र सिद्धार्थ में बत्तीसों लक्षण उपस्थित थे, वे घरबार छोड़कर इस गति को प्राप्त हुए और गौतम बुद्ध कहलाए। और यदि ऐसा बालक घर में रहता था तो धार्मिक धर्मराजा, चारों ओर विजय पानेवाला और शान्ति स्थापित करनेवाला, सात श्रेष्ठ चीजों से संयुक्त चक्रवर्ती राजा होता था। इस प्रकार बुद्ध और चक्रवर्ती राजा दोनों का समान पद है। दोनों लोक के कल्याण के लिए और शान्ति की स्थापना करने के लिए आते हैं, एक निवृत्ति मार्ग से, दूसरा प्रवृत्ति मार्ग से। लोकहित की नजर से दोनों का लक्ष्य एक है।

चक्रवर्ती राजा के चेहरे में ऐसा तेज होता था कि क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य अथवा साधु-सन्यासी कोई भी मिलने जाय तो दर्शनमात्र से कृतकृत्य हो जाता था। यदि चत्तवर्ती राजा भाषण करता था, तो वह कितनी भी देर तक बोले, सुननेवाली सभा की तृप्ति नहीं होती थी, चाहती थी कि और बोले। ऐसी मिठास और ऐसी शक्ति होती थी उसकी वाणी में।

चक्रवर्ती राजा के लक्षण, पालिग्रंथों में ये बताए गए हैं। धर्मपूर्वक आचरण करनेवाला होता था। धर्म से ही शासन करता था, न्याय और समता ही उसके साधन थे, पक्षपात उसको छू नहीं सकता था। उसका राज्य एक समुद्र के किनारे से दूसरे समुद्र के किनारे तक समझा जाता था। वह विनयशील था, अपने भीतरी मन मोह क्रोध आदि विकारों का विजयी और बाहर सभी राजाओं का। कोई भी सेना उसके मुकाबले में ठहर न सकती थी। अन्य राजा, प्रजा, वर्ग बनें या परिवर्तित हों पर वह सारे राष्ट्र की स्थिर स्थावर वस्तु था। शान्ति की स्थापना करना उसका लक्ष्य था और इसी हेतु उसे दुष्टों का दमन करना पड़ता था। स्वार्थबुद्धि से कभी कोई युद्ध न छेड़ता था। चक्रवर्ती राजा के पास सात रत्न होते थे, अर्थात् उत्तम उत्तम सभी पदार्थ। बढ़िया बढ़िया रथ आदि चक्रों से वह नए नए देशों पर अधिकार प्राप्त करता जाता था। धर्म ही उसका साधन था, दण्ड और शस्त्र का प्रयोग उसे नहीं करना पड़ता था। उसके पास उत्तम से उत्तम हाथी घोड़े रहते थे जिनसे वह अपने राज्य में आसानी से घूम फिरकर प्रजा को सुख देता था। उत्तम मंत्रियों की मदद से राज्यभर में न्याय, सुख और शान्ति स्थापित किए रखता था। उसकी रानियाँ स्वामिभक्त और अद्वितीय रूपवती होती थीं। पर-स्त्री पर वह स्वप्न में भी दृष्टि न डालता था। उसके एक हजार से भी ज्यादा लड़के होते थे, सभी शूरवीर, यशस्वी और पितृपरायण।

इस विवरण में थोड़ी बहुत अतिशयोक्ति की सम्भावना है। पर इतना निश्चित है कि चक्रवर्ती सभी राजाओं में श्रेष्ठ होता था और उसमें अलौकिक शक्ति होती थी। 'चक्र' का आशय समस्त भूमण्डल या भूमण्डल का सभ्य खण्ड रहा होगा। चक्रवर्ती का कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं होना चाहिए। श्रुति-ग्रंथों में अश्वमेध की कल्पना से ही चक्रवर्ती की भावना का पुराना होना सिद्ध होता है।

हमारे देश को इस बात का गर्व है कि यहाँ अनेक चक्रवर्ती राजा समय समय पर होते रहे हैं। बुद्धों के सहयोग से ये शान्ति की स्थापना करते रहे हैं। विक्रम भी इनमें से एक थे। हमारे अन्तिम चक्रवर्ती शायद यही थे। बाद को केवल पदवी लेनेवाले बहुतेरे हुए।

वर्तमान काल में देश हीन अवस्था में है पर जागृति के लक्षण झलक रहे हैं। इस समय भी महात्मा बुद्ध के समकक्ष महात्मा गांधी का उपदेश हमें मिल रहा है। जरूरत है चक्रवर्ती शासक की। ईश्वर की कृपा होगी तो यह भी मिल जायगा और भारत एक बार फिर समस्त भूमण्डल का पथप्रदर्शक बन सकेगा। उस समय की कल्पना से हर्ष-रोमांच होता है।



वेदान्त

श्री रावराजा डॉ० श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०, डी० लिट्०,
रायबहादुर श्री शुकदेवबिहारी मिश्र

दर्शन-शास्त्र वेदान्त का कथन करता है। वेदान्त क्या है यह आगे कहा जायगा। भारतीय दर्शनशास्त्र का कुछ भी ज्ञान रखने के लिए ज्योतिषशास्त्र के वर्तमान आविष्कारों के अनुसार विश्व को भी थोड़ा बहुत जान लेना ठीक समझ पड़ता है। पृथ्वी का व्यास ८००० मील है। यह कुछ-कुछ अण्ड गोलाकार है तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव के पास कुछ (प्राय: २७ मील) दबी हुई भी है। इन दोनों ध्रुवों के बीच की कल्पित रेखा को अक्ष या भ्रमणाक्ष कहते हैं। भूमि इसी पर लट्टू की भाँति नाचा करती है तथा आगे भी बढ़ती जाती है। इन्हीं दोनों चालों से दिन रात अथच ऋतु परिवर्तन होते हैं। आगे चलने में पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। इस परिक्रमा के मार्ग का नाम कांतिवृत्त है, जो अण्डाकार होता है। पृथ्वी की परिक्रमा करने में चन्द्रमा को प्राय: ३५५ दिन लगते हैं। सूर्य की परिक्रमा पृथ्वी एक साल में करती है। पृथ्वी और चन्द्र दोनों पश्चिम से पूर्व की ओर चलते हैं। समुद्र में ज्वारभाटा चन्द्राकर्षण के बल पर आता है। वह पृथ्वी से २,३८,००० मील की दूरी पर है। चन्द्र में कभी जीव जन्तु थे किन्तु अब वह वायुशून्य एक मृत जगत् है। वहाँ पन्द्रह-पन्द्रह दिनों के दिन रात होते हैं। दिनों में वहाँ बड़े कड़ाके की गर्मी और रात में बड़ी करारी ठंडक होती है। सूर्य का व्यास पृथ्वी से १०८ गुना है किन्तु तोल में वह पृथ्वी से केवल ३,२०,००० गुना है। वह समय के साथ सिकुड़ रहा है। सौर-परिवार में दस ग्रह हैं अर्थात् बुध, शुक्र, पृथ्वी, मंगल, अवान्तर ग्रह, गुरू, शनि, यूरेनस, नेप्चून और प्लूटो। इसी क्रम से इन ग्रहों के एक एक साल (अर्थात् सूर्य के इनके द्वारा चक्कर) हमारे ८८, २२५, ३६५, ६८७, २२००, ४३३२, १०७५९, ३०६८७, ६०१२७ तथा ९१३१२ दिनों के होते हैं। प्लूटो का एक वर्ष हमारे ३० वर्षों का है। प्राचीन ज्योतिषी अन्तिम तीनों ग्रहों को नहीं जानते थे तथा अवान्तर ग्रहों का जानना भी सन् १८०१ में प्रारम्भ हुआ। मंगल में मनुष्य के समान लोग होंगे तथा शुक्र में शायद वृक्षों के ही समान वस्तुएँ। शनि के उपग्रह टाइटन

में प्राणियों का होना सम्भव है। शेष सारे ग्रह तथा उपग्रहादि मृतजगत् हैं। इनमें कोई वृद्ध है, कोई युवा, किन्तु बृहस्पति अभी बालक है। यूरेनस पहले पहल सन् १८७१ में देखा गया, नेप्चून सन् १८४१ में तथा प्लूटो सन् १९३० में। प्रति वर्ष असंख्य उल्का पृथ्वी, सूर्य आदि पर गिरा करते हैं। नेप्चून सूर्य से २ अरब ७८ करोड़ मील दूर है। कई केतु इससे भी दूर जाते हैं। हमारा कहने सुनने भर का कुछ पुष्ट ज्ञान उपर्युक्त सौर परिवार मात्र का है। इनमें केवल सूर्य एक तारा है; शेष सब ग्रह उपग्रह, केतु, उल्का, अग्निकन्दुक आदि हैं।

आकाश में लाखों करोड़ों तारे हैं जिनमें कई सूर्य से बहुत बड़े हैं। स्वाति तारा सूर्य से साढ़े तीन लाख गुना है तथा कैपेला ४००० गुना। सैकड़ों तारों के अपने अपने सौर परिवार हैं जिन सबको लिए हुए वे प्रति सेकिण्ड सैकड़ों मीलों तक की गति से न जाने किधर जा रहे हैं। सम्भवतः वे भी किसी का परिक्रमण करते हैं। कोई सूर्य बालक है, कोई युवा, कोई वृद्ध, कोई मृत और कोई गर्भस्थित तथा कोई आगे गर्भ में आवेंगे। आकाश गंगा तथा सैकड़ों नीहारिकाओं में नित्य नए तारों के बनने का क्रम चलता रहता है। तारों की अवस्था उनकी ज्योति के रंगों से परखी जाती है। हमारे सूर्य प्रायः ४० वर्षवाले मनुष्य के समान अवस्था में है। इनकी अवस्था का एक-एक सेकिण्ड हमारे हजारों लाखों वर्षों का होता है। मृत सूर्यों में भी बहुतेरे अभी खण्ड-खण्ड नहीं हुए हैं वरन् अपनी ज्योति और गर्मी खोकर अपने मृत ग्रहों आदि के साथ पुराने मार्ग पर चले जा रहे हैं। इस प्रकार विश्व में कोटिकोटि ब्रह्माण्ड प्रस्तुत हैं जिनकी पूरी गणना जानने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। यह सारा कारबार गुरुत्वाकर्षण आदि के बल पर चल रहा है। ज्योति एक सेकिण्ड में १,८६००० मील चलती है। ऐसे भी तारे हैं जिनकी ज्योति हमारी पृथ्वी पर लाखों वर्षों में पहुँचती है। यदि वे आज नष्ट हो जाँय तो भी लाखों वर्षों तक हमें जैसे के तैसे चमकते हुए दिखेंगे। इन तारों के ग्रह, उपग्रहादि में कौन या कितने मृत या जीवित जगत् हैं, यह बताना असंभव है।

कारणार्णव में पहले छोटे-छोटे असंख्य कण होंगे जो गुरुत्वाकर्षणादि शक्तियों के कारण आपस में टकरा टकराकर छोटे बड़े गोले बनाते रहे। ये गोले भी टकरा-टकराकर एक दूसरे में मिलते रहे होंगे। समय के साथ ऐसे गोले तैयार हो गए जिनके मार्ग मुख्य गोलों से पृथक् होने से उनमें यह टकराने का क्रम समाप्त हुआ। नियम यह है कि यदि कोई छोटा गोला किसी बहुत बड़े के प्रभाव क्षेत्र में आ जाता है तो उससे मिलने के पूर्व पहले ही से खण्ड-खण्ड हो चुकता है। समझा जाता है कि हमारा सूर्य पहले केवल अकेला होगा जिस दशा में वह किसी भारी तारे के प्रभावक्षेत्र में कुछ काल के लिए आ गया किन्तु खण्ड-खण्ड होकर और उसमें मिलकर समाप्त होने के स्थान में फिर बाहर निकल गया। इस बीच में उसकी आकर्षण शक्ति के कारण उसकी ओर सूर्य का वृत्त कुछ लम्बा हो गया तथा कीली (अक्ष) पर घूमने के कारण कई खण्ड उससे निकल निकलकर बाहर चक्कर लगाने लगे। यह दश ग्रह हो गए। ग्रहों के रूप पूरे गोल न होकर पहले कुछ बेडौल-से थे सो अपनी अपनी धुरी पर घूमने के कारण उनसे भी कुछ भाग निकलकर उपग्रहादि होगए तथा अपने-अपने ग्रह के चक्कर लगाने लगे। हमारा चन्द्रमा इसी प्रकार बना हुवा समझा जाता है। यहाँ तक सोचा जाता है कि जहाँ अब प्रशान्त महासागर है वहीं से भू-भाग निकलकर चन्द्र बन गया होगा। बृहस्पति के ९ चन्द्र हैं जिनमें चार मुख्य हैं। बृहस्पति को मिलाकर पाँचों मुख्य गोले एक ही सीधी रेखा के रूप में है। शनि के भी कई उपग्रहादि हैं। ऐसा ज्ञात हुवा है कि हमारा सूर्य डेल्टा लायरी नामक तारे की ओर अब भी जा रहा है। सूर्य प्रति सेकिन्ड ११ मील चलता है।

तारे अधिकतर गजमार्ग (आकाश गंगा) में या इसके निकट देख पड़ते हैं। आकाशस्थ जो अंश इससे जितने ही दूर हैं उसमें उतने ही कम तारे हैं। तारों की संख्या ५० या ६० करोड़ से कम न होगी, ऐसा कूता गया है। जितना आकाश हमें दिखता है, सम्भवतः उसके बाहर भी तारा-समूह-पूर्ण दूसरा आकाश हो। इस प्रकार के कई लोकों पर ज्योतिषियों का उचित विश्वास है। सारे विश्व की सृष्टि या प्रलय का कथन असंगत है क्योंकि उत्पत्ति और नाश विश्व के अंश-मात्र का होता है। आदि में केवल आकाश होगा जिसका कुछ अंश वाष्पपूर्ण (कारणार्णव) हो जाता है। एक-एक नभस्तूप में बहुतेरे तारे बनते हैं। ओरायन आदि ऐसे सैकड़ों नभस्तूप हैं। ज्योतिषियों ने उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार से लगाया है— नभस्तूप, नीलशुक्ल तारे, श्वेततारे, पीले, लाल, श्याम-लाल, मृत, भस्म होते हुए तारे आदि! सभी प्रकार के तारे आज

भी आकाश में देखे जाते हैं। एक रंग के तारे आकाश में पास-पास दिखते हैं जिससे समझ पड़ता है कि उनकी उत्पत्ति प्राय साथ ही साथ हुई होगी। तारों के समान कभी कभी ग्रहों की भी उत्पत्ति नभस्तूपों में हो जाती है किन्तु इनका वयक्रम तारों से बहुत कम होता है। इनका जीवन तो भी तारों के ही प्रकार से चलता है। पृथ्वी में पहले निरन्तर पानी बरसता करता होगा। ऐसे समय में बादल पृथ्वी की ही गर्मी से विशेष बनते थे। जब धीरे धीरे पृथ्वी ठण्डी हुई तब यह बादल कम बनने लगे और एकत्रित जल से समुद्र बन गए। समय पर यहाँ वायु और जल की कमी होगी और पृथ्वी की वही दशा हो जायगी जो आजकल मंगल की है। जो जीवधारी उस थोड़े जल वायु में रह सकेंगे वही जियेंगे, शेष नष्ट हो जायँगे। जब समय पर इतना जल वायु भी न रह जायगा, तब कई अन्य ग्रहों के समान पृथ्वी भी मृत जगत बन जायगी; समय पर भस्म होकर फिर कारणार्णव में परिणत होगी और तब किसी नभस्तूप का अंश होकर शायद कोई सौर परिवार बनने में इसके भी कण योग दें। यही वास्तविक प्रलय और उत्पत्ति का क्रम है।

आज भी एक-एक तारा प्रवाह में हजारों सौर चक्र हैं तथा जगत में सैकड़ों तारा प्रवाह हैं। प्रति-क्षण उत्पत्ति और विनाश का बाजार तारों के सम्बन्ध में भी गरम रहता है। जगत में स्थान की अनन्तता भी चित्त को चक्कर में डालती है। आकाश में स्थान कहाँ तक फैलता चला गया है सो ध्यान में नहीं आता। ईस्टिन महोदय का एक सिद्धान्त निकला है जिसके अनुसार स्थान सान्त होकर किन्हीं (वृत्तों) चक्करों से भी चलता है सीधा नहीं। उधर इन वृत्तों के आगे भी किसी न किसी रूप में स्थान होगा ही। समय की भी अनन्तता होती ही है जो समझ में नहीं आती। कहा जाता है कि बिना पृथ्वी के अपनी कीली (अक्ष) पर घूमने के हमें समय का बोध जब हो ही नहीं सकता था, तब जहाँ पृथ्वी सूर्यादि का पता नहीं है, वहाँ समय भी नहीं है। इस तर्क पर भी निश्चय नहीं जमता है। समय की हमारी नाप पृथ्वी की चाल से भले ही हो, किन्तु बिना नाप के भी समय है ही क्योंकि कुछ स्थानों में जब पृथ्वी की चाल से हम समय नापते हैं तब बिना चालवाले इतर स्थानों में भी तो वही समय बीतता है। सृष्टि के उपर्युक्त क्रमों पर ध्यान देने से ईश्वरीय प्रति दिन में संसारोत्पत्ति तथा प्रति रात्रि में उसके विनाश की कल्पना असंगत दिखने लगती है। विश्व में उपर्युक्त सभी पदार्थ सम्मिलित होने से उसकी ससीमता की कल्पना भी जँचती नहीं। आकाश जगत का अंग है ही और वह अनन्त भी है। ऐसी दशा में ईश्वर उसके अन्दर तो हो सकता है किन्तु बहिश्च (बाहर भी) कैसे है यह सहज बुद्धिगम्य नहीं, क्योंकि विश्व जब असीम है तब उसके बाहर क्या हो सकता है? इन्हीं सब बातों का कथन वेदान्त में आने से ज्योतिष के अनुसार पहले जगत का कथन कर दिया गया है जिसमें स्थान स्थान पर उसके समझने में भ्रम पड़ने का खटका न रहे। अब वेदान्त का विषय उठाया जाता है।

वेदान्त—हमारे यहाँ के धार्मिक विचारों में चारों संहिता, सारे ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक ग्रंथ अनादि और अपौरुषेय हैं तथा सबकी संज्ञा वेद है। यहाँ पर हम विश्वासात्मक भावों पर न जाकर तर्कात्मिक विचारों के आधार पर कथन करेंगे तथा संहिता को वेद कहकर इतर ग्रंथों को उन्हींके नामों से पुकारेंगे। मुख्यतया उपनिषद् के आधार पर ही वेदान्त हैं तथा ब्रह्मसूत्र (वेदान्त दर्शन) वेदान्त के उपकारी मात्र हैं और केवल गौणरूप से वेदान्त कहे जा सकते हैं। ब्रह्म, जीव और जड़ को तत्वत्रय कहते हैं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार वेद की शाब्दी भावना नित्य नहीं वरन अर्थी भावना (प्रज्ञा) मात्र नित्य है। भागवत पुराण में ब्रह्मा आदि कवि कहे गए हैं। उपनिषत्कार हमारे ऋषिगण बुद्धि (Intellect) से तो विशेष काम लेते ही थे किन्तु प्राय: बोधि (Intuition) का भी प्रयोग अपने निर्णयों पर पहुँचने को करते थे। यहाँ तक माना गया है कि ऋषियों की प्रधानता बोधि में है तथा टीकाकारों की बुद्धि में। फिर भी दर्शन के निष्कष बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य हो सकते हैं न कि बोधि द्वारा। बोधि का मान धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नहीं। हमारे यहाँ दर्शन थोड़ा बहुत धर्म से मिला रहा है तथा पीछेवाले दार्शनिक अपने पूर्ववर्तियों का मान आवश्यकता से इतना अधिक करते रहे कि उन्होंने अपने नवीन विचारों तथा आविष्कारों का कथन नवीनता के रूप में न करके प्राचीन शब्दों के ही नवीन अर्थ लगाकर अपने को नवदार्शनिक न कहकर प्राचीनों का टीकाकार मात्र कहा। ऐसी दशा में जो नवभाव प्राचीन शब्दों में किसी भाँति न लाए जा सके होंगे उनके कथन ही न किए गए होंगे। इस प्रकार पूर्ववर्ती दार्शनिक ऋषिगणों परवर्त्तियों

के लिए न केवल पुराने दार्शनिक वरन धार्मिक गुरू भी माने गए और दर्शनों का धार्मिक भाव क्षीण होने के स्थान पर दिनों-दिन वृद्धिगत होता गया। फल यह हुआ कि यद्यपि श्रीस्वामी शंकराचार्य औपनिषद्-आर्षमण्डल से मानस महत्ता में कम न थे, वरन कुछ बढ़े चढ़े ही थे, जैसाकि पाश्चात्य विद्वान समझते भी हैं, तथापि स्वयं उन्होंने अपने को उनका टीकाकार मात्र माना तथा भारतीय विद्वन्मण्डली में यही भाव मान्य समझा जाता रहा। इसी भाँति यद्यपि जनता में निर्गुण भावों की अग्राह्यता के कारण स्वयं बादरायण व्यास ने सगुण ब्रह्म का भी निर्गुण के साथ कथन किया, तथापि इन दोनों में कोई वैपरीत्य न मानकर परमात्मा का चिन्तवन इन दोनों भावों से ठीक माना, यद्यपि निर्गुण ब्रह्म का जैसा कथन प्राचीन ऋषियों ने किया था, उसके अनुसार परवर्ती सगुण कथन के कई अंशों में उससे प्रतिकूलता थी ही। फिर भी हमारे आचार्यो ने इस प्रतिकूलता को बिलकुल भुलाकर इन दोनों भावों में अनुकूलता का ही दिग्दर्शन कराया। उन्होंने गीता तक में यही कहा कि निर्गुण भाव बहुत कठिनता से निदिध्यासन में आ सकता है अतः सगुण विचार शीघ्र फलप्रद होने से एक प्रकार से श्रेष्ठतर है, यद्यपि सत्य दोनों हैं। ऐसी नम्रता कथन में शोभाप्रद होकर भी है वास्तव में असत्य और जब लोक में शालीनता मात्र न समझी जाकर वह तथ्य भाषण के रूप में ग्राह्य हो जाती है, तब दर्शनशास्त्र में न्यूनाधिक अतथ्यता आकर उसकी उन्नति को अवरुद्ध करही देती है।

हमारे उपनिषदों में सारे संसार का प्राचीनतम दर्शनशास्त्र निहित है और जितनी उन्नति उस प्रागैतिहासिक समय तक हमारे ऋषियों ने करली थी, उसे देखकर महदाश्चर्य होता है। फिर भी कोई भी रचयिता कैसा भी मनीषी होने पर भी सब समयों के लिए समष्टिरूप से सारे संसार के सभी विद्वानों से श्रेष्ठतर नहीं हो सकता। संसार में नवीन आविष्कार होते ही रहते हैं, जिनके सहारे सभी शास्त्रीय विभागों में नव विचारोत्पादन होता रहता है जिससे नवीन भाव उठते जाते हैं। सन् १८९७ ई० में पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र की जो स्थिति थी, उसकी महत्ता केवल पचास वर्षोवाली उन्नति के देखते हुए बहुत कुछ कम हो गई है तथा उनके दार्शनिक विचार इतने ही समय में बहुत आगे बढ़ गए हैं। यहाँ अपने दर्शन-शास्त्र ने धर्म के रूप में गोस्वामी तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु तथा वल्लभाचार्य के समयों तक तो कुछ परिवर्तन दिखलाए, किन्तु उसके पीछे कोई कथनयोग्य उन्नति नहीं हुई, वरन् उस काल की उन्नति भी, दार्शनिक विचारों से, एक प्रकार की अवनति कही जा सकती है। इधर आकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रायः मध्य से कुछ नव विचार धर्म एवं दर्शन के क्षेत्र में प्रारम्भ हुए भी हैं जो अब भी चल रहे हैं तथा पाश्चात्य दार्शनिक विचारों का भी प्रभाव पड़कर भारत में सभी विभागों में विचार स्वातंत्र्य की वृद्धि कर रहे हैं। अपने वेदान्त में विशेषतया निर्गुण-सगुण ब्रह्म, जीवात्मा, परमात्मा, जगदुत्पत्ति, भूमावाद आदि के कथन रहते हैं। अब इन्हीं निगूढ़ विषयों में से एक एक को लेकर हम पहले उन पर शास्त्रीय विचार प्रकट करेंगे।

वेदान्त-ग्रंथों का कथन—वेदान्त का विषय उठाने के पूर्व अपने प्राचीन ग्रंथों का कुछ कथन आवश्यक है क्योंकि उनके अवतरण इस लेख में बहुतायत से आएँगे। अपने यहाँ प्राचीनतम सभ्यता हड़प्पा (३३वीं शताब्दी बी० सी० अर्थात् ईसापूर्व) तथा मोंहजोदड़ों (२८वीं शताब्दी बी० सी०) की है। यह समय पाश्चात्य पंडितों तथा ऐतिहासिक रीति पर चलनेवाले भारतीय पंडितों के मतानुसार हैं जिनसे प्राचीन धार्मिक विचाराश्रयी महाशयों का मतैक्य नहीं है। हड़प्पा और मोंहजोदड़ों में लेख मिले हैं किन्तु अभी वे दृढ़तापूर्वक पढ़े नहीं गए हैं। वहाँ इतर धार्मिक मामलों के अतिरिक्त योग का भी विचार प्रस्तुत है। हमारे ऋग्वेद का समय २१वीं से दसवीं शताब्दी ई० पू० तक का बैठता है। अथर्ववेद शायद इससे कुछ पहले से चलकर प्रायः आठवीं शताब्दी ई० पू० में समाप्त हुआ होगा। सामवेद प्रायः ऋक् का संकलन है तथा यजुर्वेद का समय ऋक् से पीछे से चलकर बहुधा आठवीं शताब्दी ई० पू० तक चलता है। ऋग्वेद में परमात्मा का कथन है किन्तु पुरुषसूक्त से इतर ईश्वर का नहीं। इस सूक्त में भी वर्णन अलंकारिक मात्र है। यजुर्वेद तथा अथर्व में शिव परमात्मा हैं।

अनन्तर ब्राह्मणकाल चलता है। ये ग्रंथ अब ७० हैं यद्यपि पहले कुछ अधिक थे। प्रत्येक ब्राह्मण का अन्तिम अध्याय एक-एक उपनिषद् है जिनमें ज्ञानकाण्ड है तथा शेष ब्राह्मणों में कर्मकाण्ड। उपनिषद् ११९४ हैं जिनमें से १५० अच्छे हैं। उनमें भी दश की मुख्यता है। आरण्यक बारह तेरह हैं जिनके विषय ब्राह्मण और उपनिषद् दोनों से मिलते हैं। इसके

पीछे सूत्रों का विषय चलता है जिनसे स्मृतियों का जन्म हुआ। वैदिक समय से ही ऐतिहासिक सामग्री भी स्मरण-शक्ति द्वारा रक्षित किया गया जिससे पहले चार संहितायें बनीं, तब प्राकृत पुराण और अन्त में वर्तमान सांस्कृत पुराण। षड्दर्शन में सांख्य, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमाँसा, उत्तरमीमाँसा और योग के विषय हैं। इन सब में वेदान्त का समर्थन विशेषतया बादरायण व्यासकृत उत्तरमीमांसा से होता है। ब्राह्मणों में पञ्चविंश और तैत्तिरीय सब से पुराने हैं। इनके पीछे जैमिनीय, कौशीतकि और ऐतरेय की गणना है। शतपथ नया है। ये सब बुद्ध से पूर्व के हैं। ऐतरेय और शतपथ मुख्य ब्राह्मण हैं। उपनिषदों में बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय और कौशीतकि सबसे पुराने हैं। दूसरी में प्रश्न, मुण्डक, और केन के प्राचीन भागों की गणना है और तब इसी कक्षा में कठ, ईश, श्वेताश्वतर और महानारायणीय आती हैं। तीसरी कक्षा में मैत्रायणीय और माण्डूक्य हैं तथा चौथी में अथर्ववेदीय उपनिषत् गण। बृहदारण्यक, छान्दोग्य, जैमिनीय, केन और कठ के अतिरिक्त कोई उपनिषत् बुद्ध से पुराना नहीं समझा जाता। श्वेताश्वतर गीता से पहले का है। उसके समय तक शैव ईश्वरत्व चलता था। अब वेदान्त को लीजिए।

ब्रह्म का निर्गुण कथन—(१) **यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह। तैत्तिरीय ।।२।४।१।**
जहाँ मन से उसे न पाकर वाणी पलट आती है, अर्थात् परब्रह्म न मन से पाया जा सकता है न वाणी से कहा जा सकता है।

(२) **नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।। कठ० ३, १२।**
ब्रह्मवाणी, मन अथवा आँख से नहीं जानी जा सकती। अवचन द्वारा ही उसका निर्देश है।

(३) **अवचनेनैव ब्रह्मप्रोवाच इति श्रूयते ।। ब्रह्मसूत्र, शंकरभाष्य ३।२।१७।**
ऐसा सुना जाता है कि ऋषियों ने ब्रह्म का विवरण मौन से ही किया है।

(४) **न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाक् गच्छति न मनो। न विद्मो न विजानीयो यथैतदनु शिष्यात् ।। केन ३।**
वहाँ (ब्रह्म में) आँख नहीं जाती न वाणी जाती है न मन, न बुद्धि। नहीं जानते उसका उपदेश कैसे किया जाय।

(५) **सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् इति। छान्दोग्य ।।३।५।१।**
यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है। तज्जल=तज्ज (उससे उत्पन्न), तल्ल (उसमें लय) तदन (उसमें स्थित); ऐसा है।

(६) **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।। तैत्तिरीय ३।१।**
जिससे सभी जड़ चेतन उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न भूत (जड़ चेतन) जीते हैं, अन्त समय में जिसमें लीन हो जाते हैं।

(७) **अपाणिपादो जवनो गृहीता पश्यत्यचक्षुः सशृणोत्यकर्णः। सवेत्ति वेद्यंनच तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ।। श्वेताश्वतर ।।३।१९।**

वह बिना हाथ के पकड़ता, बिना पैर के चलता, बिना आँख के देखता, बिना कान के सुनता, और सब ज्ञातव्यों को जानता है किन्तु उसका जाननेवाला (कोई) नहीं है। उसी को महान् पुरुष कहते हैं।

(८) **अणोरणीयान महतो महीयान् ।। कठ २।२।**
वह छोटे से भी छोटा (तथा) बड़े से भी बड़ा है। उसका ज्ञान कवियों ने बुद्धि (Intellect) के ऊपर बोधि (Intuition) द्वारा माना है। बुद्धि तक तो तर्कवाद है किन्तु बोधि तर्काश्रित न होकर केवल महात्माओं के विचारों का हमारे लिए विश्वासात्मक विषय हो जाता है, जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है।

(९) **शास्त्रयोनित्वात्। बाद० ब्र० १।१।३।** (एकमात्र ब्रह्म शास्त्र के लिए मीमांसा की वस्तु है) **सामान्य प्रतिषेधात् ।। बाद० ब्र० ३।२।२६** (उससे इतर कुछ नहीं है।)
श्रुति उसे "**नेतिनेति**" (वह यह नहीं है, वह यह नहीं है) कहकर बतलाता है।

(१०) **अशब्द मस्पर्शमरूपमव्ययम् ।। कठ० ३।१५** (उसके शब्द, स्पर्श, रूप, समाप्ति आदि कुछ नहीं है।)
तदेतद् ब्रह्म मपूर्व्वमनसा मनन्तरमवाह्यम् ।। बृहदारण्यक० २।५।१९।

(उसके ब्रह्म के पहले, पीछे, भीतर या बाहर अन्य कुछ भी नहीं है।)

तदनन्यत्वम्। बाद० ब्र० २।१।१४। (संसार ब्रह्म से अभिन्न है।)

(११) एष ब्रह्मैष इन्द्र, एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च भूतानि पृथिवी वायु आकाशआपो ज्योतिषी-न्येतानीमानि चक्षुद्र मिश्राणीव बीजानी तराणि, चेतराणि चाण्डजानि च जरायुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि, चाश्वागावा पुरुषा हस्तिनो यत् किञ्चेदेप्राणि जंगमंचपतत्रिच यच्च स्थावरम् सर्वं त प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् प्रज्ञानेत्रोलोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठिता प्रज्ञानं ब्रह्म। ऐतरे० ३-३२,

यह (सब) ब्रह्म है और यही इन्द्र है और यही प्रजापति है और सब ये देवता ब्रह्म हैं पञ्चमहाभूत (अर्थात्) पृथ्वी, वायु आकाश, जल, तेज ये ब्रह्म हैं और क्षुद्र मिलनेवाले जीव भी और कारणकार्य और इनसे इतर अण्डों से उत्पन्न होनेवाले और गर्भाशय जात् जीव और पसीने से उत्पन्न होनेवाले (कीड़े मकोड़े) और वृक्षादि ये सब ब्रह्म हैं और घोड़े, गऊ, बैल, मनुष्य, हाथी और जो कुछ यह प्राणवाला चरजीव हैं और पंखवाले और जो अचल पदार्थ हैं सो सब प्रज्ञानरूप नेत्रवाले और प्रज्ञान विषे स्थित हैं और लोक प्रज्ञानेत्र है और प्रज्ञा जगत् का आश्रयभूत हैं अतएव प्रज्ञान (प्रकर्षज्ञान) ही ब्रह्म है।

(१२) सत्यम् ज्ञानम् अनन्तम् इति ब्रह्म। तैत्तिरीय० प्रथमोनुवाक।

विकारशून्य ज्ञानस्वरूप काल दिक की अवधि से शून्य ऐसा ब्रह्म है।

(१३) तदात्मानं स्वयमकुरत्॥ तैत्ति० २।७।

उस (ब्रह्म) ने खुद अपने को ही (जगत् रूप में) किया, अर्थात् कारणार्णव से क्रियाशक्ति के प्रयोग के द्वारा वह ब्रह्म जगत् रूप में हुवा।

(१४) अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्व भावेन चोभयोः। अस्तीत्येवपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति॥ कठ० १३।११४।

वह है, बस इतने ही विचार से वह प्राप्त हो सकता है और पंचतत्त्व सम्बन्धी कार्य, इन्हीं दो से (प्राप्त होने योग्य) हे। वह है; इस विचार को जो पा गया है उसके चैतन्य शरीर और इन्द्रियों के समुदाय प्रसन्न होते हैं।

(१५) तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥ईशो० ५।

वह चलता है वह नहीं चलता (जो भाव चलने का हम समझते हैं उस प्रकार नहीं चलता किन्तु क्रियाशक्ति व्यवहार के कारण उन शक्तियों द्वारा वास्तव में चलता है।) वह दूर है वह निकट है, वह इस सारे जगत् के बाहर है। यहाँ भी विश्वानुग और विश्वातिग का भाव कथित है।

(१६) यद्वाचा नभुदितं येन वागभ्युद्यते। तदेवब्रह्मत्वं विद्धिनेदं यदिद मुपासते॥ केन० ४।

जो (ब्रह्म) वचन द्वारा न कहा गया है (अपितु) जिसके द्वारा वाणी बोलती है, उसेही तू परमात्मा जान, उसे नहीं जिसकी उपासना करते हैं।

(१७) तंदुर्दर्शं गूढ़ मनुप्रविष्टं गुहाहितं गव्हरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्म योगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ-जहाति॥ कठ० १२।४१।

उसको (परमात्मा) जो कठिनता से जाना जाता है, छिपा हुवा है, शरीर के भीतरवाले (जीव) में भी प्रविष्ट अनादिकाल से है, जो मेधा के भीतर स्थित है और गव्हरेष्ठ (ऐसे स्थान पर है जहाँ पहुँचना दुस्तर है।) जो आकाश रूप अध्यात्मयोग से जाना जाता है, ऐसा जानकर धैर्यवान् व्यक्ति हर्ष शोक को त्याग देता है।

(१८) य एष सुप्तेषु जागर्तिकामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तस्मिंल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदुनान्यतकश्चन॥ एतद्वैत॥ कठ० ८।९४।

जो सर्वव्यापक जगत् को बनाता हुआ, परमात्मा के अर्थों को पूर्ण करने के लिए इन (सब) के सोते रहने पर भी जागता

है, वही जगत् का बीजरूप तथा ब्रह्म है, जो नाश रहित कहलाता है। उसी के सब लोग आश्रित हैं और कोई भी उसके नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकता। आश्रित होने से प्रयोजन उसीकी शक्ति से ठहरे हुए से है। वह ऐसा है।

(१९) अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव। एक स्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ।। कठ०, ९।९५।

• जैसे अग्नि एक ही, संसार में घुसकर प्रत्येक रूप के साथ उसी रूप का हुवा, उसी भाँति सारे जड़-जंगम पदार्थों में व्याप्त होनेवाला आत्मा (ब्रह्म) प्रत्येक रूप के साथ वैसा ही है तथा बाहर भी।

(२०) भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ।।३।१०४।।

उसी परमात्मा के भय (आशय) से आग जलती है, उसी के आशय से सूर्य तपता है, उसी के आशय से इन्द्र (मेघ) और वायु (काम करते) हैं और (इन चारों से इतर) पाँचवीं मौत अपने काम में लगी है।

(२१) न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदामनीषा मनसाभि क्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। कठ० ९।११०।

इस परमात्मा का रूप सामने नहीं खड़ा होता है तथा कोई इसे आँख से नहीं देखता है। हृदय (प्रेम) से, बुद्धि से तथा मन से सर्वव्यापी प्रकाशक परमात्मा जाना जाता है। जो लोग इसे जान जाते हैं वे अमर हो जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि केवल बुद्धि और विचार से ही नहीं वरन् प्रेम होने से भी परमात्मा जाना जा सकता है अन्यथा नहीं।

उपर्युक्त २१ अवतरणों से निर्गुण ब्रह्म का विवरण किया गया है। इससे जितना ऊँचा परमात्मभाव उस परम प्राचीन काल में कथित है, उससे बढ़कर किसीने आज तक नहीं कह पाया है। जगदुत्पत्ति के दो मुख्य विचार हैं अर्थात् आरम्भवाद और परिणामवाद। पहले का यह भाव है कि किसी समय में ईश्वर ने स्वेच्छा से विश्व बनाया। ऐसा सोचने में उसमें इच्छा का स्थापन करना पड़ता है जो एक दरिद्रता गर्भित भाव है क्योंकि जिसके पास कोई कमी नहीं वह इच्छा किस बात की करेगा? यदि यह कहा जाए कि संसार रचना की शक्ति रखकर भी उसके पास संसार न था जिसके रचने की उसने इच्छा की, तो भी बिना संसार के उसे कुछ तो कमी भासित हुई, तब न उसने संसार बनाया। इसीलिए आरम्भवाद कुछ नीचा भाव है, यद्यपि उपर्युक्त अवतरणों में से कुछ से निकलता अवश्य है। किसी समय में पूरा का पूरा विश्व वर्तमान रूप में ईश्वर द्वारा बनाया जाना मानने से विश्वासी पुरुष हमारे सारे अनुभवों तथा प्राकृतिक नियमों के भी प्रतिकूल जाता है। परिणामवाद का प्रयोजन यह है कि पहले कारणार्णव था जिससे प्राकृतिक शक्तियों द्वारा विश्व बना जो अब भी उन शक्तियों के व्यवहार से उन्नतिशील हैं। कारणार्णव के अनादि होने तथा शक्तियों के भी अनादि होने से ईश्वर में कभी कोई इच्छा स्थापित नहीं होती, केवल उसके नियम उन्नतिशील हैं। उपर्युक्त कई अवतरणों में बिना ईश्वरेच्छा के भी सांसारिक नियमों से जगत् का निर्माण कथित है जो निर्माण कारणार्णव की क्रमिक उन्नति से होता आया है और अब भी हो रहा है। इसीलिए कथन जगत् बनाते हुवे का है न कि बनाने का। बनाने का काम अब भी चल रहा है और अनन्त पर्यन्त चलता रहेगा। अतएव यह भाव बहुत ही ऊँचा है और कई मंत्रों से प्रतिध्वनित भी होता है। यह कहा गया है कि परमात्मा से इतर जग में कुछ नहीं है। विज्ञान भी इस बात को सिद्ध कर चुका है कि निर्जीव जगत अन्तिम अवस्था में परमाणुओं का समूह है तथा प्रत्येक परमाणु केवल शक्तियों का केन्द्र है। अतएव निर्जीव जगत् शक्तियों का केन्द्रमात्र होकर और परमात्मा का शक्ति समूह होने से उससे बाहर नहीं रह जाता। सजीव जगत् में निर्जीव से बढ़कर सजीवताभर विशेष है। जीव भी शक्ति से इतर कुछ न होकर पूरा निर्जीव और सजीव जगत् ब्रह्म का ही अंग दिखता है। इन मंत्रों में परमात्मा केवल विचारमग्न होकर इन्द्रियों की शक्ति से बाहर माना गया है। तो भी इतनी कठिनता पड़ती है कि विश्व-रूप होकर परमात्मा विश्वानुग तो है, किन्तु विश्वातिग भी है या नहीं? हमारे उपनिषदों में उसे विश्वातिग भी माना गया है। यह बात तभी कही जा सकती है जब विश्व ससीम हो। आकाश भी जब जगत् का अंग है और वह असीम (अनन्त) है ही, तब विश्व ससीम कैसे कहा जा सकता है? यह प्रश्न हमारे उपनिषदों में उठाया ही नहीं गया, फिर भी विश्व ससीम मान लिया गया, नहीं तो विश्वातिगता का भाव कैसे कहा जाता? कुछ महात्माओं से भी हमने यही जिज्ञासा की तो उनका यही

तर्क हुवा कि विश्व हमारे लिए असीम अवश्य है किन्तु ब्रह्म के लिए नहीं। उत्तर यही प्रत्यक्ष है कि कोई असीम वस्तु किसीके लिए भी ससीम न हो जायगी। फिर परमात्मा जब अज्ञेय है तब उसके लिए कोई वस्तु कैसी है सो हम जान ही कैसे सकते हैं? इन दोनों बातों के अतिरिक्त अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान के विषय में कोई शंका उठती नहीं दिखती और अपने शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान की महत्ता तो प्रत्यक्ष ही सर्वमान्य है। एक यह भी बात कही जा सकती है कि जहाँ विश्व ससीम माना गया है वहाँ वह केवल दृश्य जगत के भाव में आया है। विश्व का मूल विश् शब्द है जिससे वेद में भी विशाः और वैश्य शब्द आए हैं, जिसका सम्बन्ध चर जगत् से है। आकाश हमारे यहाँ भी असीम माना गया है। उसे उपादेयकारण मानने में ही शंका उठ सकती है। यह अर्थ लगाने से अपने शास्त्रों का विश्वातिगवाला भाव तो तर्कानुकूल हो जाता है, किन्तु अपने आचार्यों ने विश्वातिगता से जगत् के बाहर भी परमात्मा का अस्तित्त्व मानकर एक प्रकार से जो परमेश्वरीय महत्ता दिखलाई है, वह भाव लुप्त हो जाता है।

ब्रह्म का अज्ञेय कथन——(१) न सत् न चासत् शिव एव केवलः। श्वेताश्वतर, ४।१८।
वह सत् है न असत्, केवल अद्वैत शिव है।

(२) **अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ।। गीता १३।१२।**
वह ब्रह्म अनादि है, वह न सत् है न असत्।

(३) **कश्चेतनो पिपाषाणः। योगवाशिष्ठः।** ब्रह्म चेतन होकर भी पाषाण (सा) जड़ है।

यहाँ के प्रथम दो मंत्र ब्रह्म में सत्ता और असत्ता दोनों स्थापित करके प्रतिकूलता का पोषण करते दिखते हैं, किन्तु मुख्य भाव यही समझ पड़ता है कि वह हमारे लिए अज्ञेय है।

जैसे भाव परमात्मा के सम्बन्ध में कहे गए हैं, उनसे परमात्मा का भाव जगत् से अभिन्न विश्वेश्वर भाव (Pantheism) हो जाता है। इसीलिए हमारे ऋषियों ने विश्वातिगता का विचार दिखलाया है कि हम विश्व को ही ईश्वर मानने के कथन से बचें। इसका विवरण परमात्मा सम्बन्धी भूमावाद में विशेष है। उसमें ब्रह्म सम्बन्धी कई और भी ऊँचे ऊँचे भाव कथित हैं। मुख्य बात यह दिखती है कि मनुष्य की बुद्धि ससीम होने से असीमता का पूर्ण भाव उसकी समझ के बाहर है।

भूमावाद (Pantheism)——**भूमैव सुखम् माल्पे सुखमस्ति। छान्दो०** ।। भूमा ही सुख है, अल्प (मनुष्य) में सुख नहीं है।

यत्रनान्यत् पश्यति, नान्यत् श्रृणोति, नान्यत् विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति, अन्यत् श्रृणोति, अन्यत् विजानाति तदल्पम्। योवैभूमा तदमृत मथ पदल्पं तन्मर्त्यं। छान्दो० ७।१४।१।
(जहाँ और को नहीं देखता, नहीं सुनता, नहीं जानता वह भूमा (निर्गुण ब्रह्म) है। और जहाँ और को देखता है, सुनता है (तथा) और को जानता है, वह अल्प (लघु,मनुष्य) है। जो वह भूमा है वह अमर है और जो अल्प है वह मर्त्य (मरनेवाला) है।

यत्रवाअस्य सर्व मात्मैवाभूत्तत्रकेनकं जिघ्रेत्, तत् केनकं पश्येत् तत् केनकं श्रृणुयात् तत् केनकं अभिवदेत् तत् केनकं मन्वीत तत् केनकं विजानीयात्।। बृह० २।४।१४।
(जहाँ सब कुछ उसी का आत्मा ही होगा, वहाँ किसके द्वारा कौन सूंघा जायगा? वहाँ कौन किसे देखेगा, वहाँ कौन किसे सुनेगा, वहाँ कौन किससे बोलेगा, कौन किसका मनन करेगा, कौन किसे जानेगा?)

नह्यस्य प्राच्यादि दिशः कल्पन्तेऽथ तिर्यग्वाऽवाङ्वोर्ध्वंवा नूह्य एवं परमात्माऽपरिमितोऽजः। मैत्राणि उपनि० ६।१७। (उसके लिए पूर्वादि दिशाएँ नहीं हैं, ऊपर नीचे भी नहीं हैं, वह निराधार, असीम और अज है।)

नैवमूर्ध्वंन तिर्यञ्चनमध्ये परिजग्रभत्। श्वेताश्व० ४।१९। (ऊपर, बगल अथवा बीच में वह कहीं से भी घेरा नहीं जा सकता।)

पुरुष एवेद सर्वं यद्भूतं यच्चभव्यम्। (ऋग्वेद) (सब जो कुछ है, जो कुछ हुवा था अथच जो होगा वह सब पुरुष (परमात्मा) ही है।)

आत्मैवेदं सर्व्वं—छान्दो० ७।२५।२। (यह सब आत्मा ही है।)

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता। सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः॥ माण्डूक्यकारिका॥

जिस प्रकार अन्धकार में निश्चय की कमी से रस्सी में साँप की कल्पना हो जाती है, उसी भाँति आत्मा में संसार की कल्पना है। यहाँ थोड़े ही आधार पर संसार की असारता मान ली गई है जो बहुत मान्य नहीं है। यह उत्प्रेक्षा एकांग में प्रत्यक्षतया ज्ञातव्य होकर भी दूसरे पक्ष में इसी प्रकार ज्ञेय न होने से ठीक न बैठेगी क्योंकि संसार के पक्ष में अल्पायु होने से जिज्ञासु उसके मिथ्या रूप का निश्चय नहीं कर सकता।

प्रतीति मात्रमेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्। मायैव अघटन घटना पटीयसी।

(जो विश्व की प्रतीति हम सबको होती है वह माया के बल से, क्योंकि संकल्प शक्ति द्वारा माया (Hypnotism की भाँति) अघटित घटना हुईसी दिखला सकती है। यहाँ अपना शास्त्र तर्क तजकर सीधा विश्वास पर आ गया है क्योंकि यदि जादू से कोई अघटित घटना दिखलाई भी जाय तो उसके सहारे से सारा अनुभव नहीं कट सकता।)

नासतो विद्यते भावो ना भावो विद्यते सतः। (गीता)

(असत् का भाव (होना) नहीं हो सकता तथा सत् का अभाव नहीं हो सकता।)

यहाँ प्रकट है कि हमारा वेदान्त अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं कहता। इसलिए सृष्टि अनादि मानी जायगी नहीं तो अभाव से भाव की उत्पत्ति आ जायगी।

आत्मा वा इदमग्नआसीत्॥ ऐत० २।१। (यह परमात्मा ही पहले था।)

सतपः तप्त्वा इदं सर्व्वं असृजत् यदिदं किञ्च—तैत्तिरीय० २।६।

उसने तप (शक्ति का व्यवहार) करके यह जितना कुछ (सारा विश्व) है उसका सृजन किया। यहाँ इच्छा का कथन न होने से यह मंत्र आरम्भवाद में न जाकर प्राकृतिक शक्तियों द्वारा विश्व-सृजन का समर्थन करता हुआ परिणामवाद का पोषक माना जा सकता है।

तत्सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्॥ तैत्तिरीय० २।६।

विश्व को रचकर परमात्मा पीछे से उसी में प्रवेश कर गया। इस स्थान पर उपनिषद् ब्रह्म को पहले जगत् के बाहरसा मानकर आरम्भवाद की ओर चला गया है। वैज्ञानिक विचार तो ऐसा है कि जड़ और चेतन जगत् अन्त में केवल शक्ति का केन्द्र होकर सारी प्रकृति शक्ति मात्र रह जाती है जो शक्ति समूह परमात्मा से पृथक् न होने से अद्वैत मत आता है। विविध वस्तुएँ सदैव थीं और उनका अस्तित्व केवल परमात्मा में था। प्राकृतिक शक्तियों की सत्ता, स्थिरता, आयोजन तथा समय के साथ विश्व की उन्नति के ही अनुभव से हम ब्रह्म की सत्ता का विचार करते हैं। यदि जगत् का आश्रय छोड़कर परमात्मा पर विचार करें तो उसका अस्तित्व अनुभवाश्रित, विचाराश्रित, या तर्काश्रित न होकर केवल विश्वासाश्रित रह जायगा। ऐसी दशा में ब्रह्म का किसी समय जगत् में प्रवेश करना तर्कविज्ञान और विचार के प्रतिकूल जायगा क्योंकि विश्व ही के रूप में उसका अस्तित्व समझ में आ सकता है, "अन्तर्बहिश्च" का वाक्य विचाराश्रित या विज्ञानाश्रित न होकर केवल विश्वासवाद है, क्योंकि यह विचार विश्व को ससीम और परमात्मा को असीम मानता है, किन्तु जगत् की ससीमता का हमारे सामने कोई प्रमाण नहीं है, वरन् ब्रह्म का अस्तित्व हमें विश्व से ही ज्ञात है और हो सकता है। जगत् से बाहर के कथन विश्वासमात्र रह जाते हैं सोभी विज्ञान के प्रतिकूल, जिससे उन्हें असिद्ध मानना

पड़ता है जैसाकि ऊपर कहा जा चुका है। यदि यह असीमता केवल दृश्य जगत् से सम्बद्ध मानली जाय तो कोई झगड़ा नहीं रह जाता।

मयाततमिदम् सर्व्वं जगदव्यक्त मूर्तिना ।।गीता।

मैं अव्यक्त रूप से सारे जगत् में व्याप्त हूँ। यहाँ जगत् को ईश्वर का रूप शब्दों में नहीं कहा गया है किन्तु है प्रस्तुत।

अव्यक्त (प्रकृति, आत्मा) व्याप्त है ही क्योंकि जब वह शक्ति रूप है और उससे इतर कोई शक्ति नहीं तथा विश्व भी शक्ति का केन्द्र मात्र है, तब वही विश्व रूप हो जाता है। इन कारणों से यद्यपि भूमावाद ब्रह्म का कथन मात्र जगत् के बाहर होने का भी करता है तथापि वह निराधार हो जाता है, और ब्रह्म विश्वरूप ही होने से वह भूमावाद(Pantheism) (विश्वेश्वरवाद) के आगे कथन मात्र में जाता है, विचाररूपेण साधारण प्रकार से नहीं। गीता का उपर्युक्त कथन इसी मत का समर्थन-सा करता है। यहाँ परमात्मा विश्वानुगमात्र है विश्वातिग भी नहीं। "पादोऽस्य विश्व भूतानि त्रिपादस्यांमृतं दिवि"। (परमात्मा के एक पाद में सारा विश्व है और तीन पाद विश्वातिग (अमृत) हैं। यहाँ भी विश्वासवाद दिखता है। "बहिरन्तश्च भूतानाम्।" (गीता) (परमात्मा भूतों) निर्जीव सजीव पदार्थों के भीतर है तथा बाहर भी।) अतएव हमारे शास्त्रों का मत है कि ब्रह्म जगत् के परिमाणुवों में ओतप्रोत है। इस भाँति वह विश्वानुग होकर प्रपञ्चातिरिक्त भाव से विश्वातिग भी है। यह अन्तिम भाव उसकी महत्ता के कारण जोड़ा तो गया है और बोधि से बैठता भी है क्योंकि यदि उसे जगत्भर में ही मानें तो कुछ ससीमतासी दिखती है, किन्तु बोधि द्वारा प्राप्त ज्ञानवुद्ध्यातिग होने से तर्क द्वारा समर्थित न होकर विश्वासात्मकमात्र रह जाता है। इतना ही दोष इस भारी और उदार विचार में पड़ता है। "तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्" (तैत्तिरीय) स्वगुणैर्निगूढ़ाम् (श्वेता०) विश्व को रचकर वह (परमात्मा)उसी में प्रविष्ट हुवा (यहाँ आरम्भवाद आ जाता है जो विज्ञान और तर्क से ईश्वरीय महत्ता के प्रतिकूल पड़ता है।) तथा प्रपञ्च जाल से अपने आपको घेर लिया। (यहाँ भी आरम्भवाद आ जाता है।) जगत् सर्वं शरीरंते। (रामायण) (सारा जगत् परमात्मा का शरीर है) यह कथन वर्तमान विचार से भी मिल जाता है।

सर्व्वानन शिरोग्रीवः सर्व भूतगुहाशयः। सर्व्वव्यापी स भगवान् तस्मात् सर्वगतः शिवः।। (श्वेताश्व० ३।११)

सबके मुखोंवाला (अर्थात् सब मुख उसीके मुख हैं) सबके शिरोंवाला, (तथा) सबके गर्दनोंवाला वह परमात्मा सबके मध्य स्थित होने से शिव (कल्याणकर) और सर्वगत (सबके भीतर विराजमान) है।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्व्वतोऽक्षि शिरोमुखम्। सर्व्वतः श्रुतिमल्लोके सर्व्वमावृत्य तिष्ठति ।। (श्वेताश्व० ३।१६)

उसके हाथ, पैर, आँख, शिर, मुख, कान सब कहीं हैं; वह सब में व्याप्त होकर वर्तमान है। इन मंत्रों में वर्तमान विचारों का भी समर्थन है। यहाँ ईश्वर समष्टि रूप से व्यष्टियों में स्थित कहा गया है। वास्तव में शुद्ध भूमावाद को समष्टिवाद द्वारा समर्थित होना चाहिए। हमारा शरीर असंख्य cells कोषाणुओं (घटकों) से बना हुआ है। उनमें से प्रत्येक कोषाणु औरों के साथ पूर्ण शरीर स्थापन में तो योग दिया करता है किन्तु अपना स्वतंत्र जीवन भी रखता है। हमारे शरीर में प्रतिक्षण सैकड़ों कोषाणु मरते तथा नवीन उत्पन्न होते रहते हैं। शरीर बिना बदले देखने में जैसे का तैसा बना रहता है किन्तु उसके कोषाणु बराबर बदला करते हैं। इसी प्रकार सांसारिक पदार्थ प्रतिक्षण बदलते अवश्य रहते हैं किन्तु समष्टिरूप में परमात्मा उनका आधारभूत होकर भी नहीं बदलता। महेश्वर को ब्रह्म और ईश्वर को ब्रह्मा समझने का भाव धार्मिक हो सकता है, दार्शनिक नहीं।

कोटि कोट्यपुतानीशे चाण्डानिकथितानितु। तत्र तत्र चतुर्वक्त्या ब्राह्मणो हरयोभवाः।। (देवी भागवत)

ब्रह्माण्ड अयुतों करोडों हैं और उनमें से प्रत्येक में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र हैं। उन सबके समष्टि रूप महेश्वर हैं। (**ब्रह्म विष्णु शिवा, ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्म शक्तयः**) ।। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ब्रह्म की प्रधान शक्तियाँ हैं।) यह कथन धार्मिक है दार्शनिक नहीं।

महतः परमव्यक्तम् अव्यक्तात् पुरुषः परः। पुरुषान्नपरं किञ्चित् साकाष्टा सा परागतिः॥ कठ० १।३।११।

प्रकृति से अव्यक्त बड़ा है और अव्यक्त से पुरुष। पुरुष से बड़ा कुछ नहीं है। वही पराकाष्ठा और परम गति है।

उपर्युक्त विचारों से समझ पड़ता है कि हमारे जो भूमावाद से ग्राह्य विचार हैं वे (Pantheism) के आगे नहीं बढ़ते, क्योंकि हमारा विश्वानुगता का विचार Pantheistic है ही और विश्वातिगता तर्काश्रित न होकर केवल बिश्वासात्मिका है। इतना होने पर भी हमारा शुद्ध भूमावाद है सर्वोत्कृष्ट और इसके बराबर तक परमेश्वरीयभाव संसार के किसी धर्म में तो है नहीं, दर्शनशास्त्र में भी शायद न होगा। केवल Pantheism के नाम से भड़ककर हम लोगों को अपने परमोत्कृष्ट भूमावाद की उपेक्षा न करनी चाहिए।

ब्रह्म का सगुण कथन---(१) द्विरूपं हि ब्रह्म अवगम्यते, नामरूप भेदोपाधि विशिष्टं तद्विपरीतञ्च सर्वोपाधि-विवर्जितं। शंकर।

ब्रह्म के दो रूप बतलाए गए हैं, एक तो नाम रूप भेदोपाधिवाला तथा दूसरा उसके विपरीत सभी उपाधियों से विवर्जित। (इन्हीं दोनों को सविशेष लिंग और निर्विशेष लिंग भी कहते हैं।)

(२) एतद्वैसत्यकाम परञ्च अपरञ्च ब्रह्म। प्रश्नोप० ५।२।

हे सत्यकाम। यह ब्रह्म पर है और अपर भी। (सविशेष लिंग पर है तथा निर्विशेष अपर।)

(३) अभिध्येयै शब्दश्च अशब्दश्च। मैत्री ६।२२।

ब्रह्म का ध्यान शब्द और अशब्द दोनों प्रकार से करना चाहिए। (निर्विशेष ब्रह्म का कथन तत् द्वारा होता है और सविशेष का सः द्वारा।)

(४) द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्त्तंचामूर्त्तञ्च मर्त्यम् चामृतञ्च॥ बृह० २।३।१।

ब्रह्म के दो रूप हैं मूर्त्त तथा अमूर्त्त, मर्त्य और अमृत। इन दोनों प्रतिकूल भावों का तर्क से सामंजस्य नहीं हो सकता। जब संसार में ज्ञानगम्य विचारों के मान करनेवालों की संख्या पड़ते में बहुत कम निकली, तब विश्वासात्मक अपर भाव निकाला गया जो तर्क से असिद्ध होकर भी उपयोगिता से संसार में चला।

(५) लीलयावापियुज्जेरन् निर्गुणस्यगुणाः क्रियाः॥ भागवत ३।७।२।

निर्गुण ब्रह्मलीला के द्वारा गुण और क्रिया से युक्त होता है। (वह ऐसी लीला क्यों करता है; इस प्रश्न का उत्तर सुगम नहीं है।)

(६) गृहीतमायोरुगुणाः सर्गादावगुणः स्वतः॥ भागवत २।६।२९।

निर्गुण ब्रह्म खुद माया की उपाधि लेकर सगुण हो जाता है। यह तर्क के प्रतिकूल होकर भी आवश्यकता के कारण संसार में चलाया गया और जोर से चला।

(७) लोकवत् तु लीला कैवल्यम्। बाद० ब्र० २।१।३३ (सृष्टि ब्रह्म की केवल लीला है।)
वैषम्यनैर्घृण्येन सापेक्षत्वात् तथाहि दर्शयति॥ बाद० ब्र० २।१।३४।

संसार में शरीरियों के साथ जो विषमता (लोगों का भली बुरी विविध दशाओं में उत्पन्न होना) दिखती है वह उन्हीं के कर्मानुसार है अथच परमात्मा पक्षपातशून्य है। यदि कहिए कि आदि में वैषम्य क्यों हुवा, तो ऐसे वैषम्य की आदिम स्थिति का कोई प्रमाण नहीं है। पहले सब जीव समान हुए होंगे और पीछे के जन्मों में गुण कर्मानुसार विषमता आई।

(८) यस्तूर्ण नाभिः इव तन्तुभिः प्रधानजैः स्वभावतोदेवएकः स्वमावृणोत्॥ श्वेता० ६।१०।

जैसे मकरी अपने ही उत्पन्न किए हुए तारों से अपने को वेष्टित कर लेती है, इसी भाँति प्रकृतिज तन्तुओं से एक ही देव अपने को घेर लेता है। प्रयोजन यह है कि सगुण ब्रह्म भी है वास्तव में सगुणत्व से परे किन्तु जगत् के कल्याणार्थ सगुण रूप दिखता है। अतएव सविशेष और निर्विशेष कोई भिन्न तत्व नहीं, जैसे साँप और अहिकुण्डल।

(९) भक्त चित्त समासीनः ब्रह्म विष्णु शिवात्मकः। सूत संहिता ३।४८।
नमस्त्रिमूर्तये तुभ्यं प्राक् सृष्टिः केवलात्मने। गुणत्रय विभागन पञ्चात् भेदमुपेयुषे।।

तुम तीन मूर्तिवाले को नमस्कार है, जो सृष्टि के पूर्व अद्वितीय एक थे, किन्तु सत्वरजादि तीनों गुणों के विभाग से पीछे भेद को प्राप्त हुए। तुम भक्त के चित्त (मात्र) में ब्रह्मा, विष्णु और शिव होकर स्थित हो (वास्तव में नहीं।)

(१०) स्यात् परमेश्वरस्यापीच्छा वशान्मायामयं रूपं साधनानुग्रहार्थम्।। ब्रह्मसूत्र १।१।२०।।

साधकों पर कृपा करने के लिए परमेश्वर भी अपनी इच्छा के वश मायामय रूप धारण करता है। जब संसार में नेतिनेतिपूर्ण "नसन्मुखेतिष्ठतिरूपस्य" (इसका रूप सामने नहीं दिखता) वाली औपनिषत् शिक्षा संसारी साधारण मनुष्यों की ज्ञानशून्यता के कारण न चल सकी, तब इच्छापूर्ण सगुण अपर ब्रह्म का वर्णन होने लगा। पहले तो ईश्वर का विचार केवल सत्तारूप से कठोपनिषत् आदि में हुवा, अर्थात् हम यह नहीं जानते कि वह कैसा है, केवल इतना ज्ञान है कि वह है किन्तु जब स्वल्पज्ञानी साधकों का सन्तोष इस शुद्ध ज्ञान से न हुवा तब लीला और भक्तों पर अनुग्रह की इच्छा से सम्बद्ध, सगुण वर्णन किया गया और उस अव्यक्तात्मा के पर और अपर, अशब्द और सशब्द, निर्विशेष और सविशेष, निर्गुण और सगुण आदि भाव पूर्ण कुछ अशुद्ध किन्तु लोक संग्रहोपयुक्त भाव बादरायण व्यासादि तक ने कहे। इसीलिए कहा गया है कि बोधि ऋषि युग है, तथा बुद्धि भाष्यकार का।

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणोरूप कल्पना। (भक्तों के हितार्थ ब्रह्म के रूप की कल्पना की जाती है।) जब शुद्ध विचारों से उसका कोई रूप है ही नहीं किन्तु स्वल्पज्ञानी साधकों की सन्तुष्टि के लिए उस अरूप का रूप कहा जाता है, तब वह कथन वास्तविक न होकर कल्पनामात्र होगा ही। गीता के टीकाकार श्री मधुसूदन सरस्वती कहते हैं कि अवतार में भगवान का वास्तविक देह सम्बन्ध समझना ठीक नहीं है। यहाँ पर हमारा ऋषि उपयोगितावश साकार कथन करता हुवा भी उसे अशुद्ध बतलाकर निराकारता पर चला जाता है।

अरूप वदेवहि तत्प्रधानत्वात्। सूत्र ३।२।१४। ब्रह्म प्रधानतया अरूप ही कहा गया है।

सर्व्वेन्द्रिय गुणाभासं सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्।। वह सर्वेन्द्रिय विवर्जित होकर भी सर्वेन्द्रिय गुणोंवाला है। सिसृक्षा (सृष्टि रचनेच्छा) उसमें किस कारण से हुई इसका लीला के अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं दिया गया है। दिया ही क्या जाता, जब साधकों का सन्तोष बिना लीला के न हुवा तब परमेश्वर में भी यह भाव अवश जोड़ना ही पड़ा।

जगदुत्पत्ति—(१) अक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्।। मुण्डक।।

यह संसार अनन्त ब्रह्म से होता है।

(२) सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।। ऋग्वेद।।

पहले समान सूर्य और चन्द्र को धाता (धारण करनेवाले) ने कल्पित किया (बनाया)। यहाँ पहले के कथन से यह प्रयोजन नहीं है कि कभी सूर्य चन्द्रादि संसार से लुप्त होकर फिर से बने। ऐसे लोक नित्य प्रति बनते ही रहते हैं सो नवीन लोक उसी प्रकार से बने जैसे पुराने बनते थे जैसाकि ज्योतिषीय वर्णन में ऊपर आया है।

(३) तद्धेदतर्हि अव्याकृतं आसीत्।। बृहदारण्यक।।

उस दशा में (संसारोत्पत्ति के पूर्व) वह अव्याकृत अप्रकट (unmanifest) था। यह ऋचा अनुभव को छोड़कर बोधि द्वारा संसार की केवल परमाणुपूर्ण कारणार्णववाली अवस्था कहती है।

(४) सदेव सोम्या इदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्। आत्मा वा इदमेव अग्र आसीत् नान्यत् किञ्चन मिषत्। बृहदा०।

उस पहली दशा में अद्वितीय सत् एक ही था। यही आत्मा ही पहले था और कुछ भी न था। इन मंत्रों में भी उपर्युक्तानुसार ही विचार है।

(५) नासत् आसीत् तदानीं नो सत् आसीत् तदानीम्।

उस समय सत् (existence) था न असत्। यह भाव समझना कुछ कठिन है। सत् का होना तो समझ ही पड़ता है किन्तु असत् का नहीं, क्योंकि जब तक सदसत् भेद समझनेवाले ब्रह्म से इतर कोई पुरुष न था तब भी सत्ता तो थी ही (ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसे प्रतिकूल कथन हमारे शास्त्रों में प्रायः मिलते हैं जो केवल साहित्यिक हैं दार्शनिक भी नहीं।

(६) 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे'।

पहले अन्धकार के द्वारा और भी तमावृत अन्धकार था। यह दशा किसी भी सूर्य की उत्पत्ति के पूर्व कारणार्णववाली स्थिति की है।

(७) स अकामयत् बहुः स्यामप्रजायेव—तैत्ति० ॥ तत् ऐक्षत् बहुस्यां प्रजायेय—छान्दोग्य०

उसने कामना की कि प्रजा के रूप में मैं बहुत होऊं। उसने प्रजारूप में बहुत होने की इच्छा की। यहाँ दोनों मंत्रों में जगदुत्पत्ति के सम्बन्ध में ईश्वरेच्छा कथित है जो एक दरिद्रता सूचकभाव होने से परमेश्वर के सम्बन्ध में बहुत ठीक नहीं है। ये विचार ईश्वरीय सगुणत्व की ओर जाते हैं।

(८) सोऽपोभ्यतपत् ताभ्याऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत यावैसा मूर्ति रजायतान्नवैतत् ॥ ऐतरेय० १०।

उस (परमेश्वर) ने महाभूतों को तपाया (संकल्प से भावित किया) (उन तपाये हुवों से मूर्ति उत्पन्न हुई और जो वह मूर्ति उत्पन्न हुई वही निश्चय करके अन्न (भोग्य वस्तु) है। इस मंत्र में ईश्वरीय तप (स्फुरण, हरकत) से संसारोत्पादन कथित है जिसमें ईश्वरीय कामना का विचार नहीं है। ईश्वरीय तप से प्राकृतिक स्फुरण का विचार माना जा सकता है।

(९) तदन्तरस्य सर्वस्य तदुसर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ईश ५।

वह (परमात्मा) सब के अन्दर है और बाहर भी। यहाँ परमात्मा जब संसार के बाहर भी माना गया तब संसार ससीम समझा गया, किन्तु संसार की सीमा है ही कहाँ? केवल ईश्वरीय महत्ता दिखलाने को वह संसार से बड़ा कहा गया है, किन्तु जब संसार अनन्त है, तब उससे बाहरवाला भाव ठीक बैठता नहीं।

(१०) सभूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य तिष्ठत् दशांगुलम् ॥ ऋग्वेद, पुरुषसूक्त।

सारी भूमि और संसार को घेरकर परमात्मा दश अंगुल अधिक स्थित है। यहाँ दश अंगुल का कथन उदाहरणात्मक है; प्रयोजन यह है कि परमात्मा विश्वानुग (जगत् के अन्दर) तथा विश्वातिग (जगत् के बाहर भी) है।

(११) विष्टभ्याह मिदं कृत्स्नं एकांशेन स्थितो जगत् ॥ गीता १०।४२।

मैं सारे संसार को एक ही अंश से व्याप्त करके स्थित हूँ। यहाँ भी यह दर्शाया गया है कि ईश्वरीयसमग्रांश जगत् में नहीं है। फिर भी ईश्वर का ज्ञान जब हमें संसार के द्वारा ही होता है, तब उसके बाहर का भाव अनुभवातीत होने से कथन मात्र रह जाता है।

(१२) यश्च किञ्चित् जगत् सर्व्वं दृश्यते श्रूयतेऽपिवा। अंतर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्यनारायणः स्थितः। नारायण उपनिषत् १३ अनुवाक।

सारा संसार जो कुछ देख या सुन पड़ता है उस सबके भीतर और बाहर भी व्याप्त होकर नारायण स्थित हैं। यहाँ कवल दृश्य और श्रुत जगत् का कथन है, सारे जगत् का नहीं। सो यह उसके भागमात्र का कथन समझ पड़ता है, परे विश्व का नहीं। अतएव विश्वातिगता का दोष यहाँ नहीं है।

(१३) अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितानि एतादृशानि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डानि सावर्णानि ज्वलन्ति ।। छान्दो०

हमारे इस ब्रह्माण्ड के सब ओर स्थित ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड इसी प्रकार के तेज फैला रहे हैं। यह विचार उपर्युक्त ज्योतिषीय कथनों से मिल जाता है।

(१४) प्रतीति मात्र सेवैतद् भाति विश्वं चराचरम्। मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्। श्वेताश्व० ४।१०।

यह चराचरयुक्त सारा जगत् समझ भर पड़ता है अपितु वास्तविक नहीं है। प्रकृति को केवल माया समझो। वस्तु की असारता का विचार पाश्चात्य दर्शन में भी है किन्तु दृढ़ कहीं भी नहीं दिखता। वस्तुमात्र अन्त में परमाणु है जो शक्तियों का केन्द्रमात्र है। तो भी है वह सत्। सारी वस्तुएँ अन्त में शक्ति के केन्द्रमात्र होने तथा परमात्मा के शक्ति समुदाय होने से वे वस्तुएँ सत्ता केवल परमात्मा में रखती है, उससे बाहर नहीं। फिर भी है वह सत्ता वास्तविक। जीवात्मा भी अन्त में शक्तिमात्र होकर परमात्मा से पृथक् सत्ता नहीं रखता किन्तु है वह भी सत्। इस प्रकार परमात्मा से इतर जड़ चेतन की कोई सत्ता नहीं है और अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है किन्तु इस सिद्धि से प्रकृति की सत्ता कटती नहीं। आजकल भूत और रसायनशास्त्रों (Physics and Chemistry) की उन्नति से अद्वैतवाद को मायावाद से इतर तथा विवर्तवाद से पृथक् भी अपूर्व दीप्ति मिलती है जिससे अद्वैतवाद के लिए जगत् को आभासमात्र मानने की आवश्यकता अब नहीं रहती है।

(१५) प्रजाकामोवै प्रजापतिः सतयो तप्यत सतप्त्वा मिथुनमुत्पादयते रयिञ्च प्राणञ्चेति एतौ मे बहुधा प्रजा करिष्यत् इति ।। ४।। प्रश्नो०।

प्रजा के लिए उस प्रजापति ने तप तपा (शक्ति का व्यवहार किया; प्राकृतिक शक्तियों से काम लिया)। उसने तप करके एक जोड़ा उत्पन्न किया जिसमें रयि (भोग्य जड़ जगत्) तथा प्राण (भोक्ता सजीव जगत्) हैं (इस विचार से कि) ये दोनों मेरे बहुत प्रकार की प्रजा करेंगे;

जगदुत्पत्ति का कथन किसी भी धर्म में सिसृक्षा (ईश्वरीय सृष्टि रचनेच्छा) से पृथक् नहीं कथित है। दर्शनशास्त्र शुद्ध तर्क के सहारे आरम्भवाद तथा परिणामवाद पर विचार करके अन्तिम भाव को पुष्ट ठहराता है। हमारे यहाँ वेदान्त में मिलते दोनों भाव हैं, किन्तु उसकी भारी बहादुरी हम इसी बात से समझते हैं कि भूतशास्त्र (Physics), रसायन-शास्त्र (Chemistry) तथा दर्शनशास्त्र (Philosophy) की अनुन्नत प्राथमिक दशा में भी हमारे वेदान्त ने वह परमोन्नत विचार बोधि द्वारा देख तो लिया जिसका शुद्ध रूप अब उपर्युक्त शास्त्रों तथा ज्योतिष शास्त्र के परमोन्नत विचार जान लेने से हम लोगों के सामने सुगमतापूर्वक आ जाता है। अब माया, विवर्तवाद मकरी आदि के उदाहरण अनावश्यक हो गए हैं क्योंकि उपर्युक्त शास्त्रों की उन्नति से अब अद्वैतवाद सुगमतापूर्वक सिद्ध हो सकता है।

माया और प्रकृति

ब्रह्म एक मेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक है, उससे दूसरा कुछ नहीं है)। सर्व्वं खल्विदं ब्रह्म। (छान्दोग्य ३।१४।१) (यह सब निश्चयपूर्वक ब्रह्म है)। असंख्याताश्च रुद्राख्या असंख्याता पितामहाः। हरयश्च असंख्याता एकएव महेश्वरः ।। देवी भागवत ।।

(प्रति ब्रह्माण्ड से सम्बद्ध ब्रह्मा, विष्णु, महेश के होने तथा असंख्य ब्रह्माण्डों के होने से) असंख्य रुद्र कहे गए हैं, असंख्य ब्रह्मा हैं और असंख्य विष्णु किन्तु परमात्मा एक ही है। परमात्मा में "नेह नानास्ति किञ्चन" बृह० ४।४।१९) सिवा एक रसत्व के कोई विविधपन नहीं है। जो प्रकृति यहाँ देख पड़ती है उसकी परमात्मा से पृथक् कोई सत्ता नहीं है वरन् "मायान्तु प्रकृतिं विद्यात्" (श्वेताश्व० ४।१०) प्रकृति को (केवल) माया समझो। तत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्यु-दाहृतः। वस्तु के स्वरूप की प्रच्युति के बिनाही किसी वस्तु में अन्य के भाव होने को विवर्त कहते हैं। इस भाँति ब्रह्म में

जगत् का अध्यास होता है, सीप म चाँदी का, रज्जु में कभी कभी अहि का, मरुस्थली में सौर किरणों से जल का, इत्यादि। ये सब विवर्त के उदाहरण हैं।

वास्तव में हमारा अनुभव भूतों (सांसारिक जड़ चैतन्य स्वरूपों) को सत् बतलाता है, अतएव इन्हें असत् मानना अनुभव के प्रतिकूल है। भूतशास्त्र (Physics) तथा रसायन शास्त्र (Chemistry) द्वारा अब सिद्ध हो चुका है कि चैतन्य जगत् का मूल कारण जड़ जगत् ही है जिसमें चैतन्यता मात्र जुड़ गई है, तथा जड़ पदार्थों के मूल विविध परमाणु हैं जो अन्त में शक्तियों के केन्द्र मात्र हैं। यदि परमात्मा को शक्ति रूप अथवा उनका आधार मान लें तो उससे इतर भूतों की स्थिति नहीं रहती, क्योंकि जीवात्मा तक सत् होने पर भी कुछ शक्तियों का केन्द्र मात्र माना जा सकता है। इस प्रकार शक्तिवाद के सहारे सारे जड़ चैतन्यों अथच जीवात्माओं को सत् मानकर भी और अपने सांसारिक अनुभवों को पूरा मान करके भी अद्वैतवाद सिद्ध हो जाता है। ऐसी दशा में माया और विवर्तवादों की आवश्यकता नहीं रह जाती तथा अद्वैतवाद भी सिद्ध रहता है।

जीवात्मा—(१) आकाशेकं हि यथा घटादिषु पृथग् भवेत्। तथात्मैको ह्यनैकस्थो जलाधारेष्विवांशुमान्॥

जैसे एक ही आकाश घटों (मठों) आदि में अलग हो जाता है (यद्यपि घटाकाश, मठाकाश और महाकाश रहते एक ही हैं, कथन मात्र का अन्तर रहता है) उसी भाँति कई जलाधारों (बर्तनों) में सूर्य्य के प्रतिबिम्बसा परमात्मा सभी आत्माओं में पृथक् आभासित होकर भी रहता एक ही है।

(२) घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा। आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वत्जीव इहात्मनि॥ गौड़पाद (शंकर के दादागुरू)।

जैसे घटादि के टूटने से घटाकाशादि महाकाश में विलीन हो जाते हैं, उसी प्रकार देह के विनाश से जीव ब्रह्म में लय हो जाता है।

(३) अथयादर्द अस्मिन् ब्रह्मपुरे। पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चतुष्पदः॥ पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्। देहो देवालयः प्रोक्ता योजीवः स सदाशिवः मैत्रेयी २।१।

अब उस (ब्रह्म) का कथन करते हैं जो इस देहरूपी पुर में है। इसीसे देह ब्रह्मपुर कहलाता है। उसने द्विपद और चतुष्पद का पुर बनाया और पक्षी होकर तथा पुरुष बनकर उन पुरों में प्रवेश कर गया। देह को देवालय कहा है और जो जीव है वही सदाशिव है।

(४) मनसैतानि भूतानि प्राणमेद् बहुमानयन्। ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति॥ भागवत, ३।२९।२९।

इन सब भूतों को बहुत आदर के साथ मान से प्रणाम करें (क्योंकि) स्वयं भगवान कलारूप जीवद्वारा इनमें प्रविष्ट है।

(५) उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः। परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन पुरुषः परः॥ गीता १३।२३।

इस शरीर में सबसे ऊँचा पुरुष विराजमान है जो परमात्मा भी कहा गया है। वही देखनेवाला, अनुमान करनेवाला, भरणकर्ता, भोगनेवाला महास्वामी है।

(६) एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥ ब्रह्म बिन्दु, १२। आभास एवच ब्रह्म सूत्र २।३।५०।

[वह (जीवात्मा) दीखता भर है।] हर एक भूत (प्राणी) में एक ही आत्मा भली भाँति विद्यमान है जो जल में चन्द्र परछाईं की भाँति एक और अनेक रूपों में दिखता है।

(७) तथात्मैको ह्यनेकस्थो जलाधारे ष्विवांशुमान्। ऐतरेय १०।

जैसे सूर्य कई बरतनों के जलों में अलग अलग दिखता है, वैसे ही एक आत्मा अनेक शरीरों में पृथक् दिखता है।

(८) समाने वृक्षे पुरुषौ निमग्नः अनीशया शोचति मुह्यमानः। जुष्टं यदा पश्यति अन्यमीशं अस्य महिमानं इति वीतशोकः॥ मुण्डक॥

एक ही वृक्ष (शरीर) में दो पुरुष (जीवात्मा और परमात्मा) हैं। उनमें से जो निमग्न (संसार में लिप्त) है वह अनीश भाव के कारण मोहित होकर (अनेकानेक सांसारिक कारणों से) शोक करता है, (किन्तु) जब उसी में युक्त दूसरे को देखता है जो ईश (मालिक) है (तथा) महिमा (समझता) है तब शोक से पार हो जाता है।

(९) ज्ञाज्ञौ द्वौ ईशानीशौ॥ मुण्डक॥

ईश और अनीश दो हैं जिनमें एक प्राज्ञ है और दूसरा अज्ञ।

(१०) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थान सोऽहम् अहं ब्रह्मास्मि॥ (पतञ्जलि)

जब जीव महिमा में प्रतिष्ठित होकर अपने (वास्तविक) रूप में स्थित होता है तब जान लेता है कि "वह (ब्रह्म) मैं हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ।" इस प्रकार वेदान्त में जीव और ब्रह्म की अन्तिम एकता ज्ञान की दशा में मानी गई है।

(११) ह्लादिनी सन्धिनी संवित् त्वय्ये के सर्व्व संस्थितौ॥ विष्णुपुराण॥

ये तीन प्रकार की शक्तियाँ हैं जो ईश्वर में स्थित कही गई हैं। आनन्द (प्रेम) का प्रकाश ह्लादिनी शक्ति से होता है सत् भाव का सन्धिनी से और चित् भाव का संवित् से। इस प्रकार इन तीनों से सच्चिदानन्द भाव बनता है। ये तीनों शक्तियाँ जीव में अव्यक्त या अर्धव्यक्त रहती हैं, जिससे उसका ब्रह्म चक्र (संसार के शरीरों) में भ्रमण करता है; यथा, तस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे। श्वेताश्व० (इसी कारण से हंस (जीवात्मा) ब्रह्म चक्र में भ्रमण करता है।)

(१२) अविभागेन दृष्टत्वात्—बादरायण कृत ब्रह्मसूत्र ४।४।४।

मुक्त जीव का ब्रह्म से अभेद (अविभाग) हो जाता है।

(१३) ततो मां तत्त्वतोज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥ गीता १८।५५।

मुक्त जीव मुझे (ब्रह्म को) शुद्ध रूप में जानकर मुझी में प्रविष्ट हो जाता है। अतएव यह केवल मिलन न होकर बिन्दुसागरवत् पूर्ण मिश्रण है।

(१४) पुरि बसति शेते वा पुरुषः। नर और नारी दोनों पुरुष हैं। देह पुर कहा गया है और देही (जीवात्मा) उसमें बसने से पुरुष है।

"नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। श्वेताश्व० ३।१८। "पुरमेकादश द्वारं" कठ, ५।१।१।

नवद्वार के पुर (शरीर) में हंस (जीवात्मा) बाहर से क्रीड़ा करता है। ब्रह्मरन्ध्र और नाभिरन्ध्र को मिलाकर शरीर के ग्यारह दरवाजे कथित हैं।

(१५) अणोरणीयान् महतो महीयान्।

(जीवात्मा छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है।) जीवात्मा के विषय में पहले एक और स्थान पर इस निबन्ध में कहा जा चुका है। उपर्युक्त मंत्रों में जीवात्मा और परमात्मा का अन्तर काल्पनिकसा होने से जीवात्मा की वास्तविक सत्ता सन्दिग्धसी हो जाती है। मुक्ति का विचार भी संसार को बखेड़ा मात्र समझकर उससे छुटकारा पाना ही अलभ्य लाभ समझता है। जगत् को दुःखयोनि वास्तव में वे ही लोग मानते हैं जो अपने उचित भाग से बहुत अधिक सांसारिक सुख पाने का अपना अधिकार स्वयं सिद्ध समझते हैं। हमारा सारा अनुभव यही बतलाता है कि संसार का छोड़ना दुःखद तथा यहाँ रहना सुखद है, नहीं तो प्रिय लोगों की मृत्यु पर सुख मनाने और ढोल बजाने का मामला सिद्ध हो जायगा। अपनी सबसे पहली और बड़ी थाती शरीर है। वह तो एक दिन छूट ही जाता है किन्तु उसके प्रतिनिधि जीवात्मा का मरणानन्तर अस्तित्व का विचार दृढ़ मानकर मनुष्य अपने अमरत्व की आशा से सुख मानना चाहता है। मुक्ति का भाव इस आशाप्रद ज्ञान के बहुत कुछ प्रतिकूल पड़ता है। हम जीवात्मा के अस्तित्व का मरणानन्तर भी सिद्ध माननेवालों में हैं। मुक्ति से आवागमन का विचार हमें विशेष हर्षप्रद और आशाजनक समझ पड़ता है।

शूर्पारक अर्थात् सोपारा बंदर

श्री रणछोड़दास जी० ज्ञानी, एम० ए०

बहुत कम लोगों को ज्ञात होगा कि अर्वाचीन बम्बई के आसपास अनेक प्राचीन नगरों, मन्दिरों, महालयों, किलों और गुफाओं इत्यादि के भग्नावशेष बिखरे पड़े हैं। ऐसे ऐतिहासिक अवशेषों में से एक प्राचीन नगर शूर्पारक भी है। इसे हाल में सोपारा या नाला-सोपारा कहते हैं। सोपारा के समीप तीन मील की दूरी पर नाला नामक ग्राम है जहाँ प्राचीन जैन मन्दिर है। आज जिस प्रकार बम्बई व्यापार उद्योग का धाम और विदेशी वस्तुओं की आयात-निर्यात का मुख्य केन्द्र होने के नाते मोहमयी विलासपुरी बना हुआ है उसी प्रकार प्राचीन काल से ठेठ पन्द्रहवीं शताब्दी तक भारतवर्ष का प्रवेश द्वार, विदेशियों के आवागमन का महत्त्वपूर्ण नौ-प्रतिष्ठान अर्थात् बन्दरगाह था। पश्चिम भारत के इस महान नगर में भी बम्बई की तरह समग्र संसार के जन-समाज का सम्मेलन स्थान रहता था।

मोहेञ्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में ५००० वर्ष के प्राचीन अवशेष निकले हैं उनमें से अनेक वस्तुएँ ऐसी प्राप्त हुई हैं कि जिनके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उस समय भी भारतवर्ष के इन नगरों में विदेशियों का आवागमन था। यहाँ के निवासी भी ईरान, अरबस्तान, काबुल और मिश्रादि देशों में जाते रहते थे और उन देशों के साथ हर प्रकार का व्यापार चालू था। मिश्र देश अर्थात् इजिप्ट के पिरामिडों अर्थात् समाधि-स्तंभों के नीचे के तहखानों में गड़े हुए मम्मियों (सुरक्षित शवों) को जिस लकड़ी की पेटी में बन्द किया जाता था वह इमली की मजबूत लकड़ी और उन सन्दूकों पर के चित्रों का मुख्य नीलारंग जिसे वे समरे-हिन्द और हिंदिगो कहते थे, भारतवर्ष से ही जाता था और बड़ी कीमत पर बिकता था। सम्भवत: अंग्रेजी भाषा के शब्द टमरिंड और इण्डीगो इन्ही शब्दों के अपभ्रंश हैं। डॉ० रॉलिन्सन ने अपने गवेषणापूर्ण ग्रंथ में सिद्ध किया है कि कम से कम २५०० वर्ष पूर्व से भारतवर्ष के साथ विदेशियों का सम्पर्क रहा है और समुद्रयात्रा बराबर जारी थी। ईजिप्ट, ईरान, ईराक, फोनिशिया, ग्रीस, रोम, अरबस्तानादि सारे देशों के साथ भारतवर्ष का व्यापारिक सम्बन्ध था। इस सम्बन्ध के साथ-साथ धर्मप्रचार और सांस्कृतिक प्रभाव भी एक दूसरे पर पड़ते थे। पुरातत्त्व विभाग के उत्खननों द्वारा ऐसे अनेक अवशेष मिले हैं जो उपर्युक्त कथन की पुष्टि करते हैं। इसी प्रकार संसार की भिन्न-भिन्न जातियों का मिलन-स्थान शूर्पारक भी था। विदेशी विद्वानों के प्रवास वर्णनों और अन्य ग्रंथों में इस नगर के लिए सैकड़ों महत्त्व सूचक उल्लेख मिलते हैं।

पौराणिक कथाओं में शूर्पारक को परशुराम का धाम माना गया है। क्षत्रियों से निर्भय रहने के लिए सह्याद्रि पर्वत की कन्दराओं में बसे हुए ऋषि-मुनि व ब्राह्मणों के लिए समुद्र को हटाकर नई भूमि परशुराम ने निकाली व वहाँ उन्हें बसाया। यह सारा मलबार का तीस मील चौड़ा तटप्रदेश इस प्रकार निकल आया। बाद में इसे आनर्त देश का नाम दिया गया।

शूर्पारक अर्थात् सोपारा बंदर

पुराणों में वरुणादि की उपासना और यज्ञपुरुष द्वारा प्राप्त शूर्प द्वारा इस नई भूमि की प्राप्ति का एक विशेष ढंग का वर्णन है। सम्भवतः बम्बई की बेकवे स्कीम जैसी कोई योजना द्वारा परशुरामजी ने समुद्र को पीछे हटाकर जमीन निकाली होगी। इस प्रदेश का मुख्य नगर शूर्पारक था। सम्भवतः इसकी शूर्पाकार भौगोलिक रचना के कारण भी इसका नाम यह पड़ गया होगा। सोपारा के पूर्वभाग में तो समुद्रतट है, दक्षिण और उत्तर भाग की भूमि ऊँची उठते-उठते पिछली तरफ सह्याद्रि पर्वत से मिल जाती है और नक्शे में ठीक सूप जैसी दीख पड़ती है। यहाँ की नदी का नाम वैतरणी है जो पौराणिक पापनाशिनी सरिता है। रामकुण्डादि अनेक पुराने कुण्ड और तालाब यहाँ अभी तक मौजूद हैं। उदाहरणार्थ पोखरण का कुण्ड पुरानी पुष्करिणी का ही अपभ्रंश मालूम होता है। प्राचीन साहित्य में भी यहाँ के कई स्थानों के नाम आते हैं। महाभारत के वन-पर्व के ११८वें अध्याय में अर्जुन का यहाँ आने और यहाँ से समुद्रयान द्वारा सोमनाथपट्टन की यात्रा के लिए प्रयाण करने का उल्लेख है। जैन साहित्य में भी सोपारा पवित्र यात्रा स्थल माना गया है। यहाँ के मूलनिवासी शूर्पारिक कच्छ के जैन कहलाते हैं। यहाँ से कई प्राचीन जैन-प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं। यहाँ से तीन मील की दूरी पर नाला नामक ग्राम है। वहाँ एक पुराना जैन मन्दिर है उसमें भी कई पुरानी पाषाण और धातु की मूर्तियाँ हैं। इस स्थान से ही आजकल का शूर्पारक का नाम मिलाकर नाला सोपारा कहा जाता है। चौदहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जैनाचार्य जिनप्रभ सूरि ने एक ग्रंथ की रचना की थी जिसमें तत्कालीन दन्तकथाओं का संग्रह मिलता है उसमें सोपारक नगरी के राजा महासेन की पुत्री तिलकसुन्दरी के साथ श्रीपाल के विवाह की कथा भी है। इसमे सोपारक नगरी का वर्णन बड़ा ही रोचक है।

बौद्धसाहित्य में भी सोपारा का बड़ा महत्त्व है। जातक कथाओं में भगवान् बुद्ध का एक जन्म में बोधिसत्त्व सुप्पारक के नाम से यहाँ जन्म लेना माना गया है।

बौद्ध धर्माचार्यों में भिक्खु पुण्ण का नाम बहुत प्रख्यात है। पूर्वाश्रम में वे शूर्पारक नगर के पूर्णनायक नामक बड़े व्यापारी थे। बौद्ध धर्म में इन्हें दीक्षित करने के बाद इन्हें इसी प्रदेश में प्रचार के लिए भेजा गया। यहाँ इन्हें बड़ी बाधाएँ आई और खूब कष्ट भी पड़ा। इसकी बड़ी लम्बी कथा है। उस कथा में लिखा है कि फिर इन्होंने भगवान बुद्ध को स्वयम् यहाँ पधारने का निमंत्रण भेजा और वे वायुयान द्वारा सोपारा पधारे। उनके उपदेश से प्रभावित हो वाकल ऋषि जैसे कट्टर वैदिक धर्मानुरागी ने और कृष्ण व गौतम नाम के दो नागजाति के राजपुत्रों ने भी बौद्ध-धर्म का स्वीकार किया और उनके बाद और हजारों उनके अनुयायी हुए। वाकल ऋषि के आश्रम का स्थान अभी तक गास ग्राम के निकट वाकल टेकरी के नाम से पहचाना जाता है। इसही जगह एक विधवाश्रम भी था जिसमें ५०० विधवाएँ धार्मिक जीवन व्यतीत करती थीं। उन्होंने भगवान् बुद्ध से उनके नख और बालों की प्रसादी लेकर उसपर एक स्तूप बनवाया। फिर तो इस सारे प्रान्त में बौद्ध-धर्म का प्रचार हो गया। यहाँ से निकट बम्बई से कोई पच्चीस मील की दूरी पर कन्हेरी नामक पहाड़ी है जिसमें १०० से अधिक बौद्ध गुफाएँ हैं। कन्हेरी का पुराना नाम कन्हगिरी या महाभारत के अनुसार कृष्णगिरि था।

विक्रम-संवत् से पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट् अशोक ने पश्चिम भारत में और विशेषतः अपरान्त में प्रचार करने के लिए एक यवन (ग्रीक) साधु भिक्षु धर्मरक्षित को भेजा था। उस समय इस प्रदेश में यवनों की अच्छी खासी बस्ती रही होगी। इस भिक्खु ने थोड़े ही समय में यहाँ सत्तर हजार मनुष्यों को बौद्ध-धर्म से प्रभावित किया और यहीं से एक हजार भिक्षु और उससे भी अधिक भिक्षुणियाँ तैयार कर उनके द्वारा खूब प्रचार कराया।

सोपारा की बरुड़ कोट नामक टेकरी से १८८२ ई० में स्व० भगवानलाल इन्द्रजी ने एक स्तूप के गर्भ से एक पत्थर का डब्बा खोदकर निकाला था जो सम्भवतः उस स्तूप के निर्माणकाल में ही वहाँ रखा गया था। उसमें रखी हुई चीजों में कुछ मूर्तियों के अतिरिक्त भगवान् बुद्ध के भिक्षापात्र के कुछ छोटे-छोटे टुकड़े निकले हैं। साथ ही उसमें से श्री गौतमीपुत्र सातकर्णी की चाँदी की मुद्रा भी मिली है, इससे स्तूप की रचनाका काल निश्चित रूप से कहा जा सकता है। अब ये अवशेष

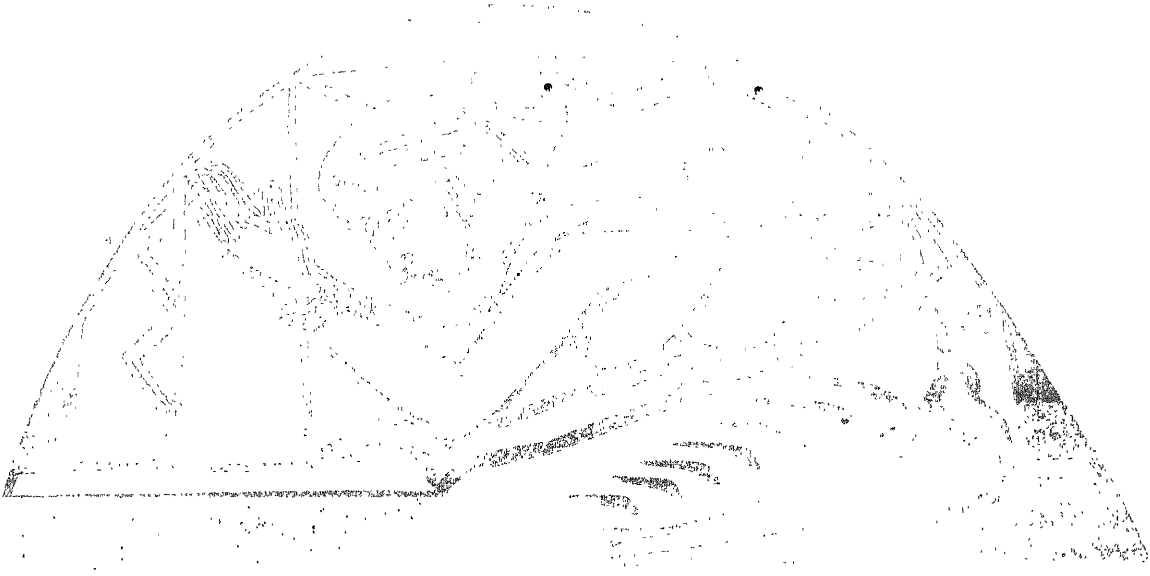
बम्बई की रॉयल एशियाटिक सोसायटी के संग्रह में है। कोई आठ वर्ष पूर्व इसी स्थान पर सरकारी पुरातत्त्व विभाग द्वारा खुदाई कराई गई थी जिसके परिणामस्वरूप पूरा स्तूप निकल आया। सम्भवतः भारतवर्ष में सबसे बड़ा ईंट का स्तूप यही होगा। इसकी परिधि करीब २८० फीट है।

पश्चिम भारत के गुफा-मन्दिरों के कुछ लेखों द्वारा भी सोपारा के दानी व धनिक नागरिकों और उस नगर के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। कार्ला के गुफा मन्दिरवाले प्रथम शताब्दी के एक लेख में सोपारा के भिक्खु धमुत्तरीय के शिष्य नन्दपुत्त सत्तमित्त द्वारा एक स्तम्भ के निर्माण के लिए धनदान का उल्लेख है। नाशिक की गुफाओं में सौराष्ट्र नरेश क्षहरात वंशीय नहपान के दामाद उषवदत्त द्वारा सोपारा में एक भव्य धर्मशाला और अन्नक्षेत्र की स्थापना कराने का वर्णन है। इसी लेख में यह भी बताया गया है कि सोपारा के रामतीर्थ नामक पवित्र स्थलवासी चरकपंथ के साधुओं के निर्वाहार्थ उषवदत्त ने बत्तीस हजार नारियल के पेड़ दान में दिए थे। नानाघाट के दूसरी शताब्दी के शिलालेख में सोपारा निवासी गोविन्ददास द्वारा वहाँ एक जलकुण्ड खुदवाए जाने की सूचना मिलती है।

अपरान्त अर्थात् कोंकण के शिलहारवंशीय राजा आनन्ददेव के शक संवत् १०१६ के शिलालेख में भभण और धनप नामक मंत्रियों को श्रीस्थानक (थाना), श्रीमूलि (चिम्बूर) और शूर्पारक (सोपारा) आदि बन्दरों पर आयात निर्यात कर से मुक्ति (Exemption) दिए जाने का उल्लेख है। इसी वंश के राजा अपरादित्य के राजत्वकाल के एक लेख द्वारा ज्ञात होता है कि सोपारा के पंडित तेजकण्ठ को काश्मीर में होनेवाली पंडित-परिषद में आनर्तदेश का प्रतिनिधि बनाकर भेजा गया था।

इसके अतिरिक्त विदेशी साहित्य में भी सोपारा का महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलता है। कुछ उदाहरण देखें।

बाइबल में सोपारा का नाम ओफीर है। इस बन्दरगाह के व्यापार-रोजगार की चर्चा उसमें है जिससे ज्ञात होता है कि यहाँ से सोना, जवाहरात, हाथीदाँत और बन्दरों की भेंट राजा तायर को भेजी गई थी। टॉलेमी ने भी सोपारा के महत्त्व का वर्णन किया है। ग्रीक व्यापारी और साधु कोसमोस कोपलियसटिस ने ५५० ई० के अपने प्रवास-वर्णन में सिबोर नाम से इस नगर का वर्णन लिखा है। दसवीं शताब्दी के प्रारम्भ (९१५ ई०) में अरब-यात्री मसूदी ने पश्चिम-भारत के मुख्य बन्दरगाहों में सुबारा का स्थान महत्त्वपूर्ण बतलाया है। इसी के समकालीन ईरानी यात्री इब्नहूकल और अल-इस्तख्री ने सुबराह और सुबराया नाम से इस नगर का उल्लेख किया है। करीब १०३० में महम्मद गोरी के योग्य मंत्री ज्योतिषी, विद्वान भूगोल और इतिहास के ज्ञाता अलबेरूनी ने भी अपने प्रवास-वर्णन में सोपारा नगर की सराहना की है। ११५३ ई० में मिसरी भूगोलज्ञ अलइद्रीसी ने सोपारा को एक वैभवशाली धनवानों का धाम और विदेश के साथ के व्यापार का मुख्य भारतीय केन्द्र लिखा है। १३२२ ई० के एक ईसाई पादरी जोरडीनस की रोजनिशी से तत्कालीन सोपारा की धार्मिक और सांस्कृतिक परिस्थिति पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। सोपारा में ईसाइयों ने गिरजाघर बनवाकर ईसाई-धर्म का प्रचार शुरू किया, उस समय उनका मुसलमानों के साथ बड़ा संघर्ष रहता था। आखिर चौदहवीं सदी में पुर्तुगीजों ने वसई में अपना किला बनवाकर सोपारा छोड़ दिया। इसके बाद से सोपारा का महत्त्व घट गया और उत्तरोत्तर उसकी अवनति हो गई। अब तो यह छोटासा गाँव रह गया है परन्तु फिर भी बड़ा रमणीय स्थान है। जगह जगह पर पुराने तालाब भरे हैं, उनमें कमल खिले हुए दीख पड़ते हैं। कुछ विशाल सरोवरों के अंश भरकर वहाँ केले और पान उगाए जाते हैं। यहाँ से हर रोज मनों शाक-भाजी, केला और पान बम्बई के बाजार में बिकने जाता है। यहाँ के मुसल्मान वही पुराने अरब व्यापारियों के वंशज हैं जो किसी जमाने में अरबस्तान से यहाँ आकर बस गए होंगे। दर्शनीय स्थानों में अब भी चक्रेश्वर और गास के तालाब, चक्रेश्वर का मन्दिर और वहाँ की संग्रहीत मध्यकालीन मूर्तियाँ और वाकलटेकरी इत्यादि हैं। प्राचीन जलयान प्रतिष्ठान यानी बन्दरगाह भी अब तो व्यर्थसा हो गया है, बहुत दूर तक रेती से पटा मैदानसा दीखता है। फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से देखनेवाले के लिए सोपारा में बहुत सामग्री मिल सकती है।



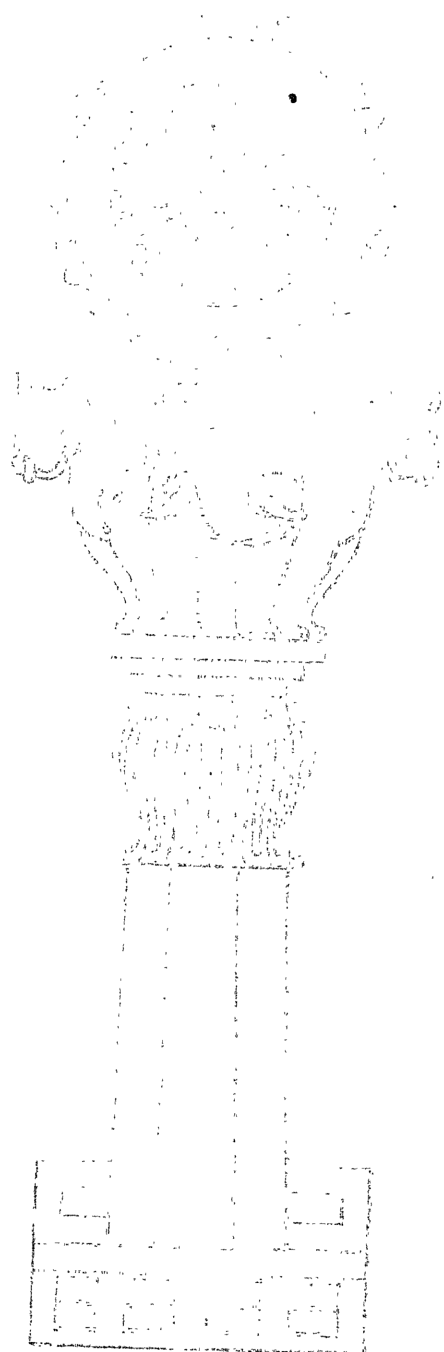
भारत तेरी संस्कृति महान्

श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय

भारत तेरी संस्कृति महान् ।
जो आदि सृष्टि के साथ चली,
जो प्रलय-अग्नि के बीच पली,
अगणित परिवर्तन देख चुकी,
युग-युग के संकट लेख चुकी,
कण्टकाकीर्ण फुलवारी में,
जो नवल पुष्प सी रही खिली,
करती आई जग को सुरभित,
दे निज सौरभ का अमरदान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

कितनी संस्कृतियाँ लुप्त हुई,
कितनी जाग्रतियाँ सुप्त हुई,
कितने इतिहास विनष्ट हुए,
साहित्य नष्ट निर्जीव हुए,
तेरी संस्कृति का चिर प्रकाश,
कब बुझा सकीं आँधियाँ प्रबल ?

श्री श्रीकृष्ण वार्ष्णेय



जो अखिल विश्व का ज्योति-केन्द्र,
जिससे कण-कण दैदीप्यमान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

जब-जब इस पर संकट आया,
भूपर अन्याय तिमिर-छाया,

तब राम, कृष्ण, गौतम, शंकर,
शिवि, दयानन्द सम ऋषियों ने,
इसकी धुँधली होती लौ में,
अपने जीवन की ज्योति मिला,

जीवन की अन्तिम घड़ियों तक,
होने न दिया आलोक म्लान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

ये जन्म-मरण के गूढ़ सार,
जग के सारे तात्विक विचार,

तेरी संस्कृति की अमर खोज,
तेरी ही संस्कृति के प्रसाद,
तेरी संस्कृति वह क्षितिज जहाँ,
परलोक-लोक का दिव्य मिलन,

वह भव्य स्रोत जिससे जग में,
बह निकला सारा आत्मज्ञान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

उस हिंसक बर्बर मानव ने,
उस पशुता जकड़े दानव ने,

जब प्रथम किया होकर सचेत,
तेरी संस्कृति का अमृत पान,
मिट गया विकृति का अंधकार,
नव ज्ञान-रश्मि फैली अनन्त,

भारत तेरी संस्कृति महान्

निद्रालस युग ने आँख खोल,
गाए जाग्रति के अमर गान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥

अब फिर से बर्बरता छाई,
मानव में दानवता आई,

फैला हिंसा का ज्वाल जाल,
तेरी ही संस्कृति का प्रताप,
ले आज अहिंसा सुधा पान,
अवतरित हुए गांधी महान्,

करने पशुता का तिमिर नाश,
मानवता को जीवन प्रदान ।
भारत तेरी संस्कृति महान् ॥



ललित कलाओं का समन्वय

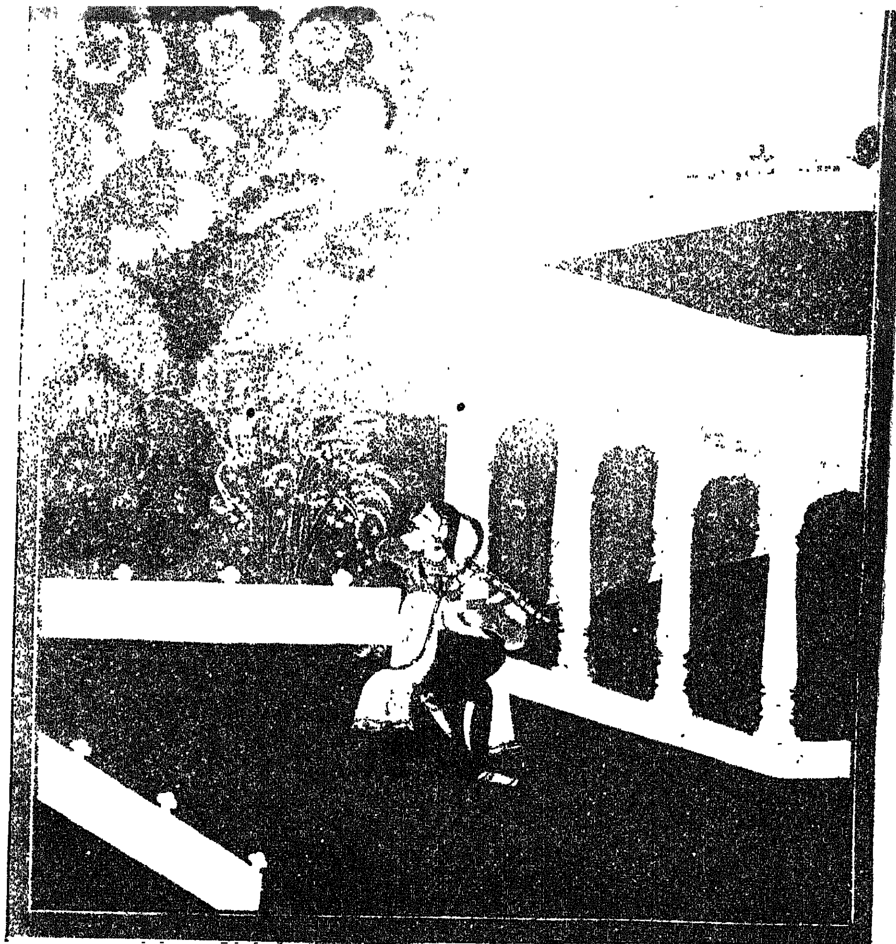
श्री डॉक्टर राधाकमल मुकर्जी, एम० ए०, पी०-एच० डी०

मानव की कल्पनाशील प्रवृत्तियाँ, अपने विशुद्धतम एवं अत्यन्त निर्द्वन्द्व, अतः अत्यधिक सार्वदेशिक रूपों में यथार्थ आलेख्यों की अपेक्षा लाक्षणिक विन्यासों द्वारा निरूपित आदर्श अथवा प्रतीकात्मक आकृतियों में अधिक सम्यक् प्रकार से अभिव्यंजित की जा सकती है। वह आदर्शवादी शैली ही है जो प्रतीकों का अधिष्ठान कर कलाकार को सूक्ष्म एवं उच्चतम आध्यात्मिक अनुभूतियों को सर्वग्राह्य माध्यम द्वारा अभिव्यक्त करने में सहायता देती है। धार्मिक कला, अपने श्रेष्ठतम रूप में, जैसे पूर्व में अजंटा, जावा, एवं होरियोजी में, अथवा पश्चिम के जियोटो, इलग्रिको तथा रोरिक जैसे कलाकारों के हाथ, समष्टिगत चेतनाओं की अभिव्यक्ति में, व्यक्त-प्रतीकों पर कम ही निर्भर करती हैं। इसी प्रकार प्रदेश-चित्र भी, यदि उचित रूप से चित्रित किए जाएँ, जैसा कि चीनी अथवा जापानी सिद्धहस्त कलाकारों, या फिर भारतीय रागमालाओं के चित्रकारों द्वारा हो सका है, तो वह सार्वत्रिक भावनाओं एवं जीवन-संगतियों की सशक्त अभिव्यञ्जना कर सकता है। पूर्वकालीन कला में कमल, वेणु, मृग, मराल, व्याल एवं केहरि जैसे पशु तथा पक्षी प्रायः प्रतीक-रूपों में व्यंजित हुए हैं, किन्तु मानवीय प्रकृति एवं अनुभूति को पूर्ण अभिव्यक्ति की ही तरह जीवन-रहस्य के किसी अंग की अभिव्यंजना में इनका भी अपना सौन्दर्य एवं सांकेतिक महत्त्व है। और जीवन के ये रहस्य और गरिमाएँ, प्रदेश-चित्रण के चित्रकार द्वारा उसी प्रकार प्रदर्शित की जा सकती हैं जैसे निर्जन प्रान्तों एवं शून्य तलहटियों में प्रवाहित निर्झरों के किनारे, एकान्त-चिन्तन से प्रसूत समष्टिगत अनुभूतियों के काव्य द्वारा, अथवा शान्त प्रभात या निशीथ की गहनता में प्रस्फुटित उस मधुर स्वर-लहरी द्वारा की जा सकती है जो मनुष्य को जीवन के विकल-उद्भ्रान्त बना देनेवाले घोर संघर्षों के निम्न-स्तर से ऊपर उठा देती हैं। जिस प्रकार चीन में चित्रकारों ने, प्रदेश-चित्रण को, कतिपय अत्यन्त सुन्दर एवं संश्लिष्ट स्तर तक उठा दिया है, उसी प्रकार भारत में रागमाला के चित्रकारों ने भी, जो संगीत की विभिन्न स्वर-लहरियों के मनोवैज्ञानिक संकेतों के अनुरूप चित्रण करते थे, सार्वत्रिक लयों के स्वर-बोध के उस स्तर का स्पर्श किया, जिसका भारत के बाहर अन्यत्र पाया जाना दुर्लभ है।

काव्य, संगीत और चित्रकारी—रागमालाओं के चित्र, राग अथवा रागिनी या स्वर-लहरियों की, प्रकृति की आत्मा एवं उसकी सहचरियों के रूप में कल्पना कर, उसके अमूर्त रूप को, उचित मधुर-स्वर-लहरियों के अनुरूप ऋतु-विशेष के दिवस अथवा रात्रि में निहित दृश्यों एवं वातावरण को चित्रित करते हैं। भारतीय संगीत पद्धति में प्रत्येक प्रधान राग का, सामान्य मानवीय प्रवृत्ति एवं मनोभावों का ऐसा स्वर-सामंजस्य है कि प्रकृति, ऋतु और काल-विशेष में मानव-हृदय के

उन समस्त रागों के स र ग म को झंकृत कर देता है। संगीत-मनोविज्ञान के साम्प्रतिक अध्ययन से यह देखा जा सकता है कि सप्तक के (सा, रे, ग, म, प, ध, नी) कुछ स्वर स्वानुभूति, शृंगार, उत्साह, उत्कर्ष, निर्वेद, करुणा, निवृत्ति एवं विनाश जैसे मनोभावों को सजग करता है। भारतीय संगीत-पद्धति में प्रत्येक प्रधान राग में विशिष्ट भावानुभूतियों एवं अनुरागों से संश्लिष्ट स्वर अन्तर्निहित हैं जो विशेष ऋतु-काल के परिवर्तन-चक्र के अनुसार मानव-हृदय में सदैव उन्हीं अनभूतियों को जाग्रत करते हैं। प्रत्येक प्रधान राग में, राग की कोमल एवं सुकुमार स्त्री रूप में की गई कल्पना की पाँच-छह रागिनी भी होती हैं, इस कारण कि इनके स्वरों के आधारभूत रूप राग के स्वरों से अनुगामी होते हैं। उषःकाल, प्रभात, मध्याह्न, संध्या एवं अर्ध-रात्रि के राग भारत में अपने स्वर-वैशिष्ट्य के कारण एक दूसरे से पृथक् हैं। रवीन्द्रनाथ का कथन है––हमारे गीत भारत के स्वर्णिम उषःकाल और रत्नखचित उडुगण मंडित मध्यरात्रियों के गान गाते हैं; हमारे गान शनैः-शनैः गिरनेवाली फुहारों के गृह-त्याग की वियोग-गाथा होते हैं, और वे सुदूर वन-प्रान्तरों का स्पर्श करते नवागत वसन्त के अलौकिक उन्मत्त उल्लास होते हैं। (जीवन-स्मृति)। भारतीय प्रदेश-चित्रों का अपरिमित ऋतु-वैभिन्य, भारतीय संगीत परम्परा के वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद एवं शिशिर आदि ऋतु-प्रत्यावर्तन समारोह की मूलगत मनोभावनाओं द्वारा उन्मेषित मधुर-स्वर-लहरियों को साथ लेकर चलता है। ऐसे मनोभाव राग और रागमाला चित्रों में रूप दृष्यों एवं प्रासंगिक आख्यानों की पृष्ठभूमि पर किंचित निगूढ़ रूप में उचित अभिव्यक्ति पा जाते हैं। किसी राग के शब्द तथा स्वर एवं किसी चित्र के दृष्य, ऋतु-विशेष के समय की सामान्य मनोभावनाओं एवं वृत्तियों को जाग्रत करने में सहायक होते हैं। उदाहरण के लिए प्रभात की रागिनी 'भैरवी' के ओरछा से प्राप्त राजपूत युगीन उस चित्र पर विचार कीजिए जहाँ भैरवी, शिव की सहचरी के रूप में, शारदीय प्रभात के अरुणोदय की आभा-से वस्त्रों से विभूषित होकर, मृदंग एवं मंजीर बजाती तथा नृत्य करती अपनी सहेलियों के साथ शिवपूजन के लिए शिव-मन्दिर की ओर जाती हुई चित्रित की गई है। शिव-पूजन का राग भारतीय संगीतज्ञों द्वारा उषःकाल में भैरवी (भैरव अथवा शिवराग के अधीन) के स्वरों में गाया जाता है जो हृदय में जीवन की निस्सारता एवं अस्थिरता तथा अनन्त के रहस्य के प्रखर भावों को जाग्रत करता है। वसन्त में गाई जानेवाली हिंडोल राग की वसन्त रागिनी की स्वर-सुषमा के उस रेखांकण को लीजिए जो विश्व-प्रणयी कृष्ण को, हाथ में वेणु लिए नृत्य करते हुए, मृदंग एवं मंजीर बजाती हुई दो गोपियों के बीच चित्रित करता है। वसन्त के प्रेम एवं यौवन के पूर्णोन्मेष का यह दृष्य यमुना-तट के वासंतिक विकास से पुष्पित-पल्लवित वृक्षों के तले दिखाया गया है, जहाँ पुष्प, राग के लय में झूमते हैं और लता-वल्लरी वासन्तिक प्रणय-उष्मा से संचरित हो वृक्ष को लयानुसार प्रगाढ़ आलिंगन में आबद्ध किए हुए है। और लीजिए, भारत में वर्षा-ऋतु में गाये जानेवाले मेघ-मल्हार को। यहाँ रागिनी को प्रबल झंझा से विलोड़ित हो रहे पर्णाञ्चल से सज्जित, पुष्पों, हंसों एवं अन्य वन्य पक्षियों से घिरे सरोवर में कमलासना रमणी के रूप में प्रदर्शित किया गया है। भारत में वर्षा-ऋतु के इससे रम्य काल्पनिक रूपान्तर की कल्पना नहीं की जा सकती, जिसमें रेखाओं एवं रंगों के सहारे प्रकृति के उस पूर्ण तादात्म्य को मूर्त किया गया है जिसकी अभिव्यंजना एवं प्रतिष्ठा की कामना गीतिकाव्य एवं संगीत, दोनों करते हैं।

भारतवर्ष में विभिन्न ऋतुओं के लिए समीचीन राग हैं, स्वर-लहरियों के अनुरूप रागमाला चित्र भी हैं, विभिन्न ऋतुओं के 'बारहमासा' गीत-काव्य और वैसेही चित्र भी हैं जिनके प्रत्येक निदर्शन में व्यक्ति या रूप का रेखांकन न होकर ऋतु, काल, दिन एवं रात्रि के अनुरूप समान रूप से व्याप्त भावानुभूतियों की अभिव्यंजना केवल किसी प्रच्छन्न नाटकीय परिस्थिति की कल्पना कर की जाती है। गहरे रंगों के द्वारा स्थान-संयोजन एवं रेखाओं के सारल्य के दृढ़तापूर्वक किए गए चित्रण का यह ध्येय बहुत ही कम रहा है कि वे सशक्त किन्तु अवैयक्तिक शैली में भावानुभूतियों एवं परिस्थितियों के विश्लेषण, समाहार एवं एकीकरण करने की अपेक्षा किसी आख्यान अथवा चित्र-शबलता के प्रभाव को व्यक्त करें। संगीत तत्त्वतः भावात्मक कला है; चित्रकला से उसका संयोग हो जाने पर वह अपने सहज संवेदन का भावन पाने में चित्रकला को समर्थ कर मनुष्य को शब्द, रस और गंध के प्रत्येक रूपों में छिपी परोक्ष सत्ता की ओर उन्मुख कर देता है। गीति काव्य के वर्णनात्मक कल्पना-वैभव, राग एवं रागिनियों की लय-संगति एवं चित्रों की रंग-सज्जा, सब समान एवं सम्यक रूप से, पूर्णत्व, आश्चर्य एवं पुलक जैसी शाश्वत एवं सर्व-व्याप्त भावात्मकता को मूर्त एवं जागरूक कर प्रकृति में पुरुष के साक्षात्कारकी अनुभूति सुलभ करते हैं। पुरुष, रागमाला चित्रों का अधिष्ठाता है और ऋतु-काल के प्रत्यावर्तन के साथ गीति-काव्य एवं संगीत द्वारा अभिव्यक्त एवं निरूपित मानव-हृदय के आश्चर्य एवं संभ्रम, उसकी परिणीता पत्नी। प्रायः तीन शताब्दी, १५ ई० स० से १८ ई० सन् तक, लोक-कला के तीन रूप––काव्य, संगीत एवं चित्र-कला भारतवर्ष में साथ-साथ विकसित



ललित-कलाओं का समन्वय—रागिनी मलार का मध्यकालीन चित्र (पृष्ठ ८४६)

बारहमासा का एक चित्र (पृष्ठ ८४६)



हिंडोलराग का मध्यकालीन चित्र (पृष्ठ ८४६)



संगीत, काव्य एवं चित्रकला का समन्वय
मधुमाधवी रागिनी का मध्यकालीन चित्र (पृष्ठ ८४८)

हुई एवं विभिन्न रूढ़ियों द्वारा एक ही अवैयक्तिक भावना की अभिव्यंजना भी की। वे सब श्रीमद्भागवत् तथा अन्य पुराणों से ली गई गाथाओं के धार्मिक अभिप्रायों से अनुरंजित थीं, और सन्त, कवि, संगीतज्ञ एवं चित्रकारों की ज्योति-गंगा के द्वारा जन-जन के मन तक पहुँचती रहीं। कला-रूपों में राष्ट्र एवं युग की सम्यक् कल्पनाओं एवं कला-स्वप्नों की जैसी अभिव्यंजना तब के उत्तर भारत में पाई गई, विश्व-संस्कृति के इतिहास में कलाओं का वैसा समन्वय कदाचित ही अन्यत्र हो।

सार्वदेशिक भावों के माध्यम के रूप में चित्रकला—चीन के अनेक ऐसे चित्रकार कवि एवं दार्शनिक थे, जिन्होंने दृष्यों के माध्यम द्वारा उन्हीं सर्व-व्याप्त भावनाओं एवं विकारों को व्यक्त किया जो कविता में व्यंजित किए जाते थे। एक प्रसिद्ध चीनी चित्रकार के विषय में इस प्रकार कहा गया है, "मैं कविता में चित्र के रस का आस्वाद पा लेता हूँ और चित्रों में काव्य के दर्शन!" चीन ही के समान भारत में भी भावों की उत्कृष्टतम गहराई एवं सौकुमार्य-युक्त काव्य के निर्माण तथा चित्रों के चित्रण में एक ही उपकरण को साधन बनाया। भारत में इन उपकरणों की सजीव अभिव्यंजना के लिए संगीत की विशेष सहायता ली, और इस प्रकार उनमें संगीत की सूक्ष्म-मार्मिकता एवं सहज सारल्य का समावेश करने की चेष्टा की गई। प्राचीनकाल में, अजण्टा के भित्ति-चित्रों पर आर्यसूर की जातकमाला के पद लिखे रहते थे, और मध्यकाल में राजपूत शैली के चित्रकार अपनी रचनाओं पर जयदेव के 'गीत-गोविन्द', केशवदास की 'रसिक-प्रिया' तथा अन्य नायिकाभेद की कविताओं के छन्द उद्धृत कर देते थे। वैष्णव-कविताएँ प्रायः दोहा और चौपाई में रची जाती थीं, और तीव्र भावानुभूति एवं गहन विचार-वैभव से सम्पन्न होने के कारण छोटे कोमल-भाव-पूर्ण चित्रों के अनुरूप होती थीं, और इसीलिए काव्य एवं चित्रकला ने एक-दूसरे को स्पष्टतया आत्मसात् किया। प्रकृति के सार्वभौमिक प्रेम-नाट्य में कृष्ण की लीलाओं एवं राधा की अनुराग विभोरता की जिस अनुभूति का स्पर्श मनुष्य ने गीतों में पाया एवं चित्रों में देखा, उसे उसने अपनी स्वर-साधना से स्पंदित किया। चीन की ही तरह भारत में भी चित्रकला साहित्य की अनुसंगिनी रही, और चीन की चित्रकला में सूक्ष्म को साकार करने के लिए जिस चारू-लेखन-कला से काम लिया गया, भारतीय चित्रकला में उसकी उपलब्धि के लिए संगीत को अपनाया गया। महान् कला-विवेचक ग्रेथहोल्ड ने त्सांग-कलाकारों के चित्रों को सर्वकालीन उत्कृष्ट-अभिनवता से विभूषित किया है; और कहा है: "हमारे चित्रों से चीनी-चित्रों का मनोवैज्ञानिक अन्तर प्रमुखतः इस आधार पर निर्भर करता है कि चीनी चित्रकार चित्र-रचना का निर्वाह उस प्रकार करता है जिस प्रकार हम समस्त मानवीय-संवेदनों एवं भावानुभूतियों के उद्रेक तथा रंग-विन्यास के निमित्त चित्र-रचना का नहीं, अपितु, संगीत का निर्वाह करते हैं। भावों एवं विचारों की गहनतम सस्वर अभिव्यंजना में, महान त्सांग-कलाकार, बिथोवन कला से स्पर्धा करते हैं और रेखाओं एवं रंगों के कौशल में मोझरत के अक्षय-सौन्दर्य एवं लालित्य का स्पर्श करते से प्रतीत होते हैं। चीनी चित्रकला संगीत की समस्त स्वरयुक्त शैलियों के स्वराभासों से चित्रित की गई है।" भारत में राजपूत चित्रकारी ने स्वरों के सम्मोहक एवं भावपूर्ण मूल्यांकन करने की जिज्ञासा व्यक्त की है तथा संगीत एवं चित्रकला ने समान भावों एवं संस्थितियों के उन्मेष एवं निरूपण में परस्पर एक दूसरे को सहायता दी है। राजस्थानी एवं पहाड़ी चित्रों ने प्रायः चित्रित-धार्मिक-गीतों के उन्नत स्तर का स्पर्श किया है जो समय की देहरी पर हीरों की भाँति प्रदीप्त हैं।

गीति-काव्यों एवं चित्रों तथा उनका भावानुरूप मंजुल स्वर-लहरियों के सहारे सानुराग आलेखित सार्वभौमिक प्रवृत्तियों एवं संवेदनाओं का यह दृढ़ ग्रंथि-बंधन, जिसकी समता का कोई उदाहरण पश्चिम प्रस्तुत नहीं करता। काव्य, संगीत एवं चित्रकारी के प्रगाढ़ संयोग ही से उत्कृष्टतम रूप में स्थिरता पा सका, मानवीय संवेदनाओं का सार्वभौम हो जाना केवल आभ्यन्तरिक धार्मिक व्यवस्था की ही बात नहीं है जो अलौकिक शान्ति एवं निर्विकारता ले आए। चित्र-कला को संगीत एवं काव्य से संयोजित कर, चित्रकार द्वारा यह उद्देश्य और भी सुसाध्य किया जा सकता है ताकि काव्य के विषय के चाक्षुष-मूल्यांकन करने में उसे सजीवता प्रदान कर सके। एक के भाव की अभिव्यंजना दूसरे के सहारे की जाती है; ध्वनि एवं दृश्य, और अनुभूति की पराकाष्ठा का स्पर्श करते हुए काव्यों के रहस्यपूर्ण अर्थों के भावों को, जो मानव-हृदय में अगाध और विमल हर्ष, अन्तर्दृष्टि एवं चिरन्तनता को जाग्रत करते हैं, उज्ज्वल, समृद्ध एवं ललित चित्राकृतियों द्वारा संयोजित की जाती हैं। संगीत हमें सहज ही अलौकिक आल्हाद एवं अतीन्द्रीय-रहस्यों के लोक में ले जाता है। अमूर्त की मूर्त में अभिव्यंजना के लिए, चित्रकला, कल्पना के उज्ज्वल शिखर का स्पर्श पा सके, यह संगीत एवं रहस्यवादी कविता के आनुषंगिक हो जाने ही से होता है।

पृथ्वी एवं स्वर्ग के व्यवधान का अन्त—प्रखर भाव-प्रवेगों एवं संवेदनाओं तथा आत्मा के विस्तार की अपेक्षा तुमुल कोलाहल का उपयुक्त क्षेत्र, तटस्थ विषय-निष्ठा को अवश्य स्वीकार करते हुए, जिसके बिना कला-रूपों में इनकी समुचित

अभिव्यक्ति नहीं हो सकती, संगीत और चित्रकारी ही है। मानवीय-प्रेम से बढ़कर कोई भी आवेग प्रखर, व्यापक और साथ ही दुर्ग्राह्य नहीं, एवं चित्र-निर्माण के विषय के लिए इसकी अपेक्षा सहज तथा आकर्षक प्रेरणा नहीं। और इस मानवीय-प्रेम में भी नारी की, अपने प्रणयी के प्रति रहनेवाली भावना से बढ़कर, इस स्नेह का प्रतिदान प्रेमी दे या न दे, कोई भी भावना तीव्र एवं मर्मस्पर्शिनी नहीं। भारतीय साहित्यिक-परम्परा में इसे 'अभिसारिका' के प्रणय से अभिहित किया जाता है जहाँ वह भयाक्रान्त घोर वनों की अन्धकार-पूर्ण तूफानी रात्रि में भी अपने प्रेमी से मिलने का साहस करती है। भारतीय रहस्यपूर्ण-काव्य एवं चित्रकारी में इस प्रगाढ़ अनुरक्ति को, भयावह रात्रि में आत्मा की अनन्त प्रेम की साधना के रूप में, सर्वत्र परिव्याप्त कर दिया है। आत्मा की दृढ़ अनुरक्ति एवं आत्म-विस्तृत प्रेम-परायणता को व्यक्त करने के लिए आर्द्र कर देनेवाली वृष्टि, बिजली की गड़गड़ाहट, क्षणभर में चमक उठनेवाले विषधर व्याल, ये सब, ऐसे चित्रों में दृढ़ता-पूर्वक चित्रित किए जाते हैं। अभिसारिका को प्रायः संकेत स्थान अथवा परमात्मा के नन्दन-निकुञ्ज पर आते हुए चित्रित किया जाता है जहाँ वह अत्यन्त व्यग्र-प्रतीक्षा में, जिसमें समीर-श्वसन करते हुए वन्य हरिण भी सहयोग देते हैं, खड़ी रहती है। वर्षा-ऋतु में जब शनैः-शनैः फुहारें आती हैं, समूचा विश्व वियोग की एक अनिर्वचनीय वेदना का अनुभव करता है, तब भारत के खेतों एवं झोंपड़ियों में जो गीत गाए जाते हैं वे हिंडोला राग एवं मधु-माधवी रागिनी में होते हैं। राजपूत चित्र-कारी में हिंडोला का निदर्शन वर्षाकाल के वन-उपवनों के हिंडोला झूलते हुए चित्रों द्वारा किया गया है, और इस प्रेरणा के मूल में अमर प्रेमी-युगल राधा और कृष्ण होते हैं। 'मधु-माधवी' का शाब्दिक अर्थ है, मधुर-मधु—मधु-कुञ्जों में प्रेमिका! वर्षा ऋतु के योग्य संवेदनाओं को चित्रकार चित्रित करता है और कवि उन्हें निम्न छन्दों में अभिव्यक्त।

मधुमाधवी रागिनी-यथा॥ सवैया—

जोबन पूरि रही पट सुन्दरि पैन्हि कै आँगन ठाढ़ी रही है। अम्बर नील में हार-सिंगार निकंचुकी पीत मनोहर ही है।
चंचला कौं चमका लखि भीत व्है भौंन गई भगि चौंकि चही है। यौं मधु-माधवी राग हिंडोल की रागिनी चित्र कैं चौंप लही है॥

दोहा—मध्यम गृह मधु-माधवी..............सुखदाई।
स प ध नि सुर जुत सरद अरु बरषा समय बताई॥ इति मधुमाधवी रागिनी॥ ५॥

संगीत मौन की अभिव्यक्ति करता है, और वर्षा-ऋतु की उद्विग्नता को विषण्ण बना देता है जब एक प्रदेश-चित्र में काले-नीले मेघ घुमड़ कर मंद्र गर्जन करते हैं और पड़-पड़ कर वृष्टि होती है, और जो प्रिय-वियोग के कारण निरन्तर बहनेवाले अश्रुओं एवं प्रबल झंझा में दीर्घ-निश्वास लेते हुए बोझिल बना दिया जाता है। अतीन्द्रीय-रहस्यों के साकार दर्शन में चित्रकारी भी अपनी प्रेरणा प्रदान करती है। और इस प्रकार गीति-काव्य, संगीत एवं चित्रकारी, अपने प्रेरणा-स्त्रोतों का संगम कर मानवीय प्रेम को अनन्त-प्रेम एवं पृथ्वी को स्वर्ग में रूपान्तरित कर देते हैं। व्यष्टि का प्रतीकों एवं समष्टिगत चेतनाओं तथा प्रवृत्तियों में यह रूपान्तर भारतीय सौन्दर्यानुभूति की एक अत्यन्त सूक्ष्म एवं अपूर्व वस्तु है। सम्मोहक संगीत के भावानुरूप ध्वनि संकेत, उत्कृष्टतम चित्रकारी की रूप एवं रंग सज्जा तथा भावातिरेक से युक्त गूढ़ दार्शनिक रहस्यों से परिपूर्ण ललित-काव्य-रचना, अपने पारस्परिक सहयोग द्वारा सूक्ष्म की अभिव्यक्ति में असाधारण रूप से समृद्ध साथ ही सशक्त एवं सर्वव्यापी प्रभाव से युक्त, यहाँ, एक कलात्मक परितृप्ति की प्राप्ति करती हैं। भिन्न-भिन्न रेखाओं के एकत्री-करण का कौशल मानवीय प्रवृत्तियों की मूल प्रेरणाओं की अतल गहराई तक पहुँचने में सौन्दर्य के अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि करता है, जो एक ही साथ प्रगाढ़, स्थिर एवं उदात्त भी है। शिल्प, जिसमें ईश्वर, देवदूत एवं महापुरुष, मानव के अति-मानवीय रूप तथा अन्य लोक की आकांक्षाएँ एवं अनुभूतियाँ अथवा समाज द्वारा पोषित प्रेम एवं भक्ति तथा त्याग एवं तपस्या के पुनीत आदर्शों की उपासना, आदर्श रूपों एवं प्रतीकों में व्यक्त करते हैं; चित्रकारी, जिसमें मनुष्य, पशु-पक्षी एवं प्रकृति के रहस्य, सब, गहन आध्यात्मिकता के एक सूत्र में गुम्फित किए गए हों; संगीत एवं नृत्य जो प्रकृति के परिवर्तन से स्पंदित सार्वत्रिक भावनाओं एवं स्पन्दनों की सशक्त अभिव्यक्ति हैं, सबने, प्राचीनकाल के समाज दर्शन में मनुष्य के सामाजिक सम्बन्धों एवं वस्तु के जागति-व्यवस्था के अंश रूप की अभिव्यक्ति चरम-गौरव के उन्नत स्तर के रूप में की गई है। इस प्रकार ललितकला ने उन सामान्य तथा अवैयक्तिक भावनाओं एवं संवेदनाओं की प्रगाढ़ता एवं अभि-व्यक्ति में उन व्यापारों एवं मूल्यों को प्रगट किया है जिसमें मनुष्य की मनुष्य तथा सृष्टि के इतर प्राणियों के प्रति और भी प्रगाढ़ होती हुई भावना एवं विश्वासपूर्ण साहचर्य को नवीन-बन्धनों में दृढ़ किया गया है। प्राचीनकाल में ललित-कलाओं ने स्वर्गोपम आनन्द को अतीन्द्रीय जगत से मानवीय जगत में लाने तथा सामाजिक जीवन एवं सम्बन्धों को उस आनन्द में विभोर कर देने का एक महत एवं विराट् कार्य किया है और इस प्रकार लौकिक एवं अलौकिक, संसार एवं मुक्ति, पृथ्वी एवं स्वर्ग के अन्तर को लोप कर दिया है।

प्राचीन युग और कला

श्री रामगोपाल विजयवर्गीय

युग परिवर्तित होते हैं, सभ्यताएँ नवीन रूप धारण करती हैं, जातियाँ बनती हैं बिगड़ती हैं और नित्य नूतन संस्कारों की सृष्टि होती रहती है। प्रत्येक सभ्यता का इतिहास अपनी आनेवाली सन्तानों के लिए कुछ स्मृति-चिह्न छोड़ जाता है। चाहे वे उत्कृष्ट हों या निकृष्ट, उस जाति या उस समाज के लिए पथ-प्रदर्शन का काम करते हैं। इन्हीं स्मृति चिह्नों से किसी सभ्यता या युग विशेष की उन्नत या अवनत अवस्था का प्रमाण मिल जाता है।

मानव सभ्यता का यदि अध्ययन किया जाय तो प्रतीत होता है कि साहित्य, संगीत और कला उसके ऐसे विशेष अंग हैं कि जिनके आधार पर उसके आदर्शों का निर्माण होता है और उसकी संस्कृति का संसार के सम्मुख तद्वत् रूप प्रकट हो जाता है। आर्य सभ्यता की यही तीनों कलाएँ हैं जो उसके गौरव की आज भी रक्षा कर रही हैं। और जब तक उसकी कला-कृतियाँ संसार के सम्मुख रहेंगी, कोई शक्ति नहीं जो उसकी आदर्श संस्कृति पर शंका करे या उसकी प्राचीनता पर मतभेद हो।

भारत की कला साधना के उस स्वर्ण युग पर दृष्टिपात किया जाय जो मौर्यकाल में विद्यमान था या आगे तक चलता रहा तो हमारे आश्चर्य की सीमा न रहेगी। ज्ञात होगा कि उस काल के मानव ने अपने अंतरंग और बहिरंग को इतना कला-पूर्ण बना लिया था कि जीवन की विषमताएँ कला के द्वारा उत्पन्न हुई आनन्द निधि में डूब चुकी थीं।

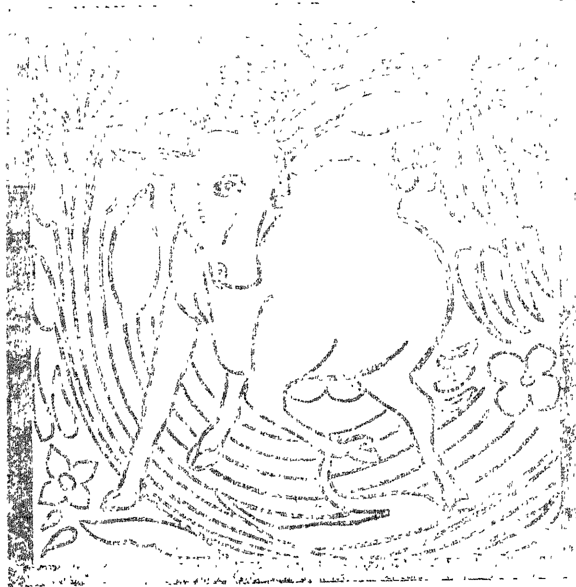
उसने अपने चारों ओर ऐसे रसमय संसार की सृष्टि कर ली थी कि जिसमें विश्व के संघर्ष कुण्ठित हो चले थे। सारा देश इसी साधना में तत्पर था। उस काल के साधारण गृहस्थ के जीवन में भी हम ऐसे शान्त और काव्यमय जीवन का दर्शन करते हैं जो इस युग में दुर्लभ हो गया है। इसके उदाहरण हमें पृथ्वी के गर्भ में छुपे उन अवशेषों से मिल जाते हैं जो नष्टप्राय हो जाने पर भी अभी तक उस अतीत युग का गौरवगान अपनी मूक भाषा में कर रहे हैं। इन अवशेषों से चाहे ऐतिहासिक सत्य तक हमें पहुँचने में कठिनाई हो पर एक ऐसा कल्पना-चित्र हमारे सम्मुख अवश्य उपस्थित कर देते हैं जिससे उस पूर्वकाल की एक झलक दिखलाई पड़ जाती है और हमारे मुख से निकल जाता है वह कैसा सुवर्ण युग था, वह कैसे देव-स्वरूप मानव थे। उनके अद्भुत निवासस्थान, विचित्र वेशभूषा, अनुपम कला-कृतियाँ हमें चकित कर देती हैं। वे बड़े-बड़े उन्नत और विशाल भवन जिनमें चारों ओर मानवीय जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले शोक, हर्ष, करुणा, शान्ति मिलन, मान आदि अनेकों भावों को प्रस्तर प्राचीरों के कठिनतम हृदय में उत्कीर्ण कर दिया गया है जो काल की अबाध गति से भी अपने अस्तित्व की रक्षा करते हुए निरन्तर काव्यरस की आनन्दधारा प्रवाहित कर रहे हैं।

उनके शयनागार, स्नानागार, भूषण-वसन, आमोद-प्रमोद जहाँ भी दृष्टि जाती है एक अद्भुत कलामय संसार की ज्योति झलक रही है। गृहस्थ हो या त्यागी, महान् हो या क्षुद्र, धनी हो या निर्धन प्रासाद हो या झोंपड़ी सभी अपनी-अपनी विशेषताओं में सम्पूर्ण हैं। सभी का लक्ष्य सत्यम् शिवम् सुन्दरम् की साधना में लीन हैं। उन मानवों ने स्वर्ग को संसार में उठा लाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने विश्व के दुख-दावानल की विभीषिका को काव्य और कला के आनन्दस्रोत से सिक्त कर दिया है। कहीं पाषाण निर्मित चामरधारिणी स्त्रियों के पार्श्व भाग से लगे यक्षों के करतलों पर शोभित बड़े बड़े स्तम्भ खड़े हैं। कहीं कमलकोषों की आकृतियों से सुशोभित द्वार, कहीं आगे की ओर निकले हुए गवाक्षों पर झलती हुई कुसुम कलियों के आकारवाली झालरें। कहीं गगनचुम्बी शिखर, कहीं नानावर्ण के प्रस्तर खण्डों से विजडित सोपान-माला। कहीं द्वारों पर उत्कीर्ण किए हुए प्रेमलीला में निरत यक्ष-दम्पत्ति, शालभञ्जिकाएँ, वृक्षकाएँ, नृत्यरता नारी-मूर्तियाँ, आकाशमार्ग में उड़ते हुए देवगण, विचित्र अंग-भंगियों में खड़ी हुई रमणियाँ, शयन करती हुई नाग कन्याएँ, कमल वन में विहार करती देवाँगनाएँ, विरहिणी नायकाएँ, मानिनी मान खंडिता, मुग्धा विविध नायिकाओं के रूप। काव्य को कला में ऐसा गूंथ डाला है कि काव्य कलामय हो गया कला काव्यमय हो गई। इस प्रकार ये भवनों की शोभा बढ़ाते हुए अलंकरण नाना-रूपों में प्रस्फुटित होकर उस मानव सभ्यता की परिष्कृत रुचि का गुण गान कर रहे हैं। जहाँ दृष्टि-जाती है हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं। एक क्षण के लिए जीवन के तापों को दुख द्वन्दों को भूलकर प्राणी एक स्व-रचित्त स्वर्गीय संसार में विचरने लगता है। दृष्टि को भ्रम की भावनाओं में उद्वेलित करते हुए अनेकों भवन जिनके मार्ग एकसे दूसरे में निकलते चले गए हैं मस्तिष्क में अपूर्व कल्पना जगत् का निर्माण कर देते हैं, जिसमें प्रतीत होता है कि जीवन की अनन्त धाराएँ एक ही आनन्दसागर में गिरने के लिए मचलती बलखाती बड़े वेग से बढ़ी चली जा रही हैं। भवनों की प्राचीरें जहाँ प्रस्तर आकृतियों से बच रही हैं वे चित्रों से चित्रित कर दी गई हैं, जिनसे शृंगार, करुण, वीर, शान्ति आदि नवोंरस एक साथ एक ही स्थान पर उतर आए हैं। शृंगार रस की मादक भावनाओं ने रूपरस की वह अलौकिक छटा निर्माण की है कि मनुष्य उन्हें देखकर "गिरा अनयन-नयन बिनु बानी" कहकर रह जाता है। विचित्र लावण्यमय अंग संचालन से नृत्य गति में गमन करती हुई किन्नरियाँ जिनकी कमलकोष से युक्त बाहुलता लहरा रही हैं, उन्नत वक्ष पर उलझे हुए मुक्ताहार, कटि पर मणि-मंडित दोलायमान किंकिणियाँ, नानाविधि से पुष्प-ग्रथित केशकलाप, कपोलों को छूते हुए कर्णभूषण, स्मित मुख मनोमोहक रूप, पारदर्शी वस्त्रों से प्रकट होता हुआ प्रथुल उरुयुग, पादपद्मों की शोभा बढ़ाते हुए नुपुर, मानों स्त्री-सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का कलाकार ने प्रयत्न किया है। कहीं मृदंगों पर ताल देते हुए रसिकजन जिनके विशाल वक्ष पर छहराता हुआ उत्तरीय उड़ा जा रहा है। ग्रीवा तक लटकते केश, कानों की बालियों से उलझे पड़ते हैं। पुष्ट भुज-दण्डों पर बँधे हुए आभूषण, उन्नत ललाट और नासिका पर बोलता हुआ पुरुषत्व, गम्भीर मुखमुद्रा, मानों जीवन के जंजालों पर विजय प्राप्त कर चुके हैं। प्रशान्त दृक्पात धनुषाकार भ्रू-लता, अंगुलियों द्वारा प्रदर्शित विचित्र मुद्राएँ जो नृत्य-कला को चित्रकला से साक्षात्कार कराकर काव्य की कल्पनाओं को लेकर शिल्पकला की त्रिवेणी बन जाती है। रेखाओं का मार्दव, रंगों का सामंजस्य पृष्ठभूमि की आकृति और भावानकूल सन्तुलन विषय की गंभीरता उस युग का तदवत् चित्रण करती हुई चित्रकला की चरम सीमा को प्रकट करती हैं। माधवी चम्पा चमेली, लवली लताओं का कुसुमासव पान करती हुई भृंगावलियाँ। कहीं सारिकाओं की चञ्चु से चञ्चु मिलाकर आम्र-कुञ्जों में छुपे हुए शुक, कहीं मत्त-कुञ्जरों की अवलियाँ, कहीं मीन, कहीं मराल, कहीं मृगशावकों को दुलराती हुई कोमलांगी कामिनियाँ, कहीं शृंगाररता कहीं विरहातुरा कहीं प्रोषित-पतिका नायिकाओं के भेद, कहीं कमल-वन आम्र-निकुञ्ज, चन्द्र-चकोर, चक्रवाक, कारण्डव विविध पशु-पक्षियों की प्रेमलीला, वाहनों पर चढ़े हुए शूरवीर। ऋतु-उत्सव, साधारण से साधारण दृश्यों को ऐसे मनोहर रूप में चित्रित किया है कि कलाकारों की उस कला साधना पर आश्चर्य से कहना पड़ता है यह देव-कृतियाँ हैं, मानवीय नहीं। ये चित्र उस काल के सामाजिक जीवन को हमारे सम्मुख एक चलचित्र की भाँति ले आते हैं।

चित्रांकण और चित्रदर्शन को, जान पड़ता है, उन मानवों ने अपनी दिनचर्या में स्थान दिया होगा। उनके वस्त्रों और आभूषणों में भी कला है, काव्य है। वे भी चातक, चकोर, मयूर, मराल आदि पक्षियों के भावपूर्ण चित्रों से युक्त कर

दिए गए हैं। प्रत्येक वस्तु में मानों वह ईश्वरीय सृष्टि के उत्तम उदाहरणों को देखकर अपने दुखसुख भूला हुआ है। वह इस चित्र-जगत के साथ स्वयम् भी चित्र बन गया है। उसके शारीरिक सौन्दर्य में वस्त्रों को अधिक स्थान नहीं दिया गया, केवल लज्जा निवारण मात्र ही के लिए वस्त्रों की आवश्यकता है। शेष सारा अंग अलंकारों से सुसज्जित देखा जाता है। किरीट, कुण्डल, कंकण, किंकिणी, कण्ठहार विविध आभूषण मण्डित शरीर पर शुक्ल, पीत, नील, चीनाम्बर शोभा पाते हैं जो नेत्रों को सुखकर प्रतीत होते हैं। जीवन की गति में चारों ओर सरसता को लेकर चलना ही ध्येय था। काव्यकला और संगीत की त्रिवेणी में अवगाहन करता हुआ वह उस आसन पर पहुँच चुका था जहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, अहिंसादि घातक भावनाओं की इतिश्री हो जाती है। बाण की कादम्बरी में वर्णित जाबालि आश्रम इसका उदाहरण है। जहाँ जगत के पातक-पुञ्ज उसकी सीमा के बाहर ही भस्म हो जाते हैं। और यह जाबालि आश्रम प्रत्येक गृहस्थ का घर था। मेघदूत के यक्ष की भावना जन-जन के हृदय में विराजती होगी। अलका का ऐश्वर्य हमारे भारतवर्ष के कोने-कोने में फैल रहा होगा। चीनी यात्री इसका साक्षी भी है। कालिदास, भवभूति, माघ, भट्टि आदि कवियों ने काव्यरस की वह धारा बहा दी थी जिससे प्राणी-मात्र के स्वरों में संगीत फूट पड़ा था। गृह-पालित पक्षी भी काव्य निर्मित वाक्यावलियों का गान किया करते थे। चारों ओर साहित्यामृत पान किया जाता था। संगीत की स्वरलहरी पर जीवन की गति ताल देती हुई चल रही थी। कर्म-योग, कलापूर्ण कौशलों से युक्त होकर उस परम पद की प्राप्ति कर लेता था जो वैराग्य और हठयोग की साधना से भी उच्च है। गीता का ज्ञान काव्य और कला के रस-सिन्धु में अवगाहन करके घर-घर को पवित्र कर रहा था।

उस उन्नतिशील मानव समाज के छोड़े हुए भग्नावशेष अमूल्य स्मृतिचिह्न की याद दिलाते हैं। भारत का वह सुवर्णयुग, वह प्रतिभाशाली वैभव, वह शान्त सरस वातावरण, जहाँ बैठकर मानव ने सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की उपासना की है, जहाँ जीवन संग्राम अपनी कठोरता त्यागकर नृत्य कर रहा है, मृत्युलोक स्वर्गलोक के साधन जुटा रहा है, कहीं राम भगवान् राम की पर्णकुटीर, कहीं कण्व-आश्रम, कहीं पार्वती की तपश्चर्या, कहीं दिलीप का गोचारण, कहीं महाश्वेता का वीणावादन, कहीं अज-विलाप, कहीं यक्षिणी की करतल ध्वनि पर मयूर का स्वर्ण-यष्टि पर स्थित नृत्य, भगवान् शंकर का किरातवेष-समस्त भारत मानों एक नाट्यशाला था जिसमें सुन्दर दृश्य और अभिनयकला में कुशल प्रत्येक प्राणी अपना कौशल दिखला रहा है, और कला, संगीत और काव्य की सुरा में आत्म-विभोर होकर ईश्वरदत्त दुर्लभ मानवयोनि के एक-एक क्षण को सफल बना रहा है।



विक्रमादित्य—हमारा अग्नि-स्तम्भ

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी

यूरोपीय इतिहास के कैसर, जार अथवा सीजर की भाँति ही विक्रमादित्य का नाम भी हमारे इतिहास में आकर्षण रखता है। महत्त्वाकांक्षी राजाओं ने उसके नाम से बढ़कर अन्य किसी पदवी को धारण करने की इच्छा नहीं की। गुजरात के सिद्धराज जयसिंह की भाँति अनेक शासक उसके पराक्रम का अनुकरण करने में ही अपने जीवन को खपा गए थे। क्या दिल्ली के अन्तिम हिन्दू शासक के विक्रमादित्य पद ने ही उसे उस विदेशी से, जो मातृभूमि को दासता के बन्धन म जकड़ना चाहता था, युद्ध करने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया था ?

वह क्या बात है जिसके कारण इस द्वि-सहस्राब्दी के अवसर पर सम्पूर्ण भारतवर्ष राष्ट्रीय त्यौहार मना रहा है ? वह कौनसी भावना है जो हम उस अविस्मरणीय वीर को पुनः दैवी श्रेणी में रखने के लिए प्रेरित कर रही है ?

विदेशियों की दासता के बन्धन में जकड़े हुए हम लोगों के लिए विक्रमादित्य केवल एक ऐतिहासिक स्मृति अथवा एक गौरवशाली नाममात्र ही नहीं है प्रत्युत इससे कुछ अधिक है। वह भारतीय एकता का प्रतीक है, वह चक्रवर्ती हमारी राष्ट्रीय आकांक्षाओं का प्रतिनिधि है। हमारे लिए वह २००० वर्ष की राष्ट्रीय स्मृति, अतीत गौरव, वर्तमान की स्पृहा भविष्य की लालसा तथा राजनीतिक शक्ति की महत्ता, राष्ट्रीय स्वाधीनता, सामाजिक एकता एवं सांस्कृतिक ऐश्वर्य का सम्मिश्रण है।. . . . .

मगध का असुर राजा जरासन्ध कृष्ण द्वारा पराजित हुआ और उसका देश आर्यावर्त में सम्मिलित हो गया। परन्तु पराजित मगध ने अपने विजेताओं पर फिर विजय प्राप्त की। इसके बाद शिशुनागवंशी राजा (ईसा से लगभग ७०० वर्ष पूर्व) भारत के चक्रवर्ती राजा हुए हैं। बुद्ध ने धर्म का प्रतिनिधित्व करनेवाले सार्वभौम व्यक्तित्व के भाव को बहुत उन्नत किया, यद्यपि उनका प्रभाव कृष्ण की भाँति तनिक भी राजनीतिक शक्ति पर आश्रित न था। साम्राज्यवादी शक्ति के देश व्यापी रूप का निर्माण तब हुआ जब चक्रवर्ती मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त (लगभग २५–३०१ ईसवी पूर्व) तथा शक्तिशाली राजकीय सूत्रों के शिल्पी कौटिल्य इस भावना को मूर्त रूप प्रदान करन के लिए मिले कि भारतवर्ष, जो सांस्कृतिक दृष्टि से एक है, राजनीतिक दृष्टि से भी एक है। परन्तु भारत का वह स्वप्न उस समय पूरा हुआ जब चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक पाटलीपुत्र की गद्दी पर बैठे। शक्ति-चक्र और धर्म-चक्र दोनों का संचालन एक ही हाथ से होता था। यह स्वप्न जो इतनी सुन्दरता से पूरा हुआ था आगे चलकर हमारी प्राचीन संस्कृति की एक मूल भावना ही बन गया। हमारे राष्ट्रीय मस्तिष्क में यह भावना बद्धमूल हो गई एक जीवन के अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्य की प्राप्ति के लिए धर्म का गठबन्धन अखिल भारतीय राजनीतिक शक्ति से होना आवश्यक है। इस समय राष्ट्रीय मस्तिष्क विक्रमादित्य के विचार को ग्रहण करने के उपयुक्त हो गया।....

शिशुनाग द्वारा स्थापित मगध का वैभव-पूर्ण साम्राज्य ईसा के ७९ वर्ष पूर्व तक रहा। उसने भारत को सामाजिक संगठन की एकता और सांस्कृतिक दृष्टि प्रदान की। किन्तु मगध की शक्ति का ह्रास हुआ। बख्तर, यवन, पह्लव, यूची आदि बर्बर जातियाँ भारत में घुस आईं। इसके पश्चात् इस वीर विक्रमादित्य का आगमन हुआ। उसके पराक्रम के विस्तृत विवरण हमें ज्ञात नहीं, परन्तु उसने उन बर्बर जातियों को पूर्णरूपेण खदेड़ दिया, दमन किया और उनको आत्मसात् कर लिया। यह महान् कार्य था जो भारत के राष्ट्रीय मस्तिष्क में अमर ज्वाला के अक्षरों में अंकित है।. . . . .

परशुराम अवतारी पुरुष थे। उन्होंने धर्म के शत्रुओं का नाश किया। परन्तु वे अपनी उग्रता के कारण प्रिय न बन सके। श्रीकृष्ण भी अवतारी पुरुष थे। उन्होंने भी धर्म का पक्ष लिया था पर उनके लिए सिर पर राजमुकुट नहीं था। अशोक ने भी धर्म का पक्ष लिया परन्तु उन्हें एक सुरक्षित साम्राज्य 'पैतृक' सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुआ था। यह सौभाग्य केवल विक्रमादित्य को प्राप्त हुआ कि वे जनता के सर्वाधिक प्रियपात्र अपनी मानवता के नाते बन सके। उन्होंने बर्बर जातियों को मार भगाया और शक्तिशाली राजशक्ति की स्थापना की। कला और साहित्य को प्रोत्साहित किया, धर्म की रक्षा की और सबसे अधिक उन्होंने पीड़ितों एवं सहायतार्थियों का प्रतिपालन किया। उनमें परशुराम, श्रीकृष्ण, बुद्ध और अशोक की उज्वल स्मृतियों का अद्भुत सम्मिश्रण था। वे अपने मानवोचित अतएव प्रिय गुणों के कारण हम लोगों के अत्यधिक निकट हैं। विक्रमादित्य तभी से राष्ट्र के प्रिय बन गए। (भाषण से उद्धृत)

साहित्यिक व सांस्कृतिक संगम

स्व० श्री रामनाथ शर्मा

संक्रांति का पर्व है, भारत के कोने कोन से हिन्दू धर्माभिमानी जन-समुदाय प्रयागराज की ओर उमड़ा जा रहा है। रेलों में भीड़ भड़क्का, स्टेशनों पर रेलपेल व डिब्बों को गुञ्जायमान करनेवाले गंगामाई के जयकारे आज बता रहे हैं कि संक्रांति पर्व का पुण्य कमाने के लिए हिन्दू समाज आतुरित व उत्कंठित है।

प्रयाग में पहुँचकर सबकी एक ही इच्छा है—त्रिवेणी का स्नान। हिन्दू समाज इस त्रिवेणी के पर्व का पुण्य लाभ करने के लिए जितने शारीरिक व मानसिक कष्ट उठाता है उसको किसी व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक के अनुभव व प्रत्यक्ष अनुभव की बात है। हमारी इस श्रद्धा को देखकर तो वास्तव में अन्य धर्मावलम्बी भी विस्मित व चकित हो जाते हैं। रेलवे कम्पनियों के तो पोबारे होते ही हैं। विदित नहीं कितने युगों से, कितनी सहस्राब्दियों से हिन्दू समाज इस पर्व का इसी भावुकता से महात्म्य लाभ कर रहा है। रेल यात्रा की सुविधा से पहिले किन किन कष्टों को सहन करते हुए श्रद्धालु नर-नारियाँ तीर्थराज प्रयाग पहुँचकर त्रिवेणी स्नान करते थे, इसका परिचय अब भी बूढ़े पुराने लोगों से मिल जाता है।

प्रयागराज का संगम ही क्या, भारतवर्ष में जहाँ कहीं दो नदियों का संगम होता है वह स्थान पवित्र व पुनीत माना ही जाता है। देश के प्रत्येक प्रान्त में ऐसे शतशः पवित्र संगम स्थान हैं। यदि धनी व उत्साही सज्जन संगम स्नान का पुण्य प्रयागराज में जाकर कमाते हैं तो साधारण स्थिति के आस्तिक हिन्दू अपने प्रान्त के संगमों पर पहुँचकर ही अपनी धर्म-परायणता का परिचय देते हैं। यदि इस वास्तविकता पर गम्भीर दृष्टि से विचार किया जाए तो पता चलेगा कि यद्यपि प्रमुख प्रमुख संगमों को विशेष महत्त्व दिया जाता है परन्तु मूल रूप से सब ही संगम पवित्र माने जाते हैं और उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि संगमों का इतना महात्म्य क्यों? क्या निष्कारण ही यह प्रथा चला दी गई है या इसका कोई आन्तरिक रहस्य भी इनमें छिपा हुआ है। हिन्दुओं के बहुत से धार्मिक कृत्यों व प्रथाओं में कई प्राकृतिक नियमों का समावेश है यह बात अब मुक्तकण्ठ से स्वीकार की जाने लगी है। हमारी सम्मति में इन संगमों के महात्म्य में जितने भी रहस्य निहित हों, उनमें एक रहस्य यह अवश्य है कि हिन्दू समुदाय समाज की रक्षा के लिए ऐसी मधुर मिलन की संधियों को अत्यन्त पवित्र व पुनीत मानता था और इन संगमों को एक प्रकार से व्यावहारिक जीवन में अनुकरणीय उदाहरण समझता था।

फारसी के प्रसिद्ध कवि ने मनुष्य समाज को चेतावनी दी है—

तू बराये वस्ल कर्दन आम्दी, नैबराये फस्ल कर्दन आम्दी॥

साहित्यिक व सांस्कृतिक संगम

अर्थात् ऐ मनुष्य ! तू संसार में एकता फैलाने के लिए आया है, अनैक्यता और विभिन्नता फैलाना तेरे जीवन का उद्देश्य नहीं होना चाहिए।

आज हिन्दू समुदाय संगम पर पहुँचता है और संगम में डुबकी भी लगाता है परन्तु संगम की जो पवित्रता है और संगम स्नान का जो महात्म्य है उससे वह अपरिचितसा प्रतीत होता है। संगम स्नान से पवित्र शरीर क्या किसी अनैक्यता का साधन बन सकता है? दुःख के साथ कहना पड़ता है कि संगम में स्नान करनेवाला भावुक हिन्दू आज संगम के स्नान का महात्म्य भूल गया है। उसके जीवन के प्रत्येक काम, उसके जीवन की सब व्यवस्थाएँ स्पष्ट रूप से बता रही हैं कि संगम स्नान का महात्म्य वह भूल चुका है।

आज हिन्दू का जीवन केन्द्रीकरण का पोषक नहीं, विकेन्द्रीकरण ही उसका लक्षण बन गया है। वर्णाश्रम के स्थान में जातियों और उपजातियों के बन्धन, अखण्ड भारत की विशालता के स्थान में प्रान्तीयता की संकीर्णता, एक धर्म के स्थान में अनेक धर्मों व सम्प्रदायों की स्थापना व एक भाषा के स्थान में अनेक भाषाओं का प्रचार बता रहे हैं कि हमारा संगम स्नान वास्तविक संगम स्नान नहीं, केवल मन के बहलाने के एक क्षणिक साधन रह गया है। यदि हिन्दू समाज ने वास्तविक संगम स्नान का महात्म्य समझ लिया होता तो देश में न तो इतनी जातियाँ व उपजातियाँ होतीं; न इतने पंथ और सम्प्रदाय होते; न इतनी भिन्न भिन्न भाषाएँ होतीं और न इतने भिन्न भिन्न आचार विचार होते। संगम में स्नान करनेवाली जाति संगम के स्नान को सबसे अधिक भूल गई है।

आज इन कृत्रिम विभिन्नताओं के कारण कहीं पाकिस्तान का नाद उठता है तो कहीं द्रविड़स्तान की माँग देश के सामने आती है। कोई जातीय सभाएँ खोलता है तो कोई प्रान्तीय मण्डल बनाने की धुन में लगा हुआ है। सारांश जहाँ देखो वहाँ छोटे छोटे भेदों को बढ़ाकर तिल का ताड़ बनाया जा रहा है और गृहकलह के साधन जुटाए जा रहे हैं। देश को जहाँ सुसंगठित होकर उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहिए था वहाँ प्रान्त प्रेम के नाम से घरघुसू की कायरतापूर्ण नीति का अवलम्बन किया जा रहा है।

कहा जाता है कि विज्ञान ने भौगोलिक अन्तर को कम कर दिया है और इस वैज्ञानिक युग में सुदूरस्थित महाद्वीप एक दूसरे के निकट आ गए हैं, परन्तु भारत में और विशेषकर हिन्दू समाज में तो इस पाश्चात्य शिक्षा के प्रादुर्भाव से वह भेड़ियाधसान प्रारम्भ हुई कि समाज का पिछला शीराजा (संगठन) सब बिखर गया। कभी कभी होता भी है—
"One man's meal is another man's poison."

निष्कर्ष यह कि जिन सांस्कृतिक सूत्रों से सारा भारतवर्ष बँधा हुआ था वे सूत्र अब अत्यन्त निर्बल हो चुके हैं और मणियों को गुम्फित रखने में असमर्थ हैं।

भाषा विज्ञान के विद्वानों का एक मत से कहना है कि भारत में जो प्रमुख भाषाएँ प्रचलित हैं उन सब की जननी संस्कृत ही है। सब में एक ही सांस्कृतिक भाव हैं और सब की एक ही पृष्ठभूमिका है, परन्तु प्रान्तीयता के भाव इतने बढ़ गए हैं कि इन सब पवित्र सम्बन्धों व मूल आधारों की उपेक्षा करने में ही हमने मातृभाषा की सेवा समझ ली है।

वैसे तो कहा जाता है कि भारत में लगभग २२५ भाषाएँ व बोलियाँ प्रचलित हैं परन्तु ११ भाषाएँ प्रमुख मानी जाती हैं जिनके अंक निम्नलिखित हैं:—

	सन् १९३१ की जनसंख्या.
(१) हिन्दी (पश्चिमी हिन्दी, राजस्थानी, उर्दू आदि सभी रूप)	८,५४,४५,०००
(२) बंगला	५,३४,६९,०००
(३) तेलगू	२,६३,७४,०००
(४) मराठी	२,०८,९०,०००

(५)	तामिल	२,०४,१२,०००
(६)	पंजाबी	१,५८,३९,०००
(७)	कन्नड	१,१२,०६,०००
(८)	उड़िया	१,११,९४,०००
(९)	गुजराती	१,०८,५०,०००
(१०)	मलयालम	८८,३८,०००

ये भाषाएँ लिपि की दृष्टि से तीन समुदायों में विभक्त की जा सकती हैं—(१) नागरी समुदाय, (२) उर्दू समुदाय, (३) मद्रासी समुदाय।

नागरी समुदाय में हिन्दी व मराठी की लिपि एक ही है, अतः इन दोनों भाषाओं में बहुत कुछ सान्निध्य है परन्तु हिन्दी के पश्चात् बंगाली भाषा का ही स्थान है। बंगाली भाषा भी संस्कृत प्रचुर भाषा है और उसका साहित्य अत्यन्त मधुर व सरस है। अन्य प्रान्तीय भाषाओं की अपेक्षा इसके साहित्य में पाश्चात्य विज्ञान, इतिहास, कला, कौशल इत्यादि अंगों की बहुत कुछ पूर्ति हो चुकी है। परन्तु बंगाली साहित्य का लाभ अन्य प्रान्तवासी पूर्ण रूप से इसलिए नहीं उठा सकते हैं कि कोमल स्वभाव बंगाली महाशय लिपि के सम्बन्ध में आवश्यकता से अधिक कठोर हैं। जो बंगाली अपनी भावुकता के लिए प्रख्यात हैं, जिस बंगाल देश ने महाप्रभु चैतन्य, जगत्विख्यात स्वामी रामकृष्ण परमहंस व स्वामी विवेकानन्द को जन्म दिया; जिस बंगाल को राजा राममोहनराय, महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्रसेन व ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे सुधारकों की जन्मभूमि होने का अभिमान है; जिस भूमि ने जगदीशचन्द्र बोस, सर पी० सी० राय, डॉ० रासबिहारी घोष, डॉ० रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे विश्वविख्यात विद्वानों को उत्पन्न किया, जो बंगाल राष्ट्रीय भावनाओं के जाग्रत करने में सबमें प्रथम है वही बंगदेश आज लिपि के सम्बन्ध में कैसी संकीर्णता का प्रदर्शन कर रहा है। जैसाकि मराठी के प्रसिद्ध कोषकार प्रो० माधव त्रिम्बक पटवर्धन ने कहा है—"सुदैवानें बालबोध लिपि ही बहुतांशी पूर्ण व मराठीच्या गरजा भागविण्यास समर्थ आहे। उच्चार व लेखन यांत तन्तोतंत मेळ ठेवणें म्हणजे, शुद्ध लेखन होय।" महाराष्ट्र प्रान्त ने देवनागरी लिपि को ग्रहण करके जो राष्ट्र भाषा के निर्माण में सहयोग दिया है वही सहयोग यदि बंगाल दे देता तो आज राष्ट्रभाषा की समस्या सुलझ ही जाती।

बंगाल का यह उदाहरण गुजरातियों व पंजाबियों के लिए भी अनुकरणीय बन जाता और आज मद्रास प्रान्त को छोड़कर सारा भारतवर्ष भाषा की दृष्टि से एकसूत्र में बँध जाता।

हिन्दी लिपि व गुजराती लिपि में केवल ६ अक्षरों में भेद है और यही दशा पंजाबी की भी है। सिक्खों के सम्पूर्ण धर्म-ग्रंथ सुन्दर सुललित हिन्दी भाषा में होते हुए भी अन्य प्रान्तों के हिन्दुओं की सम्पत्ति इसलिए नहीं बन सके कि अब तक वे गुरुमुखी लिपि में ही प्रकाशित होते रहे हैं। यदि हिन्दी लिपि में यह अमृतवाणी प्रकाशित हो गई होती तो आज उसक प्रचार उतना ही सर्वव्यापी हो गया होता जितना कि सन्त कबीर की वाणी का हुआ है। केवल हिन्दी के पक्षपातियों का ही यह कथन नहीं है कि बंगाली, मराठी, गुजराती भाषाओं की उत्पत्ति संस्कृत भाषा से ही हुई है सुतरां इन भाषाओं के विद्वानों की भी यही स्पष्ट सम्मति है। दक्षिण के प्रकाण्ड विद्वान्, सूक्ष्म इतिहासज्ञ व मराठी के महारथी कैलाशवासी विश्वनाथ काशीनाथ राजवाड़े ने मराठी भाषा की उत्पत्ति निम्नलिखित शब्दों में दी है :—

"आर्यांनीं कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पंचाल व शूरसेन या प्रदेशांत कायमची वस्ती केल्यानंतर आपली दृष्टी दक्षिण दिशेकडे वळवली, आदि दंडकारण्यांत वसाहती स्थापन करण्यास आरंभ केला। जे शूर धाडसी आर्य या वसाहती करून तेथें कायमचे रहिवासी झाले, ते स्वतःस महाराष्ट्रीय आणि आपल्या वसाहतींना महाराष्ट्र देश असें अभिमानपूर्वक म्हणूं लागले। कालांतरानें या आर्यांच्या वाणींत तेथील मूळच्या रानटी लोकांच्या संसर्गानें अपभ्रंश होऊन, एक प्राकृत भाषा जन्मास आली, या प्राकृत भाषेला त्यांनीं महाराष्ट्री असें नाँव दिलें।'

साहित्यिक व सांस्कृतिक संगम

जिसका भावार्थ यह है कि जिस समय आर्य कुरुक्षेत्र, मत्स्यदेश, पंजाब व शूरसेन प्रदेशों में अपने उपनिवेशन स्थापित करके दक्षिण की ओर आगे बढ़े तो उन्होंने दण्डकारण्य में पहिले बस्तियाँ बसाईं और उस देश का नाम महाराष्ट्र रखा। कालान्तर में इन आर्यों की भाषा में मूल निवासियों के संसर्ग से अपभ्रंश हुए और प्राकृत भाषा का जन्म हुआ। इस प्राकृत भाषा का नाम पहिले महाराष्ट्री रहा फिर अराजकता के काल में महाराष्ट्री से मराठी हो गया।

जिस भागवत धर्म के जन साधारण में प्रचार करने के लिए महाराष्ट्र के सन्तों ने मराठी का निर्माण किया वह सांस्कृत निष्ठा आज भी मराठी का लक्षण बनी हुई है। उत्तर भारत में जब हिन्दी के पैर भी न जमे थे मराठी जनसाधारण के मानसिक विकास का साधन बन रही थी। आज से चालीस वर्ष पूर्व हिन्दी की कविता की प्रवाह धारा ब्रजभाषा व अवधी में ही सीमित थी वहाँ मराठी कविता का संस्कृतनिष्ठ स्वरूप विकसित हो रहा था। यह कहना अत्युक्ति न होगा कि आज भी मराठी हिन्दी की अपेक्षा कहीं अधिक संस्कृतनिष्ठ है।

हिन्दी के विकासकाल से ही हिन्दी के स्वरूप के सम्बन्ध में अनिश्चितता रही। कहीं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र अपनी संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रचार करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं तो कहीं उसी हिन्दी को फारसी और अरबी के कठिन शब्दों से बोझल करने में राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' दिखाई पड़ते हैं। खड़ी और पड़ी बोली की चर्चा तो कल ही की बात है। विविध शक्तियों के सहयोग से और उसके स्वाभाविक अधिकार से हिन्दी राष्ट्रभाषा के मुकुटमणि से सुसज्जित हो ही नहीं पाई थी कि उसको एक प्रकार से हिन्दुस्तानी का ग्रहण लग गया। परन्तु मराठी भाषा को ऐसी विलक्षण परिस्थिति से नहीं निकलना पड़ा। उसका प्रवाह एक समान निश्चित सीमाओं में आगे बढ़ रहा है।

यह बात अब एक मत से स्वीकार कर ली गई है कि यदि भारत में कोई राष्ट्रभाषा हो सकती है तो वह हिन्दी ही हो सकती है। हिन्दी भाषा न केवल संस्कृतजन्य भाषाओं के ही निकट है, वस्तुतः उर्दू भाषा के भी निकट है जिसे देश का एक प्रमुख जन-विभाग अपनी मातृभाषा कहता है। हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनने के लिए यह बात आवश्यक है कि वह न केवल उर्दू के ही साथ अपने सम्बन्ध निश्चित करे, सुतरां उसको मराठी, बंगाली, गुजराती, पंजाबी, तामिल, तैलगू, मलायालम इत्यादि भाषाओं के साथ अपने सम्बन्ध स्थापित करने होंगे। जहाँ जहाँ हिन्दी भाषा व प्रान्तीय भाषाओं का इस प्रकार संगम होगा वे ही स्थल हमारी धार्मिक शब्दावली के अनुसार हमारे पवित्र तीर्थ होंगे।

भारतवर्ष के मध्य प्रदेश व मध्य भारत दो ही ऐसे खण्ड हैं जो एक प्रकार से मराठी व हिन्दी के संगम हैं। इन दोनों प्रान्तों में मराठी और हिन्दी का एक समान आदर है। दोनों प्रान्तों में ऐसे विद्वानों की कमी नहीं है जिनका दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और जिनके प्रति दोनों भाषाभाषी एकसी श्रद्धा रखते हैं। मध्य भारत में हिन्दी के प्रचार का श्रेय बहुत अंशों में उन महानुभावों को है जिनकी मातृभाषा मराठी थी और जिनमें सर्व प्रथम स्थान पुण्यश्लोक, स्वनाम-धन्य, देशगौरव स्व० माधव महाराज का है। वास्तव में इन्होंने तीर्थराज प्रयाग का महत्त्व समझा और त्रिवेणी के स्नान का पुण्य कमाया।

शिन्दे वंश को गौरव है कि उनके विस्तृत राज्य में उस प्राचीन वैभवशाली भारत के वे सब स्मारक आज भी विद्यमान हैं। अवन्तिका, दशपुर, विदिशा, पद्मावती एक एक स्थान अपने साथ एक एक इतिहास लिए हुए है जिस पर भारत को ही गर्व नहीं सम्पूर्ण सभ्य संसार को गर्व है। आज उज्जयिनी के आर्य संस्कृति के पुनरुद्धारक सम्राट विक्रमादित्य के साका की द्वि-सहस्राब्दि समाप्त होना संसार के सांस्कृतिक इतिहास का एक भव्य पृष्ठ है। इस पवित्र अवसर पर, इस पवित्र स्थल पर क्या सुन्दर हो, भारतीय वाङ्मय की ये दोनों धाराएँ इतने निकट आ जावें कि यह एक दूसरे में अपना वास्तविक स्वरूप देखने लगें और दोनों मिलकर वह प्रवाहशक्ति धारण कर लें जो चट्टानों को उखाड़ती हुई, पहाड़ों को फोड़ती हुई भारतीयों के विकास व उनके वैभव, सुख एवं समृद्धि का कारण बनें।

हमारी प्राचीन संस्कृति

श्री डॉक्टर रामविलास शर्मा एम. ए., पी. एच डी.

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई के पहले पृत्सीलुस्की ने संस्कृत में अनार्य शब्दों की छानबीन करते हुए लिखा था कि शायद लिंगोपासना आर्यों ने भारतवर्ष के आदिम निवासियों से सीखी थी। "शिव" शब्द भी उन्हें इन्हीं अनार्य निवासियों से मिला था। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व की खोज से सभ्यता के वे प्राचीन स्तर उघर चुके हैं जिन पर आर्यों ने अपनी संश्लिष्ट सभ्यता का भवन बनाया था। भारतवर्ष की अपेक्षा ग्रीस में यह ऊहापोह और भी स्पष्टता से दिखाई देता है। भारतवर्ष की आर्य या वैदिक सभ्यता और उससे पूर्व की अनार्य या भारतीय सभ्यता किसी एक देश की सीमाओं में बँधी हुई अनोखी नहीं है। आर्य और अनार्य, दोनों ही प्रकार की भारतीय सभ्यता की तुलना ग्रीस, मिश्र, सुमेर आदि की प्राचीन और परवर्ती सभ्यता से हो सकती है। इस तुलना से यह निष्कर्ष भी निकलता है कि आर्य और अनार्य सभ्यता में अनेक समानताएँ होते हुए भी उनकी रूपरेखा भिन्न है। वास्तव में दोनों की रूपरेखाएँ आज एक ऐसे नये आकार में मिल गई हैं जिसमें उनका अलगाव करना कठिन है।

मिश्र, क्रीट, सुमेर और सिन्धु घाटी की प्राचीन सभ्यता में जो बात सामान्य रूप से मिलती है, वह लिंगोपासना और प्रजनन-सम्बन्धी रीति-रिवाजों (fertility Cults) का प्रचार है। भाषा-विज्ञान और पुरातत्त्व दोनों से ही इसकी पुष्टि होती है। आर्यों ने इस उपासना का विरोध किया परन्तु अनार्य जनता से ज्यों-ज्यों उनका सम्पर्क बढ़ता गया, त्यों-त्यों वे उस विरोधी संस्कृति को अपनाते भी गए। इस अपनाव से ही आज की हिन्दू संस्कृति का जन्म हुआ।

ग्रीस में बैकस शराब का देवता माना जाता है परन्तु उसका आदिम रूप दूसरा था। वह खेतों में पैदावार का रक्षक, प्रजनन-सम्बन्ध का देवता था। उसकी उपासना के विचित्र ढंग थे जिन्हें हेलेनिक जातियों ने अपने मन्दिरों की गुप्त उपासना में अपनाया। प्रजनन-देवता इन्द्र के समान बहुगुण सम्पन्न था। बैकस वाणी का देवता भी था; इसीलिए ग्रीक शब्द अँबैकान्टी का वही अर्थ है जो संस्कृत "अवाक्" का है। "वाक्" और "बैकस" की जड़ एक ही है और सम्भवतः उसका छोर अनार्य संस्कृति के गूढ़तम स्तरों में है।

पृत्सीलुस्की के अनुसार "लांगल" शब्द की संस्कृत में कोई मान्य व्युत्पत्ति नहीं है। इसे आर्यों ने अनार्यों से पाया था और उसका अर्थ हल और लिंग दोनों था। लिंगोपासना का जन्म खेती के रीति-रिवाजों से हुआ है। इसका आधार यह विश्वास था कि प्रजनन-क्रिया से खेतों की पैदावार बढ़ेगी। इसीलिए लांगल शब्द के दो अर्थ हैं जो वास्तव में सम्बद्ध हैं।

खेती के रीति-रिवाजों से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक चिन्ह मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा की मुद्राओं में मिलते हैं। एक मुद्रा पर नग्न-नारी-आकार अंकित है जिसका सिर नीचे को है और दोनों पैर ऊपर को हैं। उसकी जंघाओं के बीच से एक पौधा निकल रहा है।* इससे खेती में प्रजनन-सम्बन्धी रीति-रिवाजों का प्रचलित होना स्पष्ट है। आगे चलकर इन्हीं रीति-रिवाजों का वाम-मार्ग और वज्र-यान में विकास हुआ।

मोहेंजोदड़ो की वे मुद्राएँ सुविख्यात हैं जिन पर पशुपति का चित्र अंकित है। मार्शल की पुस्तक की बारहवीं प्लेट में १७वीं आकृति पशुपति की है। वे योगासन मारे बैठे हैं; दोनों एड़ियाँ एक दूसरे से जुड़ी हैं और अँगूठे नीचे को हैं। हाथ घुटनों पर हैं और बर्मा की देहाती स्त्रियों की तरह कड़ों से ढके हैं। दाहिनी ओर हाथी और चीता है; बाईं ओर भैंसा और गैंड़ा है। सिंहासन के नीचे दो हरिण हैं।

सिंह वैसे भी वन का राजा समझा जाता है। वन का देवता या तो उसी का रूप धारण करता है या उससे किसी प्रकार सम्बन्धित रहता है। फ्रेञ्च लेखक आँरी बोदेस्सों ने हिन्द-चीन के असभ्य निवासियों के विश्वास के बारे में लिखा है कि चीता वन का स्वामी होता है; इसलिए किसी पेड़ को काटने के पहले उसकी आज्ञा माँगना आवश्यक होता है। अन्नाम प्रदेश के लोगों में पशुपति की उपासना प्रचलित है और इस देवता का चीते से निकट का सम्बन्ध है। यहाँ के असभ्य निवासी हाथी को पवित्र मानकर उसकी बलि देते हैं और उसकी जननेन्द्रियों को राँधकर खाते हैं।

नवीन और प्राचीन—दोनों ही प्रकार की अनार्य जातियों में लिंगोपासना के साथ जगदम्बिका भवानी की उपासना भी प्रचलित है या थी। लाओशियन लोग ऐसे मन्दिर की यात्रा करते हैं जहाँ काली जैसी देवी की मूर्ति स्थापित है। इस काली देवी के हाथ में—जिसका रंग भी काला है, लिंग स्थापित है। पुरातत्त्व के विद्यार्थी जानते हैं कि नील नदी से लेकर सिन्धु घाटी तक प्राचीन काल में जगदम्बा की उपासना प्रचलित थी। इसके विपरीत आर्यों में पुरुष-देवों की प्रधानता थी और पुरुष-देवों में पशुपति-पूजा या लिंगोपासना का अभाव था।

मोहेंजोदड़ों की संस्कृति में योग कितना विकसित हो चुका था, यह कहना कठिन है। उसके विकास का प्रमाण केवल मुद्राओं में अंकित आकार हैं। अनेक मुद्राओं में बैठने का एक विशेष आसन है—दाहिने पैर का घुटना छाती से लगा है और बाएँ पैर का घुटना समकोण बनाता हुआ सामने को है। पशु और वृक्ष-लता की उपासना को देखते हुए यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि योग अपनी चरम सीमा तक विकसित न हुआ था। पशु और देवता एक मुद्रा में साथ साथ बैठे ही नहीं मिलते वरन् उनके आकार भी बहुधा एक दूसरे से मिल जाते हैं। मोहेंजोदड़ों के बैल जिनका मुंह मनुष्य का है, क्रीट और अॅसीरिया के गो-पुरुषों से मिलते-जुलते हैं। बैल, हाथी, वानर आदि देवता होने के साथ सम्भवतः सूर्य-चन्द्र की भाँति वंश चलानेवाले पुरखे भी थे। जैसे चन्द्रवंशी और सूर्यवंशी क्षत्रिय होते थे, वैसेही मिश्र में पशु-पुरखों की उपासना प्रचलित थी। मोहेंजोदड़ों की मुद्राएँ सम्भवतः इन्हीं पशु-पूर्वजों की उपासना में बनाई गई थीं और उन पर जो अक्षर अंकित हैं वे सम्भवतः पूर्वजों के नाम अथवा मंत्र हैं, विशेषकर इसलिए कि मुद्राओं पर उनकी पुनरावृत्ति भी होती है। यदि बैल की उपासना गो-वंशी करते थे तो मानना होगा कि इनके भाई-बन्द बहुत दूर-दूर तक फैले थे क्योंकि वृषभोपासना क्रीट से लेकर मोहेंजोदड़ों तक प्रचलित थी। ऋगवेद में इन्द्र की वृषभ से तुलना करना क्या दासों को भयभीत करने के लिए न था? तुम वृषभ की पूजा करते हो? हमारा इन्द्र सौ वृषभों के बराबर है। ऐसी ध्वनि वृषभ से तुलना करनेवाले मंत्रों से निकलती है।

साधारण उपासना में अपना महत्त्व घोषित करने के लिए पुजारी या उपासक सिर में बैल के सींग लगा सकता है। आसाम के "नागा" अब भी सिर में सींग लगाते हैं। मोहेंजोदड़ों के पशुपति के सिर पर भी दो विशाल सींग हैं। सुमेर और बैबिलोन में सींगों का इस भाँति प्रयोग किया जाता था। वृषभ की भाँति "वानर" भी पवित्र पशु था। मोहेंजोदड़ो

*Sir John Marshall–*Mohenjodaro and the Indus Civilisation* (Plate XII fig. 12)

की मद्राओं पर बन्दरों को देखिए और हिन्द-चीन और आसाम के उन निवासियों का स्मरण कीजिए जो कमर से बन्दर की पूंछ बाँधे रहते हैं। अनार्य संस्कृति का वह अजस्त्र, प्रवाह पूर्वी-एशिया की घाटियों उपत्यकाओं-में ज्यों का त्यों बना है।

मोहेंजोदड़ो के निवासी लिंगोपासक थे। इसी तरह दक्षिण ग्रीस और क्रीट के प्राचीन निवासी भी शिश्नोपासक थे। ग्रीक (आर्य) जातियों ने इनसे लिंगोपासना सीखी। चौराहों पर ये लिंग स्थापित थे और उनकी पूजा होती थी। सिसिली पर एथेन्स की सेना ने जब आक्रमण की तैयारी की थी, तब प्रयाण की रात्रि में ये लिंग चोरी चले गए थे। इसे अपशकुन माना गया था। हिन्दुस्तान के घरों में यह लिंग-गौरी की उपासना आज भी प्रचलित है। भाषा-विज्ञान ने शिव की व्युत्पत्ति में असफल होकर उसे अनार्य शब्द ठहराया था। पुरातत्त्व ने पशुपति-अंकित मुद्राएँ निकालकर शंकर भगवान को अनार्य सिद्ध किया। काशी में अनार्यों ने आर्यों से दृढ़ मोर्चा लिया; इसलिए काशी तीन लोक से न्यारी शिव के त्रिशूल पर स्थित हुई। नन्दी शिव का वाहन है और वह पूज्य है। दक्ष वैदिक मत के माननेवाले थे; शिव के गणों ने उनके यज्ञ का विध्वंस किया। नन्दी ने दक्ष के मत की भर्त्सना करते हुए उन्हें "वेदवादविपन्नधीः" कहा। इस शैवमत––लिंगोपासना और उसके लिए विकट संग्राम के स्मृति-चिन्ह नगरों के नाम हैं जैसे दुर्जयलिंग-दार्जीलिंग।

सिन्धु घाटी की खुदाई में नर्तक की एक सुन्दर मूर्ति मिली है। जितनी सुन्दर है, उतनी ही स्त्रैण भी है यद्यपि मूर्ति नर्तकी नहीं, नर्तक की है। क्नौसस (क्रीट) के भित्तिचित्रों में यही स्त्रैणता व्यंजित है। अनार्य सभ्यता के पतन के लक्षण इन चित्रों में झलकते हैं; उसे पतन के गर्त में ढकेला नई पुरुषदेवोपासक आर्य संस्कृति ने।

पुरातत्त्व की भूमिका के बाद ऋग्वेद के मंत्र पढ़ने पर कभी कभी ऐसा लगता है मानो वे उस अनार्य सभ्यता पर टीका-टिप्पणी करने के लिए लिखे गए हैं। कम से कम उस भूमिका को ध्यान में रखने से उनमें एक नया अर्थ-बोध होताहै।

पशु, प्रकृति, योनि और लिंग की उपासना तथा तंत्र-मंत्रों की संस्कृति को आर्य-आक्रमण का धक्का लगा। अनार्यों के सुन्दर नगर तोड़फोड़ डाले गए जिससे आर्य विजेता का नाम ही पुरन्दर पड़ गया। ग्रीक में इसी का पर्यायवाची शब्द "प्तोलीपोर्थास" "ओदैसियस" आदि के लिए प्रयुक्त होता है। वैसे "पुर" शब्द अनार्य है और संस्कृत के साथ ग्रीक में भी अनार्यों से आया। है दक्षिण भारत में स्वाभाविक ही उसकी बहुतायत है। इन्द्र ने "पुरों" का ध्वंस किया परन्तु आर्य शब्दा वली में "पुर" शब्द अमर हो गया।

इन्द्र ने सर्पोपासकों को मारा; असुरों की पृथ्वी आर्यों को दी; उन्हें गायें दीं और उन्हें धन-धान्य से पूर्ण गाँव दिए।

यः हत्वा अहिम् अरिणात् सप्त सिन्धून् यः गाः उतऽआजत् अपऽधा वलस्य।
यः अश्मनोः अन्तः अग्निम् जजान संऽवृक् समत्ऽसु सः जनासः इन्द्रः॥

और भी, "दास वर्ण" को उसने आर्यों की सेवा के लिए दिया और उसने ४० वर्ष तक पर्वतों में छिपे हुए शम्बर को मारा।

यः शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तम् चत्वारिंश्याम् शरदि अनुऽअविन्दत्।
ओजायमानम् यः अहिम् जघान दानुम् शयानम् सः जनासः इन्द्रः॥

इस "सः जनासः इन्द्रः" के वज्र-घोष के साथ पुनः पुनः मंत्रों में इन्द्र की महत्ता घोषित की जाती है। इन्द्र एक अलौकिक देवता अवश्य है परन्तु देवताओं की सृष्टि भी अवारजविक लोक में नहीं होती। दूसरे शब्दों में न इन्द्र, न और कोई देवता केवल आसमानी होता है। उसकी उत्पत्ति पशुओं, वृक्षों और मनुष्यों से होती है। इन्द्र के पास अपार धन है परन्तु वह "पुरन्दर" भी है। क्या उसके पुरन्दर होने की किंवदन्ती के पीछे कोई यथार्थ सत्य नहीं छिपा है?

यस्य अश्वासः प्रऽदिशि यस्य गावः यस्य ग्रामाः यस्य विश्वे रथासः॥

ग्राम, रथ, गौ, घोड़े सब उसके पास हैं; इसलिए कि "ओजायमान् अहि" को उसने मारा है। मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं पर सर्प के फन के नीचे उपासक के चित्र इस "ओजायमान अहि" को एक नया अर्थ प्रदान करते हैं। इन्द्र का नाम पुरन्दर योंही न पड़ गया था और उसे योंही आर्य योद्धा विजय के लिए स्मरण न करते थे।

यस्मात् न ऋते विजयन्ते जनासः यम् युध्यमानाः अवसे हवन्तै।।

वे उसे युद्ध में इसलिए स्मरण करते थे कि जिनके विरुद्ध इन्द्र के उपासक लड़ रहे थे,उनके विरुद्ध इन्द्र भी लड़ चुका था।

यः दस्योः हन्ता सः जनासः इन्द्रः।।

इन्द्र की उपासना में आर्यों ने उन पूर्ववर्ती वीरों की स्मृति सुरक्षित रखी, जिन्होंने सामूहिक रूप से इन मंत्रों में वर्णित कृत्यों को किया था।

वेदों में इन्द्र जितना महान् है, पुराणों और भाषा-ग्रंथों में वह उतना ही पतित भी है। कौनसा पाप है जो इस देवता ने नहीं किया? इस देवता को मद्यपी और व्यभिचारी ठहराकर, सहस्राक्ष का रूप देकर, उसे जघन्यतम रूप से तिरस्कृत करके अनार्य संस्कृति के उद्गम से प्रवाहित हिन्दू संस्कृति ने "ओजायमान अहि" की मृत्यु का बदला लिया।

यह संघर्ष दीर्घकालीन और भयानक था। रामायण की गाथा में उसका छायाचित्र अंकित है।

अखायन नाम की हेलेनिक जाति की तरह कुछ आर्य जो पहले धावे में आए थे, अनार्यों से मिल गए और उनपर शासन करने लगे। बाद के आर्य आकर अनार्यों के साथ अपने भाई आर्यों से भी लड़े। ट्रॉय के महान् युद्ध में दोनों ओर के योद्धा आर्य थे। जो लोग हेलेन को भगा लाए थे, वे मिनिलौस के ही भाईबन्द थे। होमर इसीलिए इसे भ्रातृ-युद्ध कहता है। रावण भी आर्य था, वेदपाठी था परन्तु उसने शैवोपासना भी स्वीकार कर ली थी। शैवोपासना स्वीकार करके ही वह अनार्यों का प्रभु बन सका था। शैवोपासना द्वारा ही राम भी उस पर विजयी हुए। इसका अर्थ स्पष्ट है; बिना अनार्यों का धर्म स्वीकार किए उनमें फूट डालना असम्भव था।

राम ने जनस्थान में (राक्षसस्थान में नहीं) राक्षसों का नाश किया। बालि को उन्होंने छिपकर मारा। जब बालि ने चुनौती दी—"तुम्हें सुग्रीव के साथ मित्रता ही निबाहनी थी तो सामने आकर क्यों युद्ध नहीं किया?"—तो राम ने यही उत्तर दिया कि सारी पृथ्वी 'आर्य' भरत की है; अनार्य बालि धर्म-अधर्म क्या जानें? जिस अगस्त्य की दिशा को अगस्त्य और उनके साथी मिशनरी न जीत सके थे, उसे राम ने जीता। इसीलिए वह वाल्मीकि के आदर्श सम्राट् हुए।

राम ने अनार्य वानरों से सहायता ली थी। इन वानरों का बन्दरों से बहुत सम्बन्ध रहा होगा तो इतना कि आसाम और हिन्द-चीन के जंगली निवासियों की भाँति वे पूँछ लगाए रहते होंगे। कम से कम जिस सुन्दरी तारा ने लक्ष्मण की ओर मदभरी चितवन से देखा था, उसके पूँछ नहीं थी। परन्तु भारतीय संस्कृति के अनार्य उद्गम ने फिर बदला लिया। हनुमान् एक मुख्य देवता हो गए; बन्दर की भाँति पूँछवाले, यद्यपि वाल्मीकि के हनुमान की संस्कृत सुनकर आर्य श्रोताओं को आश्चर्य होता था (पता नहीं किस मिशनरी स्कूल में पढ़े थे!)। मोहेंजोदड़ो की मुद्राओं में अंकित बन्दरों की भाँति, हिन्द चीन के वानर-देवता की भाँति, आधुनिक "आर्य" हनुमान का स्मरण करता है। पौफटे खेत की ओर जाता हुआ किसान या इम्तहान के लिए उससे कुछ देर में चलता हुआ विद्यार्थी "जै हनुमान ज्ञान गुणसागर" गुनगुनाने लगता है। यह कहाँ की "नाना पुराण" या "बाबा पुराण निगमागम सम्मत" उपासना है? यह वही उपासना है जो भारतीय किसान के हृदय में सहस्त्राब्दियों के बाद भी अपना अति प्राचीन रूप नहीं खो सकी।

फिर भी गोस्वामीजी की रामायण "नाना पुराण, सम्मत" तथा "निगमागम सम्मत" दोनों ही हैं। भारतवर्ष की धरती ने, यहाँ की जल वायु ने आर्य-अनार्य संस्कृतियों को एक कर दिया। तुलसीदास इस संस्कृति-सम्मिलन के सबसे बड़े कवि हैं। दोनों से श्रेष्ठ तत्त्व लेकर दोनों के गलित तत्त्वों का उन्होंने बहिष्कार किया। ऋग्वेद का "इन्द्र" रामायण का खल-पात्र बना। वैदिक "पुरन्दर" तुलसीदास का उपास्य नहीं है। शिव और विष्णु के अति प्राचीन संघर्ष को उन्होंने निपटाया और शैवमत को हिन्दू धर्म का अविच्छिन्न अंग बना दिया। "भदेस" संस्कृति में भूत-प्रेतों की पूजा को उन्होंने महा-अधम उपासना ठहराया; "भजहिं भूत घनघोर" के बहाने उसकी तीव्र निन्दा की। इस सांस्कृतिक सम्मिलन के कारण आज का हिन्दू धर्म तुलसीदास का हिन्दू धर्म है। उसमें "ओजायमान अहि" का नाश करनेवाले इन्द्र का ओज कम है परन्तु उसके बदले सिन्धु जैसी अथाह करुणा है जो सभी धर्मों और संस्कृतियों का आधार है। तुलसीदास मानव-सुलभ करुणा और सहानुभूति के कवि हैं जिसके प्रतीक-चरित्र राम नहीं भरत हैं।

गांधर्व-विवाह

श्री लुडविक स्टर्नबाख, पोलेण्ड।

प्रोफेसर पी० व्ही० काणे के मतानुसार (धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द २, भाग १, पृष्ठ ५१९) गान्धर्व-विवाह का प्रमुख उद्देश्य भोग-विलास की परितृप्ति है'। जे० जॉली (वही, पृष्ठ ५१) का कथन है कि गान्धर्व-विवाह माता-पिता की स्वीकृति प्राप्त किए बिना ही किया गया प्रेम-परिणय मात्र है। गुरुदास बेनरजी (हिन्दू-विवाह कानून एवं स्त्री-धन; टैगोर लॉ लेक्चर्स, १८७८, पृष्ठ ८५) कहते हैं कि इस रूप में विवाह, जो केवल सम्बन्धित व्यक्तियों के समझौते पर निर्भर करता है, ग्रेट्न-ग्रीन के उन विवाहों से कुछ हद तक मिलता-जुलता है जो अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत आनेवाले स्कॉटलैण्ड के ग्रेट्न ग्रीन तथा अन्य स्थानों के रहनेवाले भगोड़ों द्वारा, गलत-प्रेरणा तथा गुप्त रूप से आयोजित विवाहों के लिए लगे प्रतिबन्धों से बचने के लिए चुपचाप कर लिए जाते हैं। जॉन डी० मेन (हिन्दू लॉ और उसके उपयोग का विवेचन, मद्रास १९००, पृष्ठ ७९) के मत में गान्धर्व-विवाह यौन-प्रवृत्तियों एवं विलासपूर्ण आलिंगनों के लिए सम्पन्न होते हैं।

स्मृतियों से यह स्पष्ट है कि गान्धर्व-विवाह एक कन्या (कन्या, बाला, वधू अथवा स्त्री) का (मनुस्मृति भाग ३, ३२, कौटिल्य ३-२), अपने प्रेमी के साथ किया गया स्वेच्छापूर्ण संयोग है। (मनु० ३-३२ अस्पस्तम्ब २: ५, १२, २० इत्यादि) अथवा जैसा कि वीर० का कथन है, दो प्रेमियों का संयोग इस प्रकार के विवाह को रूप देता है। अपस्तम्ब का कथन है कि पारस्परिक समझौते के हो जाने के बाद ही ऐसे विवाह सम्पन्न किए जाते हैं (वीर० सं० ८५२) पारस्परिक यह स्वीकृति अथवा पारस्परिक सहयोग इस प्रकार के विवाह की अनिवार्य शर्तें हैं। इस प्रकार के विवाहों को और भी भली-भाँति समझने के लिए कुछ स्मृतियों का कथन है कि प्रेम के कारण ऐसे विवाह होते हैं (अपस्तम्ब २-५, १२, २०, शंख, ४-५ देव वी० सं० ८५५) अथवा कामेच्छा से इसका उद्‌भव होता है और यौन-संगति से इसकी पूर्ति। (मनु० ३-३२) वशिष्ठ के अनुसार प्रेमी (१, ३३) स्वजातीय एक कन्या को, बिना माता-पिता की अनुमति प्राप्त किए किसी पुण्य-स्थल पर ले जाता है।

गांधर्व-विवाह

गन्धर्व-विवाह, राक्षस-विवाह एवं पिशाच-विवाह में वैवाहिक शिष्टाचार एवं निश्चित आदेशों के पालन के प्रश्न पर नारद का मत विवादास्पद है। देवल तथा भरक गृह्य परिशिष्ट (शौनक) के एक उद्धरण के आधार पर, उनकी सम्मति में, कम से कम आर्य-दम्पत्तियों के लिए हवन-क्रिया का सम्पादन होना अनिवार्य है। किन्तु कुमारी कन्याओं द्वारा विवाह के समय मंत्रोच्चार करने पर लगे मनु के उस निषेध का वे भी समर्थन करते हैं और कहते हैं कि ऐसे विवाहों में वैदिक-विवाहों के मंत्रों का पाठ नहीं होना चाहिए। चौंतीसवें श्लोक पैर मेधातिथि की टिप्पणी से यह स्पष्ट होगा कि इस प्रश्न पर विद्वानों के मत विभिन्न थे; उनमें से कुछ मंत्रोच्चार के साथ विवाह की अनुमति के पक्ष में थी और कुछ वैवाहिक शिष्टाचार की आवश्यकता को ही अस्वीकार करती थी।

एक स्मृति का कथन है कि गान्धर्व तथा अन्य विवाह पद्धतियों में, पति-पत्नी को वैधानिक अधिकार प्रदान करने के लिए, हवन-क्रिया से लेकर सप्त-पदी तक सब कर्म सम्पन्न करना चाहिए।

इस क्रम में मैं काम-सूत्र (भाग ३, अध्याय ५) में प्राप्त इस प्रकार के विवाह की व्याख्या उद्धृत करना पसन्द करूँगा। उस व्याख्या के अनुसार "जब एक नवयुवक द्वारा एक युवती प्रेम-पाश में बँध जाती है, तब वह सर्वथा उसीकी हो जाती है। समाज में वह उसके साथ वैसा ही व्यवहार करता है मानों वह उसकी पत्नी ही हो। किसी ब्राह्मण के हवन-कुण्ड से वह अग्नि-प्रतिष्ठा करता है, दर्भ से भूमि आच्छादित करता है, अग्नि में हविष-सामग्री डालता है तथा इस प्रकार के विवाहों के लिए अपेक्षित धार्मिक रीति-रस्मों के अनुसार विवाह करता है। साक्षी की इसमें आवश्यकता नहीं। इस रीति-रस्म के हो जाने के पश्चात् वर, कन्या के माता-पिता को, अपने द्वारा सम्पादित सब घटना की सूचना देता है। अग्नि को साक्षी कर सम्पन्न किए गए ऐसे विवाह अविच्छेद्य होते हैं। अन्य पारिवारिक सम्बन्धियों को भी इसकी सूचना दी जाती है तथा उनसे स्वीकृति की प्रार्थना की जाती है। गन्धर्वों की यही प्रथा रही है।"

इस उद्धरण से यह देखा जा सकता है कि कन्या के माता-पिता की अनुमति प्राप्त किए बिना ही रचा गया गान्धर्व-विवाह, विधिवत् विवाह होने तक केवल वेश्या रखना जैसा ही है (देखो, वि० ६, २४-२३)। उदाहरणार्थ, पंचतंत्र में हम पढ़ते हैं कि किसी विवाहित स्त्री के साथ यौन-संगति अर्थात् व्यभिचार, गान्धर्व-विवाह पद्धति के अनुसार पूर्ण सम्पादित विवाह होता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में हम इस प्रकार के अनेक और उदाहरण पा सकते हैं। (जैसे कालिदास द्वारा रचित शकुन्तला और दुष्यन्त की कहानी इत्यादि)।

किन्तु महाभारत में हम एक बिलकुल ही भिन्न दृष्टिकोण पाते हैं। उसमें हम पाते हैं कि "जब कन्या का पिता अपनी इच्छाओं की उपेक्षा कर, लड़की को उन हाथों में प्रदान कर देता है, जिसे लड़की पसन्द करती है और जो लड़की की भावनाओं का समादर करता है, युधिष्ठिर के अनुसार, उन लोगों के द्वारा गान्धर्व विवाह कहलाता है जो वेद-विधियों को जानते हैं। हम देखते हैं कि महाभारत के अनुसार यह विवाह का वास्तविक तरीका था। यह उच्चतम विवाह रूपों में से एक रूप था जहाँ लड़की द्वारा अपनी रुचि के अनकूल पति को चुनने में पिता का कोई प्रभाव नहीं रहता था।

मनुस्मृति के भाग ३-२६ में हम निम्न श्लोक भी पाते हैं:—

पृथक्पृथग्वा मिश्रौ वा विवाहौ पूर्व चोदितौ। गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्थ तौ स्मृतौ।।

अर्थात् उपर्युक्त गान्धर्व एवं राक्षस दोनों प्रकार के विवाह क्षत्रियों के लिए शास्त्रीय वर्णित किए गए हैं, चाहे वे फिर मिश्रित रूप में हों अथवा पृथक् रूप में।

इस वाक्य से हमें यह ज्ञान हो सकता है कि इस विवाह के दो विभाग थे। एक राक्षस विवाह के साथ मिला हुआ गान्धर्व-विवाह, और दूसरा इससे पृथक् अर्थात् शुद्ध गान्धर्व-विवाह।

राक्षस-विवाह के साथ मिले हुए गान्धर्व-विवाह का एक अत्यन्त सुन्दर अर्थ हमें भाष्य लिखित मनुस्मृति की टिप्पणी (३, २६) में मिलता है। उसके अनुसार संयोग से यदि पिता के घर में ही रहते हुए लड़की, उसी घर में रहते हुए किसी

लड़के को देखकर तथा आगंतुकों द्वारा उसकी प्रशंसा सुनकर, उसके प्रेम-बन्धन में पड़ जाती है; किन्तु स्वयं अपनी स्वामिनी न होने के कारण जब वह उससे मिल नहीं पाती, तब वह अपने प्रेमी के साथ एक समझौते के लिए प्रवृत्त होती है और उससे अपने पलायन की प्रार्थना करती है। प्रेमी चूंकि सशक्त होता है, वह लड़की के पिता अथवा संरक्षकों को घायल अथवा मार कर उसे उड़ा ले जाता है। अत: ऐसे प्रसंगों में चूंकि दोनों में परस्पर स्वेच्छापूर्ण संयोग होता है, गान्धर्व विवाह की शर्तें पूर्ण हो जाती हैं; और इसलिए कि वह लड़की को उसके संरक्षकों को घायल अथवा मार कर उड़ा ले गया, राक्षस विवाह की शर्तें भी पूरी हो जाती हैं। राक्षस-विवाह से मिश्रित ऐसा गान्धर्व-विवाह (सदोष-गान्धर्व विवाह) राक्षस-विवाह के ही एक निश्चित रूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं, अतएव राक्षस-विवाह के निश्चित विधि-निषेधों के अनुसार ही इसका अर्थ ग्रहण करना होगा, यद्यपि, कभी कभी इस तरह के विवाह की सभी अनिवार्य शर्तें स्पष्ट रूप से प्रयुक्त होती नहीं देखी जातीं (जैसे भागवत् पुराण में रुक्मिणी-विवाह की कहानी)। इस प्रकार के गान्धर्व-विवाह कभी कभी पिता की अनुमति से या बिना अनुमति के भी, लड़के और लड़की के पारस्परिक समझौते के बाद, सम्पन्न कर लिए जाते हैं।

दूसरी ओर हम विभिन्न प्रकार के एक अन्य विवाह को पाते हैं जिसे गान्धर्व-विवाह भी कहते हैं (राक्षस-विवाह से पृथक्—शुद्ध गान्धर्व-विवाह)। यह वह विवाह है जिसे हम महाभारत में (सर्ग १३, ४४) पाते हैं और जिसको हमें विवाह के श्रेष्ठ रूपों में समझना होगा। इसके अनुसार लड़की की वर-पसन्दगी पर पिता (संरक्षक) का कोई प्रभाव नहीं होता है।

इस प्रकार का गान्धर्व-विवाह लड़की के सुख की दृष्टि से किया जाता था। और यही वास्तव में सच्चा विवाह था जिसमें पिता की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य शर्त न थी। लेकिन लड़की के पिता अथवा संरक्षक को बिना इसकी अपेक्षा किए कि वर अनुकूल है अथवा नहीं, लड़की को प्रदान कर देना होता था। अपने लाभ को दृष्टि में न रखकर उसे अपनी लड़की के सुख को ध्यान में रखकर कार्य करना होता था।

गान्धर्व-विवाह को शास्त्रीय विधान पर आश्रित विभाजित विवाह के इन दो रूपों में बाँटकर अन्य जातियों के लोगों द्वारा गान्धर्व-विवाह कर लेने की अनुमति-स्वीकृति के प्रश्न पर (मनु० ३-२६, महाभारत आदि पर्व ७३, १२, १३) हम गान्धर्व-विवाह की परस्पर विरोधी कल्पनाएँ तथा इस तरह के विवाह के परस्पर विरोधी नियम समझ सकते हैं।

गान्धर्व-विवाह, विवाह के प्राचीन मान्य रूपों में नहीं है। अत: इस तथ्य के साधारण परिणाम, केवल मानव-धर्म-शास्त्र में वर्णित अपवादों (९–१९६, १९७) को छोड़कर, गान्धर्व-विवाह पर भी लागू होते हैं, जिसके अनुसार यदि गान्धर्व-विवाह-पद्धति (शायद राक्षस-विवाह से मिश्रित नहीं) से विवाहित कोई स्त्री नि:सन्तान मर जाए, तब उसकी सम्पति अर्थात् स्त्री-धन, पति का होता है, पिता का नहीं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अनुसार भी यदि पति द्वारा स्त्री धन का उपयोग होता है तो उसे ब्याज सहित वापिस लौटाना होता है।

सदोष (आपत्तिजनक) गान्धर्व-विवाह के सम्बन्ध में यह बता देना है कि मनुस्मृति और यम (वीर सं० पृष्ठ ८६५) (३, ४२) के अनुसार इस प्रकार के विवाहों को टालना चाहिए, इसलिए कि ये आपत्तिजनक विवाह हैं।

इस प्रकार के गान्धर्व-विवाह क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के लिए योग्य हैं। (मनुस्मृति ३, २३) तथा अन्य वैधानिक-परम्पराओं के अनुसार क्षत्रियों को ही इसकी स्वीकृति है। (मनु० ३, २६, महाभारत, आदि पर्व ७३, ६, २४-२७ बी. १, ११-२०, १२, पंच० १०, २५२६, देखो शंख ४-३)।

इससे विपरीत दूसरे रूप में गान्धर्व-विवाह, अर्थात् राक्षस-विवाह से पृथक् गान्धर्व-विवाह ब्राह्मण जाति के लिए भी न्याय्य है। (मनु० ३-२३, २५, ना० १२, ४४) लेकिन प्रेम पर निर्भर एवं जातीय मतभेदों के बन्धनों से मुक्त इस प्रकार के विवाहों के स्वाभाविक रूप के कारण, कुछ लोग, सब जातियों के लिए गान्धर्व-विवाह की सिफारिश करते हैं।

गांधर्व-विवाह

वैधानिक परम्पराओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि 'आपत्तिजनक गान्धर्व-विवाह' एक साधारण नियम था और यही कारण है कि विवाह-पद्धतियों की गिनती में गान्धर्व-विवाह निचला स्थान ग्रहण करता है। प्राचीन मान्य विवाह पद्धतियों के बाद इसका प्रथम स्थान है अर्थात् अपस्तंब के अनुसार विवाह-पद्धतियों की साधारण तालिका में चौथा स्थान। (अपस्तंब ३, ५, १२) (ब्राह्म, आर्ष और देव के बाद)। और नारद--(१, २९) (ब्राह्म, देव एवं आर्ष के बाद) और गौतम, वृहस्पति के आधार पर पाँचवाँ (ब्राह्मण, प्रजापत्य, आर्ष और देव के पश्चात्) तथा गृह्य० (१, ६) के अनुसार ब्राह्मण, दैव, प्रजापत्य और आर्ष के पश्चात्। दूसरी परम्पराओं के आधार पर प्राचीन विवाह पद्धतियों के बाद दूसरा स्थान ग्रहण करता है अर्थात् विवाह की साधारण तालिका में छठा स्थान। (मनु० ३, २१) (या० १-५ ९-६१) शंख (४-२) (ब्रह्म, देव, आर्ष, प्रजापत एवं आसुर के बाद)। विवाह का यह रूप सब वैधानिक परम्पराओं में पाया जाता है।



कलाकार का दण्ड

श्री वृन्दावनलाल वर्मा

(१)

अन्तक यवन था--यूनानी। अपने पिता के समय से उज्जयिनी का निवासी था, स्थापत्य और वास्तुकला का जानकार। परन्तु उसकी बनाई हुई मूर्तियाँ बिकती बहुत कम थीं। इसलिए वह जंगली पशुओं के प्रतिबिम्ब बना बना कर अपना जीवनयापन करने लगा। तो भी सुन्दर स्त्री-पुरुषों की मूर्तियाँ बनाने की वेदना बिलकुल कुंठित नहीं हुई थी। उसने अपने बचेखुचे समय में से अवकाश निकाल निकाल कर अपने देवता, अपोलो, की पीतल की मूर्ति बनाई। पीतल को उसने ऐसा चमत्कार दिया कि वह स्वर्णसी मालूम पड़ती थी। विक्रमादित्य के कान तक इस मूर्ति की प्रशंसा पहुँच गई।

मूर्ति के शरीर की गठन, अवयवों की माँसपेशियों, रग-पट्ठों तथा नस-नाड़ियों का अनुपात तथा उठाव उभाड़ और गर्त गड्ढ़े ऐसे सुडौल और बालबाल सच्चे थे कि उसकी यथार्थमूलक कला में कोई भी जानकार भ्रम नहीं कर सकता था। वह मूर्ति अन्तक को इतनी प्यारी लगी कि उसने बेचने की कल्पना का नितान्त परित्याग कर दिया। परन्तु सुजान और अजान सभी को उसका प्रदर्शन कराना उसके अवकाश के समय की एक वासना सी हो गई। लोग आते, देखते रहते और चले जाते, सराहना करते करते।

(२)

एक दिन एक मैले-कुचैले से व्यक्ति को उस मूर्ति ने असाधारण समय तक के लिए अन्तक के निवासस्थान पर, जहाँ अपोलो की मूर्ति का प्रदर्शन होता था, रोक लिया। उस दिन अन्तक को भी अवकाश था। जब यह आगन्तुक देर तक उस मूर्ति का निरीक्षण करने के उपरान्त भी लालच भरे नेत्रों से उसको देख रहा था अन्तक ने पूछा--"आप क्या मूर्तिकार हैं?"

उत्तर मिला—"हाँ, हूँ।"

अन्तक ने कहा—"उज्जयिनी के नहीं हो। यहाँ के तो लगभग सब मूर्तिकारों को मैं जानता हूँ।"

आगन्तुक—"मैं बाहर से आया हूँ। आपकी इस मूर्ति की प्रशंसा सुनकर चला आया। बड़ी कशलता से बनाई गई है। आपको एक उपकरण ने सहज सहायता दी है।"

अन्तक—"वह कौनसा ?"

आगन्तुक—"सोना मुलायम धातु है। उसीपर आपने काम किया है।" आगन्तुक अपनी सूक्ष्म आलोचना पर मन ही मन सन्तुष्ट था। अन्तक को इस कलाकार के अज्ञान पर एक क्षण के लिए विस्मय हुआ, फिर तुरन्त परिहासवृत्ति ने उसको प्रेरित किया। बोला, "आर्य, है तो अवश्य यह सोना, परन्तु सोने की मूर्ति का बनाना उतना ही कठिन है जितना अन्य धातुओं की मूर्ति का बनाना।"

आगन्तुक—"मैं आर्य नहीं हूँ। मैं तक्ष हूँ और मेरा नाम शंख है। आप कौन हैं ?"

अन्तक—"मैं यवन हूँ। भारतवर्ष में कई युग हो गए। मेरे पिता उज्जयिनी आए थे। मेरा नाम अन्तक है। आपकी कला का नमूना देखना चाहता हूँ।"

शंख—"दिखलाऊँगा। अभी लाता हूँ। मैं पत्थर और लकड़ी पर काम करता हूँ।"

अन्तक—"लकड़ी पर काम करने की प्रथा तो अब यहाँ से उठसी गई है ?"

शंख—"हाँ, लगभग। धातु की अपेक्षा लकड़ी और पत्थर पर काम करना दुस्साध्य है।"

अन्तक जरा मुस्कराया। शंख को अच्छा नहीं लगा। बोला, "मैं अपनी बनाई मूर्ति लाता हूँ। देखलो और फिर शिलाखण्ड पर काम करो। मेरे वर्ग में धातु पर काम करना वर्जित है, नहीं तो करके दिखला देता।"

अन्तक शंख को रुष्ट नहीं करना चाहता था। वह शंख निर्मित शिला-मूर्ति को देखने के लिए लालायित हो उठा। उसने भारतीय कारीगरों की बनाई अनेक मूर्तियाँ, जालियाँ और प्रतिमाएँ देखी थीं, इसलिए शंख का उद्गार केवल अहंकार सा अवगत हुआ। तोभी यह सोचकर कि शंख की टाँकी और हथौड़ी में शायद कुछ विशेषता निकले संयम करके रह गया। मूर्ति ले आने के लिए आग्रह करते हुए अन्तक ने कहा—"यदि मूर्ति बोझिल हो तो आपके घर चलूं ?"

शंख ने निषेध किया और द्रुतगति से चला गया। अन्तक उसकी अपेक्षा करने लगा।

(३)

शंख शीघ्र ही लौटा। एक श्वेत परिधान में छोटी सी मूर्ति लपेटे हुए मुस्कराता हुआ आया। अन्तक मूर्ति को देखने के लिए उत्कंठित हो रहा था। परिधान को हटाकर शंख ने मूर्ति सँभालकर रखदी। अन्तक उसको बारीकी के साथ परखने लगा।

मूर्ति चतुर्भुजी विष्णु की थी। अंग-उपाँग सभी सुडौल थे। अनुपात में बाल बराबर भी कहीं वैषम्य न था। ओठों के किनारों पर एक बहुत बारीक मुस्कराहट खेल रही थी और आँखों में विशाल मृदुलता थी, जैसे वरदान के लिए छलकी पड़ती हों। अन्तक ने देर तक निरीक्षण किया। अन्त में बोला—"तक्ष शंख, तुम्हारी इस प्रतिमा में एकाध बात विलक्षण होते हुए भी शेष सब बहुत साधारण है।"

शंख खिन्न और क्षुब्ध हो गया, परन्तु उसको अपनी कृति पर परम सन्तोष था और बहुत अभिमान। इसलिए उसने क्षोभ को पराभूत कर लिया। कहने लगा—"यवन अन्तक पहिले यह बतलाओ इस प्रतिमा में तुमने विलक्षण क्या देखा और फिर इसमें साधारण क्या है वह तो कहोगे ही।"

अन्तक ने उत्तर दिया—"कुशल तक्ष, पत्थर की मूर्ति के ओठों पर ऐसी मुस्कराहट और आँखों में ऐसी मिठास बहुत ही कम देखी। आप बौद्ध नहीं हो ?"

शंख—"नहीं, मैं वैष्णव हूँ; अहिंसा का पुजारी नहीं हूँ, दोनों हाथों से अमित वर लुटानेवाले विष्णु का भक्त हूँ।'

अन्तक—"विष्णु चक्र चलाते होंगे तो क्या ऐसे ही कदली खंभ जैसे सुते हुए हाथों से ? बलिष्ठ भुजा की पेशियाँ और रगें तो अलग-अलग उठी और उभड़ी हुई दिखलाई पड़नी चाहिए।"

शंख—"कैसी यवन ?"

अन्तक—"मेरा हाथ देखो। मैं अपने देश का व्यायाम करता हूँ। वज्र मुष्ठि कर लेने पर मेरी भुजा का प्रत्येक उपांग लोहवत हो जाता है और प्रत्येक उपांग का सूक्ष्म से सूक्ष्म भाग, आँख से देखा जा सकता है और हाथ से टटोला जा सकता है। हमारे देश के कारीगर तो स्त्रियों के भी ऐसे प्रतिबिम्ब नहीं बनाते। प्रबल और बलिष्ठ पुरुषों की आपके देश में काफी बहुतायत है। नमूनों की कमी नहीं। हमारे देश में तो शरीर के बारीक से बारीक और छोटे से छोटे ब्यौरे और डोरे चित्र तथा मूर्ति में दिखलाते हैं। इस तरह की मूर्ति का तो हमारे देश में शायद ही कुछ मूल्य लगे—निस्सन्देह यह मुस्कराहट और मृदुलता आश्चर्यजनक है। जान पड़ता है आपके आचार्यों ने जैसा पुस्तकों में लिख दिया है वैसाही अनुसरण करते चले जाते हो। कुछ अपनी निज की भी व्युत्पत्ति रखना चाहिए।"

शंख—"यवन आपके यहाँ भी आचार्य हुए होंगे और उन्होंने भी अनुभवों के निष्कर्ष रूप कुछ साधारण नियम निर्धारित किए होंगे। इसलिए दम्भ की बात मत करिए। हमारे आचार्यों ने जो कुछ कहा है वह बड़ी लम्बी तपस्या के बल पर और सार्वभौम कल्याण की दृष्टि से।"

अन्तक ने समझा शंख परम्परा का वृथाभिमान कर रहा है। बोला—"तक्ष, जब आप शिलाखण्ड को प्रतिमा में परिवर्तित करने लगते हैं तब आपकी आँख कहाँ चली जाती है ? क्या आपके मत में शरीर की नसों रगों और भिन्न भिन्न पेशियों का उत्कीर्ण करना अनावश्यक है ? तब कला का सौन्दर्य कहाँ है ? आपकी बनाई हुई इस मूर्ति में आँखों और ओठों को छोड़कर बाकी अंगों में अनुपात का सौष्ठव होते हुए भी सूक्ष्मता का गौरव कहीं भी नहीं है।"

शंख के भारतीय रक्त में साहित्य का अलंकार विशाल मात्रा में था। कहने लगा, "यवन, हमारी दृष्टि भीतर के अंग और उपाँग अधिक देखती है, बाहर के अपेक्षाकृत कम। कमल के भीतर का पराग और मधुर मधु भ्रमर भीतर जाकर ही भोग सकता है। ऊपर से टटोलनेवाले का हाथ भटका चाहे जितना करे सम्पर्क की स्निग्धता का सुख भले ही उसको प्राप्त हो जाय, परन्तु भीतर का अमृत उसे नहीं मिलेगा।"

अन्तक के देश के साहित्य में भी अलंकारों की कमी नहीं थी। बोला, "शंख, उपवन और उद्यान के रंग-बिरंगे फूलों को देखते हुए भी तुम नहीं देख पाते। कुसुम की सुडौल गठन, सुन्दर रूप रंग देखा और मन ने बाँध लिया; चिड़िया की चहक और स्वर-मण्डल की तान कान पर आई और हृदय ने बाँध ली। आपके लिए तो रूप, रंग, महक, चहक, रस और तान सब एक भाव हैं, आप जब कील और हथौड़ी साधते हैं तब कहाँ देखा करते हैं ?"

शंख ने तुरन्त ताव के साथ उत्तर दिया, "आकाश की ओर। आकाश के सूर्य और चन्द्रमा की ओर। आकाश के झिलमिलाते हुए तारों की ओर। रूप बना और बिगड़ा; महक आई और चली गई। चहक और तान एक क्षण के लिए ठहरीं और चली गईं।"

अन्तक ने टोक कर कहा, "यह तो बौद्धों की सी कुछ बात मालूम होती है, वैष्णवों की सी नहीं जान पड़ती।"

तक्ष बोला, "हम सब चाहे बौद्ध हों चाहे वैष्णव, जैन हों चाहे शव उस विशाल आँख की ओर टकटकी लगाते हैं जिसमें होकर सूर्य, चन्द्र और अन्य नक्षत्र अपने अपने समय पर झांकते हैं। जान पड़ता है आप नसों और मांस-पेशियों की ऊपरी शक्ति का ही दिग्दर्शन करा सकते हैं। पद्म के भीतर की महाशक्ति, अनाहतनाद की अनन्त, तान अन्तर्दृष्टि की अखण्ड अभंग ज्योति और कक्षान्तर्गत अपरमित बल की आपने और आपके आचार्यों ने कल्पना भी नहीं की।"

इस भाषा में केवल अलंकार की ध्वनि ही न थी। अन्तक वाद को बढ़ाने के लिए एक तर्क की खोजकर ही रहा था कि उसकी आँख चतुर्भुजी विष्णु की मृदुल आँख और वरद मुस्कराहट पर गई और वहीं अटक गई। क्यों ? वह समझ

नहीं सका। झट किसी परम्परा या दुराग्रह ने उसको विवश किया, परन्तु वह बड़ी शिष्ठता के साथ बोला, "शंख, क्या आप वास्तव में तक्ष हैं? आपकी वाणी तो ब्राह्मणों सदृश है। आप अवश्य किसी गुरुकुल के स्नातक हैं।"

यवन की इस शिष्ठता में उसकी पराजय की गन्ध पाकर शंख को थोड़ा सा सन्तोष हुआ। उत्तर दिया, "मैं तक्ष ही हूँ। पढ़ा लिखा कम होने पर भी इतना तो हमारे सारे वर्ग को जानना ही चाहिए, नहीं तो हम लोग वैसी आँख उत्कीर्ण कैसे कर सकते हैं?"

यवन ने चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति को फिर देखा और वह फिर प्रभावित हुआ।

बोला—"यह मुस्कराहट मुझको बहुत हैरान कर रही है। अकेली मुस्कराहट तो कोई बड़ी बात न थी, परन्तु नेत्रों की महानता इस अर्धस्मित के साथ मिलकर न जाने क्या कह रही है। मैं समझने की चेष्टा करता हूँ, किन्तु समझ में नहीं आ रहा है। तक्ष, मेरा एक प्रस्ताव सुनो। शंख ने उत्तर दिया—"कहो, क्या प्रस्ताव है आपका?"

अन्तक ने कहा—"अपनी इस मूर्ति को आजके लिए यहीं छोड़ दो। इसको बारबार देखूंगा और समझूंगा। कल आपके साथ फिर थोड़ी देर इस अत्यन्त गूढ़ विषय पर बातचीत करूँगा। किसी असाधारण महक को एक बार सूंघ लेने पर बार बार सूंघने को जी चाहता है, परन्तु बारबार सूंघ लेने पर भी उस महक की स्मृति मन में सदा के लिए नहीं बन पाती; एक बार अनूठी तान सुन लेने पर कान ललचाया ही करता है; एक बार किसी रूपराशि में से फूट निकलनेवाली मधुर मुस्कान को फिर क्या किसी ने पाया? स्मृति बलात् उन सब चित्रों को उन सब अनुभूतियों को सामने खड़ा करना चाहती है, परन्तु उस विभूति को कहाँ से पाया जाए?"

अबकी बार शंख को कुछ आश्चर्य हुआ। पूछा, "यह क्या कह रहे हो यवन? यह तो कुछ हमारे ही सिद्धान्त की प्रतिध्वनि सी है।"

"नहीं है, तक्ष" अन्तक ने कहा, "उसी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को हम लोग अपोलो सरीखी प्रतिमा में उतारने का यत्न करते हैं और चाहते हैं कि जिस रूप को एक बार देखा था और फिर न देख पाया, जिस तान को एक बार सुना था और फिर कभी न सुन पाया, जिस रस, स्पर्श और गन्ध की एक बार अनुभूति प्राप्त हुई थी और फिर न हो पाई उसको अपोलो में बिठलाकर सदा प्राप्त करते रहें और तृप्त रहें, परन्तु......................................।"

"परन्तु क्या, यवन," शंख ने सहानुभूति के साथ प्रश्न किया, "फिर भी किस बात की कमी रह जाती है?"

अन्तक ने उत्तर दिया, "कल बतलाऊँगा। कल तक के लिए मूर्ति को यहीं छोड़ दोगे?"

चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति पर दृष्टि निक्षेप करके फिर अपोलो की मूर्ति को अर्ध क्षणमात्र देखकर शंख ने कहा—"कहाँ रक्खोगे ठीक ठीक बतलाना।" अन्तक ने ठीक ठीक बतला दिया।

शंख बोला—"कल आऊँगा। मूर्ति को सँभालकर रखना। तुम्हारे अपोलो की स्वर्णमूर्ति से यह प्रस्तर मूर्ति अधिक मूल्यवान है।"

अन्तक—"स्वर्ण की मूर्ति—हाँ स्वर्ण की। इसका निर्णय तो बड़े विशेषज्ञ ही कर सकते हैं कि अधिक मूल्यवान कौनसी मूर्ति है।" शंख अपने घर को चला गया।

(४)

अब एकान्त में अन्तक ने चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति को सतृष्ण नेत्रों से मन भरकर देखना प्रारम्भ किया। आँख में और ओंठ पर इतना आकर्षण था कि अन्तक विस्मय में डूब डूब जा रहा था, परन्तु जब उसके नेत्र मूर्ति के अन्य अंगों और उपांगों पर घूम जाते तब उसके विस्मय को शान्ति मिल जाती और वह सोचता—"इस प्रतिमा की देह को यूनानी ढाँचे पर घढ़ा जाता तो इसका सौन्दर्य कितना महान्, कितना विशाल होता! इसका प्रभाव अजेय होता। मनुष्य सदा के लिए इसका दास हो जाता।" परन्तु जब उसके नेत्र प्रतिमा की विलक्षण मोहक आँखों और ओठों के आश्चर्यपूर्ण अर्ध स्मित पर

अटक जाते तब वह यूनानी सौन्दर्य को थोड़ी देर के लिए भूल जाता। कुछ समय उपरान्त अन्तक की दृष्टि चतुर्भुजी विष्णु के नेत्रों और ओठों पर अधिक स्थिर हो गई और वह भावोन्माद में गद्गद् हो गया। उसने सोचा, "विष्णु क्या अपोलो से भी ज्यादा सुन्दर हैं? शरीर का सत्य विष्णु में मेरे अपोलो की अपेक्षा बहुत कम है परन्तु इनकी आँखों और मुस्कान में यह क्या है?"

परम्परा पूज्य अपोलो को इस सन्तुलन में जरा हलका बाँट मिलने के कारण अन्तक की श्रद्धा को ठोकर लगी। अपोलो को उसके पूर्व पुरुषों ने पूजा था, अपोलो को उसकी सारी जाति पूजती थी, इसलिए विष्णु के प्रति इतनी बड़ी मात्रा में श्रद्धा भेंट कर जाने के कारण अन्तक को अपने ऊपर ग्लानि हुई और वह विष्णु की मूर्ति की देह के अन्य अंगों की तुलना अपने अपोलो के अंगों से कर करके आत्मग्लानि को जलाने लगा। यकायक उसके मन में विष्णु की मूर्ति को उठाकर सब तरफ से देखने का निश्चय उठा। उसने मूर्ति को उठाया। हाथ से स्पर्श किया। बहुत चिकनी थी, उतनी ही जितनी अपोलो की। इस प्रतियोगिता में अपोलो को विजयी होता हुआ न देखकर अन्तक ने हठ की साँस ली, और झुंझलाकर जरा जोर से, और असावधानी के साथ, मूर्ति को धरती पर रक्खा। हाथ खींचते ही मूर्ति गिरी। अन्तक ने बहुत चेष्टा की; न सँभाल सका। मूर्ति गर्दन से टूट गई।

अन्तक को पसीना आ गया। बहुत देर तक पश्चात्ताप और परिताप में डूबे रहने पर भी अन्त में जब अपने को असमर्थ ही पाया तब उसने सोचा, "अपोलो ने रुष्ट होकर इस मूर्ति को तोड़ दिया है, अब वही मेरे भविष्य को सँभालें।"

(५)

दूसरे दिन नियुक्त समय पर शंख आया। दोनों मूर्तियाँ पौर में रक्खी हुई थीं। दोनों कलाकार द्वार बाहर चौपाल में बैठ गए। बातचीत होने लगी।

शंख—"यवन, आप यदि वैष्णव होते तो अपोलो की आकृति को बहुत सुन्दर बनाते।"

अन्तक—"मैं यदि वैष्णव होता तो अपोलो की मूर्ति की मूल शिला पर पहिली टाँकी हथौड़ी चलाने के पूर्व ही आत्मघात कर लेता।"

शंख—"आत्मघात! यह तो बड़ा भारी पाप है। क्या आप लोग आत्मघात करने को श्रेयस्कर समझते हैं?"

अन्तक—"आत्मघात तो प्रत्येक दशा में निन्दनीय है, परन्तु आपके देश में तो सब कोई हर समय आत्मघात करते रहते हैं?"

शंख—"सो कैसे यवन?"

अन्तक—"आपकी आत्मा स्वतंत्रता के साथ विचरण नहीं कर सकती। जहाँ देखो वहाँ आपका समाज और व्यक्ति निषेधों से जकड़ा हुआ है। प्रत्येक निषेध के सामने आपको सिर झुकाना पड़ता है। हमारे देश में न तो इतने निषेध हैं और न निषेधों को इतनी मान्यता प्राप्त है।"

शंख—"हम लोग नीचे ठोकर खाकर ऊपर देखते हैं। आप जिनको निषेध कहते हैं हम उनको नियम के नाम से पुकारते हैं। आप हमारे जिस संयम को निषेध कहते हैं हम उसी के द्वारा इस संसार को वश में कर लेते हैं और फिर अन्तर्यामी शक्ति में मिल जाते हैं।"

अन्तक—"हमारे देश में चलो तो देखोगे कि ओलम्पगिरि के देवताओं के समक्ष कैसे कैसे सुन्दर युवक और कैसी कैसी रूपवती सुन्दरियाँ अपने खेलों द्वारा आनन्द और अर्चना को भेंटती हैं। जितनी उनकी देह सुडौल होगी और जितनी फूलों से सजाई गई होगी देवता उतने ही अधिक प्रसन्न होंगे। ओलम्पगिरि पर प्रति वर्ष हर्ष और परिहास की कितनी वर्षा होती है उसका आप लोग अनुमान ही नहीं कर सकते।"

शंख—"अन्त में–अन्त में क्या रह जाता है, यवन?"

अन्तक—"आपही इसका उत्तर दो तक्ष, क्योंकि हम तो जन्मभर हँसते रहना चाहते हैं और हँसते हँसते मरना चाहते हैं। बौद्धों की तरह तृष्णाओं से बचने की रट लगा लगाकर प्रतिक्षण अपने को घायल नहीं करना चाहते हैं।"

बौद्ध पर किए गए इस प्रहार को शंख ने पसन्द किया, इसलिए विवाद की धारा को दूसरी दिशा मिलने लगी।

शंख ने कहा—"यवन आपके यहाँ लोग कितने वर्ष तक इस तरह के हर्ष और विनोद का जीवन व्यतीत करते हैं।"

अन्तक—"हमारे यहाँ जिनके ऊपर देवताओं की अधिक कृपा होती है वे युवावस्था में ही संसार से बिदा ले जाते हैं* वैसे किसान मजदूर तो बहुत लम्बा जीवन पाते हैं।"

शंख—"हमारे यहाँ इससे उल्टा है। यहाँ देवताओं की जिन पर अधिक कृपा होती है वे बहुत जीते हैं। विष्णु भगवान की मुस्कराहट और आँखों की मृदुता का वरदान यही संकेत करता है।"

विष्णु की मूर्ति की बात छिड़ते ही अन्तक को कपकपी आ गई। उसकी स्पष्ट घबराहट को देखकर शंख को सन्तोष हुआ। उसने कहा, "जीवन और मरण दोनों में जो आनन्द है विष्णु की मूर्ति अपोलो की सी देहवाली न होते हुए भी उस आनन्द को विपुलता के साथ प्रदान करती है।"

अन्तक विचारमग्न हो गया। शंख ने सोचा शास्त्रार्थ में उसकी विजय हुई। बोला, "मेरी बात के लिए प्रमाण चाहना हो तो मूर्ति का एक क्षण के लिए फिर दर्शन करलो।" अन्तक कोई उत्तर न दे सका।

शंख के जरा अनुरोध पर दोनों पौर में गए जहाँ अपोलो और विष्णु की मूर्तियाँ रक्खी हुई थीं।

अन्तक जानता था कि एक क्षण उपरान्त विष्णु की मूर्ति को हाथ लगाया जाएगा और उसका खंडित होना प्रकट हो जाएगा। उसने सोचा मूर्ति को शंख न उठावे। इसलिए मूर्ति की ओर बढ़ते हुए अन्तक ने कहा, "जहाँ तक इस मूर्ति की आकृति का कल्याणकारिता से सम्बन्ध है प्रसंग निर्विवाद है, सौन्दर्य भी, अब मैं मानता हूँ, इसमें प्रचुर है; परन्तु सत्य के आदर्श से यह दूर है।" अन्तम वाक्य कहते कहते अन्तक का गला काँप गया—उधर मूर्ति को उठाने में हाथ भी काँप गया—मूर्ति का सिर धड़ से अलग होकर पृथ्वी पर गिर गया।

शंख के मुंह से चीत्कार निकल पड़ा, अन्तक के मुंह से भी नाटय करनेवाले नट की "ओफ" से अधिक गहरी "ओफ" निकल पड़ी। थोड़ी देर सन्नाटा छाया रहा।

एक घड़ी उस स्थान का वातावरण करुणा से भर गया। जब शान्ति की थोड़ी सी स्थिरता आई अन्तक ने भरे गले से कहा, "अपोलो रक्षा करें। विष्णु मूर्ति को अपोलो की मूर्ति के पास रखने से ही यह दुर्घटना घटी। अपोलो ने क्रोध करके विष्णु मूर्ति को स्वयं खंडित किया है।"

शंख का भाव क्रोध के रूप में पलटने को हुआ। अन्तक चतुर था उसने तुरन्त उद्‌बोधन किया "आप चिन्ता मत करिए मुझको ऐसा मसाला मालूम है जिससे खंडित भाग बिलकुल पूर्ववत् जुड़ जायगा; कोई नहीं कह सकेगा कि मूर्ति खंडित है।"

शंख ने कहा "यवन तुम नहीं जानते हो आर्य लोगों में खंडित मूर्ति का कोई महत्त्व नहीं।"

अन्तक ने प्रस्ताव किया, "परन्तु कोई जान सके तब तो।"

शंख ने उन दोनों मूर्तियों की ओर प्रेक्षण किया। पौर में शब्द गूंज गए: "कोई जान सके तब तो।" शंख के कान में शब्द भर गए "कोई जान सके तब तो।"

दो क्षण के लिए उसने अपोलो की मूर्ति को सतृष्ण देखा।

शंख ने पूछा—"इसके जोड़ने में कितना समय लगेगा?"

अन्तक ने उत्तर दिया "आज दिन में जोड़ लग जाएगा और रात भर में सूखकर पक्का हो जावेगा।"

* Those whom gods love die young.

शंख ने कहा, "तब ठीक है। जो हुआ सो हुआ। परन्तु मैं तुम्हारे अपोलो की परीक्षा करना चाहता हूँ। खंडित मूर्ति के पास ही इसको यथावत रहने दो; फिर देखो जोड़ लगाने में अपोलो भी कुछ सहायता करते हैं या नहीं ? यदि जोड़ ऐसा बैठे कि खंडित हो जाने का निशान न मालूम पड़े तो मैं भी समझूंगा कि अपोलो में कुछ प्रताप है।"

अन्तक ने स्वीकार किया।

शंख कहता चला गया—"खैर, जो हुआ सो हुआ।"

(६)

अन्तक ने सोचा सस्ते छुटे और वह उत्साह तथा श्रद्धा के साथ अपोलो का स्मरण कुछ क्षण करता रहा। उसने चतुरता के साथ सिर को धड़ से जोड़कर अपोलो की मूर्ति के पास रख दिया। काम करने में उसको काफी समय लग गया, परन्तु उसको अखरा नहीं। जब वह जुड़ाई का काम समाप्त कर चुका तब सन्तोष की हँसी हँसा। उसने सफाई के साथ तक्ष शंख को धोखा दिया और बाद को सहज ही पुटिया लिया इस बात पर वह आनन्दमग्न था। उस रात उसको नींद अच्छी आई।

सबेरे उठा तो देखा पौर में अपोलो की मूर्ति नहीं है ! आँखें मलीं। बन्द कीं। फिर मलीं; परन्तु अपोलो की मूर्ति न दिखलाई पड़ी। फिर भ्रम में घर का कोना कोना छान डाला, परन्तु अपोलो की मूर्ति न मिली। कई घड़ियाँ घोर कष्ट में काटीं। अन्त में उसने कोटपाल और दण्डनायक से सहायता लेने का निश्चय किया। एकाध बार उसको सन्देह होता था, कहीं विष्णु ने बदला तो नहीं लिया। किन्तु यह सन्देह शीघ्र ही विलीन हो गया।

परन्तु कोटपाल और दण्डनायक के पास जाने के पहिले वह शंख के पास गया।

शंख को उसने अपोलो की मूर्ति के गायब हो जाने की बात सुनाई।

किञ्चित् विचारमग्न होकर शंख ने कहा—"यवन, अपोलो आपसे रुष्ट तो नहीं हो गए हैं ?"

अन्तक को यह आक्षेप अच्छा नहीं लगा। उसने उत्तर दिया, "अपोलो अपने भक्त से रुष्ट नहीं होते। कोई देवता अपने भक्त से विरक्त नहीं होता।"

शंख बोला, "फिर क्या बात है ?"

अन्तक—"आप ही बतलाओ।"

शंख—"अधिक तो कुछ समझ में नहीं आता केवल एक बात उपजती है।"

अन्तक—"मैं बहुत चिन्तित हूँ। शीघ्र कहो।"

शंख—"जान पड़ता है भगवान् विष्णु ने अपोलो से बदला लिया है, कदाचित् ब्याज समेत।"

अन्तक व्यंग को समझ गया। जी में बहुत कुढ़न हुई। बोला "यदि मनुष्य मनुष्य निबट लें तो देवताओं को परस्पर लड़ाने की आवश्यकता नहीं है। तक्ष, मैं कोटपाल और दण्डनायक से इसका निर्णय करवाऊँगा।

शंख अन्तक के खिसियाए हुए स्वर के प्रच्छन्न संकेत को अवगत करने की चेष्टा करने लगा; परन्तु उक्त संकेत के अन्तिम आवरण को उसकी अन्तर्दृष्टि न भेद सकी।

शंख ने कहा—"यवन कोटपाल और दण्डनायक देवद्वन्द्व का न्याय निर्धारि नहीं कर सकते। अपोलो से बड़ा आपका कौनसा देवता है ?"

"वज्रपाणि इन्द्र।" अन्तक ने उत्तर दिया, "हमारे देश में उनको जुपिटर कहते हैं। "क्यों पूछ रहे हो ?" शंख चुप रहा। अन्तक कुछ सोचने लगा। कुछ क्षण बाद बोला, "तक्ष, क्या आप सचसच कहोगे ?"

"अन्तक, यह प्रश्न आप अपने से करो।" शंख ने तुरन्त उत्तर दिया।

थोड़ी देर के लिए सन्नाटा छा गया। अन्तक शंख के घर से चल पड़ा। जाते जाते बोला, "देवताओं की यह लड़ाई बहुत अहितकर हुई। मैं तो लुट गया।"

"और मैं भी लुट गया", शंख ने शान्त स्वर में कहा।

अन्तक कोटपाल के पास गया। विष्णु की मूर्ति कैसे खंडित हुई यह उसने नहीं बतलाया। दुर्घटना को आकस्मिक और दैवी बतलाने का भरसक प्रयत्न किया।

कोटपाल अन्तक को दण्डनायक के पास ले गया।

दण्ड विधान में दैवी घटनाओं को भी मान्यता प्राप्त थी। कोटपाल देव-प्रकोप और सरल चोरी के बीच में अपने संशय को टाँगे हुए था। किसी निश्चय पर न पहुँच पाने के कारण वह दण्डनायक के पास गया। दण्डनायक को भी इसी भ्रम में थोड़े समय तक फँसना पड़ा। परन्तु वह विष्णुगुप्त चाणक्य के अर्थशास्त्र से परिचित था और वह विक्रमादित्य के तेजस्वी स्वभाव को भी जानता था। वह यह नहीं चाहता था कि इस साधारणसी घटना पर राजसभा में विवाद हो और सम्राट् को न्याय करने के लिए विवश होना पड़े। दण्डनायक ने कोटपाल को आज्ञा दी, "उस तक्ष को पकड़ो और उसके घर की छानबीन करो।"

कोटपाल ने संदिग्ध मन से आज्ञा पालन करना स्वीकार किया, और एक घड़ी पीछे ही शंख को अपने पहरे में ले लिया। घर की छानबीन करने पर अपोलो की मूर्ति भी शंख के घर में मिल गई।

कोटपाल ने शंख को कुत्सित कर्म के लिए दोष दिया। पूछा, "एक विदेशी को तून क्यों इस प्रकार कष्ट दिया? जानता है परमभट्टारक विदेशियों की कितनी रक्षा करते हैं?" शंख कोटपाल का मुंह ताकने लगा।

कोटपाल ने कहा, "विदेशियों की छोटीसी चोरी करने पर ही मृत्यु दण्ड की व्यवस्था है।" शंख जरासा काँप गया।

फिर दृढ़तापूर्वक बोला, "परन्तु परमभट्टारक के राज्य में प्रत्येक मनुष्य के साथ चाहे वह विदेशी हो या देशी न्याय किया जाता है। इस यवन की बात वेदवाक्य नहीं मानी जा सकेगी। यदि इसका अपोलो मेरे विष्णु की गर्दन तोड़ सकता था तो मेरा विष्णु निश्चय ही इसके अपोलो को अपने ही गर्भगृह में सेवा के लिए पहुँचा सकता है। कोटपाल ने अन्तक से प्रश्न किए। उसने हाथ नहीं धरने दिया। कोटपाल के विवेक में मामला कुछकुछ बैठा, परन्तु पूरी बात समझ में नहीं आई।

दण्डनायक की समझ में लगभग पूरी बात आ गई। अन्तक से उसने प्रश्न किए, परन्तु विदेशी होने के कारण अपने को सुरक्षित समझकर वह झूठ पर झूठ बोलता चला गया। उसका विश्वास था कि झूठ या फरेब को चतुरता के साथ बर्ता जाय और वह पकड़ा न जा सके तो एक प्रकार का सद्गुण ही है। परन्तु दण्डनायक चाणक्य के अर्थशास्त्र का अनुयायी था।

दण्डनायक ने कहा, "विदेशी तुम रक्षणीय होने पर भी आराध्य नहीं हो। सत्य कहो विष्णु की मूर्ति कैसे टूटी?"

सिवाय सत्य के अन्तक ने सभी कुछ कहा।

तब दण्डनायक बोला, "अब तुम्हारे हाथ पत्थर के चक्कों के नीचे दबाकर कुचले जायँगे, नहीं तो सच बतलाओ।"

अन्तक ने कहा, "मैंने सत्य ही बतलाया है। केवल एक बात झूठी है, परन्तु वह शिल्पकार की कला के अंग की थी, इसलिए प्रकट नहीं की। अब करता हूँ। अपोलो की मूर्ति सोने की नहीं है"। यकायक शंख ने पूछा, "तब काहे की है?"

"पीतल की" अन्तक ने ठंडक के साथ उत्तर दिया, "उसके अंग प्रत्यंग को न केवल यथावत् बनाना आवश्यक था वरन् उस अंग प्रत्यंग को भीतरी बल से चमत्कृत भी करना था।"

"परन्तु वह मूर्ति, यवन," "शंख ने धृष्टता के साथ विक्षेप किया, "सोने की न बन सकी। यह तो एक प्रकार की अविद्या रही। मेरी कला शिला के अञ्चल में खेलती हुई भी वरदान में कहीं अधिक विभूतिमयी है।"



कैलाश में रात्रि

(चित्रकार—श्री रविशंकर रावल, अहमदाबाद)

दण्डनायक यूनानी के उत्तर से सन्तुष्ट नहीं हुआ था। अभी उसके लिए विष्णु-मूर्ति के टूटने का सही कारण जानना शेष था। शंख पर खिजलाहट की दृष्टि डालकर रूखे स्वर में बोला, "तुमको, तक्ष, इस विदेशी से कहीं अधिक बड़ा उत्तर देना है। मुझको जान पड़ता है कि अपोलो की मूर्ति की तुमने ही चोरी की, और विष्णु भगवान के कोप का तुमने बहाना बनाया। तुमको प्राण-दण्ड तक दिया जा सकता है।"

"प्राण दण्ड!" शंख मे सशंक होकर कहा।

"प्राण दण्ड!" अन्तक ने आश्चर्य के साथ कहा।

"हाँ प्राणदण्ड", दण्डनायक बोला, "सावधान, यवन, सत्य कहो, नहीं तो जिस हाथ ने द्वेषवश अथवा अकस्मात् तक्ष निर्मित मूर्ति को तोड़ा है वह कुल्हाड़ी से काट दिया जाएगा; और जिस सिर में अपोलो की मूर्ति की स्वर्ण-प्रतिमा बनवाकर चोरी की बात समाई उसको खड्ग से काटकर फिकवा दिया जायगा।"

"परन्तु मैं तो ब्राह्मण हूँ" शंख ने कहा, "ब्राह्मण अवध्य है। परमभट्टारक विक्रमादित्य के राज्य में अधर्म नहीं हो सकता।"

"परमभट्टारक के राज्य में चोरों के लिए अनुकम्पा भी नहीं है", दण्डनायक बोला, अतः मुक्त होकर बात करो; पीछे दया की भिक्षा माँगना व्यर्थ होगा।"

अन्तक ने आश्चर्य प्रकट किया, "शंख तो अपने को तक्ष प्रकट करता रहा है। यह सब क्या है?"

दण्डनायक ने तीव्र स्वर में आदेश किया, "दोनों अभियुक्त और दोनों ही अभियोक्ता हो, इसलिए बिलकुल सत्य बोलना अन्यथा दोनों को ही धर्म के अनुसार कठोरतम दण्ड दूंगा। शंख तुमको अभी अपने ब्राह्मण होने का प्रमाण देना है।"

दोनों ने घटना को सचाई के साथ बतला दिया। एक ने भय के मारे झूठ बोला था, दूसरे ने हिंसा और लोभवश। शिल्पकारों की रक्षा की विशेष व्यवस्था होने के कारण दण्डनायक ने निर्णयपत्र दे दिया।

अन्तक को उज्जयिनी के गुरुकुल में एक वर्ष तक रहकर आर्य वास्तुकला के अध्ययन करने का दण्ड मिला। दण्डनायक ने कहा, "तुम जिस कला को तुच्छ समझते रहे हो उसको आचार्य के चरणों में बैठकर सीखो। तुम अपने कुछ भ्रमपूर्ण दुराग्रहों को प्यार करते हो। उनको भुलाने की चेष्टा करना ही तुम्हारे लिए काफी दण्ड है। यदि तुमने कल्याणकारी कला को मनोगत कर लिया तो गुरुकुलवास तुम्हारे लिए तुम्हारे जीवन का एक श्रेयस्कर समय होगा।"

शंख अपने दण्ड की घोषणा की प्रतीक्षा में अन्तक को दिए गए दण्ड की मन में आलोचना न कर सका। दण्डनायक मेरे लिए क्या निर्णय करते हैं इसके सुनने के लिए शंख विह्वल हो उठा।

दण्डनायक ने पूछा, "शंख तुमने अपनी जाति क्यों छिपाई?"

"उसका सम्बन्ध मेरी कला से है, इस अभियोग से नहीं।" शंख ने उत्तर दिया।

दण्डनायक ने रुष्ट होकर आग्रह किया, "तो भी तुमको बतलाना पड़ेगा; नहीं बतलाओगे तो इस कपटाचार के विषय में तुमको अलग दण्ड दूंगा।"

शंख दण्डनायक के तीखेपन को समझ गया। बोला, "दण्डनाथ, मैं ब्राह्मण हूँ इसमें कोई सन्देह नहीं। एक तक्ष युवती जो सौन्दर्य में किसी भी नागकन्या से अधिक रूपवती है—लक्ष्मी के सदृश है—मेरे हृदय की अधिष्ठात्री देवी बन गई। उसका स्मित और उसकी नेत्र ज्योत्स्ना मिलकर मेरे जीवन के लिए जो सम्पदा है वह मेरी दृष्टि में परमभट्टारक के साम्राज्य के भी मूल्य से परे है। उसी स्मित और उसी नेत्र ज्योत्स्ना को मैं स्थायित्व देने की चेष्टा करता आया हूँ। कैसे करता? चित्र बनाता तो कदाचित् कुछ पल उपरान्त वह भदरंगा हो जाता, इसलिए शिलाखण्ड पर अपनी साधना को मूर्त करने का मैंने निश्चय किया। ब्राह्मण होकर यह कार्य असम्भव था। इसलिए तक्ष बना। तक्ष बनकर लगन के साथ इस कला को सीखा और हृदय को पसीने के साथ बहाकर वह मूर्ति बनाई। मैं विष्णु का पूजक हूँ। जैसे मेरी प्रेमिका मेरी कला को

उत्प्राणित करती हैं वैसे ही विष्णु मेरे मन को पवित्र करते हैं। इसलिए मैंने विष्णु की पवित्र आराधना में उस अद्वितीय स्मित और विलक्षण मोहकतावाले नेत्रलालित्य को गुम्फित करके अपनी लालसा को एक वर्ष में पूरा किया। इस मूर्ख यवन ने उस मूर्ति को तोड़कर मेरे हृदय के टुकड़े किए।"

दण्डनायक ने कहा—"तक्ष या ब्राह्मण जो कुछ तुम होओ, मेरा विश्वास है कि तुम सत्य ही बोल रहे हो—मैं तुमको उज्जयिनी से एक वर्ष के लिए निष्काषित करता हूँ। तुम अपनी प्रेमिका को साथ नहीं ले जा सकोगे। यदि आज्ञा का उल्लंघन करोगे तो घोरतर दण्ड के भागी होगे।"

"तब प्राणदण्ड ही दीजिए", शंख ने निश्शंक होकर कहा।

दण्डनायक पर इस उद्गार का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। बोला—"तभी तो तुम संसार को उस स्मितवाले ओठों की और उस विशालतावाले नेत्रों की मूर्ति दे सकोगे।"

भारतीय मूर्तिकला

श्री सतीशचन्द्र काला, एम्० ए०,

भारतीय मूर्तिकला का विषय अति गूढ़ तथा रहस्यपूर्ण है। अतएव भारतीय मूर्तियों का अवलोकन एवं अध्ययन करने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि भारतीय मूर्ति-निर्माण के सम्बन्ध में किन-किन सिद्धान्तों को दृष्टि में रक्खा जाता है। भारतीय मूर्तियाँ किसी देव या अन्य वस्तु के वास्तविक चित्रण के परिणामस्वरूप नहीं हैं। उनमें कल्पना तथा दर्शन का मिश्रण होता है। कलाकार ध्यान-मुद्रा में जिस रूप को देखते हैं उसी का चित्रण प्रायः करते हैं। इस कल्पना के साथ देवताओं के शारीरिक अवयवों की भी रचना की गई। फिर भावभंगी के लिए भी अनेक प्रकार की मुद्राओं को उत्पन्न किया गया। इन सब गुणों के कारण देवी देवताओं के जितने भी रूप बनाए गए वे सांसारिक मानव से परे जान पड़ते हैं।

भारतीय मूर्तिकला की उत्पत्ति कब हुई, यह प्रश्न विवादग्रस्त है। ऋग्वेद भारत का प्राचीनतम ग्रंथ है; किन्तु उससे भी मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञात नहीं होता। विद्वानों ने कुछ मंत्रों से यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वैदिक युग में मूर्तिपूजा थी। किन्तु वास्तव में समस्त ऋग्वेद के एक ही मंत्र से मूर्तिपूजा पर कुछ प्रकाश पड़ता है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैदिककाल में मूर्तिपूजा किसी विशेष सम्प्रदाय के बीच प्रचलित थी। अधिकतर लोग प्रकृति के उपादानों की ही पूजा किया करते थे।

कालान्तर में समाज की धार्मिक प्रवृत्ति में परिवर्त्तन हो चला। ई० पू० दूसरी सदी में व्याकरणाचार्य पतञ्जलि ने मूर्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया। यथा:—जीविकार्ये चापण्ये (५, ३, ९९)।

एक दूसरी युक्ति के सम्बन्ध में पतञ्जलि, वसुदेव, शिव, स्कन्द, विष्णु तथा आदित्य का उल्लेख करते हैं।

कौटिल्य भी अर्थशास्त्र में मूर्तियों का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार नगर के मध्य में अपराजित, अप्रतिहत, जयन्त, वैजयन्त, वैश्रवण आदि आदि की मूर्तियाँ स्थापित रहती थीं। महाभारत तथा रामायण के स्थलों पर मूर्तिपूजा का उल्लेख आया है।

कुर्टियस (लगभग ई० पू० ३२७ ई०) ने भी हरक्यूलीज की एक मूर्ति का उल्लेख किया है। वह लिखता है कि जब पोरस की सेना अलेक्जेंडर से युद्ध करने जा रही थी तो भारतीय सेना के आगे आगे हरक्यूलीज की एक मूर्ति ले जाई जा रही थी। डॉ० हीरानन्द शास्त्री हरक्यूलीज की इस प्रतिमा को सूर्य की मूर्ति बतलाते हैं।

मूर्तिपूजा का दूसरा उदाहरण ग्वालियर राज्य के भेलसा नामक स्थान से प्राप्त हुआ है। भेलसा में एक गरुड़-स्तम्भ स्थापित है। इसपर उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होता है कि यह स्तम्भ तक्षशिला निवासी महाराजा अंतलिकित के राजदूत हिलियोदोर ने स्थापित किया था। इसी स्थान से प्राप्त दूसरे लेख से ज्ञात होता है कि यह गरुड़ध्वज विष्णु मन्दिर से सम्बन्धित था।

जान पड़ता है कि देवताओं की मूर्तियाँ बनाने का पूर्ण प्रचार ई० पू० दूसरी सदी, याने शुंगकाल में हो चुका था। लखनऊ के प्रान्तीय संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त बलराम की एक मूर्ति है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह ब्राह्मण धर्म की सर्व प्राचीनतम है। भीटा से प्राप्त शिव का पंचमुखी लिंग भी ई० पू० दूसरी सदी का है।

इन बिखरे उदाहरणों से हम अब बुद्ध प्रतिमा के प्रश्न पर आते हैं। ई० प० प्रथम सदी से आठ दस सदियों तक बुद्ध भगवान् की अनेक प्रतिमाएँ बनीं। कुछ काल पूर्व विद्वानों की धारणा थी कि बुद्ध प्रतिमा की उत्पत्ति सर्वप्रथम गांधार प्रदेश में यूनानी प्रेरणा से उत्पन्न हुई। किन्तु इस धारणा का अब खण्डन हो गया है। डॉ० कुमारस्वामी ने अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर यह सिद्ध किया है कि बुद्ध की सर्व प्रथम मूर्ति मथुरा में बनी। यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि बुद्ध की मूर्तियाँ ई० पू० की सदियों में क्यों नहीं बनीं। इसका एक कारण तो जैसा ब्रह्मजाल सूत्त से ज्ञात होता है, यह है कि 'मृत्यु के बाद भगवान् अदृश्य हो जायेंगे' और इसका अर्थ यही था कि लोग बुद्ध भगवान् का किसी भी रूप में चित्रण न करें। इसलिए सम्पूर्ण बौद्धकला में बुद्ध का अस्तित्व केवल लाक्षणिक चिह्नों से ही दिखलाया गया है। फिर ई० प० की प्रथम सदी में भागवत् धर्म का उदय होना भी बुद्ध प्रतिमा के निर्माण में विशेष सहायक हुआ।

भारतवर्ष में एक विशेष प्रकार की बृहदाकार ११ यक्ष मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। इन मूर्तियों में आकार और तौल पर विशेष महत्त्व दिया गया है। इन मूर्तियों के विषय में डॉ० राधाकुमुद मुकर्जी लिखते हैं "..........इस वर्ग की मूर्तियाँ किसी मूल भारतीय कला शाखा की देन हैं। और इनके निर्माणकर्त्ता वे लोग रहे होंगे जोकि ग्रामीण देवताओं, यक्ष, यक्षी, नाग, जल, वृक्ष, अप्सरा आदि आदि की पूजा में विश्वास रखते थे..................।" इस वर्ग में मथुरा के परखम यक्ष, पटना के यक्ष तथा ग्वालियर के मणिभद्र यक्ष की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं। पटना के यक्षों की मूर्तियों पर कुछ लेख भी उत्कीर्ण हैं। सन् १९१९ में स्व० डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल ने इन लेखों के आधार पर यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि ये मूर्तियाँ शैशुनाक वंश के राजा उदयिन (ई० पू० ४८३-४६७) तथा नन्दीवर्धन (ई० पू० ४४९-४०९) की हैं। इस धारणा पर बड़ा विवाद खड़ा हुआ। प्राचीनकाल में वास्तव में सम्राटों की मूर्तियाँ स्थापित करने की पृथा थी। किन्तु पटना की मूर्तियों के विषय में निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे शैशुनाक नरेशों की हैं। लेख की शैली तो ई० पू० द्वितीय सदी की जान पड़ती है। जो कुछ भी हो इन यक्ष मूर्तियों में भारतीय परम्परा है और यह परम्परा बाद को कुषाण-कालीन बोधिसत्त्वों की मूर्तियों में भी देखने में आती है।

मौर्य्यकाल में कला और कौशल की बड़ी उन्नति हुई। देश सम्पन्न एवं समृद्धिवान् था। कला को राज्याश्रय मिला। यूनानी भ्रमणकारों ने चन्द्रगुप्त के राजमहल की कारीगरी की बड़ी प्रशंसा की है। अशोक के काल में कला चरम सीमा पर पहुँची। यह कला प्रायः लाटों के उपर की चौकी पर उत्कीर्ण पशुओं से देखी जा सकती है। इनमें सबसे दर्शनीय सारनाथ की चौकी है। इसमें सिंह, अश्व, वृषभ आदि आदि का चित्रण अत्यंत सजीव तथा स्वाभाविक हुआ है। इस कारण सर जॉन मार्शल की धारणा थी कि चौकी के पशु किसी यूनानी कलाकार ने बनाए हैं। अशोक के स्तम्भों पर चमकीली पालिश भी लगी है। इस पालिश तथा ऐसे स्तम्भों का उत्पत्ति स्थान अनेक विद्वान् फारस से बतलाते हैं, किन्तु तुलना करने पर अशोकीय तथा फारस के स्तम्भों में विशाल अन्तर दीख पड़ता है। अशोक की लाटों की चौकी पर कुछ प्रतीक ऐसे अवश्य हैं, जो असीरिया या फारस से लिए गए हैं। यह स्वाभाविक ही है क्योंकि अनेक उदाहरणों से ज्ञात होता है कि मौर्य्यकालीन सम्राटों का यूनान आदि देशों के साथ सम्बन्ध था।

श्री सतीशचन्द्र काला

मौर्य्य साम्राज्य की समाप्ति के बाद देश में अशान्ति फैली। ऐसा अवसर पाकर सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने अपने लिए कुछ सीमा को विजय कर लिया। शुंगकाल में भारुत का प्रसिद्ध स्तूप बना। यह स्तूप नागौद रियासत के भारुत गाँव में स्थापित था। कालचक्र की गति से यह स्तूप धूल के नीचे दब गया। जनरल सर अलेक्जेंडर ने १८७४ ई० में इस स्तूप को खोद निकाला। इसके अवशेष इण्डियन म्यूजियम कलकत्ते में सुरक्षित हैं। कुछ अवशेष अभी हाल ही में इलाहाबाद के संग्रहालय में भी आए हैं।

डॉ० वेणीमाधव बरुआ का कहना है कि भारुत का स्तूप तीन विभिन्न युगों में बना और यह बात कला की शैली से भी प्रमाणित होती है। केवल वेष्टनी के पूर्वी द्वार पर एक लेख है जिससे ज्ञात होता है कि यह द्वार राजा गार्गीपुत्र के प्रपौत्र तथा गणपतिपुत्र अग्रजा के पुत्र वत्सपुत्र धनमूर्ति ने बनवाया था।

भारुत स्तूप के चारों ओर एक अति सुन्दर वेष्टनी थी। इस वेष्टनी पर चार द्वार थे। वेस्टनी पर कई स्तम्भ तथा सूचियाँ भी लगी थीं। इन सब पर बड़ी सुन्दर मूर्तियाँ, फल फूल, पशु-पक्षी आदि आदि बने हैं। उनके फुलकों तथा स्थानों पर जातक कथाएँ उत्कीर्ण हैं। बुद्ध भगवान् का मनुष्य रूप में कहीं पर भी चित्रण नहीं। उनका अस्तित्व केवल लाक्षणिक चिह्नों से दिखलाया गया है। अनेक जातक दृश्यों पर सूचियाँ भी खुदी हैं, जिनसे कि उन्हें सरलता के साथ पहिचाना जा सकता है। भारुत की कला एकदम ग्रामीण कला है। इस कला में गहराई तथा दूरी निदर्शन का काम ध्यान रक्खा गया है। चेहरे प्रायः चपटे तथा आखें खुली हुई हैं। यह ऐसे युग की कथा है जबकि कलाकार लकड़ी से पाषाण पर चित्र बनाने की प्रारंभिक चेष्टा कर रहा था।

भारुत से कुछ काल पश्चात् भोपाल रियासत में स्थित साँची का स्तूप बना। साँची की वेष्टनी के तोरण सम्भवतः ई० पू० प्रथम सदी के मध्य में बने। वेष्टनी पर जातक कथाओं, यक्ष, यक्षिणी, बौद्ध-प्रतीक आदि आदि अंकित हैं। साँची की कला द्वारा तत्कालीन जीवन का बड़ा सुन्दर अध्ययन हो सकता है। साँची की कला भारुत की कला से प्रौढ़ है। हाथी दाँत तथा लकड़ी पर काम करनेवाले कलाकार पत्थर पर भी इस काल में सुसंगति लाने का सफल प्रयत्न कर रहे थे। फिर इस कला में जो वेग, प्रवाह तथा स्फूर्ति दीख पड़ती है वह पूर्व कला के किसी भी अन्य उदाहरण में नहीं दीख पड़ती।

कुषाणकाल की मूर्तिकला (१) गांधार और (२) मथुराकला शाखाओं में विभाजित की जा सकती है। गांधार कला तो उत्तर पश्चिमी सीमा प्रान्त में उत्पन्न हुई। इस कला में भी जातक कथाओं का बाहुल्य है, किन्तु शैली सर्वथा यूनानी तथा रोमन है। गांधारकला एक तूफान की तरह भारतीय कला के इतिहास में आई। कुछ शताब्दियों के बाद इस कला का नाम ही न रहा, क्योंकि भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन का साम्य होना कठिन था। गांधार कला दुर्बल कला कही जा सकती है। दूसरी ओर मथुरा में भारतीय परम्पराओं की शिला पर एक दूसरी कला-शाखा उत्पन्न हुई। सिक्री के लाल चित्तीदार पत्थर पर मथुरा में कुषाणकाल में सैकड़ों मूर्तियाँ बनीं। ये मूर्तियाँ कौशाम्बी, काशी, गया, आदि सुदूर स्थानों को भेजी जाती थीं। मथुरा में अनेक बुद्ध, बोधिसत्व, यक्ष, और नागों की मूर्तियाँ तथा वेष्टनियाँ प्राप्त हुई हैं। गांधार की तरह मथुरा में भी बुद्ध मूर्तियाँ बहुत बनती रहीं। इस काल की मूर्तियों के शरीर के वस्त्रों की तह में अब अधिक सुघड़पन तथा सुन्दरता आने लगी थी। इन मूर्तियों में मौर्य्य तथा प्राग मौर्य्यकालीन तत्त्व प्रलक्षित होते हैं। मथुरा की यक्षिणियों की मूर्तियाँ दर्शनीय हैं।

गुप्तकाल (ई० वा० ३२०-६००) भारतीय कला का स्वर्णकाल कहा जा सकता है। कला सम्बन्धी सिद्धान्त अब दृढ़ हो चुके थे। पाश्चात्य तत्त्वों का समय निकल चुका था। उन्हें भारतीय कला पचा चुकी थी। इसलिए गुप्त काल की कला शुद्ध तथा सात्विक रूप में संसार के सम्मुख आती है। शान्ति की अनुपम मुद्रा तथा वस्त्र को शरीर के साथ सुन्दर मिलान करने में संसार का कोई कलाकार गुप्तकालीन कलाकार को नहीं पा सकता। कुषाणकालीन मूर्तियों की कुरूपता की कोई परम्परा गुप्त-कला में नहीं दीख पड़ती। अजण्टा, कन्हेरी, मथुरा आदि आदि स्थानों की मूर्तियाँ, शैली की दृष्टि से उच्च होने के अतिरेक्त विलक्षण भी कही जा सकती हैं।

प्रारंभिक मध्यकालीन कला (ई० पू० ६०० से ८०० तक) के सबसे महत्वपूर्ण अवशेष यलौरा तथा एलीफैण्टा में हैं। यलौरा के कैलाश-मन्दिर में जो सुन्दर कारीगरी की गई है, उससे कलाकारों की लगन का आभास किया जा सकता है। एक चट्टान का समूचे मन्दिर रूप में काटने तथा उसमें अनेक देवी देवताओं की मूर्तियों को बनाना एक अति साहसपूर्ण कार्य है। ऐलीफैण्टा की त्रिमूर्ति में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की स्वाभाविक भावमुद्रा का जो अनुपम प्रदर्शन है वह अवर्णनीय है।

मध्यकालीन कला में भावभंगी या दर्शन को कम महत्त्व प्राप्त हुआ है। किन्तु शैली की दृष्टि से ये अवशेष अनूठे हैं। बुन्देलखण्ड के चन्देल वंशज राजाओं के खजुराहों में बनाए मन्दिर मध्यकालीन मूर्ति तथा स्थापत्य कला के अच्छे उदाहरण हैं। खजुराहा की स्त्री-मूर्तियों में लावण्यता तथा चपलता दीख पड़ती है। कुछ अश्लील दृश्य भी इस कला में हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि शाक्त धर्म की आड़ में कलाकार अश्लील दृश्यों का चित्रण करना चाहते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय मूर्तिकला कालानुसार चलती रही। विस्तृत अध्ययन करने पर यह एकदम ज्ञात हो जाना है कि मूर्तिकला समाज की एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति भी करती रही।

भारत में रसायन की परम्परा और औद्योगिक धन्धे

श्री डॉ० सत्यप्रकाश डी० एस-सी०

हमारा गत दो सहस्र वर्षों का इतिहास उत्थान, पतन, विप्लव, अवसान, उदासीनता और अन्ततोगत्वा परवशता का इतिहास है। महाराज विक्रम की इस स्मारक जयन्ती के अवसर पर उन्हें श्रद्धाञ्जली अर्पित करते समय इस लेख में हम अपने देश की रासायनिक परम्परा और उद्योग-धन्धों के सम्बन्ध में सिंहावलोकन करने का प्रयास करेंगे। राज्य बनते और बिगड़ते हैं, शासन-पद्धतियों में परिवर्तन होता है, पर यह नितान्त आवश्यक नहीं है कि उसी परम्परा के साथ साथ कलाकौशल या उद्योग व्यवसाय में भी कोई परिवर्तन हो जाय। शासन की व्यवस्था के आन्तरिक परिवर्तन के अवसर पर ऐसे परिवर्तन बहुधा कम होते हैं, पर जब कभी बाहर से नई संस्कृति के वाहक बनकर कुछ शासक देश में अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं, तब बहुधा ऐसा हुआ करता है कि विदेशी और स्वदेशी पद्धतियों के सम्पर्क से एक नई स्वदेशी पद्धति का विकास होता है। इस प्रकार युग युग की स्वदेशी पद्धतियाँ पृथक् पृथक् होती हैं। व्यापारिक आयात-निर्यात का भी पद्धतियों पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। हमारे व्यापारी अन्य देशों में जाते, और अन्य देश के हमारे देश में आते, इस प्रकार के आवागमन से पारस्परिक आदान-प्रदान, और कला कौशल में परिवर्तन होता है। इसके अतिरिक्त युग-युग की नयी प्रवृत्तियाँ–धर्म, भक्ति, राजनीति, दर्शन आदि से प्रभावित प्रवृत्तियाँ–कभी किसी समय किसी विशेष कला को प्रोत्साहन देती हैं और कभी किसी दूसरी को। हमारे पास अपने उद्योग-धन्धों का कोई क्रम-बद्ध इतिहास नहीं है। प्रदर्शनालयों में संग्रहीत सामग्री तैयार वस्तुओं का दिग्दर्शन अवश्य कराती है, पर वे वस्तुएँ किस प्रकार बनायी गयीं, और किन मूल्यों पर बनीं और बिकीं, इसका कोई विवरण हमें प्राप्त नहीं है। औद्योगिक विधियों को लेखबद्ध करने की परम्परा हमारे देश में कभी नहीं रही थी, और न इन विषयों का शिक्षण लिखित ग्रंथों द्वारा होता था। यही कारण है कि हमारे पास युग-युग के धन्धों का साहित्य विद्यमान नहीं है। इस लेख में यह तो सम्भव नहीं है कि ऐतिहासिक काल-क्रम के अनुसार सिंहावलोकन किया जाय, केवल कुछ विशेष स्फुट विषयों का सामान्यतः ही दिग्दर्शन कराया जा सकेगा। रसायनशास्त्र का प्रयोग इस देश में आयुर्वेद और उद्योग धन्धों––दोनों में हुआ है। पहले हम आयुर्वेदिक विवरण देंगे।

आयुर्वेद और रसायन—आयुर्वेद की दृष्टि से चरक और सुश्रुत हमारे देश के प्राचीन और मान्य ग्रंथ हैं। भारतीय आयुर्वेद के ये ग्रंथ अत्यन्त प्रामाणिक हैं। इन दोनों में चरक अधिक प्राचीन और सम्भवतः ब्राह्मणकालीन हैं, और सुश्रुत धन्वन्तरि के शिष्य सुश्रुत ने लिखा था। सुश्रुत के मौलिक ग्रंथ का नाम "वृद्ध सुश्रुत" है, और वर्तमान सुश्रुत नागार्जुन द्वारा परिवर्द्धित संस्करण है। दृधबल ने चरक के मौलिक ग्रंथ में भी कुछ विशेष बातें सम्मिलित करदीं। चरक और सुश्रुत का ठीक रचनाकाल चाहे जो भी कुछ रहा हो, पर ऐसा कोई समग्र बाद को नहीं आया, जबकि इन ग्रंथों का प्रभाव न रहा हो। सुश्रुत के बाद ही जो सबसे प्रमुख नाम हमको मिलता है वह नागार्जुन का है। तीन नागार्जुनों का उल्लेख है—सिद्ध नागार्जुन, लोहशास्त्र के रचयिता नागार्जुन और माध्यमिक सूत्रवृत्ति के रचयिता बौद्ध नागार्जुन। बहुत सम्भव है कि ये तीनों एक ही हों। इस साहित्य के सम्बन्ध में चक्रपाणि, माधव और वाग्भट्ट के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

प्राचीन ग्रंथों में पतञ्जलि का लोहशास्त्र भी अत्यन्त प्रामाणिक माना जाता है। इस ग्रंथ में नमक और शोरे के तेजाबों का और इनके मिश्रण "बिडम्" का (aqua regia) उल्लेख है। पतञ्जलि का लोहशास्त्र इस समय उपलब्ध नहीं है, पर इसके अवतरण बाद के लिखे आयुर्वेद और रसायन के ग्रंथों में मिलते हैं। नागार्जुन ने पारद धातु के सम्बन्ध में विशेष प्रयोग किए। चक्रदत्त ने नागार्जुन के ग्रंथ का जो सारांश दिया है, उसमें शुद्ध लोहे के पहिचान की रासायनिक विधि दी हुई है। वासवदत्ता नामक ग्रंथ में पारदपिण्ड का उल्लेख है—पारदपिण्ड इव कालधातु वादिनः। वृन्द (९५० ई०) ने रसामृत चूर्ण का उल्लेख किया है जो पारे का सल्फाइड है। इसी ने पर्पटीताम्र (cuprous sulphide) का भी उल्लेख किया है। चक्रपाणि ने (१०५० ई०) पारद और गन्धक की बराबर मात्रा लेकर पारे के काले सलफाइड (कज्जली) बनाने का विस्तार दिया है।

रसार्णव ग्रंथ में ज्वालाओं का रंग देखकर धातुओं को पहिचानने की विधि दी है :—

आवर्त्तमाने कनके पीता तारे सिता शुभा।
शुल्वे नीलनिभा तीक्ष्णे कृष्णवर्णा सुरेश्वरि॥
वंगे ज्वाला कपोता च नागे मलिनधूमता।
शैले तु धूसरा देवि आयसे कपिलप्रभा॥
अयस्कान्ते धूम्रवर्णा सस्यके लोहिता भवेत्।
वज्रे नानाविधा ज्वाला सस्यके पाण्डुरप्रभा॥ (रसार्णव, यंत्रमूषा० चतुर्थ पटल, ४९-५७)।

अर्थात् ताँबे की ज्वाला नीली, वंग की कपोतवर्ण, सीसे की मलिन धूम, लोहे की कपिलवर्ण, सस्यक की लाल इत्यादि।

इसी रसार्णव में तीन तरह के क्षारों का उल्लेख आता है :—

त्रिक्षाराष्टंकणक्षारो यवक्षारश्च सर्जिका॥ (पंचम पटल ३५)।

अर्थात् टंकण या सुहागा (borax), यवक्षार (potash carbonate) और सर्जिका (trona, soda)।

आठ महारस निम्न गिनाए हैं :—

माक्षिकं विमलं शैलञ्चपलो रसकस्तथा।
सस्यको दरदश्चैव स्रोतोऽञ्जनमथाष्टकम्॥

माक्षिक (copper, pyrites), विमल, शैल (Silica) चपल, रसक (calamine), सस्यक (blue vitriol), दरद (cinnabar) और स्रोताञ्जन ये आठ महारस हैं।

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ ने आठ रसों का विभाग इस प्रकार किया है :—

अभ्रवैक्रान्त माक्षीक विमलाद्रिज-सस्यकम्।
चपलोरसकश्चेति ज्ञात्वाष्टौ सग्रहेद्रसान्॥ (२, १)

अभ्र (mica), वैक्रान्त, माक्षिक, विमल, अद्रिज (शिलाजीत या bitumen), सस्यक, चपल और रसक; ग्रंथकार ने इन आठों का विस्तृत उल्लेख भी किया है जिसका कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करेंगे।

१. पिनाकं नागमंडूकं वज्रमित्यभ्रकं मतम्।
श्वेतादिवर्ण भेदेन प्रत्येकं तच्चतुर्विधम्॥

अभ्रक तीन तरह का होता है—पिनाक, नागमंडूक, और वज्र। श्वेतादि वर्णभेद से (सफेद, लाल, पीला, काला) यह चार प्रकार का और होता है।

प्रतप्तं सप्तवाराणि निक्षिप्तं काञ्जिकेऽभ्रकम्।
निर्दोषं जायते नूनं प्रक्षिप्तं वापि गोजले॥
त्रिफलाक्वथिते चापि गवां दुग्धे विशेषतः॥ (२, १७-१८)

सात बार अभ्रक को गरम करके यदि खटाई में या गोमूत्र में छोड़ा जाय, अथवा त्रिफला के रस में या गाय के दूध में रक्खा जाय तो यह शुद्ध हो जाता है।

२. अष्टास्रश्चाष्टफलकः षट्कोणो मसृणो गुरुः।
शुद्ध मिश्रित वर्णैश्च युक्तो वैक्रान्त उच्यते॥
श्वेतोरक्तश्च पीतश्च नीलः पारावतच्छविः।
श्यामलः कृष्णवर्णश्च कर्बुरश्चाष्टधा हि सः॥ ५५-५६॥
विन्ध्यस्य दक्षिणे वाऽस्ति ह्युत्तरे वाऽस्ति सर्व्वतः।
विक्रामयति लोहानि तेन वैक्रान्तकः स्मृतः॥६१॥

वैक्रान्त में आठ फलक, और ६ कोण होते हैं। यह चिकना और भारी होता है। यह आठ रंगों का—सफेद, लाल, पीला, नीला, पारावत, छवि, श्यामल और कृष्ण—होता है। विन्ध्या पर्वत के उत्तर और दक्षिण में सभी जगह पाया जाता है।

३. सुवर्णशैल प्रभवो विष्णुना काञ्चनो रसः।
तापी किरातचीनेषु यवनेषु च निर्मितः॥
माक्षिकं द्विविधं हेममाक्षिकन्तार माक्षिकम्।
तत्राद्यं माक्षिकं कान्यकुब्जोत्थं स्वर्ण संनिभम्॥
पाषाण वहलः प्रोक्तस्ताराख्योऽल्पगुणात्मकः॥७७-८१॥

सोनेवाले पर्वतों में माक्षिक रहता है। तापी नदी के किनारे, किरात देश में, चीन में और यवनदेश में पाया जाता है। यह सोने का सा और चाँदी का सा, दो तरह का होता है। कन्नौज में सोने का सा पाया जाता है। दूसरा माक्षिक पत्थरों के साथ मिश्रित पाया जाता है और कम गुणवाला है।

क्षौद्र गन्धर्व तैलाभ्यां गोमूत्रेण घृतेनच।
कदलीकन्दसारेण भावितं माक्षिकं मुहुः॥
मूषायां मुञ्चतिध्मातं सत्त्वं शुल्वनिभं मृदु॥८९-९०॥

शहद, गन्धर्वतैल, गोमूत्र, घी और कदलीकन्द के रस से भावित करके मूषा (crucible) में गरम करने पर यह माक्षिक शुद्ध ताँबा देता है।

४. विमलस्त्रिवधः प्रोक्तो हेमाद्यस्तारपूर्वकः।
तृतीयः कांस्य विमलस्तत् तत् कान्त्या स लक्ष्यते॥९६॥
वर्त्तुलः कोणसंयुक्तः स्निग्धश्च फलकान्वितः॥९७॥

विमलं शिग्रु तोयेन कांक्षीकासीसटंकणैः।
वज्रकन्दसमायुक्तं भावितं कदली रसैः॥
मोक्षकक्षारसंयुक्तं ध्मापितं मूकमूषगम्।
सत्त्वं चन्द्रार्क संकाशं प्रयच्छति न संशयः॥१०३-१०४॥

विमल तीन तरह का होता है—सोने, चाँदी और काँसे की सी आभावाला। यह वर्तुलाकार, कोणों से संयुक्त और फलकान्वित होता है। इसे शिग्रु के जल से एवं कांक्षी (alum फिटकरी), कासीस (green vitriol) और टंकण (borax) से, और फिर वज्रकन्द और कदलीरस से भावित करके मूकमूषा (covered crucible) में गरम किया जाय तो चन्द्रक धातु (एक प्रकार का ताँबा) मिलता है।

सम्भवतः विमल रस भी ताम्रमाक्षिक का ही कोई भेद हो अथवा सम्भवतः इसमें कुछ और धातुओं के भी मिश्रण हों।

५. शिलाधातुर्द्विधा प्रोक्तो गोमूत्राद्यो रसायनः।
कर्पूरपूर्वकश्चान्यस्तत्राद्यो द्विविधः पुनः॥१०९॥
ग्रीष्मे तीव्रार्कतप्तेभ्यः पादेभ्यो हिमभूभृतः।
स्वर्ण-रूप्यार्क गर्भेभ्यः शिलाधातुर्विनिःसरेत्॥११०॥

शिलाजीत दो तरह का होता है, एक में गोमूत्र की सी और दूसरे में कपूर की सी गन्ध होती है। गर्मी की ऋतु में हिमालय की पादस्थ चट्टानों से यह पिघलकर बह आता है।

६. मयूरकण्ठवच्छायं भाराढ्यमतिशस्यते॥१२७॥
लकुचद्राव गन्धाश्म टंकणेन समन्वितम्।
निरुध्य मूषिकामध्ये म्रियते कौवकुटैः पुटैः॥१३२॥
सस्यकस्य तु चूर्णं तु पादसौभाग्यसंयुतम्।
करंजतैलमध्यस्थं दिनमेकं निधापयेत्॥
मध्यस्थमन्धमूषायां ये ध्मापयेत् कोकिलत्रयम्।
इन्द्र गोपाकृति चैव सत्त्वं भवति शोभनम्॥१३३-१३४॥

सस्यक का नाम मयूरतुत्थ भी है क्योंकि मोर के कण्ठ के रंग का सा होता है। इस नीले थोथे (तूतिया) से ताँबा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार दी है—नीलाथोथा में ¼ भाग सुहागा मिलाओ। इसे करंजतैल में एक दिन रक्खो और फिर बन्द मूषा में कोयले की आग पर गरम करो। इन्द्रवधूटी के रंग की धातु प्राप्त होगी।

७. गौरः श्वेतोऽरुणः कृष्णाश्चपलस्तु चतुर्विधः।
हेमाभश्चैव ताराभो विशेषाद् रसबन्धनः॥१४३॥
शेषौ तु मध्यौ लाक्ष्यावच्छीघ्रद्रावी तु निष्फलौ।
वंगवद् द्रवते वह्नौ चपलस्तेन कीर्त्तितः॥१४४॥
चपलः स्फटिकच्छायः षड्स्रः स्निग्धको गुरुः॥१४६॥

चपल चार रंगों के होते हैं—पीला, सफेद, लाल और काला। रसबन्धन अर्थात् पारे के स्थिरीकरण में चाँदी और सोने की सी आभावाले चपल अधिक उपयोगी हैं। अन्तिम दो (लाल और काले) लाख की तरह शीघ्र गलनेवाले और बेकार हैं। आग पर गरम करने से चपल शीघ्र गल जाते हैं और इसीलिए इनका नाम चपला पड़ा है। चपलों में ६ फलक, और स्फटिकों की सी आभा होती है।

यह कहना कठिन है कि चपल वस्तुतः कौनसा रस है।

८. रसको द्विविधः प्रोक्तो दुर्दुरः कारवेल्लकः।
सदलो दुर्दुरः प्रोक्तो निर्दलः कारवेल्लकः ॥१४९॥
हरिद्रा त्रिफला राल सिन्धुधूमैः सटंकणैः।
सारुष्करैश्च आदांशैः साम्लैः संमर्द्य खर्परम् ॥
लिप्तं वृन्ताकमूषायां शोषयित्वा निरुध्यच ॥
मूषां मूषोपरि न्यस्य खर्परं प्रधमेत् ततः।
खर्परे प्रहृते ज्वाला भवेन्नीला सिता यदि ॥
तदासंदंशतो मूषा धृत्वाकृत्वा त्वधोमुखीम्।
शनैरास्फालयेद् भूमो यथा नालं न भज्यते ॥
वंगाभं पतितं सत्वं समादाय नियोजयेत् ॥१५७-१६१॥

रसक (calamine) दो तरह का होता है, एक दुर्दर (laminated) और दूसरा कारवेल्लक (non-laminated)। इसे हल्दी, त्रिफला, राल, नमक, धुआँ, सुहागा, और चौथाई भाग सारुष्कर और अम्लरसों के साथ संमर्दन करके और वृन्ताकमूषा (tubulated crucible) में रखकर धूप में सुखावे, और इस पर दूसरी मूषा ढाँककर गरम करे। पिघले रसक से निकली ज्वाला जब नीली से सफेद पड़ जाय, तो सदंश (pair of tongs) से मूषा को पकड़कर उल्टा करे, फिर सावधानी से जमीन पर इस तरह गिराए कि मूषा की नाल (tube) न टूटे। ऐसा करने पर वंग के समान आभावाला सत्त्व नीचे गिरेगा। यह धातु जस्ता (zinc) है। खर्पर रसक का ही दूसरा नाम है।

रसरत्नसमुच्चय के तीसरे अध्याय में उपरसों का विवरण दिया है जिसका उल्लेख हम स्थानाभाव के कारण विस्तार से नहीं कर सकते। आठ उपरस निम्न हैं:—

गन्धाश्म गैरिकासीस कांक्षीताल शिलाञ्जनम्।
कंकुष्ठं चेत्युपरसाश्चाष्टौ पारद कर्मणि ॥३।१॥

गन्धक (sulphur), गेरू (red ochre), कसीस (green vitriol), कांक्षी (alum), ताल (orpiment), मनःशिला (realgar), अंजन और कामकुष्ठ ये आठ उप-रस हैं जिनका व्यवहार पारे को रसायन में किया जाता है।

गन्धक तीन तरह का होता है—लाल (तोते की चोंचसा), पीला और सफेद। कुछ लोग काले गन्धक का होना भी बताते हैं। गैरिक (गेरू) के दो भेद हैं—पाषाण गैरिक, स्वर्ण गैरिक। कसीस भी दो तरह का है—वालुक कासीस (हरा), पुष्पकासीस (कुछ पीला सा)। कांक्षी, तुवरी या फिटकरी सूरत या सौराष्ट्र में प्राप्त होती थी—सौराष्ट्राश्मनि संभूता मृत्स्ना सा तुवरी मता। इसके एक दूसरे भेद को फटकी, या फुल्लिका कहते हैं जो कुछ पीली होती है। एक फुल्ल-तुवरी होती है जो सफेद है। हरिताल या तालक (orpiment) दो तरह का होता है—पत्राख्य (पत्रेसा) और पिंडसंज्ञक (गोलीनुमा)। मनःशिला लोहे के जंग (किट्ट), गुड़, गुग्गुल और घी के साथ कोष्ठि-यंत्र में गरम करने पर सत्त्व देता है। अंजन कई तरह के होते हैं—सौवीराजन या सुरमा (galena or lead sulphide), रसांजन, स्रोतांजन, पुष्पांजन, नीलांजन। सफेद सुरमा या स्रोतांजन सम्भवतः आइसलैण्ड स्पार है। रसांजन आजकल रसौत के नाम से प्रसिद्ध है। कामकुष्ठ क्या है यह कहना कठिन है। यह हिमालय के पाद शिखर में पाया जाता था। यह नवजात हाथी की विष्ठा है, ऐसा कुछ का विचार था। यह तीव्र विरेचक है।

उपरसों के अतिरिक्त कुछ अन्य साधारण रसों का भी वर्णन आता है—

कम्पिल्लश्चपरो गौरी पाषाणो नवसारकः।

कपर्दो वह्निजारश्च गिरिसिन्दूर हिंगुलौ ॥
मृद्दारश्रृंगमित्यष्टौ साधारण रसाः स्मृताः ॥३।१२०-१२१॥

कम्पिल्ल (ईंट के रंग का विरेचक), गौरीपाषाण (स्फटिक, शंख और हल्दी के रंगों का), नवसार या नौसादर (salammoniac) जिसे चूलिका लवण भी कहते हैं, कपर्द (वराटक या कौड़ी), अग्निजार (समुद्र-नक्र के जरायु से निकला अज्ञात पदार्थ), गिरि सिन्दूर (rock vermillion), हिंगुल (cinnabar) जिसे दरद भी कहते हैं, मृद्दार श्रृंगक (गुजरात में और आबू पर्वत पर प्राप्त), और राजावर्त्त (lapis lazuli) ये साधारण रस हैं।

इसी ग्रंथ में रत्न या मणियों का उल्लेख भी है:—

मणयोऽपि च विज्ञेयाः सूतबन्धस्य कारकाः।
वैक्रान्तः सूर्य्यकान्तश्च हीरकं मौक्तिकं मणिः॥
चन्द्रकान्तस्तथा चैव राजावर्त्तश्च सप्तमः।
गरुडोद्गारकश्चैव ज्ञातव्या मणयस्त्वमी॥
पुष्परागं महानील पद्मरागं प्रवालकम्।
वैदुर्य्यं च तथा नीलमेते च मणयो मताः ॥४।१-३॥

पारे के बन्धन के सम्बन्ध में ही इन मणियों का उल्लेख है। मणि ये हैं—वैक्रान्त, सूर्य्यकान्त (sun-stone), हीरक (diamond), मौक्तिक (pearl), चन्द्रकान्त (moon-stone), राजावर्त्त (lapis lazuli), गरुडोद्गार (emerald)। इनके अतिरिक्त पुष्पराग, महानील, पद्मराग, प्रवाल (coral), वैदुर्य्य और नील ये मणि और हैं।

हीरे को वज्र भी कहते हैं। इसका विवरण इस प्रकार है—

अष्टास्रं चाष्टफलकं षट्कोणमति भासुरम्।
अम्बुदेन्द्रधनुर्वारितरं पुंवज्रमुच्यते ॥४।२७॥

इसमें ८ फलक और ६ कोण होते हैं, और इसमें से इन्द्र धनुष के से रंग दीखते हैं। वज्र नर, नारी और नपुंसक भेद से तीन प्रकार के बताए गए हैं जिनके विस्तार की यहाँ आवश्यकता नहीं है।

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ के पाँचवें अध्याय में धातुओं का उल्लेख है। धातुओं का सामान्य नाम 'लोहा' है।

(क) शुद्ध-लोह अर्थात् शुद्ध धातु तीन हैं—सोना, चाँदी और लोहा।

शुद्धं लोहं कनकरजतं भानुलोहाश्म सारम्।

(ख) पूती-लोह (दुर्गन्ध देनेवाले धातु) दो हैं—सीसा (नाग) और राँगा या वंग (lead and tin)।

पूती लोहं द्वितयमुदितं नागवंगाभिधानम्।

(ग) मिश्र लोह (धातुओं का मिश्रण-alloy) तीन हैं—पीतल (brass), कांसा (ball-metal) और वर्त्तलोह—

मिश्र लोहं त्रितयमुदितं पित्तलं कांस्यवर्त्तम्।

सोना पाँच प्रकार का माना गया है—प्राकृतिक, सहज, वह्निसंभूत, खान से निकला, रस-वेध से प्राप्त।

प्राकृतं सहजं वह्नि संभूतं खनिसंभवम्। रसेन्द्र वेध संजातं स्वर्णं पंचविधं स्मृतम् ॥५।२॥

चाँदी तीन प्रकार की है—सहजं खनिसंजातं कृत्रिमं च त्रिधामतम्। अर्थात् सहज, खान से निकली और कृत्रिम। इसके शोधन की विधि यह है:—

नागेन टंकनेनैव वापितं शुद्धिमृच्छति।

सीसे और सुहागे के संयोग से यह शुद्ध होता है। किसी खपड़े पर चूने और राख का मिश्रण धरे, और फिर बराबर बराबर चाँदी और सीसा। फिर तब तक धमन (roast) करे जब तक सीसा सब खतम न हो जाय। ऐसा करने पर शुद्ध चाँदी रह जायगी (५।२२-४१)।

ताँबा दो प्रकार का होता है; एक तो नेपाल का शुद्ध, और दूसरा खान से निकला जिसे म्लेच्छ कहते हैं:—

म्लेच्छं नेपालकं चेति तयोर्नेपालमुत्तमम् ।
नेपालादन्यखन्युत्थं म्लेच्छमित्यभिधीयते ।।५।४४।।

लोहा तीन प्रकार का होता है–मुण्ड (wrought iron), तीक्ष्ण और कान्त। मुण्ड के भी तीन भेद हैं– मृदु, कुण्ठ और कडार।

मुण्डं तीक्ष्णं च कान्तंच त्रिप्रकारमयः स्मृतम् ।
मृदु कुण्ठं कडारं च त्रिविधं मुण्डमुच्यते ।।७०।।
द्रुत द्रावमविस्फोटं चिक्कणं मृदु तच्छुभम् ।
हतं यत् प्रसरेद्दुःखात् तत्कुण्ठं मध्यमं स्मृतम् ।।
यद्धतं भज्यते भंगे कृष्णं स्यात् तत् कडारकम् ।।७१-७२।।

मृदु (soft iron) वह लोहा है जो आसानी से गलता है, और टूटता नहीं, और चिकना होता है। कुण्ठ लोहा वह है जो हथौड़े से पीटने पर कठिनता से बढ़ता है। जो हथौड़े से पीटने पर टूट जाय उसे कडारक कहते हैं।

तीक्ष्ण लोहा (cast iron) के छह भेद हैं। इनमें एक परुष है और भंग होने पर पारे का सा चमकता है, और झुकाने पर टूट जाता है। दूसरे प्रकार का लोहा कठिनता से टूटता है और तेज धारवाला है।

कान्तलोहा (magnetic iron) पाँच प्रकार का है—भ्रामक, चुम्बक, कर्षक, द्रावक और रोमकान्त—

भ्रामकं चुम्बकं चैव कर्षकं द्रावकं तथा ।
एवं चतुर्विधं कान्तं रोमकान्तं च पंचमम् ।।५।८४।।

यह लोह एक, दो, तीन, चार या पाँच अथवा अधिक मुखवाला होता है, और रंग भी किसी का पीला, किसी का काला या लाल होता है। जो कान्त-लोहा सभी प्रकार के लोहों को घुमादे उसे भ्रामक कहते हैं। जो लोहे का चुम्बन करे उसे चुम्बक, जो लोहे को खींचे उसे कर्षक, जो लोहे को एकदम गलादे उसे द्रावक, और जो टूटने पर रोम ऐसा स्फुटित हो जाय उसे रोमकान्त कहते हैं (८४-८९)।

लोहे के जंग को लोहकिट्ट (iron rust) कहते हैं।

वंग (tin) दो प्रकार का होता है–खुरक और मिश्रक ।

खुरकं मिश्रकं चेति द्विविधं वंगमुच्यते ।। (५।१५३)

इसमें में खुरक (white tin) उत्तम है। यह सफेद, मृदु, निःशब्द और स्निग्ध होती है, दूसरी मिश्रक (grey tin) श्यामशुभ्रक वर्ण की है।

सीसे के सम्बन्ध में ग्रंथकार का कथन है—

द्रुतद्रावं महाभारं छेदे कृष्ण समुज्ज्वलम् ।
पूतिगन्धं बहिः कृष्णं शुद्धसीसमतोऽन्यथा ।।१७१।।

यह शीघ्र जलता है, बहुत भारी होता है, छेदन करने पर (fracture) काले उज्ज्वल रंग का होता है, यह दुर्गन्धयुक्त और बाहर से काले रंग का होता है।

पीतल दो प्रकार की होती है—रीतिका और काकतुण्डी। रीतिका वह है जो गरम करके खटाई (कांजी) में छोड़ी जाय तो ताम्र रंग की हो जाय, और ऐसा करने पर जो काली पड़ जाय वह काकतुण्डी है।

रीतिका काकतुण्डी च द्विविधं पित्तलं भवेत्।
सन्तप्ता काञ्जिके क्षिप्ता ताम्राभा रीतिका मता॥
एवं या जायते कृष्णा काकतुण्डीति सा मता ॥१९२-१९३॥

आठ भाग ताँबा और दो भाग वंग (tin) साथ साथ जलाने से काँसा बनता है—

अष्ट भागेन ताम्रेण द्विभाग कुटिलेन च।
विद्रुतेन भवेत् कांस्यं.............................. ॥२०५॥

वर्त्तलोह पाँच धातुओं के मिश्रण से बनता है-काँसा, ताँबा, पीतल, लोहा और सीसा।

कांस्यार्करीति लोहाहिजातं तद्वर्त्तलोहकम्।
तदेव पंच लोहाख्यं लोहविद्भिरुदा हृतम् ॥२१२॥

धातुओं और रसों के सम्बन्ध में अब तक हमने जो लिखा है वह रसरत्नसमुच्चय के आधार पर। पर इस ग्रंथ से पूर्व भी अनेक ग्रंथ थे जिनमें लगभग इसी प्रकार के अनुभव दिए गए हैं। इस सम्बन्ध में नागार्जुन का "रसरत्नाकर" नामक ग्रंथ भी बड़े महत्त्व का है। यह महायान सम्प्रदाय का एक तंत्रग्रंथ है। इस ग्रंथ में शालिवाहन, नागार्जुन, रत्नघोष और मांडव्य के बीच का संवाद दिया है और संवाद द्वारा रासायनिक विषय स्पष्ट किए गए हैं। महाराज नैपाल के पुस्तकालय में छठी शताब्दी की नकल की हुई एक तंत्र पुस्तक "कुब्जिकामत" की है। यह भी उस सम्प्रदाय का एक तंत्र ग्रंथ है जो महायान का समकालीन है। इस ग्रंथ में शिवजी पारद को अपना वीर्य्य घोषित करते हैं, और छह बार मारने के बाद पारद की उपयोगिता की ओर संकेत करते हैं:—

मद्वीर्य्यः पारदो यद्वं पतितः स्फुटितं मणिः।
मद्वीर्य्येण प्रसूतास्ते तावार्य्या सूनके वहि।
तिष्ठन्ति संस्कृताः सन्तः भस्मा षड्विप्रजारणाम्॥

तंत्र मंत्र के काल में रसायन विद्या का विशेष प्रचार हुआ। इस विद्या में निपुण व्यक्तियों को मंत्रवज्राचार्य्य कहा जाता है। यह युग प्रसंग और धर्मकीर्ति के समय के मध्य में चला। छठी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक तंत्र-सिद्धान्तों का विशेष प्रचार रहा। उदण्डपुर और विक्रमशिला के मठों के विध्वंस के बाद बौद्धों का इस देश में पतन हुआ, बौद्ध छिन्न-भिन्न हो गए। उनके तंत्र ग्रंथ कालान्तर में हिन्दू तंत्र ग्रंथों में समाविष्ट भी कर लिए गए। मौलिक बौद्ध ग्रंथों के संवाद तारा, प्रज्ञापारमिता और बुद्ध के बीच में थे, और बाद के ग्रंथों में ये ही संवाद शिव और पार्वती के मुख से कहलाए जाने लगे।

माधव का रसार्णव पारद के सम्बन्ध में एक मुख्य ग्रंथ है। यह ग्रंथ १२वीं शताब्दी का है। माधव का एक ग्रंथ "रस हृदय" भी है। रसरत्नसमुच्चय, जिसके उद्धरण हमने ऊपर दिए हैं, १३वीं या १४वीं शताब्दी की रचना है। इस पुस्तक में सोमदेव नामक ग्रंथकार का उल्लेख आता है। इसकी एक पुस्तक रसेन्द्रचूड़ामणि, दक्षिण-कॉलेज, पूना के पुस्तकालय में प्राप्त है। यह ग्रंथ रसरत्नसमुच्चय से बहुत मिलता जुलता है। यह रचना १२-१३वीं शताब्दी की है। इस ग्रंथ में यह उल्लेख है कि नन्दिन् नामक कलाकार ने ऊर्ध्वपातन यंत्र (sublimation apparatus) और कोष्ठिकायंत्र (चित्र १) का निर्माण किया—

ऊर्द्ध्वपातनयंत्रं हि नन्दिना परिकीर्त्तितम्।
कोष्ठिका यंत्रमेतद्धि नन्दिना परिकीर्त्तितम्॥

रसरत्नसमुच्चय ग्रंथ में २७ रसायनज्ञों का उल्लेख आता है—

आगमश्चन्द्रसेनश्च लंकेशश्च विशारदः।
कपाली मत्त मांडव्यौ भास्करः शूरसेनकः॥
रत्नकोषश्च शंभुश्च सात्त्विको नरवाहनः।
इन्द्रदो गोमुखश्चैव कम्बलिर्व्याडिरेवच॥
नागार्जुनः सुरानन्दो नागबोधिर्यशोधनः।
खण्डः कापालिको ब्रह्मा गोविन्दो लम्पकोहरिः।
सप्तविंशति संख्यका रससिद्धि प्रदायकाः॥

आगम, चन्द्रसेन, लंकेश, विशारद, कपाली, मत्त, मांडव्य, भास्कर, शूरसेनक, रत्नकोष, शंभु, सात्त्विक, नरवाहन, इन्द्रद, गोमुख, कम्बलि, व्याडि, नागार्जुन, सुरानन्द, नागबोधि, यशोधन, खंड, कापालिक, ब्रह्मा, गोविन्द, लमपक, और हरि ये २७ पूर्ववर्त्ती रसायनज्ञ थे। रसरत्नसमुच्चय के रचयिता वाग्भट्ट का पिता सिंहगुप्त भी प्रसिद्ध चिकित्सक था। ऊपर २७ व्यक्तियों के जो नाम दिए हैं, उनमें एक व्यक्ति यशोधन है। सम्भवतः इसका शुद्ध पाठ यशोधर हो। यशोधर का एक ग्रंथ रसप्रकाश-सुधाकर मिलता है। यह ग्रंथ रसरत्नसमुच्चय से मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रसरत्नसमुच्चय कोई मौलिक ग्रंथ नहीं है। यह रसार्णव एवं सोमदेव और यशोधर के अन्य ग्रंथों का संग्रह मात्र है।

यशोधर को ही जस्ता धातु बनाने की विधि का श्रेय देना चाहिए। इस विधि का उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं। यशोधर ने अपने ग्रंथ में साफ साफ लिखा है, कि उसने ये प्रयोग स्वयं अपने हाथ से किए, और अतः ये अनुभवसिद्ध हैं—

स्वहस्तेन कृतं सम्यक् जारणं न श्रुतं मया।
स्वहस्तेन भवयोगेन कृतं सम्यक् श्रुतेनहि॥
धातुबन्धस्तृतीयोऽसौ स्वहस्तेन कृतो मया।
दृष्ट-प्रत्यय-योगोऽयं कथितो नात्र संशयः॥

यशोधर के ग्रंथ "रस प्रकाश सुधाकर" की प्रतिलिपि रणवीर-पुस्तकालय काश्मीर में सुरक्षित है।

इसी समय का एक ग्रंथ रसकल्प है जो रुद्रयामल तंत्र का एक भाग है। इसमें गोविन्द, स्वच्छन्द भैरव आदि रसायनज्ञों के नामों का उल्लेख भी है। रसकल्प में पारे मारने की विधि, महारस, रस, उपरस, ४ प्रकार के गन्धक, अनेक प्रकार की फिटकरी (सौराष्ट्री), ३ प्रकार के कासीस (कासीस, पुष्पकासीस और हीरकासीस), २ प्रकार के गैरिक, सोना मारने का विड (नौसादर-चूलिकलवण, गन्धक, चित्रार्द्रभस्म, और गोमूत्र के योग से), ताम्रसत्त्व, और रसकसत्त्व (जस्ता) आदि का उल्लेख है। इस ग्रंथ में भी ग्रंथकार ने साक्षात् अनुभव के महत्त्व पर वल दिया है—

इति सम्पादितो मार्गो द्रुतीनां पातने स्फुटः।
साक्षादनुभवैर्दृष्टो न श्रुतो गुरुदर्शितः॥

विष्णुदेव विरचित एक और ग्रंथ रसराजलक्ष्मी है। इसमें इसने पूर्ववर्ती तंत्रों और रसायनज्ञों का उल्लेख किया है, और इस दृष्टि से इस ग्रंथ का ऐतिहासिक महत्त्व है।

दृष्ट्वेमं रससागरं शिवकृतं श्रीकाकचण्डेश्वरी-
तंत्रं सूतमहोदधिं रससुधाम्भोधिं भवानीमतम्।
व्याडिं सुश्रुतसूत्रमीशहृदयं स्वच्छन्दशक्त्यागमम्।
श्रीदामोदरवासुदेवभगवद्गोविन्दनागार्जुनान्॥१॥
आलोक्य सुश्रुतं वृन्दहारीत चरकादिकान्।
आत्रेयं वाग्भट्टं सिद्धसारं दामोदरं गुरुम्॥३॥

विष्णुदेव ने निम्न आचार्यों और ग्रंथों के प्रति इन श्लोकों में कृतज्ञता प्रदर्शित की है—रसार्णव, काकचण्डीश्वर, नागार्जुन, व्याडि, स्वच्छन्द, दामोदर, वासुदेव, भगवद् गोविन्द, चरक, सुश्रुत, हारीत, वाग्भट्ट, आत्रेयादि। ये सब तेरहवीं शताब्दी तक के आचार्य हैं।

संवत् १५५७ आश्विन कृष्ण ५ सोमे को मथनसिंह ने रसनक्षत्रमालिका ग्रंथ पूर्ण किया। इस ग्रंथ में पहले पहल अफीम का उल्लेख आता है :—

चतुश्चतुः शंख कपर्द्दिकानां, सतक्र जम्बीरविमर्द्दितानाम्।
आर्केन माक्षीकविषद्वयानां, पलं पलं दन्ति फलान्वितानाम्॥२५॥

स्वच्छन्द नामक आचार्य का उल्लेख विष्णुदेव के ग्रंथ में आ चुका है। इनके नाम पर एक स्वच्छन्द भैरव रस है, जिसका उल्लेख रसनक्षत्रमालिका में मिलता है—**स्वच्छन्दभैरवाख्यो रसः समस्तामयध्वंसी (१२५)।** इससे स्पष्ट है कि रसायनज्ञों के नाम पर पहले भी रसों के नाम रक्खे जाने की प्रथा थी।

लगभग इसी समय का एक ग्रंथ पार्वतीपुत्र नित्यनाथ विरचित रसरत्नाकर है। इस ग्रंथ में शिव रचित रसार्णव, रसमंगलदीपिका, नागार्जुन, चर्पटिसिद्ध, वाग्भट्ट और सुश्रुत का उल्लेख है इसके अतिरिक्त—

यद्यद् गुरुमुखज्ञातं स्वानुभूतञ्च यन्मया। तत्तल्लोकहितार्थाय प्रकटीक्रियतेऽधुना॥

नित्यनाथ के इस ग्रंथ के अनन्तर रसेन्द्रचिन्तामणि का उल्लेख किया जा सकता है। इसके रचयिता कालनाथ के शिष्य ढुंढुकनाथ हैं। इस ग्रंथ का सम्पादन उमेशचन्द्र सेनगुप्त, संस्कृत कॉलेज कलकत्ता ने किया है। इस ग्रंथ में रस-कर्पूर शब्द कैलोमल (calomel) के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसका उल्लेख रसार्णव में भी है। इस ग्रंथ में रसार्णव, नागार्जुन, गोविन्द, नित्यनाथ, सिद्धलक्ष्मीश्वर, त्रिविक्रमभट्ट और चक्रपाणि का उल्लेख है। रसेन्द्र चिन्तामणि कब लिखा गया यह कहना कठिन है।

इसके बाद के एक ग्रंथ रससार में पारे पर की जानेवाली १८ प्रक्रियाओं का उल्लेख है। इसके रचयिता गोविन्दाचार्य हैं। इस ग्रंथ में बौद्ध रसायनाचार्य्यों के प्रति विशेष कृतज्ञता प्रकट की है—भोटदेश (भूटान या तिब्बत) के बौद्धों का उल्लेख महत्त्व का है।

एवं बौद्धा विजानन्ति भोटदेशनिवासिनः।
बौद्धमतं तथा ज्ञात्वा रससारः कृतो मया॥

रससार ग्रंथ में अफीम (अहिफेन) का वर्णन आता है। समुद्र में चार तरह की विषैली मछलियाँ होती हैं, जिनके फेन से ४ तरह की अफीम निकलती है—सफेद, लाल, काली और पीली। कुछ का कहना है कि अफीम साँप के फेन से निकलती है—

समुद्रे चैव जायन्ते विषमत्स्याश्चतुर्विधाः।
तेभ्यः फेनं समुत्पन्नं अहिफेनो विषंस चतुर्विधं।
केचिद्वदन्ति सर्पाणां फेनं स्यादहिफेनकम्॥

पर सम्भवतः यह अहिफेन आजकल पोस्ता से निकली अफीम न हो। प्राणियों के फेन से निकले सभी विष (मत्स्य, चाहे साँप के) सम्भवतः अहिफेन कहलाते हों।

शार्गंधर संग्रह के रचयिता शार्गंधर का एक ग्रंथ "पद्धति" भी है जो संवत् १४२० वि० में रचा गया। शार्गंधर संग्रह की आढमल्ल ने एक बृहद् टीका भी की। राजा हम्मीर शार्गंधर के बाबा राघवदेव को बहुत मानता था। इसके समय में सौगतसिंह नाम का भी एक वैद्य था जैसा कि निम्न वाक्य से स्पष्ट है—

एषा सौगतसिंह नाम भिषजा लोके प्रकाशीकृता।
हम्मीराय महीभुजे..............संभोजभाजे भृशम्॥

रसमंजरी, चन्द्रिका आदि तंत्र ग्रंथ के आधार पर गोपालकृष्ण ने रसेन्द्रसारसंग्रह नामक एक ग्रंथ लिखा। इसमें अनेक खनिज रसायनों के बनाने की विधि दी हुई है। सिन्धु चिन्तामणि और इस ग्रंथ में बहुत स्थल समान हैं। इस ग्रंथ का टीकाकार रामसेन कवीन्द्रमणि मीर जाफर का राजवैद्य था। यह ग्रंथ बंगाल में बहुत प्रचलित है।

इसी समय का एक ग्रंथ रसेन्द्रकल्पद्रुम है। यह ग्रंथ रसार्णव, रसमंगल, रत्नाकर, रसामृत और रसरत्नसमुच्चय के आधार पर लिखा गया है। चौदहवीं शताब्दी का एक ग्रंथ धातुरत्नमाला भी है जिसका रचयिता देवदत्त गुजरात का रहनेवाला था।

अब हम आधुनिक काल में आते हैं। सोलहवीं शताब्दी में पुर्तगालवासी इस देश में आने लगे। उनके सम्पर्क से एक नए रोग की वृद्धि हुई जिसका नाम "फिरंग रोग" रक्खा गया। यद्यपि उपदंश का उल्लेख पुराने ग्रंथों में है, पर यह नया रोग (सिफलिस) बड़े प्रकोप से यहाँ फैलने लगा। इस समय "रसप्रदीप" नामक ग्रंथ की रचना हुई। इस ग्रंथ में फिरंग-व्याधि का इलाज इस प्रकार लिखा हुआ है—

गैरिकं रसकर्पूरमुपला च पृथक् पृथक्।
टंकमात्रं विनिष्पिष्य ताम्बूली दलजैः रसैः॥
वटचश्चतुर्दशास्तेषां कर्त्तव्या भिषगुत्तमैः।
सायं प्रातः समश्नीयात् एकैकां दिनसप्तकम्॥
सघृता योलिका देया भोजनार्थं निरन्तरम्।
फिरंगव्याधिनाशाय वटिकेयमनुत्तमा॥

फिरंग रोग के निवारणार्थ चोपचीनी का प्रयोग भी इस ग्रंथ में मिलता है जोकि एक नई बात थी—

चोपचीनी भवं चूर्णं शाणमानं समाक्षिकम्।
फिरंगव्याधिनाशाय भक्षयेल्लवणं त्यजेत्॥

त्रिमल्लभट्ट की "योग तरंगिणी" में कर्पूर-रस का प्रयोग फिरंग रोग के लिए दिया है। यह ग्रंथ संवत् १८१० में बम्बई में छपा—फिरंग रूप हाथी के लिए कर्पूररस शेर का काम करता है—

फिरंग करिकेशरी सकलकुष्ठ कालानलः।
... ...
समस्तगद तस्करो रसपतिः स कर्पूरकः॥६६॥

फिरंगरोग में चोपचीनी और रसकर्पूर का प्रयोग, गोआ निवासी पुर्तगालवालों को चीनदेश के व्यापारियों से सन् १५३५ ई० के लगभग मालूम हुआ था, ऐसी फ्लूकिगर और हैनबरी की सम्मति है। रस प्रदीप में शंखद्रावरस के बनाने की भी विधि दी है जो ऐसा खनिज-ऐसिड (mineral acid) है जिसमें शंख घुल जाता है, और धातुएँ भी जिसमें घुल जाती हैं। सम्भवतः यह नाइट्रिक या हाइड्रोक्लोरिक ऐसिड है। इसकी विधि इस प्रकार है—

स्फटिका नवसारश्च सुश्वेता च सुवर्च्चिका।
पृथक् दशपलोन्मानं गन्धकः पिचुसंमितः॥
चूर्णयित्वा क्षिपेत्भाण्डे मृन्मये मृदविलेपिते।
तन्मुखं मुद्रयेत् सम्यक् मृद्भाण्डेनापरेणच॥
सरन्ध्रोदरकेणैव चुल्ल्यां तिर्यक् च धारयेत्।
अधः प्रज्वालयेद्वह्निं हठाद् यावद्रसः स्रवेत्॥
कपर्दकाश्च लोहानां यस्मिन् क्षिप्ता गलन्ति हि॥

माधव की रसकौमुदी और गोविन्ददास के रसरत्नप्रदीप और भैषज्यरत्नावली में भी इस खनिजाम्ल का विवरण आता है। इसे बनाने के लिए फिटकरी (स्फटिक), नवसार (नौसादर), सुवर्च्चिक (शोरा) या सौवर्च्चल, गन्धक, टंकण (सुहागा) आदि के मिश्रण को साथ साथ गरम करते हैं, और स्रवण (distil) करके ऐसिड प्राप्त करते हैं।

इस ऐसिड-मिश्रण का (शंखद्रावरस का) आविष्कार रस-प्रदीप के समय से (१६वीं शताब्दी के आरम्भ से) ही हुआ। यह विशेष उल्लेखनीय है कि भाव प्रकाश (जिसकी रचना रस प्रदीप के बाद की है) के रचयिता को शंखद्रावरस का ज्ञान नहीं था, क्योंकि उसने कहीं इसका उल्लेख नहीं किया।

भावप्रकाश का रचयिता भावमिश्र है। यह आयुर्वेद का विस्तृत ग्रंथ है। इसमें चरक, सुश्रुत, वाग्भट्ट, हारीत, वृन्द और चक्रपाणि का उल्लेख है। इसमें रसप्रदीप, रसेन्द्र चिन्तामणि, शार्गंधर आदि ग्रंथों के आधार पर धातु सम्बन्धी योगों का वर्णन है। फिरंगरोग के उपचार में चोपचीनी और कर्पूररस का प्रयोग इसने भी स्वीकार किया है। भावमिश्र अकबर के समय में हुआ था, और उसके ग्रंथ पर मुसलमानी प्रभाव भी स्पष्ट दीखता है।

१६वीं शताब्दी के लगभग ही धातु-क्रिया या धातुमञ्जरी नामक एक उपयोगी ग्रंथ का संग्रह हुआ। इसे रुद्रयामल-तंत्र के अन्तर्गत ही समझा जा सकता है। इसमें फिरंगों का और रूम (कुसतुनतुनिया) का उल्लेख है। अन्य ग्रंथों की अपेक्षा इस ग्रंथ में कुछ विशेष बातें हैं, अतः हम इनका उल्लेख कुछ विस्तार से करेंगे। महादेव-पार्वती संवाद के रूप में विषय का प्रतिपादन हुआ है।

(१) मुख्य प्राधान्यतया एते रंगलोहक ताम्रकैः।

राँगा, लोहा और ताँबा ये मुख्य धातु हैं। यहाँ वंग (tin) के लिए रंग (राँगा) शब्द का प्रयोग उल्लेखनीय है।

(२) रजतेनैव संयुक्ता धातोरुत्तमता सदा ॥१२॥

सभी धातुएँ चाँदी के साथ संयुक्त होकर उत्तम हो जाती हैं।

(३) मध्यमा सत्वजा धातुः नीचा च त्रपुसीसयोः ॥१३॥
त्रपुताम्रसंयोगेन जाता धातुश्च मध्यमा ॥१५॥

सत्त्वजा धातु (जो त्रपु और ताँबा के संयोग से बनती है) मध्यम है। सीसा और त्रपु के संयोग से बनी धातु निकृष्ट है।

(४) शुल्वखर्परसंयोगे जायते पित्तलं शुभम् ॥६३॥

शुल्व (ताँबा) और खर्पर (calamine, जस्ता) के संयोग से पीतल बनती है।

(५) वंग ताम्र संयोगेन जायते तेन कांस्यकम् ॥६५॥

वंग और ताँबे के संयोग से काँसा बनता है।

(६) खर्परैः सहपारदं दिव्यं किंचित् प्रमेलयेत्।
जायते रसको नाम नाना रोगहरो भवेत् ॥६८॥

खर्पर और पारे के संयोग से रसक बनता है। वैसे तो रसक और खर्पर दोनों ही एक पदार्थ के नाम हैं। पर यहाँ खर्पर का अर्थ जस्ता धातु से है, और पारे के मेल से जो रसक बना वह जिंक-एमलगम है।

(७) नागस्तु रहते हीनो. मृतधातुस्तु जायते।
स एव कोमलाग्निस्थः सिन्दूरं जायते ध्रुवम् ॥६९॥

कोमलाग्नि में गरम करने से सीसा (नाग) सिंदूर (red lead) में परिणत हो जाता है।

(८) स्वर्ण के पर्य्याय नाम—स्वर्ण, सुवर्ण, हाटक, वह्निरोचन, देवधातु, हेम इत्यादि ॥३९-४२॥

(९) चाँदी के पर्य्याय नाम—रजत, रूप्य, चन्द्र, चन्द्रदीपक इत्यादि ॥४३-४६॥

(१०) ताँबे के पर्य्याय नाम—ताम्र, त्र्यम्बक, शुल्व, नागमर्दन, आदि ४७-४९॥

(११) जस्ते के पर्य्याय नाम—जासत्व, जरातीत, राजत, यशद (यशदायक), रूप्यभ्राता, चर्मक, खर्पर, रसक आदि ॥५०-५२॥

(१२) वंग या राँगा के पर्य्याय नाम—त्रपु, तापहर, वंग, रजतारि, इत्यादि ॥५३-५४॥

(१३) सीसे के पर्य्याय नाम—सीसक, धातुभंग, नाग, नगालय, इत्यादि ॥५५-५८॥

(१४) लोहे के पर्य्याय नाम—लोह, आयस, स्वर्णमारक, ताटक, रुधिर, आदि ॥५९-६२॥

(१५) ताम्रदाहजलैर्योगे जायते तुत्थकं शुभम् ॥७१॥

इस श्लोक में पहली बार "दाह-जल" (जलानेवाला पानी) शब्द आया है जो गन्धक का तेजाब (sulphuric acid) है। ताँबा इसके योग से नीलाथोथा या तूतिया (तुत्थक) देता है।

(१६) ताँबा प्राप्त होने के स्थान—

नेपाले कामरूपे च वंगले मर्दनेश्वरे।
गंगाद्वारे मलाद्रौ च म्लेच्छदेशे तथैव च ॥१४४॥
पावकाद्रौ जीर्णदुर्गे, रूमदेशे फिरंगके।

(१७) जासत्व (जस्ता) प्राप्त होने के स्थान—

कुम्भाद्रावथ काम्बोजे रूमदेशे बलक्षति ॥१४६॥
जासत्वं वंगले नागं नेपाले च सदैव हि ॥१४७॥

(१८) १०० भाग वंग (tin) में १ भाग पारद मिलाने से शुद्ध चाँदी बन जाती है जिसको बेचकर मालामाल हो सकते हैं (वस्तुतः यह नकली चाँदी है) ॥८४-८५ ॥

(१९) इसी प्रकार सीसे और ताँबे के संयोग से नकली सोना बनाने की विधि इस प्रकार है—

नागस्य सम्भवं ताम्रं मध्ये मेलापनं कृतम्।
विभागे तु कृते तत्र जायते कुम्पिका शुभा ॥९७॥
तन्मध्ये गालयेन्नाग त्रिवारं यत्नपूर्वकम्।
जायते निर्म्मलं स्वर्णम् उदितं चैव कुम्पिके ॥९८॥

रसायन बनाने के यंत्र—वाग्भट्ट के रसरत्नसमुच्चय के ९वें अध्याय में रासायनिक यंत्रों का उल्लेख मिलता है। यह विवरण सोमदेव के ग्रंथ के आधार पर लिया गया है—"समालोक्य समासेन सोमदेवेन साम्प्रतेन", और सोमदेव ने भी अन्य अनेक ग्रंथों को देखकर यह विवरण लिया था।

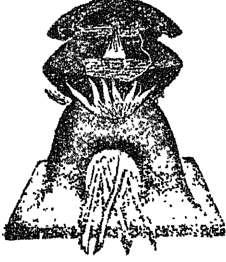
१. दोला यंत्र (चित्र २)—द्रवद्रव्येन भाण्डस्य पूरितार्द्धोदरस्य च।
मुखमुभयतो द्वारद्वयं कृत्वा प्रयत्नतः ॥३॥
तयोस्तु निक्षिपेद्दंडं तन्मध्ये रसपोटलीम्।
बद्धास्तु स्वेदयेदेतद् दोलायंत्रमिति स्मृतम् ॥४॥

हाँडी या मटकी को द्रव से आधा भरते हैं। मुंह पर एक दंड (rod) रखकर उसके बीच से रसपोटली बाँधकर द्रव में लटकाते हैं। ऊपर से ढकने से मटकी बन्द कर देते हैं। द्रव को उबालकर स्वेदन करते हैं।

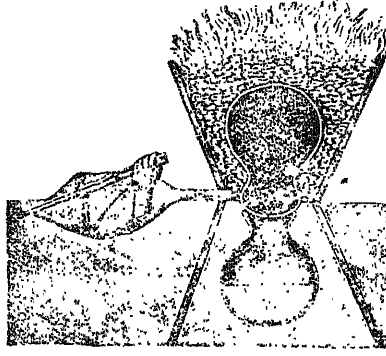
२. स्वेदनी यंत्र (चित्र ३)—साम्बुस्थाली मुखाबद्धे वस्त्रे पाक्यं निवेशयेत्।
पिधायपच्यते यत्र स्वेदनी यंत्रमुच्यते ॥५॥

उबलते पानी की हाँडी के मुंह पर कपड़ा बाँधते और उस पर पदार्थ को रखते और ऊपर से दूसरी हाँडी उलटकर रखते हैं।

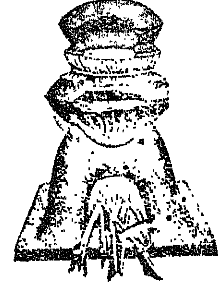
३. पातना यंत्र.—अष्टांगुल परिणाहमानाहेन दशांगुलम्।
चतुरंगुलकोत्सेधं तोयाधारं गलादधः ॥
अधोभांडे मुखं तस्य भांडस्यो परिवर्त्तिनः।
षोडशांगुल विस्तीर्ण पृष्टस्यास्ये प्रवेशयेत् ॥
पार्श्वयोर्महिषी क्षीरचूर्णमंडूरफाणितैः।
लिप्त्वा विशोषयेत् सन्धि जलाधारे जलं क्षिपेत् ॥
चुल्ल्यामारोपयेदेतत् पातनायन्त्रमीरितम् ॥६-८॥



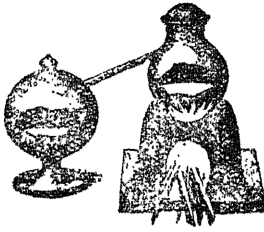
चित्र २—दोला यंत्र



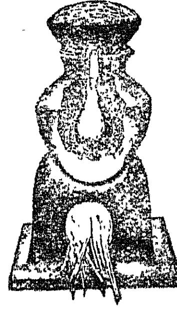
चित्र १—कोष्टिका यंत्र
(रसक से जस्ता निकालने के लिये



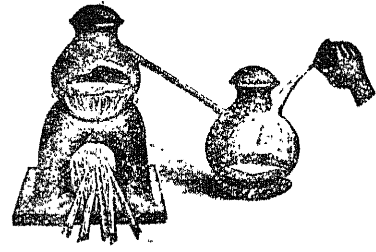
चित्र ३—स्वेदनी यंत्र



चित्र ४—ढेकी यंत्र



चित्र ५—बालुका यंत्र



चित्र ६—तिर्यक्पातन यंत्र





चित्र ९—सन् २००—३०० ई० का बौद्धकालीन ताँबे का एक लोटा,
जिसपर अंकित चित्र का विस्तार नीचेवाले चित्र में है।

एक हाँडी पर दूसरी हाँडी उलटकर इस तरह रखते हैं कि एक का गला दूसरे के भीतर आ जाय। गले के जोड़ों पर भैंस के दूध, चूना, कच्ची खाँड और लोहे के जंग का मिश्रण लेप देते हैं। यह यंत्र ऊर्ध्वपातन (sublimation) और स्रवण (distillation) दोनों का काम देता है।

४. अधःपातना यंत्र.—अथोर्द्धभाजने लिप्तं स्थापितस्यजले सुधीः।
दीप्तैर्वन्योपलैः कुर्य्यादधः पातं प्रयत्नतः ॥९॥

यह यंत्र पातना यंत्र के समान ही है। ऊपर की हाँडी के पेंदे में पदार्थ लेप देते हैं, और कंडों से गरम करते हैं। नीचेवाली हाँडी में पानी रखते हैं। पदार्थ से निकली भापें नीचेवाले पानी में घुल जाती हैं।

५. दीपिका यंत्र—कच्छपयन्त्रान्तर्गत मृण्मयपीटस्थदीपिकासंस्थः।
यस्मिन्निपतति सूतः प्रोक्तं तद्दीपिकायंत्रम् ॥१०॥

६. ढेकी यंत्र (चित्र ४)—भाण्डकंठादधश्छिद्रे वेणुनालं विनिक्षिपेत्।
कांस्यपात्रद्वयं कृत्वा संपुटं जलगर्भितम् ॥
नलिकास्यं तत्र योज्यं दृढं तच्चापि कारयेत्।
युक्त द्रव्यैर्विनिक्षिप्तः पूर्वं तत्र घटे रसः।
अग्निना तापितो नालात् तोये तस्मिन् पतत्यधः ॥
यावदुष्णं भवेत् सर्वं भाजनं तावदेव हि ॥
जायते रससंधानं ढेकीयन्त्रमितीरितम् ॥११-१४॥

घड़े या हाँडी की गर्दन के नीचे एक छेद करके इसमें बाँस की नली लगाते हैं। नली का दूसरा सिरा काँसे के पात्र से जुड़ा रहता है। इस पात्र में पानी रहता है। काँसे का पात्र दो कटोरों से मिलकर बनता है। एक कटोरा दूसरे पर औंधा होता है। घड़े को भट्टी या चूल्हे पर गरम करते हैं।

७. वालुका यंत्र—(Sand bath) (चित्र ५)
सरसां गूढ वक्त्रां मृद्वस्त्रांगुलघनावृताम्।
शोषितां काचकलसीं पूरयेत् त्रिषु भागयोः ॥
भांडे वितस्तिगम्भीरे वालुका सुप्रतिष्ठिता।
तद्भाण्डं पूरयेत् त्रिभिरन्याभिरवगुण्ठयेत् ॥
भांडवक्त्रं माणिकया सन्धि लिपेन्मृदा पचेत् ॥
चूल्ल्यां तृणस्य चादाहान्मणिकापृष्ठवर्तिनः।
एतद्धि वालुकायंत्रं तद् यंत्रं लवणाश्रयम् ॥३४-३६॥

लम्बी गर्दन की काँच की कलसी (glass flask) में पारद योगवाले द्रव्य रखते हैं, और इस पर कपड़े के कई लपेट चढ़ाते हैं। फिर मिट्टी ऊपर से लेपकर धूप में सुखा लेते हैं। कलसी का तीन चौथाई भाग बालू में गाढ़ देते हैं। (बालू मिट्टी के चौड़े घड़े में ली जाती है।) बालूवाले घड़े को भट्टी पर रखते हैं। घड़े के मुँह पर एक और हाँडी उलटकर रख देते हैं। तब तक गरम करते हैं, जब तक ऊपर पृष्ठ पर रक्खा हुआ तिनका जल न जाय।

८. लवण यंत्र—एवं लवणनिक्षेपात् प्रोक्तं लवण यंत्रकम् ॥३८॥
अगर ऊपर के यंत्र में बालू की जगह नमक भरा जाय तो इसे लवणयंत्र (salt bath) कहेंगे।

९. नालिका यंत्र—लोहनालं गतं सूतं भाण्डे लवणपूरिते।
निरुद्धं विपचेत् प्रागवन्नालिका यंत्रमीरितम् ॥४१॥

ऊपर के वालुकायंत्र में काँच की कलसी के स्थान में लोहनाल ली जाय और बालू की जगह नमक लिया जाय।

१०. तिर्यकपातनयंत्र (चित्र ६)—

क्षिपेद् रसं घटे दीर्घनताधोनाल संयुते।
तन्नालं निक्षिपेदन्य घटकुक्ष्यन्तरे खलु॥
तत्र रुद्धा मृदा सम्यग् वदने घटयोरधः।
अधस्ताद् रसकुंभस्य ज्वालयेत् तीव्रपावकम्॥
इतरस्मिन् घटे तोयं प्रक्षिपेत् स्वादुशीतलम्॥
तिर्यक् पातनमेतद्धि वार्त्तिकैरभिधीयते ॥४८-५०॥

यह आजकल के भभके के समान है। एक घड़े के पेट में लम्बी नाल (tube) लगाते हैं, और इस नाल का दूसरा सिरा दूसरे घट की कुक्षी में जुड़ा होता है। जोड़ के स्थानों पर मिट्टी लेप देते हैं। दोनों घड़ों के मुंह भी मिट्टी से बन्द कर देते हैं। पहले घड़े के नीचे आग जलाते हैं, और दूसरे पर पानी डालते रहते हैं जिससे ठंढा रहे।

११. विद्याधर यंत्र—स्थालिकोपरि विन्यस्य स्थालीं सम्यङ्निरुध्य च।
ऊर्ध्वस्थाल्यां जलं क्षिप्त्वा वह्निं प्रज्वालयेदधः॥
एतद् विद्याधरं यंत्रं हिंगुलाकृष्टिहेतवे ॥५७-५८॥

हिंगुल (cinnabar) से पारद निकालने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। एक हाँडी के ऊपर दूसरी हाँडी सीधी रखते हैं। ऊपरवाली हाँडी में पानी और नीचेवाली में हिंगुल रखते हैं। नीचेवाली हाँडी के नीचे आग जलाते हैं। पारा नीचेवाली से उड़कर ऊपरवाली ठंढी हाँडी के पेंदे में जमा हो जाता है।

इनके अतिरिक्त धूपयंत्र का भी विस्तृत वर्णन दिया गया है (७०-७६)॥

१२. मूषा (crucible)—निम्न पदार्थों की मूषा बनाने का उल्लेख है:—

मृत्तिका पांडुरस्थूला शर्करा शोणपाण्डुरा।
तदभावे हि वाल्मीकी कौलाली वा समीर्यते॥
या मृत्तिकादग्धतुषैः शणेन शिखित्रकैर्वा ह्यलद्दिना च।
लोहेन दण्डेन च कुट्टिता सा साधारणी स्यात् खलुमूषिकार्थम् ॥१०१५-६॥

पीली मिट्टी, शक्कर, दीमक के घरों की मिट्टी, या धान की तुषा जलने पर बची राख से मिली मिट्टी, कोयला और लीद और लोहे के जंग के मिश्रण से मूषा बनाते हैं।

रसरत्नसमुच्चय के दशम अध्याय में मूषा और उसके प्रयोगों का विस्तृत वर्णन है।

प्राचीन औद्योगिक परम्परा—अब तक हमने आयुर्वेद और चिकित्साशास्त्र के अन्तर्गत रसायन की परम्परा में जो उन्नति हुई उसका सिंहावलोकन किया। इस विकास का उल्लेख तो आयुर्वेदिक ग्रंथों के आधार पर किया जा सका है, पर उद्योग धन्धों के सम्बन्ध में जो रसायनिक उन्नति हुई उसका लिखित विवरण कहीं नहीं मिलता है। खनिज पदार्थों में से धातुएँ कैसे निकाली जाती थीं, और उन धातुओं में क्या क्या मिलावटें करके काम के योग्य पदार्थ तैयार किए जाते थे, इस बात की शिक्षा इस देश में मौखिक ही होती थी, न कि लिखित ग्रंथों द्वारा। परम्परा से कुलों में सन्तानें अपने पूर्वजों से उद्योग धन्धों को सीखती थीं। इन धन्धों को सिखलाने की यह प्रथा आज तक इस देश में पूर्ववत् चली आ रही है। पर पाश्चात्य कला कौशल की पद्धति के प्रसार के साथ साथ अब इसमें परिवर्तन हो रहे हैं, और कुल-परम्परायें इस युग में शीघ्र नष्ट हो रही हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में निम्न चीजों पर शुल्क या चुंगी ली जाने की व्यवस्था है:—

पुष्पफल शाकमूल कन्द वाल्लिक्य बीज शुष्क मत्स्यमांसानां षड्भागं गृह्णीयात् ॥२।२२।४॥

शंखवज्र मणि मुक्ता प्रवालहाराणां तज्जातपुरुषैः कारयेत्कृतकर्म प्रमाणकाल वेतनफल निष्पत्तिभिः ॥५॥

क्षौमदुकूल क्रिमितान कंकट हरिताल मनःशिला हिंगुलुकलोहवर्णधातूनां चन्दनागरुकटुक किण्वावराणां सुरादन्तों-जिनक्षौम-दुकूलनिकरास्तरण प्रावरण क्रिमिजातानामजैलकस्य च दशभागः पंचदशभागो वा ।।६।।

वस्त्र चतुष्पद द्विपद सूत्रकार्पासगन्ध भैषज्यकाष्ठवेणुवल्कलचर्म मृद्भाण्डानां धान्यस्नेहक्षारलवण मद्य पक्वान्ना-दीनां च विंशतिभागः पंचविंशतिभागो वा ।।७।।

१. फूल, फल, शाक, मूल, कन्द, वाल्लिक्य (बेल पर लगनेवाले पेठा, लोकी आदि) (fruits, flowers and vegetables)।
२. बीज (seeds)।
३. सूखी मछली ओर माँस (dry fish and meat)।
४. शंख (conch), वज्र (diamond), मणि (jewels), मुक्ता (pearl), प्रवाल (coral), हार।
५. क्षौम, दुकूल, क्रिमितान (Silk).
६. कंकट।
७. हरताल, मैनसिल, हिंगुल, लोह, वर्णधातु (ochre)—(minerals).
८. चन्दन (Sandal), अगर, कटुक, (मसाले)— oil producing.
९. सिरका, सुरा और मद्य (vinegar wine and liquor)
१०. दाँत (ivory)
११. चमड़ा (tannery products)
१२. क्षौम, दुकूल-निकर, आस्तरण (bed sheets), प्रावरण (blankets)—cotton textiles.
१३. अजैलक—(woolen)
१४. वस्त्र, सूत्र, कार्पास।
१५. चौपाये, दुपाये (cattle and fowl)
१५. गन्ध (cosmetics)
१६. औषधि (medicines)
१७. काष्ठ, वेणु, वल्क (wooden products)
१८. धान्य (cereals and grain)
१९. क्षार, नमक (salt and alkali)
२०. मद्य (alcohol)
२१. मिट्टी के बर्तन (pottery)
२२. घी-तेल (oils and butter)

इस सूची से स्पष्ट है कि प्राचीन भारत का व्यापार कितना व्यापक था। वस्तुतः सभी प्रकार के आवश्यकीय धन्धे देश में वर्त्तमान थे। कौटलीय अर्थशास्त्र का प्रभाव इस देश में कई शताब्दियों तक रहा, और जो धन्धे चाणक्य के समय प्रचलित थे, वे लगभग परम्परा से आज तक चले आ रहे हैं। आर्य्य-राज्यों के छिन्न-भिन्न होने पर शुल्क-व्यवहार में चाहें परिवर्तन क्यों न हो गया हो, पर जिन पदार्थों पर शुल्क लगाया जाता था, उनका बनना एवं उनका व्यापार इस देश में बराबर रहा।

कौटिल्य का समय विक्रम से पूर्व का है, पर कोई कारण नहीं कि कौटिल्य के समय की परम्परा अनेक शताब्दियों तक देश में वर्त्तमान न रही हो। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में अनेक ऐसे विषयों का उल्लेख है जिनका सम्बन्ध रसायनशास्त्र और रासायनिक धन्धों से है। स्थानाभाव के कारण हम सबका विस्तार से उल्लेख नहीं कर सकते, पर कुछ का नाम निर्देश नीचे किया जाता है। इस विषय से रुचि रखनेवालों से हमारा आग्रह है कि इन विषयों के लिये अर्थशास्त्र को अवश्य देखें।

(१) अन्न, व्यंजन, द्रव्य (रसदार तरकारी), रस (घी, तेल, रस आदि), मद्य, दूध, जल, दही मधु, फल, बिछौने, ओढ़ने आदि में मिलाए गए विष की पहिचान ॥ १।२१।१०-२२ ॥

(२) दुर्ग में सदा एकत्रित रहनेवाली सामग्री—

सर्पिस्नेह धान्य क्षार लवण भैषज्य, शुष्कशाकयवसवल्लूरतृण काष्ठलोह चर्मांगारस्नायु विषविषाण वेणुवल्कल सारदारु प्रहरणाश्मनिचयाननेकवर्षोपभोगसहान्कारयेत् ॥२।४।३४॥

घी, तेल, अन्न, क्षार, नमक, दवाई, सूखी तरकारी, भुस, सूखा माँस, घास, जलाने की लकड़ी, लोहा, चमड़ा, कोयला, स्नायु (ताँत), विष, सींग, बाँस, छाल, सारदारु (अच्छी लकड़ी), हथियार, कवच और पत्थर अनेक वर्षों के उपयोग के लिए रक्खे।

(३) खनि द्रव्य (खान से निकाले जानेवाले)—

सुवर्ण रजत वज्र मणिमुक्ता प्रवाल शंख लोह लवण भूमि प्रस्तर—रसधातवः खनिः ॥२।६।४॥

(४) मोतियों के उत्पत्ति स्थान, मोतियों की उत्पत्ति के कारण, दूषित मोती, उत्तम मोती, मोती और मणियों के अनेक तरह के हार ॥२।११।२-२१॥

(५) मणियों के उत्पत्ति स्थान, ५ प्रकार, वैदूर्यजाति के ८ प्रकार के मणि, ८ प्रकार के इन्द्रनील मणि, ४ प्रकार के स्फटिक, मणियों के स्फटिक गुण (crystallography), मणियों के दोष, १८ अवान्तर जातियाँ ॥२।११।२२-३७ ॥

(६) वज्र अथवा हीरे का वर्णन, उत्पत्ति स्थान, हीरे के भेद, हीरे के रंग प्रशस्त और दूषित हीरा ॥२।११। ३८-४२ ॥

(७) मूंगा के भेद ॥२।११।४३ ॥

(८) चन्दन, अगर, तैलपर्णिक आदि सुगन्धित काष्ठों का वर्णन ।२।११।४४-७५॥

(९) चमड़ों का विवरण ॥२।११।७७-१०१॥

(१०) ऊनी कम्बल, दुशाला आदि ॥२।११।१०२-११९॥

(११) कपास ॥२।११।१२०-१२१॥

(१२) सोने की खान की पहिचान, ताँबा और चाँदी को सोने का रूप देना, धातुओं को शुद्ध करने की विधि, धातुओं को मृदु बनाना, मृदुता का लोप करना, त्रपु (राँगा) का उत्पत्ति-स्थान, लोहधातु निरूपण, और लोहाध्यक्ष के कर्त्तव्य ॥२।१२।१-२६॥

आकराध्यक्ष (superintendent of mines) की व्यवस्था में क्या क्या हो यह नीचे के सूत्र से स्पष्ट है।

आकराध्यक्षः शुल्वधातु शास्त्ररस पाकमणि रागज्ञस्तज्ज्ञसखो वा तज्जातकर्म करोपकरणसंपन्नः किट्टमूषांगारभस्म लिंगं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमि प्रस्तररसधातुमत्यर्थवर्णगौरवमुग्रगन्धरसं परीक्षेत ॥२।१२।१॥

(१३) ताँबे, सोने की मिलावट के सम्बन्ध में दूसरे अधिकरण के १३ और १४वें अध्याय महत्त्व के हैं। इनमें टकसाल (mint) का भी उल्लेख है।

(१४) स्नेह (fats) चार तरह के—घी, तेल, वसा और मज्जा ॥२।१५।१४॥

(१५) क्षारवर्ग फाणित (राब), गुड़, मत्स्यंडिका, खंड, शर्करा (शक्कर के व्यवसाय के ५ पदार्थ) ॥२।१५।१५॥

(१६) ६ तरह के लवण ॥२।१५।१६॥

(१७) सिरका (शुक्त वर्ग) बनाने की विधि—ईख के रस, गुड़, मधु, राब, आम्रफल और आमलक से ॥२॥ १५-१८ ॥

(१८) तिलहन में से तेल कितना निकलता है ॥२।१५।४९-५१॥

(१९) लिखने के काम के पत्ते-ताली, ताल (ताड़), भूर्ज (भोजपत्र) ।।२।१७।९।।

(२०) रंगने के साधन-किंशुक (ढाक), कुसुम्भ, कुंकुम ।।२।१७।१०।।

(२१) विषों का वर्णन।।२।१७।१२-१३।।

(२२) धातुओं के भेद—कालायस (काला लोहा), ताम्रवृत्त (ताँबा), कांस्य (काँसा), सीस (सीसा), त्रपु (राँगा), वैकृन्तक (एक तरह का लोहा), आरकूट (पीतल) ।।२।१७।१५।।

(२३) हथियार आदि के निर्माण के लिए द्वितीय अधिकरण का १८वाँ अध्याय उल्लेखनीय है।

(२४) शराब बनाने की विधि, अनेक भेद और स्वादिष्ट करना ।।२।२५।१७-३४।।

यद्यपि प्राचीन धन्धों के विस्तार का लेखबद्ध साहित्य हमारे पास नहीं है, फिर भी हमारे संग्रहालयों में ऐसे पदार्थ संग्रहीत हैं जिनसे उन धन्धों का प्रमाण हमें मिलता है। इस सम्बन्ध में हम पाठकों का ध्यान ज्यॉर्ज सी० ए० एम० बर्डवुड की प्रसिद्ध पुस्तक 'दी इण्डस्ट्रियल आर्टस् ऑफ इण्डिया' की ओर आकर्षित कराना चाहते हैं। यह पुस्तक सन १८८० में चैपमन एण्ड हौल द्वारा प्रकाशित की गई थी। इस पुस्तक के दूसरे खण्ड The Master Handicrafts of India (मास्टर हैंडिक्राफ्ट्स ऑफ इण्डिया) में अनेक विषयों का सचित्र विवरण है। इस पुस्तक के आधार पर हम कुछ विवरण नीचे देंगे।

(१) सोने की सबसे पुरानी प्राप्त चीज एक कैस्केट रत्नपेटिका है जो बौद्धकालीन है, और इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी में सुरक्षित है। (चित्र ७) सन १८४० के लगभग मैसन (Masson) महोदय को काबुल उपत्यिका में जलालाबाद के पास मिली थी। विल्सन के १८४१ के एरियाना- इण्डिका में इसका विस्तृत वर्णन है। यह विल्सन के मतानुसार ५० वर्ष ई० से पूर्व अर्थात् विक्रम की समकालीन है।* इसका कुछ उल्लेखनीय वर्णन नीचे टिप्पणी में दिया जाता है।

---

* The tope in which it was found is known as No. 2 of Bimaran. Dr. Honigberger first op ned this monument, but abandoned it, having been forced to hastily return to Kabul. Mr. Masson continued Honigberger's pursuit, and in the centre of the tope, discovered a small apartment, constructed as usual, of squares of slate, in which were found several most valuable relics. One of these was a good sized globular vase of steatite, which with, its carved cover or lid, was encircled with inscriptions, scratched with a style, in Bactro-Pali-characters. On removing the lid, the vase was fo nd to contain a little fine mould, mixed up with burnt pearls, sapphire beads, etc., and this casket of pure gold, which was also filled with burnt pearls, and beads of sapphire, agate, and crystal and burnt coral, and thirty small circular ornaments of gold, and a metallic plate, apparently belonging to a seal engraved with a seated figure. By the side of the vase were found four copper coins, in excellent preservation, having been deposited in the tope freshly minted. They were the most useful portion of the relics, four they enabled Prof. H. H. Wilson to assign the monument to one of the Azes dynasty of Graeco-Barbaric kings who ruled in this part of India about 50 B. C. (p. 145).

(२) बर्डवुड ने चाँदी के एक प्राचीन पात्र का उल्लेख किया है (चित्र ८) जिसका व्यास ९ इञ्च, गहराई १⅞ इञ्च, और तौल २९ औंस से कुछ अधिक है। यह बदख्शाँ के मीरों की सम्पत्ति थी, जो सिकन्दर के वंशज थे। यह संवत ४००-५०० वि० का रहा होगा। बर्डवुड की सम्मति है कि पंजाब में सोने और चाँदी का काम सदा से कुशलतापूर्वक होता आया है।* काश्मीर की चाँदी की सुराहियाँ आदि प्राचीनकाल से महत्त्व पाती रही हैं।

लखनऊ की सुराहियाँ भी काश्मीर की सुराहियों की समता कर सकती थीं।† चाँदी और सोने की थालियों के लिए ढाका, कलकत्ता और चिटगाँव भी अब तक प्रसिद्ध रहा है। मध्य-भारत में बाँदा जिला सभी प्रकार के धातुओं के काम के लिए प्रसिद्ध था। कच्छ और गुजरात भी चाँदी और सोने के बर्तनों और के लिए प्रसिद्ध उल्लेखनीय हैं। यही हाल का भी है। बर्डवुड का कहना है कि मद्रास में सोने और चाँदी का काम हर जगह ही बड़ी कुशलता से किया जाता है। मद्रास धार्मिक कृत्यों के लिए सोने की प्रतिमाएँ समस्त देश में बनाई गई हैं। रघुनाथराव (राघोबा) ने दो ब्राह्मण इंग्लैण्ड भेजे थे। जब १७८० ई० में वे वापिस आए तो उनके प्रायश्चित्त के लिए शुद्ध सोने की एक विशाल 'योनि' बनाई गई, जिसमें होकर वे निकाले गए। ऐसा करने के अनन्तर वे जाति में सम्मिलित किए जा सके। लगभग उसी समय महाराजा ट्रावनकोर ने युद्ध में की गई हत्या का प्रायश्चित्त किया–सोने की एक बड़ी सी गाय बनाई गई, और इसके उदर में राजा को कुछ समय तक रक्खा गया, इसका फिर 'पुनर्जन्म' हुआ और इस प्रकार वह पूर्व पापों से मुक्त समझा गया। राज सिंहासन पर बैठते समय यह प्रक्रिया ट्रावनकोर के सभी राजाओं को करनी पड़ती रही है।

(३) पीतल, ताँबे और टीन के काम—भारतवर्ष में गृहस्थी के सभी बर्तन इन धातुओं के बनते रहे हैं। सन् १८५७ में मेजर हे (Hay) ने कुण्डला (कूलू) में एक बौद्ध-गुफा में दबा हुआ ताँबे का एक लोटा पाया जो सन २००-३०० ई० का प्रतीत होता है। यह लोटा आजकल के लोटों से मिलता जुलता है। इसके ऊपर गौतम बुद्ध के जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली चित्रकारी भी है। **(चित्र ९)**

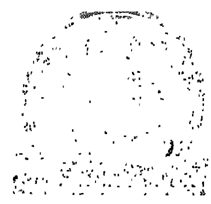
सुलतानगंज में पाई गई बुद्ध की ताम्र-मूर्ति (जो बर्मिंघम के किसी व्यक्ति के पास चली गई है) ताँबे की बनी सबसे बड़ी प्रतिमा है। दिल्ली की कुतुब मीनार के निकट बना लोहस्तम्भ भारतवर्ष के लोह-निर्माण-कौशल का जीता जागता नमूना है। यह २३ फुट ८ इञ्च ऊँचा, नीचे की ओर १६.४ इञ्च व्यास का और ऊपर चलकर १२.०५ इञ्च व्यास का है। यह लगभग ४०० ई० में बनाया गया था, और आज १५५० वर्ष बाद भी उतना ही दृढ़ बना हुआ है, और धूप-पानी में बिलकुल खुला रहने पर भी इसमें जंग कहीं नहीं लगा।‡ अहमदाबाद में शाह आलम के मकबरे के फाटक सुन्दर पीतल के बने हुए हैं और भारतीय कारीगरी के अद्भुत नमूने हैं। करनाल, अमृतसर, लाहौर, लुधियाना, जालंधर आदि स्थानों में

---

* The Punjab has ever maintained a high reputation for the excellence of its gold and silver work. (p. 149).

† The silver sarais made at Lucknow are very like those of kashmere. (p. 150).

‡ Mr. Fergusson assigns to it the mean date of A.D. 400, and observes that it opens our eyes to an unsuspected state of affairs to find the Hindus at that age capable of forging a bar of iron larger than any that has been forged in Europe up to a late date, and not frequently, even now. After an exposure of fourteen centuries, it is still unrusted, and the capital and inscription are as clear and as sharp as when the pillar was first erected (p. 155).



धातुओं का काम कुशलता से होता रहा है। काश्मीर में ताँबे के बर्तनों पर राँगे की कलई बड़ी सुन्दरता से शताब्दियों से की जाती रही है। मुरादाबाद के कलई के बर्तन (पीतल पर राँगे की कलई) सदा से प्रसिद्ध रहे हैं। बनारस में धातु के बर्तनों का काम बहुत पुराना है। यहाँ पीतल में सोना, चाँदी, लोहा, राँगा, सीसा और पारा मिलाकर अष्ट-धातु तैयार की जाती है (पीतल में ताँबा और जस्ता होता है) और यह धातु मिश्रण बड़ा पवित्र समझा जाता रहा है। पारा और राँगा के मिश्रण से बना शिवलिंग बड़ा पवित्र माना जाता है। बर्दवान और मिदनापुर में काँसे के बर्तन अच्छे बनते आए हैं। नरसिंहपुर (मध्य प्रान्त) के तेंदूखेरा में बहुत सुन्दर इस्पात बनती रही है। नासिक, पूना, अहमदाबाद आदि स्थलों में भी सभी प्रकार की धातुओं का काम होता रहा है। तंजौर के बर्तन सदा प्रसिद्ध रहे हैं।

(४) कुफ्त और बीदरी का काम (damascened work)—कलई मुलम्मे से नहीं, बल्कि एक धातु के तार को दूसरी धातु पर पीटकर लगाने का नाम कुफ्त है। यह प्रथा दमस्कस (Damascus) नगर के नाम पर अंग्रेजी में डेमेसेनिंग (damascening) कहलाती है और पूर्वी देशों की ही प्रथा है। काश्मीर, गुजरात, सियालकोट, और निजाम राज्य में यह विशेषतया होती है। जब चाँदी का कुफ्त करना होता है, तो इसी का नाम बीदरी हो जाता है (बीदर नगर के नाम पर)। कभी कभी इस्पात के प्लेट पर नक्काशी करके और फिर उस पर सोने का पत्र पीटकर भी कुफ्त करते हैं। बिहार के पूर्निया और भागलपुर में भी यह कार्य कुशलता से होता है। इन सब की नक्काशी और चित्रकारी देखने योग्य होती है।

(५) एनेमेल या मीना—एनेमेल की प्रथा संसार भर में महत्त्व की समझी जाती है, और यह काम जयपुर में अति प्रारम्भिक समय से होता आ रहा है।* महाराज एडवर्ड जब इस देश में प्रिन्स ऑफ वेल्स के रूप में आए थे, तो उन्हें (चित्र १०) एनेमेल किया हुआ जो थाल भेंट किया गया था उसके बनाने में चार बरस लगे थे। लेडी मेयो के पास इस कला का बना हुआ एक चम्मच और प्याला था। एण्डरसन को जो इत्रदान मिला था, वह साउथ केनसिंगटन म्यूजियम में सुरक्षित है और जयपुर की कुशलता का स्मारक है। इण्डिया म्यूजियम में कलमदान, हुक्का (चित्र १०) आदि अनेक चीजें इस प्रकार के कामों की रक्खी हैं।

(६) काँच का काम—चूड़ियाँ—रायपुर की मणिहारिन बहुत समय से प्रसिद्ध हैं। काँच के आभूषण होशियारपुर, मुलतान, लाहौर, पटियाला, बाँदा, डलमौ, लखनऊ, बम्बई, काठियावाड़, मैसूर आदि में बनते रहे हैं। काँच की गंगाजली नगीना (बिजनौर जिला) की प्रसिद्ध रही हैं।

(७) अस्त्र शस्त्र और इस्पात—निर्मल से २० मील की दूरी पर जो लोहे का खनिज मिलता है, उससे दमस्कस-इस्पात बहुत दिनों से बनती चली आ रही है। इस्पात बनाने का विवरण बर्डवुड के शब्दों में नीचे दिया गया है।† गोदावरी की दिमदुर्ती खानों से भी यह इस्पात बनाया जाता रहा है।

---

* Enamelling is the master art craft of the world, and the enamels of Jaipur in Rajputana rank before all others, and are of matchless perfection. The Jaipur enamelling is champleve (in which pattern is cut out of the metal itself). (p. 165)

The Dimdurti mines on the Godawari were also another source of Damascus steel, the mines here being mere holes dug through the thin granitic soil, from which the ore is detached by means of small iron crowbars. The iron ore is still further separated from its granitic or quartzy matrix by washing and the sand thus obtained is still manufactured into Damascus Steel at Kona Samundram

भारतवर्ष के अस्त्रशस्त्रों पर भी चित्रकारी की जाती थी। लाहौर, स्यालकोट, काश्मीर, मुंगेर, चिटगाँव, पिहानी (सीतापुर जिला), मध्य प्रान्त के अनेक स्थान, मैसूर, गोदावरी प्रान्त आदि में इस्पात की तलवारें, चाकू, भाला आदि बनते रहे हैं। सतारा और कोल्हापुर में शिवाजी के अस्त्र शस्त्र अब तक सुरक्षित रक्खे हुए हैं और वे पवित्र माने जाते हैं।* उसकी भवानी नामक तलवार की बराबर पूजा होती रही है। एगरटन ने इण्डिया ऑफिस के अस्त्रशस्त्रागार की एक सूची तैयार की—"Handbook of Indian Arms" इसमें उसने साँची के लेखों के आधार पर सन २५० ई० से पूर्व के अस्त्रों के चित्र दिए हैं। उदयगिरि और अजन्ता की चित्रकारी में (सन ४००), भुवनेश्वर के मन्दिर के चित्रों में (सन ६५०), सैत्रोन (राजपूताना) के मूर्ति-चित्रों में (सन ११००), इत्यादि जो अस्त्र शस्त्र चित्रित हैं उनके आधार पर पूर्ण विवरण दिया है। अस्त्रों के बनाने की विधि भी दी है। खेद है कि मद्रास सरकार ने अपने प्रान्त के पुराने अस्त्र-शस्त्रों को धातु की लालच में गलवा डाला, और इसलिए अब हमारे अजायबघरों में इस प्रान्त के अस्त्र-शस्त्र देखने को नहीं मिलते।† (चित्र ११)

(८) राजसी ठाठ के सामान—चँवर, छत्र, मोरछल, सिंहासन, हौदे, हाथी और घोड़ों की झूलें, शामियाने, तोरण आदि ठाठबाट के सामान प्राचीन प्रथा के अनुसार आज तक राजघरानों और महन्तों के यहाँ चले आ रहे हैं। बहुत सी शृंगार सामग्री कई पीढ़ियों पुरानी है। आईने-अकबरी में राज्य-चिह्नों का औरंग, छत्र, सायेबान, अलम, नक्कारे आदि का वर्णन है। मुहर्रम के जलूसों की शृंगार-सामग्री का उल्लेख हेरक्लोट (Herklot) की पुस्तक कानून-इस्लाम (१८३२) में पाया जाता है। सन १८७५ में राजेन्द्रलाल मित्र ने एक पुस्तक "एंटीक्विटीज ऑफ उड़ीसा" लिखी थी, जिसमें "युक्तिकलापतरु" नामक ग्रंथ का उल्लेख है। इस ग्रंथ में तरह तरह के छत्रों के बनाने का विस्तृत विधान है—जैसे (चित्र १२) प्रसाद-छत्र (जो बाँस और लकड़ी और लाल कपड़े का बनता है। यह राजाओं को भेंट देने योग्य है), प्रताप-छत्र (नीले कपड़े पर सुनहरे किनारे का), कनक-दण्ड छत्र (चन्दन की डंडी, और उस पर स्वर्ण-कलश) और नव दंड छत्र (राज्याभिषेकादि महत्त्वपूर्ण अवसरों के लिए), यह स्वर्ण-और रत्न-जटित होता है।)

---

near Dimdurti. The sand is melted with charcoal, without any flux and is obtained at once in a perfectly tough and malleable state, superior to any English iron, or even the best Swedish.... In the manufacture of the best steel, three-fourths of Samundram ore is used, and one fourth of Indore, which is a peroxide of iron (p. 170).

* Evely relic of his, his sword, daggers, and seal, and the wagnak or "tigerclaw" with which he foully assassinated Afzal Khan, have all been religiously preserved at Sattara and Kolhapur ever since his death in 1680. (p. 174)

† In his preface, Mr. Egerton expresses a regret, in which every one will concur,.......that the Government of Madras should have recently allowed the old historical weapons from the armouries of Tanjore and Madras to be broken up and sold for old metal. This act of vandalism is all the more to be deplored, as neither the tower, nor the India museum collections are, as Mr. Egerton points out, rich in Southern Indian arms (p. 178).



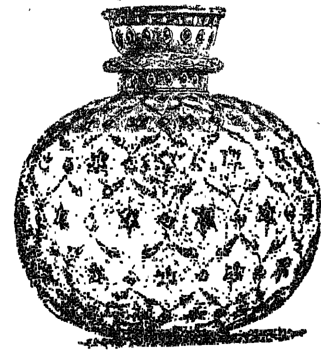
चित्र १४—ट्रावनकोर का चन्दनकी लकड़ी पर पुराना काम



चित्र १२—सिन्ध में पलंगों के पायों पर लाख द्वारा की गई चित्रकारी



चित्र १०—मोगल समय का मीना किया हुआ हुक्के का आधार-पात्र

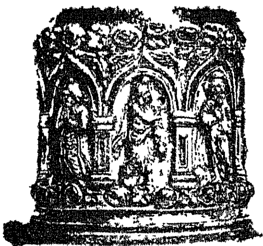


चित्र १३—मोगल कालीन जेड-पत्थर का रत्नजटित पात्र

चित्र ११—दिल्ली का बहुत पुराना बना मिट्टी का बर्तन



चित्र ७—ई० से ५० पूर्व की स्वर्णांकित रत्नपेटिका



चित्र ८—चाँदी का प्राचीन पात्र





(९) बर्तनों को रँगना और चमकाना---भारत के सभी प्रान्तों में मिट्टी के बर्तन बनते रहे हैं। इनको पकाने की विधि भी स्थल स्थल पर अलग अलग है। जैसी लकड़ी जहाँ मिली, वहाँ वैसा ही व्यवहार किया गया। इन बर्तनों पर चमक लाने के लिए दो चीजों का उपयोग होता रहा है---(१) काँच (२) सिक्का। पंजाब में दो तरह के काँचों का प्रयोग होता रहा है---अंग्रेजी काँची, और देशी काँची। **(चित्र १३)**

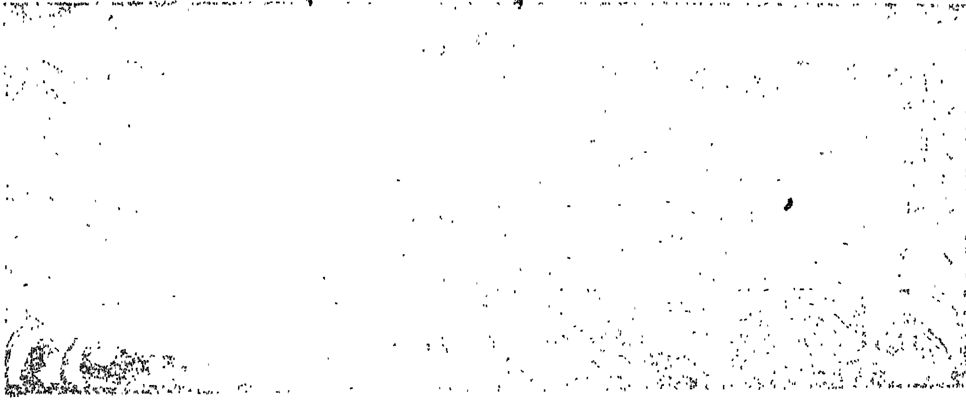
अंग्रेजी काँची में २५ भाग संग-ए-सफेद, ६ भाग सज्जी, ३ भाग सोहागतेलिया, और १ भाग नौसादर लिया जाता है। सब चीजों को महीन पीसा जाता है, और फिर छानकर थोड़ेसे पानी के साथ गूँथा जाता है, और नारंगी के आकार की सफेद गेंद तैयार की जाती है। इन्हें फिर गरम करके लाल कर लिया जाता है। फिर ठंढा करके पीसते हैं और कलमीशोरा मिलाकर भट्टी पर गलाते हैं। ऊपर उठा हुआ भाग अलग कर लेते हैं, और काम में लाते हैं। **(चित्र १४)**

देशी काँची में भी संग-ए-सफेद, सोडा और सुहागा काम में लाते हैं।

सिक्का चार तरह के काम आते हैं---सिक्का सफेद (white oxide), सिक्का जर्द, सिक्का शर्बती (litharge), सिक्का लाल (red oxide)। सिक्का-सफेद सीसा में आधा भाग राँगा मिलाकर बनाते हैं, सिक्के जर्द में सीसे को चौथाई भाग राँगा से अपचयित करते हैं, सिक्का शर्बती में राँगा की जगह जस्ता लेते हैं, और सिक्का लाल बनाने के लिए सीसा को हवा में ऑक्सिडाइज करते हैं।

काँच और सिक्का-सफेद मिलाकर सफेद रंग तैयार करते हैं। दक्षिण भारत में रेत या कोबल्ट का काला ऑक्साइड (rita or zaffre) मिलता है। इसे गरम करके सफेद रंग के साथ पीसकर नीला रंग तैयार करते हैं। इस तरह इन्हें ताँबे के साथ मिलाकर हरा रंग भी तैयार करते हैं। इनके विस्तार के लिए बर्डवुड महोदय की पुस्तक (पृ० ३०७-३१२) देखनी चाहिए।

हमने इस लेख में कुछ थोड़े धन्धों का ही दिग्दर्शन कराया है। सुवर्णकारी सम्बन्धी रसायन का विस्तृत उल्लेख सर प्रफुल्लचन्द्रराय की हिन्दू कैमिस्ट्री में देखा जा सकता है। १९वीं शताब्दी के अन्त से इस देश में पाश्चात्य विधियों का समावेश हुआ है। पाश्चात्य देश के विश्व-विद्यालयों में रसायन शास्त्र की नए ढ़ंग से शिक्षा आरम्भ हुई है। लगभग सभी चीजों के बड़े बड़े कारखाने देश में खुल गए हैं, जिनके फलस्वरूप देशी विधियों का लोप होता जा रहा है। विदेशों से तैयार रंग, औषधियाँ और जीवन की अन्य आवश्यक सामग्री हमारे बाजारों में आने लगी हैं। फिर भी अब भी बहुत से प्राचीन धन्धे देश में पूर्ववत् विद्यमान हैं। पाश्चात्य ढंग पर खुले कारखानों का इतिहास केवल गत पचास वर्षों का इतिहास है पर इतने थोड़े से समय में ही देश की काया पलट गई है और जो पद्धतियाँ सहस्रों वर्षों से प्रचलित थीं, वे बहुत शीघ्र नष्ट होती जा रही हैं।



काव्य-कला

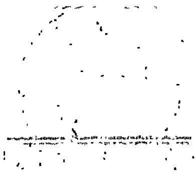
श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी

काव्य भी एक कला है। यह बात बहुत तरह से कही जाती है, पर इसके अन्तर्निहित अर्थ पर विचार नहीं किया जाता। नीचे की पंक्तियों में यही प्रयास किया जा रहा है।

यह तो नहीं कहा जा सकता कि कलाओं की गणना बौद्धपूर्व काल में प्रचलित थी ही पर अनुमान से ऐसा निश्चय किया जा सकता है कि बुद्धकाल और उसके पूर्व भी कलामर्मज्ञता एक आवश्यक गुण मानी जाने लगी थी। ललित-विस्तर में केवल कुमार सिद्धार्थ को सिखाई हुई पुरुष-कलाओं की गणना ही नहीं है ६४ काम कलाओं का भी उल्लेख है*। और यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि बुद्ध के समय में कलाएँ नागरिक जीवन का आवश्यक अंग हो गई थीं। प्राचीन ग्रंथों में कलाओं के नाम पर ऐसी कोई विद्या नहीं जिसका उल्लेख न हो। बौद्ध ग्रंथों में इनकी संख्या निश्चित नहीं है पर चौरासी शायद अधिक प्रचलित संख्या थी। जैन ग्रंथों में ७२ कलाओं की चर्चा है। पर बौद्ध और जैन दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रंथों में ६४ कलाओं की चर्चा प्रायः मिल जाया करती है। जैन ग्रंथों में इन्हें ६४ महिलागुण कहा गया है। कालिका-पुराण एक अर्वाचीन उप-पुराण है। सम्भवतः इसकी रचना विक्रम की दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में आसाम प्रदेश में हुई थी। इस पुराण में कला की उत्पत्ति के विषय में यह कथा दी हुई है : ब्रह्मा ने पहले प्रजापति को और मानसोत्पन्न ऋषियों को पैदा किया और उसके बाद सन्ध्या नामक एक कन्या को जन्म दिया। इन लोगों के बाद ब्रह्मा ने सुप्रसिद्ध मदनदेवता

---

* चतुःषष्टि कामकलितानि चानुभषिया।
नूपुरमेखलाअभिहनी विगलितवसनाः।।
कामशराहतास्समदनाः प्रहसितवदनाः।
किन्तव आर्यपुत्र विकृति यदि न भजसे।। —ललितविस्तर, पृ० ४१७।



को उत्पन्न किया जिसे ऋषियों ने मन्मथ नाम दिया। इस देवता को ब्रह्मा ने वर दिया कि तुम्हारे बांके लक्ष्य से कोई बच नहीं सकेगा; और इसीलिए तुम अपनी इस त्रिभुवन विजयी शक्ति से सृष्टि रचना में मेरी मदद करो। मदनदेवता ने वरदान और कर्त्तव्यभार दोनों को शिरसा स्वीकार किया। प्रथम प्रयोग उन्होंने ब्रह्मा और सन्ध्या पर ही किया। परिणाम यह हुआ कि वे दोनों प्रेम-पीड़ा से अधीर हो उठे। उन्हींके प्रथम समागम के समय ब्रह्मा के ४९ भाव, तथा सन्ध्या के विव्वोक आदि हाव और ६४ कलाएँ हुईं।* कला की उत्पत्ति का यही इतिहास है। कालिका पुराण के अतिरिक्त किसी अन्य पुराण से भी यह कथा समर्थित है या नहीं, यह मुझे ठीकठीक नहीं मालूम। परन्तु इतना स्पष्ट है कि उक्त पुराण स्त्रियों की चौंसठ कलाओं का जानकार है।

श्रीयुत ए० वेंकट सुब्बैया ने भिन्न भिन्न ग्रंथों का संग्रह करके कलाओं पर एक पुस्तिका प्रकाशित कराई है जो इस विषय के जिज्ञासुओं के बड़े काम की है। उक्त पुस्तिका में संग्रहीत कला-सूचियों को ध्यान से देखने से पता चलता है कि कला उन सब प्रकार की जानकारियों को कहते हैं जिनमें थोड़ी चतुराई की आवश्यकता हो। व्याकरण, छन्द, न्याय ज्योतिष और राजनीति भी कला हैं; उचकना, कूदना, तलवार चलाना, और घोड़े पर चढ़ना आदि भी कला हैं; काव्य, नाटक, आख्यायिका, समस्यापूर्ति, बिंदुमती, प्रहेलिका भी कला हैं; स्त्रियों का शृंगार करना, कपड़ा रँगना, चोली सीना और सेज बिछाना भी कला हैं; रत्न और मणियों को पहचानना घोड़ा, हाथी, पुरुष, स्त्री, छाग, मेघ, कुक्कुट का लक्षण जानना चिड़ियों की बोली से शुभाशुभ का ज्ञान करना इत्यादि भी कला हैं; और तित्तिर-बटेर का लड़ाना, तोते का पढ़ाना, जुआ खेलना वगैरः भी कला ही हैं। प्राचीन ग्रंथों से जान पड़ता है कि कई कलाएँ पुरुषों के योग्य समझी जाती थीं, यद्यपि कभी कभी गणिकाएँ भी उन कलाओं में पारंगत पाई जाती थीं। गणित, दर्शन, युद्ध, घुड़सवारी आदि ऐसी ही कलाएँ हैं। कुछ कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं। परन्तु सब मिलाकर ऐसा जान पड़ता है कि ६४ कोमल कलाएँ स्त्रियों के सीखने की हैं और चूंकि पुरुष भी उनकी जानकारी रखकर ही स्त्रियों को आकृष्ट कर सकते हैं इसीलिए स्त्री-प्रसादन के निमित्त उन्हें भी इन कलाओं की जानकारी होनी चाहिए। कामसूत्र में पंचाल की कलाएँ विशुद्ध कामशास्त्रीय हैं, परन्तु वात्स्यायन की अपनी सूची में काम-कलाओं के अतिरिक्त अन्यान्य सुकुमार जानकारियों का भी सम्बन्ध है। उनमें लगभग एक तिहाई तो विशुद्ध साहित्यिक हैं, बाकी कुछ नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ा में सहायक हैं कुछ मनोविनोद के साधक हैं और कुछ दैनिक प्रयोजनों के पूरक हैं।† श्री० वेंकट सुब्बैया ने अपनी पुस्तिका में दस पुस्तकों से दस सूचियाँ संग्रह की हैं। इनमें यदि पंचाल और यशोधर की सूचियों को छोड़ दिया जाय तो बाकी सभी में काव्य, आख्यायिका, समस्यापूर्ति आदि को विशिष्ट कला समझा गया है। श्री० सुब्बैया की गिनाई हुई सूचियों के अतिरिक्त भी ऐसी सूचियाँ हैं जिनमें ६४ कलाओं की चर्चा है। सर्वत्र काव्यादि का स्थान है।

परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि आगे चलकर कला का अर्थ कौशल हो गया और भिन्न भिन्न ग्रंथकार अपनी रुचि, वक्तव्य-वस्तु और संस्कार के अनुसार ६४ भेद कर लिया करते थे। सुप्रसिद्ध काश्मीरी पंडित क्षेमेन्द्र ने कलाविलास नामक एक छोटीसी पुस्तक लिखी थी जो काव्यमाला सीरीज (प्रथम गुच्छक) में छप चुकी है। इस पुस्तक में वेश्याओं की ६४ कलाएँ हैं जिनमें अधिकांश लोकाकर्षण और धनापहरण के कौशल हैं, कायस्थों की १६ कलाएँ हैं जिनमें लिखने के कौशल से लोगों को धोखा देने की बात ही प्रमुख है, गानेवालों की अनेक प्रकार की धनापहरण के कौशलमयी कलाएँ हैं, सोना चुरानेवाले सुनारों की ६४ कलाएँ गिनाई गई हैं, गणकों की बहुविध धूर्तताएँ भी कला के प्रसंग में ही गिनाई गई हैं

---

* उदीरितेन्द्रियो धाता वीक्षांचक्रे यदाथ ताम्।
तदैवह्यूनपंचाशद् भावा जाताः शरीरतः।
विव्वोकाद्यास्तथा हावाश्चतुःषष्टिकलास्तथा।
कन्दर्पशरविद्धायाः सन्ध्याया अभवन्द्विजाः॥ —कालिकापुराण, २, २८-२९।

† कामसूत्र १-३।

और अन्तिम अध्याय में उन चौंसठ कलाओं की गणना की गई है जिन्हें सहृदयों को जानना चाहिए। इनमें धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की बत्तीस तथा मात्सर्य-शील-प्रभाव-मान की बत्तीस कलाएँ हैं। दस भेषज कलाएँ हैं जो मनुष्य के भीतरी जीवन को निरोग और निर्बाध बनती हैं और अन्त में कलाकलाप में श्रेष्ठ सौ सार-कलाओं की चर्चा है। क्षेमेन्द्र की गिनाई हुई इन शताधिक कलाओं में काव्य समस्यापूर्ति आदि की चर्चा भी नहीं है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने अपने वक्तव्य को चौंसठ या अधिक कम भागों में विभक्त करके 'कला' नाम दे देना बाद में साधारण नियम हो गया था! परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि कोई अनुश्रुति इस विषय में थी ही नहीं। चौंसठ की संख्या का घूम-फिरकर आ जाना ही यह सूचित करता है चौंसठ कलाओं की अनुश्रुति रही अवश्य होगी। जैन लोगों में ७२ की अनुश्रुति प्रसिद्ध है। साधारणतः वे पुरुष कलाएँ हैं। ऐसा लगता है कि चौंसठ की संख्या के अन्दर प्राचीन अनुश्रुति में साधारणतः वे ही कलाएँ रही होंगी जो वात्स्यायन की सूची में हैं। कला का साधारण अर्थ उसमें स्त्री-प्रसादन और वशीकरण है और उद्देश्य विनोद तथा रसानुभूति। निश्चय ही उसमें काव्य का स्थान था। राज-सभाओं में काव्य-आख्यायिका आदि के द्वारा सम्मान प्राप्त किया जाता था और यह भी निश्चित है कि अन्यान्य कलाओं की अपेक्षा साहित्यिक कलाएँ अधिक श्रेष्ठ मानी जाती थीं। घटाओं, गोष्ठियों और समाजों में, उद्यान-यात्राओं में, क्रीड़ाशालाओं में, और युद्धक्षेत्र में, भी काव्यकला अपने रचयिता को सम्मान के आसन पर बैठा देती थी।

स्वभावतः ही यह प्रश्न उठता है कि वह काव्य कैसा होता था जो राज-सभाओं में सम्मान दिला सकता था या गोष्ठी-समाजों में कीर्तिशाली बना सकता था। सम्भवतः वह मेघदूत या कुमारसम्भव जैसे बड़े बड़े काव्य नहीं होते थे। वस्तुतः जो काव्य समाजों और सभाओं में मनोविनोद के साधन हुआ करते थे वे उक्ति-वैचित्र्य ही थे। दण्डी जैसे आलंकारिकों ने स्वीकार किया है कि कवित्व शक्ति यदि क्षीण भी हो तो भी कोई बुद्धिमान् व्यक्ति यदि काव्यशास्त्रों का अभ्यास करे तो वह राज-सभाओं में सम्मान पा सकता है।* राजशेखर ने उक्ति विशेष को ही काव्य कहा है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह रखना उचित है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि रसमूलक प्रबन्ध-काव्यों को उन दिनों काव्य नहीं माना जाता था या उनके कर्ता सम्मान नहीं पाते थे, मेरा वक्तव्य यह है कि काव्य नामक वह कला जो कवियों को गोष्ठियों समाजों और राज-सभाओं में तत्काल सम्मान देती थी वह उक्ति वैचित्र्य मात्र थी। दुर्भाग्यवश ऐसे सम्मानों के वे सब विवरण हमें उपलब्ध नहीं हैं जिनका ऐतिहासिक मूल्य हो सकता था, पर आनुश्रुतिक परम्परा से जो कुछ प्राप्त होता है उससे हमारे वक्तव्य का समर्थन हो जाता है। यही कारण है कि पुराने अलंकार शास्त्रों में रस की उतनी परवा नहीं की गई जितनी अलंकारों, गुणों और दोषों की। गुण-दोष का ज्ञान वादी को पराजित करने में सहायक होता था और अलंकारों का ज्ञान उक्ति वैचित्र्य को अधिकाधिक आकर्षक बनाने में सहायक होता था। काव्य करना केवल प्रतिभा का विषय नहीं माना जाता था, अभ्यास को भी विशेष स्थान दिया जाता था। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताए हैं, (१) समाधि अर्थात् मन की एकाग्रता और (२) अभ्यास अर्थात् बारम्बार परिशीलन करना। इन्हीं दोनों के द्वारा शक्ति उत्पन्न होती है। यह स्वीकार किया गया है कि प्रतिभा नहीं होने से काव्य सिखाया नहीं जा सकता। विशेषकर उस आदमी को तो किसी प्रकार कवि नहीं बनाया जा सकता जो स्वभाव से पत्थर के समान है, किसी कष्टवश या व्याकरण के निरन्तर अभ्यासवश नष्ट हो चुका है या तर्क की आग से झुलस चुका है या सुकवि जन के प्रबन्धों को सुनने का मौका ही नहीं पा सका है। ऐसे व्यक्ति को तो कितना भी सिखाया जाय कवि नहीं बनाया जा सकता क्योंकि कितना भी सिखाओ गधा

---

* न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना गुणानबंधि प्रतिभानमद्भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुवंकरोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥
तदस्ततंद्रैरनिशं सरस्वती श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशेकवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥ —काव्यादर्श १, १०४-५।



गान नहीं कर सकेगा और कितना भी दिखाओ अन्धा सूर्य को नहीं देख सकेगा।* पहला उदाहरण प्रकृत्या जड़ का है और दूसरा नष्ट-साधन का। यह और बात है कि पूर्व जन्म के पुण्य से या मंत्र सिद्धि से कवित्व प्राप्त हो जाय या फिर इसी जन्म में साधना से प्रसन्न होकर सरस्वती कवित्व शक्ति का वरदान करदें (कविकंठाभरण १-२४)। परन्तु प्रतिभा थोड़ी बहुत आवश्यक है अवश्य। कवित्व सिखानेवाले ग्रंथों का यह दावा तो नहीं है कि वे गधे को गाना सिखा देंगे परन्तु वे यह दावा अवश्य करते हैं कि जिस व्यक्ति में थोड़ीसी भी शक्ति हो उसे इस योग्य बना देंगे कि वह सभाओं और समाजों में कीर्ति पा ले।

यदि हम इस बात को ध्यान में रखें तो सहज ही समझ में आ जाता है कि उक्ति-वैचित्र्य को आलंकारिक आचार्यों ने इतना महत्त्व क्यों दिया है। उक्ति वैचित्र्य वाद-विजय और मनोविनोद की कला है। भामह ने बताया है कि वक्रोक्ति ही समस्त अलंकारों का मूल है और वक्रोक्ति न हो तो काव्य हो ही नहीं सकता। भामह की पुस्तक पढ़ने से यही धारणा होती है कि वक्रोक्ति का अर्थ उन्होंने कहने के विशेष ढंग को ही समझा था। वे स्पष्ट रूप से ही कह गए हैं कि "सूर्य अस्त हुआ, चन्द्रमा प्रकाशित हो रहा है, पक्षी अपने अपने घोंसलों को जा रहे हैं।" इत्यादि वाक्य काव्य नहीं हो सकते क्योंकि इन कथनों में कहीं भी वक्रभंगिमा नहीं है। दोष उनके मत से उस जगह होता है जहाँ वाक्य की वक्रता अर्थ-प्रकाश में बाधक होती है। भामह के बाद के आलंकारिकों ने वक्रोक्ति को एक अलंकारमात्रा माना है किन्तु भामह ने उसे काव्य का मूल समझा था। दण्डी भी भामह के मत का समर्थन ही कर गए हैं यद्यपि वे वक्रोक्ति का अर्थ अतिशयोक्ति समझा गए हैं। सिद्धान्ततः वक्रोक्ति को निश्चय ही बहुत दिनों तक काव्य का मूल समझा जाता रहा है पर व्यावहारिक रूप में कभी भी काव्य केवल वक्रोक्तिमूलक नहीं माना गया। उन दिनों भी रसमय काव्य लिखे जा रहे थे। परन्तु मैंने अन्यत्र (विश्वभारती पत्रिका खंड १, अंक १) दिखाया है कि उन दिनों रस का अर्थ प्रधान रूप से शृंगार ही माना जाता था। सरस काव्य का अर्थ होता था शृंगारी काव्य। इस प्रकार यदि उक्ति वैचित्र्य हुआ तब भी काव्य एक कला था क्योंकि उससे राजसभाओं और गोष्ठियों तथा समाजों में सम्मान मिलता था और सरस अर्थात् शृंगार ही हुआ तब भी वह कला ही था क्योंकि वात्स्यायन की कलाओं का मूल उद्देश्य वशीकरण और स्त्री-प्रसादन था और वह उद्देश्य ऐसे काव्यों से सिद्ध होता था।

वक्रोक्ति काव्य का एकमात्र मूल है, यह सिद्धान्त सदियों तक साहित्य के अध्येताओं में मान्य रहा होगा, यद्यपि भिन्न भिन्न आचार्य इससे भिन्न भिन्न अर्थ समझते थे। नवीं या दसवीं शताब्दी में इस सिद्धान्त की बहुत ही महत्त्वपर्ण और आकर्षक परिणति कुन्तक या कुन्तल नामक आचार्य के हाथों हुई। उन्होंने अपनी असाधारण प्रतिभा के बल पर वक्रोक्ति की एक ऐसी व्यापक व्याख्या की कि वह शब्द काव्य के वक्तव्य को बहुत दूर तक समझाने में सफल होगया। कुन्तक के मत का सारमर्म इस प्रकार है—केवल शब्द में भी कवित्व नहीं होता और केवल अर्थ में भी नहीं होता शब्द और अर्थ दोनों के साहित्य अर्थात् एक साथ मिलकर भाव प्रकाश करने के सामंजस्य में काव्यत्व होता है। काव्य में शब्द और अर्थ के साहित्य में एक विशिष्टता होनी चाहिए। जब कवि प्रतिभा के बल पर एक वाक्य अन्य वाक्य के साथ एक विचित्र विन्यास में विन्यस्त होता है तब एक शब्द दूसरे से मिलकर रमणीय माधुर्य की सृष्टि करते हैं उसी प्रकार तद्गर्भित अर्थ भी उसके साथ होड़ करके परस्पर को एक अद्भुत चमत्कार से चमत्कृत करते हैं। वस्तुतः ध्वनि के साथ ध्वनि के मिलन और अर्थ के साथ अर्थ के मिलन से जो परस्पर स्पर्द्धिचारुता उत्पन्न होती है वही साहित्य है, वही काव्यत्व है।

काव्य के बहुत से गुण-दोष-विवेचक ग्रंथ लिखे गए हैं पर सभी लेखकों ने किसी वस्तु के उत्कर्ष निर्णय में सहृदय को ही प्रमाण माना है। अभिनवगुप्त के मत से सहृदय वह व्यक्ति हैं जिनके मनरूपी मुकुर में—मनोमुकुर जो काव्यानुशीलन

---

* यस्तु प्रकृत्याश्म समान एव कष्टेन वा व्याकरणेन नष्टः।
तर्केण दग्धोऽनलधूमिना वाऽप्यविद्धकर्णः सुकवि प्रबंधैः॥
न तस्य वक्तृत्व समद्भवस्स्याच्छिक्षा विशेषैरपि सुप्रयुक्तैः।
न गर्दभो जायति शिक्षितोऽपि संदर्शितं पश्यतिनार्कमंधः॥ (कविकंठाभरण १-२३)।

से स्वच्छ हो गया होता है—वर्णनीय विषय के साथ तन्मय हो जाने की योग्यता होती है वे ही हृदय-संवाद के भाजन रसिक जन सहृदय कहे जाते हैं। परन्तु इतना कहना ही पर्याप्त नहीं है। हृदय-संवाद का भाजन कैसे हुआ जाता है। केवल शब्द और अर्थ की निरुक्ति जानने से यह दुर्लभ गुण नहीं उत्पन्न होता। प्रसिद्ध आलंकारिक राजानक रुय्यक ने सहृदयलीला नामक अपनी पुस्तक में गुण अलंकार जीवित और परिकर के ज्ञान को सहृदय का आवश्यक गुण बताया है। गुण और अलंकार केवल काव्य के नहीं, वास्तविक मनुष्य के। इन गुणों और अलंकारादिकों को जानने से हम आसानी से समझ सकेंगे कि सहृदय किस प्रकार कला-सुकुमार हृदय का व्यक्ति होता था और जो वस्तु उसे ही प्रमाण मानकर उत्कृष्ट समझी जायगी उसमें उन सभी गुणों का होना परम आवश्यक होगा जिन्हें वात्स्यायन उत्तम नागरक या रसिक के लिए आवश्यक समझते हैं। कोई आश्चर्य नहीं यदि ऐसा काव्य वात्स्यायन की कलाओं में एक कला मान लिया गया। सहृदयलीला के अनुसार गुण दस होते हैं :—

रूपं वर्णः प्रभा रागः आभिजात्यं विलासिता।
लावण्यं लक्षणं छाया सौभाग्यं चेत्यमीगुणाः॥

शरीर अवयवों की रेखाओं की स्पष्टता को रूप कहते हैं, गौरता, श्यामता आदि को वर्ण कहते हैं, सूर्य की भाँति चमकवाली कान्ति को प्रभा कहते हैं, अधरों पर स्वाभाविक हँसी खेलते रहने के कारण सबकी दृष्टि को आकर्षणकरने-वाले धर्म विशेष को राग कहते हैं, फूल के समान मृदुता और स्पर्श-सुकुमारता को आभिजात्य कहते हैं, अंगों और उपांगों से युवावस्था के कारण फूट पड़नेवाली विभ्रम-विलास नामक चेष्टाएँ जिनमें कटाक्ष भुजक्षेप आदि का समुचित योग रहता है, विलासिता कहलाती हैं, चन्द्रमा की भाँति आह्लादकारक वह सौन्दर्य का उत्कर्षभूत स्निग्ध मधुर धर्म जो अवयवों के उचित सन्निवेश जन्य मुग्धिमा से व्यंजित होता है लावण्य कहा जाता है, अंगोपांगों की असाधारण शोभा और प्रशस्तता का कारणभूत औचित्यमय स्थायी धर्म लक्षण कहा जाता है; वह सूक्ष्म भंगिमा जो अग्राम्यता के कारण वक्रिमत्वख्यापिनी होती है अर्थात् बाह्य शिष्टाचार, विक्रम-विलास और परिपाटी को प्रकट करती है, जिससे ताम्बूल-सेवन, वस्त्र-परिधान नृत्त-सुभाषित आदि में वक्ता का उत्कर्ष प्रकट होता है छाया कहलाती है; सुभग उस व्यक्ति को कहते हैं जिसमें स्वभावतः वह रंजक गुण होता है जिससे सहृदयजन स्वयमेव आकृष्ट होते हैं, जिस प्रकार पुष्प के परिमल से भ्रमर आकृष्ट होते हैं, इसी सुभग के आन्तरिक वशीकरण धर्म-विशेष को सौभाग्य कहते हैं। ये दस गुण विधाता की ओर से प्राप्त होते हैं, ये जन्मान्तर के पुण्यफल से मिलते हैं। अलंकार सात ही हैं—

रत्नं हेमांशुके माल्यं मण्डन द्रव्य योजने।
प्रकीर्णं चेत्यलंकाराः सप्तैवैते मयामताः॥

वज्र, मुक्ता, पद्मराग, मरकत, इन्द्रनील, वैदूर्य, पुष्पराग, कर्केतन, पुलकरुधिराक्ष, भीष्म, स्फटिक, प्रवाल ये तेरह रत्न होते हैं। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में इनके लक्षण दिए हुए हैं। भीष्म के स्थान में उसमें विषमक पाठ है। शब्दार्थचिन्तामणि के अनुसार यह रत्न हिमालय के उत्तर प्रान्त में पाया जानेवाला कोई सफेद पत्थर है। बाकी के बारे में बृहत्संहिता (अध्याय ८०) देखनी चाहिए। हेम सोने को कहते हैं। प्राचीन ग्रंथ में यह नौ प्रकार का बताया गया है; जांबूनद, शातकौंभ, हाटक, वैणव, शृंगी, शुक्तिज, जातरूप, रसविद्ध और आकरोद्गत। इन तेरह प्रकार के रत्नों और नौ प्रकार के सोनों से नाना प्रकार के अलंकार बनते हैं। ये चार श्रेणियों के होते हैं—(१) आवेध्य, (२) निबन्धनीय, (३) प्रक्षेप्य और (४) आरोप्य। ताड़ी, कुण्डल, कान के बाले आदि अलंकार अंगों को छेदकर पहने जाते हैं इसलिए आवेध्य कहलाते हैं; अंगद (बाहुमूल में पहना जानेवाला अलंकार) श्रोणी-सूत्र (करधनी आदि) चूड़ामणि प्रभृति बाँधकर पहने जाते हैं इसलिए उन्हें निबन्धनीय कहते हैं, अभिका, कटक, मंजीर आदि अंग में प्रक्षेप-पूर्वक पहने जाते हैं इसलिए प्रक्षेप्य कहा जाता है; झूलती हुई माला, हार, नक्षत्रमालिका आदि अलंकार अरोपित किए जाने के कारण आरोप्य कहे जाते हैं। वस्त्र चार प्रकार के होते हैं, कुछ छाल से (क्षौम), कुछ फल से (कार्पास) कुछ रोओं से (रांकव) और कुछ कीटों के कोश से (कौशेय) बनते हैं। इन्हें भी तीन प्रकार से पहनने की प्रथा है—पगड़ी, साड़ी आदि निबन्धनीय हैं, चोली

आदि प्रक्षेप्य हैं, उत्तरीय (चादर) आदि आरोप्य हैं। वर्ण और सजावट के भेद से ये नाना भाँति के होते हैं। सोन और रत्न से बने हुए अलंकारों की भाँति माल्य के आवेध्य, निबन्धनीय, प्रक्षेप्य और आरोप्य ये चार भेद होते हैं। प्रत्येक भेद में ग्रथित और अग्रथित रूप से दो दो उपभेद हो सकते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर माल्य के आठ भेद होते हैं—वेष्टित विस्तारित, संघात्य, ग्रंथिमत्, उद्वर्तित, अवलंबित, मुक्तक और स्तवक। कस्तूरी, कुंकम, चन्दन, कर्पूर, अगुरु, कुलक, दन्तसम पटवग्स, सहकार, तैल, ताम्बूल, अलक्तक, अञ्जन, गोरोचना आदि से मण्डन द्रव्य बनते हैं। भ्रू घटना, केशरचना, जूड़ा बाँधना आदि योजनामय अलंकार हैं। प्रकीर्ण अलंकार दो प्रकार के होते हैं (१) जन्य और (२) निवेश्य। श्रमजल, मदिरामद आदि जन्य हैं और दूर्वा,अशोक, पल्लव, यवांकुर, रजत त्रपु, शंख, तालदल, दन्तपत्रिका, मृणालवलय, करक्रीड़नाह्निक निवेश्य हैं। इन सबके समवाय को वेश कहते हैं। यह वेश देशकाल की प्रकृति और अवस्था के सामंजस्य के अनुसार शोभनीय होता है। इनके उचित सन्निवेश से रमणीयता की वृद्धि होती है। परन्तु अलंकार इतने ही नहीं हैं। ये यत्नज अलंकार हैं। अंगज, अयत्नज और स्वभावज तीन अलंकार और होते हैं। भाव, हाव और हेला अंगज अलंकार हैं, शोभा कान्ति, माधुर्य, दीप्ति, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये अयत्नज अलंकार हैं और लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विब्बोक, ललित और विहृत ये दस स्वभावज अलंकार हैं। इनका लक्षण दशरूपक आदि ग्रंथों में देखना चाहिए। शोभा का जीवित या प्राण यौवन है और निकट से उपकारक परिकर। इनका विस्तार रीति-ग्रंथों में मिलेगा।

इस प्रकार के सहृदय के चित्र को जो कविता तन्मय कर सके वह अवश्य ही वात्स्यायन की स्त्री-प्रसादिनी और वशीकारिणी कला में स्थान प्राप्त करेगी। वस्तुतः जिन दिनों काव्य को कला कहा गया था उन दिनों उसके इन्हीं दो गुणों का प्राधान्य लक्ष्य किया गया था (१) उक्ति-वैचित्र्य और (२) सहृदय-हृदय-रंजन। ज्यों ज्यों अनुभव का क्षेत्र और विचार का क्षेत्र विस्तीर्ण होता गया त्यों त्यों कला की परिभाषा भी व्यापक होती गई और काव्य का क्षेत्र भी विस्तीर्ण होता गया।





हर हर महादेव हर हर।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

नारायण मय हो नर नर।
हर हर महादेव हर हर॥

कोरी नीति न केवल बल हो, उभय समन्वय पावें।
मिटें विषमतायें आपस की, सब समत्व पर आवें॥
तम से ज्योति, असत् से सत् की ओर सतत हम जावें।
काल-सर्प को रज्जु बनाकर, खींच अमृत घट-लावें॥

पियें पिलावें रस भर भर।
हर हर महादेव हर हर॥

एक पंथ के पथिक सभी हम, सबकी एक महत्ता।
इष्ट परस्पर परिचर्या रत, प्रेममयी परवत्ता॥
जन का सामाजिक जीवन हो, मानों मधु का छत्ता।
रहे सत्य-सुन्दर दोनों पर, हे शिव तेरी सत्ता।

बहे सुगति-गंगा झर झर।
हर हर महादेव हर हर॥

* समाप्त *

संशोधन

१. पृष्ठ ४२२ के नीचे यह टिप्पणी जोड़ने का कष्ट करें:—

टिप्पणी—

जिस युग के धर्मान्ध-प्रचार ने राम और कृष्ण जैसी विभूतियों को दुश्चित्रित करने का साहसपूर्ण काम कर डाला हो उस युग के साहित्य में यदि देश के पूर्ववर्ती प्रमुख व्यक्ति समकालीन महज्जनों के विषय में तथा विशिष्ट स्थानों के विषय में भ्रामक बातें अंकित कर रखी हों तो विस्मय का विषय नहीं। आज स्वतः उसी समाज या सम्प्रदाय के अनुगामियों की दृष्टि में वे 'सत्य' बनने में असमर्थ बन गई हैं! वर्तमान तथ्य निरीक्षक वैज्ञानिक युग में उस प्रचार-भार वाहिनी रचनाओं के पुनरुच्चारित करने की आवश्यकता भी नहीं रह गई है। फिर उसके तथ्यानुमोदित बनाने का विचार तो और भी उपहासास्पद ही होगा। जिन "परम भागवत" "परम माहेश्वरों" के अनेक शिला-ताम्र-लेखों ने प्रत्यक्ष उपस्थित होकर अपनी वास्तविकता का प्रमाण प्रकट कर दिया है, उनके विषय में अब तक जो भी साहित्य किसी 'धर्मान्तिर दीक्षित' होने की भावना को अज्ञ-समाज में पोषित करता चला जाता हो, वह जिस पत्र पर लिखा गया होगा उसका वजन भी वह निरर्थक बढ़ाकर उस तोल का मूल्य भी नहीं रख सकता है। वह निरर्थक प्रयास और दुराग्रह को प्रश्रय देना ही कहा जायगा। महाकालेश्वर का मन्दिर भारत का सर्व विश्रुत महत्त्व रखनेवाला स्थान है। जिसके लिए विभिन्न युगों में समुत्पन्न महाकवि कोविदगण, तथा कालिदास, भास, बाण आदि ने समादर व्यक्त किया हो, और जिसके लिए शतशः पृष्ठों में उपनिषद् और १८ पुराणों ने यशोगाथा का अंकन किया हो, उसकी प्रति-शताब्दि-प्रथित-परम्पराओं को सहसा किसी कल्पित 'कहानी' का आधार मानकर अनुमानों, और असंगतियों से भरे कथनों से 'धर्मान्तिरित' स्थान बतलाने का साहस करना इतिहास का उपहास ही करना होगा। कुमारी क्राउझे का लेख इस ग्रंथ में केवल विचार स्वातंत्र्य की भावना से यहाँ ही दिया जा रहा है। लेखिका ने जैन साहित्य का अनुशीलन किया है। और इस लेख के लिए श्रम भी किया है। लेखिका स्वयं अनेक उद्धरणों को देने का श्रम लेकर यह मान्यता बनाने को विवश हुई है कि :—

"स्वधर्म परायण प्राचीन श्वेताम्बर-वृद्ध-परम्परा ने सूक्ष्म ऐतिहासिक खोज को अपना कर्त्तव्य नहीं समझकर ऐसी भ्रान्तियों को शुद्ध करने की तरफ उदासीनता रखी है। इसके अतिरिक्त खोज के साधनों के अभाव से भी व्यक्तिगत ग्रंथकारों को अपने अपने मूल ग्रंथों पर अन्ध विश्वास रखना ही पड़ता था। इसके परिणामस्वरूप गुप्तकालीन सिद्धसेन दिवाकर द्वारा सम्वत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का प्रतिबोधित होना आदि विचित्र भ्रान्तियां भी अशोधित रहकर शताब्दियों के क्रम से जैन साहित्य के सर्वमान्य सिद्धान्त बन सकी। ऐसी एक भ्रान्ति स्वरूप श्री अवन्ती सुकुमाल के स्मारक मन्दिर में से महाकालेश्वर मन्दिर का उत्पन्न होना भी समझा जा सकता है।"

जिस 'कहानी' को 'सत्य' बनाने के लिए अनेक ग्रंथकारों ने अनेक रचनाओं में समाविष्ट किया, वह यद्यपि 'धर्मान्धिता तक' ही जीवित बनी रह सकी है परन्तु उसको 'सत्य' बनाने का साहस तो कदापि नहीं किया जा सकता, तथ्यनिरीक्षक दृष्टि के सर्व साधारण में अभाव होने के कारण 'भ्रामक प्रचार' का एक विषय बनी रही है। विवेचक, एवं सत्य-प्रिय विद्वानों का यह कर्तव्य है कि साहित्य में से ऐसे अनुमानाश्रित असंगत असत्यों का मार्जन करदे। 'कहानी' और 'सत्य' ये अपने नाम का ही महत्त्व रख सकते हैं। महाकालेश्वर मन्दिर को स्मृति मन्दिर बनानेवाली कहानी यद्यपि 'कहानी' तक ही जीवित रही है, पर वह 'सत्य' कदापि न बन सकी, न बन सकेगी। अवश्य ही ऐसी असंगतियों से भरे हुए साहित्य के लिए अनेक आशंकाएँ उत्पन्न कर सकेगी। सू० ना० व्या०।

२. पृष्ठ ४२९ का शीर्ष का ब्लाक उल्टा छपा है।

३. 'उज्जैन की वेधशाला' लेख (पृष्ठ ४५५) में लेखक का नाम 'रघुनाथ' के स्थान पर 'रामचन्द्र' छप गया है। पाठक कृपा कर ठीक करलें।